अखण्ड ज्योति Vol. 65 2002 no. 1-9,11-12

130438

Stock Verification-2[illegible]

Stock Verification-2[illegible]

अखण्ड ज्योति

Vol. 65
2002
1-9 & 11-12

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR

142
C

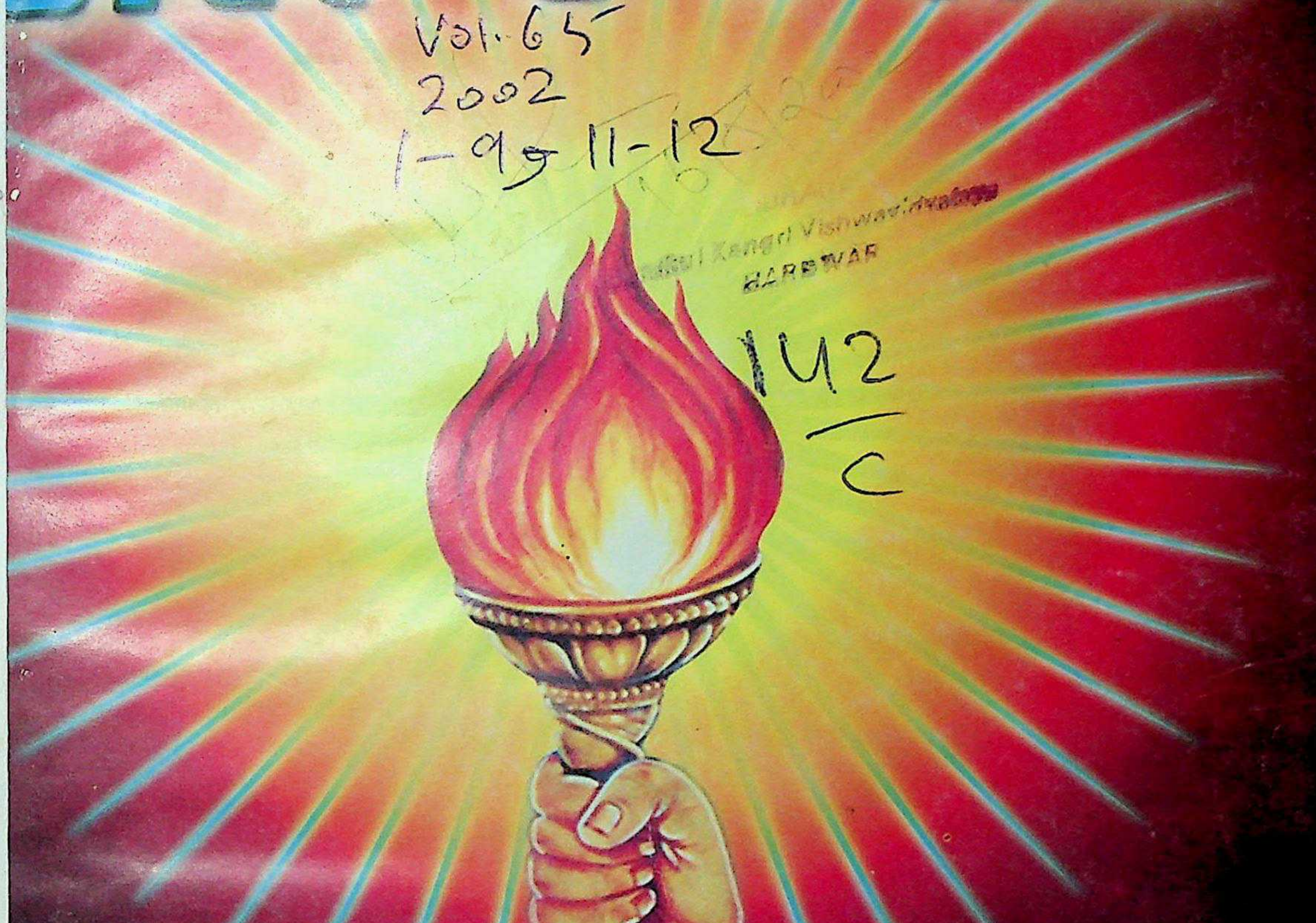

130438

जनवरी -२००२

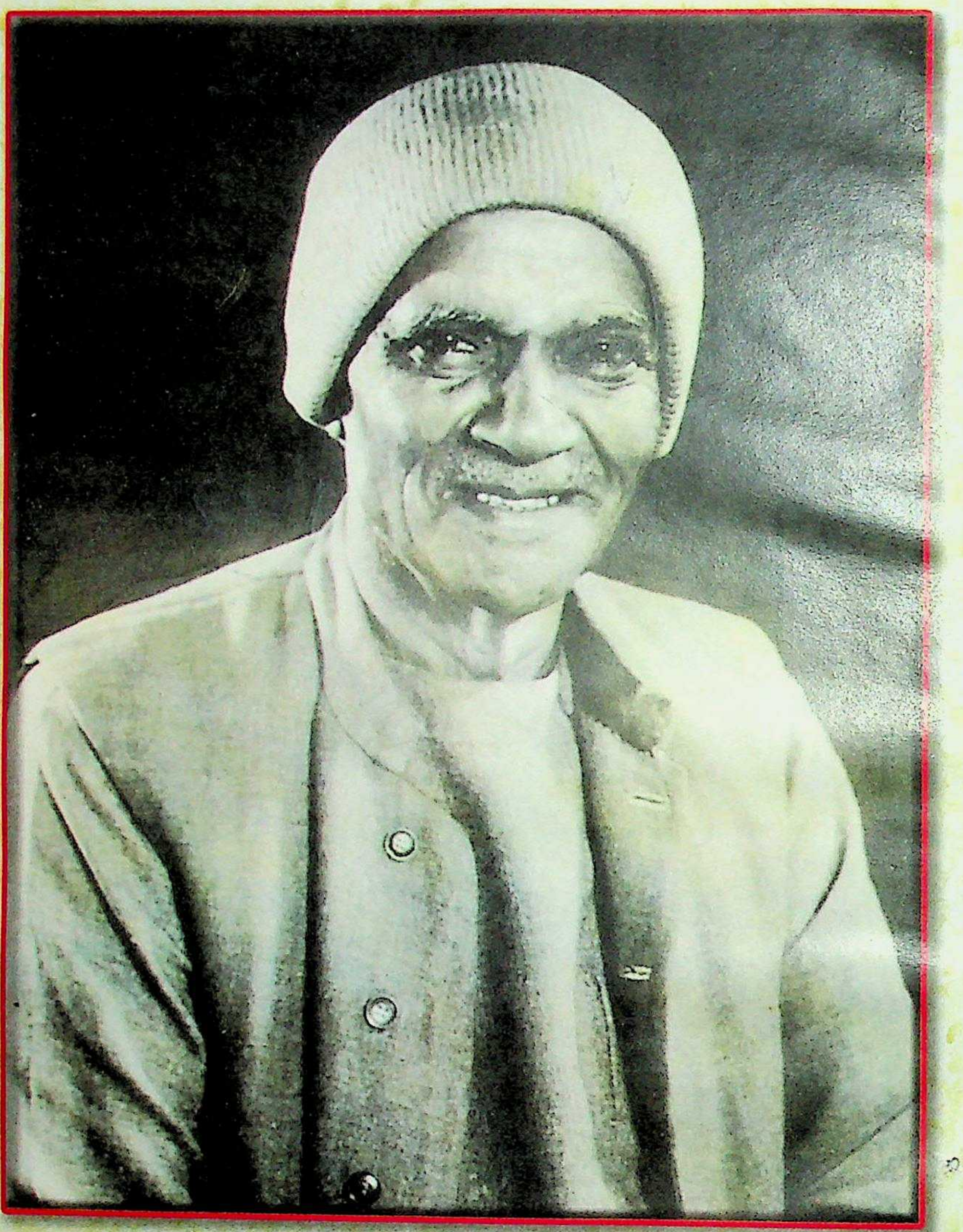

संवेदना सिक्त था जिसका अंतःकरण,ऐसी हमारी गुरुसत्ता

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम
अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

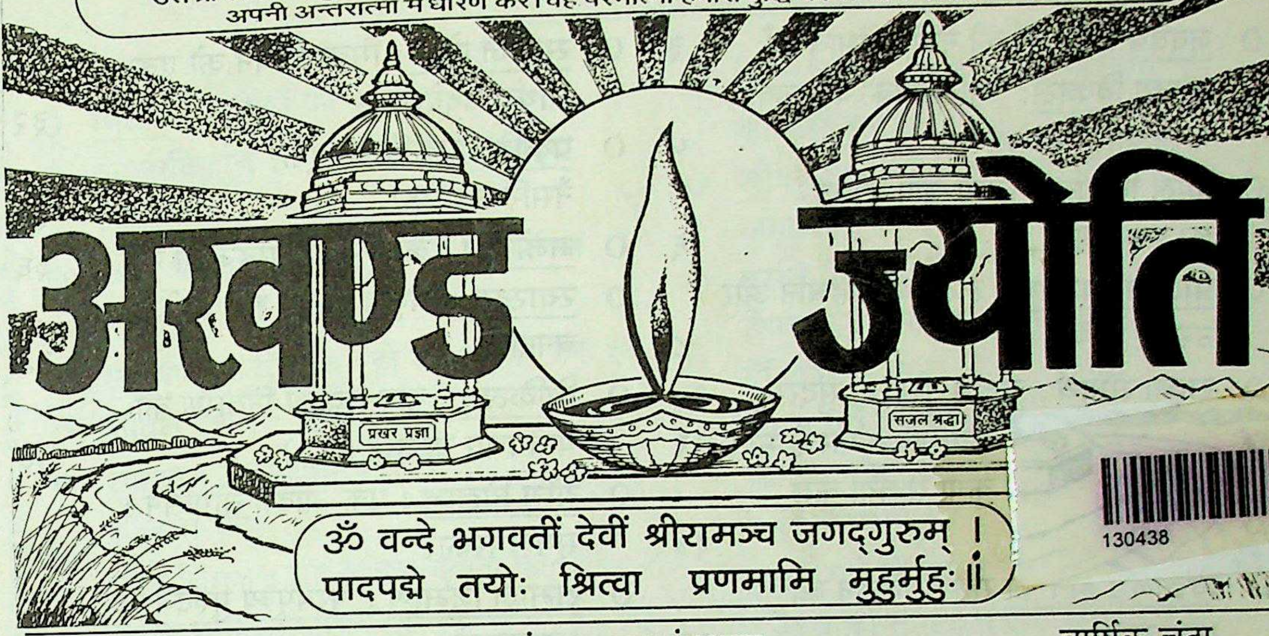

अखण्ड ज्योति

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

130438

वर्ष-६५
अंक-१
जनवरी, २००२
पौष-माघ — २०५८

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा

वार्षिक चंदा
भारत में ७२/-
विदेश में ७५०/-
आजीवन ९००/-
(सुरक्षा निधि)

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR

नववर्ष

नववर्ष की नवीन संभावनाएँ

नववर्ष की संभावनाएँ भी नवीन हैं। तेजी से घूम रहा कालचक्र हर रोज अगणित परिस्थितियों, घटनाचक्रों, प्रक्रियाओं एवं उपक्रमों को जन्म दे रहा है। सब कुछ इतना तीव्र और आश्चर्यकारक है कि विश्लेषक चकित हैं और विशेषज्ञ भौंचक। उपनिषदों की भाषा में कहें तो 'न मेधया न बहुनाश्रुतेन' यानि कि इसे न तो कोरी बुद्धि से समझा जा पा रहा है और न ही बहुत सुनने-गुनने वाले इसे समझने में सक्षम हैं, लेकिन जिनका अंतःकरण आलोकित है, जिनके पास गहन अंतर्दृष्टि है, वे इन दिनों अनेकों नवीन संभावनाओं को जन्मते, पनपते एवं विकसित होते देख रहे हैं।

सन् २००२ में जो कुछ हो रहा है, वह मात्र प्रारंभ है। प्रक्रिया सुदीर्घ है, जो कई वर्षों तक चलने वाली है। अकेले हम ही नहीं समूचा विश्व इस सत्य का साक्षी होगा कि क्रांतियाँ किस तरह से मालगाड़ी के डिब्बों की तरह एक के बाद एक आईं और देखते-ही-देखते सारा पुराना कूड़ा-करकट अपने साथ उड़ा ले गईं। वर्तमान जिस भविष्य का सृजन करने में तत्पर है वह साफ-सुथरा ही नहीं सुगंधित भी है। आसुरी शक्तियाँ कितनी ही प्रबल, प्रचंड एवं विशालकाय क्यों न हों, पर कालचक्र उन्हें धूल में मिलाए बिना न रहेगा।

इन्हीं दिनों कुछ ऐसे घटनाक्रम जन्म लेंगे, कुछ ऐसी परिस्थितियाँ, जो असुरता को अपने शिकंजे में बुरी तरह से जकड़ लेंगी। उसे छटपटाहट के साथ दम तोड़ने के अलावा और कोई मार्ग न मिलेगा। इसी के साथ विश्व मानवता अपने नए इतिहास को रचेगी। कालचक्र के तीव्रगामी वेग से जन्मने वाली नवीन संभावनाएँ विश्व मानचित्र में कुछ अचरज भरे फेर-बदल भी करेंगी। नवीन संभावनाएँ इतिहास को ही नहीं भूगोल को भी नयापन देंगी।

इन विशिष्ट पलों में महाकाल के सेवकों-सहचरों का दायित्व भी विशिष्ट है। उन्हें न केवल अपने सृजन अभियान को तीव्र वेग देना है, बल्कि उन्हें इन्हीं दिनों कठोरतम तप-साधनाएँ संपन्न करके प्रचंड आत्मबल भी अर्जित करना है। आत्मबल की धनी ऐसी तपस्वी आत्माएँ ही इन दिनों तीव्र गति से अंतरिक्ष में उमड़-घुमड़ रही हलचलों को अपनी अंतर्चेतना में अनुभव करेंगी और नववर्ष की नवीन संभावनाओं के साकार होने में सहयोगी की भूमिका निभा सकेंगी। ✡

विषय-सूची

0 **नववर्ष** : नववर्ष की नवीन संभावनाएँ ३
0 **मानव विकास**: 'अतिमानव' को साकार करने का समय आ गया ५
0 **काल विज्ञान** : जिया जाए जीवन का हर क्षण ६
0 **प्रतिभा जागरण** : लक्ष्य की पहचान और उसकी प्राप्ति ८
0 **सच्चा सौंदर्य** : सत्यम्, शिवम्, सुंदरम्, १०
0 **अंतः परिष्कार** : अंतः का शृंगार है मौन १२
0 **पुरुषार्थ** : माँ की कृपा से क्या कुछ संभव नहीं १४
0 **विज्ञान** : होने जा रहा है विज्ञान का कायाकल्प १६
0 **संगीत विज्ञान** : जीवन सार्थक बनेगा संगीत से २०
0 **बाल-विकास** : अभिमन्यु एक मिथक नहीं, सचाई २२
0 **सभ्यता** : यह मूल्यविहीन प्रगति किस काम की २४
0 **प्रकृति प्रकोप** : अभिशप्त तापमान ला रहा है जल प्रलय २६
0 **व्यक्तित्व निर्माण** : व्यवहारकुशलता एक पारसमणि के समान ३०
0 **समाज सेवा** : मिला जीवन को एक सार्थक उद्देश्य ३२
0 **प्रकृति** : प्रकृति की एक नैसर्गिक धरोहर ३४
0 **मनोरोग** : क्रोध से तो परहेज ही रखें ३६
0 **स्वास्थ्य** : विकृत आहार हमें रोगी बनाता है ३८
0 **चिकित्सा** : वात-व्याधि निवारण की यज्ञोपचार प्रक्रिया (११) ४०
0 **योग विज्ञान** : एक आदर्श योगासन : सूर्य नमस्कार ४२
0 **समाज निर्माण** : परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी ४५
0 **महापुरुष-चरित्र** : एक प्रखर योद्धा संन्यासी, जो आज भी प्रेरणा का स्रोत है ५१
0 **यज्ञ-विज्ञान** : युगगीता (२९) ५३
0 **पत्रों से मार्गदर्शन** : गुरुकथामृत (२९) ५७
0 श्रीरामलीलामृतम्-१ ५९
0 **समाचार** : केंद्र के समाचार-विश्वव्यापी हलचलें ६२
0 अपनों से अपनी बात -१ ६३
0 अपनों से अपनी बात-२ ६५
0 शहीदों के प्रति (कविता) ६६

जनवरी-फरवरी, २००२ के पर्व-त्योहार

१ जनवरी, २००२	नववर्ष प्रारंभ
९ जनवरी, २००२	सफला एकादशी
११ जनवरी, २००२	लालबहादुर शास्त्री पुण्य तिथि
१२ जनवरी, २००२	स्वामी विवेकानंद जयंती
१३ जनवरी, २००२	लोहड़ी
१४ जनवरी, २००२	मकर संक्रांति
२१ जनवरी, २००२	गुरु गोविंद सिंह जयंती
२३ जनवरी, २००२	नेताजी सुभाष जयंती
२५ जनवरी, २००२	पुत्रदा एकादशी
२६ जनवरी, २००२	गणतंत्र दिवस
२८ जनवरी, २००२	लाला लाजपतराय जयंती
८ फरवरी, २००२	माघी पूर्णिमा
१७ फरवरी, २००२	वसंत पर्व
२१ फरवरी, २००२	महाशिवरात्रि
२५ फरवरी, २००२	रामकृष्ण परमहंस जयंती

विषय-सूची

0 **चिंतन** : साधकों का वसंत ३

0 **आत्मविज्ञान** : आत्मा ही है कल्पवृक्ष-कामधेनु ५

0 **ध्वनि विज्ञान** : शब्दब्रह्म में है अपरिमित सामर्थ्य ८

0 **समर्पण का विज्ञान** : हो सर्वस्व समर्पण ११

0 **जीवन दर्शन** : अमृत-दृष्टि १३

0 **साहस** : साहसी ही बनते हैं इतिहास पुरुष १५

0 **राष्ट्र चिंतन** : सांस्कृतिक एकता का प्रतीक हमारा राष्ट्रीय चिह्न १७

0 **ज्ञान-विज्ञान** : तस्य वाचकः प्रणव २१

0 **प्रकृति रहस्य** : प्रकृति की अविज्ञात पहेलियाँ २३

0 **मनोविज्ञान** : अचेतन के गर्भ में छिपा भांडागार २५

0 **प्रकृति विज्ञान** : रंगों की चितरंगी विलक्षण दुनिया २८

0 **भाव-विज्ञान** : परमार्थ भाव से की गई याचना ही है प्रार्थना ३१

0 **राष्ट्रभक्ति** : उत्तरांचल का वह वीर ३३

0 **विश्व चिंतन** : चल रहा है विश्व में भय का कारोबार ३६

0 **जीवन विद्या** : परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी ३९

0 **वसंत पर्व विशेष-१**
शिष्यत्व को सार्थक करने वाला वह ऐतिहासिक वसंत ४५

0 **वसंत पर्व विशेष-२**
बिना कहे मन की बात जान लेने वाले अंतर्यामी ४७

0 **वसंत पर्व विशेष-३**
लेखनी की साधना में लीन समाधियोगी ४९

0 **वसंत पर्व विशेष-४**
दिव्यद्रष्टा करुणानिधान की शाश्वत यह पुकार ५१

0 **यज्ञ विज्ञान** : युगगीता-३० ५३

0 गुरुकथामृत-३० ५७

0 श्रीरामलीलामृत-२ ६०

0 अपनों से अपनी बात ६३

0 **समाचार** : केंद्र के समाचार-विश्वव्यापी हलचलें ६५

0 वासंती चोला सबको पहनाएँगे (कविता) ६६

फरवरी—मार्च २००२ के व्रत-त्योहार

७	फरवरी,	२००२	पट्तिला एकादशी
१७	फरवरी,	२००२	वसंत पंचमी
२३	फरवरी,	२००२	जया एकादशी
२७	फरवरी,	२००२	माघी पूर्णिमा / संत रविदास जयंती
२८	फरवरी,	२००२	विश्व विज्ञान दिवस
८	मार्च,	२००२	विश्व महिला दिवस
९	मार्च,	२००२	विजया एकादशी
१२	मार्च,	२००२	महाशिव रात्रि
१६	मार्च,	२००२	रामकृष्ण परमहंस जयंती
२१	मार्च,	२००२	विश्व वन संरक्षण दिवस
२२	मार्च,	२००२	होलाष्टक
२५	मार्च,	२००२	आमलकी एकादशी
२८	मार्च,	२००२	होलिका दहन
२९	मार्च,	२००२	धूलि वंदन
३०	मार्च,	२००२	संत तुकाराम जयंती

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

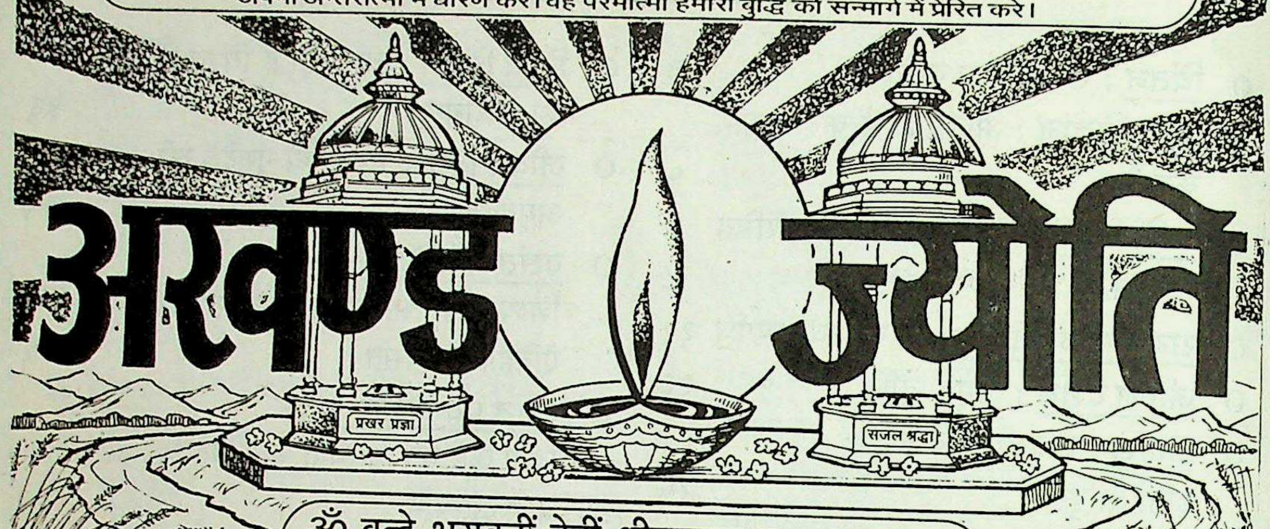

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

वर्ष-६५
अंक-२
फरवरी, २००२
माघ-फाल्गुन—२०५८

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा

वार्षिक चंदा
भारत में ७२/-
विदेश में ७५०/-
आजीवन ९००/-
(सुरक्षा निधि)

चिंतन

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya HARDWAR

साधकों का वसंत

साधकों का वसंत हमेशा ही अनूठा होता है। वासंती बयार की छुअन से उनकी भावनाओं में भक्ति हुलसती है, प्राणों में तप की ज्वालाएँ धधकती हैं और मानस में ज्ञान की प्रखरता छा जाती है। वसंत का महापर्व साधक के लिए आध्यात्मिक जागरण का संदेश लेकर आता है। इस महापर्व पर अवतरित होने वाली दैवी चेतना में एक ही गूँज होती है, हे साधक प्रवर! उठो, जागो और तब तक कठोर तप में निरत रहो, जब तक कि जीवन लक्ष्य स्वयं आकर तुम्हें वरण न कर ले।

वसंत के इस दैवी संदेश को न तो हर कोई सुन सकता है और न ही समझ सकता है, क्योंकि यह उन दीन-हीन, दुर्बल चित्त जनों के लिए नहीं है, जो सांसारिक राग-रंग में निमग्न हैं। यह उन कायरों के लिए भी नहीं है, जो इंद्रिय अभिलाषाओं, लालसाओं के सामने जब-तब घुटने टेकने के लिए मजबूर होते रहते हैं। यह दैवी संदेश उन महावीरों के लिए है, जिनके हृदय में भगवत्प्राप्ति की पवित्र अभीप्सा की दिव्य ज्योति सदा निष्कंप जला करती है। वसंत का यह संदेश वही शूरवीर साधक सुन पाते हैं, जो अपनी साधना के लिए प्रतिबद्ध एवं कटिबद्ध हैं।

परमपूज्य गुरुदेव ने वसंत महापर्व के पुण्य क्षणों में अवतरित इसी संदेश को हृदयंगम करके ही जीवन चेतना के सर्वोच्च शिखर पर आरोहण किया था। वसंत के दिन प्रारंभ हुई साधना की अनूठी प्रक्रिया उनके जीवन में कभी मंद नहीं पड़ी, बंद नहीं हुई। प्रत्येक वसंत महापर्व ने उनके जीवन को अनोखे अनुदानों से सजाया, सँवारा। हर वसंत ने उन्हें अगणित आध्यात्मिक रत्न दिए, जिनसे उनकी चेतना हर पल-हर क्षण अलौकिक ज्योति बिखेरती रही।

उन्होंने भी वचन दिया है, अपनी संतानों में यही आध्यात्मिक ज्योति जगाने का, पर इसके लिए उनके कठोर अनुबंध भी हैं, पात्रता के, पवित्रता के, प्रामाणिकता के और सबसे बढ़कर साधक होने के। यदि हम सच्चे साधक हो सकें तो इस वसंत महापर्व पर बहने वाली वासंती बयार अपनी छुअन से हमें भी धन्य किए बिना न रहेगी। गुरुवर की चेतना हमें भी वह सब सौंपने में कोई कृपणता न बरतेगी, जो उन्होंने स्वयं प्रत्येक वसंत पर्व पर पाया।

विषय-सूची

- **चिंतन** : एक छोटा-सा सत्य ३
- **अध्यात्म-विज्ञान** : विद्याओं में सर्वोपरि अध्यात्म विद्या ५
- **जीवन-दर्शन** : शांति से बढ़कर कोई सुख नहीं ७
- **व्यक्तित्व विकास** : सफलता की कुंजी आत्मविश्वास ९
- **धर्म** : सूफी संतों का अद्वैतवाद ११
- **राष्ट्र भक्ति** : सही अर्थों में भारत का रत्न १४
- **पर्व विशेष** : भारतीय कला में अभिव्यक्त शिवतत्त्व १५
- **पर्व विशेष** : आत्मा के मंगलकारी शिव से मिलन की रात्रि का पर्व १७
- **जीवन-सत्य** : झगड़ते धर्म नहीं, मानवी दुर्बलता एवं अहं ही हैं १९
- **जन-सेवा** : तप से श्रेष्ठ और कुछ नहीं २१
- **पारलौकिक सत्य** : यह जन्म एक लंबी शृंखला की कड़ी मात्र २४
- **गुप्तचर विज्ञान** : वैदिक ऋषियों की एक परम पावन देन—गुप्तचर्या २५
- **उत्कृष्ट जीवन** : शिवत्व की साधना २८
- **कर्म कौशल** : पुण्य की अहंता एवं पाप की आसक्ति से ऊपर उठें २९
- **भ्रातृत्व भाव** : एक ही सूत्र—भ्रातृत्व भाव विस्तार ३१
- **सहकारिता** : सम्मिलित प्रयास जरूरी ३३
- **त्योहार विशेष** : प्रकृति के संग हुलसने का पर्व—होली ३५
- **त्योहार विशेष** : अंतर्चेतना में मने होलिकोत्सव ३७
- **जीवन निर्माण** : परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी ३९
- **चेतना विज्ञान** : अंतर्जगत् के दो विशिष्ट वैज्ञानिक ४५
- **भविष्य विज्ञान** : सद्गुरु की महिमा अनंत ४७
- गुरुसत्ता के आध्यात्मिक जीवन की ज्योति ४९
- **यज्ञ विज्ञान** : युगगीता (३१) ५१
- **पत्रों से मार्गदर्शन** : गुरुकथामृत (३१) ५५
- श्रीरामलीलामृतम् (३) ५८
- **विद्या विस्तार** : जीवन विद्या का आलोक केंद्र : हमारा देवसंस्कृति विश्वविद्यालय ६१
- **समाचार** : केंद्र के समाचार—क्षेत्र की हलचलें ६२
- अपनों से अपनी बात ६३
- रुद्राभिषेक (कविता) ६६

मार्च-अप्रैल २००२ के व्रत-त्योहार

८	मार्च,	२००२	विश्व महिला दिवस
९	मार्च,	२००२	विजया एकादशी
१२	मार्च,	२००२	महाशिव रात्रि
१६	मार्च,	२००२	रामकृष्ण परमहंस जयंती
२१	मार्च,	२००२	विश्व वन संरक्षण दिवस
२२	मार्च,	२००२	होलाष्टक
२५	मार्च,	२००२	आमलकी एकादशी
२८	मार्च,	२००२	होलिका दहन
२९	मार्च,	२००२	धूलि वंदन
३०	मार्च,	२००२	संत तुकाराम जयंती
८	अप्रैल,	२००२	पापमोचनी एकादशी
१३	अप्रैल,	२००२	नव विक्रम संवत् प्रारंभ / नवरात्र आरंभ
१४	अप्रैल,	२००२	डॉ. भीमराव अंबेडकर जयंती
१५	अप्रैल,	२००२	गणगौर
२०	अप्रैल,	२००२	दुर्गाष्टमी
२१	अप्रैल,	२००२	श्रीरामनवमी
२३	अप्रैल,	२००२	कामदा एकादशी
२५	अप्रैल,	२००२	श्री महावीर स्वामी जयंती
२६	अप्रैल,	२००२	हनुमान् जयंती

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम
अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

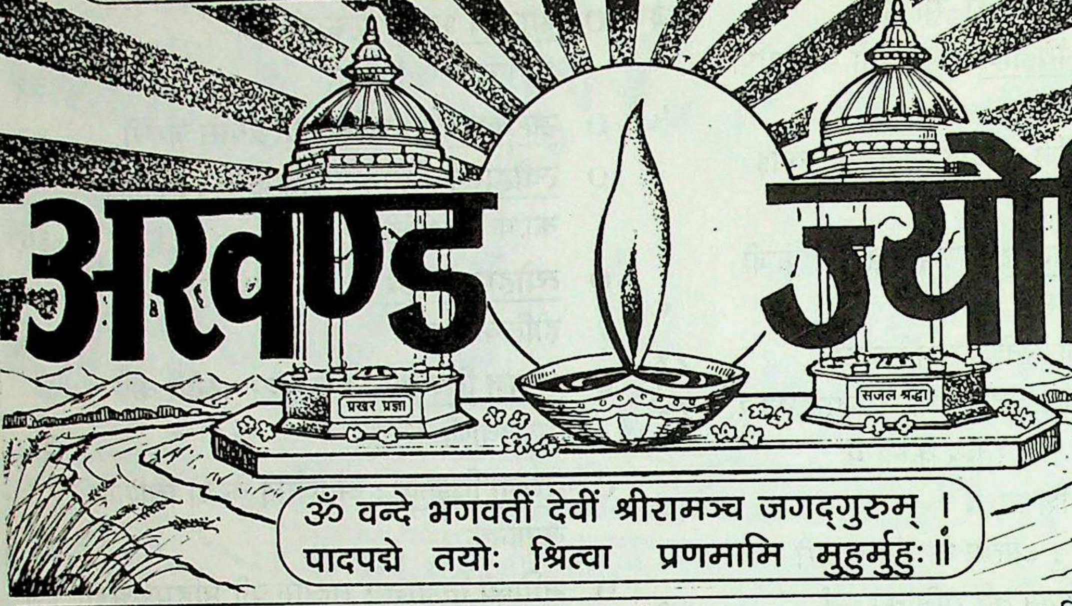

अखण्ड ज्योति

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

वर्ष-६५
अंक-३
मार्च, २००२
फाल्गुन-चैत्र—२०५८
प्रकाशन तिथि-१-२-२००२

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा

वार्षिक चंदा
भारत में ७२/-
विदेश में ७५०/-
आजीवन ९००/-
(सुरक्षा निधि)

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR
17/5/2002

चिंतन

एक छोटा-सा सत्य

सत्य की किरण भी पर्याप्त है। ग्रंथों के अंबार अपनी लाख कोशिशों के बावजूद जो नहीं कर पाते, सत्य की एक झलक आसानी से वह कर दिखाती है। अँधेरे में उजाला करने के लिए प्रकाश के ऊपर लिखे गए बड़े-बड़े ग्रंथ किसी काम के नहीं, एक मिट्टी का छोटा-सा दीया जलाना ही काफी है।

स्वामी विवेकानंद की वार्त्ताओं और व्याख्यानों में एक अपढ़ बूढ़ा निरंतर देखा जाता था। देखने वालों को हैरानी हुई। उनमें से कइयों ने सोचा कि भला एक अपढ़ गरीब वृद्ध व्यक्ति स्वामी जी की गंभीर वेदांत चर्चा को भला क्या समझता होगा। एक ने आखिर में उससे पूछ ही लिया, बाबा! तुम्हारी समझ में कुछ आता भी है या फिर यों ही अपना समय बरबाद करते रहते हो?

उस गरीब वृद्ध व्यक्ति ने जो उत्तर दिया, वह अद्‌भुत था। उसने कहा, जो बातें मुझे नहीं समझ में आतीं, अब उनके बारे में मैं क्या बताऊँ, लेकिन एक बात मैं बखूबी समझ गया हूँ और पता नहीं दूसरे लोग उसे समझे भी हैं अथवा नहीं। फिर मैं तो अपढ़-गँवार हूँ, बूढ़ा भी हूँ, मुझे बहुत सारी बातों से प्रयोजन भी क्या? मेरे लिए तो बस वह एक ही बात काफी है और उस बात ने मेरा सारा ज़ीवन ही बदल दिया है। अब न तो मुझे भय डराता है और न चिंताएँ सताती हैं। न तो अतीत की कोई कसक है, न वर्तमान की कोई परेशानी और न ही भविष्य की कोई चिंता बची है। बस आनंद-ही-आनंद है।

लोगों की जिज्ञासा बढ़ी, आखिर वह बात है क्या? उस वृद्ध व्यक्ति ने बताया, वह बात है कि मैं भी प्रभु से दूर नहीं हूँ। एक दरिद्र अज्ञानी बूढ़े से भी प्रभु दूर नहीं हैं। प्रभु निकट हैं, निकट ही नहीं स्वयं में हैं, इतने निकट कि हम दोनों बस एक ही हैं। यह छोटा-सा सत्य मेरी नजर में आ गया है और अब मैं नहीं समझता कि इससे भी बड़ा कोई सच हो सकता है।

सच भी यही है, जीवन बहुत तथ्य जानने से नहीं, बल्कि सत्य की एक छोटी-सी अनुभूति से ही बदल जाता है। जो बहुत जानने में लगे रहते हैं, वे प्रायः सत्य की उस छोटी-सी चिंगारी को गँवा बैठते हैं, जो प्रकाश और परिवर्तन लाती है और जिससे जीवन में बोध के नए आयाम खुलते हैं। ○

विषय-सूची

0 **चिंतन** : परमात्मा पर्याप्त है ३
0 **सुख की खोज** : शाश्वत की खोज अपने अंदर ही करें ५
0 **योग** : अंतर्यात्रा का ज्ञान-विज्ञान ७
0 **परमसुख** : निर्वाण परम सुख ११
0 **मातृत्व का विकास** : मातृत्व का सम्यक् बोध ही नवरात्रि का मूल १३
0 **नववर्ष विशेष** : नव संवत्सर का संदेश १६
0 **ज्ञान का विज्ञान** : ज्ञान के युगसत्य का बोध कैसे हो ? १७
0 **पर्व विशेष** : राम अनंत, अनंत गुण, अमित कथा विस्तार २०
0 **सत्य संदेश** : परमतत्त्व का सत्य २३
0 **आतंकवाद** : जननायक श्रीराम, जो जूझे जीवनभर आतंकवाद से २५
0 **इतिहास** : विक्रम संकल्प ही बनेगा हमारी सही पहचान २७
0 **मंत्र विज्ञान** : गायत्री महाशक्ति का प्रताप २९
0 **राष्ट्र रक्षा** : एक कला, जिसके सुनियोजन पर राष्ट्र की रक्षा संभव है ३२
0 **नवरात्र विशेष** : तपसाधना का ठीक यही है उचित मुहूर्त ३५
0 **चिकित्सा विज्ञान** : वात व्याधि निवारण की यज्ञोपचार प्रक्रिया ३७
0 **अध्यात्म का मर्म** : गुरुभक्ति से बढ़कर कोई साधना नहीं ३९
0 **जीवन शैली** : परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी ४२
0 **प्रसुप्ति से जाग्रति** : बंदउँ गुरुपद कंज ४७
0 **प्रेरणा स्रोत** :सद्गुरु की परम पावन पाती ४९
0 **ज्ञान विज्ञान** : युगगीता (३२) ५१
0 **पत्रों से मार्गदर्शन** : गुरुकथामृत (३२) ५५
0 श्रीरामलीलामृतम् (४) ५९
0 **समाचार** : केंद्र के समाचार क्षेत्र की हलचलें ६२
0 अपनों से अपनी बात ६३
0 विश्वमाता-गायत्री (कविता) ६६

अप्रैल—मई, २००२ के पर्व-त्योहार

८	अप्रैल, २००२	पापमोचनी एकादशी
१३	अप्रैल, २००२	नव विक्रम संवत् प्रारंभ / नवरात्र आरंभ
१४	अप्रैल, २००२	डॉ. भीमराव अंबेडकर जयंती
१५	अप्रैल, २००२	गणगौर
२०	अप्रैल, २००२	दुर्गाष्टमी
२१	अप्रैल, २००२	श्रीरामनवमी
२३	अप्रैल, २००२	कामदा एकादशी
२५	अप्रैल, २००२	श्री महावीर स्वामी जयंती
२६	अप्रैल, २००२	हनुमान् जयंती
१	मई, २००२	मई दिवस
८	मई, २००२	वरुथिनी एकादशी
१५	मई, २००२	अक्षय तृतीया / परशुराम जयंती
२२	मई, २००२	मोहिंनी एकादशी
२६	मई, २००२	बुद्ध पूर्णिमा

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम
अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

प्रखर प्रज्ञा
सजल श्रद्धा

अखण्ड ज्योति

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

वर्ष-६५
अंक-४
अप्रैल, २००२
चैत्र-वैशाख—२०५८-५९
प्रकाशन तिथि-१.३.२००२

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा

वार्षिक चंदा
भारत में ७२/-
विदेश में ७५०/-
आजीवन ९००/-
(सुरक्षा निधि)

चिंतन

परमात्मा पर्याप्त है

LIBRARY
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR

अनेकों तरह से अनेक संपत्तियों की खोज में बाहर भटका। ये मिलीं भी, लेकिन अंत में उन्हें विपत्ति पाया। फिर स्वयं में, अपने ही अंदर संपत्ति की खोज-बीन शुरू की। जो मिला वही परमात्मा था। तब अनुभव हुआ कि परमेश्वर को खो देना ही विपत्ति है और उसे पा लेना ही संपत्ति है।

पुरानी कथा है, किसी चारण ने एक सम्राट् की बहुत तारीफ की। उसकी स्तुति में अनेक सुंदर गीत गाए। यह सब उसने कुछ पाने की लालसा से किया। उसकी प्रशंसाओं से सम्राट् हँसता रहा। फिर उसने स्तुतिगान करने वाले उस चारण को सोने की बहुत-सी मुहरें भेंट कीं। उस व्यक्ति ने जब इन मुहरों पर निगाह डाली, तो उसके अंदर कुछ कौंध गया। एक चमक उसकी चेतना में बिखर गई।

उसने आकाश की ओर कृतज्ञता भरी नजरों से देखा। लगा आकाश भी मौन स्वरों में उसके अंतर भावों के साथ सहमति जता रहा है। अब उसने मुहरें फेंक दीं और वह नाचने लगा। एक अनूठी कृतज्ञता उसके मुख पर छा गई। उसका हाल कुछ का कुछ हो गया। उन मुहरों को देखकर उसमें न मालूम कैसी क्रांति हो गई थी। अब वह चारण न रहा, संत हो गया। उसकी अंतर्चेतना में कामना की बजाय प्रार्थना के स्वर गूँजने लगे।

बहुत वर्षों बाद किसी ने उससे पूछा, ऐसा क्या था उन मुहरों में ? क्या वे जादुई थीं। वह हँसा और बोला, मुहरें नहीं, वह वाक्य जादुई था, जो उसमें लिखा था। कुछ पलों की आत्मनिमग्नता के बाद उसने अपनी बात पूरी की, उस पर लिखा था, ''जीवन की सभी आवश्यकताओं के लिए परमात्मा पर्याप्त है।''

सच ही 'परमात्मा पर्याप्त है'। जो जानते हैं, वे सभी इस सच की गवाही देते हैं। यह जीवन की गहरी अनुभूति है, जिनके पास सब कुछ है, सारा ऐश्वर्य है, ईश्वर के बिना वे दरिद्र दिखाई देते हैं। ऐसे संपत्तिशाली भी मिले, जिनके पास कुछ भी नहीं, केवल परमात्मा है। तभी यह सूत्र प्रकट हुआ, जिन्हें सब पाना है, उन्हें सब छोड़ देना होगा। जो सब छोड़ने का साहस रखते हैं, वे स्वयं प्रभु को पा लेते हैं। उनके सामने यह सच अनायास ही उजागर हो जाता है कि 'परमात्मा पर्याप्त है'। ➪

विषय-सूची

0 **चिंतन** : धर्म का तत्त्व ३
0 **जीवन-सत्य** : सृजेता की दिव्य धरोहर—यह जीवन ५
0 **सृष्टि-रहस्य** : कण-कण में समाई भगवान की सत्ता ७
0 **सत्य की खोज** : सत्य शास्त्रों में नहीं, अनुभव में है ९
0 **विधि-विधान** : यहाँ कोई संयोग नहीं, सभी पूर्व नियोजित है १२
0 **सत्य का आधार** : सत्य की साधना हेतु कुछ स्वर्णिम सूत्र १५
0 **जीवन-मूल्य** : जीवन जीने के लिए मिला है, मरने के लिए नहीं १७
0 **अहंकार का दुष्प्रभाव** : नहुष का पतन : एक शिक्षण २०
0 **योग** : ध्यान-धारणा की सिद्धि बना देती है कालजयी २३
0 **परा मनोविज्ञान** : परे और पार के सच को जानने की चाहत २५
0 **प्रकाश विज्ञान** : आभामंडल का ज्ञान-विज्ञान २७
0 **शंकराचार्य जयंती पर विशेष** : जिनके अवतरण से धन्य हुआ धराधाम २९
0 **मानसिक स्वास्थ्य** : मन को साधें, ताकि शरीर सधे ३१
0 **नेत्र विज्ञान** : क्या आप भी बार-बार पलकें झपकाते हैं ३३
0 **पर्व विशेष** : ईश्वरत्व को उपलब्ध करने वाले महान् आस्तिक ३५
0 **चिकित्सा विज्ञान** : वातव्याधि निवारण की यज्ञोपचार प्रक्रिया ३७
0 **सच्चा अध्यात्म** : परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी ३९
0 **आत्मनियंत्रण** : चित्तवृत्ति निरोध की अनुभूति कैसे हो ४४
0 **भविष्य-दर्शन** : वह मार्गदर्शन, जिसने इस वटवृक्ष को सींचा ४७
0 अखण्ड ज्योति के प्रथम अंक की कथा-गाथा ४९
0 **गायत्री जयंती विशेष** : वह अविस्मरणीय दिवस ५१
0 **ज्ञान का विज्ञान** : युगगीता—(३३) ५३
0 **पत्रों से मार्गदर्शन** : गुरुकथामृत—(३३) ५७
0 श्रीरामलीलामृतम्—(५) ६०
0 अपनों से अपनी बात ६३
0 **समाचार** : केंद्र के समाचार—क्षेत्र की हलचलें ६५
0 परावाणी के निर्देश (कविता) ६६

मई—जून, २००२ के पर्व-त्योहार

१ मई, २००२	मई दिवस
७ मई, २००२	रवींद्रनाथ टैगोर जयंती
८ मई, २००२	वरूथिनी एकादशी
१५ मई, २००२	अक्षय तृतीया / परशुराम जयंती
२२ मई, २००२	मोहिनी एकादशी
२६ मई, २००२	बुद्ध पूर्णिमा
५ जून, २००२	विश्व पर्यावरण दिवस
६ जून, २००२	अपरा एकादशी
१० जून, २००२	वट अमावस्या
२० जून, २००२	गंगा दशहरा / गायत्री जयंती / पूज्य गुरुदेव महाप्रयाण दिवस
२१ जून, २००२	निर्जला एकादशी
२४ जून, २००२	कबीर जयंती

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम
अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

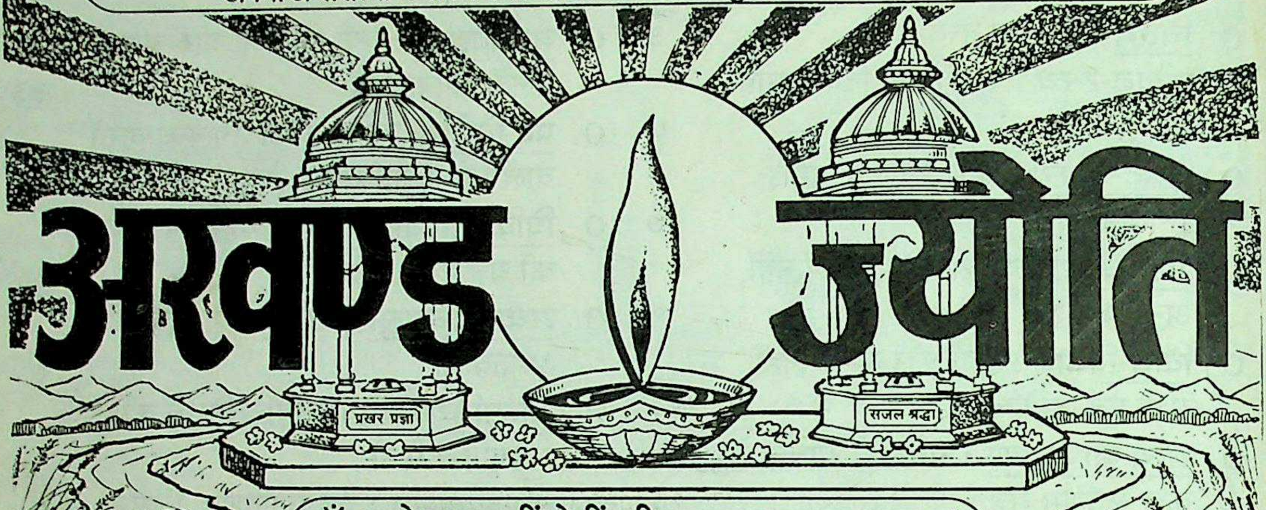

अखण्ड ज्योति

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

वर्ष-६५
अंक-५
मई, २००२
वैशाख-ज्येष्ठ—२०५९
प्रकाशन तिथि-१.४.२००२

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा

वार्षिक चंदा
भारत में ७२/-
विदेश में ७५०/-
आजीवन ९००/-
(सुरक्षा निधि)

LIBRARY
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR

चिंतन

○ धर्म का तत्त्व ○

धर्म के विस्तार एवं विविधता की खोज अनावश्यक है। आवश्यक है धर्म के तत्त्व की खोज, इसकी अनेकता में एकता की खोज, इसके परम सार की खोज। यह खोज जितनी अनिवार्य एवं पवित्र है, इसकी विधि उतनी ही रहस्यमय और आश्चर्यपूर्ण है। इसे न समझने वाले जीवन के भँवरों की भटकन में भटकते रहते हैं। धर्म को खोजते हुए स्वयं को खो देते हैं, क्योंकि वे धर्म के तत्त्व को नहीं उसके विस्तार एवं विविधता को खोजते हैं।

धर्म के तत्त्व की खोज तो स्वयं की खोज में पूरी होती है। स्वयं का सत्य मिलने पर धर्म अपने आप ही मिल जाता है। यह तत्त्व शास्त्रों में नहीं है। शास्त्रों में तो जो है, वह केवल संकेत है। धर्म ग्रंथों में जो लिखा है, वह तो बस चंद्रमा की ओर इशारा करती हुई अँगुली भर है। जो इस अँगुली को चंद्रमा समझने की भूल करता है, वह अँगुली को तो थाम लेता है, पर चंद्रमा को हमेशा के लिए खो देता है।

शास्त्रों की ही भाँति संप्रदाय भी हैं। धर्म का तत्त्व इन संप्रदायों में भी नहीं है। संप्रदाय तो विभिन्न उपासनापद्धतियों पर टिके संगठन हैं। ये सुव्यवस्थित रीति से अपने मत का प्रचार करते हैं। बहुत हुआ तो धर्म की ओर रुचि पैदा करते हैं। अधिक-से-अधिक उसकी ओर उन्मुख कर देते हैं। धर्म का तत्त्व तो निज की अत्यंत निजता में है। उसके लिए स्वयं के बाहर नहीं, भीतर चलना आवश्यक है।

धर्म का तत्त्व तो स्वयं की श्वास-श्वास में है। बस उसे उघाड़ने की दृष्टि नहीं है। धर्म का तत्त्व स्वयं के रक्त की प्रत्येक बूँद में है। बस उसे खोजने का साहस और संकल्प नहीं है। धर्म का तत्त्व तो सूर्य की भाँति स्पष्ट है, लेकिन उसे देखने के लिए आँख खोलने की हिम्मत तो जुटानी ही होगी।

धर्म का यही तत्त्व तो अपना सच्चा जीवन है, लेकिन इसकी अनुभूति तभी हो सकेगी, जब हम देह की कब्रों से बाहर निकल सकेंगे। दैहिक आसक्ति एवं भोग-विलास के आकर्षण से छुटकारा पा सकेंगे। यह परम सत्य है कि धर्म की यथार्थता जड़ता में नहीं, चैतन्यता में है। इसलिए सोओ नहीं जागो और चलो। परंतु चलने की दिशा बाहर की ओर नहीं, अंदर की ओर हो। अंतर्गमन ही धर्म के तत्त्व को खोजने और पाने का राजमार्ग है। ○

विषय-सूची

0 जीवन विद्या का आलोक केंद्र ३
0 देव संस्कृति एवं उसके निहितार्थ ४
0 द्रष्टा ने देखा एक दिव्य स्वप्न ७
0 केंद्र, जहाँ से पाया संस्कृति संवेदना ने विश्व-विस्तार ९
0 ऋषि दृष्टि से ही होगी यह क्रांति १२
0 विश्व दृष्टि ही उबारेगी आज की संकीर्ण सोच से १४
0 देव संस्कृति का साधना मंदिर विश्वविद्यालय का भवन १६
0 विराट् व्यवस्था तंत्र एवं उसकी बारीकियाँ १८
0 जीवनदृष्टि से ओतप्रोत 'विद्याप्रधान' पाठ्यक्रम २०
0 विद्या विस्तार की धुरी—पाठ्यक्रम निर्मात्री परिषद् २२
0 देव संस्कृति के ज्योति स्तंभ बनेंगे ये संकाय २४
0 ऋषिकल्प जीवन के अभिलाषियों के लिए है साधना संकाय २६
0 समग्र एवं संपूर्ण स्वास्थ्य पर विज्ञानसम्मत अध्ययन-अध्यापन २८
0 सृजन संवेदना की दिव्यता का शिक्षण देने वाला संकाय ३०
0 सद्गुणों का समुचित प्रबंधन सिखाएगा स्वावलंबन संकाय ३२
0 ऋषित्व की प्रगाढ़ अनुभूति की परिचायक शोध-साधना ३४
0 विद्या-साधना का दिव्य मंदिर—ग्रंथालय ३६
0 ऋषि संस्कृति का बहुआयामी स्वरूप दर्शाएगा—प्रकाशन तंत्र ३८
0 संस्कृति सृजन में निपुण तपःपूत शिल्पी बनेंगे आचार्य ४०
0 दिशावान, तनावमुक्त, व्यक्तित्ववान विद्यार्थी ही होगा मूलकेंद्र में ४२
0 प्रवेश हेतु पात्रता के परीक्षण की कसौटियाँ ४४
0 दिव्य वातावरण में नवयुग का संस्कृति सृजन ४६
0 अनुबंधों-व्रतबंधों की अनुशासन-मर्यादाएँ ४८
0 शिक्षण प्रक्रिया की मौलिकता—अज्ञान का निवारण ५०
0 ज्ञान की उपलब्धियों का संगोष्ठी द्वारा पारस्परिक वितरण ५२
0 तप और विद्या के अर्जन की मौलिक मूल्यांकन विधियाँ ५४
0 विद्या एवं सेवा का एक अद्भुत संगम ५६
0 राष्ट्र धर्म की दीक्षा देना प्रथम कर्त्तव्य ५८
0 संबद्ध केंद्र बनाएँगे विश्व-वसुधा को देव कुटुंब ६०
0 नवयुग को जीवन देने वाले संस्कृति दूत यहाँ गढ़े जाएँगे ६२
0 अपनों से अपनी बात ६४
0 साधना आधार है, यह प्रगति का द्वार है (कविता) ६७

जून-जुलाई, २००२ के पर्व-त्योहार

५ जून, २००२	विश्व पर्यावरण दिवस
६ जून, २००२	अपरा एकादशी
१० जून, २००२	वट अमावस्या
२० जून, २००२	गंगा दशहरा / गायत्री जयंती / पूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य महाप्रयाण दिवस
२१ जून, २००२	निर्जला एकादशी
२४ जून, २००२	कबीर जयंती
६ जुलाई, २००२	योगिनी एकादशी
१२ जुलाई, २००२	रथ यात्रा
२० जुलाई, २००२	देवशयनी एकादशी
२४ जुलाई, २००२	गुरु पूर्णिमा / व्यास पूजा

अखण्ड ज्योति

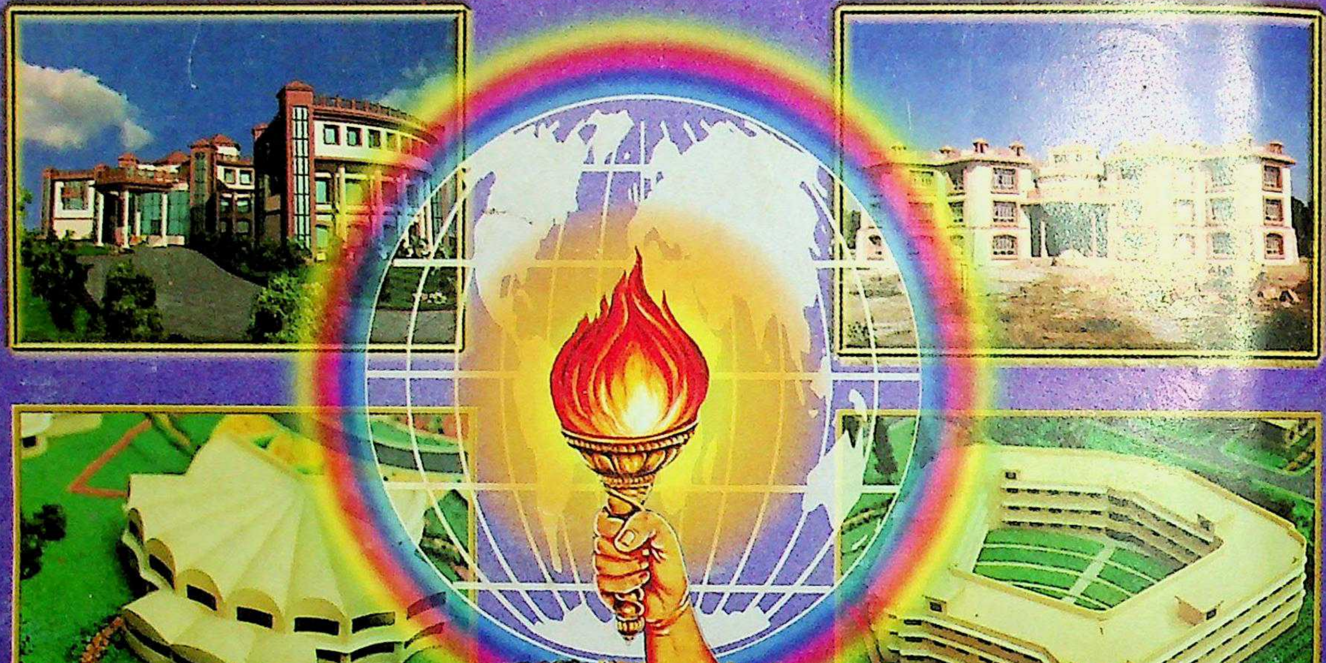

देव संस्कृति विश्वविद्यालय विशेषांक

जून -२००२

विषय-सूची

- **चिंतन** : शिष्यत्व का समर्पण ३
- **नैतिकता** : नैतिकता के यक्ष प्रश्न एवं उनके वैज्ञानिक समाधान ५
- **चेतना विज्ञान** : एक ही समय अनेक स्थानों पर एक ही शरीर ७
- **भारतीय नारी** : मीनल की कहानी ९
- **मानवीय सद्गुण** : ऋषि आदर्श को निभाने वाले कुलपति १२
- **मनोविज्ञान** : भाव दशा में होना ही ध्यान है १३
- **आरोग्य** : विषय-विकारों से निवृत्ति का साधन—उपवास १६
- **आस्था-बल** : महाशक्ति को समर्पित एक जीवन १९
- **बाल-मनोविज्ञान** : आखिर! बच्चे कहना क्यों नहीं मानते २२
- **इतिहास** : स्वयं को मारकर मिलता है निर्वाण २४
- **चिकित्सा विज्ञान** : पक्षाघात निवारण हेतु यज्ञोपचार प्रक्रिया २६
- **मनोबल** : हर तूफान के बाद मने एक उत्सव २९
- **वृहत्तर व्यक्तित्व निर्माण** : अहंता की गाँठ खुले तो आत्मबोध हो ३०
- **शोध-निष्कर्ष** : चिंता व तनाव मुक्ति हेतु प्रणव मंत्र का जप ३२
- **गुरुपूर्णिमा विशेष-१** : तंत्र का प्रयोग मात्र लोक सेवार्थ ३४
- **गुरुपूर्णिमा विशेष-२** : गुरु और शिष्य का सच्चा मिलन ३६
- **गुरुपूर्णिमा विशेष-३** : बंदउँ गुरुपद पदुम परागा ३८
- **गुरुपूर्णिमा विशेष-४** : गुरुकृपा से ही सुन सकेंगे वह दिव्य संगीत ४०
- **गुरुपूर्णिमा विशेष-५** : आदि जिज्ञासा, शिष्य का प्रथम प्रश्न ४२
- **अंतर्जगत् की यात्रा का विज्ञान** : बस बन जाओ अपने गुरु के यंत्र ४४
- **मानवीय व्यक्तित्व** : परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी ४६
- **समाज-निर्माण** : देव दक्षिणा की परिणति : एक आदर्श ग्राम ५१
- **ज्ञान की महिमा** : युगगीता-३४ ५२
- **पत्रों से मार्गदर्शन** : गुरुकथामृत-३४ ५६
- श्रीरामलीलामृतम्-६ ५९
- अपनों से अपनी बात ६३
- **समाचार** : केंद्र के समाचार—विश्व की हलचलें ६५
- पावन पर्व समर्पण का (कविता) ६६

जुलाई—अगस्त, २००२ के पर्व-त्योहार

६ जुलाई, २००२	योगिनी एकादशी
१२ जुलाई, २००२	रथ यात्रा
२० जुलाई, २००२	देवशयनी एकादशी
२४ जुलाई, २००२	गुरु पूर्णिमा / व्यास पूजा
५ अगस्त, २००२	कामिका एकादशी
१३ अगस्त, २००२	नाग पंचमी
१४ अगस्त, २००२	तुलसी जयंती
१५ अगस्त, २००२	स्वतंत्रता दिवस
१८ अगस्त, २००२	पवित्रा एकादशी
२२ अगस्त, २००२	रक्षाबंधन
२९ अगस्त, २००२	हल षष्ठी
३१ अगस्त, २००२	श्रीकृष्ण जन्माष्टमी

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम
अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

अखण्ड ज्योति
प्रखर प्रज्ञा
सजल श्रद्धा

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

वर्ष-६५
अंक-७
जुलाई, २००२
आषाढ़-श्रावण — २०५९
प्रकाशन तिथि १.६.२००२

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा

वार्षिक चंदा
भारत में ७२/-
विदेश में ७५०/-
आजीवन ९००/-
(सुरक्षा निधि)

चिंतन

शिष्यत्व का समर्पण

शिष्यत्व का समर्पण आध्यात्मिक जीवन का सौभाग्य-शिखर है। बड़े ही पुण्यवान जनों के हृदयों में शिष्यत्व अंकुरित होता है। यह अंकुरण सहज नहीं है। अनेक जन्मों के तप, व्रत, जप, दान और अगणित शुभ कर्मों के सुयोग से हृदय-भूमि इतनी उर्वर हो पाती है कि उसमें शिष्यत्व अंकुरित हो सके। इस अद्भुत-अलौकिक अंकुरण का बड़े जतन से रख-रखाव करना पड़ता है। एक तरफ सांसारिक विषय-वासना की विपदाओं से बचना पड़ता है, तो दूसरी ओर बड़ी आध्यात्मिक विकलता से सद्गुरु को टेर लगानी पड़ती है। बड़े ही भाव-विह्वल हृदय से उन्हें पुकारना पड़ता है। सद्गुरु की पुकार के अमृत जल से ही शिष्यत्व का यह बिरवा पल्लवित-पुष्पित होता है।

विकसित होते शिष्यत्व में बड़ा ही दैवी आकर्षण होता है। समस्त मानवीय सद्गुण अपने आप ही इस ओर खिंचे चले आते हैं। आध्यात्मिक शक्तियाँ और अनुभूतियाँ, दिव्य लोकों के ऋषि व देवगण अनायास ही इस पर अपनी कृपा-वृष्टि करते हैं, लेकिन शिष्य तो बस अपने सद्गुरु के चरणों की धूलि चाहता है। गुरुप्रेम की पुकार उसके प्राणों में बसती है। गुरुभक्ति में उसकी भावनाएँ पलती हैं। गुरुश्रद्धा उसका सर्वस्व होती है। उसे तो बस एक ही धुन रहती है, कब मेरे समर्पण को पूर्णता मिलेगी? कब मेरे आराध्य मेरे समूचे अस्तित्व को स्वीकारेंगे? कब वह मेरे हृदय की भावनाओं को अपनी भावना बनाएँगे?

इस धुन में शिष्यत्व-दिव्यता का महाचुंबकत्व सघन हो जाता है। उसमें न लोक की कोई चाहत बचती है और न परलोक की। अब उसे न कोई कामना सताती है, न कोई वासना। स्वर्ग, मुक्ति, ज्ञान, ध्यान सबके सब गुरुप्रेम में विलीन हो जाते हैं। उसके प्रत्येक कर्म के कौशल में, विचारों के संवेदन में, भावनाओं की विह्वलता में बस समर्पण के स्वर गूँजते हैं। **'सद्गुरु कृपा हि केवलम्, न हि अन्यत्र मे जीवनम्'** प्राणों में बस यही एक गीत पलता है। शिष्यत्व की कोई माँग नहीं होती, उसकी कोई शर्त नहीं होती। वह तो अपने प्रभु पर निछावर हो जाना चाहता है। स्वयं को उन पर लुटा देना चाहता है। उनके प्रत्येक संकेत व आदेश पर सौ-सौ बार जीना-मरना चाहता है। उसके इस समर्पण को पूर्णता देने के लिए परम कृपालु गुरुदेव उसकी अंतर्चेतना में अवतरित होते हैं। शिष्यत्व में गुरुपूर्णिमा के प्रेरक पर्व की उमंगें बरस जाती हैं। ○

विषय-सूची

- चिंतन : प्रपंच की माया, मुक्ति के उपाय ३
- चेतना विज्ञान : सच्चिदानंद रूप है हमारी जीवात्मा ५
- प्रकाश विज्ञान : ज्योतिस्वरूप मानव का उपचार भी प्रकाश ही करेगा ७
- जीवन-दर्शन : गुरु ही जीवन की पूर्णता है १०
- रक्षाबंधन : पर्व विशेष : नारी शक्ति की अस्मिता की रक्षा का पर्व १३
- इतिहास : गुरु का ध्यान ही प्रेम की कसौटी १५
- पर्व विशेष : सृष्टि का जन्मोत्सव पर्व १८
- मंत्र विज्ञान : गायत्री उपासना के मूल में निहित वैज्ञानिक सत्य १९
- राष्ट्र चिंतन : आत्मचिंतन का महापर्व : स्वाधीनता दिवस २२
- साहित्य : मानस का मर्म २५
- पुरातत्त्व विज्ञान : एक वैदिक सत्य, जो बन रहा है वैज्ञानिक सत्य २७
- साहित्य : ऋषिचेतना के ज्ञान प्रसार का माध्यम लेखन कला ३०
- जीवन-दर्शन : रिक्तता ही है, परम सिद्धि ३३
- मनोविज्ञान : यौगिक जीवन ही स्वस्थ मन दे सकेगा ३५
- इतिहास : राखी के कच्चे धागे ने बदला इतिहास ३७
- जीवन संघर्ष : पैंसठ वर्ष की एक अनंत यात्रा के प्रारंभिक पड़ाव ३९
- जीवन-दर्शन : दु:ख की चोटें ही बनाती हैं आदमी को ४१
- गुरुगीता-२ ४३
- बस! मन को साक्षी भर बना लो ४५
- जीवन-दर्शन : मातृवाणी ४७
- युगगीता-३५ ५३
- गुरुकथामृत-३५ ५७
- समाचार : केंद्र के समाचार-क्षेत्र की हलचलें ६०
- चेतना की शिखर यात्रा-७ ६१
- एक महान सृजन सेनानी गुरुतत्त्व में विलीन ६४
- अपनों से अपनी बात ६५
- आत्मबोध (कविता) ६६

अगस्त—सितंबर, २००२ के पर्व-त्योहार

५ अगस्त, २००२	कामिका एकादशी	९ सितंबर, २००२	हरितालिका तीज
१३ अगस्त, २००२	नाग पंचमी	११ सितंबर, २००२	ऋषि पंचमी
१४ अगस्त, २००२	तुलसी जयंती	१७ सितंबर, २००२	विश्वकर्मा जयंती / जलझूलनी एकादशी
१५ अगस्त, २००२	स्वतंत्रता दिवस		
१८ अगस्त, २००२	पवित्रा एकादशी	१८ सितंबर, २००२	वामन जयंती
२२ अगस्त, २००२	रक्षाबंधन	२१ सितंबर, २००२	महाप्रयाण दिवस वंदनीया माताजी / महालयारंभ
२९ अगस्त, २००२	हलषष्ठी		
३१ अगस्त, २००२	श्रीकृष्ण जन्माष्टमी	२५ सितंबर, २००२	वंदनीया माता भगवती देवी शर्मा जयंती
३ सितंबर, २००२	अजा एकादशी		
७ सितंबर, २००२	कुशाग्रहणी अमावस्या	३० सितंबर, २००२	मातृनवमी

विषय-सूची

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम
अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

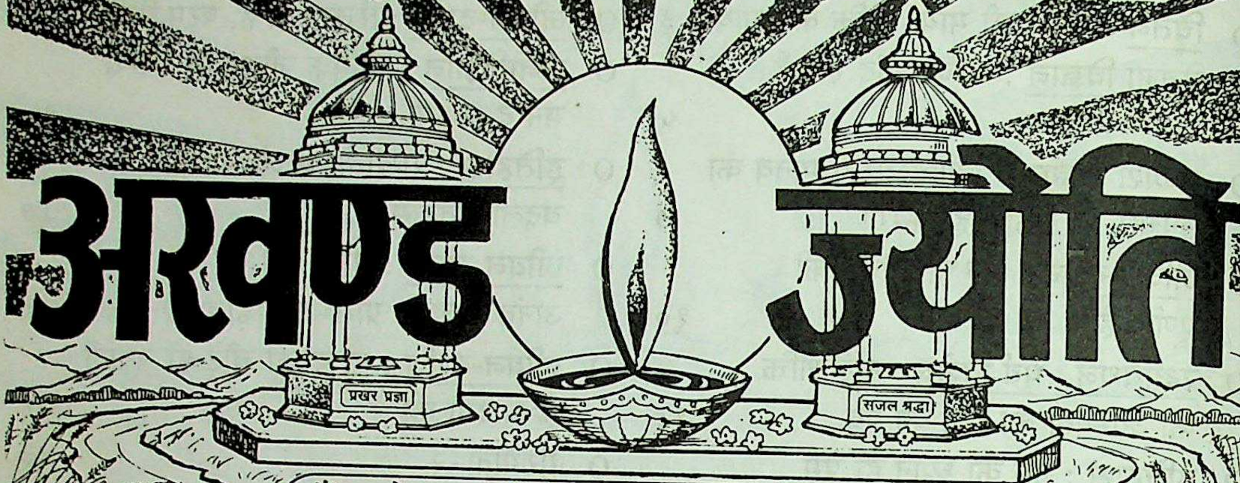

अखण्ड ज्योति

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

वर्ष-६५
अंक-८
अगस्त, २००२
श्रावण-भाद्रपद — २०५९
प्रकाशन तिथि १.७.२००२

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा

वार्षिक चंदा
भारत में ७२/-
विदेश में ७५०/-
आजीवन ९००/-
(सुरक्षा निधि)

चिंतन

प्रपंच की माया, मुक्ति के उपाय

प्रपंच की माया जादुई है। इसके सम्मोहक आकर्षण से विरले ही बच पाते हैं। ज्यादातर इसमें उलझकर भ्रमित होते हैं। उन्हें पता भी नहीं चल पाता कि वे भ्रम में भटके हुए जीवन के बहुमूल्य क्षणों को खो रहे हैं। जीवन लक्ष्य से दूर हो रहे हैं। प्रपंच की मायावी मुस्कानों में, इससे उपजे हँसी-ठहाकों में जीवन ठगा जाता है। जिंदगी की उजली संभावनाएँ कब पतन के अँधेरों में समा जाती हैं, पता ही नहीं चलता।

इसकी पहचान आसान नहीं है। परचर्चा से इसकी शुरुआत होती है। परनिंदा का रस इसमें घुलने से इसके नशे का नशीलापन गाढ़ा, मायावी और जादुई बनता है। परचर्चा और परनिंदा का घुला-मिला रूप ही प्रपंच है। इसकी मायावी चकाचौंध में सबसे पहले जीवन की विवेक दृष्टि खोती है। जीवन लक्ष्य की स्मृति विलीन होती है, फिर अनायास ही द्वेष, दुर्मति एवं दुर्बुद्धि पनप जाते हैं। इसके मायावी जादू से मित्र, शत्रु नजर आते हैं और भटकाने वाले प्रपंचीजन सगे-संबंधी लगते हैं।

प्रपंच के अंकुर कभी भी, कहीं भी, किसी में भी फूट निकलते हैं। बस इसके विषय बीजों के लिए परचर्चा और परनिंदा का खाद-पानी चाहिए। इसकी विषवल्लरी के उपजते, पनपते और पल्लवित होते ही व्यक्ति आत्मविमुख व ईश्वरविमुख हो जाता है। अंतःकरण में इसके जन्मते ही ईश्वर और आत्मा केवल दो शब्द बनकर रह जाते हैं। इनका अर्थ खो जाता है। प्रपंच की इस माया में सामान्यजन ही नहीं, साधक भी उलझकर भ्रमित होते और भटकने लगते हैं।

उनकी साधना बातों और कर्मकांडों तक सिमट जाती है। साधना की आकृति फलती-फूलती है, पर उसकी प्रकृति के प्राण को प्रपंच चूसता रहता है। इन साधकों की ऐसी स्थिति के बारे में संत-कवियों ने कहा है, 'ब्रह्मज्ञान बिनु बात न करहीं। परनिंदा करि विष रस भरहीं॥' ब्रह्मज्ञान के बिना कोई बात नहीं करते, लेकिन अंतःकरण को परनिंदा के विष रस से भरते रहते हैं। इनका उद्धार वेदांत वचनों को पढ़ने, सुनने और प्रवचन करने से नहीं, प्रपंच के मायापाश से छूटने में है। संत कवि तुलसी के वचनों में सभी के लिए सीख है, 'परचर्चा, परनिंदा तजि, भजुहरि' अर्थात् परचर्चा और परनिंदा को छोड़कर हरि को भजो, तभी प्रपंच की जादुई माया से छुटकारा मिलेगा। मोक्ष की तात्त्विक अनुभूति होगी। ☐

विषय-सूची

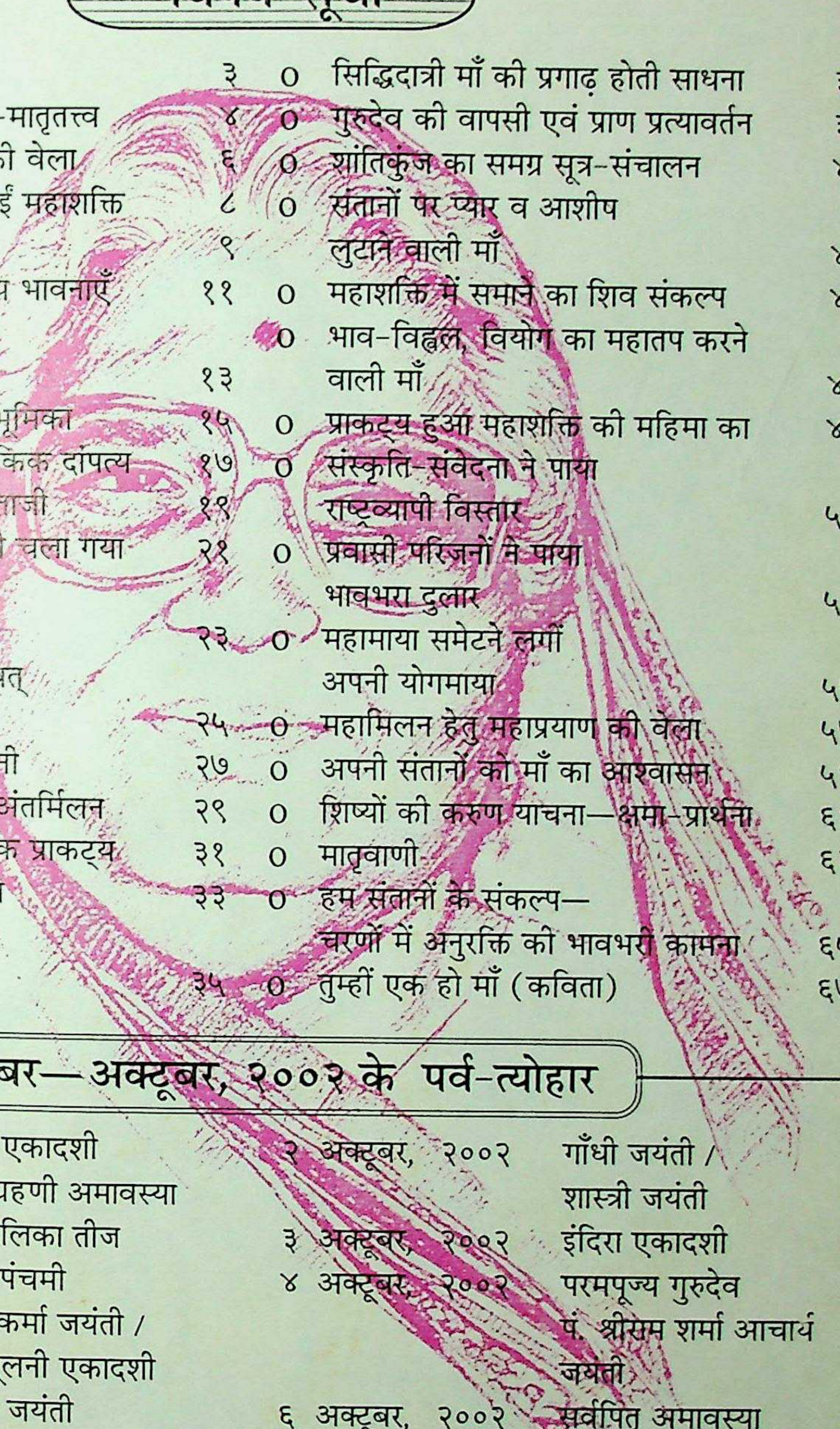

- माँ ३
- समस्त संवेदनाओं का मूल-मातृतत्त्व ४
- दिव्य ज्योति के अवतरण की वेला ६
- विशिष्ट वर्ष में अवतरित हुईं महाशक्ति ८
- बाल्यकाल के लीला प्रसंग ९
- बालक्रीड़ा में झलकती दिव्य भावनाएँ ११
- ध्यान की गहनता में दिखाई दिया अतीत १३
- आराध्य से मिलन की भावभूमिका १५
- मातृत्व के साथ निभा अलौकिक दांपत्य १७
- परिवार ही नहीं, सबकी माताजी १९
- मातृत्व का आँचल बढ़ता ही चला गया २१
- युगशक्ति की प्राणप्रतिष्ठा गायत्री तपोभूमि में २३
- कण-कण में समाया आत्मवत् सर्वभूतेषु का भाव २५
- आराध्यसत्ता की साधनासंगिनी २७
- शिव और शक्ति का अद्भुत अंतर्मिलन २९
- संचालन-सामर्थ्य का लौकिक प्राकट्य ३१
- दिव्य साधनास्थली का चयन ३३
- भावपरक विदाई लेकर शांतिकुंज आगमन ३५
- सिद्धिदात्री माँ की प्रगाढ़ होती साधना ३७
- गुरुदेव की वापसी एवं प्राण प्रत्यावर्तन ३९
- शांतिकुंज का समग्र सूत्र-संचालन ४१
- संतानों पर प्यार व आशीष लुटाने वाली माँ ४३
- महाशक्ति में समाने का शिव संकल्प ४५
- भाव-विह्वल, वियोग का महातप करने वाली माँ ४७
- प्राकट्य हुआ महाशक्ति की महिमा का ४९
- संस्कृति-संवेदना ने पाया राष्ट्रव्यापी विस्तार ५१
- प्रवासी परिजनों ने पाया भावभरा दुलार ५३
- महामाया समेटने लगीं अपनी योगमाया ५५
- महामिलन हेतु महाप्रयाण की वेला ५७
- अपनी संतानों को माँ का आश्वासन ५९
- शिष्यों की करुण याचना—क्षमा-प्रार्थना ६१
- मातृवाणी ६३
- हम संतानों के संकल्प—चरणों में अनुरक्ति की भावभरी कामना ६५
- तुम्हीं एक हो माँ (कविता) ६७

सितंबर—अक्टूबर, २००२ के पर्व-त्योहार

३ सितंबर, २००२	अजा एकादशी
७ सितंबर, २००२	कुशाग्रहणी अमावस्या
९ सितंबर, २००२	हरितालिका तीज
११ सितंबर, २००२	ऋषि पंचमी
१७ सितंबर, २००२	विश्वकर्मा जयंती / जलझूलनी एकादशी
१८ सितंबर, २००२	वामन जयंती
२१ सितंबर, २००२	महाप्रयाण दिवस वंदनीया माताजी / महालयारंभ
२५ सितंबर, २००२	वंदनीया माता भगवती देवी शर्मा जयंती
३० सितंबर, २००२	मातृनवमी
२ अक्टूबर, २००२	गाँधी जयंती / शास्त्री जयंती
३ अक्टूबर, २००२	इंदिरा एकादशी
४ अक्टूबर, २००२	परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जयंती
६ अक्टूबर, २००२	सर्वपितृ अमावस्या
७ अक्टूबर, २००२	नवरात्रारंभ
१५ अक्टूबर, २००२	विजयादशमी
१६ अक्टूबर, २००२	पापाकुंशा एकादशी
२१ अक्टूबर, २००२	शरदपूर्णिमा
२५ अक्टूबर, २००२	करवाचौथ

इस विशेषांक का संपादन ब्रह्मवर्चस द्वारा

अखण्ड ज्योति

प्रखर-प्रज्ञा
सजल-श्रद्धा

13/8/1

मातृसत्ता विशेषांक

सितंबर-२००२

विषय-सूची

- **चिंतन** : दीया धरती का, ज्योति आकाश की ३
- **जीवन शैली** : जीवन जीने के कलात्मक प्रयासों की परिणति ५
- **यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान** : राष्ट्रीय जीवन के उत्कर्ष की विधा—यज्ञ विज्ञान ७
- **हृदय-परिवर्तन** : साक्षी भाव में स्थित अंगुलिमाल मुक्त हो गया १०
- **आदर्श जीवन** : एक आदर्श जीवनपद्धति की बानगी १३
- **परामनोविज्ञान** : प्रेतात्मा की गवाही १६
- **शिक्षा विस्तार** : स्वाध्याय फले तब, जब पुरुषार्थ भी साथ हो १९
- **इतिहास** : भक्तवत्सल जगन्नाथ जी का रथ मजार पर रुकता है २१
- **लोकतंत्र** : भारतीय संसद के पचास वर्ष का लेखा-जोखा २३
- **जीवन परिष्कार** : रूपांतरण, नियंत्रण का उत्तरार्द्ध २६
- **पर्व विशेष** : लड़ें अब एक लड़ाई और, अँधेरे से २९
- **स्वतंत्रता का सच** : संपत्ति से नहीं, स्वतंत्रता से व्यक्ति होता है सम्राट् ३१
- **जीवन निर्माण** : परिवर्तन के सोपानों से हो रहा मानवीय विकास ३३
- **प्रकृति-दर्शन** : सूर्य उपासना की प्रवहमान कालसरिता ३५
- **चेतना जगत्** : गुरुगीता-४ ३७
- **मानव प्रकृति** : अंतर्जगत् की यात्रा का ज्ञान-विज्ञान ३९
- **विद्या विस्तार** : धर्म-विज्ञान केंद्र की महत्त्वाकांक्षी स्थापना ४२
- परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी ४५
- युगगीता—३७ ५१
- गुरुकथामृत—३७ ५५
- चेतना की शिखर यात्रा-९ ५८
- गायत्री तीर्थ-शांतिकुंज की वर्षभर चलने वाली सत्र व्यवस्था ६१
- अपनों से अपनी बात ६३
- केंद्र के समाचार—विश्वव्यापी हलचलें ६५
- दीपोत्सव पर्व पर संकल्प (कविता) ६६

नवंबर—दिसंबर, २००२ के पर्व-त्योहार

१	नवंबर,	२००२	रंभा एकादशी
२	नवंबर,	२००२	प्रदोष, धनतेरस
३	नवंबर,	२००२	रूप चतुर्दशी
४	नवंबर,	२००२	दीपावली
५	नवंबर,	२००२	अन्नकूट
६	नवंबर,	२००२	यम द्वितीया, भाईदूज
१३	नवंबर,	२००२	अक्षयनवमी
१४	नवंबर,	२००२	बाल दिवस
१५	नवंबर,	२००२	देव प्रबोधिनी एकादशी
१६	नवंबर,	२००२	चातुर्मास समाप्त
१९	नवंबर,	२००२	गुरुनानक जयंती
३०	नवंबर,	२००२	उत्पन्ना एकादशी
१५	दिसंबर,	२००२	गीता जयंती / मोक्षदा एकादशी
१९	दिसंबर,	२००२	भगवान दत्तात्रेय जयंती
२५	दिसंबर,	२००२	क्रिसमस डे / बड़ा दिन
२९	दिसंबर,	२००२	श्री पार्श्वनाथ जयंती
३०	दिसंबर,	२००२	सफला एकादशी

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम
अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

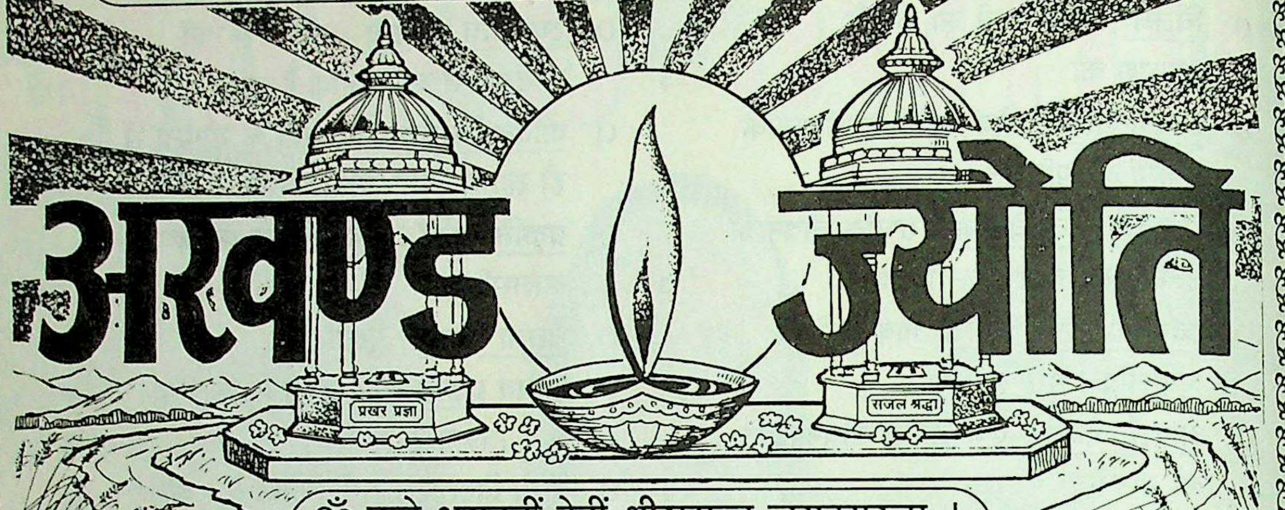

अखण्ड ज्योति

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

वर्ष-६५
अंक-११
नवंबर, २००२
कार्तिक-मार्गशीर्ष—२०५९
प्रकाशन तिथि १.१०.२००२

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा

वार्षिक चंदा
भारत में ७२/-
विदेश में ७५०/-
आजीवन ९००/-
(सुरक्षा निधि)

चिंतन

दीया धरती का, ज्योति आकाश की

दीपावली पर दीये जलाते समय दीये के सच को समझना निहायत जरूरी है, अन्यथा दीपावली की प्रकाशपूर्ण रात्रि के बाद केवल बुझे हुए मिट्टी के दीये हाथों में रह जाएँगे; आकाशीय-अमृत ज्योति खो जाएगी। अँधेरा फिर से सघन होकर घेर लेगा। जिंदगी की घुटन और छटपटाहट फिर से तीव्र और घनी हो जाएगी। दीये के सच की अनुभूति को पाए बिना जीवन के अवसाद और अँधेरे को सदा-सर्वदा के लिए दूर कर पाना कठिन ही नहीं, नामुमकिन भी है।

दीये का सच उसके स्वरूप में है। दीया भले ही मरणशील मिट्टी का हो, परंतु ज्योति तो अमृतमय आकाश की है। जो धरती का है, वह धरती पर ठहरा है, लेकिन ज्योति तो निरंतर आकाश की ओर भागी जा रही है। ठीक दीये की ही भाँति मनुष्य की देह भी मिट्टी ही है, किंतु उसकी आत्मा मिट्टी की नहीं है। वह तो इस मिट्टी के दीये में जलने वाली अमृत ज्योति है। हालाँकि अहंकार के कारण वह इस मिट्टी की देह से ऊपर नहीं उठ पाती है।

मिट्टी के दीये में मनुष्य की जिंदगी का बुनियादी सच समाया है। 'अप्प दीपो भव' कहकर भगवान बुद्ध ने इसी को उजागर किया है। दीये की माटी अस्तित्व की प्रतीक है, तो ज्योति चेतना की। परम चेतना रूप में परमात्मा की करुणा ही स्नेह बनकर बाती को सिक्त किए रहती है। चैतन्य ही प्रकाश है, जो समूचे अस्तित्व को प्रभु की करुणा के सहारे सार्थक बनाता है।

मिट्टी सब जगह सहज, सुलभ और सबकी है, किंतु ज्योति हर एक की अपनी और निजी है। केवल मिट्टी भर होने से कुछ नहीं होता। इसे कुंभकाररूपी गुरु के चाक पर घूमना पड़ता है। उसके अनुशासनरूपी आँवें में तपना पड़ता है। तब जाकर कहीं वह सद्गुरु की कृपा से परमात्मा की स्नेहरूपी करुणा का पात्र बनकर दीये का रूप लेती है—ऐसा दीया, जिसमें आत्मज्योति प्रकाशित होती है। दीपावली पर दीये तो हजारों-लाखों जलाए जाते हैं, पर इस एक दीये के बिना अँधेरा हटता तो है, पर मिटता नहीं। अच्छा हो कि इस दीपावली में दीये के सच की इस अनुभूति के साथ यह एक दीया और जलाएँ, ताकि इस मिट्टी की देह में आत्मा की ज्योति मुस्करा सके। ❁

विषय-सूची

- **चिंतन** : साधना का रहस्य ३
- **सृष्टि का ज्ञान-विज्ञान** : वेद का विज्ञान : प्रतीकात्मक ज्ञान ५
- **चेतना शक्ति** : है कोई अदृश्य शक्ति, जो जड़ को प्रभावित करती है ८
- **इतिहास** : अंधों में मात्र एक नेत्रवान ११
- **आत्मीयता विस्तार** : प्रेम साधना और उसकी परिणति १३
- **पारलौकिक विज्ञान** : सभी स्वीकार करते हैं पुनर्जन्म के सत्य को १५
- **समय सापेक्षता** : कैसे हो साक्षी भाव की सिद्धि १८
- **सामयिक विशेष** : अपने ही विनाश पर तुले हुए हम २१
- **नारी उत्थान** : विश्व पटल पर छाती जा रही है नारीशक्ति २३
- **स्वास्थ्य** : झपकी लें, स्वस्थ रहें २७
- **क्रिया-प्रतिक्रिया** : प्रतिध्वनि का दर्शन २९
- **व्यक्तित्व निर्माण** : नीर-क्षीर विवेक की अनिवार्यता ३१
- **पक्षी जगत्** : प्रवासी पक्षियों की ये नैसर्गिक यात्राएँ ३३
- **वातावरण की महत्ता** : अलौकिक चेतना में रमा-बसा दिव्य तीर्थधाम ३५
- **पराचेतना** : ऋषियों की मूर्ति में प्रतिष्ठित है गुरुचेतना का अंश ३७
- **तत्त्वज्ञान** : गुरुगीता—५ ३९
- **योग विज्ञान** : योग फलित होता है सम्यक् ज्ञान से ४१
- परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी ४४
- युगगीता—३८ ५०
- चेतना की शिखर यात्रा—१० ५४
- गुरुकथामृत—३८ ५७
- सौ प्रतिशत छूट का लाभ लें, दैवी अनुदानों के अधिकारी बनें ५९
- अब कमर कस ही लें व ज्ञानयज्ञ में भावभरी भागीदारी करें ६०
- *अपनों से अपनी बात*— मथुरा में आयोजित हुआ साधकों का महाकुंभ ६१

दिसंबर, २००२—जनवरी २००३ के पर्व-त्योहार

१५	दिसंबर,	२००२	गीता जयंती / मोक्षदा एकादशी
१९	दिसंबर,	२००२	भगवान दत्तात्रेय जयंती
२५	दिसंबर,	२००२	क्रिसमस डे / बड़ा दिन
२९	दिसंबर,	२००२	श्री पार्श्वनाथ जयंती
३०	दिसंबर,	२००२	सफला एकादशी
१	जनवरी,	२००३	नववर्ष आरंभ
१२	जनवरी,	२००३	विवेकानंद जयंती
१४	जनवरी,	२००३	पुत्रदा एकादशी
२३	जनवरी,	२००३	नेताजी जयंती
२६	जनवरी,	२००३	गणतंत्र दिवस
२८	जनवरी,	२००३	षट्तिला एकादशी
३०	जनवरी,	२००३	बापू निर्वाण दिवस

ॐ भूर्भुव: स्व: तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न: प्रचोदयात् ।
उस प्राणस्वरूप, दु:खनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम
अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

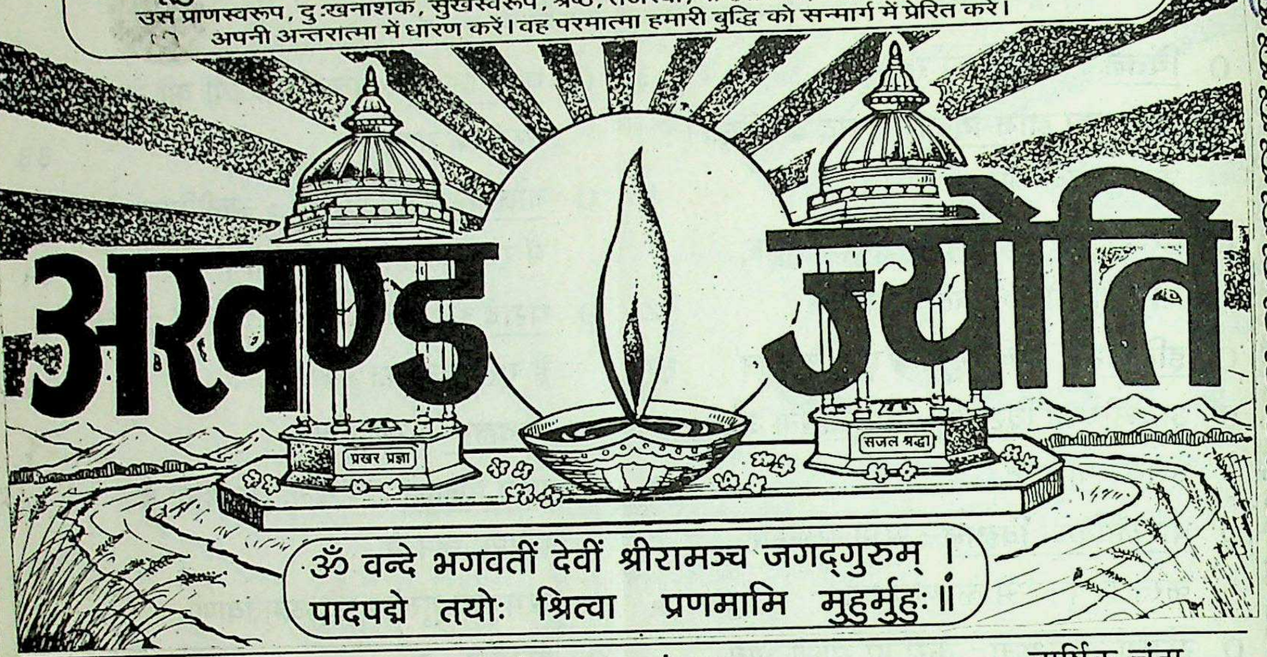

अखण्ड ज्योति

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

वर्ष-६५
अंक-१२
दिसंबर, २००२
मार्गशीर्ष-पौष—२०५९
प्रकाशन तिथि १.११.२००२

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा

वार्षिक चंदा
भारत में ७२/-
विदेश में ७५०/-
आजीवन ९००/-
(सुरक्षा निधि)

चिंतन

साधना का रहस्य

मनुष्य का अंत:करण दर्पण की भाँति है। सुबह से साँझ तक इस पर धूल जमती रहती है। लगातार इस धूल के जमते रहने से अंत:करण का दर्पण अपने स्वाभाविक गुणों को गँवा देता है और यह सचाई सर्वविदित है कि अंत:करण की अवस्था के अनुरूप ही मनुष्य को ज्ञान होता है। अंत:करण का दर्पण जिस मात्रा में स्वच्छ है, उस मात्रा में ही सत्य उसमें प्रतिबिंबित होता है।

सूफी संत जलालुद्दीन रूमी से किसी व्यक्ति ने अपनी मानसिक चंचलता का दुखड़ा रोया। उसकी परेशानी थी कि साधना में उसका मन एकाग्र नहीं होता। किसी भी तरह से उसका ध्यान नहीं जमता। रूमी ने मुस्कराते हुए उसे अपने एक मित्र साधु के पास यह कहकर भेजा, जाओ और उनकी समग्र दिनचर्या को बड़े ध्यान से देखो। वहीं तुम्हें साधना का रहस्य ज्ञात होगा।

निर्देश के अनुसार वह व्यक्ति उस साधु के पास गया। वहाँ जाकर उसे भारी निराशा हुई, क्योंकि वह साधु एक साधारण-सी सराय का रखवाला था। साथ ही वह स्वयं भी बहुत साधारण था। उसमें कोई ज्ञान के लक्षण भी दिखाई नहीं देते थे। हाँ, वह बहुत सरल और शिशुओं की भाँति निर्दोष मालूम पड़ता था। उसकी दिनचर्या भी सामान्य-सी थी। उस साधु की दिनचर्या की छान-बीन करने पर बस इतना भर पता चला कि वह रात्रि को सोने से पहले और सुबह जगने के बाद अपनी सराय के बरतनों को अच्छी तरह से धोता-माँजता है।

इस साधु के पास से काफी निराश होकर वह व्यक्ति जलालुद्दीन रूमी के पास लौटा। उसने साधु की दिनचर्या उन्हें बताई। सूफी संत रूमी हँसते हुए बोले, जो जानने योग्य था, वह तुम देख आए हो, लेकिन उसे ठीक से समझ नहीं सके। रात्रि में तुम भी अपने मन को माँजो और सुबह उसे पुन: धो डालो। धीरे-धीरे मन-अंत:करण निर्मल हो जाएगा। अंत:करण के निर्मल दर्पण में परमात्मा अपने आप ही प्रतिबिंबित होता है। अंत:करण की नित्य सफाई ही साधना का रहस्य है। जो इसे विस्मरण कर देते हैं, वे साधना पथ से भटक जाते हैं।

✳

‘अतिमानव’ को साकार करने का समय आ गया

‘‘हे परम ज्वाल, तू मर्त्य को परम अमृतत्त्व में जन्म देता है। जन्माभिलाषी ऋषि के लिए तू दिव्य तथा मानुषिक, दोनों आनंदों का सर्जन करता है।’’ ऋग्वेद की इस ऋचा में विकासक्रम का लक्ष्य निर्दिष्ट है और जिसके अंत में है आनंद। भविष्य का देवमानव इसी आनंद का प्रतीक-प्रतिनिधि है। इसी को श्री अरविंद ने अतिमानव कहा है। श्री अरविंद का कथन है कि मानव विकासक्रम की अंतिम सीमा नहीं, वह एक संक्रमणकालीन जीव है। मानव जीवन की प्रयोगशाला में इसके सचेतन सदुपयोग से प्रकृति उसमें देवता का, अतिमानव का आविर्भाव करना चाहती है।

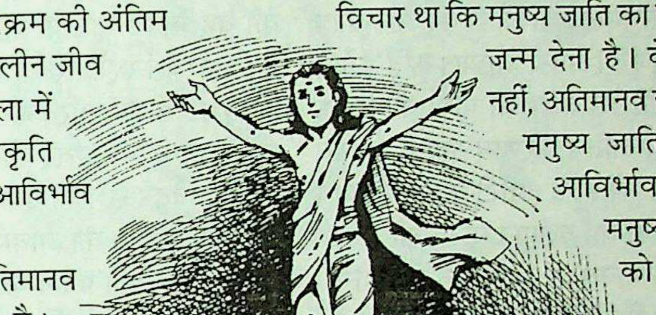

श्री अरविंद के अनुसार अतिमानव ही सबसे स्वाभाविक मानव है। अतिमानसिक स्थिति प्राप्त करने पर ही मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। ‘द ह्यूमन साइकिल’ में वह उल्लेख करते हैं, मनुष्य एक असामान्य जीव है, जिसने अपनी सामान्यावस्था को प्राप्त नहीं किया है। चाहे मनुष्य सही समझता हो कि वह अपनी यथार्थता को प्राप्त कर चुका है, चाहे वह अपने वर्ग में सामान्य मालूम पड़ता हो, परंतु यह सामान्यावस्था एक तरह की अल्पकालीन व्यवस्था मात्र है। उन्होंने अतिमानव को भविष्य की नई मानव जाति माना है।

श्री अरविंद ने अपने दार्शनिक ग्रंथों में अतिमानव या सुपरमैन शब्द का प्रयोग बहुत ही कम किया है। इसके स्थान पर उन्होंने अतिमानसिक मानव (सुप्रामेंटल बिइंग) या प्रज्ञान् पुरुष (नास्टिक बिइंग) कहना अधिक उपयुक्त समझा। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में विशेषकर फ्रेडरिक नीत्शे के बाद से अतिमानववादी दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। अतिमानववादी दार्शनिकों में सर्वप्रथम इन्हीं का नाम आता है। इनके अतिरिक्त एस अलेक्जेंडर और हेनरी बर्गसां की गणना भी अतिमानव के दार्शनिक के रूप में होती है, परंतु अतिमानव शब्द को लोकप्रिय एवं प्रचलित करने का श्रेय नीत्शे को जाता है।

अपने कुछ अत्यंत जटिल दार्शनिक ग्रंथों में नीत्शे ने अतिमानव का प्रतिपादन किया है। दि गॉस्पेल ऑफ सुपरमैन, दस स्पोक जरथुस्त्र, विल टु पावर, दि जिनीओलॉजी ऑफ मॉरल्स आदि ग्रंथों में उन्होंने अतिमानव का उल्लेख किया है। उनके इन विचारों से एमर्सन, कार्लाइल, क्लिफोर्ड, सैमुअल बटलर, कार्ल पियनि आदि प्रभावित थे। नीत्शे का विचार था कि मनुष्य जाति का परम लक्ष्य अतिमानव को जन्म देना है। वे कहते हैं, मनुष्य जाति नहीं, अतिमानव ही लक्ष्य है। अर्थात् वर्तमान मनुष्य जाति से ही अतिमानव का आविर्भाव होगा और इसके जन्म से मनुष्य जाति अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगी।

नीत्शे अतिमानव को ही आदर्श मानव मानते हैं और इस आदर्श मानव का चरित्र, चिंतन एवं व्यवहार ही भविष्य के लिए मूल्यांकन का मापदंड होगा। वर्तमान में कोई भी नैतिक आदर्श उस शिखर को स्पर्श नहीं कर सकता। वह वर्तमान मनुष्य की पहुँच से परे है, परंतु जैसे ही इसमें अतिमानव का आविर्भाव होगा वैसे ही जीवन के हर क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन हो जाएँगे और प्रचलित परंपरा के मापदंड एवं मानदंड बदल जाएँगे।

खेदजनक दृश्य यह है कि नीत्शे का अतिमानव आसुरी लक्षणों से युक्त है। उसमें दया, प्रेम, करुणा, सहानुभूति जैसी कोमल भावनाओं का सर्वथा अभाव है। वह अत्यंत पाषाण हृदय, क्रूर, निर्दयी तथा प्रचंड शक्तिशाली पुरुष है। यह अतिमानव प्राचीन हेब्र्यूओं-ट्यूटनों के समान कठोर और पशु शक्ति का पुजारी है। वह अपनी प्रबल शक्ति से दुर्बल जातियों पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहेगा। इसी कारण श्री अरविंद ने नीत्शे की परिकल्पना को पूरी तरह से अस्वीकार किया है।

नीत्शे अपने ग्रंथ ‘जिनीओलॉजी ऑफ मॉरल्स’ की भूमिका में स्पष्ट करते हैं कि दया पर आधारित नैतिकता आधुनिक यूरोपीय सभ्यता का सबसे खतरनाक लक्षण है। ईसाइयों के ईश्वर को उन्होंने दरिद्रों का ईश्वर कहा है। इस

प्रकार अस्वाभाविक शारीरिक एवं जैविक शक्ति से ओतप्रोत वर्तमान का यह बौद्धिक मानव ही नीत्शे की दृष्टि से अतिमानव है। भौतिक एवं जैविक शक्ति की प्रबलता ने उसे पशु के समान निष्ठुर और कठोर बना दिया है। इस संदर्भ में 'श्री अरविंद एंड दि न्यू एज' में अनिल वरुण राय की उक्ति अत्यंत समीचीन प्रतीत होती है, "भारतीय शब्दावली में असुर शब्द से नीत्शे के अतिमानव का स्वरूप मिलता है। अर्थात् वह एक आसुरी शक्ति है जो अपने क्षुद्र अहंकार से उन्मत्त होकर समस्त मानव जाति पर विजय प्राप्त करना चाहती है।"

इसके ठीक विपरीत सैमुएल अलेक्जेंडर का अतिमानव दिव्य है। उसमें देवत्व के गुण हैं। अपनी विख्यात कृति 'स्पेश, टाइम एंड डीटी' में उन्होंने इस तथ्य की पुष्टि की है कि वर्तमान मानव विकास का अंतिम परिणाम नहीं है। मानव का अगला विकास 'डीटी' में होगा। डीटी को अतिमानव की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि वह वर्तमान मानव की अंतिम संभावना है। वह आज के मानव का विकसित रूप होगा।

अलेक्जेंडर डीटी को दिव्य स्वरूप संपन्न समझते हैं। चूँकि स्वयं ईश्वर डीटी के धारक हैं। इसलिए इसमें नीत्शे के अतिमानव के समान आसुरी गुण नहीं होंगे। उनके अनुसार हमारी वर्तमान मानसिक स्थिति में बौद्धिक आधार पर डीटी की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी कारण वे इसके स्वरूप का वर्णन नहीं करते। वे इस संबंध में संकेत करते हैं कि डीटी मनस् नहीं है और न ही अध्यात्म है, बल्कि प्रकार में उससे भिन्न है। डीटी के दैवी स्वरूप को बताते हुए अलेक्जेंडर श्री अरविंद के समान यह नहीं कहते हैं कि इसके आविर्भाव के साथ-साथ संपूर्ण जगत् का अध्यात्मीकरण हो जाएगा और मानव जाति पूर्णतया परिवर्तित हो जाएगी।

बर्गसां के अनुसार मनुष्य अपने स्थूलशरीर में दिव्य स्वरूप को प्राप्त कर इसी संसार में दिव्य जीवन जी सकता है। उस दिव्य स्वरूप को जो प्राप्त करेंगे उन्हें ही ग्रैंड मिस्टिक्स या महान् रहस्यवेत्ता कहा जा सकता है। उन्होंने 'टू सोर्सेज ऑफ मोरालिटी एंड रिलीजन' नामक अपने विख्यात ग्रंथ में इसे ग्रैंड मिस्टिक की उपाधि दी है। इसी कृति में वे आगे उल्लेख करते हैं कि इस अतिमानव के जन्म के पश्चात् क्रमश: मानव में परिवर्तन आएगा और एक ऐसा समय आएगा जब समग्र मानव जाति पूर्ण रूपांतरित हो जाएगी।

बर्गसां के अतिमानव में नीत्शे के अतिमानव के समान आसुरी लक्षण नहीं हैं। कठोरता एवं निष्ठुरता के विपरीत प्रेम एवं विनम्रता उसकी मुख्य विशेषता है। वह कहते हैं कि अपने चरम विकास की उच्चतम अवस्था में पहुँचकर भी अतिमानव गर्वोन्नत नहीं होता, बल्कि वह सदैव शिष्ट, शालीन बना रहेगा। प्रगाढ़ प्रेम उसका रहस्य है। वह प्रेम द्वारा ही दिव्यता को अभिव्यक्त करता है।

श्री अरविंद का अतिमानव दैवीय गुणों से अलंकृत एक महायोगी है। वह नीत्शे के अतिमानव से भिन्न है। वह पार्थिव भोग-विलास, सुख-दु:ख आदि से ऊपर उठकर ईश्वर की आराधना करता है। वह प्रचंड तपस्वी तथा प्रकांड अध्यात्मवेत्ता है। अपनी समस्त दिव्य शक्तियों एवं विभूतियों को वह मानव मात्र के कल्याण के लिए नियोजित करता है। वह स्वयं रूपांतरित है एवं अपने आविर्भाव के साथ ही जगत् को भी रूपांतरित करने की क्षमता रखता है। वह सभी को ईश्वर में एवं ईश्वर को सभी में देखता है। उसकी नजर में जड़-चेतन सभी में एकमात्र ईश्वर व्याप्त है।

श्री अरविंद का अतिमानव दैवीय गुणों से ओतप्रोत है तथा वह दिव्यता प्रदान कर सकता है। वह आत्मचरितार्थ एवं आत्मस्थ पुरुष है। अहंकार से वह सर्वथा मुक्त है। अत: उसका व्यक्तिगत संकल्प सामूहिक संकल्पों से अभिन्न है। अन्य सभी आत्माओं के साथ पूर्ण संगति एवं सामंजस्य से वह कार्य करता है। इस संदर्भ में श्री कविश्वर जी ने बड़े सुंदर ढंग से उनके अतिमानव का वर्णन किया है, श्री अरविंद का अतिमानव महाप्रतापी दैत्य रावण नहीं है। वह सहस्रों मानवों के शारीरिक बल से संपन्न महाभारत का भीम भी नहीं है। वह सहस्रों योद्धाओं से बढ़कर युद्ध सामर्थ्य वाला तथा पांडवों के राजसूय यज्ञार्थ अनेकानेक राजाओं को जीतने वाला महापराक्रमी अर्जुन भी नहीं है। उनका अतिमानव तो गीता समाप्ति का वह अर्जुन है जो अपनी अद्वितीय शरशास्त्र प्रविद्या, सूक्ष्म बुद्धि और श्रेष्ठ ज्ञान के साथ अत्यंत नम्रता से भगवान् श्रीकृष्ण के सामने संपूर्ण आत्मसमर्पण कर उन्हीं की इच्छा को अपनी इच्छा मानता है तथा ईश्वर का निमित्त मात्र होने को तैयार है।

सर्वस्व समर्पण करके ही ईश्वर के हाथों यंत्र बनना संभव है और जो परमात्मा का यंत्र बन सका उसी का जीवन सार्थक है। ऐसे जीवन में ही विकास की अनंत संभावनाएँ सन्निहित होती हैं। वही जीवन देवत्व का पर्याय होता है, जो अपनी दिव्यता से अपने वातावरण को भी स्वर्गतुल्य बना देता है। अत: अतिमानव के इस यथार्थ को साकार करने के लिए हमें अपने चरित्र, चिंतन एवं व्यवहार को सुधारने एवं सँवारने की प्रक्रिया प्रारंभ कर देनी चाहिए।

□

जिया जाए जीवन का हर क्षण

क्षण अति लघु है, परंतु इसमें विराट् संभावनाएँ समाई हैं। यही वह बेशकीमती उपहार है जिसे स्वयं भगवान् ने अपनी परम प्रिय एवं ज्येष्ठ संतान मनुष्य को सौंपा है और बदले में सिर्फ इतनी-सी चाहत रखी है कि वह उसके दिए गए इस उपहार का अपने लिए बेहतरीन उपयोग करे। वह इस सत्य को समझे कि उसे दिया गया प्रत्येक क्षण अमूल्य है। हर क्षण में एक अनोखी संभावना छिपी है, पर यह साकार तभी हो सकती है, जब इसका सुनियोजन सर्वोच्च स्तर पर हो। लेकिन हम सब इसका उपयोग कैसे और किस तरह से कर रहे हैं? यह एक अहम् सवाल हममें से हर एक से है। जिसका जवाब हमें अपने आप में खोजना है।

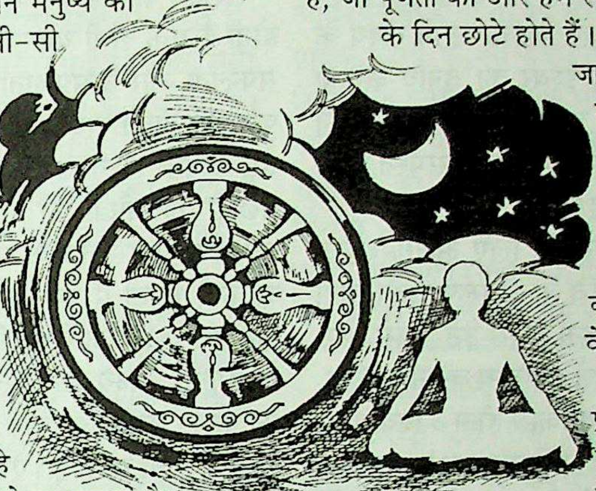

इसके सही और सटीक जवाब से ही प्रत्येक क्षण के सुनियोजन की कला जानी और सीखी जा सकती है। यही वह परम दुर्लभ कुंजी है, जिसके माध्यम से जीवन के परम लक्ष्य, सफलता के सर्वोच्च सोपान की दहलीज पर कदम रखा जा सकता है। हालाँकि इसके महत्त्व से जनसामान्य कतई अनभिज्ञ नहीं है। फिर भी यह विलक्षणता से परिपूर्ण तोहफा, जितना जाना-पहचाना लगता है, शायद उससे भी कहीं ज्यादा गूढ़, रहस्यमय और अनूठा है। जिसे या तो हम देख नहीं पाते या फिर इसके अनेकों अदृश्य पहलू हमारे सामने एक अबूझ पहेली की तरह बने रहते हैं, जिन्हें हम सुलझा नहीं पाते।

हममें से बिरले जो ऐसा करने में सक्षम हो पाते हैं, वे स्वभावतः ही मानव के स्तर से उठकर देवमानव की श्रेणी तक पहुँच जाते हैं। इस अबूझ पहेली को सुलझा पाने और न सुलझा पाने वाले दो वर्गों में यदि हम मनुष्य का विभाजन करें, तो प्रतीत होगा कि प्रथम वर्ग का प्रतिशत नगण्य-सा ही है। कारण एक बड़ी संख्या में व्यक्ति इसे अपनी सामर्थ्य के भीतर की बात न समझकर प्रयास ही नहीं करना चाहते या फिर चाहते हुए भी मन मारकर दिन खिसकाते रहते हैं। हालाँकि यह सुस्पष्ट सच है कि हर वो क्षण जो पार हो गया है, भले ही खाली ही क्यों न बीता हो, अपनी एक अनुभूति पास छोड़ जाता है। एक ऐसी अनुभूति, जिसमें कई भावों का सम्मिश्रण होता है। यह अनुभव प्रायः हम सबका है।

यह सच है कि सभी क्षण एक समान नहीं हो सकते अर्थात् एक क्षण दूसरे से अलग ही होगा, एक या दूसरे मायने में। यदि आज होंठों पर हँसी है तो कल नयनों में नीर भी झिलमिला सकता है। पर इसमें भी एक अर्थ और गति है, जो पूर्णता की ओर हमें ले जाती है। कहावत है कि सुख के दिन छोटे होते हैं। इस अवधि में मनुष्य इतना खो जाता है कि वे क्षण अत्यंत लघु मालूम पड़ते हैं। दूसरी ओर दुःख एवं संघर्ष के क्षण मनुष्य पर भारी पड़ते हैं और उससे अत्यधिक शारीरिक एवं मानसिक क्रियाशीलता की माँग करते हैं। अतः उसी अनुपात में वे बड़े मालूम पड़ते हैं।

कमजोर कलेजे के लोग प्रायः ऐसी परिस्थितियों में अपना संतुलन गँवा बैठते हैं। ऐसे समय में वे घबराकर अपने आस्तिक होने का दावा करते हुए ईश्वर की शरण में जाने का बहाना खोजते हैं। हालाँकि ऐसे में उनका सौ प्रतिशत विश्वास न तो स्वयं पर होता है और न ही भगवान् पर। यदि वे सच्चे ईश्वरविश्वासी हैं, तो उन्हें इन पलों में कम-से-कम इतना विचार तो करना ही चाहिए कि जीवन के ये क्षण भी अपने ही परम प्रिय प्रभु द्वारा दिए गए विभिन्न रंगों के पुट में लिपटे हुए रंगीन उपहार हैं, जो जीवन को एक अलग ही शोभा एवं आकर्षण प्रदान कर रहे हैं। अतः इनका भी एक अलग अंदाज और अनुभव है, जो आने वाले समय में धरोहर बनकर रहेगा।

इसलिए ऐसे में उदासीन, खिन्न व अन्यमनस्क न होकर उन्हें आत्मपरिष्कार की कठोर तप-साधना मानकर साहस और जिंदादिली के साथ जीना चाहिए। ये विपत्ति भरे क्षण प्रायः अगले आने वाले क्षणों पर हमारी पकड़ मजबूत करते हैं। हमारे अंदर सुषुप्तावस्था में वर्षों से निष्क्रिय पड़े आत्मबल को जाग्रत् कर हमें जीवंत बनाते हैं। साथ ही निराशा के अँधेरे क्षणों को चीरकर आशा की चमकदार किरणों की भरी-पूरी भीड़ सामने ला खड़ी करते हैं। परंतु ये लाभ मात्र उन्हें ही प्राप्य हैं, जो इस कठिन एवं विपन्न स्थिति का सामना उतनी ही साहसिकता व उत्साह के साथ करते हैं, जितना कि ऐसे क्षणों में उनसे अपेक्ष्य है। क्षण दुःख के हों या फिर सुख के, उनके सुनियोजन का मूल मंत्र एक ही है—**आत्मनो मोक्षार्थ जगद्हिताय च** अर्थात् आत्मकल्याण एवं लोकहित के लिए ही इनका सदुपयोग किया जाना चाहिए।

लक्ष्य की पहचान और उसकी प्राप्ति

लक्ष्य के अनुरूप ही जीवन की दशा एवं दिशा का निर्धारण होता है। यों तो मनुष्य जीवन ही श्रेष्ठता का पर्याय है। अत: प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य भी महान् एवं पवित्र होना चाहिए, फिर भी हर व्यक्ति अपने लक्ष्य के चुनाव के लिए स्वतंत्र है, वह ईश्वर का चुनाव करे या फिर उसके ऐश्वर्य का। लक्ष्य चाहे जैसा भी हो, उसको एकनिष्ठ भाव से पूरा करना चाहिए। अपनी समस्त शक्ति एवं प्रतिभा को उसमें होम देना चाहिए।

लक्ष्य क्या है ? यह प्रश्न सबके लिए अलग-अलग है। अपनी प्रतिभा एवं अभिरुचि के अनुरूप लक्ष्य होना चाहिए। जिस क्षेत्र के प्रति भावना हुलस उठे, जिसे प्राप्त करने के लिए मन मचल उठे उसे ही लक्ष्य बनाना चाहिए, लेकिन इसका सार्थक एवं सर्वहितकारी होना अनिवार्य है। मनोनुकूल कार्य के प्रति उत्साह एवं उमंग का स्वाभाविक संचार होता है। उसे पूरा करने के लिए मन लगता है और कठोर श्रम भी उबाऊ नहीं होता। परंतु अनिच्छापूर्वक अपनाए गए कार्य अंतत: अपूर्ण होते हैं और उनसे असफलता ही हाथ लगती है। अत: जीवन में सदैव उसी लक्ष्य का चुनाव करना चाहिए, जिसके साथ हम न्याय कर सकें, ताकि वह अधूरा न छूटे एवं अंत तक उस पर डटे रह सकें।

इस सृष्टि का हर घटक अनोखा है एवं हर व्यक्ति निराला। हरेक का अपना उद्देश्य होता है। ईश्वर ने उसे किसी विशिष्ट कार्य में नियोजित करने के लिए यहाँ भेजा है। अत: प्रत्येक का स्वभाव एवं प्रकृति भिन्न होती है। उसी के अनुसार उसे अपना लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए। जिस कार्य में अपनी मौलिक प्रतिभा जाग उठे, उसे ही लक्ष्य बनाना चाहिए। गीता के अनुसार यही स्वधर्म है। किसी को कला के क्षेत्र में प्रवेश करना पसंद होता है, तो किसी को दर्शन का तत्त्वज्ञान अच्छा लगता है। कोई विज्ञान जगत् में पदार्थों का सूक्ष्म परीक्षण-निरीक्षण करना चाहता है, तो कोई राजनीति-कूटनीति में महारत हासिल करना चाहता है। यही अपनी अभिरुचि का क्षेत्र है। देखा जाए, तो इसी का चुनाव ही लक्ष्य है।

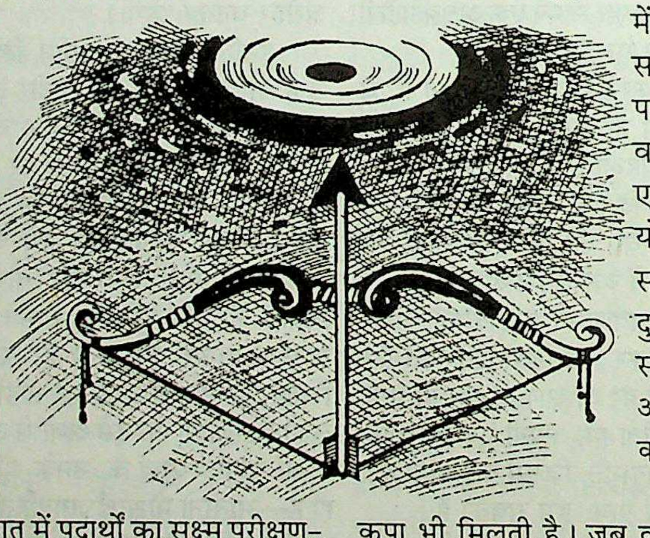

लक्ष्य की पहचान के पश्चात् उसकी प्राप्ति हेतु प्रारंभ होती है एक लंबी यात्रा, एक सुदीर्घ प्रयास एवं पुरुषार्थ। सफलता और असफलता उसकी सहचरी होती हैं, परंतु पुरुषार्थी अपने लक्ष्य-पथ से कभी विचलित नहीं होता। उसे अपना लक्ष्य सदैव धनुर्धर अर्जुन की भाँति केवल मछली की आँखों की तरह याद रहता है। उसके विचार एवं संकल्प उस तीर के सदृश्य होते हैं, जिसे अनुभव की दहकती भट्टी में पकाया एवं गढ़ा जाता है और उसी के द्वारा इस लक्ष्य का बेधन किया जाता है। निराशा-हताशा, उदासीनता लक्ष्य के प्रति सन्नद्ध व्यक्ति के पास नहीं फटकती। उसमें अनवरत उद्दाम उमंग एवं नूतन आशा संचरित होती रहती है। ऐसे प्रचंड पुरुषार्थी ही लक्ष्य भेदने में समर्थ एवं सफल होते हैं।

लक्ष्य चाहे जितना कठिन एवं दुर्गम दिखता हो, दृढ़ संकल्प एवं अटल विश्वास से उसे सहज सरल बनाया जा सकता है। लक्ष्य के प्रति संकल्प ऐसा होना चाहिए कि जिसका कोई विकल्प न बन सके। राजा विश्वरथ से विश्वामित्र बनने के एवं तपस्वी अगस्त्य के विंध्याचल पर्वत को झुका देने के संकल्प को अपना आदर्श बनाना चाहिए, जिसके लिए इनका समस्त जीवन खप गया। लक्ष्य के प्रति मीरा जैसा दृढ़ विश्वास हो जिसमें पत्थर की मूरत में भी कोई संदेह न हो और वह सजीव हो उठे। विश्वास के बल पर महावीर हनुमान सागर लाँघने वाले ऐसे ही कोई लगनशील एवं साहसी योद्धा थे। वीर एवं योद्धा बनकर ही लक्ष्य भेदा जा सकता है। जहाँ पर व्यामोह एवं दुर्बलता का नामोनिशान न हो। साहसी और अपार साहसी ही अपने जीवन के अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं।

उच्चतर लक्ष्य के लिए दैवी कृपा भी मिलती है। जब व्यक्ति श्रेष्ठ लक्ष्य हेतु अग्रसर होता है और उसके कदम आगे बढ़ने लगते हैं, तो उसे

अनायास ही साधन-सुविधाएँ मिलने लगती हैं। अंदर से प्रेरणा जाग्रत् होने लगती है और उस कार्य को पूरा करने के लिए नवीन आशा एवं उत्साह का संचार होने लगता है। ऐसी स्थिति में मन का कुहासा छँटने लगता है और लक्ष्य का सूर्य चमकने लगता है। जिसके किरण पथ पर बढ़ते हुए वह अवश्य ही सफल होता है। फिर जीवन के समस्त क्रियाकलाप एक उसी लक्ष्य के लिए मचलने लगते हैं। शरीर का रोम-रोम, मन का हर विचार एवं हृदय की सारी भावनाएँ एक उसी निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर चल पड़ती हैं। जीवन लक्ष्यमय हो उठता है। ऐसी स्थिति में भला लक्ष्य की प्राप्ति कैसे असंभव हो? फिर तो ईश्वर का सिंहासन भी डोल जाता है और वह दौड़ा-दौड़ा प्रह्लाद को बचाने चला आता है।

लक्ष्य के लिए इतनी लगन और निष्ठा अपरिहार्य है। ऐसी निष्ठा जिस क्षेत्र में लगा दी जाती है, उसका परिणाम सुनिश्चित हो जाता है। कवि अपनी कविता के लिए, चित्रकार अपने चित्र के लिए, कृषक अपनी फसल के लिए एवं भक्त अपने भगवद्लक्ष्य के लिए इसी प्रकार की भक्ति एवं निष्ठापूर्वक कर्म करते हैं। कर्म के इसी सोपान से बढ़ते हुए उन्हें अपनी मंजिल की प्राप्ति होती है।

लक्ष्य को लाँघने वाला व्यक्ति सदा वर्तमान में जीता है। वर्तमान के सर्वोत्तम क्षणों को मूर्त रूप देता है। वह आज के कार्य को कल के लिए नहीं टालता। उसे नियत समय में पूर्ण करके ही दम भरता है। अतीत की असफलता से वह सीख लेता है और उससे कभी परेशान एवं व्यग्र नहीं होता। बल्कि भविष्य में ऐसी त्रुटि न करने का संकल्प दुहराता है एवं अपने लक्ष्य हेतु योजना गढ़ता है। वह सदैव वर्तमान में जीकर अपनें अभीप्सित लक्ष्य के प्रति समर्पित रहता है। वह कभी भी लक्ष्य पथ से विचलित नहीं होता। इसी कारण बड़ी-बड़ी विघ्न-बाधाओं को भी वह आसानी से पार कर जाता है।

जिसने भी महानता अर्जित की है, सफलता पाई है, अगर उनके जीवन के अंदर झाँकें तो प्रतीत होगा कि लक्ष्य ही उनका केंद्रबिंदु रहा है। उनका समस्त जीवन उनके लक्ष्य के इर्द-गिर्द ही घूमता नजर आएगा। सफलता एवं कठिनाइयों के आगे वे न तो हारे, न टूटे और न बिखरे, बल्कि असीम धैर्य के साथ अपने उद्देश्य की ओर बढ़ते ही चले गए।

हर्बर्ट स्पेंसर ने अपने जीवन में अद्भुत लेखन कार्य किया। उसके लिए उन्हें अपार कष्ट सहना पड़ा और अनंत बाधाएँ झेलनी पड़ीं। इस बीच उनका स्वास्थ्य भी साथ नहीं दे रहा था। तब कहीं जाकर छिहत्तर वर्ष की आयु में वे अपनी रचना का दसवाँ भाग पूरा कर सके। इसी प्रकार अप्रतिम साहस के योद्धा जेंस गार्डन बैनेट को न्यूयार्क हैराल्ड प्रारंभ करते समय इतना भी अवकाश नहीं था कि मिलने वालों के साथ कुछ पल बैठकर विचार-विमर्श कर पाते, जब ग्राहक को किसी संस्करण की आवश्यकता होती तो वह ढेर की ओर संकेत कर देते और ग्राहक स्वयं कीमत देकर पत्र उठाते हुए चला जाता। ट्रिब्यून के लिए उन्हें और भी संघर्ष करना पड़ा। रोज वह अठारह घंटे काम करते। इस कठिन परिश्रम के बावजूद शनिवार को चौथाई डालर भी शेष न बच पाता। कभी हिम्मत न हारने वाला वह जूझारू वीर अपने लक्ष्य को कभी नहीं भूला। अंत में चालीस वर्ष के कठोर एवं अथक श्रम के पश्चात् उन्होंने पत्रकारिता को नूतन आयाम दिए।

नेपोलियन बोनापार्ट ने अपने एक विरोधी को उच्च पद पर नियुक्त किया, तो कुछ अधिकारियों ने कहा कि यह व्यक्ति आपके बारे में अच्छे विचार नहीं रखता।

नेपोलियन ने हँसते हुए कहा, "जिस पद के लिए मैंने उसे नियुक्त किया है, उसके लिए वह पूर्णतः योग्य है। मेरे बारे में वह व्यक्ति ठीक विचार नहीं रखता, इस उत्तेजना में मैं राष्ट्र के लिए उपयोगी व्यक्ति की उपेक्षा करके राष्ट्र के साथ और स्वयं अपने साथ अन्याय कर बैठूँगा।"

लक्ष्य के प्रति समर्पित इन व्यक्तियों का जीवन अपने ध्येय के लिए ही नियोजित हुआ। वस्तुतः जीवन में एक विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अटल संकल्प, दृढ़ विश्वास, उद्दाम साहस एवं असीम धैर्य की आवश्यकता पड़ती है। इसके द्वारा हर उस लक्ष्य को जिसके लिए संकल्प उठा हो, प्राप्त किया जा सकता है, परंतु ध्यान रहे कि ईश्वर के अलावा समस्त वैभव एवं संपदा नश्वर है। क्यों न जीवन के श्रेष्ठ एवं वास्तविक तत्त्व ईश्वरप्राप्ति को ही जीवन लक्ष्य बनाया जाए। क्यों न संपूर्ण एवं समस्त जीवन को एक उसी के लिए लगा दिया जाए, जो एकमात्र सत्य है। ईश्वर के आदर्श ही एकमात्र जीवनोद्देश्य हैं और इसी लक्ष्य के लिए निज को सर्वस्व रूप से उत्सर्ग एवं समर्पित कर देना चाहिए। ऐसा जीवन और उसका लक्ष्य दोनों ही श्रेष्ठ एवं वरेण्य होते हैं। ०

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्

सौंदर्य अभिलाषी कौन नहीं है ? सुंदरता की चाह किसे नहीं है ? हर व्यक्ति सुंदर बनना चाहता है और किसी-न-किसी रूप में इसकी ओर आकर्षित होता है। यों तो प्रकृति का हर घटक सुंदरता का पर्याय है, परंतु दृष्टिकोण का फेर है कि कौन किसे सुंदर मानता है और वह किसका पुजारी है। वस्तुतः अंतर मन को उकेरे बिना वास्तविक सौंदर्य का दर्शन संभव नहीं है। अंतर्दृष्टि एवं हृदय की आँखों से ही इसे देखा एवं आनंद उठाया जा सकता है।

यूनान के विख्यात दार्शनिक सुकरात ने सौंदर्य को परिभाषित करके उल्लेख किया है कि जो नेत्र और श्रवण के माध्यम से प्रीतिकर हो, वही सुंदर है अर्थात् जो आँखों को पसंद आ जाए तथा जिसके बारे में सुनने में भी अच्छा लगे वही सुंदर है अर्थात् सुंदरता के लिए रूप ही नहीं गुणों का भी महत्त्व है। इनके शिष्य प्लेटो ने सौंदर्य को सृष्टि का मूल तत्त्व माना है। उनके अनुसार सत्य ही सुंदर एवं श्रेष्ठ है। एक अन्य दार्शनिक कांट के मत में यह दो तरह से होता है। इसको प्रतिपादित करने के लिए उन्होंने तर्कशास्त्र का सहारा लेते हुए स्पष्ट किया है कि एक सौंदर्य शुद्ध, पवित्र एवं निरपेक्ष होता है तथा दूसरा सापेक्ष होता है। एक स्वयं सुंदर है, इसके लिए किसी भी वस्तु को होना आवश्यक नहीं है। ईश्वर सुंदर है। वह हर स्थिति में सुंदर होता है। परंतु सापेक्ष सुंदरता उसके आसपास स्थित किसी अन्य व्यक्ति, वस्तु एवं स्थिति की तुलना पर आधारित होती है।

सत्यम् शिवम् सुन्दरम्

वास्तविक सौंदर्य में देवत्व एवं दिव्यत्व का भाव जुड़ा हुआ होता है। हीगेल ने ऐसी सुंदरता को इंद्रियों की अनुभूति माना है, परंतु यथार्थ सौंदर्य तो इंद्रियों एवं मन के अनुभव से परे है, उसे भला कैसे प्रतिपादित किया जा सकता है। वह तो इन सबसे ऊपर है। अतः कालिदास ने कहा है—ऐसा सौंदर्य गतिशील एवं नित्य-नवीन होता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन भी सौंदर्य से अभिभूत हुए बिना नहीं रह पाया, पर इसने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बदलकर इसे इंद्रियातीत कहा है। अर्थात् सौंदर्य की दिव्यता इतनी है कि वह इंद्रियों द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती। इसी वजह से वेदांत ने इसे अनिवर्चनीयवाद के कलेवर से अलंकृत किया।

सौंदर्य के तत्त्व को सभी ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित एवं विश्लेषित किया है। इस संदर्भ में शैव दर्शन ने इसे कला के रूप में मान्यता प्रदान की है। कला के पारखी ही इसे समुचित सम्मान एवं आदर दे सकते हैं। अतः इन्होंने सौंदर्य को कला के रूप में स्वीकारा। भक्ति साहित्य में उस दिव्य सौंदर्य को दैहिक अंग-प्रत्यंग के हाव-भाव के अंतर्गत देखा एवं परखा जाता है। इसके मतानुसार शरीर ही ऐसा माध्यम है, जो उसे ठीक ढंग से अभिव्यक्त कर सकता है। इसी के द्वारा ईश्वर की अद्भुत सुंदरता को अनुभव किया जा सकता है। हालाँकि उनके अनुसार यह पूर्ण सत्य नहीं है, पर यह अनुभव बोध कराने का उसका एक यंत्र तो हो ही सकता है।

ईश्वरीय सौंदर्य को जिसने जितनी मात्रा में हृदयंगम किया, उसमें वह उसी अनुपात में अवतरित होता है। अगर यह शरीर में उतरता है, तो इसकी चमक, कांति एवं रंग-रूप निखर उठता है। फिर शरीर सदैव स्वस्थ, नीरोग एवं प्रसन्न रहता है। देह कुरूप हो या अच्छी, पर यह तो प्रकृति की देन है। इसके प्राकृतिक स्वरूप में ही सुंदरता निहित है। प्राकृतिक दिनचर्या का अनुसरण कर प्रकृतिप्रदत्त इस शरीर के सौंदर्य को बनाया रखा जा सकता है।

अष्टावक्र एवं सुकरात के शारीरिक सौंदर्य से भला कौन परिचित नहीं है। शारीरिक दृष्टिकोण से ये भले ही इतने अच्छे नहीं थे, पर इन्होंने ईश्वरीय सौंदर्य को अपने अंदर उतारा था और वे दिव्य हो गए थे। उनका कुरूप शरीर भी प्रभु का यंत्र बना और अत्यंत सुंदर बन गया। जिसकी सृष्टि में इतनी सुंदरता अटी पड़ी है, उसका सृजनकर्त्ता-रचयिता

कितना सुंदर हो सकता है, यह कल्पना से परे की चीज है। फिर उसके स्पर्श से क्या यह देह सुंदर नहीं बन सकती, यह काया कांतिवान नहीं हो सकती। शरीर की वास्तविक सुंदरता स्वस्थ एवं नीरोग रहकर प्रभु का यंत्र बन जाने में ही है। शरीर द्वारा ही भगवद्कर्म संपादित होता है। अत: शरीर चाहे जैसा भी हो, इसे ऐसा बनाना चाहिए ताकि इसके माध्यम से कर्म के रूप में भगवत् चेतना झर सके। यही शरीर का सच्चा सौंदर्य है।

मन का सौंदर्य उसके दिव्य विचारों में सन्निहित है। श्रेष्ठ एवं सद्विचारों से मन के सौंदर्य में सदा निखार आता रहता है। चिंतन और मनन से यह पुष्ट होता है और इसका आधार है स्वाध्याय। स्वाध्याय की प्रक्रिया में ही मन का अप्रतिम सौंदर्य छिपा पड़ा है। यह अत्यंत सहज-सुलभ है और हर कोई इसे प्राप्त कर सकता है। मनस्वी का मन बड़ा सुंदर होता है। स्वाध्याय ही इसका गूढ़ रहस्य है। इसके अभाव में मनरूपी दिव्य दर्पण में कुविचारों की धूल जमती रहती है और इसकी नैसर्गिक सुंदरता नष्ट हो जाती है। ऐसा मन बड़ा ही कुरूप एवं विकृत होता है। यह समस्त मानवीय मनोविकारों का जनक है। यह मन कुमार्गगामी होता है तो शरीर को भी सद्कर्मों से विरत कर देता है, क्योंकि यही शरीर को नियंत्रित एवं नियमित करता है। जिसमें भी ऐसे कुरूप मन का वास होता है उसका शरीर दिखने में चाहे कितना भी अच्छा क्यों न लगता हो, परंतु सुंदर नहीं हो सकता। अत: मन के सौंदर्य को उभारा जाए, ताकि उसमें श्रेष्ठ एवं सुंदर विचार उठ सकें। नित्य स्वाध्याय द्वारा मनरूपी दर्पण को सदा स्वच्छ एवं साफ रखा जाना चाहिए। जिससे कि आंतरिक सुंदरता की झलक-झाँकी देखी जा सके। मन ही वह तत्त्व है जो बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार के सौंदर्य का अनुभव कर सकता है।

मन में जहाँ विचारों का सौंदर्य होता है, वहीं हृदय भावनाओं के सौंदर्य का प्रतिनिधित्व करता है। वैचारिक सौंदर्य बड़ा ही प्रखर एवं प्रबल होता है, परंतु भावनाओं के सौंदर्य में चाँदनी जैसी शीतलता होती है। किसी पीड़ित की पीड़ा से यह दयार्द्र हो उठता है और उसके प्रति मोम जैसा पिघलने लगता है। अपनी समुचित सेवा एवं सहयोग द्वारा उसकी पीड़ा एवं कष्ट निवारण करने के लिए तत्पर हो उठता है। जिसमें भी ऐसी स्थिति आने लगी है और जो दुखी के दु:ख से तथा पीड़ित की पीड़ा से व्यथित होने लगा हो तो समझा जा सकता है कि उसकी भावनात्मक सुंदरता में वृद्धि होने लगी है।

सेवा एवं सहकार के माध्यम से भावनाओं के सौंदर्य में अभिवृद्धि होती है, क्योंकि इससे अहंकार गलता है। अहंकार ही ऐसा दृढ़ मलिन आवरण है, जो भावनारूपी हृदय को आच्छादित किए रहता है। इसी हृदय में उस परम ऐश्वर्यशाली परमात्मा का गुप्त वास होता है, जिसे आत्मा के रूप में जाना जाता है। अहंकार गले बिना, उसका आवरण हटे बगैर भला कैसे आत्मिक सौंदर्य का रसास्वादन किया जा सकता है। सेवा ही इस आवरण को हटाने की दिव्य साधना है, जिसके द्वारा हमें उस परम सौंदर्य की झलक-झाँकी दीखती है। अत: आत्मिक सौंदर्य के आकांक्षी को सदैव सेवा का व्रत अपनाए रहना चाहिए। इस व्रत से हृदय इतना पवित्र एवं परिष्कृत हो जाता है कि जीव में शिव का पावन सौंदर्य बोध होने लगता है।

इसी सत्य को अनुभव करके ऋषियों ने सौंदर्य को 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' के रूप में परिभाषित किया है। निस्संदेह सौंदर्य वही सच्चा है जो मंगलमय एवं कल्याणकारी हो। जीवन में चरित्र, चिंतन एवं व्यवहार को उत्कृष्ट एवं परिष्कृत करके ही ऐसे दिव्य सौंदर्य का अनुभव बोध किया जा सकता है। जब इस परम सौंदर्य का अनुभव होता है तो जीवन सौंदर्य का पर्याय बन जाता है। ऐसा सौंदर्य ही महान् है और इसी की अभीप्सा करनी चाहिए, जो हमें परमात्मा के दिव्य सौंदर्य से तदाकार-एकाकार कर दे। ☐

महाराणा प्रताप ने अकबर से सुलह नहीं की। राजा मानसिंह आदि ने उन्हें समझाया, ''समय का प्रवाह देखिए। सभी रियासतें अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए शहंशाह से सुलह कर रही हैं।'' महाराणा ने कहा, ''मेरे हिस्से में बापा रावल की परंपरा आई है। अन्य राजा-रईस अपनी परंपरा और ईमान देखकर निर्णय लें। मुझे मेरी परंपरा और अपना ईमान देखकर निर्णय लेना है। मुझे मेरी परंपरा और मेरा अंतःकरण राष्ट्रीय गौरव खोकर सुख-सुविधा जुटाने की इजाजत नहीं देता। सुलह की बात समझानी है, तो बादशाह को समझाओ। अपने सांस्कृतिक गौरव की रक्षा हमारा कर्त्तव्य है, वही हम कर रहे हैं।''

महाराणा प्रताप ने आदर्शों की कसौटी पर अपना कर्त्तव्य निर्धारित किया। जन-प्रवाह की कसौटी पर करते तो इतिहास के मूल्यवान नग न कहलाते ।

अंत: का श्रृंगार है मौन

मौन आंतरिक शक्तियों की अभिवृद्धि एवं अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ साधन है। इसमें असीम एवं प्रबल सामर्थ्य है, क्योंकि यह आंतरिक ऊर्जा के क्षरण को रोकता है। अत: प्रत्येक श्रेष्ठ एवं महान् कार्य की सफलता में गहन, गंभीर मौन सहायक रहा है। यही मानव चेतना का गूढ़ रहस्य है।

सामान्यत: वाणी को विराम देना मौन कहलाता है, परंतु सार्थक मौन उसे कहते हैं, जब मन में सद्चिंतन होता रहे। यों ही जिह्वा को बंद रखकर मन में ईर्ष्या-द्वेष का बीज बोते रहने को मौन नहीं कहा जाता। यह तो और भी खतरनाक एवं हानिकारक सिद्ध हो सकता है। मौन के साथ श्रेष्ठ चिंतन, ईश्वर स्मरण आवश्यक है तभी मौन की सार्थकता है। इस संदर्भ में श्री अरविंद आश्रम की श्री माँ कहती हैं कि सात दिन के गंभीर मौन के बाद ही एक घंटा सार्थक बोला जा सकता है और एक वर्ष का मौन एक दिन बोलने की अनुमति प्रदान करता है। इससे मौन की महत्ता प्रतिपादित होती है।

मौन की महिमा एवं गरिमा अतुलनीय है। भले ही यह गंभीर मौन सबसे न सधे, पर अपनी सामर्थ्य के अनुसार इस व्रत का पालन अवश्य ही करना चाहिए। मौन से जिह्वा पर नियंत्रण रहता है और अनर्गल प्रलाप से बचा जा सकता है, अन्यथा वाणी के दुरुपयोग से भला कौन अपरिचित है। महाभारत का भीषण युद्ध इसी बेलगाम वाणी का ही तो परिणाम है। अधिक बोलने वाले को वाचाल कहा जाता है और ऐसे व्यक्ति की बातों पर से विश्वास उठ जाता है। सारे अनर्थ का जड़ इसी में निहित है। सच्चा और सार्थक बोलने के लिए मौन रहना अनिवार्य है।

प्रकृति का हर घटक, इसका प्रत्येक जीव मौन रहकर अपने कर्तव्य-कर्म में संलग्न है। न कहीं कोई व्यतिक्रम है और न ही अव्यवस्था। सभी मौन होकर अपने-अपने नियत कर्म में जुटे हुए हैं, परंतु सृष्टि के सबसे बुद्धिमान एवं श्रेष्ठ कहे जाने वाले मानव के हाल बड़े ही बेहाल हैं। वाणी का सर्वाधिक दुरुपयोग यही करता है। यह विडंबना ही है, पर जितना जल्दी हो सके, इसे सुधार लेना चाहिए। क्योंकि मौन में वाणी से भी अधिक सामर्थ्य होती है।

मौन हमें अंतर्मुखी बनाता है। हम अंतर की आवाज को इसी अवस्था में सुन एवं समझ सकते हैं। तभी हमें प्रकृति की दिव्य वाणी सुनाई दे सकेगी और उसका आनंद उठाया जा सकता है। सूरज ढलते ही संध्या का स्वर, रात में अपूर्व शृंगार से टिमटिमाते तारों की थिरकन एवं चंद्रमा के शीतल प्रकाश को मौन रहकर ही अनुभव किया जा सकता है। प्रकृति का दिव्य स्वरूप मौन में ही निहित है। स्वयं मौन होकर ही इसकी झलक-झाँकी प्राप्त की जा सकती है। इसी मौन में ही कवि का सुकोमल भाव फूट पड़ता है और काव्य धारा के रूप में निस्सृत होता है।

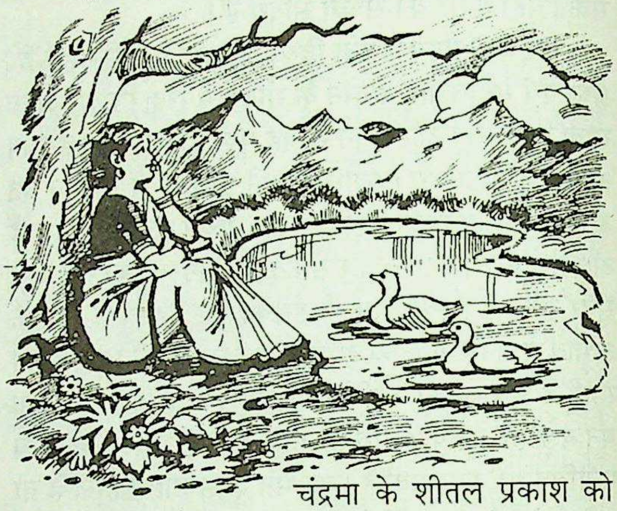

जब धरती प्यास की अकुलाहट से तड़प उठती है तो ऊपर से उमड़ते-घुमड़ते बादल आते हैं और वर्षा कर इसकी प्यास को बुझा जाते हैं। हवा निरंतर बहती रहती है और प्राणवायु बनकर अपने कर्त्तव्य-धर्म का पालन करती है। सूर्यदेव जगत् के सभी जीवों में प्राण का संचार करते रहते हैं। ये सभी दैव शक्तियाँ सदा मौन रहते हुए अपने कार्य को संचालित करती हैं। कभी किसी ने दंभपूर्ण वाणी का प्रयोग नहीं किया।

अटल-अविचल हिमालय अनंतकाल से मौन खड़ा है। न जाने कितने योगी, यति, तपस्वियों की पावन आश्रयस्थली बना हुआ, यह मौन होकर अपने बरफानी शरीर को गलाकर गंगा जैसी पुण्यतोया नदी को जन्म देता है और यह पावन एवं पुण्य सलिला न जाने कितने संतप्तजनों को शीतलता का, पवित्रता का वरदान देती चली आ रही है। न इसमें इसके कर्त्तापन का अहंकार है और न कर्म के प्रति आसक्ति। ये तो सदा मौन व्रत धारण किए प्रकृतिगत कर्म बनकर औरों के लिए निछावर होते रहे हैं।

मौन की भाषा अव्यक्त होकर भी अभिव्यक्त हो जाती है। यह अनकही होती है, फिर कह देती है। यही इसकी विशेषता है। पुष्प को अपने बारे में बखान नहीं करना पड़ता। यह जब खिलता है, तो वातावरण स्वत: ही सुगंधमय हो उठता है और उसके पास से हर गुजरने वाले किसी भी व्यक्ति को इसके अनुभव से वंचित होना नहीं पड़ता। डाली से कटकर मुस्कराते रहने की इसकी प्रेरणा भी मौन ही होती है, जिसे हृदयंगम कर हर परिस्थितियों में प्रसन्न रहा जा सकता है। दीपक भी मौन होकर निष्कंप जलता रहता है। यह तमस् की छाती को चीरकर आलोक का पथ गढ़ता है और हरेक को अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए सहायता प्रदान करता है। दीपक का मौन क्या किसी प्रभावपूर्ण उपदेश या आख्यान से कम है। इसी मौन में भक्त भगवान् का कृपापात्र बनता है। गहन मौन में लीन दार्शनिक का चिंतन नवीन दर्शन को जन्म देता है एवं वैज्ञानिक अपने शोध-अन्वेषण से एक नया आविष्कार करता है। ऐसा मौन ही सार्थक है।

अरुणाचलम् के महर्षि रमण सदैव मौन रहते थे। परंतु उनका मौन उपदेश आत्मा की गहराई में उतर जाता था। बिना बोले वह हरेक की जिज्ञासा को शांत करते और हर कोई उनसे अपनी गंभीर समस्या का समाधान अनायास पा जाता था। उनके मौन आशीर्वाद से ही मनोकामना पूरी हो जाती थी। महायोगी श्री अरविंद ने मौन में ही अतिमानस योग को सिद्ध किया। इस दौरान सन् १९२६ से १९५० के अपने महानिर्वाण तिथि तक वह एक कोठरी में कैद हो गए थे। उन दिनों वे प्राय: मौन रहा करते थे और उनकी इस मौन योग साधना ने मानव जाति को एक नूतन उपलब्धि दी।

मौन एक व्रत है। इस व्रत के व्रती आचार्य विष्णु गुप्त के अंदर एक जीवट एवं महापराक्रमी चाणक्य ने जन्म लिया, जिसने अखंड भारत के भविष्य के उज्ज्वल स्वरूप को मूर्त रूप प्रदान किया और इनके इस मौन का ही परिणाम था कि अब तक के इतिहास के सबसे बृहत्तर भारत का उदय हो सका। सबके दिलों में धड़कने वाले गाँधी जी के मौन का प्रभाव कितना विलक्षण एवं अद्भुत था, इससे भला कौन परिचित नहीं है, जिनने अपने देश की सदियों पुरानी गुलामीरूपी लौह बेड़ी को तोड़कर एक अकल्पनीय स्वतंत्रता प्रदान की। क्या यह अटूट एवं प्रबल मौन से उपजी उनकी आत्मशक्ति नहीं थी, जिसने कभी न अस्त होने वाले साम्राज्य को पराजय एवं पराभव का कडुआ घूँट पिला ही दिया।

अँगरेजी साहित्य के महान् कवि वर्ड्सवर्थ प्रकृति के उपासक थे। वह प्राकृतिक सौंदर्य को एकांत में मौन होकर घंटों निहारा करते थे। वह कहते हैं कि मैंने वर्षों पूर्व अपने पसंदीदा फूल डेफोडिल्स को देखा था। मैं प्राय: मौन एवं शांत होकर उसे अपनी अंदर की आँखों में देखता था और उस क्षण मेरा हृदय आनंदातिरेक से लिप्त होकर उसके साथ भाव-विभोर हो उठता। वह अपने काव्य को मौन एवं नीरवता का वरदान कहा करते थे।

विख्यात एवं महान् दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल ने भी मौन की महत्ता-विशेषता को स्वीकारा है। उन्होंने इस संदर्भ में एक घटना का उल्लेख किया है। वह जिस नगर में निवास करते थे, वहाँ पर एक विराट् ग्रंथालय था। जिस समय रसेल अध्ययन हेतु वहाँ जाते थे, उसी समय एक अन्य पाठक भी वहीं नित्य आता था। दोनों आते, पढ़ते और मौन होकर वापस चले जाते और यह क्रम अनवरत चालीस वर्ष तक चलता रहा। यह अखण्ड मौन तब टूटा जब एक दिन रसेल ने सुना कि उस पाठक की मृत्यु हो गई और वे सहसा कह उठे, ''मैंने अपना एक अत्यंत प्रिय मित्र खो दिया।''

तानाजी के पुत्र का विवाह था, तभी कोंडल दुर्ग के लिए युद्ध की सूचना आ पहुँची। तानाजी ने कहा, "अपने देश और समाज के आगे व्यक्तिगत स्वार्थ तुच्छ हैं।" वह युद्ध के लिए चल पड़े। युद्ध में जीत उन्हीं की हुई, पर उनका शरीर काम आ गया। उनकी स्मृति में ही इस दुर्ग का नाम सिंहगढ़ रखा गया। शिवाजी ने कहा, "तानाजी जैसी जीवन की सार्थकता बिरलों को मिलती है।"

अत: जीवन में श्रेष्ठ एवं सार्थक कार्य के लिए मौन को एक व्रत मानकर अपनाना चाहिए। प्रतिदिन न बन पड़े, तो सप्ताह में एक निश्चित दिन के कुछ घंटों से प्रारंभ करके क्रमश: इसे बढ़ाते रहना चाहिए, क्योंकि जब व्यक्ति बोलता है तो जिह्वा हावी रहती है और मौन की अवस्था में अंतर बोलता है। हमें अपने अंतर को बोलने का अवसर प्रदान करना चाहिए। क्योंकि इसी में जीवन का सारा मर्म छिपा है और इस दिव्य अवसर से हमें अवश्य ही लाभान्वित होना चाहिए। तभी इस सुरदुर्लभ जीवन की सार्थकता संभव हो सकती है।

0

माँ की कृपा से क्या कुछ संभव नहीं

'चने ले लो, चने-भुने हुए चने, मसालेदार चने।' यह आवाज अगणित लोगों को चने के चटपटेपन का अहसास करा देती। पर इसमें जो टीस थी, जो दरद था, जो विकलता थी उसका अहसास कुछ इने-गिनों को ही था। स्कूल से आते ही अनिरुद्ध बिना कुछ खाए डोलची में चने रखकर बेचने के लिए चल पड़ता। चने बेचते हुए वह अपनी पढ़ाई की बातें भी सोचता रहता।

अनिरुद्ध के पिता रघुवीर स्वदेशी कॉटन मिल में काम करते थे, लेकिन मिल की छँटनी में उन्हें निकाल दिया गया। अब वह बेकार थे, काम की तलाश में बस मारे-मारे घूमते थे। घर की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही थी। दो समय की रूखी रोटियाँ मुश्किल हो रही थीं। अब केवल अनिरुद्ध की माँ शकुंतला की मेहनत-मजदूरी का सहारा था। वह कुछ संपन्न घरों में झाड़-चौका, बर्तन का काम करती थी। उधर अनिरुद्ध भी रोज चने बेच लेता। इस तरह किसी तरह घर का काम चल रहा था।

शकुंतला को हर समय अनिरुद्ध की पढ़ाई की चिंता खाए रहती। किसी तरह अनिरुद्ध ने भी परिस्थितियों से जूझते हुए हाईस्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास कर ली। उसे अब ग्यारहवीं दरजे में दाखिला लेना था, लेकिन उसके पास दाखिले की फीस के लिए रुपये नहीं थे। शकुंतला बहुत परेशान थी, अनिरुद्ध भी रुँआसा था। ऐसे में शकुंतला को मैनेजर साहब की पत्नी—अपनी मालकिन की याद आई। वह सुबह ही उनके घर निकल गई।

अनिरुद्ध इस आशा में साँस रोके बैठा था कि माँ की बात मालकिन कभी नहीं टालेंगी। उसके एडमीशन की फीस की व्यवस्था वहाँ जरूर हो जाएगी, क्योंकि उसकी माँ ने हर मुसीबत एवं परेशानी उठाकर उनकी भारी सेवा की थी।

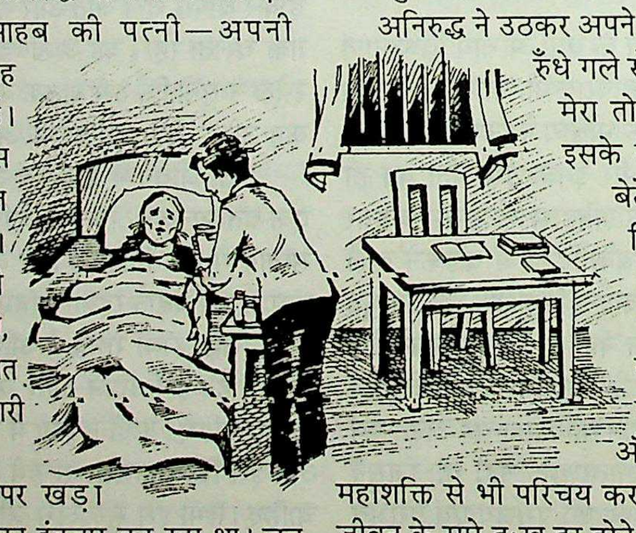

अनिरुद्ध घर के दरवाजे पर खड़ा बहुत बेचैनी से अपनी माँ का इंतजार कर रहा था। जब उसने माँ को आते हुए देखा तो उसे कुछ तसल्ली हुई, लेकिन उसने जब माँ को गौर से देखा, तो उसकी परेशानी और बढ़ गई। माँ का चेहरा बुझा-बुझा था। उदासी की काली झाँईं उसके चेहरे को ढके थी। आते ही सीधे बिना उसकी ओर देखे भीतर चली गई और चटाई पर धम्म से बैठ गई। ऐसा लग रहा था कि जैसे उसके शरीर का पूरा खून किसी ने निचोड़ लिया हो। अनिरुद्ध की हिम्मत नहीं हुई कि माँ से कुछ पूछे। फिर भी सहमते हुए उसने माँ से पूछा, ''माँ तुम्हारी तबियत तो ठीक है।''

''हार गई बेटा मैं'' माँ ने आँसू पोंछते हुए कहा, ''मालकिन साफ मुकर गईं। उन पर मुझे पूरा भरोसा था, पर वह मेरी बात सुनते ही अपना खुद का रोना लेकर बैठ गईं। कुछ जगहों पर और भी कोशिश की, पर कोई बात नहीं बनी। बड़े लोग हैं, जब जैसी मरजी आए बोलने के लिए स्वतंत्र हैं। क्या करूँ? कुछ समझ में नहीं आता मुझे माफ कर दो बेटा।''

आज एडमीशन का आखिरी दिन था और अभी तक फीस के अभाव में अनिरुद्ध का दाखिला नहीं हो सका था। माँ-बेटा दोनों ही इसी सोच में उदास बैठे थे। तभी उधर से अनिरुद्ध के शिक्षक रामशरण निकले। वे अनिरुद्ध के पास आकर बोले, ''क्या बात है अनिरुद्ध तुमने अभी कॉलेज जाना शुरू नहीं किया?''

अनिरुद्ध ने उठकर अपने मास्टर जी के पाँव छुए और रुँधे गले से कहा, ''कॉलेज कैसे जाएँ मेरा तो दाखिला ही नहीं हुआ।'' इसके बाद की सारी कहानी माँ-बेटे के चेहरे ने कह सुनाई। जिसे रामशरण जी मौन भाव से समझ गए। सारी स्थिति को अनुभव करके उन्होंने कहा, ''परेशान न हो बेटे, हम तुम्हारी व्यवस्था करेंगे और साथ ही तुम्हें उस महाशक्ति से भी परिचय कराएँगे, जिसके स्मरण मात्र से जीवन के सारे दुःख दूर होते हैं।''

श्री रामशरण जी गायत्री के साधक थे। गायत्री महामंत्र उनके जीवन का प्राण था, पर वे अपनी साधना बड़े ही गोपन भाव से करते थे। किसी को भी उनकी इस गहन साधना का अहसास न था, पर आज उन्होंने अनिरुद्ध के सामने अपनी साधना का रहस्य सविधि समझा दिया। सूर्यमंडल में स्थित गायत्री महाशक्ति का ध्यान, चौबीस अक्षरों वाले गायत्री महामंत्र की जप विधि उन्होंने अनिरुद्ध को कह सुनाई। साथ ही उन्होंने बताया कि बेटा अनिरुद्ध तप के बिना जप कुछ ऐसा है जैसे गरमी से रहित अग्नि। जप के साथ जब तक तप की प्रक्रिया का योग नहीं होता, तब तक जप का प्रभाव नहीं होता।

इसी के साथ उन्होंने उसे तप के चार सूत्रों का उपदेश दिया। उन्होंने कहा, ''तप के चार सूत्र हैं, (१) अर्थ संयम, (२) समय संयम, (३) इंद्रिय संयम, (४) विचार संयम। इस चतुःसूत्री साधना के साथ की गई गायत्री उपासना सारे असंभव को संभव बनाने में सक्षम एवं समर्थ है। तुम समूचे विश्वास के साथ आदिशक्ति माता गायत्री का आँचल थाम लो। माँ की कृपा से तुम्हारी सारी पीड़ाएँ दूर होंगी।''

ये सारी बातें बताकर उन्होंने उसी दिन अनिरुद्ध का कॉलेज में दाखिला करवा दिया। उसकी पुस्तकों एवं अन्य अध्ययन सामग्री का प्रबंध किया। अन्य चीजों के लिए मास्टर जी ने आश्वासन दिया, ''कोई भी दिक्कत हो तो मुझे बताना और कभी भी हिम्मत मत हारना। हमेशा ही महायोगी श्री अरविंद के इस वचन को याद रखना— Everything can be possible if God touch is there. अर्थात् ''यदि प्रभु का स्पर्श हो तो सब कुछ संभव है।''

अनिरुद्ध ने मास्टर जी के पाँव छुए और जीवन-साधना की राह पर चल दिया। मास्टर जी ने उसकी पढ़ाई का पहिया तो चला दिया था, लेकिन घर का पहिया अभी तक दलदल में फँसा था। इस कारण अनिरुद्ध को चने बेचने का काम लगातार करना पड़ता था। अपनी चतुःसूत्री साधना के साथ प्रतिमास सवा लक्ष गायत्री महामंत्र के अनुष्ठान के साथ वह पढ़ाई की लालटेन को जलाए रखता। उसे मास्टर जी के द्वारा कहा गया महर्षि अरविंद का वचन, यदि प्रभु का संस्पर्शबद्ध हो तो सब कुछ संभव है, हमेशा याद रहता। इसलिए चने बेचने की थकान के बावजूद वह अपनी साधना एवं अध्ययन को कभी नहीं भूलता।

गायत्री महामंत्र की सविधि उपासना से उसकी मेधा तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम हो गई। तमाम परेशानियों के बावजूद उसने इंटर फिर बी. ए. किया। इन्हीं झंझावातों में एक दिन उसने एम. ए. की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली।

शकुंतला के मुख पर इस खबर ने एक अनोखी आभा ला दी। उसकी आँखें खुशी से छलक पड़ीं। माँ की आँखों में आँसू आए हुए देखकर वह बोला, ''माँ अब चिंता क्यों करती हो? चाहे जैसे भी हो मुझे आई. ए. एस. की परीक्षा पास करनी है।''

''माँ गायत्री सब संभव करेंगी बेटा! माँ के आँचल की छाया में तू जरूर आई. ए. एस. बनेगा।''

अपने असीम भगवद् विश्वास के साथ वह तैयारियों में जुट गया। साथ ही अपने लिए एक छोटी-सी फर्म में क्लर्क की नौकरी की व्यवस्था भी जुटाई, ताकि माँ का काम छुड़ाया जा सके।

हालैंड की पुरानी घटना है। नदी की बाढ़ से रेल का पुल टूट गया। गाड़ी आने का समय हो गया। टूटने की जानकारी न होने से वह चली आती तो डूब जाती।

एक छोटा लड़का वहाँ मौजूद था। आने वाली गाड़ी को रोकने के लिए उसने तुरंत उपाय सोच लिया। कुर्ता फाड़कर झंडी बनाई। भुजा काटकर खून निकाला और उसे लाल रंग लिया। पटरी पर लकड़ी में लाल झंडा फहराता हुआ वह खड़ा था। गाड़ी चली आती, तो जान जोखिम का खतरा भी था, पर उसने उसकी परवाह न की।

ड्राइवर ने लड़के को खड़ा देख लिया। गाड़ी रोकी। दुर्घटना रुकी। गाड़ी वापस लौटी। उस लड़के जार्ज स्टेनले को उस देश के निवासी और सुनने वाले कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते और मन-ही-मन धन्यवाद देते हैं।

अनिरुद्ध को अब तक पीड़ा सहने की आदत पड़ चुकी थी। उसने पीड़ा को भी तप का एक साधन मान लिया था। उसे इस तथ्य पर पूर्ण विश्वास था कि भगवद् कृपा एवं पुरुषार्थ का संयोग असंभव को भी संभव किया करता है। अपने निश्चय पर अडिग वह आई.ए. एस. की तैयारियों में जुट गया, हालाँकि इन दिनों उसकी माँ का स्वास्थ्य खराब था। अभाव और संघर्ष ने उसे तोड़ दिया था। भीतर-ही-भीतर घुलते रहने के कारण उसके शरीर में टीबी का संक्रमण लग गया था। अब उसे ज्यादातर खाँसी आती रहती और बुखार बना रहता।

आई. ए. एस. की मुख्य परीक्षा के लिए उस दिन अनिरुद्ध अभी तैयार ही हो रहा था कि उसकी माँ को

खाँसी का इतना जबरदस्त दौरा पड़ा कि खाँसते-खाँसते उसके मुँह से खून भी निकल पड़ा। इसी के साथ वह बेहोश हो गई। हे माँ गायत्री! यह कैसी विपदा आन पड़ी। अनिरुद्ध को घबराहट में गायत्री महामंत्र के अलावा और कुछ न सूझ पड़ा। उसके होंठ अस्फुट स्वरों में गायत्री जप रहे थे और मन जगन्माता से प्रार्थना करने में तल्लीन था। इसे माँ गायत्री की कृपा कहें या अनिरुद्ध की अगाध श्रद्धा का सजीव चमत्कार कि माँ को होश आ गया। लेकिन उसकी हालत अभी कुछ ज्यादा ठीक न थी। वह ऊहापोह में था कि परीक्षा के लिए जाए अथवा नहीं।

इस सोच-विचार में उसके माथे पर चिंता की लकीरें गहरी हो गईं। इस समय वह बहुत ही बेचैनी और घबराहट का अनुभव कर रहा था। लगता था कि उसकी सारी उम्मीदों पर पानी फिर जाएगा।

तभी शकुंतला ने आँखें खोल दीं, सामने परेशान खड़े अनिरुद्ध को देखकर उन्होंने क्षीण स्वर में कहा, ''बेटा अनिरुद्ध! आज तुम्हारी परीक्षा का दिन है, तुम गए क्यों नहीं? तुम जाओ मैं यहाँ ठीक हूँ।''

''पर माँ! तुम्हें इस हालत में छोड़कर भला मैं कैसे जाऊँ?'' अनिरुद्ध ने बेचैनी भरे लहजे में कहा, ''फिर मेरा मन भी ऐसे में किस तरह लगेगा?''

माँ के होंठों पर क्षीण-सी मुस्कराहट आई और बोली, ''पगले! जगजननी माँ गायत्री की कृपा पर इतना अविश्वास नहीं करते। मुझे कुछ नहीं होगा, माँ पर श्रद्धा रख।''

गायत्री महामंत्र ने उसे इन क्षणों में प्राणों का नया अनुदान दिया और वह श्रद्धा से मन-ही-मन गायत्री महामंत्र जपता हुआ परीक्षा देने जाने के लिए राजी हो गया।

परीक्षा के पश्चात् उसने जी जान लगाकर माँ की सेवा की। सेवा की रंगत माँ के जीवन में साफ-साफ दिखने लगी। चिकित्सक की सहायता, अनिरुद्ध की सेवा और माँ गायत्री कृपा से शकुंतला ठीक हो गई। हालाँकि इस क्रम में महीनों गुजर गए।

तभी एक दिन उसके मित्र संजीव ने उसके दरवाजे पर दस्तक दी। संजीव की खुशी उसके चेहरे पर साफ-साफ झलक रही थी। उसने अनिरुद्ध को गले से लगाते हुए बधाई दी, ''अरे भाई, अब तुम चने वाले अनिरुद्ध से आई. ए. एस. हो गए। मेरी बहुत-बहुत बधाई स्वीकार करो।''

''सच! मैं पास हो गया।'' अनिरुद्ध को एकबारगी विश्वास ही नहीं हो रहा था। संजीव ने जब समाचार पत्र दिखाया तो उसे यथार्थ का ज्ञान हुआ। इस सफलता के समाचार ने उसकी आँखों में आँसू भर दिए। इन आँसुओं में श्रद्धा-कृतज्ञता एवं खुशी एक साथ छलक रही थी। उसने भावभरे स्वर में कहा, ''यह सब माँ गायत्री की कृपा, मेरी माँ की तपस्या, पिताजी के आशीष एवं मेरे शिक्षक श्रीरामशरण जी की प्रेरणा का फल है।''

अभी वह इतना कह ही रहा था कि उसने सामने मास्टर रामशरण जी को खड़ा पाया। उन्होंने अनिरुद्ध से गद्‌गद् होकर कहा, ''बेटा! ध्यान रखना, यह तुम्हारी गायत्री साधना के सुफल की शुरुआत है। माँ अपने साधकों को लौकिक यश-ऐश्वर्य, अलौकिक शांति सब कुछ देकर निहाल करती है। तभी तो गायत्री साधना की परिणति बताते हुए अथर्ववेद में कहा गया है, '**ॐ स्तुता मया वरदा वेदमाता, प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणम् ब्रह्मवर्चसम् मह्यम् दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।**' मास्टर रामशरण जी उसे गायत्री की अगाध महिमा का बोध कराकर चले गए और अनिरुद्ध इस महामंत्र के गहन चिंतन में लीन हो गया। ❋

रैदास की निस्पृहता और कर्त्तव्यनिष्ठा से इंद्र बहुत प्रसन्न हुए, सोचने लगे इनकी दरिद्रता दूर करनी चाहिए, सो पारसमणि लेकर उनके पास पहुँचे और बोले, ''इसे रखिए, जब आवश्यकता हो लोहे का इससे स्पर्श कराएँ और सोना बना लें। आपको किसी वस्तु का अभाव न होगा।''

संत ने इंद्र का सत्कार किया और उनका अनुग्रह स्वीकार करते हुए किसी कोने में सुरक्षित रख दिया।

बहुत दिन बीते, इंद्र उधर से फिर निकले, सोचा रैदास की संपन्नता देखते चलें। सो उनकी कुटिया में जा पहुँचे। देखा, तो पहले जैसी ही अभावग्रस्त परिस्थितियाँ बनी हुई थीं। संपन्नता का वैभव रंचमात्र भी नहीं था।

इंद्र ने पारस के उपयोग करने की बात का स्मरण दिलाया, तो उन्होंने इतना ही कहा, ''बिना परिश्रम की संपदा का उपयोग करने पर संतवृत्ति से हाथ धोना पड़ेगा। इतनी हानि उठाते मुझसे नहीं बन पड़ेगी।''

कोने में से ढूँढ़कर पारस इंद्र को लौटा दिया और वे सच्ची संतवृत्ति के प्रति नतमस्तक होकर वापस स्वर्ग चले गए।

होने जा रहा है विज्ञान का कायाकल्प

आज का युग विशुद्ध रूप से विज्ञान का युग है। यह प्रकृति और पदार्थ के रहस्य को अनावरण करता है, परंतु यह रहस्य केले के तने के समान परत-दर-परत निकलता चला जा रहा है। स्थिति यह है कि विज्ञान जब तक किसी नियम एवं सिद्धांत की रचना करता है तब तक एक नई परिकल्पना उठ खड़ी होती है और यह प्रक्रिया अंतहीन सिलसिले के रूप में चलती रहती है। इसलिए परम सत्य की तो दूर की बात है, अभी तक प्रकृति के कुछ अंश को भी नहीं जाना जा सका है।

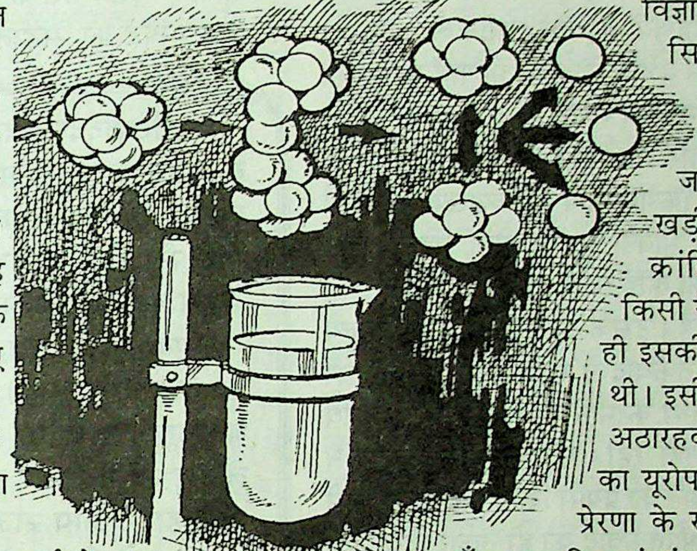

विज्ञान का जन्म दर्शन के गर्भ से हुआ है। अत: शैशव काल के विज्ञान में दार्शनिकों का मत दृष्टिगोचर होता है। चूँकि विज्ञान का क्षेत्र ही पदार्थ जगत् है, इसी कारण सर्वप्रथम दार्शनिक हेराक्लिटस ने सर्वप्रथम पदार्थ की ही व्याख्या की। उन्होंने इसे परिवर्तनशील माना। एक अन्य दार्शनिक पारमेनिडीज ने इस तथ्य की पुष्टि की। ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी तक यही मान्यता प्रचलित रही। परंतु इसके पश्चात् डेमोक्रिटस ने पदार्थ पर एक नवीन परिकल्पना की। उसके अनुसार मकान का निर्माण ईंटों से होता है। ईंटों से मिलकर ही भवन बन सकता है। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ भी एक छोटे-छोटे कणों से जुड़कर विनिर्मित होता है। चीनी के एक दाने में असंख्य छोटे-छोटे कण होते हैं। अंत में इन सूक्ष्मतम कणों को ही परमाणु कहा गया और यहीं से विज्ञान की यात्रा प्रारंभ हुई।

इस प्रकार विश्व में शताब्दियों तक पदार्थवाद का प्रभाव छाया रहा। यहाँ तक कि इसे प्राण एवं चेतना का प्रमुख तत्त्व माना जाने लगा। उन दिनों इसी का बोलबाला रहा, परंतु १७८७ में आइजेक न्यूटन की 'प्रिंसिपिया' का प्रकाशन हुआ, जिसमें उन्होंने गति के सिद्धांतों की नवीन व्याख्या की और सर्वप्रथम इसी ने पदार्थ (Matter) को अक्रिय एवं जड़वत् माना। उनके अनुसार वे ठोस, अभेद्य एवं कम गतिशील होते हैं। यही वह बिंदु है, एक मोड़ है, जहाँ से आधुनिक विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ।

विज्ञान के क्षेत्र में जड़त्व के सिद्धांत ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इसने पाश्चात्य जगत् में एक नई क्रांति खड़ी कर दी। यह ऐसी क्रांति थी जो अब तक किसी ने न तो की थी और न ही इसकी परिकल्पना तक की थी। इसी का परिणाम था कि अठारहवीं एवं उन्नीसवीं सदी का यूरोप औद्योगिक क्रांति के प्रेरणा के रूप में प्रख्यात हुआ। वहाँ पर समृद्धि एवं संपन्नता में बेशुमार वृद्धि हुई। इसी वजह से अनेक आविष्कार हुए। भाप और लोहे के संयोग से विशाल ट्रेन एवं जहाज का निर्माण होने लगा और इसके लिए उपयोग में आने वाले अनुपयोगी लोहे एवं कोयले की महत्ता एकाएक बढ़ गई। ऐसा लगा कि विज्ञान ने पदार्थ पर विजय प्राप्त कर ली तथा प्रकृति की असीमित शक्ति व ऊर्जा को पालतू बना लिया है।

न्यूटन के गति के सिद्धांत से अंधपरंपराएँ टूटीं एवं बिखरीं। उन्होंने स्थिर माने जाने वाली पृथ्वी का उपर्युक्त स्थान स्पष्ट किया। हालाँकि इसके पूर्व कॉपरनिकस, केपलर एवं गैलीलियो आदि भी ऐसा ही प्रतिपादन कर चुके थे। परंतु न्यूटन के सिद्धांत ने ग्रहों की गति एवं उसकी कक्षा आदि का निर्धारण किया। सौरमंडल में ग्रह आपस में टकराते क्यों नहीं, वे अपनी कक्षा में कैसे घूमते रहते हैं। इसके अलावा उपग्रह एवं धूमकेतु आदि आकाशीय पिंडों की जानकारी मिली। यहीं से अंतरिक्षीय यात्रा की परिकल्पना साकार होने लगी कि अनंत आकाश में तारों जैसे टिमटिमाते ग्रहों पर भी इंसान अपने उपग्रह भेज सकता है एवं इसकी सैर कर सकता है। यह न्यूटन की देन थी।

इस अनुसंधान से चमत्कृत एवं हतप्रभ विश्व ने भौतिकवाद को अपना लिया। परिणामत: सभी क्षेत्रों में

पदार्थ की इस भौतिक अवस्था का समावेश होने लगा। सभी की सोच इसी के इर्द-गिर्द घूमने लगी। पदार्थ से हटकर कोई परिकल्पना संभव ही नहीं हो सकती और इस तरह जीवों एवं प्राणियों का अध्ययन-अनुसंधान करने वाला मनुष्य भी इसी की गिरफ्त में आ गया। जीवित प्राणी को स्वचालित यंत्र कहा एवं समझा जाने लगा। इसी जगह से जैव भौतिकवाद के मूर्द्धन्य वैज्ञानिक रिचर्ड डॉकिंस तक को मनुष्य एवं अन्य प्राणियों को जैव मशीन कहना पड़ा।

मनोविज्ञान भी इस प्रभाव से अनछुआ नहीं रह सका। मस्तिष्क को मन का माध्यम मानने के बजाय इसे मशीन माना गया। जिस प्रकार यंत्र काम करता है ठीक उसी प्रकार से मस्तिष्कीय क्रियाकलाप की व्याख्या की गई। मनुष्य में दया, संवेदना, भावना, करुणा, सेवा, सहयोग जैसे दुर्लभ मानवीय गुणों का कोई स्थान नहीं रहा। बस यंत्रवत् वह कार्य कर सकता है। उसके आगे उसका कोई मूल्य नहीं है। इस तरह भौतिकवाद ने मनुष्य की मनुष्यता पर कुठाराघात किया। मनुष्य के मौलिक चिंतन एवं अनुभव का कोई महत्त्व ही नहीं रहा। भौतिकता के उन्माद ने इंसानियत को निगल जाने का प्रयास किया। संभवतः इससे उपजे आक्रोश ने इस भौतिकवाद को ही नकार दिया और कहा जाने लगा कि नीत्शे के ईश्वर के समान भौतिकवाद का भी अंत हो गया।

यह भौतिकवाद मरा तो नहीं, परंतु एक नए रूप में फिर से खड़ा हो गया, जिसे आज 'मॉडर्न फिजिक्स' कहा जाता है। अल्बर्ट आइन्स्टीन का सापेक्षतावाद इसी नई भौतिकी की देन है, जिसने न्यूटन के टाइम-स्पेश को नया आयाम दिया। इसमें एक ओर जहाँ अवस्था के दिक्-काल का निर्धारण किया गया, वहीं दूसरी ओर इसने सामान्य जीवन को प्रभावित किया। किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना की जानकारी एक-दूसरे से तुलना करके ही जानना संभव है। इसी तरह से इसे प्रतिपादित किया गया। इससे पदार्थ के पुराने सिद्धांत एकदम बदल गए। नए ढंग से परमाणविक परिकल्पना होने लगी। न्यूटन के डिएरमिनीस्टिक मशीन के बदले वेव और पार्टिकल्स (तरंग कण) के नए समीकरण का गठजोड़ होने लगा। इसे क्वांटम थ्योरी के रूप में जाना जाता है। इस सिद्धांत में ठोस पदार्थ का अस्तित्व विलीन हो गया। समस्त भौतिक जगत् को तरंगरूपी ऊर्जा का अनंत भंडार माना जाने लगा। इस कारण पूर्व प्रचलित नियम टूटे और इसके स्थान पर संयोग का नया नियम लागू हुआ।

इतनी सुदीर्घ यात्रा के बाद विज्ञान को यह मानना पड़ा कि ठोस रूप में दिखने वाला पदार्थ वस्तुतः कोई पदार्थ नहीं है, बल्कि यह विराट् चेतना समुद्र का एक भौतिक रूप है। यही चैतन्य ऊर्जा घनीभूत होकर द्रव्य बनती है और यह द्रव्य पुनः उसी ऊर्जा में परिवर्तित हो सकते हैं। क्वांटम फिजिक्स में इस ऊर्जा को तरंग एवं द्रव्य को कण के रूप में परिकल्पना की जाती है। जब इस द्रव्य को दिक्-काल के साथ जोड़ा जाता है यही सुपरस्ट्रिंग थ्योरी कहलाती है। इस थ्योरी के प्रादुर्भाव होने के साथ ही न्यूटन का जड़त्व पिंड का सिद्धांत समाप्त हो गया।

नासिरुद्दीन दिल्ली के बादशाह थे, पर वे अवकाश के समय टोपियाँ बनाकर व कुरान की नकल करके जो धन मिलता, उसी से अपना खरच चलाते। बादशाह की बेगम हाथ से खाना पकाया करती थीं।

एक बार खाना पकाते समय बेगम का हाथ जल गया। वह सोचने लगीं, एक बादशाह की बेगम होते हुए भी उसे एक नौकर भी मयस्सर नहीं। उसने अपने पति से कहा, "आप राज्य के स्वामी हैं। क्या आप हमारे लिए भोजन पकाने वाले एक नौकर का प्रबंध नहीं कर सकते?"

"बेगम आपके लिए नौकर रखा जा सकता है, बशर्ते कि हम अपने सिद्धांतों से डिग जाएँ। राज्य, धन, वैभव तो प्रजा का है। हम तो उसके संरक्षक मात्र हैं। उसका उपयोग अपने लिए करें, यह तो बेईमानी होगी।" नासिरुद्दीन ने उत्तर दिया। उनकी सिद्धांत-निष्ठा के आगे पत्नी को झुकना ही पड़ा।

विज्ञान के इस सूक्ष्म विश्लेषण से अनेक सिद्धांतों ने जन्म लिया। पदार्थ अपना स्वरूप कब बदलेगा, यह कहा नहीं जा सकता। विज्ञान की अत्याधुनिक टेक्नोलॉजी भी इसकी भविष्यवाणी कर पाने में असफल है, भले ही वह मौसम का पूर्वानुमान लगा सकता हो, इसे थ्योरी ऑफ केआस कहा जाता है। यह सिद्धांत केवल इतना स्पष्ट करता है कि कोई भी पदार्थ अपनी प्रकृति के अनुरूप ही परिवर्तित होता है। इस प्रकार इस सिद्धांत से न्यूटन का 'क्लाक वर्क यूनिवर्स' सिद्धांत भी धराशायी हो गया और यहीं से द्रव्य के संगठन एवं सूचना का आविर्भाव हुआ, जो

वर्तमान के बहुविकसित इन्फार्मेशन टेक्नोलॉजी का मूल आधार है। इसी तरह से इसकी विकास यात्रा क्या होगी, भविष्य में और कितने नए सिद्धांत बनेंगे तथा पुराने टूटेंगे, कहा नहीं जा सकता।

वस्तुत: विज्ञान का उद्देश्य पदार्थ एवं प्रकृति के सत्य को खोजना, समझना एवं प्रयोग में लाना है। चूँकि प्रकृति अनंत वस्त्रालंकारों से आवृत्त है। विज्ञान उसके एक परिधान को हटाता है, तो उसे सब कुछ नया लगता है। प्रकृति का एक रहस्योद्घाटन होते ही पुराने नियम भरभराकर गिर जाते हैं। प्रकृति के इस रहस्य को जानने के लिए वैज्ञानिक मॉडल की परिकल्पना करते हैं।

ब्रह्मांड की उत्पत्ति हेतु 'बिग बैंग' मॉडल खड़ा किया गया। इसी मॉडल को आधार मानकर ही विज्ञान ब्रह्मांड की उत्पत्ति, विकास आदि की परिकल्पना करता है। आधुनिक आइंस्टीन समझे जाने वाले स्टिफन हाकिंग का 'ब्लैक होल' भी एक परिकल्पना मॉडल है। यह कोई 'काला गड्ढा' नहीं है। यह भारी मात्रा में उष्मा का विकिरण करता है। ठीक इसी प्रकार क्वांटम फिजिक्स के वेव पार्टिकल्स भी अपने सिद्धांत के सत्यापन के लिए की गई एक परिकल्पना है। विज्ञान की मान्यता है कि प्रोटॉन भारी कण है। यह इलेक्ट्रॉन से १८३६ गुना भारी है। हालाँकि ये कण एवं मॉडल कोई वास्तविक पदार्थ नहीं हैं, जिन्हें सामान्यत: देखा और परखा जा सके, फिर भी विज्ञान जगत् में इन परिकल्पनाओं का विशिष्ट मूल्य एवं महत्त्व है, क्योंकि इसी के आधार पर सभी वैज्ञानिक अन्वेषण-अनुसंधान प्रतिष्ठित हैं।

जेम्स क्लर्क मैक्सवेल ने अपने प्रयोग के माध्यम से घोषणा की कि प्रकाश इलेक्ट्रोमैग्नेटिक तरंग है, जिस प्रकार हवा में ध्वनि तरंग गतिशील होती है एवं जल में लहरें, ठीक उसी प्रकार प्रकाश की तरंगें ईथर में गति करती हैं। यह ईथर समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त है, परंतु यह क्या है ? इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि यह वैज्ञानिक परिकल्पित एक द्रव्य है। ठीक इसी प्रकार जीवविज्ञान एवं अन्य अनेक आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में ऐसी ही परिकल्पनाएँ की जाती हैं। वैज्ञानिक प्रकृति के संभावित स्वरूप को आधार मानते हुए ऐसे मॉडल का निर्माण करते हैं। यही उनके प्रयोग-परीक्षण का मुख्य आधार है।

प्रकृति को खोजने की अदम्य लालसा से अभिप्रेरित वैज्ञानिक भी नए-नए प्रयोग करते हैं और जैसे ही इन्हें नई जानकारी मिलती है, तो इसी के अनुरूप नए सिद्धांत रचे जाते हैं और यह अंतहीन क्रम चलता रहता है। हर नए के बाद पुरानी कड़ी टूट जाती है और यह भी क्यों नहीं। यह सब होना ही तो इस तथ्य का उद्घोष करता है कि छोटा-सा परमाणु ही नहीं, समूची विशालकाय सृष्टि क्षणभंगुर है। अपनी सुदीर्घ यात्रा के पश्चात् आज विज्ञान के कदम उसी सत्य के द्वार पर दस्तक दे रहे हैं, जिनका अन्वेषण पुरातन महर्षियों ने किया था। आज दुनिया भर के वरिष्ठ वैज्ञानिक भी इस सत्य को स्वीकारने में लगे हैं कि इक्कीसवीं सदी में पुराना विज्ञान यदि अपने स्वरूप का कायाकल्प करके वैज्ञानिक अध्यात्मवाद का स्वरूप धारण कर ले तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। ❖

* * *

स्वाति नक्षत्र की वेला थी। खेतों को पानी की जरूरत पड़ी। बादलों में बसने वाली बूँदें मचलने लगीं, बोलीं, ''हमें आसमान नहीं, जमीन चाहिए। उठने में क्या आनंद। नीचे वालों के साथ आत्मसात् बनकर क्यों न जिएँ।''

बादल अपने समुदाय को अंचल में ही समेट रखना चाहते थे। बरसने की उन्हें जल्दी न थी। फिर भी बूँद मचली सो मचली। आगे-पीछे सोचे बिना धरती पर टपक ही पड़ी। सहेलियों को यह उतावली भाई नहीं।

हवा ने साथ नहीं दिया। खेती तक दौड़ सकने की उसमें सामर्थ्य नहीं थी। फिर भी सोचती रही। मन मसोसकर क्यों रहा जाए ? जितना बन पड़े उतना ही क्यों न किया जाए ?

बूँद बहुत दूर न चल सकी और जहाँ भी बन पड़ा वहीं बरस पड़ी। सरोवर तट पर बैठी हुई सीप ने उसकी ममता को परखा और मुँह खोल दिया, ''देवि! आओ तुम्हें कलेजे से लगाकर रखूँगी। तुम से बढ़कर कौन है इस संसार में जिसे अपना बनाऊँ।''

सीप और स्वाति बिंदु का संयोग मोती बन गया। अनुदानी और भाव पारखी दोनों धन्य हो गए।

जीवन सार्थक बनेगा संगीत से

संगीत के कोमल स्पर्श से मन प्रसन्न हो उठता है तथा अंतर् आनंदित। यह एक दिव्य अनुभव है, जिसके द्वारा आंतरिक गुप्त शक्तियों का विकास होता है। संगीत मनोरंजन का साधन भी है और मन की व्याधियों को ठीक करने का माध्यम भी। इसका प्रभाव बड़ा व्यापक होता है।

संगीत की विद्या अत्यंत प्राचीन है। आर्ष ग्रंथों में यह नाद के रूप में प्रतिपादित हुआ है। नद् धातु से उत्पन्न शब्द नाद का अर्थ है—अनाहत ध्वनि। इसलिए किन्हीं दो वस्तुओं के टकराने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे आहत ध्वनि कहते हैं। बिना किसी आघात या टक्कर के दिव्य प्रकृति के गर्भ से जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें अनाहत कहते हैं। अनहद नाद दस प्रकार का माना गया है। इसके हरेक प्रकार के नाद में विशेष तरह की ध्वनियाँ निकलती हैं।

संहारक अनहद नाद से पायजेब की झंकार के समान स्वर तरंग उठती है। पालक नाद सागर की लहरों जैसा होता है। मृदंग की आवाज सृजक नाद की पहचान है। शंख की आवाज सहस्रदल नाद का प्रतीक है। आनंदमंडल में तुरही सदृश्य स्वरलहरी निकलती है। इस प्रकार चिद्नाद में मुरली की, सच्चिदानंद नाद में बीन-सी, अखण्ड में सिह गर्जन की, अगम में नफीरी की तथा अलखरूपी अनहद नाद में बुलबुल-सा सुरीला स्वर निकलता है। ये अनहद नाद प्रकृति के अंतराल से निरंतर प्रवाहित होता रहता है, जिसे उच्च आध्यात्मिक मनोभूमि संपन्न साधक अनुभव कर सकते हैं।

इसी नाद ब्रह्म की अनुभूति संगीत द्वारा भी संभव हो सकती है। संगीत रत्नाकर में शारंगदेव ने इसकी पुष्टि की है। ऋषियों ने इसे दिव्य एवं पवित्र साधन माना है। इसलिए विख्यात संगीतकार पंडित रविशंकर कह उठते हैं, संगीत के सोपान से ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है। महान् कवि रवींद्रनाथ ने इसे अलौकिक शक्ति के रूप में प्रतिपादित किया है। वह कहते हैं कि संगीत ईश्वरीय अनुदान है, जो विश्व के कण-कण में समाया हुआ है। बस अपनी अनुभव क्षमता को बढ़ाकर इसका आनंद लिया जा सकता है।

विश्व रचना का मूल स्वर संगीत ही है। अपने कथन को बड़े रोचक ढंग से विश्लेषित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि समष्टि जगत् का यह छंद और ताल, व्यष्टि जगत् में जीवन के अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है। संगीत वस्तुतः जीवनधारा है। जहाँ कहीं जड़ता, हताशा, निराशा है, वह इस विराट् जीवनधारा से अलग होने का परिणाम है और इसीलिए मूल सृष्टि धारा से अनुकूल चलने वाली संगीत धारा से विमुख है। व्यष्टि में प्रकट होने वाला मोहक संगीत समष्टिगत जीवन प्रवाह के अनुकूल होने के कारण ही रमणीय है। इसी कारण यह समस्त मानवी मनोविकारों को विनष्ट कर देता है और जीवन में नवीन स्फूर्ति एवं चेतना का आविर्भाव करता है।

संगीत की स्वरलहरी से गाँधीजी भी प्रभावित थे। इसकी आकर्षण शक्ति का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि गायन द्वारा मुझे क्रोध पर नियंत्रण करने की शक्ति तथा अपूर्व शांति प्राप्त हुई है। उनके विचार से दिव्य संगीत हृदय पर अमिट छाप छोड़ता है। यह रूखे मनुष्य को संवेदनशील बना देता है। इसलिए 'स्पिरिट ऑफ म्यूजिक' में अर्नेस्ट हंट ने उल्लेख किया है कि संगीत सूक्ष्म अंतर्वृत्तियों के उद्घाटन का सबल माध्यम है।

संगीत का स्वर उद्विग्नता की स्थिति में आनंद का संचार करता है। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए ही व्रलस योम कहती हैं कि संगीत जीवन को अनुप्राणित करता है। यह जीवन की समस्त निर्जीव शक्तियों को विनष्ट कर आशा, उत्साह एवं उमंग की सृष्टि करता है। यह एक ऐसा सृजनात्मक साधन है, जो जीवन को मंगलमय एवं स्वर्णिम बना देता है। संगीत की इस विशेषता के कारण मार्टिन लूथर की भावाभिव्यक्ति इस प्रकार है, ''संगीत मनुष्य को

130438

दयालु एवं बुद्धिमान बनाता है। यह ईश्वर की वह अनुकृति है, जो मनुष्य के कष्टों को दूर कर उन्हें शांति पहुँचाती है।'' फ्रेडरिक ने तो यहाँ तक कह दिया कि संगीत के कारण ही जीवन की सार्थकता है।

यह सुनिश्चित तथ्य है कि संगीत के प्रभाव से मानसिक विकार दूर होते हैं तथा शांति मिलती है। चिकित्साशास्त्रियों के अनुसार यह शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी लाभप्रद सिद्ध हो रहा है। इसी वजह से आज संगीत एक उपचार की पद्धति बन गई है, जो पाश्चात्य जगत् में म्यूजिक थेरेपी के रूप में प्रचलित एवं लोकप्रिय हो रही है। अपने देश में भी इसका प्रचलन होने लगा है। यहाँ पर विशुद्ध भारतीय राग से रोगों का उपचार किया जा रहा है। जिस प्रकार दीपक राग से दीप जलने की एवं मेघ मल्हार द्वारा वर्षा होने की घटना प्रसिद्ध है, उसी प्रकार अनेक राग ऐसे भी हैं, जिनसे मानसिक शांति एवं आरोग्य का लाभ किया जा सकता है। आवश्यकता है ऐसे रागों की पहचान एवं उसका उचित प्रयोग।

इस संदर्भ में सितारवादक पंडित शशांक कट्टी का प्रयोग बड़ा ही उपलब्धिजनक रहा है। वह सितार द्वारा एक विशेष राग को रोगी को सुनाते हैं। रोगी इसे सुनकर काफी राहत महसूस करता है। भिन्न-भिन्न रोग के लिए अलग-अलग रागों का प्रयोग किया जाता है। मुंबई के प्रसिद्ध सरोदवादक विवेक जोशी ने भी ऐसा ही कुछ शोध-अनुसंधान किया है। यह इस थेरेपी की सफलता पर आशान्वित होकर कहते हैं कि संगीत मानसिक उत्तेजना को शांत करता है और यह इस तथ्य का द्योतक है कि रोगी पर इसका प्रभाव पड़ रहा है।

म्यूजिक थेरेपी के सफल प्रायोगिक निष्कर्ष से प्रेरित डॉ. अनिल पाटिल की मान्यता है कि राग से व्यक्ति को प्रभावित किया जा सकता है। जब सपेरा अपनी बीन की मोहक धुन से साँप जैसे विषैले जीव को झूमने के लिए विवश कर सकता है, तो भला शारीरिक स्वास्थ्य पर इसका प्रभाव क्यों नहीं पड़ सकता। इसी मान्यता से उत्साहित डॉक्टर रोगी की प्रारंभिक जाँच-पड़ताल के बाद उसकी पसंद के अनुरूप राग सुनाते हैं तथा इसकी सीडी तथा कैसेट उपलब्ध कराते हैं। अपने शोध-अनुभव के आधार पर वह कहते हैं कि विलंबित रागों का प्रयोग प्रतिक्रियाशील रोगी पर तथा इसके ठीक विपरीत द्रुत (तीव्र) धुनों का प्रयोग उत्साहहीन व्यक्तियों पर लाभप्रद होता है। अपने प्रयास से उन्होंने जॉज सरीखी पाश्चात्य धुनों को भी उपचार योग्य बना दिया है।

संगीत का प्रभाव असाध्य रोगों पर भी हो सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में पश्चिमी दुनिया में विख्यात नैशविले अस्पताल में विख्यात गायक जॉन रिची के संगीत को चुना गया है। इस धुन को एक सत्रहवर्षीया किशोरी केटी को प्रतिदिन प्रातः सुनाया जाता है। हालाँकि इस शोध का कोई निष्कर्ष तो अभी नहीं मिल पाया है, परंतु इसके प्रारंभिक परिणाम काफी आशानुकूल हैं।

संगीत के जादुई स्वरों से न केवल मनुष्य स्वस्थ-प्रसन्न होता है, बल्कि जानवर भी इससे अनछुए नहीं रहते। उन पर भी संगीत का असर दिखाई देता है। पंडित ओंकारनाथ ठाकुर की मान्यता है कि कॉफी राग के कोमल स्वरों से जानवर मस्त हो जाते हैं। उस समय उनकी चंचलता एवं चपलता देखने लायक होती है। अली खाँ के शिष्य चुन्नाजी तो अपने प्रयोगों में इससे एक कदम और आगे हैं। आस्ट्रेलिया की श्रीमती दिवाना शोल्ड के संगीत प्रयोग चमत्कारिक हैं। वह घने जंगलों में चली जाती हैं और संगीत से जंगली एवं अड़ियल घोड़ों को अपने वश में कर लेती हैं। प्रयोगों के इस क्रम में यूरोप में गायों को धीमे-धीमे धुन सुनाई गईं। इससे उनके दूध देने की क्षमता में वृद्धि हो गई।

एक बार एक संगीत अध्यापक अपने कुछ छात्रों के साथ लोकप्रसिद्ध पियानोवादक पादरेवस्की से मिलने गए। संगीत अध्यापक ने पादरेवस्की से पूछा, ''आपकी सफलता का सूत्र कौन-सा है?'' पादरेवस्की ने कहा, ''मैं अभी भी हर दिन चार घंटे नित्य अभ्यास करता हूँ। सतत अपनी गलती ढूँढ़ता रहता हूँ।''

उन्होंने छात्रों को समझाते हुए कहा, ''काम के प्रति निष्ठा और उसके लिए निरंतर प्रयास ही सफल होने का रहस्य है।''

संगीत के सतरंगी स्वरों में मनुष्य एवं अन्य सभी प्राणी भी मदमस्त हो उठते हैं। यह संगीत एक उत्कृष्ट कोटि की कला है। इस कला को अपनाकर अपना जीवन भी संगीतमय हो सकता है। जिसने जीवनरूपी संगीत की कला को सीख लिया, उसका समूचा जीवन सफल और सार्थक बने बिना नहीं रहता। ऐसे सार्थक जीवन के हर विचार एवं प्रत्येक कर्म से दिव्य संगीत झरता है। वह स्वयं आनंदित रहता है और औरों को भी प्रसन्नता लुटाता है। जीवन का यह सुरीला तत्त्व निश्चित ही वरेण्य है, जिसे हर कोई अपनाकर धन्य हो सकता है। ☆

130438

अभिमन्यु एक मिथक नहीं, सच्चाई

आधुनिक अनुसंधान अपने सतत प्रयास से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बालक अपने जन्म के पश्चात् नहीं, बल्कि जन्म के पूर्व माँ के गर्भ से सीखने लगता है। इसी कारण शोधकर्त्ताओं का मत है कि संतान को सुयोग्य एवं सुसंस्कारित बनाने के लिए उसके जन्मदाता माता-पिता को भी सुसंस्कृत होना चाहिए। गर्भ से ही शिशु के शारीरिक, बौद्धिक एवं भावनात्मक विकास की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। यह विकास गर्भवती माता एवं उसके चारों ओर के वातावरण के द्वारा प्रभावित होता है। गर्भवती माता का खान-पान, आचार-विचार उत्कृष्ट एवं सात्विक हो तथा वातावरण अनुकूल व दिव्य हो तो श्रेष्ठ शिशु का जन्म होता है।

महाभारत में कथा है कि अभिमन्यु ने अपनी माता सुभद्रा के गर्भ में ही चक्रव्यूह वेधन की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। व्यास पुत्र शुकदेव ने भी अपनी माँ के गर्भ में सारा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ऐसे अनेकों पौराणिक आख्यान हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि गर्भस्थ संतान अत्यंत संवेदनशील होती है। इस तथ्य को आजकल वैज्ञानिक भी स्वीकार करने लगे हैं। उनका कहना है कि गर्भस्थ शिशु सुन सकता है एवं अनुभव भी कर सकता है। उसमें व्यक्ति के समान सपने देखने की क्षमता भी होती है और यहाँ तक कि वह अपनी माँ द्वारा ग्रहण की गई भोज्य वस्तु का स्वाद भी चख सकता है।

शिशु की वास्तविक क्रियाविधि जन्म के कुछ सप्ताह पूर्व से ही प्रारंभ हो जाती है। इस संदर्भ में जान हापकिंस इंस्टीट्यूट की मनोविज्ञानी जेनेट डियिएट्रो का कहना है कि एक नवजात शिशु एवं २३ सप्ताह के गर्भस्थ शिशु में कोई विशेष अंतर नहीं होता। दोनों का व्यवहार प्रायः एक समान होता है। नौ सप्ताह का विकासशील बालक हिचकी ले सकता है और हमारे आस-पास के वातावरण के प्रति संवेदनशील होने लगता है। उसे जैसा परिवेश मिलता है, उसी के अनुरूप ही वह विकसित होता है। इन दिनों आस्तिकता का वातावरण बनाए रखना चाहिए। गर्भवती माता को नियमित रूप से उपासना-साधना का क्रम बनाए रखना चाहिए। इससे अंतःकरण पवित्र एवं शुद्ध होता है। निश्चय ही इसका प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर भी पड़ता है।

श्रेष्ठ एवं परिष्कृत परिवेश में गर्भस्थ शिशु का समुचित विकास होता है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए वैज्ञानिक कहते हैं कि वातावरण के अनुरूप ही शिशु की संवेदना जाग्रत् होती है और इसी आधार पर ही वह अपने सपनों की नन्हीं दुनिया बुनता है। अर्थात् शिशु को जैसा माहौल दिया जाता है, वह उसी तरह का सपना भी देखता है। कुछ वैज्ञानिकों का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार गर्भस्थ शिशु जब सपना देखता है, तो उसकी आँखें एक वयस्क की आँखों के सदृश्य नींद में 'रैपिड आई मूवमेंट' (आर. ई. एम.) करती हैं।

लेकिन इस बारे में सभी एकमत हैं कि गर्भवती माता को इन दिनों धैर्य, साहस, आशा और उत्साह के भाव बनाए रखने चाहिए। उसे सदा प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। प्रसन्नता का यह प्रभाव उसके गर्भ में पलने वाले उस नन्हें बालक पर भी पड़ता है। इसकी पुष्टि करते हुए हार्वर्ड मेडिकल स्कूल के 'डेवलपमेंटल साइकोलॉजिस्ट' ने एक रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार माँ जब प्रसन्न एवं खुश रहती है तब उसके शिशु की गतिविधियाँ अद्भुत एवं निराली होती हैं। इस दौरान वह कभी एक हाथ से चेहरे को स्पर्श करता है, तो एक हाथ से दूसरे हाथ को छूता है। इस प्रकार वह बड़ा ही मस्त रहता है, परंतु जैसे ही माँ उदास एवं तनावग्रस्त हो जाती है, वह बालक बड़ा ही डरा, सहमा-सा व्यवहार करता है। पत्रिका का मत है कि विकासशील शिशु अपने माता के प्रति अत्यंत

संवेदनशील होता है। अल्ट्रासाउंड के माध्यम से उसके इस क्रिया-कलाप को और भी अच्छी तरह से देखा जा सकता है। इस रिपोर्ट के अनुसार माँ के हँसने पर शिशु गर्भ में ऊपर-नीचे तैरता है और सिर को हिलाता है। जब कोई माँ स्क्रीन पर बालक की इस हरकतों को देखकर तेजी से हँसती है, तो वह भी तेजी से ऊपर-नीचे होता है।

इसके विपरीत यदि माँ की मनोभूमि ईर्ष्या-द्वेष, निराशा, चिंता, क्षोभ आदि मनोविकारों से ग्रस्त रहती है, तो इसका प्रतिकूल प्रभाव उसके बच्चे पर भी पड़ता है। जो गर्भवती माताएँ ऐसे मनोभाव में रहती हैं, गर्भ में उनकी संतान ज्यादा उद्विग्न होती हैं। परिणामस्वरूप जन्म के पश्चात् उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन पाया जाता है। परंतु शांत एवं प्रसन्न रहने वाली माताओं की संतान गर्भ में भी शांत एवं सहज बनी रहती हैं तथा जन्म के पश्चात् भी इन्हीं गुणों से युक्त पाई जाती हैं।

माता के आहार और व्यवहार का असर बच्चे के शरीर और मन पर देखा जा सकता है। प्रसिद्ध शिशु रोग विशेषज्ञ जेनेट के अनुसार पंद्रह सप्ताह का गर्भस्थ शिशु इस प्रकार स्वाद ग्रहण करता है, जैसे कि वह एक परिपक्व एवं वयस्क हो। उनका कहना है कि मिर्च-मसालेदार, अति ठंढे, उत्तेजक भोजन में तीव्र गंध होती है। शिशु इस गंध के प्रति मातृगर्भ में आकर्षित होता है और बड़े होने पर उसे इस प्रकार के भोजन की लत पड़ जाती है, क्योंकि वह प्रारंभ से ही ऐसे उत्तेजक भोजन के प्रति आकर्षित रहता है। परिणामस्वरूप ऐसा बालक क्रोधी एवं जिद्दी स्वभाव का बन जाता है। इसकी पुष्टि करते हुए मोनेल केमिकल सेन्सेज सेंटर फिलाडेल्फिया की जैव मनोवैज्ञानिक जेली मेनेला कहती हैं कि शिशु माँ के भोजन से स्वाद ग्रहण करता है। इससे प्रतीत होता है कि वह अपने माता के भोजन के आधार पर परिपक्व एवं पोषित होता है। अंत में यही आगे उसकी आदत बन जाती है। अतः गर्भवती माता को सात्विक, हलका एवं पाचन योग्य भोजन ही ग्रहण करना चाहिए। उसे अधिक मसालेदार एवं गरिष्ठ भोजन से परहेज करना चाहिए।

गर्भस्थ संतान आवाज के प्रति बड़ी ही संवेदनशील होती है। इस परिप्रेक्ष्य में हीडेलाइज एल्ज ने अनेकों अनुसंधान किए हैं। उनके प्रायोगिक निष्कर्ष अत्यंत रोचक हैं। इन प्रायोगिक परिणाम के आधार पर वह कहती हैं कि गर्भस्थ शिशु अत्यंत विचलित हो उठता है और पैर पटकता है या धक्का देता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह स्थिति तब भी आती है जब माँ तेजी से बोलती है या रोती है। माँ के गीत गुनगुनाने से एवं धीमी आवाज में बोलने से शिशु की हृदयगति धीमी हो जाती है। इन निष्कर्षों के अनुसार गर्भस्थ शिशु तेज आवाज पसंद नहीं करता है।

इस संदर्भ में अस्सी के दशक में अमेरिका के मनोविज्ञान के प्रोफसर एंथोनी जेम्स डी कैस्पर ने कई प्रयोग किए थे। अपने प्रयोगों के निष्कर्ष में इनका कहना है कि गर्भस्थ संतान किसी अजनबी की आवाज की अपेक्षा अपनी माँ की आवाज सुनना अधिक पसंद करती है। जन्म के कुछ समय पूर्व से तो वह अपनी माँ के स्वर को याद रखना एवं पहचानना भी शुरू कर देती है। डी कैस्पर एवं उनके सहयोगियों का कहना है कि बच्चा अपनी माँ की मातृभाषा यानि जिसे वह हमेशा प्रयोग करती है, उसी को सुनना पसंद करता है।

पेरिस के जीन पिएरे ने इस संबंध में और भी अनेक रोचक तथ्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि गर्भस्थ शिशु अपनी माँ की आवाज से भलीभाँति परिचित होता है। वह कई आवाजों के मध्य अपनी माँ की ध्वनि को पहचान लेता है। पिएरे के अनुसार उसका यह गुण जन्मजात होता है। इनका कहना है कि यदि शिशु को माँ के पेट के पास कोई गीत या कहानी सुनाई जाती है, तो उसकी हृदय गति में कमी पड़ जाती है। इसके विपरीत किसी अपरिचित की ध्वनि से यह गति स्थिर रहती है। अतः शिशु का अपने माता की लोरी के प्रति गहन लगाव होना स्वाभाविक है। संभव है इसी कारण माता की थपकी से बच्चा शांत एवं चुप हो जाता है।

जिसके पास अच्छे विचारों व सत्साहित्य का भंडार है, वह कभी भी निर्धन व एकाकी नहीं रहता।

गर्भ में पलने वाला शिशु कहानी या गीत के वास्तविक शब्दों को भले ही ग्रहण नहीं करता, पर उसके स्वर एवं भाव को सुनता है एवं उस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। इसलिए माता को चाहिए कि वह अपनी मनोभूमि को उच्चस्तरीय बनाए रखने के लिए सतत स्वाध्याय करे। प्रेरणाप्रद जीवन निर्माण के साहित्य आदि के अध्ययन से उच्च विचारों का प्रवाह बना रहता है। यही प्रवाह बच्चों की मनोभूमि का निर्माण करता है। माँ जैसा चिंतन करेगी उसी तरह से उसके बालक का स्वभाव विनिर्मित होगा। अतः गर्भवती माता को सदैव प्रसन्नचित्त, संतुष्ट एवं शांत आध्यात्मिक मनःस्थिति में रहना चाहिए, जिससे कि उसके गर्भ से श्रेष्ठ आत्मा का अवतरण हो सके। ✿

यह मूल्यविहीन 'प्रगति' किस काम की

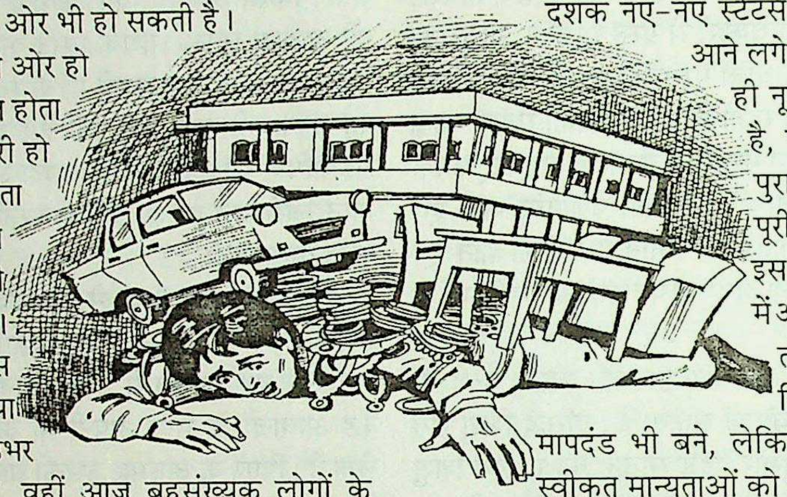

परिवर्तन जीवन का अनिवार्य अंग है। परिवर्तन की दिशा और दशा किसी ओर भी हो सकती है। इसकी दिशा अंदर की ओर हो तो अंतर्जगत् विकसित होता है और यदि वह बाहरी हो तो भौतिक जीवन सधता है। आज का भारतीय जीवन भौतिकता की ओर मुड़ गया है। परिणामस्वरूप स्टेटस सिंबल रूपी नया मानदंड एवं मापदंड उभर कर सामने आया है, वहीं आज बहुसंख्यक लोगों के दृष्टिकोण का परिचायक है। बेशकीमती परिधान और खान-पान वैभव प्रदर्शन के प्रतीक बन गए हैं। आलीशान मकान, इंपोर्टेड गाड़ियाँ और बैंक एकाउंट सफलता के मापदंडों में गिने जाने लगे हैं।

कभी मानवीय मूल्यों को जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि माना जाता था, परंतु वर्तमान की परिभाषा इससे एकदम भिन्न है। इसी नवीन परिभाषा एवं नूतन व्याख्या ने व्यक्ति की जीवन शैली में जबर्दस्त बदलाव ला दिया है। बदलाव का यह दौर बीसवीं शताब्दी से शुरू हुआ है। यों तो बीती शताब्दी मानव इतिहास में सर्वाधिक उथल-पुथल भरी रही। अनेकों छोटी-बड़ी घटनाएँ हुईं। इसके अलावा एक और बड़ी उपलब्धि के लिए इसे याद रखा जाएगा, क्योंकि इसी सदी में एशिया और अफ्रीका उपमहाद्वीप से गुलामी और राजशाही का ग्रहण हटा। आजादी के इस नए परिवेश में तमाम देशों की मूल संस्कृति और जीवन शैली को नए ढंग से पनपने एवं विकसित होने का अवसर मिला।

अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर सभी देशों को समानता एवं समरूपता का दरजा मिला। वैश्वीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी की नई क्रांति आई। इसने विश्व की संस्कृति को काल खंडों की सीमा से परे ले जाकर एक नवीन पहचान दी। विश्व संस्कृति को एक स्वरूप मिला और इसकी एक अलग पहचान बनी। वैश्वीकरण और उससे प्राप्त आर्थिक स्वतंत्रता के परिणामस्वरूप दशक-दर-दशक नए-नए स्टेटस सिंबल अस्तित्व में आने लगे। प्राचीनता के गर्भ से ही नूतनता का जन्म होता है, परंतु यहाँ नवीनता ने पुरानी मान्यताओं को पूरी तरह से नकार दिया। इस प्रकार जीवन शैली में आधुनिकता का समावेश तो हुआ और स्टेटस सिंबल के रूप में नए मापदंड भी बने, लेकिन सभी प्राचीन और स्वीकृत मान्यताओं को ध्वस्त करके।

बीसवीं सदी का प्रारंभ इतना भव्य और वैभवपूर्ण नहीं था। इसका आगाज विक्टोरिया काल के चमकदार प्रभाव के बीच हुआ था। यह वह दौर था जब नारी और पुरुष के मध्य भारी भेद था। समाज में पुरुष का ही वर्चस्व था। नारी तो घर की चारदीवारी के अंदर की एक वस्तु मात्र थी। उन दिनों जमींदारी प्रथा प्रबल थी। बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में भारतीय जीवन शैली का स्टेटस सिंबल खानदानी रौब-दाब और आचार-व्यवहार हुआ करता था। रियासतों में रईस एवं धनाढ्य लोग ऐश्वर्य एवं विलासितापूर्ण जिंदगी जीते थे। उनके विशालकाय बँगले होते थे। इतालवी झूमरों से सजी इन हवेलियों में फ्रांसीसी डिनरवेयर जैसी महँगी वस्तुओं की भरमार थी। दावतों और समाराहों के अवसर पर पार्शियन कालीनों से गुजरकर आते-जाते लोग और गूँजती स्वरलहरियाँ किसी स्वप्नलोक जैसी थीं। ये सब प्रतिष्ठा के चरम मापदंड थे।

वैभव एवं विलासिता का यह नजारा भारत के प्रमुख चार महानगरों में तेजी से विनिर्मित होते आलीशान भवनों में दृष्टिगोचर होता है। शाहदरी पहाड़ी, नीलगिरी और हिमालय की तलहटियों में भी ऐसे ही बँगलों का निर्माण हो रहा था, जहाँ पर समृद्ध एवं संपन्न लोग कुछ समय बिताने के लिए आया करते थे। इस भारतीय समुदाय की जीवन शैली बहुत कुछ अँगरेजी सभ्यता में ढल चुकी थी।

धनी लोग उन्हीं के जैसे अनुकरण करने को स्टेट्स सिंबल मानते थे। इसलिए अपने महलों एवं मकानों को सजाने के लिए यूरोप और चीन से खूबसूरत फर्नीचर का आयात किया जाता था। ब्रितानी प्रभाव से प्रभावित इन कोठियों में बोन चाइना की क्राकरी, फ्रांसीसी क्रिस्टल और शैफील्ड सिल्वर आदि कीमती वस्तुएँ भी होती थीं। भारतीय रसोईघर में अँगरेजी भोज्य पदार्थों का प्रवेश हो गया था। उच्च वर्ग के इन लोगों के लिए लंदन और पेरिस के सिले कपड़े स्टेटस सिंबल के पर्याय बन चुके थे। यह बात अलग है कि इस वर्ग का प्रतिशत बहुत कम था।

इस प्रकार बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में भारत के उच्च वर्गों में अँगरेजी सभ्यता के प्रति जबर्दस्त आकर्षण था। शिफॉन, हीरे-मोती, कार, शराब, सिगार और अंतर्राष्ट्रीय क्रूज लाइनरों से देश-विदेश की यात्राएँ वैभव की नई कहानी कहती थीं। इस वर्ग की भारतीय महिलाओं में भी इसका भारी प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप बॉबकट बाल, ऊँची हील की सैंडिल, पेरिस की प्रसिद्ध जार्जेट साड़ियाँ आदि वेशभूषा के प्रति आकर्षण बढ़ा। उन्हीं दिनों रेसकोर्स शुरू हुए और घोड़ों की दौड़, गार्डन पार्टी व कैंडल लाइट डिनर आदि प्रभाव व प्रतिष्ठा का सफलतम मापदंड माने जाने लगे।

इसके ठीक दूसरी ओर बाजारीकृत अर्थव्यवस्था पर आश्रित वर्गों में अपनी तरह का अलग स्टेटस सिंबल प्रचलित हुआ। इनमें शहरों के बीच बड़ी-बड़ी इमारतें बनाना, चाँदी के बरतनों का प्रयोग तथा घरेलू कामों के लिए नौकरों की फौज रखना जीवन के अंग बने। भारत में फैशन के रूप में जीन्स का प्रचलन भी इन्हीं दिनों प्रारंभ हुआ।

चरम भौतिकता और प्रदर्शन से ओतप्रोत इन स्टेटस सिंबल में एकाएक बदलाव आया, जब गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका एवं ब्रिटेन से होकर भारत आए। अटूट देशभक्ति, नैतिक मूल्य और दृढ़ इच्छाशक्ति के प्रतीक गाँधी जी ने अपना वैभव त्यागा। उन्होंने अपनी स्विस घड़ियों, ब्रितानी सूटों को तिलांजलि देकर मोटी व खुरदरी खादी को अपनाया। रियासत की हवेली त्याग कर आश्रम में रहने लगे। उनके इस त्यागमय जीवन का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। इसके प्रभाव से खादी देशभक्ति की प्रतीक बनने के साथ ही स्टेटस सिंबल भी बन गई। प्रत्येक समृद्ध परिवार में चरखा रखा जाने लगा, जो बदलते समय का परिचायक था। सामूहिक प्रार्थनासभाएँ, आजादी के नारे, अखबारों में लेखन, प्रभातफेरी, मार्च और असहयोग जताते प्रदर्शन नए रूप में प्रतिष्ठित हुए।

आजादी के पश्चात् 'सादा जीवन उच्च विचार' का नारा नया मानदंड बना। इसी कारण सत्ता और शासन से लेकर आम जनता तक ने खादी को आत्मसात् कर लिया था। उन दिनों गाँधी टोपी, खादी कुर्ता, चूड़ीदार पायजामा और धोती सभ्यता के नए प्रतिमान बने। नेहरू जैकेट, जोधपुरी कोट और हैंडलूम की साड़ियों ने तो जैसे प्रतिष्ठा की नई परिभाषा गढ़ दी। उन दिनों स्वदेशी के प्रति प्रबल आकर्षण था।

साठ और सत्तर के दशक में प्रतिष्ठा के इन मापदंडों में फिर से परिवर्तन आने लगा। विदेश यात्रा और उच्च शिक्षा में सफलता का सूत्र ढूँढ़ा जाने लगा। मध्यवर्ग की पुरानी पीढ़ी में इसका खासा प्रभाव पड़ा। कारण वे अपने लड़के-लड़कियों को महँगे कॉन्वेंट स्कूलों और विख्यात महाविद्यालयों में पढ़ाने लगे। हजारों-हजार युवाओं का उच्च शिक्षा हेतु इंग्लैंड और अमेरिका जाना प्रतिष्ठा का अंग बना। उस जमाने में परिवार के किसी सदस्य का विदेश में होना गर्व का विषय माना जाता था। इसी वजह से भारत में स्टर्लिंग, पाउंड एवं डालर जैसी विदेशी मुद्राओं का आगमन हुआ और ये भी स्टेटस सिंबल में गिने जाने लगे।

साठ का दशक महिला मुक्ति आंदोलन का साक्षी बना। वैयक्तिक स्वतंत्रता की इस रूमानी कल्पना ने भारतीय महिलाओं को संघर्ष की अग्रिम पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया। इस दशक की महिलाएँ पश्चिमी प्रभाव को अंगीकार करने के लिए तैयार थीं और इसी वजह से महिला कानूनों में बदलाव आया, पारिवारिक स्थिति बदली और महिला रोजगार के नए-नए अवसर सामने आए। उन दिनों स्वनिर्भर महिलाओं को भी प्रतिष्ठा के नए मानदंडों में स्वीकारा जाने लगा। इस प्रकार अस्सी की शुरुआत और सत्तर के दशक में अपना व्यवसाय और सफल उद्यम सही मायने में स्टेटस सिंबल बने।

अस्सी का दशक वैश्वीकरण के लिए प्रसिद्ध है। आर्थिक उदारीकरण के कारण महानगरों में संपदा एवं शेयर की खरीददारी आकर्षण के नए केंद्र बने। इलेक्ट्रॉनिक साजो-सामानों से भरा अत्याधुनिक बँगलों में रहना, महँगे होटलों में खाना खाना, कीमती अलंकार एवं परिधान और कारों का प्रयोग सम्मानित दृष्टि से देखा जाने लगा। इस वैभव प्रदर्शन में सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धांत दम तोड़ चुका था। बेशुमार दौलत की आय के कारण एक नए नवधनाढ्य वर्ग का जन्म हुआ, जिनका एक ही उद्देश्य था अपनी संपदा का खुला प्रदर्शन। यह प्रतिष्ठा का उच्चतम

आदर्श बना, जिसे हर कोई रातोरात पाने को व्यग्र हो उठा। इस प्रकार कीमती कपड़े, विदेशी भोजन एवं बैंक एकाउंट को चरम सफलता माना जाने लगा।

सत्तर और अस्सी के दशक में प्रारंभ हुई आधुनिक जीवन शैली नब्बे के दशक में पूरे उफान पर रही। सेटेलाइट के इस युग में एशिया विश्व में भविष्य के महाद्वीप के रूप में उभरा। इस दौर में यूरोप की प्रचंड चुनौतियाँ समाप्तप्राय हो चुकी थीं और अमेरिका प्रमुख आर्थिक स्रोत बन चुका था। ऐसे में एशिया का बदलता परिवेश और तकनीकी व औद्योगिक गतिविधियों ने भारतीयों में एक नई आशा एवं उत्साह का संचार किया। इस दौरान लोगों ने फिल्मों, पत्र-पत्रिकाओं और सेटेलाइट चैनलों के द्वारा अत्याधुनिक जीवन स्तर को गर्व के साथ अपनाया।

ऐश्वर्य एवं वैभव के इन नूतन मापदंडों में प्रदर्शन व दिखावा ही एकमात्र उद्देश्य बना। इस चमक-दमक से अभिभूत भारतीयों में सैंट्रो, होंडासिटी, सिएना, सिएलो, ओपेल एस्ट्रा क्लब, मित्सुबीशी लेंसर, मर्सीडीज आदि इंपोर्टेड गाड़ियाँ नए स्टेटस सिंबल बनीं। रिबॉक, एडीडास, नाइक, बुडलैंड ऐलेन सोली, लुइस फिलीप आदि ब्रांडेड कंपनियों के डिजायनर कपड़ों एवं जूते-चप्पलों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

आभूषणों में प्लेटिनम आज का नया स्टेटस सिंबल बनकर उभरा है। हीरे की भाँति चमकते अजूबे काँच के क्रिस्टल प्रतिष्ठा के पर्याय बन गए हैं। ये बेहद महँगे हैं। क्रिस्टल फर्नीचर की कीमतें लाखों में ही नहीं करोड़ों में है। एक क्रिस्टल छिपकली डेढ़ लाख रुपये की तो क्रिस्टल का हंस दो लाख का होता है। बोकार्ट क्रिस्टल फर्नीचर की कीमत सवा दो करोड़ तक की होती है। पानी की तरह पैसों को बहाकर विभिन्न महँगे ब्रांड की वस्तुएँ रखना केवल झूठी प्रशंसा पाने हेतु अपनाया जाने लगा है।

फैशन और फिटनेस भारतीय परिवेश में आँधी की तरह छा गया है। यह हर युवा एवं युवती का आदर्श बन गया है, परंतु स्टेटस सिंबल रूपी इस उपलब्धि को पाने के लिए हमें अपनी दुर्लभ सांस्कृतिक विरासत एवं सामाजिक मूल्यों का बलिदान करना पड़ा है। अगर गहराई से इस उपलब्धि का विश्लेषण किया जाए, तो पता चलेगा कि हमने भले ही झूठा सामाजिक सम्मान अर्जित किया हो लेकिन मानवीय मूल्य हमसे छिन गए हैं। पाने के नाम पर हमने पाया कुछ नहीं और खोया अधिक है। तृष्णा बेहद बढ़ी है और भ्रष्टाचार भी।

इसकी भरपाई तभी संभव है जब सेवा, सहकार, सहयोग, उदारता, विनम्रता, सचाई, ईमानदारी आदि आंतरिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हो। परिष्कृत जीवन शैली को अपनाकर ही वास्तविक समृद्धि एवं संपदा का अधिकार पाया जा सकता है। इस प्रकार भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता का समन्वय करके ही हम सच्चा स्टेटस सिंबल पा सकते हैं। यह कुछ ऐसा होगा जिस पर हम सही अर्थों में गर्व कर सकें। ●

* * *

दक्षिण भारत में कन्याकुमारी के निकट श्री नारायण गुरु जन्मे। कुछ ही दिन वे जप-तप में लगे कि उस क्षेत्र के अछूतों की दुर्दशा देखकर उनका जी भर आया और उस समुदाय को ऊँचा उठाने के लिए उन्हीं में घुल-मिलकर काम करने लगे। नय्यर, पतवाह, छिया, उलिया, मरिहा आदि कितनी ही जातियाँ ऐसी थीं, जिन्हें कोई छूता भी न था और काम पर भी न लेता था। उन्हें संगठित करके कुछ उद्योग चलाने और अपने अधिकारों के लिए अड़ जाने का उन्होंने प्रशिक्षण दिया। अछूतों के लिए उनने एक मंदिर बनवाया, जहाँ वे उपासना भी करते और शिक्षा भी प्राप्त करते।

स्वामी नारायण गुरु को सवर्णों का कठिन विरोध सहना पड़ा, पर वे अपने काम में सुनिश्चित भाव से लगे रहे। उन्हें आशाजनक सफलता भी मिली। उनके आश्रम और कार्यक्रम की प्रशंसा सुनकर महात्मा गाँधी और ऐण्ड्रयूज दर्शनों को गए। अकेला व्यक्ति भी ऊँचे उद्देश्य के लिए कार्यरत रहकर क्या कुछ कर सकता है, इसकी प्रत्यक्ष प्रतिमा थे—स्वामी नारायण गुरु।

अभिशप्त तापमान ला रहा है जल प्रलय

इन दिनों वैज्ञानिक धरती के बढ़ते तापमान से चिंतित हैं। उन्होंने अपनी वैज्ञानिक भाषा में इस समस्या को 'ग्लोबल वार्मिंग' नाम दिया है। इन दिनों यह दानवी विपदा समूचे संसार एवं मानव जाति के लिए विप्लवकारी सिद्ध हो रही है। इसकी वजह से जलवायु एवं मौसम में भयंकर उथल-पुथल मची हुई है। उसके परिणामस्वरूप ग्लेशियर पिघल रहे हैं। सर्दियों में गरमी एवं ग्रीष्म में प्रलयंकारी बारिश का प्रकोप झेलना पड़ा रहा है। असमय मौसम के इस बदलाव से छोटे-बड़े जीव-जंतुओं से लेकर पेड़-पौधे सभी प्रभावित हुए बिना नहीं रह पा रहे हैं।

इस ग्लोबल वार्मिंग के कारण धरती के तापमान में अतिशय वृद्धि हो रही है। यह वृद्धि पूरी पृथ्वी के लिए अति खतरनाक सिद्ध हो सकती है। वैज्ञानिकों को आशंका है कि यह परमाणु युद्ध या धरती से एस्टेरायड (क्षुद्रग्रह) के टकराने जितनी तबाही मचा सकती है। ग्लोबल वार्मिंग इन दिनों संसार में अपना प्रभाव दिखाने लगी है। यही वजह है कि हमारे देश में सन् १९९८ का वर्ष पिछले पचास वर्षों में सर्वाधिक गरम रहा। इसी साल में २६ दिन तक चली भीषण लू ने देशभर में लगभग २५०० लोगों की जान ले ली। यह गरमी न केवल अपने देश में पड़ी, बल्कि पूरे विश्व में इसका असर देखा गया। यह धरती के मौसमी इतिहास की सबसे अधिक तेज गरमी थी। इस दौरान चली लू ने देश के उत्तर और पश्चिमी क्षेत्रों के अलावा अप्रत्याशित रूप से कर्नाटक और तमिलनाडु को भी अपनी चपेट में ले लिया। लू के इन थपेड़ों से एशिया भी अछूता नहीं रहा। इस कारण यहाँ पर सैकड़ों लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। किसी महामारी की तरह फैली इस गरमी से हजारों लोग रुग्ण हो गए और सैकड़ों लोग मारे गए।

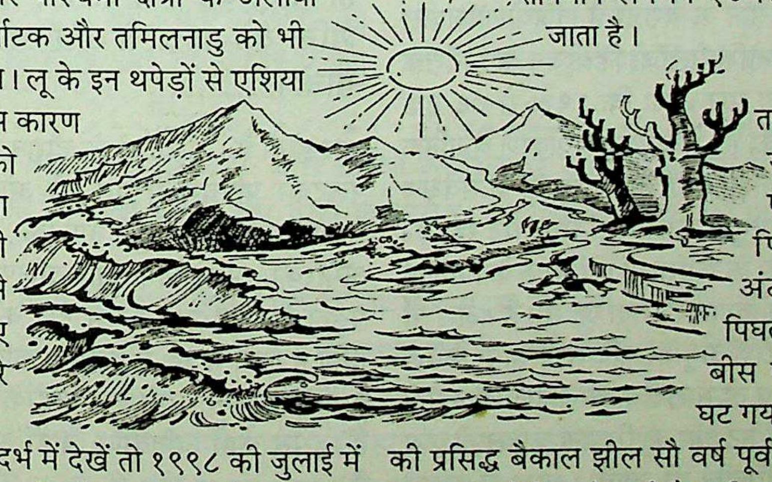

समूचे विश्व के संदर्भ में देखें तो १९९८ की जुलाई में मात्र एक सप्ताह की गरमी और लू में कोई ५०० लोग चल बसे। सन् १९९८ में टेक्सास में भी भीषण गरमी पड़ी। ऊँचे तापमान ने जनजीवन के साथ ही पेड़-पौधों और फसलों पर भी कहर ढाया। मई २००० में कैन्सास से न्यू इंग्लैंड तक एकाएक गरम हवा के थपेड़े चलने लगे। इससे भी भारी क्षति उठानी पड़ी।

बढ़ते तापमान का आकलन करने के लिए संयुक्त राष्ट्र ने 'इंटरगवर्नमेंट पैनल आन क्लाइमेट चेंज' यानि आइपीसी नामक वैज्ञानिक दल का गठन किया था। इसके अनुसार पिछली सदी में धरती के औसत तापमान में आधी डिग्री की वृद्धि हुई है। इसके अन्वेषण से पता चलता है कि सन् १९९० का दशक मौसम विज्ञान के इतिहास में सर्वाधिक गरम दशक था। इसका कहना है कि सन् २१०० तक पृथ्वी के औसत तापमान में १-४ से ५-८ डिग्री सेल्सियस तक की विनाशकारी वृद्धि हो सकती है। पिछले हिमयुग का अवसान औसत तापमान में मात्र पाँच डिग्री सेल्सियस की बढ़त के कारण हुआ था।

इससे पूर्व का हिमयुग समाप्त हुए दस हजार वर्ष बीत चुके हैं। वैज्ञानिकों ने आधुनिक तकनीकों के माध्यम से पिछले ८,५०, ००० वर्षों के दौरान धरती के औसत तापमान का अनुमान लगाया है। इस अवधि ने पाँच प्रमुख इंटर ग्लेशियल दौर गुजारे, जो अत्यधिक गरम थे। इन गरम अवधियों के बीच में पाँच हिमयुग भी विद्यमान थे। उस समय धरती का तापमान आज की अपेक्षा केवल तीन डिग्री सेल्सियस ही कम था। धरती का वर्तमान औसत तापमान लगभग १४ डिग्री सेल्सियस माना जाता है।

इस अभिशप्त तापमान से विश्व के समस्त हिम शिखर एवं ध्रुव प्रदेश तेजी से पिघल रहे हैं। अंटार्कटिका में बरफ पिघलने का मौसम पिछले बीस वर्षों में तीन सप्ताह घट गया है। पूर्वी साइबेरिया की प्रसिद्ध बैकाल झील सौ वर्ष पूर्व की अपेक्षा जमने में ग्यारह दिन देरी करने लगी है। यदि इसी तरह गरमी बढ़ती रही तो मौंटाना के ग्लेशियर नेशनल पार्क के सभी ५० ग्लेशियर सन् २०६० तक विलुप्त हो जाएँगे। सन् १९७२

में वेनेजुएला की पर्वत चोटयों पर छह ग्लेशियर थे, परंतु अब दो ही शेष बचे हैं। एक हजार ग्लेशियरों वाला अद्‌भुत अलास्का अन्य श्रेणी की अपेक्षा तेजी से गरम हो रहा है। एक शताब्दी पूर्व विशाल कोलंबिया ग्लेशियर इतनी तेजी से आगे बढ़ रहा था कि इसके हिमखंड रास्ते के पेड़ों पर गिरते थे, परंतु पिछले पाँच दशकों में यह १२ किलोमीटर से भी अधिक सिमट चुका है।

ग्लोबल वार्मिंग के कारण आर्कटिक हिम सतह की मोटाई आश्चर्यजनक रूप से कम हुई है। यहाँ पर वसंत और गरमियों की समुद्री हिम सीमा १९५० के बाद १०-१५ प्रतिशत घट चुकी है। रूस की काकेशस पर्वतमाला के अधिकांश ग्लेशियर विगत सौ वर्षों में लगभग आधे समाप्त हो चुके हैं। माउंट केन्या का सबसे बड़ा ग्लेशियर ९२ प्रतिशत खत्म हो चुका है। इसी प्रकार माउंट फिलमंजरो का ग्लेशियर १८१२ के बाद से ८२ प्रतिशत सिकुड़ चुका है। उस समय में यह हिमक्षेत्र १२१ वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ था, जो अब केवल २२ वर्ग किलोमीटर में सिमटकर रह गया है। पिघलने की यह गति यथावत् रही तो यह १५ वर्षों में ही अपना अस्तित्व खो देगा।

गंगा को जीवन देने वाले गोमुख ग्लेशियर पर भी संकट के बादल मँडरा रहे हैं। संसार का तीसरा सबसे बड़ा यह ग्लेशियर ३० मीटर प्रतिवर्ष की तीव्र रफ्तार से सिकुड़ता जा रहा है। गढ़वाल विश्वविद्यालय की 'करेंट साइंस' नामक एक रिपोर्ट के अनुसार अब तक यह २६० वर्ग किलोमीटर तक सिमट गया है। १९३६ से ९६ के बीच में यह २००० मीटर खत्म हो चुका है, जो विगत २०० वर्षों में हुए अवसान के बराबर है। जियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के ग्लेशियोलॉजी डिवीजन के निर्देशक डॉ. वी. पी. वोहरा का मानना था कि १९३५से ७६ तक यह ७५५ मीटर घट चुका है। सुविख्यात पर्यावरण वैज्ञानिक डॉ. सैयद इकबाल हुसैन और डॉ. अरुण शास्त्री के सर्वेक्षण से पता चलता है कि गोमुख ग्लेशियर निरंतर घट रहा है।

इस प्रकार विश्वभर के ग्लेशियरों एवं बरफ के पिघलने से सागरों का जल स्तर लगातार उठता जा रहा है। आई पी पी सी की नवीन रिपोर्ट के अनुसार यदि सभी सागर केवल एक मीटर ऊपर उठ गए तो मालदीव, बंग्लादेश, नील नदी का डेल्टा, फ्लोरिडा का तट और लुइसियाना का काफी बड़ा हिस्सा सदा के लिए विलीन हो जाएँगे। भारत में इसका पहला प्रभाव कच्छ पर होगा, जो सदा के लिए सागर में समा सकता है और संभव है कि सुंदर वन एवं लक्ष द्वीप भी हमेशा के लिए विश्व मानचित्र से लुप्त हो जाएँ।

ग्लेशियर पिघलने से धरती की जलवायु पर भी गहरा प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि मौसम चक्र बनाए रखने में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इनके पिघलने से पहले तो इनसे जुड़ी नदियों में बाढ़ आएगी, परंतु अंत में ये नदियाँ सूख जाएँगी। इसी प्रभाव के कारण गरमी में लबालब भरी रहने वाली झेलम जैसी नदियाँ अब गरमी में सूखी पड़ी रहती हैं।

सागर के तापमान में बढ़ोत्तरी से अलनीनो जल्दी-जल्दी अपना रंग दिखाने लगेंगे। स्पेनी भाषा में अलनीनो का अर्थ है—ईसा का शिशु। इसकी उत्पत्ति भूमध्य रेखा के पास प्रशांत महासागर में होती है, परंतु इसका प्रभाव प्रायः सारे संसार के मौसम पर पड़ता है। सामान्यतया भूमध्य रेखा के पास बहने वाली हवाओं की दिशा पूर्व से पश्चिम की ओर होती है। अलनीनो के दौरान इन टूडे विंड्स का रुख पलटकर पश्चिम से पूर्व की ओर हो जाता है। इसका मुख्य प्रभाव दक्षिण पूर्वी अफ्रीका, पश्चिमी प्रशांत, दक्षिण अमेरिका, आस्ट्रेलिया और दक्षिण एशिया के मौसम पर पड़ता है। यह प्रभाव उस देश की जलवायु के अनुरूप होता है। इस वजह से इससे प्रभावित देशों में सूखा, बाढ़ तथा अत्यधिक गरमी एवं कड़ाके की सरदी पड़ सकती है। इससे कहीं अतिवृष्टि, कहीं अनावृष्टि भी हो सकती है।

माँ शारदामणि महिलाओं का अलग सत्संग चलाती थीं। उसमें अधिकांश धार्मिक प्रकृति की और संभ्रांत घरों की महिलाएँ आती थीं।

एक महिला सत्संग में ऐसी भी आने लगी, जो वेश्या के रूप में कुख्यात थी। इससे अन्य महिलाएँ नाक-भौं सिकोड़ने लगीं और उसे न आने देने के लिए माताजी से आग्रह करने लगीं।

इस पर माताजी ने कहा, सत्संग गंगा है। वह मछली-मेढकों के रहने पर भी अशुद्ध नहीं होती। तनिक-सी मलीनता से ही जो अशुद्ध हो जाए, वह गंगा कैसी ? तुम लोग सत्संग की शक्ति को पहचानो और उसे गंगा के समतुल्य मानो।

संभवतः इसी मौसमी उलटफेर का परिणाम था कि सन् २००० के अंतिम तीन महीनों में इंग्लैंड और वेल्स में प्रलयंकारी बारिश हुई। इस बारिश ने ब्रिटेन के पिछले सारे

रिकॉर्ड को ध्वस्त कर दिया। दिल्ली में इसी वर्ष जुलाई में २४ घंटे में १६ इंच की बारिश हुई, जो सन् १९४७ के बाद सर्वाधिक है। इसी साल महानदी में आई भीषण बाढ़ से कौन परिचित नहीं है? इस बाढ़ ने ६० लाख लोगों को सप्ताहों तक प्रभावित किया और करोड़ों की संपदा एवं फसल नष्ट कर दी। दो वर्ष पूर्व हृदय विदारक चक्रवात का प्रकोप भी उड़ीसा को झेलना पड़ा।

अपने देश में तापमान के कारण मानसून में भारी व्यतिक्रम आने लगा है। समय से पूर्व बारिश के कारण सूखा का सामना करना पड़ रहा है। इसी साल उड़ीसा में कालाहाँडी एवं छत्तीसगढ़ का सूखा सर्वविदित है। इसी सूखे के कारण जुलाई २००० में ग्रीस के सामोस द्वीप में भयंकर आग लग गई, जिससे २० प्रतिशत द्वीप तबाह हो गया।

इस अनोखे जलवायु संकट से पैदावार में गिरावट आ सकती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. ए. पी. मिश्रा के अनुसार भारत में वर्ष १९९० से २०१० के दौरान चावल उत्पादन में ३ प्रतिशत एवं रबी गेहूँ की पैदावार में ५५ प्रतिशत तक की भारी कमी की आशंका है। ग्लोबल वार्मिंग न केवल पैदावार को प्रभावित कर सकती है, वरन् इसकी वजह से बदलती जलवायु तमाम तरह के खतरनाक वायरसों को पनपने की सुविधा प्रदान करती है। शायद यही कारण है कि सारे संसार में डेंगू, मलेरिया, जापानी बुखार जैसे रोगों की संख्या लगातार बढ़ रही है। अमेरिका के उत्तरी क्षेत्र में डेंगू का प्रकोप पहले शायद ही कभी देखा गया हो, परंतु अब यह वहाँ भी पसरता जा रहा है।

इस ग्लोबल वार्मिंग का कुप्रभाव जीव-जंतुओं पर भी पड़ रहा है। वर्ष १९९७-९८ में जब प्रशांत महासागर का तापमान ३ डिग्री सेल्सियस बढ़ गया, तो साल्मन मछली की बढ़ती तादाद समाप्त हो गई। इसी प्रकार ध्रुवों पर रहने वाले भालू और वहाँ के पक्षी भी बढ़ते तापमान से पीड़ित व परेशान हैं। उनकी संख्या घटने के साथ ही उनके व्यवहार में भारी अंतर दिखाई देने लगा है। यहाँ तक कि कई स्थानों पर सुंदर तितलियाँ भी अपना प्राकृतिक आवास छोड़ने के लिए विवश हैं। चूँकि धरती के हर छोटे-बड़े जीवों के मध्य आपस में संवेदनशील संबंध हैं। ऐसे में अपने कुदरती ठिकानों के साथ जीवों का लुप्त होना पर्यावरण के किस संकट को आमंत्रण देगा? बता पाना कठिन है, परंतु यह है बड़ा ही खतरनाक।

ग्लोबल वार्मिंग के समाधान के लिए कई अंतर्राष्ट्रीय समझौते एवं संधियाँ भी हो चुकी हैं, परंतु कोई सार्थक समाधान नहीं निकल पा रहा है। यह विप्लवी समस्या और भी उग्र होती जा रही है, लेकिन ऐसा नहीं इसके समस्त द्वार बंद हो गए हों। वैज्ञानिकों के अनुसार ग्लोबल वार्मिंग का कारण ग्रीन हाउस जैसे प्रभाव हैं, जिसके अंतर्गत कार्बन डाई आक्साइड, जलवाष्प, नाइट्रस आक्साइड आदि गैसें आती हैं। पेड़-पौधे इन गैसों को सोखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। मात्र एक हेक्टेयर पर लगे जंगली पेड़ हर साल १३६ टन कार्बन डाई आक्साइड अवशोषित कर सकते हैं। इस प्रकार यदि वृक्षारोपण पर बल दिया जाए, तो इस संकट से निजात पाई जा सकती है।

धरती माता को बचाने के लिए हम सब धरतीपुत्रों को हरीतिमा संवर्द्धन का संकल्प लेना चाहिए। इस दिशा में औरों को भी प्रेरित करना चाहिए, जिससे पर्यावरण चेतना उत्पन्न हो। हम पर्यावरण को प्रदूषित करने से बचें एवं उसके प्रति संवेदनशील बनें। तभी धरती पर पुनः स्वर्गीय वातावरण विनिर्मित हो सकेगा। ❖

आचार्य वसु ने वटु को समझाया, जैसे अग्नि में डालकर सोना शुद्ध किया जाता है, उसका मल दूर किया जाता है, उसी प्रकार तप द्वारा कायागत, मनोगत स्वभावों का शोधन किया जाता है।

वटु ने पूछा, ''आचार्य प्रवर! इस दृष्टि से तो तप सूक्ष्म-साधना क्रम है, पर लोग कष्टसाध्य स्थितियों में शरीर को रखकर उसे भी तप की संज्ञा देते हैं, यह कहाँ तक ठीक है।''

आचार्य ने समाधान किया, ''वत्स श्रम शक्ति का अभाव तथा आलस्य आदि भी दोष हैं। कष्टसाध्य स्थिति में शरीर को डालकर यह दोष हटाने में मदद मिलती है। इस दृष्टि से वह भी तप है। यह उद्देश्य पूरा न हो तो उसे दुराग्रहपूर्ण प्रक्रिया ही समझना चाहिए।'' आगे वे बोले, ''तप का अर्थ दमन नहीं है, संचित सामर्थ्य जो तितिक्षा द्वारा अर्जित की गई है, उसका सुनियोजन है। जो इस चिंतन से तप में निरत होते हैं, वे निश्चित ही दैवी अनुदानों के अधिकारी होते हैं।''

व्यवहारकुशलता एक पारसमणि के समान

सद्व्यवहार उस पुष्प के समान होता है, जो धवल एवं दृढ़ चरित्ररूपी वृक्ष पर खिलता है। चिंतन के सुरम्य वातावरण में सुगंध बिखेरता है तथा सजल भावनाओं से पोषित होता है। इसीलिए तो दिव्य जीवन के प्रणेता एवं महान् योगी श्री अरविंद के मन का विचार निस्सृत हो कह उठा, ''इनर रेगुलेट्स आउटर बीइंग'' अर्थात् जीवन के समस्त बाहरी क्रिया-व्यापार अंदर से नियंत्रित एवं संचालित होते हैं। निःसंदेह बाह्य व्यवहार आंतरिक चिंतन एवं भावनाओं के गर्भ से ही जन्म लेता है, पल्लवित एवं विकसित होता है। व्यवहार विज्ञान इसी सत्य को घोषित करता है।

व्यवहार—शिष्टता, शालीनता, विनम्रता आदि अनेक गुणों का समुच्चय है। जिसमें भी यह अनमोल संपदा होगी, उसका लोक-व्यवहार अवश्य ही उत्कृष्ट होगा। ऐसे व्यवहारकुशल व्यक्ति की सफलता असंदिग्ध होती है। सफलता उसके चरण चूमती है और उसके लिए तो असफलता भी एक सीख होती है, क्योंकि इसी से वह अपनी व्यावहारिक कमियों एवं खामियों के प्रति सजग-सतर्क होता है। व्यवहार ही तो है, जो अपने को पराया और पराये को अपना कर दिखाने का चमत्कार करता है। मधुर व्यवहार से पशु-पक्षी तक प्रभावित हो जाते हैं, तो फिर इंसान का दिल क्यों नहीं जीता जा सकता।

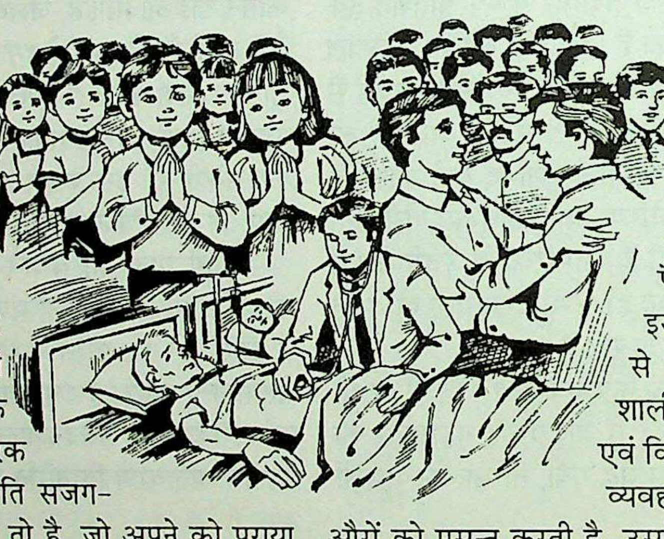

अंतर की भावना जब प्रस्फुटित होती है, तो हृदय मक्खन-सा कोमल हो उठता है और वाणी एवं व्यवहार में अमृत झरने लगता है। ऐसी संवेदनशीलता भला कैसे किसी के प्रति कठोर होगी, वह तो औरों के हृदय में उतर जाती है और अपना बनाकर ही छोड़ती है। ऐसा शालीन व्यवहार मृदु मंद पवन के झोंके के समान सभी को प्रिय होता है और जब यह ठंढी बयार चलती है तो नदी-नद, झील-सरोवर, खेत-खलिहान झूम उठते हैं। कोपल एवं कलियाँ चटखने लगती हैं। फूलों की मादकता इठलाने लगती है। पक्षी चहचहाने लगते हैं और सभी ओर हरियाली और खुशहाली का दिव्य संगीत झरने लगता है, परंतु अभद्र और अशिष्ट व्यवहार उस भीषण अंधड़ की तरह होता है, जिससे लोग कतराते एवं घबराते हैं। वह तिरस्कृत होता है और अपमान सहता है।

अशिष्टता अनगढ़ता एवं रूखेपन का परिचायक है। इस तरह का व्यक्ति चाहे कितना ही प्रतिभासंपन्न क्यों न हो, पर लोकसम्मान अर्जित नहीं कर सकता। लोग उसकी अव्यावहारिकता के कारण उसके पास आने में कतराते हैं। उसके अपने परिजन भी उससे पराये जैसा बर्ताव करते हैं। अपने उद्धत एवं उद्दंड व्यवहार से वह अपने और औरों के लिए ऐसे आत्मघाती विष दंश का निर्माण करता है, जिसमें वह खुद जलता है और दूसरों को जलाता है। इससे कड़ुआहट ही फैलती है। अतः बुद्धिमानी इसी में है कि ऐसे व्यवहार से परहेज किया जाए और शालीन व्यवहार को अपनाया एवं विकसित किया जाए।

व्यवहार की शालीनता न केवल औरों को प्रसन्न करती है, उसके अधरों में मुस्कान की स्मित रेखा खींचती है, बल्कि स्वयं को भी आनंदित करती है। पारसमणि के अस्तित्व को स्वीकार करें या न करें, परंतु अपने पास उपलब्ध व्यवहाररूपी पारसमणि से आसपास के सभी लोगों को स्वर्णमंडित किया जा सकता है अर्थात् अपना बनाया जा सकता है। लौकिक लोक-व्यवहार का यह गुप्त रहस्य है, दिव्य मंत्र है, जिसे हृदयंगम कर सफलता एवं महानता अर्जित की जा सकती है।

ज्यों-ज्यों अंतर परिष्कृत होता जाता है, उसी के अनुरूप व्यवहार भी उत्कृष्ट होता रहता है। यह तो सीप के मोती के सदृश्य है, जो सागर की गहराई में अवस्थित होता है। गहराई में डुबकी लगाकर ही यह हस्तगत होता है। इसी

प्रकार व्यवहार की सचाई उन छोटी-छोटी आदतों-वृत्तियों की सीपियों में बंद पड़ी रहती है, जिसे स्वयं के अंदर प्रवेश करके और साहस के साथ तोड़कर निकाला जाता है। अतः इन छोटी मगर महत्त्वपूर्ण बातों का सतत ध्यान रखना चाहिए।

आदतों एवं वृत्तियों के प्रति सदैव जागरूक रहना चाहिए, ताकि व्यावहारिक धरातल पर कोई व्यक्ति भ्रम न फैला सके। इससे व्यवहारकुशलता का बड़ा घनिष्ठ संबंध होता है। ये वृत्तियाँ हमारे व्यवहार को प्रभावित करती हैं। ये बड़ी हठीली होती हैं, परंतु इन्हें जीता जा सकता है। हालाँकि ये न चाहते हुए भी अपने व्यवहार में आ धमकती हैं और अनचाहे एवं आदतन हम भूल कर बैठते हैं। इसलिए आवश्यक है कि धैर्य एवं संकल्पपूर्वक अपने व्यवहार को शिष्ट एवं शालीन बनाए रखा जाए। हर पल, हर क्षण इसमें सुधार लाते रहना चाहिए। व्यवहार को मधुर एवं श्रेष्ठ बनाकर सभी बाधाओं एवं कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

अच्छा यह है कि हमारे व्यवहार में सदैव बड़ों के प्रति आदर एवं सम्मान का भाव तथा छोटों के प्रति स्नेह झलके। हर व्यक्ति का अपना आत्मसम्मान होता है, जो समुचित सम्मान दे सका वही सच्चा व्यवहारकुशल है। जरा-सी भी व्यावहारिक त्रुटि अर्थ का अनर्थ कर सकती है। अतः ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि सभी को उसके अनुरूप शिष्टतापूर्वक आदर दिया जाए। अपनी व्यावहारिक भूल को विनम्रता के साथ स्वीकार कर उसके प्रति सजग रहा जाए।

प्रत्येक व्यक्ति के नाम के साथ उसका आत्मसम्मान जुड़ा रहता है। व्यक्ति अपने नाम में स्व बोध का अनुभव करता है। इसमें आत्मीयता तरंगित होती है। यह अंतर का ऐसा तार है, जो मन को गुदगुदाता है, उसे झंकृत करता है और यही वजह है कि किसी प्रतिष्ठित एवं महान् व्यक्ति के नाम लेकर बुलाने से गहन आत्मीयता का बोध होता है। इसलिए प्रयास यह होना चाहिए कि जिसका नाम लिया जा रहा हो उसके साथ जी का प्रयोग हो। इन्हीं व्यावहारिक सूत्रों में जीवन का मर्म छुपा हुआ है।

संयमित एवं कल्याणकारी वाणी व्यवहार की रीढ़ है। यह मुख्य आधार है। वाणी ब्रह्मास्त्र के समान होती है। यह तरकस से छूटते ही लक्ष्य को भेद जाती है। व्यवहार के समस्त ताने-बाने इसी के इर्द-गिर्द बुने जाते हैं। वाणी द्वारा ही व्यवहार बनता-बिगड़ता है। संयमित वाणी से व्यक्तित्व निखरता है। ऐसे व्यक्तित्वसंपन्न मनस्वी में महान् आकर्षण होता है। चेतना की परमोच्च अवस्था में जीने वाले विश्वविश्रुत स्वामी विवेकानंद का लोक-व्यवहार भी उनकी ही तरह आकर्षक था। हालाँकि ऐसे तपस्वी, प्रसिद्ध साधक लोक-व्यवहार से काफी ऊँचे उठे हुए रहते हैं, परंतु स्वामी जी व्यवहार के धनी थे। इसी कारण किसी से न मिलते हुए भी उन्होंने अस्वस्थता की दशा में लोकमान्य तिलक से डेढ़ घंटे तक आत्मीयतापूर्ण बातें कीं और इसी व्यवहार का ही परिणाम था कि तिलक के विचारों में व्यापक परिवर्तन हुआ और उसके पश्चात् ही वे राष्ट्र के प्रति पूर्णतया समर्पित हो गए। श्री अरविंद का व्यवहार भी बड़ा ही शिष्ट, शालीन एवं सभ्य था।

प्रसिद्ध उपन्यासकार चार्ल्स डिकेंस अपने मधुर, शालीन व्यवहार के कारण अत्यंत लोकप्रिय थे। वे किसी से भी खुले दिल से मिलते थे और जहाँ कहीं भी जाते अपने व्यवहार से सभी को मुग्ध कर देते थे। इसी तरह जर्मनी के महाकवि गेटे अपने व्यवहार के लिए विख्यात थे। उनके शिष्ट, शालीन व्यवहार से लोग बरबस खिंचे चले आते थे। नेपोलियन की धर्मपत्नी जोसेफीन अति व्यवहारकुशल थीं। नेपोलियन योद्धाओं के दिलों में बसते थे तो उसकी पत्नी लोगों के हृदय में।

दक्षिणेश्वर मंदिर की निर्माता रानी रासमणि का जामाता मथुर बाबू ने एक विष्णु मंदिर बनाया और प्रतिमा को बहुमूल्य वस्त्र-आभूषणों से सजाया। कुछ ही दिन बीतने न पाए थे कि चोर सारा जेवर चुरा ले गए, मथुर बाबू उलाहना दे रहे थे कि भगवान् आप कैसे हैं, जो अपने परिधानों की रक्षा न कर सके।

रामकृष्ण परमहंस ने उनका समाधान किया कि जो धन लोकसेवा में नहीं लग सका, उसका आभूषण बनना और ईर्ष्या का निमित्त कारण बनना तथा चोरों के घर जा पहुँचना स्वाभाविक है। इस प्रवाह को भगवान् क्यों रोकें? रोकना होता तो चोरों से पहले भगवान् आपको रोकते।

यही संपूर्ण सच है कि सद्व्यवहार हृदय को विशाल बनाता है। जिसमें संवेदना और भावना उफनती रहती है, उसमें ईर्ष्या-द्वेष नहीं होते। यह उमड़ते-घुमड़ते बादल-सा होता है। प्यासा देखा कि बरस उठा। जीवन इसी का पर्याय होना चाहिए और व्यवहार इसी के अनुसार। सद्व्यवहार से श्रेय-सम्मान, मान-प्रतिष्ठा सभी कुछ मिलते हैं। हमें भी चरित्र, चिंतन को परिष्कृत एवं उन्नत कर सबसे सद्व्यवहार बनाए रखना चाहिए। ऐसा करके हम अपने आप ही सर्वोच्च लोक-सम्मान के अधिकारी बन जाएँगे। ○

मिला जीवन को एक सार्थक उद्देश्य

आँसू की बूँद आँखों से ढुलक पड़ी। एकदम पारदर्शी और रंगहीन, पर इस रंगहीन गोल बूँद में उसे कई रंग नजर आए। घूमती हुई गोल दुनिया के अनेकों रंग। वह सोचने लगी कि रंगहीन आँसू की भी कैसी अलग-अलग रंगत है।

सोचते-सोचते अचानक उसके मन में बाईस-तेईस बरस पहले की यादें बरस पड़ीं। जब माँ के घर से विदा होते समय ऐसे ही आँसू ढुलके थे, पर तब इन आँसुओं में कुछ और ही रंग था और इन्हें पोंछने वाली माँ की भी दो अँगुलियाँ थीं। आँसुओं की ढुलकती गोल बूँदों को पोंछते हुए माँ ने कहा था, बेटी रोती क्यों हो? विवाह के बाद पति ही स्त्री का सब कुछ होता है।

सचमुच उसके पति ऐसे ही थे। उसके सब कुछ। उन्होंने उसे सब कुछ दिया, वह सब कुछ जो वह दे सकते थे। उसके जीवन में तृप्ति के पल आए। तब भी आँखों से आँसू ढुलके थे। हालाँकि इन पलों में उसे जो तृप्ति मिली थी, उसमें कहीं तृष्णा छुपी थी। इसमें कहीं हल्की-सी बेचैनी झाँक रही थी।

फिर भी उसे कुछ ऐसा लगा जैसे आसमान का चाँद, मुँडेर फाँदकर मुस्कराता है। उसके एकांत में झाँकने की कोशिश करता है, तो तारे टिमटिमाते हैं, फूल खिलते हैं, कलियाँ चटकती हैं, सरसों फूलती है। उन दिनों जीवन के अनेक रंग बदले, रंगहीन आँसू में भी कई रंग नजर आए। आसमान का चाँद सचुमच ही उसके आँगन में उतरा। पता नहीं यह बात कितनों को सच लगेगी, पर कम-से-कम उसे तो सच लगी ही। यह उसका अपना सच था।

हालाँकि इसी बीच काल ने अचानक आकर उसके जीवन की पुस्तक के कुछ पृष्ठ पलट दिए। इनकी यादें तो रहीं, पर अब ये कभी फिर पढ़े न जा सकते थे। उसकी हर मुश्किल में 'मैं हूँ न!' कहकर उसे ढाढस देने वाले उसके पति न रहे। ऐसे में एकबारगी उसकी आँखें फिर छलकीं, फिर इनसे आँसू की बूँदें ढुलकीं। इस बार इनमें कुछ और ही रंग था। रंगहीन आँसुओं के इस रंग में कुछ ऐसा तीखापन था, जो उसके कलेजे को बेध गया।

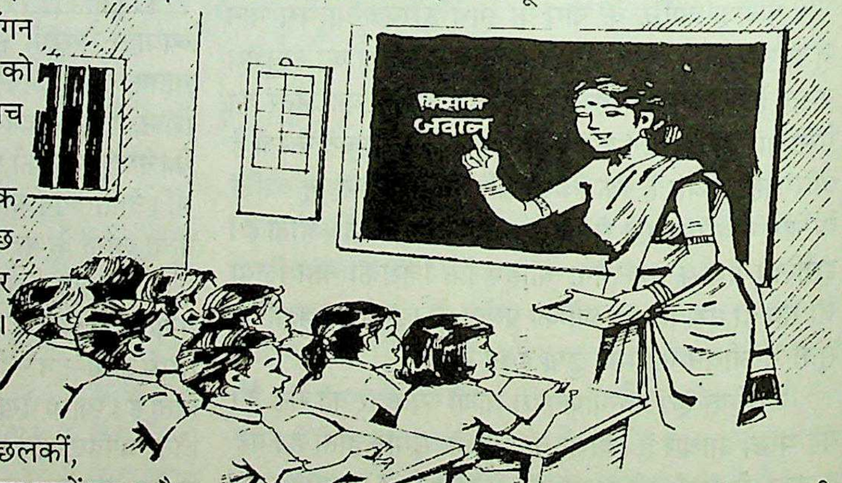

उसने धैर्य रखा, आखिर अभी तो उसकी गोद में वह चाँद था, जिसने उसे आसमान से उतरते हुए महसूस किया था। उसे गोदी में भरके लगता कि हाँ वह है। यह आज नहीं तो कल आँसू पोंछेगा। उसे कलेजे से लगाकर थपकी देती, तो जी को चैन पड़ता। सहारा वह देती, पर मन को कैसा सहारा-सा मिल पाता। वह चलना सीखता, पैयाँ-पैयाँ, डगमग-डगमग, अँगुली पकड़कर हर कदम पर चाहता कि माँ कहे कि आ-जा-मे-रा-बे-टा-आ-जा। वह कहती भी। वह दो-चार कदम चल हुमककर गोद में चढ़ जाता। लाड़-दुलार, प्यार-मनुहार उसे सब कुछ मिलता। दो थपकी देते ही उसके कंधे से लगकर सो जाता।

पाँव सँभलने लगे तो वह अँगुली छुड़ाकर भागने लगा। इस तरह उसे भागते देखकर माँ-बेटा दोनों खुश होते। बेटा सोचता कि अब वह बड़ा हो गया और माँ सोचती उसका बेटा है। लेकिन तब उसने यह नहीं सोचा था कि अपने नन्हें पाँवों से भागने वाला उसका यह बेटा इतनी दूर भाग जाएगा कि उसे न तो वह दौड़कर पकड़ सकेगी और न ही उसे बुला सकेगी।

काल की सोच कुछ अलग ही होती है। इस बार काल ने उसके जीवन की पुस्तक के पन्ने फिर से उलट दिए। पता नहीं आखिर उसे कौन-सी जल्दी थी। उसकी आँखों से उसका नन्हा बेटा दूर चला गया। दूर-बहुत-दूर किसी अनजानी डगर पर। उसे ऐसा लगा कि उसकी गोद का चाँद फिर से आसमान का चाँद हो गया।

उसका घर जो उपवन हुआ था, अब सूखी झाड़ी बन गया। उसकी साँझें सूनी हो गईं और रातें अँधेरी। फिर अश्रु ढले, इनकी रंगत उसे भाई, न सुहाई।

इस बीच उसके गाँव में गाँधी बाबा आए। बड़ा नाम सुना था उसने उनका। सुन रखा था कि बड़े महात्मा हैं, अनेकों लोग उनको पूजते थे। सब कुछ सुनकर उसने सोचा वह भी उनके दर्शन के लिए जाएगी। महात्माओं के दर्शन से पुण्य मिलता है। फिर हो सकता है कि गाँधी बाबा उसे भी कुछ बात बताएँ, राह दिखाएँ और फिर ये भी तो हो सकता है कि कोई चमत्कार ही हो जाए। आखिर महात्मा चमत्कार भी तो करते हैं। कुछ ऐसा चमत्कार कि उसकी अँधेरी रातों में चाँदनी बरस पड़े।

अनेक अरमानों को सजाकर, आशाओं को सँजोकर, कल्पनाओं को सँवारकर, भावनाओं को निखारकर वह वहाँ गई, जहाँ गाँधी बाबा की सभा थी। छोटे से गाँव में भला सभा होती ही कितनी बड़ी। बड़ी तो थी गाँधी बाबा की बातें। ऐसी बातें जिन्हें सुनकर कलेजा हुलस जाता। सचमुच ही ये बातें ऐसी थीं जिससे एक इंसान तो क्या सारे गाँव और गाँव से भी बढ़कर सारे देश का जीवन सँवर जाए।

वह भी इन बातों को सुनती-गुनती रही और अंत में गाँव के बड़े-बुजुर्गों की कृपा से गाँधी बाबा से मिली भी। एक बुजुर्ग ने उसका परिचय कराते हुए कहा, ''महात्मा जी! यह निर्मल है, हमारे गाँव की बहू, बेचारी का सब कुछ छिन गया। पहले पति, फिर बेटा!'' उसकी सारी कथा का सार कह सुनाया।

गाँधी बाबा यह सब सुनते रहे, सोचते रहे और जब गाँव के वह बुजुर्ग सज्जन चुप हो गए तो उन्होंने कहा, ''बेटी! भगवान् कभी निर्दयी नहीं होता। वह कुछ और ज्यादा देने के लिए कुछ थोड़ा-सा छीन लेता है। अब से तुम सारे गाँव को अपना घर मानो और यहाँ के बच्चों को शिक्षा दो, संस्कार दो।''

अरे हाँ! यह तो उसने सोचा ही नहीं था। कितनी मीठी बात कही गाँधी बाबा ने। फिर उन्होंने यह भी तो कहा, ''तुम मेरी अपनी बेटी हो, यदि कोई बात हो तो साबरमती आश्रम में मुझे पत्र लिखना।'' इन बातों ने उसमें नए प्राण दिए, नया जीवन दिया।

गाँव के लोगों ने भी गाँधी बाबा की बातें सुनी थीं। सभी की चाहत थी कि गाँव के बच्चों के लिए कुछ हो। उनके गाँव में भी बाल संस्कारशाला बने। जब निर्मल स्वयं इस काम के लिए आगे बढ़ी, तो सभी का सहयोग उमड़ पड़ा। उसका श्रम एवं सबका सहयोग। तिनका-तिनका करके आशियाना बनता है, ईंट-ईंट जुड़ती है, तो महल बन जाता है। कुछ ऐसे ही उसके गाँव में बाल संस्कारशाला भी बन गई।

गाँव के छोटे-छोटे बालक-बालिकाएँ उसके घर-आँगन में आने लगे, क्योंकि उसने अपने घर को ही बाल संस्कारशाला का रूप दे दिया था, ये सब बच्चे मिलकर पढ़ते-सीखते, गाते-गुनगुनाते, खेलते-दौड़ते-भागते, इसे देखकर उसका मन अनोखी तृप्ति से भर उठता। कभी जब उसका नन्हा-मुन्ना जन्मा था, तो उसने सोचा था कि आसमान से चाँद उतर आया, पर आज तो अगणित चाँद उसके आँगन में अपनी चाँदनी बिखेर रहे थे। उसे लग रहा था कि घर-आँगन में ही नहीं, उसके मन के हर कोने में चाँदनी बरस रही है। इस अनोखी-अनूठी बरसात से उसके मन के हर कोने में उजाला हो रहा था। समाँ कुछ ऐसा था कि उसकी आँखें भी बरस पड़ीं। एक के बाद एक आँसू की बूँद आँखों से ढुलक पड़ीं। इस रंगहीन गोल बूँद में उसे जो कई रंगों का नजारा दिखा, उसमें भगवान् की कृपा थी, मनुष्य का पुरुषार्थ था, सेवा की भावना थी, क्षुद्र अहंता से छुटकारा था, बच्चों में थिरकती उमंगें थीं, सच्ची सेवा के परिणाम में उपजा अटूट जनसहयोग था और सबसे बढ़कर मन को मिलने वाली अनूठी तृप्ति थी। इन सात रंगों की इंद्रधनुषी छटा उसके इन आँसुओं से छलक रही थी, झलक रही थी। ❐

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन जब विद्यार्थी थे, गरीबी के कारण पढ़ाई-खरच मेहनत-मजदूरी करके निकालते थे। एक दूकान पर उन्हें सेल्समैन का काम मिला। इसी बीच सौदा बेचते समय किसी ग्राहक से भूल में एक रुपया अधिक वसूल हो गया। भूल का पता लगा, तो लिंकन कैशमेमो पर लिखे पते के आधार पर उसी समय पैदल चलकर उसके घर पहुँचे और क्षमा माँगते हुए पैसा लौटाकर बहुत रात गए घर वापस आए।

उनकी प्रामाणिकता सर्वप्रसिद्ध थी। यही कारण था कि उनके अनेकों सच्चे मित्र थे। वे कहते रहते थे कि संपत्ति के नाम पर तो मेरे पास कुछ नहीं, पर सच्चे मित्रों के रूप में असाधारण वैभव का धनी हूँ।

प्रकृति की एक नैसर्गिक धरोहर

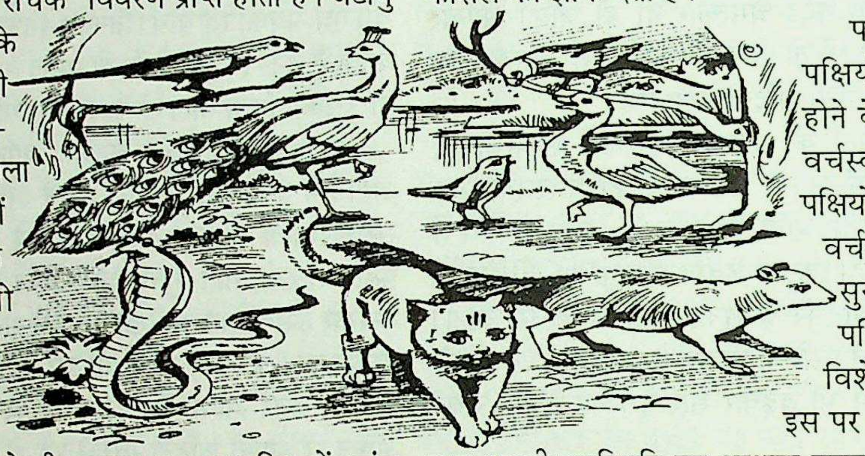

प्रकृति का सुरीलापन पक्षियों से अभिव्यक्त होता है। शायद यही कारण है कि प्राचीनकाल से पक्षियों के बोलने तथा गाने की ओर लोगों का ध्यान जाता रहा है। उनकी मधुर ध्वनियाँ आकर्षण का केंद्रबिंदु रही हैं। पौराणिक कथाओं में भी इस संबंध में रोचक विवरण प्राप्त होता है। जटायु द्वारा भगवान् राम के सीता अपहरण की सूचना तथा तोता-मैना के किस्सों से भला कौन परिचित नहीं है। जायसी के पद्मावत में तो हीरामन तोते ने ही समस्त कथानक को आगे बढ़ाया है। यह भले ही कल्पना पर आधारित हों, परंतु पक्षी समाज में भी भावों के आदान-प्रदान हेतु उनकी अपनी विशिष्ट भाषा का प्रयोग होता है। भले ही यह मानवेतर भाषा है, पर है यह उसी का स्वरूप ही।

बाग-बगीचों, खेत-खलिहानों तथा सुदूर नीले आकाश में उड़ते-चहचहाते पक्षियों की बोलियाँ बड़ी ही मधुर लगती हैं। प्रातः उठते ही मुर्गे की बाँग, गौरय्या की चहचहाट अपनी नीड़ से बाहर निकलकर उन्मुक्त आकाश में विचरते तोते की बोलियाँ अपनी विरादरी के लिए संदेशयुक्त भाषा का ही एक प्रतिरूप है। पक्षी अपनी भाव-भंगिमाओं द्वारा तथा आँखों द्वारा भी आपस में बातें कर लेते हैं।

भाषा के रूप में पक्षी मुख्य रूप से दो प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। पहली संगीतात्मक ध्वनि होती है, जिसे 'पक्षी गान' (Bird Song) कहते हैं। दूसरी सामान्य ध्वनि को पक्षियों का बोलना अर्थात् 'पक्षी पुकार' (Bird Call) कहा जाता है।

पक्षी गान अपनी संरचना में अत्यंत जटिल होता है। इसका प्रयोग प्रायः नर पक्षी करते हैं। पक्षी जगत् में नर पक्षी संख्या में अधिक तथा मादाएँ अल्पसंख्यक होती हैं। सहवास ऋतु में मादा पक्षी को रिझाने के लिए नर पक्षी को काफी मेहनत करनी पड़ती है। इस प्रयास में वह खूब गाता है और विभिन्न प्रकार से गाता है। मिलन का यह मधुर गीत तब तक चलता रहता है जब तक उसे अपनी जीवन-संगिनी न मिल जाए। पक्षी विशेषज्ञों के अनुसार पक्षी का यह गीत कई प्रकार का होता है। इस गीत की खास विशेषता है कि नर पक्षी इसमें अपनी समस्त कला एवं कौशल को झोंक देता है।

पक्षी जगत् में नर पक्षियों की बहुलता होने के कारण उनका वर्चस्व रहता है। कुछ पक्षियों के गीतों में इसी वर्चस्व का स्वर भी सुनाई देता है। कुछ पक्षियों का अपना विशेष क्षेत्र होता है। इस पर अधिकार जताने तथा अपनी उपस्थिति का आभास करवाने हेतु भी पक्षी संगीतात्मक ध्वनि निकालता है। दूसरा पक्षी जब सीमा उल्लंघन कर किसी दूसरे पक्षी के क्षेत्र विशेष में गाना आरंभ करता है, तो उस क्षेत्र के पक्षी के गीत में सरलता की अपेक्षा क्रोधयुक्त चुनौती होती है। वह इस ध्वनि के माध्यम से ये जताना चाहता है कि उसके क्षेत्र विशेष के अधिकार का अतिक्रमण न किया जाए।

अपने गाने के लिए मशहूर राबिन नामक पक्षी द्वारा तो इन दोनों परिस्थितियों के लिए भिन्न-भिन्न संगीत का प्रयोग किया जाता है। पक्षी जगत् में चकवा-चकवी की जीवन शैली कुछ भिन्न है। इनमें चकवा जब खुश हो जाता है, तो चकवी अंडे देने के बाद सेने का उत्तरदायित्व उसे सौंपकर किसी दूसरे चकवे को प्रसन्न करने के लिए मुक्त हो जाती है। इधर चकवा अंडे सेने से लेकर शिशुओं के पालन-पोषण तक की समस्त जिम्मेदारी निभाता है।

कुछ पक्षियों की ऐसी प्रजातियाँ हैं, जिनमें नर और मादा दोनों मिलकर गाते हैं। कभी-कभी तो इनमें गाने के चौदह घटक पाए गए हैं। इनमें से पहले चार नर द्वारा गाए जाते हैं, फिर माता तीन घटक दुहराती है। पुनः नर चार और मादा तीन घटक गाकर समाप्त करती है। अनेक बार नर पहले पूरे गीत को गाता है और फिर मादा उसका अनुसरण करती है।

कुछ पक्षियों का गायन ऋतु एवं परिस्थितियों के अनुकूल होता है। इनके गीतों में वर्षा का आमंत्रण होता है। प्रच्छन्न काले-काले मेघों को देखकर मोर अपने पंख फैलाए सरगम का स्वर अलापता है। कोयल की मीठी कूक में वासंती उमंग भरी रहती है। ऋतुराज वसंत में कोयल की मधुर तान किसी स्वर्गीय संगीत का आभास कराती है। उषा के आगमन से पूर्व ही मुर्गा बाँग लगा देता है। कुछ पक्षी तो सदाबहार गाते हैं। हिमालय में पाई जाने वाली भूरे पंखों वाली तुरदुस बुलबुल गाने के लिए विख्यात है। मालाबार की सीटी जैसी आवाज करने वाली थ्रुस और रामा भी खूब गाते हैं।

पक्षियों की सामान्य आवाज को पक्षी पुकार कहा जाता है। यह पक्षियों द्वारा भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की जाती है। साथ-साथ उड़ने, एक साथ नीचे उतरने तथा एक साथ रात्रि विश्राम के लिए भी अलग-अलग ध्वनियों के माध्यम से सूचना का प्रयोग किया जाता है। बड़े-बड़े झुंडों में रहने वाली गौरय्या उड़ने से पूर्व, उड़ने के बीच तथा धरती पर उतरते समय तीन प्रकार की बोली बोलती है। इसका उद्देश्य होता है कि पूरे झुंड को एक साथ लेकर उड़ना और एक साथ उतरना।

साँप, नेवला, बिल्ली आदि जीव पक्षियों के जानी दुश्मन हैं। जब किसी पक्षी को इनसे सामना करना पड़ता है, तो वह बड़ी कुशलता के साथ अपने अन्य साथी-सहयोगियों को इसकी सूचना पहुँचा देता है। इस अवसर पर निकाली गई ध्वनि आरोही और अवरोही होती है। खतरे की इस भाषा से पक्षी समाज अच्छी तरह से परिचित है तथा ये इसके लिए अत्यंत सतर्क व सावधान होते हैं। पक्षी दोनों कानों से एक साथ नहीं सुन सकता। वह केवल एक ही कान से सुन सकता है। प्रकृतिप्रदत्त यह विशेषता उनके लिए एक वरदान सिद्ध हुई है। जिस ओर से आवाज आ रही हो उस ओर का कान पहले सुन लेता है तथा सुगमतापूर्वक उस आवाज के प्रति जानकारी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार पक्षी खतरों से अपना बचाव करता है।

जुदाई पक्षियों के लिए भी असहनीय होती है। एक के मारे जाने पर दूसरे द्वारा अत्यंत करुण विलाप किया जाता है। ऐसे पक्षियों में क्रौंच प्रमुख है। बहेलिये द्वारा क्रौंच पक्षी के वध तथा बिछुड़े पक्षी के कारुणिक विलाप ने महाकवि वाल्मीकि को द्रवित कर दिया था और उनके द्रवित हृदय से निकली आह ही विश्वप्रसिद्ध काव्य वाल्मीकि रामायण बनी।

प्रवासी पक्षी स्वदेश वापसी के समय एक साथ एकत्रित हो जाते हैं तथा झुंड बनाकर यात्रा करने के लिए एक विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। इसी भाषा का अनुसरण करके ही वे अनुशासित सिपाही की तरह झुंड में आते और जाते हैं। भाषा संबंधी यह ज्ञान प्रायः उन्हें सहजज्ञान रूप में प्राप्त होता है। गाने वाले पक्षियों में कुछ को यह गुण सहज रूप में प्राप्त होता है तथा कुछ सीखते भी हैं। पक्षी विशेषज्ञों के अनुसार यदि कोयल के बच्चे को कोयल समाज से अलग रखकर अन्य पक्षियों की आवाजें सुनाई जाएँ, तो वह तब भी कोयल की ही आवाज निकालेगा।

भारतीय पक्षियों में पहाड़ी मैना इस मामले में निश्चय ही सबसे आगे है। वह मनुष्य की बोली की लगभग नकल कर लेती है। हालाँकि इस सिलसिले में तोते ज्यादा मशहूर हैं। तोते को मंत्र तक याद होते देखा गया है। भृंगराज एक गान-विधा-विशारद, परंतु अत्यंत नकलची पक्षी है। इसकी सर्वोपरि विशेषता है विभिन्न गाने वाले पक्षियों के गानों की हूबहू नकल कर लेना। वह आस-पास के किसी भी पक्षी की नकल कर लेता है, जिससे भ्रम पैदा हो जाता है। संभवतः इसी वजह से जंगल का चक्रवर्ती सम्राट् इससे बहुत चिढ़ता है और इसे देखना तक पसंद नहीं करता है।

जो भी हो, पक्षी अपनी कोमल भावनाओं की अभिलाषा इन सुरीली तानों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। यदि प्रकृति की इस नैसर्गिक धरोहर के प्रति हम भी संवेदनशील हों तो हमारे जीवन में भी अनेकों प्रकार की कोमल भावनाएँ फूट पड़ेंगी। जो हमें और औरों को भी प्रसन्न करने में सहायक होंगी। हमारा जीवन और भी सरस और सुंदर बन पाएगा।

* * *

मकड़ी एक लंबा जाला तान रही थी। उतना बन नहीं पड़ रहा था। बार-बार टूट जाता था। फिर भी वह निराश नहीं हुई। प्रयास जारी रखा और चौदहवें प्रयास में सफल हुई।

यह दृश्य पराजित ब्रूसो देख रहा था। उसने तेरह बार लड़ाई में मात खाई थी। मकड़ी के साहस से प्रभावित होकर उसने चौदहवीं बार लड़ाई की तैयारी की और दूने उत्साह से लड़ा और सफलता प्राप्त की।

क्रोध से तो परहेज ही रखें

लाल-लाल आँखें, काँपते होंठ, तमतमाता चेहरा भीषण क्रोधोन्माद का परिचायक है। अज्ञान के कुंड में धधकती क्रोधाग्नि सर्वप्रथम विवेक को जला डालती है। फिर शुरू होती है, जीवन के सर्वनाश की यात्रा। जिसका कहीं कोई अंत नहीं है। यह अपने शरीर एवं मन को जलाकर ही शांत होता है। क्रोध का आवेश अपने आसपास के समूचे वातावरण को विषाक्त कर देता है। इस प्रकार यह शांत-सरल जीवन में अमंगल का अभिशाप बनकर आता है।

क्रोध मूलतः मनोकायिक रोग है। इसे मस्तिष्कीय ज्वर भी कहा जा सकता है। यह निरंतर सुलगने वाली आग है। जिसमें व्यक्ति गीली लकड़ी की तरह भीतर-ही-भीतर सुलगता रहता है। यह उत्तेजना का ताप है। प्राचीन जैन वाङ्मय में क्रोध के कई रूपों का उल्लेख मिलता है, कोप, रोष, द्वेष, बैर, विरोध, कलह आदि। ये उत्तरोत्तर आवेश की एवं उग्र परिणामों के परिचायक हैं।

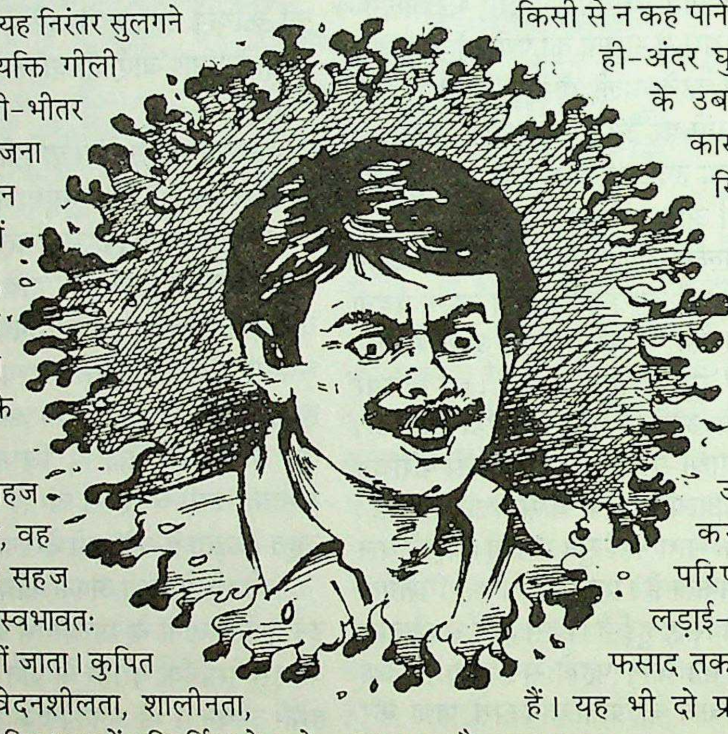

जो व्यक्ति को अपने सहज स्वभाव से विचलित कर दे, वह कोप है। इससे व्यक्ति का सहज स्वभाव बदल जाता है। वह स्वभावतः जैसा होता है, वैसा रह नहीं जाता। कुपित व्यक्ति की सज्जनता, संवेदनशीलता, शालीनता, विनम्रता, उदारता आदि कुपित क्षण में परिवर्तित हो जाते हैं। उसके अंदर की स्निग्धता रुक्षता में, गंभीरता छिछलेपन में और सहृदयता क्रूरता में बदल जाती है। जब क्रोध स्थायी बन जाता है, तो रोष बनकर प्रकट होता है। यही 'रूठना' कहलाता है। क्रोध से ही वैमनस्य का भाव जागता है। यही वृत्ति आपसी विवादों एवं विग्रहों को जन्म देती है।

क्रोध एक मनोवृत्ति है। यह एक ऐसी भाव दशा है, जो अति शीघ्र प्रकट होती है। यह हमारी चित्त चेतना में सबसे ऊपरी तल पर स्थित रहता है। कुछ वृत्तियाँ जैसे कुटिलता, प्रवंचना आदि गूढ़ होती हैं और ये मन की गहराई में छिपी रहती हैं। परंतु क्रोध मन के ऊपरी क्षेत्र में अवस्थित होने के कारण तत्क्षण प्रकट हो जाता है। इसे दबाया तो जा सकता है, लेकिन इसके प्रभावों को छिपाना संभव नहीं है। क्रोध मानवी व्यवहार के किसी-न-किसी पक्ष से उजागर हो ही जाता है।

मनोवैज्ञानिकों ने क्रोध को साइलेंट एवं वायलेंट के रूप में वर्गीकृत किया है। साइलेंट क्रोध अंतर्मुखी होता है। इससे व्यक्ति में हताशा, निराशा, उदासी छाई रहती है। वह स्वयं में हैरान और परेशान रहता है। अपनी मन की बात किसी से न कह पाने के कारण वह अंदर-ही-अंदर घुटता रहता है। क्रोध के उबाल को दबा देने के कारण उसकी आंतरिक स्थिति और भी अस्थिर एवं अशांत हो उठती है। एक प्रकार से यह भी एक भयावह स्थिति है। वायलेंट क्रोध बहिर्मुखी होता है। यह क्रोध अपने उफान को बाहर प्रकट करता है। इसके परिणामस्वरूप कलह, लड़ाई-झगड़ा से लेकर दंगा-फसाद तक होते देखे जा सकते हैं। यह भी दो प्रकार का होता है—साधारण और असाधारण।

साधारण क्रोध अल्पकालिक एवं क्षणिक होता है। यह दूध के समान तुरंत उफन पड़ता है। इसकी प्रतिक्रिया क्षीण ही सही, परंतु बड़ी तीव्र होती है। जैसे ही यह क्रोध शांत होता है, अपने किए कर्म पर बड़ा पश्चात्ताप होता है। परंतु परिस्थिति आते ही यह फिर से अपना स्वरूप दिखाने लग जाता है। हालाँकि इसका प्रभाव लंबे समय तक नहीं है, लेकिन यह बड़ा घातक होता है।

असाधारण क्रोध तीव्र होने के साथ-साथ स्थायी होता है। इसका विषाक्त आवेश दीर्घकाल तक बना रहता है। यह

आवेश मदिरा के समान होता है। इसके नशे में व्यक्ति लंबे समय तक आत्मविस्मृत होकर बेसुध पड़ा रहता है। ऐसे व्यक्ति को कोई भी उपदेश एवं मार्गदर्शन देना संभव नहीं है, क्योंकि वह अपने ही बुने ताने-बाने में जलता-पिटता रहता है। धीरे-धीरे वह उन्माद के बाहुपाश में जकड़ता चला जाता है और उन्मादी वृत्ति उसके जीवन का अंग बन जाती है।

क्रोध मुख्यत: परिस्थितिजन्य कारणों से ही उत्पन्न होता है। मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन-अन्वेषण से पता चलता है कि कुछ और कारण हैं जिनसे यह उत्पन्न होता है। ये हैं काम में व्यवधान आना, कटाक्ष एवं व्यंग्योक्ति, तनाव, भूख, थकान एवं कमजोरी, असफलता, असंतोष आदि। वृद्धावस्था में व्यक्ति अपने को अकेला, असहाय एवं बेसहारा महसूस करने के कारण भी क्रोध जल्दी आने लगता है। उपर्युक्त कारणों के अलावा कुछ मानसिक बीमारियों जैसे डिप्रेशन, सिजोफ्रेनिया, मैनिया, चिंता आदि की वजह से भी व्यक्ति में क्रोध की प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

किसी भी कारण से क्रोध जन्म ले सकता है, परंतु जैसे ही मन में इसकी छोटी-सी तरंग उत्पन्न होती है, वैसे ही यह संवेदना का योग पाकर मन की गहराई में उतरती चली जाती है और यह शरीर के रोम-रोम में रम जाती है। तत्पश्चात् क्रोधाविष्ट व्यक्ति अपने उस अभिमत या व्यवहार का मौखिक समर्थन करता है, जिस कारण उसे क्रोध हुआ था। विभिन्न तर्कों एवं उपायों से वह उस कारण का औचित्य सिद्ध करता है। वह हर तरह से अपने पक्ष को यथार्थ एवं औचित्यपूर्ण ठहराता है। अपनी समस्त मानसिक कल्पनाओं का जाल इसी ओर बुनता रहता है। अपने आप ही वह उसका स्पष्टीकरण कर देता है और तर्कसंगत शब्दांकनों द्वारा उसे चिरपोषित करता है। वह अपने क्रोध को जायज एवं उचित मानता है।

क्रोधावेश की प्रक्रिया का सिलसिला अंतहीन होता है। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी, चौथी एवं अगणित कड़ियाँ जुड़ती चली जाती हैं और इस प्रकार भावावेश की लंबी शृंखला बन जाती है। क्रोध का यह आवेश उत्तरोत्तर शक्तिशाली और लंबा व गहरा होता चला जाता है। इस प्रकार क्रोध का कहीं कोई अंत नजर नहीं आता। अंततोगत्वा यह व्यक्ति को खंडित एवं विभाजित करके ही दम लेता है। इसका परिणाम बड़ा ही घातक एवं विनाशक होता है।

मनोवैज्ञानिकों ने क्रोधाविष्ट व्यक्तियों का मस्तिष्कीय एवं हार्मोन संबंधी परीक्षण किया है। हालाँकि इनके प्रायोगिक निष्कर्षों में पूर्णता नहीं है। केप्लान एवं सैडोक ने अपनी 'टेक्टबुक ऑफ साइकियाट्री' में उल्लेख किया है कि क्रोधित व्यक्ति अक्सर उत्तेजित हो जाते हैं। ऐसी दशा में उनके CSF (सी.एस.एफ) में 5-HIAA (5-Hydroxy Indoleacetic acid) की मात्रा घट जाती है। इस एसिड की मात्रा अन्य सामान्य व्यक्तियों की तुलना में अति न्यून होती है। संभव है इसकी कमी से व्यक्ति अपना नियंत्रण खो बैठता हो और क्रोध से उत्तेजित हो जाता है।

वैज्ञानिकों ने क्रोध से उत्पन्न हिंसा का भी परीक्षण किया है। इनके अनुसार मस्तिष्क के दोनों एमीगडल, अन्य टेंपोरल लोव और लिंबिक सिस्टम के द्वारा क्रोध एवं हिंसा का संबंध होता है। अत्यधिक क्रोध के कारण पतली रक्तवाहिनी के फट जाने का भी भय बना रहता है। ऐसे तो क्रोध से हार्मोन का संबंध स्पष्ट नहीं हो पाया है, परंतु प्रोजेस्ट्रॉन से इसका तारतम्य जुड़ने का आभास मिलता है। जो भी हो, क्रोध एक अत्यंत घातक मनोकायिक रोग है, जो शरीर एवं मन दोनों को जलाता है। इसी कारण तत्त्वचिंतकों, अध्यात्म के आचार्यों, वैज्ञानिकों, मनोवैज्ञानिकों सभी ने एक स्वर से इससे परहेज का सुझाव दिया है।

क्रोध प्राय: परिस्थितिवश पैदा होता है। आवश्यकता है उन परिस्थितियों का शांत मन से सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए एवं उसकी गहराई में जाकर वास्तविक तथ्यों का पता लगाया जाए। ऐसा किया जाए, तो कोई कारण नहीं कि उसे नियंत्रित नहीं किया जा सके। आत्मसमीक्षा एवं ईश्वर चिंतन द्वारा इस असाध्य मनोरोग से मुक्ति संभव है।

एक धर्म प्रचारक, संघ के अधिष्ठाता से शिकायत कर रहे थे, ''इतने दिन उपदेश देते हो गए, पर लोग न मुझे समझ पाए, न मेरे अनुयायी बने। अब मैं क्या करूँ?''

अधिष्ठाता ने दूसरे दिन उनके साथ अन्य प्रचारकों को भी बुलाया। दो बरतन पानी में भरकर रखे। सबको दिखाते हुए एक में तेल डाला और दूसरे में नमक। तेल ऊपर तैर रहा था और नमक पानी में घुल गया था।

तात्पर्य समझाते हुए अधिष्ठाता ने कहा, ''तेल की तरह जनता के सिर पर छाने की कोशिश मत करो। नमक की तरह जन-समुदाय के पानी में घुल जाओ, तो आत्मसात् होकर रहोगे।''

विकृत आहार हमें रोगी बनाता है

तेजी से बदलते इस सामाजिक परिवेश में फास्ट फूड का प्रचलन बढ़ने लगा है। स्वाद एवं समय की बचत के कारण यह भागती-दौड़ती जिंदगी का एक अनिवार्य अंग बन चुका है। परंतु इसके तात्कालिक आकर्षण के पीछे कुछ खतरनाक पहलू भी हैं। इसी वजह से फास्ट फूड के आदी होते जा रहे लोगों में कई प्रकार के रोग पनपने लगे हैं।

चाउमीन, मैगी, पिज्जा, बर्गर, पेटीस एवं डिब्बाबंद भोजन एवं पेय पदार्थ को सामान्यतः फास्ट फूड की संज्ञा दी गई है। इनके कारण ही चावल, दाल, सब्जी, रोटी जैसी खाने की सादी परंपरा, पुरानी एवं बीते युग की बात हो चुकी है। ग्लोबलाइजेशन एवं उदारीकरण के प्रभाव से प्रभावित भारतीय जनमानस की खान-पान की संस्कृति बदल गई है। अब फास्ट फूड उनका स्टेटस सिंबल बन चुका है। समाज के तथाकथित उच्च एवं अभिजात्य वर्ग में यह सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठित हो गया है, जिसका अंधानुकरण करने में समाज के अन्य वर्ग भी अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करते हैं। परिणामतः आज हमारे देश के हर बड़े होटलों से लेकर ढाबे एवं छोटे-छोटे स्थानों पर इसका भरपूर प्रचलन चल पड़ा है।

इन दिनों फाइव स्टार होटलों के खाने की नकल प्रतिष्ठा एवं फैशन की बात बन गई है। इसी वजह से फास्ट फूड हमारी संस्कृति में अनावश्यक रूप से समाहित होता जा रहा है। संभव है यह आधुनिक भोजन स्वाद में थोड़े अच्छे ही क्यों न हों, परंतु इसके लंबे समय तक सेवन करने से स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। साथ ही इनको सुंदर, स्वादिष्ट एवं आकर्षक बनाने के लिए जिन तरीकों का प्रयोग किया जाता है, वह भी कम घातक नहीं हैं।

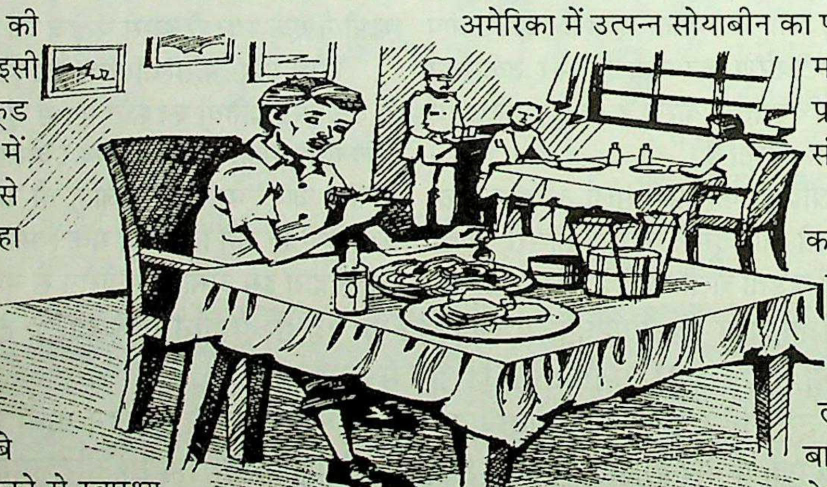

ये फास्ट फूड दो प्रकार के होते हैं, शाकाहारी एवं मांसाहारी। इन दिनों फास्ट फूड को स्वादिष्ट बनाने के लिए मांसाहारी चीजों की पर्याप्त मिलावटें होने लगी हैं। इससे उनका स्वाद बदल जाता है और बिक्री बढ़ जाती है। आजकल मिठाइयों एवं अन्य खाद्य पदार्थों में अंडे की मिलावट आम बात हो गई है। सैंडविच, पराँठा, कुलचा, ब्रेड, केक आदि शुद्ध शाकाहारी माने जाने वाले भोज्य पदार्थ इससे अछूते नहीं हैं। यहाँ तक कि चाय जैसे पेय पदार्थ को जायकेदार बनाने के लिए मांस के अर्क मिलाए जाने की खबर भी बीते दिनों काफी प्रचलित रही। ऐसा भोजन शाकाहारी व्यक्ति की प्रकृति के लिए अत्यंत प्रतिकूल है एवं उनकी नैतिक, धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध है।

फास्ट फूड के क्षेत्र में जैव टैक्नोलॉजी का 'जेनेटिक फूड्स' का भी प्रचलन बढ़ने लगा है। इसके अंतर्गत साग, सब्जी, फल, जीव-जंतु आदि के जीन को एक-दूसरे में मिलाकर जीन-नियंत्रित खाद्य वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। इसके द्वारा खाद्य पदार्थों को लंबे समय तक सुरक्षित एवं संरक्षित किया जाता है तथा विश्व के विभिन्न देशों में भेजा जाता है। जेनेटिक फूड्स के रूप में दूध पाउडर, सोया पाउडर, आलू चिप्स, बेबी फूड्स आदि अपने देश के बाजार में भारी मात्रा में मिलने लगे हैं।

अमेरिका में उत्पन्न सोयाबीन का पचास प्रतिशत और मक्के का पच्चीस प्रतिशत जेनेटिक संरक्षित होता है। जेनेटिक फूड्स का उत्पादन इन दिनों प्रचुर मात्रा में होता है, परंतु यह कुछ समय के लिए लाभदायक होने के बावजूद कई प्रकार के रोगों को जन्म देने वाला है। अंतर्राष्ट्रीय संस्था ग्रीन पीस के अनुसार इस तरह के खाद्य पदार्थ स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो रहे हैं। इसमें जेनेटिक संक्रमण का भय बना रहता है। संभवतः

इसी कारण फ्रांस जैसे यूरोपीय देशों ने जेनेटिक फूड्स पर प्रतिबंध लगा दिया है।

अपने देश में पेय पदार्थों का भी एक बड़ा उद्योग है। ये पदार्थ अनेकों ट्रेड नामों से बिकते हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार अपने देश में लगभग पाँच से सात हजार प्रकार के बोतलबंद ठंढे पेय एवं शरबत आदि का प्रयोग होता है। कोकाकोला, पेप्सी, लिंबा, मिरिंडा, फेंटा आदि ट्रेड ब्रांड के पेय तो प्यास बुझाने के लिए कम स्टेटस सिंबल के रूप में अधिक बिकते हैं। चिकित्साशास्त्रियों के अनुसार इनके अधिक सेवन से विभिन्न प्रकार के पेट के रोग होने की संभावना बढ़ जाती है। इसके अलावा सॉस, अचार, मुरब्बे, रबड़ी, कुल्फी, रसगुल्ला आदि खाद्य पदार्थों के रेडीमेड मसाले भी खूब बिक रहे हैं। जिनसे चर्म रोग तथा एलर्जी की शिकायत मिलने लगी है।

विभिन्न प्रकार के इन खाद्य पदार्थों को अधिक समय तक सुरक्षित रखने के लिए 'फूड कैनिंग' यानि डिब्बाबंद प्रक्रिया अपनाई जाती है। इन डिब्बाबंद खाद्य पदार्थों को उन क्षेत्रों में भेजा जाता है, जहाँ पर ऐसे पदार्थों का उत्पादन नहीं होता। इन डिब्बाबंद खाद्य सामग्री में फल, फलों का रस, सब्जियाँ एवं अनेक तरह के फास्ट फूड होते हैं। चटपटे और जायकेदार स्वाद के कारण इन पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। इन्हें प्रिजर्व करने के लिए सिरका, रंग, गंध, लवण और कृत्रिम शर्करा की प्रचुरता होती है। इसके अतिरिक्त इनमें एथिल, सोडियम क्लोराइड, एसिटिक एसिड आदि औषधीय तत्त्व मिलाए जाते हैं। कुछ भोज्य पदार्थों में एंटीवायोटिक दवाइयों का भी उपयोग होता है। अब तो इसमें नाइट्राइड एवं आर्गेनिक रसायन का भी प्रयोग बढ़ने लगा है। विज्ञान के साधारण जानकार भी जानते हैं कि ये पदार्थ टाक्सिक होते हैं, जो स्वास्थ्य के लिए अत्यंत हानिकारक हैं।

इंटरनेशनल फाउंडेशन ऑफ नेचुरल हैल्थ एवं योग के डॉक्टर एन. एस. अधिकारी ने फास्ट फूड को अप्राकृतिक आहार का दूसरा रूप माना है। उनके अनुसार इनमें आवश्यक पोषक तत्त्वों का अभाव होता है। इसके बावजूद इसके प्रचार-प्रसार को देखकर हर व्यक्ति आज भ्रमित हो रहा है। उसे इस चकाचौंध में यह पता नहीं चल पाता कि स्वाद के नाम पर जिस खाद्य सामग्री को ग्रहण किया जा रहा है, वह कितनी स्वास्थ्यप्रद है। संभवतः इसी मानसिकता का लाभ उठाकर यह उद्योग काफी फल-फूल रहा है। इसलिए 'फूड प्रोडक्टस ऑर्डर' नामक एक सरकारी संस्था ने एक विज्ञप्ति जारी कर उल्लेख किया है कि हरेक व्यक्ति को अपने स्वास्थ्य के अनुकूल आहार ग्रहण करना चाहिए, स्वाद के नाम पर नहीं। चटपटे स्वाद के रूप में फास्ट फूड खाने वाले को अल्सर, पेट के ट्यूमर आदि का विषाक्त दंश झेलना पड़ सकता है।

प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय खाद्य संस्थाओं ने ऐसे अप्राकृतिक भोजन से परहेज रखने के लिए अत्यधिक बल दिया है। इनका कहना है कि फास्ट फूड थोड़े आकर्षक एवं स्वादिष्ट तो होते हैं, परंतु ताजा न होने के कारण इनमें विटामिन एवं कैलोरी आदि की गुणवत्ता नष्ट हो जाती है। वसा प्रधान फास्ट फूड्स से मोटापे में काफी वृद्धि देखी गई है और इसे हृदय रोग के साथ-साथ कई अन्य रोगों को भी जन्म देने वाला माना गया है।

इसलिए अच्छा यही है कि उत्तम शारीरिक स्वास्थ्य के लिए प्राकृतिक एवं संतुलित आहार ग्रहण किया जाए। हरी सब्जियों, दूध, मौसमी फलों आदि में प्रायः सभी पोषक तत्त्व पर्याप्त मात्रा में होते हैं। ये प्राकृतिक आहार सात्विक एवं हलके भी होते हैं, जिनसे स्वास्थ्य भी ठीक बना रहता है। स्वस्थ एवं निरोगी शरीर में ही रोगों से लड़ने की अपार क्षमता होती है। ऐसे में ही स्वस्थ मन का निवास हो सकता है। इसीलिए शास्त्रों में अन्न की महत्ता गाई गई है। अतः हममें से हर एक को फास्ट फूड जैसी पाश्चात्य शैली की सर्वनाशी अनुकरणपद्धति से बचना चाहिए और प्राकृतिक आहार एवं जीवन शैली को अपनाकर सदा निरोगी एवं स्वस्थ बने रहने चाहिए। यही स्वास्थ्य का मूल मंत्र है। ✓

बुद्ध शिष्यों को धर्मप्रचार के लिए विदा कर रहे थे। लंबे प्रवास में कठिनाइयाँ आने और नए स्थानों पर विरोध होने, पराजय मिलने की आशंका व्यक्त की जा रही थी।

असमंजस का निवारण करते हुए तथागत ने सशर्त आशीर्वाद दिया, कहा, ''जब तक तुम लोग संयमी रहोगे, परस्पर मित्र भाव बरतोगे, जो मिलेगा उसे मिल-बाँटकर खाओगे और लोकमंगल को धर्म मानते रहोगे, तब तक कठिनाइयाँ तुम्हें पराजित न कर सकेंगी।''

आदेशों को हृदयंगम करके वे देश-देशांतरों में बिखर गए और धर्मचक्र प्रवर्तन को चरम सीमा तक सफल बनाने में समर्थ हुए।

वातव्याधि-निवारण की यज्ञोपचार प्रक्रिया—११

इस शृंखला के अंतर्गत सियाटिका रोग के बारे में पिछले लेख में विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है। यहाँ पर 'आमवात' नामक कष्टकारी वातव्याधि के संबंध में विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जा रहा है कि किन कारणों से यह पैदा होता है और यज्ञोपचार द्वारा उससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है। आमवात को समस्त वातविकारों का जनक कहा जा सकता है। आरंभ होने के साथ ही यदि सही ढंग से उपचार न किया जाए, तो आगे चलकर विविध प्रकार के कष्टसाध्य वातविकार जैसे संधिवात, संधिशोथ जिन्हें चिकित्साविज्ञानी 'आर्थ्राइटिस' कहते हैं, पैदा हो जाते हैं। गठिया, जोड़ों का दरद, पंगुता आदि वात विकृतियाँ इसी की देन हैं।

आमवात की निरुक्ति दो प्रकार से की जाती है, 'आमेन सहितः वातः' तथा आमश्च वातश्च आमवातः। अतः स्पष्ट है कि यह दो शब्दों के मेल से बना है, आम+वात। वस्तुतः जो खाद्यपदार्थ हम आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, यदि वह ठीक तरह से पचता नहीं है, जठराग्नि कमजोर है, तो उससे जो कच्चा अपक्व रस बनता है, वह आँत के ऊपरी भाग-आमाशय में इकट्ठा होता रहता है। आयुर्वेद में इसे ही 'आम' कहते हैं। जब शरीर में संचरण करने वाली वायु प्रकुपित होकर आम से मिल जाती है और दूषित वायु के साथ पूरे शरीर में परिभ्रमण करने लगती है, तब इसे 'आमवात' कहते हैं। शरीर के त्रिकस्थानों, संधिस्थलों, जोड़ों आदि में प्रवेश करके यह उन स्थानों को जकड़ लेती है, लॉक कर देती है, तब अंगों में सूजन आ जाती है और हड्डी टूटने, बिच्छू के डंक मारने जैसी पीड़ा होती है। इसके साथ ही भूख न लगना, अरुचि, प्यास, आलस्य, ज्वर, हृदय में भारीपन, पैर, पिंडली, जंघा, घुटना, कमर, ग्रीवा आदि में शोथ, अनिद्रा, पेशाब की अधिकता, आँतों में गुड़गुड़ाहट एवं शरीर में दाह जैसे लक्षण उभर आते हैं। सही ढंग से उपचार न होने पर आमाशय में जमा हुआ यही आमरस जब कफ और पित्त से मिल जाता है, तो यह उक्त संधि स्थानों में एकत्र होकर सूजन और असह्य दरद पैदा करता है। ऐसी स्थिति में चलना-फिरना दुष्कर हो जाता है, तब कहा जाता है कि आमवात ने जकड़ लिया है। पित्ताधिक्य आमवात में दाह और लाली होती है, वाताधिक्य आमवात में शूल होता है। कफ की अधिकता वाले आमवात में शरीर में जड़ता, भारीपन और खुजली अधिक होती है।

यों तो आमवात वृद्धावस्था का रोग माना जाता है, परंतु पेट की खराबी, आवश्यकता से अधिक खाने, अधिक शराब पीने, वासी भोजन करने आदि कारणों से वह किसी भी उम्र में हो सकता है। वंशानुगत कारणों से भी यह रोग हो जाता है। आमवात के कारणों का उल्लेख करते हुए आयुर्वेद के ग्रंथ 'बंगसेन' में कहा गया है—

''विरुद्धाहार चेष्टस्य मंदाग्नेर्निश्चलस्य च।
स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामञ्चाथ कुर्वतः॥

अर्थात् विरुद्ध आहार-विहार—प्रकृति विरुद्ध, समय विरुद्ध, संयोग विरुद्ध जैसे दूध-मछली आदि खाने और विरुद्ध चेष्टा करने, स्निग्ध आहार जैसे दूध, घी, मिठाई आदि गरिष्ठ पदार्थ लेने के पश्चात् बैठे रहने, शारीरिक श्रम न करने, जिह्वा पर नियंत्रण न रखने तथा भोजन करने के पश्चात् तुरंत व्यायाम करने या कठिन परिश्रम करने, नमी या सीलनयुक्त कमरों में निवास करने, धूप से आकर तुरंत ठंढे जल से स्नान करने या ठंढा जल पीने, ठंढी हवा में रात में खुले बदन सोने, पसीना रोकने, आम एवं वात को कुपित करने वाले वातावरण में रहने आदि कारणों से आमवात पैदा होता है। यदि यही आम पित्त स्थान में पहुँच जाए तो उसका पाचन हो जाता है, किंतु जब उपर्युक्त कारणों से यह वायु से संयुक्त होकर आमाशय, वक्षस्थल, कंठ, मस्तिष्क एवं संधिस्थलों आदि कफ वाले स्थानों में पहुँच जाता है तो अपक्व रह जाता है एवं धमनियों के मार्ग से चलने लगता है। प्रवाहित होता हुआ आमवात पित्त या कफ से संयुक्त होने पर दूषित हो जाता है और स्रोतों में रहने वाले रस को वहन करने वाली शिराओं को रोककर भारी कर देता है। यही आमवात की शुरुआत है, जो आगे चलकर विविध प्रकार की दारुण वात-व्याधियों को जन्म देती है।

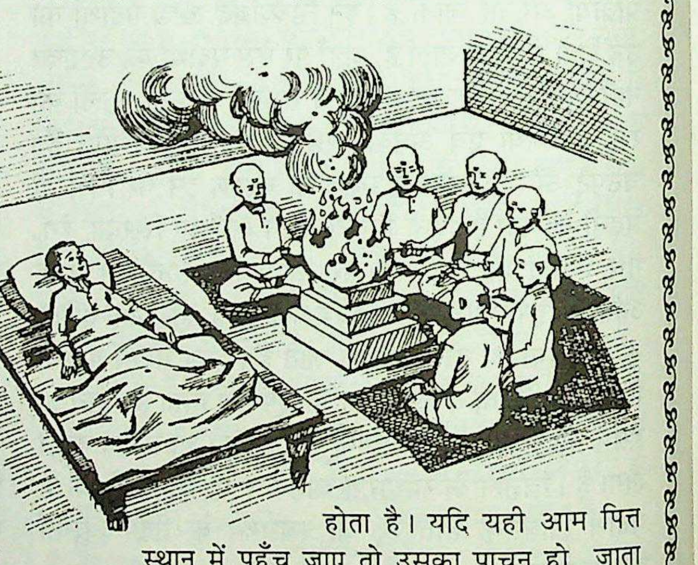

आयुर्वेद चिकित्सा में आमवात दूर करने वाले अनेकों औषधीय योग उपलब्ध हैं। अनेक विशिष्ट एवं बहुमूल्य रस-भस्मादि मिश्रित योग, क्वाथ, वातनाशक-दरदनाशक तैल आदि के प्रयोग से नए एवं पुराने आमवात को समूल

नष्ट किया जा सकता है। इतने पर भी अनुभवी चिकित्सक एवं महँगी दवाओं की सहज उपलब्धता न होने के कारण जनसामान्य प्रायः इस दारुण कष्ट को झेलने के लिए विवश बने रहते हैं। ऐसी स्थिति में यज्ञ-चिकित्सा को अपनाकर हर कोई अपने आहार-विहार में परिवर्तन करते हुए सहज ही सभी प्रकार की वात व्याधियों से छुटकारा पा सकते हैं और नीरोग एवं दीर्घायुष्य जीवन का आनंद उठा सकते हैं।

आमवात की विशेष हवन सामग्री

आमवात दूर करने के लिए जो हवन सामग्री बनाई जाती है, उसमें निम्नलिखित वस्तुएँ मिलाई जाती हैं, १-रास्ना, २-गिलोय, ३-अमलतास की पत्ती एवं फल का गूदा, ४-देवदार, ५-गोक्षुर, ६-एरंड की जड़, ७- पुनर्नवा (सांठी) ८-सोंठ, ९-बिल्वगिरी, १०-गंभारी छाल, ११-पाढ़ल छाल, १२-अरणी छाल, १३-अरलू, १४-शालिपर्णी पंचांग, १५-पृश्निपर्णी, १६-छोटी एवं बड़ी कटेरी (दोनों), १७-कचूर १८-बड़ी हरड़ १९-बच, २०-अतीस, २१-वासा, २२-गुग्गुल, २३-पीपर, २४-पिपरामूल, २५-शतावर, २६-असगंध, २७-विधारा, २८-प्रसारिणी, २९-पोहकरमूल, ३०-अजवायन, ३१-अजमोद, ३२ वायविडंग, ३३-चव्य, ३४-चित्रक, ३५-जीवंती, ३६-इंद्रायण की जड़ व फलों का बीज, ३७-कूठ, ३८-जायफल, ३९-कालीमिरच, ४०-सफेद जीरा, ४१-गोरखमुंडी, ४२-कुटकी, ४३-निशोथ, ४४-तेजपात, ४५-दालचीनी, ४६-कटसरैया, ४७-मेथी, ४८-मकोय, ४९-इंद्र जौ और ५०-बला।

उपर्युक्त सभी ५० चीजों को समान मात्रा में लेकर जौकुट पाउडर बना लेना चाहिए। यदि कुछ औषधियाँ न मिलें तो भी जितनी उपलब्ध हो सकें, उनसे ही यज्ञोपचार आरंभ कर देना चाहिए।

यज्ञोपचार में हवन करते समय पूर्व में बताई गई 'कॉमन हवन सामग्री नंबर १' को भी समभाग में मिला लिया जाता है। इस नंबर १ की हवन सामग्री में जो चीजें मिलाई जाती हैं वे हैं, अगर, तगर, देवदार, श्वेत चंदन, लाल चंदन, जायफल, लौंग, गूगल, चिरायता, गिलोय एवं असगंध। इन्हें जौकुट करके एक अलग डिब्बे में पहले से ही तैयार करके रख लेते हैं और हवन करते वक्त प्रत्येक रोग की विशिष्ट हवन सामग्री में बराबर मात्रा में मिलाकर तब हवन करते हैं। हवन करने का मंत्र सूर्य गायत्री मंत्र ही रहेगा अर्थात्, **"ॐ भूर्भुवः स्वः भास्कराय विद्महे, दिवाकराय धीमहि तन्नः सूर्यः प्रचोदयात्।"**

हवन करने के साथ ही उपर्युक्त सभी पचास चीजों को अलग से बारीक पीसकर उनका कपड़छन चूर्ण तैयार कर लिया जाता है और सुबह-शाम एक-एक चम्मच कुनकुने जल के साथ आमवात के रोगी व्यक्ति को खिलाया जाता है। चूर्ण निगलने में प्रायः अरुचिकर लगता है, अतः इसका क्वाथ बनाकर निगलने से समस्या का समाधान भी हो जाता है और लाभ भी जल्दी मिलता है।

क्वाथ बनाने का सबसे सरल तरीका यह है कि रात्रि में ५० ग्राम अर्थात् दस चम्मच उक्त पचास चीजों के सम्मिलित पाउडर को लगभग एक लीटर शुद्ध जल में भिगो दिया जाए और सुबह उसे मंद आँच पर उबाला जाए। जब उबलकर क्वाथ का जलांश चौथाई या २५० मि. ली. रह जाए, तो उसे ठंढा होने पर महीन कपड़े से छान लें और उसे ही सुबह-शाम दो बार में रोगी को पिलाएँ। अच्छा हो यदि अनुकूल पड़े तो पीते समय काढ़े में एक चुटकी सोंठ का चूर्ण और काला नमक मिला लिया जाए। इससे पाचन शक्ति को बल मिलता है और सूजन भी मिटती है। कभी-कभी क्वाथ में एरंड तैल (कैस्टर ऑयल-१० ग्राम) मिलाकर भी पिलाना चाहिए, जिससे आमाशय में एकत्र हुआ आम बाहर निकल जाता है।

आमवात-गठिया में जोड़ों में सूजन एवं असह्य दरद मुख्य रूप से रुग्ण व्यक्ति को व्यथित करते हैं। इससे छुटकारा पाने का सबसे सरल तरीका यह है कि कपड़े में बालू की पोटली बाँधकर या यज्ञभस्म को आग में या तवे पर बार-बार गरम करके सारे शरीर को कपड़े से ढककर सिकाई की जाए। इससे पसीना निकलता है और शोथ तथा दरद में राहत मिलती है। तदुपरांत दरदनाशक तैल की हलकी मालिश करनी चाहिए।

आमवात के लिए दरदनाशक तैल इस प्रकार बनाया जाता है, १-मेदा, २-महामेदा, ३-सौंठ, ४-मंजीष्ठ, ५-कूठ, ६-रास्ना, ७-लालचंदन, ८-जीवक, ९-ऋषभक, १०-काकोली, ११-क्षीरकाकोली, १२-कंटकारी, १३-एरंड जड़, १४-कटसरैया सभी ५०-५० ग्राम लेकर कूट-पीसकर बारीक पाउडर बना लें। प्रसारिणी क्वाथ ५०० ग्राम एवं तिल तेल एक किलोग्राम लेकर उसमें उक्त सभी चौदह चीजों का पाउडर डालकर तैल सिद्ध कर लें। जब सभी चीजें जल जाएँ, केवल तैल शेष रहे, तो उसे ठंढा होने पर छान लें। यह तैल आमवात सहित सभी प्रकार के वात रोगों पर लाभदायक सिद्ध होता है।

आमवात पाचन तंत्र की गड़बड़ी के कारण उत्पन्न होता है, अतः रोगी के खान-पान में परहेज का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। दूध, दही, गुड़, मांस, मछली, उड़द, बैगन आदि एवं बादी करने वाली शीतल वस्तुएँ आमवात के रोगी को नहीं खानी चाहिए। रात्रि जागरण, वेगों को रोकना, पुरवैया वायु, चिंता, शोक, आलस्य आदि इस महारोग के लिए अपथ्य हैं। परबल, करेला, बथुआ, कुलथी, लहसुन, सौंठ, मरिच, अजवायन, अदरक, एरंड तैल, कोदों, सांवा, मूँग, पुराना साठी चावल, चना की दाल का यूष आदि पथ्य हैं। पीने के पानी में ५-५ ग्राम चव्य, चित्रक, पीपर, पीपरामूल एवं सोंठ डालकर उबाल लें। ४ लीटर पानी उबलकर जब आधा रह जाए, तो छानकर ठंढा होने पर पीने को देते रहना चाहिए। आमवात रोगी के लिए यह जल अमृत के समान लाभकारी होता है। ■

एक आदर्श योगासन : सूर्य नमस्कार

योगासनों के क्षेत्र में 'सूर्य नमस्कार' एक अद्भुत अभ्यास है। इससे स्वास्थ्य, शक्ति और क्रियाशीलता में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त यह आत्मोत्थान में भी सहायक है। इसका संयुक्त परिणाम चेतनात्मक विकास के रूप में सामने आता है। इसमें आसन, प्राणायाम तथा ध्यान की क्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं, अतएव यह एक पूर्ण अभ्यास है। कम समय, कम श्रम और व्यस्त जीवन वालों के लिए यह एक आदर्श योगासन है। इससे आश्चर्यजनक लाभ हस्तगत किए जा सकते हैं।

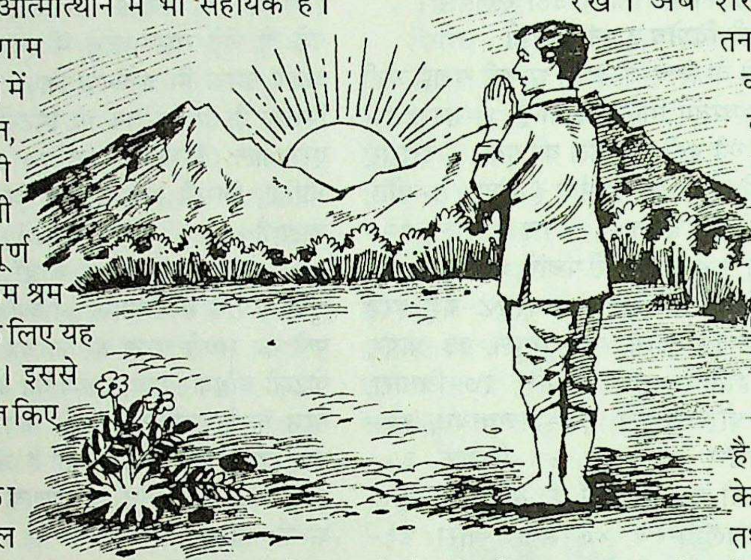

सूर्य नमस्कार का एकदम सीधा और सरल अर्थ है, 'सूर्य को प्रणाम'। यह नामकरण कदाचित् इसलिए हुआ कि अरुणोदय काल में इसके करने का विधान है। इसकी पहली मुद्रा प्रणाम की मुद्रा है, जिसमें सूर्य की ओर मुख करके खड़ा हुआ जाता है। इसलिए इसे 'सूर्य नमस्कार' कहा गया। यह वैदिक काल के ऋषियों की देन है। प्राचीनकाल में दैनिक कर्मकांड के रूप में सूर्य की नित्य आराधना की जाती थी, क्योंकि प्राण-चेतना का यह एक स्थूल माध्यम है। इससे जड़-चेतन को प्रत्यक्ष जगत् में जीवन मिलता है और सूक्ष्म जगत् में 'सविता' के रूप में यह प्राण-प्रवाह का प्रखर पुंज है। समस्त संसार के लिए इसे कल्याणकारी माना गया है। अत: इसकी उपासना हमारे धार्मिक कर्मकांड का अंग है, किंतु जब 'सूर्य नमस्कार' के रूप में इसे हम अपनाते हैं, तो यही अभ्यास चेतना का उन्नायक और स्वास्थ्य-संवर्द्धक बन जाता है। यह उन तत्त्वज्ञों का आविष्कार है, जिन्हें यह पता था कि इससे केवल स्वास्थ्य-रक्षा ही नहीं होती वरन् मानसिक शक्तियों के संतुलन, नियमन और सुनियोजन में भी इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसकी विभिन्न १२ स्थितियों का साधक जब नियमित रूप से अभ्यास करता है, तो उससे उसकी सूक्ष्म ऊर्जा प्रभावित होती है, उसमें एक लयबद्धता आती और साधक की सोच संसार के प्रति सकारात्मक बनती जाती है।

योगनिद्रा की भाँति सूर्य नमस्कार भी सजगता को विकसित करने का एक सरल उपाय है। इसे प्रारंभ करने से पहले ही यह अभ्यास करना चाहिए। खड़ी दशा में ही आँखें बंद कर लें, दोनों हाथों को बगल में नीचे लटकाए रखें। अब शरीर को पूरी तरह तनावरहित और शिथिल कर लें। अपनी चेतना को सजगतापूर्वक सिर से शुरू करते हुए पैरों तक घुमाएँ। सजगता का यह विकास एक टॉर्च की तरह है, जिसका प्रकाश व्यक्तित्व के अंधकार को चीरता है। अब चेतना को पाँव के तलवों पर ले जाएँ तथा भूमि और तलवों के संपर्क बिंदुओं का अनुभव करें। सोचें कि देह के, अंग-अवयवों के संपूर्ण तनाव पैरों के माध्यम से भूमिगत होते जा रहे हैं और शरीर शिथिल हो रहा है। कुछ समय इस अवस्था में रहने के उपरांत मूल अभ्यास शुरू करें। ऐसा करना इसलिए जरूरी होता है कि इससे शरीर की अकड़न शुरू में ही दूर हो जाती है और वह हर प्रकार से अभ्यास के अनुकूल बन जाता है।

सूर्य नमस्कार को नियमित रूप से करने से उससे शरीर के स्थूल-सूक्ष्म हर प्रकार के अंग-अवयव प्रभावित होते हैं। इससे चक्रों को प्रभावित करने के उक्त आसन के अंतर्गत आने वाली विभिन्न शारीरिक मुद्राओं के अनुरूप उन-उन चक्रों पर मन को केंद्रित करना पड़ता है, जिससे उनकी सक्रियता बढ़ने लगती है। क्रियाशीलता के बढ़ने से आध्यात्मिक शक्तियों का जागरण होने लगता है। इस जागरण से साधक का व्यक्तित्व बदलता है। यहाँ यह कहना अनावश्यक होगा कि सूर्य नमस्कार की विभिन्न स्थितियों का उसका अपना प्रभाव इन शक्ति संस्थानों पर नहीं पड़ता। उनसे भी उनमें उद्दीपन उत्पन्न होता है, पर जितनी अधिक उत्तेजना उन्हें आंतरिक सजगता, एकाग्रता तथा मानसिक कल्पना के संयुक्त प्रभाव से मिलती है, उसकी तुलना में वह कम होता है। सूर्य नमस्कार में सम्मिलित आसनों को करने से साधक की प्राणशक्ति में अभिवृद्धि होती है। इस अभिवृद्धि से शरीर के विभिन्न अंगों में उद्दीपन होना आरंभ

होता है, जिससे चक्रों पर मानसिक तथा शारीरिक ऊर्जा को एकाग्र करने में सहायता मिलती है। इन आवेशित अंग-उपांगों के प्रति मानसिक रूप से सजग होने से मन तथा शरीर, इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों में सामंजस्य स्थापित होता है। इससे चक्रों में उद्दीपन उत्पन्न होता है, जिसकी परिणति आत्मजागरण के रूप में सामने आती है। सूर्य नमस्कार की विभिन्न द्वादश स्थितियों का क्रमशः निम्न चक्रों पर असर पड़ता है, (१) प्रणामासन—अनाहत चक्र (२) हस्त उत्तानासन—विशुद्धि चक्र (३) पादहस्तासन-स्वाधिष्ठान चक्र (४) अश्वसंचालनासन—आज्ञाचक्र (५) पर्वतासन—विशुद्धि चक्र (६) अष्टांग नमस्कार—मणिपुर चक्र (७) भुजंगासन—स्वाधिष्ठान चक्र। शेष पाँच स्थितियों में इन्हीं की पुनरावृत्ति होती है, तदनुसार उन्हीं-उन्हीं चक्रों पर पुनः दबाव पड़ता है।

चक्रों पर एकाग्रता के समय विभिन्न सूर्य मंत्रों के मानसिक उच्चारण को भी अपनाया जा सकता है। उसके स्पंदन भी चक्र जागरण में सहायक होते हैं। अभ्यास में पूर्णता आने के उपरांत ऐसा प्रतीत होगा, मानो शब्द स्फुलिंग इन्हीं चक्रों से निर्गत हो रहे हैं।

प्रत्येक वर्ष सूर्य बारह विभिन्न स्थितियों से होकर गुजरता है। इन स्थितियों को ज्योतिष में 'राशि' कहते हैं। प्रत्येक राशि की अलग-अलग विशेषताएँ होती हैं। इनके आधार पर ही उनके नामकरण किए गए हैं। इन १२ नामों से सूर्य नमस्कार के १२ सूर्य मंत्र संबंधित हैं, जो इसकी १२ स्थितियों का अभ्यास करते समय दोहराए जाते हैं। ये निम्न हैं।

(१) ॐ मित्राय नमः (२) ॐ रवये नमः (३)ॐ सूर्याय नमः (४) ॐ भानवे नमः (५) ॐ खगाय नमः (६) ॐ पूष्णे नमः (७) ॐ हिरण्यगर्भाय नमः (८) ॐ मरीचये नमः (९) ॐ आदित्याय नमः (१०) ॐ सवित्रे नमः (११) ॐ अर्काय नमः (१२) ॐ भास्कराय नमः।

ये सूर्य मंत्र मात्र सूर्य के नाम ही नहीं हैं। इनकी ध्वनि उस मूलभूत शाश्वत शक्ति की वाहक है, जिसका प्रतिनिधित्व स्वयं सूर्य करता है। एकाग्रतापूर्वक इन मंत्रों के उच्चारण से संपूर्ण मानसिक संरचना प्रभावित होती है।

योगाभ्यासों के माध्यम से शरीर की नाड़ियों, ग्रंथियों, उपत्यिकाओं, मातृकाओं को संतुलित-सुव्यवस्थित कर पाना संभव है। पीनियल ग्रंथि का जब क्षय शुरू होता है, तो उससे अनेक प्रकार की भावनात्मक समस्याएँ पैदा होने लगती हैं। विशेषकर किशोर मन इन भावनात्मक आघातों को सह पाने में सक्षम नहीं होता, जिससे व्यक्तित्व में उलझाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे कई प्रकार के शारीरिक-मानसिक रोग पनपने लगते हैं। इस जटिलता को रोकने में सूर्य नमस्कार समर्थ है। बालकों के लिए यह विशेष महत्त्व रखता है, कारण कि ८ वर्ष की आयु से ही पीनियल ग्रंथि का क्षय होने लगता है। इससे १२ से १४ वर्ष की आयु में उनका यौवन आरंभ होने लगता है। शारीरिक और भावनात्मक विकास के इस असंतुलन के कारण उनका व्यक्तित्व-गठन सुचारु रूप से नहीं हो पाता, जिससे हर क्षेत्र में उनकी सफलता संदिग्ध बनी रहती है। पीनियल ग्रंथि के इस क्षय को सूर्य नमस्कार द्वारा नियंत्रित किया जा सकना सरल है। इसके अतिरिक्त शांभवी मुद्रा तथा गायत्री मंत्र के जप द्वारा भी यह कार्य संपन्न होता है।

विशेषज्ञों का कथन है कि सूर्य नमस्कार का अभ्यास यदि ८-१० वर्ष की उम्र से ही बालकों को कराया जाने लगे, तो उसका परिणाम तब एकदम स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है, जब ऐसे बच्चों की तुलना उन समवयस्कों से की जाती है, जो यह अभ्यास नहीं करते। अभ्यासी बालक अपने सहपाठियों से हर क्षेत्र में श्रेष्ठ पाए गए हैं।

सूर्य नमस्कार का असर संपूर्ण शरीर तंत्र पर पड़ता है, जिससे निष्क्रिय अंग सक्रिय हो उठते हैं और जहाँ अति सक्रियता होती है, उसकी क्रियाशीलता नियंत्रण में आ जाती है। इसकी प्रथम स्थिति प्रणामासन से अंतर्मुखता, शिथिलीकरण तथा शांति की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। हस्तउत्तानासन से पीठ तथा गर्दन की पेशियाँ शिथिल होती हैं। इस आसन में गहरी श्वास अंदर लेते समय उदर की मालिश होती है तथा पाचन सुधरता है। मेरुदंड का व्यायाम होता है, मोटापा घटता है एवं थायरायड ग्रंथि पर प्रभाव पड़ता है। पादहस्तासन से अंतरंग प्रभावित होते हैं। इनमें प्रमुख हैं, यकृत, वृक्क, पित्ताशय, अग्नाशय, एड्रीनल ग्रंथि, गर्भाशय तथा अंडाशय (ओवरी)। इसके कारण उदर संबंधी बीमारियाँ दूर होती हैं और पाचन शक्ति बढ़ती है। महिलाओं में गर्भाशय का अपने स्थान से हट जाना तथा अनियमित मासिक धर्म दूर होता है। मस्तिष्क में रक्तप्रवाह बढ़ता है तथा संपूर्ण अंतःस्रावी तंत्र पर दबाव पड़ता है। अश्वसंचालनासन से पीठ की पेशियाँ शिथिल पड़ती हैं। इस कारण उदर की पेशियों में खिंचाव आता है। प्रमुख खिंचाव श्रोणि प्रदेश (पेल्विक भाग) पर पड़ता है। साइनस में इससे आराम मिलता है। पर्वतासन से भुजाओं तथा पैरों की पेशियाँ मजबूत बनती हैं। मेरुदंड के स्नायु सबल होते हैं और पिंडलियों की पेशियों में भी खिंचाव उत्पन्न होता है। अष्टांग नमस्कार आसन से वक्षस्थल में मजबूती आती है। इसके अतिरिक्त बाँह, कंधे और पाँव की शक्ति बढ़ती है। भुजंगासन से वक्ष एवं उदर दोनों पर दबाव पड़ता है, जिससे दमा, कब्ज, अपच, गुर्दे और यकृत की व्याधियों से मुक्ति मिलती है। मेरुदंड का व्यायाम होता है।

यह सूर्य नमस्कार का कायिक प्रभाव हुआ। इससे शरीर-स्वस्थता ठीक बनी रहती है और विभिन्न प्रकार के रोगों से मुक्ति मिलती है, साथ ही आत्मिक विकास भी होता चलता है। यह इसका सबसे बड़ा लाभ है। इस अभ्यास से जिन समस्याओं का निराकरण होता है, वह हैं फोड़े-फुंसियाँ, अग्निमंदता, रक्ताल्पता, दुर्बलता, गठिया, दमा, सिर दरद, स्थूलता, फेफड़े संबंधी दोष, अपच, कब्ज, गुरदे के रोग, मधुमेह, निम्न रक्तचाप, मिर्गी, यकृत संबंधी व्याधि, अंत:स्रावी ग्रंथियों का असंतुलन तथा विभिन्न प्रकार के मनोरोग।

इसके अतिरिक्त यह व्यायाम इड़ा-पिंगला नाड़ियों में भी संतुलन-समीकरण स्थापित करता है। इन्हीं नाड़ियों की सक्रियता-निष्क्रियता के परिणामस्वरूप दो प्रकार के व्यक्तित्व सामने आते हैं, (१) बहिर्मुखी (२) अंतर्मुखी। बहिर्मुखी व्यक्ति पिंगला प्रधान होते हैं, जबकि अंतर्मुखी लोगों में इड़ा नाड़ी की गतिशीलता अधिक होती है। बहिर्मुखी आदमी अपनी आंतरिक अनुभूतियों से शून्य होता है। इसकी पूर्ति वे बाह्य साधनों, इच्छाओं और सुविधाओं से करते रहते हैं। बाहरी सुरक्षा और आनंद हेतु बाह्य साधनों पर निर्भर रहने से अंत: की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती। इससे कुंठा, तनाव बढ़ते हैं, जिससे व्यक्ति और ज्यादा बहिर्मुखी बन जाता है। उसमें अशांति और चिड़चिड़ेपन के लक्षण उभरने लगते हैं।

विशेष सूचना

हमारे समर्पित परिजन जो दिन-रात एक करके परमपूज्य गुरुदेव की प्राणचेतना 'अखण्ड ज्योति' को घर-घर पहुँचाते हैं, उनके लिए एक विशेष योजना बनी है कि उन्हें विशिष्ट परिचयपत्रक यहाँ से दिये जाएँ। अभी यह योजना उन्हीं के लिए बनी है जो १००,२०० या ५०० पत्रिका या उससे अधिक मँगाते हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रकार के विशिष्ट परिचयपत्रकों के साथ विशेष सम्मान उन्हें मिलेगा। ऐसे परिजन अपने पासपोर्ट साइज का फोटो तथा पूरा विवरण लिखकर शीघ्रातिशीघ्र भेज दें। नाम, पूरा पता, सदस्य संख्या, जन्मतिथि, अखण्ड ज्योति की संख्या , मिशन की और किन्हीं पत्रिकाओं की संख्या, मिशन से कब जुड़े, संगठन की दृष्टि से सक्रियता आदि।

व्यवस्थापक
अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

इसके विपरीत अंतर्मुखी व्यक्ति दार्शनिक प्रकृति के होते हैं। वे सोचते तो बहुत हैं, किंतु अपने विचारों को क्रियारूप में परिणत नहीं कर पाते। ऐसे लोग अपनी भावनाओं के प्रति अत्यधिक सजग रहते हैं। उन्हें बाह्य घटनाओं और लोगों की प्रतिक्रियाओं के बारे में वास्तविकता से परे सोचने की आदत होती है। वे विपत्तियों का पूर्वानुमान लगाने में कोई कोताही नहीं बरतते। बाह्य जगत् की विभिन्न स्थितियों के प्रति संतुलित दृष्टिकोण रखना उनके वश की बात नहीं होती।

यह दोनों ही प्रकृति आदर्श नहीं मानी जा सकतीं। एक में व्यक्ति अति उत्साह में आकर कुछ-का-कुछ करने लगता है, जबकि दूसरी स्थिति व्यक्ति को निष्क्रियता की ओर ले जाती है। सूर्य नमस्कार को नियमित रूप से करने से इन दोनों अवस्थाओं के मध्य एक संतुलन स्थापित होता है, इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ नियंत्रित ढंग से सुचारु रूप से कार्य करना आरंभ करती हैं, जिससे व्यक्ति के व्यवहार में स्पष्ट परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है।

सूर्य नमस्कार प्रत्येक आयु-वर्ग के लोगों के लिए समान रूप से उपयुक्त है, किंतु अधिक उम्र के लोगों को अधिक तनाव से बचना चाहिए। उच्च रक्तचाप या हृदयाघात से पीड़ित व्यक्तियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। मेरुदंड की समस्या से ग्रसित आदमी को भी इससे परहेज करना ठीक है। इसे करने में एक और बात का ध्यान रखना चाहिए कि इसके अभ्यास से देह पर आवश्यकता से अधिक दबाव या खिंचाव न पड़े।

यों तो सूर्य नमस्कार सूर्योदय के समय करना ठीक रहता है, पर यदि प्रात:काल किसी कारणवश इसका अभ्यास करना संभव न हो, तो दिन में कभी भी खाली पेट इसे किया जा सकता है। यथासंभव खुली हवा में ढीले कपड़े पहनकर इसे करना चाहिए, जिससे त्वचा आसानी से सूर्य ऊर्जा को ग्रहण कर सके।

सूर्य नमस्कार एक उपयोगी अभ्यास है। इससे शरीर और मन दोनों स्वस्थ-संतुलित बने रहते हैं और व्यक्ति शनै:-शनै: आत्मोत्कर्ष की ओर बढ़ता चलता है। प्रत्येक गायत्री साधक को यह अभ्यास अवश्य करना चाहिए, कारण कि दोनों में ही 'सविता' की सूक्ष्म प्राणचेतना साधक के विकास का मूलभूत आधार है।

परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी

कैसे विकसित हो आदर्श परिवार-१

(पूर्वार्द्ध)

गायत्री मंत्र हमारे साथ-साथ—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात्!

देवियो, भाइयो! आप जिस सत्र में शामिल हुए हैं, उसका नाम परिवार सत्र है। आपको ऐसा मालूम पड़ रहा है कि आपको यहाँ किसी छोटे काम के लिए एकत्रित कर लिया है, परंतु ऐसी कोई बात नहीं है। किसी खास मकसद से आपको यहाँ बुलाया गया है। आप इस परिवार के सदस्य हैं। परिवार कोई मजाक की बात नहीं है। अरे साहब! परिवार में हम कैसे रह रहे हैं, यह तो हम स्वयं जानते हैं। परिवार हमारे लिए मुसीबत है।

मित्रो! आमतौर से परिवार माने मुसीबत, परिवार माने झंझट, यही परिवार की परिभाषा है। परिवार माने झंझट, आपत्ति, झगड़ा—आमतौर से लोग इसे ही परिवार कहते हैं। तो क्या हमने इसीलिए आपको बुलाया है? क्या नमक, तेल, हल्दी के मामलों की बात, दैनिक घरेलू कार्यों की बात बतलाने हेतु हमने आपको बुलाया है? नहीं, मित्रो! इस शिविर का बहुत महत्त्व है। यह हमारा बहुत प्यारा शिविर है।

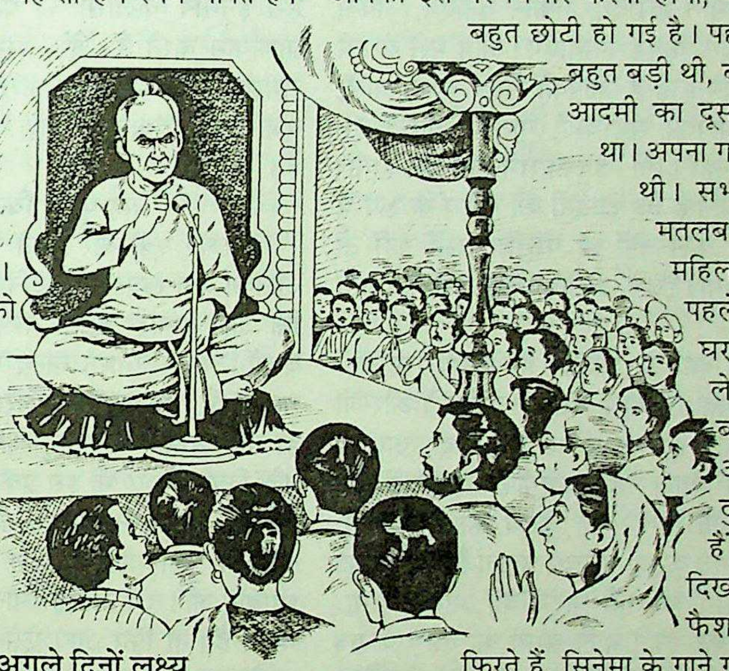

पारिवारिकता ही होगा अगले दिनों लक्ष्य

साथियो! परिवार शब्द के साथ बहुत-सी महान् चीजें जुड़ी हुई हैं, इसलिए परिवार शब्द से हमें बहुत प्रेम है। परिवार हमें बहुत प्यारा लगता है। अगले दिनों में जब नए युग का निर्माण होने जा रहा है, तो इसके सिद्धांत क्या होंगे, आदर्श क्या होंगे? क्रियाकलाप क्या होगा? यही बतलाने के लिए हमने यह शिविर बुलाया है। इसका मतलब कुटुंब एवं पारिवारिकता है। अगले दिनों संसार का यही लक्ष्य होगा। अगले दिनों इसके विशेष निर्धारण होने हैं। आपने देखा नहीं है कि जिस घर में आपाधापी होती है, वह घर नरक बन जाता है। बच्चे जेवर चुराकर भाग जाते हैं। लड़कियाँ अपने जेवर मायके में रख आती हैं। औरतें काम नहीं करती हैं। आपने देखा नहीं है कि बच्चे किस प्रकार गद्दी पर से, दुकान पर से रुपये चोरी करके आ जाते हैं। बहुएँ अपने पति के साथ अलग रहना चाहती हैं। इस तरह आपाधापी से परिवार के बरबाद होने से दुनिया बरबाद हो जाती है तथा समाज में तबाही आ जाती है।

आज दुनिया के सामने, जिसे हम नवयुग की समस्या कहते हैं, उसके सामने बहुत-सी समस्याएँ हैं, कठिनाइयाँ हैं। आज बहुत सारी दिक्कतें हैं, जिन्हें सुनने के बाद ऐसा लगता है कि इसका कोई समाधान ही नहीं है। मित्रो! आपको इस पर विचार करना होगा, क्योंकि आज दुनिया बहुत छोटी हो गई है। पहले जमाने में दुनिया बहुत बड़ी थी, बहुत फैली थी। एक आदमी का दूसरे से कम ताल्लुक था। अपना गाँव ही अपनी दुनिया थी। सभी जगहों से कोई मतलब नहीं था। गाँव की महिलाएँ घूँघट मारती थीं। पहले दुनिया ससुराल से घर तक सीमित थी, लेकिन आज दुनिया बहुत फैल गई है। आज सिनेमा की दुनिया से बच सकते हैं आप? बचकर दिखलाइए न। लड़के फैशन वाले पैंट पहने फिरते हैं, सिनेमा के गाने गाते फिरते हैं। उससे बचकर दिखलाइए न। उसे रोककर दिखलाइए न। घर में बगावत हो जाएगी।

मित्रो! आपका लड़का आपसे तो नहीं कहता, परंतु अपने दोस्तों से कहता फिरता है कि हम फिल्म के एक्टर बनेंगे। वह अपनी मम्मी का जेवर चुराकर घर से भाग जाता है। हाँ साहब! वह मुंबई चला गया था। क्यों गया था, जब आपने पूछा, तो उसने बताया था कि हम फिल्मों में काम करेंगे। फिल्मी ऐक्टर बनेंगे। लेकिन वहाँ फिल्म वालों ने इसे घुसने भी नहीं दिया, तो भागकर वापस आ गया। इसलिए कहता हूँ कि आप सिनेमा से बच्चों को बचाकर दिखाइए। साहब! हम तो रामायण पढ़ते हैं और हम अपने

बच्चों को गुरुदीक्षा दिलाकर लाएँगे। अरे आप गुरुदीक्षा दिलाकर तो दिखाइए तब जानें। जमाने की हवा ने आपकी लड़की को क्या बना दिया? आप इस बारे में शरम के मारे कुछ कहना नहीं चाहते हैं।

जमाने की हवा तो देखिए

मित्रो! जमाने की हवा से हम जुड़े हैं, उससे अलग नहीं हो सकते। आप कहते हैं कि हम अलग दुनिया बसा लेंगे। साथियो पहले कभी सौ-दो सौ, पाँच सौ साल पहले था ऐसा जमाना, लेकिन अब ऐसा बनाना तथा जीवन जीना संभव नहीं है। आज दुनिया आपके साथ जुड़ी है तथा आप दुनिया के साथ जुड़े हैं। आज की दुनिया में आपको कुटुंब के आधार पर जीना होगा। कुटुंब का एक ही सिद्धांत है, मिल-जुलकर रहना तथा मिल-बाँटकर खाना। अरे! हम तो जमा करेंगे। नहीं, आप अपने लिए जमा नहीं कर सकते हैं। आप मिल-जुलकर काम कीजिए तथा मिल-जुलकर खाइए। हम कमाते हैं तो हम जमीन खरीदेंगे, मकान बनाएँगे, अपनी बीबी को जेवर खरीदेंगे, कपड़े बनवाएँगे। आप भले से इसे कर लीजिए, हम कौन होते हैं आपको रास्ता बताने वाले, परंतु मित्रो, इससे आपकी समस्याएँ, गुत्थियाँ बढ़ेंगी ही, उलझेंगी ही, समाप्त नहीं होंगी। उनका समाधान नहीं होगा। इसका एक ही समाधान है कि आदमी को कुटुंब के रूप में आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, परसों नहीं तो अगले दिनों रहना होगा। इसके अलावा कोई समाधान नहीं है।

साथियो! कुटुंब का एक सिद्धांत है। इसमें ऐसा नहीं होता कि जिसमें योग्यता, पुरुषार्थ, पराक्रम ज्यादा है और जो जितना अधिक कमाता है, वह उतना ही ज्यादा खाएगा। नहीं भाईसाहब! वह ज्यादा नहीं खाएगा। उसे दूसरों को, कुटुंब को भी खिलाना होगा। यह कुटुंब का सिद्धांत है, जिसके आधार पर हमारा कुटुंब-परिवार चलता है तथा उसका विकास होता है। आगे भी यही कुटुंब का आधार होगा। अगले वाली दुनिया का, आने वाले समय का यह एकमात्र सिद्धांत होगा। अगले दिनों जो नियम, कानून एवं मर्यादा बनेगी, धर्म एवं संस्कृति बनेगी, जो भी आचार संहिता मनुष्य को चलाने-बढ़ाने के लिए बनेगी, उसका नाम होगा, 'पारिवारिकता' 'कुटुंब'।

प्राचीनकाल में ऋषियों ने इसके लिए एक नारा दिया था, **'वसुधैव कुटुंबकम्'** का अर्थात् सारी दुनिया को एक कुटुंब के रूप में रहना चाहिए। अतः आप मिल-बाँटकर खाइए और हिल-मिलकर रहिए। अगर इस बात को इंसान नहीं समझेगा तो उसकी ऐसी पिटाई होगी कि होश ठिकाने आ जाएँगे। आप अगर इसे अध्यात्मवादी-साम्यवाद कहें तो हमें कोई ऐतराज नहीं होगा। लेकिन हम कहेंगे कि आप कोई ऐसा फार्मूला बनाएँ जिसमें मनुष्य चैन से रहे और दूसरों को चैन से रहने दे। स्वयं खाए, प्रगति करे तथा दूसरों को भी खाने दे तथा प्रगति करने दे। आदमी हँसे तथा दूसरों को हँसने दे। वह स्वयं खिले और दूसरों को खिलने दे। आदमी जिए और दूसरों को जीने दे। यही वह सिद्धांत है, जिसे पारिवारिकता कहते हैं। इन्हें आसानी से ग्रहण कर लें तो ठीक है, वरन् ऐसी जबरदस्त ताकतें आ रही हैं, जो आपको मजबूर करेंगी कि आपको मिल-जुलकर ही रहना पड़ेगा और मिल-जुलकर ही खाना पड़ेगा। इसके अलावा कोई रास्ता नहीं है।

क्यों भाई! आप अमीर बनेंगे? हाँ साहब! अरे मिल-जुलकर खाइए न। नहीं साहब! हम कमाएँगे और स्वयं खाएँगे। चुप, धूर्त कहीं का, ऐसा करेगा तो मार-मार कर दुनिया तुझे ठीक कर देगी। मित्रो! आप कमाइए तो सही, परंतु दूसरों के लिए भी खरच कीजिए। नहीं, साहब! हम तो बेटे के लिए खरच करेंगे। चुप बदमाश कहीं का, अरे साहब! हम हनुमान चालीसा का पाठ करते हैं, भजन करते हैं, प्राणायाम करते हैं। बेटे, इससे क्या होता है। सिद्धांत तो समझता नहीं है, भजन करता है, मक्कार कहीं का। यह पूजा-पाठ भगवान् को खुश करने के लिए नहीं बनाया गया है।

यह पूजन किस काम का?

मित्रो! एक बार हमने एक भगवान् जी से पूछा कि आपका क्या ख्याल है? दुनिया वालों का तो ऐसा ख्याल है कि आप प्रसाद चढ़ाने वालों, सुपारी व नारियल चढ़ाने वालों, आरती उतारने वालों पर खुश हो जाते हैं। यह क्या मामला है? भगवान् हम पर बहुत क्रोधित हो गए। गुस्सा हो गए। उन्होंने कहा, गुरुजी! आप तो पढ़े-लिखे हैं और पढ़े-लिखे होकर भी इस प्रकार के बेहूदेपन को पसंद करते हैं। क्या हम इतने घटिया और छोटे हो सकते हैं, जो इस छोटे-से पूजा-पाठ से खुश हो जाएँ और आशीर्वाद दें? भगवान् जी! हम तो नहीं मानते हैं, लेकिन हमारे चेले यही मानते हैं। तो फिर आप ऐसे चेलों की पिटाई कीजिए, जो हमारे ऊपर इस प्रकार का लांछन लगाते हैं और हमें इस प्रकार का जलील समझते हैं। दोस्तो! आपकी पूजा, आपकी उपासना आपको मुबारक हो, लेकिन अध्यात्मवाद को इससे कोई मतलब नहीं है। इन सब प्रक्रियाओं से एक ही मतलब है कि आदमी का चरित्र, आदमी का व्यवहार, आदमी का व्यक्तित्व ऊँचा उठे, परिष्कृत बने।

साथियो! देवता बहुत व्यस्त रहते हैं, हमसे भी ज्यादा व्यस्त रहते हैं। भगवान् के पास आपकी बेहूदी बातों के लिए समय नहीं है। छोटी-छोटी कंपनियाँ होती हैं, उसे सँभालने में आदमी का कचूमर निकल जाता है, फिर भगवान् तो इतनी बड़ी सृष्टि की व्यवस्था को देखता है। आपको मालूम नहीं है कि हमारे पास कितना काम है। ब्रह्मवर्चस का काम

हमारे पास है, लेखन का काम हमारे पास है, मिशन का काम हमारे पास है। इतना काम हमारे पास है कि हमारे पास बेकार के कामों के लिए फुर्सत नहीं है। इंदिरा गाँधी से मालूम कीजिए न, उनका सेक्रेटरी आपको डंडे मारकर भगा देगा। गुरुजी! हम तो आपको माला पहनाएँगे, चरण धोएँगे। मक्कार कहीं का, हमारा समय खराब करता है। भगवान् से ज्यादा व्यस्त समय किसी के भी पास नहीं है। आप बेकार की बातें मत करें। इस संसार में जितनी भी महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं, उनके पास समय नहीं होता है। वे पूरे समय व्यस्त रहते हैं।

मित्रो! पूजा-पाठ का एक ही मतलब है, इसे चाहे एक बार सुनिए, चाहे निन्यानवे बार सुनिए। इसका तथ्य एक ही है कि इंसान के सोचने का ढंग, विचार करने का ढंग इंसान के तरीके से हो जाए यानि उनका व्यक्तित्व ऊपर उठ जाए। जैसे-जैसे आप सही इंसान बनते जाते हैं, वैसे-वैसे आप भगवान् के नजदीक पहुँचते जाते हैं। उस समय आप भगवान् के सान्निध्य का लाभ एवं भगवान् की ऋद्धि एवं सिद्धियों को आप प्राप्त कर सकते हैं। स्वर्ग, चमत्कार, मुक्ति सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। आपसे हम यह कहना चाहते हैं कि यह सारा-का-सारा अध्यात्म मनुष्य के पूजा-पाठ से संबंध नहीं रखता है, बल्कि मनुष्य के चिंतन एवं चरित्र से संबंध रखता है। आपको यह मालूम होना चाहिए कि जैसे-जैसे आपका चिंतन, चरित्र ऊँचा उठता चला जाएगा, आपके अंदर सिद्धियाँ आती चली जाएँगी। यह अध्यात्म सुभाष चंद्र बोस के अंदर आया था, नेहरू, पटेल के अंदर आया था। यह उन लोगों के अंदर आया था, जिनका चिंतन और चरित्र महान् बना।

साथियो! आप तो देवताओं की हजामत बनाने वाले हज्जाम हैं, चिड़ियों को मारने वाले चिड़ीमार हैं। इससे काम नहीं चलेगा। आप देवताओं को पकड़ना चाहते हैं। ऐसा अध्यात्म कभी हुआ है क्या? मछलीमार जैसा अध्यात्म, चिड़ीमार जैसा अध्यात्म कभी नहीं हुआ, जैसा कि आज है। अरे साहब! कोई भी देवी-देवता हमारे चंगुल में नहीं आया और हमारी मनोकामना पूर्ण नहीं हुई। इस तरह काम कैसे चलेगा? चुप रह मक्कार कहीं का, बड़ा आया भक्त बनने। ख्वाब मत देखिए, वास्तविकता के पास आइए और अपने सोचने एवं काम करने का ढंग बेहतरीन बनाइए। आप बेहूदेपन की पूजा बंद कीजिए। आपने तो पूजा के नाम पर उलटे जंजाल फैला दिया है। इससे आपको कोई लाभ होने वाला नहीं है।

नवयुग-सतयुग

मित्रो! मैं यह कहना चाहता था कि अगली दुनिया जिसमें सब लोग प्रसन्नता का जीवनयापन करेंगे, खुशहाली, शांति, सिद्धि, चमत्कार का जीवन जिएँगे, यह युग सतयुग होगा, धर्मयुग होगा। इसे चाहे जो भी आप नाम दें, इसमें हमें कई नाराजगी नहीं होगी, लेकिन नवयुग का आधार एक होगा, कानून एक होगा। नवयुग की संस्कृति एक होगी। तब क्या होगा? पारिवारिकता का वातावरण होगा। वह क्या है? आप जो दायरा अभी इस्तेमाल करते हैं, वह बड़े दायरे में करना होगा। आपको आठ सौ पचास रुपया मिलता है, इससे आप क्या करते हैं? अरे साहब! खाने में, बीबी-बच्चों में खरच हो जाता है। छोटा भाई स्कूल जाता है, उसमें खरच हो जाता है। कुछ शादी में कर्ज लिया था, उसको दे देते हैं। क्यों अपने लिए ही तो खरच नहीं करते हैं? नहीं साहब! इतना पैसा हम अकेले में कैसे खरच करेंगे? हमें अपनी बहन को भेजना पड़ता है।

साथियो! जो सिद्धांत आज आप अपने कुटुंब में लागू कर रहे हैं, उसे सारे समाज में लागू करना होगा। आपके पास धन है, आप संपन्न व्यक्ति हैं, इसका श्रेय आपको मिलेगा, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि आप स्वयं अकेले खाएँगे, मौज-मस्ती करेंगे। अगर आप ऐसा करते हैं, तो लोग आपका गला दबाकर उल्टी करा देंगे। अध्यात्म का युग आएगा, तो इसी प्रकार का आएगा। अनावश्यक चीजें आपको नहीं मिलेंगी। आपके पेट में जितनी जगह है, उतना ही खाइए, शेष बाँटिए, नहीं तो लोग आपका गला दबाएँगे तथा उल्टी करा देंगे। तो गुरुजी! क्या ऐसा जमाना आ रहा है? हाँ बेटे, बिलकुल आ रहा है।

मित्रो! आपके चाहने से आपके लिए दुनिया तो नहीं बदलेगी। आप अपनी चाह, अपनी मरजी को अपनी जेब में रखिए। दुनिया की समस्या का हल जिस तरह से होना है, वह उसी प्रकार से होगा। ऋषियों ने जो नारा लगाया था, आज हम पुनः उस नारे को लगाते हैं, **'वसुधैव कुटुंबकम्'** का। इसके आधार पर ही दुनिया में मोहब्बत, चलन, रिश्ते, व्यवहार एक होंगे। इसका विकास पारिवारिकता की भावना से ही होगा।

हमारा अपना गायत्री परिवार

'परिवार' शब्द से हमें बहुत प्यार है। हमने अगर विश्वास किया है, तो पारिवारिकता पर किया है। हमने जो संगठन बनाया है, तो उसका आधार कौटुंबिकता है। कुटुंब पर मैं विश्वास करता हूँ। हर ईमानदार आदमी अपना सारा का सारा समय, संपदा अपने कुटुंब तथा परिवार के विकास के लिए खरच करता है। हमने भी गायत्री परिवार के नाम से जो परिवार बनाया है, उसके लिए खरच करते हैं। जब मिशन छोटा था और हम तपोभूमि में रहते थे, उस समय अखण्ड ज्योति निकलती, तो हमने 'अखण्ड ज्योति परिवार' शब्द का इस्तेमाल किया है। पुराने लेटर पैड पड़े होंगे, उनमें यही छपा है। जब गायत्री का प्रचार हमने शुरू किया तो 'गायत्री परिवार' बना दिया। उसके बाद 'युग निर्माण परिवार' बना दिया। अब प्रज्ञा अभियान शुरू किया तो 'प्रज्ञा परिवार' बना दिया।

मित्रो! यह परिवार हमारे प्राणों का अंश है। आप देखते नहीं हैं? इसको हमने सींचा है, बढ़ाया है। हमारा परिवार किस तरह से जुड़ा है, आप देखते नहीं? माताजी आपकी माताजी हैं। वे अगर आपकी माताजी हैं, तो हम भी आपके पिताजी हैं। आपने इस परिवार में यह नहीं देखा होगा कि कोई इस परिवार में छोटा है तथा कोई बड़ा है। हमारे यहाँ परिवार के अलावा अन्य कोई व्यवहार, सिद्धांत है नहीं। इसके अलावा हम किसी चीज पर विश्वास नहीं करते हैं।

साथियो! परिवार शब्द बड़ा महान् है। इसके साथ मानवीय समस्याएँ, विश्व की समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। आप यह कहते हैं कि घर-परिवार से निश्चिंत हो जाएँगे, तो उसे छोड़ देंगे। उस समय मैं खून का घूँट पीकर रह जाता हूँ तथा आपको कुछ कहता नहीं हूँ। जब आप यह कहते हैं कि गुरुजी! घर का जंजाल छूटा और हम आपके शरण में आए, तो हमें हँसी आ जाती है और मैं कहता हूँ कि जब यहाँ आएगा, तो बड़ा परिवार तेरे ऊपर हावी हो जाएंगा। अभी तेरे परिवार में कितने आदमी हैं। गुरुजी! माँ, पत्नी और दो बच्चे हैं। अच्छा! तो पाँच का परिवार है। तू क्या समझता है कि यहाँ बाबा जी लोग रहते हैं, बेकार के लोग रहते हैं, जो तू निश्चिंत होकर आएगा। नहीं साहब! मैं तो सब तरह से 'फ्री' होकर आऊँगा और यहाँ आकर माला जपूँगा। गुरुजी आपकी सेवा करूँगा। चल हट मक्कार कहीं का, ऐसा डंडा मारूँगा कि अकल ठीक हो जाएगी। परिवार को छोड़कर आएगा। अरे! हमारे पास भगोड़ों के लिए कोई जगह नहीं है।

मित्रो! जोधपुर के महाराज युद्ध में हार गए। सारे सैनिक मारे गए। राजा साहब किसी तरह जान बचाकर आ गए और उन्होंने गेट पर से, जो बंद था, आवाज लगाई। रानी ने कहा, ''राजा साहब! आप अकेले कैसे आ गए? आपको सैनिकों के साथ आना चाहिए था। बिगुल बजाकर आना चाहिए था।'' गेट खोलने जा रहे अपने सिपाही से रानी ने कहा कि ठहर जा। वे महल के ऊपर चढ़ गईं और बोलीं, ''आप राजा नहीं हो सकते। सेना कहाँ गई?'' उन्होंने कहा कि सेना मारी गई। रानी ने कहा, ''जोधपुर का महाराज ऐसा बेहूदा नहीं हो सकता। आप हमारे पति नहीं हो सकते। आप वहीं जाइए तथा युद्ध कीजिए। आप यदि मारे भी जाएँगे, तो आपके सिर को लेकर मैं प्यार करूँगी। भगोड़े को मैं प्यार नहीं करूँगी। इसी तरह यदि आप भी भगोड़े बनकर आ जाएँगे, घर छोड़कर आ जाएँगे, तो आपके लिए शांतिकुंज का यह दरवाजा बंद मिलेगा। हम आपको घुसने नहीं देंगे। आप कहते हैं कि हम जिम्मेदारी से निवृत्त हो जाएँगे तब आएँगे। क्या निवृत्त हो जाएँगे? क्या समाज का उत्तरदायित्व नहीं है आपके ऊपर? देश का उत्तरदायित्व नहीं है? नहीं साहब! अभी तो बेटी की शादी करनी है, उससे निवृत्त हो जाऊँगा, तब आऊँगा। तब ऐसी चपत लगेगी कि होश ठिकाने आ जाएँगे। पारिवारिकता बहुत विशाल चीज है।

समझें अध्यात्म के मर्म को

आध्यात्मिकता के बारे में भी क्या आप कुछ सोचते हैं, जानते हैं? इसके सिद्धांतों को, आदर्शों को भी समझिए। नहीं साहब! हम जप करेंगे, प्राणायाम करेंगे तो हमें सिद्धि मिलेगी। बड़े आए सिद्धि वाले? देवताओं का साक्षात्कार करेंगे? देवताओं का दर्शन करेंगे? बेटे! देवता इतने फालतू नहीं हैं कि आपने पुकारा और वे आ गए। आप शंकर भगवान् को बुलाना चाहते हैं न? वे आपसे कोसों दूर हैं। उन्हें आप ऐसे नहीं बुला सकते हैं। आप स्वामी जी को बुलाते हैं, तो उनको फर्स्ट क्लास का टिकट दिया है या नहीं? आप हमें बुलाएँगे तो दान-दक्षिणा देंगे कि नहीं? आप पेट्रोल का खरच तो देंगे ही। हाँ साहब! हम देंगे। अच्छा तो यह पक्की बात है। आप शंकर भगवान् को बुलाना चाहते हैं, तो जरा उन्हें पेट्रोल का खरच दीजिए। आप लक्ष्मी-नारायण को बुलाना चाहते हैं, तो उन्हें पेट्रोल का खरच दीजिए। हम उन्हें फोन कर देंगे और वे आ जाएँगे। अरे साहब! लक्ष्मीनारायण जी दस हजार किलोमीटर दूर हैं। चुप रह, सारे दिन बक-बक करता रहता है कि देवता का दर्शन करा दीजिए। अज्ञानी कहीं का। पहले आध्यात्मिकता का सिद्धांत समझिए।

आदमी अपने ऊपर तो हावी हो सकता है, किंतु देवताओं के ऊपर नहीं हो सकता और न ही उन पर हावी होने की जरूरत है। देवता के सामने नाक रगड़ने की भी आवश्यकता नहीं है। आप अपने आप अपनी नाक रगड़िए, अपने आपको सही कीजिए। आप अपने आपको ठीक करना शुरू कीजिए, फिर देखिए आपको सिद्धि मिलती है या नहीं। आप अपने को बनाने का प्रयास नहीं करते हैं। आप तो देवता की हजामत बनाने के लिए उस्तरा, कैंची लिए फिरते हैं। इसे बंद कीजिए।

मित्रो! अगले दिनों अध्यात्म का नया स्वरूप सामने होगा। तब आपकी जो भी भावना अपने परिवार की बच्ची के प्रति है, वही भावना व व्यवहार समाज की बच्ची के साथ रखना होगा। पारिवारिकता में वे सारी चीजें शामिल हैं। नारी के प्रति अभी जो दृष्टिकोण आपका है, उसे बदलना होगा। बच्चियों के प्रति आपका दृष्टिकोण कैसा हो, माँ-बाप के प्रति तथा संसार में जो इस उम्र के हैं, उनके प्रति आपका दृष्टिकोण क्या हो? इसका सही रूप से मूल्यांकन करना होगा।

घर को तपोवन, परिवार को प्रयोगशाला बनाइए

अगर आपको अध्यात्म सीखना हो, तो जंगलों में तप करने, तपोवन बनाने मत जाइए। अपने घर को ही तपोवन बनाइए, उसे ठीक कीजिए। हमने ढेर सारी पुस्तकें इस संदर्भ

में लिखी हैं। उन्हें पढ़िए एवं अपने घर को स्वर्ग बनाइए। परिवार एक प्रयोगशाला है। आप अपने माता-पिता के प्रति अहसान चुकाइए। आप तो केवल अपने बीबी-बच्चों का ही ख्याल रखते हैं। बुढ़िया को दमे की शिकायत है, उसका इलाज कराइए तथा एहसान चुकाइए और भी जिनका एहसान आपके ऊपर है, उसे चुकाइए। अगर आप अपने माता-पिता का एहसान नहीं चुकाएँगे, तो कल आपके बच्चे कैसे आपकी कदर करेंगे? मित्रो! इससे अच्छी प्रयोगशाला कहीं भी नहीं है। आपके अंदर जो श्रेष्ठ गुण हैं, उसे आप कहाँ से सीखेंगे और परखेंगे? कौन-सा योगाभ्यास करेंगे? परिवार जैसी लैबोरेटरी संसार में कहीं भी नहीं। क्या आप अपनी धर्मपत्नी से नहीं सीखते हैं कि उसने कितना बड़ा आदर्श उपस्थित किया है, जो आप नहीं कर सकते हैं। उसके आत्मसमर्पण के सिद्धांत को आप स्वीकार नहीं करेंगे क्या? वह अपने माँ-बाप, भाई-बहन को छोड़कर आपके घर आई। उसने अपनी जवानी, अपनी सेहत, अपना पुरुषार्थ, जेवर, पैसा, सब कुछ आपको अर्पित कर दिया था। जब आपके ऊपर करज हो गया था, तो उसने अपना जेवर आपके हाथ में रख दिया था।

मित्रो! आपकी खुशहाली के लिए आपकी बीबी ने क्या-क्या नहीं किया? इसे आप समझते नहीं हैं। चौकीदार की तरह से, नौकरानी की तरह से काम किया। जब आपको बच्चों की आवश्यकता थी, तो उसने अपने रक्त-मांस में से काटकर बच्चे के रूप में आपके पास रखा। वह अठारह घंटे काम करती रहती है। उस गरीब के त्याग का मूल्यांकन आपने नहीं किया? वह केवल छह घंटे सोने के लिए समय देती है, शेष अठारह घंटे आपके लिए खपती रहती है। रूखी रोटी और फटे कपड़े के ऊपर वह नौकरानी की तरह से आपके कामों को करती रही। उसने कभी भी आपसे पेमेंट नहीं माँगा, कोई बोनस नहीं माँगा, ग्रैच्युटी नहीं माँगी। क्या आपने कभी उसका मूल्यांकन किया? मक्कारो आपने उस देवी का रूप नहीं देखा, फिर आप कैसा अध्यात्म चाहते हैं?

मित्रो! आपको सिखाने वाला एक मास्टर माँ के रूप में क्या नहीं मिला, जिसने अपने कलेजे का खून सफेद दूध में परिवर्तित करके पिलाया। स्वयं गीले में सोती रही और आपका इस प्रकार निर्माण कर दिया। अभी आपने अध्यात्म को समझा नहीं। आप गुफा में जाएँगे? भाड़ में जाएँगे। आश्रम में जाएँगे? हम कहते हैं कि इससे बड़ा आश्रम कहाँ है, जिसमें आपकी माँ रहती है, बाप रहता है, बीबी, बच्चे, भाई, बहन रहते हैं। मित्रो! हम संयम सिखाने आपको कहाँ ले जाएँगे। आप यह संयम अपनी बहन से, बेटी से सीखिए न। वे आपको सिखाती हैं कि आपकी आँखों में शैतानी नहीं आनी चाहिए। इसका व्यावहारिक शिक्षण—अध्यात्म देने के लिए आपकी बहन, बेटी एक उत्तम अध्यापिका हो सकती हैं। आपको संयम सिखाने के लिए इससे बड़ी अध्यापिका हम कहाँ से लाएँगे। आपने इस अध्यात्म को सीखने-समझने का कभी प्रयास नहीं किया, फिर कौन-सा महात्मा, संत, योगी लाऊँ आपके लिए। आपकी माता, बाप, पत्नी, बच्चे, बच्चियाँ, बहन, भाई अलग-अलग तरह की नसीहतें देते हैं, जो आपको व्यावहारिक अध्यात्म बतलाते हैं। इससे बड़ा प्रशिक्षण आपके पास हम कहाँ से लाएँ? आपके लिए यह लैबोरेटरी आपको अध्यात्म के पूरे-के-पूरे प्रशिक्षण देने में सक्षम है। आपको इसे समझना चाहिए।

गुरुजी! आप परिवार से अलग हो सकते हैं? बेटे! हम परिवार से कभी भी अलग नहीं हुए हैं। वह परिवार जिसे आप वंश कहते हैं, उससे हमारा उतना मतलब नहीं है, जितना कि यह 'गायत्री परिवार' 'प्रज्ञा परिवार' युग निर्माण परिवार, आपको हम परिवार बढ़ाने के लिए कहते हैं, वंश बढ़ाने के लिए नहीं कहते। आपको इसे ज्यादा नहीं बढ़ाना चाहिए। आपके छोटे भाई हैं न, भतीजे हैं न उनको योग्य बना दीजिए। यह क्यों नहीं करते हैं आप? आपकी संतान नहीं है तो क्या हुआ, भाई के तो हैं। उनका पालन आप क्यों नहीं करते हैं? आपका वंश डूबता है, तो डूब जाए, ऐसे वंश से क्या फायदा? ऐसा स्वार्थी आदमी जो अपनी बीबी के पेट से निकले बच्चे को ही अपना बच्चा समझता है तथा बाकी बच्चों को बकरी के बच्चे समझता है, उसे मैं बेहूदा, मक्कार, नालायक कहता हूँ।

आज जनसंख्या बढ़ती जा रही है। लोग मक्खी, मच्छरों, सुअरों की तरह का वंश बढ़ाते जा रहे हैं। उनके लिए रोटी, कपड़ा, मकान की समस्या बढ़ रही है। ऐसे लोगों को इस बात की भी जानकारी नहीं है कि बच्चे खेलेंगे कहाँ? आप तो केवल वंश के पीछे पड़ गए हैं। आप यह नहीं समझना चाहते कि आपके बच्चे ही केवल अपने बच्चे नहीं हैं, आपकी बहन के बच्चे, भाई के बच्चे भी आपके बच्चे हैं। उनका लालन-पालन करिए। आप अकेले तो रह नहीं सकते हैं। कहीं-न-कहीं तो रहेंगे ही, चाहे वह जेलखाना ही क्यों न हो, घर बसाकर रहेंगे। आपको यहाँ आना हो तो अपने उत्तरदायित्व को पूरा करके आएँ। हमारे पारिवारिकता के सिद्धांत अलग हैं। हम मिल-जुलकर रहते हैं, एक साथ रहते हैं, एक साथ खाना खाते हैं। यह है हमारा पारिवारिकता का सिद्धांत। यह पारिवारिकता ही हमारे परिवार की समस्या, कुटुंब की समस्या, समाज की समस्या और राष्ट्र की समस्या हल करती है।

सही अर्थों में कुटुंब

साथियो! आपका कुटुंब कहाँ है? कितना बड़ा है। गुरुजी! हमारा कुटुंब बहुत बड़ा है। हमारे परिवार में अनेक सदस्य हैं। बेटे! उसे घर नहीं, जेलखाना कहिए। उसे भेड़ों का बाड़ा कहिए। एक ही बिल में से कितने चूहे निकलते

हैं? आपने भेड़ों का झुंड नहीं देखा, एक ही जगह से कितनी भेड़ें निकलती हैं। आपने जेलखाना नहीं देखा है? आपने भटियारों का सराय नहीं देखा है? आपने कुटुंब का मजा कभी नहीं चखा है? आपने तो भटियारों का मजा चखा है। उनके पास मुसाफिर आते हैं। उन्हें वे रोटी बनाकर खिला देते हैं। खाट बिछाकर सोने की व्यवस्था कर देते हैं। आपका कुटुंब भी इसी प्रकार का भटियारखाना है। आप सराय में रहते हैं, भटियारखाने में रहते हैं, जहाँ न त्याग है, न सेवा है, केवल एक ही चीज है जालसाजी। आज बीबी-मरद का, मरद बीबी का, भाई-भाई का नहीं है, केवल शतरंज की विशात बिछी हुई है सर्वत्र। कौन किसको मात देगा, कहा नहीं जा सकता कि ऊँट घोड़े को मात देगा या घोड़ा हाथी को मात देगा अथवा प्यादा बादशाह को मात देगा। सभी जगह शतरंज की चाल बिछी हुई है। क्या ऐसा ही कुटुंब होता है? ऐसे कुटुंब पर लानत है, जो किसी को देखना ही नहीं चाहता, जहाँ केवल अपना स्वार्थ ही सबको दिखाई देता है।

कुटुंब कैसे होते हैं? यही बताने के लिए हमने आपको बुलाया है। हम चाहते हैं कि सारा समाज ही अगर बने तो कुटुंब के आधार पर बने, पारिवारिकता के आधार पर बने। कोई भी कानून बने, नीति बने, मर्यादा बने, चाहे वह सामाजिक हो अथवा राजनीतिक, वह इसी आधार पर हो। अगर आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक कानून बने, तो वह भी इसी आधार पर बने। प्राचीनकाल में समाज इसी आधार पर बनाया जाता था। इसी आधार पर हमने यह पारिवारिक सत्र बुलाया है। यह हमें प्राणों से भी प्यारा है। आपको अपना व्यक्तिगत स्वार्थ प्यारा है न। चलिए आप इसी के द्वारा अपना शारीरिक स्वास्थ्य मजबूत बनाना चाहते हैं न? आप मन में शांति चाहते हैं न? आपके साथ जो रहते हैं, उनसे आत्मीयता, प्रेम चाहते हैं न? आप जो पैसा कमाते हैं, उसमें किफायत करके बचत करना चाहते हैं न? तो हम आपसे एक बात कहना चाहते हैं कि कुटुंब को नए सिरे से देखिए। उन पर नए सिरे से गौर करना, विचार करना शुरू कीजिए। उस पर ध्यान रखना शुरू कीजिए।

मित्रो! आपके ख्याल में कुटुंब का मतलब आपके खानदान वालों के साथ है। उन्हें ज्यादा-से-ज्यादा खुशहाल कैसे रख सकते हैं? चमकदार कैसे बना सकते हैं? अभी आप जब १२०० रुपये महीने पाते हैं, तो अपनी लड़की को खुशहाल बनाने के लिए ऐसे कपड़ा बनाना चाहते हैं, उसकी ऐसी कटिंग करना चाहते हैं कि जब वह स्कूल या कॉलेज जाए, तो वहाँ सारी-की-सारी लड़कियाँ उसे देखें तथा लड़के भी उसे देखें। लोग कहें कि बाबू जी की लड़की आई है। अभी आप तनिक-सी खुशहाली के लिए लड़के एवं लड़की को जो छूट दे रहे हैं, उसकी सजावट के लिए, प्रसन्नता के लिए जो आप कर रहे हैं, वह एक दिन आपके लिए मुसीबत लेकर आएगी, आप तबाह हो जाएँगे। ऐसी खुशहाली आपको कहीं का नहीं छोड़ेगी। आपकी लड़की मरेगी तथा उसे गुंडे तंग करेंगे। वह बार-बार जो शीशे में आँखें देखती है, काजल लगाती है, देख लेना जब वह ससुराल जाएगी तथा शादी होगी तो उसके ऊपर क्या आफत आएगी।

फैशनपरस्ती को बढ़ावा देकर आप लड़की को मार डालेंगे क्या? उसका ड्रेस बनाकर, फैशन बढ़ाकर क्या करेंगे? उसे हिप्पी बनाएँगे, सिनेमा की ऐक्ट्रेस बनाएँगे, क्या करेंगे उसका? बेदिमाग, बेहूदापन के आगे आप अपने कुटुंब को भाड़ में झोंक रहे हैं। आप कहते हैं कि समाज में मेरी लड़की मेरे लड़कों की इज्जत होती है। आप इस भटियारखाने को समाज कहते हैं। भेड़ों को आप समाज कहते हैं। आप समझते नहीं हैं कि आज का कुटुंब कितना नालायक हो गया है। जब तक आप कमाएँगे, व्यापार करेंगे, आपके कुटुंब के लोग आपकी बात को सहते रहेंगे, परंतु आप जैसे ही अवकाश प्राप्त करेंगे, रिटायर होंगे, आपकी घर में, कुटुंब में कोई इज्जत नहीं होगी। कोई आपको एक गिलास पानी देने वाला नहीं होगा, क्योंकि आपने उसे संस्कारवान् बनाया नहीं है। सादगी का जीवन जीना सिखाया नहीं है, प्रेम, त्याग बतलाया नहीं है। आपने मूक दर्शक बने रहकर अपना तथा परिवार का कचूमर निकाल दिया है।

मित्रो! ऐसी स्थिति में आप जब कमजोर हो जाएँगे, आप जब अवकाश प्राप्त कर लेंगे, तब आपकी दुकान भी नहीं है, क्योंकि वह तो बेटे की है। आपने उसे सौंप दिया है। तब आप देख लेना कि आपके कुसंस्कारी लड़के, बहू किस तरह आपके साथ व्यवहार करते हैं। उनकी दुर्भावना भरी आदतें, व्यवहार आपको शीघ्र ही मौत की नींद सुला देंगे। आपने तो उन्हें कुछ सिखाया ही नहीं, संस्कार देने से आप मुँह मोड़ते रहे। संस्कार के नाम पर आपने केवल अपने बच्चे, लड़की और पत्नी की बातें मानीं। उन पर दबाव डाला नहीं, त्याग सिखाया नहीं। अब क्यों रोते हैं? परेशान क्यों होते हैं? मित्रो! यही हालत आपकी होगी जब आप कमजोर हो जाएँगे, याद रखिए। आपने जिस कुटुंब के लिए ईमानदारी, बेईमानी करके उसे इतना बड़ा किया है, जिसके लिए आपने उचित तथा अनुचित ढंग से विकास करने का प्रयास किया है, देखना आपके कमजोर होने पर वे क्या करते हैं? आपने कल को देखा नहीं? आपने समय को देखा नहीं? केवल आप अपने बीबी, बच्चे को देखते रहे और उन्होंने अब क्या हाल कर दिया आपका? कुसंस्कारी जो बनाया है आपने उन्हें। देखना वे अपने आप दुःखी होंगे, आपको दुखी करेंगे तथा अपने परिवार वालों को, बीबी-बच्चों को दुखी करेंगे।

(उत्तरार्द्ध अगले अंक में)

जन्मदिवस विशेष : स्वामी विवेकानंद

एक प्रखर योद्धा संन्यासी जो आज भी प्रेरणा का स्रोत है

१२ जनवरी १८८३ ई. की सुबह भारत देश के युवाओं के लिए प्रेरक सुबह थी। इसी दिन स्वामी विवेकानंद के रूप में इस महादेश के युवाओं के लिए ईश्वरीय संदेश का अवतरण हुआ था। श्रीरामकृष्ण परमहंस ने इस दैवी अवतरण की अनुभूति अपनी समाधिस्थ चेतना में की। बाद में उन्होंने एक दिन बातचीत के प्रसंग में अपने शिष्यों से कहा था, एक दिन देखा, मन समाधि के मार्ग से ज्योतिर्मय पथ में ऊपर उठता जा रहा था। चंद्र, सूर्य, नक्षत्रयुक्त स्थूल जगत् का सहज ही में अतिक्रमण कर वह पहले सूक्ष्म भावजगत् में प्रविष्ट हुआ। उस राज्य के ऊँचे स्तरों में वह जितना ही ऊँचे उठने लगा, उतना ही अनेक देवी-देवता पथ के दोनों ओर दिखाई पड़ने लगे। क्रमशः उस राज्य की अंतिम सीमा पर वह आ पहुँचा। वहाँ देखा, एक ज्योतिर्मय परदे के द्वारा खंड एवं अखंड राज्यों का विभाग किया गया है। उस परदे को लाँघकर वह क्रमशः अखंड राज्य में प्रविष्ट हुआ।

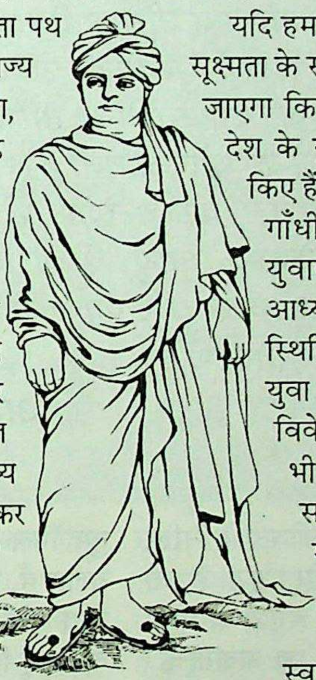

वहाँ पर मूर्त कुछ भी नहीं था। यहाँ तक कि दिव्य देहधारी देवी-देवता भी वहाँ प्रवेश करने का साहस न कर सकने के कारण बहुत दूर नीचे अपना-अपना अधिकार फैलाकर अवस्थित हैं, किंतु दूसरे ही क्षण दिखाई पड़ा कि दिव्य ज्योतिर्घनतनु सात प्राचीन ऋषि वहाँ समाधिस्थ होकर बैठे हैं। मेरी अंतर्चेतना ने समझ लिया कि ज्ञान और पुण्य में तथा त्याग और प्रेम में ये लोग, मनुष्य का क्या कहना, देवी-देवताओं तक से भी परे पहुँचे हुए हैं। विस्मित होकर इनके विषय में सोचने लगा। इसी समय सामने देखता हूँ—अखंड भेदरहित ज्योतिर्मंडल का एक अंश घनीभूत होकर एक दिव्य शिशु के रूप में परिणत हो गया।

वह देवशिशु उनमें से एक के पास जाकर अपने कोमल हाथों से आलिंगन करके अपनी अमृतमयी वाणी से उन्हें समाधि से जगाने की चेष्टा करने लगा। शिशु के कोमल स्पर्श से ऋषि समाधि से जाग्रत् हुए और अधखुले नेत्रों से उस अपूर्व बालक को देखने लगे। उनके मुख पर प्रसन्नोज्ज्वल भाव देखकर ज्ञात हुआ मानो वह बालक उनका बहुत दिनों का परिचित हृदय का धन है। वह अद्‌भुत देवशिशु अति आनंदित हो उनसे कहने लगा, 'मैं जा रहा हूँ, तुम्हें भी आना होगा।' उसके अनुरोध पर ऋषि के कुछ न कहने पर भी उनके प्रेमपूर्ण नेत्रों से अंतर की सम्मति प्रकट हो रही थी। इसके अनंतर ऋषि बालक की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखते हुए पुनः समाधिस्थ हो गए। उस समय आश्चर्यचकित होकर मैंने देखा कि उन्हीं के शरीर-मन का एक अंश उज्ज्वल ज्योति के रूप में परिणत होकर विलोम मार्ग से धराधाम में अवतीर्ण हो रहा है। नरेंद्र को देखते ही मैं जान गया था कि यही वह है। श्रीरामकृष्ण देव के यही नरेन बाद में विश्ववंद्य 'स्वामी विवेकानंद' के नाम से जगत् विख्यात हुए।

यदि हम अपनी चिंतन शक्ति तथा दृष्टि को थोड़ी सूक्ष्मता के साथ गहन करें, तो हमें सहज ही स्पष्ट हो जाएगा कि स्वामी जी की चेतना ने सदा ही भारत देश के युवाओं के हृदय में बोध के तार झंकृत किए हैं। श्री अरविंद, नेताजी सुभाष बोस, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू ये सभी अपनी युवावस्था में स्वामी जी की वैचारिक-आध्यात्मिक चेतना से प्रेरित-प्रभावित रहे हैं। स्थिति आज भी वही है। प्रत्येक आदर्शनिष्ठ युवा के प्रेरणा स्रोत और कोई नहीं स्वामी विवेकानंद हैं। उनका सुंदर मुख हमें आकर्षित भी करता है और प्रेरित भी। उनका सिंह के समान साहस व निर्भय भाव, उनकी आँखों में ज्ञान की गहराई के साथ प्राणी मात्र के लिए करुणा का सागर लहराता हुआ दिखाई देता है।

स्वामी जी की वाणी और हृदय में अशिक्षित, पददलित व गरीब मनुष्यों के प्रति अपार प्रेम भी है और पीड़ा भी। उनके स्वरों में सिंह का गर्जन भी है और मधुर संगीत का प्रवाह भी। उनके हृदय से उत्पन्न हुए स्वरों को जो आज विविध पुस्तकों के पृष्ठों में अंकित हैं, यदि हम पढ़ें तो हमें ऐसा अनुभव होता है मानो स्वामी विवेकानंद अपने मन की बात, अपने हृदय की पीड़ा हमारे सामने रख रहे हैं। उनकी वाणी से ऐसा लगता है कि उनके हृदय में भारत देश की युवा पीढ़ी के प्रति असीम प्रेम है और दृढ़ विश्वास भी। संभवतः इसीलिए उनका प्रत्येक शब्द युवा पीढ़ी के लिए ध्वनित हुआ है। युवा पीढ़ी के लिए उनका स्नेह और विश्वास ही नवयुवकों के लिए प्रेरक शक्ति का

कार्य करता है। नवयुवकों पर उनकी बातों का प्रभाव भी विद्युत तरंगों के समान पड़ता है। स्वामीजी की यह बात उन्हीं के जीवन की भाँति बहुआयामी है।

आज जब कोई युवक अपने लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु परिश्रम करता है और यदि वह असफल हो जाता है, तो उसका मन टूट जाता है। हताशा का अंधकार उसे घेर लेता है, फिर व्यक्ति या तो आत्महत्या का निर्णय ले लेता है अथवा फिर समझौतावादी बन जाता है।

ऐसे में युवकों के लिए स्वामी विवेकानंद आशावादी तथा संघर्ष के स्वरों में एक मधुर गीत के समान कुछ पंक्तियाँ अपने एक भाषण में इस प्रकार कहते हैं— 'असफलता तो जीवन का सौंदर्य है। यदि तुम हजार बार भी असफल हो तो एक बार फिर सफल होने का प्रयत्न करो।' युवकों के प्रति अपनी इस वाणी से घोर निराशा के अंधकार में भी आशा की किरण के साथ वह उन्हें जीवन संग्राम में डटकर संघर्ष करने की ओर प्रेरित करते हैं और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो उनका ही जीवन सौंदर्यमय है, जिनके जीवन में निरंतर संघर्ष है। मानव जीवन का संग्राम एक ऐसा युद्ध है, जो हथियार से नहीं जीता जा सकता। वह तो मनुष्य के भीतर छुपी शक्ति को प्रकट करके ही जीता जा सकता है। इसीलिए तो स्वामी जी सिंह गर्जन करते हुए कहते हैं कि 'यह ध्रुव सत्य है कि शक्ति ही जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु है। शक्ति ही अनंत सुख है, चिरंतन और शाश्वत जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु है। दुर्बल व्यक्ति के लिए न तो इस जगत् में और न ही किसी दूसरे लोक में कोई स्थान है। दुर्बलता ही हमें सभी प्रकार की गुलामी की ओर ले जाती है। दुर्बलता ही शारीरिक व मानसिक रूप से निरंतर तनाव का कारण है। वह दुर्बलता ही मानव की देह ही नहीं चेतना की भी मृत्यु है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि दुर्बलों एवं कायरों की आवश्यकता नहीं है। मुझे चाहिए ऐसे नवयुवक, जिनके स्नायु लोहे के बने हों और मांसपेशियाँ फौलाद की बनी हों तथा जिनकी वृत्ति लोभ और स्वार्थ की सीमाओं के बाहर हो।' वह अपनी दिव्य वाणी से युवाओं को चेताते हैं कि ध्यान रहे जब मनुष्य के भीतर शक्ति का संचार होता है, तो वह अपनी सभी असफलताओं को सफलता में परिवर्तित कर लेता है। उस शक्ति के अभाव में मृत हुआ जीवन पुन: जीवित हो जीवन के संघर्ष में उतर पड़ता है। आत्मशक्ति से भरा व्यक्ति असफलता को धूल के समान झटककर फेंक देता है और सिंह गर्जन कर नि:स्वार्थ बन अपने जीवन को विस्तारित करता है।

स्वामी जी नवयुवकों में संवेदना का भावप्रवाह प्रवाहित करने के लिए कहते हैं, ''बच्चो! तुम्हारे हृदय में सबके लिए दरद हो। गरीब, मूर्ख, पददलित मनुष्यों के दु:ख को तुम अनुभव करो। संवेदना से तुम्हारे हृदय का स्पंदन बढ़ जाए, मस्तिष्क चकराने लगे, तुम्हें ऐसा प्रतीत हो कि तुम पागल तो नहीं हो रहे हो, फिर ईश्वर के चरणों में अपना हृदय खोल दो, तभी शक्ति, सहायता और अदम्य उत्साह तुम्हें मिल जाएगा। आज मैं तुम्हें भी अपने जीवन का मूलमंत्र बताता हूँ, वह यह है कि प्रयत्न करते रहो, जब तुम्हें अपने चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार दिखता हो, तब भी मैं कहता हूँ कि प्रयत्न करते रहो। किसी भी परिस्थिति में तुम हारो मत, बस प्रयत्न करते रहो। तुम्हें तुम्हारा लक्ष्य ही मिलेगा। इसमें तनिक भी संदेह नहीं।''

१२ जनवरी १८६३ ई. को जन्मी दिव्य चेतना ने जो देह धारण की थी, वह आज भले ही न हो, पर उनकी चेतनता आज भी उतनी प्रखर एवं तेजस्वी है। यदि हम चाहें तो आज भी हम अपने हृदय में उसे प्रखरता एवं तेजस्विता के रूप में खोज सकते हैं। यह सुनिश्चित तथ्य है कि स्वामी जी के विचारों को अपनाकर आज भी उन्हें पाया जा सकता है। वह अपने विचारों के रूप में उपस्थित रहकर आज भी और अभी भी भारत देश के युवाओं को प्रेरित, परिवर्तित एवं रूपांतरित करने के लिए व्याकुल हैं। ❖

चिकित्सक संपर्क करें

अखण्ड ज्योति संस्थान घीयामंडी मथुरा में, जहाँ परमपूज्य गुरुदेव ने २४-२४ लक्ष के पुरश्चरण संपन्न किए व अखण्ड दीप स्थापित रहा—एक पारमार्थिक औषधालय आयुर्वेदिक/होम्योपैथिक चलाने की योजना बनी है। यह औषधालय संस्थान परिसर में ही भूतल पर चलेगा। सेवाभावी आयुर्वेदिक/होम्योपैथिक चिकित्सक आयु, शैक्षणिक योग्यता, अनुभव, पारिवारिक विवरण के साथ संपर्क करें। आवास के अतिरिक्त अन्य अपेक्षाओं का विवरण दें।

अखण्ड ज्योति संस्थान
मथुरा-२८१००३

युगगीता—२९

हर श्वास में संपादित दिव्य कर्म ही हैं यज्ञ

(गीता के चतुर्थ अध्याय की युगानुकूल व्याख्या—ग्यारहवीं कड़ी)

विगत अंक में दिव्यकर्मी साधकों की चर्चा को विशेष रूप से इसी अध्याय के चौबीसवें श्लोक की विस्तृत व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया गया था। कर्मों को यज्ञमय कैसे बनाया जाए, इसकी व्याख्या, इस श्लोक में जो श्रीमद्भगवद्गीता का एक सुप्रसिद्ध श्लोक है तथा प्रत्येक भारतीय घर में प्रतिदिन भोजन के पूर्व प्रभुस्मरण के रूप में उच्चारित किया जाता है, ब्रह्मार्पण-ब्रह्मकर्म के माध्यम से की गई है। फिर से उसी श्लोक को उद्धृत कर पाठकों को याद दिला देते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

"ब्रह्मरूपी अग्नि में ब्रह्मरूपी कर्म द्वारा आहुति देने वाली क्रिया भी ब्रह्म ही है, क्योंकि उसमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म हैं और हवन किए जाने वाले द्रव्य भी ब्रह्म ही हैं। इस तरह कर्म में ब्रह्मदर्शन करने से ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है।"

मूल बात है कर्म में ब्रह्म का दर्शन करने से ब्रह्म की ही प्राप्ति। कर्मयोग की सिद्धि 'द्वैत' का भाव मिटाने पर ही हो पाती है। तत्त्वदृष्टि ऐसी विकसित की जानी चाहिए कि सब कुछ ब्रह्मकर्म ही है। रामकृष्ण लीला प्रसंग के माध्यम से स्वामी शारदानंद जी के, विज्ञानानंद जी के प्रसंग भी इसी संदर्भ में उद्धृत किए गए थे। तीन प्रकार की समाधियों के साथ ब्रह्मकर्म समाधि की भी चर्चा विस्तार से की गई थी। हर क्षण जो हमारे कर्म का हो भक्तिमय हो, परमात्मामय हो, यज्ञीय भाव से हो। वस्तुतः दिव्यकर्मी को बंधनमुक्ति ब्रह्म से युक्त होकर ही मिल सकती है। परमपूज्य गुरुदेव की 'अखण्ड ज्योति' के दो संदर्भों के माध्यम से इसी भाव की पुष्टि की गई थी। अब आगे की चर्चा इस अंक में।

यज्ञाग्नि ब्रह्माग्नि

भगवान् श्रीकृष्ण यज्ञ की अग्नि को भौतिक अग्नि नहीं मानते, अपितु यह ब्रह्माग्नि है, ब्रह्म की ओर जाने वाली ऊर्जा है। यज्ञ पुरोहित के रूप में अंत: में विराजमान वह दिव्यशक्ति है, जिसमें आहुति दी जाती है। जिस प्रकार वेदों की भाषा रूपकों की भाषा है, ठीक उसी प्रकार गीता रूपी उपनिषदामृत की भाषा भी उसी तरह की है। भगवान् के शब्दों में अग्नि आत्मसंयम रूप भी हो सकती है अथवा आत्मार्पणरूपी यज्ञ की अग्निशिखा भी। यज्ञ का यह विस्तृत विवरण ही यज्ञ की एक ऐसी विशाल और व्यापक व्याख्या तक हमें ले जाता है, जिसमें स्पष्ट रूप से यह घोषणा की गई है कि **यज्ञ की क्रिया, यज्ञ की अग्नि, यज्ञ की हवि, यज्ञ का होता, यज्ञ का भोक्ता, यज्ञ का ध्येय, यज्ञ का उद्देश्य सब कुछ वह ब्रह्म ही है।** (चौबीसवें श्लोक का भावार्थ)। इस श्लोक के माध्यम से हमें जो ज्ञान मिलता है उसी से युक्त होने पर मुक्त पुरुष यज्ञ कर्म कर पाता है। **सोऽहं, सर्व खल्विदं ब्रह्म, सच्चिदानंदोऽहम्, ब्रह्म एव पुरुषः** जैसे वेदांत के महावाक्यों द्वारा इसी ज्ञान की घोषणा ऋषिगण करते रहे हैं। यह ज्ञान समग्र एकत्व का ज्ञान है। जिस विश्वशक्ति में निज के कर्म की आहुति दी जाती है, वह स्वयं भगवान् हैं, आहुति की उत्सर्ग की हुई शक्ति भी भगवान् हैं, जिस वस्तु की आहुति दी जाती है, वह भी भगवान् का ही कोई रूप है, होता भी वास्तव में मनुष्य के अंदर के स्वयं भगवान् ही हैं। क्रिया, कर्म, यज्ञ सभी गतिशील भगवत् सत्ता ही हैं। जिस साधक को, लोकसेवी को यह ज्ञान होता है उसके लिए कर्म कभी बंधन का कारण नहीं बन सकते। उसका कोई भी कर्म अपना व्यक्तिगत अहं युक्त नहीं हुआ करता।

परमसत्ता से संचालित इस जगत् में कर्म करने का लक्ष्य जीव का यही होना चाहिए, भगवान् के साथ एक होकर, भगवान् की स्थिति और चेतना के ज्ञान को प्राप्त करना, अपना उन पर अधिकार स्थापित करना। जो इस तत्त्वज्ञान को जान लेता है, इसी चैतन्य भाव में सदैव विराजमान होता है, वह मुक्त हो जाता है, पर भगवान् कहते हैं कि संभव है कि सभी योगी इस ज्ञान तक नहीं पहुँच पाएँ। इसीलिए वे अगले (२५वें) श्लोक में कहते हैं,

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।

''अन्य योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ का ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और दूसरे अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूपी अग्नि में अभेद दर्शन रूप यज्ञ के द्वारा ही आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं।''

बारह भिन्न प्रकार के यज्ञ

यहाँ जो आत्मरूप यज्ञ की बात कही गई है, उससे गीताकार का आशय है— ''परमात्मा में ज्ञान द्वारा एकीभाव से स्थित होकर ब्रह्मरूप अग्नि में यजन करना।'' इस श्लोक में भगवान् यह कह रहे हैं कि इंद्रादि देवताओं को उद्देश्य विशेष के साथ अनुष्ठित होकर दैवयज्ञ किए जाते हैं। ब्रह्माग्नि में जीवात्मा की आहुति देने को ज्ञानयज्ञ कहते हैं। ब्रह्मरूपी अग्नि में जीवात्मा की आहुति देकर जीवात्मा और परमात्मा की एकत्व भावना से होम संपादित करना श्रेष्ठतम यजन प्रक्रिया है। यज्ञ शब्द को गीताकार ने परंपरागत रूढ़िवादी अर्थों से मुक्त करके विस्तृत-विराट् अर्थों में प्रयुक्त किया है। इसी तथ्य को हम छब्बीसवें से इकतीसवें श्लोक तक देखते हैं। भगवान् यहाँ बारह विभिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन करते हैं व उनका मर्म समझाते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इंद्रियों को संयमरूपी अग्नि में हवन किया करते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयों को इंद्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

''अन्य योगीजन इंद्रियों की संपूर्ण क्रियाओं और प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्म-संयम रूप अग्नि में हवन किया करते हैं। अर्थात् सच्चिदानंदघन परमात्मा के सिवाय अन्य किसी का भी चिंतन न करना ही इन सब क्रियाओं का हवन करना है।''

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

''कई पुरुष द्रव्य संबंधी यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही तपस्या रूप यज्ञ करने वाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही अहिंसा आदि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त साधक स्वाध्यायरूपी ज्ञान यज्ञ करने वाले हैं।''

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

दूसरे कितने ही योगीजन अपान वायु में प्राण वायु को हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करने वाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणों को प्राणों में ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर देने वाले और यज्ञों का मर्म समझने वाले हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्यज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥

''हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिए तो यह मनुष्य लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है?''

अब तनिक उपर्युक्त छह श्लोकों पर दृष्टि डालें। इनमें २६वें से तीसवें श्लोक तक यज्ञ के बारह स्वरूपों का वर्णन है, तो गीताकार ने अंतिम ३१वें श्लोक में यज्ञ का माहात्म्य बता दिया है। इसके बाद भी वह माहात्म्य की चर्चा करते हुए ज्ञानयज्ञ की महिमा एवं ज्ञान को क्यों व किस प्रकार एक दिव्यकर्मी के रूप में धारण किया जाए, इसको इस अध्याय के अंत तक समझाते हुए अंततः अर्जुन की काफी कुछ भ्रांतियाँ निर्मूल करने में समर्थ हो जाते हैं।

साधक अपने जीवन को यज्ञमय बना लें, इसके लिए श्रीकृष्ण बारह विभिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन करते हैं। इन सभी का संबंध व्यक्ति की आंतरिक क्रियाओं तथा बहिरंग संबंधों से है। इससे मनुष्य मात्र का सारा जीवन यज्ञमय बन जाता है, अनंत रूप में संव्याप्त प्रभु की निरंतर पूजा में बदल जाता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा बताए गए बारह प्रकार के यज्ञ इस प्रकार हैं। एक सूची से हमें सब समझ में आ जाएगा।

(१) देवताओं का पूजन-यज्ञानुष्ठान-देवयज्ञ (२) ब्रह्म रूपी अग्नि में जीवात्मा की आहुति देकर एकत्व भावना से होम (३) इंद्रियों का संयमाग्नि में हवन (४) इंद्रियाग्नि में विषयों का हवन (५) समस्त इंद्रियकर्मों-प्राणकर्मों का ज्ञानदीप्त आत्मसंयमयोगरूपी अग्नि में हवन (६) द्रव्य यज्ञ (७) तपोयज्ञ (८) योगयज्ञ (९) स्वाध्याय यज्ञ (१०) अपान में प्राणवायु का यजन (११) प्राण का अपान वायु में यजन (१२) प्राणों का प्राणों में यजन ।

उद्देश्य : अनंत से तादात्म्य

उपर्युक्त सभी का उद्देश्य एक ही है—साधक की शुद्धि। परमलक्ष्य की प्राप्ति हेतु तैयारी। इन यज्ञों का स्वरूप

सामान्य पाठकों को समझने में थोड़ी कठिनाई हो सकती है पर थोड़ा सरलीकरण करें, तो यज्ञों का गूढ़ अर्थ भलीभाँति समझ में आ जाएगा। भगवान् यहाँ यज्ञों का मर्म बताते हुए कहते हैं कि इनके प्रकार कुछ भी हों, हमें तीन लक्ष्य मानते हुए यज्ञ करना चाहिए। पहला ऊर्ध्वगामिता—हमारे विचार ईश्वरोन्मुख हों, दूसरा कषाय-कल्मषों का परिशोधन, अशुद्धियों का निवारण एवं तीसरा अनंत के प्रति तादात्म्य भाव का विकास। हमारे विचार-चिंतन सदैव विधेयात्मक, उत्कृष्टतावादी होने चाहिए। लोकहितार्थाय जीवन जीने के लिए जो महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, अंत: की पवित्रता, उसे अर्जित करना एवं अनंत के प्रति इतना नजदीकीपन विकसित कर लेना कि दोनों में कोई अंतर न रहे। एक पाश्चात्य लेखक ने 'इनट्यूनिंग विथ इन्फीनीरी' पुस्तक में लिखा है कि अनंत के साथ एकाकार होने का हिंदुओं का जो श्रेष्ठतम तरीका है यज्ञ, उसके समकक्ष किसी भी धर्म-संप्रदाय में कोई भी विधि-विधान देखने में नहीं आता। विद्वान् लेखक जो स्वयं क्रिश्चियन धर्म को जीवन में उतारता था, नित्य यज्ञ करता था एवं सभी को इनका महत्त्व समझाता था। यज्ञ जब **"इदं न मम्"** भाव से किए जाते हैं तो हमारे कर्म हमारे न होकर अनंत के, प्रभु के हो जाते हैं एवं अकर्म बन जाते हैं। यज्ञ का अर्थ मात्र ज्योति प्रज्वलित कर द्रव्यों आदि का हवन नहीं है, अपितु यज्ञ एक विराट् अर्थ में जीवनयज्ञ है। जो भी मेरे कर्म हों, मेरे क्षुद्र अहं के लिए नहीं, अनंत से तादात्म्य स्थापित करने के लिए हों।

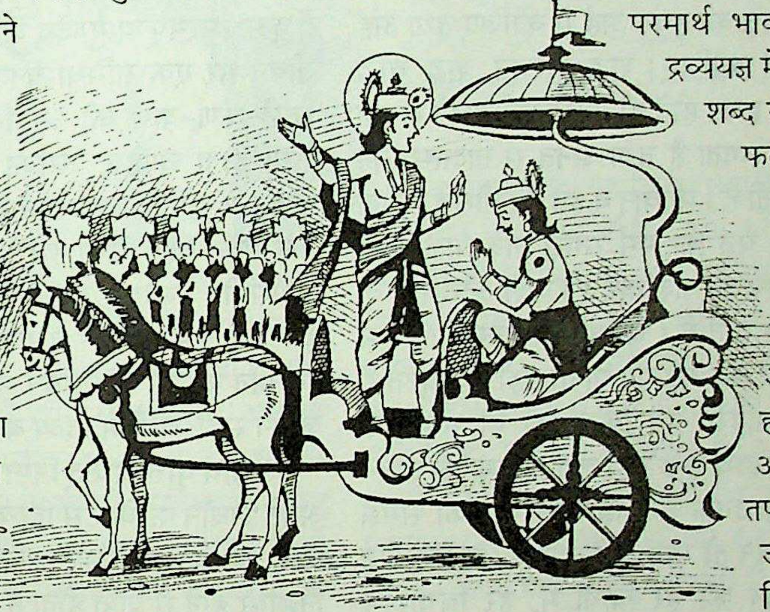

भगवान् बारह प्रकार के यज्ञों की चर्चा करके मानव मात्र की विविध प्रकृति के लिए तरह-तरह की लक्ष्य सत्ता तक पहुँचने की विधियाँ भी बता देते हैं। वे कहते हैं कि कुछ योगी देवताओं की प्रीति के लिए यज्ञ करते हैं। देवयज्ञ अर्थात् देवशक्तियों रूपी ट्रांसफार्मर के माध्यम से परमात्मारूपी पावर हाउस तक पहुँचना। देवशक्तियों को तृप्त करके परमात्मचेतना से संबंध स्थापित करना। दैवयज्ञ करने वाले भगवान् की परिकल्पना उनके विविध रूपों और शक्तियों में करते हैं। वे आगे कहते हैं कि कुछ आत्मनियंत्रण और आत्मसंयमरूपी आंतरिक यज्ञ करते हैं, जिससे एकत्वभाव प्राप्त हो, उच्चतर आत्मज्ञान की प्राप्ति हो। (१,२) कुछ योगी इंद्रियों के विषयों को ग्रहण तो करते हैं, पर उस इंद्रिय व्यापार से मन को क्षुब्ध नहीं होने देते, मन पर उनका कोई असर नहीं पड़ने देते, इंद्रियों को ही विशुद्ध यज्ञाग्नि बना लेते हैं (३,४,५)। यह एक साधना है, जिनमें इंद्रियों को इतना स्तब्ध कर दिया जाता है कि अंतरात्मा अपने विशुद्ध शांत रूप में मन से बाहर निकलकर स्वत: प्रकट हो जाती है।

सिद्धि का साधक योगी अपनी आहुति द्रव्यमय भी दे सकता है। द्रव्ययज्ञ अर्थात् चेरीटी दान के निमित्त पारमार्थिक भाव से किए गए कार्य। धर्मशाला बना देना, गौशाला खड़ी करना, नेत्रदान यज्ञ, पीड़ा निवारण के सभी कार्य, अविद्या को मिटाने के लिए, पतन को मिटाने के लिए किए गए परमार्थ भाव से संपन्न कार्य द्रव्ययज्ञ में आते हैं। कोई इस शब्द से भ्रमित न हों कि फलाना द्रव्य डालना, उसी से आहुति करना द्रव्ययज्ञ कहलाता है। (६) यह यज्ञ भगवान् के अनुसार तपोयज्ञ भी हो सकता है अर्थात् आत्मसंयम का वह तप जो किसी महत्तर उद्देश्य के लिए किया जाए। संयम साधकर चेतना का परिशोधन कर परमात्मा की विराट् चेतना को अपने व्यक्तित्व के माध्यम से झरने देना तपोयज्ञ कहलाता है। (७)। इसके अतिरिक्त यह योगयज्ञ भी हो सकता है, योग व तप में अंतर भगवान् ने छठे अध्याय के अंतिम श्लोक में **"तपस्विभ्योऽधिको योगी.....**नामक श्लोक में सूक्ष्मतम ढंग से समझाया है। इसका अर्थ है—योगाग्नि में कर्म संस्कारों का दहन। श्रेष्ठ योगी साधक न केवल अपने कर्मों को बल्कि स्वयं भी योगाग्नि में भस्मकर ब्रह्मलोक की प्राप्ति करते हैं। शबरी ने भगवान् राम से मिलन एवं ज्ञान की प्राप्ति के बाद अपने आपको योगाग्नि से युक्त कर परमचेतना से तादात्म्य कर लिया था। सती का योगाग्नि में भस्म होना तो विख्यात है ही। शरीर से बड़ी बात है जीवित रहते अपनी कर्म-वासनाओं, संस्कारों को योगी बनकर भस्मीभूत कर देना। योग का पहला काम

है—व्यक्ति को अंतर्मुखी कर देना। इंद्रियों को मन की ओर मोड़ना। संयम की अग्नि में हवन करना। संयम दमन का नाम नहीं है। संयम का अर्थ है—पूरे होशोहवास में किए गए कर्म। पूरे होश में रहकर मन को चंचलता की ओर से अंदर की ओर मोड़ना। (८) भगवान् आगे स्वाध्याय की—स्व के प्रशिक्षण व अध्ययन की प्रक्रिया को भी यज्ञ बताते हैं (९) तथा अंत में कहते हैं कि यह राजयोगी एवं हठयोगी गणों द्वारा किए गए प्राणायाम जैसे योग भी हो सकते हैं। (१०, ११, १२)

समझें यज्ञ का मर्म—परम रहस्य

अब उपर्युक्त यज्ञों के विस्तार को समझकर योगेश्वर की मूल शिक्षा को समझा जाए। भगवान् कहते हैं कि विषयों का हवन इंद्रियों में कीजिए, इंद्रियों का मन में तथा मन का चित्त में। चित्त का हवन अहं में कीजिए तथा अहं का हवन आत्मा में कीजिए। शुद्ध निरंजन, शुद्ध बुद्धि आत्मा में इस प्रकार हवन होते ही अशुद्धियाँ जलने लगती हैं, ऊर्ध्वगमन होने लगता है तथा अनंत से तादात्म्य की परिस्थितियाँ बन जाती हैं। भगवान् कहते हैं (तीसवें श्लोक में) कि इस प्रकार यज्ञ का मर्म समझ लेने वाले सभी साधक यज्ञों द्वारा पाप का नाश कर देने वाले और यज्ञों के मर्म को जानने वाले होते हैं (**यज्ञक्षपितकल्मषाः**) हम सभी यज्ञ करते तो हैं, पर यज्ञ को मानते नहीं हैं। मानते हैं तो समझते नहीं। बहिरंग की क्रिया को ही सब कुछ मानकर चलते हैं तो हाथ कुछ नहीं लगता। यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान समझे बिना, उनके ज्ञानयज्ञ वाले मर्म को समझे बिना किया गया यजन तो मात्र अग्निहोत्र है, जबकि यज्ञ हर श्वास में, जीवन की हर क्रिया में, हर विचार में संपादित किया जाने वाला एक दिव्य कर्म है।

भगवान् इसके पूर्व यज्ञ से ही सृष्टि के उत्पन्न होने की बात तीसरे अध्याय में (३/१० तथा ११ से १५ तक) विस्तार से कर चुके हैं। शास्त्र कहता है, **''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म''** यज्ञ श्रेष्ठतम किए जाने वाले कार्य ही हैं (शतपथ ब्राह्मण)। परमपूज्य गुरुदेव ने 'यज्ञ' की सही अर्थों में पुनर्प्रतिष्ठा की। यज्ञ मात्र कर्मकांड तक कुछ प्रतिष्ठित समृद्धिसंपन्न व्यक्तियों तक सीमित होकर रह गए थे। उन्होंने जन-जन के लिए प्रत्येक की क्षमता-योग्यतानुसार सुलभ बना दिया। दान, देवपूजन, संगतिकरण की (यज्ञ धातु के तीन अर्थ) उन्होंने युगानुकूल व्याख्या की एवं जन-जन की यज्ञीय वृत्ति को जगा दिया। यज्ञों की परंपरा को पुनर्जीवित किया एवं पूरे युग को यज्ञमय कर सतयुग की वापसी की प्रक्रिया को गति दी। पुरुष सूक्त कहता है कि इस सर्वहुत यज्ञ से ही चारों वेद जन्मे, उन्हीं का विस्तार ज्ञान में, वैदिक संपदा के सब तक पहुँचने के रूप में हुआ। परमपूज्य गुरुदेव का जीवन यज्ञमय रहा। वे इसमें जीवन भर एक समिधा बनकर जले एवं तिल-तिल कर अपने कण-कण की आहुति देकर एक दिव्यकर्मी को कैसा होना चाहिए, उसका शिक्षण दे गए। हम उनके जीवन से यही शिक्षण लेकर स्वयं के जीवन को भी यज्ञमय बना सकें, यही प्रेरणा हमें मिलनी चाहिए। शांतिकुंज के 'युगसंगीत प्रकोष्ठ' द्वारा एक बड़ा सुंदर गीत गाया जाता है—''हे प्रभु! जीवन हमारा यज्ञमय कर दीजिए'' यदि इस गीत के मर्म को जीवन में उतारा जा सके तो सभी का जीवन सही अर्थों में दिव्य बन सकता है

यज्ञीय वृत्ति अर्थात् निम्नगामी प्रकृति की क्रियाओं को अपने अधीन करके उस दिव्य आनंद का रसास्वादन किया जाए, जो यज्ञ से, आत्मबलिदान से, श्रेष्ठ उद्देश्यों पर निछावर होने से प्राप्त होता है। यही भावार्थ यज्ञावशिष्ट के सेवन के माध्यम से प्रभु ने इकतीसवें श्लोक में समझाया है, इसकी व्याख्या अगले अंक में। **(क्रमशः)**

* * *

प्रसिद्ध कवि इकबाल को अरबी, फारसी का विद्वान् बनाने का श्रेय उनके गुरु मौलवी मीर हसन को था। इकबाल में शायरी के प्रति रुचि जाग्रत् करने वाले भी यही मौलवी साहब थे। अतः अपने गुरु के प्रति इकबाल जीवन भर श्रद्धा व्यक्त करते रहे।

एक बार अँगरेजी सरकार ने प्रसन्न होकर इकबाल को 'सर' की उपाधि से सम्मानित किया। इकबाल ने वह उपाधि लेने से इनकार करते हुए कहा, ''जब तक मेरे गुरु का सम्मान नहीं किया जाता, तब तक मैं किसी भी उपाधि को ग्रहण करने का अधिकारी नहीं हूँ, क्योंकि आज की स्थिति तक पहुँचाने वाले तो मेरे गुरु ही हैं।''

इकबाल की शर्त मंजूर कर ली गई। पहले उनके उस्ताद मीर हसन को 'शम्स उल उलेमा' का खिताब दिया गया और बाद में इकबाल ने उपाधि ग्रहण की।

आज जब शिष्यों द्वारा गुरुओं का घेराव किया जा रहा हो और उनकी बात को उपहास के रूप में माना जा रहा हो, उस समय यह घटना प्रकाश की एक किरण के समान दोनों को ही अपने संबंध सुधारने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है।

गुरुकथामृत-२१

इन निमित्तों ने ही तो खड़ा किया है यह वटवृक्ष

किसी भी व्यक्ति के मन में धर्म-धारणा की स्थापना करनी हो तो उसका विश्वस्त बनना पड़ता है। उसके मन में पल रहे संदेहों, जिज्ञासाओं का समाधान भी देना होता है। यदि आप नहीं देंगे तो भारतीय संस्कृति के मूल सिद्धांतों की स्थापना गहराई से नहीं कर पाएँगे। गायत्री और यज्ञ दो ऐसी महत्त्वपूर्ण विधाएँ हैं, जो हमारी गुरुसत्ता ने जन-जन के मन में स्थापित कर दीं। इसमें निश्चित ही इस साहित्य ने बड़ी भूमिका निभाई, जो 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका के रूप में प्रकाशित हो रहा था तथा गायत्री साहित्य के छोटे-छोटे ट्रैक्ट्स के रूप में उपलब्ध था। फिर भी मन तो शंकालु होता है। ऐसी कई बातों का समाधान तो मात्र पत्रों से हो पाता है या व्यक्तिगत चर्चा से। परमपूज्य गुरुदेव के पत्रों की भाषा पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो लगता है कि किसी आध्यात्मिक मनश्चिकित्सक की तरह उन्होंने भूमिका निभाई। एक पत्र यहाँ प्रस्तुत है। यह श्री मदनमोहन सारस्वत जी को जोधपुर शहर में २१/१२/१९५५ को लिखकर भेजा गया था।

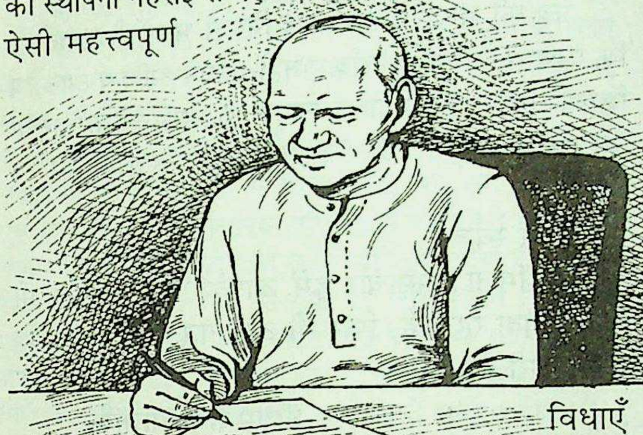

"आप पति-पत्नी श्रद्धापूर्वक गायत्री उपासना में संलग्न हैं, यह देखकर हार्दिक प्रसन्नता होती है। अगहन सुदी ११ या पूर्णिमा को आप थोड़ा ब्रह्मभोज कर दें। आजकल ऐसे ब्राह्मण दीखते नहीं, जिन्हें खिलाने पर कुछ पुण्यफल प्राप्त हो, इसलिए पुस्तक वितरण का ब्रह्मभोज ही श्रेष्ठ है। यों दो-चार ब्राह्मणों को भोजन करा देने में भी हानि कुछ नहीं। हवन, तिल, जौ, चावल, घी, शक्कर, मेवा इन चीजों को मिलाकर कर लें। अच्छी हवन सामग्री बाजार में मिलती नहीं, इससे यही चीजें ठीक हैं।"

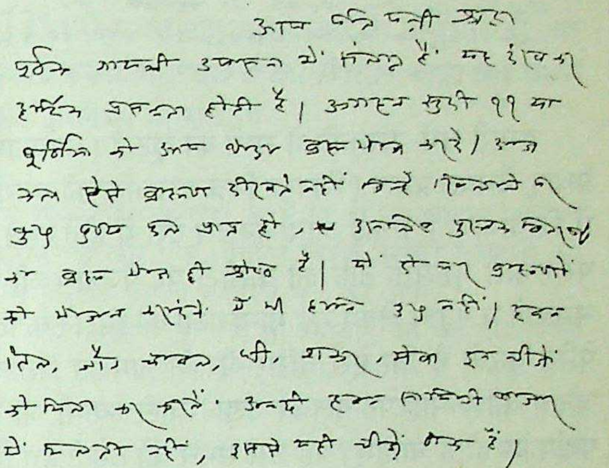

आप पति पत्नी श्रद्धा
पूर्वक गायत्री उपासना में संलग्न हैं यह देखकर
हार्दिक प्रसन्नता होती है। अगहन सुदी ११ या
पूर्णिमा को आप थोड़ा ब्रह्मभोज करदें। आज
कल ऐसे ब्राह्मण दीखते नहीं जिन्हें खिलाने पर
कुछ पुण्य फल प्राप्त हो, इसलिए पुस्तक वितरण
का ब्रह्म भोज ही श्रेष्ठ है। यों दो चार ब्राह्मणों
को भोजन कराने में भी हानि कुछ नहीं। हवन
तिल, जौ, चावल, घी, शक्कर, मेवा इन चीजों
को मिला कर करलें। अच्छी हवन सामिग्री बाजार
में मिलती नहीं, इससे यही चीजें ठीक हैं।

पत्र सामान्य है। यह लिखा गया है गायत्री महाविज्ञान, यज्ञविधान के लेखन के पूर्व तथा १९५८ के ऐतिहासिक सहस्र कुंडी महायज्ञ के पूर्व। वह महायज्ञ स्वतः में एक शिक्षण था एवं उसके बाद वनौषधि प्रधान हवन सामग्री सबको सुलभ होती चली गई। सबसे महत्त्वपूर्ण बात है ब्रह्मभोज के संबंध में एक क्रांतिकारी चिंतन, जिसमें आज से प्रायः ४६ वर्ष पूर्व वे लिखते हैं कि ब्राह्मणों को भोजन कराने की अपेक्षा उत्तम होगा कि वे श्रेष्ठ विचारों का प्रचार-प्रसार करने वाला ज्ञानयज्ञ कर लें। यही क्रांतिकारी चिंतन-चेतना ढेरों रूढ़िवादिताओं से भरी मान्यताओं को ध्वस्त करती चली गई।

एक दूसरा पत्र यज्ञ के कौतुकी प्रकारों से संबंधित है, जिसमें वे बड़ा स्पष्ट समाधान देते हैं। यह पत्र २१/२/१९५७ को श्री बैजनाथ प्रसाद शौनकिया जी को (टीकमगढ़ म. प्र.) लिखा गया था। वे लिखते हैं—

'धनुषयज्ञ' क्या होता है? यह समझ में नहीं आया। यह हमने सुना भी नहीं है। शास्त्रों में भी यह शब्द कहीं देखने को नहीं मिला। राजा जनक के यहाँ धनुष टूटा जरूर था, पर नाम उसका भी धनुषयज्ञ नहीं था। ऐसे ऊटपटाँग मनमाने आयोजन चलाने की अपेक्षा यदि इन स्वामी जी को आप गायत्री यज्ञ के लिए तैयार कर सकें तो जनता की गाढ़ी कमाई का पैसा सफल हो सकता है। आप इस दिशा में प्रयत्न अवश्य करें। सफल हो गए तो एक बहुत बड़ी बात होगी।

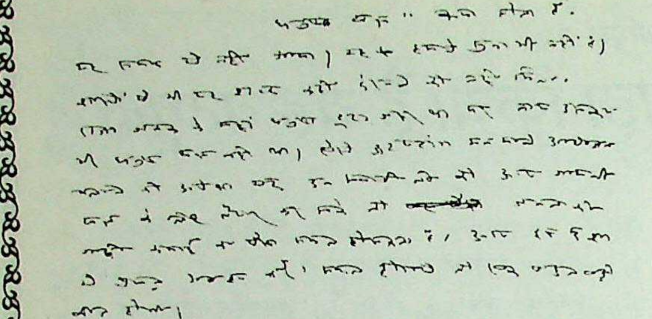

हमारी धर्म-संस्कृति में सभी को छूट है। मनोकामना प्रधान, दैवयज्ञ प्रधान (जिनका जिक्र इस अंक की युगगीता में किया गया है) कई आयोजन इस देश में होते रहते हैं, पर हमारी गुरुसत्ता तर्क की कसौटी पर बैजनाथ जी को समझाने व नेतृत्व लेकर मूढ़ मान्यताओं को मिटाने के लिए प्रेरित करती है कि ऐसे बेसिर-पैर के नाम पर यज्ञ कर जनता की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने वाले स्वामी जी का पर्दाफाश होना चाहिए। यह उस समय को देखते हुए एक क्रांतिधर्मी चिंतन था। जो गुरु द्वारा शिष्य को दिया गया। यों यज्ञ सदैव हितकारी होते हैं, किए जाने चाहिए, पर यह तो न ज्ञान-विज्ञान पर आधारित है, न किसी प्रकार की तर्क की कसौटी पर। ऐसे में यज्ञ के नाम पर फैलाने वाला पंडावाद तोड़े कौन? परमपूज्य ने यही कार्य जीवनभर कर यज्ञ की सही अर्थों में पुनः प्रतिष्ठा की।

कई व्यक्ति आज मिशन का इतना विराट् स्वरूप देखते हैं। २७ आश्वमेधिक, एक वाजपेय यज्ञ स्तर का पुरुषार्थ करने वाला, देव संस्कृति दिग्विजय करने वाला यह मिशन अभी-अभी तिरुपति का कार्यक्रम संपन्न करके चुका है। ऐसी स्थिति में लगता है कि गुरुसत्ता अपने जीवनकाल में जहाँ भी जाती होगी, वहाँ अपार भीड़ उमड़ती होगी, बड़े आयोजन होते होंगे। बड़े ही सरल मन वाले आत्मीयता का अमृत जन-जन को पिलाने वाले आचार्य श्री ने इस आधार पर संगठन नहीं खड़ा किया। वे २२/१२/६९ को मथुरा से विदाई लेने के लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व इलाहाबाद के श्रीरामलाल श्रीवास्तव जी को लिखते हैं, "इलाहाबाद हम जाने से पूर्व एक बार जरूर आएँगे। इस वर्ष का तो सारा समय घिर गया। अगले वर्ष ही आना संभव होगा। हमारी दृष्टि में छोटे-बड़े कार्यक्रमों का कोई महत्त्व नहीं। अब तो केवल अपने बच्चों से मिलने और भरपूर प्यार कर लेने भर की कामना शेष रह गई है। सो अगले वर्ष जरूर आएँगे।"

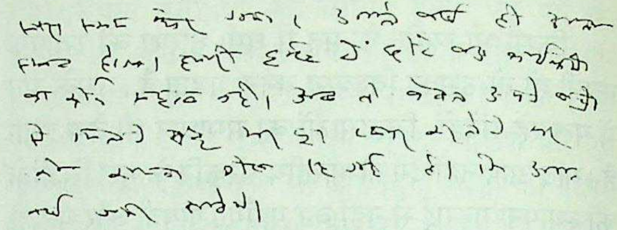

पत्र की भाषा स्वतः अपने निर्मल भावों से बताती है कि पूज्यवर के लिए कार्यक्रम नहीं, अपने अभिन्न आत्मीय शिष्यों से मिलना ज्यादा महत्त्वपूर्ण था। इसी आधार पर तो यह संगठन खड़ा है। अब चलते-चलते एक छोटा-सा पत्र और।

हमारे स्वरूप, १८/९/५४

पत्र मिला। समाचार हमें आपके पत्र के बिना भी विदित होता रहता है, फिर भी आप पत्र तो देते ही रहें। प्रयत्न जारी है।

श्रीराम शर्मा आचार्य

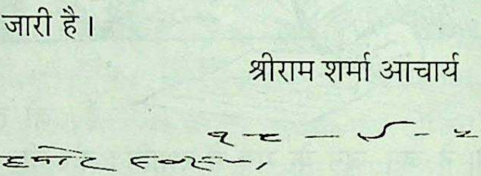

पत्र पढ़ें व मनोभावों को देखें कि पत्र लिखे बिना भी, पाए बिना भी परमपूज्य गुरुदेव अपने लाखों शिष्यों के बारे में जान लेते थे। पत्र तो निमित्त होते थे, पर इनसे सामीप्य का बोध होता था व लगता था बिना मथुरा गए गुरुजी से मिल लिए हों। ऐसी सबके मनों को पढ़ने वाली गुरुसत्ता को उनके आध्यात्मिक जन्मदिवस (७६वाँ) की पूर्व वेला में शतशत नमन-शतशत नमन। ❑

माधवराव पेशवा अपने जन्मदिन पर दान कर रहे थे। अन्न, वस्त्र, स्वर्ण सभी कुछ था, परन्तु एक ब्राह्मण कुमार ने कह दिया— इन नाशवान वस्तुओं का दान नहीं चाहिए मुझे। दान देना हो तो स्थायी वस्तु का दान करें।

स्थायी क्या है?

विद्या।

पेशवा ने इस कुमार को काशी पढ़ने भेजा। यही कुमार आगे चलकर प्रसिद्ध न्यायाधीश रामशास्त्री हुआ।

श्रीरामलीलामृतम्—१

चेतना की शिखर यात्रा

परमपूज्य गुरुदेव : एक असमाप्त जीवन गाथा (१)

इस अंक से हम एक धारावाहिक जीवन कथा यात्रा 'श्रीरामलीलामृतम्' नाम से आरंभ कर रहे हैं। इसमें सद्यः प्रकाशित गुरुसत्ता की जीवनी के अंश दिए जाते रहेंगे। होंगे ये समय अनुक्रमणिका के अनुसार ही, पर संपादित अंश होंगे। पूरी जीवनी के लिए प्रायः चार सौ पृष्ठों की प्रकाशित *चेतना की शिखर यात्रा* का प्रथम खंड पढ़ें। दूसरा भाग भी आगामी रामनवमी तक तैयार होकर उपलब्ध हो सकेगा।

भारत भाग्य विधाता

बीसवीं शताब्दी या पिछले सौ साल भारतीय समाज ही नहीं, विश्व इतिहास में भी उथल-पुथल और गहन परिवर्तन के साल रहे हैं। सन् १९०५ में बंगाल विभाजन से देश भर में जो प्रतिक्रिया हुई और बाद के वर्षों में जिस तरह राष्ट्रीय चेतना जागी, उसकी परिणति बयालीस वर्ष बाद भारत को स्वतंत्रता मिलने के रूप में दिखाई दी। बंग भंग की घटना एक निमित्त मात्र थी। व्यापक परिप्रेक्ष्य में वह इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी कि ब्रिटिश साम्राज्य की नियति ही बदल जाए। छह साल बाद विभाजन रद्द हो गया था, लेकिन उस निमित्त ने राष्ट्र को जगा दिया। जनमानस में स्वतंत्रता की प्यास निरंतर बढ़ती गई। बंगाल के विभाजन ने माँ भारती की लाखों-करोड़ों संतानों को अपना बोध कराया। वे सक्रिय होते गए और रौलट एक्ट का विरोध, जलियाँवाला बाग, असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह आंदोलन से लेकर साइमन कमीशन बहिष्कार और भारत छोड़ो आंदोलन जैसे पड़ावों से गुजरते हुए १५ अगस्त १९४७ तक पहुँचे। कितने ही आरोह और अवरोहों से होते हुए राष्ट्र की चेतना जिस शिखर पर पहुँची, उसकी अनुभूति प्रत्येक भारतीय को गौरव से अभिभूत कर देती है। क्या भारत वास्तव में आजाद हुआ या नियति ने उसका भाग्य लिख ही दिया था?

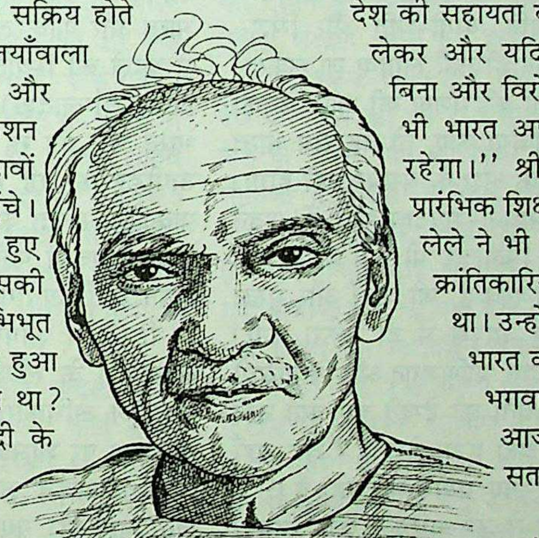

श्री अरविंद भारत को मिली आजादी के विषय में लिखते हैं— ''सही बात तो यह है कि इंग्लैंड ने भारतवर्ष को कभी जीता नहीं। उसे 'क्यों और कैसे' का पता लगे, उससे पहले ही भारत को उसके हाथों में सौंप दिया गया। सामान्यतः जिन लोगों ने इंग्लैंड के लिए काम किया, कुछ अपवादों को छोड़कर वे बहुत छोटे आदमी थे। भागवत् कृपा के बिना वे यूरोप में या कहीं और इतिहास में अपने लिए कोई स्थान नहीं बना पाते। भारत को हराने का सेहरा न तो जीतने वालों की विशेष प्रतिभा या क्षमता के सिर बाँधा जा सकता है और न ही परतंत्र जाति की दुर्बलता को इसके लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। यह इतिहास का एक ऐसा चमत्कार है, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा उदाहरण है, जिसमें किन्हीं विशेष गुणों के बिना ही एक महान् उद्देश्य सौंपा गया था और एक सौभाग्य विशेष उसकी निगरानी कर रहा था कि वह अपना उद्देश्य पूरा कर सके।''

''यह उद्देश्य पूरा होते ही भगवान् का वह देवदूत जो इंग्लैंड की रक्षा करने के लिए उसके पास खड़ा है और हाथ के इशारे से आने वाली सभी कठिनाइयों और विपदाओं को दूर कर देता है, उसकी ढाल नहीं बनेगा। इंग्लैंड यहाँ तभी तक रह सकता है, जब तक भारत को उसकी जरूरत है। जरूरत पूरी होते ही उसे हट जाना होगा, क्योंकि अँगरेजी राज न तो अपने भुजबल से यहाँ आया है और न ही अपने बलबूते पर खड़ा है, जो वह ठहर सके। अगर इंग्लैंड इस देश की सहायता करना चाहे तो उसकी सहायता लेकर और यदि नहीं करना चाहे तो उसके बिना और विरोध करे तो विरोध के होते हुए भी भारत अपने लक्ष्य को चरितार्थ करके रहेगा।'' श्री अरविंद को योगविद्या की प्रारंभिक शिक्षा देने वाले योगी विष्णु भास्कर लेले ने भी विभाजन के खिलाफ खड़े हुए क्रांतिकारियों को भगवान् का यंत्र बताया था। उन्होंने यह भी कहा था कि भगवान् भारत की नियति लिख चुके हैं। भारत भगवान् का चुना हुआ देश है। वह आजाद होगा और उसे देवशक्तियाँ सतत संरक्षण देती रहेंगी।

अगली पंक्तियों में जिस प्रसंग का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है, उसका संदेश इसी से मिलता-जुलता है। सन् १९७२ का एक चर्चा प्रसंग है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी हिमालय के गुह्य प्रदेशों में करीब छह महीने का अज्ञातवास बिताकर शांतिकुंज लौटे थे, वर्ष था १९७२। शांतिकुंज के मुख्य भवन में पहली मंजिल पर जहाँ आज उनकी और माताजी की पादुकाएँ प्रतिष्ठित हैं, वहाँ गुरुदेव कुर्सी पर बैठे हुए थे। भारत के विराट् और महिमावान् स्वरूप का परिचय विश्वसमाज को कराने के लिए शोध-अनुसंधान पर चर्चा चल रही थी। दुनिया को अपनी महिमा और गरिमा से

अवगत कराना है, तो तथ्य और प्रमाण भी चाहिए। शोध-अनुसंधान का उद्देश्य वैसी सामग्री जुटाना था। यह शोध-अनुसंधान बाद में 'समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान' पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ है। गुरुदेव के लेखों और उद्‌बोधनों में भारत के दिव्य लीला भूमि होने की स्थापना मुखर रही है। किन्हीं परिजन ने उनसे पूछ लिया, "ईश्वर को भारत से विशेष लगाव क्यों है कि वह यहीं अवतार लेता है? हम अपने आपको सभ्यता और संस्कृति का प्रकाश उपलब्ध करने वाली सबसे पुरानी जाति मानते हैं। कहीं हम श्रेष्ठता की ग्रंथि से पीड़ित तो नहीं हैं। अगर हम शक्ति, ज्ञान, कौशल और संगठन में किसी से कमजोर नहीं हैं, तो सदियों तक गुलाम क्यों रहे? अगर हम महाबली और रणबाँकुरे थे, तो हमलावरों को यहाँ सफलता मिलनी ही नहीं चाहिए थी।"

परिजन के प्रश्न में संदेह या आक्षेप नहीं, जिज्ञासा भाव था। अज्ञातवास से लौट आने की सूचना ज्यादा लोगों को नहीं थी। मुश्किल से चार-छह व्यक्ति प्रतिदिन आते थे। गुरुदेव तब माताजी के कक्ष के दायें वाले कमरे में बैठकर, लेखन और भावी कार्यक्रमों का निर्धारण करते थे, परिजन के पूछने पर गुरुदेव ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया, "भारत भगवान् का चुना हुआ देश है। देखते नहीं हो, यहाँ ईश्वर ने स्वयं शरीर धारण कर सत्य और धर्म की प्रतिष्ठा की। चौबीस अवतार हुए हैं यहाँ। ऋषि-मुनि, योगी-यति और सिद्ध-संतों की संख्या का कोई अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। दुनिया के और देशों में हुए संतों की गणना की जाए, उनकी विभूतियों का विवरण इकट्ठा किया जाए, तो वह सब भारत में हुई अध्यात्म विभूतियों के एक अंश के बराबर नहीं होगा। जितने विचार, विश्वास और साधना-संप्रदाय यहाँ हैं, उतने संसार के बाकी सभी देशों को मिलाकर भी नहीं होंगे। यहाँ उन सभी विद्या धाराओं में सामंजस्य है, जो कहीं और मुखर हो तो उनके अधिकारी विद्वान् आपस में ही टकरा जाएँ। प्रकृति, ऋतु, नदी-नद, पर्वत, मैदान, प्राणिजगत् और निवासियों तक में विविधता है। इस विविधता को देखते हुए क्या नहीं लगता कि भारत भगवान् का चुना हुआ देश है? वह यहाँ अपनी लीला या प्रकृति के नए-नए प्रयोग कर रहा है।"

कुछ क्षण रुककर गुरुदेव ने उन परिजन को निहारा। शब्दों में जितना कुछ कहा गया उससे कहीं ज्यादा, कई गुना संदेश उस दृष्टि-निक्षेप में संप्रेषित कर दिया गया। गुरुदेव को निहारते देखकर ऐसा नहीं लगा कि कोई बौद्धिक सीख मिली हो। उन परिजन ने अपनी अनुभूति लिखते हुए कहा, "मुझे अपना बचपन याद हो आया, जब कोई जटिल प्रश्न सामने आता तो अपने पिताश्री से पूछने जाता था। वे मेरे प्रश्न का उत्तर किसी किताब में से नहीं देते थे। न ही वे किसी सूचना या तथ्य का उल्लेख करते थे। बस कुछ सैद्धांतिक बातें समझाते और स्नेह से देखने लगते थे। मैं भूल जाता था कि जो पूछा है उसका उत्तर क्या है? उनकी बातें सुनकर और उससे भी ज्यादा उनकी दृष्टि पीकर संतुष्ट हो जाता था। ऐसा प्रतीत होता था कि चाभी मिल गई है। पुस्तक एक बंद पिटारी है, जिसमें ताला लगा हुआ है। चाभी लगाओ, ताला खोलो और पिटारी में बंद समाधान प्राप्त कर लो। गुरुदेव के संक्षिप्त से उद्‌बोधन और कुछ पल के दृष्टिनिक्षेप ने उनके बचपन की उस अनुभूति को हरा कर दिया।"

"समाधान तर्क से चाहिए तो वह भी है।" गुरुदेव ने फिर कहा, "संसार एक चक्र की तरह है। वह घूमता रहता है। कुछ अरे ऊपर जाते हैं, तो दूसरे नीचे आते हैं। भारत के साथ भी यही हुआ। कोई भी जाति सदा के लिए शिखर पर नहीं होती। उत्थान के साथ पतन भी है। कुछ सौ साल की गुलामी को पतन मान सकते हैं, लेकिन उसने भारत को नष्ट नहीं कर दिया। कई जातियाँ अथवा समाज पचास-सौ साल के दमन में ही नष्ट हो गए। यूनान, मिस्र, ईरान और रोम की प्राचीन सभ्यताएँ अपनी रक्षा नहीं कर सकीं। उनका मूल अस्तित्व कभी का समाप्त हो गया। भारत उन देशों की सभ्यताओं से ज्यादा रौंदा और कुचला गया, फिर भी वह आज उठकर खड़ा हो गया है। इसे भारत का नष्ट होना कहोगे या उसकी जिजीविषा का प्रमाण? तथ्यों के प्रकाश में देखोगे तो भी पाओगे कि कुछ बात है जो भारत को अजर, अजेय और अक्षुण्ण बनाए हुए है।"

ऋषिसत्ताओं के अनुग्रह की एक और बानगी दिसंबर १९७१ में एक बड़ी घटना के रूप में देखी गई। उन दिनों भारत और पाकिस्तान का युद्ध चल रहा था। युद्ध आरंभ होने से पहले की स्थितियाँ प्रायः सभी जानते हैं। पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्लादेश) से हजारों लोग दल-के-दल बनाकर भारत चले आ रहे थे। वहाँ के शासक जनता का बुरी तरह उत्पीड़न कर रहे थे। पूर्वी पाकिस्तान अथवा बांग्लादेश की प्राकृतिक संपदा का दोहन वहाँ से दो हजार किलोमीटर दूर स्थित पश्चिमी पाकिस्तान के हुक्मरान कर लेते थे और उसे अपने यहाँ उपयोग में ले लेते थे। उत्पादक देश अथवा क्षेत्र के हिस्से में शोषण, दलाली और उत्पीड़न ही आता था। बांग्लादेश के लोग बीस साल तक सहते रहे, उचित और न्यायपूर्ण अधिकारों के लिए आवाज उठाते रहे। उन्हें सुनने के स्थान पर शासक उपेक्षा और दमन की नीति अपनाते रहे। दमन-उत्पीड़न असह्य होने लगा तो पूर्वी पाकिस्तान के लोग बागी हो गए। उस हिस्से ने स्वतंत्र राज्य की घोषणा कर दी। दमन चक्र और तेज हुआ तो प्रतिरोध और क्रांति की ज्वाला भी भड़कने लगी।

बांग्लादेश में चल रहे संग्राम का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। जो लोग उत्पीड़न और दमन का मुकाबला नहीं कर सके या जिनके लिए स्थितियाँ दूभर हो उठीं, वे भारत आने लगे। यहाँ आते जा रहे लोगों की संख्या कुछ हजार, हजार से लाख और लाख के बाद करोड़ के ऊपर पहुँच गई। इतने लोगों की देखभाल का जिम्मा भारत सरकार को उठाना पड़ रहा था। साधन उन दिनों बेहद कम थे। उन्हें निचोड़कर और यहाँ के नागरिकों पर अतिरिक्त कर लगाकर किसी तरह शरणार्थियों की व्यवस्था की जा रही थी।

पाकिस्तान को बांग्लादेश की जनता के उत्पीड़न से ही संतोष नहीं हुआ। अपनी राजनैतिक विवशताओं के चलते वहाँ के शासकों ने भारत पर युद्ध भी थोप दिया। पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं पर जुलाई १९७१ से ही दबाव बढ़ने लगा, जो कुछ ही सप्ताहों में युद्ध के रूप में बदल गया। महाशक्तियाँ भी उन दिनों ऐसा लगता था कि पाकिस्तान के साथ थीं। युद्ध घोषित हुआ। पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं पर घमासान छिड़ने लगा। दो-तीन दिन में ही पाकिस्तानी सेना के पाँव उखड़ने लगे। वह पीछे हटने लगी। बांग्लादेश के मोरचे पर प्रतिपक्षी सेना का दबाव कम पड़ने लगा और भारतीय सेना आगे बढ़ती दिखाई दी, तो आक्रांता के साथ खड़े देशों ने पहल की। पहल पाकिस्तान के पक्ष में ही थी। इस पहल का नेतृत्व अमेरिका कर रहा था। संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् में मामला ले जाने की तैयारियाँ की जाने लगीं। इन तैयारियों का उद्देश्य किसी देश पर नैतिक दबाव डालना ही होता है।

अमेरिका इस तैयारी पर ही ठहरा नहीं रहा। उसने सामरिक दबाव भी बढ़ाया और सातवें जहाजी बेड़े (सेवन्थ फ्लीट) का रुख हिंद महासागर की ओर करने के आदेश दिए। उस समय तक वह संसार का सबसे बड़ा जहाजी बेड़ा था, जिस पर युद्धक विमान, प्रक्षेपास्त्र, विमानभेदी तोपें, हवा से हवा में मार करने वाली मिसाइलें और पर्याप्त गोला-बारूद से लैस सैनिक टुकड़ियाँ थीं। सामर्थ्य की दृष्टि से सातवाँ बेड़ा इतना सक्षम था कि भारत-पाक युद्ध की स्थिति उलट सकता था। तब भारत की नौ सेना इतनी सक्षम नहीं थी कि बेड़े को ध्वस्त कर सके या उसके मुकाबले देर तक टिकी रह पाए। भारत-पाक युद्ध ने घमासान रूप ले लिया, तो निर्णय हफ्ते-दस दिन के भीतर ही हो जाना तय था। निर्णायक स्थितियाँ बन रही थीं, लेकिन सातवें बेड़े का मुँह हिंद महासागर की ओर होने के बाद स्थितियाँ दूसरा ही रुख ले रही थीं। अचानक ७ दिसंबर सन् १९७१ की सातवीं तारीख को सूर्य उदय होने के बाद की पहली खबर यह आई कि बेड़े ने अपना रुख बदल दिया है और वह भारतीय सीमा से दूर खिसकने लगा है।

क्या हुआ? रातोरात स्थितियाँ कैसे बदल गईं? कोई कूटनीतिक पहल नहीं, विश्व जनमत का कोई दबाव नहीं। अमेरिकी शासन व्यवस्था को बारीकी से समझने वाले बताते हैं कि इस स्तर पर पहुँचने के बाद वहाँ का सुरक्षा मुख्यालय पेंटागान अपना निर्णय कभी नहीं बदलता। जहाजी बेड़ा रवाना होने के बाद वापस लौटने का उदाहरण अमेरिकी इतिहास में एक भी नहीं है। सेनाओं के कूच करने, युद्ध की घोषणा होने और समर शुरू होने के बाद तुरंत वापसी या विराम होने की घटनाएँ दूसरे देशों में भी नहीं घटी हैं। अमेरिकी प्रतिरक्षा मंत्रालय ने रातोरात निर्णय क्यों पलट दिया? युद्ध रोकने, बंद करने अथवा आक्रमण वापस लेने जैसे विलक्षण फैसले का अधिकार अमेरिकी राष्ट्रपति को ही है। तत्कालीन राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन के सामने अचानक ऐसी क्या विवशताएँ आ गईं कि उन्हें बेड़ा वापस बुलाने का निर्णय लेना पड़ा। अमेरिकी मामलों के विशेषज्ञ-विश्लेषक इस प्रश्न का उत्तर आज तक नहीं ढूँढ़ पाए हैं।

क्या कोई दैवी हस्तक्षेप हुआ? श्रद्धालु जनों के मन में उस समय भी जिज्ञासा थी। राजनांदगाँव (छत्तीसगढ़) के एक साधक मोहन देवांगन ने ७ दिसंबर १९७१ की भोर एक सपना देखा कि अमेरिकी बेड़ा हिंद महासागर पार कर बंगाल की खाड़ी में प्रवेश कर रहा है। श्रीलंका की सीमा को धड़धड़ाता हुआ पार कर रहा है। गति क्षण-प्रतिक्षण तेज होती जा रही है। कोई प्रत्यक्ष चिह्न नहीं दिखाई दिया, लेकिन आभास हुआ कि समुद्र में ठीक उसी स्थान की सीध में पहुँचा जहाँ रामेश्वर सेतु बाँधा गया था। उस जगह कुछ पत्थर तैरते हुए दिखाई दिए। पत्थरों पर 'राम' नाम खुदा हुआ था। स्वप्न में यह दृश्य देख रहे साधक ने देखा कि उन पत्थरों के बीच में एक बड़ा युद्धपोत (स्पष्ट ही सातवाँ बेड़ा) गुजर रहा है। अचानक जैसे बिजली कौंधती है और समुद्र का सीना चीर कर एक हाथ मुट्ठी बाँधे प्रकट होता है। पहले मुट्ठी बाहर आती है, फिर कलाई और कुहनी तक बाहर आते हुए हाथ की ऊँचाई आकाश छूने लगती है। मुट्ठी खुलते ही पंजा चौड़ा होता दिखाई देता है और धीरे से युद्धपोत को ढक लेता है। इस तरह ढक लेता है कि पोत का कोई भी हिस्सा दिखाई देना बंद हो जाता है। अगले ही क्षण स्थिति सामान्य हो जाती है। समुद्र शांत है। साधक इस दृश्य को देखते हुए अनुभव भी कर रहे थे कि हाथ की आकृति 'लाल मशाल' थामे हुए हाथ जैसी है।

शांतिकुंज के अखंड दीप के सामने जप कर रही कुछ देव कन्याओं को भी इसी तरह की अनुभूति हुई थी। सातवें बेड़े के वापस जाने की खबर प्रसारित होने से पहले वंदनीया माताजी ने प्रणाम के लिए आए साधकों से कहा था, अब खतरा टल गया है। इस युद्ध में भारत की जीत सुनिश्चित है। दुनिया की कोई भी शक्ति उसे परास्त नहीं कर सकती। युद्ध समाप्त होने के बाद देखना भारत दिनोदिन प्रगति करेगा। उसे विश्व का मार्गदर्शन करने का दायित्व निभाना है और जल्दी ही वह इस योग्य हो जाएगा। अनेक साधकों को दिखाई दिए स्वप्न, आभास और अनुभूतियों के दस दिन बाद युद्ध समाप्त हो चुका था और भारत ने अपने आपको सिद्ध कर दिखाया था कि वह सत्य-न्याय के मार्ग पर है। भौतिक दृष्टि से प्रत्यक्ष समर्थ नहीं दिखाई देते हुए भी वह दुनिया भर के अनुचित-अवांछनीय विरोध का सामना करने में सक्षम है। उसे पराभूत करना अब किसी के वश में नहीं है।

विजय के बाद भारत ने शक्ति, साधना और सिद्धि के क्षेत्र में दिनोदिन प्रगति की है। उसकी यह नियति पहले ही लिखी जा चुकी थी। भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने १५ अगस्त १९४७ के अपने प्रसिद्ध भाषण में जिसे नियति से साक्षात्कार का उद्घोष किया था, वह नियति भी वर्षों पहले अंकित हो गई थी, लेकिन उसके अक्षर जिस समय उभरते दिखाई देने लगे थे, वह सन् १९११ का वर्ष था, जिसमें आचार्य श्रीराम शर्मा जी का जन्म हुआ था। ***क्रमशः*** ☐

केंद्र के समाचार–विश्वव्यापी हलचलें

स्वदेशी कार्यशाला शांतिकुंज में

नवंबर की १०, ११ तारीखों में शांतिकुंज परिसर में स्वदेशी जागरण मंच, गोविज्ञान अनुसंधान एवं गायत्री परिवार के राष्ट्रव्यापी तंत्र के चुने हुए कार्यकर्त्ताओं की एक कार्यशाला संपन्न हुई। व्यापक विचार-विमर्श के बाद स्वदेशी के साथ आर्थिक स्वावलंबन जोड़ने, जनचेतना जगाने तथा कार्यकर्त्ताओं का परिपूर्ण शिक्षण देने जैसे निष्कर्ष सामने निकलकर आए। इसमें स्वदेशी से जुड़े शीर्ष स्तर के कार्यकर्त्ताओं-संस्थाओं का एक नेटवर्क बनाने का संकल्प भी लिया गया। निश्चित ही इन निष्कर्षों का बड़ा व्यापक प्रभाव पूरे समाज पर पड़ेगा, जहाँ तेजी से आर्थिक गुलामी का शिकंजा कसता चला जा रहा है।

ब्रह्मवादिनी बहनों के नारी जागरण कार्यक्रम संपन्न

एक अक्टूबर को प्रारंभ हुए तीन दलों में चल रहे नारी जागरण प्रशिक्षण कार्यक्रम पूरे भारत में बड़े विराट् रूप में संपन्न हुए। सभी दल दिसंबर के प्रथम सप्ताह में हरिद्वार लौट आए। एक दल आगरा, गुना, भोपाल, इंदौर, मंदसौर, भीलवाड़ा, बाँदा, झाँसी, रीवाँ, वाराणसी, गोरखपुर, लखनऊ, शाहजहाँपुर एवं बुलंदशहर होता हुआ अलख जगाता आया। दूसरा दल अलवर, श्रीमाधोपुर, बीकानेर, जयपुर, राजसमंद, जामनगर, अमरेली, बड़ौदा, भुसावल, खरगोन, नागपुर, बालाघाट, भिलाई, कोरबा, इलाहाबाद होकर लौटा तथा तीसरा दल बाराबंकी, देवरिया, अयोध्या, बसखारी, बलिया, पटना, बोकारो, धनबाद, कोलकाता, हजारीबाग, राँची, आरा, सुल्तानपुर, बरेली, मुरादाबाद होकर अपने मुख्यालय आ गया। तीन महीने का यह प्रवास नारी सशक्तीकरण वर्ष में एक महत्त्वपूर्ण सोपान बना है एवं इसके दीर्घकालीन परिणाम क्षेत्र स्तर पर नारी शक्ति के घर-घर अलख जगाने के रूप में दिखाई देंगे।

बाहरी दिल्ली में जनजागरण, प्राणप्रतिष्ठा, भूमिपूजन

दिल्ली देश की राजधानी ही नहीं, एक पूरा राज्य है व 'इसका नेशनल केपीटल रीजन' (राष्ट्रीय राजधानी परिक्षेत्र) बड़े व्यापक क्षेत्र में फैला है। पिछले दिनों झटीकरा (नजफगढ़) के श्रीनारायण गुरुकुल आश्रम में, जो श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट के अधीन है, एक विराट् १०८ कुंडी यज्ञायोजन तथा माँ गायत्री, दुर्गा सहित राधा-श्रीकृष्ण की मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा कार्यक्रम २७ से ३० नवंबर की तिथियों में संपन्न हुआ। बाहरी दिल्ली व साथ लगे हरियाणा, उ. प्र. के पाँच सौ गाँवों का सघन मंथन इस माध्यम से हुआ। लाखों व्यक्तियों का समागम रहा। इसके साथ ही २६ नवंबर को नोयडा के सेक्टर १२ में केंद्रीय राजधानी स्तर के एक बहुउद्देशीय पाँच मंजिले भवन का भूमिपूजन भी संपन्न हुआ। इसे सारी दिल्ली वाले मिलकर बनाएँगे। मार्गदर्शन शांतिकुंज का रहेगा। इस केंद्र को 'गायत्री चेतना केंद्र' कहा जाएगा।

न्यूजर्सी में केंद्र निर्माण प्रक्रिया आरंभ

भारत से बाहर एक हमारा अपना केंद्र लेस्टर (यू. के.) में पहले ही आरंभ हो चुका है। प्रशिक्षण देने हेतु दो भाइयों का दल वहाँ दिसंबर प्रथम सप्ताह में पहुँच गया। अब दूसरा केंद्र अमेरिका के न्यूयार्क से लगे गार्डन स्टेट कहे जाने वाले न्यूजर्सी के फ्रैंकलीन शहर में बनने जा रहा है। भूमि क्रय की जा चुकी। इस सेंटर फॉर गायत्री कांशसनेस (गायत्री चेतना केंद्र) में छह एकड़ भूमि में एक गायत्री मंदिर, शिक्षण हेतु हॉल्स, एक विराट् संस्कृति प्रधान प्रदर्शनी तथा एक विशाल ऑडिटोरियम के साथ एक गुरुकुल बनेगा। ११ सितंबर के हमले से उबरने के बाद तुरंत ही पूरा भारतीय समुदाय एकजुट हो इस कार्य हेतु धन जुटाने में लग गया है।

तिरुपति अश्वमेध भूमिपूजन एवं समारोह अंतिम चरण

पूरे आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक का व्यापक मंथन कर शांतिकुंज से भेजा गया आश्वमेधिक कलश तिरुपति पहुँचा व वहाँ २५ नवंबर को भूमिपूजन संपन्न हुआ। वैश्य समाज के विराट् प्रांगण में समयदानी भाइयों द्वारा तैयारियों को अंतिम रूप दिया जा रहा है। विस्तृत समाचार चित्र सहित तो फरवरी-मार्च में ही मिल सकेंगे, किंतु अब तक की तैयारी से लगता है कि गंगा, कावेरी, यमुना, कृष्णा का, उत्तर-दक्षिण का यह संगम अनूठा ही होगा।

नागपुर की सूर्य विज्ञान कार्यशाला

विगत दिनों अक्टूबर की २१, २२ तारीखों में नागपुर में एक अपने में निराली सूर्य व विज्ञान पर आधारित कार्यशाला संपन्न हुई। लगातार तीसरे वर्ष वैज्ञानिक अध्यात्मवादपरक कार्यशालाओं को संपन्न कर गायत्री शक्तिपीठ नागपुर ने एक कीर्तिमान बनाया। अब एक वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर आधारित एक फोरम का गठन किया गया है, जिसमें भारत भर के वैज्ञानिक चिंतन वाले अध्यात्मविद् एवं वैज्ञानिक होंगे।

पूर्वांचल (उ. प्र.) व नेपाल का व्यापक मंथन

नवंबर की १ से ४ तारीखों में बस्ती, गोरखपुर, महाराजगंज, अयोध्या, फैजाबाद क्षेत्र में उ. प्र. के प्रायः तीस जिलों तथा नेपाल के तराई के पाँच जिलों का व्यापक मंथन संपन्न हुआ। कार्यकर्त्ता सम्मेलनों में भाग लेने वाले नई दिशा लेकर गए। महाराजगंज जो नेपाल सीमा से जुड़ा है, में शक्तिपीठ पर प्राणप्रतिष्ठा संपन्न हुई। ❖

अपनों से अपनी बात–१

इस संगठन वर्ष में हम सब एक निर्णायक युद्ध लड़ेंगे

''एक नया युद्ध हम लड़ेंगे। परशुराम की तरह लोकमानस में जमी हुई अवांछनीयताओं को विचार अस्त्रों से हम काटेंगे। सिर काटने से मतलब विचार बदलना भी है। परशुराम की पुनरावृत्ति हम करेंगे। जन-जन के मन-मन पर गहराई तक गड़े हुए अज्ञान और अनाचार के आसुरी झंडे हम उखाड़ फेंकेंगे। इस युग का सबसे बड़ा और सबसे अंतिम युद्ध हमारा ही होगा, जिसमें भारत एक देश न होगा, महाभारत बनेगा और उसका दार्शनिक साम्राज्य विश्व के कोने-कोने में पहुँचेगा। निष्कलंक अवतार यही है। सद्भावनाओं का चक्रवर्ती सार्वभौम साम्राज्य जिस युगावतारी निष्कलंक भगवान् द्वारा होने जा रहा है, वह और कोई नहीं, विशुद्ध रूप में अपना युगनिर्माण आंदोलन ही है।'' (परमपूज्य गुरुदेव 'अखण्ड ज्योति' मई १९७० पृष्ठ ६०)। यह सिंह-गर्जना परमपूज्य गुरुदेव की है। आज बत्तीस वर्ष बाद भी इन स्वरों को सुना जा सकता है। किसी के भी मन में युगपरिवर्तन संबंधी भविष्यवाणियों पर संदेह है, वह इनके माध्यम से अपना असमंजस मिटा सकते हैं। पर स्वर्ग जैसा वातावरण बनेगा एवं मानव में देवत्व का अवतरण होगा। साधना, शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वावलंबन, पर्यावरण, नारीजागरण, कुरीति उन्मूलन, नशा निवारण जैसे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले कार्यक्रम भविष्य के परिवर्तन की आधारशिला रख रहे हैं। चारों ओर इनकी धूम मची हुई है। अब इस वर्ष को २००२ की वसंत से २००३ की वसंत तक 'संगठन सशक्तीकरण वर्ष' मनाने का निर्णय हुआ है। यदि साधना की धुरी पर चलने वाले अपने राष्ट्रव्यापी-विश्वव्यापी संगठन को सशक्त बनाया जा सका तो जो भी आंदोलन हाथ में लिए जाएँगे, वे सफलता के चरम शिखर तक पहुँचाकर रहेंगे।

जीवन-साधना की प्रखरता का आंदोलन जैसा कि हमने बार-बार लिखा है, हर धर्म-संप्रदाय के लिए है। हमारी उपासना-पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, पर जीवन-साधना, संयम-साधना तो सबके लिए एक जैसी ही हैं। फिर उन पर विवाद कैसा? सद्बुद्धि की प्रार्थना तो सभी के लिए

• • • • • • • • • • • • • • •

सप्तसूत्री आंदोलन को तीव्र गति देकर भारत को महानायक बनाएँगे

• • • • • • • • • • • • • • •

वैचारिक युद्ध ही वह प्रक्रिया है जो इस समय युग-प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया को अंजाम देने जा रही है। विचारों की विचारों से काट, दुर्बुद्धि पर सद्बुद्धि की विजय एवं असुरता के जीवन-मरण के संघर्ष में देवत्व की उस पर जीत, यही अब इस दशक की नियति है। हमारा ज्ञानयज्ञ अभियान इस कार्य को बखूबी संपन्न कर रहा है। लाखों लोगों के मनों में बदलाव आया है। सभी परिवर्तन चाहते हैं। भ्रष्टाचार से, बढ़ती अराजकता से, जातिवाद पर आधारित राजनीति से सभी ऊब चुके हैं। अब एकमात्र आशा है तो वह है अध्यात्मवाद। संवेदना पर आधारित उत्कृष्टतावादी आस्थाओं को सबल बनाने वाला चिंतन ही आज की विषम समस्याओं से विश्वमानवता को उबार सकता है। गायत्री परिवार के सप्तसूत्री आंदोलनों की मूल धुरी यही अध्यात्म है, जीवनसाधना है।

विगत वर्ष हीरक जयंती के रूप में सारे देश व विश्व में मनाया गया। युगचेतना के अभ्युदय की हीरक जयंती एक ही संदेश सबके लिए लेकर आई कि प्रखर तप-साधना से, सजल संवेदना विकसित करने से एवं परमात्मचेतना के धरती पर आने के आश्वासन को जीवन में निरंतर जीने से निश्चित ही धरती की जा सकती है। उसे किसी धर्म विशेष से जोड़कर किसी को क्या मिलेगा? वस्तुतः साधना आंदोलन मानवी व्यक्तित्व के परिष्कार का, तनाव मुक्ति का, जीवन जीने की कला के शिक्षण का आंदोलन है। यह हर विद्यालय, घर-परिवार, कार्यालयों, क्लब-कंपनियों तथा सामाजिक संगठनों में चलना चाहिए। हर व्यक्ति को हर श्वास में साधना ('द होल लाइफ इन योगा' श्री अरविंद) वाले सिद्धांत को आत्मसात् कराया जाना है। तभी यह भोगवादी तृष्णा, आत्मघाती प्रतिद्वंद्विता मिटेगी। उपभोक्ता प्रधान इस युग में हम सभी से तो अपेक्षा नहीं कर रहे कि वे गाँधी की नकल करें, पर क्या अपव्यय पर रोकथाम, लक्ष्मी की आराधना एवं अपने निज के विचारों पर नियंत्रण करने हेतु स्वाध्याय आंदोलन गति नहीं पकड़ सकता। यदि श्रेष्ठ साहित्य का स्वाद जन-जन को बताकर उसकी लत लगाई जा सके तो श्रेष्ठ विचारों का, विधेयात्मक आस्थाओं का साम्राज्य ही छाया दिखाई पड़ेगा।

शिक्षा की वर्तमान नीति ने हमारे देश में ब्रह्मराक्षस अधिक पैदा किए हैं, विनम्र राष्ट्रवादी कार्यकर्ता नगण्य ही। आज शिक्षा की बुनियाद ही गलत है। यह लालच पर, सत्ता

के मद पर, अधिक-से-अधिक कमाने की होड़ पर आधारित है, इसके स्थान पर **विद्या** को प्रतिष्ठित करना होगा। वह विद्या जो मुक्ति की ओर ले जाए, जो अमरत्व का शिक्षण दे। इसके लिए बाल्यकाल से ही संस्कारों की प्रतिष्ठा तथा शिक्षा के साथ विद्या को गूँथकर, नैतिकता को पाठ्यक्रम में गूँथकर पढ़ाने की कला शिक्षकों को सिखानी होगी। भारतीय संस्कृति ज्ञान परीक्षा में जहाँ सारे भारत में उत्साह है एवं पूरे भारत में २३ लाख से अधिक बच्चे बैठे हैं, वहाँ अब उनके परिणाम घोषित होने के साथ ही संस्कृति मंडलों की स्थापना के संकल्प लिए जाने चाहिए। ५ से १० छात्रों का एक मंडल पूरी कक्षा को संस्कृति प्रधान चिंतन हेतु प्रेरित कर एक युगसाहित्य का पुस्तकालय चला सकता है। क्रमशः यह प्रक्रिया हर कक्षा में दुहराई जा सकती है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय की स्थापना के मूल में इन्हीं छात्रों की परिकल्पना की गई है, जो आगे चलकर लीक से हटकर पढ़ाई जा रही विद्या-विस्तार की नीति में भागीदारी करेंगे।

स्वास्थ्य बढ़ते औषधालयों-चिकित्सकों के बावजूद जर्जर हुआ है। आहार-विहार जीवन शैली के दूषित हो जाने से पूरी तरह गड़बड़ा गया है। इसका परिपूर्ण शिक्षण व बीमार नहीं पड़ा जाए, ऐसी नौबत न आए यह प्रशिक्षण स्वास्थ्य आंदोलन के अंतर्गत दिया जाना है। पौष्टिक आहार के सरल-सस्ते विकल्प-अंकुरित अन्न एवं खाना पकाने के तरीके में अंतर यह भी शिक्षण का एक अंग है। वनौषधियों के माध्यम से 'गमलों में स्वास्थ्य' से लेकर घरेलू नुस्खों का वैज्ञानिक प्रतिपादन तथा जीवनीशक्ति संवर्द्धन हेतु इनका प्रयोग घर-घर पहुँचाए जाने की आवश्यकता है। इसी निमित्त 'जैन स्वास्थ्य संरक्षक' प्रशिक्षण की योजना केंद्र में बन रही है। इसके अतिरिक्त वैकल्पिक चिकित्सा के सभी उपादानों रेकी, चुंबकीय, प्राकृतिक, वर्ण चिकित्सापद्धतियों, एक्यूप्रेशर आदि का वैज्ञानिक आधार सिद्ध करने का एक व्यापक तंत्र देवसंस्कृति विश्वविद्यालय में खड़ा किया जा रहा है। यह शिक्षण 'होलिस्टिक मैनेजमेंट' के स्तर पर जब प्रशिक्षित डॉक्टर्स-वैद्यों को दिया जाएगा तो वे बहुउद्देशीय कार्य कर सकेंगे।

आर्थिक स्वावलंबन मिशनरी-कमर्शियल प्रोजेक्ट्स के घर-घर तक विस्तार की योजना पर चलेगा। ऐसे ग्रामोद्योग जो मिशनरी स्तर पर व्यापारिक खपत को देखते हुए समूहों द्वारा तैयार किए जा सकें, लगभग सौ से अधिक तलाश लिए गए हैं एवं वे कहीं भी, किसी के द्वारा, कभी भी आरंभ किए जा सकते हैं। गौशालाएँ बड़े शहरों में बन तो नहीं सकतीं, वहाँ मुहल्लों की घिचपिच में जगह कहाँ है, परंतु शहरी विस्तार एवं ग्रामीण परिवेश में इनका जाल खड़ा किया जा सकता है। यदि गोरक्षा आंदोलन चलना है तो वह गोविज्ञान अनुसंधानशालाओं के गौशालाओं के साथ खुलने पर ही चल पाएगा। यहाँ गोमूत्र व गोमय से बनने वाले कीटनाशक, खाद तथा मानव मात्र के लिए उपयोगी संजीवनी औषधियों का तंत्र खड़ा किया जा सकता है। अपने पावन युगतीर्थ आँवलखेड़ा को ग्रामोत्थान के प्रतीक मॉडल के रूप में इसीलिए खड़ा किया जा रहा है।

हरीतिमा संवर्द्धन-पर्यावरण संरक्षण आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। बढ़ते औद्योगीकरण-प्रदूषण ने जनचेतना जगाई है। शहरों का विकेंद्रीकरण एवं बढ़ता हरीतिमा कवच यही एकमात्र विकल्प है, जिससे धरती को जलप्रलय से रोका जा सकता है। वृक्षों के कटने से हजार वर्षों में बनने वाली एक सेंटीमीटर की उपजाऊ मिट्टी की परत (टॉप सॉइल) मात्र दस वर्ष में क्षीण होती चली जा रही है। सारी उपजाऊ मिट्टी समुद्र के गर्भ में समा रही है। जिस तरह अपने बच्चों को हम पालते हैं, ठीक इसी तरह वृक्षों को लगाना, उनका पालन-पोषण करना हमें सीखना-सिखाना होगा। सूक्ष्म पर्यावरण के संरक्षण-संवर्द्धन हेतु भी हमें सामूहिक-साधनात्मक उपचारों को बढ़ाना होगा।

नारी संवेदना की प्रतीक है एवं पर्यावरण तथा भूमि के साथ उसका भी शोषण होता रहा है। नारी की अवमानना ने ही धरती पर नरक की स्थिति पैदा की है। नारी शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वावलंबन, सुसंस्कारिता, सुरक्षा एवं सहभागिता के क्षेत्र में नारी को ही स्वयं बढ़-चढ़कर आगे आना होगा एवं अपना स्थान स्थापित करना होगा। विगत वर्ष केंद्र से तीन दल भारत भर में गए व इन ब्रह्मवादिनी बहनों ने नारी शक्ति में अलख जगाया। अब जनपद स्तर पर हर वर्ग की बहनों को एकजुट हो व्यापक प्रशिक्षण चलाना होगा, ताकि एक दशक में हम नारी को नेतृत्व करता देख सकें।

कुरीतियों में दहेज, शादियों में अपव्यय तथा सामाजिक रूढ़िवादिताओं के खिलाफ वातावरण बनाना तथा दुर्व्यसनों से मुक्ति हेतु संघर्ष छेड़ना समय की महती आवश्यकता है। दहेज व खरचीली शादी सारे समाज को दरिद्र-बेईमान बना रही हैं तथा दुर्व्यसन राष्ट्र की हर पीढ़ी के स्वास्थ्य व समृद्धि को जर्जर बना रहे हैं। युवा पीढ़ी एवं नारीशक्ति दोनों इस आंदोलन को हाथ में लेकर रैली-प्रदर्शनी जन-जागरूकता अभियान, असहयोग आदि का सहारा लेकर गति दें।

इस संगठन वर्ष में यदि उपर्युक्त छह में से एक आंदोलन भी विभिन्न समूहों ने गति देकर आगे बढ़ा दिया तो २००५ तक परिवर्तन दिखाई देने लगेगा। सातवाँ साधना आंदोलन तो प्रत्येक की धुरी में समाया हुआ है ही। सद्भावनाओं का साम्राज्य निश्चित ही स्थापित होगा एवं भारत पुनः जगद्गुरु बनेगा, ऐसा हम सभी का अपनी गुरुसत्ता की ही तरह दृढ़ विश्वास है।

❐

अपनों से अपनी बात–२

गायत्री तीर्थ की सत्र व्यवस्था व अनुशासन

आज की बेचैनी-तनावभरी परिस्थितियों में यदि कहीं कोई ऐसी जगह है, जहाँ शांति है, जीवन जीने की कला का शिक्षण है तथा तन के साथ मन को भी विश्राम है, तो हर कोई वहाँ जाना चाहेगा। जहाँ धर्म-संस्कृति का विज्ञानसम्मत स्वरूप दिखे तथा जन-जन को अपनी दिशाधारा तय करने का मार्गदर्शन मिले तो व्यक्ति वहाँ पहुँचेगा ही। कुछ ऐसा ही शांतिकुंज गायत्री तीर्थ के साथ है। अपनी स्थापना के तीस वर्ष बाद इसके मत्स्यावतार की तरह हुए विस्तार में अब आने वालों की संख्या बढ़ती ही चली जा रही है। कोई जिज्ञासा का भाव लिए आते हैं, कोई मात्र दर्शन हेतु, तो कोई व्यवस्थित रूप में नियत अवधि का शिक्षण लेने। यदि सभी पहले से समय का नियोजन कर व्यवस्थित ढंग से नियमित चलने वाले सत्रों में आएँ तो वे इस आनंद को पा सकते हैं, जो इस कल्पवृक्ष की छाँव में बैठने पर मिलता है। कहने का आशय यह कि वर्षभर चलने वाली विविधता से भरी सत्र-शृंखला में भागीदारी करने का मन लेकर आएँ। इससे सभी को हरिद्वार आने-जाने का, किराया खरच करने, कष्ट उठाने के बदले ढेरों गुना लाभ मिलेगा, जो संभवत: अचानक पहुँचने पर नहीं मिलता।

शांतिकुंज में प्रतिमाह १ से २९ की तारीखों में **युगशिल्पी प्रशिक्षण** सत्र चलते हैं। इनमें भागीदारी करने वाले सत्रारंभ से एक दिन पूर्व आ जाते हैं, सत्र अनुशासन समझकर नियत दिन से अपनी दिनचर्या आरंभ कर देते हैं। इन सत्रों में कार्यकर्ताओं का सुव्यवस्थित 'धर्मतंत्र से लोकशिक्षण' पर आधारित प्रशिक्षण चलता है। वे लोकरंजन से लोकमंगल की विधा द्वारा संगीत का भी शिक्षण लेते हैं एवं उद्‌बोधन देने, अपनी बात को सही ढंग से कहने की विधा सीखते हैं। स्वावलंबन प्रधान शिक्षण उन्हें रचनात्मक सोच देता है। भारतीय संस्कृति की सभी मान्यताओं का विज्ञानसम्मत प्रस्तुतीकरण यहाँ होता है। वे नियमित साधना करते हैं, तो उनका शारीरिक-मानसिक परीक्षण भी यहाँ की प्रयोगशाला में नियमित रूप से चलता है। इससे साधना-आहार-जप आदि का प्रभाव देखा जा सकता है।

एक माह यहाँ रहने के बाद **परिव्राजक** स्तर का प्रशिक्षण लेने वालों को पंद्रह दिन का अतिरिक्त समय वरिष्ठ कार्यकर्ता देते हैं। युगनेतृत्व की हर विधा से साधकों को परिचित कर विभिन्न शक्तिपीठों-देवालयों-रचनात्मक आंदोलनों का संचालन करने के लिए भेजा जाता है। जो ग्राम प्रबंधन, आर्थिक स्वावलंबन तथा राष्ट्र की समृद्धि हेतु किए जा रहे **रचनात्मक कार्यों** का शिक्षण लेना चाहते हैं, वे ९ दिन के लिए २९ से ८ एवं १० से १८ तारीखों में आ सकते हैं। एक माह के बाद रुक भी सकते हैं व अलग से भी पूर्वानुमति लेकर आ सकते हैं। रचनात्मक प्रकोष्ठ, गौशाला निर्माण, स्वदेशी आंदोलन से लेकर नाडेप—कंपोस्ट निर्माण तथा वाटर हार्वेस्टिंग (पानी की खेती) आदि सभी का शिक्षण वर्ष भर देता है। माह में एक बार एक सप्ताह के 'रिप्रोडक्टिव एण्ड चाइल्ड हेल्थ' (आर. सी. एच.) योजना के अंतर्गत मातृ व शिशु स्वास्थ्य व जनसंख्या नियंत्रण पर प्रशिक्षण भी यहाँ चलते हैं।

अपनी जीवन साधना को प्रखर बनाने का जिनका मन हो, वे ९-९ दिन के **संजीवनी साधना** सत्रों में भागीदारी कर सकते हैं, जो १ से ९, ११ से १९ व २१ से २९ तारीखों में वर्ष भर चलते हैं। कसी हुई दिनचर्या वाले इन सत्रों में गायत्री साधना से लेकर जीवन जीने के हर सूत्र-व्यक्ति निर्माण से समाज निर्माण तक की प्रक्रिया का आमूलचूल शिक्षण दिया जाता है। इस अवधि में साधक चौबीस हजार का एक गायत्री अनुष्ठान भी संपन्न कर लेते हैं एवं वरिष्ठ साधकों की अनुभूति प्रधान अमृतवाणी का लाभ लेते हैं, साथ ही साधना विज्ञान के गूढ़तम सूत्रों को गुरुसत्ता द्वारा कराए गए ध्यान द्वारा सीख कर जाते हैं। सभी के लिए पूर्वानुमति लेना आवश्यक है।

जो मौन-एकाकी अंतर्मुखी साधना करना चाहते हैं, उनके लिए आश्विन नवरात्रि से चैत्र नवरात्रि की अवधि में चलने वाले सत्रों हेतु आमंत्रण है। इन सत्रों का नाम है **अंतःऊर्जा जागरण सत्र**। इनमें प्रतिदिन दस प्रकार की साधनाएँ कराई जाती हैं। लगभग पाँच दिन मौन रहा जाता है। एक कमरे में एक ही साधक का निवास है। साधनाएँ ऑडियो माध्यम से संकेतों द्वारा होती हैं। बड़ी उच्चस्तरीय साधना का दमखम रखने वालों के लिए ही इनका प्रावधान है। इनमें अनुमति सभी को नहीं मिलती। पहले विस्तृत विवरण भेजना पड़ता है व मार्गदर्शिका का अध्ययन कर लेना होता है। जनवरी २००२ के अंत तक तो ये सत्र १ से ५, ६ से १०, ११ से १५, १६ से २०, २१ से २५ व २६ से ३० की तारीखों में चलेंगे, पर फरवरी में वसंत पर्व (१७/२/२००२) होने के कारण १६ से २० वाला सत्र स्थगित रहेगा। अगले सत्र २१ से आरंभ होने के स्थान पर २० से २४, २५ फरवरी से १ मार्च तथा २ से ६, ७ से ११, १२ से १६, १७ से २१, २२ से २६ तथा २६ से ३१ मार्च की तारीखों में चलेंगे। परिवर्तित तारीखें नोट कर लें। अप्रैल २००२ में मात्र २ सत्र हैं। १ से ५ व ६ से १०।

शांतिकुंज में ५ दिवसीय **तीर्थसेवन** सत्र १५ मई से ३० जून तक नियमित रूप से चलते हैं। इस अवधि में फिर ९ दिवसीय सत्र स्थगित रहते हैं। इसके अतिरिक्त एक दिवसीय **अतिथि सत्र** में कोई भी पूर्व सूचना देकर आ सकता है, संस्कारादि संपन्न करा सकता है। अकस्मात् आना पड़े, तो भी व्यवस्था है, पर प्रयास यह रहना चाहिए कि पूर्व सूचना फैक्स, ई मेल या फोन से दे दें। अति वृद्धों, बीमारों, अनगढ़ आदत वालों, छोटे बच्चों को लेकर चलने वालों के लिए सदा से निषेध रहा है। प्रयास यही होना चाहिए कि २००२ में इन सत्रों का अधिकाधिक लाभ उठाया जाए।

○

शहीदों के प्रति

रक्त से लिखा गया है, विजय का इतिहास जो।
राष्ट्र का वंदन है, उस उत्सर्ग के उल्लास को॥

रक्त की हर बूँद, जन-जन के हृदय में लिख गई।
राष्ट्र-श्रद्धा, आपके हाथों सहज ही बिक गई॥
बल दिया बलिदान ने, इस राष्ट्र के विश्वास को।
राष्ट्र का वंदन है, उस उत्सर्ग के उल्लास को॥

राष्ट्र की रग-रग फड़कती, आपके बलिदान से।
राष्ट्र प्यारा हो गया है, हम सभी को प्राण से॥
राष्ट्र पर हम भी करेंगे समर्पित हर साँस को।
राष्ट्र का वंदन है, उस उत्सर्ग के उल्लास को॥

आपकी गाथा सुनाई जाएँगी, संतान को।
और माताएँ भरेंगी सुतों में स्वाभिमान को॥
छू लिया है आपने बलिदान के आकाश को।
राष्ट्र का वंदन है, उस उत्सर्ग के उल्लास को॥

आपका परिवार अब राष्ट्रीय धरोहर हो गया।
त्याग उसका, राष्ट्र के सम्मुख उजागर हो गया॥
राष्ट्र मुरझाने न देगा, आपके मधुमास को।
राष्ट्र का वंदन है, उस उत्सर्ग के उल्लास को॥

आओ! सब मिल, शहीदों को श्रद्धांजलि अर्पित करें।
राष्ट्र के रक्षार्थ, सब कुछ मिटाने का व्रत धरें॥
ताकि जीवित रख सकें, उत्सर्ग के इतिहास को॥
राष्ट्र का वंदन है, उस उत्सर्ग के उल्लास को॥

—मंगलविजय 'विजयवर्गीय'

आत्मा ही है कल्पवृक्ष-कामधेनु

मैं क्या हूँ ? क्या मैं पंचतत्त्वों से विनिर्मित एक स्थूल आवरण मात्र हूँ ? यदि मैं यह आवरण मात्र हूँ तो क्यों योगी, यति, तपस्वी आदि सभी अपनी इस देहयष्टि से पार जाना चाहते हैं ? वे किसकी खोज में हैं ? किसे जानना चाहते हैं और यदि मैं इनके अनुभव से प्राप्त सनातन एवं शाश्वत आत्मा हूँ तो इस पंच भौतिक देह का क्या प्रयोजन है ? आत्मद्रष्टा ऋषियों के अनुसार इसका समाधान अपने अंदर ही विद्यमान है, जिसे जान लेने के बाद कुछ जानना शेष नहीं रह जाता और यही वास्तविक ज्ञान है।

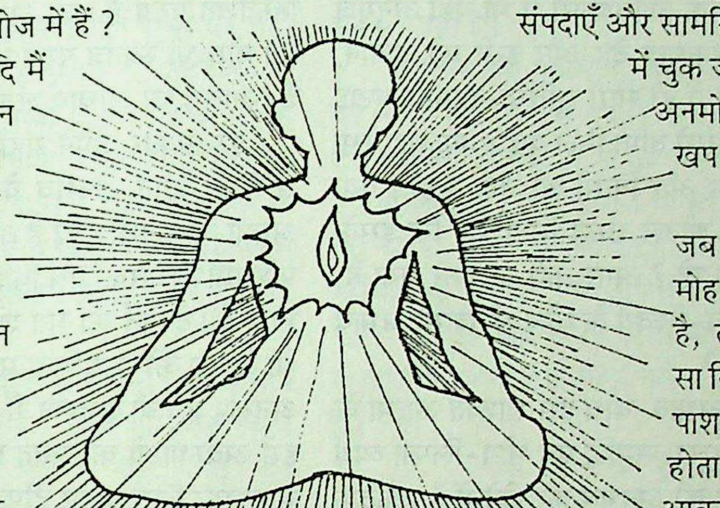

जब यह ज्ञान हो जाता है तो शरीर आत्मा का अलंकृत परिधान-सा लगने लगता है। यह एक यंत्र एवं औजार-सा प्रतीत होता है, जो आत्मा से भिन्न है। इसके माध्यम से आत्मा स्वयं को अभिव्यक्त करता है। यह यंत्र जितना परिष्कृत एवं उत्कृष्ट होगा, अभिव्यक्ति भी उतनी ही अच्छी होगी। बाँसुरी में स्वर-रागिनी तभी निकल सकते हैं जब इसके सभी छेद पूरी तरह से खुले हों, उनमें कोई अवरोध न हो। तभी बाँसुरी का स्वर भावनाओं को आंदोलित एवं उद्वेलित कर सकता है। इसी तरह परिष्कृत शरीररूपी यंत्र में आत्मा का स्वर झंकृत होता है। इस स्वर में ऐसा सम्मोहन होता है कि लोग बरबस उस ओर खिंचे चले आते हैं। आत्मभाव में निवास करने वाले की यही पहचान है।

भ्रम और अज्ञान के कारण जब शरीर को ही सर्वोपरि सत्ता स्वीकार कर लिया जाता है तब विनाश और पतन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। मैं शरीर नहीं हूँ, इस आत्मबोध के बदले यह भाव प्रबलतम होना चाहिए कि मैं ही शरीर हूँ, इसके अलावा और कुछ नहीं, यही मेरा लक्ष्य है, इसी को सुखी-प्रसन्न रखना ही मेरा उद्देश्य है। जीवन मिला ही इसलिए है कि शरीर की सभी दस इंद्रियाँ तृप्त एवं पुष्ट हों तथा ग्यारहवाँ इंद्रिय मन केवल इसी को प्रसन्न रखने के लिए सारा सरंजाम जुटाए। शरीर के प्रति उत्पन्न यह भाव जीवन को गहन भूल-भुलैया में भटका देता है और जीवन का समस्त क्रिया-व्यापार इसी के लिए खपता-मिटता रहता है। सारी शक्ति एवं ऊर्जा इसके सुखोपभोग हेतु भौतिक संपदाएँ और सामग्रियों को एकत्रित करने में चुक जाती है। जीवन में प्राप्त अनमोल प्रतिभा भी इसी में खप जाती है।

इस प्रकार आत्मा पर जब काम, क्रोध, लोभ, मोह की कालिमा चढ़ जाती है, तो सब कुछ धुँधला-सा दिखाई देता है। यह लौह पाश बड़ा ही आकर्षणयुक्त होता है। इस आकर्षण में आबद्ध जीव को इतना भी बोध नहीं रहता कि वह कौन है ? उसका लक्ष्य क्या है ? उद्देश्य क्या है ? वह ऐसा जीवन जीता चला जाता है, जिसमें निरर्थकता के अलावा सार्थकता का लेश मात्र भी नहीं होता। ऐसा जीवन असहनीय भार जैसा होता है और जीव इस भार को ढोता हुआ चलता रहता है।

इस अज्ञान के कारण ही जीव अशांति, चिंताओं एवं व्यथाओं के महाजाल में फँसा पड़ा रहता है। वैभव, भोग, विलास, रूप, धन, पद, प्रतिष्ठा आदि से विनिर्मित यह जाल इतना मोहक एवं जटिल होता है कि फिर कुछ और सूझता ही नहीं। एक को पाने के बाद दूसरे की ललक उठती है और जब तक दूसरा नहीं मिल जाता, तीसरे की कामना उठने लगती है। ऐसी ही होती है इच्छाओं, वासनाओं की अतृप्त अग्नि, जिसमें तृप्ति एवं संतोष का नामोनिशान नहीं होता। इसी धूप-छाँव के खेल में जीवन गुजर जाता है और विनाश के अलावा कुछ भी हाथ नहीं लगता। इस विनाश लीला को सभी देखते हैं, अनुभव करते हैं, परंतु कोई भी शारीरिक सुख की प्राप्ति से विरत होना नहीं चाहता।

मैं शरीर हूँ, इस बोध की मान्यता से ही भोगवादी संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ। इसका जनक पश्चिम हो या

इससे प्रभावित वर्तमान अत्याधुनिक विश्व, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि इन सबके मूल में होता है दैहिक चिंतन। देह ही सर्वोपरि है। इसके आगे न कुछ सोचना है और न करना। इसलिए वर्तमान समय में शरीर के सुखभोग के लिए नैतिकता की सारी सीमाएँ टूट और बिखर गई हैं। जिह्वा की संतुष्टि के लिए विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट भोजन, शरीर को अलंकृत करने हेतु कीमती परिधान एवं अलंकार एवं अन्य अनेक भोग-सामग्री इसी का परिणाम हैं। अत्याधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों में भी यही अनुगूँज सुनाई देती है। बस एकमात्र देह और इसी को सजाने, सँवारने एवं तृप्त करने में ही सारी सुविधा-सामग्री जुटाई जा रही है। परंतु क्या इससे तृप्ति मिल पाई ? क्या यह ऐसा सुख दे सकेगा कि फिर और किसी की चाह न हो ? क्या इसमें शांति की इतनी शीतल छाया मिल पाई कि इसके आनंद में ही मन डूबा रहे ? अगर नहीं तो फिर क्या है, जिसके चलते इस वैभव-ऐश्वर्य के बीच भी किसी अभाव का बोध बना रहता है ?

यह रिक्तता और अभाव-बोध इस शाश्वत आत्मा के लिए है, जिसके बिना सुख-समृद्धि एवं भोग-लिप्सा व्यर्थ है। आनंद तो बस इसी को अनुभव कर लेने में है। वैदिक ऋषियों का अनुसंधान इसी सनातन तत्त्व को जानने, समझने एवं अनुभव करने में समर्पित था, हालाँकि आत्मा की उस खोज में शरीर की उपेक्षा की गई, जिसके कारण कुछ व्यतिक्रम भी आया, परंतु उस शाश्वत सत्य को पाने के लिए इसे अधिक वरीयता नहीं दी गई। शरीर को एक साधन माना गया और आत्मा को साध्य। आत्मिक अनुभव नितांत निजी होता है। इसलिए इसे जिसने जैसा अनुभव किया, उसी रूप में उसका प्रतिपादन किया। जिस प्रकार सूर्य को सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से देखते हैं। अंतत: इसी अनुभव बोध ने ही अनेक वादों-प्रतिवादों के रूप में जन्म लिया, परंतु अंत में इसे ही दर्शन की मान्यता प्रदान की गई।

मैं क्या हूँ ? इसका समाधान श्रीमद्भागवत् में सुंदर ढंग से मिलता है। इसके अनुसार शरीर नश्वर है, परंतु आत्मा इसका आधार है। यह शाश्वत, विशुद्ध, स्वयं प्रकाशित एवं अपरिवर्तनशील है। लकड़ी में अग्नि के समान यह शरीर में व्याप्त होने पर भी पूरी तक भिन्न एवं अलग है। लकड़ी में अग्नि प्रकट होकर भी यह लकड़ी नहीं हो सकती, ठीक उसी प्रकार शरीर में स्थित रहकर भी आत्मा शरीर नहीं है। उपनिषद् में इस आत्मतत्त्व को परमात्मा का अविनाशी अंश स्वीकार किया गया है। छांदोग्य के 'तत्त्वमसि,' वृहदारण्यक के 'अहं ब्रह्मास्मि' में इसी आत्मतत्त्व का सौंदर्य झलकता है। यही श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रतीकात्मक हंस है, जो ब्रह्म से तदाकार हो अमर हो जाता है।

दर्शन के सूत्रों में इसी के चैतन्य स्वरूप को उमड़ते-उफनते देखा जा सकता है। उस शाश्वत सत्य के अनुभव का विचार ही तो दर्शन है। वेदांत आत्मा को परमात्मा से अभिन्न मानता है। न्याय दर्शन में इसे ज्ञान, इच्छा एवं गुण के रूप में निरूपित किया गया है। यही सांख्य का स्वयं प्रकाशित पुरुष है। जो अमर, नित्य, मुक्त, शुद्ध एवं बुद्ध है। योग भी स्वतंत्र पुरुष कहकर इसका प्रतिपादन करता है। आत्मद्रष्टा आचार्य शंकर ने इसे स्वयं सिद्ध कहा है।

इस प्रकार अपने यहाँ के ऋषि, मनीषी एवं तपस्वी सभी ने अपने अनुभव के आधार पर सिद्ध किया कि आत्मा अविनाशी तत्त्व है और शरीर नश्वर तथा क्षणभंगुर। पश्चिमी विचारकों एवं विद्वानों में भी यही सत्य दृष्टिगोचर होता है। देकार्ते का मत शंकराचार्य के समान है। उन्होंने भी आत्मा को स्वयंसिद्ध माना है। ह्यूम का दर्शन बौद्धों के अनुरूप है। बौद्ध दर्शन में आत्मा स्वीकार्य नहीं है, परंतु इसे अवस्थाओं का सतत प्रवाह सिद्ध किया गया। उनके मतानुसार जिस प्रकार दीपक की लौ में प्रकाश किरणों का अनवरत प्रवाह है उसी प्रकार आत्मा की अवस्थाएँ सतत प्रवाहशील हैं। कांट ने इसके दो रूपों पर विचार किया है।

यूरोपीय चिंतन के जनक कहे जाने वाले सुकरात ने आत्मा को अविनाशी मानते हुए स्पष्ट किया है कि यह नित्य एवं बोधमय है, जबकि शरीर नश्वर और परिवर्तनशील। उनके शिष्य प्लेटो का मत भारतीय चिंतन चेतना से अनुप्राणित प्रतीत होता है। उन्होंने आत्मा को शाश्वत एवं सनातन कहा है। ईसाई धर्म इन्हीं दोनों की विचारधारा से प्रभावित जान पड़ता है। आगस्टाइन के स्वर में भी इसी की झलक-झाँकी मिलती है। उनके अनुसार आत्मा ही वह आध्यात्मिक तत्त्व है, जो शरीर से भिन्न है। अरस्तू से प्रभावित अविनस ने उल्लेख किया है कि शरीर के कण-कण में आत्मचेतना लहराती रहती है। स्पिनोजा का यही अमरत्व है। बर्कले ने आत्मा को अमिश्रित पदार्थ माना है, जो शरीर के भस्मीभूत होने के पश्चात् भी बना रहता है।

आत्मा शरीर से भिन्न है, इस तथ्य की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए द्रष्टा गुरजीएफ ने एक भीषण प्रयोग किया। उन्होंने अपनी कार को जान-बूझकर एक पेड़ से टकरा दिया, इससे उनका शरीर बुरी तरह से क्षत-विक्षत हो गया और खून के फव्वारे छूट पड़े। उसी हालत

विक्षत हो गया और खून के फव्वारे छूट पड़े। उसी हालत में प्रसन्नचित्त गुरजिएफ ने अपने शिष्यों को समझाया कि किस प्रकार आत्मा शरीर से अलग है और इसका क्या ज्ञान-विज्ञान है। वस्तुतः आत्मा तो अविनाशी तत्त्व है, परंतु इसे अनुभव के माध्यम से जाना जा सकता है। अनुभव ही यथार्थ ज्ञान है।

आत्मा ही सनातन सत्य है। देह इसका दिव्य धाम है। अतः इस दिव्य धाम या आत्मदेव के मंदिर को सदा स्वच्छ एवं स्वस्थ बनाए रखना चाहिए, तभी इसमें चैतन्य की चेतना प्रकाशित एवं प्रतिष्ठित हो सकेगी। शरीर का यही वास्तविक शृंगार एवं सौंदर्य है। जीवन का उद्देश्य भी यही है कि शरीर भगवान् का एक दिव्य यंत्र बने। यह ऐसी बाँसुरी बने कि भगवान् कृष्ण अपने होंठों से लगा सकें, ऐसी वीणा बनें कि विद्यादायिनी माता सरस्वती के हाथों से झंकृत हो उठें और धनुष बनकर मर्यादा पुरुषोत्तम राम के हाथों में सुशोभित हो सकें। इसी में इस देह की सार्थकता एवं सफलता है।

आत्मभाव जाग्रत् होते ही शरीर के समस्त क्रियाकलाप आत्मा की ओर उन्मुख हो जाते हैं। फिर शारीरिक स्वार्थ अपने क्षुद्र कामना-वासना की पूर्ति में नहीं लगते। वह आत्मा के महास्वार्थ का साधन बन जाता है। जीवन की इच्छा, आकांक्षा और अभिरुचि बदल जाती है। मन में आत्मा का प्रकाश पड़ने लगता है और उत्कृष्ट चिंतन एवं विचार मन का कार्य बन जाता है। हृदय से शुभ भावनाएँ उछलती रहती हैं और वातावरण पीड़ित की पीड़ा से दयार्द्र हो उठता है। शरीर उसी का अनुगामी बन जाता है। परोपकार, परमार्थ, सेवा, सहायता, दान, उदारता, त्याग, तप से भरे हुए पुण्य कर्म जीवन व्रत बन जाते हैं। इस प्रकार हृदय में संतोष, उल्लास एवं आनंद की निर्झरिणी झरने लगती है।

मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ, इसी में सफलता और आनंद का कोष भरा हुआ है। यही अचूक ब्रह्मास्त्र है। इसकी शक्ति अनेकों इंद्रवज्रों से भी अधिक है। आत्मा ही कल्पवृक्ष एवं कामधेनु है। यही समस्त योगसाधना का मर्म रहस्य है कि व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप को जाने, अपनी गौरव-गरिमा को पहचाने एवं अपनी शक्ति एवं अधिकार का अनुसंधान करे और अपने परमात्मारूपी पिता की अनमोल संपदा पर अपना हक पेश करे। यही सच्चा राजमार्ग है।

❖

एक भविष्यवक्ता थे। लोगों की उनकी नियति बताते, साथ ही कर्मों द्वारा उसमें घट-बढ़ होने की संभावना से भी अवगत कराते।

एक दिन दो मित्र उनके पास आए। भविष्य पूछने लगे। उन्होंने एक को एक महीने बाद फाँसी होने तथा दूसरे को राजसिंहासन मिलने की भवितव्यता बताई।

जिसे राजसिंहासन मिलना था, वह अहंकार में डूबा और मनमाने आचरण करने लगा। इस अवधि में कुकर्मों की अति कर दी। एक महीना होने को आया, तो सड़क पर रुपयों की एक थैली पड़ी मिली। उसे उसी दिन सुरा-सुंदरी के घर पहुँचा दिया।

जिसे फाँसी लगनी थी, उसने शेष थोड़ी-सी अवधि को दिन-रात सत्कर्मों में निरत रहने के लिए लगा दिया। पुण्य-परमार्थ जो संभव थे, उनमें कमी न रहने दी। महीना पूरा होने को आया, तो पैर में एक काँटा चुभा और थोड़े दिन कष्ट देकर अच्छा हो गया।

महीना निकल गया, पर न एक को फाँसी लगी और न दूसरे को सिंहासन मिला, तो वे भविष्यवक्ता के पास पहुँचे और कथन मिथ्या हो जाने का कारण पूछा।

उत्तर में उन्होंने कहा, ''भवितव्यता को कर्मों से हलका-भारी भी किया जा सकता है। फाँसी, काँटा लगने जितनी हलकी हो गई और सिंहासन हलका होकर रुपयों की थैली जितना छोटा रह गया। कष्टसाध्य सेवा-भावना ने फाँसी का कष्ट घटा दिया और मनमानी उद्दंडता ने राजसिंहासन में कमी कर दी। जो शेष रह गया वही मिला।''

शब्दब्रह्म में है अपरिमित सामर्थ्य

''मनन त्राण धर्मणो मंत्रः।'' मंत्रार्थ मंजरी के इस सूत्र में मंत्र का समस्त ज्ञान-विज्ञान समाहित है। श्रद्धा और निष्ठा के साथ मंत्र के मनन और चिंतन से परमात्मा का सिंहासन डोल उठता है और वह भी प्रकट हो उठते हैं। यही अशक्ति और अभाव को दूर कर मुक्ति का पथ प्रशस्त करता है। मंत्र से जहाँ भौतिक सुख-संपदा की प्राप्ति होती है वहीं आत्मिक समृद्धि का लाभ भी मिलता है। यह लौकिक विज्ञान तथा आत्मिक ज्ञान का अमोघ साधन है।

मंत्र शिव और शक्ति का वह सूक्ष्म स्वरूप है जिसमें अद्‌भुत सामर्थ्य भरी पड़ी है। इसलिए जॉन वुडरफ ने इन दोनों के समुचित समन्वय को ही मंत्र की संज्ञा दी है। मंत्र में विद्यमान वाच्य और वाचक रूपी दो ऐसी शक्तियाँ हैं, जो भौतिक साधन-सुविधा से लेकर मोक्ष तक देने में समर्थ होती हैं। वाच्य शक्ति मंत्र की आत्मा है। उपासक ही उसकी प्रेरणा शक्ति है।

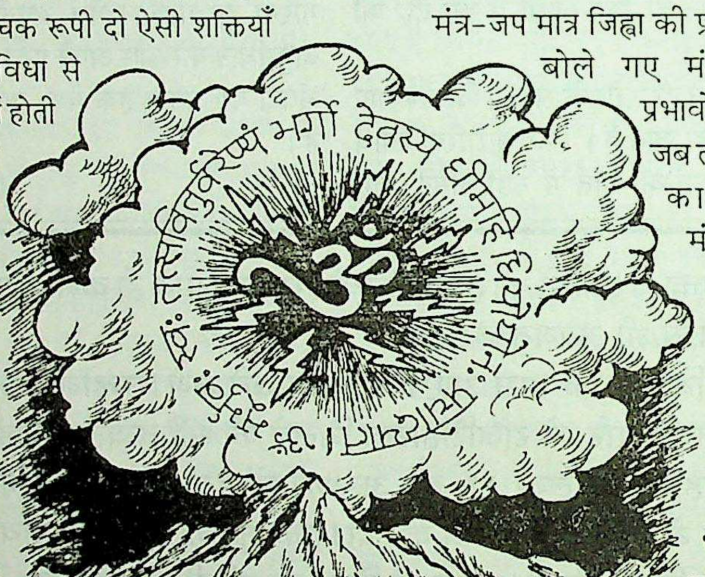
ॐ
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्

इष्टदेव के अनुग्रह विशेष को भी मंत्र कहा गया है। देवशक्तियों के सूक्ष्म स्वरूप को भी मंत्र कहते हैं। वस्तुतः मंत्र मनन विज्ञान है। किसी चीज का बारंबार विचार करना मनन कहलाता है। बार-बार विचार करने से उसमें मन रम जाता है और वह स्वभाव बन जाता है। मंत्र में इष्ट का मनन एवं ध्यान किया जाता है। अतः अपने मंत्र के अनुरूप इष्ट साधक का स्वभाव बन जाता है। वह जिस मंत्र की साधना करता है उसी मंत्र के गुण-धर्म के अनुरूप उसकी वृत्तियाँ बन जाती हैं। सूर्य के मंत्र से पवित्रता एवं प्रखरता में वृद्धि होती है। गायत्री मंत्र को सद्‌बुद्धि का मंत्र माना गया है। इसी प्रकार हरेक मंत्र की अपनी विशिष्टताएँ होती हैं।

विधि-विधानपूर्वक की गई मंत्र साधना अचूक एवं लाभप्रद होती है। इस साधना के लिए चार चीजों पर ध्यान देना आवश्यक है। मंत्र के स्वर एवं ध्वनि का उच्चारण शुद्ध होना चाहिए। संयम से ही मंत्र साधना सधती है। शारीरिक एवं मानसिक संयम का पालन करते हुए उसकी शक्तियों को मंत्र साधना में नियोजित करना चाहिए। शुद्धता भी एक आवश्यक अंग है। माला, आसन आदि उपकरणों का शुद्ध एवं पवित्र होना जरूरी है। इन सबमें सर्वोपरि है श्रद्धा और विश्वास की भावना। यह भावना ही मंत्र-साधना का मूल रहस्य है। साधनारूपी समस्त ज्ञान-विज्ञान का यही एकमात्र आधार है। जिस मंत्र की साधना की जाए सर्वप्रथम उसके प्रति मन में प्रबल विश्वास एवं हृदय में अगाध श्रद्धा हो। इसी के आधार पर ही चमत्कारी प्रतिफल देखे जा सकते हैं।

मंत्र-जप मात्र जिह्वा की प्रक्रिया नहीं है। जिह्वा से बोले गए मंत्र का प्रभाव उतना प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता, जब तक उसमें हृदय की भावना का समन्वय न हो। मंत्रोच्चारण में जिह्वा की जितनी महत्ता होती है। भावना की भी उतनी ही होती है। शरीर सूक्ष्म शक्तियों का केंद्र है। इसके विभिन्न अंग-उपांगों में इन शक्तियों का भंडार भरा पड़ा है। ये संस्थान वाणी से संबंधित होते हैं। वाणी मात्र बाहरी प्रभाव ही नहीं छोड़ती, बल्कि इसका आंतरिक प्रभाव भी पड़ता है। जब शब्द बोले जाते हैं, तो जिह्वा की नस-नाड़ियाँ और स्वरक्रम उन प्रसुप्त संस्थानों को झंकृत कर देती हैं। प्रसुप्त शक्तियाँ जाग्रत् होने लगती हैं, जैसे सितार के तारों को छेड़ते ही उसमें से कई प्रकार के स्वर उठने लगते हैं और यदि इस वाद्य का पारंगत उसे बजाए तो मन और भावना को उद्वेलित कर देने वाली न जाने कितनी धुनें निकलने लगती हैं।

इसी प्रकार विशिष्ट मंत्र का प्रभाव शरीर संस्थानों पर विशेष प्रकार से पड़ता है। मंत्रोच्चारण करते समय सारा स्वर संस्थान झंकृत हो उठता है। शरीर के इन संस्थानों में

हलचल मच जाती है और मंत्र के अनुरूप ऐसी ऊर्जा तरंगें विनिर्मित होती हैं कि मंत्र का देवता अवश हो जाता है। वह साधक के पास दौड़ता-खिंचा चला आता है, परंतु उसके साथ भावना का पुट भी होना चाहिए। श्रद्धा और निष्ठा का संयोग भी होना आवश्यक है। इस तरह उच्चारण वह बाहरी ढाँचा है, जिसके अंदर भावना प्राण फूँकती है। इसी कारण हृदय और जिह्वा को शिव-शक्ति, प्राण-रयि और अग्नि-सोम के रूप में अलंकृत किया जाता है। इसी में मंत्र का रहस्य छुपा है। यही मंत्र की वैज्ञानिकता है, जिसे मंत्र के चमत्कार के रूप में देखा जाता है।

प्राचीनकाल में मंत्र शक्ति के विशेषज्ञ मांत्रिक हुआ करते थे, जो अद्‌भुत एवं आश्चर्यजनक कार्य करते थे। तिब्बत के लामा इसमें बड़े ही पारंगत एवं प्रवीण थे। २६ जनवरी १९४१ के एक अँगरेजी अखबार ट्रिब्यून में अलाई जइलिज गर्लेय का एक लेख छपा था। इसमें मंत्र के माध्यम से वर्षा रोकने का उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार एक नृत्यस्थल पर लामाओं का नृत्यगान चल रहा था। सभी इस नृत्य का आनंद उठा रहे थे, परंतु यह आश्चर्यजनक दृश्य था कि केवल नृत्यस्थल के अलावा चारों ओर मूसलाधार बारिश हो रही थी। विशेषज्ञों के अनुसार यह मंत्र का ही प्रभाव था।

नि:संदेह मंत्र में चामत्कारिक शक्ति होती है। कोई मंत्र साधक ही इस दिव्य अनुभूति से परिचित हो सकता है, परंतु इसके प्रभाव को सामान्य रूप से देखा भी जा सकता है। इसी संदर्भ में अलाइस इलिजाबेथ ने अपने ग्रंथ 'वाइज ऑफ मिस्टिक इंडिया' में स्पष्ट किया है कि लामा मंत्रोच्चारण कर ओलों के बड़े टुकड़ों को तोड़ देते हैं और खेती की रक्षा करते हैं। उमड़ते-घुमड़ते बादलों की गरज को वह बंद कर देते हैं। जब ओले गिरने आरंभ होते हैं तो वे मंत्रोच्चारण करते हैं और ओलावृष्टि बंद हो जाती है।

संत-महात्माओं के जीवन में यह अद्‌भुत घटना सामान्य रूप से देखी जा सकती है। वे लोक-कल्याण के लिए इस शक्ति का प्रयोग करते हैं। शब्द शक्ति का स्फोट मंत्र शक्ति की रहस्यमय प्रक्रिया है और वे इस रहस्य के मर्मज्ञ होते हैं। अणु विस्फोट के समान इससे अनंत ऊर्जा उत्पन्न होती है और साधक स्वयं शक्तिमान होता है तथा औरों की सेवा-सहयोग करने में इसे नियोजित करता है। यही मंत्र साधना का श्रेष्ठ स्वरूप है।

प्राचीनकाल में इस अपरिमित ऊर्जा का उपयोग युद्ध के दौरान किया जाता था। उन दिनों दिव्य अस्त्र-शस्त्र मंत्र चालित होते थे। विष्णु का सुदर्शन चक्र, शिव का पाशुपत अस्त्र, ब्रह्मा का ब्रह्मास्त्र, दधीचि की अस्थियों से विनिर्मित इंद्र का वज्र ये सभी मंत्र से परिचालित होते थे। मंत्र शक्ति से शत्रु सेना में अग्नि की ज्वालाएँ भड़क उठती थीं और मंत्र के माध्यम से इस अग्नि को बुझाने के लिए वर्षा भी कर ली जाती थी।

वर्तमान में ध्वनि कंपनों से हथियारों का निर्माण किया जा रहा है। विज्ञान की आधुनिक प्रयोगशालाओं में अब विज्ञान के अन्य अनेक प्रयोग-परीक्षणों के साथ ध्वनि को धारदार एवं असरदार अस्त्रों का रूप दिया जा रहा है। ध्वनि निर्मित इन हथियारों का प्रभाव बड़ा ही खतरनाक सिद्ध हो सकता है। वैज्ञानिक मान्यता है कि ये अस्त्र तीव्र आवाज से व्यक्ति के मानसिक संतुलन को बिगाड़ सकते हैं, इसलिए ध्वनि तरंगों को शक्तिशाली किरणों या गोली का आकार दिया जा रहा है।

इस संदर्भ में कैलिफोर्निया के साइंस एप्लीकेशन्स एंड रिसर्च एसोसिएट्स संस्था में सोनिक बुलेट नामक आवाज की गोली विकसित की जा रही है। इस अनुसंधान में निरत वैज्ञानिक कहते हैं कि ये गोली दिखाई नहीं देतीं, लेकिन बड़ी ही असरदायक होती हैं। इनमें इतनी आवाज होती है कि दंगा-फसाद वाले भाग खड़े होते हैं। इस गोली की अति उच्च आवृत्ति वाली ध्वनि से व्यक्ति भ्रमित हो सकता है। अगर इसकी आवृत्ति और अधिक बढ़ा दी जाए, तो व्यक्ति की मौत भी हो सकती है। इन सोनिक बुलेट के द्वारा फुटबाल के मैदान जितनी दूरी पर स्थित लक्ष्य पर वार किया जा सकता है।

ध्वनि तरंगों को गोली की आकृति प्रदान करने के लिए विशेष तकनीक को प्रयोग में लिया जा रहा है। उसके तहत यह ध्यान दिया जाता है कि तरंगें इधर-उधर बिखर न जाएँ और सीधे लक्ष्य तक पहुँचें। इससे इनकी मारक क्षमता में अभिवृद्धि होती है। अमेरिका में इस तकनीक को कर्डलर यूनिट कहा जाता है। यह कई प्रकार का प्रारूप बनाता है। इसे एच. पी. एस.-१ नामक ध्वनि प्रणाली में लागू किया जाता है। इसमें कान को फाड़ देने वाली भीषण आवाज निकलती है। इसकी ध्वनि तीव्र घातक स्तर से थोड़ी ही कम होती है।

इन अस्त्रों का निर्माण कार्य तेजी से चल रहा है। रूस में तो इनका आविष्कार भी हो चुका है। वहाँ पर इन सोनिक बुलेट की तीव्रता दस हर्टज है और इससे सौ गज की दूरी तक प्रहार किया जा सकता है। दंगा-फसाद के लिए एकत्रित भीड़ को भगाने के लिए यह बड़ा ही कारगर सिद्ध हो सकता है।

ध्वनि की तरह विद्युत् तरंगों एवं अदृश्य विद्युत् चुंबकीय तरंगों से भी ऐसे ही घातक हथियार बनाने की प्रक्रिया चल रही है। इस परिकल्पना को मूर्त रूप देते हुए प्रायोगिक स्तर पर हथियारों का निर्माण भी हो चुका है। इलेक्ट्रिफाइड स्टेनगन को कम दूरी पर वार करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है तथा टेसर की मारक क्षमता लंबी होती है। इसके प्रभाव से मनुष्य चलने-फिरने लायक भी नहीं रह जाता है। इन हथियारों से निकलने वाली विद्युत् तरंगें अधिक वोल्टेज और कम एंपियर की होती हैं। इससे शरीर की मांसपेशियाँ खिंच जाती हैं तथा झटके लगते हैं। कई बार तो यह खिंचाव इतना जबर्दस्त होता है कि हड्डियाँ चटखने लगती हैं।

इन हथियारों से निकलने वाली किरणें व्यक्ति के कपड़े को भेदकर त्वचा पर प्रहार करती हैं। इनसे लगभग ६५० गज की दूरी तक वार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कम तीव्रता वाली लेसर किरणों को एवं अधिक तीव्रतायुक्त स्ट्रोब लाइट को हथियार के रूप में इस्तेमाल करने के लिए प्रयोग चल रहे हैं।

किसी कार पर सवार होकर भाग रहे अपराधी या आतंकवादी को पकड़ने के लिए आर्गन लेसर किरणों के प्रयोग किए जा सकते हैं। हालाँकि यह एक परिकल्पना है, परंतु इसके प्रायोगिक निष्कर्ष बड़े ही सफल रहे हैं। अपराधी की कार की विंड शील्ड और खिड़कियों के शीशे पर इन किरणों की बौछार की जाएगी, इससे इन शीशों की पारदर्शिता खत्म हो जाएगी और वह गहरे हरे रंग में परिवर्तित हो जाएँगे। परिणामत: चालक को बाहर का कुछ भी दिखाई नहीं देगा और अंत में उसके सामने आत्मसमर्पण करने या जान देने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं रहेगा।

इस प्रकार विज्ञान के इन ध्वनिचालित हथियारों में प्राचीन भारतीय काल के मंत्रपूरित अस्त्रों की झलक मिलती है। ध्वनि के इस प्रभाव को अब विज्ञान भी समझने लगा है। इसी तरह ध्वनि शक्ति का ही स्वरूप मंत्र में भी अपरिमित ऊर्जा होती है। हाँ, इसका उपयोग विवेक-बुद्धि के ऊपर निर्भर करता है कि उनका प्रयोग संहार के रूप में किया जाए या लोक-कल्याण एवं आत्मोत्थान के लिए। सदुपयोग में ही इसकी सार्थकता है और यह तभी संभव है जब बुद्धि परिष्कृत हो। इसके लिए गायत्री महामंत्र का जप करना चाहिए, जो हमारे अंत:करण को दिव्य, पावन एवं परिष्कृत करके हमारी बुद्धि को सन्मार्गगामी बनाता है।

※

महाभारत समाप्त हुआ। पुत्रों के वियोग में दुखी धृतराष्ट्र ने महात्मा विदुर को बुलाया। उनके साथ सत्संग में दुःख हलका करने लगे। चर्चा के बीच धृतराष्ट्र ने पूछा, "विदुर जी ! हमारे पक्ष का एक-एक योद्धा इतना सक्षम था कि सेनापति बनने पर उसने पांडवों के छक्के छुड़ा दिए। यह जीवन-मरण का युद्ध है, यह सबको पता था। यह सोचकर सेनापति बनने पर एक-एक करके अपना पराक्रम प्रकट करने की अपेक्षा कर्त्तव्य-बुद्धि से एक साथ पराक्रम प्रकट करते तो क्या युद्ध जीत न जाते?"

विदुर जी बोले, "राजन्! आप ठीक कहते हैं। वे जीत सकते थे यदि अपने कर्त्तव्य को ठीक प्रकार समझ और अपना पाते, परंतु अधिक यश अकेले बटोर लेने की तृष्णा तथा अपने को सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शित करने की अहंता ने वह कर्त्तव्य सोचने, उसे निभाने की उमंग पैदा करने का अवसर ही नहीं दिया।"

थोड़ा रुककर विदुर जी बोले, "पर राजन! उनके इतना न सोच पाने और न जीत पाने का दुःख न करें। उन्हें तो हारना ही था। कर्त्तव्य समझे बिना जीत का लक्ष्य नहीं मिल सकता, यह भी ठीक है और कर्त्तव्य को महत्त्व दे पाते तो युद्ध का प्रश्न ही न उठता। कर्त्तव्य के नाते भाइयों का हक देने से उन्हें किसने रोका था। स्वयं युगपुरुष श्रीकृष्ण समझाने आए थे, पर उस समय भी तृष्णा ने पाँच गाँव भी न छोड़े। अहंता ने न पितामह की सुनी न युगपुरुष की। जिन वृत्तियों ने युद्ध पैदा किया, उन्होंने हरा भी दिया।

हो सर्वस्व समर्पण

सद्गुरु सच्चिदानंद का स्वरूप बनकर शिष्य के जीवन में उतरता है। इस मिलन-अवतरण में शिष्य का जीवन धन्य हो जाता है और वह गुरुमय-परमात्मामय हो जाता है। उसके रोम-रोम, कण-कण में गुरु की चेतना उफनती-लहराती रहती है। अपना सर्वस्व समर्पण कर शिष्य गुरु कृपा का पात्र बनता है। फिर गुरु शिष्य के अंत:करण में एवं शिष्य गुरु के गर्भ में एकाकार-तदाकार हो उठते हैं। अनुभवातीत है यह संबंध, मूक है इसकी भाषा।

सद्गुरु को ब्रह्माग्नि की उपमा दी गई है और शिष्य को सूखी लकड़ी के समान माना गया है, ताकि अग्नि के संपर्क में आते ही लकड़ी जल उठे। इसी तथ्य को विश्ववंद्य स्वामी विवेकानंद ने कुछ इस प्रकार शब्दांकित किया है, ''जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरी आत्मा में शक्ति का संचार होता है, वह सद्गुरु कहलाता है और जिसकी आत्मा में यह शक्ति संचरित होती है, उसे शिष्य कहते हैं।'' वह आगे कहते हैं, ''किसी भी आत्मा में इस प्रकार शक्ति संचार करने के लिए आवश्यक है कि पहले तो जिस आत्मा में यह संचार होता हो, उसमें स्वयं इस संचार की शक्ति विद्यमान रहे और दूसरे, जिस आत्मा में यह शक्ति संचरित हो जाए, वह इसे ग्रहण करने योग्य हो।'' अतः गुरु असीम सामर्थ्यवान् होता है और शिष्य सुपात्र।

उर्वर भूमि में ही बीज का अंकुरण एवं विकास होता है। बीज चाहे कितना ही उम्दा किस्म का क्यों न हो, यदि भूमि ऊसर एवं बंजर हो तो उसकी वृद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती है और उपजाऊ और उर्वर भूमि के होने पर भी यदि बीज ठीक न हो, तो अंकुरण संभव नहीं होता। अतः समुचित विकास के लिए बीज का गुण, भूमि का उपजाऊपन दोनों का होना अनिवार्य है। इस प्रकार गुरु बीज होता है और शिष्य भूमि। जिसके शिष्य के अंत:करण में आते ही उसके सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियों में अभिवृद्धि होने लगती है। यही सच्ची संपदा है। जैसे-जैसे शिष्य की मनोभूमि परिष्कृत होती जाती है, गुरुरूपी बीज की कोपलें फूटने लगती हैं।

सद्गुरु शिष्य को विद्या का दान करता है। विद्या वही है, जो सत्प्रवृत्तियों को उभार दे, सद्भावनाओं को समर्थ कर दे। इसी में आत्मिक विकास की समस्त संभावनाएँ सन्निहित होती हैं। यही गुरु का अनुदान-वरदान है, जिसे पाकर शिष्य का जीवन महान् हो जाता है और गुरु भी गर्व का अनुभव करता है। ऐसा शिष्य सदैव सत्पथ पर बढ़ता जाता है, वह कुमार्गगामी नहीं होता है। अनर्थमूलक चिंतन नहीं करता, वह तो सदा अपने गुरु को ब्रह्म के रूप में स्मरण करता है। उसको कुसंग में अरुचि उत्पन्न होती है और सत्संग में ऐसा खो जाता है कि उसे अपने अस्तित्व तक का भान नहीं रहता।

शिष्य अपनी सामर्थ्य एवं शक्ति को निरर्थक अपव्यय नहीं करता। वह कभी अपनी इच्छा, आकांक्षा एवं कामना के लिए कुछ भी नहीं करता। वह तो अपने गुरु का यंत्र मात्र होता है। उसे जितना कहा जाए, उतना ही करता है। उसे अपने गुरु का हर आदेश शिरोधार्य होता है। इसके लिए वह समय के एक-एक क्षण को नियोजित करता है तथा उसके सदुपयोग में निरंतर तत्पर बना रहता है। गुरु मार्गदर्शक सत्ता है और वह शिष्य को सतत मार्गदर्शन देता रहता है। शिष्य का कर्त्तव्य है उसका परिपालन। वह उसे अपनी समस्त सामर्थ्य लगाकर निर्वाह करता है। शिष्य एकलव्य के समान आज्ञाकारी होता है, जिसे अपने दाहिने हाथ का अँगूठा काटकर देने में रंचमात्र भी संकोच नहीं होता। शिष्य उस आरुणि के समान होता है, जो गुरु आज्ञा का पालन करने के लिए अपने शरीर को खेत की मेड़ में लेटा देता है; यही शिष्यत्व की शर्त है।

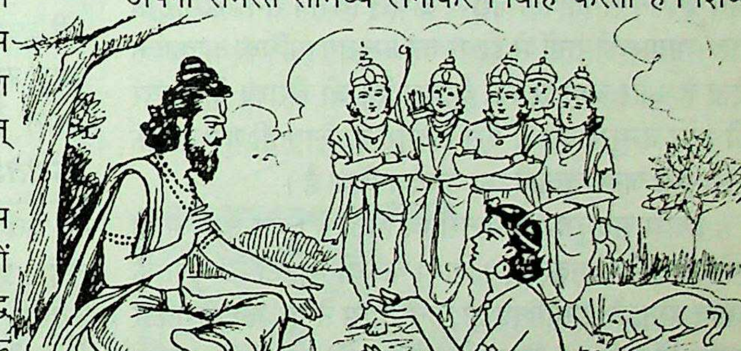

यह शर्त निश्चित रूप से अत्यंत कठोर है। सच्चे समर्पण के माध्यम से ही इसे पालन किया जा सकता है।

एक बार एक युवा ने स्वामी विवेकानंद से अपना शिष्य बना लेने का आग्रह किया। स्वामी जी मौन थे। वह जानते थे इसका पालन करना कोई आसान कार्य नहीं है, परंतु अधिक अनुनय-विनय करने पर अपनी आग्नेय वाणी से उन्होंने कहा, क्या तुम मुझे अपने सर्वस्व का दान कर सकते हो, कर सकते हो तो जो मैं कहूँ उसे पालन कर सकोगे? यदि मैं तुम्हें आसाम के चाय बागान में मजदूर बनाकर बेच दूँ और समुद्र में शार्क मछलियों के हवाले कर दूँ तो बिना भय के तैयार हो सकोगे? भला इससे कम में क्या कोई गुरु अपने शरीर के रक्त बूँदों को चुकाने के बदले प्राप्त तपशक्ति से शिष्य की आत्मा को सींच सकता है। सद्गुरु-प्राप्ति के लिए अपने अहंकार को गलाकर उसके हर निर्देश का पालन एवं निर्वहन ही दीक्षा संकल्प है। इस संकल्प से संकल्पित शिष्य उसकी प्रेरणा को सच्चे हृदय से अनुगमन करता है। ऐसी गुरुभक्ति को ईश्वर भक्ति के समान माना गया है।

सद्गुरु की प्राप्ति से ही आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त होता है। जो जीवन को अमृत से भर दे, हृदय के घने अंधकार को हटाकर उसे ज्योतिर्मय कर दे और सांसारिक आकर्षणरूपी राग को मिटाकर ईश्वर के प्रति अनुरागी बना दे वही सद्गुरु है। सद्गुरु के मिलने से वैराग्य का भाव पनपने लगता है। वैराग्य अर्थात् विशेष राग। संसार के मोह-मायारूपी रागों से ईश्वर का अनुराग अधिक आकर्षक होता है और यही सच्चा वैराग्य है। जो वैराग्य दे, ईश्वर की ओर उन्मुख कर दे ऐसे सद्गुरु के लिए ही गुरु नानक ने सौ-सौ जन्म चुकाने का उपदेश दिया है।

शिष्य सद्गुरु का मानसपुत्र होता है। वह उसे अपने तपोमय गर्भ में गढ़ता है। शिष्य कच्ची मिट्टी के कुंभ के समान होता है, इसीलिए तो कबीरदास ने गुरु को कुंभकार के रूप में अलंकृत किया है, जो उसकी कुवृत्तियों, खराब आदतों एवं कुसंस्कारों को ठोंक-पीटकर ठीक करता है, उसे नया आकार प्रदान करता है तथा भट्टी में पकाकर नवसृजन करता है। वह शिष्य को सत्पथ दिखाता है और उसके प्रत्येक ज्ञात-अज्ञात कर्मों का साक्षी होता है।

सद्गुरु शिष्य को अपार आश्वासन देते हुए कहता है, ''मैं सर्वदा तुम्हारे पास हूँ। जब तुम्हारे पापों के जाल कसने लगें तथा गहन अंधकार में कष्ट पा रहे हों, तब यह ध्यान रखो कि वहाँ भी मैं तुम्हारे साथ तुम्हारे महापराधों के कष्टों को भोगने में सहभागी हूँ। तुम्हारी अंतरात्मा के कार्यों को भलीभाँति जानने के कारण मैं तुम्हारी अंतरात्मा के संबंध में सजग हूँ। मैं, जो सर्वव्यापी हूँ, उससे तुम कुछ भी नहीं छिपा सकते, अपने गोपन विचारों का अत्यल्प अंश भी नहीं, मैं तुम में हूँ। मैं तुम्हें भलीभाँति जानता हूँ। मेरे बिना न तो तुम हिल ही सकते हो, न ही साँस ले सकते हो। स्मरण रखो मैं तुम्हारी आत्मा के सदृश्य हूँ। तुम जहाँ जाते हो वहाँ मैं जाता हूँ, तुम जहाँ रुकते हो वहाँ मैं रुकता हूँ। आओ मेरे हृदय से अपना हृदय मिला लो, उसे अपना बना लो, तब सब ठीक हो जाएगा। तुम्हारी हृदय-गुहा की छाया और शांति में मेरा ही निवास है।''

सद्गुरु शिष्य को उस आश्वासन के पश्चात् आश्वस्त कर उसे अपना आदेश सुनाता है, ''अब जाओ संसार में निकल पड़ो और मेरी वाणी का इतना व्यापक प्रचार करो, जितना व्यापक आत्मा है, क्योंकि वही उसका जीवन है। मेरा सर्वसमन्वित प्रेम तथा आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ है। तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम माँ के प्रेम के सदृश है। जैसा एक कबूतरी का प्रेम अपने नवजात बच्चों के लिए होता है, वैसा ही प्रेम मेरा तुम्हारे प्रति है। जब कष्ट आते हैं या विपत्तियाँ तुम्हें भयभीत करती हैं तब स्मरण रखना कि मैं तुम्हारा सहायक हूँ। तुम्हारी आत्मा का प्रेमी हूँ।''

एक लकड़ी पानी के किनारे पड़ी थी, उसे तीन जानवर खींच रहे थे। मछली नीचे ले जाना चाहती थी। बतख ऊपर उड़ा ले जाने की फिराक में थी। कछुआ जमीन पर घसीट रहा था।

तीनों पूरा जोर लगा रहे थे, पर वह जहाँ की तहाँ रही। एक इंच भी आगे न बढ़ सकी।

मन, बुद्धि और चित्त जीवन की गाड़ी को अपनी-अपनी दिशा में ले जाना चाहते हैं, पर लक्ष्य एक न होने के कारण जीवन जहाँ-का-तहाँ ही बना रहता है। प्रगति जरा भी नहीं हो पाती। जब मन, बुद्धि और चित्त तीनों सदिच्छा से जुड़ जाते हैं, तो शक्ति संयुक्त हो जाती है, जीवन प्रगतिशील बन जाता है।

इस प्रकार गुरु शिष्य के सभी पाप-संतापों को धो डालता है तथा अपने सान्निध्य से तदाकार होने का आनंद प्रदान करता है। उस परमानंद का एक्यबोध प्राप्त करने हेतु आवश्यक है—गुरु-कार्य के प्रति अपना सर्वस्व समर्पण करने का साहस जुटाना। सच्चे शिष्य की भाँति इन्हीं पलों में हम अपने समर्पण द्वारा कटिबद्धता और प्रतिबद्धता से मुँह न मोड़ें और सर्वस्व के समर्पण द्वारा अपने अंदर के शिष्यत्व को जगाएँ तथा अपने महान् गुरु के कार्य को आगे बढ़ाएँ। ✡

अमृत दृष्टि

गरिमा ने दरवाजे से बाहर देखा। बच्चे अमृत-विष खेल रहे थे। बड़े मजे का है यह खेल, वह सोचने लगी। बच्चों का यह खेल देखते-देखते उसे भी अपने बचपन के दिन याद आ गए। तब स्वयं वह भी यह खेल खेला करती थी। जैसा इस खेल का नाम है, वैसा ही कुछ यह खेल भी है। अपनी ही दृष्टि में दोनों तत्त्व हैं अमृत भी और विष भी। अगर अपनी चेतना में शुभ भाव है, तो अमृत नजर आता है और भाव अशुभ है, तो विष का साम्राज्य ही दिखता है। वह भी अपने विचारों के ताने-बाने में उलझी थी कि बाहर बच्चों का शोर सुनाई पड़ा, अच्छा बताओ इसमें अमृत है या विष! उसे लगा कि यह सवाल और किसी से नहीं स्वयं उससे था।

स्मृतियों के उलझे सूत्र को पकड़ते हुए उसने घर के अंदर की ओर देखा। पुत्री अरूशि भौतिक विज्ञान का कोई पाठ दुहरा रही थी कि सूर्य में हर क्षण हाइड्रोजन का विस्फोट होता रहता है। एकाएक उसके अधरों पर हल्की-सी स्मित रेखा झलकी, पर इसमें मधुरता नहीं तिक्तता थी। वह सोच रही थी कि आज लगभग हर व्यक्ति के भीतर सूर्य की भाँति ही शक्तिशाली गैसों के विस्फोट होते रहते हैं। यह जरूर है कि इनसे जीवनदायनी उष्मा नहीं, बल्कि नफरत की गरमी ही निकला करती है।

सोचते-सोचते उसका ध्यान अपने पति की ओर चला गया। बड़े अजब-गजब हैं उसके पति। उन्हें तो हमेशा ही अच्छा सोचने, अच्छा देखने और अच्छा करने की आदत-सी है। दर्शनशास्त्र के अध्यापन और स्वामी विवेकानंद के प्रति उनके अनुराग ने उन्हें कुछ अनोखा बना दिया है। जब भी घर-पड़ोस में कोई ठेस लगने वाली बात होती है, तो शिकायत करने या बताने पर वह उसकी कुछ ऐसी व्याख्या कर डालते हैं कि लगता है शायद यही सही था।

पति को परिवार में हँसी-खुशी से भरा-पूरा माहौल अच्छा लगता है। वह अपनी समूची शक्ति इसके लिए झोंक डालते हैं। चाहती तो वह भी यही है, पर पड़ोसियों, रिश्तेदारों की आदतें-बातें उसे जब-तब झिंझोड़ कर रख देती हैं। पति से अपना दुःखड़ा सुनाने बैठो तो मिलता है आत्मसमीक्षा से लबालब एक जोरदार भाषण। जिसका उपसंहार हमेशा ही इस वाक्य से होता है, जीवन जीना एक कला है। इस बात को समझो। हमेशा इस सत्य का अनुसरण करो, मनःस्थिति बदले तो परिस्थिति बदले। अपनी मनःस्थिति को बदलकर ही हमारे ऋषि-मुनियों ने, महान् संतों ने इस जगत् को ब्रह्ममय अनुभव किया। 'सर्वखिल्विदं ब्रह्म' यह मनःस्थिति को आमूल-चूल बदल डालने का परिणाम है।

पति की इन बातों पर वह जब-तब खीझती रहती है। वह सोचती क्या करे इनका। चाहे जितना ही लड़ो-झगड़ो, गुस्सा करो, नाराज हो जाओ, पर उन पर कोई फर्क ही नहीं होता। हमेशा ही प्यार से समझाएँगे, नाराज होना तो जैसे जानते ही नहीं। बहुत हुआ तो कह देंगे, 'मनुष्य देहोऽयं क्षुद्रकामायनेष्यते।' अरे भाई, मनुष्य का जीवन इन क्षुद्र कामों के लिए नहीं है। तुम्हारा नाम गरिमा है, देवी! जरा अपने चिंतन को भी गरिमापूर्ण बनाओ, बहुत ज्यादा कहो, लड़ो-झगड़ो तो समझाते-समझाते हँस पड़ेंगे, बाल-सुलभ निर्दोष हँसी।

अब वह क्या करे? कभी-कभी तो झगड़ते हुए वह उनसे कह बैठती है, आप तो बस विधेयात्मक चिंतन की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। डेलकार्नेगी की पुस्तकों का निचोड़ है आपका व्यक्तित्व। जवाब में वह हँसते हुए कहते, डेल कार्नेगी क्यों भई, स्वामी विवेकानंद क्यों नहीं? पीछा छुड़ाने की गरज से वह भी कह बैठती हाँ-हाँ स्वामी विवेकानंद ही सही।

अभी उस दिन एक संबंधी आए। उनके पुत्र का बैग फट गया। वह अरूशि के पीछे पड़ गए। जरूर तुम्हीं ने

इस बैग का सत्यानाश किया है। जब अरूशि ने उन्हें समझाने की कोशिश की तो जोर से चीख पड़े, समझती क्यों नहीं, बड़ों से जबान लड़ाती है। दीवाली का त्योहार था। गरिमा और अरूशि के मन मलीन हो गए। सुबह से रच-रचकर बनाए गए पकवान फीके पड़ गए। अरूशि रोने लगी।

वे रिश्तेदार अपनी सनक उतारकर घूमने चल दिए, तभी अरूशि ने पापा को आते देखा और रोते हुए सारा किस्सा बयान किया, "पापा आप और मम्मी तो मुझे कभी एक शब्द भी नहीं कहते, पर उन्होंने मुझे बुरी तरह से डाँटा। ये बैग जो फटा था, उसे हमीं लोग तो बाजार से लाए थे और फिर फाड़ा भी तो उन्हीं के सुपुत्र ने था।"

उस दिन एक पल को पति का चेहरा आहत होकर रक्ताभ हो गया। अरूशि की पीड़ा से उनकी आँखें नम हो आईं। गरिमा ने सोचा, चलो बेटी के दुःख से द्रवित होकर ही सही, हो सकता है आज ये थोड़ा क्रोधित हो जाएँ, पर वैसा कुछ हुआ ही नहीं। दूसरे ही क्षण उन्होंने कहा, माफ करना सीखो बेटी। हर एक के मन की अपनी सीमाएँ हैं। उनकी समझ छोटी है, तभी उन्होंने वैसा कहा, पर हम लोग उनकी ही तरह क्यों सोचने लग जाएँ।

इसके बाद उन्होंने बेटी को बहुत दुलार किया। अरूशि भी अपने पिता के प्यार में भीग गई। उसका गुस्सा और दुःख फीका पड़ गया। तब वह कुछ सोचते हुए बोली, पापा लोग ऐसा व्यवहार क्यों नहीं करते कि लोग उनके जाने के बाद भी उन्हें याद रखें। जैसे कि महेंद्र अंकल फूल की तरह चिरकालिक सुगंध छोड़कर चले गए थे, पर ऐसे लोगों के आने से क्या फायदा कि उनके आते ही जाने की कामना करने लगे मन। गरिमा को लगा, आठवें दरजे में पढ़ने वाली उनकी यह बेटी कितना गहरा सोचने लगी है।

महेंद्र अंकल एक रात के मेहमान थे। अरूशि को उन्होंने पढ़ने के तरीके बताए थे। गायत्री उपासना की कुछ बातें समझाई थीं। महापुरुषों के जीवन की अनेकों कथाएँ सुनाकर सभी को मोहित कर दिया। पति की मेहमाननवाजी की प्रशंसा की, तो गरिमा के भोजन को भरपूर सराहा।

जब गए तो तीन जनों का यह परिवार खड़ा सोच रहा था कि भला ये कब फिर से वापस आएँगे?

गरिमा को तभी अपने पति द्वारा दी गई एक पुस्तक की कुछ पंक्तियाँ याद आ गईं। 'लर्न टु डिसरिगार्ड द बैड एस्पैक्ट ऑफ लाइफ।' लेकिन वह अभी तक जीवन के कटु पक्ष की अवहेलना करना नहीं सीख पाई थी। भावनाओं का तटबंध जब-तब टूट जाता है, लेकिन उसकी भरपाई में एक लंबा समय लग जाता है। उसे सूझ ही नहीं पड़ता क्या करे वह?

वह काफी देर से खड़ी सोच रही थी। संबंधी महोदय घूम-फिरकर वापस आ चुके थे और सदा की भाँति वह चटखारे ले-लेकर दूसरों की बातें ईर्ष्या और निंदा की चटनी के साथ चाटने में व्यस्त थे। इन बातों से वितृष्ण मन गरिमा ने सोचा कि आखिर पति की तरह सोचने में हर्ज ही क्या है? यह और ऐसे अनेक व्यक्ति आखिर हैं ही क्या—घृणा, ईर्ष्या व द्वेष के पुतले। इनके अरुचिकर वक्तव्यों में न तो किसी के प्रति प्यार है और न सहानुभूति। स्वामी विवेकानंद का कहा मानें तो 'यदि जीवन में शुभ भाव है, तो वही दूसरों में दिखाई पड़ते हैं।' प्रकारांतर से संबंधी महोदय और उन जैसों में विष-ही-विष है।

श्रेष्ठि बेधारक ने तथागत से पूछा, "आपकी मंडली के सभी सदस्यों की कठिन और कष्टसाध्य दिनचर्या है, कभी भोजन मिलता है, कभी नहीं, पैदल लंबी यात्राएँ करते हैं, जमीन पर सोते हैं, फिर भी क्या कारण है कि हमारा श्रेष्ठि समुदाय दुर्बल और उदास रहता है और आपके परिव्राजक कमल के फूल जैसे खिले और प्रसन्न दिखाई पड़ते हैं।

तथागत ने कहा—साधुजन केवल आज के गुजारे पर संतुष्ट रहते हैं, उन्हें कल की चिंता नहीं रहती। जो भी इस तरह रहेगा, प्रसन्नतापूर्वक जिएगा।

जबकि उसके पति में अमृत है। तभी तो उन्हें हर कहीं अच्छा-ही-अच्छा दिखाई पड़ता है। कलहप्रिय संबंधी की क्षुद्र बातों का प्रभाव गरिमा के मन से हट गया। उसे याद आया महर्षि अरविंद का एक वाक्य जो उसके पति हमेशा ही उससे कहा करते थे, 'इनर रेगुलेट्स आउटर बीइंग' अर्थात् अंतःकरण ही बाहर की स्थिति को परिवर्तित करता है।

उसने निश्चय किया कि वह अभी से अपने अंतःकरण को बदलेगी। तभी बेटी अरूशि ने उसे आवाज दी, क्या सोचने लगीं माँ? बाहर खेल रहे बच्चों में से एक छोटे बच्चे की आवाज उभरी, अमृत। पास से गुजर रहे पति ने भी उससे मुस्कराते हुए कहा, अरे गरिमा! तुम्हारी आँखों में तो गरिमा झलकने लगी है। उसने मन-ही-मन सोचा, यह सब विधेयात्मक सोच अर्थात् अमृत दृष्टि का सुफल है। ○

साहसी ही बनते हैं इतिहास पुरुष

जीवन की ऐसी कोई चुनौती नहीं, जिसे वीर और साहसी स्वीकार न कर सकें। भयाक्रांत हो भागने के बजाय अपने मोरचे पर डटे रहने से ही व्यक्ति की बहादुरी एवं हिम्मत तपकर कुंदन बनती है। कर्त्तव्य के महासमर में अंत तक लड़ने वाला ही वीर योद्धा कहलाता है। वही सच्चा बहादुर है, जो औरों के लिए अपनी जान निछावर कर देता है। ऐसे जाँबाज वीर ही इतिहासपुरुष होते हैं, जो जीवन-पथ पर आगे बढ़ने वालों के लिए एक प्रकाश स्तंभ होते हैं।

हिम्मत करना और बिना रुके फिर साहस के साथ बढ़ना—फ्रांस के दुश्मनों के सामने डॉटन का यही अग्निमंत्र था। इसी मंत्र से प्रेरित होकर उसके सारे सिपाही समरांगण में तब तक डटे रहे, जब तक उनके शरीर से रक्त का एक-एक कतरा चुक न गया। सच्चे सिपाही वही होते हैं, जो अपने कमांडर का हर आदेश सर माथे लगा लें, हर चुनौती को स्वीकार लें। ऐसे वीरों को मिटना तो पसंद होता है, पर टूटना नहीं, यहाँ पर जीत और हार का कोई मायने नहीं है। क्योंकि अपने उद्देश्य के लिए मर मिटना ही सच्ची सफलता होती है। इसी कारण डॉटन के सिपाही मर कर भी जीत गए, अमर हो गए।

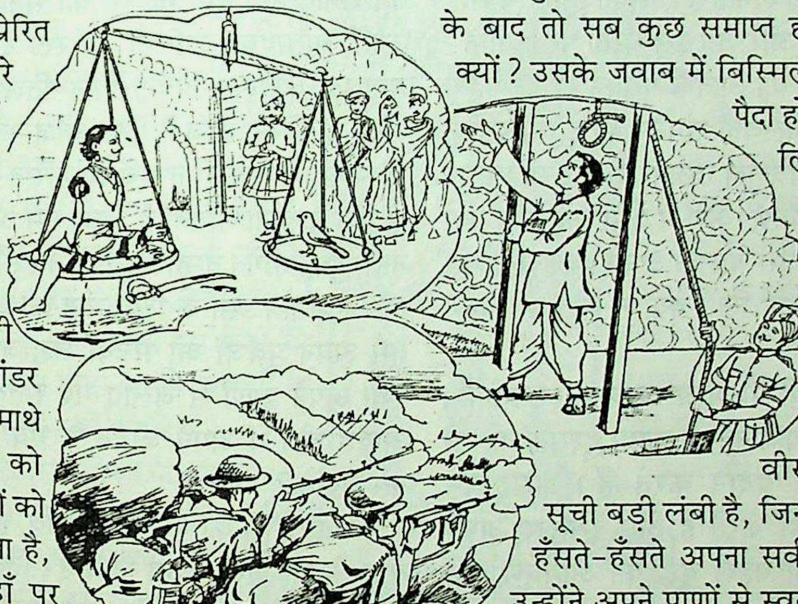

साहसी अपनी जान हथेली पर रखकर चलता है। उसका तो बस एक ही लक्ष्य होता है, ''कर्त्तव्य की बलिवेदी पर बलिदान हो जाना।'' बलिदान ही उसका चिर प्रतीक्षित स्वप्न होता है। इसी लक्ष्य के लिए वीर बलिदानी भगतसिंह फाँसी के फंदे पर झूल गए, मगर उनके चेहरे पर कोई शिकन तक नहीं आई। वह तो कुर्बानी देने के लिए ही जन्मे थे। बलिदानी वेला में भी उनके मन में भारतमाता की स्वतंत्रता की कामना हिलोरें ले रही थीं और अंतर इस उल्लास से हुलसित एवं आनंदित था। भय जिससे स्वयं भयभीत हो उठे ऐसा यह वीर योद्धा जब चंद्रशेखर आजाद के पास पहुँचा तो उसने जलती मोमबत्ती पर हाथ रखकर कसमें खाई थीं कि देश की आजादी ही उसका एकमात्र लक्ष्य होगा।

साहस के एक और अप्रतिम योद्धा रामप्रसाद बिस्मिल थे, जिन्होंने फाँसी के फंदे को चूमने से पहले तक व्यायाम और गीता का पाठ किया था। उनकी दिलेरी से मोहित जेल के सिपाही भी उनकी इस अंतिम यात्रा पर बड़े ही व्यथित हुए। उन्होंने जिज्ञासावश जब पूछा कि चंद साँसों के बाद तो सब कुछ समाप्त हो जाएगा, तो फिर यह क्यों? उसके जवाब में बिस्मिल ने कहा था, मैं फिर से पैदा होकर अपनी भारतमाता के लिए लड़ूँगा और इसलिए मरने से पूर्व मैं अगले जन्म की तैयारी कर रहा हूँ, ताकि मेरा शरीर, मन और आत्मा मेरे देश के लिए फिर से काम आए।

वीर बलिदानियों की यह सूची बड़ी लंबी है, जिन्होंने अपने वतन के लिए हँसते-हँसते अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। उन्होंने अपने प्राणों से स्वतंत्रता के अखंड दीप को प्रज्वलित किया था।

भारतीय वीर जाँबाजों की कथा-गाथा अंतहीन है। भारतीय सेना के शौर्य और पराक्रम का अंत नहीं है। अपने हर जाँबाज सिपाही की चिर अभीप्सित अभिलाषा होती है, देशहित कुर्बानी। इसी का परिणाम एवं परिणति थी कि खून जमा देने वाली कड़कती ठंढ में अपनी जान की बाजी लगाकर लड़ने वाले इन वीर योद्धाओं ने कायर दुश्मनों से कारगिल को मुक्त कराया। दुश्मन इस युद्ध में नाकाम और परास्त हुआ और जीत का सेहरा इन बलिदानी वीरों के सिर पर बँधा। अपनी सरहदों पर तैनात इन वीरों के साहसी कारनामे एवं कश्मीर में अपनी जान

लुटाते इन जाँबाजों के कारण ही अपने पड़ोसी दुश्मन देश की हर छद्म चालें निष्फल होती जा रही हैं।

किसी विचारक ने ठीक ही कहा था, अपनी धरती साहसी एवं वीरों की बलिदानी फसल तैयार करती है और इसी कारण वे अपनी माँ का करज उतारते हुए अपना सर्वस्व होम देते हैं। उनकी आँखों में अपनी इस धरती माता के प्रति मिटने की अजीब चमक होती है। यहाँ की ललनाओं की सूनी माँगें खून से भरी जाती हैं। यहाँ का धर्म कायरता नहीं वीरता है, क्रूरता नहीं प्रखरता है और यहाँ का कर्त्तव्य दैन्य पलायन नहीं आत्मोत्सर्ग है। यही यहाँ के वीरों का भूषण है। ये इसी दिव्य अलंकार से अलंकृत होते हैं।

मानव में जब यह सुप्त साहस जाग्रत् होता है, तो कभी अस्त न होने वाले साम्राज्य को यहाँ से मुँह छिपाकर भागना पड़ता है। जब यह गरजता है, तो दुर्दमनीय वृत्रासुर भी थर्राने लगता है। इसकी हुंकार में सौ-सौ सिंह का बल होता है और जब इस धरती पर अनीति-अत्याचाररूपी महिषासुर का आतंक पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तो इस बल से बलवती संगठन शक्ति की प्रतीक देवी दुर्गा फिर से अपना त्रिशूल उठाती है और महिषासुर को मरना पड़ता है। यहाँ कण-कण में ऐसा साहस समाया है कि अल्हड़ अभिमन्यु जैसे बालक अनीति का चक्रव्यूह भेद जाते हैं, भले ही इसके लिए क्यों न मौत को वरण करना पड़े।

वीर योद्धा पहले कभी भी अस्त्र-शस्त्र नहीं उठाते हैं। वे युद्धोन्मादी नहीं होते। यही नहीं वे कायर दुश्मनों को भी बचने का एक अवसर प्रदान करते हैं। असहाय-दुर्बलों पर कभी वार नहीं करते हैं और इसलिए अपने जाँबाज वीरों ने कभी भी पहले युद्ध को आमंत्रण नहीं दिया है। हाँ, युद्ध को थोपे जाने पर इनके कदम कभी पीछे नहीं मुड़े हैं। इन्होंने डटकर इसका प्रतिरोध किया है और अपने प्राणों का उत्सर्ग करके जय की वरमाला पहनी है। कायरता को सदैव पराधीनता का कडुआ घूँट पीना पड़ता है और अपमान व तिरस्कार सहना पड़ता है। अपने देश को कालक्रम में मिली पराधीनता की कड़ी इसी का परिणाम था। साहस जब-जब चुकता है अथवा वीरता ठंढी पड़ती है, तो सदा चौकन्ना अनीति शत्रु आ धमकता है। इसलिए भारतीय स्वतंत्रता के अमर प्रणेता श्री अरविंद ने कहा था कि भगवान् ने सुप्त एवं निष्क्रिय पड़ी भारतीय आत्मा को जगाने के लिए ही भारत को परतंत्रता की बेड़ी से जकड़ दिया था, ताकि वह अपनी क्षमता को पहचाने और अंतर की वीरता को जगाए। अंततः भारतीय आत्मा जाग्रत् एवं जीवंत हुई तथा यहाँ के शौर्य-पराक्रम ने फिर से मोरचा थामा और स्वतंत्रता की नई किरण फूटी।

अब साहस और पराक्रम के लिए अन्य चुनौती आ खड़ी हुई। यह चुनौती बाहरी शत्रु से कम, आंतरिक शत्रुओं से अधिक है। एक ओर जहाँ सारा विश्व आतंकवाद रूपी छद्म युद्ध से झुलस रहा है वहीं व्यक्ति के अंदर पतन-पराभवरूपी कालनेमि के अनुचर-सहचर घात लगाए बैठे हैं। अपने ही दुर्गुणों-दुष्प्रवृत्तियों के ये बैरी बड़े ही ताकतवर एवं शक्तिशाली हैं। सच्चा साहस तो अब इनसे लड़ने के लिए है, सच्ची वीरता की कसौटी अब कसी जाएगी। अब देखना है कि सिंह-शावक कब तक भेड़ों के झुंड में भेड़ बनकर आत्मविस्मृत होकर पड़े रहेंगे।

उपनिषद् की इस भूमि में वह वाणी फिर से गूँजने लगी है, उठो वीरो! तुम अमृत की संतान हो। तुम ईश्वर की संतान हो। तुम ऋषियों की संतान हो। तुम्हारे रग में उन्हीं आत्मद्रष्टा ऋषियों का रक्त दौड़ रहा है, जिन्होंने मानवता के लिए अपना तिल-तिल गला दिया। तुम्हारे अंदर उन्हीं का बीज है। उस बीज को अपने हृदय के रक्त से सींचकर पल्लवित एवं विकसित करो। यह धरा फिर से एक कुर्बानी माँगती है। क्या तुम अपनी माटी का करज नहीं चुकाओगे। तुम्हारे पूर्वजों ने इसीलिए जन्म लिया था और एकमात्र इसी के लिए मौत को अंगीकार किया। क्या तुम अपने पूर्वजों को सच्ची श्रद्धांजलि देना नहीं चाहते तथा अपने प्राणों से जलाए गए सतयुगी कल्पना के उस अखंड दीप में अपने जीवन के एक अंश का त्याग नहीं कर सकते?

त्याग वीरों का भूषण है। शिवि, हरिश्चंद्र, शंकराचार्य, बंदा बैरागी जैसा त्याग चाहिए। तिल-तिल गलने वाले हिमालय जैसा त्याग चाहिए, जो गलकर पावन गंगा, यमुना जैसी नदियों को लोगों की प्यास बुझाने एवं परित्राण करने हेतु जन्म देता है। आज इसी त्याग की आवश्यकता है कि हम अपने अंदर ईर्ष्या, द्वेष, कामना, वासना, अहंकाररूपी दुष्प्रवृत्तियों एवं दुर्गुणों को क्रमशः उखाड़ फेंकें और बदले में प्रेम, दया, सेवा, सहकार, शिष्टाचार, शालीनता, विनम्रता, सत्य, सदाचार आदि सत्प्रवृत्तियों को धारण करें। यही सच्चा साहस, शौर्य, पराक्रम है। यही हमारी वीरता का मापदंड एवं मानदंड है, जिसे अपनाकर हम सच्चे अर्थों में वीर एवं साहसी कहला सकते हैं।

✡

सांस्कृतिक एकता का प्रतीक हमारा राष्ट्रीय चिह्न

हमारे राष्ट्रीय चिह्न का महत्त्व भी हमारे राष्ट्र एवं उसकी महिमामय संस्कृति जितना ही व्यापक है। यह सत्य बहुश्रुत है कि इसे हमने सम्राट् अशोक की विरासत के रूप में प्राप्त किया है। वाराणसी के पास सारनाथ में जहाँ भगवान् बुद्ध ने सबसे पहले अपने ज्ञान के आलोक से संसार को आलोकित किया था, वहीं पर सम्राट् अशोक ने शिलालेख के साथ इस महत्त्वपूर्ण चिह्न की स्थापना की थी। यहीं से इसे लेकर इसको राष्ट्रीय चिह्न के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। इससे जहाँ एक ओर भगवान् बुद्ध एवं सम्राट् अशोक की शिक्षाओं का संदेश मिलता है, वहीं दूसरी ओर इससे हमारे असीम सांस्कृतिक ज्ञान-विज्ञान की झलक मिलती है।

आज यद्यपि इतिहासवेत्ता यह बता पाने में अक्षम हैं कि सम्राट् अशोक के काल में इस चिह्न का निर्माण एवं प्रचलन कब और कैसे हुआ? परंतु इतना तो ध्रुव सत्य है कि इस चिह्न का संबंध सम्राट् अशोक से है और बहुत संभव है कि इस चिह्न का प्रचलन उससे और भी पहले से रहा हो। यह सत्य इस चिह्न में निहित गुह्य अर्थों से प्रकट होता है, जो ऋषियों के ज्ञान की सर्वोच्च पराकाष्ठा को दर्शाते हैं।

हमारा राष्ट्रीय इतिहास प्रतीकों के महत्त्व को पग-पग पर प्रकट करता है। यहाँ सांकेतिक भाषा में विचारों और भावनाओं को चिह्नों या चित्रों के माध्यम से बताने की परंपरा वैदिक काल से ही है। संभवतः इसी का उपयोग सम्राट् अशोक की विरासत के रूप में प्राप्त इस चिह्न में किया गया है। पहली और साधारण नजर में इस चिह्न को देखकर बस यही कहा जा सकता है कि इसमें दिखाया गया सिंह, शक्ति एवं गौरव का प्रतीक है। इसके आधार पर स्थित अश्व गति एवं ऊर्जा को दर्शाता है। गाय कठिन परिश्रम एवं धैर्य की कथा कहती है और इन दोनों के मध्य स्थित चक्र धर्म की वेगवान गरिमा का प्रतीक है।

परंतु बात इतनी भर नहीं है, इस चिह्न के वास्तविक, सही और सटीक अर्थ की खोज के लिए हमें ऋग्वेद के महर्षियों के अनुसंधान के अध्ययन की आवश्यकता है। ऋग्वेद विश्व में संपूर्ण मानव सभ्यता का सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ है। इस ग्रंथ की भाषा भी हमारे राष्ट्रीय चिह्न की ही भाँति सांकेतिक है। संक्षेप में कहा जाए तो यह चिह्न भी वहीं से उपजा है और अपने समग्र रूप में यह सृष्टि की निरंतरता, जीवन और उस पर एक आधारभूत परम मौलिक ऊर्जा के नियंत्रण को प्रदर्शित करता है।

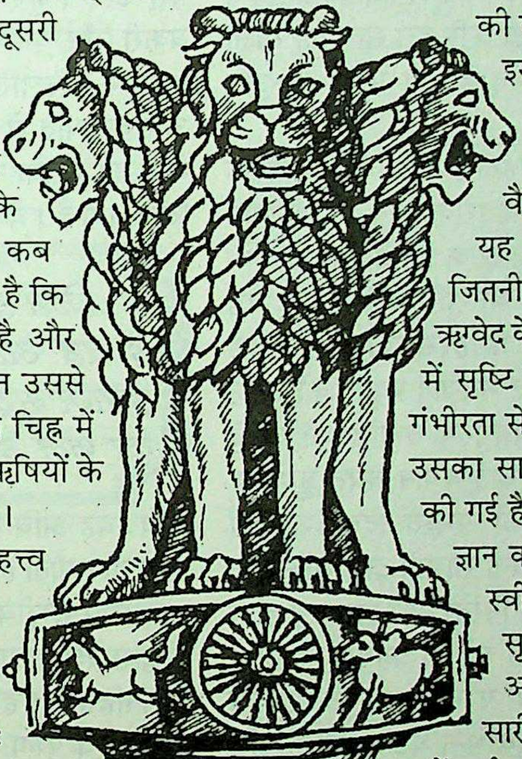

सृष्टि-जिज्ञासा मानव की उत्पत्ति जितनी ही प्राचीन है। अपने उत्पत्ति काल से ही मानव इस बात की खोज-बीन में लगा रहा है कि इस सृष्टि निर्माण का और पृथ्वी पर जीवन का कुछ मकसद है भी या नहीं? आज के वैज्ञानिक उत्कर्ष के युग में भी यह जिज्ञासा उतनी ही तीव्र है, जितनी कि कभी वैदिक काल में थी। ऋग्वेद के दशम् मंडल के नासदीय सूक्त में सृष्टि निर्माण का यह सवाल बड़ी गंभीरता से उठाया गया है और साथ ही उसका सार्थक उत्तर देने की चेष्टा भी की गई है और सबसे आखिर में अपने ज्ञान की सीमा-रेखा मापते हुए यह स्वीकार किया गया है कि यह सृष्टि कहाँ से जन्मी? इसका कोई आधार है भी अथवा नहीं, ये सारी बातें वही जानता है, जो व्योम में सर्वत्र व्याप्त है। अथवा हो सकता है कि वह भी न जानता हो। (ऋ.१०/१२९/७)

यह नासदीय सूक्त सृष्टि-जिज्ञासा की सर्वाधिक प्राचीन अभिव्यक्ति है। प्राचीन मत में सृष्टि की उत्पत्ति बड़ी ही प्राकृतिक मानी गई है। इसमें इस सत्य को स्वीकारा गया है कि सृष्टि का निर्माण प्रकृति की कतिपय शक्तियों द्वारा होता है। प्रकृति की इन शक्तियों को वैदिक ऋषियों ने देव शक्तियों की संज्ञा दी है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि इन सभी देवों ने मिलकर जगत् की उत्पत्ति की। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में ज्ञान वृद्धि के साथ जगत् की उत्पत्ति को

आधारभूत परम मौलिक ऊर्जा से क्रमशः विकसित बताते हुए प्रकृति की शक्तियों को इसमें कारण एवं सहायक माना है। वेद के धर्मप्राण ऋषियों ने इस परम मौलिक ऊर्जा को परमपुरुष, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, विश्वकर्मा आदि विविध नामों से संबोधित किया है। उपनिषद् की श्रुतियों में इसे ही विश्वात्मा या परब्रह्म कहा गया है।

पुरुष सूक्त में इस आधारभूत परम मौलिक ऊर्जा को वैदिक ऋषियों ने परमपुरुष की संज्ञा देते हुए इसका बड़ा ही अभूतपूर्व वर्णन किया है। इस वर्णन के अनुसार हजारों सिर, हजारों आँखों, हजारों हाथों एवं हजारों पाँवों वाला है। यही नहीं वह सर्वत्र उपस्थित है। (ऋग्वेद १०/९०/१) इसी मंत्र में आगे स्पष्ट किया गया है कि वह परम पुरुष समस्त भूतजात प्रकृति को अपने आच्छादन में लेकर मनुष्य शरीर के दस अंगुल वाले स्थान अर्थात् हृदय गुहा में स्थित है। इसी के साथ मंत्रद्रष्टा ऋषि इस सत्य की साक्षी देता है कि यह पुरुष ही जगत् है, जो पहले था और भविष्य में होगा।

इस पुरुष का चतुर्थ भाग रहता है दृश्य जगत् यानि कि मृत्यु लोक के प्राणी रहते हैं और इसका तीन-चौथाई भाग दिव्य है, जो अदृश्य अक्षरों का लोक है। वैदिक ऋषि के इस कथन से स्पष्ट है कि जो भी सृष्टि हमें दिखाई पड़ रही है, वह मात्र समग्र का चौथाई हिस्सा है। तीन-चौथाई हिस्सा तो अदृश्य होकर समस्त भूतजात प्रकृति को अपने घेरे में लिए हुए है। यही परमपुरुष ब्रह्मांड की आदि उत्पत्ति का कारण है। यह सचाई बयान करते हुए यह बताया गया है कि प्रकृति की समस्त दिव्य शक्तियाँ परमपुरुष द्वारा प्रदत्त जाग्रत् रचना सामग्री द्वारा सृष्टि यज्ञ का सरंजाम जुटाती हैं। सृष्टि में निरंतर और अनवरत होती रहने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं को ही ऋषियों ने सृष्टि यज्ञ कहा है। इतना ही नहीं उस परम आधारभूत मौलिक ऊर्जा से ब्रह्मांड एवं सृष्टि के विभिन्न घटकों की उत्पत्ति बताते हुए इसका पुरुष के विभिन्न अंगों से साम्य-तादात्म्य की अनूठी व्याख्या है।

हमारे राष्ट्रीय चिह्न में यही सत्य अनूठे-अनोखे ढंग से दर्शाया गया है। अशोक चिह्न में प्रदर्शित चार शेर और सामने दिखाई देने वाले शेरों के चार पाँव परम मौलिक ऊर्जा के चार अंशों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस चिह्न को हम किसी भी दिशा से देखें, हमें शेरों के तीन मुख एवं चार पाँव ही दिखाई देते हैं। जिसका मतलब केवल यही है कि इस मौलिक ऊर्जा के चार अंशों में तीन अंश ऊपर उठकर आकाश में अवस्थित हैं, शेर के माध्यम से इस मौलिक ऊर्जा की व्याख्या करना इसकी सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध करता है। अशोक चिह्न में शेरों के आधार पर स्थित पशु और चक्र इस परम मौलिक ऊर्जा के एक अंश का प्रतीक होकर दृश्य जगत् का भाग है। इसमें दिखाया गया अश्व एवं गाय चैतन्य जगत् का प्रतिनिधित्व करने के साथ परम मौलिक ऊर्जा एवं प्रकृति को दर्शाते हैं। ऋग्वेद में इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण ऋचा है—

तस्मादश्वा अजायंत ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥

ऋग्वेद १०/९०/१०/

यह ऋचा परम मौलिक ऊर्जा से प्राणिजगत् की उत्पत्ति के रहस्य को दर्शाती है। वैदिक ऋषि का कथन है कि इसी से अश्व तथा ऊपर और नीचे दोनों ओर दाँत वाले पशु उत्पन्न हुए हैं। उसी से गायों की उत्पत्ति हुई है। बकरी और वनस्पति की उत्पत्ति भी उसी से हुई है। इस ऋचा में उल्लिखित शब्द 'अजावयः' का तात्पर्य बकरी और वनस्पति से ही है। इस क्रम में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वेदों में पाँच प्राणियों को विशेष महत्त्व दिया गया है। ये पाँच हैं, पुरुष, अश्व, गाय, बकरी और अवि। यह अवि उस प्राण का नाम है जो वनस्पतियों को स्वपोशी बनाता है।

जिसे हम भाग्य की कृपा समझते हैं वह और कुछ नहीं; वास्तव में हमारी सूझ-बूझ और कठिन परिश्रम का फल है।

हमारे राष्ट्रीय चिह्न में चैतन्य जगत् को अश्व एवं गाय के द्वारा दर्शाया गया है। इसमें एक सांकेतिक रहस्य और भी निहित है। हमारे वैदिक ज्ञान के अनुसार सृष्टि को प्रकृति एवं पुरुष के संयोग का परिणाम माना है। इसका मतलब यह है कि प्रकृति के आधारभूत तत्त्व परमपुरुष (मौलिक ऊर्जा) से संयोग कर प्रकृति की विभिन्न शक्तियों एवं घटकों को विनिर्मित करते हैं और प्रकृति अपने समग्र रूप में प्रकट होती है। अशोक चिह्न में इसी प्रकृति-पुरुष संयोग को दर्शाने-बताने के लिए गाय और अश्व को दिखाया गया है। परम मौलिक ऊर्जा के ऊर्जावान् गति स्वरूप को अश्व दर्शाता है तथा चक्र के दूसरी ओर गाय प्रकृति तथा उसकी मातृवत् पोषण शक्ति को अभिव्यक्ति देती है। आधारभूत मौलिक ऊर्जा एवं प्रकृति का संयुक्त प्रयास ही यह सृष्टि है, जो जीवन चक्र या धर्मचक्र के

रूप में कार्य कर रही है। धर्मचक्र ही वह सृष्टि चक्र है, जो समस्त प्राणियों को धारण किए हुए है।

आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं ने भी पारिस्थितिकी तंत्र की जो बात कही है, वह भी इस सृष्टि चक्र की ही व्याख्या है। वैज्ञानिक भी मानते हैं इस पारिस्थितिकी तंत्र या इकोसिस्टम पर परम मौलिक ऊर्जा का ही नियंत्रण है। ऋग्वेद का ऋषि इस सत्य का इन शब्दों से साक्षी देता है—

स सूर्यः पर्युरू वरांस्येंद्रो
ववृत्याद्रथ्येव चक्रा।
अतिष्ठंतमपस्यं१ न सर्ग कृष्णा
तमांसि त्विष्या जघान।।

—ऋग्वेद १०/८९/२

अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा
वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः।
आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत्सोमो
रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पतिः॥

—ऋग्वेद १०/६५/१

इन मंत्रों में निहित सत्य यही है कि सृष्टि चक्र में अग्नि, इंद्र अर्थात् विद्युत, वरुण अर्थात् जल, मित्र अर्थात् अन्न, अर्यमा अर्थात् सूर्य, वायु अर्थात् हवा, पूषा अर्थात् पृथ्वी, सरस्वती अर्थात् माध्यमिका वाक्, आदित्याः अर्थात् द्वादश आदित्य, मरुत यानि कि मरुद्गण, विष्णु यानि कि व्यापक आकाश, स्ववृहत्सोमो यानि कि स्व प्रकाशित महान् औषधियाँ, रुद्र यानि कि प्राण आदि तथा इसके साथ प्रकृति ब्रह्मांड के पालक प्रभु सर्वत्र उपस्थित हैं।

वैदिक महर्षियों ने सृष्टि चक्र में संवत्सर काल के महत्त्व को स्वीकार किया है। इसका संबंध सूर्य और पृथ्वी के संबंधों से है। इस काल को दिन-रात, पक्ष-मास, अयन-वर्ष में बाँटा गया है। काल के संबंध में चौबीस अरे चौबीस पक्षों का यानि कि संपूर्ण संवत्सर का मान दर्शाते हैं, इसी को एक वर्ष या ३६५ दिन अथवा ७२० अहोरात्र के द्वारा ऋग्वेद में बताया गया है। सृष्टि चक्र में इस संवत्सर काल का अपना महत्त्व है। चक्र के चौबीस अरे इसी संवत्सर काल के चौबीस पक्षों की कक्षा कहते हैं।

यदि इस चक्र को मानव शरीर के संदर्भ में देखें, जो कि देखना निहायत वाजिब है, क्योंकि वैदिक ऋषियों ने हमेशा ही पिंड और ब्रह्मांड के तादात्म्य को स्वीकार किया है, तो इस दृष्टि से इस चक्र की नाभि परम मौलिक तत्त्व है और शरीर के तत्त्व ५ महाभूत, ५ ज्ञानेंद्रियाँ, ५ कर्मेंद्रियाँ, ५ इंद्रियों के विषय या तन्मात्राएँ तथा ४ वृत्तियाँ। वे २४ तत्त्व चक्र के अरे हैं। इन सभी की क्रियाशीलता परम मौलिक ऊर्जा पर ही निर्भर है। जीवन समाप्ति के अवसर पर ये सारे तत्त्व प्रकृति में लय हो जाते हैं तथा परम मौलिक ऊर्जा आधारभूत परम मौलिक ऊर्जा में विलीन हो जाती है।

उपनिषद् की श्रुतियों में इस सत्य को स्पष्ट करने वाली अनेकों श्रुतियाँ मिलती हैं। मांडूक्य उपनिषद् में परब्रह्म के नाम से इस आधारभूत परम मौलिक ऊर्जा की ही व्याख्या की गई है। इसे ही चतुष्पाद वाला कहकर निरूपित किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी ऋषियों ने ध्यान योग के माध्यम से सृष्टि सृजन की जिज्ञासाओं के कुछ ऐसे ही सार्थक एवं सटीक समाधान प्रस्तुत किए हैं।

कबीर को सद्गुरु की तलाश थी। निकट में स्वामी रामानंद के अतिरिक्त और कोई सूझता न था। अनुरोध को वे स्वीकार कर नहीं पा रहे थे। जुलाहे को दीक्षा देने में उन्हें अन्य शिष्यों के कुपित होने का भय था।

कबीर ने रास्ता निकाल लिया। वे गंगाघाट में सीढ़ियों पर जा लेटे। वृद्ध स्वामी जी को कम दिखता था। भोर के अँधेरे में नियत रास्ते से चलते हुए उनका पैर सीढ़ियों पर लेटे लड़के की छाती पर पड़ा। पता चलते ही वे राम-राम कहते हुए पीछे हट गए।

कबीर उठकर चल दिए। चरणस्पर्श को उन्होंने दक्षिणा माना और राम-राम उच्चारण को गुरुमंत्र। गुरु शिष्य का एक तत्त्व जैसा संबंध बन गया।

कबीर कहते रहते थे, शिष्य अपनी शालीनता, अपनी श्रद्धा के बल पर गुरु को और भक्त अपनी भावना के बल पर भगवान् को समर्थ बनाता है।

धर्मचक्र प्रवर्तन करने वाले भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के साथ सारनाथ के शिलालेख में इस चिह्न को स्थापित करने का एक गूढ़ अर्थ यह भी है कि वैदिक ज्ञान एवं बुद्ध की शिक्षाओं में कोई मौलिक विरोध नहीं है। महात्मा बुद्ध ने यदि किसी चीज का विरोध किया था, तो वह थीं,

कुरीतियाँ, मूढ़मान्यताएँ, अंधपरंपराएँ, रूढ़ियाँ, तर्कहीन रीति-रिवाज और सबसे बढ़कर अंधविश्वास। इसीलिए परम मौलिक ऊर्जा जिसे परमब्रह्म परमेश्वर कहा जाता था, उसके विषय में बुद्ध मौन ही रहे, क्योंकि जहाँ अनुभव ही सत्य है, वहाँ बेकार के तर्क उलझाते ही हैं।

हाँ, उन्होंने यह अवश्य कहा कि समस्त विश्व संयोगों एवं संबंधों का ही सिलसिला है। ऐसा कुछ भी नहीं है, जो बिना किसी संबंधों के बचा रह पाता हो। इसलिए हमें जीवन के संबंधों को ऐसे कलात्मक ढंग से जीना चाहिए, जो हमें दुःखों से निवृत्ति या निर्वाण की ओर ले जाएँ। बुद्ध ने कहा जीवन निरंतर चलायमान है। यह एक सतत प्रवाहित धारा है, जहाँ अगले ही क्षण सब कुछ नया हो जाता है। नाम और रूप क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। यही तो है बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद। यहाँ कोई चीज है जो नहीं बदलती, तो वह है बदलते रहने का सिलसिला और इस सिलसिले को बनाए रखने और चलाए रखने वाली प्रकाशवान् शक्ति। सृष्टि चक्र के इस सत्य को भगवान् तथागत ने स्वीकार करने के साथ आधारभूत परम मौलिक ऊर्जा को स्वीकारा है। हमारे राष्ट्रीय चिह्न में यही दार्शनिक सत्य उजागर होता है।

हमारे राष्ट्रीय चिह्न के ठीक नीचे लिखा हुआ है, सत्यमेव जयते। यह महावाक्य मुंडक उपनिषद् के ऋषि की अनुभूत श्रुति है। जिसका अर्थ है—सत्य की ही विजय होती है। अपने गहन अर्थों में उपनिषद् के ऋषि कहते हैं परम मौलिक ऊर्जा ही सत्यस्वरूप है और सर्वत्र ही विजयी होती है। इस सनातन सत्य के अनुभव के लिए हमें भी सत्य-नैतिक मार्ग को अपने जीवन में अपनाना चाहिए और इसकी अनुभूति के लिए हमें कहीं अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह परमपुरुष तो हमारे अपने दस अंगुल वाले हृदय की ही अंतर्गुहा में है।

वैदिक ऋषियों ने हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, प्रजापति, परमपुरुष नाम से जिस परम मौलिक ऊर्जा की व्याख्या की है, वही उपनिषदों में परब्रह्म, विश्वात्मा, परमेश्वर के नाम से निरूपित हुआ है। इसे ही पैगंबर मोहम्मद ने खुदा, अल्लाह कहा है और महात्मा ईशपुत्र ईसा ने इसी को गॉड या परमेश्वर कहकर प्रार्थना की है। जेन्द अवेस्ता में वर्णित अहुरमज्द यही है। सिखों के गुरु नानक ने इसी को अकाल पुरुष कहकर पुकारा है। अर्थात् हमारा राष्ट्रीय चिह्न न केवल हमारी सांस्कृतिक विरासत का प्रतीक है, बल्कि सांस्कृतिक एकता का भी प्रतीक है। इतना ही नहीं यह मानव के आध्यात्मिक अभ्युत्थान के पथ भी प्रदर्शित करता है, पर इसके लिए शर्त यही है कि हम इसके आदर्श वाक्य को अपनाएँ, 'सत्यमेव जयते।' □

* * *

चीन का एक अमीर च्यांग भेड़ पालने का धंधा करता था। एक बार उसने दो लड़के नौकर रखे और चराने के लिए भेड़ें बाँट दीं। देखने पर पता चला कि भेड़ें दुबली भी हो गईं और मर भी गईं। अमीर ने चरवाहों को जिम्मेदार ठहराया। जाँच की कि किस कारण इतनी हानि हुई।

पता लगा कि दोनों अपने-अपने व्यसनों में लगे रहे। एक को जुआ खेलने की आदत थी, जब भी दाँव लगता जुए में जा बैठता। भेड़ें कहीं-से-कहीं जा पहुँचतीं और भूखी-प्यासी कष्ट पातीं। यही बात दूसरे की थी, वह पूजा-पाठ का व्यसनी था। भेड़ों पर ध्यान न देता और अपनी रुचि के काम में लगा रहता।

दोनों पकड़े गए। न्याय के लिए कनफ्यूशियस के सामने प्रस्तुत किए गए। दोनों के कारणों में भेद था, पर कर्त्तव्यपालन की उपेक्षा करने के लिए दोनों समान रूप से दोषी थे।

न्यायाधीश ने दोनों को समान रूप से दंड दिया और कहा, "कर्त्तव्य भाव के बिना जो किया जाता है वह व्यसन है, व्यसन में जुआ खेला या पूजा की। कर्त्तव्य की तो उपेक्षा की ही। उसी का दंड दिया गया है।"

तस्य वाचकः प्रणव

ईश्वर को यदि एक अक्षर में लिखना-बोलना हो, तो वह 'ॐ' ही हो सकता है। यह सीमित में असीम और गागर में सागर को समेटे हुए एक ऐसा बीजाक्षर है, जो अपने अंदर ईश्वरत्व को संपूर्ण और व्यापक रूप में धारण किए हुए है।

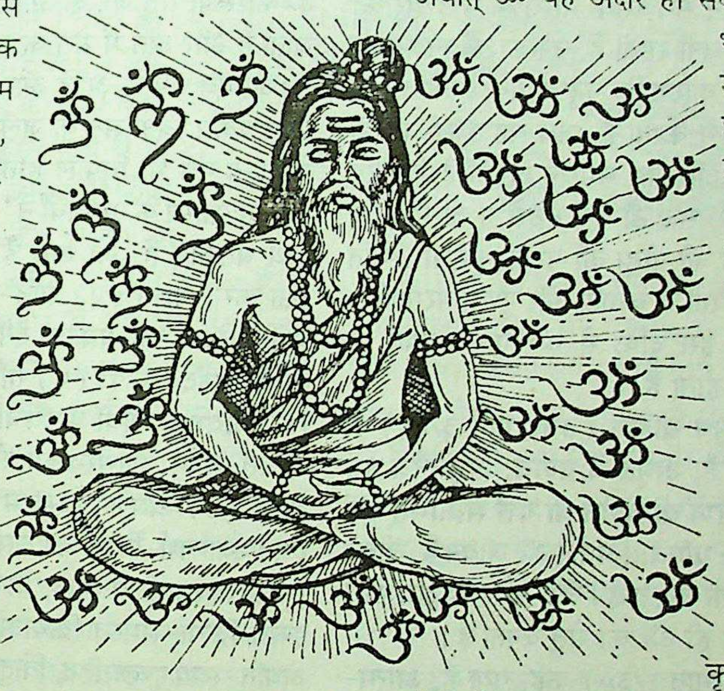

परमात्मा के तीन गुण बतलाए गए हैं, उत्पत्ति, स्थिति और लय। ओंकार तीन अक्षरों के मेल से बना है। इसका 'अ' वर्ण 'सृष्टि' का द्योतक है, 'उ' वर्ण 'स्थिति' दर्शाता है, जबकि 'म' 'लय' का सूचक है। यह तीनों ही परम सत्ता के तीन महत्त्वपूर्ण गुण हैं। इस दृष्टि से 'ॐ' को एक व्यापक अर्थ वाला ईश्वरबोधक नाम कहा जा सकता है। यों राम, कृष्ण, शिव आदि भी परमेश्वर के ही नाम हैं, पर अपनी परिमित अर्थवाचकता के कारण वह स्थान नहीं प्राप्त कर सके, जो ओंकार को प्राप्त है। राम 'रम्' धातु से व्युत्पन्न है। रम् अर्थात् तन्मयता प्राप्त करना। यह योगी चित्त की विशेषता है। वहाँ रमण करने के कारण ही वे 'राम' कहलाए, किंतु यह भगवान् के सर्वव्यापकता वाले गुण के विपरीत है। प्रभु केवल योगियों के ही चित्त में निवास करते हैं, सो बात तो नहीं। इस प्रकार 'राम' का अर्थ संकुचित हो जाता है। ऐसे ही 'कृष्ण' शब्द का अर्थ भी सीमित है। **कर्षति पापानि यः स वै कृष्णः** अर्थात् जो पाप का हरण करे वह 'कृष्ण' है। भगवद् सत्ता इतनी अशक्त तो नहीं कि वह एक निश्चित कार्य को ही क्रियान्वित करने में समर्थ हो। यह ईश्वरत्व की एक विशेषता हो सकती है, संपूर्णता नहीं। 'शिव' शब्द 'शो' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'क्षीण करना' होता है। **क्षयति पापं इति शिवः** अर्थात् जो पापों को क्षीण करे, उसे 'शिव' कहते हैं। यहाँ 'शिव' भी पाप नाश करने तक सीमाबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार यह सारे नाम एकांगी हैं। इनमें ईश्वरत्व का कोई एक गुण या विशेषता ही सन्निहित है, जबकि परमेश्वर को अनंत और असीम कहा गया है। इस दृष्टि से विचार करें, तो एक ओंकार ही उस परा शक्ति को अभिव्यक्त करने वाला उपयुक्त नाम प्रतीत होगा। इसमें उसकी व्यापकता को प्रकट करने वाले कितने ही त्रिक् सम्मिलित हैं, यथा—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। सत्, रज, तम। स्थूल, सूक्ष्म, कारण। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। सृष्टि, स्थिति, लय। सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद। भूः, भुवः, स्वः। पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्यौः। अग्नि, सूर्य, वायु। वर्तमान, भूत, भविष्य आदि।

मांडूक्योपनिषद् में ओंकार के विषय में कहा गया है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥

अर्थात् ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है। यह जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान है, उसी की व्याख्या है। इसलिए यह सब ओंकार ही है।

प्रश्नोपनिषद् में सत्यकाम ने पिप्पलाद ऋषि से पूछा है कि मनुष्यों में जो मरणपर्यंत ओंकार का ध्यान करता है, उसे किस लोक की प्राप्ति होती है? ऋषि कहते हैं वह सगुण या निर्गुण ओंकार रूप ब्रह्म को प्राप्त होता है।

गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

अर्थात् जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ एवं ब्रह्म का चिंतन करता हुआ शरीर को त्यागता है, वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् कहती है—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। (१-८)

अर्थात् ॐ ब्रह्म है। इस जगत् में सब कुछ ॐ है। कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता से कहते हैं,

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदंति। यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

—१-२-१५

अर्थात् हे नचिकेत्! संपूर्ण वेद जिस पद का विधान करते हैं, संपूर्ण तप जिसका उच्चार करता है और जिसकी इच्छा से ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ। वह है ॐ।

योग दर्शन का इस संदर्भ में कथन है—

तस्य वाचकः प्रणवः। अर्थात् ईश्वर का वाचक (नाम) प्रणव (ओंकार) है। इसे और सरलतापूर्वक उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है। जब हम 'गाय' बोलते हैं, तो उससे गाय नामक चौपाये का बोध होता है, किंतु गाय नामक यह चौपाया अलग है और उसका वाचक शब्द 'गाय' अलग है, पर यह सत्य है कि उक्त शब्द के उच्चारण से मानस पटल पर 'गाय' नामक जंतु की ही आकृति उभरती है। ठीक उसी प्रकार 'ॐ' शब्द ईश्वर का वाचक है। इसके उच्चारण से परम सत्ता की कल्पना साकार करने में मदद मिलती है। इस अवलंबन से जिसके मस्तिष्क में ईश्वर की छवि और स्मृति निरंतर बनी रहती है, उसका जीवन सफल और सार्थक हो जाता है, कारण कि मनुष्य प्रायः अनीति और अन्याय बरतना तब प्रारंभ करता है, जब वह स्वयं को ही सर्वोपरि मान बैठता है और यह समझने लगता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है, सब ठीक है। उसे न तो पाप की चिंता होती है, न किसी की पीड़ा की परवाह। ऐसी स्थिति में ईश्वर-स्मरण उसे दुरितों से बचाता और पुण्य-परमार्थ के लिए प्रेरित करता है। इस दृष्टि से ॐ एक अत्यंत ही उपयोगी माध्यम सिद्ध होता है।

इसी बात को गोपथ ब्राह्मण (उत्तर भाग ३/११) में दूसरे ढंग से कहा गया है, **अमृतं वै प्रणवः अमृतेनैव तत् मृत्युं तरति। तद्यथा मंत्रेण वा वंशेन वा गर्त्तं संक्रामेत् एवं तत्प्रणवेनो पसन्तनोतिः प्रणवः**। अर्थात् ॐ जीवन है, जीवन ॐ के द्वारा मृत्यु को पार करता है। जैसे बाँस के द्वारा खाई को लाँघा जाता है, ऐसे ही ॐ का सेतु बनता है।

इससे पहले (पूर्व भाग १/३०) कहा गया है, **आत्म-भैषज्यमात्मकैवल्यमोकारः** अर्थात् ओंकार आत्मा की चिकित्सा और आत्मा को मुक्ति देने वाला है।

तंत्र ग्रंथों में भी उद्‌गीथ या ओंकार को ब्रह्मबोधक कहा गया है, **प्रणवश्च स्मृतः साक्षादद्वैतब्रह्म बोधकः** अर्थात् प्रणव अद्वैत ब्रह्म का बोधक है।

महाकाल संहिता के दक्षिण खंड के अनुसार भगवती के दिव्य मानसिक आत्मरमण-आनंद से बिंदु का उद्‌भव हुआ, जो श्री विद्या स्वरूपिणी है। वही कलासप्तक से युक्त होकर प्रणव रूप बना—

एतस्मिन्नेव काले तु स्वबिंब पश्यति शिवा।
तद्बिम्बं तु भवेन्माया तत्र मानसिकं शिवम्॥
विपरीत रतौ देवि बिंदुरेकोअभवत् पुरा।
श्री महात्रिपुर सुंदरी रूपं बिभ्रति परमाः कलाः॥
प्रणवः सुंदरी रूपः कलासप्तक संयुतः।

इस संबंध में शक्ति संगम तंत्र का कथन है—

ब्रह्म विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
एते पंचमहाप्रेताः प्रणवं च समाश्रिताः॥

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर तथा सदाशिव ये पंच महाप्रेत हैं, जो प्रणव में निविष्ट हैं।

कालिका पुराण में ओंकार महत्त्व का उल्लेख करते हुए कहा गया है,

शास्त्राणां प्रणवः सेतुर्मंत्राणां प्रणवः स्मृतः।
स्त्रवत्यनोंकृतः पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यते॥
निःसेतु सलिलं यद्वत्क्षणान्निम्नं प्रगच्छति।
मंत्रस्तथैव निःसेतुः क्षणात्क्षरति यज्वनाम्।

अर्थात् सब प्रकार के मंत्रों का प्रणव सेतु है। यदि ॐकाररूपी सेतु जप के आदि में न हो, तो वह जप पतित हो जाता है और अंत में सेतु के न रहने से मंत्र विकीर्ण हो जाता है। अतएव जप के आदि और अंत में सेतु को जपना चाहिए। जिस प्रकार बिना सेतु के जल नीचे चला जाता है, उसी तरह सेतुशून्य मंत्र भी विफल होता है।

मंत्रशास्त्र के आचार्यों ने 'ॐ' के अर्थात् प्रणव के उन्नीस अर्थ बतलाए हैं, जो अग्र हैं, (१) रक्षण-संसार सागर से रक्षा करने वाला (२) गति-समष्टि नियति का दाता (३) कांति-विश्व को प्रकाश देने वाला (४) प्रीति-प्रेम करने वाला आनंदस्वरूप। (५) तृप्ति-तृप्ति देने वाला शांतस्वरूप (६) अवगम-जीवों के विचारों को जानने वाला (७) प्रवेश अवति-सूक्ष्म आत्मस्वरूप से सब प्राणियों में प्रवेश करने वाला (८) श्रवण-सूक्ष्मतम एवं गुप्ततम शब्दों का श्रोता (९) स्वाम्यर्थ-विश्व का शासक तथा स्वामी (१०) याचन-समस्त ऐश्वर्यों से युक्त, सबकी याचना का लक्ष्य (११) इच्छा क्रिया-समस्त क्रियाओं का संचालक (१२) इच्छित अवति-स्वयं इच्छारहित, किंतु सबकी शुभेच्छाओं का प्रकाशक (१३) दीप्ति अवति दीप्तति-ज्ञान और विद्या का तेजस्वरूप अंधकारनाशक (१४) आलिंगन-सर्वव्यापक और सर्वज्ञ (१५) वाप्ति-शुद्ध अंतःकरण में स्वस्वरूप प्रदर्शक (१६) हिंसा-अज्ञाननाशक (१७) दान-श्रेष्ठता का भोग करने की बुद्धि देने वाला (१८) भोग-प्रलयकाल में स्थूल विश्व को स्वयं में लय करने वाला (१९) वृद्धि-सृष्टि काल में सूक्ष्म प्रकृति को स्थूल पथ पर लाने वाला।

यह सभी गुण ईश्वर के हैं। उस स्तर की सत्ता ही इन्हें ग्रहण-धारण कर सकती है। अतएव यदि ओंकार को ईश्वरबोधक कहा जाता है, तो इसमें अत्युक्ति कुछ भी नहीं।

◆

प्रकृति की अविज्ञात पहेलियाँ

बरमूडा प्रकृति का एक ऐसा रहस्य है, जो अभी तक आगम-अजान बना हुआ है। विज्ञान के अत्याधुनिक अनुसंधान भी इसका भेद नहीं पा सके हैं कि क्यों इस क्षेत्र में आते ही जहाज एवं वायुयान आदि विलुप्त हो जाते हैं। इस विशाल त्रिकोणीय संरचना के अंदर ऐसा क्या है, जो यह रहस्य बना हुआ है। अभी तक इसका कोई समाधान नहीं मिल पाया है।

बरमूडा का यह रहस्यमय सागर न जाने कितनी नौकाओं, जहाजों एवं वायुयानों को अपने उदर में समा चुका है और कितने ही व्यक्ति अपनी जान से हाथ धो चुके हैं। अब तो स्थिति यह है कि इस दिशा की ओर कोई जाना ही नहीं चाहता। यह रहस्य कब से है, कोई नहीं जानता और इसकी जानकारी ठीक से किसी को पता भी नहीं है। इसका यह अद्भुत रहस्य तब प्रकाश में आया जब सन् १८४० ई. में रोसेली नामक जहाज इस सागर में गुम हो गया। यह जहाज हवाना से यूरोप की ओर रवाना हुआ था। खोजी दल ने इसे दुर्घटना मानकर संतोष कर लिया, परंतु इसका कारण पता नहीं चल पाया। इस घटना के ठीक ४० वर्ष पश्चात् जनवरी १८८० में फिर से एक घटना घटी, जिसे मात्र संयोग नहीं कहा जा सका। हुआ यों कि ब्रिटेन का एक जलपोत अटलांटा २९० यात्रियों को लेकर बरमूडा से इंग्लैंड की ओर जा रहा था। यह जहाज बरमूडा से निकला ही था कि कहीं लापता हो गया और फिर इसका अवशेष तक नहीं मिला। तभी से इस सागर को रहस्यमय घोषित कर दिया गया।

बीसवीं सदी के वैज्ञानिक आविष्कार भी इसके भेद को जान पाना तो दूर उलटे इसके खूनी पंजों का शिकार होते गए, क्योंकि विभिन्न प्रकार के जहाज एवं यानों का निर्माण उसी सदी में प्रारंभ हो चुका था। बीसवीं सदी के आगमन के साथ ही फिर से एक घटना घटी। अक्टूबर १९०२ में जर्मन का फ्रेयर जहाज इस सागर में डूब गया। ४ मार्च १९१८ में अमेरिकी जहाज सायक्लोप्स भी इस रहस्य के गर्भ में समा गया। ५०० फीट एवं उन्नीस हजार टन भारी सायक्लोप्स ३०९ यात्रियों से भरा था और जैसे ही ४ मार्च को बारबाडोस से नारफॉक के लिए बढ़ने लगा कि फिर इसका कोई पता नहीं चला, जबकि मौसम शांत था और कहीं-कोई गड़बड़ी नहीं थी।

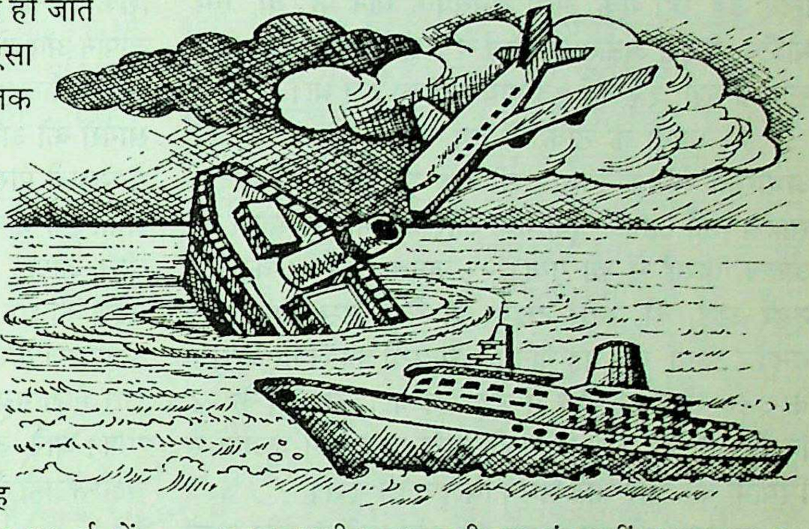

बरमूडा की इस कहानी का अंत नहीं हुआ वरन् यह क्रम चलता रहा। सन् १९२५ में एस. एस. कोटोपैक्सी चार्ल्सन से हवाना जाते समय इसी इलाके में नष्ट हो गया। जान एवं मैरी नामक जहाज भी सन् १९३२ में इसी हादसे का शिकार हो गया। सेंट विसेंट से चलते समय ग्लोरिया कोलाइट फरवरी १९४० में गुम हो गया। क्यूबा का रुबिकॉन २२ अक्टूबर १९४४ में डूब गया, परंतु इसमें एक कुत्ता ही एकमात्र जीव था, जो तैरता हुआ मिला, शेष का अता-पता नहीं था।

सन् १९२४ में जापानी जहाज रोइकु मारु बरमूडा में डूब गया। सन् १९३१ में स्टावेंगर तथा १९३८ में एंग्लो आस्ट्रेलियन का भी यही हाल हुआ। इसी प्रकार जून १९५० में एम. एस. सांद्रा जहाज के लिए भी यह स्थान बड़ा अशुभ सिद्ध हुआ। बरमूडा के इस रहस्यमय सागर ने २ फरवरी १९६३ में ४२५ फुट विशाल जहाज मेराइन सल्फर क्वीन को अपने उदर में समा लिया। एक जुलाई १९६३ में रुनो ब्वॉय नौका एवं ५ दिसंबर १९६७ में रेबोनोक भी इस अभिशप्त प्रदेश से पार न पा सके।

२४ दिसंबर १९६७ में विचक्राफ्ट इसकी सीमारेखा को स्पर्श करते ही लापता हो गया। न्यू आर्लियन्स से केप्टाउन की यात्रा में निकले मिल्टन इट्राइड्स सन् १९७०

में ऐसा खोया कि इसका पता तक नहीं चला। २० हजार टन वाला भारी-भरकम जहाज मार्च १९७३ में अनायास इसका शिकार हो गया।

बरमूडा के इस रहस्य के गर्भ में न केवल जहाज ही गुम हुए, बल्कि इसके ऊपर उड़ान भरने वाले वायुयान भी इससे बच न सके। ज्ञात सूत्रों के अनुसार सर्वप्रथम ५ दिसंबर १९४५ में टी. बी. एम. नेवी एवेंजर वमवर्षक यान यहाँ पर लापता हुआ। इसके पीछे इसी के सहयोग के लिए उड़ रहा एक अन्य बमवर्षक यान पी. वी. एम. मार्टिन भी इस अज्ञात आश्चर्य में सदा के लिए समा गया। इनमें क्रमशः १२ एवं १३ पायलटों का दल था।

इस घटना के ठीक दो वर्ष पश्चात् १९४७ में एक अमेरिकी सैनिक विमान सी-५४ सुपरफोर्ट का अदम्य साहस यहाँ आकर चुक गया और यह भी इस सागर की अतल गहराई में खो गया। २९ जनवरी १९४८ का दिन टूडर आई. वी. स्टार टाइगर के लिए उस समय मौत बनकर आया, जब यह यान ३१ सदस्यों को लेकर बरमूडा के ३८० मील उत्तरपूर्व में उड़ रहा था। इसी वर्ष के २८ दिसंबर में डी. सी. ३ निजी चार्टर यान यॉन जुआन से मियामी की ओर जाते समय विलुप्त हो गया।

सचमुच ही इस रहस्य का अंत नहीं है और इसमें लापता होने वाले यानों का क्रम भी नहीं थम रहा। इसी क्रम में १७ जनवरी १९७४ में लंदन से सेंटियागो जाते समय स्टार एरियल को बरमूडा निगल गया। यही हाल मार्च १९५० में अमेरिकी ग्लोबमास्टर का हुआ। ब्रिटिश यान ट्रांसपोर्ट भी इस हादसे से नहीं बच सका और दो फरवरी १९५२ में यह भी एक किंवदंती बनकर रह गया। यह घटना पुनः एक बार घटी जब ४२ यात्रियों को लेकर उड़ान भरने वाला सुपर कांटेलेशन इसके आकाश पर था।

बरमूडा का रहस्य अभेद्य है, परंतु ये यात्री विमान या जहाज इस क्षेत्र में प्रवेश करते ही क्यों गुम हो जाते हैं, यह प्रश्न अभी तक अनुत्तरित है। नेवी मार्टिन पी-५ एम. नामक समुद्री विमान का भी यहाँ आकर कोई पता नहीं चल सका कि ९ नवंबर १९५६ में उड़ान भरने के बाद यहाँ इसके आकाश में कहाँ विलुप्त हो गया। इसी वर्ष १९५६ में बी-२५ विमान इस सागर के दक्षिण पूर्वी क्षेत्र में लापता हुआ था।

जनवरी १९६२ में एयरफोर्स का के बी-५० बरमूडा के आश्चर्य में खो गया। १९६३ में ऐसी और दो घटनाएँ घटीं जिससे एयरफोर्स के अधिकारी भी इससे चमत्कृत होकर परेशानी में पड़ गए कि आखिर इस विचित्रता का अंत कहाँ है ? २८ अगस्त में एयरफोर्स का के सी-१३५ तथा २२ सितंबर में सी-१३२ कार्गोमांटर इस आश्चर्य में खो गए। इसी तरह ५ जून १९६५ में फ्लाइंग बाक्सर सी-११९ एवं ११ जून १९६७ में वाय सी-१२२ नामक कार्गो यान का भी कोई सुराग तक नहीं मिला।

प्रकृति का आश्चर्य केवल बरमूडा के सागर तक ही सीमित नहीं है। इसके अलावा भी ऐसे कई सागर हैं, जो अपने पास से गुजरने वाले यानों एवं जहाजों को अपना शिकार बनाते हैं। ऐसे सागरों में दक्षिण-पूर्वी जापान सागर, जापान और बोनीन द्वीप समूह के मध्य की खाड़ी इवोजीमा और मार्कस द्वीप समूह का सागर है। जापानी मछुआरे इन सागरों को असुरों का साम्राज्य मानते हैं तथा इन खाड़ियों में मछली मारने नहीं जाते हैं। यहाँ हुए हादसों का शिकार सर्वाधिक जापानी जहाज ही हुए हैं। सन् १९५० से ५४ के बीच जापान के नौ अत्याधुनिक जहाज इस अभिशप्त प्रदेश की भेंट चढ़ चुके हैं। इतना ही नहीं इसके रहस्य का अनावरण करने के लिए रकौया मास नं.-५ नामक जहाज द्वारा भेजा गया वैज्ञानिक दल भी खुद इसी का शिकार हो गया। जाने-अनजाने किसी भी प्रकार का स्पर्श इसको बर्दाश्त नहीं है और यह क्षेत्र उसे निगलकर ही शांत होता है।

इसके आश्चर्य की थोड़ी-सी जानकारी भी वैज्ञानिकों के हाथ नहीं लगी है, जबकि ये प्रकृति को अपने वश में कर लेने का दावा करते हैं। हालाँकि दशकों से इसकी खोज चल रही है। सभी अपनी-अपनी परिकल्पनाओं के आधार पर अपना निष्कर्ष देते हैं। राल्फ वार्कर इस रहस्य का कारण प्रति-गुरुत्वाकर्षण को मानते हैं। जिससे विशालकाय जहाज आदि लापता हो जाते हैं। इवान सैंडर्सन इसके चुंबकीय प्रभाव की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। अन्य भी ऐसी अनेकों परिकल्पनाएँ हैं, परंतु किसी में भी समाधान नहीं है। कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दे पाता कि क्यों यह प्रकृति इस प्रकार अपनी अद्‌भुत लीला रच रही है।

सच तो यह है कि इसके लिए किए जा रहे अनुसंधान का आधार ही सही नहीं है। जो अदृश्य है, उसे भौतिक साधन-उपकरणों से जान पाना भला कैसे संभव हो सकता है। इसे जानने की विधि एवं विधान भिन्न हैं। प्रकृति ईश्वर की सहचरी है, इसे जानने के लिए ईश्वर की ओर उन्मुख होना पड़ेगा और इसी में समस्त रहस्य एवं इसका समाधान सन्निहित है।

* * *

अचेतन के गर्भ में छिपा भांडागार

मस्तिष्क मानव शरीर का सबसे अद्‌भुत एवं आश्चर्यजनक अंग है। यह अपने पिटारे में जाने कितने रहस्यों को सँजोए हुए है। इसी कारण यह बड़ी अबूझ पहेली बना हुआ है। जैव अनुसंधानकर्त्ता इसे जितना अधिक जानने का प्रयास करते हैं यह उतना ही गूढ़ प्रतीत होता है। हालाँकि वैज्ञानिकों द्वारा इसके अनेक रहस्यों का पता भी लगा लिया गया है, लेकिन इस सबके बावजूद मस्तिष्क एक ऐसा जटिल ग्रंथ है, जिसके अभी एक चौथाई अध्याय भी नहीं खुले हैं।

मस्तिष्क का रहस्य अद्‌भुत है और इसकी गूढ़ता अगम्य। रहस्य की इसी जिज्ञासा के कारण ही यह अन्वेषणकर्त्ताओं के लिए खोज का, आकर्षण का केंद्रबिंदु बन गया है। तमाम जीवविज्ञानी इसके विभिन्न पक्षों के प्रयोग-परीक्षण में जुटे हुए हैं। इसी क्रम में अमेरिकी तंत्रिका वैज्ञानिक डॉ. इवॉन स्नाइडर को एक महत्त्वपूर्ण सूत्र हाथ लगा है। उन्होंने क्षतिग्रस्त मस्तिष्क को सुधारने-सँवारने के लिए एक नवीन प्रयोग-प्रणाली की खोज की है। उनके गंभीर प्रयासों से एक तथ्य यह प्रकाश में आया कि मस्तिष्कीय कोशिकाओं को प्रयोगशाला में फसलों के समान रोपा एवं पनपाया जा सकता है।

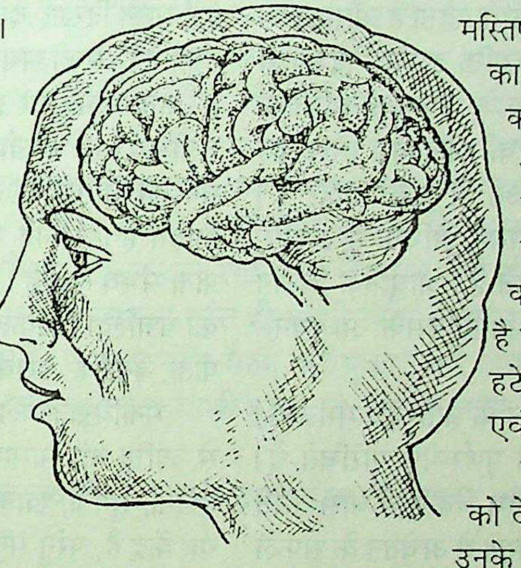

इस अनुसंधान ने विज्ञान जगत् में क्रांति पैदा कर दी है, क्योंकि अभी तक विज्ञानवेत्ताओं का मानना था कि मस्तिष्कीय कोशिकाओं में पुनर्निर्माण की क्षमता नहीं होती, जबकि शरीर की अन्य अंग की कोशिकाओं को यह क्षमता नैसर्गिक रूप से प्राप्त है। रील पर लिपटे अत्यंत सूक्ष्म एवं लंबे धागों के समान मस्तिष्क की कोशिकाएँ इन गुणों से वंचित मानी जाती हैं। जब इन्हें निकालने का प्रयास किया जाता है, तो ये टूट जाती हैं। टूटने-बिखरने पर ये फिर से पनपती नहीं हैं और मस्तिष्क गंभीर रोग से ग्रस्त हो जाता है, फिर व्यक्ति का अपने मस्तिष्क पर नियंत्रण नहीं रह पाता। इन कोशिकाओं का क्षरण होता रहता है और ५०-५२ की आयु के मध्य इनकी संख्या आधी रह जाती है। संभवतः यही वजह है कि सामान्यतः इस उम्र में याददाश्त कम होने लगती है।

डॉ. इवॉन स्नाइडर का प्रयोग इस क्षेत्र में अत्यंत लाभदायक एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। उन्होंने गर्भस्थ शिशु के मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार की कोशिकाओं को ढूँढ़ लिया है, जो इसकी कई कोशिकाओं को पैदा कर सकती है। उन्होंने इसे 'न्यूरल स्टेम सेल' के नाम से पहचान दी है। यह मास्टर कोशिका है। अपने परीक्षण के दौरान डॉ. स्नाइडर ने इनको प्रयोगशाला में फसल के समान उगाया है। उनका यह प्रयोग अभी जारी है। इनके अनुसार इन कोशिकाओं को बड़े पैमाने पर विकसित कर इंजेक्शन द्वारा मस्तिष्क में रोपा जा सकता है। आशा की जा रही है कि ये कोशिकाएँ मस्तिष्क में मृत या क्षतिग्रस्त कोशिकाओं का स्थान ग्रहण करेंगी। इससे व्यक्ति की स्मरण शक्ति बढ़ सकती है और भुलक्कड़पन को दूर किया जा सकता है। इस प्रयोग से मानसिक संतुलन को नियंत्रित करना संभव है। यह भी हो सकता है कि और भी कई रहस्यों से परदा हटे, परंतु यह कार्य अत्यंत कठिन एवं खतरनाक है।

वैज्ञानिक मस्तिष्क की जटिलता को देखकर हतप्रभ हैं। यह अभी भी उनके लिए एक दुर्गम क्षेत्र में प्रवेश करने के समान है। अभी तक कोई इसके बिखरे तारतम्य को जोड़ नहीं पाया है कि क्यों ये कोशिकाएँ मकड़जाल के समान उलझी हुई हैं। क्या इन्हीं जालों में चेतना, भाषा, बुद्धि, स्मृति एवं तार्किक शक्ति आदि बिखरी पड़ी है या कहीं और इनका केंद्र है? आखिर क्यों कोई किसी के लिए मर मिटता है या किसी को मिटाने के लिए पशुवत् हिंसक हो उठता है? इसके लिए मस्तिष्क का कौन-सा तंतु या भाग जिम्मेदार है? अभी ठीक-ठीक कहा नहीं जा सका है।

यह प्रश्न जिज्ञासु मन को समाधान खोजने के लिए विवश करता है। क्या मन और मस्तिष्क दोनों एक हैं या

अलग-अलग ? इस संदर्भ में विद्वान् मनीषी एवं वैज्ञानिक अपने-अपने ढंग से प्रतिपादन करते हैं। मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क को मन का एक यंत्र मानते हैं। योगी मन की स्थिति स्वाधिष्ठान चक्र में बताते हैं। जो भी हो मन बड़ा ही चंचल होता है। सामान्यत: व्यक्ति इसके वश में रहता है। मन के अनुरूप वह परिचालित होता है। योगियों में अवश्य मन-मस्तिष्क को नियंत्रित करने की अद्‌भुत क्षमता होती है।

मन, मस्तिष्क को सदा गतिशील बनाए रखता है। वैज्ञानिक भी इस मान्यता की पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार हमारे नहीं सोचने पर भी मस्तिष्क अपनी उधेड़बुन में सतत लगा रहता है। इसके पिछले भाग ब्रेन स्टेम में विद्यमान रेटिकूलर फार्मेशन सदैव सजग एवं जागरूक होता है। इस संरचना को अचेतन मस्तिष्क से संबंधित माना जाता है। इसमें जन्म-जन्मांतरों के संस्कार, आदत, वृत्ति आदि संग्रहीत होते हैं। यह एक प्रकार का ब्लैक बॉक्स है, जो समस्त मस्तिष्कीय हलचलों का अंकन करता रहता है और इसका प्रभाव इतना प्रबल होता है कि व्यक्ति इसके निर्देशन में यंत्रवत् चलता रहता है। इस रहस्य के कारण ही मस्तिष्क के मात्र १० से १३ प्रतिशत भाग की जानकारी मिल पाई है। शेष भाग विज्ञान की सीमाओं से बहुत बाहर है। परामनोवैज्ञानिक इसे संसार का सबसे अधिक रहस्यमय, अद्‌भुत तथा शक्तिशाली यंत्र कहते हैं। आधुनिक विज्ञान साइकोसाइबर्नेटिक्स शाखा के अंतर्गत इसके अध्ययन-अन्वेषण में जुटा है।

पुरातन भारतीय योगी अचेतन के ज्ञाता एवं मर्मज्ञ थे। इसकी सूक्ष्मता एवं गहनता से वे पूर्णरूपेण परिचित थे। स्वयं अचेतन से ऊपर उठकर सदैव चैतन्य में वास करते थे। अपनी इसी सूक्ष्म दृष्टि के कारण वे अचेतन के सफल एवं कुशल चिकित्सक सिद्ध हुए हैं। उन्होंने इस विद्या का प्रयोग कर अगणित लोगों को लाभान्वित किया है। यद्यपि उनकी इस विद्या को वर्तमान का अत्याधुनिक विज्ञान भी ढंग से समझ नहीं पाया है।

इसे एक विडंबना ही कहना चाहिए कि मनुष्य अपने चेतन मस्तिष्क की उथल-पुथल में इतना व्यस्त रहता है कि उसे अचेतन की परतों के नीचे दबे पड़े दिव्य तत्त्व को झाँकने का अवसर तक नहीं मिलता है। इसी में वह अपनी समस्त ऊर्जा और प्रतिभा को विनष्ट करता रहता है। समुद्र की अनंत गहराई में स्थित सीपियों में बंद पड़े मोती के सदृश अचेतन की झलक-झाँकी को वह देख नहीं पाता है। उसके विचार वाष्प के समान छितरे हुए होते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान भी इस तथ्य को स्वीकारने लगे हैं कि जब तक विचारों की उधेड़बुन को जल के समान शांत-शीतल नहीं कर लिया जाता, अचेतनरूपी मस्तिष्क के प्रतिबिंब को देख पाना संभव नहीं है। मस्तिष्कीय विद्युत् तरंगों को मापन करने वाली ई. ई. जी (इलेक्ट्रो-एन्सोफेलोग्राफी) से तो केवल चेतन मस्तिष्क की बाह्य हलचलों का ही अध्ययन किया जाता है। मस्तिष्क के बारे में और अधिक जानने के लिए विचारों को शांत करना आवश्यक है।

सच तो यह है कि मस्तिष्क मन का एक जटिल यंत्र है। यह मन से प्रभावित एवं संचालित होता है। इस यंत्र की सुग्राह्यता मन के ऊपर निर्भर करती है। मन जितना शांत एवं संयमी होगा, मस्तिष्क भी उतना ही विकसित होगा। इस यंत्र की सार्थकता तभी है जब मन शांत हो, अन्यथा जीवन समस्या का भंडार बन जाता है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक क्लैक्सटन की मान्यता है कि बाहर से आसान एवं सरल दिखाई देने वाला मनुष्य अंदर से बड़ा ही जटिल होता है। इसकी समस्याएँ बड़ी गहरी एवं उलझी हुई होती हैं। उनके अनुसार इन समस्याओं का समाधान मस्तिष्क रूपी संरचना में खोजना बालू में तेल निकालने जैसा है। मन की भीतरी परत अचेतन मन में ही इसका समाधान निहित है। उसको उभारे-उकेरे बिना समस्या से निजात पाना संभव नहीं है। संभवत: यही वजह है कि वर्तमान युग की प्रचलित चिकित्सापद्धतियों से इसका उपचार नहीं हो पाता, क्योंकि इसका बीज तो मन में दबा पड़ा है।

मनोविज्ञानी क्लैक्सटन की मान्यता है कि चेतन मस्तिष्क से व्यक्ति की सामान्य जीवनचर्या ही संचालित होती है। देखना, सुनना, खाना-पीना आदि दैनिक क्रियाकलापों का यह केंद्र है, परंतु मनुष्य की कुछ स्थितियाँ एवं दशाएँ ऐसी भी होती हैं कि चेतन मस्तिष्क उन्हें समझ नहीं सकता। यह सब उसकी समझ से परे होता है। इसे प्रभावित करने पर व्यक्ति का व्यवहार भी बदलने लगता है। इसी परिप्रेक्ष्य में लुसियाना विश्वविद्यालय के मेडिकल इलेक्ट्रॉनिक्स के वैज्ञानिक डॉ. हाल ब्रोंकर का प्रयोग उल्लेखनीय है। इसके लिए टेक्टोस्कोपिक प्रोजेक्शन नामक उपकरण का विकास किया है। ब्रोंकर ने अपने रोगियों के ऊपर कई प्रयोग किए। उनमें से एक प्रयोग में उन्होंने कुछ व्यक्तियों पर 'मैं ईमानदार हूँ, मैं चोरी नहीं करूँगा, चोरी करना पाप है' का संदेश संप्रेषित किया। इस प्रयोग का परिणाम अत्यंत उत्साहवर्द्धक था। व्यक्तियों में अनोखे ढंग का परिवर्तन आने लगा। यहाँ तक कि उनके व्यवहार भी बदल गए।

हाल ब्रोंकर के इस प्रयोग से सिद्ध होता है कि मनुष्य के क्रिया-व्यापार का मुख्य क्षेत्र अचेतन मस्तिष्क है। इसे यदि कुशलतापूर्वक संचालित किया जाए, तो जीवन की गहन एवं अबूझ समस्याओं का उपचार किया जा सकता है। इस संदर्भ में श्री अरविंद आश्रम की श्री माँ कहती हैं कि मनोविकार की ग्रंथियाँ अचेतन मस्तिष्क में नुकीली एवं कुंडलित घोंघे के समान गहराई से जकड़े होती हैं। इस क्षेत्र का कोई दक्ष सर्जन ही इसकी सर्जरी करके इसका समाधान दे सकता है। ऐसा श्रेष्ठ योगी ही जब-तब कर पाते हैं। एक बार श्री अरविंद ने सिरदरद से पीड़ित एक व्यक्ति को देखते ही स्वस्थ कर दिया था। इस घटना के बारे में श्री माँ कहती हैं कि श्री अरविंद के सूक्ष्म हाथ ने उसके अचेतन मस्तिष्क में दबी उस ग्रंथि को निकाल दिया, जिससे कि वह व्यथित था और उसके निकलते ही व्यक्ति सामान्य हो गया।

सुप्रसिद्ध अमेरिकी मनोवैज्ञानिक कैंपवेल ने अपने शोध-अनुसंधान में इस तथ्य की पुष्टि की है कि विभिन्न दृश्यों का भी अवचेतन मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है। उन्होंने एक प्रयोग में कुछ व्यक्तियों को जलते दीपक की लौ के सामने बैठाकर उसे लगातार देखने के लिए निर्देश दिया। उन व्यक्तियों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुरूप इस विधि का अनुसरण किया। इससे उन्हें अनेक प्रकार का लाभ हुआ। उनकी एकाग्रता बढ़ी, स्मरण शक्ति में वृद्धि हुई। इस क्रम में अमेरिका के लेसली लीक्रान का प्रयोग भी बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। उन्होंने त्राटकरूपी यौगिक पद्धति की महत्ता का अनुमोदन किया है।

दीपक की लौ पर एकाग्रता या चर्च में मोमबत्ती जलाकर उपासना करने के पीछे यही मनोवैज्ञानिक तथ्य काम करता है। इसी आधार पर अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों ने दूरदर्शन, दूरश्रवण, विचार संप्रेषण, भविष्य ज्ञान, अदृश्य का प्रत्यक्षीकरण आदि अनेकानेक अद्‌भुत क्षमताएँ अर्जित कीं। इस प्रक्रिया में मुख्य बात अपने मन-मस्तिष्क को शांत रखना तथा अपने अंदर सुषुप्त पड़ी दिव्य क्षमताओं को पहचानना है। मन-मस्तिष्क इस अमूल्य संपदा का आगार है। शांत एवं एकाग्र होकर इससे उन सभी रहस्यों एवं सूत्रों को प्राप्त किया जा सकता है, जिसे विज्ञान अभी नहीं जान सका है। जिनसे जीवन अनदेखी ऋद्धि-सिद्धियों से भरा-पूरा हो सकता है। अतः हम सभी को अपने मन को शांत कर स्वयं के अंदर झाँकने का प्रयास करना चाहिए, ताकि अचेतन की चैतन्यता उजागर हो सके। □

महात्मा ईसा कहीं जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने अपने मैथ्यू नामक शिष्य को देखा। उसके पिता की मृत्यु हो गई थी और वह उसे रो-रोकर दफन कर रहा था। मैथ्यू ने जैसे ही ईसा को देखा, वैसे ही दौड़कर उनके पास आया और आस्तीन चूमकर तुरंत ही अपने पिता के शव की ओर लौट पड़ा। ईसा ने समझा कि इसकी ममता नहीं मरी। अतः उन्होंने मैथ्यू को पुकार कर अपने पास बुलाया और उसे आज्ञा दी, ''जिसकी मृत्यु हो गई, वह भूत का साथी हुआ, तू उसकी लाश से मोह करके वर्तमान से दूर क्यों होना चाहता है।''

मैथ्यू इस असमंजस में था कि क्या करे? तभी उसने ईसा की स्पष्ट आज्ञा सुनी, ''भूत को भूत देखता रहेगा, तू यहाँ मेरे साथ आ।''

संयोग की बात कि जब यह दोनों आगे बढ़े तो ईसा का एक अन्य शिष्य भी उन्हें अपने पिता की लाश दफनाता मिला। परंतु जैसे ही उसने अपने गुरु को देखा वैसे ही दौड़कर उनके पास पहुँचा और उनके साथ चल दिया। ईसा ने उसे देखा तो बोले, ''अरे, तू क्यों चला आ रहा है?''

शिष्य ने साथ चलने का हठ किया तो ईसा बोले, ''ऐसी कोई जल्दी नहीं है। मैं आगे के गाँव में ठहरूँगा। तुम लाश को दफनाकर वहीं आना।''

वह शिष्य तो चला गया, परंतु एकसमान घटनाओं पर दो प्रकार की व्यवस्था सुनकर मैथ्यू को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपने गुरु से पूछा, ''इसका क्या कारण है गुरुदेव! आपने मुझे अपने पिता की लाश को दफनाने भी नहीं दिया और उसे अपने पिता को दफन करने की आपने स्वयं आज्ञा दी। एक प्रकार की घटनाओं पर ही दो प्रकार की आज्ञा क्यों?''

ईसा ने कहा, ''जो राग में फँसा है उसे वैराग्य का उपदेश दो, परंतु जो रागमुक्त है उसे वैराग्य का उपदेश देने से कोई लाभ नहीं।''

रंगों की चितरंगी विलक्षण दुनिया

रंगों में अपार आकर्षण होता है। वे सहज ही मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। प्रकृति के हर घटक में रंगों की बहार बिखरी पड़ी है। नीले आसमान में छा जाने वाली इंद्रधनुषी आभा मन को लुभाती है। सावन की हरी मखमली धरती किसी चित्रकार की चित्रकला जैसी लगती है। हिमालय की चाँदी जैसी चमकती शुभ्र धवल बरफीली चोटियाँ एवं उनसे झरते दूध से सफेद फेनिल झरनों से अंतर आह्लादित हुए बिना नहीं रहता। कितने अनोखे एवं मनोरम हैं प्रकृति के ये रंग। रंगों की छटा केवल आँखों को ही तृप्त नहीं करती, बल्कि यह स्वास्थ्य एवं मन पर भी अपना गहरा प्रभाव डालती है।

आखिर ये रंग हैं क्या? जो आकर्षण का केंद्रबिंदु बने हुए हैं। इन्हें देखने एवं परिभाषित करने का सभी का अपना-अपना दृष्टिकोण है। जहाँ मनोवैज्ञानिक इसे मन को प्रभावित करने वाला कारक मानते हैं, वहीं वैज्ञानिक इसके अस्तित्व को ही नकारते हुए कहते हैं कि वस्तुत: रंग जैसी कोई चीज नहीं है। यह तो प्रकाश तरंगों का छोटा-बड़ा होना है, जो हमारी आँखों को रंगों के रूप में दिखाई देता है। जो भी हो रंग सात प्रकार के होते हैं और उनमें से मूल रंग लाल, हरा, नीला के रूप में तीन तरह के हैं।

वैज्ञानिक मान्यता है कि जिस वस्तु में इन सात रंगों में से जितने को अवशोषित कर लेने के पश्चात् जो रंग बचा रह जाता है। वह उसी रंग की दिखाई देती है। हरा रंग हरे रंग को अवशोषित नहीं कर पाता और इसे परावर्तित कर देता है, इसी कारण यह हरा दिखाई देता है। इस प्रकार नीला रंग नीले को परावर्तित करता है और लाल, लाल को। जो सभी रंगों को एक साथ परावर्तित कर देता है, उसे सफेद रंग कहते हैं और जिसमें सारे रंग अवशोषित हो जाते हैं वह काला रंग माना जाता है। आसमान का रंग नीलाभ होता है और समुद्र भी नीले एवं हरे रंग के रूप में दिखाई देता है। इसके पीछे भी यही सिद्धांत कार्य करता है।

चित्रकार जिस प्रकार अपनी तूलिका से दो विभिन्न रंगों का सम्मिश्रण करके एक तीसरे रंग को जन्म देता है, ठीक इसी प्रकार प्रकृति भी मूल रंगों के विभिन्न प्रकार के योग से रंगों की विचित्र एवं अद्भुत सृष्टि करती है। पृथ्वी पंचतत्त्वों से विनिर्मित है, अत: इन पाँच तत्त्वों के अपने विशिष्ट रंग हैं। पृथ्वी तत्त्व का रंग पीला, जल का श्वेत, अग्नि का लाल, वायु का हरा और आकाश का रंग नीला होता है। इन रंगों को ध्यान की गहराई में उतरकर ही देखा जा सकता है। जिस तत्त्व का ध्यान किया जाता है वही रंग झिलमिलाता है।

विराट् जगत् में जिस प्रकार रंग बिखरे पड़े हैं, ठीक उसी तरह पंचकोषों एवं षट्चक्रों में भी इन रंगों को देखा जा सकता है। चक्र छह प्रकार के होते हैं और ये ब्रह्मनाड़ी के मार्ग में अवस्थित होते हैं। इन चक्रों के रंग भी बड़े अद्भुत प्रकार के होते हैं, क्योंकि इन चक्र ग्रंथियों में विशिष्ट तत्त्व होते हैं। जिस ग्रंथि में जो तत्त्व प्रधान होता है वह उसी प्रकार के रंग का दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार मूलाधार चक्र का रंग लाल होता है। स्वाधिष्ठान का रंग सिंदूरी, मणिपूर का रंग नीला, अनाहत का अरुण, विशुद्धि का धूम्र तथा आज्ञाचक्र का रंग श्वेत होता है।

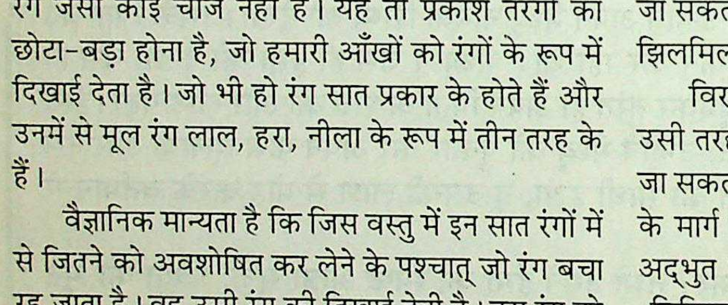

अंतर और बाह्य दोनों जगत् में रंगों की अपूर्व झलकियाँ दिखाई देती हैं। स्थूल जगत् में सूर्य को रंगों का उद्भव स्थल माना जाता है। सौर परिवार के विभिन्न ग्रह-उपग्रह भी अपने रंगों के माध्यम से जाने-पहचाने जाते हैं। चंद्रमा का रंग श्वेत होता है। लाल रंग मंगल की पहचान है। बुध हरे रंग का प्रकाश बिखेरता है। पीला रंग

बृहस्पति का परिचायक है, तो शुक्र का रंग नीलाभ श्वेत। शनि का रंग नीला होता है। ये रंग ग्रहों की शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रकाश तरंगों में घुले रंग ही हमें इन ग्रहों की पहचान कराते हैं। रंग प्रकाश तरंगों की आवृत्ति हैं। इनमें ध्वनि का भी समन्वय होता है। ध्वनि दो रूपों में आकार धारण करती है। ये दो रूप हैं, वर्ण और अंक। इन वर्णों और अंकों का भी रंग से घनिष्ठ संबंध होता है। ध्वनि की आवृत्ति पर भी विभिन्न प्रकार के रंग उपजते एवं पनपते हैं। वस्तु की प्रकृति के अनुरूप ध्वनि कंपन उत्पन्न होते हैं और उनके रंग भी तदनुरूप अलग होते हैं। सामूहिक रूप से निकलने वाली ध्वनि के रंग भी भिन्न प्रकार के होते हैं।

अंकों के उच्चारण से भी रंग बनते हैं। यह तथ्य भले ही अजीबोगरीब लगता हो, परंतु है यथार्थ ही। जब एक का उच्चारण किया जाता है, तो लाल रंग उत्पन्न होता है। इसी तरह दो का रंग केसरिया, तीन का पीला, चार का हरा, पाँच का नीला, छह का बैंगनी, सात का जामुनी, आठ का दूधिया सफेद, नौ का रंग दूधिया चार्मिंग होता है।

रंगों का भावना से गहरा संबंध अनुभव किया गया है। इसी कारण रंग के संदर्भ में हरेक की पसंद भिन्न-भिन्न होती है। किसी को उषा का सुनहला रंग पसंद है, तो किसी को संध्या का सिंदूरी रंग। कोई आसमानी रंग का चुनाव करता है, तो कोई धरती की हरियाली को। हर व्यक्ति अपने ढंग से रंगों का चुनाव करता है। अपनी रुचि-रंग के अनुरूप ही वह परिधान पहनता है, दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का चयन करता है। मनोवैज्ञानिक रंगों के इस रुझान से उसके व्यक्तित्व का आकलन कर लेते हैं।

इस सतरंगी संसार का सुनहला स्वरूप आँखों के माध्यम से ही दृष्टिगोचर होता है। हालाँकि यही सत्य नहीं है। मन की आँखों से भी ईश्वर के ऐश्वर्य एवं वैभव को देखा जा सकता है। आवश्यकता है तो केवल अंतर की दृष्टि को विकसित करने की। इस परिप्रेक्ष्य में 'महामंत्र णमोकार-एक वैज्ञानिक अन्वेषण' नामक ग्रंथ में एक अंधी रूसी महिला का प्रतिपादन हुआ है, जो रंगों का स्पर्श करके ही उससे उत्पन्न भावों को अनुभव कर लेती थी। छूने के थोड़ी देर बाद वह उस रंग को पहचान कर उसका रंग भी बता देती थी। रंगों को छूने पर किस रंग में किस प्रकार का अनुभव होता है, इस बारे में वह कहती है कि लाल रंग को छूने से उष्णता का अहसास होता है। वह हरे रंग में प्रसन्नता का बोध करती है। नीले रंग को छूने पर ऊँचाई और विस्तार की जानकारी मिलती है। इस प्रकार हर रंग के संबंध में अपने अनुभव का वर्णन करते हुए वह कहती है कि भावों का विकास कर बिना देखे भी रंगों की पहचान की जा सकती है। संभव है सूरदास ने अपने भावनाओं को कुछ इस तरह से विकसित करके अपने कान्हा के सुंदर रूप-रंग का अनुभव किया होगा, जो उनके काव्य में अभिव्यक्त हुआ है।

प्रत्येक रंग की अपनी-अपनी महत्ता एवं विशेषता होती है। लाल रंग में गरमी, उष्णता, उत्तेजना, शूरता, कठोरता, तेज, प्रभावशीलता, चमक, स्फूर्ति होने के साथ-साथ इसमें क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष एवं कामुकता के भाव भी निहित होते हैं। नीले रंग में विचारशीलता, बुद्धि, सूक्ष्मता, विस्तार, सात्विकता, प्रेरणा, व्यापकता, संशोधन, संवर्द्धन, सिंचन, आकर्षण आदि गुण होते हैं। सबको सम्मोहित एवं आकर्षित करने वाले भगवान् कृष्ण का रंग नीला माना जाता है। नीले रंग में विस्तार एवं व्यापकता होने के कारण इस रंग से रँगा हुआ मकान बड़ा दिखाई देता है, जबकि लाल रंग के कारण वही कमरा छोटा आभासित होता है।

एक व्यक्ति किसी विद्वान् के पास पहुँचा, बोला, ''मैं ईमानदारी से जीवनयापन करता हूँ, पर कोई न मेरी प्रशंसा करता है, न प्यार।

विद्वान् ने कहा, ''ईमानदारी अच्छी बात है, पर उसके साथ मधुर व्यवहार और सेवाभावी सहकार भी जुड़ा रहना चाहिए। इतना कर सको, तो फिर प्रशंसा की कमी न रहेगी, न प्यार पाने की शिकायत करनी पड़ेगी।''

हरे रंग की विशेषता है, चंचलता, चपलता, कल्पना, स्वप्नशीलता, जकड़न, दरद, अपहरण, धूर्तता, गतिशीलता, विनोद, प्रगतिशीलता। इस रंग की विशेषताएँ वायु तत्त्व, गतिशीलता एवं प्राण-पोषण को दर्शाती हैं। पीले रंग में क्षमा, गंभीरता, उत्पादन, स्थिरता, वैभव, मजबूती, संजीदगी एवं भारीपन का गुण है। पृथ्वी तत्त्व का रंग पीला होता है। इसलिए इसमें उत्पादन की क्षमता होती है। धरती माता की क्षमा एवं स्थिरता भी इस रंग की विशेषता की सूचक है। श्वेत रंग में शांति, रसिकता, कोमलता, शीघ्र प्रभावित होना, तृप्ति, शीतलता, सुंदरता, वृद्धि एवं प्रेम का भाव छिपा रहता है। जल तत्त्व में यही रंग होने के कारण यह शांति, कोमलता एवं तृप्ति का प्रतीक माना जाता है।

रंगों के इसी प्रभाव के आधार पर ही आज के युग में रंग चिकित्सा का प्रादुर्भाव हुआ है। पश्चिमी देशों में यह काफी लोकप्रिय भी है। अपने देश में भी यह प्रचलित होने लगा है। इसके अंतर्गत रोगों के उपचार हेतु विशिष्ट रंग एवं उसके सम्मिश्रण का प्रयोग किया जाता है। रंगों की विशेषता के अनुसार रोगों को देखा-परखा जाता है। इसमें काफी सफलता भी मिल रही है।

रंग चिकित्सा के अनुसार लाल रंग उष्ण होने के कारण इसे उदासी, निराशा आदि मनोरोगों के उपचार में प्रयुक्त किया जाता है। यह चोट एवं मोच में बड़ा ही लाभदायक सिद्ध हुआ है। यौनदौर्बल्यजनित रोगों में भी यह प्रभावी होता है। लाल रंग में बहुत गरमी होती है। पानी से भरी लाल बोतल को दो दिन तक सूर्य प्रकाश में रखने के पश्चात् इसे लगातार पीने पर खून की उलटी तक हो जाती है। इससे इसकी उष्णता का अंदाज लगाया जा सकता है। नारंगी रंग की प्रकृति भी उष्ण होती है। विभिन्न प्रकार के दरद में इसे उपयोग में लिया जाता है।

पीले रंग का प्रभाव हृदय संस्थान पर अधिक पड़ता है। इससे मानसिक दुर्बलता दूर होती है। तनाव, उदासी, उन्माद आदि मनोविकारों से मुक्ति पाने हेतु इस रंग का प्रयोग किया जाता है। हरे रंग को दृष्टिवर्द्धक माना जाता है। इससे आँखों को बड़ा सुकून मिलता है। यह शांत एवं शमनकारी है। फोड़ों एवं जख्मों को भरने में यह मलहम जैसा कार्य करता है। यह पेचिश रोग के लिए भी लाभकारी पाया गया है।

विशेषज्ञों की मान्यता है कि नीला रंग दरद एवं खुजली को दूर करता है। पेट की बीमारी के निमित्त आसमानी रंग का उपयोग होता है। इससे पाचन क्रिया में तेजी आ जाती है। अजीर्ण रोगी इसका प्रयोग करते हैं। यह तपेदिक को भी ठीक करता है। बैंगनी रंग का असर दमा, सूजन, अनिद्रा आदि में अधिक होता है। इतना ही नहीं यह रंग नींद की दवा जैसा लाभदायक है।

इस तरह रंगों से शारीरिक रोग एवं मानसिक विकास को दूर करने में पर्याप्त सहायता मिलती है, परंतु इस रंग की महत्ता तब और बढ़ जाती है जब जीवन में ध्यान-साधना रूपी रंग चढ़ जाता है। साधना के रंग से रँगा जीवन ही सार्थक एवं सफल होता है। साधु, संत, महात्माओं के जीवन में भगवद् भक्ति का रंग चढ़ा होता है, इसलिए उन्हें सर्वत्र एक उसी रंगरेज का रंग दिखाई देता है। तभी तो मीरा अपने कृष्ण-कन्हैया के रंग में ऐसी घुल जाती हैं कि उनमें उस साँवले का रंग उतरता ही नहीं था और सभी ओर एक उसी का रंग दृश्यमान होता था। हमें भी स्वयं को अपने इष्ट के न मिटने वाले रँग में रंग देना चाहिए, जो जीवन में एक बार चढ़े तो उतरे ही नहीं। ऐसा अद्भुत रंग ही वरेण्य है और इसका आकर्षण भी अपार है।

⁂

सिकंदर ने भारत में तत्त्वज्ञानी रहने की प्रशंसा सुनी थी, सो उसने उनमें से एक को अपने देश ले चलने का विचार किया और वैसा कोई मिले इसकी तलाश करने लगा।

किसी जंगल में एक झोंपड़ी में रहने वाले ब्रह्मज्ञानी का पता लगा, सो वह वहाँ जा पहुँचा। साधनों का सर्वथा अभाव रहते हुए भी प्रसन्नता और तेजस्विता फूटी पड़ रही थी। लगा यही उस वर्ग का व्यक्ति है जिसकी उसे तलाश थी।

सिकंदर ने साधु को अपने साथ चलने और विपुल ऐश्वर्य भोगने का प्रलोभन दिया। साधु मुस्कराए और बोले, ''इन वस्तुओं की नश्वरता देखकर मैं विवेकपूर्वक बहुत समय पहले ही त्याग चुका हूँ। इन्हें पाने के लिए प्रकृति छोड़कर महलों की कैद में क्यों जकड़ूँ ?''

सिकंदर को इसमें अपना अपमान लगा और प्रताप का परिचय देते हुए तलवार म्यान से निकाल ली, बोला, ''कहना न माना, तो सिर धड़ से अलग कर दूँगा।''

ब्रह्मज्ञानी अब की बार मुस्कराए नहीं, हँस पड़े, बोले, ''आप काल से अधिक बली नहीं हैं, जो उसके विधान को मिटा सकें। जब तलवार से आज ही मरना हो, तो उस अमिट को निकट आया देखकर मैं डरूँगा क्यों ? बंधन मुक्ति पर प्रसन्न क्यों नहीं होऊँगा।''

सिकंदर ने तत्त्वज्ञानी की मनःस्थिति को लोभ और भय से ऊँचा उठा पाया और फिर बलपूर्वक अपने देश ले चलने का विचार छोड़ दिया।

परमार्थ भाव से की गई याचना ही है प्रार्थना

प्रार्थना क्या है? अंतर की अकुलाहट को विश्वव्यापी सत्ता के समक्ष प्रकट कर देना ही तो प्रार्थना है। इसलिए प्रार्थना में शब्दों का नहीं, भाव का महत्त्व है। शब्द तो स्थूल जगत् में संपर्क का माध्यम है। परमात्मा से जुड़ना हो, तो भाव चाहिए। समर्पण भाव इसका सबसे उपयुक्त तरीका है। ऐसा होते ही भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं।

यों प्रार्थना अक्सर तब की जाती है, जब किसी के समक्ष कोई विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई हो, कोई मानसिक उलझन हो, ऐसी विकट समस्या प्रस्तुत हुई हो, जिसका समाधान सूझ न पड़ रहा हो, तब ईश्वर की याद आती है और गुहार से लेकर मनुहार तक सब कुछ किया जाने लगता है, पर प्रभु ईसु कहा करते थे कि यह तो प्रार्थना का बहुत ही निम्नस्तरीय रूप है। वास्तव में मनुष्य का संपूर्ण जीवन ही प्रार्थनामय होना चाहिए। उसमें कुछ माँगना नहीं पड़ता, वरन् जीवन को परमात्मा का परम प्रसाद समझना पड़ता है और आशा करनी पड़ती है कि हमारे कष्ट-कठिनाइयों में भी उसका मंगल विधान है। परम पिता किसी को पीड़ा क्यों देंगे? वह तो सबका कल्याण ही चाहते हैं। जो कुछ दुःख-दरद हम भोग रहे हैं, वह हमारी अपनी सृष्टि है। उसे सहने और स्वीकारने में अनख कैसा!

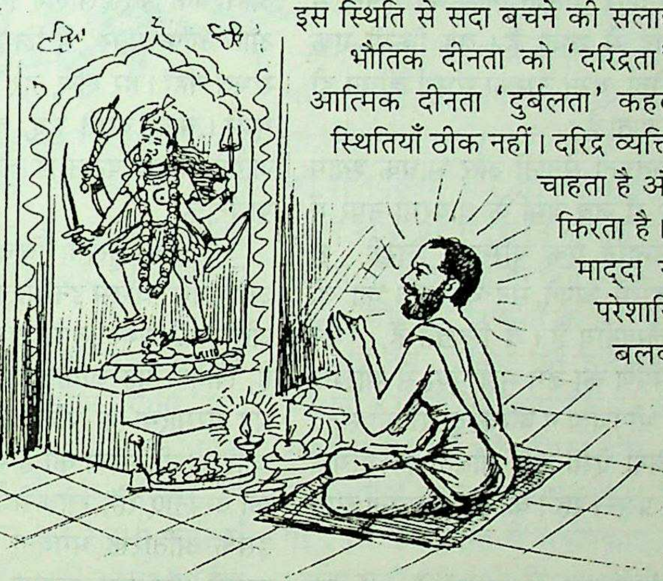

यह ऐसा जीवनदर्शन है कि यदि इसे हर कोई समझ सका होता, तो यह दुनिया कराल-काल की क्रीड़ास्थली नहीं, करुणा का सागर प्रतीत होती, जिसमें सर्वत्र सरसता और सहजता भासती एवं आनंद की हिलोरें उठती दीखतीं, मुसीबतों और उलझनों का अस्तित्व तो यहाँ होता, पर उसकी अनुभूति कष्टकर नहीं लगती, उन्हें सहर्ष झेल लिया जाता, फलतः सबके मुखमंडल कमल पुष्प की तरह खिले होते और जीवन नरक नहीं, स्वर्ग समान प्रतीत होता। इस दशा में प्रार्थना की उपयोगिता भी लगभग समाप्त हो जाती, किंतु ऐसा कहाँ हो पाता है? पीड़ा में मनुष्य बालकोचित व्यवहार करने लगता है। उसे घटाने-मिटाने के लिए परम पिता के समक्ष मचलता और आग्रह-अनुरोध करता है। कदाचित् वह इसे समझ नहीं पाता कि विघ्न-बाधाएँ मनुष्य को मजबूत बनाती हैं। वह परमात्मा की नहीं, प्रारब्ध और परिस्थितियों की उपज हैं। इसलिए यहाँ प्रार्थना की नहीं, सहिष्णुता की आवश्यकता है। ध्वनि की प्रतिध्वनि और क्रिया की प्रतिक्रिया की तरह यदि हमारे ही कर्म हम पर प्रारब्ध भोग की तरह लदते हैं, तो उसमें गिड़गिड़ाने-घिघियाने वाली भिक्षुक मनोवृत्ति न अपनाकर साहसियों जैसा व्यवहार करना चाहिए और उन्हें सह लेने की हिम्मत जुटानी चाहिए। किसी के आगे हाथ फैलाना—यह प्रार्थना नहीं दीनता है। दयनीय व्यक्ति ही ऐसा करते और अपने निम्नस्तरीय व्यक्तित्व का परिचय देते हैं। विचारवान् लोग इस स्थिति से सदा बचने की सलाह देते हैं।

भौतिक दीनता को 'दरिद्रता' कहा गया है, जबकि आत्मिक दीनता 'दुर्बलता' कहलाती है। यह दोनों ही स्थितियाँ ठीक नहीं। दरिद्र व्यक्ति श्रम-पुरुषार्थ से बचना चाहता है और धन की याचना करता फिरता है। दुर्बल मनुष्य में तप का माद्दा नहीं होता। वह अपनी परेशानियों के लिए अंतः को बलवान बनाने की बजाय उसके हल के लिए ईश्वर के आगे हाथ जोड़ता रहता है और उसको 'प्रार्थना' कहता है। नहीं, यह प्रार्थना नहीं है।

प्रार्थना वास्तव में श्रेष्ठता के लिए होनी चाहिए। हम श्रेष्ठ और सन्मार्गगामी बनें, दूसरों की सेवा-सहायता कर सकें और अपने साथ उन्हें भी ऊँचा उठा सकें। यह प्रार्थना है। स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे कि लोकहित के निमित्त होने वाली कोई भी याचना प्रार्थना के अंतर्गत आती है। जहाँ स्वार्थ सम्मिलित है, वहाँ प्रार्थना नहीं है। यह दोनों रात-दिन के समान हैं, जो कभी इकट्ठे नहीं रह सकते। सरल शब्दों में कहें तो स्वार्थ-भाव को माँग कहेंगे तथा परमार्थ-भाव को प्रार्थना।

प्रार्थना का सबसे सुंदर रूप समर्पण योग है। हम अपने जीवन को परमात्मा के चरणों में अर्पित कर दें। उनकी इच्छा-आकांक्षा को ही अपनी इच्छा-आकांक्षा मानें। भौतिक जीवन में आगे बढ़ने के लिए प्रयास-पुरुषार्थ तो करें, पर उसमें मिलने वाली सफलता-असफलता को ईश्वरीय इच्छा

मानकर चलें। मानापमान में, हानि-लाभ में तटस्थ रहें, उनमें विचलित न हों। यह मानकर चलें कि यह परीक्षा की घड़ी है। परमेश्वर हमारे अंतराल की गहराई को नाप-तौलकर शायद यह जानने की कोशिश कर रहे हैं कि उनकी कसौटी में हम खरे उतर पा रहे हैं या नहीं। इस प्रकार के चिंतन और व्यवहार से जीवन अत्यंत सरल हो जाता है और कठिनाइयाँ तिनके की तरह तुच्छ प्रतीत होने लगती हैं। जीवन में ईश्वर को भागीदार बना लेने से व्यक्ति आध्यात्मिक बन जाता है और सुख-दुःख में भी समस्वर बना रहता है। समर्पण योग का यह सबसे बड़ा लाभ है। उच्चकोटि की प्रार्थना इसे ही कहनी चाहिए। गीता में भी ऐसा ही निर्देश है कि सब कुछ को, समस्त कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर देना चाहिए, **ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संग त्यक्त्वा करोति यः**। यह जीवन को प्रार्थनामय बनाने का एक आदर्श तरीका है। इसमें ईश्वरीय शरणागति से मन को अद्भुत शक्ति मिलती है और व्यक्ति सामान्य प्रार्थना से मिलने वाले वांछित लाभ की तुलना में सैकड़ों-हजारों गुना फायदे में रहता है। वह किसी एक समस्या से ही मुक्त नहीं होता, वरन् उसका संपूर्ण जीवन ही रूपांतरित और दिव्य बन जाता है।

बंगाल के प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी और साधक श्याम सुंदर चक्रवर्ती सन् १९०२ में जब बर्मा के थायरमो नगर में नजरबंद हुए, तो वहाँ उन्होंने एक पुस्तिका लिखी, 'थ्रू सोलीट्यूड एंड सोरो'। इसमें अपने मन की गति का जो वर्णन किया है, वह उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं, ''मैंने सोचा कि संपूर्ण आत्मसमर्पण का ढंग मुझे पुष्प से सीखना चाहिए, जो अपनी तनिक भी चिंता न करके दूसरों की सतत सेवा किया करता है। बिना ऐसा बने जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में निश्चिंत एवं प्रसन्न रहने की आशा करना व्यर्थ है।''

यह समर्पण जब संपूर्ण रूप में सधता है, तो वह उच्चस्तरीय प्रार्थना बन जाता है। प्रार्थना के लिए यह आवश्यक नहीं कि हमारी कोई इच्छा और आवश्यकता हो एवं उसकी पूर्ति अभीष्ट हो। नहीं, जहाँ संपूर्ण जीवन ही प्रार्थना हो, वहाँ फिर और याचना क्या होगी? आगे किसकी माँग की जाए? जब प्रार्थी और प्रार्थना एक हों, अभिन्न हों, तो उससे पृथक् और क्या है? द्वैत समाप्त हो जाने के बाद कौन किसके लिए माँगे तथा कौन किसका उपभोग करे? यह बहुत जटिल प्रश्न आ उपस्थित होता है। जब साधक अपने जीवन से संतुष्ट और उसमें आने वाले झंझावातों को ईश्वर का कृपा-प्रसाद मानता है, तो फिर किसी प्रकार की माँग का सवाल ही पैदा नहीं होता। यह स्थिति स्वयं में एक प्रार्थना है। अभावग्रस्त, संकटग्रस्त रहते हुए भी माँगरहित दशा एक उच्चकोटि की आध्यात्मिक अवस्था है। साधक को इसमें पता रहता है कि भगवान् उसका हर प्रकार का कल्याण ही करेंगे। यह समर्पण भाव आ जाने पर ईश्वर उसका संपूर्ण योगक्षेम वहन करने लगते हैं, इसलिए गीता में भगवान् कृष्ण का यह निर्देश है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९-२७

अर्थात् हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।

यह मनोभाव साधारण बात नहीं है, जब किसी उच्चस्तरीय सत्ता को निःस्वार्थ भाव से कोई चाहने लगता है, तो वह प्रार्थना बन जाता है, किंतु इसमें सतत जागरूकता की जरूरत है। हम परमेश्वर के प्रति सदैव सावधान रहें, तभी यह उच्च मनोदशा बनी रह सकती है। हमारे चिंतन, हमारे कर्म, हमारे व्यवहार में सर्वदा उसकी स्मृति बनी रहे, यह आवश्यक है। इसलिए विशप इग्नाताई अपनी पुस्तक 'दि आर्ट ऑफ प्रेयर' में लिखते हैं, ''सजगता के बिना प्रार्थना संभव नहीं। हर क्षण, हर पल हमारा परम सत्ता की स्मृति में गुजरे। कार्य करते हुए, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते मानस पटल में वह सत्ता बनी रहे, यह सजगता ही प्रार्थना है।''

मिलता-जुलता विचार व्यक्त करते हुए थॉमस मार्टन अपने ग्रंथ 'थॉट्स इन सोलीट्यूड' में कहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन की शुरुआत सर्वप्रथम अपने को जाग्रत् बनाने से होती है, लेकिन यह जाग्रति आखिर किसके प्रति हो? निश्चय ही यह परमात्मा के प्रति और स्वयं के प्रति साथ-साथ होनी चाहिए। नीतिमत्ता को हम जीवन में धारण करें, उच्च आदर्श को अपनाए रहें, लोकसेवा में रुचि लें, यही तो ईश्वरत्व है। इसके अतिरिक्त भगवान् और क्या हो सकते हैं? शब्दों में उनकी और क्या व्याख्या होगी? व्यक्ति यदि इतना जागरूक बन जाए कि श्रेष्ठ और सर्वोपरि सत्ता के अंशधर होने का प्रमाण-परिचय उसके क्रियाकलापों से, मन-वचन से, रोम-रोम से मिलने लगे, तो उस सत्ता के प्रति यह आदर-भाव, निष्ठा, श्रद्धा और आस्था ही प्रार्थना बन जाती है।

अतएव मनीषियों का यह कथन उचित ही है कि शब्द व्यक्ति की दरिद्रता को दर्शाते हैं, जबकि निःशब्द अवस्था उसके अंतःकरण की महानता की द्योतक है। व्यक्ति जब अपने जीवन को भगवान् के चरणों में अर्पित करता है, तो वह प्रार्थना शब्द रूप नहीं, भाव रूप बन जाती है। जिन ऋषियों ने प्रार्थना की यह विधि-व्यवस्था बनाई होगी, वह मानवी जीवन-दर्शन के कितने बड़े अध्येता होंगे, इसे सहज ही समझा जा सकता है।

✡

उत्तरांचल का वह वीर

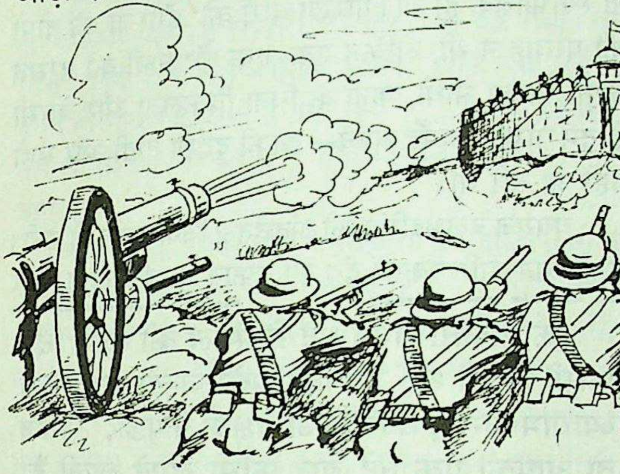

साँझ ने अपनी सुहानी चादर उत्तरांचल की धरती पर ओढ़ा दी थी। दिनभर के थके-हारे पक्षी अपने घोंसलों की ओर लौट रहे थे। ऐसे में एक घुड़सवार नालापानी की ओर सरपट भागा जा रहा था। ज्यों-ज्यों उसका घोड़ा आगे बढ़ता जाता, पीछे धूल का एक गुबार उठता जाता, मानो वह आकाश को अँगरेजी साम्राज्यवादी अस्तित्व का परिचय दे रहा हो।

यह बात उन दिनों की है, जब इतिहास भारतमाता के बंदी होने की कथा लिख रहा था। अँगरेज अपनी 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाकर देश के अनेक भागों पर अपना कब्जा जमा चुके थे। शिवालिक की रमणीक पर्वतमालाएँ और हिमालय की सुरम्य घाटियाँ अँगरेज साहबों को ललचा रही थीं। यही कारण था कि इन दिनों उनकी आँखें देहरादून, गढ़वाल के इलाकों पर टिकी थीं। उन दिनों नाहन के राजा अमरसिंह थापा के भतीजे युवराज बलभद्रसिंह देहरादून की रक्षा के लिए नियुक्त थे। उनका साथ देने के लिए चुने हुए छह सौ गोरखा वीर थे।

इधर अँगरेज मेजर जिलैस्पी के नेतृत्व में देहरादून पर अपना अधिकार जमाने की तैयारी में लगे थे। इस अँगरेजी हमले की संभावना को देखते हुए गोरखा वीरों ने देहरादून से थोड़ी दूर नालापानी नाम की एक ऊँची पहाड़ी पर कलंगा नाम के दुर्ग का निर्माण कर लिया था। दुर्ग की चहारदीवारी अभी ढंग से बन भी नहीं पाई थी कि अँगरेजी सेनाएँ देहरादून आ धमकीं। मेजर जिलैस्पी सहारनपुर में ही ठहर गया। उसने कैप्टन मॉबी की कमान में एक सेना देहरादून रवाना कर दी। अँगरेजों का विचार था कि संघर्ष लंबा नहीं खिंचेगा। उनके इस विश्वास का कारण आधुनिक शस्त्रास्त्रों और बड़े सैन्यबल के अलावा कर्नल मॉबी की धूर्तता थी। मॉबी के छल-कपट का कोई जोड़ नहीं था।

नालापानी की ओर भागा चला जा रहा वह घुड़सवार दरअसल मॉबी का एक विशेष दूत था। दुर्ग में युवराज बलभद्रसिंह अपने गोरखा वीरों के साथ आगे की योजना पर विचार-विमर्श करने में व्यस्त थे, तभी प्रहरी ने दूत के आने की सूचना दी। अँगरेज दूत का नाम सुनते ही गोरखा वीरों की त्यौरियों पर बल पड़े और उनके हाथ अनायास ही तलवार की मूँठों पर कस गए। युवराज ने आँख के इशारे से अपने साथियों को शांत किया और दूत को अंदर लाने का आदेश दिया। दूत ने मॉबी का संदेश निकालकर पढ़ा, ''बलभद्रसिंह ! मैं कैप्टन मॉबी तुम्हें हुक्म देता हूँ कि तुम दो दिन के अंदर या तो दुर्ग छोड़ दो या मरने के लिए तैयार हो जाओ।''

पत्र की अशिष्ट एवं उत्तेजक भाषा ने बलभद्र की क्रोधाग्नि में घी का काम किया। उन्होंने झपटकर दूत के हाथों से वह पत्र छीन लिया और अगले ही पल उस पत्र की चिंदियाँ आसमान में कुछ पल उड़कर जमीन में बिखर गईं। इस परिस्थिति से सकपकाए दूत ने बलभद्रसिंह की गर्जना सुनी, ''जाओ कैप्टन मॉबी से कहना कि बलभद्र सिंह हिमालय पुत्र है। वह प्राणपण से दुर्ग की रक्षा करेगा। भारत की नीति में दूत अबध्य है अन्यथा.....।'' क्रोध के अतिरेक में वाक्य अधूरा छूट गया ।

अगले ही रोज मॉबी अपने सैन्यबल के साथ नालापानी की तलहटी में आ धमका। दुर्ग को चारों ओर से अँगरेजी तोपों ने घेर लिया, लेकिन युवराज बलभद्रसिंह और उनके साथी गोरखा वीर साधनहीन होते हुए भी वीरता में अँगरेजों से कहीं बढ़-चढ़कर थे। वे ईंट का जवाब पत्थर से देने के लिए प्रतिबद्ध और कटिबद्ध थे। गोरखा वीरों के आगे अँगरेज तोपों की गर्जना फीकी पड़ रही थी। दिन पर दिन बीतते गए, लेकिन बहादुर गोरखा थके नहीं। मॉबी की चिंता निराशा में बदलने लगी। वह अपनी असफलता की

सूचना हेडक्वार्टर भेजना तो नहीं चाहता था, पर परिस्थितियाँ उसे ऐसा करने के लिए विवश और बेबस कर रही थीं।

मेजर जिलैस्पी ने जब एक दिन सुबह अपने सामने मॉबी के दूत को देखा तो वह काफी कुछ सोचकर प्रसन्न हो गया। उसका अंदाजा था कि मॉबी ने अवश्य अपनी सफलता की सूचना भेजी है, लेकिन मॉबी के पत्र ने उसकी सारी कल्पनाएँ-अरमान मिट्टी में मिला दिए। उसके क्रोध और अशांति की सीमा न रही। उसने सेना की बागडोर स्वयं ही सँभालने का संकल्प किया।

मेजर जिलैस्पी बिना किसी देरी के नालापानी के मोरचे पर जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने सैन्य स्थिति का आकलन किया। इसके ठीक दो दिनों के बाद उसकी कमान में अँगरेजी सैन्यबल ने चारों ओर से एक साथ दुर्ग पर भीषण आक्रमण किया। युवराज बलभद्रसिंह के अनेकों गोरखा वीर अँगरेजी तोपों का निशाना बन गए, पर संघर्ष में कहीं कोई भी कमी नहीं आई थी।

एक ओर अँगरेजी सेना की गोलियाँ मौत का संदेश ला रही थीं, तो दूसरी ओर से बहादुर गोरखा बालाएँ दुर्ग की दीवार पर खड़ी पत्थर फेंक रही थीं। बड़ी अजब स्थिति थी। दुर्ग पर अपना अधिकार जमाने के लिए अँगरेजी सेना और उसके बर्बर सेनापति ने एक के बाद एक अनेक प्रयत्न किए, लेकिन सब-के-सब बेकार साबित हुए। गोरखा सैनिकों की वीरता के सामने किसी की एक न चली।

इस हार ने जिलैस्पी को पर्याप्त चिढ़ा दिया। वह भारी क्षुब्ध था। इसी क्षोभ में वह अँगरेज सेना की एक टुकड़ी लेकर दुर्ग के मुख्य द्वार की ओर बढ़ा। तभी भीतर से गोलियों एवं पत्थरों की भारी बरसात शुरू हो गई। अँगरेज सिपाही भाग लिए, परंतु जिलैस्पी ने भागना नहीं सीखा था। वह बड़े ही धैर्य एवं साहस के साथ अपने को गोलियों एवं पत्थरों से बचाता हुआ आगे बढ़ता रहा, तभी दुर्ग के भीतर से आई एक गोली उसकी छाती पार कर गई। वह वहीं मृत्यु की गोद में सो गया।

अब सेना की कमान पुनः मेजर मॉबी ने सँभाल ली, परंतु स्थिति जस-की-तस थी। किसी तरह की सफलता के कोई भी आसार नजर नहीं आ रहे थे। भीषण संघर्ष के दिन बढ़ते-बढ़ते तीस से अधिक हो गए। अँगरेजों की बड़ी सेना पर थोड़े-से गोरखा वीर हावी रहे। अँगरेजी सेना का बुरा हाल था। उनका मनोबल पूरी तरह टूट चुका था।

लेकिन मॉबी की धूर्तता अभी तक थकी न थी। उसने छल-कपट का सहारा लिया। उसने मालूम किया कि दुर्ग के अंदर पीने का पानी पहाड़ियों के कुछ झरनों से आता था। बस फिर क्या था? अँगरेजी सेना ने इन झरनों पर बाँध बनाकर पानी को दुर्ग के अंदर जाने से रोक दिया।

पानी के बिना किले के अंदर हाहाकार मच गया। युवराज बलभद्रसिंह और उनके गोरखा साथी प्यास से परेशान हो उठे। स्त्रियाँ और बच्चे उनका बुरा हाल होना तो स्वाभाविक ही था। गोरखा वीरों को अँगरेजों की तोपों की परवाह न थी, लेकिन एक-एक बूँद पानी को तरसते अपने घायल साथी, पानी के बिना विकलता और बेबसी से दम तोड़ते दुधमुँहे बच्चे—इनकी दुर्दशा देखी और सही नहीं जा रही थी।

युवराज बलभद्रसिंह की अंतर्चेतना विषादग्रस्त हो उठी। उनके मन-मस्तिष्क में द्वंद्व का तूफान घुमड़ने लगा। वह सोचने लगे, अगर दुर्ग छोड़ते हैं, तो देशवासी उसे कायर और देशद्रोही ही कहेंगे, लेकिन दूसरी ओर प्यास से तड़पते बच्चे-घायल साथी, एक बूँद पानी के लिए तरसती वीर बालाएँ मौत की कगार पर खड़े हैं। चुनाव उसे करना था। युवराज की अक्ल इस समय उसका साथ नहीं दे रही थी। आखिर में उसने अपने कुछ चुने हुए साथियों के साथ विचार-विमर्श करने का निश्चय किया, पर नतीजा कुछ न निकला।

क्रांतिकारी रामप्रसाद विस्मिल को जिस दिन फाँसी लगनी थी, उस दिन सबेरे जल्दी उठकर वे व्यायाम कर रहे थे। जेल अधीक्षक ने पूछा, ''आज तो आपको एक घंटे बाद फाँसी लगने वाली है, फिर व्यायाम करने से क्या लाभ?'' उन्होंने उत्तर दिया, ''जीवन आदर्शों और नियमों में बँधा हुआ है। जब तक शरीर में साँस चलती है, तब तक व्यवस्था में अंतर आने देना उचित नहीं।''

थोड़ी-सी अड़चन सामने आ जाने पर लोग अपनी दिनचर्या और कार्यव्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देते हैं, उनको विस्मिल जी मरते दम तक अपने आचरण द्वारा यह बता गए हैं कि समय का पालन, नियमितता एवं धैर्य ऐसे गुण हैं जिनका व्यतिक्रम प्राण जाने जैसी स्थिति आने पर भी नहीं करना चाहिए।

वह रात्रि का प्रथम प्रहर था। युवराज बलभद्रसिंह अपने कक्ष से बाहर टहल रहे थे। कहीं दूर दुर्ग के भीतर ही उनके कुछ साथी अलाव जलाकर उसके चारों ओर बैठे थे। उनके मन में अपने सेनानायक के प्रति पूर्ण विश्वास

था, तभी तो ऐसी विकट स्थिति में भी वे कोई लोकगीत गा रहे थे, जिसकी धुन और ध्वनि हवा में तैरती हुई कभी तेज तो कभी धीमी हो जाती। अचानक युवराज की नजर आकाश की ओर गई। वह चकित हो उठे, आज आकाश-गंगा में कुछ अनोखी चमक थी।

युवराज बलभद्रसिंह के मन का द्वंद्व भी आकाश-गंगा के चमकते-दमकते सितारों की लहरों में बह गया। वह सोचने लगे ये हजारों-लाखों सितारे सबके सब सूर्य के उगते ही गायब हो जाते हैं और सूर्य....... रात के अँधेरे में उसे भी तो छिपना पड़ता है, तो क्या सूर्य को कायर कहा जाएगा?

अरे नहीं! उनके मन में विचारों का शीतल झोंका आया। ये तो सृष्टि का नियम है। जहाँ दिन है, वहाँ रात है, जहाँ फूल है, वहीं काँटे हैं। युवराज बलभद्रसिंह के भीतर कोई पुकार उठा, बलभद्र! सुन तेरी जीत तेरे जीवित रहने में ही है। रणनीति भी यही कहती है कि समय को पहचान कर ही वार करना या पीछे हटना चाहिए। इस रणनीति के कारण ही तो अँगरेज हमसे जीत जाते हैं। बलभद्रसिंह अगर तू जीवित रहा, तो कभी-न-कभी अँगरेजों को हराने में सक्षम होगा। तेरे सतत संघर्ष से भारतमाता की बेड़ियाँ कभी-न-कभी टूटेंगी ही। अपने इस निश्चय के साथ बलभद्रसिंह की आँखों में चमक आ गई। एक अनूठी और अनोखी चमक।

दूसरे दिन का सूर्य एक नए संदेश के साथ उगा। आज गोरखा वीरों की बंदूकों ने आग नहीं उगली। अकस्मात दुर्ग का मुख्य द्वार खुला। लगभग सत्तर-अस्सी की संख्या में पुरुष और स्त्री दोनों ही सिर पर कफन बाँधे, हाथों में बंदूकें और तलवारें थामे बाहर निकले। युवराज के मुख पर मुस्कान और कदमों में दृढ़ता थी, अभी अँगरेज सेना इस अप्रत्याशित स्थिति को समझ पाती कि युवराज और उनके साथी अँगरेज सैनिकों को तितर-बितर करते हुए पास के झरनों पर पहुँच गए।

सबसे पहले युवराज ने अपनी वीर साथियों से पानी पीने के लिए कहा। जब तक उनके साथी अपनी प्यास बुझाते रहे, बलभद्रसिंह पीछा करने वाले अँगरेजों को रोकते रहे। सबसे अंत में उन्होंने स्वयं झरने के शीतल जल से अपनी प्यास बुझाई और तब अँगरेज सेना और उसके सेनानायक मॉबी को ललकारते हुए कहा, ''मेरे रहते हुए तुम दुर्ग पर विजय नहीं पा सके। अब मैं स्वयं अपनी इच्छा से दुर्ग छोड़ता हूँ। परंतु ध्यान रहे, भारतमाता अधिक दिनों तक बंदिनी नहीं रहेगी। उसकी वीर संतानें तुम सबको खदेड़कर ही दम लेंगी।'' इतना कहकर युवराज अपने साथियों के साथ पास के वनों में अपने संघर्ष को और तीव्र करने के लिए गायब हो गए।

कर्नल मॉबी इस अद्‌भुत वीरता पर हतप्रभ था। उसका सिर इस अनोखे वीर के प्रति सम्मान में अपने आप ही झुक गया। थोड़े ही दिनों में उसने नालापानी के पास एक स्मारक बनवाया, जिस पर लिखवाया—

हमारे बहादुर शत्रु बलभद्रसिंह और उनके गोरखा वीरों की याद में 'सम्मानोपहार'।

यह उपहार आज के उत्तरांचल की सांस्कृतिक संपदा है, जो पर्वतीय क्षेत्र के नागरिकों को आज भी राष्ट्रनिर्माण के लिए सतत प्रेरित कर रही है।

◆

मार्ग चलते-चलते थककर बुद्ध पेड़ के नीचे बैठ गए और आनंद से बोले, सामने वाले झरने से पानी ले आओ।

आनंद जब पहुँचे तो उसी समय एक बैलगाड़ी पानी में होकर निकली और वह गंदला हो गया। आनंद लौट आए और बोले, "गंदला पानी लाने की अपेक्षा कहीं अन्यत्र से लेने जाता हूँ।"

बुद्ध ने कहा, "उतावली न करो। झरने से ही पानी लाओ।" वह दुबारा पहुँचे तो गंदलापन बह चुका था। आनंद ने प्रसन्नतापूर्वक भर लिया।

पीने के बाद तथागत ने कहा, "प्रकृति को देखो, परिस्थिति को नहीं। परिस्थिति बदल जाती है; पर प्रकृति स्थिर रहती है।" आनंद ने उपदेश में निहित तत्त्वदर्शन समझा कि मूल प्रकृति मनःस्थिति ही है। यदि वहाँ श्रेष्टता, सुसंस्कारिता है, सद्‌गुणों का समुच्चय है, तो बहिरंग में दृश्यमान मलीनता सामयिक है। प्रकृति निश्चित ही प्रबल है, वह शीघ्र ही जोर मारेगी और श्रेष्टता उभरकर आएगी। तथागत ने मुस्कराकर आनंद के चिंतन से सहमति प्रकट की।

चल रहा है विश्व में भय का कारोबार

रस्सी में साँप का आभास तथा झाड़ी में भूत की कल्पना से शरीर में सिहरन पैदा हो जाती है। मन आतंकित हो जाता है। शरीर पसीने से तर हो जाता है तथा धड़कनें बढ़ जाती हैं। भय इसी का नाम है, जो अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह जीवन का महाशत्रु है तथा सबसे बुरी बीमारी, सबसे बड़ा पाप है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह एक मनोव्यथा है, जिसका कुप्रभाव व्यक्ति से लेकर सामाजिक, आर्थिक एवं अन्य क्षेत्रों तक देखा जा सकता है।

प्रायः युवावस्था में भय कदम रखने की जल्दबाजी नहीं करता, जबकि वृद्धावस्था में यह रोग बनकर पनपता है। जीवन के समस्त सुख-चैन को यह हर लेता है, कोमल भावनाएँ एवं संवेदनाएँ इसके संपर्क में आते ही झुलस जाती हैं। यह आतंक के साम्राज्य का चक्रवर्ती सम्राट् है। इसकी जीत में व्यक्ति की हार लिखी होती है। यह असफलता का मूल मंत्र है। साहसी व्यक्ति भय मुक्त होता है, परंतु निर्बल को यह धर दबोचता है और बदले में देता है—आशंका-कुशंका का सर्वनाशी उपहार। विभिन्न प्रकार के मनोरोग इसी कारण जन्म लेते हैं और जीवन नारकीय यंत्रणा से भर जाता है।

इस तथ्य को अपने शब्दों में रेखांकित करते हुए विलियम होलकोंब ने कहा है कि घातक परिस्थितियों में सर्वाधिक क्षति पहुँचाने वाली स्थिति वह है जब मनुष्य के मन में भय की भावना पैदा होती है। इसके अनेक स्तर एवं श्रेणियाँ हैं। अत्यधिक भय की आशंका और उससे उत्पन्न त्रास से लेकर सामान्य संशय तक किसी भी प्रकार का भय क्यों न हो, वह शरीर द्वारा किए जाने वाले कार्यों में निश्चित रूप से बाधक होता है। वह आगे उल्लेख करते हैं कि भय किसी भी प्रकार का हो, उसकी मात्रा कम हो या अधिक, उसकी जाति एक ही होती है। वह किसी-न-किसी सीमा तक कार्यशक्ति में रुकावट एवं कठिनाई ही पैदा करता है। इसके कारण शरीर के अंग-अवयव निस्तेज एवं असहाय हो जाते हैं, जिनके द्वारा किसी भी प्रकार का कार्य संपन्न नहीं किया जा सकता। भय के चिह्न विभिन्न रूपों में शरीर की नस-नाड़ियों में फैल जाते हैं। इससे ऊर्जा विनष्ट होती है तथा सामर्थ्य एवं क्षमता नष्टप्राय हो जाती है।

होरेस फ्लेचा ने भय की तुलना उस जहरीली गैस से की है, जो जीवन के लिए अत्यंत हानिकारक है। सचमुच ही भय जीवन में फैलकर इसकी बहुमूल्य संपदा को कुंद कर देता है। इससे मानसिक, चारित्रिक और आत्मिक पतन होता है और व्यक्ति का खुशहाल जीवन दम तोड़ देता है। शरीर की क्रियाशील कोशिकाएँ अपना क्रिया-व्यापार बंद कर देती हैं तथा अपने अंदर की समस्त संभावनाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं।

भय एक ऐसा पालतू पशु है, जो हमारे अचेतन मन में अनचाहे पलता और पुष्ट होता रहता है। बचपन में माँ एवं परिवार द्वारा दिखाया गया भय का विशाल रूप समय के साथ बढ़ता जाता है। अनुकूल समय पाकर भय की छाप ऐसे उभर जाती है, जैसे पेड़ पर खोद गए अक्षर। कोमल भावनाओं पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी कारण अनेकों युवक-युवतियाँ आशंका की जरा-सी आहट पर काँप उठते हैं, दुर्बलता में फँस जाते हैं तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। बाहर से स्वस्थ-सुंदर दिखाई देने पर भी ऐसे लोग अंदर से बहुत कमजोर होते हैं। दुर्घटना, बीमारी, असफलता, निराशा-हताशा आदि अनेक प्रकार के भय नंगी तलवार की भाँति किशोरों और युवकों के मन पर लटकते रहते हैं। न इन्हें झेला जा सकता है और न ही पीछा छुड़ाया जा सकता है। भय काली परछाई की तरह पीछा करता रहता है।

मनुष्य भय से चिपका रहता है। मन के अंदर उसकी जड़ें बड़ी गहरी एवं फैली रहती हैं। बाहर से तो हम उसे दूर भगाना चाहते हैं, परंतु अंतरमन इसको प्रश्रय देता रहता है, अतः यह अनचाहे भी आतंकित करता रहता है। यह तमाम हथकंडों का उपयोग करके मन को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। इसलिए मनोविश्लेषक उल्लेख करते हैं कि मनुष्य में सर्वाधिक उसी चीज का आकर्षण होता है, जो सबसे ज्यादा भय पैदा करता है। यही वह आधार है, जिससे भय का व्यापार फल-फूल रहा है।

वर्तमान विश्व में जिस एक वस्तु का व्यापार सबसे अधिक हो रहा है, वह कोई उत्पाद नहीं है वरन् एक प्रकार का भय ही है। आधुनिक सभ्यता का गढ़ माने जाने वाला पश्चिमी समाज भय के बेचने-खरीदने वालों की बहुत बड़ी मंडी में तब्दील हो गया है। यहाँ पर जो जितना भय पैदा करता है, वह उतना ही सफल सिद्ध हो रहा है एवं कारोबार कर रहा है। पिछले पाँच सालों में हालीवुड

में जितनी फिल्मों ने अपनी वैश्विक सफलता का परचम लहराया है, वे सभी भय के चरम मनोभावों से युक्त थीं।

अपने भयानक खलनायक की खोज के कारण ही हालीवुड की प्रसिद्ध फिल्म निर्माता कंपनी ट्वेंटीथ सेंचुरी फॉक्स पिछले दिनों काफी चर्चित रही। यह कंपनी अब तक के सभी खलपात्रों से कहीं अधिक भयंकर खलपात्र की तलाश में थी, क्योंकि यह दर्शकों के अंदर सिहरन पैदा कर सके। जो जितना भय उत्पन्न कर सकेगा वह उतना ही सफल माना जाता है। वस्तुतः यह एक ऐसा समुद्र है, जो हालीवुड फिल्मों की कड़ुई हकीकत बन गया है।

पिछले दिनों यहाँ जितनी चर्चित फिल्में बनीं, वे सभी नायक के चरित्र के बल पर नहीं, बल्कि इन्होंने भय एवं सिहरन पैदा करने वाले खलनायकों के बदौलत अपार सफलता अर्जित की। यहाँ की तमाम प्रसिद्ध फिल्मों में किसी विशेष युग की विशिष्ट सभ्यता के दानव को उकेरा गया है, जो लोगों के दिलोदिमाग में दहशत भर देता है। चाहे वह गॉडजिला हो या जुरासिक पार्क, चाहे मार्स इन्वेडर हो या लास्ट इम्परर या इंडिपेंडेंस डे तथा टाइटैनिक, इन सभी चलचित्रों में अगर भय का हैरतअंगेज संसार न रचा गया होता, तो संभव है ये इतनी सफलता नहीं प्राप्त कर सकती थीं। राल्फ सियोनी की नेवस्ट टारगेट को भी सफलता मिलने की वजह है दहशत की दास्तान दिखाया जाना। इसमें मानव बम की भयानक वारदातों का प्रदर्शन किया गया है।

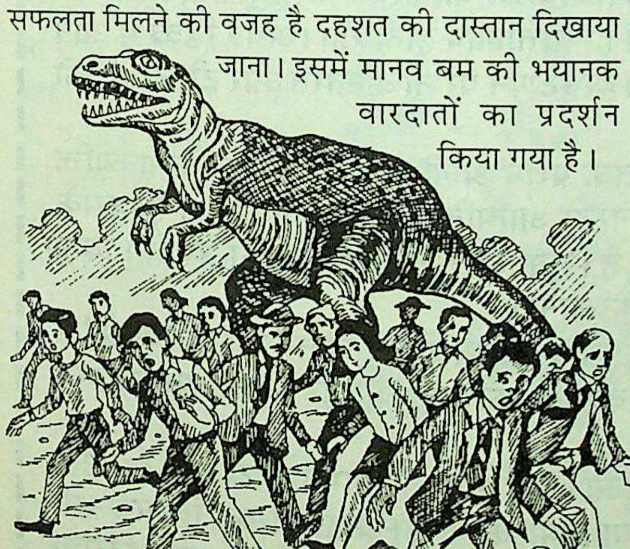

स्टीफन स्पिलवर्ग की लौकिक भय दिखाने वाली फिल्म जुरासिक पार्क ने अकेले यूरोप में ही अपने प्रदर्शन के प्रथम दौर में १८० करोड़ डॉलर का कारोबार किया। इसी प्रकार अन्य फिल्में सीड, जीरो, बालकेनो, टारनेडो आदि का केंद्रबिंदु भी यही है। पिछले पाँच सालों में यहाँ की १३ सुपर हिट फिल्मों में से ९ का मुख्य आधार भय ही रहा है। एक अनुमान है कि प्रत्येक साल लगभग दो सौ खरब डॉलर की कीमत के भय का कारोबार होता है।

जार्ज बर्नार्ड शॉ कहा करते थे कि मनोभाव किसी बाजार में नहीं बिकते, परंतु आज के अर्थशास्त्र ने उनके इस कथन को सिरे से गलत साबित कर दिया है। इस संदर्भ में विश्वप्रसिद्ध चिंतक नोम चोमस्की की उक्ति उपयुक्त प्रतीत होती है, जिसमें उन्होंने कहा था कि भय व्यापार की छठी इंद्रिय है।

आज के विश्व में भय का व्यापार समूचे कारोबार जगत् में रीढ़ की हड्डी की तरह है। शेयर और सट्टा बाजार की आत्मा तो इसी भय में रची-बसी है। सन् १९९६ में घटी एक घटना को शेयर बाजार में शायद ही कोई भुला पाया होगा, जिसमें यह अफवाह फैला दी गई थी कि देंग शियाओ फिंग की मृत्यु हो गई है। इस भयग्रस्त खबर को सुनते ही हांगकांग का हैंगे शेयर सूचकांक १३०० अंक नीचे गिर गया था। इससे ६७ अरब डॉलर की पूँजी स्वाहा हो गई थी। ग्यारह सितंबर २००१ की आतंकवादी घटना से अमेरिकी नेस्डेक कई दिनों तक बंद रहा। इस भय ने अमेरिकी आर्थिक तंत्र को बुरी तरह से झिंझोड़कर रख दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पहली बार ऐसी स्थिति आई। इससे जापान के शेयर बाजार में ३३ प्रतिशत का नुकसान हुआ और भारत भी क्षति से अनछुआ नहीं रह सका। आतंक की पर्याय इस घटना से विश्व का समूचा आर्थिक जगत् हिल गया।

छपे हुए रंग-बिरंगे या स्याह काले शब्दों में भी भय बिकता है। हैरी पॉटर नामक कॉमिक्स बच्चों के बीच विश्व में सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसमें एक ऐसे भयंकर अग्निदैत्य की कल्पना की गई है, जो बच्चों में भय पैदा करता है, इसलिए यह अधिक बिकता भी है। एक अमेरिकी सर्वेक्षण के अनुसार संसार की ९० फीसदी से अधिक कॉमिक्स भयकारी विषयों पर आधारित होती हैं। कुछ उपदेशात्मक कॉमिक्स भी बड़े पैमाने पर बिकते हैं, परंतु उनके केंद्र में भी धार्मिक भय की मुख्य भूमिका होती है। न्यूजवीक, टाइम जैसे विश्वविख्यात पत्रिकाओं के सबसे अधिक बिकने वाले अंक मुख्यतः भय एवं आतंक आदि विषयों पर केंद्रित होते हैं। अमेरिका के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर में आतंकवादी हमले के पश्चात् ऐसी पत्र-पत्रिकाओं की बिक्री में बेतहाशा वृद्धि हुई है, क्योंकि इनमें भय की सनसनीखेज खबरें होती हैं।

भय मानवी मनो-मस्तिष्क को प्रभावित करने वाला एक बड़ा कारक है। व्यक्ति ही नहीं समाज एवं राष्ट्र भी

अपने अस्तित्व के संकट पर भयग्रस्त हो जाते हैं। ८० के दशक में अमेरिका में भय का माहौल व्याप्त था, क्योंकि उसे सोवियत रूस द्वारा नेस्तनाबूत कर दिए जाने की आशंका थी। आज सारा अमेरिका आतंकवाद एवं जैविक युद्ध के विप्लवी विनाश से आतंकित है। वर्तमान विश्व की सूचना तकनीक साइबर युद्ध से भयग्रस्त है। इसके पूर्व ८० के दशक में आई. सी. बी. एम (अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र) तथा ९० के दशक में परमाणु शस्त्र भय के बड़े स्रोत साबित हुए थे।

भय की आशंका ही समस्त कठिंनाइयों एवं विपत्तियों का कारण है। इससे अपार क्षति हुई है। भय भावना के स्रोत को शुष्क कर देता है, उससे प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। भय का आधार ही स्वयं पर अविश्वास है और जब तक स्वयं पर विश्वास नहीं होगा, विकास कैसे संभव हो सकता है? जीवन क्षणभंगुर एवं अनिश्चित है। सुख-दु:खरूपी इस अनिश्चितता से उत्पन्न भय को अदम्य साहस एवं सर्वथा भयहीन साहस से ही जीता जा सकता है। साहस एवं निर्भयता ही सफलता का रहस्य है।

वस्तुत: जिससे भय किया जाना चाहिए वह है पाप एवं प्रलोभन का भय। संसार के बंधन भयंकर हैं। माया-जाल का आकर्षण बड़ा प्रबल है। भय तो इनसे करना चाहिए और इनसे दूर रहने का प्रयास करना चाहिए, जबकि हम सद्कर्मों पर भय करते हैं। आशंका होती है कि यदि सद्कर्म करेंगे तो जीवन कठिनाइयों से भर जाएगा। इस भय से मुक्त होकर सदैव दृढ़तापूर्वक शुभ विचारों का चिंतन करना चाहिए। भय दासता है और साहस विजय। इस तथ्य पर मनन करने की आवश्यकता है। ईश्वर विश्वास से ही सभी प्रकार के भयों से मुक्ति संभव है। अत: हमें सदा परमात्मा का स्मरण-ध्यान करते हुए निर्भय होकर सटीक लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहिए। ✡

स्वर्गीय पंडित दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्त्ताओं के साथ मुंबई से नागपुर तक तीसरे दरजे में रेल द्वारा यात्रा पर जा रहे थे। उन दिनों वे भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष थे।

उसी ट्रेन के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में गुरु मा. स. गोलवलकर भी जा रहे थे। उन्होंने किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार-विमर्श करने हेतु उपाध्याय जी को अपने पास बुलाया।

दो स्टेशन तक उनका प्रथम श्रेणी के डिब्बे में ही वार्त्तालाप होता रहा। अपने डिब्बे में आने पर वे टी. टी. ई. को खोजने का प्रयास करने लगे। हर स्टेशन पर नीचे उतरते और टी. टी. ई. को खोजते।

तीसरे दरजे का टिकट रखते हुए दो स्टेशन तक प्रथम श्रेणी में यात्रा करना किसी व्यक्ति को कोई असामान्य बात नहीं लगती, किंतु जो निरंतर आत्मनिरीक्षण करता चलता है, उसके लिए यह सामान्य नहीं, असामान्य बात हो जाती है। एक तो राष्ट्रीय संपदा का उपयोग बिना मूल्य चुकाए करना तथा अपने अंत:करण को झुठलाना।

श्री उपाध्याय को टी. टी. ई. की खोज करते देख उनके साथी यह जानने को उत्सुक थे कि आखिर उनको टी. टी. ई. से ऐसा कौन-सा आवश्यक कार्य है, जो हर स्टेशन पर उतरकर दौड़-धूप करते हैं।

पंडित जी की दौड़-धूप का प्रयास सफल हुआ। उन्हें शीघ्र ही सामने से टी. टी. ई. आता दिखाई दिया। जब उन्होंने अपना अधिक किराया जमा करने को कहा तो वह विस्मय भरी दृष्टि से उनकी ओर देखने लगा, किंतु दूसरे ही क्षण वह कुछ नहीं बोला और चुपचाप हिसाब से पैसे ले लिए।

पैसे लेने के साथ ही पूछ बैठा, ''क्या आप रसीद भी चाहते हैं?'' पंडित जी ने तत्काल ही उत्तर दिया ''अवश्यमेव।''

टी. टी. ई. उस राशि को रिश्वत रूप में अपने ही पास रखना चाहता था, किंतु उपाध्याय जी ने कहा, ''मेरे टिकट के पैसे न देने और टी. टी. ई. के जेब में रख लेने के दोनों अपराध समान हैं। दोनों से ही देश खोखला होता है।''

परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी

कैसे विकसित हो आदर्श परिवार

(उत्तरार्द्ध)

मित्रो! संस्कारवान् परिवार ही आगे बढ़ते, प्रगति करते और खुशहाल रहते हैं। अतः आपको अपने बच्चों को संस्कारवान् बनाना चाहिए था, उन्हें स्नेह देना चाहिए था। आपने कुटुंब बनाया है, तो उसमें आपको संस्कार देना चाहिए था। आपको अपने कुटुंब में रंग-बिरंगे ठाठ-बाट नहीं बनाने चाहिए थे, वरन् उसे स्नेह देना चाहिए था। आपने भारी भूल की है, जिसके कारण आज परिवार टूटते चले जा रहे हैं। आपको यह समझना चाहिए कि परिवार की एक ही माँग है—मोहब्बत, स्नेह।

आत्मा को चाहिए स्नेह

मित्रो! जब आपका पेट माँगता है कि हमें भूख लगी है, हमें रोटी मिलनी चाहिए, तो आप रोटी देते हैं। उसी प्रकार आपको अपने परिवार के लिए रोटी से ज्यादा मोहब्बत, प्यार देना चाहिए। शरीर का भीतरी हिस्सा अपने को चलाने के लिए रोटी माँगता है। बाहरी हिस्सा हमेशा ठंढक से, गरमी से बचाव चाहता है। उसके लिए कंबल तथा पंखा, कूलर की माँग करता है। उसकी आप पूर्ति करते हैं। परंतु साथियो! एक और चीज है आपके भीतर उसका नाम है, 'आत्मा'। आत्मा-अंतरात्मा की एक ही कसक है और वह एक ही चीज माँगती है। वह क्या है? वह है मोहब्बत, वह है स्नेह। आपकी बीबी क्या आपके घर में रोटी, कपड़ा के लिए आई है? क्या उसके घर में इनकी कमी थी? उसके घर में जब नौकरानी काम करती है, तो यहाँ किसलिए आई है? कामवासना की पूर्ति के लिए? नहीं, आपको नहीं मालूम, इसके लिए नहीं आई है। तो किसके लिए आई है? उसका एक ही मकसद है और वह है प्यार।

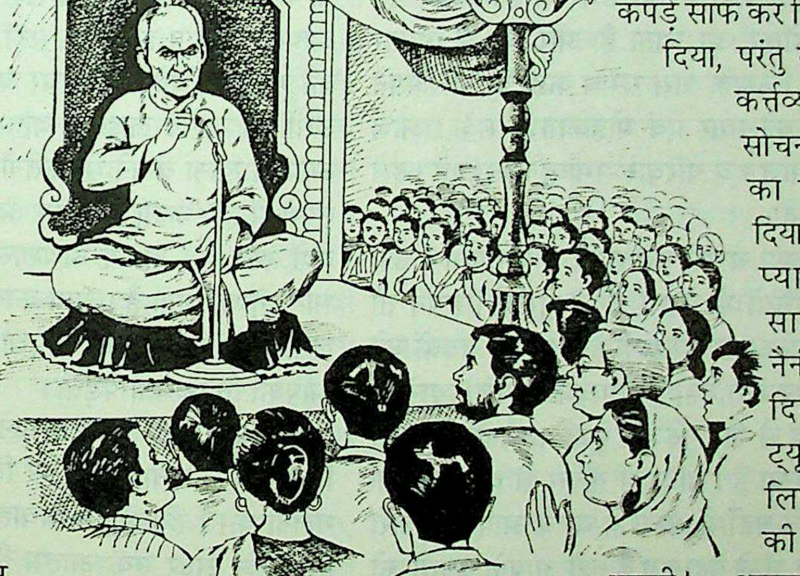

साथियो! इंसान के भीतर चाहे वह मरद हो या औरत, उसके अंदर एक ऐसी भूख है, जिसका नाम है प्यार। वह दोनों एक ऐसा साथी, सहयोगी तथा अभिन्न अंग तलाश करते हैं, जो आपस में प्यार दे सके तथा आपस में घुल-मिलकर रह सके। वह दुःख-सुख में साथी हो सके। हर कमजोरी को दोनों मिल-जुलकर दूर करते हैं। आप तो केवल बीबी की बात करते हैं, पर हम तो बच्चों की भी बात करते हैं। बच्चों को माँ का प्यार-मोहब्बत तो थोड़ा मिलता भी है, परंतु बाप का प्यार-मोहब्बत कहाँ मिलती है।

मित्रो! सभी के अंदर एक भूख होती है और वह है, प्यार-मोहब्बत की। उसके बिना इंसान की प्रगति नहीं हो सकती है। माँ का कर्त्तव्य तो पूरा हो जाता है। माँ ने उसके लिए खाना पका दिया, कपड़े साफ कर दिए, उसे स्नान करा दिया, परंतु बाप का क्या कोई कर्त्तव्य नहीं है? उसे भी सोचना होगा। माँ ने शरीर का उद्देश्य पूरा कर दिया, लेकिन आपने उसे प्यार दिया? नहीं साहब। हमने उसे नैनीताल में भर्ती करा दिया। उसके लिए ट्यूशन आने-जाने के लिए साइकिल आदि की व्यवस्था कर दी। गुरुजी! आपका प्रवचन भी सुना दिया। अच्छा तो यह बता कि नैनीताल या देहरादून के स्कूल में बच्चे को माँ-बाप का प्यार मिलता है क्या? नहीं साहब! वहाँ तो नहीं मिलता है। तो उसका विकास कैसे होगा, कभी आपने सोचा है क्या? हम तो ५०० रुपये महीना भेज देते हैं। हाँ, यह तो ठीक है कि उसने बच्चों ऐटीकेट सिखा दिया होगा, ''थैंक्यू वेरी मच'' सिखा दिया होगा, परंतु इससे क्या होता है? इससे क्या वह संस्कारवान् बन जाएगा? इससे क्या उसे प्यार-मोहब्बत मिल जाएगी?

नहीं साहब! यह तो हम नहीं कह सकते। मैं पूछता हूँ कि क्या वहाँ ऐसी कोई माँ है, जो उसे छाती से लगाकर प्यार दे सके? आपने देहरादून के विद्यालय में इन लावारिस बच्चों को, इन अनाथ बच्चों को क्यों भरती करा दिया? आपने उसे अनाथ बना दिया। नहीं साहब! हमने तो उसे मिलिट्री स्कूल में भरती करा दिया। हमारा बच्चा साहब बन जाएगा। हम यह नहीं जानते हैं कि आपका बच्चा साहब बनेगा या धूर्त? बनता है, तो बन जाए, लेकिन इतना अवश्य है कि वह इंसान नहीं बन सकता।

मित्रो! इंसान बनने के लिए, उसे संस्कारवान् बनाने के लिए प्यार-मोहब्बत की आवश्यकता है, जो इन पब्लिक स्कूलों में नहीं मिल सकता है। उसके लिए आपको बच्चों को प्यार-मोहब्बत देना चाहिए था, बच्चों को उसके लिए आपको समय देना चाहिए था, परंतु आपका सारा-का-सारा समय फिल्मों में, टी. वी. देखने, ताश-चौपड़ खेलने में, मटरगस्ती में एवं क्लबों में खत्म हो जाता है। फिर आप बच्चों को समय कब देंगे? इससे अच्छा है बच्चों को आप मार दीजिए। बच्चा कहता है कि हमें पापा का प्यार मिलना चाहिए और पापा है कि उधर से ही शराब की बोतलों से टन्न होकर आ जाता है और घर में आकर खुराफात करता है। उसके पास समय कहाँ है, जो अपने बच्चों को, बीबी को प्यार एवं मोहब्बत दे सके। आज इसी के कारण समाज एवं परिवार समाप्त हो रहा है। इसे आपको सँभालना है।

मित्रो! क्या आप बच्चों को छाती से लगाएँगे? उसे छोटी-छोटी कहानियों से प्रेरणा देंगे? गुरुजी! हमने तो बच्चों के लिए नौकर रख छोड़ा है। नौकर ही बच्चों को खिला देता है, स्नान करा देता है। अच्छा तो बेटे! खाने के लिए भी नौकर रख ले न। गुरुजी! पूजा करने के लिए भी हमने एक नौकर रखा है। मंदिर में नौकर से काम चलेगा क्या? आप समझते नहीं हैं। क्या ये बच्चे आपके नौकरों के या आया के पेट में से पैदा हुए हैं, जो आपके बच्चों को ये प्यार देंगे। आपको अपने परिवार के लिए ज्यादा समय, पैसा खरच करना चाहिए था। आप आठ घंटे नौकरी करते हैं या व्यापार करते हैं, यह मैं मानता हूँ, परंतु जो सोलह घंटे आपके पास बचते हैं, उतना समय आपको घर में, परिवार में रहना चाहिए। उसे हरा-भरा बनाना चाहिए, संस्कारवान् बनाना चाहिए।

समय परिवार को दीजिए

गुरुजी! उतने समय के लिए तो हम फिल्म देखने चले जाते हैं। क्या मिलता है इन फिल्मों से, क्लबों से आपको? इन फिल्मों या क्लबों में क्या रखा है? अरे तू अपने बीबी-बच्चों से बात करना शुरू कर, फिर देख कैसा रहेगा सिनेमा? इससे अच्छा गुड्डा क्या आपको सिनेमा में मिल सकता है। आप जब अपने बच्चे को एक चाभी वाला खिलौना लाकर देते हैं, तो खुशी के मारे उछलने लगता है और कहता है कि मेरे पापाजी मेरे लिए लाए हैं। आपके घर में जिंदा गुड़िया है, पर उससे बात करने का आपके पास समय नहीं है। उससे दो मीठी बातें करने की आपको फुर्सत नहीं है। आपको बच्चों को बिल्ली-बंदर की कहानी सुनाना नहीं आता? आपके बच्चे बिल्ली की कहानी, बंदर की कहानी सुनने में कितना आनंद अनुभव करते हैं, इसका पता आपको नहीं है। अरे आपने यह मोहब्बत देखी नहीं है और न इसे देने का आपका मन है। यह आपको पसंद नहीं है, तो फिर क्यों घर बसा लिया? आपने बच्चों को कसाईखाने में रख दिया है। आप कुटुंब बसाते हैं, तो उसे कसाईखाने में मत रखिए, उसे भूखा मत रखिए। आप उसकी आत्मा को मोहब्बत के बिना भूखा क्यों मारते हैं? क्या आप यह नौकरानी खरीद कर लाए हैं या कामवासना की मशीन खरीद कर लाए हैं? यह कौन है आपकी? आप इसे प्यार नहीं दे सकते? अरे इस प्रकार की मशीनें, विदेशों में रबर की औरतें मिलती हैं। आप उसी को खरीद लाइए। वह आप से कुछ नहीं माँगेगी। आपको खाना बनाने में कितना खरच होता है? वह तो सौ रुपये में हो जाता है। फिर आपने इसके लिए औरत को क्यों रखा है। आपने अर्थशास्त्र पढ़ा है। आपको जोड़, भाग, गुणा आता है। आप कागज निकालिए और हिसाब लगा लीजिए। इसकी अपेक्षा आप नौकर रख लेते तो आपको किफायती पड़ता!

मित्रो! आप खाना बनाने के लिए, कामवासना के लिए, घर की चौकीदारी के लिए घर बसाते हैं, तो आप गलती करते हैं। शादी-विवाह का यह मकसद नहीं है। इंसान के अंदर एक आत्मा है। उसके विकास के लिए मनुष्य कुटुंब बनाता है, घर बसाता है। आपने तो आत्मा को देखा भी नहीं, आत्मा का नाम सुना भी नहीं, आत्मा को आपने छुआ भी नहीं। आत्मा का आपने कभी संपर्क भी नहीं किया। एक पंडित जी आते हैं और कहते हैं कि आत्मा का साक्षात्कार करिए। आपको भ्रम-जंजाल में फँसाकर वे लूट लेते हैं।

साथियो! 'आत्मा' आदमी के भीतर एक सत्ता का नाम है, जो प्यार पीती है और प्यार पिलाती है। यह एक ही जगह पूरी हो सकती है, जिसका नाम कुटुंब है, जिसका

नाम परिवार है। आज सारी-की-सारी चीजें भौतिक मिल रही हैं अर्थात् आर्टीफीशियल। इस प्रकार के युग में आत्मीयता-प्यार कहाँ मिलेगा ? यह सिर्फ एक ही फैक्ट्री, एक ही उद्यान में मिलती है और उसका नाम है, कुटुंब-परिवार। आपने जो भी कमाया, सब इसके लिए खरच किया। आपने तप किया, तो केवल इस परिवार के लिए। आपने संत की तरह से, महात्मा की तरह से, राजा कर्ण की तरह से इसके लिए त्याग किया, सहयोग किया। राजा कर्ण जो भी कमाता था, वह समाज के लिए, धर्म के लिए दान कर देता था। आप भी राजा कर्ण की तरह से हैं। आपने जो कुछ भी कमाया, जो कुछ भी पाया, उन्हीं के लिए खरच कर दिया। उन्हीं के लिए जिनका नाम कुटुंब है, परिवार है। हम कुटुंब से प्यार करते हैं, मोहब्बत करते हैं, इसलिए हमने यहाँ पर भी कुटुंब-परिवार बसा दिया है।

मित्रो! हमारी एक पुस्तक है, 'सुनसान के सहचर'। हमें हिमालय के जंगलों में, पहाड़ों में रहने का मौका मिला। वहाँ घास-पात के अलावा कुछ भी नहीं था। हमने सोचा कि इस एकांत में, सुनसान में हम कैसे रह सकते हैं। सुनसान में आदमी नहीं रह सकता है। हमने वहाँ भी अन्य प्राणियों का कुटुंब बना लिया। कुटुंब के बिना मनुष्य रह नहीं सकता ? आदमी अपने गुणों का विकास कुटुंब के बिना, परिवार के बिना कहाँ कर सकता है ? आदमी कहाँ सीख सकता है। धर्मपत्नी के प्यार का, एक आत्मा का दूसरे आत्मा के साथ समर्पण का, उसके प्यार का अनुभव आदमी परिवार के अतिरिक्त और कहाँ कर सकता है ? आप अपनी पत्नी के बिना यह सब कहाँ से लाएँगे ? कहाँ से पाएँगे ? कहाँ से सीखेंगे ? आप वेश्यालय जाकर वासना पूर्ति कर सकते हैं, लेकिन प्यार-मोहब्बत आप नहीं ला सकते हैं। आप माँ-बाप का प्यार कहाँ से लाएँगे ? कौन से बाजार से लाएँगे ?

माँ का स्नेह-वात्सल्य पीकर शिवाजी की आत्मा, लव-कुश की आत्मा न जाने कहाँ से कहाँ पहुँच गई। शकुंतला का प्यार पीकर भरत की आत्मा क्या से क्या हो गई ? आपने माँ का प्यार नहीं पिया क्या ? नहीं साहब! हमारी माँ नहीं है, परंतु एक आदमी कह रहा था कि आपकी माँ जिंदा है। मित्रो! वह आपकी माँ नहीं है, वह है आपके घर में रहने वाली एक बुढ़िया, जिसे आप फटकार भी लगाते रहते हैं। इधर से उधर भगाते भी रहते हैं। वह आपकी माँ नहीं हो सकती है। माँ का तो आपने दर्शन भी नहीं किया। आप तो संतोषी माता, शीतला माता को पूजते रहे, लानत है आपको। काश, अगर आप अपनी माँ को समझे होते, उसके प्यार का बदला चुकाया होता। उसके अनुदान का बदला चुकाया होता तो आप धन्य हो जाते। आप अभागे हैं, जो माता के नाम पर न जाने क्या-क्या करते रहे, संतोषी माता, मनसा देवी को पूजते रहे। इसी तरह के ख्वाबों में आप भटकते रहे। आप जाइए जहन्नुम में, जिसने अपनी माँ को समझा ही नहीं।

सच्ची मित्र आपकी अपनी पत्नी

मित्रो! आप आसमान पर चलना बंद कीजिए और जमीन पर चलना शुरू कीजिए। आपकी सच्ची मित्र अपनी पत्नी को आप संस्कारवान् बनाएँ। उसे ऊँचा उठाइए। राम-भरत की तरह रहिए। अपनी बीबी की मोहब्बत को देखिए। हमने बीबी में से धर्मपत्नी को पैदा किया। औरत कामिनी नहीं है, वह धर्मपत्नी है। हमारी धर्मपत्नी हमारी सहयोगी है, साथी है। हम लोग आपस में बातचीत कर सकते हैं। कामवासना पर लानत है। हम दोनों का समर्पण, प्यार अद्वितीय है। हम एक-दूसरे के लिए जीवन जीते हैं। एक-दूसरे को देखकर हमारे चेहरे प्रसन्न हो जाते हैं। औरत सब अच्छी होती हैं, आपने सभी की तरह से उसे भी समझा है। आपने उसे मोहब्बत दी होती, सहकार दिया होता तो वह आपकी सहयोगी होती। आप बनवास में भी होते तो भी सीता की तरह साथ होती। आप राजा नल की तरह से दमयंती को वन में अकेले छोड़ जाते तो भी वह आपकी धर्मपत्नी होती, परंतु आपने उसे धर्मपत्नी कब बनाया है ? धर्मपत्नी नहीं बनाया। आप अगर उसे धर्मपत्नी बनाने का प्रयास करते तो यह घर स्वर्ग बन जाता।

साथियो! हमने कुटुंब तथा परिवार के महत्त्व को बतलाने हेतु ही यह शिविर लगाया है। अगर यह सिद्धांत आप सीख लेते तो धन्य हो जाते। हमने सुना है कि वहाँ स्वर्ग होता है, जहाँ परियाँ होती हैं, लोग आनंद-विभोर जीवन जीते हैं, परंतु वह स्वर्ग तो हमने देखा नहीं। हम गए भी नहीं, अगर गए होते तो आपको बतला देते कि स्वर्ग ऐसा होता है। परंतु एक स्वर्ग हमने देखा है और वह है, गृहस्थ जीवन। यह जमीन का स्वर्ग है, जिसका नाम गृहस्थ है, अगर बनाने वाला हो तो ? परंतु अगर आपने औरत को बना दिया बाघिन तथा बच्चों को बना दिया डकैत, माँ को शाप देने वाली चुड़ैल तथा भाई को बना दिया एक-दूसरे को मार-काट करने वाले, तो लानत है आपके इस कुटुंब के ऊपर। अरे साहब हम तो कमाते हैं। लानत है आपकी कमाई पर। कमाई और खरच पर दुनिया नहीं टिकी हुई है। अगर जीवन में मोहब्बत तथा प्यार नहीं है तो कोई फायदा नहीं होगा परिवार बसाने से।

आप यहाँ से एक नई दृष्टि लेकर जाइए। कुटुंब को जंजाल मत कहना, वरन् बगीचा कहना। आप इसका उपभोग करने वाले नहीं हैं। यह बगीचा किसी और का है, आप माली की तरह रहना। यहाँ भगवान् ने आपका इम्तहान लेने, आपकी परीक्षा लेने के उद्देश्य से भेजा है कि आप इस बगीचे को प्यार-मोहब्बत दे सकते हैं या नहीं? आपकी बीबी नौवीं दरजा तक पढ़कर आई थी, आपने उसे आगे पढ़ाया या नहीं? केवल यह कह दिया कि हम तो गरम खाना खाएँगे, चाहे दिन के दो बजे हों या रात ही क्यों न हो, तुम्हें उसी समय बनाना पड़ेगा।

मित्रो! मैं यह पूछता हूँ कि जे. बी. मंघाराम आपको गरम खाना खिलाता है क्या? आप जो ये बिस्कुट खाते हैं वह छह महीने पुराना है, जिसे आप बड़े चाव से खा जाते हैं और बीबी को आप कहते हैं कि हम गरम खाना खाएँगे। आपको उसने इसीलिए खसम बनाया है क्या? दिनभर उसका खून पीते हैं। आप गरम खाना खाते हैं न, ऐसा कीजिए गरम लकड़ी मुँह में रख लीजिए और रोटी खाते जाइए। बीड़ी पीते जाइए और रोटी खाते जाइए। ये सब आपकी बुरी आदतें हैं, इन्हें छोड़िए! नहीं साहब हम तो गरम खाना खाएँगे। अरे थोड़ी देर पहले का बना खा लेने पर क्या आफत आ जाएगी? गरम खाने के पीछे उसकी शिक्षा, उसका सोना, उसका चिंतन करने का सारा-का-सारा समय बरबाद हो गया। सारा-का-सारा समय खाना पकाने में खरच हो गया। मैं यह पूछता हूँ कि क्या इसे दांपत्य जीवन कहते हैं? क्या इसे स्नेह कहते हैं? क्या इसे सहकारिता कहते हैं? अरे मक्कारो! यह तो मालिक तथा जानवरों का व्यवहार और मालिक तथा दासी का व्यवहार है। यह समानता का व्यवहार नहीं है।

आपने उसे पढ़ाया क्यों नहीं? आपके पास वह नौवीं दरजा पास करके आई थी, फिर उसको आगे क्यों नहीं पढ़ने दिया। अरे साहब! समय नहीं मिला। आपको उसकी नींद खराब करने के लिए चार घंटे का समय मिल गया, परंतु उसके विकास के लिए एक घंटे का भी समय नहीं मिला। यदि एक घंटा पढ़ा दिया होता तो वह अभी तक बी. ए. हो जाती। आपने उसे नौकरानी बनाकर रखा ताकि वह आपकी हुकूमत में रह सके। आपने उसके पंख मुर्गी के पंख की तरह से काट दिए। उसे कभी भी उड़ने नहीं दिया, ताकि वह आगे न बढ़ सके। आपने उसे कबूतर की तरह पाल रखा है और आप कबूतर की तरह से उसके पंख काटते रहते हैं, ताकि वह कभी भी स्वावलंबी न बन सके। उसे कभी नौकरी भी नहीं करने दी।

मित्रो! यह आपका अहंकार तथा अविश्वास है। क्या शिक्षा बुरी बात है? यदि है तो आप अपने बेटे को, बेटी को, भाई को क्यों पढ़ाते हैं? आपने बीबी को ही क्यों मना कर दिया? उसको क्यों नहीं आगे बढ़ाया? क्या यही दृष्टिकोण है, आपके दांपत्य जीवन का? क्या यही आपकी दृष्टि है कुटुंब के, परिवार के विकास के प्रति? आप उसे दबाकर केवल शरीर का, पसीने का, श्रम का फायदा उठा सकते हैं। बस यही है कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व आपका अपनी पत्नी के प्रति। इस तरह आप कभी भी उसके सहयोग-सम्मान, श्रद्धा का लाभ नहीं उठा सकते हैं, जो श्रम से लाखों गुना फायदेमंद हैं। क्या इस संबंध में आपने समझने का, ख्याल करने का कभी प्रयास नहीं किया है।

पैसे का नहीं, संस्कारों का संबंध हो

मित्रो! मैं आप सबसे घर-परिवार की बात कहता हूँ। आपसे यह कहता हूँ कि परिवार में जिनके साथ आपकी डीलिंग है, संबंध हैं, उनके साथ आप शराफत का व्यवहार कीजिए। इसका एक मतलब यह है कि उनको आप शालीनता, सज्जनता सिखाएँ। उनको आप स्वावलंबी बनाएँ उनको गुणवान बनाएँ। आपको इससे पुण्य मिलेगा। आप जब घर में प्रवेश करेंगे, तो आपको ऐसा मालूम पड़ेगा कि आप स्वर्ग में प्रवेश कर रहे हैं। इतना ही नहीं आप इस परिवार में, कुटुंब में शांति प्राप्त करेंगे। आप सफल गृहस्थ होंगे। आपको ऐसा लगेगा कि हम देवताओं की दुनिया में प्रवेश कर रहे हैं। हम शांति के सागर में प्रवेश कर रहे हैं। पैसे की दुहाई मत दीजिए। नहीं तो आपको केन्या देश के मसाई की संज्ञा दे देंगे। केन्या वाले, नंगे रहने वाले जिनके पास घर भी नहीं है, परंतु वे काफी हिम्मती होते हैं। शेर को मारकर रख लेते हैं, फिर उसकी पूँछ को पकड़कर ले आते हैं, परंतु उनकी ताकत का क्या कहना? जहाँ कहीं

दो पेड़ पास-पास उगे। एक सूख गया, तो मालिक ने उस ठूँठ को भी काट डाला। कटते हुए उसने पड़ोसी पेड़ से शिकायत की। जिन्हें मैं जीवनभर सुविधा पहुँचाता रहा, उन्हें मेरा अस्तित्व बना रहना भी सहन न हुआ। कितने स्वार्थी हैं, ये लोग।

हरे पेड़ ने समझाते हुए कहा, ''दोस्त! चिंतन बदलो और इस तरह सोचो कि अस्तित्व मिटते-मिटते भी मैं लोगों को सूखी लकड़ी दे सकने का सौभाग्य अर्जित कर सका।''

भी खेलकूद प्रतियोगिता होती वे वहाँ से छह-सात स्वर्ण-पदक तक जीतकर ले आते। ऐसी परिस्थिति में विश्व में कानून बनाना पड़ा कि तीन से ज्यादा स्वर्णपदक इन्हें नहीं दिए जा सकते। आप पैसों के पीछे पागल हैं। उससे ताकत बटोरना चाहते हैं। आप सोचते हैं कि हम बच्चे को काजू, पिस्ता खिलाएँगे तथा उसे ताकतवर बनाएँगे। लानत है ऐसे पैसों को। हम क्रीम लाएँगे तथा पाउडर लाएँगे। अरे हम पूछते हैं कि क्या इसके बिना सेहत सही नहीं होगी। इससे बच्चों में संस्कार नहीं लाए जा सकते हैं।

मित्रो! लवकुश जो महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में रहते थे। कुशा एवं पत्तों का बना आश्रम था उनका। वहाँ न कोई मास्टर-अध्यापक था, न कोई उन्हें ट्यूशन पढ़ाने वाला था। न अच्छा भोजन था, न मोटरगाड़ी थी, परंतु जमीन पर सोने वाले बच्चे इतने महान् ताकत वाले, संस्कारवान् बन गए कि जब वे रामचंद्र जी के दरबार में गए तो उनके सद्‌गुणों के आगे सब लोग नतमस्तक हो गए। इतने समुन्नत बच्चे कैसे बन गए?

आज आप सोचते हैं कि पैसों से लड़कों को संस्कारवान् बना लेंगे। यह फिजूल की बातें मत कीजिए। पैसों से केवल आप घर की सजावट बढ़ा सकते हैं। आप बच्चों में प्राण-जीवट नहीं भर सकते हैं। उन्हें संस्कारवान् नहीं बना सकते हैं। अगर उनमें प्राण, संस्कार आप भर सकें तो ये काले बच्चे, चेचक के दाग वाले बच्चे चमत्कार कर देंगे, फिर आपका घर चाहे फूस, मिट्टी का बना हो, वहाँ स्वर्ग होगा। अगर बाजरा और नमक की रोटी भी होगी तो भी बच्चे स्वस्थ-सानंद होंगे। आपस में प्यार-मोहब्बत हो तो पैसे का अभाव विकास में बाधक नहीं होगा तथा घर में स्वर्ग का वातावरण होगा। आप संस्कार का मूल्य एवं महत्त्व समझें।

इस संदर्भ में हम आपकी अदालत में बिनोवा की माँ को पेश करते हैं। बिनोवा की माँ बहुत गरीब थीं। बहुत बार वह गेहूँ, ज्वार, बाजरा, चना पीसने को ले आती थीं। बिनोवा अपनी माँ की बगल में बैठे होते थे। अनाज पीसते समय कुछ दाने इधर-उधर जा पड़ते थे। बिनोवा उन्हें चुनकर खाते रहते थे। नाश्ते का कोई प्रबंध नहीं था। बिनोवा की तरह गरीब तथा अभावग्रस्त परिवार शायद ही कोई हो, परंतु उनकी माँ ने तीनों लड़कों को संत, महात्मा बना दिया। उनमें से एक का नाम बिनोवा, दूसरे का बाल्कोवा और तीसरे का शिबोवा था। तीनों देश के लिए समर्पित थे। मदालसा की बात तो पुरानी हो गई।

मित्रो! आप अपने बच्चे को संत, सुधारक नहीं बनाना चाहते हैं। आप तो उसे इन्कमटैक्स आफीसर, पुलिस का दरोगा बनाना चाहते हैं। वकील बनाना चाहते हैं जो सच्चे को फँसा दे तथा झूठे को जिता दे। यही चाहते हैं न आप? आप चाहते हैं कि आपका लड़का सिविल इंजीनियर हो जाए, ताकि बैगन के बैगन सीमेंट तथा लोहा खा जाए तथा एक वर्ष में ही मकान बना ले, बीबी के गहने बना ले तथा बहिन की शादी में चालीस हजार रुपए भी खरच कर दे। उसे मासिक पेमेंट तो ग्यारह सौ रुपये ही मिलते हैं, तो फिर इतना सारा पैसा वह कहाँ से लाएगा? इसके लिए क्या किया, उसको आपने देखा नहीं, उसने रेल की लाइनों को कमजोर कर दिया। देश को तबाह कर दिया आपके बेटे ने। यही चाहते थे न आप? मक्कार कहीं के, बेटे को गलत रास्ते पर चलने के लिए प्रोत्साहित करेंगे। उसे सभ्य नागरिक तथा कर्त्तव्यनिष्ठ अध्यापक नहीं बनाएँगे?

एक बार फूलों से लदे गुलाब के पौधे को चिंतामग्न देख पास में उगे आम के झुंड ने इसका कारण पूछा। गुलाब ने कहा, ''आज तो मैं फूलों से लदा हूँ, पर वह पतझड़ दूर नहीं, जब मैं पत्तों सहित झड़ जाऊँगा और फिर मेरी कँटीली डालियों को कोई आँख उठाकर भी न देखेगा। क्या यह कम चिंता की बात है?''

आम ने कहा, ''मित्र! इस आज की सुषमा और अगले पतझड़ के बाद फिर आने वाली अपनी सुंदरता का विचार क्यों नहीं करते? मुझे देखो न, अभी फल-फूलों से लदने में कई वर्ष लगेंगे, पर उसकी आशा और कल्पना करने में निरंतर प्रमुदित बना रहता हूँ।''

दृष्टिकोण बदलें, तनावमुक्त हों

मित्रो! मैं आपसे फिर कहता हूँ कि आप आज से अपना दृष्टिकोण—महत्त्वाकांक्षाओं के बारे में, घर-परिवार, कुटुंब के बारे में, अध्यात्म के बारे में बदल दीजिए। आपकी उँगलियों की तरह ही आपका कुटुंब आप से जुड़ा हुआ है। आपकी उन्नति, प्रगति, समृद्धि, विकास सारा-का-सारा आपके कुटुंब के साथ जुड़ा है। अतः इस संदर्भ में आप अपना विचार बदल दें। अरे नहीं साहब! हमें टेंशन की शिकायत है। टेंशन किसे कहते हैं? जिसमें दिमाग में तनाव रहता है, नींद नहीं आती, गरमी रहती है। आपके घर में स्नेह-सहयोग का वातावरण नहीं है, इसी कारण यह परिस्थिति है। यूरोप की दुनिया में यह गलती

सभी ने की है। इसी कारण वहाँ लोगों ने कुटुंब, परिवार संस्था को बरबाद करके रख दिया है। केवल मियाँ-बीबी का रिश्ता रह गया है। उसमें भी टिकाऊपन नहीं है। सिद्धांत के बिना क्या टिकाऊपन होता है? उनके यहाँ छह महीने के बाद नई बीबी, नया पति होता रहता है। उन्होंने कुटुंब-परिवार का सर्वनाश कर दिया है। इसका एक ही कारण है कि उनके ऊपर एक भूत सवार हो गया है और उसका नाम है 'सेक्स'। खूबसूरती के लिए उन्होंने परिवार संस्था का सत्यानाश कर दिया। वहाँ भौंरे की तरह से औरतें तथा मरद घूमते रहते हैं तथा जहाँ भी खुशबू होती है वहीं हावी हो जाते हैं। वे अभागे, दुखी, हारे हुए दिखाई पड़ते हैं। आप हैं जो हमेशा 'फॉरेन' जाना चाहते हैं। क्या करेंगे वहाँ जाकर, बरबाद हो जाएँगे। वहाँ का पैसा देखा है आपने? आप 'फॉरेनर' को ध्यान से देखना, वे बिलकुल खाली और खोखले हो गए हैं।

मित्रो! इस दुनिया में सबसे ज्यादा सुंदर मोहब्बत-प्यार की दुनिया थी, परंतु अब आपने उसे चौपट कर दिया है तथा सब इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं। आदमी आज अकेला इक्कड़ की तरह हो रहा है। वह भूत की तरह हो गया है। उसे अपनी बीबी से और बीबी को खसम से डर हो गया है। वे हमेशा चिंतित रहते हैं कि कहीं दोनों एक दूसरे पर हावी न हो जाएँ। इस प्रकार से उनकी नींद हराम हो जाती है। आप देखिए न, देश-विदेशों में कितनी ट्रैन्क्युलाइजर खपत होती है, मात्र नींद लाने के लिए। इनको दिनभर थकान रहती है। वे कॉफी, बियर, रम पीते रहते हैं तथा रात में सुरा-सुंदरी में डूबे रहते हैं। लड़के से जब पूछा जाता है कि तेरे पिताजी कौन हैं, तो वह कहता है कि नंबर ८, नंबर ९। पत्नी भी उसी क्रम में नंबर ५, नंबर ६ होती है। आज कैबरे डांस, क्लबों के अलावा लोगों में शांति नहीं है। आज यूरोप अमेरिका में परिवार, कुटुंब के नाम पर क्या रहता है? सेक्स। सेक्स यानी भूत। आज लड़की की शादी में लोग 'कट' देखते हैं और कहते हैं कि शौक से शादी करेंगे। अगर यही पाश्चात्य बीमारी आपके घर में, पत्नी में आ गई तो आपका कचूमर निकल जाएगा। वह भी आपको जहर दे सकती है तथा आपका सर्वनाश कर सकती है। आप परिवार तथा कुटुंब का आधार सेक्स बनाना चाहते हैं। आप इस तरह की गृहस्थी बसाएँगे क्या? इस तरह का कुटुंब बसाएँगे क्या?

मित्रो! आप इस तरह का परिवार-कुटुंब मत बसाइए। आप प्यार-मोहब्बत का परिवार, स्नेह, सहयोग का कुटुंब बसाइए तो आपके जीवन में सुख-शांति आएगी। आपकी आत्मोन्नति होगी, विकास होगा तथा इस धरती पर स्वर्ग का अवतरण होगा, आपका जीवन देवतुल्य होगा। इसी को बताने के लिए हमने आपको इस सत्र में बुलाया। आज की बात समाप्त।

ॐ शांति

❖

एक विद्वान् और जिज्ञासु राजा की सभा में हर समय विद्वानों का जमघट लगा रहता।

एक रात राजा अपने शयन-कक्ष में लेटा था। ठीक सामने दीपक जल रहा था। सहसा राजा के मन में एक प्रश्न उठा, दीपक का प्रकाश कितना उजला है। न तेल काला है और न बाती काली है। फिर भी यह काजल उगल रहा है, ऐसा क्यों होता है?

प्रातः होते ही उसने यह समस्या विद्वानों के समक्ष रखी। विद्वानों ने अपने-अपने विचार रखे, पर राजा संतुष्ट न हुआ। अंत में राजा ने राजसभा में बैठे एक वृद्ध महात्मा से पूछा, ''गुरुवर, जग को प्रकाश देने वाले दीपक के पास सिर्फ कालिमा ही क्यों रह जाती है?''

वृद्ध महात्मा बोले, ''राजन् पहले मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें, दीपक क्यों जलाया जाता है?''

''प्रकाश के लिए।'' राजा ने कहा।

''अर्थात् अंधकार को नष्ट करने के लिए, इसका अर्थ यह भी हुआ कि दीपक अंधकार खाता है। राजन् जो जैसा खाएगा, वह वैसा ही उगलेगा। तभी तो राजन् यह कहा जाता है, जो जैसा करता है, वैसा ही बदले में पाता है। जो देना बंद कर देता है, वह अंततः नाश को प्राप्त होता है।''

शिष्यत्व को सार्थक करने वाला वह ऐतिहासिक वसंत

वर्ष १९२६ ई. में पुण्य पर्व वसंत पंचमी के दिन हिमालयवासी सद्गुरु ने एक १५ वर्षीय किशोर को अपनी पहचान कराई। उन पुण्य क्षणों में गुरुता प्रकट हुई और शिष्यत्व सार्थक हुआ। साथ ही वसंत पंचमी के महत्त्व को दर्शाने वाली एक बहुत प्यारी और मीठी कथा इस महापर्व से जुड़ गई। हालाँकि इस शुभ पर्व का महत्त्व बताने वाली अनेकों अन्य कथाएँ भी हैं, जिनमें से कुछ पुराणों में हैं, तो कुछ संस्कृत कवियों के कोश में। कई कथाएँ लोक-किंवदंतियों के रूप में भी प्रचलित हैं, लेकिन इनमें से प्राय: किसी से भी आध्यात्मिक भाव नहीं झरते, आध्यात्मिक सरिता की वेगवती धारा नहीं उफनती। न तो इनमें से किसी से सद्गुरु का प्रेम प्रकट होता है और न ही शिष्य का अपने सद्गुरु के प्रति समर्पण। लेकिन वर्ष १९२६ ई. में वसंत पंचमी में ब्रह्ममुहूर्त की जो इतिहास-कथा लिखी गई उसने आध्यात्मिक भावों का ज्वार ला दिया।

तब से लेकर प्रतिवर्ष प्रत्येक वसंत पंचमी को इसमें नए-नए आयाम जुड़ते गए। एक-एक करके ६० वर्ष बीत गए और वर्ष १९८६ की वसंत पंचमी का आगमन हुआ। इस आगमन वेला की प्रतीक्षा असंख्य हृदयों को थी। सभी आशा और उल्लास के हिंडोले में डोल रहे थे। उन्हें आशा थी अपने सद्गुरु के दर्शनों की। उल्लास था उसके अमृत वचनों को सुनने का। वर्षों की प्यासी आँखें आज तृप्त होना चाहती थीं। बड़े ही विरल क्षण थे ये। अपनी वर्षों की सूक्ष्मीकरण साधना के बाद परमपूज्य गुरुदेव आज दर्शन देने वाले थे। उस वर्ष शांतिकुंज के कण-कण में अनूठा उल्लास था, अनोखी उमंग थी। जिन्होंने इसे देखा है, वे जानते हैं और जिन्होंने सुना है, वे मात्र अनुमान लगा सकते हैं। जो इन पंक्तियों को पढ़ रहे हैं, वे उस घटना को अपने मन की आँखों से निहार सकते हैं।

हाँ तो, उस वसंत पंचमी के कुछ दिनों पूर्व से ही समूचा वातावरण एक विशेष प्रकार की चेतना के स्पंदनों से स्पंदित था। जो ग्रहणशील थे, वे इन्हें ग्रहण भी कर रहे थे। ऐसे ही एक ग्रहणशील नवागंतुक ने उन्हीं दिनों एक स्वप्न देखा। बड़ा ही पुलकन भरा मधुर स्वप्न था यह। स्वप्न में उसने देखा कि वह ऊपर वाले गुरुदेव के कमरे में गया हुआ है। मैरुन रंग की मोजैक वाले फर्श पर सोफा है, इसके बगल में गुरुदेव का पलँग है। गुरुदेव स्वयं सोफे पर बैठे हुए हैं। उसने गुरुदेव को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया, साथ ही अपने साथ लाए हुए सुर्ख गलाब के फूल अपने दोनों हाथों से गुरुवर के चरणों में चढ़ाए। गुरुदेव ने एक नजर उठाकर उसकी ओर देखा और गंभीरतापूर्वक बोले, ''तुम आ गए बेटा, तुम्हें मैंने ही बुलाया है। ठीक से रहना, मैं हमेशा तुम्हारा ध्यान रखूँगा। अच्छा अब जाओ।''

गुरु आज्ञा पाकर जब वह वापस चलने लगा, तो उन्होंने उसे एक बार फिर टोका और कहा, ''नीचे जाकर सबको बता देना कि मैं मिलूँगा, सबसे मिलूँगा। इतना ही नहीं मैं सबको अपनी पहचान कराऊँगा। सबको बताऊँगा कि मैं कौन हूँ।'' इसी के साथ स्वप्न टूट गया, पर चिंतन की कड़ियाँ नहीं टूटीं। अनेकों विचार थे, स्वप्न देखने वाले के मन में, क्या गुरुदेव सचमुच मिलेंगे और फिर वे कौन हैं, हालाँकि उसने जून १९८४ व अप्रैल ८५ की अखण्ड ज्योति पढ़ रखी थी, जिसमें गुरुदेव का जीवन-कथा-वृत्तांत छपा था और उन्होंने अपने तीन जन्मों की कथा लिखी थी। अपने सद्गुरु से मिलन और स्वयं की जीवन-साधना के बारे में बताया था। तो क्या इस सब विवरण से इतर भी उनकी पहचान है? प्रश्न उसके मन को कुरेदते रहे। उसने शांतिकुंज के एक-दो वरिष्ठ कार्यकर्त्ताओं से अपने इस अजीबोगरीब स्वप्न की चर्चा भी की, पर उन्होंने उसे यही बताया कि अभी गुरुदेव साधना में हैं और उनका बाहर आने का कोई कार्यक्रम नहीं है।

लेकिन वसंत पंचमी से दो-चार दिन पूर्व हलके स्वरों में ही सही यह लगने लगा था कि गुरुदेव मिलेंगे, अवश्य मिलेंगे। एक दिन पहले से ही शांतिकुंज में भीड़ उमड़ने लगी थी। सभी अनजाने ही एक आशा, एक विश्वास लेकर आ रहे थे कि उनके प्रभु उनसे मिलेंगे। वसंत पंचमी के दिन से पूर्व की रात्रि में शांतिकुंज में जो आए थे, जो उपस्थित थे, उनमें से बहुसंख्यक जन सो नहीं सके। उनके मनों में उमड़ती उमंगों का उफान आने वाली निद्रा को बरबस ठेलकर दूर भगा रहा था। उस दिन सुबह का यज्ञ भी अति शीघ्र हुआ और सभी प्रवचन हाल में आ बैठे। यद्यपि उस दिन भीड़ इतनी थी कि सभी को बैठने की जगह सुलभ नहीं हो सकी। फिर भी सभी उपस्थित थे

और सभी सुखी थे। हो भी क्यों नहीं, जब मन में खुशी छलक रही हो तो तन की सुधि भला किसे रहती है।

ठीक समय पर परमपूज्य गुरुदेव वंदनीया माताजी के साथ प्रवचन मंच पर आए। असंख्य जोड़ी आँखें उन पर टिक गईं। हमेशा अपनी चंचलता के लिए प्रसिद्ध मन आज अनायास ही स्थिर हो गया। यह भाव दशा किसी एक की नहीं, एक साथ सभी की थी। सुदीर्घ और कठोर साधना के पश्चात् वह पहली बार सर्वसाधारण के सामने पधारे थे। उनके मुखमंडल से ही नहीं, बल्कि प्रत्येक रोम से तप की ऊर्जा का प्रेरक प्रवाह बह रहा था। उनकी इस आनंददायी उपस्थिति से सभी स्वयं को धन्य और कृतकृत्य अनुभव कर रहे थे। वह बोल रहे थे, कुछ कह रहे थे, पर केवल शब्दों से नहीं वरन् प्राणों से। महाप्राण का तपप्राण बह रहा था और असंख्य मचलती हुई लघु प्राणधाराएँ उसमें विलीन हो रही थीं। बड़ा ही अद्भुत और सुखद संयोग था, प्राण-प्रत्यावर्तन का यह।

उनकी वाणी में सद्गुरु का सजल वात्सल्य था, पर साथ ही महातपस्वी का प्रचंड ओज भी था। उस वाणी में प्रेम के अमृत बिंदु थे, तो तपवह्नि की धधकती ज्वालाएँ भी थीं। यह आश्चर्यजनक किंतु सत्य एक साथ था। एक पल वह अपने शिष्य समुदाय को दुलारते और उन्हें अपनी सहायता का आश्वासन देते, तो दूसरे ही पल वह कालनेमि की कुटिल चालों पर बरस पड़ते। एक पल वह दुनिया के उज्ज्वल भविष्य की सुखद तस्वीर सुनने वालों के नेत्रों के सम्मुख कर देते, तो अगले ही पल उनकी गर्जना सुनाई देती कि इन दिनों दुनिया को नष्ट कर देने के लिए स्टारवार की तैयारी हो रही है, मैं पाँवों से मसलकर रख दूँगा स्टारवार को। चेलैंजर को धूल में मिला दूँगा मैं। शैतान की ताकत से हजारों गुना बड़ी भगवान् की ताकत होती है। दुरभिसंधियाँ चलने नहीं दी जाएँगी। दुनिया को मिटाने का ख्वाब देखने वाले खुद मिटेंगे।

उनकी यह वाणी किसी विद्वान् मनीषी के विचारों का ताना-बाना नहीं था। यह तो साधनासंपन्न ऋषि की उज्ज्वल दृष्टि थी। उनके हर शब्द में उनके महान् तप की अलौकिक प्रभा झलकती और छलकती थी। इस तरह उस वसंत पंचमी को अमृत कण और अग्नि स्फुल्लिंग एक साथ बरसते रहे। प्रभु-मूर्ति अनेकों रूप में एक साथ एक ही समय में अनेकों को दिखाई देती रही। कोई पहचान न पाया कि उनके प्रभु का, उनके आराध्य का सच्चा और वास्तविक स्वरूप क्या है? बात भी सही है, भगवत्स्वरूप की सही पहचान क्या इतनी आसान है। यह तो केवल और केवल भगवत्कृपा से ही संभव है? तभी तो गोस्वामी जी महाराज ने रामचरितमानस में बिना किसी लाग-लपेट के कह दिया है, **'सो जानहि जेहि देहु जनाई'** अर्थात् वही जान पाता है प्रभु तुम्हें, जिसे तुम खुद अपनी पहचान करा दो।

वर्ष १९८६ ई. की वसंत पंचमी को ठीक वर्ष १९२६ ई. जैसी ही घड़ी आई। ६० वर्ष पहले के वही क्षण फिर से मूर्त हो गए। इतिहास ने सद्गुरु कृपा की वैसी ही कथा फिर से लिखी। सद्गुरु ने शिष्य समुदाय के समक्ष अपनी पहचान प्रकट करते हुए कहा, ''बेटा! जिसने माताजी को देख लिया, उसने मुझे देख लिया और जिसने मुझे देख लिया, समझो उसने गायत्री माता को देख लिया।'' बड़े ही सीधे-सरल और सुस्पष्ट शब्दों में सद्गुरु ने अपने शिष्यों को अपने स्वरूप का बोध करा दिया। हाँ यह अलग बात है और पात्रता के स्तर पर निर्भर है कि किसे यह सत्य स्मरण रहा और किसने इस महासत्य को अपने जीवन की भूल-भुलैया में भुला दिया, पर साधकों का अनुभूतिपूर्ण सत्य यही है कि ईश्वरीय सत्ता ही हमारे अपने सद्गुरु के रूप में आई थी। उनकी उस अमर और अमिट वाणी के कुछ अंश तो थोड़े ही दिनों बाद सच हो गए, जब दुनिया भर के अखबारों ने चेलैंजर और स्टारवार के खत्म होने की खबर सुर्खियों में छापी और जैसा कि गुरुदेव ने कहा था, दुनिया के सबसे शक्तिशाली देश के महानतम् वैज्ञानिक भी इसका कारण नहीं खोज सके। उनकी वाणी—शिव वाणी है। उन्होंने जो कुछ कहा, समय आने पर वह अवश्य सत्य सिद्ध होगी। यदि हम इस शिव वाणी को समझ सकें, उन्होंने अपनी जो पहचान हमें बताई उस पर हम अपना ध्यान टिका सकें, तो यह वसंत पंचमी हमारे लिए भी वैसी ही इतिहास-कथा लिख सकती है। सद्गुरु की कृपा कथा-शिष्यत्व के सार्थक होने की कथा। ✡

चील बहुत ऊपर आकाश में उड़ान भर रही थी। पतंग भी उड़ते-उड़ते सुदूर आकाश में पहुँच गई। उसने देखा चील स्वच्छंद उड़ रही थी। क्यों न हम भी स्वच्छंद विचरण करें? क्षणिक भावावेश में वह झटके से आगे बढ़ी और अपने को धागे से अलग कर लिया। मूल आधार की उपेक्षा कर वह उड़ न सकी और अगले ही क्षण जमीन पर आ गिरी।

बिना कहे मन की बात जान लेने वाले अंतर्यामी

दोपहर के दो बजे थे। वर्ष १९८८ का मई महीना लग गया था। हवा में गरमी की तेजी बढ़ने लगी थी। परमपूज्य गुरुदेव अपने कमरे में पलँग पर बैठे हुए थे। उनके सामने फर्श पर दो लोग बैठे थे। इनका लेखन के सिलसिले में गुरुदेव के पास नियमित आना-जाना था। आज भी उसी वजह से आए हुए थे। इनमें से एक ने अपना लेख पढ़कर गुरुदेव को सुनाना शुरू किया था कि तभी अचानक उन्होंने उससे कहा, ''बेटा! जरा नीचे से शिवप्रसाद को बुला देना।'' जी अच्छा, कहकर वह नीचे बुलाने चला गया। थोड़ी ही देर में श्री शिवप्रसाद मिश्र सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आए।

इनसे मिशन का हर वह व्यक्ति परिचित है, जो शांतिकुंज आकर गुरुदेव से मिला है, क्योंकि इन पर सदा से आगंतुकों को गुरुदेव से मिलाने की जिम्मेदारी रही है। भक्त को भगवान् से मिलाने का पुण्यकार्य वंदनीया माताजी ने इन्हीं को सौंप रखा था। इन्होंने ऊपर आकर कहा, ''गुरुजी! आपने बुलाया है?'' हाँ शिवप्रसाद! आज कोई मिलने वाला नहीं है? प्रश्नसूचक भाव में गुरुदेव ने उनसे कहा। नहीं गुरुजी! आज कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है। कुछ लोगों को माताजी से मिलना था, वे मिल लिए हैं।

उनकी सुनी-अनसुनी करके एक मीठी झिड़की के साथ गुरुदेव बोले, ''क्या बातें करता है। तुझे दिखाई नहीं देता, एक आदमी नीचे बैठा है, अपने हाथ में मोटी-सी फाइल लिए। जा उसे ऊपर मेरे पास भेज दे।'' मिश्रा जी थोड़ा अचकचाए। उन्हें ध्यान आया कि शायद एक व्यक्ति नीचे बैठा तो है, पर उसने तो गुरुजी से मिलने की कोई इच्छा जाहिर ही नहीं की। वह कुछ सोचते हुए नीचे उतरे, देखा एक अकेला व्यक्ति नीचे प्रतीक्षालय में पड़ी एक बेंच पर बैठा हुआ है।

उन्होंने गुरु आज्ञा के अनुसार उससे कहा, ''आपको ऊपर गुरुजी ने मिलने के लिए बुलाया है।'' उस व्यक्ति के चेहरे पर खुशी के भाव तैर गए। अगणित आशाएँ उसके चेहरे पर जगमगा उठीं। वह बड़े ही आतुर भाव से उठा और लपकते हुए सीढ़ियाँ चढ़कर गुरुजी के सामने जाकर खड़ा हो गया। अभी भी उसके हाथों में वह फाइल थमी थी। गुरुदेव ने उसकी ओर देखते हुए कहा, ''हाँ बेटा! बोलो क्या परेशानी है तुम्हें।''

''गुरुदेव आप अंतर्यामी हैं। प्रेम के सागर हैं। आप सब कुछ जानते हैं। अब मैं क्या बताऊँ आपको''.....अपनी बात पूरी करते-करते उसका गला रुँध आया। आँखें भर आईं। शायद उसे यह नहीं समझ में आ रहा था कि वह अपनी बात कहाँ से शुरू करे या फिर भावों के अतिरेक में वह अपनी बात कह नहीं पा रहा था। गुरुदेव ने अपनी नीली झील-सी पारदर्शी आँखों से उसकी ओर देखा। उनकी आँखों में प्रेम बड़े ही सजल रूप में था। उन्होंने बड़े ही ममत्वपूर्ण स्वर में उसे सांत्वना दी और कहा, ''परेशान न हो। अपनी बात को तुम अपने मुँह से कह सुनाओ। तुम्हारा जी हल्का हो जाएगा।''

आश्वासन पाकर उसने अपनी बात कहना शुरू किया। वह बोला, ''गुरुजी मुझे कैंसर हो गया है।'' सचमुच ही उसकी ठोढ़ी के पास का बायाँ हिस्सा गला हुआ था। कैंसर का यह घाव उसकी बढ़ रही खिचड़ी दाढ़ी से साफ-साफ झाँक रहा था। उसके बोलने के साथ उसकी वेदना भी मुखर हो रही थी। उसने अपनी बीमारी के बारे में बताते हुए कहा, ''मैंने अपना बहुत इलाज कराने की कोशिश की। टाटा मेमोरियल कैंसर रिसर्च इंस्टीट्यूट बंबई में भी दिखाया। जो कुछ बना सब कुछ किया, पर डॉक्टरों का कहना है कि अब कुछ नहीं हो सकता। वह कुछ थर्ड स्टेज की बात कर रहे थे। उनका कहना है, अब इंसान नहीं भगवान् ही कुछ कर सकता है। गुरुजी, मेरी बेटियाँ हैं। उनकी शादी करनी है। अगर मैं मर गया, तो मेरा परिवार..... ?'' आशंका और दुःख उसकी आँखों से झरने लगा।

गुरुदेव बड़े ही प्रेम भरे स्वरों में उसे आश्वस्त करते हुए बोले, ''अरे रोता क्यों है। तेरे डाक्टरों ने यही तो कहा है न अब इंसान नहीं भगवान् ही कुछ कर सकता है, तो बेटा भगवान् ही करेगा। वह सब कुछ करने में सक्षम है।'' फिर वह उसकी फाइल की ओर इशारा करते हुए बोले, तेरे हाथों में क्या है। उस व्यक्ति ने जवाब दिया, गुरुजी ये मेडिकल रिपोर्ट्स हैं। यह सुनकर गुरुदेव हल्के से मुस्कराए और बोले, ''अब जब भगवान् ही सब कुछ करेगा तो इनका क्या काम?''

फिर उन्होंने पास में रखी हुई छोटी मेज पर पड़ा एक गुलाब का फूल उठाया और बोले, ''इसे ले बेटा! यह तेरे

लिए भगवान् का आशीर्वाद है। इसकी एक पंखुड़ी रोज भगवान् का स्मरण करके खा लेना और नीचे जाकर माताजी से भस्म ले लेना। उस भस्म को अपने इस घाव पर लगा लेना। सब ठीक हो जाएगा और हाँ, इस फाइल को जाकर गंगा जी में फेंक देना।'' फिर अपनी बात का उपसंहार करते हुए बोले, ''शिवप्रसाद! इसे ले जाकर माताजी से मिला देना।'' बड़े अनोखे चिकित्सक की बहुत ही अनोखी चिकित्सा।

मिश्रा जी तो उसे ले जाकर वंदनीया माताजी से मिलवाने चले गए, पर अभी तक गुरुदेव के पास बैठकर लेख सुनाने की तैयारी कर रहे शिष्य की जिज्ञासा थमी नहीं। वह अभी तक अपने प्रभु के सजल प्रेम की महिमा के बारे में सोच रहा था। अभी उसके सामने जो बातें हुई थीं, उनसे उसकी कई जिज्ञासाएँ उपजीं। अपने सारे लेख गुरुजी को सुनाकर प्रणाम करके वह नीचे चल पड़ा। आखिर अभी उसे कैंसर के रोगी व्यक्ति से मिलना जो था।

स्वागत कक्ष से उस व्यक्ति के कमरे की जानकारी प्राप्त कर वह उससे मिला। अपनी जिज्ञासा की शांति के लिए उसने उससे पूरी बातें फिर से सुनाने का आग्रह किया। रोग के असाध्य और भयावह होने की बातें तो यथावत् थीं। हाँ इनमें एक विशेष बात भी थी। उसने बताया कि उसने सुन रखा था कि गुरुदेव अंतर्यामी हैं। आज मैं जानना चाहता था कि सचमुच में ऐसा है। इसीलिए मैं प्रतीक्षालय तो गया, पर मैंने वहाँ गुरुदेव से मिलने की अपनी कोई इच्छा जाहिर नहीं की। मिश्रा जी को भी नहीं बताया। हाँ, वहाँ पर बैठा-बैठा यह सोच जरूर रहा था कि यदि गुरुदेव सचमुच ही अंतर्यामी हैं, तो अपने आप ही बुला लेंगे।

सचमुच ही उन्होंने बुला लिया। लेखन सीखने जाने वाले कार्यकर्त्ता ने उससे कहा। साथ ही एक अनुरोध भी किया कि आप जब भी शांतिकुंज आएँ, मैं आपसे मिलना चाहता हूँ। शायद उसके मन में अपने अंतर्यामी गुरुदेव की अनोखी चिकित्सा का परिणाम जानने की जिज्ञासा थी। आगंतुक ने इस पर हामी भरी और कालचक्र चल पड़ा। दिन-सप्ताह-महीने बीतने लगे। शायद इस बात को हुए चार-पाँच महीने बीत चुके होंगे।

तभी एक दिन शाम को वही व्यक्ति उससे मिलने आया। अबकी बार वह बड़ा ही खुश था। उसने दिखाया कि अब सचुमच ही उसका कैंसर समाप्त हो गया है। शंकाग्रस्त डॉक्टर इसे अविश्वसनीय सच मान रहे हैं। उसने अपनी ठोढ़ी के पास की जगह भी दिखाई। यहाँ पर अब मात्र एक निशान ही बाकी था। उसके घर-परिवार की स्थिति में भी काफी बदलाव आ चुका था। उसके इर्द-गिर्द खुशियाँ-ही-खुशियाँ थीं।

वह अपनी कथा का उपसंहार करते हुए बोला, संसार में योगी-तपस्वी, सिद्ध-समर्थ, ज्ञानी-महात्मा पहले भी हुए हैं और बाद में भी होंगे, पर गुरुजी इन सबसे अलग हैं। वह तो भगवान् का ही साकार रूप हैं। उनकी सबसे बड़ी खासियत उनका अलौकिक प्रेम है, जो उनके कृपापात्रों-आश्रितों पर सोते-जागते दिन-रात बरसता रहता है। सुनने वाले को अचानक गुरुदेव की एक दिन की बात याद हो आई, ''बेटा! लोग कहें कि तुम्हारे गुरु से बड़ा कोई ज्ञानी है, तो मान लेना। यदि कोई कहे तुम्हारे गुरु से बड़ा कोई दूसरा तपस्वी और सिद्ध-समर्थ है, तो भी मान लेना, पर यदि कोई कहे कि तुम्हारे गुरु से ज्यादा प्यार करने वाला है, तो कभी मत मानना। मेरा यह प्यार तुम लोगों के साथ हमेशा रहेगा, मेरे शरीर के रहने पर और शरीर के न रहने के बाद भी।'' और सचमुच ही अपने अंतर्यामी प्रभु के प्रेम का सजल स्पर्श आज भी है। सभी के दिल की गहराइयों में उनके शब्दों की गूँज आज भी है, ''चिंता क्यों करते हो, मैं हूँ न।'' हाँ वे हैं शाश्वत् और सर्वव्यापी, बिना कहे मन की बात जानने वाले अंतर्यामी।

एक फकीर बड़ी करुणापूर्वक प्रार्थना कर रहा था—''हे प्रभु अपना द्वार खोलो, जिससे मैं तुम्हारे पास आ सकूँ।'' पास से ही तब तक संत राबिया निकलीं। उनने फकीर को समझाया—''मेरे भाई, देखो तो क्या सचमुच प्रभु का द्वार बंद है? जरा परमार्थ की भावना विकसित करके तो देखो, पाओगे कि उनका द्वार तो हर समय खुला रहता है। जो भी उन तक पहुँचना चाहे, इस माध्यम से पहुँच सकता है। उनका द्वार बंद होने का भ्रम दूर कर लो, तो ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग मिल जाएगा। याद रखो। ईश्वर उन्हीं से प्रसन्न हैं, जो दूसरों के प्रति उदार हैं, जिनके रोम-रोम में सारे विश्व के कल्याण की भावना समाई हुई है।''

✡

लेखनी की साधना में लीन समाधियोगी

'लेखनी की साधना में लीन समाधियोगी' हाँ यही भावमुद्रा होती थी परमपूज्य गुरुदेव की प्रात: दर्शन के समय। 'उसका हर आँसू रामायण, प्रत्येक कर्म ही गीता है' इस और ऐसी ही अनेक सुरलहरियों के बीच तब प्रणाम और दर्शन का कार्यक्रम शुरू होता था। प्रात: ५ बजे से भी कुछ पहले प्रतीक्षालय के पास शिष्यों-भक्तों एवं कार्यकर्त्ताओं की लाइन लगना शुरू हो जाती। हर एक के अंतर्लीन मन में अपने आराध्य के दर्शनों की हुलस रहती। ऊपर का दरवाजा खुलते ही सभी पंक्तिबद्ध सधे कदमों से एक-एक करके आगे बढ़ते, सीढ़ियाँ चढ़ते और अखण्ड दीप के दर्शनों के साथ ही वंदनीया माताजी के चरणों को स्पर्श करने का सौभाग्य प्राप्त करते।

फिर ऊपर आज जहाँ भोजन बनता है, वहीं पास से गुजरते हुए एक बार फिर से सीढ़ियाँ चढ़कर छत पर खड़े हो जाते। यहीं सामने खुली हुई खिड़की से लेखनी की साधना में लीन सद्गुरु के दर्शन होते। यह दर्शन साधकों को ब्रह्मानुभूति से कम न लगता, हमेशा ही अनुभूति का ठीक-ठीक वर्णन शब्द नहीं कर पाते। फिर इस अनुभूति का तो और भी कठिन है। हालाँकि यह तब बिना किसी विघ्न-बाधा के रोज अविरल भाव से मिलती थी। सोफे पर बैठे अपने एक पाँव के ऊपर दूसरा पाँव चढ़ाए, उस पर राइटिंग पैड रखे गुरुदेव! उनके हाथों में सधी लेखनी, भावों और विचारों का अविरल प्रवाह राइटिंग पैड में लगे हुए पन्नों पर बहता रहता। इसी बीच यदा-कदा दृष्टिपात। वह दृष्टि बड़ी ही अमृतवर्षिणी होती थी। जिस पर पड़ती वह निहाल हो जाता और जो वंचित रह जाता, वह मन-ही-मन उनसे अगले दिन इस कृपा के लिए प्रार्थना करता।

वह स्वयं अनेकों हृदयों की पुकार को सुनते, स्वीकारते अपने लेखन में तल्लीन रहते। ये पंक्तियाँ जो पढ़ेंगे हो सकता है, उनमें से कुछ को लगे कि लेखन तो बहुत करते हैं, फिर इसमें ऐसी क्या विशेषता है? पर नहीं, विशेषता का यह सत्य बड़ा ही अनुभूतिपूर्ण और अनुभवगम्य है। सामान्य लेखन और इसमें वही अंतर था और है जो अंतर एक मनीषी और ऋषि के जीवन में होता है। मनीषी के लेखन में सिर्फ और सिर्फ बुद्धि की विचारशीलता तरंगित होती है, पर ऋषि की चेतना तो बुद्धि की कक्षा से बहुत दूर अपनी गहन समाधि में किसी सत्य को देखती है और वही सत्य शब्द बनकर उसकी लेखनी से झरते हैं।

परमपूज्य गुरुदेव का लेखन कुछ ऐसा ही था। उन्होंने जो कुछ भी लिखा वह कोरी बुद्धि से उपजा और कल्पनाओं के धागे से गूँथा गया शब्द शृंगार भर नहीं है। यह तो वहाँ से अवतरित हुआ है जहाँ न मन पहुँच पाता है और न बुद्धि। उनका लेखन अनुमानित और कल्पित विचारों का ढेर नहीं, बल्कि उनकी समाधि चेतना से उपजे समाधान हैं। सचमुच ही वे लेखनी की साधना में लीन समाधियोगी थे। इसे वह स्वयं भी कभी-कभी बताया करते थे। ऐसे ही एक अवसर पर उन्होंने कहा था, बेटा! मैं जो लिखता हूँ, वह सब तो हिमालय से आता है। मैं तो सिर्फ उन सत्यों को शब्द देता हूँ। ऐसे ही एक अन्य समय उन्होंने कहा, तुम लोग क्या सोचते हो, मेरी अखण्ड ज्योति कोई संपादक जी लिख सकते हैं। इसके लिए तो संत का, ऋषि का, तपस्वी का जीवन चाहिए।

उनकी इन बातों की सार्थकता उनके स्वयं के जीवन में थी। वह संत, ऋषि और तपस्वी एक साथ थे। उनकी साधना ही उनका लेखन बन गई थी। इसे यों भी कह सकते हैं कि उनका लेखन ही उनकी साधना बन गया। सच तो यह है कि इन दोनों में भेद कर पाना असंभव है। गोस्वामी तुलसीदास जी की भाषा में, '*गिरा अरथ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न*।' यानि कि ये दोनों कहने भर को अलग भले हों, पर वस्तुत: अलग थे नहीं। बात-चीत के क्रम में वह बताते थे कि मैं लेखन को उपासना मानकर करता हूँ। एक बार तो उन्होंने यह भी कहा, मेरा लेखन ही मेरी भजन-कीर्तन है। यही मेरी ईश्वर भक्ति, गुरु भक्ति है। इस क्रम में उन्होंने यहाँ तक कहा, मैं कोई लेखन थोड़े ही करता हूँ, मैं तो अपने गुरु के गीत गाता हूँ। उनकी ये बातें सुनते हुए, सुनने वाले का मन भी विकल हो उठता कि काश! वह स्वयं भी अपने गुरु के, अपने प्रभु के, अपने इष्ट और आराध्य के गीत गा सके।

पर नहीं, वह कैसे थे? इसका उत्तर यही है कि जैसे कि वह स्वयं थे। उनके लेखन की अगणित विशेषताएँ थीं। इनमें से बहुतेरी अदृश्य थीं, तो कुछ एक दृश्य। दृश्य विशेषताओं में जो सबसे चौंकाने वाली बात थी कि वह लेखन जारी रखते हुए लोगों से मिल भी लेते थे। प्रणाम

और दर्शन के अंतिम पलों में कुछेक लोगों से मिलने का भी क्रम रहता। ये कुछ एक लोग वे होते थे, जो प्रायः दुःख-आपत्ति से पीड़ित एवं विकल होते थे। वंदनीया माताजी उन पर कृपा करके गुरुदेव से मिलने के लिए भेज दिया करती थीं। ये लोग मिलने के लिए जाते और उनका लेखन चलता रहता।

वह लिखते हुए सामने खड़े लोगों से एक-एक कर उनका हाल पूछते। ये लोग उनके चरणों में माथा टेककर प्रणाम भी करते, पर उनकी लेखनी को जैसे इस सबसे कोई बाधा नहीं थी। वह लिखते हुए एक पल को अपनी आँखें ऊपर उठाते और पूछते, हाँ बताओ बेटा! तुम्हें क्या परेशानी है। बताने वालों में से कोई कहता, गुरुजी! मेरी बेटियों की शादी नहीं हो रही है, तो कभी उनमें से कोई अपने किसी संबंधी अथवा स्वयं अपनी असाध्य बीमारी की बात कहता। कभी अपने घर अथवा दफ्तर की पीड़ा से परेशान व्यक्ति अपनी परेशानी सुनाता। वह इनमें से हर एक की बात सुनते और उसकी पीड़ा, परेशानी से द्रवीभूत हो जाते। यदा-कदा तो उनकी आँखें भी छलक आतीं, पर अगले ही पल वह उसे आश्वस्त करते—परेशान क्यों होते हो? माँ-बाप के रहते भला कहीं बच्चे परेशान होते हैं। हम ठीक करेंगे, सब ठीक हो जाएगा। उनका आश्वासन पाकर दुःखी जन मुस्करा उठते और इन सबके बीच उनकी लेखन साधना अविराम चलती रहती।

वह कहते थे—लेखन की साधना मेरा जीवन है। यदि मैं लेखन बंद कर दूँ तो समझना अब मैंने जीने की इच्छा भी छोड़ दी है। लेखन छूटेगा तो मेरा शरीर भी छूटेगा। उनका यह कथन अक्षरशः सही सिद्ध हुआ। वर्ष १९९० की वसंत पंचमी से वह एकांत तो हुए, पर उनका लेखन बंद नहीं हुआ। उनकी समाधि चेतना से झरने वाला चिंतन कागज के पन्नों पर, अक्षरों, शब्दों, वाक्यों और पंक्तियों में प्रकट होता रहा। कुछ महीनों के बाद अचानक उन्होंने ब्रह्मदीपयज्ञ की घोषणा की। यह घोषणा प्रकारांतर से देह-त्याग की घोषणा थी। हालाँकि इस आशय की बात वह पहले भी कह चुके थे। यही नहीं वसंत पंचमी १९९० में एकांत में जाने के पूर्व वह क्षेत्र के अपने सभी परिजनों को विशेष रूप से बुलाकर उनसे अंतिम बार मिल भी चुके थे।

पर ब्रह्मदीप यज्ञ के कथन का कुछ विशेष महत्त्व था। उन्होंने स्वयं अपने हाथों से इसके पत्रक को तैयार किया और इसी के साथ लेखनी की साधना को विराम दे दिया। यह विराम स्थूल जीवन और उसकी साधना को विराम देना था। इसी के साथ स्थूल देह से और स्थूल जगत् से उनकी जीवन चेतना सिमटने लगी। २ जून १९९० गायत्री जयंती के दिन उन्होंने देह का त्याग कर दिया। इसी के आसपास समूचे देश में ब्रह्मदीपयज्ञ आयोजित हुए। उनकी आत्मज्योति एक साथ अनेकों स्थानों पर प्रकाशित हो उठी। लेखनी की साधना में लीन समाधियोगी अब साकार से निराकार हो गया। हालाँकि उन्होंने अपने पाठकों, परिजनों को भरोसा दिलाया कि मैंने काफी कुछ लिखकर रख दिया है, जो मेरे न रहने पर भी तुम सबको पढ़ने के लिए मिलता रहेगा। इसी के साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि मैंने कुछ लिखने वाली उँगलियाँ तैयार कर दी हैं, जो कोई भी हों, पर उनमें विचार प्रवाह मेरा ही बहेगा और यही हो भी रहा है। अपने जीवन काल में लेखनी की साधना में लीन रहने वाले उन समाधियोगी की चेतना अभी अखण्ड ज्योति के पृष्ठों में सतत प्रतिमास प्रकाशित होती है और आगे भी शाश्वत रूप से ऐसा होता रहेगा। उनकी समाधि चेतना से उपजे शब्द अपनों को और जन-जन को समाधान देते रहेंगे।

✡

अरुणोदय का पूर्वाभास पाकर मुर्गा पहले बाँग लगाता है, इस जागरूकता ने उसे प्रख्यात कर दिया। देर से तो सभी पक्षी जागते हैं, पर वे वैसी ख्याति नहीं पाते। शुक्लपक्ष में सर्वप्रथम निकलने वाले दौज के चंद्रमा का दर्शन करने के लिए सब आतुर रहते हैं। पीछे तो वह महीना भर घटता—बढ़ता रहता है। वस्तुतः साहस उन्हीं का सराहनीय है, जो दूसरों की प्रतीक्षा न करके स्वयं आगे आते हैं व अवतारों का सहयोगी बन नवसृजन का पुण्य कमाते हैं।

दिव्यद्रष्टा, करुणानिधान की शाश्वत यह पुकार

वर्ष १९८९ की सर्दियाँ चल रही थीं। नवंबर महीने की ठंढ हवाओं में घुल-मिल गई थी, परंतु दिन के दो बजे की धूप ने इस सरदी के असर को कम कर दिया था। परमपूज्य गुरुदेव शांतिकुंज के अपने ऊपर वाले कमरे से लगे हुए आँगन में एक चारपाई पर लेटे हुए थे। उनकी चारपाई आधी धूप में थी और आधी छाया में। यह स्थिति ठीक उनकी अपनी चेतना की तरह ही थी, जो कुछ अंशों में इस दृश्य दुनिया को निहारती थी और बहुतायत में अदृश्य और दिव्य लोकों में क्रियाशील रहती थी। वे बड़े ही अद्भुत और अनुभूतिपूर्ण दिन थे। गुरुदेव प्रायः एक भाव-समाधि में रहते थे। हालाँकि लेखन सहित उनके सभी दैनिक क्रियाकलाप यथावत् जारी थे।

उस दिन भी वह कुछ ऐसी ही गहरी भाव-दशा में थे। उनके पास एक-दो लोग बैठे हुए थे। इन्हें वह कुछ लिखना-पढ़ना सिखाया करते थे। इन लोगों को अपने सद्गुरु की भाव-दशा देखकर यह अहसास होने लगा था कि उनके प्रभु अब ज्यादा दिन स्थूल कलेवर में और साकार रूप में नहीं रहेंगे और तब...... ? मन में उभरने वाले इस प्रश्नचिह्न ने एक सिहरन-सी पैदा कर दी, लेकिन तभी अंतर्यामी गुरुदेव ने आँखें खोलीं। उनकी चेतना बहिर्मुख हुई। वह थोड़ा-सा मुस्कराए। बड़ी अद्भुत थी उनकी यह मुस्कान, प्यार और आश्वासन से लिपटी-सनी। अपने सदा के चिर-परिचित अंदाज में बोले, क्यों रे लड़के! क्या सोच रहा था तू? बेटा मैं यों ही पड़ा नहीं रहता। मैं पड़े-पड़े बहुत काम करता रहता हूँ। मैं दुनिया भर के जीवंत, जाग्रत् एवं प्राणवान् लोगों को ढूँढ़ता हूँ और फिर मैं उन्हें आमंत्रण देता हूँ। देह के न रहने पर भी यह सिलसिला थमने वाला नहीं है।

करुणामूर्ति गुरुदेव कुछ पलों के लिए थमे, फिर कहने लगे, बेटा! आज मैं मनुष्य को एक सघन अंधकार में देख रहा हूँ। उसकी हालत कुछ ऐसी है, जैसे अँधेरी रात में किसी के घर का दिया बुझ जाए। यही बात आज के इंसान के साथ है, उसके भीतर का कुछ बुझ गया है। हालाँकि जो बुझ गया है, उसे फिर से जलाया जा सकता है।

पर अभी तो मनुष्य दिशाहीन है। कुछ ऐसे कि जैसे कोई नाव अनंत सागर में राह भूल जाए। यही दशा आज इंसान की है। वह भूल ही गया है कि उसे कहाँ जाना है और क्या होना है? हालाँकि जो भूल गया है, उसे फिर से उसको याद कराया जा सकता है।

यह सच है कि अंधकार है, लेकिन प्रकाश के लिए निराश होने का कोई कारण नहीं है। तथ्य तो यह है कि अंधकार जितना घना होता है, प्रभात उतना ही निकट आ जाता है।

बेटा! मेरी आँखें देख रही हैं कि सारे संसार में एक आध्यात्मिक सबेरा होने वाला है। आज से सर्वथा भिन्न एक नया इंसान जन्म लेने वाला है। हम सब उसी की प्रसव पीड़ा से गुजर रहे हैं।

लेकिन इस निकट भविष्य में होने वाली आध्यात्मिक सुबह को हम सबके सहयोग की अपेक्षा है और इसलिए इन क्षणों में हम केवल मूक दर्शक बने नहीं रह सकते। उसके लिए हम सबको अपने-अपने स्तर से कुछ करना है। हम सब अपने-अपने अंतःकरण को उजाले से भरें, तो आने वाली प्रभात वेला और भी नजदीक आ जाएगी। उसकी संभावना को वास्तविकता में बदलना हमारे हाथों में है।

हम लोग भविष्य के भवन की ईंटें हैं और हम ही तो हैं वे किरणें, जिनसे उज्ज्वल भविष्य के सूरज का जन्म होगा। हमें उज्ज्वल भविष्य का दर्शक नहीं बनना, बल्कि उसका स्रष्टा होना है और एक तरह से देखो, तो वह भविष्य का ही निर्माण नहीं, वर्तमान का भी निर्माण है। हमारा अपना स्वयं का निर्माण है। मनुष्य स्वयं का सृजन करके ही मनुष्यता का सृजन करता है।

व्यक्ति से ही समाज बनता है। वही तो समाज की इकाई है। उसके द्वारा ही विकास है और क्रांति है। तुम ही तो वह इकाई हो। इसलिए सबसे पहले मैं तुमको पुकारना चाहता हूँ। तुम्हें नींद से जगाना चाहता हूँ।

क्या तुम्हें दिखाई नहीं देता, तुमको समझ में नहीं आता कि तुम्हारा जीवन एकदम बेमानी, बेकार और उबाऊ बनकर रह गया है। न तो जीवन का कोई अर्थ रहा है और

न अभिप्राय और यह ठीक भी है। मनुष्य के भीतर उजाला न हो तो, जीवन में कोई अर्थ नहीं हुआ करता। व्यक्ति के अंतस् में ज्योति न हो, तो जिंदगी में आनंद नहीं हो सकता।

आज जो तुम्हें और तुम जैसे न जाने कितनों को सब कुछ एक बोझ मालूम हो रहा है, उसका कारण यह नहीं कि जीवन व्यर्थ है। अरे, जीवन में तो अनंत सार्थकता है। पर तुम उस सार्थकता, कृतार्थता और कृतकृत्यता तक जाने का मार्ग भूल गए हो। बस केवल जिए चले जा रहे हो, हालाँकि जिंदगी से संबंध टूट गया है। जिस किसी तरह बस मौत की प्रतीक्षा है और मौत की प्रतीक्षा भला आनंद कैसे बन सकती है, वह तो बस थकाऊ और ऊबाऊ ही होगी।

मैं तुम सबको और सारी दुनिया को यह बताने के लिए आया हूँ कि इस दुःस्वप्न से बाहर होने का मार्ग है, जिसे कि तुमने भूल से जीवन समझ रखा है और यह मार्ग सदा से है। अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला मार्ग शाश्वत है। हाँ, आज का इंसान उससे विमुख हो गया है। मैं उसे उसके सम्मुख करना चाहता हूँ।

इसी मार्ग को ऋषियों ने, संतों ने, महापुरुषों ने धर्म कहा है। यह दरअसल मनुष्य के भीतर दीया जलाने का तरीका है। यह इंसान की दिशाहीन हो चली नाव को दिशा देना है।

मैं उन्हें ढूँढ़ रहा हूँ और हमेशा ही उनको ढूँढ़ता रहूँगा, जिनमें प्रकाश के लिए प्यास है। जो अपने जीवन के अधूरेपन को आनंद से भर देना चाहते हैं, जो झूठेपन से थक और ऊब चुके हैं और सत्य को पाना चाहते हैं। जो मृत जीवन से निराश हैं और अमृत को पाना एवं पीना चाहते हैं।

उन सभी को मैं आमंत्रण देता रहता हूँ, बुलावा भेजता रहता हूँ। उन्हें पुकारता और तलाशता रहता हूँ। उनके प्राणों को झकझोरता हूँ, नींद से जगाता हूँ। उनसे कहता हूँ, अरे! तुम इस कदर परेशान क्यों हो। मैं तुम्हें निमंत्रित करता हूँ, आलोक के लिए, आनंद के लिए और अमृत के लिए। मेरे इस निमंत्रण को स्वीकार कर लो। मैं तुम्हें वह सब कुछ अनायास ही दे दूँगा, जिसे तुम्हारी जीवात्मा जन्म-जन्मांतर से तलाश रही है।

इसके लिए तुम्हें कुछ ज्यादा थोड़े ही करना है, बस आँखें खोलनी हैं। बस इतने भर से तुम मुझे पहचान लोगे। मेरे अपने बन जाओगे। तुम्हारे आँख खोलने में ही सारा चमत्कार है। मैं तो तुम्हें हमेशा से जानता-पहचानता हूँ। आँखें खोलते ही तुम भी मुझे पहचान लोगे। मुझे पहचानते ही परमात्मा भी अनदेखा न रहेगा।

बेटा! सच तो यही है कि मनुष्य के भीतर कभी भी कुछ बुझता नहीं है और न ही उसकी कोई दिशा खोती है। वह अपनी आँखें बंद किए हो तो अँधेरा हो जाता है, सब दिशाएँ खो जाती हैं। आँखें बंद होने से वह भिखारी है, और आँखें खुलते ही सम्राट् हो जाता है।

मैं भिखारी होने के स्वप्न से सम्राट् होने की जाग्रति के लिए पुकारता हूँ। मैं तुम्हारी तुम सबकी पराजय को विजय में बदलना चाहता हूँ। उनका अँधेरा निश्चित रूप से उजाले में बदलेगा, उनके मृतप्राय जीवन में अवश्य अमृत छलकेगा, जो मेरे आमंत्रण को सुनेंगे, मेरे संग-साथ चलने के लिए तैयार होंगे। क्या आपने सुना है, सद्गुरु का स्वर। ध्यान रहे उन्होंने कहा था कि देह के न रहने पर भी मैं रहूँगा, अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और विराट् बनकर और भेजता रहूँगा आमंत्रण, पुकारता रहूँगा उन्हें, जो सुनने के लिए तैयार हैं। ✡

महाभारत हो चुका था। महर्षि जरत्कारु के आश्रम में दो शिष्यों में चर्चा चल रही थी। वे कह रहे थे, ''कर्ण युद्ध विद्या में अर्जुन से श्रेष्ठ थे, दानियों में भी अग्रगण्य थे, आत्मबल के धनी थे, फिर भी क्यों अर्जुन से हार गए?'' समाधान न निकलने पर गुरुदेव के पास जाकर पूछा। गुरुदेव ने स्पष्ट किया—अर्जुन को नर और कृष्ण को नारायण भी कहा गया है। नर-नारायण का जोड़ा ही असुरता से जीतता है। अर्जुन अपने 'नरत्व' को छोड़ रहा था, तो कृष्ण ने उन्हें प्रेरणा देकर खड़ा कर दिया। कर्ण अर्जुन की अपेक्षा श्रेष्ठ नर भले हो, पर उसने अपने आपको ही सब कुछ माना, नारायण को पूरक नहीं बनाया, इसलिए भटका तो सँभल नहीं पाया, पूरक सत्ता का लाभ उसे न मिल सका। वही उसकी पराजय का मुख्य कारण रहा।

युगगीता—३०

यज्ञ बिना यह लोक नहीं तो परलोक कैसा?

(गीता के चतुर्थ अध्याय की युगानुकूल व्याख्या-बारहवीं कड़ी)

'हर श्वास में संपादित दिव्य कर्म ही हैं यज्ञ' शीर्षक से विगत अंक में विस्तार से श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय के पच्चीसवें से लेकर तीसवें श्लोक की एवं बारह प्रकार के यज्ञों की चर्चा की गई थी। व्यक्ति की आंतरिक क्रियाओं एवं बहिरंग संबंधों से जुड़े इन बारह प्रकार के यज्ञों की व्याख्या के साथ मनुष्य को अपना जीवन यज्ञमय किस तरह बनाना चाहिए, यह भी बताया गया था। विचारों को ईश्वरोन्मुख बनाने, कषाय-कल्मषों का परिशोधन कर पात्रता विकसित करने तथा अनंत के प्रति तादात्म्य भाव विकसित करने के रूप में तीन उद्देश्य भी इन यज्ञों के बताए गए थे। इस यज्ञीय भाव से किए गए कर्म भी अकर्म-दिव्यकर्म बन जाते हैं। विगत अंक की व्याख्या में भी इन बारह प्रकार के यज्ञों को विस्तार से समझाया भी गया था। भगवान् यह भी कहते हैं कि इस प्रकार यज्ञ का मर्म समझ लेने वाले साधक यज्ञों द्वारा अपने सभी पापों को नष्ट कर देते हैं। अब इकतीसवें श्लोक को एक विराट् व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास करते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम्॥

''हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं और यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिए तो यह मनुष्य लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है?''

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च

एक छोटी-सी कथा जो अक्सर परमवंदनीया माताजी अपनी 'महायज्ञ' की व्याख्या के संदर्भ में उद्बोधन में सुनाया करती थीं, यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उपर्युक्त श्लोक के भावार्थ को वह बड़ा स्पष्ट करती हैं। महाभारत में एक राजसूय यज्ञ की कथा आती है। साथ में एक नेवले का प्रसंग भी आता है। राजसूय यज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण की उपस्थिति में संपन्न हुआ। युधिष्ठिर सहित पांडवों द्वारा संपन्न किया गया था। सभी के अहं बढ़-चढ़कर बोल रहे थे कि हमारी वजह से यह आयोजन सफल हुआ। इतना दान हम लाए, इतना भोजन हमने कराया। हम लोग भी सत्ताईस अश्वमेध महायज्ञ कर चुके हैं, वाजपेय यज्ञ कर चुके हैं एवं अभी-अभी एक अश्वमेध तिरुपति में संपन्न किया है। कभी-कभी हम भी प्रसन्न हो जाते हैं, बौरा जाते हैं कि यह सब हमने किया। गुरुसत्ता के प्रताप से ही जो कार्य हुआ हो, उसमें किसी को व्यक्तिगत अहंकार क्या पालना? पर अक्सर ऐसा हो जाता है, यही पांडवों के साथ हुआ, लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण को लगा कि कहीं-न-कहीं कोई कमी अवश्य रह गई है, तभी तो यह अहंकार पल रहा है एवं यह यज्ञ यज्ञीय भाव से नहीं हुआ, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। श्रीकृष्ण सभी को यज्ञस्थल के पास ले गए। वहाँ सभी ने एक विचित्र स्थिति देखी। एक नेवला लोट रहा था। आधा शरीर सोने का था, आधा सामान्य था। सभी उस विलक्षण प्राणी को देख रहे थे। भगवान् से जानना चाह रहे थे कि यह क्या है, कैसे हुआ है? भगवान् ने नेवले से उसी की भाषा में बात की। उसने मानवों को समझने में आने वाले स्वरों में कहा, ''पहले भी मैंने एक महायज्ञ में

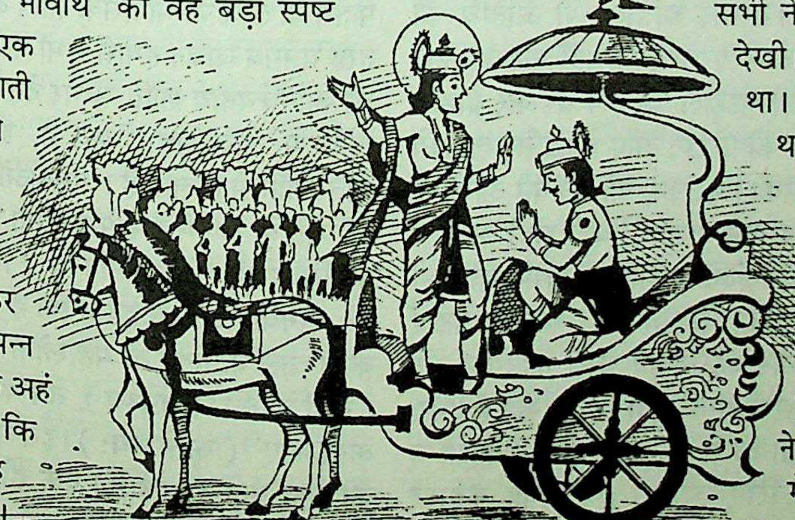

भाग लिया था। उससे मेरा आधा शरीर सोने का हो गया था। यहाँ भी यही आशा लिए आया था कि बचा हुआ शरीर भी सोने का हो जाए। इसीलिए लोट लगा रहा हूँ, पर असफलता ही हाथ लगी है।''

भगवान् कृष्ण ने उस विचित्र नेवले से पूछा कि बताओ पिछला यज्ञ कैसा था? उसने बताया, ''एक ब्राह्मण परिवार अनुष्ठान कर रहा था। भयंकर अकाल की सी स्थिति थी। ऐसे में उन्होंने नौ दिन पश्चात् बचा हुआ भोजन लेने का विचार किया था। नवें दिन भावनात्मक पूर्णाहुति कर ज्यों ही भोजन को परिवार बैठा, तो एक चांडाल सामने आ गया। चांडाल ने कहा—हमें भूख लगी है, हम खाना चाहते हैं। ब्राह्मण ने अपना भोजन उसे दे दिया। भोजन कर लेने के बाद उसने कहा—पेट नहीं भरा, तो ब्राह्मण की पत्नी ने भी अपना भोजन सामने रख दिया। भोजन के पश्चात् पुनः चांडाल बोला, बड़ी तेज भूख लगी है। इस भोजन से भी शांति नहीं हुई। गृहस्थ ब्राह्मण के दोनों पुत्रों ने अपना भोजन जो कि अब अंतिम आस के रूप में सामने रखा था, चांडाल को दे दिया। चांडाल ने पूछा कि अब आप क्या खाएँगे भगवन्। ब्राह्मण ने कहा कि पानी पीकर ही पारायण कर लेंगे। सोचेंगे भगवान् की यही इच्छा थी। अतिथि देवता भूखे चले जाएँ, यह कैसे हो सकता है? चांडाल ने भोजन समाप्त किया, ब्राह्मण को साधुवाद दिया एवं अच्छी तरह कुल्ला कर तृप्ति का भाव प्रकट किया।'' नेवले ने आश्चर्यचकित पांडवों सहित श्रीकृष्ण को बताया कि ''जिस स्थान पर वह कुल्ला उस चांडाल ने किया था, वहीं कुछ भोजन के कण गिर गए थे, मैंने उसी में लोट लगाई थी तो मैं आधा सोने का हो गया। मैंने एक और दृश्य देखा कि ज्यों ही ब्राह्मण देव सपरिवार चांडालरूपी अतिथि को प्रणाम करने झुके तो उठने पर उन्होंने वहाँ नारायण हरि को पाया। स्वयं भगवान् चांडाल का रूप धर कर ब्राह्मण परिवार की यज्ञीय वृत्ति को परखने आए थे। प्रतिकूलताओं में भी यज्ञीय भाव जिसका जिंदा हो, जो देने की आकांक्षा रखता हो, भावनाएँ जिसकी पुष्ट हों, वही सही अर्थों में देवता होते हैं एवं ऐसे देवताओं के होते हुए दुर्भिक्ष होना ही नहीं चाहिए, ऐसा भगवान् के कहते ही घनघोर घटाएँ बरसने लगीं एवं अकाल की स्थिति चली गई। यह यज्ञ पुनः हो, इसकी प्रतीक्षा मैं युगों-युगों से कर रहा हूँ। मेरा दुर्भाग्य है कि इस महायज्ञ में भी मैं अधूरी आकांक्षा व आधा कंचन का तन लिए जा रहा हूँ?'' यह कहकर नेवला चला गया। हतप्रभ पांडवों को भगवान् श्रीकृष्ण ने बताया कि देख लिया आपने अपना प्रताप? पहले यज्ञ के मर्म को समझिए तब आप महायज्ञ के सही अर्थों में यजमान बन सकेंगे। सभी के अहंकार गल गए व सभी ने यज्ञमय जीवन का मर्म जाना।

शास्त्र कहता है, ''**महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मी यं क्रियते तनुः**'' यज्ञों में भी श्रेष्ठतम एवं महायज्ञ कहा जाने वाला वह कर्म है जो व्यक्ति को ब्राह्मणत्व के पद पर अधिष्ठित कर देता है, उसके जीवन को ब्राह्मण प्रधान कर देता है। ब्राह्मणत्व अर्थात् आज के तथाकथित मनुवाद के नाम पर आलोचना करने वाले जाति-वर्ण वाला ब्राह्मण नहीं, ज्ञान का संपादन करने वाला, देवताओं की रीति-नीति से जीवन जीने वाला। उसी चौथे अध्याय की प्रारंभिक टिप्पणियों में गुण-कर्म-विभागानुसार चार वर्णों के रचने की चर्चा (श्लोक क्रमांक १३) भगवान् ने की है। यदि वह हम समझ लें तो हमें यज्ञ-महायज्ञ का सही मर्म भी समझ में आ सकेगा।

यज्ञावशिष्ट परम पुण्यदायी

भगवान् इसके पूर्व तीसवें श्लोक तक विभिन्न यज्ञों के माध्यम से यज्ञ का मर्म बताते-बताते यहाँ इकतीसवें श्लोक में उपर्युक्त कथा का सार इस तरह कह देते हैं, ''यज्ञ से बचे अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।'' मानव जाति की, समाज की सेवा स्वरूप किया गया श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है। इसके परिणाम-स्वरूप जो आत्मसंतोष, कीर्ति, ऐश्वर्य आदि प्राप्त होता है, वह यज्ञ अवशिष्ट है। यही 'प्रसाद' कहलाता है, जो पूर्व में बताए गए बारह प्रकार के यज्ञों की परिणतिस्वरूप प्राप्त होता है। शर्त एक ही है कि ये सभी यज्ञ निष्काम भाव से किए जाएँ। 'यज्ञावशिष्ट' या 'प्रसाद' का अर्थ है, वह पदार्थ या तत्त्व जो मानसिक शांति दे, तृप्ति दे, तुष्टि दे। इस तरह यज्ञमय जीवन हमारी सभी वासनाओं का क्षय कर मन को अनिर्वचनीय शांति से भर देता है। वह शांति जिसकी खोज में आज सारा विश्व है, इसी यज्ञमय जीवन की रीति-नीति से मिलती है। वासनाओं का क्षय होते ही अंतिम परिणति के रूप में हमें समष्टिगत चैतन्य से एकाकार होने की सिद्धि भी (ब्रह्म सनातनम्) मिल जाती है।

भगवान् आगे कहते हैं कि हे कुरुओं में श्रेष्ठ! यज्ञ न करने वाले के लिए तो यह लोक भी न होने के समान है (**नायं लोकोऽस्त्यज्ञस्य**), तब परलोक की बात ही क्या कही जाए? (**कुतोऽन्यः**)। इस एक पंक्ति में बड़े ही मर्म की बात बता दी गई है। एक ही सार्वभौमिक सत्य का उद्घाटन किया गया है कि जो व्यक्ति समर्पण भाव से (यज्ञीय भाव से) कर्म करने को तैयार नहीं, उसे न तो इस

संसार में वास्तविक लाभ, संतोषमय जीवन, प्रसन्नता-तृप्ति मिल पाती है, न ही मरने के बाद वह शांति पाता है। वास्तविक प्रसन्नता-सफल जीवन जीने की अनुभूति की एक ही कुंजी है—यज्ञीय भाव में रहकर उद्यमपूर्वक सतत कर्म करते रहना (कुर्वन्नैवेह कर्माणि... उपनिषद)। जिस समाज या राष्ट्र में आम आदमी विषयी-विलासी, विचारहीन-स्वार्थी, इक्कड़, अति महत्त्वाकांक्षी-भोगप्रधान चिंतन वाले होंगे, वह राष्ट्र या समाज कभी उन्नति नहीं कर सकता, फल-फूल नहीं सकता, यह श्रीकृष्ण की स्पष्ट घोषणा है। न ही ऐसे समाज से कुशल शासक, संगठनकर्त्ता नेता निकल पाएँगे, न इस जगत् में कभी शांति मिल पाएगी, चाहे उद्योग कितने ही बढ़ जाएँ, कितना ही आधुनिकीकरण-यंत्रीकरण क्यों न हो जाए।

त्याग जीवन में प्रतिष्ठित हो, भोग नहीं

आज की स्थिति की कितनी सुंदर समीक्षा है चौथे अध्याय का यह इकतीसवाँ श्लोक। बार-बार एक ही बात भगवान् कह रहे हैं कि बाह्य सुखों में शांति नहीं, वहाँ तो भोगवादी अतृप्ति भरी तृष्णा है, बेचैनी है। आज सारा मानव समाज 'स्ट्रेस' (Stress) नामक महाव्याधि से पीड़ित है, जिसे देखिए वही देखने में स्वस्थ, पर अंदर से रीता, खोखला एवं तनावग्रस्त। एक अविज्ञात भय हमारे सबके साथ जुड़ा है। चाहे भौतिक जगत् में कितनी ही सफलताएँ मिल गई हों, आत्मिक जगत् सूखा मरुस्थल बन गया है। कारण अयज्ञीय भाव से किए गए कर्म ही हैं। यदि किसी समाज का, राष्ट्र का पुनर्निर्माण होगा, तो जीवन जीने के तरीके को बदलकर, जीवन को भोगमय से बदलकर, त्याग की जीवन में प्रतिष्ठा करने से। एक जागरूक, कर्मठ, कभी विश्व का जगद्गुरु रहा भारतवर्ष सांस्कृतिक दृष्टि से आज भी पराधीन है, भ्रष्टों में भी भ्रष्टतम है, इसकी कार्य-कुशलता को मानो जंग लग गई है। किस कारण यज्ञमय जीवन की उपेक्षा से, जीवन में यज्ञ अर्थात् परमार्थ के लिए किए गए सत्कर्मों की उपेक्षा से, एकाकी-स्वार्थी जिंदगी जीने की रीति-नीति से। श्रीमद्भगवद्गीता ही आज की युवाशक्ति को, भावी पीढ़ी को एक संकेत देती है कि यदि यह जीवन सुख के साथ शांति-संतोषमय बनाना है, तो जीवन में यज्ञ को स्थान दो, नहीं तो जन्म-जन्मांतरों तक अतृप्ति एवं वासना के बंधन ढोने पड़ेंगे। **''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा''** *(ईशावास्योपनिषद)* की उक्ति के अनुसार जीवन में त्याग की प्रतिष्ठा से। पश्चिमोन्मुखी मध्यम वर्ग एवं कंप्यूटर युग में जी रही आज की पीढ़ी यदि सही अर्थों में भोग का आनंद चाहती है, मानसिक शांति चाहती है, तो उसे अपनी जीवन शैली आमूलचूल बदलनी होगी, यही संदेश गीता का हमें यहाँ मिलता है।

परमपूज्य गुरुदेव ने यज्ञ विज्ञान को पुनः प्रतिष्ठा दी एवं यज्ञ को एक दर्शन के रूप में स्थापित किया, यदि यह कहा जाए, तो अत्युक्ति नहीं होगी। अंधकार युग में, जो विगत सहस्रों वर्षों से चला आ रहा था, बुद्ध एवं शंकराचार्य के आगमन के बावजूद यज्ञ की चिह्न-पूजा ही होती रही अथवा यज्ञरूपी शब्द का अनर्थ किया जाता रहा। भारतीय संस्कृति के पिता माने जाने वाले यज्ञ को परमपूज्य गुरुदेव ने लोगों के चिंतन में, दैनंदिन जीवन में, उपासनात्मक उपचारों में स्थान दिलाया, ताकि सतयुगी वातावरण बन सके। उनके जीवन के शुभारंभ से अंत तक, उनके महाप्रयाण के बाद संपन्न हो रहे देवसंस्कृति दिग्विजयी पराक्रम तक उनके हर निर्धारण में हमें यज्ञ का तत्त्वदर्शन समाहित मिलता है। अग्नि को पूज्यवर ने शिक्षक बताते हुए अग्निहोत्र को सही अर्थों में जन-जन को समझाया। अग्निहोत्र मात्र ही यज्ञ नहीं है, अपितु यज्ञ एक विराट् अर्थों में समझी जाने वाली परिभाषा है, इस पर उन्होंने गायत्री यज्ञ विधान, यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान जैसी ग्रंथमालाएँ उस समय लिखीं, जब यज्ञ के नाम पर सकाम यज्ञों, पंडावाद एवं लूट-खसोट का माहौल था।

यज्ञ एक दर्शन

वे अखण्ड ज्योति पत्रिका में लिखते हैं, ''जिस तरह अग्नि यज्ञकुंड में प्रज्वलित होती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि अंतःकरण में, तापाग्नि इंद्रियों में तथा कर्माग्नि देह में प्रज्वलित रहनी चाहिए, यही यज्ञ का आध्यात्मिक रूप है। अपनी संकीर्णता, अहंता, स्वार्थपरता को जो उस दिव्य अग्नि में होम देता है, वह बदले में इतना प्राप्त करता है, जिससे नर को नारायण की पदवी मिल सके।'' (अप्रैल १९८१, पृष्ठ ४९)। आगे वे इसी क्रम में यज्ञ को विश्व का सर्वोत्कृष्ट दर्शन बताते हुए लिखते हैं, ''यज्ञ में समाहित विचार एवं प्रेरणाएँ—आस्था परिशोधन एवं आदर्शों की प्रतिष्ठापना की एक सशक्त माध्यम हैं। इसमें सन्निहित विचारप्रवाह में मनुष्य को श्रेष्ठ, उदार एवं उदात्त बनाने के सारे तत्त्व विद्यमान हैं। ऐसे किसी दर्शन की खोज करनी हो जो विवादों से रहित एवं बोधगम्य हो, तो वह यज्ञ-दर्शन ही हो सकता है।'' अखण्ड ज्योति, सितंबर १९८१, पृष्ठ ४७)। वे लिखते हैं ''दान, देवपूजन और संगतिकरण का यज्ञीय दर्शन मनुष्य को उदार एवं उदात्त बनाने में हर दृष्टि से सक्षम है। इन तीनों सिद्धांतों में मानवी विकास के लिए असीम संभावनाएँ सन्निहित हैं।'' (उपर्युक्त पृष्ठ ४९)।

भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी प्रकार यज्ञ की महत्ता बताते-बताते अपने कथन की पूर्णता इन शब्दों में व्यक्त कर दी है कि जो यज्ञावशिष्ट अमृत का भोग करते हैं, वे ही सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (**यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम्**)। वे कह जाते हैं कि यज्ञ ही विश्व का विधान है, यज्ञ के बिना जीवन ही नहीं, पारलौकिक जीवन में भी कुछ भी हासिल नहीं हो सकता। न लोक में प्रभुत्व मिल सकता है, न परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। इसके बाद वे कह जाते हैं कि *''ब्रह्म के मुख में अर्थात् वेद की वाणी में इस प्रकार के अनेक प्रकार के यज्ञ वर्णित हैं। इन सबको तू कर्म से अर्थात् मन, इंद्रिय और शरीर की क्रिया द्वारा उत्पन्न जानना, किंतु यह भी जान ले कि परमात्मा कर्मादि से परे है, ऐसा जानकर तू संसार बंधन से मुक्त हो सकेगा।'' (श्लोक बत्तीस का भावार्थ)*

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।

मुक्ति का राजमार्ग

इकतीसवें श्लोक की पराकाष्ठा इस बत्तीसवें श्लोक में देखने को मिलती है। ये सभी यज्ञ जो ऊपर बताए गए भगवान् विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण के अनुसार ब्रह्मा के मुख से विस्तृत हुए हैं, उस अग्नि के मुख से जो सभी हव्यों को ग्रहण करती है। सर्वव्यापी ब्रह्म ही सदा यज्ञों में प्रतिष्ठित है। संसार के सभी प्रकार के कर्म परमपिता परमात्मा के उद्देश्य से अर्पित यज्ञ बन सकते हैं। यदि हम भोजन करें, तो यह मानकर करें कि ब्रह्म को आहुति दे रहे हैं, जगज्जननी महाकाली को भोजन करा रहे हैं। यदि मार्ग पर चल रहे हों तो यह भावना करें कि जगन्माता की प्रदक्षिणा कर रहे हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक ये तीनों प्रकार के कर्म जब प्रभु की प्रसन्नता के लिए, ईश्वर में अर्पण बुद्धि से किए जाएँ, तो सभी कर्म यज्ञ में परिणत हो जाते हैं। ऐसे यज्ञों का प्रतिफल पहले चित्त की शुद्धि फिर आत्मोपलब्धि-जीवन्मुक्ति के रूप में मिलता है, यह भावार्थ हुआ इस श्लोक का।

स्वामी विवेकानंद ने इस विषय में काफी कुछ कहा है। गीता का कर्मयोग स्वामी जी के शब्दों में, वैज्ञानिक प्रणाली से किया गया एक कर्मानुष्ठान है। कर्मों का उद्देश्य है—मन के भीतर जो अंतर्निहित शक्ति है उसे प्रकट करना अर्थात् जीवात्मा का जागरण करना। जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ हवन करो, जो कुछ तप करो, सभी मुझ भगवान् में अर्पण कर शांतभाव से स्थित होकर रहो। स्वामी जी जिस भाव की अभिव्यक्ति कर रहे हैं उसी का बोध श्रीकृष्ण अपने शिष्य अर्जुन को कराते हुए उसकी मुक्ति का पथ प्रशस्त कर रहे हैं। वे कहते हैं कि सभी साधनों या यज्ञों को कर्मज मान, कर्म से जन्मा मान, पर यह भी समझ कि ये सभी एक भगवान् की विशाल शक्ति से जन्मे हैं, उसी के द्वारा निर्दिष्ट हैं। उस भगवत् तत्त्व को तत्त्व से जानकर, भलीभाँति समझकर स्वयं को समर्पित कर यज्ञीय भाव से यदि हर कर्म किया जाएगा, तो मुक्ति-लोभ-मोह-अहं के भवबंधनों से हमेशा के लिए जीवन्मुक्ति मिल जाएगी। (**एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे**)।

तुकनेव का एक गद्य काव्य है, मैं जा रहा था सुनसान सड़क पर। देखा एक बुभुक्षित भिखारी को, बहुत ही दुर्बल था वह। याचना थी उसकी आँखों में। देना चाहा, पर मेरी जेब में कुछ भी नहीं था, एक पैसा भी नहीं, रूमाल तक नहीं। क्या करूँ? कैसे मदद करूँ?

अंत में मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। उठाया और सिर पर हाथ फिराया। आशा दिलाई। मैं न सही, कोई दूसरा मदद करेगा। आप हताश न हों।

भिक्षुक के होंठ हिले, बोला, ''मेरे ठंडे हाथों को अपने गरम हाथों से पकड़कर जो गरमी दी, उससे भी बहुत राहत मिली। आपका अहसान भूलने वाला नहीं हूँ।''

मैं धीमे पैरों से आगे बढ़ा। सोचता था, उस भिक्षुक ने मुझे नया प्रकाश दिया। नया द्वार खोला और नई राह दिखाई।

गीताकार के काव्य का सौंदर्य उसके शब्दों के गुंथन से बढ़कर उसके भावों की निरंतर उच्चतर-उच्चतम सोपान पर चलते जाने के क्रम में दिखाई पड़ता है। यदि हम यह मर्म जान लें कि हमें कर्म क्यों करना है, किसके लिए करना है, यज्ञीय भाव से किए गए कर्म क्या होते हैं एवं जीवन को यदि बंधनों में बँधने से बचाकर मुक्ति का पथ प्रशस्त कैसे करना है, तो हम जीवन-दर्शन जान लेते हैं। इसी बात को भगवान् आगे बढ़ाते हुए तैंतीसवें श्लोक में द्रव्यमय यज्ञ के रूप में सबसे नीची सीढ़ी एवं ज्ञानमय यज्ञ के रूप में सबसे ऊँची सीढ़ी बताते हैं। इसकी व्याख्या आगे के ज्ञान के माहात्म्य प्रसंग के साथ अगले अंक में। ✡

क्रमशः

गुरुकथामृत—३०

हर साधक के जीवन में ऐसा वसंत आए

मन सभी का सहज रूप में भटकाव की दिशा ले लेता है। चित्त का स्वभाव-वृत्ति चंचल है। चंचल-चलायमान चित्त को कैसे नियंत्रित किया जाए, हर साधक के मन में यही एक प्रश्नचिह्न सदैव बना रहता है। यह एक नहीं निन्यानवे प्रतिशत लोगों के साथ घट सकता है, घटता रहता है। अर्जुन जैसा निद्रा पर नियंत्रण करने वाला (गुडाकेश) तथा एकाग्रचित्त होकर मछली की आँख पर निशाना लगाने वाला भी श्रीकृष्ण के समक्ष कह उठता है—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ६/३४

हे कृष्ण! यह मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, बड़ा दृढ़ और बलवान है। इसलिए इसको वश में करना मैं वायु को रोकने की भाँति अत्यंत ही दुष्कर मानता हूँ।

फिर हम सभी सामान्य स्तर के साधकों की बात क्या कही जाए? अपने शिष्यों की इस व्यथा का, साधना क्षेत्र में कठिनाई का हमारी आराध्य सत्ता को सतत ध्यान बना रहता था। नीचे कुछ पत्र दे रहे हैं, जो उनके द्वारा समय-समय पर लिखे गए। इनसे स्पष्ट हो जाएगा कि किसी साधक की जीवन-साधना करने वाले एक सामान्य व्यक्ति की भी रीति-नीति क्या-कैसी होनी चाहिए।

श्री राममूर्ति दीक्षित (भिंड) को २/११/६३ को लिखे एक पत्र में पूज्यवर उन्हें बताते हैं—

"कुशल समाचार पढ़कर प्रसन्नता हुई। मन न लगने पर भी साधना का क्रम निष्ठापूर्वक जारी रखें। मन का स्वभाव ही उचटने का है। उसे बलपूर्वक सन्मार्ग पर चलने के लिए विवश करते रहना चाहिए।

आपका भविष्य उज्ज्वल है। निराश कभी भी नहीं होना चाहिए। प्रयत्न निरंतर जारी रखें। प्रयत्न का फल अच्छा ही होता है।"

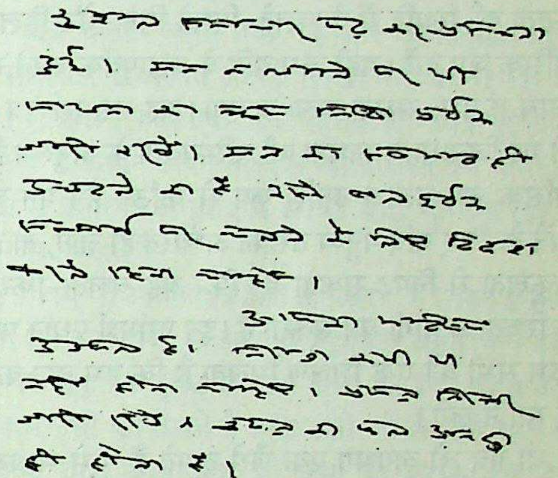

श्री भँवरसिंह टाँक (सीकर राज.) को ३०-९-६७ को लिखे एक पत्र में वे कहते हैं—

"आप चलते-फिरते मानसिक जप करते रह सकते हैं। होंठ नहीं हिलने चाहिए।

माता का अंचल श्रद्धापूर्वक पकड़े रहने से आपका सब प्रकार कल्याण ही होगा।"

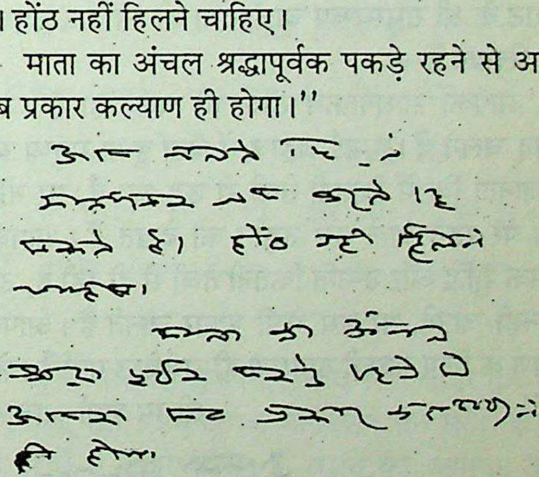

दोनों ही पत्र दो साधकों को जो भिन्न-भिन्न मनःस्थितियों के हैं, अलग-अलग ढंग से लिखे गए हैं। एक को लिखा है कि मन न भी लगे, बार-बार उचटे तो भी निरंतर जप करते रहें। जप से मुख के अग्निचक्र के पाचन की प्रक्रिया ज्यों-ज्यों सधती जाएगी, स्वतः मन लगने लगेगा। गायत्री मंत्र की प्रेरणा ही 'प्रचोदयात्' के

माध्यम से जबर्दस्ती सन्मार्ग पर लगाने की है। '*करत करत अभ्यास ते जड़मति होत सुजान* ' वाली उक्ति के अनुसार साधक को निरंतर अपने प्रयास में लगे रहना चाहिए। मन लगाने का प्रयास करना चाहिए। शेष गुरुसत्ता को-गुरुद्वारे को सूचित कर देने के बाद योगक्षेम स्वत: वहन हो जाता है।

जिस प्रकार विभिन्न रोगों की औषधि अलग-अलग होती है उसी प्रकार साधना संबंधी परामर्श भी दिया जाता है, तो साधक की पात्रता व विकास की क्रमिक यात्रा पर पहुँचे सोपान के अनुसार ही । श्री टाँक को कहा गया कि व्यस्तता की स्थिति में वे चलते-फिरते बिना होंठ हिलाए मानसिक जप करें। यही क्रम यदि वे श्रद्धापूर्वक करते रहे तो सब क्रमश: सधता चला जाएगा। यह परामर्श पत्र में पूछी गई जिज्ञासा व साधना की परिपक्वता के अनुरूप है। मानसिक जप प्रत्यक्ष उपांशु जप से कठिन है। मन को साधने के लिए यदि मनुष्य उसका अभ्यस्त हो जाए, तो हर प्रतिकूलता से निपट सकता है। फिर वह चलता-फिरता एक स्थितप्रज्ञ योगी बन सकता है। इन परामर्श प्रधान पत्रों से हम सभी को एक शिक्षण मिलता है कि हम क्या करें, जब मन न लगे।

दो पत्र जो लगभग एक जैसे लगते हैं, ऐसे साधकों को लिखे गए हैं, जिन्हें परमपूज्य गुरुवर उनकी आत्मिक प्रगति की स्थिति के बारे में बता रहे थे, उनका मनोबल भी बढ़ा रहे थे।

राठ के श्री रामस्वरूप चाचौदिया जी को ७/६/१९६२ को वे लिखते हैं—

"आपका साधनाक्रम ठीक ही चल रहा है। उसे यथावत् चलने दें। हवाई जहाज में बैठा हुआ मनुष्य यह नहीं जानता कि मैं कितनी तेजी से उड़ रहा हूँ, पर नीचे जमीन पर रहने वाले उस उड़ान को देखते हैं। आपकी आत्मिक शुद्धि और उन्नति कितनी तेजी से हो रही है, उसे आप नहीं जानते, पर हम भली प्रकार जानते हैं। आपके कल्याण के लिए गायत्री उपासना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। शेष दया।"

श्रीराम शर्मा आचार्य

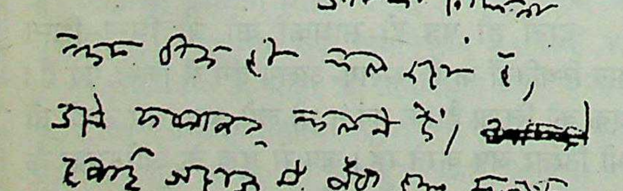
आपका साधनाक्रम
ठीक ही चल रहा है,
उसे यथावत् चलने दें,
हवाई जहाज में बैठा हुआ मनुष्य
यह नहीं जानता कि मैं कितनी तेजी

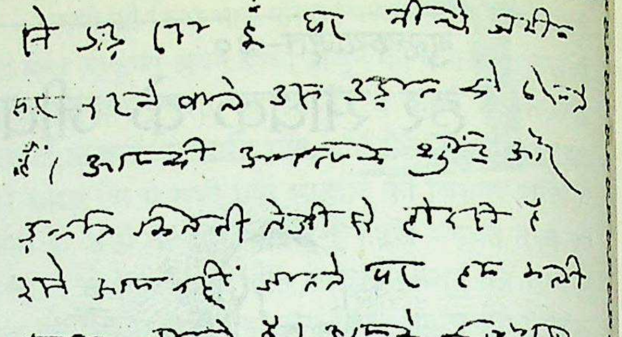
से उड़ रहा हूँ पर नीचे जमीन
पर रहने वाले उस उड़ान को देखते
हैं। आपकी आत्मिक शुद्धि और
उन्नति कितनी तेजी से हो रही है
उसे आप नहीं जानते पर हम भली
प्रकार जानते हैं। आपके कल्याण
के लिए गायत्री उपासना ही सर्व
श्रेष्ठ मार्ग है। शेष दया।

दूसरा पत्र कानपुर के श्री रामदास जी को लिखा गया है। १४/१/५९ को पोस्ट किए गए इस पत्र में गुरुवर लिखते हैं, "आपकी आत्मा सुव्यवस्थित रीति से अंतर्मुखी होती चली जा रही है। जैसे रेल में बैठी हुई मक्खी को यह पता नहीं चलता कि मैंने कितनी लंबी मंजिल पार कर ली, उसी प्रकार साधारण दृष्टि से हमारी आत्मा भी अपनी प्रगति का अंदाज नहीं लगा पाती, पर वस्तुत: आप तेजी से उन्नति पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, यह प्रगति पूर्ण लक्ष्य तक पहुँचाकर ही रहेगी। आपका जो साधनाक्रम है, वह सब प्रकार संतोषजनक है।"

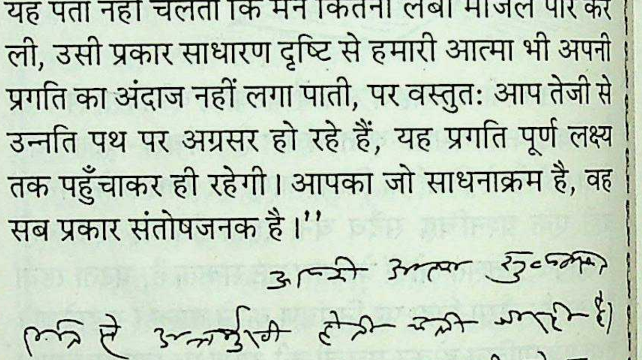
आपकी आत्मा सुव्यवस्थित
रीति से अन्तर्मुखी होती चली जा रही है।
जैसे रेल में बैठी हुई मक्खी को यह
पता नहीं चलता कि मैंने कितनी लम्बी
मंजिल पार कर ली, उसी प्रकार साधारण
दृष्टि से हमारी आत्मा भी अपनी प्रगति
का अंदाज नहीं लगा पाती। वस्तुतः आप
तेजी से उन्नति पथ पर अग्रसर हो रहे हैं।
यह प्रगति पूर्ण लक्ष्य तक पहुँचाकर ही
रहेगी। आपका जो साधना क्रम है वह
सब प्रकार संतोषजनक है।

दोनों ही पत्र ध्यान से पढ़ने योग्य हैं। उदाहरण कितना सटीक है यह दोनों पत्रों में दी गई उक्तियों से उजागर होता है। एक को हवाई जहाज में बैठे व्यक्ति का उदाहरण दिया है, तो दूसरे को रेल में बैठी मक्खी का। कुल मिलाकर साधकों के आत्मबल को बढ़ाने वाले दोनों पत्र हैं। यदि यह संकेत गुरुसत्ता न दे तो और कौन दे। गुरुवर की

लेखनी का यही प्रताप था कि दूने जोश के साथ वह साधक फिर आत्मिक प्रगति हेतु तत्पर हो उठता था।

साधना प्रसंग चल रहा है। ऐसा ही एक मार्गदर्शन दे रहे हैं, जो न केवल मनोबल बढ़ाता है, बल्कि हर व्यक्ति के अंदर छिपी एक छोटी-सी आशा को बल देता है कि उसके अंदर भी अनंत से तादात्म्य करने की, ऊँचा उठने की क्षमता है। यदि हर व्यक्ति इस तरह के मार्गदर्शन को स्वसंकेतों के रूप में स्वयं को नित्य देने लगे तो वह क्या नहीं बन सकता। प्रत्येक के अंदर महामानव बनने की सामर्थ्य उसका बीज मौजूद है। आवश्यकता है, तो उसे साधना-तप से गलाने की व समर्पण के खाद-पानी की।

एक अविज्ञात साधक को १९-८-५९ को लिखे पत्र में पूज्यवर लिखते हैं—

''आपकी आत्मा बहुत ही शांत और व्यवस्थित गति से आगे बढ़ रही है। नरेंद्र (विवेकानंद) की स्थिति तक पहुँचने में जो कमी है, वह भी कुछ ही दिनों में पूर्ण हो जाएगी। उचित परिपक्व मनोभूमि के होते ही ब्रह्म दीक्षा मिल जाएगी। किसान बीज बोते समय अनुकूल ऋतु तथा खेत की जुताई आदि की प्रतीक्षा करता है। आपकी मनोभूमि तैयार हो रही है। बीज बोने का अवसर आते ही उसमें तुरंत उचित संस्कार डाल दिए जाएँगे। अभी उसमें थोड़ा विलंब है।''

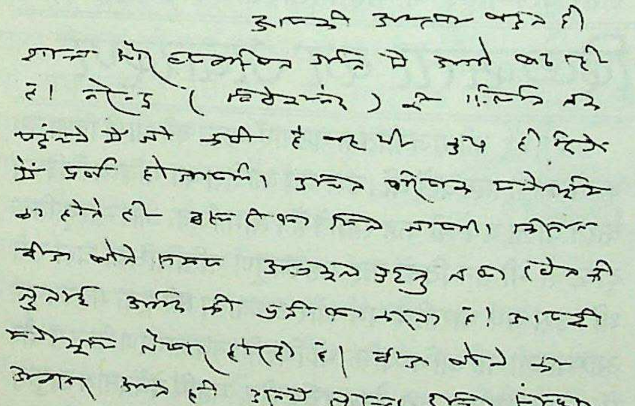
आपकी आत्मा बहुत ही
शांत और व्यवस्थित गति से आगे बढ़ रही
है। नरेन्द्र (विवेकानंद) की स्थिति तक
पहुँचने में जो कमी है वह भी कुछ ही दिनों
में पूर्ण होजायगी। उचित परिपक्व मनोभूमि
के होते ही ब्रह्म दीक्षा मिल जायगी। किसान
बीज बोते समय अनुकूल ऋतु तथा खेत की
जुताई आदि की प्रतीक्षा करता है। आपकी
मनोभूमि तैयार हो रही है। बीज बोने का
अवसर आते ही उसमें तुरंत उचित संस्कार
डाल दिये जायेंगे। अभी उसमें थोड़ा विलम्ब
है।

पत्र विशिष्ट है एवं एक खास साधक को लिखा गया है। यह सज्जन क्या बने, यह ज्ञात नहीं, पर गुरुसत्ता के मार्गदर्शन में साधनात्मक परामर्श में कोई कमी नहीं है। वे साधक के, पत्र प्राप्त करने वाले जिज्ञासु के मन को पढ़ रहे हैं एवं उनके चिंतन को उछाल रहे हैं। क्रमिक गति से कैसे महामानव पद पर पहुँचा जा सकता है, इसका समुचित मार्गदर्शन भी दे रहे हैं, वस्तुतः विवेकानंद बनने की क्षमता तो हजारों-लाखों में मौजूद होती है, गुरु का मार्गदर्शन भी होता है, पर उस स्तर की अभीप्सा तो हो, सुसंस्कारिता अर्जित कर तपश्चर्या करने का माद्दा तो हो। छोटे-छोटे भटकाव-अवरोध जीवन यात्रा में आते रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ की खाइयाँ बीच में परीक्षा लेती हैं, उन्हें पारकर उस स्थिति में पहुँचना सभी के लिए संभव है, पर यही तो वह कँटीला राजमार्ग है, जहाँ अत्यंत सावधानी की जरूरत पड़ती है। स्वामी विवेकानंद के शब्दों में 'क्षुरस्य धारा' पर चलने का मार्ग है यह।

अब चलते-चलते एक पत्र और जो इलाहाबाद के श्री रामलाल श्रीवास्तव जी को लिखा गया था ३१-१-६९ को। श्री रामलाल जी एक अच्छे साधक हैं, गायत्री शक्तिपीठ के रूप में उन्होंने अपने आवास को परिणत कर दिया एवं हिंदी से अँगरेजी अनुवाद में उनकी बड़ी भूमिका रही है। पूज्यवर लिखते हैं—

''जब भी आपके पत्र आते हैं, मिलने के समान प्रसन्नता होती है। बाह्यदृष्टि से आपकी विशेषता बहुत भले ही न हो, पर आंतरिक दृष्टि से आप दोनों का स्तर बहुत ऊँचा है। हम उसी को देखते हैं और उसी को सराहते रहते हैं। आपका बाह्य जीवनक्रम भी वैसा ही महान् बने जैसा अंतरंग स्तर है, यही कामना करते रहते हैं।''

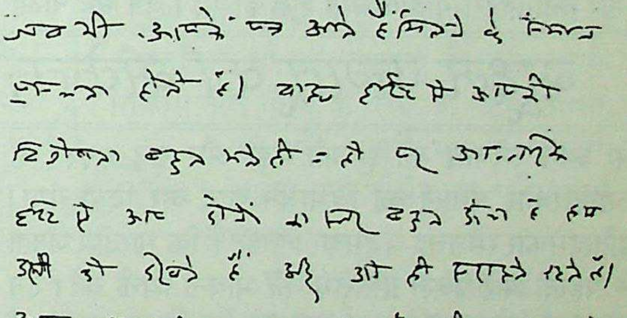
जब भी आपके पत्र आते हैं मिलने के समान
प्रसन्नता होती है। बाह्य दृष्टि से आपकी
विशेषता बहुत भले ही न हो पर आन्तरिक
दृष्टि से आप दोनों का स्तर बहुत ऊँचा है हम
उसी को देखते हैं और उसी को सराहते रहते हैं।
आप बाह्य जीवन क्रम भी वैसा ही महान बने
जैसा अन्तरंग स्तर है यही कामना करते रहते हैं।

पत्र के भाव समझकर प्रस्तुत वसंत पर्व पर हम यदि अपने लिए सही साधनात्मक मार्गदर्शन चुन सकें, तो यह सही अर्थों में हमारे जीवन में वसंत का आगमन कहा जाएगा। जिस प्रकार आज से ७६ वर्ष पूर्व हमारी गुरुसत्ता के जीवन में वसंत आया एवं वह दिवस उनके लिए बोध दिवस बन गया, इसी प्रकार यह वसंत पर्व (१७/२/२००२) भी हमारे लिए यह सुअवसर लाया है, यही माना जाएगा। आवश्यकता मात्र इस दर्शन को जीवन में उतारने की है।

✡

श्रीरामलीलामृतम्—२

चेतना की शिखर यात्रा

(द्वितीय कड़ी)

विगत अंक से आरंभ की गई इस धारावाहिक लेखमाला के क्रम में पाठक - परिजन गुरुसत्ता की एक असमाप्त जीवन गाथा पढ़ रहे हैं। इस अंक में प्रस्तुत है वर्ष १९११ के संबंध में कुछ विशेष।

सूक्ष्म जगत् का संकेत, दिव्यसत्ता का अवतरण

सन् १९११ का वर्ष भारतीय राष्ट्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। छह साल पहले वायसराय लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया था। इस विभाजन ने भारत राष्ट्र को झकझोरकर जगा दिया। वायसराय के फैसले से लोगों में इतना रोष फैला कि वे अँगरेजी माल का, विशेषकर इंग्लैंड में बने कपड़ों का बहिष्कार करने लगे। इन्हीं दिनों 'वन्देमातरम्' का उद्घोष किया जाने लगा। भारत को मातृभूमि और माँ के रूप में पूजने, उसे अँगरेजी दासता के बंधनों से मुक्त कराने के लिए जन-चेतना जगाई जाने लगी। सरकार को आंदोलन सहन नहीं हुआ। उसने फूट डालने और दमन करने की नीति अपनाई। आंदोलन में भाग लेने वालों को जुर्माने, सुविधाओं में कटौती और नौकरी आदि में रुकावट डालने की नीति अपनाई गई। फिर भी आंदोलन नहीं रुका तो दमन की नीति अपनाई गई।

दमन ने लोगों का रोष और भड़का दिया। सशस्त्र विरोध और क्रांतिकारी गतिविधियाँ शुरू हो गईं। जन भावनाओं के आगे सरकार को झुकना पड़ा और सन् १९११ में आखिरकार बंगाल का विभाजन रद्द कर दिया गया। इतिहासकार रमेशचंद्र मजूमदार लिखते हैं कि भारतीय जनता ने पहली बार प्रबल प्रतिरोध की भावना व्यक्त की। उन दिनों भारत के विभिन्न भागों में जिस तरह गुप्त समितियाँ बनने और सक्रिय होने लगी थीं, उसका स्पष्ट उद्देश्य अँगरेजी राज को उखाड़ फेंकना था। न केवल बंगाल में, बल्कि पंजाब और मद्रास जैसे दूरवर्ती प्रांतों में भी गहरी अशांति की आम हालत थी। सरकार की कठोर कार्रवाइयाँ भी क्रांतिकारियों को रोक न सकीं। वह उबाल बंग को वापस लेने के सिवाय किसी और कदम से थमने वाला नहीं था। दिसंबर १९११ में दिल्ली दरबार के समय सम्राट् जार्ज पंचम और महारानी ने बंगाल विभाजन को रद्द कर दिया।

एक महत्त्वपूर्ण मोड़

दिल्ली दरबार की दूसरी घोषणा में भारत की राजधानी कलकत्ता से बदलकर दिल्ली ले आने का निर्णय था। दोनों घोषणाएँ एक-दूसरे की पूरक साबित हुईं। राजधानी यहाँ ले आने से क्रांतिकारियों का उबाल थोड़ा ठंढा हुआ। वह उसी तरह विस्फोटक रूप लेता जाता, तो संभव था कि स्वातंत्र्य चेतना जगाने का काम वर्षों तक प्रभावशाली ढंग से नहीं चलता। अँगरेज सरकार को यह लाभ हुआ कि वह जन आक्रोश का तुरंत शिकार होने से बच गई। इस फैसले में मुख्य भूमिका रखने वाले वायसराय लार्ड हार्डिंग्ज की हालाँकि आलोचना हुई थी। यहाँ के अँगरेज अधिकारियों और ब्रिटेन के लोगों ने उसे खूब बुरा-भला कहा, लेकिन समय ने सिद्ध कर दिया कि उसका फैसला सही था। तीन साल बाद पहला विश्वयुद्ध छिड़ गया। भारत के राजा-महाराजाओं और समाज के श्रेष्ठ वर्ग ने अँगरेजों का खुलकर साथ दिया। युद्ध समाप्त होने के बाद अँगरेज सरकार अपने कई वायदों से मुकर गई, लेकिन भारतीय समाज में आत्मविश्वास और जागरण की जो लहर उत्पन्न हुई थी, वह निरंतर तीव्र होती गई।

१९११ की राजनीतिक घटनाएँ भारत की भावी दिशा तय करने वाली हलचलें थीं। उस वर्ष को देश का भविष्य निश्चित करने वाला वर्ष भी कह सकते हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी उन दिनों कई महत्त्वपूर्ण गतिविधियाँ चल रही थीं। उस वर्ष भारतीय धर्म और अध्यात्म की एक महत्त्वपूर्ण आस्था को नई अभिव्यक्ति भी मिली। नवजागरण के उस दौर में राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर, महादेव गोविंद रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य तिलक आदि चिंतक और नेता भारत के स्वर्णिम अतीत और आंतरिक वैभव का साक्षात् करा रहे थे। मैडम ब्लेवट्स्की, कर्नल ऑलकाट, एनी बीसेंट आदि यूरोपीय विद्वान् भारतीय अध्यात्म के गीत गा रहे थे। स्वामी विवेकानंद ने पश्चिम में भारतीय धर्म-संस्कृति का जो विजय उद्घोष किया था, उसकी गूँज इन विभूतियों की वाणी और कर्म में सुनाई देती थी।

पश्चिमी विद्वान् भारतीय धर्म-दर्शन के तात्त्विक रूप की मुक्त कंठ से सराहना करते थे, उस आधार पर नए

विश्व की रचना का स्वप्न भी देखते थे, लेकिन उन्हें यहाँ के कई प्रचलनों से भारी परहेज था। कुछ भारतीय विभूतियाँ और प्रवृत्तियाँ भी इसी धारा को अपनाए हुए थीं। रामधारी सिंह दिनकर ने उस स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है, ''ये लोग केवल संशोधित हिंदुत्व का समर्थन करना चाहते थे, किंतु केवल संशोधित हिंदुत्व के साथ समग्र हिंदुत्व का त्राण नहीं था। आखिर इस बात का क्या जवाब था कि इन सुधारकों और प्रगतिशील विचारों के बावजूद सारी जनता पत्थर को पूज रही थी, राम और कृष्ण को अवतार मान रही थी एवं पुराणों और पुरोहितों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थी? उस समय का हिंदुत्व ईसाइयत का भारतीय संस्करण हो गया था।''

विदेशी कलेवर में भारतीय आत्मा

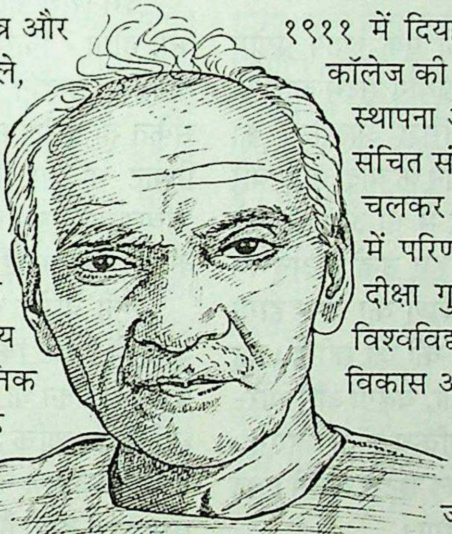

एनी बीसेंट ने संशोधित या तथाकथित प्रगतिशील हिंदुत्व को अधूरा और खंडित बताया। उन्होंने केवल वेद, उपनिषद् और गीता के तत्त्वज्ञान की विवेचना ही नहीं की, बल्कि स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र और महाकाव्य से जब, जहाँ जो संदर्भ मिले, सनातन धर्म के समग्र रूप का आख्यान आरंभ कर दिया। इंग्लैंड में जन्मी और वहीं शिक्षित हुई, पली-बढ़ी एनी बीसेंट के मुँह से पुनर्जन्म, अवतार, देवता, योग, जप, तप, अनुष्ठान, सिद्धियाँ और चौरासी लाख योनियों की बातें सुनकर वे भारतीय भी अचकचाकर उठ गए, जो आधुनिक सुधारवादियों के प्रचार से संशय में पड़ गए थे। प्रचार के प्रभाव से वे अपने आपको लज्जित भी अनुभव करने लगे थे। सन् १९१४ में उन्होंने अपने एक भाषण में कहा ''सनातन धर्म की रक्षा भारत और यहाँ के लोग ही कर सकते हैं। अपने चालीस वर्ष के गंभीर चिंतन के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि सनातन धर्म विश्व के सभी धर्मों से ज्यादा वैज्ञानिक, गहन और आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है। इसकी रक्षा यहीं के लोग कर सकते हैं। हम बाहरी लोग आपकी चाहे जितनी प्रशंसा करें, आपका उद्धार आपके ही हाथ में है। आप किसी प्रकार के भ्रम में न रहें। सनातन धर्म के बिना भारत के सामने कोई भविष्य नहीं है।''

एनी बीसेंट ने सनातन धर्म का जो स्वरूप पश्चिमी विद्वानों और उनके भारतीय अनुयायियों को समझाया था, उसके स्रोत वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति शास्त्र, रामायण, महाभारत और पुराण आदि ग्रंथ थे। उसमें देवी-देवता, सिद्ध आत्माएँ, अवतार, दैवी शक्तियाँ और ईश्वर के सगुण-निर्गुण सभी रूप समाविष्ट हैं। तीर्थ, आश्रम, देवस्थान, मंदिर, देवालय और आश्रम आदि पवित्र स्थानों पर उसकी तरंगें विशेष रूप से अनुभव की जा सकती हैं। वह गूढ़ तत्त्वचिंतन से लेकर सहज लोकविश्वासों में, विविध रूपों में प्रकट होता है। ब्रिटेन से चलकर आई भारत भक्त विदुषी एनी बीसेंट ने १९२० के बाद भारत की स्वतंत्रता के लिए चल रहे प्रयत्नों को भी प्रेरित किया, लेकिन उनका मूल योगदान सांस्कृतिक था।

बनारस के सेंट्रल हिंदू कॉलेज में उन्होंने भारत के तत्त्वज्ञान की मीमांसा की और कहा, ''सनातन धर्म का पुनरुज्जीवन, उत्थान और उसे सुदृढ़ बनाना पहला भारतीय अनुष्ठान है। इस कार्य के साथ ही आत्मसम्मान, अतीत का गौरव, भविष्य में विश्वास और भारत के साथ विश्व के नए निर्माण के दायित्व भी जुड़ जाते हैं।'' यह भाषण सन् १९११ में दिया गया था। उल्लेखनीय है कि इस कॉलेज की स्थापना एनी बीसेंट ने स्वयं की थी। स्थापना और विकास के लिए उन्होंने अपनी संचित संपदा लगा दी थी। यही कॉलेज आगे चलकर बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया। हमारे चरित्रनायक के दीक्षा गुरु पंडित मदन मोहन मालवीय ने विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद उसके विकास और गौरव के लिए जो किया अथवा कर सके, उसके मूल में भारतीय आत्मा एनी बीसेंट का परिश्रम ही जाता था।

परोक्षजगत् में आह्वान

बनारस के पंडितों द्वारा 'सर्वशुक्ला सरस्वती' के रूप में संबोधित एनी बीसेंट की एक रहस्यपूर्ण घोषणा का उल्लेख भी आवश्यक है। मूलत: यह घोषणा 'थियोसोफिकल सोसायटी' या 'ब्रह्मविद्या समाज' की संस्थापक मैडम ब्लेवट्स्की की है। सोसायटी या समाज के अनुयायी मानते हैं कि हिमालय के शरीरधारी और अशरीरी कई सिद्ध संतों से मैडम ब्लेवट्स्की के संपर्क हैं। उन सिद्ध संतों की प्रेरणाओं से सोसायटी की जनक विदुषी ने कई रहस्यमयी घोषणाएँ कीं। उनमें एक यह कि हिमालय की सिद्ध आत्माएँ भारत का उसकी नियति से साक्षात्कार कराने के लिए कृतसंकल्प हो गई हैं। उनकी योजना के अनुसार कोई समर्थ, दिव्य आत्मा शरीर धारण

करेगी, जो एक छोटे-से आरंभ के साथ निरंतर सक्रिय होती जाएगी और उपयुक्त समय पर पूरे वैभव के साथ प्रकट होगी।

मैडम ब्लेवट्स्की के सहयोगी कर्नल ऑलकाट का निरूपण था कि बोधिसत्व (भगवान् बुद्ध का अवतार) का एक अवतरण इन्हीं दिनों होना है और उपयुक्त समय पर वे प्रकट होंगे। उनके जन्म लेने योग्य परिस्थितियाँ नहीं बनीं तो हो सकता है वे किसी शरीर को चुन लें। उस शरीर के माध्यम से अपना काम करेंगे। एनी बीसेंट की अनुभूति कुछ अलग ही तरह की थी। सार्वजनिक जीवन में, खासकर राजनीतिक चेतना जगाने के लिए काम कर रहे लोग अपने गुह्य अनुभवों को सबके सामने उजागर नहीं करते। सार्वजनिक रूप से कहने पर विशिष्ट राजनीतिकों को भी अपनी छवि का संकोच होता है। एनी बीसेंट मूलतः आध्यात्मिक महिला थीं। उन्हें जैसा अनुभव हुआ, कह दिया।

आस्ट्रेलिया में कुछ साधकों को एक ध्यान प्रयोग समझाते हुए उन्होंने बताया कि यह प्रयोग सूक्ष्मजगत् के संपर्क में ले जाता है। दिव्य और सिद्ध आत्माओं का सान्निध्य मिलता है। साधना में गति होने के बाद अपने बारे में ही नहीं समाज और विश्व के बारे में भी आभास होने लगता है। ऐसे ही प्रयोग में गुजरते हुए **उन्होंने अनुभव किया था कि १९११ में एक ऐसे शिशु का जन्म होगा जिसकी सूक्ष्मजगत् में देर से प्रतीक्षा की जा रही है। वह शिशु सामान्य शिशुओं की तरह पलेगा, बढ़ेगा और धीरे-धीरे सक्रिय होगा। जैसे-जैसे वह सक्रिय होता जाएगा, वैसे-वैसे सनातन धर्म पर छाए बादल छटने लगेंगे। वह अपने उज्ज्वल प्रखर रूप में प्रकट होगा।**

शिविर में कर्नल ऑलकाट के विद्यार्थी और थियॉसोफी के पारंपरिक साहित्य का अध्ययन करने वाले साधक भी थे। उनमें से एक ने जिज्ञासा की कि महात्माओं ने तो कहा है कि बोधिसत्व अपने लक्षणों के साथ प्रकट होंगे। वे लक्षण पहले से ही निर्धारित हैं। उन्हीं के आधार पर तथागत के नए अवतार की पहचान की जाएगी। आपकी बात उनसे अलग तरह की है; क्यों ? यह पूछने पर एनी बीसेंट ने कहा था कि मैं ध्यान की अवस्था में हुआ अनुभव बता रही थी। अन्य महानुभावों की बातों का खंडन करना उद्देश्य नहीं है। कहीं कोई विरोध दिखाई देता है, तो यह अर्थ नहीं है कि सत्य अलग-अलग है। एक ही सत्य अपनी स्थिति और दृष्टि के कारण भिन्न पहलुओं में दिखाई देता है।

प्रज्ञावतार के आगमन का संकेत

एनी बीसेंट ने अपने अनुभव को बाद में भी कुछ अवसरों पर कहा। यह चर्चा साधकों के बीच हुई। बोधिसत्व को मानवी कलेवर में उतारने, नए अवतार की प्रतीक्षा करने, कई लोगों द्वारा अपने आपको भगवान् घोषित करने और कुछ अन्य कारणों में कतिपय विलक्षणताएँ दिखाई देने के बाद उन्हें साक्षात् ईश्वर घोषित करने के प्रसंग भी आए। एनी बीसेंट की घोषणा इन सबसे अलग थी। वे किसी चमत्कार की घोषणा नहीं कर रही थीं, न ही राम और कृष्ण की लीलाओं के काव्यात्मक वर्णनों की उसी रूप में पुनरावृत्ति होने की बात कह रही थीं। उनकी घोषणा यह थी कि बताए गए वर्ष में जन्म लेने वाले एक शिशु का व्यक्तित्व इतना प्रखर और तेजस्वी होकर उभरेगा कि लाखों-करोड़ों लोगों के आध्यात्मिक जीवन में नई आशा का संचार हो सकेगा।

उस शिशु का जन्म कहाँ होगा ? पारिवारिक पृष्ठभूमि क्या होगी ? किस तिथि, नक्षत्र में वह जन्म लेगा ? इन बातों का उन्होंने कोई जिक्र नहीं किया। एनी बीसेंट का संकेत तात्कालिक और आश्वासन मात्र था। इसके पीछे निकट भविष्य में कोई बहुत बड़ा चमत्कार होने की भविष्यवाणी कर लोगों को निश्चिंत हो जाने का संदेश देने का उद्देश्य कतई नहीं था।

एनी बीसेंट ने सन् १९११ में वाराणसी की ही एक कक्षा में स्पष्ट किया था। संभवतः वह ४ फरवरी, वसंत पंचमी का दिन था। उन्होंने साधक मंडली से कहा, "सनातन धर्म में वह शक्ति निहित है, वह शक्ति किसी तारे या ग्रह-नक्षत्र के कारण नहीं है, बल्कि स्वभाव से ही है। जब भी धुंध गहरी होती है, जब भी उसका स्वरूप धुँधलाने लगता है, बाहरी कारण उसे ढकने लगते हैं, तो एक स्थिति आने पर वह पूरे वेग से अपने को प्रकट करता है। सनातन धर्म भारत का ही नहीं पूरे विश्व का भविष्य है। उस पर छाए मल-विक्षेप दूर करने के लिए सामान्य आत्माएँ पर्याप्त, समर्थ नहीं होतीं। विशिष्ट आत्मा, जिसे सनातन धर्म से ऊर्जा और पोषण लेने वाले सिद्धों का सहयोग भी प्राप्त हो, ही उस प्रयोजन को पूरा करती हैं। वह समय अब आ गया है।" हमारे चरित्रनायक एवं अखिल विश्व गायत्री परिवार के संरक्षक-संस्थापक-अधिष्ठाता आचार्य श्रीराम शर्मा जी का जन्म इसी वर्ष आश्विन कृष्ण त्रयोदशी (२० सितंबर १९११) को आँवलखेड़ा ग्राम में पं. रूपकिशोर जी एवं माता दानकुँवरि देवी के घर हुआ।

क्रमशः

✡

अपनों से अपनी बात

अंतर्जगत् के देवासुर संग्राम से उबरें,

वसंत को जीवन में अवतरित करें

वसंत का आगमन एक नया उल्लास लेकर आता है। शीतऋतु की हाड़ कँपा देने वाली ठिठुरन एवं तन-मन में छाया आलस्य-प्रमाद मानो पलायन करने लगता है। ऐसा लगता है मानो नया जीवन मिल गया हो। वसंत प्रतीक है आशावाद का, नूतन स्फूर्ति भरे उल्लास का, फूट-फूटकर उमग-उमगकर बाहर आने को आतुर उत्साह भरे पुरुषार्थ का। वासंती उमंग जब भीतर से आती है, तो नया कुछ करने का मन करने लगता है, उछाल लगाने का, संकल्पों को वास्तविकता का पुट देकर कर दिखाने का मन करता है।

हमारी गुरुसत्ता के जीवन में भी ऐसा ही वसंत आया। इसी दिन उन्होंने अपना सब कुछ अपने आराध्य को समर्पित कर दिया एवं पूरी तरह उनके हाथों बिक गए। उसी दिन (१८ जनवरी १९२६, वसंत पंचमी संवत् १९८२) उन्हें बताया गया कि किन विशिष्ट उद्देश्यों के लिए उनका आगमन हुआ है एवं प्रतिवर्ष उन्हें इसी दिन विशिष्ट संदेश मिलते रहेंगे, जो भावी समाज के नवयुग के निर्माण का आधार बनेंगे। गायत्री परिवार का विगत ७६ वर्षों का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि वसंत के माध्यम से हर वर्ष नूतन आयाम जुड़ते चले गए हैं एवं विकासक्रम में एक लंबी यात्रा कर एक महापुरुष-प्रज्ञापुरुष-युगावतार के माध्यम से वह सारी गाथा लिख गए हैं, जो आने वाले समय में सतयुगी वातावरण का निर्माण करेगी।

वसंत इस अभूतपूर्व—अपने में निराले सांस्कृतिक नवोन्मेष को संकल्पित मिशन का वार्षिक पर्व भी है एवं संस्थापक-आराध्य सत्ता का बोध दिवस-आध्यात्मिक जन्म दिवस भी। यह नए संकल्पों के अवतरण का पर्व भी है। जैसा वसंत पूज्यवर के जीवन में आया वैसा ही समर्थ रामदास, आद्य शंकराचार्य, शहीद भगतसिंह, स्वामी विवेकानंद एवं पीतांबरा मीरा के भी जीवन में आया। इनमें से सभी ने अपने जीवन की दिशाधारा को एक नया मोड़ दिया एवं इतिहास में अमर हो गए। वस्तुतः यह मानव मात्र के प्रति करुणा के जागरण का, देवत्व के अवतरण का पर्व है, जो किसी में समाज-राष्ट्र-संस्कृति के लिए मर मिटने की कशिश पैदा कर देता है, तो किसी के माध्यम से नमूना खड़ा कर देता है कि लो देख लो बनना है तो ऐसा बनो, कुछ कीर्ति छोड़कर जाओ।

परमपूज्य गुरुदेव कहते थे कि मेरा गुरु मेरे पास आया इसी वसंत के दिन और बोला, ''हमारी मुसीबत दूर कर दीजिए। हम चाहते हैं कि दुनिया का रूप बदल जाए, नक्शा बदल जाए, दुनिया का कायाकल्प हो जाए। यह काम हम नहीं कर सकते। हम तो तुम्हें इसका निमित्त बना सकते हैं। यदि तुम लायक हो गए तो शक्तिपात और कुंडलिनी दोनों तुम्हें सौंपते हैं। तुम्हारे अंदर समाज में छाए पीड़ा, पतन और पराभव को मिटाने की तड़पन होगी, कसक होगी तो तुम हमारे अनुदानों को पाने लायक बन सकोगे। फिर तुम्हारा जीवन उच्च उद्देश्यों के लिए समर्पित होगा। एक ऐसी हूक उठेगी कि सदैव लोकमंगल के लिए जियोगे। तुम्हें हम आस्तिकता एवं विवेकशीलता का वातावरण बनाने के लिए गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन का जन-जन तक विस्तार करने के लिए, निमित्त बनाना चाहते हैं। धरती पर स्वर्ग आना सुनिश्चित है, तुम माध्यम मात्र बन जाओ।''

गुरु के आह्वान को, इस अनुदान को पूज्यवर ने स्वीकार किया एवं अंदर की सुसंस्कारिता तथा पंद्रह वर्ष की आयु में हुए इस शक्तिपात ने उन्हें जगद्गुरु, इस युग का विश्वामित्र बना दिया। इस वसंत पर हम यही प्रेरणा ले सकते हैं कि क्या ऐसी वासंती हूक, उमंग-उल्लास की वृत्ति हमारे अंदर नहीं जन्म ले सकती? हर व्यक्ति के लिए वसंत आता है। वह फिर वही प्रेरणा जो आज से ७६ वर्ष पूर्व एक किशोर बालक श्रीराम को मिली, हमें क्यों नहीं मिलती? यदि हम प्रयास करें, अपने अंदर टटोलकर देखने का माद्दा पैदा करें, तो हम भी पाएँगे कि हमारा गुरु अंदर से हमें बुला रहा है, अनुदान लुटाने को आतुर है, पात्रता परखने के लिए कुछ परीक्षाएँ लेना चाहता है, हमें श्रेय दिलाने के लिए निमित्त बनाना चाहता है, पर हम हैं कि उसी की उपेक्षा किए जा रहे हैं। नाम की रटन तो उन्हीं की लगा रखी है, पर हमारे जीवन में वह उतर नहीं पाए हैं। हम उनके नाम को लेकर जय-जयकार करके अपने को संतुष्ट करने का, वाहवाही लूट कर नाम कमाने का दिखावा तो कर रहे हैं, पर अंदर वह वासंती उमंग नहीं है, जो संत, सुधारक, शहीद स्तर की आत्माओं में होती है। इस वर्ष का वसंत भी इसी प्रकार अंत: पर्यवेक्षण की वेला

में आया है एवं बार-बार हमें एक ही संदेश दे रहा है कि वसंत को पहले अंदर से पैदा करो, समर्पण भाव को और प्रखर बनाओ, जीवन साधना को शिखर तक पहुँचाओ, ताकि तुम उत्साह-उल्लास से अभिपूरित हो गुरु के सच्चे उत्तराधिकारी बन सको।

हीरक जयंती के रूप में मना जीवन-साधना वर्ष पूरा हुआ, पर जीवन-साधना तो सतत चौबीस घंटों चलनी चाहिए। श्री अरविंद ने पूरे जीवन को योग (होल लाइफ इज योगा) कहा है। अत: वह तो प्रत्येक को और अधिक प्रखर बनाते रहने की साधना अनवरत करनी होगी। **प्रस्तुत वर्ष संगठन वर्ष है। साधना की धुरी पर संगठन को और अधिक सशक्त बनाया जाना हम सभी का लक्ष्य होना चाहिए।** संगठन तो समाज में ढेरों हैं, पर टिकते वही हैं, जिनके आधार नैतिक हों, आध्यात्मिक हों। बौद्धिक-वैचारिक-सामाजिक क्रांतियाँ चमत्कार तो दिखाती हैं, पर इनके साथ एक अभिशाप जुड़ा रहता है कि नैतिक आधार न होने के कारण इन्हें संपादित करने वाले संगठन टूट जाते हैं, बिखर जाते हैं। इनका अस्तित्व अधिक नहीं होता। व्यक्ति निर्माण, आस्तिकता, नैतिक पुनरुत्थान जहाँ मूल धुरी हो, वहाँ संगठन जितना बढ़ता चला जाता है और अधिक मजबूत होता चला जाता है। गायत्री परिवार ऐसे सौभाग्य का वरण करके आया है कि इसके साथ सहज ही नैतिक क्रांति जुड़ी है। जो पहले अपना सुधार कर चुका हो, वही उसमें कुछ सक्रिय हो पाता है। इसीलिए इस संगठन के सभी सामाजिक-बौद्धिक पुनर्निर्माणपरक कार्यक्रम सफल हो रहे हैं एवं सारे समाज में प्रशंसा पा रहे हैं।

यह वसंत हम सबके लिए एक निर्णय करने का आमंत्रण देता आया है। २००२ का वसंत हमसे कह रहा है कि हम लिप्सा और श्रद्धा में से किसी एक का वरण कर लें। अंतर्जगत् में देवासुर संग्राम चिरकाल से चलता आ रहा है। अब कोई ऐसा दैवी अवतरण हो, ताकि इन अंतर्द्वंद्वों के कारण उत्पन्न महाविनाश का अंत हो सके। दोनों ही मार्ग हर विवेकशील के आगे खुले पड़े हैं। एक प्रेय का दूसरा श्रेय का। एक स्वार्थ का दूसरा परमार्थ का। एक मूर्खता का दूसरा दूरदर्शिता का। एक पतन का दूसरा उत्थान का। हर जाग्रतात्मा के समक्ष हर समय सदा से एक ही चुनौती प्रस्तुत होती चली आई है, इन दो में से किसी एक का चयन कर लें। दोनों में से कुछ-कुछ एक साथ नहीं चल सकते। दोनों नावों में पैर रखकर चला नहीं जा सकता।

हर व्यक्ति के जीवन में ऐसा समय आता है, जब वह पशोपेश में पड़ जाता है। दोनों ओर लाभ दिखाई देते हैं और हानि भी। मन भ्रमित होता, भटकता रहता है। कभी एक को अपनाने की बात सोचता है, कभी दूसरे को, कभी एक को छोड़ता है, कभी दूसरे को। इस असमंजस को, पशोपेश भरी मन:स्थिति को ही देवासुर संग्राम कहते हैं। यही वह अंतर्द्वंद्व है, जो हर व्यक्ति के मन में जन्म लेता है तथा किसी को महामानव बना देता है, तो किसी को जीवन भर और भी घिसी-पिटी जिंदगी जीने, किसी तरह जीवन-शकट खींचते रहने को विवश करता है। जब तक यह अंतर्द्वंद्व रहेगा, कोई भी चैन से नहीं बैठ सकेगा। अंतर्जगत् के इस महाभारत के कारण ही सतत चीत्कार और हाहाकार छाया रहता है। शांति व संतोष कभी नहीं मिल पाते। सुख-सुविधाओं की थोड़ी-सी ओस बूँद चाटते रहने से अंतरात्मा की प्यास कभी बुझ नहीं पाती। जाग्रतात्माओं का जीवन भी ऐसा ही रोता-कलपता बीत जाता है, असमंजस से उबर नहीं पाते और जीवन में वसंत का अवतरण नहीं हो पाता।

सच्ची समृद्धि उत्कृष्ट मन:स्थिति है। उसी के आधार पर अनुकूल परिस्थितियाँ बनती हैं। यह ज्ञान हो जाने पर साधनों की लालसा और उपभोग की लिप्सा का समाधान हो जाता है। फिर जीवन उच्चस्तरीय उद्देश्यों के प्रति समर्पित हो जाता है। अंदर का देवत्व निरंतर ऊँचा उठने की, आगे बढ़ने की, आत्मगौरव व संतोष पाने की चेष्टा करता रहता है। जिसका देवत्व एक बार जग गया, फिर वह सो नहीं सकता। अंतर में घुसे दानव के साथ उसका मल्लयुद्ध निरंतर तीव्र होता चला जाता है। आज हर जाग्रत् परिजन के जीवन में सत्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति का युद्ध एक देवासुर संग्राम की तरह चल रहा है, जिसमें जीत निश्चित ही देवतत्त्वों की होनी है।

युगधर्म की पुकार है कि प्रस्तुत वसंत की गरिमा को जाग्रतात्माएँ पहचानें। अपना अधिक-से-अधिक समय, हो सके तो जीवन का शेष समय समाज-सेवा के लिए दे सकने की मन:स्थिति बनाएँ। ऐसे समय बार-बार नहीं आते। देव-संस्कृति को अगले दिनों सारे विश्व में चहुँदिशि विस्तार पाना है। उसके लिए अहंता और तृष्णा से ऊपर उठे हुए ढेरों समयदानी-प्रतिभावानों की आवश्यकता पड़ेगी। इस संगठन वर्ष में ऐसी जाग्रतात्माएँ असमंजस से उबरकर औसत भारतीय स्तर में निर्वाह कर देवोपम जीवन बिताने का निर्णय लें तो गायत्री तीर्थ उनके जीवन में आए इस वसंत का जी खोलकर स्वागत करेगा। इस वसंत पर्व पर गुरुसत्ता को परिष्कृत प्रतिभावानों, हीरकों की माला चढ़ाई जा सके, उससे श्रेष्ठ पुष्पार्पण और क्या हो सकता है।○

केंद्र के समाचार-विश्वव्यापी हलचलें

दक्षिण भारत का मंथन संपन्न हुआ तिरुपति अश्वमेध के माध्यम से

दक्षिण भारत में पहली बार कहीं विराट् व्यापक रूप में किए गए प्रयोग के रूप में तिरुपति (आं. प्र.) में अश्वमेध महायज्ञ २३ से २७ दिसंबर २००१ की तिथियों में संपन्न हुआ। दक्षिण भारत के चारों प्रांतों की वैविध्यपूर्ण संस्कृति की एक निराली छटा सारे भारत व विश्व के कई देशों से आए परिजनों ने देखी। उत्तर भारत में तो इस क्रम में १००८ या १२५१ कुंडी विराट् यज्ञ संपन्न होते हैं, परंतु दक्षिण भारत में आश्वमेधिक शैली में संपन्न इस महायोजन ने इस तीर्थस्थली पर एक अनुपम छाप छोड़ी। आंध्रप्रदेश में ही यह तीर्थ होने से उस प्रांत के लोगों का बाहुल्य रहा। पर लोग केरल, तमिलनाडु एवं कर्नाटक सहित पूरे भारत के कोने-कोने से आए। शेषाचलम् के रूप में स्थित तिरुमाला देवस्थानम् की पर्वतमालाओं की गोद में सीतंभानगर के प्रायः ६५ एकड़ में फैले प्रांगण में मानो पीतवस्त्रधारियों का एक समुद्र उमड़ आया था। उत्तर व दक्षिण का, हिमालय व कृष्णा-कावेरी का यह मिलन बड़े विलक्षण परिणाम सामने लेकर आएगा।

दिल्ली का राष्ट्रस्तरीय कार्यालय निर्माण प्रारंभ

एक बहुउद्देशीय गायत्री चेतना केंद्र के रूप में पाँच मंजिले भवन का भूमिपूजन नोयडा (नई दिल्ली) के सेक्टर १२, Q2 में संपन्न हुआ। श्री अशोक प्रधान के (केंद्रीय खाद्य राज्यमंत्री) जो स्थानीय सांसद भी हैं, साथ-साथ विभिन्न वर्गों की विभूतियों की २६ नवंबर देवप्रबोधिनी एकादशी के पावन दिन उपस्थिति रही। यह भवन वृहत्तर दिल्ली गायत्री परिवार के श्री ओ. पी सोनी जी के मार्गदर्शन में, कुशल आर्चीटेक्टों के सहयोग से बन रहा है। इसमें तीन आडिटोरियम सहित प्रायः बीस कक्ष, एक देवमंदिर, यज्ञशाला, भोजनशाला आदि होंगे। एक वर्ष के अंदर इसके बनकर तैयार हो जाने की संभावना है।

महाविद्यालय का रूपांतरण शीघ्र ही संभावित

देवसंस्कृति महाविद्यालय का शुभारंभ शांतिकुंज के गायत्री कुंज परिसर में जुलाई २००१ से कर दिया गया था। अब शीघ्र ही उसके डीम्ड विश्वविद्यालय का रूप ले लेने की संभावना है। उद्देश्य यही था कि देवसंस्कृति विश्वविद्यालय बने एवं शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वावलंबन रूपी चार विधाओं का डिग्री, परास्नातक एवं शोध स्तर का शिक्षण वहाँ चले। उत्तरांचल प्रशासन के सकारात्मक रुख से यह संभावना प्रबल हो गई है कि अब एक एक्ट के निर्माण द्वारा स्वायत्तशासी पूर्णतः परिजनों के सहयोग पर निर्भर यह विश्वविद्यालय प्रारंभिक औपचारिकताओं को पूरा कर नियत अवधि में शिक्षण प्रारंभ कर दे। पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया चालू है। भवन निर्माण भी तेजी से चल रहा है। २००२ के अंत तक सारा निर्माण कार्य शिखर पर पहुँच जाएगा। आशा है कि आगामी वसंत से इस अपने आप में अनूठे विश्वविद्यालय का शुभारंभ हो सकेगा।

संस्कृति मंडलों के निर्माण ने गति पकड़ी

भारतीय संस्कृति ज्ञान परीक्षा सारे भारत में सफलतापूर्वक संपन्न हुई। स्थान-स्थान पर पुरस्कार वितरण का कार्य हो रहा है। प्रायः २३ लाख बच्चे इस परीक्षा में बैठे हैं। अब इसका अनुयाज आरंभ हो चुका है। इस क्रम में विभिन्न विद्यालयों में संस्कृति मंडलों के गठन के समाचार आ रहे हैं। प्रतिभाशाली छात्रों ने परस्पर मिलकर इन मंडलों के माध्यम से सांस्कृतिक गतिविधियों को विस्तार देना आरंभ कर दिया है। देखते-देखते अगले दिनों विद्यालयों का वातावरण बदलता दृष्टिगोचर होगा।

आँवलखेड़ा में ग्रामोत्थान प्रशिक्षण केंद्र की योजना

परमपूज्य गुरुदेव की जन्मस्थली आँवलखेड़ा (जिला आगरा) में अब क्रमशः ग्रामोत्थान, ग्राम सुधार, ग्राम प्रबंधन के प्रशिक्षण का तंत्र विकसित हो रहा है। पिछले दिनों दिसंबर के प्रथम सप्ताह में केंद्रीय दल द्वारा तीन दिन रुककर विस्तृत सर्वेक्षण किया गया। अभी वहाँ जन्मभूमि परिसर के अतिरिक्त एक कन्या इंटर कॉलेज, कन्या डिग्री कॉलेज तथा एक सामुदायिक चिकित्सा केंद्र सक्रिय है। ऐसी सुविधाएँ ब्लॉक स्तर-तहसील स्तर भी कहीं उपलब्ध नहीं हैं। अब वहाँ प्रायः सौ गायों के रहने तथा गोनीर व गोमय से बनी औषधियों के निर्माण के प्रशिक्षण की व्यवस्था बन गई है। नाडेप गोबर गैस प्लांट बड़ी सफलतापूर्वक चल रहा है। नाडेप कंपोस्ट तथा वर्मीपोस्ट खाद के निर्माण का प्रशिक्षण भी दिए जाने की व्यवस्था बन गई है। आवासों में कुछ फेर-बदलकर अब वहाँ कुछ शिविरार्थियों के रहने की व्यवस्था बनाई जा रही है, ताकि ग्राम प्रबंधन व स्वरोजगार का प्रशिक्षण वहाँ नियमित रूप से चलता रहे।

गायत्री चेतना केंद्र लेस्टर में केंद्र के प्रतिनिधि

लेस्टरशायर यू.के. के गायत्री चेतना केंद्र को गति देने के लिए शांतिकुंज केंद्र से श्री जमुना साहू, गणेश साहू का दो सदस्यीय दल ६ दिसंबर को लंदन रवाना हो गया। वहाँ अब नियमित धर्मतंत्र से लोकशिक्षण, संगीत-कर्मकांड द्वारा जन-जन को प्रशिक्षण, संस्कृति का बहुमुखी मार्गदर्शन आरंभ हो गया है। प्रशिक्षकों के भेजने का यह क्रम अब निरंतर चलता रहेगा।

✡

वासंती चोला सबको पहनाएँगे

अबकी बार वसंत पर्व हम ऐसे नहीं मनाएँगे,
पहनेंगे वासंती चोला, और सबको पहनाएँगे।

वासंती चोला, जिसमें संकीर्ण न मन रह पाता है,
जो मन में मानवता के प्रति सच्चा प्यार जगाता है,
जिसे पहन रैदास भक्त ने ऐसी भक्ति दिखाई थी,
उनके सन्मुख रखे कठौते में गंगा खुद आई थी,

वह सच्चा स्वरूप मजहब का दुनिया को दिखलाएँगे।
पहनेंगे वासंती चोला, और सबको पहनाएँगे।

सिर पर कफन बाँधकर निकले भगतसिंह जिस चोले में,
उसी वेश में जाएँगे हम गाँव-गाँव, हर टोले में,
कितनी भी हो शक्ति, न उससे हम बिलकुल घबराएँगे,
इस नश्वर तन की भय-चिंता जरा न मन में लाएँगे,

तोपों की गर्जना बीच भी गीत प्रीति के गाएँगे।
पहनेंगे वासंती चोला, और सबको पहनाएँगे।

धरती पर आतंकवाद ने खुलकर शीश उठाया है,
रक्त-सने मुख पर मजहब का चेहरा खूब लगाया है,
किंतु किसी आतंकी का तो धर्म न कोई होता है,
छल-बल से मानव मूल्यों की मर्यादा वह खोता है,

हम हर मुख पर लगा मुखौटा, मिलकर आज हटाएँगे।
पहनेंगे वासंती चोला, और सबको पहनाएँगे।

कभी सांस्कृतिक क्रांति न होती है गोली-बंदूकों से,
कभी न सूर्योदय होता है, निशिचर और उलूकों से,
हिंसा से सूली पर चढ़ते, ईसा और मंसूर यहाँ,
संस्कृति वहीं महकती, करुणा से मन हों भरपूर जहाँ,

संवेदना-स्नेह की वर्षा में जन-मन नहलाएँगे।
पहनेंगे वासंती चोला, और सबको पहनाएँगे।

—शचीन्द्र भटनागर

विद्याओं में सर्वोपरि—अध्यात्म विद्या

‘अध्यात्म’ शब्द बहुप्रचलित एवं बहुप्रचारित है, लेकिन इसके अर्थ में गहनता है, गुह्यता है, रहस्यमयता है। इसे वही जान पाते हैं, जो उच्चतर प्रज्ञासंपन्न और कठोर साधना में रत हैं। व्याकरण की दृष्टि से देखें तो आत्मानि इति विग्रह के द्वारा अव्यवीभाव समास करके ‘अध्यात्मम्’ शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसका अर्थ हुआ, आत्मा में स्थित। आत्मन् शब्द की सप्तमी विभक्ति के एक वचन में ‘आत्मनि’ बनता है और अव्यय का ‘इति’ शब्द ‘अधि’ शब्द के रूप में सामासिक सूत्र में परिवर्तित होता है। इसका स्पष्ट अर्थ होता है, ‘आत्मा में स्थित।’ इस तरह ‘अध्यात्म’ शब्द के मूल में आत्मन् शब्द नित्य पुल्लिंग है, जिसका रूप है ‘आत्मा’।

अमरकोष के नानार्थवर्ग में १४४ वें श्लोक के अनुसार अध्यात्म शब्द का अर्थ सूक्ष्म भी है। यहाँ कहा गया है, ‘सूक्ष्ममध्यात्ममपि’। यह सूक्ष्म शब्द पाणिनि व्याकरणानुसार, ‘सूच पैशून्ये’ धातु से उणादिगण के ‘सूचेः स्मन्’ (सूत्र ४/१७७) से बनता है। मेदिनी कोष में इसका अर्थ दिया गया है ‘सूक्ष्मं स्यात् कैतवेऽध्यात्मे।’ इस तरह अध्यात्म शब्द सूक्ष्म का पर्यायवाची शब्द है। अतएव इसे रहस्यमय भी कहा जा सकता है। आत्मा और रहस्यमयता अध्यात्म के दोनों ही अर्थ परस्पर घुले-मिले हैं। दोनों ही एक-दूसरे का बोध कराते हैं और यह बोध व्याकरण के ज्ञान से नहीं तप-साधना से ही संभव है।

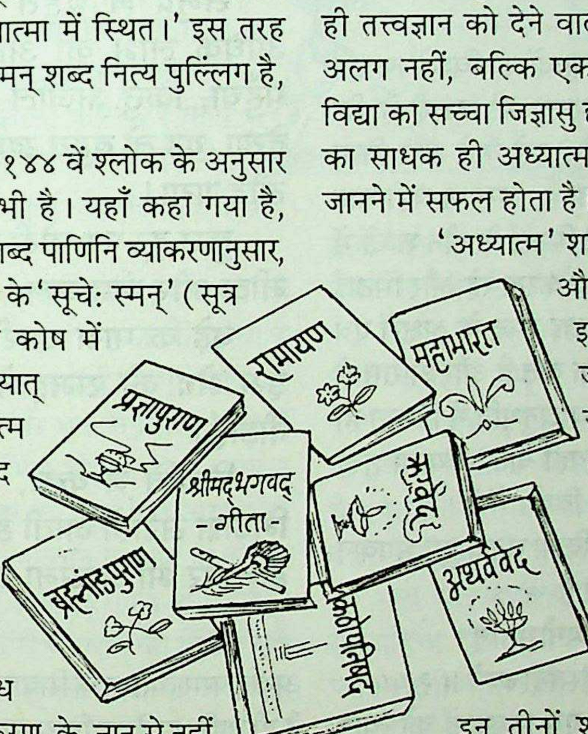

इसके साधन-स्वरूप एवं फल की उच्च स्थिति के कारण ही श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा कि **‘अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्’** (१०/३२) अर्थात् विद्याओं में मैं अध्यात्म विद्या हूँ और विवादों में यानि कि शास्त्रार्थ में मैं वाद हूँ। भगवान् का बड़ा गंभीर एवं सारगर्भित वचन है यह। विद्याएँ चौदह हैं और वाद तीन हैं। प्रथम ‘जल्पवाद,’ द्वितीय ‘वितंडावाद’ और तृतीय केवल ‘वाद’। जल्पवाद में अपनी युक्ति, अपने तर्क से दूसरे पक्ष का खंडन करके अपने पक्ष को दृढ़ करना होता है। वितंडावाद में अपना कोई पक्ष नहीं रखकर केवल दूसरे पक्ष का खंडन-ही-खंडन जबर्दस्ती करना है और ‘वाद’ में बिना किसी पक्ष के तत्त्वनिर्णय परस्पर विचार-विनिमय से किया जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण का कथन बड़ा ही अनुभूतिपूर्ण है। वह स्वयं को विद्याओं में अध्यात्म विद्या और तीन वादों में विशुद्ध ‘वाद’ बताकर दोनों की एकरूपता सिद्ध कर देते हैं। उनकी वाणी का सार यही है कि जितनी भी विद्याएँ हैं, उनमें चरम बिंदु अध्यात्म विद्या है और वादों में अध्यात्मवाद ही तत्त्वज्ञान को देने वाला है। साथ ही ये दोनों अलग-अलग नहीं, बल्कि एक हैं। अध्यात्मवादी ही अध्यात्म विद्या का सच्चा जिज्ञासु होता है। इसी तरह अध्यात्म विद्या का साधक ही अध्यात्मवाद के सूत्रों और निष्कर्षों को जानने में सफल होता है।

‘अध्यात्म’ शब्द की इस श्रृंखला में एक शब्द और भी है, आध्यात्मिक। हालाँकि इसके साथ ही दो शब्द और भी हैं, जो प्रयोग में एक ही साथ लाए जाते हैं, आधिदैविक एवं आधिभौतिक। वस्तुतः इन तीनों शब्दों का प्रयोग एक ही साथ करने का प्रचलन है, आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक। जिन्हें संक्षेप में दैहिक, दैविक एवं भौतिक भी कहा जाता है।

इन तीनों शब्दों में आध्यात्मिक शब्द का विश्लेषण कुछ यों है—आत्मानम् अधिकृत्य भवम्, आध्यात्मिकम्। अधि उपसर्ग आत्मन् शब्द इज-इक् प्रत्यय से आध्यात्मिक शब्द बनता है। इसी तरह देव शब्द जोड़कर आधिदैविक और भूत शब्द जोड़कर आधिभौतिक शब्द बनते हैं। दुःखों के ये तीन ही प्रकार हैं। प्रथम आध्यात्मिक दुःख, शारीरिक रोगों से होने वाले और काम, क्रोध आदि मानसिक विकारों से होने वाले। यक्ष, राक्षस, नवग्रह आदि से मिलने वाली पीड़ा को आधिदैविक दुःख कहते हैं। इसी तरह प्राणियों एवं परिस्थितियों से उपजने वाले दुःखों को आधिभौतिक दुःख कहा जाता है। इन्हें ही संक्षेप में

दैहिक, दैविक एवं भौतिक 'त्रिताप' कहा जाता है, जिनसे समूची मानवजाति संतप्त और संत्रस्त है।

इस त्रिताप से निवारण के लिए अध्यात्म ज्ञान ही एकमात्र कारगर उपाय है। सांख्य तत्त्व कौमुदी में इस संबंध में कहा गया है—

दुःखत्रयामिद्यातात् जिज्ञासा तद्वद्यातके हेतौ।
दृष्टे साऽयार्थाचेत नैकात्तात्यंतन्तोऽभावात्॥

दुःखत्रय-तापत्रय के विनाश के लिए उपाय की जिज्ञासा होती है। यदि दृष्ट उपाय से, जो सामान्य लौकिक उपाय हैं, उनसे इनका नाश दिखाई भी पड़े, तो भी वह स्थायी नहीं है। ये सभी लौकिक उपाय अस्थायी और क्षणिक हैं। इनके विनाश के लिए अध्यात्म विद्या का ही आश्रय लेना चाहिए। यही वह असरकारक उपाय है, जिससे सभी दुःख हमेशा-हमेशा के लिए छूट जाते हैं और जीवन आनंद से परिपूर्ण हो जाता है।

अध्यात्म और उससे संबंधित शब्दों का विश्लेषण एवं व्याख्या करने के साथ ही यह जानना भी जरूरी है कि उसका व्यावहारिक स्वरूप क्या है? इसे कैसे और किस तरह पाया और अपनाया जा सकता है, अन्यथा वही बात होगी जैसे कोई व्याकरण का पंडित मिठाई के तीन शब्दों में उलझा रहे, उनकी व्याख्या-मीमांसा करता रहे और मिठाई के स्वाद से वंचित हो। क्योंकि मिठाई शब्द के अक्षरों एवं मात्राओं को जोड़-घटाव करना एक बात है और आराम से बैठकर मिठाई खाना और उसकी स्वादानुभूति में निमग्न हो जाना सर्वथा अलग सत्य है। ठीक यही बात अध्यात्म शब्द और उससे होने वाली अनुभूति के विषय में है।

अध्यात्म-अनुभूति की यही प्रक्रिया बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वानपार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ २/५५

''सभी कामनाओं-वासनाओं एवं इच्छाओं को त्याग कर 'आत्मा' में ही आत्मा द्वारा संतुष्ट होना स्थितप्रज्ञ कहलाता है।'' यह वाक्य जितना लघु है, भाव उतना ही विराट् है। यहाँ आत्मा का अर्थ अपनी अस्तित्व-सत्ता है, जो सदा ही अविचल, शाश्वत और अनश्वर है। शरीर स्थित आत्मा जो परमात्मा में ही है, उसमें उसी आत्मज्ञान से तृप्त होना ही अध्यात्म की अनुभूति है। यही जीवन का परम लक्ष्य है।

दर्शनशास्त्रों एवं दार्शनिक ग्रंथों में इस सत्य को महाकाश एवं घटाकाश के उदाहरण से समझाया गया है। आकाश अनंत है, शून्य ही आकाश है। एक घड़े के अंदर का शून्य भी आकाश है। हाँ, यह सीमित जरूर लगता है। अब यदि इस घड़े को फोड़ दें, तो उसके अंदर का शून्य कहाँ गया? बस वह महाशून्य में विलीन हो गया। पहले भी दरअसल देखने वालों को भ्रम हो रहा था कि घट में आकाश है। सच तो यह था कि आकाश में घट था। हाँ घट के नष्ट होते ही यह भ्रम टूट गया। इसी तरह सर्वव्यापी परमात्मा में हम सब हैं। अपने अहं के कारण ही अलगाव का भ्रम हो रहा है। इस अहं का घट टूटा कि घटाकाश-महाकाश में विलीन हुआ। यही भगवान् कृष्ण के शब्दों में आत्मा में ही आत्मा से संतुष्ट होना है।

इसी ज्ञान को, इसी बोध को भगवद्गीता में कहा गया है, '**अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**' (१३/११) अर्थात् परमात्मतत्त्व के सिवाय संसार की स्वतंत्र सत्ता, अस्तित्व है ही नहीं। इसी का नित्य मनन करने से तत्त्वज्ञान का दर्शन-अनुभव स्वतः स्फूर्त होता है। इसी रहस्य को आगे के श्लोक में बताया है- '**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते, अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते**' (१३/१२) अर्थात् ज्ञेय है, जानने योग्य है, उसे मैं (श्रीकृष्ण) विस्तार से कह रहा हूँ, जिसे (अध्यात्म ज्ञान को) जानकर मनुष्य अमरता का अनुभव करता है। वह न सत् है, न असत् है। इस परमात्मतत्त्व या अध्यात्मतत्त्व में सत्-असत् शब्दों की वाणी की प्रवृत्ति होती ही नहीं है। इसे समझ लेने पर अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त होता है। यही है वह गहनता, गुह्यता और रहस्यमयता, जो 'अध्यात्म' शब्द में निहित है। ❑

* * *

समुद्र में बहुत पानी था, सो पथिक अधिक लाभ की आशा से उसके तट पर पहुँचा, किंतु अंजलि होंठों तक ले जाते ही देखा, वह तो बहुत खारी है। पथिक प्यासा ही लौट गया।

कुछ दूर पर छोटी नदी थी। पिया तो पाया मीठा और ठंढा जल।

बड़े के पास खारी, छोटे के पास मीठा, इस भेद को समझने के लिए उसने बुद्धि दौड़ाई।

नियति ने कहा, ''जो बाँटते हैं, उनकी मिठास सराही जाती है। जो समेटते हैं, वे बड़े होने पर भी भर्त्सना सहते हैं।''

* * *

शांति से बढ़कर कोई सुख नहीं

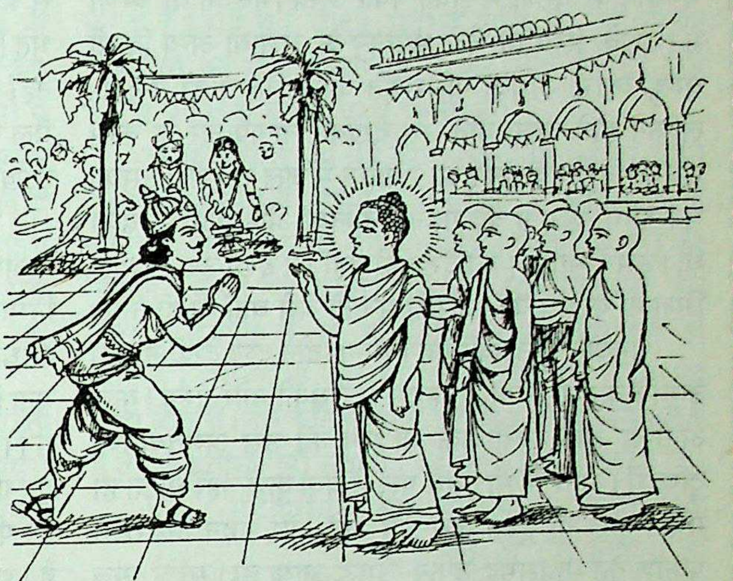

श्रावस्ती की शोभा अवर्णनीय थी। नगरद्वार से लेकर गृहद्वार तक हर कहीं प्रकाश लड़ियों के बंदनवार जगमग कर रहे थे। नगर की प्रत्येक वीथिका महक रही थी। महाराज से लेकर सामान्यजन तक सभी उल्लसित थे। प्रत्येक की दृष्टि नगरश्रेष्ठी विशाखदत्त के भवन की ओर लगी थी। नगर का प्रत्येक पथ आज उसी ओर जाता लगता था। हर कोई उनके भवन में होने वाले समारोह में भागीदार होना चाहता था। मेहमानों के स्वागत की व्यवस्था स्वयं महाराज देख रहे थे। उनकी आँखें द्वार पर एकटक टिकी थीं। यदा-कदा उनके चेहरे पर अधीरता की लहरें काँप उठती थीं। उनके अंत:करण में एक अनूठी हिलोर उठती, जिसे सँभालते हुए वह पुन: अपने काम में लग जाते।

उन्होंने यही कहते हुए स्वागत व्यवस्था सँभाली थी कि श्रेष्ठी विशाखदत्त की कन्या स्वयं उनकी भी कन्या है और कुलकन्या के इस विवाह समारोह में स्वागत व्यवस्था का दायित्व वह स्वयं सँभालेंगे, पर मन के किसी कोने में यह भाव भी छुपा था कि उन्हें भिक्षु संघ के साथ भगवान् बुद्ध के दर्शन, सत्कार एवं सेवा का सुयोग अनायास ही मिल जाएगा। श्रेष्ठी विशाखदत्त भगवान् तथागत के अनन्य भक्त थे। भगवान् में ही उनके प्राण विराजते थे। उन्होंने अपनी कन्या के विवाह समारोह में भगवान् को विशेष रूप से आमंत्रित किया था। आमंत्रण सुनकर तथागत एक पल को विहँसे और कहने लगे, श्रेष्ठी! वहाँ जाने पर कहीं राग की अग्नि बुझ न जाए। कहीं सप्तपदी के लिए बढ़ने वाले पग तप के लिए न बढ़ जाएँ?

प्रभु के ये वचन सुनकर श्रेष्ठी ने विनीत भाव से कहा, भगवन् मैं तो सर्वतोभावेन आपकी शरण में हूँ। आपकी कृपा से जो कुछ होगा, मंगलमय ही होगा। मेरी कन्या सौम्यदर्शना आपकी अनुगामिनी है। आपके आशीषस्वरूप कुछ भी होगा, उसके लिए वही श्रेष्ठ होगा। श्रेष्ठी की इन बातों को सुनकर तथागत बोले, तुम्हारा कल्याण हो श्रेष्ठी, हम अवश्य आएँगे। हमारे साथ में हमारा भिक्षु संघ भी होगा। फिर तो यह खबर पूरे नगर में वायु के झोंके के साथ फैल गई कि कुलकन्या सौम्यदर्शना के विवाह समारोह में शास्ता स्वयं अपने भिक्षु संघ के साथ पधारेंगे।

शास्ता के आगमन की घड़ी आज ही थी। इन्हीं शुभ क्षणों के लिए समूची श्रावस्ती महीनों से सज रही थी। नगर का प्रत्येक नागरिक तथागत के दर्शनों के लिए उत्साहित था। वैसे भी श्रेष्ठी विशाखदत्त प्रत्येक नगर-जन के प्रिय थे। परहित के लिए अपने सर्वस्व को निछावर कर देने वाले श्रेष्ठी के प्रति हर नागरिक के मन में श्रद्धा एवं सम्मान का भाव था। महाराज तो उन्हें सहोदर भ्राता मानते थे। राजमहिषी सौम्यदर्शना को अपनी सगी पुत्री की भाँति प्यार करती थी। उनके विवाह समारोह में समूचे नगर की प्राणचेतना मंडप में केंद्रित होना स्वाभाविक थी।

उसी समय किसी ने खबर दी कि शास्ता पधार रहे हैं, साथ में उनका भिक्षु संघ भी है। इस समाचार ने समूचे वातावरण को कुछ विशिष्ट तरंगित और स्पंदित किया। असंख्य प्राण हुलसे, असंख्य मन श्रद्धा विगलित हो उठे। प्रभु आ रहे हैं, यह सुनकर श्रेष्ठी कन्या सौम्यदर्शना को गहरी आश्वस्ति हुई। उसे भरोसा हुआ, उसके प्राणों की आतुर पुकार अब अवश्य सुनी जाएगी, परंतु विवाह मंडप में उसी के साथ बैठे वर महोदय को जैसे इस सबकी कोई खबर ही नहीं थी। वह अपनी ही धुन में कहीं खोए थे। संभवत: सौम्यदर्शना की मुखछवि उन्हें बेसुध बनाए दे रही थी।

तभी स्वयं महाराज भगवान् और उनके भिक्षुओं को लेकर विवाह मंडप में आ गए। शास्ता के तप-तेज के सामने मंडप में फैला कृत्रिम प्रकाश फीका पड़ गया। एक अनूठी आभा वहाँ बिखरने लगी। उनके आने से कुलकन्या सौम्यदर्शना को तो जैसे अपने खोए प्राण मिले। वह पहले भगवान् के चरणों में झुकी, फिर अन्य भिक्षुओं के चरणों में। उसके लिए तो जैसे भगवान् के अलावा अन्य किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थिति का अस्तित्व ही न रहा। लेकिन होने वाला पति उसे देखकर नानाप्रकार के काम संबंधी विचार करता हुआ रागाग्नि में जल रहा था। उसका मन काम-वासना की गहन बदलियों और धुओं से ढका था। उसने भगवान् को देखा ही नहीं। न देखा उस विशाल भिक्षुओं के संघ को। उसका मन तो जैसे वहाँ था ही नहीं।

भगवान् से उसकी यह विपन्न-दीन दशा देखी न गई। उन्होंने करुणा विगलित हृदय से उसकी ओर देखा। कुछ अनोखा और अलौकिक था प्रभु की उस अमृतवर्षिणी दृष्टि में। आधे से भी आधे पल में क्या कुछ नहीं घटित हो गया। कुछ यों हुआ जैसे घुप-घने और गहन अँधेरों में प्रकाश का महासमुद्र उफन-उमड़ आया हो। सर्वत्र-सब ओर प्रकाश-ही-प्रकाश सौम्यदर्शना के होने वाले पति कुमार सुयश की अंतर्चेतना में छा गया। अब अँधेरे का कण भी वहाँ न था। जब अँधेरा ही न रहा, तब भला ऐसे में सपने और कल्पनाएँ कहाँ रहतीं।

वह जैसे अनायास नींद से जागा। कुलकन्या सौम्यदर्शना की मुखछवि अचानक उसके हृदयपट से विलीन हो गई। वहाँ तो बोधिज्ञान की प्रकाशधाराएँ उतर रही थीं। किसी भी तरह उसकी कल्पनाएँ टिक न सकीं। वह चौंक कर खड़ा हो गया और तब उसे भगवान् दिखाई पड़े और दिखाई पड़ा उसे भगवान् का भिक्षु संघ और तब दिखाई पड़ा उसे वह जो अब तक उसे दिखाई नहीं पड़ रहा था। संसार का धुआँ जहाँ नहीं है, वहीं तो सत्य के दर्शन होते हैं। वासना जहाँ नहीं है, वहीं तो भगवान् की प्रतीति होती है। उसे चौकन्ना और विस्मय में डूबा हुआ देखकर भगवान् ने कहा, कुमार! रागाग्नि के समान दूसरी कोई अग्नि नहीं है। वही है नरक, वही है निद्रा। जागो, प्रिय सुयश! और जैसे शरीर उठ बैठा है, ऐसे ही तुम भी उत्तिष्ठ हो जाओ। उठो, उठने में ही मनुष्यता की शुरुआत है।

विवाह मंडप का समूचा वातावरण यकायक परिवर्तित होने लगा। श्रृंगार की झुलसाने वाली हवा के स्थान पर प्रभु-करुणा की बयार वहाँ बहने लगी। भगवान् कह रहे थे—

नत्थि राग समो अग्नि नत्थि दोस समो कलि।
नत्थि खंध समा दुक्खा नत्थि संति परं सुखं॥

शास्ता के इन वचनों को सुनकर श्रेष्ठी विशाखदत्त ने उनसे प्रार्थना की कि भगवान् कृपा करके अपने वचनों का अर्थ स्पष्ट करें। पर आज तो प्रभु जैसे केवल कुमार सुयश से ही बोल रहे थे। वह उसे संबोधित करके कहने लगे, भंते! 'नत्थि राग समो अग्नि' अर्थात् 'राग के समान आग नहीं।' 'नत्थि दोस समो कलि' यानि कि 'द्वेष के समान मैल नहीं।' 'नत्थि खंध समा दुक्खा' 'पंच स्कंधों के समान दुःख नहीं।'

ये पंच स्कंध क्या हैं भगवान्! पहली बार कुमार सुयश ने अपना मुँह खोला। भगवान् की कृपा से उनकी अंतर्चेतना निर्मल हो चली थी। भगवान् ने भी उन पर अपनी और भी अधिक कृपादृष्टि करते हुए कहा, भंते! मनुष्य का व्यक्तित्व बना है दो चीजों से—नाम, रूप। रूप यानि देह, नाम यानि मन। स्थूल देह तो एक है, लेकिन मन के चार रूप हैं, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। ऐसे सब मिलाकर पाँच। इन पाँच में जो जीता है, वह समझो कि दुःख में ही जीता है। इन पाँच में जीने का अर्थ या तो शरीर की आसक्ति में जीना अथवा फिर मन की वासनाओं में जीना। जो इन पंच स्कंधों में जी रहा है, वह समझो कि दुःख में जी रहा है। इसी के साथ भगवान् ने आगे समझाया, 'नत्थि संति परं सुखं' अर्थात् 'शांति से बढ़कर और कोई सुख नहीं है।'

जो दीपक की तरह प्रकाश उत्पन्न करने को तैयार है, प्रभु की ज्योति का अवतरण उसी में होगा।

तथागत के इन वचनों के साथ ही कुमार सुयश के मन में शांति उतर आई। उसे भगवान् के वचनों की सार्थकता अनुभव होने लगी। उसने बड़ी कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से प्रभु की ओर देखा। विवाह अब आवश्यक न रहा प्रभु। अब आप मुझे अपनी शरण में ले लें। होने वाले पति की इन बातों को सुनकर कुलकन्या सौम्यदर्शना को जैसे मनवांछित मिला। वह कहने लगी, भगवान्! मैं तो सदा से आपकी करुणा की आकांक्षी हूँ। श्रेष्ठी विशाखदत्त तो शास्ता के अनुगत थे ही। बस फिर क्या था? मंडप में विवाह मंत्रों के स्थान पर बुद्धं शरणं गच्छामि! धम्मं शरणं गच्छामि!! संघं शरणं गच्छामि!!! के स्वर गूँजने लगे। समूचा परिवार भगवान् तथागत के धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए समर्पित हो गया। वहाँ उपस्थित सभी जन अनुभव कर रहे थे कि सचमुच ही शांति से बढ़कर और कोई सुख नहीं है। ❁

सफलता की कुंजी—आत्मविश्वास

आत्मविश्वास अर्थात् स्वयं पर विश्वास, स्वयं के अस्तित्व पर विश्वास। जो स्वयं पर विश्वास करता है वह ईश्वर पर भी विश्वास करता है। जीवन का रहस्य इसी में समाया है और यही सफलता का मूल मंत्र है। आत्मविश्वास का धनी हर परिस्थितियों में अडिग और अविचल खड़ा रहता है। उसके लिए कुछ भी असंभव नहीं होता। पुरुषार्थ इसकी अभिव्यक्ति है और साहस इसका परिचय। ऐसे लोग आत्मिक और भौतिक दोनों प्रकार की समृद्धि एवं विभूति से संपन्न होते हैं।

आत्मविश्वास साहस का पर्याय है, जो रग-रग में दौड़ता है। यह अंतर की पुलकन है, आँखों की चमक तथा अधरों की मुस्कान है। उसे स्वयं पर आस्था होती है एवं अपनी गुप्त शक्तियों पर भरोसा होता है। विश्वास का धनी जानता है कि वह ईश्वर का अविनाशी एवं दिव्य अंश है। उसे स्वयं पर अगाध विश्वास होता है, इसलिए वह ईश्वर पर विश्वास करता है। इसी कारण विश्ववंद्य स्वामी विवेकानंद कहते हैं, ''सर्वप्रथम स्वयं पर विश्वास रखो फिर ईश्वर में। जिसे स्वयं में विश्वास नहीं उसे ईश्वर में कभी विश्वास नहीं हो सकता। अतः पहले निज पर विश्वास आवश्यक है।''

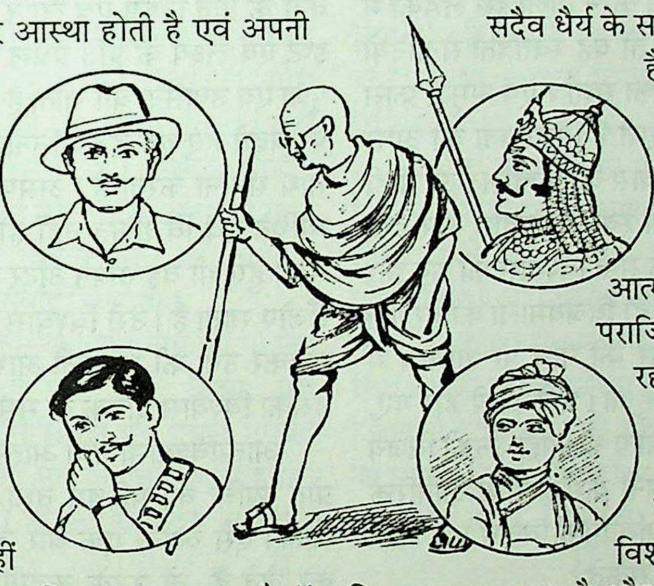

आत्मविश्वास का आधार हमारा अपना ही अंतर है। इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुए श्री अरविंद ने कहा है, ''आत्मविश्वास अंदर उत्पन्न होने वाली दिव्य वस्तु है। यह ज्ञान और अनुभव पर निर्भर नहीं करता। गोमुख से निकलने वाली पुण्यतोया-पावन गंगा को पहले न तो बहने का अनुभव होता है और न ही प्रवाह पथ पर आने वाले रोड़ों और संकटों का ज्ञान। बस उसके अंदर उफनती आत्मविश्वास की जलधारा ही है, जो उसे गंगासागर तक बहने के लिए प्रेरित करती है। आत्मविश्वास एक प्रचंड प्रवाह है, जो निरंतर बहते हुए ज्ञान एवं अनुभव को प्राप्त करता है। यह वह जादुई अद्भुत शक्ति है, जो भीषण विपत्तियों का सामना सरलता से कर लेती है और इसी कारण सफलता उसके चरण चूमती है।''

आत्मविश्वास पथ की विघ्न-बाधाओं को दूर करने का एक महामंत्र है। इसमें कठिनाइयों के विशाल पर्वतों को लाँघ जाने की अपार क्षमता होती है। धरती को फोड़कर निकलने वाला यह प्रखर बीज है। आत्मविश्वास जब अंतर में उमगता है, तो शक्ति और सामर्थ्य द्विगुणित हो जाती है। इसी शक्ति और सामर्थ्य के बल पर लक्ष्य भेद किया जाता है। उसे कठिनाइयों से उत्पन्न भय एवं असफलता से उपजी हताशा नहीं सताती। वह कभी निराश नहीं होता। सदैव धैर्य के साथ चरम पुरुषार्थ करता रहता है। भले ही उसे कितनी ही असफलताओं का सामना करना पड़े। असफलताएँ उसे परास्त नहीं कर सकतीं।

जिसके अंदर आत्मविश्वास का अभाव होता है, पराजित एवं पराभव उसे सदा घेरे रहते हैं। ऐसे व्यक्ति सफलता से कोसों दूर होते हैं। जो स्वयं पर आश्वस्त नहीं है, भला उसे कौन भरोसा दिला सकता है। विश्वासहीन व्यक्ति न तो स्वयं का विकास कर सकता है और न ही दूसरों से सहयोग की अपेक्षा कर सकता है। उसे सदा पराजय का डर एवं आशंका सताती रहती है। एक बार की असफलता से ही वह निराश होकर निष्क्रिय हो जाता है और प्रयत्न के प्रति हथियार डाल देता है। विश्वास का धनी एक क्या हजार बार की असफलता से भी पराजय स्वीकार नहीं करता। जीवन के अंतिम क्षणों तक वह लड़ता रहता है, भले ही उसे उपलब्धियों का उपहार न मिल सके। ऐसे कर्मवीर भला जीवनभर असफल एवं पराजित कैसे हो सकते हैं ?

इतिहास के पन्ने ऐसे आत्मविश्वासी वीरों की गौरव-गाथा से भरे पड़े हैं। जीवन संग्राम में अनेक बार हारकर

भी लक्ष्य के प्रति जिनका दृढ़ विश्वास डिगा तक नहीं, वही सच्चे विजयी माने जाते हैं। ऐसे शूरमा भीषण संकट एवं कठिनाइयों के बीच भी अडिग खड़े रहते हैं और पराजय-पराभव को स्वीकार नहीं करते। चरम पुरुषार्थ को संघर्ष के दाँव पर लगा देने के बावजूद विजय न पा सकने वाले महाराणा प्रताप, पृथ्वीराज चौहान, पोरस जैसे रणबाँकुरे आज भी विजयी वीरों के साथ विभूषित होते हैं। हारी तो केवल उनकी परिस्थितियाँ, उनके अगाध विश्वास की दीपशिखा तो सदा निष्कंप हो जलती रही एवं उनके प्रयत्न कभी पराजित नहीं हुए। ऐसा उफनता आत्मविश्वास हारकर भी जीत जाता है और यही सच्ची विजय है।

जब भी आत्मविश्वास उफनता है विजय का द्वार खुल जाता है। फ्रांस की जोन ऑफ आर्क का यह उफनता हुआ विश्वास ही था कि उन्होंने पराजित एवं निष्क्रिय पड़े अपने राष्ट्र की धमनियों में स्वतंत्रता के नवीन प्राण फूँक दिए। भेड़ों की रखवाली करने वाली इस लड़की में जब अंतर का विश्वास फूटा तो वह स्वतंत्रता सेनानियों की सेनापति बन गई। आज का स्वतंत्र एवं समृद्ध फ्रांस जोन ऑफ आर्क का चिर ऋणी है। स्वतंत्रता की अमर योद्धा लक्ष्मीबाई ने आत्मविश्वास की प्रज्वलित लौ में ही १८५७ की भारतीय क्रांति का स्वरूप निखारा और इसी क्रांति ने निष्क्रिय जनमानस के सुप्त विश्वास को झकझोर कर जगा दिया। ये योद्धा भले ही विजयमाला का वरण न कर पाए हों, परंतु इनकी हार की नींव पर भविष्य में विजय का भव्य भवन खड़ा हुआ। भले ही ये हार गए, लेकिन इनका आत्मविश्वास जीता था। यही उनकी विजय है, जिसे आत्मविश्वास के धनी कर्मवीरों के अतिरिक्त साधन संपन्नता के बल पर सांयोगिक विजय पाने वाले कर्महीन कायर कभी नहीं पा सकते।

कलिंग जैसे दुर्धर्ष राष्ट्र को नेस्तनाबूद कर देने वाले चक्रवर्ती अशोक जीत कर भी हार गए थे। कलिंग का श्मशान बन जाना एक विजय थी, परंतु इसके दारुण चीत्कारों से व्यथित अशोक की आत्मा पराजित हो गई। सम्राट् अशोक ने राष्ट्र को जीता था, परंतु उनका आत्मविश्वास हारा था। पद्मिनी का जल जाना, भीम सिंह और गोरा-बादल का जूझ मरना एक सच्ची विजय थी। चंद्रशेखर आजाद का स्वयं को गोली मार लेना, भगतसिंह का फाँसी के फंदे पर लटक जाना आत्मविश्वास के धनी विजेताओं की एक अमिट गाथा है। जय-पराजय की इन गाथाओं में जीत-हार का मापदंड आत्मविश्वास, आदर्श, पुरुषार्थ, पराक्रम, साहस, धैर्य एवं प्रयत्न ही रहा है। राज्य, नगर एवं संपदा पर अधिकार नहीं।

जिसका विश्वास प्रखर होता है उसे परिस्थितियाँ झुका नहीं पातीं। वह उनके आगे घुटना नहीं टेकता। गिर-गिरकर सँभलना उसकी नियति होती है। तपस्या के शिखर से कई बार गिरने वाले विश्वामित्र के आत्मविश्वास ने ही अंततः उन्हें पुनः उसी शिखर पर आरूढ़ किया। इस तरह अंतर में विश्वास का मशाल जलाने वाला हर असफलता से सीख लेता है एवं दूने उत्साह के साथ जुट जाता है। उसके अंदर साहस का दावानल धधकता रहता है, जिसकी लपटों में हताशा-निराशा वाष्प बनकर उड़ जाती है। ऐसे व्यक्ति कभी परास्त नहीं होते। उनकी हार भी जीत के साथ लिखी जाती है। वस्तुतः असफलता एवं हार कुछ नहीं आत्मविश्वास की कमी ही है।

स्वयं पर विश्वास करना अंततः ईश्वर में आस्था है। यह विश्वास जितना प्रगाढ़ एवं प्रबल होता जाएगा, निर्दिष्ट लक्ष्य उतना ही पास होता जाएगा। लक्ष्य के प्रति आशा एवं विश्वास, कर्म के प्रति निष्ठा एवं लगन को जन्म देता है। जिसे अपने इष्ट एवं लक्ष्य के प्रति प्रबल विश्वास होता है उसका कर्म पूजा एवं उपासना बन जाता है और पुरुषार्थ साधना। इस पथ पर बढ़ते हुए वह हर कठिनाइयों एवं मुसीबतों को धैर्य के साथ सामना करता है। असफलता की क्रूर ठोकरों से वह व्यथित एवं विचलित नहीं होता। छेनी के नुकीले वार को सहते हुए भी वह अपने अंदर एक नवीन सृजन की कल्पना सँजोए रहता है। उसे विश्वास होता है कि सघन तमिस्रा को चीरकर उषा की सुनहली आभा अवश्य मुस्कराएगी। अतः उसका विश्वास दीपक के समान जलता रहता है।

आत्मविश्वासी तथा आत्मनिर्भरता की भावना से ओत-प्रोत व्यक्ति का परिश्रम तथा पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं जाता। ऐसे व्यक्ति एक बार जब अपने लक्ष्य का निर्धारण कर लेते हैं, तो उनके कदमों को नदी-नद, पर्वत-पठार, दलदल, रेगिस्तान कोई रोक नहीं सकते। वे अबाध एवं निर्बाध रूप से बढ़ते चले जाते हैं। यही विश्ववंद्य होते हैं तथा यशस्वी श्रेय के सच्चे अधिकारी होते हैं।

सफलता पाने के लिए अंदर के आत्मविश्वास को जगाना आवश्यक है। यह एक दैवी विभूति है। इसी के द्वारा ही ऋद्धि-सिद्धियों की अपार संपदा एवं समृद्धि अर्जित की जा सकती है। भौतिक सफलता का भी यही एकमात्र आधार है। अतः अपने सोए आत्मविश्वास को जगाकर हम भी आत्मिक एवं भौतिक संपदा के स्वामी तथा श्रेय-सम्मान के अधिकारी हो सकते हैं। सोए आत्मविश्वास को जगाना ही सफलता का मूल मंत्र एवं गुप्त रहस्य है।

सूफी संतों का अद्वैतवाद

सचाई की खोज करने वाले तथा फकीरी का जीवन जीते हुए सदैव परमात्मा का ध्यान करने वालों को सूफी कहते हैं। यों तो सूफी शब्द सूफ या सफ से बना है। जिसका अर्थ है—ऊन। अर्थात् जो ऊनी वस्त्र धारण करता है। वह सूफी कहलाता है। यह प्रतीकात्मक अभिव्यंजना है। मूलतः सूफी संत सदा ईश्वर की भक्ति में मस्त रहते थे और औरों को भी उसकी भक्ति में मदहोश रहने की शिक्षा देते थे।

सूफियों की विचारधारा इस्लाम के विजयोन्माद के पश्चात् पनपी एवं विकसित हुई। यह उन्मादी, दिखावटी एवं कट्टर धर्मांधता के विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया की प्रतीक थी। सांसारिकता और भोग-विलास में डूबे जनमानस को झकझोरकर उठाने के लिए ही इसने आंदोलन का स्वरूप लिया। सूफी संत भटके हुए मानव को ईश्वर का संदेश सुनाते थे और सत्पथ पर बढ़ने की प्रेरणा देते थे। यही जीवन का सार है, शेष निस्सार है। फलतः प्राचीन सूफियों का जीवन सरलता और पवित्रता से ओतप्रोत रहता था। पहले उनमें वैराग्य की भावना प्रबल थी, अतः वे संसार त्यागी थे, बाद में रहस्यवादी बन गए।

सन् ७१७ में राबिया-अल-बदवियर नाम की महिला सूफी संत हुई। उन्होंने प्रेम को दिव्य एवं उच्चस्तरीय बताया। उनके इस सजल एवं प्रबल भगवद् प्रेम के गर्भ से प्रारंभिक सूफी मत का आविर्भाव हुआ। राबिया के प्रेम में न तो गुनाहों के लिए दैवी दंड का स्थान था और न सद्कर्मों के पुण्य की इच्छा-आकांक्षा। वह निष्काम भाव से केवल प्रभु के लिए ही प्रेम करती थी। वह हृदय से पुकारती थी, या अल्लाह यदि मैं दोजख (नरक) के भय से तेरी प्रार्थना करती हूँ, तो मुझे नारकीय अग्नि में जला देना और अगर मैं बहिश्त (स्वर्ग) की कामना से प्रार्थना करती हूँ तो मुझे इस ऐश्वर्य से भी वंचित कर देना, परंतु अगर मैं एकमात्र तुम्हारे लिए तुम्हारी आराधना करती हूँ, तो अपना वह दिव्य पावन रूप मेरी आँखों से कभी भी ओझल होने मत देना।

संत राबिया का भगवद् प्रेम अटूट था। उन्होंने प्रेम के दिव्य रस का स्वाद चखा था, जिससे उनका जीवन प्रेममय हो गया था। ईश्वर प्रेम की यह धारा कभी भी रुकती नहीं है, बल्कि यह तो नदी के समान प्रबल वेग से हर रोड़ों को तोड़ते फूट पड़ती है। सूफी मत का यह प्रवाह धुल-नुन-अल-मिस्त्री के मारिफत (अध्यात्म) तथा फारसी अबू याजिद के फना (अनंत में मिलन) सिद्धांत के माध्यम से अग्रसर हुआ। याजिद ने 'ज्ञान का सुरापान' किया था। वह ऐसे प्रथम सूफी थे, जिन्होंने स्पष्ट रूप से निर्भीक होकर कहा था—परमात्मा कहीं और नहीं है, यह अपने ही अंदर छुपा हुआ है। अपने अंदर की ओर झाँको, ईमानदार प्रयास करो तो वह अवश्य दिखाई देगा। उनका यही सिद्धांत सूफियों का रहस्यवाद बना।

याजिद का यह तपःपूत पुरुषार्थ ही था कि उनका फना का सिद्धांत आगे चलकर सूफी मत का केंद्रबिंदु बन गया। सच्चे मन से और भगवान् के लिए किया गया पुरुषार्थ कभी भी निष्फल नहीं होता। बगदाद के अलजुनैद ने इस सिद्धांत को भटके हुए जनमानस तक पहुँचाने के लिए अपना समस्त जीवन होम दिया। सूफी फकीर अल हजाज ने इसके लिए जो योगदान किया, उसे भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने सुप्त जन को गहरे तमस से उठाया और कहा कि संसार मिथ्या है, माया का आवरण मात्र है। एकमात्र अपना सच्चा स्वरूप ही सत्य है। इसी सिद्धांत को अनल हक के रूप में जाना जाता है। बारहवीं शताब्दी तक सूफी मत एक सशक्त आंदोलन के रूप में विकसित हो गया। इससे इस्लामी विचारधारा भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। इसके प्रभाव से प्रभावित होकर इस्लाम के पुनरुद्धारक इमाम-अल-गजाली ने कहा कि अनुभवजन्य सत्य ही ज्ञान है। ज्ञान

की यह खोज स्वयं की अनुभूति के आधार पर होती है अतः हर व्यक्ति को अपने अंदर खोज करनी चाहिए, न कि बाहर।

अल गजाली ने 'अनल हक' को अपना आदर्श बनाया तथा आत्मा और परमात्मा के नैसर्गिक संबंध को हृदयंगम किया। वह इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर लोगों को उपदेश दिया करते थे। सूफी फकीर अल अरबी गजाली के विचारों से अत्यंत प्रभावित थे। वह पक्के अद्वैतवादी थे। उन्होंने बताया कि सृष्टि में ईश्वर का ही एकमात्र अस्तित्व है। कण-कण में एक उसी की शाश्वत सत्ता भासमान है। कहीं भेद नहीं और न ही कहीं अंतर है। सब एक हैं, एक उसी ईश्वर के विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार सूफी परंपरा का विकासचक्र चौदहवीं शताब्दी में 'वहदत-अल-वुजूद' अर्थात् आस्तिक अद्वैतवाद के साथ पूर्ण हुआ।

'वहदत-अल-वुजूद' का अर्थ है—सत्ता मात्र की एकता। केवल बहिर्मुखी दृष्टि हो तो प्रतीत होता है कि यह सृष्टि अनंत अनेकताओं का परिणाम है। इतनी विभिन्नताओं एवं पृथकताओं के बीच कहीं भी एकता का कोई सूत्र दिखाई नहीं पड़ता, परंतु सत्य एक है। एक परमात्मा ही इस बहुआयामी एवं बहुरंगी सृष्टि का स्रजेता है। यह सृष्टि उसके 'एकोऽहम बहुस्यामिः' के संकल्प का परिणाम है। अतः कहीं भी अनेकता नहीं है, सभी एक सूत्र से पिरोए हुए हैं। सत्ता मात्र एकता की ही झलक-झाँकी है। इस तथ्य को अपने 'रब' (आत्मा) की अनुभूति से ही अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार सनातन धर्म का दिव्य अनुभव सूफी मत में भी हुआ देखा जा सकता है। इसी ज्ञान को अरबी में 'मन अरफ नफ्सः रब्बहू' कहा जाता है।

सूफी मत में इस्लाम की कट्टरता एवं संकीर्णता का कोई स्थान नहीं है, बल्कि सनातन धर्म की उदारता, सहिष्णुता के साथ एक ही परमात्मतत्त्व का वेदांतिक स्वर सुनाई पड़ता है। इससे स्पष्ट होता है कि समस्त धर्म को प्राण प्रदान करने वाले सनातन धर्म ने किसी-न-किसी रूप में, इसके जन्म में अपना योगदान दिया होगा। भले ही इस तथ्य का स्पष्ट सूत्र आज हमारे हाथ न लगे, परंतु है यह यथार्थ ही। मनीषी मैक्स हॉटर्न इस सत्य के प्रबल समर्थक रहे हैं। हकीकत की इस पृष्ठभूमि को स्वीकार करते हुए आर. ए. निकोलसन ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सूफी मत के 'फना' सिद्धांत का मूल उद्गम भारतीय विचारधारा ही है। उनके अनुसार यह बौद्ध धर्म के निर्वाण के अत्यंत सन्निकट है। इन सबमें रोचक बात तो यह है कि इस फना सिद्धांत के प्रवर्तक याजिद स्वयं स्वीकारते हैं कि उनके गुरु ने उनको तौहीद (ईश्वर एक है) और हक-इक (सत्य) की शिक्षा दी थी, जो एक भारतीय थे।

सनातन धर्म की धारा ने सूफी मत को पुष्ट एवं विकसित किया है, ऐसा प्रतीत होता है। इसके विचार भारतीय दर्शन से प्रभावित जान पड़ते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में मनीषी गोल्ड जिकरे ने उल्लेख किया है कि सूफियों का तौहीद सिद्धांत इस्लाम धर्म के प्रतिकूल तथा भारतीय दर्शन पर आधारित है। हो भी क्यों न? भारतीय विचारों का पटल आकाश-सा व्यापक एवं विस्तृत है। इसलिए मेरी टी टाइटस ने सूफी मत को इन विचारों के आभामंडल से आवेष्टित हुए देखकर आश्चर्य प्रकट नहीं किया है। वह अपनी कृति 'इस्लाम इन इंडिया एंड पाकिस्तान' में इस सत्य को शब्द देते हुए कहती है, सूफी संतों के अनुभव एवं उनके दार्शनिक सिद्धांतों में भारतीय दर्शन एवं साधना प्रयोगों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

अबू याजिद के उपदेशों में भी भारतीयता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वे परमात्मा के लिए 'वह' सर्वनाम का प्रयोग करते हैं, जो हिंदुओं द्वारा ब्रह्म के लिए प्रयुक्त 'तत' का प्रतिरूप है। 'तकूनू अंता' वाक्य उपनिषदों के तत्त्वमसि (तुम वही हो) का भाषांतर प्रतीत होता है, जो केवल वेदांत में प्रयोग हुआ है। 'अनल हक' के दर्शन में वेदांत सूत्र 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध होता है। इसके प्रतिपादक मंसूर अल-हज्जाज अद्वैत मतावलंबी जान पड़ते हैं। शायद

फार्म-४

(१) प्रकाशन स्थान	मथुरा
(२) प्रकाशन अवधि	मासिक
(३) मुद्रक का नाम	मृत्युंजय शर्मा
क्या भारत का नागरिक है	हाँ
पता-	जनजागरण प्रेस, वृंदावन मार्ग, मथुरा
(४) प्रकाशक का नाम-	मृत्युंजय शर्मा
(५) सम्पादक का नाम-	डॉ. प्रणव पंड्या
क्या भारत का नागरिक है-	हाँ
पता-	शांतिकुंज हरिद्वार
(६) उन व्यक्तियों के नाम व पते- जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	मृत्युंजय शर्मा अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

मैं मृत्युंजय शर्मा एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

दिनांक २८-२-२००२

यही कारण है कि उनको काफिर समझा गया और खुदा के अन्य अनेक बंदों के समान फाँसी पर लटका दिया गया। कहते हैं सचाई धरती को फोड़कर निकलती है और अपने लक्ष्य की ओर चलती है। इसी प्रकार यह अद्वैतवाद भी इब्न अली अरबी और अब्दुल करीम जिली की पद्धति में समाविष्ट कर लिया गया।

सूफी संत जिली हिंदू धर्म से अत्यंत प्रभावित थे तथा इन्हें इसका अच्छा ज्ञान था। उनके ब्रहिम शब्द में ब्रह्म की झलक-झाँकी मिलती है। सूफी परंपरा के एक अन्य संत जलालुद्दीन रूमी ने हिंदुओं के भजन-कीर्तन के समान 'सम' अर्थात् भक्तिगान व नृत्य की पावन प्रथा प्रचलित की। उन्होंने लोगों को उपदेश देते हुए कहा कि हृदय देवत्व का दर्पण है। इसे भजन-कीर्तन करके स्वच्छ एवं साफ रखा जा सकता है। वह कहते हैं यह दर्पण जितना स्वच्छ होगा उसी के अनुरूप अपनी अंतर्चेतना में परमात्मा का प्रतिबिंब झलकता है और ऐसा क्यों न हो, आत्मा है भी परमात्मा का एक अंश। अंत में यह 'फना' होकर उसी में विलीन एवं विलय हो जाती है।

सूफी परंपरा की अनेक रहस्यवादी क्रियाएँ भारतीय योग प्रक्रिया के सदृश हैं। पस्य-अनूफस प्राणायाम का प्रतिरूप है। अपने यहाँ जप के लिए माला की आवश्यकता पड़ती है। सूफी मत में ऐसा ही प्रयोग मिलता है। उसमें माला को 'तसबीह' और जप को 'धिक' की संज्ञा दी गई है। हिंदू धर्म में भगवद्प्राप्ति का सरल एवं सहज मार्ग—प्रेम मार्ग है। सूफी मत का तो यह मुख्य आधार है। सूफी अपने गुरु या पीर को ईश्वर का साक्षात् प्रतिनिधि मानकर उसके दिव्य चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है। वे अहंकार को गलाने के लिए समर्पण को सर्वश्रेष्ठ माध्यम मानते हैं तथा आत्मज्ञान के दुर्गम मार्ग पर बढ़ते हैं।

सूफी संतों ने भारतीय धर्म एवं संस्कृति की सहिष्णुता, उदारता एवं विशालता को सहज ही अपनाया है। इनमें से कुछ संत तो इसके उद्गम स्थल भारत देश भी आए। यही नहीं यहाँ की आध्यात्मिक संपदा से प्रभावित होकर कइयों ने यहाँ अपना स्थायी निवास बना लिया। यहाँ आने वालों में मंसूर-अल-हज्जाज सर्वप्रथम सूफी संत थे। अल-हुजवीरी तो यहाँ की माटी की सुगंध में पूरी तरह रम गए और उन्होंने यहाँ के विचारों में अपने आपको खपा दिया। इसका ही परिणाम था कि उन्होंने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य फारसी में भारतीय रहस्यवाद पर 'कश्फ-अल-मजहब' नामक ग्रंथ की रचना की।

यहाँ के विचारों से ओतप्रोत सूफी संतों की उदारवादी विचारधारा से अपने यहाँ के संत भी प्रभावित हुए हैं। ऐसे महान् संतों में कबीर, गुरुनानक एवं विचारकों में राजा राममोहन राय, रवींद्रनाथ टैगोर आदि प्रमुख हैं। सूफी संतों ने भारत आकर ध्यान और तपस्या की तमाम विधाओं को अपना लिया और आत्मज्ञान प्राप्त कर औरों को भी इस ओर प्रेरित किया। पथ चाहे जो भी हो, मंजिल एक है। हमें एक ही मंजिल की ओर जाना है। यही सूफी फकीरों का उपदेश है। उनका कहना है कि जीवन छोटा है, समय कम है। इसलिए अच्छा यही है कि विषय और विकारों से पीछा छुड़ाकर ईश्वर में और उससे अपनी एकता अनुभव करें और इस अनुभूति को मंसूर के शब्दों में सबको बता सकें—अनलहक।

❑

शबरी के घर भगवान् गए और उससे माँग-माँगकर जूठे बेर खाए, यह प्रसंग उन दिनों संतजनों में सर्वत्र चर्चा का विषय बना हुआ था। अशिक्षित नारी, साधना-विधान से अपरिचित रहने पर भी उसे इतना श्रेय क्यों मिला? हम लोग उस श्रेय-सम्मान से वंचित क्यों रहे?

मातंग ऋषि ने चर्चारत भक्तजनों से कहा, ''हम लोग संयम और पूजन मात्र में अपनी सद्गति के लिए किए प्रयासों को भक्ति मानते रहे हैं, जबकि भगवान् की दृष्टि में सेवा-साधना की प्रखरता है। शबरी ही है, रात-रात भर जागकर आश्रम से लेकर सरोवर तक कँटीला रास्ता साफ करती रही और सज्जनों का पथ-प्रशस्त करने के लिए अपना अविज्ञात, निरहंकारी, भावभरा योगदान प्रस्तुत करती रही।''

भक्तजनों का समाधान हो गया, उन्होंने जाना कि भक्त और भगवान् की दृष्टि में अंतर क्या है।

सही अर्थों में भारत का रत्न

‘भारत रत्न’ उनके लिए देश की सरकार द्वारा प्रदत्त सम्मान भर नहीं, वरन् उनके महान् व्यक्तित्व का परिचय और पर्याय है। यह सुपरिभाषित सच देश के मिसाइल कार्यक्रमों के पितामह डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम यानि अबुल फकीर जैनुल आबेदीन के बारे में है। देश के सुरक्षा कार्यक्रमों के लिए उनके महत्त्वपूर्ण योगदान से राष्ट्र का जन-जन परिचित है। अभी हाल में ही राष्ट्र के प्रायः सभी समाचार पत्रों ने प्रमुखता से यह समाचार प्रकाशित किया कि डॉ. अब्दुल कलाम ने देश के केंद्रीय मंत्री के समकक्ष सुविधाओं और अधिकारों वाला भारत सरकार के प्रधान वैज्ञानिक सलाहकार वाला पद छोड़ दिया है, परंतु उनके इस पद-त्याग के पीछे जो प्रेरक कथा है, उससे शायद ही कोई परिचित हो।

दरअसल पिछले समय जब भारत ने पोखरण परमाणु विस्फोट किया था, उस समय उस पर कई देशों ने कई तरह के प्रतिबंध लगाए। प्रतिबंध लगाने वाले इन देशों में सबसे प्रमुख देश अमेरिका रहा। उसके इस पक्षपातपूर्ण रवैये से कई भारत भक्तों की भावनाएँ आहत हुईं! इन्हीं में से एक भारतीय मूल का सोलहवर्षीय किशोर भी है। जो इन दिनों अमेरिका के अटलांटा शहर में रह रहा है। इस किशोर ने डॉ. कलाम को इन्हीं दिनों एक चिट्ठी लिखी। जिसमें उसने कहा, ‘‘मैं उस दिन भारत के गीत गाऊँगा, जब वह भी अमेरिका की ही तरह दूसरे देशों पर प्रतिबंध लगाने की हैसियत में होगा।’’ इस हृदयस्पर्शी एवं भावनाओं से भरे-पूरे पत्र में जो दरद और चुनौती छिपी थी, उसे डॉ. कलाम ने बखूबी पहचाना।

इसी के साथ उनके मन में एक महान् संकल्प जगा कि वह देश में प्रतिभावान वैज्ञानिकों की एक नई पीढ़ी तैयार करेंगे। ऐसे वैज्ञानिक जो प्रतिभाशाली होने के साथ ही देशभक्त भी हों और राष्ट्र की गौरव पताका को विश्व-गगन में फहरा सकें। बस इसी संकल्प के साथ उन्होंने निश्चय किया अपने पद को त्यागने का, सुविधा-साधनों एवं प्रतिष्ठा के मोह को छोड़ने का। उनका यह त्याग यों तो असाधारण है, पर उनके व्यक्तित्व की तुलना में अति साधारण है।

पिछले दिनों उनकी विदाई समारोह का आयोजन हुआ। इसमें प्रधानमंत्री समेत अनेक मंत्रियों, सांसदों एवं वैज्ञानिकों ने अपनी भागीदारी की। इस अवसर पर डॉ. अब्दुल कलाम ने कहा, ‘‘मैं अब नई पीढ़ी की पौध को खाद-पानी देकर विश्व के वैज्ञानिक क्षितिज पर लहलहाने का अवसर प्रदान करने के लिए जुट रहा हूँ। मुझे आज भारत के वैज्ञानिक भविष्य को लेकर आशाओं का ऐसा उछाह दिखाई दे रहा है, जिससे अनेक भाभा, सी.वी. रमन एवं नर्लीकर पैदा हो सकते हैं। उन्होंने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए बताया कि मैं नन्हें वैज्ञानिकों की वैज्ञानिक सोच को आपस में जोड़ने का प्रयास करूँगा।’’

सचमुच ही समूचे राष्ट्र के लिए सम्माननीय डॉ. अब्दुल कलाम वाणी और शब्दों से नहीं, बल्कि अपने कर्मों एवं कर्त्तव्यों से अपना परिचय देने के लिए विख्यात हैं। अग्नि, त्रिशूल और पृथ्वी जैसी मिसाइलें उन्हीं की मेधा का परिचय देती हैं। अब जब वह नई चुनौती को स्वीकार करके कर्त्तव्य क्षेत्र में उतरे हैं, तो यहाँ भी वह पहले जैसी चमक पैदा करेंगे, जो उन्हीं की ही तरह देशभक्त महान् वैज्ञानिकों के रूप में समूचे विश्व को दिखाई देगी। यह इक्कीसवीं सदी में उदय हो रहे उज्ज्वल भविष्य के सूर्य की प्रथम किरण है, जो डॉ. अब्दुल कलाम की राष्ट्रनिष्ठा के रूप में दिखाई दे रही है। वह आधुनिक भारत के ऋषि हैं, जो अब अपने जैसे ही अनेक ऋषियों को गढ़ने-निखारने के लिए चल पड़े हैं। अहंकारविहीन प्रतिभा जब अपने चरमोत्कर्ष को छूती है, तो वहाँ ऋषित्व प्रकट होता है। उनमें वही हो रहा है। उनके द्वारा किया जा रहा यह प्रयास भारत देश के पुनः विश्वगुरु बनने की शुरुआत है।

द्रोपदी के पाँच पुत्रों को सोते समय द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने मार डाला। पांडवों के क्रोध का ठिकाना न रहा। वे उसे पकड़कर लाए और द्रौपदी के सामने ही उसका सिर काटना चाहते थे।

द्रोपदी का विवेक तब तक जाग्रत् हो गया, बोली, “पुत्र के मरने का माता को कितना दुःख होता है, उतना ही दुःख तुम्हारे गुरु द्रोणाचार्य की पत्नी को होगा। गुरु ऋण को, उस माता के ऋण को समझो और इसे छोड़ दो।” अश्वत्थामा को छोड़ दिया गया।

पर्व विशेष

भारतीय कला में अभिव्यक्त शिवतत्त्व

शिव का शिवत्व भारतीय कला का आदर्श है। देवाधिदेव महादेव ही भारत देश की संस्कृति एवं साधना के आधार हैं। कला और विद्या के विविध रूप उन्हीं से उपजते हैं। पौराणिक गाथाएँ इस सत्य की बड़ी मोहक प्रस्तुति करती हैं। शिव कल्याणप्रदाता आशुतोष हैं तो महासंहार के अधिष्ठाता महारुद्र भी। वह काल के भी काल महाकाल हैं। उनके अनंत एवं विराट् स्वरूप के अनेक पहलू भारतीय कला में अनेक ढंग से उभरे एवं सँवरे हैं। कलाकारों ने इतिहास के आदिकाल से उन्हें तरह-तरह से चित्रित किया है। यहाँ तक कि उनका सत्य और शिवस्वरूप ही भारतीय कला में सौंदर्य बनकर प्रकट हुआ है।

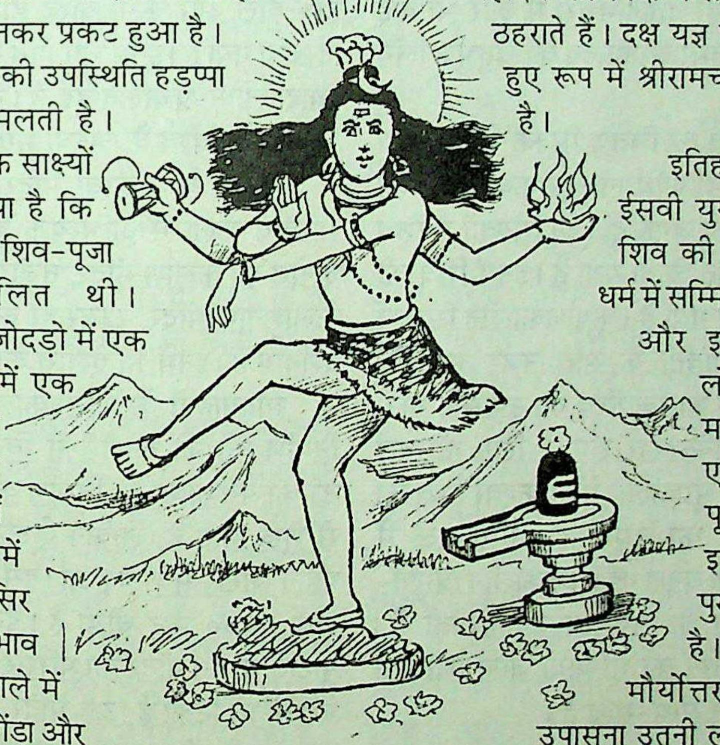

भारतीय कला में शिव की उपस्थिति हड़प्पा काल से ही देखने को मिलती है। इतिहासकारों ने पुरातात्त्विक साक्ष्यों के बलबूते यह सिद्ध किया है कि सिंधु घाटी सभ्यता के युग में शिव-पूजा जन-समाज में प्रचलित थी। पुरातत्त्ववेत्ताओं को मोहनजोदड़ो में एक ऐसी मुहर मिली है, जिसमें एक देवता योगी के रूप में उसी तरह आसीन है, जिस तरह हम शिव को किसी चित्र में आसन लगाए ध्यानस्थ मुद्रा में देखते हैं। इस देवता के तीन सिर और सींग हैं। चेहरे पर रौद्र भाव है। हाथ में कई कड़े और गले में कंठाहार है। वे हाथी, चीता, गेंड़ा और महिष से घिरे हुए हैं। पशुओं से घिरे होने के कारण ही उन्हें पशुओं का स्वामी यानि कि पशुपति कहा गया है। दरअसल उनका यह स्वरूप हिंदू धर्म के उत्तरकालीन शिव से साम्य रखता है। उल्लेखनीय है कि भारतीय कलाकारों ने शिव को यदा-कदा तीन चेहरों में दिखाया है। प्रख्यात् पुरातत्त्ववेत्ता मार्शल ने इस हड़प्पाकालीन देवता को दृढ़तापूर्वक 'आदि शिव' माना है। अन्य इतिहासकारों ने भी मार्शल के इस मत को स्वीकार किया है।

शिवभक्तों ने लिंग को शिव का पर्याय माना है। शिव लिंग के रूप में ही सर्वाधिक पूजे जाते हैं। इतिहास में इस सत्य के अनेकों प्रमाण मिलते हैं कि लिंग पूजा हड़प्पा काल में ही शुरू हो गई थी। खुदाई के दौरान हड़प्पा से पत्थर के कई लिंग मिले हैं। ऋग्वेद से यह जानकारी मिलती है कि अनार्यों में लिंग पूजा उन दिनों प्रचलित एवं प्रतिष्ठित थी। संभवतः उन दिनों आर्यों में लिंग पूजा का प्रचलन नहीं था। कुछ इसी तरह का विवरण वायु पुराण में भी मिलता है। दक्ष यज्ञ के प्रसंग में मैना एवं दक्ष दोनों ही महादेव की निंदा करते हुए उन्हें अनार्य देवता ठहराते हैं। दक्ष यज्ञ का यह प्रसंग कुछ सँवरे हुए रूप में श्रीरामचरितमानस में भी मिलता है।

इतिहासकारों का मानना है कि ईसवी युग शुरू होने के साथ ही शिव की लिंग रूप की पूजा हिंदू धर्म में सम्मिलित हो गई थी। गुप्तकाल और इसके बाद इसे पर्याप्त लोकप्रियता मिली। हालाँकि महाभारत के अनुशासन पर्व एवं अन्य पुराणों में लिंग पूजा का उल्लेख है, लेकिन इसका स्पष्ट वर्णन मत्स्य पुराण (गुप्तकाल) में मिलता है। इतिहासकार मानते हैं कि मौर्योत्तर काल तक शिव की उपासना उतनी लोकप्रियता नहीं पा सकी थी। बाद में शैव मत को गुप्त, चौल और चालुक्य एवं राष्ट्रकूट शासकों ने खूब संरक्षण प्रदान किया। हालाँकि गुप्त शासक वैष्णव थे, परंतु उनकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति के कारण शैव धर्म का खूब विकास हुआ और इसका असर कला पर भी पड़ा।

शिव की उपासना—मानवाकृति एवं लिंगाकृति इन दो रूपों में करने का प्रचलन रहा है। प्रारंभ में शिव के इन रूपों को मंदिरों के मुख्य गर्भगृह में स्थापित किया जाता

था, लेकिन बाद में मंदिर में सिर्फ लिंग को ही स्थापित करने की प्रथा विकसित हुई। अभी भी शिवपूजा ज्यादातर लिंग रूप में ही होती है। मद्रास के निकट ऐनीगुंटा लिंग कलात्मक कौशल का अद्‌भुत उदाहरण है। इस लिंग की ऊँचाई पाँच फुट है। लिंग पर द्विबाहु शिव की मूर्ति चित्रित की गई है, जो एक कुबड़े बौने के कंधे पर खड़े हैं। शिव ने एक हाथ में मेढ़ा और दूसरे हाथ में युद्ध का फरसा थाम रखा है। नागोद में मिली एकलिंग मुखमूर्ति भी उल्लेखनीय है। इस लिंग के ऊपर सिर की आकृति रत्नजटित मुकुट से सजी हुई है।

दूसरी या तीसरी शताब्दी के एक लिंग पर शिव को चतुर्भुज आकृति में दिखाया गया है। शिव के दो हाथ उनकी जटा पर है। मथुरा में एक अन्य पूर्व गुप्तकालीन चतुर्मुख लिंग मिला है। शिव के ये मुख अलग-अलग पट्टियों पर बने हैं। शिवलिंग के ऊपर पाँचवाँ मुख भी है, जो आसानी से दिखाई नहीं देता। मथुरा में और भी कई शिवलिंग पाए गए हैं। अजमेर संग्रहालय का चतुर्भुज लिंग भी काफी आकर्षक है।

भारतीय कला में शिव का चित्रण सिक्के में भी किया गया है। इंडो सीथियन, इंडो पार्थियन और कुषाण शासकों ने अपने सिक्के में शिव को जगह दी। इन सिक्कों में शिव को मानवीय रूप में चित्रित किया गया है। इनमें शिव को नंदी बैल के साथ दिखाया गया है। कुषाणकालीन सिक्कों में भगवान् शिव माता पार्वती के साथ नजर आते हैं। उल्लेखनीय है कि कुषाण शासक शिव का उपासक था।

पुरातत्त्वविदों को मानवाकार रूप में लिंग की कई मूर्तियाँ मिली हैं। सारनाथ संग्रहालय में लोकेश्वर शिव का सिर कलात्मक कौशल का नमूना है। गुप्तकाल में अर्द्धनारीश्वर की मूर्तियाँ भी बनाई गईं। गुप्तकालीन त्रिमूर्ति-ब्रह्मा, विष्णु और महेश के समन्वय को दर्शाती है। इतिहासकारों ने ऐसी मूर्तियों का भी पाया जाना स्वीकारा है, जिनमें शिव और विष्णु साथ-साथ हैं।

अध्यात्मशास्त्रों में शिव को ज्ञान-योग एवं नृत्य का महान् ज्ञाता माना जाता है। कहते हैं शिव ने दक्षिणाभिमुख रूप में यह ज्ञान अपने भक्तों के बीच बाँटा। इसी कारण शिव को महान् ज्ञानी के रूप में चित्रित करने वाली मूर्तियों को 'दक्षिणामूर्ति' कहा जाता है। एक 'दक्षिणामूर्ति' में शिव एक सार्वभौम शिक्षक प्रतीत होते हैं। उनका एक पाँव जमीन पर है और दूसरा सिंहासन पर। एक हाथ इस प्रकार उठा हुआ है मानो वह किसी चीज की व्याख्या कर रहे हैं। शिव की 'संहार मूर्तियाँ' और 'अनुग्रह मूर्तियाँ' भी उल्लेखनीय हैं। संहार मूर्तियों में शिव को काल, काम, त्रिपुरासुर आदि का संहार करते हुए दिखाया गया है, जबकि अनुग्रह मूर्तियों में उन्हें भक्तों पर कृपा करते हुए दर्शाया गया है।

भारतीय कला में शिव को नटराज अर्थात् नृत्य का सम्राट् माना गया है। कहते हैं कि उन्होंने १०८ प्रकार के नृत्यों की रचना की। इनमें से तांडव नृत्य सबसे ज्यादा चर्चित है। इस तांडव नृत्य को दिखाने वाली कई मूर्तियाँ बनी हैं। शिव ने अपने शिष्य तुंड को यह नृत्य सिखलाया था। इसीलिए इसका नाम तांडव पड़ गया। कलाकारों ने नृत्य मुद्रा में नटराज शिव की मूर्तियाँ गढ़ने में जिस कौशल का परिचय दिया है वह अद्‌भुत है। खासकर चोल काल में काँसे की जो मूर्तियाँ बनीं, उन्हें नटराज शिव की श्रेष्ठतम मूर्तियाँ माना गया। कलाकारों ने नटराज शिव की कई तरह की मूर्तियाँ बनाईं। कभी उन्हें दो हाथ वाले, तो कभी चार हाथ वाले और कभी बारह हाथ वाले नटराज के रूप में दिखाया गया है। इनमें चार हाथ वाले नटराज की मूर्ति सबसे ज्यादा लोक-प्रचलित हुई है। नटराज शिव की ये मूर्तियाँ भारत और विश्व के अनेक संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

मूर्तियों के अलावा मंदिरों के रूप में भी शिवतत्त्व भारतीय कला में अभिव्यक्त हुआ। ऐसे शिव मंदिरों में ऐलोरा का कैलाश मंदिर, तंजौर का शिव मंदिर, कांची का कैलाशनाथ मंदिर, खजुराहो का कंडारिया महादेव मंदिर दर्शनीय हैं। इनमें भी ऐलोरा का कैलाश मंदिर अद्‌भुत है।

सातवाहनों के शासनकाल में चट्टानों को काटकर निर्माण की जो कलाशैली विकसित हुई, कैलाश मंदिर उसकी पराकाष्ठा है। निर्माण कार्य आमतौर पर पहले नींव से शुरू होता है, लेकिन कैलाश मंदिर का निर्माण कार्य पहले शिखर से शुरू हुआ। इस मंदिर का प्रांगण ३०० फुट लंबा ×२०० फुट चौड़ा है। इसका वितान लगभग १०० फुट ऊँचा है। मंदिर का परिसर हाथी-सिंह जैसे पौराणिक पशुओं पर टिका है। यह मंदिर रावण द्वारा कैलाश पर्वत के उठाए जाने की कथा पर आधारित है। एक ही चट्टान को काटकर बनाए गए इस मंदिर में कला की जो विलक्षणता है, उसकी मिसाल पूरे विश्व में कहीं नहीं है। इसे राष्ट्रकूट शासक कृष्ण प्रथम ने बनवाया था। इतिहासकारों के अनुसार मंदिर का निर्माण कार्य आठवीं-नौवीं शताब्दी में हुआ। इतिहासकार इस सत्य से सहमत और प्रायः एकमत हैं कि प्रत्येक युग में शिवतत्त्व की अभिव्यक्ति भारतीय कला में होती रही है। आगे भी इसके विविध रूप—सत्यं शिवं सुंदरम् का गौरव गान करते रहेंगे। ✧

पर्व विशेष

आत्मा के मंगलकारी शिव से मिलन की रात्रि का पर्व

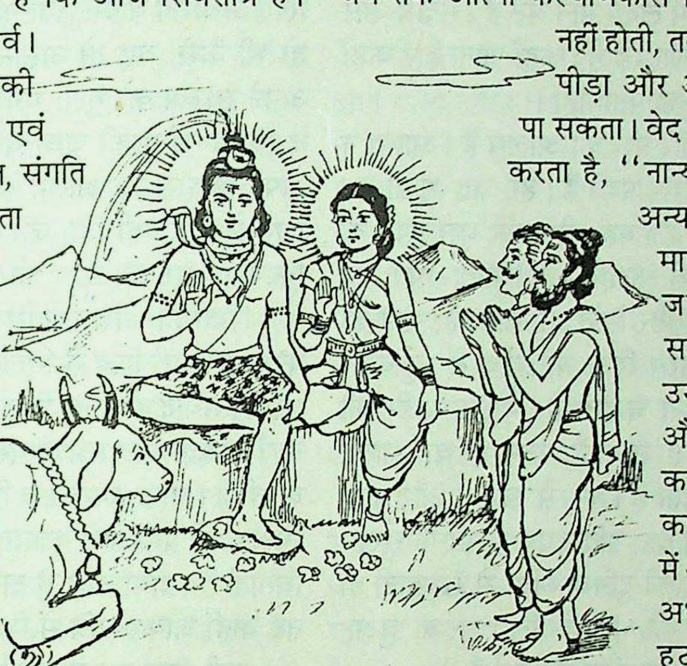

हर हर महादेव ! जय शिव शंभो !! बम बम भोले !!! की पवित्र गूँज यह जता रही है कि आज शिवरात्रि है। भारत देश का महान् व प्रेरक पर्व। पर्व हमारी सांस्कृतिक चेतना की ज्योति किरणें हैं। इनसे जीवन एवं जगत् में उल्लास, प्रसन्नता, गति, संगति एवं नवप्रेरणा का प्रकाश बिखरता है। हमारी जीवन चेतना जाग्रत् होती है। शिवरात्रि का उद्देश्य भी हमारी चेतना जाग्रत् करना है। देवाधिदेव महादेव की उपासना, व्रत एवं संकल्प के द्वारा आत्मबोध को पाना है। सत्य तो यह है कि इसमें निहित प्रेरणाओं को सभी धार्मिक आस्थाओं वाले किसी-न-किसी रूप में महत्त्व देते हैं। हाँ, उनकी रीति-नीति भले ही स्पष्ट हो या अस्पष्ट, हो भी क्यों नहीं, जीवन-बोध के बिना जीवन का अँधेरा नहीं मिटता।

शिवरात्रि बोधोत्सव है। आत्मचिंतन एवं आत्मनिरीक्षण का सुअवसर है। जीवन में श्रेष्ठ व मंगलकारी व्रतों, संकल्पों तथा विचारों को दुहराने व अपनाने की प्रेरणा देती है शिवरात्रि। आज की भौतिक एवं भोगवादी भागदौड़ की दुनिया में हमारी आत्मचेतना मुरझाती जा रही है। उसी में चैतन्यता का संचार करने, उसमें निहित सत्य का बोध कराने ही हर साल आती है शिवरात्रि। भारतीय जीवनधारा में आत्मबोध का स्वर सदा से है और सर्वत्र मुखर रहा है। उपनिषदों का उद्घोष है, *'आत्मानं विद्धि:'* अर्थात् संसार को जानने के साथ-साथ आत्मा को भी जानो। बिना आत्मज्ञान के मानव जीवन की सच्ची सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती।

आचार्य शंकर ने अपने गहन तप एवं प्रखर आत्मसाधना का निष्कर्ष एक ही सूत्र में प्रतिपादित किया है, 'न ऋते ज्ञानेनं मुक्तिः' यानि कि आत्मज्ञान एवं सत्य के बोध के बिना मनुष्य बंधनों से नहीं छूट सकता। बंधन ही तो जीवन में दुःख के कारण हैं और ये सभी बंधन अज्ञान से आते हैं। जब तक आत्मा कल्याणकारी शिवतत्त्व की ओर प्रवृत्त नहीं होती, तब तक जीवन दुःख, चिंता, पीड़ा और अशांति से छुटकारा नहीं पा सकता। वेद भी इसी विचार की पुष्टि करता है, ''नान्यः पंथाविद्यते अयनाय'' अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है। मार्ग एक ही है, अपने को जानकर परमेश्वर के सान्निध्य को प्राप्त करना, उसकी शरण में पहुँच जाना और उसकी आज्ञा का पालन करना। उसकी सत्ता को कण-कण और अणु-अणु में अनुभव करना। जीवन को अधर्म, पाप व असत्य से हटाकर सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करना। जीवन में आए हुए दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों के मूल कारण को समझना। उन्हें दूर करने का संकल्प लेना। सोई हुई आत्मा को जगाने का व्रत लेना। आज १२ मार्च को शिवरात्रि यही कह रही है।

उठो ! जागो ! अपने जीवन और जगत् को सँभालो। यह जीवन बड़ा अमूल्य है। इसका अवमूल्यन न करो। प्रकृति परमेश्वर का, शरीर आत्मा का, भौतिकता आध्यात्मिकता का, भोग योग का समन्वय करके चलो। इसी में जीवन और जगत् में समरसता और समस्वरता आएगी। भारतीय जीवनपद्धति का आधार भी कुछ ऐसा ही है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का सूत्र भी यही बताता है। आज राष्ट्र और विश्व में भौतिकता अतिवाद बनकर रह गई है। मनुष्य भौतिकवादी, भोगवादी, देहवादी और प्रकृतिवादी बन चुका है। उसी का परिणाम है कि सर्वत्र अशांति, कलह, हिंसा, पाप, अधर्म, दुःख-दैन्य अपनी चीख-पुकार मचाए हुए हैं।

मानवता क्षत-विक्षत और घायल होकर कराह रही है। मनुष्य केवल आकृति से मनुष्य रह गया है। उसकी प्रकृति तो राक्षसी हो चली है। चारों ओर अनैतिकता, आतंक,

अराजकता और अनुशासनहीनता का बोल-बाला है। व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र हर कहीं दरारें-ही-दरारें हैं। हर कहीं टूटन और बिखराव है। मानवीय दृष्टि एवं जीवन—मूल्य खोजने पर भी नहीं मिल पा रहे हैं। इन सबका मूल और मौलिक कारण यही है कि हमने आत्मपक्ष को भुला दिया है। हम मांत्र शारीरिक सुख-साधनों और भौतिक उन्नति को जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठे हैं। मदांध और स्वार्थांध होकर बस दौड़े जा रहे हैं। कहाँ जाना है ? कहाँ पहुँचना है ? किसी को कुछ पता नहीं।

सब तरफ बेहोशी और नशे का आलम है। आत्मा न जाने कब से भूख से बेहोश पड़ी है। हाँ, वह भूखी है। आत्मा भी भोजन माँगती है। वह भी अपने मूल शिव के पास जाना चाहती है। जैसे बालक अपने माता-पिता की गोद में पहुँचकर निर्भय और शांत हो जाता है, ऐसे ही आत्मा भी परमात्मदेव परम शिव की गोद में पहुँचकर भय-ताप से मुक्त हो जाना चाहती है। मनुष्य बाहर की दुनिया में जितनी भाग-दौड़ करता है, उतना ही वह आत्मा के आनंद से दूर होता जाता है। धन से खरीदा और पाया जा सकता है वह तो बस देह, इंद्रिय एवं संसार के सुख-साधन हैं। इसीलिए आज की दुनिया अंदर से खोखली हो चली है। इस खोखलेपन को भरने के लिए शराब, जुआ, सिनेमा, क्लब, पार्टी की ओर दौड़ तेज हुई है।

मगर वासनाओं की अंतहीन दौड़ भोगों की प्यास को और भड़काती व बढ़ाती है। मनुष्य जितना अधिक सांसारिक विषय-भोगों को पाता और भोगता जाता है, उतनी ही और.....और ....और की प्यास तेज होने लगती है। जीवन मृगतृष्णा और भोग-संग्रह की धूप-छाँव बनकर रह जाता है। जीवन के अंत में पता चलता है, जीवन के बोध के बिना सारी दौड़ बेकार रही। शिवरात्रि हमें, हम सबको यही बताने आई है कि बहुत खो चुके, बहुत सो चुके, अब और न खोओ, अब और न सोओ। आज संकल्प लो अपने जीवन को पवित्र बनाने का, उसे ऊँचा उठाने का। आज और अभी संकल्प करना होगा, आत्मज्ञान को जाग्रत् करने का, आचार-विचार को सुधारने का। जो इस शरीर का सत्य और अमूल्य तत्त्व आत्मा है, उसे जानने का।

शिव के सनातन अंश उस आत्मा के निकल जाने पर यह शरीर शव रह जाता है। आत्मा के रहते हुए ही इस शरीर में गति, सुंदरता और आकर्षण है। संबंधों में मधुरता है। उस चेतन आत्मा को अपने आराध्य, अपने सर्वस्व शिव से मिलना है। उस शिव रूप परमेश्वर से बिछुड़े हुए इसको न जाने कितने युग बीत गए। कैसी यह विचित्र विडंबना है कि एक ही मकान में युगों से साथ-साथ रह रहे हैं, लेकिन कभी बात नहीं होती, कभी मुलाकात नहीं होती। इस शरीररूपी मकान में आत्मा-परमात्मा दोनों का ही वास है। इस शरीर में दोनों ही हैं, किंतु साथ रहने पर भी, आत्मा अपने प्रिय शिव से बात नहीं कर पाती, मिल नहीं पाती है, क्योंकि मिलने की चाह नहीं है। मिलने के लिए अधीरता व आतुरता नहीं है। दरद व बेचैनी नहीं है। हो भी कैसे, वह तो अज्ञान व जड़ता के घोर अँधेरों में अपने स्वरूप को भुला चुकी है। अब तो उसे झूठ-प्रपंच व विषय-भोग की चर्चा व चिंतन अच्छा लगने लगा है, अपने शिव से इस आत्मा ने मुख मोड़ लिया है। उसे अब शिव से प्यार नहीं रहा, जरूरत नहीं रही। स्थिति तो यह है कि उसने भगवान् शिव को जीवन से निकाल दिया है।

शिवरात्रि—शिव से मिलने की रात्रि है। जिसमें आत्मा का मंगलकारी शिव से मिलना होता है। इस गहरे मिलन में परस्पर संवाद होता है। बिछुड़ों का योग होता है। फिर नींद कहाँ ? पहले आत्मा अपने परमप्रिय शिव से मिलन की तैयारी करती है। साफ, स्वच्छ व निर्मल बनती है। सारा दिन इस मिलन की प्रतीक्षा में गुजारती है। कीर्तन, पूजा-पाठ में दिन बिताती है। प्रायश्चित्त से अपने पापों को धोती है, रोती है, तब कहीं जाकर रात्रि में शिव से मिलन होता है।

यही भाव इस महापर्व की सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक चेतना है। इसी से जीवन में चैतन्यता का संचार होता है, पर आज यह संचारी भाव कहीं रहा नहीं। पर्व के पीछे जो मूल दृष्टि, चिंतन व विचार निहित थे और हैं, उन्हें हमने खो दिया है और खोते जा रहे हैं। शिवरात्रि में समाई आत्मनिर्माण, आत्मसुधार एवं आत्म-उत्थान की चेतना आज के दिन मच रहे धूम-धाम, उठे रहे शोर-शराबे, भाग-दौड़ कर रही भीड़ के जलसे-जुलूस और कोलाहल में कहीं नजर नहीं आ रही। यह शिव के भक्त की नहीं शिव से विभक्त की पहचान है। सच्चा शिवभक्त तो वह है, जिसकी अंतर्चेतना में आज कल्याणकारी संकल्प के स्वर मुखर हों। जो आज शिव के मिलन के लिए अपने आत्मसुधार का एक नया पग आगे बढ़ाए। जिसमें पाप-अधर्म, बुराई को छोड़ने की ललक, बेचैनी, दरद, छटपटाहट की कसक तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम हो उठे। आज शिवरात्रि के पुण्य पर्व पर शिव स्मरण करते हुए परखें अपनी शिव भक्ति को और कुछ ऐसा कर दिखाएँ कि औढ़रदानी महेश्वर अपने वरदान देने के लिए मचल उठे।

*

झगड़ते धर्म नहीं, मानवी दुर्बलता एवं अहं ही हैं

जॉन सोवस्की के व्यक्तित्व में अनूठा जादू था। समस्त मानवीय गुण उसके जीवन में अपनी आभा बिखेरते थे। वीरता उसे विरासत में मिली थी, विद्वत्ता एवं विचारशीलता उसने अर्जित की थी। उसका जन्म सन् १६२४ में पोलैंड के एक प्रतिष्ठित खानदान में हुआ था। यह वही खानदान था, जिसमें कभी एक ऐसा योद्धा पैदा हुआ था, जो रूस के राजा को बंदी बनाकर वारसा ले आया था। अतः यह स्वाभाविक था कि सोवस्की को वीरता विरासत में मिलती।

सोवस्की जितना बहादुर था, उतना ही अध्ययनप्रिय भी था। प्रचलित साहित्य के अलावा अन्य देशों की ज्ञान संपदा भी उसे लुभाती थी। वह कहा करता था कि जो विभिन्न महापुरुषों के चिंतन के साथ रहते हैं, वे समझो कि उन्हीं के साथ रहते हैं। वह यदा-कदा अपने समवयस्क मित्रों से कहा करता कि मेरा एक अदृश्य परिवार है। जिज्ञासा करने पर वह स्पष्ट करता कि जिन लोकोत्तर व्यक्तियों के विचारों को मैं पढ़ता हूँ, वे भी मेरे परिवार के सदस्य हैं। मेरे जीवन के अभिन्न अंग हैं। अपने विचारों के रूप में सदा ही मेरे साथ रहते हैं। राह भटकने पर मुझे जीवन का मार्ग दिखाते हैं।

अध्ययनप्रिय सोवस्की सत्संगप्रिय भी था। कैथोलिक साधुओं के प्रति वह अखंड श्रद्धा से अभिभूत था। उसकी साधु संगत ने उसे ईश्वरनिष्ठ बना दिया था। साधना उसके जीवन का अभिन्न एवं अविभाज्य अंग बन गई थी। जीवन के सत्य को जानने के लिए वह घंटों एकांत में बिताया करता। इस क्रम में उसने अपनी समूची जीवनचर्या को तपश्चर्या बना डाला था। उससे जो भी मिलता, उसके जीवन से प्रभावित हुए बिना न रहता। उसके जीवन में एक ओर सदाशयता, दयालुता एवं करुणा छलकती थी, तो दूसरी ओर उसकी वीरता के प्रचंड तेज के सामने दृष्टि ठहर नहीं पाती थी।

यह सत्रहवीं सदी के मध्य का समय था। उन्हीं दिनों एक ऐसी घटना घटी जिसने उसके सुव्यवस्थित जीवन में ज्वार ला दिया। उसकी विचारशीलता उद्वेलित हो उठी और उसकी वीरता की तेज लपटों की चमक ने समूचे यूरोप को प्रकाशित कर दिया। यह वही समय था जब तुर्की के लोग इस्लाम के नाम पर समस्त जन-जीवन को आतंकित करने में जुटे थे। प्रेम और भाईचारे के धर्म इस्लाम को उन्होंने आतंक एवं बर्बरता का पर्याय बना दिया था। उनके जेहाद के जुनूनी नारे से समूचा यूरोप थर्रा उठा था।

सन् १६७२ ई. में तुर्कों ने पोलैंड की शासन सीमा में आने वाले उक्रेन पर हमला कर दिया। यह हमला इतना अचानक एवं भयानक था कि पोलैंड वालों से कुछ भी करते न बना। नगर और ग्राम एक साथ चीख उठे। उस समय सोवस्की अपने अध्ययन, चिंतन एवं साधना में डूबा हुआ था। हालाँकि इन दिनों भी उसके युद्धाभ्यास का सिलसिला यथावत् था और इसी कारण उसे लोग ग्रैंड मार्शल भी कहते थे। ऐसी स्थिति बनने पर सबकी निगाह अपने ग्रैंड मार्शल पर जा टिकी। नगरवासी-ग्रामवासी सभी झुंड-के-झुंड उसके पास पहुँचने लगे।

साधक, साधु और वीर सोवस्की करुणा और क्रोध से भर उठा। उसे आश्चर्य हुआ मजहब की इस जुनूनी व्याख्या पर, जो तुर्की के लोग कर रहे थे। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि समूचे विश्व में यदि इस्लाम का प्रचार करना है, तो इसमें तलवार की क्या जरूरत है। भला कैसे कोई उस मजहब को मानने के लिए तैयार होगा, जिसके अनुयायी आतंकवादी और बर्बर हों। जो औरतों को विधवा बनाने, बच्चों को अनाथ करने, मजलूमों को सताने और निर्दोषों को मारने में यकीन रखते हों। वह सोचने लगा कि अरे इस्लाम का ही प्रचार करना है, तो प्रेम और भाईचारा फैलाओ। पहले अपने खुद के जीवन में पैगंबर मोहम्मद की शिक्षाओं को अपनाओ, फिर उन बातों को दूसरे भी मानेंगे, पर दूसरे ही पल उसके दिमाग में आया कि आतंकवादियों को भला मजहब की इन बारीक बातों की समझ कहाँ? वे तो सिर्फ तलवार की धारदार भाषा ही समझते हैं।

अपने इसी सोच-विचार और निश्चय के साथ जान सोवस्की ने आनन-फानन में फौजें संगठित कीं और तुर्कों का मुकाबला करने के लिए चल पड़ा। तब तक तुर्क उक्रेन पर अधिकार जमा चुके थे। अब तुर्क फौज पोलैंड की राजधानी की ओर बढ़ रही थी। सोवस्की ने उसे रास्ते में रोका। घमासान लड़ाई हुई, लेकिन जीत किसी की भी नहीं हुई। न तो तुर्क आगे बढ़कर अपना झंडा पोलैंड की राजधानी में फहरा सके और न सोवस्की उक्रेन को मुक्त

कर सका, परंतु उसके हौसले अडिग थे। उसने घोषणा की, यह युद्ध मानवता के प्रेमियों और आतंकवादी बर्बरता के बीच है। इसे निर्णायक होना ही है और जब तक आतंकवादियों के हौसले पस्त नहीं हो जाते, मैं इसी तरह युद्ध के मैदान में डटा रहूँगा।

दृढ़प्रतिज्ञ सोवस्की पाँव अड़ाकर उक्रेन की सीमा पर डट गया और समय तथा अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। कभी छुट-पुट तो कभी तेज संघर्ष चलता रहा। ऐसे ही एक वर्ष बीत गया। एक वर्ष बाद उसे मौका मिला और उसने तुर्कों से उक्रेन को मुक्त करा दिया। तुर्क शांति-संधि पर हस्ताक्षर करने पर मजबूर हुए। पोलैंड में चारों ओर इस मुक्तिदाता की जय-जयकार गूँज उठी। देशवासियों ने इस वीर को अपने सर-आँखों पर बिठा लिया और उसे अपना राजा चुना। शानदार समारोह के साथ उसकी ताजपोशी हुई। अगले दस वर्षों तक सोवस्की शांतिपूर्वक अपने देश के विकास कार्यों में जुटा रहा। तुर्क भी जैसे-तैसे अपनी संधि की शर्तों का पालन करते रहे। हालाँकि उनकी नीति और नियति दोनों ही सुधरी न थीं।

सन् १६८३ के वसंत के मौसम की सुबह अचानक यह खबर फैली कि दो लाख की खूँख्वार फौज के साथ तुर्क फिर से समूचे यूरोप में इस्लाम का प्रचार करने चल पड़े हैं। जब तक लोग इस खबर की सचाई का पता करें और सावधान हों, तुर्क सैनिक तूफान की तरह बढ़ते हुए यूरोप में घुस आए। गाजर-मूली की तरह लोगों को काटते, घरों को फूँकते, फसलों को रौंदते और जेहादी नारे लगाते हुए तुर्क सैनिक वियेना तक आ धमके और देखते-ही-देखते इस्लाम का झंडा गाड़ दिया। समूचे आस्ट्रिया पर आतंकवादी हुकूमत छाने लगी। रोज नए-नए फतवे और फरमान जारी होने लगे।

उस समय पूरे यूरोप में ईसाई धर्म का बोलबाला था। तुर्क सैनिकों के इस मजहबी उन्माद से पूरा यूरोप और ईसाई जगत् काँप उठा। ईसाई धर्म के सर्वेसर्वा पोप की घबराहट बढ़ गई। उसकी नींद गायब हो गई, बेचैनी बढ़ गई। उसने राजाओं और क्षत्रपों का आह्वान किया, इस्लाम की तलवार का मुकाबला तलवार से करो......, वीर सपूतो आगे आओ और ईसाइयत की रक्षा करो, परंतु पोप की इस छटपटाहट भरी पुकार सभी ने सुनी-अनसुनी कर दी। कोई भी आगे न आया।

विचारशील सोवस्की की समूची स्थिति पर नजर थी। वह जानता था कि धर्म तो शाश्वत है, इसे भला कौन नष्ट करेगा। इस्लाम बनाम ईसाइयत की बात भी उसे हास्यास्पद लगी, क्योंकि वह जानता था कि जो मौलिक तत्त्व ईसाइयत में है, पैगंबर मोहम्मद ने भी इस्लाम में उन्हीं मौलिक तत्त्वों का उपदेश अपनी परिस्थितियों के अनुरूप अपनी भाषा में दिया है। उसे मालूम था कि झगड़ते धर्म नहीं, बल्कि मनुष्य के अहंकार और दुर्बलताएँ ही आपस में टकराती रहती हैं। परंतु अभी तो प्रश्न आतंकवादी बर्बरता से मानवता और मानवीय मूल्यों की रक्षा का था। इस प्रश्न के समाधान के लिए सोवस्की ने केवल अठारह हजार जाँबाज सैनिकों की फौज ली और तुर्कों की विशाल सेना का मुकाबला करने के लिए बढ़ चला। सोवस्की के सामने तुर्क ठहर नहीं सके। उन्हें वियेना से भागना पड़ा। वियेना की यह मुक्ति पूरे यूरोप के लिए मुक्तिदायी संजीवनी साबित हुई। उसी के साथ सोवस्की पूरे यूरोप का वीर शिरोमणि बन गया।

ईसा के शत्रु उनकी जान के ग्राहक बने हुए थे। शिष्यों ने सलाह दी, हमें येरुशलम छोड़कर कहीं अन्यत्र चल देना चाहिए।

ईसा सहमत नहीं हुए और कहा, ''सत्य को न तो डरना चाहिए और न भागना। परीक्षा की कसौटी से तो वह और अधिक निखरता है।''

सम्मान और सत्ता के शीर्ष पर पहुँचकर भी सोवस्की की साधुता और साधना यथावत् बनी रही। वह सच्चा साधक था। उसके हृदय में सत्य की सच्ची लगन थी। वह अपनी अनुभूति को शब्द देते हुए कहता, धर्म ईसाई हो अथवा इस्लाम या फिर कोई और वह वस्तुतः प्रेम, त्याग और सेवा के तीन शब्दों में सिमटा है। इन तीन के अलावा जहाँ कोई अन्य विरोधी भाव हैं, वहाँ न तो धर्म रह सकता है और न ही धार्मिकता पनप सकती है। धर्म साधना के इस सच्चे साधक की मृत्यु भी बड़े ही धार्मिक ढंग से हुई। वह आरामकुर्सी पर निश्चिंत लेटा हुआ प्रभु से प्रार्थना करने में लीन था। उसकी आँखें दीवार पर लटके ईसा के क्रॉस पर लगी थीं। प्रार्थना में इस तरह लीन सोवस्की की चेतना सदा के लिए अपने प्रभु में लीन हो गई। आरामकुर्सी पर बस उसका शरीर पड़ा रहा। उस दिन सन् १६९६ का ईस्टर था, ईसाइयों का पवित्र दिन। ✡

तप से श्रेष्ठ और कुछ नहीं

'बड़ा दानी बनता है तू, चल मुझे अभी इसी क्षण भोजन करा' कटु वचन बोलने वाला वह साधु क्रोध की साकार मूर्ति नजर आ रहा था, परंतु उसके इस स्वभाव के विपरीत महर्षि मुद्गल शांति के स्वरूप थे। वह बड़े ही विनम्र स्वर में बोले, आपका स्वागत है तपस्वी श्रेष्ठ। हालाँकि उसका स्वागत करते हुए वह सोच रहे थे कि उनकी कुटिया पर इस तरह कभी कोई क्रोधित होकर नहीं आया। फिर भी 'अतिथि देवो भव' के इस श्रुति वाक्य का चिंतन करते हुए वह आगंतुक साधु के भोजन-उपक्रम में व्यस्त होने लगे।

महर्षि मुद्गल यज्ञ-परायण और वीतराग भाव से अपनी घास-फूस की कुटिया में तप कर रहे थे। जितेंद्रिय एवं परम तपस्वी महर्षि शिलोञ्छवृत्ति से अपना जीवनयापन करते थे। पत्नी, पुत्र एवं पशु-पक्षियों से युक्त अपनी कुटीर में वह अभाव एवं संकटविहीन स्थिति में शांतिपूर्वक रह रहे थे। संसार की विषय-वासना से कोसों दूर रहने वाला उनका परिवार किसानों के खेत-खलिहानों में चला जाया करता था और जो अन्न-कण इधर-उधर फैले रहते थे, वह उन्हें इकट्ठा कर लेते। इस वृत्ति से वह केवल उतने ही अन्न का संग्रह करते, जितने से वह अपने परिवार समेत केवल पंद्रह दिनों तक एक समय पेटभर भोजन पा सकें। इसमें भी बची अन्न राशि से वह अतिथि सत्कार कर लिया करते। समस्त प्राणिमात्र के प्रति ईर्ष्या व द्वेष-भाव से रहित महर्षि शुक्ल पक्ष में दर्श और पौर्णमास यज्ञ का नियमित अनुष्ठान करते थे। उनके इस यज्ञ में देवराज इंद्र स्वयं साकार रूप में उपस्थित होकर अपना भाग ग्रहण करते और मुनिवर को प्रणाम-प्रणिपात कर धन्य होते।

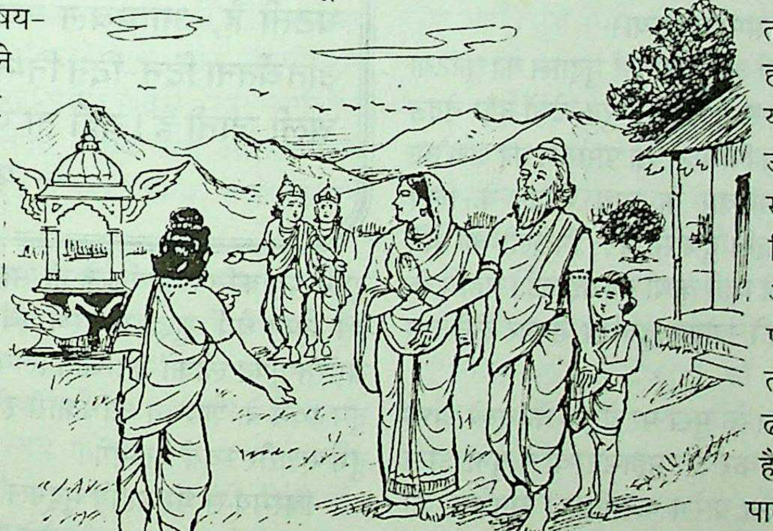

महर्षि का तपोलीन जीवन इसी भाँति चल रहा था। पौर्णमास यज्ञ करने के बाद वह सभी अतिथियों को भोजन कराते, उसके पश्चात् वह स्वयं भोजन करते। उन पर यह भगवत्कृपा ही थी कि एक द्रोण धान से बने अन्नदान के साथ अतिथियों के आगमन के बावजूद वह अन्न घटता नहीं था। उन्हें कभी अभाव का अनुभव नहीं हुआ। वेदज्ञ ब्राह्मणों, अतिथियों, देवों को भोजन कराने के बाद भी उनके छोटे से परिवार के लिए भोजन बचा ही रह जाता। उनके दान-धर्म एवं तप की अक्षय कीर्ति समूचे भूमंडल में फैल जाने के बावजूद महर्षि की विनम्रता यथावत् बनी रही।

यद्यपि उनकी इस अक्षय कीर्ति से देव और ऋषि भी ईर्ष्या से व्याकुल होने लगे थे। सहज क्रोधी ऋषि दुर्वासा भी इस ईर्ष्या की बयार से अछूते न रहे। उन्हें यह सहन नहीं हो पाया, उनके तप के सामने किसी अन्य ऋषि के तप के माहात्म्य की चर्चा हो। महर्षि मुद्गल की यशोगाथा से उद्वेलित-उत्तेजित ऋषि दुर्वासा ने सोचा कि देखता हूँ कौन कितना दान-धर्मव्रती है? अभी लेता हूँ जाकर परीक्षा। बेकार का तपस्वी-दानी होने का ढोंग फैला रखा है। देखते हैं कौन-कितना टिक पाता है मेरे सामने।

महर्षि मुद्गल की साधना में विघ्न डालने की आकांक्षा से सब कुछ छोड़-छाड़ क्रोध में फुफकारते दुर्वासा अवधूत वेश में चल पड़े थे और उन्होंने महर्षि मुद्गल की कुटिया के द्वार पर क्रोधित स्वर में भोजन देने का आग्रह किया। उनकी सोच थी कि अब तो सारे अतिथि जा चुके हैं और इनके पास अन्न होगा नहीं। ऐसे में यह मुझे कहाँ से भोजन करा पाएँगे। एक पल में धराशायी हो जाएगा दानी होने का ढोंग। ऋषि दुर्वासा अपने ही ख्यालों में डूबे थे।

तभी उनके कानों में महर्षि मुद्‌गल की आवाज पड़ी, आइए ऋषिश्रेष्ठ! भोजन तैयार है। यह कहते हुए महर्षि दुर्वासा के चरणों में झुक गए। क्षण भर में उन्होंने आचमनीय अर्घ्य दिया और पूजन की सामग्री दी। फिर अतिथि व्रती महर्षि ने दुर्वासा को भोजन के लिए बिठाया। यज्ञोपरांत जो कुछ भोजन सामग्री उन्होंने अपने लिए बचाकर रखी थी, वह उन्हें परोस दी। सारा खाना झटपट खत्म करके क्रोधी दुर्वासा ने आँखें तरेंरी, अभी मेरी क्षुधा शांत नहीं हुई है और भोजन लाओ। धैर्यवान महर्षि ने उन्हें फिर से भोजन परोसा। दुर्वासा ने अपनी जिद के चलते महर्षि के हिस्से का ही नहीं उनकी पत्नी एवं पुत्र के हिस्से का भी भोजन खा लिया। इतना ही नहीं अपनी थाली के अवशिष्ट-उच्छिष्ट को अपनी देह पर मल लिया और बड़बड़ाते हुए वापस लौट गए।

अतिथि व्रतधारी महर्षि के मन में दुर्वासा के प्रति गहरी श्रद्धा उमड़ आई। उन्होंने भावविभोर होकर सोचा, चलो प्रभु की कृपा से अनुष्ठान पूर्ण हुआ। हालाँकि उन्हें अन्नाहार नहीं मिल सका, पूरे परिवार को भी भूखे रहना पड़ा, परंतु अतिथि की संतुष्टि में महर्षि प्रसन्न और संतुष्ट थे। इसी आनंद से भरे उन्होंने और उनकी पत्नी व पुत्र ने यह पर्व व्रत रखकर ही समाप्त किया।

इसके बाद दूसरा पर्व आया। महर्षि मुद्‌गल की कुटिया फिर से यज्ञीय वैभव से भर गई। आज पुनः देवों और वेदज्ञ ब्राह्मणों ने भोजन किया। निर्विघ्न यज्ञ पारायण का क्षण आ पहुँचा। महर्षि अपने परिवार के साथ भोजन के लिए बैठने वाले ही थे कि ऋषि दुर्वासा पुनः पिछली बार की तरह आ धमके। फिर से वही कथा दुहराई गई। महर्षि के बचे हुए सारे भोजन को खाकर दुर्वासा डकार लेते हुए चले गए।

परमतपस्वी मुद्‌गल के मुख पर वेदना के धब्बे अभी भी न आए। निराहार रहकर उन महामनस्वी ने पुनः अन्न के दानों का संग्रह करना प्रारंभ कर दिया। अनाहार की पीड़ा उन्हें विचलित न कर पाई। उनकी शांत अंतर्चेतना में किसी भी तरह की ईर्ष्या, क्रोध या फिर किसी दूसरे विकार की कोई तरंग न उपजी, न ही उनमें अधिक अन्न संग्रह की कोई चाह जगी। हालाँकि प्रत्येक पर्व पर ऋषि दुर्वासा का आगमन यथावत् था। वह महर्षि की परीक्षा के लिए प्रतिबद्ध थे कि देखें कब तक उनका हृदय विचलित नहीं होता है। अपनी इसी प्रतिबद्धता के साथ वह लगातार छह पर्वों तक आते रहे और महर्षि मुद्‌गल को सपरिवार निराहार रहना पड़ा। किंतु उनकी साधना भंग न हुई। दुर्वासा ने उन्हें कभी विकारमय न पाया। निर्मल अंतःकरण वाले महर्षि बड़े ही विनम्र भाव से दुर्वासा का अतिथि-सत्कार करते रहे। उनके कटु-तिरस्कारपूर्ण वचनों को भी उन्होंने अतिथि द्वारा लाई गई भेंट के रूप में ही उत्साहपूर्वक स्वीकार किया।

सहनशीलता से परिपूर्ण, ईश्वरभक्ति से ओत-प्रोत चित्त महान्-से-महान् आपदाओं पर विजय पा लेता है। ऐसा ही कुछ महर्षि के साथ हुआ। उनके व्यवहार ने क्रोध की साकार मूर्ति दुर्वासा के पाषाण हृदय को भी पिघला दिया। सहिष्णुता की विजय हुई, दुर्वासा दयार्द्र हो उठे। उन्होंने महर्षि से दया भरे वचनों से कहा, महर्षि! तुम्हारे समान ईर्ष्यारहित दानी इस धरती पर कोई अन्य नहीं हो सकता। भूख बड़े-से-बड़े धर्मज्ञानियों के ज्ञान का हरण कर लेती है। उनका धैर्य चुक जाता है। फिर परिश्रम से उपार्जित धन और अन्न का दान कर पाना अति कठिन होता है। किंतु तुमने यह कठिन कार्य बड़े ही सहज भाव से कर दिखाया है। अपने धैर्य, शुद्ध आचरण एवं श्रेष्ठतम कर्मों से तुमने समस्त पुण्य लोकों को जीत लिया है। अपने श्रेष्ठ तप से तुम स्वर्ग के शाश्वत अधिकारी हो। मेरा आशीर्वाद है कि तुम सशरीर स्वर्ग जाओगे।

> **परमार्थ मानव जीवन का एक अत्यंत आवश्यक धर्म-कर्त्तव्य है। इसकी उपेक्षा करते रहने से अपनी आध्यात्मिक पूँजी घटती है, आत्मबल नष्ट होता है और अंतर्चेतना दिन-दिन निम्न स्तर की बनती चली जाती है। यही तो पतन है।**
>
> — *परमपूज्य गुरुदेव*

विस्मय से भरे महर्षि मुद्‌गल दुर्वासा की इस वाणी को सुनते रहे और सचमुच ही थोड़े ही क्षणों के पश्चात् देवों के प्रभाव से सभी के देखते-देखते कुछ देवदूत विमान सहित वहाँ उपस्थित हो गए। यह दिव्य विमान विलक्षण था। धरती पर देवों के इस अद्भुत विमान को उतरते हुए देखकर सभी चकित थे। देवदूतों ने महर्षि से कहा, "हे तपस्वी श्रेष्ठ! आपने अपने कठोर तप से इच्छाधारी इस विमान को प्राप्त कर लिया है। आपने अपने अद्भुत तप और दान से परम गति प्राप्त कर ली है और इसलिए आप इसी शरीर से स्वर्ग में प्रवेश करने के अधिकारी हैं।"

परमतपस्वी निरभिमानी महर्षि देवदूत के इन वचनों को सुनकर वैसे ही संयत रहे। उन्होंने देवदूत का श्रद्धाभाव भरा स्वागत किया और विनम्र वाणी में पूछा, "भद्र, मैं स्वर्ग में रहने वालों की तपस्या, स्वर्ग के सुख और स्वर्ग में रहने से कौन-कौन से दोष होते हैं ? इन सबके बारे में ज्ञान प्राप्त करके ही यह निर्णय कर सकूँगा कि स्वर्ग जाऊँ या नहीं ? क्योंकि तपस्या की इस कर्मभूमि धरती को मैं स्वर्ग-सुख की लालसा में क्षणभर के निश्चय से नहीं त्याग सकता।"

देवदूत हैरान थे। उन्हें अचरज हो रहा था कि सभी जीव जिस स्वर्ग के एक क्षण भर के सुख को पाने के लिए अगणित यत्न करते हैं, उसी स्वर्ग का आग्रहपूर्ण निमंत्रण मिलने पर भी ये महर्षि कोई उत्साह नहीं दिखा रहे हैं। विवश देवदूतों ने अंततः महर्षि का आग्रह स्वीकार करके उन्हें स्वर्ग के बारे में बताना शुरू किया—

हे तपोधन! जिसे स्वर्गलोक कहा जाता है वह यहाँ से पर्याप्त दूर ऊपर की ओर है। वहाँ तक जाने का रास्ता अति उत्तम है। हे ऋषिश्रेष्ठ! जिन्होंने उत्तम कोटि की तपस्या नहीं की, जिन्होंने महायज्ञों का आयोजन नहीं किया, जो नास्तिक एवं ईश्वरविमुख हैं, वे इस पुण्य लोक में प्रवेश नहीं पा सकते। हे दिव्यात्मा! आपकी भाँति धर्मात्मा, मन और इंद्रियों को वश में करने वाले, शांत, संयमी, दान एवं धर्म में निरत लोग वहाँ प्रवेश पाते हैं। उस स्वर्गलोक में ही देव, सिद्ध, विश्वदेव, गंधर्व तथा अप्सराओं के अलग-अलग लोक हैं। ये सभी लोक तेजोमय एवं मंगलकारी हैं।

हे तपस्वी श्रेष्ठ मुद्गल! स्वर्ग में भूख, प्यास, ग्लानि, शीत, उष्णता, भय, दुःख तथा शोक आदि विकारों के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। वीभत्स, अशुभ एवं अमंगल की वहाँ छाया तक नहीं है। हे महर्षि! जो अपने सत्कर्मों से स्वर्ग पर विजय पा चुके हैं, वे वहाँ अति सुखपूर्वक निवास करते हैं। सभी तरह की चिंताओं, परेशानियों एवं दुःखों से सर्वथा मुक्त होता है उनका जीवन। यहीं अन्य सभी देवलोकों से ऊपर ब्रह्मलोक भी है, जो अत्यंत तेजोमय एवं मंगलकारी है। इस लोक में अपने शुभ कर्मों से शांतात्मा ऋषि-मुनि जाते हैं। यहीं देवों के आराध्य ऋभुगण रहते हैं। स्वर्ग के देवता भी इन ऋभुगणों की परम गति की कामना करते हैं। यह परम सिद्धि की अवस्था है, जो परम दुर्लभ है। आपने अपने तप और दान से इसे प्राप्त किया है। अब आप वहाँ चलकर इसका उपयोग करें।

विचारमग्न महर्षि ने उस देवदूत को टोकते हुए कहा, भद्र अभी तक आपने स्वर्ग के सुख-संसाधनों का वर्णन किया है, इसके अवगुणों की ओर भी संकेत करें। मुझे यह भी बताएँ कि क्या यहाँ कठोर एवं उग्र तपस्या संभव है अथवा नहीं।

महर्षि आपका प्रश्न सर्वथा उचित है। यह सत्य है कि स्वर्ग में दोष भी हैं। हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! यहाँ केवल जीवात्मा अपने श्रेष्ठ कर्मों को भोगता है। यहाँ उसे किसी भी नए कर्म करने का अवकाश नहीं है। अपने पुण्यों को गँवाकर ही कोई स्वर्ग का सुख पाता है। पुण्यों के समाप्त होने पर उसे पुनः धरती पर वापस लौटना पड़ता है। पुण्य क्षीण लोगों के स्वर्ग-भ्रष्ट होने पर उनकी चेतना लुप्त होने लगती है। स्वर्ग के सभी लोकों का सबसे बड़ा दोष यही है कि यहाँ कोई हमेशा-हमेशा नहीं रह पाता। स्वर्ग में तप करना संभव नहीं है महर्षि। तपोभूमि एवं कर्मभूमि तो यह धरती ही है और यही स्वर्ग फलभूमि भी है।

देवदूतों की ये बातें सुनकर महर्षि कुछ पलों के लिए अपने गहन विचारों में निमग्न हो गए और फिर देवदूत को प्रणाम करते हुए उन्होंने विनम्र स्वर में कहा, हे महाभाग! मैं आपको भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ। अब आप सुखपूर्वक लौट जाएँ। मुझे स्वर्ग की कोई कामना नहीं है।

महर्षि के इन वचनों को सुनकर हतप्रभ देवदूतों ने कहा, क्यों ऋषिश्रेष्ठ! मैंने तो आपकी इच्छा के अनुसार स्वर्ग के बारे में संपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। देवदूतों की आशंका को निरस्त करते हुए महर्षि कहने लगे, तुम्हारा कोई दोष नहीं है, परंतु मैं ऐसी किसी भी जगह नहीं जाना चाहता, जहाँ पर तप करना संभव नहीं है। मुझे महान् दोषों से भरे हुए स्वर्ग का एक क्षण भी स्वीकार नहीं है।

विनम्र भाव से देवदूतों को वापस कर महर्षि पुनः कठोर तप करते हुए उस मार्ग पर चल पड़े, जो सनातन और अविनाशी प्रभु का धाम है। जहाँ न शोक है, न पीड़ा और न ही पतन का भय। जहाँ सत्-चित्-आनंद की शाश्वत चेतना आलोकित है। समत्व बुद्धि से भरे महर्षि का जीवन और भी अधिक प्रखर तप से प्रकाशित हो उठा। निंदा-स्तुति में समान महर्षि के लिए स्वर्ग और धूलिकणों में कोई अंतर न था। अंततः तपोनिष्ठ महर्षि ने देवों को भी दुर्लभ ईश्वरभक्ति एवं मोक्ष की परमोच्च अवस्था की प्राप्ति की। उनकी कथागाथा आज भी सभी लोकों में संव्याप्त होकर इस सत्य का उद्घोष करती है कि तप ही श्रेष्ठ है! तप ही श्रेष्ठ है!! तप ही श्रेष्ठ है !!! तप से श्रेष्ठ और कहीं कुछ भी नहीं। ☐

यह जन्म एक लंबी शृंखला की कड़ी मात्र

जीवन-मरण के चक्र की स्वसंचालित प्रक्रिया ऐसी है कि व्यक्ति निश्चित अवधि पूरी कर इस संसार-सागर से प्रयाण कर जाता है और उसकी अगली कड़ी के रूप में पुनः जन्म धारण कर उस शृंखला को अक्षुण्ण बनाए रहता है। इस क्रम में अक्सर व्यक्ति अपने पूर्व जन्मों को विस्मृत कर जाता है और वर्तमान जन्म ही उसे प्रथम और अंतिम प्रतीत होता है, पर कई बार उसे पूर्व जन्म की स्मृति हो जाती है, तब पता चलता है कि उसके जीवन में जो असामान्य व्यवहार था, उसके पीछे का रहस्य क्या था।

ऐसी ही पुनर्जन्म से संबंधित एक घटना का उल्लेख गोय प्लेफेयर ने अपनी पुस्तक 'दि फ्लाइंग कार्ड' में किया है। घटना टीना नामक एक बालिका से संबंधित है। जब वह चार वर्ष की हुई, तो प्रायः अपने माता-पिता के साथ लोहार्व बंदरगाह आने-जाने लगी। वहाँ वह घंटों समुद्र के किनारे बैठी रहती और दूर से आ रहे जहाजों को देखती रहती। उनसे आने-जाने वाले यात्रियों से वह घुल-मिलकर बातें करती, पर जो यात्री या नाविक फ्रांसीसी होते, उनके साथ उसका व्यवहार दूसरों की अपेक्षा भिन्न होता। उनसे वह कुछ अधिक ही अंतरंग हो उठती और घर-परिवार के सदस्यों की तरह उन्मुक्त बातें करने लगती। यह क्रम निरंतर लंबे समय तक चलने के कारण वह आसानी से फ्रांसीसी भाषा सीख गई और भलीभाँति बोलने लगी, पर इस दौरान उसे एक विचित्र अनुभव भी हुआ। जब कोई जर्मन यात्री सामने पड़ता, तो घृणा से वह मुँह फेर लेती। उस ओर देखना तक पसंद नहीं करती। इस तरह का व्यवहार वह क्यों करती है, उसे स्वयं पता नहीं था। जर्मन भाषा से उसे वितृष्णा भी थी। अभी वह आयु में बहुत छोटी थी, पर अपने व्यवहार के इस अंतर को अच्छी तरह समझती थी। उसका बाल-मस्तिष्क इसके पीछे के रहस्य को न समझ सका। इसके माता-पिता भी उसके बर्ताव की इस विचित्रता को देख रहे थे, लेकिन किसी प्रत्यक्ष कारण के अभाव में वह गुत्थी नहीं सुलझा पा रहे थे।

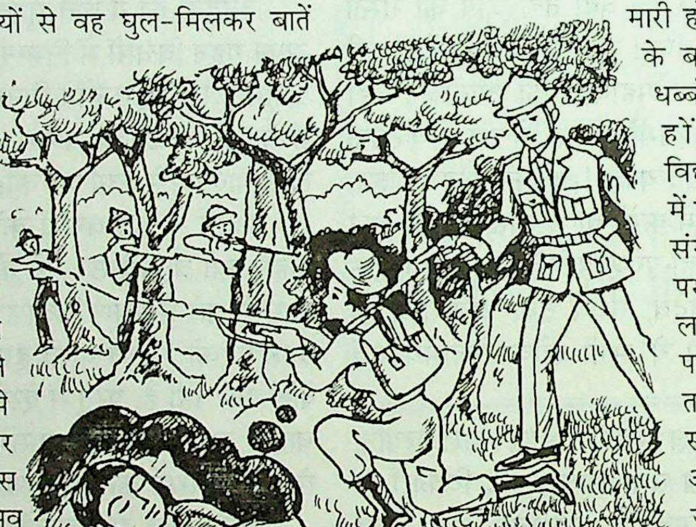

एक रात टीना ने बड़ा भयानक स्वप्न देखा। उसने देखा कि युद्ध के मैदान में एक सैनिक रूप में वह भी हिस्सा ले रही है। वह एक झाड़ी के पीछे छिपी हुई है और अपने शत्रुओं पर अंधाधुंध गोली बरसा रही है। इसी मध्य पीछे की झाड़ी में कुछ सरसराहट अनुभव हुई। वह सतर्क हुई और पीछे मुड़कर देखा, तो सामने एक जर्मन सैनिक खड़ा मुस्करा रहा था। अभी वह कुछ समझ पाती कि उस जर्मन ने उस पर गोली चला दी। गोली सीने के पार निकल गई। वह घायल शेरनी की तरह उस पर झपटी और आक्रमण करने का प्रयास किया, किंतु शत्रु की गोली ने उसके हृदय को वेध डाला था, अस्तु, वह देर तक अपनी कोशिश में सफल नहीं हो सकी और फिर शांत हो गई। उसके प्राण निकल गए।

इस रोमांचकारी स्वप्न को देखकर उसकी चीख निकल गई। वह नींद से चौंककर उठ बैठी और स्वप्न के निहितार्थ पर विचार करने लगी। तभी उसे ध्यान आया कि स्वप्न में उसे जहाँ गोली लगी थी, ठीक उसी स्थान पर सामने वक्षस्थल में और पीछे पीठ पर दो काले धब्बे बने हुए हैं। उन धब्बों को देखने से ऐसा प्रतीत होता था, मानो किसी ने उसे गोली मारी हो और उसके घाव सूखने के बाद दो काले निशान उन धब्बों के रूप में शेष रह गए हों। जब वह शरीर पर विद्यमान इन धब्बों और स्वप्न में देखे गए घटनाक्रम के बीच संगति बिठाने के लिए उस पर बार-बार विचार करने लगी, तो धीरे-धीरे फिल्म पर छाई धूल की परत की तरह उसकी पूर्व जन्म की स्मृति साफ होने लगी। उसे आभास हुआ कि पहले जन्म में वह एक फ्रांसीसी थी। उसकी माता का नाम अंजाला तथा पिता का नाम सेवित्रे था। वह फ्रांस की राजधानी पेरिस की निवासी थी। उसका अपना नाम एलेक्स अमादादो था। इसके अतिरिक्त और भी बहुत सारी जानकारियाँ स्वतः ही हो गईं। जब इन सबकी जाँच की गई तो सब सत्य पाए गए। जिस प्रकार ऑडियो-वीडियो टेपों में दृश्य और ध्वनियाँ रिकॉर्ड हो जाती हैं, उसी प्रकार की मानवी मस्तिष्क की बनावट है। उसमें अनेक जन्मों की अनेकों घटनाएँ और जानकारियाँ सुरक्षित और संरक्षित होती हैं। यदा-कदा यही स्मृतियाँ उभरतीं और पुनर्जन्म के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत होती रहती हैं, तब ज्ञात होता है कि हमारा यह प्रथम जन्म नहीं, वरन् जन्म-मरण की लंबी शृंखला की एक कड़ी मात्र है।

⁂

वैदिक ऋषियों की एक परम पावन देन—गुप्तचर्या

सृष्टि के आरंभ से ही मानव की जिज्ञासा और आत्मरक्षा की उत्कट भावना ने उसे अपने प्रतिपक्षियों और प्रतिद्वंद्वियों के बारे में विशेष ज्ञान की ओर सदैव उत्सुक रखा है। इसी ज्ञान-पिपासा ने उस संस्था को जन्म दिया, जिसे 'गुप्तचर्या' कहते हैं। अँगरेजी में यह विधा स्पाइंग कहलाती है और इसमें संलग्न लोग 'स्पाई'। यह स्पाई शब्द संस्कृत के 'स्पश' शब्द के समानार्थी है, जिसका अर्थ होता है, देखने वाला और सतत जागरूक। स्पष्ट है, आज की गुप्तचर व्यवस्था प्राचीन भारत की देन है। तब ऐसे कुछ लोग हुआ करते थे जो हर एक की गतिविधियों और क्रियाकलापों पर निरंतर दृष्टि रखते थे। कालांतर में यही एक व्यवस्थित और संगठित प्रणाली के रूप में विकसित हुआ और उसने गुप्तचर कला को जन्म दिया।

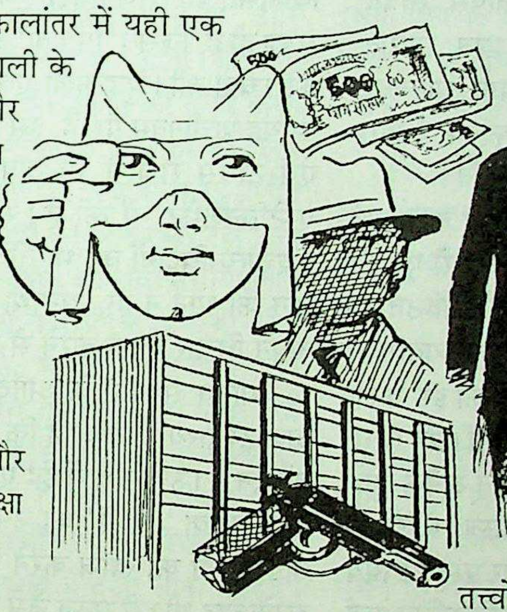

इसका इतिहास अति प्राचीन है। शायद मानव अवतरण के साथ ही इस विधा का भी आविर्भाव हुआ। आदिमानवों ने जब अपने आप को एकाकी और अरक्षित पाया, तो उन्हें आत्मरक्षा के लिए संघर्ष की आवश्यकता महसूस हुई। कदाचित् तभी से अपने विरोधी एवं बैरी के बारे में जानकारी अर्जित करना जीवन की एक महत्त्वपूर्ण अनिवार्यता बन गई। आगे चलकर यह आवश्यकता समाज-व्यवस्था का एक अविच्छिन्न अंग हो गई। राज्य के रूप में राजनीतिक संगठन के जन्म के साथ ही उस संस्था का सुगठित रूप सामने आया और मनुष्य, समाज तथा राष्ट्र के अप्रतिहत विकास एवं समृद्धि के लिए इसका खुलकर प्रयोग होने लगा। ऋग्वेद काल तक यह तंत्र काफी विकसित हो चुका था। इसका प्रमाण वैदिक ऋचाएँ देती हैं—

सहस्रधारेऽव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः।
अस्य स्पशो न नि मिषंति भूर्णयः पदे पदे पाशिनः संति सेतवः।

(ऋग्वेद)

अर्थात् ''शीघ्र गमन करने वाले, दुष्टों को बाँधने वाले गुप्तचर (स्पश) स्थान-स्थान पर हैं। उनकी पलकें कभी नहीं झपकतीं। मधुर जिह्वा वाले, किसी से न मिल जाने वाले वे गुप्तचर राष्ट्र के सहस्रों पुरुषों की सुरक्षा करने वाले हैं और विविध व्यवहार के केंद्रों में दुष्टों को उपतप्त करते हैं।''

इससे स्पष्ट होता है कि सुव्यवस्था, सुरक्षा और प्रगति संबंधी यह तंत्र वैदिक काल में अस्तित्व में आ चुका था। आर्षग्रंथों के अध्ययन से इस बात के पक्के सबूत मिलते हैं कि उक्त काल में राज्य का स्वरूप विकसित हो चुका था। इसलिए उसमें शांति-सुव्यवस्था के लिए यदि गुप्तचर्या जैसी कोई प्रणाली थी, तो इसमें आश्चर्य नहीं। आर्ष वाङ्मय में वरुण के स्वरूप में जिस आदि सम्राट् का वर्णन मिलता है, उससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि समय के साथ-साथ वैदिक राजा ने वरुण के स्वरूप, गुण एवं अधिकारों का ही वरण नहीं किया, अपितु असामाजिक तत्त्वों की गतिविधियों पर ध्यान रखने और उनको दंडित करने के अधिकार को भी ग्रहण किया। वैदिक संहिताओं में समाज की असुरक्षित स्थिति का विशद् वर्णन मिलता है, जिसके लिए देवकुल से प्रार्थना की गई है कि वे केवल प्राकृतिक प्रकोपों एवं दुर्घटनाओं से ही आर्य समाज की रक्षा न करें, अपितु दस्युओं, अनार्यों एवं अराजक तत्त्वों से भी सुरक्षा प्रदान करें। पूर्व और उत्तर वैदिक काल में विकसित नगर प्रणाली के साथ-साथ आर्यों को असांस्कृतिक, अर्द्धसभ्य एवं दुर्दांत जनजातियों से आशंका उत्पन्न हो गई थी। उनके निरंतर दबाव से पारंपरिक समाज विशृंखलित हो रहा था। समाज, संपत्ति और जीवन के प्रति अपराधों के बढ़ जाने के कारण वैदिक जन भयग्रस्त और अशांत जीवन व्यतीत करने लगे थे। ऐसी स्थिति में

भारतीय मनीषा ने एक ऐसा तंत्र विकसित करने का निर्णय लिया, जो न सिर्फ ऐसे तत्त्वों से मनुष्यों और समाज की रक्षा कर सके, अपितु उनके उत्कर्ष में भी बहुमूल्य योगदान दे सके। इसके लिए राज्य में विभिन्न स्तर के स्पशों (जासूसों) की नियुक्ति का प्रावधान था। तदनुसार उनके कार्य और अधिकार में भी अंतर था। कार्यभेद के हिसाब से उनके लिए अलग-अलग पारिभाषिक शब्द गढ़े गए, जिनका उल्लेख महाभारत, रामायण, मनुस्मृति, कामंदक एवं शुक्रनीति, किरातार्जुनीयम्, मुद्राराक्षस, उत्तर रामचरित नाटक, मुक्ति कल्पतरु, कौटिल्य अर्थशास्त्र प्रभृति ग्रंथों एवं स्मृति साहित्य में यत्र-तत्र मिलता है। गुप्तचर्या के संदर्भ में इनमें जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे हैं चर, प्रणिधि, प्रहित, अपसर्प, संचर, पुरुष, गूढ़पुरुष, आण्त, प्रत्यायित, पथिक, उत्पथिक, उपनिषद्, उभयवेतन, कापटिक, उदास्थित, गहपतिक, वैदेहक, तापस, सत्रिन्, तीक्ष्ण, रसद, भिक्षुकी, कर्णेजक, सूचक, छात्र, किरात, यमपट्टिक, अहितुण्डिक, शौंडिक, शौभिक, पाटच्चर, विट, विदूषक, पीठमर्द, वैतालिक, गणक, शकुनिक, भिषग्, नैमित्तिक, सूद, आरालिक, संवाहक, जड़ आदि।

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' ग्रंथ में गुप्तचरों का संदर्भ यह प्रमाणित करता है कि यह संस्था कौटिल्य से पूर्व ही प्रशासन के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। कौटिल्य ने इस बिखरे ज्ञान को सिर्फ सुव्यवस्थित और सुसंगठित भर किया है। अतः कौटिल्य को इस कला का प्रवर्तक और प्रतिष्ठापक मानना गलत होगा। यह विधा किसी एक व्यक्ति या युग की खोज नहीं, वरन् अनेक युगों की परिणति है। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में उसके बिखरे मोतियों को सूत्रबद्ध भर किया है और प्रस्तुत विषय की पूर्व प्रवहमान अजस्र धारा को एक विकसित एवं परिमार्जित रूप दिया है। इसके प्रभूत प्रमाण परवर्ती शताब्दियों तथा पुराण, भास, कालिदास, माघ, बाणभट्ट और दक्षिण के संगम साहित्य से भी मिलते हैं। इस कार्य में कौटिल्य को अपरिमित सफलता मिली। उनके 'अर्थशास्त्र' की दूरदृष्टि और समस्याओं की आकलन शक्ति निश्चित रूप से विस्मयकारी है। इसकी प्रायोगिक उपयोगिता तथा चिरंतन और सूक्ष्मतम विधाओं की स्पष्टता अभूतपूर्व है। जनमत धारा को अपने पक्ष में प्रवाहित करने और मित्र-मंडल में भेद उत्पन्न करने के संबंध में कौटिल्य प्रणीत प्रक्रियाएँ आधुनिक गुप्तचर संगठन को दो सहस्र वर्ष से भी अधिक पीछे ले जाती हैं। विशिष्ट व्यक्तियों की सुरक्षा के संबंध में कौटिल्य ने जिन निर्देशक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, वे समग्रता में इतने सफल हैं कि आज भी हम उनमें कोई सुधार नहीं कर पाए हैं। इतने पर भी दुःख की बात यह है कि हम उनके इस निर्विवाद ज्ञान और उक्त क्षेत्र में उनके उल्लेखनीय योगदान का सही मूल्यांकन करने में संकोच अनुभव करते हैं, वहीं पाश्चात्य विद्वान् चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के एक चीनी संत सुञ्जू को गुप्तचर व्यवस्था का व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला पहला विद्वान् मानते हैं। 'हिस्ट्री ऑफ दि चाइनीज सीक्रेट सर्विसेज' नामक ग्रंथ में ग्रंथकार रिचर्ड डीकन यद्यपि साधिकारिक रूप से यह कह सकने में विफल रहे हैं कि संसार में गुप्तचर्या की औपचारिक व्यवस्था को कब और किसने जन्म दिया, फिर भी उनका विश्वास है कि एक बौद्धिक क्रियाकलाप के रूप में इस कला की संपूर्ण व्यवस्था का पहला अध्येता, विश्लेषक, मूल सिद्धांतों का प्रवर्तक एवं समग्र व्यवस्था के प्रारूप को विकसित कर योजनाबद्ध रूप से प्रस्तुत करने वाला विद्वान् सुञ्जू ही है, जिसने 'पिंग ता' अर्थात् युद्धकला नामक पुस्तक की रचना की। युद्धकला एवं गुप्तचर सेवाओं के संगठन पर यह प्राचीनतम ग्रंथ है, इस विचार की पुष्टि डेविड वायज एवं टामस रोज ने भी अपनी कृति, 'दि ऐस्पिआनिज एस्टेब्लिशमेंट' में की है। संभव है उक्त लेखकद्वय और पाश्चात्य विद्वानों को भारतीय आर्ष साहित्य में वर्णित इस ज्ञान का भान न हो, अन्यथा वे इतने अधिकारपूर्ण ढंग से अपने विचार व्यक्त करने से बचते।

मानव सभ्यता के आदि ग्रंथ ऋग्वेद में इस बात के अकाट्य तथ्य उपलब्ध हैं कि गुप्तचर व्यवस्था आर्य ऋषियों की देन है। उक्त ग्रंथ में इंद्र एवं वरुण द्वारा अपने सर्वव्यापी दूतों अथवा 'स्पशों' का उपयोग करने एवं 'सरमा' द्वारा अपराधियों की खोज करने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसके बाद भी इसे सुञ्जू जैसे चीनी नीतिशास्त्री की उपलब्धि कहना भूल होगी। सच तो यह है कि दोनों के काल में बहुत अधिक अंतर न होने पर भी गुप्तचर्या संबंधी दोनों की व्याख्या-विवेचना में भारी अंतर है। सुञ्जू के ग्रंथ से प्राप्त अल्प सामग्री कौटिल्य जैसे महान् राजनीतिक चिंतक द्वारा संपादित, सुव्यवस्थित एवं प्रतिपादित नियमों, सिद्धांतों, मतों और विवेचनाओं के समक्ष कहीं नहीं टिकती। कौटिल्य ने राज्यव्यवस्था, कूटनीति, युद्ध एवं गुप्तचर्या के संबंध में जो कुछ लिखा, वह व्यापक ही नहीं, सर्वकालिक भी है। गुप्तचर्या एवं युद्धविद्या से संबंधित ऐसा कोई भी पक्ष नहीं है, जो इस कुशल नीतिशास्त्री की पैनी दृष्टि से अछूता रहा हो। आज इस विद्या के संबंध में जो कुछ भी नीति-नियम प्रचलित हैं, उन्हें कौटिल्य का ही परिवर्द्धित और परिवर्तित

संस्करण कहना चाहिए। वर्तमान में तो इस क्षेत्र में परिष्कृत यंत्र-उपकरणों का भी सहारा लिया जा रहा है, पर तब केवल बुद्धि-चातुर्य के आधार पर ही सब कुछ संपादित किया जाता था। इसे उस युग की विशिष्टता और वरिष्ठता ही कहनी चाहिए।

गुप्तचर व्यवस्था की मूल अवधारणा शांति, सुव्यवस्था एवं प्रगति का पोषक तथा पूर्णरूपेण निर्दोष है। इसमें किसी सीधे-सच्चे को दंडित या प्रताड़ित करने का कोई प्रावधान नहीं है। प्राचीन भारत में इस संस्था का गठन दमन-चक्र चलाने या शासक वर्ग के हितों की अभिवृद्धि के लिए नहीं किया गया था, अपितु नैतिक और धार्मिक व्यवस्था के लिए इसका नियोजन किया गया था। तब धर्म का प्रयोग सांप्रदायिक अर्थ में नहीं किया जाता था, वरन् यह एक पूर्णतः धर्म निरपेक्ष आचार संहिता थी और इसका प्रयोजन लोकहित के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। 'पिंग ता' और 'अर्थशास्त्र' के दृष्टिकोण में यही मौलिक अंतर है। कौटिल्य द्वारा प्रस्तावित व्यवस्था में राजा की स्थिति को सुदृढ़ करने एवं राज्य की अखंडता बनाए रखने के पीछे उसका चरम लक्ष्य 'जन कल्याण' की भावना थी, जबकि सुज्जू प्रणीत सिद्धांतों में ऐसे किसी भी उच्चादर्श को आधारभूत नहीं माना गया। इसे भारतीय चिंतन और दर्शन की सर्वोपरि विशेषता कहनी चाहिए कि उसमें कोई भी सार्वजनिक व्यवस्था सदैव जनहित के प्रति समर्पित रही है। भारतीय गुप्तचर प्रणाली इसका उत्कृष्ट उदाहरण है, जबकि दूसरे देशों और संस्कृतियों के समकक्ष प्रणालियों में ऐसी सोच और भावना का स्पष्ट अभाव झलकता है। पिछले १३ दिसंबर को संसद भवन पर और इससे पूर्व जम्मू-कश्मीर विधान सभा में हुए आत्मघाती हमले को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। यह विदेशी गुप्तचर तंत्र की विध्वंसकारी सोच को ही परिलक्षित करता है। इन दिनों विश्वभर में कई ऐसी गुप्तचर व्यवस्थाएँ हैं, जो अपने जन्मकाल से ही विनाश और जनहानि में संलग्न रही हैं। वे इस कला की मूल भावना से सर्वथा विपरीत हैं। इसका वास्तविक उद्देश्य सुरक्षा और विकास है। प्रतिद्वंद्वी के प्रगति-रहस्य को जानकर और अपनी उन्नति के संदर्भ में उसके घात-प्रतिघात को विफल कर अपनी विकास यात्रा को निरंतर बनाए रखना ही इस विद्या का निहितार्थ था। आज वह अपने केंद्रीय प्रयोजन से पृथक् होकर विनाश के सरंजाम जुटाने में संलग्न है। इससे बड़ा अपमान इसका और क्या हो सकता है ? मनु, शुक्र, याज्ञवल्क्य, कामंदक, सोमदेव, कौटिल्य तथा मेधातिथि जैसे आचार्यों और उनके पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य ने जब पहली बार इस विद्या का अनुसंधान और प्रकाशन कर विश्व के समक्ष रखा, तो उन्होंने स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं की होगी कि बाद में इस कला का दुरुपयोग विनाशलीलाएँ रचने और कुचक्र चलाने में किया जाएगा। इसे इसका दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि जो तंत्र मनुष्य और समाज के उत्कर्ष में सहायक हो सकता था, वह अब अपकर्ष की भूमिका में निरत होकर अव्यवस्था और अराजकता के ताने-बाने बुन रहा है।

कोई भी कला स्वयं में न अच्छी होती है, न बुरी। यह तो कर्त्ता पर निर्भर है कि वह विष को अमृत बना ले या अमृत को घातक कालकूट में परिवर्तित कर दे। यह पूर्णतः उसके चिंतन, व्यवहार और कर्तृत्व पर अवलंबित है। असुरता जहाँ कहीं भी रहेगी, वहाँ अस्थिरता और अशांति ही पैदा करेगी और सदाशयता का गला घोटती रहेगी। इसके विपरीत देवत्व बुराई में भी अच्छाई का संधान कर लेता है। द्रोणाचार्य ने दुर्योधन की परीक्षा के निमित्त जब उससे किसी अच्छे इंसान को ढूँढ़ लाने को कहा, तो लाख कोशिश करने के बावजूद भी उसे कोई अच्छा आदमी न मिला, सब उसे बुरे ही दीखते रहे। फिर युधिष्ठिर से किसी बुरे मनुष्य को तलाश लाने को कहा। वह यत्र-तत्र घूमते रहे, फिर भी उन्हें कोई खराब व्यक्ति न मिला, सब में उन्हें नेक इंसान ही दिखाई दिया। यह कथानक वास्तव में दो विपरीत चिंतनशैलियों और दृष्टिकोणों को दर्शाता और बताता है कि व्यक्ति की निजी सोच ही किसी वस्तु, व्यक्ति या विधा के भली-बुरी होने के पीछे जिम्मेदार है। गुप्तचर्या आज इसी दुश्चिंतन के कारण कलंकित हो रही है।

जिसकी अंतरात्मा में विश्वमानव की सेवा करने, इस संसार को अधिक सुंदर-सुव्यवस्थित एवं सुखी बनाने की भावनाएँ उठती रहती हैं और इस मार्ग में चलने की प्रबल प्रेरणा होती है, वस्तुतः सच्चा परमार्थी और ईश्वर भक्त वही है।

—परमपूज्य गुरुदेव

गुप्त रूप से जानकारी प्राप्त करने की पद्धति के कारण ही इसे 'गुप्तचर्या' कहते हैं। यह एक पवित्र संस्था है और इसकी शुचिता को सदा बनाए रखने में ही मनुष्य का कल्याण है। गोपनीय ढंग से प्राप्त किसी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की सूचना को सिर्फ उन्नति-प्रगति के क्षेत्र में ही इस्तेमाल किया जाना चाहिए, अन्यथा यदि इसका प्रयोग घृणा और विद्वेषजन्य प्रतिकार के रूप में हुआ, तो सर्वत्र हानि और हाहाकार की अनुगूँज ही सुनाई पड़ेगी। ✡

शिवत्व की साधना

'शिव' का अर्थ कल्याण होता है। जो इस देवता के तत्त्वदर्शन को समझकर उसके आदर्शों को जीवन में उतार लेता है, उसका अमंगल कभी नहीं होता। वह शनैः-शनैः आत्मोन्नति करता हुआ चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। महाशिवरात्रि पर्व का वास्तविक उद्देश्य यही है।

प्रतिवर्ष यह पर्व फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को मनाया जाता है, इसलिए भारतीय शास्त्रों में यह तिथि विशेष महत्त्व की है। समझा जाता है कि इस अवसर पर कोई भी उत्तम कार्य करने से उस पर भगवान् शिव की दृष्टि पड़ती है, जो करने वाले के लिए कल्याणकारी सिद्ध होती है। यह मान्यता कितनी सच है, कहना कठिन है, पर जो शिव के, कल्याण के यथार्थ प्रयोजन को लेकर चलते और जन-जीवन को ऊँचा उठाने में निरत रहते हैं, उन पर उनकी कृपादृष्टि सदैव बनी रहती है। उनके लिए हर दिन शिवरात्रि जैसा होता है।

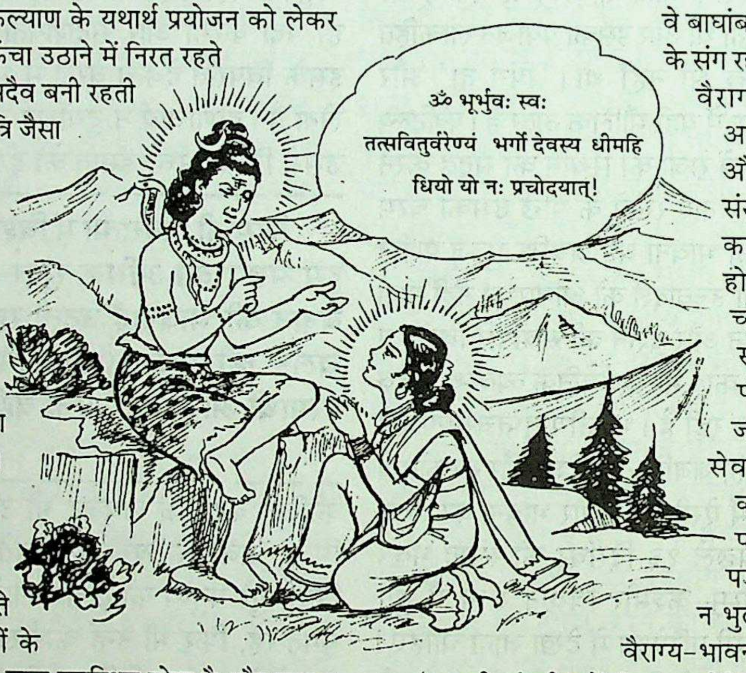

शिवजी का स्थान हिंदू धर्म में बहुत ऊँचा है। धर्मशास्त्रों और पुराणों में अन्य सब देवताओं का चरित्र-चित्रण करते हुए उनको स्वार्थ के वशीभूत अथवा वैभव तथा अधिकार का अभिलाषी दिखलाया गया है। एक शिवजी ही ऐसे देवता बतलाए गए हैं, जो संपत्ति और वैभव के बजाय त्याग और अकिंचनता का वरण करते हैं। वे सर्वशक्तिमान हैं। उन्हीं के इशारे पर संसार में प्रलय का दृश्य उपस्थित होता है और उनका तीसरा नेत्र बड़ी-से-बड़ी शक्ति को जलाकर राख करने की क्षमता रखता है। इतने पर भी वे सदा नंगे, भूखे, दीन-हीन, भूत-प्रेतों के साथी बने रहते हैं। उन्होंने अमृत का त्याग कर गरल को पिया, हाथी तथा घोड़े को छोड़कर बैल की सवारी स्वीकार की और हीरा-मोती जैसे रत्नों को त्याग कर सर्प को गले लगाया। इस प्रकार शिवजी का स्वरूप हमको इस बात की शिक्षा देता है कि हमें प्रकृति ने यदि विशेष शक्ति या योग्यता प्रदान की है, तो उसका मतलब यह नहीं कि हम स्वार्थी बन जाएँ और अपनी शक्ति का उपयोग अपने निजी सुख और भोगों के लिए ही करें। शिवजी का आदर्श बतलाता है कि जिसको जितनी अधिक शक्ति मिली है, उसका उत्तरदायित्व भी उतना ही महान् है। ऐसी विशेष सामर्थ्य, जो अन्य साधारण लोगों में दिखलाई नहीं पड़ती, परमात्मा के वरदानस्वरूप समझनी चाहिए और उसका उपयोग स्वार्थ-साधन जैसे तुच्छ उद्देश्यों में न कर महानता प्रदर्शित करने वाले कार्यों में करना चाहिए। मानव जीवन की सफलता इसी में है कि हम व्यक्तिगत लाभ और सुख का विचार छोड़कर अपनी शक्तियों का उपयोग परोपकार के लिए ही करें।

भगवान् शिव का दिगंबर रूप अपरिग्रह का प्रतीक है। संसार में भोग-सामग्रियों का कोई अंत नहीं। वह मनुष्य के ज्यों-ज्यों समीप आती चली जाती हैं, त्यों-त्यों उनकी लालसा भी बढ़ती जाती है। आज संसार में कलह और क्लेश का जो परिदृश्य दिखलाई पड़ रहा है, उसके मूल में परिग्रह की यही कामना अंतर्निहित है। भगवान् का उक्त स्वरूप हमें अपरिग्रही बनने और सीमित में संतोष करने की प्रेरणा देता है।

वे बाघांबरधारी हैं और प्रेत-पिशाच के संग रहते हैं। उनकी यह मनोदशा वैराग्य को दर्शाती है। हम अतिशय मोह-माया न पालें और निर्लिप्त भाव से इस संसार में रहें, यही इसके पीछे का भाव है। व्यक्ति मोहग्रस्त होकर अपने चरम लक्ष्य से च्युत हो जाता है। फिर वह संसार और सांसारिकता के पीछे भागने लगता है। हम जगत् में रहें और लोगों की सेवा-सहायता कर उनका कल्याण करें यह उचित है, पर जागतिक प्रपंचों में पड़कर अपना मूल उद्देश्य न भुला बैठें, यही शिवजी की वैराग्य-भावना का निहितार्थ है।

'गायत्री मंजरी' में शिव-पार्वती संवाद आता है, जिसमें भगवती पूछती है कि हे देव! आप किस योग की उपासना करते हैं, जिससे आपको परम सिद्धि प्राप्त हुई है? शिव इस संसार में आदि योगी थे, योग के सभी भेदों को मालूम कर चुके थे। उन्होंने उत्तर दिया, ''गायत्री ही वेदमाता है और पृथ्वी की सबसे पहली और सबसे बड़ी शक्ति है। वह संसार की माता है, भूलोक की कामधेनु है। इससे सब कुछ प्राप्त होता है। ज्ञानियों ने योग की सभी क्रियाओं के लिए गायत्री को ही आधार माना है।''

इस प्रकार भगवान् शंकर हमें गायत्री योग द्वारा आत्मोत्थान की ओर अग्रसर होने का निर्देश करते हैं। इस पर विचार-मंथन करने का उपयुक्त अवसर महाशिवरात्रि पर्व है। वह क्षुद्रता से महानता की ओर ले जाने वाला एक ऐसा तत्त्वज्ञान है, जिसे अपनाकर हर कोई धन्य अनुभव करता है। वास्तविक शिव भक्त होने का यही लक्षण और पहचान है। □

पुण्य की अहंता एवं पाप की आसक्ति से ऊपर उठें

'गहना कर्मणोगति'। कर्म की गति को बड़ा ही गूढ़ एवं गहन माना गया है। स्रष्टा की सृष्टि इसी आधार पर संचालित एवं नियंत्रित होती है। योगी, यति, तपस्वी, मनस्वी कर्म के विधान को मानते, स्वीकारते तथा सम्मान करते हैं। कर्म अविनाशी है। इसका बीज कभी नष्ट नहीं होता। सद्कर्म से पुण्य, दुष्कर्म से पाप का विधान है। कर्मफल अवश्यंभावी है, भले ही इसमें थोड़ा विलंब हो। मनीषियों ने निष्काम कर्म सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा है, क्योंकि इसमें पाप और पुण्य का बंधन नहीं होता और यह किसी आसक्ति एवं इच्छा से नहीं किया जाता।

कर्मयोग का पथ बीहड़ जंगल एवं आकर्षक मरुद्यान से होकर गुजरता है। कभी-कभी इसके सूत्र बड़े ही रहस्यमय एवं अबूझ प्रतीत होते हैं। यह रहस्य तब और गहन हो जाता है,जब लगन व निष्ठा से श्रेष्ठ कर्म करने के बावजूद असफलता पल्ले पड़ती है और दुष्कर्मी-दंभी को अपार सफलता मिलती दिखाई देती है। धर्मात्माओं को दुःख, दुष्टात्माओं को सुख, आलसी-प्रमादियों को परम सफलता, पुरुषार्थी को घनघोर असफलता, विवेकवानों पर विपत्ति एवं मूर्खों के यहाँ संपत्ति, अहंकारी को मान-प्रतिष्ठा और सदाचारी को तिरस्कार व अपमान दृष्टिगोचर होते हैं। कोई विलास एवं वैभवपूर्ण परिस्थितियों में जन्म लेता है और छल-बल, कुटिलता करते हुए भी सुख एवं ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करता है तथा कोई चरम पुरुषार्थी होकर भी अभावग्रस्त जिंदगी जीता है एवं कष्ट व दुःख उठाता है।

कर्म की इस परिणति को देखकर कर्म की गति के संबंध में अगणित प्रश्न उठ खड़े होते हैं। कर्म के सिद्धांत पर अविश्वास एवं संदेह होने लगता है। दुराचारी को दुष्कर्म करते हुए भी सफलता मिलती है और सद्कर्म में दुःख, कष्ट एवं यातना झेलनी पड़ती है। इससे मन में आशंकाओं का उठना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में तर्क को समाधान का स्वर नहीं मिलता तथा बुद्धि विचलित हो उठती है, परंतु यह वास्तविक तथ्य नहीं है। कर्म की सूक्ष्म बारीकियों और पेचीदगियों को न जान पाने के कारण ही यह विडंबना दिखाई देती है। वस्तुतः व्यतिक्रम कहीं नहीं है, प्रकृति नियम से रहित नहीं है। ईश्वरीय विधान में कहीं कोई अव्यवस्था नहीं है। हाँ, कर्म का विधान दुरूह अवश्य प्रतीत होता है।

कर्म के इस सूक्ष्म रहस्य के ज्ञाता कर्मयोगी विश्ववंद्य स्वामी विवेकानंद इस संदर्भ में स्पष्ट करते हैं कि बिना फल उत्पन्न किए कोई भी कर्म नष्ट नहीं हो सकता। प्रकृति की कोई भी शक्ति इसे फल उत्पन्न करने से रोक नहीं सकती। यदि बुरा कर्म किया जाएगा, तो उसका फल भोगना ही पड़ेगा। विश्व की ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो इसे रोक सके। इसी प्रकार यदि सत्कार्य किया जाए, तो विश्व की कोई शक्ति नहीं जो उसके शुभ फल को रोक सके। कारण से कार्य होता है, इसे कोई रोक नहीं सकता।

वर्तमान दुःख और कष्ट हमारे अतीत कर्मों के ही फल हैं। कभी पहले हमारे द्वारा किया गया कर्म ही दुःख या सुख बनकर सामने आता है। कर्म तो अविनाशी बीज है। इसे बोए जाने पर इसकी फसल उत्पन्न होगी ही। फसल के पकने पर शीघ्रता या विलंब हो सकता है, परंतु फसल पर संदेह नहीं किया जा सकता। योगियों एवं तपस्वियों का कर्म तत्क्षण फलदायक होता है। तीर्थस्थानों पर किया गया कर्म भी जल्दी परिणाम देता है। इसी कारण इन पुण्यस्थानों पर तपस्या आदि श्रेष्ठ कर्म किए जाते हैं।

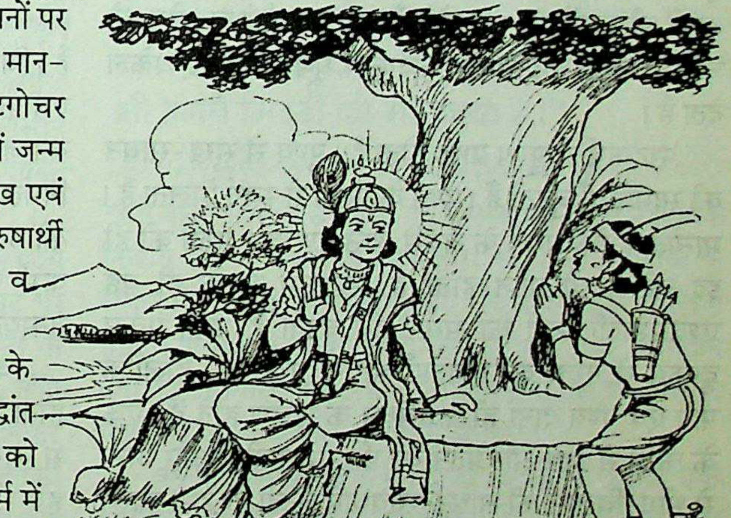

कर्म के अनुसार परिणाम तय होते हैं। कर्म के इस सुनिश्चित एवं अटल विधान से अवतारी, योगी, सिद्ध,

महात्मा भी नहीं बच पाते। विष्णु के रूप में मिले नारद के शाप का परिणाम ही था जो मर्यादा पुरुषोत्तम को चौदह वर्षों तक पत्नी के विरह में वन-वन भटकना पड़ा। कर्मफल का यही सिद्धांत भगवान् कृष्ण पर भी लागू हुआ, जब उन्हें राम के रूप में छल से किए बालि वध के फलस्वरूप एक शिकारी के बेधक तीर से प्राण गँवाने पड़े। किसी जन्म में धृतराष्ट्र ने चिड़िया के बच्चों की आँखें फोड़ी थीं, उस कर्मफल को भोगने के लिए उन्हें अंधता मिली। हालाँकि इसमें उन्हें एक सौ आठ जन्म लगे।

कर्म का बीज बोना अत्यंत सरल है, परंतु उसका भार ढोना अत्यंत दुष्कर होता है। एक बीज हजारों बीज बनाकर तैयार होता है। यह चक्रवृद्धि ब्याज की तरह बढ़ता चला जाता है। संत, सिद्ध, महात्मा कर्म के इस रहस्य को भली प्रकार जानते-समझते हैं। अतः वे कर्मभार बढ़ाने वाले कर्म नहीं करते। उनकी कष्ट-कठिनाइयाँ अपनी स्वयं की नहीं होतीं, बल्कि जन-कल्याण हेतु औरों के कर्मभार को हलका करने के लिए इसे वे अपने ऊपर ले लेते हैं। इन्हीं कारणों से उन्हें रोग-शोकजन्य विपत्ति आती है। ईसा का क्रूसारोहण, रामकृष्ण परमहंस के गले का कैंसर आदि अनेक घटनाएँ इसी की परिणति हैं। इसके विपरीत सामान्य व्यक्ति अपनी इच्छाओं, वासनाओं एवं कामनाओं की तृप्ति-तुष्टि के लिए अनेक बुरे कर्म करता रहता है। ऐसे व्यक्ति अपने ही कर्मों का भार ढोते हैं। यही कर्मबंधन जीव को चौरासी लाख योनियों के कुचक्र में घूमने के लिए धकेल देता है।

सद्कर्म से पुण्य प्राप्त होता है। पुण्य से सुख-साधन की सामग्रियाँ जुटती हैं। पुण्य के प्रताप से स्वर्ग मिलता है। मान्यता है कि धरती के सबसे श्रेष्ठ पुण्यवान पुरुष को ही इंद्र की पदवी प्राप्त होती है। सद्कर्म करके ही वह ऐश्वर्यशाली स्वर्ग का सम्राट् इंद्र बनता है। इसी प्रकार दुष्कर्म से नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, हालाँकि पाप एवं पुण्य दोनों ही कर्मबंधन के कारण होते हैं। एक के करने से पाप और पतन की पीड़ा रुलाती है और अन्य से भोग-विलास की साधन-सुविधाएँ जुटती हैं। इसी कारण स्वामी विवेकानंद ने पाप को लोहे का साँकल एवं पुण्य को स्वर्ण का साँकल कहकर दोनों को ही उतार फेंकने को कहा है।

महर्षि अरविंद इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। इस संदर्भ में वे कहते हैं, बुराई से पीछा छुड़ाना शायद असली कठिनाई नहीं है, क्योंकि इसे सभी पहचानते हैं। यदि मनुष्य अपने इरादे में जरा भी सच्चा हो, तो वह कभी नहीं ठहरती। कठिन है उस अच्छाई के अहंकार से छूटना, जिसने सत्य के एक क्षुद्र अंश को सदा के लिए ताले में बंद कर लिया है। आगे वे कहते हैं, अच्छाई के अहं और बुराई की आसक्ति दोनों से ऊपर उठ जाने में ही सार्थकता है। इस तथ्य को उन्होंने इस प्रकार आलंकारिक रूप में प्रतिपादित किया है, जब मेरे प्रियतम ने मेरा पाप-परिच्छद उतारा तब मैंने सहर्ष गिरने दिया। फिर उसने मेरे पुण्य परिधान को खींचा, पर मैं लज्जित हो गया और घबराकर मैंने उसे रोकने का प्रयास किया, किंतु उसने जब बलपूर्वक वह मुझसे छीन ही लिया, तब मैंने देखा कि किस तरह मेरी आत्मा मुझसे छुपी हुई थी।

अतः आवश्यकता है सद्कर्मरूपी पुण्य की अहंता एवं दुष्कर्मरूपी पाप की आसक्ति दोनों से ऊपर उठ जाना। यही कर्मयोग है। इसे गीता का निष्काम कर्म कहा जाता है। जिसका अर्थ है—आसक्ति छोड़कर कर्म करना। इच्छा एवं फल की आकांक्षा से मुक्त होकर किया गया कर्म योग बन जाता है। यह कर्म साधना बन जाता है और इससे चित्त निर्मल हो जाता है। इस कर्म का संदेश है कि वर्तमान कार्य को अपनी समस्त क्षमता के साथ करना। कर्मयोगी अपने कर्म को गहन विचार और पुण्य-भावना के साथ तन्मयतापूर्वक करता है।

जिसकी अंतरात्मा में विश्वमानव की सेवा करने, इस संसार को अधिक सुंदर-सुव्यवस्थित एवं सुखी बनाने की भावनाएँ उठती रहती हैं और इस मार्ग पर चलने की प्रबल प्रेरणा होती है, वस्तुतः सच्चा परमार्थी और ईश्वर भक्त वही है। उसी का नाम-जप सार्थक है।

—परमपूज्य गुरुदेव

वह सांसारिक आकर्षण की क्षणभंगुरता से परिचित होता है। वह इसकी नाशवान गतिशीलता को अच्छी तरह से जानता है। इसीलिए अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह करते हुए भी वह मोह-ममता में नहीं फँसता। संसार के सुख-दुःख, हानि-लाभ, जन्म-मरण आदि की विरोधाभासी परिस्थितियों से वह व्यथित व विचलित नहीं होता। वह दीपक की लौ के समान निष्कंप जलता रहता है। वह अपने कर्म में संतुष्ट एवं आनंदित रहता है तथा फल की उसे आशा नहीं रहती। फल की आशा ही बंधन का कारण है। इस बंधन से मुक्ति तभी है, जब हमारे जीवन के सभी छोटे-बड़े कर्म प्रभु को अर्पित-समर्पित हों। ✡

एक ही सूत्र-भ्रातृत्व भाव का विस्तार

भ्रातृत्व भावना मानवता का उज्ज्वल एवं दिव्य सत्य है। यह वह सूत्र है जिससे व्यक्ति-व्यक्ति से, परिवार परिवार से, समाज एवं संसार से जुड़ते-बँधते चले जाते हैं। यही सहयोग, सहकार एवं सेवा का मूल आधार है। इस भाव के सजल स्पर्श से व्यक्ति के अंदर पुलकन होती है तथा वातावरण में प्रेम एवं सद्भाव की दिव्यता छलकने लगती है। इसके अभाव में वैमनस्य, विघटन, अलगाव एवं अविश्वास का माहौल विनिर्मित होता है तथा सर्वत्र कुविचारों एवं दुर्भावनाओं की विषैली कड़ुआहट घुलने लगती है। इसका एकमात्र समाधान है—भ्रातृत्व भावना का विकास।

भाईचारे के उदात्त एवं पावन धरातल पर इस्लाम धर्म का विराट् भवन टिका हुआ है। इस धर्म में कट्टरता एवं क्रूरता का स्थान नहीं है, वरन् भ्रातृत्व भावना से ओतप्रोत है। ईसा ने एक-दूसरे से प्रेमपूर्वक एवं मित्रतापूर्वक रहते हुए सेवा करने की सीख दी है। गुरुभक्ति का पर्याय सिख धर्म भी ईश्वर के सभी बंदों के प्रति सहिष्णुता एवं सहानुभूति का संदेश देता है। यह सद्भाव के होने पर ही संभव है। सनातन धर्म में भ्रातृत्व भाव को सृष्टि व्यवस्था का मुख्य आधार माना है। राम एवं लक्ष्मण का भ्रातृत्व सर्वविदित है। भरत तो इसकी जीवंत मिसाल हैं, जिन्होंने अपने अग्रज की खड़ाऊँ को चौदह वर्षों तक सिंहासन पर आसीन किया और स्वयं निर्लेप भाव से अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहे।

भाईचारे की यह भावना मन को मन से व हृदय से हृदय को जोड़ती है। परिवार एवं समाज इसी की बुनियाद पर खड़े हैं। परिवार में समरसता एवं सभ्य समाज इसी के परिणाम हैं। जहाँ पर भ्रातृत्व भाव होता है वहाँ सुख-शांति एवं प्रसन्नता छलकती रहती है। सभी मिल-जुलकर प्रेमपूर्वक रहें, यह उपनिषद् की दिव्य वाणी है। एकाकी जीवन और अलगाव में न सुख है और न शांति। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से दूर एकाकी जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। उसको जीवन-निर्वाह के लिए समाज के सौहार्द्रपूर्ण वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। एकाकी रहना एक दंड है। यह हर एक के लिए असह्य एवं कठोर यंत्रणा के समान होता है। अतः समाज में रहने का न्यूनतम मापदंड एक ही है— भ्रातृत्व भावना का होना।

इस गुण को विकसित करने वाला अपने आप ही समाज की एक अभिन्न एवं महत्त्वपूर्ण इकाई बन जाता है। एकाकीपन की कठोर यातना से बचने के लिए भ्रातृत्व का भाव विकसित करना आवश्यक है। इसके बिना कोई भी जीवन को टूटने एवं बिखरने से बचा नहीं सकता। इस असह्य अलगाव से अच्छा है—आपस में हलका-फुलका मनमुटाव या कहासुनी का हो जाना। समूह में रहने के लिए इतना तो झेला ही जा सकता है। यह सामूहिक प्रयोग किसी भी निष्क्रिय जड़ता से तो हजार गुना अच्छा है। यदि मन में श्रेष्ठ विचार हों एवं हृदय में उदात्त भावना हो तो आपस में उठने वाली सभी विसंगतियों एवं समस्याओं से सरलतापूर्वक निजात पाई जा सकती है। हमें हाथ की पाँचों उँगलियों के समान मिल-जुलकर रहना चाहिए। जिस प्रकार ये उँगलियाँ हाथ के प्रत्येक कार्य के लिए मिल-जुलकर अपना योगदान देती हैं, उसी तरह हम सभी को विश्वमानव के कल्याण के लिए एकजुट एवं प्रतिबद्ध होना चाहिए।

रात की आँधी में बगीचे के खिले फूल जमीन पर गिर पड़े और उसके नीचे दब गए।

कई दिन बाद माली ने इस मिट्टी को बर्तन माँजने के लिए उठाया, तो वह महक रही थी। वह इसका कारण खोजने लगा।

दबे हुए फूलों ने कहा, ''हम मिट्टी की गोद में खेले और अपनी खुशबू उसे प्रदान की, पर साथ ही यह भी देखो कि गलने की स्थिति में भी हमने मिट्टी को महकाया है।''

वस्तुतः हम सब एक हैं। हमारी आंतरिक प्रकृति एक समान है। सभी में भ्रातृत्व की भावना किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है। हाँ, यह किसी में थोड़ा कम और किसी में थोड़ा अधिक हो सकती है, पर सभी इसे विकसित एवं पल्लवित कर स्वयं को, विश्व-वसुंधरा को एवं समस्त मानवता को धन्य कर सकते हैं। जरूरत है, तो केवल आपसी प्रेम एवं भाईचारे की। भाईचारे का सिद्धांत है—स्वयं के अंदर दबी पड़ी इंसानियत को जगाना। मनुष्यता के

बिना मनुष्य की कल्पना संभव नहीं। जैसे सूरज की उष्णता, चंद्रमा की शीतलता, जल की तरलता एवं दीपक का प्रकाश ही सच्ची विशेषता है, उसी प्रकार मनुष्यता मनुष्य का गुण-धर्म है। भ्रातृत्व भाव इस गुण का अभिवर्द्धन है।

मनुष्य हरे-भरे वृक्ष की एक टहनी के समान है। इसका अस्तित्व तभी तक है जब तक वृक्ष विद्यमान है। शैशवावस्था माता-पिता के आश्रय में पलती है। किशोरावस्था अध्यापकों के सृजनशील संरक्षण में विकसित होती है। इसी तरह जीवन के हर मोड़ पर किसी-न-किसी मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। सहयोग-सहकार की यह वृत्ति तभी संभव है जब भाईचारे का उदात्त दृष्टिकोण हो।

एक पुष्प की माला नहीं बनती है। इसके लिए अनेक पुष्पों की आवश्यकता होती है। ये आपस में गुँथकर ही माला की कल्पना को साकार करते हैं। माला स्वयं में कुछ नहीं है, यह तो क्रमबद्ध एवं शृंखलाबद्ध पुष्पों का सुंदर सुनियोजन है। उनतीस हजार फुट ऊँचा माउंट एवरेस्ट धरती के वैभव का प्रतीक है, परंतु इसका यह वैभव एवं महानता उन छोटी-बड़ी चोटियों की शृंखला पर आधारित है, जो इसके पीछे मजबूत इरादे से दृढ़ता प्रदान करने के लिए खड़ी हैं। एकाकी एवं एकल प्रयास की महत्ता एवं सार्थकता तभी बन पड़ती है जब इसके लिए अनेकों का योगदान होता है। इसी तरह मानवता की एक अटूट शृंखला है, जो प्रत्येक मनुष्य के सहयोग-सहकार से विकसित होती है। इसके लिए भाईचारे की अनिवार्य आवश्यकता है अन्यथा इन सबकी कल्पना नहीं की जा सकती।

हम सभी पर्वतमाला के छोटे-छोटे शिखर के समान हैं। सभी के त्याग एवं बलिदान से ही मानवतारूपी एक दिव्य एवं भव्य शिखर का निर्माण होता है। इसमें सभी का छोटा-बड़ा योगदान होता है। इनके जुड़ने में अभिनव निर्माण है तथा बिखरने में महाविनाश। निर्माण की इस प्रक्रिया को महास्वार्थ कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें सबके कल्याण का भाव है, अपना अहं गलता है। आत्मसत्ता संकीर्ण एवं सीमित दायरे को तोड़कर अपना विस्तार करती है, ऐसा न हो तो मनुष्य अपनी ही सीमाओं की क्षुद्रता में कटता-पिटता रहता है। भ्रातृत्व का यह भाव महास्वार्थ का पुजारी है। जब व्यक्ति अपनी संकीर्णता के घेरे को तोड़कर बाहर निकलता है, तो वह अपने सुख-दुःख को बाहर भी घटित होते देखता है। ऐसे में उसका मन एवं भावनाएँ द्रवित हो उठती हैं। उसमें संवेदनशीलता एवं सजलता का प्रादुर्भाव होता है। वह दूसरों की हानि में दुःख और लाभ में सुख का अनुभव करता है। औरों में अपना ही भाव छलकने लगता है। परिणामस्वरूप सभी उसके भाई, बंधु, सखा एवं सहचर बन जाते हैं। वह सभी से अपनों जैसा प्रेमपूर्ण बर्ताव करता है।

जब ऐसी पुण्य भावना का उदय हो तो समझा जाना चाहिए कि हम सच्चे अर्थों में भ्रातृत्व भाव के लायक बन सके हैं। ऐसा पावन भाव जब सहयोग के लिए आगे बढ़ता है, तो अगणित लोग उसका साथ देने आगे आते हैं। भाईचारा उस दीपक के समान है, जो जलते ही असंख्य बुझे दीयों को ज्योतिर्मय कर देता है। बरफानी हिमालय को गलने की देरी है, उसके पिघलते ही गंगा-यमुना जैसी अनेक नदियाँ बहने के लिए खड़ी रहती हैं। ऐसी ही भाईचारे की भावना है। इसकी बयार जब चलने लगती है, तो इंसानियत के आसमान में प्रेम के बादल उमड़ने-घुमड़ने लग जाते हैं और सहयोग-सहकार के रूप में बरसे बिना चैन नहीं लेते।

> *लोग किले के कँगूरे की शोभा देखकर प्रसन्नता व्यक्त कर रहे थे और उसकी सुदृढ़ दीवारों को आश्चर्यपूर्वक निहार रहे थे।*
>
> *मध्यवर्ती ईंटें मुस्कराईं और अपनी अनगढ़ भाषा में बोलीं, "दर्शको ! तुम उन नींव के पत्थरों की गरिमा क्यों नहीं खोज पाते, जिनकी पीठ पर इस विशाल दुर्ग का ढाँचा खड़ा है और जिन्होंने जान-बूझकर ख्याति से मुँह मोड़ा है।*

इसके लिए तो बस एक ही संकल्प की जरूरत है कि मैं औरों के प्रति सदैव अच्छे विचार एवं भाव रखूँगा तथा अपनी सामर्थ्य के अनुरूप सहयोग करता रहूँगा। यह संकल्प भ्रातृत्व भाव का मूल मंत्र है। यदि सभी इस मंत्र को अपने जीवन में उतार लें तो सर्वत्र प्रेम एवं सौहार्द्रपूर्ण वातावरण विनिर्मित हो जाएगा। कहीं भी द्वेष, बैर एवं वैमनस्यता पाँव पसार नहीं पाएँगी। सभी ओर शांति एवं प्रसन्नता बिखरती दिखाई देगी। भाईचारे के इस भाव को अपनाकर ही हम सब उज्ज्वल भविष्य की सुनिश्चित संकल्पना को साकार कर सकेंगे। अतः हम सबको इस भावना का विकास कर स्वयं की उन्नति तथा समाज की प्रगति का पथ प्रशस्त करना चाहिए।

✡

सम्मिलित प्रयास जरूरी

वह रात बड़ी भयावह थी। पहाड़ों के ऊपर तूफानी घटाएँ घिर आई थीं। बिजली कड़कने लगी। बरसात इतनी हुई कि नाले भर गए और दरिया से जा मिले। दरिया नीचे घाटियों में होता हुआ तेजी से बहने लगा। उसके तेज बहाव ने हर चीज को आक्रांत कर दिया। इसी उथल-पुथल में एक चट्टान से एक बहुत बड़ा पत्थर टूट गया। वह कुछ देर भयभीत-सा तंग पहाड़ी सड़क के ऊपर लटका रहा। फिर एक भयानक आवाज के साथ सड़क के बीचोबीच आ गिरा।

रात बीती, सुबह हुई। आकाश पर चमकीला सूर्य निकला। ओस की बूँदें पेड़ के पत्तों पर जगमगाने लगीं। घास ज़ो दब गई थी, फिर सिर उठाने लगी। इतने में गाँव से एक छकड़ा प्रकट हुआ। उसे नुकीले सींगों वाले दो काले बैल खींच रहे थे। छकड़े के अंदर एक आदमी बैठा अपनी धुन में कोई पहाड़ी लोकगीत गा रहा था। वह गाँव का दुकानदार था। जो अपनी दुकान का सामान खरीदने शहर जा रहा था। मोड़ पर पहुँचकर, जहाँ बड़ा पत्थर पड़ा हुआ था, उसने छकड़ा रोक लिया। दरअसल पत्थर ने पूरा रास्ता रोक रखा था। बायीं ओर दरिया बह रहा था और दायीं ओर ऊँची चट्टानें अपना सीना ताने खड़ी थीं।

दुकानदार पहले तो छकड़े में बैठा थोड़ी देर सिर खुजाता रहा। फिर नीचे उतरकर पत्थर के पास गया। पत्थर को हटाने के लिए उसने कई तरकीब आजमाईं, पर पत्थर हिला तक नहीं। यह मुझसे नहीं हटेगा। उसने सोचा किसी ऐसे आदमी की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, जो मुझसे ज्यादा शक्तिशाली हो। यह सोचकर वह धरती पर बैठ गया। उसने एक लकड़ी उठाई और उससे धरती पर फूल-पत्तियाँ बनाने लगा।

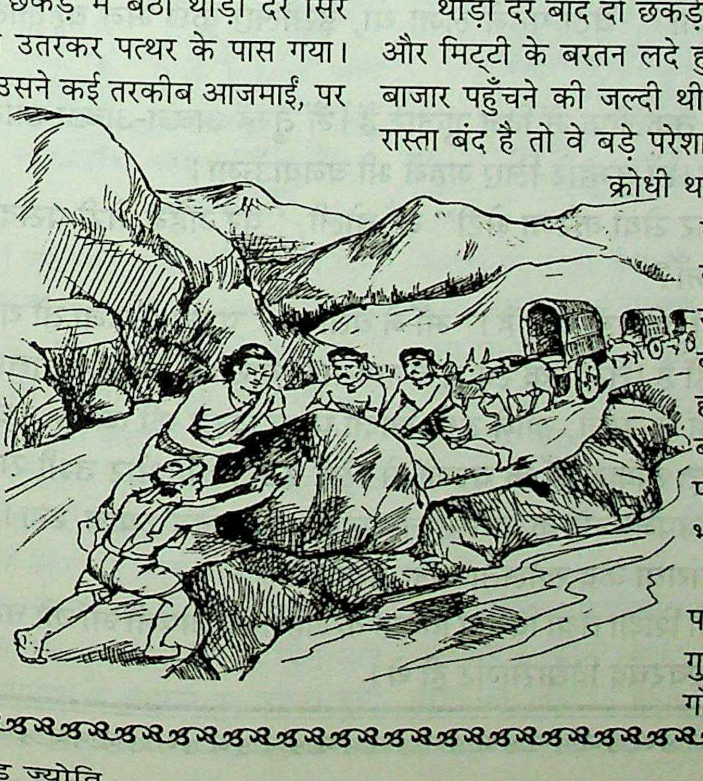

थोड़ी देर बाद एक दूसरा छकड़ा वहाँ आ पहुँचा। उस पर जलाने की लकड़ियाँ लदी हुई थीं। लकड़ी वाले ने दुकानदार से कहा, अरे भाई, तुमने अपना छकड़ा सड़क के बीचोबीच क्यों खड़ा कर रखा है? इसे एक तरफ करो, ताकि मैं गुजर सकूँ। मुझे जल्दी है। दुकानदार बोला—तुम्हें जल्दी है, तो पहले यहाँ आकर यह चट्टान हटाओ।

कैसी चट्टान? उसने हैरत में पूछा। यहाँ आओ और देखो। छकड़ों के आगे पड़ी हुई है। लकड़ी वाले ने नीचे उतरकर पत्थर को देखा और फिर अपनी आस्तीनें समेट कर पत्थर को दायें-बायें हिलाने की कोशिश करने लगा। पर पत्थर नहीं हिला। यह अपने वश की बात नहीं, वह सिर हिलाता हुआ बोला, हमें किसी शक्तिशाली आदमी की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। वही हमारा रास्ता साफ करेगा।

लकड़ी वाला दुकानदार के पास जाकर बैठ गया। अभी ज्यादा देर नहीं हुई थी कि एक घोड़ागाड़ी वाला वहाँ आ पहुँचा। वह काफी बूढ़ा था, उसकी कमर झुकी हुई थी। वह काफी बेदर्दी से घोड़े पर चाबुक बरसा रहा था। जब उसे पता चला कि दोनों छकड़े यहाँ क्यों खड़े हुए हैं, तो वह अनाप-शनाप बकता हुआ अपनी गाड़ी से उतरा और थोड़ी देर पत्थर के इर्द-गिर्द चहलकदमी की, फिर चुपचाप उन दोनों के पास बैठ गया।

थोड़ी देर बाद दो छकड़े और आए। उन पर कंबल और मिट्टी के बरतन लदे हुए थे। उनके मालिकों को बाजार पहुँचने की जल्दी थी। जब उन्हें पता चला कि रास्ता बंद है तो वे बड़े परेशान हुए। उनमें से एक बड़ा क्रोधी था। वह पत्थर को सजा देने के लिए उस पर चाबुक बरसाने लगा। समय बीतता रहा। दोपहर हो गई। अब वहाँ एक पूरा काफिला जमा हो चुका था। वह एक के बाद एक अपनी शक्ति परखते रहे, पर उनमें से कोई भी पत्थर को न हिला सका।

इतने में गेरुआ वस्त्र पहने एक संन्यासी उधर से गुजरे। आस-पास के पहाड़ी गाँवों के लोग उन्हें पहचानते

थे। सभी ने श्रद्धा सहित उन्हें प्रणाम किया। ये कोई और नहीं विश्ववंद्य स्वामी विवेकानंद के गुरुभाई एवं श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी अखंडानंद थे। वह इन दिनों अपनी एकांत साधना के लिए यहाँ आए हुए थे। जब उन्होंने इन सबको वहाँ खड़े हुए, परेशान देखा, तो बोले, तुम लोग अपनी बुद्धि का उपयोग क्यों नहीं करते।

महाराज हमें बुद्धि की नहीं शक्ति की आवश्यकता है। उनमें से एक व्यक्ति ने कहा, हम सब पत्थर को हटाने का प्रयत्न कर चुके हैं, पर इसे हटाना तो दूर हम लोग हिला भी नहीं सके।

उसका उत्तर सुनकर अखंडानंद जी महाराज थोड़ा हँसे और बोले, अच्छा अब तुम लोग सब मिलकर मेरे साथ आओ। उनकी बात मानकर सब लोग एक साथ आ जुटे। स्वामी जी भी उनके साथ थे। थोड़ी देर में पत्थर नीचे लुढ़कता हुआ भयानक आवाज के साथ गहरे खड्ड में गिर गया और टुकड़े-टुकड़े हो गया।

सबने इसे स्वामी जी का चमत्कार माना। उनकी भोली-भाली बातें सुनकर वह हँसने लगे और फिर उन्होंने उन सबसे कहा, यह चमत्कार तो जरूर है, पर मेरा नहीं, तुम सबकी सम्मिलित शक्ति का है। समस्याएँ घर-परिवार की हों या गाँव-समाज की अथवा फिर राष्ट्र एवं विश्व की। सब लोग मिल-जुलकर प्रयास करेंगे, तो सार्थक समाधान मिलने में देर नहीं लगेगी। स्वामी जी की बातें सुनकर लगा कि उनके छकड़ों के गुजरने के लिए ही नहीं जिंदगी गुजरने के लिए भी रास्ता साफ हो गया है। उन्हें अब समझ में आ गया था कि समस्याओं को सुलझाने के लिए जरूरत किसी मसीहा की नहीं, बल्कि सम्मिलित प्रयास की है, एकजुट होकर किए जाने वाले पुरुषार्थ की है।▲

* * *

उन्नीसवीं शताब्दी का अंतिम समय था। ठाकुरदास नामक एक वयोवृद्ध कोलकाता में रहता था। उसके परिवार में केवल एक बच्चा और पत्नी थी। इस सीमित परिवार का भरण-पोषण भी ठीक प्रकार से न हो पाता।

नियति ने उन्हें मेदिनीपुर जिले के एक गाँव में ला पटका। वहाँ ठाकुरदास को दो रुपये माहवार की नौकरी मिली। कालांतर में उनका देहांत हो गया। पत्नी के कंधों पर सारे परिवार का दायित्व आया। इसी तरह कई वर्ष बीत गए।

एक दिन रात के समय बेटे ने अपनी माँ के पैर दबाते हुए पूछा, ''माँ! मेरी इच्छा है कि मैं पढ़-लिखकर बहुत बड़ा विद्वान् बनूँ और तुम्हारी खूब सेवा करूँ।''

''कैसी सेवा करेगा?'' बेटा पढ़ने लगा था, इसलिए कुछ मन बहलाते हुए प्रोत्साहन के स्वरों में माँ ने पूछा।

''माँ, तुमने बड़ी तकलीफ में दिन गुजारे हैं। मैं तुम्हें अच्छा-अच्छा खाना खिलाऊँगा और बढ़िया कपड़े लाऊँगा। हाँ तुम्हारे लिए गहने भी बनवाऊँगा।''

''हाँ बेटा, तू जरूर सेवा करेगा मेरी'' माँ बोली, ''पर गहने मेरी पसंद के ही बनवाना।''

''कौन से गहने माँ?''

''मुझे तीन गहनों की बड़ी चाह है।'' माँ ने बताया। ''पहला गहना तो यह है कि इस गाँव में कोई अच्छा स्कूल नहीं है। तुम एक स्कूल बनवाना। दवाखाना भी खुलवाना और तीसरा गहना यह है कि गरीब बच्चों के रहने, खाने तथा शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था करना।''

बेटे ने भावाभिभूत होकर माँ के चरणों में सिर रख दिया और तभी से उसे कुछ ऐसी धुन सवार हुई कि उसे अपनी माँ के इन तीन गहनों का सदैव ध्यान रहा। वह बराबर स्कूल, औषधालय तथा सहायता केंद्र खोलता चला गया।

आगे चलकर स्त्री शिक्षा तथा विधवा विवाह के गहने भी अपनी माँ को चढ़ाए। यह महामानव और कोई नहीं पं. ईश्वरचंद्र विद्यासागर ही थे।

प्रकृति के संग हुलसने का पर्व : होली

शीतल सुगंध से बौराया पवन मंद-मंद बहने लगा है और सारी सृष्टि पुलकित होकर उल्लास, नई उमंग और उत्साह में झूम उठी है। नगर में, गाँव-गाँव में, डगर-डगर पर मस्ती की धूम मचाता हुआ रंगों की पिचकारी लिए अलबेला फागुन निकल पड़ा है आज होली खेलने। कहीं उषा दिन के माथे पर रोली लगा रही है, तो कहीं आकाश में संध्या निशा के ऊपर गुलाल और सितारे बरसा रही है। बड़ी मधुर और प्रेम-सौहार्द्र की भावनाओं की प्रतीक है होली। रंगों की सतरंगी दुनिया के बीच मानवता की अनूठी झलक दिखाई देती है इस दिन। भारत की इस सम्मोहक परंपरा को अन्य देशों ने भी अपने-अपने ढंग से सहेजने की कोशिश की है। इसके नाम भी अलग-अलग देशों में अलग-अलग हो गए हैं, परंतु उल्लास की मूल भावना एक समान है।

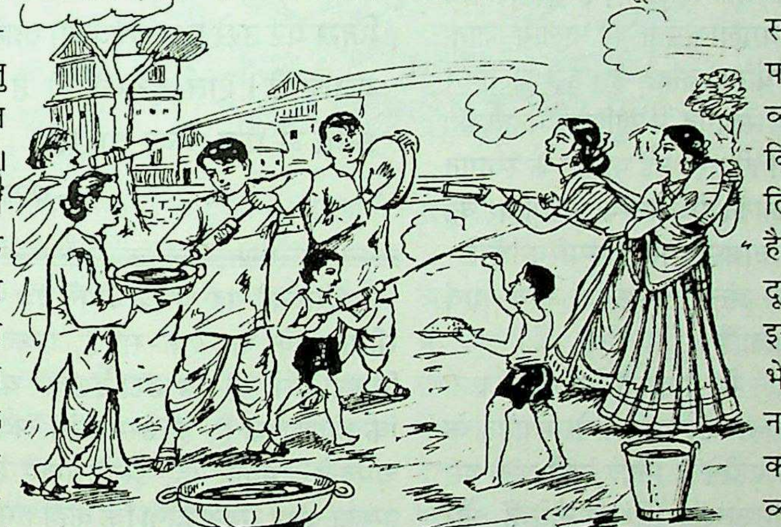

प्राचीन रोम में 'साटर ने लिया' के नाम से होली की ही भाँति एक उत्सव मनाया जाता था। उन दिनों यह उत्सव अप्रैल माह में पूरे सात दिनों तक मनाया जाता था। इस दौरान दासियों को भी काफी छूट मिल जाती थी। वे इन दिनों आपस में हँसी-मजाक तो करती ही थीं, अपने स्वामियों की भी हँसी उड़ाने में संकोच नहीं करती थीं। वे अपने में से ही किसी को नकली स्वामी के रूप में चुनतीं और उससे मूर्खतापूर्ण आज्ञाएँ जारी करवाती थीं।

आज भी रोम में 'रेडिका' नाम से एक त्योहार मई में मनाया जाता है। इसमें किसी ऊँचे स्थान पर काफी लकड़ियाँ इकट्ठी कर ली जाती हैं और उन्हें जलाया जाता है। इसके बाद लोग झूम-झूमकर नाचते-गाते हैं एवं खुशियाँ मनाते हैं। इस अवसर पर आतिशबाजी के खेल भी खेले जाते हैं। इटलीवासियों की मान्यता के अनुसार यह समस्त कार्य अन्न की देवी फ्लोरा को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है।

पश्चिमी दर्शन के पितामह कहे जाने वाले सुकरात की जन्मभूमि यूनान में भी लगभग इसी प्रकार का समारोह 'मे पोल' नाम के उत्सव में होता है। यहाँ पर भी लकड़ियाँ इकट्ठी की जाती हैं और उन्हें जलाया जाता है। इसके बाद लोग झूम-झूमकर नाचते-गाते हैं। इस अवसर पर उनकी मस्ती देखते ही बनती है। यहाँ पर यह उत्सव यूनानी देवता 'टायनोसियस' की पूजा के अवसर पर आयोजित होता है।

कुछ इसी तरह का उत्सव मनाने की परंपरा जर्मनी में भी है। यहाँ के रैनलैंड नाम के स्थान पर होली जैसा त्योहार एक नहीं पूरे सात दिनों तक मनाया जाता है। इस समय लोग अटपटी पोशाक पहनते हैं और अटपटा व्यवहार करते हैं। कोई भी किसी तरह के बिना किसी लिहाज के मजाक कर लेता है। बच्चे-बूढ़े सभी एक-दूसरे से मजाक करते हैं। इन दिनों किसी तरह के भेदभाव की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। इस दौरान की गई मजाक का कोई भी व्यक्ति बुरा नहीं मानता।

बेल्जियम में भी कुछ स्थानों पर होली जैसा ही उत्सव मनाने का रिवाज है। इस हँसी-खुशी से भरे त्योहार में पुराने जूते जलाए जाते हैं और सब लोग आपस में मिलकर हँसी-मजाक करते हैं। जो व्यक्ति इस उत्सव में शामिल नहीं होते, उनका मुँह रँगकर उन्हें गधा बनाया जाता है और उनका जुलूस निकाला जाता है। इस अवसर पर कोई किसी की कही गई बातों का बुरा नहीं मानता। बस चारों ओर ठहाकों की गूँज ही सुनाई देती है।

अमेरिका में होली जैसी ही एक मस्ती से भरे त्योहार का नाम है, होबो। इस त्योहार के अवसर पर एक बड़ी सभा का आयोजन होता है, जिसमें लोग तरह-तरह की

वेशभूषा पहनकर आते हैं। इस समय किसी भी औपचारिकता पर ध्यान नहीं दिया जाता। मस्ती में झूमते हुए लोग पागलों जैसा व्यवहार करने लगते हैं। वेस्टइंडीज में तो लोग होली को होली की ही भाँति मनाते हैं। इस अवसर पर यहाँ तीन दिन की छुट्टी होती है और उस अवधि में लोग धूम-धाम से त्योहार मनाते हैं।

पोलैंड में होली के ही समान 'अर्सीना' नाम का त्योहार मनाया जाता है। इस अवसर पर लोग एक-दूसरे पर रंग डालते हैं और एक-दूसरे के गले मिलते हैं। पुरानी शत्रुता भूलकर नए सिरे से मैत्री संबंध स्थापित करने के लिए यह श्रेष्ठ उत्सव माना जाता है। चेकोस्लोवाकिया में 'बलिया कनौसे' नाम से एक त्योहार बिल्कुल होली के ढंग से ही मनाया जाता है। इस अवसर पर लोग आपस में एक-दूसरे पर रंग डालते हैं और नाचते-गाते हैं।

अफ्रीका महाद्वीप के कुछ देशों में 'ओमेना बोंगा' नाम से जो उत्सव मनाया जाता है, उसमें हमारे देश की होली के समान ही एक जंगली देवता को जलाया जाता है। इस देवता को 'प्रिन बोंगा' कहते हैं। इसे जलाकर नाच-गाकर नई फसल के स्वागत में खुशियाँ मनाते हैं। मिश्र में भी कुछ होली की ही तरह नई फसल के स्वागत में आनंद मनाते हैं। इस आनंद से ओत-प्रोत त्योहार का नाम 'फालिका' है। इस अवसर पर पारस्परिक हँसी-मजाक के अतिरिक्त एक अत्यंत आकर्षक नृत्य एवं नाटक भी प्रस्तुत किया जाता है।

सूर्योदय के देश जापान में भी होली के रंग की छटा निखरती है। वहाँ यह त्योहार नई फसल के स्वागत के रूप में मनता है। मार्च के महीने में मनाए जाने वाले इस त्योहार में जापान निवासी उत्साह से भाग लेते हैं और अपने नाच-गाने एवं आमोद-प्रमोद से वातावरण को बड़ा आकर्षक और मादक बना देते हैं। इस अवसर पर खूब हँसी-मजाक भी होते हैं।

श्रीलंका में तो होली का त्योहार बिल्कुल अपने देश की ही तरह मनाया जाता है। वहाँ बिल्कुल ठीक अपनी होली की ही भाँति रंग-गुलाल और पिचकारियाँ सजती हैं। हवा में अबीर उड़ता है। लोग सब गम और गिले-शिकवे भूलकर परस्पर गले मिलते हैं। अपनी मित्रता एवं हँसी-खुशी का यह त्योहार श्रीलंका में अपनी गरिमा बनाए हुए है।

थाईलैंड में इस त्योहार को 'सांग्क्रान' कहते हैं। इस अवसर पर थाईलैंड के निवासी मठों में जाकर वहाँ भिक्षुओं को दान देते हैं और आपस में एक-दूसरे पर सुगंधित जल छिड़कते हैं। इस पर्व पर वृद्ध व्यक्तियों को सुगंधित जल से नहलाकर नए वस्त्र देने की परंपरा है। परस्पर के हँसी-मजाक, चुहल-चुटकुले इस त्योहार को एकदम होली की भाँति सँवार देते हैं।

अपने पड़ोसी देश बर्मा में होली के त्योहार को 'तिजान' नाम से जाना जाता है। यहाँ पर भारत देश के समान ही पानी के बड़े-बड़े ड्रम भर लिए जाते हैं और उनमें लोग रंग तथा सुगंध घोलकर एक-दूसरे पर डालते हैं। मारीशस में तो होली का त्योहार भारत के समान ही मनाया जाता है। वहाँ पर इसकी तैयारी १५ दिन पहले से ही शुरू हो जाती है। इन पंद्रह दिनों चारों ओर हँसी-ठहाकों की मधुर गूँज खनकती रहती है।

प्रेम स्वयं सृजन है। वह जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ देवत्व उत्पन्न करता है और जिस पर उसे प्रयुक्त किया जाता है वह समर्थ बनता है। शर्त इतनी ही है कि प्रेम सच्चे अर्थों में प्रेम होना चाहिए।

—परमपूज्य गुरुदेव

हँसी की यह खनक अपने देश में हो या फिर देश की सीमाओं के पार एक-सी है, एकदम एक है। विश्व में बिखरी हँसी की यह छटा देखकर यही कहा जा सकता है कि होली एक है, हाँ उसके रंग अवश्य अनेक हैं। ये रंग चमकते-दमकते रहें, इसके लिए हमें और हम सबको इसका ध्यान रखना होगा कि कहीं हम अपने किसी व्यवहार से इन्हें बदरंग न कर दें। इस सांस्कृतिक त्योहार की गरिमा जीवन की गरिमा में है। इस त्योहार पर मन को तो हुलसना ही है, उसे हुलसना भी चाहिए, पर प्रकृति के संग-संग। उसे हर तरह की विकृति से नाता तुड़ाकर प्रकृति में प्रकृति के रंगों में रमना चाहिए। तब वह होली के अवसर पर कुछ इस तरह से गुनगुना उठेगा—

लाल-लाल टेसू फूल रहे फागुन संग
होली के रंग-रँगे, छटा-छिटकाए हैं।
वहाँ मधुकाज आए बैठे मधुकर पुंज
मलय पवन उपवन वन छाए हैं॥
हँसी-ठिठोली करैं बूढ़े औ बारे सब
देखि-देखि इन्है कवित्त बनि आयो है। ✡

अंतर्चेतना में मने होलिकोत्सव

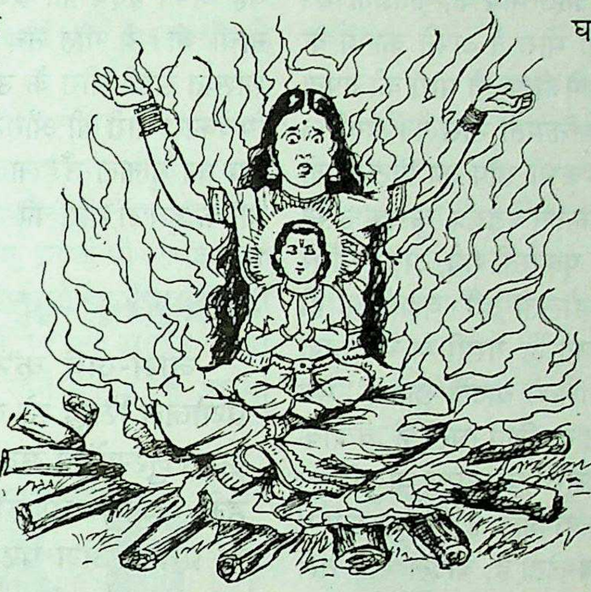

“होली आई रे!” आज होली के दिन यह मस्ती भरी गूँज बाहर चारों ओर है, लेकिन यदि अंतर्चेतना में भक्ति जाग्रत् हो गई हो तो अपने हृदय की ब्रजभूमि में भी इसे हर पल अनुभव किया जा सकता है। इसकी अनूठी मस्ती में डूबा जा सकता है। बड़ा मधुर साम्य है, भक्त के जीवन और होली के त्योहार में। भक्त के जीवन में भी पहले उठती हैं तप की ऊँची और चमकती ज्वालाएँ। एक पर एक अगणित कष्ट आते ही चले जाते हैं। घर-परिवार और समाज के लोग उसे भगवान् की ओर बढ़ते हुए देखकर तरह-तरह की बाधाएँ खड़ी करते हैं। अपने अंतर्मन के कुसंस्कार, जन्म-जन्मांतर के दुष्कर्म, वासनाएँ भी अवरोधों की झड़ी लगा देती हैं, पर ज्यों-ज्यों अवरोध बढ़ते हैं, त्यों-त्यों भक्त की प्यास बढ़ती है। उसके तप में चमक आती है।

तप की इस प्रचंड अग्नि में वासनाओं की होलिका जलती है। कभी न मरने का दावा करने वाली, अपने को अमिट समझने वाली वासनाएँ जलकर राख हो जाती हैं। भक्त की पुकार के सामने अवरोध टिकते नहीं। यह पुकार ही तो भक्त का तप है। अपने प्यारे प्रभु को भक्त पुकारता है। जीवन की हर कठिनाई-वासना के हर भयावह रूप के सामने, कुसंस्कारों के हर बहकावे पर भक्त को एक ही समाधान सूझता है कि वह अपने आराध्य को पुकार ले। उसकी जिह्वा नहीं, प्राण पुकारते हैं। वह कहता है, “प्रभु हम आना चाहें तुम तक तो हम आ भी कैसे सकेंगे? हमारे पाँव बहुत छोटे हैं। तुम ही चले आओ, हे सर्व-समर्थ मेरे आराध्य!” इस तरह भक्त अपनी प्यास को, अपनी पुकार को उभारता है। उसकी यह पुकार, उसकी प्यास सघन होती जाती है। एक उन्मत्त अग्नि बन जाती है, विकल प्राणों से उपजी तप की अग्नि।

तप की इस प्रचंड अग्नि में वासनाओं की होलिका जलती है, जलकर राख होती है। कुसंस्कारों का घास-फूस, जन्म-जन्मांतरों का कूड़ा-कचरा जलकर भस्म हो जाता है। रूपांतरित हो जाता है जीवन। नवधा भक्ति की नवरंगी फुहारें उसके हृदय में उठने-उफनने लगती हैं। भक्ति के रंगों की सम्मोहक छटा उसके जीवन में छा जाती है। भक्त को अपने आराध्य की कृपा से एक नई दृष्टि मिलती है और उसे होलिकोत्सव के नजारे नजर आने लगते हैं। उसे महसूस होता है कि होली का त्योहार वह अकेला नहीं समूची प्रकृति उसके साथ मना रही है।

प्रकृति के समस्त विस्तार में उत्सव-ही-उत्सव है। नाद-ही-नाद है। सब तरह के साज बज रहे हैं। पक्षियों में, पहाड़ों में, वृक्षों में, सागरों में, सब तरफ बहुत-बहुत ढंगों और रूपों में परमात्मा होली खेल रहा है। कितने रंग फेंकता है, कितनी गुलाल बिखेरता है, लेकिन इस अनूठे उत्सव को पाते वही हैं, मनाते वही हैं, जो भक्ति के रस में पगे हैं, जो अपने तप की ज्वालाओं में वासनाओं की होलिका को जला चुके हैं। होलिकादहन के बाद ही तो होली का त्योहार मनाने का विधान है।

भक्त प्रह्लाद ने भी ऐसे ही होली मनाई थी। उनके जीवन में संकट आते गए, वह डरे नहीं इन संकटों से, कष्टों से। बस पुकारते रहे अपने प्रभु को। उनकी पुकार तीव्र होती गई। उनके प्राणों की प्यास सघन होती गई। वासनाएँ, कामनाएँ सब एक साथ मिलकर, एकजुट होकर उन्हें जलाने आईं। उन्हें अपनी अमरता का अभिमान था। उन्हें इस बात का दंभ था कि वे अमिट हैं, शाश्वत हैं। वासनाओं की होलिका को इस बात का गुमान था कि वे तो स्वयं मानव की देह को जलाती हैं, राख करती हैं, भला उन्हें कौन जला सकेगा। होलिका ने भक्त प्रह्लाद को भी

सामान्य मनुष्य समझ लिया था। उसे नहीं मालूम था कि भक्त की मानव देह में स्वयं अविनाशी नारायण रहते हैं। भक्त के प्राणों में तप की ज्वालाएँ दहकती हैं। भला ऐसे सच्चे भक्त को कहीं वासना की होलिका जला सकती है। होलिका को स्वयं जलना पड़ा। वह जली और जलकर राख हो गई। भक्ति का उत्सव मनाते हुए प्रह्लाद नृत्य करने लगे। उनके प्राणों में गीत उठे, अहो भाव के, कृतज्ञता के।

कुछ ऐसी ही होली खेली मीरा ने अपने कान्हा के संग। लेकिन होली का फाग गाने से पहले मीरा को तपना पड़ा। बड़ा कठोर तप किया भक्तिमती मीरा ने। अगणित अवरोध आए उसके सामने—कभी साँप का पिटारा, तो कभी विष का प्याला। न जाने कितने षड्यंत्र, कुचक्र उसने सहे, झेले। पर वह डिगी नहीं, पुकारती रही, अपने साँवरे को, विरह की मारी वन-वन डोलती रही। वह विरह ही तो भक्त का तप है। सभी जानते हैं, गरमी के बाद वर्षा होती है। ग्रीष्म के बाद आकाश में बादल छाते हैं, मेघ घिरते हैं। ये मेघ ग्रीष्म के बाद इसलिए घिरते हैं, क्योंकि घने ताप के कारण, जलते हुए सूरज के कारण वायु विरल हो जाती है। वायु में शून्य पैदा हो जाता है और शून्यता में प्रबल आकर्षण है। शून्य खींच लेता है, बादल भागे चले आते हैं।

ऐसी ही घटना भक्त के अंतरतम में घटती है। भक्त की प्यास जब प्रज्वलित हो जाती है, प्राण जब प्रभु की आकांक्षा-अभीप्सा से आतुर-आकुल हो उठते हैं, विरह की अग्नि जब जलती है, तो भीतर एक शून्य पैदा होता है और भगवान् भक्त से मिलने के लिए भागे-दौड़े चले आते हैं। मीरा के साथ भी यही हुआ। पहले तो मीरा के जीवन में तप की ज्वालाएँ जलीं। वासना की होलिका राख हुई। फिर फाग की मस्ती छाई। मीरा के प्राणों में गीत गूँजे। होली के गीत, फाग के गीत, अपने कान्हा से मिलने के गीत। हृदय की ब्रजभूमि में साँवरे के संग रचाए जा रहे रास के गीत।

मीरा के ये गीत अनूठे हैं। ये गीत कविता की तरह नहीं लिखे गए हैं। ये पैदा हुए हैं। हृदय में खेली जा रही होली की किसी धुन में, नाचते-नाचते अनायास...। मीरा के द्वारा गाया गया होली का फाग मीरा की ही भाँति अनोखा है। उनकी कविता तो ऐसी है, जैसे कोई राह पर चले और पाँवों के निशान धूल में बन जाएँ। इनका कोई प्रयोजन नहीं था, इनके लिए कोई चेष्टा नहीं की गई थी। सब कुछ अनायास हो गया। मीरा तो बस अपने कन्हैया के संग नाची थी। वह नाचती चली। ये पगचिह्न बन गए। इन पगचिह्नों में अगर कोई प्रेम से उतरे, तो उसे मीरा के पाँव नहीं, मीरा के पैरों के भीतर जो नाच रहा है, उसकी भी भनक मिलेगी।

मीरा ने जो फाग गाया है, उसमें मीरा के ही शब्द नहीं, मीरा के हृदय में जो विराजमान हो गया है, उसका स्वर भी लिपटा है। यह फाग तो मीरा ने तब गाया था, जब वह अपने हृदय की ब्रजभूमि में अपने कन्हैया के साथ नाची थी। ये गीत तब पनपे थे, जब कान्हा ने अपनी शाश्वत सखी मीरा के ऊपर भक्ति के नवरंगों से भरी हुई पिचकारी मारी थी और मीरा ने अपने साँवरे पर श्रद्धा एवं प्रेम का गुलाल उँड़ेला था। आज होली के अवसर पर तनिक डूब लें मीरा की मस्ती में, थोड़ा गुनगुना लें मीरा के साथ—

होली खेलत है गिरधारी।
मुरली चंग बजत डफ न्यारो, संग जुवति ब्रजनारी।
चंदर केसर छिड़कत मोहन, अपने हाथ बिहारी॥
भरि-भरि मूठि गुलाल लाल चहुँ देत सवन पै डारी।
छैल-छबीले नवल कान्ह, संग स्यामा प्राणन प्यारी॥
गावत चार घमार राग तंह दै दै कल करतारी।
फाग जु खेलत रसिक साँवरो बाढ़्यो ब्रज रस भारी॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, मोहन लाल बिहारी।

ये स्वर कहीं बाहर नहीं, हृदय की ब्रजभूमि में गूँजे हैं। इनकी अनुभूति भी वहीं हो सकती है, पर यह अनुभूति होती तभी जब हृदय में भक्ति की प्यास जगे, प्राणों में तप की ज्वालाएँ चमकें, वासना की होलिका राख हो और तब अपनी अंतर्चेतना में होलिकोत्सव की जो अनुभूति होगी, वह किसी खास दिन के लिए नहीं वरन् देश-काल से परे शाश्वत होगी। ✡

नाम-जप कर लेने मात्र से परमार्थ प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा, यह सोचते रहना, सस्ते नुस्खों से मन बहलाते रहना उचित नहीं। हमें यथार्थवादी होना पड़ेगा। जीवन-साधना के प्रधान अंग परमार्थ को अपनाना पड़ेगा। परम स्वार्थ का स्वरूप आत्मनिर्माण है, जिसमें लोकमंगल के लिए सेवाधर्म अपनाना, अपनी परोपकारपरायण सेवा प्रवृत्ति का परिचय देना नितांत आवश्यक है।

—परमपूज्य गुरुदेव

परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी

भगवान् के अनुदान किन शर्तों पर मिलते हैं

(१३-४-७९ को दिया गया उद्बोधन)

गायत्री मंत्र हमारे साथ-साथ—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्!

देवियो, भाइयो! अनुग्रह और मनुहार, इन दोनों का आपस में संबंध तो है और ये क्रम चलता भी है। इसको हम शाश्वत सिद्धांत महसूस कर सकते हैं। मनुहार, खुशामदें, मिन्नतें, प्रार्थनाएँ, आप इन्हें कीजिए, इनकी भी आवश्यकता है। यह क्रम भी इस दुनिया में चलता तो है। मैं यह तो नहीं कहता कि यह क्रम चलता नहीं है, पर क्या अनुग्रह मिलते भी हैं? हाँ, अनुग्रह भी मिलते रहते हैं। अनेक आदमी जीवित हैं, अपंग भी इसी पर जीवित हैं, अंधे भी इसी पर जीवित हैं, दुर्बल भी इसी पर जीवित हैं और सिद्धांत भी अनुग्रह के ऊपर जिंदा है। अनुग्रह दुनिया में से खत्म हो चला? नहीं बेटे! खत्म होने की बात नहीं कहता, पर मैं यह कहता हूँ कि सिद्धांत और इसके आधार पर कोई बड़ी लंबी योजना नहीं बन सकती और कोई महत्त्वपूर्ण कार्य इसके आधार पर सिद्ध नहीं हो सकता।

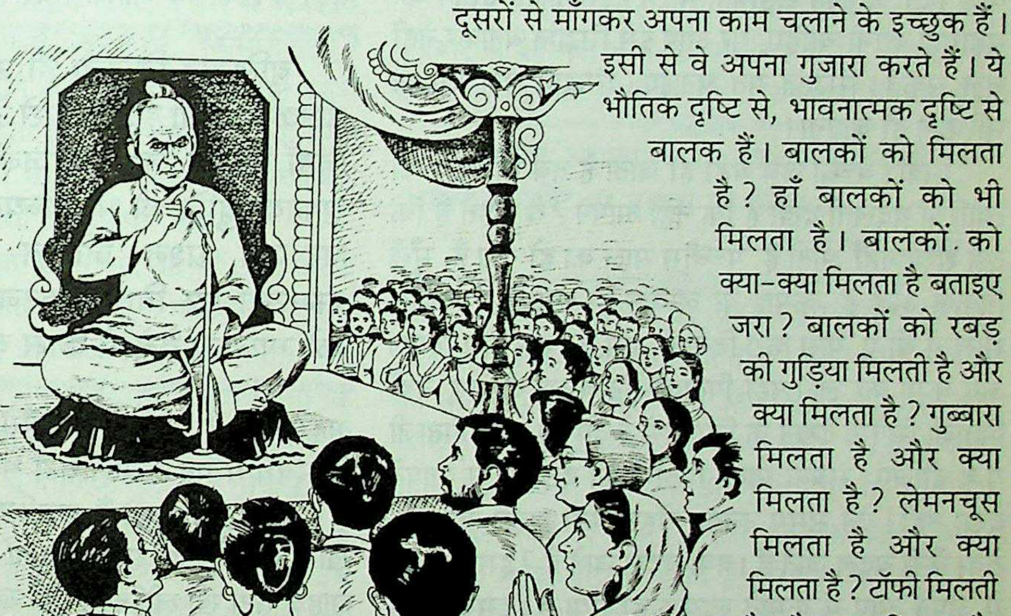

मित्रो! अगर आप कहें कि अनुग्रह के आधार पर कृपा कीजिए, हमारी सहायता कीजिए, हमको ये दीजिए। लेकिन क्या ये चलेगा? चल तो सकता है, पर वहाँ तक शोभा नहीं देता, जहाँ तक आदमी स्वयं में समर्थ हो। जैसे बच्चा, बच्चा क्या करता है? बच्चा स्वयं में असमर्थ होता है, कुछ कमा नहीं सकता। इसलिए कुछ कमा सकने की स्थिति में न होने की वजह से, असमर्थ होने की वजह से माँ-बाप उसकी सहायता करते हैं। बच्चे को रोटी देनी चाहिए, कपड़े देने चाहिए, सहायता देनी चाहिए। बच्चे की मन:स्थिति माँगने की होती है, क्योंकि वह विकसित नहीं है।

बालक जैसी मन:स्थिति

अविकसित जितने भी प्राणी हैं, खासतौर से मनुष्य, उनकी पहचान एक है। क्या पहचान है? ये पहचान है कि वे माँगते रहते हैं। माँगता हो तो आप क्या कहेंगे उसको? चाहे बड़ी उम्र का भी हो जाए तो भी क्या कहेंगे? तो मैं उसको बच्चा कहूँगा। बच्चा बड़ी उम्र का? हाँ बड़ी उम्र के भी बच्चे होते हैं। मन:स्थिति की दृष्टि से वे सब आदमी बच्चे हैं जो अपने पुरुषार्थ के ऊपर निर्भर नहीं हैं, दूसरों से माँगकर अपना काम चलाने के इच्छुक हैं। इसी से वे अपना गुजारा करते हैं। ये भौतिक दृष्टि से, भावनात्मक दृष्टि से बालक हैं। बालकों को मिलता है? हाँ बालकों को भी मिलता है। बालकों को क्या-क्या मिलता है बताइए जरा? बालकों को रबड़ की गुड़िया मिलती है और क्या मिलता है? गुब्बारा मिलता है और क्या मिलता है? लेमनचूस मिलता है और क्या मिलता है? टॉफी मिलती है और क्या मिलता है, झुनझुना मिलता है। नहीं साहब! बड़ी चीज बताइए। बेटे! बड़ी चीजें नहीं मिलतीं। माँ-बाप बच्चों को प्यार करते हैं? बहुत प्यार करते हैं, लेकिन कीमती चीजें? कीमती चीजें आपको नहीं मिल सकतीं, क्योंकि आप बच्चे हैं।

मित्रो! बच्चों को कभी कीमती चीजें नहीं मिलती हैं। उनका मनोविनोद करने के लिए खेल-खिलौने, उनका मन रखने के लिए, तबियत बहलाने के लिए उनको जो कुछ चीजें दी जा सकती हैं, वे टिकाऊ नहीं होतीं। तो क्या बड़ों को भी मिलती हैं? हाँ बड़ों को भी मिलती है। बड़ों

को कब मिलती हैं ? बड़ों को तब मिलती हैं जब वे मुसीबत में फँसे हुए होते हैं। जैसे मान लीजिए कि वे दुर्घटनाग्रस्त हो गये हों, अकाल से पीड़ित हो गए हों, कोई दूसरी मुसीबतें आ गई हों, रेलवे में एक्सीडेंट हो गया हो। साहब ! मुसीबत में हमारी सहायता कीजिए। हम जरूर सहायता करेंगे आपकी, लेकिन कब तक ? सवाल यह है कि कब तक सहायता करेंगे, हमेशा, जिंदगी भर ? नहीं बेटे, जिंदगी भर नहीं कर सकते।

अच्छा तो कब तक करेंगे ? सिर्फ उस समय तक करेंगे, जब तक अपने पैरों पर आप खड़े नहीं हो जाते, बस। बाद में ? बाद में नहीं करेंगे। अगर आप कहेंगे कि हम मुसीबत में फँसे हुए हैं और सारी जिंदगी भर के लिए आप हमारा ठेका ले लीजिए, तो ये मुश्किल है। साहब ! हम पाकिस्तान से आए हैं, तो आप हमारा गुजारा कीजिए ? हम तो शरणार्थी हैं। ठीक है आप शरणार्थी हैं, तो हम थोड़े दिन आपकी सहायता करेंगे। इंसान को इंसान की सहायता करनी चाहिए, पर आप इसे सिद्धांत बनाकर नहीं चल सकते। सिद्धांत मत बनाइए। सिद्धांत बना देंगे तो मुश्किल हो जाएगा।

मित्रो ! बच्चा जब बड़ा हो जाता है तब माँ-बाप की त्योरियाँ बदलती देखी हैं कि नहीं आपने ? वे कहते हैं कि तुझे शरम नहीं आती है, पच्चीस साल का हो गया है, मूँछें निकल आई हैं, कमाई के लायक हो गया है। पच्चीस साल में बी.ए. पास करा दिया है, एम.ए. पास करा दिया। अब कमा कर ला। नहीं पिताजी पैंट बनवा दीजिए, नहीं पिताजी सिनेमा देखने के लिए पैसे दे दीजिए, नहीं पिताजी ये दे दीजिए। सबके माता-पिता दे भी देते हैं, पर आपने देखा नहीं ! देते समय उनका चेहरा कैसे बदल जाता है, तेवर कैसे बदल जाते हैं। क्यों बदल जाते हैं ? इसलिए कि ये अपने आप में कमाने लायक हो गया है। इसको अब हमारी मदद करनी चाहिए थी, जबकि ये उलटा हम से ही माँगता है। ये स्थिति किसकी कह रहा हूँ मैं ? बच्चों की कह रहा हूँ। उन व्यक्तियों की कह रहा हूँ जो अनुग्रह के ऊपर और मनुहार के ऊपर जिंदा रहना चाहते हैं।

मनुहार पर नहीं पात्रता के विकास पर टिकें

मित्रो ! मनुहार किसे कहते हैं ? खुशामद को कहते हैं। खुशामद भी एक सिद्धांत है। बिना माँगे किसी को क्या पता चलेगा कि आपको क्या जरूरत है ? क्या आप जरूरत की बात नहीं कहेंगे ? आप जरूरत की बात कहिए। जरूरत की बात कहेंगे तो चीजें मिल जाएँगी ? हाँ चीजें तो मिल जाएँगी, लेकिन नुकसान हो जाएगा। क्या नुकसान हो जाएगा ? जैसे ही चीज मिलेगी उससे ज्यादा कीमती चीज हाथ से चली जाएगी। क्या चला जाएगा ? आपका स्वाभिमान चला जाएगा। आप किसी से बिना कीमत चुकाए, अहसान में कोई चीज ले लेते हैं, तो आपका सिर नीचे झुक जाएगा। आप नीचे हो जाएँगे और आप दूसरे दरजे के व्यक्ति हो जाएँगे और आपको दूसरे के आगे आँखें नीची करनी पड़ेंगी। अगर आप कृतज्ञ हैं तो तुरंत अपनी कृतज्ञता का इजहार कीजिए। "थैंक्यू वैरी मच" कहिए। आपने हमको पानी पिला दिया, आपने हमको बतला दिया, अहसान है।

आदमी दूसरों की सहायता पाकर के लाभ तो उठा सकता है, लेकिन दबता है। दबना ? हाँ दबना। जहाँ तक मनुष्य के आध्यात्मिक स्तर का सवाल है, दबना आदमी के लिए खराब है। आदमी को दूसरों के अहसान से नहीं दबना चाहिए। दूसरों की दूसरी चीजों से दबना चाहिए जैसे प्यार से दब सकते हैं तो दबिए आप। दूसरों से प्यार करते हैं। माँ का आपसे प्यार है। माँ हम आपके बहुत अहसानमंद हैं। लेकिन आप पैसे के संबंध में और रोटी के के संबंध में मत दबिए। रोटी भगवान् ने आपको नहीं दी है ? आप इज्जत वाले हैं, स्वाभिमानी हैं। आपसे कोई कहे खाना खा लें, हाँ साहब खाना खाकर आ रहे हैं। नहीं साहब रोटी खा लीजिए। नहीं खाई हो, शायद आपके घर में आजकल रोटी की तंगी हो, तो भी आपको कहना चाहिए कि नहीं साहब ! कोई दिक्कत की बात नहीं है। भगवान् की कृपा है। रोटी तो देर-सबेर मिल ही जाती है, फिर आपके यहाँ क्यों खाएँगे ? अच्छा जब न हो तो आप हमारे यहाँ खाइए। आपकी बड़ी कृपा है, आपने पूछ लिया यही क्या कम है। आप खा लीजिए। आपको रोटी नहीं खानी चाहिए। ठीक है कोई आपका ऐसा निजी दोस्त है, जिगरी दोस्त है, जो आपके यहाँ खा जाता है और आप उसके यहाँ खा लेते हैं। उसकी बात नहीं कहता हूँ मैं, पर ऐसे सामान्य नियम की बात कहता हूँ कि आपको दूसरों की सहायता पर निर्भर नहीं रहना चाहिए।

बुद्धिवाद कितना ही उपयोगी क्यों न हो उसकी गरिमा हृदयवाद से ऊँची नहीं हो सकती। जहाँ विशुद्ध जड़ प्रयोजनों की बात है, वहाँ एकाकी बुद्धि को भी मान्यता दी जा सकती है, पर जब प्रश्न जीवित चेतना मनुष्य की समस्या पर विचार करना हो तब हृदयवाद को मान्यता देने से काम चलेगा।

किसकी बात कह रहे हैं ? लौकिक जीवन की। बेटे, सिद्धांत तो वही है। आज आप लौकिक जीवन में इसे व्यवस्थित कर लीजिए अथवा पारलौकिक जीवन में व्यवस्थित कर लीजिए। नहीं साहब ! आध्यात्मिकता में तो माँगना-ही-माँगना है। बेटे, माँगना नहीं है आध्यात्मिकता में, किसने कहा था आपसे ? नहीं साहब, अध्यात्म में सारी प्रार्थना-ही-प्रार्थना भरी है। प्रार्थना का मतलब यह नहीं है, जो आपने समझा है कि आप माँगेंगे और मिलेगा। ''माँगेंगे और मिलेगा'' का सिद्धांत, ये शायद आध्यात्मिकता की व्याख्या करने में बहुत गलती हो गई। यही कारण है कि आदमी आज स्वाभिमानी और स्वावलंबी कम होते जा रहे हैं। आध्यात्मिकता ने कितना फायदा किया है वर्तमान में, यह मैं नहीं जानता, पर रूहानी दृष्टि से आज की आध्यात्मिकता ने आदमी का नुकसान किया है। क्या नुकसान किया है ? आदमी को परावलंबी बना दिया है। परावलंबन माने दूसरों की तरफ मुँह ताकने वाला, दूसरों से अपेक्षाएँ करने वाला, दूसरों से आशाएँ रखने वाला। किसके लिए ? अपनी जिंदगी की नाव ढोने के लिए। इससे आपको दूसरों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। इससे आपको क्या मिल गया ? क्या मिला मैं नहीं जानता, लेकिन सबसे कीमती चीज जो आपकी 'शर्म' थी वह आपने गँवा दी।

इस संबंध में मुझे एक घटना याद आ गई। क्या घटना याद आ गई ? एक बार संत इमरसन के पास एक आदमी आया। वह हट्टा-कट्टा था, जवान था। माँगने लगा, तो उनसे कुछ कहते तो नहीं बना, पर उन्होंने क्या किया कि एक कपड़ा उठाकर अपना मुँह ढक लिया। दूसरों ने कहा साहब आपको देना है तो दे दीजिए, नहीं देना तो इसे मना कर दीजिए। कपड़े से मुँह ढक लिया, ये क्या करते हैं आप ? उन्होंने कहा, ''मुझे देने में ऐतराज नहीं है, पर इस आदमी को देखने का मेरा मन नहीं। क्यों ? क्योंकि इस आदमी ने इंसान की इज्जत को गँवा दिया। हट्टा-कट्टा होते हुए भी, जवान आदमी होते हुए भी, अपने हाथ-पैर से, अपने पुरुषार्थ से अपना गुजारा करने में समर्थ होते हुए भी यह यहाँ हाथ पसारने आया है। इंसानियत को कलंकित कर दिया इसने। इसीलिए मुँह ढक लिया मैंने।''

मित्रो ! न जाने किसलिए, न जाने क्यों, न जाने कैसे हो गया कि आध्यात्मिकता का स्वरूप आज ऐसा बना दिया गया कि इनसे माँगना चाहिए। किससे माँगना चाहिए ? देवता से माँगना चाहिए। देवता को तो देना चाहिए। ''दानात् वा सा देवता।'' देवताओं को सहायता करनी चाहिए। नहीं साहब, देवता से तो माँगना चाहिए। अच्छा बेटे और किससे माँगना चाहिए ? संत पुरुषों से माँगना चाहिए, दिव्य पुरुषों से माँगना चाहिए, अमुक से माँगना चाहिए। नहीं बेटे ! संत पुरुषों की सेवा करनी चाहिए, सिद्ध पुरुषों की सहायता करनी चाहिए। आपको मालूम है कि मंदिर में जाने का एक नियम है। मंदिर में आप जाएँ, तो फल-फूल लेकर के जाएँ। नहीं गुरुजी ! हम तो ऐसे ही दर्शन करेंगे। नहीं बेटे ! ऐसे दर्शन नहीं करना, देवता नाराज हो जाएँगे। यह प्राचीनकाल की परंपरा है, आज की तो मैं नहीं कह सकता। कहीं भी आप किसी देवमंदिर में जाएँ तो पत्र-पुष्प लेकर जाना, फल लेकर के जाना, कुछ-न-कुछ लेकर के जाना और चढ़ाना, तब नमस्कार करना। इसका क्या मतलब है ? इसका मतलब है कि आप कुछ देकर के आइए। आप लेकर के आएँगे ? लेकर नहीं बेटे, देकर के आना। यह परंपरा आध्यात्मिकता की परंपरा है।

हमें देना आना चाहिए

जिस देवपरिवार में हम शामिल होते हैं, उस देव-परिवार में शामिल होने का मतलब है कि हमारे भीतर देवत्व का विकास होना चाहिए। देवत्व का विकास किस तरीके से होता है ? देवत्व का विकास इस मायने में होता है कि आदमी दिल से उदार हो जाता है। उदार होकर आदमी यह सीखता है कि हमको देना आना चाहिए। किसको देना चाहिए ? सबको देना चाहिए, अपने शरीर को देना चाहिए ताकि यह धन्य हो जाए और अपने दिमाग को देना चाहिए ताकि यह शांत हो जाए। हमारा मस्तिष्क बहुत अशांत रहता है, बहुत परेशान रहता है। दिमाग को कुछ ऐसी चीज देनी चाहिए, जिससे यह शांत रह सके, खुश रह सके। और क्या करना चाहिए ? आपको अपने शरीर को देना चाहिए। शरीर को क्या देना चाहिए ? शरीर बेचारा मुसीबत में फँसा हुआ है, रोज-रोज बीमार पड़ जाता है, रोज-रोज कमजोर हो जाता है, इसे कुछ देना चाहिए। इस शरीर के आप देवता हैं न ? हाँ, देवता हैं तो आप दीजिए कुछ इसको। नहीं साहब, हम क्या कर सकते हैं ? आप सब कुछ कर सकते हैं। आप मुसीबत में फँसी हुई अपनी देह को निश्चित रूप से बीमारियों से छुट्टी दिला सकते हैं। निजात दिला सकते हैं।

> **जिसका अपनापन जितना संकुचित है, वह आत्मिक दृष्टि से उतना ही छोटा है।**
>
> *—परमपूज्य गुरुदेव*

बीमारियों से आप कैसे सहायता कर सकते हैं ? चंदगीराम पहलवान को टी.बी. की शिकायत थी। बाईस

साल की उम्र में उनको टी.बी. इस कदर हो गई थी कि फेफड़े में से खून आने लगा था और मरने के दिन नजदीक थे। किसी ने उनको यह सलाह दी कि हकीमों का इलाज कराने के साथ आप अपना इलाज स्वयं करिए। पहला इलाज क्या है ? अपनी जीभ के ऊपर और अपनी इंद्रियों के ऊपर, आदतों के ऊपर कंट्रोल कीजिए। उन्होंने अपनी आदतों पर कंट्रोल करना शुरू कर दिया। वर्जिश की और बीमारी से छुटकारा पा लिया।

साथियो! जीभ जो आसमान से पाताल तक जाती है और आपकी पिटाई कराती है। आपकी पिटाई किसने कराई है बताना जरा ? आपकी पिटाई जीभ ने कराई है। यह तो उलटा-सीधा कहकर लपालप मुँह में घुस जाती है और जूते आपके सिर पर पड़ते हैं। जहाँ जाते हैं वहीं जूते पड़ जाते हैं। किस-किस के पड़े ? आपकी बीबी के पड़े, बीबी के पड़े ? बीबी ने जूते-चप्पल तो नहीं मारे, पर आपके साथ ऐसा व्यवहार किया जो जूते से भी ज्यादा था। जीभ पर काबू नहीं है आपका। अल्लम-गल्लम बकते रहते हैं। मोहब्बत करना आता नहीं, शऊर है नहीं, तमीज है नहीं कि इंसान के साथ किन शब्दों में बात करें। इंसान की इज्जत की रखवाली करने के बाद में आदमी से सहानुभूति किस आधार पर माँगनी चाहिए, आपको मालूम ही नहीं है। हावी होते जाते हैं। जूते पड़ेंगे आपके, अभी और पड़ेंगे।

मित्रो! जीभ ने क्या कर दिया ? जीभ ने आपकी सेहत खराब कर दी। सेहत को खराब करने की जिम्मेदारी एक आदमी की है। जिसने आपकी अच्छी-खासी तंदुरुस्ती को तबाह कर डाला है। ये कौन है ? इसका नाम है जीभ। हकीम लुकमान सही कहते थे कि आदमी अपने मरने के लिए और दफन होने के लिए जो कब्र खोदता है, वह अपनी जीभ की नोक से खोदता है। यह सच है ? हाँ यह बिल्कुल सच है कि आदमी अपनी जीभ की नोंक से अपनी कब्र खोदता है। आपने जो खाया है, जरा उसकी लिस्ट लाइए। क्या खाया है ? आपने जहर खाया है और वो चीज खाई हैं, जो आपको नहीं खानी चाहिए थीं। आपने जिस तरीके से खाई हैं, उस तरीके से नहीं खानी चाहिए थीं। आपने चीजों को नहीं खाया है, वरन् चीजों ने आपको खा लिया। अब आप क्या शिकायत करते हैं ? आपने बदतमीजी से और बेहूदगी से चीजों को खाया है। अब बेहूदे तरीके से खाने की वजह से ये बेहूदी चीजें आपका सफाया करती हैं। यह कौन करती है ? जीभ करती है।

मित्रो! अब आप क्या कर सकते हैं ? आप सेहत की एक तरीके से सहायता कर सकते हैं। देवपरिवार में आकर, आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने के बाद में आपके लिए हम एक नीति तय कर देंगे। किसके लिए ? जो भी हमारे नजदीक हैं उसके लिए। किस को देंगे ? आप शरीर को दीजिए। आपका नजदीक घर, आपका सेवक, आपका स्वामिभक्त कुत्ता है— आपका शरीर, जो चौबीस घंटे आपके साथ रहता है। आपको उस पर दया नहीं आती, आपको करुणा नहीं आती। आप इसको दे सकते हैं। अगर दे सके तो चंदगीराम पहलवान की तरह से आप टी.बी. की बीमारी तक से निजात पा सकते हैं। मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि आप सेहत पा सकते हैं, बशर्ते आप पहले जीभ पर काबू पाइए, जीभ पर अंकुश रखिए, डंडे लगाइए ऐसी जीभ पर जिसने आपको खा लिया। अगर आप जीभ पर काबू पा सकते हैं और इंद्रियों पर काबू पा सकते हैं तो चंदगीराम पहलवान के तरीके से आप अपनी सेहत फिर पा सकते हैं। निश्चित रूप से ? हाँ निश्चित रूप से।

सेहत देवता व हकीम नहीं दे सकते

मित्रो! सेहत कौन दे सकता है, देवता ? देवता नहीं दे सकता। हकीम जी ? हकीम जी भी नहीं दे सकते। क्यों साहब! हकीम जी के पास तो बहुत अच्छी-अच्छी दवाएँ हैं। बेटा बेकार की दवाएँ हैं। एक दिन हकीम जी से पूछा था कि क्यों साहब! आपके पास तो बहुत सारी दवाएँ हैं। क्या-क्या दवाएँ बेचते हैं ? हम तो टॉनिक बेचते हैं। अहहा और क्या बेचते हैं ? सब बीमारी की दवा बेचते हैं। अच्छा तो आप अपने खानदान वालों को खिलाकर दिखाइए। बीबी को क्या तकलीफ हो रही है ? बीबी की साँस चल रही है। क्यों साहब! इनको आपने पहलवानी की दवा नहीं दी। पहलवानी की दवा क्या होती है ? पहलवानी की प्रोटीनॉल, प्रोटिनेक्स, हॉरलिक्स और विटामिन बी कांपलेक्स, विटामिन बी-१२ आदि पच्चीसों दवाइयाँ हैं। इनको खाकर पहलवान हो जाएँगे। आपने इन बच्चों को नहीं खिलाया ? अरे साहब सबको खिलाते हैं, किंतु हम जानते हैं कि ये बिल्कुल बेकार की चीजें हैं।

> **जो परमार्थ में लीन है, तन-मन धन से परोपकार एवं परहित में निरत है, वही सज्जन है, वही सत्पुरुष है और वही धनवान है।**
>
> *—परमपूज्य गुरुदेव*

आप तो कह रहे थे कि इसमें इतनी ताकत है, इसमें इतनी प्रोटीन है, इसमें इतने विटामिन हैं। इसमें इतनी अधिक चीजें हैं, तो फिर आप बच्चों को क्यों नहीं खिला देते ?

आप तो गरीब हैं न ही? गरीब तो नहीं हैं गुरुजी। इसमें कुछ तो है ही। ये तो प्रोटीन युक्त प्रोटीन्यूल है। दूध में मिलाकर खाते हैं और प्रोटीन मिल जाता है। ये भुना हुआ सोयाबीन का आटा है। विटामिन बी कांपलेक्स क्या है? यह कुछ भी नहीं है, गेहूँ का छिलका है। छिलकों को पानी में भिगोकर जो मसाला निकल जाता है, उसी को बना लेते हैं। गेहूँ का छिलका जो गायों को फेंक देते हैं, भैंस को डाल देते हैं? हाँ साहब वही छिलका है। तो क्या ये सब फ्राड है? किनका फ्राड है? दवाफरोशों का फ्राड है, जो लोगों को सब्जबाग दिखा करके ये चीजें बेचते रहते हैं और कहते हैं हम आपकी सेहत अच्छी कर देंगे, आपको तंदुरुस्त बना देंगे। अगर तंदुरुस्त बना देते तो एक भी हकीम की घरवाली कमजोर न पाई जाती।

अच्छा, हकीम जी, आप अपनी बीबी को पेश करिए हमारे सामने। अच्छा तो यही हैं आपकी धर्मपत्नी। इनकी सेहत अच्छी होती, पर इनकी तो मिट्टी पलीद हो रही है। दवाई भी खिलाते हैं। क्या दवाई खिलाएँगे, ये तो बहकाने की दवाई हैं? हाँ बेटा! ठीक है आपका कहना। दवा वाले अपना गुजारा कर रहे हैं, कैमिस्ट अपना गुजारा कर रहे हैं, कंपाउंडर अपना गुजारा कर रहे हैं। लेकिन अच्छी सेहत पानी है तो कौन दे सकता है? आप दे सकते हैं, आपके अलावा और कोई नहीं दे सकता। आपके अलावा कोई मरीज नहीं है और न आपके अलावा दुनिया के परदे पर आपके लिए कोई हकीम है। दूसरों के लिए तो हो भी सकते हैं, पर आपके लिए आप ही हकीम हैं। कैसे हो सकते हैं? अगर आप ये निश्चय कर लें कि हमको इस शरीर को देना है। क्या देना है? इस शरीर को ख्याति देनी है, यश देना है, अजर-अमर बनाना है। लोगों की निगाहों में इज्जतदार बनाना है, जिससे कि आपकी फोटो देखकर लोग आँखें नीची कर लिया करें। यह सब आप दे सकते हैं। कब? अगर आप देने की आदत सीख लें तब।

मित्रो! अगर आप देने की आदत सीख लें तब? तब आप अपने दिमाग को ऐसी चीजें दे सकते हैं कि आपका दिमाग कहे कि हमको लंबी जिंदगी जीने का मौका इन्होंने दिया। किसको? दिमाग को। दिमाग क्या है? दिमाग बेटे वो है जो हमारी भीतरी और बाहरी जिंदगी के ऊपर पूरी तरह से कंट्रोल करता है। दिमाग को आपने गरम कर डाला है। दिमाग बेशक जलता रहता है। कैसे जलता रहता है? जैसे श्मशान जलता रहता है और उस श्मशान में भूत और पिशाच जलते रहते हैं। इस तरह से हमारा बेहतरीन कंप्यूटर जलता रहता है। चिंताओं की वजह से, फिक्र की वजह से, द्वेष की वजह से, ईर्ष्या की वजह से, अमुक की वजह से। क्यों साहब! ये बात सही है, आवश्यक है? नहीं बेटे! जरूरी नहीं है कि इन वजहों से ही आपका मस्तिष्क जलता रहता है। ये चीजें कतई जरूरी नहीं हैं।

क्यों साहब! इन परिस्थितियों में हर कोई जलेगा? नहीं, इन परिस्थितियों में हम आपको ढेरों आदमी बता देते हैं, जो आप से भी गई-बीती परिस्थितियों में थे, लेकिन प्रसन्न थे, हँस सकते थे। कैसे? दिमाग पर कंट्रोल रखते थे। जिस मशीन से जिंदगी की हर चीज का काम निकालना है, उसी को आप असंतुलित कर देते हैं। फिर बताइए कैसे काम चलाएँगे? समस्याओं को कैसे हल करेंगे? जो चीज आपके काम की थी दिमाग, उसको तो आपने गरम कर डाला, जला डाला। आप चाहें तो अपने दिमाग पर रहम कर सकते हैं। दिमाग पर क्यों? आप चाहें तो उसे जलन से बचा सकते हैं, जो चौबीसों घंटे जलता रहता है। रहम अगर हो तो आप अपने घर में जलते हुए जानवरों को निकाल सकते हैं। अगर आपको रहम नहीं हो तो कहेंगे कि मरने दीजिए। रहम हो तो दूसरों के ऊपर भी दया कर सकते हैं। अगर आपके भीतर रहम है तो फिर आपके भीतर वह ताकत है, शक्ति है, जिससे निश्चित रूप से आप अपने दिमाग को राहत दे सकते हैं। यह बेहतरीन कंप्यूटर है और यह करोड़ों रुपये कीमत का कंप्यूटर है।

अपना कंप्यूटर आप ही ठीक करें

मित्रो! आपने इसे गरम कर दिया। मशीन को ज्यादा गरम करने से तो हर चीज जल जाती है। पानी की मोटर जल जाती है, गाड़ी की मोटर जल जाती है। ज्यादा गरम कर देंगे, टेंप्रेचर बढ़ा देंगे तो वे जल जाएँगी। आपने अपने दिमाग को जला दिया और जली हुई मोटर जिस तरीके से खड़बड़-खड़बड़ करती है और धुआँ देती है, आपका दिमाग भी उसी तरह से हर वक्त धुआँ देता रहता है। आप अगर चाहते तो आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करके देवत्व ग्रहण करते और अपने दिमाग पर रहम कर सकते थे। आप चाहते तो अपने शरीर पर रहम कर सकते थे। इसका फल जरूर मिलता, सैकंडों में मिलता। फल? हाँ बेटे फल, अध्यात्म नकद धर्म है। आप सही तरीके से इसका इस्तेमाल तो कीजिए। आप सही तरीका ही नहीं जानते हैं, तो मैं क्या करूँगा। आपने एक ही चीज सीख रखी है, मनुहार और अनुग्रह। उसके सामने नाक रगड़ेंगे, इसके सामने मिन्नतें करेंगे, सब गोरखधंधा है। यही आध्यात्मिकता तो बताई गई है न आपको, बताइए नाक रगड़ना, मिन्नतें करना, मनुहार करना और अनुग्रह पाना।

मित्रो ! आपका भगवत् भजन क्या है, आपकी संतोषी माँ की पूजा क्या है, आपका हनुमान चालीसा क्या है बताइए जरा ? सारी-की-सारी धुरी का जब हम पोस्टमार्टम करते हैं, विश्लेषण करते हैं तो आज का अध्यात्म, पुरातन नहीं, पूरी तरह से इसी जंजाल में फँसा हुआ मिलता है। इसमें दो ही चीजें दिखाई पड़ती हैं, एक मिन्नतें दिखाई पड़ती हैं, मनुहार दिखाई पड़ती है और दूसरा इस मिन्नत-मनुहार के बदले में अनुग्रह पाने की इच्छा मालूम पड़ती है। ये कहाँ तक सही है, बेटे मालूम नहीं, पर मैं जानता हूँ कि यह कहीं भी शोभा देने लायक नहीं है। आप इस आधार पर कोई बड़ी चीज नहीं पा सकेंगे।

कैसे बड़ी चीज नहीं प्राप्त कर सकेंगे ? जैसे एक सेठ जी थे। उनके यहाँ एक पच्चीस-छब्बीस साल का लड़का आया। उसने कहा, कुछ काम-धंधा नहीं है हमारे यहाँ और आज रोटी भी नहीं मिली, सेठ जी हमारी कुछ सहायता कीजिए। मुनीम जी, देखना इसकी कुछ सहायता कर देना। मुनीम जी ने एक रुपया दिया और कहा लो भाई बाजार से रोटी खा लेना। साहब एक रुपये में रोटी कैसे मिलेगी ? आप तो जानते ही हैं कि आजकल तीन रुपये में थाली मिलती है। एक रुपये में पेट नहीं भरेगा। अच्छा मुनीम जी इनको कुछ और दे दीजिए। तो फिर क्या दे दें ? दो रुपये दे दो। अच्छा दो रुपये ले। भगवान् करे आपका कल्याण हो। सेठ जी बड़े उदार हैं, मुनीम जी बड़े उदार हैं, यह कहते वह चला गया। क्या ले गया ? दो रुपया। कितनी बार कहा, कितना दीन बना, धन्यवाद कहा, तब जाकर के सेठ जी की कृपा से, मुनीम जी की सिफारिश से दो रुपये ले करके गया और अपना पेट भर लिया।

मित्रो ! थोड़ी देर में एक और लड़का आया। उसकी भी उम्र वही पच्चीस-छब्बीस साल थी, शक्ल-सूरत में भी बिल्कुल वैसा ही मिलता-जुलता था। जब वह आया तो मुनीम जी उठकर खड़े हो गए, सेठ जी भी उठकर खड़े हो गए। सेठ जी ने कहा, आइए, खैरियत तो हैं ? बहुत दिन में आना हुआ। आइए, बैठिए साहब! सेठ जी ने अपना काम बंद कर दिया और नौकर से बोले, तू अखबार ला, पंखा ला, चाय जल्दी ला, मिठाई ला। दो-तीन दिन तक ऐसी खुशामद की, ऐसी इज्जत की कि क्या कहने ? जब विदा हुए तब तरह-तरह के उपहार दिए, पेंट-सूट दिया, किराये के लिए सौ रुपये दिए। टिकिट लाकर दिया। घर से गाड़ी में स्टेशन तक पहुँचाने के लिए गए। वह बार-बार कहता रहा कि आप क्यों कष्ट उठाते हैं ? हमें इनकी क्या जरूरत है, रहने दीजिए। हम तो आपके बच्चे हैं। नहीं साहब! ये सब तो आपको लेकर जाना पड़ेगा। वही सेठ और वही मुनीम जोर दे रहे थे, दबाव डाल रहे थे कि नहीं साहब लेना ही पड़ेगा।

बेटे! लड़के दोनों ही थे; एक मिन्नतें कर रहा था, खुशामदें कर रहा था, तब दोनों की सिफारिशों से दो रुपये लेकर गया था और पीछे आशीर्वाद देकर गया था, लेकिन दूसरे को जो चीजें मिलीं। साहब ये क्या फर्क है ? सेठ जी वही हैं, लड़के वही हैं। दोनों बाहर के थे, पर दोनों में फर्क था। क्या फर्क था ? ये लड़का जो पीछे आया था, सेठ जी का जँवाई था। जँवाई क्या होता है ? जँवाई उसे कहते हैं जिसके साथ लड़की की शादी कर देते हैं। तो आपने इसको क्यों दिया ? इसलिए दिया जिससे ये हमारी बेटी की सहायता करे। इसकी कमाई के ऊपर हमारी बेटी की जिंदगी निर्भर है। इससे प्यार मिलता है, इसकी संपदा का वह फायदा उठाएगी। अच्छा तो आपने बेटी के पक्ष में इसकी सहायता की है। आप बिल्कुल सच कहते हैं। यह है तो एक लोकाचार, परंतु सही बात यह है कि सहायता प्राप्त करने की वजह से हमने इसको दिया है।

महानता के उपासकों को बड़प्पन की अभिलाषा को नियंत्रित ही रखकर चलना होता है।

—परमपूज्य गुरुदेव

ये क्या कह रहे थे भिखारी और जँवाई की बात ? हाँ बेटे, आपसे मैं इसलिए कह रहा हूँ कि आप शुरू से देखिए कि जिनसे आप मिन्नतें करते हैं, जिनसे आप कुछ पाना चाहते हैं, उनके दरवाजे पर आप भिखारी होकर जाते हैं कि जँवाई होकर। जामाता के लिए जँवाई शब्द बड़ा खराब है, पर आप मुझे कहने दीजिए। जब कोई और अच्छा शब्द मिल जाएगा तो मैं उसको इस्तेमाल करूँगा, अभी तो मेरे पास और कोई शब्द नहीं है। हाँ तो आप क्या चाहते हैं ? बेशकीमती चीजें पाने के लिए, अच्छी चीजें पाने के लिए, इज्जत पाने के लिए आपको क्या करना चाहिए ? आपको जँवाई बनना चाहिए। किनका जँवाई बनना चाहिए ? भगवान् जी और किसका ? साईं बाबा का और किसका आचार्य जी का। हरेक का जँवाई बनना चाहिए। चल बदमाश कहीं का, दरिद्र और भिखमंगे पहले अपनी हैसियत को ऊँची उठा। अपनी हैसियत को ऊँचा उठाए बिना, ऊँची चीजें-कीमती चीजें न कभी मिली हैं और न मिलने वाली हैं। *(क्रमश:)*

अंतर्जगत् के दो विशिष्ट वैज्ञानिक

परमपूज्य गुरुदेव एवं महर्षि पतंजलि में अद्‌भुत साम्य है। अध्यात्म जगत् में इन दोनों की उपस्थिति अत्यंत विरल है। ये दोनों ही अध्यात्म के शिखर पुरुष हैं, परंतु वैज्ञानिक हैं। वे प्रबुद्ध हैं बुद्ध, कृष्ण, महावीर एवं नानक की भाँति, लेकिन इन सबसे पूरी तरह से अलग एवं मौलिक हैं। बुद्ध, कृष्ण, महावीर एवं नानक—इनमें से किसी की दृष्टि वैज्ञानिक नहीं है, निश्चित रूप से ये सब महान् धर्म प्रवर्तक हैं, इन्होंने मानव मन और इसकी संरचना को बिल्कुल बदल दिया है, लेकिन उनकी पहुँच, उनका तरीका वैज्ञानिक नहीं है।

जबकि महर्षि पतंजलि एवं वेदमूर्ति गुरुदेव अध्यात्मवेत्ताओं की दुनिया के आइंस्टीन हैं। वे अद्‌भुत घटना के प्रतीक हैं। वे बड़ी सरलता से आइंस्टीन, बोर, मैक्स प्लैंक या हाइजेनबर्ग की श्रेणी में खड़े हो सकते हैं। उनकी अभिवृत्ति और दृष्टि ठीक वही है, जो एकदम विशुद्ध वैज्ञानिक मन की होती है। कृष्ण कवि हैं, कवित्व पतंजलि एवं गुरुदेव में भी है, किंतु इनका कवित्व कृष्ण की भाँति बरबस उमड़ता व बिखरता नहीं, बल्कि वैज्ञानिक प्रयोगों में लीन हो जाता है। पतंजलि एवं गुरुदेव वैसे रहस्यवादी भी नहीं हैं, जैसे कि कबीर हैं। ये दोनों ही बुनियादी तौर पर वैज्ञानिक हैं, जो नियमों की भाषा में सोचते-विचारते हैं। अपने निष्कर्षों को रहस्यमय संकेतों के रूप में नहीं, वैज्ञानिक सूत्रों के रूप में प्रकट करते हैं।

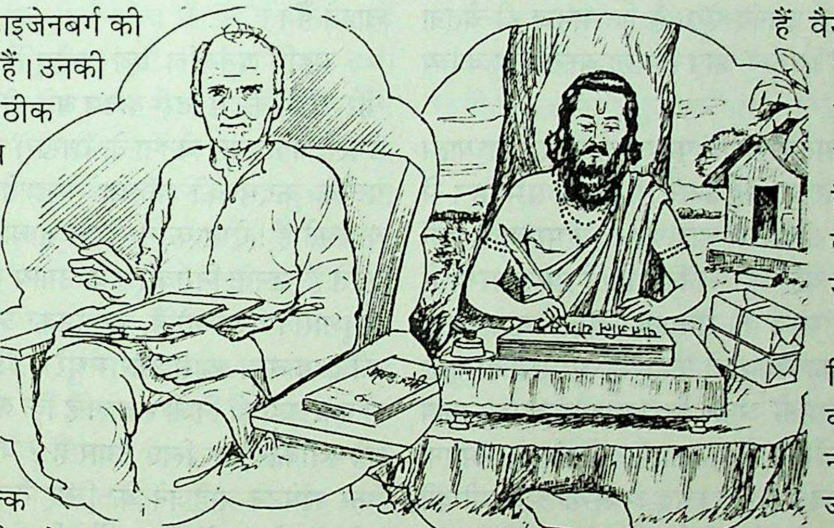

अद्‌भुत है इन दोनों महापुरुषों का विज्ञान। ये दोनों गहन वैज्ञानिक प्रयोग करते हैं, परंतु उनकी प्रयोगशाला पदार्थ जगत् में नहीं, अपितु चेतना जगत् में है। वे अंतर्जगत् के वैज्ञानिक हैं और इस ढंग से वे बहुत ही विरल एवं विलक्षण हैं, क्योंकि जो लोग अंतर्चेतना में प्रवेश करते हैं, वे प्रायः कवि हो जाते हैं और जो बाह्य जगत् में प्रवेश करते हैं, वे अक्सर हमेशा वैज्ञानिक होते हैं, परंतु यहाँ यह नियम उलट-पुलट गया है। ये दोनों इस प्रकृति सत्य से परे और पार चले गए हैं।

इस तरह से तपोमूर्ति गुरुदेव एवं महर्षि पतंजलि विधाता के, विश्व उद्यान के अति दुर्लभ पुष्प हैं। उनके पास वैज्ञानिक मस्तिष्क है, लेकिन उनकी यात्रा भीतरी है। उन्होंने अनेकों प्रयोग किए हैं, परंतु उनके सारे प्रयोग पदार्थ जगत् में नहीं चेतना जगत् में किए गए हैं। उन्होंने मनुष्य के अंतस् जगत् के निरपेक्ष नियमों का निगमन करके सत्य और मानवीय मन की चरम कार्यप्रणाली के विस्तार का अन्वेषण और प्रतिपादन किया है। इनका अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि वे गणित के फार्मूले जैसी सटीक बात कहते हैं। यदि उनकी बात मानी जाए, जैसे वे कहते हैं वैसा किया जाए तो परिणाम निकलेगा ही। उनकी बातों में वैसा ही सुनिश्चित है, जैसा कि दो और दो का चार होना सुनिश्चित है।

इसके लिए किसी तर्क या विवाद की कोई जरूरत नहीं। बस करो और जानो। प्रयोगों में डूबो और पाओ। यहाँ सब कुछ असंदिग्ध है, सुस्पष्ट है। किसी भी तरह के भ्रम एवं संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है। यह कुछ ऐसा है जिसे करके ही जाना जा सकता है। इसलिए यह बार--बार कहा जा सकता है कि महर्षि पतंजलि एवं परमपूज्य गुरुदेव अद्‌भुत हैं। महर्षि पतंजलि ने अपने सैकड़ों-सैकड़ों प्रयोग करके उनके निष्कर्षों को सूत्रबद्ध किया। इन सूत्रों के सहारे जब भी कोई चाहे प्रयोग को दुहरा सकता है और उन्हीं निष्कर्षों को पुनः पा सकता है। इसी तरह परमपूज्य गुरुदेव ने चेतना जगत् में असंख्य प्रयोग किए और अपने निष्कर्षों को प्रकाशित-प्रतिपादित किया। वे यहीं तक रुके

नहीं, बल्कि इससे एक कदम और आगे जाकर ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान का निर्माण किया। अध्यात्म के वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए एक अद्भुत प्रयोगशाला बनाई। मानव चेतना के वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए क्रियाविधि निर्देशित की।

इस दृष्टि से ये दोनों ही बेजोड़ हैं। उन जैसा होने की संभावना भी नहीं है, क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना और आंतरिक जगत् में प्रवेश करना करीब-करीब असंभव संभावना है। वे अपने प्रयोगों के बारे में, प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्ष के बारे में एक गणितज्ञ, एक तर्कशास्त्रज्ञ, एक महावैज्ञानिक की भाँति सत्यों को स्पष्ट करते हैं। लेकिन वे हैं कबीर और हेराक्लाइट्स की भाँति रहस्यदर्शी। किसी रहस्यदर्शी का वैज्ञानिक होना अति विरल है। रहस्यदर्शी तो कवि होता है, कबीर की तरह, नानक की तरह। दरअसल परम आनंद का, चरम ज्ञान का जो जगत् है, वह इतना सुंदर, इतना भव्य है कि बरबस ही कविता उपजती है। उस अवस्था की सुंदरता ऐसी है, उसका मंगल आशीष ऐसा है, उसका परम आनंद ऐसा है कि सहज ही चेतना लयबद्ध हो जाती है। अपने आप ही छंद बनते और काव्य प्रस्फुटित होता है।

लेकिन महर्षि पतंजलि एवं परमपूज्य गुरुदेव अध्यात्म चेतना के इस शिखर पर पहुँचकर भी इसके सम्मोहन से बँधते नहीं। इसके सौंदर्य के जादू को स्वयं पर हावी नहीं होने देते। हालाँकि यह बहुत कठिन है। ऐसी अवस्था में आज तक कोई भी स्वयं को रोक नहीं सका। बुद्ध, दादू, रज्जब सबके सब काव्यमय हो गए। यह अवस्था ही कुछ ऐसी ही है। जब उसकी अपार भव्यता और उसका परम सौंदर्य अपनी अंतर्चेतना में फूटता है, तो बरबस अपना समूचा अस्तित्व नाच उठता है। यह अवस्था उस प्रेमी की होती है, जो सारी सृष्टि के ही प्रेम में पड़ गया है, परंतु पतंजलि एवं गुरुदेव दोनों ही ऐसी अवस्था पाने के बावजूद काव्य का प्रयोग नहीं करते। वे सौंदर्य की नहीं सूत्रों की भाषा में बात करते हैं। वे ऐसा कुछ भी कहने का प्रयास नहीं करते, जिसे शब्दों में कहा न जा सके। उनमें लोककल्याण की गहरी भावना है, मानव के प्रति अगाध प्रेम है, पर इसे वे काव्य में नहीं क्रिया में व्यक्त करते हैं।

वे साधना की, अनुशासन की नींव बनाते हैं। यह नींव सबके लिए है। यदि कोई उस नींव पर चल पड़े तो उस शिखर पर निश्चित रूप से पहुँच जाएगा, जो अभी दिखता नहीं, सबसे परे है। उनके द्वारा कहा गया एक भी शब्द व्यर्थ नहीं है। अपनी अंतर्यात्रा पर चलने के लिए उनके एक-एक शब्द को समझने की कोशिश करनी होगी। यह अति कठिन है, क्योंकि उनकी शब्दावली तर्क की, विवेचन की है। हालाँकि उनका संकेत प्रेम की ओर, परमात्मा की ओर है। उनकी शब्दावली उस व्यक्ति की है, जो वैज्ञानिक प्रयोगों में संलग्न है। हालाँकि उनकी प्रयोगशाला अंतर्चेतना की है, वह आंतरिक अस्तित्व की है।

अतः उनके सूत्रों-निष्कर्षों में इस अनुभूति के साथ निमग्न होना होगा कि यह परम काव्य का गणित है। यह विरोधाभास तो है, पर यह सूत्रों को तनिक भी नहीं छू सका है, क्योंकि ये महावैज्ञानिक अपने कथन में बड़ी ही तर्कसंगत पृष्ठभूमि बनाए रखते हैं। वे विच्छेदन करते हैं, विश्लेषण करते हैं, पर उनका मकसद संश्लेषण है। वे केवल संश्लेषण के लिए विश्लेषण करते हैं। उनकी अनुभूति में डूबने के लिए यह हमेशा ध्यान रखना होगा कि वे हमें वैज्ञानिक मार्ग से परम सत्य तक पहुँचाना चाहते हैं। वे बुद्धि से बातें करते हैं, पर उनका उद्देश्य, उनका लक्ष्य हृदय ही है। वे हमें तर्क के द्वारा तर्क के पार ले जाना चाहते हैं।

महर्षि पतंजलि एवं तपोमूर्ति गुरुदेव दोनों ही हमें धीरे-धीरे, कदम-दर-कदम बड़े ही धीरज के साथ, हमारी उँगली पकड़कर चेतना के शिखरों की ओर ले जाते हैं। वे प्रत्येक कदम की महिमा समझाते हैं, उसकी फलश्रुति बतलाते हैं। ऐसा करने में जो बाधाएँ आएँगी उनसे सचेत करते हैं, उनके निराकरण के उपाय सुझाते हैं। वे हमें अपने अनुशासन में बाँधते हैं, पर उनका अनुशासन माँ के मातृत्व की तरह बड़ा प्यारा और मधुर है। इन पंक्तियों के पाठकों से एक बड़ा ही निजी सवाल है कि क्या आप इस अनुशासन को स्वीकारने के लिए तैयार हैं ? यदि जवाब हाँ में है तो फिर समेटने-सहेजने के लिए तैयार हो जाइए—महर्षि पतंजलि के सूत्रों-निष्कर्षों की व्याख्या परमपूज्य गुरुदेव के प्रयोगों एवं अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में।

अखण्ड ज्योति के पृष्ठों पर इन महर्षियों के अनुभवों को बाँटने व अनुभूतियों को देने का सिलसिला अब से प्रतिमास चलेगा और चलता रहेगा। इस क्रम में महर्षि पतंजलि के योगसूत्रों की व्याख्या होगी, ठीक उस भाँति जैसा कि परमपूज्य गुरुदेव कहते थे, बताते थे। यह व्याख्या शास्त्रीय एवं सिद्धांतीय नहीं, पूज्यवर की जीवन साधना के अनुरूप होगी। आप सब हम सब रहें इसके लिए प्रतिमास साधनारत। यह साधना ही प्रतीक्षा होगी और प्रतीक्षा ही देवत्व के अभिवर्द्धन हेतु हमारी पात्रता बनेगी।

□

सद्गुरु की महिमा अनंत

जाड़े की ठंढी हवा दोपहर की धूप में घुलकर थोड़ी कुनकुनी हो गई थी। बड़ा ही सुखद स्पर्श लग रहा था इस हवा का। उस दिन धूप की छुअन भी काफी नरम, मुलायम और मखमली लग रही थी। परमपूज्य गुरुदेव अपने ऊपर वाले कमरे से सटे हुए आँगन में टहल रहे थे। इस आँगन के बीचोबीच उनकी चारपायी पड़ी हुई थी। इस चारपायी का कुछ हिस्सा धूप में था तो कुछ छाया में। आँगन के दूसरे कोने पर एक टाट का टुकड़ा बिछा हुआ था, जिस पर दो छोटी-छोटी चौकियाँ रखी थीं और इन पर कुछ कागज-किताबें बिखरी हुई थीं। दो लोग बैठे हुए यहाँ कुछ पढ़ने-लिखने का काम कर रहे थे। शायद किन्हीं नई पुस्तकों के प्रकाशन का सरंजाम जुटाया जा रहा था।

टहलते हुए गुरुदेव बीच-बीच में इन काम कर रहे लोगों को कुछ निर्देश दे देते। उनकी भावमुद्रा में एक त्वरा थी, तीव्रता थी। संभवतः वह चाहते थे कि जो दैवी विचार-प्रवाह उनकी अंतर्चेतना में अविरल भाव से अवतरित होता है, वह शीघ्र-से-शीघ्र बहुसंख्यक जनों तक पहुँचने लगे और पहुँचता रहे। अपने विचार चक्र प्रवर्तन को तीव्रतम वेग देने के लिए सतत प्रयासरत रहते थे वह। नए लोगों के लिए लेखन का प्रशिक्षण, संपादन की व्यवस्था और स्वयं नित्य-प्रति अनवरत और अविरल लेखन विचार चक्र प्रवर्तन को ही तीव्र से तीव्रतर एवं तीव्रतम करने के लिए ही थे। हालाँकि इस सबके बीच उनकी दिव्य मुस्कान, उन्मुक्त हँसी समूचे वातावरण में अमृत घोलती रहती और काम करने वालों की थकान दूर करती रहती।

उस दिन टहलते हुए गुरुदेव कुछ पलों के लिए थमे और फिर अपनी चारपाई पर जाकर बैठ गए। अब उनके हाथों में अखबार था, जिसे उन्होंने थोड़ा उलटा-पलटा। ऐसा करते हुए उनकी भावमुद्रा यत्किंचित् परिवर्तित हुई। उनका गौरवर्णीय मुखमंडल धूप के कारण थोड़ा लाल हो रहा था। उनकी गंभीर भावमुद्रा इस लालिमा से मिलकर और अधिक तेजस्वी हो गई। उन क्षणों में ऐसा लगने लगा मानो स्वयं सूर्यदेव दुनिया को एक नई सुबह का संदेश देने के लिए शरीर धारण करके धरती पर उतर आए हों। एक क्षण के लिए चारपायी पर बैठे हुए गुरुदेव फिर से खड़े हो गए और हलके पाँवों से चलते हुए वह आँगन के कोने के पास आ गए, जहाँ टाट पर बैठे हुए दो लोग काम कर रहे थे।

उनमें से एक को संबोधित करते हुए बोले, लड़के! देख बेटा आज के अखबार में निकला है ओजोन परत फट रही है, इससे ग्लेशियर पिघल जाएँगे और दुनिया डूब जाएगी, खत्म हो जाएगी। इसमें पर्यावरण के खतरे से चिंतित वैज्ञानिकों की बातें छपी हैं कि दुनिया को अब कोई नहीं बचा सकता। कुछ ज्योतिषी भी विश्वयुद्ध की संभावनाएँ बताकर, ग्रहों के जोड़-तोड़ की गणित लगाकर कह रहे हैं कि दुनिया अब बचने वाली नहीं है। अखबार में उस दिन छपे हुए वैज्ञानिकों एवं ज्योतिष विज्ञानियों के भविष्यकथन का सार बताकर गुरुदेव निर्देश देते हुए बोले, ऐसा कर इस पर तू एक लेख लिख दे कि तमाम खतरों के बावजूद ऐसा कुछ होने वाला नहीं है। दुनिया बचेगी, रहेगी। आज छाया हुआ अँधेरा मिटेगा और दुनिया बड़े ही शानदार ढंग से उज्ज्वल भविष्य का सबेरा देखेगी।

जिसे यह निर्देश दिया जा रहा था, वह उनकी बातों को बड़े ही मौन भाव से सुनता रहा। जब वह अपनी बात पूरी कर चुके, तो वह अपनी अज्ञानमिश्रित आशंकाओं को उनके सामने रखता हुआ बोला, गुरुजी ये बातें तो वैज्ञानिक एवं ज्योतिषी कह रहे हैं, क्या वे पूरी तरह से गलत हैं। पूछने वाले के अज्ञान पर वह हँस पड़े। बड़ी ही निश्छल एवं निर्दोष हँसी का झरना फूट पड़ा। इसके निर्मल प्रवाह में उनकी गंभीरता पता नहीं कहाँ और कब बह गई। अब वह हँसी के मूड में थे। ऐसे में वह मजाक करते हुए बोले, क्या तू यह कहना चाहता है कि मैं वैज्ञानिक और ज्योतिषी नहीं हूँ। तब भला इनकी बातें मुझे कैसे समझ में आएँगी? फिर दूसरे ही पल उनकी हँसी में हलका-सा विराम लगा और वह कहने लगे, चल अच्छा तुझे आज सच्ची बात बता ही देता हूँ।

वह कुछ विशेष बताने जा रहे हैं, यह सोचकर सुनने वाले ने अपनी डायरी खोल ली। लिखने के साथ-साथ वह कानों से नहीं प्राणों से भी सुनने की कोशिश करने लगा। वह कह रहे थे, बेटा! ये वैज्ञानिक भी सही हैं और ज्योतिषी भी ठीक कह रहे हैं। दोनों ही अपने विज्ञान और अपनी विद्या के अनुसार सचाई बताने की कोशिश कर रहे हैं।

लेकिन इन दोनों से ऊपर भी कुछ है और वह इतना समर्थ एवं सक्षम है, जो संभावित घटनाक्रमों को मोड़ने-मरोड़ने की ताकत रखता है।

बात को आगे बढ़ाते हुए वह बोले, हिमालय के गुप्त और दिव्य क्षेत्रों में कुछ विशेष लोग रहते हैं। ये महान् तपस्वी और अद्‌भुत शक्तिशाली हैं। तुम लोग इनकी शक्ति का अंदाजा भी नहीं लगा सकते। इनका भगवान् से सीधा संपर्क है। उन्हीं की इच्छा के अनुसार ये उनके विश्व उद्यान को सजाते-सँवारते रहते हैं। संभावित विपदाओं को हटाते-भगाते और अच्छी परिस्थितियों को जन्म देते हैं। बेटा, भगवान् का और इन महान् आत्माओं का निश्चय है कि दुनिया अभी नष्ट नहीं होगी। आज के संभावित खतरे कितने ही सच क्यों न हों, पर ये मिटेंगे। अँधेरा उजाले में बदलेगा।

धीमे कदमों से चल रहे गुरुदेव थोड़ा ठिठके, परंतु उनके इस तरह रुकने से उनकी वाणी का प्रवाह नहीं रुका। वह बोल रहे थे, तुम लोग देखते हो कि दो देश झगड़ा करने के लिए आमने-सामने आ जाते हैं। ऐसा लगता है कि अब सब कुछ समाप्त हो जाएगा, पर अचानक ठीक समय में परिस्थितियाँ नया मोड़ ले लेती हैं और सब कुछ बदल जाता है। हिमालयवासी ये महान् आत्माएँ ही ऐसा करती हैं। उनके तप से ही परिस्थितियों में ऐसे आश्चर्यजनक और अद्‌भुत मोड़ आते हैं। फिर बड़ी ही सहज रीति से, पर थोड़ा धीमे स्वर में अपनी बातों में एक नया वाक्य जोड़ते हुए बोले, मैं उनके सतत संपर्क में रहता हूँ, उन्हीं का काम करता हूँ और उन्हीं में से एक हूँ। इसलिए मुझे सब कुछ पता है।

सुनने वाले का हृदय श्रद्धा और भक्ति से उफन उठा। वह सोचने लगा, कितनी अनंत और असीम है उनके सद्‌गुरु की महिमा। कितना सौभाग्यशाली है, वह जो उनका इस तरह दर्शन कर पा रहा है, उनकी वाणी सुन रहा है। वह अपने सौभाग्य की सराहना में मन-ही-मन लीन था और उसका सौभाग्य आज उस पर अपनी अजस्र कृपावृष्टि करने में जुटा था। गुरुदेव उसके मन के किसी कोने में उलझे हुए धागों को सुलझाते हुए कह रहे थे, तू यही सोच रहा है न कि इतने समर्थ ऋषिगण दुनिया को एकदम से ठीक क्यों नहीं कर देते?

सचमुच ही यही प्रश्न था उसका, जिसका कि वह जवाब दे रहे थे, समस्त सृष्टि एक विधि-व्यवस्था के तहत चलती है, जिसे कर्मफल विधान कहते हैं। मनुष्य ने कर्म तो ऐसे कर रखे हैं कि दुनिया में अगणित बार प्रलय हो। वैज्ञानिक और ज्योतिषी संकेत भी कुछ ऐसे ही कर रहे हैं। पर नहीं, भगवान् की कृपा, हम सब का तप ऐसा होने नहीं देगा। बस विपदाओं की चिह्नपूजा भर होगी। इतने भर से काम चला लिया जाएगा। हाँ इतना जरूर है कि दुनिया में सुख-शांति स्थायी रहे, आने वाला उज्ज्वल भविष्य टिकाऊ रहे, इसके लिए इंसान को, समाज को, देश को और समूची दुनिया को अपनी जीवन शैली बदलनी होगी।

गुरुदेव गंभीर हो गए और थोड़ा चिंतामग्न भी। वह कह रहे थे, ''यही सब बताने, यही सब सिखाने तो मैं संसार में आया हूँ। नहीं तो क्या जरूरत पड़ी थी मुझे यहाँ आने की।'' जितनी जल्दी आदमी इस सचाई को समझ जाए, उतना ही अच्छा। उनकी इस गंभीरता में उनकी करुणा अजस्र भाव से झर रही थी। उनकी बातें सुनने वाले को लग रहा था जैसे करुणामय परमेश्वर ही उसके सद्‌गुरु का स्वरूप धारण करके समूचे विश्व को उज्ज्वल भविष्य का वरदान देने के लिए आए हैं। ज्ञानियों का सच कुछ भी हो, पर उसके हृदय का सच इतना ही था सद्‌गुरु की महिमा अनंत, अनंत उसका विस्तार।

❑

एक बार स्कूल इंस्पेक्टर मुआयने के लिए आए। गाँधी जी की कक्षा की परीक्षा हुई। उसमें पाँच शब्दों की स्पेलिंग लिखने को दी गई। गाँधी जी ने उसमें से एक गलत लिख दी। कक्षा अध्यापक ने इशारा किया, आगे वाले विद्यार्थी की नकल कर लो, पर गाँधी जी ने नकल नहीं की।

परीक्षा में सब उत्तीर्ण हुए, केवल गाँधी जी अनुत्तीर्ण रहे। इंस्पेक्टर चला गया, तो मास्टर ने गाँधी जी को डाँट लगाई। गाँधी जी ने उत्तर दिया, ''मास्टर साहब! दूसरे की नकल करके पास होने की अपेक्षा, अपनी बुद्धि से अनुत्तीर्ण होना अच्छा। झूठी सफलता के लिए अपनी आत्मा की सचाई को बेचकर आत्महीनता का दुःख उठाना मेरे लिए संभव नहीं।'' गाँधी जी के इस कथन पर अध्यापक उनकी अल्पायु में नैतिकता की अडिग आस्था के लिए आश्चर्यचकित रह गए।

गुरुसत्ता के आध्यात्मिक जीवन की ज्योति

अखण्ड ज्योति परमपूज्य गुरुदेव के आध्यात्मिक जीवन की ज्योति है। उनकी गहन आध्यात्मिक साधनाओं के गर्भ से यह जन्मी है और उन्हीं के तप का अमृतपान कर इसका विकास हुआ है। वर्ष १९२६ ई. की वसंत पंचमी को हिमालयवासी परमगुरु के दिव्य सान्निध्य में जो अखण्ड दीप जला, उसकी ज्योति दो स्थानों पर एक साथ प्रकट हुई और अखण्ड बनी। अखण्ड दीप की अखण्ड ज्योति का एक प्राकट्य गुरुदेव की पूजास्थली पर हुआ। जिसके सान्निध्य में २४ लक्ष के २४ गायत्री महामंत्र के महापुरश्चरणों की शृंखलाएँ चलीं। इसी के साथ अखण्ड ज्योति की लौ में अपने सत्शिष्य की आत्मज्योति को जलाया, जगाया एवं प्रकाशित किया।

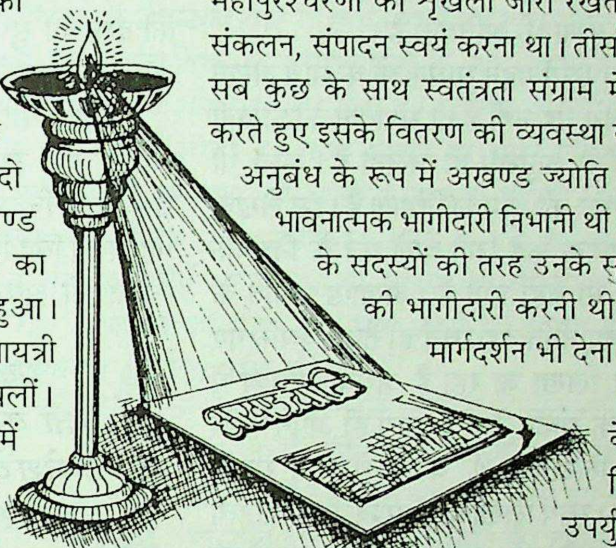

अखण्ड ज्योति के ये दोनों दृश्य एवं अदृश्य रूप लगातार १४ वर्षों तक गुरुसत्ता की आध्यात्मिक ऊर्जा को सघन करते रहे। अनेकों दिव्य प्रेरणाएँ इन्हें स्पर्श करती रहीं। अगणित दिव्य आत्माओं का इन्हें संरक्षण मिलता रहा। १९२६ से ४० तक की १४ वर्षों की यह अवधि गहन तप की अवधि थी। इस अवधि में अनेकों दिव्य अनुभवों-अनुभूतियों की सृष्टि हुई। अविराम साधना के इसी काल में एक दैवी निर्देश का अवतरण हुआ। यह दिव्य निर्देश अखण्ड दीप की अखण्ड ज्योति के सान्निध्य में ध्यानस्थ, साधनारत गुरुदेव की आत्मा में प्रकाशित हो रही अखण्ड ज्योति में अवतरित हुआ। यह अद्भुत निर्देश था, अखण्ड ज्योति के दृश्य एवं अदृश्य इन दोनों रूपों से भिन्न एक तीसरे स्वरूप को प्रकाशित करना था। ऐसा स्वरूप जिसमें पहले के दोनों रूपों की आभा, ऊर्जा एवं प्रकाश समाया हो।

वर्ष १९४० ई. की वसंत पंचमी को अखण्ड ज्योति का यह अद्भुत स्वरूप अक्षरों एवं शब्दों के रूप में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन परमपूज्य गुरुदेव के लिए एक कठोर साधना से कम न था। अनेकों तप-अनुबंध इससे जुड़े थे। पहला अनुबंध यही कम कठोर न था कि उन दिनों की आर्थिक विपन्नता की स्थिति में बिना किसी धनपति के सहयोग के इसे प्रकाशित करना था। दूसरे अनुबंध की कठोरता भी अद्भुत थी। चौबीस महापुरश्चरणों की शृंखला जारी रखते हुए इसका लेखन, संकलन, संपादन स्वयं करना था। तीसरे अनुबंध के रूप में सब कुछ के साथ स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भागीदारी करते हुए इसके वितरण की व्यवस्था करनी थी और चौथे अनुबंध के रूप में अखण्ड ज्योति के सदस्यों के साथ भावनात्मक भागीदारी निभानी थी। अपने निजी परिवार के सदस्यों की तरह उनके सुख-दुःख में बराबर की भागीदारी करनी थी। उन्हें आध्यात्मिक मार्गदर्शन भी देना था।

अखण्ड ज्योति के प्रकाशन के दैवी निर्देश के साथ उपर्युक्त सारे कठोर अनुबंध जुड़े थे। जिस समय, जिस स्थिति की यह बात है, उस समय इसे सबने असंभव माना था और आज भी कोई इसे असंभव ही कहेगा, परंतु परम दिव्य गुरुसत्ता को अपने शिष्य की साधना पर विश्वास था और शिष्य को अपने सद्गुरु की कृपा पर भरोसा था। साधना तीव्र, कठोर एवं एकनिष्ठ हो तो कृपा अवतरित हुए बिना नहीं रहती। इसी तरह सद्गुरु की कृपा हो तो साधना विकसित हुए बिना नहीं रहती। यहाँ पर साधना और कृपा दोनों ही एक-दूसरे के सहयोगी थे और फिर अध्यात्म तो है ही असंभव को संभव करने का विज्ञान। सचमुच ही असंभव, संभव हुआ और अखण्ड ज्योति प्रकाशित होने लगी।

इसकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के साथ इसका स्वरूप भी आध्यात्मिक था, है और आगे भी रहेगा। जिज्ञासुजनों की जिज्ञासा रही है कि ऐसी उच्चस्तरीय पत्रिका के विविध विषयों पर समसामयिक संदर्भों के साथ अगणित लेखों का प्रतिमास लेखन भला किस तरह होता रहा है। फिर इसमें बाहर के विद्वानों, मनीषियों के लेख क्यों नहीं प्रकाशित किए जाते। जिज्ञासा जितनी समुचित है, उसका उत्तर भी उतना ही सटीक है। परमपूज्य गुरुदेव ज्ञान के अगाध एवं अथाह सागर थे। उनका ज्ञान बौद्धिक होने के साथ अतींद्रिय

एवं अतिमानसिक भी था। अखण्ड ज्योति के लेखन के लिए वह नियमित अध्ययन के साथ अपनी अंत:प्रज्ञा एवं दिव्यदृष्टि का भी प्रयोग करते थे। उनकी अपरिमित आध्यात्मिक शक्तियों के कारण विविध विषयों पर लेख लिखना हँसी-खेल जैसा था। जहाँ तक बाहरी विद्वानों के लेखों को न स्वीकारने की बात है, तो इसके पीछे भी एक रहस्य है और वह यह कि एक आध्यात्मिक पत्रिका के लेखन के लिए विद्वान् होना ही पर्याप्त नहीं है, आध्यात्मिक साधनाओं में निमग्न होना भी अनिवार्य है।

परमपूज्य गुरुदेव स्वयं गहन साधनाओं के साथ लेखन कार्य करते थे और जब वह नहीं हैं तो संपादक की लेखनी उनके दिशा-निर्देशों के अनुरूप ही चलती है। आज भी लिखने वाला केवल यंत्र की भूमिका निभाता है। इस लेखक कहे जाने वाले, संपादक कहे जाने वाले यंत्र के नियंत्रक एवं नियामक आज भी वही होते हैं। अखण्ड ज्योति के सुदीर्घ भविष्य के लिए नीति वह स्वयं ही तैयार करके गए हैं। जिन विषयों पर लिखा जा रहा है अथवा भविष्य में लिखा जाना है, उसके संकेत उन्होंने स्वयं ही अपने शरीर को छोड़ने से पूर्व लिखवाए थे, बताए थे। इस सबके अलावा उनके हाथों से स्वयं लिखा हुआ अप्रकाशित साहित्य अभी भी प्रचुर मात्रा में है, जो अखण्ड ज्योति के पृष्ठों पर प्रतिमास प्रकाशित होता है। संपादक की लेखनी तो इसमें गुरुदेव के निर्देशों के अनुसार केवल समीचीन संदर्भों को जोड़ती, इसे सजाती, सँवारती और सामयिक अभिव्यक्ति देती है। यही वह कारण है, जिसकी वजह से अखण्ड ज्योति में आज भी बाहर के लेख न तो आमंत्रित किए जाते हैं और न ही स्वीकारे जाते हैं।

अपने प्रारंभ की शुभ घड़ी से लेकर आज तक अखण्ड ज्योति के दृश्य स्वरूप का संचालन, संरक्षण अगणित दिव्य शक्तियाँ करती रही हैं। इसके प्रकाशन, संपादन, लेखन के अनेकों रहस्यमय पहलू हैं, इसमें निहित परम पूज्य गुरुदेव के अनेकों जीवन प्रसंग हैं, जिन्हें आश्चर्यजनक कहा जा सकता है। इस आश्चर्यजनक सत्य को उजागर करना, उद्घाटित करना, प्रकाशित करना शोधकर्त्ताओं का कार्य है। अखण्ड ज्योति का प्रकाश गुरुदेव की आध्यात्मिक चेतना से उपजता है। उन्हीं की आध्यात्मिक सामर्थ्य इसे ऊर्जावान बनाती है। शोध-अनुसंधान की प्रवृत्ति रखने वाले वरिष्ठ एवं विशेषज्ञ प्रारंभ से ही उसे अपनी शोध का विषय बनाने के इच्छुक रहे हैं।

अभी पिछले दिनों हिंदी साहित्य के एक मर्मज्ञ विद्वान् डॉ. भगवान् देव पांडेय ने इस दिशा में अपना महत्त्वपूर्ण पग बढ़ाया है। वे गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रोफेसर हैं। डॉ. पांडेय के अनुसार अखण्ड ज्योति के आध्यात्मिक एवं साहित्यक पहलुओं को उजागर करना आज की सामयिक आवश्यकता है। आज जबकि हिंदी पत्रकारिता एक खोखला व्यवसाय बनकर रह गई है, ऐसे में अखण्ड ज्योति किस तरह से अपना आध्यात्मिक प्रकाश फैला रही है, यह एक शोध का विषय है। इस शोध से अनेकों ऐसे पहलू प्रकट होंगे, जो हिंदी पत्रकारिता की दशा को सुधारने और उसकी दिशा को सही करने में अपना सार्थक योगदान देंगे।

'हिंदी की आध्यात्मिक पत्रकारिता में अखण्ड ज्योति' यही उस शोध का विषय है जिसे ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के निर्देशन में किया जा रहा है। इस शोध कार्य के महत्त्वपूर्ण बिंदु निम्न हैं, (१) विषय प्रवर्तन, (२) अखण्ड ज्योति की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि, (३) अखण्ड ज्योति का प्रकाशन, (४) अखण्ड ज्योति के संपादक, (५) अखण्ड ज्योति की विषयवस्तु, (६) अखण्ड ज्योति में साहित्य शिल्प, (७) अखण्ड ज्योति का संपादन-वैशिष्ट्य एवं (८) उपसंहार। अपनी ही एक परिजन अंजली सिंह इस कार्य को कर रही है। अखण्ड ज्योति का प्रत्येक आयाम हिंदी साहित्य एवं शोध जगत् के लिए आश्चर्यजनक किंतु सत्य है। हो भी क्यों नहीं, सत्य एवं संवेदना इसके प्रत्येक शब्द से झर-झर झरती है। देश-विदेश के असंख्य पाठक एवं परिजन इससे प्रेरणा पाते हैं। अब तो यह शोध सत्य भी है कि अखण्ड ज्योति को पढ़ना परमपूज्य गुरुदेव की आध्यात्मिक चेतना में निमग्न होना है और उन अनुभूतियों में अनायास भागीदार होना है, जो गुरुदेव ने अपनी दीर्घावधि साधना में पाई। इसको स्वयं पढ़ने और अधिकाधिक लोगों को पढ़ाने से बड़ी न तो कोई जनसेवा है और न ही आध्यात्मिक साधना।

✡

एक कथा है कि धन्वंतरि एक बार पक्षी बनकर काशी में वाग्भट्ट को उपदेश देने आए थे। जब उन्होंने पूछा- ''कोऽरुक?'' स्वस्थ कौन रहता है? तो पक्षी रूप में धन्वंतरि बोले- ''मितुभुक्, ऋतुभुक्, हितुभुक्, अर्थात् कम, ऋतु के अनुकूल और उपयोगी भोजन करने वाला स्वस्थ रहता है।''

युगगीता—३१

यज्ञों में श्रेष्ठतम—ज्ञानयज्ञ

(गीता के चतुर्थ अध्याय की युगानुकूल व्याख्या—तेरहवीं कड़ी)

'यज्ञ बिना यह लोक नहीं तो परलोक कैसा?' शीर्षक से विगत अंक की व्याख्या में ''नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः'' की व्याख्या की गई थी, जो कि चौथे अध्याय के इकतीसवें श्लोक में उद्धृत किया गया है। इसी कड़ी में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में एक नेवले की कथा द्वारा 'महायज्ञ' की चर्चा भी की गई थी। भगवान् कहते हैं कि यज्ञावशिष्ट परमपुण्यदायी है, यह 'प्रसाद' तृप्ति देता है, तुष्टि देता है, वासनाओं का क्षय करके जीवन को शांति से भर देता है। अंतिम परिणति ऐसे निष्काम यज्ञ की चैतन्य सत्ता से एकाकार होने के रूप में होती है। सभी प्रकार के यज्ञों की व्याख्या के बाद पराकाष्ठा पर पहुँचते ही श्रीकृष्ण कह उठते हैं कि इन यज्ञों को कर्म से जानना चाहिए। (कर्मजान्विद्धि)। कर्म से अर्थात् मन, इंद्रिय और शरीर की क्रिया द्वारा उत्पन्न। आगे वे यह भी कह जाते हैं कि परमात्मा कर्मादि से परे है। ऐसा जान लेने पर कोई भी दिव्यकर्मी सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है (श्लोक ३२, अध्याय ४)। भगवान् यज्ञ के दर्शन का यहाँ सार बता जाते हैं। इसके बाद के तैंतीसवें श्लोक की व्याख्या के साथ ज्ञान के माहात्म्य को इस अंक में पढ़ें।

द्रव्ययज्ञ से श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ —४/३३

''हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यंत श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र संपूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं।''

भगवान् का कहना है कि सारे यज्ञों में ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् का स्पष्ट मत है कि सारे कर्म इसी ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं। अज्ञान से मुक्ति ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है, सारे कर्मों का मर्म है। जीवनभर अज्ञान से चिपटे रहे, बंधनमुक्त हो नहीं पाए, तो यह जीवन निष्प्रयोजन ही रहा। देवयज्ञ-नृयज्ञ-दानयज्ञ आदि से स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति मात्र हो सकती है, परंतु आत्मज्ञान बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। इसीलिए दैवयज्ञ-द्रव्यमययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ बताया गया है।

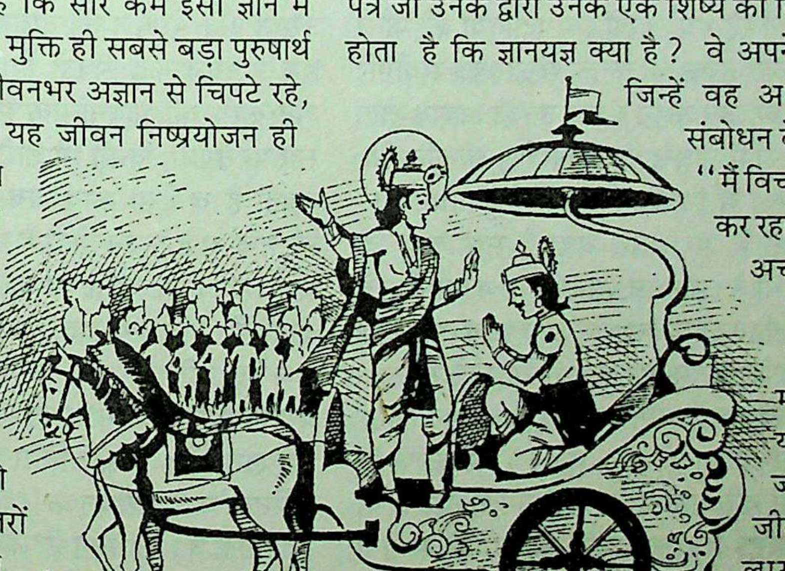

ज्ञान ही ऐसी निधि है जो आत्मा के साथ जन्म-जन्मांतरों तक यात्रा करती है। परमपूज्य गुरुदेव ने लेखनी और वाणी दोनों से ज्ञानयज्ञ संपन्न किया एवं लाखों निष्ठावान् प्रज्ञा परिजनों से करवाया। उनका ज्ञानयज्ञ विचारक्रांति का लक्ष्य लिए हुए था, जिसकी अंतिम परिणति होनी है युग परिवर्तन में। शांतिकुंज हरिद्वार, गायत्री तपोभूमि मथुरा से लेकर सारे भारत व विश्व में फैले प्रायः चार हजार से अधिक प्रज्ञासंस्थानों-प्रज्ञामंडलों, स्वाध्याय मंडलों, साधना प्रशिक्षण केंद्रों तक यही ज्ञानयज्ञ संपन्न होता दिखाई देता है। स्वामी विवेकानंद पत्रावली में से एक पत्र जो उनके द्वारा उनके एक शिष्य को लिखा गया, स्पष्ट होता है कि ज्ञानयज्ञ क्या है? वे अपने एक शिष्य को जिन्हें वह अध्यापक महोदय संबोधन देते हैं, लिखते हैं, ''मैं विचारचक्र का प्रवर्तन कर रहा हूँ, ताकि अच्छे-अच्छे विचार घर-घर पहुँचें। मेरे जीवन की यही महत्त्वाकांक्षा है।'' यही ज्ञान यज्ञ है, जो स्वामी जी ने जीवन भर किया। लाखों गुलाम भारतीयों के मन में विधेयात्मक उल्लास

जगाकर उन्हें अमृतपुत्र संबोधन देकर उन्होंने सभी को उनकी बात सुनने-पढ़ने-समझने के लिए प्रेरित कर दिया, आज सौ वर्ष बाद भी वे कर रहे हैं।

परमपूज्य गुरुदेव ने झोला पुस्तकालय हमारे परिजनों से चलवाया, ज्ञानरथ को गति दी, विद्या मंदिर बनवाए तथा विद्याविस्तार पटलों की स्थापना को गति दी। प्राय: ३२०० से अधिक छोटी-बड़ी किताबें लिख डालीं, जो एक महापुरुष का एक जन्म से संपन्न किया गया सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। आज तक इसके समकक्ष कोई उदाहरण नहीं मिलता। लक्ष्य एक ही रहा सभी ज्ञान पाएँ, विचारों के पतन को रोकें, आत्मपर्यवेक्षण कर आत्मिक प्रगति के सोपानों पर चढ़ें। 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका को भी वे ज्ञान चेतना की, उनकी प्राणचेतना की संवाहिका कह गए हैं। फरवरी १९७० की अखण्ड ज्योति में वे लिखते हैं—

''चिंतन की दिशा बदलना ही युगपरिवर्तन है। यदि चिंतन की धारा उत्कृष्टता की ओर मुड़ जाए, तो व्यक्ति संत, सज्जन, महान्, विचारवान्, विद्वान् एवं परमार्थपरायण बनकर देवत्व की भूमिका संपादन कर सकता है। हमारा ज्ञानयज्ञ इसी प्रयोजन के लिए है।'' (पृष्ठ ६५)

ज्ञान के विस्तार से विचारक्रांति

व्यक्तित्व का परिष्कार, मानव में देवत्व का उदय ज्ञानयज्ञ की ही परिणति है। यह ज्ञानयज्ञ कैसे होगा? घर-घर ज्ञान चेतना के विस्तार से, श्रेष्ठ साहित्य को जन-जन तक पहुँचाकर। यह कार्य समयदान के बिना नहीं हो सकता। जनसेवा हेतु परिजन समय निकालें, इसके लिए जीवनभर वे लिखते रहे एवं लाखों समयदानियों की फौज खड़ी कर गए। द्रव्यमययज्ञ की तुलना में ज्ञानयज्ञ सर्वोपरि है, यह भगवान् कृष्ण जब कहते हैं तब उनका आशय होता है, साधनों की तुलना में साधना, आत्मनिर्माण, लोकनिर्माण, समय का लोकसेवा में नियोजन जरूरी है। साधनदान-अंशदान भी जरूरी है, पर सबसे बड़ा है समयदान, जो आज का युगधर्म भी है। ज्ञानयज्ञ पतन निवारण की सेवा है एवं उसके लिए चाहिए लोकहितार्थाय, समयदान-परिव्रज्या धर्म का पालन, ताकि जनमानस का परिष्कार हो सके।

परमपूज्य गुरुदेव क्रांतिधर्मी साहित्य के अंतर्गत लिखी अपनी पुस्तक 'समयदान ही युगधर्म (१)' में कहते हैं, ''महान् मनीषियों की साधना 'समय' की तपशिला पर बैठकर ही संभव हुई है। उन्होंने जो सोचा, जो सृजा है उसके पीछे उनकी तन्मयता भरी साधना ही रही है। वैज्ञानिकों, आविष्कारकों ने अपना मानस और समय प्रमुखतापूर्वक निर्धारित लक्ष्य पर केंद्रित किया होता तो सफलता की आशा कहाँ बन पड़ती? लोकसेवियों ने अपने समयदान के सहारे एक-से-एक बड़े कार्य संपन्न कर दिखाए हैं।'' इस समय का उपयोग ज्ञान के विस्तार में लगे, यही उनका जीवनभर लक्ष्य रहा। वे सितंबर १९६९ की अखण्ड ज्योति में लिखते हैं, ''जपात्मक और होमात्मक यज्ञ के स्तर का ही हम दूसरा धर्मानुष्ठान 'ज्ञानयज्ञ' चलाते रहे हैं। हमारा जीवनक्रम इन दो पहियों पर ही लुढ़कता आ रहा है। उपासना और साधना यही दो आत्मिक प्रगति के आधार हैं। उपासना पक्ष गायत्री जप एवं यज्ञ से पूरा होता रहा है। साधना का प्रकरण ज्ञानयज्ञ से संबंधित है। यह स्वाध्याय से आरंभ होकर सद्ज्ञान प्रसार के लिए किए जाने वाले प्रबल प्रयत्नों तक फैलता है....ज्ञान ही है जो पशु को मनुष्य, मनुष्य को देवता और देवता को भगवान् बनाने में समर्थ होता है। ज्ञान से ही प्रसुप्त मनुष्यता जागती है और वही आत्मा को अज्ञान के अंधकार में भटकने से उबारकर कल्याणकारी प्रकाश की ओर उन्मुख करता है।'' (पृष्ठ ५९)।

भौतिक क्षेत्र की सफलता भी ज्ञान के संपादन पर निर्भर

प्रस्तुत श्लोक (३३) के मर्म को और अच्छी तरह समझने का प्रयास करें, तो गीताकार द्वारा कहा गया यह कथन स्पष्ट समझ में आता है कि भौतिक-लौकिक क्षेत्र में सफलता-संपदा प्राप्त करने के लिए जो भी सहकारी प्रयास-पुरुषार्थ चाहिए (जिसे हम द्रव्ययज्ञ भी कह सकते हैं), उसकी सफलता की कुंजी एक ही है, पूरे मनोयोग से एक लक्ष्य पर केंद्रित होकर अंत:प्रेरणा से कार्य करना व उसके प्रति समर्पण की तीव्रता निरंतर बढ़ाते चलना। इसे हम ज्ञानयज्ञ कह सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अंत:करण की भावनात्मक स्तर पर तथा मन की बौद्धिक स्तर पर तैयारी, किसी भी शारीरिक क्रिया से अधिक महत्त्व रखती है व ऐसा कार्य जब भी किया जाता है, उसकी परिणति अति पावन होती है। भगवान् यह भी कहते हैं कि सभी कर्म (जो व्यक्तिगत कामनाओं से प्रेरित होकर किए जा रहे हैं) अंतत: समाप्त ज्ञान में ही होते हैं। (सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते) अर्थात् ज्ञान के उद्भव के साथ ही वैयक्तिक स्वार्थ समाप्त हो जाते हैं और पारमार्थिक कार्य होने लगते हैं। यह ज्ञान किस चीज का परमसत्ता का, अपने अस्तित्व का व जीवन के उद्देश्य का।

गीता का यह ज्ञान जिसकी चर्चा की गई है, मात्र मन की बौद्धिक क्रिया नहीं है। गीता का ज्ञान है, सत्यस्वरूप। श्री अरविंद इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद का उद्धरण देते हैं। वे कहते हैं यह सत्य, यह सूर्य वही है, जो

हमारे अज्ञान-अंधकार के भीतर छिपा पड़ा है और जिसके बारे में ऋग्वेद कहता है, **''तत्सत्यं सूर्य तमसि क्षियन्तम्।''** चूँकि हम प्राकृतिक अज्ञान के कारण विमूढ़ हुए रहते हैं और यह अज्ञान हमारे अंदर कूटस्थ ब्रह्म के सनातन आत्मज्ञान को हम से छिपाए रहता है, हम इस सूर्य की अलौकिक आभा को, अक्षरब्रह्म के शाश्वत-सनातन रूप को, ज्ञान के प्रकाशमयस्वरूप को समझ नहीं पाते। परंतु जो इस ज्ञान का अनुसंधान लगातार अनवरत करते रहते हैं, उन्हें इसकी प्राप्ति होती है। निम्नगामी जीवन के द्वंद्वों से घिरे आत्मतत्त्व को ज्ञान का सूर्य परमसत्ता के प्रकाश से प्रकाशित कर (आदित्यवत् प्रकाशयति तत्परम्) उसको लक्ष्य का बोध करा देता है और यहीं उसके सभी कर्म वैयक्तिक न होकर, ज्ञान में समाकर समष्टि के हितार्थाय होने लगते हैं।'' (गीता प्रबंध)

शिक्षा व विद्या में अंतर

ज्ञान शब्द हमारे शास्त्र ग्रंथों में, योग ग्रंथों में इसी परम आत्मज्ञान के अर्थ के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान वह ज्योति है जिसके द्वारा हम सत्य को जान पाते हैं, उस में स्वयं को स्थापित कर पाते हैं, यह वह चीज नहीं, जिससे हमारी जानकारी बढ़ती हो, हमारी बौद्धिक संपत्ति अर्जित होती हो। यह भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान या जागतिक ज्ञान नहीं है। ये सभी तो 'शिक्षा' की परिधि में आते हैं। इन जानकारियों से मदद अवश्य मिलती है, पर हमारी आंतरिक प्रगति अंतःसत्ता के विकास हेतु तो 'विद्या' की, विशुद्ध ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। यह यौगिक ज्ञान है, जिससे हम परमात्मा, आत्मा, भगवान् को जान पाते हैं। शिक्षा की समस्त विधाएँ सच्चे ज्ञान की सहायक भर होती हैं, पर्यायवाची नहीं। वास्तविक ज्ञान वही है, जो मन के लिए अगोचर है, मन जिसका मात्र आभास ही पा सकता है, वह तो और भी गहरे आत्मा में विराजमान होता है।

इसीलिए उपनिषद्कार कहता है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

—११/ईशावास्योपनिषद्

''विद्या और अविद्या (विद्या और शिक्षा) दोनों को एक साथ जानो। इनमें से अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या द्वारा अमरत्व की प्राप्ति की जा सकती है।''

अब प्रश्न यह उठता है कि यह ज्ञान प्राप्त कैसे किया जाए, क्योंकि परमसत्ता का, परमसत्य का यह ज्ञान (ज्ञानं) हममें से प्रत्येक के लिए अत्यंत महत्त्व का है। यह ज्ञान केवल ऐसा गुरु ही दे सकता है, जो आचार्य की तरह जीवन जी रहा हो, स्वयं उस ज्ञान को आचरण में उतार रहा हो। यदि शिष्य भाव से इस गुरु के साथ तालमेल स्थापित कर हम ज्ञानचक्षु जगा सकें व जान सकें कि वह कैसे इस नित्य परिवर्तनशील संसार में रहता है, अनुभव करता है, कर्म करता है, तो हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है। गीताकार कहता है, पहले इस ज्ञान को प्राप्त करने हेतु तत्त्वदर्शी ज्ञानियों से दीक्षा लेनी होगी। उनसे नहीं जो तत्त्वज्ञान को केवल बुद्धि से जानते हैं, बल्कि उन ज्ञानियों से जिनने इसके मूल सत्य को प्रत्यक्ष देखा है, (ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः)। यह बात श्रीकृष्ण अगले श्लोक (३४ वें) में कहते हैं।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ —४/३४

''उस ज्ञान को तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दंडवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्मतत्त्व को भलीभाँति जानने वाले ज्ञानी-महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे।''

सत्यवादी हरिश्चंद्र का नाटक देखा और मोहनदास के अंतः तक सत्य प्रतिष्ठापित हो गया। मनोरंजन के लिए तो कइयों ने उसे देखा होगा व अभिनय करने वालों ने भी उसे कई बार दोहराया होगा, पर ऐसे प्रसंग जब अंदर तक प्रवेश करते हैं तभी व्यक्ति को श्रेय पथ की ओर अग्रगामी बनाते हैं। मोहनदास ने सत्य का आश्रय लेकर ही महात्मा गाँधी का पद पाया, यह सर्वविदित है।

गुरु बिन ज्ञान नहीं रे, नहीं रे

योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार ज्ञानप्राप्ति का राजमार्ग यह है। वह अर्जुन से कहते हैं कि यह ज्ञान वहाँ मिलेगा जहाँ ज्ञानाग्नि जल रही होगी। कबीरदास जी कह गए हैं, ''पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥'' कबीरदास जी की भाषा में यदि हम समझ सकें तो पढ़े-लिखे, शिक्षित, विद्वान् पंडित नहीं हैं, बल्कि वे हैं जिनने वैसा जीवन जिया है, आत्मीयता-प्रेम को जीवन में आत्मसात किया है। हर श्वास में जिनने परमात्मा को जिया है। कबीर अनपढ़ थे, रज्जब-रैदास अनपढ़ थे, पर इन लोगों ने वह जीवन जिया है, जिसकी ओर संकेत श्रीकृष्ण कर गए हैं। अंतर्ज्ञान अक्षरज्ञान का

मोहताज नहीं है। जिस ज्ञान की अग्नि में सभी कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं, इस ज्ञान को पाना है, तो उन परमात्मा के गुणों से युक्त आचार्यों, गुरुजनों के पास जाकर उन्हें तत्त्वरूप में समझना चाहिए, अपना अहं भूलकर उन्हें दंडवत् प्रणाम कर, अपने कपट के भाव को एक तरफ रखकर जिज्ञासा प्रकट कर ज्ञान की चाह रखनी चाहिए। कई लोग ज्ञान की परीक्षा लेने, महात्माओं के प्रति आदरभाव न रख कपट भाव से प्रश्न पूछने जाते हैं। उनसे इस भाव से नहीं, निष्कपट भाव से, सेवा भाव से जाने से, ज्ञान की जिज्ञासा प्रकट करने से निश्चित ही वह ज्ञान उपलब्ध होगा जो आत्मसत्ता को सूर्यवत् प्रकाशित करेगा। सेवा करने का मतलब हाथ-पाँव दबाना नहीं, शरीर की मालिश करना नहीं, अपितु उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्यों को आगे बढ़ाकर उनके निर्देशानुसार अपना जीवन समर्पित करने से है। ज्ञान इससे कम में किसी महापुरुष से, उनके सद्ग्रंथों से प्राप्त नहीं होगा। यदि हम सुपात्र हैं तो हमें निश्चित ही वह ज्ञान मिलेगा। पात्रता के विकास के अनुसार ही हमें परखा जाता है विद्वत्जनों द्वारा। जब वे हमारी जिज्ञासा का उत्तर दें तो हमारी अभीप्सा बढ़नी चाहिए और अधिक बढ़ जानी चाहिए भगवान् को पाने की इच्छा। उसी अनुपात में हमारी विनम्रतापूर्वक की गई सेवा-निष्ठा और बढ़नी चाहिए।

गुरुजनों ने भाँति-भाँति की परीक्षाएँ ली हैं अपने शिष्यों को ज्ञान देने के पूर्व। शिवाजी की परीक्षा ली गई समर्थ रामदास द्वारा सिंहनी का दूध मँगाकर। अपनी योगमाया से रची हुई सिंहनी का दूध उन्होंने माँगा और शिवाजी उसे लेकर आए सुपात्र बनकर सेवा भाव से, तब ही वे भवानी तलवार को पाने के, गुरु का अनुग्रह प्राप्त करने के अधिकारी बन सके। गुर्जिएफ अपने शिष्यों को गाली देते थे। खूब डाँट लगाते थे। एक शिष्य ऑस्पेंस्की उन्हीं में से निकला जो सहन करते हुए उनसे सेवाभाव से सब कुछ प्राप्त कर सका। महर्षि दयानंद जी को विरजानंद जी चिमटे से मारते थे, बड़ी कड़ाई से पेश आते, तभी एक प्रखर योद्धा-पाखंड खंडिनी पताका फहराने वाला आर्य समाज का संस्थापक जन्मा। स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरु का अतिशय प्रेम पाया, पर सारी शक्ति को धारण करने के बाद जो जीवन जिया उसने सारे शरीर को सुखा डाला। १८८६-८७ में शक्तिपात पाने वाला यह युवा संन्यासी मात्र पंद्रह वर्ष और जी सका। चैन से कभी सो न सका, गुरु के कार्यों को विश्वभर में पहुँचाकर अत्यल्प आयु में कष्ट सहता हुआ शरीर छोड़कर चला गया। पात्रता विकसित करने के लिए सब कुछ झोंक देना पड़ता है, तब गुरु, विद्वान्, आचार्य, पंडितगण भी अपने को खाली कर देते हैं।

बड़ी विलक्षण बात है। गीताकार यहाँ इस चौंतीसवें श्लोक में कहते हैं कि यह ज्ञान तो उनसे मिलेगा जिनके इसके मूल सत्य को प्रत्यक्ष देखा है, (ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः) परंतु इसी के चार श्लोक बाद अड़तीसवें में कह जाते हैं, "योग के द्वारा संसिद्धि को प्राप्त मनुष्य उसको अपने आप ही यथासमय अपनी आत्मा में पाता है (**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेन आत्मनि विन्दति**)।" तो फिर सत्य क्या है? दोनों-यह ज्ञान शिष्य भाव से प्रयास करने वाले हर उस मनुष्य में संवर्द्धित होता रहता है और ज्यों-ज्यों वह निष्काम भाव से समता-भगवद्भक्ति में गहराई बढ़ाता जाता है, त्यों-त्यों ज्ञान भी बढ़ता जाता है। इसी ज्ञान के विषय में और भी अधिक विस्तार से चर्चा-पापों का नाश करने वाली उसकी भूमिका सहित पैंतीसवें व अगले श्लोकों की व्याख्या के साथ अगले अंक में। *क्रमशः*

दो बीज धरती की गोद में आ पड़े। मिट्टी ने उन्हें ढक दिया। दोनों रातभर सुख की नींद सोए। प्रातःकाल दोनों जगे तो एक के अंकुर फूट गए, वह ऊपर उठने लगा। यह देख छोटा बीज बोला, भैया ऊपर मत जाना, वहाँ बहुत भय है, लोग तुझे रौंद डालेंगे, मार डालेंगे। बीज सब सुनता रहा और चुपचाप ऊपर उठता रहा। धीरे-धीरे धरती की परत पार कर ऊपर निकल आया और बाहर का सौंदर्य देखकर मुस्कराने लगा। सूर्य देवता ने धूप स्नान कराया और पवन देव ने पंखा ढुलाया, वर्षा आई और शीतल जल पिला गई, किसान आया और चक्कर लगाकर चला गया। बीज बढ़ता ही गया। झूमता, लहलहाता, फूलता और फलता हुआ एक दिन परिपक्व अवस्था तक जा पहुँचा। जब वह इस संसार से विदा हुआ तो अपने जैसे असंख्य बीज छोड़कर हँसता और आत्म-संतोष अनुभव करता विदा हो गया।

मिट्टी के अंदर दबा बीज देखकर पछता रहा था-भय और संकीर्णता के कारण में जहाँ था वहीं पड़ा रहा और मेरा भाई असंख्य गुना समृद्धि पा गया।

गुरुकथामृत—३१

बहुआयामी व्यक्तित्व की झलक दिखाती ये चिट्ठियाँ

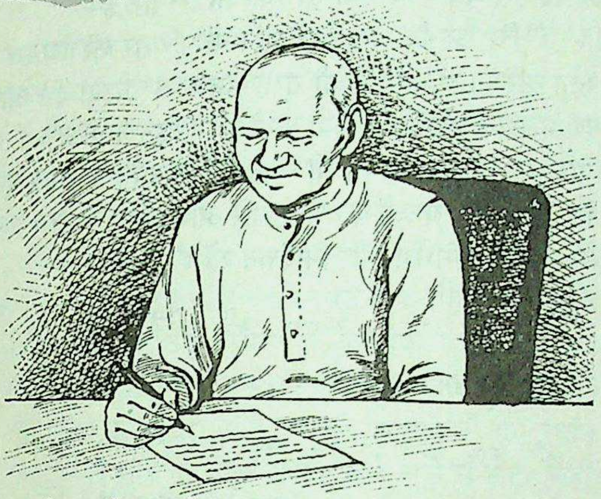

संत कबीर अपने विलक्षण काव्य में लिख गए हैं—

इस घट अंतर बाग-बगीचे, इसी में सिरजनहारा।
इस घट अंतर सात समंदर, इसी में नौलख तारा।
इस घट अंतर पारस मोती, इसी में परखन हारा।
इस घट अंतर अनहद गरजै, इसी में उठत फुहारा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, इसी में साईं हमारा॥

मानवी काया को विराट् का एक घटक बताते हुए कितनी सुंदरता से प्रशंसा की गई है कि अंत: का यह विराट् तो प्रत्येक के भीतर है। यह उसका अपना निजी है। इस भीतर को जो पा ले, वह सदा मस्त आनंद में रहेगा। हीरे को प्राप्त करने वाला कबीर सभी को अंतर्मुखी होने को कहता है। इस कबीर को जीवन में जीने वाले हमारे सद्गुरु आराध्य परमपूज्य गुरुदेव भी हर साधक को यही बताते थे एवं साधारण से असाधारण बनने के राजमार्ग की कुंजी उनके हाथ में थमा देते थे। अपनी लेखनी व वाणी से यही ज्ञानयज्ञ उन्होंने जीवन भर किया। परिणाम एक विराट् संगठन के रूप में सारे विश्व में फैले गायत्री परिवार के रूप में हमें दिखाई देता है।

पूज्यवर की लेखनी की साधना का एक महत्त्वपूर्ण आयाम रहा है, पत्रों से मार्गदर्शन। जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, उसे स्पर्श करते हुए व्यक्ति को आत्मबोध कराना कि उस व्यक्ति का, शिष्य का कर्त्तव्य क्या है। २७/७/६१ को पं. बैजनाथ जी सौनकिया को लिखा एक पत्र यहाँ दे रहे हैं—

"आप अपनी उपासना और आत्मिक प्रगति पर सबसे अधिक ध्यान दें। जितना ही आत्मबल बढ़ेगा उतनी ही शक्ति मिलेगी और उतना ही प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा। इसलिए हमें अपनी ओर ही अधिक ध्यान देना है।"

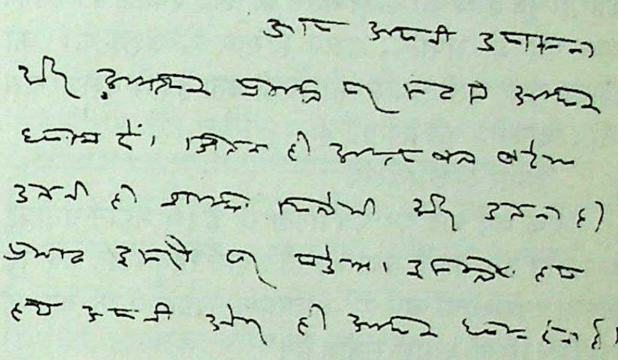

आगे वे लिखते हैं—

"आपकी आत्मा ऋषि आत्मा है। उसकी छटपटाहट जीवनलक्ष्य को पूर्ण करने के लिए ही है। सो उसे अतृप्त न रहने दिया जाएगा।"

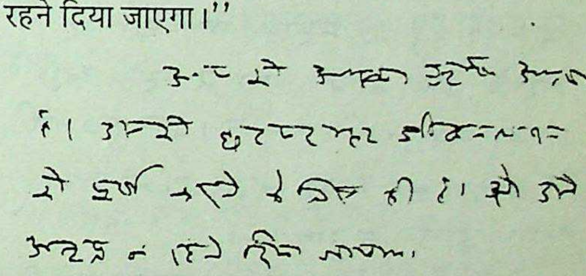

पत्र की भाषा से स्पष्ट है कि आत्मिक प्रगति ही एकमात्र लक्ष्य किसी साधक का होना चाहिए। आत्मबल संवर्द्धन जिस परिमाण में होता चला जाएगा, उतना ही साधना का आनंद भी आएगा एवं प्रभावोत्पादक सामर्थ्य-व्यक्तित्व में आभा व तेज बढ़ने लगेगा। इससे दूसरे प्रभावित होंगे एवं इस मार्ग पर अग्रसर होने की इच्छा उन्हें भी होने लगेगी। यही तो मानव मात्र का जीवनोद्देश्य है। हर गुरु यही चाहेगा कि उसका शिष्य-मानसपुत्र अपने अंदर सोई आत्मा को पहचाने व अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने तक रुके नहीं।

जिस साधक का, गायत्री महाशक्ति को समर्पित अवतारी चेतना का क्षण-क्षण साधना में बीता हो, वह यही तो

परामर्श सभी को देगा। वह स्वयं भी अपने जीवन में ऐसे क्षण लाता है जब तप की पूँजी को बटोरा जा सके। परमपूज्य गुरुदेव ने ऐसा चार बार किया, जब वे एक से डेढ़ वर्ष की अवधि के लिए अपने गुरु का मार्गदर्शन पाकर तप हेतु, उनसे साक्षात्कार हेतु हिमालय गए। इसके अतिरिक्त सूक्ष्मीकरण की साधना भी उनने की, जिसमें पाँच वीरभद्रों के उत्पादन का पुरुषार्थ संपन्न हुआ। सन् ६० के दशक में उनका हिमालय-प्रवास एक और विशिष्ट उद्देश्य के लिए था, आर्षग्रंथों का अनुवाद-सरलीकरण, साथ-साथ कठोर तप एवं 'युगनिर्माण योजना' व उसके आधारभूत ढाँचे को खड़ा करने के लिए एकांत में चिंतन। एक पत्र जो सप्तर्षि आश्रम हरिद्वार से ३१/५/६१ को लिखा गया, इसी प्रवास की साक्षी देता है। वे बशेशरनाथ जी (दिल्ली) को लिखते हैं—

''हमारे आत्मस्वरूप

एक वर्ष बाद यह पत्र लिख रहे हैं। ५ महीने गंगोत्री, ५ महीने उत्तरकाशी तथा २ महीने यहाँ रहकर यह वर्ष पूरा किया। इस एक वर्ष में आत्मबल-संग्रह करने का जो अवसर मिला, उससे संतोष है।''

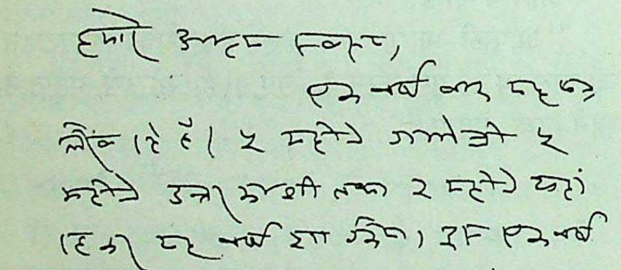

हमारे आत्म स्वरूप,
एक वर्ष बाद यह पत्र
लिख रहे हैं। ५ महीने गंगोत्री ५
महीने उत्तरकाशी तथा २ महीने यहाँ
रहकर यह वर्ष पूरा किया। इस एक वर्ष
में आत्मबल संग्रह करने का जो अवसर
मिला उससे संतोष है।

अपने किसी ऐसे शिष्य को जिसे वह हर दूसरे दिन पत्र लिखते थे, एक वर्ष बाद पुनः याद किया एवं एक वर्ष का संक्षिप्त लेखा-जोखा भी उसे दिया। इस एक वर्ष के तप को वह आत्मबल-संग्रह के लिए किया जाने वाला पुरुषार्थ बताते हैं। प्रथम पत्र में दूसरों के लिए जो प्रेरणा है, दूसरे पत्र में स्वयं द्वारा भी उसे किया जा रहा है, यह संदेश है। यह पत्र पत्रलेखक के सरल अंतःकरण का भी द्योतक है। यह भी बताता है कि गुरुसत्ता किसी को नहीं भूलती, नहीं तो हिमालय यात्रा के एकवर्षीय साधना-अनुष्ठान के तुरंत बाद एक साधारण गृहस्थ कार्यकर्त्ता को यह बताने की क्या आवश्यकता?

समय-समय पर वे अपने शिष्यों को आश्वासन भी देते हैं और संरक्षण भी। वह पत्र तो परिजन भूले नहीं होंगे जिसमें उन्होंने लिखा है कि उड़ती चिड़िया जिस तरह अपने घोंसले, अंडों, बच्चों का ध्यान रखती है, ठीक उसी तरह हम भी सबका ध्यान रखेंगे, भले ही एक वर्ष तक सबके बीच रह न पाएँ, आँखों से ओझल हों। कुछ ऐसा ही आश्वासन नीचे वाले पत्र में मिलता है। १६/९/६५ के लिखे इस पत्र में वे एक साधक को लिखते हैं—

''चि. आनंद और बेटी रतन के परिवार की हम स्वयं रक्षा करेंगे। चौकीदार की तरह उनके घर पहरा देंगे और छाता बनकर उन पर छाया करते रहेंगे। इन दोनों बच्चों के परिवार में से किसी का भी बाल-बाँका न होगा। आप पूर्ण निश्चिंत रहें। बच्चों को भी हमारे आश्वासन की सूचना दे दें, ताकि वे निर्भय और निश्चिंत रहें।''

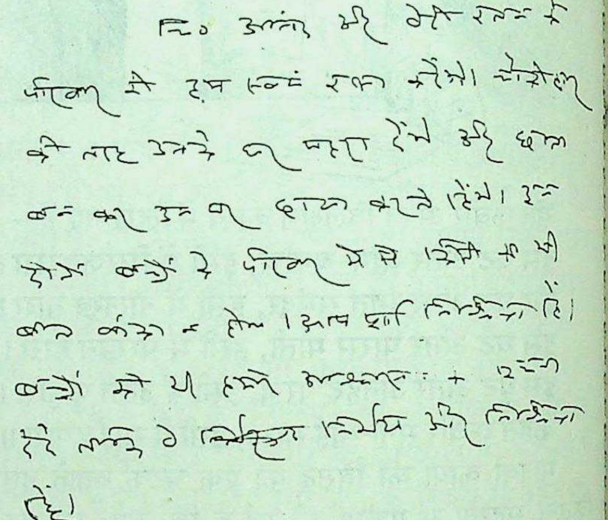

चि० आनंद और बेटी रतन के
परिवार की हम स्वयं रक्षा करेंगे। चौकीदार
की तरह उनके घर पहरा देंगे और छाता
बनकर उन पर छाया करते रहेंगे। इन
दोनों बच्चों के परिवार में से किसी का भी
बाल बाँका न होगा। आप पूर्ण निश्चिन्त रहें।
बच्चों को भी हमारे आश्वासन की सूचना
दे दें ताकि वे ~~निश्चिन्त~~ निर्भय और निश्चिन्त
रहें।

पत्र की भाषा बताती है कि गुरु शिष्य का योग-क्षेम वहन करता है। उसका पायलट-बॉडीगार्ड-सुरक्षाकर्मी बनकर साथ चलता है। यह आश्वासन यदि शिष्य की समझ में आ जाए, तो दूना जोश भर जाता है एवं बिना किसी असुरक्षा के भाव के वह काम में लगा रहता है। ऐसे एक नहीं हजारों-लाखों परिवारों को गुरुसत्ता ने जीवित रहते भी सुरक्षा-छत्र प्रदान किया एवं सूक्ष्म-कारणशरीर से अब भी सतत कर रहे हैं। आवश्यकता मात्र अटूट निष्ठा एवं निजी साधनात्मक पुरुषार्थ की है। यदि वह निरंतर चलता रहे तो कार्य सफल होंगे ही।

कितनी ही बार अपना अपनत्व प्रदर्शित करते हुए अपनी दैनंदिन जीवन की बात भी लिख देते थे व उनसे मार्गदर्शन की अपेक्षा रखते थे। वे घर-गृहस्थी चलाने जैसे सामान्य प्रसंगों के संबंध में भी होती थीं। पूज्यवर एक ऐसे ही पत्र के संबंध में उत्तर देते हुए एक सज्जन को १०/२/४६ को एक पत्र में लिखते हैं—

''हमारे आत्मस्वरूप

आपका पत्र मिला। ध्यानपूर्वक पढ़ा और वृत्त जाना। एक सद्‌गृहस्थ के पास इतना पैसा होना आवश्यक है कि बच्चों की शिक्षा, विवाह, रोग एवं किसी आकस्मिक दुर्घटना के आने पर चिंतित न होना पड़े। गृहस्थ का उत्तरदायित्व सिर पर लेने के साथ आर्थिक सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व अपने आप सिर पर आ जाता है। पत्नी की प्रेरणा अनुचित एवं उपेक्षणीय नहीं है।

जितनी तन्ख्वाह आपको मिलती है, यदि उसमें भी किफायत करेंगे तो आप लोगों के स्वास्थ्य नष्ट होंगे। ४०) से कम में भला आप लोग किस प्रकार गुजर कर सकते हैं। उसमें बचाने का प्रयत्न न करें। हाँ, आर्थिक सुव्यवस्था के लिए कोई व्यापार सोचें, क्योंकि व्यापार के अतिरिक्त और किसी उपाय से आर्थिक सुधार नहीं हो सकता। आपके पास संभवत: पूँजी भी छोटी ही होगी। छोटी पूँजी से कोई दुकान ही की जा सकती है। स्थान अच्छा मिल जाए तो धंधा अच्छा चल जाने में संदेह नहीं है।''

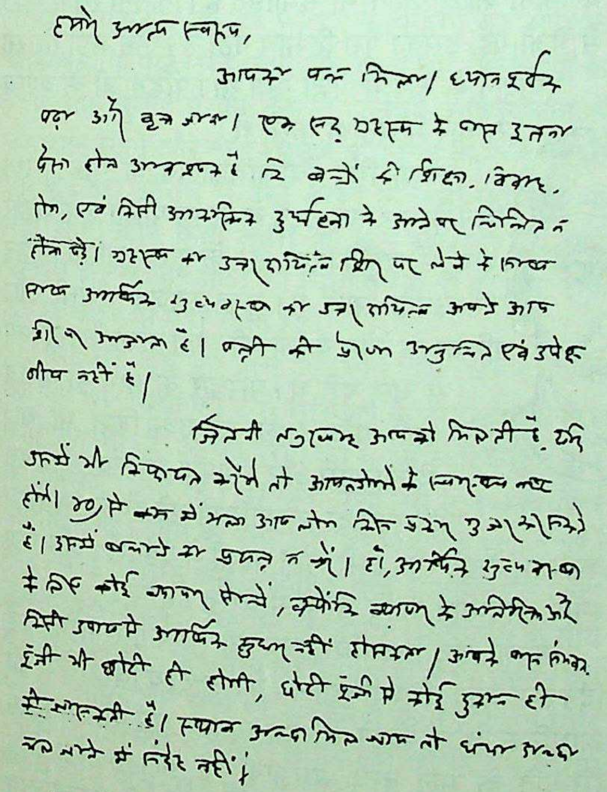

हमारे आत्म स्वरूप,

आपका पत्र मिला। ध्यानपूर्वक पढ़ा और वृत्त जाना। एक सद् गृहस्थ के पास इतना पैसा होना आवश्यक है कि बच्चों की शिक्षा, विवाह, रोग, एवं किसी आकस्मिक दुर्घटना के आने पर चिंतित न होना पड़े। गृहस्थ का उत्तरदायित्व सिर पर लेने के साथ साथ आर्थिक सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व अपने आप सिर पर आ जाता है। पत्नी की प्रेरणा अनुचित एवं उपेक्षणीय नहीं है।

जितनी तनख्वाह आपको मिलती है. यदि उसमें भी किफायत करेंगे तो आप लोगों के स्वास्थ्य नष्ट होंगे। ४०) से कम में भला आप लोग किस प्रकार गुजर कर सकते हैं। उसमें बचाने का प्रयत्न न करें। हाँ, आर्थिक सुव्यवस्था के लिए कोई व्यापार सोचें, क्योंकि व्यापार के अतिरिक्त और किसी उपाय से आर्थिक सुधार नहीं हो सकता। आपके पास संभवतः पूँजी भी छोटी ही होगी, छोटी पूँजी से कोई दुकान ही की जा सकती है। स्थान अच्छा मिल जाय तो धंधा अच्छा चल जाने में संदेह नहीं।

पत्र से स्पष्ट है कि पत्रलेखक ने अपनी लौकिक समस्याओं का समाधान मित्रवत् गुरुसत्ता से पूछा है। उन्होंने भी तात्कालिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पूर्णत: लौकिक समाधान दिया है। किसी चमत्कार या आशीर्वाद के घटने की बात नहीं की है। पत्नी की दी गई प्रेरणा का भी हवाला दिया है, लिखा है कि उसकी उपेक्षा न करें, दैनंदिन कार्य में उसका सत्परामर्श भी लें। यह वह समय था जब द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था। परामर्श उनने उसी के अनुरूप व्यापार का दिया। फलीभूत हुआ एवं गाड़ी पटरी पर आकर कुछ ही वर्षों में तेजी से दौड़ने लगी।

एक अंतिम पत्र एक राजनीति में सक्रिय परिजन को लिखा यहाँ दे रहे हैं। उनका परामर्श पढ़ें व अपने लिए भी दिया गया मार्गदर्शन इसे मानें। यदि सभी लोकनेतृत्व के क्षेत्र में बहने वाले इससे प्रेरणा लेंगे तो यह पत्र उद्‌धृत करना सार्थक होगा। ६/१०/६३ को लिखे इस पत्र में (नाम ज्ञात नहीं) वे लिखते हैं—

''आप अब तक राजनैतिक सेवाकार्य करते रहे हैं। अब नैतिक और धार्मिक क्षेत्र में भी इसी उत्साह से काम करें तो इससे आपका और मानवजाति का अधिक कल्याण होगा।''

> *सांसारिक सुख जीवन को सरस एवं सर्वांगपूर्ण बनाए रखने की दृष्टि से उपयोगी हो सकते हैं, किंतु इनको ही जीवन-लक्ष्य मान लेना आत्मकल्याण के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है।*
>
> *—परमपूज्य गुरुदेव*

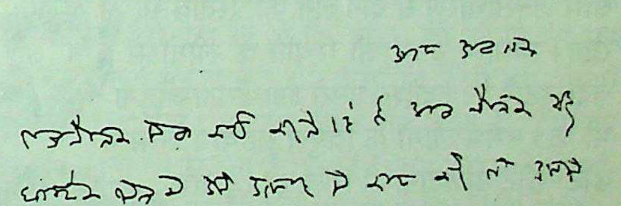

आप अब तक राजनैतिक सेवा कार्य करते रहे हैं। अब नैतिक और धार्मिक क्षेत्र में भी इसी उत्साह से काम करें तो इससे आपका और मानव जाति का अधिक कल्याण होगा।

पत्र पाने वाले के लिए विशिष्ट संकेत है कि नैतिक और धार्मिक क्षेत्र में उत्साह से कार्य किए जाने की आवश्यकता है। आज सत्ता का मद अच्छों-अच्छों को राजनीति की ओर खींच रहा है, तब गुरुसत्ता का परामर्श यह कहता है कि विभूतिवान् प्रबुद्ध वर्ग के लोकनायक धर्मतंत्र सँभालें, तो आत्मकल्याण भी होगा लोककल्याण भी होगा।

उपर्युक्त पत्र एक संगठक-साधक के रूप में हमारी गुरुसत्ता के बहुआयामी व्यक्तित्व के परिचायक हैं एवं हम सबके लिए प्रेरणा स्रोत भी।

श्रीरामलीलामृतम्-३

चेतना की शिखर यात्रा

(परमपूज्य गुरुदेव : एक असमाप्त जीवन गाथा)

यमुना से गंगा तक

अक्टूबर १९१५ में बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी एक्ट पास होने के चार महीने बाद माघ शुक्ल प्रतिपदा को विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। संवत् १९७२ (सन् १९१६) की उस तिथि को वायसराय लार्ड हार्डिंग्ज ने शिलान्यास किया। बंगाल के गवर्नर, तीन प्रांतों के उपराज्यपाल, बारह महाराजा और कई विद्वान्, जमींदार, साहूकार आदि इस अवसर पर उपस्थित थे। यह विश्वविद्यालय एनी बीसेंट के स्थापित सेंट्रल हिंदू कॉलेज का ही विकसित रूप था। संकल्प करीब पाँच साल पहले लिया गया था। इसके लिए एनी बीसेंट, महामना मदनमोहन मालवीय, दरभंगा के महाराजा रामेश्वर सिंह ने मिलकर काम शुरू कर दिया था। निश्चय किया गया कि बैंक में पचास लाख रुपये जमा हो जाएँ और एक करोड़ रुपये इकट्ठे होने की स्थिति बन जाए तो विश्वविद्यालय की विधिवत् स्थापना हो।

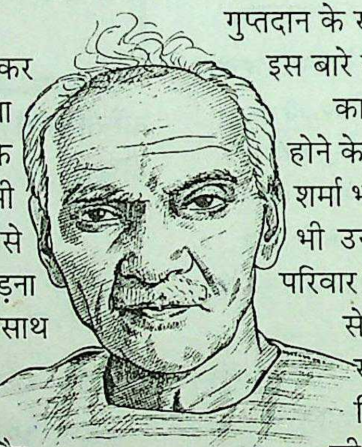

सरकार और कुछ राजा-महाराजा मिलकर भी इतना संचय कर सकते थे, लेकिन महामना मालवीय जी ने समर्थ लोगों के सहयोग के साथ जनसाधारण से दान लेने का प्रस्ताव भी रखा। सामान्य आय की स्थिति के लोगों से चंदा जुटाने का उद्देश्य उनसे आत्मीयता जोड़ना भी था। समर्थ लोगों के विपुल सहयोग के साथ छोटे-छोटे अंशदानों से मार्च १९१३ तक इक्कीस लाख रुपये जमा हुए। पचास लाख की अभिलाषित राशि जुटाने में दो साल और लगे। इतने संचय में बीकानेर, जोधपुर और कश्मीर रियासतों से मिले वार्षिक अनुदान भी शामिल थे। जनसहयोग जुटाने के लिए पूरे देश के विद्वानों, नेताओं, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और पुरोहितों, उपदेशकों से भी अपील की गई थी। सभी वर्गों के सैकड़ों लोग जुटे और दिन-रात लगे रहे। पाँच वर्ष की अवधि में लक्ष्य का आधे से ज्यादा भाग इकट्ठा हो गया। अंशदान में मुट्ठी अनाज से लेकर एक पैसा, आधा पैसा और आने-दो आने जितनी छोटी रकम भी थी।

व्रज क्षेत्र में जो गिने-चुने लोग काशी हिंदू विश्वविद्यालय के लिए चंदा इकट्ठा कर रहे थे, उनमें पंडित रूपकिशोर शर्मा का नाम अन्यतम है। आगरा के पास आँवलखेड़ा गाँव में बसे पंडित रूपकिशोर शर्मा भागवत् के उद्भट विद्वान् थे। दूर-दूर तक वे कथा और धर्मोपदेश करने जाते थे। महामना मदनमोहन मालवीय उनकी व्याख्यान शैली से बहुत प्रभावित थे। कुछ समय तक यों दोनों एक ही गुरुकुल में रहे थे, लेकिन दोनों के स्नेह-संबंधों का आधार भागवत् प्रेम ही था। भागवत् कथा के समय श्रोताओं से सनातन धर्म के लिए सहयोग जुटाने की सीख मालवीय जी ने ही दी थी। लोगों से छोटी-छोटी राशि इकट्ठी करना निश्चित होने के बाद मालवीय जी ने उन्हें कम-से-कम ग्यारह हजार रुपये जुटाने के लिए कहा था। पंडित रूपकिशोर ने अलग-अलग समय पर यह रकम पहुँचाई। किस्तों में भेजी गई इस राशि में भागवत् कथा कराने वाले यजमानों का योगदान भी समाहित है। कितनी रकम कहाँ से भेजी गई, इसका पूरा हिसाब नहीं है। एक बड़ा हिस्सा गुप्तदान के रूप में भेजा गया था। पंडित जी के वंशज इस बारे में बताया करते थे।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के एक पुरोधा होने के नाते उद्घाटन के समय पंडित रूपकिशोर शर्मा भी पहुँचे। व्रज क्षेत्र के कुछ पुरोहित विद्वान् भी उनके साथ थे। कुछ स्वजन-संबंधी और परिवार के लोग काशी की यात्रा करने के उद्देश्य से चल पड़े थे। परिवार के साथ ही करीब साढ़े पाँच साल का एक शिशु भी था। शिलान्यास और स्थापना समारोह में पंडित जी अपने दो सहयोगियों को लेकर व्यवस्था का काम देखते रहे। दूसरे लोग काशी में देवदर्शन और गंगा स्नान, अनुष्ठान आदि कृत्यों में व्यस्त हो गए।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय का स्थापना समारोह कई दिन तक चला। विश्वविद्यालय का उद्देश्य विद्यार्थियों को आधुनिक विषय पढ़ाने के साथ सनातन धर्म और भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व समझाना भी था। बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी अधिनियम में ही व्यवस्था थी कि विश्वविद्यालय में हिंदू धर्म-विज्ञान की उच्चस्तरीय शिक्षा का प्रबंध होगा। यहाँ सभी जाति और संप्रदाय के छात्र पढ़ सकेंगे। विशेष बात यह थी कि विश्वविद्यालय के प्रबंध और संचालन में

हिंदू धर्म मानने वाले को ही दायित्व सौंपने की व्यवस्था की गई। प्रबंध समिति में गैर सरकारी सदस्यों का बाहुल्य होने की व्यवस्था भी अधिनियम में की गई। विश्वविद्यालय का जो स्वरूप उभर रहा था, वह पूरी तरह सनातन धर्म के अनुरूप था।

आलोचकों ने इसे आरंभ से ही पोंगापंथी, सांप्रदायिक और अनुदार आदि कहना शुरू कर दिया था। कुछ लोगों ने विश्वविद्यालय के नाम से 'हिंदू' शब्द हटाने के लिए दबाव डालने की कोशिश की। आंदोलन तो हाल तक भी चलते रहे हैं। उन दबावों की आरंभ से ही परवाह नहीं की गई। बाद में महात्मा गाँधी ने भी हिंदू शब्द हटाने की माँग करने वालों को गलत ठहराया था। जिस नाम से वह आज प्रसिद्ध है, उसी का समर्थन किया था।

दीक्षागुरु का अपने शिष्य से मिलन

विश्वविद्यालय का स्वरूप हिंदू धर्म-विज्ञान को उच्चस्तरीय अभिव्यक्ति देने के लिए गठित किया गया था। स्वाभाविक है कि स्थापना समारोह में यज्ञ-याग, प्रवचन, कथा आदि के कार्यक्रम भी रखे जाते। आँवलखेड़ा से गए पंडित रूपकिशोर जी को भी इन कार्यक्रमों का आंशिक दायित्व सौंपा गया। यज्ञ-याग और अन्य धर्म-अनुष्ठानों के लिए आए पुरोहितों को ठहराने, उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखने और नगर-भ्रमण कराने के काम में वे लगे हुए थे। उस अवधि में उन्हें अपने परिजनों की सुध भी नहीं रही। कौन कहाँ ठहरा है, क्या खा रहा है, कहाँ विश्राम कर रहा है, आदि की चिंता करना तो दूर रहा, उन्हें उनका ध्यान भी नहीं रहता था।

समारोह शुरू हुए पाँच दिन बीते होंगे। वसंत पंचमी का दिन था। विद्या की देवी सरस्वती के अवतरण के दिन व्याख्यान, गोष्ठी, अधिकारियों की बैठक आदि नियत क्रम के अनुसार चलते रहे। सरस्वती पूजा उस दिन का विशेष आयोजन था। आम के पत्तों और बौरों से वेदी सजाई गई। साठ-सत्तर विद्यार्थी और अध्यापक वेदी के सामने बैठे। वेदी के सामने ही यज्ञकुंड स्थापित किया गया। मंत्रोच्चार के साथ यज्ञ आरंभ हुआ। मालवीय जी कर्मकांडों का संचालन कर रहे थे। सामने बैठे छात्र भी अनुकरण करते हुए मंत्र बोल रहे थे। इन बच्चों में पंडित रूपकिशोर जी के पुत्र श्रीराम भी थे। उम्र पाँच-छह वर्ष के बीच रही होगी। सामान्यत: यह बालक माँ और परिवार के लोगों के साथ रहता था। उस दिन पंडित जी कुछ सोचकर वहाँ ले आए थे। सरस्वती पूजा में भाग लेने के अलावा कुछ समय मालवीय जी का सान्निध्य-लाभ कराना भी शायद उद्देश्य रहा हो।

पर्व-उत्सव की प्रक्रिया अपने ढंग से चलती रही। छात्र जब मंत्रों का उच्चारण करते या दोहराते तो वातावरण और भी मनोरम हो उठता था। बच्चे ही थे। कहीं-कहीं उच्चारण में दोष आ जाता था, लेकिन उस ओर ज्यादा लोगों ने ध्यान नहीं दिया। उपस्थित पंडितों और अध्यापकों ने उनका उत्साह बढ़ाना ही श्रेयस्कर समझा। इन बच्चों में सबसे छोटी उम्र के बालक श्रीराम थे। वह जब मंत्रपाठ करते तो मालवीय जी की दृष्टि उनकी ओर पड़ जाती। इतने छोटे बालक को मंत्रोच्चार करते देख वे अपलक निहारते रह जाते। पर्व देवता का पूजन संपन्न होने और प्रसाद-वितरण के बाद मालवीय जी उस बालक के पास आए। स्नेह से सिर पर हाथ फेरा।

निकट आते ही बालक श्रीराम ने उनके चरणों में प्रणाम कर लिया था। दुलारते हुए मालवीय जी ने पूछा, "तुम्हारे पिता कहाँ हैं, वत्स?" बालक श्रीराम कुछ बोलते, इससे पहले ही पंडित रूपकिशोर जी सामने आ गए। मालवीय जी के सामने विनम्र भाव से खड़े हो गए और कहने लगे, "यह आपका ही स्नेह और वात्सल्य है महामना।" मालवीय जी ने बालक के बारे में दो-चार बातें और पूछीं। उसे गौर से कुछ देर देखते रहे और पूछा, "उपनयन हो गया है क्या?" पंडित जी ने कहा, "अभी प्रतीक्षित है। आपके हाथों संपन्न हो तो अहो भाग्य!"

मालवीय जी के चेहरे पर स्मिति की रेखा खिंच गई। उनकी सफेद मूँछों के पीछे खिले हुए होंठ स्पष्ट प्रतिभासित हो रहे थे। जैसे कह रहे थे कि पंडित जी आपने मेरे मन की बात अपने मुँह से कह दी। मालवीय जी ने कहा कि मैं ही मंत्रदीक्षा दूँगा। संकल्प लिया जा चुका है, इसलिए दीक्षित माना जा सकता है। अभी क्रिया संपन्न नहीं हुई, संकल्प हुआ है, इसलिए दीक्षा का आरंभ हुआ मानिए। उपयुक्त समय पर दीक्षा भी संपन्न हो जाएगी। वह उपयुक्त समय कुछ वर्ष बाद आया। उस दिन परिसर में कार्यक्रम भी थे। एनी बीसेंट का व्याख्यान होना था। मैसूर (अब कर्नाटक) के महाराज कृष्णराज वादियार, डॉ. सुंदरलाल आदि अभिजात्य जनों के साथ भी महामना का अलग-अलग विमर्श चलना था।

स्थापना समारोह विश्वविद्यालय की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण था ही और भी कई घटनाएँ थीं, जिन्होंने इतिहास में नए मोड़ लाने वाला आयोजन बना दिया। सनातन धर्म और संस्कृति के नए उन्मेष के साथ विद्या, धन, कला, शक्ति, साधना और शौर्य की सात धाराओं वाली गंगा जैसे वहाँ प्रवाहित हो उठी थी। महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीयता की

भावनाओं से ओत-प्रोत भाषण वहीं दिया था, जिसमें प्रतिभाओं को ललकारा गया था। उन्हें अपने कर्त्तव्य से विमुख बताते हुए गाँधी जी ने राजा-महाराजाओं और श्रीमंतों की कड़ी आलोचना कर दी थी।

व्याख्यान में राजा-महाराजा भी उपस्थित थे। गाँधी जी की आलोचना से वे उत्तेजित हो उठे। उन्होंने कार्यक्रम का बहिष्कार कर दिया और उठकर चले गए। विरोध में उठकर जाने वालों में एनी बीसेंट भी थीं। मदनमोहन मालवीय उस आयोजन में शांत बैठे रहे। उन्होंने लोगों के उठकर जाने की परवाह नहीं की। किसी भी तरह का दबाव माने बिना, सत्य को स्वीकार करने और उसके साथ खड़ा होने के और भी कई प्रसंग हैं, जो उन दिनों घटे और उनके संस्कार वातावरण में घुले-मिले और वहाँ आए लोगों के चित्त में जाने-अनजाने छाए।

महामना के सहयोगी पंडित जी

मालवीय जी के सहयोगियों में आँवलखेड़ा (आगरा) के पंडित रूपकिशोर आदर से याद किया जाने वाला नाम था। राजनीति, शिक्षा, समाज-सुधार और सेवा-कार्यों में निरत रहते हुए भागवत् के कथाप्रसंगों और तत्त्वदर्शन की विवेचना मालवीय जी का प्रिय धर्म-अनुष्ठान था। पंडित रूपकिशोर जी अपने क्षेत्र में भागवत् व्यास के रूप में श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे। पंडित रूपकिशोर अपने आपको महामना का विनम्र शिष्य और अनुयायी ही कहते थे। उनका क्षेत्र भी अपेक्षाकृत् छोटा था, लेकिन व्रजमंडल में वे मालवीय जी की कथाशैली के प्रतिनिधि प्रवक्ता कहे जाते थे। उस क्षेत्र के राजा-रजवाड़ों में पंडित जी का बहुत मान-सम्मान था।

कथा-उपदेश वाणी की कला नहीं है। अपनी बात कहने का ढंग आना चाहिए। उसका प्रभाव पड़ता है, लेकिन जो कहा जा रहा है, उसके पीछे आस्था का बल भी होना चाहिए। यह बल उपदेशों को पहले अपने जीवन में उतारने से आता है, जो भागवत् करुणा और भक्ति का शास्त्र है, वह प्रेत-पिशाचों को भी कषाय-कल्मषों से मुक्त करता है। धुंधकारी प्रेत की कथा भागवत् कथा के समय माहात्म्य प्रसंग में हर बार सुनाई जाती है। करुणा और भक्ति के तत्त्व पंडित जी के जीवन में पूरी आभा के साथ प्रकट हुए थे। उनके संपर्क में आकर बहुत लोगों ने अपनी बुराइयाँ छोड़ीं। छोटे-मोटे दोष-विकारों से मुँह मोड़ने की सैकड़ों घटनाएँ हैं। एक अवसर ऐसा भी आया जब पंडित जी के निवास से कुछ दूर जंगल में रहने वाले धांधू नामक डकैत ने लूटमार करना छोड़ दिया। इलाके में उसका आतंक था। उसका अपना कोई गिरोह नहीं था, लेकिन वह खुद बहुत बलवान था। उसमें २५-३० लोगों से जूझने की सामर्थ्य थी।

पंडित जी कथा कहने के लिए जा रहे थे कि रास्ते में धांधू से मुलाकात हो गई। कहने लगा—आप ब्राह्मण देवता हैं, आपका अनादर तो नहीं करूँगा, लेकिन मैं दस्यु हूँ। लूटना छोड़ दूँ तो अपना और आश्रितों का निर्वाह कैसे करूँगा? इसलिए आपके साथ बलप्रयोग नहीं करूँगा। सिर्फ यही चाहूँगा कि आपके पास जो कुछ भी है, वह चुपचाप रख दें।

धांधू ने पूरे वेग से कहा था। सामान्य मनःस्थिति का व्यक्ति धांधू के दमखम, बुलंद आवाज और डपट से काँपने लगता। पंडित जी पर उसके डरावने व्यक्तित्व का कोई असर नहीं हुआ। जिस निश्चिंत भाव से वे जा रहे थे, उसी निर्द्वंद्व भाव से खड़े हो गए और धांधू को निहारने लगे। अपनी धमकी का कोई असर होता न देख डाकू अचरज में पड़ गया। उसने कहा, पंडित जी मैंने जो कहा, वह आपने सुन लिया है न। पंडित जी ने कहा—सुन लिया है, पर मैं अभी तुम्हें कानी कौड़ी भी नहीं दूँगा। अगर कथा सुनने चलते हो तो वचन देता हूँ कि वहाँ जो भी दान-दक्षिणा आएगी सब तुम्हें सौंप दूँगा। धांधू की आँखें चौड़ी हो गईं। पहले अचरज से बड़ा अचरज सामने आ गया था।

दोनों में कुछ देर संवाद हुआ। पता नहीं पंडित जी की किस बात का असर हुआ कि धांधू कथा सुनने के लिए राजी हो गया। वह साथ चल पड़ा। भागवत् सप्ताह की पूरी अवधि में उसने ध्यान से कथा सुनी, पुराने संस्कार बीच-बीच में जोर मारते। वह लोगों को डराने-धमकाने लगता, लेकिन यह देर तक नहीं चला। भागवत् सप्ताह पूरा होने के बाद पंडित जी ने दान-दक्षिणा समेटकर धांधू के हाथ में सौंपी। रुपये, पैसे, आभूषण और मेवों आदि से गठरी बँध गई थी। डाकू ने गठरी उठाई, सिर पर रखी और कह उठा—आदेश करें प्रभुजी किधर चलना है। पंडित जी ने कहा—जहाँ तुम ले जाना चाहते हो ले जाओ, मैंने अपना वचन पूरा कर दिया। धांधू ने गठरी उतारकर एक तरफ रखी और पंडित जी के चरणों में लोट गया। जोर-जोर से रोते हुए वह कह रहा था—मुझे राह मिल गई भगवन् क्षमा करें। मैं मेहनत और ईमानदारी की कमाई ही खाऊँगा। उसी से परिवार का गुजारा चलाऊँगा। अनुनय-विनय कर वह बोझ पंडित जी के घर तक छोड़ने गया। जिसने भी देखा उसे विश्वास ही नहीं हुआ कि यह धांधू डाकू है।

❀

(क्रमशः)

जीवन विद्या का आलोक केंद्र :

हमारा देवसंस्कृति विश्वविद्यालय

देवसंस्कृति विश्वविद्यालय की भूमि एवं भवन उत्तरांचल प्रांत के देहरादून जनपद में हरिद्वार से सात किलोमीटर दूर हरिद्वार-ऋषिकेश मार्ग पर शांतिकुंज से आधा किलोमीटर दूरी पर स्थित है। दिसंबर २००१ के तृतीय सप्ताह में शांतिकुंज के आवेदन पर उत्तरांचल केबिनेट ने निर्णय लिया कि अपने में अद्वितीय भारतवर्ष के पहले उस विश्वविद्यालय को 'डीम्ड यूनिवर्सिटी' के रूप में स्थापित करने हेतु एक अधिनियम बनाकर अखिल विश्व गायत्री परिवार द्वारा इसे संचालित किया जाए। अपने पाठ्यक्रम भी यह विश्वविद्यालय स्वयं बनाएगा एवं आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी होगा, किसी प्रकार की आर्थिक सहायता राज्य या केंद्र सरकार से नहीं लेगा। महामहिम राज्यपाल उत्तरांचल के हस्ताक्षर एवं गजट अनुज्ञापन के साथ ही **अब देवसंस्कृति विश्वविद्यालय अस्तित्व में आ गया है।** इस वर्ष शेष भवनों के निर्माण के बाद आगामी वर्ष से इसके विधिवत् प्रारंभ होने की संभावना है। तब तक महाविद्यालय जो विगत वर्ष आरंभ किया गया था, चलता रहेगा।

परमपूज्य गुरुदेव के सपनों के इस विश्वविद्यालय का भूमिपूजन वीतराग स्वामी कल्याणदेव जी की उपस्थिति में निवृत्तमान शंकराचार्य (भानपीठाध्यक्ष), स्वामी श्री सत्यमित्रानंद जी, परमार्थ निकेतन के प्रमुख मुनि श्री चिदानंदजी तथा प्रभुप्रेमी संघ (अंबाला) के प्रमुख जूनापीठाधीश्वर स्वामी श्री अवधेशानंदजी गिरी महाराज सहित प्रायः पचास हजार परिजनों द्वारा २३ मई १९९९ को किया गया था। अपनी इस त्रैवर्षीय यात्रा में इस परिसर में प्रायः बारह करोड़ रुपये का निर्माण हो चुका है एवं एक चौबीस कक्षों वाला भाषा-धर्म विद्यालय भवन, एक फार्मेसी व प्रायः डेढ़ सौ आवास बनकर तैयार हैं।

विश्वविद्यालय की स्थापना जीवन विद्या के आलोक केंद्र के रूप में की जा रही है। ऋषि-मुनियों की तप-साधना द्वारा संस्कारित उत्तरांचल की इस देवभूमि की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पृष्ठभूमि रही है। गंगा की गोद व हिमालय की छाया में स्थित गायत्रीतीर्थ रूपी तपोभूमि समूचे विश्व के लिए दिव्य आलोक एवं प्रेरणा का केंद्र रही है। न केवल उत्तरांचलरूपी पर्वतीय प्रांत के ग्रामीण अंचल की सभी समस्याओं को वरन् सारे भारत व विश्व की आज की नैतिक मूल्यों के संकट से पैदा हुई परिस्थितियों को स्पर्श करते हुए इसके विविध कार्यक्रम राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान, सामाजिक नवोन्मेष एवं आर्थिक विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएँगे।

भारत का अतीतकालीन गौरव मात्र धर्म-दर्शन और अध्यात्म के सूत्र सिद्धांतों पर आधारित नहीं था, बल्कि विज्ञान की विभिन्न धाराओं द्वारा पुष्ट भी था। याज्ञवल्क्य का यज्ञ विज्ञान, विश्वामित्र की गायत्री महाविद्या, पतंजलि का योगविज्ञान, गोरखनाथ का हठयोग, धन्वंतरि-चरक का आयुर्वेद, सुश्रुत की शल्यचिकित्सा कणाद का अणु विज्ञान, आर्यभट्ट-वाराहमिहिर का ज्योतिर्विज्ञान, तंत्रविज्ञान, अंकगणित आदि तपःपूत ऋषियों द्वारा अपनी कठोर साधना द्वारा गढ़े गए थे। ये सभी विद्याएँ जीवन जीने की पर्याय-अध्यात्म विद्या की विभिन्न धाराएँ थीं। आज ये सभी विद्याएँ लुप्तप्राय हैं। शरीर रुग्ण, मन अशांत, परिवार विखंडित, समाज विक्षुब्ध, विज्ञान घातक, राजनीति भ्रष्ट, देश आतंकित, धर्म जंजाल और शिक्षा आज अनुपयुक्त भार बनकर रह गए हैं। जीवन विद्याओं की उपेक्षा से ही यह स्थिति पैदा हुई है।

देवसंस्कृति विश्वविद्यालय इन विद्याओं के पुनरुज्जीवन एवं वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण के साथ सामयिक उपयोगिता प्रमाणित करने का कार्य करने जा रहा है। इसके अंतर्गत चार संकायों-साधना, शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वावलंबन के अंतर्गत प्रारंभिक दौर में भारतीय संस्कृति प्रधान विद्याएँ जो ली जा रही हैं, वे हैं वैज्ञानिक अध्यात्मवाद, सर्वधर्म समभाव, देवालय प्रबंधन, नैतिक एवं मूल्यपरक शिक्षा, शिक्षालय प्रबंधन एवं शिक्षकों का प्रशिक्षण, आयुर्वेद, योगविज्ञान, मंत्रविज्ञान, यज्ञविज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, औषधालय प्रबंधन, स्वास्थ्य संरक्षक प्रशिक्षण, ग्राम प्रबंधन, स्वदेशी स्वावलंबन पर आधारित अर्थप्रबंधन तथा गोविज्ञान।

प्रयास यह किया जाएगा कि यहाँ से प्रशिक्षित स्नातक, परास्नातक या शोधकर्त्ता आत्मावलंबी बन सकें एवं देवसंस्कृति के भारत के कोने-कोने एवं विश्वभर में विस्तार हेतु सक्षम बन सकें। यहाँ शोध-अनुसंधान की आधुनिकतम स्थापनाएँ की जा रही हैं, जो विश्व में अभूतपूर्व स्तर की एक स्थान पर शोध में सहायक बनेंगी। भारतीय अध्यात्म को एवं जीवनमुक्त बनाने वाली विद्या को यहाँ सीखकर जो भी छात्र जाएँगे, वे अपनी शिक्षा को सही मायने में सार्थक बनाएँगे। भारत की व विश्वभर की सभी भाषाओं एवं धर्मों का (थियॉलाजी) प्रशिक्षण यहाँ दिया जाएगा तथा विदेशियों एवं संस्कृतिपिपासु प्रवासी भारतीयों की, जिनकी संख्या प्रायः पाँच करोड़ है, शिक्षण की भी यहाँ व्यवस्था होगी। जन-जन की अपेक्षा के अनुरूप नालंदा-तक्षशिला स्तर का यह संस्कृति शिक्षण केंद्र बन सके, इसके लिए सभी भावनाशीलों का भावभरा आह्वान है। ○

केंद्र के समाचार–क्षेत्र की हलचलें

देवसंस्कृति विश्वविद्यालय विधिवत् अनुमोदित

उत्तरांचल सरकार की केबिनेट ने एक सर्वसम्मति से लिए गए निर्णय में हरिद्वार के शांतिकुंज द्वारा देहरादून (हरिपुर कलाँ) में गायत्री कुंज में बनाए जा रहे देवसंस्कृति विश्वविद्यालय को विधिवत् मान्यता दे दी है। साधुवाद के योग्य यह कार्य एक विशेष अधिनियम बनाकर किया गया है, जिस पर महामहिम राज्यपाल महोदय ने हस्ताक्षर किए हैं। यह विश्वविद्यालय पूर्णत: स्वायत्तशासी होगा, आर्थिक सहायता हेतु शासन से कोई भी मदद न लेगा एवं संस्थापक सत्ता के कार्यों को जन-जन तक पहुँचाने, देवसंस्कृति के निर्धारणों को विद्या-विस्तार के माध्यम से लोकव्यापी बनाने का कार्य करेगा। नए वर्ष की वेला में एक जनवरी को उत्तरांचल के मुख्यमंत्री सत्यमित्रानंद जी द्वारा धर्मतंत्र के प्रतीक के रूप एक-एक दीप जलाकर उत्तरांचल व भारत के कोने-कोने से आए परिजनों के बीच इस स्थापना के विषय में विस्तार से जानकारी दी गई। विश्वविद्यालय के विषय में विशेष इसी अंक में पढ़ें।

शांतिकुंज के साहित्य विस्तारपटल अब स्थान-स्थान पर

पिछले दिनों उत्तरप्रदेश की राजधानी लखनऊ में शांतिकुंज साहित्य विस्तारपटल की स्थापना की गई। इंदिरानगर के सेक्टर ९/१८१ स्थित गायत्री ज्ञान मंदिर में इसका विधिवत् शुभारंभ किया गया। लखनऊ, कानपुर, फैजाबाद, देवीपाटन (गोंडा), इलाहाबाद, बरेली तथा झाँसी के सात मंडल इस विस्तारपटल का लाभ ले सकेंगे। अब सारे भारत में इनकी संख्या चौदह हो गई है। पहले से ही नागपुर, वाराणसी, मुजफ्फरपुर टाटानगर, गया, बुलंदशहर, शिवपुरी, राजसमंद, देवरिया, इंदौर, कोटा, बिलासपुर, भीलवाड़ा में ये सक्रिय हैं। मिशन का सारा साहित्य, अखण्ड ज्योति सहित सभी पत्रिकाएँ तथा ऑडियो-वीडियो कैसेट्स, वनौषधियाँ, प्रज्ञापेय अब केंद्र के अतिरिक्त यहाँ से भी मँगाए जा सकते हैं। इनका उद्देश्य है—ज्ञानयज्ञ-विचारक्रांति का आलोक विश्वव्यापी बनाना।

जयति जय गौ माता एवं सद्ज्ञान वंदना कैसेट का विमोचन

गायत्री तपोभूमि मथुरा के तत्वावधान में लिखी गई गौ संरक्षण, गौमाता की महिमा का प्रतिपादन करने वाली पुस्तक 'जयति जय गौ माता' का विमोचन सूचना एवं प्रसारण मंत्री श्रीमती सुषमा स्वराज ने शास्त्री भवन नई दिल्ली में किया। श्रीमती स्वराज एवं सूचना प्रसारण राज्यमंत्री श्री रमेश बैस ने 'सद्ज्ञान वंदना' नामक ऑडियो कैसेट माला को भी लोकार्पित किया। दोनों ही गायत्री तपोभूमि मथुरा से प्राप्त किए जा सकते हैं।

तिरुपति अश्वमेध का अनुयाज प्रारंभ

अब दिसंबर के अंतिम सप्ताह में संपन्न हुए तिरुपति अश्वमेध महायज्ञ का अनुयाज दक्षिण के चारों प्रांतों में आरंभ कर दिया गया है। विगत दिनों तेलुगु, तमिल, मलयाली, कन्नड़ प्रशिक्षण में जिन भाई-बहिनों ने भागीदारी की थी, उन्हीं के पुरुषार्थ से उन्हीं की भाषा में बात कर हम दक्षिण में प्रवेश कर सके। अब २५१ कुंडी अश्वमेध महायज्ञ की ऊर्जा को दक्षिण भारत के २५१ स्थानों पर दीपयज्ञ-संगठनात्मक आयोजनों के माध्यम से पहुँचाने की स्थिति बन रही है। इसमें प्रमुखता स्थानीय भाषा में प्रकाशित साहित्य एवं बाद में मासिक पत्रिका के प्रकाशन के साथ-साथ चारों प्रांतों में एक-एक केंद्र स्थापित किए जाने को दी जा रही है। तेलुगू भाषा के प्रकाशन केंद्र के रूप में हैदराबाद स्थापित हो चुका है। केंद्र का कार्यालय भी संजीव रेड्डी नगर में है। अब शांतिकुंज के मार्गदर्शन में इसके १०८ केंद्र पूरे आंध्रप्रदेश में स्थापित किए जाने हैं, जहाँ स्वाध्याय संगठन एवं रचनात्मक आंदोलनों को गति दी जा सके। इसी तरह तमिलनाडु का केंद्र चेन्नई में स्थापित किया जा चुका है। यहाँ भी प्रकाशन केंद्र, एक गुरुकुल, गौशाला एवं ध्यानकक्ष बनाने का प्रस्ताव आया है। इसी तरह तिरुअनंतपुरम् एवं बैंगलोर में भी प्रांतीय केंद्र बनाने की प्रक्रिया चल रही है। चारों प्रांतों के केंद्र शांतिकुंज हरिद्वार के मार्गदर्शन में कार्य करेंगे। इसके लिए एक 'दक्षिण भारत प्रकोष्ठ' की स्थापना शांतिकुंज में कर दी गई है।

उत्तरांचल के विकास हेतु एक विशेष गोष्ठी

श्री पूर्णानंद पैन्युली एवं वीरेश्वर उपाध्याय जी की अध्यक्षता में देहरादून में संपन्न एक विशेष संगोष्ठी में उत्तरांचल के प्रबुद्ध नागरिकों ने भागीदारी की। इसमें मुख्य पहल कुमायूँ विश्वविद्यालय के उपकुलपति (भूतपूर्व) श्री वी. के जोशी एवं पूर्व स्वास्थ्य सचिव भारत सरकार श्री जे सी पंत द्वारा की गई। सभी प्रतिभागी प्रदेश के विकास की किसी-न-किसी श्रेष्ठ कार्य योजना से जुड़े थे व जिनके अंदर कुछ करने की तड़प भी थी। देव हियुनिधि (देवात्मा हिमालय युवा अभियान निधि) 'ध्यान' नामक एक ट्रस्ट युवाओं को प्रेरित-प्रशिक्षित करने के लिए गठित करने का इसमें निर्णय लिया गया। सभी स्वयंसेवी संगठन एकजुट होकर एक आचार्य कुल (विनोबा भावे की संकल्पना पर) की स्थापना करेंगे, यह भी निश्चित किया गया।

नारी जागरण सम्मेलनों-प्रज्ञापुराण कथा के शृंखलाबद्ध कार्यक्रमों की नई शृंखला आरंभ

मार्च के प्रारंभ से ही अब तीन माह तक चलने वाली शृंखलाओं में नारी जागरण सम्मेलन तथा प्रज्ञापुराण कथा के शृंखलाबद्ध कार्यक्रमों को क्षेत्र की माँग को देखते हुए आरंभ कर दिया गया है। इस बीच केंद्र के वरिष्ठ प्रतिनिधियों के क्षेत्रीय-संगठनात्मक दौरों का क्रम भी आरंभ हो चुका है, जिसमें सभी जाग्रत्-विकसित एवं नए विकसित हो रहे क्षेत्रों में इस संगठन-सशक्तीकरण वर्ष में सघन गोष्ठियों, शंका-समाधान आदि का क्रम रखा गया है। ✿

अपनों से अपनी बात

देवत्व के अवतरण की प्रयोगशाला हेतु भावनाशीलों का आह्वान

आज जिन समस्याओं से हम घिरे पड़े हैं, वे जानी-पहचानी हैं। समाधान भी प्राय: सभी विचारवानों को विदित हैं। बार-बार आप्तवचनों के माध्यम से उन पर अधिक ध्यान देने के लिए इसलिए कहा जाता है कि जिस हलके ढंग से इन तथ्यों पर विचार किया जाता रहता है, वह पर्याप्त नहीं। ढर्रे का आवरण उठाकर वास्तविकता को देखा जाना चाहिए। यही तत्त्वदर्शन या ईश्वरदर्शन है। इसी को आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मनिर्वाण कहा गया है। ढर्रे का अभ्यास ही भवबंधन है। माया जिसे कहा गया है, वह अवास्तविकता की खुमारी है। इसे हटाया एवं यह तथ्य अपनाया जा सके कि क्या किया जाना है तो समझना चाहिए कि जीवन-मुक्ति के मार्ग का अवरोध मिट गया।

वसुधैव कुटुंबकम् का छोटा मॉडल होगी यह स्थापना

प्रस्तुत भूमिका जीवन विद्या के आलोक केंद्र देवसंस्कृति विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ उस कार्य में खपने वाली प्राणवान् जाग्रतात्माओं की भूमिका के संदर्भ में दी जा रही है। यह पारंपरिक विश्वविद्यालय नहीं, तीर्थ, आरण्यक और गुरुकुल का समन्वित संस्करण स्थापित किया जा रहा है। भावसंपन्नों को दिशाधारा दे सकने योग्य वातावरण बनाने, जीवन विद्या के प्रशिक्षण का केंद्र स्थापित करने तथा 'वसुधैव कुटुंबकम्' का एक छोटा मॉडल स्थापित करने की दृष्टि से यह स्थापना की जा रही है। जहाँ प्रशिक्षण देने वाले अपने आचरण से शिक्षण पहले देंगे, वाणी व अन्य दृश्य-श्रव्य साधनों से बाद में, ऐसी कुछ विलक्षण संरचना है यह। निश्चित ही पढ़ने वाले तो बाद में आएँगे, पढ़ाने वाले, यहाँ निवास करने वाले, सभी तरह के कामों में स्वयंसेवक की तरह खपने वालों में यदि न्यूनाधिक भी कमी रही तो वह प्रारंभिक निर्धारण को, मूलभूत योजना को ही समाप्त कर देगी।

मनुष्य-जीवन ईश्वर का बहुमूल्य वरदान है। इसे इनाम नहीं, अमानत माना जाना चाहिए। भवबंधनों के कुचक्रों से निवृत्ति, पूर्णता की प्राप्ति जैसी महान् सफलताएँ इस एक ही तथ्य पर निर्भर हैं कि यथार्थता को हृदयंगम किया गया या नहीं? कहने-सुनने को तो आदर्शवादी बकवासें आए दिन कान्फ्रेन्स, वर्कशॉप, गोष्ठियों, प्रवचनों, कथाओं, नेताओं के भाषणों के रूप में चलती रहती हैं, पर वस्तुत: उनमें कोई सार नहीं। अध्यात्म का लाभ एवं चमत्कार मात्र उन्हीं को मिलता है, जो इसे कल्पनालोक की उड़ान न मानकर जीवन-दर्शन के रूप में मान्यता देते हैं, तदनुरूप ही दिशाधारा का निर्धारण करते हैं।

हम युगसंधि की ब्रह्मवेला में से गुजर रहे हैं। कुछ ही वर्षों में युगपरिवर्तन का सरंजाम पूर्णता पर पहुँचने को है। ऐसे में जाग्रतात्माओं का आत्मचिंतन जीवनदर्शन की यथार्थता के साथ जुड़ सके तो ही काम चलेगा। थोड़ी दूरदर्शिता और थोड़ी साहसिकता अपनाने पर उन तथाकथित परिस्थितियों का स्वरूप ही बदल जाता है, जो लक्ष्यपथ पर चल सकने की असमर्थता-विवशता बनकर सामने आती रहती हैं। मकड़ी अपना जाला आप बुनती है और उसमें फँसकर छटपटाती और जिस-तिस को दोष देती है, किंतु जब अपना चिंतन उलटती है तो अपने बुने जाले के धागे को समेटती-निगलती चली जाती है। निविड़ दीखने वाले बंधन देखते-देखते साँझ के रंगीन बादलों की तरह अदृश्य होने लगते हैं।

मानव-जीवन की गरिमा का समुचित उपयोग विश्व-उद्यान को सुरम्य बनाने में योगदान देकर इस दुर्लभ सुअवसर को सार्थक बनाने में ही है। पेट-प्रजनन तक सीमित रहना अन्यान्य प्राणियों को शोभा देता है, मनुष्य को नहीं। मनुष्य तो स्रष्टा का युवराज है। उसे इतना मिला है कि अपनी विशेषताओं के सहारे तनिक-सा श्रम, मनोयोग लगाकर चुटकी बजाते वह उपार्जित कर सकता है और शेष विभूतियों से आत्मकल्याण और लोककल्याण जैसे उच्च उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता है।

यदि विलासी लिप्सा और संग्रह की तृष्णा को हलका किया जा सके, तो औसत भारतीय जैसा नैतिक निर्वाह आसानी से उपार्जित हो सकता है। यदि परिवार को बढ़ाने की मूर्खता न की जाए, जो अब तक का है, उसे स्वावलंबी-सुसंस्कारी बनाना भर कर्त्तव्य माना जाए तो उस परिपोषण

के लिए सामान्य प्रयास से ही काम चल सकता है। बोझिल जीवन तो उनका होता है, जो अमीरी के सपने देखते और उत्तराधिकारियों को वैभव से लादने की ललक सँजोए रहते हैं। बोझ इस दुष्टचिंतन भर का है। न किसी के लिए पेट भारी पड़ता है और न परिवार। बोझिल तो वह मूर्खता है, जो लिप्सा-तृष्णा के रूप में जोंक की तरह शिराओं में दाँत गड़ाए खून चूसती रहती है।

जीवन का ऐसा सुनियोजन करने का जो अवसर अब परिजनों को, प्रबुद्धों को, भावनाशील जाग्रतात्माओं को देवसंस्कृति विश्वविद्यालय में कार्य करने के गौरव भरे क्षणों के रूप में उपलब्ध होने जा रहा है, उसमें इन सभी बातों को ध्यान में रखा जाना है। अपनी सारी शक्ति चुक जाए एवं नस-नाड़ियाँ क्षीण-जर्जर हो जाएँ तब ''कुछ नहीं तो यही सही'' के क्रम में कोई यहाँ आने का मन बना रहा हो तो उसे हम स्पष्ट बता देना चाहेंगे कि यहाँ वृद्धाश्रम नहीं स्थापित होने जा रहा। हाँ, जो जीवन की मध्यावस्था में हैं, कुछ कर गुजरने की उत्कंठा उनमें है, राष्ट्र, संस्कृति के लिए खपने की कशिश जिनके अंदर है, उन्हें अब अपने उत्तरकाल के लिए अपनी प्रतिभा के नियोजन हेतु इस अवसर को न गँवाने की सलाह जरूर दी जाएगी। न यहाँ आकर्षक वेतनमान है, न रहने के लिए बड़े-बड़े बँगले, पर जो भी कुछ है वह मन को शांति, संतोष, उल्लास देने वाला तथा औसत भारतीय के जीवन में निर्वाह कर दिखाने वाला है। जिन्हें संग्रह-भोग-विलास, आज के अमीरी के साधनों की ललक हो, उनके लिए यह विश्वविद्यालय नहीं है। जो संस्कृति के लिए कुछ कर गुजरना चाहते हों, स्वयं भी अपने जीवन में जीकर ऋषिकालीन स्वर्णिम भारत का संस्करण दर्शाने की इच्छा रखते हों, उनका यहाँ स्वागत है। जहाँ डेढ़ सौ करोड़ रुपयों की राशि से निर्माण होने जा रहा हो, जिसकी व्यवस्था बनाए रखने में प्रतिवर्ष प्राय: उसकी पाँच से दस प्रतिशत राशि लगने की संभावना हो, फिर भी किसी प्रकार की फीस न ली जाने का फैसला लिया गया हो तो यही माना जाना चाहिए कि इसका संचालन ऋषिसत्ताओं के हाथ में है। वे ही सारी व्यवस्था बनाएँगे, पर संचालन तंत्र के आचरण-व्यवहार, किफायती जीवनशैली को सतत देखते रहेंगे। यह तभी संभव होगा जब मात्र कुलपति, उपकुलपति या संचालन मंडल ही नहीं, सभी विधाओं के प्रमुख व कार्य करने वाले शिक्षक, पढ़ने वाले छात्र ऋषिकालीन आश्रमों, नालंदा-तक्षशिला के गौरवमय अतीत को ध्यान में रखें। इतना विश्वास दिलाया जा रहा है कि जो भी कुछ होने जा रहा है, वह अपने आप में अद्भुत-विस्मयकारी एवं भारत को महानायक, विश्व का सिरमौर बनाने में प्रमुख भूमिका निभाने वाला दैवी पुरुषार्थ है। इसमें भागीदारी, समयदान, अंश या साधन किसी के लिए भी घाटे का सौदा नहीं होने जा रहा।

आज से सौ एक वर्ष पूर्व काँगड़ी गाँव में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी। आज वह शताब्दी वर्ष मनाकर अपने शीर्ष पर है। स्वामी श्रद्धानंद जी की मूलभूत स्थापना की आज क्या स्थिति है, क्या उनके स्वप्न पूरे हो सके, यह तर्क का विषय हो सकता है, पर पब्लिक स्कूल संस्कृति की भीड़ में एक लैंपपोस्ट के रूप में प्रकाश-वितरण करने वाले केंद्र के रूप में वह आज भी देखा जाता है। यह उत्तरांचल ही नहीं, पूरे राष्ट्र का गौरव है। यहाँ से निकले स्नातक-विद्यावाचस्पति हमें सारे विश्व में मिले हैं एवं वे सांस्कृतिक गौरव-गरिमा का यथासंभव विस्तार कर रहे हैं। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय आज किस स्थिति में है, इस विवाद में न पड़कर मूलभूत स्थापना के पुरुषार्थ को, लक्ष्य को एवं प्रतिकूलताओं-गुलामी के माहौल में एक स्वाभिमानी ऋषि महामना के त्याग व तप को कभी नहीं भुलाया जा सकता। काश इन दो संस्थाओं को वैसे उत्तराधिकारी भी मिले होते तो परंपरागत विश्वविद्यालयों की विकृतियाँ इनमें न आतीं। हमारा कार्य तो इन दो मूलभूत विश्वविद्यालयरूपी स्थापनाओं को आगे बढ़ाना, आगे इनसे सहयोग करके इन्हें भी गति देने का है। काशी विद्यापीठ एवं प्रेम महाविद्यालय ने अपने जमाने में भारत के लिए मर-मिटने वाले राष्ट्रभक्तों के निर्माण का दायित्व खूब सँभाला था। यदि शिक्षण संस्था प्राणवानों-जाग्रत् जीवनदानियों के द्वारा चलती है एवं साथ-ही-साथ उत्तराधिकारियों के निर्माण का कार्य भी चलता रहता है, तो कहीं-कोई अड़चन उसके कई शतकों तक चलने में आनी नहीं चाहिए। इसीलिए परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने भवनों के निर्माण से अधिक छोटे-मध्यम वर्ग के, किंतु भावनासंपन्न समयदानी-जीवनदानी कार्यकर्त्ताओं के मनों को बनाने पर सर्वाधिक ध्यान दिया। यदि यह कार्य अनवरत चलता रहे तो संस्थाएँ चलती रहती हैं एवं आगे बढ़ती रहती हैं।

यहाँ हमें परमपूज्य गुरुदेव द्वारा दिए गए उद्बोधन (१ जून १९८०) से कुछ उद्धृत करने का मन है। यह उद्बोधन गायत्री विद्यापीठ गुरुकुल के शुभारंभ-अवसर पर उद्घाटन समारोह में बालकों, शिक्षकों के संस्कार से पूर्व दिया गया था। पूज्यवर कहते हैं, ''**भारतीय संस्कृति**

का शिक्षण करने वाला एक विश्वविद्यालय स्तर का तंत्र हम खड़ा करेंगे। कब करेंगे ? आप देखिएगा, हम हों न हों, पर बीज बो रहे हैं। हमारे उत्तराधिकारी आने वाले दस-पंद्रह वर्षों में यह समग्र तंत्र तैयार कर देंगे। आपको इस संबंध में आशावादी होना चाहिए।'' आगे वे कहते हैं, ''आज हमें आई.ए.एस. की नहीं समाज को सुधारने वाले लोकसेवियों की जरूरत है। समाज को शानदार मनुष्यों की जरूरत है। स्वस्थ चिंतन करने वाले युवा रक्त की जरूरत है। इसीलिए स्कूलों-कॉलेजों की शिक्षण पद्धति में व्यापक क्रांति पैदा करने के लिए यहीं से वातावरण बनाते हैं।'' (गुरुवर की धरोहर-भाग २, पृष्ठ ८०)

परिजन ध्यान दें। पूज्यवर के इस उद्बोधन में हममें से अधिकांश थे, पर कभी सोचा भी न था कि उनका बोला ब्रह्मवाक्य इस तरह साकार होता चला जाएगा। जिन्हें विश्वास था, वे प्रतीक्षारत थे। जो काम की धकापेल में भूल गए थे, उन्हें ऋषिचेतना ने प्रेरित किया, उलाहना दिया, बेचैन कर दिया और अंततः इस निर्माण का एक ढाँचा थोड़ा विलंब से ही सही (पूज्यवर ने दस-पंद्रह वर्ष कहा था) आँवलखेड़ा की पूर्णाहुति १९९५ के बाद बना, लगभग तीस एकड़ भूमि क्रय की गई एवं फिर १९९९ में उन प्राणवान परिजनों के मध्य, संतों की उपस्थिति में भूमिपूजन (२३ मई) हुआ। निर्माण आरंभ हुआ और क्रमशः एक महाविद्यालय सन् २००१ में आरंभ कर दिया गया। सन् २००२ के आते-आते दिसंबर के मध्य में एक अध्यादेश द्वारा उत्तरांचल सरकार ने इसे डीम्ड यूनिवर्सिटी का पद दे दिया। निर्माण अभी भी चालू है। प्रायः पंद्रह करोड़ रुपये खरच हो चुके, अभी इससे दस गुना होना है। दो वर्षों में यह क्रमशः पूरा हो जाएगा। सारे भारत व विश्वभर के प्राणवानों-विद्वत्जनों, भावनाशीलों पर दृष्टि डाली जा रही है कि इस शुभारंभ के लिए कहाँ से व्यक्ति, कार्यकर्त्ता आएँगे। जीवन विद्या का प्रशिक्षण देना, संस्कृति के विज्ञानसम्मत पुनर्जीवन, शोध-अध्ययन का ढाँचा खड़ा करना कोई आसान कार्य नहीं। आज जब चिंतकों-मनीषियों, भावनाशील समर्पितों का अभाव चारों ओर दिखाई देता है, हमें ऋषिसत्ता पर विश्वास है। निश्चित ही प्रगतिशील चिंतन करने वाले दूरदर्शी इस आपत्तिकाल में कहीं-न-कहीं होंगे। वे आएँगे और गुरुकुल विद्यापीठ को एक आदर्श विद्यालय, इंटर कॉलेज, महाविद्यालय एवं हमारे अभी के महाविद्यालय को विश्वविद्यालय बनाने हेतु खप जाएँगे।

सारे भारत के चार हजार शक्तिपीठों, प्रज्ञासंस्थानों में से हमने लगभग पाँच सौ चिह्नित कर लिए हैं, जिन्हें महाविद्यालय के रूप में विकसित किया जाएगा व इस विश्वविद्यालय से संबद्ध किया जाएगा। संस्कार देने वाली अनौपचारिक, किंतु सर्वांगपूर्ण शोधप्रधान, पर स्वावलंबी बना देने वाली, मात्र डिग्रीधारी नहीं, शिक्षण प्रक्रिया भी यहाँ से एक वर्ष में आरंभ हो जाएगी। ब्राह्मणोचित जीवन जीने वालों को एक ही सलाह दी जा रही है कि बेटों को बैरिस्टर बनाने और लड़की को कुबेर के घर भेजने का नशा हलका कर लें और औसत नागरिक की तरह निर्वाह कर अपना जीवन धन्य बनाने, अपनी संतानों को भी यहीं इसी विश्वविद्यालय का स्नातक बनाने में गौरव अनुभव करें।

किसी के मन में यह संदेह हो कि कार्य तो आदर्श है, पर धन की पूर्ति बिना तो कार्य रुकेगा। यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आदर्शवाद को अपनाने वाले कभी घाटे में नहीं रहते। जिस प्रेरक शक्ति ने आज तक इस संस्था को पोषण दिया है, इसकी दैनंदिन आवश्यकता की पूर्ति की है, वही सत्ता श्रीमंतों को जगाएगी, उनसे अधिकाधिक अंशदान दिलवाएगी, उन्हें प्रेरित करेगी कि वे समय नहीं दे सकते तो अपनी समृद्धि का एक अंश युगधर्म निर्वाह हेतु दें। लाखों भावनाशील परिजन अभी से अपनी कमाई का एक दिन का हिस्सा इस पुण्य प्रयोजन के लिए निकालने में लग गए हैं। प्रसन्नता का विषय है कि आयकर विभाग के प्रमुख तंत्र ने इस निमित्त दिए गए अनुदान पर सौ प्रतिशत छूट देने पर विचार किया है एवं पूरी संभावना है कि यह सारी प्रक्रिया अगला अंक आने तक पूरी हो जाए। गुरुवर कहा करते थे कि आसमान फाड़कर भी हम अच्छे कार्य के लिए धन बरसाएँगे, तो निश्चित ही वह कार्य होकर रहेगा। किसी को भी इसमें संदेह नहीं करना चाहिए।

युग संगीत अब बंगाली भाषा में भी उपलब्ध है। सभी परिजन इसे बँगला भाषी परिजनों तक पहुँचाने का प्रयास करें। कैसेट्स शांतिकुंज एवं विस्तार पटल पर उपलब्ध हैं।

(१) अंतः के स्वर (भक्ति गीत) (२) अर्घ (गुरुदेव के प्रति) (३) आवाहन (प्रेरणा गीत)

शांतिकुंज, हरिद्वार

युगसंधि की पुनीत वेला में आपाद् धर्म से मुँह न मोड़कर, ऐसे विशेष समय को, जब देवता भी मनुष्यों से याचना करते हैं, पहचानकर सौभाग्यशाली आएँगे एवं युग के नवनिर्माण हेतु की जा रही इस स्थापना के नींव के पत्थर बनेंगे, यही आशा-अपेक्षा है। *

रुद्राभिषेक

रुद्र का अभिषेक आओ ! फिर करें।
मुंडमाला में समर्पित सिर करें॥

सिरफिरों के सिर उतारे जा रहे अब।
उन्हें काटे और छाँटे जा रहे अब।।
हम सिपाही विचारों की क्रांति के।
श्रेष्ठ चिंतन को, नुकीला शर करें॥

आज बौद्धिक क्रांति ही बस चाहिए।
सद्‌विचारों भरा तरकश चाहिए।।
चलो ! जनमानस जगाने के लिए।
प्रयासों में क्रांति का स्वर करें॥

अशिव से हैं ग्रसित व्यक्ति, समाज सब।
कर सकेंगे मुक्त अब तो सदा शिव।।
सप्तक्रांति का बजाकर अब बिगुल।
सृजन-सैनिक, तीव्र-क्रांति स्वर करें॥

हो सामाजिक क्रांति, नैतिक क्रांति से।
मुक्ति दुर्व्यसनों कुरूढि, भ्रांति से।।
सदाचारी, मोरचों पर आ डटें।
दुराचारी, गोल खुद विस्तर करें।।

तभी सार्थक हो कि शिव की साधना।
लोकमंगल-साध्य की आराधना।।
लोकमंगल के लिए शिव-साधना।
लोकसेवी समर्पित होकर करें॥

—मंगलविजय 'विजयवर्गीय'

शाश्वत की खोज अपने अंदर ही करें

'आनंद' अध्यात्म की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। जो व्यक्ति इसे प्राप्त कर लेता है, उसकी अवस्था आध्यात्मिक दृष्टि से काफी उच्च मानी जाती है। यों बहिरंग की प्रफुल्लता सर्वसामान्य में भी देखी जाती है, पर वह भौतिकता से जुड़ी होने के कारण अस्थिर होती और घटती-बढ़ती रहती है, लेकिन 'आनंद' आत्मिक होने के कारण चिरस्थायी होता और समस्वर बना रहता है।

आमतौर पर आनंद और उत्फुल्लता को एक माना जाता है, किंतु दोनों में जमीन-आसमान जितना अंतर है। जो भेद सूर्य और चंद्रमा के प्रकाश के मध्य है, लगभग वैसा ही फर्क इन दोनों के बीच माना जाना चाहिए। बाह्य वस्तुओं में हमें जहाँ-जहाँ, जब-जब सुख की अनुभूति होती है, वह वस्तुतः हमारे अंतस् के आनंद का ही प्रकाश है, क्योंकि बाहरी उपादानों में सुख कभी होता नहीं। जो होता है, वह मात्र दुःख है। यदि भौतिक पदार्थ आनंद के स्रोत रहे होते, तो जिस चीज से एक को प्रसन्नता मिलती है, दूसरे के लिए भी वह उत्फुल्लतादायक ही होनी चाहिए थी, पर दैनिक जीवन में जो अनुभव होते हैं, वह इसके ठीक विपरीत हैं। देखा जाता है कि जो सामग्री हमारे जीवन में सुख और शांति लाती है, दूसरे के लिए वही महान दुःख का कारण बन जाती है। जड़ पदार्थ यदि सचमुच ही प्रसन्नता के उद्गम होते, तो किसी के लिए भी वे विपन्नता के निमित्त नहीं बनते। यदि बनते हैं, तो निश्चय ही समझने में कोई भूल हुई है। इस भूल को समझकर और सुधारकर ही हम उस चिरंतन आनंद को प्राप्त कर सकते हैं।

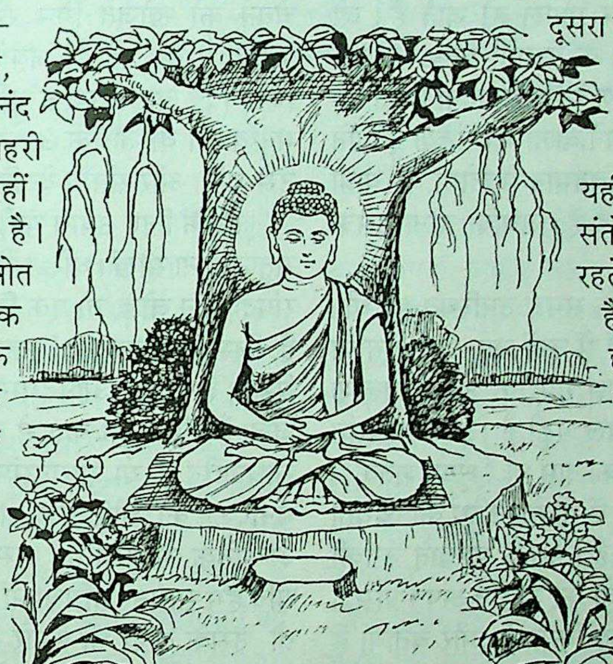

इस संसार में पदार्थ और चेतना दो प्रधान तत्त्व हैं। स्थूल जगत् में पदार्थ ही सर्वोपरि है, जबकि सूक्ष्म जगत् में आत्मा-परमात्मा से बढ़कर दूसरा कुछ भी नहीं। दोनों ही अपने-अपने प्रकार के सत्य हैं, पर यह संभव नहीं कि एक से संबंधित सत्य की उपलब्धि दूसरे में की जा सके, न यही शक्य है कि एक का सच दूसरे का पर्याय बने। द्रव्य का गुण आत्मा में ढूँढ़ना निरर्थक है और आत्मा का धर्म पदार्थ और संसार में तलाशना नासमझी। संसार में सौंदर्य भरा पड़ा है। कोई उसको निहारकर गद्‌गद होता रहता है, जबकि दूसरे को उसमें वैसा सुख नहीं मिल पाता। यदि सौंदर्य है, तो इसकी खोज करने वाले प्रत्येक अन्वेषक को इससे सुख मिलना चाहिए, किंतु ऐसा कहाँ होता है? जिस सौंदर्य से, भोग और विलासिता से हमें आनंद मिलता है, उसी से कोई 'बुद्ध' भाग खड़ा होता है, विरागी बन जाता है। यदि सौंदर्य सच्चा है, तो यह विरोधाभास नहीं दिखलाई पड़ना चाहिए। कोई नयनाभिराम सौंदर्य के बीच रहकर भी अतृप्त बना रहता है, जबकि दूसरा घोर नरक जैसी परिस्थितियों में भी स्वर्गीय सुख की प्रतीति करता है। आखिर ऐसा क्यों?

गहराई से विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि जिस शाश्वत संतोष की तलाश हम बाहर करते रहते हैं, वस्तुतः वह अंदर की वस्तु है। बाहर यदि उसकी अनुभूति होती है, तो वह भी भीतर का ही विस्तार है। जैसे-जैसे हम गहराई में प्रवेश करते चलते हैं, वैसे-वैसे इस तथ्य की अनुभूति और अधिक स्पष्ट होती जाती है। हम सुख को बाहरी वस्तुओं में ढूँढ़ना चाहते हैं। सुख वहाँ है नहीं, इसलिए दुःख भोगना पड़ता है। इतना जानते-समझते हुए भी व्यक्ति आज संसार में साधनों के पीछे शांति के लिए भागता फिर रहा है। कोई उसे किसी चीज में खोजने का प्रयास कर रहा है, तो दूसरा किसी अन्य में अन्वेषण कर रहा है। सभी प्रयत्नशील हैं, पर आज तक इनमें से कोई भी इस सनातन सुख को उपलब्ध कर पाने में सफल न हो सका। पत्नी सोचती है कि उसे पति के सान्निध्य में सुख मिलेगा और पति सोचता है कि वह इसे पत्नी से प्राप्त कर लेगा। माँ, बेटे में सुख ढूँढ़ रही है, जबकि बेटे को इसकी तलाश माँ में है। पिता पुत्र में, पुत्र पिता में, संसारी संसार में और वैरागी विराग में इसे अपने-अपने ढंग से खोज रहे हैं, किंतु उनकी अब तक

की यह खोजयात्रा पूरी न हो सकी है और न भविष्य में पूरी होने की संभावना है, क्योंकि जिन्हें हम सुख का स्रोत मान बैठे हैं, वे इसके उद्गम हैं नहीं।

आश्चर्य तो तब होता है, जब यह विदित होता है कि जिन्हें हम शांति का पुंज मानते और जिनमें हमें शांति की तलाश है, वे वास्तव में अशांत हैं और वे इसकी खोज कहीं अन्यत्र कर रहे हैं। शरीर उनका कुछ कर रहा है, मन कुछ और ढूँढ़ रहा है। शरीर कहीं है, मन कहीं और। वे अपने में होते नहीं। उनका संपूर्ण अस्तित्व वहाँ विद्यमान नहीं होता। इसलिए उनसे भेंट संपूर्ण रूप से होती नहीं। मिलन मात्र शरीर से हो पाता है, जो मन-प्राण के बिना अधूरा है। जो तृप्ति का अन्वेषण बाह्य विश्व में करते रहते हैं, उनकी सत्ता हर वक्त अधूरी बनी रहती है। ऐसे लोगों को थोड़ी भी ठोकर लगती है, तो एकदम असंतुलित होकर गिर पड़ते हैं और फिर गिरते ही चलते हैं। गिरने पर या तो आत्महत्या कर लेते हैं या फिर पागल हो जाते हैं। जो तनिक बुद्धिमान हैं, वे नाममात्र के विरागी बनकर इधर-उधर भटकने लगते हैं। यही कारण है कि इन दिनों विक्षिप्तों, अर्द्धविक्षिप्तों और वैरागी कहे जाने वालों की संख्या द्रुतगति से बढ़ती जा रही है, कारण कि वर्तमान में लोगों की यात्रा भीतर से बाहर की ओर हो गई है, जबकि होना इसके विपरीत चाहिए था।

कभी यही स्थिति भर्तृहरि के समक्ष उपस्थित हुई थी। जब संसार की विषय वासनाओं में उन्हें बार-बार अतृप्ति और अशांति मिली, तो वे समझ गए कि उनकी तलाश गलत दिशा में, गलत ढंग से चल पड़ी है। इसके उपरांत उन्होंने एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम था, 'शृंगार शतक'। इस पुस्तक में उन्होंने बाह्य जगत् में सुखोपलब्धि की व्यर्थता का विस्तार से उल्लेख किया है। इसके पश्चात् उनकी अंतर्यात्रा शुरू हुई। इसके अनुभवों को उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'वैराग्य शतक' में लिपिबद्ध किया है और बताया है कि स्थिर आनंद की उपलब्धि आंतरिक एवं आत्मिक है।

मिलता-जुलता भाव प्रकट करते हुए मूर्द्धन्य मनीषी जुंग ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्न मैन इन सर्च ऑफ ए सोल' में कहा है कि आरंभ में मनुष्य संबंधी मान्यता यह थी कि वह मात्र एक शरीर है और यह संसार उसके उपभोग के निमित्त है। ऐसी स्थिति में वह तुष्टि का संधान साधन-सामग्रियों में करता था और उसी के अधिकाधिक भोग में लिप्त रहता था। अब जबकि शरीर के अंदर आत्मा की उपस्थिति को विज्ञान ने करीब-करीब स्वीकार लिया है, तो संभव है उसकी उपलब्धि से संपूर्ण और शाश्वत सुख की उपलब्धि हो जाए और मनुष्य को पहले की तरह भटकना न पड़े। इसीलिए वे सलाह देते हुए कहते हैं कि यदि सचमुच में आदमी के अंदर वैसा कोई अद्भुत तत्त्व है, जिसकी प्राप्ति ही चरम प्राप्ति हो और जिसके उपलब्ध हो जाने से सब कुछ उपलब्ध हो जाता हो, तो मनुष्य को उसी परमतत्त्व की शोध में जुट जाना चाहिए।

'स्प्रिचुअल क्राइसिस ऑफ मैन' नामक ग्रंथ में विख्यात विचारक पाल ब्रंटन लिखते हैं कि अध्यात्म की खोज वस्तुत: अपने ही अंदर की खोज है, जबकि संसार जड़ पदार्थों के अनुसंधान की यात्रा है। विज्ञान जड़युक्त है। अध्यात्म चेतनामय है। जड़ से जड़ की ही शोध की जानी चाहिए। उससे जो कुछ हस्तगत होगा, वह जड़वत् होगा, जबकि आनंद दिव्य चेतनात्मक स्थिति है। यह आत्मा का स्वाभाविक गुण है। आत्मा चैतन्य है, अस्तु उसे उपलब्ध कर ही उस अवस्था में प्रतिष्ठित हुआ जा सकता है, जिसे अध्यात्म में 'सच्चिदानंद' कहकर निरूपित किया गया है। वे लिखते हैं कि इन दिनों भूल यह हो रही है कि जड़ में चेतन को खोजते फिर रहे हैं। परा प्रकृति को अपरा प्रकृति में ढूँढ़ रहे हैं, जबकि दोनों दो पृथक् विज्ञान हैं। जिस दिन यह निरर्थक प्रक्रिया बंद होगी, उसी दिन से मनुष्य की वास्तविक आध्यात्मिक यात्रा शुरू होगी। फिर उसे शांति और संतोष के लिए बाहर भटकना नहीं पड़ेगा।

इसके लिए उपाय यही है कि हम उपलब्ध साधनों में संतुष्ट रहना सीखें। धीरे-धीरे संतोष को बढ़ाएँ, उसे साधन-संपदा से न जोड़ें, तो एक दिन उस अवस्था में पहुँच सकते हैं, जिसको 'सहजानंद' कहा गया है। यह उच्च आध्यात्मिक स्थिति है। इसमें आनंदमग्न रहना सहज स्वभाव-सा बन जाता है। फिर इस बात से कोई फरक नहीं पड़ता कि हम साधनहीन हैं या साधनसंपन्न। सच तो यह है कि उक्त मनोदशा का भौतिकता से कोई संबंध नहीं। यह एक अभौतिक अवस्था है। अस्तु, प्राप्तव्य है। इसके विपरीत यदि हम साधन-सुविधाओं से सुख-संतोष को जुड़ा मानें, तो उसके दु:ख भी हमारे साथ संलग्न होते चले जाएँगे। यह बहुत ही कष्टकारक होगा। इसलिए विवेकवान् लोग सुख को सुविधाओं से नहीं संयुक्त करते, क्योंकि वे जानते हैं कि यह पंचभौतिक जगत् नश्वर है। जो संसार नश्वर है और जहाँ की समस्त वस्तुएँ नाशवान् हैं, उनसे प्राप्त सुख शाश्वत कैसे हो सकता है। अतएव तत्त्ववेत्ताओं ने प्रेम की वस्तु परमात्मा को बतलाया है। हमारी आत्मा उसी की अंशधर है। आत्मपरिष्कार द्वारा आत्मा और परमात्मा को उपलब्ध करना एवं उनका मिलन करना अध्यात्म का उद्देश्य है। सर्वोच्च शांति और परमानंद उसी अवस्था में प्राप्त किया जा सकता है। इसी निमित्त हम सबका प्रयत्न होना चाहिए।

❑

अंतर्यात्रा का ज्ञान-विज्ञान

योग साधकों के लिए सबसे पहले साधना के प्रवेश-द्वार की पहचान जरूरी है, क्योंकि यही वह महत्त्वपूर्ण स्थल है, जहाँ से योग साधना की अंतर्यात्रा शुरू होती है। महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में इसी के बारे में गूढ़ संकेत दिए हैं। इस प्रथम सूत्र में उन्होंने योग-साधना की पूर्व तैयारियों, साधना में प्रवेश के लिए आवश्यक आवश्यकताओं एवं अनिवार्यताओं का ब्योरा सूत्रबद्ध किया है। समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद एवं कैवल्यपाद तथा १९५ सूत्रों वाले योगदर्शन की आधारशिला यही पहला सूत्र है।

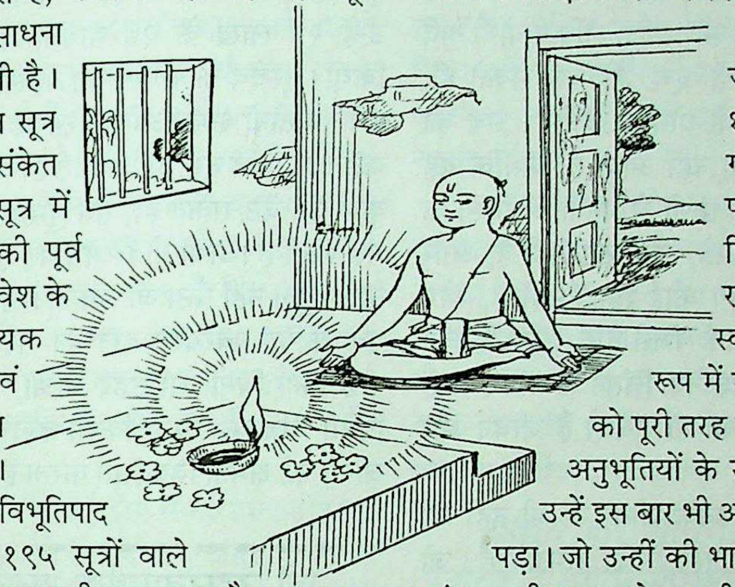

'अथ योगानुशासनम्' यानि कि अब योग का अनुशासन। योग सूत्रकार महर्षि के एक-एक शब्द को ठीक से समझना जरूरी है, क्योंकि महावैज्ञानिक पतंजलि एक भी शब्द का निरर्थक प्रयोग नहीं करते। इस सूत्र में पहला शब्द है, अथ। योग सूत्र की ही भाँति अथ शब्द ब्रह्मसूत्र में भी आया है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यही पहला सूत्र है महर्षि बादरायण व्यास का। इसमें से अथ शब्द की व्याख्या में आचार्य शंकर एवं आचार्य रामानुज ने सुदीर्घ व्याख्याएँ की हैं। अपनी भारी मत-भिन्नता के बावजूद दोनों आचार्य अथ के महत्त्व के बारे में एकमत हैं। जिन्हें सचमुच ही साधना में प्रवेश करना है, उन्हें अच्छी तरह से जान लेना चाहिए कि अथ को समझकर साधक का जीवन अर्थवान बनता है। बिना अथ को समझे वह पूरी तरह से अर्थहीन रह जाता है।

'अथ'—यानि कि 'अब'। अब साधक के जीवन में वह पुण्य क्षण है जब उसके हृदय में उठने वाली योग-साधना के लिए सच्ची चाहत अपने चरम को छूने लगी। उसकी अभीप्सा की ज्वालाओं का तेज तीव्रतम हो गया। उसकी पात्रता की परिपक्वता हर कसौटी पर खरी साबित हो चुकी। उसका शिष्यत्व पूरी तरह से जाग उठा। उसकी पुकार में वह तीव्रता और त्वरा आ गई कि सद्गुरु उससे मिलने के लिए विकल- बेचैन हो उठे।

परमपूज्य गुरुदेव के जीवन में 'अथ' का पुण्य क्षण १५ वर्ष की आयु में ही आ गया। वह पात्रता और पवित्रता की हर कसौटी पर पिछले जन्मों से खरे थे। श्री रामकृष्ण परमहंस, समर्थ स्वामी रामदास, संत कबीर के रूप में उन्होंने योगसाधना के सत्य को पूरी तरह जिया था। अपने जीवन को अनुभूतियों के रस में डुबोया था, फिर भी उन्हें इस बार भी अपनी पात्रता को सिद्ध करना पड़ा। जो उन्हीं की भाषा में 'पिसे को पीसा जाना था'। उनकी जाग्रत् चेतना की पुकार इतनी तीव्र हो उठी कि उनके सद्गुरु हिमालय के गुह्य क्षेत्र से भागे चले आए।

उन्होंने इस सत्य को बताते हुए अपनी आत्मकथा 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखा, ''हमें गुरु के लिए भागदौड़ नहीं करनी पड़ी। हमारे गुरुदेव तो स्वयं ही हम तक दौड़े चले आए।'' यह है महर्षि पतंजलि के योग सूत्र के प्रथम सूत्र के प्रथम शब्द को समझ लेने का चमत्कार। 'अथ' के रहस्य को जान लेने की अनुभूति। इसके प्रयोग को सिद्ध कर लेने का सच। गुरुदेव ने जगह-जगह पर अपने साहित्य में लिखा है, स्थान-स्थान पर अपने प्रवचनों में कहा है कि हमारी मंशा अपने गुरु की जेब काटने की नहीं थी। हम तो उन्हें अपना शिष्यत्व समर्पित करना चाहते थे। हमारे अंदर तो एक ही ख्वाहिश, एक ही अरमान था, सच्चा शिष्य बनने का। बस हम तो अपने गुरु के हो जाना चाहते थे। अपनी तो बस एक ही चाहत थी, बस एक ही नाता रहे, एक ही रिश्ता बचे—गुरु और शिष्य का।

जीवन यदि भ्रांतियों से उबर सका, यदि साधक आशा रहित हो सका। यदि देह के स्थान पर आत्मा की प्यास जग सकी। यदि वह हो सका, जिसे पश्चिम के मेधासंपन्न दार्शनिक कीर्केगार्द ने तीव्र व्यथा कहा है। यदि सारे सपने

विलीन हो चुके हैं, नींद भलीप्रकार टूट चुकी है और यदि ऐसा क्षण आ गया है तो पतंजलि कहते हैं, ''अब योग का अनुशासन, केवल अब, तुम योग के विज्ञान को, योग के अनुशासन को समझ सकते हो।''

यदि ऐसा क्षण नहीं आया, तो किए चले जाओ योगशास्त्रों का अध्ययन, बन जाओ महाविद्यालय, विश्वविद्यालय में प्रोफेसर, लच्छेदार प्रवचन देकर उठाते रहो सुनने वालों की तालियों का आनंद, लेकिन योगी नहीं बन सकते। योगशास्त्र पर पी-एच. डी. कर सकते हो, करा सकते हो, लेकिन कभी योगी न बनोगे। अथ का पुण्य क्षण अभी तुम्हारे लिए नहीं आया है, क्योंकि यह रुचि बौद्धिक है, साधक के प्राणों से पनपी अभीप्सा के उजाले से कोसों दूर। ध्यान रहे, योग कुछ नहीं है, अगर यह अनुशासन नहीं है। योग कोई शास्त्र नहीं है, योग अनुशासन है। यह कुछ ऐसा है, जिसे तुम्हें करना है। यह कोई जिज्ञासा नहीं है, यह दार्शनिक चिंतन भी नहीं है। यह इन सबसे कहीं गहरा है। यह तो सवाल है जीवन और मरण का।

'अथ' का पुण्य क्षण उनके जीवन में भी नहीं आ सकता, जो योग को सत्य नहीं सिद्धि समझते हैं। जो सोचते हैं कि लौकिक न पा सके, तो अलौकिक पा लो या फिर लौकिक वैभव तो बटोरा ही, अब अलौकिक भी बटोर लो। ध्यान रहे चमत्कारों की चाहत रखने वाले, चमत्कारी बनने की महत्त्वाकांक्षाओं को सँजोने वाले बाजीगर तो बन सकते हैं, परंतु अथ का पुण्य पल तो तभी आता है, जब यह अच्छी तरह से महसूस होने लगता है कि सारी दिशाएँ अस्त-व्यस्त हो गई हैं, सारी राहें खो गई हैं, भविष्य की कल्पनाएँ, जल्पनाएँ अब नहीं बचीं। इच्छाओं, आशाओं और सपनों की सारी गतियाँ समाप्त हो चुकी हैं, अब योग का अनुशासन और यदि 'अब' नहीं आया तो योग के कितने भी रहस्य लिखे जाएँ, लेकिन वे पढ़कर भी समझे न जा सकेंगे। 'अथ' का एक ही मतलब है, सच्चा शिष्यत्व, खरी पात्रता।

साधक के जीवन में यदि वह 'अथ' आ चुका है, तो उसे योग का अनुसाशन बताने वाला सद्गुरु भी मिलेगा। अध्यात्म जगत् का यह वैज्ञानिक सत्य है, सौ फीसदी खरा और परखा हुआ सच है कि जिसमें शिष्यत्व ने जन्म ले लिया है, उसे सद्गुरु मिले बिना नहीं रहेंगे और शिष्यत्व को अर्जित किए बिना यदि सद्गुरु मिल भी गए, तो भी कोई लाभ होने वाला नहीं है। बंजर भूमि पर डाले गए बीज बेकार चले जाते हैं, कोई समझदार बीजों को बंजर भूमि पर डालता भी नहीं है। साधक की अंतर्भूमि उर्वर है, अंतर्चेतना ग्रहणशील एवं उपजाऊ बन चुकी है, तो उसमें योग के बीज बोने वाले सद्गुरु अपने आप ही आ जाते हैं। वह आते हैं, शिष्य को योग का अनुशासन देने के लिए।

अनुशासन का मतलब है, होने की क्षमता, जानने की क्षमता, सीखने की क्षमता। परमपूज्य गुरुदेव की इन तीनों क्षमताओं को परखकर ही उनके हिमालयवासी सद्गुरु ने उन्हें २४ लाख के २४ गायत्री महापुरश्चरणों में प्रवृत्त किया। गुरुदेव के जीवन का पहला सच समझने के लिए हमें इन तीनों क्षमताओं का रहस्य जानना होगा। पतंजलि कहते हैं, यदि तुम अपना शरीर हिलाए बिना मौन रहकर कुछ घंटे बैठ सकते हो, तब तुम्हारे भीतर होने की क्षमता बढ़ जाती है। अभी तो स्थिति यह है कि एक घंटे भी बिना हिले-डुले नहीं बैठा जा सकता। अभी तो समूचा अस्तित्व एक कंपित ज्वरग्रस्त हलचल भर है। होने का अर्थ है, कुछ किए बिना बस ठहर जाओ, बिना कुछ किए, बिना किसी गति के, बिना किसी हलचल के। यह होना ही जानने की क्षमता विकसित करता है।

जो उदारतापूर्वक सबके हित की बात सोचता है, वही मनुष्य श्रेय का अधिकारी हो सकता है।

पंद्रह वर्ष की किशोरवय में प्रतिदिन छह घंटे एक आसन पर बैठकर नियमित गायत्री जप गुरुदेव के इसी 'होने' की क्षमता का परिचायक था। जानने की क्षमता तब आती है, जब मन अगतिमान होता है। साधक जब केंद्रस्थ होता है, तभी वह जान सकता है। अभी तो सामान्य मनोदशा एक भीड़ की है और इसी कारण गुरजिएफ ने कहा कि सामान्य व्यक्ति वादा नहीं कर सकता, संकल्प नहीं कर सकता, क्योंकि यह सब तो साधकों के गुण हैं, शिष्यत्व के लक्षण हैं।

गुरजिएफ के पास लोग आते और कहते, अब मैं व्रत लूँगा। उसके शिष्य औस्पेन्सकी ने लिखा है कि वह जोर से हँसता और कहता, ''इससे पहले कि तुम कोई प्रतिज्ञा लो, दो बार फिर सोच लो। क्या तुम्हें पूरा विश्वास है कि जिसने वादा किया है, वह अगले क्षण भी बना रहेगा? तुम कल से सुबह तीन बजे उठने का निर्णय कर लेते हो और तीन बजे तुम्हारे भीतर कोई कहता है, झंझट मत लो। बाहर इतनी सरदी पड़ रही है और ऐसी जल्दी भी क्या है? मैं यह कल भी कर सकता हूँ और तुम फिर सो जाते हो।

दूसरे दिन सारे पछतावे के बावजूद यही स्थिति फिर से दुहराई जाती है, क्योंकि जिसने प्रतिज्ञा की, वह सुबह तीन बजे वहाँ होता ही नहीं, उसकी जगह कोई दूसरा ही आ बैठता है। अनुशासन का मतलब है, भीड़ की इस अराजक अव्यवस्था को समाप्त कर केंद्रीयकरण की लयबद्धता उत्पन्न करना और तभी जानने की क्षमता आती है।

संकल्पवान ही आत्मतत्त्व को जान पाते हैं। गुरुदेव का समूचा जीवन इसी संकल्प का पर्याय था। उनके समूचे जीवन में अंतर्चेतना में अविराम लयबद्धता थी। तभी उनके गुरु ने उन्हें जो अनुशासन दिया, वह बड़ी प्रसन्नतापूर्वक पालन करते रहे। अनुशासन से मिलता-जुलता अँगरेजी का शब्द है, डिसिप्लिन। यह डिसिप्लिन शब्द बड़ा सुंदर है। यह उसी जड़, उसी उद्‌गम से आया है, जहाँ से 'डिसाइपल' शब्द आया है। इससे यही प्रकट होता है कि अनुशासन शिष्य का सहज धर्म है। केंद्रस्थ, लयबद्ध, संकल्पवान व्यक्ति ही गुरु के दिए गए अनुशासन को स्वीकार, शिरोधार्य कर सकता है। ऐसे ही व्यक्ति के अंदर विकसित होती है, जानने की क्षमता।

सत्य और तत्त्व से अनभिज्ञ लोग संकल्पवान होने का मतलब हठी होना समझ लेते हैं, पर नहीं, अंतस् में केंद्रित होने के साथ आवश्यक है विनम्रता, ग्रहणशीलता और सद्‌गुरु की चेतना की ओर खुला होना। जो तैयार है, सचेत है, प्रतीक्षारत और प्रार्थनामय है, उसी में सीखने की क्षमता आती है। यह सीखना गुरु के सान्निध्य में होता है। सद्‌गुरु के हृदय में जल रही सत्य की ज्योति के संस्पर्श से ही शिष्य के हृदय की ज्योति जलती है। यही है सत्संग का मतलब। वैसे तो सत्संग बहुप्रचलित शब्द है, लेकिन अर्थ कम लोगों को मालूम है। इस शब्द का प्रयोग प्रायः गलत ही किया जाता है।

सत्संग का मतलब है—सत्य का गहरा सान्निध्य। इसका अर्थ है, सत्य के पास होना, उन सद्‌गुरु के अनुशासन में रहना, जो सत्य से एकात्म हैं। बस सद्‌गुरु के निकट बने रहना, खुले हुए, ग्रहणशील और प्रतीक्षारत। यदि साधक की यह प्रतीक्षा गहरी और सघन हो जाती है, तब एक गहन आत्ममिलन घटित होता है। इसके लिए जरूरी नहीं है कि सदा ही गुरु से शारीरिक निकटता हो। परमपूज्य गुरुदेव के शब्दों में, उन्हें जीवन भर में सिर्फ तीन बार अपनी गुरुसत्ता से मिलने का सौभाग्य मिला, पर आत्म-मिलन अबाध, अविराम और सतत था। दरअसल गुरु के बताए गए अनुशासनों में उनकी चेतना तरंगित होती है। इन्हें स्वीकारने और अपनाने का अर्थ है, उनकी चेतना को स्वीकारना और अपनाना। 'अथ' के घटित होते ही, शिष्यत्व के प्रकट होते ही साधक को एक अलग ही भाषा समझ में आने लगती है। तब शारीरिक निकटता भी जरूरी नहीं है, क्योंकि नई भाषा है ही गैर शारीरिक। तब दूरी से फरक नहीं पड़ता, शिष्य एवं गुरु का संपर्क बना रहता है। केवल स्थान की दूरी ही नहीं समय से भी कोई अंतर नहीं पड़ता। गुरु का शरीर न रहे, लेकिन शिष्य का संपर्क तब भी बना रहता है। भौतिक शरीर को त्यागने के बावजूद भी गुरु-शिष्य बड़े मजे से मिलते रहते हैं। बिना किसी बाधा या व्यवधान के उनमें भावों एवं विचारों का आदान-प्रदान चलता रहता है।

यह चमत्कार है योग के अनुशासन का। गुरु द्वारा दिए गए व्रतबंध को श्रद्धापूर्वक स्वीकारने से शिष्य के जीवन में अनेकों चमत्कार घटते हैं। परमपूज्य गुरुदेव का जीवन स्वयं ही इसका जीता-जागता प्रमाण रहा। कोई गुरु कभी भी अपने शिष्य से दूर नहीं होता। वह कभी मरता नहीं उनके लिए, जो श्रद्धासहित उसके अनुशासन को स्वीकार कर सकते हैं, वह उनकी मदद करता रहता है। वह हमेशा यहाँ ही होता है शिष्य के पास। उसका सच्चा वासस्थान तो अपने शिष्य का हृदय होता है। प्रेम, श्रद्धा एवं आस्था स्थान और समय दोनों को मिटा देती है। अनुशासन देने वाला गुरु और प्राणपण से गुरु के अनुशासन को मानने वाला शिष्य दोनों एकदम पास-पास होते हैं। उनमें सदा ही सत्संग चलता रहता है।

स्वार्थ की भावना से जो सेवा की जाती है, वह परोपकार नहीं प्रवंचना है।

'अथ योगानुशासनम्' के सूत्र का सार यही है, शिष्यत्व का जन्म और सद्‌गुरु की प्राप्ति। शिष्यत्व और सद्‌गुरु जब मिलते हैं, तभी योगसाधना का प्रारंभ होता है। अंतर्यात्रा का विज्ञान जन्म लेता है। अस्तित्व में अनूठे प्रयोग शुरू होते हैं। महर्षि पतंजलि के इस प्रथम सूत्र को जो नहीं समझ पाते, योगसाधना का प्रवेश द्वार उनके लिए कभी भी नहीं खुलता। परमपूज्य गुरुदेव के जीवन में भी यह द्वार इसी रीति से खुला था। 'अथ' शब्द की समझ ने और योग अनुशासन की स्वीकार्यता ने ही उन्हें महायोगी बनाया। अपने सुदीर्घ साधनामय जीवन का निष्कर्ष बताते हुए उन्होंने लिखा, "अध्यात्म एक उच्चस्तरीय विज्ञान है। इसके प्रयोगों के लिए हमें एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति सत्यान्वेषी

बनना होगा। अध्यात्म की भाषा में शिष्यत्व ही इसका पर्याय और कसौटी है।''

इन पंक्तियों को पढ़कर अपनी योगसाधना प्रारंभ करने वाले साधकों के लिए इस सूत्र की साधना के व्यावहारिक बिंदु निम्न हैं, (१) इस समझ को आत्मसात् करना कि योग सत्य की प्राप्ति है, सिद्धि की प्राप्ति नहीं। (२) 'अथ का पुण्य क्षण' लाने के लिए गुरुदेव को पुकारना, उनकी कृपा का आह्वान करना। (३) योग के प्राथमिक अनुशासन के रूप में किसी सुखप्रद आसन (सुखासन, पद्मासन आदि) पर देर तक बैठकर गायत्री महामंत्र को जपने का अभ्यास। (४) इस विवेक पथ का अनुशीलन करके भी यदि अभी तक हमें योग की अनुभूति नहीं हो सकी है, तो इसका एकमात्र कारण यह है कि अपनी पात्रता अभी परिपक्व नहीं है, इसे परिपक्व करने के प्रयास में प्राणपण से जुटना।

इस संबंध में और अधिक व्यावहारिक ज्ञान पाने के लिए शांतिकुंज पत्र लिखकर परामर्श किया जा सकता है अथवा फिर यहाँ नियमित रूप से संचालित होने वाले साधना सत्रों में भागीदारी करके अपनी जिज्ञासा का समाधान पाया जा सकता है, इस लेखमाला के भावी पृष्ठ भी जिज्ञासु साधकों के लिए समाधान सामग्री प्रस्तुत करते रहेंगे। योग अपने आप में क्या है, इसे अच्छी तरह से जान लेने पर इसकी सच्ची साधना सहज संभव है। महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र में योग का सत्य बताते हैं और परमपूज्य गुरुदेव इसे अपने जीवन के प्रयोग से सिद्ध करते हैं। योग क्या है? इसे अपने जीवन में गुरुदेव ने कैसे अनुभव किया? साधना के प्रवेशद्वार के पश्चात् साधक को पहली अनुभूति क्या होती है? इन सवालों का सटीक समाधान अखण्ड ज्योति के अगले अंकों में मिलेगा। इसे पढ़कर 'योग का स्वरूप बोध' होना निश्चित है। ❋

……

तीन पहाड़ थे पास ही पास। उनसे लगा हुआ लंबा गहरा खड्ड था। उसके कारण उस ओर किसी का आवागमन नहीं होने पाता था। एक बार देवता उधर से निकले, पहाड़ों से कहा, ''इस क्षेत्र का नामकरण करना है। तुम तीनों में से किसी के नाम पर नामकरण किया जाएगा। तुम तीनों अपनी एक-एक इच्छा पूरी करा सकते हो। एक वर्ष बाद जिसका जितना विकास होगा, उस आधार पर नामकरण किया जाएगा।''

पहले पहाड़ ने कहा, ''मैं सबसे ऊँचा हो जाऊँ, ताकि सबको दूर से दिखाई दूँ।'' दूसरे ने कहा, ''मुझे खूब हरा-भरा प्राकृतिक संपदा से भरा-पूरा बना दें, ताकि सब मेरी ओर आकर्षित हों।'' तीसरे पहाड़ ने कहा, ''मेरी ऊँचाई छीलकर इस खड्ड को समतल बना दें, ताकि यह सारा क्षेत्र उपजाऊ हो जाए और लोग यहाँ सुविधा से आ-जा सकें।'' देवता तीनों की व्यवस्था बनाकर चले गए।

एक वर्ष बाद परिणाम देखने देवता पुनः पहुँचे। पहला पहाड़ ऊँचा हो गया था, दूर से दिखता था, पर वहाँ कोई जाता नहीं था। हवा, सरदी, गरमी की मार सबसे अधिक उसे ही सहनी पड़ती थी।

दूसरा पहाड़ प्राकृतिक संपदा से भर गया था, पर बीहड़ इतना था कि किसी के जाने की हिम्मत न पड़ती थी। वन्यपशुओं का आतंक भी उससे खूब बढ़ गया था।

तीसरा पहाड़ खड्ड पाटने से समतल हो गया था। उस सारे क्षेत्र में फसलें उगाई जा रही थीं। खड्ड पट जाने से लोग वहाँ जाने लगे, बसने लगे। उपजाऊ भूमि का लाभ सबको मिलने लगा।

देवताओं ने उस क्षेत्र का नाम उसी तीसरे पहाड़ के नाम पर रखा, जिसने अपने निकटवर्ती क्षेत्र को भी उपयोगी बना दिया। लोगों के आने-जाने का मार्ग बना और उपजाऊ भी। इस प्रयास में उसने अपने अस्तित्व को ही दाँव पर लगा दिया। देवताओं ने कहा, ''इसी ने इस क्षेत्र को अपना बनाया है। यह क्षेत्र इसी के परिवार के रूप में विकसित हुआ है, इसी के नाम से जाना जाएगा।''

……

निर्वाण परम सुख

भगवान् बुद्ध ने उसकी ओर देखा। बड़ी पारदर्शी और करुणापूर्ण थी वह दृष्टि। उनके अलौकिक जीवन की ही भाँति उनकी दृष्टि भी अनोखी थी। यह ऐसी दृष्टि थी जो बाहर ही नहीं भीतर भी देखती थी। रूप और आकार को ही नहीं, स्वभाव एवं संस्कारों को भी निहारती थी। बड़े ही सौभाग्यशाली होते वे, जिन्हें प्रभु नजर भर देख लेते। आज उसके जीवन में सौभाग्य-सूर्य की किरणें झिलमिलाई थीं। प्रभु की करुणा उसे छू रही थी और वह धन्य हो रहा था।

बड़ी ही मुश्किल से मिले थे ये पल उसे। इन दिनों भगवान् बुद्ध आलवी नगर आए थे। उनके साथ पाँच सौ भिक्षु भी थे। प्रभु के साथ भिक्षुओं की उपस्थिति ऐसी थी, जैसे सूर्य के साथ किरणें होती हैं। ये किरणें चारों ओर सूर्य की प्रभा-प्रकाश बिखेरती हैं। इन्हें देखकर बरबस ही सूर्य की उपस्थिति का अहसास हो जाता है। प्रभु का भिक्षु संघ भी कुछ ऐसा ही था। भिक्षु संघ के सदस्यों से भगवान् की अलौकिक चेतना झरती, बहती और बिखरती थी। आलवी नगर में इस समय यही हो रहा था। भगवान् की उपस्थिति की सुगंध सब ओर फैल रही थी।

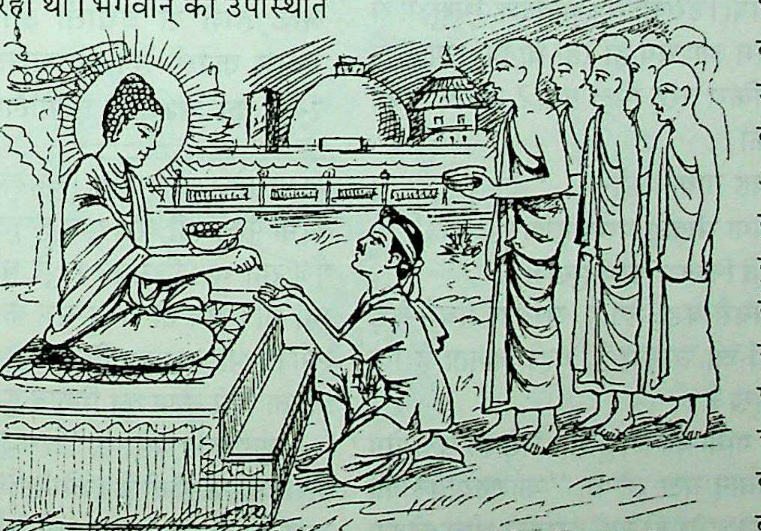

उसकी चेतना भी इस स्पर्श से अछूती न रही। भगवान् आए हैं, उसने भी सुना, जाना और अनुभव किया और तब मैं भी भगवान् के दर्शन करूँगा। ऐसा निश्चय उसके मन में उभरा। इस निश्चय ने उसे भारी खुशी दी। उसकी अंतर्चेतना खुशी की तरंगों से तरंगित होती रही। सुबह-सुबह उठकर भगवान् के वास-स्थान की ओर जाने के लिए उसने पहला पग बढ़ाया ही था, तभी उसे दिखाई दिया कि उसका एक बैल कहीं गायब है। अब क्या करे? पहले से ही वह गरीबी के दंश का दरद झेल रहा था। उसकी तरह गरीबी की मार सहने वाला शायद पूरे आलवी नगर में और कोई न था। बैल के भाग जाने से गरीबी का दरद अनायास ही असह्य एवं सघन हो गया।

व्यथित-पीड़ित वह बैल को खोजने के लिए चल पड़ा। गली, खेत, वन की भटकन से उसके पाँव दुःख आए। बैल को खोजते हुए बीच-बीच में वह सोचने लगता, क्या मेरे ही मन में कोई खोट है, जो प्रभु से नहीं मिल पा रहा हूँ। उसकी भटकन अब थकन बन गई थी। अब उससे रहा न गया, वह व्यथित मन से पुकार उठा, अंगुलिमाल का उद्धार करने वाले हे तथागत प्रभु, मुझे भी अपनी शरण में लो। उसकी पुकार इतनी गहरी और सघन थी कि उससे सूक्ष्म स्पंदित हो उठा। इसका सुखद परिणाम भी उसे कुछ ही पलों में दिखाई दिया। उसका बैल वन में एक ओर खड़ा घास चर रहा था। उसने भागकर उसकी रस्सी पकड़ी और घर की ओर लौट पड़ा।

अब तक दोपहर हो आई थी। उसने अभी तक कुछ खाया भी न था, पर भगवान् के दर्शन की खुशी ने उसकी भूख एवं थकान दोनों को ही हर लिया था। उसके हृदय में कृतज्ञता के अहोभाव थे। अंतर्यामी प्रभु सब कुछ सुनते हैं, सभी कुछ जानते हैं। भक्ति के उद्रेक से उसकी गति तीव्र हो गई। पल-क्षण पता नहीं चले, इनकी गणना भी कौन करे? वह तो बस भगवान् के समीप पहुँच गया। भीड़ से घिरे परम करुणावान् भगवान् बुद्ध ने उसके पहुँचते ही उसे अपने पास बुला लिया। बड़ी ही प्रीतिपूर्ण नजरों से उसकी ओर देखा। फिर अपने एक शिष्य महाकाश्यप की ओर इशारा करके कहा, भंते! इसके लिए यहीं भोजन ले आओ।

भगवान् के इन वचनों से सभी को भारी अचरज हुआ। न कोई बात, न चीत, बस सीधे भोजन। वह भी भोजनालय में नहीं, ठीक अपने सामने। सबके सब कुतूहल एवं आश्चर्य में थे, लेकिन प्रभु-अनुगत महाकाश्यप ने शीघ्र ही आज्ञापालन किया। उन्हें ज्ञात था कि भगवान् अकारण कुछ नहीं कहते, कुछ नहीं करते। भोजन की थाली से एक कौर तोड़कर प्रभु जब स्वयं उसको खिलाने लगे तो भिक्षु संघ का आश्चर्य शतगुणित हो गया। उसकी आँखों में तो आँसू आ गए। आँसू की इन गोल बूँदों में भक्ति का भूगोल उभर एवं छलक रहा था। उसे यह भी नहीं समझ में आया कि जिन प्रभु की सेवा उसे स्वयं करनी चाहिए, वह स्वयं उनकी सेवा कैसे स्वीकार करे?

असमंजस में उसने काफी न-नुकुर की। भगवान् उसके संकोच को जान गए। वह बोले—संकोच त्याग दो वत्स कौशल्यायन! इसे मेरी आज्ञा मानो या अनुरोध, प्रीतिपूर्वक भोजन करो। भगवान् ने हठपूर्वक उसे भोजन कराया। उसका समूचा अस्तित्व रोमांचित हो आया। जब से वह आया, तभी से चुप था। अभी भी वह कुछ न बोला। बस आनंदपूर्वक प्रभु के हाथों से कौर खाए। भोजन के उपरांत भगवान् ने कहा, अब तुम उस पास के पेड़ के नीचे बैठकर विश्राम करो। बुद्ध की इस बात को सुनकर वह चुपचाप उठा और जाकर पेड़ के नीचे बैठ गया। बैठते ही वह गहरी समाधि में खो गया। उसकी यह भावदशा भिक्षुओं से छुपी न रही। उन्हें परम आश्चर्य हो रहा था कि ध्यान का परम फल भोजन से किस तरह मिल गया? अंततः सबने भगवान् से जिज्ञासा की।

तब भगवान् ने यह गाथा कही—

जिघच्छा परमा रोगा संखारा परमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बानं परमं सुखं॥

भिक्षुओ, भूख सबसे बड़ा रोग है, संस्कार सबसे बड़े दुःख हैं। ऐसा यथार्थ जो जानता है, वही जानता है कि निर्वाण सबसे बड़ा सुख है।

भगवान् की इस गाथा को भिक्षु संघ बड़े ही मनोयोग से सुन रहा था। भगवान् बता रहे थे, "कौशल्यायन की भूख गहरी थी। उसका शरीर ही नहीं, उसकी जीवनचेतना भूखी थी। उसे अपने संस्कारों के गहरे दुःख का बोध था। मुझ तक पहुँचने तक उसकी वेदना ही जिज्ञासा बन गई थी और यही कारण है कि जब मैंने उसे अपने हाथों से भोजन कराया, तो उसे परम तृप्ति मिली। अकेली देह नहीं, समूचा अस्तित्व तृप्त हो गया। वेदना ज्ञान में रूपांतरित हो गई। दुःख का घना अँधेरा ज्ञान के उजाले में बदल गया और उसे पल में ही स्रोतापत्ति का फल मिल गया।"

"यह स्रोतापत्ति क्या है भगवन्?" महाकाश्यप पहली बार बोले।

"भदन्त! स्रोतापत्ति का अर्थ है—स्रोत में पड़ जाना और स्रोतापत्ति के फल का मतलब है, स्रोत में पड़ जाना ही नहीं स्रोत में विलीन हो जाना। बुद्धत्व ही जीवन का परम स्रोत है। भंते कौशल्यायन की जीवन-चेतना पहले तो तृप्ति की छुअन के साथ बुद्धत्व के परम स्रोत में पड़ी और अब तुम सब देखो वह गहरी समाधि में लीन है। यानि कि वह बुद्ध के परम स्रोत में विलीन हो गए हैं। उन्होंने अब जान लिया है, 'निब्बानं परमं सुखं' अर्थात् निर्वाण परम सुख है।"

भगवान् के इन वचनों के साथ ही सभी ने कौशल्यायन के मुख की ओर देखा। सचमुच ही उनके मुख पर निर्वाण का परमतेज छा गया था। चेहरे पर एक अनोखी-अलौकिक आभा फैल रही थी। एक अनूठा संगीत उनके अस्तित्व में गूँज रहा था। जिसकी मधुर धुन उत्तरोत्तर गहरी होती जा रही थी। अब तो भिक्षु संघ के प्राण भी इससे झंकृत होने लगे। सभी जान गए कि कौशल्यायन के अस्तित्व में आज पात्रता और कृपा का मिलन हुआ है।'

वनप्रदेश में भयंकर आँधी आने पर वे वृक्ष उखड़ जाते हैं, जो एकाकी खड़े होते हैं। इसके विपरीत घने उगे हुए पेड़ एक-दूसरे के साथ सटकर रहने के कारण उस दबाव को सहन कर लेते हैं। अंधड़ उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं पाते।

यह उदाहरण देते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा, "परस्पर स्नेह की सघनता मनुष्यों को इसी तरह नष्ट होने से बचाती और विकास का अवसर प्रदान करती है। संघारामों में सघन पारिवारिक स्नेह का अभ्यास इसीलिए कराया जाता है।"

बुद्ध कह रहे थे, "भिक्षुओ, पात्रता हो तभी कृपा असरकारक होती है। जो यह जान लेता है कि भूख सबसे बड़ा रोग है, संस्कार सबसे बड़े दुःख हैं, वही यह जानने में समर्थ होता है कि निर्वाण सबसे बड़ा सुख है।"

इस धम्मपद को सुनाकर भगवान् मौन में डूब गए। भिक्षु उनके वचनों को सुनकर गुनने लगे। उनमें से कई तो स्रोतापत्ति की ओर अंतर्गमन भी करने लगे। भगवान् तथागत की कृपादृष्टि एवं कृपावृष्टि का अहसास अनुभव में बदलने लगा। ❋

मातृत्व का सम्यक् बोध ही नवरात्रि का मूल

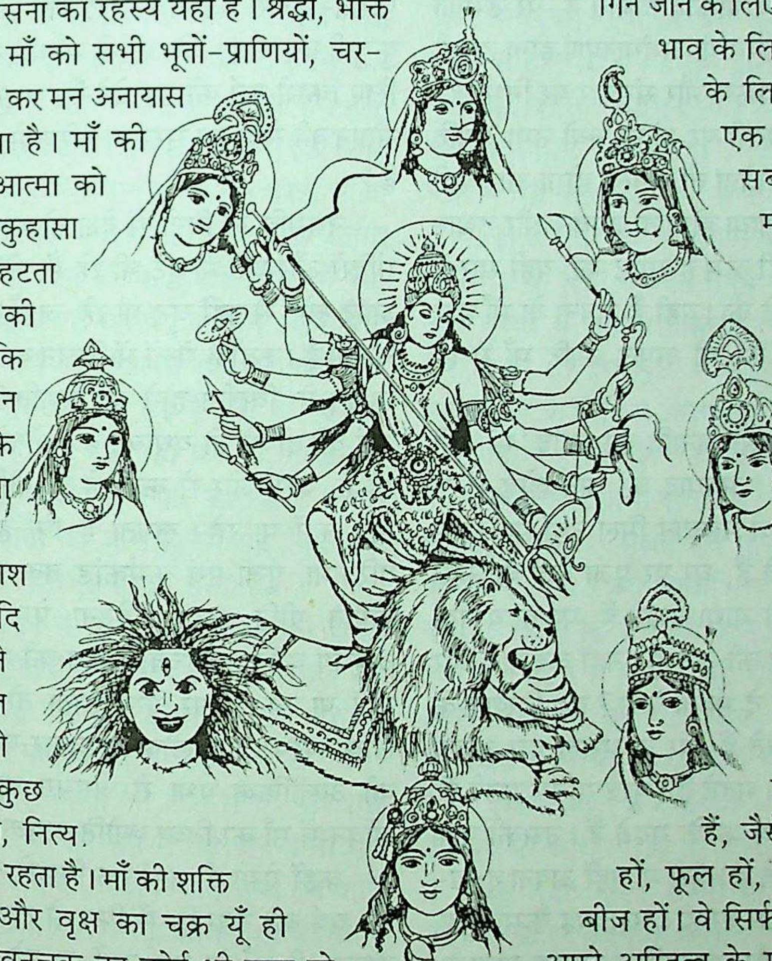

नवरात्रि के नौ दिनों में संपूर्ण देश मातृमय हो रहा है। हम सभी देशवासियों का मन अपने मूल में उतरने की कोशिश में है। मनुष्य अपने जन्म और जीवन के आदि को यदि सही ढंग से पहचान सके, उससे जुड़ सके तो उसके सारे पाप-ताप अनायास ही शांत हो जाते हैं। युगशक्ति जगन्माता गायत्री और उसके काली, दुर्गा, तारा आदि विविध रूपों की उपासना का रहस्य यही है। श्रद्धा, भक्ति एवं विश्वासरूपिणी माँ को सभी भूतों-प्राणियों, चर-अचर सभी में अनुभव कर मन अनायास पवित्रता से भर जाता है। माँ की उपासना से हमारी आत्मा को ढाँकने-ढाँपने वाला कुहासा कुछ-कुछ ही सही हटता है। नवरात्रि के पर्व की खासियत यही है कि समग्र भारतीय मन समेकित रूप में माँ के द्वार-दरबार पर आ खड़ा होता है।

सभी की कोशिश रहती है, अपने अनादि और आदि को देखने की, अपनी अनंत जीवनयात्रा को आगे बढ़ाने की। जिसमें कुछ भी पुराना नहीं होता, नित्य नया-नया घटित होता रहता है। माँ की शक्ति के प्रभाव से बीज और वृक्ष का चक्र यूँ ही चलता रहता है। जीवनचक्र का कोई भी सत्य हो, सबमें बीज अवधारणा में है। बीज का अंकुरण, उसका पौधा बनना, तना बनना, फूल बनना, फल बनना और फिर बीज बन जाना। समूचा वृक्ष फिर से बीज में समा जाता है। अपनी नई पूर्णता पाने के लिए। यही है चिर पुरातन, किंतु नित्य नूतन सृष्टि का सनातन क्रम। इस सबका मूल, अनादि और आदि है 'माँ'। मनुष्य के ही नहीं सृष्टि के अंतर्बाह्य में मातृत्व का वास है।

माँ को केंद्र में रखकर नवरात्रि के उत्सव का उल्लास छा जाता है। गली-गली में मेला जुड़ता है। इन मेलों का भी अपना एक खास कोमल मन होता है। मानव-मन में समाई भाव-संवेदना की अभिव्यक्ति होता है मेला और मिलन। हमारे देश के मनीषियों ने चेताया है कि अलग-अलग आयु, लिंग और योग्यता के लोग मेले में मिलते हैं तो वे गिने जाने के लिए नहीं, अपनी किसी तोल-भाव के लिए नहीं, अलग से पहचान के लिए नहीं, वे भाव रूप में एक होने के लिए होते हैं। सबकी अलग-अलग मनौतियाँ होती हैं, सब अलग-अलग आए होते हैं, लेकिन माँ के द्वार पर सबका मिलन-मेला महान् मांगल्यमय होता है। विषम होते हुए भी सब एक क्षण के लिए सम हो जाते हैं।

जगन्माता की श्रद्धा में डूबे, अपने अनुष्ठान-संकल्प साधना में निमग्न सब ऐसे होते हैं, जैसे वे एक ही वृक्ष के पत्ते हों, फूल हों, फल हों, फल में निहित बीज हों। वे सिर्फ पहचान पाना चाहते हैं, अपने अस्तित्व के मूल की पहचान। अपनी सबकी माँ की पहचान, जो सब कुछ देती है, सतत अविराम। जीवन भी उससे मिलता है, जीवनयापन के साधन की दात्री भी वही है। हम असंख्य इच्छाओं की पूर्ति की अछोर कल्पवल्ली हैं, लेकिन हमारी ये सभी इच्छाएँ माँ से जुड़कर ही पूर्ण होती हैं। जब हम अपने अंतर का सब कुछ माँ के चरणों में निछावर कर देते हैं और एक आंतरिक शून्यता की अनुभूति पाते हैं, तो माँ बरबस ही इस शून्यता में पूर्णता भर

देती है, क्योंकि शून्यता में ही पूर्णता भरती है और जब अनेक एक साथ मिलकर, मेला बनकर, माला की तरह गुँथकर, आंतरिक शून्यता को पाते हैं, जो जीवन की परम संभावना प्रकट होती है।

जीवन की समस्त संभावनाओं की कोख क्या है? जिस कोख में ये संभावनाएँ, इस प्रकार के भाव और प्रतीति पलती हैं और जहाँ से वह प्रसवित होती हैं, वह है मनुष्य के लिए जननी की कोख और सृष्टि के लिए धरती की कोख। इसमें फरक कोख का नहीं, क्रम का है, कर्म का है, ज्ञान का है। हमारी जननी का माँ होना ही हमारे लिए और सृष्टि के लिए विशिष्ट बात है। जन्म देना और जन्म लेना एक भौतिक एवं प्राकृतिक बात है, पर उसका अच्छा या बुरा होना, मंगलमय या अमंगलपूर्ण होना हमारी और प्रकृति की प्रवृत्ति, संकल्प और संस्कार पर निर्भर है। नारी जननी क्यों बनी? धरती पर अंकुर क्यों उगा? यदि वह ऊटपटांग ढंग से उगा होता तो जंगली होगा और यही किसी माली ने जतन से उगाया होगा तो उपवन और उद्यान की महक लिए होगा। यही क्रम है सृष्टि का, यही सार है मनुष्य के जन्मने और जीने का। यही है जननी के माँ होने का पुण्य प्रताप। अनादि को भी अपना आदि माँ से ही मिलता है।

नवरात्रि के नौ दिन इसी अनादि की आदि 'माँ' की पहचान करने के लिए हैं। अपवाद की बात छोड़ दें तो प्राय: किसी को यह सच्ची पहचान मिल नहीं पाई। हम माँ के द्वार-दरबार में आते हैं, घर पर पूजा वेदी के ऊपर रखे माँ के चित्र के सामने माथा नवाते हैं, पर हृदय नहीं उँड़ेलते। आंतरिक शून्यता की अनुभूति नहीं कर पाते और शून्यता के बिना माँ पूर्णता दे भी तो कैसे? हम दिखावे के लिए माँ की आरती उतारते हैं, पर दरअसल हम अपना आरत (दु:ख) माँ के माथे मढ़ते हैं। भूखे रहकर मढ़ते हैं, कीर्तन करके मढ़ते हैं, जप करके मढ़ते हैं। उसकी पूजा करने का धोखा देकर मढ़ते हैं। जैसे माँ नहीं अपना दु:ख-पीड़ा फेंकने का कोई कूड़ा-घर हो। भला यह कैसी पूजा, जिसमें श्रद्धा कम, लोभ और भय अधिक समाया रहता है। तनिक निहारें तो सही अपने अंतर्मन को कि नवरात्रि के ये नौ दिन हमारी श्रद्धा के हैं या स्वार्थ के? प्रार्थना के हैं अथवा फिर कामना के।

आरती का मतलब होता है—श्रद्धास्पद का, पूज्य का, देवी माँ का, भगवान् का दु:ख बाँटना। उनकी पीड़ा को अपने माथे पर लेना। उनका भार हलका कर देना। अपने भिखारीपन को भुलाकर उनकी सेवा में अर्पित होना। उनके साथ अपनी एकात्मता की अनुभूति एवं प्रतीति पाना कि जैसे हम दु:खी-पीड़ित होते हैं, थकते हैं, वैसे ही माँ भी थकती होगी। उसे भूख सताती होगी। इसलिए उनका कष्ट अपने माथे पर लेने के लिए आरती उतारी जाती है। दीपों की लहराती जगमग ज्योति के बीच यह भाव व्यक्त किया जाता है कि 'मैं प्रस्तुत हूँ माँ। जो तू चाहेगी, कहेगी, वही करूँगा।' लेकिन हम हैं कि उनसे माँगते ही रहते हैं, उनको सताते ही चले जाते हैं। माँ मुझे धन दो, यश दो, संतान दो, क्या नहीं माँगते। मजे की बात तो यह है कि हमारे पास माँ से माँगने के लिए समय है, उसके पास बैठने के लिए समय नहीं है। इसके लिए बहुत हुआ तो किसी पंडित-पुजारी को नौकर रख लेंगे। ठीक किसी कुपुत्र या कुपुत्री की तरह, जो अपनी माँ की सेवा न करके, इसके लिए किसी नर्स को रख देते हैं। भला नर्स की नौकरी और संतान की सेवा का सुख या परिणाम क्या समान हो सकता है?

नवरात्रि के दिनों में देश तो मातृमय हो रहा है, हम मंदिरों और घरों में जुट भी रहे हैं, लेकिन उस परमानंद के आदि स्रोत से नहीं जुड़ पा रहे, जहाँ से जीवन मिलता और चलता है। कहाँ है मेलों में मिलन का मूल भाव? किधर है विलग के विलीन होने की स्थिति? हमारे अपने-अपने अहं की दीवारें तो यथावत् हैं। माँ को वाणी से तो माँ कह रहे हैं, जोर-जोर से कह रहे हैं, लेकिन हृदय से उसे माँ मान नहीं पा रहे। लगता है कि हम सिर्फ प्रतीक की परिक्रमा, पूजा एवं कर्मकांड तक ही ठहर गए हैं। हम प्रतीति, प्रीति, श्रद्धा, संवेदना, प्रेम एवं माँ के चरणों में अनुराग की एक सच्ची संतान की भाँति निष्कपट हो जी नहीं पा रहे। अगर ऐसा होता तो हमारी यह नवरात्रि लोक-परंपरा एवं लोक-व्यवहार की लीक न रहकर माँ की अलौकिक प्रभा से जगमग कर रही होती। हमारे जीवन में माँ का दिव्य ज्योति अवतरण हो रहा होता।

कहीं ऐसा तो नहीं कि पिछले वर्ष की ही भाँति हम इस वर्ष की नवरात्रि में फिर से चूक रहे हैं। हम माँ के होकर भी माँ के बन नहीं पा रहे। हम केवल याचक बनकर उसके सामने माथा नवाते हैं। सुख-साधन, दाम, दुकान की कामना का दंभ लेकर माँ के पास आते हैं और यह जबरदस्ती करते हैं कि हम जो चाहते हैं, वह तो तुम्हें देना ही पड़ेगा। हाँ, हमें तुम्हारे दु:ख से कोई सरोकार नहीं रहा। रोजमर्रा की तरह नवरात्रि के दिनों में भी हम यह नहीं जान पा रहे कि माँ हमसे यह चाहती है कि हम सब उसकी संतानें मिल-जुलकर एक मन और एक प्राण होकर

रहें। माँ की इच्छा है कि हमारा प्राण और हमारी प्रतिज्ञा समान हो। माँ की चाहत है कि वह जिस सृष्टि और जिस ब्रह्मांड की मंगलमयी अधिष्ठात्री देवी है, उसका किसी भी तरह अमंगल न हो। जिस दैवी संपदा, संस्कृति और परंपरा की रक्षा के लिए वह अपने संपूर्ण तप, संकल्प, सिद्धि, शक्ति, ममता, करुणा और मातृत्व का पुंज बनकर समय-समय पर प्रकट होती आई है, हम उसकी प्राण-पण से रक्षा करें। नवरात्रि-अनुष्ठान के साथ यदि हम इस महासत्य के लिए संकल्पित नहीं हैं, तो हमारा अनुष्ठान अधूरा है और विडंबना यही है कि बहुसंख्यक जनों की स्थिति ऐसी ही है। निजी स्वार्थ में वे सर्वभूत हितेरत: का बीज मंत्र या मातृ मंत्र भूल गए हैं।

सवाल यह है कि ऐसी स्थिति आई ही क्यों? तो जवाब यह है कि हमारी यह प्रतीति ही खो गई है कि हम किससे हैं? हम जिसके कारण हैं, वह कौन है? वह हमारी क्या है और सबसे बढ़कर हम उसके क्या हैं? हमने जननी को, माँ को केवल स्त्री मान लिया है। धरती माता, भारतमाता हमारे लिए केवल एक मिट्टी का टुकड़ा बनकर रह गई है। हमें यह तो याद है कि हमारे लिए माँ को, राष्ट्रमाता को क्या-क्या करना चाहिए, लेकिन उसके प्रति किए जाने वाले हमारे कर्म-धर्म हमको अब याद नहीं रहे। स्थिति इतनी विकृत एवं बिगड़ी हुई है कि हम केवल प्रकृति एवं प्रवृत्ति को ही प्रदूषित नहीं कर रहे, नारी और उसके मातृत्व को भी अपवित्र बनाते जा रहे हैं। यही कारण है कि आज संतानों का जन्म किसी सद्संकल्प के कारण नहीं, वासना के वशीभूत होकर होता है।

आज हर घर-आँगन में तुलसी के बिरवे की जगह यह प्रश्न रोपित-आरोपित है कि हमारे बच्चे बिगड़ैल एवं हमारा परिवार आतंकित क्यों है? इसका जवाब एकदम सीधा-सपाट है कि हमें मातृत्व का सम्यक् बोध नहीं रहा। हमारे देश की नारी आधुनिकता की दौड़ में जो पश्चिमी बानक बना रही है, उसके परिणाम में वह जननी तो बन जाती है, पर माँ नहीं बन पाती, यही स्थिति जन्म देने वाले की है। ध्यान रहे कि कभी भी वासना जीवन का वंदनवार नहीं बन सकती। पश्चिमी आधुनिकतावादी कोख से जन्मी हमारी संतानें यदि विलासी, लंपट एवं उच्छृंखल बन रही हैं, तो इसमें भला अचरज ही क्या है? उन्हें जन्म तो मिला, पर संस्कार प्रदान करने वाली माँ नहीं मिली।

हमें यह बात किसी भी तरह कदापि नहीं भूलनी चाहिए कि 'नारी' अर्थात् 'माँ' इस जगती का सबसे सुकोमल, संवेदनशील एवं श्रेष्ठतम तत्त्व है। यह उन्हीं जगन्माता की अभिव्यक्ति का सबसे सार्थक माध्यम है, जिनकी उपासना हम नवरात्रि के दिनों में कर रहे हैं। यदि हमें अपना स्वत्व प्राप्त करना है, अपने संकल्प को सिद्ध करना है तो हमें इस सत्य को पहचानना होगा। जो प्रेम, वात्सल्य, ममता और परमेश्वरीय करुणा का विग्रह है, उस माँ को और उसके मातृत्व भाव को दूषित, प्रदूषित करने की प्रक्रिया, आधुनिकता के नाम से जानी जाने वाली परंपरा नहीं रुकी, तो पशुवत् मनुष्य ही जन्मेंगे, मनुष्यवत् देवता नहीं।

मातृत्व का सम्यक् बोध, माँ के सही स्वरूप की पहचान नवरात्रि की साधना का सार ही नहीं, हमारी संस्कृति का निष्कर्ष भी है। वेदों की घोषा, अपाला, लोपामुद्रा आदि मंत्रद्रष्टाओं में अम्भृण ऋषि की कन्या 'वाक्' का स्थान महिमामय है। उसके द्वारा रचित देवीसूक्त में भावी युगों की शक्ति उपासना का अंकुरण मिलता है। 'अहं राष्ट्रीय संगमनी वसूनां' एवं 'अहं रुद्राय धनुरातनोमि' आदि मंत्रों में वह कहती है कि 'मैं राष्ट्र को बाँधने वाली शक्ति हूँ। मैं ही उसे ऐश्वर्यों से संपन्न करती हूँ। मैं ही ब्रह्मद्वेषियों के संहार के लिए रुद्र का धनुष चढ़ाती हूँ। मैं ही आकाश और पृथ्वी में व्याप्त होकर मनुष्य के लिए संहार करती हूँ।' स्पष्ट ही इस सूक्त में महालक्ष्मी, महासरस्वती एवं महाकाली के विविध आयाम प्रकट हुए हैं।

यही है हमारे देश में व्याप्त होने वाला मातृभाव। यही है नवरात्रि के दिनों में सारे देश में होने वाला प्रेम, करुणा, ममता, वात्सल्य, सृजन एवं पालन, संरक्षण का मातृरूप अवतरण। इस दिव्य भावाभिव्यक्ति को प्रकट करना ही नवरात्रि के नौ दिनों में की जाने वाली साधना का सार है। इसी में निहित है मातृत्व की सम्यक् पहचान, जिसे हम अपनी मानसिक एवं सामाजिक बुराइयों को दूर करके ही पा सकते हैं। नवरात्रि के दिनों में गायत्री महामंत्र के २४ हजार अक्षरों वाले मंत्र के २४,००० जप का अनुष्ठान तो करें ही, पर साथ ही अपने संवेदनशून्य मन को माँ के प्रेम से भी संवेदित करें। अपनी माँ को सच्ची और सम्यक् प्रतिष्ठा प्रदान करने के अधिकारी बनने का अनुष्ठान भी करें। नारी के जीवन में, देश की व्यापकता में, धरती के कण-कण में व्याप्त माँ को यदि हम पहचान सके, उसकी भावभरी पूजा कर सके, तभी हमें सुख-समृद्धि एवं भक्ति-शक्ति के सारे सुफल मिल सकेंगे। माँ की अपार करुणा हम पर बरसेगी और देश ही नहीं हमारा अपना जीवन भी मातृमय हो सकेगा।

❑

नव संवत्सर का संदेश

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा (१३ अप्रैल) की प्रात: सब तरह से अनूठी है। हो भी क्यों नहीं? आज ही तो सुबह की सबसे पहली किरण के साथ नव संवत्सर हमारे घर-आँगन में, हमारे जीवन में आया है। समूची सृष्टि में वितान बनकर वही चहुँओर छाया है। उसके आगमन की खुशी में प्राची में उषा ने अपना प्राचीन आँचल उतार फेंका है। उसका मुख दिव्य रक्त कमल की भाँति उद्भासित है। हर क्षण तप्तस्वर्ण की कांति दसों दिशाओं में विकीर्ण कर रहा है। अलसाई-सी, धीमे-धीमे बंद दृगों को खोलती हुई वसुंधरा के आँगन में नया सूर्य उदय हुआ है।

नए सूर्य की हर किरण में नई संभावनाओं की झिलमिल है। जाग्रत् आत्माओं की अंतर्चेतना में एक अहसास, एक अनुभूति है कि जगत् और जीवन में इस नववर्ष में बहुत कुछ नया प्रस्फुटित होगा। भौतिक पदार्थों एवं परिस्थितियों की अप्रत्याशित उलट-पुलट के बीच कुछ नया झाँकेगा। आध्यात्मिक अंतर्चेतना में एक नए आलोक का अवतरण होगा। समूची सृष्टि को अपनी स्वर्णिम किरणों से द्युतिमान कर रहे आज के सूर्य का यही संदेश है। यह सूर्य दिव्य चेतना है। इसके प्रकाश में परिस्थितियों के भविष्यत् स्वरूप की, आध्यात्मिक अंतर्सभावनाओं की अनेकों झाँकियाँ झलक रही हैं।

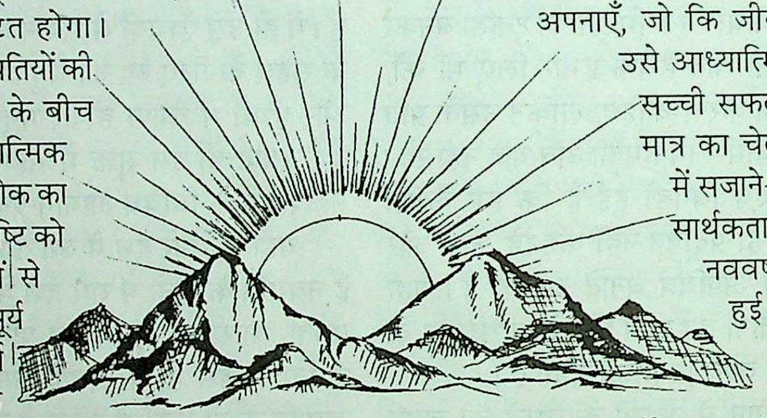

सर्वज्ञ चेतना में उठने वाले नव संवत्सर की विशेषताओं को, विशिष्टताओं को साफ-साफ देख रहा है। उन्हें बहुत ही स्पष्ट ढंग से देश और धरती में कुछ नया अवतरित होता हुआ नजर आ रहा है। संभावनाओं का ज्वार सब ओर जोर-शोर से उमड़ रहा है। बाह्य और आंतरिक जीवन की ओर भागी चली आ रही ये संभावनाएँ तो बड़ी ही प्यारी हैं, पर ये सच्चे ढंग से साकार तभी होंगी, जब हमारी साधना इन्हें बड़ी ही भावपूर्ण रीति से छुएगी।

आज के दिन हम एक नए युग में, स्वर्णिम युग में प्रवेश कर रहे हैं। यह घड़ी युगांतर की है। प्राचीन पीछे छूट रहा है, नवीन जिसे स्वर्णिम युग कहने में आंतरिक प्रसन्नता हो रही है, वसुंधरा के वातावरण में प्रवेश पा रहा है। हमें चाहिए नव संवत्सर के आगमन की इस भव्य वेला में अपनी चिंतनधारा को विस्तृत करें, उसे ऊँची उठाएँ। अपने हृदय के द्वार खोलें, उसे विश्वप्रेम से भरपूर करें। धार्मिक तथा जातीय सीमाओं का अतिक्रमण कर मानव मात्र को आत्मा का सखा मानें। आत्मीयता के आलिंगन में संपूर्ण मानवता को बाँधें। खोखली मान्यताओं से बाहर आएँ, युगऋषि द्वारा अनुभूत सत्य को अपने विचारों का आधार बनाएँ।

नव संवत्सर की माँगों के अनुसार साधना करते हुए अपने स्वभाव में नमनीयता लाएँ। विकसित होती हुई मानवता के साथ अपने चिंतन एवं दर्शन का भी विकास करें। शास्त्रों के मौलिक सत्य को अपरिवर्तित रखते हुए, उसके व्यावहारिक पक्ष में यथोचित् हेर-फेर करें, नए क्षितिजों का प्रवेश संभव बनाएँ। जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाएँ, जो कि जीवन के त्याग में नहीं, उसे आध्यात्मिक स्तर पर उठाने में सच्ची सफलता मानता है। मानव मात्र का चेतना स्तर नए आलोक में सजाने-सँवारने में पुरुषार्थ की सार्थकता समझता है।

नववर्ष पर अवतरित होती हुई आध्यात्मिक चेतना के प्रति अगर आज हम सचेतन बनें, इसके आलोक में जीवन-मार्गों पर अग्रसर हों, तो अवश्य ही उज्ज्वल भविष्य की संस्थापना हो जाएगी। धरती का कोना-कोना प्रकाशपूर्ण चेतना से भर उठेगा। संपूर्ण मानवजाति में युगांतरीय चेतना के प्रति उद्घाटन ही वह कर्म है, जिसके द्वारा संसार अपनी सब समस्याओं का समाधान कर सकता है। इसके प्रति ग्रहणशीलता का भाव ही हमें ज्ञान तथा अज्ञान के मिश्रित वर्तमान जीवनस्तर से ऊपर उठाने में समर्थ होगा, तभी हमारी चेतना आध्यात्मिक विकास कर सकेगी। देश और धरती का भी कल्याण हो सकेगा। नव संवत्सर की प्रात: उदय हो रहे सूर्य का यही संदेश है। उसकी किरणों की झिलमिलाहट में यही भाव जगमग है। उसकी प्रभा और प्रकाश में यही दीप्ति बिखरी है। उसकी उष्मा में इसी की उष्मा छुअन है। साधना ही सार है, यही संभावनाओं का द्वार है। नव संवत्सर का यही तत्त्वोपदेश है।

ज्ञान के युगसत्य का बोध कैसे हो

विज्ञान को व्यवस्था पूर्ण ज्ञान कहे जाने की रीति है। लेकिन सच तो यह है कि व्यवस्था कहीं भी और कैसी भी हो, कभी पूर्ण नहीं हुआ करती। फिर विज्ञान ने ज्ञान को जो व्यवस्था देने की कोशिश की है, वह भी उसकी प्रकृति के अनुरूप जड़ और सीमित है। जबकि ज्ञान न तो कभी जड़ हो सकता है और न ही सीमित। यह चैतन्यता का असीम प्रवाह है, जो प्रकृति, सृष्टि और ब्रह्मांड में सतत और अविराम प्रवाहित होता रहता है। मानव चेतना के स्पर्श से इसकी चैतन्यता को अभिव्यक्ति मिलती है, परंतु यह अभिव्यक्ति मानव चेतना के विकास के अनुरूप थोड़े-बहुत अंशों में होती है। हमेशा ही बहुतेरा ज्ञान ऐसा बचा रहता है, जिसे देखा नहीं जा सकता, छुआ नहीं जा सका, जाना नहीं जा सका।

ज्ञान के इसी सत्य को अपनी समाधि में अनुभव करके ऋषियों ने इसे 'सत्यम् ज्ञानमनंतम् ब्रह्म' कहा। उन तत्त्वदर्शी महर्षियों के अनुरूप ज्ञान सत्य है, अनंत है और ब्रह्म है। आधुनिक विज्ञानवेत्ता ज्ञान के तत्त्व की इस समग्रता से अनजान हैं। वे केवल इतना जान पाए हैं कि ज्ञान सत्य है, इसकी अनंतता एवं पूर्णता के ब्रह्मस्वरूप की उन्हें कोई खोज-खबर नहीं। ज्ञान के जिस सत्य को वह व्यवस्था देने की कोशिश करते हैं, वह भी सामयिक होता है, शाश्वत नहीं। यही वजह है कि वैज्ञानिक सत्य हमेशा ही बदलते रहते हैं, जबकि आध्यात्मिक सत्य सदा ही अपरिवर्तनीय, शाश्वत एवं पूर्ण होते हैं। यही कारण है कि ऋषियों द्वारा कहा गया ज्ञान बदलते कालप्रवाह में भी समीचीन बना रहता है, अपनी उपयोगिता, उपादेयता नहीं खोता।

ज्ञान को व्यवस्था देने के फेर में वैज्ञानिक समुदाय ने अपने को बुद्धि के गलियारों में कैद कर लिया है। स्वयं को अनेकों जटिल नियमों-उपनियमों की रस्सियों से जकड़ लिया है। अपने को वस्तुनिष्ठ, स्पष्ट एवं तर्कपूर्ण सिद्ध करने के चक्कर में वे बहुत कुछ गँवा देते हैं और गँवाते चले जाते हैं। अपनी वैज्ञानिकता की उलझनों में भूल जाते हैं कि ज्ञान के बीज मनुष्य की बुद्धि में नहीं, उसकी अंत:संवेदना में अंकुरित होते हैं। बुद्धि तो सिर्फ इन अंकुरित बीजों की फसल काटती है। उस पर अपना झूठा अधिकार जताती है। यदि हृदय की अंत:संवेदना में जिज्ञासाएँ न जन्मतीं, परिकल्पनाएँ न पनपतीं तो बुद्धि किस ज्ञान को व्यवस्था देती और किस पर अपना अधिकार सिद्ध करती।

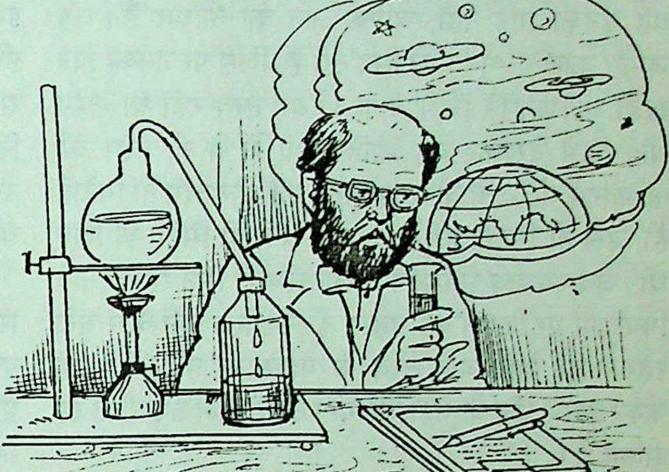

वैज्ञानिक प्रकृति को जानने और उसे नियमों में बाँधने का दावा करते हैं, परंतु प्रकृति के किस सत्य को उन्होंने जाना और नियमों में बाँधा है? उसके तत्त्व को या फिर तरंगों को। ध्यान रहे अमिट तो प्रकृति का तत्त्व है, तरंग का क्या अभी है और अभी मिट गई। तत्त्व से अनजान तरंगों को बाँधने और जानने की कोशिश में जुटे वैज्ञानिकों का ज्ञान भी इन्हीं तरंगों की तरह बनता-मिटता रहता है। एक के प्रामाणिक निष्कर्षों को दूसरा अप्रामाणिक एवं झूठा करार कर देता है। एक के खोजे गए नियम, दूसरे का समय आते तक अपना औचित्य एवं अस्तित्व खो देते हैं। न्यूटन जिसे सार्वभौम और सर्वव्यापी बताते हैं, आइंस्टीन उसे हँसते हुए झुठला देते हैं। वह कहते हैं, अरे भाई थोड़ा सुधार करो अपने में। गुरुत्वाकर्षण धरती का सच है, समूचे ब्रह्मांड का नहीं। धरती वाला गुरुत्वाकर्षण तो बच्चों के प्यारे चंदा मामा भी नहीं मानते।

आज के बदलते जमाने में वैज्ञानिक अपनी खोजों को रेत के टीले की तरह ढहते, ताश के पत्तों की तरह बिखरते देख हैरान-परेशान हो रहे हैं। उन्हें यह चिंता खाए जा रही है कि अपने को ज्ञान का खोजी कैसे साबित करें। उनके द्वारा पाया और खोजा गया ज्ञान बात-की-बात में गायब हो जाता है। यह सच है कि वैज्ञानिकों ने दुनिया और समाज को बहुत-सी नई-नई साधन-सुविधाएँ दी हैं। उसका

सर्वनाश करने के लिए, संसार को नेस्तनाबूद करने के लिए भी ढेरों सरंजाम जुटाए हैं। उनका यह महापुरुषार्थ देख एक ओर तो लालच की लार टपकती है, दूसरी ओर भय की सिहरन छूटती है। यहाँ सब कुछ है, पर सत्य की शांति नहीं। कठोर व्यवस्था की अनचाही विवशता है, पर व्यापकता का परम विस्तार नहीं। तरंगों को पकड़ने की ख्वाहिश में यह हो भी नहीं सकता।

अपने ज्ञान के धराशायी होने से परेशान वैज्ञानिक समुदाय को यह कौन समझाए कि जो धराशायी हो रहा है, वह उनका ज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञान का आधार है। वह जमीन काल के भूकंप से मिट रही है, जिस पर उनका ज्ञान खड़ा था। उन्होंने जिसे जाना था वह तत्त्व नहीं था, तरंग थी। जिसे देखकर वह मोहित हुए थे वे तो तरंग की क्षणिकाएँ थीं, तत्त्व की शाश्वतता नहीं और तरंग तो मिटेगी ही, उसे तो मिटना ही है। वह तो बनी ही मिटने के लिए थी। जब स्वभाव से मिटने वाली तरंग ही मिट रही है, तब फिर उस पर टिकने का सहारा ढूँढ़ने वाला ज्ञान कैसे बना रहेगा। हाँ, यदि बात तत्त्व के महासागर की होती, तो जरूर उसमें ज्ञान के महा जलयान अनंतकाल तक तैरते रह सकते थे।

इसके लिए जड़ता से पार चैतन्यता के विस्तार में जाना पड़ेगा। यह बात कुछ को समझ में भी आने लगी है। इस संदर्भ में ब्रूनर और पोस्टमैन जैसे वरिष्ठ वैज्ञानिकों ने सुझाव भी दिए हैं कि सत्य की अनुभूति करनी है तो खोज का दायरा बढ़ाया जाना चाहिए। उन्होंने मनोवैज्ञानिक सत्यों को प्रयोग में लाने की सलाह दी है। उनका कहना है कि परिस्थितियों का आकलन मनःस्थिति ही करती है। इसलिए अन्वेषण-अनुसंधान की प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक सचाइयों का समावेश भी होना चाहिए। इस बारे में वैज्ञानिक चिंतक जे.के. फाइबलमेन ने एक अनूठी पुस्तक लिखी है, 'द साइंटिफिक फिलासफी'। इसमें उन्होंने कहा है कि वैज्ञानिक अनुसंधान व्यवस्था को थोड़ा विस्तार देने की जरूरत है। इसमें दार्शनिक अंत:संवेदना का संस्पर्श, संयोग होना चाहिए।

आज की जो वैज्ञानिक विधियाँ हैं, उनसे वस्तु को तो जाना-जाँचा जा सकता है, पर विचार को नहीं। विज्ञान और वैज्ञानिकता के इस परिदृश्य में स्वयं वैज्ञानिक प्रत्यय जगह-जगह जाँच-पड़ताल की ठोकरों से चोटिल होते रहते हैं, परंतु उनके बारे में कोई समीचीन और सार्थक निर्णय नहीं हो पाता। यही कारण है कि वैज्ञानिक जड़ता के इन अँधेरों में नवीनता की उज्ज्वल किरण बड़ी मुश्किल से ही आ पाती है। 'परंपराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व दें' इस ऋषि सत्य को वैज्ञानिक पूरे मन से स्वीकार कर पाए होते तो अरस्तू की फिजिका, टॉलमी की अल्मागेस्ट, लैवोजिए की केमिस्ट्री, न्यूटन की प्रिंसिपिया और लायल की जियोलॉजी आदि वैज्ञानिक ग्रंथों के अस्तित्व में आने से लेकर प्रसिद्धि प्राप्त करने तक इतनी ज्यादा मुश्किलें न उठानी पड़तीं।

तारों और ग्रह-नक्षत्रों की बदली हुई परिस्थितियों से संबंधित विश्लेषण करने वाले टालमीय सिद्धांत को भारी सफलता मिली, परंतु कोपरनिकस की घोषणा से पहले इसे बड़ी संदेह भरी नजरों से देखा जाता था। कारण एक ही था, प्रचलित ज्ञान की व्यवस्था के खाँचे में इसका सही-सही फिट न बैठ पाना। न्यूटन के प्रकाश एवं वर्ण के सिद्धांत को भी व्यवस्था की जड़ता की मार सहनी पड़ी। आधुनिक विज्ञान में अपना विशिष्ट स्थान बनाने वाले क्वांटम यांत्रिकी को भी अनेकों आक्षेप-विक्षेप सहने पड़े।

इसी कारण अपने जमाने में मैक्सेवल का विद्युत चुंबकीय सिद्धांत सर्वमान्य नहीं हो सका, क्योंकि कैथोड किरणों की प्रकृति के विषय में भौतिक विज्ञानियों में गहरा मतभेद था। एक्स-रे की खोज के साथ भी कुछ यही स्थिति बनी। जड़ता और सीमाबद्धता की वैज्ञानिक कूपमंडूकता ने इसे काफी समय तक उपेक्षित किया। इसे लेकर वैज्ञानिक व्यवस्था को भारी उहापोह एवं उलझन बनी रही। विज्ञानवेत्ता लार्ड केल्विन ने तो यहाँ तक कह दिया कि रूंटजेन का यह प्रयोग खूबसूरत धोखाधड़ी के अलावा कुछ नहीं है। जबकि एक्स-रे की महिमा-महत्ता से आज कोई अनजान नहीं है।

विज्ञान जगत् में यूरेनियम के विखंडन की प्रक्रिया को सही ढंग से स्वीकारने में पर्याप्त समय लगा, क्योंकि तब तक वैज्ञानिक ज्ञान की विधियाँ नाभिकीय अभिक्रिया के तहत उत्पन्न होने वाले अन्य कणों एवं ऊर्जा की जटिल प्रक्रियाओं से अनजान थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में मेंडलीफ की आवर्त सारणी के खाली स्थानों को भरने के लिए रासायनिक तत्त्व ढूँढ़े जाते थे। उनकी तलाश-खोज में सफलता भी मिलती थी, परंतु किसी नए तत्त्व की खोज के बाद उसकी स्वीकारोक्ति सहज न थी। पूर्वाग्रहों की जड़ता एवं हठधर्मिता यहाँ भी आड़े आ जाती।

वैज्ञानिकों का युगसत्य कहे जाने वाले सापेक्षिता के सिद्धांत को भी काफी तिरस्कार झेलना पड़ा। इसके पीछे लंबी प्रक्रिया और अनेक कारण हो सकते हैं, परंतु तथ्य एक ही समझ में आता है, तात्कालिक वैज्ञानिक विधि-व्यवस्था एवं मान्यताओं का आड़े आना। वैज्ञानिक विधियाँ, विज्ञान की व्यवस्थाएँ अपने समय का कितना ही बड़ा सच

क्यों न हों, पर इनकी यांत्रिक प्रतिबद्धताओं के कारण इनका नजरिया एवं दायरा संकुचित व संकीर्ण हो जाता है। जिससे ज्ञान की सत्यता का कोई नया उजाला, ज्ञान की अनंतता की कोई नई बयार नहीं आ पाती।

कमी कहाँ है, कठिनाइयाँ किधर हैं, इसकी पड़ताल एक युगप्रश्न है। वैज्ञानिक विधियों, अनुसंधान प्रविधि की कमजोरी की वैज्ञानिक जाँच की जानी चाहिए। यह सत्य सर्वमान्य एवं सर्वस्वीकृत होना चाहिए कि महत्त्वपूर्ण ज्ञान है, न कि उसकी अनुसंधान विधि। अनुसंधान विधियों को ज्ञान के उन्नत आयामों के अनुरूप बनाया जाना चाहिए, न कि ज्ञान के तल को अनुसंधान विधि के दायरे में फिट बिठाने के लिए गिरा दिया जाए। ज्ञान की सत्यता, अनंतता एवं पूर्णता सबकी सब विज्ञान की प्रयोगशाला एवं वैज्ञानिक विधियों की सीमाओं में समा नहीं सकती। प्रयोगशालाओं में जो जाना जाता है, वैज्ञानिक विधियाँ जिसे खोज पाती हैं, वह तो अंश मात्र है, केवल अणु जैसा लघु है। ज्ञान की व्यापकता तो विराट् है, जो बुद्धि से उपजी व्यवस्थाओं और उसकी वैज्ञानिकता से परे है।

आध्यात्मिक अभिवृत्ति एवं साधना से उपजी संवेदना इस विराट् ज्ञान को छूने, जानने एवं पहचानने की सार्थक रीति है। इस रीति से जो जाना जाता है, उसे जानकर सब कुछ जान लिया जाता है। तभी तो उपनिषद् कहते हैं, *'तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विजानात्'* अर्थात् उसको जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। महर्षि अरविंद ने 'द ह्यूमन साइकिल' में भी इसी सत्य को दुहराया है। उन्होंने कहा है कि अतिभौतिक प्रकृति के नियम और संभावनाओं को जाने बिना न तो भौतिक प्रकृति और न संभावनाएँ ही जानी जाती हैं।

इस सत्य ज्ञान के लिए वैज्ञानिक विधियों के साथ आध्यात्मिक साधनाओं से उपजी संवेदनाओं का भी सुयोग जुटाना होगा। तभी तत्त्व को भी जाना जा सकेगा और तरंग को भी। शाश्वत की अनुभूति और सामयिक का सदुपयोग, यह वैज्ञानिक अध्यात्मवाद का ही सुफल हो सकता है। इसे तथ्य के रूप में स्वीकारते हुए पश्चिम के मेधासंपन्न दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल का कहना है कि वैज्ञानिक ज्ञान के साथ विवेक का समीचीन प्रयोग होना चाहिए। वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की इस रीति से ही 'सत्यं ज्ञानमनंतम् ब्रह्म' की अगणित चेतन धाराओं की अनुभूति पाई जा सकती है। ज्ञान के युगसत्य का बोध हो सकता है।

❑

किसी स्थान पर विशाल भवन का निर्माण हो रहा था। निर्माण-स्थल के समीप ही लगा हुआ था ईंटों का एक ढेर। ईंटों के ढेर में जमी ईंटों ने कहा—गगनचुंबी अट्टालिकाओं का निर्माण हमारे अस्तित्व पर ही आधारित है। भवन जब बनकर तैयार हो जाएगा, निस्संदेह उसके निर्माण का श्रेय हमें ही मिलेगा।

मिट्टी-गारे ने ईंटों की यह गर्व भरी बातें सुनीं, तो रहा न गया। वह बोली, तुम झूठ बोलती हो। क्या तुम नहीं जानतीं कि एक सूत्र में पिरोकर, ईंट से ईंट जोड़कर इस भवन को सुदृढ़ बनाने का श्रेय तो हमें ही है। मेरे अभाव में तो तुम्हारे ये ढेर एक ठोकर मारकर ही गिरा दिए जा सकते हैं।

किवाड़ और खिड़कियों ने इसका प्रतिवाद किया, यह तो सभी जानते हैं कि तुम ईंटों को जोड़-जोड़कर दीवारें खड़ी करती हो, पर यदि उस मकान में खिड़की-दरवाजे न रहेंगे, तो पूछेगा कौन? उसमें रहने के लिए जाएगा कौन? शिल्पी जो इन सबकी बातों को चुपचाप सुन रहा था, अब बोला, आप लोगों में भले ही कितना भी सहयोग क्यों न हो, परंतु जब तक मेरा हाथ न लगे, सब अपने-अपने स्थान पर ही पड़े रहेंगे।

अब भवन की बारी थी। भवन ने जो कुछ कहा, वह एक स्वीकार्य सत्य था। भवन बोला, सबका महत्त्व है, परंतु उससे भी महत्त्वपूर्ण है—सह अस्तित्व। सह अस्तित्व के अभाव में किसी का व्यक्तिगत कोई महत्त्व नहीं है, इसलिए आपको अपना झूठा अभिमान छोड़कर सहयोग का महत्त्व समझना चाहिए।

राम अनंत, अनंत गुण, अमित कथा विस्तार

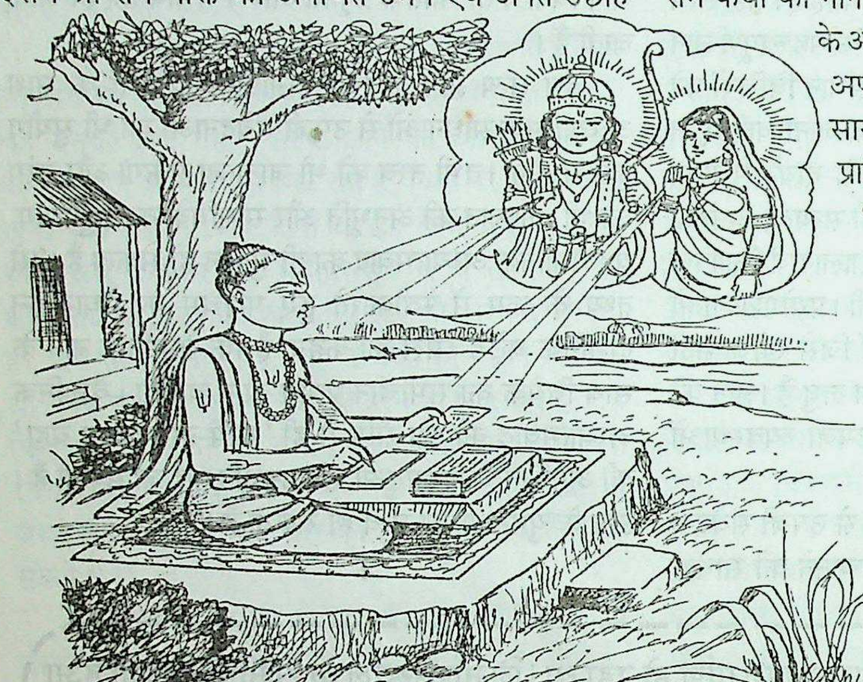

श्री रामनवमी की गहन अनुभूति श्री राम कथा है। इसमें श्री राम भक्ति की अगणित उमंगें एवं अनंत उछाह है। यही वह सच्ची अयोध्या है, जहाँ प्रभु श्री राम एवं उनके अनंत गुण प्रकटे एवं प्रकाशित हुए। श्री राम कथा के अवगाहन एवं अनुशीलन से आज भी राम भक्तों को अपने प्रभु और उनकी कृपा का दरस-परस बड़ी ही सहज रीति से मिल जाता है। श्री राम कथा के प्राकट्य में ही प्रभु श्री राम के प्राकट्य का रहस्य है। जैसे प्रभु स्वयं हैं ठीक वैसी ही उनकी कथा है। तभी तो भक्त शिरोमणि बाबा तुलसी ने कहा है—

राम अनंत, अनंत गुण, अमित कथा विस्तार।

ऐसी परम पावन श्री राम कथा के अरुणोदय का पहला स्थान महर्षि वाल्मीकि का मानस लोक है। महर्षि वाल्मीकि ने स्वरचित रामायण के चौबीस हजार श्लोकों के पाँच सौ सर्गों से युक्त सात कांडों में प्रभु श्री राम के दिव्य चरित्र का वर्णन किया। इस आदिकाव्य में वर्णित रामचरित्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों को देने वाला है। यथा—

‘चतुवर्गप्रदं नित्यं चरितं राघवस्य तु।’

(वा. रामा. उत्तर., १११/२३)

महर्षि वाल्मीकि की ही भाँति महर्षि व्यास ने भी श्री राम कथा का गान किया। महर्षि व्यास प्रभु लीला चिंतन के अप्रतिम एवं परम मर्मज्ञ आचार्य थे। उन्होंने अपने ब्रह्मज्ञान के मंदराचल से अध्यात्म सागर का मंथन कर भगवद् रसामृत की प्राप्ति ही नहीं की, उसका प्रीतिपूर्ण वितरण भी किया।

महर्षि व्यास रचित प्रायः सभी पुराणों में भगवान् राम की लीला और महत्ता का चिंतन है। हाँ, यह कहीं संक्षिप्त रूप में है, तो कहीं विशद् रूप में। महाभारत के वनपर्व में भी भगवान् राम का चरित संक्षिप्त रूप में उनके द्वारा वर्णित है। महर्षि वाल्मीकि के बाद भगवान् राम के कथाकार रूप में महर्षि व्यास ही सर्वोपरि हैं। अग्निपुराण के पाँचवें से ग्यारहवें अध्याय में श्रीरामावतार के वर्णन के प्रसंग में उन्होंने सात कांडों में वर्णित श्री रामायण की कथा का संक्षिप्त रूप निरूपित किया है। कूर्मपुराण के पूर्वार्द्ध के इक्कीसवें अध्याय में भगवान् राम के चरित का बड़ा ही युक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। पद्मपुराण एवं स्कंद पुराण में भी रामकथा पढ़ने को मिलती है। श्रीमद्भागवत् पुराण के नवें स्कंध के दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में महर्षि व्यास ने अत्यंत प्रेरणाप्रद रीति से श्रीराम की लीला का चिंतन किया है। इसी तरह श्री देवी भागवत् पुराण में भी उन्होंने तीसरे स्कंध के २८वें से ३०वें अध्यायों में श्रीराम के चरित्र का बड़ी श्रद्धा और भक्ति से चित्रण किया है।

भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग में जन्म लेने वाले कविकुल शिरोमणि महाकवि कालिदास ने भी श्रीराम कथा गाई है। उन्होंने अपने महाकाव्य ‘रघुवंश’ में रासकथा को विस्तार दिया है। महाकवि कालिदास ने नवजात शिशु रूप में प्रभु श्री राम की एक अत्यंत सुंदर झलक प्रस्तुत की है। उनका यह अनोखा वर्णन तब से अब तक समस्त काव्य जगत् में स्पृहा की वस्तु है। वह कहते हैं—

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा॥

—रघुवंश १०/६९

अर्थात् गर्भ में बालक को जन्म देने के परिणामस्वरूप दुबली हुई माता कौशल्या नन्हें-से राम को लिए हुए पलँग पर लेटी हुई ऐसी सुंदर जान पड़ती थीं, मानो शरद् ऋतु में पतली धारा वाली गंगा जी के तट पर किसी के द्वारा नीला कमल पूजा की सामग्री के रूप में रख दिया है।

महाकवि भवभूति का अत्यंत प्रसिद्ध ग्रंथ है, 'उत्तर रामचरित नाटक'। इसमें श्री रामकथा के उत्तरवर्ती भाग को बड़े ही करुण रीति से प्रस्तुत किया गया है। उत्तर रामचरित नाटक के अंत में महाकवि भवभूति श्री रामकथा की महिमा इन शब्दों में कहते हैं—

पाप्यभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेयं कथा।
मंगल्या च मनोहारा च जगतो मातेव गंगेव च॥

—उत्तर रामचरित ७/२१

गंगा और जननी की तरह मंगलविधायिनी यह मनोहर राम कथा पाप का नाश करके संसार के कल्याण की वृद्धि करने वाली है।

ग्यारहवीं शताब्दी में कश्मीर में जन्म लेने वाले महाकवि क्षेमेन्द्र राम कथा के अनूठे गायक के रूप में विख्यात हुए हैं। उन्होंने १०३७ ई. में श्री वाल्मीकि रामायण को संक्षिप्त किया। १०६६ ई. में उन्होंने दशावतार चरित की रचना की। अपने इस ग्रंथ में उन्होंने लगभग तीन सौ छंदों में श्री रामकथा का वर्णन किया है। रामायण मंजरी भी उनकी सुमनोहर रचना है। रामकथा साहित्य में इसे गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

देवभाषा संस्कृत के अलावा भारतीय भाषाओं के अन्य कवियों ने भी श्री रामकथा गाई है। हिंदी के आदिकवि चंदबरदायी ने अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रबंध काव्य पृथ्वीराज रासो के द्वितीय समय के प्रारंभ में श्री राम के चरित्र का गान-बखान किया है। वे हिंदी में प्रभु श्री राम के यश का गान करने वाले पहले कवि थे। रामायण कथा के परम रसिक एवं मर्मज्ञ गोनबुद्ध ने सन् १३८० ई. में तेलगु भाषा में श्री रामकथा का गान किया। श्री गोनबुद्ध बुदपुर-बोथान नगर के आस-पास राज्य करने वाले सूर्यवंशी राजा विट्ठल के पुत्र थे। उनके द्वारा रचित इस 'रंगनाथ रामायण' में श्री रामकथा छह कांडों में है।

उड़ीसा के प्रसिद्ध रामकथाकार सिद्धेश्वर परिड़ा ने उड़िया भाषा में रामकथा कही। अपनी इष्ट देवी 'शारला' के नाम पर उन्होंने अपना नाम 'शारलादास' रख लिया था। ईसा की तेरहवीं शती में लिखी हुई उनकी रामायण शारलादास की रामायण के नाम से विख्यात है। अपनी इस अनूठी रामकथा में उन्होंने योगसाधना के रहस्यों का अद्भुत रीति से उद्घाटन किया है।

१६वीं सदी में रामकथा कहने वाले गोस्वामी तुलसीदास जी तो जगत् विख्यात् हैं। उनके द्वारा लिखा गया महाकाव्य रामचरितमानस हिंदी भाषा-भाषियों के लिए वेद से कम श्रद्धास्पद नहीं है। इसके दोहे-चौपाइयाँ श्रद्धालु जन जब-तब मन-ही-मन गुनगुनाते-गाते रहते हैं। महाराष्ट्र के संत एकनाथ ने लगभग इसी समय में अपनी 'भावार्थ रामायण' लिखी। मराठी भाषा के ही महाकवि मोरोपंत ने रामकथा का गायन अपनी 'मंत्र रामयण' में किया। मोरोपंत कोरे कवि ही नहीं, भावुक भक्त भी थे। रामकथा उनके जीवन का प्राण थी।

रामकथा का गान करने वाले कवियों में महाकवि केशवदास का स्थान अनुपम है। उनके द्वारा हिंदी भाषा में रचित 'रामचंद्रिका' में रामकथा का काव्यात्मक सौंदर्य प्रकट हुआ है। मलयाली भाषा के महान् संतकवि रामानुजन् एषुत्तच्छन रामकथा के गंभीर रसिक थे। संस्कृत भाषा में रचित 'अध्यात्म रामायण' के आधार पर उन्होंने मलयाली भाषा में 'अध्यात्म रामायण' की रचना की। उनकी यह रचना केरल के घर-घर में श्रद्धा और आदर से पढ़ी जाती है। महाकवि बत्तलेश्वर ने कन्नड़ भाषा में रामकथा का गान किया। १६वीं सदी में लिखी गई उनकी यह कृति 'तोरवे-रामायण' के नाम से जानी जाती है और रामकथा गान करने के कारण महाकवि बत्तलेश्वर को कुमार वाल्मीकि भी कहा जाता है।

१६वीं शती में जन्मे रहीम खानखाना ने बड़ी भक्तिपूर्वक रामकथा को गाया और अपनाया। रहीम मुसलमान थे, परंतु प्रभु श्रीराम पर उनकी अटल श्रद्धा थी। वह कहा करते थे—

रहिमन धोखे भाव से, मुख तें निकसे राम।
पावन पूरन परम गति, कामादिक को धाम॥

उन्होंने स्पष्ट कहा कि संसार सागर से पार उतरने का एकमात्र उपाय ही श्री राम प्रभु की शरणागति ही है। वे कृपामय प्रभु जगत् की विषय-वासना से प्राणी को मुक्त कर उसे अपनी भक्ति प्रदान कर निर्भय कर देते हैं। उनका कथन है—

गहि सरनागति राम की, भवसागर की नाव।
रहिमन जगत उधार कर और न कछू उपाय॥

दक्षिण भारत के कोचीन शहर में जन्मे महाकवि रामपारशव ने भी रामकथा गाई है। उनके द्वारा ५५० श्लोकों

में रचित 'श्रीराम पञ्चशती' रामकथा का अद्‌भुत ग्रंथ है। उनका यह काव्य संपूर्ण वाल्मीकि रामायण में वर्णित रामचरित प्रधान घटनाओं का संक्षिप्त रूप है। महाकवि रामपारशव ने अपनी रामपञ्चशती रचना में श्रीराम की भक्ति का सरस निरूपण किया है। उनका समूचा जीवन रामभजन का प्रतीक था।

भगवान् राम का गुणगान करने वालों में महाकवि सेनापति हिंदी काव्य जगत् की शोभा हैं। मध्यकालीन हिंदी काव्य में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भक्ति सिद्धांत की दृष्टि से वे रामभक्त कवि थे। उनके दो ग्रंथ 'काव्यकल्पद्रुम' और 'कवित्त रत्नाकर' हैं। कवित्त रत्नाकर में ही उन्होंने रामायण और राम-रसायन के शीर्षक के अंतर्गत रामकथा और भगवान् श्री राम के यश का वर्णन किया है। उन्होंने अपनी रामकथा की उपमा गंगा जी की धारा से दी है—

तीरथ सरण सिरोमनि सेनापति जानी,
राम की कहानी गंगाधर सी बखानी है।

—कवित्त ४/७६

हिंदी-साहित्य के मध्यकाल के तीसरे चरण की कविता में महाकवि पद्माकर को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनके काव्य में महाकवि देव के शब्द सौंदर्य, महाकवि मतिराम के भाव माधुर्य और महाकवि सेनापति के अलंकार संयोजन-नैपुण्य का एक ही साथ दर्शन होता है। उन्होंने अपने काव्य जगद्विनोद पद्माभरण में प्रभु श्री राम का यश-स्मरण किया है। उनके द्वारा रचित 'राम रसायन' काव्य तो भक्ति गीत ही है। 'प्रबोध पचासा' में तो उन्होंने जैसे अपनी काव्य साधना सफल कर ली। इसमें उनके शब्द हैं—

ध्यायो राम रूप तब ध्याइबो रह्यो न कछु,
गायो राम नाम तब गाइबो कहा रह्यो॥

—प्रबोध पचासा-१०

रामकथा के रसिकों में महाकवि भानुभक्त का स्थान अत्यंत महिमापूर्ण है। उन्होंने भगवान् राम की भक्ति के सौंदर्य और माधुर्य से नैपाली साहित्य का शृंगार किया। काठमांडू से लगभग सौ मील पश्चिम में नेपाल के तनहूँ गाँव में जन्मे भानुभक्त परिपूर्ण रामभक्त थे। उन्होंने संस्कृत भाषा में रचित अध्यात्म रामायण का नैपाली भाषा में सरस काव्य रूपांतर प्रस्तुत किया। उनके द्वारा रचित यह रामायण भानुभक्त के रामायण के नाम से जानी जाती है और उन्हें नैपाली साहित्य का तुलसीदास कहा जाता है।

रामकथा के अनूठे माधुर्य और सौंदर्य से गुजराती भाषा भी कम समृद्ध नहीं है। समग्र गुजराती भाषा-भाषी गुजरात प्रदेश में महाकवि गिरधरकृत् रामायण के प्रति लोगों की बड़ी पूज्य भावना है। उन्होंने विक्रमी संवत की उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में 'गिरधर रामायण' की रचना की। उनकी यह रामकथा सात कांडों में पूरी हुई है। गिरिधर की यह रामकथा भक्तिरस का समुद्र है। इसके एक कण का भी स्पर्श जीवन को तीनों तापों से मुक्ति दिलाने के लिए पर्याप्त है। रामकथा का गिरिधर जी ने रामायण के रूप में वर्णन कर अपनी कीर्ति प्रभु भक्त के रूप में अमर कर ली। उनकी उक्ति है—

ए राम कथा शुद्ध भाव थकी जे सुणे मणे नर-नारी जी।
आ लोक मधे ते भोग भोगवे अंते हरिपद सार जी॥

—गिरिधर रामा., उत्तर १/२/५

''इस रामकथा को जो स्त्री-पुरुष पवित्र भाव एवं श्रद्धा से श्रवण-प्रवचन करेंगे, उनको इस लोक में इष्टभोग सुख की प्राप्ति होगी तथा अंत समय में श्रीराम के पद में स्थान मिलेगा।'' महाकवि गिरधर का यह कथन सत्य है। रामकथा के अवगाहन से ही श्रीराम के आदर्शों को अपनाने की प्रेरणा मिलती है और जब जीवन में श्री राम के आदर्श समाहित हो गए हों, तो फिर भक्त-भगवान् का मिलन सहज संभव है। ❁

एक संत मरने के बाद परलोक में पहुँचे। चित्रगुप्त ने उनसे कर्मों का लेखा-जोखा पूछा। संत ने बताया, तीन-चौथाई जीवन तो घर-गृहस्थी के काम-धामों में बीता और एक-चौथाई एकांत जीवन के भजन-पूजन में लगा।

जितना समय परिश्रम और पुण्य-प्रयोजनों में लगा, उसी को परमार्थ माना गया और उस अनुपात से पुण्य मिला। भजन-पूजन वाले दिन तो अपने निज के लाभ भर के लिए माने गए और उतने दिन परमार्थरहित होने के कारण सामान्य ही माने गए।

संत की मान्यता से चित्रगुप्त का निष्कर्ष ठीक उलटा निकला। जिस श्रम-साधना के समय को वे प्रपंच मानते रहे, वही अनेकों को सुविधा पहुँचाने और ऋण चुकाने के कारण परमार्थ गिना गया।

परमतत्व का सत्य

महाराज विश्वजित् विश्व के सर्वोच्च धर्म की खोज में थे। उन्हें एक ऐसे धर्म की खोज थी जो सब तरह के दोषों से मुक्त और सर्वश्रेष्ठ हो। अपने इस अन्वेषण में वह किशोर से वृद्ध हो चले, परंतु उनकी खोज पूरी न हो पाई, यह पूरी होती भी कैसे ? क्योंकि जीवन है अल्प और ऐसी खोज है विचित्र। जीवन अनंत हो तो भी शायद इसे पूरा न किया जा सके। कारण कि धर्म तो वस्तुत: धर्म ही है, वह तो एक ही, शाश्वत और सनातन है। इसलिए यहाँ ऊँचा-नीचा, निकृष्ट और श्रेष्ठ, क्या और कैसे हो सकता है ?

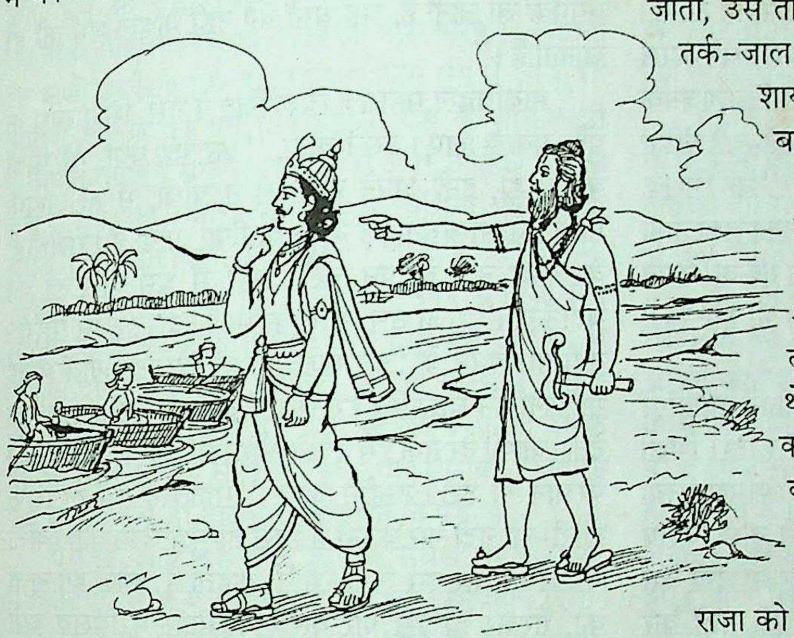

तात्त्विक दृष्टि से धर्म की अनेकता ही भ्रामक है, इसलिए सर्वोच्च की खोज भी सार्थक नहीं है। जहाँ अनेक नहीं है, एक ही है, वहाँ तुलना के लिए और तौलने के लिए न अवकाश ही है, न आवश्यकता। पर राजा विश्वजित् को इस तत्त्वज्ञान से क्या प्रयोजन ? वह तो राजहठ के वशीभूत थे। उन्हें खोज तो थी, सर्वोच्च धर्म की, किंतु जीवन यात्रा गतिमान थी निकृष्टतम अधर्म में। जब सत्य-धर्म उन्हें मिल ही नहीं रहा था, तो धर्म की दिशा में अपने जीवन को ले जाने का प्रश्न ही नहीं था। अँधेरे और अज्ञात में भला कहीं कोई जाता है ? अधर्म के संबंध में कभी कोई सवाल नहीं करता, लेकिन धर्म के विषय में शायद ही कोई ऐसा हो जो पूछताछ न करे, तर्क और बहस में शामिल न होना चाहे। मानव जीवन की बड़ी ही निष्ठुर विडंबना है कि अधर्म के बारे में कभी कोई विचार या खोज नहीं की जाती, उसे तो बस जिया जाता है, जबकि धर्म पूछताछ, तर्क-जाल एवं बहस की कोठरी में कैद रहता है। शायद यह अधर्म में जीने और धर्म में जीने से बचने की कारगर विधि है।

महाराज विश्वजित् से यह सत्य कभी कोई कहता न था। उलटे इस सच के उलट अलग-अलग धर्मों के विद्वान्, दार्शनिक आते और उनकी खोज को प्रोत्साहन देते। वे एक-दूसरे से लड़ते थे। एक-दूसरे के दोष दिखलाते थे। वे दूसरों के गुणों को भी दोष सिद्ध करते, अपने दोषों को गुण बताने का प्रयास करते। परस्पर भ्रांति एवं अज्ञान को सिद्ध करने में वे सबके सब भ्रांति एवं अज्ञान में घिर गए थे। उनके इस तरह के झगड़ों से राजा को भारी प्रसन्नता होती। इस भाँति उन्हें सहज ही आश्वासन की सुखद प्रतीति होती कि जब सारे ही धर्म दोषपूर्ण हैं, तो फिर अधर्म में जीते रहने में क्या बुराई है। विभिन्न धर्मों के नुमाइंदे उसके सामने आपस में लड़ते रहते और उसे अधर्म में जीते रहने के नए-नए सहारे मिलते जाते।

अब राजा विश्वजित् को धर्म के पक्ष में जीना कठिन हो गया था, क्योंकि धार्मिकों के जितने भी पक्ष थे उनमें से कोई स्वयं ही धर्म के पक्ष में नहीं था। सच भी यही है—पंथ, पथ, संप्रदाय सिर्फ अपने अहंपूर्ण मतवाद के पक्ष में होते हैं, धर्म एवं सच्ची धार्मिकता से उनका कोई प्रयोजन नहीं होता, हो भी नहीं सकता, क्योंकि जो सारे पक्ष छोड़ता है, वही धर्म का हो सकता है। निष्पक्ष हुए बिना धार्मिक होना संभव नहीं है। सांप्रदायिकता अंतत: धर्म की शत्रु और अधर्म की मित्र सिद्ध होती है।

महाराज विश्वजित् को तो जैसे उनकी खोज एक खेल बन गई थी, लेकिन जिस अधर्म में वे जी रहे थे, वह भी दु:ख, चिंता एवं पीड़ा बढ़ाने लगा। यह हो भी क्यों नहीं, अधर्म के शाश्वत परिणाम हैं ये सब। अब तो उन्हें अपनी मृत्यु भी करीब दिखने लगी थी। जीवन की फसल काटने के दिन जब करीब आ गए, तो वह बहुत उद्विग्न व

परेशान हो उठे। लेकिन अपने विचित्र आग्रह के कारण वह सर्वोच्च एवं आत्यंतिक निर्दोष व पूर्ण धर्म के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। वर्ष-दर-वर्ष बीतते गए और वह अपने ही हाथों स्वयं को गहरे कीचड़ में फँसाते चले गए, अंततः उन्हें स्वयं मृत्यु की दस्तक साफ-साफ सुनाई देने लगी।

एक दिन एक साधु उनके द्वार पर भीख माँगने आया। राजा को बेहद चिंतित, उदास व खिन्नमन देखकर उसने कारण पूछा। राजा ने उसकी ओर एक नजर देखा फिर निराशाजनक स्वर में कहा, ''जानकर भी तुम क्या करोगे? बड़े-बड़े पंडित और ज्ञानी भी मेरी समस्या नहीं सुलझा सके हैं।'' वह भिक्षुक साधु बोला, ''यह भी तो हो सकता है कि उनका बड़ा होना ही उनके लिए बाधा बन गया हो?'' एक पल रुककर उसने अपनी बात पूरी करते हुए कहा, ''कपड़ों से भी क्या साधु और संतों की पहचान होती है।''

अब विश्वजित् ने उसे गौर से देखा। उसकी आँखों में कुछ था जो सम्राटों की आँखों में भी नहीं होता। भिक्षा माँगने वाले इस साधु को उसने मात्र भिखारी समझ लिया था, परंतु उसके तेजोदीप्त निर्दोष नयन उसे कुछ विशेष बता रहे थे। राजा को असमंजस में पड़ा हुआ देख वह साधु कहने लगा, ''महाराज मैं तो कुछ भी नहीं कर सकता हूँ। असल में मैं हूँ ही नहीं। लेकिन जो है, वह सचमुच ही कुछ कर सकता है, बहुत कुछ कर सकता है।'' उसकी बातें अद्भुत थीं। अब तक आए हुए विद्वानों, मठाधीशों से वह एकदम भिन्न था। राजा सोचने लगा, ऐसे दीन-हीन वेश में यह कौन है?

फिर भी प्रकट रूप में उसके मुख से यही स्वर मुखर हुए, ''मैं सर्वोच्च धर्म की खोज कर अपने जीवन को धर्ममय बनाना चाहता था, लेकिन यह नहीं हो सका और अब अंत समय में मैं बेहद संतप्त हूँ। मैं अब तक समझ नहीं पाया कि कौन-सा धर्म सर्वोच्च है, किसे स्वीकारा जाए।'' राजा की इन बातों पर भिक्षु-सा दिखने वाला वह साधु खूब जोर से ठहाका लगाकर हँसा, फिर बोला, ''राजन्! आप गाड़ी के पीछे बैल बाँधकर गाड़ी चलाना चाहते हैं, इसलिए दुःखी हैं। धर्म की खोज करने से जीवन धर्म नहीं बनता, जीवन के धर्म बनने से धर्म की खोज पूरी होती है और यह किस तरह का पागलपन है कि आप सर्वोच्च धर्म खोजना चाहते हैं? अरे धर्म की खोज ही काफी है। सर्वोच्च धर्म? ये तो शब्द ही अनसुने और असंगत हैं। धर्म सिर्फ धर्म होता है, इसमें जोड़ने-घटाने जैसा कुछ भी नहीं है।''

उस साधु की बातें बड़ी ही प्रभावकारी थीं। वह कह रहा था, ''महाराज, जो पूर्णवृत्त नहीं है, वह वृत्त ही नहीं है। वृत्त का होना ही उसकी पूर्णता है। धर्म का होना ही उसकी निर्दोष, निरपेक्ष सत्यता है। सर्वोच्च धर्म को सिद्ध करने के लिए जो भी तथाकथित ज्ञानी आपके पास आए, वे किसी भी तरह से ज्ञानी नहीं, पागल या पाखंडी थे। क्योंकि जो ज्ञानी है, वह धर्मों को नहीं केवल धर्म को ही जानता है।''

भावविह्वल महाराज विश्वजित् ने उस भिक्षु साधु के पाँव पकड़ लिए। उसने कहा, ''अरे यह क्या, मेरे पाँवों को छोड़ो, इन्हें अपने हाथों से न बाँधो, मैं तो आपके पाँवों को भी बंधनमुक्त करने के लिए आया हूँ। राजधानी के बाहर नदी के पार चलें। वहीं मैं धर्म के तत्त्व को बताऊँगा।'' राजा उस साधु के साथ नदी-तट पर पहुँचे। नदी पार करने के लिए राजधानी की श्रेष्ठतम नावें मँगाई गईं। लेकिन वह साधु हर नाव में कोई-न-कोई दोष बता देता। काफी देर तक इसे देखने और सहने के बाद विश्वजित् परेशान हो उठे। उन्होंने कहा, ''महात्मन् हमें तो सिर्फ छोटी-सी नदी पार करनी है। इसे तो मुझ जैसा वृद्ध व्यक्ति भी तैरकर पार कर लेगा। मैं तो कहता हूँ, छोड़ें इन नावों को, तैरकर ही इसे पार कर लें। बेकार में विलंब क्यों किया जाए?''

साधु को जैसे राजा की इसी बात की प्रतीक्षा थी। उसने जवाब में कहा, ''यही तो मैं कहना चाहता हूँ महाराज। धर्म-पंथों की नावों में क्यों अटके हैं? क्या यह उचित नहीं है कि परमेश्वर की ओर स्वयं ही तैर चलें। सच तो यह है कि धर्म की कोई नाव नहीं है। नावों के नाम पर सब मल्लाहों का व्यापार है। एकमात्र मार्ग तो स्वयं ही तैरना है। सत्य स्वयं ही पाना पड़ता है, उसे कोई दूसरा नहीं दे सकता। सत्-चित्-आनंदरूपी सत्य-सागर में खुद ही तैरना होता है। यहाँ कोई दूसरा सहारा नहीं है, सहारा हो भी नहीं सकता। जो सहारे खोजते हैं वे किनारे पर ही डूब जाते हैं और जो स्वयं तैरने का साहस करते हैं, वे डूबकर भी पार हो जाते हैं, अपने गंतव्य तक पहुँच जाते हैं।'' साधु की इन बातों से राजा विश्वजित् को तत्त्वबोध हो गया। जो सत्य वर्षों-वर्ष विद्वानों की बहस में न मिला, वह एक पल में उजागर हो गया। जीवन की भटकन रुक गई। वह आत्मनिमग्न होने लगे। उन्हें अपनी ही गहराइयों में कहीं अस्पष्ट किंतु मधुर गूँज सुनाई देने लगी, 'तत्त्वमसि'। उन्हें अहसास हो गया कि यही सत्य तो धर्म का सतस्य सत्य एवं सर्वोच्च सार है। □

जननायक श्रीराम, जो जूझे जीवनभर आतंकवाद से

आतंकवाद से उपजी जनपीड़ा एवं राष्ट्रीय वेदना के लिए प्रभु श्री राम समाधान की संजीवनी हैं और यह संजीवनी औषधि आज भी उतनी ही असरकारक है, जितनी कि कभी उनके युग में थी। श्री राम जिस युग में जन्मे वह आसुरी आतंक का युग था। पड़ोसी देश के शक्तिशाली अधिपति रावण ने समूचे भारत देश में अपने आतंकी ठिकाने बना रखे थे। वह अकेला प्रायोजक था विभिन्न आतंकवादी संगठनों का। उन दिनों आतंकवादी असुरता के अनेक नाम, अनेक रूप, सब उसी से उपजे और पनपे थे। मिथिला अंचल में इसके मुखिया मारीच, सुबाहु एवं ताड़का थे जबकि दक्षिण भारत के आतंकी सरगना सूपर्णखा सहित खर, दूषण एवं त्रिशरा थे। देश का कोना-कोना इसके दहशत भरे कारनामों से थर्राया हुआ था। शासक, विचारक एवं जनता तीनों ही अलग-थलग घायल पड़े थे।

ऐसे में आए श्री राम। उन्होंने सबसे पहले अपने पराक्रम एवं सौजन्य से विचारशीलों को अभयदान दिया। आतंकवाद के चक्रव्यूह को ध्वस्त करने के लिए उनकी नीति का पहला बिंदु यही था। उन्हें मालूम था कि समाज का विचारक वर्ग संस्कृति-संवेदना का स्रोत है। यही जनमानस को जीवन देता है। अपने विचारों से उसमें चैतन्यता एवं उत्साह का संचार करता है और साथ ही शासकों को सही नीति सुझाता है, सही राह बताता है। यदि ऋषि जीवित है तो समाज जीवित रहेगा, मनुष्य जीवित रहेगा। ऋषि नहीं रहे, ऋषि नहीं बचे तो कुछ भी बाकी न बचेगा, न देश, न समाज और न ही संस्कृति। राजकुल में जन्मे श्री राम इस संस्कृति-सत्य से भलीभाँति परिचित थे। यही कारण था कि आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध में उन्होंने किसी बड़े देश से गुहार नहीं लगाई। किसी समर्थ समझे जाने वाले अधिपति को चिट्ठी नहीं लिखी, उसकी चिरौरी नहीं की। उन्होंने देश के ऋषियों से मार्गदर्शन लिया।

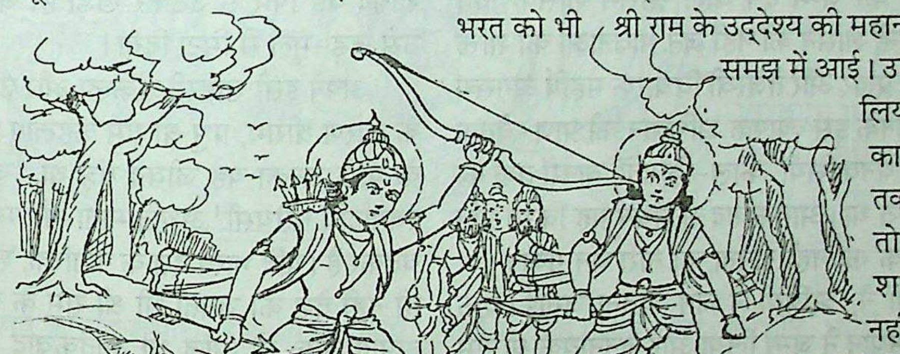

महर्षि विश्वामित्र के मार्गदर्शन में उन्होंने आसुरी आतंक के ठिकानों को नष्ट करना शुरू किया। मारीच, सुबाहु एवं ताड़का मारे गए, परंतु यह केवल शुभारंभ था—आतंकवाद से युद्ध का प्रथम चरण। इसको और अधिक गति देने के लिए श्री राम वनवासी बने। उन्होंने सत्ता का मोह त्यागा, सिंहासन का लोभ छोड़ा। साधन और सुविधाओं से भरे जीवन का त्याग किया। सत्ता के गलियारों में कैद रहकर अधिपति होने का अहंकार तो सुरक्षित रखा जा सकता है, पर व्यापक समस्या के सटीक समाधान तो जनता के बीच ही मिलते हैं। प्रभु श्री राम की नीति का दूसरा बिंदु था, जनता के होकर जनता में रहना। इसी कारण वह वनवासी हुए। आग्रहपूर्वक राज्य लौटाने के लिए आए भाई भरत को उन्होंने अपना उद्देश्य समझाकर वापस लौटा दिया। भाई भरत को भी श्री राम के उद्देश्य की महानता और पवित्रता समझ में आई। उन्होंने भी संकल्प लिया कि आतंकवाद का समूल नाश होने तक वह शासन सूत्र तो सँभालेंगे, पर शासक बनकर नहीं, श्री राम के प्रतिनिधि होकर, तपस्वी के रूप में।

महातपस्वी भरत ने शासन-सूत्र सँभाले और श्री राम जन-जन के बीच गए, वन-वन भटके। अरण्यवासी ऋषियों की, आतंक से घिरे विचारशीलों की दशा ने उन्हें द्रवित कर दिया। उन्होंने देखा कि आतंकवाद का असुर मानव समाज के ज्यादातर विचारशीलों को खा गया है। गोस्वामी जी महाराज ने इस स्थिति को दर्शाते हुए रामचरितमानस में कहा है—

निसिचर निकर सकल मुनि खाए।
सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥

"आतंकवादी असुरता ज्यादातर मुनियों को खा गई, यह देखकर-सुनकर श्रीराम की आँखें डबडबा आईं।" लेकिन उनके ये आँसू किसी कवि के आँसू नहीं थे, जो स्थिति से विकल तो होता है, आतंकवादी हमले जिसे पीड़ित तो करते हैं, पर बेचारा कुछ कर गुजरने का साहस नहीं जुटा पाता। वह केवल कहता है, करने की कायर कल्पना करता है। शत्रु के गढ़ में घुसकर आतंकवादी ठिकाने ध्वस्त करने का साहसी संकल्प करना शायद उस कल्पनाशील कवि के बूते का नहीं होता। लेकिन प्रभु श्री राम न केवल जनपीड़ा से द्रवित हुए, बल्कि उन्होंने महासंकल्प किया। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में—

निसिचर हीन करौ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ-जाइ सुख दीन्ह॥

आतंकवादी असुरता को दुनिया से मिटा दूँगा, उन्होंने हाथ उठाकर प्रण किया और सारे ऋषियों के स्थानों पर वह जा-जाकर मिले, उन्हें आश्वस्ति दी।

पर उनके लिए इतना ही काफी न था। उनकी आतंकवादी विरोधी नीति का तीसरा बिंदु था—विचारशीलों एवं जनता के सघन संपर्क से एक व्यापक जन अभियान को जन्म देना। इस महाभियान को जन्म देने वाले श्रीराम शासक नहीं जननायक थे। उन्हें शासन की नहीं जन भावनाओं की शक्ति पर विश्वास था। प्रखर और तेजस्वी विचारक महर्षि अगस्त्य जहाँ एक ओर उनके इस व्यापक अभियान की प्राण-चेतना थे, वहीं सामान्य वनवासियों, कोल-किरातों, वानरों तक का उन्हें सहयोग प्राप्त था। आतंकवाद से संघर्ष यह किसी प्रांत या क्षेत्र के शासक का नहीं जनता का नारा बन गया।

विचारशीलों ने, ऋषियों ने जन-चेतना जगाई। एक व्यापक जन अभियान ने जन्म लिया और जननायक श्री राम ने एक के बाद एक आतंकवादी ठिकानों को नष्ट करना प्रारंभ कर दिया। दंडकारण्य में अपना ठिकाना बनाए हुए खर-दूषण-त्रिशरा के साथ उसके चौदह हजार साथी मारे गए। अपने द्वारा प्रायोजित आतंकवाद की इस लगातार की हार से पड़ोसी देश बौखला उठा। उसके अधिपति ने छद्म रूप धारण किया। वह राक्षस से साधु बना। हालाँकि इस बदले हुए भेष में उसने काम वही पुराना किया। साधु बनकर उसने सीता का अपहरण किया। वह अकेले श्री राम की नहीं, देश की जनता की भावनाओं पर चोट थी। भारत की संस्कृति के अपहरण की घटना थी। उद्वेलित जनभावनाएँ श्री राम के नेतृत्व में एकजुट हो उठीं। जननायक श्री राम ने आतंकवाद प्रायोजित करने वाले देश के अधिपति को समझाने के कई प्रयास किए, परंतु ये सब असफल रहे।

समाधान का अंतिम बिंदु और श्री राम की नीति का अंतिम पग आक्रमण ही था, क्योंकि परिस्थितियों ने यह साबित कर दिया था कि आतंकवाद की जड़ को समाप्त किए बिना इसकी असुरता को मिटाया नहीं जा सकता। युद्ध सिर्फ युद्ध होता है। फिर यह तो मानव इतिहास का सबसे भीषण युद्ध था, राम-रावण युद्ध। भारत की देव संस्कृति के पक्षधरों का आतंकवादी असुरता से युद्ध। यह सभ्यता एवं बर्बरता के बीच युद्ध था। इस युद्ध में जनता अपने सर्वस्व की आहुति देने के लिए तत्पर थी और यह इतिहास सत्य है कि जनभावनाएँ कभी असफल नहीं होतीं, क्योंकि जनता ही तो जनार्दन है। यहाँ भी यही हुआ, आतंकवाद को मरना पड़ा। यदि उसे केवल हराया जाता तो शायद वह फिर से उठकर खड़ा हो जाता, पर श्री राम ने उसे जड़-मूल से मिटा दिया।

अपने इसी साहसी संकल्प और उससे उपजे पुरुषार्थ के कारण श्रीराम, प्रभु श्री राम कहलाए। उनके इस पुरुषार्थ के पीछे उनका यह जीवन मंत्र था, 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' अर्थात् माता और मातृभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर है। यदि भारत देश के नागरिक, शासक एवं विचारक ही नहीं देश की जनता भी श्री राम के इस जीवन मंत्र को अपना सके, तो आज भी आतंकवाद मर सकता है। श्री राम की नीतियाँ ही आतंकवाद की समस्या का समाधान हैं और इन्हीं नीतियों की चरम परिणति है, रामराज्य, जिसका एक ही अर्थ है, सबके लिए सुख और सबके लिए सौभाग्य।

❖

एक सूफी कथा है—किसी प्रेमी ने अपनी प्रेयसी के द्वार को खटखटाया। भीतर से पूछा गया, कौन है? प्रेमी ने उत्तर दिया, मैं हूँ। तुम्हारा प्रेमी। प्रत्युत्तर मिला, इस घर में दो को स्थान नहीं है। कुछ दिनों बाद प्रेमी पुनः उसी द्वार पर लौटा। इस बार "कौन है" के उत्तर में उसका जवाब था, "तू ही है" और वे बंद द्वार उसके लिए खुल गए। ईश्वर और जीव के संबंध ऐसे ही होते हैं।

विक्रम संकल्प ही बनेगा हमारी सही पहचान

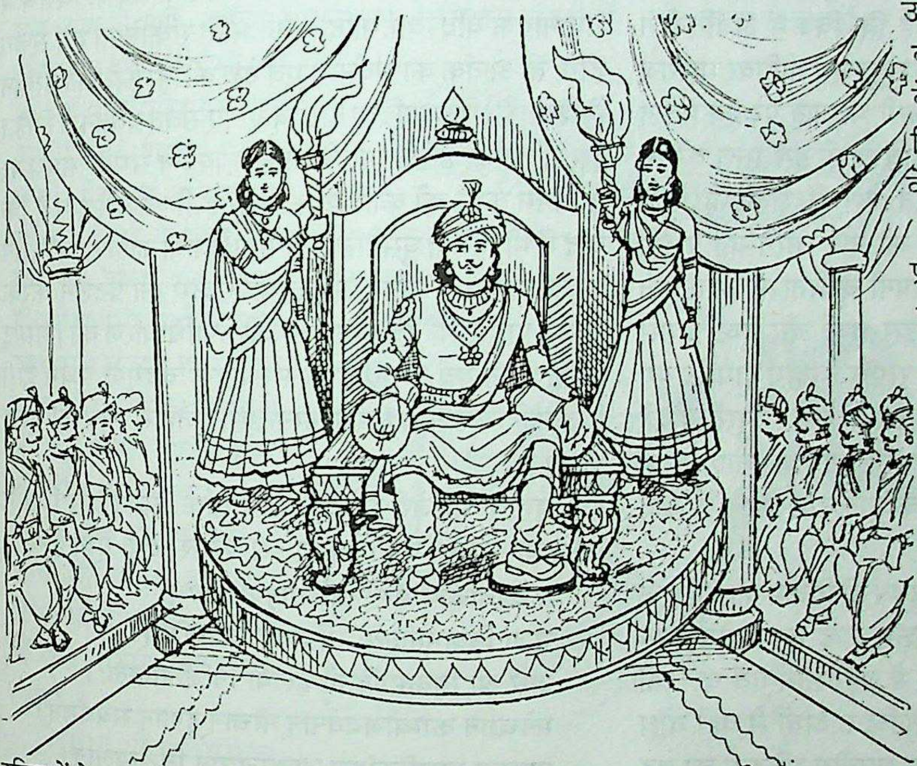

नव संवत्सर विक्रम संवत् २०५९ का आगमन हो गया है। नववर्ष की खुशियाँ प्रकृति में सब ओर छलक उठी हैं। गाँव के किसान अपनी नई फसल को लेकर उत्साहित हैं। ज्योतिष के ज्ञाता अपने पंचांग के पन्ने उलटकर भविष्य को बाँचने में जुटे हैं। उत्साह और भविष्य की ज्योति-रश्मियों के साथ नववर्ष का यह शुभारंभ हम भारतवासियों के लिए प्रेरणा पर्व भी है। इसमें एक ऐसी शुभ प्रेरणा भी है, जिसका प्रवर्तन सम्राट् वीर विक्रमादित्य ने आज से २०५८ वर्ष पूर्व किया था। धूमिल अतीत में सम्राट् विक्रम के स्मारक स्वरूप जिस विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ था, उसके पथ की वर्तमान रेखा यद्यपि तमसाछन्न है, फिर भी इस डोर के सहारे हम अपने आप को उस शृंखला के क्रम में पाते हैं, जिसके अनेक अंश अत्यंत उज्ज्वल एवं गौरवमय रहे हैं।

विक्रम संवत् के ये दो हजार अट्ठावन वर्ष तो भारतीय इतिहास के उत्तरकाल के ही अंश हैं। विक्रम के उद्भव तक विशुद्ध वैदिक संस्कृति का युग, रामायण और महाभारत का समय, महावीर एवं गौतम बुद्ध का काल, पराक्रम सूर्य चंद्रगुप्त मौर्य एवं प्रियदर्शी अशोक का काल, अंततः पुष्यमित्र शुंग की साहस गाथा सुदूरभूत बातें बन चुकी थीं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्रग्रंथ एवं मुख्य स्मृतियों की रचना हो चुकी थी। व्याकरणाचार्य पाणिनि एवं योगी पतंजलि अपनी कृतियों से पंडितों एवं साधकों को चकित कर चुके थे। उन पिछले दो हजार अट्ठावन वर्षों की लंबी यात्रा में भी भारत के शौर्य ने, उसकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता ने जो मान स्थित किए, वे अद्भुत एवं अनुपम हैं।

विक्रम संवत् के प्रवर्तन के प्रथम हजार वर्षों में सर्व प्रत्यक्षदर्शी काल ने शिवनागों, समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त, विक्रमादित्य, स्कंदगुप्त, यशोधर्मन, विष्णुधर्मन आदि के बल और प्रताप के सम्मुख विदेशी शक्तियों को थर-थर काँपते हुए देखा, विश्वगुरु भारत का सांस्कृतिक एवं राजनैतिक वैभव देखा, भारत के उपनिवेश बसते देखे, भारत देश की संस्कृति और उसके धर्म का प्रसार बाहर के देशों में देखा। कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ आदि की काव्य प्रतिभा तथा दंड और बाणभट्ट की विलक्षण लेखन शक्ति देखी, कुमारिल भट्ट एवं शंकराचार्य का बुद्धि वैभव देखा और स्वतंत्रता की अग्नि को सदैव प्रज्वलित रखने वाली राजपूत जाति के संघटन व उत्थान को देखा। हालाँकि विक्रम संवत् की शताब्दी में कालगति विपरीत हो गई। भारत के भाग्यचक्र की गति उलट गई। इसी उलटी एवं विपरीत गति ने भारतीय उपनिवेशों का उजड़ना दिखाया और भारतीयों ने देखी अपनी हार और देखा अपना बहुमुखी पतन, परंतु देश की आंतरिक जीवनी शक्ति अभी चुकी नहीं थी। स्वतंत्रता के समर्थ आंदोलन ने विदेशियों को देश से बाहर खदेड़कर यह दिखा दिया कि गिरकर भी कैसे उठा जा सकता है ?

भारत देश की देव संस्कृति पर दैवी दर्प रखने वालों के लिए यह कम गर्व और गौरव की बात नहीं है कि आज भारतवर्ष में प्रचलित विक्रम संवत्सर, बुद्ध निर्वाण काल गणना छोड़कर संसार भर के प्रायः सभी प्रचलित ऐतिहासिक संवतों से अधिक प्राचीन है। हालाँकि इस प्राचीनता में निहित इसकी प्रेरणा दिव्य एवं नवीन है। सम्राट् विक्रम की शौर्यगाथा, विदेशी घुसपैठियों शकों को खदेड़ भगाने की इतिहास कथा कालक्रम से भले ही पुरानी हो, परंतु उसका तेज अभी भी प्रखर एवं भास्वर है।

इतिहासकारों को मतभिन्नता के कुहासे को भेदकर अपने आप ही प्रकट हो जाता है कि विक्रम अवंतिनरेश गंधर्वसेन एवं माता सौम्यदर्शना के सुपुत्र एवं योगिवर महाराज भर्तृहरि के सहोदर भ्राता थे। किसी भी बात पर एकमत न होने का हठ रखने वाले इतिहासवेत्ता भी इस सत्य को तो स्वीकार करते ही हैं कि भारत देश में शकों-हूणों ने घुसपैठ की। यहाँ की संस्कृति को नष्ट करने का प्रयास किया। भारतीय सभ्यता को अपनी बर्बरता से आतंकित करने की कोशिश की। उनके इस धृष्ट और दुष्ट प्रयास को धूल-धूसरित करने के लिए सम्राट् विक्रम नाम के युग सत्य का आविर्भाव हुआ और जिस तरह से त्रिपुरदैत्य को नष्ट करने के बाद भगवान् शिव त्रिपुरारि कहलाए, ठीक उसी तरह बर्बर आतंकवादी शकों को नष्ट करने के बाद सम्राट् विक्रम शकारि कहाए।

इस ऐतिहासिक सत्य के अनुरूप ही विक्रम का शाब्दिक अर्थ भी है। वैदिककाल में विक्रम शब्द का प्रयोग आगे बढ़ने के अर्थ में होता था। बाद में यही शौर्य एवं बल का द्योतक हो गया। विक्रम के इन शाब्दिक अर्थों से यही बोध होता है कि सम्राट् विक्रम का युग भारतीय इतिहास का वह युग था, जिसमें सभ्यता के धीमे पड़ते हुए स्रोत में एक ऐसी बाढ़ आई, जिससे युग-युगांतर से जमी हुई कीच-काई बह गई और आप्लावित भूमि पर नई, उर्वर मिट्टी की परत आई, जिसमें उत्पादित अपार आत्मिक अन्नराशि ने मानव जाति का भरपूर मानसिक एवं आध्यात्मिक पोषण किया। साथ ही उसमें ऐसे अगणित रंग-बिरंगे सुगंधित-सांस्कृतिक पुष्प खिले, जिन्होंने अपनी सुरभि से दसों दिशाओं को भर दिया।

सभ्यता-संस्कृति की इसी विजय के उपलक्ष में सम्राट् विक्रमादित्य ने विक्रम संवत् का प्रवर्तन किया। सम्राट् विक्रम द्वारा विक्रम संवत् के इतिहास सत्य को यूरोपीय विद्वानों में प्रमुख डॉ. स्टेनकरेनो ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। यही बात इस जैन गाथा में भी स्वीकारी गई है—

कालांतरेण केणाई उप्पादिट्ण संगाण संवंसम्।
जापो मालवराया नामेण विक्कमाइच्च॥
नियवो संवच्छरो जेण॥

—कालकाचार्य कथानक

सम्राट् वीर विक्रमादित्य की यह विजय बर्बर आतंकवाद पर भारतीय संस्कृति की विजय थी। उनकी यह विजय जन-गण की विजय थी, मालव विजय थी और सबसे बढ़कर मानव विजय थी। इस विजय में एक संदेश था, जो सर्वकालिक है। यह संदेश है कि बर्बरता के विरुद्ध यदि जन-आंदोलित हो उठे, तो बर्बरता टिक नहीं सकती। आतंकवाद के विरोध में राष्ट्रनायक यदि विक्रमादित्य की भाँति संकल्पित एवं सजग होंगे, तो आतंक का सर्वनाश एवं देश की संस्कृति का उत्थान निश्चित है। विक्रमादित्य द्वारा किए गए संवत् प्रवर्तन में निहित इस संदेश को उनके बाद के राष्ट्रनायकों ने समय-समय पर हृदयंगम करने की कोशिश की और इसी का परिणाम है कि बाद में भी विदेशी घुसपैठियों से संघर्ष किया जाता रहा। जिसने भी इस संघर्ष में अपने अद्वितीय पराक्रम का प्रदर्शन करके विजय पाई, उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। सम्राट् शालिवाहन एवं गुप्तवंश के संस्थापक चंद्रगुप्त प्रथम द्वारा विक्रमादित्य उपाधि धारण करना इसी इतिहास सत्य को व्यक्त करता है।

बृहत्कथामंजरी में सवंत्सर प्रवर्तक सम्राट् वीर विक्रम की शक-विजय का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

ततो विजित्य समरे कलिंगनृपतिं विभुः
राजा विक्रमादित्यः स्रींप्रायः विजयश्रिम्।
अथ श्री विक्रमादित्यो हेलया निर्जिताखिलः।
म्लेच्छान काम्बोजयवनान् नीचान् हूणान् सबर्बरान्।
तुषारान् पारसीकांश्च त्यक्ताचारान् विशृंखलान्।
हत्वाभ्रूमंगमात्रेण भुवो भारमवारयत्।
तं प्राह भगवान् विष्णुस्त्वं ममांशो महीपते।
जातोसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छशंशाकतः।

बृहत्कथामंजरी के इस विवरण में सम्राट् विक्रमादित्य को भगवान् विष्णु का अंशावतार बताकर यह सत्य प्रकट किया गया है कि उन्होंने शक-हूण-यवनों को मारकर, भगाकर, पृथ्वी का भार दूर किया। आज भी भारत देश की धरती भारतवासियों के उसी शौर्य का आह्वान करती है। जो बर्बरता और आतंक को पराजित कर संस्कृति की विजय सिद्ध कर सके, विक्रम संवत् के प्रवर्तक सम्राट् विक्रम का मान रख सके। देशवासियों का विक्रम संकल्प ही विक्रम संवत् की सही पहचान बन सकेगा। इसी संकल्प में नववर्ष के आगमन का सच्चा उल्लास और उछाह है।

❖

गायत्री महाशक्ति का प्रताप

गाँव से दूर एकांत अरण्य में माँ गायत्री का प्राचीन मंदिर था। काफी पुराना होने के कारण मंदिर की भव्यता अब पहले जैसी न रही थी, परंतु ग्रामीण जनों की सघन श्रद्धा इसकी दिव्यता को उत्तरोत्तर बढ़ा रही थी। गाँव वालों की आस्था थी कि माँ गायत्री अपने इस मंदिर में एक अंश से नहीं, बल्कि संपूर्ण रूप से निवास करती हैं और सचमुच ही ऐसा था भी। मंदिर के परिसर में एक अलौकिक शांति पसरी रहती, जिसका तनिक-सा भी स्पर्श किसी के भी उद्विग्न मन को शांत बना देता। गायत्री महामंत्र यहाँ के सूक्ष्म वातावरण में सदा ही स्पंदित होता था। नवरात्रि के दिनों में तो जैसे यहाँ कोई अलौकिक लोक उतर आता। प्रात:-संध्या गाँव के लोग यहाँ अपना अनुष्ठान संपन्न करते, तो रात्रि में यहाँ माँ की महिमा का गायन होता।

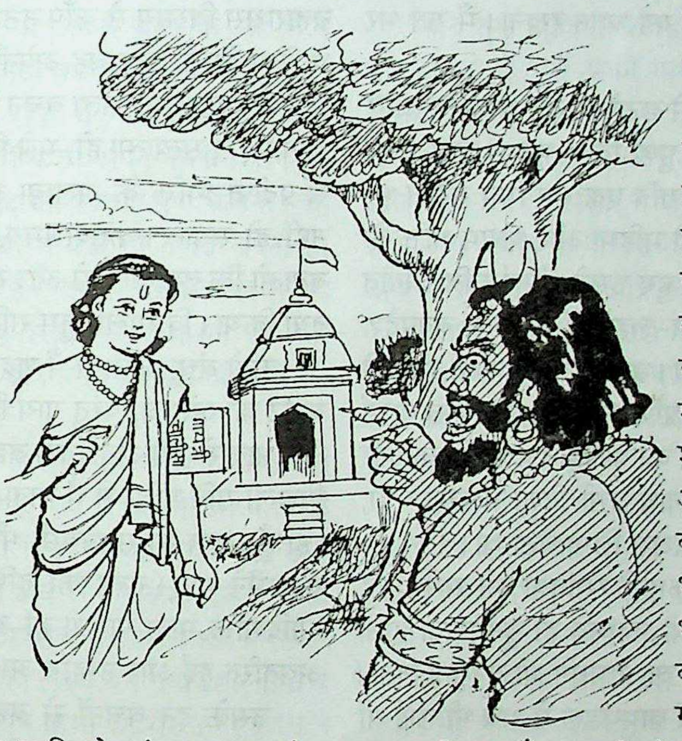

गायन का दायित्व कीर्तनलाल पर था। कीर्तन जाति से अंत्यज था, परंतु अपनी श्रद्धा एवं साधना के प्रताप से वह संगीत कुशल था। पं. गायत्री शरण ने आस-पास के गाँवों में रहने वाले रूढ़िवादी ब्राह्मणों के विरोध के बावजूद उसे गायत्री महामंत्र की दीक्षा दी थी। तब से नियमित गायत्री जप, नवरात्रि के नौ दिनों में २४,००० गायत्री महामंत्र के जप का लघु अनुष्ठान उसका नियम बन गया था। वर्ष की दोनों नवरात्रि के दिन उसके विशेष तप के दिन होते थे। वह एक समय अस्वाद भोजन करके दिन में अपना जप करता और रात्रि में माँ की महिमा का गायन करता। स्वयं के और परिवारीजनों के भरण-पोषण के लिए उसके पास थोड़ी खेती थी, जिससे औसत भारतीय स्तर का जीवन निर्वाह हो जाता था।

माँ गायत्री की महिमा संबंधी अनेक गीत उसकी स्वरलहरी में गांधार, षड्ज, धैवत स्वर में गूँजते थे। नवरात्रि में रात्रि जागरण उसका नियम बन गया था। इन दिनों थोड़ी नींद उसके लिए पर्याप्त होती। तरह-तरह के भक्ति गीतों के गायन में उसे इतना आनंद मिलता कि तन और मन दोनों ही थकान से कोसों दूर रहते। बस इसी तरह उसकी जीवन यात्रा लंबे समय से चल रही थी।

उस दिन चैत्र शुक्ल नवमी थी। आज रात्रि उसे माँ की महिमा के साथ मर्यादा पुरुषोत्तम राम के भी भक्ति गीत गाने थे। एक साथ दुहरी खुशी थी। समस्त चराचर को जन्म देने वाली आदिशक्ति माँ गायत्री एवं उसके जैसे शूद्रों केवट एवं शबरी को अपनाने वाले प्रभु श्री राम। कल्पनाओं में ही उसका मन भाव-विह्वल हो गया। भक्ति भाव से प्रणत वह संगीतमर्मज्ञ वनपुष्प चयन करने के लिए गाँव से दूर महावन में पहुँच गया। रात्रि का धुँधलका घिरने लगा था। इसी अँधेरे में एक महाराक्षस उसका पथ रोककर खड़ा हो गया और उसे देखकर खाने को आतुर हो उठा।

आज मेरा आहार तू ही बनेगा। अट्टाहास करते हुए राक्षस ने उसे पकड़ ही लिया। वह एकबारगी काँप गया। काँपते अंतर से उसने राक्षस से कहा, भगवन्! आज तुम मुझे मत खाओ, कल प्रात: मुझे खाकर अपनी क्षुधा शांत कर लेना। कीर्तनलाल ने सोचा, इससे छुटकारा पाना तो सहज नहीं है, किंतु अनुष्ठान पूरा होने के बाद प्राण जाएँ, यही ठीक होगा। इसी चिंता में लीन उसने एक बार फिर ब्रह्मराक्षस से कहा—

तुम मुझ पर विश्वास करो। मैं माता गायत्री का भक्त हूँ। प्रभु श्रीराम के प्रति मेरी श्रद्धा है। मैं सत्य कहता हूँ, यह

समूचा अस्तित्व सत्यमूलक है। इसी सत्य को लेकर मैं पुन: आने की शपथ लेता हूँ। मेरा अनुष्ठान विफल हो, यदि मैं तुम्हारे पास न आऊँ। सूर्य, चंद्रमा, पंचतत्त्व, दिन-रात, यम तथा दोनों संध्याएँ अनुक्षण मनुष्यों की क्रियाओं को जानते हैं। हे ब्रह्मराक्षस, मैं अधिक शपथ क्या करूँ ? मेरी साधना की अंतिम रात्रि में तुम विघ्न न डालो। माँ की महिमा का गायन करके मैं मंदिर में ही हवन करूँगा और फिर घर न जाकर तुम्हारे ही पास आहार बनने आ जाऊँगा।

उसकी बातों से ब्रह्मराक्षस को भारी विस्मय हुआ। उस गायत्री भक्त के आग्रहपूर्ण विश्वस्त वचनों को सुनकर वह द्रवित हो गया।

जाओ, सत्य की शपथ का ध्यान रखना। मैं रात भर तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा।

ब्रह्मराक्षस के शिकंजे से छूटते ही वह मंदिर की ओर भाग चला और पुजारी को पुष्प दिए। पुजारी द्वारा पूजन के पश्चात् कीर्तनलाल उस रात्रि एक बार फिर संगीत भरे संसार में लौट आया। माँ की महिमा और श्रीराम भक्ति के मधुर गीतों का गायन करते हुए उसने संपूर्ण रात्रि व्यतीत की। भक्ति-संगीत की स्वर-लहरियों से सारा वनप्रदेश अतींद्रिय लोक में जा पहुँचा। ब्रह्ममुहूर्त का स्पर्श होते ही उसने माँ गायत्री को साष्टांग प्रणिपात किया। नित्य क्रियाओं से निबटकर अपने अनुष्ठान की पूर्णाहुति हवन किया और फिर अपने वचनों के पालनार्थ उसी दिशा में चल पड़ा, जहाँ बहेड़े के पेड़ में ब्रह्मराक्षस छिपा बैठा था।

रात्रि जागरण की भक्तिमयी स्मृतियों को समेटे वह मंद स्वरों में अब भी गायत्री महामंत्र ही गुनगुनाता हुआ बढ़ रहा था। बीच-बीच में वह रामधुन भी गुनगुना लेता। एकांत संगीत की मधुर लहरें वायुमंडल में अब भी छाई थीं तभी—

भद्र तुम गाँव के पथ से दूर इस भयावह अरण्य में किसके समीप जा रहे हो ? मार्ग रोककर किसी अपरिचित व्यक्ति ने उससे पूछा।

मैं सत्य की शपथ पूर्ण करके ब्रह्मराक्षस के समीप अपनी देह दान करने जा रहा हूँ।

कैसा मूर्खतापूर्ण कृत्य करने जा रहे हो। उस अपरिचित ने समझाने की कोशिश की।

क्या तुम्हें इतना भी नहीं ज्ञात है कि प्राण संकट और सर्वस्व अपहरण में मिथ्या बोलने से पाप नहीं लगता ? तुम क्यों अपने प्राणों को गँवाना चाहते हो। अरे जब यह शरीर ही नहीं रहेगा, तो अपने जीवन की शेष धर्म-साधना कैसे पूरी करोगे ? पथ में मिले उस व्यक्ति ने उससे फिर कहा।

ऐसे परामर्श से तुम्हारा कल्याण हो, किंतु तुम्हें यह न भूलना चाहिए कि तीनों लोकों में सत्य की सदा जय होती है। सृष्टि में जो भी सुख है, वह सत्य से ही प्राप्त होता है। सत्य से ही सूर्य प्रकाशवान् है, सत्य से ही जल, रसरूप होता है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। माता गायत्री सत्यस्वरूप हैं, जिनके भक्ति गीतों का मैंने रात्रि में कीर्तन किया है, वे प्रभु श्रीराम सत्यप्रतिज्ञ हैं। सभी लोकों में सत्य ही परब्रह्म है। अत: किसी भी तरह सत्य का त्याग उचित नहीं है। यह कहते हुए कीर्तनलाल उस दिशा में चल पड़ा, जहाँ ब्रह्मराक्षस का निवास था।

अरे, तुम स्वयं चलकर मृत्यु के द्वार पर आ पहुँचे। ब्रह्मराक्षस विस्मय से काँप उठा। रुँधे गले से अस्फुट स्वरों में जिस किसी तरह वह अपनी बात कहने का प्रयास कर रहा था। महाभाग ! सत्य वचन को पूर्ण करने में समर्थ, तुम इतने महान् सत्यात्मा हो, मुझे विश्वास नहीं होता। ब्रह्मतेज से प्रदीप्त व्यक्ति के अलावा अन्य किसी में इतना साहस नहीं हो सकता। कल्याणमय, तुम मुझे कृपाकर यह तो बताओ कि तुम कौन हो और रात्रि में मंदिर में जाकर तुमने क्या किया। किसलिए तुम रात्रि में नहीं रुक सके थे।

सुनो बंधु, जाति से मैं शूद्र हूँ, शूद्रों में भी अत्यंत निम्न कोटि का अंत्यज, परंतु गायत्री महामंत्र के जप-अनुष्ठान के प्रभाव से मेरी अंतर्चेतना ब्रह्मतेज से प्रदीप्त हो सकी है। पिछली रात्रि मंदिर में मैं माता गायत्री की महिमा को गाता रहा हूँ। कल श्री रामनवमी भी थी, इसलिए प्रभु के भक्ति गीत मैंने गाए। तत्त्व की दृष्टि से मुझे यह बोध है कि आदिशक्ति माता गायत्री ही अपने अंश से श्रीराम प्रभु में अवतरित हुईं और उन्होंने अपनी अवतार लीला पूर्ण की।

उसके इन वचनों से ब्रह्मराक्षस सोच में पड़ गया। उसने सोचा, अवश्य इसकी साधना में कोई रहस्यपूर्ण चमत्कार है। अपने मन में ऐसा विचार करते हुए उसने उस गायत्री भक्त से कहा, कल्याणमय ! तुम अपनी नवरात्रि साधना के मात्र एक दिन और रात्रि का पुण्य मुझे दे दो, तो मैं तुम्हें छोड़ दूँगा, अन्यथा मैं तुम्हारा भक्षण करके ही चैन लूँगा।

अरे राक्षस ! कैसी मूर्खतापूर्ण बात कर रहे हो। मैं तो स्वयं ही अब तुम्हारे लिए भोज्य पदार्थ बनकर आ गया हूँ। तुम मुझे स्वेच्छा से खाते क्यों नहीं ?

ब्रह्मराक्षस का विस्मय और बढ़ गया। वह सोचने लगा कि यह निश्चय ही पुण्यात्मा है। इसे जीवन देने में मुझे भी पुण्य मिलेगा। यह सोचकर वह बोला, कैसी बात करते हो भद्र, कौन मूर्ख दुष्टबुद्धि तुम्हें पीड़ा देने के लिए

तुम्हारी ओर दृष्टिपात भी कर सकता है, तुम तो अपनी साधना के द्वारा स्वयं सुरक्षित हो। हे महाभाग, यदि तुम अपनी साधना के एक दिन और एक रात का पुण्य नहीं देना चाहते तो कोई बात नहीं। रात्रि के अंतिम प्रहर में माँ गायत्री की महिमा में जो अंतिम गीत तुमने गाया है, केवल उसी का पुण्य देकर मुझे पाप से बचाओ। ब्रह्मराक्षस पुनः गिड़गिड़ाते स्वर में बोला।

कौन से पाप? कैसे दुष्कर्म? किस कारण तुम ब्रह्मराक्षस बने हो? गायत्री भक्त कीर्तनलाल ने पूछा।

मैं पूर्वजन्म में ब्राह्मण था, पर केवल जाति से। कर्म तो मेरे कदापि ब्राह्मण के न थे। सिर्फ ब्राह्मण जाति के दंभ से मैं फूला, ऐंठा, इतराया फिरता था। मेरी स्वयं की गायत्री साधना में कोई रुचि न थी, पर अपनी जाति के अहं में मैं दूसरे गायत्री साधकों की निंदा करता फिरता था। मेरे ही गाँव में एक अन्य तपस्वी रहते थे, जो जाति और कर्म दोनों से ही ब्राह्मण थे। उनमें न तो अपने कुलीन होने का अहं था और न ही जाति-भेद की पक्षपातपूर्ण भावना। वह बराबर कहा करते थे कि माँ गायत्री तो आदि जननी है, समस्त सृष्टि उनकी संतान है। गायत्री महामंत्र पर मनुष्य मात्र का अधिकार है। यह सत्य उनके कथन ही नहीं आचरण पर भी लागू होता था। उन्होंने शूद्रों-अंत्यजों को भी गायत्री दीक्षा दी।

उनके तप के प्रभाव से वे शूद्र और अंत्यज भी गायत्री साधक और तपस्वी बन गए, पर मैं अपने अहंकार के वशीभूत होकर सदा उनकी निंदा किया करता था। उन्हें अपमानित करने का कोई भी अवसर न चूकता। जिस किसी से भी उनके बारे में निंदापूर्ण अपशब्द कहता। उनका तिरस्कार करना ही मेरे अपने जीवन का लक्ष्य बन गया। हालाँकि वे तपस्वी बड़े दयालु थे। उन्होंने कभी भी मेरे ऊपर क्रोध न किया। सदा ही अपना प्रेम मुझ पर बनाए रखा, परंतु विधाता तो न्यायकारी है। सृष्टि तो नियंता के कर्मफल विधान से संचालित है। मुझे अपने कर्म का फल तो मिलना था। अपने ही कर्मदोष से मुझे ब्रह्मराक्षस बनना पड़ा। इस योनि में मैं बड़ी पीड़ा पा रहा हूँ। ब्रह्मराक्षस की पीड़ा सचमुच ही उसके समूचे अस्तित्व में छलक उठी।

कीर्तनलाल इससे द्रवित हुए बिना न रहा। उसने विगलित हृदय से कहा, मैं तुम्हें भक्ति गीत का पुण्य दे सकता हूँ। किंतु तुम्हें भी मेरे सत्यवचन का पालन करना होगा। कहो शीघ्र कहो, ब्रह्मराक्षस को उतावली थी। ऐसा कौन-सा कार्य है, जिसे पूर्ण कर मैं इस योनि से मुक्ति पा सकूँगा। व्याकुल ब्रह्मराक्षस भक्त कीर्तनलाल के समीप प्रणत भाव से खड़ा था।

यदि तुम प्राणियों को इस प्रकार मारकर खाना बंद कर दो, तो मैं तुम्हें अपने गायत्री गान का पुण्य दे सकता हूँ। कीर्तनलाल ने कहा।

मेरे नेत्र तो तुम्हारे आचरण ने, तुम्हारी सत्यनिष्ठा ने खोल दिए हैं। इस संसार में मनुष्य दुष्ट प्रवृत्ति का त्यागकर ही मनुष्य जीवन का श्रेष्ठतम स्वरूप प्राप्त कर सकता है। अब मैं प्राणी हिंसा कदापि नहीं करूँगा।''

तथास्तु कहते हुए उस परमभक्त ने अपने रात्रिभजन के अंतिम भक्ति संगीत का पुण्य उसे देने का संकल्प किया और आदि शक्ति माता गायत्री से उसके कल्याण के लिए प्रार्थना की।

चरणों में झुक गया वह हिंसक ब्रह्मराक्षस। भक्ति गीत का पुण्य ग्रहण कर वह माता गायत्री के मंदिर में जा पहुँचा। यह मंदिर तो जाग्रत् तीर्थ था। उसने इस मंदिर में माँ के सामने ही अनशन करते हुए देह त्याग दी। भक्ति गीत एवं माँ गायत्री की महिमा से वह राक्षस योनि से मुक्ति पा गया। माँ गायत्री के प्रभाव से ब्रह्मलोक में स्थान पाया उसने। ❐

महर्षि कश्यप की दो पत्नियाँ थीं, कद्रु और विनता। उन्होंने उन्हें अपने-अपने उत्तराधिकारियों के निमित्त वर माँगने को कहा। कद्रु ने १००० शक्तिशाली पुत्र माँगे। उसका विचार था कि बड़ी संख्या में शक्तिशाली पुत्र उसे विनता से अधिक सम्मान और यश दिला सकेंगे। विनता ने तेजस्वी, सुसंस्कारी मात्र दो पुत्र माँगे।

कद्रु के नाग हुए एक हजार। थोड़े समय के लिए उसका दबदबा बन भी गया, पर जब विनता के अरुण और गरुड़ का पराक्रम प्रकट हुआ, तो संख्या के ऊपर श्रेष्ठता का महत्त्व स्पष्ट हो गया। अरुण बने सूर्य भगवान् के सारथी और गरुड़ बने भगवान् विष्णु के वाहन। उन्होंने चंद्रलोक से अमृतकलश लाकर कद्रु के बंधनों से माँ विनता को मुक्त कराया। नाग उनके भय से थर-थर काँपते रहे।

एक कला, जिसके सुनियोजन पर राष्ट्र की रक्षा संभव है

गुप्तचर्या का आदिम रूप पूर्णत: बुद्धि-चातुर्य पर अवलंबित था, तब बौद्धिक निपुणता ही इसकी सफलता-विफलता का मूलभूत आधार हुआ करती थी। जो जितने मेधावी और प्रत्युत्पन्नमति संपन्न होते थे, उनकी इस विद्या में उतनी ही अधिक पैठ होती और वे इसे उतनी ही दक्षतापूर्वक संपादित करते थे, पर आज स्थिति दूसरी है। विज्ञान के पदार्पण ने इस कला को पूर्णरूपेण यांत्रिक बना दिया है। अब साधारण बुद्धि भी वैज्ञानिक यंत्र-उपकरणों के माध्यम से यह कार्य उतनी ही कुशलतापूर्वक कर गुजरती है, जितनी कि पहले प्रखर मेधा कर सकने में समर्थ थी। इसके लिए इन दिनों छोटे-बड़े नानाप्रकार के जासूसी उपकरणों का इस्तेमाल किया जा रहा है और इस विधा को एक नया आयाम दिया जा रहा है।

१८वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब विज्ञान ने मानवी जीवन को अनुगृहीत करना प्रारंभ किया, तो उसने समाज की कई धाराओं को भी प्रभावित किया और उन्हें सशक्त बनाया। इन्हीं में से एक गुप्तचर तंत्र भी है। विज्ञान के निरंतर के अनुदानों से यह प्रणाली इतनी समृद्ध हुई कि देखते-देखते किसी की भी जासूसी कर लेना एकदम सरल हो गया। दूसरे शब्दों में कहें, तो यह विद्या विकास की उन ऊँचाइयों को स्पर्श करने लगी है, जिसकी कि शायद ही कभी कल्पना की गई हो।

विज्ञान जब किसी विधा के साथ संयुक्त होता है, तो उसकी क्षमता और दक्षता ही नहीं बढ़ती, अपितु उसका ऐसा कायाकल्प होता है कि वर्तमान रूप को देखकर उसके पूर्व स्वरूप का अंदाज लगाना तक कठिन हो। आज की गुप्तचर पद्धति विज्ञान के अनुग्रह का ऐसा ही जीवंत प्रमाण है। इसमें मुश्किल से दिखाई पड़ने वाले अत्यंत छोटे यंत्रों से लेकर आकाश में मँडराने वाले विशालकाय उपग्रह तक प्रयुक्त होते हैं। यह सभी अपने सहयोगी मनुष्यों को प्रतिपक्ष की महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध कराते एवं उनकी वास्तविक शक्ति और प्रगति का अनुमान लगाने में मदद करते हैं। इससे दूसरे पक्ष को उन-उन क्षेत्रों में अपनी उन्नति और उत्कर्ष की रूपरेखा तैयार करने और तदनुरूप ताना-बाना बुनने में सहायता मिलती है।

उदाहरण के लिए उस कलाई घड़ी को लिया जा सकता है, जो पिछले दिनों अमेरिका की एक कंपनी ने विशेष रूप से तैयार की है। यह घड़ी देखने में बिलकुल सामान्य प्रतीत होती है, लेकिन जरूरत पड़ने पर इसे गुप्तचर्या के एक असाधारण औजार के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके भीतर एक शक्तिशाली माइक्रोफोन फिट होता है, जो घड़ी धारण करने वाले के वस्त्र के अंदर एक छोटे टेपरिकार्डर से संबद्ध रहता है। आवश्यकता पड़ने पर दोनों को ऑन कर किन्हीं की भी बातचीत कहीं और कभी भी टेप की जा सकती है। इसी तरह एक डिजिटल कलाई घड़ी भी विकसित की गई है। इसमें एक अति लघु कैमरा लगा है। यह कैमरा एक बार में सौ के करीब तस्वीरें खींच और स्टोर कर सकता है।

इसी प्रकार का एक अन्य छोटा कैमरा 'मिनोक्स' है। इसका आकार इतना लघु है कि उसे मुट्ठी में आसानी से घुमाया जा सकता है। दस्तावेजों के चित्र उतारने के लिए यह आदर्श माना जाता है, किंतु इसके साथ कठिनाई यह है कि दस्तावेजों को पठनीय बनाने के लिए निगेटिव को २५-३० गुना बड़ा करना पड़ता है। पूर्व सोवियत संघ ने ऐसे कार्यों के लिए चाबी के छल्ले जैसे दिखाई पड़ने वाले कैमरे तैयार करवाए थे। इसमें लेंस की जगह 'पिनहोल' का इस्तेमाल किया गया था। वस्तु या व्यक्ति दूर हो या पास, इससे खींची गई तस्वीर एकदम साफ होती थी। अब लोगों पर दृष्टि रखने के उद्देश्य से भी कैमरे बनाए जा रहे हैं। इन कैमरों का लेंस माचिस की तीली के सिर के बराबर होता है। इन्हें प्राय: दीवार घड़ी के भीतर फिट किया जाता है और इनका लेंस घड़ी की दोनों

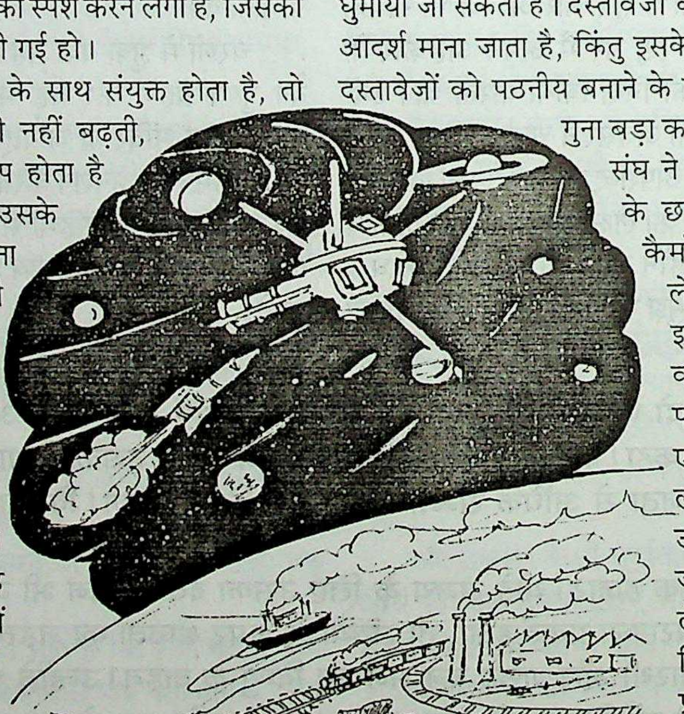

सुइयों को कसने वाले पेंच के स्थान पर होता है। जब से ऐसे कैमरों का प्रचलन शुरू हुआ, तभी से जासूसी में इनका इस्तेमाल बड़े पैमाने पर आरंभ हो गया। ऐसे वीडियो कैमरे द्वारा की गई जासूसी का पहला मामला सन् १९७९ में अमेरिका में तब प्रकाश में आया, जब 'एबेस्कैम' नाम से चलाए गए इस अभियान में सात अमेरिकी सांसद घूस लेते हुए पकड़े गए। उक्त वीडियो फिल्म द्वारा उपलब्ध कराए गए प्रमाण के कारण ही उन्हें जेल जाना पड़ा। पिछले दिनों भारतीय राजनीति में काफी समय तक छाए रहने वाले तहलका प्रकरण में भी ऐसे ही कैमरों का प्रयोग किया गया था।

आजकल सामान्य प्रयोग की वस्तुओं में ही ऐसे उपकरण लगा दिए जाते हैं कि सामने वाले को पता तक नहीं चलता कि वह साधारण-सी दीखने वाली वस्तु एक असाधारण जासूसी यंत्र है। ऐसी ही एक लिखने वाली कलम (पेन) गुप्तचर्या जगत् में विद्यमान है। यह दीखती और लिखती तो सामान्य कलम की तरह है, पर कार्य रेडियो ट्रांसमीटर जैसा करती है। इसमें एक अत्यंत शक्तिशाली नन्हा माइक्रोफोन फिट होता है। इसी के साथ एक सूक्ष्म ट्रांसमीटर भी लगा रहता है, जो कुशलतापूर्वक सिगनल भेजने का कार्य करता है। ५०० मीटर की परिधि में बैठा कोई भी व्यक्ति रिसीवर के माध्यम से इन संदेशों को आसानी से सुन और रिकॉर्ड कर सकता है। पेन की बॉडी में एक छोटी बैटरी छिपी होती है, जिससे उसे लगातार ऊर्जा मिलती रहती है। यदि इस यंत्र से अनवरत रूप से काम लिया जाए, तो छह घंटे तक निरंतर उसे ऊर्जा मिलती रह सकती है।

दिन के उजाले में तो किसी पर भी दृष्टि रखी जा सकती है, पर रात के अँधेरे में यह कार्य असंभव है। मनुष्य की आँखें रोशनी में ही देखने की अभ्यस्त होती हैं, गहन निशा में तो उसे अपने शरीर के अंग भी दृष्टिगोचर नहीं होते। ऐसी स्थिति में शत्रु अपने कार्य आसानी से कर गुजरते हैं। इस दशा से बचने के लिए रात के अँधेरे में देखने वाले चश्मे विकसित किए गए हैं। इनसे इन्फ्रारेड किरणों की बौछार होती हैं, जो द्रष्टा को किसी भी वस्तु को साफ-साफ देखने में मदद करती हैं। इस चश्मे में टी. वी. कैमरे की तरह का एक लेंस और ट्यूब लगी होती है, जो दृश्य बनाने का कार्य करती है। ट्यूबों की उपस्थिति से अंधकारपूर्ण दृश्य प्रकाशवान् हो उठते हैं और जो आँख रात्रि में आमतौर पर कुछ भी नहीं देख पाती, उसे सब कुछ स्पष्ट दीखने लगता है। इस करिश्मे के पीछे चश्मे में लगी दो बैटरियों का महत्त्वपूर्ण हाथ है। यह बैटरियाँ चश्मे को ऊर्जा प्रदान करती हैं। ऊर्जा के अजस्र प्रवाह के कारण ही अवरक्त किरणों की निरंतर बौछार होती रहती है, जिससे सामने का शत्रु भलीभाँति दृश्यमान हो उठता है, जबकि उसे अपने प्रतिपक्षी का भान तक नहीं मिल पाता। ऐसा इसलिए कि अवरक्त किरणें अदृश्य स्तर की होती हैं। अतएव इन किरणों की मदद से देखने वाला सामने वाले को तो सुस्पष्ट देख लेता है, पर स्वयं अगोचर बना रहता है।

इसी प्रकार रात के अँधेरे में तस्वीरें खींच सकने वाला एक कैमरा भी विकसित किया गया है। ऐसे कैमरे आमतौर पर जासूसी कार्य हेतु ही प्रयुक्त होते हैं। इन कैमराओं की विशेषता यह है कि जलती सिगरेट से ही ये पर्याप्त प्रकाश ग्रहण कर बिलकुल साफ चित्र खींच सकते हैं। इसलिए इन कैमरों की आँखों से बचे रहने के लिए शत्रु पक्ष को सदा यह बात ध्यान में रखनी पड़ती है कि उसका कोई सदस्य ऐसी मुहिम में निकलने पर धूम्रपान से सदैव परहेज करे।

जासूसी प्रकरणों में यदि 'बगिंग' और 'टेपिंग' जैसी प्रक्रियाओं का उल्लेख न हो, तो चर्चा अधूरी मानी जाएगी। यह दो ऐसी तकनीकें हैं, जिनका गुप्तचरी के कार्य में बढ़-चढ़कर उपयोग किया जाता है। शत्रुपक्ष क्या सोच रहा है और कैसी योजनाएँ बना रहा है? यह उनके वार्त्तालापों से आसानी से जाना जा सकता है। उन्हें यदि सुन और टेप कर लिया जाए, तो उनके मनसूबों पर पानी फेरा जा सकना संभव है। बगिंग और टेपिंग ऐसी ही दो प्रणालियाँ हैं, जिनमें प्रतिपक्ष की बातचीत को सुना और रिकॉर्ड किया जाता है। 'बग' प्राय: उस मिनी और शक्तिशाली माइक्रोफोन को कहते हैं, जिन्हें जासूसी की जगह किसी उपयुक्त सामान में छिपा दिया जाता है। यह सामान टेबुल लैंप, गुलदस्ते, मेज, दीवार घड़ी, दरवाजे, पलँग, खिड़कियाँ आदि हो सकते हैं। इसके उपरांत जासूस किसी अन्य कमरे, भवन या पास खड़े वाहन में बैठकर अंदर की सारी बातचीत सुनते और रिकॉर्ड करते हैं। बगिंग की सबसे चर्चित घटना रूसियों द्वारा अमेरिकी दूतावास की जासूसी से संबद्ध है। अमेरिका ने मास्को में जब पहली बार अपना दूतावास खोला, तो सोवियत संघ ने दरवाजों पर लगाने वाले अमेरिकी प्रतीक चिह्न उसके अधिकारियों को भेंट स्वरूप प्रदान किए। बाहर से देखने में तो यह सामान्य प्रतीक चिह्न जैसे ही लगते थे, पर वास्तव में ये शक्तिशाली 'बग' थे। इनके भीतर बड़ी कुशलतापूर्वक एक संवेदनशील स्प्रिंग लगाई गई थी। यह स्प्रिंग कमरे में होने वाली फुसफुसाहट जितनी धीमी बातचीत को भी पकड़ लेती थी और उन ध्वनि तरंगों के कारण काँपने लगती थी। रूसी जासूस इन कंपनों को राडार से पकड़कर उनकी बातचीत को जान लेते थे।

'टेपिंग' प्रतिपक्ष की बातचीत को सुनकर रिकॉर्ड कर लेने की तकनीक को कहते हैं। इसका प्रयोग सामान्यत: टेलीफोन पर होने वाली बातचीत को सुनने और रिकॉर्ड करने में होता है। इसके लिए एक नन्हा 'बग' टेलीफोन यंत्र में लगा दिया जाता

है। इससे संपूर्ण वार्त्तालाप टेप हो जाती है। इस संदर्भ में 'इनफिनिटी रिसीवर' एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार है। इस उपकरण को टेलीफोन लाइन के साथ संबद्ध कर दिया जाता है। उसके बाद जब उक्त कमरे का टेलीफोन नंबर डायल किया जाता है और साथ ही एक विशेष बटन दबाया जाता है, तो वह टेलीफोन अपना सामान्य काम करना बंद कर देता है और एक शक्तिशाली माइक्रोफोन में परिवर्तित हो जाता है। इस मध्य कमरे में हो रही किसी भी प्रकार की बातचीत को सुना और रिकॉर्ड किया जा सकता है। यह इतना शक्तिशाली यंत्र है कि विश्व के किसी भी स्थान में स्थित कमरे में हो रही वार्त्तालाप को सुना और टेप किया जा सकता है।

यह धरती पर धरती से होने वाली गुप्तचर्या की चर्चा हुई। इसके अतिरिक्त आकाश में उड़ने वाले टोही विमानों और निरंतर परिक्रमारत उपग्रहों से भी यह कार्य संपन्न होते हैं। जासूसी विमानों में अमेरिका का 'ईपी ३' विमान सबसे आधुनिकतम है। इसे आमतौर पर 'फ्लाइंग पिग' के नाम से जाना जाता है। अरबों डालर की लागत से बना यह विमान अपने उद्देश्यों में पूरी तरह सफल साबित हुआ है। इससे आसमान में उड़ रहे दूसरे विमानों के बीच की बातचीत और उनके तथा कंट्रोल टावर के बीच की वार्त्तालाप को सुना और रिकॉर्ड किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसमें टेलीफोन वार्त्तालाप को भी सुनने और टेप करने की व्यवस्था है। पिछले दिनों इसी विमान को लेकर अमेरिका और चीन में विवाद शुरू हुआ था। चीन का आरोप था कि वह उसके क्षेत्र में उड़कर जासूसी कर रहा था। इसी आधार पर उसने उसे अपने यहाँ उतार लिया। बाद में भारी जद्दोजेहद के उपरांत उसे वहाँ से जाने की अनुमति दी गई।

ऐसे ही चौबीसों घंटे चक्कर लगाने वाले अमेरिकी जासूसी उपग्रहों की आँखों से कुछ भी छुपा नहीं रहता। हजारों किलोमीटर ऊपर परिक्रमा कर रहे इन उपग्रहों की आँखें इतनी पैनी होती हैं कि मकान की छत पर दाढ़ी बना रहे व्यक्ति की दाढ़ी के बाल बाँस की बल्लियों की तरह मोटे दिखाई पड़ते हैं। इतने पर भी इस क्षेत्र के प्रवीण पारंगत लोग उन्हें भी धोखा देने में सफल हो जाते हैं। पिछले दिनों भारत ने जो अति गोपनीय ढंग से सफल परमाणु विस्फोट किए, वह इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। महीनों पूर्व से हो रही इस तैयारी की भनक भी इन उपग्रहों को नहीं लग पाई, किंतु ऐसे प्रसंग यदा-कदा ही देखने में आते और अपवाद की श्रेणी में गिने जाते हैं। अधिकांश अवसरों पर 'ब्लैकवर्ड', 'डार्क स्टार,' 'ईपी-३' जैसे टोही विमानों और चक्कर काटते उपग्रहों से बच पाना असंभव होता है।

अमेरिकी जासूसी उपग्रहों की तर्ज पर अब योरोपीय समुदाय के देश 'औरवेल' प्रणाली की एक ऐसी परियोजना पर कार्य कर रहे हैं, जिसके द्वारा विश्व के किसी भी हिस्से को हर दो घंटे बाद अपने कंप्यूटर के परदे पर देखा जा सकेगा। १२ उपग्रहों और राडार से संयुक्त यह प्रणाली कंप्यूटर और इंटरनेट से संबद्ध होगी। इस परियोजना के अध्यक्ष स्टीफेन हॉब्स का कथन है कि यदि इस प्रणाली का उपयोग कर कोई व्यक्ति अपने शत्रु की निगरानी करना चाहेगा, तो उसे सिर्फ अपना कंप्यूटर चालू करना पड़ेगा। उसके बाद शत्रु की गतिविधियाँ उसके समक्ष साकार हो उठेंगी। उसके घर, आँगन, छत, उपवन एवं इर्द-गिर्द के लोग और दृश्य कंप्यूटर के परदे पर ऐसे उभर आएँगे, मानो वह उन्हें कंप्यूटर पर नहीं, साक्षात् देख रहा हो। इसमें राडार की मदद इसलिए ली गई है कि रात का अँधेरा या मेघाच्छन्न आसमान इसमें कोई अड़चन पैदा न कर सके और किसी भी मौसम में कभी भी व्यक्ति अपने इच्छित स्थान का पर्यवेक्षण क्षण मात्र में कर ले। ऐसी उम्मीद है कि यह परियोजना सन् २००५ तक पूरी हो जाएगी और कार्य करना आरंभ कर देगी। तब इससे एक ही समय में दोहरे कार्य लिए जा सकेंगे। घर बैठे स्थान विशेष के भ्रमण-दर्शन भी हो जाएँगे और साथ ही वहाँ की टोह भी ली जा सकेगी।

विज्ञान के विकास ने गुप्तचर तंत्र को काफी संपन्न बनाया है। जिस कार्य को करने में पहले लंबा समय लग जाता था, वह जासूसी उपकरणों के माध्यम से अब स्वल्प समय में संपादित हो जाते हैं। इससे समय, श्रम और शक्ति की तो बचत होती ही है, इसके अतिरिक्त अवांछनीय कार्यों में जुटे लोगों की संलिप्तता के प्रत्यक्ष प्रमाण जुटा पाना भी अत्यंत सरल हो गया है। इससे पूर्व यह प्रमाण परोक्ष ही हुआ करते थे, जिसमें हेर-फेर की काफी गुंजायश थी, पर वैज्ञानिक यंत्रों ने इस आशंका को बिलकुल नहीं तो काफी क्षीण अवश्य कर दिया है। अतएव इसका लाभ उठाया जाना चाहिए। जिस दिन इस विधा का पूर्णरूपेण सदुपयोग आरंभ हो जाएगा और विनाश की तुलना में उसे विकास में पूरी तरह नियोजित कर दिया जाएगा, समझा जाना चाहिए कि मानवी चिंतन ने विज्ञान के वरदान को अभिशाप में बदलने की मूर्खता छोड़ दी। यह उसके सुखद भविष्य का शुभ लक्षण होगा और मानवी उत्कर्ष का ब्रह्ममुहूर्त भी।

गुप्तचर्या एक कला है। वैज्ञानिक आविष्कारों से उसमें निखार आया है। यह निखार निष्कलंक तभी बना रह सकता है, जब उसमें हर एक के लिए मंगलकामना निहित हो। विद्वेषजन्य भावना उसके आत्मा की हत्या करती है। तब वह प्रेरणा, प्रशिक्षण, शांति और सुव्यवस्था की माध्यम न बनकर अराजकता की प्रेरक बन जाती है। यह खतरनाक स्थिति है। विश्व-मनीषा को इस ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

⁂

तप-साधना का ठीक यही है उचित मुहूर्त

चैत्र नवरात्रि तप-साधना का श्रेष्ठतम मुहूर्त है। यों तो साधना हर पल-हर क्षण शुभ होती है, किंतु श्रेष्ठतम मुहूर्त में उचित रीति-नीति एवं विशेष विधान से की जाने वाली तप-साधना के परिणाम बहुत व्यापक और असरकारक होते हैं। ऐसे तप से कठिन प्रारब्ध के दुर्धर्ष दुर्योग कटते हैं और उज्ज्वल जीवन की प्रकाश किरणें अवतरित होती हैं। यह पूरी तरह से शास्त्रसम्मत एवं साधना-विज्ञान के मर्मज्ञ महर्षियों द्वारा अनुभूत सत्य है कि चैत्र नवरात्रि की साधना के प्रभाव तीव्र एवं त्वरित होते हैं। बशर्ते कि साधना की रीति-नीति एवं अनुशासनों का ढंग से पालन किया गया हो। इन दिनों ग्रहों की गति, सौरमंडल में सूर्य के चारों ओर भ्रमण कर रही पृथ्वी की स्थिति कुछ अलग ही होती है। इन दिनों समूची प्रकृति कुछ ऐसे सरंजाम जुटाती है, जो चर्मचक्षुओं से भलीप्रकार नजर न आने के बावजूद साधकों की साधना के लिए विलक्षण होते हैं।

जो जाग्रत् हैं, जिन्हें ठीक-ठीक समझ है, वे इन दिनों जीवन के अन्य सभी कामों को कम करके साधना अनुष्ठान के लिए संकल्पित होते हैं। अपने देव परिवार के सदस्यों की गणना ऐसे ही समझदारों में होती है। गुरुदेव को समर्पित शायद ही ऐसा कोई शिष्य-साधक हो, जो नवरात्रि साधना से वंचित रहा हो। यदि किसी के जीवन में कभी ऐसे अवसर आए भी हैं, तो अवश्य उसकी कोई मजबूरी रही होगी अन्यथा तपोमूर्ति गुरुदेव की संतानें तप-साधना से कब पीछे हटने वाली हैं और वह भी तब, जब श्रेष्ठतम मुहूर्त ने द्वार पर दस्तक दी हो। साधना के अभ्यासी अपने तपस्वी परिजनों से इस विशेष नवरात्रि में कुछ विशेष ही उम्मीदें रखी गई हैं। उनके सम्मिलित तप के महास्त्र का उपयोग युगांतरीय चेतना अपने उच्चस्तरीय प्रयोजन हेतु करने वाली है।

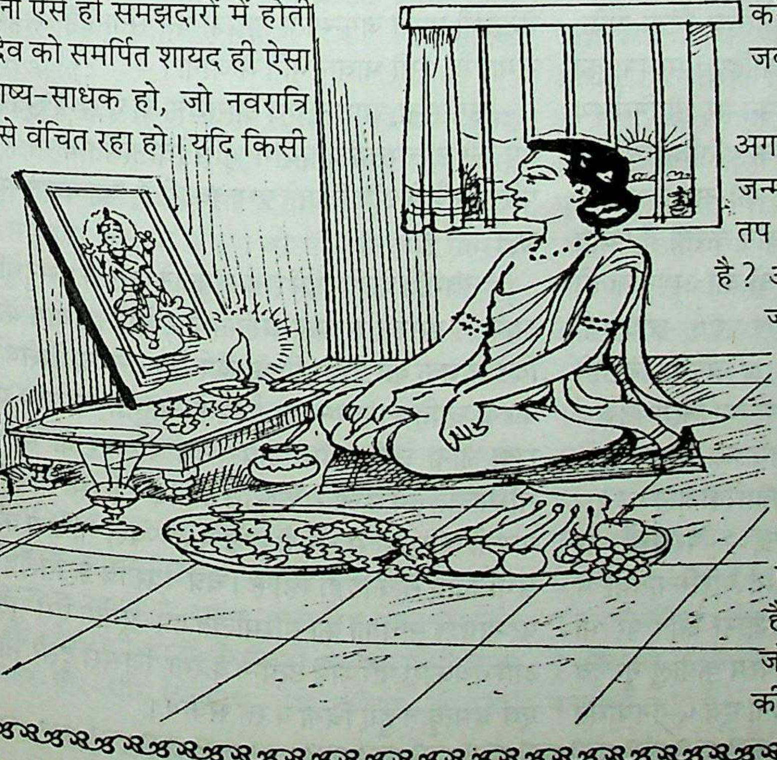

इस तरह इस बार की चैत्र नवरात्रि हर दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वैयक्तिक एवं वैश्विक दोनों ही दृष्टियों से इस अवसर पर किया जाने वाला तप संजीवनी औषधि की भाँति है। हमारी राष्ट्रमाता माँ भारती तो जैसे हमेशा ही अपनी तपस्वी संतानों को पुकारती रहती है। आज उसकी जो पीड़ा और छटपटाहट है, वह किसी भी हृदयवान् को विकल कर देने के लिए पर्याप्त है। इससे छुटकारे के लिए तप का प्रचंड पराक्रम चाहिए। तप के महावज्र से ही माँ भारती को कष्ट देने वाले असुरों का संहार होगा। महातप की ऊर्जा का प्रबल वेग ही उन दुर्योगों को तहस-नहस करेगा, जिनमें हमारी राष्ट्रमाता कसी-जकड़ी, फँसी बँधी है।

इस सच को जानकर भी महातपस्वी अगस्त्य के, अपने तप से नई सृष्टि को जन्म देने वाले ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के वंशज तप में संलग्न न हों, भला यह कैसे संभव है? अपने समूचे जीवन तप की धधकती ज्वालाएँ बनकर जीने वाले परमपूज्य गुरुदेव की संतानों को तप ही शोभा देता है। नवरात्रि की शुभ घड़ी हमारे जीवन में तप की सुदीर्घ प्रक्रिया और परंपरा का शुभारंभ करने आई है। इन परम पावन दिनों में किए जाने वाले तप के स्वरूप से हम सभी परिचित हैं, पर हममें से कुछ ऐसे भी होते हैं, जो किसी जल्दबाजी या भूलवश तप की प्रक्रिया को आधा-अधूरा ही करके

संतुष्ट हो जाते हैं, पर इस बार किसी भी तरह ऐसे भूल या भ्रम की कोई गुंजाइश नहीं है।

तप-साधना प्रखर एवं प्रचंड तभी बनती है, जब उसमें सम्यक् उपासना के साथ साधना और आराधना के कठोर अनुशासन जुड़े हों। उपासना के क्रम में साधकों को पूरी भक्ति एवं श्रद्धा के साथ २४,००० का जप पूर्ण करना होता है। नवरात्रि के दिनों के हिसाब से प्रतिदिन की जप संख्या का निर्धारण होता है। ३० माला जप करने से जप संख्या का विधान भली-भाँति पूरा हो जाता है, परंतु जैसे-तैसे जप पूरा कर लेना उपासना नहीं है। इसके लिए प्रतिदिन निश्चित संख्या, निश्चित समय एवं निश्चित स्थान के नियम का पालन करते हुए अपनी पूजा वेदी पर गुरु और इष्ट के पूजन के साथ जप करना चाहिए। जो अंतर्मन में सद्गुरु एवं इष्ट की एकता को अनुभव करते हैं, उनके लिए गुरुपूजा ही पर्याप्त है। तप के साथ सूर्यमंडल में स्थित गुरुदेव या माँ गायत्री का ध्यान अनिवार्य है। गायत्री महामंत्र का जप सूर्य-चेतना के संदोहन का विशिष्ट विज्ञान है। इसलिए जपकाल में ध्यान की प्रगाढ़ता कुछ ऐसी होनी चाहिए कि साधक को यह स्पष्ट अनुभूति हो कि वह स्वयं अनंत किरणों वाले सूर्य की एक प्रकाश किरण बन गया है।

उपासना काल में जिस ऊर्जा का अवतरण होता है, उसके धारण करने की प्रक्रिया साधना कही जाती है। छलनी में अमृत की धार भी गिरे तो भी वह टिकेगी नहीं। उपासना में प्राप्त तप शक्ति का अमृततत्त्व टिक सके, इसके लिए साधना का समुचित पात्र चाहिए। साधना का अर्थ है—कठोर संयम, शरीर ही नहीं मन पर भी नियंत्रण रखना। उन सभी शारीरिक एवं मानसिक गतिविधियों को वर्जित समझना जो हमारी जीवनी शक्ति को नष्ट करती हैं, हमारी चिंतन शक्ति को विकृत एवं बर्बाद करती हैं। यदि व्यावहारिक रूप से कतिपय साधना सूत्रों को अपनाना हो तो तप के विशेष समय में शारीरिक तल पर १-ब्रह्मचर्य, २-अस्वाद, ३-किसी से सेवा न लेना, ४-कठोर बिछौने पर शयन करना एवं ५-दिनचर्या को पूर्णतया नियमित एवं अनुशासित रखना जैसे सूत्रों को अपनाया जा सकता है।

मानसिक तल पर साधना के व्यावहारिक तल पर १-किसी भी तरह के ईर्ष्या, द्वेष से बचना, २-परचर्चा, पर निंदा से हर तरह से बचना, ३-विपरीत परिस्थितियों में भी क्रोध न करना, शांत रहना, ४-परेशानी आने पर भी आदिशक्ति जगज्जननी माँ गायत्री एवं परम कृपालु गुरुदेव की कृपा पर विश्वास करके प्रसन्न रहना एवं ५-नियमित स्वाध्याय करना जैसे सूत्रों को अपनाया जाना चाहिए। शारीरिक और मानसिक तल पर इन सभी अनुशासन सूत्रों को अपनाने वाला अपने आप ही सुपात्र, सत्पात्र बन जाता है। उसमें उपासना द्वारा प्राप्त शक्ति के बल पर ब्रह्मतेज चमकने, छलकने लगता है। यदि उपासना और साधना का ऐसा सुयोग कुछ वर्षों तक नियमित रूप से रह सके, तो फिर उसके संकल्प मिथ्या नहीं होते। उसके द्वारा सोचे गए कार्य अनायास ही होने लगते हैं। दुर्धर्ष दुर्योगों के चक्रव्यूह अपने आप ही ध्वस्त होते हैं। साधक पर माँ आदिशक्ति की कृपा कुछ ऐसी होती है कि कुटिल काल भी अपनी चाल बदलने पर मजबूर होता है।

तप-साधना का तीसरा महत्त्वपूर्ण आयाम है—आराधना। यह दरअसल तप से उत्पन्न ज्ञान है। तप-साधना की चरम परिणति है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की प्रबल भावानुभूति। तपस्वी यदि सच्चा है, तो वह आराध्य के बगैर नहीं रह सकता। वह अपने तप के सुपरिणामों का वितरण करता चला जाता है। आराधना तप की सुगंध है, तप का ज्योतिर्मय प्रकाश है, तप की ऊर्जा का अनुभूतिपूर्ण विस्तार है। यह स्वयं की आत्मचेतना का व्यापक विस्तार है। नवरात्रि के विशेष दिनों में यदि इसके व्यावहारिक सूत्रों पर चर्चा करनी हो तो १-सबसे बिना किसी भेदभाव के प्रेमपूर्ण व्यवहार, २-परिवेश-परिकर के अन्य जनों को साधना के लिए प्रेरित करना, ३-विचार क्रांति के सत्साहित्य को औरों को पढ़ाना, ४-छोटे स्तर पर ही सही किसी सुपात्र की सहायता करना एवं ५-सृष्टि के सभी प्राणी जगन्माता गायत्री की संतानें हैं, सबमें माँ ही समाई है, ऐसी भावानुभूति में जीना।

उपासना, साधना एवं आराधना के ये सभी सूत्र मिलकर तप की उच्चस्तरीय प्रयोग भूमि विनिर्मित करते हैं। इसके परिणाम कैसे और कितने प्रभावकारी हैं, यह कहने-सुनने की बात नहीं है।

नवरात्रि के दिनों में इन्हें अपनाने वाले की अनुभूति अपने आप ही इसकी सत्यता बखान कर देगी। प्रयोग के अंतिम दिन साधक को पूर्णाहुति के रूप में हवन का विशेष उपक्रम करना चाहिए। हवन की प्रत्येक आहुति के साथ यह भाव रखा जाना चाहिए कि अपने देव परिवार के सदस्यों की सम्मिलित तप ऊर्जा से राष्ट्रीय आपदाएँ ध्वस्त हो रही हैं। माँ गायत्री की कृपा से समूचे राष्ट्र में उज्ज्वल भविष्य की सुखद संभावनाएँ साकार हो रही हैं। चैत्र नवरात्रि के विशेष अवसर पर गायत्री साधकों का सम्मिलित तप-प्रयोग ऐसे सुखद और आश्चर्यकारी परिणाम उत्पन्न करेगा, जिससे दूसरे भी चकित एवं चमत्कृत हुए बिना न रह सकेंगे।

वातव्याधि-निवारण की यज्ञोपचार प्रक्रिया

वातव्याधियों में गठिया वात या जोड़ों का दरद सबसे अधिक पीड़ादायक होता है। इस रोग में शरीर के विविध जोड़, जैसे—उँगलियों के जोड़, कलाई, कोहनी, कंधे, टखने, पंजे, घुटने, पिंडलियों, कूल्हे, कमर, गरदन आदि प्रभावित होते हैं। मेडिकल साइंस में इसे 'आर्थ्राइटिस' कहते हैं। आर्थ्राइटिस का अर्थ है, जोड़ों की सूजन या क्षति। यह किन कारणों से उत्पन्न होता है, इसकी पूर्ण जानकारी मेडिकल साइंस के पास नहीं है। माना जाता है कि यह एक वायरसजन्य रोग है, ये वायरस जोड़ों की किन्हीं विशेष कोशिकाओं को संक्रमित कर उनमें विकृतियाँ उत्पन्न कर देते हैं। इससे कालांतर में हड्डियाँ एवं उपस्थि मुड़ने व घिसने लगती हैं। जोड़ों की बाह्य सुरक्षा कवच—साइनोवियल झिल्ली में सूजन आ जाती है और वह अधिक मात्रा में साइनोवियल द्रव्य का स्राव करने लगती है। इससे शोथ बढ़ जाता है और जोड़ क्षतिग्रस्त होने लगते हैं। इससे रोगी को चलने-फिरने में कठिनाई होती है। खान-पान, रहन-सहन एवं आनुवंशिकता भी इसके लिए उत्तरदायी माने गए हैं।

आर्थ्राइटिस रोग कई प्रकार का होता है। इनमें से प्रमुख हैं, (१) रियूमेटॉइड आर्थ्राइटिस अर्थात् संधिवात, (२) ऑस्टियो आर्थ्राइटिस या संधिशोथ, (३) गाउट या गाँठदार गठिया, (४) जुवेनाइल रियूमेटॉइड आर्थ्राइटिस, (५) एंकाइलोजिंग स्पॉन्डिलाइटिस, (६) सोरियाटिक आर्थ्राइटिस आदि।

रियूमेटॉइड आर्थ्राइटिस अर्थात् संधिवात को आमवातीय जोड़ों का दरद भी कहते हैं। यह 'ऑटोइम्यून' रोग माना जाता है, जिसमें शरीर की रोग प्रतिरोधी क्षमता (इम्यून सिस्टम) गड़बड़ा जाने के कारण जोड़ों में विकृति उत्पन्न हो जाती है और वे सूज जाते हैं। यह सूजन जोड़ों की झिल्ली जिसे 'साइनोवियल मेम्ब्रेन' कहते हैं, से आरंभ होती है, जिसके कारण साइनोवियल फ्लूइड अधिक मात्रा में बनने लगता है और जोड़ों के रिक्त स्थानों में भर जाता है। आगे चलकर इससे कोमल अस्थियों-'कार्टिलेज' को भारी क्षति पहुँचती है। कभी-कभी ये गल तक जाती हैं, जिससे जोड़ों में जकड़न व दरद बढ़ जाता है।

रियूमेटॉइड आर्थ्राइटिस का आरंभ हाथ-पैर के छोटे जोड़ों में दरद व सूजन से आरंभ होता है। सर्वप्रथम यह हाथ-पैर के बीच की दोनों उँगलियों के जोड़ों से शुरू होता है और धीरे-धीरे पूरे हाथ, पंजे, कलाई, कोहनी, कंधे, टखने, घुटने और कभी-कभी गरदन की हड्डियों के जोड़ तक फैल जाता है। समय पर उपचार न होने से यह रोग धीरे-धीरे असाध्य बन जाता है। जोड़ों की संधियाँ संकुचित होने लगती हैं और हाथ-पैर टेढ़े होने लगते हैं। जोड़ों में दरद के साथ-साथ शोथ भी रहता है। यह रोग किसी भी आयु के नर-नारी को हो सकता है, पर अधिकतर चालीस वर्ष के बाद इसका प्रकोप अधिक होता है। पुरुषों की तुलना में महिलाएँ इसकी चपेट में अधिक आती हैं। जोड़ों का दरद सर्दियों में तथा सुबह के समय अधिक होता है। शरीर में जकड़न, थकान, बुखार, वजन में कमी, रक्ताल्पता, आँखों में सूजन, फेफड़ों में सूजन आदि लक्षण भी आगे चलकर प्रकट होने लगते हैं, जो इस बीमारी की गंभीरता को दर्शाते हैं। इन्हें रियूमेटिक बीमारियाँ भी कहते हैं।

ऑस्टियो आर्थ्राइटिस अर्थात् अस्थि संधिशोथ, इसे बढ़ती आयु अथवा बुढ़ापे का रोग भी कहते हैं। पुरुषों में यह पैंतालीस वर्ष से पूर्व एवं महिलाओं में पचास-पचपन वर्ष के बाद होता है। उन जोड़ों पर इसका आक्रमण अधिक होता है जिन पर शरीर का भार अधिक होता है अथवा जिनका प्रयोग अधिक होता है, जैसे घुटना, कूल्हा, गरदन, कमर का निचला हिस्सा तथा हाथों के जोड़। प्रायः देखा जाता है कि मोटापे से ग्रस्त व्यक्तियों को ऑस्टियो आर्थ्राइटिस अधिक होता है, विशेषकर घुटने के एवं कूल्हे के जोड़ों का। इसका प्रमुख कारण यह है कि शरीर का वजन अधिक होने के कारण पूरे वजन का सीधा असर घुटनों एवं कूल्हे पर पड़ता है, जिससे ये अंग रोगग्रस्त हो जाते हैं। ऑस्टियो आर्थ्राइटिस जहाँ शरीर के बड़े जोड़ों जैसे घुटने, कूल्हे आदि पर प्रभाव डालता है, वहीं रियूमेटॉइड आर्थ्राइटिस छोटे जोड़ों यथा उँगलियों, हाथ, पंजे, कलाई, कोहनी आदि पर असर करता है। अधिक देर तक घुटने मोड़कर बैठना, पालथी मारकर बैठना, व्यायाम न करना, शरीर का वजन बढ़ना, मोटापा आदि कई कारण ऐसे हैं, जो इस महाव्याधि को पैदा करते हैं। इसके अतिरिक्त पुरानी गंभीर चोट या ऑपरेशन के कारण भी कई बार यह रोग पनप जाता है। उम्र बढ़ने के साथ जोड़ वाले हिस्से की मांसपेशियाँ, तंतु, लिगामेन्ट आदि कमजोर होने लगते हैं, जिससे उनमें आई विकृति भी संधिशोथ का कारण बनती है।

उक्त सभी प्रकार के जोड़ों के दरद व सूजन की समय पर चिकित्सा उपचार न करने व रोग पुराना होने पर वे कठोर पड़ने लगते हैं और जोड़ों पर लॉकिंग-सी हो जाती है, जिससे उठना-बैठना, चलना-फिरना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में कई बार शल्यक्रिया और जोड़ प्रत्यारोपण का सहारा लेना पड़ता है। सभी प्रकार के आर्थ्राइटिस रोग जीवनी शक्ति की कमी, रोग प्रतिरोधी क्षमता का ह्रास व उपापचय प्रक्रिया में गड़बड़ी के कारण उत्पन्न होते हैं। इससे बचने के लिए आवश्यक है कि संतुलित आहार लें, घी, चीनी, चिकनाई कम खाएँ, भोजन में कैल्शियम की मात्रा पर्याप्त लें, दूध, हरी शाक-सब्जी, गरम मसाले, मेथी, राई, फलियों वाली सब्जी खूब खाएँ, व्यायाम करें, मेहनत करें और मोटापे से बचें। देर तक व लेटकर टी. वी. न देखें। कार्बाइड से पके फल, ठंढी चीजें, जूस, खट्टी व वातवर्द्धक चीजें, टमाटर, नीबू, दही, अचार, इमली, साइट्रिक व टारट्रिक एसिड मिश्रित चीजें, ठंढी हवा आदि के सेवन से बचना चाहिए।

सभी प्रकार के जोड़ों के दरद, गठिया आदि से छुटकारा दिलाने में सबसे अधिक प्रभावी, सुरक्षित एवं निरापद चिकित्सा यज्ञोपचार सिद्ध हुई है। इसे प्रत्येक आयु-वर्ग का हर कोई व्यक्ति अपना सकता है और इस कष्टकारी महाव्याधि से मुक्त हो सकता है। इसकी विशेष हवन सामग्री इस प्रकार तैयार की जाती है।

गठियावात या जोड़ों के दरद की विशिष्ट हवन सामग्री— १- महारास्नादि क्वाथ (२६ औषधियाँ), २-दशमूल (दस औषधियाँ), ३-निर्गुंडी, ४-नागरमोथा, ५-पाढ़ा, ६-भारंगी, ७-मूर्वा, ८-एरंड मूल, ९-गिलोय, १०-हरड़, ११-वायविडंग, १२-कुटकी, १३-गुग्गुल, १४-सर्पगंधा, १५-पिप्पलीमूल, १६-मुलहठी, १७-अश्वगंधा, १८-त्रिकटु, १९-हींग, २०-अजमोद, २१-बच, २२-चित्रक, २३-इंद्रायण, २४-अकरकरा, २५-सलई गोंद, २६-ज्योतिष्मती, (मालकांगनी) के बीज, २७-वासा। इनमें से क्रमांक १ से १० तक की औषधियाँ बराबर मात्रा में, क्रमांक ११ से १८ तक उसकी आधी मात्रा में, क्रमांक १९ से २६ तक की औषधियाँ चौथाई मात्रा में (१/४ भाग) एवं नंबर २७ की वासा को दो गुनी मात्रा में लिया जाता है।

उपर्युक्त सभी २६ चीजों को जौकुट करके 'हवन सामग्री नंबर (२)' के रूप में अलग डिब्बे में रख लेते हैं। इसी सम्मिश्रित पाउडर की कुछ मात्रा को बारीक पीसकर कपड़छन करके खाने के लिए रख लेते हैं और हवन के पश्चात् सुबह-शाम एक-एक चम्मच शहद के साथ नित्य-नियमित रूप से खाते हैं।

हवन करते समय पहले से तैयार की गई, 'कॉमन हवन सामग्री नंबर (१)' को बराबर मात्रा में लेकर उपर्युक्त 'नंबर (२) हवन सामग्री' में मिलाकर तब हवन करते हैं। कॉमन हवन सामग्री नं. (१) में अगर, तगर, देवदार, लाल चंदन, श्वेत चंदन, अश्वगंधा, गुग्गुल, लौंग, जायफल आदि चीजें बराबर मात्रा में मिली होती हैं। हवन सूर्य गायत्री मंत्र से किया जाता है। कम-से-कम २४ बार मंत्रोच्चार करते हुए आहुति अवश्य डालनी चाहिए।

जोड़ों के दरद में गठिया पीड़ित अंगों पर वातनाशक तैल की मालिश अवश्य करनी चाहिए। वातनाशक तैल में प्रयुक्त होने वाली सामग्री इस प्रकार है, (१) सरसों तेल-५०० ग्राम, (२) काली हलदी-८ ग्राम, (३) मेथी बीज-८ ग्राम, (४) धतूरा बीज- ८ग्राम, (५) पीले कनेर की जड़-८ ग्राम, (६) कुचला-८ ग्राम, (७) आकमूल-८ ग्राम, (८) शतावर-८ ग्राम, (९) विधारा-८ ग्राम, (१०) चोपचीनी-८ ग्राम, (११) निर्गुंडी-८ ग्राम, (१२) केवाकंद-८ ग्राम, (१३) हरसिंगार के पत्ते-८ ग्राम, (१४) भाँग पत्ती-४ ग्राम, (१५) लहसुन-४ ग्राम, (१६) पिप्पली-४ ग्राम, (१७) मिर्च बीज-३ ग्राम, (१८) अजवायन -२ ग्राम, (१९) भिलावा-२ ग्राम, (२०) कंटकारी (भटकटैया) मूल-२ ग्राम, (२१) कलिहारी मूल-१ ग्राम, (२२) प्रियंगुबीज-५ ग्राम, (२३) तंबाकू-१/४ ग्राम, (२४) शंखिया-२ ग्राम, (२५) अफीम-२ ग्राम, (२६) पिपरमेंट सत-४ ग्राम, (२७) अजवायन सत-४ ग्राम, (२८) कपूर (भीमसेनी) सत-८ ग्राम (२९) मिथाइल सेलिसेलेट-३ मि. ली।

तैल बनाने की विधि इस प्रकार है—क्रमांक २ से २५ तक की सभी औषधियों को गेहूँ के दाने के बराबर टुकड़े-टुकड़े (जौकुट) करके उसे सरसों के तेल में डालकर धीमी आँच में पकाएँ। बीच-बीच में बड़े चम्मच से चलाते रहें, ताकि जलने न पाए। जब सभी औषधियाँ पककर काली होने लगें और तेल जलने की सुगंध आने लगे, तब उतार लें। ठंढा होने पर कपड़े से छान लें। तत्पश्चात् क्रमांक २६ से २८ तक की वस्तुओं को स्टील या काँच के बरतन में मिला लें, जिससे यह मिश्रण पानी बन जाएगा। फिर इस घोल में ३ मि. ली. मेथाइल सेलिसेलेट मिला दें। फिर इस मिले हुए घोल को छने हुए तेल में मिला दें। वातनाशक तैल तैयार है।

सभी प्रकार के आर्थ्राइटिस, जोड़ों का दरद, गठियापन, साइटिका, मांसपेशियों का दरद, चोट, मोच आदि सभी में यह तैल अत्यंत लाभकारी है। इसे हर कोई आसानी से बना सकता है।

गुरुभक्ति से बढ़कर कोई साधना नहीं

''उग्रश्रवा तुम्हारी तपश्चर्या कठोर एवं साधना उत्कृष्ट है, लेकिन अभी तुमने अध्यात्म ज्ञान के रहस्य को नहीं जाना है। अध्यात्म ज्ञान का यह रहस्य गुरुभक्त अनिमेष के पास है। उसकी दृष्टि क्रांतिदर्शी एवं अंतर्चेतना निर्दोष व निर्मल है। गुरुभक्ति के प्रभाव ने उसे सर्वथा अहंशून्य बना दिया है। प्रखर अध्यात्मवेत्ता होने पर भी उसमें कोई गर्व नहीं है, जबकि तुम अध्यात्म ज्ञान से शून्य होने पर भी हमेशा ही अपने तप का गर्वपूर्वक बखान किया करते हो।''

अपनी देह को मृतवत् बनाकर सर्वसहिष्णु बनने की कामना से उन्होंने अखण्ड तपस्या करनी प्रारंभ कर दी थी।

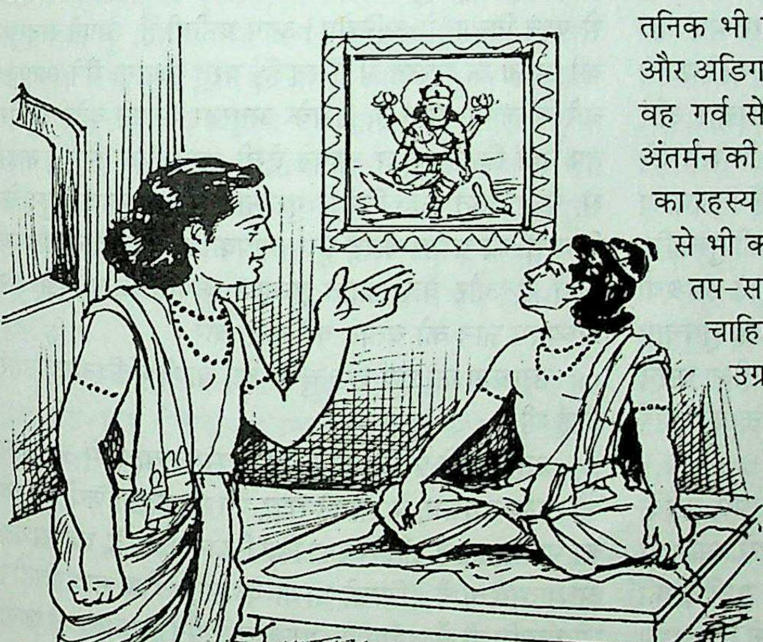

वर्षा से गीली उनकी केशराशि उलझकर वृक्ष की जटाओं जैसी बन गई। सालों-साल तक अपनी जगह से तनिक भी न हिलने के कारण उनके शरीर पर धूल की मोटी परतें जम गईं। निर्जल-निराहार तप करते-करते उनकी हृष्ट-पुष्ट देह सूखे काठ की भाँति होकर रह गई, लेकिन तप के तेज ने उनके चित्त को सुस्थिर एवं व्यग्रता-विरहित बना दिया था।

काठ की भाँति जर-जर और एक ठूँठ हुए सूखे पेड़ की भाँति दिखने वाले उनके सिर की जटाओं में अवसर पाते ही एक गौरैया ने घोंसला बना लिया। वहीं गौरैया ने अंडे दिए और उसके नन्हें पक्षी वहीं बसेरा करने लगे। तपस्या में डूबे उग्रश्रवा का हृदय यह अनुभव करके करुणा से भर आया। उन्होंने अपनी जगह से बिना थोड़ा-सा हिले-डुले, उन पक्षियों के सुख में सहयोग देकर अपनी साधना की सफलता का सुख अनुभव किया। इसमें एक समय ऐसा भी आया कि बच्चों सहित सभी पक्षी दूर कहीं उड़ गए और फिर नहीं लौटे।

उग्रश्रवा के लिए यह आनंद एवं गर्व का विषय बन गया। वे यह सोचकर हर्षित हो गए कि पक्षियों का समूचा परिवार उनकी जटाओं में लंबी अवधि तक रहा और वह तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनकी साधना एकनिष्ठ और अडिग बनी रही। अपनी इसी भावना से अभिभूत हो वह गर्व से भर उठे और आत्मालाप करते हुए अपने अंतर्मन की बातें कहने लगे कि मैंने इस धरती पर अध्यात्म का रहस्य जान लिया है। सूर्य की प्रखरता एवं तेजस्विता से भी कहीं बढ़कर मेरी तपस्या का तेज है। मेरी इस तप-साधना की महिमा पूरी दुनिया में प्रसारित होनी चाहिए। मैंने कठिन-से-कठिन एवं विपरीत क्षणों में उग्र तप करके विजय पाई है।

मेरी तप-साधना की बराबरी कर सके, ऐसा भला त्रिभुवन में कौन होगा? अत: अब मैं यहाँ से जाकर मनुष्य-समाज में पहुँचूँगा। उन्हें इस अध्यात्म रहस्य और अपने तप-तेज से परिचित करवाऊँगा और उन सभी को बताऊँगा कि समूचे जगत् में ऐसी महान् साधना करने वाला दूसरा कोई भी नहीं है। आत्मश्लाघा और अहंकार से उनका मन-प्राण ओतप्रोत था, तभी उन्हें आकाशवाणी से ये वचन सुनने को मिले—

तुम अभी अध्यात्म के रहस्य से अनजान हो, उग्रश्रवा। जाओ और शिव नगरी काशी जाकर गुरुभक्त अनिमेष से अध्यात्म के सच्चे स्वरूप की शिक्षा प्राप्त करो।

उद्विग्न हो उठे उग्रश्रवा। ईर्ष्या और क्रोध से उनके मुख की भंगिमाएँ विकृत हो उठीं। वह सोचने लगे, मेरी इतनी घोर साधना, दिन-रात, धूप-वर्षा, भीषण शीत, उग्र तपन किसी की भी चिंता किए बिना अविचलित भाव से

बियावान, भीषण, भयानक जंगल में निराहार जीवन बिताया और काशी के साधारण से व्यक्ति अनिमेष के सामने उसकी सारी तपस्या निष्फल हो गई। अंतर्द्वंद्व से उनका मन हाहाकार कर उठा। तप की स्थिरता क्षण भर में ही जल के फेन की भाँति विलीन हो गई।

जैसे भी हो, शीघ्र ही मुझे वाराणसी जाकर उस अनिमेष से भेंट करनी होगी। ऐसा क्या है उसके पास, जो आकाश के देवगण भी उसका यश-गान कर रहे हैं।

दुर्गम वन को पार करते हुए वह वाराणसी की ओर चल पड़े। पथ की बाधाएँ उन्हें विचलित न कर पाईं। विंध्याचल की दुर्लंघ्य पर्वत श्रेणियाँ भी उनके लिए सुगम बन गईं। एक बार फिर से वह दृढ़ निश्चयी बने, बिना थके, बिना रुके, उस पथ पर भूखे-प्यासे वह तब तक चलते रहे जब तक वाराणसी न पहुँच गए। वाराणसी में अनिमेष से सभी परिचित थे। गुरु आज्ञा के अनुसार वह अपना जीवन बिता रहे थे। सेवा-साधना एवं लेखनी व वाणी से गुरुज्ञान का प्रकाश, यही उनका जीवन मंत्र था। जो लोग उनके सान्निध्य में आते उन सबसे वह यही कहते मैं तो अपने सद्‌गुरु का यंत्र हूँ। मेरे कार्य, विचार और जीवन में जो प्रकाश और सद्‌गुण हैं, वे सब के सब मेरे गुरुदेव के हैं। जो कमियाँ हैं, वे सिर्फ मेरी हैं। सामान्य रहन-सहन, सामान्य जीवनक्रम में हर कहीं उनकी गुरुभक्ति की सजलता छलकती थी, परंतु द्वंद्व से विचलित उग्रश्रवा को उनका यह जीवन कतई समझ में न आया। वह चुपचाप वहीं खड़े हो गए और अनिमेष से वार्त्ता की प्रतीक्षा करने लगे। अनिमेष उस समय पास खड़े किसी व्यक्ति की कोई उलझन सुलझा रहे थे।

मुझे ज्ञात है देव कि अविश्रांत दुर्गम पथ पार करके आप मेरे समीप आए हैं। पथ में भूखे-प्यासे आपको अनेक कष्ट उठाने पड़े हैं। यह भी मुझे अपने गुरुदेव की कृपा से ज्ञात है कि स्वयं को अकेले मर्मज्ञ मानने के कारण आप जिज्ञासा भाव से आकाशवाणी सुनकर मेरे समीप आए हैं। आदर-भाव से अनिमेष अब तक उग्रश्रवा के समीप आ चुके थे। आप मेरे समीप ही कुछ समय विश्राम करें, फिर मैं आपकी जिज्ञासा दूर करूँगा।

अनिमेष की विनम्र शांत वाणी सुनकर उग्रश्रवा को आश्चर्य हुआ। अनिमेष एक बार फिर अपने कार्य में व्यस्त हो चले थे।

संध्या उतर आई थी। दैनिक गायत्री तप से निवृत्त हो अनिमेष अब निश्चित भाव से आसन ग्रहण कर चुके थे, उग्रश्रवा की शंकाओं को दूर करने के लिए।

शांत, संयमित वाणी में अनिमेष ने उन परम तपस्वी से निवेदन किया—हे देव! मुझे भलीभाँति ज्ञात है कि निरंतर कठोर तप से आपने महती सिद्धि प्राप्त कर ली थी। इतना ही नहीं आपकी देह में पक्षियों ने भी घोंसले बना लिए थे। आप लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए। किंतु 'आप सबसे बड़े अध्यात्मवेत्ता हैं' यही मिथ्या गर्व आपके लिए अनिष्टकर बन गया। साधनारूपी कल्पतरु को छिन्न-भिन्न करने वाला 'अहंकार-कुठार' दीर्घ साधना के बाद भी आप में छिपा रहा। यही आपके लिए घोर शत्रु बन गया और इसी कारण आपको आकाशवाणी सुनाई पड़ी। अब आप ही बताइए कि मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ, जिससे आपका कल्याण हो सके।

अनिमेष की ऐसी वाणी से उग्रश्रवा की आँखें खुल गईं। वह स्तब्ध रह गए। निर्जन अरण्य में उनके साथ जो भी हुआ, उसका रहस्य यहाँ इतनी दूर बैठे इस अनिमेष को कैसे मालूम हुआ? इसी विस्मय से भरे उन्होंने अनिमेष से प्रश्न किया, हे अनिमेष! आप मनीषी हैं, अपने सद्‌गुरु की आज्ञा के पालन में निरत हैं, परंतु जितना मैंने आपके बारे में जाना-सुना है, उसके अनुसार आपने कोई कठोर तप नहीं किया। फिर आपने ऐसी अलौकिक सिद्धि कहाँ से, कैसे प्राप्त की। निरंतर गुरुकार्य में लगे रहकर गुरु के विचारों का प्रसार करते हुए आपको यह अध्यात्म रहस्य कहाँ से और कैसे प्राप्त हुआ? कृपया आप मुझे इस अध्यात्म ज्ञान को बताने की कृपा करें।

उग्रश्रवा का गर्व छँट चुका था, वाणी में विनम्रता उतर आई थी।

अनिमेष ने पहले की ही भाँति संयत वाणी में अध्यात्म का रहस्य उग्रश्रवा के सामने रखा, जो समस्त प्राणियों में मैत्री का भाव रखता है और सबका हित चिंतन करता है, वही सच्चा अध्यात्मवेत्ता है। किसी प्राणी के साथ द्रोह भाव विहीन जीवनवृत्ति ही श्रेष्ठ धर्म है। गुरुकृपा से मैंने इस सत्य को जाना और समझा है। हे मुनिवर! मेरे गुरुदेव ने अपनी देह का त्याग करने से पूर्व मुझे यह निर्देश दिया था कि समस्त मनुष्यों को बिना किसी भेदभाव के मेरे ज्ञान का प्रकाश बाँटना। अपमान-तिरस्कार, उपेक्षा-अवहेलना को प्रीतिपूर्वक सहन करते हुए अपने कर्त्तव्य-कर्म में निरत रहना। गुरुप्रेम एवं गुरुभक्ति ही मेरा सर्वस्व है। यही मेरा वह अभेद्य कवच है, जिससे समस्त विपदाएँ टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं। गुरुभक्ति ही मेरा तप है, इसी से धर्म जीवन का रहस्य जाना है।

उग्रश्रवा विस्मय-विमुग्ध भाव से अनिमेष के उपदेशामृत रस में डूबे हुए थे। किसी सिद्ध योगी की भाँति ज्ञान का

संदेश देती अनिमेष की वाणी अविराम स्रोतस्विनी-सी वह रही थी।

गुरु श्रद्धा, गुरु निष्ठा, गुरु कार्य एवं गुरु भक्ति ही मेरी साधना है। इसी साधना के फलस्वरूप मुझे गुरु कृपा का प्रसाद मिला है। मैं तो गुरुगत प्राण हूँ देव। अपने सद्गुरु की कृपा से मुझे इस सत्य की स्पष्ट अनुभूति होती है कि देह सिर्फ मेरी है, परंतु इसमें प्राण मेरे आराध्य गुरुदेव के विराजते हैं। हे देव! केवल मन मेरा है, परंतु इसके माध्यम से जो विचार प्रवाह उमड़ता है, वह गुरुदेव का है। केवल हृदय मेरा है, इसमें उफनने वाली भावनाएँ गुरुदेव की हैं। मैं यंत्र हूँ वे यंत्री। यदि कुछ दोष है तो यंत्र का है। यंत्री तो परम समर्थ है। यंत्र की असमर्थता के कारण उस परम समर्थ की समर्थता ठीक ढंग से नहीं अभिव्यक्त हो पाती है।

जब से गुरुकार्य के प्रभाव से, उपजी गुरुकृपा के कारण मेरी अहंता गुरुतत्त्व में विलीन हो गई, तब से मैं जल गया हूँ, यह समस्त जगत् ब्रह्ममय है, इस चराचर जगत् में न तो कुछ ऐसा है जिससे आसक्त हुआ जाए और न ही कुछ ऐसा है, जिससे दूर भागा जाए, विरक्त हुआ जाए। दूसरों की निंदा-प्रशंसा से परे, निश्चित भाव से मेरा मन इंद्रिय विषयों में नहीं लगता। अब तो मेरी समूची अंतर्चेतना गुरुतत्त्व में लीन रहती है। गुरुकृपा से मुझे यह भी ज्ञात हो गया है कि गुरु तत्त्व, आत्मतत्त्व एवं ईश्वरतत्त्व एक ही है।

अध्यात्म तत्त्व की ऐसी गूढ़ व्याख्या से उग्रश्रवा का अहं खंड-खंड होने लगा। उनकी जिज्ञासा और बढ़ चली, फिर पूछा, अज्ञानी व्यक्ति किस साधना के द्वारा अध्यात्म ज्ञान को पा सकते हैं।

सच्ची साधना, यथार्थ तप का मूल उद्देश्य अहं का उन्मूलन और उच्छेदन है, लेकिन इस सत्य से अनभिज्ञ अज्ञानी जन अपने जप-तप-व्रत इसलिए करते हैं कि संसार उन्हें तपस्वी के रूप में जाने-माने एवं पहचाने। उनके तप से उन्हें कोई ऐसी सिद्धि मिले, जिससे वह लोक-विख्यात हो सकें। इस तरह उनके सारे प्रयास उलटी दिशा में चलते रहते हैं। वे अपनी साधना के द्वारा अहं के उन्मूलन के स्थान पर उसका पोषण एवं संवर्द्धन करते हैं।

हे तपोधन उग्रश्रवा, सच्ची साधना क्रिया में नहीं विचारों एवं भावनाओं में निहित है। विचार और भावनाओं की दिशा बदल जाए, तो सामान्य क्रिया भी अध्यात्मप्रदायिनी हो जाती है। मेरे गुरुदेव कहा करते थे, बेटा जीवन का शीर्षासन ही अध्यात्म है। इसे वे अपनी खास शैली में उलटे को उलटकर सीधा करना भी कहते थे। उनके आदेशानुसार मैंने यही किया है। मैंने अपनी सारी ऊर्जा किसी क्रिया विशेष को करने में नहीं, बल्कि विचारों और भावनाओं के परिष्कार में नियोजित की। मैं न तो कोई विशेष तप करता हूँ और न किसी विशेष बीजमंत्र का विशेष ढंग से जप। मेरी आत्मपरिष्करण भरी मेरी गुरुभक्ति ही मेरी साधना है। यही मेरी सिद्धि और यही मेरा अध्यात्म तत्त्व है। यही वह रहस्य है, जिसे पाने के लिए आपको दैवी-निर्देश प्राप्त हुआ है।

गुरुभक्त अनिमेष के वचनों से उसके सद्गुरु की चेतना प्रवाहित हो रही थी। इस पुण्य प्रवाह ने उग्रश्रवा के अस्तित्व को भी छुआ, वह भी इसमें निमग्न हुए। उनका गर्व खर्व हो गया। उनका अहं इस पुण्य धारा में बह गया। अहंता के विलीन होते ही उन्हें भी आत्मज्ञान प्राप्त हो गया। अब उन्होंने साधना एवं सच्ची सिद्धि के रहस्य को जान लिया। ✎

महाराज बिंदुजात ने निश्चय किया कि राज्य में जो निराश्रय साधु हैं, उन्हें राज्यवृत्ति प्रदान की जाए। यह कार्य नीति-निपुण मंत्री गृत्समद् को सौंपा गया। गृत्समद् कई दिन तक धन की थैली लेकर घूमे, किंतु एक भी स्वर्ण मुद्रा का वितरण न हो सका। हारकर उन्होंने अब तक का सारा 'कोष' सम्राट् बिंदुजात को लौटा दिया।

महाराज ने पूछा— महामंत्री ! धनराशि का वितरण नहीं हो पाया क्या? क्या इतने बड़े राज्य में एक भी साधु-संत ऐसा नहीं हो पाया। महामंत्री बोले, आर्य ! कठिनाई यह है कि कोष उन साधु-संतों के लिए नियुक्त है, जो लोकमंगल का कार्य करते हों, ऐसे संत राज्य में कम नहीं, पर वे धन स्वीकार नहीं करते? उनकी सामान्य-सी आवश्यकताएँ हैं, उसके लिए सहयोग नहीं लेना चाहते। इस शर्त पर वे धन को स्वीकार कर सकते हैं कि लोकमंगल के कार्यों में खरच करेंगे। हे राजन् ! आप यदि देना ही चाहते हैं तो उन्हें व्यक्तिगत प्रयोग के नाम पर नहीं, लोककल्याण के लिए सहर्ष दे सकते हैं। उसके लिए वे तैयार हो जाएँगे, क्योंकि संसार की सेवा उन्हें अभीष्ट है। सेवा के लिए साधन भी आवश्यक है।

परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी

भगवान के अनुदान किन शर्तों पर मिलते हैं (२)

(गतांक से आगे)

यह अध्यात्म सही नहीं

मित्रो! अध्यात्म उस चीज का नाम है जो आदमी के व्यक्तित्व और स्तर को ऊँचा उठा देता है। जो अध्यात्म आदमी के व्यक्तित्व और उसके स्तर को नीचे गिराता हो, मैं उसे अध्यात्म नहीं मानता। उसके पीछे मैं बहुत नाराज हूँ। इसलिए हर क्षेत्र में हम बगावत पैदा करते हैं। हम जहाँ अनैतिकता के विरुद्ध बगावत पैदा करते हैं, जहाँ अवांछनीयता के विरुद्ध बगावत पैदा करते हैं, वहीं हम इस नकली अध्यात्म के विरुद्ध भी बगावत पैदा करते हैं। फिर तो आप कम्युनिस्ट हैं? कम्युनिस्ट तो नहीं हैं बेटे, पर हम कम्युनिस्टों की आवाज में आवाज लगाकर कह सकते हैं कि यह अवांछनीय अध्यात्म जो आज हर जगह फैल गया है, अगर यह नष्ट होता है, तो आपको दुःख है? नहीं, मुझे प्रसन्नता है। आपका ये अखंड कीर्तन बंद हो जाए तो आपको नाराजगी है? नहीं मुझे कोई नाराजगी नहीं है, मुझे बहुत प्रसन्नता है। ये कौन से मंदिर, भिन्न-भिन्न देवियों के मंदिर गिर पड़ें तो आपको नाराजगी है? नहीं बेटे, मुझे बहुत खुशी है। मनसा देवी, जो आपकी मनसाओं को, आपकी इच्छाओं को बिना कीमत चुकाए देना चाहती हैं, केवल पंद्रह पैसे का प्रसाद खा लीजिए और हमारी मनसा पूरी कर दीजिए। बेटे हम आपकी ऐसी मनसा देवी से बहुत नाराज हैं।

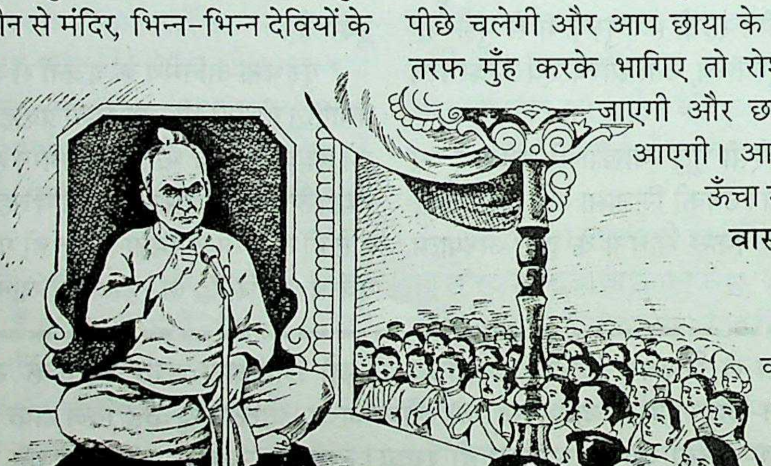

क्या कहते हैं आप? बेटे! मैं यह कहता हूँ कि आप अनैतिक आचरण पैदा करती हैं। आप लोगों को भिखमंगा बनाती हैं और आप लोगों को दरिद्र बनाती हैं और लोगों को ऐसे गंदे आश्वासन देती हैं, जो आपको नहीं देने चाहिए। जो आपको शोभा नहीं देते और लेने वालों को भी शोभा नहीं देते, दोनों को शोभा नहीं देते, क्योंकि इंसानियत के लिए जो बेसिक सिद्धांत हैं, फंडामेंटल सिद्धांत हैं, आप उनको गलाती हैं, इसलिए आप भाग जाइए।

मित्रो! क्या करना चाहिए? मैं यह कह रहा था कि आध्यात्मिकता के मौलिक आधारों का प्रतिपादन होना चाहिए, ताकि उससे हम वास्तविक फायदे उठा सकें, जैसे कि हमारे पूर्वजों ने उठाए थे। हमारे पूर्वजों ने आध्यात्मिकता से हर क्षेत्र में शानदार फायदे उठाए थे। उनके व्यक्तित्व बहुत शानदार होते थे। मैं आपको एक बात बताता हूँ कि जिन चीजों को आप चाहते हैं, जिन सुविधाओं को आप चाहते हैं, जो संपदाएँ आप चाहते हैं, वे अच्छे व्यक्तित्व के पीछे-पीछे चलती हैं। रोशनी के पीछे छाया चलती है। आप रोशनी की तरफ मुँह करके चलिए छाया आपके पीछे चलेगी और आप छाया के पीछे चलिए, छाया की तरफ मुँह करके भागिए तो रोशनी भी हाथ से चली जाएगी और छाया भी पकड़ में नहीं आएगी। आप अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठाइए।

वास्तविक अध्यात्म फिर क्या है?

मित्रो! आध्यात्मिकता का उद्देश्य था, आदमी के व्यक्तित्व को ऊँचा उठा देना, चिंतन को सही कर देना, आदमी के दृष्टिकोण को परिष्कृत कर देना। अगर कोई आदमी यह कर सके तब? तब मैं कहूँगा कि जीवन में वास्तविक अध्यात्म आ गया। वास्तविक अध्यात्म को प्राप्त करने के बाद में आप वो चीजें पाएँगे जो आपको मिलनी चाहिए। माँगने पर भी मिलेंगी, बिना माँगे भी मिलेंगी।

महापुरुषों के नाम सुने नहीं आपने ? आप उन महापुरुषों की हिस्ट्री तलाश कीजिए,जनता ने जिनको निहाल कर दिया है। माँगने पर ? माँगने पर नहीं, बिना माँगे निहाल कर दिया। कल मैं गाँधी जी का हवाला दे रहा था, बुद्ध का हवाला दे रहा था। जनता की बात कहूँ, हाँ जनता की बात कहूँगा और भगवान् की बात ? भगवान् की बात भी कहूँगा, हरेक की बात कहूँगा। मैं कहूँगा कि अगर आपका व्यक्तित्व और आपका अंतर्मन सच्चे में, वास्तव में पात्र है, तो आपको तीनों ओर से सहायता मिलेगी। क्यों साहब, एक ओर से कि तीनों ओर से ? आप एक ओर से माँगते हैं, पर मैं वायदा करता हूँ कि तीनों ओर से आपको सहायता मिलेगी और इतनी अधिक सहायता मिलेगी, जिसको पाकर के आप निहाल हो जाएँगे।

साथियो! आप क्या चाहते हैं ? हम ये चाहते हैं कि देवताओं की सहायता मिले। ये तो नहीं चाहते कि हमारे पड़ोसी से हमें सहायता मिले ? नहीं ये नहीं चाहते वो क्या सहायता देगा। पड़ोसी से तो लड़ाई है हमारी, वो हमें सहायता नहीं देगा और किससे माँगेंगे ? पिताजी से। नहीं पिताजी भी हमसे नाखुश हैं, वो नहीं देंगे। तो भाई से माँग लीजिए। नहीं भाई ने भी मना कर दिया। तो फिर अपने साले से माँग लीजिए, कहिए हम आपके बहनोई हैं। साले से भी एक बार हमने कहा था कि हम पैसे की तंगी में हैं, हमें दो हजार रुपये भेज दीजिए। साले ने कहा कि हम नहीं दे सकते, हम आपसे भी ज्यादा तंगी में हैं। हमारे पास नहीं है। किसी ने नहीं दिया। कोई और बाकी रह गया है ? नहीं और कोई नहीं। हमें सबने इंकार कर दिया। एक भी आदमी हमारी सहायता करने के लिए रजामंद नहीं है। अब तो एक ही बाकी रह गया है और उसका नाम है 'देवता'। इसे हम ट्राई करते हैं।

ट्राई कैसे करते हैं ? अनुष्ठान करते हैं। अहा....ये अनुष्ठान से पकड़ में आएँगे। सच-सच बताना, इसी का नाम अनुष्ठान है ना—देवताओं से ट्राई करना ? क्या ट्राई करना ? हमारा ट्रांसफर करा दीजिए। हमने वहाँ कहा-स्युपरिन्टेंडेंट से। उसने क्या कहा ? उसने कहा कि ५०० रुपये दे दीजिए, तो हम आपका ट्रांसफर करा देंगे। आपने फिर कमिश्नर से भी कोशिश की होगी, पर ट्रांसफर नहीं हुआ। अब कौन बाकी रह गया है ? एक ही आदमी बाकी रह गया है, देवता। देवता ट्रांसफर कराता है ? हाँ साहब ! देवता के हाथ में सब कुछ है। तो क्यों देवता जी आपके पास क्या ट्रांसफर कराने का कोई डिपार्टमेंट है ? नहीं साहब ! हमारे हाथ में नहीं है ट्रांसफर। आप क्या काम करते हैं ? हम डीलिंग में नहीं जाते हैं। ट्रांसफर में हमारी डीलिंग नहीं है।

ये देवी-देवता हमें क्या देंगे ?

मित्रो ! आप देवताओं से भी वो काम कराना चाहते हैं, जो देवता बेचारे नहीं कर सकते, जो उनके काबू में नहीं है, उनके पास भी नहीं है। क्या काबू में नहीं है ? हनुमान जी से आप चाहते हैं कि हमारा ब्याह-शादी हो जाए और हमारे लड़के के बाल-बच्चे हो जाएँ। एक बार हनुमान जी से हमने पूछा कि क्यों साहब ! ये आपका डिपार्टमेंट है कि जब किसी की ब्याह-शादी नहीं होती तो आप जाकर ब्याह-शादी कराते हैं। फिर हमने दूसरी बात पूछी कि किसी के बच्चा न हो तो उसको बच्चा पैदा कराने का महकमा भी आपके पास है। हनुमान जी ने जवाब दिया कि आचार्य जी ! आपको तो समझ है, आप तो पढ़े-लिखे आदमी हैं और अच्छी तरह जानते हैं कि जिन कामों में हमारा कोई दखल नहीं है, कोई वश नहीं, उन्हें भला हम किस तरीके से कर सकते हैं। अगर ब्याह-शादी करने लायक हमारे अंदर शऊर होता तो हमारा भी ब्याह हो गया होता। हमारा ब्याह किसी ने नहीं कराया। नाई भी आए, पंडित भी आए। उन्होंने कहा, क्यों साहब आप हमारी लड़की के साथ शादी कर लीजिए। नहीं, हम ब्याह नहीं करते।

हनुमान जी ने कहा, ''राम काज कीन्हे बिना मोहि कहाँ विश्राम।'' रामकाज में लगा रहता हूँ। न कोई खेती-बेती है, न नौकरी है, न धंधा, न घर, न स्कूटर, कुछ भी नहीं है हमारे पास। अत: सब चले गए। एक ने भी ब्याह नहीं किया। गुरुजी ! आपको तो मालूम ही है कि हमारा किसी ने ब्याह नहीं किया। हाँ हमको मालूम है कि आपका किसी ने ब्याह नहीं किया था। तो अब आप ही बताइए कि बिना ब्याह वालों की हम कैसे मदद कर सकते हैं ? फिर हमने पूछा कि शादी-ब्याह नहीं हुआ तो बाल-बच्चों की ही मदद कीजिए, क्योंकि ये कहता है कि हमारे तीन लड़कियाँ हैं, एक-दो लड़के और हो जाएँ तो अच्छा है। आप उनकी कुछ सहायता कीजिए। हनुमान जी ने कहा कि ये हमारा काम नहीं है, आप हमें बेकार क्यों तंग करते हैं। हम लड़के इनके पास कैसे भेज सकते हैं ? जब हमारे ही लड़के नहीं हैं, तो हम इनकी कैसे मदद करें, अगर हम अपने लड़के पैदा कर लेते तो आपके भी कर देते। भगवान् शिवजी के पास ट्राई करते हैं और कहते हैं, महादेव जी ! हमारा पक्का मकान बना दें। महादेव जी तो वहाँ रहते हैं मरघट में। इनके पास अगर मकान बनाने लायक पैसे होते,

तो अपने लिए क्यों नहीं बनवा लिया होता। कपड़े तो पहनने को हैं नहीं, फिर मकान कैसे बनवाएँ।

अपनी योग्यता बढ़ाइए

मित्रो! बेसिलसिले की बातें, बेतुकी बातें आप करते रहेंगे और पीछे शिकायतें करते रहेंगे कि हमारी मनोकामना पूरी नहीं। मैं कल भी नाराज हो रहा था इसी बात पर। आपको निराशा तो होगी, पर इससे बाद में पूरे अध्यात्म विज्ञान पर बहुत बुरा असर पड़ेगा। आदमी अध्यात्म विज्ञान के प्रति नफरत करते चले जाएँगे और इसके प्रति जन-साधारण में जो श्रद्धा थी वो खत्म हो जाएगी। क्यों? क्योंकि आपकी मनोकामना पूरी नहीं हो सकती। आपकी मनोकामना पूरी करने की दो शर्तें हैं। क्या दो शर्तें हैं? साथियो! भगवान् ने, देवताओं ने, ऋषियों ने दुनिया में एक से एक बड़ी मनोकामनाएँ पूरी की हैं, पर उसकी दो शर्तें पूरी करनी पड़ी हैं। एक तो आदमी की योग्यता बढ़ी-चढ़ी होनी चाहिए। आपको क्या मिलता है? हम तो साहब प्राइमरी स्कूल के मास्टर हैं। तो आप कहाँ तक पढ़े हैं? हमने साहब मैट्रिक पास किया है और बी. टी. सी. पास की है। इसीलिए हमको २५० रुपये मिलते हैं। तो अब आप क्या चाहते हैं? हमको बड़ी नौकरी मिल जाए। अच्छा तो आप एक काम कर लीजिए-आप बी.ए. कर लीजिए, बी.एड. कर लीजिए। फिर हमारे पास आना तो हम कोशिश करेंगे, किसी से सिफारिश करेंगे और आपको नौकरी दिला देंगे। नहीं साहब, बी. ए., बी एड तो हम नहीं कर सकते, आप हमें ७५० रुपये की तनख्वाह दिला दीजिए। बेटे, हम कैसे दिला दें, जो कायदा-कानून नहीं है, नियम नहीं है, उसे कैसे करा देंगे।

मित्रो! आदमी को अपनी मनोकामना पूरी करानी है तो उसे अपनी योग्यता बढ़ानी पड़ेगी। आप अपनी योग्यता बढ़ाइए। आदमी की जितनी योग्यता होती है, उतनी ही उसकी तरक्की होती, पैसा मिलता है और मिलता है मान-सम्मान। योग्यता आप बढ़ाते नहीं तो फिर किस तरह से आपकी सहायता करेंगे। दूसरी शर्त है—आप अपने में परिश्रम का माद्दा बढ़ाइए। आप में परिश्रम का माद्दा कम है। आपको जितना परिश्रम करना चाहिए, जिस स्तर का पुरुषार्थ करना चाहिए, उतना नहीं करते। मनोयोग और श्रम दोनों को मिलाकर परिश्रम की क्वालिटी बनती है। आप क्वालिटी क्यों नहीं बनाते? नहीं साहब! हम तो आठ घंटे काम करते हैं। आठ घंटे आपके ढाई घंटे के बराबर हैं। आप आठ घंटे मनोयोग के साथ काम कीजिए तो वह दस घंटे के बराबर हो जाएगा, अट्ठाइस घंटे के बराबर होगा।

मित्रो! 'इफीशिएन्सी' अर्थात् दक्षता का भी ध्यान रखिए। नहीं साहब! हम तो उसे 'सीनिऑरिटि' कहते हैं। बेटे, सीनिऑरिटि ही नहीं काम करती, 'इफीशिएन्सी भी काम करती है। इफीशिएन्सी आप बढ़ाइए न, कुछ पुरुषार्थ बढ़ाइए न, फिर हम देखेंगे कि कौन है जो आपका रास्ता रोकता है। देखेंगे कौन आदमी आपकी तरक्की को रोकता है। आपकी तरक्की को कोई रोकता हो, तो आप इस्तीफा दे देना और हमारे पास आ जाना। हमारे पास जो लोग काम करते हैं वे पूरे श्रम और मनोयोग से करते हैं। वे जिस काम को करते हैं, पूरे मन से करते हैं। हमको कहीं लगा दीजिए। क्या मिलता है आपको? ६५० रुपये मिलते हैं। अच्छा तो हम आपको ७५० रुपये दिलाएँगे और जगह दिला देंगे, परंतु आप तो परिश्रम की क्वालिटी नहीं बढ़ाते। अपनी योग्यता बढ़ाते नहीं हैं और मनोकामनाएँ लिए फिरते हैं।

मित्रो! ये मनोकामनाएँ अवैज्ञानिक हैं। अवैज्ञानिक बातें क्या निभेंगी कभी? अवैज्ञानिक बातें न कभी निभी थीं, न कभी निभेंगी। आप क्या कह रहे थे? मैं यह कह रहा था कि आपको जो सबसे श्रेष्ठ धंधा, व्यवसाय बताया है, वह अध्यात्म है। अध्यात्म का व्यवसाय इससे ज्यादा शानदार, इससे ज्यादा फायदेमंद, इससे ज्यादा कीर्ति दिलाने वाला अर्थात् तीन तरह के फायदे दिलाने वाला धंधा और कहीं नहीं है और व्यवसायों में सिर्फ एक तरह का फायदा होता है। क्या? पैसा मिल जाता है और कोई बहुत फायदे या धंधा? और कोई धंधा नहीं है। जिसको आप व्यवसाय कहते हैं वह केवल एक ही फायदा कराता है। हम क्या कराते हैं? हम बेटे, ये धंधा जो पैसे वाला है, ये तो गौण है, बाहर वाला है। इसके अलावा हम तीन फायदे करा सकते हैं। उस अध्यात्म के बारे में बता रहे हैं जिसको सिखाने के लिए हमने आपको यहाँ बुलाया है। जिसके लिए हम आपको अनुष्ठान कराते हैं। हमारे इस अध्यात्म को आप समझ लें तो मैं फिर आपकी गाड़ी आगे बढ़ाऊँ। आप क्या सिखाना चाहते हैं? आप समझिए तो सही। आप तो नहीं रहते हैं। कहाँ? हमारी मनोकामना, भजन और माला। बेटे, ये तो गलत है।

पहले साधना तो हो

माला और मनोकामना का भी सिद्धांत है और सही होता है तो फिर मैं एक चीज और शामिल करना चाहूँगा। क्या चाहेंगे? माला—एक। माला से व्यक्तित्व का विकास। व्यक्तित्व के विकास के फलस्वरूप साधना दो। यों है बेटे इसका चक्र। आप समझ गए, यह एक चक्र है। कौन-

सा? इसमें तीन चीजें शामिल हैं, साधना एक। साधना सफल है, सही है या गलत है, इससे व्यक्तित्व का विकास जुड़ा हुआ है। व्यक्तित्व के विकास के बाद में वो करना, जिसको हम ऋद्धियाँ कहते हैं, सिद्धियाँ कहते हैं, सफलता कहते हैं। नहीं साहब! भजन करने से सिद्धियाँ मिलनी चाहिए। नहीं बेटे, आप गलत बात कहते हैं। भजन करने से सिद्धियाँ नहीं मिल जातीं। नहीं साहब! हम तो यही ख्याल करते हैं। आप गलत ख्याल करते हैं। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप इस गलत ख्याल को निकाल दें। नहीं साहब हम तो नहीं निकाल सकते। जप करने से पैसा मिलता है। नहीं बेटे, जप करने से पैसा मिलता तो मंदिरों में—जो हिंदुस्तान में एक लाख से ऊपर मंदिर ऐसे हैं जहाँ पुजारी-नौकर रहते हैं, वे मालामाल हो गए होते। आप एक लाख पुजारियों का आयोग बैठा दीजिए। सर्वे कीजिए और रिपोर्ट मँगाइए इसकी। फिर देखिए क्या हाल है? इन पुजारियों में से हर आदमी मामूली मजदूर की अपेक्षा, एल.डी.सी. क्लर्क की अपेक्षा, प्राइमरी स्कूल के मास्टर की अपेक्षा गई-बीती हैसियत में है।

मित्रो! जो व्यक्ति सारे दिन पल्लेदारी ढोते हैं और रिक्शा चलाते हैं, उनको एक तराजू में रखिए और पुजारी जी को एक तराजू में रखिए। देखिए साहब, क्या बात है? आप सिनेमा भी देखते हैं, सिगरेट भी पीते हैं, दिन में छह कप चाय भी पी जाते हैं। आप कौन हैं? आप रिक्शे वाले हैं और आप? पुजारी जी हैं। अरे सिनेमा देखते हैं? नहीं साहब सिनेमा हमारे भाग्य में कहाँ से आया। जाने का मन होता है? मन तो होता है, पर हम कैसे जा सकते हैं। आपकी ये बात वो बात सब तराजू में तौलते हैं, तो मालूम पड़ता है न रिक्शे वाला फायदे में है और न ये पुजारी जी। क्या बात है? आप समझते नहीं क्या? गलतफहमी को क्यों दबाए बैठे हैं। गलतफहमी को आप हटा दीजिए। मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि अगर आपके मन में यह गलतफहमी है कि भजन और माला के फलस्वरूप सिद्धि मिल जाएगी तो आप इसे निकाल दीजिए।

तो क्या करें? इसमें एक चीज आप और शामिल कर लें तो बात सही हो जाएगी। क्या शामिल कर लें? स्कूल में पढ़ाई करें और पढ़ाई के बाद नौकरी करें। नहीं साहब पढ़ाई के साथ ही नौकरी मिल जाए तो अच्छा है। अच्छा बेटे तू स्कूल जाएगा? हाँ साहब, लेकिन पढ़ाई करनी पड़ेगी। गुरुजी! मुझे यह नहीं पता था। अच्छा तो अब हम बता देते हैं कलम पकड़ और पी-एच. डी. हो जा। लेकिन एक कमी है। क्या ? कलम पकड़ने के साथ-साथ पढ़ाई भी करनी पड़ेगी। गुरुजी! हम तो यह जानते थे कि जिसके हाथ में कलम होती है, वही पी-एच. डी. हो जाता है। बेटे, कलम से पी-एच.डी. होती है, तेरी यह बात सही है, पर हमारी भी एक बात क्यों शामिल नहीं करता कि कलम के साथ-साथ में अध्ययन भी करना और तब लिखना चाहिए। थीसिस लिखने की कीमत होती है और होनी भी चाहिए।

मात्र क्रिया से परिणाम नहीं मिलता

गुरुजी! ये तो बड़ा झमेला पड़ गया। हाँ बेटे, झगड़ा तो था ही। तू क्या समझता था? हम तो यह समझते थे कि ये सब प्रारंभिक वस्तुएँ हैं और उनसे ही सफलता मिल जाती है। मसलन आपके हाथ में छेनी और हथौड़ी दे दें और कहें कि इस पत्थर के टुकड़े को ले जाइए और इसमें से आप एक मूर्ति बना दीजिए। मूर्ति कितने रुपये की होती है? बहुत कीमती होती है। हमने जयपुर से एक मूर्ति मँगाई है, वह तीन हजार रुपये में आई है। इसमें कितने रुपये का पत्थर लगा होगा? मैं सोचता हूँ कोई पचास रुपये का पत्थर होगा। आप पचास रुपये का पत्थर ले लीजिए और छेनी, हथौड़ी ले जाइए, घिसने के लिए रेती ले जाइए और मूर्ति बनाकर लाइए। आपको तो पत्थर ही नहीं दिखाई पड़ा और ऊपर से छेनी और हथौड़ी भी तोड़ डाली और अपनी अँगुली पर भी पट्टी बाँध रहे हैं। आपने तो बताया था कि हम मूर्ति बनाएँगे तो क्या बन गई आपकी मूर्ति? कहाँ बनी गुरुजी! छेनी टूट गई, हथौड़ी टूट गई और देखिए हमारी अँगुली में चोट भी लग गई। बेटे, मूर्ति कहाँ गई? उसका क्या हुआ? तीन हजार की मूर्ति तो मिली नहीं? मिलती भी कैसे, मूर्तिकला का जो अभ्यास है, वह अलग है।

मित्रो! यह क्या है? यह एक टेक्निक है। मूर्तिकला छेनी-हथौड़े की सहायता से विकसित तो की जाती है, पर इसके पीछे अभ्यास होता है, तब कहीं मूर्ति बनाना आता है। तब आदमी हजार रुपये महीने कमाता है। इससे कम में कमाए, इससे कम में नहीं कमा सकता। चित्रकार चित्र बनाते हैं। कितने का बिका ये चित्र? बहुत दाम का बिका। हम अखण्ड ज्योति के कवरपेज की डिजाइन बनवाते हैं। उसके लिए हमें पाँच सौ रुपये देने पड़ते हैं। चित्रकार दो दिन में बना देता है। गुरुजी! यह तो अच्छा धंधा है। एक दिन में एक चित्र बनाने के ढाई सौ रुपया रोज कमाता है। इससे महीने में कितना कमा लेगा और साल भर में कितना कमा लेगा? गुरुजी! मैं तो वही धंधा करूँगा, बेटे कर ले। इसके लिए क्या-क्या चीज

चाहिए? कागज, ब्रुश, रंग। लीजिए बनाइए चित्र। किसके लिए बनाएँ? हमारी अखण्ड ज्योति के लिए बनाइए। गुरुजी! आप तो पाँच सौ रुपये तो वैसे ही दे देंगे, देखिए चित्र बनाकर लाया हूँ। बेटे! ये तूने क्या बनाया? हमारा कागज भी बरबाद कर दिया और रंग भी खराब कर दिया और ऐसे ही लकीरें बना लाया। नहीं बेटे, लकीर नहीं बनानी चाहिए।

मित्रो! कागज काम तो आता है, पर यह भी ध्यान रखिए कि क्या चीज चाहिए। यहाँ एक और शब्द लगा हुआ है। 'पर' यह इसलिए लगा हुआ है कि चित्रकला का अभ्यास होना चाहिए, जो समयसाध्य और श्रमसाध्य है। नहीं साहब! हम तो इस झगड़े में नहीं पड़ेंगे। तो क्या करेंगे? हम यह करेंगे कि क्रिया के माध्यम से परिणाम पाना चाहेंगे। बेटे, यह तो संभव नहीं, असंभव बात है, जो आपने कल्पना बना रखी है। आप इस असंभव के पीछे भागेंगे तो आपको हैरानी के सिवाय, परेशानी के सिवाय, खीझने के सिवाय, निराशा के सिवाय और कुछ पल्ले नहीं पड़ेगा। अब तक आप निराश हैं तो आगे भविष्य में अगर आपका यही सिद्धांत रहा, तो मैं आपको शाप देता हूँ कि भविष्य में आपको हमेशा निराशा ही हाथ लगेगी और कभी आपको सफलता प्राप्त नहीं होगी।

साधना कोई शॉर्टकट नहीं

साहब! आप शाप क्यों देते हैं। इसलिए देते हैं कि आप उस सिद्धांत को समझते नहीं, जिस सिद्धांत पर चल करके आप वहाँ पहुँच सकते हैं। उस सिद्धांत को स्वीकार भी नहीं करते। बेटे, ये 'नेशनल हाईवे' है, राजमार्ग है। साधना कोई शॉर्टकट नहीं है। किसी भी क्षेत्र में कोई शॉर्टकट रास्ता नहीं है। आप एम.ए. पास होने का शॉर्टकट बताइए। बेटे, हमें तो मालूम नहीं है। हमने तो जिनको देखा है, वे पढ़ते हैं और नंबर बाई नंबर, कक्षा दर कक्षा फीस देते हैं। अच्छा बंबई जाने का शॉर्टकट बताइए? बंबई जाने का शॉर्टकट यही है बेटे कि उधर से कोटा से होकर निकल जाए या भोपाल से होकर निकल जाए। कितना किराया लगता है? यही कोई लगता होगा सौ-डेढ़ सौ रुपये का टिकट। नहीं साहब! कोई शॉर्टकट रास्ता बताइए। जिससे कि इतना सफर भी न करना पड़े और पैसा भी खरच नहीं करना पड़े और मैं बंबई भी पहुँच जाऊँ। नहीं बेटे, ऐसा कोई शॉर्टकट रास्ता नहीं है।

मित्रो! आपने अध्यात्म माने शॉर्टकट समझ रखा है। आप चाहते हैं, ''हींग लगे न फिटकरी रंग चोखा आवे।'' बेटे तू क्या चाहता है कि बंबई पहुँच जाऊँ। हाँ गुरुजी। ऐसा चमत्कार दिखाइए, जादू दिखाइए कि हम पाँच मिनट में बंबई पहुँच जाएँ और पैसा भी न खरच करना पड़े। आँखें बंद करते ही बंबई आ जाए। बताइए आपको ऐसा चमत्कार आता है। हाँ, हमको आता है। अच्छा तो आप कितनी देर में पहुँचा देंगे? तू कितनी देर में पहुँचना चाहता है। हम तो तुझे पाँच मिनट में पहुँचा देंगे बंबई। अच्छा पाँच मिनट में आप इतने बड़े योगी हैं? तू पहले खड़ा तो हो जा, फिर देख पहुँचता है कि नहीं पाँच मिनट में। अच्छा एक काम कर आँख पर एक पट्टी बाँध ले। अगर पट्टी नहीं तो आँख पर हाथ रख ले, ताकि रास्ते का सफर तुझे दिखाई न पड़े। और देख जब मैं कहूँ तब एक पैर उठाना, फिर दूसरा पैर उठाना। जब मैं कहूँ एक दो तीन– आँख खोल, आ गया बंबई। गुरुजी! मैं तो यहीं खड़ा हूँ। अरे देख यह लिखा हुआ है बंबई। गुरुजी आप तो हमारे साथ मजाक करते हैं।

मित्रो! आप भी तो अध्यात्म के साथ क्या करते हैं? मजाक और माखौल करते हैं। कौन-सी वाली? जो आप लिए फिरते हैं कि अमुक मंत्र का जप करेंगे और पैसा कमाएँगे। आप भगवान् के साथ मखौल करते हैं, सिद्धांतों, आदर्शों के साथ मखौल करते हैं और प्राचीनकाल की ऋषि परंपरा के साथ मखौल करते हैं। आपको किसने बताया था यह सब? साहब! एक बाबाजी ने बताया था। मारा नहीं उस बाबाजी को? नहीं साहब! अच्छा अब की बार आए तो उसके कान पकड़ लेना और कहना कि गलत बात बता रहा है। मित्रो! क्या बताना चाहिए था? वह बताना चाहिए था, जिस शानदार अध्यात्म के लिए मैंने आपको बुलाया है। जिसके लिए मैं आपको अनुष्ठान कराना चाहता हूँ। जिसके लिए मैं चाहता हूँ कि आप उन सिद्धांतों के जानकार हो जाएँ। आप सिद्धांतों के जानकार हो जाएँगे तो फिर विधि बताने में मुझे देर नहीं लगेगी। विधि तो बहुत सरल है। जिस तरह ऑपरेशन करना बहुत सरल है। मोतियाबिंद का ऑपरेशन कितने मिनट लेता है। मुश्किल से एक मिनट लेता है। एक मिनट में डॉक्टर सुन्न करके खट् झिल्ली काट करके अलग कर देता है। क्यों साहब! आप एक मिनट में ऑपरेशन करना सिखा देंगे? हाँ बेटे, हम सिखा देंगे। लेकिन पहले सात साल तक मेडिकल की पूरी पढ़ाई करने के साथ-साथ तुझे प्रैक्टिस भी करनी होगी। तब हम तुझे बताएँगे।

अगले अंक में जारी

बंदउँ गुरुपद कंज

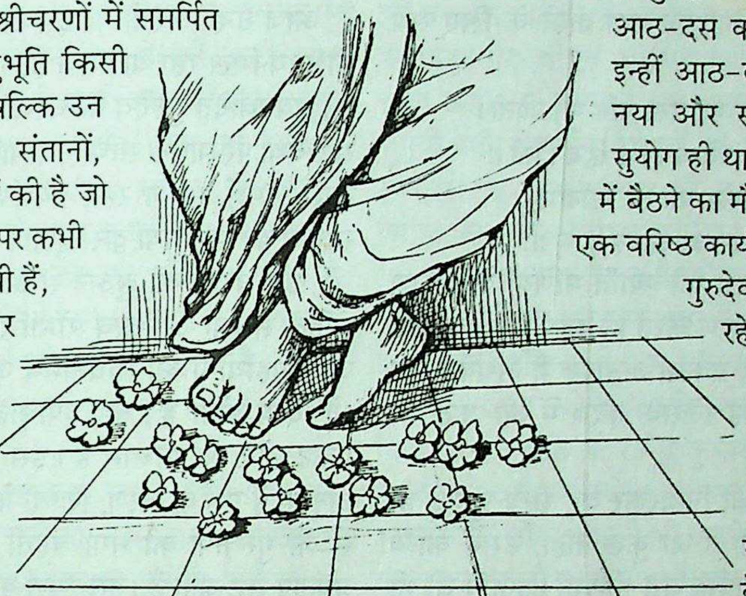

परमपूज्य गुरुदेव से मिलने पर दृष्टि बरबस उनके चरणों में थम जाती। बिन सोचे और बिन कहे हृदय की समस्त भावनाएँ, प्राणों का सारा अनुराग और मन की समूची कोमलता उनके श्रीचरणों में समर्पित होने लगती है। यह अनुभूति किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, बल्कि उन असंख्य हजारों शिष्यों, संतानों, अनुरागी एवं श्रद्धालु जनों की है जो उनसे कहीं किसी अवसर पर कभी मिले। इनमें से कई ऐसे भी हैं, जो शांतिकुंज आते और बार-बार मिलते थे। कुछ तो उनके श्री चरणों के ऐसे अनुरागी सिद्ध हुए कि उन्होंने शांतिकुंज को ही अपना घर बना लिया। सद्गुरु के चरणों को पाने की लालसा में गुरुधाम ही निजधाम बन गया।

अनोखे और अद्भुत थे गुरुवर के चरण। श्रद्धा एवं प्रेम अपने अभिभावकों एवं गुरुजनों के चरणों के प्रति भी उमड़ता है। उनके चरणों का स्पर्श भी बड़ी विनम्रता के साथ किया जाता है, पर उन मृण्मय पाँवों में चिन्मय की अनुभूति नहीं होती, जबकि चिन्मय की चैतन्यता तो गुरुचरणों का स्वभाव होता है। पारस तो लोहे का केवल रूप बदलकर उसे सोना बना पाता है, उसकी जड़ता नहीं बदल पाता। गुरुचरणों के पावन परस से शिष्य की जड़ता चैतन्यता में बदलती है। उसकी आकृति तो वही रहती है, पर प्रकृति बदल जाती है। हृदय से भक्ति की गंगा बहती है, मन की संवेदनाओं का उफान उठता है और बुद्धि में विवेक का प्रकाश फैलता है।

प्रभु से प्रथम मिलन में ऐसे रूपांतरण का अंकुरण बड़ा ही सहज था। एक अनुभवी जब उनसे पहली बार मिला, तब वह अपने ऊपर वाले कमरे में सोफे पर बैठे थे। धवल धोती, हलके बादामी रंग का कुर्ता और ऊपर भूरे रंग का हाथों से बना हुआ ऊन का जैकेट। इस जैकेट की ऊपर एक-दो बटनें खुली थीं। प्रात: के आठ-नौ बजे थे। सुबह का उजाला बड़े ही आहिस्ते से उनके कमरे में प्रवेश पाने की कोशिश कर रहा था। उजाले की उज्ज्वलता से मिलकर उनका दिव्य स्वरूप अवर्णनीय लग रहा था। उन दिनों वह सूक्ष्मीकरण साधना से अभी हाल में ही निवृत्त हुए थे। शांतिकुंज के नवागंतुक कार्यकर्त्ताओं में से कुछ को प्रतिदिन बारी-बारी से बुलाकर अपना सहज प्यार बाँट रहे थे। उस सुबह भी यही क्रम था। लगभग आठ-दस को बुलाया था। वह भी इन्हीं आठ-दस में एक था। सर्वथा नया और सभी से अनजान। यह सुयोग ही था कि उसे आगे की पंक्ति में बैठने का मौका मिल गया। पास ही एक वरिष्ठ कार्यकर्त्ता भी बैठे थे।

गुरुदेव कह रहे थे, सभी सुन रहे थे। गुरुवाणी सुनते हुए भी उसकी नजर अपने आराध्य के चरणों में टिकी थी। आकार की दृष्टि से सुगढ़, गौरवर्णीय चरण। सोफे के पास रखे हुए लकड़ी की चरणपीठ पर प्रभु इन्हें आसीन किए हुए थे। इन युगल चरणों को देखकर मन-ही-मन ऐसा लगा कि आराध्य के चरणों को निरखने की जन्म-जन्मांतर की आकांक्षा पूरी हो गई। मन में स्वर फूटे—

निरखा प्राण निछावर हो गए,
दास हुआ श्री चरणों का।

नवागंतुक कार्यकर्त्ताओं को उद्बोधन कर रहे प्रभु ने प्रत्यक्ष में नजर भर देखा और मुस्करा दिए। ऐसा लगा अंतर्यामी गुरुदेव ने मन के स्वरों को सुन लिया और स्वीकार कर लिया। अपने प्रभु की प्रीति की प्रतीति या दृष्टि पुनः चरणों में टिक गई। उनके चरणों और उँगलियों की इतनी निर्दोष गढ़न और सौंदर्य को देखकर मन मुग्ध हो गया। ऐसे अपूर्व सुंदर चरण। प्रत्येक अंगुलि की गढ़न कितनी सुंदर और शोभायुक्त थी। गुरुदेव के पाँवों की उँगलियों में उनके तप का तेज था। प्रत्येक नख मानो एक छोटा-छोटा सीप था। क्या ही सूक्ष्म शिल्पकारिता थी कमलपुष्प की सुषमा और शिशिर की स्निग्धता मिलाकर गुरुवर के चरण बनाए गए थे। तेज, सौंदर्य और स्निग्धता का आश्चर्यजनक

मिलन था प्रभु के चरणों में। पहले मिलन में ही इन्हें निरखने का यह अपूर्व सौभाग्य मिला था।

बचपन में पढ़ी गई श्रीरामचरितमानस के सोरण चौपाई अंतर्हृदय में साकार हो रहे थे—

बंदउँ गुरु पद कंज, कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु बचन रबिकर निकर॥

मैं गुरुदेव के चरण कमल की वंदना करता हूँ, जो कृपा के समुद्र और मनुष्य रूप में नारायण हैं। जिनके वचन महामोह रूपी घने अंधकार का नाश करने के लिए सूर्य किरणों के समूह हैं।

श्री गुरु पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह मत सो सप्रकासू।
बड़े भाग उर आवइ जासू॥

गुरुदेव के चरण नखों की ज्योति मणियों के प्रकाश के समान है। जिसका स्मरण करते ही हृदय में दिव्य दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। वह प्रकाश अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करने वाला है। वह जिसके हृदय में आ जाता है, उसके बड़े भाग्य हैं!

गुरुदेव के चरणों को निहारकर वह सत्य प्रत्यक्ष हो रहा था कि तुलसी बाबा ने जो कुछ कहा, उसमें काव्य सौंदर्य तो है, पर अतिशयोक्ति जरा भी नहीं। उन्होंने जो भी कहा वह उनके शिष्य जीवन की साधना सत्य है। जो साधना करने पर प्रत्येक शिष्य का जीवन सत्य बन सकता है।

सद्गुरु जिसे स्वीकारते हैं, उसे ही अपने श्री चरणों का सामीप्य देते हैं। उस दिन भी प्रभु ने अपनी बातों की समाप्ति इसी सत्य से की। उन्होंने कहा, "तुम्हें मैंने बुलाया है, तभी तुम आ सके हो। अब आ गए हो तो किसी ओर मत देखना, कहीं मन को न भटकाना। बस मुझे देखना, मेरी ओर निहारना।" उन क्षणों में ऐसा लगा जैसे वह कृपापूर्ण हो बता रहे हों कि सद्गुरु चिंतन और सद्गुरु ध्यान ही समस्त साधनाओं का सार है। उनके कथन की समाप्ति के बाद सभी एक-एक करके उठे, सबको अब चरण स्पर्श का सौभाग्य मिला था।

क्रमानुसार जब बारी आई गुरुचरणों में माथा नवाने की, तो कुछ पलों के लिए कालचक्र जैसे थम गया। भू: लोक के मनुष्य ही नहीं स्व-लोक के देवता, जन:लोक के सिद्ध, तप: लोक के महर्षि और सत्य लोक के ब्रह्मर्षि जिन चरणों में माथा नवाकर अपने को बड़भागी समझते हैं, आज उन्हीं चरणों पर इस अकिंचन् को आत्मदान का सौभाग्य मिल रहा था। सच है, उनकी कृपा से सब संभव है। भुवनवंदित गुरुदेव के चरणों की महिमा बुद्धि-विचार से सर्वथा परे साधना सत्य है, समाधिगम्य है। वह अलौकिक स्पर्श, स्पर्श भर न रहा, स्पर्शयोग बन गया। उस दिन साधना का एक नया द्वार खुला।

उन चरणों की छुअन से अकेली देह नहीं, मन-प्राण सहित समूचा अस्तित्व रोमांचित हो गया। पहली बार जाना महायोगी का साधनामय जीवन ही नहीं उनकी देह भी दिव्य होती है। वह तपोमूर्ति की तपस्या के तेज के प्रकट होने का माध्यम है। इस अलौकिक देह में सबसे अनुपम हैं प्रभु के चरण, शिष्यों के आश्रयस्थल। इन चरणों से जो गुरुकृपा की गंगा बहती है, उसके स्पर्श मात्र से त्रयताप छूट जाते हैं। इस स्पर्श की अनुभूति जीवन में बनी रहे, तो फिर और बाकी क्या रहा?

गुरुदेव के चरणस्पर्श की यह पहली अनुभूति लिए जब नीचे उतरना हुआ, तो देखा पूर्व दिशा की ओर आकाश में सूर्यदेव अपनी प्रभा बिखेर रहे हैं। उनकी रश्मियाँ चारों ओर विकीर्ण हो रही हैं। मन सोचने लगा, परमपूज्य गुरुदेव के युगल चरण क्या इन्हीं सूर्य किरणों से गढ़े गए हैं? सूर्य के ध्यान की ही भाँति उनका ध्यान भी तो समर्थ है। बरबस ही मन में ये दो पंक्तियाँ स्वरित हो उठीं—

हे गुरुदेव, तुम्हारे करुणामय चरण,
अरुण सूर्य के रूप में सदा प्रत्यक्ष हैं।

चौदहवीं शताब्दी की बात है। वैज्ञानिक ओडार्नो ब्रूसो ने अनेक तर्कों-प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी चटाई की तरह चौरस नहीं है, वरन् गोल है।

पुरातनपंथियों ने बाइबिल के मत को झुठलाने के जुर्म में ओडार्नो ब्रूसो को जिंदा जला देने का मृत्युदंड दिया। उन्मादी उसकी सफाई तक सुनने को तैयार न हुए। उन्होंने प्राण दे दिए, पर अपनी विचारधारा नहीं बदली। अंततः आगे चलकर जनसाधारण को उनकी बात स्वीकार करनी ही पड़ी। अपनी मान्यताओं के प्रति दुराग्रह की ऐसी ही दुःखद परिणतियाँ होती हैं।

सद्गुरु की परम पावन पाती

सन् २००२ ई. के इस अप्रैल महीने में 'अखण्ड ज्योति' का ७४८वाँ अंक आपके हाथों में है। पूरे ६२ वर्ष और चार महीनों से यह अपने प्रकाश और प्रभा से लोकमानस में उजाला फैला रही है। देश-विदेश में बसे अपने देव-परिवार के असंख्य सदस्यों की गहरी भावनाएँ इससे जुड़ी हैं। इन सबके लिए 'अखण्ड ज्योति' मात्र एक पत्रिका नहीं, उनके परिवार की ज्येष्ठतम सदस्य है, उनकी अभिभावक है। जिसे वे बड़ी ही श्रद्धा एवं सम्मान से देखते हैं, पढ़ते हैं और उसके परामर्शों को भक्तिपूर्ण हृदय से स्वीकारते हैं। अखण्ड ज्योति के पठन-पाठन में उन्हें अपने सद्गुरु की चेतना के स्पर्श की अनुभूति होती है। इसके किसी भी अंक को माथा नवाकर उन्हें गुरु चरणों में माथा नवाने का सुख मिलता है।

देवमाता गायत्री की शक्ति से जन्मे, पनपे और बढ़े और माता के नाम से जाने, जाने वाले इस गायत्री परिवार में कई परिवार ऐसे हैं, जिन्हें अखण्ड ज्योति पीढ़ियों से अपना प्यार दे रही है। उनके लिए अखण्ड ज्योति गुरुदेव एवं गायत्री की जीवंत प्रतिमा है। उनके आराध्य का साकार रूप है। मन को शांति, समाधान एवं प्रकाश देने वाला कल्पतरु है। गुरुदेव के विचारों को सँजोने वाला अमृत कलश है। उनकी विचार चेतना का ऐसा अद्भुत पारस है, जिसकी छुअन से असंख्यों की लोहे जैसी काली-कुरूप अंतर्चेतना में सोने की-सी चमक पैदा हो जाती है। ये पंक्तियाँ कल्पनाएँ नहीं अनुभूतियाँ हैं, जिनसे कई परिवार पीढ़ियों से धन्य हो रहे हैं।

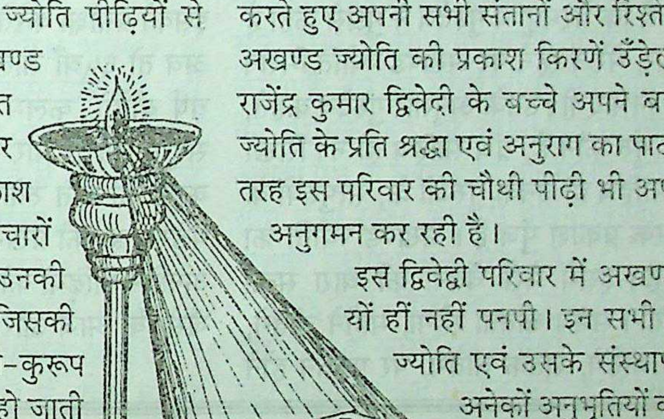

ऐसा ही एक परिवार श्री राजेंद्र कुमार द्विवेदी का है। इस द्विवेदी परिवार की तीन पीढ़ियाँ अखण्ड ज्योति का प्रकाश पीकर ही पली-बढ़ी हैं और अब तो उनके परिवार में चौथी पीढ़ी भी जन्म ले चुकी है, जिसे अपनी दादी-नानी के मुख से लोरी के साथ अखण्ड ज्योति में प्रकाशित होने वाली लघुकथाएँ और कहानियाँ सुनने को मिल रही हैं। श्री द्विवेदी के माता-पिता श्रीमती रामरती द्विवेदी एवं श्री चंद्रसेन द्विवेदी परमपूज्य गुरुदेव से तब मिले और जुड़े, जब अखण्ड ज्योति का शुरुआती दौर था। इसे प्रकाशित होते हुए अभी कुछ ही वर्ष बीते थे। उन्होंने परमपूज्य गुरुदेव एवं अखण्ड ज्योति दोनों को एक साथ गहन श्रद्धा से अपना लिया। अपने चारों पुत्रों एवं एक सुपुत्री यानि कि पाँचों संतानों को उन्होंने उच्च शिक्षा एवं संस्कारों के साथ गुरुदेव की कृपा-छाया एवं अखण्ड ज्योति का प्रकाश विरासत में दिया।

पहले कानपुर देहात के गोपालपुर गाँव, फिर ग्राम-बैरीपुर और अब लखनऊ शहर के राजाजीपुरम् में रह रहे इस द्विवेदी परिवार ने अपने निवास तो कई बदले, पर उनकी अखण्ड ज्योति के प्रति आस्था नहीं बदली। अपने पिता की ही भाँति श्री राजेंद्र कुमार द्विवेदी ने अपने तीनों बच्चों को अखण्ड ज्योति का अनुराग दिया। उनके सभी भाइयों और छोटी बहन ने भी अपने बड़े भाई का अनुगमन करते हुए अपनी सभी संतानों और रिश्तेदारों के जीवन में अखण्ड ज्योति की प्रकाश किरणें उँड़ेलीं और आज श्री राजेंद्र कुमार द्विवेदी के बच्चे अपने बच्चों को अखण्ड ज्योति के प्रति श्रद्धा एवं अनुराग का पाठ पढ़ा रहे हैं। इस तरह इस परिवार की चौथी पीढ़ी भी अपने पूर्व पुरुषों का अनुगमन कर रही है।

इस द्विवेदी परिवार में अखण्ड ज्योति में श्रद्धा यों हीं नहीं पनपी। इन सभी लोगों ने अखण्ड ज्योति एवं उसके संस्थापक की कृपा की अनेकों अनुभूतियों को जिया है। अपने समूचे परिवार और इसकी पीढ़ियों को अखण्ड ज्योति से जोड़ने वाले श्री चंद्रसेन द्विवेदी उत्तर रेलवे में स्टेशन-मास्टर थे। छुट्टियों में जब-तब वह अपने गाँव बैरीपुर आया करते थे। वहाँ गाँव वालों को, अपने परिवार के अन्य सदस्यों को गुरुदेव एवं अखण्ड ज्योति की पुरानी लेकिन प्रामाणिक बातें सुनाते। ऐसे ही उन्होंने अपनी भतीजी गिरजा के बेटे को सुनाते हुए कहा, राजा! जानते हो सन् १९४२-

४५के दिनों में अखण्ड ज्योति में छोटी-छोटी, किंतु बड़ी ही असरकारक साधनाएँ छपा करती थीं। ये साधनाएँ छपती तो अभी भी हैं, पर तब खास बात यह थी कि जिज्ञासा करने पर, पत्र लिखने पर उन दिनों गुरुदेव अपने पास बुला लिया करते थे और जिज्ञासु को इन साधनाओं को अपने सामने बिठाकर सिखा देते थे।

साधनात्मक शिक्षण के अलावा उन्होंने मुझे सूर्य चिकित्सा एवं प्राण चिकित्सा की विद्याएँ भी सिखाईं। मेरी ही तरह बहुतों ने उनसे इन सब चीजों को सीखा। लौकिक काम, मुकदमा, बीमारी और घर-परिवार की ढेरों समस्याएँ तो गुरुदेव चुटकियों में हल कर दिया करते थे। सारी समस्याओं को सुनकर वह कहते—तुम लोग चिंता क्यों करते हो, समस्याएँ हैं तो क्या हुआ, हम हैं, अखण्ड ज्योति है। जिज्ञासुओं की जिज्ञासा होती, गुरुदेव आप हैं यह तो समझ में आता है। आप अपने तप से हमें त्राण दिलाते हैं, परंतु अखण्ड ज्योति इसमें क्या करेगी। गुरुदेव कहते, अखण्ड ज्योति को मुझसे अलग मत समझो। जो श्रद्धावान् हैं, उन्हें सदा ही इसमें अपनी समस्याओं के समाधान मिलते रहेंगे। यह मेरी ही चेतना की अभिव्यक्ति है, मेरा अपना ही प्राकट्य है।

आज से तीन दशक से भी पूर्व स्वर्गीय श्री चंद्रसेन द्विवेदी कहा करते थे कि परमपूज्य गुरुदेव ने मुझसे कहा है कि मेरे न मिलने पर, मेरे न रहने पर अखण्ड ज्योति मिशन में गुरु की भूमिका निभाएगी। उनके अनुसार गुरुदेव कहते, ''आज सिखों का गुरु कौन है, ग्रंथ साहिब ही न। सिखों के लिए यह ग्रंथ साहिब ही उनके गुरुओं के, सत्पुरुषों के सद्विचारों का प्रेरक प्रकाश पुंज है। अखण्ड ज्योति का भी यही स्वरूप है। इसमें मेरी चेतना की धारा सतत प्रवाहित होती रहेगी। समय बीतता रहेगा, महीने बीतेंगे, वर्ष बीतेंगे, दशक बीतेंगे, शतक बीतेंगे, पर पुरातन होने पर भी अखण्ड ज्योति सनातन और नित्य नूतन बनी रहेगी।'' गुरुदेव के इन वचनों को श्री द्विवेदी ने अपने परिवार और पीढ़ियों को विरासत में दिया।

उनके परिवार एवं पीढ़ियों के साथ अपने देव परिवार में ऐसे लाखों परिवार एवं उनकी पीढ़ियाँ हैं, जो अखण्ड ज्योति को अपने परिवार एवं परंपरा की आदि माता मानती हैं। इनके लिए यह पत्रिका छपे हुए कागज का पुलिंदा नहीं, सद्गुरु की पाती है। वे जानते हैं कि इसमें शब्दों को गूँथकर पंक्तियाँ बनाने वाले हाथ भले ही लौकिक हों, पर पाती अलौकिक है। इसके माध्यम से आने वाला ऋषियों का संदेश उन्हीं की भाँति दैवी एवं दिव्य है। श्रद्धा इसमें जीवन के समाधान पाती है। अखण्ड ज्योति श्रद्धावानों को अहसास ही नहीं होने देती कि परमपूज्य गुरुदेव आज नहीं हैं। श्रद्धालु मानते हैं कि वे हैं और हैं ही नहीं अखण्ड ज्योति के रूप में हर महीने अपने परिवार के सदस्यों से मिलने, अपने परिजनों को परामर्श देने उनके घर पहुँचते हैं।

असंख्य जनों की श्रद्धा, प्रेम एवं आतुर भावनाएँ बड़ी ही आकुलता से हर महीने अखण्ड ज्योति का इंतजार करती हैं। दादा और दादी के साथ, नाना और नानी के साथ, पोते-पोतियों, नाती-नातिनियों और इनके माता-पिता इसकी प्रतीक्षा करते हैं। ६४ वर्षों से यह क्रम चल रहा है, अब तो ६५वाँ साल भी लग चुका है। आगे भी अनगिन वर्ष बीतेंगे, कलम थामने वाली अँगुलियाँ बदलेंगी, पर सद्गुरु के विचार उसी तरह से प्रवाहित होते रहेंगे। न काल की गति रुकेगी, न अखण्ड ज्योति का प्रकाश मंद पड़ेगा। इसकी प्रखर ज्योति में असंख्य परिवारों एवं इनकी अनगिन पीढ़ियों की भावनाएँ इसी तरह झिलमिलाती रहेंगी, जैसे कि आज और अभी जगमग ज्योतित हो रही हैं।

※

एक फकीर प्रतिदिन सुबह के समय हाथों में दो मशालें लेकर बाजार में जाता। हर दुकान के सामने थोड़ी देर ठहरता और आगे बढ़ जाता।

एक व्यक्ति ने पूछा—''बाबा ! तुम दिन के समय मशालें लेकर क्या देखते फिरते हो ? क्या ढूँढ़ते हो ?''

फकीर ने उत्तर दिया—''मैं मनुष्य खोज रहा हूँ। इतनी भीड़ में हमें अभी तक कोई मनुष्य नहीं मिला।''

उस व्यक्ति द्वारा मनुष्य की परिभाषा पूछने पर फकीर बोला—''मैं उसको मनुष्य कहता हूँ, जिसमें काम की वासना और क्रोध की अग्नि न हो, जो इंद्रियों का दास न होकर उनका स्वामी हो और क्रोध के आवेश में आकर अपने लिए और दूसरों के लिए आग की लपटें उभारने का यत्न नहीं करता हो।''

युगगीता—३२

ज्ञान की नौका से भवसागर को पार करें

(गीता के चतुर्थ अध्याय की युगानुकूल व्याख्या चौदहवीं कड़ी)

'यज्ञों में श्रेष्ठतम ज्ञानयज्ञ' शीर्षक से विगत अंक में अति महत्त्वपूर्ण इस चौथे अध्याय के तैंतीसवें एवं चौंतीसवें श्लोकों के माध्यम से ज्ञानयज्ञ की महिमा का प्रतिपादन किया गया था। योगेश्वर श्रीकृष्ण का स्पष्ट मत है कि मनुष्य के सारे कर्म इस ज्ञानयज्ञ में समाप्त हो जाते हैं एवं अज्ञान से मुक्ति ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। इसी प्रक्रिया में परमपूज्य गुरुदेव के विचार चक्र परिवर्तन की चर्चा की गई थी। उन्होंने ज्ञानयज्ञ को पतन निवारण की सेवा नाम दिया है। इसी क्रम में युगधर्म के रूप में समयदान की बात कही गई थी। ज्ञान की विस्तृत व्याख्या के अंतर्गत श्री अरविंद द्वारा प्रतिपादन एवं उपनिषदों का चिंतन भी पिछली कड़ी में दिया गया था। यह ज्ञान प्राप्त कैसे किया जाए, उसके लिए भगवान् अर्जुन को राय देते हैं, वह इसके लिए उन तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाए जिनने इस सत्य को प्रत्यक्ष देखा है (ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः)। वे कहते हैं कि बिना किसी छल के भाव से सरलतापूर्वक जिज्ञासा व्यक्त करने से वह ब्रह्मज्ञान हर किसी को ज्ञानी महात्माओं से, उनकी सेवा करने से प्राप्त हो सकता है। शिष्य पात्रता विकसित करने के लिए अपना सब कुछ यदि गुरु को अर्पित कर दे, तो वह उनसे ब्रह्मज्ञान पा सकता है। इसी ज्ञान के बारे में चर्चा और विस्तार से इस अंक में—

जिस ज्ञान के लिए भगवान् अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को तत्त्वदर्शियों-गुरुजनों के पास जाकर समझने को कह रहे हैं, उसके विषय में आगे कहते हैं—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।। ४/३५

''जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञान के द्वारा तू संपूर्ण भूतों को (समस्त प्राणियों को) पहले अपने में और तदनंतर मुझ सच्चिदानंदघन परमात्मा में देख सकेगा।''

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।। ४/३६

''यदि समस्त पापियों से भी तू अधिक पापी अपने को मानता है तो ज्ञानरूपी बेड़े (नौका) में सवार होकर निस्संदेह तू इस पाप समुद्र से पार हो सकेगा।''

एक महती आश्वासन

कितना बड़ा आश्वासन है परमसत्ता का इन दो श्लोकों में। वे कहते हैं कि इस ज्ञान को जानकर मनुष्य पुनः मोह के दलदल में नहीं फँसता। सब जगह परमात्मा की चेतना को संव्याप्त देख वह आसक्ति के बंधन में नहीं फँसता। ठाकुर श्री रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि एक बार तुम्हें परमात्मा की झलक मिल गई तो स्वर्ग की रंभा, तिलोत्तमा जैसी सुंदर अप्सराएँ भी चिता की भस्म की तरह प्रतीत होंगी। फिर उनका आकर्षण किसी के ऊपर व्यापेगा नहीं। स्वर्गीय सौंदर्य भी अनाकर्षक लगने लगेगा। ईश्वरीय बोध हो जाने पर तीनों लोकों की संपदा भी उसके सामने तुच्छ हो जाती है। जब मनुष्य संपूर्ण संसार में संव्याप्त परमात्मा के प्रति अपने मन में प्रेमभाव उत्पन्न कर लेता है, तो वह सारे संसार के साथ ही अपने तादात्म्य का अनुभव करने लगता है, तब वह संपूर्ण जीवन को आत्मा के दिव्य प्रकाश का परिधान पहने हुए अर्थात् सब में एक ही अनंत आत्मा अथवा प्रभु के मनमोहक आह्लादमय आलिंगन में स्वयं को बँधा हुआ साक्षी भाव से देखने लगता है। (येन भूतानि अशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि)।

यह ज्ञान-दिव्य ज्ञान मनुष्य के अंदर प्राणी-प्राणी में भेद बुद्धि के कारण जो मोहग्रस्तता छाई पड़ी है, उसे ज्ञान चक्षु खुलने के बाद समाप्त कर देता है। ऐसा ज्ञान मिलते ही सारे पाप कर्म भस्म हो जाते हैं। यदि व्यक्ति पापियों में भी पापी है [यहाँ भगवान् ने अर्जुन के लिए पापिष्ट शब्द नहीं प्रयुक्त किया है—वे जानते हैं कि वे स्वयं भगवान् हैं व अर्जुन उनके ही अंश हैं, नर-नारायण हैं, अतः पापकृत्तम (अधिक पापी) शब्द उन पर लागू नहीं होता, तो भी ज्ञानरूपी नौका में बैठकर वह पार हो जाता है, इतनी महिमा है ज्ञान की। पापसमुद्र से जो तार दे वह ब्रह्मज्ञान कितना पवित्र है, कितनी अनिर्वचनीय महिमा है उसकी, पराकाष्ठा की ओर ले जाने वाला श्लोक है यह। यहाँ तो ज्ञान की महिमा के परिप्रेक्ष्य में यह श्लोक आया है, किंतु

भगवान् की दृष्टि कितनी उदारता से भरी है— पापी से भी पापी व्यक्ति को वे शरण देने को आतुर हैं, उसका आभास वे एक और श्लोक में नवें अध्याय में भी देते हैं, जब वे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्यवसितो हि सः॥ ९/३०

"यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है।"

चौथे अध्याय के इस छत्तीसवें श्लोक की ही व्याख्या का अगला चरण है यह। भगवान् कृपासिंधु हैं, करुणा के सागर हैं, वाल्मीकि, अंगुलिमाल, अंबपाली, सदन कसाई, अजामिल भी उनकी शरण में जाते ही तर जाते हैं। भगवान् को जान लेना, उनको भजने लगना, ज्ञान के माध्यम से उनकी छाया में आ जाना यही वह राजमार्ग है जिस पर चलकर पापी व्यक्ति भी तर जाता है, बंधनमुक्त हो जाता है।

अपरंपार है ज्ञान की महिमा

गीता जी की यही विशेषता है कि कर्म-ज्ञान-भक्ति की त्रिवेणी इसके श्लोकों में कूट-कूटकर भरी है। यदि कर्म समर्पण भाव से भगवान् को ही चारों ओर संव्याप्त मानकर हर क्षण उनको श्वास में जीते हुए इस ज्ञान को आचरण में उतारते हुए किए जाएँगे, तो निश्चित मानिए कि यदि कहीं व्यक्ति का पूर्व का जीवन गलतियों से, पापकर्मों से भरा पड़ा है तो भी वह तर जाएगा, बंधनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होगा।

परमपूज्य गुरुदेव लिखते हैं, "ज्ञान को आत्मा का नेत्र कहा गया है। नेत्रविहीन व्यक्ति के लिए सारा संसार अंधकारमय है। इसी प्रकार ज्ञानविहीन व्यक्ति के लिए इस संसार में जो भी कुछ उत्कृष्ट है, उसे देख पाना असंभव है। ज्ञान के आधार पर ही धर्म का, कर्त्तव्य का, शुभ-अशुभ का, उचित-अनुचित का विवेक होता है और पाप-प्रलोभनों के पार यह देख सकना संभव होता है कि अंततः दूरवर्ती हित किसमें है। ज्ञान के दीपक का प्रकाश ही इंद्रियों की वासना और प्रलोभनों की तृष्णा से होने वाली दुर्दशा से बच सकता है।"

(वाङ्मय खंड ५८/१.७ पृष्ठ)

भगवान् राम ने जब सद्गुरु वशिष्ठ से सांसारिक क्लेशों के भवबंधनों से छुटकारा पाने का उपाय पूछा तो उन्होंने यही कहा, "हे राम! यदि भवसागर से पार होने की इच्छा है तो सबसे प्रथम ज्ञान संचय का प्रयत्न करे। ज्ञान से ही दुःख दूर होते हैं। ज्ञान से ही अज्ञान का निवारण होता है, ज्ञान से ही सिद्धि प्राप्त होती है और किसी उपाय से नहीं"

(योगवासिष्ठ ५/८८/१२)

छांदोग्य उपनिषद् में एक कथा आती है। एक बार इंद्र और विरोचन में एक जिज्ञासा पैदा हुई, "मैं क्या हूँ।" वे बार-बार सोचते-विचारते रहे, लेकिन उन्हें मैं का अता-पता नहीं लगा। आखिर दोनों मिलकर आदरपूर्वक शिष्य भाव से हाथ में समिधाएँ लेकर आचार्य प्रजापति के पास गए और नम्रतापूर्वक उनसे अपनी जिज्ञासा प्रकट की। प्रश्न का जवाब देने के पूर्व ही प्रजापति ने उनकी योग्यता, पात्रता को जानने के लिए एक युक्ति निकाली। उन्होंने कहा, "एक थाली में पानी भरकर अपना-अपना मुँह देखो, उसमें तुम्हें अपना स्वरूप दिखाई देगा।" दोनों ने तुरंत सज-धजकर पानी से भरी थाली में अपने को देखने का प्रयास किया। विरोचन को अपना सजा-सँवरा रूप देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई और वे अपने साथियों में जाकर अभिमान के साथ कहने लगे, भाई! मैंने तो 'मैं' का पता लगा लिया है, लेकिन उधर इंद्र का कोई समाधान नहीं हुआ। वह कुछ बुद्धिमान था। वह पुनः आचार्य के पास पहुँचा व बोला कि भगवन्! इस असंस्कृत शरीर की प्रतिच्छाया ही प्रतिबिंब में दिखाई देती है। यदि यह शरीर काना-लूला, लँगड़ा होता तो प्रतिच्छाया भी वैसी

ही दिखाई देती। वस्त्रालंकारों को उतार देने पर प्रतिबिंब का सौंदर्य भी नष्ट हो जाता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर यह भी नहीं रहता। इसीलिए इसे मैं कैसे अपना स्वरूप मानूँ? मुझे इसमें शांति नहीं मिलती। प्रजापति ने इंद्र को सच्चा जिज्ञासु माना व ज्ञान का उपदेश दिया। विरोचन देहात्मवादी कहलाए व आसुरी संस्कृति के पोषक बने।''
(अध्याय ८, खंड सप्तम से पञ्चदश)

विज्ञान नहीं ज्ञान

उपर्युक्त कथा आज के उपभोक्तावादी युग में बड़ी सटीक है व सभी को प्रेरणा देती है कि जो प्रत्यक्ष है, भोगने योग्य है, उसी को सब कुछ न मानें, जो अगोचर है, ज्ञान का मर्म है, उसे जानने का प्रयास करें। विज्ञान ने आज सभी के चिंतन को बहिर्मुखी बना दिया है। भोग ही सब कुछ बनकर रह गया है, इसीलिए चारों ओर आसुरी चिंतन दिखाई देता है। यदि कलियुग की स्थिति सुधरती है, सतयुगी समाज वापस लाना है, पापियों की संख्या में कमी करनी है तो एक ही रास्ता है ज्ञान की आराधना का। वह ज्ञान जो पाप समुद्र से भलीभाँति सभी को तार देता है।

भगवान् अर्जुन को उपदेश देने के समय बार-बार ज्ञान के माहात्म्य एवं परमात्मसत्ता के प्रति समर्पण की चर्चा करते हैं। अर्जुन हम सबके अंदर है एवं यदि हम उस उपदेश को अपने लिए मान सकें तो हमारा कल्याण सुनिश्चित है। पापों से तारने का आश्वासन भगवान् ने अठारहवें अध्याय में गीता के शिक्षण की पराकाष्ठा पर पहुँचने के बाद भी दिया है, जब वे कहते हैं, ''तू सभी कर्त्तव्य-कर्मों को त्यागकर मुझ सर्वशक्तिमान परमेश्वर की शरण में आ जा। मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'' (**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**) हम कल्पना कर सकते हैं कि भगवान् कितने करुणानिधान हैं। वे बार-बार अपने शिष्य को साधक को, किसी भी जिज्ञासु पाठक को पापों से मुक्त करने का आश्वासन दे रहे हैं, शर्त एक ही है, हम तत्त्व से परमात्मा को जानें। चारों ओर उसे संव्याप्त मानें एवं फिर एकनिष्ठ भाव से उसके प्रति समर्पित हो जाएँ।

एक सामान्य व्यक्ति के लिए जो भौतिकवादी जीवन जी रहा है एवं आध्यात्मिक मार्ग की ओर आने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट अनुभव करता है, भगवान् की स्पष्ट घोषणा है कि वे ज्ञानरूपी नौका में निश्चित ही तर जाएँगे। भगवान् हर उस व्यक्ति को इस वाक्य के द्वारा उत्साहित करते हैं कि यदि तुम पापियों में से भी सबसे बड़े पापी भी क्यों न हों तब भी तुम्हारे लिए आशा है। तुम जाग्रति की स्थिति में आओ, व्यापक दिव्य चैतन्य का अनुभव करो। जागो और अहंभाव से ऊपर उठ जाओ। ज्ञान की नौका तुम्हें तार देगी।

इस नौका पर बैठकर तो देखें

अब मनुष्य यह समझे कि वह निरंतर पापकर्म करता रहे तथा ज्ञानप्राप्ति का कर्मकांड किसी तरह करते रहे, तो उसकी मुक्ति नहीं है। 'ज्ञान' तो वह साबुन है जो कषाय-कल्मषों को आत्मसत्ता पर से साफ कर देता है, फिर वह मनुष्य की वृत्ति भी बदल देता है। यह वह ज्ञान है जिसे प्राप्त कर मनुष्य कभी मोह को प्राप्त नहीं होता एवं वह दृष्टि मिल जाती है कि वह सब प्राणियों के साथ एकात्मभूत हो जाता है। एक प्रकार की दार्शनिक समता की प्राप्ति हो जाती है। इस सर्वव्यापी आध्यात्मिक एकता में सबका 'अशेषेण' (येन भूतानि अशेषेण-४/३५) बिना अपवाद के समावेश होता है। जो कुछ अच्छा है, सुंदर है, वही नहीं बल्कि जो नीच-पतित, पापी या घृणित हो, वह भी उसके अंदर आ जाता है। फिर सबके भीतर से साधु-महात्मा ही नहीं, चोर, वेश्या एवं चांडाल के भीतर से भी वे ही प्रियतम ताकते हैं और पुकार कर कहते हैं कि मुझे देख मैं यहाँ हूँ। ''सब भूतों में जो मुझको प्यार करता है'' ऐसी दिव्य प्रेम की शक्तिशाली घोषणा एवं पापों से विमुक्ति का आश्वासन संसार के किसी भी दर्शन शास्त्र या धर्म में, किसी भी ग्रंथ में नहीं हुआ है, जैसा कि गीता में वर्णित हुआ है।

फिर भी पूर्वकाल में मूर्खतावश जो कुछ भी हम कर बैठे हैं, उसके परिणाम तो भोगने ही होंगे। ईश्वरीय न्याय तो अपना कार्य करेगा ही। संचित और क्रियमाण कर्म तो नष्ट हो जाएँगे, पर प्रारब्ध नष्ट नहीं होगा। प्रारब्ध तो एक बँधी हुई फाइल की तरह साथ-साथ चलता है। कभी-कभी कोई समर्थ गुरु आता है, उस गुरु की कृपा होती है, तो वह प्रारब्ध भी उसकी कृपा से घटता चला जाता है, परिष्कृत होता चला जाता है। फिर मनुष्य साक्षी भाव में जीने लगता है। शरीर का कष्ट, कष्ट नहीं लगता। सदा आनंदभाव से जीने की मन में इच्छा होती है। कष्ट आते हैं तो साधक उन्हें तप बना लेता है। कर्म-विधान की भी अवहेलना नहीं होती। इसीलिए भगवान् अगले श्लोक में किसी भी साधक की शंका का पूर्वानुमान कर कहते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्म सात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।४/३६

''हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है, उसी तरह ज्ञानरूपी अग्नि संपूर्ण कार्यों को भस्म कर देती है।''

कर्म वासनाएँ एवं पाप-पुण्य

यहाँ 'कर्म' शब्द का प्रयोग भगवान् ने किया है। भूतकाल के हमारे जीवन में स्वार्थपूर्ण जीवन, कामना प्रेरित कर्मों के कारण जो वासनाएँ जन्मीं, उन्हीं की ओर यह संकेत है। किसी भी कर्म की प्रेरक ये 'वासनाएँ' ही होती हैं और इनके शुभ व अशुभ प्रकारों से ही व्यक्ति को सुख या दु:ख की प्राप्ति होती है। अशुभ वासनाएँ ही पाप कर्म को जन्म देती हैं। भगवान् कहते हैं कि जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है, इसी तरह ज्ञान की अग्नि संपूर्ण कर्मों-वासनाओं को भस्मीभूत कर देती है। चूँकि साधक ज्ञानी है, उसका अहंकार भस्मसात् हो चुका है, वह समर्पण भाव से कर्म करता हुआ जी रहा है, उसके पाप दग्ध हो जाते हैं। इसी तरह अहंकेंद्रित जीवन में इकट्ठे किए पापों की चूँकि शुद्ध आत्मा तक पहुँच नहीं, वे बने रहते हैं, त्रास देते रहते हैं तब तक, जब तक कि मनुष्य ज्ञानरूपी अग्नि में उन्हें जलाए नहीं, स्वयं को उस परमपिता सच्चिदानंदघन परमात्मा की शरण में सौंपे नहीं। ज्ञान के माध्यम से जो उपचार श्रीकृष्ण ने दिया है, वह बड़ा अद्वितीय है, क्योंकि अत्यंत पतितों—पापी से भी पापी व्यक्तियों के लिए यहाँ आशा की किरण नजर आती है।

प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य पाप क्यों करता है, क्यों वह पापकर्म में लिप्त होता है? कर्म कब पाप बनता है, कब पुण्य, यह गुत्थी भी युगों-युगों से चली आ रही है। आखिर आदमी 'सुरदुर्लभ मानव तन' पाकर पापकर्म में लिप्त होता ही क्यों है? यह भी समझ में नहीं आता। परमपूज्य गुरुदेव इसका समाधान अपनी लेखनी से देते हैं। वे लिखते हैं, ''सामान्य मानव में कर्म के प्रेरक तत्त्व उसकी अभिरुचि, आदतें व जन्मांतरों की प्रवृत्तियाँ होती हैं। इन्हीं सबके अनुसार वह जीवन ऊर्जा को नष्ट करता-बिखेरता रहता है, जबकि साधनारत दिव्य-कर्मी विधाता द्वारा दी गई 'कर्म की स्वतंत्रता' का ठीक-ठीक उपयोग करने में समर्थ होता है। वह स्वयं की अभिरुचियों, आदतों एवं प्रवृत्तियों को नए सिरे से गढ़ता है। उसके अंतराल में नए संस्कार जन्म लेते हैं। फिर कर्म के तत्त्व स्वार्थों का जखीरा जमा करने की लालसा, अहंकार का झंडा ऊँचा करने की चाहत नहीं रह जाती। प्रत्येक काम लोक के प्रति करुणा, आत्मविकास के सोपानों पर चढ़ने के उद्देश्य से होता है। यही कर्म पुण्य बन जाते हैं। इसके लिए सुसंस्कृत साधक पहले बनना होता है।'' (अखण्ड ज्योति अगस्त १९४२, पृष्ठ ३६)। वास्तविकता यही है। गौरव बोध से होने वाला काम, जिसके पीछे स्वार्थ और अहं की प्रेरणा न हो, पुण्य बन जाता है। अंतर्मन में ग्लानि, कुंठा, हीनता की चोट सहनी पड़े, ऐसे काम पाप बन जाते हैं।

'पाप' शब्द की धुरी पर ईसाई धर्म की नींव रखी हुई है। पापों का प्रायश्चित्त(कन्फेशन)यही विधान उनके यहाँ प्रभु के द्वार पर पहुँचने का राजमार्ग बनाता है। भारतीय संस्कृति का चिंतन इससे भी आगे परिष्कृत मार्ग अपनाता है एवं हर श्वास में योग, हर श्वास में जीवन साधना जीने का मंत्र सिखाता है। जब जीवन साधना निखरने लगती है, तो पापकर्म स्वत: नहीं बन पड़ते। रोजमर्रा के कषाय-कल्मषों एवं पापकर्मों के बीजों को भूनकर राख कर देने के लिए उनका स्वरूप बदलने के लिए इसीलिए परमपूज्य गुरुदेव ने गायत्री की ज्ञानगंगा बहाई। कभी जो प्रतिबंधों से घिरी थी, उस साधना को जन-जन के लिए उपलब्ध करा दिया। गायत्री मंत्र का भर्गतत्त्व पापनाशक सविता देव का तेज धारण करने की प्रेरणा देता है। यह ज्ञान यदि जीवन का अंग बन जाए तो व्यक्ति भवबंधन में फँसेगा ही क्यों? ज्ञान की और अधिक व्याख्या अगले अंक में

क्रमशः

वासवदत्ता अपने समय की श्रावस्ती की अनिंद्य सुंदरी नगरवधू थी। सारा कुलीन समुदाय उसे पाने को भौंरे की तरह मँडराता। भिक्षु उपगुप्त उन दिनों महान् तपस्वी ही नहीं सौंदर्य और सौष्ठव की प्रतिमूर्ति भी थे, वासवदत्ता केवल उन्हें ही चाहती थी, किंतु आत्मा के उपासक उपगुप्त पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। जीवन के उत्तरकाल में वृद्धा वासवदत्ता बीमार हो गई। तब एक दिन उपगुप्त उधर पहुँचे। वासवदत्ता उन्हें देखकर बोली—तात ! आप अब आए हैं, जब मेरे पास आपके लिए कुछ बचा नहीं।

आत्मज्ञानी उपगुप्त की आँखें उमड़ पड़ीं। उन्होंने अत्यंत आदर और स्नेहपूर्वक वासवदत्ता से कहा—भद्रे ! सौंदर्य तो आत्मा का होता है और वह अविनाशी है। यह कहकर वे उसकी सेवा में जुट गए।

गुरुकथामृत—३२

लेखनी की साधना का संवेदनासिक्त मार्गदर्शन

साठ वर्ष तक निरंतर लेखनी की साधना करने वाले, अपनी चिंतन क्षमता, कल्पनाशक्ति, भाव संपदा खपाने वाले तपस्वी युगद्रष्टा आचार्य श्री को पत्रकारिता के क्षेत्र में भी एक पथप्रदर्शक के रूप में याद रखा जाना चाहिए। उन्होंने दार्शनिक, साहित्यकार एवं मार्गदर्शक तीनों की भूमिका निभाई। जीवनभर वे अपनी लेखनी से, पुस्तकों-पत्रिकाओं, पत्रों व प्रत्यक्ष चर्चा से औरों को भी प्रोत्साहित करते रहे, ताकि सकारात्मक लेखन चलता रहे, जिस किसी के भी अंदर पात्रता हो, वह युगसाहित्य के निर्माण में भागीदारी करे। कार्य बड़ा था, वे स्वयं भी सामर्थ्य रखते थे एवं अस्सी वर्ष की आयु पूरी होने तक उन्होंने जो लिखा, वह अपने आप में एक कीर्तिमान है। फिर भी वैज्ञानिक अध्यात्मवाद हो, चाहे काव्यलेखन, विभिन्न स्तर की साहित्यिक प्रतिभाओं को सतत प्रेरित कर उनका पथ प्रदर्शन जीवन भर किया। इन पंक्तियों का लेखक भी एक चिकित्सक था, जिसे कुछ भी प्रशिक्षण हिंदीलेखन में नहीं मिला था। लेकिन उसकी उँगली पकड़ कर भी उन्होंने लिखना सिखा दिया, ताकि अनेकों प्राणचेतना के संवाहकों में एक वह भी बन सके।

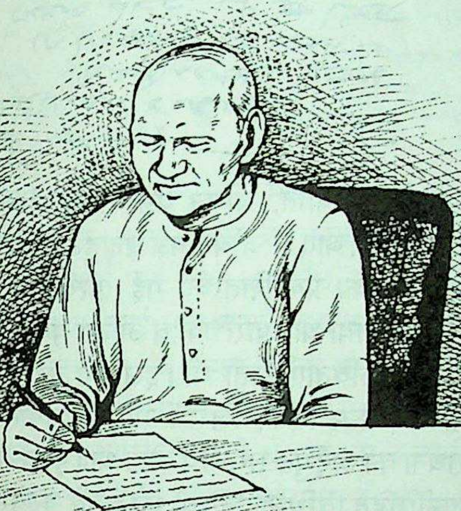

पूज्यवर के पत्रों के माध्यम से यह संवेदनासिक्त मार्गदर्शन झलक देता है। इस बार के गुरुकथामृत में हमने कुछ ऐसे ही पत्रों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पहला पत्र ४ मई १९५२ को लिखा गया है अजमेर के श्री मोहनराज भंडारी को। उन्हें वे अपना अनन्य भी मानते थे एवं उसी मित्र भाव से लिखते भी थे। वे लिखते हैं—

हमारे आत्मस्वरूप,

आपका पत्र मिला। इन दिनों आपने जो ठोस साहित्यिक कार्य किए हैं, उनका विवरण जानकर हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। आपके द्वारा, आपकी लेखनी द्वारा राष्ट्रनिर्माण का बहुत कार्य होने की आशा है।

'कुसुम' मिला, पर उससे प्रसन्नता नहीं हुई। आप पहेलियों का क्या झंझट ले बैठे? आपकी उज्ज्वल कीर्ति में इससे कमी ही होगी। आप इसे साहित्यिक ही रखते तो अधिक अच्छा होता।

कहानी लिखने का अभ्यास अब छूट गया है, धार्मिक लेख ही लिखता रहता हूँ। फिर भी तुम्हारे लायक कुछ लिखूँगा। पारिश्रमिक भेजने की कतई जरूरत नहीं है। तुम्हारा आत्मभाव ही उच्चकोटि का बहुमूल्य पारिश्रमिक है। घर के सब लोगों को हमारा यथोचित् नमस्कार कहना।

—श्रीराम शर्मा

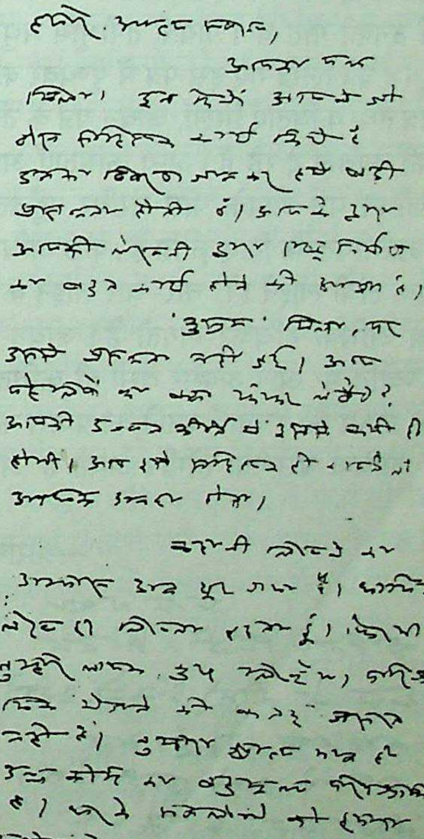

पत्र की भाषा शिक्षण देती है। उनकी लेखन शैली के बहुविध आयाम भी दर्शाती है। पहले पैराग्राफ में वे उनकी पीठ थपथपाते हैं व कहते हैं कि आपसे हम राष्ट्र निर्माण के स्तर पर लेखन की अपेक्षा रखते हैं। इतने ऊँचे स्तर की आशा-अपेक्षा है एवं उन्होंने अपनी पत्रिका निकाली भी तो 'क्विज' पहेलियों वाली। इस पर उन्होंने खिन्नता व्यक्त की है। लेखक-साहित्यकार युगनिर्माता होता है। वह जीवन को दिशाधारा देने का कार्य करता है, न कि 'कौन बनेगा करोड़पति' स्तर की प्रतिस्पर्द्धा वाला पहेली भंडार बनाने वाला व्यवसायी। वे अपने लिए भी लिखते हैं कि पारंपरिक औपन्यासिक कहानियाँ जो मनोरंजन करती हैं, वे नहीं लिखते, मात्र धार्मिक साहित्य का लेखन करते हैं, जिसका प्रमाण उनकी पंद्रहवर्षीय पुरानी अखण्ड ज्योति पत्रिका थी, जिसके माध्यम से मोहनराज जी जुड़े थे। पारिश्रमिक पर जो टिप्पणी है, वह भी हृदय को स्पर्श कर जाती है। यह एक पत्र नहीं, दस्तावेज है, एक नूतन उभरते साहित्यकार को दिए जा रहे मार्गदर्शन का, उँगली पकड़कर सिखाने वाले स्तर की गुरुसत्ता के परामर्श का।

दूसरा पत्र है मथुरा के ही डॉ. त्रिलोकी नाथ ब्रजवाल को लिखा गया, जो उन दिनों पिलानी में अध्यापक थे। काव्य में उनकी गति थी। गायत्री तपोभूमि मथुरा से २० मार्च १९५४ को लिखे गए इस पत्र में पूज्यवर कहते हैं—

"पत्र तथा कविताएँ मिलीं, जीवन यज्ञ के तीसरे अंक में आपकी कविता दे रहे हैं। अन्य कविताएँ आगे छपती रहेंगी। जीवन यज्ञ आपके पास बराबर पहुँचता रहेगा। आपकी आत्मीयता के लिए कृतज्ञ हैं। कुछ अधिक अक्षरों की अधिक लंबी लाइनें हों, चार-चार लाइन के छंदों की शैली हमें अधिक रुचिकर लगती है। जीवन यज्ञ तथा अखण्ड ज्योति में आप अक्सर वैसी ही कविताएँ देखते होंगे। इस प्रकार की रचनाएँ बनाने का प्रयास करें तो हमें और भी अधिक प्रसन्नता होगी। आशा है आप सानंद होंगे।

—श्रीराम शर्मा

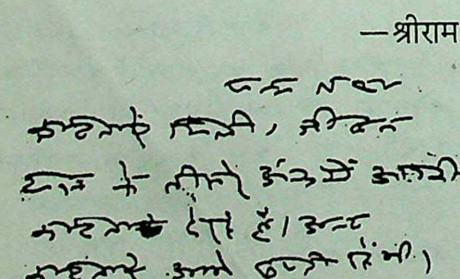

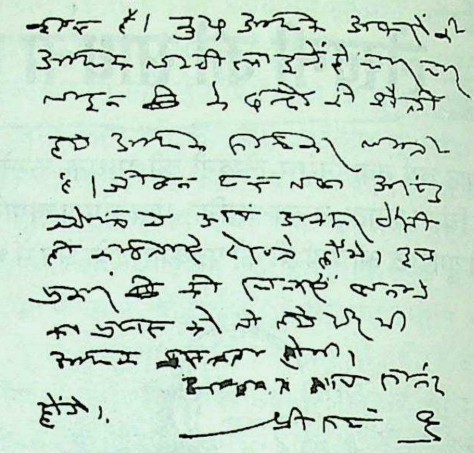

अखण्ड ज्योति, जीवन यज्ञ दो पत्रिकाएँ उन दिनों निकलती थीं। बाद में जीवन यज्ञ बंद हुआ फिर युगनिर्माण योजना पत्रिका प्रकाशित की गई। प्रत्येक में काव्य को स्थान दिया गया था। प्रारंभिक व अंतिम पृष्ठ पर फड़फड़ा देने वाली कविताएँ होती थीं। इस युग काव्य ने एक नई विधा को जन्म दिया, जिसमें साधना, उपासना व राष्ट्र आराधना का अद्‌भुत समन्वय होता था। पृथक से प्रकाशित पुस्तकों रहित विभिन्न कवियों को हमारे गुरुवर ने लिखना सिखाया, छंदबद्ध करना सिखाया एवं प्रायः दो से तीन हजार कविताएँ उनसे लिखवा लीं। इन्हीं का समन्वित रूप काव्य के वाङ्मय के खंडों के रूप में शीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है। देखने योग्य बात है—कविता लेखन पर सुव्यवस्थित मार्गदर्शन। कवि अपनी भाव संवेदनाओं को पिरोते हुए कैसे लिखें, यह सटीक बिंदुवार चिंतन वे सतत देते रहते थे। एक ऐसा ही पत्र हमारे मिशन की सुपरिचित कवयित्री श्रीमती मायावर्मा को लिखा हम यहाँ दे रहे हैं। गुरुसत्ता ने अपनी शिष्या की अंतर्वेदना को समझा व उन्हें काव्य लिखने को प्रेरित किया। वे जीवनपर्यंत लिखती रहीं। २२-१२-६७ को लिखे एक पत्र में पूज्यवर लिखते हैं—

चि. माया आशीर्वाद, स्नेह

तुम्हारा पत्र मिला। कविता भी। तुम्हारी दोनों पुस्तकें प्रेस में हैं। कविताएँ सुधार ली हैं। जिन कविताओं में अधिक सुधार होना है, उन्हें रोक लिया है। तुम जब कभी इधर आओगी, तब उनका सुधार समझाकर तुम्हारे ही हाथों उसे ठीक करा लेंगे, ताकि आगे से तुम्हें इन बातों का ध्यान रहे। अपना लेखनकार्य चालू रखें। उसका अधिकांश भाग तो काम में आता ही रहेगा। सुधार समझाना पत्र से नहीं, प्रत्यक्ष ही संभव हो सकेगा। सो कभी सुविधानुसार आना।

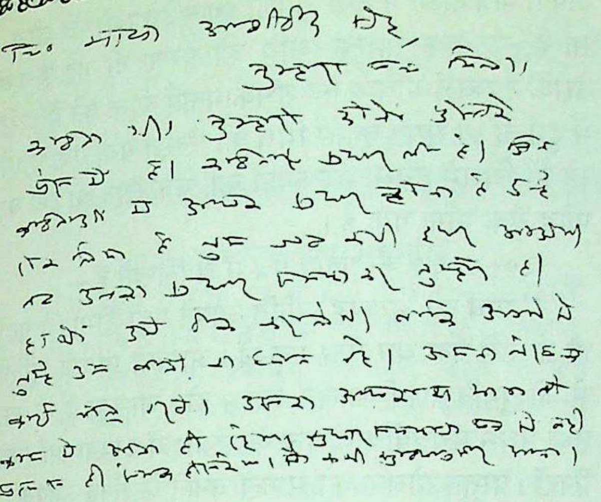

ग्वालियर की माया वर्मा वैसे माया सक्सेना थीं, पर उन्होंने अपनी बेटी (मानसपुत्री) का काव्य की दृष्टि से नामकरण माया वर्मा कर दिया। उन्होंने, उनके पति ने स्वीकार कर लिया। कई पुस्तिकाएँ, एकांकी, मार्गदर्शक नाटक उनसे लिखवाए। वे समय-समय पर मथुरा जाती रहतीं व प्रत्यक्ष मार्गदर्शन प्राप्त करती थीं। विशेष बात यह थी कि सुधार भी पूज्यवर ही करते थे, पर उसे वे उन्हीं के हाथों लिखवाना चाहते थे, ताकि अभ्यास हो जाए। फिर आगे काव्य में त्रुटि न हो। प्रत्यक्ष चर्चा में कई पहलू आते हैं, जो समझा दिए जाते हैं। इसी आधार पर आत्मीयता से भरे मार्गदर्शन की धुरी पर उन्होंने युगपीर का निर्वाह करने वाली कविताएँ लिखवा लीं माया जी से, जो आज मील का पत्थर बन गईं। ''जिसका हर आँसू रामायण प्रत्येक कर्म ही गीता है'' से लेकर ''ओ सविता देवता संदेशा मेरा तुम ले जाना'' इसी शक्तिपात की परिणति हैं।

सिवनी के श्री ध्रुवनारायण जौहरी अच्छे चिंतक हैं, शिक्षाविद् हैं एवं 'अखण्ड ज्योति' का वैज्ञानिक अध्यात्मवादपरक परिवर्द्धन होने के बहुत पूर्व से पूज्यवर से जुड़े रहे हैं। आज भी वे हमारे संपर्क में हैं, समय-समय पर हमें भी परामर्श देते रहते हैं। उन्हें १७-१-७० को लिखे एक पत्र में पूज्यवर लिखते हैं—

''आपका भेजा अतींद्रिय विज्ञान का अनुवाद यहाँ यथासमय आ गया था। हमें आजकल बहुत करके बाहर ही रहना पड़ रहा है, सो लौटने पर पत्र लिख रहे हैं।

अपना यह प्रयास बराबर जारी रखें। इस प्रयास से उपयुक्त पाठ्यसामग्री प्राप्त करने में बहुत सहायता मिलेगी। वेदांत का जितना काम हो चुका हो, जब तुम साकोली महासमुंद आओ, तब साथ लेते आना। बाकी जितना काम होता जाए, उतना भेजते जाना।''

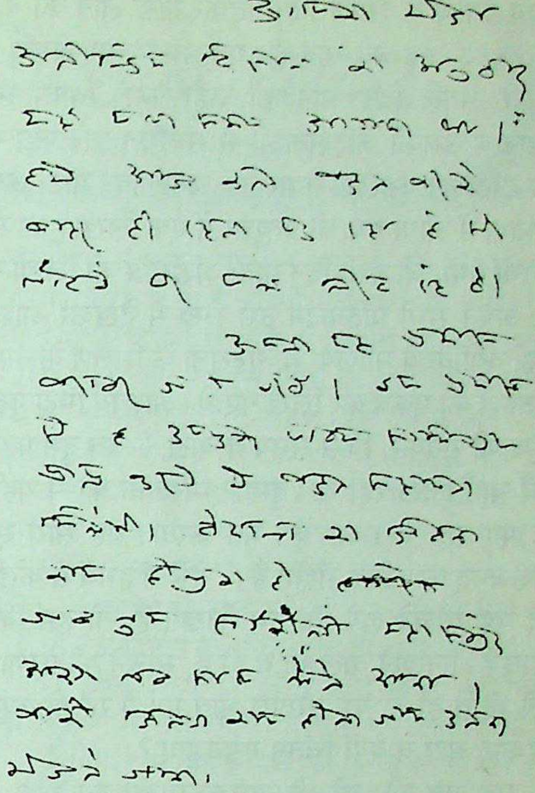

पत्र सरल-सा है, पर जरा इसकी भाषा पर ध्यान दें। उपर्युक्त पाठ्यसामग्री मधुसंचय की तरह से पूज्यवर द्वारा एक नहीं, ढेरों व्यक्तियों को प्रेरित कर लिखवा ली गई। समय-समय पर उसका अखण्ड ज्योति पत्रिका में उपयोग भी हुआ, पर विलक्षण बात यह थी कि विज्ञान, परामनोविज्ञान की सामग्री भेजने वाला लेखक-शिष्य भी जब छपकर आए लेख को देखता था तो बस उँगली दाँतों तले दबाकर रह जाता था। वैज्ञानिक तथ्यों की गवाही लेकर किस तरह 'वैज्ञानिक अध्यात्मवाद' स्थापित किया गया, इस पर समय रहते जब भी शोध होगी, कई अनजाने पहलू सामने आएँगे। गुरुसत्ता ने सभी को अवसर दिया, वे स्वाध्याय करें, पाठ्य सामग्री का संकलन करें व उसे नियमित भेजते रहें। वे अपने कार्यक्रम जिनमें वे अति व्यस्त रहते थे, वहाँ भी उस सामग्री को बुलवाने में संकोच नहीं करते। इससे लेखक शिष्य को भी सरलता हो जाती थी, प्रत्यक्ष मार्गदर्शन भी मिल जाता था। श्री जौहरी जी के अलावा यतींद्रदत्ता, रमाकांत शर्मा रमन, निर्मलाराय, श्री प्रभाकर सहित ऐसे न जाने कितने नाम हमारे स्मृतिपटल पर आ जाते हैं, जो अपने दैनंदिन जीवन के अतिरिक्त इसी साधना में नियोजित कर दिए गए। इसका लाभ उन्हें भी मिला एवं मिशन को भी।

जहाँ तक इस पाठ्यसामग्री का प्रश्न है, एक अनुभूति इस स्तंभ लेखक की है, जो बताना जरूरी है। वे सभी को

विषय देते थे व अगले दिन पढ़कर लेख लाने को कहते थे। १९८३-८४ की बात है। एक विषय पर लेखन हेतु पढ़कर अगले दिन आने को कहा गया। विषय स्नायु विज्ञान व उसकी जटिलताओं से संबंधित था। पढ़ा गया एक छोटा-सा आलेख तैयार कर अगले दिन प्रातः अपनी ही भाषा में लाया गया तो प्रत्युत्तर में एक लिखा हुआ लेख दे दिया गया, जो उसी दिन प्रातः अर्द्धरात्रि को लिखा गया था। अपने सभी प्रतिपादन उस लेख में देखकर आश्चर्य हुआ, क्योंकि वे मौलिक थे, गुरुसत्ता के शिक्षण के आधार पर तथ्यों को एकत्र कर लिखे गए थे। आश्चर्य मिटा गुरुदेव की वाणी सुनकर, जिस समय वे बोले, ''जब तुम पढ़ रहे थे मैं यहाँ लिख रहा था। तुम्हारे मस्तिष्क को मैं यही से बैठे पढ़ रहा था। आश्चर्य मत करना। यह सारा सूक्ष्म परोक्षजगत् का लीला संदोह है।'' ऐसे में हममें से कोई भी यदि यह सोचने लगे कि हम लिखते हैं, तो हम कितने नादान हैं। लिखाने वाले भी वे ही हैं, सोचने की प्रेरणा देने वाले भी वे ही हैं, यह समर्पण भाव मन में रहे तो क्यों तो अहंकार आए व क्यों चिंतन गड़बड़ाए?

एक पत्र और जो श्री रामस्वरूप खरे को १-९-६७ को लिखा गया। यहाँ अंश रूप में प्रस्तुत है—

कल्याण, सरस्वती आदि में आपकी रचना छपने की बड़ी प्रसन्नता है। आप साहित्यिक जगत् में उज्ज्वल नक्षत्र की तरह यशस्वी हों, ऐसी आंतरिक कामना है।

यदा-कदा अपनी पत्रिकाओं के लिए भी कुछ रचनाएँ भेजते रहें।

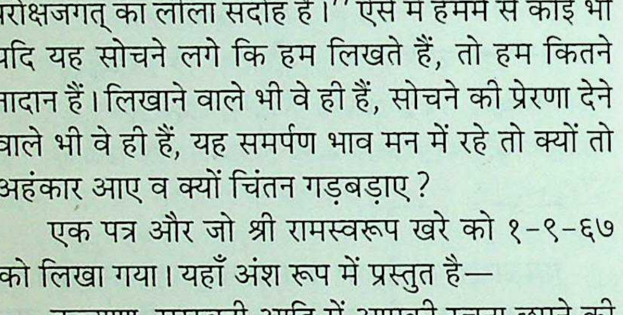

पत्र में मंगलकामनाएँ हैं कवि के लिए व पूर्व से दिया जा रहा आह्वान है कि वे अपनी कविताएँ अन्य पत्रिकाओं के अलावा अखण्ड ज्योति, युगनिर्माण योजना, प्रज्ञा अभियान पाक्षिक आदि पत्रिकाओं के लिए भी भेजते रहें। पं. रामस्वरूप जी निरंतर काव्य-लेखन करते रहे एवं पूज्यवर अपनी पत्रिकाओं में उन्हें अग्रणी स्थान देते रहे। पत्र छोटा-सा है, पर एक साधक-कवि को प्रेरणा दी गई है एवं उसके उज्ज्वल भविष्य की शुभकामनाएँ व्यक्त की हैं। अंत में दुर्ग के श्री सुमंत कुमार मिश्र को लिखा गया एक पत्र दे रहे हैं, जिसमें उनसे पत्रिकाओं का, प्रकाशित योजना का फीड बैक माँगा गया है।

३०-४-६७ को लिखे पत्र में वे लिखते हैं—

''मार्च की अखण्ड ज्योति आपने पढ़ी होगी। न पढ़ी हो तो उसे एक बार फिर पढ़ लें। आगामी गायत्री जयंती से जो युगनिर्माण विद्यालय आरंभ होने जा रहा है, उसके तथा प्रथम पंचवर्षीय योजना के संबंध में अपना अभिमत लिखें। प्रस्तुत योजना को सफल बनाने के लिए आपके सुझाव तथा परामर्श की विशेष रूप से आवश्यकता अनुभव की जा रही है।''

राजा शतायुध प्रजा निरीक्षण के लिए निकले। एक झोपड़ी में जराजीर्ण वयोवृद्ध दीखा। राजा रुक गए। कुतूहलवश पूछा, ''आपकी आयु कितनी है?'' देखने में वे शतायु की परिधि तक पहुँचे दीखते थे। वृद्ध ने झुकी गरदन उठाई और कहा, ''मात्र पाँच वर्ष।'' राजा को विश्वास न हुआ। फिर से पूछा, तो वही उत्तर मिला। वृद्ध ने कहा, ''पिछला जीवन तो पशु-प्रयोजनों में निरर्थक ही चला गया। पाँच वर्ष पूर्व ज्ञान उपजा और तभी से मैं परमार्थ प्रयोजन में लगा। सार्थक आयु तो तभी से गिनता हूँ।''

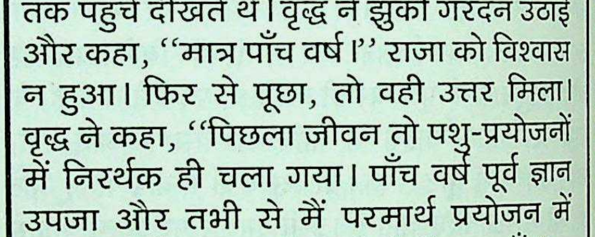

ऐसे एक नहीं, कई सुमंतों को पूज्यवर ने ऐसे पत्र लिखे हैं। विनम्रतापूर्वक अपने पाठक-शिष्यों से अभिमत माँगना, सुझाव-परामर्श की बात लिखना, यह बताता है कि किस उच्च स्तर पर पूज्यवर का हर कार्य नियोजित होता था। इतना बड़ा मिशन—विराट् वटवृक्ष यों ही नहीं खड़ा हो गया है। उसके पीछे गुरुसत्ता का तप तो है ही, ऊपर उद्धृत पत्रों की भूमिका कितनी है, हर कई समझ सकता है।

श्रीरामलीलामृतम्-४

चेतना की शिखर यात्रा

(परमपूज्य गुरुदेव : एक असमाप्त जीवन गाथा-४)

मातृत्व की विलक्षण अनुभूति

आँवलखेड़ा में एक पुरानी हवेली थी। भाई-भतीजे, चाचा-ताऊ सब उसी में रहते थे। संयुक्त परिवार था। यजमानों, जिज्ञासुओं और स्वजन-संबंधियों का आना-जाना भी बना रहता था। खासी चहल-पहल रहती। पंडित रूपकिशोर जी तब पचपन वर्ष के थे। उनकी पत्नी दानकुँवरि को घर में सब लोग ताई जी कहते थे। पंडित रूपकिशोर सब भाई-बहनों में बड़े थे। घर में जितने भी बच्चे थे, उनका पंडित जी को ताऊ जी और उनकी जीवन-संगिनी को ताई कहना स्वाभाविक ही था। वे परिवार के सभी सदस्यों का ध्यान रखतीं। देवरानियों और बहुओं के लिए वे जेठानी या रिश्ते में सास नहीं, वात्सल्य और क्षमा से भरी बड़ी बहन या माँ से भी बड़ी ताई ही लगती थीं। रात के चौथे पहर उठतीं और देर रात तक जागते हुए स्वजन-संबंधियों का और मेहमानों का ध्यान रखने में व्यस्त रहा करतीं।

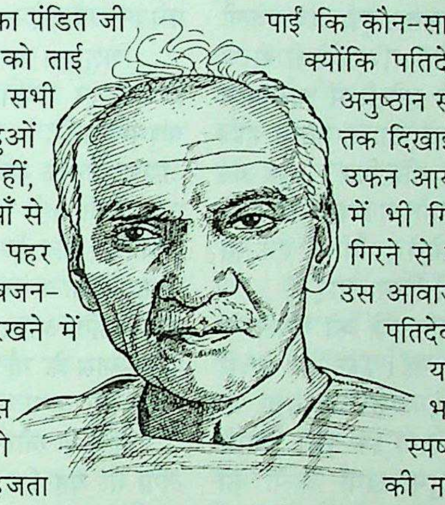

सन् १९११ में उन्हें मातृत्व का आभास हुआ। पहली संतान गर्भ में आई। ताई जी को कुछ विलक्षण अनुभव होने लगे। बहुत सहजता से वे बताती थीं कि इन अनुभवों से उन्हें डर नहीं लगता, अटपटा भी महसूस नहीं हुआ। पास-पड़ोस की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों से चर्चा की तो उन्होंने बताया कि कुल देवता प्रसन्न हो रहे हैं। ये प्रतीतियाँ वही करवा रहे हैं। बहुत बाद में स्पष्ट हुआ कि ये अनुभव पूर्वजों या कुल देवताओं के अनुग्रह-आशीर्वादस्वरूप ही नहीं हैं। वे बताया करती थीं कि एक सुबह घर में दूध औटाया जा रहा था। चूल्हे पर बरतन चढ़ा हुआ था। स्नान-पूजा से निवृत्त होकर वे और दिनों की तरह बाद में किए जाने वाले कार्यों के बारे में सोच रही थीं। शरीर में इतनी स्फूर्ति और सक्रियता थी कि देर रात तक काम करना पड़ा, तो भी कभी सुस्ती नहीं आई। कठोर परिश्रम करने पर भी थकान अनुभव नहीं हुई। उस सुबह न जाने क्या हुआ कि झपकी लग गई। वे बैठी हुई थीं और पलकें मुँद गईं। लगा जैसे नींद आ गई है और कोई सपना देख रही हैं।

सपना किसी अज्ञात प्रदेश के वन में था। वे उस निर्जन प्रदेश में अकेली हैं। चारों ओर सूर्य की स्वर्णिम आभा बिखरी है। पूर्व दिशा में तप्त अग्नि पिंड की तरह सिंदूरी लाल रंग का गोला उदित हो रहा है। उसी उदित सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैल रहा है।

वातावरण में व्याप्त सुगंध ने ताई जी को अभिभूत कर दिया। स्वप्न दृश्य में ही वे अपनी सुध-बुध खो बैठीं। फिर पूर्व दिशा में उदयाचल के पीछे से उभरता सूर्य पिंड धीरे-धीरे प्रखर होता जा रहा है। पिंड के मध्य में एक नारी आकृति की झलक दिखाई दे रही है। स्वर्णिम कांति से युक्त वह आकृति हंस पर बैठी है। दायें हाथ में कमंडल और बायें हाथ में पत्राकार पोथी। ताई जी उस समय स्पष्ट नहीं देख पाईं कि कौन-सा ग्रंथ है। वे समझीं कि भागवत् है, क्योंकि पतिदेव इसी शास्त्र का पाठ-कथा और अनुष्ठान संपन्न कराते थे। वह आकृति कुछ क्षण तक दिखाई दी, फिर लुप्त हो गई। देखा तो दूध उफन आया है। पतीले से उफनकर कुछ चूल्हे में भी गिर गया। जलती हुई लकड़ियों पर गिरने से छनन-छिन की आवाज आ रही थी। उस आवाज से ही तंद्रा टूटी।

पतिदेव को यह दृश्य सुनाया। ताई जी ने यह भी कहा कि उस देवी के हाथ में भागवत् की पोथी थी। पंडित जी ने स्पष्ट किया कि वह पोथी श्रीमद्भागवत् की नहीं, वेद की है। भागवत् शास्त्र उस पोथी के एक मंत्र का व्याख्या-विस्तार ही है। भागवत्, रामायण आदि ग्रंथों का गायत्री मंत्र की विवेचना में लिखे जाने या उनकी प्रेरणाओं को स्पष्ट करने वाला शास्त्र कहा जाता है। ताई जी को यह दृश्य बाद में भी दिखाई दिया। एक बार दोपहर के समय, तब वे भोजन आदि से निपट चुके स्वजनों का कुशलक्षेम पूछने के बाद कुछ देर के लिए बैठी थीं। उस समय वे शाम को किए जाने वाले कार्यों की तैयारी करती हुई रसोई में ही थीं।

ताई जी ने एक बार भाव समाधि की दशा में देखा कि वे एक सरोवर के किनारे खड़ी हुई हैं। उसमें कमल खिले हुए हैं। एक बड़े कमल पर वही आकृति विराजमान दिखाई दी, जो पहले कभी सविता मंडल में विराजी हुई थी। एक स्वप्न में पूर्व दिशा से देवताओं के विमान उड़ते हुए दिखाई दिए। उनमें बैठी देवसत्ताएँ फूल बरसा रही थीं। पंडित जी के अनुसार ये दृश्य अंतर्जगत् में हो रही हलचल के संकेत थे। संकेतों को चेतना में होने वाले परिवर्तन भी कह सकते हैं। जब भी किसी पुण्य आत्मा को शरीर धारण करना होता है और वह गर्भ में आ चुकी होती है, तो इस तरह के स्वप्न दिखाई देते हैं।

घर-आँगन में भी उन दिनों कुछ विचित्र घटनाएँ होने लगीं। ताई जी बताया करती थीं कि अचानक घर में सुगंध फैल जाती, जैसे अगरबत्तियाँ जलाई हों या हवन किया जा रहा हो। सुगंध भीनी-भीनी होती थी। कुछ समय यह सुगंध कायम रहती और धीरे-धीरे कम हो जाती। हवेली में अचानक गायें बहुत आने लगीं। गाँव का घर था, पास ही गायों को बाँधने के लिए गोठ भी थी। घर की गायें तो होती हीं, बाहर से भी आ जातीं। कभी-कभार आठ-दस गायें रात भर रुक जातीं। वे आँवलखेड़ा के दूसरे ग्रामीणों की गोठ से ही आतीं। लोग उन्हें ढूँढ़ने निकल पड़ते और पंडित जी के यहाँ पाकर आश्चर्य करते। सामान्य दशा में पराये पशुओं को भगा दिया जाता है, लेकिन ताई जी के मन में उन दिनों विलक्षण परिवर्तन आया कि गायों को भगाने की बजाय वे उनकी सेवा करने लगतीं, उन्हें चारा-पानी देतीं।

ताई जी उस समय जरूर थोड़ी असहज हुईं, जब हवेली में मधुमक्खियाँ आकर भिनभिनाने लगीं। जिस तेजी से वे उड़ती हुई आईं, सप्ताह भर में उन्होंने हवेली में चार-पाँच छत्ते बना लिए। परिवार के सभी लोगों को असुविधा हुई। मधुमक्खियाँ किसी को काट नहीं रही थीं। फिर भी घर का वातावरण तो उनके कारण बिगड़ ही रहा था। वहाँ के लोगों ने मधुमक्खियों को भगाने के उपाय सोचे। गाँवों में एक ही उपाय होता है कि आग जलाकर धुआँ किया जाए।

ताई जी को पता चला कि मधुमक्खियों को भगाने के उपाय किए जा रहे हैं, तो वे बिगड़ गईं। हालाँकि घर में वही सबसे ज्यादा चलती-फिरती थीं, उन्हें असुविधा भी होती थी, लेकिन उन्हें अच्छा नहीं लगा कि छत्ते उजाड़े जाएँ। उन्होंने डपटते हुए कहा, मधुमक्खियाँ किसी को काट-पीट नहीं रहीं। वे अपने घर में रह रही हैं। उन्हें नुकसान क्यों पहुँचा रहे हो। वे हमारा कुछ नहीं बिगाड़ रहीं तो हम ही क्यों उनका घर उजाड़ें? ताई जी के डपटने पर सब शांत हो गए।

पंडित रूपकिशोर जी उस समय कथा कहने के लिए बाहर गए हुए थे। आठ-दस दिन बाद लौटे। घटनाक्रम पता चला तो उन्होंने भी ताई जी का समर्थन किया। यह आध्यात्मिक तथ्य समझाया कि मधुमक्खियों का आना और घर में छत्ते बनाना शिव संकेत है। परिवार में जब कोई दिव्य आत्मा आने वाली हो तब तो यह शिव का वरदान है। उनके भेजे हुए प्राणी फूलों की सुवास और मधु संचित कर ला रहे हैं। यह शिव का अनुग्रह और आने वाली आत्मा के लिए आश्वासन भी है।

गाँव-घर में बजी बधाई

संवत् १९६८ में आश्विन कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी तिथि (२० सितंबर सन् १९११) को आगरा-जलेसर मार्ग पर स्थित उस गाँव की हवेली में सुबह नौ बजे श्रीराम का जन्म हुआ। पितृपक्ष चल रहा था। सनातन धर्म की मान्यता के अनुसार इन दिनों शरीर छोड़ना और जन्म लेना दोनों ही विलक्षण हैं। कहते हैं कि जो लोग देह छोड़ते हैं, वे परलोक में ज्यादा नहीं भटकते। उनकी ऐसी कोई भोग-वासना शेष नहीं रह जाती कि उसकी तृप्ति के लिए अशरीरी अवस्था में रहना पड़े। वे आत्माएँ या तो सीधे पितृलोक चली जाती हैं अथवा नया शरीर धारण कर लेती हैं। इस अवधि में जन्म लेने वाली आत्माएँ भी मुक्तप्राय होती हैं। उनकी एकाध सूक्ष्म वासना शेष रहती है, जिसे पूरा करने के लिए वे शरीर में आती हैं।

यह भी कि पितृपक्ष में जन्म लेने वाले लोग उसी वंश-परंपरा के कोई मेधावी पूर्वज होते हैं। वे अपनी परंपरा को आगे बढ़ाने, उसे समृद्ध करने, गौरव बढ़ाने या पिछले जन्मों में जिन लोगों का अनुग्रह-उपकार रह गया हो, उसे चुकाने के लिए आते हैं। पितृपक्ष और जन्म से पहले होने वाली घटनाओं के आधार पर आँवलखेड़ा के पंडितों ने भी कहा कि रूपकिशोर जी के यहाँ योगी, यति आत्मा प्रकट हुई है। पचपन वर्ष की उम्र में उनका सौभाग्य उदित हुआ है।

शिशु का जन्म घर में ही नहीं, गाँव में भी उल्लास का विषय बन गया। तीस-चालीस घर थे। गायों के आने, मधुमक्खियों के छत्ते बनाने, ताई जी की कही हुई बातें आश्चर्यजनक रूप से चरितार्थ होने की चर्चा आसपास के घरों में ही नहीं गाँवों में भी फैल गई थी। धर्म-धारणा और लोकोत्तर ज्ञान के सहज बोध के चलते बुजुर्ग ग्रामीण उन घटनाओं के समय ही कह चुके थे कि पंडित जी के घर में योगी-यति-आत्मा जन्म लेने वाली है। जन्म हो गया तो आस-पास के गाँवों के जिन श्रीमंतों और कुलीन परिवारों में पंडित जी कथा कहने जाते थे, वहाँ से भी लोग आए।

गाँव के लोगों को उन सबका आना सहज लगा। विशेष लगा तो यह कि गाँव में साधु-संन्यासियों का आना-जाना बढ़ गया। पहले कभी इक्का-दुक्का साधु ही भूले-भटके आता था। शिशु का जन्म होने के बाद चार-पाँच संन्यासी प्रतिदिन आने लगे। जिस दिन जन्म हुआ उस दिन दस बजे एक ऊँचा, पूरा और तेजस्वी संन्यासी हवेली के बाहर आकर खड़ा हो गया। रुदन सुनकर उसने बच्चे को देखने की इच्छा व्यक्त की। ताई जी को संकोच हुआ, लेकिन पंडित जी के समझाने पर मान गई। बच्चे को देखकर संन्यासी ने दोनों हाथ उठाए और दीर्घायु-यशस्वी होने का आशीर्वाद देकर वापसी का रुख कर लिया।

ताई जी बताया करती थीं कि श्रीराम का जन्म होने के बाद कोठरी में मधुर संगीत गूँजने लगा। अगले दिन सुबह तक मंत्रों के पाठ और रामायण की धुन सुनाई देती रही। ताई जी की आंतरिक स्थिति के कारण भी यह अनुभव हो सकता है, लेकिन संन्यासियों के आने-जाने से उन्हें परेशान होते हुए कई लोगों ने देखा। साधु-महात्माओं को घर के दरवाजे पर आकर ठिठक जाने और बिना कुछ बोले चुपचाप खड़े रहने से वे भी थोड़े परेशान हुए। उन्हें भेंट-पूजा दी जाती, तो मना कर देते। सौरिगृह की ओर टकटकी लगाकर देखते रहते। बच्चे के रोने की आवाज सुनकर वे चले जाते। साधुओं के आने से पंडित जी को अजीब तो लगता था,

लेकिन वे परेशान नहीं होते। ताई जी परेशान होतीं तो उन्हें समझा-बुझा देते।

बालक सोलह-सत्रह दिन का हुआ होगा। सूतक निवारण के बाद नामकरण संस्कार की व्यवस्था की गई। उस दिन एक विलक्षण घटना घटी, जिससे ताई जी के साथ पंडित जी भी थोड़े विचलित हुए। संस्कार के लिए विजयादशमी का दिन चुना गया। गाँव में रामलीला या रावण-दहन जैसे कार्यक्रम नहीं होते थे। घरों में नवाह्न पारायण बिठा लिया जाता था। सप्तशती पाठ का प्रचलन भी था, लेकिन ज्यादा लोग रामचरितमानस का ही पाठ करते। बच्चे का जन्म होने के कारण घर में सूतक मनाया गया। संध्यावंदन और पूजा-पाठ के नियम कर्म तो यथावत् जारी रहे, लेकिन नवरात्रि की विशेष पूजा नहीं हुई। नवमी के दिन सूतक निवारण हुआ। उसी दिन रामचरितमानस का अखण्ड पाठ रख लिया गया। अगले दिन पूर्णाहुति, यज्ञ और यज्ञ के साथ नामकरण संस्कार।

मानस पूर्णाहुति, यज्ञ और संस्कार आयोजन में गाँव के लगभग सभी लोग आए। विजयादशमी के दिन लोगों का आना शुरू हुआ। जो भी आया उसने देखा कि हवेली के द्वार पर एक संन्यासी खड़ा हुआ है। कुछ देर बाद वहाँ एक साध्वी भी आ गई। दोनों में कोई संवाद नहीं हुआ, लेकिन नामकरण आरंभ होने तक वे एक ही जगह अविचल खड़े रहे। संस्कार आरंभ हुआ तो दोनों अंदर आ गए। ताई जी की गोद में लेटे शिशु को दोनों अपलक देखते रहे। संस्कार आरंभ हुआ तो ताई जी की निगाह उन दोनों पर पड़ गई। पहली बार देखकर वे सहमीं और शिशु को पल्ले से ढकने लगीं। साधु ने कहा, ''रहने दे माई, हमें भी लाल को देख लेने दे। जी भर कर देख लें, फिर पता नहीं हम देख पाएँ या नहीं।'' साधु ने अपनी ओर इंगित किया था कि पता नहीं हम लोग बाद में रहें या न रहें। लेकिन ताई जी को लगा कि वह बच्चे के बारे में कुछ कह रहे हैं। उन्हें गुस्सा आ गया। वे वेदी से उठीं और साधु को डपटने लगीं। साध्वी को भी आड़े हाथों लिया। दोनों अपनी सफाई देते रहे, लेकिन ताई जी का गुस्सा सिमटने में ही नहीं आ रहा था। पंडित जी उठे और उनके मुँह से अनायास निकल आया, ''रहने दो श्रीराम की माँ। तुम्हारे बच्चे का कोई अनिष्ट नहीं होगा। वह कुशलमंगल ही रहेगा।''

संन्यासियों में भी जगी ललक

पंडित जी का कहना था कि साधु ने कहा, हम जाते हैं माई, लेकिन हमारी थोड़ी-सी बात मानना। बच्चे का नाम श्रीराम ही रखना, जो उसके पिता के मुँह से अपने आप निकला है। यह प्रभु की इच्छा है। पंडित जी ने भी साधु के मत से अपना मत मिला दिया। संन्यासी और योगिनी को फिर ताई जी ने कुछ नहीं कहा। वे संस्कार संपन्न होने तक अपने स्थान पर खड़े रहे। शिशु के नामकरण में पिता और अनाहूत संन्यासी की अनियोजित सहमति थी।

किसी और दिन एक वृद्ध संन्यासी के डेढ़ घंटे तक हवेली के सामने खड़े रहने की एक और घटना है। ताई जी उस संन्यासी से भी बहुत घबराई थीं और बड़बड़ाती हुई घर से बाहर निकली थीं। संन्यासी का व्यक्तित्व देखकर वे ठिठक-सी गईं। कातर भाव से उन्होंने कहा, मेरे बच्चे पर क्यों नजर गड़ाते हो? क्या बिगाड़ा है उसने आपका? संन्यासी ने आश्वस्त किया कि हम बच्चे का अमंगल करने नहीं, उसका दर्शन करने आए हैं। ऐसी भावना आई थी कि हिमालय की एक सिद्ध आत्मा आपकी गोद में आई है। हम लोगों को किसी तरह पता चला तो देखने आए हैं। एक झलक देखकर चले जाएँगे। माँ ने संन्यासी का मन रख लिया और झलक दिखाकर मुड़ते ही बोलीं, नहीं मैं किसी को भी अपने लाड़ले की झलक नहीं दिखाऊँगी। साधु बाबा यहाँ नहीं आया करें।

अपने कमरे में जाकर अपने इष्ट द्वारिकाधीश के आगे बैठ गईं और देर तक रोती रहीं। हिमालय की आत्मा, संन्यासी, सिद्ध पुरुष, दर्शन और इसी तरह के संबोधनों ने माँ को व्यथित कर दिया था कि उनका बेटा आगे चलकर बिछुड़ न जाए। वह भी कहीं बाबा-जोगी न बन जाए। माँ ने अपने इष्ट से यही माँगा होगा कि उसका शिशु हमेशा उसके पास रहे। कभी दूर नहीं हो। भक्त ने अपने भगवान् से क्या माँगा, यह दोनों का निजी संवाद है। बहरहाल उस घटना के बाद परिवार में साधु-संन्यासियों का आना और सुखद, किंतु विलक्षण स्थितियाँ बनना बंद हो गया।

शुरू के तीन-चार साल बाल-लीलाओं और अपने शिशु के हाथ-पाँव चलाने से लेकर तोतली जबान में बोलते देख माता-पिता के प्रसन्न होने में ही बीत गए। श्रीराम के जन्म के बाद ढाई-तीन साल बाद परिवार में एक कन्या और आई। नाम रखा गया किरण देवी। कालांतर में दूसरी बहन आई थी। उसका नामकरण अग्रज के नाम से ही लिया गया, रामदेवी। बहन के जन्म लेने के बाद माता का ध्यान थोड़ा बँटना ही था। अभी तक भोजन बनाने से लेकर पूजा-पाठ करने और आगंतुकों की देखभाल करने तक माँ की निगाहें बेटे पर ही रहतीं। माँ अपने पुत्र को पिता और परिवार के दूसरे सदस्यों के भरोसे कम ही छोड़तीं। जन्म के समय संन्यासियों के आने और उनके द्वारा कही गई चित्र-विचित्र बातें ताई जी के मन-मस्तिष्क में गूँजती रहतीं। यह अज्ञात भय सताता रहता कि कोई संन्यासी श्रीराम पर अपनी छाया न डाल जाए। किरण देवी का जन्म हुआ तो ताई जी को दूसरे लोगों का भरोसा करना पड़ा। इस मामले में भी उन्होंने पुत्र को सिर्फ पिता के हवाले ही छोड़ा। बेटी की देखभाल के साथ वे श्रीराम का भी पूरा ध्यान रखतीं। पंडित जी घर पर नहीं होते, तो पुत्र को नवजात कन्या के साथ ही सुलातीं। पिता बाहर से आते तब उनकी छत्रछाया में कुछ ढील दे देतीं।

क्रमशः

❖

केंद्र के समाचार—क्षेत्र की हलचलें

पूर्वोत्तर समृद्धिकरण गायत्री महायज्ञ—समाचार लिखे जाने तक पूरा पूर्वोत्तर—आसाम, मिजोरम, मणिपुर, नागालैंड, त्रिपुरा, मेघालय, अरुणाचल, सिक्किम, नेपाल व भूटान वहाँ संपन्न हो रहे समृद्धिकरण गायत्री महायज्ञ (२५१ कुंडी) की तैयारियों में लगा था, गायत्री महामंत्र से गुंजायमान हो रहा था। यह अंक हाथ में आने तक यह महायज्ञ संपन्न हो चुका होगा। गुवाहाटी के परिजन शांतिकुंज पहुँचे और कलश पूजन के पश्चात् गायत्री तीर्थ की परिक्रमा कर उसे सीधे कामाख्या पीठ ले गए, जहाँ से एक शोभायात्रा निकाली गई। आठों प्रांतों—नेपाल व भूटान में स्थान-स्थान पर गोष्ठियाँ, दीपयज्ञ, स्वागत-समारोह संपन्न हो रहे हैं और एक नया उत्साह जाग रहा है। यह महायज्ञ १५ से १८ मार्च की तारीखों में प्रस्तावित है और निश्चित ही इसके परिणाम बड़े विलक्षण व राष्ट्र को संगठित-अखंड बनाने की दिशा में नियोजित होंगे।

संगठन दौरों से पूरा गुजरात मथ गया—संगठन सशक्तीकरण की पूर्व वेला में वरिष्ठ कार्यकर्त्ताओं द्वारा संपन्न जनवरी की ११ से १६ तारीख के बीच उत्तर गुजरात, २३ से २८ तारीख के बीच दक्षिण गुजरात तथा फरवरी की तीन से तेरह तारीखों के बीच सौराष्ट्र व कच्छ क्षेत्र का अति महत्त्वपूर्ण मंथन संपन्न हुआ। कार्यकर्त्ता सामूहिक रूप से संगठन में भागीदारी कैसे करें, जिला स्तर पर संगठन को शक्तिपीठों से जोड़कर कैसे सशक्त बनाएँ, इस दिशा में एक दिशाबद्ध प्रयास किया गया। इसी के साथ बड़ौदा में गुजरातस्तरीय भारतीय संस्कृति ज्ञानपरीक्षा पर एक सेमीनार का भी आयोजन किया गया। साथ-ही-साथ दीव, वीरावल, तलाला, चलाला आदि स्थानों पर कार्यकर्त्ता समागम तथा अहमदाबाद-गाँधी नगर में प्राणप्रतिष्ठा कार्यक्रम (क्रांतिकुंज) भी संपन्न हुआ, जिसमें सारे प्रांत के कार्यकर्त्ता पहुँचे। मुख्यमंत्री श्री नरेंद्र मोदी जहाँ गाँधीनगर के 'वैक्सीनेशन कार्यक्रम' का शुभारंभ करने पहुँचे, वहाँ अहमदाबाद मेडीकल एसोशिएशन, एकाउंटेंट जनरल (ऑडिट) कार्यालयों में वर्कशॉप-सेमीनार का आयोजन हुआ। एक तरह से दोनों नगर ज्ञान गंगा में नहा गए। यह कार्यक्रम २०, २१ जनवरी को हुए।

संस्कृति ज्ञान परीक्षा पुरस्कार वितरण स्थान-स्थान पर—सारे देश में अब प्रांतीय स्तर के संस्कृति ज्ञानपरीक्षा पुरस्कार वितरण समारोहों के साथ-साथ शिक्षा व विद्या के सार्थक समन्वय पर राष्ट्रीय स्तर की बहस चल पड़ी है। सभी की निगाहें देवसंस्कृति विश्वविद्यालय पर लगी हैं। पिछले दिनों अंबाला में (२ फरवरी) हरियाणा स्तर के तथा शांतिकुंज में (३ फरवरी) उत्तरांचल स्तर के विद्यार्थियों के पुरस्कार वितरण के कार्यक्रम संपन्न हुए। साथ ही १५, १६ फरवरी की तारीखों में शांतिकुंज में राष्ट्रीय स्तर की एक सेमीनार भी हुई, जिसमें वर्ष २००२-२००३ की रूपरेखा बनाई गई। यह तथ्य जानने योग्य है कि इस वर्ष २३ लाख बच्चों ने पूरे भारतवर्ष में इस परीक्षा में भाग लिया है। यह संख्या दुगनी होने की अब इस वर्ष संभावना है।

बंगभूमि में प्रबुद्धों के बीच सक्रिय भागीदारी—कलकत्ता नगरी के नेताजी सुभाष स्टेडियम में २६-२७ जनवरी की तारीखों में राष्ट्रभक्ति-मल्टीमीडिया सम्मेलन में प्रबुद्ध वर्ग की उपस्थिति में विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय पर दो दिवसीय कार्यक्रम संपन्न हुए। इसी के साथ कार्यकर्त्ता सम्मेलन, रक्त व नेत्र दान शिविर भी आयोजित हुए। बंगभूमि के केंद्र में गायत्री चेतना केंद्र की स्थापना का संकल्प संघबद्ध प्रयास के रूप में लिया गया।

वैदिक मूल्य एवं प्रबंधन पर वर्कशॉप—देवसंस्कृति विश्वविद्यालय एवं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के एक समन्वित प्रयास के रूप में २२, २३, २४ फरवरी को गुरुकुल व शांतिकुंज परिसर में सारे भारत व विश्वभर के अंतर्राष्ट्रीय स्तर के प्रबंधन विशेषज्ञों की सेमीनार आयोजित हुई। इसमें व्यापक स्तर पर शोधपत्र पढ़े गए एवं सभी ने वैदिक मूल्यों के साथ प्रबंधन को साकार रूप में भी देखा व गायत्री तीर्थ के वातावरण से स्वयं को जोड़कर धन्य बनाया।

आपदा प्रबंधवाहिनी का फ्लीट तैयार—गुजरात भूकंप के बाद आपदा प्रबंध की तत्कालीन व्यवस्था जुटाकर एक आपदा प्रबंधवाहिनी बनाने की घोषणा की गई थी। अब राष्ट्र में कहीं भी प्राकृतिक विपदा आने पर दो एंबुलेंस, एक मोबाइल अस्पताल, एक जेनरेटर सहित बड़ी गाड़ी, एक टैंकर एवं एक वाहिनी कार्यकर्त्ताओं तथा टेंट आदि ले जाने वाले वाहन का एक फ्लीट तैयार हो गया है। विगत मार्च से विधिवत् गुजरात में स्थान-स्थान पर इसके कैंप भी संपन्न होते चले जा रहे हैं। साथ ही चार विद्यालयों को गलपादर, गांधीधाम, मोरबी, लींबडी क्षेत्र में राज्यशासन को निर्मित कर सौंप दिया गया है।

'युगप्रवाह पत्रिका' अब अत्यधिक लोकप्रिय—वीडियो पत्रिका (पाक्षिक) युगप्रवाह अब सारे भारत के कैबल नेटवर्क पर दिखाई जा रही है। इसका अपना एक विलक्षण प्रभाव जन-जन पर पड़ रहा है। अब तक उसके आठ अंक निकल चुके हैं। वार्षिक शुल्क १५०० रुपये है, जिसमें २४ सीडी दी जाती हैं।"

❖

अपनों से अपनी बात

इस वर्ष का महापुरुषार्थ संगठन-सशक्तीकरण

सन् १९७७ की गुरुपूर्णिमा से १९७८ की वसंत पंचमी तक की अवधि को परमपूज्य गुरुदेव ने युगनिर्माण परिवार, गायत्री परिवार की पुनर्गठन वेला घोषित किया। उसमें उन्होंने जो कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदु दिए, वे इस प्रकार थे—

(१) हमें शरीर के नहीं, चेतना के संबंधी चाहिए, जो मिशन की विचारधारा के प्रति आस्था रखते हों। (२) अधिक से अधिक वे परिजन चाहिए जो कर्मठता से न्यूनतम एक घंटा समय दे सकते हों और दस पैसा प्रतिदिन ज्ञानयज्ञ के लिए निकालते हों। (३) हम कार्यकर्त्ताओं को तीन स्तरों में विभाजित करना चाहते हैं, (i) सहयोगी, समर्थक, स्नेही, परिचित (ii) पत्रिकाओं के सदस्य-नियमित पाठक (iii) अंशदान प्रस्तुत कर मिशन की सक्रिय सहायता करने वाले। (८)इनमें से दो अंतिम श्रेणी के कार्यकर्त्ताओं का न्यूनतम दायित्व होना चाहिए कि वे कम-से-कम पाँच अन्य व्यक्तियों को 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका के विचारों को पढ़ाएँ, सुनाएँ। विचारशील व्यक्तियों की सूची तैयार कर लें। ज्ञानघट जिनके यहाँ स्थापित हैं, उनसे राशि लेकर झोला पुस्तकालय द्वारा साहित्य पहुँचाएँ। हो सके तो ज्ञानरथ योजना को गति दें। माह में एक दिन की आय इसके निमित्त देने वाले एवं प्रतिदिन चार घंटा समय देने वाले अधिकाधिक कर्मयोगी निकाले जाएँ।

गायत्री परिवार अब गुरुसत्ता के विराट् स्वरूप में दृष्टिगोचर हो

परमपूज्य गुरुदेव ने जुलाई ७७(पृष्ठ. ५४-५५) की अखण्ड ज्योति के संपादकीय में लिखा, ''**परिवार** शब्द हमारी नस-नस में उत्साह भर देता है। उसका निखरा हुआ स्वरूप कहीं भी बनता दिखे तो आँखें चमकने लगती हैं। गायत्री परिवार, युगनिर्माण परिवार नामकरण हम इसी दृष्टि से करते आए हैं। इस नामकरण के साथ ही हम वह भाव भी पिरो देना चाहते हैं, जो हमें पुलकित करता रहता है। हम अपने पीछे ऋषि-परंपरा के अनुकूल एक आदर्श परिवार छोड़ जाना चाहते हैं।'' इन शब्दों ने लाखों परिजनों के मर्म को स्पर्श किया एवं एवं उन्होंने स्वयं को पुनर्गठित कर विधिवत् कार्य आरंभ भी किया।

पुनर्गठन वर्ष के कार्यक्रम— गुरुसत्ता ने इसके साथ कुछ कार्यक्रम दिए। वे इस प्रकार थे—

(१) जन्मदिन मनाने की परिपाटी विकसित हो।

(२) आदर्श वाक्यलेखन बनाम बोलती दीवारें खड़ी हों।

(३) चल पुस्तकालय अधिकाधिक हों।

(४) तीर्थयात्रा-धर्मप्रचार फेरी का आयोजन नियमित हो।

(५) वसंत पर्व व गुरुपूर्णिमा के दो स्थानीय कार्यक्रम सभी शाखाएँ मनाएँ।

(६) केंद्रीय व्यवस्था के माध्यम से स्थानीय स्तर पर साधना सत्र एवं क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं के सम्मेलनों के आयोजन हों। प्रतिवर्ष एक-एक यह आयोजन निश्चित रूप से हो।

(७) महिला जागरण शाखाएँ नियमित रूप से चलें।

(८) शाखा स्तर पर लोकरंजन व लोकमंगल के साधन विकसित हों।

(९) सभी गठित शाखाओं का साधना सत्र के रूप में ढाई दिवसीय वार्षिकोत्सव हो, जिसमें केंद्र का एक प्रतिनिधि भी सम्मिलित हो।

पुनर्गठन से १९९० तक— उपर्युक्त कार्यक्रम सारे क्षेत्र में चले। जागरूकता पैदा हुई एवं जुलाई-अगस्त दो माह के अंदर ही अधिकांश कार्यकर्त्ता पुनर्गठित टीम के एक अंग बनते चले गए। बीस मार्गदर्शक पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुईं एवं अधिकांश प्राणवानों ने १ अक्टूबर से ३० जून ७८ तक शांतिकुंज गायत्री तीर्थ के शिविरों में भागीदारी की। पुराने परिजन सभी जानते हैं कि उन्हीं दिनों केंद्र में देव परिवार बसने, गायत्री नगर का निर्माण होने के साथ-साथ ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान की स्थापना का कार्य चल रहा था। इसी बीच क्षेत्रीय स्तर पर जन-जाग्रति केंद्रों के रूप में शक्तिपीठों के निर्माण की घोषणा हो गई। शिलान्यास हेतु व कहीं-कहीं निर्माण होने की स्थिति में प्राणप्रतिष्ठा हेतु १९८०-८१ में स्वयं परमपूज्य गुरुदेव क्षेत्रीय दौरों पर निकले। सारे राष्ट्र का मंथन हुआ, अति विशाल सभाएँ हुईं एवं सारा देश एक प्रकार से गायत्रीमय हो गया। पूज्यवर के प्रवास का क्रम १९८२ के पूर्वार्द्ध में रुक गया, क्षेत्रीय दौरे अन्य कार्यकर्त्ता करने लगे, इस बीच पूज्यवर की सूक्ष्मीकरण साधना आरंभ हुई, जिसकी पूर्णाहुति के उपलक्ष्य में १९८६-८७ में सारे भारत में १०८ कुंडी यज्ञों सहित राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों की एक वृहत् शृंखला चली। बीच-बीच में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, प्रज्ञापीठों की स्थापनाएँ, प्राण प्रतिष्ठाएँ होती रहीं। १९८९-९० की अवधि इस मिशन की अति महत्त्वपूर्ण अवधि है,

जिसमें पूज्यवर ने अपने सारे जीवन भर की साधना का निचोड़ नवयुग की आचार संहिता के रूप में क्रांतिधर्मी साहित्य लिखकर प्रस्तुत कर दिया, साथ ही बारहवर्षीय युगसंधि महापुरश्चरण एवं दीपयज्ञों के माध्यम से उसकी महापूर्णाहुति की घोषणा भी वे कर गए। २ जून गायत्री जयंती को महाप्रयाण के साथ ही उनका अंतिम संदेश एक आश्वासन दे गया कि संगठन का कार्य और बढ़ेगा एवं परमवंदनीया माताजी उसे दिशा देंगी।

श्रद्धांजलि समारोह से हीरक जयंती तक की महायात्रा—१९९० की अक्टूबर की शरदपूर्णिमा की वेला में संपन्न श्रद्धांजलि समारोह, विदेश-मंथन हेतु कार्यकर्त्ताओं का प्रवास, शपथ समारोह, देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के अंतर्गत भारत व विदेश में सत्ताईस आश्वमेधिक आयोजन, आँवलखेड़ा की महापूर्णाहुति, संस्कार महोत्सवों के साथ-साथ रचनात्मक आंदोलन की शुरुआत और फिर सृजन संकल्प विभूति महायज्ञ (नवंबर २००१) तथा विराट् विभूति ज्ञानयज्ञ नई दिल्ली (अक्टूबर २०००) ने मिशन का विस्तार सौ गुने से भी अधिक कर दिया। १९९४ की मध्यवेला तक सशरीर परमवंदनीया माताजी ने मार्गदर्शन दिया, फिर वे भी गुरुसत्ता से एकाकार हो गईं, किंतु उनका आश्वासन मिशन के मत्स्यावतार की तरह फैलने के रूप में सभी ने प्रत्यक्ष फलीभूत होते देखा।

महापूर्णाहुति के सफल-सुव्यवस्थित आयोजन के तुरंत बाद हीरक जयंती वर्ष आ गया, जिसे त्रिविध रूप में युग चेतना के अभ्युदय (भागवत् सत्ता के धरती पर अवतरण), अखण्ड दीप रूप में प्रखर प्रज्ञा के निरंतर प्रकाशित होते रहने तथा परमवंदनीया माताजी के जन्म के ७५वें वर्ष पूरे होने के साथ सजल श्रद्धा के अनवरत अनुदान बरसने की प्रक्रिया रूप में संपन्न किया गया। सप्तसूत्री आंदोलन घोषित हुए एवं सारे भारत में क्रांतिकारी गतिविधियाँ चल पड़ीं। प्रखर साधना वर्ष की शुरुआत के साथ ही इस विराट् संगठन को सशक्त बनाने की प्रक्रिया आरंभ हो गई थी, किंतु अब हीरक जयंती महोत्सव मनाने एवं उसकी पूर्णाहुति के प्रसाद रूप में देवसंस्कृति विश्वविद्यालय के विधिवत् बन जाने के बाद उसकी क्रियापद्धति शुरू करने के साथ इस वसंत से संगठन-सशक्तीकरण वर्ष की शुरुआत की गई है। पुनर्गठन से सशक्तीकरण की इस महायात्रा का यह विवरण इसीलिए परिजनों के समक्ष प्रस्तुत किया गया कि वे उस भूमिका को समझ सकें, जो अब उन्हें संगठन को सशक्त बनाने के लिए निभानी है।

पुनर्गठन वर्ष से जो प्रक्रिया आरंभ हुई, उसे चौबीस वर्ष पूरे होकर रजत जयंती वर्ष में भी हम प्रवेश कर गए हैं। इस विराट् संगठन पर सभी की दृष्टि है। इसका सुव्यवस्थित होना, योजनाबद्ध ढंग से सुसंचालन होना अब अनिवार्य है। यह संगठन-सशक्तीकरण अब केंद्र में भी होना चाहिए एवं जिला स्तर पर पूरे देश के कोने-कोने में।

इस वसंत का चिंतन मंथन—इसी विषय पर इस वर्ष वसंत पंचमी का पूरा मंथन केंद्रित रहा। सभी के मन में एक ही वेदना थी, एक ही दृष्टि थी, एक ही लक्ष्य था कि हम और भी व्यवस्थित होकर अपने आपको सशक्त बना लें, सुसंगठित बनाएँ। इसी उद्देश्य से सभी चर्चाएँ हुईं, उद्बोधन हुए एवं कार्यकर्त्ताओं की कार्यशालाएँ चलीं। हमारे पास अब इस नवरात्रि से आगामी वसंत पर्व छह फरवरी तक का समय है। इस अवधि में हमें सारे राष्ट्र के संगठन को साधना की धुरी पर सुव्यवस्थित-संगठित बना देना है। एक प्रकार से यह पुनर्गठन की महापूर्णाहुति एवं सारे प्रचार-दिग्विजयी पुरुषार्थ से उपजी ऊर्जा के आगामी आठ वर्षों में सुनियोजन का एक प्रकार से श्वेत पत्र होगा।

अब सभी परिजनों को यह कहा जा रहा है कि वे अपनी जिला-समन्वय समिति को सुव्यवस्थित-पुनर्गठित कर लें। पूरे भारत में मिशन तीन तरह से सक्रिय है। एक तो वह जहाँ दशकों से कार्य चल रहे हैं, वह पूर्णतः जाग्रत् क्षेत्र है, अधिकांश लोग गायत्री व यज्ञ को जानते हैं। यह विकसित क्षेत्र हुआ। देश के प्रायः साढ़े तीन सौ जिले इस परिधि में आते हैं। दूसरा अर्द्ध विकसित अर्थात् जहाँ अभी मात्र प्रचार-प्रसार ही हो पाया है। राष्ट्र के प्रायः दो सौ जिले इसके अंतर्गत आते हैं। शेष विस्तार वह है, जहाँ मिशन अभी किन्हीं कारणों से नहीं पहुँच पाया है। उत्तर-पश्चिम, उत्तर-पूर्व, सुदूर दक्षिण के प्रायः डेढ़ सौ जिले इसमें आते हैं। यह अविकसित क्षेत्र है।

जिला समन्वय समितियों का गठन हो—सरकारी जिले अलग होते हैं। हमारे संगठन में हम दो या तीन जिलों को मिलाकर प्रवृत्तियों की दृष्टि से एक जिला गठित कर उसकी समन्वय समिति बना सकते हैं। उसमें उन सभी को स्थान हो, जो यज्ञ-पौरोहित्य से जुड़े हों, प्रबुद्ध वर्ग से संपर्क रखते हों, मिशन की सभी पत्रिकाओं, वीडियो मैगजीन आदि के प्रचार-प्रसार में गति रखते हों, स्वयं समयदान देकर साधना व कार्यकर्त्ता प्रशिक्षण की योग्यता रखते हों, ज्ञानरथ, झोला पुस्तकालय द्वारा ज्ञानयज्ञ में सक्रिय भागीदारी करते हों तथा मीडिया आदि कार्यों से जुड़े हों। इस जिला समन्वय समिति को उस जिले (या जिलों के समुच्चय) की शक्तिपीठों, प्रज्ञापीठों, सक्रिय प्रज्ञामंडलों, महिला मंडलों, स्वाध्याय मंडलों से जोड़ा जाएगा। इस समिति के सदस्यों का निर्धारण क्षेत्रीय स्तर पर सर्वसम्मति से होकर केंद्र द्वारा उसका अनुमोदन होगा। तदुपरांत सभी एक ही बैनर तले विभिन्न प्रकोष्ठों में कार्य करेंगे। चाहे वह उस जिले के कार्यकर्त्ताओं का सम्मेलन हो, प्रज्ञा संस्थान/ संस्थानों के वार्षिकोत्सव हों, प्रज्ञापुराण या महिला जागरण सम्मेलनों के आयोजन हों अथवा प्रबुद्ध वर्ग

के सम्मेलन, वर्कशॉप या भारतीय संस्कृति ज्ञानपरीक्षा संबंधी गोष्ठियाँ—**सभी एक ही मंच तले संपन्न होंगी**। केंद्र द्वारा अनुमोदित इस जिलास्तरीय समन्वय समिति का एक सुनिश्चित कार्यकाल होगा तथा निष्क्रिय सदस्यों को बदला जाता रहेगा। कोई भी अपने नाम का पृथक-पृथक पैड नहीं छपवाएगा। सभी एक ही अभियान की संगठन की धुरी पर कार्य करेंगे।

उस जिले में किसी भी स्तर का छोटा या बड़ा आयोजन होगा तो जिला समन्वय समिति का अनुमोदन अनिवार्य होगा, तभी केंद्रीय दल वहाँ जाएगा। यह इसलिए सुनिश्चित किया जा रहा है, ताकि व्यवस्थित ढंग से सारे भारत को एक कड़ी में बाँधा जा सके। अपनी मनमर्जी से कोई भी कार्यक्रम की माँग न कर वर्ष के शुभारंभ में ही अपनी नीति बना ले, सभी मिल-जुलकर बैठक कर लें एवं फिर उस जिले के सातों आंदोलन के विस्तार, रचनात्मक क्रियाकलापों सहित अनिवार्य यज्ञ-सम्मेलन आयोजनों की व्यवस्था बनाएँ। सभी उन कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए अपना पूरा श्रम लगा दें। पत्रिकाओं के पाठक बढ़ाने, संस्कृति ज्ञान परीक्षा में अधिक-से-अधिक की भागीदारी, साधकों (वैयक्तिक सामूहिक)की संख्या में वृद्धि तथा रचनात्मक आंदोलनों की विविधता से भरी गतिविधियों के क्षेत्र में जिलों में प्रतिस्पर्द्धा हो। यह प्रतिस्पर्द्धा मिशन को शिखर तक पहुँचाने की हो, न कि किसी व्यक्ति विशेष या शक्तिपीठ विशेष को 'हाई लाइट' करने की दृष्टि से।

एक आदर्श सुसंगठित तंत्र ही लक्ष्य—यदि यह आदर्श स्थिति बन गई तो देखते-देखते सात सौ जिलों का एक प्रामाणिक-सुव्यव्रस्थित-सुगठित तंत्र खड़ा दिखाई देगा। सभी को एक-दूसरे की व्यवस्थित जानकारी मिलेगी। अनुभवों से दूसरे सीखेंगे एवं अपने क्षेत्र में उन योजनाओं को लागू करेंगे। युवाओं के महिला जाग्रति के क्षेत्र में विशिष्ट पुरुषार्थ होने लगेंगे। व्यसनमुक्ति, कुरीति उन्मूलन, पर्यावरण जाग्रति, वृक्षारोपण, स्वदेशी स्वावलंबन जैसे क्षेत्रों में नए-नए आयाम उभरकर आएँगे। इस क्षेत्र में कार्य कर रहे अनेकों संगठनों से सहकार उभर कर आएगा एवं परमपूज्य गुरुदेव का युग के अभिनव निर्माण का लक्ष्य पूरा होता दिखाई देने लगेगा।

जिला समन्वय समिति में एक व्यवस्था-बुद्धि के धनी हों, जो मूलतः कोआर्डीनेशन कर सकें, दूसरे आयोजनों की व्यवस्था बनाने वाले, तीसरे पत्राचार करने वाले, चौथे मीडिया से संपर्क रखने वाले, पाँचवें प्रबुद्ध वर्गों, अधिकारियों से तालमेल रखने वाले, छठे विभिन्न रचनात्मक गतिविधियों के प्रभारी इस तरह कई फैकल्टी के लोग हो सकते हैं। ये सभी सदस्य किसी भी संगठन को खा जाने वाली, समाप्त कर देने वाली कुछ वृत्तियों से बचें, पहली आपसी तालमेल की कम्युनिकेशन की कमी, दूसरी वाणी की कटुता एवं अहंता के प्रदर्शन की वृत्ति तथा तीसरी एकाउंट संबंधी पारदर्शिता में कमी। यदि यह तीनों वृत्तियों साधना की धुरी पर सँभाल ली गईं, तो संगठन सभी शक्तिपीठों के ट्रस्टीगणों-प्रज्ञामंडलों, महिला मंडलों के समन्वय से द्रुतगति से जिला स्तर पर चल पड़ेगा एवं एक वर्ष में वह परिणाम देने लगेगा जो वह विगत तीस वर्ष में नहीं दे पाया।

पुनर्गठन के रजत जयंती वर्ष में जिला समन्वय समितियों का सुव्यवस्थित गठन अपने विराट् संगठन को सशक्त बनाने के लिए किया जा रहा है, ताकि हम अपनी शक्ति स्वयं आँक सकें। हम कहाँ खड़े हैं, कितने व्यक्ति भिन्न-भिन्न फील्ड के हमारे पास कितने हैं, यह आँकड़े व्यवस्थित ढंग से हमारे पास न केवल हों, पूछा जाने ही हम उन विभूतियों को सामने प्रस्तुत भी कर सकें। निश्चित ही इस वर्ष का यह महापुरुषार्थ संवेदनशील साधकों के सुसंगठन को गति देगा।

○

ज्ञातव्य

उत्तरांचल राज्य के महामहिम राज्यपाल के द्वारा विशेष आदेश द्वारा विश्वविद्यालय निर्माण की घोषणा के साथ ही अब एक महती जिम्मेदारी भरा कार्य आ गया है। देवसंस्कृति विश्वविद्यालय मूलतः कर्मठ-प्राणवान कार्यकर्त्ताओं के निर्माण का, देवमानवों के सुनियोजित प्रशिक्षण का कार्य करने जा रहा है। परंपरागत कोर्स इसमें नहीं होंगे, परंतु जो कोर्स प्रारंभ होने जा रहे हैं, उनके पाठ्यक्रम शीघ्रातिशीघ्र लिखे जाने हैं। इन्हीं सब उद्देश्यों को दृष्टिगत रख स्वायत्तशासी, पूर्णतः परिजनों के अंशदान पर निर्भर इस अद्वितीय विश्वविद्यालय पर एक विशेषांक जून, २००२ के अखण्ड ज्योति अंक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। परिजनों को वह पुस्तकाकार में भी मिल सकेगा। सभी से उसको पढ़कर फीडबैक भेजने का अनुरोध किया जा रहा है, ताकि इसका सुव्यवस्थित संचालन आरंभ किया जा सके। जुलाई तक फीडबैक मिलने पर कुछ विधाएँ तुरंत आरंभ हो सकेंगी।

कुलाधिपति
देवसंस्कृति विश्वविद्यालय
शांतिकुंज हरिद्वार (उत्तरांचल)

विश्वमाता गायत्री

विश्व प्राण गायत्री माता, प्राणों का संचार करें।
ओजस्-तेजस्-वर्चस् से त्रयतापों का उपचार करें॥

सविता मध्यस्थिता माता, सविता की आभा अनुपम।
वह प्रकाश की पुंज अनूठी, शेष नहीं रह पाता तम।
प्राण पीयुष पिला शिशुओं को, प्राणामृत की धार धरें।
विश्व प्राण गायत्री माता, प्राणों का संचार करें॥

पथ प्रशस्त करती शिशुओं का, सद्पथ सदा दिखाती हैं।
जब तक बालक सँभल न पाए, उँगली पकड़ चलाती हैं।
ज्ञान प्रकाश सदा बिखराकर, वह अज्ञान-अंधकार हरें।
ओजस्-तेजस्-वर्चस् से त्रयतापों का उपचार करें॥

दुख से मुक्त करातीं मन को, सुख-स्वरूप का ज्ञान करा।
और निरोग बनाती तन को, भोगवाद से त्राण करा।
सुख-समृद्धि बढ़ाने वाली जीवन-विधि आधार करें।
विश्व प्राण गायत्री माता, प्राणों का संचार करें॥

वे सुषुप्त-देवत्व जगातीं, पाप, पतन से बचने को।
जगती के उज्ज्वल-भविष्य का स्वर्ग धरा पर रचने को।
वसुधा-कुटुंब बनाने वाला संवेदन विस्तार करें।
ओजस्-तेजस्-वर्चस् से त्रयतापों का उपचार करें॥

गायत्री सद्बुद्धि विश्व की, आओ ! उसको वरण करें।
सद्भावों का स्वर्ग धरा पर, सब मिलकर अवतरण करें।
सद्बुद्धि ही विभीषिकाओं, विपदाओं से पार करे।
दुश्चिंतन, दुर्भावग्रसित जनमानस का उद्धार करे॥

—मंगलविजय 'विजयवर्गीय'

सृजेता की दिव्य धरोहर—यह जीवन

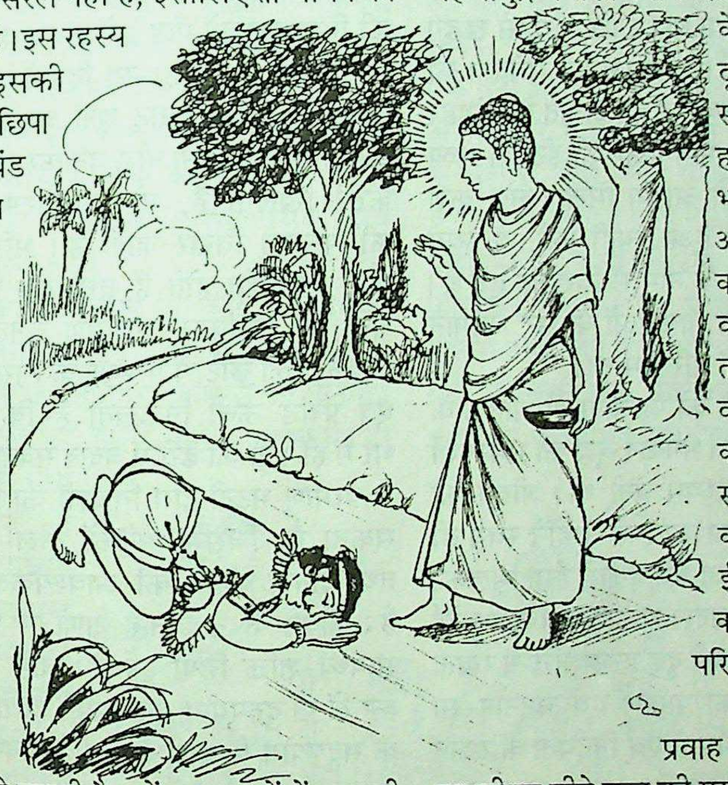

जीवन अनंत प्रवाह है, नदी की तीव्र जलधारा के समान। कठिनाइयों-अवरोधों को चीरकर बहना ही इसका धर्म है। यही रीति अपनाकर यह अपने सृजेता के संग पुनः तदाकार-एकाकार हो सकता है। जीवन जहाँ से उद्भव हुआ है, उसी उद्गम बिंदु पर मिल जाना, समर्पित-विसर्जित हो जाना चाहता है। यह इतना सहज-सरल नहीं है, इसीलिए तो जीवन को रहस्यमय कहा गया है। इस रहस्य के आवरण में ही इसकी पूर्णता का महा आनंद छिपा हुआ है। इसे केवल प्रचंड पुरुषार्थ द्वारा अर्जित किया जा सकता है।

जीवन एक यात्रा है। इसके अनेक पड़ाव हैं। जन्म-मरणरूपी इन पड़ावों में यह कुछ क्षण विराम लेता है, कुछ विश्राम करता है। बस फिर अगले पड़ाव, अगली मंजिल की ओर बढ़ लेता है। एक पड़ाव के बाद तुरंत अगले पड़ाव की तैयारी होने लगती है। यों इन पड़ावों में मृत्यु भी है और जन्म भी। जन्म के बाद मृत्यु अवश्यंभावी है और मृत्यु के बाद नया जन्म। जीवन इन्हीं के बीच बढ़ता-विकसित होता रहता है। इसी में इसका अस्तित्व निर्भर है। इस क्रम में यह अनेक लंबी-पतली सुरंगों, बीहड़ जंगलों, ऊँची-नीची घाटियों, मनोरम पर्वत-उपत्यिकाओं एवं सुंदर वन-उपवनों से होकर गुजरता है।

जो जीवन की सुरंगों, जंगलों एवं दलदलों की वीभत्स एवं भीषण कठिनाइयों से घबराता-डरता नहीं तथा वन, उपवन एवं उद्यान के सौंदर्य से रीझकर रुकता नहीं वही श्रेष्ठ कहलाता है। संत, सिद्ध, महात्माओं का जीवन ऐसा ही होता है। यही जीवन वरेण्य होता है, जो दिव्य गंगा की जलधारा के समान हिमालय के गर्भ से उत्पन्न होकर समुद्र के आँचल में समाए बगैर चैन नहीं लेता, थमता-रुकता एवं भटकता नहीं है।

जीवन की संरचना बड़ी ही जटिल एवं सूक्ष्म होती है। इसके अनेकों रहस्य अगम एवं अगोचर हैं। इसका दीखने वाला वर्तमान स्वरूप तो इनका मात्र एक अंश है। यह समुद्र में तैरते उस विशाल हिमखंड जैसा है, जिसका केवल १० प्रतिशत भाग ही दृश्यमान है, शेष ९० प्रतिशत समुद्र के अंदर समाया रहता है। हमारे जीवन का वर्तमान स्वरूप भी कुछ ऐसा ही है। इसके सभी अच्छे-बुरे संस्कार विगत जीवन की देन हैं। मुख्यतया अतीत ही वर्तमान जीवन का आधार है। तप के महापुरुषार्थ द्वारा अपने वर्तमान जीवन का सदुपयोग करके इसे गढ़ा और सँवारा जा सकता है। यदि हमारे जीवन की बुनियाद सचाई एवं ईमानदारी पर टिकी हो तो कोई कारण नहीं कि इसके श्रेष्ठ परिणाम जीवन में न उभरें-उछलें।

दार्शनिक दृष्टि जीवन को एक प्रवाह के रूप में स्वीकारती है। आज का जीवन बीते कल की परछाई है। विगत कल के समस्त गुण-दोषों के बीज वर्तमान जीवन की उर्वर भूमि में पलते-बढ़ते एवं विकसित होते हैं। कल के कर्म आज परिणाम देते हैं। कल हमने जो किया है, उन्हीं के भले-बुरे रूपों को इस जीवन में भोगना पड़ता है। आज जो करेंगे, अनिवार्य रूप से उसे ही भविष्य में वरण करना पड़ेगा। जीवन की यह कड़ुई सचाई है। यह एक यथार्थ है, जिससे कोई भी मुँह मोड़ नहीं सकता। इसे अपनाना ही पड़ेगा। अतः आवश्यकता है, वर्तमान जीवन के हरेक पल को, प्रत्येक क्षण को सहेजने-सँवारने और गढ़ने की। जीवन बहुमूल्य है। यह सृजेता की दिव्य धरोहर है। स्रष्टा का यह ऐसा बेशकीमती एवं दुर्लभ उपहार है, जिसे पाने के लिए देवता भी लालायित रहते हैं। जरूरत है तो बस इस श्रेष्ठ मानव

जीवन की महानता एवं महत्ता को हृदयंगम करने की, यह वर्तमान जीवन को सद्कर्मों में सुनियोजित करके ही संभव है।

जीवन की तमाम सफलताएँ-असफलताएँ, हानि-लाभ इसी बिंदु पर निर्भर करते हैं। जिसने वर्तमान जीवन को पहचाना, समझा और छककर जीया, वह धन्य हो गया। इसमें ऐसा अमृत रस भरा पड़ा है, जो अतीत की सभी कलुष-कालिमा को धो डालता है। इसमें सभी पाप-ताप के कालकूट धुल जाते हैं एवं दिव्यता का भाव उत्पन्न होता है। वर्तमान जीवन के मूल्य को पहचानकर एवं इसके पियूष-रस को पीकर डाकू रत्नाकर झूम उठे थे। उनका क्रूर एवं निर्दयी हृदय पिघल गया था। उनके हाथों से खड्ग खिसककर लेखनी उठ गई थी। वे भावना एवं संवेदना की साकार प्रतिमा बन गए थे। उनका जीवन अतीत के खंडहर से खड़ा हुआ और सुकोमल भावनाओं की ईंटों से भव्य बना। जहाँ पर सीता माता को आश्रय मिला। लव-कुश जैसे दिव्य बालकों का जन्म हुआ। यही नहीं, वे स्वयं विश्ववंद्य महाकवि वाल्मीकि के नाम से विख्यात हुए थे। यह दृढ़ इच्छाशक्ति एवं प्रबल भावनाओं के संग वर्तमान जीवन को पहचान लेने का ही परिणाम था।

जीवन के इसी महान् क्षण को पहचाना था आतंक के प्रतीक प्रतिनिधि अंगुलीमाल ने। भगवान् बुद्ध की मर्मस्पर्शी एवं सजल करुणा तो एक माध्यम बनी थी। जीवन को बदलने एवं परिवर्तित करने का कार्य तो उन्होंने स्वयं ही किया था। कहते हैं, सैकड़ों बुद्ध एवं हजारों ईसा मिलकर भी किसी के जीवन को नहीं बदल सकते, जब तक कोई स्वयं अपने जीवन को बदलने की दृढ़ इच्छाशक्ति न रखता हो। अंगुलीमाल बदले। उनका पाषाण एवं चट्टान-सा हृदय पिघला एवं उसमें से निर्ममता एवं निर्दयता के स्थान पर भावना, संवेदना, दया, करुणा का अजस्र प्रवाह फूट पड़ा था। इससे उनके अतीत जीवन का पाप पंक धुल गया था और वे उज्ज्वल पुण्य पुरुष बन गए थे। उनके वर्तमान जीवन में असीम धैर्य उत्पन्न हो गया। तभी तो जिसे देखने मात्र से लोग काँपते एवं थरथराने लगते थे, उन्हीं ने सामान्य जनों से पत्थरों की मार झेली, निःशब्द प्रतिक्रियाहीन। क्योंकि वह जानते थे कि जो लोग कर रहे हैं, कभी वह स्वयं भी जीवन को न पहचान पाने के कारण करते थे। अब स्वयं को पहचानकर वह स्वयं दुःख-सुख से परे हो गए, पाप-ताप से मुक्त हो गए और करुणावतार भगवान् बुद्ध के कृपापात्र बन गए।

महाकवि वाल्मीकि एवं अंगुलीमाल ने जीवन के प्रवाह को महत्त्वपूर्ण मोड़ दिया था। मजबूत इरादे से अपने जीवन को नई दिशा दी थी। जीवन में दुर्गुणों के स्थान पर सद्गुणों को सम्मान दिया था। इन्हें अपनाया एवं अंगीकार किया था। सबसे बढ़कर बात यह थी कि उन्होंने अपने वर्तमान जीवन की नौका को आत्मानुसंधान की श्रेष्ठ धारा में डाल दिया था। भले ही उनका प्रयास प्रारंभ में छोटा था, परंतु इसे निभा ले जाने के बाद परिणाम अत्यंत सुखद हुआ। अच्छे एवं महान् कहे जाने वाले सभी प्रयास-पुरुषार्थ प्रारंभ में छोटे होते हैं। अपने इस लघु रूप के कारण लोगों का उपहास एवं अपमान भी झेलते हैं, लेकिन अपनी महान् सामर्थ्य के कारण इसे करने वालों का जीवन धन्य हुए बिना नहीं रहता। वे अपने साथ-साथ असंख्यों की जीवन की दिशाधारा को मोड़ने में सफल होते हैं।

नगण्य एवं नन्हा-सा दिखने वाला बीज अंकुरित-विकसित होकर विराट् वृक्ष का रूप धारण करता है। इसमें कितने ही पक्षी नीड़ बनाकर रहते हैं। जब छोटी-सी कली खिलती है, तो वातावरण में सुरभित सुमन की मुस्कान बिखर जाती है। भौंरे मँडराने लगते हैं। लोग आकर्षित होते हैं तथा वह पुष्प देवों एवं दिव्य जनों का अलंकार-आभूषण बनता है। आँखों से न दिखने वाला छोटे से परमाणु के विस्फोट से इतनी असीम एवं प्रचंड ऊर्जा निकलती है कि समूचा विश्व क्षण भर में ही राख की ढेरी में बदल सकता है। इसके सदुपयोग से परमाणु भट्टी द्वारा बिजली का निर्माण भी किया जा सकता है, जिससे अनेकों कल-कारखाने चलते हैं तथा दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। जीवन के नन्हे-नन्हे क्षणों में भी इसी तरह अपार सामर्थ्य-शक्ति छिपी हुई है। चाहे तो इसका सदुपयोग कर लें या दुरुपयोग, यह अपने हाथों में है। जीवन प्रवाह के सदुपयोग से आसानी से महामानव, देवमानव बना जा सकता है। जीवन के हर क्षण का श्रेष्ठ सदुपयोग एवं समुचित सुनियोजन करके व्यक्ति नर से नारायण बन सकता है तथा अपार ऐश्वर्य-वैभव का अधिकारी हो सकता है। श्रेय, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा अर्जित कर सकता है। कामना-वासनाजन्य इच्छाओं और आकांक्षाओं से जीवन की गति मंथर एवं अवरुद्ध हो जाती है, जबकि प्रेम, दया, सेवा, सहकारजन्य उदात्त वृत्तियों से इसका प्रवाह तीव्र, तीव्रतर एवं तीव्रतम हो जाता है और इस वर्तमान जीवन में ही अपने इष्ट लक्ष्य से मिलन-समर्पण का अनुभव बोध प्राप्त कर सकता है। जीवन का परमात्मा में विसर्जन-विलय ही सच्ची पूर्णता है और यही जीवन का चरम एवं परम पुरुषार्थ है।

▲

कण-कण में समाई भगवान की सत्ता

'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ। इस अनुभूति में ईश्वर से एकात्मता की प्रार्थना की गई है, जो मन और बुद्धि से परे अगम, अगोचर है। यह मन के विचार तथा बुद्धि की कल्पनाओं की अवधारणा नहीं बल्कि अनुभूति का विषय है। यह साधनामय जीवन का अनुभव है, जो सृष्टि के कण-कण में, पौधों एवं प्राणियों में लहराता-उफनता दृष्टिगोचर होता है। आवश्यकता है उस दृष्टि की, जो जगत् में इसकी लीला को देख सके तथा अपने अंतर में विद्यमान उस परम पुरुष परमात्मा को झाँक सके। समस्त जप, तप, साधना, स्वाध्याय, सेवा का मूल यही है कि स्वयं को परिष्कृत एवं परिमार्जित करें तथा उसके दिव्य स्वरूप का अनुभव प्राप्त करें।

परमात्मा सर्वव्यापी है। सृष्टि का कोई कण उसकी चैतन्य चेतना से वंचित नहीं है। अणु-परमाणुओं में जो गतिविधियाँ संपन्न हो रही हैं, कण-कण में जो ज्ञान की परम एवं चरम अनुभूति भरी हुई है, वह परमात्मा का ही दिव्य स्वरूप है। अगर ऐसा नहीं होता, तो प्रह्लाद को बचाने के लिए भगवान् नृसिंह रूप धारण कर एक बेजान खंभे से कैसे अवतरित होते? हवा, पानी, मिट्टी आदि पंचतत्त्व सब उसी के विभिन्न स्वरूप हैं, इसलिए तो द्रोपदी की लाज बचाने के लिए भगवान् कृष्ण शून्य से प्रकट हुए और उसके वस्त्र को इतना लंबा कर दिया कि वह किसी भी तरह समाप्त नहीं हो सका। गजराज की आर्त्त पुकार से सुदर्शन चक्र का आविर्भाव यही कहानी कहता है कि परमात्मा सर्वव्यापी है। वह कभी भी और किसी में भी प्रकट हो सकता है।

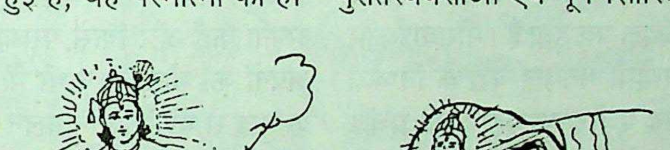

सबमें व्याप्त वह ईश्वर है। वह परम सद्वस्तु भिन्न-भिन्न नहीं हो सकती। वह अपने सभी नाम, रूप, गुणों में एक ही है। अतः वैदिक ज्ञान की भाव भूमि में उसे 'एकं सद विप्राः बहुधा वदंति' के रूप में अलंकृत किया जाता है। इस सत्य का वैदिक ऋषि उद्घोष करते हैं—वही इंद्र है, वही मित्र है, वही वरुण है, अग्नि वही है, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान, यम भी वही है और मातरिश्वा के रूप में एक वही जाना जाता है। अनंत रूपों, गुणों वाला वह ईश्वर अपने अंतर में ही विद्यमान है। जो इसकी झलक-झाँकी पा लेता है, वही अनंत ऐश्वर्य एवं वैभवरूपी ब्रह्मांड को जान-समझ लेता है। वेद ने इसी ऐश्वर्य के प्रतीक-प्रतिनिधि परमात्मा को जाना। वैदिक ऋषि इस ऐश्वर्य के प्रतीक-प्रतिनिधि परमात्मा की परमेश्वरी सत्ता को अपनी हृदय गुहा में अवस्थित मानता है। इसे पाने के लिए मंगल आदि ग्रहों पर कहीं यान भेजने की आवश्यकता नहीं, बल्कि पुरातत्त्ववेत्ताओं एवं भूगर्भशास्त्रियों के समान अपने अंदर ही उत्खनन एवं गहरी खुदाई करने की जरूरत है। इसलिए कहा जाता है कि खुदा बाहरी खोज से नहीं वरन् अपने अंतर की खुदाई से ही प्राप्त किया जा सकता है।

अपना अंतर प्रदेश काम, क्रोध, मोह की मोटी विषाक्त एवं मलिन परतों से आवृत्त है। यहाँ पर कामना का विप्लवी ज्वार उठता है और कामनाएँ अनंत हैं, जो कभी पूरी नहीं होतीं। एक पूरी होने से पहले ही घात लगाए बैठी अनेक कामनाएँ उठ खड़ी होती हैं। इसमें बाधा और व्यवधान आने पर जहरीले

सर्प के समान फुफकारता क्रोध उठ खड़ा होता है। इसकी लपलपाती लपटें इतनी भीषण होती हैं कि सभी को भस्मीभूत कर देना चाहती हैं। यह स्वयं को भी नहीं छोड़ता। समस्त मनोविकार यहीं से उद्भूत होते हैं, यही इनकी जड़ एवं मूल कारण है। इसी कारण परमात्मा का दिव्य धाम मनुष्य जीवन शांति एवं प्रेम के पावन गुणों से वंचित रहता है और इसके बदले लोभ का गहरा दलदल पसरा रहता है। यह तीव्र दुर्गंधयुक्त होता है और मनुष्य अपना दैवी स्वरूप भूलकर इसी में लोटता रहता है। नश्वर वस्तु का लोभ, पद-प्रतिष्ठा का लोभ और न जाने कितने अंतहीन लोभ सताते रहते हैं। अपने ही मोहपाश में जकड़ा यह जीव इतने बंधनों में बँध जाता है कि इसे फिर से चौरासी लाख योनि के चक्र में भ्रमण करना पड़ता है और वह इसी में बारंबार भटकता रहता है।

अंतर प्रदेश की इसी कँटीली-पथरीली बंजर भूमि की खुदाई जरूरी है। खुदाई एक अनिवार्य शर्त है। इस शर्त की पूर्ति के बिना वह नीलमणि ज्योति, वह परमेष्टी पुरुष भला कैसे दिखाई दे ! हाँ, खुदाई एवं जुताई का तरीका भिन्न-भिन्न हो सकता है। कोई विश्वामित्र एवं अगस्त्य के समान तप का हल चलाता है, कोई शंकराचार्य के सदृश ज्ञान का फावड़ा उठाता है, तो कोई स्वामी विवेकानंद के समान नव्य वेदांत का कुदाल पकड़ता है। मीराबाई और चैतन्य के प्रबल प्रेम, ध्यानयोगी भगवान् बुद्ध के निष्कंप ध्यान, महायोगी श्री अरविंद एवं रमण महर्षि की प्रचंड योग साधना जैसे अस्त्र-शस्त्रों एवं साधनों के द्वारा भी अपने अंतर प्रदेश को परिष्कृत एवं परिमार्जित किया जाता है।

अंत:करण की पवित्रता दुर्गुणों को त्यागने से होती है। जब असह्य दुष्प्रवृत्तियों से हृदय का भार हलका हो जाता है, तो प्रभु का प्रकाश बिखरने लगता है। यह ज्योतिर्मय प्रकाश सद्गुणों के रूप में ज्योतित होता है। हृदय में सद्गुणों के बढ़ने से ही उसके दिव्यत्व का अनुभव होता है, क्योंकि ईश्वर सद्गुणों का समुच्चय है, श्रेष्ठ आदर्शों का समन्वय है। फिर हृदय-गुहा में परमात्मा का सतत अनुभव होने लगता है। यह पवित्र स्थल प्रभु का डाक बँगला बन जाता है और 'तत्त्वमसि' जो तुम हो, वह मैं हूँ, 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ही ब्रह्म हूँ का अलौकिक अनुभव होने लगता है। इस अव्यक्त अनुभव के होते ही, उसका दिव्य दर्शन करते ही दृष्टि व्यापक हो जाती है एवं देखने का नजरिया बदल जाता है। फिर सृष्टि के कण-कण में, जगत् के घट-घट में और समस्त जड़-चेतन में एकमात्र वही मचलता-इठलाता दिखाई देता है और ब्रह्ममय सृष्टि का बोध हो जाता है। इसी विराट् अनुभवबोध को प्राप्त कर ही उपनिषद् का ऋषि कह उठा था, यही ब्रह्म है। विशाल एवं अनंत ब्रह्मांड में बसी उसी की चेतना लहराती दृष्टिगोचर होती है।

इस सत्य का साक्षात्कार करने वाला अनुभव करता है कि आत्मा केवल इनसान के काय-कलेवर में ही सीमित नहीं है, बल्कि सृष्टि के सभी पदार्थों, सूर्य, चंद्र एवं पार्थिव जगत् में भी एक चेतन तत्त्व व्याप्त है। इस विश्व में व्याप्त वही चेतन आत्मा ब्रह्म है। इसके परे और कुछ नहीं। समूची दुनिया में वही एक सक्रिय तत्त्व है और फिर भी वह सबसे शांत और अचल है। प्रकृति की सभी शक्तियों में और कण-कण में विद्यमान है। संसार के सारे काम उसकी इच्छा से संपादित होते हैं। उसकी इच्छा के बिना पत्ता तक नहीं खड़कता। वही प्राणी मात्र की आत्मा है। जब यह उदात्त दृष्टि प्राप्त हो जाती है, तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का स्वर उद्घोषित होता है।

इसी विशाल दृष्टिकोण के कारण ही उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, तृण से लेकर पर्वत तक, चींटी से हाथी तक हे प्रभु! जब सभी में एक तू ही विद्यमान है, तो मैं किसे अपना कहूँ और किसे पराया। न पराये का भेद है और न अपनों का मोह है। सभी में तू-ही-तू झलकता है। औरों के मुख से मेरे लिए निकलने वाली अपमान, तिरस्कार एवं अपशब्द भरी तेरी ही वाणी है और तू ही इसका शमन करने वाला है। इसलिए तो डसने के लिए आ रहे कालसर्प को देख मीरा भयग्रस्त नहीं हुई।

किसी पीड़ित को पीड़ा से कराहते देख वह भी कराह उठता है। इसी भाव अनुभूति के कारण रामकृष्ण परमहंस ने एक बैलगाड़ी हाँकने वाले को जब बैल को कोड़े मारते देखा, तो पीड़ा से कराह उठे। उनकी पीठ पर कोड़े के निशान पड़ गए और उनसे रक्त बह निकला। इन्होंने जन सेवा को शिव की आराधना मानकर कहा है—हर व्यक्ति, हर जीव परमात्मा है, ऐसा समझकर ही उसकी सेवा करो और जब यह सेवा हमारे जीवन में आराधना बन जाएगी, तो अहंकार विगलित हो जाएगा। अहंकार को गलाने के लिए निष्काम सेवाभाव एकमात्र उपाय है। अहंकार मुक्त पुरुष आकाश पुरुष बन जाता है और वह वैदिक ऋषि के समान 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा उपनिषदकार के सदृश विराट ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

❑

सत्य शास्त्रों में नहीं, अनुभव में है

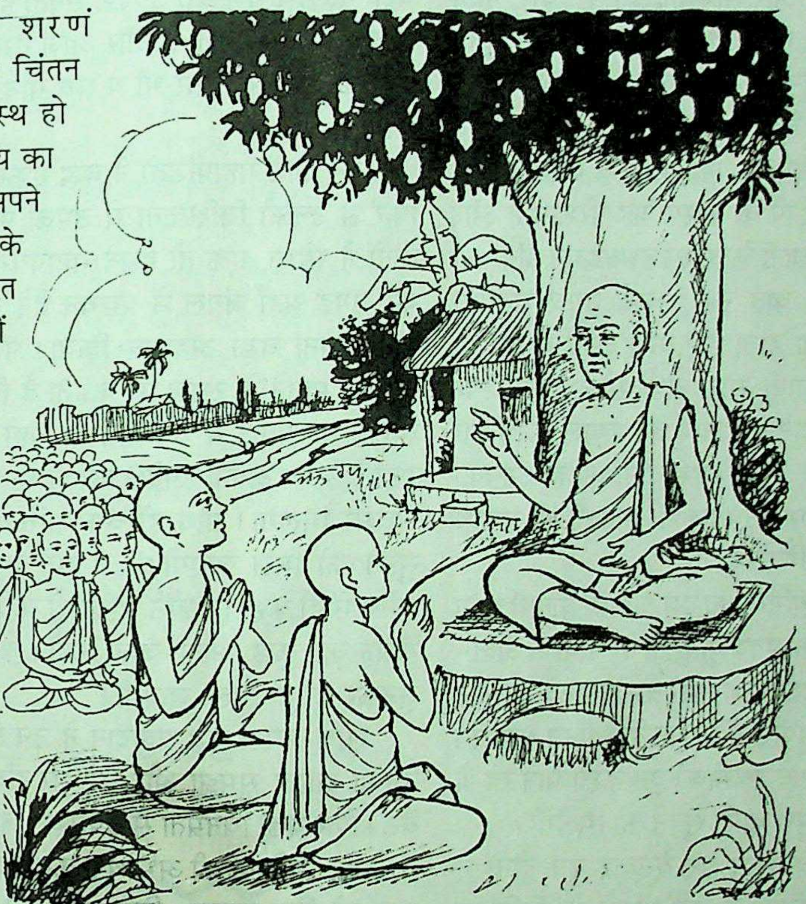

अर्हत एकुदान जंगल में रहते थे। वृक्ष-वनस्पतियाँ, पर्वत-झरने यही उनके साथी थे। उनके जीवन का एक ही सत्य था, 'बुद्धं शरणं गच्छामि।' इसी का चिंतन करते हुए वह ध्यानस्थ हो जाते। इसी सूत्र वाक्य का वह उपदेश करते। अपने इस जीवन-मंत्र के अलावा अन्य कोई बात उनको आती ही नहीं थी। हालाँकि इसे कहते हुए उनके जीवन का समाधि सुख छलक उठता था। वह एक अनोखे अहोभाव से भर उठते थे। इस एक वाक्य को बोलते हुए उनकी अंतर्चेतना में अनेकों अलौकिक रंग निखर उठते थे। पर वह बोलते बस एक ही वाक्य थे, 'बुद्धं शरणं गच्छामि।'

जंगल से उधर होकर जो भी व्यक्ति गुजरता, उन्हें रोज एक ही उपदेश कहते हुए सुनता। एक ही वाक्य में रोज-रोज भला किसको रस आता, इसलिए कोई उनके पास टिकता न था। अपने वन कुटीर में भिक्षु एकुदान अकेले वक्ता थे, श्रोता भी वही अकेले होते। दूसरा कोई होता भी तो कैसे ! किसी भी तरह कोई आ भी जाता, तो भाग जाता। रोज वही उपदेश, शब्दशः वही। उसमें कभी भेद ही नहीं पड़ता था। शायद उन्हें इसके अलावा और कुछ आता भी नहीं था।

लेकिन वह अपने इस एक जीवन सत्य को जब भी कहते, पूरे जंगल में एक अनोखी छटा छा जाती। वृक्ष-वनस्पतियाँ, पर्वत-निर्झर सभी एक अलौकिक चेतना से तरंगित हो उठते, उन्हें साधुवाद देते। सारा जंगल गुंजायमान हो जाता था, साधु! साधु! धन्यवाद! धन्यवाद! एक अनोखी छटा, एक अलौकिक जीवंतता सब ओर छा जाती।

एक दिन उसी जंगल में पाँच-पाँच सौ शिष्यों के साथ दो त्रिपिटकधारी भिक्षु आए। उनके अगाध पांडित्य की सब ओर ख्याति थी। अर्हत एकुदान उनके आगमन से बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उन सबका हार्दिक सत्कार किया और बोले, ''भंते, बहुत अच्छा हुआ जो आप पधारे। मैं तो निपट गँवार हूँ, मुझे कुछ ज्ञान नहीं है। बस एक बात मुझे समझ में आई है, उसी का रोज उपदेश करता हूँ और कोई तो सुनता नहीं, बस वन-शक्तियाँ उसे दयावश सुनती हैं और साधुवाद देती हैं। हालाँकि वे भी उसे सुन-सुनकर थक गई होंगी। यह उनका मुझ बूढ़े पर अनुग्रह ही है कि वे मेरी एक ही बात को बार-बार सुनकर प्रसन्नता व्यक्त करती हैं।''

''आप दोनों ही महाज्ञानी हैं। त्रिपिटक आपको कंठस्थ हैं। आपके ज्ञान की महिमा से आकर्षित होकर ही आपके पाँच-पाँच सौ शिष्य हैं। मुझे कुछ आता ही नहीं है, इसीलिए मेरा एक भी शिष्य नहीं है। भला एक ही उपदेश देना हो तो कोई शिष्य बनेगा ही क्यों !'' वे त्रिपिटकधारी दोनों महापंडित अर्हत एकुदान की बातें सुनकर एक दूसरे की

तरफ अर्थगर्भित दृष्टियों से देखते हुए मुस्कराए। उनकी आँखों में पांडित्य का अभिमान छलक रहा था।

उन दोनों ने ही सोचा, यह बेचारा बूढ़ा अकेले रहते-रहते एकदम पागल हो गया है। अकेलेपन के कारण इसे विक्षिप्तता ने घेर लिया है अन्यथा कोई एक ही उपदेश रोज-रोज देता है ! अपनी विक्षिप्तता के कारण ही यह कहता है कि इसका उपदेश जंगल की देव-शक्तियाँ सुनती हैं और साधुवाद देती हैं। अरे, कहाँ के देवता! भला देवता भी कहीं किसी का उपदेश सुनने आते हैं ! जब हम दोनों जैसे ज्ञानी पंडितों का उपदेश सुनने के लिए वे आज तक नहीं आए ! तब इस मूर्ख की वही एक तोतारटंत सुनने के लिए भला वे क्यों आएँगे! बेचारा वृद्ध! अपने बुढ़ापे के कारण यह परेशान है और इसी विक्षिप्तता एवं परेशानी के कारण इसका मन उद्विग्नता से भर गया है। कोई बात नहीं, चलो आज बताएँगे इसको कि उपदेश क्या होता है? कुछ क्षणों में ही उन दोनों महापंडितों ने इतनी सारी बातें सोच डालीं, पर प्रत्यक्ष में उन्होंने एकुदान की आयु का ख्याल करते हुए बड़ी शालीनता से कहा, "भंते! हम दोनों को ही आपका प्रस्ताव स्वीकार है। हमारे उपदेश से आपको भी यथार्थ का बोध पाने में मदद मिलेगी।"

"आप दोनों महाज्ञानियों की इस कृपा से कृतार्थ हुआ भंते!" भिक्षु एकुदान का हृदय कृतज्ञता के भावों से ओत-प्रोत हो गया। उनने बड़े प्रेम और परिश्रम से उनके प्रवचन का इंतजाम किया। महापंडितों के बैठने के लिए धर्मासन की व्यवस्था की। आज वे स्वयं को कृतकृत्य मान रहे थे कि उन्हें इतनी पांडित्यपूर्ण वाणी सुनने को मिलेगी।

हुआ भी वही। धर्मासन पर बैठकर उन दोनों ने बारी-बारी से उपदेश दिए। वे बड़े पंडित थे, त्रिपिटक के ज्ञाता थे। बुद्ध के सारे वचन उन्हें कंठस्थ थे। हमेशा ही वे अपने प्रशंसकों और शिष्यों से घिरे रहते थे। पाँच सौ शिष्यों की मंडली सदा ही उनकी सेवा के लिए तैयार और तत्पर रहती थी। उन पंडितों ने एक-एक करके उपदेश दिए। उपदेश से पहले शिष्यों ने उनकी विद्वत्ता एवं प्रभुता का परिचय दिया। यह बताया कि समाज में उनका कितना प्रभाव है। कितने लोग उनकी जय-जयकार करते हैं। कितने देशों का उन्होंने भ्रमण किया है, कितनी उपाधियाँ एवं प्रमाण पत्र उन्हें मिले हैं। राजन्यवर्ग उनका कितना सम्मान करता है।

इस परिचय के बाद शिष्यों ने साज और संगीत के साथ गीत गाया। कुल मिलाकर प्रवचन की प्रस्तुति को प्रभावी बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई। प्रवचन हुआ, शास्त्रसम्मत, पांडित्य से भरपूर, तर्क से मंडित। शिष्यों ने हर्षध्वनि की। साधु वृद्ध भिक्षु एकुदान भी परम आनंदित हुए। उन्होंने भी सराहना की। बस एक बात उन्हें खटक रही थी कि आज वन-शक्तियों ने कुछ नहीं कहा। उन्होंने यह बात पंडितों को भी कही कि बात क्या है? आज वन-शक्तियाँ चुप क्यों हैं? इनको क्या हो गया? आज ये कहाँ चली गईं? ये रोज मेरा उपदेश सुनती हैं, तो पूरा जंगल इनके साधुवाद से भर जाता है और आज ऐसा परम उपदेश हुआ, ऐसा ज्ञान से भरा, फिर भी ये सब मौन हैं, आखिर बात क्या है?

उन दोनों महापंडितों ने वृद्ध एकुदान की इन बातों को फिर से उनकी विक्षिप्तता से उपजा पागलपन समझा। उन दोनों ने सोचा, एक तो हमने महानगरों में लाखों की भीड़ की जगह यहाँ जंगल में प्रवचन देने की कृपा की। इसके ऊपर इतना बड़ा अहसान किया। पर यह है कि हमारा अनुग्रह मानने के स्थान पर कहता है कि वन-शक्तियाँ नहीं बोलीं, पर प्रकट में उन दोनों ने यही कहा, "भंते अच्छा यही है, आप अपना उपदेश करें। हम दोनों को भी सुनने का अवसर मिलेगा। साथ ही वन-शक्तियों की वाणी भी हमें सुनने को मिल जाएगी।" उन्होंने यह बात एक तरह से व्यंग्य में ही कही। उन्होंने सोचा तो यही कि वैसे भी इस बूढ़े गँवार को कुछ आता-जाता नहीं। बस इसकी एक बात सुनकर छुट्टी मिल जाएगी।

सीधे-सरल वृद्ध एकुदान ने उन पंडितों के व्यंग्य को उनका आग्रह समझा और बड़े ही संकोच से धर्मासन पर बैठे। फिर बड़ी विनम्रता से उपस्थित जनों को प्रणाम किया। सभी वन-शक्तियों की अभ्यर्थना करके अपने आराध्य भगवान् बुद्ध को सिर नवाया। फिर हृदय की गहराइयों से समूचे मन-प्राण से कहा, 'बुद्धं शरणं गच्छामि।' इसी के साथ वे गहरी भाव समाधि में डूब गए। उनके मुखमंडल पर संबोधि की आभा छलकने लगी। उनके अस्तित्व का कण-कण रोमांचित हो उठा। उपस्थित जनों पर भी उनकी इस अनुभूति के अमृत कलश से कुछ बूँदें छलक पड़ीं। समूचे जंगल से साधु! साधु!! का अपूर्व निनाद गूँज उठा। वृक्ष-वृक्ष से आवाज उठी, पत्थर-पत्थर से आवाज उठी, जंगल की सारी शक्तियाँ मुखरित हो उठीं। सारा धर्मासन उनके द्वारा की गई अलौकिक पुष्पवृष्टि से भर उठा।

अब तो दोनों महापंडित बड़े हैरान हुए। वे सोचने लगे, यह बूढ़ा पागल तो नहीं है। शक्तियाँ सचमुच में ही हैं, पर क्या शक्तियाँ पागल हैं? क्योंकि ऐसा क्या कहा इसने ! बस

एक साधारण सा वाक्य 'बुद्धं शरणं गच्छामि।' क्या धरा है इसमें? कोई भी कह सकता है, कभी भी कह सकता है, कहीं भी कह सकता है! पंडितों ने अपने दंभ में यह भी सोच डाला कि ये शक्तियाँ जंगली हैं, नासमझ हैं। जरूर इन्हें हमारा प्रवचन समझ में नहीं आया होगा। ऐसी ही अनेकों तरह की कल्पना-जल्पना करते वे चले गए।

उन दिनों बौद्ध संघ में यह घटना बड़ी प्रचारित हुई, पर कोई भी इसका ठीक भेद न जान पाया। भगवान् के शिष्य आनंद ने भगवान् से यह कथा कही और इसके भेद को स्पष्ट करने की प्रार्थना की। बुद्ध मुस्कराए, उन्होंने कहा, ''वत्स आनंद! एकुदान 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का मर्म जान चुके हैं। वह क्षीणास्रव हो चुके हैं।'' आनंद ने विनम्रता से पूछा, ''भगवान् क्षीणास्रव होना क्या है?'' बुद्ध बोले, ''चार आस्रव होते हैं। पहला है कामास्रव। इसके क्षीण होने का मतलब है, अब कुछ पाने की कामना नहीं रही। सारी चाहतें मिट गईं। अब नाम, धन, यश, पद या कुछ और पाने की धुन नहीं है। दूसरा आस्रव है, भवास्रव, यानि कि स्वर्ग, मोक्ष या फिर अगले अच्छे जीवन की कामना। इसके क्षीण होने का मतलब है, जीवेषणा मिट गई। लौकिक ही नहीं, अलौकिक चाहतें भी मिट गईं।''

आगे समझाते हुए भगवान् तथागत ने कहा, ''भंते, तीसरा आस्रव है, दृष्टास्रव। यानि दृष्टि, शास्त्र एवं सिद्धांत से आसक्ति। इसके क्षीण होने का अर्थ है, जाति, धर्म, कुल, देश, शास्त्र या सिद्धांत से मोह टूट जाना। संकुचित दृष्टि का व्यापक हो जाना और चौथा आस्रव है, अविद्यास्रव, मैं हूँ, इसकी क्षीणता का अर्थ है, 'मैं पन' का गिर जाना। सारी सीमाओं का समाप्त हो जाना, असीम हो जाना।''

आनंद सुन रहे थे, भगवान् के वचनों को। भगवान् ने आगे हृदयस्पर्शी स्वरों में कहा, ''भिक्षु एकुदान के ये चारों ही आस्रव क्षीण हो चुके हैं। वे अब क्षीणास्रव हैं।'' यह कहते-कहते अंतर्यामी भगवान् ने आनंद की अगली जिज्ञासा जान ली। वह हलके से हँसे फिर बोले, ''बुद्धं शरणं गच्छामि, भिक्षु एकुदान के लिए यह वाक्य नहीं, अनुभूति है। उन्होंने सचमुच ही बुद्ध की—बुद्धत्व की शरण पा ली है। वह बुद्धत्व की धारा में निमग्न हो चुके हैं। उनके लिए यह वाक्य शास्त्रवचन नहीं, समाधि सत्य है। इसके उच्चारण के साथ ही वह बुद्धत्व से एकात्म होते हैं। उनकी अनुभूति के पलों को निहार कर वन-शक्तियाँ धन्य होती हैं। उन्हें साधुवाद देती हैं।''

अपनी बात को समझाते हुए भगवान् ने यह धम्म गाथा कही—

न तेन पंडितो होति होति यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो पंडितोति यवुच्चति॥

हे भिक्षुओ! बहुत भाषण करने से कोई पंडित नहीं होता। बल्कि जो क्षेमवान्, अवैरी और निर्भय होता है, वही पंडित है।

आनंद सहित सभी भिक्षु शांत थे। भगवान् कह रहे थे, ''सत्य शास्त्र में नहीं है। सत्य शब्द में भी नहीं है, सत्य तथाकथित बौद्धिक ज्ञान में भी नहीं है, सत्य है अनुभव। अनुभव शून्य में प्रकट होता है, मौन और आंतरिक एकांत में प्रकट होता है। वैसे जीवंत अनुभव की अभिव्यक्ति पर सारा अस्तित्व आच्छादित होता है। ऐसे में वन-शक्तियों का प्रसन्न होकर साधुवाद देना स्वाभाविक है।'' ऐसा कहकर भगवान् मौन में डूब गए। आनंद सहित अन्य भिक्षु भगवान् के द्वारा कहे गए वचनों का मनन करने की चेष्टा करने लगे।

◆

उन दिनों शिक्षार्थी विद्याशुल्क जमा नहीं करते थे, पर साथ ही इतने कृतघ्न भी नहीं थे कि जिस आश्रम में लंबी अवधि तक रहकर ज्ञान और निर्वाह प्राप्त किया, वे उसका ऋण न चुकाते। लौटने पर छात्र गुरुकुल का स्मरण रखते और अपनी कमाई का अंश नियमित रूप से भेजते। शिक्षासत्र पूर्ण होने पर शिष्य गुरु से उनकी आवश्यकताएँ पूछते और उनकी पूर्ति का संकल्प लेकर वापस लौटते। उस दिन विरजानंद के गुरुकुल से विद्याध्ययन के उपरांत दयानंद चलने लगे, तो चर्चा उस संबंध में हुई कि गुरु आकांक्षा की एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उन्हें क्या करना है। ब्रह्मचारी दयानंद की प्रतिभा से विरजानंद प्रभावित थे। उनने कहा कि सामान्य लोगों की तरह न जीकर तुम समय के कुप्रभाव को उलटने में लग सको, तो कितना अच्छा हो। शिष्य ने गुरु इच्छा पर अपनी इच्छा निछावर कर दी और उसी दिन संन्यास लेकर समाज-सुधार के कार्यों में, विश्व संस्कृति के उत्थान में निरत हो गए।

यहाँ कोई संयोग नहीं, सभी पूर्व नियोजित है

संसार की पहेली अबूझ है और इसका रहस्य अगम। इसकी घटनाओं की कड़ियाँ जटिल एवं उलझी हुई प्रतीत होती हैं। इन कड़ियों में कोई तारतम्य एवं सामंजस्य न दिखाई पड़ने के कारण ही इसे संयोग मानकर संतोष कर लिया जाता है। एक ही दिन, तिथि एवं तारीख का यह संयोग आश्चर्यजनक एवं अद्‌भुत लगता है। जो भी हो, संसार में यह संयोगों का क्रम है बड़ा ही रोचक एवं विचित्र।

संयोगों की यही सृष्टि शास्त्री जी के जीवन में देखने को मिलती है। भारत के पूर्व प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री के जीवन में मंगलवार का दिन ऐसे ही संयोगों से भरा रहा है। यह दिन उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का साक्षी बना। मंगलवार के दिन ही वे बाल्यावस्था में प्रयाग के संगम में डूबने से बचे थे। अंततः यही दिन उनके जीवन का अंतिम दिन सिद्ध हुआ। ताशकंद वार्त्ता के दौरान जब उनकी मृत्यु हुई तो वह दिन भी मंगलवार ही था। इन दो दुःखद घटनाओं के अलावा इस दिन उनके लिए बड़े ही महत्त्वपूर्ण एवं शुभ कार्य भी हुए। उन्होंने देश के प्रधानमंत्री की शपथ इसी दिन ग्रहण की। तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् ने उन्हें मंगलवार को ही 'भारत रत्न' के रूप में देश का सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया। इन महत्त्वपूर्ण घटनाओं के अलावा सन् १९४७ में उत्तरप्रदेश पार्लियामेण्टरी बोर्ड के मंत्री, १९५१ में पुलिस एवं यातायात मंत्री, १९५२ में कांग्रेस के महासचिव, १९५७ में केंद्रीय रेलमंत्री, परिवहन मंत्री आदि के प्रतिष्ठित पद उन्होंने मंगलवार के दिन ही ग्रहण किए थे।

लालबहादुर शास्त्री के लिए मंगलवार का दिन एक अद्‌भुत संयोग बना। इस दिन उनके जीवन में कई और महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। संयोग की ऐसी ही अन्य अनेक कथागाथाएँ अमेरिकी राष्ट्रपतियों के जीवन एवं शासन से भी संबंधित रही हैं। अमेरिकी इतिहास के १६० वर्षों में एक विचित्र संयोग दृष्टिगोचर होता है। इस अवधि में प्रति बीस वर्ष में अमेरिकी राष्ट्रपति का निधन अपने ही कार्यकाल में हुआ। विलियम हैरीसन, अब्राहम लिंकन, गारफील्ड, हार्डिंग, फ्रेंकलीन रूजवेल्ट तथा जॉन एफ. कैनेडी ऐसे ही अमेरिकी राष्ट्रपति थे, जो अपने शासनकाल के दौरान मारे गए या उनकी स्वाभाविक मृत्यु अपने ही कार्यकाल में हुई। इसी प्रकार १८६०, १९००, १९४० में चुने गए सभी राष्ट्रपतियों की अपने कार्यकाल की अवधि में ही मौत हो गई। यह भी एक अजीब संयोग है कि वे सभी राष्ट्रपति दूसरी बार शासन सँभाल रहे थे। हालाँकि रीगन, जार्ज बुश, बिल क्लिंटन आदि इसके कुछ अपवाद भी हैं।

अमेरिकी राष्ट्रपतियों की यह कथा यहीं समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि इससे और भी अनेक किंवदंतियाँ एवं घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। ऐसी ही संयोगपूर्ण घटना का सामंजस्य जॉन एफ. कैनेडी और अब्राहम लिंकन के जीवनक्रम में दिखाई देता है। जॉन विशप ने इन दोनों राष्ट्रपतियों का तुलनात्मक अध्ययन-अनुसंधान करके बड़े ही रोचक तथ्य प्रस्तुत किए हैं। यहाँ तक कि इनके अद्‌भुत संयोग के कारण इन्हें एक ही आत्मा का विकासक्रम सिद्ध किया है अर्थात् अब्राहम लिंकन ने ही जॉन एफ. कैनेडी के रूप में नया शरीर धारण किया था।

जॉन विशप के अनुसार लिंकन और कैनेडी चालीस वर्ष की आयु में राष्ट्रपति बने। लिंकन ने १८६१ में अमेरिका के राष्ट्रपति पद को सुशोभित किया था और कैनेडी १९६१ में राष्ट्रपति बने। लिंकन की प्रथम पत्नी फैशनपरस्त थी और कविता व पेंटिंग्स में विशेष रुचि रखती थी। ठीक इसी प्रकार रुचि एवं रुझान कैनेडी की पत्नी में भी था। लिंकन के चार बच्चे थे, दो मर गए और अन्य दो उनके साथ रहते थे। कैनेडी के भी चार पुत्र हुए, दो भगवान् को प्यारे हो गए और दो जीवित रहे। भोजन में स्पार्श दोनों को प्रिय एवं पसंद था। लिंकन के निजी सचिव का नाम था कैनेडी और कैनेडी के निजी सचिव का नाम लिंकन था। दोनों की आस्था धार्मिकता की ओर थी। लिंकन और कैनेडी दोनों ही विश्व शांति के प्रबल समर्थक रहे तथा नीग्रो स्वतंत्रता के पक्षधर थे। दोनों ही गोली के शिकार हुए और शुक्रवार के दिन उनकी मृत्यु हुई और विचित्र बात यह है कि जानसन नामक उपराष्ट्रपतियों ने दोनों का पदभार सँभाला।

लिंकन और कैनेडी के जीवन की यह घटना दो अलग-अलग समय की अद्‌भुत पुनरावृत्ति थी, परंतु एक ही जीवनकाल में दो भिन्न व्यक्तियों के बीच यह तारतम्य अत्यंत आश्चर्य पैदा करता है। ऐसा ही संयोग आयरलैंड के क्रुक हैवेन शहर में एक ही मकान में रहने वाले दो दंपतियों की दो संतानों में भी दिखाई पड़ा। इन दो दंपतियों के घर में एक ही दिन कुछ क्षणों के अंतराल में दो पुत्रों का जन्म हुआ। उनका नाम रखा गया, एलेनर गैडी तथा पैट्रिक। दोनों बच्चे बड़े होने पर दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर खेलते तथा पढ़ते थे। एक दिन खेल के दौरान एलेनर के पैर में चोट लग गई। हैरानी की बात थी कि पैट्रिक के भी ठीक इसी स्थान पर चोट का निशान देखा गया, जबकि वह एक अलग स्थान पर खेल रहा था। इन दोनों को परीक्षाओं में भी हमेशा एक समान अंक प्राप्त होते थे। दोनों का विवाह भी एक ही दिन एक साथ हुआ। उनकी संतानें भी एक दिन विशेष को पैदा हुईं। एलेनर और पैट्रिक ९६ वर्ष की आयु में एक ही दिन एक साथ बीमार हुए और दोनों एक ही साथ परलोक सिधार गए।

अंक—ज्योतिष एवं गणित आदि के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कारक है, यह व्यक्ति विशेष के जीवन में भी एक अद्‌भुत पहेली बनकर आता है। ऐसी ही पहेली जर्मनी के शासक चार्ल्स चतुर्थ के जीवन में परिलक्षित हुई। चार्ल्स चतुर्थ के जीवन में चार का अंक बड़ा ही संयोगपूर्ण रहा है। वे चार रंग की पोशाक को चार बार पहनते थे। चार प्रकार का भोजन चार टेबल पर बैठकर चार बार करते थे। उन्हें चार प्रकार की शराब पीने का शौक था। उनकी बग्घी में चार पहिए थे और चार घोड़े जोते जाते थे। उनके चार आलीशान महल थे। उनमें चार-चार दरवाजे और प्रत्येक महल में चार-चार ही खिड़कियाँ थीं। चार के इस विचित्र अंक ने उनको अंत समय तक नहीं छोड़ा। चार्ल्स चतुर्थ ने मृत्यु के समय चार बार अलविदा कहा और चार बजकर चार मिनट पर ही अपना शरीर छोड़ा। इस समय उनके पास चार डॉक्टर उपस्थित थे।

अद्‌भुत है यह अंकों की घटना ! आयरलैंड स्थित डबलिन निवासी एंटनी क्लैंसी के जीवन में सात की संख्या चामत्कारिक रही है। एलेन वान नामक एक लेखक इस चमत्कार से इतने अभिभूत हो उठे कि उन्होंने 'इनक्रेडिबल कोइंसीडेंसेस' नामक कृति की रचना कर डाली। इस ग्रंथ में उन्होंने क्लैंसी के जीवन का भी उल्लेख किया है, जिसे सात की संख्या के प्रति अत्यंत लगाव पैदा हो गया था। इस संदर्भ में क्लैंसी का कहना था कि सप्ताह के सातवें दिन, महीने की सातवीं तारीख, वर्ष के सातवें महीने और सदी के सातवें वर्ष में मेरा जन्म हुआ। मैं अपने माता-पिता की सातवीं संतान हूँ। यहाँ तक कि मेरे पिता भी अपने अभिभावक के सातवें पुत्र थे। अपनी सातवीं वर्षगाँठ पर सातवीं घुड़दौड़ में मैंने सात नंबर का घोड़ा चुना और उसका नाम था सातवाँ बहिश्त। मैंने उस घोड़े पर सात शिलिंग लगाए। रेस में भी उसका सातवाँ नंबर था।

संख्याओं का यह खेल बड़ा विचित्र है एवं इनका संयोग अबूझ। संयोग का यह क्रम साइप्रस के शासक मलरिआस के जीवन में भी अनूठा रहा। उसके जीवन में तेरह के अंक ने अनेकों आश्चर्य पैदा किए। १० अगस्त १९१३ को उनका जन्म हुआ। १३ वर्ष की उम्र में उन्होंने चर्च में प्रवेश किया। १३ नवंबर १९४६ में उन्होंने प्रीस्ट की दीक्षा ली। १३ जून १९४८ में वे विशप बने तथा सिंहासन पर आरूढ़ हुए। १३ मार्च १९५१ में यूनान के महाराज ने उनका अभिनंदन किया। १३ दिसंबर १९५९ को वह राष्ट्रपति चुने गए। इस प्रकार १३ का अंक उनके जीवन में सौभाग्य का सूर्य बनकर उदय हुआ था।

डेनबरा कोलराडो के धनाढ्य उद्योगपति शैरमेन के जीवन में भी १३ की संख्या विचित्र संयोगपूर्ण रही। शैरमेन का जन्म १३ तारीख को हुआ। इसी तारीख को उनकी सगाई हुई और विवाह भी संपन्न हुआ। जिनसे उनका विवाह हुआ, उनका जन्म भी १३ तारीख को ही हुआ था। उनके विवाह में कुल १३ लोग शामिल हुए थे।

१३ का यही अंक डॉ. रुद्र के लिए बड़ा दुर्भाग्यशाली सिद्ध हुआ। उत्तरी बर्टन यार्कस के डॉ. रुद्र १३ वर्ष की अल्पायु में गंभीर रूप से बीमार पड़े। १३ दिन तक मर्मांतक कष्ट एवं पीड़ा झेलते हुए १३ तारीख को हृदयगति के रुक जाने से उनकी मृत्यु हो गई। उनके परिवार में १३ सदस्य थे। मृत्यु के समय कुल १३ शिलिंग ही उनके खाते में शेष बचे थे। उनके अंतिम संस्कार के समय भी १३ सदस्य ही उपस्थित थे। डॉ. रुद्र का असली नाम फूवाह था। यों लगता वह हिंदू नाम जैसा है, पर इसका बाइबिल के १३वें छंद में उल्लेख मिलता है। १३ की संख्या उनके लिए इतनी अभिशप्त थी कि उनकी मृत्यु के बाद १३ तार ही शोक-संवेदना के रूप में आए।

फ्रांस के सिंहासन के साथ १४ की संख्या अद्भुत संयोगपूर्ण रही। फ्रांस के प्रथम सम्राट् हेनरी १४ मई १०२९ को सिंहासन पर आरूढ़ हुए। वहाँ के अंतिम सम्राट् भी हेनरी चौदहवें थे। १४ की संख्या वहाँ के शासकों का परछाई की तरह पीछा करती रही। १४ मई १६१० को हेनरी द्वितीय की हत्या हो गई थी। जिस १४ तारीख को एक को राज्य प्राप्त हुआ, दूसरे राजा की (१४ मई) मृत्यु हो गई। वहाँ के सभी सम्राटों ने १४ मई को ही फ्रांस का राज्य विस्तार किया। हेनरी तृतीय को १४ मई के दिन युद्ध के मोरचे पर जाना पड़ा। हेनरी चतुर्थ ने आपबारी का संग्राम १४ मार्च १५९० को जीता था। १४ दिसंबर १५९९ को सेवाय के ड्यूक ने स्वयं को हेनरी के समक्ष आत्मसमर्पण किया। १४ तारीख को ही लार्ड डफिन ने लुई १३वें के रूप में बपतिस्मा ग्रहण किया। हेनरी चतुर्थ के पुत्र लुई १३वें की मृत्यु १४ मई १६४३ को हुई। लुई १५वें ने कुल १४ वर्ष राज्य किया।

यह संसार अद्भुत आश्चर्यों से भरा हुआ है। अंकों का यह आँकड़ा क्यों किसी के जीवन में बारंबार पुनरावृत्ति करता है, यह भी एक पहेली बना है। यह पहेली विश्व विख्यात चित्रकार अल्मटाडमा के जीवन में विचित्र ढंग से दृष्टिगोचर होती है। ये १७ के अंक से प्रभावित थे। इस संदर्भ में वे कहते हैं, ''जब मैं १७ वर्ष का था, तब १७ तारीख को मैं अपनी प्रिय पत्नी से मिला। मेरे प्रथम मकान का नंबर १७ था। जब दूसरा मकान बनाया, वह भी १७ अगस्त से प्रारंभ हुआ और उसमें गृह प्रवेश १७ नवंबर को ही हुआ। चित्रकारी के लिए सेंट जौंस वुड में मैंने जो कमरा लिया था वह भी १७ नंबर का था।''

अंकों की यह पहेली प्राकृतिक घटनाओं में भी देखी जा सकती है। ऐसी ही पहेली का सबब बनी रस्टीड जर्मनी के सेंट भूलारिच चर्च की एक ऊँची मीनार। इस मीनार पर सन् १५९९ से १७८३ के मध्य चार बार भयंकर बिजली गिरी। यह मीनार चार बार गिरी और पुनः नए सिरे से इसका चार बार पुनर्निर्माण किया गया। सबसे विचित्र बात तो यह थी कि इस पर चारों बार बिजली गिरने की तारीख १८ अप्रैल ही थी। इसी घटना से मिलता-जुलता रूप जापान में आई भूकंप की शृंखला थी। छह भूकंपों का यह क्रम हरेक बार एक सितंबर को तबाही मचाने आता रहा। ये तिथियाँ रहीं—१ सितंबर ८३७, १ सितंबर ८५९, १ सितंबर ८६९, १ सितंबर ११८५, १ सितंबर १६४९ एवं १ सितंबर १९२३।

जीवन और प्रकृति की इन आश्चर्यपूर्ण एवं अद्भुत घटनाओं को भले ही संयोग मान लिया जाता है, परंतु यह महज एक संयोग नहीं है। इसके पीछे उस नियंता का अवश्य ही कोई विधान होगा। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए श्री अरविंद भी उल्लेख करते हैं कि 'देअर इज नो क्वाइंसीडेंस, इवरीथिंग इज प्रीप्लांड' अर्थात् ईश्वर की सृष्टि चक्र में कहीं कोई संयोग नहीं है, सभी पूर्व नियोजित क्रम से परिचालित है। एकमात्र ईश्वर ही इसका द्रष्टा और स्रष्टा है। अतः मनुष्य जीवन की इस अनोखी और विचित्र पहेली को जानने-समझने के लिए ईश्वर की शरण ही उपाय है। यही वह तथ्य और सत्य है, जिसे जानने के पश्चात् और कोई भी रहस्य एवं पहेली अबूझ नहीं रह जाती। ईश्वर चिंतन-स्मरण के माध्यम से ही जीवन में अनेकों पहेलियों एवं संयोगों के घटते रहस्य को जाना जा सकता है। ❂

ज्ञातव्य

अखण्ड ज्योति का अगला अंक 'देव संस्कृति विश्वविद्यालय विशेषांक' है। इसमें विस्तार से इस स्थापना की अवधारणा एवं अनंत संभावनाओं का वर्णन है। अतिरिक्त प्रतियों के लिए पाठकगण 'अखण्ड ज्योति संस्थान' से संपर्क करें।

सत्य की साधना हेतु कुछ स्वर्णिम सूत्र

जिन्हें साधना करने की चाहत है, उन्हें कुछ विशेष ढंग से जीना होता है। आध्यात्मिक जीवन के लिए कोरी चाहत काफी नहीं है। जो अकेली चाहत को रखते हैं, वे केवल अपने कल्पना जाल में उलझे रहते हैं। बाद में उन्हें पछतावा और निराशा के अलावा कुछ भी हाथ नहीं लगता। साधना के लिए तीव्र अभीप्सा के साथ संकल्प एवं श्रम भी आवश्यक है। सत्य की साधना के लिए साधक को चित्त की भूमि वैसे ही तैयार करनी होती है, जैसे फूलों को बोने के लिए पहले भूमि को तैयार किया जाता है। इसके लिए कुछ अनिवार्य सूत्र हैं।

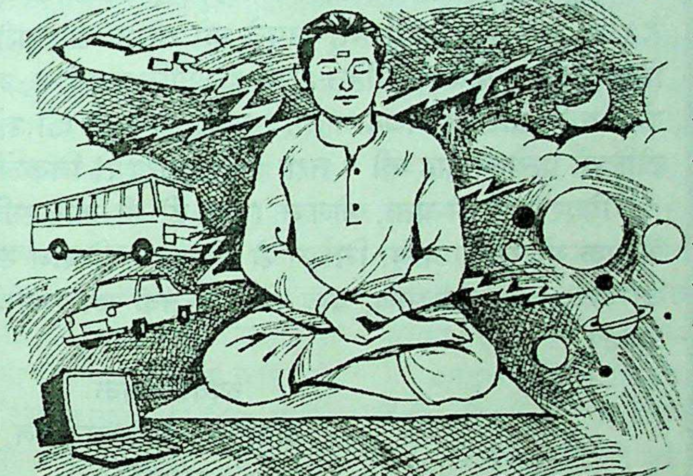

इनमें से प्रथम सूत्र है, वर्तमान में जीना। यदि सचमुच ही साधना के लिए तैयार हैं, तो अतीत के ख्यालों एवं भविष्य के ख्वाबों से बाहर आना होगा। जो बीत गया सो बीत गया, जो भविष्य में होना है वह समय पर अपने आप ही हो जाएगा। अतीत और भविष्य की यांत्रिक चिंतन धारा में बहने वाले अपने वर्तमान को खो देते हैं। वर्तमान का जीवित क्षण उनके हाथों से निकल जाता है, जबकि केवल वही वास्तविक है। न अतीत की कोई सत्ता है और न ही भविष्य की। एक स्मृति है, तो दूसरी कल्पना। वास्तविक एवं जीवित क्षण तो केवल वर्तमान है। जिन्हें साधना करनी है, उन्हें स्वयं में इतनी जाग्रति तो लानी ही होगी कि वे अपने आप को अतीत की स्मृति एवं भविष्य के कल्पनापाश से मुक्त रख सकें। जो जाग्रत् हैं, वे ही ऐसा कर सकेंगे और जो ऐसा करेंगे, वे स्वत: ही जाग्रत् हो जाएँगे।

इस सूत्र की साधना के लिए हर रात्रि में ऐसे सोएँ जैसे सारा अतीत छोड़कर सो रहे हैं। सोने से पहले अतीत को भगवत्स्मरण में विसर्जन कर दें। हर रात मरने की अनूठी कला सीखें, मरना अतीत के प्रति और हर सुबह नया जन्म लें। सुबह एक नई सुबह में एक नए मनुष्य की भाँति उठें। ध्यान रहे जो सोया था, वह न उठे। वह सोया ही रहे। उसे उठने दें जो कि नित नया है, अभिनव है। तत्त्वबोध और आत्मबोध का यह विज्ञान वर्तमान को ऊर्जावान बना देता है। जिसका वर्तमान, जितना अधिक प्राणवान् है, वह उतना ही श्रेष्ठ साधक है। वर्तमान में जीने का अभ्यास सतत चौबीसों घंटे प्रारंभ कर दें। होश में रहें कि कहीं मन फिर से अतीत और भविष्य के झूले में नहीं झूलने लगे। इससे छुटकारा पाने के लिए इसके प्रति जाग्रत् होना ही पर्याप्त है। जाग्रत् होने भर से बेहोशी की गतिविधियाँ अपने आप ही छूट जाती हैं।

इस क्रम में दूसरा सूत्र है, सहजता से जीना। आज हमारा, हम सबका जीवन कृत्रिम और असहज हो गया है। मनुष्य पर्याय बन गया कृत्रिमता के आडंबर का। सदा ही हम अपने ऊपर एक झूठ की चादर ओढ़े रहते हैं। इस आवरण के कारण हमें अपनी वास्तविकता धीरे-धीरे विस्मृत हो जाती है। इस झूठे खोल को, इस झूठी खाल को उतारकर ही हम साधना कर सकते हैं। ठीक वैसे ही साधना करने के लिए हमें अपने मिथ्या चेहरों को उतारकर रखना होगा, क्योंकि अध्यात्म साधना का अर्थ ही स्वयं को जानना और स्वयं को देखना है। अपने अस्तित्व में जो मौलिक है और सहज है, उसे प्रकट होने दें, उसमें जिएँ। जीवन यदि सहज और सरल बनेगा, तो साधना अपने आप ही विकसित होगी।

इस सूत्र की साधना तभी होगी, जब यह जान लिया जाए कि असलियत में न कोई अपना पद है, न प्रतिष्ठा और न ही कोई वैशिष्ट्य। ये तो सारी नकाबें हैं, केवल मुखौटे हैं। इन्हें जैसे भी बने, जल्दी से हटा देने में ही भला है। हम निपट हम हैं और अतिसाधारण इनसान हैं। जिसका न कोई नाम है, न कोई प्रतिष्ठा है, न कुल है, न वर्ग है, न जाति है। एक नामहीन व्यक्ति, एक अतिसाधारण इकाई मात्र—ऐसे हमें जीना है। स्मरण रहे, यही हमारी असलियत भी है। आत्मा और इनसान के रूप में स्वयं को अनुभव करके ही स्वयं को परमात्मा और भगवान् से जोड़ सकते

हैं। जिन्हें साधना करनी है, उन्हें उपाधि को व्याधि समझकर इससे छुटकारा पाना ही होगा।

अध्यात्म-साधना का तीसरा सूत्र है, अकेले जीना। साधना का जीवन अत्यंत अकेलेपन में, एकाकीपन में जन्म पाता है, पर मनुष्य साधारणतया कभी अकेला नहीं होता। प्रायः वह हमेशा ही दूसरों से घिरा होता है। भीड़ सदा उसे घेरे रहती है। कोई जरूरी नहीं है कि यह भीड़ बाहर हो, भीड़ तो भीतर भी हो सकती है, प्रायः होती भी भीतर ही है। भीतर भीड़ को इकट्ठी न होने दें। बाहर भी ऐसे जिएँ, जैसे सबके बीच अकेले हैं। सबके रहते हुए भी, सबके बीच जीते हुए भी, किसी से कोई अंतर्संबंध नहीं रखना है।

इस सूत्र की साधना का सार यही है कि भीड़ भरे जीवन में, संबंधों की रेल-पेल में हम उसे भूल गए हैं, जो हम स्वयं हैं। हम या तो किसी के मित्र हैं या शत्रु हैं। पिता हैं या फिर पुत्र, पति हैं अथवा पत्नी। इन संबंधों से हम इतना घिरे हुए हैं कि हमारी निजता ही खो गई है। क्या हमने कभी कल्पना की है कि इन सारे संबंधों से भिन्न हम कौन हैं? यदि नहीं की तो अब करनी है, अपने आपको ढूँढ़कर स्वयं में जीना है। अपने आप को संबंधों के सभी परतों से भिन्न स्वयं को देखना है। बाहर के संबंध बाहर ही रहें, उनसे अपनी अंतर्सत्ता को मलीन न होने दें। संबंधों के बिना अपने आप में, जीने का अभ्यास करना है।

हमें घर-घर पहुँचा दें

—परमपूज्य गुरुदेव

परमपूज्य गुरुदेव के मूर्तिमान स्वरूप वाङ्मय को घर-घर पहुँचाने के लिए निष्ठावान परिजनों की आवश्यकता है। जो भाई इस कार्य हेतु अपने को योग्य समझते हों, निम्नलिखित विवरण सहित अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा से संपर्क करें। समयदान की अवधि दो माह की रहेगी। टोलियाँ प्रत्येक माह की १ तथा १५ तारीख से निकलेंगी।

विवरण—नाम-पता, फोन नं. (एस. टी. डी. कोड सहित), शैक्षिक योग्यता, आयु, मिशन से कब जुड़े, मिशन संबंधी योग्यता, पद/व्यवसाय, कब से कब तक का समयदान आदि।

व्यवस्थापक
अखण्ड ज्योति संस्थान,
मथुरा

इन तीनों सूत्रों के परिणाम बड़े ही चमत्कारी हैं। शब्द नहीं, अनुभूति ही इसकी व्याख्या कर सकती है। शब्द तो सिर्फ संकेत कर पाते हैं, वह भी बड़े असमर्थ संकेत। हृदय के द्वार खुल चुके हों, तभी ये संकेत समर्थ बन पाते हैं। यदि ऐसा नहीं है, तो इन पंक्तियों को नहीं, अपने आप को ही पढ़ा जाता रहेगा। स्वयं के भीतर का कोलाहल इतना अधिक घेरे रहता है कि इस घिराव में कुछ भी संप्रेषित होने की गुंजाइश नहीं होती। यदि ये तीनों सूत्र जीवन में आ सकें, तो समूचा अस्तित्व सत्य के लिए खुल जाएगा। आंतरिक मौन में अंतर्मन के द्वार खुल जाएँगे और तब एक अनूठी समझ पैदा होगी, जिसके द्वारा वही समझा जा सकेगा, जो लिखा गया है। वही सुना जाएगा, जो कहा जा रहा है।

महात्मा ईसा ने कभी कहा था, जिनके पास आँखें हों, वे देखें और जिनके पास कान हों, वे सुनें। क्या जिनसे उन्होंने यह कहा था, उनके पास कान और आँखें नहीं थीं! उनके पास आँख और कान तो जरूर थे, पर आँख और कान का होना ही देखने और सुनने के लिए पर्याप्त नहीं है। कुछ और भी चाहिए, जिसके बिना उनका होना या न होना बराबर है। यह कुछ और वही है, जो इन तीनों सूत्रों की साधना से मिलता है। इस कुछ और से, विराट् से संवाद की स्थिति बनती है। इस कुछ और के स्पर्श से सद्गुरु के शब्द फिर शब्द नहीं रहते, मंत्र बन जाते हैं। फिर जो कुछ पढ़ा जाता है, सुना जाता है, उसमें छपे हुए कागज का बासीपन नहीं, आत्मा की मोहक सुगंध छलकती है।

साधना के ये सूत्र अद्भुत हैं, इनकी अनुभूति अद्भुत है। बस बात इन्हें अपनाने, आत्मसात करने और अनुभव करने की है। ज्यों-ज्यों इन्हें अपनाया जाएगा, प्रकृति एवं परमात्मा से संवाद का अवसर मिलने लगेगा। हाँ पहले प्रकृति संवाद करेगी। आकाश में टके चाँद-सितारे, वृक्ष, नदी, पर्वत, झरने, पक्षियों का कलरव, इन सभी में से कुछ मीठे बोल उपजेंगे और फिर यह सब भी मौन में डूब जाएगा। बस फिर परमात्मा का संगीत उपजेगा। सत्-चित्-आनंद का मधुरगान आत्मा में गूँजने लगेगा, पर यह सब होगा तभी, जब संकल्प और श्रम से साधक की अंतर्चेतना उर्वर बनेगी। जब कागज पर छपे साधना के सूत्र, साधक के जीवन का स्वर बनेंगे।

○

जीवन जीने के लिए मिला है, मरने के लिए नहीं

मनुष्य की जिजीविषा साधारणतया अदम्य मानी जाती है। हम जीवित रहना चाहते हैं और जीवन को प्यार करते हैं। उसकी सुरक्षा के लिए तरह-तरह के साधन जुटाते हैं। मरण से सबको भय लगता है। प्राण-संकट की घड़ी आने पर पशु-पक्षी तक सब कुछ कर गुजरने पर उतारू हो जाते हैं। आत्मरक्षा के प्रयत्नों में सृष्टि के प्रत्येक प्राणी को संलग्न देखा जा सकता है। इससे प्रतीत होता है कि न केवल मनुष्य, वरन् हर एक जीवधारी जीवन-संपदा को सुरक्षित रखने के लिए अपनी सूझबूझ और स्थिति के अनुसार हर संभव उपाय करता है। इतने पर भी मनुष्य न जाने क्यों उसे गँवाने और आत्मघात करने पर कटिबद्ध हो जाता है ! इसे उलझन की परिणति नहीं, मानसिक अस्वस्थता और अस्थिरता का परिणाम माना जाना चाहिए।

जीवन जटिल है, यह सत्य है। यदि वह एकदम सरल होता, उसमें कष्ट-कठिनाइयाँ और मुसीबतें नहीं होतीं, तो शायद वह उतना सरस, सुंदर और सुखद नहीं रह पाता, जितना कि वह है। एकरसता का बोझ दीर्घकाल तक ढोते रहने से वह इतना उत्साहहीन बन गया होता कि उसे और आगे खींच ले सकने की उमंग शेष न बचती और येन-केन-प्रकारेण व्यक्ति उससे छुटकारा पाने एवं जीवन को त्यागने का विचार करता। इसे मनुष्य का सौभाग्य ही कहना चाहिए कि परमात्मा ने उसके जीवन को सरल नहीं रहने दिया, फलतः जीवन संघर्ष का एक ऐसा तत्त्व उसमें आ जुड़ा जिसमें आदमी विभिन्न प्रकार की प्रिय-अप्रिय परिस्थितियों का सामना करते हुए चरम लक्ष्य तक पहुँच सके। यह विधान हर मनुष्य के लिए है। प्रत्येक को इसमें से होकर गुजरना पड़ता है, फिर किसी के लिए वही परिस्थितियाँ असह्य क्यों हो उठती हैं कि उसे आत्महत्या करनी पड़े ! जबकि असंख्य लोग उन्हीं जटिलताओं में संतोषपूर्वक जीते और सुखपूर्वक दिन गुजारते हैं।

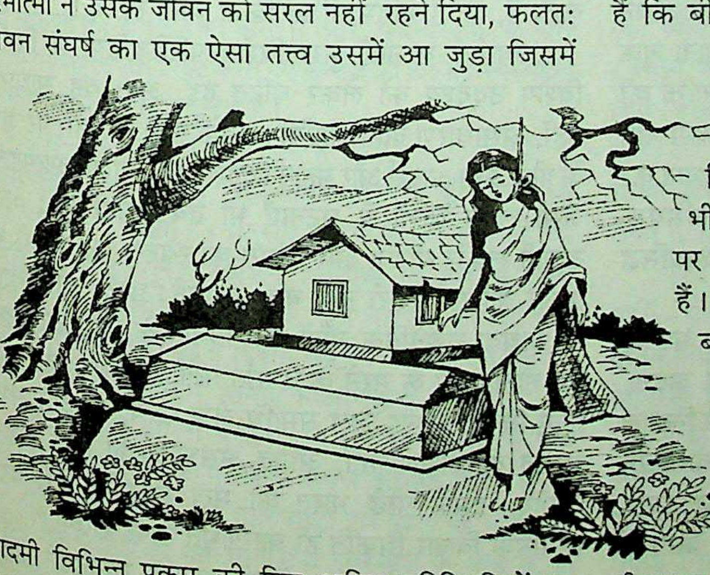

गंभीरतापूर्वक विचार करने से ज्ञात होता है कि यह परिस्थिति नहीं, मनःस्थिति है, जो व्यक्ति को अपघात करने की प्रेरणा देती और इस बहुमूल्य जीवन में कुछ कर गुजरने के अवसर को एक झटके में छीन लेती है। अस्वस्थ मनःस्थिति जहाँ कहीं भी होगी, उसका परिणाम आत्महत्या जैसा अवांछनीय होगा। इस अवांछनीयता का संबंध भौतिकता से भी है। देखा गया है कि जो राष्ट्र भौतिक दृष्टि से समृद्ध हैं, वहाँ मानसिक अस्वस्थता, कम विकसित देशों की तुलना में अधिक बढ़ी-चढ़ी है, परिणामस्वरूप उन देशों में आत्महत्या का अनुपात भी ज्यादा होता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार प्रति एक लाख में ४५.०९ व्यक्ति अमेरिका में, ३५.११ व्यक्ति डेनमार्क में, ३३.९९ व्यक्ति इंग्लैंड में, ३३.७२ व्यक्ति स्वीट्जरलैंड में, २३.३५ व्यक्ति फिनलैंड में, २०.७३ व्यक्ति स्वीडन में, १९.२६ व्यक्ति फ्रांस में, १५.०३ व्यक्ति आस्ट्रेलिया में तथा १३.३७ व्यक्ति कनाडा में आत्महत्या करते हैं।

एमाइल डर्कहीम अपनी पुस्तक 'ली स्युसाइड' में लिखते हैं कि बीसवीं सदी में जितनी आत्महत्याएँ हुई हैं, उतनी संसार में इससे पूर्व कभी नहीं हुईं। वे भी इस बात को स्वीकारते हैं कि आत्महत्या का सीधा संबंध मानवी विकास से है। समय के साथ-साथ बौद्धिक विकास जैसे-जैसे होता गया, मानवी जटिलताएँ भी बढ़ती गईं। आज जबकि वह विकास अपने चरम पर है, तो उससे जुड़ी हुई समस्याएँ भी उजागर हुई हैं। उनके अनुसार इन दिनों के सभ्य समाज की सबसे बड़ी कठिनाई मानसिक अस्वस्थता की है। यह अस्वस्थता ही आत्महत्या जैसे कठोर निर्णय का कारण बनती है। वे कहते हैं कि जंगली कबीलों में रहने वाले वनवासी चूँकि सभ्य समाज से दूर रहते हैं, इसलिए उनमें किसी प्रकार के मानसिक रोग नहीं पाए जाते, फलतः आत्मघात जैसे मामले भी उन समुदायों में कभी प्रकाश में नहीं आते।

ऐसी बात नहीं कि साधारण पढ़ा-लिखा और सामान्य स्तर का नागरिक ही अपघात करता है। कई बार विद्वान और

ज्ञानवान समझे जाने वाले लोग भी इस कुकृत्य के शिकार हो जाते हैं। इनमें विश्वप्रसिद्ध साहित्यकार, संगीतकार से लेकर राजनेता और वैज्ञानिक तक सम्मिलित हैं।

जर्मन विद्वान् गेटे ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि वे आत्महत्या करना चाहते थे, इसलिए एक धारदार चाकू बाजार से खरीद लाए। बहुत दिनों तक वे उसे तकिये के नीचे रखे रहे; पर हिम्मत नहीं जुटा सके। अंततः अपघात का विचार त्याग दिया। वायरन जिन दिनों 'चाइल्ड हेराल्ड' के लेखन में व्यस्त थे, उन दिनों अक्सर उन पर आत्महत्या की सनक सवार रहती; पर माँ का प्यार याद कर वे वैसा न कर सके।

यूनान के महान् दार्शनिक डायोजिनीज अपने हाथों फाँसी लगाकर मरे थे। 'मृच्छकटिक' के लेखक शूद्रक आग में जल मरे थे। वे 'जानकी हरण' महाकाव्य के रचनाकार सिंहल देश के राजा की मृत्यु का शोक न सह सके और चिंता में जल मरे। चीनी साहित्यकार लाओत्से ने भी अपनी मौत स्वयं बुलाई थी। लैटिन कवि एम्पेदोक्लीज ने ज्वालामुखी में कूदकर आत्मघात किया था। महाकवि चैटरटन ने दरिद्रता से पीछा छुड़ाने के लिए विषपान करना उचित समझा। गोर्की ने पेट में पिस्तौल चलाकर उसे विदीर्ण कर डाला। आस्ट्रियाई साहित्यकार स्टीफेन ज्विग अपनी मौत का कारण बताते हुए अपने पीछे एक पुर्जा छोड़ गए थे, 'अब संघर्षों से टकराने की मेरी शक्ति चुक गई है। अशक्त जीवन का अंत कर लेना मुझे अधिक अच्छा जँचा।'

चित्रकार लाडत्रे ने अस्पताल की चारपायी पर पड़े-पड़े ही स्वयं को गोली मार ली। एक अन्य चित्रकार बानगाँग ने भी अपना अंत ऐसे ही किया। राबर्ट क्लाइव ने अपने जीवन में तीन बार आत्महत्या का प्रयास किया; पर निशाना चूक जाने से हर बार बच गए। बाद में एक अनजाने व्यक्ति की राइफल की गोली से मारे गए। मूर्द्धन्यों में भी ऐसे कम नहीं हैं, जिनने तनिक-सी परेशानी से उद्विग्न होकर आत्मघात कर लिया हो। ऐसे लोगों में सेफो, डेमोस्थनीज, ब्रूटस, केसियस, डेमोक्लीज, हनीवाल, बर्टन, आर्थर कोयेसलर जैसे विश्वप्रसिद्ध व्यक्तित्व सम्मिलित हैं।

आत्महत्या के तरीकों में अगणित प्रकार के उपाय अपनाए जाते रहे हैं। इनमें पानी में डूब मरना, ऊँचाई से कूदना, विषपान करना, नस काटकर संपूर्ण रक्त को धीरे-धीरे निकाल देना आदि अधिक प्रचलित हैं। एक दुःख को हलका करने के लिए दूसरा उससे बड़ा दुःख मोल लेना भी एक उपाय सोचा जाता रहा है, यद्यपि वह इच्छित लाभ प्राप्त करने में तनिक भी सहायक नहीं होता। अताई इलाज में एक उपचार यह भी था कि किसी के पेट में दरद हो, तो लोहे की गरम सलाख से उसकी छाती दाग दी जाए। इससे जलने का कष्ट इतना बढ़ जाता है कि रोगी पेट दरद की बात भूल जाता है। लगभग इसी स्तर का दुस्साहस यह है कि अमुक चिंता अथवा आपत्ति को अपना लिया जाए।

जिस प्रकार शरीर में अनेक प्रकार के घातक विषाणु प्रवेश करके विविध लक्षणों वाले रोग उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार मनःक्षेत्र में भी इसी तरह की कई विकृतियाँ अपनी जड़ें जमा लेती हैं और परिपूर्ण उन्माद न सही, उससे मिलते-जुलते ही विघातक मानसिक रोग उत्पन्न करती हैं।

डिमेंशिया प्रिकोक्स अर्थात् किशोरावस्था की हिंसात्मक सनक, डिमेंशिया पैरालिटिख अर्थात् आवेश का सामयिक दौरा, मेलनकोलिया अर्थात् अवसादग्रस्तता, न्यूरस्थेनिया अर्थात् स्नायविक असंतुलन जैसी कितनी ही विकृत मनःस्थितियाँ ऐसी हैं, जो विवेक को अस्त-व्यस्त करके रख देती हैं और समयानुसार जो भी उभार आता है, उसी में मस्तिष्क इतनी तीव्र गति से बहता चला जाता है, जिसमें अपने को सँभाल सकना कठिन पड़ता है।

प्राचीनकाल में आत्मघात को धार्मिक प्रशंसा प्रदान करने का भी प्रचलन रहा है। संन्यासियों की स्वाभाविक मृत्यु की अपेक्षा स्वेच्छा मरण की सराहना की गई है। बौद्ध और जैन धर्मों में भी मृत्यु संबंधी ऐसे विधानों का उल्लेख उनके धर्मग्रंथों में मिलता है। पांडवों का स्वर्गारोहण, मंडन मिश्र का तुषाग्नि संदाह, ज्ञानेश्वर की जीवित समाधि, रामतीर्थ की जल समाधि, कुमारिल भट्ट का आत्मघाती प्रायश्चित्त विधान, हाड़ा रानी द्वारा अपना ही शिरोच्छेदन जैसी अनेकानेक घटनाएँ इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं, जिन्हें सराहा ही जाता है। चित्तौड़ की रानियों का सामूहिक आत्मदाह (जौहर) और सतीप्रथा ऐसे कृत्य हैं, जिन्हें महिमामंडित किया जाता रहा है।

उपर्युक्त घटनाएँ कुछ विशेष परिस्थितियों में किन्हीं विशेष उद्देश्य को लेकर घटित हुईं, अतः वह साधारण नहीं, असाधारण कही जाएँगी। सबके पीछे तो नहीं; पर कुछ के पीछे ऊँचा आदर्श और महान् उद्देश्य था, इसलिए आत्महत्या जैसी लगने वाली ये घटनाएँ भी तब सराही गईं। आज उनकी लकीर पीटना और परंपरा का स्वरूप देना किसी भी प्रकार की समझदारी नहीं कही जाएगी। छोटी-छोटी बातों पर अथवा राजनैतिक माँगों को मनवाने के लिए आत्मदाह कर लेना, पति के मरने के उपरांत पत्नी को जिंदा जलने के लिए विवश करना, जल समाधि लेना सभ्य जन और सभ्य समाज का लक्षण नहीं, अपितु असभ्यता का चिह्न कहना चाहिए। इसके पीछे भारत की मूल संस्कृति नहीं, वरन् सामयिक विचार विकृति ही कारणभूत मानी जाएगी।

आत्महत्या को भी दूसरों की हत्या के समान ही गर्हित कर्म माना जाता है। दूसरे देशों में पुराने जमाने से इसे बहुत बुरा कहा जाता था और मरने के उपरांत भी यह कृत्य करने

वाले की भर्त्सना की जाती थी। यूरोप में उन दिनों आत्महत्या करने वालों के प्रति बहुत अनुदार दृष्टिकोण था। उनकी लाशें सड़कों के आस-पास कूड़े के ढेर में दबा दी जातीं और उसके आगे भयंकर आकृतियाँ खड़ी कर दी जाती थीं, ताकि मरने वाले की निंदा हो और जो ऐसा करना चाहते हों, वे हतोत्साहित हों। इस प्रचलन को बदलने में डेविड ह्यूम, वाल्टेयर, रूसो जैसे दार्शनिकों ने आवाज उठाई। अंतत: उसे समाप्त करवा दिया। इसके पीछे उनका तर्क था कि आदमी को जीने की तरह मरने की भी आजादी होनी चाहिए।

कुरान में दूसरों की हत्या से भी अधिक जघन्य पाप आत्महत्या को बताया है। यहूदी धर्म में इस निंदनीय कर्म को करने वाले के लिए शोक मनाने और उसकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करने का निषेध है। ईसाई धर्म में भी इसे घृणित पातक बताया गया है। ११वीं सदी में इंग्लैंड में एक कानून बना था, जिसमें आत्महत्या करने वालों की संपत्ति जब्त कर ली जाती थी और उसके शव को किसी ईसाई कब्रिस्तान में धार्मिक विधि से दफनाया नहीं जा सकता था।

आत्महत्या का प्रयत्न करने वालों को रोगी माना जाए या अपराधी? इस प्रश्न पर आज भी मन:शास्त्रियों, मानवविज्ञानियों और विधिवेत्ताओं के बीच गंभीर मतभेद हैं। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि ऐसे लोगों का उचित स्थान जेलखाना नहीं, पागलखाना है, जबकि विधिवेत्ताओं की दलील है कि यदि हम किसी को दारुण वेदनाओं से मुक्ति नहीं दिला सकते, तो उसे ऐसी मौत मरने का अधिकार होना चाहिए, जिसमें वह पीड़ा झेलने की अपेक्षा राहत पा सके। नृतत्त्ववेत्ता मध्यवर्ती मार्ग अपनाते हुए उन्हें करुणा का पात्र घोषित करते हैं और 'यूथेनेसिया' के नाम पर उन पर सहानुभूति प्रकट करते हुए समाज को उनकी समस्याओं को हल करने का सुझाव देते हैं।

शोध-अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि जिन-जिन देशों में आत्मघात की दर उच्च है, वहाँ-वहाँ मद्यपियों की संख्या भी उसी अनुपात में ज्यादा है। अनुसंधानकर्त्ताओं का कहना है कि अमेरिका, स्वीट्जरलैंड, स्वीडन, डेनमार्क एवं फ्रांस में विश्व की सर्वाधिक आत्महत्याएँ होती हैं और मद्यपान की लत वहाँ उसी अनुपात में देखी गई है। इससे यह स्पष्ट है कि आत्महत्या का कारण शारीरिक कम, मानसिक अधिक है।

एरिक फ्रॉम अपनी पुस्तक 'दि सेन सोसायटी' में एक स्थान पर लिखते हैं कि यूरोप के सबसे अधिक शांत, समृद्ध और लोकतांत्रिक कहे जाने वाले राष्ट्रों एवं विश्व के सर्वाधिक संपन्न देश अमेरिका की मानसिक स्वस्थता के क्षेत्र में जो वर्तमान अवस्था है, उसे दयनीय ही कहना चाहिए। वे लिखते हैं कि इन राष्ट्रों का संपूर्ण सामाजिक, आर्थिक उन्नयन का इतना ही प्रयोजन है कि उनका भौतिक जीवन सुखमय हो, सभी संपत्तिवान् हों, स्थिर लोकतांत्रिक व्यवस्था हो और वह शांतिपूर्ण हो। वे कहते हैं कि जिन देशों ने इस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया अथवा जो इसकी प्राप्ति के सन्निकट पहुँच गए, वहाँ मानसिक असंतुलन की गंभीर समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं।

एरिक फ्रॉम के इस निष्कर्ष से स्पष्ट है कि आत्महत्या के मूल में संव्याप्त मानसिक असंतुलन का सबसे प्रमुख कारण समृद्धि है। संभवत: इसी कारण से अध्यात्मवादी चिंतन में धनोपार्जन की छूट तो है; पर धन-संग्रह पर रोक लगाई गई है। यदि यह बात सही है कि वर्तमान मानसिक अस्वस्थता की जड़ में संपदा की प्रधान भूमिका है, तो अर्थवेत्ताओं, नृतत्त्वविज्ञानियों और समाजशास्त्रियों को मिल-जुलकर कोई ऐसा हल वर्तमान संदर्भ में ढूँढ़ना चाहिए, जिससे समाज भी संपन्न बना रहे और मनुष्य भी मानसिक दृष्टि से विपन्न नहीं कहलाए।

यह भी एक तथ्य है कि अर्थ के साथ-साथ समाज की अवांछनीय परिस्थितियाँ भी मनुष्य को विक्षुब्ध करती हैं। स्नेह-सौजन्य का अभाव, नैतिकता का गिरा स्तर, शोषण, उत्पीड़न, ठगी, विश्वासघात, बेकारी, हानि, बरवादी जैसे कितने ही कारण मानव को दु:खी बनाते हैं। सामाजिक कुरीतियों के कुचक्र में कितनों को ही पिसना पड़ता है। इन प्रचलनों को बंद करना सरकार और समाज का काम है। समाज की संरचना ऐसी हो, जिसमें हर व्यक्ति को निर्वाह, प्रगति और सुरक्षा के समुचित साधन प्राप्त हों; कोई किसी के भी साथ अन्याय और अनीति नहीं बरत सके। इसके अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी होना चाहिए कि स्वास्थ्य-रक्षा और अर्थ-उपार्जन की तरह ही चिंतन तंत्र का सही उपयोग कर सकने की क्षमता भी सर्वसाधारण में उत्पन्न की जाए। इसके लिए मानसिक प्रशिक्षण की एक समर्थ प्रणाली खड़ी की जानी चाहिए। इसके बिना आत्महत्या जैसे व्यापक संकट उत्पन्न करने वाले मनोरोगों का भड़काया हुआ दावानल रोका न जा सकेगा।

जीवन जीने के लिए हम सबको मिला है, मरने के लिए नहीं—यह तथ्य हर स्थिति में याद रखा जाना चाहिए। अनेकानेक योनियों में भटककर मानव योनि में जीव जब आता है, तो इसलिए कि कर्म करते हुए अपनी मुक्ति का पथ प्रशस्त कर ले; किंतु विक्षुब्ध मन:स्थिति में प्रेत-सा जीवन जीते हुए आत्मघाती प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होना उसे कदापि शोभा नहीं देता। स्रष्टा के राजकुमार के रूप में मनुष्य को जो पदवी मिली है, उसका तिरस्कार न कर जीवन चुनौती के रूप में, खिलाड़ी की तरह जिया जाए, तो हँसते-हँसते, पुण्य कमाते औरों की सेवा कर संतोष प्राप्त करते हुए यह जीवन जिया जा सकता है, इसमें काई संदेह नहीं।

*

नहुष का पतन : एक शिक्षण

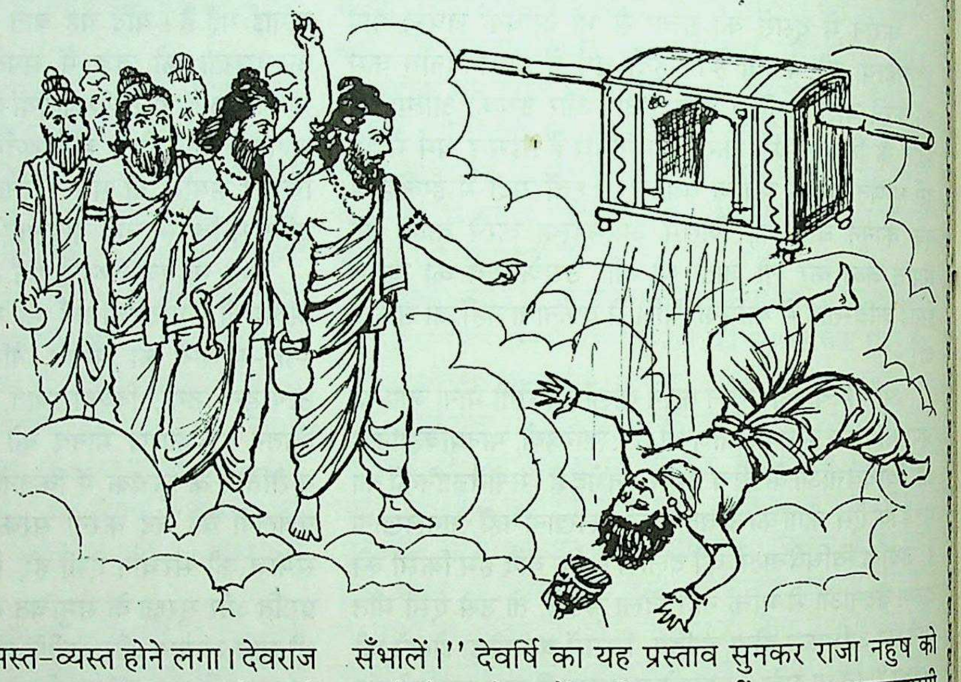

अमरावती चिंता में डूबी थी। सभी राग-रंग अवसाद में बदल गए थे। इंद्र कहाँ हैं ? देवगण एवं महर्षियों को यह प्रश्न उलझन में डाले था। इंद्र के न होने से पृथ्वी वनस्पति से रहित होने लगी थी, सदा जल से भरे रहने वाले सरोवर सूख गए थे। सारी प्रकृति आक्रांत हो उठी थी, समूची पृथ्वी में अराजक उपद्रव छा गए थे। इंद्र के अभाव में इनका निवारण कौन करे! पर इंद्र तो कहीं दिखते ही न थे। वे त्रिशिरा एवं नमुचि की हत्या के कलंक से विक्षुब्ध होकर कहीं पलायन कर गए थे।

देवगणों ने उन्हें ढूँढ़ने की बहुतेरी कोशिश की, पर सफलता हाथ न लगी। देवों का जीवन इंद्र के अभाव में अस्त-व्यस्त होने लगा। देवराज का पद खाली नहीं रखा जा सकता। इस सत्य से सभी सहमत थे, पर देवराज के पद पर किसी एक नाम पर सहमति नहीं हो पा रही थी। 'क्यों न पृथ्वी लोक के चक्रवर्ती सम्राट् राजर्षि नहुष को देवराज के पद पर अभिषित किया जाए ?' एक ऋषि ने अपना सुझाव दिया।

''वही जो परमप्रतापी नरेश होने के साथ मंत्रद्रष्टा भी हैं। जिन्होंने अनेक सूक्तों की रचना की है। जो पृथ्वी के सबसे शक्तिवान शासक हैं, क्या वही मानवों में श्रेष्ठ नहुष ?''

हाँ....हाँ.... वही, मैं उन्हीं के बारे में कह रहा हूँ।

बस फिर तो समस्या का समाधान मिल गया। देवों से इतर मानव के इंद्र बनने पर देवताओं में आपसी कटुता भी न पनपेगी। राजर्षि नहुष के पराक्रम के प्रभाव से असुरों की रही-सही शक्ति भी नष्ट हो जाएगी। देवगण एवं महर्षि दोनों ही इस प्रस्ताव पर एकमत से सहमत हो गए। सभी ने सर्वसम्मति से देवर्षि नारद को नहुष के पास जाकर उन्हें इस पर सहमत कराने के लिए प्रतिष्ठानपुर भेज दिया।

देवर्षि ने नहुष की राजधानी पहुँचकर उनसे निवेदन किया, ''हे राजन्! इंद्र के अदृश्य हो जाने से अमरावती अवसाद में डूबी है, आप स्वर्ग चलकर देवराज इंद्र का पद सँभालें।'' देवर्षि का यह प्रस्ताव सुनकर राजा नहुष को पहले तो अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। वह एकबारगी अचकचा गए। उन्हें सूझ ही नहीं पड़ा कि वे क्या कहें, क्या जवाब दें ?

देवर्षि नारद और उनके साथ पधारे ऋषिगणों ने फिर से एक बार निवेदन किया, ''हे सम्राट्, समस्त देवों ने प्रसन्नतापूर्वक आपको देवराज मानते हुए स्वर्गलोक लाने की प्रार्थना की है। बिना किसी हिचकिचाहट के आप चलें और स्वर्ग के अधिपति का पद सँभालें। सभी ऋषिगण आपको अपने तप का एक बड़ा भाग देंगे, जिससे आपकी तेजस्विता इतनी प्रखर होगी कि कोई भी आपके सामने टिक न सकेगा।''

अभी तक प्रजापालन एवं तप-साधना में निरत नहुष अनायास ही इस परम दुर्लभ पद का प्रस्ताव पाकर प्रसन्न हो उठे। वे सोचने लगे कि अभी तक केवल सुना था कि तप से भी कामनाओं की प्राप्ति होती है, लेकिन यह तो सचमुच ही सच हो गया। बिना माँगे ही इंद्र का पद अपने आप ही चलकर मेरे पास आ गया। सचमुच ही तप की

महिमा अपार है। मन-ही-मन अपनी कल्पनाओं का ताना-बाना बुनते हुए नहुष ने प्रकट में देवर्षि के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। ऋषियों के आग्रह पर अपनी सहमति व्यक्त कर दी।

अमरावती भी नहुष के आगमन पर प्रसन्नता से छलक उठी। सम्राट् नहुष का व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा था। वह पराक्रमी योद्धा, न्यायशील शासक, महान् मनीषी, दया-धर्म के आगार सभी कुछ एक साथ थे। सभी देवों, ऋषियों ने उनके इन्हीं गुणों का सम्मान करते हुए उन्हें इंद्र पद पर अभिषिक्त किया।

इंद्र के लुप्त होने की वार्त्ता समय के साथ धीरे-धीरे विस्मृति के गर्त में विलीन होने लगी। देवगणों सहित अमरावती फिर से राग-रंग से तरंगित होने लगी। वहाँ फिर से हास-विलास और आमोद-प्रमोद की गूँज उठने लगी। नहुष के कुशल शासन में स्वर्ग के भोग फिर से चरम पर जा पहुँचे।

नहुष पराक्रमी थे, नीतिकुशल एवं तपस्वी थे, पर तत्त्ववेत्ता ब्रह्मज्ञानी नहीं थे। तत्त्वज्ञान के अभाव में स्वर्ग के सुख-वैभव के बीच उनका तप मंद पड़ता गया, तप की ऊर्जा के अभाव में नीतिपरायणता केवल कुशलता के कौशल तक सिमट गई। असुरों के आक्रमण शांत थे, इसलिए पराक्रम की धार भी अब तेज न रही। भोग और वैभव से भरे-पूरे स्वर्ग में वासना की ज्वालाएँ धधकने लगीं। कभी महान् तपस्वी एवं राजर्षि कहे जाने वाले नहुष अब केवल एक विलासी सम्राट् हो गए।

वह कभी देवोद्यानों में, कभी नंदनकानन में, कभी हिमालय शिखर पर, कभी मंदराचल, कभी महेंद्र और कभी मलय पर्वत, कभी समुद्र तो कभी सरिता में अप्सराओं और देवांगनाओं से घिरे रहते, उनके साथ अनेकों काम-क्रीड़ाओं में रमे रहते। नाना वाद्यों और सुमधुर गीतों के श्रवण से उनकी हृदयतंत्री निनादित रहती। देवराज के महिमामय पद पर अधिष्ठित उन नहुष की आनंद-विलास की लीलाओं में स्वयं विश्वावसु, गंधर्वों और अप्सराओं के समुदाय अभ्यर्थना के लिए उपस्थित रहते थे। ऋतुओं का शृंगार मानो देह धारण कर वहाँ छाया रहता था। स्वर्ग सुख की उद्दाम आनंद लहरियों में डूबते-उतराते नहुष यदा-कदा सोचते, उन्हें सचमुच ही तप का सुफल मिल रहा है। विलास मलिन उनकी धुँधली दृष्टि यह नहीं देख पा रही थी कि यह तप का सुफल नहीं, तप से पतन है। वे यह नहीं समझ पा रहे थे कि इस लगातार के पतन से उनका पूर्व अर्जित तप अब चुक चला है और अब वे दुर्गति के द्वार पर खड़े हैं। पर यह सब वे देख पाने में असमर्थ थे। उन्हें तो केवल इंद्र की पत्नी शची नजर आ रही थी, जो इस समय अपने प्रासाद के बाह्य परिसर में विश्राम कर रही थी। इस सोती सुंदरी को देखकर उनके मन में वासना के सौ-सौ सर्प फुफकार उठे। कामासक्त उसके मन-प्राण शची को पाने के लिए विचलित हो उठे। वासना ने नहुष के विवेक को हर लिया। ऐसे विवेकहीन विलासी स्वर्गाधिपति ने शची को अपनी पत्नी बनने के लिए आमंत्रण भेजा।

शची इंद्र के वियोग में वैसे भी विरह पीड़ित और दुःखी थी। नहुष की इन बातों से वह और अधिक घबरा गई। बेचारी आँसू बहाती हुई देवगुरु बृहस्पति के पास भागी आई।

देवी शची को अपने आश्रम में देखकर देवगुरु एक पल के लिए चौंके, पर दूसरे ही पल उन्होंने दिव्य दृष्टि से सब कुछ जान लिया। उन्होंने देख लिया कि कभी महान् तपस्वी एवं पराक्रमी शासक रहा नहुष अब अपने जीवन पथ से भटक चुका है। फिर भी अभी वह महर्षियों द्वारा दिए गए तप के तेज से सुरक्षित है। अपने द्वारा दिए गए तप के तेज को ये महर्षि ही वापस ले सकते हैं। महर्षियों द्वारा स्थापित नहुष उन्हीं परम तेजस्वी दिव्यात्माओं द्वारा ही हटाया जा सकता है। सारी परिस्थिति का आकलन-विश्लेषण करके देवगुरु बृहस्पति कुछ पलों के लिए उपाय-समाधान की खोज में विचारमग्न हो गए। कुछ क्षणों बाद उनके चेहरे पर प्रसन्नता का प्रकाश उभरा। उनके होंठों पर स्मित की हल्की-सी रेखा झलकी। अब उन्होंने हलके स्वरों में देवी शची से कुछ कहा। इसे सुनकर इंद्राणी शची पहले तो घबराई, पर देवगुरु बृहस्पति के समझाने से वह मान गई। उन्हें बृहस्पति-नीति पर विश्वास था। इसके अनेकों चमत्कार वह पहले भी देख चुकी थी।

अमरावती के हित के लिए, देवी शची अपनी और सभी देवगणों की कार्य-सिद्धि के लिए अपना हृदय कठोर बनाकर विलासी नहुष के समीप गईं। सलज्ज गरिमाभरी उस महादेवी ने अपने मन की भावनाएँ मुख पर लेशमात्र भी प्रकट न होने दीं।

शची को अपने समीप आया हुआ देखकर नहुष आशा और उत्कंठा से भर गया। विस्मय भरे स्वर में वह बोला, ''हे सुंदरी, मुझे स्वीकार करते समय तुम्हारा जो भी कार्य होगा, उसे मैं सिद्ध करूँगा। तुम्हारा प्रिय करने के लिए मैं तत्पर हूँ।'' नहुष के इन वचनों से संकुचित शची ने जैसे-तैसे अपने को सँभालते हुए कहा, ''जगत्पते, आप मुझे हर तरह से स्वीकार हैं, लेकिन आपको अपने पति के रूप में स्वीकार करने से पूर्व मेरी एक कामना है।''

"कहो! कहो !! शीघ्र ही कहो !!! मैं इसे पूर्ण करने में तनिक भी विलंब नहीं करूँगा।" नहुष के ये वचन उसके तप एवं पुण्य समाप्त हो जाने की घोषणा कर रहे थे।

इंद्राणी कहने लगीं, "देवेश्वर! सभी सप्तर्षि एकत्र होकर शिविका द्वारा आपको वहन करके लाएँ, बस यही मेरी प्रिय कामना है।" विवेकहीन नहुष शची की बात सुनकर हर्षित हो उठा, "सुंदरी, तुमने तो अपूर्व वाहन बताया है। मुझे तुम्हारी बात रुचिकर लगी है। अब तुम प्रसन्न हो जाओ। सभी ऋषि, देवता, गंधर्व, किन्नर मेरे अधीन हैं। मैं तुम्हारी प्रत्येक आज्ञा का पालन करूँगा। संपूर्ण सप्तर्षि मंडल और ब्रह्मर्षि मेरी पालकी ढोएँगे।"

नहुष की इस गर्वोक्ति से शची एक क्षण के लिए तो घबराई, लेकिन उसे देवगुरु बृहस्पति की नीति पर विश्वास था। उन्होंने कहा था, "देवी शची, ब्रह्मर्षियों से सेवा लेना महापाप है। इस महापाप से नहुष स्वयं विनष्ट हो जाएगा।" बृहस्पति के इन्हीं वचनों का स्मरण करके शची अपने भवन में चली गईं।

इधर विवेकहीन, मद और काम से अंधे नहुष ने यम-नियम का पालन करने वाले महान् तेजस्वी, तपोमूर्ति, ज्ञानमूर्ति सप्तर्षियों को अपनी पालकी ढोने का आदेश दिया। उसके इस आदेश पर सभी ऋषियों ने एक-दूसरे की ओर देखा, फिर इंद्र पद की गरिमा का ख्याल करके पालकी उठा ली।

सुंदर सजी हुई इस पालकी में नहुष आसीन था। निर्मल अंतःकरण वाले ब्रह्मर्षि पापाचारी नहुष का बोझ ढोते-ढोते पीड़ित हो रहे थे। वह और उतावला हो रहा था और उनसे जल्दी-जल्दी चलने को कह रहा था। महर्षि अगस्त्य पर उसके उतावलेपन का कोई प्रभाव नहीं था। ब्रह्मचिंतन में निमग्न वह अपनी गति से चल रहे थे। वही सबसे आगे थे। उनकी गति से सबकी गति प्रभावित होना स्वाभाविक था। इस पर उतावले नहुष ने सर्प ! सर्प !! (जल्दी चलो ! जल्दी चलो !!) कहते हुए उनके मस्तक पर अपने पैर से प्रहार किया। इस प्रकार करते ही नहुष उसी क्षण तेजहीन-श्रीहीन हो भयाक्रांत हो गया।

महासमुद्र को भी अपने तपोबल से सुखा देने वाले ब्रह्मर्षि अगस्त्य उसके इस व्यवहार से कुपित हो गए। वह बोले, "ब्रह्मा के समान दुर्धर्ष तेजस्वी ऋषियों को वाहन बनाकर अपनी पालकी ढुलवाने वाले मूर्ख नहुष, तुम अब इंद्र-पद के योग्य नहीं रह गए। अतः हमारा श्राप है कि तुम स्वर्ग से भ्रष्ट होकर पृथ्वी पर सर्प की योनि में जीवन बिताओ।" अमित तेजस्वी महर्षि अगस्त्य के अमोघ शाप से भयभीत हो नहुष ने उनके चरणों में गिरकर अपने उद्धार का उपाय पूछा। अब वह मदांध और कामांध देवलोक का सम्राट् नहीं, स्वर्ग से पतित एक सामान्य जीवात्मा था। ऐसा जीवात्मा जो अपने तप एवं पुण्य की सारी पूँजी गँवा बैठा था।

ब्रह्मर्षि अगस्त्य को उस पर दया आ गई। वह उस पर कृपा करते हुए बोले, "वत्स नहुष, तप का सुफल ज्ञान है। तुमने इस सत्य को न जानकर अपने तप के बदले भोग की कामना की, इसीलिए तुम भटके एवं पतित हुए। तपस्वी को ज्ञान की अभीप्सा करनी चाहिए और ज्ञान हो जाने पर भी तप का मार्ग कभी छोड़ना नहीं चाहिए। अब जाओ अपना प्रायश्चित पूरा करो। मेरे आशीष से तुम्हारे जीवन में पुनः तप का मार्ग प्रशस्त होगा। पर अब सदा ही तप का उद्देश्य एवं आदर्श स्मरण रखना।"

* * *

राजा जनश्रुति को चिड़ियों की भाषा समझने की सामर्थ्य प्राप्त थी। हंसों की जोड़ी बात कर रही थी कि जनश्रुति से बड़े तो मुनि रैक्व हैं, जो सदा परमार्थ में लगे रहते हैं। गाड़ीवान रैक्व के बड़ा होने की बात से उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। दूसरे दिन उन्होंने उस गाड़ीवान की खोज कराई और बहुत-सा धन, अश्व और आभूषण लेकर मुनि रैक्व के पास गए और बोले—"आपकी कीर्ति सुनकर यहाँ आए हैं, हमें ब्रह्म-विद्या का उपदेश दीजिए।" रैक्व मुनि ने उत्तर दिया—"राजन्! ब्रह्म-विद्या सीखनी है, तो अपना अंतरंग पवित्र बनाओ। अहंकार को मिटाकर, श्रद्धा-विश्वास तथा नम्रता को धारण कर ही तुम सच्चा आत्मज्ञान प्राप्त कर सकोगे।" जनश्रुति को अपनी भूल ज्ञात हुई और वे सिद्धि-संपादन का अहं त्यागकर अंदर से स्वयं को महान् बनाने में लग गए।

ध्यान-धारणा की सिद्धि बना देती है कालजयी

योग विज्ञान में अंतरंग साधन का प्रथम चरण 'धारणा' कहलाता है। धारणा अर्थात् निर्धारित ध्येय में चित्त को एकाग्र करना। यह एकाग्रता अनायास ही नहीं सध जाती। मन के चंचल होने के कारण वह बार-बार विषय-वासनाओं की ओर प्रवृत्त हो जाता है। उसकी इस वृत्ति को निरुद्धकर मन को ध्येय वस्तु में टिका देना ही 'धारणा' है।

साधारण व्यक्ति और साधारण स्थिति में मन देर तक किसी एक वस्तु या विषय पर नहीं टिकता और वह यहाँ-वहाँ नाना प्रकार के भाव, विचार और वस्तु में भटकता रहता है; किंतु जब धारणा शक्ति का उदय होता है, तो मन की एकाग्रता को लंबे समय तक स्थिर रख सकना संभव होता है। यही एकाग्रता बाद में ध्यान में बदलती और अपनी सर्वोच्च भूमिका में 'समाधि' कहलाती है। योगदर्शन, विभूतिपाद में महर्षि पतंजलि लिखते हैं—

'**देशबंधश्चित्तस्य धारणा**' अर्थात् वृत्ति मात्र से किसी स्थान विशेष में चित्त की स्थिरता 'धारणा' है। चित्त बाह्य विषयों को वृत्तिमात्र से ग्रहण करता है। ध्यानावस्था में जब प्रत्याहार के द्वारा इंद्रियाँ अंतर्मुख हो जाती हैं, तब भी वह अपने ध्येय विषय को वृत्ति मात्र से ही ग्रहण करता है। वह वृत्ति ध्येय के विषय में तदाकार होकर स्थिर रूप से भासने लगती है अर्थात् स्थिर रूप से उसके स्वरूप को प्रकाशित करने लगती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब किसी स्थान विशेष में चित्त की वृत्ति स्थिर हो जाती है और तदाकार रूप होकर उसका अनुभव होने लगता है, तो वह 'धारणा' कहलाता है। पृथक्-पृथक् उपनिषदों में धारणा का जो स्वरूप बतलाया गया है, उनमें शब्दों की भिन्नता होते हुए भी भाव की एकरूपता है। जिन उपनिषदों में योग के पंचदशांग माने गए हैं, वहाँ तेरहवें अंग के रूप में; जहाँ योग के आठ अंग माने गए हैं, वहाँ छठे अंग के रूप में और जहाँ योग के षडंग स्वीकृत किए गए हैं; वहाँ चतुर्थ अंग के रूप में 'धारणा' को अंगीकार किया गया है।

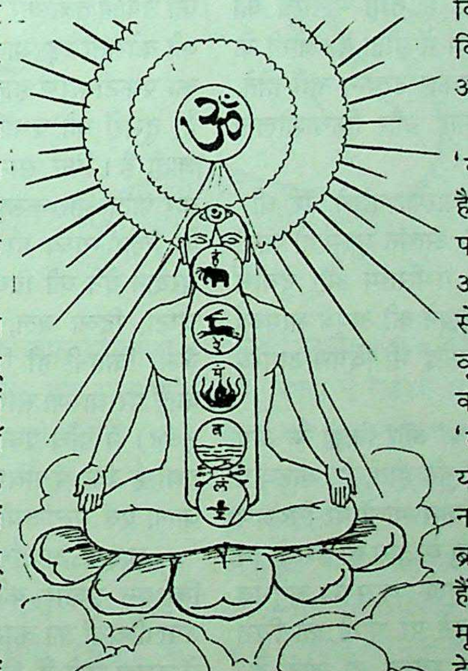

त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् (२/३१) में इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि चित्त का निश्चली भाव होना ही 'धारणा' है। शरीरगत पंचमहाभूतों में मनोधारण रूप धारणा भवसागर को पार करने वाली होती है। दर्शनोपनिषद् (८/१/३) में धारणा का जो स्वरूप बतलाया गया है, उसके अनुसार शरीरगत पंचभूतांश बाह्य पंचभूतों की धारणा करना ही यथार्थ धारणा है। इसी में अन्यत्र (८/७-९) पुरुष अर्थात् आत्मतत्त्व में सच्चिदानंद स्वरूप सर्वशास्ता शिवतत्त्व की धारणा करने का उपदेश दिया गया है। योगतत्त्वोपनिषद् (८४-१०२) में शरीर के विभिन्न भागों को पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश का स्थान बतलाया गया है। इनमें से प्रत्येक स्थान में पंचघटिका पर्यंत क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर एवं शिव की धारणा करने से साधक के उन-उन महाभूतों से भयमुक्त होकर खेचरत्व संपादित कर सुख प्राप्त करने का प्रतिपादन किया गया है। इसी में एक अन्य स्थान (६९-७२) पर कहा गया है कि पंचज्ञानेंद्रियों के विषयों में आत्मा या ब्रह्म की भावना होना ही 'धारणा' है। तेजोबिंदूपनिषद् (१/३५) के अनुसार मन के विषयों में ब्रह्मभाव की अवस्थिति होना 'धारणा' है। मंडलब्राह्मणोपनिषद् (१/१/६) में चैतन्य में चित्त को स्थापित करना 'धारणा' बतलाया गया है। शांडिल्योपनिषद् (१/९) में आत्मा में मन, दहराकाश में बाह्याकाश तथा पंचमहाभूतों में पंचमूर्ति की धारणा का निरूपण किया गया है। इस प्रकार विभिन्न उपनिषदों में धारणा का विवेचन एवं प्रतिपादन व्यापक रूप से किए जाने के कारण उसका स्वरूप अधिक स्पष्ट एवं गम्य हो गया है।

धारणा के अभ्यास में 'देश' और 'बंध'— इन दो तत्त्वों का विशेष महत्त्व है। देश अर्थात् जिस वस्तु या स्थान पर चित्त को एकाग्र किया जाता है और बंध अर्थात् चित्त को अन्य विषयों से हटाकर एक ही ध्येय विषय पर वृत्तिमात्र से ठहराना—यह 'बंध' कहलाता है। स्थान भेद के हिसाब से 'देश' दो प्रकार के होते हैं—आंतरिक या आध्यात्मिक देश तथा बाह्य देश। नाभि, हृदय, कपाल, नासिकाग्र, भृकुटी, ब्रह्मरंध्र आदि आध्यात्मिक देश कहलाते हैं, जबकि सूर्य, चंद्र, ध्रुव, इष्ट की मूर्ति, गुरुसत्ता का चित्र आदि बाह्य देश हैं। इनमें से किसी एक स्थान या वस्तु पर जब चित्त स्थिर होता है, तो वास्तव में उसे वायु की स्थिरता ही समझनी चाहिए। ऐसा दीर्घकाल तक प्राणायाम आदि का अभ्यास करते रहने से स्वतः हो जाता है। नाभि आदि स्थानों में जब वायु की

स्थिरता हो जाती है, तो साधक धीरे-धीरे एकाग्रचित्तता की स्थिति प्राप्त कर लेता है और दृढ़भूमि हो जाता है। इसके बाद अभ्यासी जिस भी स्थान पर वायु का निरोध करना चाहता है, कर लेता है। इस स्थिति में वहाँ पर प्राणापानादि के विकार दूर हो जाते हैं, फलतः दिव्यशक्ति का उदय होता है।

योगतत्त्वोपनिषद् (७३-७६) में शरीर के भिन्न-भिन्न केंद्रों पर संयम करने से उद्भूत होने वाली शक्ति का विस्तार से उल्लेख किया गया है। नाभिचक्र में संयम करने वालों की जठराग्नि में सूक्ष्मता और विशेष बल आ जाता है, जिसका प्रभाव संपूर्ण शरीर पर पड़ता है। जठराग्नि, शरीरगत सभी प्रकार के पाचन, परिवर्तन और परिवर्द्धन के लिए उत्तरदायी है। वह सभी क्रियाओं, संस्थानों एवं अवयवों की नियंत्रक, पोषक तथा धारक है। वह शरीर के सूक्ष्मतम अणु अंश को अपने तेज और पाकादि क्रिया से प्रभावित करती है। उसमें सूक्ष्मता और विशेष बल संपन्नता आ जाने से संपूर्ण पाचन संस्थान में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप योगी के शरीर में किसी प्रकार की विकृति या व्याधि उत्पन्न नहीं होती है। उसकी भूख और प्यास नियंत्रित हो जाती है, जिससे कई-कई दिनों तक योगी यदि आहार ग्रहण न करे, तब भी उसके शरीर पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है।

जठराग्नि के दिव्य प्रभाव से योगी के शरीर में आद्य रस-धातु का निर्माण तीव्रता से होता है तथा मलमूत्र का निर्माण अल्प मात्रा में निर्गंध संयत रूप में होता है। योगी के शरीर में धातुसाम्य रहने से रोगादि विकार उत्पन्न नहीं होते, जिससे अंग-प्रत्यंगों में स्फूर्ति, उत्साह और क्रियाशीलता बनी रहती है।

कपाल में संयम करने अर्थात् धारणा करने पर धी-धृति-स्मृति (बुद्धि-धैर्य-स्मरणशक्ति) अत्यंत सूक्ष्म हो जाती है, जिससे योगी गहनतम, सूक्ष्मतम, गंभीरतम और दुर्बोध विषयों को ग्रहण, धारण और स्मरण रखने की अपूर्व सामर्थ्य वाला हो जाता है। फिर उसके लिए कोई भी विषय अगम्य नहीं रह जाता।

नासिकाग्र में संयम से 'दिव्य गंध' और जिह्वा के अग्र भाग में संयम से 'दिव्य रस' की अनुभूति होती है। कंठकूप में संयम करने से क्षुधा-तृषा आदि विकार भावों पर नियंत्रण एवं विजय प्राप्त होती है। योगी को वायु के द्वारा ही उत्तमोत्तम रसास्वादन होता रहता है, जिससे उसे भूख-प्यास का अनुभव नहीं होता। हृदय कमल में संयम करने पर योगी का चित्त स्फटिक मणि की भाँति निर्मल और स्वच्छ हो जाता है। चित्त में स्थिरता एवं प्रसन्नता बनी रहती है। उसका हृदय या मन विकारों में लिप्त नहीं होता। उसमें रज और तम गुण का अभाव हो जाता है तथा एकमात्र शुद्ध सात्विक भाव विद्यमान रहता है। त्वचा पर संयम करने पर शीत-उष्णता का अनुभव नहीं होता। यही कारण है कि योगी बरफीले प्रदेशों में भी किसी प्रकार की कष्ट-कठिनाई का अनुभव नहीं करते और आराम से वहाँ लंबे समय तक बने रहते हैं। ऐसे ही अतिशय गरम क्षेत्रों में भी उन्हें तनिक भी असुविधा महसूस नहीं होती। आँखों में चित्त को स्थिर करने पर साधक में दिव्य दृष्टि का विकास होता है। फिर उसके समक्ष सब कुछ 'हस्तामलकवत्' भासने लगता है। कोई व्यक्ति अथवा काल वहाँ आगे और आवृत्त नहीं रह पाता; वह त्रिकालज्ञ बन जाता है।

इसी प्रकार कर्णेंद्रियों पर धारणा सिद्ध होने से वहाँ दिव्य श्रवणशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। सामान्यतः मानवी कर्ण निश्चित सीमा वाली स्थूल ध्वनियों को ही सुनने की सामर्थ्य रखते हैं। उस सीमा से आगे और पीछे की स्थूल तरंगें भी उसकी ग्रहण क्षमता से परे होती हैं। ऐसे में जब साधक उनमें संयम साधता है, तो न सिर्फ संपूर्ण स्थूल ध्वनियाँ कर्णगोचर बनती हैं, वरन् अंतरिक्ष में प्रवाहित होने वाले कितने ही प्रकार के दिव्य नाद एवं दिव्य संदेश श्रव्य बनकर प्रकट होने लगते हैं। मूर्धा में जब चित्त की एकाग्रता सधती है, तो वहाँ पर दिव्य वाक्शक्ति का आविर्भाव होता है। यह वाक् वाणी का परिष्कृत रूप है। साधारण वाणी की क्षमता सांसारिक कार्यों तक ही सीमित होती है। उससे आदेश-निर्देश के सामान्य क्रियाकलापों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सधता। कई बार तो सामने वाला उसकी आज्ञा की उपेक्षा तक कर जाता है और वह विवश अपनी असमर्थता को कोसती रह जाती है; किंतु जब वहाँ संयम से वाक्शक्ति का प्रकटीकरण होता है, तो उसमें असाधारण बल आ जाता है; दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता से वह संपन्न बन जाती है। फिर सामने वाला उसके आदेशों की उपेक्षा नहीं कर पाता और कठपुतली की तरह उन्हें मानने एवं पूरा करने के लिए बाध्य हो जाता है। इसके साथ ही उसमें श्राप-वरदान देने की दिव्य शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार दिव्य चेष्टा, दिव्य बल, दिव्य गति, दिव्य क्रिया, दिव्य प्रवृत्ति जैसी कितनी ही विभूतियों का विकास भिन्न-भिन्न देह-केंद्रों पर धारणा साधने से होता है। योगतत्त्वोपनिषद् (१०३-१०४) में पाँच प्रकार की धारणा का फल बतलाते हुए कहा गया है कि पंचविध धारणा की सिद्धि से योगी दृढ़ शरीर वाला एवं मृत्युंजयी हो जाता है।

धारणा अष्टांग योग का छठा पाद है। उसकी सिद्धि विभिन्न प्रकार की शारीरिक, मानसिक एवं अलौकिक उपलब्धियों का कारण बनती है। जो साधक इनके आकर्षणों में उलझ जाते हैं, वे चरम लक्ष्य के अपने वास्तविक प्रयोजन को भूलकर दिग्भ्रमित हो जाते हैं। यही कारण है कि इस पथ के विवेकवान पथिक सदैव इस स्थिति से बचते और एकनिष्ठ भाव से अपनी मंजिल की ओर आगे बढ़ते चलते हैं।

⁂

परे और पार के सच को जानने की चाहत

मानवीय शक्तियों से परे, प्रकृति के पार के सच को ढूँढ़ने, जानने और पाने की चाहत चिर पुरातन है। अपना देश भारत हो या फिर दुनिया का कोई दूसरा कोना, हर जगह इसकी झलक मिलती है। यह हर देश का साहित्यिक सत्य है। अपने यहाँ के रामायण, महाभारत सहित वैदिक साहित्य के अलावा पश्चिमी देशों के प्राचीन नाटकों, इतिहास कथाओं, मध्य एवं नव जागरण काल की कविताओं में इसका व्यापक उल्लेख मिलता है। जर्मन साहित्यकार शीलर, विलैंण्ड एवं गेटे ने अपने साहित्य में इस पर काफी प्रकाश डालने की कोशिश की है। ब्रिटेन के होरेस कालपोल ने अपनी कृति 'केस्टल ऑफ ओट्राण्टो' में यह तर्कपूर्ण ढंग से स्पष्ट किया कि शक्ति और सत्य की सीमा मनुष्य और दृश्य प्रकृति तक ही सिमटी नहीं है। यह इससे परे और पार भी है। उन्होंने बताया नेचुरल के साथ ही सुपर नेचुरल का भी अस्तित्व है।

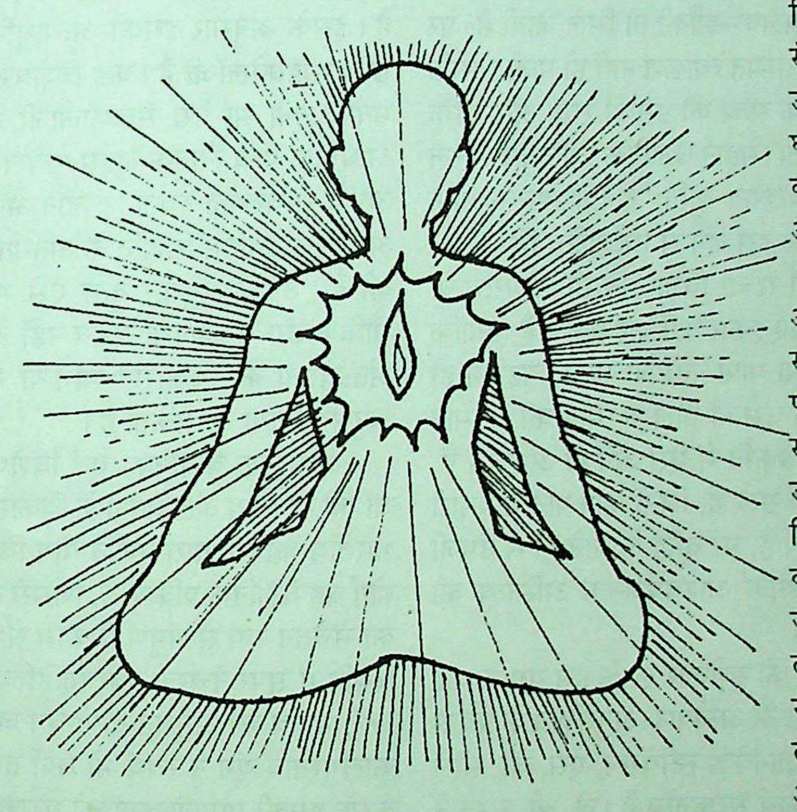

मैथ्यू ग्रेगरी लेविस ने 'द मॉक' में इसके कुछ अलग रूप तलाशे। यही रीति मेरी शेली ने अपनी रचना 'फ्रेंकस्टीन' में निभाई। पिछली बीसवीं शताब्दी में 'सुपर नेचुरल' के सच का पर्याप्त साहित्यिक विस्तार हुआ। अमेरिका में एडगर ऐलेन पो, वाशिंगटन इर्विंग, नेथेनील हावथोर्न, रूस में पुश्किन, जर्मनी में हाफमेन, पेरिस में नोडियार ने अपने साहित्य में सुपर नेचुरल की रोमांचक व्याख्याएँ कीं। अमेरिका में एच. वी. लोवक्राफ्ट ने अपने जमाने की पूरी पीढ़ी पर इसका जादुई असर छोड़ा। ब्रिटेन में एम. आर. जेम्स ने आत्मा का सच बयान कर सबको अचरज में डाल दिया। इसी तरह आर्थर मेकेन ने अपनी कृति में प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान एक सैनिक द्वारा स्वर्ग से परी उतरने की आँखों देखी घटना का रोचक वर्णन करके खासी लोकप्रियता अर्जित की।

सुपर नेचुरल या अतिप्राकृतिक सत्य से संबंधित घटनाओं को, परिकल्पनाओं को अपने साहित्य में उतारने, उकेरने वाले लेखकों में डिकेंस, कीपलींग, वाल्टर डी ला मरे, हेनरी जेम्स और डी. एच. लारेंस को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अमेरिकन लेखक रेड ब्राडबरी ने अपनी कविताओं में इसकी सूक्ष्मता को अंकित करने की कोशिश की। एच. जी. वेल्स ने पहली बार सुपर नेचुरल या अतिप्राकृतिक कथा को विज्ञान कथा का रूप दिया।

सुपर नेचुरल या अतिप्राकृतिक की वास्तविकता क्या है, केवल कथा-कहानी या फिर सृष्टि का अद्‌भुत किंतु अनुभूत किया जाने वाला सत्य। यह ऊहापोह सदा रहा है और आज के विज्ञान युग में भी है। तर्क और प्रयोग की कसौटी वाले वर्तमान जीवन में एक कथा यह भी चल पड़ी है कि ऐसी चीजों को महज अंधविश्वास कहकर उनकी जमकर हँसी उड़ाई जाए। हालाँकि इस संदर्भ में प्रख्यात् वैज्ञानिक विलियम नेपियर का कथन महत्त्वपूर्ण है, जो उन्होंने अपनी विख्यात कृति 'द एक्सपेरीमेंट्स एंड

एक्सपीरियेंसेज' में कहा है। उनका कहना है कि ज्ञान व सत्य का विस्तार अनंत है, जबकि मानवीय शक्ति की, उसके द्वारा अनुभव करने की सीमा है। आधुनिकतम उपकरणों द्वारा इस सीमा को थोड़ा-बहुत बढ़ाया तो जा सकता है, पर इतना अधिक नहीं कि ज्ञान और सत्य के अनंत विस्तार को समूचे रूप में पाया, परखा और जाना जा सके।

विज्ञानवेत्ता विलियम नेपियर के शब्दों में, ज्ञान और सत्य के अनंत विस्तार का वह असीम अंश जो वैज्ञानिक प्रयोगों और मानवीय बुद्धि की सीमाओं से परे है, वही सुपर नेचुरल या अतिप्राकृतिक है। मानव की अंत:संवेदना को यदा-कदा इसकी झलक-झाँकी तो मिल जाती है, पर इसकी तर्कपूर्ण या बुद्धिसम्मत व्याख्या नहीं हो पाती। इसके बावजूद सुपर नेचुरल के सत्य को इसकी सत्ता और शक्ति को नकारा नहीं जा सकता। महान् वैज्ञानिक विलियम स्टैनले जेवॉन्स ने अपनी सुविख्यात कृति 'द प्रिंसिपल्स ऑफ साइंस' में सत्य को कुछ इस ढंग से उद्घाटित किया है। उनके अनुसार कोई भी सच्चा विज्ञान किसी भी सत्य के अस्तित्व से सिर्फ इसलिए इंकार नहीं कर सकता है, क्योंकि वह उसके द्वारा तौला या मापा नहीं जा सका। यह भी हो सकता है कि वह सत्य उसकी तौल या माप की वर्तमान सीमाओं से बाहर हो। प्रकृति में ऐसे अनेकों आश्चर्य हैं, अस्तित्व के ऐसे अनेकों सत्य हैं, जिन्हें जान पाने में हमारी बुद्धि बौनी और असमर्थ है, पर बुद्धि के बौनेपन से उपजी असमर्थता के कारण इनके आश्चर्यजनक अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता।

इस वैज्ञानिक सत्य को स्वीकार करके इस युग के कई वैज्ञानिकों ने सुपर नेचुरल के अन्वेषण-अनुसंधान के प्रयास किए हैं। इस क्रम में विज्ञानवेत्ता स्टीवेंसन, एस. जी. सोल एवं जे. बी. राइन का कार्य सराहनीय है। जे. बी. राइन ने अपनी कृति 'न्यू फ्रंटियर्स ऑफ माइंड्स' में मानव मन और मानवीय शक्तियों से परे और पार नए क्षितिजों को पहचानने और परखने की कोशिश की है। उनकी यह पुस्तक 'सुपर नेचुरल' के सच की वैज्ञानिकता को प्रमाणित करने का प्रयास है। इस कार्य से इस दिशा में अनुसंधान कार्य के लिए उत्सुक विज्ञानियों को पर्याप्त दिशादर्शन एवं मार्गदर्शन मिलता है।

सुपर नेचुरल के वैज्ञानिक सत्य की व्यापकता के नूतन आयामों को उद्घाटित करने में मनोवैज्ञानिक फ्रायड का योगदान भी सराहनीय है। उन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'साइकोलॉजी ऑफ ऑकल्ट फिनामिना' में इसकी सत्ता और सत्य को अपनी स्वीकारोक्ति प्रदान की है। उन्होंने इसे ESP (एक्स्ट्रा सेंसरी परसेप्शन) के रूप में स्वीकारा है। 'साइको एनालिसिस एंड टेलीपैथी' नाम की पुस्तक में फ्रायड ने सुपर नेचुरल की सचाई का उल्लेख किया है। फ्रायड की भाँति सुविख्यात मनोविज्ञानी जुंग ने सुपर नेचुरल के विज्ञान पर अपना विश्वास जताया है। उनका कहना है कि मनुष्य की अंत:चेतना परिष्कृत और संवेदना विकसित हो, तो सुपर नेचुरल एक शब्द नहीं तथ्य और सत्य की अनुभूति के रूप में समझ में आने लगता है।

इन दोनों वैज्ञानिक विभूतियों के अतिरिक्त और भी विज्ञानवेत्ताओं ने इस पर अनुसंधान करने का प्रयास किया है। इसके अनुसार इसकी अत्याधुनिक खोज का आधार **डेप्थ साइकोलॉजी** है। कई विशेषज्ञ इसका अध्ययन परा मनोविज्ञानी या पैरा साइकोलॉजी के रूप में करते हैं। आधुनिक फ्रेंच लेखक लुईस पावेल और जक्स बर्गीयर ने अपनी सुविख्यात रचना 'द डॉन ऑफ मैजिक' में इसको आधुनिक क्वांटम सिद्धांत के अंतर्गत समझाने की कोशिश की है। उनके अनुसार कुछ ऐसे सत्य होते हैं, जिनकी भौतिक ढंग से व्याख्या संभव नहीं है। इन्हें केवल मानवी अंत:चेतना की विकसित शक्तियों से जाँचा, परखा और अनुभव किया जा सकता है।

आधुनिक वैज्ञानिकों एवं विशेषज्ञों द्वारा अनुभव की जा रही मानवीय अंत:चेतना के विकास की यह आवश्यकता भारतीय ऋषियों द्वारा प्रणीत योग विज्ञान से पूरी होती है। योग वह वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिससे मानव की अंतर्शक्तियों का सचेतन रूप से संपूर्ण विकास संभव है। इस विकसित स्थिति में सुपर नेचुरल एक साहित्यिक कल्पना की सृष्टि नहीं, मानव की अनुभूत दृष्टि बन जाती है। मनोवैज्ञानिक कार्लगुस्ताव युंग ने स्वयं भी वर्षों तक ध्यान का अभ्यास करके इसकी प्रामाणिकता को परखा और जाना था। बाद के वर्षों में उन्होंने नोबुल पुरस्कार विजेता भौतिकशास्त्री वुलफॉग पौली के साथ मिलकर कुछ प्रयोग भी संपन्न किए। अपने निष्कर्ष में उन्होंने कहा कि आधुनिक भौतिक एवं आधुनिक मनोविज्ञान कई क्षेत्रों में एक दूसरे से संबंधित दिखाई पड़ते हैं। यदि योग विज्ञान की साधनात्मक दृष्टि और इस आधुनिक विज्ञान की व्याख्या पद्धति का संयोग हो सके, तो सुपर नेचुरल का वैज्ञानिक सत्य, विज्ञान की एक नवीन शाखा के रूप में जन्म और जीवन ग्रहण कर सकता है। अध्यात्म एवं विज्ञान के इस समन्वय से मानवीय शक्तियों से परे एवं प्रकृति से पार के सच का अनुभव एवं व्याख्या की जा सकती है।

*

आभामंडल का ज्ञान-विज्ञान

आभामंडल शारीरिक ऊर्जा का दिव्य विकिरण है। यह ऊर्जा प्राण शक्ति के रूप में शरीर में उफनती-लहराती रहती है। यह जिसमें जितनी मात्रा में होती है, वह उतना ही प्रखर एवं प्राणवान होता है, उसका आभामंडल उतना ही ओजस्वी-तेजस्वी होता है। यों तो यह ऊर्जा शरीर के प्रत्येक कोशों से विकरित होती है, परंतु चेहरे पर यह अत्यधिक घनीभूत होती है। इसलिए प्राण शक्ति से संपन्न अवतारी पुरुष, ऋषि, देवता, संत, सिद्ध, महात्माओं का चेहरा दिव्य तेज से प्रभापूर्ण होता है। उनका आभामंडल सूर्य-सा तेजस्वी एवं प्रकाशित होता है। इस तथ्य को आधुनिक विज्ञान भी स्वीकारने लगा है।

सिद्ध-महात्माओं के चेहरों का आभामंडल महज एक चित्रकार की तूलिका का काल्पनिक रंग नहीं बल्कि एक यथार्थ है, एक सत्य है। हालाँकि इसे देखने के लिए दिव्य दृष्टि चाहिए एवं अनुभव करने के लिए भावसंपन्न हृदय की आवश्यकता है। ऐसा हो तभी इस आभामंडल को देखा, परखा एवं अनुभव किया जा सकता है। वस्तुतः आभामंडल और कुछ नहीं, प्राण शक्ति एवं ऊर्जा का व्यापक विकिरण है, जो जीवनी शक्ति से आप्लावित प्राणी की देह से संश्लिष्ट रहता है। हर व्यक्ति इस शक्ति-सामर्थ्य से भरा-पूरा हो सकता है। इसे बढ़ाने के लिए एकमात्र साधन तप-साधना है।

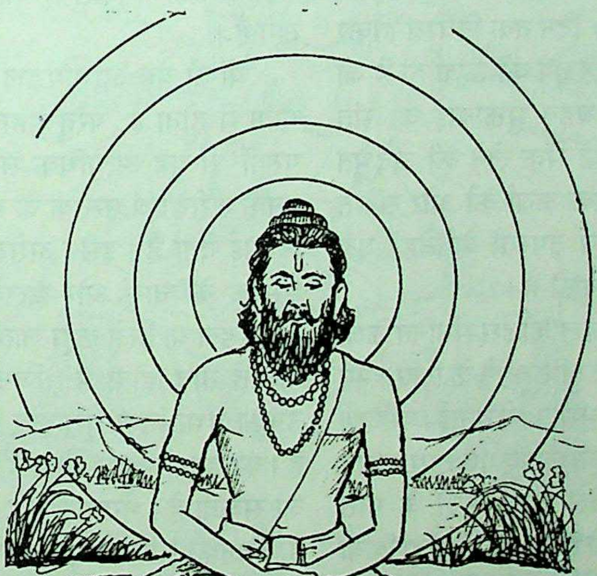

तपोमय जीवन जीने वालों का आभामंडल बड़ा तेजयुक्त होता है। इसका प्रभाव क्षेत्र उसकी तप की सघनता एवं तीव्रता के अनुरूप व्यापक होता है। इससे न केवल व्यक्ति ही प्रभावित होते हैं, बल्कि उनके आसपास का समूचा वातावरण ज्योतिर्मय हो उठता है। योग साधना के नए आयाम को विकसित करने वाले श्री अरविंद की साधना इतनी प्रखर थी कि कागामारू जहाज द्वारा जापान से पांडिचेरी आते समय श्रीमाँ ने ८० किमी० की दूरी से ही इसका अनुभव कर लिया था। इसी के प्रभाव से तपस्वी की तपस्थली एवं साधक का साधना स्थान पुण्य तीर्थ बन जाता है और इसके आसपास आने वाले हर व्यक्ति को उसकी पात्रता के अनुसार उस अनुदान-वरदान की वृष्टि होती रहती है।

तीर्थों का भी आभामंडल होता है। इसकी तीव्रता वहाँ पर की गई तपस्या पर निर्भर करती है। जिस तीर्थ में जितना अधिक तप किया जाता है, उसका आभामंडल उतना ही ओजस्वी तंत्रसंपन्न होता है। अगस्त्य एवं श्री अरविंद की तपस्थली पांडिचेरी, रमण महर्षि का अरुणाचलम्, अनेक ऋषियों का आश्रयस्थल गंगा एवं नर्मदा नदी का किनारा इन्हीं विशेषताओं से युक्त है। इन सबसे सर्वोपरि अनेकों विशेषताओं से युक्त हिमालय का हृदय क्षेत्र है। वहाँ की गई तपस्याओं से प्रभावित शक्तिशाली आभामंडल विद्यमान है। प्राचीन ऋषियों के द्वारा इस तप संस्कारित भूमि में अनेक ऋषि-महर्षि वहाँ पर तप करते हुए इसके आभामंडल में अभिवृद्धि करते रहते हैं। इसी कारण इसे अध्यात्म शक्ति का ध्रुव केंद्र कहा जाता है।

धरती पर और भी ऐसे अनेक छोटे-बड़े केंद्र हैं, जहाँ से प्रचंड प्राणशक्ति प्रवाहित होती है। इसी तरह अपने शरीर के अंदर भी कई ऊर्जा केंद्र हैं। अध्यात्म विज्ञान में यह केंद्र षट्चक्रों के माध्यम से जाने जाते हैं। प्रत्येक चक्र अपने आप में शक्तिशाली ऊर्जा का केंद्र है। इनके आभामंडल का रंग भी इनके अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। चरक संहिता

एवं सुश्रुत संहिता में भी शरीर के ऊर्जा बिंदुओं के स्थानों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। इनके अनुसार पाँव के तलुओं और हथेली से शरीर के सभी ऊर्जा बिंदु आपस में जुड़े हुए हैं। पाँवों के अँगूठों तथा हाथ की अँगुलियों में ये चेतना केंद्र अधिक शक्तिशाली होते हैं। इसी कारण गुरुजनों एवं संत-महात्माओं के चरणों पर शीश नवाया जाता है।

शरीर, ऊर्जा की तपती भट्‌टी के समान है। तप के द्वारा यह और भी प्रखर हो सकता है, परंतु दुर्भाग्य से अंतहीन कामनाओं, वासनाओं के कुचक्र एवं कुविचारों से इसकी प्रखरता का निरंतर ह्रास होता रहता है, जबकि विधेयात्मक चिंतन से इन केंद्रों को और भी अधिक सक्रिय बनाए रखा जा सकता था। ये केंद्र धनात्मक एवं ऋणात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। एक्यूप्रेशर पद्धति के अनुसार शरीर में एक हजार ऊर्जा बिंदु हैं। इनमें १६० केंद्र ऐसे हैं जिन्हें अधिक शक्तिशाली कहा जा सकता है। सामान्यत: ये केंद्र सुषुप्त पड़े रहते हैं। इन्हें विशिष्ट साधनाओं द्वारा जगाया-उभारा जाता है और अनेक प्रकार के लाभ उठाए जा सकते हैं। तिब्बत में ध्यान-समाधि आदि योगपद्धतियों द्वारा शरीर के इन विशिष्ट ऊर्जा केंद्रों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। इससे शरीर तप्त लोहे के समान तप जाता है। ऐसे साधक बरफीले जल में भिगोया गया वस्त्र ओढ़कर सुखा लेते हैं। ये साधक ४०-४० दिन तक निर्वस्त्र होकर बरफ के गड्ढे में रह जाते हैं। यह तप की ऊर्जा ही है जो शरीर के द्वारा प्रकट होती है। बहन मुक्ताबाई का संत ज्ञानेश्वर की नंगी पीठ पर रोटियाँ सेंक लेने की अद्‌भुत घटना तप से उत्पन्न इसी शारीरिक ऊर्जा की ओर संकेत करती है। यही ऊर्जा साधक एवं तपस्वी के चेहरे एवं शरीर पर तेजोमंडल बनकर चमकती है।

आधुनिक विज्ञान भी आभामंडल की इस संघनित ऊर्जा को स्वीकारने लगा है। इस तथ्य की पुष्टि करने के लिए रूसी वैज्ञानिक एडामेको ने एक विशेष मशीन भी बनाई। परीक्षण के लिए इसके चारों ओर विद्युत् बल्व लगाए गए। इस मशीन की विशेषता शरीर के क्रियाशील ऊर्जा केंद्रों के प्रति संवेदनशील होना है। जब व्यक्ति को इसके सामने खड़ा किया जाता है, तो इसके शरीर में जितने सक्रिय केंद्र हैं, उन स्थानों के बल्ब जलने लग जाते हैं। जो केंद्र निष्क्रिय अवस्था में रहते हैं, वहाँ बल्ब नहीं जलता है। अत: इस प्रयोग से स्पष्ट होता है कि सक्रिय केंद्रों से ऊर्जा का सतत प्रवाह बना रहता है, जो आभामंडल की सृष्टि करती है।

इस क्षेत्र में एक अन्य रूसी वैज्ञानिक किर्लियन का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपने प्रयोग के दौरान कुछ जीवित व्यक्तियों के चित्र खींचे और पाया कि हर व्यक्ति अपनी निजी ऊर्जा किरणों से आवेष्टित है, परंतु जब इन्होंने मृत व्यक्तियों के चित्र लिए, तो पाया कि शव का चित्र तो उभरता है, किंतु उसकी ऊर्जा का वर्तुल गायब है। उसमें आभामंडल का अभाव होता है। किर्लियन ने यह भी देखा कि मरणासन्न व्यक्ति की देह की ऊर्जा क्रमश: घटती है। यह क्रम मृत्यु के पश्चात् तीन दिन तक चलता है। चौथे दिन से ऊर्जा किरणें शव के आसपास दिखाई नहीं देतीं।

अब यह वैज्ञानिक सत्य है कि जो व्यक्ति जितना प्राणवान है, उसका आभामंडल उतना ही सशक्त होगा और वह अपने आसपास के जड़-चेतन सभी वस्तुओं को प्रभावित करेगा। इसी कारण ऐसे व्यक्ति के उस स्थान पर न रहने पर भी उसका सूक्ष्म आभामंडल मँडराता रहता है। अलीपुर जेल के एक सेल में एक सामान्य कैदी को जब रखा गया तो वह उन्मादग्रस्त हो उठा, क्योंकि कुछ साल पहले उस सेल में श्री अरविंद अपनी जेल यात्रा के दौरान साधना करते थे। श्री अरविंद की प्रचंड प्राणशक्ति उस सेल के कण-कण में व्याप्त थी, जो कैदी के मन:स्थिति से भारी पड़ने के कारण उसे विक्षिप्त करने लगी। यही कारण है कि आज वैज्ञानिक आभामंडल से व्यक्ति की पहचान की बात सोचने लगे हैं।

यों तो यह आभामंडल हर व्यक्ति में कम या अधिक मात्रा में होता है, परंतु महान् आत्माओं, दिव्य एवं श्रेष्ठ पुरुषों में यह अत्यधिक सघन एवं तेजस्वी होता है। यह उनके शरीर एवं मस्तक के चारों ओर प्रकाशपुंज के समान दिखाई देता है। इसे 'अरोरा' ज्योतिचक्र कहा जाता है। मस्तक के चारों ओर झलकने वाले इस प्रकाशपुंज को प्रभामंडल या हैलो कहा जाता है। ध्यान योगी का प्रभामंडल अत्यंत तीव्र होता है। जिनका सहस्रार जाग्रत् होता है, उनका प्रभामंडल वृत्ताकार तथा सुनहला चमकीला होता है। यह इतना स्थायी होता है कि सामान्य आँखों से भी देखा जा सकता है। भगवान् बुद्ध ऐसे ही ध्यान योगी माने जाते हैं, जिनका सहस्रार पूर्णरूपेण जाग्रत् था।

हर व्यक्ति में यह नैसर्गिक गुण है कि वह अपनी अंत:शक्तियों को जाग्रत् कर अपने आभामंडल को और व्यापक बनाए। मानव से महामानव बनने का यह द्वार सबके लिए समान रूप से खुला हुआ है। आवश्यकता है तो बस इतनी कि अपने विचारों एवं भावनाओं को तप की दिशा.की ओर मोड़ा जाए।

⁂

शंकराचार्य जयंती पर विशेष

जिनके अवतरण से धन्य हुआ धराधाम

वैशाख शुक्ल पंचमी (१७ मई) राष्ट्र के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास का पुण्य दिवस है। इस शुभ दिन भगवत्पाद आदि शंकराचार्य धराधाम पर अवतरित हुए थे। वैशाख का मास, शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि, रविवार को केरल प्रदेश के कालड़ी ग्राम ने उनकी जन्मस्थली होने का सौभाग्य पाया था। भगवान् आदिशंकराचार्य के जन्म का इतिहास बताने वाले अनेकों ग्रंथ हैं। इतिहास की परंपरा के अनुसार इनमें मत भिन्नता भी है, पर ये सभी एक मत से उनके यशस्वी, तपस्वी और मनस्वी जीवन की गाथा गाते हैं। यह सत्य पूर्णतया स्वीकृत एवं प्रमाणित है कि भगवान शंकराचार्य भारतीय संस्कृति एवं साधना के पर्याय हैं। उन्होंने न केवल अध्यात्म साधना के शिखर पर आरूढ़ होकर एकता के सत्य को जाना, बल्कि बाह्य जीवन में भी राष्ट्र को एकता का महत्त्व बताया। राष्ट्रीय एकता की स्थापना की।

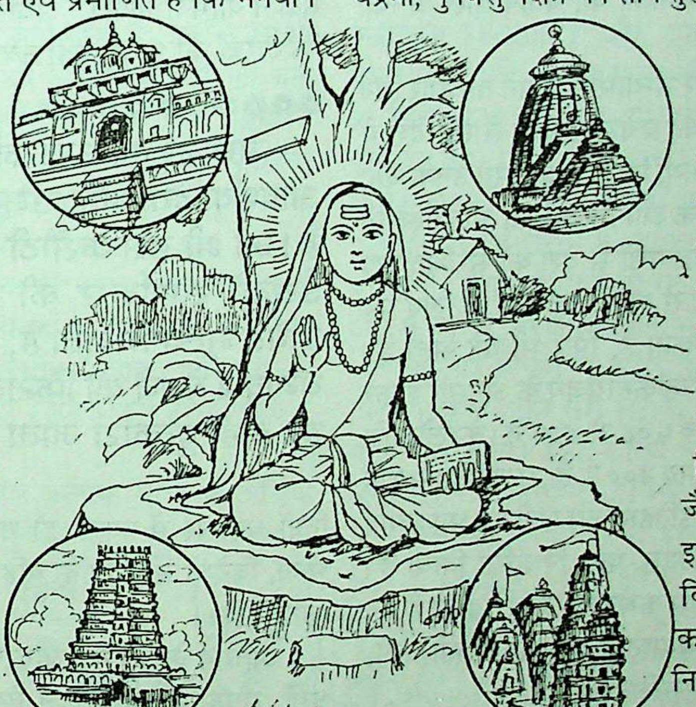

भगवत्पाद आचार्य शंकर की जीवन-गाथा का उल्लेख कूर्म, लिंग, पद्म, सौर, स्कंद और भविष्योत्तर पुराणों में स्पष्ट या अस्पष्ट रीति से मिलता है। मार्कंडेय और शिव रहस्य नाम की बृहदाकार संहिताएँ भी आचार्य की यशगाथा सुनाती हैं। इसके अलावा पद्मपाद की विजय डिंडिम, आचार्य चित्सुख की बृहत्-शंकरदिग्विजय, आनंद गिरि की शंकर दिग्विजय, व्यासाचल की शंकर विजय, गोविंदनाथ की शंकराचार्य चरित, चिद्विलास की शंकर-विजय विलास, राजचूड़ामणि दीक्षित की शंकराभ्युदय, तिरूमल दीक्षित की शंकराभ्युदय, सदानंद की शंकर दिग्विजय-सार आदि रचनाएँ आचार्य वर के जीवन का यशगान करती हैं।

भगवान शंकराचार्य का जीवन है ही इतना दिव्य और लोकोत्तर कि उसकी कथा को सही ढंग से कह पाने में सभी भाषाएँ, लिपियाँ एवं इनकी शब्दावली स्वयं को असहाय एवं असमर्थ अनुभव करती हैं। ब्रह्मर्षि शिवगुरु एवं उनकी भार्या माता सुभद्रा के घर में जन्मे भगवत्पाद शंकर जन्म से ही शिवत्व की विशिष्टताओं से आपूरित थे। उनके जन्म के समय पंडितों ने जो जन्मकुंडली तैयार की, उसे देखकर वे स्वयं हतप्रभ रह गए। बालक के जन्म के समय वृषभ लग्न थी। मेष राशि में सूर्य और बुध थे। शुक्र वृषभ में था और चंद्रमा, पुनर्वसु नक्षत्र में। शनि तुला में, गुरु वृश्चिक में और मंगल मकर राशि में।

जन्मकुंडली के अतिरिक्त उनके शरीर के चिह्नों को देखकर ज्योतिषियों ने यह अनुमान लगाया कि यह विलक्षण बालक पैदा हुआ है। इसके मस्तक पर चंद्रमा जैसी ज्योति खेल रही है। मस्तक के मध्य में शिव की तरह तृतीय नेत्र जैसा चिह्न बना हुआ है। इसके कंधों पर त्रिशूल विराजमान है। शरीर की कांति स्फटिक मणि के समान निखर रही है। ज्योतिषियों ने शास्त्रवचनों का स्मरण किया—

मूर्धनि हिमकर चिह्ने, निटिले नयनांऽकं।
अंसयोशूलम् वपुषं स्फटिक सवर्णं, प्रज्ञास्तं मेनिरे शुभम्॥

और तब उन्हें कुछ ऐसा लगा मानो स्वयं भगवान् शिव भारत की धरती पर ज्ञान का प्रकाश फैलाने आ गए हैं।

इतिहासवेत्ताओं के अनुसार शंकर के बाल्यकाल में जनता का घोर दारिद्र्य, जाति-वर्ण का विकट कलह, संघर्षशील राज्यों का देश विनाशक वैमनस्य, मादक द्रव्यों का उत्पाद और सेवन, धर्म के नाम पर स्थान-स्थान पर युद्ध, विदेशियों

का नित्यप्रति बढ़ता दुष्प्रभाव, मानव मूल्यों का पूर्णत: विघटन, धर्म परिवर्तन के नए कुचक्र पिशाच की भाँति मुख फैलाए समूचा भारत निगलने को तैयार बैठे थे। ऐसे में जब राष्ट्र के वयोवृद्ध घर-परिवार की आसक्तियों एवं चिंताओं में जकड़े-बँधे थे; युवाजन विलास एवं आमोद-प्रमोद को ही जीवन का परिचय मान बैठे थे, आठवर्षीय बालक शंकर राष्ट्र की सभी चुनौतियों का सामना करने के लिए उठ खड़े हुए। उनमें तप की ज्वाला थीं, ज्ञान का प्रकाश था और संन्यास का तेज था। इस आठवर्षीय महाज्ञानी संन्यासी ने एकादश उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे। प्रस्थानत्रयी के इस भाष्य के अलावा उन्होंने विष्णु सहस्त्रनाम भाष्य, अध्यात्मपटल भाष्य, योग सूत्र भाष्य विवरण आदि अन्य भाष्य भी लिखे। अपरोक्षानुभूति, आत्मबोध, पंचीकरण प्रक्रिया, विवेक चूड़ामणि, उपदेशसाहस्त्री आदि अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। दक्षिणामूर्ति स्तोत्र, सौंदर्य लहरी, आनंद लहरी जैसे रहस्यमयी साधनाओं को बताने वाले अनेकों स्तोत्रों की रचना की।

इस अलौकिक किशोर संन्यासी ने अपने तप और ज्ञान से, आध्यात्मिक शक्तियों की प्रचंड सामर्थ्य से सारे देश में ऐसा नवजागरण उत्पन्न किया कि समूचा भारत उनके बाद भी लगभग चार सौ वर्षों तक अपनी स्वतंत्रता और संस्कृति को बचाते हुए विदेशी आक्रमणों से देश को सुरक्षित रख सका। इतिहास की गहनता से अपरिचित जनों के लिए यह सत्य कुछ विचित्र लग सकता है, फिर भी यह सत्य है। शांकर मठों में प्रचलित बृहच्छंकर विजय के अनुसार शंकर का आविर्भाव काल ईसा पूर्व ५०८ से ४७६ है। केरलोत्पत्ति नामक ग्रंथ के अनुसार यह समय ४०० ई. है, अन्य इतिहासकारों के अनुसार सन् ७८८ ई. है। इतिहासकार फ्लीट ने भगवत्पाद शंकर का समय ६३० के आस-पास निर्धारित किया है। इतिहास के अनेकों प्रमाण इस कथन को सत्य ठहराते हैं कि भगवत्पाद शंकर ने जो समूचे राष्ट्र में सांस्कृतिक क्रांति की, उससे देश ४०० सालों तक सुरक्षित रहा।

सभी प्रधान भारतीय एवं अभारतीय अभिलेखों के आधार पर इतिहासवेत्ता आर. सी. मजूमदार लिखते हैं—

कन्नौज नामक महानगरी के महाराज महिपाल को उत्तर भारत का सम्राट् स्वीकार करके सभी राजा-महाराजा प्रसन्नतापूर्वक देश रक्षा के लिए संगठित होकर जूझने को तैयार हो गए। आचार्य शंकर के प्रयास से दक्षिण भारत के भी सभी धार्मिक नेता और राजन्यवर्ग परस्पर वैमनस्य भूलकर ऐसे सुसंगठित हुए कि विदेशी आक्रमणकारियों को भारत पर आक्रमण करने का साहस ही नहीं हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्तर भारत में महाराज महिपाल और प्रतिहार राजा नागभट्ट, कश्मीर के राजा जयपीड़ की सम्मिलित शक्ति से सिंध-भद्रदेश विदेशी शासन से मुक्त हुआ। दक्षिण भारत में विदेशी शासन के जो बादल चेरामन पेरूमल के कारण उमड़ रहे थे, वे राष्ट्रकूट महाराज गोविंदराज, चालुक्य, चोल, केरल आदि राजाओं के सैन्य झंझावात से देखते-देखते विलीन हो गए।

इन प्रमाणों के आधार पर तत्कालीन भाषाओं का उल्लेख करते हुए प्रो. मजूमदार ने यावनी भाषा को यमन प्रदेश (अरब) की भाषा माना है। इस इतिहास सत्य के सहारे नव जागरण का वह महामंत्र भी स्पष्ट हो जाता है, जो भगवत्पाद आचार्य ने भारत के जन-गण को दिया था। सिंध, भद्र-भ्रमण के समय जब आर्त जनता ने भगवान शंकराचार्य से विदेशी सत्ता से स्वतंत्र होने का मार्ग पूछा— "महाराज, किं स्मर्तव्यं ?" आचार्य ने उत्तर दिया—"हरेर्नाम सदा न यामिनी भाषा।" अर्थात् हरिनाम का स्मरण करो, न कि अरबों की भाषा। यही नव जागरण का मंत्र था, जो उन दिनों घर-घर में व्याप्त हो गया। यही सूत्र था, विदेशी भाषा, विदेशी संस्कृति के बहिष्कार का और राष्ट्रीयता के जागरण का।

* * *

साधना का अर्थ जीवन के हर पक्ष में आदर्शवादिता और प्रामाणिकता का समावेश है। जो भी इस कसौटी पर खरा उतरता है, उसको स्वर्णकार की तरह सम्मानपूर्वक उचित मूल्य मिलता है, पर पीतल को सोना बनाकर बेचने की फिराक में फिरने वाले को हर कहीं दुत्कारा जाता है।

* * *

आचार्य के इस नव जागरण का परिणाम था कि सभी धर्मों, संप्रदायों एवं वर्गों ने मिलकर उन्हें सर्वज्ञ पीठ पर बिठाया। आचार्य ने देश के उत्तर में बदरीनाथ का ज्योतिर्मठ, दक्षिण में श्रृंगेरीमठ, पूर्व में पुरी के गोवर्धन मठ एवं पश्चिम में द्वारिका के शारदा मठ की स्थापना करके राष्ट्र की संस्कृति-संवेदना को एक सूत्र में पिरो दिया। आचार्य के तप, त्याग, ज्ञान, श्रम एवं संकल्प से उन दिनों राष्ट्र में जो नव जाग्रति आई, उसी सत्य को आज फिर से प्रकट करने की आवश्यकता है। इक्कीसवीं सदी में राष्ट्रीय नव जागरण ही भगवान् आदि शंकराचार्य के जन्मोत्सव का संदेश है।

मन को साधें, ताकि शरीर सधे

आहार, आवेग और स्वास्थ्य का परस्पर गहरा संबंध है। संवेग के गड़बड़ाने, घटने या बढ़ने से खुराक प्रभावित होती है। खुराक यदि प्रभावित हुई, तो उसके दो प्रकार के परिणाम सामने आते हैं—दुर्बलता अथवा मुटापा। भोजन की मात्रा कम होने से कमजोरी आती है और ज्यादा होने पर स्थूलता बढ़ती है। स्थिर स्वास्थ्य तभी बना रह सकता है, जब आवेग नियंत्रित हो।

वैज्ञानिक एम. एस. गजेनिगा अपनी रचना 'पैटर्न्स ऑफ इमोशंस' में लिखते हैं कि हमारा पूरा शरीरतंत्र और उसकी गतिविधियाँ संवेगों पर आधारित हैं। उसके अच्छा होने पर शरीर-क्रिया सामान्य बनी रहती है, जबकि इसकी बुरी प्रकृति समस्त प्रणाली को असामान्य स्तर का बना देती है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले आचार-व्यवहार से लेकर शरीर में चलने वाले सूक्ष्म आंतरिक क्रियाकलाप भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। भूख चूँकि सूक्ष्म आभ्यंतरिक हलचल की परिणति है, अतः उस पर भी भावनात्मक उथल-पुथल का स्पष्ट असर दिखलाई पड़ता है। वे कहते हैं कि अध्ययनों के दौरान यह देखा गया है कि आह्लाद एवं तनाव की स्थिति में आहार की मात्रा बढ़ जाती है, जबकि उदासी और निराशा उसे अस्वाभाविक रूप से घटा देती है।

यह सच है कि बार-बार अधिक मात्रा में अधिक कैलोरी युक्त भोजन लेने से मुटापा बढ़ता है, पर तनाव के दौरान बार-बार भोजन लेने की आवश्यकता आखिर क्यों महसूस होने लगती है ? इस संबंध में शरीरशास्त्रियों का कहना है कि इसे आवश्यकता या इच्छा कहने के बजाय शरीर-क्रिया का एक अंग मानना ज्यादा उपयुक्त होगा। उनके अनुसार शरीर जब तनावग्रस्त होता है, तो भीतरी प्रणालियाँ उसे मिटाने के लिए अपने ढंग से प्रयास आरंभ कर देती हैं और ऐसे रस-रसायनों का निर्माण करने लगती हैं, जो आंतरिक दबाव को घटा सकें। इस क्रम में भूख उत्तेजित करने वाले रस-स्राव भी पैदा होने लगते हैं। इस स्राव के द्वारा काया तनाव को कम करने का उपक्रम करने लगती है। यही कारण है कि भोजन के मध्य व्यक्ति तनाव से कुछ राहत अनुभव करता है। यह राहत यों तो अस्थायी और अस्थिर होती है; पर जब तक रहती है, व्यक्ति को आरामदायक स्थिति प्रदान किए रहती है।

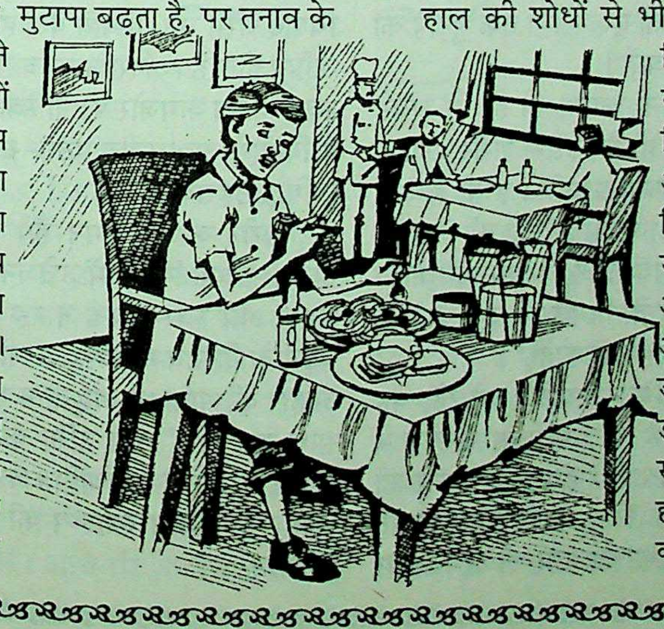

इसी प्रकार जब कभी कोई बहुत भावनात्मक आघात पहुँचता है, तो एक बार फिर समस्त आंतरिक संस्थानों का व्यतिक्रम हो जाता है और उससे आदमी दूसरे ढंग से प्रभावित होता है। चूँकि तनाव और विषाद में बाह्य लक्षणों के साथ-साथ आंतरिक संरचना में भी फरक होता है, इसलिए देह-संस्थान उन दोनों के साथ पृथक्-पृथक् ढंग से पेश आता है। तनाव में जहाँ भूख उत्तेजित होती है, वहीं अवसाद में वह घटती है। दबाव की स्थिति में यदि क्षुधा बढ़ती है, तो इसका एक ही मतलब है—शिथिलता लाना और काया को अस्वाभाविकता से मुक्त बनाए रखना। चूँकि अवसाद की स्थिति में शरीर प्रायः तनावरहित होता है, अतः भूख बढ़ाकर उसे घटाने-मिटाने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसी कारण ऐसे समय में भीतरी तंत्र क्षुधावर्द्धक रस उत्पन्न नहीं करते।

हाल की शोधों से भी इस तथ्य को बल मिला है कि भोजन और आवेग के बीच गहरा लगाव है। शिकागो मेडिकल कालेज के अनुसंधानकर्त्ताओं का कहना है कि डाइटिंग करने वाले लोग सामान्यजनों की तुलना में तनाव, आवेग और उत्तेजना के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। उनके अनुसार यदि ऐसे लोग डरावने दृश्य देख लें, तो उनके संवेग में असामान्य ढंग से वृद्धि हो जाती है। इस बढ़ोत्तरी के कारण इस मध्य उनकी आहार

की मात्रा में भी आश्चर्यजनक वृद्धि होती देखी गई है। इस स्थिति में मुटापा भी बढ़ने लगता है।

एक प्रयोग के द्वारा इसकी पुष्टि हो गई। अन्वेषणकर्त्ताओं ने इसके लिए ३० महिलाओं का चयन किया। इनमें से १५ स्त्रियाँ ऐसी थीं, जो डाइटिंग करती थीं। इन सभी को निश्चित संख्या में कुछ सूखे खाद्य पैकेट दिए गए। इसके उपरांत उन्हें एक भयोत्पादक फिल्म 'हलोबीन' के कुछ डरावने दृश्य दिखाए गए। आधे घंटे के पश्चात् फिल्म की समाप्ति पर जब उनकी खाद्य सामग्री का लेखा-जोखा लिया गया, तो अध्ययनकर्त्ता यह देखकर विस्मय में पड़ गए कि जो महिलाएँ नियमित डाइटिंग करती थीं, उन सबने डाइटिंग नहीं करने वाले ग्रुप से दुगने परिमाण में भोजन उदरस्थ किया था।

उक्त प्रयोग से वैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला कि डरावने दृश्यों से तनावजन्य आवेग में वृद्धि होती है। काया उसे अपने ढंग से सुधारने के क्रम में आंतरिक क्रियाविधि में परिवर्तन लाती है। अंतर के इस बदलाव के कारण भूख बढ़ाने वाले रसों का निर्माण होता है। इससे जठराग्नि की ज्वाला भड़कती है। क्षुधा बढ़ती है, तो बार-बार खाने की आवश्यकता महसूस होती है। यह स्थिति लंबे समय तक बने रहने पर चर्बी में अनावश्यक वृद्धि होने लगती है, जो अवांछित मुटापे का कारण बनती है। इस वृद्धि के साथ शारीरिक कठिनाइयाँ भी बढ़ने लगती हैं, जिनसे व्यक्ति तब तक छुटकारा नहीं पा सकता, जब तक इसके पीछे के निमित्त को ठीक न किया जाए। देखा गया है कि भावनात्मक संवेग को साथ लेने पर फिर इस प्रकार की शिकायत देर तक टिकी नहीं रहती। इसलिए विशेषज्ञ इस संबंध में प्राय: यह सलाह देते देखे जाते हैं कि आवेग और उत्तेजना पर यदि अंकुश लगाया जा सका, तो एक सीमा तक मुटापे को नियंत्रित किया जा सकना संभव है।

यों चर्बी बढ़ने के कई अन्य कारण भी हैं; पर सबमें प्रमुख भावनात्मक अव्यवस्था ही है। इससे शरीर प्रणाली की सहज और स्वाभाविक क्रिया प्रभावित होती है और ऐसी कृत्रिमता का उदय होता है, जो संपूर्ण तंत्र को असहज बनाए रखती है। इस दशा में अंग-अवयव अपने निर्धारित रसायनों से हटकर दूसरे प्रकार के निर्माण में जुट जाते हैं, जो अंतत: स्थूलता के लिए जिम्मेदार होते हैं।

हमारे आवेग-संवेग नियमित-नियंत्रित बने रहें, यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि हम किस परिवेश में रहते हैं और हमारी दिनचर्या क्या है ? हम किस प्रकार की पुस्तकें पढ़ते और मनोरंजन के लिए कैसी फिल्में देखते हैं ? यदि सब कुछ सहज-स्वाभाविक रहा, तो अचेतन पर उसका अनुकूल असर पड़ता है, जो शरीर तंत्र को सुचारु और स्वस्थ बनाए रखता है।

यह सर्वविदित है कि दृश्य-श्रव्य माध्यमों का मन पर गहरा असर पड़ता है। यह प्रभाव जिस प्रकार का और जितने अंशों में होगा, शरीर के अंग-अवयवों और क्रियाविधि में वैसी ही प्रतिक्रिया परिलक्षित होगी। कोई व्यक्ति यदि नियमित रूप से किसी मनोरम उपवन में घूमता है, जहाँ उसकी मनोदशा उत्फुल्लता से ओतप्रोत बनी रहती है, तो निश्चित रूप से इसका उसके अचेतन पर वांछनीय और अच्छा असर पड़ेगा। इससे उसकी संवेगात्मक स्थिति संतुलित बनी रहेगी, जो उसके उत्तम स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाए रखेगी। इसके विपरीत यदि किसी की आँखों के सामने कोई हत्या हो रही हो, तो इससे उसके अंदर जो विक्षोभ पैदा होगा, वह शरीरतंत्र की संपूर्ण समरसता को इस प्रकार अस्तव्यस्त बना देगा, जो सरलतापूर्वक सामान्य रूप में न आ सके। यदि उस वातावरण में ऐसी लोमहर्षक घटनाएँ और डरावने दृश्य बराबर दिखलाई पड़ते रहें, तो यह स्थिति एक ऐसी मानसिक अव्यवस्था को जन्म देगी, जो अंतत: शारीरिक अस्वस्थता का कारण बनेगी।

पढ़ने-सुनने का भी शरीर-स्वास्थ्य पर ऐसा ही अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। हम जो कुछ भी पढ़ते-सुनते हैं, हमारा मस्तिष्क उसकी कल्पना साकार रूप में करता चलता है। तदनुरूप उसकी प्रतिक्रिया भी सामने आने लगती है। कथानक यदि सुखद, सुंदर और कल्याणकारी हो, तो उससे मन आनंद से भर उठता है और वह बार-बार उसे ही याद करना चाहता है। इससे उन संवेगों को पोषण मिलता है, जो स्वास्थ्यकारी हैं। इसके विपरीत हिंसक और डरावने कथानकों से रोंगटे खड़े होने लगते हैं। भय, चिंता, विषाद जैसी मन-स्थिति पैदा होने लगती है। इसका असर अप्रिय होता है। अंदर के गड़बड़ाने से बाहर का लड़खड़ाना, स्वास्थ्य का कमजोर पड़ना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि ऐसे अवांछनीय पठन-श्रवण को स्वास्थ्य विज्ञान में निषिद्ध ठहराया गया है।

शरीर का मूल मन है। वह यदि असामान्य और अस्वाभाविक स्थिति में उत्तेजनाग्रस्त बना रहा, तो देह तंत्र सहज और स्वस्थ बना न रह सकेगा। संवेगों के घटने-बढ़ने के हिसाब से स्वस्थता भी प्रभावित होगी और उससे आहार की मात्रा भी अछूती न रह सकेगी। इसलिए "एकै साधे सब सधे" की उक्ति को चरितार्थ करते हुए यदि संवेगों पर नियंत्रण स्थापित कर लिया गया, तो समझना चाहिए कि समग्र स्वास्थ्य की समस्वर स्थिति प्राप्त कर ली गई। ☐

क्या आप भी बार-बार पलकें झपकाते हैं

यों तो पलकें आँखों की सुरक्षा के लिए होती हैं और सेकेंड के दसवें हिस्से से भी कम समय में झपकती रहती हैं। इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ सब कुछ सहज-स्वाभाविक है। कई बार इनका गिरना-उठना असामान्य रूप से इतना तेज अथवा मंद हो जाता है कि उसमें किसी अस्वाभाविकता की स्पष्ट झलक मिलती है। यह वास्तव में व्यक्ति की उस मनोदशा की परिचायक होती है, जिससे वह उस समय गुजर रहा होता है। दूसरे शब्दों में यह सामने वाले की तात्कालिक मन:स्थिति को परखने का एक दर्पण है।

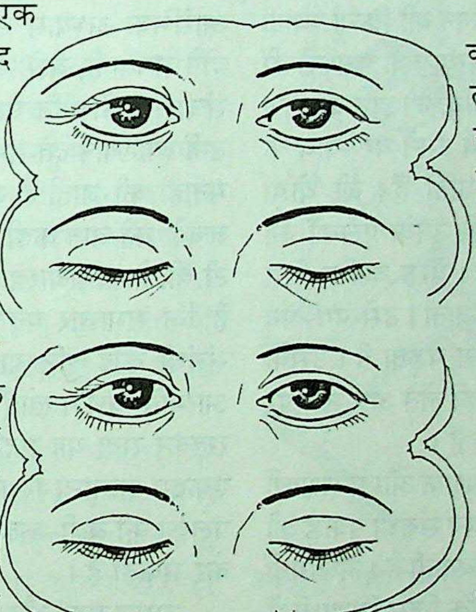

प्राय: हर एक की पलकें एक नियमित अंतराल से खुलती और बंद होती रहती हैं। यह एक नैसर्गिक क्रिया है। इसमें आँखों की सुरक्षा और सफाई ही प्रमुख होती है; किंतु अनेक बार जब व्यक्ति असाधारण अवस्था से गुजरता होता है, तो इससे उसकी पलकों की गति भी प्रभावित होती है और उसमें तेजी या सुस्ती आ सकती है। उदाहरण के लिए, जब व्यक्ति आवश्यकता से अधिक सावधान या सचेत होता है, तो उसकी पलकें कम झपकती हैं। रुचिकर विषय अथवा वस्तु को पढ़ते-देखते समय भी यह गति स्वाभाविक रूप से कम हो जाती है। ऐसे समय इसकी रफ्तार प्रति मिनट लगभग छह होती है; किंतु यदि विषय-वस्तु व्यक्ति की मनपसंद की न हो, तो यह क्रिया तीव्र हो सकती है। वार्त्तालाप कर रहे दो व्यक्तियों में से कौन कितना एक दूसरे की बातों में रस ले रहा है—यह उनके पलकों की गिरने-उठने की गति से जाना जा सकता है। जो ऊब या आलस्य महसूस कर रहा होगा, उसकी अत्यधिक गतिवान पलकें यह बता देंगी कि श्रोता को वक्ता एवं उसकी बातों में कोई रुचि नहीं है।

इस संबंध में एक प्रयोग बर्लिन यूनिवर्सिटी के दो मनोवैज्ञानिकों ने किया। उन्होंने कतिपय लोगों को संगीत की कुछ उबाऊ धुनें सुनाईं। आधे घंटे के इस प्रयोग के दौरान देखा गया कि सामान्य स्थिति में उनकी पलकें जितनी बार झपकती थीं, उसकी आवृत्ति इस मध्य बढ़ गई। परीक्षण को पुन: दोहराया गया; लेकिन इस बार धुन बदल दी गई। अबकी बार का संगीत सरस और सुरीला था, अत: इसका परिणाम पहले से विपरीत प्राप्त हुआ। देखा गया कि इस मध्य श्रोताओं की पलकें असामान्य रूप से कम झपकीं। इस प्रयोग से यह सिद्ध हो गया कि रुचि-अरुचि, पसंद-नापसंद का कितना और कैसा प्रभाव हमारी पलकों पर पड़ता है। इस आधार पर सामने वाले का मनोभाव आसानी से जाना जा सकता है।

शोधों से यह भी ज्ञात हुआ कि कार्य के दौरान बरती गई एकाग्रता एवं तन्मयता का स्पष्ट आभास आँख के खुलने-बंद होने की गति से सरलतापूर्वक हो जाता है। उदाहरण के लिए, चित्र बनाते समय चित्रकारों की पलकें अपेक्षाकृत कम उठती-गिरती हैं। यह उसके एकाग्रचित्त का द्योतक है। कवि जब अपनी कल्पना की दुनिया में खोता है, साहित्यकार अपने विचार-प्रवाह में बहता है, कर्मयोगी किसी काम में निष्ठापूर्वक निमग्न होता है, संगीतकार किसी नई धुन की रचना कर रहा होता है, तब भी उनकी पलकों के झपकने की गति कम होती है।

इसके विपरीत मानसिक उलझन में पड़े तनावग्रस्त व्यक्ति की पलकें जल्दी-जल्दी उठती-गिरती हैं। यदि वह परेशानी में हो, किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना हुआ हो, असमंजस की दुविधाजनक स्थिति में हो, तो भी आँखों के खुलने-बंद होने की रफ्तार तीव्र होती है। पलकों का गिरना-उठना यह भी दर्शाता है कि व्यक्ति में कितना आत्मविश्वास है। एक आत्मविश्वासी अपनी बात को प्रकट करते समय अपेक्षाकृत कम पलकें झपकाता है, जबकि उस व्यक्ति की, जिसका कथन अनिश्चय युक्त हो अथवा जिसमें दृढ़ता का अभाव हो, उसकी आँखें जल्दी-जल्दी खुलती-बंद होती हैं। साक्षात्कार के समय इस बात को स्पष्ट रूप से देखा अथवा

अनुभव किया जा सकता है। वैसे परीक्षार्थी, जिनकी तैयारी अच्छी होती है अथवा जो आत्मविश्वास के धनी होते हैं, मौखिक परीक्षा के दौरान जवाब देते समय परीक्षक के आगे कम आँखें झपकाते हैं, जबकि जिनकी तैयारी ठीक नहीं होती, जिन्हें स्वयं पर या अपने ऊपर पर भरोसा नहीं होता, उनमें यह क्रिया अधिक तीव्र होती देखी गई है।

पलकें झपकने की गति व्यक्तित्व के दबंगपन को भी अभिव्यक्त करती है। पाया गया है कि झेंपू या संकोची प्रकृति के लोगों में पलक झपकने की रफ्तार अधिक तेज होती है, वहीं दबंग व्यक्तित्व की यह सुनिश्चित पहचान है कि उसकी पलकें किसी भी व्यक्ति के समक्ष प्रति मिनट कम झपकती हैं। डरपोक स्वभाव वाले लोगों की भी यही निशानी है कि उनमें आँख मुलमुलाने की प्रवृत्ति अधिक तीव्र होती है। कुछ हद तक झूठ और सच की पहचान भी इससे की जा सकती है। झूठ बोलने और सचाई को छिपाने का प्रयास करने वालों में पलक-संचालन की क्रिया ज्यादा तीव्र होती है। दूसरी ओर सत्यवादियों, न्याय के पक्षधरों में इनकी गति मंद होती है। देखा गया है कि जो झूठ को सच का रंग चढ़ाकर प्रस्तुत करते हैं, समय आने पर न्याय के दरबार में उनकी निगाहें नीची हो जाती हैं। जो थोड़ा साहस कर उसे ऊपर उठाते भी हैं, तो उनके पलकों की तीव्र गति उनकी पोल खोल देती है। ऐसा व्यक्ति फिर प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं रह जाता। उसे पग-पग पर संदेह और संशय का भाजन बनना पड़ता है। उसके सत्य कथन को भी लोग गंभीरता से नहीं लेते और उस पर अविश्वास का आवरण चढ़ाकर देखते हैं।

सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में प्रशिक्षक और प्रशिक्षार्थी के बीच के संबंध एवं प्रशिक्षार्थी के विषय संबंधी पकड़ को भी उक्त क्रिया एक सीमा तक बोलती-बताती है। अध्ययनों के दौरान यह स्पष्ट परिलक्षित हुआ है कि जिस शिक्षार्थी में विषय संबंधी गहराई एवं उसे पकड़ने का माद्दा कम होता है, उनकी पलकें अधिक झपकती हैं। यह भी देखने में आया है कि ज़ब दोनों के बीच खुलापन का अभाव होता है, तब भी विद्यार्थी की आँखें जल्दी-जल्दी खुलती-बंद होती हैं। इसके विपरीत जब शिक्षक और छात्र के बीच स्नेह-प्रेम का मधुर संबंध और खुलापन होता है, तो अध्ययन करने वाले छात्र की पलकें कम झपकती हैं।

इसके अतिरिक्त तनाव, दबाव और भय जैसी स्थिति में भी पलकों की गति बढ़ जाती है। एक प्रयोग के दौरान लिवरपूल यूनिवर्सिटी के मनोवैज्ञानिकों ने बूढ़े और युवाओं के दो दल बनाए और उन्हें 'जाज' नामक एक अमेरिकी फिल्म के कुछ दृश्य दिखलाए। उक्त फिल्म बहुत ही डरावनी थी। फिल्म देखते समय दोनों समूहों का जब तुलनात्मक अध्ययन किया गया, तो पाया गया कि युवाओं में पलकों के गिरने-उठने की गति वृद्धों से अधिक तीव्र थी। स्पष्ट था, वे डरावने दृश्यों के कारण ज्यादा तनावजन्य स्थिति से गुजर रहे थे, जबकि वृद्धों की परिपक्व मनोभूमि उन्हें इस अप्रिय दशा से काफी हद तक बचा रही थी। यों पलक संचालन की गति उनमें भी असामान्य थी; पर युवा-समूह की तुलना में वह कम थी। इस प्रकार पलकों के गिरने-उठने की गति व्यक्ति के मनोबल को भी दर्शाती और सूचित करती है कि सामने वाला हीन मनोबल का व्यक्ति है या संपन्न मनोबल का।

उपर्युक्त मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर ही भाषण का अभ्यास करने वालों को आरंभ में इसका अभ्यास निर्जन निकुंजों अथवा नदी-तटों के पत्थरों एवं पेड़-पौधों को सजीव श्रोता मानकर करने की सलाह दी जाती है। इस आरंभिक अभ्यास से जैसे-जैसे उनका मानस परिपक्व होने लगता है, वैसे-वैसे उनकी झिझक मिटती और पलक संचालन की गति घटती जाती है। फिर भी शुरू-शुरू में उन्हें व्याख्यान देते समय श्रोताओं से सीधे आँख मिलाने की मनाही की जाती है और जहाँ तक संभव हो सके, इससे बचने की बात कही जाती है। कुछ इसी प्रकार का निर्देश टी.वी. के समाचारवाचकों को दिया जाता और कहा जाता है कि समाचार पढ़ते समय किसी प्रकार की उच्चारण संबंधी कोई त्रुटि या सूचना संबंधी गलती हो जाए, तो आत्मनियंत्रण न खोएँ; अपने को संयत एवं शांतचित्त बनाए रखकर सदा यह प्रदर्शित करने की कोशिश करें कि वह एकदम सामान्य स्थिति में हैं, अन्यथा अशुद्धि के समय पलकों की बढ़ी-चढ़ी रफ्तार उनकी त्रुटि को और उजागर कर सकती है।

स्मरण रखने और पलकें झपकाने के बीच भी सीधा संबंध देखा गया है। यदि किसी से किसी लंबे-चौड़े शब्द-शृंखला को याद करने के लिए कहा जाए, तो संभव है कि संपूर्ण शृंखला को स्मरण करने के बाद ही वह पलकें गिराए। शोध-अध्ययनों में यह भी पाया गया है कि शब्द-शृंखला के बाद यदि और अक्षर याद करने के लिए कहा जाए, तो पलक झपकाने के बीच की अवधि और अधिक बढ़ जाती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पलकों का गिरना-उठना व्यक्तित्व की चुगली करता है। विशेषज्ञ लोग इस आधार पर सामने वाले के बारे में काफी कुछ पता लगा सकते हैं। इसलिए पलकें झपकाने में सावधानी बरती जाए। कहीं ऐसा न हो कि वह हमारी कमी और कमजोरी को दूसरों के आगे प्रकट कर दें। □

ईश्वरत्व को उपलब्ध करने वाले महान् आस्तिक

२६ मई को वैशाख पूर्णिमा है। आज से लगभग २५६८ वर्ष पहले इसी पुण्य दिन धरती की गोद में महाराज शुद्धोधन के यहाँ राजकुमार सिद्धार्थ ने जन्म लिया था। इसके बाद एक-एक करके कई वैशाख पूर्णिमा आई और चली गईं। लेकिन फिर से एक महापुण्यवती वैशाख पूर्णिमा आई, जब महातपस्वी सिद्धार्थ की अंतर्चेतना में बुद्ध ने जन्म लिया। इस अनूठे जन्मोत्सव को मनुष्यों के साथ देवों ने भी अलौकिक रीति से मनाया। इस पुण्य घड़ी में सिद्धार्थ सम्यक् बन गए और वैशाख पूर्णिमा बुद्ध पूर्णिमा में रूपांतरित हो गई।

इस पूर्णिमा से जुड़ी दोनों ही कथाएँ बड़ी ही मीठी और प्यारी हैं। आज से २५६८ साल पहले, जिस दिन सिद्धार्थ का जन्म हुआ, समूची कपिलवस्तु में उत्सव की धूम मच गई। पूरा नगर सज गया। रात भर लोगों ने दिये जलाए, नाचे। उत्सव की घड़ी थी, बहुत दिनों की प्रतीक्षा पूरी हुई थी। बड़ी पुरानी अभिलाषा थी पूरे राज्य की। इसलिए राजकुमार को सिद्धार्थ नाम दिया गया। सिद्धार्थ का मतलब होता है, जीवन का अर्थ सिद्ध हो जाना, अभिलाषा का पूरा हो जाना।

पहले ही दिन, जब द्वार पर बैंड-बाजे बज रहे थे, शहनाइयाँ गूँज रही थीं, फूल बरसाए जा रहे थे, महलों में चारों तरफ प्रसाद बाँटा जा रहा था, तभी हिमालय से भागते हुए एक वृद्ध तपस्वी महल के द्वार पर आकर खड़े हो गए। उनका नाम असिता था। नगरवासियों के साथ स्वयं सम्राट् उनका सम्मान करते थे। वह अब तक कभी राजधानी न आए थे। स्वयं सम्राट् को भी उनसे मिलने के लिए जाना पड़ता था। आज अचानक उन्हें महलों की ड्योढ़ी पर देखकर सभी चकित थे। सम्राट् ने आकर बड़े अचकचाए स्वर में उनसे पूछा—हे महातपस्वी, क्या सेवा करूँ आपकी।

असिता ने उनकी दुविधा का निवारण करते हुए कहा, परेशान न हो शुद्धोधन! तुम्हारे घर बेटा पैदा हुआ है, उसके दर्शन को आया हूँ। शुद्धोधन तो समझ ही न पाए। सौभाग्य की घड़ी थी यह कि असिता जैसा महान् वीतरागी उनके बेटे को देखने के लिए आया। वह भागे हुए अंत:पुर में गए और नवजात शिशु को बाहर लेकर आए। असिता झुके और उन्होंने शिशु के चरणों में सिर रख दिया। कहते हैं, शिशु ने अपने पाँव उनकी जटाओं में उलझा दिए। असिता पहले तो हँसे, फिर रोने लगे। शुद्धोधन तो हतप्रभ हो गए, वह पूछने लगे, महामुनि आप रोते क्यों हैं?

असिता ने कहा, तुम्हारे घर में जो यह बेटा आया है, यह कोई साधारण आत्मा नहीं है, अरे यह तो सब तरह से अलौकिक है। कई सदियाँ बीत जाती हैं, तब कहीं यह आता है। यह तुम्हारे लिए ही सिद्धार्थ नहीं, यह तो अनंत-अनंत लोगों के लिए, समूची मनुष्यता के लिए सिद्धार्थ है। अनंत जनों के जीवन का अर्थ इससे सिद्ध होगा। हँसता हूँ कि इसके दर्शन मिल गए। बहुत प्रसन्न हूँ कि इसने मुझ बूढ़े की जटाओं में अपने पाँव उलझा दिए। मेरे लिए यह परम सौभाग्य का क्षण है, पर रुलाई इसलिए आ रही है कि जब यह कली खिलेगी, फूल बनेगी, जब दसों दिशाओं में इसकी महक फैलेगी, तब मैं न रहूँगा। मेरे शरीर छूटने की घड़ी करीब आ गई है।

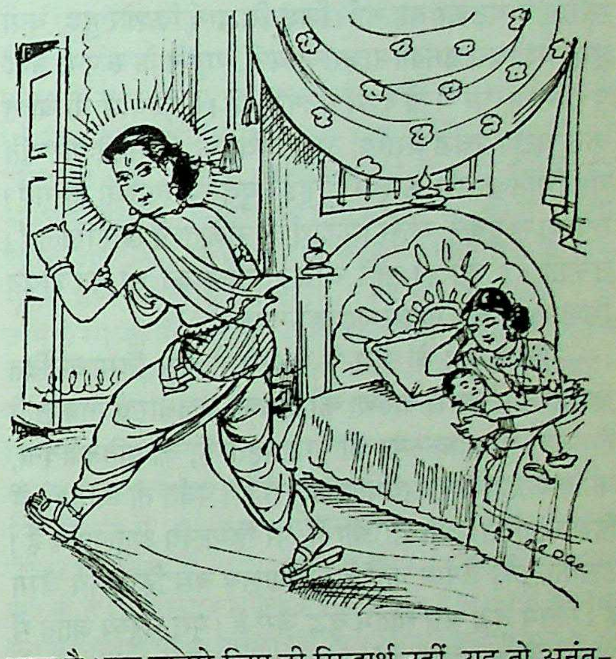

महातपस्वी असिता की यह बात बड़ी अनूठी पर सच्ची है। बुद्धत्व का लुभावनापन ही कुछ ऐसा है। उनकी मोहकता है ही कुछ ऐसी। असिता जीवनमुक्त हो गए, पर उन्हें पछतावा होने लगा कि काश एक जन्म अगर और

मिलता तो इस महाबुद्ध के चरणों में बैठने की, इनकी वाणी सुनने की, इनकी सुगंध पाने की, इनके बुद्धत्व में डूबने की सुविधा हो जाती। ऐसे अनूठे पल होते हैं, बुद्धत्व के विकसित होने के । महातपस्वी असिता में भी चाहत पैदा हो गई कि मोक्ष दाँव पर लगता हो, लगे, कोई हर्ज नहीं। वह रोने लगे थे उनके पाँवों पर सिर रखकर कि सदा ही यह चेष्टा की कि कब छुटकारा मिले इस शरीर से, जीवन के आवागमन से, पर आज पछतावा हो रहा है।

कालप्रवाह में क्षण, दिवस, वर्ष बीते और एक वैशाख पूर्णिमा को सत्य का, संबोधि का, बुद्धत्व का वही चाँद निकला, जिसकी चाँदनी में जीने की चाहत कभी असिता ने की थी। यह पूर्णचंद्र महातपस्वी शाक्य मुनि सिद्धार्थ के अंतर्जगत् में उदय हुआ। इस बीच अनेकों घटनाएँ काल सरिता में घटकर बह गईं। शिशु सिद्धार्थ किशोर हुए, युवा हुए, यशोधरा उनकी राजरानी बनीं, राहुल के रूप में उन्हें पुत्र मिला, पर ये तो दृश्य घटनाएँ थीं। अदृश्य में भी बहुत कुछ घटा। प्रचंड वैराग्य, अनूठा विवेक, जिसकी परिणति महाभिनिष्क्रमण के रूप में हुई। युवराज तपस्वी हो गए। तपस्या से दुर्बल, जर्जर सिद्धार्थ को सुजाता ने खीर खिलाई। उनकी देह को ही नहीं जीवन चेतना को भी नवजीवन मिला और वह गौतम बुद्ध हो गए।

गौतम बुद्ध के रूप में वे ऐसे हैं जैसे हिमाच्छादित हिमालय। जिससे करुणा की अनेकों जलधाराएँ निकलती हैं। जहाँ से महाकरुणा की गंगा बहती है, जो पतितपावनी, कलिमलहारिणी, सर्वपापनाशिनी है। पर्वत तो और भी हैं हिमाच्छादित पर्वत भी और हैं, पर हिमालय अतुलनीय है। उसकी कोई उपमा नहीं है। हिमालय बस हिमालय जैसा है। गौतम बुद्ध बस गौतम बुद्ध जैसे हैं। पूरी मनुष्य जाति में उनके जैसा महिमापूर्ण नाम दूसरा नहीं। उन्होंने जितने हृदयों की वीणा को बजाया है, उतना किसी और ने नहीं । उनके माध्यम से जितने लोग जागे और जितने लोगों ने परम भगवत्ता उपलब्ध की, उतनी किसी और के माध्यम से नहीं।

बुद्ध के बोल अत्यंत मीठे हैं, उनके वचन बहुत अनूठे हैं। एच. जी. वेल्स ने बुद्ध के संबंध में एक अद्भुत सचाई बयान की। उन्होंने कहा कि समूची धरती पर उन जैसा ईश्वरीय व्यक्ति और उनकी तरह ईश्वरशून्य व्यक्ति एक साथ पाना कठिन है—"सो गॉड लाइफ एंड सो गॉड लेस।" अगर कोई ईश्वरीय प्रतिभाओं को खोजने निकले तो बुद्ध से ज्यादा ईश्वरीय प्रतिभा भला कहाँ मिलेगी ! फिर भी सो गॉडलेस—इतना ईश्वरशून्य। ईश्वरशून्यता का अर्थ ईश्वर विरोधी होना नहीं है, जैसा कि कुछ समझदार समझे जाने वाले नासमझों ने समझ लिया है। इसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि उन्होंने इस परम सत्य का उच्चार नहीं किया।

उपनिषद् कहते हैं कि ईश्वर के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता, लेकिन इतना तो कह ही दिया। बुद्ध ने इतना भी नहीं कहा। वे परम उपनिषद् हैं। वह ईश्वर की चर्चा करने वाले केवल नाम मात्र के आस्तिक नहीं हैं, वह तो ईश्वरत्व को उपलब्ध करने वाले महा आस्तिक हैं। अगर परमात्मा के संबंध में कुछ कहना संभव नहीं, तो फिर बुद्ध ने कुछ नहीं कहा। बस चुप रहकर इशारा किया। पश्चिम में एक बहुत बड़ा दार्शनिक हुआ है—लुडविग पिट्गिंस्टाइन। उसने अपनी बड़ी अनूठी किताब 'ट्रैफ्टेटस' में लिखा है कि जिस संबंध में कुछ कहा न जा सके, उस संबंध में बिलकुल चुप रहना उचित है। 'दैट व्हिच कैन नॉट बी सेड, मस्ट नॉट बी सेड।' जो नहीं कहा जा सकता, कहना ही नहीं चाहिए।

अगर विट्गिंस्टाइन ने बुद्ध को देखा होता तो वे अपने कहे हुए सच की अनुभूति कर लेते। अगर विट्गिंस्टाइन की बातों को बुद्ध ने सुना होता तो अवश्य मुस्करा देते। बड़े ही प्यार से वे उसके कथन को अपनी स्वीकृति दे देते। पश्चिम के लोगों ने विट्गिंस्टाइन को समझने में भूल की। यही भूल पूरब के लोगों से हुई, बुद्ध को समझने में । बुद्ध दार्शनिक और विचारक नहीं, वह रुग्ण मनुष्यता के लिए बड़े ही करुणावान वैद्य थे। बहुत लोगों ने मनुष्य के रोगों का विश्लेषण किया है, पर इतना करुण होकर और इतने सटीक ढंग से नहीं। बड़े ढंग से लोगों ने बातें कही हैं, बड़े गहरे प्रतीक उपाय में लाए हैं, पर बुद्ध के कहने का ढंग ही कुछ और है, जिसने एक बार सुना, पकड़ा गया। जिसकी ओर एक बार उन्होंने नजर भर देख लिया, फिर वह भटक न पाया। जिसे उनके बुद्धत्व की थोड़ी-सी झलक मिल गई, उसका समूचा जीवन ही रूपांतरित हो गया। 'अप्प दीपो भव' यही बुद्ध का अंतिम वचन है। बुद्ध पूर्णिमा के शुभ क्षणों में इसे इस भाँति भी स्मरण किया जा सकता है—

महाबुद्ध ने मुझसे-तुमसे
एक-एक से, हम सबसे
सुनो, यह सत्य कहा,
अपने दीपक आप बनो तुम
तिमिर का व्यूह भेद करना है,
कैसा यहाँ विराम
शिखा को झंझा में पलना है।

वातव्याधि-निवारण की यज्ञोपचार प्रक्रिया

संधिवात एवं संधिशोथ नामक वातव्याधियों की यज्ञ चिकित्सा का वर्णन पिछले अंकों में किया जा चुका है। ये दोनों ही जोड़ों से संबंधित आर्थ्राइटिस रोग हैं। यहाँ पर इसके तीसरे प्रकार 'गाउट' अर्थात् वातरक्त एवं घुटने के शोथ के संबंध में बताया जा रहा है कि किन कारणों से ये उत्पन्न होते हैं और यज्ञोपचार द्वारा इन कष्टकारी व्याधियों से छुटकारा किस तरह से पाया जा सकता है।

वातरक्त को 'बीमारियों का राजा' कहा जाता है। सुकुमार प्रकृति के व्यक्तियों एवं संपन्नों को इस व्याधि से सर्वाधिक ग्रस्त पाया जाता है। चालीस-पचास वर्ष की उम्र के पश्चात् इसका आक्रमण महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों में ज्यादा देखने को मिलता है। यह बच्चों एवं युवाओं में बहुत कम पाया जाता है। वातशोणित, आढ्यवात, वातबलास, खुडवात आदि नामों से भी यह जाना जाता है। इसका मुख्य कारण मद्य-मांस का अत्यधिक सेवन, मिथ्या आहार-विहार, प्रतिकूल जलवायु, व्यायाम एवं परिश्रम का अभाव, मोटापा, शोक, क्रोध, चिंता, तनाव आदि मानसिक विकार माने जाते हैं। आनुवंशिक कारण भी इसके लिए एक जिम्मेदार कारक माना जाता है। घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि की सवारी करने, शीत, रूक्षादि कारणों से शरीर की वायु प्रकुपित हो जाती है और अधिक तीखे, चरपरे, गरम, नमकीन, खट्टे, चिकने, खारे पदार्थ, सूखे मटर, बींस, लोबिया, अदरक, पत्तों एवं बैंगन आदि के शाक अधिक मात्रा में खाने से, समुद्री भोजन, खमीर (यीस्ट) आदि खाने से रक्त दूषित हो जाता है। यही दूषित रक्त प्रकुपित वायु से मिलकर वातरक्त को उत्पन्न करता है। सबसे पहले यह हाथ-पैर में उत्पन्न होता है, पीछे सारे शरीर में फैल जाता है।

आधुनिक चिकित्साविज्ञानी वातरक्त को 'गाउट' नाम से संबोधित करते हैं। वृद्धावस्था में उभरने वाली यह एक बहुत ही पीड़ादायक रिह्यूमेटिक बीमारी है, जो चयापचयी प्रक्रिया द्वारा रक्त के दूषित होने से उत्पन्न होती है। रक्त में जब यूरिक एसिड एवं सोडियम यूरेट्स की मात्रा अधिक बढ़ जाती है और शरीर से इनका निष्कासन पूरी तरह नहीं हो पाता, तब ये तत्त्व जोड़ों के खाली स्थानों में, कोमल ऊतकों में क्रिस्टल के रूप में जमने लगते हैं। इस जमाव के कारण जोड़ों, संधियों, संधिकला आदि में सूजन, लालिमा, दाह, दरद एवं जकड़न होने लगती है। गाउट का आरंभ मुख्य रूप से छोटी अस्थि-संधियों से तथा विशेष रूप से पैर के अँगूठे की संधि से होता है। जोड़ों में पाए जाने द्रव-साइनोबियल फ्लूइड में यूरिक एसिड के रवे-क्रिस्टल जमने लगते हैं, जिससे सूजन आती है और दूषित रासायनिक तत्त्वों के मुक्त होने से जोड़ों के तंतुओं में शोथ के साथ दरद उभरने लगता है। आगे चलकर यही तत्त्व त्वचा के नीचे, गुरदे में, जोड़ों के आस-पास भी बनने लगते हैं और संबंधित अंगों को विकार ग्रस्त बना देते हैं। सही समय पर उपचार न होने पर जोड़ खराब हो जाते हैं और व्यक्ति अपंगता का शिकार हो जाता है। पैर के अँगूठे से आरंभ होने वाला यह रोग धीरे-धीरे एड़ी, घुटने, हथेलियों, उँगलियों तथा कुहनियों तक को अपनी चपेट में ले लेता है।

गाउटी आर्थ्राइटिस अर्थात वातरक्त या गाँठदार गठिया का आक्रमण प्रायः धीरे-धीरे होता है। इसके लक्षणों को देखकर आसानी से पहचाना जा सकता है। प्रायः प्रारंभ में रोग से प्रभावित व्यक्ति को पसीना ज्यादा आता है, किसी-किसी को बिलकुल नहीं आता है। हलके बुखार के साथ बेचैनी का अनुभव होता है। इसके बाद शीघ्र ही पैर के अँगूठे अथवा किसी अन्य जोड़ में प्रायः रात्रि के समय तेज दरद के साथ सूजन उभर आती है। प्रभावित स्थान की त्वचा लाल या जामुनी रंग की हो जाती है। जोड़ को छूना या हिलाना-डुलाना मुश्किल हो जाता है। एक बार आक्रमण होने के बाद सप्ताह-दो सप्ताह बाद रोग या तो स्वयं या उपचार के बाद दब जाता है, किंतु कुछ समय पश्चात् यह दुबारा उभर आता है। दो-चार बार यही क्रम चलता रहता है और पीछे स्थायी बन जाता है। ऐसी स्थिति में गुरदे खराब हो सकते हैं, घुटने की हड्डियाँ बेकार हो सकती हैं, जोड़ उखड़ सकते हैं। हृदय में सूजन आ सकती है। उल्टी, दस्त जैसे अनेक उपद्रव होने लगते हैं। रोग पुराना हो जाने पर अशक्तता एवं विकलांगता तथा कुरूपता आ जाती है। पसीने से खटास जैसी गंध, स्वभाव चिड़चिड़ा, पेशाब की न्यूनता एवं उसमें यूरिक एसिड तथा यूरेट की बढ़ोत्तरी जैसे लक्षण स्पष्ट परिलक्षित होने लगते हैं।

गाउटी-गठिया या वातरक्त तीन तरह का होता है। पहले प्रकार में वायु और रक्त की विषाक्तता से उत्पन्न गठिया आता है। इससे प्रभावित पैरों में छूने से असह्य पीड़ा, सुई चुभाने, त्वचा फटने जैसी वेदना का अनुभव होता है। शुष्कता, भारीपन, संज्ञाशून्यता जैसी प्रतीति होती है। दूसरे प्रकार के वातरक्त में पित्त और रक्त की विषाक्तता अधिक होने से प्रभावित पैर तीव्र दाह युक्त, अधिक गरम, लाल रंग, शोथ एवं पिलपिलापन लिए होता है। तीसरे में कफ एवं रक्त की अत्यधिक विषाक्तता होने के कारण पैरों में खुजली अधिक होती है। वे सफेद, ठंडे सूजन युक्त मोटे तथा कठोर हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त तीनों दोषों से युक्त वातरक्त में सभी दोष

अपने-अपने लक्षण पैरों में प्रकट करते हैं। इन लक्षणों के अलावा भी अन्य अनेक शारीरिक लक्षण प्रकट होते हैं—जैसे शरीर का ताप १०१ डिग्री से १०२ डिग्री तक बने रहना, तीव्र बुखार, प्यास, जी मिचलाना आदि। रोग की अभिवृद्धि होने पर पैर के अँगूठे की संधियों के अतिरिक्त गुल्फ संधि, जानु संधि, कलाई की संधियाँ भी प्रभावित-संक्रमित हो जाती हैं। समुचित उपचार न होने पर यह रोग पूरे शरीर में फैल जाता है। रोगी पंगुता का शिकार हो जाता है, अँगुलियाँ गठीली एवं टेढ़ी हो जाती हैं।

गाउटी आर्थ्राइटिस अर्थात् वातरक्त को दूर करने के लिए आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में अनेकों दरद निवारक एवं शोथ नाशक औषधियाँ विद्यमान हैं, किंतु इन्हें प्रयुक्त करने पर रोग-शमन के साथ-साथ इनके साइड इफेक्ट्स भी रोगी को भुगतने पड़ते हैं। यज्ञोपचार में यह दुविधा नहीं रहती। यह सर्वाधिक सुरक्षित-निरापद होने के साथ ही रोग को समूल नष्ट करने में समर्थ है। हर कोई इसे सरलतापूर्वक स्वयं कर सकता है और दूसरों को भी इससे लाभान्वित कर सकता है। वातरक्त की यज्ञोपचार प्रक्रिया इस प्रकार है—

इसमें गाउटी आर्थ्राइटिस की विशेष हवन सामग्री का प्रयोग किया जाता है। इस विशिष्ट हवन सामग्री में निम्नलिखित चीजें समान मात्रा में मिलाई जाती हैं—(१) मंजीठ, (२) हरड़, (३) बहेड़ा, (४) गिलोय, (५) कुटकी, (६) बच, (७) दारू हल्दी, (८) नीम छाल, (९) नागर मोथा, (१०) धनिया, (११) सोंठ, (१२) भारंगी, (१३) कटेरी पंचांग, (१४) मूर्वा, (१५) बायबिडंग, (१६) बीजसार, (१७) चित्रक की छाल, (१८) शतावर, (१९) त्रायमाण, (२०) छोटी पिप्पली, (२१) वासा पत्र, (२२) भांगरा, (२३) देवदार, (२४) लाल चंदन, (२५) निशोथ, (२६) वरुण छाल, (२७) बावची, (२८) करंज, (२९) अतीस, (३०) इंद्रायण की जड़, (३१) सारिवा, (३२) पित्त पापड़ा, (३३) कचनार की छाल, (३४) बबूल की छाल, (३५) शरपुंखा, (३६) गुग्गुल, (३७) एरंड मूल, (३८) गोक्षुर, (३९) गोरखमुंडी, (४०) निर्गुंडी, (४१) रास्ना, (४२) चोपचीनी, (४३) अरणी, (४४) सहजन की छाल, (४५) शीशम की छाल।

उपर्युक्त ४५ चीजों को बराबर मात्रा में लेकर उनका जौकुट पाउडर बना लेते हैं और इसे विशेष रोग की 'हवन सामग्री नंबर-(२)' का लेबल लगाकर एक डिब्बे में सुरक्षित रख लेते हैं। हवन करते समय पहले से तैयार की गई 'कॉमन हवन सामग्री नंबर-(१)' की बराबर मात्रा मिलाकर हवन करते हैं। 'कॉमन हवन सामग्री नंबर-(१)' को—अगर, तगर, देवदार, लाल चंदन, सफेद चंदन, असगंध, गुग्गुल, लौंग, जायफल, गिलोय आदि चीजें बराबर मात्रा में मिलाकर बनाया जाता है। हवन सूर्य गायत्री मंत्र से किया जाता है। सूर्य गायत्री मंत्र—**'ॐ भूर्भुवः स्वः भास्कराय विद्महे, दिवाकराय धीमहि, तन्नः सूर्यः प्रचोदयात्।'**

उक्त मंत्र का उच्चारण करते हुए मंत्र के अंत में **'स्वाहा: इदं सूर्याय इदं न मम्'** कहते हुए कम-से-कम चौबीस आहुतियाँ नित्य डालनी चाहिए।

हवन करने के साथ ही उक्त ४५ चीजों से निर्मित जौकुट पाउडर की कुछ मात्रा को बारीक पीसकर कपड़छन करके एक अलग डिब्बे में रख लेना चाहिए। उसमें से हर रोज सुबह-शाम एक-एक चम्मच पाउडर शहद के साथ खाते रहना चाहिए। पाउडर खाने में यदि अरुचिकर लगे तो उसे क्वाथ बनाकर भी पिया जा सकता है। क्वाथ बनाने के लिए चार चम्मच पाउडर लेकर आधा लीटर पानी में रात्रि को स्टील के भगोने में भिगो देना चाहिए और सुबह मंद आँच पर उबालकर क्वाथ बना लेना चाहिए। क्वाथ उबलकर जब चौथाई रह जाए तो उसे ठंढा कर बारीक कपड़े से छान लेना चाहिए। इसकी दो मात्रा बनाकर आधी मात्रा सुबह एवं आधी मात्रा शाम को एक चम्मच शहद मिलाकर रोगी को पिलाते रहना चाहिए। यह दोनों क्रम हवन और क्वाथ तब तक चलाते रहना चाहिए जब तक रोग निर्मूल न हो जाए। उपर्युक्त औषधियों में से यदि कुछ उपलब्ध न हों, तो भी जितनी मिल सकें उतने से ही यज्ञोपचार आरंभ कर देना चाहिए।

यज्ञचिकित्सा के साथ ही पीड़ित अंग पर वातनाशक तैल की मालिश भी करनी चाहिए। तैल इस प्रकार बनाया जाता है—(१) सरसों तैल-१०० मि.ली, (२) तिल तैल-१०० मि.ली, (३) एरंड तैल-५० मि.ली, (४) मालकांगनी के बीज-२४ ग्राम, (५) कायफल-१२ ग्राम, (६) जायफल-१२ ग्राम, (७) शतवार-१२ ग्राम, (८) बकायन-१२ ग्राम, (९) सोंठ-१२ ग्राम, (१०) कतीरा-१२ ग्राम, (११) अकरकरा-१२ ग्राम, (१२) करंज-१२ ग्राम, (१३) नारियल गिरी-१२ ग्राम, (१४) इलायची-१२ ग्राम, (१५) लौंग-१२ ग्राम, (१६) हल्दी-१२ ग्राम, (१७) समुद्र खार-१२ ग्राम, (१८) कुचला-१२ ग्राम, (१९) बादाम-१२ ग्राम, (२०) कुलंजन-१२ ग्राम, (२१) समीर-१२ ग्राम, (२२) काला धतूरा-२ ग्राम, (२३) आक-२ ग्राम, (२४) भिलावा-२ ग्राम, (२५) तंबाकू-२ ग्राम, (२६) सहजन-२ ग्राम, (२७) मकोय-२ ग्राम, (२८) मोम-२ ग्राम, (२९) आक के पत्ते, थूहर के पत्ते एवं एरंड के पत्ते-(प्रत्येक पाँच-पाँच) (३०) भांगरा-२ ग्राम ।

मोम को छोड़कर उपर्युक्त सभी चीजों को ३ लीटर पानी में डालकर मंद आँच पर क्वाथ बना लेना चाहिए और जब पानी आधा रह जाए तो उसे ठंढा करके छान लेना चाहिए। अब इस छने हुए क्वाथ में तीनों तेल एवं मोम डालकर तब तक मंद आँच पर पकाना चाहिए जब तक सारा पानी जल न जाए। तेल मात्र शेष रहने पर उसे उतारकर ठंढा होने पर छान लेना चाहिए। निरंतर इस तेल की मालिश से गाउटी आर्थ्राइटिस एवं घुटने का शोथ एवं जोड़ों का दरद बिलकुल ठीक हो जाता है।

परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी

भगवान के अनुदान किन शर्तों पर मिलते हैं

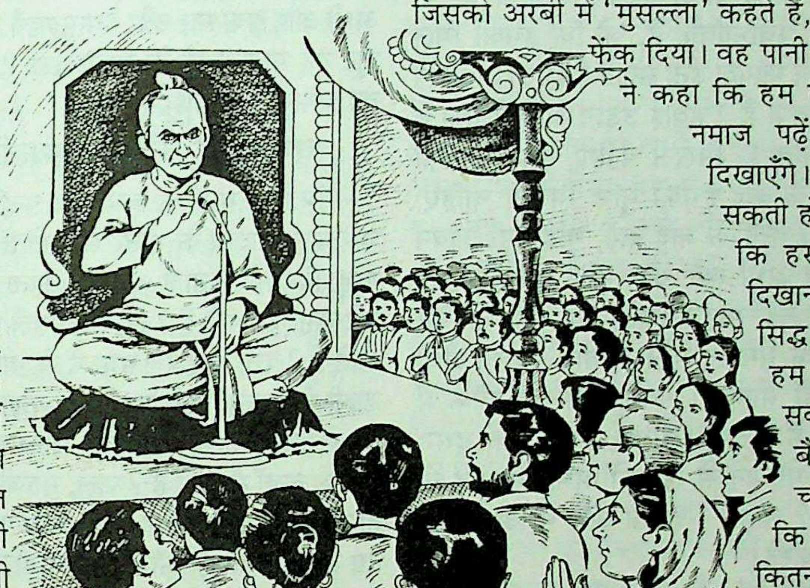

.... गतांक से आगे

मित्रो ! मैं आपको उस अध्यात्म को सिखाना चाहता हूँ, जिसे मेरे गुरु ने मुझे सिखाया और जिसे ऋषियों ने अपने शिष्यों को पढ़ाया । हम उसी शानदार सिद्धांत पर विश्वास करते हैं और आपको उसी शानदार अध्यात्म को अपनाने की प्रार्थना करते हैं। इसी के लिए हमने सब इंतजाम रचाया है। अगर आप सीख सकते हों, कर सकते हों, तो कर लें, सीख लें। फायदा उठा सकते हों तो फायदा उठा लें। जो अध्यात्म हम सिखाना चाहते हैं, जिसके लिए हमने आपको इस आध्यात्मिक शिविर में बुलाया है, वह कैसा अध्यात्म है! उसके तीन फायदे हैं। सिद्धियाँ कितनी होती हैं ? यह आठ होती हैं, लेकिन ये अष्ट सिद्धियाँ और नौ ऋद्धियाँ मेरी समझ में नहीं आतीं। मेरी समझ में तो तीन सिद्धियाँ आती हैं और ये सुनिश्चित रूप से मिलती हैं। अष्ट सिद्धियों के बारे में तो मैं नहीं कह सकता कि इससे हवा में तैरना आ जाता है। हाँ गुरुजी! सिद्धियों से चमत्कार आते हैं। अष्ट सिद्धियाँ, नव निधियाँ होती हैं। अच्छा तो आपका मतलब हवा में तैरने से है। आप यही कह रहे थे न कि सिद्धियाँ मिल जाएँ। चलिए सिद्धि की एक घटना याद आ गई, उसे ही आपको सुनाता हूँ।

जमीन पर चलें, हवा में नहीं

हसन नाम के एक बड़े सिद्ध पुरुष थे। राबिया नाम की एक संत महिला भी बड़ी सिद्ध थी। दोनों की ख्याति दूर-दूर तक फैली थी। हसन के बारे में राबिया ने तारीफ सुन रखी थी और राबिया की तारीफ हसन ने सुन रखी थी। एक बार हसन ने कहा—चलो हमें ही राबिया के पास जाना चाहिए। हसन राबिया के पास पहुँच गए। राबिया बहुत खुश हुई। उसने कहा—आप आ गए, हमारा भाग्य खुल गया। हम तो कहीं जाते नहीं, आपने कृपा की और हमारे घर आ गए। उन्हें बिठाया, स्वागत-सत्कार किया।

नमाज पढ़ने का वक्त आ गया। हसन ने कहा—राबिया ! आज हम साथ-साथ नमाज पढ़ेंगे। नमाज का टाइम हो गया तो पढ़नी ही चाहिए। उन्होंने अपना बिछाने का कपड़ा-जिसको अरबी में 'मुसल्ला' कहते हैं, लिया और पानी में फेंक दिया। वह पानी में तैरने लगा। हसन ने कहा कि हम तो पानी पर बैठकर नमाज पढ़ेंगे और चमत्कार दिखाएँगे। राबिया तुम भी आ सकती हो। राबिया समझ गई कि हसन अपनी करामात दिखाना चाहते हैं और यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हम पानी पर सवार हो सकते हैं और बिना डूबे बैठ सकते हैं । वे चमत्कार दिखा रहे थे कि देखो हमारे पास कितनी सिद्धियाँ हैं !

राबिया को बहुत दुःख हुआ। राबिया उनके पास तो नहीं गई, पानी के ऊपर मुसल्ला भी नहीं फेंका। उसने अपना मुसल्ला फौरन हवा में फेंक दिया। वह हवा में तैरने लगा। राबिया ने कहा—हसन ! पानी में नमाज पढ़ना ठीक नहीं। पानी में मेढक रहते हैं, पेशाब करते हैं। मछलियाँ अंडे देती हैं। इसलिए उसमें हमेशा गंदगी छाई रहती है। इसमें बहकर कूड़ा-कचरा आ जाता है, बादलों की धूल आ जाती है। ये गंदी जगह है। पानी खुदा की नमाज पढ़ने के लिए ठीक नहीं है। आइए हवा में नमाज पढ़ेंगे।

हसन पानी-पानी हो गए। पानी पर तैरने की तो उन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली थी, पर हवा में तैरने की सिद्धि नहीं आई थी। राबिया के सामने जब हसन शर्मिंदा हो गए, तो राबिया ने कहा—हसन आप गलती पर थे और मैं आप से भी ज्यादा गलती पर थी। जो काम एक मेढक और मछली कर सकती है, आप वह काम करने वाले थे और यह दिखाने वाले थे कि हम कोई चमत्कार दिखाने वाले हैं और मैं आपसे

भी ज्यादा बेअक्ल थी। मैंने अपना मुसल्ला हवा में फेंक करके यह जाहिर करने की कोशिश की कि जो काम एक मच्छर कर सकता है, एक कीड़ा, एक पतंगा कर सकता है, उस कीड़े, मक्खी, मच्छर वाले काम को मैं करने जा रही थी। मैं आप से भी ज्यादा बेअक्ल थी और आप मुझसे भी ज्यादा बेअक्ल थे। आइए हम लोग जमीन पर मुसल्ला बिछाएँ और जमीन पर चलें।

अध्यात्म : एक नकद धर्म

मित्रो ! आप जमीन पर चलिए, हवा में तैरना बंद कीजिए। देवलोक जाना बंद कीजिए। सिद्धियों का ख्वाब देखना बंद कीजिए। आप जमीन पर आइए और जमीन पर चलना शुरू कीजिए, ताकि वो अध्यात्म मिल सके जो कि हमारे लिए संभव है, स्वाभाविक है, जो कि हमको मिल सकता है, जिससे आप फायदा उठा सकते हैं। ऐसा अध्यात्म लेने में आपको हर्ज क्या है ! हवाई उड़ान आपको क्या दे सकती है ! आपको हवा ही मिलनी चाहिए, इससे आपको क्या फायदा ! मरने के बाद हमको मुक्ति मिलनी चाहिए, स्वर्ग मिलना चाहिए। मरने के बाद क्यों, यदि इसी जीवन में, इसी जन्म में और अभी स्वर्ग और मुक्ति मिल जाए तो क्या हर्ज है आपको ! नहीं साहब ! कोई हर्ज नहीं। तो फिर आप क्यों कहते हैं कि भगवान् मरने के बाद मिले। अभी क्यों नहीं मिले? नहीं साहब ! भगवान् तो धर्म लोक में रहता है, बैकुंठ लोक में रहता है। चलिए, हम आपको दूसरा फायदा करा दें और भगवान् से आपको अभी मिला दें तो कोई हर्ज है आपको? साहब ! वो तो और भी अच्छा है, आप वही क्यों नहीं करते।

मित्रो ! आप नकद धर्म को ग्रहण कीजिए और उसकी कीमत चुकाइए। नकद धर्म कैसा होता है? जो ध्यान हम आपको सिखाना चाहते हैं, उसमें तीन सिद्धियाँ हैं। चौथी सिद्धि तो उसका ब्याज है। मूलधन वह होता है, जिसे बैंक में जमा कर देते हैं। ब्याज क्या होता है? बेटे, ब्याज वह धन होता है, जो आपके जमापूँजी पर आठ-दस प्रतिशत के हिसाब से अतिरिक्त रूप में मिलता है। अपना रुपया हमारे बैंक में जमा कर जाइए, हम आपको और भी नफा दे देंगे। क्या नफा दे देंगे? हम आपको ब्याज दे देंगे। ब्याज हमारा रुपया नहीं ! हाँ ब्याज आपका तो नहीं है, पर हम आपको दे देंगे। कौन-सी वाली ब्याज है, जो आप चाहते हैं, वह मूलधन नहीं है, ध्यान रखें। अध्यात्म नकद धर्म है, मूलधन है, ऋद्धि-सिद्धियाँ उसकी ब्याज हैं।

साथियो ! जिस तरह का अध्यात्म हम आपको सिखाना चाहते हैं, उसके लिए हम आपको तरीके बताएँगे। उसकी साधना सिखाने का ही हमारा उद्देश्य है। उसके लिए ही आपको बुलाना पड़ता है। आप न सीखें, न समझें तो फिर हम क्या कर सकते हैं ! आप पर तो गलतफहमियाँ हावी होती जा रही हैं। इन गलतफहमियों को जब तक न निकालूँ, तब तक वास्तविकता आपको कैसे बताऊँ। आप पर तो यही गलतफहमियाँ हावी हो रही हैं कि मंत्र जपो, धन आएगा। आपको वहाँ बैठे ही मूलधन चाहिए। अगर आप ऐसे ही उलझे रहेंगे तो मैं आपको सच्चा अध्यात्म कैसे बताऊँगा? नहीं गुरुजी ! आप ऐसा मंत्र बताइए जिससे पैसा मिल जाए, बेटा मिल जाए। चलो अभी बता देते हैं। क्या मंत्र है ! बस वही है जो बाबा बता गया था और आपसे मोटी दक्षिणा ले गया था। चलो हम भी वही बता देते हैं। क्या है? वही– ''ह्रीं श्रीं क्लीं चामुण्डयै बिच्चै:'' बेटे, इससे तो बहुत रुपया आया होगा? हाँ गुरुजी ! हमने जप किया था। अच्छा तो अभी और झक मार और 'चामुण्डयै बिच्चै:' जपता रह। दुष्ट लूट का माल मारने के लिए खड़ा है और कहता है कि मंत्र का चमत्कार दिखाइए।

चमत्कारों की जन्मस्थली अपना आपा

मित्रो ! मंत्रों के चमत्कार कहाँ से आते हैं? मंत्रों के चमत्कार आदमी के भीतर से आते हैं। पेड़ जो आपको बाहर खड़ा दिखाई पड़ता है, कहाँ से आता है? पेड़ पर फल, फूल, पत्ते कहाँ से आते हैं? अच्छा, पहले बताइए कि पत्ते कहाँ से आते हैं? पत्ते, साहब ! हवा में से भागते हुए आ जाते हैं और डाली से चिपक जाते हैं। अच्छा फूल कहाँ से आते हैं? फूल रात में तारों से ऊपर से गिरते हैं और पेड़ पर चिपक जाते हैं और ये फल कहाँ से आते हैं? फल, गुरुजी ! रात में बादल आते हैं तो बहुत से फल लाते हैं। अच्छा तो फल क्या करते हैं? टप-टप टपक पड़ते हैं और पेड़ पकड़ लेते हैं। पेड़ उन सबको चिपका लेते हैं। बेटे, ये तेरा ख्याल गलत है कि फल बाहर से आते हैं। अच्छा, ये फूल भी बाहर से आते हैं और पत्ते भी बाहर से आते हैं? हाँ साहब । नहीं बेटे, तेरा यह ख्याल गलत है। तो गुरुजी ! आप ही बताइए कि सही बात क्या है? बेटे, पेड़ की जड़ें जमीन में होती हैं, जो दिखाई नहीं पड़तीं। ये जड़ें जमीन से रस चूसती हैं और उसे चूसने के बाद खाने की तरह ऊपर तने में फेंक देती हैं, डालियों में फेंक देती हैं, पत्तों में फेंक देती हैं, फूलों में फेंक देती हैं और फलों में फेंक देती हैं। यह कहाँ से आता है? बाहर से नहीं भीतर से आता है। बाहर से मतलब-देवताओं से नहीं आता। आप समझते क्यों नहीं? इसी का नाम अध्यात्म है।

अध्यात्म किसे कहते हैं? 'साइंस ऑफ सोल' को अध्यात्म कहते हैं। सोल की साइंस में—आत्मा के विज्ञान में हर चीज भीतर से निकलती है। आप बाहर से ही माँगते हैं। देवताओं से माँगते हैं। मनुहार-उपहार, अनुग्रह-उपहार यही आपकी मान्यता है। मनुहार करेंगे, उपहार पाएँगे, यही ख्याल है न आपका? नहीं अच्छा बताइए कि बादलों में पानी किसने पैदा किया? नहीं

साहब, मनुहार करेंगे, उपहार पाएँगे, साष्टांग दंडवत करेंगे और उपहार पाएँगे, आशीर्वाद पाएँगे। आपको यह सब किसने कहा था? साहब! वो बाबा कह रहा था। पागल है बाबा।

मित्रो! क्या करना चाहिए? आपको वास्तविकता के नजदीक आना चाहिए। वास्तविकता के फायदे बताने के बाद मैं आपको आध्यात्मिकता के तरीके बताना चाहूँगा कि आपको क्या करना चाहिए। वास्तविकता के फायदे जानने के बाद यदि आपको काफी मालूम पड़ते हों, तो आप अध्यात्म के नजदीक आइए और अगर ये कम मालूम पड़ते हों तो आप न भी आएँ तो कोई हर्ज नहीं है। हमने तो इससे तीन फायदे उठाए हैं। पहला फायदा यह आता है कि हमारा भीतर वाला हिस्सा-जिसको हम 'अंत:करण' कहते हैं, इतना शुद्ध और पवित्र हो जाता है कि आदमी को हर समय एक वरदान मिलता रहता है, जिसको हम 'संतोष' कहते हैं।

अंदर की खुशी : एक दिव्य वरदान

मित्रो! खुशियों के तरीके दो हैं। एक खुशी बाहर से आती है-मसलन खाना। खाने के समय कोई जायकेदार चीज मिल जाए तो यह एक बाह्य खुशी है। साहब क्या खाकर आए? पेड़े खाकर आए, लड्डू खाकर आए, अच्छा ठीक और एक खुशी वो होती है कि आप सिनेमा देखकर आए। ये कौन-सी खुशियाँ हैं? ये चीजें मिलने की वजह से खुशियाँ होती हैं। ये खुशियाँ होती तो हैं, पर थोड़ी देर के लिए ही ठहरती हैं, फिर गायब हो जाती हैं। सिनेमा देखकर आए-गायब, मिठाई खाकर आए, गायब। थोड़ी देर में ही ये सारी खुशियाँ गायब हो जाती हैं। ये टिकाऊ नहीं होतीं। टिकाऊ चीज क्या होती है? जो चीज भीतर से निकलती है, उसका नाम है-'शांति'। शांति का ही दूसरा नाम संतोष है। शांति के बारे में जो आपने सुन रखा है, उस चैन को शांति नहीं कहते। कोई मुसीबत न आए, हल्ला-गुल्ला न मचे, कोलाहल न हो, इसे शांति नहीं कहते। नहीं साहब! शांति उसे भी कहते हैं कि काली कमली लेकर चले जाएँगे और कहीं गुफा में रहेंगे, जहाँ कोई झंझट, घोटाला न हो, कोई बोले-चाले नहीं। हर तरफ शांति हो। बेटे, ये मान्यता गलत है। यह शांति की परिभाषा नहीं है। शांति की प्राथमिक परिभाषा यह है कि आदमी को संतोष रहता है। संतोष किसको रहेगा? संतोष सिर्फ एक आदमी को रहेगा, जिसने अपने जीवन का क्रम ऐसा बना लिया है कि जिससे उसके अंदर अंतर्द्वंद्व नहीं रहते।

अंतर्द्वंद्व क्या है? अंतर्द्वंद्व बेटे दो साँड़ों की लड़ाई की तरह है। दो साँड़ों की लड़ाई देखी है न आपने? हाँ गुरुजी! जब दो साँड़ लड़ते हैं तो खेत को, दुकान को बहुत नुकसान पहुँचाते हैं। एक बार तो दो खोमचे वाले बैठे थे और दो साँड़ लड़ते हुए आ गए। फिर क्या हुआ? उन्होंने खोमचे वालों का सामान फैला दिया और मुसाफिरों को धक्के मारे। और क्या हुआ? और गुरुजी! उसने दीवार में टक्कर मारी और धकेल वाले को उछाल दिया। एक दिन हमने खेत में लड़ते हुए साँड़ देखे। वो क्या करते थे? गुरुजी! वे दोनों ऐसे लड़े कि बेचारी गेहूँ की फसल और धान की फसल को चौपट करके धर दिया। लड़ते-लड़ते वे सब चौपट कर गए।

मित्रो ! साँड़ कहाँ होते हैं? साँड़ हमारे भीतर रहते हैं। साँड़ कौन होते हैं? एक तो वे जिन्हें अवांछनीयता कहते हैं, अनैतिकता कहते हैं। बेटे, हमारे भीतर एक नैतिक पक्ष है और एक अनैतिक पक्ष है। दोनों के भीतर कोहराम मचता रहता है। दोनों के बीच लड़ाई चलती रहती है। यह लड़ाई कभी बंद नहीं होती। एक कहता है कि आप मान जाइए, दूसरा कहता है कि आप मान जाइए। दोनों ही नहीं मानते। हमारे भीतर जो शैतान बैठा हुआ है, वो भी नहीं मानता और अंदर बैठे भगवान् से कहते हैं कि आप ही चुप हो जाइए, तो वो भी नहीं मानता। दोनों के भीतर जो कोहराम मचता रहता है, अंतर्द्वंद्व चलता रहता है, इसकी वजह से हमारे भीतर अशांति पैदा होती है। हर जगह अशांति, हर जगह नाराजगी, हर जगह असंतोष—हमारे भीतर छाया रहता है।

अध्यात्म से क्या हो जाएगा? इस शिविर में मैं उस अध्यात्म को आपको सिखाने वाला हूँ, जो मुझे मेरे गुरु ने सिखाया है और उसका परिणाम नगद धर्म है। इससे आपको क्या मिलेगा? इससे आपको भीतर से एक ऐसी चीज मिलेगी, जिसे संतोष कहते हैं। संतोष किसे कहते हैं? बेटे, संतोष उसे कहते हैं जिसके कारण आदमी मस्ती में झूमता रहता है, खुशी से झूमता रहता है। आदमी की परेशानियाँ दूर हो जाती हैं। न आदमी को ट्रैंक्युलाइजर की गोलियाँ खानी पड़ती हैं, न ड्रिंक करना पड़ता है और न सिनेमा जाना पड़ता है। आदमी अपनी जिंदगी शांति से, चैन से जी लेता है। ऐसी शांति की जिंदगी, जिसमें बहुत गहरी नींद आती है। भगवान बुद्ध पूरे आठ घंटे सोया करते थे। उनकी नींद में एक और विशेषता थी कि जिस भी करवट एक बार हाथ धर कर सो जाते थे, सबेरे उधर ही उठते थे। सोते समय एक बार जिधर पैर रख लिया, सबेरे तक वह वहीं रहेगा, क्योंकि उन्हें बहुत गहरी नींद आती थी। नींद का मजा तो आपने लिया ही नहीं। आपने किसका मजा लिया—रोटी का मजा लिया। कभी आपको असली मजा लेना हो तो—नींद का होता है, उसे लेना। आज इसके बिना आदमी हैरान रहते हैं और कहते हैं कि नींद ही नहीं आती। नींद किसको आएगी? हरेक आदमी को आएगी, जिसका अंतर्द्वंद्व बंद हो जाएगा। जिनके अंदर के साँड़ लड़ना बंद कर देंगे। जो एक रास्ते पर चलेंगे।

क्रांतिकारी अध्यात्म की ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ

मित्रो! अगर आपको यह पसंद हो कि आपको संतोष हो और संतोष की वजह से शांति मिले, तो आपको इस अध्यात्म

को अपनाना होगा। इसमें फसल भीतर से उगना शुरू कर देती है, जिसको आप अतींद्रिय क्षमता कहते हैं। अतींद्रिय क्षमता क्या होती है? दूरदर्शन की क्षमता—दूर देखने की क्षमता, दूर श्रवण की क्षमता। हमारे अंदर टेलीविजन लगे हुए हैं, वायरलेस लगे हुए हैं। इतने सारे वैज्ञानिक उपकरण लगे हुए हैं, जो साधारण आदमी को नहीं मिल सकते, लेकिन आप को मिल सकते हैं। शर्त केवल यह है कि आपके भीतर जो कोहराम मचा रहता है, उसे आप बंद कर दें।

साथियो! जो अध्यात्म हम आपको सिखाएँगे, उसमें यह कोहराम बंद हो जाएगा। जब आपके अंदर का कोहराम खत्म हो जाएगा, तब हर जगह आपको जिंदगी का जायका, जिंदगी का मजा मिलेगा। जिंदगी का मजा संतोष के ऊपर टिका हुआ है, खुशी के ऊपर टिका हुआ है। आप सारे कार्य खुशी के लिए ही तो करते हैं! खुशी के लिए सिनेमा देखते हैं। खुशी के लिए बच्चों के ब्याह में सम्मिलित होते हैं, लेकिन खुशी का बेहतरीन स्वरूप वो है, जिसको हम संतोष कहते हैं। संतोष अगर आपको मिल सकता है, तब आपके चेहरे पर हर समय खुशी दिखाई पड़ेगी। चेहरे पर आपको क्या मालूम पड़ेगा? दो बातें मालूम पड़ेंगी—एक तो आपको गहरी नींद आया करेगी और दूसरा आपके चेहरे पर गुलाब के फूल की तरह खुशी दिखाई पड़ेगी। फिर आपकी खीझ, आपकी झल्लाहट, आपकी नाराजगी सब दूर हो जाएगी।

मित्रो! वो अध्यात्म जो हम आपको सिखाने वाले हैं और जिसको हमारे गुरु ने सिखाया है, आपकी जिंदगी में से खीझ खत्म कर सकते हैं। अगर ये सिद्धि आपको मंजूर हो तो आइए हमारे साथ, हम आपको सिखाएँगे। आप उसे सीखिए और कीमत चुकाइए। आदमी का संतोष जो भीतर से निकलता है, प्रतिभा जो भीतर से निकलती है, प्रखरता जो भीतर से निकलती है—सब भीतर से निकलती हैं। 'भीतर' से आप क्या समझते हैं? जमीन के भीतर क्या छिपा हुआ है? बाहर तो मिट्टी है, पर जरा-सा खोद दें तो मिलेगा—पानी। और जरा गहरा खोदें तो पेट्रोल मिलेगा। जहाँ आप बैठे हैं, अगर उस पाँच फुट जगह में मशीन से खुदाई करना शुरू कर दें और जहाँ तक जमीन है, वहाँ तक गड्डा कर डालें, तो उसमें करोड़ों, अरबों, खरबों रुपए की दौलत मिल जाएगी। बेटे, बाहर तो मिट्टी है, पर भीतर संपत्ति है, बहुमूल्य संपदा है।

मित्रो! आदमी के व्यक्तित्व के भीतर जाने क्या-क्या भरा पड़ा है। आदमी के बाहर—यह जो आपको दिखाई पड़ता है, यह रोटी खाता रहता है, टट्टी-पेशाब करता रहता है। यह तो इसका लिफाफा है, जो पैसा कमाता रहता है, सिनेमा देखता रहता है, बच्चे पैदा करता रहता है—यह लिफाफा है। लिफाफा भी होता है और उसमें भी जंजाल बन जाते हैं। कैसे? अरे भाई! जैसे हमारे जुएँ पड़ जाते हैं। जुओं के लिए कोई मकान है? कोई घर-गृहस्थी है? कोई खेती-बाड़ी है? कोई भी नहीं है। वे इसी में गुजारा कर लेते हैं। इसी तरह जुएँ के तरीके से आप अपने जीवन का महत्त्व समझते हैं। सिर में से कितने जुएँ निकले? पाँच। ये पाँच जुएँ क्या होते हैं? ये पाँच बच्चे हैं। जुएँ और बच्चे की बात एक ही होती है—बिल्कुल एक ही बात। बच्चे हमारा बहिरंग जीवन है।

अंतरंग जीवन क्या है? अंतरंग जीवन को तो आपने कभी देखा भी नहीं। उसे कभी छुआ भी नहीं। अंतरंग जीवन की कभी हवा भी नहीं लगी आपको। अंतरंग जीवन की आपको कभी गंध भी नहीं आई। आपने अंतरंग जीवन का स्वरूप ही नहीं देखा। आदमी के अंतरंग का जो स्वरूप है, अगर उसे आप देख पाते, तो आपकी जिंदगी में मजा आ जाता। अगर आप अपने भीतर वाले को शानदार बना लेते, तो मैं यह कहता हूँ कि आपको दो शक्तियाँ मिलतीं। एक तो आपको गहरी नींद आती। गुरुजी! आपको गहरी नींद आती है? हाँ बेटे, हमको ऐसी गहरी नींद आती है कि हम आठ बजे यहाँ से जाते हैं और बिस्तर पर लेटते ही साढ़े आठ बजे तक गहरी नींद में चले जाते हैं, फिर साढ़े बारह बजे हमारी आँख खुल जाती है और एक बजे तक आधे घंटे में हम नहा-धोकर अपना काम चालू कर देते हैं, भजन-पूजन करते हैं। हम कितने घंटे सोते हैं? चार घंटे सोते हैं। चार घंटे में हमको इतनी गहरी नींद आती है कि चाहे जमीन फट जाए या आसमान टूट जाए, हमें सामान्य घटनाएँ प्रभावित नहीं करतीं।

संतोष धन : सबसे बड़ी पूँजी

हमें इतनी गहरी नींद क्यों आती है? क्योंकि हमें कोई चिंता नहीं है। आपके शांतिकुंज की हमें बिलकुल चिंता नहीं, गायत्री तपोभूमि की हमको बिलकुल चिंता नहीं। आपके युग निर्माण की हमको बिलकुल चिंता नहीं। क्यों? क्योंकि हम भगवान पर विश्वास करते हैं। आपको चिंता क्यों है? क्योंकि आप भगवान पर विश्वास नहीं करते। भगवान का नाम लेते हैं, पर भगवान पर विश्वास नहीं करते। हम भगवान पर विश्वास करते हैं और ये समझते हैं कि सारी दुनिया उसी के चक्र पर घूम रही है और हम भी उसी के इशारे पर कठपुतली की तरह काम करते हैं और उसको जो काम करना होगा, वह ठीक हो जाएगा। इसीलिए हमें पूरी नींद आती है और रात को जरा भी असंतोष नहीं होता और चिंता बिलकुल नहीं आती। और क्या रहता है? बेटे, हमारे चेहरे पर मुस्कराहट छाई रहती है।

मित्रो ! गाँधी जी के चेहरे पर सदैव मुस्कराहट रहती थी, वे जल्दी-जल्दी हँसते रहते थे। वे मजाक भी करते थे। गाँधी जी से एक बार पूछा कि आप तो बार-बार हँसते हैं। उन्होंने कहा—हँसेंगे नहीं तो जिएँगे कैसे। हँसने के ऊपर ही

तो हमारी जिंदगी कायम है। जो आदमी हँसते नहीं, वे मनहूस होते हैं। मनहूस माने राक्षस, शैतान—जिसको देखकर बच्चे भाग जाते हैं। यह कौन आ गया? मनहूस आ गया। मनहूस कैसा होता है ? जैसे—पापा। पापा किसे कहते हैं ? मनहूस को। पापा जब घर में घुसेगा तो सब पर हावी होता चला जाएगा। बीबी पर हावी, बच्चों पर हावी, साइकिल पर हावी, खाने पर हावी, थाली पर हावी—सब चीजों पर हावी होता चला जाएगा। यह कौन है? मनहूस है, राक्षस है जो हँसना-हँसाना नहीं जानता।

मित्रो! अगर आपके भीतर कदाचित् अध्यात्म आ गया तो आपके चेहरे से मिठास बरसेगी। आपकी वाणी से रस बरसेगा। आपके व्यवहार में न जाने क्या-क्या शानदार चीजें आएँगी। अध्यात्म उस चीज का नाम है जो आपके भीतर संतोष लाकर के देगा। यह हुई सिद्धि नंबर एक। अगर आपको यह सिद्धि स्वीकार हो तो चलिए फिर हम आपको साधना बताएँगे। गुरुजी! साधना बताने में तो बहुत टाइम लग जाएगा ? नहीं बेटे ये तो मिनटों की बात है। आपरेशन में क्या देर लगती है ! दवा खिलाने में क्या देर लगती है ! इंजेक्शन तो एक मिनट में लगा देंगे। और क्या करेंगे? खान-पान का परहेज रखते हुए मरीज ठीक हो जाएगा। असली इलाज तो बेटे परहेज है। नहीं साहब! सुई है। सुई में कितनी ताकत है? सुई में तो बेटे जरा भी ताकत नहीं है, पर परहेज में बहुत है।

अच्छा, अब आप क्या पढ़ा रहे हैं। अब बेटे हम परहेज पढ़ा रहे हैं और फिलॉसफी पढ़ा रहे हैं। और आगे क्या बताएँगे—मंत्र? मंत्र तो कभी भी बता देंगे। मंत्रों में क्या देर लगती है। यह तो सेकंड का काम है। जब आप कहेंगे, चलते-फिरते तभी बता देंगे। अभी असली बात तो उसकी 'फिलॉसफी' सीखिए। बेटे, हम आपको वो अध्यात्म सिखाने के इच्छुक थे, जिसको अगर आप सीखना चाहें तो आपको एक और चीज मिल सकती है। इसको सीखने पर आपको एक और सिद्धि मिलेगी। वो सिद्धि बाहर की होगी। पहली सिद्धि भीतर से मिलेगी और उसका नाम है—संतोष। संतोष की वजह से आपका स्वास्थ्य, संतोष की वजह से आपकी खुशी, संतोष की वजह से आपकी जवानी, संतोष की वजह से आपकी दबी हुई अतींद्रिय क्षमताओं का विकास ये सब के सब भीतर से मिलेंगे।

और बाहर से—दुनिया से क्या मिलेगा? दुनिया से भी बेटे आपको एक चीज मिलेगी। दुनिया आपको कैसे देगी? दुनिया कभी आपने देखी है? मोटर साइकिलें जब भागती हैं, तो उसके पीछे-पीछे पत्ते भागते हैं। आपने देखे हैं कि नहीं देखे ? पत्तों को कोई बुलाता है क्या? वे अंधाधुंध भागते हुए चले आते हैं। अरे बाबा! तुम कहाँ जा रहे हो? हम तो कहीं नहीं जा रहे, इस दौड़ती हुई मोटर के साथ जा रहे हैं। ये मोटर कौन है, तुम्हारी मौसी है या रिश्तेदार? कोई नहीं है। जब ये मोटर भागती है तो इसकी कशिश हमें खींचती है । रेत के कण, धूल, पत्ते इसके पीछे-पीछे भागते-फिरते रहते हैं। भीतर वाली कशिश और भीतर वाली मैग्नेट जब विकसित होती है तो दुनिया बेटे, आपको एक उपहार देती है और उस उपहार का नाम है—'सम्मान'। बाहर की इस सिद्धि को पाकर आप सम्मानित व इज्जतदार आदमी बन जाएँगे।

सम्मान बरसेगा

मित्रो! जो अध्यात्म मैं आपको सिखाने वाला हूँ, मालूम नहीं कि आप सीखेंगे कि नहीं और हम सफल होंगे कि नहीं, लेकिन यदि आपने सीख लिया तो एक चीज और आपको मिलेगी। दुनिया की दृष्टि से आपको सम्मान मिलेगा। गुरुजी! वैसे तो सम्मान किसी को मिलता नहीं, हाँ चापलूसी जरूर मिलती है। हाँ बेटे, चापलूसी तो खरीदी भी जा सकती है। पैसे दीजिए, चापलूसी खरीद लीजिए। चापलूसी आप कहीं से भी खरीद लीजिए। भाँड़ों से, रंडियों से, चमचों से—किसी से भी चापलूसी खरीद लीजिए और अपना फोटो छपवा लीजिए। लेकिन आप जो चाहते हैं, वह सम्मान नहीं है। वह तो चापलूसी है और जब आपकी खरीदने की ताकत कम हो जाएगी, तो ये नाराज हो जाएँगे। अभी रंडी आपको मदिरा पिलाती है, पान खिलाती है और कहती है कि आइए, आप बहुत दिन में आए, लेकिन जब आपके पैसे खत्म हो जाएँगे, ये लात मारेगी और कान उखाड़ देगी।

बेटे, जिसे आप इज्जत कहते हैं, वह पैसे से नहीं खरीदी जा सकती है। मैं जिस सम्मान की बात कहता हूँ, वह वो चीज है जो उन लोगों पर बरसती है, जिन्हें हम अध्यात्मवादी कहते हैं। उनके ऊपर सम्मान बरसता है, श्रद्धा बरसती है और उससे जो फायदा होता है; उसे आप नहीं समझ सकते।

मित्रो! श्रद्धा के साथ, सम्मान के साथ एक और चीज जुड़ी होती है और उसका नाम है—सहायता। श्रद्धा के साथ सहायता जुड़ी होती है। श्रद्धा आपके साथ में आएगी, अगर जन-समाज का सम्मान आपके प्रति होगा, तो आपके प्रति बेटे सहयोग जरूर आएगा। नानक के प्रति श्रद्धा थी, अतः लोगों का सहयोग आया। उनका स्वर्ण मंदिर बना हुआ है, जो इसका साक्षी है। बुद्ध के प्रति श्रद्धा पैदा हुई और उनके प्रति लोगों का सम्मान पैदा हुआ। अशोक ने तो कमाल ही कर दिया था। आम्रपाली से लेकर अंगुलिमाल तक कौन-कौन जाने कितने आदमियों का सहयोग इस कदर बरसता था कि मैं आपसे क्या कहूँ? जहाँ सम्मान होगा, वहाँ सहयोग अवश्य बरसेगा।

—क्रमशः (समापन अगले अंक में)

⁂

चित्तवृत्ति निरोध की अनुभूति कैसे हो

अंतर्यात्रा के विज्ञान की यह तीसरी कड़ी है। योग साधकों ने पिछले अंक में साधना के प्रवेश द्वार के रूप में योग दर्शन के प्रथम पाद के प्रथम सूत्र पर मनन किया। जो अपनी सम्यक् दृष्टि से इस पहले सूत्र का रहस्य जान चुके हैं, उनके लिए महर्षि पतंजलि समाधिपाद के दूसरे सूत्र में योग के सत्य को समझाते हैं; योग के स्वरूप को परिभाषित करते हैं। इसकी व्याख्या करते हैं। क्योंकि जिनकी अंतर्चेतना में शिष्यत्व जन्म ले चुका है, जो अपने सद्गुरु द्वारा दिए गए अनुशासन को स्वीकारने के लिए कृतसंकल्प हैं, उन्हें योग के स्वरूप को जानना, इसे आत्मसात् करना जरूरी है। योगसाधकों की साधना का यह आवश्यक तत्त्व ही महर्षि के इस दूसरे सूत्र के विचार का विषय है।

इस दूसरे सूत्र में महर्षि कहते हैं— **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**। यही योग की मूलभूत एवं मौलिक परिभाषा है। इस सूत्र के शब्दों का अर्थ है—योगः=योग, चित्तवृत्तिनिरोधः= चित्त की वृत्तियों को रोकना (है)। लेकिन साधकों की दृष्टि में इस सूत्र का अर्थ है—योग मन की समाप्ति है। परमपूज्य गुरुदेव योग साधना के इस सत्य को समझाते हुए कहा करते थे, ''साधक का मन मिटे तो उसे योग की सचाई समझ में आए।'' महर्षि पतंजलि एवं गुरुदेव दोनों ही खरे वैज्ञानिक हैं, एकदम गणितज्ञ। वे इधर-उधर की बातें करके न अपना समय खराब करते हैं और न ही साधकों का।

उन्होंने पहले भी प्रथम सूत्र में एक वाक्य कहा था—'अब योग का अनुशासन'—और बस बात समाप्त। इस एक वाक्य में उन्होंने परख लिया कि साधकों में सचाई कितनी है, उनमें खरापन कितना है। यदि वे सच्चे और खरे हैं, योग में उनकी सचमुच रुचि है—आशा, अभिलाषा के रूप में नहीं, अनुशासन के रूप में, जीवन के रूपांतरण के रूप में, अभी और यहाँ ही। ऐसे खरे और सच्चे साधकों को वे योग की परिभाषा देते हैं, योग मन की समाप्ति है। मन मिटे तो बात बने।

यही योग की परिभाषा है, सही और सटीक। अलग-अलग आचार्यों ने, शास्त्रों ने योग को कई तरह से परिभाषित

किया है। उन्होंने अनेकों परिभाषाएँ ढूँढ़ी और बताई हैं। कुछ का मत है, योग दिव्य सत्ता के साथ मिलन है। इनके अनुसार योग का मतलब ही मिलना, दो का जुड़ना। कई कहते हैं, योग का मतलब है—अहंकार का ढह जाना। उनके अनुसार अहंकार बीच में दीवार है। जिस क्षण यह दीवार ढह जाती है, साधक दिव्य सत्ता से जुड़ जाता है। दरअसल यह जुड़ाव तो पहले से ही था, वह अहंकार के कारण भेद लगता रहा। ऐसी और भी अनेकों व्याख्याएँ हैं, परिभाषाएँ हैं। जैसे श्रीमद्भगवद्गीता में 'समत्वं योग उच्यते' तथा 'योगः कर्मसुकौशलम्' कहकर योग को परिभाषित किया गया है।

महर्षि पतंजलि इन सभी आचार्यों-शास्त्रकारों से कहीं ज्यादा वैज्ञानिक हैं। वे पत्ते और टहनियाँ नहीं, सीधे जड़ पकड़ते हैं। गीता में बताई गई समता एवं कर्मकुशलता मिलेगी कैसे? दिव्य सत्ता से साधक के अस्तित्व का जुड़ाव होगा किस तरह? महर्षि पतंजलि की परिभाषा में इन सभी सवालों का सटीक जवाब है। वे कहते हैं, जब मन का अवसान हो जाएगा, जब मन मिट जाएगा। उनके अनुसार योग 'अ-मन' की दशा है।

पतंजलि की इस बात को गुरुदेव एक नई वैज्ञानिक अनुभूति देते हैं। वे कहते हैं, सारा कुछ मन का जादू, इंद्रजाल है। यह हटा कि समझो सारा भ्रम मिटा। उनके अनुसार यह शब्द 'मन' सब कुछ को अपने में समेट लेता है—अहंकार, इच्छाएँ, कामनाएँ, कल्पनाएँ, आशाएँ, तत्त्वज्ञान और शास्त्र। जहाँ जो कुछ भी सोचा जा सकता है, सोचा जा रहा है, वह मन है। जो भी जाना गया है, जो भी जाना जा सकता है, जो भी जानने लायक समझा जाता है, वह सब का सब मन के दायरे में है। मन की समाप्ति का मतलब है, जो जाना है, उसकी समाप्ति और जो जानना है उसकी भी समाप्ति। यह तो छलाँग है—ज्ञानातीत में। जब मन न रहा, तो जो बचा वह ज्ञानातीत है।

मन के इसी सत्य को गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने अपने रामचरित मानस में गाया है—"*गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥*" अर्थात् इंद्रियाँ, इंद्रियों की पहुँच और जहाँ-जहाँ तक मन जाता है, हे भाई, तुम उस सब को माया जानना, मिथ्या समझना। महर्षि पतंजलि के अनुसार इसी माया का मिटना, मिथ्या का हटना यानि कि मन का समाप्त होना योग है।

मन की परेशानी, मन से परेशानी, साधकों का सबसे अहम् सवाल है, सबसे जरूरी और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस उलझन को सुलझाने के लिए सबसे पहले यह जान लें कि आखिर मन अपने आप में है क्या? यह हमारे भीतर बैठा हुआ क्या कर रहा है, क्या-क्या कर रहा है? आमतौर पर सब यही सोचते रहते हैं कि मन सिर में पड़ी या रखी हुई कोई भौतिक चीज है, पर परमपूज्य गुरुदेव इस बात को नहीं स्वीकारते। वह कहते हैं कि जिसने भी मन को अंदर से पहचान लिया है, वह ऐसी बातें नहीं स्वीकारेगा। आजकल का विज्ञान भी ऐसी बातों से इनकार करता है। गुरुदेव कहते हैं—मन एक वृत्ति, एक क्रियाशीलता है।

अब जैसे कि कोई चलता हुआ आदमी बैठ जाए, तो बैठने पर उसका चलना कहाँ भाग गया। तो बात इतनी-सी है कि चलना कोई वस्तु या पदार्थ तो था नहीं, वह तो एक क्रिया है। इसलिए कोई किसी के बैठने पर यह नहीं पूछा करता कि तुमने अपना चलना कहाँ छुपाकर रख दिया। यदि कोई किसी से ऐसा पूछने लगे, तो सामने वाला जोर से हँस पड़ेगा। वह यही कहेगा कि यह तो क्रिया है। मैं चाहूँ तो फिर से चल सकता हूँ, बार-बार चल सकता हूँ। चाहने पर चलना रोक भी सकता हूँ। बस ! कुछ इसी तरह मन भी एक तरह का क्रियाकलाप है। बस मन या 'माइंड' शब्द से किसी तत्त्व या पदार्थ के होने का भ्रम होता है। यदि इस माइंड को माइंडिंग कहा जाए तो सही शब्द शायद साफ हो जाए। जैसे बोलना 'टाकिंग' है, ठीक वैसे ही सोचना 'माइंडिंग'। यह सक्रियता थमे तो मन का अवसान हो और साधक योगी बने।

योग की इस सचाई को बताने के लिए गुरुदेव यदा-कदा एक कथा सुनाया करते थे। वह कहते थे कि वाराणसी में रहने वाले महान् संत तैलंग स्वामी के पास एक किसी बड़ी रियासत के राजा गए और उन राजा ने तैलंग स्वामी से कहा, महाराज, मेरा मन बहुत बेचैन है, बहुत अशांत-परेशान है। आप महान् संत हैं, मुझे बताएँ कि मैं क्या करूँ, जिससे कि मेरा मन शांत हो जाए।

तैलंग स्वामी वैसे तो बड़े कोमल स्वभाव के थे, पर कभी-कभी उनका रुख बड़ा अक्खड़ हो जाता था। उस दिन भी उन्होंने बड़े अक्खड़पने से कहा, कुछ भी मत करो। पहले अपना मन मेरे पास लाओ। उस राजा को कुछ भी समझ में नहीं आया। उसने कहा, महाराज! आप क्या कह रहे हैं, मुझे तो कुछ समझ में नहीं आ रहा। तैलंग स्वामी ने उसकी बातों की अनसुनी करके उससे कहा, ऐसा करो, सुबह चार बजे मेरे पास यहाँ कोई नहीं होता, तब आना और अकेले आना और ध्यान रखना, अपना मन भी अपने साथ लेते आना, भूलना मत।

वह राजा सारी रात सो नहीं पाया। कई बार उसने सोचा कि वह उनके पास नहीं जाएगा। बार-बार वह

अपने आप से कहता—इन स्वामी जी को लोग बेकार इतना बड़ा ज्ञानी मानते हैं, यह तो बहकी-बहकी बातें करते हैं। आखिर क्या मतलब है उनका यह कहने से भूलना नहीं, अपना मन भी अपने साथ लेकर आ जाना।

उस राजा को उस रात भारी ऊहापोह रही, परंतु चाहकर भी वह उस भेट को रद्द न कर सके। तैलंग स्वामी थे ही इतने मोहक एवं चुंबकीय। राजा को रात भर यही लगता रहा कि कोई अद्भुत चुंबक उन्हें अपनी ओर खींच रहा है। चार बजने से कुछ पहले ही वह बिस्तर से उठ बैठा और कहने लगा, मैं उनके पास जाऊँगा जरूर। वे थोड़ी-सी बहकी हुई बातें करते हैं तो क्या हुआ, पर उनकी आँखें कहती हैं कि उनके पास कुछ अवश्य है।

ऐसे ही सोच-विचार करते हुए वह तैलंग स्वामी के पास पहुँच गया। पहुँचते ही उन्होंने कहा, आ गए तुम, कहाँ है तुम्हारा मन? राजा बोला, आप भी कैसी बातें करते हैं स्वामी जी। मेरा मन भला और कहाँ होगा, वह तो मुझमें ही है।

तैलंग स्वामी बोले, अच्छा तो पहले इस बात का निर्णय हो गया कि तुम्हारा मन तुझमें ही है, तो अब दूसरी बात मेरी कही हुई करो। अब आँखें बंद करके खोजो जरा कि मन कहाँ है। तुम उसे ढूँढ़ लो कि वह कहाँ है, तो फिर उसी क्षण मुझे बता देना। मैं उसे शांत कर दूँगा।

उस राजा ने तैलंग स्वामी का कहा मानकर आँखें बंद कर लीं और कोशिश करता गया देखने की, और देखने की। जितना वह भीतर झाँकता गया, उतना ही उसे होश आता गया कि वहाँ कोई मन नहीं है, बस एक क्रिया मात्र है—सोचने की क्रिया, आशाओं, अभिलाषाओं, कामनाओं, कल्पनाओं की क्रिया। उसे समझ में आ गया कि मन कोई ऐसी चीज नहीं, जिसकी ओर ठीक से इशारा किया जा सके। लेकिन जिस क्षण उसने जाना कि मन कोई वस्तु नहीं, उसी क्षण उसे अपनी खोज का बेतुकापन भी खुलकर प्रकट हो गया। बात साफ हो गई कि जब मन कुछ है ही नहीं, तो फिर इसके बारे में कुछ किया ही नहीं जा सकता। यदि यह केवल एक क्रिया है तो बस उस क्रिया को क्रियान्वित न करो। यदि वह गति की भाँति चाल है तो मत चलो।

यही सोचकर राजा ने अपनी आँखें खोल दीं। तैलंग स्वामी मुस्कराने लगे और बोले, आ गई बात समझ में ? अब आगे से जब भी तुम महसूस करो कि तुम अशांत हो, बस ! जरा भीतर झाँक लेना। यह झाँकना, यह अवलोकन ही मन की गति को थाम लेता है। यदि तुम पूरी तन्मयता से झाँको तो तुम्हारी सारी ऊर्जा एक दृष्टि बन जाती है। सामान्य क्रम में वही ऊर्जा गति और सोच-विचार बनी रहती है।

परमपूज्य गुरुदेव कहा करते थे—मनुष्य का अभ्यास, उसकी आदतें अपनी समूची ऊर्जा को सोच-विचार बनाने में लगी रहती है। वह जन्म-जन्मांतरों से हो सकता है, लाखों जन्मों से यही करता रहा है। उसके इस सहयोग से, लगातार ऊर्जा देने से मन की नदी आज बड़े ही वेगपूर्ण ढंग से प्रवाहित हो रही है। अपने अतीत के संवेग के कारण मन भारी वेग और आश्चर्यजनक जादुई समर्थता के साथ बहा जा रहा है। जो योग साधना करना चाहते हैं, उन्हें यह बात भलीप्रकार समझ लेनी है।

योग-साधना का अर्थ है—अपने को मन से अलग करना। मन की क्रिया से अपने जुड़ाव-लगाव को खत्म करना। यदि मन के साथ, उसकी क्रियाशीलता के साथ अपनी आसक्ति समाप्त हो जाए, तो मन को ऊर्जा मिलना बंद हो जाती है। फिर तो मन बस थोड़ी देर बहेगा, ऊर्जा के अभाव में स्वयं ही थम जाएगा। जब पिछला संवेग चुक जाएगा, जब पिछली ऊर्जा समाप्त हो जाएगी, तब मन अपने आप ही रुक जाएगा और जब मन रुक जाएगा, तब हम योग साधक से योगी होने की ओर कदम बढ़ाएँगे। तब फिर पतंजलि की परिभाषा, परमपूज्य गुरुदेव के द्वारा कराया गया बोध, हमारी खुद की अपनी अनुभूति बन जाएगा। हम समझ जाएँगे कि 'मन की समाप्ति योग है।'

दैनिक जीवन में १५ मिनट से ३० मिनट का समय निकालकर इसकी अनुभूति पाई जा सकती है। नियत समय एवं नियत स्थान के अनुशासन को स्वीकार कर अपने आसन पर स्थिर होकर बैठें। स्वयं की गहराई में टिकें। पहले ही क्षण मन के वेगपूर्ण प्रवाह की, भारी लहरों की अनुभूति होगी। इस प्रवाह, इसकी लहरों से आकर्षित न हों। स्वयं को इससे असंबद्ध करें। यह अनुभव करें—आप अलग हैं और मन का वेगपूर्ण प्रवाह अलग। जैसे-जैसे अनुभव गाढ़ा होगा, मन का वेगपूर्ण प्रवाह थमता जाएगा। लेकिन ध्यान रहे ! बार-बार मुड़-मुड़कर यह देखना नहीं है कि मन का वेग थमा या नहीं। ऐसा करने से आप फिर से अपनी ऊर्जा मन को देंगे और वह फिर से प्रचंड हो उठेगा। मन से अलग अपने में स्वयं की स्थिरता जितनी बढ़ेगी, उतनी ही 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' की अनुभूति साकार होती जाएगी। यह अनुभूति कैसी है, यह दृश्य महर्षि पतंजलि के अगले सूत्र और परमपूज्य गुरुदेव के वचनों, अनुभवों के झरोखे से आगामी अंकों में .... ।

वह मार्गदर्शन, जिसने इस वटवृक्ष को सींचा

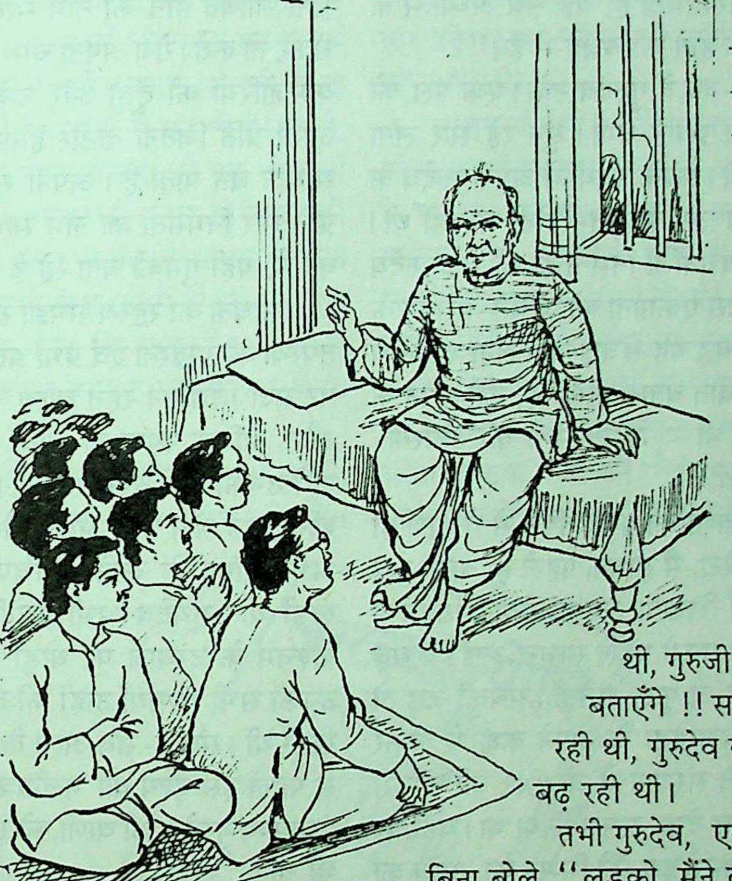

सूर्य ने अपना रथ पश्चिम दिशा की ओर मोड़ लिया था। सूर्य के ढलते ही आँगन की धूप भी धीरे-धीरे खिसकने और सिमटने लगी थी। गुरुदेव अपने आँगन में बिछी हुई फोल्डिंग चारपायी पर बैठे हुए थे। अभी थोड़े ही पलों पूर्व उन्होंने नीचे खबर करवाई थी कि सभी वरिष्ठ कार्यकर्त्ताओं की गोष्ठी लेनी है। गुरुदेव द्वारा ली जाने वाली इन गोष्ठियों का अपने समय में बड़ा आकर्षण था। सबसे पहले तो उनका संग सुपास सभी को भाता था। गोस्वामी जी महाराज ने कहा है— ''*एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी ते पुनि आध। तुलसी संगत साधु की हरै कोटि अपराध।*'' अर्थात् साधु पुरुषों का संग-सुपास आधी, चौथाई घड़ी भी मिलने पर जीवन के करोड़ों पाप-अपराधों का शमन हो जाता है।

परमपूज्य गुरुदेव तो साधु पुरुषों में शिरोमणि, महासिद्ध, तपोमूर्ति और ज्ञान का साक्षात् स्वरूप साकार वेदमूर्ति थे। भगवान ने भगवद्गीता में कहा है कि विद्याओं में मैं अध्यात्म विद्या हूँ। गुरुदेव तो अध्यात्म विद्या के रूप में स्वयं भगवान थे। उनका लेशमात्र सान्निध्य भी आत्मा में अपरिमित सुख उपजाने वाला था। उनके द्वारा ली जाने वाली गोष्ठियाँ दरअसल उनकी अहैतुकी कृपा का ही एक रूप थीं, जो जब-तब अनायास होती रहती थीं। सूक्ष्मीकरण साधना के बाद से गुरुदेव के काम करने में प्रतिपल एक तेजी दिखाई देती थी। शायद वे मिशन के वर्तमान को बड़ी तेजी से भविष्य के लिए गढ़ रहे थे। उनके द्वारा ली जाने वाली ये गोष्ठियाँ उनकी इस प्रक्रिया का एक माध्यम भर थीं।

गुरुदेव ने बुलाया है, सुनकर शांतिकुंज के वरिष्ठगण एक-एक करके सीढ़ियाँ चढ़ते हुए ऊपर पहुँच गए। ऊपर वाले आँगन में गुरुदेव की चारपायी के सामने एक बड़ा-सा टाट का टुकड़ा बिछा हुआ था। सभी ने पहले गुरुदेव के चरणों में माथा नवाकर भक्तिपूर्ण रीति से प्रणाम किया, फिर सब शांतभाव से बैठ गए। सबकी जिज्ञासा थी, गुरुजी आज क्या कहेंगे ! क्या बताएँगे !! सबकी उत्सुकता तीव्र हो रही थी, गुरुदेव की बातें सुनने की त्वरा बढ़ रही थी।

तभी गुरुदेव, एक भी पल समय गँवाए बिना बोले, ''लड़को, मैंने तुम सबको कुछ जरूरी बातें बताने के लिए बुलाया है।'' गुरुदेव के इस तरह बात शुरू करते ही सबके कान उनके शब्दों पर जा टिके। वह कह रहे थे, ''बेटा, अपना मिशन जिस बीज से जन्मा है, वह अध्यात्म है। अध्यात्म से ही इसका जन्म हुआ और आध्यात्मिक शक्तियों ने ही इसे पाल-पोषकर बड़ा किया है। अभी यह और भी बढ़ेगा, बहुत बढ़ेगा, बहुत ज्यादा बढ़ेगा। सच तो यह है कि तुम लोग देखोगे कि इसका विस्तार कभी रुकेगा ही नहीं। यह बढ़ता ही रहेगा, बढ़ता ही चला जाएगा।''

''इसके इस तरह बढ़ने में तुम लोगों का भी योगदान है। तुम सबने भी इसमें अपना खून-पसीना लगाया है, लेकिन बेटा ! तुम लोगों की मेहनत अगर इसमें दस पैसे है

तो बाकी नब्बे पैसे अध्यात्म है। हमने जिंदगी में जो कुछ भी पाया, इसी अध्यात्म के सहारे पाया। अध्यात्म का साधक बनकर पाया। यदि हमने साधना न की होती, अध्यात्म के लिए अपना सर्वस्व न लुटाया होता, हम साधक न बने होते, तो फिर आज तुम लोग यह सब जो कुछ भी देख रहे हो, वैसा कुछ भी न होता। न तुम लोग हमें गुरुजी कहते और न हम तुम लोगों की नौकरियाँ छुड़ाकर, तुम्हारे घरों से दूर यहाँ तक ला पाए होते। तुम्हारे जीवन में, हमारे जीवन में जो कुछ अचरज घटा है, वह सब अध्यात्म के कारण है। हमारे साधक होने की वजह से है।''

अपनी बातें कहते-कहते गुरुदेव रुके। एक पल को उनकी वाणी का अमृत प्रवाह थमा। सुन रहे सारे लोग शांत, मौन और एकाग्र थे। सबके हृदयों में अपने गुरुदेव के प्रति श्रद्धा सघन से सघनतर-सघनतम होती जा रही थी। सभी अपने गुरुदेव के वचनों में निमग्न हो रहे थे। गुरुदेव शायद इस पल उनकी इस एकाग्रता को जाँचने-परखने के लिए रुके थे। संभवत: वह यह सचाई जान लेना चाहते थे कि अब वह जो गंभीर बात बताने जा रहे हैं, उसे सुनने के लिए ये लोग तत्पर हैं भी या नहीं। सभी की तत्परता-एकाग्रता एकदम खरी थी।

गुरुदेव की अमृतवाणी का प्रवाह फिर से वेगपूर्ण हो उठा। वे कहने लगे, ''बेटा, मैं साधक पहले हूँ, बाकी सब बाद में। मेरी जिंदगी में लिखना, पढ़ना, सेवा, संगठन ये सारी बातें बाद में आईं। सबसे पहले साधना आई। ये सब जो कुछ भी दिख रहा है, वे फूल-पत्ते हैं। सबकी जड़ तो साधना है। बेटा ! आँवलखेड़ा के अपने कक्ष से लेकर मथुरा के अखण्ड ज्योति संस्थान में जो ९×९ की कोठरी है, वहीं पर मैंने सब कुछ देख-समझ लिया था। वहीं पर उसी कोठरी में साधना करते हुए मैंने मिशन का, आज का वर्तमान और आगे का भविष्य देखा था। अपने साधना-काल में ध्यान करते हुए मैंने शांतिकुंज देखा था, तुम सबको देखा था। आगे जो लोग आएँगे, शांतिकुंज का जो भावी विस्तार होना है, वह भी मैंने उसी छोटी-सी कोठरी में ध्यान करते हुए देख लिया था।''

''मुझसे कुछ छिपा थोड़े ही है। मैं सब जानता हूँ। मिशन में जो कुछ भी आगे होना है, जो घटनाएँ आगे घटेंगी, मुझे सबका ज्ञान है। अभी तो मैं हूँ, आगे मैं नहीं रहूँगा, तब काफी उथल-पुथल होगी। कुछ लोग जाएँगे, कुछ नए लोग आएँगे। मैं तो चाहता हूँ कि तुम सब लोग रहो। पर बेटा, समय की तेज हलचलों में टिकने के लिए साधना का बल चाहिए। तुम लोग अपने अंदर यही बल पैदा करो। एक बात मैं और बताए देता हूँ, तुममें से कोई यह न समझ ले कि उलटी-सीधी माला टरकाने से साधना हो जाती है। यह न समझना कि बैठे रहकर नाक दबाने का नाम साधना है।''

''ये सारे कर्मकांड तो साधना का खोल हैं। इसका प्राण तो पवित्रता और प्रामाणिकता है। अपनी जीवात्मा को धोने से साधना होती है। अपने गुरु की नजर में, अपनी आत्मा के सामने और भगवान् के सामने एकदम सौ फीसदी खरा साबित होने का नाम साधना है। तुम लोग यह कर सको, तो करो। रोज अपनी चीर-फाड़ करो, अपनी कमियों-कमजोरियों को ढूँढ़ो और उन्हें निकाल बाहर करो। जो अपने प्रति जितना कठोर होता है, वह उतना ही अच्छा साधक बन पाता है। अपनी बुराइयों, अपने अहंकार के प्रति घोर निर्ममता का नाम साधना है। यही साधना हमने की है, यही तुमको बता रहे हैं।''

साधना का रहस्य समझा रहे गुरुदेव के मुखमंडल पर तपस्या की प्रखरता एवं प्रभा झलक रही थी। उनके मस्तक पर सदा विद्यमान रहने वाला चंद्राकार निशान इस समय और अधिक स्पष्ट हो आया था। उनकी वाणी से शब्द नहीं उनका प्राण बरस रहा था। सभी सुनने वाले मौन थे। शायद यह मौन उन्हें अंदर-ही-अंदर कुरेद रहा था। धूप अभी आँगन के कोने से चिपकी, सहमी और ठिठकी खड़ी थी। सूर्यदेव अभी तिरोहित नहीं हुए थे। वह भी पश्चिम के दरवाजे पर थोड़ी देर के लिए रुक गए थे। उनकी सभी रश्मियाँ उन्हीं की तरह, उनको घेरे झुंड बनाए खड़ी थीं। सबके-सब आज के दिन की अंतिम विदा लेने से पहले इस दृश्य को भलीप्रकार निहार लेना चाहते थे। परमपूज्य गुरुदेव की वाणी को सुनने की ललक शायद इन्हें भी थी।

गुरुदेव कह रहे थे, ''बेटा! तुम लोग मेरे लिए कुछ कर सकते हो, तो अपने में पवित्रता और प्रामाणिकता पैदा करो। इस साधना से तुमको हमारा प्यार मिलेगा, भगवान् का प्यार मिलेगा और उन सब ऋषियों-मुनियों, हिमालय वासी देवात्माओं का आशीर्वाद मिलेगा, जिनके तप से यह मिशन चल रहा है।'' इन शब्दों के साथ गुरुदेव ने उस दिन अपनी वाणी को विराम दे दिया। गोष्ठी के पल बीत गए। पर कुछ ऐसा भी था, जो नहीं बीता न उस दिन और न आज के दिन। वह है साधना का कर्त्तव्य, जो उन्होंने उस दिन बताया था। इसे पूरा करके ही हम उनके अपने हो सकते हैं।

◆

अखण्ड ज्योति के प्रथम अंक की कथा-गाथा

अखण्ड ज्योति के प्रथम प्रचलित, प्रकाशित एवं उपलब्ध अंक की कथा बड़ी प्रेरक है। आज तो इन क्षणों में अपने परिजन इसके ७४९वें अंक को अपने हाथ में थामे हुए हैं। उन्हें शायद आज से ६२ वर्ष और कुछ महीने पूर्व प्रकाशित हुए इस अंक की ठीक से कल्पना भी नहीं हो पा रही होगी। अपने पाठक-परिजनों में से कई तो ऐसे होंगे, जो तब जन्मे भी न होंगे, पर इन पंक्तियों को पढ़ रहे सभी जनों के मनों में जिज्ञासा के भाव एक समान होंगे। उनकी चाहत एक जैसी होगी-अखण्ड ज्योति के इस पहले अंक की कथा को जानने की। सभी के हृदयों में अंकुरित हो रहा यह प्रश्न-पादप एक सा होगा कि जनवरी १९४० में प्रकाशित हुआ अखण्ड ज्योति का यह पहला अंक कैसा था?

जनवरी १९४० से भी काफी पहले अखण्ड ज्योति परमपूज्य गुरुदेव के हृदय में एक दिव्य संदेश की भाँति अवतरित हुई। अपनी साधना में समाधिस्थ गुरुदेव को हिमालय के ऋषियों का यह संदेश मिला कि आध्यात्मिक जगत् में भारतमाता की बेड़ियाँ टूट चुकी हैं। राष्ट्र की स्वतंत्रता की घोषणा की जा चुकी है। कुछ ही वर्षों में यह सत्य प्रत्यक्ष जगत् में प्रकट हो जाएगा। इसलिए अब तुम्हें नए दायित्व सँभालने हैं। राजनैतिक क्रांति को सही अर्थ तब तक न मिलेगा, जब तक इसमें सामाजिक क्रांति, नैतिक क्रांति एवं बौद्धिक क्रांति के स्वर न मुखर होंगे। इन नई क्रांतियों के स्वर को मुखर बनाने के लिए एक ऐसी पत्रिका की आवश्यकता है, जिसकी मूल भावना आध्यात्मिक हो। जो देशवासियों और विश्वमानवता की आत्मा को जाग्रत् कर सके। अपने प्रकाश की प्रदीप्ति से उनकी आत्मज्योति को जगा सके।

परमपूज्य गुरुदेव को साधना काल में जो संदेश मिला, जो संकेत प्रकट हुए, उन्हीं के आधार पर अखण्ड ज्योति के प्रकाशन की योजना बनी। यह दैवी संकल्प का दिव्य प्राकट्य था। उन दिनों न तो मिशन था और न साधन। सहयोगियों एवं समर्पित कार्यकर्त्ताओं की आज की सी लंबी कतारें न थीं। प्रत्यक्ष में कुछ भी न होते हुए अप्रत्यक्ष में हिमालयवासी ऋषियों का आशीष और आश्वासन था। गुरुदेव की मार्गदर्शक सत्ता का वरद्हस्त था। अपने हृदय में अलौकिक ऊर्जा को सँजोए गुरुदेव ने ठीक समय पर अखण्ड ज्योति के पहले अंक को प्रकाशित कर ही दिया।

३५ पृष्ठों का यह अंक विषयवस्तु एवं सामग्री की दृष्टि से किंचित् भी न्यून न था। इसके छापने की व्यवस्था आगरा शहर के जौहरी बाजार की दौलत मार्केट के न्यू फाइन आर्ट प्रिंटिंग काटेज में बनी। इसके मालिक पं. मधुसूदन शरण शर्मा परमपूज्य गुरुदेव (तब के 'मत्त जी') के व्यक्तित्व से परिचित ही नहीं, प्रेरित और प्रभावित भी थे। उन्होंने अखण्ड ज्योति के इस प्रथम अंक के मुद्रण को न केवल ठीक समय पर संपन्न किया बल्कि इसकी उत्कृष्टता का भी ध्यान रखा।

मुद्रण के साथ इसके प्रकाशन की व्यवस्था भी आगरा से ही बनी। उन दिनों गुरुदेव ने आगरा के फ्रीगंज मुहल्ले में 'अखण्ड ज्योति' का कार्यालय खोला हुआ था। यहीं से इसके प्रकाशन एवं वितरण की व्यवस्था बनाई गई।

अखण्ड ज्योति के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक की कीमत मात्र १२ नए पैसे थी। इसका वार्षिक शुल्क मात्र १.५० रुपए था। १.५० रुपये में पूरे वर्ष भर अखण्ड ज्योति के ३५ पृष्ठों में उत्कृष्ट विषयवस्तु को मुद्रित कर पाने एवं प्रकाशित करवाने का बीड़ा गुरुदेव ने उठाया। उनका उद्देश्य था कि कम-से-कम खरच में पठनीय और उत्कृष्ट सामग्री जन-सामान्य तक पहुँचे। वह अखण्ड ज्योति को केवल विचारशील वर्ग की पत्रिका बनाने में विश्वास नहीं रखते थे, उनका उद्देश्य जनसामान्य को विचारशीलों के समुदाय के रूप में विकसित करना था। इसके सरंजाम उन्होंने इसके प्रथम अंक से जुटाए थे।

साज-सज्जा की दृष्टि से अखण्ड ज्योति अपने पहले अंक से ही आकर्षण का केंद्र बन गई। इसके पहले अंक के कवर पेज पर योगीराज भगवान श्रीकृष्ण का चित्र प्रकाशित किया गया। प्रथम अंक के कवर पेज पर छपे हुए इस चित्र में जो संकेत है, उससे पत्रिका की रीति-नीति ही नहीं गुरुदेव के जीवन को भी अभिव्यक्ति मिलती है। इस चित्र में योगीराज भगवान् श्रीकृष्ण युद्धभूमि में खड़े हैं। उनके दायें हाथ की तर्जनी अँगुली में चक्र गतिशील है। इस चित्र से दो सत्यों का भावबोध होता है—१. महायोगी अब साधना के एकांत से समाज के महासमर में आ खड़े हुए हैं। २. यहाँ केवल उनकी उपस्थिति ही नहीं है, अब उन्होंने कालचक्र की गति को अपने हाथों से नियंत्रित करने का संकल्प कर लिया है।

इन दोनों ही बिंदुओं से परमपूज्य के अपने-स्वयं के जीवन की झलक मिलती है। इन्हीं से गुरुदेव का अपना स्वरूप एवं संकल्प प्रकट होता है। यह उद्बोधक चित्र बताता है कि युग में प्रभु केवल पार्थसारथी बनकर संतुष्ट नहीं हैं। वह इस युग के महासमर में स्वयं महानायक की भूमिका निभाएँगे। कालचक्र की गति को अपने हाथों से, अपनी आत्मा से स्फुरित होने वाले आध्यात्मिक तेज से नियंत्रित करेंगे। इस आकर्षक चित्र की ही भाँति इसकी विषयवस्तु भी आकर्षक है। अखण्ड ज्योति के इस प्रथम अंक में प्रकाशित सामग्री के शीर्षक अग्रलिखित हैं—१. अखण्ड ज्योति क्यों?, २. कर्त्तव्य की पुकार, ३. धर्म का सच्चा स्वरूप, ४. मौन एक दैवी रेडियो, ५. धर्म और विज्ञान, ६. मनुष्य का मनोबल, ७. शीर्षासन का महत्त्व, ८. जहाँ चाह-तहाँ राह। इसी के साथ इसके अंतिम पृष्ठ पर 'आत्मचिंता' शीर्षक से एक कविता प्रकाशित हुई है।

इस प्रथम अंक का प्रथम लेख परमपूज्य गुरुदेव द्वारा लिखा गया संपादकीय है। जिसके ऊपर अखण्ड ज्योति एवं उसके संस्थापक की कार्यशैली को स्पष्ट करने वाली दो पंक्तियाँ छपी हैं। ये पंक्तियाँ हैं—

सुधा बीज बोने से पहले, कालकूट पीना होगा।
पहिन मौत का मुकुट, विश्वहित मानव को जीना होगा॥

इन पंक्तियों में गुरुदेव का स्वयं अपना जीवन ध्वनित होता है। सचमुच ही वह इसी तरह से जन्मे और जिए। शिवत्व ही उनके जीवन का परिचय और पर्याय रहा। सृष्टि में अमृतबीजों की फसल को बोने के लिए वह सारे जीवन हलाहल पीते रहे।

अपने जीवनसत्य की इस काव्यमयी अभिव्यक्ति के साथ उन्होंने अखण्ड ज्योति के आध्यात्मिक सत्य को स्पष्ट करते हुए इस प्रथम अंक में लिखा, "आज तक जितने भी मानवता के महान् आचार्य हुए हैं, उन्होंने एक स्वर से चिल्ला-चिल्लाकर कहा है। असली आनंद, सुख-संतोष और शांति मनुष्यता की उपासना में है। इस समय जितनी गुत्थियाँ दुनिया के सामने हैं, उनकी जड़ में एक ही कारण है—मनुष्यता का अभाव। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांप्रदायिक, आर्थिक, शारीरिक, कौटुंबिक, मानसिक जितनी भी उलझनें हैं, उनका पूरी तरह से तब तक निराकरण नहीं हो सकता, जब तक हमारे आचरण पवित्र न हों, जब तक हम सच्चे नागरिक न बनें। सच्चा योगी बनने का एक ही मार्ग है, वह है सदाचार। सदाचार और अध्यात्म विद्या को एक ही चीज के दो पहलू कहना चाहिए। 'अखण्ड ज्योति' इसी अध्यात्म विद्या की चर्चा करने के लिए अवतीर्ण हुई है।"

(अखण्ड ज्योति, जनवरी, १९४०, पृष्ठ ३)

अखण्ड ज्योति के प्रथम अंक के संपादकीय के अंश, गुरुदेव की लेखनी से निःसृत सत्य—किस तरह अखण्ड ज्योति एवं उसके पाठकों का जीवनसत्य बना हुआ है-इससे हम सभी परिचित हैं। इसके अलौकिक प्रकाश में हमारे देव परिवार के सभी सदस्य इसी तरह अपने जीवन-सत्य और जीवनलक्ष्य की ओर बढ़ते रहेंगे, ऐसा विश्वास है। इसके प्रथम अंक से जो जीवन बोध की, निर्झरिणी प्रवाहित हुई, वह सदा-सदा यों ही प्रवाहित होती रहेगी—बिना तनिक-सा भी विराम लिए, अविराम और अखण्ड।

□

गायत्री जयंती पर्व (२०/६/२००२)

वह अविस्मरणीय दिवस

गायत्री जयंती के इन पुण्य पलों में युग शक्ति के प्रेरक प्रवाह से जन-मन अभिसिंचित है। भावनाएँ उन भगीरथ को ढूँढ़ रही हैं, जिनके महातप से गायत्री की प्रकाश धाराएँ बहीं। महाशक्ति जिनके प्रचंड तप से प्रसन्न होकर इस युग में अवतरित हुईं। वेदमाता के उन वरदपुत्र को भावनाएँ विकल हो खोज रही हैं। आज युग के उन तप-सूर्य की यादें उन्हीं की सहस्र रश्मियों की तरह मन-अंतःकरण को घेरे हैं। यादों के इस उजाले में वर्ष १९९० की गायत्री जयंती (२ जून) की भावानुभूति प्रकाशित हो उठी है; जब एक युग का पटाक्षेप हुआ था। प्रभु साकार से निराकार हो गए थे। भावमय भगवान अपने भक्तों की भावनाओं में विलीन हुए थे। उस दिन न जाने कितनी भावनाएँ उमगी थीं, तड़पी थीं, छलकी थीं, बिखरी थीं। इन्हें बटोरने वाले, सँजोने वाले अंतःकरण के स्वामी इन्हीं भावनाओं में ही कहीं अंतर्द्धान हो गए थे।

सब कुछ प्रभु की पूर्व नियोजित योजना थी। महीनों पहले उन्होंने इसके संकेत दे दिए थे। इसी वर्ष पिछली वसंत में उन्होंने सबको बुलाकर अपने मन की बात कह दी थी। दूर-दूर से अगणित शिष्यों-भक्तों ने आकर उनके चरणों में अपनी व्याकुल भावनाएँ उँड़ेली थीं। सार्वजनिक भेंट और मिलन का यही अंतिम उपक्रम था। तब से लेकर लगातार सभी के मन में ऊहापोह थी। सब के सब व्याकुल और बेचैन थे। शांतिकुंज के परिसर में ही नहीं, शांतिकुंज के बाहर भी सबका यही हाल था। भारी असमंजस था, अनेकों मनों में प्रश्न उठते थे, क्या गुरुदेव सचमुच ही शरीर छोड़ देंगे! अंतर्मन की गहराइयों से जवाब उठता था—हाँ, पर ऊपर का मोहग्रस्त मन थोड़ा अकुलाकर सोचता, हो सकता है सर्वसमर्थ गुरुदेव अपने भक्तों पर कृपा कर ही दें और अपना देह वसन न छोड़ें!

मोह के कमजोर तंतुओं से भला भगवत् योजनाएँ कब बँधी हैं! विराट् भी भला कहीं क्षुद्र बंधनों में बँधा करता है!! गायत्री जयंती से एक दिन पहले रात में, यानि कि १जून १९९० की रात में किसी कार्यकर्त्ता ने स्वप्न देखा कि हिमाच्छादित हिमालय के श्वेत हिमशिखरों पर सूर्य उदय हो रहा है। प्रातः के इस सूर्य की स्वर्णिम किरणों से बरसते सुवर्ण से सारा हिमालय स्वर्णिम आभा से भर जाता है, तभी अचानक परमपूज्य गुरुदेव हिमालय पर नजर आते हैं, एकदम स्वस्थ-प्रसन्न। उसकी तेजस्विता की प्रदीप्ति कुछ अधिक ही प्रखर दिखाई देती है। आकाश में चमक रहे सूर्यमंडल में माता गायत्री की कमलासन पर बैठी दिव्य मूर्ति झलकने लगती है। एक अपूर्व मुस्कान है माँ के चेहरे पर। वह कोई संकेत करती हैं और परमपूज्य गुरुदेव सूर्य की किरणों के साथ ऊपर उठते हुए माता गायत्री के पास पहुँच जाते हैं। थोड़ी देर तक गुरुदेव की दिव्य छवि माता के हृदय में हलकी-सी दिखती है। फिर वेदमाता गायत्री एवं गुरुदेव सूर्यमंडल में समा जाते हैं। सूर्य किरणों से उनकी चेतना झरती रहती है।

देखने वाले का यह स्वप्न कुछ ही क्षणों में सुबह की दिनचर्या में विलीन हो गया। उसी दिन ब्रह्मवर्चस् के एक कार्यकर्त्ता भाई के संबंधी की शादी थी। वंदनीया माताजी ने दो-एक दिन पहले से ही निर्देश दिया था कि शादी सुबह ही निबटा ली जाए। सामान्य क्रम में शांतिकुंज के यज्ञमंडप में शादियाँ दस बजे प्रारंभ होती हैं, लेकिन उस दिन के लिए माताजी का आदेश कुछ अलग था। गायत्री जयंती के दिन यह शादी काफी सुबह संपन्न हुई। अन्य कार्यक्रम भी यथावत् संपन्न हो रहे थे। वंदनीया माताजी प्रवचन करने के लिए प्रवचन मंच पर पधारी थीं। प्रवचन से पहले संगीत प्रस्तुत करने वाले कार्यकर्त्ता जगन्माता गायत्री की महिमा का भक्तिगान कर रहे थे—'माँ तेरे चरणों में हम शीश झुकाते हैं,' गीत की कड़ियाँ समाप्त हुईं। माताजी की भावमुद्रा में हलके से परिवर्तन झलके। ऐसा लगा कि एक पल के लिए वह अपनी अंतर्चेतना के किसी गहरे अहसास में खो गईं, लेकिन दूसरे ही पल उनकी वाणी से जीवन-सुधा छलकने लगी।

प्रवचन के बाद प्रणाम का क्रम चलना था। माँ अपने आसन पर अपने बच्चों को ढेर सारा प्यार और आशीष बाँटने के लिए बैठ गईं। प्रणाम की पंक्ति चल रही थी, माताजी स्थिर बैठी थीं। उनके समूचे अस्तित्व से वात्सल्य-संवेदना झर रही थी।

प्रणाम समाप्त होने के कुछ ही क्षणों बाद शांतिकुंज एवं ब्रह्मवर्चस् का कण-कण, यहाँ निवास करने वाले सभी

कार्यकर्त्ताओं का तन-मन-जीवन बिलख उठा। अब सभी को बता दिया गया था कि गुरुदेव ने देह छोड़ दी है। अगणित शिष्य संतानों एवं भक्तों के प्रिय प्रभु अब देहातीत हो गए हैं। काल के अनुरोध पर भगवान् महाकाल ने अपनी लोक-लीला का संवरण कर लिया है। जिसने भी, जहाँ पर यह खबर सुनी, वह वहीं पर अवाक् खड़ा रह गया। एक पल के लिए हर कोई निःशब्द, निस्पंद हो गया। सबका जीवन-रस जैसे निचुड़ गया। थके पाँव उठते ही न थे, लेकिन उन्हें उठना तो था ही। असह्य वेदना से भीगे जन परमपूज्य गुरुदेव के अंतिम दर्शनों के लिए चल पड़े।

शांतिकुंज के कंप्यूटर कक्ष के ऊपर जो बड़े हॉल के रूप में परमवंदनीया माताजी का कक्ष है, वहीं पर गुरुदेव का पार्थिव शरीर रखा गया था। महायोगी की महत् चेतना का दिव्य आवास रही, उनकी देह आज चेतनाशून्य थी। पास बैठी हुई वंदनीया माताजी एवं परिवार के सभी स्वजन वेदना से विकल और व्याकुल थे। माताजी की अंतर्चेतना को तो प्रातः प्रवचन में ही गुरुदेव के देह छोड़ने की बात पता थी। तब से लेकर अब तक वह अपने कर्त्तव्यों में लीन थीं। सजल श्रद्धा की सजलता जैसे हिमवत् हो गई थी, पर अब वह महावियोग के ताप से पिघल रही थी। अंतिम प्रणाम भी समाप्त हो गया, परंतु कुछ लोग अभी हॉल में रुके थे। प्रणाम करके नीचे उतर रहे एक कार्यकर्त्ता को एक वरिष्ठ भाई ने ही इशारे से रोक लिया। परमपूज्य गुरुदेव की पार्थिव देह को उठाते समय माताजी ने उसे बुलाया एवं भीगे स्वरों में कहा, ''बेटा! तू भी कंधा लगा ले।'' माँ के इन स्वरों को सुनकर उसका रोम-रोम कह उठा, ''धन्य हो माँ! वेदना की इस विकल घड़ी में भी तुम्हें अपने सभी बच्चों की भावनाओं का ध्यान है।''

सजल श्रद्धा एवं प्रखर प्रज्ञा के पास आज जहाँ चबूतरा बना है, तब वहाँ खाली जगह थी। वहीं चिता के महायज्ञ की वेदिका सजाई गई थी। ठीक सामने स्वागत कक्ष के पास माताजी तख्त पर बिछाए गए आसन पर बैठी थीं। पास ही परिवार के अन्य सभी सदस्य खड़े थे। आस-पास कार्यकर्त्ताओं की भारी भीड़ थी। सभी की वाणी मौन थी, पर हृदय मुखर थे। हर आँख अश्रु का निर्झर बनी हुई थी। आसमान पर भगवान् सूर्य इस दृश्य के साक्षी बने हुए थे। कण-कण में बिखरी माता गायत्री की समस्त चैतन्यता उसी दिन उसी स्थल पर सघनित हो गई थी। भगवान सविता देव एवं उनकी अभिन्न शक्ति माता गायत्री की उपस्थिति में गायत्री जयंती के दिन यज्ञपुरुष गुरुदेव अपने जीवन की अंतिम आहुति दे रहे थे। यह उनके जीवन-यज्ञ की पूर्णाहुति थी।

आज वह अपने शरीर को 'इदं न मम्' कहते हुए यज्ञवेदी में अर्पित कर चुके थे। यज्ञ ज्वालाएँ धधकीं। अग्निदेव अपने समूचे तेज के साथ प्रकट हुए। वातावरण में अनेकों की अनेक सिसकियाँ एक साथ मंद रव के साथ विलीन हुईं। समूचे परिवार का कण-कण और भी अधिक करुणार्द्र हो गया, सभी विह्वल खड़े थे। परमतपस्वी गुरुदेव का तेज अग्नि और सूर्य से मिल रहा था। सूर्य की सहस्रों रश्मियों से उनकी चेतना के स्वर झर रहे थे। कुछ ऐसा लग रहा था, जैसे वह स्वयं कह रहे हों, ''तुम सब परेशान न हो, मैं कहीं भी गया नहीं हूँ, यहीं पर हूँ और यहीं पर रहूँगा। मैंने तो केवल पुरानी पड़ गई देह को छोड़ा है, मेरी चेतना तो यहीं पर है। वह युगों-युगों तक यहीं रहकर यहाँ रहने वालों को, यहाँ आने वालों को प्रेरणा व प्रकाश देती रहेगी। मैं तो बस साकार से निराकार हुआ हूँ, पहचान सको तो मुझे शांतिकुंज के क्रियाकलापों में पहचानो! ढूँढ़ सको तो मुझे अपने हृदय की भावनाओं में ढूँढ़ो!'' वर्ष १९९० की गायत्री जयंती में साकार से निराकार हुए प्रभु के इन स्वरों की सार्थकता इस गायत्री जयंती की पुण्य वेला में प्रकट हो रही है। हम सबको उन्हें शांतिकुंजरूपी उनके विराट् शरीर की गतिविधियों में पाना है और स्वयं को इनके विस्तार के लिए अर्पित कर देना है।

▼

ज्ञातव्य

देव संस्कृति विश्वविद्यालय में दो कोर्स इस वर्ष से प्रारंभ किए जा रहे हैं। पहला योग में पोस्ट ग्रेजुएशन, डिप्लोमा एवं सर्टिफिकेट तथा दूसरा साइको आयुर्वेद में पी. जी. की डिग्री। यह साइकिएट्री की तरह आयुर्वेद एवं मानस शास्त्र में विशेषज्ञता देगी। यह उपाधि एम. एस. सी. के नाम से दी जाएगी। इस पत्रिका के प्राप्त होने तक प्रॉस्पेक्टस तैयार होने एवं जून माह के तीसरे सप्ताह में एंट्रेंस टेस्ट की संभावना है। इच्छुक आवेदक कुलपति, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, शांतिकुंज हरिद्वार से संपर्क करें।

युगगीता—३३

ज्ञान से अधिक पवित्र कुछ भी नहीं

(गीता के चतुर्थ अध्याय की युगानुकूल व्याख्या पंद्रहवीं कड़ी)

'ज्ञान की नौका से भवसागर को पार करें,' शीर्षक से विगत अंक में चौथे अध्याय के पैंतीसवें, छत्तीसवें, सैंतीसवें श्लोकों के द्वारा ज्ञान से पापों को नष्ट करने एवं ज्ञानी बन जाने पर भवबंधन से मुक्त हो जाने की महिमा को जाना था। श्रीकृष्ण का कहना है कि इस ज्ञान को पाकर मोह से मुक्ति मिलेगी, फिर सर्वत्र परमात्मतत्त्व ही संव्याप्त दिखाई देगा। मोह के संकीर्ण बंधन ही व्यक्ति को भवबंधन में उलझाते हैं। जब अपने अंदर और सर्वत्र परमात्मसत्ता ही व्याप्त नजर आती है तो फिर व्यक्ति वसुधा को एक कुटुंब मानकर विश्व-उद्यान को सींचने में लग जाता है। भगवान इतना स्पष्ट आश्वासन गीता में पहली बार देते हैं कि पापी से भी अधिक पापी यदि इस ज्ञान का आश्रय ले ले तो वह पाप समुद्र से तर जाएगा। जहाँ ज्ञान की बात श्रीकृष्ण कहते हैं, वे उस विद्या की बात कह रहे हैं जो अमरत्व प्रदान करती है, मुक्ति की ओर ले जाती है। आज की भोगवादी बहिर्मुखी जीवनपद्धति में ज्ञान की खोज कम हो गई, विज्ञान के सुख-साधनों की ज्यादा। इसी कारण तृष्णा बढ़ रही है, लिप्सा बढ़ रही है एवं व्यक्ति पाप कर्मों में लिप्त नजर आता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है (श्लोक ३७)। अब इसकी और विशद व्याख्या व आगे के श्लोकों का मर्म पढ़ें।

'ज्ञान में कर्मों का संन्यास' जिस योग का अभीष्ट ध्येय हो, उस चौथे अध्याय की पराकाष्ठा पर हम पहुँचते हैं, जब भगवान हमें बताते हैं कि इस संसार में ज्ञान से ज्यादा पवित्र कुछ भी नहीं। अंतिम पाँच श्लोक वह राजमार्ग प्रशस्त करते हैं जो किसी भी साधक की जीवन-यात्रा बन सकता है। ज्ञान की परिपूर्णता पर पहुँचा हुआ साधक अंततः क्या प्राप्त करता है, क्या उसकी परिणति होती है, यह हम इन तीन श्लोकों में पाते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ४/३८

''इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र निःसंदेह कुछ भी नहीं है। योग के द्वारा संसिद्धि को प्राप्त (शुद्ध अंतःकरण वाला) मनुष्य उस ज्ञान को अपने आप ही यथा समय अपनी आत्मा में पा लेता है।''

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति॥ ४/३९

''जो श्रद्धावान है, तत्पर-साधनपरायण है तथा जितेंद्रिय (परिपूर्ण संयमशील) है, वह मनुष्य ही ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञानप्राप्ति के बाद वह अविलंब ही तत्काल भगवत्प्राप्तिरूपी परमशांति को प्राप्त हो जाता है।''

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४/४०

''श्रद्धाहीन अज्ञानी (विवेकरहित) तथा संशययुक्त मनुष्य परमार्थ पथ से भ्रष्ट हो जाता है, उसका नाश हो जाता है। ऐसे संशयशील व्यक्ति के लिए न तो यह लोक है और न परलोक ही और उसे कहीं भी किसी भी काल में सुख की प्राप्ति नहीं होती।''

ज्ञान की परिणति अंतः की शुद्धता

भगवान बड़ा स्पष्ट कह रहे हैं कि इस संसार में सर्वाधिक पवित्र कुछ है तो वह ज्ञान ही है। यह ज्ञान अंतःकरण को शुद्ध कर देता है। गुरु के उपदेश से जो ज्ञान मिलता है, उससे मनुष्य स्वतः शुद्ध होता चला जाता है। 'कालेनात्मनि' शब्द का अर्थ है—अपने आप समय आने पर। हमें निरंतर स्वयं को गुरुचेतना से ओतप्रोत रखना चाहिए, क्योंकि यही ज्ञान पवित्रतम है, सर्वश्रेष्ठ निधि है-पापनाशक है एवं हमें बड़े सौभाग्य से मिली है। गुरु पर परिपूर्ण श्रद्धा रख जो उनके बताए ज्ञान के पथ पर चलता रहता है, उसे आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है, वह विनाश की राह पर कभी नहीं जाता। गुरु-शिष्यों का इतिहास हम देख लें तो यही पाते हैं कि वे निरंतर अपने शिष्यों के आत्मकल्याण हेतु उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते रहे। उन्हें पवित्रतम ज्ञान

का संदेश अपने आचरण से देते रहे। भगवान यहाँ यही कह रहे हैं कि ज्ञान ज्यों-ज्यों कर्मयोग में सिद्ध पुरुष के अंदर प्रविष्ट होने लगता है, उसे स्वयं यह अनुभूति होने लगती है (आत्मनि विन्दति)। ब्रह्मज्ञान एक अति दुर्लभ वस्तु है। ठाकुर श्री रामकृष्ण देव ने एक स्थान पर कहा है, ''नित्य वस्तु में पहुँचने का नाम ब्रह्मज्ञान है। यह बहुत कठिन है। एकदम विषय-बुद्धि न छूटने से वैसी अवस्था नहीं आती। इसके लिए तपस्या चाहिए। शास्त्र के श्लोक कंठस्थ करने से कुछ नहीं होगा। सिद्धि-सिद्धि कहने मात्र से नशा नहीं होगा। **सिद्धि तो खानी चाहिए**। उसकी अनुभूति कण-कण में होनी चाहिए।''

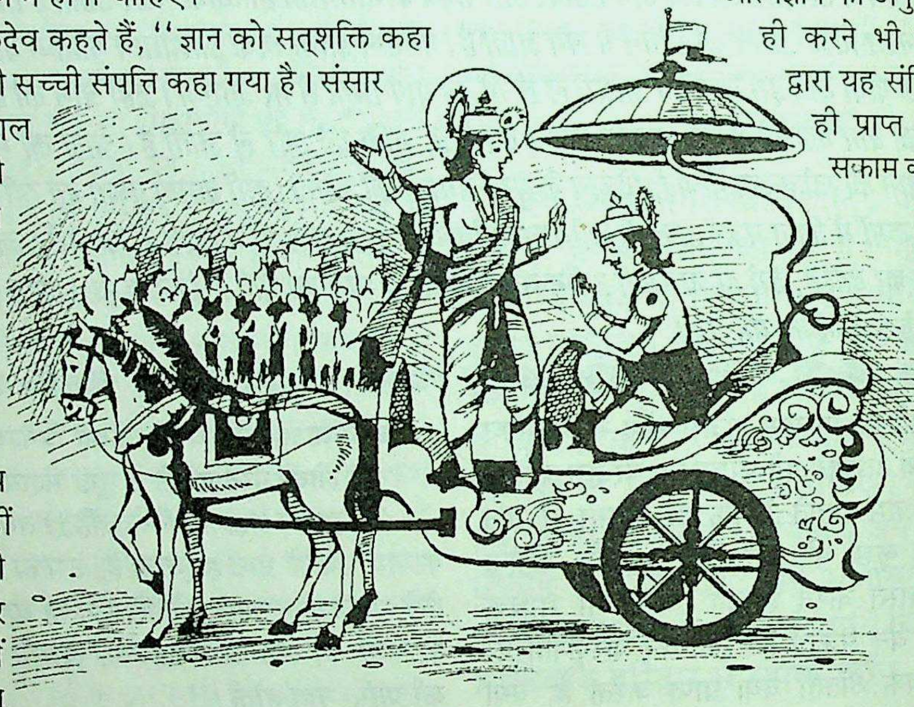

परमपूज्य गुरुदेव कहते हैं, ''ज्ञान को सत्शक्ति कहा गया है। मनुष्य की सच्ची संपत्ति कहा गया है। संसार में हर वस्तु काल पाकर नष्ट हो जाती है। धन नष्ट हो जाता है, तन जर्जर हो जाता है, साथी और सहयोगी छूट जाते हैं। केवल ज्ञान ही एक ऐसा अक्षय तत्त्व है जो कहीं भी, किसी भी अवस्था में और किसी काल में मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता।'' (*आत्मोत्कर्ष का आधार— ज्ञान, वाङमय खंड-५८ पृष्ठ १०.१२*)। वस्तुतः मुक्ति का साधन है ज्ञान। इसे पा लिया तो इसी जीवन में मुक्ति मिल गई, ऐसा समझना चाहिए। एक बार ज्ञान का रसास्वादन करने पर मनुष्य उसी प्रकार तृप्त हो जाता है, जिस प्रकार कोई प्यासा सुंदर-स्वच्छ जलाशय को पाकर प्रसन्न हो जाता है। मनुष्य का जीवन पाकर भी जिसने ज्ञान की कुछ बूँदें भी इकठ्ठी न की हों, उसने तो मानो इस रत्न को मिट्टी के मोल खो दिया।

स्वयं को देह मत मानो, और गहरे जाओ

ज्ञान पवित्रतम है, आनंद का कारण है एवं मुक्ति का आधार है। अज्ञान अथवा अविद्या को तो घोर अशांति का कारण माना गया है। जब संसार की साधारण बातों में अज्ञान हमें घोर दुःख देता है, तब जीवन, आत्मा और परमात्मा के विषय में संव्याप्त अज्ञान कितना भयंकर हो सकता है, इसकी तो कल्पना भर ही की जा सकती है। परमपूज्य गुरुदेव कहते हैं कि सबसे बड़ा अज्ञान है अपने को देह मात्र मानकर चलना। ऐसे व्यक्ति अपनी इंद्रियों को विषयों में तृप्त करने में लगे रहकर अपनी आत्मा का नाश किया करते हैं।

आत्मज्ञान जब मनुष्य अपने अंदर पाने लगता है तो सबसे पहले उपलब्धि होती है—अंतःकरण की शुद्धि। यह कार्य स्वतः होने लगता है। पवित्रता का स्पर्श मात्र ही व्यक्ति को अंदर से शुद्ध बनाने लगता है। फिर वह उस आत्मज्ञान की अनुभूति अपने अंदर ही करने भी लगता है। योग द्वारा यह संसिद्धि उसे स्वतः ही प्राप्त होने लगती है। सकाम कर्मों की वासनाएँ भस्म होने लगती हैं, शुद्ध आत्मज्ञान के प्रकाश में सब कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगता है एवं फिर वही श्रीकृष्ण जो अभी चौंतीसवें श्लोक में ज्ञान को पाने का उपाय तत्त्वदर्शी ज्ञानी के पास जाकर उनकी सेवा-दीक्षा लेने के माध्यम से बता रहे थे (ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः) कहने लगते हैं कि वास्तविक ज्ञान तो हे अर्जुन! हमें अपने अंदर से ही मिलता है। अर्थात् यह ज्ञान उस साधक में दिव्यकर्मी में संवर्द्धित होता रहता है। ज्यों-ज्यों वह निष्काम भाव में, समता में और भगवद् भक्ति में बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों ज्ञान की गहराई में भी प्रविष्ट होता चला जाता है। परंतु यह ज्ञान मिले कैसे? और उसकी अनुभूति हृदय की अंतरतम गहराइयों से कैसे हो? इसके लिए श्रीकृष्ण अगला सूत्र देते हैं।

वे कहते हैं कि यह ज्ञान श्रद्धावान को ही प्राप्त होता है, बुद्धिमान को नहीं। जो ज्ञान मनुष्य अपनी बुद्धि से बटोरता है, वह तो इंद्रियों व तर्कशक्तियों द्वारा परिश्रम करके बाहर से इकठ्ठा किया जाता है। यह तो शिक्षा है,

जानकारियाँ हैं। जो ज्ञान आत्मा में पाया जाता है वह विद्या है। यह विद्या—अमरत्व का ज्ञान श्रद्धा से ही प्राप्त होता है। यह कहा जाए कि जैसे ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह तुच्छ अहंकार को बाहर निकाल फेंकता है-मटियामेट कर देता है, व्यक्ति को श्रद्धाभाव से भर देता है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। कोई अकारण नहीं कि यह चर्चा श्रीकृष्ण ज्ञान में कर्मों का संन्यास-अर्पण नामक योग की अंतिम कुछ शिक्षाओं में साररूप में कह रहे हैं। इससे कम में आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति हम अपने भीतर नहीं कर पाएँगे।

श्रद्धावान लभते ज्ञानं

उनतालीसवें श्लोक द्वारा भगवान श्रीकृष्ण ज्ञानप्राप्ति की कुछ अनिवार्य शर्तें सामने रखते हैं। वे कहते हैं, ज्ञान की प्राप्ति उसी साधक को होती है, जो श्रद्धावान है, तत्पर है, साधनपरायण है तथा संयतेंद्रिय है। परमतत्त्व की खोज की ओर प्रेरित करती है श्रद्धा। बौद्धिक ज्ञान को निजी अनुभव में परिणत करने तथा आत्मज्ञान द्वारा उसी की पुष्टि की प्रक्रिया श्रद्धा का जागरण करती है। विनोबा कहते हैं, ''अनुभव तर्कातीत है। श्रद्धा अनुभव के आधार पर रहने वाली, पर उससे भी परे की वस्तु है।'' (विचार पोथी,२०)। आखिर श्रद्धा की परिभाषा क्या है? पं रामचंद्र शुक्ल कहते हैं, ''किसी मनुष्य में जनसाधारण से विशेष गुण तथा शक्ति का विकास देख उसके संबंध में जो एक स्थायी आनंदपद्धति हृदय में स्थापित की जाती है, उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनंदपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार भी है।'' (चिंतामणि भाग—१)। महात्मा गाँधी कहते हैं—''श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धा से अंतःज्ञान-आत्मज्ञान की वृद्धि होती है, इसलिए अंतःशुद्धि तो होती ही है। बुद्धि से सृष्टि के ज्ञान-बाह्य ज्ञान की वृद्धि होती है, परंतु उसका अंतःशुद्धि के साथ कार्य-कारण जैसा संबंध भी नहीं रहता। अत्यंत बुद्धिमान लोग भी अत्यंत चरित्र-भ्रष्ट पाए जाते हैं। मगर श्रद्धा के साथ चरित्रशून्यता का होना असंभव है।'' (संपूर्ण गाँधी वाङ्मय खंड—४१, पृष्ठ ८२)।

श्रद्धा के विषय में परमपूज्य गुरुदेव कहते हैं—''अध्यात्म क्षेत्र में श्रद्धा की शक्ति ही सर्वोपरि है। साधना से सिद्धि का मूलभूत आधार श्रद्धा है। मनुष्य का व्यक्तित्व जिसमें संस्कारों का (आदतों का) गहरा पुट रहता है, वस्तुतः श्रद्धा की परिपक्वता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'' आगे वे कहते हैं—''साधना का विशालकाय कलेवर इसलिए खड़ा किया गया है कि उन लौह शृंखलाओं में जकड़कर श्रद्धा-विश्वासरूपी महादैत्य को उपयोगी प्रयोजन उत्पन्न कर सकने के लिए प्रशिक्षित किया जा सके। श्रद्धा से व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। आत्मा का सबसे विश्वस्त और घनिष्ठ सचिव श्रद्धा ही है।'' (*पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय, उपासना-समर्पण योग—खंड ३, पृष्ठ ३.३२, ३३*)। कितनी सुंदर व्याख्या श्रद्धा की हुई है और हमें बड़ा स्पष्ट मार्गदर्शन भी देती है कि श्रद्धावान कैसे बनें? कैसे श्रद्धा से ज्ञान की प्राप्ति करें।

सुत्तनिपात (१/४/२) कहता है—''श्रद्धा बीजं तपोवुट्ठि'' अर्थात् श्रद्धा बीज है, तप वर्षा है तथा ''सद्धाय तरती ओधं'' अर्थात् मनुष्य श्रद्धा से संसार प्रवाह को पार कर जाता है। (१/१०/२ सुत्तनिपात)। ऐतरेय ब्राह्मण(७/१०) कहता है—''श्रद्धा पत्नी है और सत्य यजमान। श्रद्धा और सत्य का यह अत्यंत उत्तम जोड़ा है। श्रद्धा और सत्य के जोड़े से मनुष्य स्वर्ग को जीत लेता है।'' ऋग्वेद कहता है—''श्रद्धा हृदयय याकूत्या, श्रद्धया विंदते वसु'' (१०/१५१/१४) अर्थात् ''सब लोग हृदय के दृढ़ संकल्प से श्रद्धा की उपासना करते हैं, क्योंकि श्रद्धा से ही ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।'' गीताकार ने भी इसी 'श्रद्धा' शब्द की व्याख्या १७वें अध्याय में 'सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत' कहकर की है।

श्रद्धा ही नहीं, तत्परता व संयम भी

इस तरह श्रद्धा का महत्त्व समझ लेने पर जाना जा सकता है कि श्रद्धावान को ही सच्चा आत्मज्ञान क्यों मिलता है। श्रद्धा के साथ श्रीकृष्ण दो बातें और बताते हैं, तत्पर होना तथा जितेंद्रिय-संयमी होना। परमतत्त्व की खोज के लिए तत्परता-साधनपरायणता जरूरी है। एकनिष्ठ भाव से साधनाशील होना अनिवार्य है। हो सकता है श्रद्धा एवं भक्तिभाव से ध्यान-साधना के क्षेत्र में अधिकतम आंतरिक जागरूकता मिल भी जाए, पर यदि इंद्रियाँ भलीभाँति नियंत्रित नहीं हैं, तो न केवल एकाग्रता छिन्न-भिन्न हो जाती है, हम उस शांति को प्राप्त नहीं कर पाते, जो आत्मज्ञान की सर्वोच्च्व उपलब्धि है। देखा जाए तो इंद्रियों का स्वभाव ही बहिर्मुख होना है। वे बार-बार विषयों की ओर हमारा ध्यान खींचती हैं। इसीलिए जब तक हम इंद्रियों पर नियंत्रण प्राप्त नहीं करते, तब तक लक्ष्य के प्रति श्रद्धा-असीम भक्ति भी हमें वांछित शांति प्रदान नहीं कर सकती।

ज्ञान को प्राप्त होने का साधन है—श्रद्धा, गुरु के प्रति-शास्त्रवचनों के प्रति अटूट निष्ठा, आदर्शों से असीम प्यार एवं साधना में गति होने, इंद्रिय संयम-अर्थ संयम-समय

संयम एवं विचार संयम साध लेने पर सर्वोच्च स्तर की उपलब्धि हमें मिलती है—वह है शांति (परां शांतिम्)। सारी विकलताओं से मुक्ति, तनाव से मुक्ति, दुःखों से छुटकारा हमें मिल जाता है। संक्षोभ-विक्षोभ ही हमें विकल-रोगी बनाते हैं। यदि संत्रास मन से समाप्त हो जाएँ, तो हम सभी आधि-व्याधियों से मुक्ति पा सकते हैं। आज सारा संसार इसी की तलाश में तो है। यह शांति कहाँ किसी को सहज ही सुलभ है। सारा जगत् अशांतिमय है, चैन की नींद कहाँ किसी को आती है। सारा जीवन परिग्रह में बीत गया, तृष्णा-ललक को पूरा करने में बीत गया, उसी कारण असंयमी बने तथा जीवनी शक्ति के स्रोतों को खोखला कर दिया। मन सदैव शंकाग्रस्त बना रहा, बुद्धि ने प्रगति के क्षेत्र में तो चरम शिखर को छू लिया, पर श्रद्धा में गति हो नहीं पाई एवं यही कारण है कि सर्वत्र आज अशांति है, तनाव है, आतंक का साम्राज्य है।

कोई समाधान है, तो वह गीताकार ही बताते हैं, श्रद्धावान बनें, साधनाशील बनें तथा अपने ऊपर अपना नियंत्रण स्थापित करें। इससे हम आदर्शों के, सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय परमपिता परमात्मा के ज्ञान से ओत-प्रोत हो सकेंगे एवं यही ज्ञान मिलने पर अविलंब हमें भगवत्प्राप्ति होगी, जो परम शांति की ओर हमें ले जाएगी।

अश्रद्धावान का तो सुनिश्चित है सर्वनाश

शास्त्र-ज्ञानरहित अज्ञानी, गुरु और वेदांतरूपी तत्त्वदर्शन के वाक्यों में अश्रद्धा रखने वाला तथा संदेहशील व्यक्ति नष्ट हो जाता है, कभी ब्रह्मज्ञान को प्राप्त नहीं होता। यह बात चालीसवें श्लोक में एक उद्घोषणा के रूप में श्रीकृष्ण कहते हैं। आत्मज्ञानहीन जीवन श्रीकृष्ण की दृष्टि में मृत्युतुल्य और निरानंद है। वह यह भी कहते हैं कि ऐसे अविश्वासी के लिए न तो इस लोक में सुख है और न परलोक में ही सुख है। इस सीमा तक कह जाते हैं कि उसके लिए न तो यह संसार है, न अगला ही और उसे सुख की प्राप्ति की तो आशा ही नहीं करनी चाहिए। कितनी आश्चर्य की बात है कि पशुओं को किसी प्रकार का संशय नहीं होता, पर बुद्धिसंपन्न मनुष्य सदैव-अधिकांश समय संशयी होता रहता है। संशय वहीं उठते हैं, जहाँ अभी स्पष्ट और सुनिश्चित ज्ञान का उदय न हुआ हो। इन संशयों से आखिर बाहर कौन निकाले ? गुरुजन, शास्त्र, जाग्रत् महापुरुषों के प्रवचन, स्वाध्याय ये सभी साधन हैं, जो किसी भी साधक के हृदय की श्रद्धा को बढ़ा सकते हैं। बुद्धि द्वारा ग्रहण ज्ञान हृदय द्वारा आत्मसात किया जाए और यह तभी संभव है, जब साधक ध्यान में, शांतभाव से मनन करने में रुचि रखे। अध्ययन-मनन द्वारा एकत्र ज्ञान व्यवहार में लाने पर उसके प्रति निरंतर श्रद्धा बढ़ती रहने पर सारे संशयों से निवृत्ति मिल जाती है।

जो बिना प्रश्नचिह्न लगाए गुरु के ज्ञान को ग्रहण करता चलता है, यह मानता है कि उनके पास दिव्य दृष्टि है, तो उसका प्रगति का पथ प्रशस्त होता चलता है। परम पूज्य गुरुदेव अपने जीवनकाल का मंच का अंतिम उद्बोधन देने १९८६ के वसंत पर्व पर आए थे और तब उनने कहा था कि तुम्हारे पास दूरबीन हो, तो मैं तुम्हें दिखा देना चाहता हूँ कि सूक्ष्म जगत् में परिवर्तन हो चुका है। युग-निर्माण का कार्य आरंभ हो चुका है। तुम चाहो तो श्रेय ले लो। बस १४-१५ वर्ष निरंतर कार्य करते रहने भर की आवश्यकता है, फिर बदला जमाना तुम्हें दिखाई देने लगेगा। यदि हमें गुरु के वचनों पर दृढ़ विश्वास है, हमारी श्रद्धा है, किसी भी प्रकार का संशय नहीं है, तो हम उनकी शक्ति को अपने अंदर धारण कर वास्तव में अगले दिनों परिवर्तन का निमित्त कारण बनेंगे, हम भी यह देखेंगे, जमाना भी देखेगा, पर यदि हमें ही विश्वास न हो, हम ग्रहणशील न बन पाए हों, तो हमारा विनाश-आत्मिक दृष्टि से अवगति, अधोगति सुनिश्चित है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं, **गुरु के वचन प्रतीति न जेहिं, सपनेहुँ सुख सिधि सुलभ न तेहिं।** अर्थात् जिसे गुरु के वचनों पर विश्वास ही नहीं है, उसे प्रत्यक्ष तो क्या, स्वप्न जगत् में भी सुख नहीं मिलता। वह अकारण दुःख पाता, निरंतर कष्ट भोगता रहता है। कितने ही उदाहरण-नमूने हैं हमारे समक्ष, जिनको गुरु के वचनों पर विश्वास न रहा, वे गुरुद्रोही बने एवं अंततः कष्ट को प्राप्त हुए। कई ऐसे हैं जो स्वार्थसिद्धि के लिए गुरु की बैसाखी लिए खड़े हैं, पर स्वयं अपने अंदर झाँकें, तो पाते हैं कि उन्हें स्वयं गुरु के वचनों पर विश्वास नहीं है। सिख धर्म पूरा गुरु के वचनों पर गहन विश्वास पर टिका है। यदि आज का युगधर्म निभना है, तो वह युगपुरुष-हमारे अपने गुरु के वचनों पर विश्वास-गहरी श्रद्धा टिकाने पर ही संभव हो सकेगा। अखण्ड ज्योति मई १९७० में पूज्यवर ने लिखा, "सद्भावनाओं का चक्रवर्ती सार्वभौम साम्राज्य जिस युगावतारी-निष्कलंक भगवान द्वारा होने वाला है, वह और कोई नहीं, विशुद्ध रूप में अपना युगनिर्माण आंदोलन ही है।" (पृष्ठ ६०) इसके बाद भी संशयात्मा हैं, तो विनाश सुनिश्चित है। इस व अंतिम दो श्लोकों की विस्तार से व्याख्या जुलाई अंक में।

(जुलाई अंक में इस अध्याय की समापन किश्त)

❋

गुरुकथामृत—३३

जीवन जीने की कला के शिक्षक, सच्चे मार्गदर्शक

शिक्षा तो हर कोई स्कूल-कॉलेजों में पा लेता है, पर विद्या तो पूर्व जन्म के संस्कारों, इस जन्म के अध्यवसाय एवं गुरुजनों के शुभाशीष से ही मिल पाती है। शिक्षा जानकारी देती है, डिग्रीधारी बना देती है, पर विद्या तो जीवन जीने की कला सिखाती है, रोजमर्रा की परिस्थितियों का व्यावहारिक ज्ञान कराती है। हमें दैनंदिन जीवन की परिस्थितियों से बिना चिंतन गड़बड़ाए किस तरह मोरचा लेना है, यह विद्या अर्जन से ही संभव हो पाता है। विद्या शब्द को ज्ञान भी कह दिया जाए, तो कोई अत्युक्ति न होगी। हमारे शास्त्र कहते हैं, 'बिन गुरु ज्ञान नहीं' अर्थात् गुरु के माध्यम से ही जीवन विद्या, जीवन कला का शिक्षण मिलता है।

हमारी गुरुसत्ता पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने सही अर्थों में, 'स्व स्व आचरण शिक्षरेण पृथिव्यां सर्वमानवः' की उक्ति को सार्थक किया। जीवन भर शिक्षण दिया, साधकों को-परिजनों को जीवन कला सिखाई। यह कार्य उनने पत्रों से भी किया। अखण्ड ज्योति पत्रिका से भी तथा ढेरों कार्यकर्ताओं को सामने बिठाकर भी किया। यदि सही अर्थों में उन्हें आचार्य-युगाचार्य-संस्कृतिपुरुष कहा जाए, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। क्योंकि जो भी माध्यम मिले, वे उनसे जीवनभर शिक्षण देते रहे, लोगों को योग्य बनाते रहे। उनके लिखे पत्रों को आज भी पढ़कर हम वही शिक्षण पाते हैं। आज भी वर्षों पूर्व के पत्र, जो उनके द्वारा लिखे गए, हम सभी के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं। विभिन्न विषयों के बारे में हमें बताते हैं कि हमारी सोच उन पर क्या होनी चाहिए। एक ऐसा ही विशद रूप में लिखा पत्र इस अंक में प्रस्तुत किया जा रहा है। यह पत्र १७-९-१९४९ को श्री सुमंत कुमार मिश्र (रायपुर) को लिखा गया था। जो जवाब लिखे गए, उन्हें दो खंडों में बाँटकर प्रस्तुत कर रहे हैं, ताकि क्या संभावित प्रश्न था एवं उसकी व्यावहारिक व्याख्या गुरुवर के मन में क्या थी, इसे भी समझ सकें।

हमारे आत्मस्वरूप, १७-९-४९

आपका पत्र मिला। हमारे प्रति आपकी जो आत्मीयता है, उसके लिए हम विशेष रूप से कृतज्ञ हैं। आपके प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार हैं-

(१) प्रेम विवाह उचित है, परंतु वह प्रेम वासनाजन्य नहीं, गुण साम्य के आकर्षण से उत्पन्न हुआ होना चाहिए।

(२) आधुनिक शिक्षा प्रणाली समय, स्वास्थ्य और धन का अपव्यय करती है, परंतु उसे तभी त्यागना चाहिए, जब उसके स्थान पर अधिक उपयोगी शिक्षाक्रम सामने हो। स्कूली शिक्षा छोड़ बैठना और अन्य किसी भी प्रकार की शिक्षण व्यवस्था का प्रबंध न होना, इस अव्यवस्था से स्कूली शिक्षा ही अच्छी।

(३) आज की स्थिति में कोई विरले ही मनस्वी अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन कर सकते हैं, इसलिए सर्वसाधारण के लिए गृहस्थ जीवन ही उचित मार्ग है।

(४) प्राचीनता का मोह और आधुनिकता का विरोध या आधुनिकता का मोह और प्राचीनता का विरोध, ये दोनों ही बातें हठधर्मी हैं। जो उचित है, उपयोगी है, विवेक-संगत है, वही ग्रहण करना चाहिए। पोशाक, वाहन, अस्त्र के बारे में भी यही बात है।

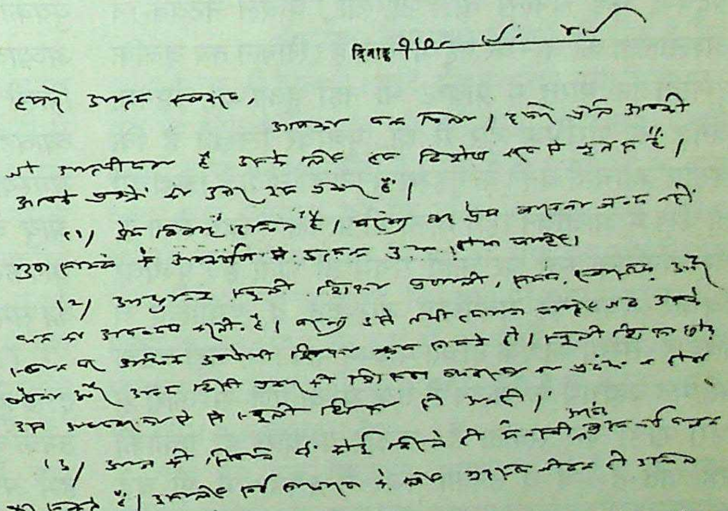

आत्मीयता के नाते पूछे गए प्रश्नों पर किसी प्रकार की अन्यमनस्कता न दरसाते हुए आचार्य श्री अपनी कृतज्ञता

व्यक्त करते हैं एवं बिंदुवार एक-एक प्रश्न का समाधान भी देते हैं। १९४९ में 'प्रेम विवाह' पर एक आध्यात्मिक स्तर के मार्गदर्शक द्वारा सहमति व्यक्त करना हमें परमपूज्य गुरुदेव के प्रगतिशील चिंतन का परिचय देता है, पर वे बड़ा स्पष्ट कर देते हैं कि वह 'कामज' नहीं होना चाहिए, वासनाजन्य नहीं होना चाहिए। जब तक गुणों के आधार पर परस्पर एकरूपता स्थापित न हो, तब तक प्रेम विवाह असफल होते रहेंगे। विगत ५३ वर्षों में दुनिया कहाँ-से-कहाँ पहुँच गई, आधुनिकीकरण के दौर में हम रह रहे हैं, पर तथ्य अपने स्थान पर है कि परिवार संस्था का कल्याण तभी है, जब गाड़ी के दोनों पहिये गुण-कर्म-स्वभाव के परिष्कार पर, एक धुरी पर चलने को तैयार हों। आज भी यह शिक्षा उतनी ही उपयोगी है। शिक्षा व विद्या के सार्थक समन्वय पर, नैतिक मूल्यों पर आधारित शिक्षा पर हम आज विचार कर रहे हैं, पर आज की मैकाले प्रधान शिक्षा १९४९ में ही प्रबुद्धजनों के लिए निरुपयोगी सिद्ध होने लगी थी। आचार्य श्री अनौपचारिक शिक्षा को महत्त्व देते हैं एवं बताते हैं कि जब तक उस स्तर की स्थापनाएँ नहीं होतीं, प्रयोग व्यापक स्तर पर नहीं होते, तब तक स्कूली शिक्षा पर रोक लगाने से क्या लाभ !

आज तो परिस्थितियाँ और भी खराब हैं। सांस्कृतिक प्रदूषण, कई चैनेल्स वाले टी. वी., कैबल नेटवर्क ने अश्लीलता को घर-घर पहुँचा दिया है। लेकिन तब जबकि टेलीविजन भारत में प्रविष्ट भी नहीं हुआ था, सिनेमा जगत् भी प्रारंभिक दौर में था, पूज्यवर लिखते हैं कि बजाय ब्रह्मचारी बनने के गृहस्थ बनना ही ठीक है। ब्रह्मचर्य तो जेल में आजीवन रहने वाला भी प्रत्यक्ष में साध लेता है, पर मानसिक स्तर पर कहाँ संयम हो पाता है। पूज्यवर विचार-संयम पर सर्वाधिक जोर देते थे, इसीलिए वे विवाह-संस्था को एक उचित माध्यम मानते थे, जहाँ व्यक्ति सीमित ब्रह्मचर्य के पालन से एक संस्था गुण-संस्कारों से भरी खड़ी कर सकता है। कठोर व्रतधारी ही एकाकी रह पाते हैं एवं वे उनकी नजर में १९४९ में भी बड़े विरले ही थे। एकाकी अविवाहित यदि असंयमी हुआ, तो समाज के लिए और भी नुकसानदायक हो सकता है, यह पूज्यवर का चिंतन था। आजादी के बाद का वह दौर आधुनिकता की बयार लिए आया था। यह एक प्रतिद्वंद्विता से भरी उपभोक्तावादी होड़ तो १९९० के बाद आँधी के रूप में बढ़ी, पर उस समय भी धीरे-धीरे आधुनिकता जीवन शैली पर अतिक्रमण करने लगी थी।

साधक का प्रश्न हल करते हुए वे लिखते हैं कि ऐसे में अतिवादिता ठीक नहीं है। प्राचीनता से मोह या उसका विरोध दोनों ही अनुचित हैं। इसी तरह आधुनिकता से लगाव व उसकी मुखालफत भी गलत है। जो भी ठीक है, विवेकसम्मत है, परिस्थितियों के अनुरूप उसे जीवन में स्थान देना चाहिए।

पत्र में आगे पूज्यवर लिखते हैं—

(५) तांत्रिक सिद्धांतों और उसके अद्भुत परिणामों पर हमारी श्रद्धा है, परंतु आजकल इन आधारों पर ठगी ही प्रधान रूप से होती है। इसलिए वास्तविकता की परीक्षा कर लेनी चाहिए। सिद्धांततः ये बातें ठीक हैं।

(६) जीव ईश्वर का अंश है। यह एक प्रामाणिक भारतीय मान्यता है। इस स्थिति का साक्षात्कार तभी होता है, जब कुविचारों, कुसंस्कारों और कुकर्मों से मनुष्य सर्वथा मुक्त हो जाता है। इन तीनों से छुटकारा पाने को ही मुक्ति कहते हैं। मुक्ति अवस्था में हम निर्विकार ईश्वर हो जाते हैं, जब तक वह अवस्था प्राप्त नहीं, तब तक हम सब जीव हैं। जीवन अपूर्ण एवं त्रुटिसंपन्न होते हैं। ईश्वर पूर्ण एवं दोषरहित है।

(७) यह ठीक है कि बूढ़े लोग युवकों की अपेक्षा अधिक अनुदार, संकीर्ण और स्वार्थी होते हैं। वे अपने बालकों को इसी दृष्टिकोण से सलाह देते हैं, पर कई बार युवकों की योजनाएँ और कल्पनाएँ भी ऊँची उड़ान और अव्यावहारिकता से भरी होती हैं। ऐसी दशा में उन्हें किसी अनुभवशील, दूरदर्शी, मानव विज्ञान के ज्ञाता एवं व्यावहारिक आध्यात्मिकता के जानकार व्यक्ति से अपनी समस्याओं को सुलझवाते रहना चाहिए। प्रायः अपरिपक्व आयु के युवक ऐसी योजना अपना बैठते हैं, जो आगे चलकर उन्हें दुःख देती है, इसलिए जोश और होश दोनों का समन्वय होना चाहिए।

(८) चाचा जी के स्वर्गवास का समाचार पढ़कर दुःख हुआ। प्रभु उनकी दिवंगत आत्मा को सद्गति दे और उनके कुटुंबियों को धैर्य प्रदान करे। दूसरों की मृत्यु देखकर हमें अपनी मृत्यु का स्मरण करना चाहिए।

(९) राख पर बनी लकीरों के आधार पर पुनर्जन्म की योनि का अनुमान लगाना अंधविश्वास मात्र है। इसमें कुछ तथ्य नहीं।

शेष दया।

विनीत

श्रीराम शर्मा आचार्य

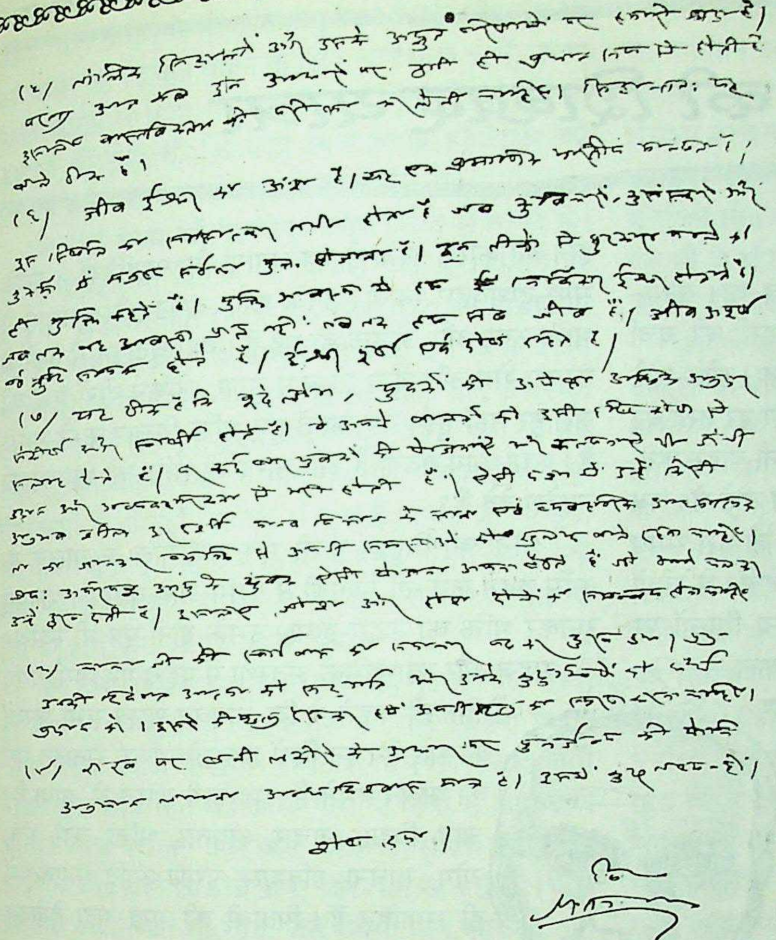

पत्र में दिए गए बिंदुओं पर परिजन ध्यान दें। तंत्र पर पूरी श्रद्धा बताते हुए भी वे अपने प्रिय शिष्य को ठगी से सावधान करना चाहते हैं। पूज्यवर के अनुसार तंत्र एक विज्ञान है, विधिसम्मत शास्त्र है, पर तभी जब उसके साथ सही व्यक्ति जुड़े हों। सिद्धांततः तंत्र को वे नकारते नहीं, पर उसके दुरुपयोग के प्रति सचेत भी करते हैं। *जीवो ब्रह्मैवनापरः* की वेदांत दर्शन की उक्ति से पूरी सहमति दिखाते हुए भी आचार्य श्री भवबंधनों से मुक्ति के आध्यात्मिक पुरुषार्थ को पहले प्रधानता देते हैं। यदि विचार-संस्कार व कर्म ही गलत हों, तो जीव, ब्रह्म कैसे बन सकता है ? विचार ही संस्कार बनाते हैं व तद्नुरूप ही मनुष्य कर्म करता है। सबसे पहले हम उन भवबंधनों से जो वासना, तृष्णा, अहंता के रूप में हमारी नित्य परीक्षा लेते रहते हैं, मुक्त हों तो हम त्रुटिरहित ईश्वर के समकक्ष बन सकते हैं। स्वामी विवेकानंद के 'ईच सोल इज पोटेंशियली डिवाइन' वाली उक्ति से वे अपनी सहमति साधक की जिज्ञासा के उत्तर में व्यक्त करते हैं।

बूढ़े बनाम युवा का विवाद युगों-युगों से चला आ रहा है। हमने बाल यों ही नहीं सफेद किए हैं; कहते वृद्ध देखे जाते हैं। वृद्धजन गहरे भी होते हैं व सरल भी, पर पूज्यवर अपने युवा साधक की मनःसंतुष्टि के लिए, अनुदारता-संकीर्णता-स्वार्थपरायणता पर सहमति जताते हुए भी युवाओं को काल्पनिक उड़ान के खिलाड़ी बताते हैं। सभी वृद्धों को एक ही तराजू से न तौलकर समस्याओं के समाधान हेतु अनुभवी-दूरदर्शी-मानव मनोविज्ञान के ज्ञाता को महत्त्व देने की बात भी करते हैं, चाहे वह युवा हो या वृद्ध। जोश एवं होश, उत्साह एवं धैर्य दोनों का युग्म हर किसी के जीवन को सफल बना सकता है, यह भी बताते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर कितना गहरा है, इसे हर कोई समझ सकता है।

श्री सुमंत जी के चाचाजी के स्वर्गवास पर सहानुभूति, मृतात्मा के लिए प्रार्थना के साथ वे एक संदेश देते हैं कि हमें नित्य अपनी मृत्यु का स्मरण करते रहना चाहिए। श्मशान-वैराग्य तो अनेकों को होता है, पर वह क्षणिक ही होता है। यदि हम हर दिन नया जन्म, हर रात नई मौत के सिद्धांत को याद रखें, तो देखते-देखते हमारी दृष्टि बदल सकती है। अंत में वे सुमंत जी के द्वारा व्यक्त एक जिज्ञासा को कि मृत्यु के बाद जब अस्थि बटोरने गए, तो राख पर निशान से लगा कि इस विशेष योनि में जन्म उनका होगा, बिल्कुल निराधार ठहराया है। विज्ञानसम्मत आज के युग में भी ऐसी न जाने कितनी मान्यताएँ हैं, किंतु ऋषि तुरंत नकार देता है व कहता है कि यह कोरा अंधविश्वास है।

यह पत्र एक जिज्ञासा-समाधान भी है एवं एक मार्गदर्शक लेख भी। मात्र एक ही पत्र इतनी सारी जानकारी देता है, शंकाओं का समाधान करता है कि व्यावहारिक दृष्टि से यह एक व्याख्यान की भूमिका भी निभाता है—जीवन व्यापार के हर क्षेत्र में हमारा दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए। कैसी विलक्षण प्रतिभा के धनी थे—सूक्ष्मदर्शी-दूरदर्शी हमारे पूज्य गुरुदेव, जिनने अपनी लेखनी से जन-जन का मार्गदर्शन किया, लोकशिक्षण किया।

श्रीरामलीलामृतम्-५

चेतना की शिखर यात्रा

सत्यं परं धीमहि

भागवत् पंडित जी का परम प्रिय शास्त्र था। कथा-प्रवचनों के अलावा सामान्य समय में भी वे इसी की चर्चा करते रहते। घर पर विद्वानों का जमावाड़ा रहता। छोटे-मोटे प्रसंगों में भी वे भागवत् के श्लोक सुना देते और हर तरह की समस्याओं का समाधान निकाल लेते। जिन दिनों बाहर रहते, उन दिनों भी लोग उन्हें ढूँढ़ते-पूछते हवेली आ जाते थे। जब वे घर पर होते, तब तो कहना ही क्या ? ताई जी उस समय तीन साल के श्रीराम को पिता के सुपुर्द कर देतीं। वे लोगों की बात सुनते, उनका हल बताते या सामान्य विषयों पर चर्चा करते, तो श्रीराम बैठक में ही होते। बाल-सुलभ क्रीड़ाओं में मगन रहते या चुप बैठकर वहाँ उपस्थित लोगों की बातें सुनते। तीन-चार साल के बच्चे के लिए शास्त्र चर्चा, तत्त्वदर्शन और भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की बातें समझना शायद कठिन हो! वह उन चर्चाओं से बने वातावरण के संस्कार तो ग्रहण करता ही है। बालक अपने पूर्व जन्म के शुभ संस्कारों से निश्चित ही समृद्ध था। कह सकते हैं कि नए संस्कारों की आवश्यकता नहीं रही होगी, लेकिन उस वातावरण ने संस्कारों को उभारने में सहायता तो की ही।

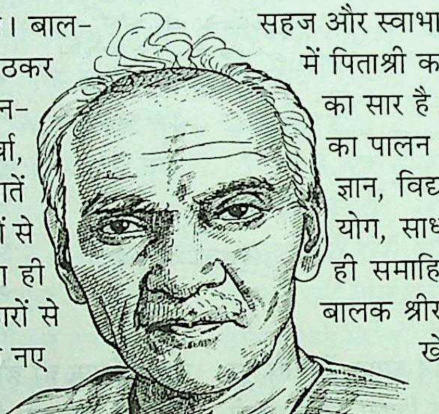

पद्मपुराण में भागवत् माहात्म्य प्रसंग और एकादश स्कंध के विषयों पर पिता जब भी चर्चा छेड़ते, तो तीन-चार साल के श्रीराम चुपचाप वहाँ बैठ जाते। उनके मुँह की ओर टकटकी बाँधे देखते रहते। ताई जी बताती थीं कि नारद जी और भक्ति के संवाद की चर्चा सुनकर उनका श्रीराम उदास हो जाता था। इस प्रसंग में यमुना तट पर भक्ति दुःखी और क्लांत होकर बैठी है। पास ही दो बूढ़े व्यक्ति बेहोश पड़े हैं। उन्हें होश में लाने की कोशिश करती हुई स्त्री किसी सहायक के आने की प्रतीक्षा करती हुई आस-पास देखती रहती है। कुछ स्त्रियाँ उसे धीरज बँधा रही हैं। नारद जी संयोग से पहुँचते हैं और युवती से अपना परिचय देने के लिए कहते हैं।

वह स्त्री कहती है, मेरा नाम भक्ति है। ज्ञान और वैराग्य दोनों मेरे पुत्र हैं। काल के प्रवाह से ये वृद्ध हो गए हैं। आस-पास जो स्त्रियाँ हैं, वे गंगा-यमुना आदि नदियाँ हैं, जो मेरी सेवा कर रही हैं। फिर भी दुःख दूर नहीं हो रहा है। क्षीण होने का कारण भक्ति ने यह बताया कि पाखंडियों ने उसके साथ दुर्व्यवहार किया। उनके छल, कपट और दुराचारों से भक्ति रुग्ण और अशक्त हो गई है। यहाँ वृंदावन में आने से उसका रोग और दैन्य तो कम हुआ, लेकिन दोनों पुत्रों की जरा दूर नहीं हुई। यह कहते हुए भक्ति विलाप करने लगती है। कथा आगे बढ़ती है और नारद जी भक्ति को भागवत् का उपदेश देते हैं।

भक्ति को विलाप करते सुन चार साल के बालक के आँसू बहने लगे, तो पिताश्री ने प्रसंग आगे बढ़ाया। भागवत् सुनकर भक्ति का उद्धार हुआ। उसके दोनों पुत्र भी स्वस्थ-सहज और स्वाभाविक अवस्था में पहुँच गए। इसी प्रसंग में पिताश्री कहते थे कि भागवत् शास्त्र सभी शास्त्रों का सार है। इन दिनों हम लोग जिस सनातन धर्म का पालन करते हैं, वह इसी शास्त्र से आया है। ज्ञान, विद्या, आचार, अवतार, भक्ति, कर्म, मंत्र, योग, साधना, इतिहास, पुराण आदि भागवत् में ही समाहित हैं। पिताश्री की मुख-मुद्रा देखकर बालक श्रीराम भी आश्वस्त हो जाता। उठकर वह खेलने-कूदने लगता।

'ग' से गायत्री

हवेली में होने वाली चर्चा और वहाँ के परिवेश ने बालक श्रीराम की शिक्षा का आरंभ किया। विधिवत् विद्यारंभ चार साल बीतने के बाद हुआ। पंडित जी चाहते तो अपने सान्निध्य में ही वेद-शास्त्र सब पढ़ा सकते थे, लेकिन उनका मानना था कि शिक्षा ग्रहण करने के लिए गुरु का संसर्ग प्राप्त होना ही चाहिए। उस छोटे-से गाँव में एक अध्यापक थे पंडित रूपराम। वे अपने घर पर ही विद्यालय चलाते थे। पंडित जी ने श्रीराम को उनके सुपुर्द किया। ताई जी बताया करती थीं कि पूजा-पाठ के बाद गुरुजी ने तख्ती थमाई। पट्टी सफेद रंग की थी और लकड़ी से बनी हुई थी। उन दिनों स्लेट और खड़िया का चलन नहीं था। अलग-अलग इलाकों में अलग-अलग तरह से अक्षर-ज्ञान कराया जाता था। पंडित रूपराम पानी में गेरू घोलकर अक्षर अभ्यास कराते। तख्ती और गेरू की पूजा होने के बाद पहला अक्षर सिखाने लगे। सरकंडे की कलम को घुले हुए गेरू में डुबोया और श्रीराम के हाथ में दिया गया। फिर हाथ पकड़कर तख्ती पर पहला अक्षर लिखवाते हुए

कहा, 'ग'। श्रीराम ने भी तुरंत अनुकरण किया और गुरु जी उस अक्षर की पहचान बताने के लिए आगे कुछ बोलें, उससे पहले श्रीराम ने कहा, ग-गायत्री का। गुरु जी को इसकी कल्पना भी नहीं थी कि छात्र बिना बताए ही अक्षर की पहचान बता उठेगा। पहचान भी अपने ढंग से।

वे 'ग' अक्षर की पहचान 'गणेश' शब्द से कराते थे। उनकी मान्यता थी कि 'ग' से 'गणेश' का बोध कराने पर छात्र की बुद्धि संस्कारित होती है। गणेश बुद्धि के अधिष्ठाता देव हैं, इसलिए भी यह अच्छा श्रीगणेश है। बिना बताए गायत्री से आरंभ करने पर गुरु जी ही नहीं, वहाँ उपस्थित दूसरे लोग भी चमत्कृत हुए। बाद में गुरु जी ने पूछा, श्रीराम तुम्हें किसने बताया कि 'ग माने गायत्री'। विद्यार्थी ने कहा कि किसी ने भी नहीं। हवेली में सुना है। पिता जी भी इसी की कथा भागवत् सप्ताह में कहते हैं। गुरु पंडित रूपराम के साथ पं० रूपकिशोर भी गद्गद् हो उठे। दोनों ने बालक के सिर पर हाथ फेरा और स्नेह से सूँघा।

उन दिनों अभिभावक अपने बच्चे को गुरु के पास रखना ही श्रेयस्कर समझते थे। छात्र गुरु के पास जितना ज्यादा रहेगा, उतना ज्यादा सीखेगा। पंडित रूपराम की पाठशाला में पंद्रह-बीस छात्र रहते थे। आस-पास के गाँवों से आए बच्चे भी थे। पढ़ाई के लिए आने वाले छात्रों की संख्या इससे दो-ढाई गुना थी। इतने छात्र तो प्रायः दिन-रात रहते ही थे। कुछ विद्यार्थी आते-जाते भी रहते, जैसे किसी दिन वहीं सो गए, तो कभी अपने घर चले गए। गुरु जी सभी छात्रों से स्नेहिल व्यवहार रखते। उनके पढ़ने, खाने, पीने, सोने, बैठने और बातचीत करने में अनुशासन दिखाई देता था, लेकिन यह अनुशासन लादा हुआ नहीं था। स्नेह और मधुर दुलार से छात्र के भीतर जगाया हुआ था। उदाहरण के लिए पाठशाला या गुरुगृह में ही सोने वाले बच्चों को गुरु जी सुबह खुद जगाते थे। बच्चे थके-माँदे नहीं हों, तो भी देर तक नींद आती है। अभ्यास नहीं होने के कारण बिना सोए भी बिस्तर पर पड़े रहने में मजा आता है। सुबह जल्दी उठने की आदत डालने के लिए गुरु जी खुद उन बच्चों के पास जाते। उन्हें स्नेह से पुकारते, उठाते, उषःपान कराते और नहा-धोकर पढ़ने के लिए बिठा देते।

गायत्री ब्राह्मण की कामधेनु

बालक श्रीराम का सोना-जागना अपनी हवेली में ही रहा। सुबह सात बजे वह बिना नागा पाठशाला पहुँच जाते और देर शाम तक वहीं पढ़ते रहते। पढ़ाई पूरी होने के बाद वापस अपने घर आ जाते। पाँच-छह साल यह क्रम चला होगा कि पिताजी के साथ काशी की यात्रा आरंभ हुई। काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना के समय निश्चित हुआ कि श्रीराम को यज्ञोपवीत दीक्षा मालवीय जी स्वयं देंगे। उस निर्धारण को ध्यान में रखते हुए सात-आठ वर्ष की आयु में पिता ने चिरंजीव का उपनयन नहीं कराया था। काशी जाने पर मालवीय जी के निवास पर ही सादे समारोह में यज्ञोपवीत संपन्न हो गया। संस्कार के समय मालवीय जी ने गायत्री को सर्व वेदमय और ब्रह्मस्वरूप होने के जो उपदेश दिए थे, वे रास्ते में हर क्षण कानों में गूँजते रहे। दस-बारह साल के बालक के लिए ये उपदेश गूढ़ भी थे और सहज ग्राह्य भी। ग्रहण कर लिए जाएँ, तो पूरे जीवन की दिशाधारा तय हो जाती है।

अपनी समझ के अनुसार बालक श्रीराम ने पिताश्री से उपदेशों के बारे में कई जिज्ञासाएँ कीं। गायत्री को ब्राह्मण की कामधेनु क्यों कहा है? ब्राह्मण कौन है, किसे गायत्री सिद्ध होती है? अगर ब्राह्मण को गायत्री सिद्ध होती है, तो इस जाति के लोग दीन-हीन क्यों होते हैं? गायत्री को किसने शाप दिया? उस शाप का विमोचन कैसे किया जाए, आदि प्रश्नों का समाधान रास्ते में ही हो गया। गुरुदेव ने बाद में पिताजी से मिले सभी समाधानों का समय-समय पर उल्लेख किया है। वह विवेचन गायत्री साधना के मर्म को स्पष्टतः उद्घाटित करता है। यहाँ इतना ही कि यज्ञोपवीत के बाद बालक श्रीराम ने संध्या गायत्री जप आरंभ कर दिया। यह बात मन में अच्छी तरह बैठ गई थी कि संध्या-गायत्री नहीं करने से यज्ञोपवीत भंग हो जाता है। व्यक्ति को व्रात्यसंज्ञक अर्थात् पतित कहा जाने लगता है और यज्ञोपवीत संस्कार के समय हुआ उसका दूसरा जन्म या मनुष्य जीवन स्थगित हो जाता है। वह अपने आपको द्विज कहने का अधिकार खो देता है।

वाराणसी से लौटने के बाद बालक श्रीराम ने अपने लिए हवेली में एक कमरा निश्चित कर लिया। वहाँ वे जप-ध्यान करते। संध्यावंदन के लिए खुले में जाते। यह खुलापन घर की छत पर होता या गाँव के बाहर बने शिवालय में। अपने खेत में वटवृक्ष के नीचे भी वे संध्यावंदन के लिए जाते थे। पुत्र को जप-ध्यान में इतना तन्मय देखकर पिताश्री बहुत प्रसन्न होते थे। वे कहते श्रीराम अपना ब्राह्मण होना सार्थक करेगा। अपने आपको ही नहीं, पूरे कुल को और गायत्री उपासकों को धन्य बनाएगा। पिताश्री जब 'ब्राह्मण' कहते थे, तो उनका आशय इस नाम के किसी कुल या जाति में जन्म लेने वाले व्यक्ति से नहीं था। सीधे-सादे शब्दों में वे कहते थे, जिसका आचार शुद्ध हो, वही ब्राह्मण है। जो ब्रह्म को जानने और पाने के लिए अपने आपको तपा रहा हो, वह ब्राह्मण है।

घर में छत पर 'मंदिर में' वट वृक्ष के नीचे और खुले आकाश तले बालक श्रीराम का जप-ध्यान चलता। सुबह पाँच बजे के लगभग वे उठ जाते और स्नान आदि से निवृत्त होकर संध्या-वंदन के लिए बैठ जाते। प्राची में सूर्योदय की लालिमा फैलने तक संध्यावंदन और गायत्री जप के साथ सविता देवता के स्वर्णिम प्रकाश का ध्यान होता। संध्या के

सभी कृत्य 'अनेन संध्योपासनेन कर्मणा श्री परमेश्वर: प्रीयतां न मम। ॐ तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु' के पाठ के बाद संपन्न हो जाता। इस पाठ के साथ जप-साधना का पुण्य परमात्मा को ही समर्पित कर बालक श्रीराम वापस लौट आते। सात बजे पंडित रूपराम की पाठशाला में पहुँच जाते। वहाँ शिक्षा के साथ आचार आदि का अभ्यास होता। शाम के समय भी सूर्यास्त होने के ठीक पहले सायंकालीन संध्या शुरू हो जाती। तारे दिखाई देने तक वह संध्या कर्म भी परब्रह्म को समर्पित हो जाता। यह सिलसिला चार-पाँच साल चला।

शास्त्रीय मान्यता है कि नियमपूर्वक नियत समय पर विधि-विधान से किया गया गायत्री जप तेजी से आध्यात्मिक ऊँचाइयों की ओर ले जाता है। विधि-विधान का तात्पर्य अपनी साधना में श्रद्धा-विश्वास का समावेश है। जो किया जा रहा है, जो समझाया गया है, उसमें प्रत्यक्ष की तरह विश्वास। कहा गया है कि गायत्री कामधेनु है, तो उसी रूप में मान लिया। यह संदेह नहीं उठा कि यह सिर्फ महत्त्व बताने के लिए ही है। सचाई शायद कुछ और हो। शास्त्र, गुरु और साधना में श्रद्धा सिद्धि के मार्ग पर ले जाती है।

साधना का खेल

बालक श्रीराम प्रात:-सायं संध्या और गायत्री जप के साथ दिन में भी ध्यान का अभ्यास करते। गुरु जी की पाठशाला में यह उनका प्रिय खेल था। अध्ययन से अवकाश मिलता, तो वे ध्यान-जप के लिए बैठ जाते। दूसरे छात्र खेलते रहते। कुछ सहपाठियों ने भी उनके खेल में रुचि दिखाई। दो-चार साथी मिल जाने पर नया खेल तैयार हो गया। खेल का नाम रखा 'साधना'। इस खेल में खिलाड़ी पालथी मारकर बैठ जाते। उनसे कहा जाता कि आँखें बंद कर देखने की कोशिश करो। उस जगह देखो जहाँ दोनों भौंहें मिलती हैं। देखते हुए अनुभव करो कि वहाँ सूर्य चमक रहा है। पता नहीं कितने छात्रों ने इस खेल को समझा। बहरहाल वे चुपचाप बैठे रहते। पूछने पर कहते कि बड़ा मजा आ रहा है। खेल के अगले चरण में गायत्री, हिमालय, गंगा, यमुना, सरस्वती, सिद्ध, संत और इसी तरह की चर्चा चल पड़ती। इन चर्चाओं में काई तारतम्य नहीं होता। आठ-दस वाक्यों से ज्यादा संगति भी नहीं बैठती, लेकिन आधा-पौन घंटे तक खेल चलता रहता। कुछ दिन बाद वे चार-पाँच सखाओं को लेकर जंगल भी जाने लगे। घनी छाया वाले पेड़ के नीचे बैठकर खेल चलता।

एक बार श्रीराम अकेले ही गए और तीसरे पहर लौटे। पाठशाला का समय था। गुरु जी ने समझा कि छात्र किसी काम से घर गया होगा। घरवालों ने समझा किं पाठशाला में ही होगा। इसलिए उन्हें खोजा नहीं। जिन छात्रों को 'साधना-साधना' खेल में रस आने लगा था, वे ढूँढ़ते रहे। तीसरे पहर उनके खेल का लीडर प्रकट हुआ तो पूछा कहाँ गए थे। श्रीराम ने उत्तर दिया, एक गुफा मिल गई थी। वहाँ कोई नहीं आता। आराम से उसमें बैठकर ध्यान किया जा सकता है। अगले दिन वे साथियों को लेकर गुफा के पास गए। साथी किसी तरह गुफा तक चले तो गए, लेकिन भीतर जाने का साहस नहीं हुआ। डर लगा। श्रीराम अंदर घुस गए। दूसरे लड़कों से न अंदर जाते बना और न ही वापस लौटने की हिम्मत हुई। अपने लीडर के वापस आने तक बाहर ही खड़े रहे।

घंटे-डेढ़ घंटे बाद श्रीराम वापस आए, तो छात्रों ने उलाहना दिया। कहा कि इस खेल में अब आगे से शामिल नहीं होंगे। श्रीराम ने छात्रों का साथ छोड़ जाने की परवाह नहीं की। समय मिलते ही घंटे-आधा घंटे के लिए अकेले ही निकल जाना और गुफा में ध्यान लगाना जारी रखा। बीच-बीच में कक्षा से गायब हो जाने पर गुरु जी का ध्यान भी गया। उन्होंने श्रीराम से सीधे न पूछकर छात्रों से ही पूछ डाला। गोपालदास नामक छात्र ने बता दिया। गुरु जी ने कहा, तुम उसके घर जाकर यह बात कह देना। इस तरह ताई जी को गुफा में जाने की बात पता लग गई। उन्होंने श्रीराम को बुलाकर डाँटा। कहा कि शेर-चीते की गुफा होगी, किसी दिन तुम्हें देख लेगा, तो फाड़कर खा जाएगा। माँ की डाँट सुनकर श्रीराम ने मौन हामी भर दी कि वे अब नहीं जाएँगे। हामी भरते ही माँ ने पुत्र को हृदय से लगा लिया।

इसके बाद कोई दिन ऐसा नहीं बीता था कि स्कूल नहीं गए हों। हारी-बीमारी की बात अलग है, अन्यथा पाठशाला नियमित जाना होता था। बिना नागा और बिना देर किए अपनी कक्षा में पहुँच जाते। जिस किसी दिन नहीं आना होता था, उस दिन हवेली से सूचना पहुँच जाती थी कि आज श्रीराम अमुक कारण से विद्यालय नहीं आएँगे। एक दिन न सूचना पहुँची और न ही श्रीराम आए। पंडित रूपराम ने सोचा कि किसी कारण सूचना नहीं भिजवाई जा सकी होगी। उन्होंने गौर नहीं किया। उसी दिन शाम को हवेली से संदेश आया कि श्रीराम अभी तक घर नहीं पहुँचे हैं। क्या कक्षाएँ देर तक चल रही हैं?

गुरु जी के सामने अब उजागर हुआ कि उनका छात्र पाठशाला के लिए निकला तो था, लेकिन कहीं और रम गया है। पहली आशंका यही हुई कि ध्यान वाली गुफा में बैठा हो, जहाँ महीनों पहले कुछ सहपाठियों के साथ जाया करते थे। ताई जी ने कहा, श्रीराम ने मना कर दिया था, इसलिए वहाँ जाने का सवाल ही नहीं उठता। फिर भी एक बार गुफा में तलाशने के लिए कुछ लोग निकले। अष्टमी या नवमी की रात थी। चंद्रमा की मद्धिम चाँदनी में रास्ता देखा जा सकता था फिर भी जरूरत पड़ने पर मशाल जलाने का इंतजाम कर लिया। ◆

(शेष जुलाई अंक में)

अपनों से अपनी बात

विश्वविद्यालय का आधार बनेगा संगठन-सशक्तीकरण का महापुरुषार्थ ही

अब हमारे अपने गायत्री परिवार के स्वामित्व वाले देव संस्कृति विश्वविद्यालय की स्थापना हो चुकी। यह हर गायत्री परिजन का है, हर उस भावनाशील का है, जिसे सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर इक्कीसवीं सदी में उज्ज्वल भविष्य के, वह भी शीघ्र ही एक दशक में आगमन में जरा भी संदेह नहीं है। निश्चित ही युगपरिवर्तनकारी शिक्षणपद्धति एवं महामानवों को गढ़ने वाला तंत्र ही वह आधारशिला रखेगा, जिससे लोकसेवी कार्यकर्त्ता ढलते चले जाएँ, स्वयं अपने पैरों पर खड़े हो सकें एवं अपने भारतवर्ष को पुनः बृहत्तर भारत, एक समर्थ विश्वनायक राष्ट्र बनाकर ही छोड़ें। स्वदेशी-स्वावलंबन-सुसंस्कारिता पर आधारित यह तंत्र निश्चित ही इसके संस्थापक सूक्ष्म-कारण रूप में सदा से ही प्रेरणा-मार्गदर्शन प्रदान करने वाले हमारे गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी के स्वप्नों को साकार कर सकेगा।

हमारे गुरुदेव द्रष्टा थे। वे दिव्य संभावनाएँ देखते थे और अपनी परोक्ष में झाँकने की क्षमता के आधार पर ही उनने वर्षों पूर्व भविष्य बता दिया था। १९२६ में अखण्ड दीप प्रज्वलन से लेकर १९५८ में एक विराट् वाजपेय स्तर के १००८ कुंडी गायत्री महायज्ञ द्वारा मथुरा से गायत्री परिवार के निर्माण तक वे 'एकोऽहं बहुस्यामि' की उक्ति के अनुसार बहुगुणित होते चले गए। अपने द्वितीय एकवर्षीय हिमालय प्रवास से लौटते ही उनके स्वर तीखे होने लगे। युगनिर्माण योजना का सूत्रपात उनने किया एवं नवयुग का संविधान रचा। पंचकोशी साधना का पत्राचार पाठ्यक्रम 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका से एवं कुछ साधकों को गायत्री तपोभूमि मथुरा बुलाकर चलाया। साधना की धुरी पर क्रांतिकारी परिवर्तन कैसे आएगा, इस पर 'महाकाल और उसकी युगप्रत्यावर्तन प्रक्रिया' नामक लेखमाला उनने जून-अक्टूबर १९६७ में लिखी। फिर पुस्तक रूप में उसकी प्रस्तुति १९६८ में की। यह एक प्रकार से नवजागरण का शंखनाद था। भारत को राजनैतिक आजादी तो मिल गई थी, पर 'सांस्कृतिक नवजागरण' ने, जिसके लिए विगत ढाई सौ वर्षों से महामानव इसी धरती पर जन्म ले रहे थे, तीव्र गति युगनिर्माण योजना के सक्रिय रूप लेने पर ही पकड़ी। आज का देव संस्कृति विश्वविद्यालय एवं उसका भावी विश्वव्यापी तंत्र उस प्रक्रिया की पूर्णाहुति की वेला में ही उभरकर सामने आया है।

जून १९७० में परमपूज्य गुरुदेव ने 'युगपरिवर्तनकारी शिक्षा और उसकी रूपरेखा' शीर्षक से अपना संपादकीय-अपनों से अपनी बात में लिखा। इसमें वे लिखते हैं, ''व्यक्ति और समाज का भावनात्मक कायाकल्प करने के लिए हमें रचनात्मक और संघर्षात्मक मोरचे खोलने पड़ेंगे। रचनात्मक कार्यों में शिक्षा और कला दो ऐसे क्षेत्र हैं, जिन्हें विनाश की दिशा से मोड़कर विकास के लिए प्रयुक्त किया जाना है। हमें एक समानांतर शिक्षातंत्र खड़ा करना है।''

उद्देश्य गुरुसत्ता के समक्ष स्पष्ट था। वे चाहते थे कि जीवन जीने की कला और समाज के समग्र पुनरुत्थान की प्रक्रिया इस प्रशिक्षण की आधारशिला बने। इसके लिए शुरुआत उनने 'युगनिर्माण विद्यालय' के रूप में गायत्री तपोभूमि में १९६७ में कर दी थी। यह एक छोटा-सा शुभारंभ था, जहाँ एक वर्ष की अनौपचारिक संस्कारप्रधान शिक्षा दी जाती थी, पर वे इतने मात्र से संतुष्ट नहीं थे। वे इसी लेख में लिखते हैं, ''एक सुव्यवस्थित योजना हमारे दिमाग में है। इन दिनों उसकी झाँकी भर करा रहे हैं, क्योंकि इस विदाई वर्ष में और कुछ करने के लिए नहीं कहेंगे अन्यथा लोगों का ध्यान बँटेगा और संगठन सशक्त-मजबूत बनाने की बात से उचटकर 'जड़ सींचना छोड़ पत्ते सींचे' वाली कहावत चरितार्थ करने लगेंगे। अगले वर्ष एक ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना करेंगे, जो उस अभाव की पूर्ति करेगा, जो सरकार नहीं कर सकी।''

किसी को भी आश्चर्य हो सकता है कि यह स्थापना कब व कहाँ हुई। हम परिजनों को बताना चाहेंगे कि यही स्थापना शांतिकुंज सप्तसरोवर हरिद्वार में १९७१ की जून में हुई, जब उनने परमवंदनीया माताजी को विधिवत् मथुरा से हरिद्वार स्थानांतरित कर एक छोटे से आरण्यक में लाकर बिठा दिया एवं स्वयं एक वर्ष का तप संपन्न कर आए। पृष्ठभूमि से सारा मार्गदर्शन करने लगे। प्राण प्रत्यावर्तन, जीवन साधना, नारी जागरण, लेखन, रामायण शिक्षण, वानप्रस्थ प्रशिक्षण आदि सत्रों का संचालन कर वे धीरे-धीरे उस प्रक्रिया को स्थापित करने लगे, जिसे शांतिकुंज में स्थापित होने वाले देव संस्कृति विश्वविद्यालय का आधार बनाना था।

परमवंदनीया माताजी का कठोर तप, साथ में देवकन्याओं द्वारा अखण्ड दीप के समक्ष किया गया जप क्रमशः फलित हुआ। विस्तार लेते जा रहे गायत्री तीर्थ रूपी कल्पवृक्ष के साये में सभी महान् ऋषियों की परंपरा का बीजारोपण, विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय की एक अद्वितीय प्रयोगशाला का निर्माण इसी विश्वविद्यालय के इतिहास की प्रारंभिक कड़ी बने। इतना सब न होता, धर्मतंत्र से लोकशिक्षण की अगणित प्रवृत्तियों का तथा उनके निमित्त क्षेत्रीय स्तर पर गायत्री शक्तिपीठों-प्रज्ञा संस्थानों के निर्माण का कार्य नहीं चल रहा होता, तो क्या यह देव संस्कृति विश्वविद्यालय खड़ा हो पाता। सूक्ष्मीकरण की कठोर तप साधना, देवदक्षिणा महा अभियान, राष्ट्रीय एकता महासम्मेलनों तथा देव संस्कृति दिग्विजय के महापुरुषार्थों द्वारा ग्राम-ग्राम रज-जलवंदन समारोहों, संस्कार महोत्सवों के माध्यम से तो मानो धरित्री के कण-कण को संस्कारित कर दिया गया। यह कार्य मात्र भारतवर्ष में नहीं, विश्वभर में संपन्न हुआ एवं तब जाकर १९९९ की वह पावन वेला आई, जब ऋषि-परंपरा के अनुकूल ही विश्ववंद्य संतों की पावन पुण्य उपस्थिति में प्राणवान परिजनों द्वारा २३ मई को गायत्री कुंज में भूमिपूजन कर वह आधारशिला रख दी गई, जहाँ आप आम्र वृक्षों के कुंजों के बीच भव्य इमारतें खड़ी होती देख रहे हैं।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय का मूलभूत आधार कितना सशक्त है एवं यह १९२६ में प्रज्वलित अखण्ड दीपक की ही ऊर्जा से तपकर बना है, इसे स्पष्ट देखा व समझा जा सकता है। विधिवत् घोषित यह तंत्र भले ही अब इस वर्ष सामने आया हो, पर सर्वधर्म समभाव, जातिविहीन समाज एवं संस्कारवान् देवमानवों के संगठन की धुरी पर स्थापित नींव पर ही इसे खड़ा होना था। नया व्यक्ति-नया समाज-नया युग विनिर्मित करने की प्रक्रिया वर्षों पूर्व आरंभ हो गई, उसकी अंतिम परिणतिस्वरूप यह तंत्र अब विनिर्मित होने जा रहा है। भावनाशील परिजन ही अपने बूँद-बूँद अंशदान से इसे खड़ा करेंगे, इसलिए न शासन से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता लेकर स्वयं को शर्तों से बाँधा गया है, न यू.जी.सी. का अनुदान लिया गया है। सुयोग्य छात्रों के लिए एक निःशुल्क तंत्र के रूप में खड़ा करने का दुस्साहस जरूर किया गया है। डेढ़ सौ करोड़ रुपये के इस तंत्र का शुभारंभ पूज्यवर के उसी आश्वासन के आधार पर किया गया है, जिसमें उन्होंने कहा है कि श्रेष्ठ कार्यों की प्रामाणिकता देख स्वयं देवता व्यक्ति के अंदर अवतरित हो जाते हैं। फिर ढेरों श्रीमंत-भामाशाह खड़े होकर श्रेय लेते चले जाते हैं। स्वर्ग से देवता फूल बरसाते हैं, यह उक्ति फिर चरितार्थ होने लगती है।

परमपूज्य का मत रहा है कि 'विवेकशीलता और उपयोगितारहित धर्मशिक्षण शक्ति का अपव्यय ही नहीं, हानिकारक भी है। स्कूली शिक्षा भी सामान्य जानकारियाँ देने के कारण अपूर्ण हैं। धर्मतंत्र के माध्यम से ही क्रांतिकारी शिक्षणपद्धति चल सकती है, क्योंकि वह भावनात्मक नवनिर्माण करती है। हमें यह स्पष्ट मस्तिष्क लेकर चलना चाहिए कि परखे हुए अध्यापकों द्वारा व्यक्ति और समाज का सर्वांगपूर्ण विकास प्रस्तुत कर सकने में समर्थ शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए और उसे प्राप्त करने वाले के मस्तिष्क में यह तथ्य स्पष्ट रहना चाहिए कि नौकरी के लिए नहीं, प्रतिभा-संवर्द्धन के लिए पढ़ा जा रहा है।' *(संपादकीय-जून १९७०, अखण्ड ज्योति पृष्ठ ५७-५८)*

उपर्युक्त प्रवाह के अंतर्गत ही आज से आठ वर्ष पूर्व 'भारतीय संस्कृति ज्ञान परीक्षा' आरंभ हुई, जिसमें भागीदारी करने वालों की संख्या इस वर्ष पूरे भारत में तेईस लाख पहुँच गई। महापूर्णाहुति वर्ष में 'कामकाजी विद्यालयों' एवं अन्य सभी विद्यालयों-महाविद्यालयों में 'संस्कृति मंडलों' के गठन की प्रक्रिया चल पड़ी, जो अब 'देव संस्कृति ज्ञान परीक्षा' (इस वर्ष से नया नामकरण) का मूल आधार बनेगी और उन छात्रों को, प्रतिभावानों को खोजेगी, जिन्हें 'देव संस्कृति विश्वविद्यालय' में एक लोकसेवी कार्यकर्ता के रूप में प्रशिक्षित होने के लिए चुना जाएगा।

प्रतिभावानों का प्रशिक्षण भी प्रतिभाएँ ही करेंगी, पाठ्य सामग्री का निर्माण भी अनुभवी प्रतिभाएँ ही करेंगी। इन प्रतिभाओं को पूज्यवर ने 'अंधड़' नाम दिया है, जो जब गतिशील होती हैं, तो परिवर्तन की आँधी लाकर दिखा देती हैं। अपनी व्यक्तिगत अर्थ आकांक्षाओं को, अहं की विकृत महत्त्वाकांक्षाओं को कुचलकर जो एक ओर कर दे और सादगी की साधुता सच्चे मन से स्वीकार कर इस विश्वविद्यालय में प्रशिक्षण-लेखन हेतु उपलब्ध हो सकें, इसके लिए एक व्यापक गहन मंथन चल रहा है एवं समाज तंत्र में से मणि-मुक्तक खोजे जा रहे हैं। इस संगठन-सशक्तीकरण वर्ष में ताल्लुका-जनपद स्तर पर जो पुनर्गठन किया जा रहा है, उसका मूल उद्देश्य भी यही है—प्रतिभाशाली तंत्र द्वारा इस अध्यात्मप्रधान तंत्र का सुसंचालन। युगनिर्माण योजना एक छोटी चिनगारी के रूप में आरंभ हुई थी, पर इसे अगले दिनों विशालकाय दावानल का रूप धारण करना है, ताकि समाज का सड़ा कूड़ा-करकट जलकर भस्म हो जाए। इस संगठन-सशक्तीकरण वर्ष में यह होना ही है, क्योंकि यही पुरुषार्थ सांस्कृतिक नवोन्मेष को गति देगा, प्रतिभाओं को विश्वविद्यालय के प्रांगण में लाकर बिठाएगा। ★

केंद्र के समाचार—क्षेत्र की हलचलें

भावभरे वातावरण में वसंत पर्व संपन्न—संगठन को साधना की धुरी पर खड़ा कर उसे व्यवस्थित, विशिष्ट एवं सशक्त बनाने के संकल्प के साथ इस वर्ष का मिशन का वार्षिक पर्व वसंत पंचमी सोल्लास संपन्न हुआ। 'भारतीय संस्कृति ज्ञान परीक्षा' की वार्षिक सेमीनार भी १५, १६ फरवरी में आयोजित होने से सभी क्षेत्रों के वरिष्ठ कार्यकर्त्ता भी इसमें उपस्थित थे। इस वसंत को जो कि परमपूज्य गुरुदेव का आध्यात्मिक जन्मदिवस (१७-२-२००२) भी था, हीरक जयंती की महापूर्णाहुति एवं संगठन-सशक्तीकरण वर्ष के शुभारंभ के रूप में मनाया गया। जनपद व जोन स्तर पर पूरा मिशन अब व्यवस्थित ढंग से सक्रिय हो जाए, इसी धुरी पर पर्व उद्बोधन भी दिया गया एवं परिपत्र भी सभी को दिया गया। प्रात: ध्वजारोहण के साथ गुरुसत्ता को समर्पित दो प्रस्तुतियों ने वासंती उल्लास का परिचय दिया। सभी परिजन पर्व पूजन के साथ संकल्पित होकर गए।

चेतना की शिखर यात्रा का विमोचन—इस वसंत पर्व (१७-२-२००२) पर परमपूज्य गुरुदेव की जीवनयात्रा पर डॉ. प्रणव पण्ड्या एवं ज्योतिर्मय द्वारा लिखी पुस्तक 'चेतना की शिखर यात्रा' (परमपूज्य गुरुदेव : एक असमाप्त जीवनगाथा) के प्रथम खंड का विमोचन भी संपन्न हुआ। कथानक शैली में लिखी इस पुस्तक में अब तक अप्रकाशित मर्मस्पर्शी संस्मरण हैं। इसमें १९०० से लेकर १९४७ तक का जीवनवृत्त है। द्वितीय खंड गायत्री जयंती (२०-६-२००२) तक छपकर आने की संभावना है। ४०८ पृष्ठ वाली जिल्ददार इस पुस्तक की कीमत रु. ११६/- है एवं यह शांतिकुंज से डिस्कांउट के साथ रु. ८०/- में उपलब्ध है।

देव संस्कृति ज्ञान परीक्षा सन् २००२ की परीक्षा-तिथियाँ घोषित—भारतीय संस्कृति ज्ञान परीक्षा का नाम अब बदलकर देव संस्कृति ज्ञान परीक्षा हो गया है एवं अब यह क्रमश: देव संस्कृति विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय का अंग होने जा रही है। इस वर्ष की परीक्षा तिथियाँ इस प्रकार हैं—उ.प्र., उत्तरांचल, म. प्र., राजस्थान, छत्तीसगढ़, दिल्ली, उड़ीसा, बंगाल—१९ अक्टूबर २००२, बिहार एवं झारखंड—२३ नवंबर २००२, महाराष्ट्र—१२ अक्टूबर २००२, हरियाणा, पंजाब, चंडीगढ़, जम्मू एवं हिमाचल—२८ सितंबर २००२ एवं गुजरात—२० अक्टूबर २००२। विगत वर्ष २३ लाख विद्यार्थी बैठे थे। इस वर्ष अनुमान संख्या दुगनी होने का है। परीक्षा-सामग्री जून के तृतीय सप्ताह तक केंद्र द्वारा हर जोन तक पहुँचा दी जाएगी।

छत्तीसगढ़ का गहन मंथन एवं एक महासंकल्प—पिछले दिनों फरवरी के द्वितीय सप्ताह में राजनांदगाँव, खरियाट रोड (उड़ीसा) एवं रायपुर में हुए छत्तीसगढ़ के सोलह तथा उड़ीसा, महाराष्ट्र, म. प्र. के आठ जिलों के महासम्मेलनों में एक बृहद योजना बनाई गई। इसके अंतर्गत पूरे राज्य को चार जोनों में बाँटा गया एवं आगामी दो वर्षों में इससे लगे तीनों प्रांतों के आठ जिलों को मिलाकर एक गहन मंथन तथा जिला व जोनल समन्वय समितियों की स्थापना का एक ढाँचा विनिर्मित किया गया। बस्तर से लेकर सरगुजा एवं गोंदिया से लेकर कोरापुर तक के सभी जनपदों के परिजन इसमें उपस्थित थे। एक समृद्ध-सशक्त विराट् छत्तीसगढ़ जिसमें मिशन हर घर तक पहुँच जाए, ऐसा लक्ष्य रखा गया है।

गुवाहाटी का पूर्वोत्तर समृद्धिकरण महायज्ञ—जजफील्ड गुवाहाटी में १५ से १८ मार्च की तारीखों में पूरे पूर्वोत्तर के आठ प्रांत (आसाम, बंगाल सहित छह सिस्टर स्टेट्स) एवं नेपाल, भूटान, सिक्किम का एक भव्य आयोजन संपन्न हुआ। लक्ष्य था कि भारतीय संस्कृति शाश्वत रूप में इस सारे क्षेत्र में संव्याप्त हो, भारत की अखंडता अक्षुण्ण बनी रहे तथा सभी याजकों के संकल्प इस निमित्त हों कि वे इस क्षेत्र की समृद्धि, संस्कारीकरण एवं राष्ट्रनिष्ठा बढ़ाने में अपना पूरा योगदान देंगे। २५१ कुंडी यह महायज्ञ पूरी भव्यता के साथ संपन्न हुआ।

स्वदेशी आरोग्य मेले में शांतिकुंज की भागीदारी—नई दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू स्टेडियम में ७ से १२ फरवरी तक आयोजित स्वदेशी आरोग्य मेले में शांतिकुंज ने बढ़-चढ़कर भागीदारी की। इस मेले में आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा, यज्ञ चिकित्सा, गौ चिकित्सा व स्वदेशी स्वावलंबन पर शांतिकुंज ने अपनी प्रदर्शनी लगाई थी तथा प्रतिदिन आसन-ध्यान, प्रज्ञायोग का व्यावहारिक शिक्षण भी दिया। यहाँ नि:शुल्क चिकित्सा परामर्श भी दिया गया। 'स्वस्थ भारत-समर्थ भारत' पर आयोजित एक कार्यशाला में केंद्रीय प्रतिनिधि ने भाग लिया एवं पैनेल डिस्कशन में गुरुसत्ता के विचार रखे। एक मल्टीमीडिया प्रोजेक्टर द्वारा 'बदलते युग में जीवनशैली क्या हो?' इस विषय पर प्रस्तुति दी गई। प्रज्ञापेय सभी के लिए प्रदर्शनी में उपलब्ध कराया गया था। वैश्वीकरण के दौर से गुजर रही दिल्ली महानगरी ने इस पेय के स्वाद को चखा व अपनी प्रज्ञा-संवर्द्धन हेतु नागरिक अपने साथ प्रज्ञा पेय के पैकेट्स लेकर गए।

परावाणी के निर्देश

तूफानी मौसम में जो तूफानी चाल दिखाएगा,
युग उसके गुण गाएगा।

धीरे चलने वाला तेज हवाओं में घिर जाता है,
अलग-थलग जो रहता है वह पथ पर ही गिर जाता है।
एक तरफ गहरी खाई है, उससे कदम बचाने हैं,
और दूसरी ओर फिसलनें हैं, भरपूर ढलानें हैं,
सबके साथ संगठित होकर जो भी कदम बढ़ाएगा,
युग उसके गुण गाएगा।

इस पीढ़ी को गीत सुनाओ मत केवल मादकता के,
बहकाओ मत उसे दिखाकर सपने तुम भावुकता के,
ऐसे गीत रचो जो जाग्रत् कर दें दसों दिशाओं को,
झकझोरें युवकों के पूरे चिंतन और क्रियाओं को,
जो प्रमाद को हटा, मनुज में नूतन प्राण जगाएगा,
युग उसके गुण गाएगा।

कला न वह सच्ची होती जो दुर्भावना जगाती है,
जो हिंसा-अत्याचारों के लिए हमें उकसाती है,
कला तुम्हारी ऐसी हो जिससे पावनता झरती हो,
हृदयों में जो सत्कर्मों के लिए प्रेरणा भरती हो,
जो सद्भावों की सुपावनी शीतल धार बहाएगा,
युग उसके गुण गाएगा।

सावधान हो जाओ, मेरी कोटि-कोटि संतानों तुम,
महाकाल का चक्र चल रहा है, उसको पहचानो तुम,
उसकी प्रखर दृष्टि से कोई व्यक्ति नहीं छिप सकता है,
कोई साथ चले न चले, पर कार्य न उसका रुकता है,
जो उसका सहयोगी होगा, श्रेय वही तो पाएगा,
युग उसके गुण गाएगा।

ओ मेरे आत्मीय परिजनो ! जिन्हें मनुजता प्यारी है,
बलिदानों के लिए उन्हीं की यह दुनिया आभारी है,
तुमने त्याग-तितिक्षा-तप का जो आदर्श दिखाया है,
नई भोर का उसने ही नूतन इतिहास बनाया है,
हर सहयोग तुम्हारा युग का शिलालेख बन जाएगा,
युग उसके गुण गाएगा।

—*शचींद्र भटनागर*

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम
अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

अखण्ड ज्योति

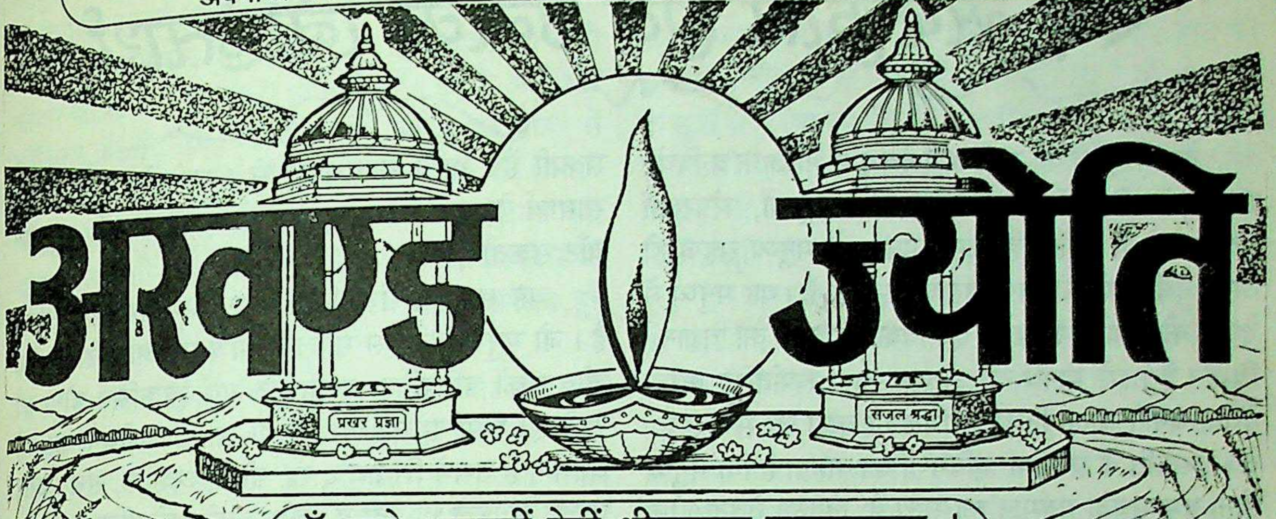

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

वर्ष-६५
अंक-५
जून, २००२
ज्येष्ठ-आषाढ़ — २०५९
प्रकाशन तिथि १.५.२००२

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा

वार्षिक चंदा
भारत में ७२/-
विदेश में ७५०/-
आजीवन ९००/-
(सुरक्षा निधि)

चिंतन

जीवन विद्या का आलोक केंद्र

हिमालय की छाँव और गंगा के जलकणों से अभिसिंचित भूमि में 'देव संस्कृति विश्वविद्यालय' की स्थापना हो गई। बड़े ही गर्व और गौरव के साथ उत्तरांचल शासन ने इसे अपनी स्वीकृति दे दी। युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव की दिव्य चेतना के संरक्षण में यहाँ विद्या की साधना और अविद्या से मुक्ति के द्वार खुल रहे हैं। देव संस्कृति की अगणित संभावनाएँ अब यहाँ जन्म एवं जीवन पाने की तैयारी में जुटी हैं। प्रखर साधक अपनी साधना की निर्मल दृष्टि से यहाँ बहुत कुछ अद्भुत होता हुआ देख रहे हैं।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय किसी व्यक्ति की कल्पनाजन्य निर्मिति नहीं, परमपूज्य गुरुदेव के संकल्प की सृष्टि है। इसमें हिमालयवासी ऋषियों एवं देवसत्ताओं के तप और पुण्य का नियोजन है। यह अदृश्य की दिव्य शक्तियों का ऊर्जा-अनुदान केंद्र है, जो उन्होंने देव संस्कृति के नव्योत्थान के लिए स्थापित किया है। इस सत्य का साक्षी भविष्य स्वयं होगा। सभी इस सचाई को अपनी खुली आँखों से निहारेंगे कि अदृश्य चेतना किस तरह अपने प्रचंड तप से ऋषित्व को गढ़ती है, देवत्व को निखारती है।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय नर रत्नों की, देव मानवों की, देव संस्कृति के देवदूतों की टकसाल है। आध्यात्मिक साधना के गुह्य एवं गहन प्रयोगों से यहाँ प्रज्ञा एवं मेधा के असंख्य दीप जलाए जाएँगे। पुस्तकों के बोझ को लगातार बढ़ाते रहने के बजाय यहाँ विद्यार्थियों के जीवन को तराशा, निखारा एवं गढ़ा जाएगा। इस विश्वविद्यालय की कोख से अनेकों कपिल, कणाद, भरद्वाज और बृहस्पति जन्म लेंगे। अनेकों गार्गी, घोषा, अपाला यहाँ अपने व्यक्तित्व को प्रकाशित करेंगी।

राष्ट्र और विश्व में साधनसंपन्न विश्वविद्यालय अनेकों होंगे, पर अपने ढंग का साधनासंपन्न विश्वविद्यालय यह एक ही होगा। जिनके पास अनेक जन्मों के पुण्यों की संचित निधि है, ऐसे पुण्यवान् यहाँ आएँगे और विद्यावान् बनेंगे। गंगा की गोद और हिमालय की छाया में अनुशासन की कठोर तप-साधना से यहाँ उन्हें विचारों के साथ उत्तम संस्कार भी मिलेंगे। इसे पाकर वर्तमान सँवरेगा, भविष्य निखरेगा। विद्यार्थियों के साथ उनके कुटुंब एवं पीढ़ियाँ, राष्ट्र और विश्व इस विश्वविद्यालय के अनुदानों से अनुगृहीत हुए बिना न रहेंगे।

देव संस्कृति एवं उसके निहितार्थ

देव संस्कृति का सही अर्थ देवभूमि भारत के ऋषियों, संतों एवं मनीषियों द्वारा स्थापित जीवन मूल्यों, परंपराओं एवं प्रयोगों में निहित है। इन्हें अपनाकर मनुष्य सहज ही अपने दैवी गुणों को विकसित कर सकता है। यह मनुष्य में देवत्व को उभारने, निखारने एवं विकसित करने का विज्ञान-विधान है। इसे मानव को आमूल-चूल रूपांतरित करके देवता बनाने वाला दिव्य रसायन भी कहा जा सकता है। देव संस्कृति के प्रवर्तक ऋषिगणों का कहना है कि मनुष्य होना हम सबके वर्तमान का सत्य है, लेकिन देवता होना हमारे जीवन का लक्ष्य है। देव संस्कृति के सभी सूत्र, सारी प्रक्रियाएँ, समस्त साधना मनुष्य को इसी ओर वेग से बढ़ चलने के लिए प्रेरित करती हैं। इन संस्कृति-सूत्रों के अनुसार देवता वे हैं, जो दिव्य हैं, दैवी गुणों से संपन्न हैं और वरदान देने में समर्थ हैं। मनुष्य में ये सभी क्षमताएँ बीज रूप में हैं, जो अभी सुप्त एवं अविकसित दशा में हैं। यदि इनका विकास हो सके तो मानव की आकृति तो वही रहेगी, परंतु प्रकृति से वह देवता हो जाएगा।

देवों को गढ़ने वाली देव संस्कृति भारत देश की देन है। यह इसी देश की माटी में उपजी एवं पनपी है, भारत माता की गोद में पली-बढ़ी है। भारत जननी की अनेकों विशिष्टताओं में यह सर्वोपरि है। अन्य सभी विशेषताएँ इसी की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। यह राष्ट्र के अस्तित्व एवं अस्मिता की पहचान है। यही वह अक्षय पात्र है, जिसके बल पर चिर प्राचीन काल में भारत देश ने समस्त विश्व को तृप्ति दी। इसी के बलबूते भारत ने समस्त विश्व को अनेकों अजस्र अनुदान दिए। इसी की महिमा से देश चक्रवर्ती एवं जगद्गुरु कहलाया। देव संस्कृति के सूत्रों को अपनाकर ही भारत देश संपदा, समृद्धि एवं वैभव के चरम शिखर पर पहुँचा। इसकी चमक से आकर्षित हुए विदेशियों ने इसे सोने की चिड़िया कहा। यह इतिहास का सच है कि देव संस्कृति के सत्य को अपनाकर ही देश ने सब कुछ पाया और आज यदि राष्ट्र ने अपना बहुत कुछ गँवा दिया है तो इसका कारण अपनी संस्कृति-सत्य की विस्मृति ही है। इसके स्मरण एवं जीवन में इसकी स्वीकृति से फिर से गरिमामय वर्तमान और उज्ज्वल भविष्य की रचना की जा सकती है। भारत माता फिर से अपनी देव संतानों की सामर्थ्य के द्वारा विश्व कुटुंब को अपने अजस्र अनुदान बाँट सकती है।

यह सब देव संस्कृति की मूल अवधारणा में निहित है। जो मनुष्य की इस मौलिक सोच पर आधारित है कि जीवन को परिवर्तित, रूपांतरित एवं विकसित होना ही चाहिए। ऐसा सोचने के कारण भी हैं। जीवन का जो वर्तमान है उसमें सिवाय दुःख, पीड़ा, अशांति, संघर्ष और कलह के कुछ भी नहीं है। जीवन की इसी पीड़ा ने जीवन को रूपांतरित करने की प्रेरणा पैदा की है। शायद ही कोई ऐसा क्षण हो जब मनुष्य आनंद को उपलब्ध कर पाता है। हाँ, आनंद की आशा लगी रहती है कि कल मिलेगा और आज उसी आशा में दुःख को हम सहते हैं। लेकिन कल जब आता है तो हमें उतना ही दुःख देता है जितना कि आज। आशा फिर आगे सरक जाती है। ऐसे ही जीवन भर आदमी उस सुख की आशा में जीता है और पाता निरंतर दुःख है। यदा-कदा तो वह इस सुख की आशा के चक्कर में औरों के जीवन में दुःख को बढ़ा देता है। सुख की आशा बनी रहती है और प्रकृति, परिवेश, परिस्थिति दुःख की छटपटाहट से कराहते रहते हैं।

इस दशा में दो बातें सोची जा सकती हैं और सोची भी गई हैं। पहला तो यह कि जीवन में आनंद है ही नहीं, आनंद की खोज ही गलत है। दूसरी बात यह है कि जैसा जीवन आज है, आज जीवन के जो रंग-ढंग हैं, तौर-तरीके, जीने की शैली है, उसमें आनंद नहीं है। इनमें से जिनकी सोच पहली तरह की है, वे तो घोर नकारात्मक चिंतन वाले निराशावादी हैं। उनके निराशावाद का गहरे से गहरा अर्थ आत्मघात के अतिरिक्त कुछ नहीं होता है। ऐसे लोग जीवन और स्रष्टा के अनुदानों से सदा ही अपरिचित रहते हैं। जिनकी सोच दूसरी बात पर टिकती है, उन्हें इस सत्य का बोध होता है कि जीवन को परिवर्तित-रूपांतरित करने की खोज आवश्यक है।

अब जीवन को परिवर्तित करने के भी दो विकल्प हैं। पहला विकल्प यह है कि जीवन को बाहर से बदल डालें, शायद आनंद उपलब्ध हो जाए। दूसरा विकल्प यह

है कि हम बाहरी परिस्थितियों का आकार और आकृति नहीं अपनी आंतरिक प्रकृति बदलें। जैसे हम हैं, उस होने को बदलें, शायद वहाँ आनंद प्राप्त हो जाए। इन सभी दिशाओं में मनुष्य ने प्रयास किए हैं। निराशावादियों ने तो जीवन को समझने की चेष्टा ही नहीं की- उसके अर्थ और औचित्य को ही गँवा दिया। जिन्होंने जीवन को बाहर से बदलने की चेष्टा की, उन्होंने भारी सफलताएँ पाईं। अपने जीवन में अनेकों साधन जुटाए, शक्ति भी उपलब्ध की, परंतु जीवन की आंतरिक दृष्टि के अभाव में उनकी सारी उपलब्धियाँ उन्हीं के लिए अंततः भस्मासुर साबित हुईं और हो भी रही हैं।

जिन्होंने अंतिम विकल्प चुना, उनका प्रयास इन सभी प्रयासों में सबसे सार्थक, समग्र, तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक सिद्ध हुआ। इस प्रयास को ही देव संस्कृति नाम दिया गया। इसके निष्कर्ष बहुत ही प्रभावी, अर्थपूर्ण और मानवी जीवन में क्रांति लाने वाले सिद्ध हुए। इस दिशा में प्रयोग करने वाले महावैज्ञानिक ऋषियों ने घोषणा की कि मनुष्य का जीवन आनंदपूर्ण हो सकता है, यदि साधना को पहले और साधनों को बाद में स्थान दिया जाए। जीवन को आनंद से भरपूर करने के लिए मनुष्य को पहले अपनी प्रकृति में बदलाव लाना होगा। बाद में इससे मिली नवीन जीवन दृष्टि के आधार पर परिस्थितियाँ बदली जा सकती हैं।

देव संस्कृति के सत्य का अनुसरण करने वाले एक नहीं अनेक लोगों के जीवन में असाधारण घटनाएँ घटीं। वे सचमुच ही मनुष्य रूप में देवता बन गए। अध्यात्म ज्ञान से उन्होंने अपनी आंतरिक शक्तियों का अपरिमित विकास किया। भौतिक विज्ञान में भी उन्होंने आश्चर्यजनक प्रगति की। ज्ञान और विज्ञान की असंख्य एवं अगणित धाराएँ इस देश की धरती पर प्रवाहित हुईं। मनुष्य का देवता बनना यहाँ एक मिथक नहीं रहा, बल्कि सत्य प्रमाणित हुआ। देव संस्कृति के प्रणेता ऋषियों ने प्रायोगिक एवं वैज्ञानिक आधार पर जीवन एवं अस्तित्व को सत्-चित्-आनंद सिद्ध किया। देव संस्कृति के सत्यों एवं सूत्रों का प्रवाह इस देश की धरती पर अविराम प्रवाहित होता रहा है। हाँ इसके वेग की गति अवश्य कालक्रम के अनुसार परिवर्तित हुई है।

इस देश की धरती पर जन्मे असंख्य ऋषियों, संतों एवं मनीषियों ने बार-बार, अगणित बार इसमें निहित सत्य और सूत्रों को प्रमाणित करने के लिए अपने जीवन की गवाही दी है। अपनी जीवन साधना से उन्होंने देव संस्कृति के निहितार्थ को प्रकट किया है। उन सबने बड़े ही आत्मविश्वास के साथ यह बात कही है कि जब एक के बाद एक और इस तरह से अनेक जनों के जीवन में देवत्व अवतरित हो सकता है, आनंद घटित हो सकता है तो फिर सबके जीवन में क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर जीवन को समझने में हुई भूल के निवारण-निराकरण में है। देव संस्कृति के सूत्रों से मनुष्य की प्रकृति को परिष्कृत करना, संस्कारित करना ही एकमात्र उपाय है। इस उपाय को जब कभी, जिसने भी अपनाया, उसी के जीवन में आनंद के फूल खिले, खुशियों की सुरभि बिखरी।

देव संस्कृति भारतवर्ष के सभी देव मानवों की साधना का सार है। यह देश की धरती का मौलिक सच है। इसमें अनेकों दैवी विभूतियों के तप की उष्मा है, ऊर्जा है, आभा है, प्रकाश है। वैदिक काल से लेकर हर युग में इसकी अभिव्यक्ति अपनी अनूठी रीति से होती रही है। विश्वामित्र, वसिष्ठ, वाल्मीकि, व्यास, वामदेव सभी ने इस सत्य की अनुभूति की। उन्होंने अपने जीवन को रूपांतरित करते हुए देव संस्कृति को जीवन-विद्या का पर्याय माना। जीवन जीने की कला के रूप में इसकी व्याख्या की। अपने शिष्यों को इसके शिक्षण के लिए प्रेरित करते हुए कहा- **'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षंते पृथिव्यां सर्वमानवाः'** अर्थात् अब तुम जाओ और पृथ्वी के सभी मनुष्यों को अपने निज के आचरण से चरित्र से देव संस्कृति के सत्य को, इसके सूत्रों को समझाओ, बताओ।

देव संस्कृति के विश्वव्यापी विस्तार का यही रहस्य है। देव संस्कृति के आचार्यों ने शब्दों से नहीं, वाणी से नहीं, अपने आचरण से जन-जन को इसके सूत्र बताए। उन्होंने बार-बार कहा—मनुष्य जीवन विधाता का दुर्लभ अनुदान है। यह दुःख का नहीं, आनंद का पर्याय है। दुःख तो केवल इस कारण है कि हमसे इसको समझने में भूल हुई है। हम इसे ठीक तरह से समझ नहीं पाए हैं। इसी भूल के कारण जीवन को समझने में नासमझी हुई है। सचाई भी यही है, अगर जगत् में एक भी मनुष्य प्रकाश में खड़ा हो सका है, तो यह सत्य है कि प्रकाश की सत्ता है। फिर हमारा जो अँधेरा है, वह कुछ हमारे ही ओढ़े हुए के कारण है। शायद हम अपना द्वार बंद किए हुए बैठे हैं घर में। सूरज तो बाहर निकला हुआ है। अगर एक मनुष्य के जीवन में संगीत घट सका है और हमारे जीवन में नहीं है; तो शायद हमीं बहरे बने बैठे हैं, कान बंद किए बैठे हैं, क्योंकि संगीत है; यह एक मनुष्य के जीवन में घटने से सिद्ध हो जाता है। इसी तरह अगर एक मनुष्य के जीवन में आनंद के स्वर उठ सकते हैं, तो सबके जीवन में इसकी संभावना खुल जाती है।

यह संभावना हर युग में है। *'सम्भवामि युगे-युगे'* की अपनी शाश्वत प्रतिज्ञा पूरी करने आए परमपूज्य गुरुदेव ने देव संस्कृति के इसी सत्य को अपने जीवन से सिद्ध किया। युग सत्य को प्रकट करने के कारण वे युगऋषि कहलाए। आचरण से शिक्षा देने के कारण उन्हें आचार्य कहा गया। देव संस्कृति के ज्ञान (वेद) की साकार मूर्ति होने के कारण वह वेदमूर्ति थे। तप से उन्होंने देव संस्कृति के सत्य की एकनिष्ठ साधना की। यही उनके तपोनिष्ठ होने का रहस्य था। श्रीराम की ही भाँति वे मर्यादा पुरुषोत्तम थे। देव संस्कृति की सभी मर्यादाओं की स्थापना के लिए ही उन्होंने अवतार लिया था। ऐसे युगऋषि वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य हम सबके परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी साधना से देवमानवों की श्रृंखला में कुछ नए निष्कर्ष जोड़े। उन्होंने इस युग में देव संस्कृति की आध्यात्मिक चेतना एवं वैज्ञानिक सत्य को एक नई अभिव्यक्ति दी।

उन्होंने बताया कि देव संस्कृति समग्र जीवन की साधना है। इसमें पदार्थ और चेतना, विज्ञान और अध्यात्म दोनों का समुचित समावेश है। उदाहरण के लिए एक बीज को हम बोते हैं, अंकुर बीज से निकलता है, लेकिन पास में पड़ी बूँदें, गिरा पानी, सूरज की किरणें निमित्त बनती हैं। वे माध्यम बन जाती हैं ताकि अंकुर निकल सके, यद्यपि अंकुर उनसे नहीं निकलता, अंकुर तो बीज से ही निकलता है। यदि बीज की जगह कंकड़ डाला गया हो, तो अच्छी-से-अच्छी जमीन, अच्छे-से-अच्छा पानी, अच्छी चमकदार सूरज की किरणें और कुशल-से-कुशल माली भी उनमें अंकुर नहीं ला सकेंगे। दूसरी बात भी सच है- श्रेष्ठतम बीज हो, लेकिन अच्छी भूमि न मिले, उसे पत्थर पर डाल दिया गया हो, पानी न मिले, माली के कुशल हाथों का सहयोग न मिले तो अच्छे-से-अच्छा बीज पत्थर पर पड़ा हुआ, अँधेरे में पानी बिना, सूरज की किरणों के बिना, माली के अभाव में मर जाएगा। उसमें अंकुर नहीं निकलेगा। जिस तरह से बीज के अंकुरण के लिए अनेकों तत्त्वों का समुचित सामंजस्य जरूरी है, ठीक उसी तरह से मनुष्य जीवन के रूपांतरण के लिए, उसे आनंद से ओत-प्रोत करने के लिए ज्ञान और विज्ञान के अनेकों सूत्र आवश्यक हैं। देव संस्कृति इन सभी सूत्रों की सम्मिलित व्यवस्था है। इसके निहितार्थ का साधनात्मक प्रशिक्षण, इसके निष्कर्षों का विश्ववसुधा में वितरण परमपूज्य गुरुदेव का दिव्य स्वप्न सदा से ही था।

एक बार कुछ लोग एक व्यक्ति को महर्षि पतंजलि के पास लाए और बोले, ''हे ऋषिश्रेष्ठ! हमने काफी कोशिश की, पर इसे समझा नहीं पाए कि जीवन में योग साधना का क्या महत्त्व है?'' महर्षि पतंजलि बोले, ''इसे कुछ दिनों के लिए मेरे पास छोड़ दो।'' उन सबने वैसा ही किया।

थोड़े दिनों के बाद वे सभी महर्षि के पास पुनः आए। जिस व्यक्ति को वे कुछ दिनों पहले छोड़ गए थे, उससे भी मिले। उस व्यक्ति के जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन थे। अनेकों तरह के नशों एवं इंद्रिय विलास में डूबा रहने वाला व्यक्ति आज एक आम्र निकुंज में बैठकर ध्यान कर रहा था।

यह चमत्कार कैसे? उन सभी के पूछने पर महर्षि पतंजलि ने कहा, ''यह सब यहाँ के साधनात्मक वातावरण एवं दृष्टिकोण की चिकित्सा का परिणाम है।'' उन्हें साधनात्मक वातावरण की बात तो समझ में आई, पर दृष्टिकोण की चिकित्सा की बात पल्ले नहीं पड़ी। महर्षि उन्हें समझाते हुए बोले, ''दृष्टि की चिकित्सा सामान्य चिकित्सक करता है। दृष्टिकोण की चिकित्सा करना ऋषि का कार्य है। ऋषि अपने साधना बल से व्यक्ति की प्रकृति एवं उसमें आई विकृति को आसानी से पहचानने की क्षमता रखते हैं। अपनी साधना शक्ति से उसका निदान भी कर देते हैं। किसी के दृष्टिकोण में सुधार करना हो, तो वाणी की वाचालता नहीं, ऋषित्व की साधना चाहिए।''

द्रष्टा ने देखा

एक दिव्य स्वप्न

“मेरा एक स्वप्न है और मेरे स्वप्न, दिवा स्वप्न नहीं, दिव्य स्वप्न होते हैं।” यह वाक्य कहते-कहते परमपूज्य गुरुदेव भावलोक की भावानुभूतियों में खोने लगे। उनके मुख पर एक अलग ढंग की तेजस्विता दप-दप दमकने लगी। मस्तक का चंद्राकार निशान चमक उठा। गुरुदेव गंभीर हो गए थे। ऐसा लग रहा था, जैसे वह विशेष सत्य बताना चाहते हों। वे भविष्य को एक नई दृष्टि देना चाहते थे। उनकी भावमुद्रा कुछ ऐसी ही थी। सचमुच ही उन पलों में वे अपनी अनुभूतियों के सागर के कुछ अनमोल रत्न बाँटना चाहते थे।

उस दिन भी दोपहर थी, लेकिन यह दोपहर मई महीने की थी। सूर्य भगवान् सब ओर बड़ी उदारता से अपनी धूप लुटा रहे थे। इसकी उष्मा के प्रभाव से हवाएँ भी उष्ण हो गई थीं। गरमी का अहसास सभी को होने लगा था। मौसम के प्रभाव से पैदा हुई तपिश दोपहर में कुछ ज्यादा बढ़ जाती थी, लेकिन गुरुदेव की सामान्य दिनचर्या भी तपश्चर्या थी। इस पर मौसम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। न कोई घट-बढ़ और न ही कोई हेर-फेर। सदा ही वह अपने तप में तपते थे।

उनके तप की तपन सूर्य की तपन से कुछ अलग थी। सूर्य की तपन से केवल देह तपती है। बाहरी परिस्थितियों में इसकी अनुभूति होती है, लेकिन गुरुदेव के तप की तपन की अनुभूति मन व प्राण करते थे। संपूर्ण अंत:करण एवं आंतरिक प्रकृति व परिस्थिति में इसकी अनुभूति होती थी। उनके संग के कुछ पल भी जीवन में धन्यता लाने वाले थे। जो भी उनसे मिलता, अपनी पात्रता के अनुसार उनसे कुछ-न-कुछ अवश्य पा लेता। उनके देने का अंदाज निराला था। वे रोग, शोक, कष्ट, कठिनाई आदि लौकिक समस्याओं का ही निवारण-निराकरण नहीं करते थे, आत्मा की क्यारी में भी बीज बोते थे। अपने तप की ऊर्जा-उष्मा से उन्हें उगाते-बढ़ाते थे।

ऐसे तपोमूर्ति गुरुदेव बोल रहे थे, “बेटा, इस देश और धरती में जब भी नया जीवन अंकुरित हुआ, विश्वविद्यालयों में हुआ। जब भी नया युग आया, तो उसकी शुरुआत विश्वविद्यालयों से हुई। जब नए मनुष्य गढ़े गए, उन्हें नई दिशा मिली तो विश्वविद्यालयों से मिली, पर ये विश्वविद्यालय आज के जैसे नहीं थे। उनमें शिक्षा रटाने और पैसा बटोरने की जगह विद्या के वरदान दिए जाते थे। महामानवों-देवपुरुषों की पौध तैयार की जाती थी। नालंदा, तक्षशिला के विश्वविद्यालय ऐसे ही थे।”

“यहाँ के ऊर्जावान् आचार्य और प्राणवान् विद्यार्थी मिलकर प्राण ऊर्जा का ऐसा प्रवाह पैदा करते थे कि पूरे देश के प्राण लहलहा उठते थे। सारी धरती पर जीवन मूल्यों के वरदान बरस जाते थे।” कहते-कहते गुरुदेव एक पल के लिए रुक गए। पल-क्षण की इस भाव समाधि में शायद वह किसी सत्य को मूर्त होता हुआ देख रहे थे। अपनी दृष्टि-पथ में आए इस सत्य को प्रकट करते हुए वह कहने लगे, “ऐसे ही एक विश्वविद्यालय की स्थापना मेरा भी स्वप्न है।”

सुनने वाले अपने सद्गुरु की सामर्थ्य से परिचित थे। उन्हें मालूम था कि उनके गुरुदेव युगशक्ति गायत्री के सत्य और सिद्धि को पाने वाले युग के विश्वामित्र हैं। उनमें नवसृजन की, नई सृष्टि रचने की सामर्थ्य है। सुनने वाले की सोच की कड़ियाँ गुरुदेव की वाणी से प्रवाहित हो रहे प्राण प्रवाह में विलीन हो गईं। अब केवल उनके शब्द ही ध्वनित हो रहे थे, “यह विश्वविद्यालय ऐसा होगा, जहाँ से कौडिन्य और कुमारजीव जैसे विद्यार्थी निकलेंगे; जो देश की धरती और विश्व-वसुंधरा में देव संस्कृति की संवेदना का विस्तार करेंगे।”

“यह देव संस्कृति का ऐसा ध्रुव केंद्र होगा, जहाँ देश के कोने-कोने से ही नहीं, विश्व के हर भू-भाग से लोग आएँगे और जानेंगे कि भारतीय संस्कृति क्या है? यहाँ भारतीय संस्कृति और भारतीय विद्याओं के हर पहलू पर अध्ययन होगा, शिक्षण होगा, शोध होगी।” अपना यह वाक्य पूरा करते-करते गुरुदेव फिर चुप हो गए, लेकिन यह चुप्पी बस एक क्षण के लिए रही। दूसरे ही क्षण वह फिर बोलने लगे, “वैसे अभी ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान है, लेकिन यह काफी छोटा है। इसमें इतना बड़ा काम नहीं हो सकता। इतने बड़े काम के लिए तो एक विश्वविद्यालय चाहिए।”

“देव संस्कृति के व्यापक एवं बहुआयामी अध्ययन, शिक्षण एवं शोध के लिए बना विश्वविद्यालय।” अपनी इस भविष्य रचना को जैसे उन्होंने एक पल अपनी दिव्य दृष्टि से निहारा। इसी के साथ उनके अधरों पर हलकी-सी एक स्मित रेखा झलकी। उस मुस्कान के प्रकाश में सत्य

मुखरित हो उठा। उन्होंने सुनने वालों को टोकते हुए कहा, ''देव संस्कृति विश्वविद्यालय कैसा रहेगा यह नाम?'' फिर नाम के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए वह कहने लगे, ''नाम किसी व्यक्ति का हो या केंद्र का, उससे उसके गुण और कार्यों की अभिव्यक्ति हो जानी चाहिए। किसी की पहली झलक उसके नाम से ही मिलती है। हमारे विश्वविद्यालय का नाम कुछ ऐसा हो, जिसे सुनकर ही लोग इसके महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों एवं कार्यों को जान सकें, उसके बारे में सोच सकें।''

सुनने वाले गुरुदेव की वाणी को मुग्ध मन से सुन रहे थे। उन्हें यह बात समझ में आ रही थी कि सद्गुरु की दिव्य दृष्टि भविष्य के जिस विश्वविद्यालय को देख रही है- उसका नाम देव संस्कृति विश्वविद्यालय होगा और वह ब्रह्मवर्चस का बड़ा और व्यापक रूप होगा। गुरुदेव की योजना शायद अभी पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हो पाई थी। वह अभी कुछ और कहना चाहते थे। उन्हें अभी कुछ और बताना था। अपने भावों को वाणी देते हुए उन्होंने कहा, ''बेटा, इस विश्वविद्यालय की स्थापना तक तो हम नहीं रहेंगे, पर तुम लोग इसे स्थापित होते हुए देखोगे। तुम सभी को यह जिम्मेदारी उठानी और निभानी पड़ेगी। इसके लिए तुम लोग अभी से अपनी योग्यता बढ़ाओ।''

''हम इस विश्वविद्यालय के लिए आचार्य चाहते हैं, जो अपने आचरण और जीवन से शिक्षा दे सकें, ऐसे आचार्य। हमें व्याख्यान देने वाले व्याख्याता नहीं चाहिए। बुद्धि और शब्दों से यदि कुछ बदला जा सकता, तो सारी दुनिया न जाने कब की बदल चुकी होती। जो शब्दों से खिलवाड़ करते हैं, जो नट, बाजीगर की तरह बुद्धि की कुलाँचों के चमत्कार दिखाते हैं, ऐसे आडंबर करने वालों से हमारा काम चलने वाला नहीं है। हमें तो संकल्पवान् आचार्य चाहिए। जो अपनी संस्कृति के लिए, मातृभूमि के लिए, विश्व-मानवता के लिए स्वयं को तिल-तिल करके मिटाने का साहस रखते हों।''

''देखो, चाणक्य क्या था! तक्षशिला विश्वविद्यालय का आचार्य था। वह कोरा विद्वान् और व्याख्यानबाज नहीं था। उसके अंदर आचरण की निष्ठा थी, संकल्प का बल था। अपने देश और धरती के प्रति अनुराग था। अपनी संस्कृति के लिए समर्पण था, मातृभूमि के लिए मर मिटने की निष्ठा थी। अपने इन्हीं गुणों की ताकत से उसने विदेशी यवनों को खदेड़ा, देश के अत्याचारी और अन्यायी शासकों को धूल-धूसरित करके मिट्टी में मिला दिया। चंद्रगुप्त जैसे साधारण और गलियों में भटकने वाले बालक को पराक्रमी योद्धा, महानायक और नीतिकुशल सम्राट् बना दिया। उसके प्रयासों से एक नए युग की शुरुआत हो गई।''

''मेरा स्वप्न भी कुछ ऐसा ही है। मैं चाहता हूँ कि ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना हो, जिसके आचार्य और विद्यार्थी मिलकर एक नए युग को जन्म दें। भगवान् साक्षी है कि मेरे स्वप्न कभी अधूरे नहीं रहते। मेरा यह स्वप्न भी पूरा होगा; लेकिन इसे तुम सब को मिलकर पूरा करना है। तुम सब लोग मिलकर कुछ ऐसा करना कि ऋषियों द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय की महिमा इसमें प्रकट हो सके।'' गुरुदेव के वचन तो सदा ही मंत्र थे और हैं। आज जो कुछ भी हो रहा है, उसमें उन्हीं के द्वारा उच्चरित मंत्रों का मंत्रार्थ प्रकट हो रहा है। ➡

एक विद्वान् था। उसने बहुत अध्ययन किया था। उसे अपनी बौद्धिक उपलब्धियों का भारी अहंकार था। रात हो या दिन, वह सदा ही एक जलती हुई मशाल अपने हाथ में लेकर चलता था। जब कोई इसका कारण उससे पूछता, तो वह कहता था, संसार अंधकारपूर्ण है। मैं इस मशाल को लेकर चलता हूँ, ताकि कुछ प्रकाश हो सके।

एक दिन एक फकीर ने उसके ये शब्द सुने। सुनकर वह हँसने लगा और बोला—मेरे मित्र, अगर तुम्हारी आँखें सर्वव्यापी परमात्मा सूर्य के प्रति अंधी हैं, तो संसार को अंधकारपूर्ण मत कहो। तुम्हारी यह मशाल भला उस सर्वव्यापी ज्ञानसूर्य में क्या जोड़ सकेगी? जान सको तो यह सत्य जानो कि पुस्तकों को रट लेने से ही ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार है। उस परम सूर्य से आमना-सामना है।

केंद्र, जहाँ से पाया संस्कृति-संवेदना ने विश्व विस्तार

ऋषियों द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय प्राचीन भारत में देव संस्कृति के केंद्र रहे हैं। यहीं से संस्कृति-संवेदना ने अपना विश्व विस्तार पाया है। प्राचीन ग्रंथों में, इतिहास और पुराणों में इन विश्वविद्यालयों का उल्लेख मिलता है। तब आचार्य एवं शिष्य दोनों ही अपनी संस्कृति एवं जीवन मूल्यों के प्रति समर्पित जीवन जीते थे। **'सह नौ यशः सह ब्रह्मवर्चसम्'** उनका आदर्श सूत्र था। इस सूत्र के अर्थ के अनुसार वे ऐसे तपोनिष्ठ जीवन को अपनाते थे, जो उन दोनों के ब्रह्मतेज एवं यश को बढ़ाने में सहायक हो। ऋषियों की मान्यता थी कि तपस्वी जीवनपद्धति को अपनाकर किया गया अध्ययन विद्या को जन्म देता है। उससे ज्ञान की उपलब्धि होती है। तप के अभाव में किया हुआ अध्ययन शिक्षा बनकर रह जाता है। उससे केवल जानकारियाँ भर मिलती हैं। प्राचीन भारत के विश्वविद्यालय तप और विद्या के केंद्र थे। इसी की ऊर्जा से संस्कृति को जीवन मिलता था; देवत्व विकसित होता था।

जिन ऋषिगणों ने अपने युग में विश्वविद्यालयों की स्थापना की, उनमें अगस्त्य, कण्व, जाबालि, परशुराम, वाल्मीकि, भरद्वाज, वसिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र, व्यास, शौनक एवं संदीपन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से महर्षि अगस्त्य का नाम देव संस्कृति के प्रचारक के रूप में बहुत प्रसिद्ध है। वाल्मीकि रामायण के अरण्यकांड एवं महाभारत के वनपर्व के विवरण के अनुसार वे विंध्य पर्वत की ऊँचाइयों को पार करके दक्षिण भारत गए। वहाँ उन्होंने देव संस्कृति के सत्यों एवं सूत्रों का प्रचार किया। इसके लिए वे दक्षिण पूर्व के द्वीप-द्वीपांतरों में भी गए। प्राचीन साहित्य में महर्षि अगस्त्य के द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय से संबद्ध केंद्रों की स्थिति भारतवर्ष के अनेक स्थानों पर बताई गई है। ये केंद्र हिमालय से लेकर दक्षिणी समुद्र तट तक फैले हुए थे।

महर्षि कण्व द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय समूचे भारत देश का गौरव था। इसकी पवित्रता के कारण महाभारत, स्कंदपुराण एवं अग्निपुराण में इसे तीर्थ, धर्मारण्य एवं तपोभूमि भी कहा गया है। यह अपने समय का सुविख्यात विद्या केंद्र था। अभिज्ञानशाकुंतलम् में **कण्व** के विश्वविद्यालय को मालिनी नदी के तट पर स्थित बताया गया है। आजकल यह स्थान कोटद्वार-हरिद्वार मार्ग पर कोटद्वार से छह मील दूर पश्चिम में समझा जाता है। इतिहासवेत्ता डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार, 'महर्षि कण्व के विश्वविद्यालय में चार वेद, वेदांग, कर्मकांड, यज्ञ, कल्पसूत्र, शिक्षा, ध्वनि विज्ञान, शब्द विज्ञान, छंद, व्याकरण, निरुक्त, आत्मविज्ञान, ब्रह्मोपासना, न्याय, भौतिक विज्ञान, कलाएँ, गणित, द्रव्यगुण, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि विषय पढ़ाए जाते थे।'

प्राचीन साहित्य में महर्षि **जाबालि** का नाम बहुत प्रसिद्ध है। संस्कृत काव्यकारों ने उनके विश्वविद्यालय का विस्तार से वर्णन किया है। बाण ने कादंबरी कथा में इसकी स्थिति विंध्यारण्य में बताई है। यहाँ हजारों छात्र विद्याध्ययन करते थे। विज्जिका ने कौमुदी महोत्सव नाटक में इसका उल्लेख किया है। उसके अनुसार दूर देशों के राजकुमारों के लिए यह विश्वविद्यालय आकर्षण का केंद्र था। भगवान् के अवतार के रूप में लोक विख्यात महर्षि **परशुराम** ने भी विश्वविद्यालय स्थापित किया था। संस्कृत कवि राजशेखर के अनुसार उन्होंने महेंद्र पर्वत पर यह विश्वविद्यालय बनाया था। अनेक विद्वान् महेंद्र पर्वत की स्थिति उड़ीसा में मानते हैं।

प्राचीन भारत देश में विश्वविद्यालय की स्थापना करने वालों में महर्षि **वाल्मीकि** का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। वे रामायण के रचयिता एवं आदि कवि माने जाते हैं। प्राचीन साहित्य के अनुसार महर्षि वाल्मीकि का विशेष संबंध तमसा एवं गंगा नदियों के साथ रहा है। इसलिए उनके विश्वविद्यालय की स्थिति इन दोनों नदियों के तट पर कहीं होनी चाहिए। स्थान के बारे में इतिहासकारों की मतभिन्नता के बावजूद यह सर्वसम्मत सत्य है कि यह विश्वविद्यालय अपने समय में विद्या का महान् केंद्र था। महाकवि भवभूति के अनुसार यहाँ छात्राएँ भी अध्ययन करती थीं।

गंगा-यमुना के संगम पर महर्षि **भरद्वाज** ने भी एक विख्यात विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। रामायण के अनुसार यह अपने समय का अति प्रसिद्ध विद्या संस्थान था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी- **'भरद्वाज मुनि बसहिं**

प्रयागा' कहकर उनका स्मरण किया है। संस्कृत साहित्य में इससे संबद्ध एक केंद्र का उल्लेख हरिद्वार के समीप भी मिलता है। इस केंद्र का भार अग्निवेश नाम के आचार्य सँभालते थे। बाद के समय में इन्होंने ही द्रोण एवं द्रुपद को धनुर्वेद की विद्या सिखाई थी।

इक्ष्वाकुओं के कुलगुरु महर्षि **वसिष्ठ** का प्राय: सभी वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में उल्लेख किया गया है। संस्कृत साहित्य के विवरण के अनुसार इन्होंने दो विश्वविद्यालयों की स्थापना की। इनमें से एक अयोध्या में था। इसका उल्लेख वाल्मीकि रामायण में हुआ है। महर्षि वसिष्ठ के इन विश्वविद्यालयों में छात्रसंघ का भी विधान था। महर्षि वाल्मीकि ने इन्हें 'मेखलीनां महासंघा: ' कहकर उल्लेख किया है। इन संघों का राजसभा में भी प्रभाव था। महर्षि वसिष्ठ द्वारा स्थापित दूसरा विश्वविद्यालय हिमालय की तलहटियों में था। महाकवि कालिदास ने अपने 'रघुवंश' नामक महाकाव्य में इसका वर्णन किया है।

विश्वविद्यालय की स्थापना करने वालों में महर्षि **वामदेव** का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वामदेव का यह विश्वविद्यालय विंध्य पर्वत की मेखलाओं में नर्मदा नदी के उद्‌गम स्थान पर समीप में ही था। महाकवि दंडी के दशकुमार चरित के अनुसार राजवाहन आदि कुमारों ने इसी विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी।

वैदिक परंपरा के ऋषियों में ब्रह्मर्षि **विश्वामित्र** का नाम अग्रगण्य है। ऋग्वेद के तीसरे मंडल के ऋषि विश्वामित्र ही हैं। शास्त्रों के विवरण के अनुसार इनका विश्वविद्यालय गंगा-सरयू के संगम पर था। वर्तमान समय में यह स्थान बक्सर कहलाता है। यह पटना से काफी दूर है। पुरातत्त्ववेत्ताओं को यहाँ ऐसे अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं जो महर्षि विश्वामित्र के विश्वविद्यालय की गवाही देते हैं।

वेदों के संपादक, महाभारत के रचयिता तथा अठारह पुराणों के संग्रहकर्त्ता महर्षि **व्यास** ने हस्तिनापुर के निकट विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। इनके विश्वविद्यालय से संबद्ध केंद्र भारत देश में कई स्थानों पर थे। इनकी शिष्य परंपरा में महर्षि **शौनक** ने नैमिषारण्य में विश्वविद्यालय स्थापित किया था। यहाँ होने वाली अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियाँ बहुत प्रसिद्ध थीं। इनमें धार्मिक, राजनैतिक एवं वैज्ञानिक विचारों पर संवाद होते थे। इस विश्वविद्यालय की विद्या परंपरा ग्यारहवीं शताब्दी तक चलती रही। पश्चिमी विद्वान् बेवर ने अपने शोध-अनुसंधान में इसकी सराहना की है।

प्राचीन विश्वविद्यालयों के संस्थापकों में महर्षि **संदीपन** का नाम अत्यंत गरिमापूर्ण है। इन्होंने उज्जयिनी में विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। भगवान् कृष्ण ने यहीं विद्याध्ययन किया था। इन सभी महर्षियों ने प्राक् ऐतिहासिक काल में विश्वविद्यालयों की जो स्थापना की, वह परंपरा ऐतिहासिक काल में भी गतिमान् रही। विद्या के ये विश्वविख्यात केंद्र देव संस्कृति को प्राण ऊर्जा का अनुदान देते रहे।

ऐतिहासिक विश्वविद्यालयों में तक्षशिला विश्वविद्यालय कभी इस देश का महान् विद्या केंद्र था। वर्तमान में यह स्थान पाकिस्तान के रावलपिंडी शहर से ३० किलोमीटर दूर स्थित है। पुरातत्त्ववेत्ता सर जान मार्शल ने पुरातात्त्विक उत्खनन से इसके ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन किया है। ऐतिहासिक परंपरा के अनुसार भगवान् श्रीराम ने अपने भाई भरत के पुत्र तक्ष को इस स्थान का शासक नियुक्त किया था। उन्हीं के नाम से यह नगर तक्षशील नाम से विख्यात हुआ। तक्ष ने अपने समय में ही यहाँ तक्षशील नाम के विश्वविद्यालय की स्थापना की। महाभारत काल में भी **तक्षशील विश्वविद्यालय** प्रसिद्ध था। महाभारत के आदिपर्व के अनुसार जनमेजय ने इस स्थान पर यज्ञ किया था। बाद में यह नगर एवं विश्वविद्यालय तक्षशिला नाम से विख्यात हुए। तक्षशिला गांधार जनपद की राजधानी भी रही। ई. पू. सातवीं शताब्दी में इस विश्वविद्यालय की कीर्ति विश्वव्यापी हो गई। व्याकरण शास्त्र के प्रणेता आचार्य पाणिनि, राजनीति के महापंडित चाणक्य, महान् आयुर्वेदाचार्य जीवक यहीं के विद्यार्थी थे।

ऐतिहासिक काल में **नालंदा विश्वविद्यालय** का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसकी स्थापना सम्राट् अशोक ने की थी। इस विश्वविद्यालय की स्थिति पटना से चालीस मील दक्षिण-पूर्व में थी। चौथी-पाँचवीं शताब्दी में गुप्त सम्राटों के समय इसका बहुत अधिक विकास हुआ। ऐतिहासिक विवरणों के अनुसार चौथी शताब्दी में चीनी यात्री फाहियान ने यहाँ की यात्रा की। उसके तीन शताब्दी बाद ह्वेनत्सांग ने अपने विवरण में नालंदा विश्वविद्यालय की कीर्ति का वर्णन किया। उसने स्वयं भी यहाँ पाँच साल रहकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। इत्सिंग के समय (सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) नालंदा एक महान् कीर्तिशाली विश्वविद्यालय था। यहाँ विदेशी छात्रों की संख्या बहुत अधिक होती थी।

विद्या केंद्रों के रूप में **वाराणसी** का नाम प्रारंभ से ही श्रद्धा का केंद्र रहा है। आज भी परंपरागत ब्राह्मण परिवार में यज्ञोपवीत के समय ब्रह्मचारी विद्याध्ययन के लिए काशी

जाने की बात कहता है। देव संस्कृति के विस्तार में इस शिवनगरी काशी का स्थान एवं महत्त्व सदा ही अविस्मरणीय एवं प्रातःस्मरणीय है। विद्या केंद्र के रूप में इतिहासकारों ने विक्रमशिला (**विक्रमशीला**) विश्वविद्यालय की सराहना की है। इसकी स्थापना बंगाल के पालवंशी राजा धर्मपाल ने ८वीं शताब्दी में की थी। यह विश्वविद्यालय गंगा के तट पर वर्तमान भागलपुर से २४ मील दूर स्थित था। पुरातत्त्वविज्ञानी कनिंघम ने उत्तरी मगध के बड़गाँव के निकट इसकी पहचान की है। सभी इतिहासवेत्ता इस बारे में एक मत हैं कि यह विश्वविद्यालय अपने समय में देव संस्कृति का उज्ज्वल दीप था। इसे १२०३ ई. में बर्बर आक्रांता मुहम्मद-बिन-बख्तियार-खिलजी ने अपनी नृशंस करतूत से बुझा दिया। इतिहासवेत्ताओं के अनुसार पालवंश के शासकों ने विक्रमशिला की ही भाँति उड्डयंतपुर विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। इस विश्वविद्यालय को आदर्श मानकर कई विदेशी शासकों ने भी अपने यहाँ विश्वविद्यालय स्थापित किए, पर बख्तियार खिलजी की नृशंसता ने इसे भी नष्ट कर दिया।

भारत देश के प्राचीन विश्वविद्यालयों में **वल्लभी** का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इस विश्वविद्यालय की स्थिति भारत वर्ष के पश्चिमी भाग सौराष्ट्र में थी। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग एवं इत्सिंग ने अपने विवरणों में इस विश्वविद्यालय के बारे में कहा है कि भारत की संस्कृति के सभी आयाम यहाँ प्रकाशित हैं। यहाँ का स्नातक होना ही योग्यता का पर्याय है। इतिहासवेत्ता अलतेकर महोदय ने भी अपने अध्ययन में वल्लभी को देव संस्कृति का कीर्ति स्तंभ माना है। बंगाल के पालवंशी राजा रामपाल ने ग्यारहवीं शताब्दी में गंगा और करतोया नदियों के संगम पर **जगद्दल** विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। इस विश्वविद्यालय ने अपने एक शतक के जीवन में भारत देश को सहस्रों अनुदान दिए।

देश के अन्य कुछ स्थान भी विद्या के केंद्र के रूप में सम्मानित हुए। इनमें **मिथिला**, बंगाल का **नवद्वीप**, मैसूर का **बेलगाँव**, मालवा की **धारा नगरी** राष्ट्रवासियों की श्रद्धा से अभिसिंचित हुई। यहाँ के विद्या केंद्रों एवं यहाँ अध्ययन करने वाले छात्रों ने देव संस्कृति एवं देवभूमि भारत को ऊर्जावान् बनाया। इन स्थानों के विद्वानों एवं आचार्यों ने, शिष्यों एवं साधकों ने प्राचीन ऋषियों के शाश्वत ज्ञान को सामयिक दृष्टि दी। अपनी विद्या साधना से अनुभूत सत्य के द्वारा राष्ट्रीय जीवन में नवप्राण भरे। विश्वमानवता को अपने ज्ञान से कृतकार्य किया। प्राक् ऐतिहासिक काल के ऋषियों एवं उनके विश्वविद्यालयों तथा ऐतिहासिक काल के विश्वविद्यालयों ने जिस जीवन दृष्टि की खोज की, उसी को मूलधुरी मानकर देव संस्कृति विश्वविद्यालय शिक्षा जगत् में एक नई क्रांति करने के लिए कृत संकल्पित हुआ है।

* * *

महर्षि अरविंद ने उन दिनों 'भारतीय संस्कृति के आधार' नामक ग्रंथ लिखा था। इसका प्रकाशन होते ही सब तरफ इसकी काफी चर्चा होने लगी। आश्रमवासी भी भारतीय संस्कृति के विविध तत्त्वों व आयामों की चर्चा और चिंतन में निमग्न हो गए। प्रश्न और समाधान का आदान-प्रदान हो रहा था। इसी क्रम में एक दिन एक आश्रमवासी साधक के मन में प्रश्न उभरा—भारतीय संस्कृति को देव संस्कृति क्यों कहा जाता है? जबकि अन्य देशों की संस्कृतियाँ प्रायः अपने देशों के नाम से जानी जाती हैं।

प्रश्नकर्त्ता ने यह प्रश्न नलिनी दा से पूछा था। नलिनी दा आश्रम के सबसे पुराने साधक थे। महर्षि अरविंद का गहरा सामीप्य भी उन्हें मिला था। प्रश्नकर्त्ता के उत्तर में उन्होंने कहा—यह प्रश्न मैं श्री अरविंद से ही पूछूँगा। वे ही इसका सही उत्तर दे सकेंगे। समय पाकर उन्होंने श्री अरविंद के सामने यह जिज्ञासा प्रकट की। महर्षि अरविंद बोले— भारतीय संस्कृति का लक्ष्य जीवन में देवत्व का अभिवर्द्धन एवं विकास है। इस संस्कृति के प्रवर्तक ऋषियों ने इसका सारा ताना-बाना इसी लक्ष्य के अनुरूप ही बुना है। अपने स्वरूप, प्रक्रिया एवं उद्देश्य में देवत्व के समायोजन के कारण ही भारतीय संस्कृति को देव संस्कृति कहा जाता है।

ऋषि दृष्टि से होगी यह क्रांति

शिक्षा जगत् में एक नई क्रांति ऋषि दृष्टि से ही संभव है। ऋषि दृष्टि की अपनी अनूठी विशेषता है। ऋषि उतना ही नहीं देखते, जो हम सबको दिखाई दे रहा है। वे उसे भी देखते हैं, जिसे हमारी आँखें नहीं देख पातीं। वे जीवन की सतही सीमाओं के साथ उसकी गहराइयों में छुपी असीम संभावनाएँ भी देखते हैं। अपनी उज्ज्वल दृष्टि से मनुष्य के वर्तमान के अलावा उसके भविष्य को भी निहारते हैं। इसे गढ़ने, सँवारने की प्रक्रियाएँ और प्रयोग करते हैं। देव संस्कृति विश्वविद्यालय, युग ऋषि परमपूज्य गुरुदेव की दिव्य दृष्टि की ऐसी ही विशेषता का साकार रूप है। यह वह क्रांति-भूमि है, जिसमें शिक्षा जगत् में एक नई क्रांति के अनेकों क्रांतिकारी आयाम जन्म ले रहे हैं।

शिक्षा का वर्तमान जग जाहिर है। इसके बारे में रोज बहुत कुछ कहा जाता है, लिखा जाता है और छापा जाता है। कभी मैकाले ने जो बीज बोए थे, आज उसकी कटीली फसल से समूचा देश लहूलुहान हो रहा है, पर मैकाले से मुकाबला कौन करे? यह सवाल आज के दौर में कुछ उसी तरह से है, जिस तरह से कभी चूहों के झुंड में यह सवाल उठा था कि बिल्ली के गले में घंटी कौन बाँधे? नुकसान से सभी परिचित हैं, पर समाधान का साहस कौन करे? महत्त्वाकांक्षी, किंतु श्रम, साहस और संकल्प से विहीन बेरोजगारों की बढ़ती भीड़ आज की शिक्षा का वर्तमान है। यह भीड़ मनुष्य जीवन की सभी उज्ज्वल संभावनाओं को भुला बैठी है। उसके पास तो बस कुंठा, निराशा और हताशा की पर्याय बनी कुछ डिग्रियों, उपाधियों के छोटे-बड़े ढेर बचे हैं।

स्थिति का समाधान क्रांति की नई रोशनी में है। इसी के उजाले में नए जीवन-मूल्य दिखाई देंगे। मनुष्य की दशा सुधरेगी और उसे सही दिशा मिलेगी। इस क्रांति से ही शिक्षा के परिदृश्य में छाया हुआ कुहासा मिटेगा और उसका विद्या वाला स्वरूप निखरकर सामने आएगा। तभी पता चलेगा कि शिक्षा जीवन की सभी दृश्य एवं अदृश्य शक्तियों का विकास है। तभी जाना जा सकेगा कि विचार और संस्कार से ही व्यक्तित्व गढ़े जाते हैं। इसके बिना पुस्तकीय ज्ञान गरदन तोड़, कमर तोड़ बोझ के सिवा और कुछ नहीं। शिक्षा जगत् में एक नई क्रांति होने से सूझ-बूझ, सोच-समझ के नए आदर्श प्रकट होंगे और तभी साहस, संकल्प एवं श्रम की सामर्थ्य से भरे-पूरे प्रचंड आत्मबल के धनी मनुष्य का जन्म होगा। रोने-गिड़गिड़ाने वाले, दीन-हीन, सम्मान और स्वाभिमान से विहीन, परमुखापेक्षी मनुष्य कहे जाने वाले प्राणियों की भीड़ छँटेगी।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय का जन्म इसी क्रांति को प्रकट करने के लिए हुआ है। युगऋषि की यह संकल्प सृष्टि, उन्हीं की दृष्टि के अनुरूप शिक्षा को जीवन जीने की कला के रूप में विकसित करने के लिए हुई है। ध्यान रहे जीवन मिलता नहीं, निर्मित करना होता है। इसीलिए मनुष्य को शिक्षा की जरूरत है। शिक्षा का एक ही अर्थ है कि हम जीवन जीने की कला सीख सकें। इस बारे में एक बड़ी सुंदर कथा है-

एक घर में बहुत दिनों से एक वीणा रखी थी। उस घर के लोग उस वीणा का उपयोग भूल गए थे। पहले कभी उस घर के पूर्वज उस वीणा को बजाते रहे थे। बाद में किसी बाहर वाले के प्रभाव से उस घर के लोगों ने वीणा बजाना बंद कर दिया। उसी की चाकरी करने लगे। बाहर वाले ने उन्हें वीणा बजाना छुड़ाकर चाकरी करना सिखा दिया था। उसके चले जाने के बाद भी घर के लोगों की आदत नहीं बदली। घर की वीणा कोने में पड़ी धूल खाती रही। अब तो कभी कोई भूल से बच्चा उस वीणा को गिरा देता, तो आधी रात में उसके तार झनझना जाते, घर के लोगों की नींद टूट जाती। वह वीणा एक उपद्रव का कारण हो गई। अंततः उस घर के लोगों ने एक दिन तय किया कि वीणा को फेंक दें- जगह घेरती है, कचरा इकट्ठा करती है और शांति में बाधा डालती है। उन सबने मिलकर वीणा को घर के बाहर कूड़ेदान में फेंक दिया।

वे लौट नहीं पाए थे कि एक साधु उधर से गुजरा। उसने वह वीणा उठा ली और उसके तारों को छेड़ दिया। फिर तो जैसे उस घर में क्रांति हो गई। सबके सब उस साधु को घेरकर खड़े हो गए। उस रास्ते से और भी जो निकला, ठिठककर खड़ा हो गया। वहाँ भीड़ लग गई। वह साधु

मंत्रमुग्ध होकर वीणा बजा रहा था। जब उन्हें वीणा का स्वर संगीत मालूम पड़ा और जैसे ही उस साधु ने वीणावादन बंद किया कि सब झपट पड़े, बोले, यह वीणा हमारी है, इसे हमें लौटा दो। साधु हँसा, पहले बजाना तो सीख लो, अन्यथा फिर उपद्रव खड़े होंगे। बजाना न आता हो तो वीणा घर की शांति भंग करने लगती है। यदि बजाना आता है तो वीणा घर को शांतिपूर्ण और संगीतमय बना सकती है।

कथा का सार इतना ही है कि जीवन भी एक वीणा है। जीवन हम सबको मिल जाता है, लेकिन उस जीवन की वीणा को बजाना बहुत कम लोग सीख पाते हैं, प्रायः नहीं ही सीख पाते हैं। इसीलिए इतनी उदासी है, इतना दुःख है, इतनी पीड़ा है। इसीलिए देश और संसार में इतना अँधेरा है, इतनी हिंसा है, इतनी घृणा है। इसीलिए जगत् में इतना युद्ध है, इतना वैमनस्य है, इतनी शत्रुता है। जो संगीत बन सकता था जीवन, वह विसंगतिपूर्ण बन गया है।

शिक्षा जगत् में एक नई क्रांति का इतना ही अर्थ है कि समूचा देश, सारी मानव जाति अपनी जीवन वीणा को बजाना सीख ले। आज की शिक्षा, जिसमें अभी भी गुलामी के भद्दे दाग हैं- वह जीवन संगीत की उपेक्षा करना सिखाती है। विद्यार्थियों में प्रथम कक्षा से ही पनपती है, एक दूसरे का गला काटने वाली विचारहीन प्रतियोगिता। इससे जन्मती हैं अहंकार से भरी आकांक्षाएँ। जिसकी ये आकांक्षाएँ पूरी हो जाती हैं, वह और भी अधिक अहंकार से भर जाता है। जिसकी नहीं पूरी हो पातीं, वह और भी अधिक निराशा एवं कुंठा के अँधेरों में जा गिरता है, जबकि सबके जीवन में अपनी मौलिकता है, सभी के जीवन पुष्प की अपनी सुगंध है। भगवान् ने धरती पर किसी को किसी से तनिक भी न्यून नहीं बनाया है। बस उसे उसके अपने मौलिक विकास के अवसर मिलने चाहिए। फिर तो सभी के जीवन-पुष्प समान रूप से अपनी-अपनी अनूठी सुगंध बिखेरने लगेंगे।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय में शिक्षा की यही नई क्रांति होने जा रही है। यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से विद्यार्थी की मौलिकता को परखकर उसका भरपूर विकास किया जाएगा। मनुष्य जीवन के हर तल पर अपरिमित ऊर्जा समाई है। देह, प्राण, मन, बुद्धि के छोटे-छोटे हिस्से में संभावनाओं के महासागर भरे पड़े हैं। बस इनकी सही और सटीक अभिव्यक्ति की कला खोजनी है। नए मनुष्य को गढ़ने वाले जीवन मूल्यों को अर्थ देना है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय में यही होने जा रहा है। संभव है ऐसी या इससे मिलती-जुलती बातें पहले भी कही गई हों, पर यहाँ की बात कुछ और ही है। यहाँ कहा नहीं किया जा रहा है। यहाँ केवल शिक्षा जगत् में सार्थक क्रांति की तस्वीरें नहीं प्रदर्शित की जा रही हैं, यहाँ तो महाक्रांति की ज्वालाएँ उठेंगी। जिसमें व्यर्थ का कूड़ा-कचरा जलेगा और नई सार्थकता की चमक पैदा होकर रहेगी।

इस क्रांति का मौलिक सूत्र है, ''शिक्षा आंतरिक अंकुरण है, बाहरी आरोपण नहीं।'' यहाँ आने वाले विद्यार्थी पुस्तकीय ज्ञान के बोझ से लदने के बजाय अपने आंतरिक ज्ञान का विकास करेंगे। उन्हें मानव जीवन की दिव्य शक्तियों का ज्ञान कराया जाएगा। जिन्हें इसकी अनुभूति पानी हो वे देव संस्कृति विश्वविद्यालय के परिसर में पधारें और देखें, कैसे यहाँ मैकाले के भूत को भगाया जा रहा है? किस तरह शिक्षा जगत् की एक नई क्रांति साकार रूप ले रही है। इस क्रांति के सत्य ने ही विश्वविद्यालय की विश्वदृष्टि को जन्म दिया है, जिसके प्रभाव से यहाँ राष्ट्र और विश्व की अगणित समस्याओं के समाधान खोजे और पाए जा सकेंगे।

○

बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना मालवीय जी के पास विश्वविद्यालय के कुछ विद्यार्थी शिकायतें लेकर आए। उनका हृदय अपने कतिपय सहपाठियों एवं प्राध्यापकों के प्रति शिकायतों से भरा हुआ था। मालवीय जी उनसे बड़े प्यार से बोले— उनके जीवन में दोषों के थोड़े-से काँटे हो सकते हैं, यह सच है, लेकिन वे केवल उन्हीं को दिखाई देते हैं, जो उनके गुणों के महकते हुए आकर्षक फूलों को नहीं देख पाते। तुम लोग भी उनके गुणों के फूलों को देखना शुरू करो, फिर देखोगे कि दोषों के काँटे भी फूल बन जाएँगे और तुम्हारा जीवन सौंदर्य और सुगंध से भर जाएगा।

विश्व दृष्टि ही उबारेगी आज की संकीर्ण सोच से

विश्व दृष्टि देव संस्कृति विश्वविद्यालय की मौलिक विशेषता है और रहेगी। इसका मतलब दुनिया भर में फैले हुए ज्ञान की सभी क़िताबों के पन्ने पलटने से कहीं बहुत ज्यादा है। इसमें विश्व जितनी व्यापकता, विशालता एवं विस्तार है। चिंतन की दृष्टि के इसी उदार भाव से आज के युग प्रश्न हल होंगे। संकीर्ण सीमाओं से आबद्ध और आग्रहों से जकड़ी हुई सोच किसी भी तरह काम आने वाली नहीं है। आज की दुनिया नई है, एकदम बदली हुई, लेकिन हमारी सोच वही पुरानी है, अपनी सीमाओं से बँधी, अनेक आग्रहों से लिपटी। दोनों के बीच कोई ताल-मेल नहीं है और इसी कारण सब ओर समस्याएँ हैं, सवाल हैं, समाधान कहीं भी किसी तरफ नजर नहीं आते।

हम जो उत्तर ढूँढ़ते हैं, वह तो हमारी सोच की ही भाँति पुराना और मरा है। आज दुनिया के सामने बड़ी अजीब घड़ी है, जिंदा प्रश्न मरे हुए उत्तरों की लाशें ढो रहे हैं। इस बेवजह के वजन से प्रश्नों की बौखलाहट और ज्यादा बढ़ गई है। वे अधिक क्रुद्ध एवं परेशान होकर ध्वंस मचाने और आतंक फैलाने पर आमादा हो गए हैं। मनीषी हैरान हैं और विचारशील व्यथित, उन्हें सूझ ही नहीं रहा कि आखिर हो क्या गया है ? वे सोचते हैं कि आखिर बात क्या है ? बात दरअसल यह है कि उनके उत्तर मरे हुए हैं और प्रश्न जीवंत हैं।

जैसे मरे हुए आदमी और जिंदा आदमी के बीच कोई बातचीत नहीं हो सकती, ठीक ऐसे ही हमारे समाधानों और हमारी समस्याओं के बीच कोई बातचीत नहीं हो पा रही है। एक तरफ समाधानों का ढेर है, दूसरी तरफ समस्याओं का ढेर, लेकिन दोनों के बीच कोई सेतु नहीं है, क्योंकि सेतु हो ही नहीं सकता। मुरदा और जिंदा के बीच संवाद की कोई संभावना नहीं है। इनके बीच जबरदस्ती संवाद पैदा कराने की कोशिश में जीवन उलझता जा रहा है। इस उलझन से छुटकारा पाने के लिए हमें अपनी बुनियादी भूल समझनी होगी। यह बात अच्छी तरह से जाननी होगी कि जीवन के प्रवाह में सब-का-सब बदल चुका है। आज के सवाल एकदम नए और ताजे हैं।

यह सत्य विश्व दृष्टि से ही देखा, जाना और समझा जा सकता है। जिनके पास यह नजर है, वे देख रहे हैं कि दुनिया बड़ी तेजी से पुरानी दीवारों को गिराकर एक होने की कोशिश में है। इस कोशिश में सभ्यताओं, संस्कृतियों की दीवारों में लगातार दरारें आ रही हैं। पहले तो यातायात के साधनों में सुगमता, उस पर से संचार क्रांति, इलेक्ट्रॉनिक युग का अवतरण, टेलीफोन और कंप्यूटरों का संजाल। भौतिक दूरियों जैसी कोई बात रह ही नहीं गई, लेकिन इस बदलाव ने अनेकों नए सवाल खड़े कर दिए हैं। ऐसे सवाल जो पहले कभी देखे और सुने नहीं गए।

ये सवाल मान्यताओं, रीति-रिवाजों एवं परंपराओं के उलझ जाने से उठ खड़े हुए हैं। इस सांस्कृतिक एवं सामाजिक उलझन के अलावा वैज्ञानिक उलझनें भी हैं। वैज्ञानिक प्रयोगों के सत्परिणाम हैं, तो दुष्परिणाम भी हैं। पर्यावरण का संकट दुनिया को लीलने-निगलने के लिए तैयार खड़ा है। संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ ही नहीं, धर्म और विज्ञान भी टकरा रहे हैं। बदली हुई स्थितियों में ज्ञान का तीव्रता से विस्फोट हुआ है। दुनिया भर के बच्चों में प्रतिभा एवं बौद्धिक क्षमता पहले की तुलना में आज कई गुना ज्यादा है। अगर इसका समय रहते सही सुनियोजन न किया गया तो इसके भटकने, बहकने और विध्वंसक हो उठने का भारी खतरा है।

ये और ऐसे ही अनेक, अगणित सवालों के जवाब पुरानी सोच के सहारे नहीं खोजे जा सकते। इन युग-प्रश्नों का हल खोजने के लिए विश्व दृष्टि की आवश्यकता है, क्योंकि इसी से यह सच देखा जा सकता है कि पुरानी पड़ चुकी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के खंडहरों से विश्व संस्कृति जन्म ले रही है। आज होने वाली सभी क्रांतियाँ इसके जन्म की शुभ सूचना हैं, लेकिन इस शुभ सूचना में युग-प्रश्नों की आहटें भी हैं। इन्हीं के समाधान से भावी विश्व संस्कृति का ढाँचा तैयार होगा। उसमें प्राणचेतना प्रवाहित होगी। यह सब करने के लिए नए इंसानों को गढ़ने की जरूरत है।

विश्वविद्यालय की विश्व दृष्टि का आदर्श एवं उद्देश्य यही है। यहाँ व्यापक सोच वाले इंसान गढ़े जाएँगे। ऐसे

इंसान जो पुरानेपन के खोल से बाहर निकलने का साहस जुटा सकें। जिनकी सोच अपनी परंपराओं, रीति-रिवाजों एवं संकीर्णता के अगणित बंधनों से मुक्त हो। जो परंपराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व देने का साहस कर सकें। ऐसे साहसी व्यक्ति ही विश्व संस्कृति के निर्माता हो सकते हैं। इन्हीं के भरोसे दुनिया अपने सवालों के सही समाधान खोज सकती है। इन नए मनुष्यों में खंडित दुनिया की उलझनें नहीं, समग्र विश्व की संवेदना स्पंदित होगी।

कन्फ्यूशियस ने अपनी एक किताब में कुछ ऐसा ही सच बयान किया है। उसने लिखा है कि मेरे पूर्वज कहते थे कि गाँव के पास नदी बहती थी। नदी के उस पार रात को कुत्ते भौंकते थे, तो हमें आवाज सुनाई पड़ती थी, लेकिन पता नहीं चलता था कि नदी के पार कौन रहता है ? नदी बड़ी थी और नाव खोजी न गई थी। नदी के पार कोई रहता है, कोई गाँव है, कभी-कभी कुत्तों के भौंकने की आवाज रात के सन्नाटे में सुनाई पड़ती है, लेकिन नाव न थी। उस गाँव की अपनी दुनिया थी, इस गाँव की अपनी दुनिया। हर एक गाँव की अपनी दुनिया थी। हर एक देश की अपनी दुनिया थी। सारी मनुष्यता जुड़ी न थी। उस खंडित दुनिया की खंडित सोच, खंडित समाधान आज किसी काम के नहीं हैं।

हर युग को अपना विचार पैदा करना होता है, हर युग को अपनी दृष्टि विकसित करनी होती है, जो ऐसा नहीं कर पाते, उनसे युग प्रश्नों की चुनौतियाँ नहीं सँभलतीं। उन्हें दोहरी मार झेलनी पड़ती है, एक तरफ नए प्रश्नों की मार, दूसरी ओर सड़ी-गली, संकीर्ण सोच की लाशों का भार। इससे उबरने के लिए ही विश्व दृष्टि की जरूरत है। उन नए मनुष्यों को गढ़ने की जरूरत है, जिनमें विश्व दृष्टि की व्यापकता हो। जो जाति, धर्म, संस्कृति की उलझनों को सुलझाने में समर्थ हों। जो जान सकें कि भगवान् अगर है तो इस पूरे जगत् में है। हर जगह उसका मंदिर है, हर जगह उसकी मस्जिद, हर जगह उसके चर्च और गुरुद्वारे हैं। जिसे प्रार्थना करना आता है, वह किसी वृक्ष के नीचे या नदी के तट पर यहाँ तक कि अपने घर की छत पर ही मंदिर बना सकता है। मंदिर-मस्जिद या चर्च-गुरुद्वारे के लिए झगड़ा करने की क्या जरूरत है।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय विश्व दृष्टि की ऐसी ही व्यापकता में युग प्रश्नों का समाधान खोजने के लिए संकल्पित और प्रतिबद्ध है। यहाँ दिमाग की कोठरियों में पुस्तकीय ज्ञान को जिस-तिस तरह ठूँसकर, उसमें मजबूत ताला लगा देने वालों की कोई जगह नहीं होगी। यहाँ वे इंसान जन्म लेंगे, जिनके दिमाग के खिड़की-दरवाजे खुले हों। पुस्तकें जिन्हें प्रेरणा दें, पाबंदियाँ न लगाएँ। जो विचारशील और विवेकवान् हों, जो प्रश्नों के कारण की जड़ को समझें और उसके समाधान का साहस जुटाएँ। विश्वविद्यालय के सभी क्रियाकलापों, इसके सारे आयामों के पीछे यही विश्व दृष्टि क्रियाशील होगी। यही मूल प्रेरणा यहाँ के समूचे तंत्र को प्रेरित करेगी और इसके माध्यम से प्रवाहित होगी। विश्वविद्यालय का भवन इसकी अभिव्यक्ति का माध्यम बनेगा। यहीं पर युग प्रश्नों का हल ढूँढ़ने वाले नए इंसान गढ़े जाएँगे।

◆

वरतंतु ने आचार्य सुमेध से एक दिन पाठ समाप्ति के बाद पूछा- आचार्यवर! विद्याध्ययन का आधार तो बौद्धिक प्रखरता है। इस स्पष्ट सत्य के बावजूद आप समूचे जीवन को कठोर अनुशासन में बाँधने की बात क्यों कहते हैं ? आचार्य सुमेध बोले- वत्स! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर तुम्हें समय पर मिल जाएगा। इस घटना के काफी दिनों बाद आचार्य सुमेध अपने सभी शिष्यों के साथ भ्रमण हेतु निकले। भ्रमण करते हुए वे सभी गंगा तट पर आ पहुँचे। गंगा की जलराशि और उस पर तरंगित वीचि-लास्य ने सभी को मोहित कर लिया।

तभी आचार्य ने वरतंतु से पूछा- वत्स, तुम जानते हो गंगा की यात्रा कहाँ से कहाँ तक होती है। मेधावी वरतंतु ने उत्तर दिया- हाँ गुरुदेव! गंगा गोमुख से चलकर गंगासागर में विलीन होती है। आचार्य ने फिर पूछा- और वत्स! यदि गंगा के ये दोनों किनारे न हों, तो क्या यह इतनी लंबी यात्रा कर पाएगी ? बिलकुल भी नहीं, तब तो इसकी जलराशि इधर-उधर बिखरकर रह जाएगी। यही नहीं इससे मिलने वाले लाभों से भी देशवासी वंचित रह जाएँगे, क्योंकि किनारों के टूटने पर कहीं तो बाढ़ के दृश्य दिखेंगे तो कहीं सूखा नजर आएगा। वरतंतु के इस उत्तर से संतुष्ट आचार्य सुमेध ने कहा- वत्स! यही तुम्हारे उस दिन के प्रश्न का उत्तर है। अनुशासन के अभाव में विद्यार्थियों की जीवन ऊर्जा बिखर जाएगी। उनके शरीर व मन निस्तेज, निष्प्राण हो जाएँगे। उनके लिए जीवन लक्ष्य की प्राप्ति असंभव हो जाएगी। अनुशासन विद्याध्ययन के सत्य को आत्मसात करने का सूत्र है।

देव संस्कृति का साधना मंदिर विश्वविद्यालय का भवन

विश्वविद्यालय भवन देव संस्कृति का साधना मंदिर है। तपस्वी साधकों के लिए तप-साधना की प्रक्रिया एवं प्रणाली के साथ साधना स्थल का भी महत्त्व होता है। इस महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ही विश्वविद्यालय भवन का निर्माण व विकास किया जा रहा है। इतिहास के पृष्ठ प्राचीन भारत के तक्षशिला, नालंदा एवं विक्रमशीला आदि विश्वविद्यालयों की गौरव-गाथा सुनाते हैं। इस गौरव गान में इन विश्वविद्यालयों के भवनों के मधुर गीत भी हैं। इस बात का भी उल्लेख है कि प्राचीन विश्वविद्यालयों के भवनों में आचार्यों एवं अंतेवासी विद्यार्थियों के लिए, विद्या-साधना के लिए किस-किस भाँति अनुकूलताएँ थीं। इतिहास गवाही देता है कि यहाँ साधना के साधन जुटाए गए थे, लेकिन सुख के साधनों से परहेज बरता गया था।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय का भवन इसी ऐतिहासिक सच को ध्यान में रखकर विकसित किया जा रहा है। इस भव्य भवन के वास्तुशिल्पियों, निर्माणकर्त्ता यंत्रियों की दृष्टि इस बारे में अत्यंत परिष्कृत है। उन्हें देव संस्कृति के इस साधना मंदिर में होने वाली भविष्यत् विद्या साधनाओं का पूरा ध्यान और ज्ञान है। वे अपने कार्य के व्यापक उद्देश्यों से उत्साहित हैं, भाव-विभोर हैं। यंत्री होने के बावजूद उनमें यांत्रिकता जरा भी नहीं है। उनमें तो सांस्कृतिक संवेदना छलकती है। वे सभी अपने द्वारा किए जाने वाले कठोर श्रम को तप-साधना ही मान रहे हैं। इन सभी की सम्मिलित संवेदना की सजलता एवं सघनता के कारण विश्वविद्यालय भवन कुछ लाख-करोड़ ईंटों के जोड़ से कहीं बहुत अधिक हो गया है।

संस्कृति-साधना के इस मंदिर के मुख्य परिसर में ही अभी निर्माण कार्य हो रहा है। एक लाख वर्गमीटर से कहीं अधिक क्षेत्रफल में इस मुख्य परिसर का प्रसार है। विश्वविद्यालय भवन के अन्य परिसरों के लिए आस-पास की भूमि क्रय करने की बात चल रही है, पर जहाँ तक निर्माण की बात है, वह अभी इस मुख्य परिसर या मेन कैंपस में ही केंद्रित है। इसके कुछ अंश बन चुके हैं, कुछ अभी निर्माणाधीन हैं। इतिहास विनिर्मित करने वाली इस संरचना को बड़े ही समर्पित, संकल्पित एवं साहसी हाथ गढ़ रहे हैं। उनके इस सृजन कार्य में अतीत की प्रेरणाएँ हैं, वर्तमान की संवेदनाएँ हैं और हैं भविष्य की संकल्पनाएँ। जो एक साथ-एकजुट हो निराकार से साकार हो रही हैं।

इस मुख्य परिसर में जो भवन बन चुके हैं, उनमें से सर्वप्रथम 'देव संस्कृति विश्वविद्यालय' का मुख्य भवन है। तीन मंजिला यह भवन ४०६५ वर्गमीटर में बना हुआ है। इसमें तीस बड़े हॉल हैं। इनमें से २९ ऐसे हैं, जिनमें से कुछ में अभी महाविद्यालय की कक्षाएँ चल रही हैं। कुछ में कार्यालय एवं ग्रंथालय हैं। इस भवन के भूमिखंड में एक हॉल बहुत बड़ा है, जो बहुउद्देशीय है। निर्मित अंशों में एक विशाल भंडार गृह है। तीन मंजिला यह भंडार गृह १३८७ वर्गमीटर में फैला हुआ है। इसमें सामान चढ़ाने-उतारने के लिए एक अत्याधुनिक गुड्स लिफ्ट लगी हुई है। विश्वविद्यालय के विभिन्न संकायों में उपयोग आने वाले सामानों को रखने के लिए इसमें अलग-अलग कक्ष हैं।

निर्माणाधीन भवनों में सबसे मुख्य भवन छात्रावास का है। इसका विस्तार ७०३५ वर्गमीटर में है। इस भवन में ऐसी ७२ डारमिट्री बनाई जा रही हैं, जिनमें से प्रत्येक में ८ छात्र बड़े आराम से रह सकें। इसके अलावा इसमें दो बड़े हॉल और एक रसोईघर है। यह भवन भी तीन मंजिल वाला है। इसके प्रत्येक कक्ष को विद्यार्थियों की विद्या साधना को ध्यान में रखकर डिजाइन किया गया है और उसी के अनुरूप इसे बनाया जा रहा है। यहाँ रहने वाले विद्यार्थी सब तरह की अनुकूलता में अपना विद्या अध्ययन एवं तप-साधना संपन्न कर सकेंगे। निर्माणाधीन परिसरों में आवासीय परिसर भी है। इस परिसर का विस्तार ८५०७ वर्गमीटर में है। तीन मंजिल वाले इन भवनों में १२९ फ्लैट बनाए जा रहे हैं। इनमें से एक कमरे वाले फ्लैट ४८ और दो कमरों वाले फ्लैट ५४ हैं। तीन कमरों वाले फ्लैट की संख्या १८ और चार कमरों वाले फ्लैट ९ हैं। ये सभी आवास विश्वविद्यालय में कार्य करने वाले शांतिकुंज के कार्यकर्त्ताओं के लिए हैं। इन सभी आवासों का निर्माण इस ढंग से किया जा रहा है कि यहाँ रहने वाले सभी लोग अपनी तप-साधना करते हुए देव संस्कृति के विस्तार में अपना सहयोग दे सकें।

जिन भवनों का निर्माण अभी प्रस्तावित है, उनमें ओम् (ॐ) के आकार का आयुर्वेद अनुसंधान केंद्र मुख्य है। हालाँकि इससे जुड़ी हुई आयुर्वेद फार्मेसी बनाई जा चुकी है। निर्मित हो चुकी आयुर्वेद फार्मेसी का तिमंजिला भवन १४२३ वर्गमीटर में बनाया गया है। सामान चढ़ाने-उतारने के लिए इसमें गुड्स लिफ्ट की समुचित व्यवस्था है। इसमें शुद्धिकरण, चूर्णन एवं प्रयोगशाला के अलग-अलग कक्ष हैं। प्रस्तावित आयुर्वेद अनुसंधान केंद्र ६०४४ वर्गमीटर में तीन मंजिल वाला बनेगा। इसमें अनुसंधान के विभिन्न उपकरणों से सुसज्जित आधुनिक प्रयोगशालाएँ होंगी। रोगियों के लिए वार्ड, बाह्य रोगी विभाग, आयुर्वेद प्रदर्शनी एवं आयुर्वेद ग्रंथालय के कक्ष बनाए जाएँगे। इस भवन में रोगियों एवं चिकित्साविज्ञानियों के लिए तीन लिफ्ट लगाए जाने की भी व्यवस्था है।

प्रस्तावित भवनों में प्रशासनिक भवन एवं सभागार (प्रेक्षागृह) भी महत्त्वपूर्ण है। इनमें से दो मंजिला प्रशासनिक भवन ११६२ वर्गमीटर में बनाया जाएगा। इसमें दूरभाष केंद्र, स्वागत कक्ष, कंप्यूटर नेटवर्क, सूचना कक्ष, लेखा एवं मुख्य कार्यालय होगा। सभागार ११५९ वर्गमीटर में बनेगा। सभागार का भवन सभी आधुनिक सुविधाओं से युक्त होगा। स्वावलंबन संकाय के लिए एक विशेष भवन बनाया जाना प्रस्तावित है। इसका नाम स्वावलंबन भवन होगा। तीन मंजिला यह भवन २०४० वर्गमीटर में बनेगा। इसमें प्रशिक्षण कक्ष, प्रयोगशालाएँ, प्रदर्शनी एवं कार्यशालाएँ होंगी। इसी के साथ १२२१ वर्गमीटर में पाँच मंजिलों वाला मुख्य ग्रंथालय भवन का निर्माण भी प्रस्तावित है। इसकी हर मंजिल में प्रत्येक संकाय के स्वतंत्र ग्रंथालय होंगे। ये सभी पाँचों कक्ष अष्टभुजी बनाए जाएँगे। इन सबके ऊपर साढ़े तीन लाख लीटर की क्षमता वाली पानी की टंकी बनाई जाएगी और इसके भी ऊपर वेधशाला बनाए जाने का प्रस्ताव है, जिसमें ज्योतिष-गणित के अध्ययन की व्यवस्था होगी। यह ग्रंथालय भवन पैनोरैमिक लिफ्ट की सुविधा से युक्त होगा।

इसके अलावा इस मुख्य परिसर में ५३६ वर्गमीटर में एक विराट् ध्यान कक्ष होगा। इसी के पास ३५८ वर्गमीटर क्षेत्र में यज्ञशाला बनाई जाएगी। इस परिसर में ज्योतिष केंद्र भी बनेगा। जिसमें प्राचीन ज्योतिष के गणित एवं फलित दोनों ही आयामों पर आधुनिक विज्ञान के परिदृश्य में अनुसंधान किए जाएँगे। इस परिसर में आधुनिकतम सीवेज ट्रीटमेंट प्लांट स्थापित करने की भी योजना है, जिसकी क्षमता ३ लाख लीटर होगी। आपातकालीन व्यवस्था के लिए यहाँ अग्निशमन केंद्र भी होगा। इस परिसर में २९४७ वर्गमीटर का पार्किंग स्थल बनाया जाना भी प्रस्तावित है। विश्वविद्यालय के इस मुख्य परिसर के सभी भवनों को जोड़ने के लिए २.२६ किलोमीटर लंबी सड़क बनाई जाएगी। परिसर का खुला हुआ क्षेत्र जो ७० हजार वर्गमीटर से भी अधिक है, वहाँ हिमालय की दिव्य जड़ी-बूटियों का सुरम्य उद्यान विकसित किया जा रहा है।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय के भवन की योजना का विस्तार अति व्यापक है। शांतिकुंज के समीप हरिद्वार-ऋषिकेश मार्ग पर बन रहे इस मुख्य परिसर के अलावा विश्वविद्यालय के अन्य परिसर भी होंगे, जहाँ विश्वविद्यालय भवन अपना विस्तार करेगा। विश्वविद्यालय के इसी सुविस्तृत भवन में विश्वविद्यालय की व्यवस्था का संचालन होगा। यहीं से देवसंस्कृति की कलियाँ महकेंगी और किरणें चमकेंगी। इस सुगंध और प्रकाश से समूचा राष्ट्र एवं समस्त विश्व भर उठेगा।

✿

स्वामी विवेकानंद बेलूरमठ के पास गंगा किनारे घूमने निकले थे। साथ में सिस्टर निवेदिता एवं शरत्चंद्र चक्रवर्ती आदि भी थे। टहलते हुए बात देव संस्कृति की चल पड़ी। स्वामी जी बोले, साधना और संवेदना इन दोनों का घुला-मिला रूप ही देव संस्कृति है। इनमें से किसी एक का भी अभाव हो, तो संस्कृति की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। संवेदना के बिना साधना दंभ बनकर रह जाती है। साधना के अभाव में संवेदना कोरी भावुकता हो जाती है। जीवन में दोनों एक साथ आएँ तभी देवत्व की सृष्टि होती है।

विराट् व्यवस्था तंत्र एवं उसकी बारीकियाँ

विश्वविद्यालय की व्यवस्था में भावी संभावनाएँ समाई हैं। व्यवस्था का स्थान कहीं भी किसी भी संस्था में महत्त्वपूर्ण होता है। इसके स्वरूप और क्रियाविधि पर संस्थाओं का जीवन निर्भर करता है। इसमें उलट-फेर होने से संस्थाओं के ढाँचे बदल जाते हैं। यह विचारों और आदर्शों को क्रियान्वित करने वाला तंत्र है। व्यवस्था के माध्यम से ही विचार और आदर्श अभिव्यक्त होते हैं, मूर्त होते हैं और साकार रूप लेते हैं। इसमें छोटी-सी गड़बड़ी विचारों एवं आदर्शों को विकृत करने के लिए पर्याप्त है। इसी से संस्था के हर छोटे-बड़े हिस्से को जीवन एवं प्राण मिलते हैं। प्राण पनपते कहीं हों, पर उसके प्रवाह को संस्था की रग-रग में पहुँचाने की जिम्मेदारी व्यवस्था की है। इसमें थोड़ी-सी ढिलाई होने पर संस्था के अंग-अवयव सूखने, मुरझाने और मरने लगते हैं।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय में इसका महत्त्व और भी अधिक है; क्योंकि यहाँ लक्ष्य विचारों और आदर्शों की अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं हैं। यहाँ तो आदर्श गढ़े जाने हैं। बात सिर्फ विश्वविद्यालय के सुचारु रूप से संचालन की नहीं है, यहाँ की व्यवस्था पर जिम्मेदारी कहीं अधिक है। उस पर प्रतिभाओं के अन्वेषण एवं सुनियोजन के साथ उत्पादन और अभिवर्द्धन का भी भार है। यहाँ की व्यवस्था को देव संस्कृति के सनातन मूल्यों को प्रकट ही नहीं करना है, इन्हें प्रकट करने लायक व्यक्तियों को गढ़ना है। आज के मूल्यविहीन दौर में यह काम आसान नहीं है। जब सब ओर आपा-धापी मची है, व्यवस्था शासन और सत्ता के सुख का पर्याय बनकर रह गई है, ऐसे में आदर्श और सेवापरायण व्यवस्था का गठन गंगा अवतरण के समान दुःसाध्य कर्म है।

इस भागीरथश्रम को करने की जिम्मेदारी शांतिकुंज ने स्वयं उठाई है। शांतिकुंज के लोक हितकारी क्रियाकलापों से अभिभूत होकर शासन ने भी इसमें सहमति प्रदान की है। सभी की सोच यही है कि यह विश्वविद्यालय अन्य सभी सरकारी विश्वविद्यालयों से अलग ही हटकर हो। इसमें राष्ट्रहित, समाजहित और विश्वहित की ऐसी पौध उगाई जाए, जो अन्य स्थानों पर किन्हीं कारणों वश नहीं उग पाती है। शांतिकुंज, शासन सहित अपने परिजनों, देशवासियों, प्रवासी भारतीयों एवं विश्वभर के भारत और भारतीय संस्कृति के अनुरागियों की इस अपेक्षा को पूरी करने के लिए प्रतिबद्ध है। तभी उसने देव संस्कृति विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ इसकी व्यवस्था के संचालन का जिम्मा स्वयं लिया है।

श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट शांतिकुंज के प्रतिनिधि के रूप में विश्वविद्यालय की व्यवस्था के प्रमुख कुलाधिपति (चांसलर पद) का दायित्व ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के निदेशक ने सँभालने का जिम्मा लिया है। सामान्यतया विश्वविद्यालयों में इस पद का भार प्रदेश के महामहिम राज्यपाल सँभालते हैं, पर यहाँ सब कुछ शांतिकुंज को सँभालना एवं चलाना है। शांतिकुंज की प्रतिष्ठा, गरिमा एवं आदर्शनिष्ठा को परखते हुए इसमें शासन की सहर्ष स्वीकृति एवं सहमति है। कुलाधिपति की अध्यक्षता में उन्हीं के द्वारा विश्वविद्यालय की शासन परिषद् या बोर्ड ऑफ गवर्नर्स का गठन किया जाएगा। यह परिषद् ही एक विशिष्ट पैनल की अनुशंसा एवं कुलाधिपति की सहमति व निर्देश से विश्वविद्यालय के उपकुलपति की नियुक्ति करेगी। नियुक्त किए उपकुलपति भी इस परिषद् के सदस्य होंगे। शासन परिषद् के अन्य सदस्यों में शांतिकुंज के श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट द्वारा मनोनीत पाँच प्रतिनिधि तथा कुलाधिपति द्वारा मनोनीत दो विशेषज्ञ विद्वान् होंगे। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा उत्तरांचल शासन द्वारा नामित (नामिनेटेड) एक-एक सदस्य भी इस शासन परिषद् के सदस्य होंगे। यह परिषद् देव संस्कृति विश्वविद्यालय की नीति-निर्मात्री तथा विशिष्ट अधिकारों से संपन्न सर्वोच्च परिषद् होगी।

इसके अधीन देव संस्कृति विश्वविद्यालय की प्रबंध परिषद् का गठन होगा। इस प्रबंध परिषद् के अध्यक्ष विश्वविद्यालय के उपकुलपति होंगे। प्रबंध परिषद् के सदस्यों में शांतिकुंज के श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट द्वारा मनोनीत पाँच प्रतिनिधियों के साथ, विश्वविद्यालय के दो वरिष्ठ आचार्य, कुलाधिपति द्वारा मनोनीत किए गए विश्वविद्यालय के दो संकायाध्यक्ष (डीन) और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं उत्तरांचल शासन का एक-एक नामांकित प्रतिनिधि

होगा। विश्वविद्यालय के कुलसचिव (रजिस्ट्रार) इस प्रबंध परिषद् के सचिव होने के साथ इसके सदस्य भी होंगे। यह प्रबंध परिषद् विश्वविद्यालय की सभी व्यवस्थाओं को प्रत्यक्ष रूप से सँभालेगी और समय-समय पर अपने कार्यों का समस्त ब्योरा शासन परिषद् को देगी और उससे उचित निर्देश प्राप्त करेगी।

विश्वविद्यालय की व्यवस्था का संचालन करने वाली यही दो प्रमुख परिषदें होंगी। मुख्य रूप से इन्हीं पर व्यवस्था को आदर्श, पूर्ण एवं उद्देश्यनिष्ठ बनाए रखने का दायित्व होगा। इनमें से प्रबंध परिषद् का विश्वविद्यालय के सभी छोटे-बड़े कार्यों में प्रत्यक्ष नियंत्रण होगा। इस प्रबंध परिषद् का नियंत्रण शासन परिषद् करेगी। जिसके प्रमुख कुलाधिपति स्वयं होंगे। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की सहमति एवं स्वीकृति से प्रबंध परिषद् विश्वविद्यालय की अन्य समितियों, परिषदों का गठन करेगी। इनमें से दो मुख्य होगीं, प्रथम विद्या परिषद् एवं द्वितीय वित्त परिषद्। इन दोनों के ही अध्यक्ष विश्वविद्यालय के उपकुलपति होंगे। इनमें से विद्या परिषद् अध्ययन-अध्यापन संवंधी कार्यों की नीति-निर्मात्री समिति होगी। वित्त परिषद् का कार्य विश्वविद्यालय की वित्तीय आवश्यकताओं एवं कार्यों का नियंत्रण एवं नियमन करना होगा। इसके अलावा भी अन्य छोटी-बड़ी समितियाँ एवं उपसमितियाँ होंगी, जो विश्वविद्यालय की व्यवस्था संबंधी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए गठित की जाएँगी।

व्यवस्था का कोई पहलू छोटा हो या बड़ा, किसी भी परिषद् की कोई सदस्यता हो, इसमें वही व्यक्ति भागीदार होंगे, जिनके लिए सुविधा नहीं, सेवा महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए चार मानदंड निर्धारित किए गए हैं। जिनमें पहला है- विनम्रता। इसका तात्पर्य व्यक्ति के उस गुण से है, जो उसे उत्तेजना, कठिनाई एवं आपत्ति के क्षणों में भी सहनशील बनाता है। उसके अंदर औरों को सम्मान देने की, दूसरों से मृदु व्यवहार की वृत्ति को विकसित करती है। दूसरा मानदंड- प्रामाणिकता है। प्रामाणिकता का मतलब है- धन एवं चरित्र के मामले में ईमानदार रहना। वह व्यक्ति प्रामाणिक है, जिसे लोभ डिगा न पाए, आसक्ति लुभा न पाए। इसका एक अर्थ दृष्टि एवं जीवन की पवित्रता भी है। परिस्थितियाँ कुछ भी हों, पर जीवन में पवित्रता वैसी ही चमकती-दमकती रहे। मन को, जीवन को किसी भी कलुष की कालिमा न छूने पाए।

विश्वविद्यालय की व्यवस्था के सभी सदस्यों के लिए तीसरा अनिवार्य मानदंड कर्मनिष्ठा रखा गया है। व्यवस्था के किसी भी स्तर में वे व्यक्ति भागीदार बनाए जाएँगे, जिनके लिए विश्वविद्यालय का कोई भी छोटा-बड़ा काम श्रेष्ठ है। जो अपनी सुविधाओं को भूलकर कभी भी, किसी भी समय विश्वविद्यालय के उद्देश्यों के लिए समर्पित भाव से कर्मरत रहें। यह कर्मनिष्ठा विश्वविद्यालय की केंद्रीय परिभाषा बनेगी। व्यवस्था के सदस्यों के लिए चौथे अनिवार्य मानदंड के रूप में त्यागवृत्ति है। त्याग का अर्थ है- न्यूनतम में जीवन जीने की आदत। इसे कठोर तपस्वी जीवन भी कहा जा सकता है। सुविधाओं के लिए ललचाने और तरसने वाले व्यक्ति ऋषियों के जीवन संदेश का प्रसार करने में सहायक नहीं हो सकते। संक्षेप में ये चारों ही मानदंड ऋषि जीवन के अनुशासन हैं। इन अनुशासनों को प्रसन्न भाव से स्वीकारने वाले व्यक्ति ही विश्वविद्यालय की व्यवस्था के सदस्य होंगे। ऐसे निरहंकारी, निरभिमानी, सच्चरित्र, कर्मनिष्ठ एवं ऋषिकल्प जीवन वाले व्यक्ति ही विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों की दृष्टि एवं दिशा तय करेंगे।

◆

अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विंदत्यंजसीनाम् ॥
—ऋग्वेद १०/३२/७

मार्ग को न जानने वाला अवश्य ही मार्ग को जानने वाले से पूछता है। वह क्षेत्रज्ञ विद्वान् से शिक्षित होकर उत्तम मार्ग को प्राप्त करता है। गुरु के अनुशासन का यही कल्याणदायक फल है कि वह अनुशासित अज्ञपुरुष भी ज्ञान को प्रकाशित करने वाली वाणियों को प्राप्त करता है।

जीवनदृष्टि से ओतप्रोत 'विद्याप्रधान' पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रमों की दृष्टि एवं दिशा से ही विश्वविद्यालय की मौलिक विशेषताएँ जन्म लेंगी। इसी से देव संस्कृति के उद्देश्यों को पाने की राहें बनेंगी। इसी के द्वारा पुरातन ऋषियों की सनातन विरासत को नूतन पीढ़ी को सौंपा जा सकेगा। पाठ्यक्रम अनेकों जगह बनते हैं और अनेक तरह से बनते हैं, इनका बनना महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है इनकी दृष्टि एवं दिशा। जो पढ़ाया जा रहा है, वह क्या है और क्यों पढ़ाया जा रहा है? ये क्या और क्यों के प्रश्न प्राय: अनुत्तरित रहते हैं। कम-से-कम विद्यार्थीगण तो इनका जवाब पाने में प्राय: असफल ही रहते हैं। यदि किसी तरह उन्हें जवाब मिलते भी हैं तो गलत-सलत। उदाहरण के लिए, क्या के उत्तर में उन्हें कुछ विषयों के नाम रटा दिए जाते हैं और क्यों के उत्तर में उनके मन तरह-तरह के लालच की लार से भीगे रहते हैं।

क्या यही देश के भविष्य को गढ़ने की उचित विधि है? क्या यही वह विद्या है, जिसकी महिमा ऋषियों ने 'सा विद्या या विमुक्तये' कहकर बखानी है? इन सवालों के उत्तर निराशाजनक हैं। निराशा की इस अँधेरी भूल-भुलैया में अधिकांश छात्र पढ़ते व डिग्री पाते रहते हैं। बहुतेरी देशी-विदेशी उपाधियाँ बटोरने के बावजूद जिंदगी में सही सोच और समझ नहीं विकसित हो पाती। पढ़ाई और जीवन दोनों अलग-थलग पड़े रहते हैं। कभी-कभी तो दोनों एक दूसरे से विमुख हो जाते हैं। आपस में विरोधी बन जाते हैं। ये सारी भूलें वहाँ से पनपती हैं, जहाँ से पाठ्यक्रम जन्म लेते हैं।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय के संचालक इस सच को जानते हैं। तभी यहाँ पाठ्यक्रमों की दृष्टि एवं दिशा पर बहुत चिंतन-मंथन किया गया है। आगे भी यह प्रक्रिया चलती रहेगी। अभी तक के निष्कर्षों के आधार पर यह सोचा गया है कि पाठ्यक्रम मनुष्य जीवन से जुड़े और गुँथे होने चाहिए। पाठ्यक्रम एवं जीवन यदि दोनों एक दूसरे के पर्याय न बन सके, तो पढ़ने वालों में हमेशा ही जीवन दृष्टि का अभाव बना रहेगा। जीवन छोटा नहीं है, इसकी व्यापकता बहुत विस्तृत है। मनुष्य की देह, प्राण, मन तो जीवात्मा की तीन परतें भर हैं। इसके विस्तार में प्रकृति-पदार्थ एवं समाज सभी आते हैं। मोटेतौर पर जीवन के दो विभाजन किए जा सकते हैं, आंतरिक एवं बाह्य। लेकिन यह विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए है। वैसे तो दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं।

जीवन के आंतरिक दायरे में देह, प्राण, मन एवं आत्मा का स्वरूप एवं इसकी गतिविधियों, विकास व अभिव्यक्ति के अनेक आयाम आते हैं। बाहरी दायरे में प्रकृति, पदार्थ, परिस्थिति, परिवेश की गणना होती है। देश, दुनिया, प्राणी, वनस्पति सब इसी में सिमटे-बँधे हैं। जीवन के दोनों आयाम सचल, सजीव, सचेतन और विकासशील हैं। इनमें जड़ता कहीं भी नहीं है। समस्त विस्तार के कण-कण में शाश्वत की सामयिक अभिव्यक्ति चलती रहती है। सारी विद्याएँ एवं कलाएँ इसी को जानने के उद्देश्य से जन्मी हैं; यह दृष्टि स्पष्ट होने पर कोई भी विषय जीवन से विमुख न हो सकेगा। भौतिकी एवं रसायन शास्त्र में भी विद्यार्थी योग विज्ञान की ही भाँति अपने जीवन के अर्थ एवं उद्देश्य को खोज सकेंगे, पा सकेंगे। पाठ्यक्रम का विषय एवं स्वरूप कोई भी हो, पर उसमें जीवन सत्य की स्थापना ही उसे जीवन दृष्टि से संपन्न बनाती है।

इसका मतलब केवल इतना है कि पढ़ने वाले विद्यार्थी कोई भी विषय पढ़ें, पर उसके पाठ्यक्रम के द्वारा उन्हें अपने जीवन का स्वरूप, अर्थ एवं उद्देश्य साफ-साफ समझ में आना चाहिए। उन्हें साफतौर पर अपने वर्तमान एवं भविष्य में पाठ्यक्रम की उपयोगिता एवं आवश्यकता समझ में आनी चाहिए। पाठ्यक्रम में समझाए जा रहे, बताए जा रहे सच में विद्यार्थियों को अपने जीवन की झलक हर हालत में मिलनी चाहिए। उन्हें पढ़ते समय यह महसूस हो कि जो वे पढ़ रहे हैं, वह किसी भी तरह से बोझ नहीं है। यह तो उन्हीं की अपनी जिंदगी की अबूझ, अनसुलझी एवं रहस्यमयी पहेलियों के रोचक व रुचिकर समाधान हैं। पाठ्यक्रमों की यही दृष्टि शिक्षा को विद्या का रूप देगी। इसी से जीवन का सत्य और बोध प्रकट होगा।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय में जो भी पाठ्यक्रम पढ़ाए जाएँगे, सभी में यह जीवन दृष्टि होगी। जीवन दृष्टि से ओतप्रोत पाठ्यक्रम का निर्माण दु:साध्य जरूर है, पर असाध्य नहीं। इस कठिन कार्य को इन्हीं दिनों यहाँ संभव बनाया जा

रहा है। विश्वास किया जाता है कि यहाँ प्रवेश पाने वाले सभी विद्यार्थी विश्वविद्यालय के किसी भी पाठ्यक्रम का चुनाव करके एक समान जीवन दृष्टि हासिल कर सकेंगे। इस दृष्टि के सहारे उन्हें जीवन की राहें साफ नजर आएँगी और अपनी मौलिकता के अनुरूप दिशा का चुनाव कर सकेंगे।

दृष्टि से ही दिशा मिलती है। यह सच जीवन का भी है और विश्वविद्यालय में चलाए जाने वाले पाठ्यक्रमों का भी। विद्यार्थियों की मौलिकता व योग्यता के विकास के लिए सामर्थ्य पाठ्यक्रमों की दिशा से ही मिलती है। मोटेतौर पर दो तरह के व्यक्ति संसार में जन्म लेते हैं। एक वे जिनमें विचार संवेदना है, दूसरे वे जिनमें विश्लेषणात्मक तार्किक प्रतिभा है। मनुष्य के इन मौलिक गुणों के अनुरूप ही पाठ्यक्रमों की दिशा निर्धारित की जानी चाहिए। इस कथन का सार-संक्षेप केवल इतना है कि पाठ्यक्रमों की दिशा ऐसी हो कि उसके द्वारा मनुष्य की मौलिकताओं का परिष्कार व विकास हो सके। पाठ्यक्रमों की दिशा से ही विद्यार्थियों की प्रतिभा का परिष्कार व विकास होता है। कमल को विकसित होने के लिए अलग तरह की कीचड़ वाली पानी से भरी जमीन चाहिए। लेकिन गुलाब भुरभुरी मिट्टी वाली सूखी क्यारियों में उगते हैं। विद्यार्थी की सभी मौलिक विशेषताओं का विकास पाठ्यक्रमों का लक्ष्य होना चाहिए।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय के संचालकों ने इस सत्य को ध्यान में रखा है। उन्होंने विद्या परिषद् एवं पाठ्यक्रम समितियों का गठन इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए किया है। यहाँ पाठ्यक्रम के स्वरूप व प्रकार कई होंगे, पर उन सभी से विद्यार्थी को जीवन की दिशा मिलेगी। अन्य जगहों पर इसके अभाव की वजह से ही उपाधियों के बोझ से लदे विद्यार्थी निराशा और हताशा के गहरे गड्ढ़ों में जा गिरते हैं। किंम् करोमि ? क्वं गच्छामि ? के उनके सवाल कभी हल नहीं होते। क्या करें ? किधर जाएँ ? के सवाल सारी पढ़ाई खत्म करने के बाद भी उनका पीछा नहीं छोड़ते। इस विश्वविद्यालय में पढ़ाए जाने वाले सभी पाठ्यक्रम न तो स्वयं दिशाविहीन होंगे और न ही विद्यार्थियों को दिशाविहीन करेंगे।

विषय कोई भी हो, पर विद्यार्थियों की मौलिक सामर्थ्य के परिष्कार एवं विकास के उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही सभी पाठ्यक्रमों की दिशा तय होगी। पाठ्यक्रमों की दृष्टि एवं दिशा दोनों के ही द्वारा विद्यार्थी देव संस्कृति के जीवन मूल्यों की अमूल्य निधि प्राप्त करेंगे। प्रतिभावान्, क्षमतावान्, सामर्थ्यवान्, प्रचंड आत्मबल से संपन्न विद्यार्थियों का निर्माण हो, यही इस विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों का उद्देश्य है। यह कार्य देव संस्कृति विश्वविद्यालय द्वारा गठित की गई विद्या परिषद् एवं पाठ्यक्रम समितियाँ करेंगी।

❖

* * *

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद अपने समय के सुविख्यात आचार्य थे। 'कण' बीनकर गुजर करने के कारण उनका नाम 'कणाद' पड़ गया था। किसान जब खेत काट लेते, तो उसके बाद जो अन्न कण पड़े रह जाते थे, उन्हें ही बीनकर वे अपना जीवन चलाते। देश के राजा को उनके इस तरह के कष्टसाध्य जीवन का पता चला। उसने प्रचुर धन-सामग्री लेकर अपने मंत्री को उन्हें भेंट देने के लिए भेजा। मंत्री पहुँचा तो महर्षि ने कहा—मैं सकुशल हूँ। इस धन को तुम उन्हें बाँट दो, जिन्हें इसकी जरुरत है। ऐसा तीन बार हुआ। अंततः राजा स्वयं उनसे मिलने के लिए गए। अपने साथ बहुत सारा धन और जीवनोपयोगी अनेकों सुविधा-साधन भी ले गए। महर्षि से इस सबको स्वीकार करने की प्रार्थना की। महर्षि ने उनसे कहा—राजन् ! मैं एक आचार्य हूँ। विद्या अर्जन और विद्या वितरण मेरा कर्त्तव्य है। इसके लिए मुझे साधनों की बहुलता नहीं साधना की सघनता चाहिए। अपनी साधना को सघन बनाने के लिए मैं सदा प्रयत्नशील रहता हूँ। आप अपने इन साधनों को उन्हें दे दें- जिनके लिए ये आवश्यक हों। राजा को यह बात समझ में आ गई कि आचार्य की श्रेष्ठता साधनों में नहीं साधना में निहित है।

* * *

विद्या विस्तार की धुरी—पाठ्यक्रम निर्मात्री परिषद्

विद्या परिषद् एवं पाठ्यक्रम समितियाँ देव संस्कृति विश्वविद्यालय की विद्या विस्तार योजनाओं का आधार हैं। पाठ्यक्रमों के निर्माण का दायित्व इन्हीं पर है। इन्हीं के संचालकों द्वारा दी गई दृष्टि एवं दिशा के अनुरूप पाठ्यक्रमों का स्वरूप तय करना है। यह जिम्मेदारी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम उन साँचों की तरह हैं, जिनके अनुरूप विद्यार्थियों की मानसिकता ढलती है। ये साँचे ही उनकी योग्यता को सँवारते हैं। इन्हीं के द्वारा उनके जीवन में निखार और सुधार आता है। छात्रों के व्यक्तित्व में बीजरूप में समाई अनेकों संभावनाओं को साकार कर पाना पाठ्यक्रमों को ठीक ढंग से पढ़ाकर ही संभव है। इसलिए विद्या परिषद् एवं पाठ्यक्रम समितियों का स्थान विश्वविद्यालय में महत्त्वपूर्ण है।

पुरातन युग में भी विद्या परिषद् का गठन किया जाता था। शास्त्रों एवं इतिहास के पन्नों में कई स्थान पर विद्या परिषद् या इस जैसी किसी अन्य समिति का उल्लेख मिलता है। कुछ जगहों पर इसे विद्वत्सभा या विद्वत्परिषद् भी कहा गया है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में वर्णित ऋषि विमर्षिणी सभा या तत्त्व विचार परिषद् इसी विद्या परिषद् के ही पर्याय हैं। अनेक नामों वाली इस समिति का प्रधान गुण एक ही था—पाठ्यक्रमों का स्वरूप तय करना। महर्षि विश्वामित्र, महर्षि कण्व एवं महर्षि भरद्वाज जैसे प्रख्यात ऋषियों द्वारा स्थापित किए गए विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले पाठ्यक्रमों पर विचार एवं निर्णय का अधिकार ऋषि विमर्षिणी सभा को ही था। यही सभा तय करती थी कि किस विषय में क्या और कितना पढ़ाया जाए? इस सभा की अध्यक्षता इन विश्वविद्यालय के कुलपति महर्षि स्वयं करते थे।

ऋषि विमर्षिणी सभा या विद्या परिषद् की अध्यक्षता करने वाले कुलपति के बारे में बताते हुए शास्त्र वचन है-

छात्राणां दशसाहस्त्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः॥

''जो दस हजार छात्रों का भोजन आदि द्वारा पोषण करके उनके अध्यापन की व्यवस्था करता है, उस विप्रर्षि को कुलपति कहते हैं।''

इस शास्त्रकथन से उन दिनों एक विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या का पता चलता है। साथ ही यह भी पता चलता है कि पाठ्यक्रम निर्मात्री परिषद् को कितने छात्रों के जीवन को सँवारने की योजना तैयार करनी पड़ती थी।

ऐतिहासिक युग में भी तक्षशिला एवं नालंदा विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम निर्माण करने वाली परिषद् का उल्लेख मिलता है। प्राप्त विवरण के अनुसार आचार्य धर्मज्ञ इस सभा के अध्यक्ष थे। उनके अतिरिक्त आचार्य धृतिसेन, आचार्य शुभदर्शन आदि आचार्यों का इस सभा के सदस्य होने का जिक्र आता है। नालंदा विश्वविद्यालय में आचार्य शीलभद्र इस विश्वविद्यालय के कुलपति होने के साथ पाठ्यक्रम निर्मात्री परिषद् के अध्यक्ष भी थे। इस परिषद् के सदस्यों में धर्मपाल, चंद्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचंद्र और जिनभिक्षु आदि आचार्य मुख्य थे। उस समय के चीनी छात्र इत्सिंग के अनुसार यह परिषद् गहन विचार-विमर्श करके पाठ्यक्रमों को तय करती थी। इत्सिंग का कथन है कि इस प्रधान परिषद् के अंतर्गत समितियाँ भी थीं, जो विषय-प्रवेश के पाठ्यक्रम पर विचार करती थीं।

देव संस्कृति की यही प्रक्रिया और परंपरा देव संस्कृति विश्वविद्यालय में भी अपनाई जा रही है। यहाँ पढ़ाए जाने वाले सभी विषयों के चुने हुए विशेषज्ञ विद्वानों एवं जागरूक विचारशीलों का सम्मिलन विद्या परिषद् में होगा। विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों का निर्धारण एवं निर्णय करने वाली यह सर्वोच्च परिषद् होगी। इसके अधीन अलग-अलग विषयों के लिए पाठ्यक्रम समितियाँ कार्य करेंगी। इनमें से प्रत्येक समिति में विषय से संबंधित दो विशेषज्ञ विद्वानों सहित विभाग के विभागाध्यक्ष एवं उस विभाग के वरिष्ठ आचार्य होंगे। विशेष आमंत्रित सदस्य भी इस पाठ्यक्रम समिति के भागीदार होंगे। सभी विषयों की पाठ्यक्रम समितियाँ अपने कार्य का ब्योरा विद्या परिषद् को देंगी। विद्या परिषद् इस पर विचार करके पाठ्यक्रमों को अंतिम रूप देगी। बाद में विद्या परिषद् के अध्यक्ष के रूप में उपकुलपति इस पर अंतिम निर्णय के लिए इसे कुलाधिपति

के पास ले जाएँगे। उनकी स्वीकृति एवं सहमति के बाद ही पाठ्यक्रम विश्वविद्यालय में पढ़ाया जा सकेगा।

विद्या परिषद् एवं पाठ्यक्रम समितियों के लिए कुछ बिंदुओं पर विचार करना और उन्हें अपनाना अनिवार्य होगा। १. पाठ्यक्रम में विषय के महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों के साथ उनके व्यावहारिक स्वरूप का होना जरूरी है। २.पाठ्यक्रम की विषयवस्तु में जीवन के विभिन्न पहलुओं से जुड़ाव इतना स्पष्ट हो कि पढ़ने वाले छात्र को आसानी से इसकी अनुभूति हो सके। प्रत्येक पाठ्यक्रम में देव संस्कृति के तत्त्वों का समावेश अनिवार्य रूप से हो। ३.पाठ्यक्रम में पुरातन ज्ञान के महत्त्वपूर्ण बिंदुओं के साथ विषय विशेष के दायरे में हुई आधुनिक शोध-अनुसंधान के निष्कर्षों को अनिवार्य रूप से जोड़ा जाएगा। ४. प्रत्येक विषय में स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के अनुरूप प्रायोगिक योजनाएँ एवं शोध परियोजनाएँ जुड़ी होंगी। ५. पाठ्यक्रम में हर सत्र में आवश्यक फेर-बदल किया जाएगा, ताकि विषय से संबंधित नवीन उपयोगी तथ्य जोड़े जा सकें और पुराने अनुपयोगी तत्त्वों को हटाया जा सके। इन कतिपय महत्त्वपूर्ण बिंदुओं के अतिरिक्त विश्वविद्यालय की प्रबंध परिषद् कुलाधिपति एवं शासन परिषद् की सहमति से विद्या परिषद् एवं पाठ्यक्रम समितियों के लिए एक मार्गदर्शिका तैयार करेगी, ताकि विद्या परिषद् एवं पाठ्यक्रम समितियों के सदस्यों के समक्ष देव संस्कृति विश्वविद्यालय की नीतियाँ एवं उद्देश्य और अधिक सुस्पष्ट हो सकें।

इस संबंध में कहना इतना है कि कार्य बहुत अधिक है और समय बहुत कम है। कम समय में पाठ्यक्रमों की सुचारु व्यवस्था की जानी है। **जो विचारशील, जागरूक एवं अनुभवी विद्वान् विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के निर्माण में अपना सहयोग देना चाहें, वे इन पंक्तियों को ही अपने लिए आमंत्रण मानें।** ***''कुलाधिपति, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, शांतिकुंज, हरिद्वार''*** इस पते पर पत्र लिखकर ऐसे बड़भागी लोग अपने सहयोग की सूचना दे सकते हैं। इस सूचना में स्वयं की योग्यता एवं वर्तमान स्थिति का पूर्ण विवरण तथा पाठ्यक्रमों के निर्माण के क्षेत्र में अब तक के अनुभव का विवरण अनिवार्य है। यह पत्र मिलने पर सहयोग को स्वीकार करने की सूचना विश्वविद्यालय कार्यालय द्वारा भेजी जाएगी। पाठ्यक्रमों के निर्माण में अपना सहयोग देने वाले ऋषियों के कार्य एवं देव संस्कृति के विस्तार में भागीदार होकर पुण्य और यश दोनों ही प्राप्त करेंगे।

विद्या परिषद् सहित सभी पाठ्यक्रम समितियाँ प्रत्येक वर्ष में कम-से-कम दो बार अवश्य मिलेंगी। उपयोगिता एवं आवश्यकता के अनुसार परिषद् या किसी भी समिति की मीटिंग अधिक बार भी हो सकती है। उद्देश्य जल्दी-से-जल्दी सभी संकायों में संचालित किए जाने वाले विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रमों को अंतिम रूप देना है। पाठ्यक्रमों के उत्कृष्ट, उच्चस्तरीय होने के साथ रुचिकर, ग्रहण योग्य होना ही इनकी विशेषता होगी। इस विशेषता के द्वारा ही विद्यार्थियों में मौलिक प्रतिभा, प्रायोगिक कुशलता एवं देव संस्कृति के जीवन-मूल्यों के प्रति जाग्रति विकसित हो सकेगी। इन पाठ्यक्रमों के साँचों के द्वारा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व की ढलाई का कार्य विश्वविद्यालय के संकायों में होगा। यही वह उर्वर भूमि है, जहाँ व्यक्ति का बीज गलेगा और व्यक्तित्व के हरे-भरे पल्लवित एवं पुष्पित पौधे जन्मेंगे, जीवन पाएँगे।

*

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् पश्चिमी देशों में अपनी व्याख्यान शृंखला के सिलसिले में गए थे। एक जगह वहाँ के किसी अधिकारी ने अपने देश की वैज्ञानिक प्रगति के बारे में उनके विचार जानने चाहे।

डॉ. राधाकृष्णन् ने आदर सहित उत्तर दिया—आपके यहाँ की वैज्ञानिक प्रगति तो पर्याप्त है। पक्षियों की तरह आकाश में उड़ा जा सकता है। मछलियों की तरह पानी में तैरा भी जा सकता है, परंतु सांस्कृतिक प्रगति के अभाव में अभी तक मनुष्य की तरह धरती पर सही ढंग से रहना सीखा नहीं जा सका है।

देव संस्कृति के ज्योति स्तंभ बनेंगे ये संकाय

विश्वविद्यालय के संकाय देव संस्कृति के ज्योति स्तंभ हैं। यहीं से ज्ञान-विज्ञान की प्रकाश धाराएँ बहेंगी। सांस्कृतिक चेतना यहीं से अपना विस्तार पाएगी। यहीं से जन्मी ऊर्जा से अनेकों ऊर्जावान् बनेंगे। विद्या-विस्तार की योजनाएँ यहीं अपना व्यवस्थित रूप और आकार पाएँगी। देव संस्कृति के उद्देश्य यहीं पर अपनी विशिष्ट पहचान गढ़ेंगे। विश्वविद्यालय की विद्या व्यवस्था संकायों में विभाजित होकर ही ऋषि संस्कृति के हर पहलू को एक नया मौलिक स्वरूप देगी। अध्ययन-अध्यापन की विधि-व्यवस्था की संपूर्ण संरचना इन्हीं संकायों के साँचों से ही गढ़ी-ढाली जाएगी।

विश्वविद्यालय की विद्या व्यवस्था का संकायों या फैकल्टीज़ में विभाजन नया नहीं है। यह हमारी ऋषि संस्कृति की देन है, पुरातन ऋषियों द्वारा स्थापित की गई विद्या व्यवस्था की परंपरा है। इतिहासवेत्ता डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'एंशियंट इंडियन एजुकेशन' में ऐसे कई प्रमाणों का खुलासा किया है। महाभारत आदि पौराणिक ग्रंथ भी इसका संकेत करते हैं। इन सभी वर्णनों-विवरणों के अनुसार ऋषियों द्वारा स्थापित विश्वविद्यालयों में कुलाधिपति विद्या व्यवस्था को संकायों में विभाजित एवं सुव्यवस्थित करते थे। एक विश्वविद्यालय में प्रायः चार से आठ संकायों का विधान था। इन संकायों का कार्य-भार संकायाध्यक्ष सँभालते थे।

प्राचीन ग्रंथों में संकायों को स्थान की संज्ञा दी गई है। एक स्थान में ज्ञान की उस विशेष धारा से संबंधित कई विषय पढ़ाए जाते थे। इनमें से प्रत्येक विषय को पढ़ाने के लिए कई आचार्य होते थे। प्रत्येक विषय के विभाग की जिम्मेदारी विभागाध्यक्ष सँभालते थे और अपने विभागीय कार्यों का ब्योरा संकायाध्यक्ष या स्थानाध्यक्ष को देते थे। इस प्राचीन ऋषि व्यवस्था का उद्देश्य यही था कि विश्वविद्यालय की विद्या-व्यवस्था सुचारु ढंग से चलती रहे। साथ ही ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक पहलू, प्रत्येक आयाम का स्वतंत्र विकास होता रहे। ज्ञान के प्रत्येक पादप में नई कलियाँ और कोपलें फूटती रहें, संकायाध्यक्ष अपनी संकाय भूमि में उनके लिए आवश्यक खाद-पानी जुटाते रहते थे।

प्राचीन ऋषियों ने जिन आठ संकायों या स्थानों का विधान बनाया था वे -१. अग्नि स्थान, २. ब्रह्म स्थान, ३. विष्णु स्थान, ४. महेंद्र स्थान, ५. विवस्वत स्थान, ६. सोम स्थान, ७. गरुड़ स्थान एवं ८. कार्तिकेय स्थान थे। इनमें से अग्नि स्थान में यज्ञ विज्ञान से संबंधित अनेक विषयों का अध्ययन-अध्यापन एवं शोध कार्य संपन्न किया जाता था। ब्रह्म स्थान वैदिक विषयों एवं ब्रह्मविद्या के अध्ययन एवं शोध का संकाय था। विष्णु स्थान में सभी प्रबंधन संबंधी व्यावहारिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। महेंद्र स्थान में अस्त्र-शस्त्र संबंधी विषय पढ़ाए जाते थे। विवस्वत स्थान गणित एवं फलित ज्योतिष एवं तत्संबंधी विषयों के अध्ययन का संकाय था। सोम स्थान वनस्पति शास्त्र एवं आयुर्वेद से संबंधित विषयों का संकाय था। गरुड़ स्थान में सभी तरह के वाहनों, परिवहनों एवं सड़क-पुल आदि निर्माण के सभी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। कार्तिकेय स्थान में सैनिक संगठन से संबंधित सभी विषयों के अध्ययन की व्यवस्था की गई थी।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय में विद्या व्यवस्था का यही सांस्कृतिक स्वरूप अभिनव ढंग से स्थापित किया गया है। यहाँ की विद्या-व्यवस्था की संपूर्ण संरचना वर्तमान में चार संकायों में विभाजित की गई है। साधना, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं स्वावलंबन नामक इन चार संकायों को देव संस्कृति की चतुर्मुखी प्रगति का पर्याय माना जा सकता है।

> स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्धवै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् तस्माते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वांत्सत्यं वदति।
>
> **सत्य ही बोलो। देवता निश्चय ही सत्य का आचरण करते हैं। इसी से वे यश पाते हैं। जो विद्वान् सत्य बोलता है, वह भी यश पाता है।**
>
> ***—शतपथ ब्राह्मण १/१/१/४-५***

ये देव संस्कृति के भावी विस्तार की चार दिशाएँ हैं। ये ऋषियों के चार सांस्कृतिक पुरुषार्थ हैं। इन्हें संस्कृति साधना के चार अनुबंध कहा जा सकता है। कथन का सार-संक्षेप इतना है कि देव संस्कृति विश्वविद्यालय के चारों संकाय सांस्कृतिक चेतना के क्रियाशील कीर्तिस्तंभ के रूप में स्थापित किए गए हैं। इनकी क्रियाशीलता में ही देव संस्कृति का भावी विस्तार निहित है। इन्हीं के द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों की प्रयोग-प्रक्रियाएँ पनपेंगी, जीवन मूल्यों का विस्तार होगा।

प्रत्येक संकाय के सभी क्रिया-कलापों का दायित्व संकायाध्यक्ष या डीन पर होगा। उसकी नियुक्ति कुलाधिपति से सहमति लेकर उपकुलपति स्वयं करेंगे। संकायाध्यक्ष या डीन का कार्यक्षेत्र विस्तृत है। उनके आधीन शैक्षिक एवं प्रशासनिक कई गतिविधियाँ होंगी। प्रत्येक डीन के अधिकार क्षेत्र में उनके संकाय से संबंधित सभी विभाग होंगे। इन विभागों के सभी विभागाध्यक्ष अपने विभागीय कार्यों का ब्योरा उन्हें देंगे। विभाग के अध्यापन एवं शोध संबंधी कार्यों के लिए विभागाध्यक्ष को आवश्यक निर्देश देना डीन का ही दायित्व है। डीन को अपने संकाय के सभी विभागों का कार्य-ब्योरा विश्वविद्यालय के कुलपति को समय-समय पर देना होगा। संकायाध्यक्ष या डीन का दायित्व होगा कि उनके संकाय की समस्त गतिविधियाँ उन सभी उद्देश्यों के लिए संकल्पित, समर्पित एवं प्रतिबद्ध रहें, जिनके लिए संकाय की स्थापना की गई है।

विश्वविद्यालय के चारों संकाय किसी बँधी-बँधाई लीक या घिसी-पिटी लकीर पर चलते रहने के लिए नहीं बनाए गए हैं। इनकी उर्वरता में कुछ न कुछ नया-विशेष जन्मता, पनपता एवं विकसित होता रहेगा। संकाय की उर्वर भूमि में नए विषय, नए विभाग एवं इनके नए आयाम अपना अस्तित्व पाते रहेंगे। संकाय के उद्देश्यों के व्यापक दायरे में नए विषयों एवं उनके पाठ्यक्रमों की संरचना करना उस संकाय के आचार्यों की जिम्मेदारी है। संकायाध्यक्ष या डीन इस कार्य में उनकी सम्यक् सहायता करते रहेंगे।

प्राचीन समय में चौसठ कलाएँ एवं चौदह विद्याएँ इसी तरह विकसित हुई थीं। बाद में ये विद्याएँ चौदह से विकसित होकर चौबीस हो गईं। ऐतिहासिक युग के नालंदा विश्वविद्यालय में जिस समय जीवक ने चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन किया था, उस समय वहाँ चिकित्सा या स्वास्थ्य संकाय में छोटे-बड़े १४० विभाग एवं उपविभाग थे। नालंदा के स्वास्थ्य संकाय में स्वास्थ्य से संबंधित अनेक पाठ्यक्रमों का संचालन होता था। आचार्य गुणमति इस संकाय के संकायाध्यक्ष या आधुनिक भाषा में डीन थे। उनकी कुशल प्रशासनिक क्षमता एवं विद्यानुराग के कारण नालंदा विश्वविद्यालय के स्वास्थ्य संकाय ने विश्वव्यापी कीर्ति अर्जित की थी।

यही स्थिति वहाँ के साधना संकाय की थी। वहाँ के कुलपति आचार्य शीलभद्र, साधना संकाय के संकायाध्यक्ष भी थे। वे स्वयं योगशास्त्र के प्रकांड पंडित थे। ऐतिहासिक विवरण के अनुसार चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने उन्हीं से योग साधना की शिक्षा पाई थी। इस संकाय में शताधिक विषयों एवं विभागों की गतिविधियाँ संचालित होती थीं। देव संस्कृति विश्वविद्यालय में साधना, स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वावलंबन, संकायों की स्थापना सांस्कृतिक चेतना एवं विद्या के बहुआयामी विस्तार के लिए की गई है। अपने उद्देश्यों के अनुरूप सतत सृजन, संवर्द्धन, शिक्षण एवं शोध में ही प्रत्येक संकाय की गुणवत्ता एवं अर्थवत्ता समाई है। इनमें से प्रथम स्थान साधना संकाय का है। यही विद्या विस्तार की आधारभूमि है। साधना की नींव पर ही विद्या विस्तार का भव्य भवन खड़ा होना है।

* * *

जिस तरह प्रभात की किरणों से अपने लाभ के लिए पुष्प अपनी पंखुड़ियाँ खोलता है, उसी तरह से सत्य के ओजस्वी प्रकाश को प्रवेश कराने के लिए अपनी आत्मा को विकसित होने दीजिए। श्रेष्ठ अभिलाषाओं के पंखों से ऊपर उड़िए, निर्भीक होइए और महत्तर उपलब्धि की संभावना में विश्वास कीजिए। विश्वास रखिए कि बेदाग और पवित्र जीवन संभव है और पूर्ण शुद्धता के साथ जिंदगी व्यतीत करना असंभव नहीं।

ऋषिकल्प जीवन के अभिलाषियों के लिए है

साधना संकाय

साधना संकाय के पाठ्यक्रमों में देव संस्कृति के प्रणेता ऋषियों के जीवन का प्रकाश है। इनमें उन प्रयोगों, प्रक्रियाओं, सिद्धांतों एवं व्यावहारिक सूत्रों का समन्वय-सामंजस्य है, जो उनकी उपलब्धियों का आधार बनें। साधना की विधियाँ प्राचीन भारत के महर्षियों का सर्वोत्कृष्ट अनुसंधान है। उन्होंने साधना विज्ञान के द्वारा ही मनुष्य की प्रकृति का परिष्कार एवं विकृति का निवारण-निराकरण करके संस्कृति को जन्म दिया। संस्कृति के सूत्रों को, साधना के सत्य को जानकर ही समझा और सीखा जा सकता है। मनुष्य में देवत्व के अवतरण की प्रयोगात्मक विधि यही है। मनुष्य मात्र के लिए इसकी वैज्ञानिक उपयोगिता सिद्ध करने के लिए ही देव संस्कृति विश्वविद्यालय में साधना संकाय की स्थापना की गई है।

देश की धरती में ध्रुव, नचिकेता आज भी जन्म लेते हैं, जिनमें साधना की लगन एवं प्यास होती है, जो अध्यात्म विद्या को पढ़ना और सीखना चाहते हैं। आध्यात्मिक प्रयोगों में लीन होने के लिए जिनके मन में विकलता जगती है। आज भी भारत जननी की कोख में तप, त्याग और साधना के अंकुर पलते हैं, पर जीवन पाने के पहले ही इनका मरण हो जाता है। समुचित मार्गदर्शन के अभाव में साधना और साधक दोनों ही मुरझा जाते हैं। मानव जीवन की उच्चतर अभीप्साएँ या तो असमय ही कुम्हला जाती हैं या फिर भौतिकता की भूल-भुलैया में भटक जाती हैं। मनुष्य में देवत्व के अंकुर तो फूटते हैं, पर उसके विकास के लिए सही खाद-पानी नहीं मिल पाता। दिव्य जीवन जीने की प्यास तो जगती है, पर उसे प्यासे ही दम तोड़ने के लिए विवश होना पड़ता है।

साधना संकाय के पाठ्यक्रम विवशता के इसी चक्रव्यूह को ध्वस्त करने के लिए हैं। देव संस्कृति विश्वविद्यालय में साधना संकाय की स्थापना इस संकल्प का उद्घोष है कि अब अध्यात्म विद्या के जिज्ञासुओं को प्रभावकारी मार्गदर्शन का अभाव न रहेगा। कठोर साधना के अभिलाषियों के लिए आध्यात्मिक साधनाएँ फिर से पल्लवित की जाएँगी। तप के गुह्य व गहन प्रयोगों में तत्पर होने वालों की अभीप्सा को अब निराश नहीं होना पड़ेगा। साधना संकाय के पाठ्यक्रमों का निर्माण एवं संचालन ऐसे ही संकल्पित अध्यात्म-अभिलाषियों के लिए है। इसका उद्देश्य देश व धरती के वातावरण को तप की ऊर्जा से ऊर्जावान् बनाना है। हिमालय की गहन कंदराओं में जो वैभव खोया हुआ है, उसे फिर से प्रकट व प्रकाशित करना है। हिमालय के ऋषियों के संदेश से धरा को ध्वनित करना है। विश्व भर के विविध धर्मों के मूल तत्त्वों व सत्यों को उजागर करना है।

साधना संकाय के पाठ्यक्रमों की संरचना व संकल्पना के उद्देश्यों को कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदुओं में परिभाषित किया जा सकता है- १. भारत देश के ऋषियों, संतों एवं महापुरुषों द्वारा प्रवर्तित एवं अनुभूत साधना-सिद्धांतों का ज्ञान, २. विश्व-वसुधा के विभिन्न धर्मों व उनके संस्थापकों, विश्व भर के अध्यात्मवेत्ताओं के द्वारा बताए गए धार्मिक तत्त्वों व साधना-विधियों का समुचित ज्ञान, ३. प्रायः समस्त साधना विधियों का आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन-अनुसंधान, ४.कतिपय साधनात्मक प्रयोगों का व्यावहारिक शिक्षण। ये चार बिंदु मूलतः सैद्धांतिक हैं। इनसे पाठ्यक्रमों की थ्योरी भर पता चल पाती है, जिसके कुछ अंश अन्य विश्वविद्यालयों में भी देखने को मिल जाते हैं।

जो सत्य केवल यहाँ और यहीं देखने को मिलेगा, उसकी अभिव्यक्ति करने वाले बिंदु निम्न हैं- १. साधना संकाय के विद्यार्थियों के संकल्प-बल का असाधारण विकास, २. जीवन की अवांछनीय आदतों, कुसंस्कारों, कुप्रवृत्तियों की जटिलताओं से छुटकारा, ३. मानव चेतना में समाई संभावनाओं का ज्ञान, ४. अतींद्रिय सत्य एवं शक्ति का व्यावहारिक प्रशिक्षण। ये चारों बिंदु महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हीं से साधना के अर्थ एवं महत्त्व को समझने की शुरुआत होती है। इसी से वह नींव मजबूत होती है, जिसके ऊपर अध्यात्म विद्या का भव्य मंदिर गढ़ा जा सकता है, ऋषिप्रणीत उद्देश्य साकार किए जा सकते हैं।

इन सभी उद्देश्यों को चरितार्थ करने वाले पाठ्यक्रमों के स्वरूप व स्तर, विद्यार्थियों की आयु व योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे। इन्हें सर्टिफिकेट, डिप्लोमा, डिग्री एवं पोस्ट ग्रेजुएट स्तर का अलग-अलग बनाया जाएगा। इन पाठ्यक्रमों के स्तर के अनुरूप ही इनमें विभिन्न धर्मों

का तुलनात्मक अध्ययन, उनमें पारस्परिक समन्वय व एकता स्थापित करने वाले सूत्रों का अन्वेषण, सर्वधर्म समभाव की समरसता स्थापित करने वाले बिंदुओं का शिक्षण किया जाएगा। साथ ही अध्यात्म विज्ञान के दार्शनिक सत्यों-हठयोग, लययोग, राजयोग, स्वरयोग, प्राणयोग, मंत्र विज्ञान, गायत्री महाविद्या के विभिन्न पहलुओं एवं वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के अध्ययन एवं शिक्षण की व्यवस्था की जाएगी। इन पाठ्यक्रमों के द्वारा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को नए सिरे से गढ़ने-ढालने की प्रक्रिया पूरी की जा सकेगी।

साधना संकाय के किसी भी पाठ्यक्रम की सीमा कतिपय सिद्धांतों को रटने और रटाने से कहीं बहुत अधिक है। साधना संकाय में पढ़ने वाले और पढ़ाने वाले दोनों का ही साधक होना अनिवार्य है। इस संकाय में उन्हीं का स्थान सुनिश्चित होगा, जो अध्यात्म विद्या के अनुरागी हैं। जो मानव धर्म व विश्व धर्म की स्थापना करने, सब धर्मों के अनिवार्य तत्त्वों में समाई एकता को समझने के लिए समर्पित हैं, जिनमें तपस्वी जीवन जीने का संकल्प है, जो साधना के कठोर प्रयोगों को अपनाने में सक्षम हैं, ऐसे संकल्पवान, तप-परायण जीवन जीने के अभ्यासी व्यक्तियों के लिए ही आध्यात्मिक अनुशासनों की विधि-व्यवस्था में स्वयं को खपा पाना संभव है। इस सत्य से परिचित जन ही साधना संकाय के सदस्य हो सकेंगे।

इस संकाय के पाठ्यक्रमों के लिए और भी कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदु अनिवार्य हैं- १. धार्मिक सद्भाव व समभाव की साधना के लिए उपयुक्त वातावरण, २. साधना विज्ञान के वैज्ञानिक प्रयोगों की समुचित विधि-व्यवस्था, ३. अध्यात्म साधना के अनुरागी आचार्य एवं ४. संकल्पवान् एवं आध्यात्मिक अनुशासनों के लिए समर्पित विद्यार्थी। उपर्युक्त चार में से तीन अनिवार्यताओं को जुटाने की विधि-व्यवस्था विश्वविद्यालय के संचालकों ने पूरी कर ली है। चौथे क्रम के अनुरूप सत्पात्र विद्यार्थियों की बड़ी आतुर प्रतीक्षा है।

इन पंक्तियों के पाठकों को यह बात गहराई से जान लेनी चाहिए कि इस संकाय में विद्यार्थी प्रवेश तो सामान्य एवं साधारण जन की ही तरह करेंगे, पर उनकी परिणति सामान्य और साधारण नहीं होगी। यहाँ के पाठ्यक्रमों के साँचे उन्हें कुछ विशेष ही रूप और गुण प्रदान कर देंगे। उनकी आकृति तो वही रहेगी, किंतु प्रकृति पूरी तरह बदल जाएगी। सामान्य मनुष्य के भीतर असामान्य शक्तियाँ किस तरह से अंकुरित एवं पल्लवित होती हैं, इसके विज्ञान को वे जानेंगे, अनुभव करेंगे। यहाँ पर इन पाठ्यक्रमों का अध्ययन उन्हें ऋषित्व के वरदान देगा। जो विद्यार्थी ऋषिकल्प जीवन के अभिलाषी हों, उन्हें देव संस्कृति विश्वविद्यालय के साधना संकाय से संपर्क करना चाहिए।

ऋषियों का देश भारत ऋषित्व से विहीन क्यों है? इसी कसक, दरद एवं पीड़ा से विकल होकर साधना संकाय की स्थापना की गई है। यह पीड़ा ही इसमें पढ़ाए जाने वाले पाठ्यक्रमों के निर्माण की प्रेरणा बनी है। देश की धरती में, विश्व-वसुधा में फिर से ब्रह्मर्षि विश्वामित्र, महातेजस्वी महर्षि अगस्त्य के नवीन संस्करण अपनी तप- शक्ति से, साधना-सामर्थ्य से मानव हृदयों को आलोकित करें, यही इन पाठ्यक्रमों को पढ़ाने का मकसद है। इन पाठ्यक्रमों को पढ़ने वाले, श्री रामकृष्ण परमहंस द्वारा बताए गए 'जता मत-ततो पथ' का अर्थ समझ सकेंगे। वे जान सकेंगे कि सब धर्मों का सार एक है। सभी धर्म साधनाओं एवं आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का गंतव्य एक है। युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव की अपरिमित तप ऊर्जा, उनके द्वारा अर्जित की गई विद्याएँ साधना संकाय के पाठ्यक्रमों के माध्यम से ही अभिव्यक्त होंगी। इनसे उपजी प्राण ऊर्जा से स्वास्थ्य संकाय के पाठ्यक्रम जन्म लेंगे और रुग्ण होते जा रहे मानव समाज को समग्र स्वास्थ्य का स्वरूप समझाएँगे।

❑

आँखें खुली हों, तो पूरा जीवन ही विश्वविद्यालय है। जो सच्चा विद्यार्थी है, जिसमें सीखने की लगन है, वह प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक घटना से सीख लेता है। स्मरण रहे, जो इस भाँति नहीं सीखता, वह जीवन में कुछ भी नहीं सीख पाता। महान् कवि इमर्सन कहा करते थे, ''हर शख्श, जिससे मैं मिलता हूँ, किसी-न-किसी बात में मुझसे बढ़कर है। वही मैं उससे सीखता हूँ।''

समग्र एवं संपूर्ण स्वास्थ्य पर विज्ञानसम्मत अध्ययन-अध्यापन

स्वास्थ्य संकाय के पाठ्यक्रमों का आधार ऋषियों की मौलिक दृष्टि है। इन सभी पाठ्यक्रमों में भारत देश के तपस्वियों, ज्ञानियों, चिकित्साशास्त्र के आचार्यों के समग्र स्वास्थ्य चिंतन का आधुनिक विज्ञान के प्रयोगों एवं तकनीकों के साथ समुचित सामंजस्य है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने वर्तमान दौर में काफी उन्नति-प्रगति की है। नए अनुसंधान एवं नए-नए प्रयोगों के अनेकों मानदंड स्थापित किए हैं। इससे उपलब्धियाँ भी मिली हैं, फिर भी काफी कुछ बाकी रह गया है। ऐसा बहुत कुछ है, जो छूट गया है, जिसे छुआ नहीं जा सका है। इसका अभाव हमेशा खटकता है। ऋषि दृष्टि एवं समग्र चिंतन ऐसे ही अनछुए किंतु महत्त्वपूर्ण बिंदु हैं, जिनकी खोज के बिना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के सारे अनुसंधान अधूरे हैं।

चिकित्साशास्त्र मानव प्रकृति का ज्ञान, उसमें आई विकृतियों की पहचान एवं उन विकृतियों के निदान पर आधारित है। इनमें से किसी भी पक्ष या पहलू की जानकारी अधूरी रह जाने पर सब कुछ अधूरा एवं अपूर्ण हो जाता है। आज की स्थिति यही है। चिकित्सा शास्त्र से मानव की प्रकृति को समझने में भूल हुई है। ऋषियों ने मानव प्रकृति के तीन स्तर गिनाए हैं, आधि भौतिक, आधि दैविक एवं आध्यात्मिक। इन तीनों के अनुरूप उन्होंने इनकी विकृतियों के निवारण व निदान के अलग-अलग उपाय बताए-समझाए हैं। ऋषिकथन के अनुरूप मानव प्रकृति के ये तीनों स्तर अलग-अलग होते हुए भी परस्पर घुले-मिले हैं। इसलिए इनमें से किसी एक की भी चिकित्सा करने के लिए बाकी दो के स्वरूप व संरचना का ज्ञान जरूरी है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि इस प्रसंग में अधूरी है। उसे केवल मनुष्य की भौतिक प्रकृति का ही ज्ञान है। चिकित्साशास्त्री इंसान को हाड़-मांस क़ा चलता-फिरता पुतला मानकर उसका इलाज करने में जुटे हैं। इंसानी संवेदनाएँ, भावनाएँ, कल्पनाएँ उनकी समझ से अछूती हैं। मनुष्य की प्राणचेतना एवं उसकी आत्मचेतना के अस्तित्व तक से उनको इन्कार है। इस अधूरी सोच की ही परिणति व परिणाम है कि विकृतियों के निदान व उपचार ही विकृतियों के जन्मदाता व जीवनदाता सिद्ध हो रहे हैं। रोग भगाने के उपाय, रोग बुलाने के उपाय साबित हो रहे हैं। इसका कारण शायद रोगों को समझने में हुई भारी भूल है।

आज के चिकित्सा वैज्ञानिक रोगों का कारण विषाणुओं, जीवाणुओं के संक्रमण में खोजते हैं। चोट-चपेट, दुर्घटना आदि के अलावा सारे रोगों का कारण विषाणु-जीवाणु ही माने जाते हैं, पर इन विषाणुओं या जीवाणुओं का संक्रमण किसी एक को ही क्यों, उसी के पड़ोस या घर में रहने वाले दूसरे को क्यों नहीं? इस सवाल के जवाब में अटकलबाजियाँ तो बहुतेरी हैं, पर कोई सटीक जवाब नहीं है। प्राणबल एवं प्राणचेतना की समझ के बिना सटीक जवाब दिए भी नहीं जा सकते। इसी तरह भावना एवं कल्पना क्षेत्र में पनपी ग्रंथियों से उपजे रोगों के बारे में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान को सही समझ नहीं है, जबकि इस समझ को पैदा किए बगैर संपूर्ण स्वास्थ्य की उपलब्धि असंभव है।

पुरातन ऋषियों की मौलिक दृष्टि इसी समझ और इससे उपजे संपूर्ण स्वास्थ्य का परिचय-पर्याय थी और है। उन्होंने मनुष्य की प्रकृति को समग्र एवं सही ढंग से समझकर ही चिकित्सा के विधान रचे थे। प्राचीन ग्रंथों को पढ़ने पर यह सचाई आज भी देखी, जानी एवं अनुभव की जा सकती है। इन प्राचीन ग्रंथों के पन्नों में मनुष्य की आधिभौतिक प्रकृति के लिए औषधीय चिकित्सा, आधि दैविक प्रकृति के लिए मंत्र चिकित्सा और प्राण चिकित्सा एवं आध्यात्मिक प्रकृति के लिए योग चिकित्सा के विज्ञान व विधान का स्पष्ट उल्लेख है। तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला आदि ऐतिहासिक युग के विश्वविद्यालयों में इनके पढ़ाए व सिखाए जाने के भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलते हैं।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय में स्थापित किए गए स्वास्थ्य संकाय का उद्देश्य मनुष्य का संपूर्ण एवं समग्र स्वास्थ्य है। इनके अंतर्गत रोगों की पहचान एवं निदान के साथ रोगरोधी उपायों का भी समावेश है। रोग होने पर उनका निदान करना ठीक है, पर इससे भी कहीं अधिक श्रेष्ठ है रोगों को पनपने न देना, उन्हें होने से रोकना। 'प्रिवेंशन इज़ बेटर देन क्योर' के सूत्र को इस संकाय में पूरी तरह से अपनाए जाने का ध्यान रखा गया है। स्वास्थ्य संकाय के सर्टिफिकेट, डिप्लोमा, डिग्री एवं पोस्ट ग्रेजुएट

आदि विभिन्न स्तरों के विविध पाठ्यक्रमों के पीछे सोच एवं चिंतन यही है।

इन पाठ्यक्रमों में जिन बिंदुओं का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है, वे निम्न हैं- १. मनुष्य प्रकृति के सभी स्तरों के बारे में संपूर्ण समझ एवं ज्ञान विकसित करना। २.मानव प्रकृति के किसी भी स्तर में आई विकृति के स्वरूप की पहचान के साथ उसके यथार्थ कारण की खोज। ३. विकृति विज्ञान को विकसित करने में इस तथ्य का ध्यान रखना कि यथार्थ कारण हमेशा ही प्रकृति की गहरी परतों में होते हैं। उदाहरण के लिए, नवीनतम शोध-अनुसंधानों के अनुरूप प्राय: अस्सी प्रतिशत दैहिक रोगों का कारण मानव मन की ग्रंथियाँ होती हैं। ४. निदान एवं उपचार के उपायों का प्रकृति के उस स्तर के अनुरूप बनाया जाना, जहाँ पर विकृति का यथार्थ कारण है।

इस दृष्टि से स्वास्थ्य संकाय में आयुर्वेद की औषधीय चिकित्सा व अनुसंधान के पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त प्राकृतिक चिकित्सा, प्राण चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा, चुंबक चिकित्सा, रंग चिकित्सा, भौतिक चिकित्सा (फिजियोथेरेपी), मानसिक चिकित्सा, मंत्र चिकित्सा, रेकी आदि एवं योग चिकित्सा आदि के विज्ञानसम्मत पाठ्यक्रम चलाए जाएँगे। पाठ्यक्रम के विशेष विषय की विषयवस्तु के अनुरूप इनके सर्टिफिकेट, डिप्लोमा, डिग्री, पोस्ट ग्रेजुएट आदि स्तर तय किए जाएँगे। इन विभिन्न विषयों के अतिरिक्त समग्र स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता पैदा करने वाले, रोगरोधी उपायों का व्यावहारिक ज्ञान देने वाले पाठ्यक्रमों का भी इसमें समुचित समावेश किया जाएगा। इसके अतिरिक्त औषधालयों में 'होलिस्टीक मैनेजमेंट' कैसे किया जाए, इसका प्रशिक्षण भी दिया जाएगा।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय का स्वास्थ्य संकाय चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन तक सीमित न रहकर स्वास्थ्य के प्रति जन-जन को जागरूक बनाने वाले अभियान का केंद्र बनेगा। यहाँ से संपूर्ण स्वास्थ्य के जन आंदोलन को प्रेरणा व प्राण मिलेंगे। यहाँ विशेषज्ञ चिकित्सकों के अलावा मानव स्वास्थ्य के संरक्षकों की नई पीढ़ी तैयार की जाएगी। ये स्वास्थ्य संरक्षक जन-जन को जीवन देने में अग्रणी भूमिका निभाएँगे। इस संकाय के पाठ्यक्रमों की दृष्टि एवं इनका दायरा व्यापक है। इस ओर जिन विद्यानुरागियों की रुचि है, वे इस संबंध में पत्र लिखकर संपर्क कर सकते हैं। सेवाभावी, उदार हृदय, जन-पीड़ा को समझने वाले विशेषज्ञ विद्वानों की सदा यहाँ प्रतीक्षा है। ऐसे मनीषियों का सहयोग स्वास्थ्य संकाय के पाठ्यक्रमों को अंतिम रूप देने में बड़ा सहायक सिद्ध होगा।

स्वस्थ जीवन सभी गुणों, विशेषताओं एवं उपलब्धियों का आधार है। शिक्षा एवं संस्कृति तभी पनपती एवं विकसित हो पाती है, जब मानव जीवन सर्वांगपूर्ण स्वस्थ हो। व्यावहारिक ज्ञान की सभी दिशा-धाराओं का उद्गम स्रोत एवं केंद्र यही है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय में भी स्वस्थ जीवन की ईंटों को ही शिक्षा संकाय के पाठ्यक्रमों की आधारशिला बनाया गया है। इसी पर देव संस्कृति का ज्ञान मंदिर गढ़ा जाएगा।

⁂

एक ऋषि के पास एक युवक ज्ञान के लिए पहुँचा। ज्ञानप्राप्ति के बाद शिष्य ने गुरुदक्षिणा देनी चाही। गुरु भी अद्भुत थे। उन्होंने गुरुदक्षिणा के रूप में वह चीज माँगी जो बिलकुल व्यर्थ हो। शिष्य व्यर्थ चीज की खोज में चल पड़ा। व्यर्थ समझकर जब शिष्य ने मिट्टी की ओर हाथ बढ़ाया, तो मिट्टी चीख पड़ी—तुम मुझे व्यर्थ समझ रहे हो ? धरती का सारा वैभव मेरे गर्भ से ही प्रकट होता है। ये विविध रूप, रस, गंध क्या मुझसे ही उत्पन्न नहीं होते ?

घूमते-घूमते उसे गंदगी का ढेर मिला, जिसके लिए मन में घृणा के भाव थे। उसने गंदगी की तरफ हाथ बढ़ाया, तभी गंदगी से आवाज आई, क्या मुझसे बढ़िया खाद धरती पर मिलेगी ? सारी फसलें मेरे से ही प्राण और पोषण पाती हैं। ये अन्न, फल सब मेरे ही रूप हैं, फिर भी तुम मुझे व्यर्थ समझ रहे हो!

वह सोचने लगा—मिट्टी, गंदगी का ढेर भी इतने मूल्यवान हैं, तब भला व्यर्थ क्या हो सकता है ! तभी उसके मन से आवाज आई कि सृष्टि का हर पदार्थ अपने में उपयोगी है। व्यर्थ और तुच्छ तो वह है, जो दूसरों को व्यर्थ और तुच्छ समझता है। वह अहंकार के सिवा और क्या हो सकता है ? शिष्य गुरु के पास गया और क्षमा माँगते हुए कहा कि वह दक्षिणा में अहंकार देने आया है। यह सुनकर गुरु प्रसन्न भाव से बोले—ठीक समझे हो वत्स! अहंकार के विसर्जन से ही विद्या सार्थक और फलवती होती है।

सृजन संवेदना की दिव्यता का शिक्षण देने वाला संकाय

शिक्षा संकाय के पाठ्यक्रमों की धुरी देव संस्कृति है। इसके गहरे अर्थबोध के साथ, इसमें सँजोए ज्ञान-विज्ञान एवं देश की धरती व विश्व वसुधा में बसे जन-जन को इसकी पहचान कराने के मकसद से इन पाठ्यक्रमों का ताना-बाना बुना गया है। इसमें ऋषियों के चिंतन के साथ उनकी प्रयोगवादी परंपरा भी है। इनमें अतीत के चिंतन के साथ भविष्य का सृजन भी है। सृजन-संवेदना ही तो संस्कृति है। जो सृजन संवेदना से युक्त है, वह सुसंस्कृत है। इसके विपरीत जो कोई भी है, जहाँ भी है, उसके लिए कोई सुसंस्कृत से विपरीत शब्द ही ढूँढ़ना पड़ेगा। क्षमा-याचना के साथ उसके व्यक्तित्व को विकृत ही कहना पड़ेगा। उसकी विकृति में सुधार तभी संभव है, जब उसका संस्कृति से परिचय हो। सृजन-संवेदना उसमें प्रवाहित हो। सृजन-संवेदना की दिव्यता ही तो देव संस्कृति है। यही इस शिक्षा संकाय के पाठ्यक्रमों का केंद्र बिंदु है।

इन पाठ्यक्रमों की विषय-वस्तु को कुछ बिंदुओं में समझा जा सकता है- १. देव संस्कृति का स्वरूप एवं अर्थबोध, २. इसे अभिव्यक्ति एवं विस्तार देने के लिए देश व विदेश की विभिन्न भाषाओं की जानकारी, ३. दर्शन, शिक्षा व साहित्य के रूप में इसके ज्ञान को प्रकट करने वाले अनेकों आयाम, ४. ज्योतिष, कर्मकांड समेत इसके विविध वैज्ञानिक पहलू, ५. आधुनिक विज्ञान की कुछ विशेष धाराएँ जो देव संस्कृति के भविष्य को सँवारने, निखारने एवं नए मनुष्य को गढ़ने में सहायक हैं।

इन बिंदुओं के विस्तार में पहला क्रम देव संस्कृति का है। जिसका बोध कराने के लिए इस विश्वविद्यालय की स्थापना की गई है। देव संस्कृति प्राचीन भारत के ऋषियों द्वारा समूची मानव जाति को दिया गया सबसे बड़ा अनुदान है। दरअसल यह जीवन का विज्ञान है। जीवन के अर्थ, महत्त्व एवं उपलब्धियों को साकार करने वाली वैज्ञानिक प्रक्रिया है, पर कालक्रम में इसका अर्थ विकृत हो गया है। आज की युवा पीढ़ी संस्कृति का जो अर्थ समझती है, उसमें तो विकृति-ही-विकृति है, संस्कृति तो कहीं है ही नहीं। इस दु:ख भरी विडंबना को हटाने-मिटाने के लिए विचारशीलों, विवेकवानों को अपने समस्त प्रयास, पुरुषार्थ झोंक देने की जरूरत है, क्योंकि देश के युवा, संस्कृति के संस्कृत शब्द से ही नहीं इसका अंग्रेजी पर्याय समझे जाने वाले कल्चर से भी अनभिज्ञ हो गए हैं। यह कल्चर भी तो कल्टीवेशन यानी कि सृजन का द्योतक है, परंतु ये सब अर्थ न जाने कहाँ जा छुपे हैं, जो प्रकट है, वह तो अनर्थ ही है! इसे हटाने-मिटाने के लिए देव संस्कृति का सत्य समझना अति आवश्यक है। इसी उद्देश्य से देव संस्कृति का स्वरूप एवं अर्थबोध बताने वाले स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर के पाठ्यक्रम तैयार किए जा रहे हैं।

दूसरा क्रम भाषाओं का है। इन्हीं से संस्कृति का संप्रेषण संभव है। भाषा की पहचान के अभाव में देश की धरती भी बँटी-बँटी लगती है। अपने भी बेगाने लगते हैं। भाषा का परिचय प्रगाढ़ हो, तो विश्व-वसुधा के विस्तार में अपना कुटुंब नजर आता है। पराये देश के लोग अपने कुटुंबी एवं स्वजन समझ में आते हैं। ऐसी दशा में भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य है। इसी अनिवार्यता को पूरी करने के लिए विश्वविद्यालय में भाषाओं पर आधारित प्रमाणपत्र, डिप्लोमा, स्नातक एवं स्नातकोत्तर के अलग-अलग पाठ्यक्रम पढ़ाए जाएँगे। जिन भाषाओं को पढ़ाया जाना निश्चित हुआ है, उनमें भारत की प्राय: सभी भाषाएँ तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़, उड़िया, बंगला, गुजराती, असमिया, पंजाबी, डोगरी आदि हैं। विदेशी भाषाओं में अँग्रेजी के अलावा फ्रेंच, जर्मन, रशियन, स्पेनिश, जापानी आदि भाषाओं का ज्ञान कराए जाने की योजना है। देश और विश्व की विविध भाषाओं के माध्यम से सांस्कृतिक संवेदना के संचार और प्रसार के उद्देश्य पूर्ण होंगे।

कामं क्रोधं तथा लोभं, स्वादु-शृंगारकौतुके।
अतिनिद्रातिसेव च, विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत्॥

विद्यार्थी को ये आठ बातें छोड़ देनी चाहिए- १. काम, २. क्रोध, ३. लोभ, ४. स्वाद, ५. शृंगार, ६. तमाशे, ७. अधिक निद्रा, ८. अधिक सेवा।

तीसरा महत्त्वपूर्ण बिंदु- दर्शन, शिक्षा प्रणाली एवं साहित्य के विविध रूपों का है। ये सभी देव संस्कृति की ज्ञान धाराएँ हैं। प्राय: सभी विश्वविद्यालयों में इनका किसी-न-किसी रूप में अध्यापन एवं शिक्षण होता है। परमपूज्य गुरुदेव ने इन सभी ज्ञान की धाराओं में अपना प्राण--प्रवाह उँड़ेला है। उन्होंने इन सभी आयामों में बहुत कुछ नवीन सृजन किया है। उनके इस नवीन सृजन पर आधारित देश भर के विश्वविद्यालयों में अनेकों शोध-कार्य हो चुके हैं और अनेकों अभी हो रहे हैं। यह शोध-सिलसिला सदा जारी रहने वाला है। इन शोध उपलब्धियों एवं गुरुदेव की नवीन दृष्टि के आधार पर तीसरे बिंदु के दायरे में पाठ्यक्रमों का निर्माण होगा। ये पाठ्यक्रम विश्व दर्शन, विश्व धर्म एवं विश्व साहित्य के उद्देश्यपूर्ण शिक्षण को ध्यान में रखते हुए बनाए जाएँगे। इनमें ऋषियों, मनीषियों, धर्म संस्थापकों की मौलिक दृष्टि के साथ, परमपूज्य गुरुदेव की जीवन दृष्टि का समन्वय सम सामयिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होगा।

चौथे बिंदु में देव संस्कृति की वैज्ञानिक धाराएँ हैं। इसमें ज्योतिर्विज्ञान सहित अनेकों पक्ष हैं। आज के दौर में ये सभी पक्ष वैज्ञानिक प्रयोग और इसके निष्कर्षों से प्राप्त सिद्धांत न रहकर मूढ़ता को पोषित करने वाली घिसी-पिटी रूढ़ियाँ बनकर रह गए हैं। इनके माध्यम से लोगों की भावनाओं का शोषण बहुतायत में किया जा रहा है। स्थिति यह बनी है कि आज यह ऋषियों की वैज्ञानिक विरासत दो पाटों में दबकर पिस रही है। एक वे हैं, जो इसे यथास्थिति में स्वीकारने के हिमायती हैं और दूसरे वे हैं, जो इसे कूड़े के ढेर में फेंकने की वकालत करते हैं। गलत दोनों ही हैं। निदान इसके सच को वैज्ञानिक ढंग से परखने, जानने एवं अपनाने में है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय में यही किया जाना है। ज्योतिष ही नहीं भारतीय संस्कृति के और भी तंत्र आदि जो वैज्ञानिक पहलू हैं, समय के साथ उन्हें नव जीवन दिया जाएगा। उन्हें इस रूप में प्रतिष्ठित एवं प्रमाणित किया जाएगा कि विज्ञान का थोथा सहारा लेकर इन्हें नकारने वाले खुली आँखों से इनकी वैज्ञानिकता को सौ बार- हजार बार प्रयोगों की कसौटी पर परखने और सत्य को स्वीकारने के लिए विवश हों।

पाँचवाँ बिंदु- आधुनिक विज्ञान के पाठ्यक्रमों के बारे में है। आधुनिक विज्ञान की पद्धतियों एवं प्रयोगों को समझना युग की माँग है। उज्ज्वल भविष्य के सृजन के लिए प्रतिबद्ध यह विश्वविद्यालय आधुनिक विज्ञान के उपयोगी पाठ्यक्रमों को लागू करने के लिए कटिबद्ध है। मानव मन की वर्तमान विखंडित दशा को समझने के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन जरूरी है। इसके आधुनिकतम सिद्धांतों को जाँच-परखकर ही उसमें सुधार लाया जा सकता है। व्यसनों एवं कुरीतियों से मुक्ति इन उपायों से कैसे मिल सकती है, यह अध्ययन भी यहाँ होगा। यही हाल पर्यावरण जैसे प्राकृतिक संकट का है। इसके वैज्ञानिक अध्ययन के लिए भी विश्वविद्यालय में नवीन पाठ्यक्रम बनाए जाएँगे। कामकाजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार का भी एक व्यवस्थित क्रम यहाँ बनेगा।

विज्ञान के इस परिदृश्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं को भी शामिल किया जाएगा। सामाजिक विघटन एवं विलगाव के बारे में मानव प्रकृति का अध्ययन, उसमें आई विकृतियों के निदान से संबंधित पाठ्यक्रमों के निर्माण की योजना को महत्त्वपूर्ण माना गया है। यही बात मानव के सांस्कृतिक अस्तित्व की पहचान कराने वाले पुरातत्त्व के वैज्ञानिक पहलुओं के बारे में है। नृतत्व विज्ञान की अंधकारपूर्ण मान्यताओं के बारे में भी प्रकाश उँड़ेलने की आवश्यकता है। कथन का सार इतना ही है कि शिक्षा संकाय के पाठ्यक्रमों के निर्माण में आधुनिक विज्ञान की महत्ता किंचित् भी न्यून नहीं मानी गई है। हाँ इतना अवश्य है कि शिक्षा संकाय की व्यापकता का विस्तार शनैः-शनैः किंतु ठोस रूप में होगा। इसके विकास की गति के आधार पर ही स्वावलंबन संकाय के पाठ्यक्रमों की नीति का निर्धारण किया जाएगा।

*

आचार्य वही है, जो अपने आचरण के द्वारा विद्या वितरण करे। विद्या वितरण करने वाले आचार्य का अच्छा होना ही नहीं, सर्वसामान्य के सामने अच्छा दिखना भी अनिवार्य है। आचरण की इस श्रेष्ठता का सत्यापन ही आचार्य की श्रेष्ठता का प्रमाण है।

सद्‌गुणों का समुचित प्रबंधन सिखाएगा स्वावलंबन संकाय

देव संस्कृति के युग प्रवर्तक परमपूज्य गुरुदेव कहते थे कि स्वावलंबन या परावलंबन मनुष्य की आंतरिक वृत्तियाँ हैं। जिसमें स्वावलंबन की वृत्ति पनप चुकी है, वह जीवन के हर क्षेत्र में कुछ कर गुजरने की हिम्मत और हैसियत रखता है। जिंदगी के कोई काम छोटे हों या बड़े, उन्हें वह खुद करना चाहता है। समुचित सहायता या उपयुक्त मार्गदर्शन न मिलने पर भी वह हाथ-पर-हाथ धरे बैठा नहीं रहता। अपनी मेहनत और हिम्मत के बल पर ऐसा व्यक्ति अपने लिए राहें बना ही लेता है। स्वावलंबन की यह वृत्ति सोई या निष्क्रिय पड़ी रहे तो परावलंबन ही जीवन की परिभाषा बन जाती है।

हर काम, हर बात में औरों का मुँह ताकना परावलंबन है। अपनी असफलताओं का दोष अपनी अकर्मण्यता को नहीं, परिस्थितियों या किन्हीं व्यक्तियों के माथे मढ़ने का काम परावलंबी व्यक्ति ही करते हैं। सहायता या मार्गदर्शन का अभाव इन्हीं को सालता है। सोई हुई, निष्क्रिय पड़ी अंतर्चेतना के कारण उनमें सही सोच-समझ, सूझ-बूझ, उद्यमिता, श्रमशीलता, साहस, संकल्प जैसे गुण विकसित नहीं हो पाते। और हों भी कैसे! ये सभी गुण तो स्वावलंबन वृत्ति के परिचय और पर्याय हैं। साधारण तौर पर आम लोग रोजी-रोजगार की सीमा में स्वावलंबन को कैद करने की कोशिश करते हैं। उनके अनुसार जो रोजगार में लगा हुआ है, वह स्वावलंबी है और जो बेरोजगार है वह परावलंबी है। कमोवेश यह बात सही है, पर पूरी नहीं। इसमें सच केवल इतना है कि रोजगार में लगे लोगों को मन से या मजबूरी से श्रम एवं सूझ-बूझ का उपयोग करना ही पड़ता है, जबकि बेरोजगारों के लिए ऐसी कोई मजबूरी नहीं है।

कभी-कभी अपने आस-पास के जीवन में यह देखने को मिल जाता है कि नौकरी-पेशा, रोजी-रोजगार में लगे हुए लोग भी पूरी तरह से परावलंबन से पीछा नहीं छुड़ा पाते हैं। श्रम और उद्यमिता पर उनकी आंतरिक आस्था विकसित नहीं हो पाती। जिंदगी की कई और अनेक बातों में वे सदा औरों का मुँह ताकते रहते हैं। आलस्य का तमस् उन्हें प्रायः घेरे रहता है। अपनी कमियों-कमजोरियों को अनदेखा करके दूसरों पर सभी छोटे-बड़े दोष मढ़ने की दूषित प्रवृत्ति उन्हें जकड़े रहती है। ऐसे व्यक्ति कहीं भी और कोई भी क्यों न हों, उन्हें पूरी तरह से स्वावलंबी नहीं कहा जा सकता है।

स्वावलंबन तो जीवन की शक्तियों एवं सद्‌गुणों का विकास है, साथ ही विकसित गुणों एवं शक्तियों का उद्‌देश्य पूर्ण नियोजन है। स्वावलंबन संकाय के पाठ्यक्रमों के निर्माण में यही सत्य अपनाया जा रहा है। इन पाठ्यक्रमों के उद्‌देश्य को बताने वाले कतिपय महत्त्वपूर्ण बिंदु इस तरह समझे या जाने जा सकते हैं- १. व्यक्तित्व में व्यावहारिक स्तर पर उपयोगी सद्‌गुणों का जागरण एवं विकास। २. जाग्रत् सद्‌गुणों का समुचित प्रबंधन। ३. जीवन की शक्तियों एवं सद्‌गुणों का उद्‌देश्यपूर्ण नियोजन। ४. इस नियोजन में स्वहित, जनहित एवं राष्ट्रहित का समुचित समन्वय। यही वे चार मूल बिंदु हैं, जो स्वावलंबन संकाय के पाठ्यक्रम की रूपरेखा तय करते हैं।

एक युवक ने आचार्य शंकर से पूछा—जीवन में बचाने जैसा क्या है? महान् तत्त्वज्ञानी आचार्य ने कहा—स्वयं का ज्ञान और उसका आनंद। जो उसे बचा लेता है, वह सब बचा लेता है और जो उसे खो देता है, वह सब खो देता है।

इनमें से पहला बिंदु पाठ्यक्रम की रूपरेखा का आधार है। व्यावहारिक जीवन में उपयोगी सद्‌गुण ही स्वावलंबन की वृत्ति को जन्म देते हैं। उसे जाग्रत् और विकसित करते हैं। इन गुणों में चार मुख्य हैं—श्रम, संकल्प, साहस एवं सूझ-बूझ। इन गुणों से युक्त व्यक्ति कभी भी परमुखापेक्षी एवं परावलंबी नहीं हो सकता। इन गुणों के सहयोगी दो अन्य गुण भी हैं, व्यावहारिक सामंजस्य एवं उद्यमिता। स्वावलंबन संकाय के पाठ्यक्रम छात्रों में इन गुणों के जागरण एवं विकास का आधार बनेंगे, क्योंकि यही वे आधारभूत तत्त्व हैं, जिनसे स्वावलंबन की परिभाषा जन्म लेती है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण बिंदु सद्‌गुणों का समुचित प्रबंधन है। सही कहें तो स्वावलंबन जीवन का प्रबंधन है। जीवन की समुचित सुव्यवस्था है। गुणवान् व्यक्ति भी अगर अपने आंतरिक एवं बाह्य जीवन में अव्यवस्थित व अस्त-व्यस्त रहे, तो उसका सफल और संतुष्ट होना मुश्किल है। स्वावलंबन संकाय के पाठ्यक्रम के माध्यम से छात्रों और छात्राओं को जीवन-प्रबंधन की व्यावहारिक प्रक्रियाओं एवं प्रयोगों का ज्ञान दिया जाएगा। इस प्रबंधन के बाद नियोजन की सही रीति-नीति जरूरी है। यही रूपरेखा तीसरा महत्त्वपूर्ण बिंदु है। नियोजन के कौशल से ही व्यक्ति को सफलताएँ मिलती हैं। दुनिया भर में जो भी सफल व्यक्ति हुए हैं, उनमें यही कौशल प्रकट हुआ है।

चौथे बिंदु में नियोजन की सार्थक दिशा का ज्ञान है। यह ज्ञान ही देव संस्कृति की विशेषता है। सफलताएँ अनेकों पाते हैं, पर सभी के व्यक्तित्व में आध्यात्मिक विस्तार की झलक नहीं मिलती। देव संस्कृति का दैवी तत्त्व अध्यात्म ही है। यही मनुष्य को देव बनाने वाला रसायन है। इसी को जानने से यह सचाई सामने आती है कि यदि जिंदगी की दिशा सही है, तो फिर छोटे कहे जाने वाले कामों की परिणति बड़ी और महान् होती है। जैसा कि रैदास और कबीर के जीवन में दिखाई दिया। चमड़े और कपड़े का साधारण काम करके भी ये दोनों महामानव बन गए, जबकि सिकंदर दुनिया के अधिकांश देश जीतकर, विश्व विजेता बनने का स्वाँग भरकर भी अंत में पछताता हुआ मरा।

स्वावलंबन संकाय के पाठ्यक्रमों की विषय-वस्तु इस ढंग से तैयार की जा रही है कि उसकी राष्ट्रीय और सामाजिक उपयोगिता भी हो। चिकित्सालय प्रबंधन, देवालय प्रबंधन, ग्राम प्रबंधन, विद्यालय प्रबंधन, सांस्कृतिक प्रबंधन, हैरिटेज मैनेजमेंट ऐसे ही कुछ पाठ्य विषयों की संकल्पना की गई है, जिन्हें पढ़कर न केवल स्वावलंबी होने के अवसर उपलब्ध हों, बल्कि जीवन में कुछ सार्थक कर पाने की गौरवमयी अनुभूति भी हो। इन पाठ्यक्रमों के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि इनका स्वरूप कुछ ऐसा बनाया जा रहा है, जिसमें विद्यार्थियों के स्वहित के साथ राष्ट्रहित, मानवहित एवं विश्वहित भी निहित हों।

यह स्वदेशी, स्वरोजगार पर आधारित हों। ऐसे अनेकों पहलू हैं, जिन पर अभी किसी का ध्यान नहीं गया है, जिनके बारे में सोचा जाना, जिन्हें अविलंब किया जाना समय की अनिवार्य जरूरत है। ऐसे ही क्षेत्रों को तलाश कर नए विषय एवं नए पाठ्यक्रम तैयार किए जाने का काम प्रारंभ हो चुका है। ये सभी पाठ्यक्रम कुछ इस प्रकार बनाए जा रहे हैं, जिन्हें पढ़ने वाले विद्यार्थियों का व्यक्तित्व तो विकसित हो ही, साथ ही उन्हें काम के लिए लंबा इंतजार न करना पड़े। पढ़ाई के साथ ही उन्हें कार्य के अवसर सुलभ हों। ये अवसर भी ऐसे हों, जिनमें निज का हित होने के साथ देश और समाज के लिए कुछ अच्छा और सार्थक किया जा सके। इनमें गोविज्ञान, कुटीर उद्योगों का विकास मूल धुरी रहेगा।

स्वावलंबन संकाय के पाठ्यक्रमों का निर्माण युग की एक चुनौती है। जिसे देव संस्कृति विश्वविद्यालय के संचालकों ने युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव की कृपा के भरोसे स्वीकार किया है। इसमें सभी कुछ नया गढ़ना और बनाना है। युवा पीढ़ी के लिए नई राहें तैयार करनी हैं। इस संबंध में विचारशीलों के उपयोगी सुझाव एवं सहयोग आमंत्रित हैं। सहयोग देने के इच्छुक जन देव संस्कृति विश्वविद्यालय के स्वावलंबन संकाय से संपर्क स्थापित कर सकते हैं। पाठ्यक्रमों के निर्माण के साथ इन सभी में होने वाले भावी शोध-अनुसंधान के उद्देश्य एवं प्रक्रियाएँ भी तय की जा रही हैं। आखिर यही तो युग प्रश्न के हल की सार्थक पहल है।

महाकवि निराला ने एक नवोदित साहित्यकार से कहा—जानते हो आदर्श-विहीन जीवन कैसा है? यह उस नाव की भाँति है, जिसमें मल्लाह न हो या सोया हुआ हो और यह स्मरण रहे कि जीवन-सागर में तूफान सदा ही बने रहते हैं। आदर्श न हो तो जीवन की नौका को डूबने के सिवाय और कोई विकल्प ही नहीं रह जाता है।

ऋषित्व की प्रगाढ़ अनुभूति की परिचायक

शोध-साधना

ऋषियों के शोध-अनुसंधान के उद्देश्य एवं प्रक्रिया की मौलिकता ने देव संस्कृति के समस्त आयाम गढ़े हैं। इसमें सँजोई जीवन जीने की कला, मूल्य, आदर्श, सद्गुणों की दैवी संपत्ति को विकसित करने का सारा विज्ञान ऋषियों के शोध-अनुसंधान का ही सुफल है। इस परंपरा और प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की डगर भी यही है। ऋषियों के काम करने के लिए हमें ऋषियों की राह पर चलना होगा। उनकी शोधप्रियता एवं अन्वेषण वृत्ति के साथ उन उद्देश्यों एवं प्रक्रियाओं को भी जानना होगा, जिनकी वजह से देव संस्कृति अस्तित्व में आई। ज्ञान-विज्ञान की असंख्य कल्याणकारी धाराएँ प्रवाहित हुईं। भारत देश को जगद्गुरु की गरिमा मिली।

इस सच को भी सभी जानते हैं कि विश्वभर का सारा ज्ञान शोध-अनुसंधान का परिणाम है, लेकिन इस बात की अनुभूति कम ही लोग कर पाते हैं कि यह कभी कल्याणकारी और कभी विनाशकारी क्यों हो जाता है? इस प्रश्न का हल ज्ञान को जन्म देने वाले शोध-अनुसंधान के उद्देश्य एवं प्रक्रिया में छुपा है। यदि उद्देश्य एवं प्रक्रिया ऋषि-संवेदना से युक्त है, तो उपलब्ध ज्ञान सुनिश्चित रूप से कल्याणकारी होगा और यदि अनुसंधान के उद्देश्यों व प्रक्रियाओं में ऋषि-संवेदना का अभाव है, तो उपलब्ध ज्ञान से अनिष्ट एवं अनर्थ ही जन्म लेंगे। उससे विनाशलीलाएँ ही फैलेंगी। समूची दुनिया में हर रोज यह सच बार-बार जाना और परखा जाता है। इस बात के प्रामाणिक होने में अब कोई कोर-कसर नहीं रह गई है कि शोध-अनुसंधान के लिए प्रखर मेधासंपन्न मस्तिष्क के साथ उच्चस्तरीय संवेदनाओं से युक्त हृदय की भी जरूरत है।

इन दोनों के सुयोग-संयोग से शोध-अनुसंधान के क्षेत्र में उद्देश्यों व प्रक्रियाओं में उसी मौलिकता को पाया जा सकता है, जो ऋषियों के जीवन में थी। ये मेधावान ऋषि प्रखर तपस्वी थे। उच्चस्तरीय संवेदनाएँ उनमें स्पंदित होती थीं। युग की वेदना उन्हें विकल करती थी। मानव हित एवं विश्वहित की कामना से वे रूखा-सूखा खाकर साधारण जीवन जीते हुए अपनी शोध में तल्लीन रहते थे। उनके शोध का स्वरूप कुछ भी हो, पर उद्देश्य एक ही था-मानव हित—विश्व हित। इसी के अगणित प्रश्नों के हल के लिए उन्होंने उपयोगी प्रक्रियाएँ गढ़ी थीं। शोध-अनुसंधान के उद्देश्यों एवं प्रक्रियाओं का यही ऋषिकल्प संयोग देव संस्कृति विश्वविद्यालय में साकार हो रहा है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के सहयोग से यहाँ के शोध कार्य का संयोजन एवं संचालन प्रत्येक संकाय के प्रत्येक विभाग में गठित की गई शोध-उपाधि, समितियाँ या रिसर्च डिग्री कमेटी (आर.डी.सी) करेगी। प्रत्येक संकाय एवं विभाग में शोध कार्य के विविध स्तर होंगे। इन स्तरों के अनुरूप ही शोधार्थी एम.फिल., पी-एच.डी., डी.लिट् एवं डी.एस.सी. उपाधि के अधिकारी होंगे। इनमें से किसी भी उपाधि को पाने के लिए शोध छात्र एवं शोध छात्रा को अपने शोध उद्देश्य की कड़ी जाँच एवं प्रक्रिया की खरी परख के अनेक स्तरों से गुजरना होगा। उन्हें अपने शोध कार्य की उपयोगिता व उपादेयता को सिद्ध करना होगा।

विश्वविद्यालयों में शोध कार्य के गिरते स्तर से देव संस्कृति विश्वविद्यालय के संचालक परिचित ही नहीं चिंतित भी हैं। इसीलिए समय की इस चुनौती का सामना करने के लिए यहाँ कई कड़े कदम उठाए जा रहे हैं। शोध कार्य के संचालन हेतु कई विशिष्टताओं को अपनाया गया है। इनमें सबसे बड़ी विशेषता शोध कार्य के उद्देश्य व शोध विषय के चुनाव के बारे में है। इस बारे में यह निश्चित किया गया है कि राष्ट्रीय व मानवीय जीवन की ज्वलंत समस्याएँ यहाँ किए जाने वाले शोध-अनुसंधान के उद्देश्यों को निश्चित करेंगी। ऋषियों के ज्ञान एवं भारतीय विद्याओं के विविध पहलुओं के परिप्रेक्ष्य में इनके सार्थक समाधान ढूँढ़े जाएँगे। शोध-अनुसंधान का मकसद केवल बौद्धिक कलाबाजियों एवं कुलाँचों तक सीमित नहीं रहेगा। शोधार्थियों को मानव जीवन की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, आर्थिक आदि विविध समस्याओं की स्पष्ट और सार्थक अनुभूति करनी होगी। मानवीय वेदना की टीस व कसक की इस अनुभूति से ही शोध के उद्देश्य तय होंगे, शोध के विषय तय होंगे। सार रूप में राष्ट्रीय व मानवीय समस्याओं की अगणित चुनौतियों को स्वीकार करना और

उनके सार्थक समाधान खोज निकालना ही यहाँ के शोध-अनुसंधान का उद्देश्य होगा।

शोध-अनुसंधान की प्रक्रिया का स्वरूप भी शोध विषय व उद्देश्य के अनुरूप गढ़ा गया है। प्रक्रिया के पहले चरण में शोधार्थी को शोध विषय के चुनाव एवं शोध कार्य की रीति-नीति की जानकारी के लिए विश्वविद्यालय के संबद्ध विभाग में आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करना होगा। प्रायः देखा गया है कि शोध तकनीक का समुचित प्रशिक्षण प्राप्त किए बगैर शोधार्थी अपना काम शुरू कर देते हैं। इसका परिणाम होता है कि उनका समूचा शोध कार्य कुछ रद्दी पन्नों का छोटा या बड़ा ढेर बनकर रह जाता है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय के किसी भी संकाय के किसी भी विभाग में शोध कार्य के इच्छुक छात्र या छात्रा के लिए शोध विषय के अनुरूप शोध तकनीक का आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करना अनिवार्य होगा। शोध तकनीक एवं शोध विषय के महत्त्व को दर्शाने वाले कम-से-कम एक या दो शोध-पत्र लिखने के बाद ही शोधार्थी का शोध उपाधि के लिए पंजीयन हो सकेगा। इस शोध-पत्र की जाँच संकायाध्यक्ष (डीन) के निर्देशन में विभागाध्यक्ष के अधीन बनी एक विशेष समिति करेगी। इसके संतुष्ट होने पर ही शोधार्थी के शोध विषय का पंजीकरण संभव होगा।

विषय के पंजीकृत होने के बाद शोध छात्राएँ एवं छात्र अपने निर्देशक के अधीन शोध कार्य प्रारंभ करेंगे। शोधार्थियों की विश्वविद्यालय के प्रत्येक कार्य दिवस में उपस्थिति अनिवार्य होगी। यहीं रहकर वे अपने प्रायोगिक एवं सैद्धांतिक कार्य को पूरा करेंगे। निर्देशक की अनुमति से ये शोधार्थी अपने कार्य के लिए किसी विशेष स्थान के लिए जा सकते हैं। अपने शोध कार्य को पूरा करने से पहले शोधार्थी को अपने कार्य से संबंधित कम-से-कम दो या तीन शोध-पत्रों को प्रकाशित करना अनिवार्य होगा। ये शोध-पत्र विषय से संबंधित किसी प्रतिष्ठित शोध पत्रिका में प्रकाशित होने चाहिए। संस्थान की अपनी भी एक शोध पत्रिका होगी 'देव संस्कृति'।

शोध कार्य पूरा हो चुका, यह शोध विषय के निर्देशक एवं सह निर्देशक प्रमाणित करेंगे। इसके बाद यह शोध प्रबंध विश्वविद्यालय के परीक्षा विभाग द्वारा विशेषज्ञों के अनुमोदन से देश या विदेश के किन्हीं दो प्रतिष्ठित विद्वानों के पास जाँच के लिए भेजा जाएगा। ये विद्वान् विषय के विशेषज्ञ होंगे। इनके संतुष्ट होने पर विश्वविद्यालय में शोधार्थी की परीक्षा होगी। इस परीक्षा का स्वरूप लिखित एवं मौखिक दोनों ही शोध उपाधि समिति तय करेगी। परीक्षकों द्वारा शोध प्रबंध के प्रकाशन योग्य एवं समस्या के सार्थक समाधान के योग्य पाए जाने पर शोधार्थी अपनी शोध-उपाधि के अधिकारी होंगे।

शोध-अनुसंधान के उद्देश्य एवं प्रक्रिया का यह समूचा विधान शोध कार्य के स्वरूप को सार्थक एवं उत्कृष्ट बनाने के लिए बनाया गया है। इसका प्रत्येक पहलू छात्र को यह समझाएगा कि शोध किसी उपाधि का अलंकरण भर नहीं है। यह ऋषि जीवन की कठोर तप साधना है। शोध कार्य करने का अर्थ अपने जीवन में ऋषित्व को सिद्ध करना है। इस क्रम में शोध छात्र एवं छात्राओं के सम्मुख एक ही सत्य रखा जाएगा कि जिसने भी अपने शोध-अनुसंधान में ऋषित्व की जितनी प्रेरक एवं प्रगाढ़ अनुभूति की, उसकी उतनी शोध साधना सफल हुई। इस शोध साधना का केंद्र विश्वविद्यालय का पुस्तकालय होगा। यहीं पर शोध सत्यों को प्रकट करने वाली उर्वर विचार भूमि एवं संवेदनशील भावभूमि तैयार होगी।

○

शोच्यतां यात्यशीलेन विद्वेषेणापवित्रताम्।
विद्या शील के अभाव में शोचनीय हो जाती है और द्वेष से अपवित्र हो जाती है।

□□□□□□□□□□ □□□□□□□□□□ □□□□□□□□□□

काश! हम शांत हो सकें। अपने भीतर गूँजते शब्दों और ध्वनियों को शून्य कर सकें। क्योंकि ऐसा होने पर ही जीवन में जो सर्वाधिक आधारभूत ज्ञान है, उसके दर्शन हो सकते हैं। ज्ञान के दर्शन के लिए शांति के चक्षु चाहिए। उन चक्षुओं को पाए बिना जो ज्ञान को खोजते हैं, वह व्यर्थ ही खोजते हैं।

विद्या साधना का दिव्य मंदिर—ग्रंथालय

पुस्तकालय देव संस्कृति विश्वविद्यालय की काय संरचना का मेरुदंड है। विश्वविद्यालय की समस्त विद्या योजना की दृढ़ता का आधार यही है। इसे देव संस्कृति के विशालकाय अमूल्य रत्न भंडार की संज्ञा दी जा सकती है। जहाँ पुरातन भारत के ज्ञान की सनातन धरोहर को ढूँढ़-खोजकर इकट्ठा किया गया है। आगे भी यह प्रक्रिया अविराम रूप से जारी रहने वाली है। विश्व के विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों, साहित्य एवं दर्शन के बहुमूल्य ग्रंथों को यहाँ बड़े यत्न से जुटाया गया है। ग्रंथालय का वैज्ञानिक कोश आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान संपदा से भरपूर है। पुरातन और आधुनिक ज्ञान व विज्ञान की असंख्य व अगणित धाराएँ यहाँ परस्पर मेल-मिलाप करती देखी जा सकती हैं। ज्ञान-विज्ञान की विविध धाराओं के अभूतपूर्व संगम की सृष्टि का सौंदर्य यहाँ झलकता है।

यह पुस्तकालय ऋषि संस्कृति की एक अभूतपूर्व एवं अद्‌भुत संस्थापना है। ऋषियों द्वारा स्थापित पुरातन काल के विश्वविद्यालयों में पुस्तकालय का अपना एक विशिष्ट स्थान था। यह बात अलग है कि तब इसके स्वरूप में अब से काफी कुछ भिन्नता थी। तब छपाई एवं कागज की आधुनिक सुविधाएँ नहीं थीं। ग्रंथ भोजपत्र एवं ताड़पत्र पर लिखे जाते थे। लेखन का यह कार्य प्रायः विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा किया जाता था। वही पुस्तकालय के लिए ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार करते थे। यह परंपरा ऐतिहासिक युग में भी बनी रही।

ऐतिहासिक अभिलेख एवं पुरातात्त्विक प्रमाण इसकी पुष्टि करते हैं। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी, प्रो. आर.सी. मजूमदार, डॉ. राजबली पांडेय, प्रो. ए.एस. अलतेकर जैसे प्राख्यात इतिहासवेत्ताओं ने भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति में पुस्तकालयों के महत्त्व को स्वीकारा है। पुरातत्त्ववेत्ता सर जेम्स प्रिंसेप, अलैक्जेंडर कनिंघम, फ्लीट, सर जॉन मार्शल, मार्टीमर व्हीलर एवं प्रो. सांकलिया जैसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने भारत के सांस्कृतिक ज्ञान-विज्ञान के विकास में पुस्तकालयों के महत्त्व को दर्शाने वाले संकेत दिए हैं।

समस्त ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक प्रमाण एक स्वर से जिस पुस्तकालय की महिमा गाते हैं, वह नालंदा विश्वविद्यालय का पुस्तकालय है। अपने युग में यह महत्त्वपूर्ण पुस्तकालय अति विशाल था। उसके द्वारा हजारों विद्यार्थियों और छात्रों की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति होती थी। नालंदा विश्वविद्यालय के इस पुस्तकालय का नाम धर्मगंज था। इसके प्रसार क्षेत्र के व्यापक होने के प्रमाण मिलते हैं। ऐतिहासिक विवरण के अनुसार इस पुस्तकालय में प्रतिलिपि करने की भी सुविधा थी। चीनी विद्यार्थी इत्सिंग ने नालंदा में रहकर चार सौ संस्कृत पुस्तकों की शुद्ध प्रतिलिपियाँ तैयार की थीं। इनमें लगभग ५ लाख श्लोक थे।

ऐतिहासिक दस्तावेजों एवं पुरातात्त्विक अभिलेखों के अनुसार 'धर्मगंज' नाम से विख्यात इस पुस्तकालय के भवन अति विशाल थे। इन अनेक भवनों में से केवल तीन के नाम इतिहासवेत्ता खोज पाए हैं। ये तीन भवन—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरञ्जक के नाम से विख्यात थे। इनमें लाखों की संख्या में हस्तलिखित पुस्तकें थीं। इन तीन भवनों में रत्नसागर नौ मंजिलों वाला भवन था और रत्नोदधि सात मंजिलों का। रत्नरञ्जक का आकर्षण इन दोनों से कहीं कम नहीं था।

दरिद्रता से पीछा छुड़ाने की, दुःख दूर करने की, शरीर तथा मन को नीरोग बनाने की और सन्मार्ग का पथ प्रशस्त करने की जितनी शक्ति ग्रंथों में होती है, उतनी संसार की और किसी वस्तु में नहीं।

नालंदा विश्वविद्यालय के इसी गौरव के अनुरूप देव संस्कृति विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का स्वरूप गढ़ा जा रहा है। विश्वविद्यालय के मुख्य परिसर में अपना स्वरूप पा रहे पुस्तकालय का एक अलग विशिष्ट भवन होगा। इस पुस्तकालय भवन में पाँच मंजिलें होंगी। इनमें से भूमिखंड वाली मंजिल में ज्ञान-विज्ञान का मिला-जुला पुरातन एवं नूतन स्वरूप दर्शाने वाले ग्रंथ होंगे। शेष चार मंजिलों में से प्रत्येक मंजिल विश्वविद्यालय के चार विशिष्ट संकायों से संबंधित होगी। इनमें से हर एक की व्यवस्था के लिए अलग-अलग प्रभारी नियुक्त होंगे, जो विश्वविद्यालय के मुख्य पुस्तकालयाध्यक्ष के निर्देशन में कार्य करेंगे।

विश्वविद्यालय का यह पुस्तकालय पूर्णतया कंप्यूटरीकृत एवं सभी आधुनिक सुविधाओं से युक्त होगा। विद्यार्थियों व प्राध्यापकों को पुस्तकों के किन्हीं विशेष अंश की प्रतिलिपि उपलब्ध कराने के लिए यहाँ उच्च क्षमता वाली आधुनिक जीराक्स मशीन हर समय उपलब्ध होगी। छात्र एवं आचार्य दोनों ही यहाँ दी जाने वाली इंटरनेट सुविधा का लाभ अपने अध्ययन के लिए उठा सकेंगे। प्रत्येक विषय में पुस्तकों के साथ आवश्यक सी.डी. रोम यहाँ उपलब्ध होंगे, जिन्हें कंप्यूटर के माध्यम से देखा व पढ़ा जा सकेगा। साथ ही अनिवार्य समझे जाने वाले अंशों के प्रिंट लिए जा सकेंगे।

अत्याधुनिक सुविधाओं एवं ज्ञान की क्षमता वाले इस पुस्तकालय का महत्त्व विश्वविद्यालय के एक संकाय की ही भाँति होगा। जिसका दायित्व मुख्य पुस्तकालयाध्यक्ष सँभालेंगे। पुस्तकालय के सभी नियमों-उपनियमों व अनुशासनों को पालन कराने का दायित्व उन्हीं का होगा। नियमों की यह विधि-व्यवस्था उपकुलपति के निर्देशन व मार्गदर्शन में बनेगी। इस बारे में उपकुलपति के निर्देश ही अंतिम होंगे। पुस्तकालय की समस्त व्यवस्था में उनकी स्वीकृति एवं सहमति महत्त्वपूर्ण होगी। पुस्तकालय की सारी आवश्यकताओं एवं क्रय की जाने वाली पुस्तकों सहित समस्त साधन-संपदा का ब्योरा पुस्तकालयाध्यक्ष समय-समय पर नियमित अंतराल में उपकुलपति को देते रहेंगे।

पुस्तकालय के शैक्षणिक अनुशासन के महत्त्वपूर्ण बिंदु के रूप में विश्वविद्यालय के प्रत्येक विद्यार्थी एवं शोध छात्र की उपस्थिति है। प्रत्येक कार्य दिवस में हर विद्यार्थी एवं शोध छात्र को बताए गए अनुशासन के अनुसार पुस्तकालय में नियमित रूप से बैठकर पढ़ना होगा। संबंधित प्रभारी इन सभी छात्रों की उपस्थिति अंकित करेंगे। परीक्षा में बैठने के लिए इस उपस्थिति का अनिवार्य रूप से महत्त्व होगा। जो भी छात्र पुस्तकालय के नियमों के अनुशासन में दोषी होंगे, उन्हें परीक्षा से बहिष्कृत किया जा सकेगा। पुस्तकालय की समस्त सुविधाओं का समुचित उपयोग करना विश्वविद्यालय के हर छात्र एवं आचार्य का कर्त्तव्य है और इन्हें समयानुसार जुटाते रहना और सभी सत्पात्रों को उनकी पात्रता के अनुरूप प्रदान करना पुस्तकालय की व्यवस्था का काम है।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय का यह पुस्तकालय माता हंसवाहिनी भगवती सरस्वती का मंदिर है। जिसकी साज-सज्जा महत्त्वपूर्ण ग्रंथों एवं राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय शोध-पत्रिकाओं के द्वारा सदा की जाती रहेगी। पुस्तकालयाध्यक्ष माता सरस्वती के इस भव्य मंदिर के मुख्य पुजारी होंगे। अन्य पुस्तकालयकर्मी उनके सहयोगी की भूमिका निभाएँगे। इस दिव्य मंदिर में विद्या साधना करने का भार विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं व आचार्य-आचार्याओं का है। उनकी विद्या साधना ही इसे प्राणवान व ऊर्जावान बनाएगी। इस पुस्तकालय में अन्य विविध ग्रंथों के साथ देव संस्कृति विश्वविद्यालय के अपने निजी प्रकाशित ग्रंथ भी होंगे, जिनका प्रकाशन विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग द्वारा होगा। इस विभाग से देव संस्कृति के बहुआयामी स्वरूप के समसामयिक रूप नियमित व निरंतर प्रकाशित होते रहेंगे। विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित इन कृतियों का पुस्तकालय में विशेष स्थान होगा।

⁂

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

जिसके संपूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं, उस ऐसे ज्ञानरूप अग्नि द्वारा भस्म हुए कर्मों वाले पुरुष को ज्ञानी लोग पंडित कहते हैं।

* * *

शरीर को जीवंत रखने के लिए अन्न, जल और वायु की अनिवार्यता होती है। आत्मा को सजीव और सुविकसित बनाने के लिए उस ज्ञान-उपहार की आवश्यकता है, जिसके आधार पर गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता उपलब्ध की जा सके।

ऋषि संस्कृति का बहुआयामी स्वरूप दर्शाएगा प्रकाशन तंत्र

प्रकाशन विभाग देव संस्कृति विश्वविद्यालय की उज्ज्वल कीर्ति के प्रकाश का परिचायक है। विश्वविद्यालय की विविध हलचलें, क्रियाकलाप, गतिविधियाँ एवं उपलब्धियाँ इसी के द्वारा प्रकाश में आएँगी। ऋषि संस्कृति के बहुआयाम प्रकाशन विभाग से ही प्रकाशित होंगे। इसका कार्यक्षेत्र काफी व्यापक एवं विस्तृत है। इसके उद्देश्यों में यही उदार-विस्तार है। उपलब्धियाँ हों और उनके वितरण की व्यवस्था न बने तो उनका अर्जन अधूरा है। सबका हित और सबका सुख- यही संस्कृति संदेश है। इसी सांस्कृतिक संवेदना के प्रसार के लिए देव संस्कृति विश्वविद्यालय में प्रकाशन विभाग की स्थापना की गई है। देव संस्कृति के सृजन अभियान को इससे और भी अधिक तीव्र गति प्राप्त होगी।

पुरातनकाल में ऋषियों ने संस्कृति सूत्रों के अन्वेषण-अनुसंधान के साथ इनके प्रकाशन और विस्तार की समुचित व्यवस्था की थी। यद्यपि उस समय यह व्यवस्था अपने युग के अनुरूप थी। कागज और छपाई के अभाव में बहुत बड़ी संख्या में पुस्तकों का प्रकाशन तो संभव न था, फिर भी संस्कृति के भाव-विस्तार के लिए अनेकों कारगर उपाय ढूँढ़े गए थे। विश्वविद्यालयों के आचार्य अपने छात्रों-अंतेवासियों के साथ भ्रमण के लिए देश के विभिन्न भागों में जाते थे। इस देशाटन से दोहरा लाभ होता था। पहले लाभ के रूप में विद्यार्थियों की ज्ञान वृद्धि होती थी। उन्हें क्षेत्र विशेष की रीति-नीति, वहाँ की भौगोलिक संरचना, ऐतिहासिक उपलब्धियाँ, वैज्ञानिक तथ्य आदि अगणित बातों का ज्ञान होता था। इसी के साथ दूसरा लाभ जनसामान्य को होता था। वे विशेष रूप से विश्वविद्यालयों के इन विशेषज्ञ आचार्यों के संपर्क में आते थे और उनके ज्ञान से लाभान्वित होते थे। जनपद, नगर एवं ग्रामवासियों को इन आचार्यों और छात्रों से अनेक तरह का ज्ञान मिलता था।

वैदिक साहित्य में जल जातुकर्णी नाम के कृषक का उल्लेख मिलता है। जिसने महर्षि कौष्टुक एवं उनके अंतेवासियों से कृषि विद्या के लिए उपयोगी तकनीकी ज्ञान सीखा था। वभ्रु द्वारा महर्षि अत्यंहस से शिल्प एवं जीवनोपयोगी कौशल सीखे जाने का उल्लेख वेदों में मिलता है। इस व्यावहारिक ज्ञान के अलावा आध्यात्मिक ज्ञान तो इस धर्मप्राण देश का जीवन ही था। विश्वविद्यालयों के आचार्य व उनके अंतेवासी अपने ज्ञान के प्रकाशन से विशेषज्ञों सहित सामान्य जनों को प्रभावकारी ढंग से लाभान्वित करते थे।

ज्ञान प्रकाशन की यह प्रभावशाली परंपरा ऐतिहासिक युग के तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला एवं उदयंतपुर आदि विश्वविद्यालयों में थी। प्राय: इन सभी विश्वविद्यालयों में प्रकाशन विभाग थे। तब छपाई की व्यवस्था न होने के कारण इस विभाग में विश्वविद्यालय के आचार्यों द्वारा लिखे गए ग्रंथों की प्रतिलिपि लेखन का कार्य होता था। विश्वविद्यालय के विद्यार्थीगण इस प्रकाशन कार्य में सम्मिलित होते थे। इन प्रकाशित कृतियों को पहले अन्य विश्वविद्यालयों के प्रतिष्ठित आचार्यों के पास समीक्षा के लिए भेजा जाता था। बाद में उनकी समीक्षा टिप्पणी भी इन ग्रंथों में जुड़ती थी। ऐसी टिप्पणी वाले ग्रंथों को छात्रों एवं जिज्ञासुओं के बीच ज्यादा प्रामाणिक माना जाता था।

> **पुस्तकें महान् प्रतिभाओं के द्वारा मानव जाति के लिए छोड़ी गई पैतृक संपत्ति हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी सौंपी जाने के लिए हैं, मानो वे अभी अजन्मे व्यक्तियों के लिए दिए गए उपहार हों।**

इतिहास में नालंदा विश्वविद्यालय के आचार्य ज्ञानचंद्र के द्वारा लिखे गए 'ज्योतिष दीप' नाम के एक ग्रंथ का उल्लेख मिलता है। ऐतिहासिक उल्लेख के अनुसार यह ग्रंथ बड़े यत्न से प्रकाशित किया गया था। इस ग्रंथ में अनेक प्रतिष्ठित आचार्यों की समीक्षा के साथ विक्रमशीला विश्वविद्यालय के महास्थविर आचार्य दीपंकर की समीक्षा टिप्पणी भी प्रकाशित की गई थी। आचार्य दीपंकर बौद्ध दर्शन के साथ ज्योतिष एवं तंत्र के भी महान् विद्वान् थे। ऐसे

ही अन्य अनेक ग्रंथों की प्रकाशन कथाएँ इतिहास के पन्नों में ढूँढ़ने से मिल जाती हैं। ये सभी कथाएँ प्राचीन विश्वविद्यालयों में प्रकाशन विभाग के विविध रूपों के बारे में बताती हैं।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय का प्रकाशन विभाग भारत देश के प्राचीन गौरव की अभिनव स्थापना है। प्रकाशन विभाग के कार्यों का नियंत्रण विश्वविद्यालय की प्रकाशन समिति करेगी। इस समिति के दो उपविभाग होंगे। इनमें से पहले उपविभाग का संचालन विशेषज्ञ विद्वानों की एक टीम करेगी। दूसरा उपविभाग प्रकाशन की तकनीकी ज्ञान से जुड़े हुए लोगों का होगा, जो प्रकाशन कार्य और उसकी गुणवत्ता को जाँच-परखकर विश्वविद्यालय के संस्कृति-सृजन को प्रकाशित करेगा।

इस प्रकाशन विभाग पर ही विश्वविद्यालय के मुख पत्र को प्रकाशित करने की जिम्मेदारी होगी। इस मुख पत्र का संभावित नाम 'देव संस्कृति' है। इसमें विश्वविद्यालय की सामयिक गतिविधियों एवं नीति-निर्धारण के संपादकीय के साथ यहाँ के विभिन्न संकायों के आचार्यों एवं छात्रों के शोध-आलेख प्रकाशित होंगे। इसमें प्रकाशित कृतियों की प्रामाणिकता अंतर्राष्ट्रीय स्तर की होगी। इसका प्रसार भी विश्वव्यापी किए जाने की योजना है। भारतीय संस्कृति एवं भारतीय विद्याओं पर शोध-आलेख प्रकाशित करने वाला यह अपने ढंग का मौलिक पत्र होगा। इसका संपादन प्रकाशन विभाग के विशेषज्ञों-विद्वानों की समिति करेगी। इस कार्य में अन्य राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय मनीषियों व विचारशीलों का भी सहयोग लिया जाएगा।

इसके अलावा प्रकाशन विभाग द्वारा देव संस्कृति के ज्ञान-विज्ञान के विविध पहलुओं को प्रकट करने वाली अन्य मौलिक कृतियाँ प्रकाशित की जाएँगी। इनका सृजन विश्वविद्यालय के आचार्यगण करेंगे। शिक्षण के साथ अपने विषय से संबंधित साहित्य का सृजन एवं शोध पत्र लेखन भी आचार्यों का दायित्व होगा। देव संस्कृति में समाए ज्ञान-विज्ञान के सामयिक व वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण के लिए अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। यह भगीरथ तप यहाँ के आचार्यों को ही करना है। इसे बिना किए संस्कृति की देव सरिता जन-जन तक न पहुँच सकेगी। हमारे पूर्वजों की महान् आत्माओं को देव संस्कृति की सरिता के ज्ञान जल से ही तृप्ति मिलेगी। इसी से उनका सच्चा तर्पण एवं श्राद्ध होगा।

प्रकाशन विभाग का एक महत्त्वपूर्ण कार्य विश्वविद्यालय के शोध-छात्रों द्वारा लिखे गए शोध-प्रबंध का प्रकाशन है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शोध छात्रों को केवल प्रकाशन योग्य शोध-प्रबंधों पर ही शोध उपाधियाँ मिलेंगी। ऐसे उत्कृष्ट शोधकार्यों को विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित किया जाएगा। हालाँकि ऐसा करने से पहले विशेषज्ञों की समिति इनकी गुणवत्ता को कई स्तरों पर परखेगी। इस गुणवत्ता के महत्त्वपूर्ण बिंदुओं में शोध प्रबंध के मौलिक सृजन के साथ विषय की सामयिक उपयोगिता भी है।

इन मौलिक शोध कृतियों का प्रकाशन देव संस्कृति की दिव्यता एवं जीवंतता को सिद्ध करेगा। प्रकाशन विभाग की उपलब्धियाँ विश्व मानव को भारत देश की सनातन संस्कृति की एक नई अनुभूति देंगी। सभी जान सकेंगे कि जिस महान् सांस्कृतिक वैभव को उन्होंने जीवाश्म समझ लिया था, दरअसल वह जीवंत है। अभी भी उसमें प्राण और ऊर्जा है। दुनिया भर के राष्ट्रों एवं मनुष्यों को अभी भी इससे प्राण और जीवन के वरदान मिल सकते हैं। शोध पत्रिका 'देव संस्कृति' एवं विभिन्न शोध-प्रबंधों के अलावा अन्य अगणित मौलिक रचनाएँ इस विभाग के द्वारा प्रकाशित की जाएँगी। उच्चस्तरीय विचारों के दिव्य निर्झर के रूप में यह विभाग सतत और अविराम क्रियाशील रहेगा। इस क्रियाशीलता के लिए इसे आवश्यक ज्ञान ऊर्जा विश्वविद्यालय के आचारवान् आचार्यों से मिलेगी। उनका तप ही इस विभाग का जीवन होगा। ❂

विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक जयंत नार्लीकर के पिता श्री विष्णु नार्लीकर ने केवल बी. एस-सी. तक शिक्षा पाई थी। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में महामना मालवीय जी ने उन्हें विभागाध्यक्ष नियुक्त किया। एक विदेश से एम. एस-सी. डिग्री प्राप्त प्रोफेसर ने इसका प्रतिवाद किया। महामना ने उत्तर दिया, "यह ठीक है कि आप विद्वान् हैं, परंतु नार्लीकर ज्ञानी हैं, तपस्वी हैं, ज्ञान और तप की महत्ता विद्या से अधिक है।"

संस्कृति सृजन में निपुण तपःपूत शिल्पी बनेंगे आचार्य

आचारवान् आचार्यगणों का तपस्वी जीवन देव संस्कृति की ऊर्जा का स्रोत है। आचार्यों के तप की प्रखरता इसे प्रखर बनाती है। उनके आचरण के प्राणबल से इसे प्राण मिलते हैं। आचार्यों के जीवन व चरित्र की शुद्धता से ही इसमें दैवी एवं दिव्य तत्त्वों का संचार होता है। सच तो यह है कि देव पुरुष आचार्यों ने ही भारत देश की संस्कृति को देव संस्कृति का स्वरूप दिया है। इसके सभी आदर्श आचार्यगणों ने अपने आचरण से गढ़े हैं। संस्कृति के स्वरूप एवं आचार्यों के जीवन में सब कुछ अनुक्रमानुपाती है। जैसे-जैसे आचार्यों के आचरण का प्राणबल घटता है, वैसे-वैसे संस्कृति अपना जीवन खोती जाती है। आचार्यों के तपपरायण न रहने से संस्कृति ऊर्जाहीन हो जाती है। आचार्यों के जीवन से आदर्शों का लोप होने से संस्कृति का अस्तित्व विलुप्त होने लगता है।

आज देश में यदि पुरातन सांस्कृतिक आदर्श विलुप्त हो रहे हैं, तो उसका कारण यही है कि आज केवल आचार्यों के जीवाश्म मिलते हैं। उनके जीवन में कहीं जीवंतता दिखाई नहीं देती। आज डिग्रियों के भाँति-भाँति के गहनों से अपने को सजाए हुए विद्वान् प्रोफेसर हैं, पर अपने आचरण से विद्यार्थियों के जीवन को गढ़ने वाले आचार्य नहीं हैं। आज विश्वविद्यालय में जो पढ़ाते हैं, उनके पास पुस्तक में छपे हुए शब्दों का भंडार है, लेकिन आचरण की अनुभूति नहीं है। बाहर से आकृति तो आचार्य की है, पर आंतरिक प्रकृति बिल्कुल भी वैसी नहीं है। जब पढ़ाने वालों का जीवन धन के इर्द-गिर्द परिक्रमा कर रहा हो, तब विद्यार्थियों का जीवन भी तो कुछ वैसा ही स्वरूप पाएगा। साँचे ही तो ढाँचों को गढ़ते हैं। आज के ढाँचों को देखकर सहज ही साँचों की कल्पना की जा सकती है। इस स्थिति में यदि कोई बदलाव संभव है, तो केवल आचार्यों का आचरण बदलने से। देव संस्कृति विश्वविद्यालय की स्थापना का आधार यही सोच है। यहाँ के संचालकों ने एक देव पुरुष आचार्य के आचरण से असंख्यों को गढ़ते, ढलते, बनते, बदलते, सँवरते, सुधरते देखा है। यह कथा 'कागद की लेखी नहीं, आँखिन की देखी है।' युगऋषि गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ऐसे ही आचार्य थे, जिनके चरणों के सान्निध्य में अगणित जीवनों ने देव संस्कृति के सत्य की अनुभूति पाई। सौ प्रतिशत हू-ब-हू उनके जैसा हो पाना न भी संभव हो, तो भी उनके द्वारा स्थापित आदर्शों के लिए स्वयं को निछावर तो किया ही जा सकता है। बढ़-चढ़कर उनकी बनाई-बताई राहों पर चलते हुए मरा और मिटा तो जा ही सकता है।

इससे कम में देश और धरती का सांस्कृतिक कायाकल्प होगा भी नहीं। ध्यान रहे कि जीवन से ही जीवन बदलते हैं। जलते हुए दीये ही दूसरे दीयों को जलाते हैं। चिनगारी ही फूस और लकड़ी को छूकर ज्वालाओं को जन्म देती है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय में ऐसे आचार्यों का आह्वान है, आमंत्रण है, प्रीतिभरा नेह-निमंत्रण है; उन प्राणवान्, तपस्वी आचार्यों को देश और विश्व के सांस्कृतिक नवोन्मेष के लिए बुलाया जा रहा है, जो साहसी हैं, संकल्पवान् हैं, जिनमें देव संस्कृति के लिए जीने-मरने का दम-खम है। बुलावा है उन्हें, जो शब्दों से नहीं जीवन से बात करते हैं। उनको निमंत्रण है, जिन्होंने अक्षरों की नहीं आचरण की सामर्थ्य जुटाई है। इन पंक्तियों के माध्यम से उन्हें पुकारा गया है, जिनकी प्रतिभा बिकने के लिए नहीं भारतमाता की सांस्कृतिक वेदी पर निछावर होने के लिए है। प्रतिभा के व्यापारियों को नहीं, संस्कृति-सृजन में निपुण समर्पित शिल्पियों को बुलाया जा रहा है।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय में उनका स्थान सुनिश्चित है, जिनके सामने महर्षि अरविंद का आदर्श है। जिन्होंने राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आदर्श के लिए बड़ौदा कॉलेज की ७१० रुपये की नौकरी छोड़कर कलकत्ता में नव स्थापित हुए नेशनल कॉलेज में मात्र १५० रुपये मासिक पर अध्यापन करना स्वीकार किया। इसी तरह जब महामना मदन मोहन मालवीय जी ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के सुप्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य रामचंद्र शुक्ल से बी.एच.यू. का हिंदी विभाग सँभालने का आग्रह किया। ठीक उसी समय आचार्य शुक्ल को कालाकाँकर के राजा का भी प्रस्ताव मिला। राजा साहब शुक्ल जी को साढ़े तीन हजार रुपये मासिक के साथ अन्य सुविधाएँ भी दे रहे थे। काम भी कुछ खास नहीं था। मालवीय जी के पास उन्हें केवल सवा

तीन सौ रुपये देने की क्षमता थी और काम भी बहुत था। अन्य सुविधाएँ बिल्कुल नहीं थीं, पर शुक्ल जी ने मालवीय जी के प्रस्ताव को चुना। उन्होंने कालाकाँकर के राजा साहब को मना करते हुए कहा—''राजा साहब, देश और संस्कृति के लिए कुछ कर गुजरने के अवसर जीवन में बार-बार नहीं आते।'' कालाकाँकर नरेश ने जब उन्हें कुछ और रुपये देने का लालच दिया, तो आचार्य शुक्ल बोले, ''मैं हिंदी का आचार्य हूँ, कोई व्यवसायी नहीं।''

ऐसे एक नहीं अनेक आचार्य इस देश की धरती में हुए हैं। विश्वास किया गया है कि अपनी धरती और अपनी संस्कृति से प्यार करने वाले अभी भी कम नहीं हुए हैं। भले ही उन्हें सही अवसर न मिल पाए हों। अभी भी ऐसी अनेकों प्रतिभाशाली आत्माएँ हैं, जिनके जीवन में देश की मिट्टी महकती है। जिनके हृदय अपने राष्ट्र और अपनी संस्कृति के प्रेम से स्पंदित होते हैं। जिनके पास बुद्धि के विचार-विस्तार के साथ हृदय की भाव विशालता भी है। जो देश और धरती की, राष्ट्र और मनुष्य की वेदना, टीस, कसक, तड़प और छटपटाहट को अनुभव कर सकते हैं। इस अनुभूति को लिए हुए तपस्वी आचार्यगण यहाँ अवश्य आएँगे, ऐसा विश्वास है। यह विश्वविद्यालय उनके लिए एक सौभाग्यपूर्ण सुअवसर है। युद्ध का बिगुल बजते ही वीरों से चुप नहीं बैठा जाता। उनके बाजू फड़कते हैं और उनमें हथियार चमकने लगते हैं। उनकी रग-रग में प्राण मचल उठते हैं, दुश्मन से लोहा लेने के लिए।

माता भवानी की संतानों की ही भाँति माता सरस्वती के पुत्र-पुत्रियों का भी यही हाल है। संस्कृति के नवोन्मेष का उद्घोष हो और वे बैठे रहें, सोए रहें, भला यह कैसे संभव है? उनकी सृजन-संवेदना उन्हें अधिक देर तक मूकदर्शक नहीं रहने देती। देव संस्कृति विश्वविद्यालय की स्थापना के उद्घोष के साथ ही, असंख्य प्रतिभावानों के हृदय संवेदित हो उठे हैं। उनके हृदयों में संस्कृति सृजन के संवेदन उठना स्वाभाविक भी है। देव संस्कृति के लिए कुछ कर गुजरने के पहले कदम के रूप में उन्हें कुलाधिपति या कुलपति, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, शांतिकुंज हरिद्वार के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिए। इसके बाद ही उन्हें मालूम हो सकेगा कि उन्हें कब, कैसे, कहाँ और क्या करना है।

देव संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप ही यहाँ आचार्यों के तीन स्तर होंगे- सहायक आचार्य, सह आचार्य एवं आचार्य। इन स्तरों का निर्धारण उनकी योग्यता, अनुभव, तप एवं समर्पण के आधार पर किया जाएगा। एक बात जो सब में एकसी होगी, वह है जीवन व चरित्र की शुद्ध, खरी प्रामाणिकता, अपने विषय की विशिष्ट योग्यता, देव संस्कृति के प्रति अनुराग एवं जीवन की तपस्वी रीति-नीति। **यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात ने आचार्य को परिभाषित करते हुए कहा कि मैं आचार्य उसे कहता हूँ, जो अपने आचरण से अपने विद्यार्थी में एक नई आत्मा को जन्म दे।** सुकरात स्वयं भी ऐसे ही आचार्य थे। उन्होंने अपने अनेकों विद्यार्थियों में यह कर दिखाया।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय के आचार्यों में तप की यही तेजस्विता चाहिए, क्योंकि यहाँ केवल विद्यार्थियों को केवल पाठ्यक्रम रटा-रटाकर परीक्षाएँ नहीं पास करवानी हैं। कुछ विशेष करना है। देश की धरती और विश्ववसुधा में नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रांति की ज्वालाएँ भड़कानी हैं। जिसके भीतर आग है, वही तो ज्वालाओं को जन्म देगा। बुझे हुए चिराग भला दूसरों में क्या लपटें पैदा करेंगे? आचार्यों के रूप में यहाँ जलते हुए रोशन चिराग चाहिए, जो अपनी उष्मा और उजाले से विश्वविद्यालय के विद्यार्थी जीवन में विचार क्रांति के लिए प्रतिबद्धता पैदा कर सकें।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति एवं महान् शिक्षाविद् सर आशुतोष मुखर्जी से एक सज्जन ने विश्वविद्यालय के आचार्यों की कमियाँ गिनाना शुरू किया। काफी देर तक तो वह सुनते रहे, फिर बोले—जैसा आप चाहते हैं कि दूसरे हों, वैसा अपने को बनावें। उनको बदलने के लिए स्वयं को बदलना आवश्यक है।

दिशावान, तनावमुक्त, व्यक्तित्ववान विद्यार्थी ही होगा मूल केंद्र में

विश्वविद्यालय का विद्यार्थी जीवन कई अर्थों में अनूठा एवं अनोखा है। यह व्यक्तित्व के समग्र एवं सम्यक् विकास का सार्थक प्रयोग है। देव संस्कृति के सत्यों एवं तत्त्वों को यहाँ प्रकट होना है। विश्वविद्यालय में विद्याभ्यास करने वाले विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को इस ढंग से विकसित किया जाना है कि उनकी संपूर्ण मौलिकता उनमें प्रकाशित हो उठे। यह काम आसान नहीं है। घिसी-पिटी लकीरों एवं बँधे-बँधाए ढर्रे पर चलने से यह मुमकिन नहीं। इसके लिए कुछ नए उपाय करने पड़ेंगे, कई नए प्रयोग करने पड़ेंगे। विद्यार्थियों के जीवन को सभी ग्रंथियों, सारे आंतरिक बंधनों से मुक्त करने के लिए अध्यात्म-विद्या की आवश्यक वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ अपनाई जाएँगी।

ये प्रयोग और प्रक्रियाएँ आसान नहीं हैं, पर इन्हें किए बिना भी गुजारा नहीं है। इनके बिना विद्यार्थी उस मानसिक बोझ और जटिल बंधनों से छुटकारा नहीं पा सकते, जिसे वे ढो रहे हैं, जिसमें वे कसे-बँधे हैं। यह काम स्नायविक शल्यचिकित्सा से भी ज्यादा कठिन है, लेकिन इस कठिन कार्य को यहाँ आसानी से किया जाएगा, क्योंकि देश के युवाओं को जीवन की सही दिशा मिल सकी, तो देश को सही दिशा मिलेगी। आज देश विपत्तिग्रस्त है, तो उसका कारण यही है कि देश के युवा विपत्ति में हैं। वे हारे-थके और दिग्भ्रमित हैं। उन पर भटकन इस कदर हावी है कि हताशा में आत्महत्या तक कर बैठते हैं।

युवाओं की इस विपत्ति को देव संस्कृति विश्वविद्यालय के संचालकों ने समझा है और उनकी मानसिक ग्रंथियों को खोलने के लिए आवश्यक आध्यात्मिक उपायों को जुटाने का संकल्प किया है। इस क्रम में सबसे पहली बात है-अहंकार भरी दौड़ की समाप्ति। सामान्य रीति-नीति यही है कि विद्यार्थियों को विद्यालय जीवन से ही एक गलाकाट प्रतियोगिता में उलझा दिया जाता है। इस प्रतियोगिता में जो उत्तीर्ण होते हैं, वे अहंकार के उन्माद से भर जाते हैं। जो अनुत्तीर्ण होते हैं, वे आत्महीनता और हताशा की खाइयों एवं गड्ढ़ों में गिर जाते हैं। कुल मिलाकर अपने जीवन-विकास में दोनों ही असफल रहते हैं। इस प्रतियोगिता की भागम-भाग में अपने जीवन की मौलिकता तो एकदम बिसर जाती है। एक दूसरे को पीछे छोड़ने और आगे निकलने की धुन में अपनी स्वयं की जिंदगी कब खो गई, पता ही नहीं चलता। विद्यालय से विश्वविद्यालय तक की इस अंधी दौड़ में विद्यार्थी सब कुछ गँवाते-ही-गँवाते हैं।

स्थिति से निपटने के लिए यहाँ अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को यह बताया जाएगा कि तुम्हारे विकास की राहें तुम में हैं। किसी के पीछे भागकर, किसी से अपनी तुलना करके तुम्हें स्वयं को नहीं गँवाना है। परमात्मा ने सबको अपना अंश समान रूप से दिया है। जरूरत उस दिव्यता को उजागर करने की है। यहाँ विद्यार्थियों को यह सिखाया जाएगा कि तुम्हें अपने विकास के लिए पूरे जीवट के साथ जुटना है। तुम्हें भरपूर मेहनत करनी है। जमकर पढ़ना-लिखना है, पर किसी से आगे निकलने के लिए नहीं, बल्कि अपने चरम बिंदु पर पहुँचने के लिए। तुम्हें अपनी चेतना के गौरीशंकर शिखर पर चढ़ना है। किसी से आगे तो उसे गिराकर, धक्का देकर भी निकला जा सकता है, पर अपने शरीर, मन, बुद्धि एवं भावना के विकास के चरम पर पहुँचने के लिए सदा अनवरत प्रयत्न की जरूरत है। किसी से आगे निकलने पर तो यात्रा थम सकती है, क्योंकि लक्ष्य छोटा था, जो पाना था वह मिल चुका, पर अपने चरम तक पहुँचने के लिए तो यात्रा सदा चलती है।

आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।

गुरुजनों की आज्ञा पर तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए।

—कालिदास (रघुवंश, १४/४६)

इस रीति-नीति में एक खास बात और भी है। इसमें दूसरों को गिराने में नहीं बल्कि उठाने में प्रसन्नता होती है, क्योंकि दूसरों से खतरा प्रतियोगिता में होता है, आत्मविकास में नहीं। 'प्रतियोगिता नहीं सहयोग' इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी जीवन की रीति-नीति होगी।

उपनिषद् युग के अनुरूप वे सदा ही अपने विकास के चरम तक पहुँचने के लिए तप-निरत रहेंगे। उन्हें बताया जाएगा कि अपना चरम तो 'अयमात्मा ब्रह्म' को जानने में है। स्वयं का परम विकास यही है। इस विकास को पाने का सूत्र है- '**Be and Make**' याने कि 'बनो और बनाओ।' यह प्रक्रिया जीवन के हर आयाम में चलनी चाहिए। शरीर स्वस्थ और समर्थ हो, प्राणबल प्रचंड हो, मन स्वच्छ हो और अंतरात्मा निर्मल हो। यही तो सही विकास है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय का विद्यार्थी जीवन इसी दिशा में आगे बढ़ेगा।

यहाँ के विद्यार्थियों के लिए विश्वविद्यालय में परामर्श केंद्र या काउंसिलिंग सेंटर खोला जाएगा। इस केंद्र में मनोवैज्ञानिक, विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ एवं अध्यात्मविद् होंगे। इस केंद्र की गतिविधियाँ और उद्देश्य शांतिकुंज के तपस्वी अध्ययन-अध्यापन से भिन्न होंगे। हालाँकि इसका संबंध विश्वविद्यालय के आचार्यगणों से होगा। यह परामर्श केंद्र पढ़ाई-लिखाई के रोजमर्रा के विषयों से हटकर विद्यार्थियों की निजी समस्याओं पर विचार करेगा। समस्याएँ किसी भी तरह की हों, विद्यार्थी इस केंद्र में आकर कह सकेंगे। इस केंद्र के सदस्य विद्यार्थियों के साथ उनके अभिभावकों से भी कहीं अधिक प्रेमपूर्ण बर्ताव करेंगे। सभी विद्यार्थी बेझिझक, बिना किसी संकोच के उनसे अपनी बात कह सकेंगे।

विद्यार्थियों की समस्याएँ यदि पढ़ाई-लिखाई से जुड़ी होंगी, तो परामर्श केंद्र के सदस्य संबंधित विषयों के आचार्यों से मिलकर उनके समाधान निकालेंगे। यदि समस्याएँ निजी और नितांत व्यक्तिगत जीवन से जुड़ी हैं, तो संवेदनशील सोच एवं मानव मन की विशेषज्ञता के आधार पर इसके समाधान जुटाए जाएँगे। परामर्श केंद्र का दायित्व विद्यार्थियों के उज्ज्वल भविष्य की राहें खोजना होगा। विश्वविद्यालय के विद्यार्थी यहाँ के परामर्श केंद्र से अपने कैरियर संबंधी आवश्यक परामर्श और उचित सहयोग बेझिझक प्राप्त कर सकेंगे।

यहाँ अध्ययन करने वाले विद्यार्थी देव संस्कृति विश्वविद्यालय के अंग-अवयव हैं और अध्ययन करने के बाद, दीक्षांत समारोह में अपनी उपाधि प्राप्त कर लेने के बाद भी ये सदा विश्वविद्यालय के अंग-अवयव बने रहेंगे। यहाँ से पढ़कर निकलने के बाद भी उनकी समस्याओं को सुनने और उन्हें सुलझाने में विश्वविद्यालय का परामर्श केंद्र उनके सहयोग व परामर्श के लिए तैयार और तत्पर रहेगा। इस सबका उद्देश्य एक ही है, ग्रंथिमुक्त, अवसादविहीन, कर्मठ, विचारशील, सहयोग कुशल युवा पीढ़ी का निर्माण। यहाँ ऐसे विद्यार्थी जीवन को गढ़ा, निखारा एवं तराशा जाएगा जो स्वयं दिशावान् हो और राष्ट्र, समाज व विश्वमानवता को सही उपयुक्त दिशा सुझा सके।

यहाँ का विद्यार्थी जीवन कभी भटकन की भूल-भुलैया में न उलझेगा। उसे यहाँ पर ऐसी जीवनदायिनी आध्यात्मिक औषधियाँ मिलेंगी कि उन्हें अहंकार का ज्वर कभी न सता सकेगा। गलाकाट प्रतियोगिता के स्थान पर आपसी सहयोग इनके जीवन की रीति-नीति होगी। यहाँ पर उनकी बौद्धिक विचारशीलता के साथ भावप्रवणता को भी जगाया जाएगा, क्योंकि इक्कीसवीं सदी में जन्मने और पनपने वाले उज्ज्वल भविष्य का आधार यही भाव संवेदना ही है। विश्वविद्यालय में उन्हें बताई गई प्रक्रियाएँ, सिखाए गए प्रयोग अध्ययन काल के साथ उनके भावी जीवन के लिए भी समर्थ सहायक की भूमिका निभाएँगे। विद्यार्थियों के लिए देव संस्कृति विश्वविद्यालय एक नए संसार की संरचना है। जो अपेक्षाकृत दिव्य है, उत्कृष्ट है, देवत्व से भरपूर है। ऋषियों की भूमि पर बसे इस आलोक-लोक में प्रवेश के लिए विश्वविद्यालय की प्रवेश प्रक्रिया से गुजरना अनिवार्य रहेगा।

⁂

जह दीवा दीवसय, पईप्पए सो य दीप्पए दीवो।
दीवसमा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति॥

जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाशमान होता हुआ अपने स्पर्श से अन्य सैकड़ों दीपक जला देता है, उसी प्रकार सद्गुरु आचार्य स्वयं ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित होते हैं एवं दूसरों को प्रकाशमान करते हैं।

– आचार्य भद्रबाहु

प्रवेश हेतु पात्रता के परीक्षण की कसौटियाँ

विश्वविद्यालय में प्रवेश की प्रक्रिया से गुजरना सभी प्रवेशार्थियों के लिए अनिवार्य है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय में अध्ययन के इच्छुक छात्र-छात्राओं को इस कसौटी पर अपने को खरा साबित करना होगा। यह पात्रता के परीक्षण की कसौटी है। इसके द्वारा विद्यार्थी का देव संस्कृति के प्रति अनुराग, अध्ययन के लिए चुने गए विषय के प्रति रुचि, उस विषय का ज्ञान, छात्र या छात्रा की भविष्यत् संकल्पनाएँ आदि सभी बिंदुओं को जाँचा-परखा जाएगा। यह प्रवेश प्रक्रिया बहुआयामी और व्यापक होगी। इसके मानदंड भी अन्य विश्वविद्यालयों से काफी अलग होंगे। यहाँ अध्ययन करने के इच्छुक छात्र या छात्रा के लिए बौद्धिक प्रतिभाशाली या अपने विशेष विषय के ज्ञान में निपुण होना भर पर्याप्त नहीं है। ऋषि-संस्कृति के इस विद्या साधना केंद्र में प्रवेश के लिए उनके समग्र व्यक्तित्व का इसके अनुरूप होना जरूरी है।

प्राचीनकाल में भी ऋषिगण अपने यहाँ अध्ययन के लिए आने वाले छात्र-छात्राओं की प्रवेश परीक्षा लिया करते थे। यह प्रक्रिया लिखित-मौखिक होने के साथ प्रयोगात्मक भी होती थी। वैदिक साहित्य की आख्यायिकाओं से पता चलता है कि ऋभु और कल्पक को महर्षियों ने प्रवेश देने से पहले कई तरह की परीक्षाओं से गुजारा। उन्हें अनेकों कसौटियों पर कसा। सत्यकाम जाबाल की मौखिक परीक्षा का प्रसंग तो सर्वविख्यात है। महर्षि गौतम ने उसकी परीक्षा से संतुष्ट होकर ही उसे विद्या प्राप्ति का अधिकारी माना। यह प्रवेश परीक्षा जितनी महत्त्वपूर्ण छात्रों के लिए थी, उतनी ही छात्राओं के लिए भी थी। घोषा, काक्षीवती, चित्रमहा, गौपायना, अदिति दाक्षायणी जैसी अगणित छात्राओं के प्रवेश परीक्षा में उत्कृष्ट प्रदर्शन करने के अनेकों प्रसंग मिलते हैं। न केवल प्रवेश प्रक्रिया में बल्कि अपने अध्ययन काल में ये सभी छात्राएँ प्रखर मेधा का परिचय देती रहीं। इनमें से कुछ तो अपने सहपाठी छात्रों से काफी आगे रहीं।

प्रवेश प्रक्रिया की कसौटियाँ ऐतिहासिक युग में भी बनी रहीं। सुविख्यात इतिहासवेत्ता प्रो. ए.एस. अलतेकर, डॉ. राजबली पांडेय, प्रो. आर.सी. मजूमदार, डॉ. भंडारकर आदि ने इस संबंध में काफी प्रमाण जुटाए हैं। पुराविद् अलैक्जेंडर कनिंघम, सर जॉन मार्शल एवं मार्टीमर व्हीलर ने भी कई अभिलेखों के आधार पर इसे प्रमाणित किया है। प्राप्त विवरण के आधार पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, वल्लभी, उदयंतपुर आदि सभी प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में छात्रों की प्रवेश परीक्षा ली जाती थी। यहाँ प्रवेश किसी जाति भेद के आधार और अधिकार से नहीं, विषय और व्यक्तित्व की योग्यता प्रमाणित होने पर मिलता था।

ऐतिहासिक विवरण के अनुसार विक्रमशीला विश्वविद्यालय में छह संकाय थे। इनमें से प्रत्येक संकाय एक महाविद्यालय के रूप में विकसित था। इस तरह इस विश्वविद्यालय के परिसर में छह संकाय के छह महाविद्यालय स्थित थे। इनमें प्रवेश के लिए विश्वविद्यालय में छह द्वार थे। इनमें से प्रत्येक द्वार पर एक द्वार पंडित होता था। वह प्रवेशार्थी की योग्यता की परीक्षा लेकर उसको विश्वविद्यालय के किसी विशेष संकाय में प्रवेश की अनुमति देता था। छात्रावासों की प्रबंध व्यवस्था की देखभाल करना भी इन द्वार पंडितों का कार्य था। ये छह द्वार केंद्रीय सभागार में थे। इनका एक-एक द्वार एक-एक महाविद्यालय में खुलता था।

> **भारतीय इतिहास अत्यंत दुर्गम है। इसकी शोध केवल इतिहास का विवेचन नहीं है, वह मनुष्य की पूर्णताओं के क्रमिक विकास का अध्ययन है, जो बाह्य रूप में सभ्यता है और आंतरिक रूप में अध्यात्म की उन्नति है।**

प्रो. अलतेकर द्वारा दिए गए विवरण के अनुसार राजा चनक (९५५-९८३ ई.) के समय में छह द्वार पंडित इस प्रकार थे-

१. पूर्वी द्वार – आचार्य रत्नाकर शांति

२. पश्चिमी द्वार – आचार्य वागीश्वर कीर्ति

३. उत्तरी द्वार – आचार्य नरोप

४. दक्षिणी द्वार – आचार्य प्रज्ञाकर मति

५. प्रथम मध्यद्वार – आचार्य रत्नबज्र
६. द्वितीय मध्यद्वार – आचार्य ज्ञानश्री मित्र

ये सभी आचार्य अपने-अपने संकायों की प्रवेश प्रक्रिया के प्रभारी थे। इनके अधीन दूसरे सह आचार्य एवं सहायक आचार्य कार्य करते थे। जो इन प्रभारी आचार्यों को सहयोग देते थे। ऐतिहासिक तथ्य बताते हैं कि प्रवेश प्रक्रिया लिखित, मौखिक और प्रायोगिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने पर ही पूरी होती थी। इसमें समग्र व्यक्तित्व का आकलन किया जाता था।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रवेश मानदंड भी अपने भारत देश के इन सांस्कृतिक आदर्शों के अनुरूप ही हैं। यहाँ पर देश-विदेश से आने वाले छात्र और छात्राएँ प्रवेश प्रक्रिया के लिए विविध परीक्षाओं से गुजरेंगे। इन परीक्षाओं में **सबसे पहली परीक्षा देव संस्कृति के प्रति अभिरुचि एवं सांस्कृतिक ज्ञान के बारे में होगी।** भारत की सनातन संस्कृति के आदर्शों, मूल्यों, प्रयोगों एवं परंपराओं के बारे में विद्यार्थी का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इस प्रथम परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर अन्य परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच की जाएगी। यह दूसरी परीक्षा अध्ययन-विषय से संबंधित होगी। इसमें विषय के प्रति लगाव एवं उसके ज्ञान को परखा जाएगा।

इसके बाद प्रवेशार्थियों का व्यक्तित्व परीक्षण होगा। व्यक्तित्व के समग्र आकलन के लिए सार्थक और कारगर मनोवैज्ञानिक परीक्षण उपयोग में लाए जाएँगे। इन परीक्षणों से छात्र-छात्राओं के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को जाँचा, परखा और जाना जाएगा। छात्र की जीवन नीति क्या है ? उसके जिंदगी के आदर्श क्या हैं ? वह भविष्य में क्या बनने का इच्छुक है ? उसकी कल्पनाएँ और मान्यताएँ क्या हैं ? आदि सभी सवालों को ढूँढ़कर ही प्रवेशार्थियों का प्रवेश सुनिश्चित किया जाएगा।

विश्वविद्यालय के संकायाध्यक्ष, विभागाध्यक्ष एवं आचार्य जब भलीभाँति प्रवेशार्थी से संतुष्ट होंगे, तभी वह यहाँ अध्ययन का अधिकारी होगा। इसी प्रकार विद्यार्थी को भी विश्वविद्यालय के आदर्शों, उद्देश्यों एवं क्रियाकलापों को जानने का अधिकार है। अच्छा यही है कि प्रवेशार्थी इन्हें भली-भाँति जानकर और जाँच-परखकर ही प्रवेश के लिए आवेदन करें। यह विश्वविद्यालय सचमुच ही विश्वभर का विद्यालय है। इसे देव संस्कृति के अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन एवं शोध केंद्र के रूप में विकसित किया जा रहा है। यहाँ की गतिविधियों के सभी मानदंड आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य को ध्यान में रखकर बनाए गए हैं। यहाँ विश्वमानव की सभी समस्याओं के हल विश्वभर के छात्र मिल-जुलकर खोजेंगे।

इन बड़े उद्देश्यों का भार सत्पात्र ही उठा सकेंगे। हलके मन वाले, शिक्षा को केवल धन कमाने का जरिया समझने वाले, मनोविनोद के लिए या भाँति-भाँति की उपाधियों को बटोरने के लिए पढ़ने वाले छात्रों के लिए यह स्थान नहीं है। ऐसे लोग न सुपात्र हैं और न सत्पात्र। इसलिए उनका प्रवेश भी यहाँ संभव नहीं। यहाँ पढ़ने के लिए ज्ञान साधना के प्रति प्रबल अनुराग चाहिए। यहाँ प्रवेश के लिए जरूरी है, स्वयं के व्यक्तित्व को विकसित करने की तीव्रतम चाहत। जो यहाँ प्रवेश चाहते हैं, उनमें संस्कृति-साधना के लिए भावभरा समर्पण होना चाहिए। यह सब होने पर ही यहाँ प्रवेश संभव है। उत्कृष्ट बीज ही यहाँ की ऋषि भूमि में बोए जाएँगे। उन्हें खाद-पानी जुटाने का हर आवश्यक जतन किया जाएगा और फिर महान् व्यक्तित्व के पौधों की कतारें यहाँ पनपेंगी। जिन्हें बाद में उनके नियति विधान के अनुसार विश्व के विभिन्न भू-भागों में रोपा जाएगा। यहाँ जो होगा वह अक्षरों का नहीं, अनुभूति का विषय है। इससे लाभान्वित होने के लिए पुण्यवान्, तपपरायण एवं मेधावान् प्रवेशार्थी ही चयनित होंगे। उन्हें ही इस विश्वविद्यालय के वातावरण में रहकर विद्या साधना करने का सुयोग सुअवसर मिल पाएगा। ❐

देव संस्कृति कहती है—किसी भी सेवा कर्म को कीजिए, लेकिन उसमें रम जाइए, निरहंकार बनिए, निःस्वार्थ बनिए। यह मत भूलिए कि आपको उस कर्म से समाजरूपी ईश्वर की पूजा करनी है और उत्तरोत्तर वह सेवा कर्म अधिकाधिक उत्कृष्ट करते हुए इस देहभाव को छूट जाने दीजिए और आत्मभाव बन जाने दीजिए। देव संस्कृति का अर्थ है—सेवा की, कर्म की अपरंपार महिमा।

दिव्य वातावरण में नवयुग का संस्कृति-सृजन

विश्वविद्यालय का वातावरण पुरातन ऋषियों की सनातन साधना से स्पंदित है। शांतिकुंज से आधा किलोमीटर दूर हरिद्वार-ऋषिकेश मार्ग पर यह विद्या साधना केंद्र अवस्थित है। प्रकृति की सुरम्यता, आम्र वृक्षों की सघनता, पुष्प वाटिकाएँ चारों ओर से इस देव संस्कृति विश्वविद्यालय की भूमि एवं भवन को घेरे हैं। हिमालय की शिवालिक पर्वतमालाएँ इस पर अपनी सुषमा की अविराम वृष्टि करती हैं। गंगा की लहरों को छूकर आती बयार यहाँ पावनता का संचार करती है। यहाँ के प्राकृतिक परिवेश एवं पर्यावरण को छूकर मन के सारे संताप स्वयं शांत हो जाते हैं। देवात्मा हिमालय की छाँव के आच्छादन एवं माता गंगा के पावन जलकणों के अभिसिंचन ने यहाँ आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि की है। इसके अद्भुत प्रभावों को यहाँ आने और रहने से ही जाना जा सकता है।

यह वातावरण विद्या साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वातावरण उपयुक्त और ऊर्जावान हो तो मनुष्य का मानसिक विकास बड़े ही सहज ढंग से हो जाता है। वातावरण और मानव मन के जुड़ाव को आधुनिक विज्ञानवेत्ता भी स्वीकारने लगे हैं। मानव मन के मर्मज्ञ एडवर्ड ब्यूरिन ने 'इन्वायरन्मेंटल इफेक्ट्स ऑन ह्यूमेन माइंड' में इस संबंध में काफी कुछ विचार किया है। वह कहते हैं, मनुष्य के मन-मस्तिष्क पर वातावरण के असर पड़े बिना रह नहीं सकते। प्रो. ब्यूरिन का कहना है कि वातावरण शांत, सुखद हो, तो मन-मस्तिष्क स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं। ज्ञान के नए आयाम खुलते हैं। मनुष्य की अंतर्चेतना में अनेकों उच्चस्तरीय जिज्ञासाएँ और अभीप्साएँ पनपती हैं। वातावरण के कलुषित और कलहपूर्ण होने पर इसके उलटे असर नजर आते हैं। मन अनायास ही कुंठित एवं विषादग्रस्त हो जाता है। उसकी सृजन-संवेदना मुरझाने लगती है। अध्ययन की अभिवृद्धि कुम्हला जाती है।

प्राचीनकाल के महर्षियों ने वातावरण के इसी वैज्ञानिक सत्य को अपने विद्या केंद्रों की स्थापना में अपनाया था। उन्होंने प्राकृतिक सुरम्यता के मध्य विश्वविद्यालय बनाए थे। महर्षिगण स्वयं भी नगरों की अपेक्षा प्राकृतिक और आध्यात्मिक वातावरण को अधिक पसंद करते थे। उनका मानना था कि भीड़ भरे कोलाहल एवं विलासपूर्ण जीवन में शिक्षा का वातावरण पवित्र बना नहीं रह सकता। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुंतलम् में इसी तथ्य को स्पष्ट किया है। इसमें भारत देश के सुविख्यात कुलपति महर्षि कण्व के शिष्य शांर्गरव कहते हैं, "विद्याभ्यासी मुनिजनों को एकांत स्थान ही अधिक पसंद है। भीड़ से भरे हुए स्थान उन्हें ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे वे अग्नि से घिरे हों।"

देव संस्कृति के अभ्युदय काल में विद्या केंद्रों एवं विश्वविद्यालयों का निर्माण ऐसे स्थानों पर किया जाता था, जो प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर हों, जहाँ जल सुलभ हो और जीवन की सुविधाएँ जुटाई जा सकती हों। साथ ही नगरों से इतनी अधिक दूरी पर भी न हो, जहाँ विद्यार्थी, अभिभावक और अन्य जिज्ञासु जन न पहुँच सकें। इस दृष्टि से नदियों के तटवर्ती प्रदेशों और पर्वतों की तलहटियों को विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थान समझा जाता था। यहीं कुलपति एवं आचार्य निवास करते थे। अध्ययन के लिए आने वाले छात्र और छात्राएँ अपनी विद्या-साधना और तपपरायण जीवन से यहाँ के वातावरण के सौंदर्य में अभिवृद्धि करते थे।

संसाराम्बुनिधावस्मिन्वासनाम्बुपरिप्लुते।
ये प्रज्ञानावमारूढास्ते तीर्णाः पंडिताः परे॥

वासनारूपी जल से परिपूर्ण इस संसार-सागर में जो प्रज्ञारूपी नौका पर बैठे हैं, वे विद्वान् पार पहुँच गए हैं।

—महोपनिषद्

कुलपति महर्षि कण्व की विद्या साधना का केंद्र मालिनी नदी के तट पर स्थित था। '**एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीर विश्वविद्यालयो दृश्यते।**' इस स्थान का वर्णन करते हुए महाकवि कालिदास कहते हैं, "अपने गुरुजनों के साथ छात्र और छात्राएँ यहाँ सदा से तपपरायण होकर विद्या साधना करते हैं। यहाँ सुंदर वाटिकाएँ हैं। इन

पर आने-जाने का मार्ग बनाया गया है।'' यज्ञों की परंपरा तो सदा ही देव संस्कृति का प्राण रही है। महाकवि कालिदास महर्षि कण्व के विद्या केंद्र में यज्ञ दर्शन कराते हुए कहते हैं- **'भिन्नो रागः किसलयरुचा-माज्यधूमोद्गमेन।'** अर्थात्- यज्ञ के धुएँ के निरंतर उठने से समीपस्थ वृक्षों के किसलयों की लालिमा कुछ अलग हो गई है।

महर्षि वसिष्ठ ने वातावरण की महिमा से अभिभूत होकर उच्चस्तरीय विद्या-साधना के लिए एक और विश्वविद्यालय हिमालय की तलहटी में स्थापित किया था। हालाँकि उनके द्वारा स्थापित एक विश्वविद्यालय पहले से ही अयोध्या में था। उनके हिमालय स्थित विश्वविद्यालय के वातावरण के सौंदर्य का वर्णन करती, महाकाव्य रघुवंश की पंक्तियाँ हैं- **गङ्गाप्रपातान्तविरूढ़शष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश।** *यहाँ चारों ओर घना मनोरम वन था। इस वन में विविध वनस्पतियाँ थीं और पशु-पक्षी विचरण करते थे। इस वन में प्रपात थे और हिमालय की गुफाएँ थीं।*

मौर्य साम्राज्य के महामंत्री आचार्य चाणक्य ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना के साथ एक गौरवपूर्ण विद्या केंद्र की स्थापना की। इसका वातावरण बहुत ही सुरम्य एवं महान् आचार्य की तप साधना की ऊर्जा से ओत-प्रोत था। प्रसिद्ध नाटककार विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में इस विश्वविद्यालय के वातावरण को चित्रित किया है। इस चित्रण में कुलपति आचार्य चाणक्य के तप और सादगी का प्रकाश है। **'शरणमपिसमिद्भिःशुष्यमाणाम्भिराभिर्विनिमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्य'** (३.१५) अर्थात् छात्रों द्वारा वन से लाई हुई समिधाएँ छत पर सूखने के लिए डाली गई हैं। छत का किनारा कुछ झुका हुआ है। आचार्य के कुटीर की दीवारें पुरानी हैं। विशाल मौर्य साम्राज्य के संस्थापक और समर्थ महामंत्री होते हुए भी कुलपति आचार्य चाणक्य की तप-साधना अद्भुत थी। इस तप ने ही उनके विश्वविद्यालय के वातावरण को आध्यात्मिक ऊर्जा से भरपूर किया था।

देव संस्कृति के इसी गौरव की स्थापना देव संस्कृति विश्वविद्यालय में भी हुई है। यहाँ का दृश्य वातावरण जितना सुरम्य है, अदृश्य वातावरण उतना ही सुरभित है। पौराणिक साहित्य में यह स्थान सप्तऋषि क्षेत्र के रूप में वर्णित है। विश्वविद्यालय की भूमि में साधना के अमिट संस्कार हैं। इसे प्रमाणित करने वाले कतिपय महत्त्वपूर्ण चिह्न भवन निर्माण के दौरान मिले हैं। इन संस्कारों को जाग्रत् करने के लिए पुनः शांतिकुंज की तरह तप की प्रक्रिया अपनाई जा रही है। इस तप-साधना में विश्वविद्यालय के आचार्यगणों के साथ सभी छात्र एवं छात्राओं को मिलकर भागीदारी निभानी है। गायत्री महामंत्र के जप एवं नियमित यज्ञ से यहाँ की आध्यात्मिक ऊर्जा सहस्रगुणित होगी।

यज्ञीय उष्मा एवं तप-साधना के प्रकाश में विद्यार्थी एवं आचार्यगण सम्मिलित रूप से यहाँ विद्या-वैभव के साथ आत्मवैभव का भी अर्जन करेंगे। इस भूमि का सुरम्य परिवेश प्रकृति ने बनाया है और यहाँ के आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण पुरातन ऋषियों ने किया है। विदेशी पुराविद् ए. रिचर्ड सहित कई देशी पुराविशेषज्ञों ने शिवालिक के सर्वेक्षण में इसके तपोभूमि एवं यज्ञभूमि होने के प्रमाण पाए हैं। इस दिव्य भूमि में देव संस्कृति विश्वविद्यालय का आविर्भाव पुरातन का नवोन्मेष है। दिव्य वातावरण में नवयुग का संस्कृति-सृजन है। यहाँ संचालित हो रही विद्या-साधना में अपनी भागीदारी निभाने वाले आचार्यगण एवं छात्र-छात्राएँ यहाँ के वातावरण की दिव्यता को अपने मन, प्राण एवं अंतःकरण में अनिवार्य रूप से अनुभव करेंगे। वातावरण के अदृश्य, किंतु समर्थ सहयोग से उनकी प्रज्ञा, मेधा एवं आत्मिक क्षमताओं का आश्चर्यजनक विकास होगा। यह कोई काल्पनिक बात नहीं, बल्कि देखा, परखा और अनुभव किया जाने वाला सच है। बस इस अनुभूति के लिए अनुशासन की तप साधना चाहिए, जिसका पालन विद्यार्थियों के लिए ही नहीं आचार्यों के लिए भी अनिवार्य होता है।

◆

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

प्रणाम, विवेक के साथ प्रश्न और गुरु की सेवा करने से तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे, उनसे उस ज्ञान को तू जान।

– गीता, ४।३४

अनुबंधों-व्रतबंधों की अनुशासन मर्यादाएँ

अनुशासन की तप-साधना देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रत्येक आचार्य एवं छात्र-छात्रा के लिए अनिवार्य कर्त्तव्य है। इसका लक्ष्य सच्चा आत्मस्वामित्व है। जीवन की सामान्य रीति-नीति बड़ी अनगढ़ होती है। अवांछनीय आदतों और कुसंस्कारों की अनेकों विवशताएँ इसे घेरे रहती हैं। इस मजबूरी में चाहे-अनचाहे ऐसा हो जाता है, जो जीवन के सोचे गए लक्ष्य एवं चुनी हुई दिशा से पूरी तरह से उल्टा है। आवेग और आवेश में ऐसे कृत्य हो तो जाते हैं, परंतु बाद में विचार और विवेक के जगने पर बड़ी शर्मिंदगी होती है। अंतश्चेतना पश्चात्ताप से पीड़ित होती है। मन में बार-बार सवाल उठता है, ऐसा हुआ ही क्यों? ऐसा किया ही क्यों गया? ऐसे सवाल का एक ही सार्थक हल है- अनुशासन की तप-साधना।

अनुशासन का तप करने वाले को अपने जीवन में कभी पछताना नहीं पड़ता। उसकी जिंदगी कभी अँधेरे गड्ढों में नहीं गिरती। उसके जीवन में ठहराव, रुकावट के क्षण नहीं आते। जीवन-पथ पर उसे प्रारब्ध या परिस्थितियों के अवरोध तो मिलते हैं, पर अनुशासन के तपस्वी को ये सब मिलकर रोक नहीं पाते। जिसकी अनुशासन में निष्ठा दृढ़ है, उसे पीछे नहीं मुड़ना पड़ता। मुड़-मुड़कर देखने, पीछे कदम हटाने जैसी स्थितियाँ अनुशासन के व्रती जनों के जीवन में नहीं आ पातीं। अनुशासन की तप-साधना से उत्पन्न ऊर्जा उन्हें निरंतर गतिशील बनाए रखती है। राह में आने वाले पहाड़ जैसे अवरोध इसके प्रभाव से बरबस अपने आप ही हटते और मिटते हैं।

इस बहुप्रचलित, बहुप्रचारित तप-साधना के यथार्थ स्वरूप से बहुसंख्यक जन अपरिचित हैं। जिन्हें इससे परिचित होने का विश्वास है, वे भी प्राय: भ्रमित हैं। ऐसे लोग अनुशासन को पराधीनता, परवशता या जबर्दस्ती लादी गई बेबसी-मजबूरी मानते हैं, लेकिन ये मान्यताएँ वास्तव में भ्रमित चित्त की देन हैं। दरअसल ऐसा अनुशासन को शासन का पर्याय मानने से होता है, जबकि ऐसा है नहीं। शासन केवल नियंत्रण या नियमन है। इससे काफी अलग- अनुशासन, आत्मनियंत्रण से आत्मस्वामित्व का विकास है। प्राचीन गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में इस बारे में काफी कुछ कहा गया है। देव संस्कृति की परंपरा एवं मर्यादा के अनुसार कुलाधिपति एवं उपकुलपति आचार्यों को व्रत-विधान एवं अनुशासन के सूत्र देते रहे हैं और आचार्यगणों ने ये सूत्र अंतेवासी अपने छात्र-छात्राओं को दिए हैं।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय में इसी सांस्कृतिक निष्ठा का पालन किया जाएगा। कुलाधिपति एवं उपकुलपति यहाँ अध्यापन, शोध का मार्गदर्शन एवं शिक्षण करने वाले आचार्यों को अनुशासन के सम्यक् सूत्र देंगे और आचार्यगण छात्र-छात्राओं के समक्ष इनका जीवंत आदर्श प्रस्तुत करते हुए उन्हें इनके सत्य का प्रबोध कराएँगे। यहाँ से जुड़ने वाले, अध्ययन-अध्यापन करने वाले प्रत्येक छात्र एवं आचार्य को अनुशासन के सत्य को सीखना, समझना और अपनाना होगा। लेकिन यह ठीक तरह से तभी संभव है जब यह समझ लिया जाए कि अनुशासन कोई शासन की दंड व्यवस्था नहीं बल्कि आत्मविकास के मनोवैज्ञानिक सूत्र हैं। इन्हें मानने और अपनाने से जहाँ समग्र जीवन में वास्तविक विकास होगा, वहीं इनकी अवहेलना करने से जीवन का पथ से विचलित होना, भटक जाना सुनिश्चित है।

आत्मज्ञानंसमारंभस्तितिक्षाधर्मनित्यता।
यमर्थान्नापकर्षन्तिसवैपंडितउच्यते ॥

आत्मज्ञान, कार्यों का समारंभ,
तितिक्षा, धर्म में स्थिरता—ये सब गुण
जिसको उद्देश्य से दूर नहीं हटाते,
उसी को पंडित कहा जाता है।

—महाभारत, उद्योगपर्व, ३३/१५

महासागर के विराट् स्वरूप को अपना लक्ष्य मानने वाली गंगा-यमुना जैसी समर्थ नदियाँ भी तटबंध को व्रतबंध मानकर अग्रसर होती हैं। किनारों का अनुशासन यदि ये न मानें, तो इनका जीवन-जल कबका राह में बिखरकर नष्ट हो गया होता। जब कभी किसी प्राकृतिक दबाव में यह अनुशासन थोड़े-बहुत समय के लिए टूटता है, तो बाढ़ जैसे

प्रलयंकारी उपद्रव ही खड़े होते हैं। यह अल्पकालिक अनुशासनहीनता भी विनाश की विभीषिका को ही जन्म देती है, जबकि अनुशासन की महिमा से इनकी राहों में अगणित जीव-जंतु, जमीन-जंगल अपनी प्यास बुझाते हैं और अनेक जीवनदायिनी फसलें लहलहाती हैं।

अनुशासन के तप का अर्थ जीवन की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक सभी तरह की शक्तियों के क्षरण को रोककर, इनका जीवन के सार्थक उद्देश्य के लिए संकल्पनिष्ठ सुनियोजन है। इसमें देव संस्कृति के दैवी एवं दिव्य स्वरूप का परिचय भी निहित है। विश्वविद्यालय के अनुशासन सूत्रों के सृजन का सार यही है। इन सूत्रों में सबसे पहला स्थान चिंतन के सूत्रों का है। ये निम्न हैं- १. अपने चिंतन को पवित्र एवं निष्कपट बनाए रखेंगे। २. अपने चिंतन को सभी तरह के मनोविकारों से रहित करने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे। चरित्र के सूत्रों का महत्त्व अधिक है। इनके अनुसार- १. कर्त्तव्यपालन एवं आत्मनियंत्रण जीवन का एक अभिन्न अंग है। २. यहाँ के सभी जन साधना एवं संयम के चारित्रिक आदर्शों का पालन करेंगे। ३. आचार्य एवं विद्यार्थी सभी सामाजिक मर्यादाओं एवं वर्जनाओं का पालन करेंगे।

व्यवहार के सूत्रों में पहली बात यही है कि किसी भी संस्कृति का प्रथम परिचय उसकी वेशभूषा से होता है। इसलिए प्रत्येक आचार्य/आचार्या, छात्र व छात्राएँ भारतीय वेशभूषा धोती-कुर्ता अथवा कुर्ता-पायजामा/ साड़ी-ब्लाउज अथवा सलवार-कुर्ता एवं दुपट्टा धारण करेंगे/करेंगी। २. विश्वविद्यालय परिसर में किसी भी तरह का नशा (शराब, बीड़ी, सिगरेट, पान, तंबाकू, गुटका आदि) पूर्णतया वर्जित है। ३. व्यवहार में शिष्टता-शालीनता एवं पारस्परिक सौमनस्य का सभी ध्यान रखेंगे। ४. विश्वविद्यालय की प्रार्थना, सभा एवं यज्ञ आदि कार्यक्रमों में सभी की नियमित भागीदारी अनिवार्य होगी। ५. आचार्यगण अपने शिक्षण संबंधी दायित्वों का एवं विद्यार्थीगण अपने अध्ययन संबंधी दायित्वों का अनिवार्य रूप से पालन करेंगे। ६. छात्र-छात्राओं की विशेष रूप से पुस्तकालय सहित प्रत्येक कक्षा में ७५% उपस्थिति अनिवार्य होगी। इसके अतिरिक्त लोकसेवी के लिए बताई गई आचार्यश्री द्वारा निर्धारित आचार संहिता भी लागू होगी। वरिष्ठता की कसौटी विनम्रता होगी।

आचार्यों को इन अनुशासन सूत्रों का प्रबोध एवं उनकी अनुशासन निष्ठा की परख कुलाधिपति या कुलपति स्वयं अथवा उनके प्रतिनिधि के रूप में उपकुलपति एवं संकायाध्यक्ष (डीन) करेंगे। इनके द्वारा दिए गए दिशा-निर्देशों का पालन करना एवं इनके मार्गदर्शन को स्वीकारना सभी आचार्यगणों के लिए अनिवार्य होगा। छात्र-छात्राओं को अनुशासन-सूत्र प्रदान करने का कार्य संबंधित आचार्यगण करेंगे। इनमें समय-समय पर बदलाव एवं विकास होता रहेगा, परंतु इनकी यही मूल भावना यथावत् बनी रहेगी।

प्रत्येक की अनुशासन निष्ठा से उसके साधनात्मक साहस की परख होगी। दरअसल यह मानवी चेतना में जन्म लेने वाला, आंदोलित होने वाला रोमांचक अभियान है। इसलिए महर्षि अरविंद ने इस अनुशासन निष्ठा को Real Adventure in Human Consciousness (मानव चेतना में किया जाने वाला सच्चा साहस) कहा है। अपने विकसित रूप में यह अभियान अवांछनीय आदतों एवं कुसंस्कारों के विरुद्ध होता है। संकल्प के धनी अनुशासननिष्ठ, अनेक निम्नगामी आकर्षणों से मुक्त होने में सफल होते हैं और आत्मसत्ता के दिव्य एवं दैवी आकर्षण का ऊर्ध्वगामी वेग प्राप्त करते हैं। इसीलिए अनुशासननिष्ठ को ही साधक कहा गया है। यह सही मायने में कुलाधिपति एवं आचार्यों के बीच तथा आचार्य एवं छात्रों के बीच विकसित होने वाला साधनात्मक अनुबंध है। इन अनुबंधों एवं व्रतबंधों की अनुशासन मर्यादाओं को स्वीकार करने वाले आचार्य एवं छात्र-छात्राएँ यहाँ की शिक्षण प्रक्रिया की मौलिकता का सृजन करेंगे। ❐

सर्वत्ररमतेप्राज्ञःसर्वत्रचविराजते ।
नविभीषयतेकश्चिद्भीषितोनबिभेतिच॥

विद्वान् पुरुष सर्वत्र आनंद में रहता है और सर्वत्र उसकी शोभा होती है। उसे कोई डराता नहीं है और किसी से डराने पर भी वह डरता नहीं है।

—महाभारत, शांतिपर्व, १३९/८७

शिक्षण प्रक्रिया की मौलिकता—अज्ञान का निवारण

शिक्षण प्रक्रिया की मौलिकता छात्र-छात्राओं के समग्र एवं सार्थक विकास के लिए है। इस बारे में प्रचलित रीति-नीति के अधूरे और एकांगी होने से सभी परिचित व परेशान हैं। शिक्षा मनीषी इवान इलिच ने तो इसकी व्यर्थता से हैरान होकर 'डिस्कूलिंग सोसाइटी' तक की कल्पना कर डाली है। अपने चिंतन में उन्होंने कुछ मौलिक सवाल उठाए हैं- क्या शिक्षा का स्मरण शक्ति के विकास तक सीमित रहना उचित है? ऐसी शिक्षा से क्या फायदा जिससे विद्यार्थी के नैतिक व सामाजिक मूल्य विकसित न हो पाते हों? संकल्प बल से विहीन, उच्च आदर्शों से विमुख व्यक्तियों का सृजन करने वाली शिक्षा की सार्थकता क्या है? इवान इलिच के ऐसे और भी अनेकों सवाल हैं। इन सभी सवालों का सटीक जवाब शिक्षण प्रक्रिया के मौलिक सृजन में है।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में जो पढ़ाया जा रहा है, वह बहुत अधिक गलत नहीं है, परंतु जिस ढंग से पढ़ाया जा रहा है, वह एकदम अर्थहीन है। पाठ्यक्रम जहाँ जो भी बनाए गए हैं, उनमें कई कमियों के बावजूद विषय की जानकारियाँ पर्याप्त हैं। विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के स्तर पर कक्षावार ये जानकारियाँ रटाई जाती हैं। इस विषय में संबंधित सवाल पूछे जाते हैं और विद्यार्थी अपनी कक्षा की वैतरणी पार कर जाते हैं, लेकिन पूरी पढ़ाई के दौरान जो सवाल सबसे अहम् हैं, वे जस-के-तस छूट जाते हैं। किसी को भी यह मालूम नहीं हो पाता कि आखिर इस पाठ्यक्रम की विषयवस्तु का हमारे निजी जीवन से क्या जुड़ाव है? यदि इसे न पढ़ते तो क्या हानि थी?

मनोवैज्ञानिक आर.डी. लेंग ने अपने एक शोध-पत्र 'टीचिंग : इट्स मेरिट्स एंड डिमेरिट्स' में इस संबंध में काफी कुछ कहा है। उनका कहना है कि शिक्षण के वर्तमान स्वरूप को देखकर कि समूची पद्धति अर्थहीन एवं गुणहीन हो गई है, इससे समाधान की बजाय सवाल जन्म लेते हैं। प्रो. लेंग के अनुसार प्रत्येक शिक्षक को, वह चाहे किसी भी विषय का हो, एक कुशल मनोचिकित्सक की भूमिका निभानी चाहिए, ताकि उसका विद्यार्थी अपने व्यक्तित्व की समस्याओं के समाधान खोज सकें। अमेरिकन मनोवैज्ञानिक राबर्ट डी. पैटरसन भी आर.डी. लेंग के कथन से सहमत हैं। वे भी शिक्षण प्रक्रिया के युगानुकूल मौलिक सृजन को आज के समय का एक अनिवार्य दायित्व मानते हैं।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय इस दायित्व को निभाने के लिए प्रतिबद्ध है। यहाँ की शिक्षण प्रक्रिया सर्वथा मौलिक एवं लीक से हटकर होगी। इसके मौलिक बिंदुओं में सबसे पहला बिंदु है- शिक्षक और छात्रों का अनुपात। यहाँ यह अनुपात इतना होगा कि शिक्षक अपने प्रत्येक छात्र की व्यक्तिगत साज-सँभाल कर सके। देव संस्कृति के महानतम प्रणेताओं में से एक महर्षि वसिष्ठ का कथन है कि अध्यापन का प्रारंभ बिंदु तब होता है जब आचार्य की चेतना अपने छात्र की चेतना का स्पर्श करती है। आचार्य की अंतर्चेतना का अवरोहण और छात्र की अंतर्चेतना का आरोहण एवं इन दोनों का सम्मिलन शिक्षण की शुरुआत है। इस सम्मिलन के स्वरूप को कठोपनिषद् के शांतिपाठ में दर्शाते हुए कहा है- 'हे भगवन्! आप हम दोनों आचार्य और शिष्य की साथ-साथ रक्षा करें। साथ-साथ हमारा पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति को प्राप्त करें। हम दोनों की अर्जित विद्या तेजोमयी हो और हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।'

आचार्य एवं शिष्य की अंतर्चेतना के सम्मिलन के बाद दूसरा मौलिक बिंदु अध्ययन की विषयवस्तु के शिक्षण के बारे में है। इस संबंध में सामान्य परंपरा रटाने, लिखाने या थोड़ा-बहुत समझाने की है, लेकिन यह अपर्याप्त है। इस क्रम में आवश्यक आवश्यकता है कि विद्यार्थी को विषयवस्तु का उसके जीवन से जुड़ाव का बोध कराया जाए, जिसका वह अध्ययन कर रहा है, ज्ञान के उस क्षेत्र की उसके निजी जीवन में एवं मानवीय जीवन में क्या महत्त्व है, इसे समझाया जाए। विद्यार्थियों को यहाँ यह बताना जरूरी होगा कि विषय में वर्णित विभिन्न पाठ्य अनुक्रम जीवन में- कहाँ, क्या और किस तरह महत्त्व रखते हैं। इस विश्वविद्यालय में रटाने और लिखाने की बातें बिल्कुल भी न चलेंगी। आचार्य द्वारा समझाई गई रीति के अनुसार विद्यार्थी स्वयं पुस्तकालय में ग्रंथों का अवलोकन करके अपने नोट्स तैयार करेंगे। इससे उनकी मौलिक सूझ-बूझ का विकास होगा।

विषय के विभिन्न बिंदुओं के सैद्धांतिक ज्ञान के साथ उसके व्यावहारिक ज्ञान के शिक्षण के लिए विभिन्न उपयोगी परियोजनाएँ तैयार की जाएँगी। प्रत्येक विषय के आचार्य अपने विषय के अनुरूप इन्हें तैयार करेंगे। इससे विद्यार्थियों में विषय के गहरे व व्यावहारिक ज्ञान का एवं उनकी सृजन क्षमताओं का विकास होगा। कुछ नया करने, नया सोचने की सूझ-बूझ पनपेगी। इस संबंध में तीसरा बिंदु पाठ्य विषय से अंतर्संबंधित है। इसके क्रियान्वयन के लिए सभी पाठ्ययोजनाओं एवं प्रायोगिक परियोजनाओं को इस ढंग से तैयार किया जाएगा कि **उन सब में नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्य घुले-मिले रहें। विद्यार्थी कोई भी विषय अथवा किसी भी कक्षा में पढ़े, किंतु वह जीवन जीने की कला अनिवार्य रूप से सीखे।** उसमें नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक दायित्वों को निभाने की मौलिक क्षमता का विकास हो सके।

छात्र और छात्राओं में परस्पर सहयोग एवं उल्लासपूर्ण भावों को विकसित करने के लिए उपयोगी खेलों का भी प्रशिक्षण दिया जाएगा। खेल-कूद की उपयोगिता शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक संतुलन एवं एकाग्रता के लिए भी है। इनका प्रशिक्षण विश्वविद्यालय की शिक्षण प्रक्रिया की मौलिकता का अनिवार्य, अविभाज्य एवं महत्त्वपूर्ण बिंदु होगा। इस क्रम में उन्हीं खेलों का चुनाव किया जाएगा, जो छात्र-छात्राओं में शारीरिक बल एवं स्फूर्ति के साथ मानसिक विकास में भी सहायक हों।

समग्र एवं सार्थक विकास के लिए विकसित की गई शिक्षण प्रक्रिया में शरीरबल व बुद्धिबल के साथ नैतिक, आध्यात्मिक एवं संकल्प बल को विकसित करने वाली योजनाएँ भी शामिल की जाएँगी। यह शिक्षण प्रक्रिया सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण एवं आधारभूत बिंदु है। इसे व्रताभ्यास का नाम दिया गया है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय में अध्ययन करने वाला प्रत्येक विद्यार्थी अपनी कक्षा एवं आयु के अनुरूप प्रत्येक वर्ष कुछ व्रतों का पालन करेगा। वर्षभर में इनका अभ्यास पूर्ण होने पर अगले वर्ष वह कतिपय नए व्रतों की दीक्षा लेगा।

इन व्रतों को किसी दिन विशेष के उपवास की सीमा तक नहीं समेटा जाना चाहिए। ये व्रत जीवन के आध्यात्मिक अनुशासन के रूप में होंगे। इनमें उपवास, गायत्री जप, योगाभ्यास आदि कुछ भी नियम-अनुबंध हो सकते हैं। इन सबका उद्देश्य जीवन में संकल्पबल का विकास एवं आध्यात्मिक शक्तियों का निखार है। इस व्रताभ्यास का प्रत्येक कक्षा को उत्तीर्ण करने में अनिवार्य योगदान होगा। यही वह विशेषता है, जो यह दर्शाएगी कि छात्र व छात्रा के जीवन में बुद्धिबल के साथ आत्मबल की भी अनिवार्यता है।

शिक्षण प्रक्रिया की मौलिकता की मूल भावना यही है। जो कालक्रम एवं समय के अनुसार अपने विकास के नए आयाम उद्घाटित करेगी। इस प्रक्रिया में भागीदार होने वाले आचार्य हों या विद्यार्थी दोनों का ही जीवनक्रम अनूठा होगा। महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार यहाँ के आचार्यगण-विद्यार्थियों के अज्ञान के आवरण को दूर करके ज्ञान के प्रकाश से उसको आलोकित करेंगे।

यथा घटप्रतिच्छन्ना रत्नराश्यः महाप्रभाः।
अकिंचिश्चत्करतां प्राप्तास्तद्वद्विद्या तु सर्वशः॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति १.२.१२)

अज्ञानरूपी अंधकार घट से ही ज्ञानरूपी दीपक आवृत्त रहता है। आचार्य उस आवरण को हटाकर विद्यार्थी को सभी विद्याएँ प्राप्त कराता है।

विद्यावान आचार्य एवं विद्याभ्यासी विद्यार्थी दोनों ही मिलकर शिक्षण की इस मौलिक प्रक्रिया को प्राणसंपन्न बनाने के लिए यहाँ होने वाली सेमीनार-संगोष्ठी में भाग लेंगे। इन संगोष्ठियों का आयोजन-उपक्रम प्रत्येक संकाय एवं विभाग द्वारा समय-समय पर किया जाएगा। ○

माधवराव पेशवा अपने जन्मदिन पर दान कर रहे थे। अन्न, वस्त्र, स्वर्ण सभी कुछ था, किंतु एक ब्राह्मण कुमार ने कह दिया, ''इन नाशवान वस्तुओं का दान नहीं चाहिए मुझे, दान देना हो, तो स्थायी वस्तु का दान करें।''

''स्थायी क्या है ?''

''विद्या।''

पेशवा ने इस तेजस्वी कुमार को काशी पढ़ने भेजा। यही कुमार आगे चलकर प्रसिद्ध न्यायाधीश राम शास्त्री हुआ।

ज्ञान की उपलब्धियों का संगोष्ठी द्वारा पारस्परिक वितरण

सेमिनार या संगोष्ठी विश्वविद्यालय की विद्या साधना का महिमामय आयाम है। यह देव संस्कृति के प्रणेता ऋषियों की विरासत है, जिसे यहाँ पर युगानुकूल रीति से अपनाया गया है। इस रीति से ज्ञान में समग्रता आती है। उसकी एकांगिता का विलोप होता है। प्राचीन महर्षियों ने ज्ञान के अर्जन के साथ, उसके आपसी विमर्श को भी आवश्यक बताया है। मानवीय क्षमताएँ और उपलब्धियाँ कितनी भी क्यों न हों, फिर भी उनमें कहीं कुछ कमी, अधूरापन रह ही जाता है। इस अधूरेपन को पूर्णता पारस्परिक विमर्श से मिलती है। संगोष्ठी ज्ञान की यही साझेदारी है।

संगोष्ठी या सेमिनार शब्द नए हो सकते हैं, पर इसकी अवधारणा अति प्राचीन है। यह भारत देश की सबसे पुरानी सांस्कृतिक विरासत है। वैदिक साहित्य में ऐसे कई शब्द, ऋचाएँ और आख्यायिकाएँ मिलती हैं, जो इस सत्य को प्रमाणित करती हैं। यह सांस्कृतिक परंपरा ऋषियों द्वारा स्थापित विश्वविद्यालयों में विद्यासाधना के लिए तो अनिवार्य थी ही, इसका सामाजिक महत्त्व भी था। समस्याएँ ज्ञान अर्जन के क्षेत्र की हों या फिर समाज की उलझनों को सुलझाने के सवाल हों, इनके समाधान संगोष्ठियों में ढूँढ़े जाने की रीति रही है। वैदिक काल की सभा, समिति, विदथ इसी सत्य को तथ्य के रूप में स्पष्ट करती हैं। इन सभी का उद्देश्य एक ही था कि सभी मननशील मुनि एवं विचारशील ऋषि मिलकर उपलब्ध ज्ञान की त्रुटियों का निवारण-निराकरण करें। उसे जीवनोपयोगी सार्थकता प्रदान करें।

प्राचीन ऋषियों के विश्वविद्यालयों में होने वाली इन संगोष्ठियों का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। उन दिनों कुलपति महर्षि इनका आयोजन करते थे। संस्कृत ग्रंथों में ब्रह्मर्षि विश्वामित्र द्वारा अपने विश्वविद्यालय में भव्य संगोष्ठी कराए जाने का उल्लेख किया गया है। यह आयोजन कौशिकी नदी के तट पर हुआ। इसके आयोजक कुलपति ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए ग्रंथकार का कथन है, ''वे मानो चतुर्थ अग्नि, पंचम वेद, गतिशील धर्म और सभी विद्याओं के निदान हैं। उनसे वार्त्ता करने पर तमोगुण का विनाश होकर अंतःकरण को शांति मिलती है। प्रसन्नचित्त होकर वे जो कुछ कहते हैं, वह सत्य हो जाता है। ऐसे परम तेजस्वी ब्रह्मर्षि ने अपने विश्वविद्यालय में विद्या संगोष्ठी का आयोजन किया है, सुनकर समूची धरा के महर्षिगण बरबस पधारे। देवलोकों के देवगण भी आए।''

इस अवसर पर ब्रह्मर्षि ने संगोष्ठी के अर्थ, उद्देश्य एवं स्वरूप को भी सभी ऋषियों के समक्ष स्पष्ट किया। उन्होंने कहा—संगोष्ठी का अर्थ विद्या और ज्ञान का परस्पर विमर्श है। इसके उद्देश्य कई हैं- १. ज्ञान को समग्र, सार्थक, त्रुटिहीन बनाना, २. एक ऋषि का दूसरे ऋषि के शोध-अनुसंधान से लाभान्वित होना, ३. ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भावी अनुसंधान की आवश्यकता को समझना एवं दिशा तय करना, ४. ज्ञान की सही व उपयुक्त वितरण प्रणाली को सुनिश्चित करना। इसमें ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने विद्या संगोष्ठी के स्वरूप को निश्चित करने वाले कुछ बिंदुओं का भी उल्लेख किया- १. विद्या संगोष्ठी का उच्चतम स्वरूप विश्वविद्यालय में होने वाली शोध संगोष्ठियाँ हैं। इनमें तत्त्वद्रष्टा ऋषि एवं उनके शोध छात्र-छात्राएँ भागीदार होंगे। २. जन-सामान्य के लिए विद्या संगोष्ठियाँ यज्ञों, मेलों, तीर्थ स्थानों में आयोजित होनी चाहिए। ३. इनके लिए कुछ पुण्य तिथियाँ सुनिश्चित रहें, ताकि सभी नागरिक आसानी से इनमें भागीदारी निभा सकें और विश्वविद्यालयों में होने वाले शोध कार्य से लाभान्वित हो सकें।

ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के इन निर्धारणों को सभी ऋषियों ने अपनाया। तीर्थराज प्रयाग में स्थित विश्वविद्यालय के कुलपति महर्षि भरद्वाज ने इसके लिए माघ मास को उपयुक्त माना। उन्होंने यह पूरा महीना विद्या संगोष्ठी के विभिन्न सत्रों के लिए निश्चित किया। गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने इसका बड़ा ही कवित्वपूर्ण वर्णन किया है-

माघ मकरगत रबि जब होई।
तीरथपतिहिं आव सब कोई॥

गोस्वामी जी आगे कहते हैं-

भरद्वाज आश्रम अति पावन।
परम रम्य मुनिबर मन भावन॥
तहाँ होइ मुनि रिषिय समाजा।
जाहिं जे मज्जन तीरथ राजा॥
मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।
कहहिं परस्पर हरि गुन गाहा॥

तुलसी बाबा आगे कहते हैं—

एहि प्रकार भरि माघ नहाहीं।
पुनि सब निज निज आश्रम जाहीं॥
प्रति संबत अति होइ अनन्दा।
मकर मज्जि गवनहिं मुनिबृंदा॥

गोस्वामी जी महाराज के कथन का सार इतना ही है कि माघ महीने में जब सूर्य मकर राशि में प्रवेश करता है, तब महर्षि भरद्वाज जी के आश्रम में विद्या संगोष्ठी आयोजित होती है। सभी ऋषि-मुनियों का समाज इसमें भागीदार होता है। इसमें ब्रह्मज्ञान की दार्शनिक एवं धर्मनीति की सामाजिक शोध-चर्चाएँ होतीं। पूरे महीने यह क्रम चलता रहता। प्रतिवर्ष आनंद का यह अवसर आता था।

सेमिनार-संगोष्ठी की यह सांस्कृतिक परंपरा ऐतिहासिक युग के तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशीला आदि विश्वविद्यालयों में बनी रही। भारतीय इतिहास व संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान् प्रो. ए. एल. बाशम, पी. गार्डनर आदि कई विद्वानों ने अपने शोध कार्यों में इसका उल्लेख किया है। इस संबंध में एक तिब्बती छात्र रिंछोपा का संस्मरण उल्लेखनीय है। वह सातवीं शताब्दी ई. में नालंदा विश्वविद्यालय का छात्र था। उसने लिखा है कि वसंत ऋतु में विश्वविद्यालय में विश्व संगीति (यह विश्व संगीति, विश्व संगोष्ठी का पर्याय है।) आयोजित की गई। इसके अंतर्गत होने वाली शोध परिचर्चाएँ विभिन्न संकायों एवं विभिन्न विभागों में एक साथ चलीं। इसमें जावा, सुमात्रा, मलयद्वीप, चीन आदि अनेक देशों के ९ हजार आचार्यों एवं १४ हजार छात्रों ने भाग लिया। इसमें से त्रिपिटक संगीति की अध्यक्षता आचार्य मोक्षकर गुप्त ने की। आचार्यों एवं छात्रों सभी के लिए इसके परिणाम अति सुखद रहे। धम्मज्ञान एवं शोध-कार्य के लिए सभी को नई दिशाएँ मिलीं।

यही सांस्कृतिक आदर्श देव संस्कृति विश्वविद्यालय में अपनाया गया है। यहाँ नियमित अंतराल में सेमिनार-संगोष्ठियाँ आयोजित की जाएँगी। विभागीय संगोष्ठी, संकाय संगोष्ठी, विश्वविद्यालय संगोष्ठी, राष्ट्रीय संगोष्ठी एवं अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी आदि इसके विभिन्न स्तर होंगे। इनका आयोजन भी इनके स्तर के अनुरूप साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक, वार्षिक एवं द्विवार्षिक किया जाएगा। इनमें से विभागीय संगोष्ठियाँ प्रति सप्ताह होंगी। संकाय संगोष्ठी एक महीने में एक बार होगी। विश्वविद्यालय संगोष्ठी का समय अंतराल त्रैमासिक रहेगा। राष्ट्रीय संगोष्ठी प्रतिवर्ष एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर की संगोष्ठी-सेमिनार दो सालों में एक बार आयोजित की जाएगी।

इन सभी संगोष्ठियों में विश्वविद्यालय के अध्ययन विषयों, शोध परियोजनाओं, अनुसंधान प्रयोगों, शिक्षण प्रक्रियाओं आदि से संबंधित विभिन्न बिंदुओं पर गहन विचार किया जाएगा। इसके माध्यम से नए शोध पत्र एवं नए अनुसंधान सूत्रों पर प्रकाश पड़ेगा। संगोष्ठियों में प्रस्तुत होने वाली सभी सामग्री को कुशल एवं वैदुष्यपूर्ण संपादन के बाद प्रकाशित किया जाएगा। इससे आगे भी आचार्यगण एवं छात्र-छात्राएँ लाभान्वित होते रहेंगे। देव संस्कृति की लोक हितकारी नीतियों के अनुरूप इन संगोष्ठियों के माध्यम से उन प्रक्रियाओं को भी विकसित किया जाएगा, जिनके द्वारा सामान्यजन भी विश्वविद्यालय की ज्ञान उपलब्धियों का समुचित लाभ उठा सकें। इन संगोष्ठियों के माध्यम से ही शिक्षण प्रक्रियाओं के उत्तरोत्तर विकास के साथ विद्यार्थियों के मौलिक मूल्यांकन की रीति-नीति विकसित होगी। *

गुरु हमें सिखाते हैं कि विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान के लिए हमें किस प्रकार व्याकुल रहना चाहिए, किस प्रकार पागल जैसा बनना चाहिए। शिष्य को यह प्रतीत होता है कि गुरु मानो अनंत ज्ञान की मूर्ति हैं। गुरु मानो एक प्रतीक होते हैं। गुरु मानो मूर्त ज्ञान-पिपासा हैं। गुरु मानो अनंत ज्ञान की विकलता हैं। गुरु मानो सत्य के ज्ञान की उत्कटता हैं। हमारे गुरु का न आदि है, न अंत। हमारे गुरु का न पूर्व है, न पश्चिम। हमारा गुरु है—परिपूर्णता।

तप और विद्या के अर्जन की मौलिक मूल्यांकन विधियाँ

मौलिक मूल्यांकन तप और विद्या के अर्जन की कसौटी है। मूल्यांकन के लिए परीक्षाओं का प्रचलन हर कहीं है। प्राय: प्रत्येक विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय में छात्र-छात्राओं को अनिवार्य रूप से इन परीक्षाओं में उपस्थित होना पड़ता है। इनमें से लिखित परीक्षाएँ कुछ प्रश्नों के उत्तर लिखकर दी जाती हैं। मौखिक परीक्षाओं में कुछ सवालों के जवाब देने पड़ते हैं। इस प्रचलित रीति का दायरा परीक्षार्थी की स्मरण शक्ति को जाँचने-परखने और जानने तक सीमित रहता है। इन अर्थों में प्रचलित परीक्षाएँ विद्यार्थियों की स्मरण शक्ति का ही मूल्यांकन कर पाती हैं। इसी आधार पर उन्हें तृतीय, द्वितीय या प्रथम श्रेणी का मान लिया जाता है। इस मूल्यांकन में स्मरण शक्ति के अलावा व्यक्तित्व के अन्य अनेक गुण न तो प्रकाशित हो पाते हैं और न ही उन्हें जानने-जाँचने की जरूरत समझी जाती है।

इस प्रचलन से बहुत अलग देव संस्कृति विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के मूल्यांकन की रीति एकदम मौलिक होगी। यह मूल्यांकन दस में से पाँच सवालों के उत्तर जाँचने तक सीमित न रहेगा। इस मूल्यांकन के लिए आयोजित की जाने वाली परीक्षा को छात्र-छात्राएँ थोड़े से संभावित प्रश्नों की गाइड या मार्गदर्शिका को रटकर न पास कर सकेंगे। इसकी तैयारी के लिए उन्हें अपने समूचे व्यक्तित्व को तैयार करना पड़ेगा। उन्हें विद्यावान्, चरित्रनिष्ठ एवं तपस्वी होने की साधना करनी पड़ेगी। विषयवस्तु के अध्ययन के साथ उन्हें अनेक व्रतों का अभ्यास करना पड़ेगा। मूल्यांकन की इस मौलिक रीति-नीति से उनके समग्र व्यक्तित्व का मूल्यांकन होगा। विद्यार्थीगण अपनी विषयवस्तु के ज्ञान के साथ देव संस्कृति के आदर्शों को अपने जीवन में कितना उतार पाए? यह परखा जाएगा।

यही हमारी ऋषि परंपरा भी रही है। ऋषिप्रणीत शिक्षापद्धति में आज जैसी परीक्षा प्रणाली न थी। प्राचीन विश्वविद्यालयों में आचार्य प्रत्येक छात्र की ओर व्यक्तिगत ध्यान देते थे। उसके व्यक्तित्व के सार्थक एवं समग्र विकास के लिए हमेशा सजग रहते थे। उसकी मेधा, प्रतिभा व आत्मबल को बढ़ाने के लिए कई तरह की आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का सहारा लेते थे। इस डगर पर सफलतापूर्वक चलने पर छात्रों को प्रोत्साहित किया जाता था और वे आगे की शिक्षा के लिए योग्य समझे जाते थे। इस रीति का उल्लेख गौतम, बौधायन एवं वसिष्ठ धर्म सूत्रों में मिलता है।

महर्षि वसिष्ठ ने छात्रों के मूल्यांकन के लिए एक अन्य उपाय भी सुझाया है। उनका कथन है- '**आश्रमस्थास्त्रयो मुख्याः परषित् स्याद् दशावरा**' अर्थात् शिक्षा के पूरा होने पर छात्र-छात्राओं से कहा जाता था कि वे स्थानीय परिषद् के सामने अपने को उपस्थित करें। इस परिषद् में दस सदस्य होते थे। इसके अतिरिक्त बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार विद्वान् स्नातकों को राजसभा में विशेष यज्ञों के अवसरों पर उपस्थित होने का निर्देश प्राप्त होता था।

प्राचीन साहित्य में छात्र-छात्राओं के मौलिक मूल्यांकन का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। यह मूल्यांकन राजसभा या विद्वत्परिषद् के विशेषज्ञ करते थे। वे वर्तमान समय के विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं से एकदम अलग थीं। इन प्राचीन परीक्षाओं में विद्यार्थियों को अपने तप व विद्या को प्रमाणित करना पड़ता था, तभी वे समाज में सम्मान व आदर के अधिकारी होते थे। वे मेधा व प्रतिभा को समूचे लोक में प्रमाणित करते थे।

महाकवि राजशेखर ने काव्य मीमांसा के दशम अध्याय में लिखा है- 'विद्या की परीक्षा के लिए राजा ब्रह्मसभाओं का आयोजन करें। इनमें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओं को ब्रह्मयान प्रदान करें तथा पट्टबंध धारण करावें।' महाकवि के अनुसार 'उज्जयिनी की ब्रह्मसभा में कालिदास, भारवि, मेंठ आदि की परीक्षा हुई थी। इसी तरह पाटलिपुत्र में उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलि की परीक्षा हुई थी।' इस सत्य को श्लोकबद्ध करते हुए कवि ने कहा है-

अत्रोपर्ववर्षविह पाणिनि पिङ्गलविह व्याडिः।
वररुचि पतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥

चरक संहिता के विमान स्थान के आठवें अध्याय में शास्त्र और आचार्य की परीक्षा का विस्तृत वर्णन है। इस

मूल्यांकन के अनंतर ही चिकित्सक को चिकित्सा कार्य को करने का अधिकार प्राप्त होता था।

देव संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप मूल्यांकन की यही समग्र एवं मौलिक रीति-नीति यहाँ विश्वविद्यालय में अपनाई जाएगी। छात्र-छात्राओं की परीक्षा और मूल्यांकन विश्वविद्यालय की परीक्षा समिति द्वारा की जाएगी। इसके प्रभारी परीक्षा नियंत्रक होंगे। इन्हीं के अधीन परीक्षा समिति सभी परीक्षाओं के आयोजन व मूल्यांकन का कार्य करेगी। सभी विषयों एवं सभी कक्षाओं की परीक्षा के लिए सेमेस्टर सिस्टम को लागू करना तय किया गया है। प्रत्येक सेमेस्टर की अवधि छह महीने होगी। इस तरह प्रत्येक वर्ष में दो सेमेस्टर होंगे।

प्रत्येक सेमेस्टर में कक्षा व विषय के अनुरूप परीक्षाएँ लिखित, मौखिक एवं प्रायोगिक तीन तरह से होंगी। इनमें से लिखित परीक्षा में विषय के संपूर्ण ज्ञान को परखने के लिए आब्जेक्टिव या वस्तुनिष्ठ शैली एवं ज्ञान की विशेषज्ञता को परखने के लिए प्रश्नों की विवरणात्मक शैली अपनाई जाएगी। सेमेस्टर की परीक्षाओं में आचार्यों द्वारा समय-समय पर किए गए आंतरिक मूल्यांकन के भी अंक जोड़े जाएँगे। आंतरिक मूल्यांकन के लिए आचार्य अपनी कक्षा के विद्यार्थियों की कभी भी उचित समय पर लिखित या मौखिक परीक्षा ले सकेंगे। यह नियम विश्वविद्यालय के सभी विद्यार्थियों पर समान रूप से लागू होगा।

पाठ्यवस्तु के मूल्यांकन के अलावा इस बात का भी मूल्यांकन किया जाएगा कि छात्र या छात्रा ने देव संस्कृति के आदर्शों को अपनाने के लिए पूरे शिक्षा सत्र में क्या-क्या प्रयास किए। किन-किन व्रतों का कितनी गहरी निष्ठा व श्रद्धा से पालन किया। इस क्रम में विद्यार्थियों द्वारा समय-समय पर किए अनुष्ठानों व विभिन्न साधनाओं का भी मूल्यांकन किया जाएगा। यह प्रक्रिया प्रत्येक सेमेस्टर में अपनाई जाएगी। कक्षा के अंतिम सेमेस्टर में सभी नियमित परीक्षाओं के साथ एक ग्रांड वाइवा या **महामौखिकी** का आयोजन होगा। इसमें छात्र या छात्रा से वर्तमान सेमेस्टर की पाठ्यवस्तु के साथ पिछले सभी सेमेस्टरों की पाठ्यवस्तु से संबंधित सवाल पूछे जाएँगे। इस प्रश्नकाल में संपूर्ण कक्षा अवधि में अपनाए गए आदर्शों एवं व्रतों का भी मूल्यांकन होगा।

प्रायोगिक परीक्षाएँ पाठ्यवस्तु के अनुरूप होंगी। इसके लिए निश्चित किए गए प्रयोगों व परियोजनाओं को छात्र-छात्राएँ पूरा करेंगे। आंतरिक एवं बाह्य परीक्षक विद्यार्थियों का तत्संबंधी मूल्यांकन करेंगे। प्रायोगिक परीक्षा के साथ भी मौखिक परीक्षा अनिवार्य रूप से जुड़ी रहेगी। मौखिक परीक्षा का स्वरूप प्रत्येक परीक्षा या सेमेस्टर के अनुरूप भिन्न होगा। इसमें से ग्रांड वाइवा या महामौखिकी के स्वरूप में दर्शनीय आकर्षण होगा। इसका आयोजन इस ढंग से किया जाएगा कि छात्र का समस्त व्यक्तित्व व समस्त गुण एक साथ प्रकाशित हो सकें। इसमें विश्वविद्यालय के सभी संकाय के आचार्य भागीदार होंगे। कोई भी आचार्य छात्र या छात्रा से सवाल पूछ सकेंगे। इस परीक्षा के बाद ही छात्र उपाधि पाने का अधिकारी होगा। ऐसे भलीप्रकार जाँचे-परखे गए छात्रों का व्यक्तित्व विद्या एवं सेवा का संगम होगा। संपूर्ण विश्वविद्यालय की गतिविधियों में इसकी झलक होगी।

* * *

भारत की उत्तरी सीमा पर तक्षशिला एक राज्य था। उसका धर्मात्मा राजा आय का अधिकांश भाग वहाँ स्थापित विश्वविद्यालय में लगा देता था। सेना नाममात्र की थी।

सिकंदर ने मोरचा सरल देखकर उस पर आक्रमण कर दिया। राजा ने सोचा, प्रत्याक्रमण या प्रतिशोध से पहले विचार-विनिमय की नीति अपनानी चाहिए। उनने अपने आय-व्यय का ब्योरा सिकंदर के सामने रखा। अपने यहाँ चल रही संस्कार-संवर्द्धन की योजनाएँ बताईं और स्वागत-सम्मान में कुछ आभूषण भेंट किए।

सिकंदर वस्तुस्थिति समझ गया। उसे भेंट में जो मिला था, उससे दूनी राशि लौटाकर उसकी सज्जनता एवं आदर्शवादी कार्यविधियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। देव संस्कृति के प्रति उसके मन में आदर्शनिष्ठा की जो भावनाएँ बनी थीं, वे और दृढ़ हो गईं।

* * *

विद्या एवं सेवा का एक अद्भुत संगम

विद्या एवं सेवा का संगम देव संस्कृति का आदर्श है। ऋषि जीवन की गतिविधियों का आधार यही है। इन दोनों में से किसी को किसी से अलग नहीं किया जा सकता। विद्या और सेवा के ये दोनों ही तत्त्व एक दूसरे से गुँथे हैं, परस्पर घुले-मिले हैं। स्वार्थपरता और अहंता के विष से छुटकारा और भाव संवेदना के अमृतपान को विद्या कहा गया है। शास्त्रकारों ने इसी को **'विद्ययामृतमश्नुते'** कहकर परिभाषित किया है। भाव संवेदना के अमृततत्त्व का विकास ही विद्या है। भाव संवेदना के बिना सारी जानकारियाँ एवं समूची पढ़ाई-लिखाई बेकार है, क्योंकि इससे स्वार्थ व अहं की विष बेल ही उपजेगी और बढ़ेगी। अमृततत्त्व तो विद्या की भाव संवेदना है, जो सेवा से बिछुड़कर रह नहीं सकता। संवेदना बढ़ते ही अनायास सेवापरायणता जीवन में आ जाती है। गिरे को उठाने, उठे को चलाने और पीड़ित को अपनाने के लिए अपने आप ही पाँव आगे बढ़ने लगते हैं।

प्राचीन वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में जिन महर्षियों एवं उनके अंतेवासी विद्यार्थियों की चर्चा पढ़ते हैं, उन्होंने अपने युग की पीड़ा और पतन के निवारण-निराकरण के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दी थी। ऋषिगणों के द्वारा स्थापित विद्या केंद्र उनके द्वारा संचालित विविध सेवा योजनाओं के केंद्र भी थे। उनके विश्वविद्यालयों में विद्याध्ययन के साथ छात्र-छात्राओं की सेवा-संवेदना को भी विकसित किया जाता था। गुरु और शिष्य मिल-जुलकर परमार्थ के पुण्य कर्मों में अपनी भागीदारी निभाते थे। लोक जीवन में घुल-मिलकर पीड़ा और पतन से डटकर मुकाबला करते थे। उनके लिए यह सेवाकार्य कभी भी विद्याभ्यास से अलग नहीं था।

ऐसे अनेक महर्षियों में वामदेव का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वैदिक परंपरा में इन्हें प्रख्यात ऋषि माना जाता है। ये महर्षि वामदेव अपने द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय के कुलपति भी थे। इनका विश्वविद्यालय विंध्य पर्वत की मेखलाओं में नर्मदा नदी के उद्‌गम स्थान अमरकंटक के समीप ही था। महर्षि वामदेव का यह विद्या केंद्र अपने युग का सुप्रसिद्ध सेवा केंद्र भी था। यहाँ महर्षि अध्ययन-अध्यापन के साथ जनसेवा के कार्य भी करते थे। इस सेवा कार्य में उनके शिष्यगण जी-जान लगाकर जुटते थे। महर्षि वामदेव के इन सेवापरायण शिष्यों में अरिष्टनेमि, मधुक, प्रवाहण आदि की चर्चा पौराणिक साहित्य में हुई है।

प्राचीन साहित्य में विद्याभ्यास के साथ जुड़े हुए कई सेवा कार्यों की चर्चा आई है। इन सेवा योजनाओं में जन चिकित्सा, स्वच्छता, नागरिकों को रोग-निवारण के उपायों की जानकारी, ग्रामीणों को कृषि की वैज्ञानिक विधियों का ज्ञान, विविध शिल्प कलाओं की जानकारी आदि मुख्य थीं। इनके अलावा महर्षियों का बहुप्रिय सेवा कार्य था- बिना किसी भेदभाव के सभी को जीवन जीने की कला का शिक्षण। यह कार्य वे अपने विद्या केंद्रों में भी करते थे और इसके लिए वे स्वयं चलकर नागरिक स्थानों में भी जाते थे। इन सभी कार्यों में सभी शिष्यगण अनिवार्य रूप से भागीदार होते थे।

****

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते॥

विद्वत्ता तथा राजत्व की कभी कोई समानता नहीं है। राजा का अपने देश में ही सम्मान होता है, जबकि विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है।

****

विभिन्न धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों व स्मृतियों में कुछ अनिवार्य अवकाश दिनों या अनध्याय की चर्चा हुई है। इनमें से प्रत्येक अवकाश के समय अपने कारण गिनाए गए हैं। इन सभी में प्राकृतिक विपदाओं में होने वाले अनध्याय के कारण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ऐसे अवसरों पर विद्याभ्यासी छात्रगण अपने आचार्यों के मार्गदर्शन में प्राकृतिक आपदाओं से पीड़ित जनों की सेवा करें। अनध्याय के इन दिनों की चर्चा करते हुए स्मृतिकारों का कथन है, भूमि दिन या रात में धूलि से भरे बवंडर उत्पन्न होने पर, भूमि पर कुहासा छाने पर, आकाश के अत्यधिक लाल होने पर,

बिना ऋतु के आकाश में मेघों के छा जाने पर, इतनी अधिक वर्षा होने पर कि छतें टपकने लगें, बृहस्पति, शुक्र, चंद्र, सूर्य आदि नक्षत्रों के चारों ओर रंगीन प्रभा-मंडल के दिखाई देने पर, भूकंप, सूखा-बाढ़ आदि के अवसरों पर विद्यापरायण जनों को सेवापरायणता अनिवार्य रूप से अपनाना चाहिए।

वैदिक युग की ही भाँति ऐतिहासिक युग के प्राचीन विश्वविद्यालयों में भी देव संस्कृति का यही आदर्श सुप्रतिष्ठित था। चीनी छात्र इत्सिंग ने नालंदा विश्वविद्यालय में होने वाले विद्याध्ययन के साथ यहाँ से संचालित होने वाले सेवा कार्यों के महत्त्व को भी दर्शाया है। उसका कहना है कि इस महान् विश्वविद्यालय के द्वारा जन सेवा की अनेकों योजनाएँ संचालित होती थीं। इन सेवा योजनाओं को देश में ही नहीं विदेशों में भी क्रियान्वित किया जाता था। विश्वविद्यालय के इन सेवा कार्यों के लिए गुप्तवंश के उत्तरवर्ती राजा बुधगुप्त आदि के साथ बंगाल के पालवंश के राजा समय-समय पर भारी आर्थिक सहायता करते थे। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन को नालंदा विश्वविद्यालय की सेवा योजनाओं में विशेष रुचि थी। उसने अनेकों बार यहाँ की सेवा योजनाओं के लिए आर्थिक अनुदान दिए।

इस कार्य के लिए नालंदा विश्वविद्यालय को विदेशों से भी सहायता प्राप्त होती थी। दक्षिण-पूर्वी द्वीपों—जावा, बालि, सुमात्रा, मलय आदि देशों के राजाओं ने यहाँ की सेवा योजनाओं के लिए प्रचुर धन अर्पित किया था। जावा, सुमात्रा के राजा बलपुत्रदेव ने यहाँ एक विहार बनवाया था, जहाँ चिकित्सा का कार्य होता था। उसने बंगाल के राजा देवपाल को भी प्रेरित किया कि वह नालंदा विश्वविद्यालय के सेवा कार्यों के लिए पाँच ग्राम दान में दे। इत्सिंग का कहना है कि ये सारी सहायताएँ नालंदा विश्वविद्यालय के आचार्यों एवं छात्रों के द्वारा की जाने वाली सेवा-साधना की प्रामाणिकता का सुफल थीं। ये सभी सामान्य समय में किए जाने वाले सेवा कार्यों के अतिरिक्त किसी भी राष्ट्रीय या प्राकृतिक आपदा के समय अपनी जान-जोखिम में डालकर भी सेवा योजनाओं को संचालित करते थे। उनकी इन भावनाओं के कारण जन-जन में उनका भारी सम्मान था।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय में भारत भूमि का यही सांस्कृतिक आदर्श सुप्रतिष्ठित होना है। यहाँ के आचार्यगण एवं छात्र-छात्राएँ विद्या-साधना के साथ सेवा-साधना भी करेंगे। इन सेवा-कार्यों का निर्धारण प्रत्येक संकाय के अनुरूप किया जाएगा। चिकित्सा-सेवा एवं स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता के अलावा अन्य कई सामाजिक सेवा की योजनाएँ विश्वविद्यालय के द्वारा चलाई जाएँगी। इन सभी में आचार्यों एवं छात्रगणों की भागीदारी अनिवार्य रूप से होगी। सभी सेवा योजनाओं का क्रियान्वयन व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण एवं समाज निर्माण के आदर्शों एवं गुरुसत्ता द्वारा निर्धारित सप्तसूत्री आंदोलनों को दृष्टि में रखकर किया जाएगा।

पीड़ा निवारण के साथ पतन निवारण के लिए भी प्रभावी कार्यक्रमों की रूपरेखा बनायी जाएगी और इसका असरदार ढंग से क्रियान्वयन होगा। आश्रम की नियमित श्रम साधना, सफाई के अलावा राष्ट्रीय व प्राकृतिक आपदाओं के समय यहाँ के आचार्य एवं छात्र बढ़-चढ़कर अपनी भागीदारी निभाएँगे। इन सेवा कार्यों से विद्यार्थियों से निष्काम कर्म की साधना तो सधेगी ही, साथ ही उन्हें अपने सामाजिक दायित्व का भी बोध होगा। वे अनुभव करेंगे कि जिस समाज के वे अंग-अवयव हैं, उसके प्रति उनका महत्त्वपूर्ण दायित्व भी है। सेवा-साधना से विकसित संवेदना उनमें एक अनूठी आत्मजाग्रति को जन्म देगी। जिससे उनमें सामाजिक कर्त्तव्यों के बोध के साथ देश व धरती से गहरे भावनात्मक लगाव, जुड़ाव की अनुभूति होगी। राष्ट्रीय भावनाएँ विकसित होंगी और यहाँ अध्ययन करने वाले सभी विद्यार्थी मिल-जुलकर विश्वविद्यालय के राष्ट्रीय धर्म को अपना सकेंगे।

◆

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्तिरन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम्।
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिङ्गहृद्या विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः॥

विद्यावानों की हर विशेषता अवर्णनीय होती है। संसार की भलाई के लिए सदैव तत्पर उनका मन असाधारण रूप से उदात्त होता है। उनके वचन असाधारण रूप से सुखद होते हैं। उनके कार्य लोकोत्तर होते हैं तथा आकृति दुःखी व्यक्तियों को प्रीतिकर होती है।

राष्ट्र धर्म की दीक्षा देना प्रथम कर्त्तव्य

विश्वविद्यालय का राष्ट्र धर्म युवा पीढ़ी में राष्ट्रीय संवेदनाओं का जागरण है। उनमें राष्ट्र प्रेम, राष्ट्र सेवा, राष्ट्र जागरण व राष्ट्र भक्ति की भावनाओं का उफान पैदा करना है। उनके हृदयों में वह संवेदनशीलता जगानी है, जो राष्ट्र की पीड़ा, वेदना, कसक और टीस की गहरी अनुभूति कर सके। युवा रक्त को यह बोध कराना है कि संतानों का अपनी राष्ट्र माता के प्रति क्या कर्त्तव्य हैं। अपनी माता से बिछुड़ चले युवाओं को यह याद दिलाना है कि देखो तो सही, माँ तुम्हें कितना प्यार करती है। भारत जननी की गोद की महिमा उसके लाड़लों को समझानी है। युवा पीढ़ी को देश की मिट्टी की सोंधी सुगंध का गाढ़ा परिचय कराना है। उन्हें राष्ट्र धर्म की दीक्षा देनी है।

यह देव संस्कृति की सनातन परंपरा है। देवभूमि भारत के ऋषिगण सदा से अपने विद्या केंद्रों में इस राष्ट्र तत्त्व का बोध कराते रहे हैं। अपने छात्र-छात्राओं को राष्ट्र धर्म की दीक्षा देते रहे हैं। ऋषि चिंतन के स्वरों में हमेशा इस सत्य की गूँज रही है कि देश के जिस बालक, किशोर, युवा अथवा प्रौढ़ के दिलों में राष्ट्रीय भावनाएँ नहीं धड़कतीं, वह एक अनाथ है, सिर्फ एक अनाथ। अपनी माँ के स्वरूप से, उसके गौरव से, उसकी उपलब्धियों और विभूतियों से, सबसे बढ़कर माँ के प्रेम से अपरिचित, अनजान व्यक्ति को भला और क्या कहेंगे। माँ से अपरिचित होने का, माँ से बिछुड़ने का दरद केवल एक मातृहीन ही समझ सकता है। इसी तरह अपनी माता के लिए जान की बाजी लगा देने वाले रणबाँकुरों के दिलों में उफनने वाले गर्व और गौरव की अनुभूति भी कोई मातृभक्त ही कर सकता है।

यह तत्त्व साधारण नहीं है। वैदिक ऋषियों ने अपनी समाधि चेतना में इसे अनुभव किया और सारे देशवासियों से कहा-

भद्रमिच्छंत ऋषयः स्वर्विदः
तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातम्
तदस्मै देवा उपसंनमंतु॥

—अथर्व. १९/४१/१

''आत्मज्ञानी ऋषियों ने जगत् का कल्याण करने की इच्छा से सृष्टि के प्रारंभ में जो दीक्षा लेकर तप किया, उससे राष्ट्र निर्माण हुआ, राष्ट्रीय बल और ओज भी प्रकट हुआ। इसलिए सब विबुध इस राष्ट्र के सामने नम्र होकर इसकी सेवा करें।''

ऋषियों की महान् तप-साधना से प्रकट हुई भारत माता ने ऋग्वेद के ऋषि को उसकी गहन समाधि में अपने दिव्य स्वरूप का परिचय देते हुए कहा, वत्स जान लो, ''मैं राष्ट्र की अधीश्वरी, समृद्धियों का संगम, परब्रह्म से अभिन्न तथा सभी देवताओं में प्रधान हूँ। पूरे राष्ट्रीय परिवेश में मैं ही स्थित हूँ। अलग-अलग स्थानों में रहने वाले देवता जो भी करते हैं, वह मुझे जानकर ही करते हैं।'' (१०/१०/१२५-ऋग्वेद)

यही है हमारी भारत माता, जिसकी अनंत शक्तियों से अनजान उसके सुपुत्र और सुपुत्रियों ने उससे मुँह मोड़ लिया है। हर साल अनेकों प्रतिभाशाली छात्र-छात्राएँ थोड़े से पैसों के लालच में पराये देश भाग जाते हैं। जो किसी कारण नहीं जा पाते, वे अगले साल चले जाने का सपना देखते हैं या यहाँ कुबेर का भंडार जोड़ने की कला सीखते हैं। आखिर यह सब क्यों? जिस देश की धरती में जन्म लिया, जिसकी मिट्टी में खेलकर बड़े हुए, जिसके अन्न-जल से शरीर का एक-एक कोश बना, उसमें रक्त की बूँदें इकट्ठी हुईं, प्राण पले, उससे यूँ ही मुँह मोड़ा जाना कहाँ तक उचित है?

अपनी संतानों की यह दुर्दशा देखकर भारत माता व्याकुल हैं। उनकी विकल कराह संवेदनशील प्राणों में सुनी जा सकती है। बाहर के घुसपैठिए आकर माँ की छाती में रोज नए घाव देते हैं। जो अपने हैं, वे उसके आँचल की सुखद छाँव की अनुभूति करने के बजाय उसे चीर-फाड़कर तार-तार करने के लिए उतारू हैं। आज सब तरफ होड़ मची है- माता की सेवा के लिए नहीं, माँ पर शासन करने के लिए। सभी को गद्दी चाहिए- रौब जमाने के लिए, हुक्म चलाने के लिए, फिर चाहे भारत जननी बिलखती रहे, आँसू बहाती रहे, छटपटाती रहे, तो

क्या हुआ ? इस हालत का जिम्मेदार कौन है ? तो इसका जवाब एक ही है- देश के विचारशील जन, जिन्होंने राष्ट्र के नागरिकों को राष्ट्र धर्म नहीं सिखाया।

युवा पीढ़ी को राष्ट्र धर्म की दीक्षा देने की यह जिम्मेदारी देव संस्कृति विश्वविद्यालय ने ली है। यह उद्घोष है इस सत्य का कि राष्ट्र माता से बिना किसी भौतिक या लौकिक लाभ की इच्छा को मन में जन्म दिए बगैर उसकी सेवा की उमंग में जीने वाले अभी भी हैं। यह महत्संकल्प है देश के लिए जीने और देश के लिए मरने वाली पीढ़ी के निर्माण का। यह साहस है, उस संवेदना के विकास का, जो सांप्रदायिक टकरावों में नहीं, जाति या क्षेत्र के बँटवारों में नहीं, राष्ट्र धर्म के, राष्ट्र प्रेम के मेल-मिलाप में यकीन रखती है। ये बातें कोरी कल्पना नहीं है। यह वह हकीकत है, जिसके अंकुर इस विश्वविद्यालय की धरती पर फूट चुके हैं। जिसमें अब नई-नई कोपलें निकलने वाली हैं।

राष्ट्र धर्म देव संस्कृति विश्वविद्यालय की सभी गतिविधियों का केंद्रीय स्वर है। यहाँ के समस्त क्रियाकलापों में इसकी मधुर सरगम सुनी जा सकेगी। विश्वविद्यालय की समस्त कक्षाओं के सभी विद्यार्थियों को उनकी कक्षा व आयु के अनुरूप, राष्ट्रीय गौरव, राष्ट्रीय मूल्य एवं विश्व राष्ट्र की अस्मिता का ज्ञान कराया जाएगा। यह ज्ञान संवेदना ऐसी होगी कि यहाँ पढ़ने वाले छात्र-छात्राएँ अपने धर्म-मजहब की उच्च शिक्षा से तो अनुप्राणित होंगे, पर उनमें संकीर्णता लेश मात्र भी न होगी। वे सभी राष्ट्र धर्म को मानने वाले राष्ट्र भक्त नागरिक बनेंगे। बृहत्तर भारत की माता राष्ट्र माता की आराधना उनके जीवन का आदर्श होगी।

इन मूल भावनाओं को व्यावहारिक रूप देने के लिए यहाँ प्रधानतया दो बिंदु वाली कार्ययोजना अपनाई जाएगी। इसका पहला बिंदु है- पाठ्यक्रम में राष्ट्र के सार्वभौम स्वरूप व इसके महत्त्वपूर्ण तत्त्वों, सत्यों एवं सूत्रों का समावेश। यह कार्य ऐसा होगा कि सभी जातियों, क्षेत्रों एवं धर्मों से आए विद्यार्थीगण पारस्परिक सौहार्द्र के साथ राष्ट्र का सार्थक परिचय पा सकें। उनमें सच्चे राष्ट्र प्रेम का विकास हो। उनके उज्ज्वल राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण हो। अपने देश व धरती के प्रति उनमें भाव-संवेदना विकसित हो सके। वे जान सकें कि देश पहाड़ों, नदियों, महासागरों से भरे जमीन का टुकड़ा भर नहीं है, यह अपनी माता का विराट् शरीर है। जिसके दूध की लाज निभाना उनके जीवन का अनिवार्य कर्त्तव्य है।

इस क्रम में दूसरे महत्त्वपूर्ण बिंदु के रूप में कुछ व्यावहारिक परियोजनाओं को विकसित किया जाएगा। इनका स्वरूप राष्ट्रीय सेवा योजनाओं के प्रचलित रूप से कहीं अधिक व्यापक होगा। यह राष्ट्र प्रेम की व्यावहारिक अनुभूति कराने का प्रयास है। इसके माध्यम से विद्यार्थी यह जान सकेंगे कि बिना किसी संकीर्ण भेद-बुद्धि के राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का पालन क्या होता है। ये सभी व्यावहारिक परियोजनाएँ छात्र-छात्राओं को यह अनुभूति कराएगी-

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चेव दक्षिणम्।
वर्ष तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिः ॥

पृथ्वी का भू-भाग जो समुद्र के उत्तर व हिमालय के दक्षिण में स्थित है, वह भारतवर्ष कहलाता है तथा उसकी संतानों को भारतीय कहते हैं।

यही वह देश है जिसके लिए कहा गया है-

गायंति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवंति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

"देवता भी इस पवित्र भूमि भारत के गीत गाते हैं और देवताओं में भी उन्हें धन्य कहा जाता है, जो स्वर्ग और अपवर्ग के लिए साधनभूत भारतभूमि में उत्पन्न हुए हैं।" राष्ट्रीय भावनाओं की यह अनुभूति विश्वविद्यालय के मुख्य परिसर के साथ भविष्य में विकसित होने वाले सभी संबद्ध केंद्रों में भी की जा सकेगी। ✗

✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓

एक लड़के ने निश्चय किया कि वह बी. ए. करते ही देशसेवा के कामों में लगेगा, पर जब उसके बहुत अच्छे नंबर आए और विलायत जाने की छात्रवृत्ति मिली, तो घरवाले उसे संकल्प तोड़ने के लिए दबाने लगे। लड़के को अपने वचन का स्मरण रहा, उसने 'मॉडर्न रिव्यू' अखबार निकाला और रवींद्र बाबू का सारा साहित्य प्रकाशित करके देश की महत्त्वपूर्ण सेवा की। इस लड़के का नाम था—रामानंद चटर्जी।

✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓✓

संबद्ध केंद्र बनाएँगे विश्व वसुधा को देव कुटुंब

विश्वविद्यालय से संबद्ध केंद्रों की स्थापना, देव संस्कृति के व्यापक विस्तार की भविष्यत् योजना है। इसका क्रियान्वयन देव संस्कृति विश्वविद्यालय में अध्ययन-अध्यापन व शोध-अनुसंधान आदि शैक्षिक एवं परीक्षा व्यवस्था आदि प्रशासनिक कार्य के सुव्यवस्थित होने के बाद ही किया जाएगा। यह वामन से विराट् होने के लिए रखा जाने वाला अगला पग है। इसे देव संस्कृति के ज्ञान-विज्ञान एवं जीवन नीतियों के शिक्षण को देशव्यापी के साथ विश्वव्यापी बनाने के लिए किया जाने वाला साहसी पुरुषार्थ भी कहा जा सकता है। इस महत् योजना के द्वारा समूची विश्व-वसुधा को देव कुटुंब बनाने का प्रयास किया जाएगा। समूची विश्व मानवता को उसके अपने अंचल में देव संस्कृति की दीक्षा देने का पुण्य कार्य किया जाएगा।

अपनी महान् संस्कृति की सनातन परंपरा भी यही है। संस्कृति चक्र प्रवर्तन को राष्ट्रव्यापी एवं विश्वव्यापी बनाने के लिए ऋषिगण एवं उनके सुयोग्य शिष्य अपने विश्वविद्यालयों से संबद्ध विद्या केंद्रों की स्थापना किया करते थे। इनके संचालन का भार उसी आचार्य कुल के किसी सुयोग्य आचार्य अथवा किसी वरिष्ठ शिष्य को सौंपा जाता था। इन वरिष्ठ शिष्यों को वृद्धतर छात्र कहा जाता था। पहले ये छात्र अपने ही आचार्यकुल में अध्यापन का प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। स्वयं को सुयोग्य आचार्य के रूप में विकसित करते थे। आपस्तंब धर्मसूत्र में इस तरह का उल्लेख किया गया है। महर्षि आपस्तंब का कथन है—

तथा समादिष्टोऽध्यापयति।
वृद्धतरे स ब्रह्मचारिणि आचार्यवद्वृत्तिः॥

इस कथन के अनुसार आचार्यों के निरीक्षण एवं संरक्षण में वरिष्ठ छात्र अपने कनिष्ठ छात्रों को पढ़ने में सहायता देते थे। इन छात्रों को वृद्धतर छात्र कहा जाता था। इनका सम्मान आचार्य के समान होता था। ऐसे ही छात्र बाद में संबद्ध विद्या केंद्र में आचार्य का दायित्व निभाते थे।

अपने आचार्यकुल या विश्वविद्यालय से संबद्ध ये विद्या केंद्र देश व धरती के कोने-कोने में आवश्यकतानुसार स्थापित किए जाते थे। इन केंद्रों के संचालन का भार उस केंद्र के प्रमुख आचार्य या प्रभारी आचार्य पर होता था। ऐसे सभी केंद्रों के प्रभारी आचार्य अपने विद्या केंद्रों में होने वाले शिक्षण शोध व विविध संगोष्ठियों आदि सभी कार्यों का ब्योरा अपने आचार्य कुल के कुलाधिपति या कुलपति को देते थे। कुलाधिपति या कुलपति अथवा उनके निर्देशन में तय की गई विश्वविद्यालय के वरिष्ठ आचार्यों की समिति इन विद्या केंद्रों का समय-समय पर निरीक्षण करती थी। आवश्यक होने पर इन केंद्रों के प्रभारी बदले भी जाते थे। इन संबद्ध केंद्रों का समस्त स्वामित्व आचार्यकुल या विश्वविद्यालय का होता था।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में महर्षि अगस्त्य द्वारा स्थापित किए गए विश्वविद्यालय से संबद्ध अनेकों विद्या केंद्रों का उल्लेख किया गया है। इनकी स्थिति भारतवर्ष के अनेक स्थानों पर बताई गई है। ये विद्या केंद्र हिमालय से लेकर दक्षिण के समुद्र तट तक फैले हुए थे। हिमालय के गढ़वाल क्षेत्र में अगस्त्य मुनि के स्थान की आज भी बहुत प्रसिद्धि है। अपने समय में यह सुप्रतिष्ठित विद्या केंद्र था। महाकवि भवभूति ने उत्तर रामचरित में कुलाधिपति महर्षि अगस्त्य के एक विद्या केंद्र की स्थिति गोदावरी के तट पर बताई है। प्राप्त विवरण के अनुसार यह विद्या केंद्र विशेष रूप से ब्रह्मविद्या के अध्ययन के लिए था। यहाँ साधना संकाय के पाठ्यक्रम संचालित होते थे। यहाँ ब्रह्मविद्या के अध्ययन के लिए छात्र दूर-दूर से आते थे। इतिहासवेत्ता एवं पुराविद् ए. ब्लूमफील्ड और के. रघुनाथ अपने संयुक्त अध्ययन में इस विद्या केंद्र की पहचान नासिक से पंद्रह मील दूर अकोला ग्राम में की है।

महर्षि अगस्त्य के आचार्य कुल से संबंधित एक सुप्रतिष्ठित विद्या केंद्र वेदपुरी में था। वेदपुरी नाम से जाने जाने वाले इस केंद्र के नाम से ही इस स्थान का नाम भी वेदपुरी हो गया। वर्तमान में यह स्थान पांडिचेरी के नाम से जाना जाता है। महर्षि का यह विद्या केंद्र ठीक उसी स्थान पर अवस्थित था, जहाँ आज महर्षि अरविंद का पांडिचेरी का आश्रम स्थित है। अगस्त्य ऋषि का एक विद्या केंद्र चित्रकूट से थोड़ा आगे था। इसका संचालन उनके सुयोग्य

शिष्य महामुनि सुतीक्ष्ण करते थे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसकी चर्चा करते हुए कहा है-

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना।
नाम सुतीछन रति भगवाना।

काव्य विवरण के अनुसार जब मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम भ्राता लक्ष्मण एवं माता सीता के साथ इस महान् विद्या केंद्र में आए, तो उन्होंने यहाँ के विद्याध्ययन की रीति-नीति से अभिभूत हो विश्वविद्यालय के कुलाधिपति महर्षि अगस्त्य से मिलने की चाहत जताई। प्रभु श्रीराम की चाहत को सुनकर मुनिवर सुतीक्ष्ण स्वयं उन्हें मिलाने के लिए अपने संग ले गए। गोस्वामी जी ने इस प्रसंग की भी चर्चा अपनी काव्य कथा में की है।

अपने आचार्य कुल से संबद्ध ऐसे विद्या केंद्रों की स्थापना वसिष्ठ, कण्व, परशुराम, भरद्वाज आदि महर्षियों ने भी की थी। ऐतिहासिक युग के तक्षशिला, उड्डयंतपुर एवं विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालय से संबद्ध विद्या केंद्रों का उल्लेख ऐतिहासिक ग्रंथों में मिलता है। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के विविध क्रियाकलापों का ऐतिहासिक अध्ययन करने वाले प्रो. वी. प्रिंसेप ने अपने शोध ग्रंथ 'विक्रमशिला : ए सेंटर ऑव कल्चर एंड एजुकेशन' में इस बारे में काफी कुछ कहा है। उनके अनुसार विक्रमशिला विश्वविद्यालय के कई केंद्र पूरे देश में थे। ऐसे केंद्रों का भार इस विश्वविद्यालय के संकायाध्यक्ष या डीन स्तर के वरिष्ठ आचार्य सँभाला करते थे।

संस्कृति चक्र प्रवर्तन की यही युगांतरकारी प्रक्रिया देव संस्कृति विश्वविद्यालय में भी अपनाई जाएगी। उत्तरांचल प्रदेश के महामहिम राज्यपाल ने अपने अध्यादेश के अध्याय दो के अंतर्गत बिंदु ३.५ में स्पष्ट कहा है- 'देव संस्कृति विश्वविद्यालय का मुख्यालय शांतिकुंज हरिद्वार, उत्तरांचल में स्थित होगा और वह अपनी अधिकारिता के अंदर ऐसी अन्य जगहों पर भी अपने निवेश स्थापित कर सकता है।' ये स्थापित निवेश ही विश्वविद्यालय से संबद्ध केंद्र होंगे। इनका स्वरूप घटक महाविद्यालय के रूप में होगा। देश एवं विश्व में जहाँ कहीं भी अपने देव परिवार के परिजन गायत्री शक्तिपीठ इस तरह की क्षेत्रीय आवश्यकता को अनुभव करेंगे, उनके अनुरोध पर विचार किया जाएगा।

इन संबद्ध केंद्रों का संपूर्ण संचालन एवं नियंत्रण देव संस्कृति विश्वविद्यालय स्वयं करेगा। स्थानीय परिजन इसमें सक्रिय सहयोगी की भूमिका निभाएँगे। संबद्ध केंद्रों के रूप में सभी घटक महाविद्यालयों के क्रियाकलाप देव संस्कृति विश्वविद्यालयों की घोषित योजनाओं के अनुरूप ही चलेंगे। इन महाविद्यालयों से क्षेत्र की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। बाद में यहाँ अध्ययन करने वाले छात्र-छात्राएँ अपने उच्चतर शोध आदि अध्ययन के लिए विश्वविद्यालय परिसर में प्रवेश लेंगे।

घटक महाविद्यालयों के अतिरिक्त विश्वविद्यालय में डिस्टेंस एजुकेशन सिस्टम अथवा दूरस्थ शिक्षापद्धति की भी व्यवस्था की जाएगी। इसके लिए पत्राचार पाठ्यक्रम प्रमुख उपयोगी साधन होगा। यद्यपि विभिन्न विषयों में पत्राचार पाठ्यक्रम के माध्यम से पढ़ने वालों के लिए भी घटक महाविद्यालयों या विश्वविद्यालय में कुछ समय का आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करना अनिवार्य होगा। परीक्षा की नीति विषयों के अनुरूप सभी के लिए समान होगी। सभी छात्र-छात्राएँ चाहे वे संबद्ध केंद्रों में पढ़ें या विश्वविद्यालय में, उनके लिए आदर्श व उद्देश्य, नियम, नीतियाँ, अनुशासन व्यवस्था सब कुछ एक जैसी ही होगी। सबके सब देव संस्कृति की नीतियों व मूल्यों के लिए प्रतिबद्ध होंगे और अपने अध्ययनकाल के बाद देव संस्कृति के देवदूत की भूमिका निभाने के लिए अग्रसर होंगे।

◆

विद्या नाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो
धेनुः कामदुधा रतिश्च विहरे नेत्रं तृतीयं च सा।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं
तस्मादन्यमुपेक्ष्य सर्वविषयं विद्याधिकारं कुरु॥

विद्या तो मनुष्य की अतुल कीर्ति है। भाग्य का नाश होने पर यह मनुष्य का आश्रय है। यह कामधेनु के समान है। विरह में रति के समान है। यह मनुष्य का तृतीय नेत्र है। यह सत्कार का घर है, कुल की महिमा है और रत्नों के बिना ही आभूषण है। अतः अन्य सब विषयों की उपेक्षा कर विद्या प्राप्त करो।

नवयुग को जीवन देने वाले संस्कृति दूत यहाँ गढ़े जाएँगे

देव संस्कृति के देवदूत का, उस स्तर का जीवन, विश्वविद्यालय की विद्या साधना का सुफल है। यहाँ आकर अध्ययन करने वाले छात्र-छात्राओं की गुरु दक्षिणा है। यही उनसे अपेक्षा है। विद्यार्थीगण इस ऋषिभूमि में विद्याभ्यास करके यदि स्वयं को देव संस्कृति के देवदूत के रूप में गढ़ सकें, तो समझा जाएगा कि उनका विद्याध्ययन सफल हुआ। उन्होंने आचार्य कुल को, विश्वविद्यालय को अपनी भावभरी श्रद्धा अर्पित कर दी। इस युग के महानतम आचार्य युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव के दिव्य स्वप्न को सच्चे अर्थों में साकार किया। उस उद्देश्य को पूरा करने के लिए सहायक और सहयोगी हुए, जिसके लिए विश्वविद्यालय का समूचा तंत्र विकसित किया गया है—

ऋषियों की रीति-नीति यही है। ऋषि परंपरा का आदर्श, उद्देश्य एवं लक्ष्य यही है। विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के जीवन के भविष्यत् को सुस्पष्ट करने वाले ऋषि मंत्र के स्वर भी यही हैं-

विश्वविद्यालयाधीताः तपोविद्यासमुज्ज्वलाः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षंते पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

''विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले, तप और विद्या से सुसंपन्न व्यक्ति अपने-अपने चरित्र से पृथ्वी के सभी मनुष्यों को शिक्षा देंगे।''

तप और विद्या से भरा-पूरा ऐसा उज्ज्वल चरित्र ही व्यक्ति को देव संस्कृति का देवदूत बनाता है। इन देवदूतों को संस्कृति के सत्य एवं सूत्र समझाने के लिए किसी वाणी विलास या बौद्धिक चमत्कारों की जरूरत नहीं पड़ती। उनका मौन जीवन ही मुखर होकर सब कुछ समझा देता है। उनकी जिंदगी के उजाले से संपर्क में आने वालों के मन-बुद्धि ही नहीं, अंतरात्मा तक सुप्रकाशित हो जाती है। इस विश्वविद्यालय से पढ़कर निकलने वाले छात्र-छात्राओं का जीवन कुछ ऐसा ही प्रकाशपूर्ण होगा, कुछ ऐसी ही आशाएँ और अपेक्षाएँ सँजोई गई हैं। ऐसे ही संकल्प किए गए हैं।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ ही कुछ सवाल उठे हैं, कुछ उठाए गए हैं और कुछ उठाए जा रहे हैं। इन सभी सवालों के धागे इस बात से लिपटे हैं कि यहाँ अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की रोजी-रोटी का क्या होगा? उनके भविष्य का स्वरूप क्या बनेगा? इन सवालों के जवाब में यही कहना है कि इस विश्वविद्यालय का उद्देश्य ही भविष्य को गढ़ना है। यहाँ पढ़ने वाले छात्र-छात्राओं के जीवन एवं भविष्य को इतनी सुघढ़ रीति से गढ़ा-सँवारा जाएगा कि वे अपने और अपने परिवार के, देश, समाज व संसार के भविष्य को गढ़ और सँवार सकें। अपनी परिष्कृत प्रतिभा से स्वयं दिशावान् बनें और अपने आसपास के परिकर को भी सही एवं सार्थक दिशा दें। आर्थिक दृष्टि से वे कभी घाटे में नहीं रहेंगे।

इसके साथ ही इस प्रसंग में एक सचाई समझ लेना जरूरी है। यहाँ पर मल्टी नेशनल कंपनियों में लाखों रुपये लेकर चाकरी करने वालों की कतार नहीं खड़ी की जाएगी। ऊँचे ओहदों पर जा बैठने वाले रिश्वतखोर अफसर भी यहाँ नहीं बनाए जाएँगे। केवल और केवल जिनका मकसद धन कमाना है, जो वैभव और विलास की जिंदगी के सपने देखते हैं, ऐसे व्यक्ति यहाँ के लिए अपात्र हैं, कुपात्र हैं। किसी भी रूप में उनका यहाँ पर कोई स्थान नहीं है। यह विश्वविद्यालय महामानव बनाने की टकसाल है। यहाँ आदर्शनिष्ठ व्यक्ति ही अध्यापन करेंगे और ऐसे ही आदर्शपरायण देश-धर्म एवं संस्कृति के लिए जीने वाले यहाँ पर अध्ययन करेंगे।

यह तपस्थली उनके लिए है, जो देश, धर्म, संस्कृति व विश्वमानवता के लिए जीना चाहते हैं। इन पंक्तियों के माध्यम से उन्हें विश्वास दिलाया जा रहा है कि उनका भविष्य अति उज्ज्वल है। यहाँ पर सभी संकायों के सारे विषयों के पाठ्यक्रमों के माध्यम से जीवन के विविध क्षेत्रों के विशेषज्ञ तैयार किए जाएँगे। उन प्रतिभावानों को रोजगार की कमी न रहेगी। यहाँ के प्रतिभाशाली विद्यार्थी पत्रकार, साहित्यकार, आचार्य, चिकित्साशास्त्री, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, विभिन्न प्रकार के प्रबंधन में विशेषज्ञ, तकनीकी ज्ञान में कुशल, दार्शनिक, अध्यात्मवेत्ता, कवि व लेखक, मनीषी, समाजशास्त्री, शिक्षाविद् जैसी अनेकानेक ज्ञान धाराओं में निपुण होंगे। उनका जीवन व चरित्र देव संस्कृति के देवदूत का होगा। वे जहाँ भी रहेंगे, जो भी काम करेंगे, वहाँ पर देश, समाज व विश्व

को अपनी विशेषज्ञता का लाभ देते हुए देव संस्कृति के देवदूत की भूमिका का निर्वाह करेंगे।

इस विश्वविद्यालय में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, महामना मदन मोहन मालवीय, देशबंधु चितरंजन दास, स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद के आदर्शों पर चलने वालों की नई पीढ़ी तैयार करनी है। ऐसे महामानवों को जन्म देना है, जो इक्कीसवीं सदी में नवयुग को जीवन दे सकें। अपने प्राणों के प्रकाश से उज्ज्वल भविष्य को प्रकाशित कर सकें। यहाँ नवयुग के सृजन शिल्पियों के साथ कौडिन्य, कुमारजीव, बोधिधर्म जैसे संस्कृति के प्रसार करने वाले संस्कृति दूतों को भी गढ़ा जाना है। जो देश व विदेश में अपने जीवन व चरित्र से देव संस्कृति का संदेश प्रसारित कर सकें। प्राचीनकाल के ऋषियुग में धौम्य, शौनक, सूत आदि ऋषियों ने यही किया था। ऐतिहासिक युग के तक्षशिला, नालंदा आदि विश्वविद्यालयों में यही पुण्य परंपरा थी।

प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रख्यात विद्वान् प्रो. ए.एस. अलतेकर, प्रो. आर. सी. मजूमदार एवं विलियम जोंस ने अपने शोध कार्यों में ऐसी कई घटनाओं का उल्लेख किया है। इन घटनाओं से ऐतिहासिक युग के प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों के छात्रों के उज्ज्वल जीवन का पता चलता है। इस बारे में विक्रमशिला विश्वविद्यालय में आने वाले एक तिब्बती भिक्षु नागात्शे का संस्मरण उपलब्ध हुआ है। उसको तिब्बत के राजा ने अपने यहाँ इस विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों को लाने के लिए भेजा था, जो राज्य में महत्त्वपूर्ण दायित्वों का निर्वाह कर सकें। सांस्कृतिक ज्ञान का विस्तार कर सकें। भिक्षु नागात्शे विश्वविद्यालय में दीक्षांत के सुअवसर पर उपस्थित हुआ। उस समय कुलपति आचार्य अतिश केंद्रीय सभागार में सभी छात्रों को संबोधित कर रहे थे। अपने संबोधन में वे बता रहे थे कि अध्ययन पूरा करके घर वापस लौट रहे छात्रों से विश्वविद्यालय की क्या अपेक्षाएँ हैं। नागात्शे ने अपने संस्मरण में इस संबोधन के कुछ बिंदुओं का उल्लेख किया है।

उसके अनुसार आचार्य अतिश ने विद्यार्थियों से कहा— १. आप सब अपने जीवनपर्यंत इस विश्वविद्यालय के तप और विद्या की गौरवपूर्ण परंपरा का निर्वाह करेंगे। विद्यार्थी जीवन के बाद भी तप से लगाव व विद्या के अनुराग को छोड़ेंगे नहीं। २. राष्ट्र सबसे महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्र के आह्वान पर बड़े-से-बड़ा बलिदान करने से हिचकेंगे नहीं। ३. अपने द्वारा अर्जित ज्ञान से राष्ट्र, समाज व विश्व मानवता की सतत सेवा करेंगे। ४. इस तरह का जीवन जिएँगे कि उनके संपर्क में आने वाले लोग अपने आप ही विश्वविद्यालय के आदर्शों को सीख सकें। ५. प्रत्येक छात्र सारे जीवन भर विश्वविद्यालय का विशेष दूत होने का दायित्व निभाएगा और इस अनुभूति को प्रगाढ़ बनाए रखेगा कि वह सदा ही इस विश्वविद्यालय का एक अविभाज्य अंग है।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं से भी यही सांस्कृतिक अपेक्षाएँ हैं। देव संस्कृति को सदा ही उन्हें अपने जीवन में रक्त व प्राण की तरह प्रवाहित बनाए रखना है। यहाँ अध्ययन करके घर वापस लौटने वाले छात्र व छात्राओं को यह तथ्य कभी भी विस्मृत नहीं होने देना है कि वे ऋषि चेतना के संवाहक हैं। युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव के प्रतिनिधि हैं। उनके तपस्वी जीवन व सांस्कृतिक चेतना के उत्तराधिकारी हैं। दीक्षांत समारोह के बाद अपने जीवन को सामाजिक चुनौतियों को स्वीकार करने वाला प्रत्येक विद्यार्थी इस विश्वविद्यालय का क्रियाशील कीर्तिस्तंभ होगा। विद्यार्थियों के जीवन में आदर्शनिष्ठा की सफलता पर ही विश्वविद्यालय के समूचे तंत्र की सफलता टिकी है। अपने देव परिवार के सारे परिजन इस पुण्य प्रयोजन में भागीदार होंगे।

* * *

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुंक्ते
कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥

विद्या माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हित में लगाती है, प्रिया के समान खेद को दूर करके आनंद प्रदान करती है। कल्पलता के समान विद्या क्या-क्या नहीं करती, अर्थात् सब कुछ करती है।

अपनों से अपनी बात—

अब कार्यरूप में परिणत हो आदर्शवादिता

राष्ट्र, समाज व विश्व के सांस्कृतिक नवोन्मेष के लिए ही देव संस्कृति विश्वविद्यालय का यह समूचा तंत्र खड़ा किया गया है। इसके सभी संकायों एवं सारे पाठ्यक्रमों का लक्ष्य एक यही है। दरअसल ये सारे भगीरथ प्रयत्न युगांतर प्रस्तुत करने वाली चेतना की ज्ञान गंगा का अवतरण करने के लिए किए जा रहे हैं। यह ज्ञान का महायज्ञ सतयुग की कल्पना को साकार करने वाले नवयुग को धरती पर उतारने के लिए है। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र द्वारा रची गई नई सृष्टि की ही भाँति युगऋषि की तप:शक्ति के सहारे किया जा रहा नवयुग के नवसृजन का यह कार्य पूरा होकर ही रहेगा। युगशक्ति वेदमाता की समर्थ शक्ति एवं भगवान् महाकाल के संकल्प की सफलता में कोई संदेह नहीं है।

इस विद्या केंद्र में अपने नाम के अनुरूप ही गुणवत्ता है। 'देव संस्कृति' इसलिए क्योंकि इसमें ऋषियों की साधना से उपजे वे मूल्य और प्रक्रियाएँ हैं, जो मनुष्य को देव बनाने, सुसंस्कृत करने में समर्थ हैं। 'विश्व' इसलिए कि इसका लक्ष्य कोई सीमित वर्ग या क्षेत्र नहीं, वरन् समस्त विश्व वसुधा है। 'विद्यालय' इसलिए कि शिक्षा की स्वल्प उपलब्धि केवल भौतिक प्रगति का द्वार खोलती है, व्यक्तित्व का परिष्कार तो विद्या साधना पर टिका है। यह केंद्र विद्या की गरिमा को समझाने और जनमानस में उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करने में निरत रहेगा। इन प्रयत्नों के इस केंद्र को सच्चे अर्थों में 'आलय' कहा जा सकेगा। विश्वविद्यालय के नाम से कितने ही परीक्षा संस्थान और कॉलेजों का समन्वय संबोधित किया जाता है, पर शब्द के अर्थ को सार्थक करने वाले विद्यापीठ कहीं भी दिखाई नहीं देते।

देव संस्कृति को सुविकसित, सुविस्तृत बनाने वाली इस लुप्तप्राय पुण्य परंपरा के पुनर्जागरण का यह अभिनव प्रयास है। इसे युग को बदल देने वाली युगांतर चेतना का समर्थ केंद्र भी कहा जा सकता है। देश, समाज व विश्व मानवता को आज जैसी विपन्न स्थिति में भला कब तक पड़े रहने दिया जाए! यह विश्वविद्यालय उसे मानवी गरिमा के उच्च शिखर पर पहुँचाकर ही चैन लेगा। 'करो या मरो' यहाँ के प्रत्येक आचार्य, इससे जुड़े प्रबंध कर्मी व अध्ययन करने वाले छात्र-छात्राओं का निश्चय है। इस संकल्प को पूरा करने वाले कुछ कदम उठाए जा चुके हैं, कुछ उठाए जा रहे हैं और कुछ उठाए जाने हैं। जो हो रहा है वह शुभारंभ—श्री गणेश है, जो होने वाला है वह अति विस्तृत-अकल्पनीय है। आज के प्रयासों का प्रत्यक्ष स्वरूप नगण्य है, पर भावी संभावनाओं की यदि कोई कल्पना की जा सके, तो वे हिमालय से भी ऊँची हैं और समुद्र से भी गहरी हैं। इस महासाहस को आज की परिस्थितियों में अद्भुत और अनुपम कहना थोड़ा-सा भी गलत नहीं है।

देव परिवार के हर परिजन की इस पुण्य प्रयोजन में भागीदारी हो

देव संस्कृति विश्वविद्यालय की सभी गतिविधियों को द्रुतगति से अग्रगामी बनाया जाए, इसके लिए अपने परिजनों का समर्थ सहयोग अनिवार्य है। इसके प्रभावकारी परिणाम हों, इसे व्यापकता व विस्तार मिले, इसके लिए अन्यमनस्क मन:स्थिति व मंथर गति से काम चलने वाला नहीं है। वरन् आपद्कालीन संकट का सामना करने के लिए जिस प्रकार युद्धस्तरीय सत्प्रयत्न किए जाते हैं, वैसे ही किए जाने हैं। विश्वविद्यालय का वर्तमान स्वरूप गायत्रीकुंज के परिसर में सीमित है, पर भविष्य में उसके केंद्रों का विस्तार देश और विदेशों में होना है। बालक आज खिलौना जैसा लगता जरूर है, पर भविष्य में उसके प्रौढ़, वयस्क और परिपुष्ट लौह पुरुष के रूप में विकसित होने की पूरी-पक्की तैयारी है। यह संस्था इतने छोटे रूप में सीमित न रहेगी, जितनी कि अभी शुरुआत में है। इसके विद्या केंद्र समस्त

राष्ट्र व समूचे विश्व में फैलेंगे। इसका अंतर्राष्ट्रीय विस्तार होगा।

इसे ऐसा महाविस्तार देने के लिए कोई एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का समूह पर्याप्त नहीं है। इसके लिए तो अपने देव परिवार के प्रत्येक परिजन को तन-मन-धन से जुटना होगा। ज्ञानयज्ञ के लिए इस प्रज्वलित हवन कुंड में अपने समय व संपदा की आहुति देनी होगी। प्रेरणाएँ व योजनाएँ भले ही शांतिकुंज में अवतरित होती रही हों, पर उन्हें मूर्तिमान, अग्रगामी व फलवती बनाने में सदा ही अपने इसी परिवार की श्रद्धा, भक्ति, श्रम एवं मनोयोग लगा है। साधनों की आवश्यकता जब-जब पड़ी है, तो उसकी सारी पूर्ति अपने ही परिवार के सदस्यों ने की है।

कहा उन्हीं से जा रहा है, जो इस समय इन पंक्तियों को पढ़ रहे हैं। वे ही हमारे अपने हैं। उन्हीं पर इस विश्वविद्यालय का दारोमदार है। उन पर ही यहाँ की सारी योजनाओं को पूरा करने की जिम्मेदारी है। धन के बिना सारे काम ठप्प पड़े हों और भावनाशील चुप बैठे रहें, यह कैसे हो सकता है! सवाल विश्वविद्यालय की भविष्यत् योजनाओं को पूरा करने का है। इसके लिए धन चाहिए। अब उसके लिए मात्र सहयोग करके, स्वेच्छा सहयोग के लिए प्रतीक्षा करने में काम चलता दिखाई नहीं देता। अब इस स्तर के अनुदानों को अधिक त्याग और साहस का समावेश करने के लिए आग्रह करना पड़ेगा, क्योंकि साधनों के अभाव में काम की गति में अवरोध उत्पन्न हो रहा है। योजनाएँ बड़ी हैं, इन्हें पूरा करने के लिए बहुत कुछ करना बाकी है।

विश्वविद्यालय को अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करना है। यहाँ देश व विदेश से जो छात्र-छात्राएँ पढ़ने आएँगे, उनके लिए भोजन-आवास की व्यवस्था करनी है। पढ़ाने वाले सुयोग्य आचार्यों के निवास व निर्वाह की व्यवस्था करनी पड़ेगी। इस भारी-भरकम व्यवस्था के लिए अगणित कर्मचारियों को जुटना पड़ेगा। व्यक्तियों के लिए नियोजित किए जाने वाले साधन-सुविधाओं के अलावा अन्य कार्यों की भी अपनी जरूरतें हैं। अनुसंधान के लिए हर विषय के अनुरूप प्रयोगशालाएँ चाहिए। इसके लिए आवश्यक उपकरण देश व विदेश से मँगाने पड़ेंगे। इन सभी आवश्यक उपकरणों की महँगाई की अलग से चर्चा करना आवश्यक नहीं है। समझदारों के लिए संकेत ही काफी होते हैं। शोध और अन्य कार्यों के लिए अगणित आधुनिकतम तकनीक वाले कंप्यूटरों के संजाल की आवश्यकता स्वयं सिद्ध है।

इस सबके अतिरिक्त पुस्तकालय के खर्चे काफी-बढ़े-चढ़े हैं। शोध के लिए संदर्भ ग्रंथ, पाठ्य विषयों के लिए पुस्तकें कहीं से भी जुटाई जाएँ, जुटानी ही पड़ेंगी। इन सबसे भी कहीं महँगी दरें हैं, अंतर्राष्ट्रीय स्तर की शोध पत्रिकाओं की। जिन्हें जिस किसी तरह पूरा किए बिना काम चलने वाला नहीं है। सभी विभागों, सभी विषयों में आवश्यकताएँ एक नहीं अनेक हैं। इन्हें कैसे भी पूरा किया जाए, पूरा करना ही पड़ेगा। साधनों के अभाव में अभी यह समूची प्रक्रिया अटक-अटककर चल रही है। एक आवश्यकता जैसे-तैसे पूरी होती है, तो दूसरी अटकी पड़ी रह जाती है। समझ में नहीं आता कि कैसे क्या किया जाए!

अपने परिजन स्वयं तो सहयोग करें ही। पुण्यवान् श्रीमंत वर्ग को भी इस संस्कृति सेवा के लिए प्रेरित करें। महामना मदन मोहन मालवीय ने द्वार-द्वार जाकर बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के लिए धन जुटाया था। यही रीति अब हम सबको अपनानी पड़ेगी। अपने गुरु के कार्य के लिए इस पुरुषार्थ हेतु जुटना होगा। विश्वास किया जा रहा है कि पुण्यवान् धनिकों के पास संस्कृति संवेदना भी होती है। भले ही आजकल यह थोड़ी सुप्त पड़ गई हो। हम सबको मिलकर उनकी इस संवेदनशीलता को जगाना होगा। आशा की गई है कि धनी-मानी लोगों में भामाशाह और जमनालाल बजाज निकलेंगे ही। धन के साथ संवेदना जाग्रत् हो, तो देश, धरती, समाज, संस्कृति का दरद भी होगा। मातृभूमि व धरती माता की छटपटाहट भरी पीड़ा मन को सताएगी, दिल को रुलाएगी। अपने परिवार के सदस्यों से स्वयं संवेदनशील होने और इस पुण्य प्रयोजन के लिए श्रीमंत वर्ग की संवेदना को जाग्रत् करने की अपेक्षा की गई है। इसके लिए उनकी ओर टकटकी लगाकर देखा जा रहा है।

• • • • • • • • • • • • •

समुन्नत जीवन का एकमात्र आधार सद्ज्ञान है। इस अवलंबन के बिना कोई ऊँचा नहीं उठ सकता, आगे नहीं बढ़ सकता। संतोष, सम्मान और वैभव की अनेकानेक श्रेयस्कर विभूतियाँ इस सद्ज्ञान संपदा पर ही अवलंबित हैं।

• • • • • • • • • • • • •

सरकार से एक नया पैसा सहयोग लेने की बात कभी सोची ही नहीं, साथ ही यू. जी. सी. से भी किसी प्रकार

16/5/02

का अनुदान नहीं लिया जा रहा। जो लोग इन दिनों सरकार का सूत्र संचालन कर रहे हैं, वे अपनी ही कठिनाइयों, परेशानियों से उबर लें, यही बहुत है। आर्थिक, सुरक्षात्मक, अपराध नियंत्रण जैसी न जाने कितनी समस्याएँ उनके आगे अपना मुँह पसारे खड़ी हैं, वे उन्हीं से ठीक ढंग से निबट लें, यही बहुत है। राज्याश्रय में रहना लोकसेवी ऋषियों को शोभा भी नहीं देता। ऋषियों के जीवन का भगवान् पर ही निर्भर रहना ठीक है। देश व विश्व के सभी भावनाशील परिजनों व पुण्यवान् श्रीमंतों को उसी का स्वरूप माना गया है।

घुमा-फिराकर आशा का केंद्र अपने गायत्री परिवार के परिजनों के साथ ऐसे पुण्यात्मा जन ही हैं। अखंड ज्योति को इस समय थामे हुए हाथों से ही प्रकाश के दान की अपेक्षा की गई है। इन पंक्तियों के सभी पाठक चाहे वे कोई भी क्यों न हों, अपने अपनत्व के घेरे में हैं। सारी आशाएँ उन्हीं पर टिकी हैं। उन्हीं से अधिक त्याग करने की, ज्यादा उदारता बरतने की बात कही जा रही है। जिनमें कसक और टीस को समझ सकने लायक संवेदना है, उन्हीं को समझाया जा रहा है। निष्ठुरता ने तो भला कब किसकी सुनी है! संवेदनशील समझदारों से यह उम्मीद जताई गई है कि वे अपने आवश्यक कामों को कुछ समय के लिए रोककर भी इस पुण्य प्रयोजन में अनिवार्य रूप से भागीदार बनें।

जिनकी स्थिति गुजारे से आगे बढ़कर कुछ बचत करने लायक है, वे उस सौभाग्य का श्रेष्ठतम उपयोग करके अपने को सच्चे अर्थों में भाग्यवान् बना सकते हैं। चक्कवेण, बाजिश्रवा आदि के अगणित उदाहरण भारतीय संस्कृति के आकाश में उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति चमक रहे हैं। वे अति आवश्यक खरच में से जो कुछ बचाते थे, उसे समय-समय पर सर्वमेध यज्ञ के रूप में पूरी तरह से खाली कर देते थे। शिवि, हरिश्चंद्र, मुद्गल के प्रसंग भी ऐसे ही हैं। ईश्वरचंद्र विद्यासागर अपने अच्छे वेतन का एक चौथाई अंश ही खरच में लाते थे और तीन चौथाई विद्यादान के लिए समर्पित करते थे। इन परंपराओं को कथा-वार्त्ता की रोचक चर्चा का विषय बनाकर हवा में नहीं उड़ा देना चाहिए, वरन् कोशिश यह होनी चाहिए कि उन्हें जीवित भी रखा जा सके। धर्म का बखान ही नहीं होना चाहिए, उसे कर्म में स्थान भी मिलना चाहिए।

कंजूसी-कृपणता की वृत्ति यदि उदारता में नहीं बदल सकी, तो फिर अध्यात्म के आदर्शवाद का सारा ढाँचा मात्र विडंबना बनकर रह जाएगा। देव संस्कृति विश्वविद्यालय के द्वारा जिस तत्त्वदर्शन को हम सब विश्वव्यापी बनाना चाहते हैं, उसके उदाहरण हमें अपनों में से ही प्रस्तुत करने पड़ेंगे। वस्तुतः वह कार्यरूप में परिणत हुई आदर्शवादिता ही विश्वविद्यालय की जीवन-ऊर्जा बनेगी। परिजनों की प्राणचेतना ही यहाँ से प्रेरणा बनकर लोगों को प्रभावित कर सकेगी। उपदेशों में नहीं उदाहरणों में दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति होती है।

शिष्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमें पवित्रता, सच्ची ज्ञान-पिपासा और अध्यवसाय हो। अपवित्र आत्मा कभी यथार्थ धार्मिक नहीं हो सकती। धार्मिक होने के लिए तन, मन और वचन की शुद्धता नितांत आवश्यक है।

महान् आदर्शों की पूर्ति के लिए किया गया तप, त्याग, सर्वस्व दान व आत्मबलिदान ही वह आधार है, जिसके सहारे विश्वविद्यालय के आदर्श व उद्देश्य पूरे हो सकते हैं। इस विश्वविद्यालय की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने परिवार के परिजनों की ओर बड़ी आशा भरी नजरों से निहारा जा रहा है। अब बारी उनके आगे बढ़ने की और कुछ कर गुजरने की है। जो अपने धन और साधन से इस महत्कार्य में भागीदार होंगे, भगवान् महाकाल उन्हें अपने सहायक होने का गौरव प्रदान करेंगे। देव संस्कृति के आकाश में उनकी उज्ज्वल आभा सदा-सदा प्रकाशित रहेगी।

✻

गीता में कहा गया है, 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' अर्थात् इस संसार में ज्ञान से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ पदार्थ नहीं है। आत्मनिर्माण की, चरित्र गठन की, सुसंस्कार की, सत्प्रवृत्तियों की भावनाएँ जाग्रत् करने वाले सद्विचारों को ही सच्चा ज्ञान कहा जा सकता है। यही जीवन को सफल बनाने वाला सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है। ज्ञान-लाभ का उद्देश्य पूर्ण करने वाला सर्वसुलभ साधन— स्वाध्याय भी है।

नैतिकता के यक्ष प्रश्न एवं उनके वैज्ञानिक समाधान

नैतिकता के यक्ष प्रश्न जीवन में सब तरफ हैं। जीवन का केंद्र मनुष्य का व्यक्तित्व हो या फिर उसके विस्तार के रूप में समाज, इन कटीले काँटों के घाव हर कहीं हैं। इन सवालों के सही और सटीक हल न खोजे जाने के कारण ही परिवार, समूह, समुदाय आदि समाज के सभी दायरों में विघटन एवं अलगाव हुआ है। भारत सहित दुनिया के प्रायः सभी देशों में एक सी स्थिति है। मानवीय जीवन की प्रायः हर संस्था टूट-दरक गई है। हर देश की सामाजिक संरचना चरमरा गई है। पुरानी नैतिक स्थापनाओं को नई पीढ़ी किसी भी तरह स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है। पुरानी पीढ़ी अपने जमाने की नैतिक मर्यादाओं को स्थापित करना चाहती है, लेकिन नई पीढ़ी इन्हें सिरे से अनुपयोगी बता रही है।

नई पीढ़ी ने नैतिकता के औचित्य पर नए सवाल उठाए हैं। वह पुरानी पीढ़ी के पुराने पड़ चुके जवाबों से संतुष्ट-सहमत नहीं है। बुजुर्गों की यह बात उन्हें रास नहीं आती है कि हमारे बुजुर्गों ने कहा और हमने मान लिया। अब हम तुम्हें समझा रहे हैं, तुम मान लो। श्रद्धा और आस्था की यह नैतिक परंपरा युवा पीढ़ी को अर्थहीन लग रही है। उन्हें तर्क और प्रयोगों का अर्थपूर्ण विज्ञान चाहिए, जिसमें उनके द्वारा उठाए गए यक्ष प्रश्नों के वैज्ञानिक हल हों। इस संबंध में सबसे पहला और केंद्रीय सवाल है कि भोग के अर्जन और उसके उपभोग की क्षमता के रहते हुए स्वच्छंद भोग क्यों नहीं? स्वच्छंद भोग में जब इंद्रिय सुख सर्वविदित है, तब फिर उसका त्याग किस महत्त्वपूर्ण सुख के लिए किया जाए?

नैतिकता के इन व्यक्तिगत सवालों के अलावा कई सामाजिक सवाल भी हैं। हालाँकि ये सवाल भी प्रकारांतर से व्यक्तिगत जिंदगी से जुड़े हुए हैं। ऐसे सवालों में सर्वमान्य सवाल है कि जब संयुक्त परिवार व्यक्तिगत सुख में बड़ी ही स्पष्ट रीति से बाधक है, तब फिर उसका बोझ क्यों उठाया जाए? बुजुर्गों की सेवा करने की क्या जरूरत है? इन और ऐसे ही अनेकों यक्ष प्रश्नों का सारभूत तत्त्व इतना ही है कि नैतिक मर्यादाएँ, नैतिक वर्जनाएँ, नैतिक मूल्य प्रायः सुख-भोग में बाधा ही पहुँचाते हैं, तब ऐसे में उन्हें क्यों ढोया जाए? ये सभी सवाल आज के भारत के हैं, जहाँ के युवा आज धन कमाने के लिए किसी भी नैतिक आचरण की परवाह नहीं करने के लिए तैयार हैं।

नैतिकता के ये यक्ष प्रश्न उस रूप के हैं, जहाँ की बालाएँ भोगवाद की बाढ़ में बेतरतीब बह रही हैं। ये सवाल हैं जापान के,जहाँ स्कूल व कॉलेज जाने वाली छात्राओं का प्रिय शौक 'इजोकोसाई' (एक तरह का देह व्यापार) है। इसे वे अपनी हॉबी मानती हैं। नैतिकता के सवालों के इन कटीले काँटों की फसल अमेरिका में भी खूब जोर-शोर से लहलहाती हुई झूम रही है, जहाँ पिछले दिनों लॉस एंजिल्स शहर में एक किशोर ने अपने चचेरे भाई के साथ मिलकर केवल शौक के लिए अपनी चाची की हत्या कर दी। वहाँ बेतहाशा बढ़ते उन्मुक्त भोग ने बच्चों का बचपन एवं युवाओं का यौवन छीन लिया है, क्योंकि वहाँ बच्चे यौवन के सुख भोगना चाहते हैं। इस प्रवृत्ति से ग्रसित बचपन जब किशोर अवस्था की दहलीज पर कदम रखता है, तब तक उनकी जीवनी शक्ति उनसे विदा ले चुकी होती है।

इनमें से किसी को वेद वचन या संतवाणी पढ़कर समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि वे इसे सुनने के लिए तैयार नहीं हैं। सुकरात का, कांट का तत्त्वदर्शन इनके लिए अर्थहीन है, क्योंकि इसमें वे अपने सवालों के सामयिक समाधान नहीं पाते हैं। इनके सवालों के हल के लिए हमें नैतिकता के नए विज्ञान को जन्म देना होगा, जो नैतिकता

के अर्थ, स्वरूप व उद्देश्य के साथ उसकी समसामयिक आवश्यकता को बड़े ही तर्कपूर्ण एवं प्रयोगसम्मत रीति से सिद्ध कर सके।

इस नए विज्ञान की आधारभूत परिकल्पना यह है कि नैतिकता अपने वास्तविक अर्थों में जीवन-पथ है, जिसका अंतिम बिंदु जीवन का चरम विकास है। जीवन के इस चरम विकास में सभी तरह की शांति है, परम आनंद है और ज्ञान का प्रकाश है। नैतिकता के जीवन-पथ से विचलित होने वाले जीवन के इस विकसित स्वरूप की अनुभूति कभी भी नहीं कर सकते। नैतिकता के सभी यक्ष प्रश्नों के समाधान इसी वैज्ञानिक परिकल्पना पर आधारित प्रयोगों में हैं। इस परिकल्पना के प्रयोगात्मक निष्कर्ष ही आज की युवा पीढ़ी को सार्थक समाधान दे सकते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इन प्रयोगों की शुरुआत भी कर दी है। इन्हीं में से एक एरिक फ्रॉम हैं। इन्होंने अपने निष्कर्षों को कुछ बिंदुओं में स्पष्ट करने की कोशिश की है- १. नैतिकता का औचित्य जीवन के सही स्वरूप बोध से स्वतः सिद्ध हो जाता है। जीवन-बोध यदि विकृत है, तो फिर नैतिकता की अवहेलना, उपेक्षा मनुष्य का स्वाभाविक कर्म बन जाएगी। २. सुखभोग के लिए त्यागी जाने वाली नैतिकता का अंत भयानक व विनाशक दुःखों में होता है। ३. नैतिक मर्यादाओं की अवहेलना करने वाले प्रायः मनोरोगी हो जाते हैं। यदि ऐसा अभी तक नहीं हुआ है, तो आगे ऐसा होना सुनिश्चित है।

एरिक फ्रॉम के ये तीनों निष्कर्ष उसके एक विशिष्ट प्रयोग पर आधारित हैं। अपने इस प्रयोग के लिए उसने विभिन्न किंतु निश्चित आयु वर्ग के स्त्री व पुरुषों को लिया। इस प्रयोग के लिए पहले सभी को उनके आयु वर्ग के अनुसार अलग-अलग समूहों में बाँटा गया। इनमें से पहले समूह को यह समझाया गया, मनुष्य जीवन का सही स्वरूप व सार्थक रीति-नीति क्या है? इन्हें बताया गया मनुष्य सिर्फ देह और मन तक सीमित नहीं है। उसका केंद्रीय तत्त्व आत्मा है। यही यथार्थ में ज्ञान, शक्ति व आनंद का स्रोत है, परंतु इसकी अनुभूति के लिए कुछ नीति-नियमों का पालन अनिवार्य है। जिस समूह को यह बात भलीभाँति समझाई गई, वे बड़े ही उत्साह से नैतिक आदर्शों के पालन के लिए तैयार हो गए। इस प्रयोग समूह के विपरीत नियंत्रण समूह को नैतिक आदर्श तो बताए गए, परंतु उन्हें जीवन का सच्चा स्वरूप नहीं समझाया गया। लगभग एक वर्ष तक चले इस प्रयोग के परिणाम यह रहे कि जीवन का सही स्वरूप समझने वाले प्रयोगात्मक समूह के लोगों ने पूरी नियम-निष्ठा के साथ नैतिक आदर्शों का पालन किया। इसके विपरीत कंट्रोल ग्रुप या नियंत्रण समूह के लोगों ने नीति-नियमों के पालन में उपेक्षा बरती।

प्रयोग समूह के जिन लोगों ने नैतिक आदर्शों का पालन बड़ी ही सचाई व निष्ठा के साथ किया, उनकी मनोदशा में काफी गुणात्मक सुधार हुआ। उनके व्यक्तित्व की विभिन्न क्षमताओं में काफी बढ़ोत्तरी हुई। साथ ही कुंठा, अवसाद, अपराधबोध आदि विभिन्न मनोव्याधियों में भारी गिरावट हुई। महिलाओं में यह प्रतिशत ९९ व पुरुषों में ९० रहा। एरिक फ्रॉम ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि संभवतः महिलाएँ आंतरिक रूप से अधिक संवेदनशील होने के कारण पुरुषों की तुलना में ज्यादा ग्रहणशील होती हैं। इन प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया कि नैतिक आदर्श व्यक्तित्व की विभिन्न क्षमताओं के विकास व प्रायः सभी तरह के मनोरोगों के निवारण में सहायक होते हैं।

कंट्रोल ग्रुप या नियंत्रण समूह के जिन लोगों ने नैतिक मर्यादाओं की उपेक्षा या अवहेलना की थी, उनके व्यक्तित्व की विभिन्न क्षमताएँ घटीं और कुंठा, अवसाद व अपराधबोध आदि मनोरोगों में भारी बढ़ोत्तरी हुई। कई तो ऐसे उदाहरण सामने आए कि इस नियंत्रण समूह में जो लोग प्रायः स्वस्थ-सामान्य रह रहे थे, उनमें नैतिकता की भरपूर अवहेलना के कारण विभिन्न मनोरोग अंकुरित होने लगे। इससे यह वैज्ञानिक तथ्य प्रकट हुआ कि नैतिक मर्यादाओं की अवहेलना करने वाले लोगों में प्रायः मनोरोगी होने की संभावना रहती है।

एरिक फ्रॉम ने अपने इन प्रयोगों व निष्कर्षों को जब 'मॉरल वैल्यूज एंड मेंटल डिसऑडर्स' (नैतिक मूल्य एवं मानसिक व्यतिक्रम) के नाम से शोध-पत्र के रूप में प्रकाशित किया, तो युवाओं में भारी हलचल मची। भारी संख्या में विश्वभर के युवा नैतिक आदर्शों को अपनाने के लिए उन्मुख हुए। उनमें से कुछ एक ने कहा कि उन्होंने नैतिकता के संबंध में जो प्रश्न उठाए थे, अब उनका समाधान होने लगा है। युवा वर्ग के विश्वव्यापी सर्वेक्षण से यह निष्कर्ष सामने आया कि नैतिकता के यक्ष प्रश्नों के समाधान के लिए तत्त्वदर्शन के सिद्धांत नहीं, वैज्ञानिक प्रयोग आवश्यक हैं। इन्हीं के निष्कर्षों से सभी सार्थक समाधान मिलेंगे।

*

एक ही समय अनेक स्थानों पर एक ही शरीर

उपनिषदों की बहुश्रुत श्रुति 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' में चेतना का स्वरूप बोध है। ऋषि कहते हैं, चेतना वह हो या यह, ईश्वरीय हो अथवा मानवीय, सभी अपने रूपों में पूर्ण है। सभी तरह से पूर्ण ईश्वरीय चेतना की अंश जीव चेतना अपूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' पूर्ण से पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही बचता है। ऋषि की इस आध्यात्मिक अनुभूति की झलक वैज्ञानिक अपने प्रयोगों में भी पाने लगे हैं। शोध-अनुसंधान की साधना में उन्हें यह अनुभव होने लगा है कि प्रकृति हो या पदार्थ, सभी में उस परब्रह्म की पूर्णता ही समाई है। खंड में अखंड ही झिलमिल झलकता है।

वैज्ञानिकों को इस सत्य का साक्षात्कार होलोग्राफिक मॉडल विकसित करते समय हुआ। दरअसल यह बहुत उच्चस्तरीय फोटोग्राफिक तकनीक है। विज्ञानवेत्ताओं के अनुसार होलोग्राम त्रिआयामी-त्रिपार्श्व छायाचित्र है, जो लेजर किरणों से बनता है। यह छायाचित्र सामान्य छायाचित्रों से बहुत अलग और अद्भुत है। अब जैसे एक सेव का होलोग्राफ लिया जाए, तो इसमें सेव का त्रिआयामी चित्र उभरेगा। इस त्रिआयामी चित्र वाली फिल्म के दो टुकड़े कर लिए जाएँ, तो हर टुकड़े में पूरे सेव का साफ चित्र दिखाई पड़ेगा। इस चित्र वाली फिल्म को भले ही चार, आठ, सोलह, बत्तीस आदि टुकड़ों में बाँटा जाए, तो भी इसके प्रत्येक टुकड़े में सेव का वही संपूर्ण चित्र दिखाई देगा। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि होलोग्राफी पारदर्शिता से युक्त हर एक टुकड़े में सेव का समग्र बिंब होता है।

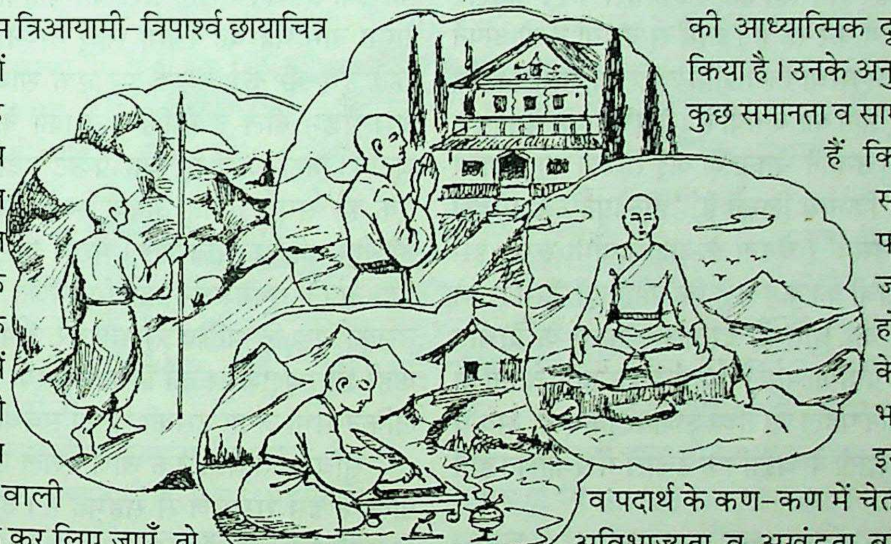

यह बात कुछ ऐसी है, जैसे आसमान के चाँद का बिंब नदी के जल के विस्तार में अपनी संपूर्णता से प्रकट होता है, लेकिन नदी के थोड़े-से पानी को यदि कई छोटे-छोटे घड़ों में भर लें, तो उन घड़ों में भी चंद्रमा का संपूर्ण बिंब उभरेगा। पानी के इस बँटवारे से चंद्रमा की छवि नहीं बँटेगी। होलोग्राफी का सिद्धांत भी कुछ ऐसा ही है। विज्ञानवेत्ता फ्लाइड का कहना है कि साधारण चित्रों में सूचनाओं के समूह काफी बिखरे होते हैं, इसलिए उसके किसी एक टुकड़े से समग्रता उभरती नहीं है, जबकि होलोग्राफिक रीति से लिए गए चित्र में सब कुछ एकम-एक होता है, इसीलिए उसके सूक्ष्मता के अंश में भी संपूर्णता के दर्शन होते हैं। क्वांटम सिद्धांत के प्रवर्तक अब 'अणु में विभु' के दर्शन को कल्पना नहीं, संपूर्ण वैज्ञानिक सत्य मानते हैं। विज्ञानवेत्ताओं का मानना है कि यह होलोग्राफिक सिद्धांत हमारे अपने जीवन एवं विचारों की संरचना में भी लागू होता है।

विज्ञान मनीषी स्टेनले आर. डीन ने इस होलोग्राफिक सिद्धांत का साम्य भारतदेश के ऋषियों की आध्यात्मिक दृष्टि से स्थापित किया है। उनके अनुसार इनमें काफी कुछ समानता व साम्य है। वह कहते हैं कि आध्यात्मिक साधनाओं के फलस्वरूप मिली जीवन दृष्टि होलोग्राफ प्रयोगों के निष्कर्षों की भाँति है, क्योंकि इस दृष्टि से जीवन व पदार्थ के कण-कण में चेतना की संपूर्णता, अविभाज्यता व अखंडता बड़ी साफ-साफ दिखती है। इस दृष्टि से यह सचाई बड़े ही साफतौर पर उजागर होती है कि बँटवारा पदार्थ का हो सकता है, चेतना का कदापि नहीं। गीता के महोपदेशक भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में, ''जो नष्ट हुआ, जिसका रूप बदला वह तो पदार्थ है। चेतना तो 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' देह-कलेवर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती। यहाँ तक कि देह में वास करती हुई दैहिक सीमाओं से पार व परे है।''

पश्चिमी दुनिया के बड़े ही प्रख्यात दार्शनिक ज्ञान में एक नए युग के प्रवर्तक लुडविग विटगेंस्टाइन को भी एक

समय इसी ज्ञान का अनुभव हुआ था। ज्ञान की इस अनुभूति से वह आनंदविभोर हो गए। उन्होंने अपने मित्रों-परिचितों से कहा कि 'मैं-पन' की सभी बातें बेकार हैं। जो तुम हो, वही मैं हूँ—और जो मैं हूँ, वही तुम हो। रोज-रोज मर रहे, बदल रहे इस झूठे शरीर को भेद का आधार मानना बेकार है। सभी पूर्ण है और सभी में वही अविभाज्य चेतना है। अपनी इस भावानुभूति के बाद युग प्रवर्तक दार्शनिक विटगेंस्टाइन ने दर्शनशास्त्र में एक नए तर्क की स्थापना की। उन्होंने कहा कि 'मैं' शब्द को दार्शनिक ज्ञान से हटा देना चाहिए, क्योंकि इससे झूठा और कोई शब्द ही नहीं है। यदि किसी को मैं की अनुभूति हो सकती है, तो सिर्फ एक समष्टि मैं की। कई मैं तो हो ही नहीं सकते। चेतना की भौतिक परिमाप करना संभव नहीं है। यह सर्वव्यापी और अनंत है। मजे की बात है कि ऐसा होते हुए भी सभी में एक साथ, मनुष्यों में ही नहीं, सृष्टि के प्रत्येक जीव में, प्रकृति व पदार्थ के प्रत्येक कण में यह अपने संपूर्ण रूप में अनुभव होती है।

विज्ञानवेत्ताओं को चेतना की यह दार्शनिक पहेली इन दिनों बड़ी रुचिकर लग रही है। वे इसे हल करने के लिए कई तरह के प्रयोग कर रहे हैं। इनमें से कइयों ने तो अपने प्रयोगों व शोध-अनुसंधान की प्रक्रियाओं का आधार भारत देश के उपनिषद् ज्ञान को बनाया है। ऐसे ही एक वैज्ञानिक जे. ए. एशबी हैं। उन्होंने चेतना के कई रहस्यों को उजागर करने वाली एक किताब लिखी है, 'होलोग्राफिक मॉडल ऑफ कांशियसनेस।' (चेतना के बहुआयामी रूप) इस पुस्तक में प्रो. एशबी का कहना है कि पहेलियों जैसी लगने वाली उपनिषदों की श्रुतियाँ, दरअसल भारत के प्राचीन ऋषियों के गहन प्रयोगात्मक निष्कर्ष हैं। उन्होंने चेतना के बारे में हजारों साल पहले जो तथ्य उजागर किए थे, अब वे होलोग्राफिक सिद्धांतों के वैज्ञानिक उजाले में प्रमाणित होने लगे हैं।

प्रो. एशबी ने अपने शोध-अनुसंधान के प्रयोगों व इनके निष्कर्षों के क्रम में चेतना की अभिव्यक्ति की कई भावी संभावनाएँ जताई हैं। कई विज्ञानवेत्ता इन्हें असंभव संभावनाएँ मानते हैं, लेकिन जार्ज एशले एशबी का कहना है कि किन्हीं भी संभावनाओं को असंभव कहना वैज्ञानिक सिद्धांतों की मौलिक प्रकृति के विरुद्ध है। सच्ची वैज्ञानिकता जीवन व प्रकृति की सभी संभावनाओं को विकसित करके, उन्हें सार्थक अभिव्यक्ति देने व मूर्त रूप करने का प्रयास-पुरुषार्थ है। एशबी के अनुसार कोई भी मनुष्य अपनी अंतर्चेतना को पुष्ट-परिपक्व व सक्षम बनाकर स्वयं को एक साथ अनेकों स्थानों पर अभिव्यक्त कर सकता है। अनेक स्थानों पर एक साथ उपस्थित होने पर भी उसकी चेतना की संपूर्णता में कोई भी फर्क नहीं पड़ेगा।

अपने इस तर्क को पुष्ट करने के लिए प्रो. एशबी ने तिब्बत जाकर कई आध्यात्मिक साधकों से मिलने वाली मैडम अलेक्जेंडरा नील की पुस्तक में उल्लेखित कई प्रमाणों का हवाला दिया है। मैडम नील ने तिब्बत के कई दुर्गम स्थानों की साहसिक यात्राएँ कीं। वहाँ की गहन-गुफाओं में रहने वाले कई आश्चर्यजनक साधकों से वह स्वयं मिलीं। यहाँ तक कि वहाँ कुछ काल तक रहकर स्वयं भी साधनाएँ कीं। इसके बाद सभी तरह के संस्मरणों को लिपिबद्ध किया। ये संस्मरण उनकी कई कृतियों में प्रकाशित हुए। ऐसी ही एक कृति का नाम है- 'माई जर्नी टु तिब्बत'। यह पुस्तक चेतना की आश्चर्यजनक संभावनाओं का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

इस पुस्तक में तिब्बत के तवांग मठ में साधना करने वाले शियात्सान राम्पा नाम के एक लामा का उल्लेख है। यह लामा आश्चर्यजनक आध्यात्मिक शक्तियों व विभूतियों का स्वामी था। मैडम नील का कहना है कि शियात्सान राम्पा नाम का यह लामा साधु अपने मठ में समाधिस्थ रहते हुए भी कई स्थानों पर एक साथ प्रकट हो सकता था। मैडम नील ने विभिन्न तरीकों के इसके प्रमाण भी जुटाए। जहाँ-जहाँ पर वह प्रकट हुआ, वहाँ एक साथ, एक ही समय, किंतु अनेक स्थानों पर उसके स्पर्श व आशीष की अनुभूति पाई। मैडम नील के अनुसार ऐसा वह अपने सूक्ष्मशरीर को विभाजित करके करता था। उसका यह विभाजित सूक्ष्मशरीर अपने संकल्प बल से कहीं भी स्थूलशरीर का निर्माण करके प्रकट हो जाता था, लेकिन सभी जगह उसकी चेतना सर्वथा अविभाज्य रहती।

सुविख्यात वैज्ञानिक जार्ज एशले एशबी, अलैक्जेंडरा नील के इस संस्मरण से सहमत हैं। उनका कहना है कि आध्यात्मिक प्रयोगों से यह संभव है। एशबी के अनुसार वैज्ञानिक सिद्धांतों से सूक्ष्मशरीर के विभाजन की रीति तो अभी तक पता नहीं चल सकी है, पर होलोग्राफिक सिद्धांत से किसी भी रूप में चेतना की संपूर्णता की स्थिति स्पष्ट है। जार्ज एशले कहते हैं कि चेतना की अभिव्यक्ति कितने ही स्थानों पर कितनी ही तरह से क्यों न हो, पर वह रहती सदा ही अखंडित और अविभाज्य है। उनका मानना है जो संपूर्णता के इस रहस्य को जानते हैं, वही चेतना के सत्य को समझते हैं। सभी आध्यात्मिक साधनाएँ सिद्धांत, प्रयोग व उनके निष्कर्षों में गहरी वैज्ञानिकता है, जो भविष्य में दिनोदिन और भी स्पष्ट होती जाएगी। □

मीनल की कहानी

क्या आप मीनल से परिचित हैं ? जवाब में शायद आप सवाल करेंगे- यह मीनल कौन ? आपका यह सवाल बिलकुल वाजिब है। यहाँ पर मीनल की बजाय सोनल या रूपल के बारे में बात की गई होती, तब भी आप कुछ इसी तरह अपनी जिज्ञासा जताते। चलिए कोई बात नहीं, उसका नाम कल्पना, कामना, सरिता, सरस्वती कुछ भी हो सकता है। वह तो बस भारत देश की है। इसी देश के किसी शहर या गाँव की रहने वाली है। उसे थोड़ा-बहुत जानने के बाद मन दरद से बेचैन हो उठा। हो सकता है, उसके बारे में कुछ सुनने के बाद आपको भी उसकी टीस और कसक का अहसास हो सके।

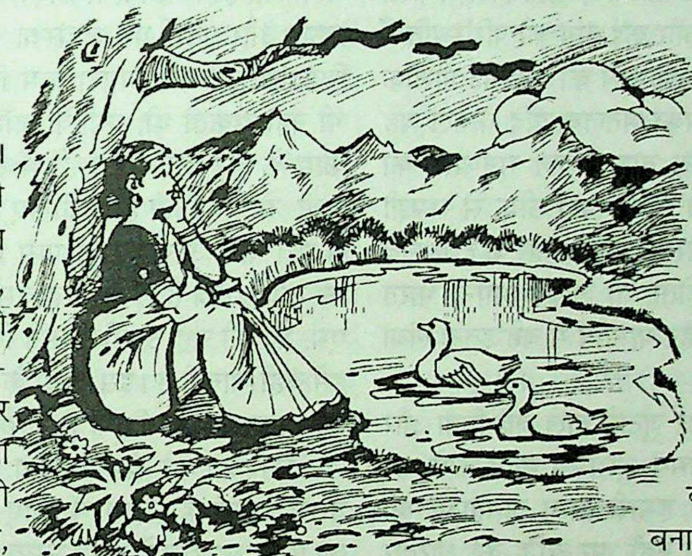

तो, मीनल छब्बीस-सत्ताईस साल की, दुबली सुंदर-सी स्त्री है। हालाँकि उसकी उम्र इतनी लगती नहीं। शायद उसका विवाह हो गया होता, गृहस्थी बस गई होती, तो हो सकता है वह कुछ भरी-पूरी लगती। उसके चेहरे पर अब तक तृप्ति की आभा तैर रही होती, पर अब तो वह कुछ गुम-सुम सी, अपनी अंतर्संवेदनाओं में डूबती-तैरती, कामकाज की कर्मठता में थोड़ा भूली-बिसरी-सी लगती है। कपड़े वह बहुत ही सलीके से पहनती है, पर होते ये बेहद सादे हैं। जो महँगे वस्त्रों को ही सुंदर कहने व समझने के आदी हैं, उन्हें शायद उसके कपड़े ढंग के न लगें। वैसे उसकी इस सादगी के सँवरेपन में बहुत कुछ ऐसा झलकता है, जो उसके भावुक, हुनरमंद, घर-गृहस्थी के कामों में कुशल, सेवाभावी, बुद्धि-विवेक से संपन्न होने की बात बता ही देता है। जिसके अंदर थोड़ी-सी भी मानवीयता अभी कहीं किसी कोने में बची हुई है, वह उस पर एक नजर डालकर उदास हो जाता है। उसकी यह उदासी प्रायः खुद की इस असहायता के अहसास के कारण होती है कि मैं इस संभावनाओं से भरी लड़की के लिए कुछ नहीं कर पा रहा हूँ।

उम्र के तीसरे दशक को पूरा करने के लिए हर साल कदम-दर-कदम बढ़ाने वाली इस लड़की को यदि अनुकूल परिस्थितियाँ मिली होतीं, तो उसके व्यक्तित्व की न जाने कितनी संभावनाएँ उजागर हो गई होतीं। प्रतिभा के हिसाब से यदि उसे पढ़ने की सुविधाएँ मिलतीं, तो वह एक अतियोग्य चिकित्सक, कुशल वैज्ञानिक या फिर आसमान की ऊँचाइयों को छूने वाली पायलट अथवा एम. बी. ए., सी. ए. कुछ भी हो सकती थी। यह भी हो सकता था कि उसके पिता किसी समृद्ध घराने में उसकी शादी कर देते। पर ऐसा हो नहीं सका। दुःखों, दुर्घटनाओं, कष्टों, कठिनाइयों, असुविधाओं और अनचाहा जीवन जीने के लिए भी कठिन संघर्षों में, जिसे बचपन से अब तक की उम्र तय करनी पड़ी हो, उसकी भावनाओं को तो ठीक-ठीक शायद भावमय भगवान ही समझें।

हालाँकि मीनल की असली पहचान वह नहीं है, जिसके खुरदरे हस्ताक्षर काल ने उसके जीवन पर बनाए हैं। यह सब तो उस राह की परछाई भर है, जिस पर उसे नंगे पाँव चलने के लिए विवश होना पड़ा है। इस बारे में तो अनुभवी जन बड़ी विनम्रता से यह भी कह देते हैं कि वास्तव में यही कठिनाइयों का अखिल भारतीय मार्ग है, जिस पर चलने से पाँव में छाले पड़ ही जाते हैं। जो रिसते हैं, फूटते हैं, टीसते हैं, लेकिन उसी रफ्तार से नए बनते रहते हैं। मीनल के मन में पीड़ा के घन कुछ ज्यादा ही सघन हैं। उसकी कथा, उन असंख्य भारतीय नारियों से मेल खाती है, जिनके बारे में विवेकानंद बिलख उठते थे, गाँधी जी जिनकी अनुभूति से छटपटा जाते थे। हालाँकि इस मीनल की कथा में कुछ और भी तत्त्व हैं, जो इस प्रभूत मात्रा में और इस प्रांजलता के साथ हर कहीं नहीं मिल पाते।

मीनल की वेदना से भीगी और स्वाभिमान से चमकती आँखों की भावुक तरलता में भारतीय नारी जीवन की एक

पूरी पुस्तक समाई है। उसकी भावुक तरलता की प्रत्येक बूँद इस पुस्तक का एक पन्ना है। इस पुस्तक के बहुत से पन्नों को पढ़ने और उससे ज्यादा पन्नों को पढ़ने का साहस न कर पाने के बाद मन में एक अलग और खास तरह के विचलन का अनुभव होता है। जो इस भयावह भूचाल जैसे विचलन को महसूस नहीं कर पाते, शायद उन्हीं के लिए क्रूरता जैसा शब्द गढ़ा गया होगा।

मीनल की सादगी व सरलता के हर कण में उसकी बौद्धिक सजगता व प्रखरता झलकती है। उसमें व्यावहारिक बुद्धि भरपूर है। उसे किसी भी परिस्थिति या घटनाचक्र के तार्किक ब्यौरे को आत्मसात करने में उतना ही समय लगता है, जितना कि पलकों को एक बार उठाने या गिराने में। इसका एक कारण तो यह है कि जबसे उसने अपनी आस-पास की स्थितियों, घटनाक्रमों के प्रति होश सँभाला है, तब से कई तरह के लोग और कई तरह की परिस्थितियाँ उसके सामने कई तरह की पृष्ठभूमि की नई-नई पोशाक बदलकर आती रही हैं। इसका मतलब यदि केवल यह लगाया जाए कि उसने अब तक केवल मनुष्यता का कृष्णवर्णीय छुद्र चेहरा देखा है, तो बात ठीक से समझी नहीं गई। उसने बड़े-छोटे और मझोले आकार के देवमानव भी देखे हैं। यदि ऐसा न होता, तो शायद अपनी भारत माता की गोद में बसे इस शहर या गाँव में वह इतना लंबा अरसा न गुजार पाती।

वह पेंशन से गुजर-बसर जुटाने वाले बूढ़े पिता और छोटे-छोटे दो भाइयों की समय-कुसमय मदद कैसे कर पाती? दुःख के सघन घन हमारी अन्य क्षमताओं को कितना माँज पाते हैं, मालूम नहीं, पर बुद्धि को धारदार और पैना बनाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते। खासतौर से जब इन दुःखों से मुलाकात छुटपन से ही शुरू हो जाए। यह बात मानी जा सकती है कि ये व्याख्याएँ एकदम पूरी तरह से ठीक नहीं हो सकतीं, क्योंकि कई बार बहुतेरे लोग दुःखों के बीच अपनी बौद्धिक धार खो भी देते हैं। सही कहें तो यह सब दुःख से ज्यादा अपने आप पर निर्भर है। जहाँ तक मीनल की बात है तो दुःख भरी परिस्थितियों ने उसकी बुद्धि पर धार ही चढ़ाई है। यह सब उसके विधेयात्मक चिंतन का परिणाम भी माना जा सकता है।

मीनल इसलिए भी अपने आस-पास की लड़कियों या युवतियों में काफी अलग दिखाई देती है, क्योंकि उसने अब तक की अपनी जिंदगी के किसी पड़ाव को अपना भाग्य नहीं माना। उसने अपने कर्मठ पुरुषार्थ को किसी भी सीमाओं में कैद नहीं किया। उसका सदा से यही सोचना रहा है कि भगवत्कृपा एवं पुरुषार्थ के सुयोग-संयोग से कुछ भी संभव है। बारह-तेरह साल की आयु में ही उसकी माँ की असमय मृत्यु हो गई। दरअसल घर में इतना पैसा ही नहीं था कि उनका सही इलाज हो सके। माँ की मौत के बाद पिता गलते-घुलते चले गए। बीमारी के चलते उन्हें भी नौकरी से अवकाश लेना पड़ा। पूरा परिवार तहस-नहस होने के कगार पर पहुँच गया।

उसने आँसुओं के उमड़ते रेले को पलकों के बहुत भीतर तक धकेल दिया, ताकि वे उसकी राहों को धुँधला न कर पाएँ। उसने हिम्मत करके दिन में पढ़ाई और बाकी समय कई तरह के काम व नौकरियाँ करते हुए अपनी पढ़ाई का खरचा तो निकाला ही, अपने छोटे भाइयों को भी किसी हीन भावना से घिरने नहीं दिया। उनके लिए भी स्कूल और पढ़ाई की व्यवस्था जुटाई। किसी कॉलेज या विश्वविद्यालय में अपना नाम लिखाने की तो वह सोच भी नहीं सकती थी, क्योंकि कॉलेज के ही घंटे तो उसके काम के घंटे होते हैं। इन्हीं में तो वह अपने परिवार की रोजी-रोटी चलाती है, इसीलिए उसने सारी पढ़ाई पत्राचार से पूरी की। आज उसके पास हिंदी साहित्य में एम. ए. का उपाधि पत्र है। जिसे वह बड़ी हसरत से देख लेती है। एम. ए. की यह उपाधि उसने कितनी तकलीफों से पाई, इसे वही जानती है। इस डिग्री के अलावा उसने पत्रकारिता का पाठ्यक्रम भी किया हुआ है।

निश्चित ही वह कुशाग्र बुद्धि है, दायित्व बोध उसमें भरपूर है। हाथ में लिए हुए काम में वह अपने को पूरी तरह होम देती है। समय की पाबंदी, प्रत्युत्पन्नमति व अभिव्यक्ति की क्षमता उसमें गजब की है। संक्षेप में इस उम्र में जो मानसिक, बौद्धिक एवं भावनात्मक सौंदर्य होना चाहिए, वह उसमें पूरा-पूरा है। उसने इसे निखारने में कोई कोताही नहीं की है। जीवन मूल्यों के साथ उसने कहीं भी कोई छोटा-सा भी समझौता नहीं किया है। सामान्य तौर-तरीकों के हिसाब से अब तक उसे व्यवस्थित हो जाना चाहिए था, उसकी शादी हो जानी चाहिए थी, परंतु यह सब होता कैसे? उसके परिवार के पास दहेज की रकम जुटाने की सामर्थ्य जो नहीं है। योग्यता, लगन व आत्मविश्वास के बावजूद सिफारिश न होने के कारण कोई ढंग की नौकरी भी नहीं है। बस जैसे-तैसे एक साधारण-सी फर्म में नौकरी कर रही है। वैसे वर्तमान काल का यह वाक्य सिर्फ अगले एक महीने तक की टिकाऊ है, क्योंकि अगले चार

हफ्तों में उसे दूसरी नौकरी ढूँढ़ने के लिए कह दिया गया है।

क्यों? क्योंकि वह अपने स्वाभिमान के साथ शील की रक्षा के लिए भी प्रतिबद्ध है। स्वाभिमान एवं शील को घर पर छोड़कर दफ्तर आने की शर्त उसने मान ली होती, तो संभव था कि वह हजारों रुपये की महँगी साड़ी पहनती और अपनी निजी कार चलाते हुए दफ्तर पहुँचती, लेकिन उसे तो अपनी भारतीय नारी की गरिमा को हर हाल में बचाए-बनाए रखना है। इसी को उसकी सबसे बड़ी कमी माना जाता है। मीनल सोचती है कि यह कैसी बात है कि भारत देश में भारतीय नारी के मूल्यों को उसकी सबसे बड़ी कमी माना जा रहा है। झूठ, कपट, अन्याय व अवसरवाद से वह छूत की बीमारी की तरह बचती है। इसे भी उसकी कमी समझा जा सकता है।

कमी गिनाने वाले उसकी एक कमी और गिनाते हैं कि उसे अँगरेजी नहीं आती। ऐसा नहीं है कि मीनल को अँगरेजी से बैर है। ग्रेजुएशन में उसने अँगरेजी ली थी। जरूरत पड़ने पर वह अँगरेजी बोल भी लेती है और जब वह अँगरेजी बोलती है, तो वह अँगरेजी उच्चारण एवं व्याकरण दोनों ही दृष्टि से शुद्ध होती है। फिर भी वह सामान्य क्रम में हिंदी बोलना पसंद करती है। अपने हिंदी अनुराग के कारण ही उसने एम. ए. हिंदी साहित्य में किया था, लेकिन अब तो अपनी राष्ट्रभाषा के प्रति यह अनुराग उसके लिए पत्थर की तरह भारी बोझ बन गया है। जो न पानी में निर्बाध तैरने देता है, न सतह पर टिकने देता है, बस नदी की तलहटी में पूरे जोर से दबाए हुए है।

इस राष्ट्र भाषा अनुराग के कारण मीनल के अन्य सभी गुण दो कौड़ी के बने हुए हैं। शहर तो शहर, गाँव में भी उसकी कोई इज्जत नहीं है। क्या कहें भारत के उन शहरों व गाँवों को, जहाँ मीनल के लिए कोई जगह नहीं है। वह सोचती है कि क्या उस देश को स्वतंत्र कहा जा सकता है, जहाँ गुलामी के दौर में सीखी हुई दूर देशों की एक भाषा ने यहाँ की स्वतंत्रता पर अपना पूरा आधिपत्य एवं अधिकार जमा रखा हो। मीनल कहती है कि इससे तो अच्छा यही है कि भारत गूँगों का देश बन जाए। वाणी में ही लोकतंत्र नहीं होगा, तो भला विचारशील विद्वान् बताएँ कि यह कहाँ होगा? पाँच प्रतिशत लोगों की अँगरेजियत ने ९५ प्रतिशत लोगों की भाषाओं और भावनाओं को कुचलकर रख दिया है। अँगरेजियत के पश्चिमी तौर-तरीकों से कुचले जा रहे भारतीय जीवन मूल्यों, भारतीय नारी की गरिमा के नष्ट होने के अपराध को भारतीय दंड विधान में क्यों नहीं शामिल किया गया? क्या इसीलिए कि यह दंड विधान भी अँगरेजी में लिखा हुआ है?

मीनल के सवाल कई हैं। उसका दरद राष्ट्रीय भावनाओं का दरद है, उसकी पीड़ा नारी शील को विद्रूप नजरों से घूरे जाने की पीड़ा है। वह कोई बहुत बड़ा धन या मान नहीं चाहती है। बस अपने भारत देश के किसी शहर या गाँव में इस देश के सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप जीना चाहती है। नारी की संपूर्ण मर्यादा, गरिमा व संवेदना को किसी भी कीमत पर अपने जीवन से अलग नहीं करना चाहती है, लेकिन लज्जा की बात यह है कि इतने संपन्न अवसर-बहुल और इतनी विविध गतिविधियों वाले देश में उसके लिए एक छोटी-सी शालीन जगह नहीं मिल पा रही है। मीनल दुःखी है, वह कहती है कि यह मामला अकेले उसका नहीं, सभी भारतीय नारियों का है, जिनके लिए उचित अवसर पैदा करने के लिए इस देशवासियों को विश्वकर्मा बनना होगा। यहाँ बहुत कुछ तोड़कर नया गाँव, नया शहर और नया देश बनाना होगा, जहाँ मीनल सहित सभी भारतीय नारियों की गरिमा व राष्ट्रीय भावनाएँ सुरक्षित हों। □

कोतवाल को दादू महाराज से मिलना था। रास्ते में एक आदमी मिला, जो सड़क के काँटे साफ कर रहा था।

उससे पूछा, क्यों रे, दादू महाराज कहाँ रहते हैं? दादू जी ने इशारे से बता दिया कि सामने वाली झोंपड़ी उन्हीं की है।

रूखा जवाब सुनकर कोतवाल नाराज हुए और गाली देते हुए झोंपड़ी पर चले गए। सिर पर काँटे का गट्ठा लादे दादू पहुँचे, तो कोतवाल को गाली देने का दुःख हुआ और क्षमा माँगी। दादू ने कहा, इसमें आपका कोई दोष नहीं। दोष उस पूर्वाग्रह भरी आपकी मनुष्य संबंधी मान्यता का है, जो आपके मुख से ऐसे वचन निकालती है। मनुष्य मात्र में आप ईश्वर को देखने लगेंगे, तो यह आदत स्वतः छूट जाएगी।

ऋषि आदर्श को निभाने वाले कुलपति

देखने वाला थोड़ा चौंका। उसने सोचा, यह तो संभव नहीं है। भला कहीं ऐसा भी हो सकता है। जरूर यह मेरी आँखों का धोखा है। देखने वाला तेज गति से भागी जा रही अपनी कार में बैठा हुआ था। एकदम चमचम करती हुई विदेशी मॉडल की बड़ी गाड़ी थी। वह कार वैभव के उत्कर्ष का प्रतीक लग रही थी। उसमें बैठने वाला व्यक्ति भी वैभव का प्रेमी लगता था। बनारस की सड़कों पर जब वह अपनी इसी विदेशी कार में बैठकर पूरी शान से निकलता, तो सड़क पर चलने वालों की नजरें बरबस उसकी इस शानोशौकत पर ठहर जातीं, पर आज तो कुछ उलटा ही हुआ। उसकी स्वयं की नजरें ही कहीं ठहर गई थीं।

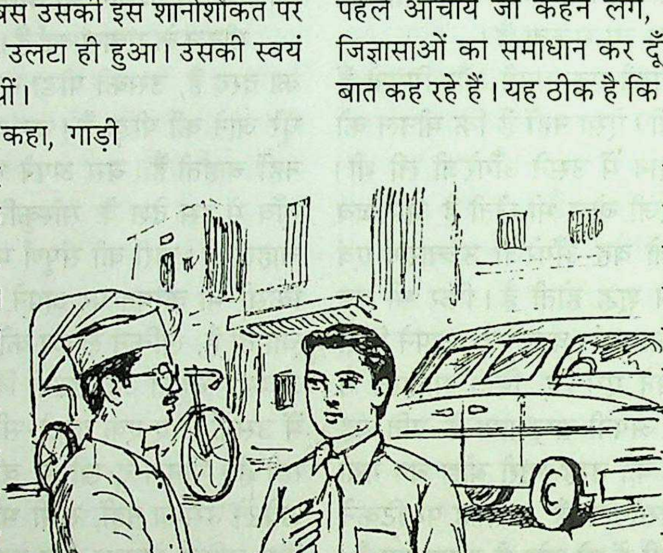

उसने अपने ड्राइवर से कहा, गाड़ी को थोड़ा पीछे ले लो और सड़के के किनारे रिक्शे पर बैठे हुए जो बाबू जी जा रहे हैं, उनके पास गाड़ी रोक दो। ड्राइवर इस अचानक आदेश पर थोड़ा अचकचाया तो सही, पर आज्ञा के मुताबिक गाड़ी पीछे ले ली। थोड़ी ही देर बाद चमचम करती हुई वह विदेशी कार उस साधारण से पुराने रिक्शे के पास जाकर खड़ी हो गई। कार में बैठे हुए सज्जन अपनी उस चमचमाती गाड़ी से बाहर निकले और रिक्शे पर बैठे हुए एक प्रौढ़ आयु के व्यक्ति को संबोधित करते हुए बोले, आचार्य जी आप! उसके इस संबोधन में सम्मान मिश्रित आश्चर्य था।

जिन्हें उसने आचार्य जी कहा था, वह थोड़ा मुस्कराए। साथ ही प्रश्न के उत्तर में सहज ही प्रतिप्रश्न किया, हाँ भाई, मैं क्यों नहीं? पर जहाँ तक मुझे मालूम है, आप इन दिनों बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के कुलपति हैं। विश्वविद्यालय की ओर से आपको एक नई कार मिली हुई है। ऐसे में आप एक पुराने से रिक्शे में बैठकर जा रहे हैं। भला यह कहीं आपको शोभा देता है? लोग क्या सोचेंगे? अरे भई, इतने सारे सवाल एक साथ। रिक्शे में बैठे हुए सज्जन हँसते हुए बोले, चलिए मैं आपके प्रश्नों का समाधान कर देता हूँ। पहली बात यह कि मैं महामना मालवीय जैसे ब्रह्मर्षि द्वारा स्थापित किए गए विश्वविद्यालय का कुलपति हूँ। मुझ पर उनके ऋषि चिंतन के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी है। सादगी व संयम के ऋषि आदर्श को निभाना मेरा दायित्व है। इसलिए मुझे यही शोभा देता है। रही बात लोगों के सोचने की, सो उनमें से जो विचारशील होंगे, सो ठीक ही सोचेंगे और विचारहीनों की कभी परवाह नहीं की जानी चाहिए।

पर......। पूछने वाला कोई नया सवाल पूछ पाता, इससे पहले आचार्य जी कहने लगे, परेशान मत होइए, मैं सारी जिज्ञासाओं का समाधान कर दूँगा। आप जिस नई कार की बात कह रहे हैं। यह ठीक है कि मुझे मिली है, पर मैंने उसका अतिथियों को लाने-ले जाने के लिए उपयोग करने का निश्चय किया है। लोग मुझे यानि कि आचार्य नरेंद्र देव को एक समाजवादी चिंतक के रूप में भी जानते हैं। समाजवादी वह है जिसकी जीवन दशा में सामाजिक दशा की झलक मिलती है। ऐसे में भला मैं ठाट-बाट किस तरह से बना सकता हूँ।

आचार्य नरेंद्र देव जी कार वाले सज्जन को अपने जीवन के सत्य से अवगत करा रहे थे। उन्होंने कहा, किसी भी आचार्य का वैभव तप और विद्या है। फिर मैं तो कुलपति यानि कि आचार्य कुल का मुखिया हूँ, उस पर इस आचार्य कुल यानि कि विश्वविद्यालय की स्थापना महामना जैसे महान ऋषि ने की है। इतना ही नहीं, मैं अपने को समाजवादी भी कहता और मानता हूँ। इस कारण मुझ पर एक साथ अनेक आदर्शों को निभाने की जिम्मेदारी है, इसलिए मेरे लिए कार नहीं, रिक्शा ही ठीक है।

सुनने वाला नतमस्तक हो गया। हालाँकि वह आचार्य जी के साहित्य व विचारों से पहले से ही परिचित था, पर आज उनके विचारों की इस जीवंतता को अनुभव करके उसे ऐसा लगा कि किसी महर्षि से मिलन हुआ है। उसने बड़े ही श्रद्धा भाव से उनके चरण छुए और अपने गंतव्य की ओर चल पड़ा। ❁

भाव दशा में होना ही ध्यान है

ध्यान में निमग्न होना हर साधक की चाहत है। हालाँकि इसमें विघ्न-बाधाएँ बहुत हैं। अनेकों व्यतिरेक इस चाहत को पूरा होने नहीं देते। मन बार-बार डोलता-डगमगाता है। अपने डोलने-डगमगाने के अगणित कारण गिनाता है। जितना उसे स्थिर करने का प्रयास किया जाता है, उतना ही वह पत्ते की तरह काँप-काँप उठता है। कल्पनाओं, कामनाओं के झोंके उसे इधर-उधर उड़ाते रहते हैं। तर्क और विचारों के जाल में यह फँसा-उलझा रहता है। छूटने की हर कोशिश इसे और भी ज्यादा उलझा देती है। परिणाम, ध्यान-साधना की परेशानी बनकर सामने आता है। इस परेशानी से उलझे साधक बार-बार यह सवाल करते हैं, मेरा ध्यान नहीं लगता? क्यों नहीं लगता? किस तरह लगेगा? इन सभी सवालों का एक ही जवाब है कि साधकों को ध्यान-साधना की सचाई को जानना होगा। उसके सत्य और तत्त्व की अनुभूति करनी होगी। इस अनुभूति की प्रगाढ़ता में ही उन्हें अपने प्रश्नों के हल मिलेंगे।

LIBRARY HARDWAR

प्रायः सोचा जाता है कि ध्यान कोई क्रिया है, उसे करना पड़ता है, पर दरअसल ध्यान क्रिया नहीं अवस्था है। अपने स्वरूप में होने की स्थिति है। पूरी तरह से क्रियाहीन एक भावदशा है। किसी भी क्रिया में हम अपने से बाहर के जगत् से संबंधित होते हैं। अक्रिया में स्वयं से संबंधित होते हैं। जब हम कुछ भी नहीं कर रहे हैं, तब हमें उसका बोध होता है जो कि हम हैं। अन्यथा, ढेरों क्रियाओं में फँसे-उलझे हम स्वयं से अपरिचित रह जाते हैं। कभी यह याद भी नहीं आ पाता है कि हम भी कोई हैं। हमारी रोज-मर्रा की व्यस्तताएँ बहुत सघन हैं। शरीर दो क्षण विश्राम भी कर ले, लेकिन मन तो विश्राम करता ही नहीं है। जागते हुए सोचते हैं, सोते हुए स्वप्न देखते हैं। अपनी ही क्रियाओं की भीड़ में हम खो गए हैं। यही हमारे जीवन का आश्चर्यपूर्ण सत्य है। यही अपनी वस्तुस्थिति है। हम खो गए हैं, किन्हीं बाहरी लोगों की भीड़ में नहीं, बल्कि अपने ही विचारों, अपने ही स्वप्नों, अपनी ही व्यस्तताओं और अपनी ही क्रियाओं में। हम अपने आप में ही कहीं गुम हो गए हैं।

ध्यान अपनी ही बनाई हुई इस भीड़ से बाहर होने का मार्ग है। खुद की काल्पनिक भटकन से उबरने का रास्ता है। अब यह रास्ता कोई क्रिया की व्यस्तता तो हो नहीं सकता। यह तो अव्यस्त या व्यस्तताहीन मनःस्थिति का नाम है। हालाँकि यह कहने में बड़ा अजीब-सा लगता है कि ध्यान कोई कार्य या क्रिया नहीं है, बल्कि अक्रिया है। दरअसल इनसान की भाषाएँ बड़ी कमजोर हैं। ये सभी तरह-तरह की क्रियाओं व कार्यों को प्रकट करने के लिए बनी हैं। इसी कारण ये आत्मा के सत्य को प्रकट करने में असमर्थ हो जाती हैं। ठीक भी है, जो वाणी के लिए बनाई गई हैं, उनसे भला मौन को किस तरह अभिव्यक्ति मिल सकती है।

ध्यान शब्द के उच्चारण से लगता है कि यह भी कोई क्रिया होगी, पर ऐसा है नहीं। यह तो एक भावदशा है। इस भावदशा में होना ध्यान है। इसमें क्रिया का कोई धुँआ नहीं होता, बस आत्मसत्ता की अग्निशिखा प्रकाशित रहती है। केवल मैं रह जाता है। यह विचार भी नहीं अंकुरित हो पाता है कि मैं हूँ। होना मात्र रह जाता है। यह निर्विचार शून्यता ही ध्यान है। यही वह बिंदु है जहाँ से संसार का नहीं, सत्य का दर्शन होता है। इस शून्य में ही वह दीवार ढह जाती है, जिसकी वजह से अब तक अपने को नहीं जाना जा सका। इस भावदशा में विचारों के सभी परदे उठ जाते हैं, प्रज्ञा अपनी संपूर्णता में प्रकट होती है। इस अवस्था में विचारा नहीं, जाना जाता है। कल्पनाएँ और तर्क नहीं किए जाते, देखा जाता है। यह दर्शन और साक्षात्कार की भावभूमि है। यद्यपि सचाई तो यह है कि इस अवस्था को प्रकट करने में शब्दकोश के सारे शब्द असमर्थ हैं, क्योंकि यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का कोई भेद नहीं है। यहाँ दृश्य और द्रष्टा का कोई भेद नहीं है। यहाँ न तो ज्ञेय है और न ज्ञाता। यहाँ तो बस ज्ञान है। यह अवस्था किसी शब्द से नहीं, बस मौन मुस्कान से प्रकट होती है।

ध्यान का सत्य हमारी किसी क्रिया में नहीं, बल्कि हमारे स्वभाव में है। क्रिया तो वह है जिसे हमारा मन हो तो करें, हमारा मन हो तो न करें। स्वभाव कोई क्रिया नहीं है। इसका हमारे करने या न करने से कोई संबंध नहीं है। स्वभाव की उपस्थिति हममें समाई है। वह हम स्वयं ही हैं। हमारा स्वरूप ही हमारा स्वभाव है। वह हमारा निर्माण नहीं, हमारा

आधार है। वही हम हैं। स्वभाव यानि कि शुद्ध सत्ता। इसका अनुभव ही ध्यान है। यह अविच्छिन्न स्वभाव क्रियाओं के विच्छिन्न प्रवाह से ढक जाता है, दब जाता है। सागर को जैसे लहरें ढाँप लेती हैं। सूरज को जैसे बदलियाँ घेर लेती हैं। ऐसे ही हम अपनी शारीरिक, मानसिक क्रियाओं से ढके हुए हैं। सतह पर क्रियाओं के आवरण ने, गहराइयों में उपस्थित सत्य को छिपा लिया है।

छोटी-छोटी लहरें सागर की असीम गहराई को ओझल कर देती हैं। कैसा आश्चर्यजनक और विचित्र सत्य है कि क्षुद्रताओं से विराट् ढक जाता है। आँख में यदि छोटा-सा तिनका पड़ जाए, तो सामने खड़ा विशालकाय पर्वत भी नजर नहीं आता। हालाँकि यह मिटता नहीं है। इसकी उपस्थिति यथावत् रहती है। सागर भी लहरों के कारण मिटता नहीं है। लहरों का प्राण भी तो वही है। लहरों में उसी की तो उपस्थिति है। जो जानते हैं, वे उसे लहरों में भी जानते हैं। जो नहीं जानते हैं, उन्हें लहरों के शांत होने का इंतजार करना पड़ता है। लहरों के शांत होने पर सागर का असीम विस्तार व गहराई झलकने लगती है। ध्यान, इस स्वभाव में ही जीना है। लहरों को छोड़कर सागर में चलना है। अपनी उस गहराई को जानना है, जहाँ सत्ता है, सागर है, लेकिन कोई तरंग नहीं है। जहाँ आत्मा का प्रकाश तो है, पर वासना का अँधेरा नहीं है। वह निस्तरंग, निष्कंप प्रज्ञा का जगत् हममें प्रतिक्षण उपस्थित है। बस हमीं उसकी ओर उन्मुख नहीं हैं।

हम अपनी रोजमर्रा की क्रियाओं में, शारीरिक एवं मानसिक व्यस्तताओं में इस कदर उलझे हैं कि उस ओर देखने की फुरसत ही नहीं निकाल पाते। हम बाहर की तरफ देख रहे हैं, वस्तुओं को देख रहे हैं, संसार को देख रहे हैं। बस दिशा थोड़ी उलटी है। यह बात ठीक है कि जो दिखाई पड़ रहा है, वह संसार है। लेकिन जो देख रहा है, वह तो संसार नहीं है। वह तो स्वयं हम ही हैं। इस समूची प्रक्रिया में एक बात बड़ी सूक्ष्म है। इसे समझ लिया जाए तो सचाई सामने आ जाएगी। दृष्टि-दृश्य से बँधी हुई हो, तो विचार है और यदि दृष्टि दृश्य से मुक्त हो, तो ध्यान है।

यह बात गहराई से समझने की है। देखना तो दोनों में है, एक में वह विषयगत है, दूसरे में आत्मगत। हम विचार में हों या फिर ध्यान में, क्रिया में उलझे हों या अक्रिया में शांत हों, दर्शन दोनों में ही बना रहता है। जागते हुए हम संसार देखते हैं। सोते हुए सपने देखते हैं। समाधि में स्वयं को देखते हैं, लेकिन यह देखना हर दशा में बना रहता है। यह देखना हमसे हर स्थिति में जुड़ा हुआ है। यह हमारा अपना स्वभाव है, जो किसी भी स्थिति में हमसे अलग नहीं हो सकता। यहाँ तक कि मूर्च्छा या सुषुप्ति में भी नहीं। बेहोशी आ जाए, तो बेहोशी टूटने पर हम कहते हैं कि मैं कहाँ था, मुझे कुछ भी मालूम नहीं है। इसे अज्ञानता नहीं कहा जाना चाहिए। यह भी एक तरह का ज्ञान है।

हम जानते हैं कि हम किसी ऐसी स्थिति में थे कि कुछ भी नहीं जान रहे थे। यह ज्ञान ही है, दर्शन इसमें भी रहा है। हाँ यादों की लेखनी ने इस बीच कोई आंतरिक या बाहरी घटना का लेखन नहीं किया, परंतु दर्शन ने इस अंतराल को, इस गेप को देखा जरूर है। बाहरी या आंतरिक घटनाओं के बीच छूटा यही रिक्त स्थान बाद में यादें भी खोज लेती हैं। ऐसे ही सुषुप्ति में भी, जब कोई सपना नहीं आता है, तब भी दर्शन बना रहता है। सुबह-सबेरे उठकर हम कहते हैं कि रात नींद बड़ी गहरी आई। यह स्थिति भी देखी गई है, तो सचाई यह है कि स्थितियाँ बदलती हैं। भाव दशाएँ परिवर्तित होती हैं। चेतना के विषय बदलते हैं, पर दर्शन में किसी भी तरह का कोई बदलाव नहीं आता है। हमारे अनुभव में सब-का-सब बदल जाता है। सारे प्रवाह के बीच एक यह दर्शन ही नित्य उपस्थित है। यही अकेला सारे परिवर्तन, सारे प्रवाह का साक्षी है, गवाह है। इस नित्य की अनुभूति ही, स्व का अनुभव है। यही अकेला स्वभाव है, बाकी सब तो दूसरों पर निर्भर है। यही बाकी सब संसार है।

इस साक्षी को किसी क्रिया से नहीं पाया जा सकता, क्योंकि यह तो उन क्रियाओं का भी साक्षी है। यह तो बस ध्यान की अक्रिया में झलकता है। यह तो तब प्रकट होता है, जब न तो कोई कर्म है, न कोई दृश्य है। जब केवल साक्षी मात्र ही शेष रह गया है। जब हम देख तो रहे हैं, पर दिखाई कुछ भी नहीं दे रहा है। जब हम जान तो रहे हैं, पर जान कुछ भी नहीं रहे हैं। इस विषय शून्य चैतन्य में वह जाना जाता है, जो कि सबको जानने वाला है। दृश्य जब नहीं है, तब द्रष्टा के आवरण गिरते हैं और जब ज्ञेय कुछ भी नहीं है, तब ज्ञान जाग्रत् होता है। तरंगें जब नहीं होती हैं, तब सागर के दर्शन होते हैं। बदलियाँ जब नहीं होती हैं, तो नीलाकाश के दर्शन होते हैं। यह सागर हर एक के भीतर है। यह आकाश प्रत्येक के भीतर है। ध्यान इसी को पाने, इस तक पहुँचने की राह है।

यहाँ समझने की बात यह है कि प्रत्येक राह दो दिशाओं में, दो विपरीत दिशाओं में सत्ता रखती है। जो मार्ग आपको घर से शांतिकुंज तक लाया है, वही आपको वापस घर भी पहुँचाने में समर्थ है। मार्ग तो वही होगा, पर दिशा विपरीत होगी। संसार और आत्मा का मार्ग तो एक ही है। जो संसार में लाता है, वही आत्मा की ओर भी ले जाएगा। केवल दिशा विपरीत होगी। अभी तक जो सामने था, वही अब पीछे होगा और जो पीछे की ओर था, उस पर आँखें जमानी होंगी। रास्ता वही है, बस मुड़ने भर की देर है। संसार की वासना से उलटी दिशा में ध्यान ही साधना है। हम अभी किसके सम्मुख हैं? इसका विचार करें। हम किसे देख रहे हैं? इसे अनुभव

करें। हमारे दर्शन की, चैतन्य की धारा अभी किस दिशा में प्रवाहित हो रही है? इस पर सोचें।

इस निरीक्षण में पता चलेगा कि हम बाहर को बहे जाते हैं। पूरी-की-पूरी चैतन्य धारा बाहर की ओर बही जा रही है। आँख बंद करने पर भी बाहर की ही प्रतिध्वनि गूँजती रहती है। बाहर वस्तुओं का जगत् है और भीतर उससे संबंधित विचार घेरे रहते हैं। शरीर वस्तुओं से घिरा है और मन उनसे जुड़े विचारों, कल्पनाओं से घिरा रहता है। अत: निरीक्षण को थोड़ा गहरा सकें, तो पता चलेगा कि वस्तुओं का घेरा ध्यान-साधना में बाधा नहीं है। बाधा विचार का घेरा है। वस्तुएँ आत्मा की चैतन्य सत्ता को घेर भी कैसे सकती हैं? पदार्थ केवल पदार्थ को ढकता है। आत्मचेतना तो विचारों से ढकी है। दर्शन की, चैतन्य की धारा विचार की ओर बह रही है। विचारों का महाविज्ञान हमारे सामने है। दर्शन उसी से ढका है। विचार से विमुख और निर्विकार के सम्मुख होना है। यही ध्यान-साधना का सत्य है। यही आत्मक्रांति है।

यह क्रांति आत्मचेतना में घटित हो, तभी ध्यान-साधना सफल होगी। इसकी सफलता के लिए विचारों के विज्ञान को जानना जरूरी है। आमतौर पर इसे समझे बिना ही साधक उसके दमन में लग जाते हैं। इस दमन से कोई विक्षिप्त तो हो सकता है, पर मुक्त नहीं हो सकता। विचारों के दमन से कोई खास अंतर पड़ने वाला नहीं है, क्योंकि ये तो हर क्षण जन्मते हैं। बिना मारे क्षण भर में मर जाते हैं। नहीं मरता है तो विचार प्रवाह। यह अविरल बहता रहता है। एक विचार अभी मर नहीं पाया कि दूसरा उसका स्थान ले लेता है। यह काम बड़ी तेजी से होता है। प्रवाह की गति उतनी ही तीव्र बनी रहती है। जो यह सचाई नहीं समझता है, वह खुद ही एक ओर तो कुछ नए विचार पैदा करता है, दूसरी ओर उनसे लड़ता रहता है। इससे विचार तो नहीं थकते, हाँ इनसे लड़ने वाला थककर चकनाचूर हो जाता है।

ध्यान-साधना की प्रधान बाधा विचार नहीं, विचार की उत्पत्ति है। इस उत्पत्ति या उपज पर रोक लगे, तो ध्यान निर्विघ्न हो पाए। जो विचार अभी है, वे तो क्षण भर में विलीन हो जाते हैं, लेकिन नयों का आगमन होता चला जाता है। पुराने विचारों का लय, नवीन की उत्पत्ति से मन हर पल चंचल बना रहता है। विचारों की यह उपज रोकी जा सके, तो चित्त की चंचलता भी थम जाएगी। साधकगण सवाल करेंगे कि विचार उपजते कैसे हैं? तो विचारों की उत्पत्ति, उसका गर्भाधान हमेशा ही बाह्य जगत् के प्रति हमारी प्रतिक्रिया, रिएक्शन से होता है। बाहर घटनाओं और वस्तुओं का जगत् है। इस जगत् के प्रति हमारी प्रतिक्रिया ही हमारे विचारों की जन्मदात्री है।

हमने एक फूल को देखा। यह देखना कोई विचार नहीं है। यदि देखते ही रहा जाए, तो कोई विचार नहीं पैदा होगा। लेकिन देखते ही यह कह देना कि फूल बहुत सुंदर है, विचार को जन्म देता है। देखने से सौंदर्य की अनुभूति तो होगी, पर विचार नहीं उपजेगा, लेकिन अनुभूति होते ही हम उसे शब्द देने में लग जाते हैं और विचार का जन्म हो जाता है। यह प्रतिक्रिया, यह शब्द देने की आदत, अनुभूति को, दर्शन को, विचार से ढक लेती है। अनुभूति दब जाती है, बस चित्त में शब्द तैरते जाते हैं। विचार तरंगित होते रहते हैं। यदि इन शब्दों और विचारों का अवरोध न हो, बस केवल देखने की प्रक्रिया चलती रहे, तो अंतर्चेतना में एक क्रांति घट जाती है। यह भावदशा ही ध्यान है।

साक्षी भाव से निहारना, साक्षी भाव में जीना एक अलौकिक शांति को जन्म देता है। साक्षी भाव से निहारते हुए हम पाएँगे कि एक शून्य परिव्याप्त हो रहा है। शब्द और विचार का न होना ही तो शून्य है। ध्यान में उपजे इस शून्य में चेतना की दिशा बदल जाती है। फिर हम ही नहीं दिखते, वह भी उभरने लगता है, जो हमें देख रहा है। चेतना क्षितिज पर नया जागरण होता है। जैसे कि हम किसी स्वप्न से जाग उठे हों। एक निर्मल आलोक से, एक अपरिसीम शांति से चित्त भर जाता है। यही ध्यान की प्रगाढ़ता है। ध्यान के इस आलोक में स्वयं का दर्शन होता है। ध्यान के इस शून्य में सत्य का अनुभव होता है।

ध्यान के प्रयोग के लिए शांत बैठें। शरीर को शिथिल पर रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें। शरीर की सारी हलचलों को छोड़ दें। शांत-धीमी पर गहरी श्वास लें। मौन भाव से अपनी श्वास को देखते रहें। बाहर की जो ध्वनियाँ सुनाई पड़ें, उन्हें सुनते रहें। न तो इन्हें सुनने के लिए कोई प्रयास करें, न ही इन पर कोई प्रतिक्रिया करें। इन पर किसी तरह के विचार की जरूरत नहीं है। बस कुछ ऐसा अनुभव करें कि अंदर-बाहर जो कुछ भी हो रहा है, हम केवल उसे दूर खड़े जान रहे हैं, देख रहे हैं। ऐसे भाव में अपने को छोड़ दें। कहीं कोई किसी तरह का प्रयत्न नहीं करना है। बस चुपचाप जो कुछ भी हो रहा है, उसके प्रति जागरूक बने रहना है।

इस अवस्था में पहले आस-पास की आवाजें सुनाई देंगी, पर उनके प्रति कोई प्रतिक्रिया न होने से वे मंद पड़ती जाएँगी। अपने भीतर के श्वास के स्पंदन, हृदय की धड़कन सुनाई देगी। फिर इसके बाद सब ओर अंतर्चेतना में चारों तरफ पहले कभी न अनुभव की गई हो, ऐसी शांति उतरने लगेगी। एक बड़ा ही आनंददायक सन्नाटा, बड़ी मधुर शून्यता अंतर्जगत् में फैल जाएगी। साधकगण पाएँगे कि बाहर ध्वनि है, पर भीतर नीरवता है। साधकों को अनुभव होगा कि मानो किसी नए जगत् में प्रवेश हुआ है। ध्यान की इस सघनता में समाधि जन्म लेगी और हम स्वयं को आश्चर्यों के आश्चर्य के सामने खड़ा पाएँगे। यह अकथ कथा है। साधक स्वयं ही इसे अपनी ध्यान-साधना में अनुभव करें। ▲

विषय-विकारों से निवृत्ति का साधन—उपवास

'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य' अर्थात् उपवास विषय एवं विकारों से निवृत्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। मन विभिन्न प्रकार की विषय-वासनाओं से घिरा रहता है। हृदय में दुर्भावनाओं के मैल चढ़े होते हैं। शरीर अंध तमस एवं जड़ता से घिरा रहता है। उपवास से इन विकारों एवं वृत्तियों का नाश होता है। शरीर, मन एवं भावना उपवास के जल से धुलते हैं तथा पवित्र व पावन बनते हैं। उपवास महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य के साथ ही रोगनिवारक एवं शक्तिवर्द्धक साधन भी है।

इसे आंतरिक शुद्धि एवं परिष्कार के प्रधान तत्त्व की संज्ञा देना उचित है। यही वजह है कि अपनी संस्कृति एवं धर्म में इसका विशिष्ट स्थान है। व्रत, अनुष्ठान, साधना, तपश्चर्या आदि धार्मिक कार्य इसके बिना अधूरे माने जाते हैं। प्रत्येक नवरात्रि के नौ दिन कितने ही लोग पूर्ण या आंशिक उपवास रखते हैं। होली, दीपावली, तीज, करवा चौथ आदि अनेक व्रत-त्योहारों में पूजन के पूर्व स्त्रियाँ उपवास करती हैं। अपने देश की अनेकों पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पति को भोजन कराए बिना भोजन नहीं करती हैं। यह आंशिक उपवास भी चित्त शुद्धि की दृष्टि से बड़े उपयोगी होते हैं।

उपवास का प्रचलन किसी-न-किसी रूप में हर धर्म-संप्रदाय एवं महापुरुषों के जीवन में परिलक्षित होता है। सेवाव्रती ईसा, भ्रातृत्व भावना के प्रवर्तक मुहम्मद, अपरिग्रही महावीर, करुणावतार बुद्ध, अहिंसा के पुजारी गाँधी के लंबे उपवास सर्वविदित हैं। जैन संप्रदाय में प्रारंभ से ही उपवास का प्रचलन रहा है। मिस्र में प्राचीनकाल में कई धार्मिक पर्वों पर उपवास किया जाता था। यहूदियों में अपने सातवें महीने के दसवें दिन उपवास रखने का विधान है। रोमन लोग ईस्टर के पूर्व तीन सप्ताहों में शनिवार एवं रविवार के अतिरिक्त अन्य दिनों में उपवास रखते हैं।

मनीषियों के अनुसार यह शारीरिक रोगों के निवारण तथा आत्मिक परिष्कार के लिए किया जाता है। इनसे शारीरिक स्वच्छता होती है तथा आंतरिक विजातीय द्रव्यों एवं संचित विषों का निराकरण होता है। आध्यात्मिक उपयोग के रूप में भी यह प्रयुक्त होता है। विषयासक्त मन को परिष्कृत करने तथा आत्मशक्ति के विकास के लिए भी इसका विधान है।

आयुर्वेद में इसे चिकित्सा का प्रमुख एवं प्रधान अंग माना गया है। इसकी इसी महत्ता के कारण ही सुश्रुत ने कहा है कि जिस मनुष्य के आंतरिक अंग-अवयव निष्क्रिय पड़े रहते हैं, उचित ढंग से कार्य नहीं करते, उपवास से वे क्रियाशील हो जाते हैं। उनकी अग्नि दशा ठीक हो जाती है और हठीले रोग शीघ्रता से दूर हो जाते हैं। चीन तथा तिब्बत के प्राचीन चिकित्सा ग्रंथों में भी रोग निवृत्ति के लिए उपवास का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार मानव सभ्यता के प्रारंभिक चरण में जब औषधियों का आविष्कार नहीं हुआ था, रोग-मुक्ति के लिए यही एकमात्र सुलभ साधन था। अब तो पश्चिमी देशों की मान्यता बदलने लगी है और उपवास के प्रति इनकी रुचि एवं रुझान बढ़ने लगा है। वहाँ के आधुनिक चिकित्सकों के परचों में दवा के साथ उपवास का भी जिक्र किया जाने लगा है। अमेरिका, कनाडा, जर्मनी, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन आदि अनेक देशों में तो उपवास के सामूहिक केंद्र भी बनने लगे हैं।

सचमुच ही स्वास्थ्य की दृष्टि से इसका असाधारण महत्त्व है। रोगियों के लिए यह संजीवनी के समान है। जो खाद्य पदार्थ आहार के रूप में ग्रहण किया जाता है, पहले उसका पाचन होता है। इसके पश्चात् वह अवशेष यकृत में पहुँचता है। यकृत इस पचे हुए पदार्थ में से व्यर्थ एव विषैले पदार्थों को निकाल देता है। ऐसे समय में उपवास की महत्ता बढ़ जाती है। उपवास के दौरान कोई नया पदार्थ शरीर में नहीं पहुँचता और विषाक्त तत्त्व भी नहीं बनते। परिणामस्वरूप यकृत को अपने कार्य करने का संपूर्ण अवसर मिल जाता है और शरीररूपी दिव्य मंदिर का परिष्कार होता रहता है।

यों तो सभी रोगों में उपवास अपना कुछ-न-कुछ प्रभाव दिखाता है, परंतु आमाशय एवं आँत के रोगों के लिए तो यह अत्यंत लाभदायक है। पेट में भोजन की सड़ाँध से उत्पन्न विष के रक्त में निरंतर घुलते रहने के कारण होने वाले असह्य सिर दरद, तिल्ली और जिगर के कष्टदायक रोग में यह बहुत उपयोगी है। जीर्ण रोगी भी उपवासरूपी महोषधि से स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त करते

हैं। फेफड़ों के व्रण, मोटापा, पेट दरद, अतिसार, पेचिश, प्रदर, पित्तदोष, आंतरिक सूजन, मधुमेह, जुकाम, कब्ज आदि रोग उपवास से जल्दी ठीक हो जाते हैं। सही कहा जाए तो सारे रोगों की जड़ अत्यधिक एवं स्वाद के लिए किया गया अनियमित भोजन ही है। उपवास इसकी जड़ पर आघात करता है अर्थात् भोजन का निषेध करता है। जब रोग का कारण ही नहीं होगा, तो रोग कहाँ से पनपेगा।

चिकित्सकों के अनुसार यह रोग निवारण की सफलतम उपचारपद्धति है। इस संदर्भ में डॉ. वारनर मैकफेडन ने कई प्रकार के रोगों में उपवास का परीक्षण किया। उन्हें सर्वाधिक एवं त्वरित सफलता निमोनिया में मिली। उपवास के माध्यम से निमोनिया के रोगी शीघ्र ठीक हो गए। डॉ. एडवर्ड डूकर ने अंशकालिक उपवास के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट किया है कि इससे न केवल रोगों में लाभ होता है वरन् यह नेत्र ज्योति, श्रवण शक्ति, घ्राणेंद्रियों की सुप्त क्षमताओं को भी उभारता है। इनके प्रायोगिक निष्कर्ष चमत्कारिक कहे जा सकते हैं। इस संदर्भ में डॉ. एडवर्ड कहते हैं कि रोगियों को उपवास की शुरुआत मैंने प्रातः के स्वल्पाहार को छुड़वाकर करवाई। इससे पुराने दमा तथा बवासीर जैसी बीमारी में काफी लाभ मिला। संभवतः इसलिए प्रसिद्ध आंग्ल उपन्यासकार आप्टन सिंक्लेयर ने भी उपवास चिकित्सा पर अपनी गहन आस्था व्यक्त की है। उनके अनुसार उपवास पूर्ण एवं स्थायी स्वास्थ्य का जन्मदाता है। आगे उन्होंने स्पष्ट किया है, अपने उपवास संबंधी ज्ञान को मैं संसार की सभी मूल्यवान वस्तुओं से भी अधिक कीमती समझता हूँ।

उपवास की प्रक्रिया से केवल शारीरिक स्वास्थ्य सुधरता है, ऐसी बात नहीं है। मनोविकारों के शमन के लिए भी यह अत्यंत उपयोगी है। प्रायः सभी मनोविकार बड़े हठीले होते हैं। इनकी जड़ें मन की अतल गहराइयों में होती हैं। दवा जैसी वस्तुएँ इतनी कारगर नहीं हो पातीं, क्योंकि इनकी गहराई तक पहुँच नहीं है, जबकि कुछ विशिष्ट प्रकार के उपवास ऐसे होते हैं, जो इनकी जड़ों को सुखा देते हैं और उत्पात मचाने वाले विषय-विकारों से आसानी से छुटकारा दिला देते हैं।

हल्के-फुल्के मनोविकार जैसे तनाव, उदासी, चिड़चिड़ापन आदि तो उपवास के द्वारा आसानी से दूर हो जाते हैं। इसके अलावा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि प्रबल मनोविकार भी विशिष्ट प्रकार के उपवास के माध्यम से क्रमशः क्षीण होते हैं। यदि उपवास आस्था एवं नियमपूर्वक निरंतर किया जाए, तो सभी विषय-वासनाओं से निश्चय ही मुक्ति पाई जा सकती है।

योग साधना के गंभीर रहस्यवेत्ता एवं मर्मज्ञों ने उपवास की इस विशेषता एवं महत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उनके अनुसार यह अन्नमय कोश के परिष्कार के लिए सर्वोत्तम साधन है। शरीर में अत्यंत सूक्ष्म एवं पतली-पतली डोरियाँ आपस में लिपटी हुई होती हैं। शरीरशास्त्री इन्हें नाड़ी गुच्छक कहते हैं। योग विज्ञान में इन्हें उपत्यिकाओं के रूप में माना जाता है। यही अन्नमय कोश की बंधन ग्रंथिकाएँ हैं। ये बड़ी जटिल एवं उलझी हुई होती हैं। मौत का क्रूर हथौड़ा ही इन्हें खोल पाता है अन्यथा ये जीवन भर बँधी-उलझी हुई होती हैं और जीवन को उलझाती-नचाती रहती हैं, क्योंकि ये गुच्छक शरीर के गुण-दोषों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जिसके शरीर में अमाया वर्ग के गुच्छक पाए जाते हैं, वह व्यक्ति अत्यंत कठोर स्वभाव का होता है। वह हठधर्मी होता है, जिस चीज को करने के लिए ठान लेता है, उसे छोड़ता नहीं। इनकी प्रकृति दृढ़ एवं मजबूत होती है। कोई भी कुपथ्य इन्हें रुग्ण नहीं कर सकता, परंतु जब ये गुच्छक विकार ग्रस्त होते हैं तो इन पर किसी भी प्रकार का उपचार कामयाब नहीं होता। दीपिका जाति के गुच्छक के कारण चर्मरोग, फोड़ा, फुंसी, पीला पेशाब तथा उसमें जलन आदि रोग होते हैं। काम-वासना की प्रबलता पूषा उपत्यिकाओं का परिणाम है। मान्यता है कि कामदेव ने कुसुम बाणों से शिवजी की इन्हीं ग्रंथियों को उत्तेजित कर डाला था।

योग विज्ञानी ९६ प्रकार की उपत्यिकाओं के बारे में जान सके हैं। अत्याधुनिक विज्ञान आज तक इस संबंध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं कर सका है। योगी ही इसके अविज्ञात रहस्य को अपनी साधना से भेद पाते हैं। इनके अनुसार यही शारीरिक एवं मानसिक रोगों के मूल कारण हैं। उपवास के माध्यम से इनका परिष्कार, परिमार्जन एवं सुसंतुलन बनाया जा सकता है। हालाँकि यह विद्या गहन, गंभीर एवं गुप्त है। विरले ही सही, पर अभी भी ऐसे योगी एवं तपस्वी ऋषि हैं, जिनको इस गूढ़ विज्ञान का सांगोपांग ज्ञान है।

जिन्हें अनुभव है, वे जानते हैं कि उपवास विशुद्धतः एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। विशिष्ट समय में किए गए उपवास का परिणाम भी विशेष होता है। यह वैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य का प्रकृति से घनिष्ठ संबंध है। प्रकृति इसे प्रभावित करती है। इसी कारण शरीर में विद्यमान छह अग्नियाँ ऋतु परिवर्तन के अनुरूप घटती, बढ़ती एवं बदलती

रहती हैं। उपवास से इनका नियमन एवं नियंत्रण होता है। इन ऋतुओं में विधि-विधान से किया गया उपवास बड़ा ही लाभदायक होता है। करवाचौथ का उपवास दांपत्य प्रेम बढ़ाने वाला होता है। इस दिन नक्षत्र एवं चंद्रमा के सम्यक् प्रभाव से वैवाहिक जीवन सुखी एवं उल्लासपूर्ण बन जाता है।

दिन विशेष का भी अपना महत्त्व होता है, इसलिए उस दिन उपवास रखने पर उसके प्रभाव एवं परिणाम का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। सोमवार में चंद्रमा का विशेष प्रभाव होता है। अतः इस दिन के उपवास से उज्ज्वल भविष्य, कीर्ति, मान-प्रतिष्ठा आदि मिलती है। इस प्रकार मंगलवार दृढ़ता, कठोरता तथा बुधवार सौम्य, शिष्ट एवं कफ प्रधान होता है। गुरुवार का उपवास हृदय के परिष्कार-परिमार्जन के लिए सर्वोत्तम है। इससे श्रेष्ठ एवं पावन भावनाओं का विकास होता है। इसके अतिरिक्त विद्या, बुद्धि एवं धन लाभ भी होता है। शुक्रवार वात प्रधान है और शनि स्थिरता, सुखोपभोग एवं परिपुष्टि का अधिकारी है। इन दिनों का गुण उपवास करने वालों को अनायास मिल जाता है।

रविवार में सातों दिनों का समन्वित प्रभाव पड़ता है। इस दिन सातों ग्रहों की सम्मिलित शक्ति धरती पर उतरती है और यों भी सूर्य धरती और मनुष्य को अपने प्राणों से सींचता है। गायत्री महामंत्र का देवता भी यही है। अतः रविवार व्रत का बड़ा ही महत्त्व है। इस व्रत का सर्वप्रथम प्रभाव मन पर पड़ता है और मन ही जीवन का केंद्र बिंदु है। लगातार नियमपूर्वक बारह रविवार के व्रत से मन पर आश्चर्यजनक परिवर्तन देखा जा सकता है। यह एक दिव्य अनुभव है, जो इसे करके ही अनुभूत किया जा सकता है। इसके साथ द्वादश आदित्यों का गूढ़ मर्म भी छिपा हुआ है।

रविवार व्रत के कुछ सामान्य एवं सहज नियम हैं, जिन्हें आसानी के साथ निभाया जा सकता है। भोजन में नमक वर्जित है। दूध, फल आदि चीजों को दोपहर बारह बजे के पश्चात् एवं सूर्योदय के पूर्व तक लिया जा सकता है। चावल की खीर भी ग्रहण की जा सकती है। इस दिन श्वेत या पीले वस्त्रों के प्रयोग का विधान है। प्रातः उठकर पाँच से ग्यारह माला गायत्री मंत्र का जप करते हुए सूर्य की पवित्रता एवं प्रखरता का ध्यान अवश्य करना चाहिए। आस्था एवं श्रद्धापूर्वक किए गए ध्यान से जीवन में सूर्य के समान प्रखरता एवं तेज उत्पन्न होता है। उपवास के वैज्ञानिक लाभ भी मिलने लगते हैं।

⁂

महाकाल का संदेश

परमपूज्य गुरुदेव ने जीवनभर जनकल्याण हेतु साहित्य सृजन किया, उनके तप एवं ज्ञान का निचोड़ उनके साहित्य में है। सभी लोगों तक यह ज्ञानगंगा पहुँचे, इसीलिए 'पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय' का प्रकाशन किया गया है। लाखों ने इसे पढ़कर जीवन धन्य बनाया है। हर घर में वाङ्मय की स्थापना होनी चाहिए, परिवार के लिए यह अमूल्य धरोहर एवं विरासत है।

यदि आपको भगवान ने श्री-संपन्नता दी है, तो ज्ञानदान कर पुण्य अर्जित करें। विशिष्ट अवसरों एवं पूर्वजों की स्मृति में पूज्यवर का वाङ्मय विद्यालयों, पुस्तकालयों में स्थापित कराएँ। विवाह, जन्मदिवस एवं अन्य उत्सवों पर अथवा पारितोषिक स्वरूप भी यह साहित्य अमूल्य भेंट सिद्ध होगा। आपका यह ज्ञानदान आने वाली पीढ़ियों तक को सन्मार्ग पर चलाएगा, जो भी इसे पढ़ेगा, धन्य होगा। शास्त्रों में कहा है-

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्न गोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ —*गीता ४/३३*

जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घी, इन सबके दानों में से ज्ञान का दान सबसे उत्तम है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ —*मनुस्मृति ४/२३३*

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि जितने भी कर्म हैं, वे सब ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। ज्ञानदान सर्वोपरि पुण्य है, शुभ कार्य है।

महाशक्ति को समर्पित एक जीवन

‘दीदी’ अब यही नाम हो गया था उसका। आस-पड़ोस के सब बच्चे उसे ‘दीदी’ कहकर बुलाते थे। बच्चों की देखा-देखी कुछ बड़े भी उसको जब-तब दीदी कहकर बुला लेते थे। पड़ोस के घरों की प्रौढ़वय महिलाएँ उसे बच्चों की दीदी या स्कूल वाली दीदी के नाम से पुकार लेती थीं। जिन शब्दों से अनेक जन किसी को पुकारते हैं, वही उसका नाम हो जाता है। पुकारने के लिए प्रयोग किए जाने वाले अक्षरों का गठजोड़ ही तो नाम बन जाता है। इस तरह ‘दीदी’ ही उसका नाम था। ठीक-ठीक नाम न भी कहें, तो लोक प्रचलित नाम तो था ही। अपने इस नाम के प्रचलन में उसकी भी मूक सहमति थी।

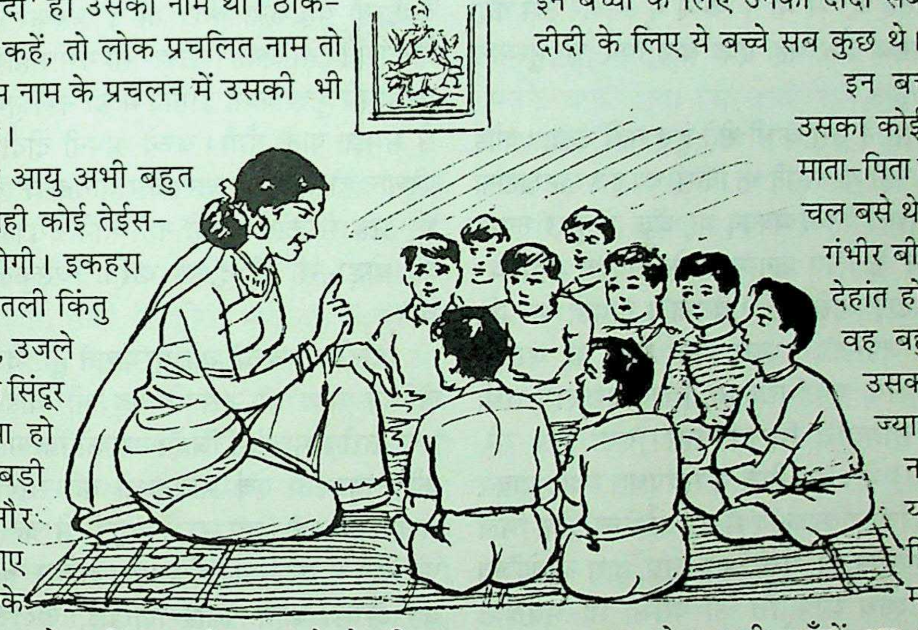

वैसे उसकी आयु अभी बहुत नहीं थी। बस यही कोई तेईस-चौबीस साल होगी। इकहरा शरीर, दुबली-पतली किंतु लंबी कद-काठी, उजले दूध में हल्का-सा सिंदूर मिला दिया गया हो ऐसा गोरा रंग, बड़ी ही सूक्ष्मता और सफाई से तराशे गए नाक-नक्श उसके समूचे व्यक्तित्व को अतिशय सुंदर कहने के लिए विवश करते थे। उसके चेहरे पर भोलेपन से लिपटी मासूमियत की बड़ी सम्मोहक आभा थी। बड़ी-बड़ी उसकी आँखों में पवित्रता-पारदर्शिता एवं तेजस्विता का प्रकाश चमकता रहता था। व्यक्तित्व के इस बाहरी देह कोश के घनीभूत सौंदर्य से कहीं अधिक सघन सुंदरता उसके विचारों एवं भावनाओं में थी। पवित्र, उत्कृष्ट एवं प्रखर विचार, सुकोमल संवेदनशील भावनाएँ बरबस ही सबको अपना बना लेती थीं। सब उसके अपने थे भी। वह भी सबकी अपनी थी।

हर एक काम में हाथ बटाना उसके स्वभाव में था, लेकिन उसका सबसे प्रिय बच्चों को पढ़ाना, उन्हें शिक्षा और संस्कार देना था। यह करने में उसे एक गहरा आत्मिक सुख मिलता था। बच्चों के माता-पिता उसके गुणों से अभिभूत होकर उस पर अगाध विश्वास करते थे। बच्चों के बारे में उसकी सलाह के बिना किसी का काम न चलता था। उसका परामर्श सर्वोपरि था। एक तरह से वही आस-पड़ोस के सब बच्चों की अभिभावक थी। बच्चे भी अपनी दीदी के प्रति प्रेम से भरे थे। दीदी उन्हें कहानी सुनाती, होमवर्क कराती, खाने-पीने की चीजें देती और सबसे बढ़कर अपना भरपूर प्यार उन पर निछावर करती।

इन बच्चों के लिए उनकी दीदी सब कुछ थी और दीदी के लिए ये बच्चे सब कुछ थे।

इन बच्चों के सिवा उसका कोई अपना न था। माता-पिता बहुत बचपन में चल बसे थे। माँ का किसी गंभीर बीमारी के कारण देहांत हो गया था, तब वह बहुत छोटी थी। उसको माँ के बारे में ज्यादा कुछ याद नहीं। बस इतना याद है कि उसने पिता जी से जब माँ के बारे में जानना चाहा, तो उनकी आँखें भर आई थीं। वह कुछ बोल नहीं सके, बस आँसू उनकी अंतर्कथा और अंतर्व्यथा कहते रहे। उस दिन सब मौन में समा गया, पर अगले दिन वह उसकी नन्हीं-सी उँगली थामकर पूजा के कमरे में ले गए। पूजा की अलमारी में रखी हुई एक तस्वीर को दिखाते हुए बोले, बेटी यही माँ है, हमारी माँ है, सारे संसार की माँ है। न जाने किस अनजानी प्रेरणा से उसने उस दिन पूछ लिया था, माँ का नाम क्या है? उत्तर में पिता का बहुत गहरे दरद में सना स्वर उभरा, गायत्री।

बाद में अपनी इस अनोखी माँ की कथा उसने पुस्तकों में पढ़ी। जगत्माता की वह सगी बेटी बन गई। बालमन जब-जब माँ के लिए तड़पता, वह सृष्टि की आदिमाता

के चित्र के सामने बैठकर रो लेती। कभी-कभी तो इसी तरह रोते-रोते सो जाती, पर जब जगती तो एकदम तरो-ताजा होती। बाद में एक दिन उसने पिता को बताया कि तस्वीर वाली माता उसके स्वप्न में आती है। बहुत सारा प्यार करती है, कहती है तुम मेरी अपनी बेटी हो। सुनकर पिता की आँखें एक बार फिर उमड़ीं, लेकिन इस बार भी वह मौन रहे। पढ़ते, घर का काम करते, इसी तरह दिन-महीने-वर्ष बीते। तभी एक दिन पिता छोड़कर चले गए। उसे तो ज्यादा कुछ पता ही नहीं चला, बस उस समय इतना मालूम हुआ था कि सोए हुए पिता जगे नहीं। पड़ोस के लोगों ने जब डॉक्टर को बुलाया, तो उसने 'नो मोर' कह दिया। उस दिन वह बहुत रोई-बिलखी थी। माता गायत्री की तस्वीर के सामने बैठकर बहुत उलाहने दिए थे, पर माँ ने स्वप्न में आकर उसे पता नहीं क्या समझाया कि वह एक बार फिर से मुस्करा पड़ी।

तब से किसी ने उसे कभी रोते हुए नहीं देखा। कोई करीबी रिश्तेदार नहीं था, उसने भी किसी का द्वार खटखटाना उचित नहीं समझा। पैतृक मकान था, बैंक में कुछ रुपया था। मदद करने के लिए जगन्माता के अदृश्य हाथ थे। उसने अपनी पढ़ाई जारी रखी। वेदमाता गायत्री के प्रति समर्पित उसके जप-तप ने उसे प्रखर मेधा का वरदान दिया था। विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय सभी स्तर पर उसे छात्रवृत्ति मिलती रही। एम. एस-सी. (वनस्पति शास्त्र) में प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान पाकर वह उत्तीर्ण हुई। विश्वविद्यालय में उसे सर्वोच्च अंक मिले थे। इसी के साथ उसने सी. एस. आइ. आर. द्वारा आयोजित की जाने वाली शोध छात्रवृत्ति की परीक्षा भी सर्वश्रेष्ठ अंकों से उत्तीर्ण की थी और अब वह अपने ही विश्वविद्यालय में वनौषधियों पर कुछ विशेष शोध कार्य कर रही थी।

ये तो उसकी पढ़ाई-लिखाई के काम थे। इसके अलावा ढेरों काम ऐसे थे, जो वह पड़ोसियों के लिए, बच्चों के लिए करती थी। पड़ोस के बुजुर्ग अपने घरों में उसका उदाहरण देते हुए कहते थे, देखना है तो तुम अपनी दीदी को देखो। बनना है तो उसके जैसा बनो। कितनी शिष्ट, शालीन और सौम्य है। कर्मठता तो उसमें कूट-कूटकर भरी है। न कभी किसी से झगड़ा, न कभी किसी से शिकायत। अपने काम में जुटी रहती है। दूसरों के भी दस काम कर देती है। ऊपर से पूजा-पाठ करने के लिए समय भी निकाल लेती है। पढ़ाई-लिखाई में अव्वल है ही। बुजुर्गों द्वारा की जाने वाली इस प्रशंसा में अतिशयोक्ति तनिक भी न होती थी।

उसको सबसे ज्यादा पसंद था बच्चों को पढ़ाना, उन्हें सिखाना। आस-पास के सभी बच्चे अपनी दीदी के प्रभाव से बहुत कुछ सीख गए थे। प्रातः जल्दी उठना, नित्यकर्म से निवृत्त होकर नियमित गायत्री महामंत्र का कम-से-कम एक माला जप करना, माता-पिता और अपने बड़ों के रोज प्रातः चरणस्पर्श करना उन सबकी नियमित आदत बन गई थी। सबने अपने पढ़ने और खेलने का समय निश्चित कर लिया था। यह सब किसी भय से नहीं प्रेम से हुआ था। दीदी बच्चों को कभी भी नहीं डाँटती थी। डाँटना तो जैसे उसे आता ही नहीं था। बस जब कभी बच्चों के किसी काम में कोई कमी दिखाई देती, तो वह उन्हें कुछ भी न कहकर बस अपनी कमी निकालने लग जाती। थोड़ा-सा गंभीर होकर कहने लगती, मुझमें ही कुछ कमी होगी। मैं ही नहीं तुम लोगों को ठीक से समझा पाती हूँगी। बच्चे अपनी दीदी की इन बातों से परेशान हो जाते। वे बार-बार वायदा करते कि अब किसी भी तरह से कोई गलती नहीं होने देंगे। उन्हें अपनी दीदी को थोड़ा-सा भी दुःखी करना बिल्कुल भी मंजूर नहीं था।

दीदी भी बच्चों को मुस्कराते हुए देखना चाहती थी, लेकिन साथ ही उसकी यह भी चाहत थी कि बच्चे उच्चस्तरीय भावों में जिएँ। उसकी क्रिया में उनके विचारों की उत्कृष्टता एवं भावनाओं की सरलता हर तरह से झलके। इसके लिए उसने बच्चों से व्रत लिया था कि वे पूरे दिन में कोई-न-कोई एक अच्छा काम जरूर करेंगे। यह अच्छा काम पढ़ाई-लिखाई, खेलकूद या नियमित उपासना से अलग था। इसका मतलब था किसी की सेवा करना, किसी को सहायता पहुँचाना, किसी रोते हुए को हँसाना, किसी दुःखी जन को सुखी करना। बच्चे अपनी दीदी को सुखी करने के लिए दिन भर में एक-न-एक कोई अच्छा काम अनिवार्य रूप से कर लेते थे। कभी तो किसी बीमार को दवा लाकर देते या फिर कभी उसकी कोई अन्य सेवा करते। कभी किसी वृद्ध या वृद्धा को सड़क पार करा देते। फिर प्रसन्नता से अपनी दीदी को अपने किए हुए कामों का ब्योरा देते।

छुट्टी के दिनों में बच्चों की दीदी बच्चों के खेलकूद में भागीदार होती। उनके लिए खासतौर पर लिखी गई छोटी-छोटी कविताएँ सुनातीं। अब तो बच्चों को ये कविताएँ रट गई थीं। वे सब मिलकर गाते थे-

जागो रे जागो,
अब हुआ भोर, अब हुआ भोर
डूबे प्रकाश में, दिशा छोर
आई जगने की नई प्रात
निद्रा छोड़ो अब गई रात।

एक अकेली लड़की क्या-क्या करती है? क्या-क्या कर लेती है? देखकर लोग हैरत से हैरान हो जाते। टी.वी., सिनेमा, पॉप म्यूजिक के युग में एक नहीं अनेक बच्चों का उपासना, अध्ययन एवं सेवा में जुटे रहना किसी बड़े-से-बड़े अचरज से कम नहीं था, पर वह स्वयं इसे आश्चर्य नहीं मानती थी। उसका कहना था कि सच्ची बात भले ही देर से समझ में आए, लेकिन जब आ जाती है तो न भूलती है, न छूटती है। फिर बच्चे तो वैसे भी बहुत समझदार होते हैं, बस उन्हें प्यार और धीरज से समझाने-बताने की जरूरत है। फिर तो वे ऐसे पक्के हो जाते हैं कि कुछ पूछो मत, लेकिन एक बात है, उन्हें समझाने वाला वैसा स्वयं करे।

बेटी, तुम्हें कभी कोई इच्छा नहीं होती? तुम्हें कभी कोई चाहत नहीं होती? यदा-कदा पड़ोस की प्रौढ़-बुजुर्ग महिलाएँ व पुरुष उससे पूछ लेते। जवाब में वह हँसकर कहती, होती है, होती क्यों नहीं? पर मेरे पास एक कल्पवृक्ष है, जिससे सब कुछ मिल जाता है और प्राय: बिना माँगे मिल जाता है। ज्यादा पूछने पर वह उन्हें चौबीस अक्षरों वाला गायत्री मंत्र सुना देती। गायत्री मंत्र की चमत्कारी सामर्थ्य उसके अपने जीवन में प्रत्यक्ष थी। माता के आँचल की छाया में वह कितनी सुखी-प्रसन्न थी, इसे सब देख रहे थे। प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या? लोगों को मानने पर विवश होना पड़ता। उसकी प्रत्यक्ष अनुभूतियों की वेगवती धारा ने अनेकों को अपने में बहा लिया था। गायत्री महामंत्र के अनुष्ठान के प्रति अगणित लोगों की श्रद्धा प्रबल और प्रगाढ़ हो चली थी।

उसके मन में कोई चाहत नहीं बची थी। सतत गायत्री साधना से उसका चित्त निष्कल्मष हो गया था। यदि कभी भी उससे कोई उसके भविष्य के बारे में पूछता, तो वह हँस देती। इस हँसी में बहुत कुछ होता था। एक रहस्य, आत्मा से उपजी प्रसन्नता का उजलापन, आध्यात्मिक जीवन की जगमग ज्योति, सभी कुछ इसमें घुले-मिले थे। उसकी रहस्यमयी हँसी के बारे में सबको तब पता चला, जब वह एक दिन देर तक अपने घर से बाहर नहीं आई। बच्चे उसका हाल मालूम करने गए, देखा उनकी दीदी अपने पूजा वाले कमरे में पूजा वेदी के सामने पद्मासन पर बैठी है, पर न जाने क्यों आज उसका सिर माता गायत्री के चित्र के सामने पूजा की चौकी पर टिका है। बच्चे थोड़ा चौंके, घबराए, उन्होंने अपने-अपने माता-पिता को भागकर बताया। सभी लोग दौड़े हुए आए। कुछ ने चिकित्सक को भी बुला लिया था।

थोड़ी ही देर में सभी लोगों को सत्य पता चल गया। सबने जान लिया कि बच्चों की दीदी के प्राण माता गायत्री में विलीन हो गए थे। प्राणों (गय) का त्राण करने वाली (त्री) माता ने अपनी बेटी के प्राणों का त्राण कर दिया था। आदिमाता अपनी पुत्री को अपने आँचल में छिपाकर मुस्करा रही थी। बच्चों के साथ वृद्धजन भी एकबारगी बिलख उठे। हालाँकि थोड़ी देर बाद बच्चों से सबको पता चला कि दीदी ने उन्हें पहले ही बता दिया था कि थोड़े ही दिनों में वे अपनी माँ के पास चली जाएँगी, लेकिन तभी बच्चों को याद आया कि दीदी ने उनसे कहा था कि वे उनके लिए अपना संदेश छोड़ जाएँगी। सबने पूजा चौकी पर उलट-पुलटकर देखा। एक कागज के टुकड़े पर दो पंक्तियाँ लिखी थीं-

एक फूल झरता है, तो हजार खिल जाते हैं।
एक द्वार बंद होता है, तो हजार खुल जाते हैं॥

सचमुच ही दीदी के द्वारा गढ़े गए बच्चे हजार फूलों, हजार द्वारों की तरह खिल-खुल रहे थे।

❑

सर आइजक न्यूटन वर्तमान भौतिक विज्ञान के जनक कहे जाते हैं। उन्होंने चमत्कारी वैज्ञानिक अनुसंधान किए। उनके प्रशंसकों ने उनसे कहा कि आप तो विज्ञान की तह तक पहुँच गए हैं। इस पर न्यूटन बोले, विज्ञान एक महान् सागर है, मैं अभी बालक की तरह उसके किनारे के पत्थर मात्र चुन सका हूँ। उसमें प्रवेश और तह तक जाना, उसमें से मूल्यवान रत्न निकालना तो बहुत आगे की बात है।

आखिर! बच्चे कहना क्यों नहीं मानते

बच्चे कहना नहीं मानते, यह शिकायत आम माता-पिता की है। कभी-कभी उन्हें इस शिकायत के चलते खीझ होने लगती है। कभी वे इसके लिए दुःखी-परेशान हो उठते हैं। इसकी वजह से यदा-कदा उनको हताशा-निराशा घेर लेती है। समझ में नहीं आता क्या करें, कैसे समझाएँ इन बच्चों को। जब देखो तब शैतानी, उठा-पटक, तोड़-फोड़। थोड़ी देर भी चुपचाप एक जगह बैठे नहीं रहेंगे। यह नहीं कि अपना पाठ तैयार करें।

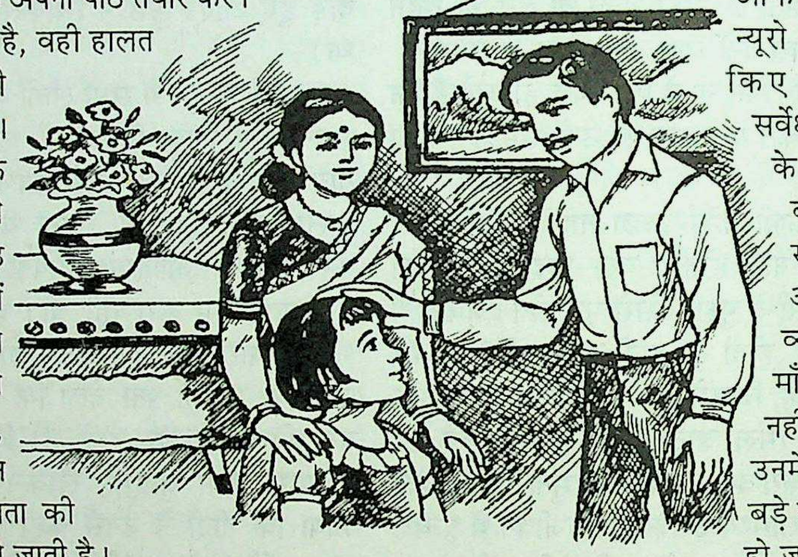

इनकी जो हालत घर में है, वही हालत स्कूल में है। वहाँ भी टीचर परेशान रहते हैं। घर शिकायत भेजते हैं कि आपका बच्चा पढ़ाते समय एकाग्रता से पाठ नहीं सुनता, उलटे दूसरों की तन्मयता को तोड़ता है। कक्षा में साथियों से खूब लड़ाई लड़ता है, रोज-रोज की इन शिकायतों से माता-पिता की परेशानी और दोगुनी हो जाती है।

समाधान की तलाश में अक्सर ये आपस में लड़ लेते हैं। उनकी इस लड़ाई से बच्चों की गतिविधियाँ और भी तेज हो जाती हैं। माता-पिता की असमर्थता उन्हें पहले से भी अधिक शैतानी करने के लिए प्रेरित करती है। यह कथन कोई कल्पना नहीं, एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। जिसे विश्व भर के बाल-मनोवैज्ञानिकों ने अपने कई प्रयोगों से प्रमाणित किया है। मनोवैज्ञानिक जार्ज ए. मिलर का कहना है कि आज की भागती-दौड़ती हमारी सामाजिक दिनचर्या ने बच्चों को हमसे दूर कर दिया है। पर्याप्त भावनात्मक पोषण एवं सही देख-रेख के अभाव में बच्चे कुछ ज्यादा ही सुनी-अनसुनी करने लगे हैं। उनकी गतिविधियों में कुछ ज्यादा ही शैतानी शामिल हो गई है।

कभी-कभी यह शैतानी सीमा रेखा पार कर जाती है और एक बीमारी की शक्ल ले लेती है। जिसे मानव मन के विशेषज्ञों ने एटेंशन डेफेसिट डिस आर्डर (उपेक्षा-असंतुलन) या एड का नाम दिया है। विशेषज्ञों का मानना है कि पहले यह बीमारी केवल विदेशों के बच्चों में पाई जाती थी। भारत में इसका प्रतिशत प्रायः नहीं के बराबर था, लेकिन संयुक्त परिवारों के टूटने से, माता-पिता दोनों के नौकरी करने के कारण अब भारत में भी इस बीमारी का प्रतिशत काफी बढ़ गया है। विद्यासागर इंस्टीट्यूट ऑफ मेंटल हेल्थ एंड न्यूरो साइंसेज के द्वारा किए गए एक शोध सर्वेक्षण के अनुसार देश के ७४ लाख बच्चे इस बीमारी की विकृति से ग्रस्त हैं। चूँकि अपने अज्ञान और व्यस्तता के कारण माँ-बाप इस पर ध्यान नहीं दे पाते, इसलिए उनमें से २२ लाख बच्चे बड़े होकर असामाजिक हो जाते हैं।

विद्यासागर इंस्टीट्यूट ऑफ मेंटल हेल्थ एंड न्यूरो साइंसेज (विमहांस) के विशेषज्ञों द्वारा किए गए व्यापक शोध-सर्वेक्षण से ये तथ्य सामने आए हैं। इस संस्था के मनोचिकित्सकों का कहना है कि ऐसे बच्चों को केवल शरारती बच्चे कहकर पीछा नहीं छुड़ा लेना चाहिए, बल्कि सात से ग्यारह साल की उम्र में शिक्षक की मदद से ऐसे बच्चों की गतिविधियों का ध्यान रखना चाहिए और स्थिति ज्यादा बेकाबू हो तो मनोचिकित्सक से उपयुक्त परामर्श करना चाहिए। विमहांस के मनोचिकित्सकों के अनुसार यह एटेंशन डेफेसिट डिस आर्डर या एड कई तरह का हो सकता है। शुरुआत में कम असर वाला, बाद में धीरे-धीरे बढ़कर हाइपर एक्टिव या अतिसक्रियता एटेंशन डिस आर्डर या एडी एच डी का रूप ले सकता है।

विमहांस के मनोचिकित्सक डॉ. नागपाल का कहना है कि प्रमुख तौर पर इसके तीन लक्षण हैं। पहला

एकाग्रहीनता, दूसरा अति सक्रियता एवं तीसरा कभी भी काम को करने के लिए मजबूर हो जाना। इन तीन मुख्य लक्षणों के अलावा इस बीमारी से ग्रसित बच्चों में चित्त का बिखराव, अस्थिर व आक्रामक व्यवहार, अपने को हीन समझना, लोगों का ध्यान आकृष्ट करने वाले काम करना, ख्यालीपुलाव पकाना, मिल-जुलकर न रहने की प्रवृत्ति, अति कमजोर याददाश्त, धैर्य की कमी, दूसरों को सताने वाला व्यवहार एवं चोरी करने जैसी प्रवृत्ति आम बातें हैं। समाज में स्वीकार्य व्यवहार करना इन बच्चों के बूते के बाहर हो जाता है। पढ़ाई करना ये छोड़ देते हैं। अक्सर ये अपनी स्कूली पढ़ाई भी पूरी नहीं कर पाते। जब-तब इन पर डिप्रेशन का दौरा पड़ता रहता है। उस समय इन पर काबू करना मुश्किल हो जाता है।

इस रोग के कारणों के बारे में विशेषज्ञ अभी ठीक से एक मत नहीं हो पाए हैं। वैसे इस बारे में हाल में हुए शोध-अनुसंधान से दो बातें पता चली हैं। पहली बात यह कि शुरुआती कारणों में भ्रूण अवस्था या बचपन में संक्रमण के कारण दिमाग को होने वाले मामूली नुकसान से ऐसा हो जाता है। इससे संबंधित एक तथ्य यह भी है कि रोगियों के मस्तिष्क में रसायनों के अनियमित प्रवाह से ऐसा हो जाता है, लेकिन दूसरी बात जो इस सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, वह है बच्चों को अनदेखा करने की प्रवृत्ति। एटेंशन डेफेसिट डिस आर्डर का शाब्दिक अर्थ ही यही है- देख-रेख की कमी से होने वाली व्याधि।

माता-पिता या अभिभावक आजकल बच्चों पर उतना ध्यान नहीं दे पाते, जितना कि आवश्यक रूप से दिया जाना चाहिए। प्रो. जीन ह्यूस्टन ने इस बारे में एक बहुत ही सुंदर शोधग्रंथ लिखा है, 'चाइल्ड केयर : इट्स साइको लाजिक मीनिंग'। इस पुस्तक में उन्होंने बच्चों की गतिविधियों पर किए गए विभिन्न शोध-कार्यों से संबंधित प्रयोगों व उनके निष्कर्षों को प्रकाशित किया है। उनका कहना है कि एक स्थिति में माता-पिता अपने काम-काज में इतना मशगूल हो जाते हैं कि अपने बच्चों को साधनों व नौकरों के हवाले कर देते हैं। उनके पास बच्चों के लिए आवश्यक समय ही नहीं रहता है। दूसरी स्थिति में माता-पिता बच्चों पर कुछ ज्यादा ही ध्यान देते हैं। उनकी हर जायज-नाजायज माँग पूरी करते हैं या उनको इतना ज्यादा अपनी निगरानी में रखते हैं कि बच्चों का स्वतंत्र विकास बाधित हो जाता है।

प्रो. ह्यूस्टन का कहना है कि बच्चों का पालन-पोषण करने में एक माली की कुशलता चाहिए। उन्हें इतना भी अनदेखा न करें कि आवश्यक खाद-पानी भी न मिल सके और इतनी भी देख-रेख की अति न कर दें कि उन्हें स्वाभाविक रूप से मिलने वाली हवा और प्रकाश भी अवरुद्ध हो जाए। बच्चे आपकी बात मानें एवं शरारत व शैतानी कम करें, इसके लिए माता-पिता को कुछ बिंदुओं को आत्मसात करना जरूरी है। १. आप बच्चों के लिए रोल मॉडल बनें। कम-से-कम बच्चों के सामने स्वयं ऐसे काम कभी न करें, जिनके लिए आप उन्हें रोकते हैं। २. बच्चों की हर जायज-नाजायज माँग पूरी करने के बजाय धीरे-धीरे उन्हें सही-गलत का बोध कराएँ। ३. जीवन के व्यावहारिक विषयों जैसे दूसरों से व्यवहार, उठने-बैठने, चलने-दौड़ने के सही तौर-तरीके, शिष्टाचार के सामान्य ज्ञान के बारे में उन्हें धीरे-धीरे पर थोड़ा-थोड़ा रोज बताएँ-सिखाएँ। ४. बात-बात पर उन्हें झिड़कें नहीं। अनजान लोगों के सामने उन्हें किसी भी कीमत पर अपमानित न करें। ५. अच्छा काम करने पर उन्हें प्रोत्साहित व प्रशंसित करें। ६. रचनात्मक प्रतिभा को विकसित करने का अवसर दें।

> *सफलता का मापदंड विजय-पराजय अथवा धन-दौलत नहीं, बल्कि वे कर्त्तव्य हैं, जिनका किसी ने आपत्ति तथा हानि की स्थिति में भी निष्ठापूर्वक पालन किया है।*

चंडीगढ़ स्थित मेडीकल एजुकेशन एंड रिसर्च में मनोचिकित्सा विभाग की एक विशेषज्ञ का कहना है कि बच्चे आपकी बात मानें, इसके लिए जरूरी है कि आप अपने प्रति बच्चों में विश्वास जगाएँ। उन्हें उनके प्रति अपने प्रेम से आश्वस्त करें। यहीं की एक विशेषज्ञ डॉ. सविता मल्होत्रा का कहना है कि शैतानी और शरारत की अति को कोई गंभीर रोग मानकर घबरा जाना तो ठीक नहीं है, पर इसके प्रति लापरवाही भी उचित नहीं है। बच्चों की शैतानी व शरारत में खपने वाली ऊर्जा को यदि सृजनात्मक गतिविधियों में बदला जा सके, तो उनकी प्रतिभा में आश्चर्यजनक बढ़ोत्तरी हो सकती है। बस इसके लिए जरूरत इतनी भर है कि बच्चों के प्रति उनकी सही देख-रेख के प्रति हमेशा जागरूक रहें और उनकी जीवनी शक्ति को सृजनात्मक कार्यों की ओर प्रेरित करते रहें। लगातार धैर्यपूर्वक प्यार और सद्व्यवहार से ऐसा करने पर बच्चे शरारत छोड़कर हमारी हर शिकायत को दूर कर सृजन प्रयोजनों में लगने लगेंगे। ❤

स्वयं को मारकर मिलता है निर्वाण

जेतवन के आम्रकुंज में भगवान तथागत ध्यानस्थ थे। ध्यानस्थ अवस्था में भगवान का उदात्त सौंदर्य और भी मुखर हो उठा था। सुहानी प्रभात वेला इसमें और भी अभिवृद्धि करने के लिए भगवान के समीप आ जुटी थी। महादानी भुवन भास्कर अपनी सहस्र किरणों से भगवान के ऊपर सुवर्ण लुटाते हुए आकाश के आँगन में बढ़ आए थे। समूची प्रकृति ध्यानलीन महाबुद्ध की महिमा का गान कर रही थी। आम्रवन में पक्षियों के कलरव की मधुर गूँज प्रकृति के स्वरों को संगीत में सजाने के प्रयास में लीन थी। सब ओर महाबुद्ध के मंगलमय रूप की प्रभा बिखरी थी। अकेला आम्रकुंज ही नहीं, समूचे जेतवन के परिक्षेत्र में ध्यानस्थ भगवान का दिव्य आलोक छाया हुआ था।

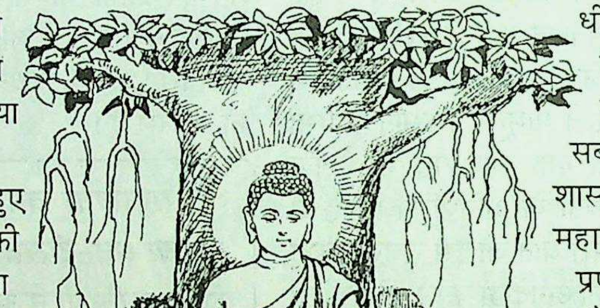

भगवान से कुछ दूर बैठे हुए भिक्षुगण शास्ता के ध्यानोन्मीलन की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें प्रतीक्षा थी कि कब प्रभु नेत्र खोलें और कब वे सब उन्हें प्रणाम निवेदित करें। महाकाश्यप, मौदग्लायन, रेवत आदि सिद्ध साधकों के साथ नव भिक्षुदल के सभी सदस्य भगवान की वाणी को सुनने की त्वरा में थे। इस सबके साथ आज एक नए सदस्य लवकुंठक भद्दीय स्थविर की भी उपस्थिति थी। आयु में अल्पवयस्क होने के बावजूद लवकुंठक की साधना अत्यंत गहन थी। मितभाषी, सेवाभावी, ध्यानपरायण लवकुंठक सभी की प्रीति का केंद्र था। महाकाश्यप एवं रेवत आदि सिद्धजन उस पर अपना हृदय उँड़ेलते थे। भिक्षुसंघ के नए सदस्य उस पर अपनापन लुटाते थे।

लवकुंठक पिछले कुछ दिनों से प्रव्रज्या के लिए गया हुआ था। अभी कल ही रात्रि को वापस लौटा था। इन बीच के कुछ दिनों में वह कहाँ रहा, उसने क्या किया, किसी को भी पता नहीं था। हाँ, वापस लौटने के बाद से वह कुछ अधिक शांत हो गया था। साथी भिक्षुओं ने आने पर रात्रि में थोड़ा-बहुत कुरेदने की कोशिश की, परंतु बाद में उसे थका हुआ जानकर छोड़ दिया। लवकुंठक भी अपनी स्थिति पर मौन ही रहा। किसी की भी जिज्ञासा के उत्तर में उसने कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं समझी। हालाँकि साथियों को उसका यह मौन बड़ा ही रहस्यमय लगा, पर किसी ने ज्यादा कुछ नहीं कहा। सभी को प्रातः की प्रतीक्षा थी। हर कोई सोच रहा था कि प्रणाम के समय शास्ता अवश्य ही रहस्योन्मीलन करेंगे।

सभी भिक्षुओं के इन फँसते-उलझते, बनते-बुनते विचार तंतुओं के पास और परे भगवान आसीन थे। उन्होंने धीरे-धीरे अपने नेत्र उन्मीलित किए। उनके उन्मीलित नेत्रों से करुणा और कृपा की धार सब पर बरस पड़ी। सभी अपने शास्ता को प्रणाम करने लगे। महाकाश्यप, रेवत, मौदग्लायन प्रणाम करके प्रभु के पास ही बैठ गए। अन्य भिक्षुओं के साथ लवकुंठक ने भी प्रणाम किया। लवकुंठक के प्रणाम करते ही भगवान बोले, भिक्षुओ देखते हो इस भाग्यशाली भिक्षु को? यह माता-पिता को मारकर दुःखरहित होकर आ रहा है। भगवान की वाणी सुनकर महाकाश्यप मुस्कराए, जबकि अन्य भिक्षु चौंके। उन्हें एक बार तो अपने कानों पर विश्वास ही नहीं हुआ। वे चौंककर एक-दूसरे का मुख देखने लगे कि भगवान ने यह क्या कहा? माता-पिता को मारकर दुःखरहित होकर आ रहा है, इस भाग्यशाली भिक्षु को देखो। उन्हें तो अपने कानों पर भरोसा ही नहीं हुआ। वे सोचने लगे, माता-पिता की हत्या से बड़ा तो कोई और पाप नहीं है। भगवान यह क्या कहते हैं? कहीं कुछ चूक है। हम सुनने में चूक गए या फिर भगवान कहने में चूक गए हैं। माता-पिता के हत्यारे को भाग्यशाली कहना, भला यह कोई बात हुई?

महाकाश्यप, रेवत, मौदगलायन को छोड़कर अन्य सभी के संदेह और विभ्रम गाढ़े हो गए। ये तीनों सिद्धजन शास्ता की बातें सुनकर मुस्करा रहे थे। स्वयं लवकुंठक मौन था। उसके लिए तो भगवान का हर शब्द उनका कृपाशीष था। अन्य भिक्षुओं से तो रहा ही नहीं गया। उन्होंने तो भगवान से पूछ ही लिया, आप यह क्या कह रहे हैं प्रभु? ऐसी बात न तो आँखों देखी और न ही कानों सुनी।

भगवान तब विहँसे और कहने लगे, अरे बात इतनी ही नहीं है। इस अपूर्व भिक्षु ने और भी हत्याएँ की हैं और बड़ी सफलता से की हैं, बड़ी कुशलता से की हैं। मैं तो कहता हूँ हत्या करने में इसका कोई सानी नहीं है। भिक्षुओ, तुम भी इससे कुछ सीख लो। तुम भी इस जैसे बनो, तो तुम भी दुःख-सागर के पार हो जाओगे। भिक्षुओं ने कहा, आप क्या कहते हैं, भगवान? लेकिन तथागत तो जैसे आज रहस्य को और भी गहरा, घना और गाढ़ा करने में तुले थे। उन्होंने सभी को चकित करते हुए ये गाथाएँ कहीं-

मातरं पितरं हंत्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हंत्वा अनीघो याति ब्राह्मणो॥
मातरं पितरं हंत्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपंचमं हंत्वा अनीघो याति ब्राह्मणो॥

भगवान द्वारा कही गई इन धम्म गाथाओं ने सभी को और उलझा दिया। सारे भिक्षुओं की बुद्धि चकित और स्तब्ध थी। सब-के-सब हैरत से हैरान थे। भिक्षुओं को इस तरह उलझन में फँसे देखकर महाबुद्ध की करुणा उमड़ आई। उन्होंने महाकाश्यप से इन धम्म गाथाओं के गूढ़ अर्थ को प्रकट करने का संकेत किया। शास्ता का संकेत पाकर सबसे पहले महाकाश्यप ने उनके चरणों में सिर नवाया, फिर उपस्थित सभी जनों को बुद्धवाणी के मर्म को प्रकट करने लगे।

उन्होंने कहा, भिक्षुओ! माता तृष्णा है, पिता अहंकार है। इन्हीं के कारण जीव बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फँसता है। इन्हें मारने वाले का जन्म-मरण के दुःख से छूटना निश्चित है। सभी भिक्षु इस गुह्य अर्थ को सुनकर अवाक् थे। महाकाश्यप निर्विघ्न भाव से अपने शास्ता की वाणी को अर्थ दे रहे थे। दो क्षत्रिय राजा आस्तिकता और नास्तिकता के मत-वाद हैं। सारे शास्त्रीय सिद्धांत इनके अनुचर हैं। ये किसी-न-किसी तरह से जीव को अपने शासन में रखते हैं। जो इन्हें मारता है, वह स्वतंत्र होता है। आसक्तियों सहित अपने भीतर का संसार ही राष्ट्र है, जो इसे मारता है, वह सभी सीमा-बंधनों से छुटकारा पाता है।

उपस्थित भिक्षु जन अभी कुछ और कह पाते कि उन्हें संबोधित करते हुए महाकाश्यप ने कहा, भिक्षुओ, व्याघ्र पंचम, अपनी ही पाँच इंद्रियाँ हैं। इन पंच इंद्रियों की वासनाओं को, इनकी तन्मात्राओं की आसक्ति को जो मारता है, वह व्याघ्रपंचम को मारने वाला है। जिसने इन सभी को एक साथ मारने में सफलता प्राप्त की, समझो उसकी महामृत्यु हो गई। उसने अपनी भी हत्या कर ली। उसे निर्वाण प्राप्त हो गया। भंते, लवकुंठक भद्दीय स्थविर को यही महामृत्यु प्राप्त हुई है। पहले उन्होंने अपनी ध्यान-साधना से उपजे बोधि के दिव्यास्त्र से एक-एक करके सबको मारा और अंत में उन्होंने स्वयं को भी मारने में सफलता प्राप्त की। अब वह निर्वाण को उपलब्ध हो चुके हैं।

> *अध्यात्म की मान्यता व्यक्ति को सदाचरण और आदर्शवादी कर्त्तव्य-पालन के लिए घाटा उठाने तक के लिए प्रोत्साहित करती है। यही वह प्रवृत्ति है, जिससे व्यक्ति का स्तर और समाज का गठन सुव्यवस्थित और समुन्नत रखा जा सकता है।*

भिक्षुसंघ शास्ता के रहस्यमय वचनों की इस अपूर्व व्याख्या को सुनकर संबोधि चेतना की छुअन को अनुभव करने लगा था। महाकाश्यप सभी के लिए सदा से श्रद्धास्पद थे। सबको यह विश्वास था कि भगवान की अंतर्चेतना में महाकाश्यप की अंतर्चेतना समर्पित, विसर्जित एवं विलीन हो चुकी है। महाकाश्यप अद्‌भुत एवं अपूर्व शिष्य हैं। शास्ता तो परम गुरु हैं ही। आज सभी को शिष्य एवं गुरु के इस अनोखे अंतर्मिलन का प्रमाण मिल गया। सबके सब महाबुद्ध के वचनों पर ध्यानस्थ होने का प्रयास कर रहे थे। भगवान की धम्मगाथाएँ सब के लिए राह प्रकाशित कर रही थीं। यह वही राह थी जिस पर अभी-अभी लवकुंठक भद्दीय स्थविर चलकर आए थे। महाकाश्यप जिस पर काफी पहले चल चुके थे। धम्म संदेश देने वाला आज का प्रभात सभी के लिए मंगल पर्व बन गया। सभी के मन-प्राण, अंतर्भावनाओं में इन धम्म गाथाओं के निदिध्यासन का सूर्य प्रकाशित होने लगा। जीवन में हर्ष की हिलोरें उठने लगीं। ▼

पक्षाघात निवारण हेतु यज्ञोपचार प्रक्रिया

वात-व्याधियों में सर्वाधिक कष्टप्रद एवं चिकित्सा की दृष्टि से कष्टसाध्य 'पक्षाघात' होता है। अस्सी प्रकार की वात-व्याधियों में यह सबसे अधिक दु:साध्य माना जाता है। यह एक चिरकालिक रोग है, जो अचानक उत्पन्न होता है और इसके कारण रोगी को असह्य कष्ट उठाने पड़ते हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि पक्षाघात दो शब्दों से मिलकर बना है—पक्ष + आघात। पक्ष का अर्थ होता है, अंग या शरीरार्द्ध एवं घात का अर्थ होता है, नाश या नष्ट होना अर्थात् शरीर के किसी अंग का घात होना या उसकी प्राकृतिक क्रिया का नष्ट होना। आयुर्वेद ग्रंथों में एकांग वात, पक्षवध, सर्वांगघात, अधरांगघात, अर्दित आदि नामों से इसके विविध रूपों का वर्णन किया गया है। उसके अनुसार शरीर के आधे या पूरे भाग अथवा किसी अंग विशेष की चेतनता व सक्रियता का ह्रास होना ही पक्षाघात कहलाता है।

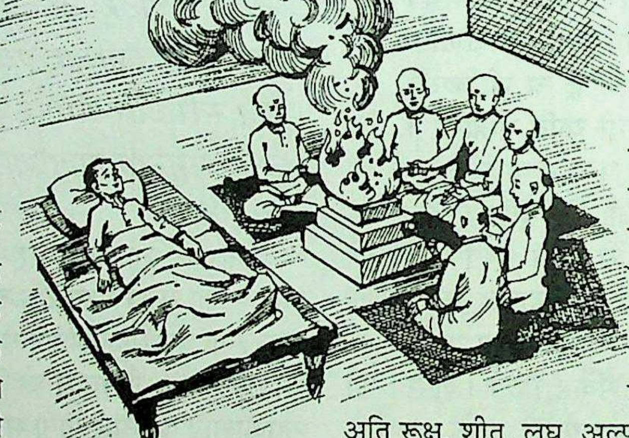

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान एलोपैथी पक्षाघात को पैरालिसिस कहता है। यह भी दो शब्दों पारा + लिसिस से मिलकर बना है। पारा का अर्थ है—आभ्यंतर और लिसिस का अर्थ है—शिथिलता अर्थात् किसी अंग-अवयव की शिथिलता या निष्क्रियता। यह निष्क्रियता या शिथिलता चाहे मांसपेशियों की विकृति के कारण उत्पन्न हुई हो अथवा किसी अन्य कारण से, किसी अंग विशेष या समूचे शरीर की निष्क्रियता, संज्ञाशून्यता पैरालिसिस के अंतर्गत ही मानी जाती है। इसके अनुसार पक्षाघात स्वतंत्र व्याधि न होकर अन्य व्याधियों के लक्षण स्वरूप उत्पन्न होता है। यह शरीर के किसी भी अंग में, आधे शरीर में या सर्वांग में हो सकता है। यह अस्थायी भी हो सकता है और स्थायी भी। ५०-६० वर्ष के बाद मनुष्य में पक्षाघात का खतरा ज्यादा रहता है। महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों में इस व्याधि की संभावना अधिक रहती है।

अन्यान्य वात व्याधियों की भाँति ही पक्षाघात भी दूषित वायु प्रकोप के कारण ही उत्पन्न होता है। आयुर्वेद के अनुसार जब प्रकुपित वायु शरीर की वातवाहिनी शिराओं एवं स्नायुओं को सुखाकर शरीर के संधिबंधनों को शिथिल कर शरीर के एक भाग या पूरे शरीर को निष्क्रिय कर देता है, तो कहा जाता है कि उस भाग को लकवा मार गया है। आयुर्वेद शास्त्रों में उल्लेख है-

गृहीत्वार्धन्तनो वायुः शिरास्नायुर्विशोष्य च।
पक्षमन्यतमं हन्ति साधिबन्धान्विमोक्षयन्॥
कृत्स्नोर्धकायं तस्य स्यादकर्म्मण्यो विचेतनः।
एकांगरोगन्तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः॥

अर्थात् जिस रोग में वायु आधे शरीर को पकड़कर शिरा और स्नायु को सुखाकर संधिबंधन को ढीला कर शरीर के एक ओर के अंग को निष्क्रिय कर देती है, जिससे शरीर का आधा भाग कार्य करने में असमर्थ हो जाता है, उसे पक्षाघात कहते हैं। जब सारे अंग शिथिल या चेष्टारहित हो जाते हैं, तब उसे सर्वांगघात कहा जाता है। अत: स्पष्ट है कि वात की विकृति ही पैरालिसिस का प्रमुख कारण है। यह वातविकृति दो प्रकार से होती है- १. धातुक्षय जनित और २. आवरण जनित वात विकृति। चरक संहिता चिकित्सा स्थान में कहा भी गया है, ''वायोर्धातुक्षयात् मार्गस्यावरणेन च वा।''

कैंसर एवं हृदयाघात के पश्चात् पक्षाघात सर्वाधिक प्राणघातक बीमारी है। इसकी उत्पत्ति के अनेकों कारण हैं। उनमें से प्रमुख हैं- आहारजन्य, विहारजन्य, मानसिक एवं अन्य हेतु। आहारजन्य कारणों में खान-पान में गड़बड़ी प्रमुख है। इसमें अति रूक्ष, शीत, लघु, अल्प, गुरु, ठंढा, वासी अन्न, शुष्क, विषमाशन, विरुद्ध आहार, अनशन या अधिक उपवास आते हैं, जिनके कारण वायु प्रकुपित होती है। विहारजन्य हेतुओं में आते हैं- अपने से अधिक बलवान व्यक्ति से लड़ना, अतिव्यायाम, अत्यधिक परिश्रम, अधिक पैदल चलना, देर तक नदी-तालाब में तैरना, उल्टी-सीधी कसरत करना, रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र आदि धातुओं में से किसी एक अथवा कई धातुओं का क्षीण हो जाना आदि। मानसिक कारणों में- अधिक तनाव, क्रोध, चिंता, भय, शोक आदि आते हैं। अन्य कारणों में क्षय आदि रोगों के कारण उत्पन्न दुर्बलता, कष्टदायक बिस्तर पर सोना, कष्टदायक आसन पर देर तक बैठना, मल-मूत्रादि वेगों को रोकना, चोट लगना, मस्तिष्क, हृदय आदि मर्मस्थानों पर आघात लगना, कष्टकारी सवारी पर लगातार यात्रा करना आदि आते हैं। इन सभी

कारणों से वायु प्रकुपित होती है और शरीर के रिक्त स्थानों को भरती हुई एकांगवात से लेकर सर्वांगघात तक विभिन्न प्रकार के पक्षाघात रोग उत्पन्न करती है।

आधुनिक चिकित्साविज्ञानी पैरालिसिस अर्थात् पक्षाघात को स्वतंत्र बीमारी नहीं मानते, वरन् उसे अन्य रोगों के लक्षण स्वरूप मानते हैं। उसके अनुसार पक्षाघात उत्पन्न होने के प्रमुख कारण हैं- मस्तिष्कगत रक्तस्राव (ब्रेन हेमरेज), थ्रोम्बोसिस, ब्रेन ट्यूमर, मेनिन्जाइटिस, इंकेफेलाइटिस, सेप्टीसीमिया आदि। इसके अतिरिक्त डायबिटीज, हृदय रोग, गर्भ निरोधक गोलियों का लंबे समय तक सेवन करते रहने से भी पक्षाघात हो जाता है। पक्षाघात की प्रायः अधिकांश घटनाएँ उच्च रक्तचाप के कारण मस्तिष्कीय धमनियों के फटने तथा मस्तिष्क पर चोट लगने के कारण उत्पन्न ब्रेन हेमरेज के कारण होती हैं। दुर्घटनावश उच्च वोल्टेज की विद्युत करंट लग जाने के कारण भी अंग विशेष में लकवा मार सकता है।

आयुर्वेद ग्रंथों के अनुसार पैरालिसिस अर्थात् पक्षाघात चार प्रकार का होता है- १. मोनोप्लेजिया या एकांगघात २. हेमिप्लेजिया या अर्द्धांगघात या फालिज ३. क्वाड्रीप्लेजिया या सर्वांगघात और ४. पैराप्लेजिया अर्थात् अधरांगघात। चेहरे के लकवे को, जिसे अर्दित या आननघात कहते हैं, आयुर्वेद शास्त्रों में पक्षाघात से अलग माना गया है, किंतु मेडिकल साइंस में यह पैरालिस या पक्षाघात के अंदर ही गिना जाता है और 'बेल्स पाल्सी' कहलाता है। इस तरह 'फेसियल पैरालिसिस' (बेल्स पाल्सी) को मिलाकर पाँच प्रकार के पक्षाघात हो जाते हैं।

१. मोनोप्लेजिया अर्थात् एकांगघात—जिस पक्षाघात में प्रकुपित वायु शरीर के दायें या बायें भाग में से किसी एक भाग पर आक्रमण करके उसकी शिराओं एवं स्नायुओं को सुखाकर एक हाथ या पैर को संकुचित कर देता है और प्रभावित अंग में सुई चुभाने जैसी पीड़ा होती है, मोनोप्लेजिया या एकांगघात कहलाता है। इसमें हाथ या पैर में से किसी एक में लकवा होता है।

२. हेमिप्लेजिया या पक्षवध—इसे ही एकांग रोग, अर्द्धांग या फालिज कहते हैं। इससे शरीर के एक ओर का आधा भाग सिर से लेकर पैर तक लंबाई में प्रभावित होता है। इस कारण दाहिने या बायें में से एक ओर के प्रत्येक अंग जैसे- एक हाथ, एक पैर, एक आँख, एक ओर की आधी जीभ, आधा चेहरा आदि सभी अंग पक्षाघातग्रस्त होकर अपनी स्वाभाविक शक्ति को खो बैठते हैं और निष्क्रिय-निश्चेष्ट हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण ब्रेन हेमरेज, रक्त का थक्का जमना, ब्रेन ट्यूमर, हृदय रोग, वृक्क रोग, वातरक्त, उपदंश तथा अतिशय मद्यपान आदि होते हैं।

शरीर-क्रिया विज्ञान के अनुसार मस्तिष्क के दाहिने भाग का संबंध काया के बायें भाग से होता है तथा बायें मस्तिष्क का संबंध शरीर के दाहिने भाग से होता है। उक्त कारणों से उत्पन्न अवरोध के कारण जब मस्तिष्क के कुछ हिस्सों को ठीक से रक्त व ऑक्सीजन की आपूर्ति नहीं हो पाती, तो वह भाग क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। इन अवरोधों के फलस्वरूप मस्तिष्क एवं शरीर के अंग-अवयवों के मध्य चलने वाला सूचना-संवेदनाओं का आदान-प्रदान रुक जाता है और वे अपनी स्वाभाविक क्षमता को खो बैठते हैं। विकृति मस्तिष्क के जिस भाग में होती है, ठीक उसके विपरीत हिस्से में शारीरिक अपंगता आती है।

३. क्वाड्रीप्लेजिया अर्थात् सर्वांगघात—जब प्रकुपित वायु संपूर्ण शरीर में व्याप्त होकर सारे शरीर की क्रियाशीलता को समाप्त कर देता है, तो उसे सर्वांगघात या सर्वांग रोग कहते हैं। इसके अभाव से दोनों ओर के सभी अंग शिथिल और निष्क्रिय हो जाते हैं तथा सर्वांग में पीड़ा होती है।

४. पैराप्लेजिया अर्थात् अधरांगघात—इसे पादाघात, उरुस्तंभ, पैरों का लकवा, निचली देह शाखा एवं निचले धड़ का पक्षाघात कहते हैं। इसमें शरीर का आधा भाग, कमर से ऊपर का अथवा कमर से नीचे का भाग निष्क्रिय हो जाता है। प्रायः शरीर का निचला भाग ही निष्क्रिय होता है, जिससे दोनों टाँगें बेकार हो जाती हैं और व्यक्ति अपंग हो जाता है, इसीलिए इसे दोनों टाँगों का लकवा कहते हैं। यह प्रायः मेरुदंड या मेरुरंजु-पुच्छ के चोट लगने, स्पाइनल कॉर्ड में सूजन आने, स्पॉण्डीलाइटिस, हिस्टीरिया, पेरीफेरल न्यूराइटिस एवं तंत्रिका तंत्र के पोषण संबंधी विकार आदि के कारण उत्पन्न होता है। यह व्याधि धीरे-धीरे प्रकट होती है। यदि सही समय पर चिकित्सा उपचार न किया जाए, तो प्रभावित अंग क्रमशः सूखने और सिकुड़ने लगते हैं और तब रोग असाध्य हो जाता है।

५. फेसियल पैरालिसिस अर्थात् अर्दित—इसे चेहरे का लकवा, मुँह का लकवा, आननघात आदि नामों से भी पुकारा जाता है। चिकित्साविज्ञानी इसे ही 'बेल्स पाल्सी' नाम से संबोधित करते हैं। यह मस्तिष्क की चेहरे की 'सातवीं' फेसियल नर्व के क्षतिग्रस्त होने या उसमें चोट आदि लगने के कारण होता है। इसका भी प्रमुख कारण मस्तिष्कगत रक्तस्राव या मस्तिष्कगत धमनी अवरोध माना जाता है।

यों तो पक्षाघात या लकवा का आक्रमण होने पर रोगी को तुरंत अस्पताल पहुँचाना चाहिए, क्योंकि पक्षाघात के आक्रमण के पश्चात् के २४ घंटे रोगी के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। समय पर चिकित्सा-सहायता आदि मिल जाने से ब्रेन हेमरेज या हृदयाघात आदि कारणों से उत्पन्न जटिलताओं से पक्षाघातग्रस्त रोगी की जीवनरक्षा हो जाती है। इतने पर भी प्रायः देखा जाता है कि अधिकांश लकवाग्रस्त मरीजों को अपनी पूर्व स्वाभाविक स्थिति में आने या पूर्ण स्वस्थ होने में बहुत समय लग जाता है। कई बार तो वे ठीक भी नहीं होते और अपंग-अपाहिज-सा जीवन जीने को बाध्य होते हैं। पारिवारिक सदस्यों की उपेक्षा सहने, पराश्रित जीवन जीने के

अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं सूझता। आर्थिक स्थिति गड़बड़ाने या विपन्नता के चलते वे महँगी दवाएँ, रसायन-भस्में भी नहीं खरीद पाते। ऐसी स्थिति में यदि उन्हें यज्ञोपचार प्रक्रिया अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके और उसके लिए आवश्यक हवन सामग्री आदि जुटाई जा सके, जो सहज ही सर्वत्र उपलब्ध हो जाती है, तो न केवल पक्षाघात से मुक्ति पाई जा सकती है, वरन् स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन का पूरा आनंद उठाया जा सकता है।

पक्षाघात के उपचार हेतु यज्ञ चिकित्सा सबसे अधिक सुरक्षित, निरापद, सरल व सर्वसुलभ चिकित्सापद्धति है। इसे हर स्थिति का एवं प्रत्येक आयु वर्ग का व्यक्ति स्वयं अकेले या सामूहिक रूप से अपने घर पर ही नित्य-नियमित रूप से संपन्न करके पूर्ण लाभ उठा सकता है। सभी प्रकार के पक्षाघात या लकवों के लिए विशिष्ट हवन सामग्री बनाई जाती है।

पक्षाघात की विशिष्ट हवन सामग्री में निम्नलिखित सामग्री मिलाई जाती है-

१. एरंड मूल २. कौंच बीज ३. खिरैंटी (बला) मूल ४. उड़द ५. सोंठ ६. सुगंधि तृण (आज्ञा घास) ७. रास्ना ८. अश्वगंधा ९. शतावर १०. पिप्पली ११. पीपलामूल १२. चित्रक १३. ज्योतिष्मती (मालकांगनी) के बीज १४. सौंफ १५. बिल्व छाल १६. नागबला १७. मीठी बच (अथवा इसकी चौथाई कड़वी बच-उग्रगंधा) १८. धमासा १९. देवदार २०. कचूर २१. अडूसा (वासा) २२. हरड़ २३. चव्य २४. नागरमोथा २५. पुनर्नवा २६. गिलोय २७. विधारा २८. गोक्षुरू २९. चोपचीनी ३०. गोरखमुंडी ३१. अमलतास का गूदा ३२. कटसरैया ३३. धनिया ३४. छोटी कटेरी ३५. बड़ी कटेरी ३६. ब्राह्मी। यह सभी ३६ चीजें बराबर मात्रा में लें अर्थात् १००-१०० ग्राम लें एवं ३७. अतीस ५ ग्राम लें।

उपर्युक्त सभी ३७ चीजों को लेकर उनका जौकुट पाउडर बना लेते हैं और इसे 'पक्षाघात रोग की विशिष्ट हवन सामग्री नं. २' का लेबल लगाकर एक डिब्बे में सुरक्षित रख लेते हैं। हवन करते समय पहले से तैयार की गई 'कॉमन हवन सामग्री नं. १' की बराबर मात्रा लेकर नं. २ की समान मात्रा में अच्छी तरह मिला लेते हैं, तत्पश्चात् सूर्य गायत्री मंत्र से हवन करते हैं। 'कॉमन हवन सामग्री नं. १' में निम्नलिखित चीजें समान मात्रा में मिलाई जाती हैं- १. अगर २. तगर ३. देवदार ४. लाल चंदन ५. सफेद चंदन ६. अश्वगंधा ७. गुग्गुल ८. लौंग ९. जायफल और १०. गिलोय। इन सभी चीजों का जौकुट पाउडर पहले से तैयार कर लेते हैं। हवन करने का मंत्र इस प्रकार है- **''ॐ भूर्भुवः स्वः भास्कराय विद्महे, दिवाकराय धीमहि। तन्नः सूर्यः प्रचोदयात्।''**

उक्त सूर्य गायत्री मंत्र का सस्वर उच्चारण करते हुए मंत्र के अंत में **''स्वाहाः इदं सूर्याय इदम् न मम''** बोलते हुए कम-से-कम चौबीस आहुतियाँ नित्य देनी चाहिए।

हवन करने के साथ ही उपर्युक्त ३७ चीजें जो पक्षाघात की विशिष्ट हवन सामग्री नं. २ में प्रयुक्त की गई हैं, उन सभी की सम्मिश्रित कुछ मात्रा लेकर अधिक बारीक कूट-पीसकर एक अलग पात्र में रख लेना चाहिए। इसी पाउडर में से प्रतिदिन ४० ग्राम (आठ चम्मच) पाउडर लेकर रात्रि को ७५० मिली लीटर (तीन पाव) पानी में स्टील के एक भगोने में भिगो देना चाहिए। सुबह इसी को बर्नर या चूल्हे पर चढ़ाकर मंद आँच में क्वाथ बनाना चाहिए। जब पानी उबलकर चौथाई रह जाए, तो उतारकर ठंढा होने पर बारीक कपड़े से छान लेना चाहिए। तैयार क्वाथ की. आधी मात्रा सुबह एवं आधी मात्रा शाम को पक्षाघात पीड़ित व्यक्ति को नित्य-नियमित रूप से पिलाते रहना चाहिए। क्वाथ पिलाते समय उसमें एक चुटकी सोंठ चूर्ण या पिप्पली चूर्ण डाल देना चाहिए। कभी-कभी सप्ताह में एक बार चूर्ण के स्थान पर १० मिली एरंड तेल (कैस्टर ऑयल) मिलाकर पिलाना चाहिए। फेसियल पैरालिसिस अर्थात् चेहरे के लकवे या अर्दित से पीड़ित व्यक्ति के क्वाथ में उक्त चूर्ण के स्थान पर भुना जीरा १ ग्राम, सैंधा नमक २ ग्राम एवं घी से भुनी हुई हींग २५ मिग्रा., तीनों का महीन पिसा हुआ चूर्ण मिलाकर ऊपर से १० मिली. एरंड तेल मिलाकर तब पिलाना चाहिए। इससे अर्दित रोग जल्दी ठीक होता है।

यज्ञ चिकित्सा के साथ ही पक्षाघात पीड़ित अंग पर वातनाशक तेल की मालिश करनी चाहिए। आयुर्वेद चिकित्सा में अभ्यंग-मालिश के लिए माषादि तेल, महानारायण तेल, बला तेल, ज्योतिष्मती तेल, (मालकांगनी तेल) आदि प्रभावकारी बताए गए हैं, लेकिन यहाँ पर एक सर्वाधिक प्रभावी व बनाने में सरल पक्षाघातनाशक तेल की विधि बताई जा रही है, जिसे हर कोई आसानी से बना सकता है व सभी प्रकार के लकवे या पक्षाघात तथा वात दरद के अभिशाप से मुक्ति पा सकता है। तेल इस प्रकार बनाया जाता है-

१. आक के हरे पत्ते २. सेहुँड़ (थूहर) ३. काले धतूरे के हरे पत्ते ४. एरंड के हरे पत्ते ५. बकायन या निर्गुंडी के हरे पत्ते ६. सँभालू के हरे पत्ते ७. सहजने के पत्ते ८. भृंगराज के पत्ते ९. महुए के पत्ते १०. भाँग के पत्ते ११. सहदेई १२. असगंध के पत्ते १३. मालकांगनी के पत्ते या बीज। इन सभी को समभाग में लेकर कूट-पीसकर इनका रस निकाल लें। रस के वजन के बराबर मात्रा में काले तिल का तेल मिलाकर उसे एक कड़ाही में मंद आँच पर पकने दें। जब मात्र तेल बच रहे, तब ठंढा होने पर उसे छानकर बोतल में भर लें। पीड़ित अंग पर दो-तीन बार मालिश करते समय तेल में थोड़ा-सा पिप्पली एवं कालीमिरच का चूर्ण मिला लें। लकवा, फालिज एवं संधिवात आदि सभी वात व्याधियों में यह अतीव लाभकारी सिद्ध होता है।

*

हर तूफान के बाद मने एक उत्सव

संवेदना जब जीवन से झरती है, तो संदेश बनती है। यदि इसका उद्‌गम स्रोत अस्तित्व की गहराइयों में समाए सघन अहसास हैं, तो इससे दिल को छूने वाले काव्य के स्वर फूटते हैं। वे स्वर असंख्यों को प्रेरित-परिवर्तित करते हैं। ग्यारहवर्षीय मैटी स्टेपनेक इन दिनों ऐसी ही काव्य सृष्टि कर रहा है। मांसपेशियों की असाध्य बीमारी से उसका जीवन रस लगभग सूख चुका है, लेकिन जो कुछ भी थोड़ी-सी बूँदें बाकी हैं, उन्हें वह उदारतापूर्वक अपने काव्य स्वरों से बाँट रहा है। उसकी कविताएँ बेहद मर्मस्पर्शी हैं। पढ़ने वाले के निराशा भरे जीवन में बरबस आशा की किरणों का उजाला बिखेर देती हैं।

चिकित्सा विशेषज्ञ हैरान और हतप्रभ हैं इस मरणोन्मुख बालक की अदम्य जिजीविषा से। वे स्वयं भी उससे प्रेरणा पाते हैं। पिछले वर्ष ग्यारह सितंबर को अमेरिका में वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हुए हमले के बाद से अमेरिकन सुकून हासिल करने के लिए मैटी की कविताओं से अपने जीवन के लिए प्रेरणा व दिशा पा रहे हैं। मैटी स्टेपनेक की कविताओं का जीवन दर्शन है : जिंदगी में आए हर तूफान के बाद उत्सव मनाया जाए। वह इन दिनों अमेरिका में सबसे ज्यादा बिकने वाला लेखकों की सूची में शीर्ष पर है।

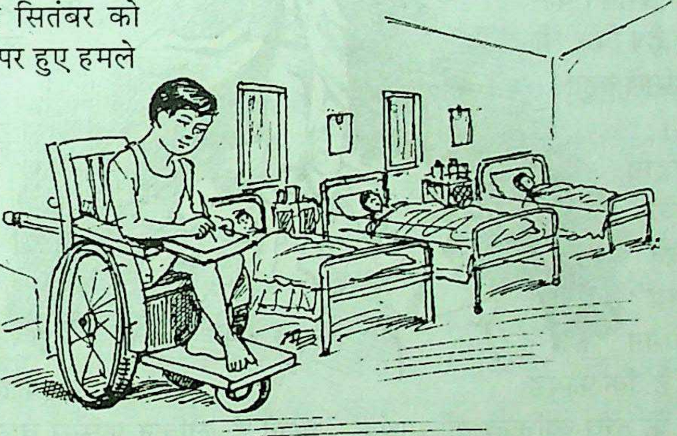

न्यूयार्क टाइम्स ने इस वर्ष की पिछली तीन फरवरी के पखवाड़े की बेस्टसेलर सूची में मैटी की किताब 'जर्नी थ्रू हार्ट सांग्स' को पहले स्थान पर रखा है। इस पुस्तक में मैटी की वे कविताएँ शामिल हैं, जो उसने बहुत कम उम्र में लिखी थीं। विख्यात प्रकाशकों के सुप्रसिद्ध न्यूजलेटर 'पब्लिशर वीकली' के चार्ल्स एबट का कहना है, अपने जीवन को असाध्य बीमारी के कारण लगभग खो चुका मैटी सबको भरपूर जीवन बाँट रहा है। उसका संदेश है कि भगवत्कृपा की सघन वृष्टि सब पर लगातार होती रहती है। बात सिर्फ उसे अनुभव करने की है। जीवन के प्रत्येक दुःख व दुर्घटना में भगवत्कृपा है। जब तुम्हें मालूम हो कि तुम्हारा सब कुछ छिन गया है, अब तुम्हारे पास न धन बचा है, न जीवन। तब ऐसे में प्रभु पर विश्वास करके अपने अस्तित्व को एक बार फिर विश्वासपूर्वक निहारो। तुम पाओगे कि तुम्हारे पास अभी बहुत कुछ है, जो खोया वह तो थोड़ा-सा था, जो मिला वह बहुत ज्यादा है। भगवत्कृपा से मिले इस अनोखे अनुदान में जीवन की मौलिकता है, नवसृजन की महक है।

पिछले साल जुलाई में मैटी वाशिंगटन के एक अस्पताल में जिंदगी और मौत के बीच संघर्ष कर रहा था। तब उसने अपनी माँ से अपनी कविताओं को छपवाने की इच्छा जाहिर की थी। इसके बाद एक स्थानीय प्रकाशक ने हार्ट सांग्स की २०० प्रतियाँ छापी थीं, लेकिन बाद में तो इस पुस्तक को एकाएक भारी प्रसिद्धि मिल गई।

मैटी के दो भाई व एक बहिन मांसपेशियों की इसी असाध्य बीमारी से मर चुके हैं। उसकी माँ जेनी को ३० वर्ष की उम्र के आस-पास से यह बीमारी है। वह व्हील चेयर के सहारे ही चल पाती है। लेकिन माँ-बेटे दोनों ही अपने जीवन के कष्टों को भगवान का वरदान मानते हैं। मैटी का कहना है कि जब मैं अपनी माँ को कंप्यूटर पर काम करते हुए देखता, तो उनसे कहता मैं बोलता जाता हूँ, आप उसे लिखती जाएँ। बाद में माँ ने बताया कि यह तो कविता है। तब मन में आया, काश इसे औरों में बाँटा जा सके और बस प्रभु ने वैसी व्यवस्था भी जुटा दी।

उसकी कविता 'फ्यूचर इको' में उसकी जीवन संवेदना बड़ी मार्मिक रीति से उभरी है। इसमें उसने कहा है कि एक दिन ऐसा आएगा, जब वह बिल्कुल चल नहीं सकेगा, लेकिन ये भी उसके प्रभु प्रेम के क्षण होंगे। इन दिनों यही स्थिति है। वह अब केवल व्हील चेयर से जुड़े वेंटीलेटर के सहारे ही साँस ले सकता है। इसके बगैर वह एक पल जिंदा नहीं रह सकता। इन पंक्तियों के प्रकाशित होने तक हो सकता है वह न रह पाए, लेकिन उसका जीवन संदेश सदा-सदा मानव जीवन को सुरभित-सुगंधित करता रहेगा। प्रत्येक परिस्थिति में भगवत्कृपा की अनुभूति करने के लिए प्रेरित करता रहेगा। ✸

अहंता की गाँठ खुले तो आत्मबोध हो

व्यक्तित्व की व्याधियाँ इन दिनों बेतहाशा बढ़ी हैं। अनजाने ही आदमी इनके चक्रव्यूह में उलझकर रह गया है। कुंठा, निराशा, हताशा, अवसाद, चिंता, तनाव आदि के अनेकों कुचक्र उसे घेरे हुए हैं। इनमें से किसी एक से जैसे-तैसे यदि वह निकल पाया, तो अनायास ही दूसरे में फँस जाता है। कारण अनेकों होते हैं, पर परिणाम मनस्ताप के रूप में सामने आता है। मानसिक और भावनात्मक पीड़ा की छटपटाहट उसे घेर लेती है। व्यक्तित्व की अनेकों व्याधियाँ उसे व्याकुल कर देती हैं। इनसे छुटकारा पाने की कोशिशें कम नहीं हुईं। मनोविज्ञान का समूचा सरंजाम इसी के लिए जन्मा और जुटाया गया है। इसके सभी सिद्धांतों के प्रणयन का एकमात्र मकसद यही रहा है। फिर भी आज के दौर में प्रचलित कोशिशें बहुत ही अपर्याप्त साबित हुई हैं।

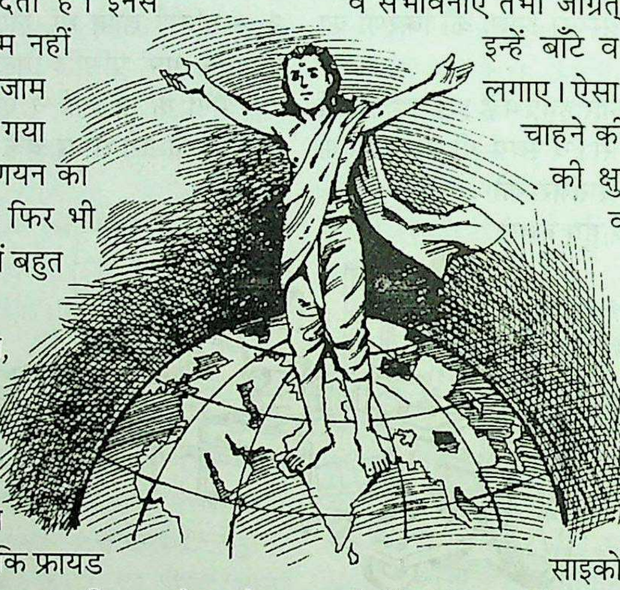

फ्रायड के सिद्धांत, मनोविश्लेषण की तकनीकें, आज के युग में कारगर साबित नहीं हो पा रही हैं। इस विषय में लगातार शोध-अनुसंधान करने वाले विशेषज्ञों का मत है कि फ्रायड के ईड, ईगो एवं सुपर ईगो के तत्त्व व्यक्तित्व की सार्थक एवं समग्र व्याख्या करने में अक्षम हैं। ऐसे ही एक अनुसंधान विज्ञानी नोना कॉक्सहेड का कहना है कि किसी भी तत्त्व की विकृति को समझने व उसका निदान खोजने के पहले उसकी सही प्रकृति एवं क्रियाविधि को जानना जरूरी है। समूची प्रकृति को सही ढंग से समझे बगैर उसकी विकृति के स्वरूप एवं कारणों की खोज नहीं की जा सकती और विकृति के मूल कारण को खोजे बिना भला उसका निदान किस तरह संभव है, इसलिए यदि मनुष्य के व्यक्तित्व को व्याधिमुक्त करना है, तो उसकी प्रकृति की सही ढंग से पहचान करनी होगी।

मनोविज्ञानी ह्यूस्टन स्मिथ इस पहचान का पहला तत्त्व बताते हुए कहते हैं कि मानव व्यक्तित्व विराट् है। उसके इस विराट् स्वरूप को क्षुद्रता व संकीर्णता में कैद करने की कोशिश ही व्याधियों का कारण है। स्मिथ का कहना है, जीवन में क्षुद्रताएँ व संकीर्णताएँ जितनी ज्यादा बढ़ती हैं, व्यक्तित्व उतना ही ज्यादा व्याधिग्रस्त होता है। स्मिथ के अनुसार इस क्रम में दूसरा तत्त्व है दिए जाने की प्रवृत्ति। उनका मानना है, मानव में अनंत शक्तियाँ व असीमित संभावनाएँ हैं। वह अपनी इन शक्तियों व संभावनाओं से धरती व जीवन के सौंदर्य में लगातार अभिवृद्धि करने के लिए जन्मा है, लेकिन उसकी ये शक्तियाँ व संभावनाएँ तभी जाग्रत् व विकसित होंगी, जब वह इन्हें बाँटे व बिखेरे, इन्हें लोक हित में लगाए। ऐसा न करके जब वह माँगने की, चाहने की, कामनाओं के वशीभूत होने की क्षुद्रता अपना लेता है, तो वह व्याधिग्रस्त हो जाता है।

सुविख्यात मनीषी फ्रांसेस वान के अनुसार 'ट्रांसपर्सनल साइकोलॉजी' इसी उद्देश्य के लिए किया गया एक वैज्ञानिक प्रयास है। कई विशेषज्ञ इसे बिहैवियरज्मि एवं ह्यमेनिस्टिक साइकोलॉजी का अति विकसित रूप मानते हैं, लेकिन फ्रांसेस वान ने इसके यथार्थ को बहुत ही सुंदर रीति से समझाया है। उनका कहना है, 'ट्रांसपर्सनल' का शाब्दिक अर्थ है—वैयक्तिकता से परे। वान का कहना है कि व्यक्तित्व को अहंता से आबद्ध किए जाने का सामान्य प्रचलन है। ट्रांसपर्सनल साइकोलॉजी की रीति इस सामान्य प्रचलन से काफी अलग है। इसका विश्वास अहंता की गाँठ को खोलकर मानवीय व्यक्तित्व को सभी संकीर्णताओं और सीमाओं से मुक्त करने में है।

मानव चेतना के मर्मज्ञ मनीषी, वान अपने निष्कर्षों में गोस्वामी तुलसीदास जी से काफी कुछ साम्य रखते हैं। गोस्वामी जी इस अहंता की ग्रंथि के बारे में कहते हैं, 'जदपि मृषा छूटति कठिनाई' अर्थात् यह गाँठ है तो एकदम झूठी, फिर भी यह छूटती बड़ी मुश्किल से है। वान भी यही कहते हैं। उनका कहना है कि अहंता का वास्तविक

अस्तित्व नहीं है, फिर भी इसका बोध मनुष्य को घेरे हुए है। यह मिथ्या बोध ही अहंता की ग्रंथि है। यही व्यक्तित्व की समस्त व्याधियों का मूल है, मानवीय संपूर्णता की सभी संभावनाओं की अभिव्यक्ति भारी अवरोध है। इस अवरोध को हटा देने पर मनुष्य सहज ही अपने विराट् स्वरूप की अनुभूति कर सकता है। अपने में समाई समस्त संभावनाओं एवं शक्तियों को जान सकता है और उनका सार्थक उपयोग कर सकता है।

इन अर्थों में 'ट्रांसपर्सनल साइकोलॉजी' के सिद्धांत, प्रयोग, तकनीकें एवं निष्कर्ष केवल मनुष्य के व्यक्तित्व को व्याधिमुक्त करने तक सीमित नहीं हैं। यह तो उनका पहला कदम भर है। अपने अगले कदम में यह मानवीय व्यक्तित्व की विराटता में समाई अनंत संभावनाओं एवं असीमित शक्तियों को उजागर करने की प्रणाली है। इसके सिद्धांत इस सत्य का ज्ञान कराते हैं कि मानवीय संबंधों के सूत्र, आपस में एक दूसरे से यहाँ तक कि प्राकृतिक परिवेश एवं वातावरण से जुड़े हुए हैं। यहाँ तक कि अस्तित्व की गहराइयों में ये सभी आपस में गुँथे हुए हैं, सघन रूप से एक हैं। इसलिए जब कभी मनुष्य को व्याधिमुक्त करने की बात होती है, तो वैश्विक, सामाजिक एवं पर्यावरणीय परिदृश्य को भी व्याधिमुक्त करने के प्रयास भी स्पष्ट होते हैं।

कई विचारशील जन ट्रांसपर्सनल मनोविज्ञान के सिद्धांतों में धार्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वों का आरोपण करते हैं। इनमें पारस्परिक साम्य व सामंजस्य बिठाने की कोशिश करते हैं। फ्रांसेस वान को यह स्थिति स्वीकार नहीं है। उनका कहना है कि धार्मिक व दार्शनिक तत्त्व चिंतन के प्रचलित स्वरूप में प्रायोगिक वैज्ञानिकता का कोई स्थान नहीं है, जबकि ट्रांसपर्सनल मनोविज्ञान का सारा ढाँचा वैज्ञानिक प्रयोगों पर टिका है। वान के अनुसार यह भारी फर्क है। एक तरफ़ सिर्फ श्रद्धा व आस्था है, तो दूसरी ओर तर्क एवं प्रयोग। वान को इन दोनों के मिलन का कोई बिंदु नजर नहीं आता। फ्रांसेस वान अपने स्थान पर सही हैं, क्योंकि उनका परिचय केवल बाइबिल के पृष्ठों तक रहा है। वैदिक ज्ञान, उपनिषद् एवं योग के प्रयोगों से वह अपरिचित हैं।

यदि ऋषियों की अनुसंधान साधना से वह परिचित होते, तो वे अपने प्रयोगों को और भी अधिक सराहनीय एवं समग्र बना सकते हैं, लेकिन फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ट्रांसपर्सनल साइकोलॉजी पश्चिम की विज्ञान साधना एवं ऋषियों के आध्यात्मिक प्रयोगों के बीच एक सुदृढ़ सेतु हो सकती है। ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान में इसके प्रायोगिक स्वरूप को विकसित करने की कोशिश इन दिनों की जा रही है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय के आचार्यगण भी इसमें महत्त्वपूर्ण सहयोग कर रहे हैं। मानवीय व्यक्तित्व को व्याधिमुक्त करने के लिए ट्रांसपर्सनल साइकोलॉजी एवं अध्यात्म विज्ञान की तकनीकों की समन्वित प्रयोग विधियाँ विकसित की गई हैं।

वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के अध्ययन क्षेत्र में यह एक नई तकनीक है। इसमें व्यक्तित्व की व्याधि के मूल कारण को खोजने के साथ उसको हटाने व मिटाने के लिए अध्यात्म साधना की कोई उपयुक्त विधि निर्देशित की जाती है। इस प्रयोग विधि से होने वाले परिणामों की जाँच-परख ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के वैज्ञानिक उपकरणों के साथ स्टैंडर्ड मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के द्वारा की जाती है। इससे मिलने वाले आँकड़ों की सांख्यकीय गणना से वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के प्रायोगिक निष्कर्ष उजागर होते हैं। इस तकनीक में जीवन शैली पर विशेष ध्यान दिया गया है, क्योंकि व्यक्तित्व को व्याधिग्रस्त करने का यथार्थ कारण इसी का कोई-न-कोई बिंदु है। इस कारण को मिटाने के लिए इसमें अपेक्षित बदलाव जरूरी है।

> *पूजा-पाठ, योग-ध्यान अथवा व्यक्तिगत मोक्ष-मुक्ति के लिए साधना करते रहना ही 'अध्यात्म' नहीं है। सच्चा अध्यात्म है — अपने सारे गुणों, सारी उपलब्धियों और सारी संपदा को समाज-हित पर निछावर कर देना।*

व्यक्तित्व को व्याधिमुक्त करने वाले ये प्रयोग अभी प्रारंभिक दशा में हैं, फिर भी कुछ प्रयोगों के जो निष्कर्ष सामने आए हैं, वे अति उत्साहवर्द्धक हैं। जिज्ञासु इन्हें अखण्ड ज्योति के पृष्ठों पर पढ़ेंगे। इन निष्कर्षों से जहाँ अध्यात्म विद्या की समर्थता प्रकट होती है, वहीं यह सत्य भी प्रकट होता है कि देश व विश्व के जन-जन को इनसे लाभान्वित करने के लिए इनमें आधुनिक विज्ञान की तकनीकों का समावेश जरूरी है। निष्कर्षों के वैज्ञानिक आकलन की दृष्टि से भी यह अनिवार्य है। अभी तक के निष्कर्ष यही प्रमाणित करते हैं कि अहंता की सूक्ष्मताओं से परिचित होकर हमें इससे छुटकारा पाने का साहस जुटाना ही होगा। ट्रांसपर्सनल साइकोलॉजी भी इसी ऋषि चिंतन की ओर संकेत करती है। ▲

शोध-निष्कर्ष

चिंता व तनाव मुक्ति हेतु प्रणव मंत्र का जप

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की अनुसंधान प्रक्रिया में नए आयाम उद्घाटित हो रहे हैं। यहाँ संचालित होने वाले प्रत्येक प्रयोग से आध्यात्मिक साधनाओं की वैज्ञानिकता प्रकट हो रही है। अध्यात्म विद्या के वैज्ञानिक निष्कर्ष स्पष्ट हो रहे हैं। अभी पिछले दिनों एक प्रयोग अध्यात्म विद्या के सारतत्त्व 'ओम्' पर किया गया। इस प्रयोग परियोजना का विषय था, An Investigation to study the effect of pranav (om) Jap on anxiety and stress levels of Individuals. अर्थात् प्रणव या ओम् के जप का व्यक्तियों के चिंता एवं तनाव के स्तर पर प्रभाव की जाँच। शोध कार्य की इस लघु परियोजना से ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की प्रयोगशाला के शोधकर्मियों की उद्देश्य निष्ठा एवं उनके कार्य की सार्थकता एक बार फिर प्रकाश-पुंज बनकर प्रकट हुई।

अध्यात्मवेत्ताओं और अध्यात्मशास्त्रों ने पग-पग पर ओम् की महिमा के गीत गाए हैं। शास्त्रकारों ने ओम् को प्रणव भी कहा है। लोमश ऋषि ने महामृत्युंजय स्तोत्र में कहा है, *'त्वमोङ्कारोऽसि वेदानां देवानां च सदा शिवः'* यानि कि प्रभु तुम्हीं वेदों में ओंकार और देवों में सदाशिव हो। विष्णु सहस्रनाम में इसे वैकुंठ पुरुष विष्णु का प्राण बताते हुए कहा है, *'वैकुंठः पुरुषः प्राणः प्राणदः प्रणवः पृथुः।'* सप्तशती में समस्त देवगण माता आदि शक्ति की ओंकार से एकात्मकता अनुभव करते हुए प्रार्थना करते हैं, *'शब्दात्मिका सुविमलर्ग्युजुषां निधानमुद्गीथ रम्य पदपाठवतां च साम्नाम्'*

अध्यात्म साधना करने वाले अनुभव करते हैं कि निश्चल प्रकृति में सृष्टि निमित्त जो क्षोभ की ध्वनि है, वही प्रणव नाद है। आचार्य शंकर एवं उनके दादा गुरुदेव गौड़पादाचार्य ने अपनी इन्हीं साधनात्मक अनुभूतियों को आधार बनाकर ओंकार पर विशद भाष्य लिखा है। ध्यान बिंदु उपनिषद् में कहा गया है, 'यही आदि शब्द है, जो नाद अथवा ध्यान में निहित है। यह सभी वेदों का सार तत्त्व व सृष्टि के विकास का सूत्र है।' सभी विरोधों का इससे समाहार व शमन होता है। आचार्यगण कहते हैं, *'तत् प्रत्यक्चेतना अधिगमः अपि अन्तराय अभावश्च'* अर्थात् ओम् से सभी अंतराय यानि कि चित्त के विक्षेप दूर होते हैं। यह सभी मंत्रों का सेतु है। सभी वैदिक मंत्र इसी से प्रारंभ होते हैं। वैदिक वाङ्मय में तो मुनित्व की व्याख्या भी ओम् से संबद्ध है, *'ओंकारो विदितो चे न मुनिर्नेन्तरो जनः।'*

गायत्री महामंत्र में सबसे प्रथम स्थान इसी का है, बाद में व्याहृतियाँ एवं मूल मंत्र है। महामृत्युंजय मंत्र में भी यही सर्वप्रथम है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसे अक्षर ब्रह्म कहा गया है। योग सूत्रकार महर्षि पतंजलि ने 'तस्य वाचकः प्रणव' कहकर इसे ईश्वर का वाचक बताया है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन है, *'ओऽमित्य चः प्रतिगर एवं तथैति गाथा या ओमिति वैदेव तथेति मानुषम्।'* यजुर्वेद की माध्यंदिन शाखा में सर्वप्रथम प्रणव का उल्लेख किया है। कृष्ण यजुर्वेद के संहिता भाग में इसकी महत्ता स्पष्ट की गई है। अथर्ववेद में इसे सेतु कहा है। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र *ॐ अग्निमीले* का प्रारंभ ओम् से और इसके आरण्यक का अंत इत्योम् से होता है। इसी प्रकार यजुः में *'ॐ इषेत्वीर्जेत्वा'* और अंत में *'ॐ खं ब्रह्म'* है।

उपनिषदों में तो न जाने कितनी बार कितने रूपों में इसकी मीमांसा की गई है। इससे यही समझा जाता है कि यह

विश्वात्मक व विश्वातीत दोनों है। अथर्वशिरा के अनुसार जो हृदय में नित्य रहता है, उसी को 'अ उ म' तीन मात्रा कहा जाता है। इसमें बताया गया है कि हृदय में स्थित पुरुष का उत्तर भाग ओंकार है और वही सर्वव्यापी अनादि, अनंत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और ब्रह्म है। वही रुद्र और महेश्वर है। अथर्वशिरा में इसका स्वरूप निर्दिष्ट है। इसके एक बार उच्चरित होने से मन के साथ सकल प्राणवायु षट्चक्र भेदकर सुषुम्ना से शिरोदेश में उठती है। योग संहिताओं में भी इसके जप के महत्त्व को दर्शाया गया है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की लघु शोध परियोजना में 'ओम्' के इस शास्त्रीय महत्त्व को वैज्ञानिक प्रयोग के द्वारा परखा गया है, इस प्रयोग में मैच ग्रुप डिजाइन एवं कंट्रोल ग्रुप डिजाइन का इस्तेमाल किया गया। मैच ग्रुप रिसर्च डिजाइन से प्रयोगात्मक समूह पर होने वाले प्रभावों की प्रामाणिकता नियंत्रण समूह से तुलना करके जाँच की जाती है। इन दोनों में सदस्यों की संख्या समान होती है। इन रिसर्च डिजायनों के अनुरूप देव संस्कृति महाविद्यालय के २० से ३० आयुवर्ग के १२ छात्रों का प्रयोगात्मक अध्ययन के लिए चुनाव किया गया। इनमें से ६ छात्र प्रयोगात्मक समूह में रहे व ६ छात्र कंट्रोल ग्रुप या नियंत्रण समूह में रखे गए।

ओम् की जप-साधना प्रारंभ करने से पहले इन सभी छात्रों की चिंता व तनाव का परीक्षण स्टैंडर्ड मनोवैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा किया गया। इस पहले परीक्षण के बाद कंट्रोल ग्रुप के लोग अपनी सामान्य दिनचर्या शांतिकुंज परिसर में रहकर बिताते रहे, जबकि प्रयोगात्मक समूह के लोगों ने अपनी ओम् जप की २० दिवसीय साधना प्रारंभ की। साधना कराने के लिए मार्गदर्शन का दायित्व योगविभाग के आचार्यगणों ने वहन किया। इसके लिए सारे प्रयोग-परीक्षण ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की प्रयोगशाला में यहाँ के शोधकर्मियों के द्वारा संपन्न किए गए।

महीने की पाँच तारीख के प्रथम परीक्षण के बाद प्रयोगात्मक समूह के व्यक्ति एक स्थान पर समूह में बैठकर प्रतिदिन एक घंटे की ओम् जप साधना करते रहे। इस जप साधना के अतिरिक्त उनके सभी बाकी क्रियाकलाप कंट्रोल ग्रुप के व्यक्तियों की ही भाँति रहे। महीने की २५ तारीख को यानि कि साधना के बीस दिन हो जाने पर चिंता एवं तनाव का दूसरा मनोवैज्ञानिक परीक्षण किया गया। इस दूसरे परीक्षण से प्राप्त आँकड़ों का वैज्ञानिक विधि से सांख्यकीय आकलन किया गया। इसके निष्कर्षों से यह पता चला कि ओम् जप साधना से प्रत्येक व्यक्ति की चिंता व तनाव के स्तर में भारी कमी आती है। इस सांख्यकीय गणना व निष्कर्षों का प्रारूप कुछ इस तरह रहा-

चिंता स्तर

	Mean	SD	N	df
Control Group	11.2	3.55	6	5
Experimental Group	3.5	2.94	6	5

t value = 4.1

तनाव स्तर

	Mean	SD	N	df
Control Group	10.83	1.37	6	5
Experimental Group	5.66	3.27	6	5

t value = 3.57

इन दोनों में ही .०१ Level की महत्ता प्रदर्शित हुई।

सामान्य पाठकों के लिए इस सांख्यकीय गणना का सार इतना ही है कि चिंता स्तर के साधना के बाद परीक्षण में कंट्रोल ग्रुप की चिंता का औसत ११.२ था। वही प्रयोगात्मक समूह के लोगों की चिंता का मध्यमान या औसत ३.५ रहा। इसी आधार पर इनका मानक विचलन क्रमशः ३.५५ एवं २.९४ रहा। इसमें N नंबर या संख्या का द्योतक है। जो दोनों में बराबर ६ व ६ थी। यहाँ df का अर्थ डिग्री ऑफ फ्रीडम या स्वतंत्रता का अंश है, जो ५-५ थे। इसकी प्रयोगात्मक महत्ता को देखने के लिए सांख्यकीय का टी टेस्ट लगाया गया। जिसका मूल्य ४.१ आया। जो प्रयोगात्मक परिणामों की महत्ता के .०१ लेवल को दर्शाता है। इसका साधारण मतलब यही है कि ओम् जप की साधना से १०० में से ९९ लोगों को या १०० में ९९ बार चिंता में फायदा होता है।

लगभग यही स्वरूप तनाव के स्तर में प्रदर्शित हुआ। इसमें कंट्रोल ग्रुप व प्रयोगात्मक समूह का मध्यमान व मानव विचलन क्रमशः १०.८३, ५.६६ व १.३७, ३.२७ रहा। दोनों में संख्या बराबर ६-६ थी। स्वतंत्रता के अंश दोनों में ५-५ थे। टी टेस्ट के द्वारा इसका मूल्य ३.५७ निकला। टी के इस मूल्य से भी सांख्यकीय तालिका के अनुसार प्रयोगात्मक परिणामों की महत्ता .०१ लेवल की प्रदर्शित होती है। इसका साधारण मतलब यही है कि ओम् जप की साधना से १०० में से ९९ लोगों का या १०० में से ९९ बार तनाव में फायदा होता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से ये निष्कर्ष काफी प्रभावकारी परिणाम दर्शाते हैं। इन निष्कर्षों से यह पता चलता है कि ओम् के जप से शास्त्रकथन के अनुसार जहाँ आध्यात्मिक विभूतियाँ जीवन में प्रकट होती हैं, वहीं इसके जप से सामान्य जन अपनी चिंता व तनाव में भारी लाभ उठा सकते हैं। ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के ये शोध-निष्कर्ष प्रमाणित करते हैं कि चिंता व तनाव को दूर भगाने के लिए किसी मनोचिकित्सक के पास जाने या मनोव्याधि की ओषधि लेने की जरूरत नहीं है। इसके लिए थोड़ी-सी पर भावपूर्वक ओम् जप की साधना ही पर्याप्त है। ✷

गुरुपूर्णिमा विशेष—१

तंत्र का प्रयोग मात्र लोक सेवार्थ

अखण्ड ज्योति के पुराने पन्नों में परमपूज्य गुरुदेव के जीवन के नए रहस्य हैं। इनमें गुरुदेव के *'जन्म कर्म च मे दिव्यमेव'* की झलक है। उनकी सेवा-साधना का प्रकाश है। सन् १९४० ई. की अप्रैल और जून माह की अखण्ड ज्योति के पृष्ठों पर ऐसा ही एक रहस्यमय प्रसंग अंकित है। उन दिनों गुरुदेव ने 'आनंद प्रतिष्ठान' नाम की एक संस्था की स्थापना की थी। यह संस्था तंत्र विज्ञान की साधना-शिक्षण एवं इसकी विभूतियों व उपलब्धियों से लोक सेवा हेतु संकल्पित थी। महायोगी परमपूज्य गुरुदेव तंत्र विद्या के महान् आचार्य भी थे। अखण्ड ज्योति जून १९४० के ये पृष्ठ उनके इसी आचार्यत्व का प्रामाणिक दस्तावेज हैं।

व्यक्तिगत चर्चाओं में वह यदा-कदा तंत्र विद्या के कतिपय गोपनीय रहस्यों की ओर संकेत कर दिया करते थे। ऐसी ही एक चर्चा में उन्होंने यह भी बताया था कि उनके मार्गदर्शक ने उन्हें तंत्र विज्ञान के उन आयामों की शिक्षा दी है, जो आज लोक में दुर्लभ हैं। किसी युग में ब्रह्मर्षि विश्वामित्र द्वारा प्रवर्तित ये साधनाएँ कालांतर में लुप्त हो गईं। गुरुदेव की मार्गदर्शक सत्ता ने तंत्र विद्या का यह रहस्यमय विज्ञान ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की कारण सत्ता से प्राप्त किया। बाद में समय आने पर इसे अपने सुयोग्य शिष्य हम सबके गुरुदेव को सौंपा। अनेकों वर्षों की कठिन व कठोर साधनाओं के बाद वह इसमें पारंगत व प्रवीण हुए। अनेकानेक विद्याओं व साधनाओं में आचार्य होने के साथ वह तंत्र विज्ञान के भी सुप्रतिष्ठित आचार्य बने। आनंद प्रतिष्ठान में उनकी तंत्र विद्या का यही साधना-सत्य प्रकट हुआ।

यह आनंद प्रतिष्ठान उत्तर प्रदेश में आगरा शहर के फ्रीगंज मुहल्ले में स्थापित किया गया था। यह तंत्र विद्या की उपासना का केंद्र था। इसमें परमपूज्य गुरुदेव एवं उनके द्वारा प्रशिक्षित कुछ साधक तंत्र विज्ञान की दुरूह क्रियाएँ करके जो शक्ति प्राप्त करते, उसे जनहित में बाँट देते। गुरुदेव द्वारा प्रवर्तित तंत्र विद्या की इन साधनाओं व प्रक्रियाओं की सूक्ष्मता बहुत अधिक थी। तदनुसार उनका प्रभाव भी बहुत व्यापक व दीर्घकालिक होता था। इसकी गूढ़ क्रियाओं द्वारा उत्पन्न किए गए सूक्ष्म कंपन इतने शक्तिशाली होते थे कि हजारों मील दूर बैठे हुए आदमी पर भी उतना ही असर पड़ता, जितना कि पास बैठे हुए आदमी पर। इसका प्रभाव क्षण भर खेल दिखाकर ही समाप्त नहीं होता, बल्कि जिसके ऊपर उपचार किया जाता, उसके गुप्त मन में इतना गहरा उतर जाता कि उसके शरीर व मन में आश्चर्यजनक व चमत्कारी परिवर्तन हो जाते थे।

आनंद प्रतिष्ठान ने अपना ऐसा कार्यक्रम बनाया था कि कठिन साधना द्वारा प्राप्त शक्ति को पीड़ितों की सेवा में लगाया जाए और इसके बदले किसी भी गरीब-अमीर से कुछ भी न लिया जाए। अर्थात् लोगों के कष्टों को दूर करने का उपचार बिल्कुल मुफ्त में किया जाए। हाँ, लाभ होने पर यदि कोई बिना माँगे अपने मन से थोड़ा-बहुत कुछ दे दे, तो उसे संतोषपूर्वक साधकों के जीवन निर्वाह के लिए लिया जाए। यहाँ तंत्र विद्या द्वारा कठिन-से-कठिन शारीरिक रोग, मानसिक रोग, बुरी आदतों, संतान संबंधी चिंता, गृहकलह, बुरे दिन, अनिष्ट की आशंका, भूत बाधा, अशांति आदि का बड़ी आसानी से उपचार कर दिया जाता था। जिन लोगों को कोई ऐसा रोग होता, जिससे कि उसकी जिंदगी खतरे में पड़ने की संभावना हो जाती, ऐसे लोगों के उपचार को यहाँ वरीयता दी जाती थी।

परमपूज्य गुरुदेव ने अखण्ड ज्योति के पृष्ठों पर 'तंत्र विज्ञान की अद्भुत शक्ति, अपने कष्ट मिटाने में हमारी सेवा स्वीकार कीजिए'। शीर्षक से एक आमंत्रण लेख लिखा था। इसमें गुरुदेव ने लिखा, "शारीरिक रोगों की चिकित्सा के लिए अब यह नियम बना दिया गया है कि केवल वे ही रोगी पत्र व्यवहार करें, जिन्हें जीवन का खतरा है। साधारण छोटे-मोटे रोगों के लिए अपने यहाँ चिकित्सकों से इलाज करा लेना चाहिए।" असाध्य शारीरिक रोगों के अलावा स्मरण शक्ति की कमी, चिंता, उद्विग्नता, हीनता की भावना, बुरे कामों में प्रवृत्ति, क्रोध,

बुरी आदतें आदि मानसिक व्याधियों का यहाँ बड़ी सरलता से उपचार किया जाता था। इस प्रसंग में गुरुदेव ने बहुत ही स्पष्ट करते हुए लिखा, ''एक बात हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हम मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तंभन आदि पापपूर्ण क्रियाएँ किसी के पक्ष या विपक्ष में किसी भी दशा में नहीं करते। इसके लिए कोई सज्जन लिखा-पढ़ी नहीं करें। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि तेजी-मंदी का भाव, दड़ा, सट्टा, गढ़ा धन आदि हम नहीं बताते, इसलिए कोई महानुभाव इन कामों के लिए पूछने-ताछने का कष्ट न उठावें।''

आनंद प्रतिष्ठान का उद्देश्य तंत्र विज्ञान द्वारा विशुद्ध लोक सेवा का था। इसके द्वारा शारीरिक-मानसिक व बाहरी कष्टों से दुःखी-पीड़ित जनों को बचाने के लिए प्रयत्न किए जाते थे। यह प्रक्रिया पूरी तरह से वैज्ञानिक थी। इसके बारे में गुरुदेव ने लिखा भी, ''किसी अंधविश्वास, ढोंग, भ्रमजाल फैलाने से हमारा कोई संबंध नहीं है। स्पष्ट है कि जब हम किसी से कोई फीस नहीं लेते, रुपये नहीं ऐंठते, तो क्यों किसी को धोखे में डालेंगे और क्यों ढोंग फैलावेंगे।'' इस केंद्र की उपचार प्रक्रिया सभी के लिए सुलभ थी। बस इसके लिए बंद लिफाफे में अपनी परेशानी का विवरण भेजना होता था। इस प्रतिष्ठान में तंत्र विद्या से उपचार करने के लिए रोगी की चार चीजें आवश्यक समझी जाती थीं- १. रोग का कारण, वर्तमान स्थिति और रोगी के वर्तमान समय का पूरा परिचय, २. रोगी का फोटो (यह पाँच साल से अधिक पुराना न हो), ३. रोगी के शिखा स्थान (चोटी) के ११ बाल, ४. सफेद स्याही सोख (ब्लाटिंग पेपर) पर टपकाया हुआ रोगी के बायें अँगूठे में से एक बूँद खून। इन चार चीजों से उपचार में बड़ी आसानी हो जाती थी। साथ ही इसके परिणामों के बारे में सुनिश्चितता भी हो जाती। उपचार इन चारों के बिना भी होता था, पर उस स्थिति में देर लगने की संभावना बनी रहती थी।

विभिन्न रोगों के सार्थक, समर्थ व समग्र उपचार के अलावा यहाँ अध्यात्म विद्या व तंत्र विद्या की शिक्षा देने की व्यवस्था भी जुटाई गई थी। इस प्रशिक्षण क्रम में उन लोगों को प्रवेश दिया जाता था, जो अपनी आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हों अथवा दूसरों की चिकित्सा करने की तांत्रिक शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। इस शिक्षापद्धति में अलौकिक व गुप्त बातों को जानने की योग्यता का शिक्षण भी शामिल था। यह शिक्षा यहाँ बिल्कुल मुफ्त दी जाती थी। बस साधक को इस बात के लिए संकल्पित होना पड़ता था कि वह अपनी विद्या का उपयोग विशुद्ध रूप से परोपकार के लिए करेगा। गुरुदेव अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा ऐसे साधकों की भलीभाँति जाँच-परख किया करते थे। इस संबंध में उनका स्पष्ट कथन था, ''अपनी नीच वासनाओं की पूर्ति या अपना अनुचित स्वार्थ साधन करने के लिए इस विद्या का उपयोग करने वाले लोगों को हमारे द्वारा किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने की आशा न करनी चाहिए।''

रोगियों के उपचार एवं साधकों के प्रशिक्षण का सारा खरच गुरुदेव स्वयं करते थे। आनंद प्रतिष्ठान से बहुमूल्य रामबाण दवाएँ, रसायन, जड़ी-बूटियाँ, साधना यंत्र, कवच, रक्षा विधान आदि सब चीजें बिल्कुल मुफ्त भेजी जाती थीं। बस लाभार्थी को केवल डाक खरच वहन करना पड़ता था। इस अद्भुत केंद्र के द्वारा गुरुदेव ने वर्षों तक जनसेवा की। तंत्र विज्ञान की वैज्ञानिकता को खरा व प्रामाणिक साबित किया। असंख्य लोगों ने यहाँ से लाभ उठाया। अनेकों असाध्य रोगी यहाँ से संपर्क करके स्वस्थ हुए। बहुतों के जीवन में दुःख का कुहासा मिटा। अवसाद के बादलों के स्थान पर आनंद का सूर्योदय हुआ। कार्य की व्यस्ततावश उन्हें इस प्रतिष्ठान को बंद करना पड़ा, परंतु आज भी यह उनके जीवन की पुस्तक का स्वर्णिम अध्याय है, जिसकी आभा और प्रभा अभी भी वैसी ही प्रकाशित है।

◆

महिला संत राबिया अपने पूजा स्थल पर एक जल कलश रखती थी और एक जलता अंगारा। लोग इन पूजा-प्रतीकों का रहस्य पूछते, तो वे कहतीं, मैं अपनी आकांक्षाओं को पानी में डुबाना चाहती हूँ और अहंकार को जलाना चाहती हूँ, ताकि पतन के इन दोनों अवरोधों से पीछा छुड़ाकर प्रियतम तक पहुँच सकूँ।

किसी ने कहा, आप तो संत हैं, सिद्ध हैं, आप में अब दोष कहाँ रह गए, जिन्हें डुबाना-जलाना चाहती हैं। राबिया बोलीं, जिस दिन अपने आपको त्रुटिहीन मान लूँगी, उस दिन संत तो क्या, इंसान भी न रह जाऊँगी।

गुरुपूर्णिमा विशेष—२

गुरु और शिष्य का सच्चा मिलन

गुरुपूर्णिमा पर्व नजदीक था। वर्षा की हल्की फुहारों से प्रकृति रसमय हो रही थी। ग्रीष्म का आतप कब का वाष्प बनकर विलीन हो गया था। धरती की माटी में पड़े हुए बीज शायद अब अंकुरण की तैयारी में लग गए थे। बाहर के इस वातावरण का शिष्य-साधक के अंतःकरण से अद्‌भुत मेल था। साधक के अंतःकरण को भी गुरुकृपा की अमृतवृष्टि होने तक कठिन तप से तपना पड़ता है, लेकिन गुरुकृपा की हल्की फुहारें पड़ते ही उसकी समूची आंतरिक प्रकृति रसमय हो जाती है। साधना के बीज उसके अंतःकरण की उर्वर भूमि में अंकुरित होने की तैयारी करने लगते हैं। गुरुकृपा आध्यात्मिक जीवन के प्रत्येक रहस्य को खोलने वाली दिव्य शक्ति है, पर यह गुरुकृपा हो कैसे? इन महाप्रश्न की हलचलों को शायद अंतर्यामी परमपूज्य गुरुदेव ने अनुभव कर लिया। अखबार पढ़ते हुए वह हल्के से मुस्कराए और फिर से अखबार के पन्नों में अपनी नजर टिका दी। ये वर्ष १९८१ ई. के दिन थे। मार्च महीने की नवरात्रि से गुरुदेव ने ब्रह्मवर्चस के कार्यकर्त्ताओं को लेखन सिखाना शुरू किया था। सभी की बटी हुई पारियाँ थीं। एक समूह में तीन या चार लोग थे। प्रत्येक समूह के लोगों को अपनी पारी में गुरुदेव के पास जाना पड़ता था। हर एक समूह की सप्ताह में दो पारी होती थी। सब लोग पुस्तकालय में पढ़ते, उपयुक्त अंशों को खोजते और बाद में जैसा भी बन पड़ता, उसे लेखबद्ध करते। इस तरह लिखे गए लेखों को गुरुदेव सुना और सुधारा करते। उनकी टिप्पणियाँ बड़ी मार्मिक होती थीं। इस समूचे क्रम में महत्त्वपूर्ण लेख या लेखन नहीं था, महत्त्वपूर्ण होता था उन्हें सुनना, विभिन्न विषयों पर उनके विचारों से परिचित होना।

यदा-कदा लेखों से हटकर भी वह कुछ बताया करते थे। ये क्षण बड़े ही अनुभूतिपूर्ण और दिल को छूने वाले होते थे। ऐसा एक बार नहीं, कई बार हुआ कि मन में उठ रहे प्रश्नों व उद्वेलनों को अंतर्यामी-कृपालु गुरुदेव ने जान लिया और उनका समाधान करते हुए अपने जीवन के कुछ संस्मरण कह सुनाए। आज भी उन्होंने हाथ के अखबार को सोफे के पास रखी हुई छोटी टेबल पर रखा। सोफे से उठे और धीमे किंतु दृढ़ कदमों से चलकर पास में पड़े हुए अपने तखतनुमा पलंग पर आकर बैठ गए। उनकी आँखों के करुणाजन्य आर्द्रता एवं तप की प्रखरता के बड़े ही अद्‌भुत स्वरूप की झलक थी। होठों पर प्रायः उपस्थित रहने वाला मधुर हास्य था। उनके समूचे मुखमंडल पर आज यही तेजस्विता और मधुरता विकीर्ण हो रही थी।

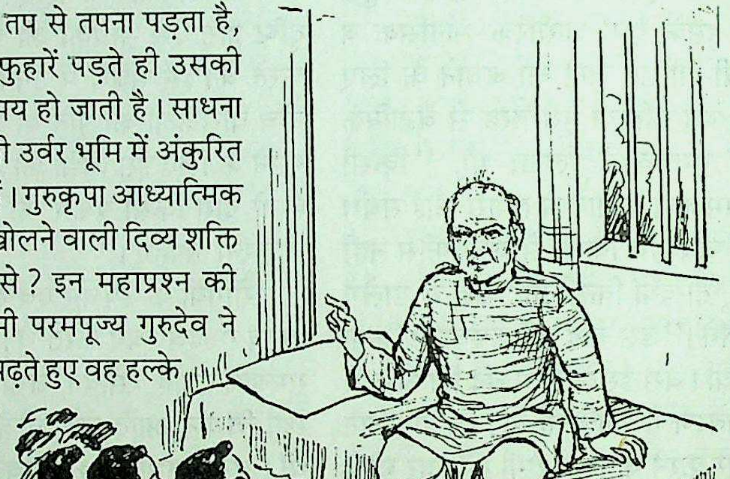

उन्होंने पलंग पर बैठते हुए अपने सामने टाट पर बैठे हुए लोगों से पूछा, क्यों लड़को, क्या सोच रहे हो तुम? सोचने वाला इस तरह पूछने पर एकदम अचकचा गया। उसे सूझा ही नहीं कि वह क्या कहे। बस मन में आया कि गुरुदेव स्वयं ही बता दें कि गुरुकृपा कैसे होती है? कैसे मिलती है? गुरु का प्रिय बनने के लिए क्या करना पड़ता है? ये सारे प्रश्न सोचने वाले के मन के दरवाजे पर सहमे-ठिठके खड़े थे। सभी एक साथ बाहर आना चाहते थे। सभी को अपने समाधान से मिलने की चाह थी, पर कोई भी प्रश्न इसके लिए हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था। एक-दूसरे की ठेल-पेल में सभी प्रश्न वहीं-के-वहीं रह गए, लेकिन मन में आपस में ही धक्का-मुक्की करते हुए प्रश्नों के इस हाल को गुरुदेव ने अनुभव कर लिया।

उनके होठों पर हल्की मुस्कान आ गई। वह कहने लगे, ''प्रकृति कभी किसी सत्पात्र को वंचित नहीं करती है। अब देखो धरती सूरज के तप में तपी, तो बरसात आ गई। जिंदगी में भी कुछ ऐसा ही है। तप से पात्रता मिलती है और पात्रता से अनुदान मिलते हैं।'' गुरुकृपा के लिए क्या करना पड़ता है? पूछने वाले ने गुरुदेव को प्रसन्न भाव से बोलते हुए देखकर हिम्मत जुटाई। शिष्य बनना पड़ता है। गुरुदेव बोले। अपने अंदर शिष्यत्व पनप गया हो, तो गुरुदेव अपने आप ही उसे ढूँढ़ते हुए आ जाते हैं। स्वयं न भी आए, तो ऐसे शिष्य को अपने पास बुला लेते हैं। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद से इसी तरह मिले थे। चाणक्य ने चंद्रगुप्त को उसके घर के पास जाकर ढूँढ़ लिया था।

फिर धीरे से बोले, ''बेटा, मेरे गुरु भी मुझे ढूँढ़ते हुए चलकर मेरे घर आए थे। इसके लिए मुझको बाहरी तौर पर कुछ भी नहीं करना पड़ा। बस जब से मैंने होश सँभाला, अपने अंतर्मन को भगवान की ओर, आदर्शों की ओर लगाता गया। मन को इस बात के लिए पक्का किया, संसार की वासनाओं, कामनाओं के पीछे नहीं भागना है। जिंदगी भगवान के लिए जीनी है। भगवान सब के मन की बात जानते हैं। उन्होंने मेरे मन की बात भी जान ली और अपने प्रतिनिधि के रूप में गुरु को मेरे पास भेज दिया। उन्होंने आते ही मेरे ऊपर कृपा उँड़ेल दी, तब से लेकर आज तक हर रोज-हर दिन उनकी कृपा की वर्षा थमने का नाम ही नहीं लेती। मैं लेते-लेते भले थक जाऊँ, पर वे देते-देते नहीं थकते।''

''इसके लिए आपको क्या करना पड़ा?'' पूछने वाले की भावनाओं में व्याकुल आतुरता थी। वह अंत:करण में शिष्यत्व को उपजाने वाले रहस्यमय ज्ञान को जान लेना चाहता था। गुरुदेव भी आज करुणा के साकार रूप बनकर शिष्यत्व का मर्म बताने के लिए तैयार थे। उन्होंने पूछने वाले की ओर गंभीर नजरों से देखा, फिर कहने लगे, ''मैंने गुरु को कभी भी भगवान से अलग नहीं जाना। मेरा गुरु ही मेरे लिए भगवान है। इस बात को मैंने केवल कहा और सोचा नहीं, बल्कि पल-पल, उम्र भर जिया। अपने गुरु की कृपा, सामर्थ्य एवं प्रेम पर इस तरह से विश्वास किया, जैसे कोई दुधमुँहा बच्चा अपनी माँ पर करता है। गुरु को ही अपना सब कुछ मान लिया। वही मेरे जीवन आधार बन गए।''

''बेटा, एक बात मैंने और की, मैंने अपने गुरु से कभी भी कुछ नहीं माँगा। उनके चरणों पर अपने को लुटाकर स्वयं को धन्य माना। जिस दिन से मुझे मेरे मार्गदर्शक मिले, उस दिन से मैंने अपनी चिंता छोड़ दी। अपना अतीत, वर्तमान और भविष्य सब कुछ उनके हाथों में सौंपकर निश्चिंत हो गया। मेरा कब क्या होगा? न कभी इसकी चिंता की, न परवाह की और न इसके लिए कभी परेशान हुआ। मन में सदा एक सरल विश्वास रहा—मेरे गुरुदेव, जो कुछ भी मेरे लिए आवश्यक समझेंगे, वह अपने आप ही कर देंगे। मुझे अलग से कुछ करने और सोचने की भला क्या जरूरत है? यदि मन में कभी कोई चाहत आई, तो वह यही थी कि मैं गुरुदेव की हर कसौटी पर खरा उतरूँ। उम्र भर उनका सच्चा शिष्य एवं सेवक बना रहूँ। मेरी यही भावनाएँ गुरुकृपा के लिए चुंबक बन गईं। गुरुकृपा के बादल चारों ओर से उमड़-घुमड़कर आते रहे और मेरे ऊपर बरसते रहे। धीरे-धीरे मेरा हृदय, मेरा अंत:करण मेरे गुरुदेव का घर बन गया।'' यह कहते हुए गुरुदेव थोड़े-से भावुक स्वर में बोले, ''अब तो बेटा स्थिति यह है कि मैं अपने में कहीं अपने को खोज ही नहीं पाता। मेरे गुरुदेव ही मेरे रोम-रोम, मन, प्राण, जीवन में समाए हैं। वही सब कुछ बन गए हैं। वही नियंता हैं, वही सूत्रधार हैं, वही संचालक हैं, जीवन में जो कुछ है, सो वही हैं।'' गुरुदेव के इन उद्गारों में उनकी प्रगाढ़ भावनाओं का उजाला था। एक अलौकिक चमक थी, जो बहुत ही साफ अनुभव हो रही थी।

कहते-कहते उनका स्वर बदल गया। इसमें वेदना की कसक उभर आई। वह गंभीर होकर बोले, ''बेटा, मैं भी तुम लोगों के लिए बहुत कुछ करना चाहता हूँ, पर चाहकर भी कुछ नहीं कर पाता, क्योंकि तुम सबने अपने द्वार-दरवाजे बंद कर रखे हैं। जिधर से घुसने की कोशिश करो, उधर ही अहं का पहरा नजर आता है। हर तरफ क्षुद्रताएँ एवं संकीर्णताएँ रास्ता घेरे हैं। जब कभी सूक्ष्म रूप से तुम लोगों की बातें सुनता हूँ, तो हल्केपन के सिवा कुछ नजर ही नहीं आता है। यदि तुम यह चाहते हो कि तुम्हारी जिंदगी में भी वैसे ही चमत्कार हों, जैसे कि मेरी जिंदगी में हुए, तो फिर शिष्य बनो। इस तरह पास बैठना, मिलना भी कोई पास होना या मिलना है। सच्चा मिलन तो वह है, जब शिष्य की अंतर्चेतना अपने गुरु की अंतर्चेतना से मिलती है। समर्पण, विसर्जन एवं विलय की अनुभूति पाती है, तब आती है जीवन में पूर्णता, तब पता चलता है गुरु पूर्णिमा का महत्त्व-मतलब।'' गुरुदेव के इन स्वरों में उनका शाश्वत प्राण है। इन्हें जीवन में विचार बनाकर नहीं, कर्म-कौशल बनाकर उतार पाए, तो ही समझें कि हमने इस गुरु पूर्णिमा में उन्हें भक्तिपूर्ण रीति से प्रणाम किया। गुरु पूर्णिमा का सच्चा मतलब समझा। ❖

गुरुपूर्णिमा विशेष—३

बंदउँ गुरुपद पदुम परागा

गुरुचरणों की भक्ति में तप-साधना की पूर्णता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी काव्य-व्यंजना में इसे तात्त्विक अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने रामचरित का गान करने से पहले सद्गुरु चरणों का चरित बखान किया है। उनकी कालजयी दैवी कृति श्रीरामचरितमानस के बालकांड के प्रारंभ में यह प्रकरण है, मंगलाचरण के सात श्लोकों व वंदना के चार दोहों के बाद गुरुचरणों की महिमा का गान है। कलेवर की दृष्टि से अत्यंत लघु होते हुए भी भक्ति-संवेदना की दृष्टि से यह प्रकरण महाविराट् है। इसमें सद्गुरु चरणों के स्वरूप का दर्शन है। इसका आध्यात्मिक तत्त्वचिंतन है। साथ ही इनकी भक्ति का साधना विज्ञान है। इसका गुरुभक्ति में लीन साधकों के लिए विशेष महत्त्व है।

इसके चिंतन, मनन, पाठ-पठन व निदिध्यासन से अनेकों को अपने गुरुदेव का संग-सुपास मिला है। उन्होंने दिव्य लोक में रह रहे अपने सद्गुरु की चेतना का संस्पर्श पाने में सफलता प्राप्त की। गोस्वामी जी के शब्दों का मांत्रिक महत्त्व है। इसकी गुणवत्ता तब शत-सहस्र गुणित हो जाती है, जब अंतर्चेतना में इसका अर्थ बोध समाहित हो जाए। गुरुचरण चरित के मंत्रद्रष्टा महाकवि तुलसी इसका प्रारंभ करते हुए कहते हैं-

बंदउँ गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर॥

मैं सद्गुरु के चरण कमल की वंदना करता हूँ। मेरे गुरुदेव कृपा के सागर और नर रूप में स्वयं नारायण हैं। उनके वचन महामोह के घने अँधेरे का नाश करने के लिए सूर्य किरणों के समूह हैं।

गोस्वामी जी की इन काव्य पंक्तियों में बड़ी स्पष्टोक्ति है कि सद्गुरु मनुष्य देहधारी होते हुए भी सामान्य मनुष्य नहीं हैं। वह नर रूप में नारायण हैं। जो उनके प्रति इसी गहरी श्रद्धा के साथ स्वयं को अर्पित करता है, उसे ही उनके वचनों से तत्त्व बोध होता है। उसके जीवन में सद्गुरु के वचन सूर्य की किरणों की तरह अवतरित होते हैं और महामोह के घने अँधेरे को पल भर में नष्ट कर डालते हैं। महाकवि आगे कहते हैं कि गुरुदेव भगवान के चरण ही नहीं, उनके चरणों की धूलि की भी भारी महत्ता है। वह उसकी भी वंदना करते हैं-

बंदउँ गुरुपद पदुम परागा।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिय मूरिमय चूरन चारू।
समन सकल भवरुज परिवारू॥
सुकृति सम्भु तन विमल विभूती।
मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकर मलहरनी।
किए तिलक गुन गन बस करनी॥

सद्गुरु के चरण कमलों की धूलि की मैं वंदना करता हूँ। गोस्वामी जी का कहना है कि यह चरणरज साधारण नहीं है। इसको श्रद्धाभाव से धारण किया जाए, तो इससे जीवन में कई तत्त्व प्रकट होते हैं। इनमें से पहला तत्त्व सुरुचि है। वर्तमान में हममें से प्रायः सभी कुरुचि से घिरे हैं। हमारी रुचियाँ मोह और इंद्रिय विषयों की ओर हैं। सुरुचि के जाग्रत् होते ही उच्चस्तरीय जीवन के प्रति जाग्रति होती है। दूसरा तत्त्व है सुवास। गुरु चरणों की धूलि का महत्त्व समझ में आते ही जीवन सुगंधित हो जाता है। वासनाओं व कामनाओं की मलिन, दूषित दुर्गंध हटने-मिटने लगती है। इसके साथ ही तीसरा तत्त्व प्रकट होता है

सरसता का, संवेदना का। निष्ठुरता विलीन होती है, संवेदना जाग्रत् होती है। इन सारे तत्त्वों के साथ विकसित होता है अनुराग, अपने गुरुदेव के प्रति। जीवन में गुरुभक्ति तरंगित होती है।

गुरुचरणों की यह धूलि अमरमूल या संजीवनी बूटी का चूर्ण है। इससे समस्त भवरोग अपने पूरे परिवार के साथ नष्ट हो जाते हैं। यह चरणरज महापुण्यरूपी शिव के शरीर पर शोभित होने वाली पवित्र विभूति है। इससे जीवन में सुंदर कल्याण और आनंद प्रकट होते हैं। यह गुरु चरणों की रज गुरु भक्तों के मनरूपी दर्पण के मैल को दूर करने वाली है। इसे धारण करने से सभी सद्गुण अपने आप ही वश में हो जाते हैं। गोस्वामी जी के इस कथन में काव्योक्ति तो है, पर अतिशयोक्ति जरा भी नहीं। सद्गुरु के चरणों से तप-तेज झरता है। उनकी चरण-धूलि धारण करने का अर्थ है कि हम गुरुदेव भगवान द्वारा बताई गई जीवन नीति के अनुगमन-अनुसरण के लिए प्रतिबद्ध हो गए हैं। इससे कुछ भी असंभव नहीं है। महाकवि आगे कहते हैं-

श्री गुरु पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥
दलन मोहतम सो सप्रकासू।
बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं विमल विलोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं रामचरित मनि मानिक।
गुपुत प्रगट जहं जो जेहि खानिक॥

सद्गुरु के चरण नखों की ज्योति मणियों के प्रकाश के समान हैं। इनके स्मरण से हृदय में दिव्य दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। गुरुदेव चरणों के स्मरण-ध्यान से साधना जगत् के महासत्य का बड़े ही सहज ढंग से साक्षात्कार हो जाता है। इससे हृदय में जो दिव्य दृष्टि उत्पन्न होती है, उससे साधक के जीवन में एक अपूर्व रूपांतरण होता है। जीवन का सारा अंधकार प्रकाश में परिवर्तित-रूपांतरित हो जाता है। बड़े भाग्यशाली होते हैं वे, जो इस रूपांतरण की अनुभूति प्राप्त करते हैं। सद्गुरु के चरणों का ध्यान जब हृदय में प्रगाढ़ होता है, तो हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते हैं। संसार की महारात्रि—कालरात्रि विलीन-विसर्जित हो जाती है। उसके दुःख-दोष भी मिट जाते हैं। हृदय के निर्मल नेत्रों के खुलने से ईश्वर तत्त्व का, रामचरित या परमात्मतत्त्व का बोध हो जाता है। इसमें जहाँ-जिस जगह मणि-माणिक के रत्न भंडार गुप्त पड़े हैं, सबके सब नजर आने लगते हैं। सद्गुरु चरणों की कृपा से उलझी जीवन की पहेली सुलझ जाती है। मानव जीवन का रहस्य उद्घाटित-उजागर हो जाता है। गुरुचरणों के ध्यान से उपजी दिव्यदृष्टि का प्रभाव बताते हुए गोस्वामी जी महाराज की काव्य पंक्तियाँ हैं-

जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूमि निधान॥
गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन अमिय दृग दोष विभंजन॥

गुरुचरणों की रज को यानि कि गुरुचरणों से निकल रही तप-तेज की किरणों का अपनी आँखों में अंजन लगाने से सारे दृष्टि दोष नष्ट हो जाते हैं। सामान्य क्रम में साधारण आँखों से सभी को सामान्य रूप से दिखता ही है। फिर भी प्रायः सभी की विवेक दृष्टि दूषित होती है। सत् और असत् का भेद समझ में नहीं आता। जीवन की सही राहें समझ नहीं आतीं। यह दृष्टिदोष सद्गुरु के चरणों की धूलि से अर्थात् उनके तप-कणों के प्रसाद से ही ठीक होता है और तब साधक को बड़ी ही अद्भुत दृष्टि का वरदान मिलता है।

गोस्वामी जी कहते हैं कि कुछ ऐसा होता है, जैसे साधक ने अपनी आँखों में सिद्धांजन लगा लिया हो। यह सिद्धांजन नाथ योगियों की तांत्रिक परंपरा में तैयार किया जाता है। यह एक तरह का आँखों में लगाया जाने वाला काजल है। इसे लगाने से पर्वत, वन और पृथ्वी में गड़े गुप्त खजाने साफ-साफ नजर आने लगते हैं। गुरु चरणों के तत्त्वद्रष्टा महाकवि तुलसी कहते हैं कि ठीक ऐसा ही होता है गुरु चरणों के झरने वाले तप-तेज को अपनी आँखों में लगा लेने पर। इससे ऐसी दिव्य दृष्टि का वरदान मिलता है कि संसार की ओट में छिपा हुआ ईश्वर तत्त्व बड़ा ही साफ नजर आने लगता है। मंत्रद्रष्टा महाकवि तुलसीदास जी महाराज के इस तत्त्वज्ञान का कथा सार अत्यंत सूक्ष्म किंतु बड़ा ही प्रभावशाली है। वह कहते हैं, गुरुभक्ति से, गुरुचरणों की ध्यान-साधना से गुरुभक्त साधक के जीवन में तप-साधना की प्रत्येक उपलब्धि सहज रूप में अवतरित हो जाती है। गुरुचरणों की कृपा से तत्त्वज्ञान, ब्रह्मतादात्म्य, ईश्वर कृपा सभी कुछ सुलभ हो जाती है। हममें से हर एक के लिए यह गुरुपूर्णिमा, गुरुचरणों की इसी कृपा की अनुभूति का पर्व है।

◆

गुरुपूर्णिमा विशेष—४

गुरुकृपा से ही सुन सकेंगे वह दिव्य संगीत

कार्तिक मास की पूर्णिमा थी। वातावरण में शीतल, सुरभित, समीर संव्याप्त था। हृदय की सुकोमल भावनाएँ यदा-कदा उसके स्पर्श से संवेदित हो जाती थीं। विचार तरंगें अनायास ही सामने लहरा रहे असीम विस्तार लिए महासागर की लहरों से होड़ करने में निमग्न थीं। यदा-कदा उनमें पल दो पल के लिए नीरवता, निस्तब्धता, निस्पंदता छा जाती, लेकिन अगले ही क्षण वे एक तेज उत्ताल उछाल गर्जन भरा हुंकार करने लगतीं। निरभ्र आकाश में चंद्रदेव अपने पूर्ण सौंदर्य एवं सज-धज के साथ तारक वृंदों से घिरे हुए विहार कर रहे थे। वे मानस की तरंगों एवं सागर की लहरों का सारा खेल बड़े ही मधुर अंदाज से देख रहे थे। दोनों की ही स्थिति के प्रेरक वही थे। इस सुविदित तथ्य को भला कौन नहीं जानता कि पूर्णिमा का चंद्रमा मनुष्य के मानस को और प्रकृति के सागर को उद्वेलित करता है।

इस सत्य से सुपरिचित वह सागर के तीर पर बैठा था। एक अंतर अभीप्सा उसे यहाँ तक खींच लाई थी। कुछ आकर्षण था इस पुण्य क्षेत्र का उसके मन में। कई कारणों ने उसके मन को उत्प्रेरित, आकर्षित किया था। इन कारणों में एक कारण था, शास्त्रों, सद्ग्रंथों, पुराणों व इतिवृत्त का गंभीर अध्ययन। स्थान-स्थान पर उसने महर्षि अगस्त्य एवं उनकी इस दिव्य तपोभूमि की चर्चा पढ़ी थी। महातेजस्वी महर्षि से जुड़ी अनेकों कथाएँ, अगणित किंवदंतियाँ प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में मुखरित एवं प्रचारित हैं। ऐसे महर्षि की तप:स्थली इस वेदपुरी को देखने की चाहत ने उसे यहाँ आने के लिए प्रेरित किया था।

एक अन्य कारण भी था, जिसका चुंबकत्व उसके मानसिक स्पंदनों में व्याप्त हुआ था। दिव्य जीवन के मंत्रद्रष्टा ऋषि अरविंद इस कारण के केंद्र थे। भारत देश के स्वातंत्र्य काल में उन्होंने पांडिचेरी नाम से परिचित प्रख्यात इस वेदपुरी नाम के स्थान में दिव्य जीवन के अतिमानसिक महामंत्र की साधना की थी। कुछ ग्रंथों में इस पुण्य क्षेत्र के बारे में कई किंवदंतियों का उल्लेख है। इन्हीं किंवदंतियों में एक बड़ी मधुर कथा है। ऋषि अगस्त्य की तप-साधना के बहुत काल बाद वेदपुरी परमात्मा के मंदिरों का नगर बन गया। बाद में किसी प्राकृतिक कारणवश इस नगर का अधिकांश भाग महासागर में डूब गया। कथा के आगे के अंश की कल्पना अति विचित्र है। कथाकार का कहना है कि उस सागर में डूबे उन मंदिरों की घंटियाँ आज भी बजती रहती हैं। केवल रातों के सन्नाटे में उन्हें सुना जा सकता है। कथाकार कहता है, शायद पानी के धक्के उन्हें बजा देते होंगे या फिर यहाँ-वहाँ भागती मछलियों से टकराकर वे बजती होंगी। जो भी हो किंवदंती यही कहती है, घंटियाँ आज भी बजती हैं और आज भी उनके मधुर संगीत को सागर के तट पर सन्नाटा भरी रात में बैठकर सुना जा सकता है।

उसके युवा मन में भी एक कुतूहल था। वह भी उस संगीत को सुनना चाहता था। पुस्तकों में छपी इस दंत-कथा को पढ़कर आज वह भी सागर के किनारे बैठा हुआ था। शाम से रात हो आई थी, किंतु यहाँ तो सागर का तुमुलनाद गूँज रहा था, लहरों के थपेड़े चट्टानों से टकराकर उस एकांत में अनंत गुना प्रतिध्वनित हो रहे थे। न तो वहाँ कोई संगीत था, न किन्हीं मंदिरों में बजती कोई घंटियाँ थीं। उसने सागर तट पर कान लगाकर बहुतेरा सुनने की कोशिश की, लेकिन वहाँ तो तट पर टूटती लहरों की ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ भी न था।

फिर भी कुछ हठवश, कुछ उत्सुकतावश वह रुका रहा। रुकने का एक अन्य कारण कार्तिक मास की पूर्णिमा की शुभ्र ज्योत्स्ना की सम्मोहक छटा भी थी। पूर्णिमा के

चाँद को जिसने सागर की लहरों पर ढेर-की-ढेर चाँदनी उँड़ेलते देखा है, वही इसकी सुकल्पना कर सकता है। बड़ी ही मधुर छटा होती है यह। चंद्रमा अपनी मंजुल कर किरणों से ढेर-की-ढेर चाँदनी लुटाता है और महासागर अपनी लहरों के अगणित हाथ पसारकर उसे सँजोता है। चंद्रमा की चंद्रिका वृष्टि को लहरों के हाथ उठा-उठाकर लपकने की यह क्रीड़ा बड़ी दर्शनीय और अवर्णनीय है। इसे निहारते हुए कब कितनी रात बीत गई, पता ही न चला।

फिर इस प्राकृतिक क्रीड़ा में उलझे हुए मन को व्यर्थ समय गँवाने का पछतावा हुआ। पश्चात्ताप के इन्हीं क्षणों में उस यात्री को अपने गुरुदेव स्मरण हो आए। उनके स्मरण से मन की चिंतन धारा उन्हीं के श्रीचरणों की ओर मुड़ चली। मन की लहरों, उसके स्पंदनों का संवेग थमने लगा। कुछ ऐसा ही जादू था इस भक्तिपूर्ण स्मरण में। आंदोलित, उद्वेलित, संवेगित मन—निस्पंद, नीरव, अचंचल होने लगा। अंतर की हलचलें शांत होते ही बाहर की हलचलों का श्रवण भी मंद पड़ गया। तभी अचानक कुछ ऐसा लगने लगा कि डूबे हुए मंदिरों की घंटियाँ बज रही हैं और उनका मधुर संगीत प्राणों को आंदोलित कर रहा है।

न जाने कैसी बात थी यह, पर थी और सच भी। उस संगीत को सुनकर अंतर्चेतना में अपूर्व जागरण हुआ। सारी थकान और खुमारी पता नहीं कहाँ गायब हो गई। निद्रा तो जैसे कहीं थी ही नहीं। लगा कि भीतर अब तक बहुत कुछ सोया हुआ था, लेकिन अब जाग रहा है। निरंतर बज रही घंटियों की सुमधुर ध्वनि देह को नहीं, चेतना को जगा रही है। अर्द्ध निशा के आस-पास यह बड़ी अटपटी प्रभाती वेला थी। इसे कोई कितना भी अविश्वसनीय कहे, काल्पनिक बताए, पर यह तो अनुभव किया हुआ सच है। प्राणों को संवेदित करने वाले इस संगीत से रोम-रोम निनादित हो उठा।

आसमान का चाँद कहीं अंदर उतर गया। प्राणों में, अस्तित्व के कण-कण में आलोक भर गया। बड़ी प्यारी अवस्था हो गई, न निद्रा, न अंधकार। अचानक यह न जाने कैसी आनंद वृष्टि हो गई। लगा कि पूरा अस्तित्व आनंद से घिरा है। सब ओर आनंदमय छटा छाई हुई है, ठीक भी है। जहाँ परमात्मा के मंदिर का संगीत है, वहाँ दुःख कहाँ? भावसमाधि जैसे इस अनुभव में रात्रि व्यतीत हो गई। समूचे यात्राकाल में इसकी मधुर गूँज बनी रही। यह सब गूँगे के गुड़ जैसा था। इसके अपरिमित स्वाद के विषय में, वाणी बताने में असमर्थ थी और मन सोचने, समझने में असहाय था।

बाद में गुरुचरणों की कृपा से पता चला, वे तो अनाहद के स्वर थे। प्रबोध देते हुए गुरुदेव ने कहा, ''प्राचीन वेदपुरी में परमात्मा के मंदिरों के सागर में डूबने की कथा पता नहीं कितनी सच है, कौन जाने। अगर यह कभी किसी काल का सत्य रहा भी हो, तो भी अब उसके डूबे हुए मंदिरों की घंटियों को सुनने-सुनाने की बात निरा दिवा स्वप्न है, एक काल्पनिक चेष्टा है। ऐसी उलझनों में उलझने से कोई फायदा नहीं है। रातभर जगकर घंटियों की आवाज को सुनने की मूर्खता में बैठे रहना बेकार है, अर्थहीन है। ऐसे प्रयास निरर्थक हैं।''

हाँ, यदि तुम उस सागर के किनारे चलना चाहते हो, जहाँ तुम्हें तुममें से प्रत्येक को परमात्मा के डूबे हुए मंदिर का संगीत सुनाई पड़ेगा। तो चलो, स्वयं के भीतर चलो। स्वयं हृदय ही वह सागर है और उसकी गहराइयों में परमात्मा के डूबे हुए मंदिरों का नगर है, लेकिन उसके मंदिरों का संगीत सुनने में केवल वे ही समर्थ होते हैं, जो सब भाँति शांत और शून्य हो पाते हैं। विचार और भावना का कोलाहल जहाँ है, वहाँ उसका संगीत कैसे सुनाई पड़ेगा? यह समस्त कोलाहल इधर-उधर भटकने से शांत हो जाने की बजाय थोड़ा ज्यादा ही बढ़ जाता है। कभी-कभी व्यर्थ के एकांत की तलाश में भटकने से इसके शांत होने की भ्रांति जरूर होती है, **पर यथार्थ में स्वयं को कुछ खास मानने का अहंकार ही बढ़ता है।**

संसार न माया है, न मिथ्या। वह भगवान का विराट् रूप है। उससे अलग होने पर किसी जीवित का निर्वाह नहीं।

हृदय सागर में डूबे हुए परमात्मा के मंदिरों के अति प्राकृतिक संगीत ध्वनि सुनने के लिए गुरुस्मरण, गुरु-निष्ठा चाहिए, क्योंकि यही गुरुकृपा के अवतरित होने का आधार है। सत्य-अनुभव के इस कथानक में नाम, रूप और स्थान के मिथ्या नामों की तलाश मत कीजिए, क्योंकि व्यक्ति कोई भी हो और स्थान कहीं भी हो, वह सब क्षणभंगुर है। शाश्वत तो भाव सत्य है, जो आपका अपना और निजी है। इसकी अनुभूति आप जब चाहें, जहाँ चाहें अपने हृदय-सागर के किनारे जीवन मास आत्मचंद्र की पूर्णिमा की ज्योत्सना की छाँव में बैठाकर कर सकते हैं।

❖

गुरुपूर्णिमा विशेष—५

आदि जिज्ञासा, शिष्य का प्रथम प्रश्न

गुरुपूर्णिमा के पुण्य पर्व पर प्रत्येक शिष्य सद्‌गुरु कृपा के लिए प्रार्थनाशील है। वह उस साधना विधि को पाना-अपनाना चाहता है, जिससे उसे अपने सद्‌गुरु की चेतना का संस्पर्श मिले। गुरुतत्त्व का बोध हो। जीवन के सभी लौकिक दायित्वों का पालन-निर्वहन करते हुए उसे गुरुदेव की कृपानुभूतियों का लाभ मिल पाए। शिष्यों-गुरुभक्तों की इन सभी चाहतों को पूरा करने के लिए प्राचीन ऋषियों ने गुरुगीता के पाठ, अर्थ-चिंतन, मनन व निदिध्यासन को समर्थ साधना विधि के रूप में बताया था। इस गुरुगीता का उपदेश कैलाश शिखर पर भगवान सदाशिव ने माता पार्वती को दिया था। बाद में यह गुरुगीता नैमिषारण्य के तीर्थस्थल में सूत जी ने ऋषिगणों को सुनाई। भगवान व्यास ने स्कंद पुराण के उत्तराखण्ड में इस प्रसंग का बड़ी भावपूर्ण रीति से वर्णन किया है।

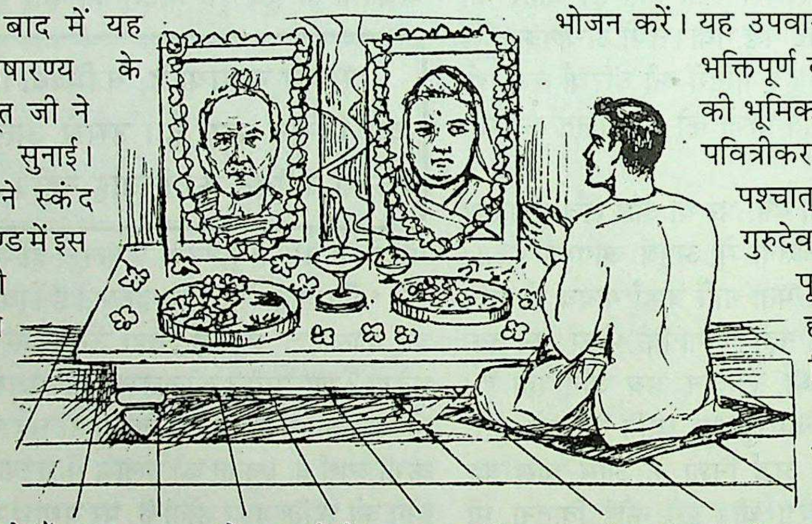

शिष्य-साधक हजारों वर्षों से इससे लाभान्वित होते रहे हैं। गुरुतत्त्व का बोध कराने के साथ यह एक गोपनीय साधना-विधि भी है। अनुभवी साधकों का कहना है कि गुरुवार का व्रत रखते हुए विनियोग और ध्यान के साथ सम्यक् विधि से इसका पाठ किया जाए, तो शिष्य को अवश्य ही अपने गुरुदेव का दिव्य संदेश मिलता है। स्वप्न में, ध्यान में या फिर साक्षात् उसे सद्‌गुरु कृपा की अनुभूति होती है। शिष्य के अनुराग व प्रगाढ़ भक्ति से प्रसन्न होकर गुरुदेव उसकी आध्यात्मिक व लौकिक इच्छाओं को पूरा करते हैं। यह कथन केवल काल्पनिक विचार नहीं, बल्कि अनेकों साधकों की साधनानुभूति है। हम सब भी इसके पाठ, अर्थ-चिंतन, मनन व निदिध्यासन से गुरुतत्त्व का बोध पा सकें, परमपूज्य गुरुदेव की कृपा से लाभान्वित हो सकें, इसलिए इस ज्ञान को धारावाहिक रीति से क्रमिक ढंग से प्रकट किया जा रहा है। अब से प्रत्येक महीने की अखण्ड ज्योति में मंत्र क्षमता वाले गुरुगीता के श्लोकों की भावपूर्ण व्याख्या की जाएगी।

सबसे पहले साधकों को इसकी पाठविधि बताई जा रही है, ताकि जो साधक इसके नियमित पाठ से लाभान्वित होना चाहें, हो सकें। गुरुगीता के पाठ को शास्त्रकारों ने मंत्रजप के समतुल्य माना है। उनका मत है कि इसके पाठ को महीने के किसी भी गुरुवार को प्रारंभ किया जा सकता है। अच्छा हो कि साधक उस दिन एक समय अस्वाद भोजन करें। यह उपवास मनोभावों को शुद्ध व भक्तिपूर्ण बनाने में समर्थ सहायक की भूमिका निभाता है। इसके बाद पवित्रीकरण आदि षट्कर्म करने के पश्चात् पूजा वेदी पर रखे गए गुरुदेव के चित्र का पंचोपचार पूजन करें। तत्पश्चात् दायें हाथ में जल लेकर विनियोग का मंत्र पढ़ें-

ॐ अस्य श्री गुरुगीता स्तोत्रमंत्रस्य भगवान सदाशिव ऋषिः। नानाविधानि छंदासि। श्री सद्‌गुरुदेव परमात्मा देवता। हं बीजं। सः शक्तिः। क्रों कीलकं। श्री सद्‌गुरुदेव कृपाप्राप्यर्थे जपे विनियोगः॥

विनियोग मंत्र पढ़ने के बाद हाथ के जल को पास रखे किसी पात्र में डाल दें। दरअसल यह विनियोग साधक को मंत्र की पवित्रता, महत्ता का स्मरण कराता है। मंत्र के ऋषि, देवता, बीज, शक्ति व कीलक की याद कराता है। साथ ही साधक के मन को एकाग्र करते हुए पाठ किए जाने वाले स्तोत्र मंत्र की शक्तियों को जाग्रत् करता है। ऊपर बताए गए विनियोग मंत्र का अर्थ है, "ॐ (परब्रह्म का स्मरण) इस गुरुगीता स्तोत्र मंत्र के भगवान सदाशिव द्रष्टा ऋषि हैं। इसमें कई तरह के छंद हैं। इस मंत्र के

देवता या इष्ट परमात्मस्वरूप सद्गुरुदेव हैं। इस महामंत्र का बीज 'हं' है, शक्ति 'सः' है, जो जगज्जननी माता भगवती की प्रतीक है। 'क्रों' बीज से इसे कीलित किया गया है। इस मंत्र का पाठ या जप सद्गुरुदेव की कृपा पाने के लिए किया जा रहा है।''

इस विनियोग के बाद गुरुदेव का ध्यान किया जाना चाहिए।

ध्यान मंत्र निम्न है—

योग पूर्ण वेदमूर्तिं तपोनिष्ठं तेजस्विनम्।
गौरवर्णं प्रेममूर्तिं माता भगवती सहशोभितम्॥
कारूण्यामृत सागरं शिष्यभक्तादि सेवितम्।
ध्यायेद् सद्गुरुं तं श्रीरामम् आचार्यवरम्॥

इस ध्यान मंत्र का भाव है, ''गौरवर्णीय, प्रेम की साकार मूर्ति गुरुदेव, वंदनीया माताजी (माता भगवती देवी) के साथ सुशोभित हैं। गुरुदेव योग की सभी साधनाओं में पूर्ण, वेद की साकार मूर्ति, तपोनिष्ठ व तेजस्वी हैं। शिष्य और भक्तों से सेवित गुरुदेव करुणा के अमृत सागर हैं। उन आचार्य श्रेष्ठ श्रीराम का, अपने गुरुदेव का साधक ध्यान करें।''

ध्यान की प्रगाढ़ता में परमपूज्य गुरुदेव को अपना आत्मनिवेदन करने के बाद साधक को गुरुगीता का पाठ करना चाहिए। गुरुगीता का समग्र स्वरूप काफी विस्तृत है। एक साथ इसे दे पाना यहाँ किसी भी तरह संभव नहीं है। साथ ही मूल पाठ के साथ उसकी विस्तारपूर्ण व्याख्या भी जरूरी है, इसलिए गुरुगीता के कुछ ही श्लोक प्रतिमास दिए जाएँगे। साधकगण उनके गहन चिंतन से गुरुतत्त्व का बोध प्राप्त करें। इसके पठन, अर्थ-चिंतन को अपनी नित्यप्रति की जाने वाली साधना का अविभाज्य अंग मानें।

गुरुगीता का प्रारंभ ऋषियों की जिज्ञासा से होता है-

गुह्यात् गुह्यतरा विद्या गुरुगीता विशेषतः।
ब्रूहि नः सूत कृपया शृणुमस्त्वत्प्रसादतः॥

नैमिषारण्य के तीर्थ स्थल में एक विशेष सत्र के समय ऋषिगण महर्षि सूत से कहते हैं, ''हे सूत जी, गुरुगीता को गुह्य से भी गुह्यतर विशेष विद्या कहा गया है। आप हम सभी को उसका उपदेश करें। आपकी कृपा से हम सब भी उसे सुनने का लाभ प्राप्त करना चाहते हैं।''

महर्षि सूत ने कहा,

सूत उवाच-
कैलाश शिखरे रम्ये भक्ति सन्धान नायकम्।
प्रणम्य पार्वती भक्त्या शंकरं पर्यपृच्छत ॥१॥

ऋषिगणो, यह बड़ी प्यारी कथा है। इस गुरुगीता के महाज्ञान का उद्गम तब हुआ, जब कैलाश पर्वत के अत्यंत रमणीय वातावरण में भक्तितत्त्व के अनुसंधान में अग्रणी माता पार्वती ने भक्तिपूर्वक भगवान सदाशिव से प्रश्न पूछा-

श्री देव्युवाच-
ॐ नमो देवदेवेश परात्पर जगद्गुरो।
सदाशिव महादेव गुरुदीक्षा प्रदेहि मे ॥२॥
केन मार्गेण भोः स्वामिन् देही ब्रह्ममयोभवेत्।
त्वं कृपां कुरु मे स्वामिन नमामि चरणौ तव ॥३॥

देवी बोलीं, ''हे देवाधिदेव, हे परात्पर जगद्गुरु, हे सदाशिव, हे महादेव, आप मुझे गुरुदीक्षा दें। हे स्वामी, आप मुझे बताएँ कि किस मार्ग से जीव ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करता है। हे स्वामी, आप मुझ पर कृपा करें। मैं आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ।''

यही है आदि जिज्ञासा। यही है प्रथम प्रश्न। यही वह बीज है, जिससे गुरुतत्त्व के बोध का बोधितरु अंकुरित हुआ। भगवान शिव की कृपा से पुष्पित-पल्लवित होकर महावृक्ष बना। इस मधुर प्रसंग में आदिशक्ति, जगत्माता ने स्वयं शिष्य भाव से यह प्रश्न पूछा है। चित् शक्ति स्वयं आदि शिष्य बनी हैं। जगत् के स्वामी भगवान महाकाल आदि गुरु हैं। इस प्रसंग का सुखद साम्य परमवंदनीया माताजी एवं परमपूज्य गुरुदेव की कथा-गाथा से भी है। इस परम विशाल, महाव्यापक गायत्री परिवार की जननी वंदनीया माताजी आदि शिष्य भी थीं। उन्होंने हम सबके समक्ष शिष्यत्व का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया। वे हम सबके लिए माता पार्वती की भाँति हैं, जिनकी जिज्ञासा और तप से ज्ञान की युगसृष्टि हुई।

माता पार्वती ने अपनी भक्तिपूर्ण जिज्ञासा से भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी शिष्यों व साधकों के समक्ष 'विनयम् ददाति पात्रताम्' का आदर्श सामने रखा। जो अपने संपूर्ण अंतःकरण को गुरुचरणों में समर्पित करके गुरुदीक्षा प्राप्ति की प्रार्थना करता है, वही तत्त्वज्ञान का अधिकारी होता है। किसी भी तरह से अहंता का लेशमात्र भी रहने से ज्ञान व तप की साधना फलित नहीं होती है। जो जगत्माता आदि जननी की भाँति स्वयं को अपने गुरु के चरणों में अर्पित कर देते हैं, गुरु कृपा उन्हीं का वरण करती है। करुणा सागर कृपालु गुरुदेव उन्हीं को अपनी कृपा का वरदान देते हैं। इस गुरु पूर्णिमा पर हम सब अपने शिष्यत्व में कुछ ऐसा ही निखार लाएँ। शिष्यत्व की इस साधना को सतत करते रहें। विश्वगुरु भगवान महेश्वर ने विश्वमाता से क्या कहा, यह अगले अंक में। ✱

अंतर्जगत् की यात्रा का विज्ञान

बस बन जाओ अपने गुरु के यंत्र

अंतर्यात्रा विज्ञान की पिछली कड़ी (मई २००२) में योग को परिभाषित किया गया था। चित्तवृत्तियों का निरोध योग है। इस सत्य को सभी योग साधक जान चुके हैं। इस ज्ञान के साथ उनमें इस जिज्ञासा का अंकुरण सहज है कि चित्तवृत्तियों का निरोध करने वाले योगी की क्या भावदशा होती है? इसका समाधान ही चौथी कड़ी की विषयवस्तु है। जो साधक महर्षि पतंजलि प्रणीत योगदर्शन के प्रथम पाद के दो सूत्रों का तत्त्वचिंतन कर चुके हैं, उनके लिए महर्षि तीसरा सूत्र प्रकट करते हैं। यही तीसरा सूत्र है, '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**' इस सूत्र का शब्दार्थ कुछ यों होगा, तदा = तब (वृत्तियों का निरोध होने पर), द्रष्टुः = द्रष्टा की, स्वरूपे = स्वरूप में, अवस्थानम् = अवस्थिति (होती है)।

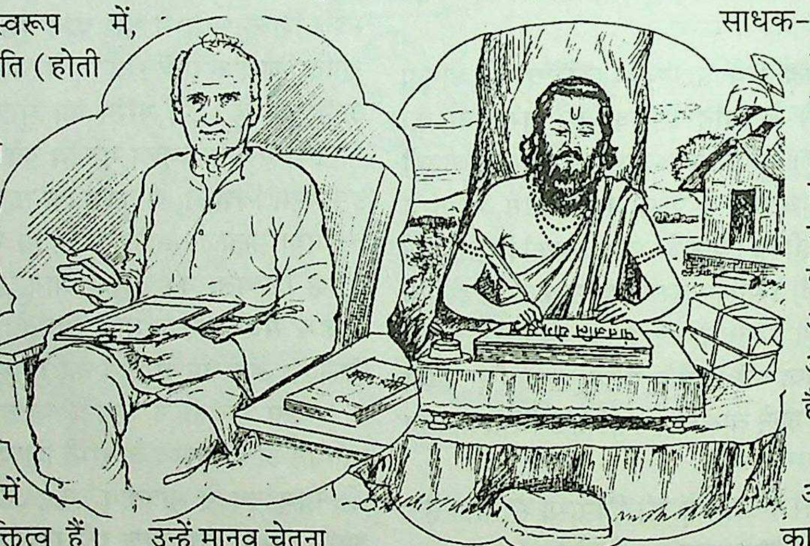

यह योगी की भावदशा है। चित्तवृत्ति निरोध की योग-साधना का सुफल है। किसी भी योग साधक की साधना का लक्ष्य है। महर्षि पतंजलि विश्व भर के मानव इतिहास में सर्वाधिक अनूठे व्यक्तित्व हैं। उन्हें मानव चेतना का सम्यक् ज्ञान है। उनको मनुष्य की कमियों, कमजोरियों, अच्छाइयों व विशेषताओं के बारे में भलीप्रकार पता है। उन्हें मानव चेतना की सीमाएँ मालूम हैं, तो संभावनाएँ भी ज्ञात हैं। योग सूत्रकार महर्षि इस सचाई को अच्छी तरह जानते हैं कि गंतव्य पता हो, तो ही चलने वाले के पाँवों में गति आती है। उसके मन में हर पल उत्साह उमगता रहता है। लक्ष्य का स्वरूप स्पष्ट होने से ही पथ अर्थवान होता है। राहें गुणवान बनती हैं। मंजिल का ही पता न हो, तो भला राही किधर जाएगा? उसके पाँवों की सारी मेहनत मंजिल के अभाव में भटकन की थकान बनकर रह जाएगी।

यही वजह है कि महर्षि योग साधक के सामने सबसे पहले उसका लक्ष्य स्पष्ट करते हैं। साधकों को बताते हैं कि तुम्हारा मकसद क्या है? तुम्हारी मंजिल कौन-सी है? योग क्या है और योगी कैसा होता है? यह लक्ष्य ही तो साधना की दिशा है—योग साधक का प्राप्तव्य एवं गंतव्य है। पहले मंजिल का पता, फिर राह की बातें, महर्षि की यही नीति है। इसी कारण वह पहले समाधिपाद के सूत्रों का बयान करते हैं, बाद में साधन पाद के सूत्र बताते हैं। अन्य दोनों पादों का क्रम इनके बाद आता है। समाधिपाद के इस तीसरे सूत्र में महायोगी महर्षि बताते हैं, चित्त वृत्ति का निरोध हुआ यानि कि मन का शासन मिटा और तब साधक-सिद्ध हो जाता है। वह योगी बनता है, द्रष्टा बनता है, साक्षी भाव को उपलब्ध होता है। वह स्वयं में, अपने अस्तित्व के केंद्र में, अपनी आत्मचेतना में अवस्थित हो जाता है।

यही बुद्धत्व का अनुभव है। योगियों का कैवल्य है। जीवन में समस्त प्रश्नों का समाधान करने वाली समाधि है। ज्ञानियों की चरम दशा है। विभिन्न साधनाओं के नाना पथ इसी एक लक्ष्य की ओर जाते हैं। योगिवर स्वामी विवेकानंद ने इसी गंतव्य पर पहुँचकर गाया था-

सूर्य भी नहीं है, ज्योति-सुंदर शशांक नहीं,
छाया सा इस व्योम में यह विश्व नजर आता है।
मनोआकाश अस्फुट, भासमान विश्व वहाँ,
अहंकार स्त्रोत ही में तिरता डूब जाता है।
धीरे-धीरे छायादल लय में समाया जब
धारा निज अहंकार मंदगति बहाता है।

बंद वह धारा हुई, शून्य से मिला है शून्य,
'अवाङ्मनसगोचरम्' वह जाने जो ज्ञाता है।

मन के पार यही है बोध की स्थिति। यही है अपने स्वरूप में अवस्थिति। इसी में स्थित होकर साधक द्रष्टा बनता है, योगी बनता है। कर्म और जीवन का, भाव और विचारों का, देह, प्राण, मन, सृष्टि और समष्टि की समस्त हलचलों का साक्षी बनता है।

परमपूज्य गुरुदेव के जीवन में इस सूत्र का जागरण अपने सद्गुरु से प्रथम मिलन में ही हो गया। वह जन्म-जन्मों की योग साधना से सिद्ध थे। महात्मा कबीर, समर्थ रामदास, श्री रामकृष्ण परमहंस के रूप में उन्होंने योग के सभी तत्त्वों का सम्यक् बोध प्राप्त किया था। इस बार तो उन्हीं की भाषा में, ''सिर्फ पिसे को पीसना था, कुटे को कूटना था, बने को बनाना था। यानि कि किए हुए का पुनरावलोकन करना था। सद्गुरु की कृपा की किरण उतरी बस एक पल में हो गया।'' अपनी इस अनुभूति को गुरुदेव यदा-कदा हँसते हुए बता देते थे। वह कहते, ''तुम लोग एक बार यदि बहुत अच्छी तरह से साइकिल चलाना सीख जाओ, तुम्हें खूब ढंग से साइकिल चलाना आ जाए। फिर तुम्हारी साइकिल यदि किसी तरह बदल जाए या बदल दी जाए, तो नई साइकिल में भी किसी तरह की कठिनाई नहीं आती है। बस थोड़ी देर बाद नई साइकिल भी पुरानी वाली की तरह अच्छे से चलने लगती है।''

गुरुदेव बताते थे, बस कुछ ऐसा ही मेरे साथ हुआ। अपने स्वरूप में स्थिति तो सदा से थी। पिछले जन्मों से थी। इस नए शरीर में भी उसके लिए कोई खास कठिनाई नहीं हुई, लेकिन हम सब साधकगण इसे किस रीति से पाएँ? इसके जवाब में वह एक बात कहा करते थे, ''सारा परदा मन का है। मन के इस परदे को हटा दो फिर सब कुछ साफ-साफ नजर आने लगता है। द्रष्टा भाव भी वही है, आत्मस्वरूप में स्थिति भी है। बस मन की झिलमिल के कारण नजर नहीं आ पाती। बात पते की है। समझ में भी आती है, लेकिन यह हो कैसे? मन का परदा हटे तो कैसे हटे?'' महर्षि पतंजलि भी यही कहते हैं कि चित्तवृत्तियों का निरोध हो, तो योग सध जाए। योग साधना का सुफल मिल जाए। अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाए, लेकिन सवाल है कि यह सब हो तो कैसे हो?

इस कठिन सवाल का बड़ा आसान-सा जवाब गुरुदेव देते थे। वह कहते मैंने अपने मन को अपने मार्गदर्शक का गुलाम बना दिया। तुम अपने मन को अपने सद्गुरु का गुलाम बना दो। उन्हें अर्पित और समर्पित कर दो। तुम ऐसा कर सको, इसकी एक ही कसौटी है कि अब तुम अपने लिए नहीं सोचोगे। न अतीत के लिए परेशान होगे, न वर्तमान के लिए विकल होगे और न ही भविष्य की चिंता करोगे। तुम्हारे लिए जो कुछ जरूरी होगा, वह सद्गुरु स्वयं करेंगे। तुम्हें तो बस अपने गुरु का यंत्र बनना है। इस संकल्प के कार्यरूप में परिणत होते ही महर्षि पतंजलि के इस सूत्र का अर्थ प्रकट होने लगता है। चित्त की वृत्तियों का निरोध होने, मन का परदा हटने व स्वरूप में अवस्थित होने का सत्य अपने आप ही उजागर हो जाता है।

इस सूत्र की साधना अंतर्चेतना में कुछ इस तरह से स्वरित होती है-

महर्षि पतंजलि का सूत्र
बना अपने सद्गुरु का स्वर
इसका समग्र अर्थ
अंतर्चेतना में तब होता भास्वर
जब हमारा मन
उसका हर स्पंदन
करता गुरुदेव को समर्पण
न बचती कोई कल्पना
न कामना, न याचना
होती बस एक ही प्रार्थना
प्रभु, बनें हम आपके यंत्र
समर्पण की वर्णमाला
एकमात्र मंत्र
इसका सुफल
होता जीवन में अविकल
आत्मस्वरूप में अवस्थिति
तब बनती जीवन स्थिति!

समर्पण हुआ है, इसका मतलब यही है कि अब मन सद्गुरु के चिंतन एवं उनके कार्यों में संलग्न हो गया। किसी भी तरह के स्वार्थ का मोह छूटा, अहंता के सारे बंधन टूटे। ऐसे में आत्मस्वरूप में अवस्थिति सहज है। इस भावदशा में मन रूपांतरित हो जाता है। उसकी दृष्टि एवं दिशा बदल जाती है। समर्पण की इस साधना के द्वारा अपने स्वरूप को जानने, पाने एवं अवस्थित होने में मन अनेकों विघ्न खड़े करता है। चित्तवृत्तियों द्वारा खड़े किए गए इन विघ्नों की चर्चा अगली कड़ी में।

◆

परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी

भगवान के अनुदान किन शर्तों पर मिलते हैं

(समापन किश्त)

गतांक से आगे ....

मित्रो! जहाँ सम्मान होता है, वहाँ सहयोग आता है। महापुरुषों पर सहयोग बरसा, गाँधी जी पर सहयोग बरसा। अरे, मैं तो ये कहता हूँ कि अनेक आदमियों पर सहयोग बरसा है। बाटा एक मोची का नाम है, जिसके माता-पिता का देहांत हो गया था। बारह-तेरह साल का यह लड़का रह गया। कुछ पढ़ा-लिखा भी नहीं था। बाप जो था, पुराने जूतों की मरम्मत करता था। वही काम बेचारा वो भी करने लगा। जो भी आता, यही पूछता कि तुम्हारे पिता जी दिखाई नहीं पड़ते? लड़का कहता कि हमारे पिता जी का स्वर्गवास हो गया, अब आप ही हमारे पिता जी हैं। आपसे रहम तो नहीं माँगते, पर आपसे श्रम माँगते हैं। आप चाहें तो अपने जूतों की मरम्मत हम से करवा लिया कीजिए, उनकी पॉलिश हमसे करवा लिया कीजिए। इससे आपकी सहायता भी हो सकती है और हमारा गुजारा भी हो सकता है। लोगों ने अपने चप्पलों की मरम्मत करवाना शुरू किया। जूतों पर पॉलिश करने को दी। उसने इस वफादारी से मरम्मत की कि लोग बाग-बाग हो गए। सबको लाभ हो गया। उनने औरों से कह दिया कि ऑफिस में किसी को जूतों की पॉलिश करानी हो, तो उस लड़के से कराना। शानदार लड़का है। इतनी तबियत से पॉलिश करता है कि चार दिन तक जूते की पॉलिश खराब नहीं होती। मरम्मत कराना हो, तो उसी से कराना।

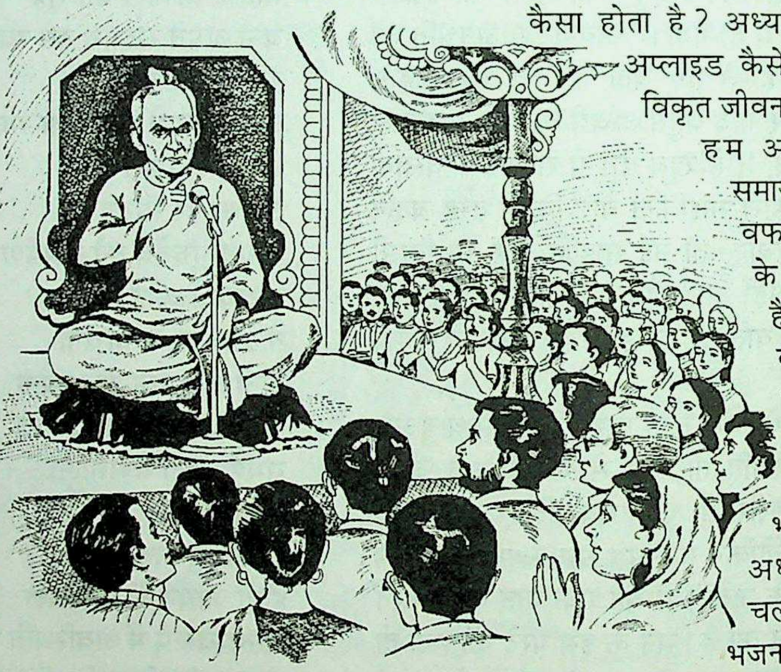

सबने प्रशंसा करनी शुरू कर दी। क्या नाम था? बाटा। कौन-सा बाटा? जिसका आज करोड़ों रुपये का जूते का बिजनेस चलता है। जब लड़का बड़ा हुआ, तो लोगों ने कहा कि बाटा हमारे लिए अच्छे जूते बना सकते हो। हाँ साहब! हम अच्छे जूते बना देंगे, पर पैसा नहीं है हमारे पास, आप पैसा दीजिए, राहत दीजिए। राहत में लोगों ने चमड़ा ला दिया और सामान ला दिया। उसने भी तबियत से अच्छे-अच्छे जूते बना दिए।

सामाजिक जीवन का अध्यात्म

मित्रो! ईमानदारी, वफादारी और जिम्मेदारी तीनों को मिलाकर सामाजिक जीवन में अध्यात्म हो जाता है। अध्यात्म कैसा होता है? अध्यात्म को जीवन में अप्लाइड कैसे करते हैं? अपने विकृत जीवन में संयम के रूप में हम अप्लाइ करते हैं। समाज में हम जिम्मेदारी, वफादारी और ईमानदारी के रूप में प्रयुक्त करते हैं। जीवन में इन तीनों को समाविष्ट कर लेते हैं, तो वह अध्यात्म हो जाता है। नहीं साहब, भजन और माला को अध्यात्म कहते हैं। चल...... सब बात में भजन लगा देता है, भजन भी दिमाग का एक खेल है। वह अपने अंतर्मन की एक कसरत है। कसरत कई तरह की होती है। अंतर्चेतना के व्यायाम का एक नाम वह भी है, जिसको आप मंत्र कहते हैं। वह भी अध्यात्म का एक हिस्सा है, लेकिन केवल वही सारा अध्यात्म नहीं हो सकता। वह एक हिस्सा है। मंत्र भी एक हिस्सा है। समस्त अध्यात्म मंत्र नहीं हो सकता है।

मित्रो! बाटा ने जूतों की मरम्मत से उन्हें बनाना शुरू कर दिया और लोगों ने जूता माने बाटा, बाटा माने जूता कहना शुरू कर दिया। उसका व्यापार बढ़ता हुआ चला गया। मैं क्या कहूँ आपसे, करोड़ों रुपये का व्यापार उसने

किया। जब मैं अफ्रीका गया, तो वहाँ भी बाटा की दुकानें देखीं। हरेक देश में बाटा छाया हुआ है। अफ्रीका में बिकता है, हिंदुस्तान में भी बिकता है। मैंने देखा उसकी नेट आमदनी गवर्मेंट के टैक्स देने के बाद में दो करोड़ के करीब बच जाती है। सहयोग से इस तरह बाटा फैलता हुआ चला गया।

गुरुजी! आप अध्यात्म से अनुदान के विषय में कह रहे थे? बेटा, मैं कह रहा था कि जब सम्मान आता है, तो सहयोग भी आता है। श्रद्धा आती है। आप क्यों नहीं सुनते? हमें तो कोई जरूरत नहीं है। हमारे सब विरोधी हैं। विरोधी भी बेटे इज्जत करते हैं। क्रांतिकारियों को बेटे अँगरेजों ने फाँसी दे दी थी। उनको फाँसी देने वाले मजिस्ट्रेट ने, उनके जो रिमार्क लिखे हैं, उसे पढ़कर देखिए आप। उन्होंने क्या रिमार्क लिखे हैं? उन्होंने ये रिमार्क लिखे हैं कि हम इनकी इज्जत करते हैं, क्योंकि उन्होंने जिस काम के लिए ये गुनाह किए, वो मकसद बहुत ऊँचे थे। इन्होंने गुनाह किए, इसलिए हमारा संविधान, हमारा कानून कहता है कि इन्हें जेल में फाँसी लगनी चाहिए, इसलिए हमने फाँसी लगवा दी, पर फाँसी लगाते हुए हम इनकी इज्जत करते हैं।

सिद्धियों के कई प्रकार—सहयोग एवं अनुदान

मित्रो! आपको इज्जत मिल सकती है। किससे? उस अध्यात्म से, जो हम आपको सिखाने वाले हैं। उससे आपको इज्जत मिलेगी, तो आप देखना आपको सहयोग भी मिलेगा। सहयोग कहाँ से मिलेगा? बेटे, हमको पहले मिली है इज्जत, फिर हमको मिली सहायता। सहायता नहीं मिलती, तो हम कहाँ से यह सब काम चला रहे हैं, बताइए? हमारे कितने जीवनदानी मुट्ठी में हैं। ब्रह्मवर्चस एक, ब्रह्मवर्चस में कितने आदमी काम करते हैं? वे क्या हैं? आठ-दस तो वे हैं, जो पोस्ट ग्रेजुएट हैं, पी. एच-डी. हैं, मेडिकल के एम. बी. बी. एस. हैं, एम. एस हैं, एम. डी. हैं। कितने लड़के काम करते हैं। इनको नौकरी देकर तो देखिए। एक-एक व्यक्ति कम-से-कम पंद्रह-पंद्रह सौ रुपये की नौकरी छोड़कर आया है। कितने आदमी हैं? बीस हैं। कितने रुपये लगेंगे? तीस हजार रुपये महीने लगेंगे। पहले नौकरी दीजिए, पीछे काम लेना। यह सब कहाँ से आता है। श्रम के रूप में सहयोग, अकल के रूप में सहयोग, भावनाओं के रूप में सहयोग। आप सहयोग का अर्थ केवल पैसा समझते हैं।

मित्रो! अगर आपका यही ख्याल है कि सहयोग का अर्थ पैसा होता है, तो चलिए मैं अभी देता हूँ। गाँधी जी पर भी पैसा आया था, दूसरों पर भी पैसा आया था, तीसरों पर भी पैसा आया था। विनोबा पर कितनी जमीन आ गई थी? करोड़ों एकड़ जमीन भूदान में आ गई थी। मैं क्या कहूँ बेटे, कोई इतनी जमीन खरीदता, तो दिवाला निकल जाता। हमने जरा-सी जमीन खरीदी है, डेढ़ लाख लग गया और उन्होंने कितनी जमीन खरीदी? करोड़ों रुपये की जमीन खरीदी विनोबा ने, भूदान यज्ञ में सहयोग दिया था। आपको सहयोग मिलता है? किसी का नहीं मिलता। धर्मपत्नी का मिलता है? नहीं साहब, उसका भी नहीं मिलता। माता जी का मिलता है? नहीं माता जी का भी नहीं मिलता। पिता जी का? पिता जी का भी नहीं मिलता। किसी का मिला सहयोग? नहीं साहब, सब बड़े चालाक हैं और सब दुनिया बेईमान है। हाँ, आपका कहना बिल्कुल सही है। दुनिया तो है ही चालाक, लेकिन हर आदमी के भीतर एक और माद्दा है। कौन-सा वाला? जो दूसरों की सहायता करता है। आप पहले अपना सम्मान प्राप्त कीजिए।

मित्रो! लोग सम्मान नहीं देते, सम्मान लिया जाता है। कैसे? उस अध्यात्म से जो हम आपको सिखाने वाले हैं और समझाने वाले हैं। उससे आप क्या करेंगे? उससे उस अध्यात्म की कीमत पर आप जनता का सम्मान खरीदेंगे। फिर क्या होगा? फिर आप पर सहयोग बरसेगा। ये क्या हो गया? ये सिद्धि नंबर दो है। ये किसकी सिद्धि हो गई। ये बाहर की सिद्धि हुई। ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन होते हैं। मैं पहले जीव की बात कह रहा था। जीवात्मा के भीतर से-हमारे अंतर्मन से जो सिद्धियाँ निकलती हैं, अभी मैं उसका हवाला दे रहा था। अब मैं प्रकृति का हवाला दे रहा हूँ। प्रकृति के साथ समाज जुड़ा हुआ है। बहिरंग से आपको तरह-तरह के सहयोग मिलेंगे, सहायता मिलेगी, तरह-तरह की प्रसन्नताएँ मिलेंगी, तरह-तरह के भाव मिलेंगे।

साथियो! जो सिद्धांत, जो अध्यात्म मैं सिखाने वाला हूँ और जिसके लिए मैंने आपको बुलाया है, उस अध्यात्म की सफलता पर मेरी उम्मीदें टिकी हुई हैं और जिस सफलता के आधार पर आपका भविष्य टिका हुआ है। आप अगर जंजाल में फँसेंगे, तो मरेंगे। नहीं साहब, मंत्र जपेंगे और पैसा कमाएँगे। यह सब झूठ है। अभी भी यही जालसाजी लिए बैठा है। जादूगरी लिए बैठा है। जादू क्या होता है? मिट्टी में फूँका, हो गया जादू। यही है तेरा अध्यात्म? बाजीगर कहीं का, बाजीगरी सीखने आया है। क्या सिखाएँ? बाजीगरी सिखाइए, मिट्टी में फूँक मारिए और पैसा मँगाइए। गायत्री मंत्र पढ़िए और बेटा पैदा कर दीजिए। हट मूर्ख कहीं का, ये क्या करता रहता है बेअक्ली की बात।

अध्यात्म बेअक्ली का नाम नहीं है। बेअक्ली अलग बात है और अध्यात्म अलग बात है। जिससे आप फायदा

उठा सकते हैं, जिसको पाकर हिंदुस्तान शानदार हुआ था और आप भी शानदार हो सकते हैं। वह अध्यात्म अलग है और ये बेअक्ली अलग है। कौन-सी ? जो मैं शुरू में ही कह रहा था मनुहार और उपहार की। मनुहार कीजिए और उपहार पाइए। बेटे, ये बच्चों का धंधा है। अगर आप बच्चे हैं, तो मैं नहीं कह सकता और छोटी चीजों तक भी मैं नहीं कह सकता, पर अगर बड़ी चीजों की बात है, तो बड़े लोगों की तरह से आप इजहार करना शुरू कीजिए।

दैवी अनुग्रह : भगवान की सिद्धि

यहाँ तक दो बातें हो गईं। एक जीव की शक्ति हो गई और एक प्रकृति की सिद्धि हो गई। एक सिद्धि और बाकी है। वह सिद्धि कौन-सी है ? वह सिद्धि भगवान की सिद्धि है, तीसरी सिद्धि है। भगवान की सिद्धि किसे कहते हैं ? जिसे हम दैवी अनुग्रह कहते हैं। हाँ, दैवी अनुग्रह भी आते हैं। दैवी अनुग्रह हो सकते हैं ? हाँ बेटे, दैवी अनुग्रह भी होते हैं। दैवी अनुग्रह भी आदमी को मिलते हैं, परंतु हरेक को नहीं मिलते। गुरु जी जो माँगेगा, उसे भी नहीं ? नहीं बेटा, सबको नहीं मिलते। दैवी अनुग्रह प्राप्त करने की भी शर्त है। कौन-सी शर्त है ? अब हम आपको यही समझाने वाले हैं। जिसके लिए हम आपको अब मजबूर करने वाले हैं, जिसके लिए हम दबाव डालने वाले हैं, जिसके लिए हम जोर लगाते हैं, वह है पात्रता का विकास। जिस दिन आपकी पात्रता विकसित हो जाएगी, उस दिन क्या होगा ? दैवी अनुग्रह बरसेंगे।

मित्रो ! दैवी अनुग्रह बरसते हैं, माँगे नहीं जाते। ये हवा जो है, ऑक्सीजन लेकर आती है। इतने काम की ऑक्सीजन आपको दी जाती है कि मैं क्या कहूँ आपसे। कितने दाम की ऑक्सीजन है ? डॉक्टर साहब से पूछिए कि ऑक्सीजन का सिलेंडर कितने का मँगाया था ? छह सौ पचास रुपये का। एक आदमी के लिए कब तक एक सिलेंडर चल सकता है ? अगर एक आदमी सारे दिन लगाए रखे तो दो-तीन दिन में खत्म हो जाएगा। हवा आपकी नाक में ऑक्सीजन की नली लेकर आती है और हर दिन लगभग तीन सौ रुपये की ऑक्सीजन आपको फोकट में दे जाती है। बेटे, आप देवता का अर्थ समझते नहीं हैं। देवता कहाँ से आते हैं ? सूरज की धूप कहाँ से आती है। सूरज की धूप का दाम निकालिए। हमारे यहाँ लाइट जलती है। सौ वाट का बल्व जलता है, यह कितनी बिजली कंज्यूम करता है ? अपने मीटर को देख लें। हमारे यहाँ जो बिल आता है, हजार रुपये से ज्यादा का आता है। हमारे यहाँ हजार-डेढ़ हजार रुपये की बिजली जलती है। हम देखते हैं कि रात में कितनी देर बिजली जलती है, तो कहते हैं कि भाई बंद करो बत्ती। आपने सौ वाट का बल्ब लगा रखा है, चालीस वाट का लगाइए, पंद्रह का लगाइए। हम किफायत करते हैं। सूरज कितने हॉर्स पावर का है ? कितने कैंडिल का आप समझते हैं सूरज को ? वह आपके मकान पर जलता है। आप हीटर जलाते हैं, कितनी बिजली जल जाती है ? ढाई रुपये की और ये हीटर कितने रुपये में आता है ?

मित्रो ! आसमान से लाइट बरसती है, रोशनी बरसती है, ऑक्सीजन बरसती है, जीवन बरसता है, प्राण बरसता है, सौंदर्य बरसता है। पानी की तरह से जाने क्या-क्या बरसता है। सब कुछ बरसता है। यह सब भगवान बरसाता है, आदमी नहीं बरसाता। ये सब अनुग्रह भी बिना कीमत के मिलते हैं। सुकरात के पास एक शक्ति थी। उसका नाम उन्होंने डेमॅन रखा था। सुकरात उसके ऊपर पूरी तरह से निर्भर रहते थे। डेमॅन ऊपर से आता था और सहायता करता था। विक्रमादित्य के बारे में भी मैंने सुना है कि उनके पास भी शक्तियाँ आती थीं और उनकी मदद करती थीं। बेटे, कितने देवता होते हैं, जो आदमी की सहायता करते हैं। वे इतनी सहायता करते हैं कि मैं क्या कहूँ आपसे। उनकी सहायता के मारे आदमी धन्य हो जाता है।

देवता कौन होते हैं ? देवता अड़ोसी-पड़ोसी नहीं होते। वे संबंधी भी नहीं होते। देवता उन शक्तियों का नाम है, जो आदमी के ऊपर बरसती हैं और आदमी को धन्य करती हैं। किस-किसके ऊपर देवता बरसे ? बेटे, ज्यादा तो नहीं कहता मैं, औरों का हवाला तो नहीं देता, बस अपना हवाला देता हूँ कि हमारे ऊपर कौन बरसता है। सुकरात के तरीके से एक डेमॅन हमारे भीतर भी बरसता है और सारा-का-सारा अनुग्रह उसी से काम करता है। कैसा अनुग्रह है ? आपको मालूम है उसमें अक्ल का अनुग्रह भी है। अक्ल कहाँ से बरसती है ? अक्ल कहाँ से आती है ? आप कौन से स्कूल में पढ़े हैं ? बेटे, कहीं भी नहीं पढ़े हम। ये जो सारी अक्ल बरसती है, वो आसमान से बरसकर हमारे दिमाग में घुस जाती है और पैसा कहाँ से बरसता है ? पैसा बेटे, आसमान से बरसता है और हमारी तिजोरी में घुस जाता है। इससे हम कहते हैं कि ठहरिए अभी तिजोरी बंद है, चाबी नहीं मिल रही है। चाबी नहीं मिल रही है तो क्या हुआ, हम ऐसे ही घुस जाएँगे और पैसा तिजोरी से निकाल लाएँगे।

डेमॅन—गुरु-देवता

ये कौन घुसाता है ? डेमॅन। डेमॅन कौन-सा होता है ? डेमॅन कहते हैं भगवान को। आपके डेमॅन का क्या नाम है ? अपने गुरु को हम डेमॅन कहते हैं। गुरु क्या होता है ? अरे बेटे, वह भगवान है। भगवान हमको देता है। हरेक

को वह नहीं दे सकता। आपका गुरु हमको दे देगा? नहीं बेटे, आपको नहीं देगा। गुरु जी आप हमको अपने गुरु जी का साक्षात्कार करा दें। हाँ बेटे, हम दर्शन तो आपको करा देंगे, लेकिन उससे क्या फायदा होगा? जैसे ही दर्शन करेंगे, वैसे ही वे पैसा दे देंगे। चल बेहूदा कहीं का, इसीलिए तू दर्शन करेगा। देख मैं कुछ नहीं देता। उदाहरण के लिए बैंक में जाइए और कहिए कि मैनेजर साहब! हाँ, हम आपका दर्शन करेंगे, तो आप दर्शन कीजिए न। हाँ साहब, दर्शन हो गए आपके। अब जाइए आप। नहीं साहब, हम जिस काम से आए थे, जिस मनोकामना को पूरी करने के लिए आए थे, उस मनोकामना का क्या हुआ? हमको पंद्रह हजार रुपये दे दीजिए। आपका बैंक में एकाउंट है? नहीं साहब! बैंक में तो कोई एकाउंट नहीं है, तो फिर किस बात के माँगते हैं। दर्शन की फिलॉसफी नहीं समझते और आ गए दर्शन करने। तो हो गया हमारा दर्शन, जाइए। नहीं साहब, अभी तो दर्शन नहीं हुआ। हम कौन हैं? राजेश खन्ना हैं, जो दर्शन करने को आए हैं। बेकार की बातें करता है। यही समझता है कि हम देखेंगे और देख करके निहाल हो जाएँगे। देखने से कुछ भी नहीं होगा।

आप स्वर्ग देखेंगे या नरक, चलिए हम दिखा लाते हैं। अच्छा चलिए पहले लक्ष्मी जी के दर्शन करते हैं। स्टेट बैंक में जब नोटों के बंडल आते हैं, तो खुलते हैं और रख जाते हैं। देखिए, लक्ष्मी जी के दर्शन कीजिए। दर्शन कर लिए, अब आप जाइए। फलाने जी का दर्शन करेंगे, ढिकाने जी का दर्शन करेंगे, बस दर्शन ही दिमाग में सवार हो गया है। एक तो वो वहम सवार हो गया था कि मनुहार करेंगे और उपहार पाएँगे। अब एक और वहम आ गया कि दर्शन करेंगे और निहाल हो जाएँगे। बहुत करेंगे दर्शन? दर्शन की फिलॉसफी समझते नहीं और दर्शन के लिए कहते हैं। दर्शन करने का मतलब क्या है जानते हैं आप? गाँधी जी का दर्शन जिन्होंने किया था, उनका नाम था नेहरू। गाँधी जी का दर्शन जिन्होंने किया, उनका नाम था पटेल। गाँधी जी का दर्शन जिन्होंने किया, उनका नाम था मालवीय। गाँधी जी का दर्शन जिन्होंने किया, उनका नाम था अमुक और अमुक। उनका दर्शन तो हमने भी किया था। अच्छा गाँधी जी का दर्शन किया था तो फिर क्या हुआ आपका? अरे साहब! चप्पल खो गईं और हमारी जेब कट गई, जब गाँधी का दर्शन करने गए थे। दर्शन करने गए थे या भाड़ में?

अध्यात्म है साइंस ऑफ सोल

मित्रो! क्या करना पड़ेगा? आपको आध्यात्मिक जीवन में पात्रता का विकास करना होगा। तभी आवाज की प्रतिध्वनि की भाँति भगवान के अनुग्रह बरसते हैं और आदमी अपनी सामर्थ्य से अधिक काम करने में समर्थ हो जाता है। बड़े-से-बड़े काम करने के लिए, अपने लिए और पराये के लिए कुछ करने में वह समर्थ हो जाता है। मेंहदी हम पीसते हैं दूसरों के फायदे के लिए, पर हम स्वयं निहाल हो जाते हैं। ऐसा है अध्यात्म, जो मैं आपको सिखाने वाला था। इस अध्यात्म का बेस बेटे एक ही है। क्या बेस है कि आप अपने व्यक्तित्व को ठीक करें। अपने भीतर वह कशिश पैदा कीजिए। कौन-सी? जिससे जो चीज आप पाना चाहते हैं, पा सकें। इसे क्या कहते हैं? अध्यात्म इसी का नाम है। जो अध्यात्म आपने पढ़ा है, वह अध्यात्म नहीं है। अध्यात्म माँगने की विधा का नाम नहीं है। बाहर से पाने की विधा का नाम नहीं है। अध्यात्म किसे कहते हैं? अध्यात्म कहते हैं, साइंस ऑफ सोल को, सोल की साइंस को। सोल का हम डेवलपमेंट कैसे कर सकते हैं, सोल को परिष्कृत कैसे कर सकते हैं? सोल को हम शानदार कैसे बना सकते हैं, जिससे बाहर की चीजें खिंचती हुई चली जाएँ।

मित्रो! हमारा अपना मैग्नेट सुरक्षित करने की कला का नाम अध्यात्म है। अपना मैग्नेट जब खींचता है, तो ये बाहरी चीजें खिंचती हैं। प्लांट जब खींचते हैं, तो बादल बरसते हैं। बादलों का मैग्नेट नहीं है। पेड़ जब खत्म हो जाते हैं, तो पानी बरसना बंद हो जाता है। पेड़ों का मैग्नेट ही उन्हें खींचता है। खजाने जब पैदा होते हैं, तो इसके अंदर जो लोहा होता है, वो दूर-दूर तक खींचता रहता है और खजाने में अपने पास जमा कर लेता है। मैग्नेट खींचता रहता है। चोर चोरों को खींचते रहते हैं। आपको मालूम है कि एक जुआरी के पास ढेरों जुआरी जमा हो जाते हैं और वेश्याओं के यहाँ भँवरे जमा हो जाते हैं। कहाँ से भँवरे आ जाते हैं? क्यों साहब, आप कहाँ से आए? हम तो साहब बहुत दूर के रहने वाले हैं। आपका ये कौन लगता है? कोई नहीं लगता। क्यों साहब, फिर ये आपके कमरे में क्यों रहते हैं? कशिश ने इन्हें खींच लिया। जुआरी के पास जुआरी, चोरों के पास चोर, लफंगों के पास लफंगे, विद्वानों के पास विद्वान्, ज्ञानियों के पास ज्ञानी खिंचे चले आते हैं। ऐसी आदतें या आदमी के भीतर का मैग्नेट जब उछाल मारता है, कशिश उठती है, तो वह समानधर्मी को अपने पास अनायास ही खींच लेता है।

मित्रो! जब आपका मैग्नेट भीतर से बढ़ेगा, तब आप खींचने में समर्थ हो जाएँगे। वे चीजें जिनका अनुभव मुझे व्यक्तिगत रूप से है, वही आपको बता रहा हूँ। हवा में गायब हो जाने का? बेटे, हवा में गायब हो जाने का अनुभव हमको नहीं है और क्या पेशाब से दिया जलाने का

अनुभव आपको नहीं है ? बेटा, वो भी नहीं है। हमको जब दिया जलाना पड़ता है, तो मोमबत्ती जलाते हैं और तेल जलाते हैं। पेशाब से जला दीजिए। बेटे, हमको नहीं आता और कोई करामातें भी नहीं आतीं। करामातों से कोई अध्यात्मवादी नहीं हो जाता। अध्यात्म अपने आप में सबसे बड़ी करामात है। उससे आदमी महान् आत्मा हो जाता है, देवात्मा हो जाता है, ऋषि हो जाता है और नर से नारायण हो जाता है। ये अपने अपने आप में एक विधा है।

व्यक्तित्व का चुंबक

मित्रो! आध्यात्मिक शक्तियों को आदमी की कशिश खींचती है। किसको खींचती है ? जो सिद्धियाँ आप चाहते हैं, उनको कशिश खींचती है। गुलाब का फूल जब खिलता है, तो भँवरों को खींचता है, तितलियों को खींचता है और शहद की मक्खियों को खींचता है। आदमी जब खिलता है, तब देवताओं को खींचता है, भगवान को खींचता है, पड़ोसियों को खींचता है, समाज को खींचता है और अपने अंतरंग में दबी हुई क्षमताओं को खींचता है। सारी-की-सारी चीजें खिंचती हुई आ जाती हैं और आदमी संपन्न हो जाता है, समर्थ हो जाता है। ये किसके ऊपर टिका हुआ है अपना व्यक्तित्व, अपने आपको सुधार लेने के ऊपर। यही हैं अध्यात्म के सिद्धांत, जो मैं आपको सिखाने वाला था, पढ़ाने वाला था।

मित्रो! मैं क्या कहने वाला था? ऋषियों की उसी वाणी को दुबारा दोहराने वाला था, जिसमें यह कहा गया था कि *आत्मा वा रे ज्ञातव्य ध्यातव्य निदिध्यासतव्यं।* अरे मूर्खो, अपने आपको देखो, अपने आपको समझो और अपने आपको ठीक करो। यह क्या है ? यह ऋषियों की वाणी है और यह वो अध्यात्म है, जिसमें भगवान ने कहा है कि यदि इंसानों से आप ऊँचा उठना चाहते हैं, आगे बढ़ना चाहते हैं, खुशी होना चाहते हैं, समृद्ध होना चाहते हैं, संपन्न होना चाहते हैं, तो उसके लिए क्या तरीका हो सकता है ? फार्मूला क्या हो सकता है ? भगवान ने कहा, *उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।* अर्थात् अपने आपको उठाइए, अपने आपको गिराइए मत।

मित्रो! गिराता कौन है ? इंसान। उठाता कौन है ? भगवान। इंसान के भीतर उठाने वाला जो माद्दा है, उसको कहते हैं भगवान। भगवान किसे कहते हैं ? आदमी के भीतर एक ऐसी प्रेरणा है, जो आदमी को उठा देती है, वही भगवान है। जो व्यापक भगवान है, उसको तो बेटा कौन कहेगा। वह तो बहुत फैला हुआ है, उसकी तो बात ही मत कीजिए। ब्रह्म तो इतना विस्तृत है, इतना विस्तृत है कि हमारी अक्ल भी काम नहीं करती। हमारे भीतर वह भगवान है, जो हमें उठाता है और वह भगवान नहीं है। जो गिराता है, उसको बेटे, शैतान कहते हैं। शैतान को रोकिए, भगवान का समर्थन कीजिए और आप स्वयं ऊँचे उठिए।

मित्रो! ये किसने कहा है ? गीताकार ने कहा है, *उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।* अपने आपको उठाओ, अपने आपको गिराओ मत। अपने आपको कौन गिराता है ? अरे कोई नहीं गिराता, आप स्वयं अपने आपको गिराते हो। नहीं साहब, हमको पड़ोसी तंग करता है और बीबी तंग करती है और मुहल्ले वाले तंग करते हैं, बुखार तंग करता है। कोई नहीं तंग करता। आप अपने आपको स्वयं तंग करते हैं। आपका अपने आपको तंग करने का माद्दा ही है, जो आपके सामने आ जाता है। आप अपने आपको ठीक करिए। आप एक मित्र से मित्रता बना लीजिए और एक दुश्मन से आप पीछा छुड़ा लीजिए। अध्यात्म में कौन-सा मित्र है और कौन-सा दुश्मन है ? *आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः* अर्थात् आप ही अपने बैरी हैं और आपने ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ा मारा है और आप ही हैरान होते हैं। आप ही उद्धरेत् अर्थात् अपने आपको सही कीजिए, अपने आपको ठीक कीजिए।

अपने आपको बदलें

मित्रो! आप अपने आपको बदल लीजिए, फिर देखिए किस तरह से दुनिया बदल जाती है। सारा-का-सारा वातावरण बदल जाता है। आप अपनी आँखों का चश्मा बदलिए, हरा चश्मा छोड़िए और लाल चश्मा पहनिए, फिर देखिए, सारी दुनिया लाल हो जाएगी। आपके पास जो निगेटिव चिंतन है, अंतर्मुखी जीवन है। स्वार्थ से घिरा हुआ चिंतन आपके ऊपर हावी है, इसको आप ठीक करना शुरू कर लें, फिर मैं आपको यकीन दिलाता हूँ, विश्वास दिलाता हूँ कि आपको तीनों तरह की सहायता मिलेगी। देने के लिए तीनों खड़े हुए हैं, पहला—आपका अंतःकरण, सिद्धियाँ देने के लिए खड़ा है। हमारे भीतर दिव्य शक्तियाँ हैं, दिव्य क्षमताएँ भरी पड़ी हैं और हम आपको उछाल सकते हैं। आपके भीतर का वर्चस्व, आपके भीतर का वैभव उठे, तो वह आपको निहाल कर देगा। दूसरा—समाज के लोग आपकी आरती उतारने के लिए खड़े हैं। आप जरा प्रकाशवान तो होइए, फिर देखिए हम आपकी कितने तरीके से सहायता करते हैं। सामाजिक जीवन में लोग कितना सहयोग करते हैं और तीसरे—भगवान का, जीवन देवता का अनुदान-वरदान किस तरीके से आपके ऊपर बरसते हैं। आपके लिए देवता फूलों का विमान लिए बैठे हैं। आप अपने को बदलिए तो सही, ऊँचा तो उठाइए। दैवी अनुदान सतत आप पर बरसते ही रहेंगे। आज की बात समाप्त।

◆

देव दक्षिणा की परिणति : एक आदर्श ग्राम

'सात्विक जीवनम् अमृत फलप्रदम्' यह संस्कृत सुभाषित पुरातन ऋषियों की सुदीर्घ जीवन साधना का निष्कर्ष है। इसे जब भी कोई जहाँ भी चाहे अपने प्रायोगिक जीवन की कसौटी पर सत्यापित कर सकता है। सात्विक जीवन का विस्तार जितना होगा, इसके अमृत फल भी उतने ही व्यापक होंगे। व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में इसके प्रयोगों के अनुरूप व्यक्ति, परिवार एवं समाज इसके सत्परिणामों से धन्य होते हैं। उत्तरप्रदेश में सहारनपुर जनपद के देवबंद कस्बे के उत्तर-पूर्व में बसे मिरगपुर गाँव के लोग सामूहिक रूप से पिछले साढ़े चार सौ वर्षों से इस सचाई को अनुभव कर रहे हैं।

इस गाँव के बुजुर्ग बताते हैं कि करीब साढ़े चार सौ साल पहले एक उच्चकोटि के संत बाबा फकीरा ने गुरु दक्षिणा के रूप में गाँव वालों से कभी भी मांस-मदिरा व तामसिक पदार्थों का सेवन न करने की प्रतिज्ञा कराई थी। तब से यहाँ मांस, शराब व अंडे की बात तो छोड़िए, गाँव का कोई भी वृद्ध, युवक या बालक, स्त्री अथवा पुरुष, यानि कि गाँव का कोई भी रहने वाला बीड़ी, सिगरेट, तंबाकू, सुल्फा, चरस, गाँजा, अफीम तो क्या लहसुन व प्याज तक का सेवन नहीं करता। अपने किसी रिश्तेदार या मित्र की आवभगत में यहाँ धूम्रपान की बात नहीं करता। मिरगपुर गाँव के लोग बाबा फकीरा को दिए गए वचन के अनुसार पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए सात्विक जीवन जी रहे हैं। बाबा फकीरा में लोगों की अटूट आस्था है। वह पूरे गाँव के देवता हैं। गाँव में होने वाले प्रत्येक शुभ कार्य में चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक, गाँववासी बाबा की कृपा अनुभव करते हैं।

सात्विक खान-पान व रहन-सहन का शरीर, स्वास्थ्य व आचरण पर कितना असर पड़ता है, यह अहसास मिरगपुर वासियों को देखकर अपने आप ही हो जाता है। यहाँ के लोगों की मिलनसारिता, सहयोगी स्वभाव व उनके स्वाभिमानी व्यक्तित्व के सभी कायल हैं। नदी किनारे ऊँचे टीले पर बसा मिरगपुर सात्विक आचार-विचार व आवभगत में अपनी अलग ही छाप छोड़ता है। यहाँ के लोग गोरे-चिट्टे, लंबे कद व स्वस्थ शरीर वाले हैं। साफ-सुथरी वेशभूषा के नाते भी इलाके में मिरगपुर के व्यक्ति अलग ही पहचाने जाते हैं। गुर्जर बहुल इस गाँव में सभी जातियों के लोगों का सात्विक खान-पान में सहज विश्वास है। सामाजिक एकता और खान-पान की सात्विक एकरूपता में मिरगपुर का कोई सानी नहीं है।

अपनी अलग पहचान वाले इस गाँव पर पिछले साढ़े चार सौ वर्षों से बाबा फकीरा की कृपा-छाया है। गाँव के बाहर फकीरा बाबा की समाधि है। इसे सिद्धकुटी कहा जाता है। लोग यहाँ आकर मन्नते माँगते और अपनी तमन्नाएँ पूरी करते हैं। शिवरात्रि से तीन दिन पहले सिद्धकुटी पर इलाके का मेला लगता है। जितना अनूठा मिरगपुर है, उतना ही अनूठा यहाँ का सिद्धकुटी मेला है। मेले के अवसर पर सभी लोग अपनी रिश्तेदारियों में चिट्ठियाँ भेजकर उन्हें बाकायदा आमंत्रित करते हैं। ससुराल गई लड़कियों व मायके गई बहुओं को इस दिन के लिए खासतौर पर उनके यहाँ जाकर लाया जाता है। आस-पास के शहरी भी इस मेले की आध्यात्मिक उमंगों में सराबोर होने के लिए आते हैं।

आलस्य का अर्थ है—समय की बरबादी। जो समय बरबाद करता है, समझना चाहिए कि वह प्रगति का द्वार अपने हाथों बंद करता है और दुर्गति को आग्रहपूर्वक न्यौत बुलाता है।

इस दिन मिरगपुर का कोई घर ऐसा नहीं होता, जिसमें देशी घी का हलुआ न बनता हो। सुबह से शाम तक गाँव के घर-घर में मेहमानों की दावतें होती हैं। सिद्धकुटी पर भंडारे का इंतजाम किया जाता है। पूरा गाँव आध्यात्मिक रसानुभूति में डूब जाता है। अपनी सात्विक एवं आध्यात्मिक जीवन शैली के बल पर इस गाँव के लोगों ने बहुआयामी विकास किया है। विकास की दृष्टि से शासकीय मानक के अनुसार यह एक आदर्श गाँव है। सुख-समृद्धि एवं सुरक्षा की दृष्टि से इसे श्रेष्ठ मानक के रूप में पहचाना जाता है। सात्विक जीवन से प्राप्त होने वाले सभी अमृत फल यहाँ के निवासियों को सहज सुलभ हैं। इन अमृत फलों की प्राप्ति अन्य लोग भी सात्विक एवं आध्यात्मिक जीवन की रीति-नीति अपनाकर कर सकते हैं। □

युगगीता — ३४

उठो भारत! स्वयं को योग में प्रतिष्ठित करो

(गीता के चतुर्थ अध्याय की युगानुकूल व्याख्या—सोलहवीं कड़ी)

'ज्ञान से अधिक पवित्र कुछ भी नहीं' शीर्षक से विगत मई २००२ की अखण्ड ज्योति पत्रिका में परिजन विस्तार से पढ़ चुके हैं कि ज्ञान की पूर्णता पर पहुँचा हुआ साधक अपनी श्रद्धा, संयमशीलता एवं तत्परता द्वारा भगवत्प्राप्तिरूपी परम शांति को प्राप्त होता है। भगवान इन समापन के श्लोकों में ज्ञान के साथ श्रद्धा, आदर्शों से असीम प्यार, श्रेष्ठता को प्राप्त करने की अटूट लगन पर सर्वाधिक जोर देते हैं। वे कहते हैं कि श्रद्धाहीन अज्ञानी संशय से भरा मनुष्य तो परमार्थ पथ से भटक जाता है एवं अंततः उसका नाश होता है। उसे किसी भी काल व लोक में कभी भी सुख-शांति की उपलब्धियाँ नहीं होतीं। गुरु पर निष्ठा रख उनसे ज्ञान प्राप्त कर जो उपलब्धियाँ मिलती हैं, उन्हें श्रीकृष्ण सर्वोपरि बताते हैं। अज्ञान व अविद्या न केवल मनुष्य को अशांति, दुःख देते हैं, उसकी अधोगति भी करते हैं। विगत कड़ी में ज्ञान व श्रद्धा दोनों शब्दों की विस्तार से व्याख्या की गई थी। जो व्यक्ति श्रद्धावान बनता है, कभी अनावश्यक संदेह नहीं करता, सतत साधनापरायण रहता है तथा चारों संयमों का (इंद्रिय, अर्थ, समय, विचार) पालन करता है, अपने ऊपर अपना नियंत्रण रखता है, उसे निश्चित ही परमात्मसत्ता का, सत्य से साक्षात्कार का अवसर मिलता है, जो मानव जीवन को सार्थक बना देता है।

पहले के तीन श्लोकों में वर्णित युग सत्य को प्रभु श्रीकृष्ण अपने अंतिम दो श्लोकों में कही गई बात द्वारा अधिक प्रभावशाली ढंग से वर्णित कर 'ज्ञान कर्म संन्यास योग' नामक इस महत्त्वपूर्ण अध्याय चार का समापन करते हैं।

योगसन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ ४-४१

"हे धनंजय, जिसने कर्मयोग की विधि द्वारा समस्त कर्मों का परमात्मा में अर्पण कर दिया है और ज्ञान द्वारा (विवेक के माध्यम से) जिसके सभी संशय नष्ट हो गए हैं, उस आत्मपरायण पुरुष को (वश में किए हुए अंतःकरण वाले को) कर्म बाँधते नहीं हैं।"

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४-४२

"इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन, उठ, तू हृदय में स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशय को विवेक-ज्ञानरूपी तलवार द्वारा काटकर समत्वरूपी योग में स्थित हो जा एवं युद्ध के लिए खड़ा हो जा।"

पहले भगवान ने श्रद्धावान को ही ज्ञान मिलता है, यह कहा एवं फिर यह बताया कि अज्ञानी श्रद्धाहीन व्यक्ति जो संशयों से ग्रस्त रहता है, अंततः विनाश को प्राप्त होता है। उसे किसी भी काल में सुख की प्राप्ति नहीं होती। यह एक प्रकार की दुःखद नकारात्मक स्थिति है। ऐसी मनःस्थिति में हमें बहुत से लोग प्रायः सारे समाज के सभी वर्गों में छाए दिखाई देते हैं। उनका एक ही काम है, निरंतर संशय करना। तर्क और श्रद्धा में तर्क को अधिक महत्त्व देना। वे अपने परिकर के सभी व्यक्तियों की नियत कर्म भावना एवं प्रयोजन पर अविश्वास रखते हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक शब्द पर बिना किसी विचार के संदेह रखते हैं। भगवान के अनुसार उनके संशय, उनके अज्ञान के कारण, गैरजिम्मेदारी से भरी भ्रांतियों के कारण ही होते हैं। जब व्यक्ति का न तो अपने आप में और न अपने आस-पास के संसार में ही विश्वास होता है, तो उसे इस संसार में कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं मिलती। साथ ही परलोक में भी उसे दुर्गति का ही सामना करना पड़ता है। इसे कहीं भी किसी भी काल में सुख न मिलने का कारण मात्र यही है कि वह निरंतर शंकाओं से घिरा रहता है। इसीलिए भगवान कहते हैं कि श्रद्धावान पुरुष ही ज्ञान-लाभ प्राप्त करते हैं, अन्य कोई और नहीं।

गीता : एक मानवशास्त्र

गीता वस्तुतः मनोविज्ञान की एक पाठ्यपुस्तिका है। यह एक प्रकार का मानवशास्त्र है, जो वातावरण और परिस्थितियों से बिना प्रभावित हुए एक श्रेष्ठ कर्मों में निरत कर्मठ जीवन जीने हेतु हम सभी को प्रेरित करने के लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण के श्रीमुख से निस्सृत हुआ है। हमारा प्रतिनिधित्व यहाँ अर्जुन कर रहा है। वह बड़ा

संशय में है और यह अज्ञान से जन्मा है। उसे लगता है कि जीतने को कोई अवसर नहीं है। कहाँ उसकी अपनी सात अक्षौहिणी सेना और कहाँ प्रतिपक्ष की ग्यारह अक्षौहिणी सेना। उसके मन में अपने ही प्रति अविश्वास है कि जीत नहीं पाएँगे। इस आत्मविश्वास के अभाव में जो स्वर उसके मुँह से निकल रहे हैं, वे अज्ञानजनित हैं। लौकिक दृष्टि से विवश अर्जुन देखकर भी एक तथ्य जो नकार रहा है, वह यह कि सब कुछ प्रतिकूल होते हुए भी श्रीकृष्ण उसके साथ हैं। यदि इतना मात्र दृढ़ विश्वास वह कर ले, तो वह सारी ग्लानियों-उदासीनताओं पर विजय प्राप्त कर युद्ध क्षेत्र में पूरे संकल्प बल के साथ खड़ा हो सकता है। यहाँ अर्जुन की पग-पग पर परीक्षा है। गीता के हर श्लोक के साथ उसकी ही नहीं, हम सब की भी परीक्षा हो रही है कि जीवन संग्राम में हम स्वयं को कितना तैयार रख पाते हैं। कर्मठता, कर्त्तव्यपरायणता बिना श्रद्धाजन्य ज्ञान के नहीं आ सकती और उसके लिए अपनी गुरुसत्ता पर दृढ़ विश्वास उनके दिए ज्ञान को ग्रहण करने के लिए पात्रता का विकास, साधनपरायणता एवं संयमशीलता का कड़ा अभ्यास चाहिए। जो व्यक्ति शुद्ध अंतःकरण वाले हैं, वे तो स्वतः उस ज्ञान को अपने आप ही यथा समय अपनी आत्मा में पा लेते हैं, पर सामान्य पुरुष, जो संशयों में भटकते रहते हैं, तरह-तरह के तर्कों द्वारा सत्य को पाने का प्रयास करते हैं, श्रद्धा उनके अंदर से उपज ही नहीं पाती, वे तो मानो निरंतर भटकते रहते हैं। इस लोक में नाश को प्राप्त होते हैं और फिर इसी प्रकार जन्म-जन्मांतरों तक विभिन्न योनियों में भटकते रहते हैं।

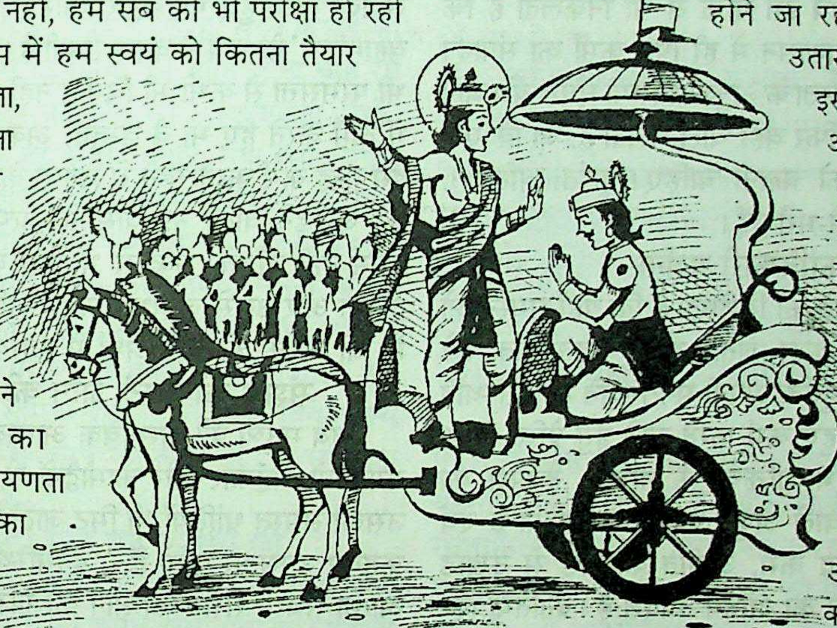

रखें गुरु के ज्ञान पर दृढ़ विश्वास

हम अपनी गुरुसत्ता के वचनों पर यदि दृढ़ विश्वास रखते हैं, हमारे मन में उनके निर्धारणों, युगनिर्माण की उनकी भविष्यवाणी तथा घोषणाओं पर विश्वास है, तब हमारी दुर्गति क्यों हो! हमने तो यह मान लिया है कि हम अकेले हैं, हमें ही सब कुछ करना है। औरों के आचरण हमें जल्दी दिख जाते हैं, तो हम संशयों से घिर जाते हैं। हम अपने आपको देखने, अपनी श्रद्धा-संवर्द्धन करने का, ज्ञानप्राप्ति के परम पुरुषार्थ में तत्पर होने का प्रयास नहीं करते, इसीलिए हमारी भी स्थिति वही होती है, जो अर्जुन की हो रही है। ज्ञान, कर्म संन्यास योग का यह अध्याय भगवान की 'संभवामि युगे-युगे' के आश्वासन से व उनके द्वारा सूर्य को बताए गए योग की चर्चा से आरंभ हुआ था। कर्म, अकर्म, विकर्म की परिभाषा समझाते हुए पंडितजनों की व्याख्या तथा यज्ञ के दार्शनिक पक्ष का विवेचन करते हुए ज्ञान कैसे प्राप्त होगा, किसको प्राप्त होगा व उस ज्ञान की महिमा कितनी बड़ी है, इन सब विवरणों के साथ अर्जुन को युद्ध क्षेत्र में खड़े होने के उद्बोधन पर समाप्त होने जा रहा है। कैसे-कैसे उतार-चढ़ाव आए हैं, इस अध्याय में, पर यह अध्याय कर्म योग पर आधारित एक महापुरुष के लिए, एक संकल्पित अनुष्ठान लिए कार्य कर रहे संगठन के लिए एक निर्देश पुस्तिका है। कर्मयोगी को कैसा होना चाहिए, उसके कर्म दिव्य कब बनेंगे तथा बिना श्रद्धा व ज्ञान के कर्मों को दिशा कैसे मिलेगी, इन्हीं सब प्रतिपादनों पर टिका है यह अध्याय, जिसकी पराकाष्ठा पर हम पहुँच चुके हैं। जहाँ बार-बार भगवान कहते हैं कि अर्जुन, तेरे मन में कोई संशय हो, तो निकाल दे। यदि संशय लेकर जिएगा, कर्मयोग के पथ पर आरूढ़ नहीं होगा, तो विनाश को प्राप्त होगा, इसीलिए संशयों से मुक्त होना अनिवार्य है।

भगवान कह रहे हैं, हे धनंजय! आत्मावान को कर्म नहीं बाँधते, ऐसे व्यक्ति को जिसने विवेक द्वारा अपने समस्त संशयों को नष्ट कर दिया है, ऐसे व्यक्ति को जिसका अंतःकरण उसके वश में है, कर्मों के बंधन से मुक्ति मिलती चली जाती है। **(आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय)** रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे, जिसे नाचना आ जाए, उसके पाँव गलत नहीं पड़ते, तो जिस आत्मा ने स्वयं को

परमात्मा को अर्पित कर दिया है, जिस दिव्यकर्मी के सभी कर्म परब्रह्म को समर्पित हैं, उससे कभी कोई गलत काम हो ही नहीं सकता। उसके मन में ऐसा कोई भाव भी कभी पैदा नहीं होता। वह कर्म-बंधन से मुक्ति पाकर जीवन्मुक्त हो जाता है। परमपूज्य गुरुदेव कभी मौज में आते थे, तो एक गीत सुनाते थे, 'मेरे पैरों में घुँघरू बँधा दे तो फिर मेरी चाल देख ले।' किसी फिल्म का यह गीत सुनाकर वे कहते थे कि ऐसे व्यक्ति की चाल फिर गलत हो ही नहीं सकती। लय और ताल के साथ ही वह चलेगी। ऐसा व्यक्ति कभी गलती नहीं करता, क्योंकि परमात्मा उसका हर क्षण संचालन करते हैं। वह कर्मयोग में सिद्धि प्राप्त कर चुका है। जो बात परमहंस ने कही है कि नाचना सीखने पर गलत पाँव नहीं पड़ते, वही भाव इस पंक्ति से भी निकलता है कि उपास्य-इष्ट के अनुशासन में ही फिर कर्मों का संपादन होने लगता है। परमसत्ता के अनुशासनरूपी घुँघरू बँध जाने पर समर्पित साधक फिर वही चाल चलता है, जो कि एक कुशल कर्मयोगी को चलनी चाहिए। पूर्णतः त्रुटिहीन, सर्वांगपूर्ण कौशल से भरी हुई।

क्रांतिकारी गर्जना

भारतीय संस्कृति की विशेषता है कि यहाँ समस्याओं से भागने को नहीं कहा जाता, अपितु दृढ़तापूर्वक डटे रहने और बुद्धिमत्तापूर्वक अपनी मनःस्थिति से परिस्थिति को नियंत्रित करते हुए कर्म करते रहने हेतु प्रेरित किया जाता है। गीता शुभ शक्तियों के नायक, देवपक्ष का प्रतिनिधित्व करने वाले अर्जुन के प्रति संबोधित है एवं हे भारत! उठो, युद्ध करो, अनीति को जड़ से उखाड़ फेंको, यही योगेश्वर का अंतिम उपदेश है। क्रांतियाँ जब कभी भी होती हैं, तो भगवान का यही आदेश है कि कंदराओं में मत भागो, डटकर मोरचा लो, अनीति से, कुरीति से, वैचारिक प्रदूषण से एवं सतत सम्यक कर्म करते रहो, यही तुमसे अपेक्षा है।

इकतालीसवें श्लोक में भगवान यही कहते हैं कि जब विषयों व स्वार्थों की कामना से युक्त कर्मों का दिव्य योग भावना द्वारा त्याग कर दिया जाता है, तो अशांतिदायक वासनाएँ समाप्त होती चली जाती हैं। अध्ययन-मनन द्वारा इससे आंतरिक ज्ञान में वृद्धि होती है, जो गुरु समर्पण से मिलता चला जाता है। वासनामुक्त अंतःकरण में, ऐसे ज्ञान की वृद्धि होती जाती है, जिसके प्रकाश में हमारी बुद्धि पर घने घटाटोप बादलों की तरह छाए संशय निवृत्त हो जाते हैं (**ज्ञान संछिन्न संशयम्**)। ज्ञान सूर्य मानो उन बादलों को, अज्ञानजन्य भ्रांतियों को अपने प्रकाश से छाँट देता है, नष्ट कर देता है। ऐसा व्यक्ति स्वतः आत्मपरायण हो जाता है (आत्मवन्तं), वह परमचैतन्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है। फिर इस लौकिक जगत और उसकी क्रियाएँ उसे वासनाओं की बेड़ियों में नहीं जकड़ पातीं (**न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय**)।

ऐसी स्थिति में मनुष्य भीतर योग में स्थित रहकर बाहर सभी बुद्धिमत्तापूर्वक किए जाने वाले कर्मों का संपादन कर लेता है। जैसे माँ का ध्यान घरेलू काम-काज में लगा होते हुए भी पालने में पड़े अपने शिशु की ओर निरंतर लगा रहता है, आकाश में उड़ती चिड़िया घोंसले से दूर होते हुए भी अपने बच्चे का ध्यान बराबर रखती है, हमारी गुरुसत्ता सूक्ष्म रूप में विद्यमान युगनिर्माण के कार्यों का संपादन करते हुए भी, हमारी ओर ध्यान निरंतर 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' के भाव से बनाए रखती है। योगी भी, दिव्यकर्मी भी परमसत्ता से कभी भी विमुख नहीं होते। बहिरंग जगत् में कर्म करते हुए भी वे वस्तुतः अकर्म में लीन रहते हैं। इस तरह कर्म करते रहने से मनुष्य के आंतरिक व्यक्तित्व को जकड़ने वाली नई वासनाएँ उत्पन्न नहीं हो पातीं। 'कर्म नहीं बाँधते' शब्द से भगवान का यही आशय है। अज्ञान और उससे जन्मभ्रांतियों से मुक्ति ही वह राजमार्ग है, जो व्यक्ति को सही अर्थों में कर्मयोगी बनाता है।

संशय को काटें, ज्ञान की खड्ग से

जब मनुष्य को वास्तविक आत्मतत्त्व का अनुभव हो गया, जो अहंकार और कामोद्वेगों से ढका हुआ था, तो उसकी समस्त भ्रांतियाँ भी मिट जाती हैं। तब भगवान यह कहकर उपसंहार करते हैं, ''हृदयस्थित अज्ञान से उत्पन्न आत्मा संबंधी संशय को ज्ञान की खड्ग से काटकर योग में स्थित हो जा। उठ, हे भारत तू युद्ध के लिए तैयार हो जा।'' (बयालीसवाँ अंतिम श्लोक) कितना ओजस्वी उद्बोधन है व कितना मर्मयुक्त ज्ञानोपदेशों से भरा कर्मयोग के प्रतिपादन का समापन है। अगले अध्याय के (पाँचवें) जो कर्म संन्यास योग नाम से प्रसिद्ध है, पूर्व भगवान ने अर्जुन को पूरी तरह हिलाकर रख दिया है। आत्मा के तात्कालिक और अपरोक्ष अनुभव (अपरोक्षानुभूति) द्वारा इसके स्वरूप के संबंध में जो भी संशय संव्याप्त हों, उनसे निवृत्त हो जाना ही उचित है। यही संशय हमें अहंभाव में जकड़े रहते हैं और ये अज्ञान से जन्मते हैं। प्रभु कहते हैं इस अज्ञानजनित संशयों को अपरोक्षानुभूति की, विवेक ज्ञान की खड्ग से नष्ट कर दो, काट डालो (**तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः छित्त्वैनं संशयं** बयालीसवाँ श्लोक)। यदि हम प्रभु को निरंतर अपने

आस-पास विद्यमान मानकर, निरंतर जागरूक बने रहकर उनके प्रति अपने कर्मों के अर्पण का भाव रखें, तो हम योग में स्थित हो जाते हैं। यज्ञीयभाव से कर्म करने लगते हैं (योगमातिष्ठ)। सारे अध्याय का सार-संक्षेप यहाँ आ गया है।

कितनी विचित्र बात है। गीता युद्ध क्षेत्र में कही जा रही है। मोहग्रस्त अर्जुन को योगेश्वर कर्मयोग का संदेश दे रहे हैं एवं बार-बार यही कह रहे हैं कि युद्ध कर। हमें लगता है कहाँ योग जैसा उच्चस्तरीय दर्शन एवं कहाँ युद्ध, पर यही तो काव्य के लालित्य की विलक्षणता है। चाहे वह महाभारत का युद्ध क्षेत्र हो, चाहे हमारे अंतर्जगत् का देवासुर संग्राम। हमें सदैव इसी प्रकार के मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। चाहे हम लौकिक जीवन जी रहे हों या रैदास की तरह, रैक्य की तरह, सदन कसाई की तरह निर्लिप्त भाव से कर्मयोगी की भाँति जीना चाह रहे हों, हमें इसी उच्चतर कर्मयोग की आवश्यकता होगी। युगनिर्माण का कार्य, नई दुनिया बनाने, नया इंसान बनाने का, ज्ञानयज्ञ वाला विचार क्रांति का महापुरुषार्थ, इसीलिए तो हमारे लिए एक उच्चस्तरीय कर्मयोग बन जाता है। इस प्रक्रिया का कार्यान्वयन करते-करते हमारी चेतना विस्तृत होती है, जागरूकता बढ़ती है, प्रतिकूल परिस्थितियाँ बदलती हैं तथा आत्मविश्वास बढ़ता चल जाता है। हम सभी समस्याओं का सामना श्रद्धा से भरे हृदय-विवेकजन्य ज्ञान तथा त्यागभाव से करने को तैयार हों, तो सफलता मिलती चली जाती है।

उठो भारत! योग का आश्रय लो

मनुष्य ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट कृति है। **न मानुषात् हि श्रेष्ठतरं किंचित** श्रुति संसार उसके लिए एक क्रीड़ास्थली है। सांसारिक समस्याओं से एक बुद्धिमान एवं संतुलित व्यक्तित्व वाले व्यक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। गीता युवा शक्ति को संबोधित करती हुई कहती है, अज्ञान से बाहर निकलो, एक ऐसे जीवन की तैयारी करो, जिसमें तुम उद्यमपूर्वक प्रयत्नरत हो सको तथा भावी पीढ़ियों के लिए महान् उपलब्धियाँ अर्जित कर सको। जब भी कोई जाति, समाज ऐसे यज्ञीय कर्म को अधिकाधिक परिमाण में व्यापक स्तर पर सेवाभाव से करने को तैयार हो जाते हैं, तो युग बदलने, महाभारत बनने की संभावनाएँ साकार होने लगती हैं। गीता का यह आह्वान है, ''उत्तिष्ठ भारत्'' हम सबके लिए, ऊर्जा से भरी युवाशक्ति के लिए, संवेदना से भरी मातृशक्ति के लिए। भारत नाम से यह संबोधन मात्र अर्जुन को ही नहीं है, पांडव राजकुमार के लिए ही नहीं है, अपितु सभी कालों व युगों के सभी मानवों के लिए है, चाहे वे किसी भी जाति, धर्म, संस्कृति, वर्ग से जुड़े हों। प्राचीन राजा भरत के वंशज होने के नाते अर्जुन को भारत संबोधन दिया जा रहा है। संस्कृत में भा का अर्थ है—प्रकाश, दीप्ति, रतः का अर्थ है—जो रमण करता है। इस प्रकार भारत का अर्थ हुआ, जो ज्ञान के प्रकाश में रमण करता है, ऐसा हमारा गौरवशाली देश है, जिसके नाम से ही ज्ञान का माहात्म्य प्रतिपादित होता है। वास्तविक ज्ञान के प्रकाश में, भास्कर देवता के आभामंडल में, कर्मठ जीवन जीने वाले देवदूतों का देश है भारत। इस देश की कोई सीमा नहीं, यह तो एक विश्वराष्ट्र की परिभाषा है। जैसे-जैसे देव संस्कृति का ज्ञानप्रकाश दिग-दिगंत तक फैलता चला जाएगा, सारा विश्व भारत बनता चला जाएगा।

यदि किसी को वस्तुतः सुखी रहने की आकांक्षा हो, यदि कोई इसका ठोस और वास्तविक आधार प्राप्त करना चाहता हो, तो उसे सन्मार्ग ही अपनाना होगा, सद्भावों को धारण करना होगा, सत्कर्मों को ही करना होगा और यह तभी संभव है जब मनःक्षेत्र में अध्यात्म विचारधारा की सुदृढ़ स्थापना हो।

पहले भी ऐसा रहा है और ऐसी क्रांतिकारी वेला में ही यह युगगीता लिखी जा रही है। जब यजुर्वेद का **''सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा''** वाला संकल्प पुनः जीवंत होने जा रहा है। सच्चा भारतीय श्रीकृष्ण की परिभाषा के अनुसार वही है, जो साहसपूर्वक ज्ञान के प्रकाश में कर्मपरायण जीवन जीने और परमात्मतत्त्व की अनुभूति पाने हेतु तत्पर रह कर्मयोग में स्थित हो। हम सभी को चिंतन करना चाहिए कि क्या हम इस परिभाषा पर खरे उतरते हैं। हम अपने विश्वासों को व्यवहार में लाने का साहस दिखाने की स्थिति में हैं कि नहीं ? हम अपनी निम्नगामी प्रवृत्तियों और विषय-वासनाओं से लड़ने के लिए गतिशील हैं कि नहीं। यदि हैं तो, हम सभी को संबोधन है परमसत्ता का, भगवान श्रीकृष्ण का कि उठो भारत, भारतवासी, देवपुत्रो, अमृतपुत्रो, अपनी गरिमा को पहचानो एवं स्वयं को योग में प्रतिष्ठित करो। बस यहीं एक विलक्षण बिंदु पर इस अध्याय का समापन हो जाता है।

(आगामी अंक से पाँचवाँ अध्याय)

⁂

गुरुकथामृत-३४

माता के हृदय से लिखी गई करुणाभरी चिट्ठियाँ

'युगद्रष्टा का जीवन दर्शन' (वाङ्मय खंड-१, ८.१९) में उद्धृत है, ''नारी की पीड़ा, व्यथा-वेदना को समझ सकना, गहराई से अनुभव कर लेना उसी के लिए संभव है, जिसने नारी का हृदय पाया हो।'' उन्हीं के शब्दों में कहें तो **पुरुष की तरह हमारी आकृति बनाई है, कोई चमड़ी उधेड़कर, फाड़कर देख सके तो भीतर माता का हृदय मिलेगा, जो करुणा, ममता, स्नेह और आत्मीयता से हिमालय की तरह निरंतर गलते रहकर गंगा-यमुना बहाता रहता है।** यह कथन इस संदर्भ में है कि हमारी गुरुसत्ता ने जीवनभर आधी जनशक्ति के उद्धार के लिए आवाज उठाई। उसे निरंतर जाग्रत् बनाए रखा एवं सही अर्थों में एक सशक्त नारी जागरण आंदोलन खड़ा कर परमवंदनीया माता जी के हाथ में सौंप दिया। उनने लिखा कि उसे भोग्या, रमणी, कामिनी की स्थिति से निकलकर पुरुष के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर चलना एवं हर क्षेत्र में स्वावलंबी बनने का प्रयास करना चाहिए। लेखनी के हर कोण से वे मातृशक्ति की अभ्यर्थना करते दिखाई देते हैं। चाहे वह उनका निरंतर अखण्ड ज्योति, युगनिर्माण के लिए किया गया लेखन हो अथवा 'महिला जाग्रति अभियान' पत्रिका के लिए लिखे गए उनके मार्गदर्शन हों, सभी तरफ यही करुणा दिखाई देती है। उनके लिखे पत्रों में विशेष रूप से एक मार्गदर्शक शैली भी दृष्टिगोचर होती है, जो पत्र लेखन कला का एक विलक्षण नमूना है।

बदायूँ की कुंती शर्मा को ४-१२-१९५१ को एक पत्र में वे लिखते हैं-

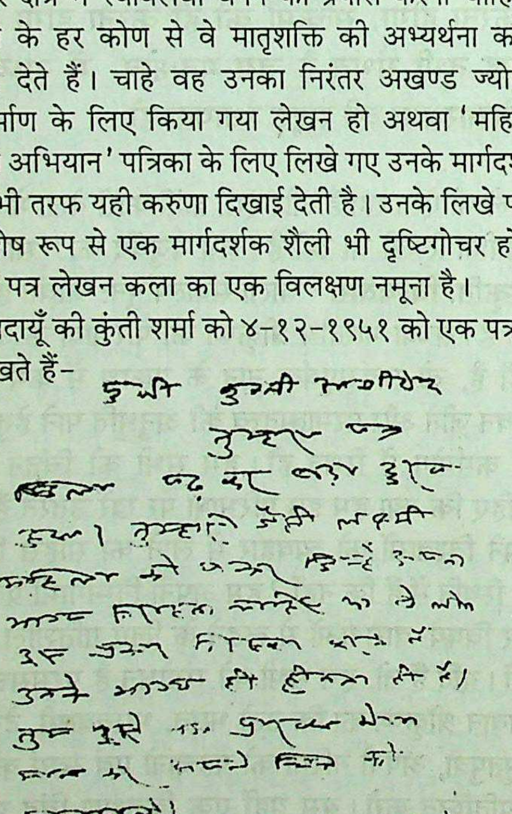

पुत्री कुन्ती आशीर्वाद
तुम्हारा पत्र
मिला पढ़ कर बड़ा दुःख
हुआ। तुम्हारी जैसी लक्ष्मी
महिला को पाकर जिन्हें अपना
भाग्य सिहाना चाहिए था वे लोग
इस प्रकार तिरस्कार करते हैं
उनके भाग्य की हीनता ही है।
तुम इसे प्रारब्ध भोग
मानकर अपने चित्त को
समझालो।
तुम विद्या पढ़ने में
पूरा ध्यान दो। नारी की
सबसे बड़ी दुर्बलता यह होती है

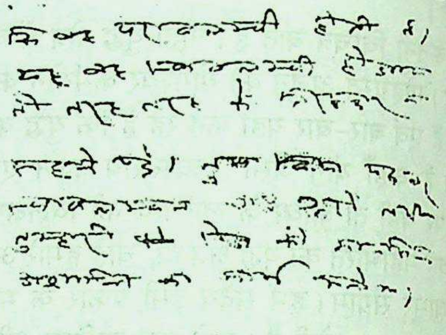

कि वह परावलम्बी होती है।
यदि वह स्वावलम्बी हो जाय
तो तरह तरह के तिरस्कार
सहने पड़ें। तुम विद्या पढ़कर
स्वावलम्बन प्राप्त करो तभी
तुम्हारी रोज की अशान्ति
का मार्ग मिलेगा।

पुत्री कुंती, आशीर्वाद

तुम्हारा पत्र मिला। पढ़कर बड़ा दुःख हुआ। तुम्हारी जैसी लक्ष्मी महिला को पाकर जिन्हें अपना भाग्य सराहना चाहिए था, वे लोग इस प्रकार तिरस्कार करते हैं, यह उनके भाग्य की हीनता ही है। तुम इसे प्रारब्ध भोग मानकर अपने चित्त को समझा लो।

तुम विद्या पढ़ने में पूरा ध्यान दो। नारी की सबसे बड़ी दुर्बलता यह होती है कि वह परावलंबी होती है। यदि वह स्वावलंबी हो जाए, तो तरह-तरह के तिरस्कार न सहने पड़ें। तुम विद्या पढ़कर स्वावलंबन प्राप्त करो, तभी तुम्हारी रोज की अशांति का मार्ग मिलेगा।

पत्र स्वयं में बड़ा स्पष्ट है। वे कुंती बहन की इस दुर्दशा के लिए उन पुरुषों, घर के सदस्यों को भाग्यहीन बताते हैं, जिनके घर वह पिता का घर छोड़कर गई है। किसी भी बहू के लिए पिता से भी अधिक ममत्व भरा स्पर्श है एवं मार्गदर्शन है कि उसे क्या करना चाहिए? संभवतः उनकी दो पुत्रियाँ इसका कारण रही हों, जो ससुराल वाले न चाहते हों। वंश चलाने के लिए पुत्र की चाह जो बड़ी प्रबल बनी रहती है। अब यह नारी के हाथ की बात तो है नहीं, पर इसी कारण न जाने कितनी नारियाँ त्रास-घुटन से जूझती रहती हैं, सतत पति व सास की प्रताड़ना सहती रहती हैं। बच्चा न हो, तो उसे अपमान झेलना होता है, भले ही दोष पति में ही हो एवं बच्चा हो व लड़की हो, तो भी उसे निरंतर उन्हीं बच्चियों के समक्ष सारी अपमानजनक टिप्पणियाँ सुनकर जीवन काटना पड़ता है।

३०-८-५४ को श्री सीताराम गुप्ता की पत्नी जिन्हें मुन्नी नाम से संबोधित किया गया है, एक पत्र में वे लिखते हैं-

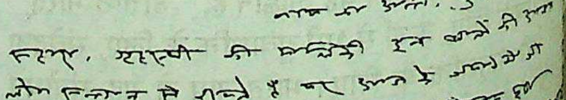

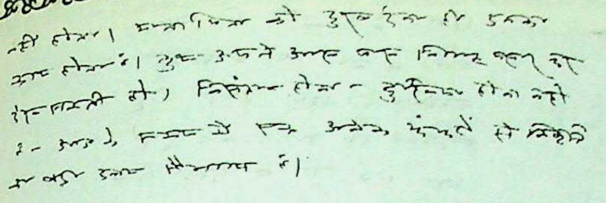

नाम का अंत, बुढ़ापे का सहारा, गृहस्थी की मालिकी इन बातों की आशा लोग संतानों से रखते हैं, पर आज के जमाने में जो संतानें होती हैं, उनसे कोई भी प्रयोजन पूर्ण नहीं होता। माता-पिता को दु:ख देना ही उनका काम होता है। तुम अपने आस-पास निगाह पसारकर देख सकती हो। निस्संतान होना, दुखिया होना नहीं है। आज के समय में एक अनेक झंझटों से निवृत्ति का बड़ा उत्तम सौभाग्य है।

निस्संतान इस महिला को कितनी बड़ी दिलासा दी गई है, साथ ही एक नई सोच भी दी गई है। समाज सुधारक स्तर पर जो अपनी युवावस्था से ही सक्रिय रहे हों, उस जमाने के हिसाब से जिनके माध्यम से बड़े क्रांतिकारी कार्य हुए हों, उनने आशीर्वाद की भूल-भुलैया में इस बहन को न रखकर एक तरह से नया निर्णयात्मक दृष्टिकोण विकसित करने को कहा है। कन्या-पुत्र में भेद करना जहाँ एक अवांछनीय कुरीति है, वहाँ बच्चा न होने पर तिरस्कृत करना भी समाज में एक कुरीति बन गई है। सुपात्रों से संतति के वरदान मिले, ऐसे ढेरों उदाहरण हमने देखे हैं, पर उन्हीं गुरुसत्ता के द्वारा नारी शक्ति को पत्र द्वारा, प्रत्यक्ष द्वारा मार्गदर्शन देते भी देखा है, जिसमें निस्संतान रहकर उनके द्वारा अधिक समाज-सेवापरक कार्य संपन्न किया गया।

दैनंदिन जीवन के कष्टों से लेकर अन्य सभी संतापों में पूज्यवर सतत पितृवत् सलाह देकर अपनी शिष्या को हिम्मत दिया करते थे। ऐसा ही एक मार्गदर्शन इस पत्र में दृष्टिगोचर होता है-

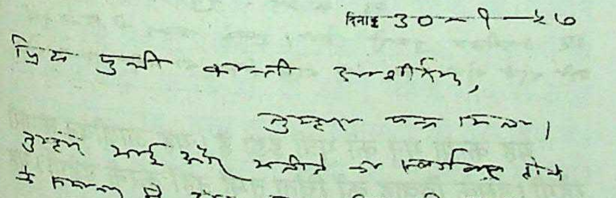

प्रिय पुत्री कांती ३०-१-५७

आशीर्वाद

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे भाई और भतीजे का स्वर्गवास होने के समाचार से दु:ख हुआ। ईश्वर की इच्छा प्रबल है। उसके आगे मनुष्य का वश नहीं चलता। यह सोचकर ही अब धैर्य, विवेक और संतोष से ही काम लेना चाहिए। तुम बुद्धिमान हो। उन लोगों के परिवार को धैर्य बँधाने और शोक को घटाने के लिए समझाने का प्रयत्न करना।

आज नहीं तो कल, हमारा-तुम्हारा भी यही होना है। सो मनुष्य शरीर को अलभ्य मानकर इसका श्रेष्ठतम सदुपयोग करते रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस पत्र की भाषा किसी भी पत्राचार करने वाले का मार्गदर्शन करती है। इसमें जो जीवन-दर्शन का शिक्षण दिया गया है, वह कितना उच्चस्तरीय है एवं किसी को भी इन शब्दों से उदात्त बल मिल सकता है। हमारे परमपूज्य गुरुदेव न केवल ऐसी परिस्थितियों में शब्दों से 'हीलिंग' करते थे, परोक्ष रूप में अपनी शक्ति भी भेजते थे। विशेषत: अपनी बेटियों की ऐसी मन:स्थिति में, जबकि उन्हें विछोह की मानसिकता से गुजरना पड़ रहा हो। वे साधना संबंधी मार्गदर्शन भी पुरुष-महिला शिष्याओं को समान रूप में भेजते थे। उन मार्गदर्शन के साथ जो शब्दों का गुंथन रहा करता था, वह इतना विलक्षण होता था कि पढ़कर ऐसा लगता था मानो आसमान छू लें।

२८-६-५५ को लिखा एक पत्र यहाँ प्रस्तुत है-

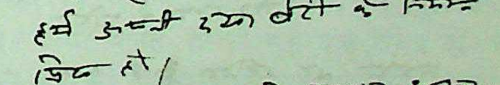

प्रिय पुत्री शकुंतला, आशीर्वाद

तुम्हारा पत्र मिला। अपने कुशल पत्र बराबर भेजती रहा करो। तुम हमें अपनी दया बेटी के समान प्रिय हो।

तुम्हारी आत्मा अत्यंत ही पवित्र है। तुम्हारे तप और पुण्य-प्रताप से एक-एक करके जीवन की सब कठिनाइयाँ हल होती चली जा रही हैं। अभी कुछ और बाधाएँ शेष हैं। तुम गायत्री माता का आँचल मजबूती से पकड़े रहोगी, तो वे आपत्तियाँ और सरल हो जाएँगी।

पत्र की भाषा से छलकती भाव संवेदना उन्हें पहले अपनी बेटी के समकक्ष बिठाती है, फिर उन्हें तप में संलग्न होने की प्रेरणा देती है। पत्र-लेखन की कला का विश्वकोश भी बनाया जाए, तो इतने सुंदर शब्दों का चयन उसमें नहीं मिलेगा।

मिशन से जुड़े परिजन माया वर्मा बहन से परिचित हैं। अब वे इस संसार में नहीं हैं, पर अपनी कृतियों से अमर हो गई हैं। उन्हें समय-समय पर लिखे पत्रों में से एक यहाँ उद्धृत है-

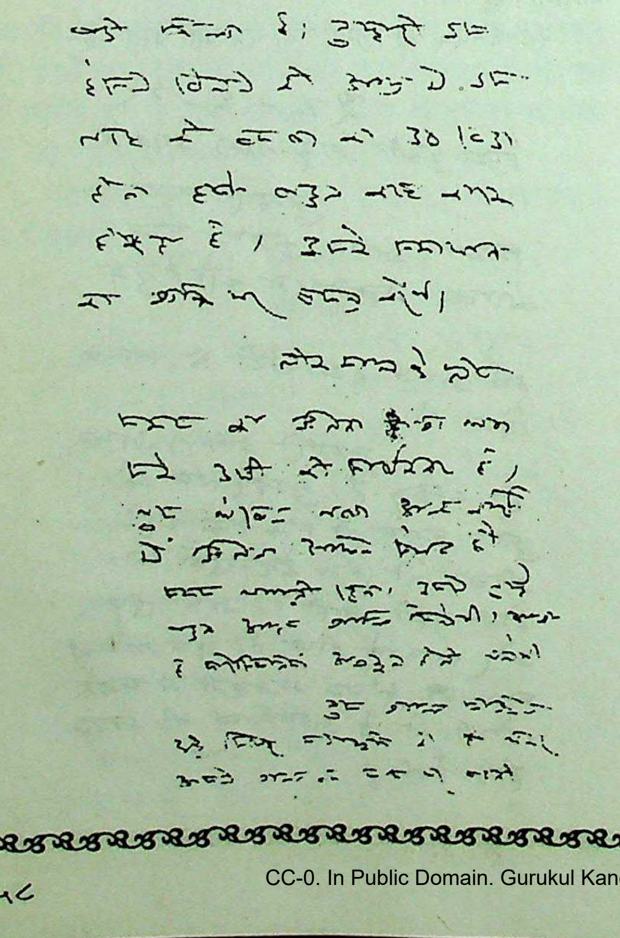

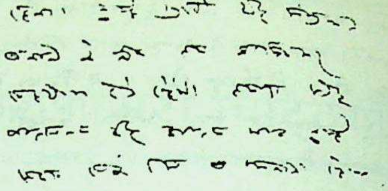

चि. माया, स्नेह ६-१०-६१

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हें सिरदरद की व्यथा लग गई है, जिससे बड़ी चिंता है। तुम्हारी इस हँसने-खेलने की आयु में इस तरह की व्यथा का उठ खड़ा होना हमें बहुत कष्टकारक हो रहा है। इसके समाधान का शक्ति भर प्रयत्न करेंगे।

लोक मंगल के लिए समय का जितना अंश लग सके, उसी में सार्थकता है। तुम लेखन तथा अन्य कार्यों में जितना अधिक संभव हो, समय लगाती रहना। इससे तुम्हें बहुत आत्मशांति मिलेगी। आशा है परिस्थितियाँ अनुकूल होती चलेंगी।

तुम शांत, निश्चिंत और स्थिर मनोभूमि को लेकर अपने गंतव्य पथ पर बढ़ती रहना। तुम्हें सुखी और समुन्नत बनाने के लिए हम शक्ति भर सहयोग देते रहेंगे। हमारा स्नेह-वात्सल्य और आत्मभाव तुम्हें सदा एवं नित्य मिलता रहेगा।

माया दीदी ने जीवन भर अपने आराध्य की गीता गाई, उनका मार्गदर्शन पाकर अपने कष्ट भुलाती रहीं एवं ढेरों भक्ति व क्रांति के गीत लिखकर दिए तथा मार्गदर्शन को सार्थक बना गईं।

अंत में एक और पत्र का एक अंश उद्धृत करने का मन है, जो किसी अज्ञात साधक को उनकी पुत्री के संबंध में लिखा गया था। हमें नहीं ज्ञात वह बच्ची कहाँ है, पर द्रष्टा स्तर की सत्ता ने कुछ देखा एवं उसके पिता को १८-५-५५ को कुछ यों लिखा-

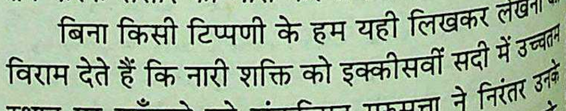

यह कन्या मनु की पुत्री इड़ा है। यह आजीवन कुमारी रहेगी। इसके विवाह की चिंता तुम्हें नहीं करनी पड़ेगी। यह तप करके संसार का भारी कल्याण करेगी।

बिना किसी टिप्पणी के हम यही लिखकर लेखनी को विराम देते हैं कि नारी शक्ति को इक्कीसवीं सदी में उच्चतम स्थान पर पहुँचाने को संकल्पित गुरुसत्ता ने निरंतर उनके समग्र उत्कर्ष का प्रयास किया, आंदोलनों को गतिशील करके, मातृ शक्ति को नेतृत्व देकर एवं अपनी संवेदनासिक्त पाती से शब्दों का स्पर्श देकर। ऐसा सर्वांगपूर्ण स्वरूप बिरला ही देखने को मिलता है। ●

श्रीरामलीलामृतम्—६

चेतना की शिखर यात्रा

(मई २००२ अंक से आगे)

हिमालय हमारा घर

गुफा के द्वार पर पिताश्री ने आवाज लगाई। भीतर से कोई जवाब नहीं आया। गुफा की दीवारों से टकराकर आवाज वापस लौट आई। मशाल जलाकर गुफा के भीतर तलाशने का निश्चय किया गया। करीब बारह मीटर लंबी आड़ी-टेढ़ी गुफा के अंदर तक तलाश किया। श्रीराम का ठिकाना नहीं था। हारकर सब लोग वापस लौट आए। घर पर ताई जी ने रो-रोकर बुरा हाल बना लिया था। ढूँढ़-खोज चलती रही। अगला दिन शुरू हुआ। करीब सात बजे ताई जी के मायके सहपऊ (मथुरा) से एक संबंधी आए। उनका नाम रुकमणी प्रसाद था और गाँव के रिश्ते से वे ताई के चाचा लगते थे। वे रात को ही आ गए थे, लेकिन उस क्षेत्र की रीति के अनुसार बहिन-बेटी के घर नहीं रुका जाता है और न ही अन्न-जल ग्रहण किया जाता है, इसलिए वे गाँव के बाहर एक मंदिर में ही ठहर गए थे।

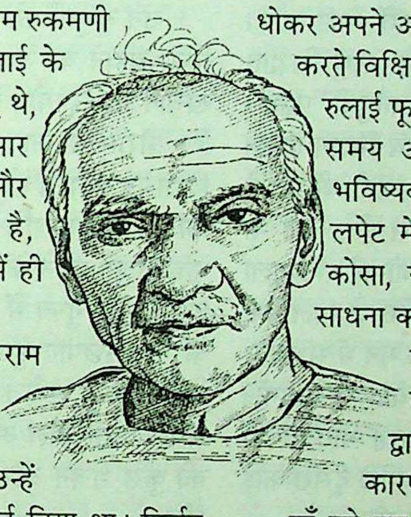

भतीजी के यहाँ पहुँचे, तो कोहराम मचा देखा। कारण मालूम हुआ कि कुलदीपक कल से लापता है। रुकमणी प्रसाद जी को ध्यान आया। रास्ते में उन्हें दस-बारह साल का एक बच्चा दिखाई दिया था। निर्जन रास्ते में उसे अकेले देखकर आश्चर्य हुआ था। पूछा भी था कि बच्चे कहाँ जा रहे हो, तो उसने सहज भाव से उत्तर दिया था हिमालय। उत्तर सुनकर रुकमणी जी हँस दिए थे। उनके मुँह से बरबस निकल आया था, नटखट कहीं का। उत्तर पर हँसी इसलिए आई थी कि हिमालय आस-पास तो है नहीं। पर्वत के नाम पर लोगों को सिर्फ गोवर्धन की जानकारी है, वह भी कम-से-कम चालीस मील दूर है। आँवलखेड़ा आकर पता चला कि वह बच्चा उनके गाँव की बेटी का ही चिरंजीव है।

रास्ते में श्रीराम के मिलने की सूचना पाकर पिताश्री और घर के कुछ अन्य पुरुष जैसे थे, उसी हालत में चल दिए। रुकमणी जी उनके साथ उस जगह ले पहुँचे, जहाँ श्रीराम रास्ते में मिले थे। उस जगह होने का कोई सवाल ही नहीं था। उसी रास्ते पर तीन-चार मील आगे गए। वहाँ एक झील के किनारे बने शिवालय में श्रीराम ध्यानस्थ बैठे दिखाई दिए। देखकर जैसे साँस में साँस आई। पिताश्री ने ध्यान पूरा होने तक प्रतीक्षा की और आसन से उठते ही पुत्र को कसकर भींच लिया। यह क्या तुम्हारे हिमालय जाने की उम्र है? बिना बताए क्यों चले आए? माता-पिता का जी दुखाकर भगवान को पाना क्या धर्म है? इस तरह के कितने ही प्रश्न पूछते हुए उन्होंने अपने बेटे के सिर पर गंगा-जमुना बहा दी।

ताई जी का सामना और कठिन था। पिता ने तो रो-धोकर अपने आपको समझा लिया। ताई जी रोते-विलाप करते विक्षिप्त-सी हो गई थीं। बेटे को देखकर जोरों से रुलाई फूट पड़ी। उनके विलाप में श्रीराम के जन्म-समय आने वाले साधु-संन्यासियों, स्वप्नों, भविष्यवाणियों और पूजा-पाठ आदि सभी कुछ लपेट में आ गए। हर किसी को उन्होंने जमकर कोसा, जो उनके हिसाब से श्रीराम में तप और साधना की प्रेरणा के लिए जिम्मेदार था। पुत्र ने माँ को समझाने की कोशिश की, कहा कि साधु-महात्माओं को मत कोसिए। अपने द्वारकाधीश को मत कोसिए। आपका जी मेरे कारण दुखी हुआ है। आप मुझे कोसिए।

माँ को हुए कष्ट के लिए अपने आपको उत्तरदायी ठहराने के बाद ताई जी का रुदन कुछ थमा। कुछ क्षण वे चुप रहीं। फिर रुँधे हुए कंठ से बोलीं, तुमने मुझे कष्ट दिया है न? अगर मानते, हो तो मुझे एक वचन दो। बालक श्रीराम आगे की बात सुनने के लिए टकटकी लगाकर देखने लगे। ताई जी ने कहा, ''मुझे छोड़कर साधु-संन्यासी बनने की बात कभी नहीं सोचोगे। तुम हिमालय की आत्मा हो, तो हो। मेरे जीवित रहने तक सिर्फ श्रीराम हो। मेरे सामने हिमालय में बस जाने की बात कभी मत सोचना। मेरे बाद चाहे जहाँ रहना।'' ताई जी जैसे एक-एक वाक्य सोच-समझकर कह रही थीं। श्रीराम ने भी एक-एक शब्द को गौर से सुना और कहा, ''हाँ ताई, मैं हमेशा आपके साथ रहूँगा। ब्रजक्षेत्र को छोड़कर भी नहीं जाऊँगा, क्योंकि आपको ठाकुर जी का घर बहुत भाता है न।''

लाड़ले का यह आश्वासन या वचन सुनकर ताई जी तुरंत शांत हो गईं। उनकी शांति में यह दृढ़ विश्वास भी था कि बेटे ने जो कह दिया है, उसका अक्षरश: पालन करेगा, क्योंकि वह वचन का पक्का है। वह दिन हवेली में उत्सव की तरह मनाया गया। माँ परम आश्वस्त थीं कि उनका दुलारा अब कभी उनसे नहीं बिछुड़ेगा। काम-काज के लिए अथवा किसी और प्रयोजन से प्रवास पर जाना पड़े, वह बात अलग है। वह विछोह की श्रेणी में नहीं आता। ताई जी की आस्था और अपेक्षा पुत्र को अपनी गृहस्थी की, अस्तित्व की छाया में ही रखने की थी। श्रीराम ने उस आस्था के निर्वाह का वचन दे दिया।

हिमालय को अपना घर बताते हुए निकल जाने और वापस लौट आने के बाद शिक्षा-दीक्षा फिर पहले की तरह चलने लगी। अब पिताश्री ने भी ध्यान देना शुरू किया। चार-छह महीने में उनकी प्राथमिक शिक्षा पूरी हो जानी थी। सावधानी के तौर पर यह जरूरी समझा गया कि बालक को आगे पढ़ने के लिए गाँव से बाहर नहीं भेजा जाए। पिताश्री भागवत के विद्वान् थे ही। उन्होंने 'लघु सिद्धांत कौमुदी' पढ़ाई, फिर 'मध्य' और 'सिद्धांत कौमुदी' पढ़ाई। प्राथमिक शिक्षा पूरी होने के बाद और समय मिलने लगा। भागवत, रामायण और महाभारत के बाद आर्षग्रंथों में भी अच्छी गति होने लगी। पिताश्री को आभास होने लगा था कि उनकी इहलीला पूरी होने वाली है। गुरुजी की पाठशाला छूटने के बाद उन्होंने पुत्र से कह दिया था कि दो साल तक सब कुछ भुलाकर विद्या ग्रहण करो। उनके मन में संभवत: विरासत के रूप में भागवत दे जाने की बात रही होगी। शायद सोचा होगा कि पुत्र भी उनकी ही तरह भागवत का उपदेश करे। इस शास्त्र से आरंभ कराने के पीछे दूसरा कोई आशय रहा हो, तो अनुमान ही लगाया जा सकता है।

विद्या का वितरण

पं. रूपराम की पाठशाला में पढ़ लेने और लिखना-बाँचना अच्छी तरह आ जाने के बाद श्रीराम के मन में उसे बाँटने की वृत्ति का उदय हुआ। मालवीय जी से उपवीत लेने के बाद जैसे उन्होंने दूसरे बच्चों को भी जप-ध्यान सिखाना शुरू किया था, उसी तरह लिखना-पढ़ना भी दूसरों को बाँटने की इच्छा उमगने लगी। पिता से शास्त्र और संस्कृत सीखने के बाद थोड़ा-बहुत समय बचता। श्रीराम उस समय में चौपाल पर चले जाते। वहाँ कोई-न-कोई बैठा रहता था। चार-पाँच लोग भी जमा हो जाते, तो उनका समय इधर-उधर की बातों में बीतता। श्रीराम उन्हें कुछ पढ़कर सुनाने के लिए कहते। जिन्हें अक्षर ज्ञान था और थोड़ा बहुत पढ़ना आता था, वे तो सुना देते। जिन्हें पढ़ना नहीं आता, वे चुप रह जाते। श्रीराम उनसे कहते, आप पढ़ते क्यों नहीं ? नहीं आता है तो सीख लेना चाहिए। आमतौर पर उत्तर होता था कि अब पढ़ने से क्या लाभ ? उमर बीत गई है, थोड़ी-बहुत बची है, वह भी कट जाएगी।

निराश करने वाला यह उत्तर सुनकर शुरू में तो कोई काट नहीं की, लेकिन जब सभी यह जवाब देने लगे, तो एक दिन श्रीराम ने पढ़ाई की चर्चा छेड़े बिना कहा, जिस गुफा में मैं ध्यान करने जाता था, वहाँ खजाना गड़ा हुआ है। खजाने का नाम सुनकर चौपाल पर बैठे लोगों की आँखें चौड़ी हो गईं। उन्होंने कहा, बालक की आध्यात्मिक रुचि और साधना स्थिति के बारे में सभी जानते थे, इसलिए किसी ने अविश्वास नहीं किया। न ही उसे हँसी में उड़ाया। पूछा, उस खजाने को निकालने के लिए क्या करना होगा? श्रीराम ने कहा, लेकिन आप उस खजाने का क्या करेंगे? आपकी तो उमर निकल गई है, थोड़ी बहुत बची है, वह भी कट जाएगी।

उन बुजुर्गों को समझ में नहीं आया कि श्रीराम उनको किस बहाने का उत्तर दे रहे हैं। उन्होंने कहा, नहीं-नहीं, खजाने का उपयोग तो किसी भी उम्र में किया जा सकता है। श्रीराम ने कहा, उस धन को पाने के लिए आपको विद्याधन कमाना होगा। आप पढ़ना सीखोगे, तभी उस धन को पाने वाला विधि-विधान समझोगे। यह समझाने के बाद कुछ बुजुर्ग पढ़ने के लिए तैयार हुए। कहते हैं कुछ लोगों ने उसके बाद गुफा में ढूँढ़-खोज की और वहाँ एक चट्टान के नीचे छिपाए हुए स्वर्ण आभूषण निकले। ये आभूषण धांधू नामक डकैत की लूट भी हो सकते हैं या महज संयोग। बहरहाल अध्यापन के दौरान श्रीराम ने उन बुजुर्गों को कुछ भजन और रामायण की चौपाइयाँ जरूर सिखा दी थीं।

छपको की सेवा

आँवलखेड़ा अपनी तमाम अच्छाइयों के साथ जी रहा था। बुराइयाँ भी थीं। उनमें सबसे बड़ी बुराई जातिगत ऊँच-नीच या छुआछूत की थी। यह स्थिति बड़ी विचित्र और अबूझ थी कि लोग पिछड़ी जाति के लोगों से नफरत नहीं करते थे। उनके सुख-दुःख का ध्यान भी रखते, लेकिन उनसे दूर-दूर रहते थे। ब्याह-शादियों में उन्हें बुलाया जाता था, लेकिन उन्हें अपने समूह में शामिल नहीं किया जाता था। उन्हें अलग पाँत में भोजन कराया, बिठाया जाता, उसी तरह अगवानी की जाती और विदा भी दी जाती। घृणा नहीं होते हुए भी दुरदुराने की यह आदत किसी विकृति का ही परिणाम थी।

कभी किसी को रोग-बीमारी हो जाए, तब भी जीना

दूभर हो जाता। सन् १९२३ की घटना है। आँवलखेड़ा के एक कोने में, जिसे गाँव से बाहर कहना ही ठीक होगा। चार-पाँच झोंपड़ीनुमा घर बने हुए थे। इन घरों में जमादार और डोम जाति के परिवार रहते थे। इस तरफ कोई झाँकता नहीं था। मझली जाति के लोग भी नहीं, जिन्हें सवर्ण भी उन्हीं की तरह हेय मानते थे। दलित बस्ती की एक स्त्री छपको पंडित जी की हवेली की सफाई करने आया करती थी। बड़ी उम्र के लोग उसे नाम से बुलाते थे और छोटे बच्चे चाची या अम्मा कहते थे। छपको नियमित रूप से दरबार लोगों के घरों में जाती थी। सवर्णों को तब ये लोग दरबार ही कहते थे। हारी-बीमारी में भी वह नहीं चूकती थी। एकाध दिन की नागा हो जाए, तो दरबार लोग हाय-तौबा मचा देते थे। दस बातें सुनाते और ज्यादा हो तो काम छुड़वाने की धमकी देते थे। धमकी और सजा के डर से सरदी, खाँसी और हाड़ बुखार के समय भी छपको की जाति-बिरादरी के लोग कभी नागा नहीं करते। किसी की तबियत ज्यादा खराब होती, तो उसकी जगह दूसरा कोई आता।

छपको को किसी ने बीमार पड़ते नहीं देखा था। उसके मुँह से किसी ने सिरदरद की शिकायत भी नहीं सुनी थी। एक दिन छपको हवेली नहीं पहुँची। शाम तक इंतजार किया, वह नहीं आई। अगले दिन भी यही हाल था। वह सफाई के लिए नहीं पहुँची। पास-पड़ोस में पूछा, तो वहाँ भी नहीं गई थी। चार-पाँच दिन बीत गए, छपको के परिवार में कोई और नहीं था कि अपनी जगह दूसरे को भेज देती। लोगों ने सोचा कि दूसरा इंतजाम किया जाए। किसी को यह नहीं सूझा कि वह बीमार भी हो सकती है। घर में छपको की जगह किसी और को बुलाने की बात चलने लगी, तो श्रीराम के कान में भी पड़ी। उन्हें लगा कि हो-न-हो, छपको अम्मा की तबियत खराब हो गई हो। उन्हें कोई दवा-दारू देने वाला नहीं है। इसलिए वे नहीं आ पा रही हीं। ताई जी से उन्होंने कहा भी कि छपको अम्मा को दवाई देनी चाहिए। ताई जी ने गाँव-घर के रिवाज के अनुसार कह दिया, यहाँ आएगी तब दे देंगे। श्रीराम ने कहा कि वह ठीक होगी, तभी आएगी न। बिना दवा के ठीक कैसे होगी?

श्रीराम चुपचाप उस टोले की ओर चल दिए, जहाँ छपको अम्मा रहती थी। कूड़े-कचरे और गंदगी के ढेर पार करते और बदबूदार सड़ी नालियाँ लाँघते-फाँदते हुए छपको की झोंपड़ी के सामने पहुँच गए। चार-पाँच घरों में सही ठिकाना मालूम करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। दरवाजे पर पहुँचकर पुकारा। अंदर से कोई आवाज नहीं आई, तो दरवाजे के नाम पर लगी हुई घास-फूस की आड़ हटाकर झाँका। छपको अम्मा बेसुध-सी चटाई पर पड़ी थी। पाँवों की आहट सुनकर उसने आँखें खोलीं। श्रीराम को देखकर हड़बड़ा उठी। बैठने की कोशिश करने लगी, लेकिन बैठ नहीं पाई।

उठने की कोशिश में वापस गिरते हुए छपको ने कहा, यहाँ क्यों आए हो? घर पर पता चलेगा, तो मार पड़ेगी। श्रीराम ने कुछ नहीं सुना। हाथ लगाकर देखा, शरीर बुरी तरह तप रहा था। बुखार है, हथेली देखना चाही, याद था कि घर में किसी को बुखार आता है, तो हथेली और जीभ वगैरह देखते हैं। हथेली में घाव था। उससे बदबू आ रही थी और पीब बह रहा था। शायद घाव सड़ने लगा था और इसी की वजह से बुखार भी आ रहा था।

चिंता मत करो, मैं दवा लेकर आता हूँ। श्रीराम ने कहा और छपको अम्मा कुछ कहे, उसे सुनने से पहले ही झोंपड़ी के बाहर। दवाखाना वहाँ से काफी दूर था। झोंपड़ी से बाहर निकलकर पहले तो पड़ोस से पानी लिया और अम्मा को पिलाया। फिर दौड़कर वापस चले गए और मरहम-पट्टी का सामान लेकर कुछ ही मिनटों में वापस हो गए। साफ धुले हुए कपड़े की पट्टी बनाई, जाने कहाँ से लाल दवा और मरहम का जुगाड़ कर लिया। मरहम-पट्टी की और काढ़ा बनाकर पिलाया, ताकि बुखार कुछ कम हो जाए। छपको अम्मा की आँखें डबडबा आईं। दवा से ज्यादा सेवा और सहानुभूति ने काम किया। उन्हें नींद आने लगी। फिर आने की बात कहकर श्रीराम वापस चले गए।

अगले दिन के उपचार का क्या प्रबंध करना है? इस उधेड़बुन में रमते हुए श्रीराम हवेली में आ गए। देखा बाहर द्वार पर ही चाचा खड़े हुए हैं। उनके हाथ में एक कलश है। द्वार पर आते ही उन्होंने कलश से जल निकाला और दोनों हाथों से भरकर तीन बार श्रीराम पर छिड़का। फिर दरवाजे के बाहर ही नहाने के लिए कहा। कपड़े वहीं लाकर पहले से रखे हुए थे। नहाने के बाद वे कपड़े पहने और पुराने पहने हुए कपड़े वहीं छोड़ दिए। शुद्धिकरण की यह कार्रवाई पूरी होने के बाद श्रीराम अंदर आए। उन्होंने कोई सवाल नहीं किया। यही कहा कि गंगाजल के साथ कुछ और जोड़ी कपड़ों का इंतजाम कर लेना। आगे कई दिन तक छपको अम्मा के यहाँ जाना है। पश्चात्ताप और क्षमा माँगने या सफाई देने की जगह पर ये वचन सुनकर घर के लोग हैरत में पड़ गए। श्रीराम ने अगली बात यह कही कि जब तक अम्मा का घाव ठीक नहीं हो जाता, रोज जाऊँगा। उत्तर में उलाहना या व्यंग्य नहीं था। निश्चय की झलक दिखाई दे रही थी। इस जवाब पर खासी डाँट पड़ी। उस दिन उपवास रखने के लिए कहा गया।

डाँट, दंड और दबाव से अप्रभावित श्रीराम अगले दिन भूखे ही छपको की सेवा करने गए। मरहम-पट्टी कर दवा

देकर वापस लौटे, तो हवेली के बाहर ही ठिठक गए। ताई जी ने देखा। उनका मन रो रहा था, लेकिन प्रचलन के विपरीत जाने का साहस भी नहीं कर पा रही थीं।

अछूत सेवा के अनोखे प्रायश्चित का निर्वाह करते हुए ताई जी ने श्रीराम के लिए निर्धारित मिट्टी के बरतन में रोटियाँ और दाल-सब्जी रख दी। भोजन देखकर श्रीराम ने दो रोटी और दाल-सब्जी ली और टोले की तरफ बढ़ गए। वहाँ छपको को जगाकर रोटी खिलाई। अपने हाथ से भोजन कराते हुए श्रीराम और छपको दोनों ही आनंद-विभोर थे। छपको को खाना खिलाकर-सुलाकर श्रीराम वापस लौटे। घर पर जिस कोठरी में उनके लिए प्रबंध था, उसी में बैठकर भोजन किया। दिनभर घर से बाहर नहीं निकले। बाहर निकलने पर कोई लाभ नहीं था। गाँव भर में खबर फैल गई थी कि श्रीराम टोले में जाते हैं, छपको की मरहम-पट्टी करते हैं। उन्हें अस्पृश्यता दोष लग गया है, इसलिए किसी को उनका संसर्ग नहीं करना चाहिए। गाँव वालों ने अपने बच्चों को श्रीराम के साथ खेलने से सख्त मना कर दिया था।

सात-आठ दिन की मरहम-पट्टी और उपचार के बाद छपको का घाव सूख गया। बुखार भी नहीं रहा। वह अपने हाथ से खाना बनाने लगी, तब श्रीराम ने टोले में जाना बंद किया। इस बीच अलवर में भागवत कथा संपन्न कर पिताश्री घर लौट आए थे। देहरी पर पाँव रखते ही उन्होंने श्रीराम को बाहरी कोठरी में जमीन पर चटाई बिछाए सोते हुए देखा। तुरंत पूछा कि क्या हुआ? यहाँ क्यों? छोटे भाई देवलाल ने पूरा घटनाक्रम सुना दिया। उन्हें आशा थी कि शौचाचार का इतनी कड़ाई से पालन हुआ देख बड़े भइया प्रसन्न होंगे। आज तक आँवलखेड़ा और आस-पास के गाँवों में किसी ने भी टोले में जाकर अपना धर्म नहीं बिगाड़ा था। ऐसी स्थितियाँ ही नहीं बनी थीं कि कोई निर्णय लेना पड़े। अपने यहाँ स्थिति बनी और छोटे भाई ने अपने भतीजे के लिए दृढ़ व्यवस्था दे दी। धर्माधिकारी का दायित्व अच्छी तरह निभा लेने के लिए सराहना भी होगी।

प्रायश्चित या पुरस्कार

हुआ उलटा ही। पंडित जी ने कहा, देवलाल तुमने यह क्या किया? भागवत परिवार में किसी को सेवा-शुश्रूषा के लिए प्रायश्चित करना पड़े, यह धर्म विरुद्ध है। उन्होंने श्रीराम की पीठ थपथपाई और कहा, पुत्र तुमने भागवत धर्म के मर्म को पा लिया है। इस बीच आस-पास के लोग भी हवेली में आ गए थे। वे पंडित जी को प्रणाम करने आए थे, लेकिन देवलाल को उलाहना मिलते देख ठहर गए थे। पंडित जी कह रहे थे, तुमने सुना है न संत एकनाथ ने गंगोत्री से लाया गंगाजल रामेश्वरम् में भगवान शिव पर न चढ़ाकर एक गधे को पिला दिया था और भगवान ने उसे अभिषेक के रूप में ग्रहण कर लिया था। जीवन परमात्मा की देन है। उसकी रक्षा से बड़ा कोई धर्म नहीं है।

कुछ देर चुप रहकर वे फिर बोले, लेकिन तुम्हारा भी दोष नहीं है। समाज की मान्यताएँ ही गड़बड़ हैं। बहुत दिन तक यह सब नहीं चलने वाला। बदलेगा। धीरे-धीरे सब बदलेगा। फिर पुत्र की ओर देखकर उन्होंने कहा, तुम्हारा भी एक पुरश्चरण हो गया समझो। प्रसन्न रहो।

पिताश्री की व्यवस्था ने श्रीराम का उत्साह बढ़ा दिया। कोठरी से निकलकर वे सीधे टोले की ओर गए और वहाँ छपको अम्मा को पुकारा। सुबह ही तो यह ब्राह्मण कुमार 'अब नहीं आऊँगा' कहकर गया था। अब क्यों आ गया है? छपको को गाँव वालों का डर भी सता रहा था। अभी तक झोंपड़ी में पड़ी उपचार करा रही थी। श्रीराम के आने पर गाँव में क्या प्रतिक्रिया है, इसका भान नहीं था। गाँव में जाना शुरू करेगी, तब पता नहीं क्या होगा। चिंता में डूबी जा रही थी कि श्रीराम की पुकार ने फिर झिंझोड़ दिया। पहला विचार यही उठा कि गाँव वालों के किसी फैसले की सूचना लेकर आए होंगे। शायद आगाह करने के लिए। वह किसी विचार पर स्थिर होती, इससे पहले ही ब्राह्मण कुमार 'अम्मा-अम्मा' कहते भीतर उपस्थित थे। वाणी में उल्लास गूँज रहा था और चेहरे पर गर्व, जैसे कोई बड़ी सफलता प्राप्त कर ली हो।

ब्राह्मण देवता आप यहाँ न आया करो। अब मैं ठीक हूँ। आपको यहाँ आते देख लोग मुझे गाँव में घुसने नहीं देंगे। छपको ने श्रीराम के उल्लास और गर्व को नहीं पहचान सकने या पहचानकर भी ध्यान न दे पाने के कारण कहा। ब्राह्मण कुमार शायद उसकी स्थिति को समझ गए थे। उन्होंने कहा, "आप चिंता न करें अम्मा। चाचा ने जो प्रायश्चित बताया था, पिता जी ने उसे मना कर दिया है। मुझे आशीर्वाद दिया है कि आपकी सेवा कर मैंने अच्छा काम किया।"

छपको को अपने कानों पर सहसा विश्वास नहीं हुआ। श्रीराम ने जोर देकर कहा, "सच कह रहा हूँ।" सुनकर अम्मा के चेहरे पर संतोष, निश्चिंतता और खुशी की मिली-जुली चमक फैल गई। अपने भावों को व्यक्त करते हुए उसने दोनों हाथ ऊपर उठा दिए, जैसे आशीर्वाद दे रही हों। श्रीराम ने कहा, अब किसी तरह का संकोच मत करना। अच्छा। इतना कहकर वे हवेली की ओर चल दिए।

(क्रमशः)

❑

अपनों से अपनी बात

गुरुसत्ता के चरणों में समर्पित होंगे हीरकमाल

विश्व में जब भी महत्त्वपूर्ण स्तर के सुधार-संशोधन के कार्यक्रम चले हैं, युग समस्याओं का समाधान खोजा गया है, तो वह संगठनात्मक पुरुषार्थ द्वारा ही संपन्न हुआ है। संगठन की शक्ति अपार होती है, जिसके साथ संघ बल होता है, उसके पीछे अन्य बल उसी प्रकार फिरते हैं, जैसे सूर्य के आस-पास नवग्रह परिक्रमा लगाते हैं। गायत्री परिवाररूपी संगठन इसीलिए अपना एक स्थान राष्ट्रीय स्तर पर रखता है, सभी के लिए प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है, आशावाद का प्रतीक है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य का उद्घोष सभी को स्पष्ट सुनाई देता है। प्रस्तुत वर्ष संगठन-सशक्तीकरण वर्ष है। यह प्रक्रिया साधना की धुरी पर चलते हुए एक लंबी ७५ वर्ष की यात्रा पूरी करने के बाद की जा रही है। निश्चित ही इस पुरुषार्थ में साधना प्रधान है, इसीलिए इसके सशक्त होने की संभावनाएँ सुनिश्चित दिखाई देती हैं।

संगठन-सशक्तीकरण का जोन वर्गीकरण का महापुरुषार्थ

परमपूज्य गुरुदेव ने 'अखिल विश्व गायत्री परिवार' रूपी इस संगठन को आत्मीयता-संवेदना-ममत्व की धुरी पर खड़ा किया है एवं एक ही संपदा इसके लिए प्रयुक्त की है। यह संपदा है भावनाशीलों का समयदान। गुरुसत्ता ने कहा कि समय ही जीवन है एवं श्रम ही वैभव है। त्याग-बलिदान की सघन भाव-श्रद्धा के बलबूते उनने जन-जन का समय माँगा एवं एक विराट् व्यापक तंत्र खड़ा हो गया। निश्चित ही इस पूरे महापुरुषार्थ में गुरुसत्ता के तप ने प्रमुख भूमिका निभाई। उनने अपने भागीरथी तप के साथ लाखों साधकों का तप जोड़ दिया एवं देखते-देखते सांस्कृतिक नवोन्मेष को संकल्पित, लोकमानस के परिष्कार एवं सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन की योजना वाली एक जनमेदिनी खड़ी होती चली गई। परमपूज्य गुरुदेव का संगठनात्मक मार्गदर्शन एवं परमवंदनीया माता जी का आत्मीयता भरा स्पर्श पाकर यह संगठन विराटतर होता चला गया। इसके द्वारा देव संस्कृति दिग्विजय के आश्वमेधिक, वाजपेय स्तर के महापुरुषार्थ संपन्न हुए। दो विराट् महापूर्णाहुतियाँ युगसंधि महापुरश्चरण हेतु आँवलखेड़ा (१९९५) एवं हरिद्वार (२०००) में संपन्न हुईं, जिनमें लाखों भावनाशीलों की भागीदारी रही।

अब इस वर्ष की गुरु पूर्णिमा की वेला में हम संगठन के सशक्तीकरण की मध्य वेला से गुजर रहे हैं। इसे करने के लिए हमने प्रखर साधना वर्ष, महापूर्णाहुति वर्ष एवं हीरक जयंती वर्ष जैसे तीन अनुष्ठान विगत तीन वर्षों में किए हैं। अब सारे भारत व विश्व का संगठनात्मक एकीकरण इस वर्ष करने जा रहे हैं, जो दो वर्ष की अवधि में पूरा हो जाएगा। इस प्रक्रिया के अंतर्गत विकसित, अर्द्ध विकसित एवं अविकसित क्षेत्र को मिलाकर पूरे भारत को छह जोनों में बाँटा गया है, ताकि एक विराट् मंथन इन छह क्षेत्रों में केंद्र के मार्गदर्शन तंत्र द्वारा समयदानियों की फौज के माध्यम से संभव हो सके। यह छह जोन इस आधार पर बाँटे गए हैं कि प्रत्येक में कुछ विकसित-समर्थ समयदानियों से भरे क्षेत्र हों, शक्तिपीठें हों या केंद्र के तंत्र हों। विकसित क्षेत्र से समयदानियों की आपूर्ति होती रहे एवं उनके केंद्र-शक्तिपीठें प्रशिक्षण शिविरों की, छावनियों की भूमिका निभाती रहें। यह छह जोन इस प्रकार हैं-

(१) हैदराबाद-नागपुर जोन—इस जोन के अंतर्गत महाराष्ट्र (३४ जिले), आंध्रप्रदेश (२३ जिले), तमिलनाडु (२४ जिले), कर्नाटक (२० जिले), केरल (१४ जिले), उड़ीसा (२९ जिले), छत्तीसगढ़ के दस जिले एवं मध्यप्रदेश के दक्षिणी भाग के छह जिले शामिल किए गए हैं। कुल मिलाकर १६० जिलों वाला यह जोन सर्वाधिक बड़ा व विराटतम है। इसमें उड़ीसा, छत्तीसगढ़ व मध्यप्रदेश के दक्षिणी जिले, महाराष्ट्र के विकसित क्षेत्र के उत्तरी व मध्य भाग के जिले, मुंबई क्षेत्र तथा आंध्र का नवविकसित क्षेत्र प्रशिक्षण केंद्रों की व समयदानियों की आपूर्ति की महती भूमिका निभाएँगे। जहाँ मिशन विगत कई वर्षों से सक्रिय है, वहाँ अब प्रशिक्षक व क्षेत्रीय समयदानी दो स्तरों के कार्यकर्त्ताओं के निर्माण व सुनियोजन का तंत्र खड़ा किया जाना है। इससे हम सुदूर दक्षिण तक पहुँच सकेंगे एवं २००५ में कन्याकुमारी में एक वृहत् स्तर का

कार्यक्रम संपन्न कर सकेंगे। इस पूरे जोन के वर्तमान में दो केंद्र नागपुर एवं हैदराबाद बनाए गए हैं, बाद में इनके ८-१० उपकेंद्र भी बनाए जा सकते हैं।

(२) टाटानगर-सिलीगुड़ी जोन—यह जोन भी काफी बड़ा है। इसमें कुल १०५ जिले हैं। उत्तर-पूर्व के सारे क्षेत्र सहित प्रायः दस प्रांत एवं भूटान-नेपाल राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व भी यह करता है। इसमें झारखंड के १८ जिले, पश्चिमी बंगाल के १७ जिले, आसाम के २५ जिले, अरुणाचल प्रदेश के १३ जिले, मणिपुर के ८ जिले, मिजोरम के २, नागालैंड के ७, त्रिपुरा के ३, मेघालय के ५, सिक्किम के ४ तथा भूटान के ७ जिलों सहित बिहार के पूर्वी भाग के ४ जिले सम्मिलित किए गए हैं, साथ में नेपाल के पूर्वी भाग के २ जिले भी लिए गए हैं। झारखंड के टाटानगर क्षेत्र एवं पश्चिमी बंगाल के सिलिगुड़ी को इस योजना का प्रशिक्षण केंद्र-छावनी बनाया गया है। बिहार व झारखंड के जाग्रत् क्षेत्रों तथा पं. बंगाल के कोलकाता (दक्षिणी भाग) व सिलीगुड़ी (उत्तरी भाग) से समयदानियों की आपूर्ति की जाएगी। बाद में तिनसुकिया, जीरो, गुवाहाटी, अगरतला तथा ग्रामीण बंगाल में उपकेंद्र बनाए जा सकते हैं।

(३) शांतिकुंज-मोहाली (चंडीगढ़) जोन—यह उत्तरी-पश्चिमी सीमा से जुड़ा बड़ा व्यापक क्षेत्र है। इसमें भी लगभग ८४ जिले आते हैं। यह क्षेत्र जहाँ उत्तरांचल की हिमालय से लगी सीमाओं को छूता है, वहाँ दिल्ली व पश्चिमी उत्तरप्रदेश के सात जिलों को भी अपने घेरे में लिए है व पाकिस्तान से लगी पूरी सीमा तक फैला है। इसमें उत्तरांचल के १३ जिले, जम्मू-कश्मीर के १४ जिले, पंजाब के १४, हरियाणा के १९, हिमाचल के १२ तथा राजस्थान के हनुमानगढ़-श्रीगंगानगर सहित २ जिले एवं दिल्ली (पूरे राज्य सहित) पश्चिमी उत्तरप्रदेश के ७ जिले हैं। शांतिकुंज एवं मोहाली शक्तिपीठ (चंडीगढ़) को अभी इनका केंद्र बनाया गया है। बाद में कुरुक्षेत्र, नोयडा, जम्मू, शिमला, धर्मशाला, हल्दूचौड़ आदि में इनके उपकेंद्र खोले जाएँगे।

(४) चित्रकूट-आँवलखेड़ा जोन—यह मध्य भारतवर्ष का वह क्षेत्र है, जहाँ मिशन बड़े व्यापक रूप में फैला हुआ है, किंतु ग्राम-ग्राम तक पहुँचने के लिए एक व्यापक पुरुषार्थ रचनात्मक स्तर पर अनिवार्य है। इसमें कुल ११२ जिले हैं, पर इसमें अधिकांश विकसित क्षेत्र है। इसमें उत्तरप्रदेश के ५१ जिले (तराई व पश्चिमी छोड़कर), मध्यप्रदेश के ३५ जिले (दक्षिणी व पश्चिमी छोड़कर), बिहार के २० जिले (पटना सहित गंगा के दक्षिणी भाग के) तथा छत्तीसगढ़ के ६ जिले (उत्तरी भाग) शामिल किए गए हैं। अभी चित्रकूट एवं आँवलखेड़ा को इनका केंद्र बनाया गया है, किंतु बाद में पटना, कोरबा, भोपाल, गुना, जबलपुर आदि को उपकेंद्र बनाया जा सकेगा।

(५) बस्ती-मुजफ्फरपुर जोन—इसमें नेपाल के सभी ६४ जिले, उत्तरप्रदेश के तराई क्षेत्र के ११ जिले तथा उत्तरी बिहार के पाँच जिले इस प्रकार कुल ८० जिले लिए गए हैं तथा बस्ती (उ. प्र.) एवं मुजफ्फरपुर (बिहार) को जोनल केंद्र बनाया गया है। बाद में सहरसा, गोरखपुर, अयोध्या, बहराइच को भी उपकेंद्रों के रूप में विकसित किया जा सकेगा।

(६) अहमदाबाद-गाँधीधाम-पुष्कर जोन—यह भी बड़ा सघन व मिशन के प्रभाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है, जहाँ काफी कार्य किया जा चुका है। इसमें राजस्थान के २९ जिले एवं गुजरात के २५ जिलों सहित दक्षिण-पश्चिमी मध्यप्रदेश के ६ जिले लिए गए हैं। इनके तीन केंद्र क्षेत्र की विराटता व सघनता को देखकर बनाए गए हैं। अहमदाबाद (क्रांतिकुंज), गाँधीधाम (कच्छ) एवं पुष्कर (अजमेर)। बाद में मेहसाणा, अमरेली, सूरत, चुरू, जोधपुर, राजसमंद तथा कोटा को भी उपकेंद्र बनाया जा सकेगा। इसमें दक्षिणी-पश्चिमी म.प्र. के ६ जिलों के तथा गुजरात-राजस्थान के सक्रिय क्षेत्रों के प्राणवान कार्यकर्त्ता रिसोर्स पर्सस बनेंगे व सारे क्षेत्र का संगठनात्मक मंथन किया जाएगा। इस पूरे जोन में ६० जिले हैं।

रणनीति यह है कि गाँव-तहसील व जिला स्तर पर एक प्रामाणिक तंत्र बने, जो जोन व शांतिकुंज से सीधा संबंध रखे। शांतिकुंज के वरिष्ठ कार्यकर्त्ता इस प्रारंभिक निर्धारण (मार्च अंतिम सप्ताह) के बाद एक वर्कशॉप करके क्षेत्रों के मंथन प्रधान दौरे हेतु निकल गए हैं। वे रणनीति बनाकर लाएँगे व स्थापित किए जाने वाले केंद्रों की सभी व्यवस्थाओं की समीक्षा करेंगे। बाद में इनके साथ बारह-बारह केंद्रीय सहनायक स्तर के प्रतिनिधि तीन-चार माह के लिए इन केंद्रों पर बैठेंगे एवं अपने साथ बारह (न्यूनतम) ४ माह के क्षेत्रीय समयदानियों को लेकर सारे क्षेत्र का मंथन कर प्रशिक्षण सत्रों में भागीदारी करेंगे। शक्तिपीठ, रचनात्मक ट्रस्ट, जिला समन्वय समिति, प्रज्ञा मंडल, महिला मंडल में पारस्परिक समन्वय स्थापित हो तथा एक सशक्त संगठन का स्वरूप प्रत्येक क्षेत्र में बने, यह उनका लक्ष्य होगा। आशा की जानी चाहिए कि यह महापुरुषार्थ मिशन को विराट्-व्यापक एवं सुव्यवस्थित बनाएगा, ताकि हम गुरुसत्ता के चरणों में हीरकमाल भेंट कर सकें। *

केंद्र के समाचार—विश्व भर की हलचलें

विश्वविद्यालय विधेयक विधानसभा में पारित— देव संस्कृति विश्वविद्यालय को उत्तरांचल शासन द्वारा एक स्वायत्तशासी संस्था के रूप में एक अधिनियम बनाकर २२-१-२००२ को महामहिम राज्यपाल उत्तरांचल श्री सुरजीत सिंह बरनाला द्वारा मान्यता दी गई थी। यह निर्णय भाजपा शासन वाली सरकार का था। मिशन राजनीति के किसी भी पक्ष से अप्रभावित रहकर समाज-संस्कृति की सेवा में लगा है, इसका प्रमाण तब मिला, जब २२-३-२००२ को नवनिर्वाचित कांग्रेस बहुल सरकार ने सत्तर चुने हुए जनप्रतिनिधियों के बीच इसे रखा एवं सभी ने एकमत से हर्षध्वनि के साथ ऐसे पावन कार्य को सहमति दे विधेयक के रूप में परिणत कर दिया। राज्य व केंद्रीय सरकार से किसी भी तरह के अनुदान न लेने को संकल्पित यह स्थापना शांतिकुंज के समीप गायत्री कुंज परिसर (जिला देहरादून) में की गई है। कुलपिता व कुलमाता के सूक्ष्म संरक्षण में इसके कुलाधिपति डॉ. प्रणव पंड्या एवं कुलपति डॉ. एस. पी. मिश्रा मनोनीत हुए हैं। जुलाई २००२ से यहाँ साइको आयुर्वेदिक विज्ञान में एम. एस-सी. तथा योग में एम. ए., एम. एस-सी., डिप्लोमा व सर्टिफिकेट के प्रवेश होकर विश्वविद्यालय विधिवत आरंभ होगा। इसका ब्रोशर शांतिकुंज में उपलब्ध है।

अब अंत:ऊर्जा जागरण सत्र १ अगस्त से होंगे— विगत नवरात्रि (१३-४-२००२) के पूर्व तक पाँच दिवसीय अंत:ऊर्जा जागरण सत्रों की शृंखला निरंतर चलती रही। इसे नवरात्रि से नवरात्रि में ही चलाने का प्रारंभिक निर्धारण था, परंतु माँग अत्यधिक होने व कई आवेदन होने के कारण मई की १ से ५ व ६ से १० में ३०-३० साधकों के लिए अतिरिक्त सत्र किए गए। अब १६ अक्टूबर २००२ के स्थान पर इसे १ अगस्त से आरंभ किया जा रहा है, ताकि नवरात्रि अवकाश (५-१०-२००२ से १५-१०-२००२) छोड़कर इसे अनवरत २००३ की नवरात्रि तक चलाया जा सके। अतिरिक्त तेरह सत्रों से प्राय: सात सौ से अधिक व्यक्ति लाभान्वित होंगे।

नई दिल्ली में गायत्री चेतना केंद्र का निर्माण आरंभ— नोयडा (नई दिल्ली) में सेक्टर १२, क्वार्टर नं. २ में प्रस्तावित 'गायत्री चेतना केंद्र' का निर्माणकार्य आरंभ होकर गति पकड़ चुका है। विगत दिनों २४ मार्च को केंद्रीय प्रतिनिधियों ने पूरी दिल्ली व राष्ट्रीय राजधानी परिक्षेत्र की एक गोष्ठी नोयडा में संबोधित की। इसमें सभी ने तन, मन, धन से सहयोग कर दिल्ली-राजधानी स्तर के इस भव्य निर्माण हेतु अपने संकल्प घोषित किए। इस पर प्राय: दो करोड़ की लागत आने की संभावना है।

मारीशस-दक्षिणी अफ्रीका व महाद्वीप तथा यू. के. यूरोप के लिए केंद्रीय दल रवाना— संगठनात्मक मंथन व केंद्र स्थापना दौरों के लिए दो दल भिन्न-भिन्न दिशाओं में अप्रैल माह में प्रस्थान कर गए। प्रथम सप्ताह में श्री शांति लाल पटेल एवं प्रज्ञेश्वरदास के दल ने लंदन के लिए प्रस्थान किया, जहाँ वे लेस्टर में स्थापित गायत्री चेतना केंद्र में कार्यकर्त्ता प्रशिक्षण तथा संस्कृति संवर्द्धन की प्रक्रिया को गति देंगे। चौथे सप्ताह में श्री विश्वप्रकाश त्रिपाठी के नेतृत्व में एक चार सदस्यीय दल मारीशस रवाना हुआ। यही दल दक्षिणी अफ्रीका, बोत्सवाना, तंजानिया, केन्या, युगांडा, जांबिया आदि देशों का भी दौरा करेगा। ज्ञातव्य है कि मारीशस, जोहान्सबर्ग व लेस्टर तीनों ही स्थानों पर शांतिकुंज के शक्तिपीठ स्तर के केंद्र स्थापित हैं।

कनाडा के उच्चायुक्त शांतिकुंज प्रांगण में— विगत दिनों कनाडा के उच्चायुक्त पीटर सूदरलैंड अपने हरिद्वार प्रवास के दौरान शांतिकुंज आए। पूरा आश्रम, शोध केंद्र एवं विश्वविद्यालय परिसर उनने देखा एवं भावविभोर होकर वे गए। सूदरलैंड दंपत्ति ने अखण्ड दीपक के दर्शन कर गुरुसत्ता के प्रतिनिधियों से मुलाकात भी की।

मुन्स्यारी (पिथौरागढ़) एवं तालेश्वर (रानीखेत) में शांतिकुंज के साधना-स्वावलंबन केंद्र— पिथौरागढ़ (उत्तरांचल) के नेपाल-तिब्बत की सीमा से लगे मुन्स्यारी क्षेत्र में केंद्र के मार्गदर्शन में ध्यान केंद्र एवं स्वावलंबन प्रशिक्षण स्थली के निर्माण का कार्य आरंभ हो गया है। लगभग आठ हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित यह केंद्र पंचचूली हिमालय शिखरों के सामने स्थित है। यहाँ ध्यान हेतु कुटीर एवं उस क्षेत्र के जनजाति वर्ग हेतु एक कुटीर उद्योग प्रशिक्षण तंत्र खुलेगा। इसी तरह रानीखेत जिले के तालेश्वर महादेव (५६०० फीट) में भी केंद्र की निर्माणात्मक प्रक्रिया आरंभ हो गई है।

*

पावन पर्व समर्पण का

'गुरुपूर्णिमा' पर्व नहीं है, केवल गुरु-गुणगान का।
यह है पावन-पर्व समर्पण का, शिष्यत्व प्रमाण का॥

विश्वामित्र, वसिष्ठ न रीझे थे केवल गुणगान से।
चाणक्य, रामदास भी रीझे थे शिष्यत्व-प्रमाण से॥
गुरुता सिर्फ वरण करती है, जीवट वाले प्राण का।
'गुरुपूर्णिमा' पर्व नहीं है, केवल गुरु-गुणगान का॥

शिष्य समर्पण जब करता है, बला-अतिबला मिलती है।
गुरु के संकल्पों को पूरा कर जाने में जुटती है॥
गुरु का दरद बना करता है, दरद शिष्य के प्राण का।
'गुरुपूर्णिमा' पर्व नहीं है, केवल गुरु-गुणगान का॥

फिर न सूझता स्वार्थ शिष्य को, दिखता गुरु-संकल्प ही।
पथ से नहीं डिगा पाता है, फिर तो कोई विकल्प भी॥
शक्ति स्रोत झरता रहता है, गुरु के भी अनुदान का।
'गुरुपूर्णिमा' पर्व नहीं है, केवल गुरु-गुणगान का॥

गुरुवर का संकल्प, सुनिश्चित नवयुग का निर्माण है।
पीड़ा, पतन, ग्रसित जगती का, त्रय तापों से त्राण है॥
'गुरुपूर्णिमा' संकल्प पर्व है, जन-जन के कल्याण का।
'गुरुपूर्णिमा' पर्व नहीं है, केवल गुरु-गुणगान का॥

—मंगलविजय 'विजयवर्गीय'

सच्चिदानंद रूप है हमारी जीवात्मा

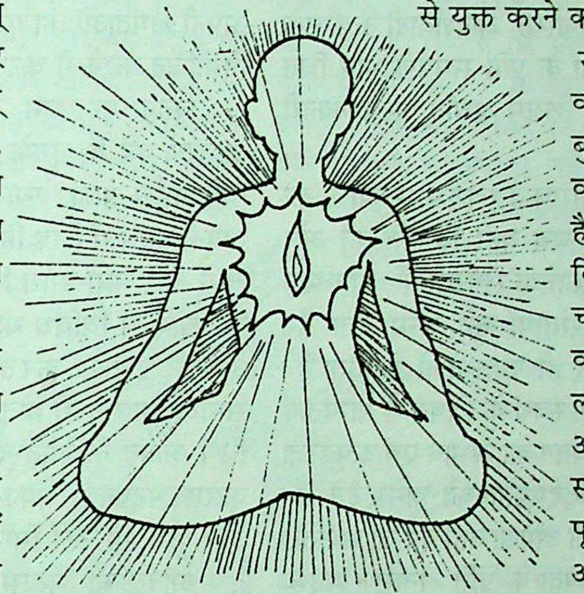

परमात्मा को सच्चिदानंद स्वरूप कहा गया है। विराट् का ही एक अंश होने से जीवात्मा भी उन्हीं गुणों से सुशोभित है। सत्, चित् और आनंद—ये तीनों मिलकर कारणशरीर का ढाँचा बनाते हैं। सत् अर्थात् शाश्वत, अजर-अमर और अविनाशी स्वरूप। चित् अर्थात् चेतना, दिव्य गुणों से सुसज्जित, उच्चस्तरीय आदर्शों, आस्थाओं से युक्त। आनंद अर्थात् भाव संवेदनाओं, सरसता, मृदुलता से सिक्त अंत:करण; आशा, उत्साह, संतोष के परस्पर समन्वय पर आधारित जीवनक्रम। आत्मा का सहज स्वभाव है- ऊँचा उठना, अपने विराट् स्वरूप की स्वयं को प्रतिमूर्ति बनाने के लिए इन्हीं गुणों से स्वयं को समृद्ध करना तथा अंतत: समस्त आवरणों को हटाते हुए अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करना। परिष्कृत जीवात्मा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आध्यात्मिक पुरुषार्थ करती है एवं जीव ब्रह्म सम्मिलन से निस्सृत परमानंद की स्थिति को प्राप्त करती है।

इस आत्मगरिमा से अपरिचित मनुष्य भौतिकता में भटकता है। यह विस्मृति अनेकानेक समस्याओं को जन्म देती है। इन्हें ही माया का आवरण, मनुष्य का विभ्रम कहा जा सकता है। ये ही रोग-शोकों के रूप में अंतत: बाहर प्रकट होते हैं। सच्चिदानंद का पहला चरण है- सत्। सत् मनुष्य को जीवन के क्षणभंगुर होने का बोध कराता है। हम शाश्वत हैं, चिरंतन हैं, अविनाशी हैं, पंचतत्त्वों से बनी काया के बिखर जाने पर भी हमारी सत्ता बनी ही रहेगी, यह बोध बना रहे, तो भटकाव से बचा जा सकता है, पर हमारी इंद्रियों की बनावट ही कुछ ऐसी है कि वह बहिर्जगत् को देखती और जड़ पदार्थों के प्रति सहज ही आकर्षित हो जाती है। सत् की अनुभूति व्यक्ति को यह विचार करने पर विवश करती है कि शरीर मरणधर्मा है, परंतु आत्मा कभी नष्ट नहीं होती है। वह तो एक सतत प्रवाह है। आत्मा का साक्षात्कार ही मनुष्य की सारी सफलताओं का प्राण है। यह तभी संभव है, जब मानव अपने वर्तमान जीवन को श्रेष्ठ, उदार तथा उदात्त भावनाओं से युक्त करने का प्रयास करता है।

सत् में आस्था रखने वाला व्यक्ति सृष्टि को चलाने वाली बुद्धिमान, उद्देश्यपूर्ण व्यवस्था में दृढ़ विश्वास रखता है। वह जानता है कि विधि-विधानों, नियमों के अनुरूप चलने वाली इस सृष्टि की व्यवस्था में किसी तरह की लापरवाही, अनुशासनहीनता, अनियंत्रण, अदूरदर्शिता का स्थान नहीं है। कर्मफल से पूर्णत: अवगत यह व्यक्ति अपनी समस्त गतिविधियों का निर्धारण सुघड़तापूर्वक करता है। वह जानता है कि आत्मा कभी नहीं बदलती है, बदलता तो यह चोला है।

कुछ भी खोता नहीं यहाँ पर
केवल जिल्द बदलती पोथी।
जैसे रात उतार चाँदनी
पहने सुबह धूप की धोती।

यह पंक्तियाँ उसी अनाशवान आत्मा के लिए किसी कवि ने कही हैं। यदि व्यक्ति को इसका वास्तविक बोध हो जाए, तो तत्क्षण उसमें वैराग्य उदय हो जाएगा, फिर संपूर्ण संसार उसे स्वप्नवत् प्रतीत होगा। स्वप्न का अपना कोई अस्तित्व नहीं, वह तो अपने ही चिंतन का परिणाम है। वैसे ही यह काया आत्मा की छाया है, उसका ही प्रतिबिंब है। ईश्वर ने इसकी सृष्टि अपना ज्ञान कराने, अपना अस्तित्व दरसाने हेतु किया है, इसलिए मूल, ईश्वर की अंशधर आत्मा ही हुई। देह तो माया-मिथ्या के समान है, इसकी प्रतीति होते ही व्यक्ति को वैभव-विलास, यश-कीर्ति की निरर्थकता स्पष्ट भासने लगती है। वह सोचता है, जो चिरस्थायी नहीं, उसके प्रति मोह कैसा! उसके लिए अनावश्यक संग्रह और परिग्रह का कोई औचित्य

नहीं। ऐसा चिंतन प्रखर होने पर स्वयं को ऊँचा उठा हुआ पाता है। आत्मिक प्रगति के विभिन्न सोपानों को पार करता हुआ अपने लक्ष्य तक जा पहुँचता है।

आत्मा की दूसरी विशेषता है—चित्। उच्चस्तरीय आस्थाओं, मान्यताओं एवं आदर्शों से युक्त व्यक्ति चित् परायण कहलाता है। चित् अर्थात् स्वयं के विषय में उत्कृष्टतापूर्ण मान्यता, अपने लक्ष्य के प्रति चेतनता-सजगता। यह वे निष्ठाएँ हैं, जो मनुष्य की जीवनयात्रा की रूपरेखा बनाती हैं। देवत्व में आस्था, आदर्शवादी उत्कृष्टता में अटूट विश्वास, परम सत्ता के प्रति समर्पण भाव चित् के परिष्कृत स्वरूप हैं। चित् शिवम् अर्थात् कल्याणकारी भाव है।

चित् एक गुण है, जो परिष्कृत स्वरूप में व्यक्ति को महामानव बना देता है, पर जब यही विकृति की ओर अग्रसर हो जाता है, तो अनेकानेक समस्याओं, मानसिक असंतुलनों एवं शारीरिक संतापों को जन्म देता है। आदर्शवादिता से निष्ठा हटते ही पतन तेजी से होता है। दृष्टि बहिर्मुखी होने के कारण स्वयं के विषय में मान्यताएँ गरिमायुक्त नहीं रहतीं। श्रेष्ठ चिंतन का अभाव एवं उत्कृष्टता के प्रति अनास्था अंततः उद्दण्डता को जन्म देते हैं। विकृत चिंतन से सद्विचारों की अपेक्षा नहीं की जा सकती। सिद्धांतों के प्रति, अपनी दिव्यता के प्रति अनास्था मनुष्य को एकाकी, स्वार्थी एवं अहंकारी बनाती है।

आवेश तथा जल्दबाजी के कारण व्यक्ति को जो भौतिक दृष्टि से हानि होती है, वह अविज्ञात नहीं है, परंतु वह व्यक्ति स्वयं इस तथ्य से अनजान बना रहता है कि वह उद्धत आचरण पलटकर उस पर ही हमला करेगा। मानसिक तनाव और उससे होने वाली समस्त मनोशारीरिक व्याधियाँ ऐसे व्यक्तियों को होती हैं, जो स्वयं उच्छृंखल हैं, फिर उसके अंग-अवयव, ऊतक भी क्योंकर किसी का कहा मानेंगे। आवेश-क्रोध से होने वाला स्राव समस्त शरीर-संस्थानों के परस्पर संतुलन को गड़बड़ा देता है। इसके विपरीत स्वयं की गरिमा एवं महत्ता में, चित् की विशिष्टता में, आदर्शों के प्रति निष्ठा रखने वाला व्यक्ति आत्मिक दृष्टि से तो संपन्न होता ही है, मानसिक संतुलन और समरसता तथा शरीरगत सुव्यवस्था भी उसकी एक बहुमूल्य अर्जित संपत्ति है।

सच्चिदानंद आत्मा का तीसरा और अंतिम पक्ष है-आनंद। इसके बिना आत्मा की पूर्ण व्याख्या संभव नहीं। जीवात्मा का लक्ष्य ही आनंद है। इसे परिष्कृत भाषा में कहा गया है, रसो वै सः। वह परमात्मा रस से, आनंद से परिपूर्ण है। इस रस को प्राप्त करने के लिए विभिन्न मार्गों से साधक पुरुषार्थ करता है एवं संतोष का आनंद लेता है। इस रस का अंतरंग पक्ष है, भाव संवेदनाओं से लबालब अंतःकरण। करुणा, दया, सेवा-भावना, भक्तिभाव रस के परिष्कृत स्वरूप हैं। जब इनका विकास सहज-स्वाभाविक रूप से होता है, तो ये व्यक्ति को भावनात्मक दृष्टि से ऊँचा उठाते हैं। ऐसे महामानव विश्व मानवता की सेवार्थ अपने जीवन की आहुति दे देते हैं। इंद्रियों से प्राप्त होने वाला आनंद क्षणिक है, ऐसी मान्यता रखने वाले ये महापुरुष अपनी क्षमताओं का पूरा उपयोग उच्च उद्देश्यों की ओर नियोजित करने में करते हैं।

चेतना पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर के जो आवरण पड़े हैं, उनके कारण जीव इस उद्गम स्रोत तक नहीं पहुँच पाता। प्यास निरंतर बनी रहती है। कस्तूरी अपनी नाभि में लिए हिरन जिस प्रकार सुगंध की खोज में चारों ओर मारा-मारा फिरता है, उसी प्रकार जीव आनंद की खोज में विविध योजनाएँ बनाता, कल्पना करता एवं अथक प्रयत्न करता है। यह पुरुषार्थ असफल समाधानकारक ही होता है। अंतःकरण की गहन परतों में छिपे आनंद के स्रोत की खोज बाह्य जगत् में चलने के कारण भटकाव, थकान, अशांति, निराशा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता।

आनंद की मिठास और भी गहन है। इसकी विकृति वासना, तृष्णा, अहंता के रूप में बाहर परिलक्षित होती है। आनंद की प्रतिच्छाया होने के कारण वासना आकर्षक और लुभावनी लगती है। विषयों के सेवन में मन लगने लगता है, तो व्यक्ति विलासी, प्रमादी, आलसी होता चला जाता है। जिह्वा का असंयम, कामेंद्रियों का उपभोग, संग्रह का लोभ अगणित मानसिक एवं शारीरिक व्याधियों को जन्म देता है।

विषयों के सेवन में जब इतनी तृप्ति और तुष्टि मनुष्य को मिलती है, तो उसके मूल स्रोत में कितनी मिठास होगी, इसकी कल्पना मात्र से ही हृदय पुलकित हो उठता है। भगवान रसमय है, इस रस को आत्मसत्ता के रूप में ईश्वर ने मनुष्य को धरोहर बनाकर दिया है। यह रस भौतिक नहीं, आत्मिक है। इसे अंतःकरण के उल्लास, संतोष, शांति जैसी दिव्य संवेदनाओं के रूप में अनुभव किया जाता है। भक्तिरस की धाराएँ ऐसे ही अंतःकरण में बहती हैं। ये ही कभी मीरा, कभी चैतन्य, कभी रामकृष्ण, कभी योगी रामप्रसाद एवं कभी जगद्बंधु जैसी विभूतियों के रूप में प्रकट होती हैं। परम सत्ता परब्रह्म से मिलन-संयोग की स्थिति ऐसी ही जाग्रति पर आती है। ❁

ज्योतिस्वरूप मानव का उपचार भी प्रकाश ही करेगा

प्रकाश ही जीवन है, अब यह मान्यता तथ्य के रूप में प्रकट और प्रत्यक्ष होती जा रही है और उस शास्त्रीय धारणा के निकट पहुँचती जा रही है, जिसमें कहा गया है कि जीव की मूल सत्ता (आत्मा) ज्योतिस्वरूप है। इतना ही नहीं, स्थूल उपादानों से निर्मित यह जड़ शरीर और जड़ पदार्थ भी उसी की अभिव्यक्तियाँ हैं। इन सबका अंतिम स्वरूप भी प्रकाशवान है, इसलिए विज्ञान यदि यह कहता है कि विभिन्न प्रकार की शारीरिक व्याधियाँ देह के अंदर प्रकाश के असंतुलन का परिणाम हैं, तो यह किसी भी प्रकार अनुचित नहीं है।

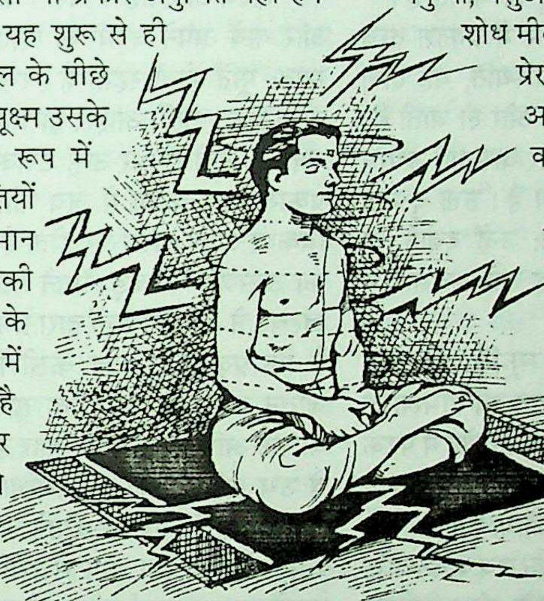

भारतीय अध्यात्म की यह शुरू से ही मान्यता रही है कि हर स्थूल के पीछे एक तेजवान सूक्ष्म है। यही सूक्ष्म उसके चारों ओर आभामंडल के रूप में बिखरा रहता है। योगी-यतियों के मुखमंडल पर विराजमान दीप्तिवान कांति इसी की परिणति है। प्राण के क्षरण के साथ-साथ इसकी तेजस्विता में कमी आती है। यही कारण है कि सर्वसाधारण के चेहरे पर वह ओज नहीं दीखता, जो दीखना चाहिए। इसका एक ही कारण है कि वे प्रमादवश उस तेज बल का अपव्यय करते रहते हैं। इससे प्रकाश शरीर कमजोर पड़ता जाता है। उसके दुर्बल बनने से उसका गोचर रूप स्थूल शरीर भी शक्तिहीन बन जाता है। अशक्तता रोग की जननी है, अतएव काया बीमार पड़ जाती है, तरह-तरह की व्याधियों से ग्रस्त हो जाती है।

यह बीमारी का एक पहलू हुआ। इसका दूसरा पक्ष यह है कि अव्यवस्थित दिनचर्या और असंयमित जीवन के कारण देह के भीतर का प्रकाश घटक असंतुलित और अस्त-व्यस्त हो जाता है। यह असंतुलन रोगों को न्यौत बुलाता है। इस प्रकार शरीर के अंदर चाहे प्रकाश तत्त्व की क्षीणता हो या उसकी अस्त-व्यस्तता, दोनों ही स्थितियाँ रुग्णता की कारण बनती हैं।

प्रकाश का जीव जगत् और वनस्पति जगत से क्या संबंध है? इस संदर्भ में पहली बार गहन अध्ययन डॉ. जॉन ऑट ने किया। उनने ही यह प्रथम बार बताया कि प्रकाश-वर्णक्रम का हर हिस्सा पोषण की दृष्टि से स्वयं में एक ऐसी कुंजी सँजोए हुए है, जो हमारे लिए विशेष प्रकार के विकास और वृद्धि के लिए जिम्मेदार है। उनके अनुसंधान से अब यह स्पष्ट हो गया है कि मानव शरीर एक जीवंत प्रकाश कोश है, जो प्रकाश ऊर्जा का उपयोग ऐसे मूलभूत तत्त्व के रूप में करता है, जिससे उसकी वृद्धि, विकास, सक्रियता और स्वस्थता अक्षुण्ण रह सके। फोटोबायोलॉजी के क्षेत्र में मनुष्यों, पशुओं और वनस्पतियों के संबंध में उनकी यह शोध मील का पत्थर साबित हुई है। इससे प्रकाश-प्रेरणा लेकर अनेक वैज्ञानिक इस दिशा में अनुसंधानरत हैं और नित नए-नए तथ्यों का उद्घाटन कर रहे हैं।

अब से पूर्व तक इसे सभी जानते थे कि प्रकाश जीवन के लिए आवश्यक है, पर यह क्यों और किस प्रकार उपयोगी है? इस संबंध में कोई उल्लेखनीय जानकारी वैज्ञानिकों के पास नहीं थी, विशेष रूप से मनुष्यों और जंतुओं के संदर्भ में। पेड़-पौधों के बारे में तो यह पता था कि वे सूर्य-प्रकाश से अपना भोजन तैयार करते हैं। फोटोसिंथेसिस की क्रिया उनमें दिन के उजाले में ही संभव है, रात के अँधेरे में नहीं, किंतु अब विदित हुआ है कि यह ज्ञान प्रकाश की वास्तविक भूमिका की तुलना में कितना नगण्य था।

मूर्द्धन्य विज्ञानी जैकब लिबरमैन ने अपनी पुस्तक 'लाइट मेडिसिन ऑफ दि फ्यूचर' में इस बात की चर्चा की है कि मानव शरीर का पोषण दो तरीके से होता है, एक तो सीधे सूर्य प्रकाश के माध्यम से तथा दूसरा, खाद्यान्नों, जल एवं वायु से। प्रथम स्थिति में मनुष्य जब रोशनी के प्रत्यक्ष संपर्क में आता है, तो उसकी किरणों से संपूर्ण शरीर में उद्दीपन आरंभ हो जाता है और जहाँ, जितनी एवं जिस प्रकार की किरणों की जरूरत पड़ती है, वहाँ वे उस परिमाण में अवशोषित हो जाती हैं। इससे शरीर स्वस्थ बना रहता है और आदमी सक्रिय। दूसरी अवस्था में जितने भी प्राकृतिक एवं खेतों में उगने वाले आहार हैं, उन सभी में सूर्य ऊर्जा

प्रचुर मात्रा में संगृहीत होती है, वे अपने जीवनकाल में उसका अवशोषण कर लेते हैं। बाद में मानव जब उन्हें भोजन के रूप में ग्रहण करता है, तो उसके स्थूल हिस्से से काया के स्थूल भाग का पोषण होता है एवं उसमें सन्निहित प्रकाश-ऊर्जा द्वारा उसके प्रकाश शरीर को पुष्टि मिलती है, किंतु वे कहते हैं कि खाद्यान्नों में प्रकाश तत्त्व उतनी मात्रा में नहीं होते, जितने से अंग-अवयवों का भलीभाँति परिपोषण हो सके, इसलिए वे सुबह की धूप के सेवन की सलाह देते हैं; ताकि उस कमी की पूर्ति हो सके। धूप-स्नान की परिपाटी विकसित करने वाले संभवत: मनुष्य शरीर की सूक्ष्म संरचना और प्रकाश के स्वास्थ्यकारी गुणों से अवगत रहे होंगे, अतएव उन्होंने प्राकृतिक ढंग से स्वास्थ्य-संरक्षण के लिए यह विधा विकसित की होगी। आज उस ओर पर्याप्त ध्यान न देने के कारण हम बीमार पड़ते और दु:ख भोगते हैं।

जैकब लिबरमैन लिखते हैं कि शरीर में प्रकाश तत्त्व की कमी अथवा रोशनी की प्रत्यक्ष अनुपस्थिति, यह दोनों ही दशाएँ देह और मन को निष्क्रियता की ओर ले जाती हैं। मन के निश्चेष्ट होने से दमित इच्छाएँ और वासनाएँ उभरने लगती हैं, इससे व्यक्ति परेशान हो उठता है। उक्त दु:खद स्थिति को टालने के लिए जब वह पुन: उन्हें दबाने का प्रयास करता है, तो द्वंद्व पैदा होता है। यह उसे अवसाद में धकेल देता है।

निश्चय ही प्रात: का उजाला हमें स्फूर्ति, उल्लास, सक्रियता और चैतन्यता प्रदान करता है। रात की तमिस्रा तो संपूर्ण धरित्री को आलस्य, निद्रा और निरानंद की गोद में पटक देती है। अब यह केवल दार्शनिक सत्य भर नहीं रहा, वरन् एक वैज्ञानिक तथ्य के रूप में भी सामने आया है। डॉ. जेन किम अपनी रचना 'सनलाइट' में कहते हैं कि जब कोई व्यक्ति सूर्य प्रकाश के संपर्क में आता है, तो उसके अंदर विभिन्न प्रकार के शरीर-क्रिया संबंधी परिवर्तन घटित होते हैं। उदाहरण के लिए, उसकी रेस्टिंग पल्स एवं श्वसन दर घट जाती है, रक्तचाप कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त खून में शक्कर और लैक्टिक एसिड की मात्रा न्यून हो जाती है, साथ ही ताकत, ऊर्जा और सहन शक्ति बढ़ जाती है। कुछ हारमोनल बदलाव भी देखे गए हैं। इससे व्यक्ति के अंदर प्रसन्नता और क्रियाशीलता आती है। रात्रिकालीन अंधकार की प्रतिक्रिया इससे ठीक उलटी है। उससे संपूर्ण अंत:स्रावी तंत्र प्रभावित होता है, जिसके कारण रक्त में कुछ ऐसे रसस्राव होते हैं, जो तन में शिथिलता और मन में अनुत्साह पैदा करते हैं, जो आदमी को स्वभावत: विश्राम करने और सोने के लिए प्रेरित करता है। कदाचित् इसी कारण से रात में सोते समय लोग प्राय: बत्ती बुझा देना पसंद करते हैं, ताकि शरीर फिजियोलॉजी को वह प्रभावित न कर सके और आदमी अधिक सुखपूर्वक नींद का आनंद ले सके।

अब यह पूर्णत: साबित हो चुका है कि हर जीवधारी नियमित रूप से प्रकाश ग्रहण और विसर्जन करता रहता है। प्रख्यात जर्मन रसायनशास्त्री और भौतिक विज्ञानी फ्रिट्ज-अलबर्ट पोप्प ने अपने परीक्षणों द्वारा यह दिखाया है कि किस प्रकार शरीर का प्रत्येक जीवकोश रोशनी विकीर्ण करता है। उन्होंने इन प्रकाश-कणों को 'बायोफोटोन' नाम दिया। उनका कहना है कि ये किरणें पराबैंगनी से लेकर अवरक्त तक का संपूर्ण इलेक्ट्रोमैग्नेटिक वर्णक्रम स्वयं में धारण किए रहती हैं। उनकी तीव्रता बदलती रहती है। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि यह वस्तुत: उस समय उनके (सेल्स के) भीतर हो रही जैव रासायनिक प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। कोशिका विकास के दौरान इसे सबसे अधिक तीव्र देखा गया है।

क्षरण और ग्रहण निसर्ग का निश्चित नियम है। माताएँ और गायें अपने बच्चों के लिए दूध लुटाती हैं, तो उसकी स्वत: पूर्ति होती रहती है। रक्तदान करने वालों का रुधिर कभी घटता नहीं, आहार द्वारा वह पूरा हो जाता है। भेड़ें हर वर्ष ऊन देती हैं, पर उन्हें उसकी कमी कहाँ होती है! उसी प्रकार बाल्यावस्था में जब कोशिकाओं का विभाजन और विकास अपने चरम पर होता है, तो उस दौरान अंत:प्रकाश का उत्सर्जन भी बड़े पैमाने पर होता रहता है, इसे फ्रिट्ज अल्बर्ट ने अपने प्रयोगों द्वारा प्रमाणित कर दिया है। वे कहते हैं कि प्रकृति की यह कैसी निपुण व्यवस्था है कि जब जीवन तत्त्व का सर्वाधिक ह्रास होता है, उस बचपन में बालक अधिकांश समय बाहर ही खेलते रहते हैं। इस प्रकार वे उस क्षरित ऊर्जा की स्वाभाविक पूर्ति सूर्य प्रकाश द्वारा करते रहते हैं। बचपन बीतने के साथ-साथ बनावटी जीवन चालू होते ही इस क्रम में व्यतिक्रम आ जाता है, फलत: उसमें प्रकाश ऊर्जा की कमी पड़ने लगती है, जो रोगों का निमित्त कारण बनती है।

प्रकाश सप्तवर्णी है। सातों रंगों का अपना अलग-अलग स्वभाव और प्रभाव है। इन वर्णों की न्यूनाधिकता से शरीर और मन में पृथक-पृथक परिणाम प्रकट होने लगते हैं। कोई क्रोध, कोई प्रसन्नता, कोई शांति, तो कोई स्थिरता के लिए जिम्मेदार है। जब तक इन रंगों का आनुपातिक संतुलन भीतरी प्रकाश में व्यवस्थित बना रहता है, तब तक हमारा व्यक्तित्व संतुलित रहता है और शरीर-मन स्वस्थ, किंतु उसके गड़बड़ाने से शरीर-मन लड़खड़ाने लगता है। ऐसा इसलिए, कारण कि हमारी समग्र सत्ता- कायिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक, इन सबको पोषण प्रकाश से ही मिलता है। जब पोषक ही विकारग्रस्त हो, तो मानवी अस्तित्व के विभिन्न स्तरों पर उसका कुप्रभाव पड़े बिना कैसे रह सकता है?

शरीर पंचतत्त्वों का बना है। इन तत्त्वों के अपने-अपने प्रतिनिधि रंग हैं। पृथ्वी तत्त्व लाल, जल तत्त्व सिंदूरी, वायु तत्त्व अरुण, आकाश तत्त्व धूम्र तथा अग्नि तत्त्व नील वर्ण का है। यही रंग षट्चक्रों में से क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि चक्र के हैं, आज्ञा चक्र श्वेत वर्ण का है। जब इन प्रकाश वर्णों में से कभी कोई रंग हावी हो उठता है, तो उस तत्त्व की प्रधानता काया में बढ़ जाती है और उसके लक्षण शरीर में प्रकट होने लगते हैं। इसके कारण उक्त रंग से संबंधित चक्र भी प्रभावित होता है, जो अपने से संबद्ध ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों को उद्दीप्त-उत्तेजित करना आरंभ करता है। बिना परिमार्जन-परिष्कार के चक्रों का उद्दीपन हानिकारक हो सकता है, कारण कि उससे मुक्त ऊर्जा को बरदाश्त करने की शक्ति शुद्धिरहित अवयवों में नहीं होती। ऐसे में व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तकलीफ हो सकती है। इस स्थिति में विशेषज्ञ शरीरगत प्रकाश-किरणों को पुनर्व्यवस्थित कर पंचतत्त्वों और चक्रों के क्रियाकलापों को सुव्यवस्थित करने और प्रकारांतर से समग्र स्वस्थता प्राप्त करने की सलाह देते हैं।

अब प्रश्न यह है कि अपने आंतरिक प्रकाश की अस्तव्यस्तता को दूर कैसे किया जाए और उसकी सुव्यवस्था द्वारा आरोग्य-लाभ का उपाय क्या हो? आचार्यों ने इसके कई तरीके बताए हैं, उनमें से एक यह है कि प्रातःकाल उदीयमान सूर्य के आगे गीले शरीर से बैठा जाए, चेहरा भी भीगा हुआ हो। अब कुछ क्षण अरुणोदय को देखकर नेत्र बंद कर लिए जाएँ और ध्यान में उसकी मानसिक कल्पना की जाए। बाहर प्रत्यक्ष सूर्य और भीतर उसकी मनोकल्पना, इससे सूर्य रश्मियाँ अवशोषित होने लगती हैं। गीले शरीर में यह कार्य अधिक सहजता और सफलतापूर्वक संपन्न होता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा विकल्प यह है कि कहीं भी बैठकर दिन या रात में उगते हुए सूर्य का ध्यान किया जाए। इससे भी वही लाभ मिलेंगे। एक तरीका रंगों के ध्यान का है, किंतु इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि देह में किन रंगों की कमी हुई है, तदनुसार उन वर्णों की किरणें लेने, उनका ध्यान करने अथवा उनसे उपचारित जल का सेवन करने से भी अभीष्ट की पूर्ति हो सकती है, लेकिन इसे कोई सुयोग्य जानकार ही बता सकता है। अतएव किसी विज्ञ रंग चिकित्सक से संपर्क करना चाहिए।

डॉ. गैब्रियल काउसेंस ने अपनी कृति 'स्प्रिचुअल न्यूट्रीशन एंड दि रेनबो डाइट' में एक अन्य उपाय बतलाया है। उनका कहना है कि शाक-सब्जियाँ वास्तव में प्रकाश का घनीभूत रूप हैं। भिन्न-भिन्न वर्णों वाली शाक-सब्जियों का प्रभाव भी उन रंगों के समान ही होता है। सब्जियाँ और फूल जिस रंग के होते हैं, वे उसी रंग की किरणों को सूर्य प्रकाश से आकर्षित और अवशोषित कर लेते हैं। उन्हें खाने पर उस रंग की कमी की पूर्ति आसानी से हो जाती है। वे कहते हैं कि भोजन के अलग-अलग रंगों का संबंध चक्रों, ग्रंथियों एवं दूसरे अवयवों से भी है। विशिष्ट वर्ण वाला शाक या फल खाने से उस रंग से संबंधित उपांगों को संतुलित-नियंत्रित किया जा सकना संभव है। इससे तत्संबंधी रोगों का शमन सरलता से हो जाता है।

उनका कहना है कि रंग और भावना में विज्ञान की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। दोनों का तरंग-दैर्घ्य समान है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। वे कहते हैं कि यदि लाल रंग क्रोध के लिए जिम्मेदार है, तो इस मानवी भावना का तरंग-दैर्घ्य लाल रंग जितना ही होगा। लाल रंग की कमी से व्यक्ति दब्बू, डरपोक, प्रतिकूल परिस्थितियों के आगे घुटने टेक देने वाला, असंघर्षशील तथा कमजोर मन वाला होता है। अतः इसकी पूर्ति के लिए उसे ऐसे वातावरण में रखना पर्याप्त होगा, जहाँ दुस्साहसिक एवं निर्भीक प्रसंगों की नियमित चर्चा होती हो। इससे उसे वही तरंगें प्राप्त होती रहेंगी, जो लाल वर्ण से मिल सकती थीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष लाल रंग की कमी यहाँ तत्संबंधी भावनात्मक पोषण से पूरी कर ली जाती है।

इतना ही नहीं, मनुष्यों के बीच के पारस्परिक प्रभाव एवं हमारी शरीर क्रियाएँ, यह सभी तरंगजनित प्रकृति की होती हैं। इन तरंगों में से प्रत्येक का पृथक-पृथक प्रभाव हमारी मनोदशा, व्यवहार और शरीर क्रिया पर पड़ता है। इनमें से किन-किन रंगों को ग्रहण करने की व्यक्ति में कितनी सामर्थ्य है? इस आधार पर यह आसानी से जाना जा सकता है कि शेष किन तरंगों के प्रति वह अग्रहणशील है। उन तरंगों की आपूर्ति करने पर वह बाकी की दूसरी तरंगों के साथ मिलकर एक संतुलित रेनबो डाइट (जिसमें प्रकाश के सातों वर्णों से संबंधित पोषण सामर्थ्य हो) का निर्माण करती है। इससे व्यक्तित्व के मानसिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक हर स्तर को पोषण मिल सकेगा और स्थूल देह की भी परिपुष्टि होगी। इस प्रकार व्यक्ति स्वस्थ बना रह सकेगा।

हम प्रकाशवान हैं। हमारा संपूर्ण अस्तित्व प्रकाशयुक्त है, किंतु हमारे अंदर के कल्मष उसे अभिव्यक्त नहीं होने देते और उसको दोषपूर्ण आवरण से ढक देते हैं। उसके प्रभाव में आकर भौतिक काया भी रुग्ण बनती और दुःख भोगती है। जब आत्मपरिष्कार कर हम बिल्कुल निर्दोष और निर्विकार स्थिति में पहुँचते हैं, तब वह दिव्य प्रकाश प्रकट होकर हमारी संपूर्ण सत्ता को ओतप्रोत कर देता है। यही हमारा वास्तविक अस्तित्व है। इसे चेतना या आत्मा का प्रकाश भी कहते हैं। समग्र स्वास्थ्य की दृष्टि से यह एक आदर्श अवस्था है। ■

गुरु ही जीवन की पूर्णता है

आध्यात्मिक जीवन में गुरु की आवश्यकता क्यों अनुभव की जाती है ? इसे यदि समझना हो, तो उस पुण्य परंपरा पर दृष्टि डालनी होगी, जिसने गुरु-शिष्य के अंतर्संबंधों को इतना सुदृढ़ और सुविकसित किया कि उससे आगे तथा उससे उच्चतर और कोई भूमिका ही शेष न हो। यह गुरुतत्त्व की अनुभूति के लिए शिष्यत्व की पराकाष्ठा है। इस आत्यंतिक विकास के बिना उस महत् तत्त्व की प्रतीति संभव नहीं। यहीं स्थूल गुरु की जरूरत पड़ती है।

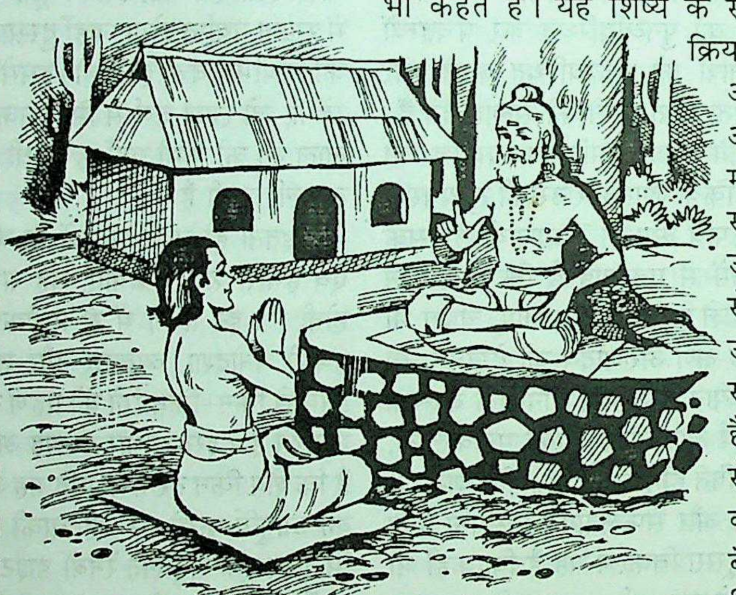

जिन मनीषियों ने गुरु-शिष्य संबंधों का आविष्कार किया, उन्हें लौकिक संबंधों की सीमाओं के बारे में स्पष्ट अंतर्दृष्टि प्राप्त थी। वे इसे भलीभाँति जानते थे कि कोई अंधा किसी दूसरे अंधे का मार्गदर्शन नहीं कर सकता। लँगड़ा किसी लँगड़े के चलने में सहायक बने, भला इससे हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है! यह कार्य गुरु का है। जब कोई शिष्य पहली बार किसी उन्नत चेतना के पास आध्यात्मिक मार्गदर्शन हेतु पहुँचता है, तो वह अंधा-लँगड़ा दोनों होता है। उसके पास न तो आध्यात्मिक दृष्टि होती है, न गति। वह इस संपूर्ण यात्रा का एक अति होता है और गुरु इसका दूसरा छोर। एक अधम है, तो दूसरा उच्चतम। एक गिरा हुआ देवता है, तो दूसरा चेतना के सर्वोच्च बिंदु पर प्रतिष्ठित देव। जो संसार की संपूर्ण बाधाओं और बंधनों को ध्वस्त कर यहाँ तक पहुँचा हो, वही इस पथ का योग्य उपदेष्टा और सहायक हो सकता है। ऐसा व्यक्ति सद्गुरु के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता।

गुरु जीवन की पूर्णता है। वह पवित्रता, शांति, प्रेम और ज्ञान की साक्षात् प्रतिमूर्ति होता है। वही अंत:करण के इन गुणों को प्रकट करने के उत्तरदायित्व को वहन करता है। जब कोई व्यक्ति इन विशेषताओं को अपने अंदर विकसित करना चाहता है, तभी उसे गुरु की आवश्यकता महसूस होती है। गुरु अपने लक्ष्य की पवित्रता द्वारा शिष्य को अपने आंतरिक विकास की ओर अभिमुख करता है। इसके लिए वह सर्वप्रथम शिष्य को उसके अंदर स्थित गुरुतत्त्व के प्रति सजग बनाता है। गुरुतत्त्व प्रत्येक व्यक्ति के अंदर विद्यमान है। इसे 'आंतरिक गुरु' भी कहते हैं। यह शिष्य के संपूर्ण जीवन के समस्त क्रियाकलापों का साक्षी है तथा अव्यक्त रूप से उच्चतर आत्मज्ञान की ओर उसका मार्गदर्शन करता है। सर्व साधारण जन अपनी ही उलझनों और समस्याओं से घिरे रहने के कारण उसकी आवाज को सुन-समझ नहीं पाते, जो सुनते हैं, वे उस अव्यक्त तत्त्व से परिचित नहीं होने के कारण उसे विभ्रम मान बैठते हैं और निरंतर उसके निर्देशों की उपेक्षा करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में गुरु ही इसके प्रति उसे जागरूक और सचेष्ट बनाता है। वह बताता है कि उक्त संकेत उसके अंदर के उच्चतम और पवित्रतम तत्त्व के हैं, जिसका आयु, स्थान एवं काल से कोई संबंध नहीं। वह इन सबसे परे तथा अविनाशी है। मृत्यु के साथ उसका अंत नहीं होता। वह जन्म-जन्मांतर तक साथ चलता है। विकसित अंतर्दृष्टि वाले ही इस अंतर्ध्वनि को ठीक-ठीक ग्रहण करते और उसका परिपालन करते हैं। अविकसित अंत:करण को तो इसका भान तक नहीं मिलता।

स्थूल गुरु इस गुरुतत्त्व का मूर्तिमान प्रतीक है। कोई भी शिष्य गुरु के आदेशों और आदर्शों को तथा अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक अनुपालन करके

ही उस महान तत्त्व को उद्‌बुद्ध कर सकता है। गुरु भी इसके लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं, पर शिष्य के सहयोग के बिना उनका यह प्रयास फलीभूत नहीं होता और पथरीले जमीन में बीज बोने की तरह वह निरर्थक चला जाता है। उसे जगाने का सबसे सरल उपाय यही है कि हम बाह्य गुरु के प्रति सच्चे और ईमानदार बनें। यदि मन की गहराइयों से हम ऐसा कर सकें, तो फिर यह कर्त्तव्यनिष्ठा ही हमारी सर्वोत्तम साधना बन जाएगी। फिर किसी भी प्रकार के जप-अनुष्ठान, ध्यान-धारणा अथवा योगाभ्यास की कोई जरूरत नहीं पड़ेगी, पर आदमी अध्यात्म में भी सर्वथा सच्चा कहाँ बन पाता है! वह यहाँ भी उन्हीं तरीकों और तकनीकों का इस्तेमाल करना चाहता है, जो अपने पूर्ववर्ती जीवन में लोकप्रवंचना हेतु करता रहा था। इससे उसका आध्यात्मिक जागरण और विलंबित होता है, जिससे उबार पाना गुरु के बूते की बात नहीं होती।

अध्यात्म में पवित्रता सर्वोपरि है। शिष्य यदि उसे अपने अंतःकरण में धारण कर सके और गुरु के निर्देशानुसार चले, तो इतने भर से ही वह अध्यात्म तत्त्वज्ञान के उस चरम सत्य की उपलब्धि कर सकता है, जिसे पाने के लिए साधकों को जन्मों तक परिश्रम करना पड़ता है, पर शिष्य को इसे अपना निजी उपार्जन मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। यथार्थ में इसके पीछे भी प्रत्यक्ष गुरु की ही प्रच्छन्न भूमिका होती है।

जब शिष्य के भीतर शक्ति का जागरण होता है, तो वास्तव में यह आंतरिक गुरु का ही उन्नयन है। यही वह केंद्र है, जिसकी खोज जिज्ञासु युगों से करते रहे हैं। बाह्य जगत् में हम जिन सुखों के पीछे भागते रहे हैं, वे भ्रम के अलावा और कुछ भी नहीं। इसके विपरीत हमारा आंतरिक गुरु परमानंद का अनंत स्रोत है। यथार्थ में उसकी अचेतन खोज के क्रम में ही हम भौतिक जीवन से सुख की अपेक्षा करने लगते हैं। उसके संपर्क से होने वाली अनुभूति के प्रति हर कोई अवचेतन रूप से सजग है, किंतु अपनी अज्ञानता और माया के कारण हम बाह्य जगत् में उसे ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। वहाँ उसे हम पाते भी हैं, किंतु वह तो अंदर के आनंद का विस्तार है, भ्रमवश हम उसे भौतिक वस्तु से संबद्ध मान बैठते हैं और इसलिए उस अनुभव को पुनः प्राप्त करने के लिए उस वस्तु का पीछा करते हैं। इस बार आदमी किसी कामना से प्रेरित होता है, इस कारण उसका बोध प्रतिबंधित हो जाता है और उसकी अनुभूति पहले जैसी गहरी एवं आनंददायी नहीं होती। इससे वह निराश हो जाता है और उससे उबरने के लिए अन्यत्र आनंद की खोज करने लगता है। यह सिलसिला तब तक चलता रहता है, जब तक उसकी भेंट सत्य का साक्षात्कार कर चुके किसी महापुरुष से न हो जाए। इस मिलन से उसके अंदर पुनः वही प्रक्रिया शुरू हो जाती है, लेकिन गुरु चूँकि आंतरिक गुरु का ही प्रतिरूप होता है, अतः यह अनुभव यहाँ अधिक स्थायी होता है। गुरु के प्रति शिष्य का बाह्य अवबोधन आंतरिक गुरु के प्रति उसके बोध से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित होता है। यदि गुरु से शिष्य का संबंध वास्तविक और गहरा है, तो इसके साथ ही शिष्य अपने आंतरिक गुरुतत्त्व से संबंध विकसित करने में भी सक्षम होता है। दोनों अनुभव समानांतर चलते हैं और उनमें सह अस्तित्व होता है। बाह्य गुरु से संबंध विकसित होने के साथ-साथ आंतरिक गुरु से शिष्य का संपर्क सजीव, साकार और सुस्पष्ट होने लगता है। इस प्रकार गुरुतत्त्व प्रकट होने लगता है।

प्रत्येक पदार्थ में शक्ति निहित है, किंतु उसकी प्राकृतिक अवस्था में हर कोई उसके अंदर की शक्ति को ढूँढ़कर उसका उपयोग नहीं कर सकता। एक निश्चित वैज्ञानिक प्रक्रिया से गुजरने के बाद ही उस पदार्थ से शक्ति मुक्त होगी, तभी उसे एकत्रित कर उपयोग में लाया जा सकता है। यह प्रक्रिया एक वैज्ञानिक ही बता सकता है। अध्यात्म क्षेत्र में यह भूमिका समर्थ गुरु निभाता है। उसके मार्गदर्शन में ही शिष्य की अंतःऊर्जा का आविर्भाव और विकास होता है। अनाड़ी और अज्ञानी शिष्य यदि अपने बूते ऐसा करना चाहे, तो उसे असफलता के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ न लगेगा।

गुरु-शिष्य परंपरा में 'शक्तिपात' शक्ति हस्तांतरण की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। ऐसा समझा जाता है कि योग्य गुरु अपनी उपार्जित शक्ति का एक अंश शिष्य को देकर उसे समर्थ बना देने में सक्षम होते हैं, लेकिन आधार समर्थ होने पर ही यह सब संभव है। कमजोर आधार अंशदान में मिली वह शक्ति बरदाश्त न कर सकेंगे और उलटे अपना अहित कर बैठेंगे, इसलिए गुरु उन्हें इस प्रक्रिया द्वारा शक्ति प्रदान करेंगे, ऐसी आशा अपात्र शिष्यों को नहीं करनी चाहिए। उनके लिए सामर्थ्यवान बनने का सबसे सरल तरीका यही है कि वे गुरुचरणों में आत्मसमर्पण कर दें और उनकी इच्छा में ही अपनी इच्छा मानें एवं उनके संतोष में अपना संतोष। शिष्य जब अपने आपे को संपूर्ण रूप से गुरु में विसर्जित कर देता है, तो वह महसूस करता है कि एक

अज्ञात शक्ति निरंतर उसका सहयोग कर रही है, न सिर्फ भौतिक क्षेत्र में, वरन् आत्मिक प्रगति में भी समान रूप से। यह स्थिति तब भी बनी रहती है, जब गुरु अपने भौतिक शरीर में नहीं होते, कारण कि वे अपने सूक्ष्म शरीरों को तप-साधना से इतने समर्थ बना चुके होते हैं कि स्थूल देह के न रहने पर भी शिष्यों को सहयोग-संरक्षण मिलता रह सके। जो निष्ठावान शिष्य हैं, जिनके लिए गुरु कार्य ही सर्वोपरि है, ऐसे शिष्यों के प्रति गुरु भी अहैतुकी कृपा करते हैं। उन्हें अपना संरक्षण-मार्गदर्शन ही नहीं देते, अपितु आत्मोत्थान की सुनिश्चित गारंटी भी प्रदान करते हैं। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे इस संसार में अब हैं या नहीं, कारण कि आत्मज्ञान प्राप्त गुरु कभी मरते नहीं, उनका सिर्फ परमात्मा में विलय होता है, लेकिन अभिन्न हृदय शिष्यों की आत्मिक प्रगति तक वे प्रतीक्षा करते रहते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि आखिर ये अभिन्न हृदय शिष्य हैं कौन? क्या वे, जो उनसे स्नेह का दंभ भरते हैं या वे, जो उनके आदर्शों का बखान मात्र करते हैं? अथवा वे, जो हर वक्त उनके समक्ष दीन-हीन बने रहते हैं? निश्चय ही इनमें से कोई भी नहीं। उनके नाप-तौल का पैमाना दूसरा है। उनकी कसौटी में ऐसे जन कभी भी खरे नहीं उतरते। वे यह देखते हैं कि उनके कार्यों को कौन कितनी तत्परता और निष्ठापूर्वक करता है और कौन उसकी खानापूर्ति भर करता है। उनकी दृष्टि में वह शिष्य महान है, जो उनके आदर्शों पर चलकर निरंतर उनके कार्यों को अग्रगामी बनाने में संलग्न रहता है। ऐसे ही शिष्य उनके अंतरंग होते हैं। इन्हीं पर उनका विशेष अनुग्रह बरसता है।

हर व्यक्ति के अंदर शक्ति का एक स्रोत है, जो स्वयं को प्रकट करने हेतु फूटना चाहता है। इस शक्ति के एक अंश की अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप ही हम सोचते, अनुभव करते एवं कार्यरत होते हैं, किंतु इसके अतिरिक्त इसका एक बड़ा भाग सुषुप्त स्थिति में पड़ा रहता है, जो हमारे प्राकृतिक विकास की प्रक्रिया में स्वयं को प्रकट करने लगता है। यह उच्चतर शक्ति है, जो मनुष्य की संपूर्ण अंतर्निहित शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है।

जब यह शक्ति जाग्रत् होकर एक स्वरूप लेती है, तो इसकी तुलना एक बाँध की दीवार के टूटने से की जा सकती है, जिसका सारा जल तीव्र वेग से बहता हुआ मार्ग में आने वाले अवरोधों को तोड़ता-फोड़ता चलता है। रास्ता साफ होने से संपूर्ण जलराशि बिना किसी नुकसान के शांतिपूर्वक प्रवाहित हो जाती है।

लगभग ऐसी ही स्थिति मनुष्य के अंदर शक्ति के स्वाभाविक एकत्रीकरण, स्थानांतरण एवं विस्फोट के समय घटित होती है। सर्वप्रथम हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि यह शक्ति किसी भी व्यक्ति में किसी भी समय जाग्रत् होकर प्रकट हो सकती है। मनोभूमि के स्वच्छ होने पर ऐसे समय आनंद की अनुभूति होती है, पर उसके मलिन और बुरे संस्कारों से युक्त होने पर बहुत ही कष्ट होता है। यह कष्ट बीमारी, मानसिक वेदना, निराशा अथवा उदासी के रूप में प्रकट हो सकता है।

गुरु इस प्रक्रिया को नियंत्रित करते हैं। वहाँ शक्ति चक्र का विघटन उद्दाम प्रवाह की तरह न होकर संतुलित ढंग से होता है, जिससे शिष्य को किसी प्रकार की पीड़ा का आभास नहीं होता और यदि होता है, तो इतना स्वल्प, जिसे वह आसानी से हँसते-हँसते झेल सके। इसके साथ ही उसके अंदर का रूपांतरण आरंभ हो जाता है और नए तत्त्व नए ढंग से पुनर्गठित होने लगते हैं। इस प्रकार शिष्य का विकास सुनियोजित ढंग से शनैः-शनैः होने लगता है।

सक्षम गुरु न हो, तो यह विकास-यात्रा बाधित होती और कंटकाकीर्ण बन जाती है। अतएव अध्यात्म पथ के प्रत्येक पथिक को एक ऐसे अनुभवी मार्गदर्शक की आवश्यकता पड़ती है, जो उसके प्रगति-प्रवाह को निर्बाध रूप से बनाए रख सकने में सहायक हो सके और अंततः उसके भीतर के गुरुतत्त्व से उसका साक्षात्कार करा सके। यह गुरुतत्त्व वास्तव में उसके विकसित आत्मतत्त्व के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

गुरु-शिष्य संबंध निष्ठामूलक है। धीरे-धीरे वही श्रद्धा में रूपांतरित हो जाता है। जब वह पूर्ण प्रगाढ़ होता है, तो संपूर्ण गुरुत्व शिष्य में संचरित हो जाता है। फिर वह साधारण नहीं, असाधारण बन जाता है। अतएव गुरु-शिष्य परंपरा में अंतर्सबंधों के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। गुरुपर्व (व्यास पूर्णिमा)से लेकर श्रावणीपर्व तक शिष्य द्वारा इसी संबंध की समीक्षा की जाती है और देखा जाता है कि हम अपने गुरु से और प्रकारांतर से गुरुतत्त्व से कितने अधिक सन्निकट हुए और सघनता से जुड़े। यदि इसमें सकारात्मक लक्षण दीख पड़ें, तो समझना चाहिए कि गुरुतत्त्व की प्राप्ति संबंधी प्रगति-यात्रा में हम ठीक-ठीक आगे बढ़ रहे हैं और लक्ष्य उपलब्धि की दिशा में निरंतर चल रहे हैं। ●

नारीशक्ति की अस्मिता की रक्षा का पर्व

आकाश में सूरज और बादलों की लुका-छिपी, धरती पर अंकुआई, हरषाई हरियाली वाले मौसम में राखी पर्व में प्रसन्नता के रंग भरने आई है। २२ अगस्त के दिन इसके आगमन की आहट सुनकर भाई-बहनों के मन-मयूर नाच उठे हैं। श्रावण पूर्णिमा के पुण्य पलों में रक्षाबंधन का यह त्योहार अपने साथ प्रकृति की अनोखी सुरम्यता लेकर आया है। ग्रीष्म ऋतु से तप्त हुई वसुंधरा अब हरित वसना होकर अपनी उर्वरा शक्ति का परिचय देने में लगी है। आकाश के निर्गुण-निराकार विस्तार को सावन के मेघों ने सगुण-साकार बना दिया है। मेघों के बीच राखी के चमकीले धागों की तरह चमकती विद्युत की छटा अनुपम है। पवन की गति में पर्व की प्रसन्नता भरी सिहरन और उल्लास के लास्य का संचार है। चारों ओर जलाशय जल से आप्लावित होकर गंधमयी धरा को रसवंती बना रहे हैं। सारे वातावरण में बहनों के प्यार की महक छाई हुई है।

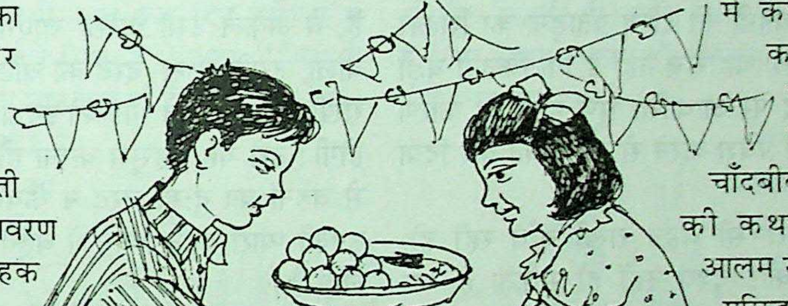

युगों से मनाए जाने वाले इस पर्व के साथ कई युग कथाएँ जुड़ी हुई हैं। पुराणों में कहा गया है कि देवासुर संग्राम में जब देवता निरंतर पराजित होने लगे, तब इंद्र ने अपने गुरु बृहस्पति से रण में विजयश्री दिलाने वाले उपाय की प्रार्थना की। इस प्रार्थना पर देवगुरु ने श्रावण पूर्णिमा के दिन आक के रेशों की राखी बनाकर, उसे रक्षा विधान संबंधी मंत्रों से अभिमंत्रित करके इंद्र की कलाई पर रक्षा-कवच के रूप में बाँध दिया। कथा यह भी है कि युद्ध प्रयाण के समय देवराज इंद्र की पत्नी देवी शची ने गायत्री मंत्र का पाठ करते हुए उनकी कलाई पर रक्षासूत्र बाँधा और उन्हें आश्वासन दिया कि मेरे सत् का प्रतीक यह धागा रणक्षेत्र में आपकी रक्षा करेगा। इन रक्षा-सूत्रों ने देवों में आत्मविश्वास जगाया और वे विजयी रहे। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रारंभ में राखी बाँधने वाला स्वयं रक्षा करने में सक्षम होता था, इसलिए वह रक्षा के लिए अभयदान देता था।

काल ने करवट बदली और परंपरा बदल गई। रक्षा-सूत्र बाँधने वाले हाथों ने स्वयं अपनी रक्षा का वचन माँगा। इसकी शुरुआत तब हुई, जब द्रौपदी ने भगवान् कृष्ण को राखी बाँधी। ऐसा कहा जाता है, तभी से बहनों ने भाइयों की कलाई पर राखी बाँधकर अपनी रक्षा का वचन माँगा। भगवान् कृष्ण ने विपद् की घड़ी में द्रौपदी की लाज बचाकर किस तरह राखी का मोल चुकाया, इस पुराण कथा को सभी जानते हैं। रक्षाबंधन के इस पौराणिक प्रसंग में बाद में कई इतिहास-कथाएँ भी जुड़ीं। इन कथाओं में कर्णवती-हुमायूँ की कथा, रानी बेलुनाविया-टीपू सुल्तान की कथा, चाँदबीबी-महाराणा प्रताप की कथा, रमजानी-शाह आलम सानी की कथा अति प्रसिद्ध है। इतिहास के पृष्ठों में राखी की इन कथाओं का अमिट अंकन है। इतिहास के जानकार यह भी बताते हैं कि अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर के शासनकाल में रक्षाबंधन के पर्व की शान-शौकत बढ़ी-चढ़ी थी। इस अवसर पर किले में आठ दिन पहले से ही तैयारियाँ शुरू हो जाती थीं। हिंदू महिलाएँ उन्हें राखी बाँधतीं और ब्राह्मण आशीर्वाद देते थे। सम्राट् इन सबको तरह-तरह के उपहार दिया करते थे।

स्वातंत्र्य युग में लार्ड कर्जन के काल में राखी का सफल भावनात्मक प्रयोग विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने किया था। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय तो राखी के धागों के कारण ही अस्तित्व में आया। महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी ने काशी नरेश को राखी बाँधी और बदले में

विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए भूमि दक्षिणा में प्राप्त की। कवियित्री महादेवी वर्मा की राखी हिंदी साहित्य के संसार में प्रसिद्ध थी। उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत, इलाचंद्र जोशी, प्रेमचंद्र, जयशंकर प्रसाद तथा महाप्राण निराला की भावनाओं को अपनी राखी के धागों से बाँधा था। घटनाक्रम आज के हों या इतिहास के अथवा इनके विवरण पुराणों में मिलते हों, सभी का सार इतना ही है कि रक्षाबंधन राष्ट्रीय व सामाजिक मर्यादाओं एवं बहनों की लाज की सुरक्षा हेतु संकल्पित होने का महापर्व है।

राखी के धागों को बाँधते हुए इतिहास व पुराण के प्रेरक प्रसंगों के स्मरण के साथ वर्तमान का चिंतन भी जरूरी है। आज की कथा कहती है कि देखो तो सही, हमारी बहनें कितने संकट में हैं। समाज की अगणित कमजोरियों एवं बुराइयों ने बहनों के जीवन को संकटग्रस्त किया हुआ है। जहाँ एक ओर हम उनकी प्रगति के लिए बढ़ते अवसरों की बात करते हैं, वहाँ क्या यह सच नहीं है कि कितनी उमंगों के साथ नए घर में जाने वाली हमारी बहनों को दहेज प्रताड़ना का शिकार बनना पड़ता है? क्या यह सच नहीं है कि कितनी बड़ी संख्या में लिंग-भेद पर आधारित भ्रूण हत्या के कारण बहनों को जीवन में प्रवेश करने से ही वंचित कर दिया जाता है।

छोटी-सी प्यारी-सी बहन राखी बाँध रही हो, इससे प्यारा और कोई दृश्य नहीं हो सकता है, पर भाइयों को यह भी सोचना पड़ेगा कि बड़ी संख्या में वे स्कूली शिक्षा से वंचित क्यों हैं? भाइयों से कई गुना अधिक बहनें कुपोषण की शिकार क्यों हैं? लगातार बढ़ रही बाल वेश्यावृत्ति का जिम्मेदार कौन है? भाइयों के लिए एक विकल्प यह है कि बहनों की इन सभी समस्याओं की ओर से आँख मूँद लें और राखी के त्योहार को बस एक रस्म की तरह निभा दें, पर राखी का पवित्र धागा तो हर भाई की आत्मा को झकझोरकर यही कहता है कि बहन के संकट को कभी मत भूलना। क्या भाई अपनी बहन की इस पुकार को अनसुना कर देगा? क्या रक्षाबंधन का त्योहार केवल एक मिठाई के डिब्बे और कुछ रुपयों तक सिमट जाएगा या हम इस दिन बहन के संकट को वास्तव में याद करेंगे और इसके लिए समाज में जरूरी बदलाव लाने के लिए विचार क्रांति अभियान की सक्रियता से स्वयं को जोड़ेंगे।

यह ठीक है कि रक्षाबंधन के दिन बहन से राखी बँधवाने के लिए जा रहा भाई आज भी उत्साहित है। प्यारी बहन से मिलने की उमंग हिलोरें ले रही है, पर बहुत से भाइयों के दिल में इस उत्साह और उमंग के साथ उदासी भी है। बहन को ससुराल में जो कष्ट सहना पड़ रहा है, इसकी उदासी है। उसे जो ताने सुनने पड़ते हैं, जो अपमान सहना पड़ता है, इसकी उदासी है। हालाँकि बहन बहुत कुछ दुःख-दरद अपने-अपने मायके से छिपा जाती है, पर क्या भाई से उसकी परेशानी और आँखों का दरद पूरी तरह से छिप सकता है? भाई उसके इस खामोश दरद को जानता है और इसी कारण वह उदास है।

रक्षाबंधन के दिन आज अपने भाई को राखी बाँधने जा रही बहन काफी उत्साहित है। कई दिनों बाद भाई से मिलने की उमंग है, पर इस उमंग और उत्साह के साथ एक उदासी भी है। बहन को धीरे-धीरे ऐसा लग रहा है, जैसे मायके में अब वह परायी होती जा रही है। भैया-भाभी भी नहीं चाहते कि वह अपना दुःख-दरद उनसे खुलकर कहे। तो क्या जो कष्ट उसे झेलने पड़ रहे हैं, वे अकेले उसी के रह जाएँगे! क्या उसे सहारा देने वाला, उसके दुःख-दरद को बाँटने वाला कोई नहीं है? राखी बँधवाने वाले भाई को इन प्रश्नों की सचाई समझनी होगी। उसे यह महसूस करना होगा कि आज कई तरह से बहनों का दुःख-दरद न केवल बढ़ गया है, अपितु उनकी प्यारी बहन अपने में बहुत अकेली अनुभव करने लगी है।

निश्चय ही युग परिवर्तन के साथ मान्यताएँ, परंपराएँ बदलती हैं। संस्कृति करत्रट लेती है। नए रूप में नए ओज से चमकती है, पर इसका मूल्य नहीं बिखरता। पुराण व इतिहास-कथाओं के मूल्य आज भी प्रासंगिक हैं। आज की कथा में इन्हें पिरोने की जरूरत है। रक्षाबंधन के पर्व को मूल्यनिष्ठ बनाकर इसे नई गरिमा व नया अर्थ देने की आवश्यकता है। बहनें, भाइयों की कलाई में राखी बाँधकर न सिर्फ अपने सम्मान की रक्षा, वरन् सभी नारियों के सम्मान का वचन लें। भाई भी अपनी बहन के अकेलेपन व उदासी को दूर करने का संकल्प करें। यदि रक्षाबंधन के दिन प्रत्येक भाई अपनी बहन के साथ प्रत्येक नारी की गरिमा, अस्मिता और सम्मान को चोट पहुँचाने वाले तत्त्वों से निपटने का संकल्प ले, तो राखी के पुण्य पर्व का प्राकृतिक एवं भावनात्मक श्रृंगार स्थायी बन जाएगा।

▲

गुरु का ध्यान ही प्रेम की कसौटी

सूर्यदेव ने अपना रथ पश्चिम दिशा की ओर मोड़ लिया था। आकाश में उभरती हुई लालिमा एक छोर पर सिमटने लगी थी। प्रकृति में सूर्यदेव के थोड़े समय बाद अस्ताचल में जाकर विश्राम करने के संकेत स्पष्ट होने लगे थे। चारों ओर पक्षियों में यही चर्चा थी। वे अपनी भाषा में यही चर्चा करते हुए अपने बसेरों की ओर लौट रहे थे। इन पखेरुओं जैसा ही कुछ हाल बुद्ध संघ के भिक्षुओं का था। वे भी अपने शास्ता के परिनिर्वाण की चर्चा करने में लगे थे। उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा था कि ऐसे में क्या करें? बस चिंता, वेदना और विषाद की लहरें उसके मन को अनवरत भिगो रही थीं।

यह स्थिति तब से थी, जब एक दिन वैशाली में विहार करते हुए भगवान ने भिक्षुओं से कहा, ''भिक्षुओ सावधान! मैं आज से चार माह बाद परिनिर्वाण हो जाऊँगा। मेरी घड़ी करीब आ रही है। मेरी विदा का क्षण निकट आ रहा है, इसलिए जो करने योग्य हो, करो। अब देर करने के लिए समय नहीं है।'' तथागत के ये वचन गरम लू के झोंकों की भाँति संघ के समस्त भिक्षुओं के अंत:करण को झकझोरने लगे। जिसने भी यह खबर सुनी, वही विह्वल हो गया।

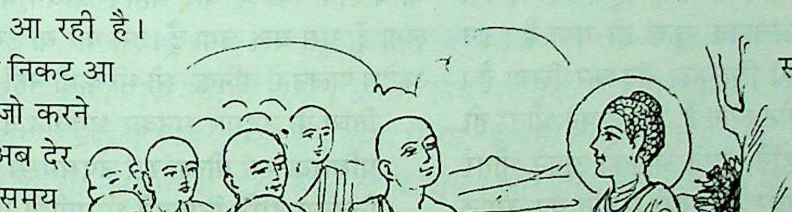

सभी भिक्षुओं में बड़ा भय उत्पन्न हो गया। सारा भिक्षु संघ महाविषाद में डूब गया। कुछ ऐसा लगा, जैसे अचानक अमावस हो गई। भिक्षु रोने लगे, छाती पीटने लगे। विषाद में डूबे इधर-उधर बिलखने लगे। भिक्षुओं के झुंड-के-झुंड यहाँ-वहाँ इकट्ठे होकर रोते हुए सोचते, अब क्या होगा? अब क्या करेंगे? कई तरह की चिंताएँ उनको सता रही थीं। कइयों को चिंता थी कि शास्ता के बाद संघ की व्यवस्था कैसे चलेगी? कई ऐसे थे, जो सोच रहे थे कि परिनिर्वाण के बाद भगवान का उत्तराधिकार किसे मिलेगा?

कुछ ऐसे भी थे, जिनकी चिंताएँ थोड़े अलग किस्म की थीं। वे भगवान की देह के श्रद्धा-पूजा के मोह में थे। महाबुद्ध की महिमामय देह थोड़े दिनों बाद नहीं रहेगी, यह सोचकर वे विकल हो उठे। अपनी इस विकलता में वे भगवान की देह से जुड़ी चीजें जैसे- पुराने चीवर, कमंडलु आदि अपने लिए समेटने लगे। इस समेटा-बटोरी में उनमें आपस में थोड़े-से मनमुटाव की नौबत भी आ गई। चिंताकुल भिक्षुओं में कइयों को अपने भविष्य की चिंता खाए जा रही थी। भिक्षु संघ में कई तरह की चिंताएँ अंकुरित हो रही थीं। इनके रूप और प्रकार भले ही सब के लिए अलग-अलग हों, पर प्राय: सभी को कोई-न-कोई चिंतापाश जकड़े था।

लेकिन, भिक्षु तिष्य स्थविर की स्थिति इन सभी से काफी कुछ अलग थी। भगवान के भावी परिनिर्वाण की खबर सुनने के बाद वे न तो रोए, न ही उन्होंने किसी से कुछ कहा। शास्ता की पुरानी-नई चीजों को भी बटोरने की उन्होंने कोई चेष्टा नहीं की। वे बस मौन हो गए। उन्हें इस तरह अचानक चुप हुआ देख दूसरे भिक्षुओं ने उनसे पूछने की कोशिश की, आपुस, आपको क्या हो गया है? क्या भगवान के जाने की बात से आपको इतना सदमा पहुँचा है कि आपकी वाणी खो गई है? आप रोते क्यों नहीं? आप बोलते क्यों नहीं? तिष्य स्थविर को इस तरह चुप हुआ देख भिक्षुओं को डर भी लगा कि कहीं यह पागल तो नहीं हो गए?

भिक्षुओं का ऐसा सोचना बहुत गलत भी नहीं था। आघात ही ऐसा था कि कोई संवेदनशील हृदय सहन न

कर पाए। ऐसे में पागल होना भी संभव था। जिनके चरणों में सारा जीवन समर्पित किया हो, उनके जाने की घड़ी आ गई। जिनके सहारे अब तक जीवन की सारी आशाएँ बाँधी थीं, उनके विदा होने का क्षण आ गया। यह कठिनतम स्थिति थी। ऐसी स्थिति में भिक्षुओं की शंकाएँ स्वाभाविक थीं। लेकिन, तिष्य जो चुप हुए, सो चुप ही हो गए। वे भिक्षुओं की किसी भी शंका का कोई जवाब नहीं दे रहे थे। उनके जीवन में एकदम सन्नाटा हो गया था। वह एकदम मौन-शांत और एकांत थे।

भगवान के परिनिर्वाण की चिंता से चिंतित भिक्षु थोड़े और भी हैरान-परेशान हुए। अपने सद्व्यवहार के कारण तिष्य स्थविर सभी का प्रिय था। वह सहज रूप से सेवापरायण, मिलनसार, हँसमुख एवं मृदुभाषी था। उसकी अचानक चुप्पी सभी को खल रही थी, लेकिन कोई भी इस चुप्पी का समुचित कारण खोजने में समर्थ नहीं था। पहले ही से चिंतित भिक्षु इस एक नई चिंता के दंश से विकल हो उठे। स्वयं इसके समाधान में असफल रहने पर उन्होंने भगवान के श्रीचरणों में इस समस्या को निवेदित करने की बात सोची।

अंततः यह बात भगवान के पास पहुँच ही गई कि भिक्षु तिष्य स्थविर को अचानक कुछ हो गया है। इन दिनों उन्होंने अपने आपको बिल्कुल बंद कर लिया है। जैसे कछुआ अपने को समेट लेता है और अपने भीतर हो जाता है, कुछ ऐसे ही उन्होंने अपने आपको अपने भीतर समेट लिया है। तिष्य स्थविर की सारी स्थिति का बयान करते हुए भिक्षुओं ने उन्हें अपनी शंकाएँ भी जता डालीं, यह कहीं, किसी तरह के पागलपन का लक्षण तो नहीं है ? कहीं आपके निकट भविष्य में परिनिर्वाण होने की बात का आघात इतना तो गहन नहीं पड़ा कि उनकी स्मृति खो गई है, वाणी विलीन हो गई है।

भिक्षुओं की इन सारी बातों को सुनकर भगवान एक पल को आत्मनिमग्न हुए, पर अगले ही पल वह मुस्करा दिए। उन्होंने तिष्य स्थविर को अपने पास बुलाया। भिक्षु तिष्य स्थविर ने भगवान के समीप आकर उनके चरणों में माथा नवाया और मौन भाव से एक ओर बैठ गए। भगवान ने विहँस कर उनसे पूछा, ''वत्स, ये भिक्षु तुम्हारी स्थिति के बारे में जानना चाहते हैं। इनके संतोष के लिए तुम इन्हें अपनी भावदशा कहो।'' ''जैसी आज्ञा प्रभु,'' तिष्य बोले और उन्होंने कहना शुरू किया, ''आप चार माह बाद परिनिर्वाण होंगे, मैंने जब ऐसा सुना, तो मैंने सोचा कि मैं तो अभी अवीतराग हूँ। आपके रहते हुए ही अर्हत्व पा लेना चाहिए। यही सोचकर मैं ध्यान में ही अपनी समस्त शक्ति उँड़ेलने लगा हूँ।''

यह कहते हुए तिष्य संयमित वाणी से बोले, ''आपने भिक्षुओं को यही आदेश दिया था, जो करने योग्य है, करो। देर मत करो। भगवन्, मैं आपके आदेश को यथासाध्य पालन करने की कोशिश कर रहा हूँ। अब आपसे आशीर्वाद माँगता हूँ कि मेरा संकल्प पूरा हो। आपके जाने से पहले तिष्य स्थविर विदा हो जाना चाहिए।'' आँसू भरी आँखों से तिष्य बोले, ''भगवन्, मैं अपने लिए मौत की माँग नहीं कर रहा हूँ। यह तिष्य स्थविर नाम का जो अहंकार है, यह विदा हो जाना चाहिए। मैं अपना प्राणपण लगा रहा हूँ, आपका आशीर्वाद चाहिए।''

तिष्य के इस कथन में शास्ता के प्रति प्रगाढ़ भक्ति थी। उन्हें भगवान की कृपा शक्ति पर विश्वास था। वह अपना हृदय भगवान के श्रीचरणों में उँड़ेलते हुए कह रहे थे, ''अब न बोलूँगा, न हिलूँगा, न डोलूँगा, क्योंकि सारी शक्ति इसी पर लगा देनी है। आपके वचन मुझे सदा स्मरण रहते हैं। आपने कहा था, भिक्षुओ सावधान हो जाओ और जो करने योग्य है, करो। तो मुझे यही करने योग्य लगा कि ये चार महीने जीवन की क्रांति के लिए लगा दूँ, पूरा बल लगा दूँ। इस पार या उस पार। मैं आपके आदेश पालन में तनिक-सी भी कमी नहीं छोड़ना चाहता।''

तिष्य के उद्गार सुनकर भगवान ने यह गाथा कही-

पविवेकं रसं पीत्वा रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निष्पापो धम्मपीति रसं पिवं॥

एकांत का रस पीकर, शांति का रस पीकर मनुष्य निडर होता है और धर्म का प्रेमरस पीकर निष्पाप होता है।

धम्मगाथा के भाव को प्रकाशित करते हुए भगवान बोले, ''एकांत का अर्थ है, अपने भीतर डुबकी लो। कहीं दूर भागने का अर्थ एकांत नहीं है। एकांत का मतलब इतना ही है कि अब तक तुमने संबंधों में बहुत ज्यादा ऊर्जा खपाई। उसे संबंधों से मुक्त करो, आत्मलीन बनो। ऐसे एकांत में ही शांति का रस घुला है। शून्यता के इस शांति रस को पीकर मनुष्य निडर होता है, फिर जीवन में कोई पीड़ा नहीं, कोई दुःख नहीं। जिसने इस भावदशा का स्वाद चखा, वहीं धर्म का प्रेमरस पीकर निष्पाप होता है। उसे ही धर्म का बोध होता है, वही निर्वाण की निष्पाप भावदशा को प्राप्त होता है।''

अपने द्वारा कही गई धम्मगाथा के अर्थ को प्रकट कर भगवान कहने लगे, ''भिक्षुओ, तिष्य इस धम्मगाथा को अपने जीवन में सार्थक कर रहा है। जो मुझ पर स्नेह

करता है, उसे तिष्य के समान होना चाहिए। यही तो वह सत्य है,जो मैंने कहा था कि करो। रोने-धोने से क्या होगा? रो-धोकर तो जिंदगियाँ बिता दीं तुमने। चर्चा करने से क्या होगा? झुण्ड-के-झुण्ड बनाकर विचार करने से और विषाद करने से क्या होगा। तुम मुझे तो न रोक पाओगे। मेरा जाना निश्चित है। रो-रोकर तुम यह क्षण भी गँवा दोगे। आँसू किसी भी काम नहीं आएँगे।''

''तिष्य स्थविर ने ठीक ही किया है। इसने मेरे प्रति अपने प्रेम को ध्यान बना लिया है। यह मेरी वास्तविक पूजा कर रहा है।'' अपनी वाणी के वेग कुछ पलों के लिए मंद कर भगवान ने तिष्य की ओर कृपापूर्ण दृष्टि से निहारा और पूर्ववत् कहना शुरू किया, ''गंध-माला आदि से पूजा करने वाले मेरी पूजा नहीं करते। वह वास्तविक पूजा नहीं है। जो ध्यान के फूल मेरे चरणों में रोज चढ़ाता है, वही मेरी पूजा करता है। ध्यान ही मेरे प्रति प्रेम की कसौटी है। रोओ मत ध्याओ। मेरी पुरानी जीर्ण वस्तुओं के मोह में मत बँधो, ध्याओ।''

इसी के साथ भगवान ने फिर से एक धम्मगाथा कही-

धीरञ्च पञ्चञ्च बहुस्सुतं च धोरय्हसीलं वतंवतमरियं।
त तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं भजेथ न क्खत्तपथं च चंदिमा॥

इस तिष्य को देखो, यह धीर है, प्राज्ञ है, बहुश्रुत है, शीलवान है, व्रतसंपन्न है, आर्य है, बुद्धिमान है, इसका अनुगमन करो। रोओ-धोओ मत। इसके पीछे जाओ। इससे सीखो। जो इसे हुआ है, वही तुम अपने में होने दो।

महाबुद्ध के इन वचनों को सुनकर भिक्षुओं की क्षुब्ध अंतर्चेतना शांत होने लगी। उनकी चिंता में से चिंतन के स्वर फूटने लगे। सभी ने देखा, तिष्य स्थविर ने शांत भाव से उठकर भगवान को प्रणाम किया। उसे आशीष देते हुए तथागत की वाणी मुखरित हुई-

कोलाहल से काल की निद्रा नहीं टूटती
न धक्के मारने से समय का द्वार खुलता है
ध्यान के व्यूह में जाओ
नीरवता और शांति को सिद्ध करो
ध्यान की गहनता और एकांत
शक्ति के असली स्रोत हैं
भीड़ के कोलाहल से बचो
लक्ष्य को ध्यान के शर से विद्ध करो!

बुद्ध की इस वाणी में सभी के लिए निर्देश थे। सभी इस पर निदिध्यासन करते हुए अपने कुटीरों की ओर चल पड़े।

*

अनिंद्य सुंदरी उब्बरी राजमहिषी बनी। उनके रूप-सौंदर्य और गुण-स्वभाव की भी ख्याति थी। कुछ समय उपरांत उब्बरी ने एक कन्या को जन्म दिया, अपनी ही जैसी चंद्रमुखी। उसकी किलकारियों ने राजमहल की शोभा-सुषमा में चार चाँद लगा दिए। भाग्यविधान पलटा। कन्या का देहावसान हो गया। माता पर वज्रपात हुआ। वह विक्षिप्त जैसी हो गई। जिस श्मशान में बालिका की अंत्येष्टि हुई थी, वह उसी में जा पहुँचती और विलाप से आकाश हिला देती। दर्शकों की आँखों से आँसू ढुलकने लगते। उब्बरी इस शोक-संताप में सूख-सूखकर काँटा हो गई। किसी के प्रबोधन का उस पर प्रभाव नहीं हो रहा था।

एक दिन तथागत उस राह से गुजरे। रुदन सुनकर ठिठक गए। विवरण जाना तो क्रंदन करती युवती के पास जा पहुँचे। उब्बरी ने सिर उठाकर देखा और अनुग्रह की याचना करने लगी। बुद्ध ने कहा, देवि! इसी श्मशान में सहस्त्रों के मृत शरीर भस्मीभूत हुए हैं। उनके परिजन यदि ऐसा ही क्रंदन करते, तो इस संसार में शोक के अतिरिक्त और कुछ बचा रहता क्या? विवेक की आँखें खोलो और इस मरणधर्मा शरीर की अंतिम गति पर विचार करो। जो चले गए, उन्हें जाने दो। अपनी आत्मा का विचार करो, जो पुत्री से भी अधिक प्रिय होनी चाहिए। ऐसा न हो कि तुम पुत्री की तरह आत्मा को भी गँवा बैठो। उब्बरी तथागत का एक-एक शब्द हृदयंगम करती गई। उसने अंतरात्मा को पहचाना और मृत का दामन छोड़कर उस जीवंत का परिपालन आरंभ कर दिया। कुछ दिन उपरांत उब्बरी महिला बौद्ध विहार की अधिष्ठात्री बनीं, सीमित मोह का व्यापक प्रेम के रूप में परिवर्तन जो हुआ था।

सृष्टि का जन्मोत्सव पर्व

मेघगर्जन की वाद्यधुन के साथ रिम-झिम के गीतों को गाती हुई हरियाली की आकर्षक चादर ओढ़े संपूर्ण प्रकृति उत्सव मना रही है। यह हर्षोत्सव श्रावणी पर्व का है। श्रावणी सृष्टि का जन्मोत्सव पर्व है। इसी दिन परमेश्वर का 'एकोऽहं बहुस्याम्' संकल्प मूर्त हुआ। बहुआयामी सृष्टि जन्मी। प्रकृति की उर्वरता में जीवन के अनेक रूप-रंग अंकुरित हुए। सर्वसमर्थ पिता परमेश्वर की कृपा से आदिमाता प्रकृति की गोद अगणित संतानों से भर गई। जगत् को जन्म देने वाली जगन्माता के उल्लास का रहस्य यही है। इसमें अनेकों संकेत हैं, संदेश हैं और भागीदार बनने के लिए आह्वान है। माता प्रकृति के ज्येष्ठ पुत्र मनुष्य का दायित्व तो कुछ अधिक ही है। श्रावणी इसी दायित्व बोध को अनुभव करने, उसे सही ढंग से निभाने के लिए संकल्पित होने का पर्व है।

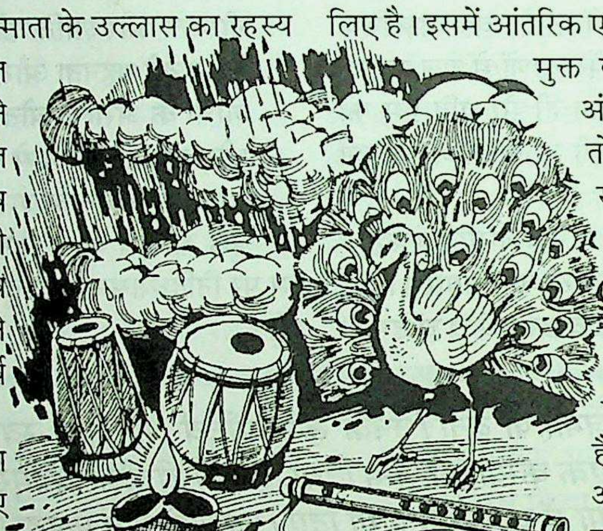

श्रावणी पर्व को व्यवस्था पूर्ण रीति से मनाने के लिए आवश्यक कर्मकांड के मुख्य बिंदु निम्न हैं—१. षट्कर्म, २. तीर्थ आह्वान, ३. हेमाद्रि संकल्प, ४. दश स्नान, ५. यज्ञोपवीत नवीनीकरण, ६. तर्पण एवं ७. अर्घ्यदान नमस्कार। कर्मकांड की इन सारी रीतियों को शांतिकुंज द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'कर्मकांड भास्कर' को पढ़कर जाना-सीखा और पूरा किया जा सकता है। अपने परिजनों द्वारा ऐसा किया भी जाना चाहिए, लेकिन इसी के साथ उस तत्त्व को जानने, उसका चिंतन करने की आवश्यकता है, जो इस समस्त कर्मकांड प्रकरण का सार है। जिसे समझे बिना श्रावणी पर्व की यथार्थ अनुभूति नहीं हो सकती है।

यह तत्त्व बोध उस महत् संकल्प के बारे में है, जो समस्त सृष्टि का आधार है। ब्रह्म-संकल्प से सृष्टि जन्मी, इस सत्य से सभी परिचित हैं, लेकिन जन्म किसी वस्तु का हो या व्यक्ति का या फिर स्वयं सृष्टि का, उसके रक्षण और पोषण की व्यवस्था भी आवश्यक है। ब्रह्म संकल्प से प्रकट हुई इस सृष्टि के रक्षण एवं पोषण में जो ब्रह्म के सहयोगी बनते हैं, उन्हें ही ब्राह्मण कहा जाता है। श्रावणी इसी ब्राह्मणत्व के लिए संकल्पित होने का महापर्व है। इसी की उच्चस्तरीय कक्षा ऋषित्व है। ऋषि अंतर्दृष्टि संपन्न वह व्यक्ति है, जो परमेश्वर के संकेतों को अपनी परिष्कृत अंतर्चेतना में अनुभव करता है और तदनुरूप जीवन जीने के लिए निरत होता है।

श्रावणी पर्व पर किया जाने वाला हेमाद्रि संकल्प इसी ब्राह्मणत्व एवं ऋषित्व के संवर्द्धन एवं अभिवर्द्धन के लिए है। इसमें आंतरिक एवं बाह्य संपूर्ण प्रकृति को प्रदूषण मुक्त करने का उद्घोष है। अपना अंतःकरण यदि प्रदूषण से मुक्त हो, तो ही व्यक्ति पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने में सहायक हो पाता है। अंतःकरण एवं पर्यावरण दोनों ही गहराइयों में एक-दूसरे से जुड़े हैं। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहता। बढ़ते पर्यावरण प्रदूषण का कारण यही है कि इन दिनों व्यक्तियों के अंतःकरण बुरी तरह से प्रदूषित हुए हैं। इन दोनों को ही प्रदूषण से मुक्त करने की प्रतिबद्धता ही हेमाद्रि संकल्प का यथार्थ है।

श्रावणी पर्व को मनाने की आदर्श रीति यही है कि पर्व के पुण्य क्षणों में कर्मकांड के सारे विधान पूरा करते हुए, अपने अंतःभूमि में कम-से-कम किसी एक सद्गुण का बिरवाँ रोपें। इसी के साथ प्रकृति के आँगन में कम-से-कम एक वृक्ष-पादप रोपित करें। साथ ही इन्हें पूरे वर्ष आवश्यक रक्षण-पोषण देने का संकल्प करें। इस संकल्प को पूर्ण करने के लिए किए जाने वाले सतत प्रयास से अंतःकरण और पर्यावरण दोनों ही प्रदूषण मुक्त होने लगेंगे। जीवन और प्रकृति में सुगंध फैलने लगेगी। श्रावणी पर किए गए इस हेमाद्रि संकल्प की महिमा स्वयं ही प्रकाशित हो उठेगी। ब्रह्म संकल्प के सहयोगी बनने के फलस्वरूप जीवन में अपने-आप ही ब्राह्मणत्व एवं ऋषित्व के वरदानों की छटा निखरेगी। सृष्टि के जन्मोत्सव की खुशियाँ अपने घर-आँगन में भी आएँगी। ✳

गायत्री उपासना के मूल में निहित वैज्ञानिक सत्य

मंत्र विज्ञान ध्वनि विज्ञान पर आधारित एक विधा है। हमारे पूर्वज ऋषि इसके उद्भट ज्ञाता थे। उन्होंने ध्वनि तरंगों की विशिष्टता और महत्ता को पहचाना था। उस आधार पर उन्हें विशेष सम्मान और स्थान दिया। गायत्री मंत्र का महामंत्र संबोधन इसी तथ्य को उजागर करता है और बताता है कि आरोग्यशास्त्र की दृष्टि से यह कितना अप्रतिम और अद्भुत है।

सर्वप्रथम 'गायत्री' शब्द के अर्थ पर विचार करें। ऋषियों ने इसे 'गायन्तं त्रायते इति गायत्री' कहकर परिभाषित किया है अर्थात् जो गाने वाले का त्राण करे, वह 'गायत्री' है। पिछले दिनों तक इसे एक शास्त्रीय मान्यता भर माना जाता था और आप्तवचन से अधिक कुछ नहीं स्वीकारा जाता था। अब जबकि गायत्री मंत्र पर अध्ययन-अनुसंधान हो रहे हैं, तब विदित हुआ है कि उक्त परिभाषा में सूत्रकार की कितनी अंतर्दृष्टि सम्मिलित है। वास्तव में यह सूत्र 'गायत्री' की शाब्दिक व्याख्या भर ही नहीं है, अपितु उसमें एक ऐसा वैज्ञानिक सत्य छिपा हुआ है, जो दिव्य दृष्टि संपन्न ऋषि से अविज्ञात न रह सका और उसे ज्यों-का-त्यों शब्दों में अभिव्यक्त कर दिया कि इसे जपने वाले का यह त्राण करती है, किंतु यह त्राण किस प्रकार से होता है, बुद्धिवादियों के लिए यह रहस्य ही बना रहा। ऐसे ही 'गायत्री कामधेनु है', 'गायत्री कल्पवृक्ष है', 'गायत्री पारसमणि है' आदि कितनी ही धार्मिक धारणाएँ इस संबंध में प्रचलित हैं, पर उनका कोई वैज्ञानिक आधार स्पष्ट न होने से बौद्धिक लोग उन्हें तथ्य के रूप में अंगीकार करने में संकोच अनुभव करते रहे। अब जबकि ध्वनि विज्ञान के आधार पर गायत्री मंत्र का विश्लेषण हो चुका है, तब पता चला है कि उसमें शब्दों और अक्षरों का क्रम विन्यास कुछ इस प्रकार का है कि जब उसका उच्चारण किया जाता है, तो उससे ऐसी तरंगें निःसृत होती हैं, जो संपूर्ण शरीरतंत्र पर अनुकूल प्रभाव डालती हैं। इस तथ्य के प्रकाश में जब गायत्री विषयक मान्यताओं पर मनन किया गया, तो सभी बुद्धिसंगत प्रतीत हुईं। वह गाने वाले का त्राण उसे समग्र रूप से स्वस्थ बनाकर करती है।

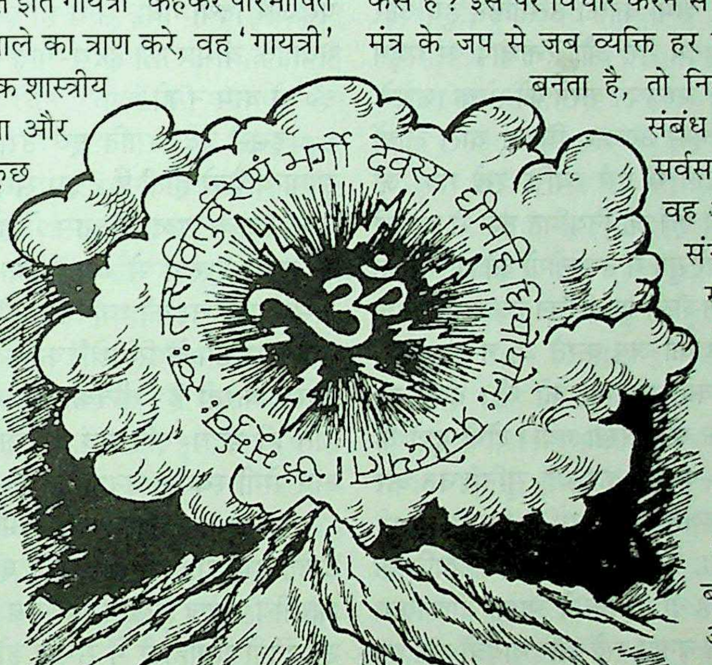
ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।
ॐ

कामधेनु के संबंध में यह प्रचलित है कि उसके समक्ष कोई भी कामना अधूरी नहीं रहती। गायत्री कामधेनु कैसे है ? इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि गायत्री मंत्र के जप से जब व्यक्ति हर प्रकार से स्वस्थ-नीरोग बनता है, तो निश्चय ही धनोपार्जन के संबंध में उसकी स्थिति सर्वसाधारण से अच्छी होगी। वह औरों की तुलना में धन-संग्रह में कहीं अधिक समर्थता और सशक्तता का परिचय देगा। धनी व्यक्ति के लिए इस संसार में कुछ भी प्राप्त कर सकना असंभव नहीं, कारण कि वैभव भौतिक जगत् का सर्वोपरि बल है। इससे व्यक्ति अपनी समस्त आकांक्षाओं को पूरा कर सकता है, इसलिए गायत्री को यदि कामधेनु कहा गया है, तो भौतिक दृष्टि से यह किसी भी प्रकार असंगत नहीं है। 'गायत्री कल्पवृक्ष है', 'गायत्री पारसमणि है' इन सभी को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए।

गायत्री संबंधी भौतिक चर्चा को आगे बढ़ाते हुए अब यह देखते हैं कि पिछले दिनों उस पर जो शोध-अनुसंधान हुए हैं, उनसे उसकी 'गायन्तं त्रायते' संबंधी मान्यता की कितनी पुष्टि होती है। इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य 'जबलपुर हास्पिटल एंड रिसर्च सेंटर' में हृदय रोग विभाग के प्रमुख एवं मूर्द्धन्य हृदय रोग विशेषज्ञ डॉ. आर. एस. शर्मा ने किया है। एक हृदय रोग विशेषज्ञ होने के नाते डॉ.

शर्मा ने अध्ययन के लिए सर्वप्रथम हृदय रोग और उससे संबंधित उच्च रक्तचाप को चुना और उसमें औषधि सेवन के साथ-साथ गायत्री मंत्र जप को भी अनिवार्य बना दिया। कई रोगियों पर अनेक महीनों तक परीक्षण करने के उपरांत जो नतीजे सामने आए, वह काफी उत्साहवर्द्धक थे। पाया गया कि जिन रोगियों ने दवा और मंत्रजप दोनों को साथ-साथ अपनाया था, उनके और केवल दवा पर आश्रित रोगियों के स्वास्थ्य में भारी फर्क था। मंत्रजप को औषधि के साथ अनुपूरक चिकित्सा के रूप में अपनाने वाले मरीज शरीर, चेहरे और सक्रियता की दृष्टि से बिलकुल सामान्य प्रतीत हो रहे थे, जबकि केवल दवा पर निर्भर रोगियों के मुखमंडल निस्तेज और थके हुए मालूम पड़े और बीच-बीच में अन्य रोग भी उभरते रहे।

इन परिणामों से डॉ. शर्मा काफी उत्साहित हुए और उन्होंने गायत्री मंत्र का हृदय रोग और रक्तचाप पर पड़ने वाले प्रभावों का सांगोपांग अध्ययन करने को सोचा। उसके लिए उन्होंने दो भिन्न-भिन्न आचार-विचार वाले लोगों का चयन किया। एक दल में ऐसे व्यक्ति रखे गए, जो आध्यात्मिक प्रकृति के थे एवं जो नियमित रूप से गायत्री मंत्र का जप करते थे। दूसरे ग्रुप में उन लोगों को सम्मिलित किया गया, जिनकी जीवन शैली एवं चिंतन एकदम भौतिक था। वे न तो गायत्री मंत्र का जप करते थे, न जीवन में कभी किसी अन्य मंत्र की उपासना की थी। दोनों का एज-ग्रुप २५-३५ वर्ष के बीच रखा गया। दोनों ग्रुपों के सभी लोगों की स्वास्थ्य-परीक्षा कर यह सुनिश्चित कर लिया गया कि वे पूर्णत: स्वस्थ हैं। उनमें से किसी को भी न रक्तचाप संबंधी रोग था, न हृदय संबंधी। आध्यात्मिक ग्रुप के लोगों को यह सलाह दी गई कि वे अपना जीवनक्रम हर स्थिति में आध्यात्मिक बनाए रखें और गायत्री मंत्र का जप नियमित रूप से प्रतिदिन करते रहें। जप अनुबंध कम-से-कम पाँच माला का रखा गया। कंट्रोल ग्रुप पर ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं था। अध्ययन तीन वर्ष तक चला। इस बीच दोनों ग्रुपों के लोगों का नियमित स्वास्थ्य-परीक्षण होता रहा। तीन वर्ष उपरांत जो परिणाम सामने आया, वह चौंकाने वाला था। गायत्री मंत्र का नियमित जप करने और आध्यात्मिक जीवन शैली अपनाने वाले दल के लोगों में हृदय अथवा रक्तचाप संबंधी किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं पाई गई, जबकि कंट्रोल ग्रुप में से अनेकों में इनके लक्षण उभर आए थे। आध्यात्मिक ग्रुप शाकाहारी था, जबकि कंट्रोल ग्रुप को आमिष-सामिष दोनों प्रकार के भोजन की छूट थी।

इसके अतिरिक्त डॉ. शर्मा ने उन हृदय रोगियों पर भी गायत्री मंत्र को आजमाया, जिनकी हृदय-गति या तो तीव्र थी या अनियमित। उन्होंने ऐसे बीमारों से सामान्य जाग्रत् अवस्था के १६ घंटों में से हर दो घंटे पर गायत्री मंत्र की एक माला जपने को कहा। एक माह तक यह प्रक्रिया चलाने के बाद मंत्र-जप को २४ घंटे में चार बार कर दिया गया। इसमें प्रात: सोकर उठने के बाद, रात्रि में सोने से पूर्व और बीच के दिन वाले हिस्से में दो बार, इस प्रकार का क्रम अपनाया गया। दूसरे महीने में जप-संख्या बढ़ाकर तीन माला कर दी गई। इसके बाद इसी प्रक्रिया को आगे के महीनों में जारी रखा गया। इससे कुछ ही महीनों में हृदय गति सामान्य होती देखी गई। प्रयोग में गायत्री मंत्र के 'ॐ' वाले हिस्से के प्लुत उच्चारण (लंबा खींचकर) पर जोर दिया गया, साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा गया कि बीमार की हृदय-गति ५० से और रक्तचाप ९०-६० से कम न हो।

इससे हृदय-गति एवं उसकी दूसरी अनियमितताएँ सामान्य कैसे होती हैं ? इस संबंध में उनका कहना है कि उक्त मंत्र के शब्द विन्यास में ही चमत्कार है। उन शब्दों के क्रमिक रूप से बोलने या उच्चारण करने से कुछ असाधारण स्तर की ध्वनि तरंगें पैदा होती हैं, जो आटोनोमस नर्वस सिस्टम के सिंपैथेटिक वाले भाग को प्रभावित करना आरंभ करती हैं। तंत्रिका तंत्र के उस हिस्से के सक्रिय होते ही हृदय-गति एवं रक्तचाप सामान्य होने लगते हैं और रोगी स्वस्थ अनुभव करने लगता है।

अपने इन अध्ययनों के आश्चर्यजनक परिणामों को देखते हुए डॉ. शर्मा ने इनकी एक विस्तृत रिपोर्ट अखिल भारतीय भेषज विज्ञान विशेषज्ञ के सम्मेलन में भेजी, जो उन दिनों गुवाहाटी में संपन्न होने जा रहा था। शोध-पत्र स्वीकार कर लिया गया, जिसे बाद में 'जरनल ऑफ एसोसिएशन ऑफ फिजीशियन्स' नामक भेषज विज्ञान शोध-पत्रिका में प्रकाशित किया गया। सम्मेलन में शोध-पत्र की काफी प्रशंसा हुई तथा गायत्री मंत्र को अन्य रोगों में भी आजमाने की अनुशंसा की गई।

गायत्री मंत्र एक वैदिक मंत्र होने के नाते उसके जप में संपूर्ण बाह्यशुचिता का विधान है, पर जो रोगग्रस्त हैं, उनके लिए इसमें इतनी भर छूट है कि वे चलते-फिरते, उठते-बैठते एवं लेटे हुए कहीं और किसी भी स्वच्छ-अस्वच्छ स्थिति में इसका मौन-मानसिक जप कर सकते हैं।

उनको गायत्री मंत्र से रोग-निवारण की प्रेरणा कब और कैसे मिली ? इस संदर्भ में वे कहते हैं कि अपने लंबे

चिकित्सीय जीवन में उनने अनेक युवा हृदय रोगियों का इलाज किया। इस क्रम में उनने देखा कि कई बार ऐसे रोगियों के साथ उनके माता-पिता अथवा दूसरे बड़ी उम्र के संबंधी होते। वे इतनी आयु में भी बिलकुल स्वस्थ दिखलाई पड़ते। उन्हें जिज्ञासा हुई कि आखिर पुत्र इस अल्पवय में ऐसी प्राणघातक व्याधि का शिकार कैसे हो गया, जबकि माता-पिता इस ढलती आयु में भी तंदुरुस्त बने हुए हैं? जिज्ञासा ने चर्चा का रूप लिया, तो कुछ ऐसी जानकारियाँ मिलीं, जो उनके जीवनक्रम में अभिन्न रूप से सम्मिलित थीं। वे शाकाहारी थे। इसके अतिरिक्त ब्रह्ममुहूर्त में उठना और संध्योपासना करना उनकी नियमित दिनचर्या थी। उपासना में वे गायत्री मंत्र का जप और अनुष्ठान करते और यदा-कदा गायत्री यज्ञों में भाग लेते।

वे कहते हैं कि गायत्री के संबंध में थोड़ी-बहुत जानकारी उन्हें भी थी। उनने सुन रखा था कि गायत्री ब्राह्मणों अर्थात् सात्विक चिंतन वालों की कामधेनु है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में कहा गया है, '**ॐ स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।**' गायत्री मंत्र की फलश्रुति विषयक यह श्लोक भी उनका ध्यान खींच रहा था।

इन सब तथ्यों पर गहन विचार-मंथन के उपरांत उनने निर्णय लिया कि गायत्री मंत्र का स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों पर अध्ययन किया जाए। इस निश्चय के बाद उनने अपने ही रोगियों पर उक्त अध्ययन करना शुरू किया और जो परिणाम सामने आया, वह ऊपर वर्णित है। उनके कथनानुसार इस प्रक्रिया द्वारा वे सैकड़ों हृदय रोगियों को स्वस्थ कर चुके हैं और अनेक ऐसे हैं, जो ठीक होने की स्थिति में आ गए हैं।

उनका कहना है कि चिकित्सा की इस विधा को दूसरे रोगों में भी अपनाकर उन क्षेत्रों के भेषज विशेषज्ञों को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि क्या उनमें भी गायत्री मंत्र का वैसा ही प्रभावकारी असर होता है अथवा नहीं? वे इस संबंध में अपना निजी मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि संभव है वहाँ भी यह चिकित्सा सफल साबित हो। इस सोच के पीछे उनकी अपनी धारणा है। वे कहते हैं कि यह संपूर्ण जगत् दोलायमान है। यहाँ की हर वस्तु कंपन कर रही है। अपना शरीर भी उससे पृथक् नहीं। वह भी तरंगित हो रहा है और उसके हर अवयव की इसमें हिस्सेदारी है। सभी अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी गति में सूक्ष्म रूप से प्रकंपित हैं। उनके इस कंपन में जब कभी व्यवधान या व्यतिक्रम उपस्थित होता है, तो वह अपनी स्वाभाविक अवस्था खो देते हैं और एक असहज दशा में आ जाते हैं। यह असहज स्थिति ही व्याधि का कारण बनती और बाद में स्थूल रूप में प्रकट होकर व्यक्ति को बीमार बनाती है।

ऐसा आदमी जब गायत्री मंत्र का जप करता है, तो मंत्र जप से उद्भूत तरंगें रोगग्रस्त अंग की अव्यवस्थित तरंगों को पुनर्व्यवस्थित करती हैं। इस प्रकार कुछ काल की गायत्री उपासना के पश्चात् जब बीमार अवयव अपना स्वाभाविक स्पंदन प्राप्त कर लेता है, तो वह स्वस्थ हो जाता है और व्यक्ति नीरोग। इसलिए डॉ. शर्मा का विश्वास है कि गायत्री-चिकित्सा की यह विधि हर रोग और हर परंपरा के लोगों के लिए सफल एवं कारगर सिद्ध होनी चाहिए, क्योंकि यह तरंग प्रधान चिकित्सा भी है। यदि साथ में आस्था और जुड़ जाए, तब तो यह सोने में सुहागे की तरह असर दिखाता है, किंतु न जुड़ने पर भी यह निष्फल नहीं जाता और धीरे ही सही, स्वास्थ्य-लाभ संबंधी प्रयोजन पूरा करके रहता है। इस तरह 'गायन्तं त्रायते' संबंधी इसकी शास्त्रीय मान्यता सिद्ध हो जाती है।

ध्वनि तरंगों में कितनी शक्ति है, अब यह कोई छिपा तथ्य नहीं। इंफ्रासोनिक और अल्ट्रासोनिक तरंगों के रूप में विज्ञान इनकी शक्ति को जानता है। मंत्र शास्त्र में इनका चिकित्सीय उपयोग हुआ है। गायत्री मंत्र इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। हममें से प्रत्येक को इस मंत्र की उपासना अवश्य करनी चाहिए। इससे एक साथ तीन लाभ प्राप्त होंगे—स्वास्थ्य, समृद्धि और आत्मिक प्रगति, ऐसा गायत्री महाविद्या के आचार्यों का कथन है।

●

श्रवणकुमार के माता-पिता अंधे थे, पर उनकी इच्छा तीर्थयात्रा की थी। श्रवणकुमार ने आश्चर्य से पूछा, जब आप लोगों को दीखता ही नहीं और देवदर्शन कर नहीं सकेंगे, तो ऐसी यात्रा से क्या लाभ? पिता ने कहा, तात् तीर्थयात्रा का उद्देश्य देवदर्शन ही नहीं, वरन् विप्रजनों का घर-घर, गाँव-गाँव जाकर जनसंपर्क साधना और धर्मोपदेश करना है। यह कार्य हम लोग बिना नेत्रों के भी कर सकते हैं। इससे इन दिनों जो निरर्थक समय बीतता है, उसकी सार्थकता बन पड़ेगी।

आत्मचिंतन का महापर्व : स्वाधीनता दिवस

१५ अगस्त फिर से एक बार राष्ट्रीय जीवन में स्वाधीनता का उल्लास बिखेर रहा है। 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' का गौरव गान करते हुए जन-गण-मन हर्षित है, लेकिन इस हर्ष में, उल्लास के उजाले में अभी कुछ कोर-कसर है। सन् १९४७ से लेकर वर्ष २००२ तक हमने स्वराज्य के पचपन वर्ष पूरे कर लिए हैं, फिर भी हम सब मिलकर इसे पूर्णता नहीं दे सके। वही पूर्णता जिसके बारे में राष्ट्रीय स्वाधीनता के मंत्रद्रष्टा ऋषि श्री अरविंद ने कहा था, ''पूर्ण स्वराज्य का विचार राष्ट्रीय जनमानस के लिए आकर्षक है। यदि पाश्चात्य भौतिकवाद के स्थूल रंग से मुक्त और शुद्ध भारतीय भावनाओं से परिपूर्ण मन से इस विचार को लोकमानस के समक्ष प्रस्तुत किया जाए, तो उसका प्रभाव अजेय होगा।''

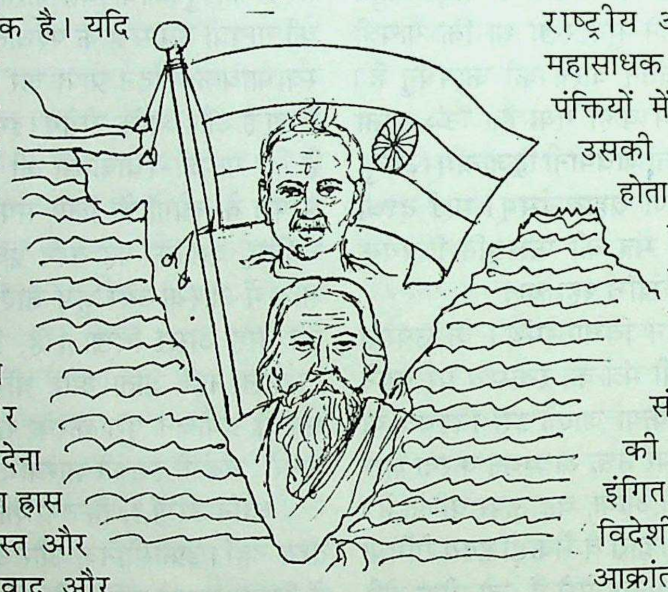

''..... भारत का काम संसार को प्रकाश और नवजीवन का अनंत स्रोत देना है। जब-जब आदि तेज का ह्रास होता है और पृथ्वी जराग्रस्त और क्षीण होती है। भौतिकवाद और समाधानहीन समस्याओं से त्रस्त हो जाती है, तब-तब भारत का काम होता है, मानवजाति में यौवन का पुनः संचार और उसे अमरत्व का दान.... संसार को भारत की आवश्यकता है- स्वाधीन भारत की। अब उसे वेदांत के सिद्धांतों के अनुरूप जीवन को ढालना है और विदेशी शक्ति और विदेशी सभ्यता के साये से आक्रांत रहते हुए वह इसे कर नहीं सकता। जब तक अपने जीवन की व्यवस्था उसके अपने हाथ में न हो, तब तक वह ऐसा नहीं कर सकता। उसे अपना जीवन स्वयं जीना चाहिए, किसी विदेशी साम्राज्य के जीवन का अंग बनकर या आधीन रहकर शासित जीवन जीकर नहीं।''

३ मई १९०८ के 'वंदेमातरम्' के साप्ताहिक संस्करण के संपादकीय में महर्षि अरविंद ने स्वतंत्र भारत के उद्देश्य की कल्पना इन शब्दों में व्यक्त की थी। १५ अगस्त सन् २००२ में राष्ट्रीय स्वाधीनता के महापर्व पर जबकि इन विचारों को प्रकट किए हुए लगभग ९५ वर्ष बीत रहे हैं, इनमें व्यक्त की गई संभावनाएँ आज भी सामयिक और प्रासंगिक हैं। श्री अरविंद के शब्द आज भी भारत की स्वतंत्रता के लक्ष्य, उसकी पूर्णता का स्मरण कराते हैं। यह महाप्रश्न देशवासियों से है, हमसे-आपसे और हममें से प्रत्येक से है कि क्या स्वाधीन भारत इस दिशा में कहीं आगे बढ़ा? जो राष्ट्रीय आकांक्षा स्वाधीनता के महासाधक ऋषि अरविंद के इन मांत्रिक पंक्तियों में अभिव्यक्त होती है, क्या उसकी पूर्ति के लिए कहीं प्रयत्न होता दिखाई देता है? श्री अरविंद ने राष्ट्र-जीवन की जिस व्यवस्था की चर्चा की है, वह तो आज भी भारत के हाथ में नहीं है। उन्होंने संसार के लिए जिस भारत की आवश्यकता की ओर इंगित किया है, वह आज भी विदेशी सभ्यता से बुरी तरह से आक्रांत है।

जिस समय उन्होंने ये बातें कही थीं, उस समय फिर भी भारतदेश में एक सांस्कृतिक प्रवाह सुस्पष्ट था, लेकिन आज तो आर्थिक उदारीकरण के साथ उपभोक्तावाद का हमला झेल रहे देश में सर्वत्र सांस्कृतिक बंजरपन ही बढ़ता दिखाई देता है। **१५ अगस्त हमारी स्वतंत्रता की जयंती है, तो यह शुभ दिवस महायोगी श्री अरविंद का जन्मदिन भी है। यह शुभ संयोग दैवी योजना से घटित हुआ है। इसका कारण शायद यही है कि जब-जब हम राष्ट्रीय स्वतंत्रता का पर्व मनाएँ, तब-तब स्वाधीनता की साधना के महासाधक ऋषि अरविंद के विचारों के परिप्रेक्ष्य में आत्मलोचन एवं आत्ममंथन भी करें। समस्याओं को परखें और उनके निवारण के उपाय ढूँढ़ें।**

आज देश की परिस्थितियाँ चिंता और निराशा के कुहासे से घिरी हैं। राजनीतिज्ञों के चरित्र देश के भविष्य के प्रति भयास्पद संदेह अंकुरित करते हैं। सत्तातंत्र का भटकाव देशवासियों को राष्ट्रीय जीवन के प्रति हताश करता है। हम स्वतंत्र भारत में लोकतंत्र और लोकजीवन को जिस दिशा में ले गए, वह किसी भी तरह से हमारे लिए ठीक नहीं था। जो राह हमने चुनी, वह हमारी राष्ट्रीय प्रकृति से मेल नहीं खाती। भारत की आत्मशक्ति के केंद्र को समझे बिना, भारत देश के आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किए बिना राजनीतिज्ञों ने, सत्ता पर आधिपत्य जमाने वालों ने सारे राष्ट्र को जिस ओर हाँक दिया है, वह विनाश, ह्रास, टूटन और पराजय की ओर ले जाने वाला पथ है। भारत की राष्ट्रीय भावनाओं में आध्यात्मिकता का अनुभव करने की जगह पश्चिम की चाकरी करने वाली बुद्धि एवं विचार की वजह से भारी कीमत चुकानी पड़ रही है। भारत की राष्ट्रीयता को भौतिक राष्ट्रवाद बनाने की जो गलती हो रही है, उससे समूचा देश एक भयावह बियावान में भटकने लगा है। ठीक भी है, जब भारत को मात्र भौतिक जड़ पदार्थों का समुच्चय मानेंगे, तो उसमें सनातन दिव्यत्व के दर्शन कैसे कर पाएँगे? भारत देश की समस्याओं का समाधान पाने के प्रयास जब पश्चिम से आयातित बुद्धिवाद से संक्रमित होंगे, तो भला इनका भारत की प्रकृति से किस तरह मेल हो पाएगा?

स्वतंत्रता के बाद देश कैसा होगा? इस प्रश्न का जो उत्तर श्री अरविंद ने प्रस्तुत किया था, उसमें एक दिव्य संस्पर्श था। उन्होंने जिस भावी भव्य भारत का चित्र रेखांकित किया था, वह आध्यात्मिक था। उन्होंने स्वतंत्रता को ईश्वरीय योजना के क्रियान्वयन का महत्त्वपूर्ण उपकरण माना था। अपने एक संदेश में उन्होंने कहा था, "स्वराज्य औपनिवेशिक प्रशासन या शासन का कोई अन्य रूप नहीं है। यह तो हमारे राष्ट्रीय जीवन की सिद्धि है। हम उसी की खोज में लगे हैं। ईश्वर ने हमें संसार में इसलिए भेजा है कि हम अपने वैयक्तिक जीवन में, परिवार में, समाज में, राष्ट्र में और मानव जाति में अपने निर्धारित काम करके भगवान के प्रति खरे साबित हो सकें। इसी के लिए उसने हमें संसार में भेजा है। यही हमारा अभीष्ट है, क्योंकि पूर्णता ही जीवन है और उसका अभाव ही मृत्यु।"

आज विश्व परिदृश्य में भारत की स्थिति देखकर यह कोई कैसे माने कि भारत को ईश्वर के प्रति खरा उतरने के लिए कुछ विशेष कार्यों को पूर्ण करना है। श्री अरविंद ने जीवन की जिस पूर्णता को उपलब्ध किया, वह भला आज किस तरह हमारे पास आए? क्योंकि हमारे सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन को तो चारों ओर चरित्रहीनता, अनैतिकता एवं मूल्यों का घोर संकट घेरे है। जब राजनीतिज्ञों की राष्ट्र के प्रति प्रामाणिकता ही संदेह के घेरे में हो, जब देश का संचालन करने वाली नीतियाँ क्षुद्र स्वार्थ और अदूरदृष्टि से ग्रस्त हों, तो स्वतंत्रता दिवस के उल्लास में पूर्णता आए भी तो कहाँ से? देश का आम आदमी अपने लिए आदर्श ढूँढ़ता है, जिसका वह अनुकरण कर सके। वह देश में चल रही विभिन्न धाराओं और अन्यान्य आंदोलनों से मार्गदर्शन खोजता है।

आज कालप्रश्न यह है कि मात्र भौतिक विचारों वाली, राष्ट्र की स्थूल संकल्पना को लेकर चलने वाली धाराएँ सच्चे भारत का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकती हैं? भारत एक आध्यात्मिक राष्ट्र है। यहाँ के राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं का समाधान, भावी चुनौतियों का उत्तर आध्यात्मिक आंदोलनों से ही निकलेगा। आध्यात्मिक जागरण भारत में राष्ट्रीय जागरण की पहली और अनिवार्य शर्त है। भारतीय समाज का सामूहिक मन आध्यात्मिकता में रचता-बसता है। स्वतंत्रता संग्राम के संघर्ष में जूझने-मरने वाले अनेक क्रांतिकारियों और सत्याग्रहियों की प्रेरणा अध्यात्म ही था। लोकमान्य तिलक का जेल में बैठकर भगवद्गीता का भाष्य करना, खुदीराम बोस का भगवद्गीता को लेकर फाँसी के फंदे पर झूलना, युगऋषि आचार्य श्रीराम शर्मा का जेल की कोठरी में बैठकर जप-ध्यान करना आध्यात्मिक जीवन न होकर और क्या है? श्री अरविंद ने स्वयं भी पूर्ण स्वातंत्र्य और स्वराज्य का वर्णन करते हुए स्वतंत्रता संग्राम को एक आध्यात्मिक धरातल पर अधिष्ठित किया है।

महर्षि अत्रि के वंश में उत्पन्न विदुषी विश्ववारा ने योगाभ्यास और विशाल अध्ययन के बल पर ब्रह्मवादिनी पद पाया। उनने ऋग्वेद के कितने ही अनुच्छेदों की गहन विवेचना की और उन लोगों का मुँह बंद किया, जो स्त्रियों को वेद की अनधिकारिणी मानते हैं।

आज भारत की वर्तमान परिस्थिति को देखकर अर्जुन की तरह भ्रम-भय और मोह का व्यापना सहज है। अपनों के विरुद्ध ही एक निर्णायक संग्राम लड़ना हमारी परिस्थिति की नियति है। ऐसी परिस्थिति में भारत के भविष्य के लिए वही लड़ सकते हैं, जो अर्जुन की तरह से अपने मोह को नष्ट करके, अपने संपूर्ण कर्मों से अहं को निकालकर उन्हें

ईश्वर को ही अर्पित करते हुए समरांगण में उतरेंगे। **शांतिकुंज ऋषि अरविंद के इन्हीं उद्देश्यों के प्रति संकल्पित-समर्पित आध्यात्मिक राष्ट्रीय जागरण का दैदीप्यमान केंद्र है।** युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव ने इसे राष्ट्र के आध्यात्मिक जागरण हेतु ही अपने प्रचंड तप से ऊर्जावान बनाया है।

राष्ट्र को अलौकिक दिव्यता तक ले जाने वाला यह जागरण जिस राष्ट्रवाद को, राष्ट्रीयता के जिस प्रवाह को प्रवाहित कर रहा है, उनमें अहंकार और उन्माद का कोई स्थान नहीं है। कट्टरता, संकीर्णता, घृणा के तत्त्व इससे पूरी तरह से बहिष्कृत कर दिए गए हैं। यह तो विश्वगुरु भारत की प्रतिष्ठा और उसकी सनातन प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार उदात्त, भव्य, दिव्य, मानवतावादी प्रेम से ओत-प्रोत और सर्वकल्याण इस सत्य का उद्घोष है कि भारत नारों और प्रस्तावों से अखंड नहीं होगा। भारत की अखंडता राजनीतिक घोषणाओं और प्रदर्शनों से नहीं होगी। यह तो आध्यात्मिकता के भाव प्रवाह से ही संभव है। ऋषियों की संस्कृति साधना की डगर पर चलकर ही राष्ट्र की अखंडता एवं एकता अक्षुण्ण रह सकती है।

आवश्यकता है

गायत्री परिवार के उत्साही, कर्मठ युवकों की, जिन्हें मार्केटिंग का अनुभव हो एवं घर-घर जाकर वाङ्मय ग्रंथों का प्रचार-प्रसार कर सकें। न्यूनतम ग्रेजुएट होना अनिवार्य है। ब्राह्मणोचित निर्वाह की व्यवस्था उपलब्ध है।

नाम, पता, आयु, शिक्षा, वर्तमान व्यवसाय, पिता का नाम-पता, व्यवसाय, परिवार के सदस्यों का विवरण, अपेक्षित निर्वाह-राशि, पासपोर्ट साइज फोटो तथा अन्य जानकारियों के साथ अपना प्रार्थना-पत्र निकटतम गायत्री शक्तिपीठ से प्रमाणित कराकर भेजें।

व्यवस्थापक,
अखण्ड ज्योति संस्थान,
मथुरा

राष्ट्रीय अखंडता एवं एकता के साथ विभाजित होने का दरद भी है। १५ अगस्त को मिली स्वाधीनता के साथ भारत ने यह असह्य पीड़ा भी झेली थी। नियति और ईश्वरीय संकल्प इस विभाजन को एक दिन अवश्य मिटाएँगे। श्री अरविंद ने १५ अगस्त सन् १९४७ को दिए गए अपने संदेश में विभाजन के बारे में स्पष्ट कहा था, ''इस तय किए गए विभाजन को पत्थर की लकीर नहीं मान लिया जाएगा..... क्योंकि यदि वह बना रहे, तो भारत भयानक रूप से दुर्बल हो सकता है। उसमें गृहकलह की संभावना सदा ही संभव बनी रह सकती है। भारत की आंतरिक उन्नति एवं समृद्धि रुक सकती है ....। यह नहीं होना चाहिए। देश का विभाजन दूर होना चाहिए।'' महायोगी श्री अरविंद के जन्मोत्सव और राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रकाश पर्व पर देशवासियों को यह संदेश ग्रहण करना चाहिए। हमारी मातृभूमि को इसी संदेश की आवश्यकता है।

आज जबकि पश्चिमी देश अपनी भौतिक शक्ति के बल पर पुनः विविध प्रावधानों से गुलामी की डगर पर घसीटने में जुटे हैं, तब ऐसे में भारत को अपने आध्यात्मिक बल में अभिवृद्धि करनी चाहिए। भारत देश में पूरे वेग से आध्यात्मिक राष्ट्र जागरण का महान् कार्य होना चाहिए। इस जागरण की कल्पना करते हुए श्री अरविंद ने भारत के जागरण को महिषासुर मर्दिनी के अवतरण से जोड़ा था। मातृभूमि के रूप में भारत में अलौकिकता के दर्शन को श्री अरविंद ने अपनी भावपूर्ण रचना 'भवानी मंदिर' में शब्दबद्ध करते हुए लिखा है, ''हमारी मातृ-भूमि क्या है? वह एक भूमि का टुकड़ा ही तो नहीं है, न वाणी का एक अलंकार है और न मस्तिष्क की कल्पना की एक उड़ान मात्र है।''

''वह एक महान् शक्ति है, जिसका निर्माण उन करोड़ों एककों की शक्तियों को मिलाकर हुआ है, जो राष्ट्र का निर्माण करते हैं। ठीक वैसे ही जैसे सारे करोड़ों देवताओं की शक्ति को एकत्र कर एक बल राशि संचित की गई और उसे परस्पर जोड़कर एकता स्थापित की गई। जिसमें से भवानी महिषासुर मर्दिनी प्रकट हुई। वह शक्ति जिसे हम भारतीय भवानी-भारतमाता कहकर पुकारते हैं। यह करोड़ों लोगों की शक्तियों की जीती-जागती एकता है।'' १५ अगस्त के स्वाधीनता पर्व पर स्वाधीनता के मंत्रद्रष्टा ऋषि श्री अरविंद की इसी संकल्पना को साकार करने की आवश्यकता है। तभी भारतमाता का सनातन सौंदर्य प्रकट होगा।

मानस का मर्म

श्रावण शुक्ल पक्ष की सप्तमी (१४ अगस्त) गोस्वामी तुलसीदास की जन्मतिथि है। रामचरितमानस के ऋषि तुलसीदास इसी पवित्र दिन अपनी माता हुलसी की कोख से प्रकट हुए थे। उनका जन्म, जीवन एवं साधना सभी दिव्य थे। उनकी जीवन-साधना का सुफल रामचरितमानस तो दिव्यतम है ही। इस सत्य के तत्त्व से अपरिचित जन यदा-कदा उनके ऋषि जीवन और ऋषि कर्म में कमियाँ ढूँढ़ने की कोशिश करते रहते हैं, ऐसे लोगों के लिए महाकवि ने कहा है, '**बचन बज्र जेहि सदा पिआरा। सहस नयन पर दोष निहारा॥**' इन्हें कठोर वचनरूपी वज्र सदा प्यारा लगता है और ये हजार आँखों से दूसरों के दोषों को देखते हैं, लेकिन यथार्थ में ये कमियाँ उनकी अपनी कमियाँ होती हैं। जो उनके अज्ञान को, उनकी बुद्धि की क्षुद्रता को प्रकट करती हैं। हालाँकि गोस्वामी जी ने ऐसे लोगों की भी सच्चे भाव से वंदना की है। वह कहते हैं, '**बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ॥**' अब मैं सच्चे भाव से दुष्टों को प्रणाम करता हूँ, जो बिना ही कारण अपना हित करने वालों के भी प्रतिकूल आचरण करते हैं।

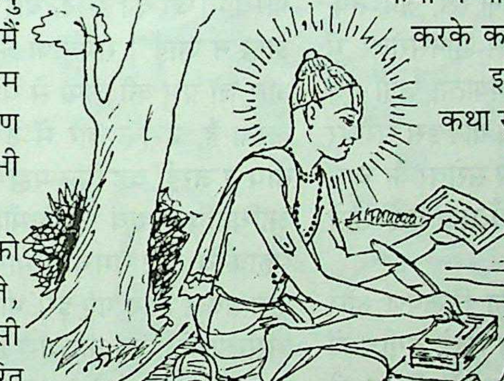

अपनी निंदा करने वालों को भी नमन-वंदन करने वाले, कष्ट-सहिष्णु परमभक्त तुलसी ने अपनी भाव समाधि में रामचरित के सत्य का साक्षात्कार किया। अपने मानस में रामचरित के काव्य सरोवर की अनुभूति की। फिर इस मानसरोवर को लोकहित के लिए महाकाव्य के रूप में प्रकट किया। इसमें व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण एवं समाज निर्माण के सभी सूत्र एवं सत्य हैं। इन्हें अपनाकर हर युग के लोग अपने युगप्रश्नों का समाधान पा सकते हैं। रामचरितमानस में शाश्वत सत्य सामयिक रूपों में प्रकट होता है। बस पहचानने के लिए विवेक चाहिए। ऐसे विवेकवानों के लिए तुलसी की प्रत्येक काव्य पंक्ति का महामंत्र जैसा महत्त्व है। वे इसकी साधना से अपने जीवन की सफलता और सार्थकता सिद्ध करते रहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित के मानसरोवर और उसकी काव्य नदी का बालकांड के दोहा क्रमांक ३५ से दोहा क्रमांक ४३ तक बड़ा ही मधुर वर्णन किया है। इसमें रामचरितमानस का स्वरूप एवं सत्य बड़ी तात्त्विक रीति से प्रकट हुआ है। इसे पढ़कर, इसका चिंतन, मनन एवं निदिध्यासन करके गोस्वामी जी द्वारा रचित रामचरित मानस के सत्य की अनुभूति की जा सकती है। रामचरित के इस अद्भुत मानस-सरोवर का शीतल स्पर्श किया जा सकता है। तुलसी की भक्ति साधना एवं काव्य सौंदर्य का रसपान किया जा सकता है। इसकी कथा सुनाते हुए उन्होंने कहा है-

जस मानस जेहि बिधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु।
अब सोइ कहउँ प्रसंग सब सुमिरि उमा बृषकेतु॥

यह रामचरितमानस जैसा है, जिस प्रकार बना है और जिस हेतु से जगत् में इसका प्रचार हुआ है, अब वही सब कथा मैं माता पार्वती एवं भगवान शिव का स्मरण करके कहता हूँ।

इस अद्भुत मानसरोवर के निर्माण की कथा सुनाते हुए वह कहते हैं, ''सुंदर सात्विक बुद्धि भूमि है। हृदय ही उसमें गहरा स्थान है। वेद-पुराण समुद्र हैं और साधु-संत मेघ हैं। इन साधु-संतरूपी मेघों ने भगवान श्रीराम के सुयशरूपी मनोहर और मंगलकारी जल की वर्षा की है। भगवान की सगुण लीला का विस्तार इस मानसरोवर के जल की निर्मलता है। इसमें समाया भगवत्प्रेम एवं भगवद्भक्ति इस जल की मधुरता और सुंदर शीतलता है। इस मानस-सरोवर का जल सत्कर्मों की फसल के लिए बड़ा ही लाभकारी है। भगवान के भक्तों का तो यह जीवन ही है। यह पवित्र जल सात्विक बुद्धिरूपी धरती पर गिरा और सिमटकर सुहावने कानों के रास्ते चलकर मानस (हृदय की गहरी भावनाओं) में भरकर वहीं स्थिर हो गया। ऐसे बना यह मानसरोवर सुंदर, शीतल और सुखदायी।''

इस मानसरोवर के चार उत्तम संवाद (काकभुशुंडि-गरुड़ जी, भगवान शिव-माता पार्वती, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज और गोस्वामी जी एवं रामचरितमानस के हम सभी भक्त पाठकगण) इस पवित्र और सुंदर सरोवर के चार मनोहर घाट हैं। रामचरितमानस के सात कांड इस मानसरोवर की सुंदर सात सीढ़ियाँ हैं। यही वेदांत ज्ञान की सप्तभूमियाँ हैं। इन्हें ज्ञान की आँखों से देखने पर मन प्रसन्न हो जाता है। प्रभु की निर्गुण एवं निर्बाध महिमा का वर्णन इस सरोवर के जल की गहराई है। भगवान श्रीराम एवं माता सीता का यश, इसका अमृत जल है। इसमें जो काव्य उपमाएँ हैं, वही इस जल में उठने वाली मनोहर तरंगें हैं। सुंदर चौपाइयाँ ही इसमें घनी फैली हुई कमलिनी हैं। काव्योक्तियाँ मणि-मोतियों को जन्म देने वाली सुहावनी सीपियाँ हैं।

इसमें जो सुंदर छंद, सोरठे और दोहे हैं, वही इसमें बहुरंगे कमलों का समूह है। इनका अनुपम अर्थ, ऊँचे भाव और सुंदर भाषा ही इन कमल पुष्पों का पराग, मकरंद और सुगंध है। सत्कर्मों के पुंज कमल पुष्पों पर मँडराने वाले भौंरों की पंक्तियाँ हैं। ज्ञान, वैराग्य और विचार इस मानसरोवर में विहार करने वाले हंस हैं। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, ज्ञान-विज्ञान के विचार, काव्य के नौ रस, जप, तप, योग और वैराग्य के प्रसंग ये सभी इस मानसरोवर में निवास करने वाले जलचर जीव हैं। पुण्यात्मा जनों एवं साधुओं द्वारा किया जाने वाला श्रीराम का गान इस सरोवर के सुंदर जलपक्षी हैं। संतों की संगति इस सरोवर के चारों ओर की अमराई है। भक्तों की श्रद्धा यहाँ सदा छाई रहने वाली वसंत ऋतु है।

तरह-तरह से किया गया भक्ति का निरूपण और क्षमा, दया तथा दम इस सरोवर के पास वाले बगीचे में लताओं के मंडप हैं। मन का नियंत्रण, यम और नियम ही इन लताओं पर उगने वाले फूल हैं। ज्ञान फल हैं और भगवान के चरणों की भक्ति और प्रेम इस ज्ञानरूपी फल का रस है। इस रामचरितमानस में जो अन्य अनेकों कथाएँ हैं, वे ही इस बगीचे के तोते-कोयल आदि रंग-बिरंगे पक्षी हैं। कथा सुनने में होने वाला रोमांच सरोवर के पास के वाटिका, बाग और वन हैं। इस कथा-श्रवण से मिलने वाला सुख सुंदर पक्षियों का विहार है। अपना निर्मल मन ही वह माली है, जो इन बगीचों को भगवत्प्रेम के जल से सींचता है।

रामचरितमानस का मानसरोवर और उसके आस-पास के सभी वाटिका-बगीचे अत्यंत सुंदर हैं। गोस्वामी जी कहते हैं, ''जो लोग इस प्रभुचरित को सावधानी से (साधनापूर्वक) गाते हैं, वही इस सरोवर की चतुराई से रक्षा करने वाले हैं और जो श्रोता हैं, वही इस सुंदर सरोवर में आने वाले श्रेष्ठ देवता हैं। ऐसे देवतुल्य मनुष्य ही इसमें स्नान करके इस सरोवर की शोभा बढ़ाते हैं। कुसंग में पड़े, साधन-पथ से भटके हुए तो यहाँ पहुँच ही नहीं पाते। ऐसे बगुले और कौओं का यहाँ कोई काम ही नहीं है, क्योंकि ये लोग तो कामकथा की कीचड़ और काई में रस लेते हैं। यहाँ तो राम-कथा का माधुर्य है, इसलिए यह अद्‌भुत सरोवर केवल भक्तों, साधकों, संतों के लिए है।''

इस मानसरोवर को अपने काव्य में प्रकट करने वाले गोस्वामी जी का इसके बारे में कहना है, ''**रामकृपा बिनु आइ न जाई**'' रामकृपा के बिना यहाँ आया नहीं जाता और जो प्रभु की कृपा से यहाँ आकर इस सरोवर में स्नान करता है, उसके बारे में उनके वचन हैं, '**महा घोर त्रय ताप न जरई**' वह फिर महाभयानक त्रयताप (आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक ताप) से नहीं जलता। महाकवि और रामचरितमानस के महान् ऋषि तुलसीदास द्वारा प्रकट किए गए इस भक्ति सरोवर में स्नान करने वाले असंख्य जनों का कल्याण हुआ है। आगे भी असंख्य जन इसके अवगाहन से अपना कल्याण करते रहेंगे। इस सत्य की अनुभूति हम और आप भी तुलसी जयंती पर मानस के कथा-प्रसंगों का पाठ व चिंतन करके पा सकते हैं।❑

राजा शतायुध प्रजा निरीक्षण के लिए निकले। एक झोंपड़ी में जराजीर्ण वयोवृद्ध दीखा। राजा रुक गए। कुतूहलवश पूछा, आपकी आयु कितनी है? वृद्ध ने झुकी गरदन उठाई और कहा, मात्र पाँच वर्ष। राजा को विश्वास न हुआ। फिर से पूछा, तो वही उत्तर मिला। वृद्ध ने कहा, पिछला जीवन तो पशु प्रयोजनों में निरर्थक ही चला गया। पाँच वर्ष पूर्व ज्ञान उपजा और तभी से मैं परमार्थ प्रयोजन में लगा। सार्थक आयु तो तभी से गिनता हूँ।

एक वैदिक सत्य, जो बन रहा है वैज्ञानिक सत्य

'सा प्रथमाऽसंस्कृतिः विश्ववारा'। जनजीवन में व्याप्त यह सत्य अब वैज्ञानिक तथ्य बन गया है। चेन्नै के राष्ट्रीय समुद्र प्रौद्योगिकी संस्थान (एन. आई. ओ. टी.) के विज्ञानियों ने तथ्यान्वेषण कर यह करिश्मा किया। उन्हें गुजरात के तट से ३० किमी. दूर खंभात की खाड़ी में समुद्र जल प्रदूषण के स्तर की जाँच करते हुए यह अद्‌भुत उपलब्धि हाथ लगी। सामान्यक्रम में उन्होंने समुद्र तल की 'सोनार फोटोग्राफी' की। कुछ महीने के बाद इन तस्वीरों का विश्लेषण करते हुए समुद्रविज्ञानियों के इस दल को यह अहसास हुआ कि वे अनजाने ही समुद्र में ४० मीटर नीचे दबी हुई विशाल नगर सभ्यता के अवशेषों की तस्वीर उतार लाए हैं। फिर कई हफ्ते तक उस स्थल को खंगालने और तकरीबन २,००० शिल्पकृतियों को जुटाने के बाद इन विज्ञानियों को अपने पुरातात्त्विक तथ्यान्वेषण पर पक्का भरोसा हो गया।

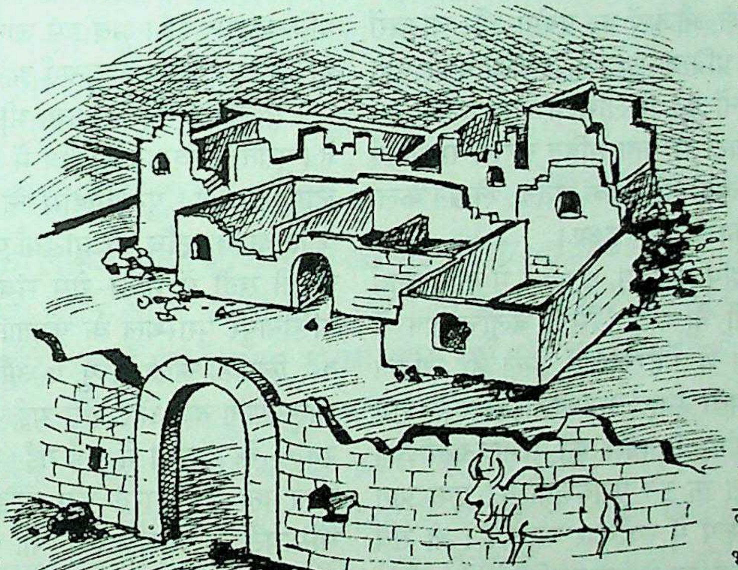

उन्होंने विश्व की प्राचीनतम संस्कृति के सत्य का रहस्योद्‌घाटन करते हुए बताया कि समुद्र के गहरे जल में एक प्राचीन नदी के किनारे ९ किमी. के दायरे में संस्कृति के पुरावशेष फैले हैं और नदी में बाँध बनाए जाने के भी संकेत हैं। विज्ञानवेत्ताओं के अनुसार पानी में डूबे हुए इस शहर और सिंधु घाटी की सभ्यता के स्थलों में जोरदार समानता है। ओलंपिक तरणताल के बराबर आकार वाले एक ढाँचे में उतरती हुई सीढ़ियाँ बनी हैं। यह मोहनजोदड़ो के प्रसिद्ध पोखर जैसा लगता है। २०० मी. लंबा तथा ४५ मी. चौड़ा आयताकार चबूतरा वैसा ही है, जैसा कि हड़प्पा में पाया गया था। मिट्टी की मोटी दीवारों से बना १८३ मी. लंबा अन्न भंडार जैसा एक ढाँचा पहचाना-सा लगता है। इन विशाल ढाँचों से थोड़ी दूर पर कुछ और आयताकार ढाँचे हैं, जो घरों के अवशेष लगते हैं। इनमें नालियाँ तथा मिट्टी की सड़कें बनी हुई हैं। यहाँ से मिली शिल्पकृतियों में पत्थर के तराशे औजार, गहने, मिट्टी के टूटे-फूटे बरतन, जवाहरात, हाथी दाँत और मनुष्य के जबड़े तथा दाँत के पुरावशेष हैं।

इस संस्कृति अनुसंधान में सबसे अचरज भरे तथ्य तब सामने आए, जब इस दल ने लकड़ी के काल निर्धारण के लिए उसके नमूने लखनऊ के बीरबल साहनी इंस्टीट्यूट ऑफ पॉलियो बॉटनी (बी. एस. आई. पी.) और हैदराबाद के नेशनल जियोफीजिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट (एन. जी. आर. आई.) में भेजे। बी. एस. आई. पी. ने उसे ईसा पूर्व ५,५०० साल पहले का बताया, जबकि एन. जी. आर. आई. ने इसे ७,५०० साल पुराना कहा। इन निष्कर्षों ने दुनिया भर के पुराविदों, इतिहासवेत्ताओं और संस्कृति सत्य के अनुसंधानियों को हैरत में डाल दिया। भारतीय पुरातत्त्व विशेषज्ञ कैंब्रिज विश्वविद्यालय के इतिहासकार दिलीप चक्रवर्ती ने तो यहाँ तक कहा, ''ये काल गणनाएँ सही हैं, तो विश्व के गाँव-नगरों के विकास से संबंधित अब तक की मान्यता में क्रांतिकारी बदलाव आ सकता है।''

अभी तक पुराविशेषज्ञ व इतिहासवेत्ता यही मानते रहे हैं कि विश्व की पहली बड़ी नगर सभ्यता ई. पू. ४,००० से ३,५०० साल पहले प्राचीन मेसापोटामिया की नदी घाटियों में जन्मी थी। इसके बाद मिस्र में नील नदी की घाटी में सभ्यता का विकास हुआ। सिंधु घाटी सभ्यता करीब १,००० वर्ष बाद ई. पू. २,५०० साल पहले

प्रस्फुटित हुई। अब अचानक खंभात की खाड़ी में अज्ञात शहर की खोज से यह संभावना बन गई है कि सभ्यता के प्राचीनतम ज्ञात निशान २,००० वर्ष से भी पीछे हम जा सकते हैं। इतिहासविद् कहते हैं कि इससे हमारी समूची सांस्कृतिक समझ बदल सकती है और 'सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा' का वैदिक सत्य एक वैज्ञानिक सत्य का रूप ले सकता है।

वर्तमान इतिहास हमें बताता है कि ई. पू. ७,५०० से ५,००० तक का समय, जो खंभात सभ्यता का समय है,सामाजिक क्रांति का काल था। पुरातत्त्ववेत्ता इसे नव पाषाण काल कहते हैं। इसी दौरान लोगों ने शिकार वगैरह छोड़कर हल की खोज की। इन्हीं दिनों कृषि में क्रांति आई। अनाज की अतिरिक्त उपज हुई, जिससे बड़ी बस्तियाँ बनीं, सांस्कृतिक प्रभात वेला आई और सभ्यता विकसित हुई। इस बेहद रचनाशील समय में विभिन्न समाजों में कई तरह के शिल्प पैदा हुए। इनमें मिट्टी के बरतन बनाना, पत्थर के तराशे औजारों का प्रयोग और जानवरों को पालतू बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई। प्रौद्योगिकी चक्र घूमने लगा, अनुसंधानों का सिलसिला शुरू हुआ। इस युग के दौरान सिंधु घाटी सभ्यता सहित पहली सभ्यताएँ विकसित हुईं। इसके बाद राजनैतिक चेतना, लेखन कला और शहरी बस्तियों का विकास हुआ।

भारतीय उपमहाद्वीप में ई. पू. ७,५०० में कृषि कार्य में लगी बड़ी बस्तियों के सबूत सिर्फ बलूचिस्तान में बोलान नदी की घाटी में मेहरगढ़ में मिले हैं, लेकिन भारत के सबसे अनुभवी समुद्र भूतत्त्वशास्त्री एस. राव सौराष्ट्र क्षेत्र में समानांतर विकास की संभावनाओं को नकारते हुए भी खंभात के इन पुरावशेषों को एक प्राग ऐतिहासिक स्थल के रूप में स्वीकार करते हैं। श्री राव को एन. आई. ओ. टी. के दल ने शिल्पकृतियों की समीक्षा के लिए बुलाया था। उनका यह मानना है कि खंभात में, कम-से-कम भारत में तो प्राचीनतम ज्ञात मानव बस्ती हो सकती है।

दूसरे विशेषज्ञों का मानना है कि इस खोज को अगर मान्यता मिल गई, तो यह भ्रांति दूर हो सकती है कि भारतीय इतिहास बनाया गया है। दिल्ली विश्वविद्यालय की इतिहासकार नयनजोत लाहिड़ी संभावनाओं से उत्साहित हैं, उनका कहना है कि इससे सभ्यता के सिद्धांत में फेर-बदल हो सकता है। अभी तक यही माना जाता रहा है कि नगर सभ्यता पश्चिम एशिया से सिंधुघाटी और शेष भारत की ओर फैली। खंभात की खोज से यह अर्थ स्पष्ट होगा कि प्राचीन भारतीय नकलची नहीं थे। भारतदेश में सभ्यता यहाँ के लोगों की प्रतिभा और जीवन प्रक्रिया से उपजी थी। हालाँकि इतिहासविद् लाहिड़ी के अनुसार अभी इस सभ्यता की पर्याप्त खोजबीन जरूरी है।

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण संस्थान के पूर्व महानिदेशक श्री जगतपति जोशी लाहिड़ी की इन बातों से इत्तफाक रखते हैं। उनका भी यही मानना है कि ऐसी खोजबीन से 'वह गुप्त सूत्र' मिल सकता है, जिसको लेकर इतिहासकार वर्षों से माथापच्ची कर रहे हैं। अभी तक इतिहासकारों के पास यह बताने के लिए पर्याप्त सबूत नहीं थे कि भारतीय उपमहाद्वीप में प्रमुखतः कृषि प्रधान समाज में कैसे यह उछाल आया कि सिंधुकाल में विश्व के कुछ बेहद सुनियोजित शहर बसाए जा सके। खंभात नवपाषाण कालीन भारत की प्रारंभिक मानव बस्तियों के बारे में नए क्षितिज की तरह है। अभी तक की जानकारी यह है कि ये बस्तियाँ पश्चिम एशिया में ही थीं और इन्हीं से परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हुई। अब इस जानकारी में भारी फेर-बदल होने की अनेकों संभावनाएँ झाँकने लगी हैं।

विज्ञान जगत् में कुछ भी निश्चित व अंतिम नहीं है। पुरातत्त्व विज्ञान के क्षेत्र में भी यही वैज्ञानिक सिद्धांत लागू होता है। पुराइतिहास के क्षेत्र में पहले यह माना जाता था कि काँच की चूड़ियाँ पहले-पहल ईस्वी सन् की पहली सदी में भारत-रोम संबंधों का नतीजा थीं। फिर हस्तिनापुर पुरास्थल के पुरातात्त्विक उत्खनन में वे पाई गईं, जिनका काल ई. पू. ७ आँका गया। इन चूड़ियों की कालगणना तब और पीछे गई, जब ये हाल ही में ई. पू. २००० के हड़प्पा में पाई गईं। इन तथ्यों के पीछे निहित सत्य को स्वीकारते हुए इंडियन आर्कियोलॉजिकल सोसायटी के अध्यक्ष एस. पी. गुप्ता का कहना है, ''नई खोजों से कालगणना लगातार बदलती रहती है। उदाहरण के लिए, गुजरात के ढोलावीरा में हड़प्पाकालीन स्थल की खोज से हमारी सारी कालगणना १,००० साल पीछे चली गई।''

एन. आई. ओ. टी. की खोज ने विश्वभर के प्रमुख इतिहासकारों में दिलचस्पी जगाई है और कई प्रश्न सामने आए हैं। दक्षिण एशिया के पुरातत्त्व विशेषज्ञ हार्वर्ड विश्वविद्यालय के इतिहासकार रिचर्ड मीगे का मानना है कि खंभात में नवपाषाण कालीन स्थल की खोज उस काल की मेहरगढ़ और पश्चिमी एशिया की घटनाओं के क्रम में है। हालाँकि इस सत्य को स्थापित करने के लिए अभी पर्याप्त अनुसंधान करने की आवश्यकता है। मीगे

का कहना है कि इस खोज को काफी महत्त्वपूर्ण मानकर इस क्षेत्र में अभी और भी शोध प्रयास करने होंगे। रिचर्ड मीगे का कथन है कि यह खोज इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इस पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सामूहिक अध्ययन करने की आवश्यकता है। ये अध्ययन कुछ वैसे ही होने चाहिए जैसे कि टाइटैनिक के रहस्य को जानने के लिए किए गए थे।

खंभात संस्कृति की आज से ९,००० वर्ष प्राचीन सचाई को जानने के लिए विशेषज्ञों ने एक बहुआयामी राष्ट्रीय परियोजना शुरू की। इसमें आर्कियोलॉजिक सर्वे ऑफ इंडिया, राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान, अहमदाबाद की भौतिक प्रयोगशाला के अलावा एन. जी. आर. आई., बी. एस. आई. पी. और देश भर के अनेकों प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय एन. आई. ओ. टी. की इस कार्य में मदद करेंगे। विशेषज्ञ इस प्रसंग में जिन प्रश्नों की विशेष तौर पर छान-बीन कर रहे हैं, उनमें से एक है यह खोज करना कि यह शहर किस तरह जलमग्न हुआ और किस भाँति तट से ३० कि. मी. दूर चला गया। समुद्र विकास विभाग के सचिव और जाने-माने भूगर्भविज्ञानी हर्षगुप्त का मानना है कि संभवतः भारी भूकंप इस तबाही का कारण बना होगा। वैसे भी यह क्षेत्र भूकंप की आशंका वाले क्षेत्र में है। अभी पिछले सालों में भुज में आए भूकंप ने यह बता दिया है कि यह समूचा क्षेत्र कितनी आसानी से भूकंप के चपेट में आ सकता है।

प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने के लिए शोध-प्रयास तो चलते रहेंगे, फिर भी शोध की वर्तमान उपलब्धि कम संतोषजनक नहीं है। इसने भारतीय संस्कृति के विश्व में सर्वाधिक प्रथम एवं प्राचीनतम होने का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं व आयामों के अन्वेषण के लिए किए जाने वाले इन अनुसंधानों से निश्चित रूप से राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि होगी। इस क्रम में शांतिकुंज भी प्रयत्नशील है। यहाँ नवस्थापित देव संस्कृति विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति से संबंधित अनेक पाठ्यक्रम एवं परियोजनाएँ संचालित करने की शुरुआत हो रही है, ताकि ऋषियों की पुरातन संस्कृति, सत्यों एवं सूत्रों से राष्ट्रीय जीवन को, विश्व-वसुधा को परिचित कराया जा सके।

*

कन्फ्यूशियस के शिष्य रोज-रोज यह आग्रह किया करते थे कि किसी ब्रह्मज्ञानी के दर्शन कराके लाइए। रोज तो वे टाल देते, पर एक दिन तैयार हो गए। शिष्यों को लेकर वे एक गुफा में पहुँचे, जहाँ एक साधु भजन कर रहे थे। उन लोगों ने ब्रह्मज्ञान की कुछ बातें बताने का आग्रह किया। साधु बहुत नाराज हुआ, क्रोध में बोला, भाग जाओ धूर्तो, व्यर्थ हैरान मत करो। मुझे अपना भजन करने दो। वे उलटे पैरों लौटे। अब मंडली एक तेली के घर पहुँची। पूछा, आपको लोग ब्रह्मज्ञानी बताते हैं, कुछ बतलाइए। तेली ने कहा, यह बैल ही मेरा ब्रह्म है। मैं इसे पूरा चारा-दाना देता हूँ और यह मेरे कुटुंब का पूरा पेट भरता है। हम दोनों ही एक-दूसरे से खुश हैं।

उससे आगे कन्फ्यूशियस अपनी शिष्य मंडली को एक बुढ़िया के यहाँ ले गए, जो चरखा कात रही थी। साथ ही पास में खेल रहे बाल-बच्चों में से किसी को समझाती, किसी को हँसाती, किसी को धमकाती हुई मगन थी। बुढ़िया से वही प्रश्न किया, तो उसने कहा, देखते नहीं, मेरे चारों ओर ब्रह्म ही ब्रह्म खेल रहा है। वह मुझ से लिपटा है और मैं उससे। इतनी यात्रा के बाद शिष्य मंडली समेत कन्फ्यूशियस वापस लौट आए और उन्होंने समझाया, स्वयं प्रसन्न रहना, दूसरों को प्रसन्न करना और तालमेल बिठाकर रहना, यही है ब्रह्म और यही है उसकी उपासना।

ऋषिचेतना के ज्ञान प्रसार का माध्यम लेखन कला

हाथों में थमी हुई लेखनी बड़ी सुघढ़ता से कोरे कागज पर अक्षरों व शब्दों की चित्रकारी करती है। इस कलात्मकता में भावनाओं और विचारों के अनेकों रंग उभरते एवं निखरते हैं। अपने पाठकों व परिजनों की आँखें 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका के जिन पृष्ठों को निहारती रही हैं, उनमें भी गुरुसत्ता के ज्ञानशरीर का प्रभाव ही प्रमुख है। अंतर्चेतना के भावनात्मक सौंदर्य को इसी से अभिव्यक्ति मिलती है। विपुल साहित्य राशि का उद्‌गम स्रोत यही है। स्याह अक्षरों से ज्ञान की सफेदी फैलाने वाली यह लेखन कला अपने देश में कब और कैसे जन्मी, यह जिज्ञासा प्राय: सभी प्रबुद्ध जनों को है। इसके समाधान में विभिन्न देशों में अनेकों वर्णन, विवरण प्राप्त होते हैं।

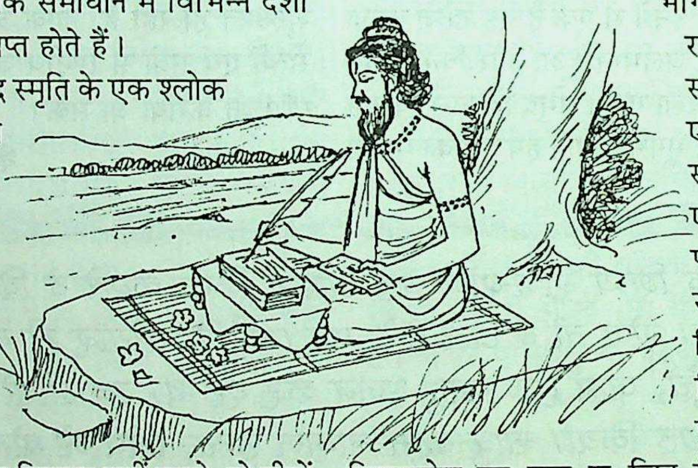

भारतीय साहित्य में नारद स्मृति के एक श्लोक को इतिहासवेत्ताओं ने प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। इस श्लोक के अनुसार-

ना करिष्यति यदि ब्रह्मा
लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य
नाभविष्यत् शुभांगति॥

अर्थात् यदि ब्रह्मा लिखने के द्वारा उत्तम नेत्र का विकास नहीं करते, तो तीनों लोकों को शुभ गति प्राप्त नहीं होती।

बृहस्पति स्मृति में भी इसी प्रकार लिखा है कि पहले सृष्टिकर्ता ने अक्षरों को पत्तों पर अंकित करने का विधान किया, क्योंकि छह मास में किसी भी वस्तु के संबंध में स्मृति विभ्रमित हो जाती थी। बौद्ध ग्रंथों में ललित विस्तार का काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें ६४ लिपियों का उल्लेख किया गया है। उनमें सबसे पहले ब्राह्मी लिपि का उल्लेख है। जैन ग्रंथों में भी एक प्रसंग मिलता है कि आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की एक लड़की थी। उसका नाम बंपी था। इसको पढ़ाने के लिए उन्होंने ब्राह्मी लिपि विकसित की। जैन साहित्य के समवायण सूत्र व पणवणासूत्र में १८ लिपियों का वर्णन मिलता है, जिसमें प्रथम नाम ब्राह्मी का है। इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर प्रख्यात इतिहासविद् डॉ. राजबली पांडेय, डॉ. गौरीशंकर ओझा एवं डॉ. ए. सी. दास आदि भारतीय लेखन कला को विश्व परिदृश्य में पूर्णत: मौलिक एवं प्राचीनतम माना है। पुरातत्त्वविदों को वादामी के उत्खनन से ब्रह्मा तथा सरस्वती की एक खड़ी युगल मूर्ति प्राप्त हुई है। इसमें सरस्वती के हाथ में एक मुड़ी हुई पुस्तक है तथा ब्रह्मा के हाथ में ताड़ पत्र का एक गुच्छा है। पुराविदों ने इन दोनों को भारतीय लेखन कला की पुरातनता का द्योतक माना है।

भारतीय लेखन कला को विश्व में प्राचीनतम बनाने वाले प्रमाण अन्य देशों की परंपराओं व अनुश्रुतियों में भी प्राप्त होते हैं। ऐसे देशों में चीन का स्थान सर्वोपरि है। भौगोलिक स्थिति तथा राजनीतिक, धार्मिक आदि संपर्कों से भारत तथा चीन एक-दूसरे के अत्यंत समीप रहे हैं। इसी से एक-दूसरे की परंपरा परस्पर संचित है। चीन के साहित्य से ज्ञात होता है कि भारतीय लेखन कला विश्व में सबसे अधिक पुरातन है। चीन के विश्वकोश फा-वान-शू-लिन में लिखा है कि पुरातन विश्व में केवल तीन लिपियाँ ही प्रचलित थीं। जिनमें सबसे प्राचीन लिपि ब्राह्मी थी। यह फस (ब्रह्मा) द्वारा आविष्कृत थी। इसे बायीं से दायीं ओर लिखा जाता था और यह सभी लिपियों में सर्वोत्तम थी। ह्वेनसांग ने भी अपनी भारतयात्रा-विवरण में लिखा है कि लेखन कला का प्रादुर्भाव सबसे पहले भारतवर्ष में ही हुआ था।

अरब देशों में भी भारतीय लेखन से संबंधित कई अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। इन अनुश्रुतियों से पता चलता है कि भारत में वैदिककाल से ही लेखन की व्यवस्थित परंपरा थी। इतिहासकार अलबेरुनी ने लिखा है कि भारतीय लोग कई कारणों से लेखन कला भूल गए थे, जिसे बाद में महर्षि व्यास ने पुन: आविष्कृत किया। यह कथन स्वत: ही इस बात का प्रमाण है कि महर्षि व्यास के पहले के युगों में भी भारत के लोग लेखन कला से परिचित थे।

यूनानी परंपराओं व अनुश्रुतियों में भी भारतीय लेखन की प्राचीनता का भलीभाँति उल्लेख है। सिकंदर के साथ आने वाले यूनानी कर्मचारियों एवं इतिहासकारों ने यहाँ की कतिपय परंपराओं व अनुश्रुतियों को अपने साहित्य में स्थान दिया है। नियार्कस नामक एक सेनापति ने लिखा है कि भारतवासी चिथड़ों तथा रुई से कागज बनाना जानते थे। कागज का प्रयोग लेखन सामग्री के लिए होता था। यह ऐतिहासिक तथ्य भारत की विकसित लेखन कला की ओर संकेत करता है। कर्टियस नाम के एक अन्य यूनानी यात्री ने भी अपने वर्णन में भारतीय लेखन का उल्लेख किया है। उसके अनुसार भारतवासी वृक्ष की छाल पर लिखते थे। इस क्रम में उसने भोजपत्र का उल्लेख भी किया है। पश्चिमी इतिहासविद् ब्यूलर ने इन तथ्यों का विश्लेषण करते हुए कहा है कि इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि यूनानियों के आगमन के समय भारत में लेखन कला न केवल प्रचलित थी, बल्कि सुविकसित थी।

सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहने वाले यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि सड़कों के किनारे मील के पत्थर १०-१० स्टेडिया की एक निश्चित दूरी पर लगे हुए थे। जिससे सड़क की दूरी तथा ठहराव का ठिकाना ज्ञात होता था। इस तथ्य से भारतीय लेखन कला का परिचय मिलने के साथ यह भी पता चलता है कि भारतवासी गणना से सुपरिचित थे। मेगस्थनीज ने आगे यह भी कहा है कि भारतीय जन्म-कुंडली देखकर वर्षफल बतलाते थे तथा स्मृतियों के आधार पर न्यायिक मसलों का निर्णय करते थे। यहाँ जन्म-कुंडली के अध्ययन का उल्लेख यह संकेत करता है कि भारतवासी गणना की व्यवस्थित एवं उच्चतम स्थिति से परिचित थे। यहाँ स्मृति का अर्थ कुछ लोगों ने स्मरण शक्ति से लिया है, किंतु डॉ. ब्यूलर का कहना है कि स्मृति का अभिप्राय स्मृति ग्रंथों से है। डॉ. राजबली पांडेय ने भी इसका समर्थन किया है।

परंपराओं व अनुश्रुतियों के इस क्रम में लंका देश का भी महत्त्व है। लंका में सुरक्षित त्रिपिटक साहित्य में न केवल 'लेखा' शब्द का प्रयोग मिलता है, अपितु इसमें 'लेखक' शब्द का उल्लेख किया गया है। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि लेखन की परंपरा चिर अतीत से विकसित थी। जिसमें पारंगत लोग एक विशेष नाम 'लेखक' से संबोधित किए जाते थे।

विभिन्न देशों की इन परंपराओं व अनुश्रुतियों के अलावा साहित्यिक साक्ष्य भी भारतीय लेखन कला की प्राचीनता को स्वीकार करते हैं। डॉ. राजबली पांडेय एवं डॉ. डी. आर. भंडारकर ने वैदिक साहित्य के अनेक साक्ष्यों का उल्लेख करते हुए यह प्रमाणित किया है कि लेखन कला वैदिक काल में ज्ञात थी। ऋग्वेद में गायत्री, त्रिष्टुप, वृहती, विराज, अनुष्टुप आदि अनेक छंदों का उल्लेख इस तथ्य का प्रमाण है कि ऋग्वेद के लेखन में इन छंदों का प्रयोग किया गया था। यजुर्वेद में भी लेखन सामग्री के साथ लंबे अंकों का उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद में तो बहुत ही स्पष्ट रीति से कहा गया है, "हे पृथ्वी, हम तुम्हें भौतिक बंधनों से आबद्ध कर देंगे। तुम्हारा शरीर दो योग का है, कृसमानी और वित। जो कुछ भी तुम पर लिखा गया है, वह एक विशिष्ट वस्तु से लिखा गया है, जिससे यह अर्जित ज्ञान शीघ्र ही लुप्त न हो जाए।" इस उद्धरण से यही स्पष्ट होता है कि लेखन कला अथर्ववेद के रचनाकाल में पूर्ण विकसित थी। इसका कारण ज्ञान को स्थायी बनाना था।

वेदों के अलावा रामायण में भी एक प्रसंग आया है, जब हनुमान जी लंका गए और वहाँ उन्होंने अशोक वाटिका में माता सीता के सामने भगवान राम की मुद्रिका गिराते हुए कहा-

रामनामांकितं चेदि पश्य देवि अंगुलीयकम्।

-वाल्मीकि रामायण

तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर॥

-रामचरितमानस

इतिहासवेत्ता डॉ. भंडारकर ने इस तथ्य का विवेचन करते हुए कहा है कि रामायणकाल में भी लिखने की कला प्रचलित थी अन्यथा अँगूठी पर राम का नाम कैसे अंकित होता। इसी तरह महाभारत में भी 'लिख, लेखन, लेखक' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। आदिपर्व में तो इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। महर्षि व्यास ने इसको लिखने के लिए लेखन कला में कुशल 'गणेश' को चुना। बर्नेल के अनुसार लेखन संबंधी ये सभी तथ्य पूर्ण विश्वसनीय हैं।

इन सभी साहित्यिक साक्ष्यों के अलावा अनेकों पुरातात्त्विक प्रमाण भी भारतीय लेखन की प्राचीनता एवं मौलिकता को सिद्ध करते हैं। पुराविद् डॉ. गौरीशंकर ओझा ने अशोककालीन अभिलेखों के पूर्व उत्कीर्ण दो अभिलेखों का विवरण प्रस्तुत किया है। इसमें एक अभिलेख अजमेर का है तथा दूसरा नेपाल घाटी का। इनमें से पहला अभिलेख तीर्थंकरों से ८४ वर्ष पूर्व अंकित किया गया था अर्थात् इसका काल ४४३ ई. पू. है। दूसरा अभिलेख डॉ.

ब्यूलर के अनुसार ४८७ ई. पूर्व का है। इसकी पुष्टि इस तर्क से होती है कि अशोक के अभिलेखों में अंकित है कि उसने अपने लेखों को पत्थर पर इसलिए खुदवाया कि ये स्थायी बने रहें। इससे स्पष्ट होता है कि इसके पूर्व भी लेख लिखे जाते थे, पर वे किसी ऐसे आधार पर लिखे जाते थे, जिससे उसका स्वरूप स्थायी नहीं होता था। अशोक के पूर्व के कुछ अभिलेख सौहगौरा, महथानगढ़, पिपरहवाँ में मिले भी हैं।

डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार के अनुसार इन सभी प्रमाणों से कहीं ज्यादा मुखर एवं प्रखर प्रमाण है सिंधु घाटी के पुरावशेष। सिंधु घाटी के ठीकरों पर प्राप्त उभरे हुए चिह्नों को पुराविशेषज्ञों ने लेख माना है। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि यह चित्रात्मक लिपि है। इस संबंध में डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार का कहना है कि यह लिपि भले ही आंशिक रूप से चित्रात्मक हो, पर इससे अक्षरों का भी बोध होता है। यह तथ्य भारतीय लेखन कला की प्राचीनता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं। सर जॉन मार्शल के अनुसार यह काल ३००० ई. पूर्व हो सकता है, क्योंकि पुरातात्त्विक तथ्यों के अनुसार सिंधु घाटी की सभ्यता इतनी ही प्राचीन है।

प्रमाण एक नहीं अनेक हैं, जो भारतीय लेखन कला की प्राचीनता एवं मौलिकता को प्रमाणित करते हैं। विख्यात विचारक विंटरनित्ज का कहना है कि लेखन कला के ज्ञान के कारण ही भारतदेश ज्ञान-विज्ञान में सबसे अग्रणी बना। यही वह वजह है कि भारतीय संस्कृति प्रथम होने के साथ ही विश्वव्यापी बनी। भारतदेश विश्व गुरु के प्रतिष्ठित आसन पर आसीन हुआ। भारतीय एवं पश्चिमी विचारक एक स्वर से लेखन कला को एक दैवी विभूति बताते हुए यह प्रमाणित करते हैं कि यह जगत्स्रष्टा ब्रह्मा से वेदों के द्रष्टा ऋषियों को मिली। इसी से ज्ञान का विस्तार हुआ। ज्ञान के प्रसार व विस्तार के लिए ऋषियों की यह परंपरा सर्वकालिक एवं शाश्वत है। इस लेखन कला के द्वारा ही अखण्ड ज्योति के पृष्ठ शाश्वत को सामयिक अभिव्यक्ति देकर ऋषि चिंतन को विश्वव्यापी बना रहे हैं।

◆

देवर्षि नारद को परिभ्रमण काल में एक वयोवृद्ध धनवान मिला। पूजा बहुत करता था, भक्त लगता था। उसकी ढलती आयु को देखकर नारद बोले, परिवार समर्थ हो गया, अब घर से निकलकर वानप्रस्थ लेना चाहिए और लोकसेवा में लगना चाहिए। बात धनवान के गले न उतरी। उसने कहा, अभी तो परिवार को संपन्न बनाना है, फिर कभी समय होगा, तो चलेंगे। बहुत वर्ष बाद नारद उधर से फिर निकले। धनी भक्त की याद आ गई। उसके घर पहुँचे, तो मालूम हुआ, वे कुछ समय पूर्व मर गए। नारद ने दिव्य दृष्टि से देखा, तो प्रतीत हुआ, वह मरकर बैल बन गया है और हल में चलता है। समीप जाकर नारद ने पूर्व जन्म की बात स्मरण दिलाई और कहा, अभी भी समय है, हमारे साथ चलो। बैल को पूर्व जन्म स्मरण हो आया। फिर भी उसने सिर हिलाया, परिवार को कमाई करके खिलाता हूँ। मेरे चल पड़ने से इन लोगों की कठिनाई बढ़ेगी। नारद चले गए।

कई वर्ष बाद फिर आना हुआ। बैल का समाचार पूछने गए, तो ज्ञात हुआ कि वह भी मर चुका। अब वह कुत्ता बना बैठा था उसी घर में। नारद बोले, कुत्ते की स्थिति में पड़े रहने से क्या लाभ? चलो विश्वकल्याण का कुछ काम करें। कुत्ता सहमत न हुआ। उसने कहा, विश्वकल्याण से क्या? परिवार कल्याण ही बहुत है। मैं चल पड़ूँ, तो चोरों की रखवाली कौन करेगा? नारद चले गए फिर तीसरी बार उसी प्रकार लौटना हुआ और नारदजी ने इस बार भी पहले की तरह पूछताछ की। मालूम पड़ा कुत्ता मर गया। देखा तो वह साँप बना वहीं एक बिल में सिर चमका रहा था। नारद उसके समीप पहुँचे। ऐसी दुर्गति से क्या लाभ? अब तो इन लोगों की कोई सहायता भी नहीं बन पड़ती होगी। चलो न? सर्प ने असहमतिसूचक सिर हिलाया और कहा, घर में चूहे बहुत हैं। इन्हें निगलने और डराने का काम क्या कम है? परिवार का मोह कैसे छोड़ूँ? नारद इस बार भी चले गए। एक दिन साँप बिल से निकला ही था कि घरवालों ने उसकी डंडे से खबर ली और सिर कुचल दिया। ऐसी दुर्गति न हो, इसलिए आत्मीयजनों के प्रति अनावश्यक अतिशय मोह छोड़कर स्वयं को सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन हेतु समाजरूपी रणक्षेत्र में उतर जाना चाहिए।

रिक्तता ही है, परम सिद्धि

नरक और कहीं नहीं, महत्त्वाकांक्षाओं के इर्द-गिर्द घूमने वाले जीवन में है। महत्त्वाकांक्षाओं के ज्वर से ही जीवन विषाक्त होता है। मनुष्य जिन बड़ी-से-बड़ी बीमारियों और विक्षिप्तताओं से परिचित है, महत्त्वाकांक्षा से बड़ी बीमारी इनमें से कोई भी नहीं है। जो व्यक्ति महत्त्वाकांक्षाओं की हवाओं से उद्वेलित है, शांति, संगीत और आनंद उसके भाग्य में नहीं हो सकते। ये तो स्वयं में स्थित होने का फल है। आत्मस्थ होने के परिणाम हैं। जो स्वयं में नहीं हैं, वही अस्वस्थ हैं। स्वयं में स्थित होना ही तो स्वस्थ होना है।

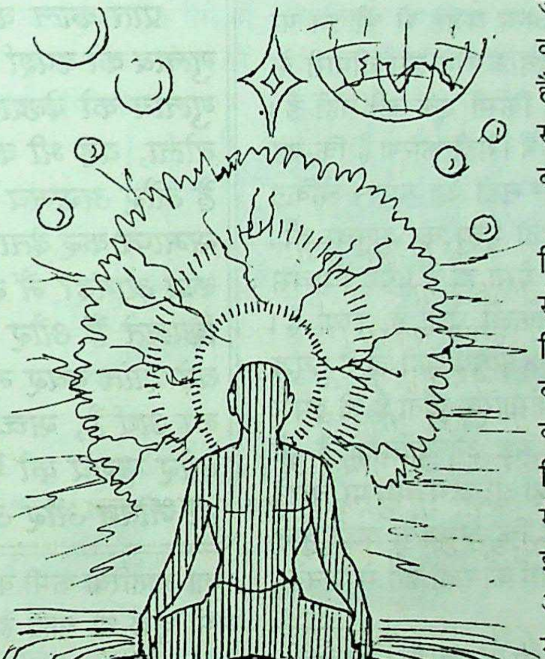

किसी समय महर्षि रमण से पश्चिमी विचारक पॉल ब्रन्टन ने पूछा था, "इस महत्त्वाकांक्षा की जड़ क्या है?" महर्षि हँसकर बोले, "हीनता का भाव, अभाव का बोध।" बात थोड़ी अटपटी-सी लगती है। हीनता का भाव और महत्त्वाकांक्षी चेतना परस्पर विरोधी दिखाई पड़ती हैं, लेकिन वे वस्तुतः विरोधी हैं नहीं। बल्कि एक ही भावदशा के दो छोर हैं। एक छोर से जो हीनता है, वही दूसरे छोर से महत्त्वाकांक्षा। हीनता स्वयं से छुटकारा पाने की कोशिश में महत्त्वाकांक्षा बन जाती है। इसे सुसज्जित हीनता कहना थोड़ा भी गलत नहीं है। हालाँकि बहुमूल्य-से-बहुमूल्य साज-सज्जा के बावजूद न तो वह मिटती है और न नष्ट होती है। थोड़ी देर के लिए यह हो सकता है कि दूसरों की दृष्टि से वह छिप जाए, लेकिन अपने आप को लगातार उसके दर्शन होते रहते हैं।

कपड़ों में छिपकर व्यक्ति औरों के लिए नग्न नहीं रह जाता, पर अपने आप के सामने उसकी नग्नता जस की तस होती है। यही वजह है कि दूसरों की आँखों के सामने जिनकी महत्त्वाकांक्षा की सफलताएँ चकाचौंध पैदा करती रहती हैं, वे अपने भीतर हमेशा किन्हीं और बड़ी सफलताओं को पाने के लिए चिंताग्रस्त बने रहते हैं। उनकी हीनता का आंतरिक भाव किसी बड़ी-से-बड़ी योजना के पूरा होने, किसी चकाचौंध वाली सफलता के मिलने के बावजूद नष्ट नहीं होता है। हर नई सफलता उनके लिए किसी और बड़ी सफलता की चाहत की चिंता और बेचैनी लेकर आती है। इस तरह जिन सफलताओं को उन्होंने समाधान जाना था, वे और नई समस्याओं की जन्मदात्री भर सिद्ध होती हैं। यह ठीक भी है। सुविख्यात विचारक जे. एमरी ने अपनी पुस्तक 'ऐट दि माइंड्स लिमिट' में कहा है कि जब भी किसी जीवन समस्या को गलत ढंग से पकड़ा जाता है, तो परिणाम यही होता है। समस्या के समाधान समस्या से बड़ी समस्याएँ बनकर आते हैं।

यह बात याद रखने की है कि किसी भी बीमारी को छिपाने से उससे कभी भी छुटकारा नहीं मिलता। इस तरह रोग मिटते नहीं, बल्कि बढ़ा करते हैं। हीन भाव की ग्रंथि से पीड़ित चित्त उसे छिपाने और भूलने की कोशिश में महत्त्वाकांक्षा से भर जाता है। इस त्वरा में स्वयं को भूलना आसान भी है। फिर यह महत्त्वाकांक्षा संसार की हो या अध्यात्म की, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। किसी भी तरह से इसका नशा गहरी आत्मविस्मृति लाता है। हालाँकि नशे के बारे में एक बड़ा अनुभूत सत्य है कि व्यक्ति जिस नशे या नशे की जिस मात्रा का आदी हो जाता है, फिर उससे उसको मादकता नहीं आती। फिर तो उसको नशों की ज्यादा-ज्यादा मात्राएँ चाहिए, कुछ और नए-नए नशे चाहिए। इसीलिए महत्त्वाकांक्षाएँ बढ़ती जाती हैं। उनका कोई अंत नहीं आता है। उनका अथ तो है, पर इति नहीं है।

इस संबंध में एक सचाई और भी है। व्यक्ति जब अपनी असलियत से भागना चाहता है, तो उसे किसी-न-

किसी रूप में महत्त्वाकांक्षा का बुखार जकड़ लेता है। अपने आप से अन्य होने की चाहत में वह स्वयं जैसा है, उसे ढाँकता है और भूलता है, लेकिन किसी तथ्य का ढक जाना और उससे मुक्त हो जाना एक बात नहीं है। हीनता की विस्मृति, हीनता का विसर्जन नहीं है। यह तो बहुत अविवेकपूर्ण प्रक्रिया है, इसीलिए ज्यों-ज्यों दवा की जाती है, त्यों-त्यों मरज बढ़ता है। महत्त्वाकांक्षी मन की प्रत्येक सफलता आत्मघाती है, क्योंकि वह अग्नि में घृत का काम करती है। सफलता तो आ जाती है, पर हीनता नहीं मिटती, इसीलिए और बड़ी सफलताएँ जरूरी लगने लगती हैं। मूलतः यह हीनता का निरंतर बढ़ते जाना है।

विश्व का ज्यादातर इतिहास ऐसे ही बीमार लोगों से भरा पड़ा है। तैमूर-सिकंदर या हिटलर और भला क्या हैं? न, न! बेचारों पर हँसिए नहीं, क्योंकि बीमारों पर हँसना शिष्टता नहीं है। एक अन्य वजह से भी इन पर हँसना ठीक नहीं है। थोड़े-बहुत रूप में इस बीमारी के कीटाणु हममें भी तो हैं। बात किसी एक की नहीं है। प्रायः सभी इस रोग से संक्रमित हैं। यही कारण है कि यह महारोग जल्दी किसी को नजर नहीं आ पाता। लेकिन नजर न आने पर भी, रोग है तो मृत्यु का अनुचर ही। महत्त्वाकांक्षा के साथ भी कुछ ऐसा ही है। यह विध्वंस है, हिंसा है, रुग्ण चित्त से निकली घृणा है, ईर्ष्या है। मनुष्य-मनुष्य के बीच सांसारिक संघर्ष यही तो है। युद्ध इसी का व्यापक रूप है। यह सांसारिक होती है तो इससे परहिंसा जन्म लेती है। यदि यह आध्यात्मिक है तो आत्महिंसा पर उतारू हो जाती है। अध्यात्म-पथ पर चलने वाले भी यह कम ही ज़ानते हैं कि अध्यात्म कहीं कुछ पाने की लालसा नहीं, बल्कि स्वयं को सही ढंग से जानने-पहचानने का विज्ञान है।

यह सृजनात्मक चेतना में ही संभव है और केवल वही चेतना सृजनात्मक हो सकती है, जो महत्त्वाकांक्षा से मुक्त है। सृजनात्मकता केवल स्वस्थ और शांत चित्त में ही स्फूर्त हो सकती है। स्वस्थ चित्त स्वयं में स्थित होता है। कुछ और होने की दौड़ उसमें नहीं होती। कुछ और होने की दौड़ के धुएँ में व्यक्ति उसे नहीं जान पाता है, जो वह स्वयं है। स्वयं को न जानना ही वह भूल और केंद्रीय अभाव है, जिससे सारी हीनताओं का आविर्भाव होता है। आत्मज्ञानी के अतिरिक्त इस अभाव से और कोई मुक्त नहीं है। व्यक्ति के लिए चित्त से सभी महत्त्वाकांक्षाओं की विदाई अत्यंत आवश्यक है। इनके रहते तो जीवन की दशा और दिशा औंधी और उलटी ही रहेगी।

मनुष्य जब स्वयं में किसी भी तरह की हीनता पाकर उससे भागने लगता है, तो उसकी दिशा अपने आप से विपरीत हो जाती है। वह इस विपरीत दिशा में तेजी से दौड़ने लगता है। बस यहीं भूल हो जाती है। मनोवैज्ञानिक एच. गिब्सन ने अपने शोधपत्र 'एंबीशन : एन इंटरगेशन टु मेंटल हेल्थ' में इस भूल का खुलासा किया है। उनका निष्कर्ष है कि सब हीनताएँ बहुत गहरे में आंतरिक अभाव की सूचनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति ही आंतरिक अभाव में है। एक रिक्तता प्रत्येक को ही अनुभव होती है। इस आंतरिक रिक्तता को ही बाह्य उपलब्धियों से भरने की कोशिश चलती रहती है।

भला आंतरिक रिक्तता के गड्डे को बाहरी उपलब्धियों से भरना किस तरह से संभव है, क्योंकि जो बाह्य है, वह भला आंतरिक कमी को किस भाँति पूरा करेगा और फिर सभी कुछ तो बाह्य है। धन, पद, प्रभुता और भी ऐसी बहुत चीजें बाहरी ही हैं। सवाल पूछा जा सकता है, तब आंतरिक क्या है? उस अभाव, उस रिक्तता, शून्यता को छोड़कर कुछ भी आंतरिक नहीं है। इस शून्यता से भागना स्वयं से भागना है। उससे पलायन स्वयं की सत्ता से पलायन है। उससे भागने में नहीं, वरन् उसमें जीने और जागने में ही कल्याण है। जो व्यक्ति उसमें जीने और जागने का साहस करता है, उसके समक्ष वह शून्य ही पूर्ण बन जाता है। उसके लिए वह रिक्तता ही परम मुक्ति सिद्ध होती है। उस 'न कुछ' में ही 'सब कुछ' है। उस शून्य में ही सत्ता है। वह सत्ता ही परमात्मा है, जिसकी एक झलक में ही सभी अभाव पूरे हो जाते हैं, सभी हीनताएँ विलीन हो जाती हैं।

❖

प्रातःकाल की पवन लहरी आई और गुलाब को स्पर्श कर चली गई। पत्ते ने हँसते गुलाब को देखा, तो आगबबूला हो गया। बोला, यह भी कोई जीवन है, माली आता है और असमय में ही तुम्हारी जीवनलीला समाप्त कर देता है, इतने अल्पजीवन में भी क्या आनंद? मैं रोज देखता हूँ, कितने फूल खिलते हैं और मुरझा जाते हैं। गुलाब ने बड़े शांत स्वर में उत्तर दिया, भाई, जीवन का अर्थ है, सच्ची सुगंध। इस प्रकार चारों ओर सुगंध को फैलाते हुए आमंत्रित मृत्यु ही जीवन और अमरता है।

यौगिक जीवन ही स्वस्थ मन दे सकेगा

इक्कीसवीं सदी में मनुष्य ने अगणित मानसिक समस्याओं के साथ प्रवेश किया है। सूचना तकनीक, संचार क्रांति और यांत्रिकता ने मानवीय जीवन में साधन-सुविधाओं की भरमार करने के साथ मानसिक स्वास्थ्य में अनेकों संकट भी खड़े किए हैं। मनुष्य का जीवन अपेक्षाकृत अधिक तनावग्रस्त एवं विषादपूर्ण हुआ है। मानसिक चिकित्सा की प्रचलित विधियाँ, मनोविश्लेषण के तौर-तरीके मिल-जुलकर भी इस चुनौती का सामना करने में प्राय: नाकाम रहे हैं। दुनिया के प्राय: हर देश में इनकी नाकामियाँ समझी और स्वीकारी जा चुकी हैं। ऐसे में चिंतित विशेषज्ञों ने विश्वभर के पुरातन ज्ञान भंडार में अपनी ढूँढ़-खोज शुरू की है। उनकी दृष्टि भारत देश के प्राचीन ऋषियों द्वारा अन्वेषित योग विज्ञान पर जा टिकी है। यहीं उन्हें आज की मानसिक समस्याओं के सार्थक और सक्षम समाधान सजीव और प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ रहे हैं।

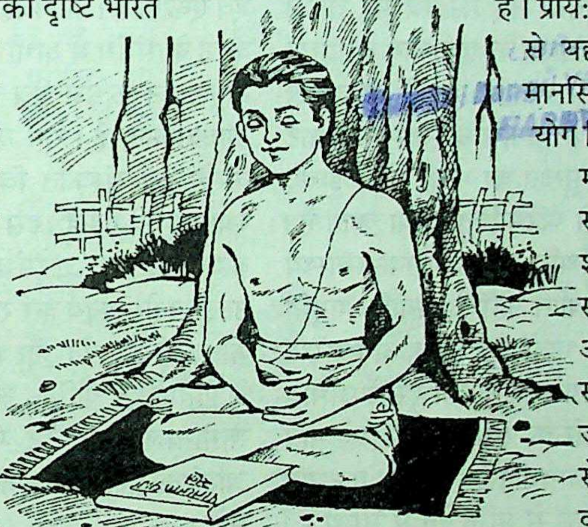

इस संबंध में मानवीय मन के विशेषज्ञ कार्ल रोजर्स ने बहुतायत में शोधकार्य किया है। अपनी दीर्घकालीन अनुसंधान प्रक्रिया से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मानसिक स्वास्थ्य-संकट के प्रश्न-कंटक को निकालने के लिए मानवीय प्रकृति की संरचना व उसकी क्रियाविधि का समग्र ज्ञान चाहिए, तभी उसमें आई विकृति की पहचान व निदान संभव है। कार्ल रोजर्स के अनुसार यह समस्त विज्ञान योग शास्त्रों में उन्होंने महर्षि पतंजलि प्रणीत योगसूत्र में मनोचिकित्सा की सैद्धांतिक एवं नैदानिक समग्रता के अपूर्व समन्वय को अनुभव किया है। इसी के आधार पर उन्होंने अपनी नान डायरेक्टिव चिकित्सा-विधि भी विकसित की है।

सुविख्यात मनीषी जयस्मिथ के अनुसार प्राय: सभी मानसिक समस्याएँ मानवीय चेतना को विखंडित करने वाली दरारों और इसमें उत्पन्न होने वाली ग्रंथियों के कारण जन्मती व पनपती हैं। स्मिथ इन सभी का मूल कारण अहं को मानते हैं। उनके अनुसार यह अहंता ही है, जो एक ओर हमें उच्चतर चेतना से अलग करती है और दूसरी ओर अपने साथी मनुष्यों के सामाजिक विस्तार से दूर करती है। स्मिथ के अनुसार योग विज्ञान की साधनात्मक प्रक्रियाएँ ही एकमात्र सार्थक एवं समर्थ समाधान हैं। इसी से मनुष्य की बिखरी और बँटी हुई चेतना फिर से अपनी एकात्मकता व संपूर्णता प्राप्त कर सकती है। फिर से उसे अपना खोया हुआ स्वास्थ्य व सौंदर्य मिल सकता है।

मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य-संकट का हल ढूँढ़ने के लिए आधुनिक समय में जितने भी अनुसंधान कार्य हुए हैं और हो रहे हैं, उन सभी का सार-निष्कर्ष यही है। प्राय: सभी विशेषज्ञों ने एक स्वर से यही प्रमाणित किया है कि मानसिक स्वास्थ्य के सभी अर्थ योग विज्ञान में निहित हैं। कतिपय मनोविज्ञानियों ने मानसिक स्वास्थ्य के अर्थ को अपने शोध-निष्कर्षों के आधार पर स्पष्ट भी किया है। स्ट्रेंज के अनुसार मानसिक स्वास्थ्य सीखा गया वह व्यवहार है, जो व्यक्ति को सामाजिक रूप से अनुकूल बनाता है, जिसकी वजह से व्यक्ति अपनी जिंदगी की सभी समस्याओं से जूझने में सक्षम होता है। इस मानसिक स्वास्थ्य में आत्मसम्मान, अपनी अंतरशक्तियों का अनुभव, सभी से सार्थक एवं उत्तम संबंध बनाए रखने की क्षमता एवं मनोवैज्ञानिक श्रेष्ठता जैसे कई आयाम सम्मिलित होते हैं।

कार्ल मेनिंजर ने इसे अधिकतम खुशी तथा प्रभावशीलता के साथ वातावरण एवं दूसरे मनुष्यों से समायोजन के रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार यह एक संतुलित मनोदशा, सतर्क बुद्धि, सामाजिक रूप से मान्य व्यवहार व प्रसन्नता बनाए रखने की क्षमता है। ये परिभाषाएँ भले ही थोड़ी ही आधी-अधूरी हों, पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि योग विज्ञान मनुष्य की इन

सभी आवश्यकताओं को पूरा करते हुए मानवीय चेतना की अंतरशक्तियों को जाग्रत् एवं सुविकसित करता है। पश्चिमी विद्वानों द्वारा दी गई मानसिक स्वास्थ्य की परिभाषाओं के इस अधूरेपन के बारे में वी. मधुसूदन रेड्डी का कहना है कि पाश्चात्य समाज में मानसिक बीमारी एक सामाजिक समस्या है। वहाँ के मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्री दोनों ही इस मानसिक एवं संवेदनात्मक विकृति के मूल कारणों को ठीक से जान-समझ नहीं पाए हैं। फिर भी इनकी योग के बारे में कुछ समझ विकसित हुई है। इसी कारण ध्यान और हठयोग की ओर इनका झुकाव हो रहा है। इसी में इस समस्या का समाधान निहित है। मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से योग की ये पद्धतियाँ अनुभवपरक एवं प्रायोगिक हैं।

एस. दलाल ने इस संबंध में काफी कुछ कहने, लिखने व समझाने की चेष्टा की है। उन्होंने अपनी एक पुस्तक 'लिविंग विद इन' में योग-साधना के वैज्ञानिक एवं प्रायोगिक जीवन के सर्वथा नए क्षितिज पर जीवन साधना करने वाले महर्षि अरविंद के पूर्ण योग के सत्यों की व्याख्या की है। अपने इस प्रस्तुतीकरण में श्री दलाल का कहना है कि सामान्यतया मानसिक स्वास्थ्य-संकट को तनाव, उदासी, चिंता, असुरक्षा का भाव, क्रोध, ईर्ष्या, संदेह आदि की उपस्थिति से परिभाषित किया जाता है। इन मनोविकारों की अनुपस्थिति को मानसिक स्वास्थ्य समझा जाता है, परंतु यह पर्याप्त नहीं है, क्योंकि मनुष्य के आंतरिक एवं विधेयात्मक भावों जैसे शांति, अंतःसुरक्षा का भाव, विश्वास, इंद्रियनिग्रह आदि का इसमें अभाव है। यौगिक जीवन ही मानसिक स्वास्थ्य की एकमात्र सही परिभाषा और उपयोगी समाधान है। योग ही एकमात्र साधन है, जो मानसिक विकारों से मुक्ति देने में समर्थ है। पूर्ण यौगिक अवस्था न केवल सभी मनोविकारों से छुटकारा दिलाती है, बल्कि दिव्य गुणों का अभिवर्द्धन एवं विकास भी करती है।

इस संबंध में कैलिफोर्निया में एक अच्छी प्रयोगात्मक शुरुआत हुई थी, जिसमें काफी कुछ सफलता भी मिली। इसमें यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया गया कि व्यक्तित्व के समग्र विकास के लिए आत्मज्ञान आवश्यक है। इन प्रयोगों के लिए एक ओर योग की तकनीकों व उपचार पद्धतियों को, दूसरी ओर मनोरोगों की पहचान व वैज्ञानिक जाँच के लिए मनोवैज्ञानिक पद्धतियों को सम्मिलित करना आवश्यक माना गया। विश्वभर के विशेषज्ञ अब यह सत्य स्वीकारने लगे हैं कि हठयोग, ध्यान, मूल्य चेतना, योग शिक्षा, ट्रांसपर्सनल परिकल्पना व आत्मबोध के द्वारा ही संपूर्ण मानसिक स्वास्थ्य एवं आंतरिक शक्तियों का विकास संभव है।

इस क्षेत्र में अभी जो कुछ हुआ है, वह बहुत स्वल्प एवं एकांगी है। योग विज्ञान द्वारा मानसिक स्वास्थ्य उपलब्ध करने के संबंध में अभी बहुत कुछ करना बाकी है। शोध-अनुसंधान के इस क्षेत्र में अभी और नए दीप जलाने की आवश्यकता है। युग की इसी आवश्यकता को अनुभव करके देव संस्कृति विश्वविद्यालय में योग विभाग की स्थापना की गई है। इस विभाग के प्राध्यापक एवं विद्यार्थी ब्रह्मवर्चस शोध अनुसंधान के शोध वैज्ञानिकों से मिलकर उल्लेखनीय कार्य कर रहे हैं। आगे आने वाले दिनों में इस शोधकार्य की गति और भी तीव्र होगी, ताकि उसके निष्कर्षों में प्रतिपादित यौगिक जीवन की तकनीकों को अपनाकर सामान्यजन उत्कृष्ट मानसिक स्वास्थ्य एवं उच्चतम आंतरिक शक्तियों के जागरण व विकास से लाभान्वित हो सकें। ●

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन राज्यसभा के सदस्य थे, तब की बात है। एक बार अपने भत्ते का चेक लेने वे राज्यसभा के कार्यालय में गए। चेक लेकर वहीं बैठे एक सज्जन से पेन लेकर टंडन जी ने वह चेक लोकसेवा मंडल के नाम हस्तांतरित कर दिया। इन महोदय से न रहा गया। कहने लगे, टंडन जी, मुश्किल से चार सौ रुपये मिल पाए हैं। उन्हें भी आपने लोकसेवा मंडल को दे दिया। पेन सौंपते हुए टंडन जी कहने लगे, देखो भाई, मेरे सात लड़के हैं और सब अच्छी तरह कमाते हैं। मैंने प्रत्येक पुत्र पर सौ रुपये प्रतिमाह का कर लगा रखा है। इस प्रकार मुझे हर माह सात सौ रुपये मिल जाते हैं। इनमें से मुश्किल से तीन-चार सौ रुपये का व्यय होता है, शेष रकम भी लोकसेवा मंडल को भेज देता हूँ। फिर यह तो और ऊपरी आय है। इसे मैं क्यों अपने लिए रखूँ? राजर्षि टंडन जी की यह निस्पृहता याद दिलाती है कि धन चाहे कितने ही रास्तों से व्यक्ति के पास आए, लोकहित में उसके विसर्जन से अच्छा कोई विवेकपूर्ण सदुपयोग नहीं होता।

राखी के कच्चे धागे ने बदला इतिहास

पेड़ों की चोटियाँ, आस-पास का हरा-भरा वनप्रदेश, वेगवती झेलम में किल्लोल करती हुई लहरें, हवा की शीतल बयार से मिलकर सारे वातावरण में एक नए ढंग की अचरज भरी चित्रकारी कर रही थीं। अचरज के रंगों के कुछ छींटे उन शिविरों के अंदर भी पड़ रहे थे, जो यहाँ लगे थे। शिविरों की ये चहुँमुखी कतारें अपने आप को महान् कहलाने वाले सिकंदर की थीं, जिसने ३२६ ई. पूर्व भारत पर आक्रमण किया था। दाँव-घात और कुछ राष्ट्रद्रोहियों की मिलीभगत से अभी हाल में ही उसने भारत के थोड़े-से सीमावर्ती इलाके जीते थे। अब तक की सभी सफलताओं में उसकी सबसे बड़ी सफलता पर्वतेश्वर पोरस की पराजय थी।

लेकिन अपनी इस सफलता पर वह स्वयं को हारा हुआ महसूस कर रहा था। पराजित हुए महाराज पोरस उसके सिंहासन की बगल में रखे हुए एक विशिष्ट आसन पर बैठे हुए थे। विजेता सिकंदर के शिविर में सेल्यूकस एवं फिलिप आदि विशिष्ट सेनानायक भी थे। इनके चेहरों पर अभी तक युद्ध के आतंक की छाप थी। पास ही में दूसरी ओर सिकंदर की पत्नी सेलीना और सेल्यूकस की बेटी कार्नेलिया भी बैठी हुई थी। विजेता पक्ष के इन सभी जनों के चेहरों पर शर्मिंदगी की गाढ़ी लकीरें थीं, जबकि पराजित महाराज पोरस इन सबकी अपेक्षा कहीं अधिक महान्, कहीं अधिक प्रदीप्त लग रहे थे।

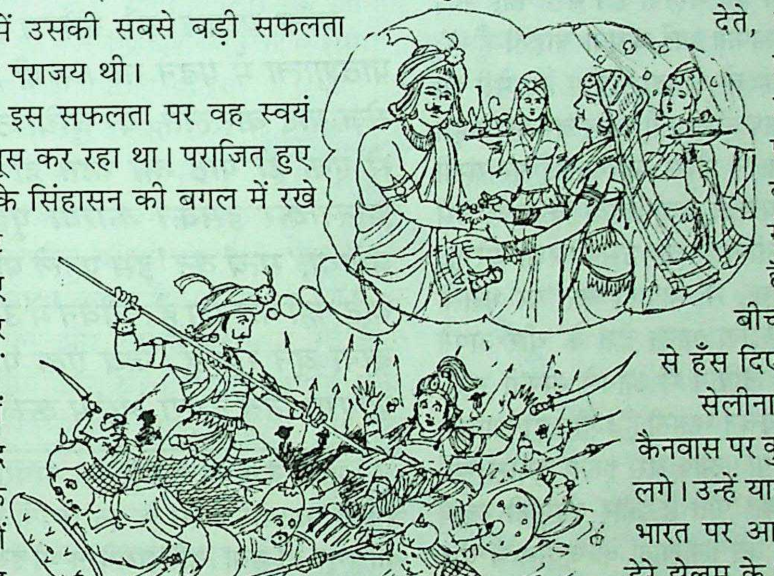

सिकंदर को अभी भी वे पल याद थे, जब भीषणतम युद्ध में महाराज पोरस हाथी पर थे और वह स्वयं अपने घोड़े पर था। एक क्षण ऐसा भी आया, जब पोरस ने सिकंदर के घोड़े को मार गिराया। सिकंदर नीचे धरती पर गिर पड़ा था और पोरस उसे अपने भाले से मारने ही वाला था....। ठीक उसी समय उसकी नजर अपनी कलाई के धागे पर पड़ी। एक क्षण..... और अपनी झूठी महानता का स्वाँग भरने वाला सिकंदर समाप्त हो गया होता, लेकिन महावीर पोरस ने अपना भाला पीछे खींच लिया। युद्ध में ऐसे कई अन्य अवसर और भी आए, जब पर्वतेश्वर उसकी जीवनलीला समाप्त कर सकते थे, परंतु ऐसा उन्होंने किया नहीं।

युद्ध का निर्णय होने के बावजूद भी सिकंदर को उन क्षणों का स्मरण करके सिहरन आ गई। अपने पूरे शरीर में हल्की-सी झुरझुरी अनुभव करते हुए उसने पूछा, ''आपको युद्ध के मैदान में क्या हुआ था महाराज? आप मुझे मार देते, तो आज आप विजेता होते।'' सिकंदर के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पोरस ने कहा, ''इस प्रश्न का उत्तर आपकी पत्नी सेलीना बेहतर दे सकती हैं।'' अपने कथन को बीच में ही छोड़कर वह हल्के से हँस दिए।

सेलीना और सिकंदर के मन के कैनवास पर कुछ अचरज भरे रंग उभरने लगे। उन्हें याद हो आया कि जब उसने भारत पर आक्रमण किया था, उसके डेरे झेलम के तट पर पड़े हुए थे। वर्षा ऋतु जल-थल को एक किए थी। झेलम सचमुच ही भयानक बनी हुई थी। उछलती लहरें, उफनता फेन इसे समुद्र का विस्तार दे रही थीं। सिकंदर और फौज प्रतीक्षा में थी कि झेलम का वेग कुछ थमे, तो वे नदी पार हो सकें।

उन्हीं क्षणों में भारतीय रीति-रिवाजों का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखने वाले सिकंदर को एक कूटनीति सूझी। महावीर पोरस के रणकौशल, उनकी व्यूह रचना, युद्धनीति से यवन सेना आतंकित थी। यवन सैनिकों में लड़ने का कोई उत्साह न था। वे तो सभी सिकंदर की जोर-जबरदस्ती के कारण मजबूर थे। ऐसे में सिकंदर ने पोरस की वीरता को अपनी कूटनीति के व्यूह में घेरना चाहा।

इसी कूटनीतिक अभियान के तहत एक नाव सिकंदर के डेरे से नदी के उस पार भेजी गई। सिकंदर की पत्नी सेलीना उस पर सवार थी। श्रावण का महीना था। इन यूनानियों को यह मालूम था कि भारत में श्रावण के महीने में स्त्रियाँ अपने भाइयों की कलाई में राखी बाँधती हैं, इसे रक्षाबंधन कहते हैं। भाई वायदा करता है कि वह अपनी बहन की रक्षा करेगा, चाहे इसके लिए उसे अपनी जान ही क्यों न देनी पड़े। सिकंदर की पत्नी सेलीना का पोरस के दरबार में स्वागत किया गया। उसे राजमहल में ले जाया गया।

पोरस ने पूछा, ''आप क्यों आईं? आपने मुझे बुला लिया होता, मुझे खबर भेजी होती, तो मैं स्वयं आपके शिविर में आ गया होता। इस समय झेलम को पार करना बहुत जोखिम से भरा है।'' सेलीना बोली, ''मुझे तो आना ही था.... क्योंकि श्रावण का महीना है। मेरा कोई भाई नहीं है और मैं आपको अपना भाई बनाना चाहती हूँ।''

पोरस ने कहा, ''यह तो अच्छा संयोग है। मेरी भी कोई बहन नहीं है। मैं आपको अपनी बहन बनाकर बहुत प्रसन्न होऊँगा।'' सेलीना ने पोरस की कलाई पर राखी का धागा बाँध दिया। पोरस ने वचन दिया कि चाहे उसे अपनी जान ही क्यों न देनी पड़े, वह उसकी रक्षा करेगा।

सेलीना बोली, ''भैया, मैं आपकी बात पर भरोसा करती हूँ। मुझे मालूम है कि भारत देश के वीर अपने वचन के पक्के होते हैं, लेकिन मैं आपसे अपनी नहीं, अपने सुहाग की रक्षा का वचन चाहती हूँ। शीघ्र ही आपका मेरे पति के साथ युद्ध होगा। आप बस इतना ख्याल रखें कि वह आपकी बहन का पति है और आपकी बहन विधवा न बने।'' सेलीना की इन बातों के जवाब में वीर शिरोमणि पोरस ने कहा था, ''ठीक है बहन, यह एक भाई का वायदा है कि तुम मेरे जीवित रहते विधवा नहीं बनोगी।''

बीते हुए घटनाचक्र का स्मरण कर सेलीना की आँखों में कृतज्ञता बरस पड़ी। सिकंदर का सिर भी नीचे हो गया। उसने कहा, ''वीरवर पोरस, मैं जानता हूँ कि सेलीना को आपके पास भेजकर राखी बाँधने के लिए प्रोत्साहित करना, मेरे लिए एक कूटनीति भर थी। मेरे जीवन में कभी भी साधनों का कोई प्रश्न नहीं रहा है। साध्य को ही मैंने सब कुछ समझा है, पर मैं जानता हूँ कि राखी के प्रति आपकी भावनात्मक प्रतिबद्धता के कारण ही मैं न केवल जीवित हूँ, बल्कि विजेता भी हूँ, लेकिन यह विजय और जीवन मुझे आपसे मिले हैं।''

हँसते हुए पोरस ने कहा, ''यवनराज, राखी बाँधते हुए भारत देश के पुरोहित एक मंत्र पढ़ते हैं-

येन बद्धो बलीराजा, दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वामनुबध्नामि, रक्षो मा चल मा चल॥

''यह वह रक्षासूत्र है, जिससे महाबलवान दानवों के राजा बली बाँधे गए। रक्षासूत्र तुम चल-विचल मत हो, प्रतिष्ठित बने रहो।''

रक्षासूत्र की यह महिमामय प्रतिष्ठा हमारी गौरवपूर्ण सांस्कृतिक परंपरा है। मैंने आपको जीवनदान देकर अपने देश के सांस्कृतिक गौरव को अक्षुण्ण रखा है। वैसे भी हम भारतवासी दूसरे के देश में घुसकर आतंक फैलाने, उनकी भूमि हड़पने में यकीन नहीं रखते। हमारा यकीन तो हृदयों पर विजय पाने में है। हम तो सांस्कृतिक दिग्विजय को अपना जीवन अभियान मानते हैं।

पाँच पांडव-सौ कौरव द्रोणाचार्य की पाठशाला में पढ़ने गए। सभी शिष्य एक पाठ रोज याद कर लेते, पर युधिष्ठिर को कई दिन से एक ही पाठ को रटते हो गए। गुरुजी ने झल्लाकर इसका कारण पूछा, तो उन्होंने बताया, 'सत्यं वद' इस पहले पाठ को शब्दों से याद नहीं कर रहा हूँ। जीवन में उतारने का ताना-बाना बुन रहा हूँ। जब एक पाठ हृदयंगम हो जाएगा, तब दूसरा आरंभ करूँगा।

भारत देश की सांस्कृतिक परंपरा और उसके जीवंत प्रतीक महावीर पोरस के इन वचनों को सुनकर सिकंदर अभिभूत हो गया। इतिहासवेत्ता भी इस तथ्य से सहमत हैं कि इसके बाद सिकंदर वापस लौट गया। वह भारत में और आगे नहीं बढ़ा। कोई भी यह ठीक-ठीक नहीं बता पाया कि वह वापस क्यों लौट गया, क्योंकि वह तो युद्ध जीत गया था। अब तो पूरे भारत के द्वार उसके लिए खुले थे। वह दूसरे राज्यों में प्रवेश कर सकता था। पर्वतेश्वर का राज्य तो सीमा से सटा हुआ एक राज्य था, लेकिन तथ्यान्वेषी जानते हैं कि सिकंदर की वापसी भारत देश की संस्कृति के सामने उसके समर्पित होने का परिणाम थी। यह राखी के बंधन के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ पोरस की उदात्त भावनाओं के सामने सिकंदर की भावनाओं की हार की परिणति थी, जिसके कारण उसे यह सच स्वीकार करना पड़ा कि यथार्थ में महान् वह नहीं, राखी का प्रण निभाने वाले सम्राट् पोरस हैं। ❀

पैंसठ वर्ष की एक अनंत यात्रा के प्रारंभिक पड़ाव

अखण्ड ज्योति की अंतर्कथा से कम ही लोग परिचित हैं। ज्यादातर पाठक-परिजन तो इसके प्रभावशाली बाह्य विस्तार के आत्मीय बंधन में अपने आप को लपेटा-समेटा हुआ अनुभव करते हैं। उन्हें यह भी अनुभूति होती है कि अखण्ड ज्योति ईश्वरीय प्रकाश का प्रकाशन है। इसमें प्रकाशित होने वाले भाव और विचारों के साथ प्रकाशन व्यवस्था के प्रत्येक पहलू में इस दैवी प्रकाश की प्रदीप्ति है। इसके पवित्र उजाले से लाखों अंत:करण प्रतिमास प्रकाशित और प्रभावित होते हैं।

यह आंतरिक सत्य कम ही लोग अनुभव कर पाते हैं कि इस व्यापक प्रभाव का कारण प्रकाशन तंत्र का सर्वसमर्थ परमेश्वर के प्रति अटूट विश्वास और अडिग आस्था है। विश्वास व आस्था की इसी अविचलता ने अखण्ड ज्योति के पृष्ठों, पंक्तियों तथा प्रकाशन व्यवस्था के प्रत्येक क्रिया-कलापों में ईश्वरीय प्रकाश के दैवी अवतरण को सहज संभव बनाया है। अखण्ड ज्योति के सभी साधन और साध्य भगवद्-विश्वास के रस में भीगे और डूबे हैं। यही वह वास्तविक पूँजी है, जिसके बलबूते इसका प्रकाशन प्रारंभ हो सका। वर्तमान में भी यही अलौकिक निधि काम आ रही है।

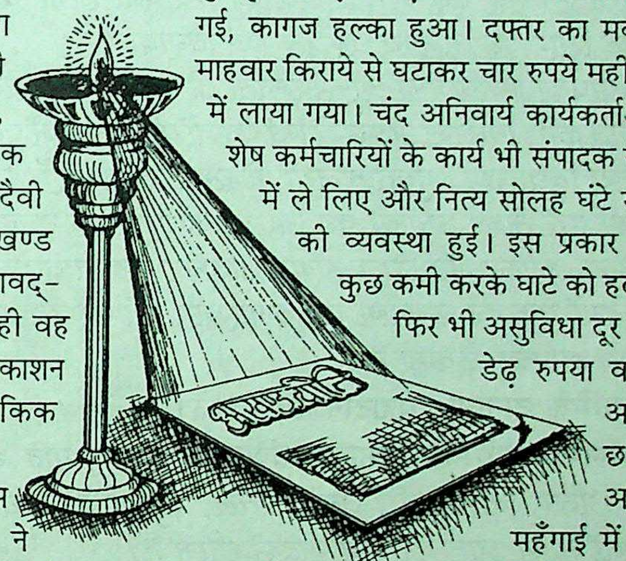

अपने जन्म से ही प्रचंड भगवद्विश्वास की प्राणशक्ति के सहारे अखण्ड ज्योति ने अपनी जीवनयात्रा शुरू की। कठिनाइयाँ और संकट पग-पग पर आए, पर हर बार प्रभुविश्वास ही सहारा बना। अखण्ड ज्योति की इस अंतर्कथा को उजागर करते हुए परमपूज्य गुरुदेव ने वर्ष १९४० के अप्रैल अंक में लिखा, ''कदाचित् कुछ प्रेमी इस बाहरी रूप को देखकर अखण्ड ज्योति की भीतरी स्थिति भी जानना चाहते होंगे। उन्हें कुछ थोड़ा-सा भीतरी परिचय करा देना इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि पाठकों को हम अपना परिवार समझते हैं। उन्हें हक है कि अपनी चीज के बाहरी रूप को देखने के साथ भीतरी बातें भी जानें।''

''इस अंतर्कथा का पहला सत्य यह है कि अखण्ड ज्योति का संचालक इन पंक्तियों का लेखक, संपादक आर्थिक दृष्टि से कोई ऊँचा व्यक्ति नहीं है। अपनी कुल एक हजार रुपये की छोटी-सी पूँजी से उसने इतने बड़े उत्तरदायित्व के जहाज का लंगर खोल दिया है। उसका विश्वास है 'नरसी भगत' वाले 'साँवलिया शाह' इस जहाज को पार लगावेंगे।'' छह-सात महीने में संचालक की वह पूँजी समाप्त हो गई और घाटे का मसान गला घोटने के लिए सामने आ खड़ा हुआ। अर्थ-चिंता बड़ी कठिन होती है। आमदनी बढ़ाना या खरच घटाना, यही दो सूरतें हो सकती थीं।''

''आमदनी बढ़ती न दिखी, तो खरच घटाया। तिरंगा मुखपृष्ठ छोड़ना पड़ा। भीतर की रंगीन तस्वीर बंद हो गई, कागज हल्का हुआ। दफ्तर का मकान पंद्रह रुपये माहवार किराये से घटाकर चार रुपये महीने के छोटे कमरे में लाया गया। चंद अनिवार्य कार्यकर्ताओं को छोड़कर शेष कर्मचारियों के कार्य भी संपादक ने अपने ही हाथ में ले लिए और नित्य सोलह घंटे स्वयं काम करने की व्यवस्था हुई। इस प्रकार खरच में बहुत कुछ कमी करके घाटे को हल्का किया गया। फिर भी असुविधा दूर नहीं हो सकती। डेढ़ रुपया वार्षिक मूल्य के अखबार के कागज छपाई, पोस्टेज आदि के बाद इस महँगाई में भला क्या बच सकता है? ऐसी दशा में कार्य की महत्ता को देखते हुए घाटे का होना स्वाभाविक है।''

इस गहरी आर्थिक विपन्नता में परमपूज्य गुरुदेव की प्रकाशन नीति यथावत् बनी रही। उन्होंने न तो भारी-भरकम धनराशि देने वाले विज्ञापनदाताओं का सहारा लिया और न ही धनराशि देकर अहसान जताने वाले धनवानों का। विपन्नता की इस संकट भरी दशा में उनका प्रभुविश्वास संपूर्ण रूप से समृद्ध रहा। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा, ''अखण्ड ज्योति के लिए अपने उदार बंधुओं से याचना करते तो झोली खाली न रहती, परंतु हम इस बात पर विश्वास करते हैं कि लोकोपयोगी कार्य, जो जनता-जनार्दन की

नि:स्वार्थ सेवा के लिए पवित्र भावनाओं से किए गए हैं, यह है।''

''यज्ञ की बाह्य व्यवस्था का भार प्रभु पर है। 'योगक्षेम वहाम्यहम्' के संकल्प से वह प्रतिज्ञाबद्ध है कि सत्य धर्म की रक्षा करें। फिर हम किसी से क्या याचना करें? यदि हमारा कार्य अपवित्र है, हमारी भावनाएँ हीन हैं, तो हमें नष्ट हो जाना चाहिए और यदि हम धर्मप्रचार के मिशन के लिए जीवित हैं, तो वह घट-घटवासी परमात्मा जिन्हें निमित्त बनाना चाहता होगा, उनके हृदयों में प्रेरणा भरेगा कि इस मुरझाते हुए धर्मतरु को सींचने के लिए अपने भरे हुए जलपात्रों में से एक-एक चुल्लू पानी का इसके लिए भी त्याग करें।''

''अखण्ड ज्योति परिवार गुणग्राहकों, सच्ची सेवा का महत्त्व जानने वाले प्रबुद्धजनों, उच्च अधिकारारूढ़ों, धनी-मानियों, महापुरुषों, साधु-महात्माओं, ईश्वरभक्तों और सुहृदयों से भरा पड़ा है। ईश्वर जब उनके हृदयों में प्रेरणा करेगा, तो वे अपनी श्रद्धानुसार इस मुरझाते हुए धर्मतरु को सींचने के लिए स्वयं दौड़ेंगे। यह काम हमारा नहीं है कि अपने विशुद्ध तप के कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए साथ-साथ हम झोली भी फैलाए घूमें।'' इन पंक्तियों में परमपूज्य गुरुदेव की भावदशा की झलक है, उनके परमविश्वासी भक्त हृदय की अभिव्यक्ति है। ईश्वर के प्रति निष्ठावान, समर्पित भक्त की टेक है। अपने आराध्य पर श्रद्धासिक्त विश्वास है।

इन्हीं सब को उन्होंने अपनी निधि माना था। इसी वास्तविक पूँजी के सहारे उन्होंने अखण्ड ज्योति का प्रकाशन शुरू किया था। जब-जब झंझावातों के दौर आए, तब-तब वह अपने प्रभु-विश्वास की निष्कंप ज्योति को लिए चलते रहे। उनका विश्वास हर बार विजयी हुआ। परिस्थितियों की चुनौती हर बार हारी। अखण्ड ज्योति सदा ही ईश्वरीय प्रकाश का वितरण करती रही। अपने जीवन का यही सत्य उन्होंने अपने अनुयायी शिष्यों-साधकों को भी सिखाया।

ईश्वरविश्वास को अपना दृढ़ अवलंब मानकर अधिक-से-अधिक श्रम करते रहना, यही अखण्ड ज्योति की प्रकाशन नीति है। परमपूज्य गुरुदेव ने यही सीख दी है कि अखण्ड ज्योति के साध्य से कभी विचलित मत होना। सर्वसमर्थ प्रभु स्वयं ही साधनों के अंबार लगा देंगे। भक्तों के प्रेरक भगवान स्वयं ही अपने प्रिय भक्तों को इस पवित्र कार्य के लिए माध्यम बनाते रहेंगे। अखण्ड ज्योति की अंतर्कथा यों ही अपनी अनंत यात्रा के भक्ति, विश्वास एवं श्रद्धा से परिपूर्ण आत्मबल को अपने आप में सँजोती रहेगी।

महाकाल का संदेश

परमपूज्य गुरुदेव ने जीवनभर जनकल्याण हेतु साहित्य सृजन किया, उनके तप एवं ज्ञान का निचोड़ उनके साहित्य में है। सभी लोगों तक यह ज्ञानगंगा पहुँचे, इसीलिए 'पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय' का प्रकाशन किया गया है। लाखों ने इसे पढ़कर जीवन धन्य बनाया है। हर घर में वाङ्मय की स्थापना होनी चाहिए, परिवार के लिए यह अमूल्य धरोहर एवं विरासत है।

यदि आपको भगवान ने श्री-संपन्नता दी है, तो ज्ञानदान कर पुण्य अर्जित करें। विशिष्ट अवसरों एवं पूर्वजों की स्मृति में पूज्यवर का वाङ्मय विद्यालयों, पुस्तकालयों में स्थापित कराएँ। विवाह, जन्मदिवस एवं अन्य उत्सवों पर अथवा पारितोषिक स्वरूप भी यह साहित्य अमूल्य भेंट सिद्ध होगा। आपका यह ज्ञानदान आने वाली पीढ़ियों तक को सन्मार्ग पर चलाएगा, जो भी इसे पढ़ेगा, धन्य होगा। शास्त्रों में कहा है-

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ *—मनुस्मृति ४/२३३*

जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घी, इन सबके दानों में से ज्ञान का दान सबसे उत्तम है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ *—गीता ४/३३*

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि जितने भी कर्म हैं, वे सब ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। ज्ञानदान सर्वोपरि पुण्य है, शुभ कार्य है।

दुःख की चोटें ही बनाती हैं आदमी को

हवाओं में गरमी का तीखापन था। मन को बेचैन करने वाली उमस अग-जग में सब ओर पसरी थी। लू के थपेड़े पल-पल में पथ पर चलने वाले बटोहियों के तन पर चोट करके चले जाते थे। इन चोटों से आने-जाने वालों का तन ही नहीं मन भी विकल हो उठता। इनमें से कई तो यह भी सोचने लगते कि शायद झुलसाने वाली गरमी की पीड़ा से भरी हुई इन राहों की ही तरह जीवन की राहें भी हैं। किधर भी जाओ, कहीं भी पाँव बढ़ाओ, गरम हवाओं की चोटें लगेंगी ही। दरद के तीखे थपेड़ों को सहना ही पड़ेगा। समझ में नहीं आता कि जिंदगी की राहों में इतना दरद क्यों है, विश्व के वास्तुकार ने पीड़ा के चौबारे क्यों खड़े किए हैं, क्या इस दरद का भी कोई अर्थ है, इसके बढ़ते-घटते, उभरते-उफनते रूपों का क्या रहस्य है?

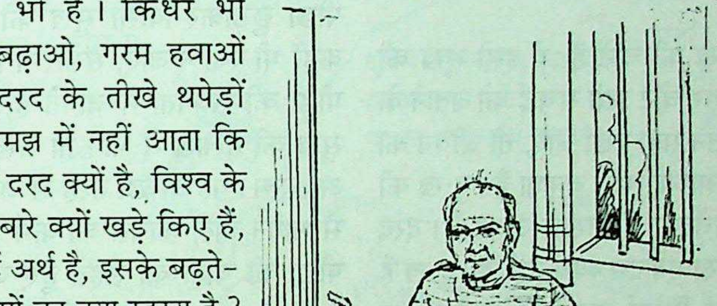

इन प्रश्न-कंटकों के साथ पाँवों ने ब्रह्मवर्चस से शांतिकुंज का सफर कब तय कर लिया, पता ही नहीं चला। उधेड़-बुन तो तब टूटी, जब द्वार-दरवाजे पार करने और सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद परमपूज्य गुरुदेव के दर्शन हुए। वे अपने कमरे में टहल रहे थे। वातावरण की बेचैन करने वाली गरमी से वह सर्वथा अप्रभावित थे। चारों ओर लू के थपेड़ों की बीच उनकी स्थितप्रज्ञता निष्कंप, अचंचल एवं अडिग थी। कमरे में गरमी की तपन तो थी, पर यह उनके महातप के सामने क्षुद्र, नगण्य और अस्तित्वहीन हो गई थी। कमरे का पंखा ठहरा हुआ था। इस तीखी गरमी में भी उन्हें इसकी कोई आवश्यकता नहीं महसूस हो रही थी।

आने वाले पसीने से लथ-पथ थे। गरमी की विकलता से उनका चेहरा लाल हो रहा था। 'अपने प्रति कठोरता, दूसरों के प्रति उदारता' सूत्र के सूत्रकार गुरुदेव ने उनकी दशा समझकर मुस्कराते हुए पंखा चला दिया। पंखा चलाने के साथ ही वह अपने पलंग पर बैठ गए। पंखे की बढ़ती गति के साथ आने वालों को राहत मिलती गई। उनकी सोच में कहीं यह भी अंकुरित हुआ कि दरद और पीड़ा से भरी राहों में शायद कहीं सुख की छाँव भी है। भले ही इसकी अवधि कितनी भी क्यों न हो। पंखे की हवा में कुछ पल गुजारने के बाद उन्होंने लेख सुनाने का संकेत किया। लेख की पंक्तियाँ शुरू करने के साथ ही वह अपने पलंग पर लेट गए। लेटे हुए उनकी चेतना की चिंतन-धारा अविराम थी, पर साथ ही वह लेख की पंक्तियाँ भी सुन रहे थे।

जहाँ तक याद पड़ता है, उस दिन लेख की पंक्तियाँ कुछ यों थीं, 'संसार में सुख नहीं है, सुख स्वयं में है।' यह सुनकर गुरुदेव बोले, ''इस बात का मतलब समझते हो?'' उनके इस प्रश्न को सुनकर लेख सुनाने वाला रुक गया। उसमें उम्मीद जगी कि गुरुदेव कुछ विशेष बताएँगे। उम्मीद के इस आँगन को अपनी शब्द-किरणों से प्रकाशित करते हुए वे कहने लगे, ''संसार का मतलब ही यह होता है, जो स्वयं से चूक गया और दूसरे पर जिसकी नजर अटक गई। तुम संसार का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझते। तुम समझते हो संसार का मतलब, ये वृक्ष, ये पहाड़, ये चाँद-तारे, ये बाजार, ये दुकान, यह संसार है। तुम संसार का मनोवैज्ञानिक अर्थ नहीं समझते।''

''संसार का अर्थ है, किसी दूसरे में सुख, किसी और में सुख, कहीं और सुख। इस तरह की जो अज्ञानदशा

है, उसका नाम संसार है और जो इस अज्ञान दशा में चलता जाता है, चलता जाता है, संसरण करता है, वह संसार में जी रहा है। अज्ञान दशा में विचरण करने वाला सोचता है, इधर नहीं मिला, उधर मिलेगा, वहाँ पहुँच जाता है। वहाँ भी नहीं मिलता, तो और आगे बढ़ जाता है। ऐसी प्रक्रिया सांसारिक क्रियाकलाप कही जाती है।''

''जिस दिन तुम जागकर यह समझ लोगे कि सुख कहीं नहीं मिलता, न यहाँ और न वहाँ। जब तुम्हें ऐसा बोध होगा और तुम जागकर खड़े हो जाओगे, तुम्हारा होश का दीया जलेगा, आँखें दूसरे से हटकर अपने पर पड़ेंगी। तुम्हारी ज्योति तुम्हें ज्योतिर्मय करेगी, उसी क्षण सुख है।''

''जिंदगी में जो दुःख की चोटें हैं, वे इसी सुख की ओर मोड़ने के लिए हैं। हर चोट इसी सचाई को बताने के लिए है। यदि अपना चिंतन सही रखा जाए, तो जीवन का प्रत्येक दुःख व्यक्ति को आध्यात्मिक बनाता है। दुःख की चोटों से मनुष्य की अंतर्चेतना में निखार आता है। दरद एकदम व्यर्थ नहीं है, दुःख एकदम व्यर्थ नहीं है। दुःख है बाहर, लेकिन वही चोट निहाई बनती है, हथौड़ा बन जाती है। वही चोट छेनी बन जाती है, वही चोट तुम्हारे भीतर जो-जो व्यर्थ है, बेकार है, उसे काट देती है, जला देती है। वही चोट तुम्हें जगाती है।''

एक पंक्ति में इतना गहरा जीवनदर्शन है, इसका प्रबोध गुरुदेव के शब्दों से हुआ। दर्शन के लिए दृष्टि चाहिए। दृष्टि हो तो दर्शन है। दृष्टि न हो, तो अँधियारे के सिवा और कुछ नहीं। यह दृष्टि सद्गुरु कृपा से मिलती है। सद्गुरु कृपा के बिना इसका मिलना किसी भी तरह संभव नहीं है। सामान्य समझ दुःख में हमेशा दोष-ही-दोष देखती है, लेकिन दुःख का भी कोई उद्देश्य है, यह सत्य पहली बार पता चला। यह सचाई जीवन में पहली बार उजागर हुई कि दुःख का भी एक दर्शन है। बस इसे देखने वाली दृष्टि चाहिए।

हवाओं में अभी भी वैसी ही गरमी थी। लू के थपेड़े अभी भी वातावरण में यथावत् चोटें कर रहे थे, पर अब गुरुदेव के शब्द इन्हें अर्थ दे रहे थे। वे कह रहे थे, ''बेटा, गरमी की विकलता ही बरसात की सुरम्यता बनती है। गरम हवाएँ ही फसलें पकाती हैं। लू के थपेड़ों से ही धरती का जल वाष्पीभूत होकर मेघों का रूप लेता है। जीवन में भी कुछ ऐसा ही है। इसकी राहों में मिलने वाले दरद का अगर थोड़ा समझपूर्वक उपयोग किया जाए, तो इससे बहुत कुछ हो सकता है। इसी की चोटों से तुम्हारे भीतर छिपी हुई मूर्ति प्रकट होगी। दुःखों की आग जब तुम्हें जलाएगी, और जलाएगी, और जलाएगी, तभी तुम्हारा स्वर्ण निखरकर कुंदन बनेगा।''

गुरुदेव के इन शब्दों में उनकी प्राणचेतना की अभिव्यक्ति थी। उनके जीवन के अनुभवों का जीवंत सार था। वे जो कह रहे थे, वह केवल शब्दों का बंधन नहीं था, उसमें उनकी चेतना की चमक थी। बड़ा गहरा अर्थ और भाव था उनके शब्दों में। वे बता रहे थे, ''जीवन में दरद तो है, पीड़ा तो है, मगर यही पीड़ा निखारती है, माँजती है, सजाती है, सँवारती है। जो लोग इस पीड़ा से पीछा छुड़ाकर किसी सुख की तलाश में भागते हैं, वे कहीं भी क्यों न जाएँ, संसार में ही भटकते हैं और जो इस पीड़ा की सघनता में जागते हैं, वे अध्यात्म में जीते हैं। सुख की तलाश में भागे तो संसार और पीड़ा में जागे तो अध्यात्म। यह अच्छी तरह से जान लो कि अध्यात्म पीड़ा से भागने वाले कायरों का कर्म नहीं है, यह तो दरद और पीड़ा की चोटों को सहते हुए जागने वाले वीरों का धर्म है।''

अपनी बातों का सार-निष्कर्ष बताकर गुरुदेव मौन हो गए। उन्होंने इन लोगों को वापस लौटने का संकेत करते हुए पंखे का स्विच ऑफ कर दिया। पंखे की गति मंद पड़ने लगी। ये लोग भी उन्हें भक्तिपूर्ण प्रणाम करने के बाद अपने निवास की ओर चल पड़े। राह अभी भी झुलसाने वाली गरमी से घिरी थी, पर वापस लौटने वाले किसी एक की शांत-शीतल अंतर्चेतना में बोध के ये स्वर फूट रहे थे-

जीवन दरद का झरना है
जो भी जीते हैं
दरद भोगते हैं
लेकिन हमें दरद भोगते हुए जागना है
यही तो जीवन की सत्य-साधना है
दरद नियति के आँगन में पड़ी निहाई है
दरद भगवान के हाथों का हथौड़ा है
भगवान हम पर चोटें देकर
हमें सँवारता और गढ़ता है
यह बात सुनिश्चित है कि
आदमी दरद में विकसित होता
खूबसूरत बनता और बढ़ता है।

○

गुरुगीता-२

सद्गुरु से मिलना जैसे रोशनी फैलाते दिए से एकाकार होना

गुरुगीता साधक-संजीवनी है। इसकी पहली कड़ी में साधकों ने गुरुतत्त्व की जिज्ञासा का प्रसंग पढ़ा। साधकों की आदिमाता महादेवी पार्वती ने परमगुरु भगवान शिव से यह जिज्ञासा की। आदिमाता की इस जिज्ञासा पर भगवान शिव अति प्रसन्न हुए। उच्चतम तत्त्व के प्रति जिज्ञासा भी उच्चतम चेतना में अंकुरित होती है। उत्कृष्टता एवं पवित्रता की उर्वरता में ही यह अंकुरण संभव हो पाता है। जिज्ञासा-जिज्ञासु की भावदशा का प्रतीक है। इसमें उसकी अंतर्चेतना प्रतिबिंबित होती है। जिज्ञासा के स्वरूप में जिज्ञासु की तप-साधना, उसके स्वाध्याय, चिंतन-मनन व निदिध्यासन की झलक मिलती है। माता पार्वती की जिज्ञासा भी हम सब गुरुभक्तों की कल्याण कामना के उद्देश्य से उपजी थी। सर्वज्ञानमय माँ ने अपनी संतानों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए देवेश्वर शिव से प्रश्न किया था।

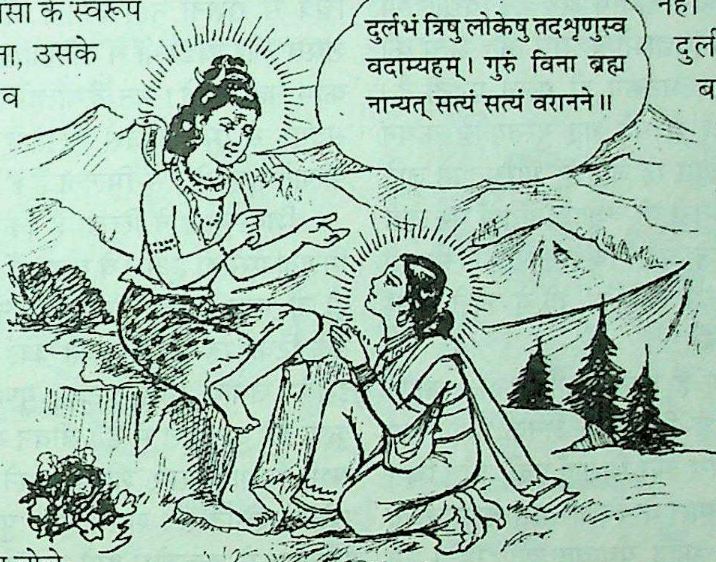
दुर्लभं त्रिषु लोकेषु तदशृणुस्व वदाम्यहम्। गुरुं विना ब्रह्म नान्यत् सत्यं सत्यं वरानने॥

उत्तर में भगवान शिव बोले-

ईश्वर उवाच-
मम रूपासि देवित्वं त्वत्प्रीत्यर्थं वदाम्यहम्।
लोकोपकारकः प्रश्नो न केनाऽपि कृतः पुरा ॥४॥
दुर्लभं त्रिषु लोकेषु तदशृणुस्व वदाम्यहम्।
गुरुं विना ब्रह्म नान्यत् सत्यं सत्यं वरानने ॥५॥

"हे देवी, आप तो मेरा अपना स्वरूप हैं। आपका यह प्रश्न बड़ा ही लोकहितकारी है। ऐसा प्रश्न पहले कभी किसी ने नहीं पूछा। आपकी प्रीति के कारण इसका उत्तर मैं अवश्य कहूँगा। हे महादेवी, यह उत्तर भी तीनों लोकों में अत्यंत दुर्लभ है, परंतु इसे मैं कहूँगा। आप सुनें, सद्गुरु के सिवाय कोई ब्रह्म (कोई अन्य उच्चतम तत्त्व) नहीं है। हे सुमुखि, यह सत्य है, सत्य है।"

भगवान शिव के इस कथन के प्रथम चरण में गुरु और शिष्य की अनन्यता, एकात्मता और तादात्म्य है। गुरु और शिष्य अलग-अलग नहीं होते। बस उनके शरीर अलग-अलग दिखते हैं। उनकी अंतर्चेतना आपस में घुली-मिली होती है। सच्चा शिष्य गुरु का अपना स्वरूप होता है। उसमें सद्गुरु की चेतना प्रकाशित होती है। शिष्य के प्राणों में गुरु का तप प्रवाहित होता है। शिष्य के हृदय में गुरु की भावनाओं का उद्रेक होता है। शिष्य के विचारों में गुरु का ज्ञान प्रस्फुटित होता है। ऐसे गुरु के प्राणप्रिय शिष्य के लिए कुछ भी अदेय नहीं होता। सद्गुरु उसे दुर्लभतम तत्त्व एवं सत्य बताने के लिए सदा-सर्वदा तैयार रहते हैं। शिष्य के भी समस्त क्रिया-कलाप अपने सद्गुरु की अंतर्चेतना की अभिव्यक्ति के लिए होते हैं।

महादेव शिव के कथन का अंतिम सत्य यह है कि 'गुरु ही ब्रह्म है।' यह संक्षिप्त कथन बड़ा ही सारभूत है। इसे किसी बौद्धिक क्षमता से नहीं, भावनाओं की गहराई से समझा जा सकता है। इसकी सार्थक अवधारणा के लिए शिष्य की छलकती भावनाएँ एवं समर्पित प्राण चाहिए। जिसमें यह पात्रता है, वह आसानी से भगवान भोलेनाथ के कथन का अर्थ समझ सकेगा। 'गुरु ही ब्रह्म है' में अनेकों गूढ़ार्थ समाए हैं। जो गुरुतत्त्व को समझ सका, वही ब्रह्मतत्त्व का भी साक्षात्कार कर पाएगा। सद्गुरु कृपा से जिसे दिव्य दृष्टि मिल सकी, वही ब्रह्म का दर्शन करने में सक्षम हो सकेगा। इस अपूर्व दर्शन में द्रष्टा, दृष्टि एवं दर्शन सब एकाकार हो जाएँगे अर्थात् शिष्य, सद्गुरु एवं ब्रह्मतत्त्व के बीच सभी भेद अपने आप ही मिट जाएँगे। यह सत्य सूर्यप्रकाश की तरह उजागर हो जाएगा कि सद्गुरु ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही अपने सद्गुरु के रूप में साकार हुए हैं।

भगवान शिव कहते हैं, सद्गुरु की कृपादृष्टि के अभाव में-

वेदशास्त्रपुराणानि इतिहासादिकानि च।
मंत्रयंत्रादि विद्याश्च स्मृतिरुच्चाटनादिकम् ॥६॥
शैवशाक्तागमादीनि अन्यानि विविधानि च।
अपभ्रंशकराणीह जीवानां भ्रांतचेतसाम् ॥७॥

वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, स्मृति, मंत्र, यंत्र, उच्चाटन आदि विद्याएँ, शैव-शाक्त, आगम आदि विविध विद्याएँ केवल जीव के चित्त को भ्रमित करने वाली सिद्ध होती हैं।

विद्या कोई हो, लौकिक या आध्यात्मिक, उसके सारतत्त्व को समझने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। विद्या के विशेषज्ञ गुरु ही उसका बोध कराने में सक्षम और समर्थ होते हैं। गुरु के अभाव में अर्थवान विद्याएँ भी अर्थहीन हो जाती हैं। इन विद्याओं के सार और सत्य को न समझ सकने के कारण भटकन ही पल्ले पड़ती है। उच्चस्तरीय तत्त्वों के बारे में पढ़े गए पुस्तकीय कथन केवल मानसिक बोझ बनकर रह जाते हैं, भारभूत हो जाते हैं। जितना ज्यादा पढ़ो, उतनी ही ज्यादा भ्रांतियाँ घेर लेती हैं। गुरु के अभाव में काले अक्षर जिंदगी में कालिमा ही फैलाते हैं। हाँ, यदि गुरुकृपा साथ हो, तो ये काले अक्षर रोशनी के दीए बन जाते हैं।

चीन में एक संत हुए हैं शिन-हुआ। इन्होंने काफी दिनों तक साधना की। देश-विदेश के अनेक स्थानों का भ्रमण किया। विभिन्न शास्त्र और विद्याएँ पढ़ीं, परंतु चित्त को शांति न मिली। सालोसाल के विद्याभ्यास के बावजूद अविद्या की भटकन एवं भ्रांति यथावत् बनी रही। उन दिनों शिन-हुआ को भारी बेचैनी थी। अपनी बेचैनी के इन्हीं दिनों में उनकी मुलाकात बोधिधर्म से हुई। बोधिधर्म उन दिनों भारत से चीन गए हुए थे। बोधिधर्म के सान्निध्य में, उनके संपर्क के एक पल में शिन-हुआ की सारी भ्रांतियाँ, समूची भटकन समाप्त हो गई। उनके मुख पर ज्ञान की अलौकिक दीप्ति छा गई। बात अनोखी थी। जो सालोसाल अनेकानेक शास्त्रों एवं विद्याओं को पढ़कर न हुआ, वह एक पल में हो गया।

अपने जीवन की इस अनूठी घटना का उल्लेख शिन-हुआ ने अपने संस्मरणों में किया है। उन्होंने अपने गुरु बोधिधर्म के वचनों का उल्लेख करते हुए लिखा है, ''विद्याएँ और शास्त्र दीए के चित्र भर हैं। इनमें केवल दीए बनाने की विधि भर लिखी है। इन चित्रों को, विधियों को कितना ही पढ़ा जाए, रटा जाए, इन्हें अपनी छाती से लगाए रखा जाए, थोड़ा भी फायदा नहीं होता। दीए के चित्र से रोशनी नहीं होती। अँधेरा जब गहराता है, तो शास्त्र और विद्याओं में उल्लिखित दीए के चित्र थोड़ा भी काम नहीं आते। मन वैसा ही तड़पता रहता है, लेकिन सद्गुरु से मिलना जैसे जलते हुए, रोशनी को चारों ओर फैलाते हुए दीए से मिलना है।''

शिन-हुआ ने लिखा है कि उनका गुरु बोधिधर्म से मिलना ऐसे ही हुआ। वे कहते हैं कि प्रकाश-स्रोत सम्मुख हो तो भला भ्रांतियों एवं भटकनों का अँधेरा कितनी देर तक टिका रह सकेगा। यह कोई गणित का प्रश्न नहीं है, इसका जवाब जोड़-घटाव, गुणा-भाग में नहीं, सद्गुरु कृपा की अनुभूति में है। जीवन में यह अनुभूति आए, तो सभी विद्याएँ, सारे शास्त्र अपने आप ही अपना रहस्य खोलने लगते हैं। शास्त्र और पुस्तकें न भी हों, तो भी गुरुकृपा से तत्त्वबोध होने लगता है। गुरुकृपा की महिमा ही ऐसी है। इस महिमा की अभिव्यक्ति गुरुगीता की अगली कथा-गाथा में होगी। *(क्रमशः)* ☐

विधाता ने मनुष्य को सर्वसाधनसंपन्न बनाकर धरती पर भेजा, पृथ्वी पर मनुष्य को शांति न मिली। वह विधाता के पास पहुँचा और कहा, ''कृपाकर कुछ देवदूत भेज दीजिए, जिससे हमारी व्यथा दूर हो।'' विधाता ने देवता भेजे। वे शांति प्राप्त करने के उपाय संयम और कर्त्तव्य के रूप में समझाते रहे। किसी ने उनका परामर्श न सुना और अपनी ही बात कहते रहे। देवता दुःखी होकर लौट गए।

मनुष्य फिर पहुँचा और ईश्वर से सहायता करने के लिए इस बार और भी विनयपूर्वक अनुरोध किया।

विधाता ने सशर्त सहायता का वचन दिया। जो संयमशीलता, कर्त्तव्यपरायणता अपनाएँगे, उन्हीं को देवताओं की सहायता मिल सकेगी। तब से वही क्रम चला आया है, जो शर्त पूरी करते हैं, उन्हें ही देवता सुख-शांति प्रदान करते हैं। वे दुर्भाग्यशाली हैं, जो प्रभु के संदेश की अवहेलना कर जीवन रूप अक्षय संपदा को सतत लुटाते और आँसू बहाते रहते हैं।

अंतर्जगत् की यात्रा का विज्ञान

बस! मन को साक्षी भर बना लो

सभी योगसाधकों ने पिछली कड़ियों में योग-साधना के लक्ष्य को पहचाना। चित्तवृत्ति निरोध के सुफल को आत्मसात् किया। इस सत्य पर निदिध्यासन किया कि यदि चित्तवृत्तियों का निरोध हो सके, तो साक्षी होने का भाव उपलब्ध होता है। साक्षी की स्वयं के स्वरूप में अवस्थिति होती है, लेकिन यदि ऐसा न हो पाए तब? इस प्रश्न का उत्तर महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र यानि कि समाधिपाद के चौथे सूत्र में देते हैं। वे कहते हैं, 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र (१/४)।' साक्षी होने के अलावा अन्य सभी अवस्थाओं में मन की वृत्तियों के साथ तादात्म्य हो जाता है। ये वृत्तियाँ साधक की अंतर्चेतना को मनचाहा भटकाती हैं। सुख-दुःख के सपने दिखाती हैं। कभी हँसाती हैं, कभी रुलाती हैं। इच्छाओं के कच्चे धागों से बाँधती हैं। कल्पनाओं और कामनाओं की मदिरा पिलाकर बेहोश करती हैं।

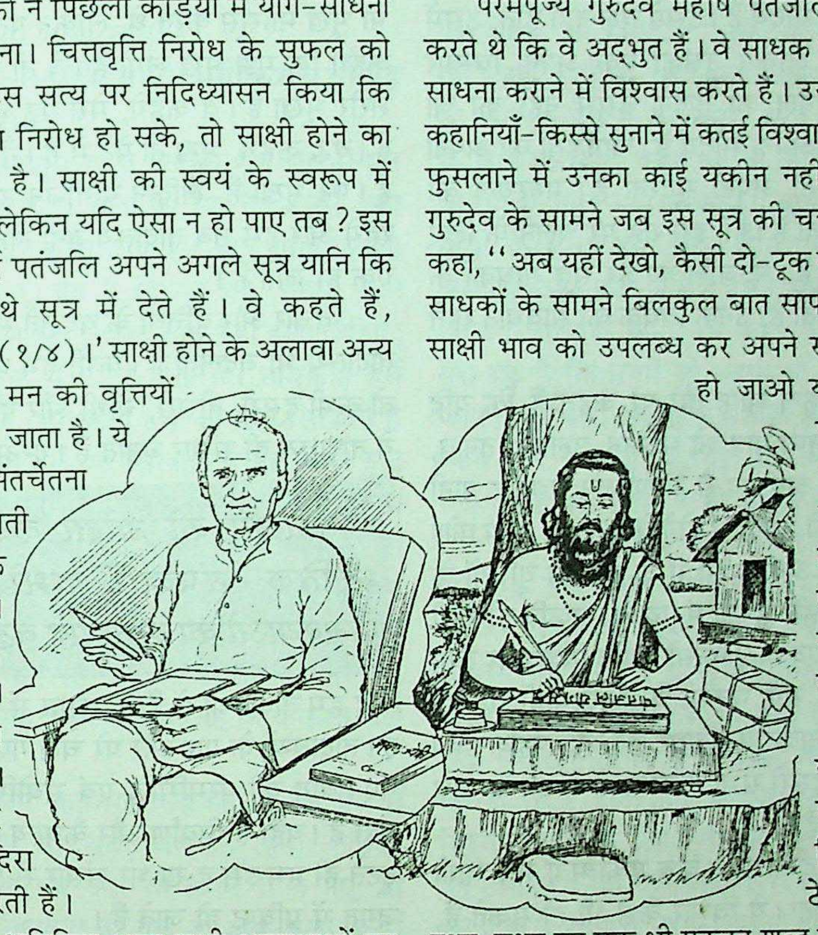

साक्षी होने के अतिरिक्त अन्य सभी अवस्थाओं का यही सत्य है, जिसे हम सभी किसी-न-किसी रूप में रोजमर्रा की जिंदगी में अनुभव करते रहते हैं। मजे की बात तो यह है कि यदा-कदा हम में से कई या यों कहें कि प्रायः हम सभी इन्हीं कामनाओं की तृप्ति के लिए साधना भी करने लगते हैं। गाढ़ी बेहोशी को और गाढ़ा करने के लिए जप-तप-व्रत का सिलसिला शुरू करते हैं। इनकी सफलताओं पर खुशियों की अठखेलियों से खेलते हैं और असफल होने पर गम के आँसुओं से अपने आपको भिगोते हैं। वृत्तियों का यह बहुरंगी तमाशा हमारे जीवन का सामान्य परिचय है। इसमें स्वप्न तो अनेक हैं, सत्य एक भी नहीं। इसी तथ्य का संकेत महर्षि के सूत्र में है।

परमपूज्य गुरुदेव महर्षि पतंजलि के बारे में कहा करते थे कि वे अद्भुत हैं। वे साधक को तपाने में, उससे साधना कराने में विश्वास करते हैं। उनका इधर-उधर की कहानियाँ-किस्से सुनाने में कतई विश्वास नहीं है। बहलाने-फुसलाने में उनका काई यकीन नहीं है। एक प्रसंग में गुरुदेव के सामने जब इस सूत्र की चर्चा चली, तो उन्होंने कहा, ''अब यहीं देखो, कैसी दो-टूक बात कह दी उन्होंने। साधकों के सामने बिलकुल बात साफ कर दी कि या तो साक्षी भाव को उपलब्ध कर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाओ या फिर वृत्तियों के साथ तादात्म्य करके भटकते रहो। इन दो के अलावा कोई तीसरी सचाई नहीं हो सकती। जान सको तो जानो, मान सको तो मानो।''

गुरुदेव कहा करते थे, पतंजलि के सूत्र तो साधकों के लिए भेजे गए टेलीग्राम हैं। इनमें इधर-उधर का एक भी फालतू शब्द नहीं है। कभी-कभी तो एक सूत्र पूरा वाक्य तक नहीं है। वह तो अल्पतम सारभूत है। ये सूत्र ऐसे हैं, जैसे कोई तार करने जाए और वहाँ बेकार के अनावश्यक शब्द काट दे। तार का मतलब ही यही है, कम-से-कम शब्दों में संपूर्ण संदेश कह दिया जाए। तार की जगह अगर पत्र लिखा जाता, तो शायद दस पन्ने भरने के बावजूद बातें पूरी न हो पातीं, लेकिन एक तार में, दस शब्दों में वह केवल पूरा ही नहीं होता, बल्कि पूरे से भी थोड़ा अधिक होता है। वह सीधी हृदय पर चोट करता है। उसमें सारतम होता है।

इसी प्रसंग में गुरुदेव ने यह भी बताया कि उनकी मार्गदर्शक सत्ता ने भी उनसे बड़ी सीधी-सपाट भाषा में एकदम थोड़े शब्दों में कहा था, ''साधना करनी है, तो

इंद्रिय-सुखों से मुँह मोड़ना होगा। एकदम रूखी-सूखी जिंदगी जीनी होगी।'' ये बातें बताकर वह थोड़ा रुके, फिर कहने लगे, ''यह तो बाद में पता चला कि इस रूखे-सूखेपन में आनंद की अनंतता समाई है। बस यही बात महर्षि पतंजलि के बारे में है। वह बहुत ही रूखी-सूखी धरती पर ले चलेंगे, मरुस्थल जैसी भूमि पर, लेकिन मरुस्थल का अपना सौंदर्य है। उसमें वृक्ष नहीं होते, उसमें नदियाँ नहीं होतीं, लेकिन उसका एक अपना विस्तार होता है। किसी जंगल की तुलना उससे नहीं की जा सकती। जंगलों का अपना सौंदर्य है, पहाड़ियों का अपना सौंदर्य है, नदियों की अपनी सुंदरता है। मरुस्थल की अपनी विराट् अनंतता है। हाँ, इस राह पर चलने के लिए हिम्मत की जरूरत है। पतंजलि का हर सूत्र साधकों के साहस के लिए चुनौती है, उनके विवेक को सावधान रहने की चेतावनी है।''

पतंजलि बिलकुल साफ तौर पर कहते हैं कि यदि आपको, हमको, मनुष्य मात्र को भटकन, उलझन, तनाव, चिंता, दुःख, पीड़ा, अवसाद से संपूर्ण रूप से मुक्ति पानी है, तो साक्षी भाव को उपलब्ध होने के अलावा अन्य कोई चारा नहीं है। अन्य अवस्थाओं में तो मन की वृत्तियों के साथ तादात्म्य बना ही रहेगा। मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है। यह बात किसी एक पर, किसी व्यक्ति विशेष पर लागू नहीं होती। बात तो सारे मनुष्यों के लिए कही गई है। मानव प्रकृति की बनावट व बुनावट की यही पहचान है। साक्षी के अतिरिक्त दूसरी सभी अवस्थाओं में मन के साथ तादात्म्य बना रहता है।

विचारों के प्रवाह के साथ कब एकात्मता सध जाती है, पता ही नहीं चलता। ये विचार कैसे भी हो सकते हैं, किसी भी तरह के हो सकते हैं। विचारों के बादलों के साथ हम एक हो जाते हैं। कई बार सफेद बादलों के साथ, कई बार वर्षा के भरे बादलों के साथ, तो कई बार वर्षारिक्त खाली बादलों के साथ। लेकिन कुछ भी हो, किसी-न-किसी विचार के बादल के साथ तादात्म्य बना रहता है और ऐसे में हम आकाश की शुद्धता गँवा देते हैं। अपने आत्मस्वरूप के अंतरिक्ष की शुद्धता खो देते हैं। बादलों का यह घिराव ही इस कारण घटित होता है, क्योंकि हम तादात्म्य जोड़ लेते हैं, विचारों के साथ एक हो जाते हैं।

ख्याल आता है कि हम भूखे हैं और विचार मन में कौंध जाता है। विचार इतना भर है कि पेट को भूख लगती है। बस उसी क्षण हम तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। उसी आसक्ति से घिर जाते हैं। हम कहने लगते हैं, मैं भूखा हूँ, मुझे भूख लगी है। मन में तो भूख का विचार भर आया था, पर हमने उसके साथ तादात्म्य बना लिया, हम कहने लगे, मुझे भूख लगी है। बस यही तादात्म्य है।

ऐसी बात नहीं है कि ज्ञानियों को, योगियों को, साधकों को, सिद्धों को भूख महसूस नहीं होती। भूख तो वे भी महसूस करते हैं। बुद्ध भी भूख महसूस करते थे, पतंजलि भी भूख महसूस करते थे, लेकिन पतंजलि कभी यह नहीं कहेंगे कि मुझे भूख लगी है। वे तो बस इतना कहेंगे कि शरीर भूखा है। वे कहेंगे, मेरा पेट भूख महसूस कर रहा है। बुद्ध कहेंगे, भूख तो पेट में है। मैं तो केवल साक्षी भर हूँ। पेट भूखा है, लेकिन योगीजन उसके साक्षी मात्र बने रहेंगे और हम सब तादात्म्य बना लेते हैं, विचार के साथ एक हो जाते हैं।

विचार और वृत्तियों के बदलते स्वरूप के साथ हमारा तादात्म्य भी बदलता है। कभी हम एक के साथ होते हैं, तो कभी दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं वृत्ति के साथ। ये तादात्म्य ही संसार बनाते हैं। दरअसल यही संसार है।

आत्मा की उपेक्षा करते रहने पर भौतिक संपदाएँ कभी भी हमारी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकतीं।

यदि हम तादात्म्यों में हैं तो संसार में हैं, दुःख में हैं। यदि इन तादात्म्यों के पार और परे चले गए, तो समझो मुक्त हो गए। योग की परमसिद्धि एवं संबोधि की परम अवस्था यही है। यही है निर्वाण और कैवल्य। वृत्तियों से तादात्म्य टूटते ही हम इस दुःख भरे संसार से पार होकर आनंद के जगत् में प्रविष्ट हो जाते हैं।

आनंद का यह जगत् बिलकुल अभी और यहाँ है। बिलकुल अभी, इसी क्षण। इसके लिए एक पल भी प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं है। बस मन का साक्षी भर होना है। केवल वृत्तियों से नाता तोड़ना है। यह तथ्य कुछ यों है-

सुख कहीं मिलेगा, इस भ्रांति का नाम संसार है,
सुख अभी है, यहीं है, इस बोध का नाम निर्वाण है,
सुख किसी से मिलेगा, इस भ्रांति का नाम संसार है,
सुख अपना स्वभाव है, इस जाग्रति का नाम मोक्ष है।

इस सचाई को और अधिक स्पष्ट रीति से समझने के लिए वृत्तियों का कुछ और परिचय जरूरी है। ये कितनी हैं, कैसी हैं, यह जानना आवश्यक है। वृत्तियों की यह योग-कथा अंतर्यात्रा विज्ञान की अगली कड़ी में। ▼

मातृवाणी (पूर्वार्द्ध)

गुरुसत्ता के महाप्रयाण के बाद मातृसत्ता का संदेश

(परमवंदनीया माताजी के यह वचनामृत गुरुसत्ता के महाप्रयाण के चौदह दिन बाद के प्रवचन से लिए गए हैं)

गायत्री मंत्र हमारे साथ-साथ—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

बच्चो, तुम्हें मालूम होना चाहिए कि यह मिशन किस तेजी से बढ़ता हुआ चला जा रहा है। उसमें आप लोगों का क्या योगदान होना चाहिए ? आप लोगों का जो योगदान होना चाहिए, वह है हिम्मत का, साहस का। बुजदिली का नहीं, रोने और चिल्लाने का नहीं होना चाहिए। भावना और भावुकता में अंतर होता है। भावुकता हमें बुजदिली सिखाती है, भावुकता हमें कायरता सिखाती है और भावना ? भावना हमें यह सिखाती है कि अपने इष्ट के प्रति जो हमारा समर्पण है, उसके लिए हमें क्या करना चाहिए। आपको याद होगा कि आप जब अपने घर से आए थे, आपकी क्या भावनाएँ थीं ? यही थीं न कि हम गुरुजी के लिए, गुरुजी के कार्य के लिए तथा मिशन के लिए, समाज-सेवा के लिए, राष्ट्र के उत्थान के लिए हम यह संकल्प लेते हैं कि हम आजीवन यह कार्य करते चले जाएँगे। यही था न ?

बेटे, मैं एक और बात यह कह रही हूँ कि पूर्व में आपकी जो भावनाएँ थीं, वही विद्यमान रहनी चाहिए। जब हम उनमें मिल गए और वो हममें मिल गए, तो एकाकार हो गए। एकाकार हो गए, तो अब अलग कहाँ रहे। समय-समय पर जो हमारे अंदर कुसंस्कार उदय होते रहते हैं, उन कुसंस्कारों को तो हमें हटाना चाहिए और सद्संस्कारों का उदय होना चाहिए। हमारा हर कार्यकर्त्ता शक्तिशाली दिखाई पड़ना चाहिए, हनुमान जैसा, अर्जुन जैसा, एकलव्य जैसा, शिवाजी जैसा। उसका चिंतन और चरित्र दोनों ही उच्चस्तरीय होने चाहिए। जो चिंतन में होता है, वही चरित्र में भी होता है और जो चरित्र में होता है, वही व्यवहार में भी होता है। यह व्यवहार में होता है, तो स्वतः ही उसी प्रकार का वातावरण बना लिया जाता है। वह बाद में अपने आप बनता हुआ चला जाता है।

गुरुजी जैसे बनो

बेटे, गुरुजी ने ऐसा ही तो किया था न। बाल्यकाल से ही उन्होंने अपने चिंतन को इस तरीके से ढाला कि एक स्वयंसेवक की मनोवृत्ति उनके अंदर हमेशा से विद्यमान रही। जहाँ कहीं भी उन्होंने कार्य किया, लोग उन्हें सराहते रहे। सैनिक प्रेस में जब काम करते थे, तो जो उनसे बड़े थे, वे सबसे यही कहते थे कि कहिए साहब, मैं बाजार जा रहा हूँ, कोई आपका काम है क्या ? उनने कहा, हमारी बीबी के बच्चा होने वाला है। अच्छा दायी का प्रबंध करता हूँ और कोई बात ? हमारे पास चारपायी नहीं है। अच्छा, चारपायी का प्रबंध करते हैं। कहने का मतलब मेरा यह है कि उनमें जो स्वयंसेवी वृत्ति थी, वही वृत्ति पनपती हुई चली आई। उनके जीवन में शुरू से ही करुणा, त्याग और संवेदना विद्यमान रही। मैंने एक घटना उस रोज सुनाई थी, शायद सभी कार्यकर्त्ता थे।

बेटे, मैंने आपको एक कबूतर की घटना सुनाई थी और एक उस हरिजन महिला की सुनाई थी, जिसमें कि उसके कीड़े पड़ गए थे और उन्होंने घाव धोया और मरहम लगाया। बेटे, चाहे तो रामकृष्ण परमहंस से जोड़ लें आप, चाहे अन्य किसी से जोड़ लें। जो भी ऋषि और संत-सुधारक हुए हैं, उनके अंदर जनमानस के लिए एक करुणा उदय होती है। करुणा जब आ जाती है सारे विश्वकल्याण के लिए, तो वह तिल-तिल करके अपने को समर्पित करता चला जाता है। जिसने अपने को समर्पित कर दिया है, श्रद्धा तो उसको मिलने ही वाली है। बनावटीपन में नहीं, बनावटीपन तो थोड़े दिन में खुल जाता है। फिर सब लोग छिटकते हुए चले जाते हैं। बनावटीपन यदि नहीं है, तो फिर आपको सहयोग मिलना ही चाहिए। जनश्रद्धा मिलनी चाहिए, मदद मिलनी चाहिए। आपने देखा भी है कि हमारे छोटे-छोटे, जरा-जरा से बच्चे, नाचीज बच्चे जब बाहर जाते हैं, तो जो सत्कार होता है, वो किसका होता है ? आपका। आपका नहीं होता, यह मानकर चलना। जिसके अंदर यह अहंकार विद्यमान हो कि यह हमारा पुरुषार्थ है। यह हमारा नहीं बेटे, उस महापुरुष का है, जिसने सारा जीवन लोकमंगल के लिए, राष्ट्र के उत्थान के लिए लगा दिया। अंतिम क्षणों में भी उन्होंने एक ही बात कही कि हमें विश्वभर में विचार क्रांति का विस्तार करना है। यह यों ही थोड़े हो जाएगा।

संकल्प पूरे होंगे, उनके निमित्त जीकर

बेटे, जो संकल्प लिए गए हैं, ये यों ही पूरे हो जाएँगे क्या ? ये यों ही पूरे नहीं होंगे। आजकल मुझे रात को नींद नहीं आती। सोचती हूँ कि ये जो संकल्प लिए गए हैं, वे अधूरे तो रह नहीं सकते, क्योंकि जो रग-रग में समाया है, काम तो उन्हीं इष्टदेव का है न। काम उनका है, पर काया अपनी है। इसमें कोई शक नहीं है। शरीर अपना है और बल उनका है। जब हमारे अंदर यह हिम्मत आ जाएगी और यह साहस आ जाएगा कि देने वाला तो दूसरा है, करने वाले हम हैं, फिर कोई भी काम अधूरा नहीं रहेगा। जिस दिन कहीं यह आ गया मैं-मैं-मैं-मैं-मैं क्या होती है ? आपको मालूम होना चाहिए कि गुरुजी ने यह शब्द कभी नहीं कहे। यह शब्द कहे होंगे कि बेटा, तुम्हारे लिए भगवान से प्रार्थना करेंगे, सब ठीक हो जाएगा, हाँ ठीक हो जाएगा। वे कष्टों को लेते भी रहे, पर उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि मैं करूँगा। मैं शब्द उन्होंने कभी नहीं कहा।

एक दफा एक कार्यकर्त्ता अपने विद्यार्थी को लाया और बोला, गुरुजी, इसको भूत आ रहा है। भूत अच्छा, कैसा भूत ? अब वह लड़का सिर हिलाने लगा। खामखाह की बातों को जब हम बढ़ावा देते हैं, तो लोगों की नजरों में गिर जाते हैं। उन्होंने क्या किया ? उन्होंने कहा, अच्छा अभी देखता हूँ तेरा भूत। दो डंडे तुझमें लगाऊँगा और दस डंडे इसमें लगाऊँगा। पढ़ा-लिखा होकर, प्रोफेसर होकर और तू ये कह रहा है कि भूत आ रहा है। इसी तरह बहुत दिनों की शुरू-शुरू की बात है। हमारे यहाँ एक लड़की थी। अब वह सो गई, लेट गई। हमारी और छोरियाँ डर गईं। बोलीं माताजी, इस को तो भूत आ गया। यह तो वहाँ हॉस्टल में रहती थी। मैंने कहा, अभी उतारती हूँ इसका भूत। मैंने रोल लेकर कहा, ऐ उठती है कि नहीं। या तो तू उठ, नहीं तो मैं एक जमाती हूँ तेरी कमर पर। अब वह छोरी झट से उठ बैठी। भूत हो तो ना। कहीं भूत थोड़े ही होता है। एक तो बनावटीपन होता है, दूसरे जो बढ़ावा देते रहते हैं, उनको बल मिलता रहता है।

बेटे, गुरुजी ने कभी भी यह नहीं कहा कि आज हमको यह लगा, आज हमसे यह कहा गया। हाँ, उन्होंने यह जरूर कहा कि संवेदना के रूप में हमें एक ऐसा प्रकाश मिलता हुआ चला जाता है कि जो संकल्प हम करते हैं, वे पूरे होते हुए चले जाते हैं। हमारे गुरुदेव का बल हमको मिलता हुआ चला जाता है, यह गुरुजी ने हमेशा कहा, लेकिन यह कभी नहीं कहा कि आज यह अनुभूति हुई, आज वह हुई। ऐसी बात अगर आप किसी के अंदर हो तो बेटे, उसे तो अपने मन से निकाल ही देना। अनुभूति जो होती है वह कहने की नहीं होती, वह संवेदना की होती है। कल-परसों की बात है। मैं स्नान कर रही थी। स्नान करते समय मुझे जोर से ऐसी आवाज आई शैलो। कोई बात होती थी तो वे मुझे शैलो कह करके आवाज देते थे। मैं समझ गई कि कुछ कह रहे हैं। मैं तिलमिला गई। जब मैं बाहर आई तो समझ गई कि वह क्या कहना चाहते हैं। अब भी मुझे स्वप्न में, जाग्रत् अवस्था में भी ऐसा प्रतीत होता है कि वे मेरे दायें-बायें हैं और जब मैं कभी डगमगाती हूँ तो मेरा हाथ पकड़ते हैं और कहते हैं कि चलो चलें। मैंने शपथ ली है और उन्होंने कहा है चलो, तो आगे तो बढ़ना ही है न।

बेटे, वे कह गए हैं कि हमने यह जो वृक्ष लगाया है, कहीं ऐसा न हो कि सूख जाए। सो हिम्मत के साथ और दिलेरी के साथ आँसू पीना है और आगे बढ़ना है। हर बच्चे को आगे बढ़ाना है। तुम्हारा कोई दुःख, कष्ट-कठिनाई होगी बेटे, उसे हम जी-जान से निवारण करेंगे। आध्यात्मिक दृष्टि से भी निवारण करेंगे, शक्ति से भी निवारण करेंगे और औपचारिक दृष्टि से भी निवारण करेंगे। तुम हमारे बालक हो। हम तुम्हारे लिए जान पर खेल जाएँगे, इसमें कोई दो राय नहीं है। तुम्हारे अंदर कोई दोष-दुर्गुण होंगे, तो उन्हें हटाने के लिए मैं रिआयत नहीं करूँगी। बेटे, गुरुजी ने इस मामले में कभी रिआयत नहीं की। अब तक तो मैं रिआयत करती आई थी, पर अब नहीं करूँगी। क्यों नहीं करूँगी ? क्योंकि उन्होंने कह दिया है कि मैं तुम्हारे अंदर समाया हुआ हूँ। जब मेरे अंदर पूर्ण समाए हैं तो बेटे, मैं माताजी का और गुरुजी का दोनों ही का रोल अदा करूँगी। दोनों रोल मुझे इसलिए करने पड़ेंगे, ताकि मिशन में कोई गड़बड़ी न आने पाए। गड़बड़ी का जहाँ कहीं भी मुझे बीज मालूम पड़ेगा, वहाँ उस बीज को मैं नाबूद कर दूँगी। बिलकुल कर दूँगी, बगैर किसी मोह के कर दूँगी, चाहे कोई भी क्यों न हो।

ब्राह्मण बीज चाहिए

मुझे तो वह बीज चाहिए, जो कि ब्राह्मण हो अर्थात् ब्राह्मणवृत्ति उनके अंदर पनपे और ब्राह्मण जैसा जीवन जिए। यही तो गुरुजी का उद्देश्य था बेटे। यहाँ बैठे हुए तुम सब ब्राह्मण ही हो। तुम्हारे लिए फिजूल का कहाँ है ? तुम ब्राह्मण ही हो, पर कहीं भी चिंतन गड़बड़ाता हो, तो उस चिंतन को तुम साफ करना। आगे आने वाले समय में कितना काम करना है। मैं देख चुकी हूँ तुम्हारे साहस को। उस समय हमारे कुछ बच्चे बाहर गए थे। मुझे भीतर से

वेदना हुई कि इन बच्चों को ऐसा लगा होगा कि हमने गुरुजी के अंतिम दर्शन भी नहीं किए। बेटे, जो बच्चे यहाँ नहीं थे, उनकी वेदना को मैं जानती हूँ, क्योंकि मैं वेदना से ग्रसित हूँ। इसलिए तुम्हारा दरद समझती हूँ, लेकिन तुमने जो कार्य किया, उस कार्य में ही गुरुजी के दर्शन थे और गुरुजी हजार आँखों से, लाख आँखों से तुम्हें सराह रहे थे और आशीर्वाद दे रहे थे कि हमारे बच्चे कितने साहसी हैं। ऐसी विषम परिस्थितियों में भी जिन्होंने मनोबल बनाए रखा।

बेटे, हमें मनोबल बनाना है अपना और दूसरों का। स्वयं उठना है और दूसरों को उठाना है। कहीं भी चिंतन न बिगड़े। क्या पूछना है ? आपस में राजी-खुशी पूछो। एक-दूसरे के दुःख-दरद में काम न आएँगे, तो और कौन आएगा। मैं तो यहाँ बैठी रहती हूँ, मुझसे कोई कहने आएगा, तभी तो मुझे मालूम पड़ेगा। मैं तुम्हारी माँ हूँ। कोई दुःख-कष्ट हो, फौरन मेरे पास आओ। तुम्हारे कष्ट का निवारण होगा। आपस में हो सकता हो, तो आपस में करना। सबसे मिलना-जुलना और सबके दुःख-कष्ट में शामिल होना, लेकिन एक कार्य में शामिल मत होना। कौन से में? चुगली वाले कार्य में। इससे बहुत ज्यादा नफरत है हमें। गुरुजी कभी भी किसी की ऐसी बात तो सुनते ही नहीं थे। कभी किसी का पत्र आता था और मैं कहती थी साहब, यह पत्र आया है, जरा मैं सुना दूँ क्यां आपको। क्या है इसमें लाओ, उठाया और रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। उन्होंने उस पत्र को कभी महत्त्व नहीं दिया, चाहे किसी कार्यकर्त्ता ने दिया हो, चाहे बाहर की शाखाओं की कोई शिकायत ऐसी हो, जो आपस में प्रतिद्वंद्विता की हो, एक-दूसरे को नीचा दिखाने वाली बात हो।

कार्य के लिए तो कंपटीशन होना चाहिए। कौन-सा कंपटीशन ? आलस्य और प्रमाद का नहीं, वरन् उसका जो गुरुजी कहते थे कि आठ घंटे नौकर काम करता है, स्वयंसेवक बारह घंटे काम करता है और मालिक सोलह घंटे काम करता है। तुम सब जितने बैठे मालिक हो। एकोएक मालिक हो। सीनियर-जूनियर का यहाँ कोई चक्कर नहीं है। इतना तो है कि भाई जो पहले आए हैं, उनका अनुभव है। अनुभव के द्वारा काम तो हमें उनसे ही कराना है। अब प्रत्येक को थोड़े ही हम बुलाएँगे। हमने एक यूनिट बना रखी है, वह संचालन करेगी, बताएगी आप लोगों को। हमारे लिए भावनाओं की दृष्टि से चाहे बेटा गरीब हो, अमीर हो, छोटा हो, बड़ा हो, सब बच्चे एक से हैं। माँ के लिए बच्चा चाहे प्रोफेसर हो और चाहे रिक्शा चलाता हो, दोनों के लिए माँ की ममता एकसी होती है। माँ ऐसी नहीं होती कि उसका दुलार किसी के लिए विशेष होता हो और किसी के लिए नहीं होता हो, फिर वह माँ ही कैसी है ? ठीक है, जो नजदीक आते रहते हैं, बार-बार जिनको बुलाते रहते हैं, कार्य के लिए तो बेटा, बुलाया ही जाएगा, कहा भी जाएगा। अब एक-एक करके पाँच सौ आदमियों को कहाँ तक हम बुलाएँगे, दूसरे भी तो कार्य हैं। जो जिससे संबंधित है, कार्य तो उन्हीं से कराएँगे। पत्र व्यवहार से संबंध है, तो भी हमें संतोष तब होगा, जब कुछ आउटपुट निकलेगा। रिस्पोंस कुछ भी न निकले और दिखा दें साहब, ये दो चिट्ठी लिखी हैं तो धिक्कार नहीं है। तुम्हारे लिए धिक्कार है और हमारे लिए उससे भी ज्यादा धिक्कार है। क्यों ? मिशन का खाते हो, दबाव सारा मिशन के ऊपर पड़ता है और काम एक घंटे का भी नहीं होता। ये सड़ना और सड़ाना, गलना और गलाना छोड़ना चाहिए और स्फूर्ति बनाए रखनी चाहिए।

अपनी कमियाँ निकालें, पूर्ण बनें

बेटे, अब तक मान लो तुममें कुछ कमियाँ थीं, लेकिन अब आगे आने वाले समय में नहीं होनी चाहिए। आगे बहुत जिम्मेदारियाँ सँभालनी हैं। इतनी जिम्मेदारियाँ सँभालनी हैं कि बेटे क्या कहूँ ? जो लेखन में हैं, वे भी अपना पुरुषार्थ दिखाएँ। कार्य की दृष्टि से भी, भावनाओं की दृष्टि से भी कि बस आनंद आ जाए। बेटे, गुरुजी एक-एक दिन में मैं समझती हूँ तीन-तीन, चार-चार लेख लिखते थे। वैसे तो उन्हें कभी कुछ होता नहीं था। एक बार उनके पाँव में चोट लग गई। हुआ यों कि टट्टर में बंदर आ गए। उन्हें भगाने के चक्कर में उनका पैर टट्टर में फँस गया। पैर सूज गया, थोड़ा पक भी गया और टेंपरेचर भी होने लगा। मैं आपको बताती हूँ कि हमारे यहाँ मूँज की चारपाई थी। उस चारपाई में गड्ढा हो गया। क्यों ? बैठे-बैठे। वे नित्यप्रति बैठ करके इतना लेखन करते थे कि मैं हैरान रह गई। मैंने कहा, जब कष्ट में इतना लिख सकते हो, तो बगैर कष्ट में कितना लिखेंगे। वे अपने सारे शरीर को भुला देते थे, इतना कार्य करते थे। तुम सब उनके शिष्य हो, उनके बालक हो, हमारे बालक हो, तो तुम्हें भी अपने अंदर वही चेतना जाग्रत् करनी पड़ेगी। गुरुजी का अनवरत आशीर्वाद तुम्हें मिलता रहेगा।

बेटे, हमारी ममता भी तुम्हें मिलती रहेगी, पर गड़बड़ी फैलाएँगे तो हमें नाराजगी भी होगी। कटुभाषा से नाराजगी नहीं होगी, तो और क्या होगा ? नहीं साहब, बिच्छू का

डंक मारे बिना हमारा तो काम ही नहीं चलता। नहीं बेटे, अपनी जुबान पर जरा शहद लगाइए। जब आते हैं, अपना अहंकार दिखाते आते हैं, सबसे बॉसपना दिखाते हैं। कोई बॉसपना नहीं दिखाएगा यहाँ। यहाँ तो नम्रता चाहिए। नम्रता बहुत बड़ी चीज है। गुरुजी के अंदर नम्रता थी और इस सीमा तक थी बेटे कि इन हाथों से तुम्हारे सब के बरतन धोते-धोते, माँजते-माँजते हमें बीसियों साल बीत गए। हमारे जो पुराने परिजन होंगे, उनको मालूम है कि किस तरह हम बच्चों की सेवा करते थे। तब यहाँ तक का इतना लंबा सफर तय करके आए हैं। तुम्हें क्या मालूम है? गुरुजी परिजनों को अपने साथ ले जाया करते थे। उसके कंधे पर हाथ रखकर कहते, चल बेटा, जमुना जी वहाँ बैठेंगे। वे कंधे पर तौलिया डाले रहते थे, सो अपनी तौलिया बिछाई और वहाँ उसको बिठाते थे। यह है आत्मीयता, यह है घुलना-मिलना। यह नहीं होता कि हम मंच पर बैठ गए। ये कौन हैं? आ हा हा हा ..... ये आए साहब। महंत जी, ओ हो हो हो ..... अब इनको सुनो। अच्छा, तुम्हारी सुनो या गुरुजी को सुनो। बेटे, गुरुजी को सुनो। गुरुजी को जो सुनेगा, वह नम्र होगा। वह सबमें घुलता हुआ मिलता हुआ चला जाएगा। यह अनुकरण उनको करना चाहिए, जिन्होंने अभी तक नहीं किया। जिन्होंने किया है, उनकी सराहना है, उनके लिए ढेरों आशीर्वाद हैं।

सबको प्यार बाँटो, आत्मीयता दो

बेटे, सबको अपने समान समझो। अपने जो छोटे भाई हैं, उनको प्यार दो। अपने से जो बड़े हैं, उनका सम्मान करो। किसी को यह महसूस न होने पाए कि यहाँ गुरुजी नहीं हैं। यहाँ तो सारे निर्जीव बसते हैं, जैसे इनमें जान ही नहीं है। बेटे, सबको गुरुजी जैसा प्यार, आत्मीयता दो। मुझे कई बार उन लड़कों को झिड़कना पड़ता है, जो हमारे पास रहते हैं। नीचे तो मुझे नहीं दिखाई पड़ता, पर पास में तो मैं दो-तीन लड़कों को बहुत झिड़कती हूँ। क्या करूँ, मेरा स्वभाव ऐसा नहीं है, पर जब देखती हूँ कि जब ये लोगों को मिलाते हैं, तो ऐसा लगता है जैसे भेड़-बकरियों को आगे करते हैं। भेड़-बकरियों की तरह नहीं, बल्कि सभ्यता-शालीनता का क्रम चालू करो। जल्दी-जल्दी चलाओ, लेकिन तुम्हारी जुबान में मिठास होनी चाहिए। मिठास होगी तो क्या होगा? सारे-के-सारे व्यक्ति तुम्हारी सराहना करेंगे। दो तरह की मिठास होती है, एक तो प्रकृतिप्रदत्त-स्वभावगत और दूसरी चापलूसी। जिससे काम लेना है, उसी की चापलूसी करो। चापलूसी करने में छोटापन होता है, हेटापन होता है। उसमें व्यक्ति का बौनापन झलकता है। हमें बौना भी नहीं बनना है और अहंकारी भी नहीं बनना है, चूँकि मिशन तुम्हारे द्वारा चलना है, तुम्हारे कंधों पर चलना है, इसलिए हमारा प्रत्येक कार्यकर्त्ता गुरुजी की दूसरी कॉपी होना चाहिए।

तुम सब गुरुजी के बेटे हो, तो फिर तुम्हारा स्वभाव गुरुजी की तरह ही होना चाहिए। इस माने में नहीं कि गुरुजी तो महंत हैं साहब। नहीं, गुरुजी ने यह कभी नहीं कहा कि हम महंत हैं। हमारे जो पुराने परिजन हैं, कभी गुरुजी के संपर्क में आए होंगे, उन सबने यह ही कहा होगा कि गुरुजी हमको जितना प्यार करते थे, उतना शायद किसी और को नहीं करते थे। उन्होंने सबको एक ही निगाह से देखा। सबको एकसा कार्य सौंपा। यह बात अलग थी कि अब बुढ़ापा था, सो कभी थोड़ा झल्ला जाते थे, लेकिन उन्होंने मन से कभी किसी से द्वेष नहीं माना। यहाँ तक कि जो हमको विरोधी मानते थे, उनके लिए भी उन्होंने कभी कुकल्पना नहीं की। उन्होंने कभी यह नहीं सोचा कि उसने हमारे साथ ऐसा किया है, तो हम इसका बदला लेंगे। उन्होंने उसके साथ सज्जनतापूर्ण व्यवहार किया, वे कभी भी बौखलाए नहीं। बस चाल उलटी बदल दी। उन्होंने कहा, अच्छा यह बात है, अपने काम की गति बढ़ा दो। बजाय सड़ने-कुढ़ने के उन्होंने सारा समय श्रेष्ठ चिंतन में लगा दिया। अरे, दूसरा तो सड़ ही रहा है, हम और उसके साथ सड़ जाएँ। क्यों? हमें मिशन चलाना है, तो हम में प्रखरता होनी चाहिए, नम्रता भी होनी चाहिए, साथ ही अपने अंदर साहस और बल भी होना चाहिए।

> ***बीज को गलकर वृक्ष का रूप लेने की प्रक्रिया समयसाध्य है। जो अधीरता बरतते हैं, कर्मों का प्रतिफल तुरंत चाहते हैं, उन्हें निराश ही होना पड़ता है। इससे यह नहीं सोचना चाहिए कि दुष्कर्मों की प्रतिक्रिया नहीं होती और सत्कर्मों के पुण्यफल प्राप्त नहीं होते। जो दूरदर्शी होते हैं, वे कर्मफल व्यवस्था में सच्चे आस्तिकवादी की तरह विश्वास रखते हैं।***

बेटे, हम ऐसे बुजदिल भी न हों कि कोई आए, हाँ साहब कौन हैं? अरे हम तो संत हैं। अच्छा, तो एक इधर

से भी दे जाए और एक उधर से भी दे जाए। ऐसा संत भी नहीं बनना है। मैं कई बार कह चुकी हूँ कि तुम लोग लाठी चलाओ, यह पुरुषार्थ का प्रतीक है। सारे आश्रमों की निगाहें हमारी तरफ जाती हैं। यह सब कहेंगे कि यहाँ मरे-मराए नहीं, जिंदादिल लोग रहते हैं। किसी ने कहा, कहाँ गए? अरे साहब, मंदिर गए तो पता चला कि वहाँ से घंटी-बंटी भी कोई उठा ले गया। उन्होंने कहा, यहाँ कौन बसते हैं? यहाँ तो निर्जीव हैं, जिन्हें यह भी ध्यान नहीं कि हम यहाँ मंदिर में बैठे हैं और यहाँ से सामान भी चला गया। बेटे, हमारे यहाँ सभी जिंदादिल लोग ही रहने चाहिए।

दो महान् संकल्प

अब चलिए, मैं थोड़ा-सा प्रसंग बदल रही हूँ। यह इतना बड़ा काम है, मैंने उस रोज दोनों संकल्पों के बारे में बताया था न। हाँ बेटे, मैं फिर दोहरा रही हूँ कि हमने दो संकल्प ले लिए हैं। मैं समझती हूँ कि इन्हें पूरा कराने में वही मदद करेंगे, तभी होंगे पूरे। मेरा मन ऐसा कहता है कि वे मदद जरूर करेंगे, क्योंकि जब उनका हर कार्य पूरा होता हुआ चला गया, तो ये दो संकल्प भी पूरे होंगे। मैंने जो उस रोज निवेदन किया था और कहा था कि एक शानदार श्रद्धांजलि समारोह मनाएँगे। उसके लिए तुम्हारे पैरों में गति, तुम्हारी हिम्मत, तुम्हारा साहस अब और भी डबल होना चाहिए।

देखो बेटे, मेरा साहस डगमगाया नहीं है। कभी-कभी आँखों में आँसू तो आ जाते हैं, पर रोकती हूँ। आज जब एक गीत गाया जा रहा था, तो मैं अपने को नहीं रोक सकी और अंदर-ही-अंदर आँसू पीती रही। सामने वाला यह नहीं भाँप पाया कि माताजी की आँखों में आँसू भी हो सकते हैं। क्या करें बेटे? पचास साल जिसके साथ में गुजारे, उसे हम कैसे भुला सकते हैं? वह नहीं भुलाया जा सकता, लेकिन फिर भी मैं भीतर से इतनी कड़ी और इतनी हिम्मत वाली हूँ कि मैं आँसुओं को भुला दूँगी, उन्हें पी जाऊँगी। उनका जो उद्देश्य है, जो उनका लक्ष्य है, उसके लिए तो अब हमें मर मिटना है। इसी भूमि में वे समा गए और इसी में बेटा मुझे भी समाना है। तुम लोगों का भी यही लक्ष्य होना चाहिए कि जब हम यहाँ शांतिकुंज में आए हैं, तो हमें नाक कटाकर नहीं रहना चाहिए। यह नहीं होना चाहिए कि मन में कुछ और है, तन में कुछ और। जो मन में है, वही हमारे तन में है। तुम सब अपने मन की परिशुद्धि करना, तभी तुम्हारी भावनाएँ और तुम्हारा समर्पण शुद्ध होगा। अभी तक तो तुम्हारा समर्पण है, आगे की तो मुझे मालूम नहीं। बेटे, आगे भी तुम इसी तरीके से बने रहना, शुद्ध भावना और पवित्र समर्पण के साथ।

बेटे, अब तीन महीने रह गए हैं। तीन महीने कितने होते हैं? बहुत जरा से होते हैं। दिन और रात तुम सबको श्रम करना पड़ेगा। दिन और रात एक करने पड़ेंगे, तब कहीं हम उस कार्य को पूरा कर पाएँगे। चैन की नींद सोते रहे, तो क्या ऐसे ही काम हो जाएगा? बेटे, ऐसे काम नहीं होगा। जरा-जरा से काम में कितना समय लगता है। जो छह यज्ञ हुए हैं, उनमें कितने लोगों ने दिन और रात एक किए हैं, तब सफल हुए हैं। सो भी उतने बड़े नहीं थे। यह कार्य तो कितना विशाल है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर का है। अंतर्राष्ट्रीय काम यों ही हो जाएगा क्या?

दूसरा संकल्प स्मारक बनाने का है, तो वह भी यों ही हो जाएगा क्या? चलो, उसे तो यह भी है कि हम अपने द्वारा पूरा कर लेंगे, लेकिन यह जो श्रद्धांजलि का कार्य है, इसके लिए तो तुम्हें अपना मन और अपना तन दोनों ही समर्पण करने पड़ेंगे। इसके लिए बेटे, अपनी हिम्मत, अपना साहस और अपनी भावनाएँ लगानी होंगी। भावनाओं के बगैर कोई भी कार्य पूरा हो नहीं पाता। इसके बिना हम भगवान की पूजा भी नहीं कर पाते हैं। हाथ में माला तो जरूर लगी रहेगी, पर दिमाग हमारा दूसरी तरफ लगा रहेगा। क्यों? इसलिए लगा रहेगा कि भगवान के प्रति जो हमारा उदात्त भाव, जो हमारा समर्पण, जो हमारी करुणा होनी चाहिए, वह करुणा ही नहीं पैदा हुई, तो हम भगवान की पूजा कैसे करेंगे? इस तरह क्या हम भगवान के बताए रास्ते पर चल सकेंगे? हम अगर भगवान के बताए रास्ते पर नहीं चल सकेंगे, तो हम गुमराह होते जाएँगे। गुमराह होते ही हम पलायनवादिता की ओर चलते चले जाएँगे, जबकि उपासना, साधना और आराधना तीनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं।

तीनों योग जीवन में अनिवार्य

उपासना भगवान के समीप बैठना अर्थात् उसमें मिल जाना। अनुभूति होना, करुणा पैदा होना, दया पैदा होना। ये सब कौन और क्या हैं? ये भक्ति का स्वरूप हैं और दूसरा वह है जिसका मन शुद्ध, जिसके अंदर दया,करुणा और संवेदना होती है, फिर वह अपने तक सीमित नहीं रहता, वरन वह ऊँचा उठ जाता है, जिस तरीके से वाल्मीकि ने एक पक्षी के जोड़े को तिलमिलाते हुए देखा और उनकी करुणा फूट पड़ी। इसी तरह संत तुलसीदास की करुणा फूट पड़ी। ऐसा व्यक्ति ही जनमानस के लिए समर्पित होता है और अपने जीवन को धन्य बनाता है।

'साधना' माने—अपने जीवन को ऊँचा उठाना, अपने को साधक बनाना ताकि वह जनसेवा कर सके। जनसेवा हमारा मुख्य ध्येय है। इसीलिए तो गुरुजी आए। सारी जिंदगी उन्होंने यही तो किया था। बेटे, जितनी उन्होंने उपासना की, उससे कम उपासना कलम की नहीं की, और उससे कम उपासना उन्होंने समाज की नहीं की। जितनी गायत्री माता के प्रति उनकी श्रद्धा थी, उससे ज्यादा कलम के लिए थी और उससे भी ज्यादा समाज सेवा के लिए थी। वे समाज को ऊँचा उठाना चाहते थे। वे समाज को, राष्ट्र को बहुत से होनहार नागरिक देना चाहते थे, यही उनका उद्देश्य था। उनकी सारी जिंदगी इसी में लग गई। यह कौन-सा कार्य है? यही साधना है।

आराधना-समाज सेवा है। ये तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं। बेटा, अब हमको उपासना तो नित्यप्रति करनी ही है। हमारे जो कार्यकर्त्ता हैं वे बजाय आलस्य के चाहें तो आधा घंटा उपासना करें। मैं यह तो नहीं कहती कि सारे दिन माला लेकर तुम बैठे रहो। बैठे रहेंगे तो काम कौन करेगा। चाहे तुम पंद्रह मिनट ही उपासना करो, पर ऐसे तल्लीन हो जाओ कि बस आनंद आ जाए। हमारे यहाँ अखण्ड ज्योति कार्यालय में एक चित्र है, जो अभी भी है। गुरुजी जब उपासना में बैठते थे तो छह घंटे यह नहीं मालूम पड़ते थे कि जाने कहाँ निकल गए। फिर सारा दिन काम करते थे। छह घंटे तो नहीं, तुम्हारे लिए आधा घंटा ही बहुत है। आधा घंटा नित्यप्रति जब खाना खाएँ तो पहले उपासना कर लें। इसके बाद अपने जीवन का शोधन करें, कहाँ-कहाँ हमारी कमियाँ हैं, किस तरीके से अपनी इन कमियों को हम निकालें।

बेटे, अपनी कमियाँ व्यक्ति को नजर नहीं आतीं। जिस दिन अपनी कमियाँ नजर आ जाएँगी, तो व्यक्ति न जाने कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाएगा। हम दूसरों की कमियाँ तो देखते हैं कि अमुक में ये कमी है, अमुक में वो कमी है, पर अपने गरेवान में मुँह डालकर नहीं देखते कि हम में कितनी कमियाँ हैं। हमारे प्रत्येक कार्यकर्त्ता को चाहिए कि वह अपनी कमियों को खोज-खोजकर निकाले। दूसरों से पूछे-क्यों भाई साहब! आज यह बताइए कि मुझसे कोई दुर्व्यवहार तो नहीं हुआ? मेरे अंदर कोई कटुता तो नहीं आई? दूसरा तुम्हारी कमियाँ निकाले तो उस पर खीजो मत, वरन् उसको सराहो कि हमारी कोई कमी निकालने, बताने वाला तो है। हमारे अंदर जो कमी है उसे निकालिए। बेटे, गुरुजी का यह गुण था कि चाहे वे आर्य समाजी हों, चाहे कोई और हों, उनके लिए कमियाँ निकालने की खुली छूट थी। गुरुजी ने कहा कि कोई कहने वाले तो है, जिससे मालूम तो पड़े कि हमारे अंदर क्या कमी है। हम उस कमी को निकालेंगे। उन्होंने चाहे पाँच साल का बालक ही क्यों नहीं हो, कोई बात उसके मुँह से निकली है और वह फिट बैठती है तो वे उसकी भी बात मान लेते थे। यह नहीं कहते थे कि मैं इतना बड़ा हूँ और जरा से बच्चे की बात मानूँगा। वे सबकी मानते थे।

क्रमशः (उत्तरार्द्ध आगामी विशेषांक में)

●

एक व्यक्ति ने अपनी संपदा परमार्थ प्रयोजनों के लिए दान कर दी और लोकसेवा के कार्यों में निरत रहने लगा।

उसकी सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। इस परिवर्तन के लिए लोग उसकी भूरि-भूरि सराहना करने और बधाई देने आते।

उत्तर में वह एक प्रश्न करते, आपके झोले में कंकड़-पत्थर भरे हैं और अनायास कोई बहुमूल्य वस्तु मिले, तो उन पत्थरों को फेंककर मूल्यवान वस्तु उसमें भरेंगे या नहीं? लोग उत्तर में सिर हिला देते।

मैंने कोई त्याग नहीं किया, मात्र विवेकशीलता का, चयन की दूरदर्शिता का परिचय दिया है। जो व्यर्थ ही बटोर रखा था, वह बोझ बढ़ाता और अनर्थ सिखाता था। अब उस जंजाल को फेंक देने पर मनःस्थिति परमार्थ करने जैसी बन गई और वे कार्य हो सके, जिनकी प्रशंसा आप सब करते हैं और मुझे संतोष पाने तथा भविष्य उज्ज्वल बनाने का अवसर मिला है।

युगगीता-३५

कर्मसंन्यास व कर्मयोग में कौन-सा श्रेष्ठ है

(कर्मसंन्यासयोग नामक गीता के पाँचवें अध्याय की प्रथम किश्त)

इस अंक से कर्मसंन्यासयोग नाम से श्रीमद्भगवद्गीता का पाँचवाँ अध्याय आरंभ करते हैं। युगगीता का यह भावप्रवाह द्वापर में कही गई गीता एवं प्रज्ञावतार की सत्ता के लीलासंदोह पर आधारित है। नवयुग आगमन की वेला में इस युगगीता की व्याख्या-विवेचना में वह सब कुछ है, जो आज एक साधक के रूप में हम सभी को अभीष्ट है, करने योग्य एक कर्त्तव्य है, युगधर्म है। श्री गीताजी के प्रथम छह अध्याय कर्मयोग प्रधान हैं। यों स्थान-स्थान पर इसमें भक्तियोग-ज्ञानयोग गुँथा पड़ा है। मोहग्रस्त किंतु जिज्ञासु शिष्यभाव में स्थित अर्जुन के प्रश्नोत्तरों के माध्यम से कुछ ऐसे प्रसंग आए हैं, जो आज की युगपरिवर्तन की संक्रमण वेला में सभी को प्रेरणा देते हैं। चौथा अध्याय ज्ञानकर्मसंन्यास योग पर था, जिसकी व्याख्या में 'युगगीता' पुस्तक का दूसरा खंड एवं उसके सोलह लेख समा गए। प्रस्तुत अध्याय 'कर्मसंन्यासयोग' प्रकरण पर है। अर्जुन ने ज्ञान का महत्त्व जान लिया, किंतु अभी भी कर्मयोग के संबंध में उसके मन में कुछ संदेह है। वह बोलता तो प्रारंभ में ही है, पर श्रीकृष्ण मंद-मंद मुस्कान के साथ उसकी मानसिकता का अध्ययन कर रहे हैं एवं उसका प्रश्न समाप्त होते ही कर्मों से संन्यास व कर्मयोग तथा संन्यासयोग अर्थात् सांख्ययोग की महत्ता समझाने लगते हैं। ज्ञान में कर्मों का संन्यास (ज्ञानकर्मसंन्यासयोग) चौथे अध्याय का प्रकरण था, जहाँ 'उठो भारत, अज्ञान से जन्मे संशयों से मुक्त होकर विवेक-ज्ञान को जीवन में उतारकर समत्वरूपी योग में स्थित हो जाओ', इस संदेश के साथ योगेश्वर सद्गुरु द्वारा समापन किया गया था।

लोकसेवियों की मार्गदर्शिका

अब एक प्रकार से पुनः इसी विषय को गहरी जाँच-पड़ताल के साथ, पी. एच-डी. स्तर के गहन अध्ययन की तैयारी के साथ श्रीकृष्ण प्रस्तुत करना चाह रहे हैं। यह विषय हर कार्यकर्त्ता के लिए, स्वयंसेवक के लिए, एक आदर्श राष्ट्रनिष्ठ लोकसेवी के लिए समझना बहुत जरूरी है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि ज्ञान को सर्वोपरि मानकर उसी के आधार पर अपने व्यक्तिगत अहं की बलि दी जानी चाहिए। अहंकार का समर्पण हो एवं व्यक्ति निष्काम कर्म की ओर बढ़े, चाहे कितनी ही मुश्किलें क्यों न आएँ। अब इस 'अहं' से मुक्ति कैसे पाई जाए? यह अहंकार है क्या? इस मद को पहचाना कैसे जाए? किसी तरह हम इसके स्वरूप को जान लें एवं शुद्ध अहं के गरिमामय रूप को जानकर उसमें प्रतिष्ठित होने की सोचें, तो कितना बड़ा परिवर्तन आ सकता है? यह सब कार्यकर्त्ताओं की आचार-संहिता का प्रकरण इस अध्याय में आया है, जो उसे साधना की धुरी पर जीवनकला को निखारने की बात भी समझाता है। संन्यासवेशधारी तो लाखों की संख्या में समाज में हैं, पर क्या वे अपना 'अहं' छोड़ पाए हैं? वास्तविक संन्यास क्या होता है व कर्मयोग व संन्यास का परस्पर समन्वय कैसे स्थापित किया जाए, इसकी विशिष्ट व्याख्या इस अध्याय में श्रीकृष्ण करते हैं। अहंकार के नाश की विधि इसमें वर्णित की गई है, इसीलिए इस अध्याय का नाम 'कर्मसंन्यासयोग' है।

इस अध्याय के २९ श्लोकों में सारे कर्म-सिद्धांत को योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा बड़े सरल ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय में स्थान-स्थान पर कर्मसंन्यास की व्याख्या एवं कर्मयोग की महत्ता बताते हुए भगवान श्रीकृष्ण अहंकार से रहित सिद्धपुरुषों के लक्षण भी अर्जुन को बताते हैं। अहंकाररहित होना एक बड़ी सिद्धि है एवं इतना भर हो जाने पर मनुष्य किस तरह सामान्य से असामान्य हो जाता है, यह पढ़ने पर पाठक के मन में भी ललक पैदा होने लगती है। स्थान-स्थान पर आसक्ति को छोड़कर कर्म करने की महत्ता इस अध्याय में प्रतिपादित की गई है, पर अर्जुन इतने मात्र से संभवतः इतना प्रभावित नहीं है। उसकी आशंकाएँ अभी भी यथावत् हैं, क्योंकि वह व्यावहारिकता के धरातल पर मार्गदर्शन चाहता है। विगत दो अध्यायों के चरम सोपान पर पहुँचा

देता है यह पाँचवाँ अध्याय, जहाँ अंतिम श्लोकों में ध्यान की विधि भी योगेश्वर द्वारा बता दी जाती है। जीवन कैसे जिया जाए, कर्मों को दिव्य कैसे बनाया जाए, औरों से अधिक बेहतर जीवन किस तरह जिया जाए, विचारों व भावनाओं का सुव्यवस्थित विकास कैसे संभव हो, यह श्री गीताजी के काव्य की विशेषता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि जीवन को एक खेल की तरह मानकर ठीक तरह जी लिया जाए, तो हमारा जीवन सुसंस्कृत एवं चरित्रनिष्ठा से भरा-पूरा होता चला जाता है। जीवन पूर्णतः रूपांतरित होने लगता है। सदाचारमय जीवन जीते-जीते मनुष्य क्रमशः उन्नति की ओर बढ़ने लगता है—आध्यात्मिक भी एवं भौतिक भी। उसके अंदर का दानव मिटता चला जाता है एवं देवत्व जागने लगता है। छठे अध्याय में आत्मसंयम के योग को समझाने से पूर्व श्रीकृष्ण अर्जुन में जिज्ञासा जगाकर इस पाँचवें महत्त्वपूर्ण अध्याय में कर्मयोग की पराकाष्ठा तक उसे पहुँचा देते हैं। यही है पाँचवें अध्याय में प्रवेश की भूमिका।

कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है ?

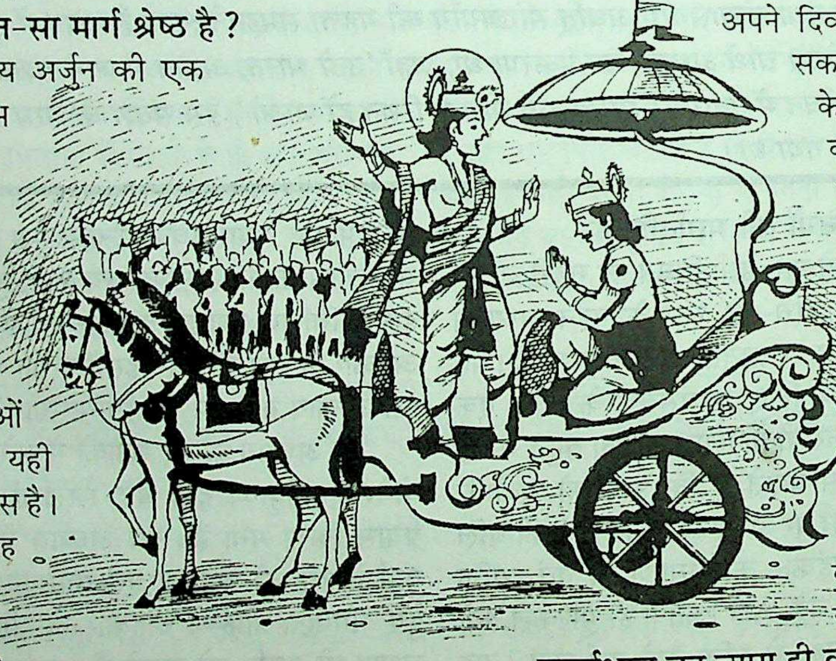

पाँचवाँ अध्याय अर्जुन की एक जिज्ञासा से आरंभ होता है। वह अभी-अभी सुन चुका है, 'योगमातिष्ठोतिष्ठ भारत' हे भारत, उठो एवं योग का आश्रय लो। अपनी अहंकेंद्रित कामनाओं को त्यागो। वस्तुतः यही सच्चे अर्थों में संन्यास है।

तत्काल ही वह अपनी जिज्ञासा श्रीकृष्ण के सम्मुख रख देता है-

अर्जुन उवाच-
सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ ५/१

अर्जुन बोले, ''हे कृष्ण, आप कर्मों का त्याग करने (कर्मणां सन्न्यासं) और फिर उन्हें करते रहने (कर्मयोग) पर जोर देते हैं, इनकी प्रशंसा करते हैं। इन दोनों मार्गों में से कौन-सा एक मेरे लिए भलीभाँति निश्चित, कल्याणकारक व श्रेष्ठ हो, यह आप मुझे बताइए।''

यहाँ अर्जुन पूर्णतः भ्रमित है। उसे दोनों मार्ग परस्पर विरोधी दिखाई दे रहे हैं। पहले मार्ग के अनुसार तो यह स्पष्ट होता है कि तमाम कर्मों का त्याग कर दिया जाना चाहिए (संन्यास) और दूसरा मार्ग हमें सामाजिक और व्यक्तिगत रूप से जीवन में रुचि लेने-कर्मयोग में निरत होने की बात कहता है। अर्जुन की बुद्धि में यहाँ वह गंभीर भाव नहीं आ पा रहा है, जो दोनों मार्गों की तत्त्व से उसे जानकारी करा सके।

भगवान श्री जो यहाँ कहना चाह रहे हैं, उसके अनुसार कर्मों में अहंकार का त्याग ही कर्मणां सन्न्यासं है, कर्मों का त्याग है तथा कर्मफल उपभोग के प्रति हमारी चाह के त्याग को कर्मयोग कहा गया है। कितना बारीकी से रखा गया दर्शन है, पर वह समझ में तब ही आ सकता है, जब हम उसका मर्म समझ सकें। जैसे ही वह समझ में आ जाता है, हम समष्टि में संव्याप्त इस परमात्मसत्ता को भी जान लेते हैं। बाधक मात्र अहंकार है, उसके उद्वेग हैं। कर्त्ता का भाव व भोक्ता का भाव यदि निकल जाए, तो हम अपने दिव्य स्वरूप को जान सकते हैं, मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन जीने की स्थिति में प्रतिष्ठित हो सकते हैं। फिर हम उन ग्रंथियों में उलझने से बच सकते हैं, जो हमें देवता के राजमार्ग से हटाकर इंद्रियतुष्टि की ओर, अहं की पूर्ति की ओर, स्वार्थ की पूर्ति की ओर ले जाती है।

कर्त्ताभाव का त्याग ही कर्म-संन्यास

उत्तर जो मिलने जा रहा है, उसकी भूमिका समझ लें, तो हमें अर्जुन का प्रश्न अच्छी तरह समझ में आ जाएगा। कर्त्ताभाव के त्याग की विधि कर्मों का संन्यास है और भोक्ताभाव से ऊपर उठने की विधि कर्मयोग है। अहंकार का त्याग करके लोकसेवा में लगना 'संन्यास' है एवं कर्मफल की लालसा पर नियंत्रण रख लोकसेवा में लगना 'कर्मयोग' है। शास्त्रों में वर्णित इन दो शब्दों को समझ लेने के बाद इस अध्याय का एवं कर्मयोग का मर्म समझ

में आ जाता है, परंतु अर्जुन चाहता है कि उसके गुरु श्रीकृष्ण उसका एक ही निश्चित मार्ग, पूर्ण संन्यास अथवा पूर्ण कर्मयोग (संन्यास एवं योग) के विषय में मार्गदर्शन करें।

गलती उसकी भी नहीं है। अर्जुन ने पहले ज्ञानयोग की महिमा सुनी, सुना कि ज्ञान से अधिक पवित्र धरती पर कुछ भी नहीं व उसे उसके लिए श्रद्धावान बनना होगा, फिर चौथे अध्याय में उसने सुना कि कर्मयोगी बनना चाहिए, दिव्यकर्मी होना चाहिए। अर्जुन किसी बीच के मार्ग, किसी शॉर्टकट की, बायपास मार्ग की तलाश में है। युद्ध में लगने का उसका मन है नहीं, कर्मयोगी वह अभी बनना नहीं चाहता, क्योंकि उसमें बार-बार युद्ध करने की बात कही जा रही है। हाँ, यदि किसी तरह संन्यास मिल जाए, तो जान बच सकती है। संन्यास ले लेंगे, तो कर्म से बच जाएँगे। एक पावन आश्रम परंपरा की दुर्गति अनादिकाल से होती चली आई है। संन्यास अर्थात् कर्मों से पलायन। भगवान उसे दुविधा से निकालते हैं एवं उससे कहते हैं-

श्री भगवानुवाच-
सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ ५/२

श्री भगवान बोले, "कर्मसंन्यास (कर्मों का त्याग) और कर्मयोग (कर्मों का संपादन) दोनों ही हमें मोक्ष की ओर ले जाते हैं, किंतु इन दोनों में से कर्मों के त्याग की अपेक्षा कर्मयोग साधना में सुगम होने से अधिक श्रेष्ठ है।"

मार्ग दोनों ही श्रेष्ठ, परंतु .....

दोनों ही परमकल्याणकारी हैं, दोनों से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, परंतु इनमें से भी कर्मयोग जिसमें कर्मों का संपादन करते-करते सफलता की ओर बढ़ा जाता है, सर्वाधिक श्रेष्ठ है, यह श्री भगवान का स्पष्ट मत है। यह एक प्रारंभिक साधक के लिए, युद्धभूमि में खड़े योद्धा के लिए, मोहग्रस्त अर्जुन के लिए दिया जा रहा मार्गदर्शन है। एक स्पष्ट घोषणा आचार्य के द्वारा की जाती है कि कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मों का संपादन करते-करते जीना ही सर्वश्रेष्ठ है (तयो अस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते)। बिना रजोगुण पार किए जो सतोगुण सीधे पाना चाहता हो, उसे यह जान लेना चाहिए कि राजमार्ग मात्र एक ही है। हर कोई तमोगुणी की (मोह की, अहंता की) स्थिति में पलायनवादी बनकर हिमालय जाने की बात कहता है, क्योंकि वह मार्ग सीधा-सच्चा दिखाई देता है, पर यह तो छलावा है। ऐसे व्यक्ति वापस तमस की ओर लौटते हैं एवं यदि जीवन में सच्चा मार्गदर्शन नहीं मिला, तो जन्म-जन्मांतरों तक भटकते रहते हैं।

भगवान एक ही बात कहते हैं, "तुम्हारे लिए कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। यही युगधर्म है और इसी में तुम्हें ही नहीं, किसी भी काल के मानव को सर्वप्रथम अपने आपको नियोजित करना चाहिए।" यह पूरा अध्याय युगधर्म की ही बात करता है व हमें बताता है कि हमारे कर्मों को किस दिशा में नियोजित किया जाना चाहिए। आज के युग में चारों ओर आपाधापी मची हुई है। मनुष्य दूषित हो रहा है, उसके कर्म दूषित हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में ऐसे युगधर्म की अपेक्षा है, जो हमें बता सके कि हमारे कर्म प्रदर्शन के योग्य बन सकते हैं, हम औरों को अपने कर्मों से शिक्षण दे सकते हैं। आज की परिस्थिति में गेरुए कपड़े पहनकर वैराग्य को जीना संभव नहीं है। कभी संन्यास धर्म प्रतिष्ठित रहा होगा, पर आज तो युगधर्म का परिपालन करने वाले वानप्रस्थ, परिव्राजक वर्ग के कर्मयोगियों की सर्वाधिक आवश्यकता है।

युगधर्म की व्याख्या परमपूज्य गुरुदेव के एक लेख के माध्यम से समझाना चाहेंगे। यह लेख 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अप्रैल १९८३ के लिए लिखा गया था, शीर्षक था, 'जाग्रतात्माएँ युगधर्म का निर्वाह करें' (पृष्ठ ५१)। पूज्यवर लिखते हैं, "आपत्तिकालीन परिस्थितियों से निपटने के लिए समर्थ भावनाशीलों को आगे आना पड़ता है। अग्निकांड, भूकंप, बाढ़, महामारी, दुर्भिक्ष जैसे संकट आ खड़े होने पर उदारचेता अपने काम-धंधे में हर्ज करके भी दौड़ते और संत्रस्त जनसमुदाय की सहायता करने में कुछ उठा नहीं रखते। स्थानीय चिकित्सकों की जिम्मेदारी और भी अधिक है। इस अवसर पर उनकी योग्यता विशेष रूप से आवश्यक होती है। यदि वे मरहम-पट्टी करने के लिए आने से इंकार या आनाकानी करें, तो यह तत्काल के संकट से परे रहना अंततः हानिकारक ही सिद्ध होगा। इस निष्ठुरता के लिए उन्हें आत्मप्रताड़ना और लोकभर्त्सना दोनों ही सहनी पड़ेंगी।"

युगधर्म की अति महत्त्वपूर्ण व्याख्या करने के बाद पूज्यवर आगे लिखते हैं, "प्रज्ञा परिजनों की स्थिति सुयोग्य चिकित्सकों जैसी है और समय की विपन्नता भयानक दुर्घटना जैसी। इन दिनों आस्था संकट के सर्वनाशी घटाटोप पूरी प्रौढ़ता पर हैं। साधनसंपन्न परिस्थितियों में भी मनुष्य को दिनोदिन अधिकाधिक कष्टदायक स्थितियों में फँसना पड़ रहा है। आज की परिस्थितियों को यदि कोई परदा

उघाड़कर देखे, तो प्रतीत होगा कि दृश्यमान चमक-दमक के पीछे कितनी अधिक पीड़ा, खीज, निराशा संव्याप्त है। व्यक्ति की तरह ही समाज की चूलें भी चरमरा रही हैं। लोग ऐसे माहौल में जी रहे हैं, जिसमें आतंक, अनाचार और प्रपंच-पाखंड के अतिरिक्त और कुछ बचा नहीं रहा। कहना न होगा कि समय को जिस स्तर की उद्धार क्षमता चाहिए, उसकी उपयुक्त मात्रा प्रज्ञा परिजनों के अतिरिक्त कदाचित् ही अन्यत्र कहीं दिखाई पड़े।''

कर्मयोगी बनें, युगधर्म निबाहें

यह पूरा लेख पढ़ने योग्य है, पर इसका जो अंश यहाँ उद्धृत है, वह हम सबके लिए है, हर देवमानव के लिए है, जिसके भी मन में समाज के प्रति थोड़ी भी पीड़ा है, उसके लिए है। यह लेख १९८३ में लिखा गया था, पर आज बीस वर्ष बाद भी यह उतना ही सामयिक है। जो भी कुछ विवरण ऊपर दिया गया है, वह आज के समाज की जन्मकुंडली है, पूरा वास्तविक लेखा-जोखा है। ऐसे में हमसे एक सुयोग्य चिकित्सक की भूमिका निभाने को कहा जा रहा है। हम अर्थात् 'अखण्ड ज्योति' के पाठक, संवेदना की धुरी से मिशन के उद्देश्यों से जुड़े परिजन, लोकसेवी, कर्मयोग में निरत हर कोई सामान्यजन। परमपूज्य गुरुदेव कहते हैं कि हमें कर्मसंन्यास व कर्मयोग दोनों में से चुनना पड़े, तो युगधर्म की छवि से चिकित्सक वाला, लोकशिक्षक वाला कर्मयोग का मार्ग चुनना चाहिए। कभी-कभी संन्यासी बनने की हुड़क मन में उठती है। लगता है कि संन्यास ले लिया होता, तो ज्यादा श्रेष्ठ कहलाते। आनंद का जीवन होता। आज जो संन्यासी समुदाय है, उसकी तरह भोग का जीवन जीते। सन् १९८०-८१ की बात है। परमपूज्य गुरुदेव के आदेश से हमें एक आश्रम में जाने का मौका मिला, इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम की मशीन लेकर। एक आश्रम में एक स्वामी जी को हार्ट अटैक हुआ था। जिस कक्ष में से होकर हम गुजरे, वहाँ कई संन्यासी भोजन कर रहे थे। अत्यधिक गरिष्ठ, मेवाप्रधान भोजन। आज की दृष्टि से हाईकोलेस्ट्रॉल फूड। अंदर ईसीजी लिया। तुरंत तात्कालिक उपचार किया, दिल का दौरा पड़ा था। रक्त की चरबी की ठीक से चेकअप कराने हेतु सैंपल भेजा। उसी कक्ष से लौटना हुआ। लगा कि यदि सभी स्वामी जी जो बड़े-बड़े मठों में रहते हैं, यह भोजन करते होंगे, तो हार्ट अटैक नहीं होगा तो क्या होगा? यह नहीं कह रहे कि सारे संन्यासी ऐसे होते हैं, पर आज जो स्थिति हो गई है, संन्यास आश्रम की, धर्म की जो दुर्गति हो गई है, उसमें कर्मयोग से परे हटकर पलायनवादी बनकर जीने वाले अधिक हैं व इनकी संख्या प्रति कुंभ में बढ़ती चली जाती है। बाहर तो भगवा है, किंतु अंतरंग में क्या है, यह किसी को दिखाई नहीं देता। नंगे पाँव चलते हैं, कुछ तप-तितिक्षा के व्रत साध लिए हैं, मौन रहते हैं, पर जीवन वैसा-का-वैसा ही है, क्योंकि तमस् से ऊपर नहीं उठ पाए। यदि अंदर-बाहर दोनों ओर कर्मणां न्यासं, कर्मसंन्यास सही अर्थों में स्थापित हो जाए, तो वह स्वामी विवेकानंद, महर्षि दयानंद की तरह, आद्य शंकराचार्य की तरह लाखों के दिशादर्शक बन जाते हैं।

युगधर्म की बात से उपर्युक्त प्रसंग उभरे। युगधर्म का परिपालन ही कर्मयोग को जीवन में उतारना है। पीले कपड़े, जो त्याग, तप, बलिदान व उल्लास के प्रतीक हैं, पहने गायत्री परिवार के कार्यकर्त्ता स्थान-स्थान पर सातों आंदोलनों में निरत दिखाई देते हैं। गुरुवर चाहते तो वे भी सभी को गेरुए कपड़े पहना देते, पर उनने कहा, ''आपको हम पीले कपड़े पहना रहे हैं। आपको लोग गाली देंगे, अपमानित करेंगे, क्योंकि धर्मतंत्र बुरी तरह पददलित हुआ है, अवमानित हुआ है। आपको जीवनविद्या की पुनर्स्थापना करनी है, इसलिए आपको पीले कपड़े पहनाए हैं, ताकि आप धर्मतंत्र को पुनर्जीवित कर सकें।'' कर्मयोगी बनकर ही अर्जुन की तरह हम भी मोह, अहं के भवबंधन पार कर सकते हैं। यह व आगे के तीसरे श्लोक की व्याख्या अगले अंक में। *(क्रमशः)*

⁂

ब्रह्म देश में अश्वत्थ वृक्ष की जड़ में एक देव सर्प रहता था। एक ब्राह्मण ने उसे पहचान लिया, सो रोज एक कटोरा दूध बाँबी पर रखकर उसकी पूजा करने लगा।

सर्प देव प्रसन्न हुए। वे नित्य दूध पी जाते और बदले में एक स्वर्ण मुद्रा उसी कटोरे में रख जाते। ब्राह्मण का धन भी बढ़ने लगा और लालच भी।

ब्राह्मण ने सोचा, सर्प की बाँबी में स्वर्ण मुद्राओं का भंडार होगा, सो उसे मारकर एक ही दिन में क्यों न वह सारी राशि प्राप्त कर ली जाए। उसने घात लगाकर सर्प को मार डाला।

खोदने पर बाँबी में कुछ भी न निकला। अति लालच से होने वाली हानि का अनुभव करके ब्राह्मण सिर धुनकर पछताता रहा।

गुरुकथामृत—३५

द्रष्टा स्तर की प्रेम से लबालब सत्ता

भाग बिना नहिं पाइए, प्रेम प्रीति की भक्त।
बिना प्रेम नहीं भक्ति कछु भक्ति भर्‌यो सब जक्त ॥
प्रेम बिना जो भक्ति है सो निज दंभ विचार।
उदर भरन के कारने, जनम गंवायौ सार॥

(संत कबीर की साखियाँ, पृष्ठ ४१)

भक्ति के आदर्श की घोषणा कर संत कबीर ने अपनी बेबाक वाणी में कहा है कि बिना प्रेम भक्ति संभव नहीं है। गुरु-शिष्य का संबंध भी कुछ ऐसा ही होता है। आत्मीयता-अनन्य भाव-प्रेम के बाद भक्ति विकसित होती है एवं परिपूर्ण समर्पण बनने पर फिर आदान-प्रदान होने लगता है। यह कार्य दोनों ओर से होता है। परमपूज्य गुरुदेव एवं उनके शिष्यों के संबंध बड़े अंतरंग स्तर के व निराले थे। वे अपना सब कुछ उन पर उँड़ेल देते थे, जो उनके अपने थे। अपने शिष्य की उपलब्धियों पर प्रसन्नता व्यक्त करना, वह भी उनके अपने अनुदानों के बलबूते भी प्राप्त हुई हों, तो भी उनका हौसला बढ़ाना उसी प्रेमभरे संबंधों की ही प्रतिक्रिया होती थी। समय-समय पर लिखे पत्र इस तथ्य का प्रतिपादन करते हैं।

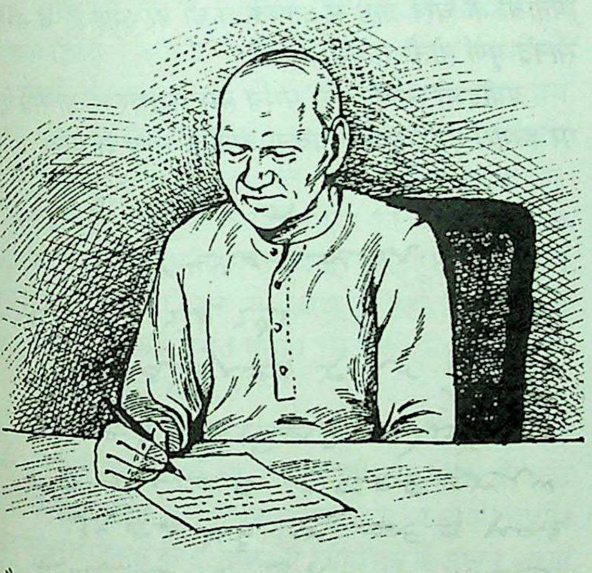

यहाँ हम परमपूज्य गुरुदेव का दिल्ली के श्री शिवशंकर जी को लिखा एक पत्र प्रस्तुत कर रहे हैं, जो २१-९-१९५१ को लिखा गया था-

हमारे आत्मस्वरूप,

आपका पत्र तथा भेजा हुआ साप्ताहिक हिंदुस्तान मिला। प्रथम पृष्ठ पर आपका लेख पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। ईश्वर आपको एक दिन साहित्य क्षेत्र का उदीयमान नक्षत्र बनावे।

आपके कुटुंब के प्रति हमें असाधारण ममता है। आप हमारे लिए छोटे भाई या पुत्र के समान हैं। हमारी हर चीज पर आपका अधिकार है। जैसे आपको अपने बड़े भाई या पिता की वस्तुओं का उपयोग करने का अधिकार प्राप्त है, वैसे ही आप हमारी हर वस्तु का उपयोग कर सकते हैं। आपने हमारी पुस्तक से कुछ लेख ले लिए, इसमें कोई अनोखी बात नहीं हुई। यदि अखण्ड ज्योति प्रकाशन में से कभी कोई वस्तु उपयोगी जँचा करे, तो भी उसे बिना पूछे निस्संकोच उसका उपयोग कर लिया करें।

आपके लेख को पढ़कर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। आप अपनी लेखनी द्वारा राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण सेवा कर सकेंगे, ऐसा हमें लगता है।

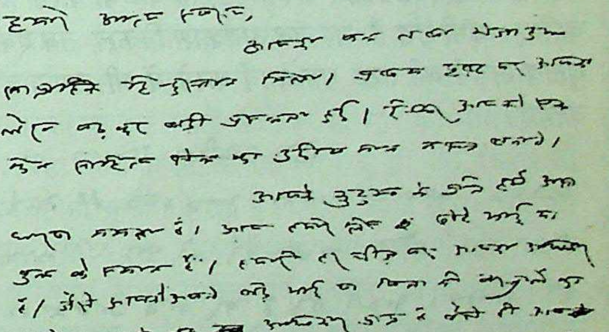

पत्र की भाषा से एक पिता का, बड़े भाई का स्नेह, अनंत स्तर की आत्मीयता का प्राकट्य होता दिखाई देता

है। आज 'कॉपीराइट' पर कितने मुकदमे हो जाते हैं, पर अच्छे विचार फैलने चाहिए एवं इसके लिए यदि कोई प्रयास हुआ है, तो उसके लिए शिष्य की पीठ ठोंकी जानी चाहिए, यह मान्यता एक बड़े उदार हृदय वाला ही रख सकता है। शिवशंकर जी एम. ए. कर चुके थे। एल. एल. बी. व एल. एल. एम. की तैयारी कर रहे थे। बाद में वे पूज्यवर के ट्रस्ट के सलाहकार व फिर ट्रस्टी भी बने। उनके जीवन में कई क्रांतिकारी मोड़ आए। 'लॉ' के हर पहलू पर उनका गजब का अधिकार था। साहित्यकार तो वे बन नहीं पाए, पर जीवन के आरंभ की वेला में यह आशीष उनको अपने आराध्य का प्रेमभरा अनुदान दे गया। जीवनभर वे अपने विषय पर लिखते रहे। सबसे बड़ी बात गुरुसत्ता की प्रीति उनके प्रति निरंतर बढ़ती रही।

परमपूज्य गुरुदेव को सर्वाधिक प्रिय अपना मिशन था, अपना नवयुग के निर्माण का लक्ष्य था। हर पत्र में कहीं-न-कहीं उसका हवाला अवश्य रहता था। प्यार के दो बोल लिखने के बाद वे यह लिखने में नहीं चूकते थे कि अखण्ड ज्योति पत्रिका को वे न्यूनतम ५ या १० व्यक्तियों को अवश्य पढ़ाएँ अथवा युगनिर्माण योजना (मिशन-शतसूत्री संकल्प) के उद्देश्यों से अवगत कराएँ। २४-१२-१९६३ में श्री ब्रजेंद्र लाल गुप्त को लिखे पत्र का हवाला लेते हैं-

युगनिर्माण योजना को व्यापक बनाया जाना आवश्यक है। उसके लिए यदि दौरा करना पड़े, तो वह भी करना ही चाहिए। अभी ठंड है, पर जब अवकाश निकले, तब एक चुनाव लड़ने की तरह यह कार्य करने में भी लगना ही चाहिए।

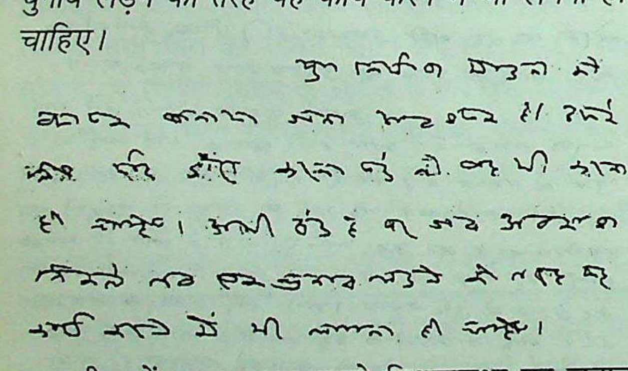

युग निर्माण योजना को
व्यापक बनाया जाना आवश्यक है। उसके
लिए यदि दौरा करना पड़े तो वह भी करना
ही चाहिए। अभी ठंड है पर जब अवकाश
निकले तब एक चुनाव लड़ने की तरह यह
कार्य करने में भी लगना ही चाहिए।

श्री ब्रजेंद्र लाल गुप्त पहले विधानसभा का चुनाव लड़ चुके थे। आगे भी इच्छा रखते थे। उन्हें उदाहरण भी दिया गया, तो यह कि चुनाव लड़ने में जितनी तत्परता, लगन एवं अथक प्रयासों की आवश्यकता पड़ती है, उससे कम में युगनिर्माण योजना के उद्देश्यों को फैलाया नहीं जा सकता। जैसा व्यक्ति वैसी भाषा। प्रेरणा हो तो इस स्तर की। प्रेम के नाते अधिकार जो था उनका सब पर। उसी संबंध के आधार पर वे इस तरह की प्रेरणाएँ लक्षाधिक व्यक्तियों को पत्रों से दे गए।

पिता-गुरु से जो स्नेह संवेदना मिलती है, वह और कहीं से दुर्लभ है। गुरुवर के शिष्य सतत इसकी अनुभूति करते थे। श्री बैजनाथ शौनकिया जी के पिताश्री का स्वर्गवास हुआ। उनने अपना दुःख गुरुसत्ता तक प्रेषित किया। वहाँ से जो जवाब मिला, संलग्न है-

हमारे आत्मस्वरूप, ७-३-१९५८

छंदबद्ध पत्र मिला। पिताजी के स्वर्गवास के समाचार से दुःख हुआ। ईश्वर की लीला प्रबल है। उसकी इच्छा के आगे मनुष्य का कुछ वश नहीं चलता। अब धैर्य और संतोष में ही दूरदर्शिता है। स्वर्गीय आत्मा की शांति और सद्गति के लिए माता से आंतरिक प्रार्थना है।

आप अपने को पितृविहीन न समझें। हम अभी हैं। आपको चिंता करने का कोई कारण नहीं है। जो जिम्मेदारियाँ पिताश्री के चले जाने से आपके कंधों पर आई हैं, वे सभी सानंद पूर्ण होती चलेंगी।

त्रयोदशी संस्कार के समय हम सशरीर न आ सकेंगे, पर हमारी हार्दिक सद्भावना आपके साथ रहेगी।

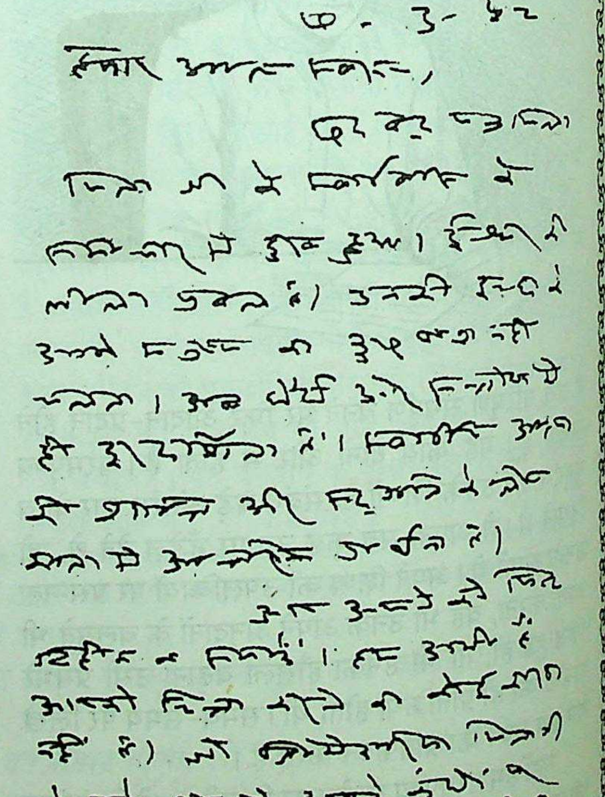

७. ३. ५८
हमारे आत्मस्वरूप,
छंदबद्ध पत्र
मिला। पिताजी के स्वर्गवास के
समाचार से दुःख हुआ। ईश्वर की
लीला प्रबल है। उसकी इच्छा के
आगे मनुष्य का कुछ वश नहीं
चलता। अब धैर्य और सन्तोष में
ही दूरदर्शिता है। स्वर्गीय आत्मा
की शान्ति और सद्गति के लिए
माता से आन्तरिक प्रार्थना है।
आप अपने को पितृ
विहीन न समझें। हम अभी हैं
आपको चिन्ता करने का कोई कारण
नहीं है। जो जिम्मेदारियाँ पिताश्री
के चले जाने से आपके कंधों पर
आई हैं वे सभी सानंद पूर्ण होंगी

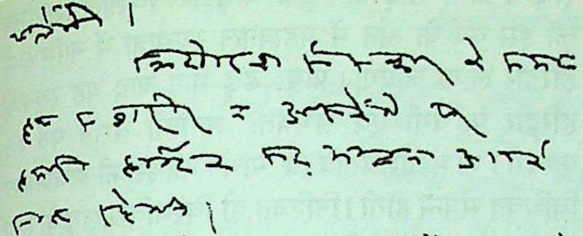

पत्र सरल-सा है, पर एक-एक शब्द में अपनापन है, अपने सगे के प्रति संवेदना है एवं आश्वासन है। यदि यह प्यार न हो, तो जग कैसा दीखने लगेगा। आज यही संवेदना तो मर गई है, पत्राचार ने ई-मेल का रूप ले लिया है, वहाँ कहाँ यह स्नेह, यह ममत्व, यह भावपरायणता।

एक और पत्र यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जो न केवल भविष्य-दर्शन की झाँकी कराता है, हम सबके लिए कर्त्तव्यबोध का सूचक भी है। इस पत्र में आज जो भी कुछ घटित हो रहा है, उसकी एक झलक भी है। पत्र लेखक शिष्य ने अपनी आशंकाएँ आज की परिस्थितियों को देखते हुए व्यक्त की थीं। वर्ष था १९५४ का। हम आज ४८ वर्ष बाद सोच भी नहीं सकते कि कोई इतना स्पष्ट चित्रण हमारे समक्ष कर सकता है, आगत का, भवितव्यता का। परंतु अपने प्रिय शिष्य की जिज्ञासा मिश्रित आशंका पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए गुरुसत्ता ने पूरा खुलकर लिखा। वह जो आज हो रहा है। यह पत्र ३०-४-५४ को श्री सुमंत कुमार मिश्र को लिखा गया-

हमारे आत्मस्वरूप,

पत्र मिला, आपकी आशंकाएँ सच्ची हैं। यदि आज की घुमड़ती हुई घटाएँ बरस पड़ीं, तो इस विश्व के नष्ट होने में कुछ संदेह नहीं है। वह एक खंड प्रलय ही होगी। भय संत्रस्त जनता के दुःखकातर लोगों को वे उपाय करना चाहिए, जो इन घटाओं को हटा सकते हैं, पर इसके लिए सच्चे आत्मदान देने वाले साधकों की जरूरत है। हम लोग कुछ तप-त्याग करने को तत्पर हों, तो बहुत कुछ हो सकता है।

अणुयुद्ध आध्यात्मिक तपश्चर्याओं से ही रोका जा सकता है। हमें अदृश्य को जानने की नहीं, अपने कर्त्तव्य का पालन करने की आवश्यकता है। आपका समाधान आपकी अंतरात्मा स्वयं कर देगी।

श्रीराम शर्मा

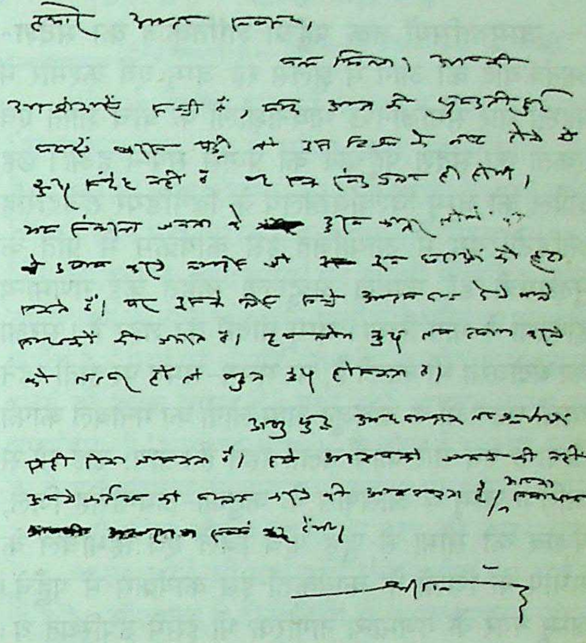

पत्र अपने आप में अद्भुत है एवं आज की परिस्थितियों का पूरा विवरण देता है। अदृश्य को जानने की अपेक्षा कर्त्तव्यपरायणता, अपना-अपना योगदान ही गुरुवर ने एकमात्र मार्ग बताया है। विश्व आज आतंकवाद से ग्रसित है। चारों ओर युद्धोन्माद छाया दिखाई देता है। ऐसा लगता है मानो प्रलय अब आई। विगत वर्ष सितंबर माह में अमेरिका पर हुए हमले से लेकर कश्मीर की सीमाओं पर चल रहा सीमापार का आतंकवाद राष्ट्र ही नहीं, विश्व को विनाश की चुनौती दे रहा है। ऐसे में आज से ५० वर्ष पूर्व दिया गया संदेश, आध्यात्मिक तपश्चर्या, जीवन-पद्धति में परिवर्तन, समूह साधना एवं संवेदना का जागरण उतना ही समयानुकूल है, जितना तब था। सचमुच सर्वांगपूर्ण व्यक्तित्व के धनी थे हमारे गुरुदेव, जो द्रष्टा भी थे एवं एक अभिभावक भी, संवेदनशील पिताश्री।

✱

ईसामसीह केपर नामक नगर में पहुँचे। वे अशिक्षित और अज्ञानी लोगों के पास गए। नगर के प्रतिष्ठित लोग ईसा के दर्शनों को पहुँचे, तो उनने आश्चर्य से पूछा, "भला इतने बड़े शहर में आपको सज्जनों के साथ रहने की जगह न मिली या आपने उनके बीच रहना पसंद नहीं किया?"

ईसा ने कहा, "वैद्य मरीजों को देखने जाता है या चंगे लोगों को? ईश्वर का पुत्र पीड़ितों और पतितों की सेवा के लिए आया है। उसका स्थान उन्हीं के बीच तो होगा। यही सच्ची सेवा और कर्त्तव्यपराणता है।"

केंद्र के समाचार–क्षेत्र की हलचलें

जम्मूवासियों तक पहुँचा शांतिकुंज का संदेश- आतंकवाद की आग में झुलस रहे जम्मू एवं कश्मीर में पहली बार समाजनिष्ठ भावनाशीलों के बीच शांति एवं एकता का संदेश पहुँचाने का प्रयास संपन्न हुआ। छह अप्रैल को जम्मू विश्वविद्यालय के ब्रिगेडियर राजेंद्रसिंह आडिटोरियम में आयोजित इस कार्यक्रम में प्रांत के मुख्यमंत्री डॉ. फारुख अब्दुल्ला सहित कई गणमान्य हस्तियों ने भाग लिया। जम्मू मंदिरों का शहर है। सुरक्षा का बंदोबस्त भी काफी है, पर समय-समय पर होती रहने वाली घटनाओं के बावजूद आम लोगों का मनोबल काफी ऊँचा है एवं सारे कार्य चलते रहते हैं। प्राय: ढाई सौ से अधिक जम्मू व आसपास के कठुआ-ऊधमसिंह जिले, पंजाब की सीमा से जुड़े पाँच जिले एवं हिमाचल के समीप के जिलों के कार्यकर्त्ता इस कार्यक्रम में पहुँचे। जम्मू नगर के गणमान्य नागरिक भी इसमें उपस्थित थे। डॉ. फारुख अब्दुल्ला व केंद्रीय प्रतिनिधि के भावभरे उद्‌बोधन को सभी ने सुना। मल्टीमीडिया पावर पाइंट प्रेजेंटेशन द्वारा इक्कीसवीं सदी के धर्म, वैज्ञानिक धर्म की महत्ता को जाना। कार्यकर्त्ता गोष्ठी में आगे इस क्षेत्र में कार्य विस्तार की चर्चा हुई। केंद्रीय दल रात्रि दीपयज्ञ के बाद लौट आया।

गोदावरी तीर्थ की सद्‌भावनाओं का प्रतीक शिवलिंग विश्वविद्यालय आएगा-देवसंस्कृति विश्वविद्यालय के प्रांगण में ठीक मध्य में एक साधना-कक्ष का निर्माण धरातल के नीचे किया जा रहा है, जिसमें एक हजार व्यक्ति एक साथ बैठकर ध्यान कर सकेंगे। इसके ठीक ऊपर केंद्र में एक शिवालय बनाया जा रहा है, जहाँ महाकाल के प्रतीक की स्थापना होगी। नासिक रोड के श्री के. सी. पांडे जी के 'गारगोटी अंतर्राष्ट्रीय मिनरल म्यूजियम' द्वारा नवरात्रि के दौरान साढ़े सात सौ किलोग्राम के एक बड़े शिवलिंग एवं छह छोटे शिवलिंगों के पूजन हेतु शांतिकुंज प्रतिनिधि को आमंत्रण गया। इन्हें इसी शिवालय में स्थापित किया जाना है। १८ अप्रैल को केंद्रीय दल गया एवं नासिक के अपने सभी परिजनों तथा कैलाश मठ ट्रस्ट के महंत आचार्य महामंडलेश्वर स्वामी संविदानंद जी की उपस्थिति में इसका विधिवत् पूजन-अर्चन किया गया। मुंबईवासी व आसपास के सभी कार्यकर्त्ता उपस्थित थे। सात फीट लंबे व प्राय: साढ़े तीन फुट चौड़े इस विशाल शिवलिंग को इस वर्ष के अंत में महाकाल रथयात्रा में नासिक से हरिद्वार लाया जाएगा। प्राय: डेढ़ माह बाद यह रथयात्रा हरिद्वार पहुँचेगी एवं संभवत: आगामी वसंत पर्व (६ फरवरी) या महाशिवरात्रि (१ मार्च) को इसकी प्राणप्रतिष्ठा विधिवत् संपन्न होगी। निश्चित ही विश्वविद्यालय के लिए यह ऊर्जा का केंद्र बनेगा।

विश्वविद्यालय की प्रथम कार्यशाला संपन्न-२५ एवं २६ अप्रैल को देवसंस्कृति विश्वविद्यालय परिसर शांतिकुंज में 'समाज में मूल्य आधारित शिक्षा एवं मूल्य विकास के पावन प्रयास' पर एक संगोष्ठी आयोजित की गई। उत्तरांचल के मुख्यमंत्री माननीय नारायण दत्त तिवारी इस कार्यशाला के समापन समारोह में आए तथा उद्‌घाटन सत्र को एन. सी. ई. आर. टी. के डॉ. जे. एस. राजपूत ने संबोधित किया। इसमें पूरे भारत के प्राय: ढाई सौ से अधिक शिक्षाविद् पधारे। शिक्षा एवं विद्या के सार्थक समन्वय पर विचार-विमर्श चला। दो सौ से अधिक शोधपत्र पढ़े गए एवं सकारात्मक निष्कर्ष निकाले गए, ताकि आज की शिक्षा नीति में बदलाव लाया जा सके। संगोष्ठी को कुमाऊँ, गढ़वाल, रुहेलखंड, चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय के विभिन्न विद्वानों के अतिरिक्त लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ के कुलपति डॉ. वाचस्पति उपाध्याय ने भी संबोधित किया।

देवसंस्कृति विश्वविद्यालय में शिक्षण सत्र का शुभारंभ- ३ जून को प्रथम कुलपति डॉ. एस. पी. मिश्र के पदभार ग्रहण करते ही विश्वविद्यालय सक्रिय हो उठा है। प्राय: दो सौ छात्र परिसर में आ चुके हैं एवं एंट्रेंस टेस्ट के बाद योग में एम. ए./एम. एससी. का २ वर्षीय, १ वर्ष का डिप्लोमा, ३ माह का सर्टिफिकेट कोर्स तथा मनोविज्ञान (आयुर्वेद आधारित) में एम. ए./ एम. एससी. के पाठ्यक्रमों का शिक्षण प्रारंभ हो चुका है। विश्वविद्यालय की वेबसाइट डीएसवीवी. ऑर्ग पर विस्तृत जानकारी ली जा सकती है।

महिला जागरण सम्मेलनों की द्वितीय शृंखला सफलतापूर्वक संपन्न-विगत २० अप्रैल से जून के आरंभ तक तीन टोलियों के माध्यम से प्राय: तीस कार्यक्रम सारे भारत के कोने-कोने में महिला जागरण सम्मेलन के रूप में संपन्न हुए। ब्रह्मवादिनी बहनों के माध्यम से युगऋषि का संदेश सुनकर जन-जन प्रभावित हुआ है। अब आगामी शृंखला १ अक्टूबर से मार्च २००३ के अंत तक चलेगी एवं स्थान-स्थान पर शिक्षण सत्र भी आयोजित किए जाएँगे।

❖

चेतना की शिखर यात्रा (७)

भागवत भूमि का सेवन

सन् १९२४ का पहला या दूसरा महीना था। श्रीराम अपने पिता के साथ ननिहाल गए। वहाँ भागवत सप्ताह का आयोजन था। पारायण करने वाले विद्वान दूसरे ही थे, पंडित रूपकिशोर जी को जामाता की हैसियत से निमंत्रित किया गया था। ताई जी वहाँ पहले ही पहुँच चुकी थीं। पिता-पुत्र कथा आरंभ के एक दिन पहले आँवलखेड़ा से रवाना हुए और यथासमय पहुँचे। रास्ते में पुत्र ने पिता से कुछ जिज्ञासाएँ कीं या यों कहें कि छपको प्रसंग के समय मन में उठे कुछ सवाल रखे। एक सवाल यह था कि आप भागवत का उपदेश करते हैं। उस अधिकार से भी छपको की सेवा को उचित ठहरा सकते थे, लेकिन कल्याण पंडित को गायत्री उपासना का हवाला क्यों दिया?

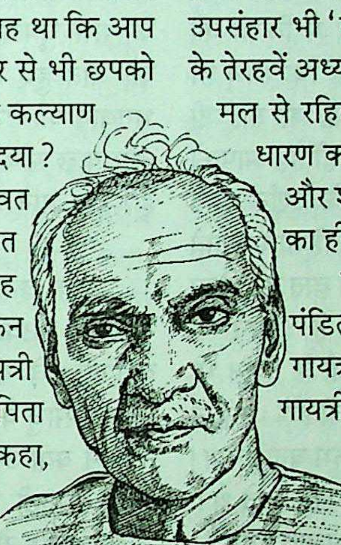

पिताश्री ने समझाया, इसलिए कि भागवत शास्त्र गायत्री मंत्र की ही व्याख्या है। भागवत ही नहीं, सभी शास्त्र इसी के विस्तार हैं। यह बीज रूप है। श्रीराम ने सुनकर कहा, लेकिन हमने भी आपकी कथा सुनी है, उसमें गायत्री मंत्र की ऐसी महिमा कहीं नहीं लिखी है। पिता ने उत्तर दिया जिसमें दिशा भी थी। उन्होंने कहा, उस महिमा का अनुसंधान तुम्हें करना है। तुम अभी शास्त्रीय पक्ष ही समझो। शास्त्रीय पक्ष यह है कि भागवत का आरंभ गायत्री मंत्र से होता है। भागवत पुराण का पहला श्लोक ही गायत्री मंत्र की व्याख्या है। उसमें गायत्री के कई पद और अर्थ विद्यमान हैं।

श्लोक का अर्थ है, 'जिससे इस ज़गत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं, क्योंकि जो आकाश आदि पदार्थों में अनुगत भी है और जिसमें इसका अभाव भी है, जो सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है और प्रकाशस्वरूप है, जिन्होंने संकल्पमात्र से ब्रह्मा जी को वेद का उपदेश किया है, जिसके संबंध में बड़े-बड़े विद्वान भी मोहित हो जाते हैं। मरु-मरीचिका के समान मिथ्या जगत् भी जिनके आधार से सत्य प्रतीत होता है, उन स्वयं प्रकाश ज्योति से सर्वदा और सर्वथा मायावान और मायातीत रहने वाले सत्य रूप परमात्मा का हम ध्यान करते हैं।'

प्रारंभ का श्लोक सुनाकर पिताश्री ने कहा, इस पद में 'जन्माद्यस्य यतः' पद से सवितुः शब्द का अर्थबोध होता है। 'स्वराट्' शब्द 'देवस्य' का बोध कराता है। इसी प्रकार 'धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं' पद से 'वरेण्य भर्ग' और 'तेने ब्रह्महृदा च आदिकवये' पद गायत्री में निहित स्वराट् या त्रिभुवन को संचालित करने वाली परमशक्ति का उद्बोधन करता है। 'सत्यं परं धीमहि' गायत्री मंत्र की मूल प्रेरणा को स्वयं ही व्यक्त करता है। यही नहीं भागवत शास्त्र का उपसंहार भी 'सत्यं परं धीमहि' से होता है। द्वादश स्कंध के तेरहवें अध्याय का उन्नीसवाँ श्लोक परम शुद्ध, माया-मल से रहित और परमात्मा के सत्य को अपने भीतर धारण करने की प्रार्थना से संपन्न होता है। अर्थ से और शब्द से दोनों विधि से भागवत शास्त्र गायत्री का ही व्याख्या-विस्तार है।

मत्स्य और वामन पुराण के संदर्भ से भी पंडित जी ने समझाया कि भागवत शास्त्र को गायत्री ने ही अधिकृत किया है। उसका आरंभ गायत्री से हुआ है, इसलिए वह भागवत है। ननिहाल तक का रास्ता इस विषय पर चर्चा में कट गया कि गायत्री सभी शास्त्रों का, इस युग के प्रतिनिधि ग्रंथ भागवत का आधार है, क्योंकि वह सनातन धर्म का भी आधार है। उन्होंने समझाया, वाल्मीकि ने गायत्री के चौबीस अक्षरों के आधार पर चौबीस हजार श्लोकों में रामकथा लिखी थी। रामायण की जो प्रतियाँ इस समय मिलती हैं, उनमें पूरी रामायण में एक निश्चित अंतराल से एक श्लोक गायत्री के एक अक्षर से आरंभ होता है। उसी अंतराल के बाद एक श्लोक अगले अक्षर का उद्घोष करता है।

कुछ सौ साल पहले गोस्वामी तुलसीदास ने लोकभाषा में रामकथा गानी चाही। सनातन धर्म का स्वरूप उस समय के अनुरूप समझाना चाहा, तो रामायण और भागवत दोनों का आश्रय लिया। रामायण से उन्होंने भगवान का चरित्र लिया और भागवत से भक्ति। दोनों का समन्वय कर उन्होंने रामचरितमानस लिख दिया। जानते हो गोस्वामी जी को यह ग्रंथ रचने की प्रेरणा कैसे मिली थी? बाबा

वेणीमाधव ने गुंसाई चरित में गाया है कि संध्या गायत्री कर चुकने के बाद शिव-पार्वती ने ही उन्हें रामचरित लिखने का आदेश दिया था। संवत् १६३१ की रामनवमी के दिन प्रातः संध्या के बाद उन्होंने ग्रंथ की रचना आरंभ की थी। साधक किसी को भी अपना इष्ट बनाए, उसे गायत्री जप से ही आरंभ करना पड़ता है।

श्रीकृष्ण के आँगन में

कुछ देर रुककर उन्होंने कहा, यों समझो कि गायत्री मंत्र चाभी है और सभी साधनाएँ कोष भंडार। इस चाभी के बिना भक्ति, ज्ञान और योग का भंडार सुलभ नहीं होता। सप्ताह पारायण की अवधि में पिताश्री गायत्री महिमा के साथ भागवत शास्त्र और धर्म की बातें बताते रहे। उन बातों में श्रीराम का मन अच्छी तरह लग रहा था। कथा पूरी होने के दिन पिता-पुत्र दोनों वापस चलने की तैयारी करने लगे। ताई जी ने भी चलने का मन बनाया। बाद में किसी को छोड़ने के लिए आना पड़े, इससे अच्छा है कि साथ ही निकल आया जाए। साथ चलना तय हो गया, सो ताई जी ने कहा, यहाँ तक आए हैं, मथुराजी पास में ही हैं। आपको असुविधा नहीं होती हो, तो द्वारिकाधीश के दर्शन करते चलें। नए कार्यक्रम में लगने वाले समय का हिसाब लगाते हुए पंडित जी सोचने लगे। ताई जी ने अपनी बात को थोड़ा और वजन दिया, श्रीराम भी साथ में ही है, उसने भी द्वारिकाधीश के दर्शन नहीं किए हैं। यमुनाजी के दर्शन भी हो जाएँगे। ताई जी का आग्रह सुनकर पंडित जी हँसे। उन्होंने मथुरा होते हुए आँवलखेड़ा लौटने का कार्यक्रम बना लिया। इस तरह निकलने पर यात्रा में दो दिन और लग जाते थे।

ब्रजमंडल में घने छायादार वृक्षों का अभाव रहा है। रेत और धूल-मिट्टी से सने रास्ते में यात्रियों को प्रायः असुविधा ही होती है, लेकिन जिन दिनों इस परिवार ने मथुरा का रास्ता लिया, उन दिनों जाड़े का मौसम था। उतरते हुए माघ के दिनों में कड़कड़ाती ठंढ पड़ती थी, इसलिए सहपऊ से मथुरा आते हुए असुविधा नहीं हुई। गुनगुनी धूप ने जाड़े को दूर भगा दिया और दोपहर ढलने से पहले ही मथुरा के पास आ गए। मुश्किल से दो-ढाई किलोमीटर की दूरी रही होगी, एक टेकरी दिखाई दी। ऊपर मंदिर था। घंटियों की आवाज आ रही थी, इससे लगता था कि लोग आते-जाते होंगे।

श्रीराम ने पिताश्री से पूछा, यह किसका मंदिर है? नगर के बाहर होने से अनुमान लगाया, ग्राम देवता का मंदिर होगा। नगर या बस्ती की सीमा शुरू होने के पहले हर जगह इस तरह के स्थान होते हैं। पुत्र ने वहाँ चलने की इच्छा जताई। ताई जी और साथ के लोगों सहित सभी टेकरी पर चढ़ गए। मंदिर में गोविंद जी की प्रतिमा स्थापित थी। उनके दर्शन कर थोड़ी देर सुस्ताने लगे। गर्भगृह के बाहर बने चबूतरे के नीचे कुछ क्षण ही बीते थे कि गरजती हुई आवाज गूँजी, 'जय जय राधे'। पंडित जी ने देखा, एक साधु उनकी ओर देखता हुआ चला आ रहा है। लंबी दाढ़ी और सिर के उड़े हुए बालों वाले इस संन्यासी की उम्र साठ-पैंसठ के आस-पास रही होगी।

पंडित जी ने उन्हें प्रणाम कहा। साधु ने उत्तर में पूछा, कुछ आहार बचा है भगत। ताई जी ने अपनी गठरी में से चार पूड़ियाँ निकालीं और उन पर अचार रखकर पंडित जी की ओर बढ़ाया। पंडित जी ने वह भोजन साधु को आदरपूर्वक दे दिया। जीते रहने की दुआ देता हुआ साधु जिस दिशा से आया था, उस दिशा में जाने लगा। ताई जी के पास चुपचाप बैठे श्रीराम यह सब देख रहे थे। साधु को जाते हुए देखते ही उन्होंने पुकारा, बाबाजी! आपने भगवान को देखा है? साधु बच्चे की आवाज से ठिठका और कुछ सँभलते हुए बोला, नहीं, लेकिन देखना चाहता हूँ। उन्हें पाने के लिए ही उनकी भूमि में भटक रहा हूँ।

भटकना छोड़ो

इतना कहकर साधु निहारने लगा। श्रीराम ने कहा, बाबाजी भटकना छोड़िए, भगवान की भूमि का सेवन कीजिए। वे यहीं मिलेंगे। बात बहुत सीधी-सरल थी, लेकिन साधु के मन को पता नहीं, कहाँ छू गई। सेवन का न जाने क्या अर्थ समझा कि वह गोविंद जी के मंदिर के बाहर मिट्टी में लोट गया। रज का स्पर्श पाकर जैसे उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। वह अनुग्रहीत-सा कहे जा रहा था, "तुमने राह दिखाई बच्चा, मेरा भटकाव पूरा हो गया। प्रभु तो मिले ही हुए हैं, मैं ही अपने लोचन बंद किए था।" यह कहते हुए साधु ने श्रीराम को प्रणाम करना चाहा। वह पास आए, इससे पहले ही ब्राह्मण कुमार दूर दौड़ गए थे।

ताई जी और पिताश्री साधु और पुत्र के संवाद को सुनकर चुपचाप बैठे थे। श्रीराम के दौड़ लगाने पर उन्होंने रुकने के लिए कहा और रुकने पर उठकर साथ चल दिए। द्वारिकाधीश तक की यात्रा इसके बाद चुपचाप संपन्न हुई। रास्ते में कोई कुछ नहीं बोला। द्वारिकाधीश के दर्शन के बाद ताई जी ने गोविंद टेकरी वाली घटना के बारे में प्रतिक्रिया व्यक्त की, ठाकुर जी ही मेरे लाल के मुँह से बोले थे। उनके धाम में किसी को भटकने की क्या जरूरत। वह तो यहाँ पहुँचते ही मुक्त हो जाता है।

मथुरा पहुँचकर ताई जी ने द्वारिकाधीश के दर्शन किए। श्रीराम ने मंदिर और मथुरा के बारे में पिताश्री से अनेक प्रश्न किए। इन प्रश्नों में कुतूहल और जिज्ञासा दोनों भाव समाहित थे। द्वारिकाधीश मंदिर मुश्किल से दो सौ साल पुराना है। सन् १८१४ में बनवाए इस मंदिर में भगवान श्रीकृष्ण की राजसी प्रतिमा विराजमान है। कृष्णवर्ण की इस प्रतिमा का पूजन वल्लभमार्गीय विधान से होता है। द्वारिकाधीश के दर्शन करने के बाद पूरा परिवार कटरा केशवदेव गया। भगवान कृष्ण का जन्म वहीं हुआ समझा जाता है। इन दिनों वहाँ एक भव्य मंदिर और भागवत भवन आदि स्थापनाएँ हैं। जिन दिनों श्रीराम अपने स्वजनों के साथ गए थे, तब एक साधारण-सा मंदिर था।

कटरा केशवदेव से निकलकर परिवार विश्राम घाट पहुँचा। श्रद्धालुओं का विश्वास है कि केशवदेव मंदिर में से, जहाँ पहले कंस किला था, भगवान सीधे यमुना किनारे गए थे। उन्होंने और बलदाऊ ने कुछ समय यमुना तट पर बिताया था। भक्तों की भाषा में कंस और उसके रक्षकों से हुए संघर्ष के कारण भगवान को जो क्लांति हुई थी, उसे यमुना तट पर दूर किया था। जिस जगह भगवान ने विश्राम किया, उसे विश्राम घाट कहते हैं। बालक श्रीराम ने कहा, पिताजी क्या हम लोग भी यहाँ केशवदेव मंदिर के दर्शन से हुई थकान उतारने आए हैं। यह जगह हमारे लिए भी विश्रामघाट है। पुत्र की नटखट बात सुनकर पिता हँसे बिना न रहे।

विश्रामघाट पर क्षोभ

मथुरा-वृंदावन की हवाओं में कृष्ण भक्ति का रस आज भी घुला हुआ है। संवेदनशील चित्त वहाँ पहुँचते ही भक्ति की तरंगों को पकड़ने लगता है, लेकिन यात्रियों को तीर्थ-पुरोहितों अथवा पंडों के कारण बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इन दिनों स्थितियाँ थोड़ी सुधरी हैं, लेकिन किसी समय यह स्थान कुछ शरारती, उपद्रवी और लोभी पंडों के कारण बहुत बदनाम था। पिताश्री वहाँ के पंडों से अच्छी तरह परिचित थे, इसलिए परेशानी नहीं हुई। फिर भी दूसरे यात्रियों को सताए जाते हुए तो उन लोगों ने देखा ही। पंडों से घिर जाने पर एक यात्री कह रहा था, आप लोग आने वालों की दान-दक्षिणा के भरोसे रहते हैं। उन्हें इसके लिए मजबूर करते हैं। कोई और काम-धंधा क्यों नहीं अपनाते? एक पंडे ने कहा, क्या काम-धंधा करें लाला? यात्री ने कहा, कुछ भी, कोई भी काम कर सकते हैं। पंडे ने उसके सुझाव का उपहास उड़ाते हुए कहा, एक मेहनत तो हम कर ही सकते हैं कि तू अगर मर जावे, तो तुझे जमुना जी में फेंक दें, फिर तेरे पास से जो मिलेगा, वह हमारी मेहनत की कमाई होगी।

यह उत्तर सुनकर आस-पास खड़े पंडों समेत दूसरे लोग भी खी-खी कर हँस दिए। श्रीराम ने पिताश्री की ओर आश्चर्य से देखा। उन्होंने पुत्र की बाँह पकड़ी और चलने का इशारा किया। श्रीराम ने कहा कि वे लोग यात्री को परेशान कर रहे हैं, कोई कुछ करता क्यों नहीं? पिताश्री ने कहा, पंडे संख्या में ज्यादा हैं। कोई कुछ कहेगा, तो वे सब एक हो जाएँगे। उन लोगों से लड़ना मुश्किल है। श्रीराम ने बालसुलभ सहजता और निराशा से कहा, यह भगवान कृष्ण की नगरी है या कंस की?

ताई जी ने कहा, "है तो भगवान की नगरी, लेकिन कंस का असर यहाँ हमेशा रहा है।" श्रीराम ने प्रश्न का दूसरा हिस्सा दोबारा कहा, "क्या यह इसी तरह चलता रहेगा। कोई सुधार नहीं होगा?" पिता ने आश्वस्त किया, "ऐसा नहीं है। स्थितियाँ सदा एक जैसी नहीं रहतीं। बदलती भी हैं।" वे विश्रामघाट के सती बुर्ज की ओर मुड़ रहे थे। एक गली की ओर इशारा किया और कहा, अब से पचास-साठ साल पहले इस गली में एक संन्यासी रहते थे। वे प्रज्ञाचक्षु थे, लेकिन वेदशास्त्रों के प्रकांड विद्वान थे। वे भी मथुरा की इन स्थितियों से दुखी थे। धर्मक्षेत्र में और भी कई बुराइयाँ हैं, उन सभी बुराइयों से लड़ना चाहते थे, लेकिन उन्हें दिखाई नहीं देता था, इसलिए ज्यादा कुछ कर नहीं सकते थे।"

पिताश्री अपने पुत्र को स्वामी दयानंद के गुरु स्वामी विरजानंद की कथा सुनाने लगे थे। उन संन्यासी के पास एक दिन गुजरात का एक ब्रह्मचारी आया। उस ब्रह्मचारी ने कहा, मैं वेदशास्त्रों का अध्ययन करना चाहता हूँ, ताकि सत्यधर्म की शोध कर सकूँ। संन्यासी ने कहा, दक्षिणा क्या दोगे? ब्रह्मचारी ने कहा, आप जो भी आदेश करेंगे। संन्यासी ने कहा, पाखंड का नाश। धर्म के नाम पर चल रहे अधर्म का विरोध। कुरीतियों का उन्मूलन। शिष्य ने यह दक्षिणा देना स्वीकार किया और गुरु के पास रहकर समस्त विद्या पढ़ी। विद्या ग्रहण करने के बाद शिष्य ने पूरे देश का भ्रमण किया। धर्म का आवरण ओढ़े अधर्म के प्रति लोगों को जाग्रत् किया और धर्म के असली स्वरूप से परिचित कराया। श्रीराम ने उत्सुकता जताई कि अकेले व्यक्ति ने कैसे यह सब कर लिया? पिताश्री ने कहा, साहस और संकल्प हो, तो असंभव दीखने वाले काम भी सहज ही संपन्न हो जाते हैं।

क्रमशः

एक महान सृजन सेनानी गुरुतत्त्व में विलीन

१४ मई, रात्रि १ बजकर ३५ मिनट पर महान सृजन सेनानी, परमपूज्य गुरुदेव के निष्ठावान शिष्य, अपनी गुरुभक्ति एवं समर्पण के कारण असंख्य गायत्री-परिजनों के प्रेरणा स्रोत, युगनिर्माण के आधार स्तंभ, गायत्री तपोभूमि के व्यवस्थापक एवं संचालक पं. लीलापति शर्मा स्थूल देह का त्याग कर गुरुतत्त्व में विलीन हो गए। पंडित जी की पूज्य गुरुदेव से पहली मुलाकात सन् १९५६ के आस-पास हुई। गुरुदेव उस समय किसी कार्यक्रम के सिलसिले में ग्वालियर आए हुए थे। पंडित जी उन दिनों ग्वालियर क्षेत्र की डबरा नाम की जगह में राइस मिल में मैनेजर थे। पंडित जी के प्रभावशाली व्यक्तित्व की उस समय आस-पास के सेठ-साहूकारों एवं वहाँ के प्रशासनिक क्षेत्र में बड़ी धाक थी, लेकिन इस प्रभावशाली व्यक्तित्व की गहराई में जो भावनाशील-समर्पित शिष्य छिपा हुआ था, उसे केवल गुरुदेव ने पहचाना। प्रथम मुलाकात में ही उन्होंने पंडित जी को अपना लिया।

पंडित जी भी गुरुदेव के तपोनिष्ठ जीवन व सादगी से अभिभूत होकर सदा के लिए उनके हो गए। अपने इस प्रथम मिलन को बताते हुए पंडित जी बताया करते थे कि तब मैं बड़ा तार्किक था। मैंने शुरू-शुरू में गुरुजी को परखने की कोशिश की। गुरुजी तो सौ प्रतिशत खरे थे। गुरुजी की इस सौ प्रतिशत शुद्धता, उच्चता एवं सच्ची आध्यात्मिकता को समझ लिया, तो फिर मैंने अपनी सारी तर्कबुद्धि को कूड़े में फेंक दिया और एक ही निश्चय किया, 'श्रद्धा सो श्रद्धा, समर्पण सो समर्पण। गुरुदेव में ही अपने को विलय करना है। उन्हीं के लिए अपने सारे जीवन को झोंक देना है।' उनका समूचा जीवन उनके इस संकल्प का प्रमाण है। इसकी तारीफ स्वयं गुरुदेव एवं माताजी बार-बार अपने मुख से करते थे। संकल्प के धनी, दृढ़ प्रतिज्ञ पंडित जी गुरुदेव के सामने जहाँ कर्मकुशल समर्पित शिष्य की भाँति रहते थे, वहीं वंदनीया माताजी के सामने उनका व्यवहार मातृभक्त बालक की भाँति होता था। वह माताजी के बड़े ही अनुरागी भक्त थे।

अपनी पहली मुलाकात के थोड़े ही दिनों के बाद पंडित जी गुरुदेव के काम में लग गए। सन् १९५८ के सहस्रकुंडीय यज्ञ में उन्होंने भरपूर जिम्मेदारी निभाई। गुरुदेव ने जब उन्हें पूरी तरह सब कुछ छोड़कर आने के लिए कहा, तो बिना कोई आगा-पीछा देखे या सोचे वह सन् १९६५ में पूर्ण रूप से आ गए। १९७१ में पूज्य गुरुदेव की हिमालय यात्रा के समय से उन्होंने गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए गायत्री तपोभूमि के संचालन व व्यवस्था की संपूर्ण जिम्मेदारी उठाई। अपने इस काम के बारे में वह कहते थे कि मैं तो हनुमान की भाँति श्रीराम प्रभु का सेवक हूँ। अपनी इस समर्पित भावना के साथ उन्होंने गायत्री तपोभूमि के स्वरूप एवं कार्यों का व्यापक विस्तार किया। उन्हीं के प्रयासों से भव्य प्रज्ञानगर बना। युगनिर्माण विद्यालय का संचालन करते हुए उन्होंने भारी मात्रा में गुरुदेव के साहित्य का प्रकाशन व प्रचार किया। जहाँ कभी पहले केवल एक ट्रेडिल मशीन हुआ करती थी, वहाँ उनके प्रयासों से दो रोटरी ऑफसेट मशीनें लग गईं।

सन् १९८९ में उन्हें पहला हृदयाघात हुआ, लेकिन संकल्प व जिजीविषा के धनी पंडित जी ने अपने किसी काम में कोई कमी न आने दी। अपनी स्वास्थ्य संबंधी परेशानियों को झेलते हुए उन्होंने गुरुदेव के साहित्य प्रसार की कई योजनाएँ चलाईं। मासिक पत्रिका युगनिर्माण योजना का संचालन करते हुए उसे ढाई लाख तक पहुँचा दिया। अपने बाद के जीवन में उन्होंने शारीरिक पीड़ाओं के साथ अनेकों भावनात्मक पीड़ाएँ भी झेलीं। अपने युवा पुत्र के विछोह का आघात सहा, पर उनके समर्पण व कर्मनिष्ठा में कोई कमी नहीं आई। गुरुदेव के साहित्य को उन्होंने विभिन्न विषयों के अनुरूप पॉकेट बुक्स के रूप में प्रकाशित किया। इसे भारी लोकप्रियता मिली। सतत कर्म करते हुए उन्होंने गायत्री तपोभूमि की स्थापना के इस स्वर्ण जयंती वर्ष में देह का त्याग कर दिया। उनके अंतिम संस्कार में उनके स्वजनों एवं गायत्री तपोभूमि के कार्यकर्त्ताओं के साथ अखण्ड ज्योति संस्थान के परिजनों तथा शांतिकुंज के वरिष्ठ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। उन्हें भावभीनी अंतिम विदाई देते हुए सभी के हृदयों से यही पुकार उठ रही थी कि पंडित जी की ज्योतिर्मय आत्मा सदा ही हम सभी को, अपने गायत्री परिजनों को उच्चस्तरीय प्रेरणा व प्रकाश देती रहे। परम गुरुभक्त, गुरुदेव एवं माताजी के अमर सपूत पं. लीलापति शर्मा को शत्-शत् नमन, शत्-शत् नमन। ○

अपनों से अपनी बात

गायत्री परिवार का संगठनात्मक ढाँचा अब ऐसा होगा

विगत अंक में 'गुरुसत्ता के चरणों में समर्पित होंगे हीरकमाल' शीर्षक से संगठन-सशक्तीकरण वर्ष में लिए गए संकल्पों की चर्चा की गई थी। 'अखिल विश्व गायत्री परिवार' रूपी संगठन ऋषियुग्म की अवतारी सत्ता द्वारा संवेदना-ममत्व की धुरी पर खड़ा किया गया एवं भावनाशीलों के समयदान को पूँजी की तरह प्रयुक्त किया गया छह जोनों में पूरे भारत को बाँटने की चर्चा विगत अंक में की गई थी, जिसमें पश्चिमोत्तर, पूर्वोत्तर, दक्षिण भारत, मध्य क्षेत्र, नेपाल-तराई क्षेत्र तथा राजस्थान-गुजरात क्षेत्र में विभाजन की बात कही गई थी। संगठनात्मक संरचना का स्वरूप आखिर कैसा होगा, यह जानने का मन सभी का होगा। यहाँ संक्षेप में उसे हम दे रहे हैं। विस्तार से अक्टूबर अंक में तथा पाक्षिक में विभिन्न कड़ियों में उसे प्रकाशित कर रहे हैं।

(अ) हमारी प्रारंभिक इकाई हैं हमारे परिजन। ये अखण्ड ज्योति व अन्य पत्रिकाओं के पाठक भी हो सकते हैं, दीक्षित भी, उपासक भी, ज्ञानघट, धर्मघटधारी, अंशदानी, सहयोगी, श्रद्धालु एवं समर्थक भी। इनकी संख्या आज लगभग पाँच से सात करोड़ के बीच आँकी जाती है।

(ब) परिजनों की संयुक्त इकाई है—प्रज्ञामंडल एवं महिला मंडल। ये ग्राम / वार्ड / मुहल्ले / कालोनी स्तर तक फैले एक जिले में कई हो सकते हैं। २००० से ५००० की आबादी तक एक मंडल बनाए जाने की योजना रही है। इनमें पाँच से पचास सदस्य हो सकते हैं, जिनकी साप्ताहिक न्यूनतम एक संयुक्त गोष्ठी होती है।

(स) ग्राम पंचायत / वार्ड / कस्बा या क्षेत्र स्तर पर हमारी दो इकाइयाँ हैं- स-३, स-४।

सक्रिय संगठित समूह का नाम ही **स-३** है। इसमें ग्रामीण क्षेत्र में ५ से २५ प्रज्ञामंडल जुड़े हो सकते हैं। प्रत्येक समूह की बीच की दूरी १० से १५ किलोमीटर या कम भी हो सकती है। शहरी क्षेत्र में ५ से ५० प्रज्ञामंडल भी इसमें हो सकते हैं। सभी मंडलों के दो-दो सक्रिय सदस्य मिलाकर एक समन्वय समिति बन जाती है। न्यूनतम ११ सदस्य होने चाहिए, जिनमें तीन केंद्रीय संपर्क हेतु जिम्मेदार कार्यकर्त्ता हों। गोष्ठी प्रतिमाह न्यूनतम एक होनी चाहिए।

समर्थ समयदानी सहयोगी समूह का नाम ही **स-४** है। इसमें आंशिक व पूर्णकालिक समयदानी होते हैं। प्रचारक, पुरोहित, प्रशिक्षक स्तर के अथवा उत्प्रेरक, नियोजक, समन्वयक स्तर के कार्यकर्त्ता इसमें होते हैं।

(द) **विकास खंड स्तर पर** संयुक्त समन्वय समिति (न्यूनतम ११ सदस्य) एवं स-४ के रूप में समर्थ समयदानी-सहयोगियों का समूह इसमें कार्य करेंगे। संयुक्त समन्वय समिति में सभी ग्राम पंचायतों, वार्डों, क्षेत्रों की समन्वय समिति के नामित सदस्य होंगे। साथ ही भारतीय संस्कृति ज्ञान परीक्षा के सहयोगी, शक्तिपीठों, प्रज्ञापीठों के नामित ट्रस्टीगण तथा रचनात्मक केंद्रों, ट्रस्टों के नामित सदस्य होंगे। तीन मास में एक बार गोष्ठी अनिवार्य होगी। केंद्रीय संपर्क सूत्र हेतु पाँच जिम्मेदार कार्यकर्त्ता निर्धारित होंगे।

(ई) **तहसील स्तर पर** विकास खंड की ही तरह संयुक्त समन्वय समिति (न्यूनतम ११ सदस्य) एवं स-४ के सदस्यों की दो स्तरीय इकाइयाँ इसमें होंगी। इस समन्वय समिति में सभी विकास खंडों (ब्लॉक्स) की संयुक्त समन्वय समिति के नामित सदस्य होंगे। शेष क्रम उसी प्रकार रहेगा जैसा विकास खंड में होगा।

(फ) संयुक्त समन्वय समिति (११ सदस्यों की) एवं समर्थ समयदानी सहयोगी समूह (स-४) की भागीदारी इसमें होगी। इनकी गोष्ठी छह माह में एक बार अवश्य होनी चाहिए। अनिवार्य हो तो दो या कई बार हो सकती है।

उपर्युक्त सभी इकाइयों में बँटे जिले अपने जोन (क्षेत्र) द्वारा सीधे केंद्र से जुड़े रहेंगे। केंद्रीय तंत्र शांतिकुंज हरिद्वार के ही वरिष्ठ दो भाई एवं १० सहयोगी भाई ३-३ माह के लिए जोन के लिए निर्धारित केंद्रों में बैठकर सीधे केंद्र के संपर्क में रहेंगे। केंद्र के निर्देश उन्हें जोन्स में बैठे केंद्रीय दल के कार्यकर्त्ताओं के माध्यम से मिलते रहेंगे। विशेष परिस्थितियों में परिजन सीधे संगठन प्रकोष्ठ शांतिकुंज से भी संपर्क कर सकेंगे।

जोन (क्षेत्र) जैसा कि सभी जानते हैं, छह हैं। इनके केंद्र हैं- सिलिगुड़ी, टाटानगर (पूर्वोत्तर), चंडीगढ़ (मोहाली), शांतिकुंज एवं नोयडा (पश्चिमोत्तर), नागपुर, रायपुर एवं हैदराबाद (दक्षिण भारत), मुजफ्फरनगर-बस्ती (नेपाल एवं तराई का उ.प्र., बिहार), चित्रकूट-आँवलखेड़ा (दक्षिण बिहार, शेष झारखंड, उ.प्र व म.प्र.) तथा क्रांतिकुंज अहमदाबाद, गाँधीधाम एवं पुष्कर (गुजरात तथा राजस्थान)। यह एक मोटा ढाँचा है। आशा है २००४ की वसंत तक यह सारा तंत्र सक्रिय रूप ले लेगा।

*

आत्मबोध

दुर्लभ यह देह देवों को, यह जान लीजिए।
स्वामी हैं आप इसके, पहचान लीजिए॥

ऐसा है साधन-धाम यह, जैसा कहीं नहीं।
यह संपदा अकूत है, कोई कमी नहीं।
इससे न कुछ असंभव, अगर ठान लीजिए।
स्वामी हैं आप इसके, पहचान लीजिए॥

क्यों भ्रमित हुए हैं कि है भोगों का द्वार यह।
है वासनाओं के लिए, प्राणों का ज्वार यह।
यह भ्रांति 'सर्वनाश' है, यह मान लीजिए।
स्वामी हैं आप इसके, पहचान लीजिए॥

स्वामी! क्यों दास बन रहे हो, इंद्रियों के तुम।
भोगों में क्षरण कर रहे, क्यों शक्तियों को तुम।
मन को दबोच करके, कान तान दीजिए।
स्वामी हैं आप इसके, पहचान लीजिए॥

मन के ही हारे हार है, मन के ही जीते जीत।
मन ही हमारा शत्रु है, मन ही हमारा मीत।
मन वफादार-मित्र है, गर ध्यान दीजिए।
स्वामी हैं आप इसके, पहचान लीजिए॥

सुनिएगा! अंतर आत्मा आवाज दे रही।
गुरुसत्ता निजानंद का है राज दे रही।
कर अंतःऊर्जा जागरण, रसपान कीजिए।
स्वामी हैं आप इसके, पहचान लीजिए॥

—मंगलविजय 'विजयवर्गीय'

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम
अपनी अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।

प्रखर प्रज्ञा
सजल श्रद्धा

अखण्ड ज्योति

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

वर्ष-६५
अंक-९
सितंबर, २००२
भाद्रपद-आश्विन — २०५९
प्रकाशन तिथि १.८.२००२

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा

वार्षिक चंदा
भारत में ७२/-
विदेश में ७५०/-
आजीवन ९००/-
(सुरक्षा निधि)

माँ

'माँ' के स्नेहिल स्मरण से हम सबके मन-प्राण अनोखी पुलक से भर जाते हैं। अनेकों अहसास, अगणित अनुभूतियाँ और असंख्य भावनाएँ अंतःकरण के आँगन में बरबस बरस पड़ती हैं। यादों के सघन घन बार-बार अंतर्गगन में उमड़ते हैं और माँ के प्यार का जीवन-जल मुरझाए प्यासे प्राणों पर उँड़ेल देते हैं। ऐसा लगता है कि अपनी माँ सुदूर किसी लोक में नहीं, अपने पास है, एकदम पास। उसके आँचल का छोर हमें छू रहा है। उसके आशीषों की छाँव में अपना जीवन सुरक्षित है।

माँ! तुम्हारे सिवा हम बच्चों का और है भी कौन! जब-तब, समय-कुसमय हम सब सिर्फ तुम्हें ही पुकारते हैं। जीवन की हर चोट, हर दुःख-दरद में हे माँ! हमें केवल तुम्हारी याद आती है। आँसू भरी आँखों और पीड़ा से विकल हमारे जीवन के लिए तुम्हारी याद ही एकमात्र औषधि है। हमें अच्छी तरह से मालूम है कि हमारी कमियों-कमजोरियों, बेवकूफियों, नादानियों को एक तुम्हीं अनदेखा करके हमको अपना सकती हो।

माँ! तुम्हारी क्षमा अपार है। इसकी न तो कोई सीमा है और न ही शर्तबंदी। क्षमा ही तुम्हारा स्वभाव है। क्षमा तुमसे ऐसे बहती है जैसे फूल से गंध और दीए से रोशनी बहती है। जैसे पहाड़ों से जल झरता है, मेघों से वर्षा होती है। हे क्षमास्वरूपिणी माँ! सृष्टि के हर स्थूल-सूक्ष्म विधान में प्रत्येक छोटी-बड़ी गलती या अपराध के लिए कोई-न-कोई सजा निश्चित है। सृजेता के कठोर कर्मफल विधान से सभी बँधे हैं। यहाँ तक कि स्वयं सृजेता भी कर्मफल की हस्तरेखाओं को स्वीकार करता है, परंतु हे क्षमामयी! तुम्हारी क्षमा शक्ति से जीवन के महापातक भी पल में विनष्ट होते हैं। यह सृष्टि के समस्त विधानों से अनंत गुना समर्थ है।

माँ! यह एकाक्षर महामंत्र ही हमारा प्राण है। माँ! माँ!! जपते हुए ही हमारे ऊपर तुम्हारी कृपा-किरणों की वृष्टि हुई है। जीवन में अलौकिक अनुभूतियों के अनेकों सुअवसर आए हैं। तुम्हारी लीला-कथा का पुण्य स्मरण भी इन्हीं में से एक है। हे माँ! अब ऐसी कृपा करो कि यह पुण्य कथा तुम्हारे ही अमित प्रभाव से हम सब बच्चों को तुम्हारी अविरल भक्ति का वरदान देते हुए मातृतत्त्व का बोध करा सके। ✿

समस्त संवेदनाओं का मूल—मातृतत्त्व

मातृतत्त्व जीवन और जगत् की समस्त संवेदनाओं एवं संभावनाओं का मूल है। सृजन के सभी संवेदन इसी की उर्वरता में अंकुरित होते हैं। सृष्टि की सारी संभावनाएँ यहीं से अपनी अभिव्यक्ति पाती हैं। यही वह परम पूर्णता है, जिसके एक अंश से जगत् का विस्तार हुआ है। इस सत्य को वैदिक ऋषियों ने 'एकांशेन स्थिति जगत्' कहकर परिभाषित किया है। यह सृष्टि की कोख है, जिससे जीवन के विविध रूप जन्मे हैं। दार्शनिकों ने इसी को जीवन व जगत् के सभी अनिवार्य तत्त्वों को धारण और पोषण करने वाली मूल प्रकृति कहा है। यही ऋग्वेद में वर्णित आदिमाता अदिति हैं, जो स्वयं अनादि, अनंत और अविभाज्य रहते हुए भी सभी लोकों को जन्म और जीवन देती है। अंत में सब इसी में विलीन हो जाते हैं। विश्व-ब्रह्मांड को संचालित करने वाली आदिशक्ति इसी मातृतत्त्व का ही परिचय एवं पर्याय है।

मातृतत्त्व का बोध समस्त योग साधनाओं की चरम परिणति है। योग के विभिन्न तत्त्व व प्रकार, विधि और अनुशासन इसी परम पूर्णता को जानने व पाने के लिए हैं। चित्तवृत्ति निरोध से मातृतत्त्व की चित् शक्ति ही प्रकाशित एवं प्रकट होती है। इसी में साधक को अपने स्वरूप का बोध होने के साथ अनेकानेक यौगिक विभूतियों की प्राप्ति होती है। साधकों की साधना व सिद्धि की आधारभूमि यही है। यही योगियों की कुंडलिनी शक्ति है। जिसके जागरण मात्र से योग साधकों में महाशक्ति की अभिव्यक्ति के अनेकों स्रोत खुल जाते हैं। मातृतत्त्व की कृपा से ही योग साधक सक्षम व समर्थ बनता है। अनेकानेक सिद्धियाँ एवं विभूतियाँ उसका अनुगमन व अनुसरण करती हैं। उसमें कैवल्य की प्रभा प्रकाशित होती है।

अपनी संपूर्णता में योगगम्य, ध्यानगम्य एवं ज्ञानगम्य मातृतत्त्व का सामान्य परिचय जीव को जन्मते ही हो जाता है। प्रत्येक प्राणी मातृतत्त्व की सजल भावानुभूतियों में जीवन पाता है। उसकी माँ ही उसके लिए सब कुछ होती है। उसके हृदय से पहली पुकार माँ के लिए उठती है। होठों से पहला शब्द माँ निकलता है। सारे रिश्ते-नाते, सारी संबंध-संवेदनाएँ मातृतत्त्व के इर्द-गिर्द अपना अस्तित्व बुनती हैं। सबके केंद्र में माँ ही होती है। जो माँ से घनिष्ठ होता है, उसी से घनिष्ठता की अनुभूति होती है। माता के संवेदन विस्तार में जीवन की संवेदनाएँ विस्तार पाती हैं। जन्मकाल में केवल यही एक जीवन सत्य अपनी संपूर्ण तीव्रता में, समूचे अस्तित्व में स्पंदित होता है। यह समझने में किसी को तनिक-सी भी देर नहीं लगेगी कि प्रत्येक शिशु का जीवन मातृमय होता है। मातृतत्त्व ही उसके लिए सुख, सुरक्षा, आनंद एवं प्रेम का पर्याय है।

ये भावानुभूतियाँ स्थायी नहीं रह पातीं। जैसे-जैसे जीवन चेतना बहिर्मुखी होती है, ये शनैः-शनैः विलीन होती जाती हैं। अहंता के सुदृढ़ होते ही वे संबंध-संवेदनाएँ दुर्बल होती जाती हैं, जो कभी माता के गर्भ में अपने जीवन को मजबूती से बाँधे हुए थीं। अहंता और बौद्धिकता जीवन को जन्म देने वाली माता से विछोह करा देती है। अंश स्वयं को परम-पूर्ण समझने का दंभ पाल लेता है। विस्मृति की अचेतनता से जीवन-चेतना बुरी तरह घिर जाती है। '**विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियाः समस्ताः सकला जगत्सु**' अर्थात् 'हे माता, विश्व की सारी विद्याएँ एवं जगत् की सारी स्त्रियाँ तुम्हारा ही स्वरूप हैं' का सूत्र खो जाता है। मातृतत्त्व से विलग होकर जीवन अनजान अँधेरों की भटकन में भटकने लगता है।

इस भटकन से उबरने का एक ही उपाय है, मातृतत्त्व के प्रति सच्ची अभीप्सा। जगत् और जीवन को जन्म देने वाली माता के प्रति अविरल अनुराग। यही उस महायोग का प्रारंभ बिंदु है, जो जीवन की अपूर्णता को परम पूर्णता की ओर ले जाता है और अपनी चरम परिणति में उसे पूर्णता का वरदान देता है। वैदिक ऋषियों से लेकर महायोगी श्रीअरविंद ने इसी पथ का अनुसरण किया है। इस पथ पर चलकर ही वे पूर्णता के वरदान से लाभान्वित हुए। ऋग्वेद के अगणित मंत्रों के साथ श्रीअरविंद के मंत्र काव्य सावित्री की अनेकानेक पंक्तियाँ इस समाधि-सत्य की साक्षी हैं। महायोगी श्रीअरविंद ने मंत्र काव्य सावित्री के तीसरे पर्व को 'भगवती श्रीमाता का पर्व' कहा है। इसमें मातृतत्त्व की बड़ी ही मार्मिक एवं अनुभूतिपूर्ण व्याख्या है।

परमपूज्य गुरुदेव की अनुभूति भी कुछ ऐसी ही है। उन्होंने एक नहीं, अनेक स्थानों पर कहा है कि मातृतत्त्व की साधना ही जीवन को संस्कारित एवं परिष्कृत करती

है। इसी से जीवन समर्थ एवं शक्तिवान बनता है। इस संबंध में उन्होंने समय-समय पर कुछ विशेष बातें भी बताईं। उन्होंने कहा कि कालप्रवाह में सामान्य एवं असामान्य क्षण प्रवाहित होते रहते हैं। सामान्य क्षणों में मानव मातृतत्त्व की अभीप्सा करता है। माता की परम पूर्णता का बोध पाने के लिए योग साधना में निरत रहता है। ध्यान व ज्ञान की साधना करके आदिमाता से अपने जीवन की पूर्णता का वरदान पाने की प्रार्थना करता है।

असामान्य क्षणों में अपनी कोख से जीवन और जगत् को प्रसव करने वाली माता स्वयं यत्नशील होती है। सृष्टि को सुसंस्कारित करने के लिए वह स्वयं युगशक्ति बनकर अवतरित होती है। वह अपनी भटकी हुई संतानों को राह दिखाने के लिए आती है। उसकी दैवी चेतना मानवीय देह से अभिव्यक्त होती है। महादेवी स्वयं मानवी बनकर अपनी असंख्य संतानों को लाड़-दुलार करती है। आदिशक्ति, युगशक्ति का रूप धारण कर सत्पथ का प्रवर्तन करती है। जगन्माता किसी संकेत, इंगित अथवा आदेश से नहीं, बल्कि स्वयं जीवन के सभी आयामों को जीकर तत्त्व और सत्य का बोध कराती है। अपने बच्चों को अँगुली पकड़कर जीवन जीने की कला सिखाती है।

सृष्टि के इतिहास में ये क्षण बड़े ही महिमामय होते हैं। अगणित आकुल क्षणों की पुकार का उत्तर देने के लिए, करुणामयी माता अवतार लेने के लिए संकल्पित होती है। बड़ा ही भाग्यवान होता है वह देश, धरा का वह आँचल जिसे आदिजननी अपनी लीलाभूमि के रूप में चुनती है। बड़े ही पुण्यशाली होते हैं वे लोग, जो किसी भी रूप में उनके स्वजन एवं परिजन बनते हैं। इस सब से भी कहीं अधिक धन्य वे होते हैं, जो भक्ति से उफनते अपने हृदयों को माता के चरणों में उँड़ेलकर मातृतत्त्व का अर्चन-वंदन करते हैं। वे भी कम पुण्यवान नहीं होते, जो दिव्य जननी की लीला-कथा का स्मरण-चिंतन एवं अवगाहन करते हुए उनकी ज्योतिर्मय चेतना से एकात्म होने की साधना करते हैं।

साधना के भावपूर्ण स्वरों का उत्तर देने के लिए ही तो भावमयी माता भगवती अवतार लेती है, इसीलिए तो मातृतत्त्व की विशुद्ध चेतना घनीभूत होकर स्थूल रूप में प्रकट होती है। मानव की जन्म-जन्मांतर की आध्यात्मिक अभीप्साओं का उत्तर देने के लिए ही मातृतत्त्व की दिव्य ज्योति जन्म लेती है। उसके प्रकाश से लोकों के बाह्य आवरण ही नहीं, जीवों के अंतःकरण भी प्रकाशित होते हैं। युगशक्ति के अवतरण से हवाओं में अलौकिक सुगंध फैलने लगती है। जाग्रत् आत्माएँ अपने अंतःकरण में बड़े ही अद्‌भुत स्पंदनों को अनुभव करती हैं। आदिशक्ति की दिव्य ज्योति के जन्म का महोत्सव मनाने के लिए ऋषि, देवता एवं सिद्धगण सक्रिय होने लगते हैं। सृष्टि की समस्त दिव्य शक्तियों में एक अनोखी चेतनता व्याप्त हो जाती है। आदिशक्ति की अवतरण वेला में कुछ ऐसा ही भाषित हो रहा था।

◆

जीवन के संघर्ष और आँधियों से दुःखी एक नाविक जहाज से उतरकर बाहर आया। समुद्र के मध्य अडिग और अविचलित चट्टान की स्वच्छता को देखकर उसको कुछ शांति मिली। वह थोड़ा आगे बढ़ा और एक टेकरी पर खड़ा होकर चारों ओर दृष्टिपात करने लगा। उसने देखा, समुद्र की उत्ताल तरंगें चारों ओर से उस चट्टान पर निरंतर आघात कर रही हैं, तो भी चट्टान के मन में न रोष है और न विद्वेष। संघर्षपूर्ण जीवन पाकर भी उसे कोई ऊब और उत्तेजना नहीं है। मरने की भी उसने कभी इच्छा नहीं की।

यह देखकर नाविक का हृदय श्रद्धा से भर गया। उसने चट्टान से पूछा, तुम पर चारों ओर से आघात लग रहे हैं, फिर भी तुम निराश नहीं हो चट्टान। तब चट्टान की आत्मा धीरे से बोली, तात् निराशा और मृत्यु दोनों एक ही वस्तु के उभय पृष्ठ हैं, हम निराश हो गए होते, तो एक क्षण ही सही दूर से आए अतिथियों को विश्राम देने, उनका स्वागत करने से वंचित रह जाते। नाविक का मन एक चमकती हुई प्रेरणा से भर गया। जीवन में कितने संघर्ष आए, अब मैं चट्टान की तरह जीऊँगा ताकि हमारी न सही, भावी पीढ़ी और मानवता के आदर्शों की रक्षा तो हो सके।

दिव्य ज्योति के अवतरण की वेला

दिव्य ज्योति के जन्म की शुभ घड़ी समीप आने लगी थी। मातृतत्त्व मानवीय रूप और आकार ले रहा था। आदिशक्ति के युगशक्ति के रूप में अवतरण का संकल्प सूक्ष्म जगत् में मुखरित हो चला था। साँवरिया बोहरे समुदाय (आगरा) के पं. जसवंतराव शर्मा के परिवार में इसके स्पंदन तीव्रगति से संघनित होने लगे थे। घर के वातावरण में दिव्यता की कुछ अलग-सी तरंगें हर क्षण तरंगित होती रहतीं। एक अलौकिक महक मकान के कोने, चौबारे व आँगन में रह-रहकर सघन हो उठती। परिवार के सभी सदस्यों के मन, अंतःकरण में उल्लास उमगता रहता। एक अनजानी खुशी हर एक को घेरे थी।

पिछले कुछ महीनों से होने वाले इन परिवर्तनों को सबसे पहले जसवंतराव ने महसूस किया। जसवंतराव बड़े ही सीधे-सरल स्वभाव वाले आध्यात्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। उनकी सहधर्मिणी रामप्यारी शर्मा पति के अनुरूप जीवनयापन करने वाली भक्तिमती महिला थीं। उनकी कोमलता व सेवापरायणता की घर-परिवार के लोग, स्वजन-संबंधी और कुटुंबी बड़ाई करते नहीं अघाते थे। आस-पड़ोस की बड़ी-बूढ़ी महिलाएँ बात-बात में उनका उदाहरण दिया करती थीं। जब-तब वे आपस की चर्चाओं में कहा करतीं, ''देखो, जसवंतराव की बहू को, घर-परिवार और बच्चों को कितनी अच्छी तरह से सँभालती है और फिर पूजा-पाठ और जप-तप भी कितना करती है।'' प्रशंसा के इन स्वरों में यथार्थ की सार्थकता थी।

इस ब्राह्मण दंपत्ति के पुण्य चरित्र और तपपरायणता को देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो ये प्राचीनकाल के 'सुतपा और पृश्नि' हैं। माता भगवती की उपासना-आराधना दोनों को ही परमप्रिय थी। जसवंतराव नित्य-नियम से देवी सप्तशती का संपूर्ण पाठ किया करते थे। उनका घर-आँगन प्रतिदिन जगन्माता के महिमागान से मुखरित होता था। सप्तशती के संपूर्ण पाठ के साथ गायत्री मंत्र एवं नवार्ण मंत्र पर उनकी गहन आस्था थी। 'ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डाय विच्चै' का जप करते हुए वह भावलीन हो जाते थे। देवी सप्तशती के पाठ के समय प्रायः रोज ही उनकी आँखों से भावबिंदु झरने लगते। यदा-कदा रामप्यारी अपने पति से उनके इन भावाश्रुओं के बारे में पूछ लेती। प्रश्न के उत्तर में वह गद्‌गद हो कहते, जब मैं पाठ करता हूँ, तब मुझे लगता है कि माँ छोटी बालिका के रूप में मेरे पास बैठी है। मंत्र जप करते समय भी ऐसा ही लगता है। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता है कि छोटी बालिका के रूप में 'माँ' मेरी गोद में आकर बैठ गई है।

पति की इन बातों को सुनकर रामप्यारी भावमग्न हो जाती। उन्हें इस तरह चुप बैठा हुआ देखकर जसवंतराव पूछ बैठते, ''तुम चुप क्यों हो गईं?'' एक-दो बार पूछने पर वह धीरे से कहतीं, ''आजकल मुझे भी बड़े विचित्र सपने आने लगे हैं। अभी एक-दो दिन पहले ही मैंने सपना देखा कि मैं हिमालय पर हूँ। श्वेत-शुभ्र हिम शिखर बड़े ही भव्य लग रहे थे। तभी उन हिम शिखरों पर एक देवी प्रकट हुई। सचमुच ही देवी थी वो। धीरे-धीरे वो छोटी-सी लड़की बनकर मेरा हाथ पकड़कर बोली, 'माँ, मैं तुम्हारे घर आने वाली हूँ।' एक सपना तो मैंने आज ही देखा, सपने में छोटी-छोटी आठ लड़कियाँ एक बड़ी प्यारी-सी लड़की को अपने साथ लेकर मेरे पास आई हैं और मुझसे कह रही हैं, हम सब इसको तुम्हें देने आई हैं। आज से तुम ही इसकी माँ हो, साथ ही हमारी माँ भी हो, क्योंकि हम सब तो इसी की अंश हैं।''

पत्नी की इन बातों को सुनकर जसवंतराव कुछ पलों के लिए अंतर्लीन हो गए। उन्हें पत्नी के गर्भवती होने की बात पता थी, परंतु ये स्वप्न उन्हें गर्भ की दिव्यता के सूचक लग रहे थे। घर के वातावरण में भी आध्यात्मिक बदलाव के चिह्नों को वे काफी दिनों से अनुभव कर रहे थे। उन्हें लग रहा था कि उनके जीवन में कोई दिव्य घटना घटित होने वाली है। उन्हें इस तरह सोच में डूबा हुआ देख रामप्यारी बोलीं, तुम चुप क्यों हो? कुछ कहते क्यों नहीं? पत्नी के इन प्रश्नों से उनके चिंतन की कड़ियाँ झंकार के साथ बिखर गईं। वह अपने भावों से उबरते हुए रामप्यारी से बोले, ''मुझे लगता है, इस बार माता भगवती जगदंबिका स्वयं हम पर, तुम पर, अपने पूरे परिवार पर कृपा करने के लिए अवतीर्ण हो रही हैं।''

जसवंतराव की इन बातों को सुनकर रामप्यारी भाव-विह्वल हो गईं। उनकी आँखें छलक उठीं। उन्होंने मन-ही-मन आदिमाता जगदंबा को प्रणाम किया और उठ

खड़ी हुईं। अभी उन्हें घर के काफी काम करने थे, लेकिन आज वह घर के काम को करते हुए महसूस कर रही थीं कि उनके भीतर एक अद्‌भुत आनंद-धारा मंदगति से बह रही है। इससे उनका रोम-रोम, अस्तित्व का अणु-अणु भीग रहा है। काम करते हुए बीच-बीच में उन्होंने अपने दोनों बेटों दीनदयाल एवं सुनहरी लाल और बेटी ओमवती को भरपूर प्यार किया। शायद वह अपने भीतर उमड़ती-उफनती आनंद-सरिता के प्रवाह को अपने बच्चों में भी उँड़ेलना चाहती थीं।

रात को सोते समय दिव्य भावानुभूतियों ने उन्हें फिर घेर लिया। उन्हें लगा कि दिव्य लोकों के देवगण, देवियाँ, सूक्ष्मशरीरधारी ऋषि और सिद्धजन उनके गर्भ पर पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। अब यह किसी एक दिन की बात नहीं, नित्य का क्रम हो गया था। गर्भ की अवधि ज्यों-ज्यों पूर्णता की ओर बढ़ रही थी, ये भावानुभूतियाँ भी उत्तरोत्तर सघन होती जा रही थीं। उनके प्राणों में पुलक बढ़ती जा रही थी। उनकी निर्मल अंतर्चेतना और अधिक उज्ज्वल दीप्ति से प्रकाशित होती जा रही थी।

कालचक्र की बढ़ती गति के साथ वह दिव्य मुहूर्त आ गया, जिसे देवों और ऋषियों ने निश्चित किया था, जिसकी प्रतीक्षा जसवंतराव एवं रामप्यारी को ही नहीं, संपूर्ण विश्व मानवता को थी। आश्विन कृष्ण तृतीया संवत् १९८२, २० सितंबर १९२६ ई. की प्रात: ८ बजे के लगभग दिव्य ज्योति ने जन्म ले लिया। पं. जसवंतराव शर्मा उस समय देवी के नवार्ण मंत्र का जप कर रहे थे। उनके ध्यान में माता की छवि प्रत्यक्ष थी। उनके हृदय की गहराइयों में उपस्थित आदिमाता उन्हें आशीष दे रही थी। तभी उनके कानों में किसी वृद्ध महिला के ये शब्द सुनाई पड़े कि लेडी लायल अस्पताल में ठीक आठ बजे कन्या जन्मी है, लेकिन आश्चर्य, अस्पताल के इस समाचार के साथ उनके हृदय में कुछ और भी गूँज उठा।

उन्होंने बड़ी ही स्पष्ट रीति से अपने हृदय में श्री देव्यथर्वशीर्षम् की यह मंत्र ध्वनि सुनी, '**अहमानन्दान्दौ। अहं विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्माब्रह्माणी वेदितव्ये। अहं पञ्चभूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत्।**' अर्थात् मैं आनंद और अनानंदरूपा हूँ। मैं विज्ञान और अविज्ञानरूपा हूँ। अवश्य जानने योग्य ब्रह्म और अब्रह्म भी मैं ही हूँ। पंचीकृत और अपंचीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूँ। इस स्पष्ट मंत्र ध्वनि को अपनी अंतर्चेतना में सुनकर जसवंतराव को यह साफ हो गया कि आदिमाता ने आगमन के साथ ही उन्हें अपना परिचय दे दिया है। वह आदिमाता को प्रणाम करके पूजा के आसन से उठे और कपड़े बदलकर लेडी लायल अस्पताल की ओर चल पड़े। उन्हें अपने ज्योतिष ज्ञान की भी सार्थकता सिद्ध करनी थी।

*

स्वतंत्रता संग्राम में जूझते हुए राणाप्रताप वन-पर्वतों में अपने छोटे परिवार सहित मारे-मारे फिर रहे थे। एक दिन ऐसा अवसर आया कि खाने के लिए कुछ भी नहीं रहा। अनाज को पीसकर उनकी धर्मपत्नी ने जो रोटी बनाई थी, उसे भी वनविलाव उठा ले गया। छोटी बच्ची भूख से व्याकुल होकर रोने लगी।

राणा प्रताप का साहस टूटने लगा। वे इस प्रकार बच्चों को भूख से तड़पकर मरते देखकर विचलित होने लगे। एक बार मन में आया शत्रु से संधि कर ली जाए और आराम की जिंदगी जिया जाए। उनकी मुख-मुद्रा गंभीर विचारधारा में डूबी हुई दिखाई दे रही थी।

रानी को अपने पतिदेव की चिंता समझने में देर न लगी। उसने प्रोत्साहन भरे शब्दों में कहा, नाथ! कर्त्तव्यपालन मानव जीवन की सर्वोपरि संपदा है। इसे किसी भी मूल्य पर गँवाया नहीं जा सकता, सारे परिवार के भूखों या किसी भी प्रकार मरने के मूल्य पर भी नहीं। सच्चे मनुष्य न कष्टों से डरते हैं न आघातों से, उन्हें तो कर्त्तव्य का ही ध्यान रहता है। आप दूसरी बात क्यों सोचने लगे?

प्रताप का उतरा हुआ चेहरा फिर चमकने लगा। उन्होंने कहा, प्रिये, तुम ठीक ही कहती हो। सुविधा का जीवन तुच्छ जीव भी बिता सकते हैं, पर कर्त्तव्य की कसौटी पर तो मनुष्य ही कसे जाते हैं। परीक्षा की इस घड़ी में हमें खोटा नहीं, खरा ही सिद्ध होना चाहिए।

राणा वन में से दूसरा आहार ढूँढ़कर लाए और उनने दूने उत्साह से स्वतंत्रता संग्राम जारी रखने की गतिविधियाँ आरंभ कर दीं।

विशिष्ट वर्ष में अवतरित हुई महाशक्ति

पिता का ज्योतिष ज्ञान पुत्री को गोद में लेते ही सार्थक हो गया। उन्होंने कन्या के जन्म मुहूर्त पर मन-ही-मन विचार किया। होरा, लग्न, ग्रहों की युति और उनकी भावदशा के बारे में गणनाएँ कीं और उनके चेहरे पर प्रसन्नता की रेखाएँ झिलमिला उठीं। ज्योतिष की गणनाएँ एक के बाद एक उन्हीं तथ्यों की ओर संकेत कर रही थीं, जिनका अहसास उन्हें अपनी ध्यानस्थ चेतना में हुआ था। साधनाकाल में और ज्योतिष विद्या का गहन अवलोकन करते समय उन्हें बार-बार इस तथ्य की अनुभूति होती थी कि सन् १९२६ ई. महान आध्यात्मिक शक्ति के अंवतरण का वर्ष है, परंतु कैसे और किस तरह ? इन प्रश्नों के हल वे नहीं खोज पा रहे थे।

यद्यपि उनकी साधनात्मक एवं ज्योतिषीय अनुभूतियों का इतिहास साक्षी बन रहा था। इस वर्ष की वसंत पंचमी को विश्व की महानतम आध्यात्मिक घटना घट चुकी थी। परमपूज्य गुरुदेव (पंद्रहवर्षीय श्रीराम) ने अपने हिमालयवासी महागुरुदेव के मार्गदर्शन में अखंड साधना दीप प्रज्वलित किया था। उनकी चौबीस वर्षीय चौबीस गायत्री महापुरश्चरणों की शृंखला इसी वर्ष प्रारंभ हुई थी। इसके अतिरिक्त श्रीअरविंद आश्रम पांडिचेरी में महायोगी अरविंद पूर्णयोग की विशेष सिद्धि को अवतरण करने की सफलता प्राप्त कर रहे थे। इस वर्ष के अंतिम महीनों में ही अतिमानसिक चेतना धरती पर अवतरित हुई थी और महायोगी अरविंद अतिमानसिक चेतना के अवतरण के लिए परिपूर्ण एकांत में चले गए थे।

जिस आध्यात्मिक शक्ति के अवतरण के साक्षी आज जसवंतराव थे, वह उपर्युक्त दोनों ही घटनाओं से कहीं अधिक विशिष्ट थी, क्योंकि इसमें आध्यात्मिक महाशक्ति ने स्वयं ही स्थूल देह धारण करके अवतार लिया था। आदिमाता स्वयं ही अपनी लीलाभूमि में आविर्भूत हुई थी। नीलगगन में सूर्यदेव बड़े ही सुखद आश्चर्य से इस दृश्य को निहार रहे थे। उन्हें अपनी शत-सहस्र किरणों से सद्यः अवतरित जगदंबा के अर्चन-वंदन का सौभाग्य प्राप्त हो रहा था। समूचे वातावरण में आज एक स्निग्ध शांति, शीतलता और मधुर सुवास व्याप्त हो रही थी। धरती का यह छोटा-सा कोना तीर्थभूमि बन गया था। यहाँ एक ही पल में अनेक परिवर्तन घटित हो गए थे।

जसवंतराव की भावभूमि अपरिवर्तित थी। वह तो बस सुरभि-भरी कुसुम-कलिका की भाँति कमनीय कांति को बिखेरती अपनी कन्या को गोद में लिए बस देखे जा रहे थे। यदि पड़ोस की महिला उन्हें न टोकती, तो वह न जाने कब तक यों ही खोये रहते। ऐसा क्या है इस लड़की में, जो तब से देखे जा रहे हैं ? उसके इस तरह पूछने पर उनकी भाव-समाधि भंग हुई और वे बड़े ही हर्षित स्वर में बोले, यह लड़की बहुत ही भागवती है। यह हजारों-हजार लोगों को भरपेट खाना खिलाएगी, फिर थोड़ी देर में कुछ सोचते हुए कहने लगे, यह तो सभी के भाग्य को बनाने वाली भगवती है।

पड़ोस की महिला को उनकी ये गूढ़ बातें कुछ भी समझ में न आईं। वह तो बस लोक-प्रचलन के अनुसार इतना भर जानती थी कि लड़का होना अच्छा होता है और लड़की होना बुरा। उसे समझ में ही नहीं आ रहा था कि जसवंतराव घर में लड़की होने पर इतना खुश क्यों हो रहे हैं। उनकी बातों से उसे केवल इतना समझ में आया कि उन्होंने अपनी पुत्री का नाम 'भगवती' रखा है। उसने कन्या को उनकी गोद से लेकर लेडी लायल अस्पताल के एक कक्ष में विश्राम कर रही माँ के पास लिटा दिया। इस नाम के स्वर कन्या की माँ के कानों में भी पड़े। उन्होंने बड़े ही लाड़ से अपनी बेटी की ओर निहारा। सदा हँसमुख, लीला-चंचल उस नन्ही-सी बालिका के सस्मित नेत्रों में जैसे कोई सम्मोहिनी शक्ति थी, जिसे देखकर वह बरबस सोचने लगीं, अहा! कितनी सुंदर आँखें हैं, मानो देवी के नेत्र हैं! मेरी यह बेटी सचमुच ही माता भगवती है। माता के ममत्व एवं पिता के स्नेहमय लालन में भगवती शशिकला की भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगी। स्वजनों के साथ उसका बचपन बीतने लगा।✦

पास के कुएँ को देखकर डींग मारते हुए तालाब बोला, इस जैसे एक-दो नहीं, बीसियों कुएँ मुझमें समाकर अपना अस्तित्व खो सकते हैं।

भाई, केवल विस्तार ही पर्याप्त नहीं होता, उसमें गहराई भी तो होनी चाहिए। कुएँ ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

बाल्यकाल के लीला प्रसंग

स्वजनों के साथ बीत रहे बचपन के इन पलों में बड़ी ही मिठास थी। यदा-कदा इनके अनूठेपन के झरोखे से अलौकिकता झाँक उठती। भगवती अपनी माँ के साथ सभी भाई-बहनों की लाड़ली थी। रंग-रूप सामान्य होते हुए भी उसमें एक दैवी मोहिनी थी। अड़ोस-पड़ोस के लोग, रिश्ते-नातेदार, सगे-संबंधी सभी इस दैवी सम्मोहन में अनायास बँध जाते थे। वह सभी की प्रिय 'लाली' थी। ब्रज क्षेत्र में यह शब्द बहुत प्यारी, लाड़ली, छोटी बालिकाओं के लिए प्रयुक्त होता है। कथा-किंबदंती तो यह भी है कि इस शब्द को सबसे पहले बरसाने में राधा रानी को पुकारने के लिए प्रयोग किया गया। वृषभानुनंदिनी अपने माता-पिता एवं भाई श्रीदामा के साथ सारे बरसाने की 'लाली' थी। परम पुरुष की आह्लादिनी शक्ति को सभी प्यार से 'लाली' कहकर बुलाते थे।

भगवती को भी यही संबोधन मिला था। जन्मदात्री माता रामप्यारी, पिता जसवंतराव, दोनों भाई दीनदयाल व सुनहरीलाल एवं बड़ी बहन ओमवती सभी उन्हें 'लाली' ही कहते थे। पड़ोसियों की जीभ पर भी यही संबोधन लिख गया था। लाली सभी की अपनी थी। सभी का प्यार उस पर बरबस बरसता था। बचपन में जैसे अन्य बच्चे शरारती, चंचल और नटखट होते हैं, वैसा कुछ भी उनमें नहीं था। भोलापन और मासूमियत लिए बड़ी ही गजब की शांत प्रवृत्ति थी। नन्हे कदमों से जब उन्होंने चलना सीखा और वाणी से बोल मुखरित हुए, तो उन्होंने अपनी माता को अम्मा और पिता को दादा कहना सीख लिया। नन्हे कदमों से धीमे-धीमे चलती हुई अपनी इस प्यारी 'लाली' को जसवंतराव प्रेम विभोर हो गोद में उठा लेते थे। अपनी लाड़ली की हर इच्छा को वह अपना सौभाग्य मानकर पूरा करते। वह उन्हें अपनी दिव्य अनुभूतियों का साकार रूप लगती।

काल के रथ पर सवार भगवती का बचपन अपने चतुर्दिक वातावरण में जीवन के मधुर संगीत की सृष्टि करता हुआ आगे बढ़ रहा था। तभी इस मधुरता में अनायास विषाद का रव गूँज उठा। जन्मदात्री माता अपनी प्यारी 'लाली' को केवल चार वर्ष की अवस्था में छोड़कर परलोक जा बसीं। बीमारी इस दैव की क्रूरता का माध्यम बनी। भगवती के बाल नेत्रों में आँसू छलक उठे। नन्हे से दिल में भावनाओं का ज्वार तड़प उठा। मातृ विछोह के पल उनके लिए बड़े ही दारुण थे। चार वर्ष की छोटी-सी बच्ची के लिए तो माँ ही सब कुछ होती है। वही माँ न रहे तो....... ? लेकिन सच-तो-सच था। अपनी माता की याद में उन दिनों वह काफी रोईं, पर इस करुण दशा में भी उनकी आंतरिक चेतना जाग्रत्, सक्रिय और सचेतन बनी रही। बड़ी बहन एवं भाइयों को इस पर बड़ा आश्चर्य होता था कि छोटी-सी 'लाली' कभी-कभी उन्हें ही समझाने लगती।

कभी-कभी वह गुमसुम-सी चुपचाप पालथी मारकर बैठ जाती। उन्हें इस भावमग्न दशा में बैठे देखकर घर के सदस्यों को अचरज होता। वे सब उनकी अंतर्दशा से अपरिचित थे। उनमें से कोई सोच नहीं पाता था कि यह छोटी-सी बच्ची आखिर इस तरह क्यों एकांत में शांत होकर बैठी है। एक दिन बड़े भाई दीनदयाल ने उन्हें इस तरह बैठे देखकर पूछ लिया, "लाली, तू इस तरह चुपचाप शांत क्यों बैठी है, बच्चों के साथ खेलती-कूदती क्यों नहीं ? तुझे देखकर तो ऐसा लगता है कि तेरे सिर पर सारी दुनिया का भार है ?" प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बड़े ही शांत नेत्रों से बड़े भाई की ओर देखा, फिर बड़े ही गंभीर स्वरों में बोलीं, "हाँ, सो तो है। सारी दुनिया का भार मुझ पर नहीं, तो और किस पर होगा!" उनकी ये बातें दीनदयाल को कुछ भी समझ में न आईं, पर उनके शब्दों में यह सत्य तो निहित ही था कि वह बचपन से ही अपने भावी दायित्वों के प्रति जागरूक थीं।

इन्हीं वर्षों में दीनदयाल की शादी हो चुकी थी। उनकी पत्नी यानि कि बालिका भगवती की बड़ी भाभी बड़े ही स्नेहशील स्वभाव वाली प्रेमपूर्ण हृदय की महिला थी। उन्होंने अपनी इस ननद की बड़े ही यत्न से सार-सँभाल की। बार-बार उनका मन कहता था कि उनकी यह छोटी-सी ननद कोई देवी है। उसकी पारदर्शी आँखों में उन्हें पारलौकिक व अलौकिक प्रभा छलकती हुई लगती। जब-तब उनकी यह ननद कुछ ऐसी बातें कह देती थी, जिससे उनका यह विश्वास और भी ज्यादा मजबूत हो जाता। ऐसे ही एक बार के घटनाक्रम में उनके पिता जी

उन्हें लिवाने के लिए आने वाले थे। पंद्रह-बीस दिन पहले इस आशय की चिट्ठी भी आई थी, जिसमें उनके आने की सुनिश्चित तिथि लिखी थी, पर उस तिथि को वह नहीं आ सके। कोई खबर भी नहीं पहुँची।

इससे उनकी चिंता बढ़ गई। उन्होंने किसी से कुछ कहा तो नहीं, पर उदास रहने लगीं। घर के कामों, जिम्मेदारियों को निभाते हुए वह हर पल-हर क्षण बेचैन रहती। मन की घबराहट चेहरे पर भी नजर आ जाती। एक दिन भगवती ने उनसे धीरे से पूछ ही लिया, ''क्या बात है भाभी, आजकल आप इतनी परेशान क्यों हो?'' उन्होंने जवाब दिया, ''कुछ नहीं, लाली ऐसी कोई बात नहीं।'' भगवती ने हल्के से मुस्कराते हुए कहा, ''बात तो है भाभी, कहो तो बता दूँ।'' फिर धीरे से गंभीर स्वर में बोलीं, ''आप इसलिए परेशान हो न, क्योंकि आपके पिता नहीं आए, लेकिन आप अब ज्यादा परेशान न हो, वे इसलिए नहीं आ सके क्योंकि उन्हें काफी तेज बुखार आ गया था। चिट्ठी उन्होंने लिखी थी, पर वह समय से पहुँच नहीं सकी। पर आज वह चलने की तैयारी कर रहे हैं। कल यहाँ पहुँच जाएँगे। जहाँ तक चिट्ठी की बात है, वह आज ही आपको मिल जाएगी।''

अपनी इस छोटी-सी ननद की बातों को सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उन्होंने तो घर में किसी को भी अपने मन की बातें नहीं बताई थीं। यह आश्चर्य तब और बढ़ गया, जब सचमुच ही दिन में डाकिया आकर चिट्ठी पहुँचा गया। चिट्ठी में वही सब बातें लिखी थीं, जो उनकी लाली ने उन्हें बताई थीं। दूसरे दिन उनके पिताजी उन्हें लेने के लिए आ गए। पिताजी ने घर-परिवार के, अपने स्वास्थ्य के जो समाचार बताए, वे सब वही थे, जो उनकी यह प्यारी-सी ननद पहले ही बता चुकी थी। उन्हें भी अपने श्वसुर की तरह इस बात पर पक्का विश्वास हो गया कि उनकी ननद में सचमुच ही कोई दैवी शक्ति है। उनके हृदय में अपनी इस ननद के लिए प्यार तो पहले से ही था, अब सम्मान और श्रद्धा का भाव भी जाग उठा।

भगवती के मन में अपनी भाभी के लिए विशेष लगाव था। अपनी अवस्था के अनुरूप वह उन्हें घर के छोटे-छोटे कामों में मदद करती। कभी-कभी भाभी और बड़ी बहन के साथ गुड़िया-गुड्डे के खेल खेलती। यह उनका प्रिय खेल था। गुड़िया-गुड्डे तैयार करने, उन्हें सजाने-सँवारने की जिम्मेदारी भाभी की थी। इसके लिए वह हमेशा रंग-बिरंगे कपड़े सँजोती रहती थी, ताकि वह अपनी लाली के गुड़िया-गुड्डे को ढंग से सजा-सँवार सके। जब-तब गुड्डा बीमार हो जाता, फिर वैद्य जी बुलाए जाते। जड़ी-बूटियाँ घिसी और पीसी जातीं। जिन्हें खाकर और पथ्य-परहेज करके गुड्डा महाशय स्वस्थ हो जाते। इसी के साथ बालिका भगवती की हँसी फिर खिलखिला उठती। गुड़िया-गुड्डे का यह खेल उनके बचपन का सच्चा सहचर था। इसमें घर के सभी लोगों को किसी-न-किसी रूप में उनका सहभागी बनना पड़ता था। कभी गुड़िया की शादी, तो कभी गुड्डे की बीमारी, तो कभी उनके लिए नए घर-मकान का इंतजाम, इस तरह के अनेकों काम और इंतजाम थे, जो उनके बचपन को क्रीड़ामय एवं उल्लासमय बनाए रखते थे। महाशक्ति की इन लीलाओं में उनकी दिव्य क्रीड़ा भी यदा-कदा उजागर होती रहती थी। खेल-खेल में ही अनेकों दिव्य भाव उमगते-पनपते और सृष्टि के आँगन में बिखर जाते। क्रीड़ामयी शांत भाव से उन्हें देखती रहती।

*

हमें घर-घर पहुँचा दें

—परमपूज्य गुरुदेव

परमपूज्य गुरुदेव के मूर्तिमान स्वरूप वाङ्मय को घर-घर पहुँचाने के लिए निष्ठावान परिजनों की आवश्यकता है। जो भाई इस कार्य हेतु अपने को योग्य समझते हों, निम्नलिखित विवरण सहित अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा से संपर्क करें। समयदान की अवधि दो माह की रहेगी। टोलियाँ प्रत्येक माह की १ तथा १५ तारीख से निकलेंगी।

विवरण—नाम-पता, फोन नं. (एस. टी. डी. कोड सहित), शैक्षिक योग्यता, आयु, मिशन से कब जुड़े, मिशन संबंधी योग्यता, पद/व्यवसाय, कब से कब तक का समयदान आदि।

व्यवस्थापक
अखण्ड ज्योति संस्थान,
मथुरा

बालक्रीड़ा में झलकती दिव्य भावनाएँ

भगवती की बालक्रीड़ा में उनकी दिव्य भावनाओं की झलक दिखाई देती थी। कई तरह के खेलों में उनका सबसे अधिक प्रिय खेल था, 'शिव-पूजा'। इस खेल को वह दिनभर कम-से-कम एक बार अवश्य खेला करतीं। कभी-कभी तो उनका यह प्रिय खेल दिन में दो से भी ज्यादा बार दोहरा लिया जाता। खेल की शुरुआत भगवान महादेव के प्रतीक चिह्न बनाने से होती। वह अपनी बहन ओमवती और बालसखी सुखमती के साथ मिट्टी के शिव प्रतीक का निर्माण करती। उसकी विधिवत् स्थापना करने के बाद पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य एवं वेलपत्री से पूजा का क्रम चलता। यह पूजा बड़ी भक्ति और अनुराग से होती। पूजन के अंत में सभी को भगवान शिव के पंचाक्षरी मंत्र 'ॐ नमः शिवाय' का जप करना होता।

खेल में सहभागिनी अन्य बालिकाओं का जप तो थोड़ी देर में समाप्त हो जाता, लेकिन भाव-समाधि में डूबी भगवती काफी देर तक 'ॐ नमः शिवाय' का जप करती रहती। कभी-कभी तो उन्हें यह सब करते हुए घंटों बीत जाते। साथी बालिकाएँ थकने और ऊबने लगतीं। यदा-कदा तो उनको इसी तरह अकेला छोड़कर चुपचाप चली जातीं। उस दिन या दूसरे दिन जब दुबारा मिलना होता, तो वे पूछतीं कि तुम्हें शिव-पूजा करते-करते यह अचानक क्या हो जाता है? जप करने के लिए आँखें बंद करके जो बैठती हो, तो बस उठने का नाम ही नहीं लेतीं। अरे भई, पूजा तो हम लोग भी तुम्हारे साथ करती हैं, पर इस तरह होश-हवास नहीं खोतीं। उत्तर में भगवती के बालमुख पर हल्की-सी रहस्यात्मक मुस्कान तैर जाती।

इस हल्की-सी हँसी में जो कुछ छिपा होता, उसे साथ खेलने वाली बालिकाएँ कभी न जान पातीं। किसी को भी पता न चलता कि यह पूजा महाशक्ति की अपने आराध्य महाशिव के प्रति आंतरिक अनुराग की अभिव्यक्ति है। इस पूजा में 'प्रीति पुरातन लखै न कोई' वाली बात सार्थक होती। जब कभी उनकी बड़ी भाभी उनसे जरूर पूछ लिया करतीं, "लाली, तू इतनी पूजा क्यों किया करती है? जब देखो, तो भगवान शिव के चित्र या प्रतीक के सामने आँखें बंद करके बैठी रहती है।" भाभी के इन सवालों के जवाव में वह हँस देती और कहती, "अरे मैं कोई पूजा थोड़े ही करती हूँ, यह तो बस खेल है। मुझे सब खेलों में यह खेल सबसे ज्यादा पसंद है।" उनकी इस बात की किसी के पास कोई काट न होती और खेल का सिलसिला इसी तरह से रोज चलता रहता।

इसी सिलसिले में नयापन जोड़ने के लिए वह अपने पिता जसवंतराव का सहारा लेती। वह उनसे शिव पुराण की कथाओं को सुनाने का आग्रह करती। भगवान शिव के लीलाचरित सुनना उन्हें परमप्रिय था। भगवान महाकाल के दिव्य चरित्र का श्रवण उनके मन-प्राण एवं अंतरात्मा को भारी सुख पहुँचाता था। वह बार-बार इन्हें सुनने का आग्रह-अनुरोध करती। जसवंतराव भी अपनी लाड़ली को बड़े ही रसपूर्ण ढंग से महाशिव की लीलाएँ सुनाया करते, लेकिन उन्हें यह अहसास कभी न हो पाता कि लीलामयी उनके सामने स्वयं बालरूप में उपस्थित होकर अपने आराध्य, अपने सर्वस्व का चरित सुन रही हैं। इस आंतरिक भाव सत्य से सभी अनजान थे। प्रत्यक्ष सत्य बस इतना ही था कि श्रोता एवं वक्ता दोनों भगवान की लीलाओं को सुनते और कहते हुए भक्तिरस में डूबे रहते।

इन शिव लीलाओं के कोई-न-कोई अंश अगले दिन की शिव-पूजा में जुड़ जाते। कभी तो इसमें शिवरात्रि का प्रसंग जुड़ता, कभी इसमें शिव-विवाह की कथा जुड़ती। इस तरह खेल में नयापन आता। साथ खेलने वाली बालिकाओं का उत्साह भी बढ़ जाता। सभी को खेल के लिए पूरे जोर-शोर से तैयारी करनी पड़ती। उनकी बालसखी सुखमती तो उनकी सहचरी ही नहीं, अनुचरी भी थी। उसे वह प्यार से सुखमन बुलाया करती थीं। सुखमन वही करती, जो उसकी प्राणप्रिय सखी भगवती को प्रिय लगता। भगवती के सान्निध्य में उसका भी शिव-पूजा पर विश्वास जम गया था। शिव-पूजा के प्रत्येक कार्य में उसे भी रस मिलने लगा था।

बालिका भगवती को तो इस खेल में कई तरह की दिव्य अनुभूतियाँ भी होने लगी थीं। जिनके अर्थ एवं रहस्य अभी पूरी तरह से प्रकट नहीं हो पाते थे। शिव-पूजन करते हुए जब वह भावमग्न होती, तो उनकी अंतर्चेतना में कई तरह के दृश्य उभरते थे। उन्हें ऐसा लगता जैसे कि भगवान शिव ने एक गौरवर्ण के लंबे-दुबले युवक का

रूप ले लिया है। इस युवक की छवि पहले तो थोड़ी अस्पष्ट होती, पर बाद में काफी स्पष्ट हो जाती। यह युवक उन्हें प्रायः एक कोठरी में पूजा वेदी पर प्रज्वलित साधना दीप के सामने ध्यानस्थ नजर आता। उसके मुखमंडल पर उन्हें अपूर्व तेजस्विता दिखाई देती। यह दृश्य उनके अंतर्मन में बार-बार उभरता।

वह बार-बार इस दृश्य को देखकर अचरज में पड़ जाती। वह सोचती कि शिव-पूजा करते हुए उन्हें यह कैसी विचित्र अनुभूति होती है। जब-तब यह भी मन में आता कि कहीं ऐसा तो नहीं कि भगवान शिव ने स्वयं अवतार ले लिया है। अपनी सृष्टि में युग प्रत्यावर्तन करने, एक नए युग का प्रवर्तन करने के लिए प्रभु स्वयं आ गए हैं। अपने इस विचार के बारे में वह जब-जब सोचती, उन्हें सचाई नजर आती। बार-बार उस महायोगी युवक के रूप में उन्हें भगवान शिव का स्वरूप प्रत्यक्ष होता। मन-ही-मन वह उसे शिव-शिव कहते हुए प्रणाम भी कर लेती। पंचाक्षरी मंत्र 'ॐ नमः शिवाय' का जप करते हुए जब वह प्रगाढ़ भावदशा में होती, तो उनके मानस-पटल पर यह दृश्य प्रत्यक्ष हो जाता।

अपनी अंतर्चेतना में रोज-रोज उपस्थित होने वाले इस साधनारत युवक का उन्होंने अब नामकरण भी कर दिया। 'महायोगी शिव' यही नाम दिया उन्होंने अपनी भाव-समाधि में साक्षात्कार होने वाले सत्य का। हालाँकि यह 'महायोगी शिव' रोज ही उनकी अंतर्भावनाओं में प्रत्यक्ष होते, परंतु अभी तक वह यह नहीं जान पाई थीं कि ये कौन हैं ? कहाँ हैं और क्या करते हैं ? लेकिन जब कभी वह ध्यानरत होतीं अथवा अपनी शिव-पूजा में भावमग्न होतीं, तब उनके हृदय में यह तीव्र स्फुरण होता था कि ये 'महायोगी शिव' जो कोई भी हों, पर ये हैं भगवान शिव ही। साथ ही यह भी स्पष्ट होता कि किसी-न-किसी तरह इनसे उनका अपना भविष्य जुड़ा हुआ है। शायद वह इन्हीं के द्वारा किए जाने वाले किसी कार्य में सहयोग करने के लिए आई हैं।

खेल-खेल में उन्होंने जो शिव-पूजा शुरू की थी, वह उन्हें दिव्य भावानुभूतियों में डुबोती जा रही थी। उन्हें अपने जीवन और भविष्य के प्रति जागरूक बना रही थी। उनकी बालक्रीड़ा में दिव्यता के तत्त्व सघन हो गए थे। इसी के साथ उनका क्रीड़ामय बचपन किशोरावस्था की ओर बढ़ने लगा था। योग-साधना के जो तत्त्व खेल-खेल में अंकुरित हुए थे, वह अब पल्लवित होने लगे थे। उनके हृदय में साधनामय जीवन के लिए अभीप्सा बढ़ने लगी थी। अपने आराध्य से मिलन के लिए पुकार तीव्र होने लगी थी। इस पुकार में भक्ति की सघनता, प्रेम की तरलता एवं अनुराग की सजलता सभी कुछ था। बालिका भगवती एक प्रखर योग साधिका के रूप में रूपांतरित होने लगी थी। अपने प्रभु के प्रति भावभरी पुकार में उनकी योग साधना का स्वर संगीत गूँजने लगा था।

*

बोधिसत्व एक दिन सुंदर कमल के तालाब के पास बैठे वायु सेवन कर रहे थे। कमल की मनोहारी छटा ने उन्हें अत्यधिक आकर्षित किया, तो वे चुप बैठे न रह सके, उठे और और सरोवर में उतरकर निकट से जलज-गंध का पान कर तृप्तिलाभ करने लगे।

तभी किसी देवकन्या का स्वर सुनाई पड़ा, तुम बिना कुछ दिए ही इन पुष्पों की सुरभि का सेवन कर रहे हो। यह चौर कर्म है। तुम गंध चोर हो।

तथागत उसकी बात सुनकर स्तंभित रह गए। तभी एक व्यक्ति आया और सरोवर में घुसकर निर्दयतापूर्वक कमल-पुष्प तोड़ने लगा। बड़ी देर तक उस व्यक्ति ने पुष्पों को तोड़ा-मरोड़ा, पर रोकना तो दूर किसी ने उसे मना तक न किया।

तब बुद्धदेव ने उस कन्या से कहा, देवि, मैंने तो केवल गंधपान ही किया था। पुष्पों का अपहरण तो नहीं किया था, तोड़े भी नहीं, फिर भी तुमने मुझे चोर कहा और यह मनुष्य कितनी निर्दयता के साथ फूलों को तोड़कर तालाब को अस्वच्छ तथा असुंदर बना रहा है, तुम इससे कुछ नहीं कहतीं ?

देवकन्या गंभीर होकर कहने लगी, तपस्वी, लोभ तथा तृष्णाओं में डूबे संसारी मानव धर्म तथा अधर्म में भेद नहीं कर पाते, अतः उन पर धर्मरक्षा का भार नहीं है, किंतु जो धर्मरत है, सद्-असद् का ज्ञाता है, नित्य अधिक-से-अधिक पवित्रता तथा महानता के लिए सतत प्रयत्नशील है, उसका तनिक-सा पथ-भ्रष्ट होना एक बड़ा पातक बन जाता है।

ध्यान की गहनता में दिखाई दिया अतीत

शिव-पूजा के खेल में जो भावानुभूतियाँ हुई थीं, वे आयु के बढ़ने के साथ सघन और प्रगाढ़ होने लगीं। किशोरी भगवती के मन-प्राण व अंत:करण में एक पुकार ने जन्म ले लिया। उनके प्राण अपने शिव को पुकारते रहते। रह-रहकर मन ध्यानस्थ चेतना में देखे गए दृश्यों को फिर-फिर निहारने लगता। कई तरह के सवाल अंत:करण को कुरेदते रहते। वह सोचा करतीं कि यह महायोगी शिव कौन है, जिसे वह ध्यान में हमेशा देखती हैं? बार-बार ध्यान करते समय शिव के स्थान पर सुदर्शन व्यक्तित्व वाले इस महायोगी की छवि क्यों प्रकट हो जाती है? क्या सचमुच ही भगवान शिव ने धरती पर अवतार ले लिया है! ये और ऐसे ही अनेक सवाल उन दिनों उनकी अंतर्चेतना में अंकुरित हो रहे थे। इन सभी का उत्तर पाने के लिए उन्होंने ध्यान-साधना को और अधिक तीव्र करने का निश्चय किया।

इस निश्चय के साथ ही उनमें एक अजीब-सा भाव परिवर्तन हो गया। घर के प्राय: सभी सदस्यों ने इसे अनुभव किया। इन दिनों उनकी दिनचर्या बड़ी ही अस्त-व्यस्त हो गई, लेकिन इस बाह्य अस्त-व्यस्तता में एक आंतरिक सुव्यवस्था साकार हो रही थी। वह अपनी ध्यान-साधना में इतनी डूबी रहतीं कि उन्हें अपने उठने, नहाने, खाने की सुध-बुध ही न रहती। घर के सदस्य उनके इस आंतरिक परिवर्तन से अनजान थे। बड़ी भाभी जो माँ की तरह उनकी साज-सँभाल किया करती थीं, उन्हें समझाती रहतीं। बार-बार कहतीं, ''लाली, तू तो ऐसी न थी। आजकल तुझे क्या हो गया है! कहाँ तो तू सबेरे-सबेरे जल्दी उठकर नहा-धोकर तैयार हो जाती थी, खेलने लगती थी, घर का काम-काज भी करा लेती थी, पर आजकल तो तुझे जैसे अपना ध्यान ही नहीं रह गया है।''

भाभी की इन बातों को वह हँसकर टाल जाती थीं। जिस किसी तरह उन्हें बहला-समझा देतीं। वह जानती थी कि यदि वह बैठकर सुव्यवस्थित तरीके से दिन-रात ध्यान-साधना करेगी, तो सबके-सब परेशान हो जाएँगे और वह अपने परिवार के किसी भी सदस्य को परेशान नहीं करना चाहती थीं, इसीलिए उन्होंने यह अनूठा तरीका निकाला था। वह दिन-प्रतिदिन ध्यान-साधना की गहरी भावदशा में खोती जा रही थीं। अनेकों दिव्य अनुभूतियाँ प्रतिक्षण उन्हें घेरे रहती थीं। बाहरी तौर पर सब कुछ सामान्य होते हुए भी उनके आंतरिक जीवन में सभी कुछ असामान्य और अलौकिक हो गया था।

अपनी उन दिनों की बातों की चर्चा किसी विशेष प्रसंग में करते हुए उन्होंने अपनी एक शिष्य-संतान को कुछ खास बातें बताई थीं। साधना, तपस्या की बात करते हुए उन्होंने कहा था, ''ये सब जितना गोपनीय रहे, उतना ही अच्छा। संसार को दिखाकर-जताकर भला क्या लाभ होगा? गुरुजी को लोकशिक्षण करना था, तुम सब को बताना था, सिखाना था, इसलिए उन्होंने अपने बारे में कुछ छोटी-मोटी बातें बता दीं। उनकी विशेष तपस्या के बारे में अभी भी किसी को कुछ नहीं पता। मेरे बारे में तो खैर कोई कुछ जानता ही नहीं है, जबकि असलियत यह है कि मेरी साधना ग्यारह-बारह साल की उम्र में शुरू हो गई थी। इसमें कहीं कोई दिखावा न था। बस सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते हर समय ध्यान किया करती थी। देह का तो जैसे कोई होश नहीं रह गया था। बड़ी विचित्र स्थिति थी उन दिनों।''

अस्तित्व के कण-प्रतिकण में, अणु-परमाणु में जो अव्यक्त नाद है, वह उन्हें हर समय सुनाई देता रहता था। कभी तो भेरी बजती, कभी मृदंग, कभी वीणा, कभी शंख ध्वनि होती और कभी सब मिल-जुलकर वाद्यवृंद से अलौकिक संगीत उपजाते। उनके देह-मन में सर्वत्र अणु-परमाणुओं के विद्युतकणों का नृत्य और घूर्णन चलता रहता। लीलामयी अपने अंत:करण में इन अणु-परमाणुओं के सतत वेधन, ध्वंस और नए-नए समुच्चयों से अनंत पदार्थों की सृष्टि, विकास और समाप्ति के सिलसिले से तदाकार होने लगी। उनकी चित् शक्ति की चैतन्यता में सब कुछ स्पष्ट होने लगा। इन्हीं दिनों उन्होंने अपने जन्म और जीवन के कई रहस्यों का साक्षात्कार किया।

ध्यान की गहनता में उन्होंने अपने साधनामय अतीत की झलकियाँ देखीं। गंगा की लहरों एवं मंदिर की घंटियों की गूँज के साथ जो दृश्य उभरे, पहले वे अस्पष्ट थे। बाद में धीरे-धीरे उन्होंने अपने को दक्षिणेश्वर मंदिर में रामकृष्ण

परमहंस के साथ पाया। उन्हें ऐसा लगा, जैसे कि वे परमहंस देव के साथ, उनके भक्तों व शिष्यों के साथ घिरी हैं। सभी उन्हें माँ-माँ कहते हुए भक्तिपूर्वक प्रणाम-प्रणिपात कर रहे हैं। इस अद्‌भुत दृश्यावलि में वह कितनी देर खोई रहीं, कुछ पता ही न चला।

तभी अचानक उनकी ध्यानस्थ चेतना में दृश्य परिवर्तन हुआ। गंगा की लहरों और मंदिर की घंटियों की गूँज अभी भी यथावत थी। बस अन्य दृश्य बदले। ऐसा लगा जैसे वह बनारस में कहीं हैं। संत कबीर के ताने-बाने के साथ उनके जीवन का ताना बुना हुआ है। वह अक्खड़-फक्कड़ कबीर के साथ हैं। अनेकों सामान्यजन उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देख रहे हैं। उनकी झोपड़ी के पास सच्चे योगी, गरीब, अनपढ़ सब एक साथ संत कबीर से ज्ञान पाने के लिए आए हैं। ध्यान की गहनता में उभरते इन दृश्यों को वह निहारती रहीं। इस कालशून्यता में काल-बोध का कोई प्रश्न ही न था।

महाकाल का संदेश

परमपूज्य गुरुदेव ने जीवनभर जनकल्याण हेतु साहित्य सृजन किया, उनके तप एवं ज्ञान का निचोड़ उनके साहित्य में है। सभी लोगों तक यह ज्ञानगंगा पहुँचे, इसीलिए 'पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय' का प्रकाशन किया गया है। लाखों ने इसे पढ़कर जीवन धन्य बनाया है। हर घर में वाङ्मय की स्थापना होनी चाहिए, परिवार के लिए यह अमूल्य धरोहर एवं विरासत है।

यदि आपको भगवान ने श्री-संपन्नता दी है, तो ज्ञानदान कर पुण्य अर्जित करें। विशिष्ट अवसरों एवं पूर्वजों की स्मृति में पूज्यवर का वाङ्मय विद्यालयों, पुस्तकालयों में स्थापित कराएँ। विवाह, जन्मदिवस एवं अन्य उत्सवों पर अथवा पारितोषिक स्वरूप भी यह साहित्य अमूल्य भेंट सिद्ध होगा। आपका यह ज्ञानदान आने वाली पीढ़ियों तक को सन्मार्ग पर चलाएगा, जो भी इसे पढ़ेगा, धन्य होगा। शास्त्रों में कहा है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ —*मनुस्मृति ४/२३३*

जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घी, इन सबके दानों में से ज्ञान का दान सबसे उत्तम है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ —*गीता ४/३३*

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि जितने भी कर्म हैं, वे सब ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। ज्ञानदान सर्वोपरि पुण्य है, शुभ कार्य है।

दृश्य परिवर्तन यहाँ भी थे। चित् शक्ति का लीला-विलास यहाँ भी सक्रिय था। ध्यान की इस भावभूमि में उन्हें प्रत्यक्ष हुआ कि जो कबीर थे, वही श्रीरामकृष्ण परमहंस रहे और वही अब वह महायोगी हैं, जो उन्हें वर्षों से दिखाई दे रहे हैं। इन्हीं के साथ उनके अपने भविष्य की डोर बँधी है। बीते दो जन्मों का सुपरिचित सान्निध्य उन्हें इस जीवन में भी मिलने वाला है। संत कबीर की लीला सहचरी 'लोई', श्रीरामकृष्ण परमहंस की लीला संगिनी रहीं 'सारदा' वही हैं। जिस आत्म-चेतना ने लोई के रूप में जन्म लिया, जिसने सारदा के रूप में जीवन जिया, उसी ने अब भगवती का नाम-रूप स्वीकार करके देह धारण की है।

कई वर्षों की तीव्र ध्यान-साधना के बाद उन्हें अपने प्रश्नों के उत्तर मिल गए। उनकी जीवनचर्या का बाह्य रूप फिर से पूर्ववत् सुव्यवस्थित हो गया। घर के सभी सदस्यों को आश्वस्ति मिली। बस उन्हें पहले और अब में सिर्फ एक परिवर्तन नजर आया। अब उनकी लाली प्रातः जल्दी स्नान करके शिव-पूजा के साथ नियमित ध्यान करने लगी है। अपने आराध्य से मिलने की उनकी तीव्र उत्कंठा को कोई समझ न पाया। लगातार तीव्र होती जा रही उनकी आंतरिक पुकार से परिवार के सभी सदस्य अनजान थे, हालाँकि इस बीच घटनाचक्र तेजी से बदल रहे थे। उन दिनों की प्रथा के अनुरूप जसवंतराव शर्मा को अपनी प्यारी बेटी के विवाह की चिंता होने लगी थी। किशोरी भगवती की अंतर्चेतना में उफनती अलौकिकता के ज्योति सागरों के बीच पुकार के सघन स्वर गूँज रहे थे। आराध्य के चरणों के प्रति उनका अनुराग नित्यप्रति बढ़ता जा रहा था। उनमें आध्यात्मिक प्रेम के बीज अंकुरित होने लगे थे। ▼

आराध्य से मिलन की भावभूमिका

आराध्य के चरणों में भगवती की प्रीति दृढ़ हो चली थी। उनके हृदय में भक्ति की अंतर्धारा प्रवाहित होती रहती। ध्यान-साधना में अपने विगत जन्मों की कथा स्पष्ट हो जाने के बाद उनमें एक भाव परिवर्तन हो गया था। वह पहले भी शांत रहा करती थीं। अब यह शांति और भी सघन हो गई। इन दिनों वह सर्वथा शांत-अचंचल रहकर अपने दैनिक क्रिया-कलापों में संलग्न रहतीं। बड़ी भाभी के घर-गृहस्थी के कामों में सहयोग, रामायण, महाभारत आदि धर्मग्रंथों का स्वाध्याय, अपनी नियमित ध्यान-साधना, बस यही उनकी दिनचर्या के अनिवार्य तत्त्व थे। घर में सबसे छोटी होते हुए भी वह परिवार के अन्य सभी सदस्यों की देखभाल किया करती थीं। किसको, कब, क्या और कितनी जरूरत है, इस बात का उन्हें हमेशा ध्यान रहता।

उनके दोनों बड़े भाई दीनदयाल और सुनहरी लाल उनके गुणों से अभिभूत रहते थे। भाभी को तो उन पर नाज था। बड़ी बहन ओमवती की शादी इस बीच हो चुकी थी। अब उनका घर में यदा-कदा ही आना-जाना हो पाता था। वह अपनी छोटी बहन को चाहती बहुत थीं, इसलिए वह भाभी से, पिताजी से कभी-कभी जिद करतीं कि लाली को थोड़े दिनों के लिए उनके साथ भेज दें। यहाँ तो कहीं आना-जाना हो नहीं पाता है। इस तरह मन बहल जाएगा। वह भी कुछ दिन और अपनी छोटी बहन के साथ रह लेंगी। ओमवती की इस जिद पर जैसे-तैसे जसवंतराव सहमत हो जाते और भगवती थोड़े दिनों के लिए अपनी बड़ी बहन की ससुराल हो आती। वहाँ भी उनकी दिनचर्या यथावत बनी रहती। बहन को घर के कामों में सहयोग देने के साथ वह अपनी ध्यान-साधना का क्रम बनाए रखतीं।

इन दिनों घर-परिवार के लोग उनके लिए सुयोग्य वर की खोज-बीन बड़े जोर-शोर से कर रहे थे। बड़े भाई दीनदयाल और पिता पं. जसवंतराव के बीच इस संबंध में काफी चर्चाएँ हुआ करतीं। इस बार जब वह अपनी बड़ी बहन ओमवती के यहाँ से लौटीं, तो देखा परिवार के एक बुजुर्ग रिश्तेदार किशनप्रसाद जी आए हुए हैं। यह रिश्ते में पं. जसवंतराव के मामा लगते थे। वे इस समय किसी वर की चर्चा कर रहे थे। पं. जसवंतराव एवं उनके बड़े बेटे दीनदयाल बड़े धीरज और उत्सुकता के साथ उनकी बातें सुन रहे थे। उनकी बातों के कुछ शब्द भगवती के कानों में भी पड़े। वह कह रहे थे, ''जसवंत, मैं तो कहता हूँ कि ऐसा लड़का कहीं भी दुनिया भर में खोजे नहीं मिलेगा। वे लोग आँवलखेड़ा के रहने वाले हैं। आस-पास के गाँवों में उनकी बड़ी जमींदारी है। खानदानी रईस हैं।''

इन बातों के बीच में जसवंतराव ने टोका, ''आपने उन्हें मेरे बारे में सब कुछ सही-सही बता दिया कि नहीं ?'' प्रश्न के उत्तर में किशन प्रसाद कहने लगे, ''इसमें छिपाने की बात भी क्या है ? मेरी लड़के के बड़े भाई रामप्रसाद से बात हुई। मैंने उनसे कह दिया कि जसवंतराव के पुरखे अहमदपुर (खैर, अलीगढ़) के रहने वाले थे। वहीं उनका अपना घर और खेती थी। परदादा के जमाने में १२ जोत की जमींदारी थी। परिवार का बड़ा नाम था, लेकिन तुम्हारे पिता श्री परसादी लाल शर्मा के जमाने में बात बिगड़ गई। किसानों की खराब हालत के कारण परसादी लाल जी ने लगान लिया नहीं और धीरे-धीरे जमींदारी जाती रही।'' किशन प्रसाद की इन बातों को सभी लोग बड़े ध्यान से सुन रहे थे। वह बता रहे थे, ''मैंने रामप्रसाद को यह भी बता दिया कि तुम लोग चार भाई हो, जसवंत शर्मा, बलवंत शर्मा, रामदयाल शर्मा और वासुदेव प्रसाद। इन चार भाइयों के बीच एक बहन है रामश्री, जो अब अपने घर-परिवार की है।''

किशन प्रसाद की बातों का सिलसिला अपने पूरे वेग में था। अपनी बातों में वे शायद यह भी भूल चुके थे कि सभी लोग लड़के के बारे में जानने के लिए उत्सुक हैं। दीनदयाल के टोकने पर उन्हें ध्यान आया और उनकी बातों की दिशा बदली। वह कहने लगे, ''अरे लड़के के बारे में क्या पूछते हो ? पं. रूपकिशोर शर्मा का बेटा है। अब पं. रूपकिशोर के नाम को तो आस-पास के इलाके में सभी जानते हैं। उनके इस सुपुत्र का नाम श्रीराम है। तपस्या, साधना, पढ़ाई-लिखाई सब में अव्वल है। पहले कुछ दिन उसने यहीं आगरा में रहकर सैनिक अखबार में काम किया। आजकल मथुरा में रहकर खुद की पत्रिका निकालते हैं। बस काल देवता ने उनकी पहली पत्नी को उठा लिया। उसके तीन बच्चे हैं- ओमप्रकाश, दयावती

और श्रद्धा, पर अपनी लाली तो इतनी गुणी है कि सब कुछ बड़ी आसानी से सँभाल लेगी।''

किशन प्रसाद की इन बातों की घर में कई दिनों तक चर्चा होती रही। चिंतन और चर्चा के अनेकों दौर चले। पहली पत्नी के मरने और उसके तीन बच्चों के होने की बात दीनदयाल को थोड़ा खटकी। इस पर उन्होंने अपने पिता पं. जसवंतराव से काफी देर तक बातें कीं। बातों के बीच में उन्होंने यह भी पूछा, दादा, यह बताओ कि तुम्हारी ज्योतिष क्या कहती है ? उत्तर में जसवंतराव गंभीर होकर कहने लगे, ''देखो, मेरी तो शुरू से मान्यता है कि अपनी लाली देवी का अंश है। इसका विवाह किसी आम व्यक्ति से नहीं निभ सकता। फिर वह चाहे कितना ही बड़ा धनवान क्यों न हो? अपनी लाली के सुयोग्य वर वही है, जो तपोनिष्ठ हो, अध्यात्म विद्या का ज्ञाता हो। मुझे तो यह लड़का सब तरह से लाली के लिए ठीक लगता है।'' पं. जसवंत राव की बातें दीनदयाल को भी ठीक लगीं। अंत में पिता-पुत्र दोनों ने मिलकर यह तय किया कि कन्या की भाभी सारी बातें उसे बताकर उसके मन की बात जानने की कोशिश करे। जो कुछ होगा, सो लाली की सहमति से होगा।

भाभी ने अपने पति और श्वसुर की आज्ञानुसार अपनी प्यारी ननद से सारी बातों की चर्चा की। वह सारी बातों को बड़े ही शांत भाव से सुनती रहीं। बातों की समाप्ति पर उन्होंने एक पल के लिए अपनी अंतर्चेतना को एकाग्र किया। इस एकाग्रता में सत्य उद्भासित हो गया। उन्हें इस बात का अहसास हो गया कि इस समय जिनसे उनके विवाह की चर्चा की जा रही है, उन्हीं के कार्य में सहयोग के लिए उन्होंने देह धारण की है। उनके पिछले जन्मों में पति और मार्गदर्शक रहे उनके आराध्य ही इस बार उनके पति होने जा रहे हैं। अंतर्मन की इन सारी बातों को उन्होंने गोपन ही रखा। प्रत्यक्ष में उन्होंने बस केवल इतना कहा, ''भाभी, दादा से कह देना कि मुझे उनकी सारी बातें स्वीकार हैं। वे जो कुछ करने जा रहे हैं, उसी में मेरे जीवन का कल्याण है।''

लाली की सहमति व स्वीकृति पाकर सारे परिवार में उत्साह का ज्वार उफन उठा। उल्लास की तरंगें घर के कोने-कोने में बिखरने लगीं। वर पक्ष के लोगों की सहमति भी आ गई। मंगल परिणय की तैयारियाँ होने लगीं। फाल्गुन शुक्ल सप्तमी वि. स. २००१, १८ फरवरी १९४५ का दिन विवाह के लिए निश्चित हुआ। विवाह का दिन तय होने के बाद से पं. जसवंत राव के मन में खुशियों के साथ एक कसक भी घुल गई। उन्हें ऐसा लगने लगा जैसे कि जगदंबा पार्वती ने पीहर छोड़कर भगवान भोले नाथ के साथ जा बसने का संकल्प ले लिया हो। अपनी इस कसक को दिल में लिए जसवंत राव बेटी के विवाह की तैयारी में जुटे रहे। अरेला गाँव के ज्वाला प्रसाद इसमें उनके मुख्य सहयोगी बने। उन्हीं के माध्यम से सारी बातें बनीं।

निश्चित तिथि पर विवाह संपन्न हुआ। विवाह में बहुत सादगी थी। दिखावे-प्रदर्शन का तो जैसे कोई नामोनिशान भी न था। यह मनुष्यता के सामने जीवनादर्श को प्रस्तुत करने वाले ऋषियुग्म का मंगल परिणय था। यह तप और श्रद्धा का मिलन था। ज्ञान और भक्ति का अनोखा सायुज्य था। भगवती और श्रीराम इस शुभ घड़ी में अपने आदर्श पथ पर एक साथ चलने के लिए संकल्पित हुए थे। अपने आराध्य के चरणों के सामीप्य में भगवती के जीवन का एक सर्वथा नया आयाम उद्घाटित हुआ था। माँ का मातृत्व अभिव्यक्त हो रहा था। मातृत्व की सजल भावनाएँ अपना स्वरूप व आकार पाने की तैयारी में थीं।

✻

आवश्यकता है

गायत्री परिवार के उत्साही, कर्मठ युवकों की, जिन्हें मार्केटिंग का अनुभव हो एवं घर-घर जाकर वाङ्मय ग्रंथों का प्रचार-प्रसार कर सकें। न्यूनतम ग्रेजुएट होना अनिवार्य है। ब्राह्मणोचित निर्वाह की व्यवस्था उपलब्ध है।

नाम, पता, आयु, शिक्षा, वर्तमान व्यवसाय, पिता का नाम-पता, व्यवसाय, परिवार के सदस्यों का विवरण, अपेक्षित निर्वाह-राशि, पासपोर्ट साइज फोटो तथा अन्य जानकारियों के साथ अपना प्रार्थना-पत्र निकटतम गायत्री शक्तिपीठ से प्रमाणित कराकर भेजें।

व्यवस्थापक

अखण्ड ज्योति संस्थान

मथुरा

मातृत्व के साथ निभा अलौकिक दांपत्य

माँ का मातृत्व आँवलखेड़ा में पाँव रखते ही छलक उठा। बारात विदा होकर यहीं आई थी। पूर्वजों की देहरी, अपने आराध्य की जन्मस्थली व उनकी प्रारंभिक तपस्थली में वह दुल्हन के रूप में डोली से उतरी थीं। लाल रंग की जरी के काम वाली साड़ी पहने सौभाग्य शृंगार से सजी वह साक्षात जगदंबा लग रही थीं। हिमवान की पुत्री पार्वती का पीहर से विदा होकर भगवान भोलेनाथ के साथ अपनी ससुराल आने का दृश्य उन पलों में साकार हो गया। बाल मंडली शिवगणों की तरह उन्हें बड़ी श्रद्धा एवं आश्चर्य से देखे जा रही थी। ताई जी (उनकी सास व पूज्य गुरुदेव की माताजी) शुभ शकुनों वाले सारे लोकाचार पूरे करने में लगी थीं। यह क्रम काफी देर तक चलता रहा। एक-एक करके सभी रीति-रिवाज और विधि-विधान पूरे हुए।

इसके बाद एक जगह चटाई पर उन्हें बैठाया गया। बच्चे अभी तक उन्हें घेरे हुए थे। इन बच्चों में अड़ोस-पड़ोस के बच्चों, नजदीकी रिश्तेदारों के बच्चों के साथ दया और ओमप्रकाश भी थे। श्रद्धा तब बहुत छोटी थी। वह इस बाल मंडली का हिस्सा नहीं थी। अचरज और कौतुक इन बच्चों के मनों को जब-तब कुरेद देता था। इसी के वशीभूत होकर वह थोड़ा-बहुत आपस में धीमे से बतिया लेते थे। तभी दया आगे बढ़ी और पास जाकर खड़ी हो गई। उन्होंने उसका हाथ पकड़कर अपने पास बिठा लिया और बड़े प्यार से बोलीं, ''मैं तुम्हारी माँ हूँ बेटी, मुझसे संकोच की कोई जरूरत नहीं है।''

इस कथन से दया को बड़ी आश्वस्ति मिली। उसने बड़े ही धीमे और लरजते स्वर में कहा, ''माँ।'' इस एक अक्षर ने माता और पुत्री दोनों की अंतर्भावनाओं को एकरस कर दिया। अपरिमित मिठास उनके जीवन और घर-आँगन में बिखर गई। माँ के होने का अहसास मन को कितनी आश्वस्ति, सहारा, संबल, विश्वास और निश्चिंतता देता है, यह दया के मुख मंडल पर अचानक उभर आई प्रसन्नता की चमक देखकर सहज ही प्रकट हो रहा था। वह इतनी देर में कई बार अपने मन में माँ-माँ का एकाक्षरी महामंत्र गुनगुना चुकी थी। माँ के प्यार की तरलता ने उसके अंतस्तल को भावसिक्त कर दिया था। वह उन्हीं के पास सिमट-सिकुड़कर, चिपटकर बैठ गई।

दया की इस भावमुद्रा ने ओमप्रकाश को अचरज में डाल दिया। वह सोचने लगे कि उनकी छोटी बहन अचानक इतनी खुश नजर क्यों आने लगी। आखिर कुछ ही पलों में उस पर क्या जादू हो गया! अपने सोच-विचार में डूबे हुए वह भी हिम्मत करके आगे बढ़े। इस समय उन्होंने नेकर-कमीज पहन रखी थी। कुछ कदमों का फासला तय करके वह पास जाकर खड़े हो गए। इतने में उधर से ताई जी गुजरीं। उन्होंने अपने स्वभाव के अनुरूप थोड़ा तेज आवाज में कहा, ''खड़ा-खड़ा देख क्या रहा है? चल झुककर अपनी माँ के पैर छू।'' ताई जी की आवाज से थोड़ा सहमते हुए ओमप्रकाश ने पाँव छू लिए।

चरण स्पर्श करते ही उन्होंने पूछा, ''किस कक्षा में पढ़ते हो?'' ओमप्रकाश ने बड़े हल्के स्वर में इस प्रश्न का उत्तर दिया, ''मेरा नाम ओमप्रकाश है और मैं कक्षा सात में पढ़ता हूँ।'' इस प्रश्नोत्तर ने माँ और पुत्र को भाव के कोमल तंतुओं से जोड़ दिया। अपने प्रथम मिलन की अनुभूतियों को याद कर आज भी 'ओमप्रकाश' जी की आँखें भीग जाती हैं। वह कहते हैं, ''कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति, के कथन को साकार करती हुई माँ अपने इस बेटे पर सदा कृपालु बनी रहीं। अगणित गलतियों को उन्होंने हँसकर बिसराया। क्षमामयी ने सारे अपराध पल में क्षमा किए और सदा ही अपनी स्वभावगत कोमलता-मृदुलता निछावर करती रहीं।''

ओमप्रकाश और दया से मिलकर माँ श्रद्धा से मिली। अपनी इस बालिका को उन्होंने भरपूर प्यार दिया। उस पर असीम स्नेह उँड़ेला। कुछ ही दिनों में तीनों माँ से घुल-मिल गए। माता ने भी उन्हें अपने हृदय में जगह दी। घर का वातावरण उनके आगमन के कुछ ही दिनों में बदल गया। ऐसा लगने लगा कि जैसे पतझड़ में वसंत की देवी आ गई हो। घर के काम-काज, बच्चों के रख-रखाव सभी में एक निखार आ गया। सब तरफ सौंदर्य और सुव्यवस्था नजर आने लगी। इस परिवर्तन ने हर एक मन-प्राण व अंतःकरण को छुआ। इस छुअन ने अनेकों सजल भावनाएँ जगाईं।

अपने आराध्य की अंतर्चेतना व अंतर्भावना से तो पहले ही मिल चुकी थीं। दृश्य व प्रत्यक्ष मिलन इन्हीं दिनों हुआ। इस मिलन के हर पल में, हर घड़ी में एक

अपूर्व अलौकिकता थी। यह किसी सामान्य विवाहित दंपती का मिलन नहीं था। पति-पत्नी के सामान्य सांसारिक मिलन की तरह इसमें स्थूल और लौकिक दृष्टि नहीं थी। यह तो परम पुरुष और माता प्रकृति के मिलन की तरह अद्भुत था। इसमें सर्वेश्वर सदाशिव और भगवती महाशक्ति के मिलन की अलौकिकता थी। नई सृष्टि के सृजन का बीजारोपण मिलन के इन्हीं पलों में हुआ। ईश्वर चिंतन और चर्चा के बीच वे दोनों जब भी इकट्ठे बैठते, भविष्य की नई संभावनाओं पर चर्चा होती। उनके आराध्य उन्हें नई भूमिका के लिए तैयार करते।

तपोभूमि के स्वर्ण जयंती वर्ष में गुरुसत्ता का मूर्ति स्थापना समारोह

यह वर्ष गायत्री तपोभूमि की स्थापना का स्वर्ण जयंती वर्ष है। २४ लक्ष के २४ महापुरश्चरणों को संपन्न कर परमपूज्य गुरुदेव ने इनकी पूर्णाहुति गायत्री तपोभूमि में माँ आद्यशक्ति गायत्री की मूर्ति की स्थापना करके गायत्री जयंती २२ जून, १९५३ को की थी। इससे पूर्व २४ दिन का जल उपवास रखा था। तप की पृष्ठभूमि पर यह विराट् अखिल विश्व गायत्री परिवार खड़ा है। इस स्वर्ण जयंती वर्ष में गायत्री महामंत्र लेखन अभियान को तीव्र गति दी जा रही है। इससे सारे भारत में गायत्रीमय वातावरण बनेगा। सभी भाषाओं में ये पुस्तिकाएँ गायत्री तपोभूमि में उपलब्ध रहेंगी। इसके साथ-साथ ज्ञान-मंदिरों की स्थापना का क्रम भी चलेगा। शरद पूर्णिमा (२१ अक्टूबर) की पावन वेला में गायत्री तपोभूमि में माँ गायत्री की प्रतिमा के दोनों ओर के दो कक्षों में परमपूज्य गुरुदेव एवं परमवंदनीया माताजी की मूर्ति की स्थापना एक सादगी भरे शपथ आयोजन में की जा रही है। २०, २१, २२ अक्टूबर की तारीखों में संपन्न हो रहे इस कार्यक्रम में उन्हीं प्राणवान कार्यकर्त्ताओं को आने को कहा जा रहा है, जो विशिष्ट जिम्मेदारी उठा सकें। इसमें न्यूनतम १०० व्यक्तियों से मंत्रलेखन कराना, मिशन की चारों पत्रिकाओं के न्यूनतम पचास पाठक सदस्य बढ़ाना, अपने तप की मात्रा बढ़ाना, सप्त आंदोलनों में से कोई भी दो आंदोलन इस एक वर्ष में पूर्णता तक पहुँचाना तथा स्वयं का समयदान वर्ष में ३ माह तक अपने क्षेत्र में अथवा बाहर देना सम्मिलित है। ऐसे विशेष दायित्व जो निभा सकेंगे, वे ही इसमें आएँ। यह जन आंदोलन नहीं, शपथ लेने वाले मरजीवड़ों का संकल्पित अनुष्ठान है, जो संकल्पित साधक गायत्री तपोभूमि में आ रहे हों, वे अपनी सूचना गायत्री तपोभूमि, मथुरा शीघ्र ही भेज दें।

यह गुरुदेव की तीव्र साधना का काल था। गायत्री महापुरश्चरणों की श्रृंखला अपने अंतिम चरण में थी। अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका का प्रकाशन विधिवत प्रारंभ हो चुका था। आज का विशालकाय गायत्री परिवार तब अखण्ड ज्योति परिवार के रूप में अंकुरित होने लगा था। इसकी उपयुक्त साज-सँभाल के लिए, सही पालन-पोषण के लिए माँ की आवश्यकता थी। माँ का अर्थ केवल एक-दो संतानों को जन्म देने तक सीमित नहीं था। जन्म देने भर से कोई माँ नहीं बन जाया करती। माँ तो वही है, जो अपनी संतानों को श्रेष्ठ संस्कार दे। उनमें अपने प्राणों को उँड़ेलकर उनका भाव विकास करे। उन्हें विश्व उद्यान के श्रेष्ठ पुष्पित पादपों के रूप में विकसित करने के लिए जरूरी खाद-पानी की व्यवस्था जुटाए।

यह काम आसान नहीं है। इसके लिए कठोरतम साधना और अध्यात्म उपार्जित आत्मशक्ति की आवश्यकता है। अपनी भावी रीति-नीति के अनुरूप माता भगवती इन दिनों यही करने में जुट गईं। अपने आराध्य के संसर्ग में अनेकों गुह्यमंत्रों, बीजाक्षरों, योग की गहन प्रक्रियाओं का ज्ञान उन्हें इसी समय हुआ। उनकी अपनी विशिष्ट साधना की शुरुआत ठीक उसी स्थान से हुई, जहाँ कभी तपस्वी प्रवर श्रीराम ने अखण्ड साधना दीप प्रज्वलित किया था। हालाँकि यहाँ उनका साधनाकाल बहुत ही थोड़े समय के लिए रहा। अखण्ड ज्योति के प्रकाशन की वजह से परमपूज्य गुरुदेव का मथुरा रहना अनिवार्य था। पहले कुछ अंकों के आगरा से प्रकाशित होने के बाद अब अखण्ड ज्योति मथुरा से प्रकाशित होने लगी थी। साधकों, जिज्ञासुओं और आगंतुकों का आवागमन भी बढ़ने लगा था। मथुरा में पहले लिया गया किराये का मकान भी छोटा पड़ने लगा था। नई परिस्थितियों के अनुरूप वर्तमान अखण्ड ज्योति संस्थान के मकान को किराये पर लिया गया और माता भगवती, ताई जी, बच्चों व अपने आराध्य के साथ अखण्ड ज्योति संस्थान (वर्तमान का घीयामंडी वाला आवास) के आँगन में आकर वास करने लगीं। ◆

परिवार ही नहीं, सबकी माताजी

अखण्ड ज्योति संस्थान के आँगन में माता भगवती प्रायः सभी की माताजी बन गईं। पास-पड़ोस के बच्चे ही नहीं, अखण्ड ज्योति कार्यालय में आने-जाने वाले लोग भी उन्हें 'माताजी' कहने लगे। यहाँ आते ही उन्होंने अनेकों जिम्मेदारियाँ एक साथ सँभाल लीं। प्रेम, सदाशयता, सहिष्णुता और श्रमशीलता की प्रकाश-रश्मियों का पुंज उनके व्यक्तित्व को और भी अधिक प्रकाशित करने लगा। यहाँ वह सबसे बाद में सोतीं और सबसे पहले जगतीं। उनके जगने का समय तो निश्चित था, पर सोने के समय के बारे में कोई ठिकाना नहीं था, क्योंकि हर दिन इतने तरह के नए-नए काम आ जाते थे कि सोने में प्रायः देर हो ही जाती और कुछ नहीं तो समय-कुसमय आने वाले आगंतुकों की भोजन व्यवस्था में ही विलंब हो जाता। देर से सोने के कारण व स्थिति कुछ भी हो, पर वह रात्रि ३ बजे बड़े ही नियम से जग जाया करती थीं।

जागरण के पश्चात् नित्यकर्म से निवृत्त होकर वह योग-साधना के लिए बैठ जातीं। उनकी पूजावेदी पर सदा परमपूज्य गुरुदेव एवं गायत्री माता का चित्र प्रतिष्ठित रहता था। वही उनके जीवन-सर्वस्व और आराध्य थे। अपने आराध्य में ही वे जगन्माता गायत्री की अनुभूति करती थीं। इस चित्र का पंचोपचार पूजन करके प्राणायाम की कुछ विशिष्ट प्रक्रियाएँ संपन्न करतीं। इसी के साथ गायत्री महामंत्र का जप उनकी अंतर्चेतना में होने लगता। उनकी कठिन साधना से जाग्रत् एवं चैतन्य गायत्री महामंत्र के प्रत्येक बीजाक्षर का स्फोट उनके अस्तित्व के विभिन्न गुह्य केंद्रों में होता रहता। यह उनके द्वारा किए जाने वाले गायत्री जप की अद्भुत प्रणाली थी। जप के अनंतर वह ध्यानस्थ हो जातीं। ध्यान की भावदशा में वह अपने महाशक्ति के स्वरूप में परिपूर्णता से निमग्न होतीं। साधना का यह क्रम प्रायः सूर्योदय तक चलता रहता।

इसके बाद घर और कार्यालय के अन्य काम-काज शुरू हो जाते। इन कामों को भी वह किसी भी तरह योग साधना से कम नहीं मानती थीं। वह कहा करती थीं कि काम चाहे छोटा हो या बड़ा, यदि सच्चे भाव से भगवान को अर्पित करके किया जाए, तो वह योग साधना बन जाता है। उससे ध्यान और समाधि की ही तरह योग विभूतियाँ प्रकट होती हैं। माताजी की इन बातों में कोरा शब्द विस्तार नहीं, अनुभूति का सत्य समाया था। अपने कामों के द्वारा वह हर पल-हर क्षण साधना किया करती थीं। उनका कहना था कि स्वार्थ और अहंकार के तत्त्वों की विषाक्तता से प्रायः सभी कर्म कलुषित होते रहते हैं। इनके रहते हुए किसी भी कर्म का योग बनना संभव नहीं हो पाता। इनकी जगह यदि अपने आराध्य के प्रति निष्ठा और समर्पण की भावनाएँ कर्म में समाविष्ट हो जाएँ, तो सब कुछ बदल जाता है। कोई माने या न माने, फिर बरतन माँजना, झाड़ू-पोंछा करने जैसे हीन समझे जाने वाले काम भी ध्यान-साधना का रूप ले लेते हैं।

उनका यह अनुभव-सत्य उनके जीवन में रोज ही प्रकट होता था। झाड़ू-पोंछा और बरतन माँजने जैसे कामों से ही उनके कामकाजी दिन की शुरुआत होती थी। खाना पकाना भी एक बड़ा काम था। परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त आने वालों की बड़ी संख्या हमेशा घर में बनी रहती। आने वालों की संख्या कोई ठीक-ठीक निश्चित नहीं थी। कभी तो ये पाँच-दस होते, तो कभी तीस-चालीस तक हो जाते। स्थिति जो भी होती, इन सभी के भोजन की उपयुक्त व्यवस्था माताजी को ही अन्नपूर्णा बनकर करनी पड़ती। अपने इस दायित्व को वह बड़े ही उत्साह के साथ निभातीं। भोजन करने वालों को, बनाए गए भोज्य पदार्थों के साथ माँ के प्यार का भी अलौकिक आनंद मिलता। अथक परिश्रम वाले इस कार्य को करते हुए किसी ने कभी उनको चिड़चिड़ाते या परेशान होते हुए नहीं देखा। स्नेह स्मित बिखेरते हुए वह सदा काम में जुटी रहती थीं।

काम जब बहुत ज्यादा बढ़ गया, तब परमपूज्य गुरुदेव ने घर के कामों के लिए एक सहयोगिनी महिला की व्यवस्था कर दी। यह मथुरा के ही बैरागपुरा मुहल्ले में रहने वाली एक गरीब विधवा थी, जो टूटी-फूटी कोठरी में एक छोटे-से बालक के साथ बिना किसी सहारे, बिना किसी आर्थिक स्रोत के दिन काट रही थी। जिस समय उसे रखा गया, उस समय उसकी उम्र २०-२२ वर्ष रही

होगी, लेकिन गरीबी की मार ने उसे असमय बूढ़ा कर दिया था। लंबे कद की यह साँवली महिला जली लकड़ी-सी लगती थी। उसकी दुर्बलता के कारण उसके गालों में गड्डे उभर आए थे, आँखें बैठ गई थीं। उसका नाम था, 'गुलाबो'। हर बात में उसकी 'ए जू' कहने की आदत के कारण अखण्ड ज्योति संस्थान में उसका नाम ही 'ए जू' हो गया था। सभी लोग उसे इसी नाम से बुलाने लगे।

'ए जू' कुछ ही दिनों में माताजी की प्रिय सहयोगिनी बन गई। माताजी द्वारा उसके स्वास्थ्य व खान-पान पर विशेष ध्यान दिए जाने के कारण थोड़े ही दिनों में वह दीन-दुर्बल के स्थान पर स्वस्थ, सुपुष्ट एवं सुंदर दिखने लगी। गली-गली में मारे-मारे फिरने वाले उसके लड़के को माताजी ने स्कूल में दाखिला कराया। वह और उसका बालक दोनों ही निहाल हो गए। 'ए जू' के सहयोग से काम की गति तो बढ़ी, पर माताजी की श्रमशीलता में जरा भी कमी नहीं आई। वह घर के सामान्य काम-काज के अलावा अखण्ड ज्योति कार्यालय के कामों में भी हाथ बटाया करती थीं। परिजनों को भेजी जाने वाली अखण्ड ज्योति पत्रिका के रैपरों में वह टिकट चिपकातीं, उन्हें भेजने की व्यवस्था करतीं।

पाठकों एवं परिजनों के जो पत्र कार्यालय में आते थे, उनके उत्तर लिखने में गुरुदेव की सहायता करना माताजी का प्रिय कार्य था। गुरुदेव के पास बैठकर वह अपने पास पत्रों का ढेर जमा कर लेतीं। इसके बाद एक-एक पत्र पढ़कर गुरुदेव को सुनाती जातीं और वे उत्तर लिखते जाते। पत्रोत्तर देने का यह कार्य बड़ी ही तीव्र गति से संपन्न होता। जितनी देर में माताजी पत्र पढ़तीं, उतनी देर में गुरुदेव उत्तर लिख देते । एक बैठक में कम-से-कम सौ पत्रों के जवाब देने का कार्य संपन्न होता। उन दिनों की याद करके माताजी बाद में बताया करती थीं कि गुरुदेव तो सारे दिन अति व्यस्त रहते थे। उनका रात्रिकाल भी प्रायः साधना और समाधि में गुजरता था। बस पत्र लिखने का ही समय ऐसा था, जब मुझे उनका संग-साथ मिल पाता था। इन्हीं क्षणों में कभी-कभार एक-आध घर-परिवार की बातें हो जातीं ।

वैसे सामान्यतया घर-परिवार की बातों की तरफ से उन्होंने गुरुदेव को पूरी तरह से निश्‍चिंत कर रखा था। रिश्ते-नातेदार, परिवार, सगे-संबंधी सभी की देख-भाल, आव-भगत का जिम्मा वही अकेली निभाती थीं। उनके प्यार भरे बरताव से सभी संबंधी एवं कुटुंबी प्रायः अभिभूत बने रहते थे। अखण्ड ज्योति संस्थान के निवास के इन्हीं प्रारंभिक वर्षों में वह दो संतानों की जननी बनीं। उनकी पवित्र कोख से पहले मृत्युंजय शर्मा तथा बाद में शैलबाला का जन्म हुआ। धन्य हैं ये विशिष्ट विभूतियाँ, जिन्हें विश्व जननी ने अपनी कोख में रखा। अपने इन बच्चों को उन्होंने घर में सतीश और शैलो बुलाना शुरू किया। पारिवारिक सदस्यों के बीच सदा ही इनका यही नाम रहा। अपने इन बच्चों के भाव विकास के साथ उनकी दैनंदिन गतिविधियाँ यथावत चलती रहीं।

उन दिनों उनके काम-काज को देखकर आने-जाने वाले आगंतुक, सगे-संबंधी, परिवार के सदस्य सभी हतप्रभ व हैरान रहते थे। उन्हें यह अचरज होता था कि माताजी इतना काम करती हैं, उन्हें थकान क्यों नहीं लगती है? कई बार तो वे ऐसे काम कर डालतीं, जिन्हें करना कई व्यक्तियों के सामूहिक श्रम से संभव होता।

महायोगिनी लल्लेश्वरी कश्मीर की महान् साधिका थीं। उनकी साधना ने चौदहवीं सदी के कश्मीर को ही नहीं, एशिया के बहुत बड़े भू-भाग को प्रभावित किया। एक बार वह संत मंडली में बैठी हुई थीं। किसी जिज्ञासु संत ने प्रश्न किया, सर्वश्रेष्ठ प्रकाश कौन है? जगत् विख्यात तीर्थ कौन है? सर्वोत्तम संबंधी कौन है? अनंत सुख का साधन क्या है? कई लोगों ने कई उत्तर दिए, पर वे किसी को समीचीन न लगे। लल्लेश्वरी ने सहज ढंग से कहा, आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ प्रकाश है। आत्मा में लीन रहना ही पवित्र तीर्थ है। ईश्वर ही सर्वोत्तम बंधु है। ईश्वरमय होना ही परमसुख है।

'ए जू' यदा-कदा उनके इस तरह दिन-रात काम में लगे रहने के रहस्य के बारे में पूछ लेती थी। उसके सवाल पर कभी-कभी तो वह हँस देतीं और कभी थोड़ा गंभीर होकर कहतीं, ''मन में समर्पण की तीव्रता हो, तो वज्र भी फूल हो जाया करता है। मेरे लिए हर काम चाहे वह बरतन माँजना, झाड़ू लगाना हो या फिर आचार्य जी के पास बैठकर पत्र लिखने में मदद करना, अपने को उनके चरणों में उँड़ेलने, समर्पित करने का माध्यम है। मैं जितना ज्यादा काम करती हूँ, मुझे उतना ही ज्यादा लगता है कि मैं अपने आपको उन्हें दे रही हूँ।'' इस तरह के अनेक काम-काज के बीच उनके मातृत्व का विस्तार भी तीव्र गति से हो रहा था। उनकी वात्सल्य संवेदना सतत अपना विकास करती जा रही थी।

❋

मातृत्व का आँचल बढ़ता ही चला गया

मातृत्व के विस्तार की सजल संवेदना की छुअन से आने-जाने वाले बरबस अभिभूत हो जाते थे। अखण्ड ज्योति संस्थान में आकर उन्हें हमेशा ऐसा लगता, जैसे वे अपनी सगी माँ के पास आए हैं। इनमें से कइयों को माताजी अपनी सगी माँ से कहीं बढ़कर लगतीं। वे अनुभव करते कि सगी माँ तो फिर भी कभी थकान, परेशानी अथवा कार्यव्यस्तता वश अपने बच्चों को नजरअंदाज कर देती हैं, लेकिन माताजी का प्यार कभी कम नहीं पड़ता। सगी माँ बच्चों के बड़े हो जाने पर उन पर उतना ध्यान नहीं देती, पर माताजी के लिए बच्चे सिर्फ बच्चे हैं, वे छोटे हों या बड़े। वे जैसे अपने बच्चों की सार-सँभाल के लिए ही अवतरित हुई हैं।

घर-परिवार के दायित्व और कार्यालय के कामकाज की व्यस्तताएँ कितनी भी क्यों न होतीं, परंतु माताजी के मातृत्व का आँचल कभी भी छोटा न पड़ता। दिनोदिन उसका विस्तार व्यापक होता जा रहा था। इन्हीं दिनों उन्होंने ओमप्रकाश एवं दया के जीवन को सँवारा। सतीश (मृत्युंजय शर्मा) एवं शैलो (शैलबाला) भी बड़े हो रहे थे। उनकी पढ़ाई-लिखाई की देखभाल भी उन्हें ही करनी पड़ती थी। बच्चों में जैसा कि अक्सर होता है, उनमें चंचलता, नटखटपन की बहुलता होती है। उनके इन बच्चों में भी यही बात थी, लेकिन बच्चों को मारने-पीटने पर माताजी का विश्वास बिल्कुल भी न था। उनका मानना था कि बच्चों को बिनां थके प्यार से समझाते रहना चाहिए। जिस दिन उन्हें औचित्य समझ में आ जाता है, वे शरारत करना छोड़ देते हैं।

हालाँकि यह स्थिति कहने में जितनी आसान और साधारण लगती है, करने में उतनी ही जटिल और परेशानी पैदा करने वाली है। इसमें बड़े धैर्य एवं ममता की जरूरत पड़ती है और कभी-कभी कठिन पलों से भी गुजरना पड़ता है। माताजी के मातृत्व को भी ऐसे पलों का सामना करना पड़ा। वह मार्च १९५१ का समय था। ओमप्रकाश की इंटर की परीक्षाएँ चल रही थीं। अंग्रेजी का दूसरा पेपर सेकिंड मीटिंग में था। वह अपने कमरे में बैठे पढ़ रहे थे। लगभग सुबह के ७.३० बजे होंगे। अब्दुल लतीफ ट्रेडिल मशीन चला रहा था। माताजी के संबंधियों में से एक 'चंदा' कंपोज कर रहे थे। इतने में सतीश ऊपर से आए और उनने अपना हाथ अचानक मशीन के दाँतों में डाल दिया।

भैय्या!!! चंदा काफी जोर से चिल्लाए। ओमप्रकाश भागे-भागे आए। उन्होंने देखा, सतीश चुप हैं। उठाकर गोद में ले लिया और सिर पर हाथ फेरा। उनको ऐसा लगा कि शायद चोट सिर में लगी है। तभी चंदा ने लगभग सुबकते हुए कहा, भैय्या! हाथ!! हाथ देखने पर पता चला कि हथेली आधी पलट गई है, उँगलियाँ लटक रही हैं। इस हृदय विदारक दृश्य को देखकर उन्होंने ताईजी और माताजी को आवाज दी। दोनों भागी-भागी आईं। इतनी देर में ओमप्रकाश का नेकर और बनियान दोनों खून से तर हो चुके थे। मथुरा के सिविल सर्जन एस. के. मुखर्जी को दिखाया गया, उन्होंने सलाह दी, आगरा ले जाओ। मुखर्जी साहब ने आशंका भी व्यक्त की कि कहीं हाथ न काटना पड़ जाए।

परमपूज्य गुरुदेव इसी बीच आ गए। उनके साथ रघुनाथ अग्रवाल, श्यामलाल और कंपाउंडर जगदीश के भाई लक्ष्मण भी थे। दवा-पट्टी की जा चुकी थी, इंजेक्शन भी लग गया था, लेकिन सतीश को बेहोशी आ गई थी। सभी सोच-विचार में थे, क्या किया जाए? तभी माताजी ने डॉ. मुखर्जी से कहा, डॉ. साहब, आप भगवान पर भरोसा रखकर यहीं जो कुछ कर सकते हों, कीजिए। पूज्य गुरुदेव ने भी माताजी के इस कथन में हामीं भरी। ऑपरेशन किया गया। माताजी धैर्य के साथ ऑपरेशन रूम के बाहर खड़ी रहीं। थोड़ी देर बाद ऑपरेशन समाप्त हुआ। मरीज को वार्ड में ले जाया गया। काफी दिनों के बाद स्थिति में सुधार आया। इस घटना के चिह्न अभी भी मृत्युंजय शर्मा के हाथ पर हैं, परंतु माताजी का ममत्व बढ़ता गया। वह बड़े धीरज के साथ बच्चों के व्यक्तित्व को गढ़ती रहीं।

माताजी के ममत्व के इस दायरे में उन दिनों भी अगणित थे। उनके लिए जितने प्यारे सतीश और शैलो थे, उतना ही प्यारा अब्दुल लतीफ था। यह मुसलमान युवक अखण्ड ज्योति संस्थान में मशीन मैन था। पत्रिका की छपाई का काम-काज देखता था। अपने परिवार के सदस्यों

के साथ माताजी इसके भी खाने की व्यवस्था किया करती थीं। बड़े नियम से वह बीच-बीच में चाय-नाश्ते के लिए पूछ लेतीं। उनका यह व्यवहार कभी-कभी आने वाले संबंधियों को अखर जाता। उनमें से कोई-कोई कभी-कभार कह देते, अब्दुल लतीफ की भोजन की व्यवस्था करना बुरा नहीं है, पर आपको कम-से-कम उसके बरतन तो अलग रखने चाहिए। आखिर हम लोग ब्राह्मण हैं, कुछ तो आचार-विचार आपको मानना चाहिए। संबंधियों की इस बात के उत्तर में वह कहतीं, आचार-विचार का मतलब छुआछूत नहीं होता। इसका मतलब यह है कि हम अपने विचारों और कार्यों में कितने पवित्र और निर्दोष हैं ?

उनकी ये बातें किसी को समझ में नहीं आतीं। उनके द्वारा काफी-कुछ समझाने के बावजूद संबंधियों के आग्रह यथावत बने रहे। वे अपनी रूढ़िवादी-पुरातन मान्यताओं को उन पर थोपने की कोशिश जब-तब करते रहते। संबंधियों के इस बढ़ते आग्रह पर एक दिन उनके यहाँ काम करने वाली 'ए जू' ने भी उन्हें समझाया, आखिर आप सबकी बातें मान क्यों नहीं लेतीं ? ठीक ही तो कहते हैं वे सब, जो कुछ भी हो, है तो वह मुसलमान ही। उसके लिए बरतन अलग करने में बुराई ही क्या है ? 'ए जू' की इन बातों ने माताजी को व्यथित कर दिया। वे उठकर दूसरे कमरे में गईं, जहाँ अभी तक अब्दुल लतीफ के जूठे बरतन रखे थे। उन्होंने उन बरतनों को अपने हाथों से उठाया और बरतन माँजने वाली जगह पर ले आईं। 'ए जू' अभी कुछ और सोच-समझ पाती, इसके पहले वह उसे संबोधित करते हुए बोलीं, ''इतने दिन तुम मेरे पास रहीं, पर तुम मुझे समझ नहीं पाईं। अरे मैं सिर्फ माँ हूँ, हिंदू की भी माँ, मुसलमान की भी माँ। मेरे लिए जैसे ओमप्रकाश और सतीश हैं, वैसे ही यह अब्दुल लतीफ है।''

उनकी इन बातों को सुनकर 'ए जू' हतप्रभ रह गई। उसे थोड़ी देर तक समझ ही न आया कि वह क्या बोले। जब तक वह कुछ बोलती, तब तक तो माताजी ने अब्दुल लतीफ के जूठे बरतन अपने हाथों से धो डाले। 'ए जू' को लगा जैसे वह कोई मानवी नहीं, देवी हों। थोड़े दिनों के बाद पता नहीं किस तरह इस बात का पता अब्दुल लतीफ को भी लगा। सब कुछ सुनकर उनकी आँखों में आँसू आ गए। उसने आँसुओं से छलकती आँखों के साथ उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए कहा, ''माँ, आप सचमुच माँ हो। आपका दरजा फरिश्तों से भी ज्यादा बुलंद है। आप फातिमा बी की तरह मुकद्दस हो।'' वह हाथ जोड़े ऐसी न कितनी बातें उनके सामने भाव-विह्वल स्वर में कहता रहा। जब वह वहाँ से चली गईं, तो उसने उस जगह की धूल अपने सिर-माथे पर लगाई और वहाँ लेटकर प्रणाम किया।

मातृत्व के इस अनंत विस्तार का परिचय किन्हीं विलक्षण क्षणों में वह स्वयं भी दे देती थीं। एक बार एक प्रखर गायत्री साधक रामसजीवन अखण्ड ज्योति संस्थान आए। पिछले कुछ वर्षों से वह कई कठोर व्रतों का पालन करते हुए गायत्री अनुष्ठान कर रहे थे। अखण्ड ज्योति संस्थान आने पर उन्हें माताजी के द्वारा परोसे हुए भोजन को खाने का सौभाग्य मिला। भोजन करते समय माताजी की एक झलक पाकर वह अपनी किन्हीं अनुभूतियों में डूब गए। अचानक न जाने क्यों उनके मुख से निकला, माँ तुम किस तरह माँ हो? इस प्रश्न के उत्तर में माताजी बोलीं, ''बेटा, माँ इस या उस तरह की नहीं होती। माँ सिर्फ माँ होती है।'' फिर वह धीरे से बोलीं, ''मैं सचमुच की माँ हूँ। बेटा, गुरुदेव की पत्नी के रूप में माँ नहीं, केवल सतीश और शैलो की माँ नहीं, मैं सबकी माँ हूँ।'' माताजी के इन वचनों को सुनकर गायत्री के प्रखर साधक रामसजीवन को लगा, जैसे कि आज वह गायत्री के तत्व और सत्य का साक्षात्कार कर रहे हैं। गायत्री माता ठीक उनके सामने खड़ी हैं। बाद में उन्हीं की सक्रिय प्रेरणा से तो गायत्री तपोभूमि का निर्माण हुआ।

भगिनी निवेदिता ने स्वामी विवेकानंद से काली माता के तात्त्विक स्वरूप को जानने की जिज्ञासा की। उनकी इस जिज्ञासा पर स्वामी जी कुछ क्षणों तक विचारमग्न बैठे रहे। फिर आहिस्ता से बोले, यह जानना इतना आसान नहीं है। फिर भी यदि तुम्हें माता के तत्त्व को जानने की सच्ची चाहत है, तो इस देश की नारियों की मातृभाव से सेवा करो। तुम्हें तत्त्वबोध हो जाएगा। निवेदिता ने वैसा ही किया। इसी साधना से उन्हें एक दिन काली माता के स्वरूप की तात्त्विक अनुभूति हो गई। बाद में उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध कविता- 'काली द मदर' में इसी अनुभूति को अभिव्यक्ति दी।

❑

युगशक्ति की प्राणप्रतिष्ठा गायत्री तपोभूमि में

गायत्री तपोभूमि निर्माण की मूल प्रेरणा माताजी के अंतःकरण में अंकुरित हुई। उन्होंने एक दिन प्रातः ध्यान की भावदशा में देखा कि जगन्माता युगशक्ति गायत्री के रूप में एक मंदिर में विद्यमान हैं। असंख्य जन माता का पूजन-अर्चन कर रहे हैं और माता से प्रज्ञा, मेधा व सद्बुद्धि के साथ अपनी कष्ट-कठिनाइयों से मुक्ति का वरदान पा रहे हैं। जगदंबा के इस मंदिर की एक और अन्य खास बात माताजी ने अपने ध्यान में अनुभव की। उन्होंने देखा कि यह मंदिर सामान्य मंदिरों की तरह केवल पूजा-अर्चा का स्थान भर नहीं है। यहाँ से लोकहित की अनेकों गतिविधियों का संचालन हो रहा है। सद्ज्ञान की अगणित धाराएँ यहाँ से 'धियो यो नः प्रचोदयात्' का संदेश प्रसारित करती हुई भुवन-व्याप्त हो रही हैं। यहीं से भगवान महाकाल अपनी युग-प्रत्यावर्तन प्रक्रिया का सूत्रपात कर रहे हैं। इस अद्भुत अनुभूति में डूबी हुई माताजी उस दिन साधना से थोड़ी देर में उठीं।

साधना से उठने पर अपने नित्य-नियम के अनुरूप उन्होंने घर और अखण्ड ज्योति कार्यालय के जरूरी काम निबटाए। इसके बाद परिजनों के आए हुए पत्रों को पढ़ने और उनके उत्तर लिखने का क्रम आया। यह काम परमपूज्य गुरुदेव एवं माताजी मिलकर किया करते थे। इसी बीच कुछ बातें भी हो जातीं। उस दिन पत्रों को खोलते हुए माताजी ने अपनी अंतरानुभूति भी गुरुदेव के सामने खोली। माताजी की सारी बातें सुन लेने के बाद परमपूज्य गुरुदेव ने कहा, आज हमें भी साधना के क्षणों में अपने मार्गदर्शक का कुछ ऐसा ही संदेश मिला है। इस संदेश के अनुरूप हमें ऐसा केंद्र स्थापित करना है, जहाँ देश के विभिन्न भागों से अनेकों साधक आकर सच्ची अध्यात्म साधना कर सकें। उन्हें आध्यात्मिक तत्त्वदर्शन की वास्तविक अनुभूति हो सके। साथ ही उस महत् कार्य का प्रारंभ हो सके, जिसके लिए हम लोगों को भगवान ने धरती पर भेजा है।

माताजी और गुरुदेव की बातों का सारतत्त्व एक था। उन्होंने अपनी बातों के अंत में एक-दूसरे की ओर देखा और काम में लग गए, लेकिन उस दिन से गायत्री तपोभूमि के निर्माण का संकल्प सक्रिय हो गया। इसके लिए उपयुक्त जमीन देखी जाने लगी। घर में उस समय केवल ६ हजार रुपये की पूँजी थी, जिसके आधार पर भूमि खरीदने की बात सोची गई। उस समय मथुरा में किशोरी रमण कॉलेज के साथ जीर्ण अवस्था में एक गायत्री मंदिर था। टीले पर स्थित होने के कारण इसे गायत्री टीला भी कहते थे। इसे लेने की बात जानकारों ने सुझाई, पर बात कुछ जमी नहीं। एक तो वह टीला था, उस पर नीचे से कटाव भी बहुत पड़ रहा था। टीले पर ऊपर जाकर जमीन भी बहुत थोड़ी थी। इन्हीं सब कारणों से इस जमीन को छोड़ना पड़ा।

जमीन खरीदने के लिए मंडी रामदास में भी कई जगह प्रयत्न किए गए, पर कहीं ढंग से बात बनी नहीं। महीनों किए गए इन प्रयत्नों के बेकार जाने पर माताजी ने साधना के क्षणों में उपयुक्त भूमि को तलाशने के प्रयत्न शुरू किए। एक-दो दिन के प्रयास में ही उन्हें एक भूमि पर प्रकाश पुंज-सा उठता दिखा। इसके आध्यात्मिक स्पंदनों को उन्होंने अपनी अंतर्चेतना में अनुभव किया। एक दिन गुरुदेव के साथ घूमने जाते समय उन्होंने यह भूमि प्रत्यक्ष में देखी। यह स्थान मथुरा से लगभग एक किलोमीटर दूर मथुरा-वृंदावन मार्ग पर था। उस समय यहाँ एक कुआँ, एक हॉल और एक बरामदा बना था। यह जगह सड़क के बिल्कुल पास थी। उन क्षणों में गुरुदेव से इसकी चर्चा करने पर वह कहीं गहरे में लीन हो गए। कुछ पलों के बाद अपनी इस तल्लीनता से उबरने पर उन्होंने कहा, "आप एकदम ठीक कहती हैं। यह जगह पहले कभी महर्षि दुर्वासा की तपोभूमि रही है। अभी भी यहाँ उनकी तपस्या के प्रभाव शेष हैं। यह जमीन सब तरह से अपने कार्य के लिए उपयुक्त रहेगी।" कभी बाल्यकाल में वे यहाँ आए भी थे।

इसको खरीदने के लिए उपयुक्त माध्यमों से बात-चीत चलाई गई। जिसकी जमीन थी, वह व्यक्ति भी आसानी से तैयार हो गया। थोड़े ही दिनों में सारी सरकारी औपचारिकताएँ पूरी करते हुए जमीन की रजिस्ट्री हो गई। इस तरह भूमि का मसला हल हो गया, परंतु इसी के साथ एक नई समस्या खड़ी हो गई। जमीन खरीदने के बाद अब पास में बिल्कुल भी पैसे न बचे थे और उस पर कुछ बनवाकर उसे उपयोग में लाने के लिए पैसों की सख्त

जरूरत थी। किसी के सामने याचना करना, अपनी आवश्यकताओं को जग-जाहिर करना, तपोमूर्ति गुरुदेव के तप के नियमों के विरुद्ध था। यद्यपि उस समय भी उनको जानने-पहचानने वाले, उनके प्रति आस्था, निष्ठा एवं भक्ति रखने वाले कम नहीं थे। बस उनके एक इशारे भर की देर थी और कदमों में धन की ढेरी लग जाती, पर यह बात उनके तपोनिष्ठ जीवन की मर्यादा के विरुद्ध थी। हालाँकि धन की जरूरत तो थी ही।

इस जरूरत को माताजी भी अनुभव कर रही थीं। उन्होंने कुछ सोचा और एक पल की देर लगाए बिना अपने सारे जेवर और पास का रुपया गुरुदेव के चरणों में रख दिया। बिना कहे, बिना कोई हल्का-सा भी संकेत किए, बिना तनिक-सा भी जताए माताजी ने मौन भाव से अपना सब कुछ दे डाला। गुरुदेव ने उन्हें एक बार हल्के से टोका भी, आप ऐसा क्यों करती हैं? कहीं-न-कहीं से धन की कोई व्यवस्था हो ही जाएगी। गुरुदेव की इस बात पर माताजी कुछ बोली नहीं, बस उनकी आँखें भर आईं। उन्हें इस तरह देखकर गुरुदेव भी कुछ बोल न सके। बस चुपचाप उनकी निधि स्वीकार कर ली। गायत्री तपोभूमि के निर्माण एवं गायत्री परिवार के संगठन के लिए उनका यह अपूर्व अनुदान था।

सामान्यतया नारियों का अपने आभूषणों के प्रति अतिरिक्त मोह देखा जाता है। आयु के किसी भी मोड़ पर उनका यह मोह प्रायः कम होने के बजाय बढ़ता ही है। पहले अपने लिए, फिर अपने लिए नहीं तो अपनी किसी बेटी या बहू के लिए वे आभूषणों को बनवाती, गढ़वाती रहती हैं। यह सिलसिला कहीं भी, किसी भी समय थमता नहीं, परंतु माताजी ने नारी प्रकृति की इस सामान्य कमजोरी के उलटे यह अद्भुत कार्य कर दिखाया, वह भी बड़ी ही सहजता से। वे ऐसा इसलिए कर सकीं, क्योंकि उन्होंने इस सत्य को गहराई से जान लिया था कि वास्तविक श्रृंगार शरीर का नहीं, व्यक्तित्व का होता है। इस सत्य को पहचानने वाली माताजी ने उस दिन केवल अपने आभूषण ही नहीं दिए, बल्कि बहुमूल्य वस्त्रों का भी परित्याग कर दिया और आंतरिक ही नहीं, बाह्य तपस्याओं के भी सभी आयामों के परिपालन के लिए संकल्पित हो गईं।

उन क्षणों में ऐसा लगा, जैसे माता सीता ने वनवासी प्रभु राम के साथ चलने के लिए तपस्विनी वेश धारण कर लिया हो। जिन आँखों ने यह दृश्य निहारा, वे धन्य हो गईं और जो अपने भाव जगत् में अभी इन क्षणों में इस दिव्य दृश्य का साक्षात् कर रहे हैं, उन पर भी माता भगवती और प्रभु श्रीराम की अद्भुत कृपा है। तपोनिरत युगल का संकल्प मूर्त होने लगा। गायत्री तपोभूमि अपना आकार पाने लगी। इसके ऊर्जाकेंद्र के रूप में युगशक्ति माता गायत्री का ठीक वैसा ही मंदिर बना, जैसा कि माताजी ने अपनी ध्यानस्थ स्थिति में अनुभव किया था। युगशक्ति की प्राण प्रतिष्ठा से पूर्व माताजी अपने आराध्य के साथ विशेष साधना में संलग्न रहीं। इस शुभ घड़ी में २४०० तीर्थों की रज एवं २४०० पवित्र स्थानों का जल यहाँ लाया गया। इसके अतिरिक्त और भी कुछ ऐसी दिव्य क्रियाएँ गोपनीय स्तर पर संपन्न की गईं, ताकि माता की चेतना इस महामंदिर में सद्य जाग्रत् रहे और इस स्थान का अमोघ प्रभाव सभी को दीर्घकाल तक अनुभव होता रहे।

मंदिर निर्माण के साथ अन्य गतिविधियों के संचालन की व्यवस्था यहाँ की गई। पवित्र यज्ञशाला में दिव्य अग्नि स्थापित हुई। साधना सत्रों के साथ अनेकों तरह की योजनाएँ यहाँ से संचालित होने लगीं। दूर-दूर से लोगों के आने का सिलसिला चल पड़ा। जो भी यहाँ आते थे, उन सबका एक साथ सामूहिक परिचय एक ही था, वे सभी माताजी के बच्चे थे। उन सबके मन अपनी माँ के लिए हुलसते थे। उन सभी के प्राणों में अपनी माँ के लिए पुकार थी। माँ के प्यार का, दुलार का, उनके वात्सल्य का चुंबक उन्हें यहाँ खींच लाता था। माता भी अपने बच्चों को संस्कार देने के लिए प्रयत्नशील थीं। उनका सतत प्रयास यही था कि उनके बच्चों की चेतना उत्तरोत्तर निर्मल, पवित्र एवं परिष्कृत हो। इसके लिए जो भी आवश्यक होता, वह निरंतर किया करतीं।

*

ज्ञातव्य

जिनके पास पुराना या पिछले ३० वर्षों का 'आयुर्वेद संबंधी साहित्य' रखा हो एवं वे किसी धर्मार्थ कार्य के लिए दान देना चाहते हों, तो वे देवसंस्कृति विश्वविद्यालय के कुलपति या कुलसचिव से पत्राचार कर लें। इसके अतिरिक्त 'संस्कृति शोध संबंधी' कोई भी साहित्य, पत्रिकाएँ पुस्तकालय हेतु देना चाहते हों, उनका भी स्वागत है। ऐसे भावभरे सहयोग के लिए विश्वविद्यालय के इतिहास में उनका नाम अंकित रहेगा।

कण-कण में समाया आत्मवत् सर्वभूतेषु का भाव

अपने बच्चों को संस्कारवान बनाने के लिए माताजी हमेशा प्रयत्नशील रहती थीं। गायत्री तपोभूमि व अखण्ड ज्योति संस्थान में रहने वाले, काम करने वाले और आने-जाने वाले सभी उनके बच्चे थे। वह सभी की अपनी सगी माँ थीं। माँ कौन होती है? इसके बारे में उनकी अपनी मौलिक दृष्टि थी। बातचीत में वे कहा करती थीं, ''जन्म देने वाली जननी होती है, लेकिन जो संतान को संस्कार देती है, उसके जीवन को सँवारने के लिए हर पल, हर क्षण प्रयत्नशील रहती है, वही माँ है। अपने बच्चों को ऊँचा उठाने के लिए, उन्हें आगे बढ़ाने के लिए, उनके आंतरिक विकास के लिए माँ दिन-रात जुटी रहती है। उत्तम संस्कारों के बीजारोपण से ही मनुष्य का जीवन सही मायने में सँवरता है। इसी से माता की मातृत्व साधना की सफलता प्रमाणित होती है।'' वे कहती थीं, ''बेटा, मैं तुम सब की जननी तो नहीं, पर तुममें से हर एक को अच्छे संस्कार देने वाली तुम्हारी सच्ची माँ हूँ।''

अपने कथन के अनुरूप वह हर समय इसके लिए कोशिश करती रहती थीं। बात-व्यवहार में, उनके संपर्क के प्रत्येक आयाम में यह सत्य प्रकट होता था। उनके द्वारा कराए जाने वाले भोजन में इसकी सबसे अधिक सघनता रहती थी। परमपूज्य गुरुदेव इस बात को परिजनों से, कार्यकर्त्ताओं से जब-तब बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कह देते थे। वे कहते, ''तुम लोग माताजी को साधारण न समझो। वे शक्तिस्वरूपा हैं, महाशक्ति हैं। अपने आध्यात्मिक ऐश्वर्य को छिपाकर बड़े ही सामान्य ढंग से रहा करती हैं। उन्हें पहचानना, उनको सही ढंग से समझ पाना आसान काम नहीं है। वे तुम लोगों के लिए जितना आसानी से कर देती हैं, उतना तो मैं भी नहीं कर सकता। पता नहीं, तुम इस सचाई को कितना समझ पाते हो? पर सत्य यही है कि उनके संपर्क मात्र से पूर्वजन्मों के कषाय-कल्मषों, कलुषित संस्कारों का नाश होता है। व्यक्तित्व में नए दिव्य संस्कारों के बीज रोपित होते हैं।''

इस क्रम में परमपूज्य गुरुदेव और भी बहुत कुछ बताया करते थे। वे कहते, ''माताजी का भोजन दिखने भर में सादा और साधारण है, लेकिन इसे तुम लोग कभी साधारण समझने की भूल मत करना। इसमें उनकी असाधारण प्राण ऊर्जा समाई रहती है। यह पेट को तृप्त करने के साथ आत्मा तक को तृप्त करने वाला तत्त्व है। तुम लोगों को अनुदान देने के, तुम सबको संस्कारवान बनाने के उनके तरीके बड़े अद्‌भुत हैं। वे कब, क्या और किस ढंग से करती हैं, इसे सही-सही वे ही जानती हैं, लेकिन यह बात सौ टका सच है कि उनके चौके का भोजन, उनके द्वारा किए जाने वाले शक्ति संप्रेषण का, दिव्य संस्कारों के बीजारोपण का सबसे समर्थ माध्यम है। यह उनके द्वारा अपनाई जाने वाली बड़ी ही प्रिय विधि है।''

माताजी के चौके में भोजन हजारों-लाखों ने किया होगा। उनके संपर्क में शायद इससे भी अधिक आए होंगे, पर इस उपर्युक्त सच को कम ही लोग समझ पाए होंगे। हाँ, बुद्धि से न समझ पाने के बावजूद इसकी भावानुभूति जरूर बहुतों ने पाई होगी। कभी-कभी तो यह अनुभूति इतनी प्रगाढ़ होती थी कि अनुभव करने वाला इसे बताए बिना न रह पाता था। इसके बखान से ही उसे संतुष्टि और संतृप्ति मिलती थी। ठा. हनुमंत सिंह हाड़ा की अनुभूति कथा ऐसी ही है। इसे उन्होंने ही गायत्री तपोभूमि के एक शिविर में अपने साथी शिविरार्थियों को सुनाया था। इस प्रसंग को बीते हुए आज चार दशक के लगभग होने जा रहे हैं, पर जिन्होंने उन दिनों इसे सुना, उन्हें आज भी ये बातें यथावत याद हैं।

ठा. हनुमंत सिंह राजस्थान के बाड़मेर के पास के रहने वाले थे। उनके पुरखे काफी बड़ी जागीर के स्वामी थे। स्वतंत्रता मिलने के बाद जागीरें तो न रहीं, पर उनके ऐश्वर्य में कोई विशेष कमी न आई थी। ठाकुर साहब में गुण काफी थे, पर उनमें दोष भी कम न थे। ऐश्वर्य व विलासिताजन्य कई दुष्प्रवृत्तियाँ उनके व्यक्तित्व में बुरी तरह समा गई थीं। उनकी धर्मपत्नी, परिवार के सदस्य उनके इन दुर्गुणों, दुष्प्रवृत्तियों से बुरी तरह परेशान थे। पता नहीं किस तरह परिवार के लोगों को 'अखण्ड ज्योति' की एक प्रति हाथ लग गई। इसमें गायत्री तपोभूमि और यहाँ चलने वाले शिविरों के बारे में काफी कुछ छपा था। सारी बातें पढ़कर परिवार के सदस्यों एवं उनकी पत्नी ने सोचा कि ठाकुर साहब को वहाँ ले चला जाए। उन सब लोगों ने

ठाकुर साहब से बात की। थोड़ी ना-नुकुर के बाद वे तैयार हो गए।

निश्चित तिथि पर वे सभी मथुरा स्थित गायत्री तपोभूमि पहुँच गए। उन दिनों आने वाले ठहरते तो गायत्री तपोभूमि में थे, पर खाना अखण्ड ज्योति संस्थान में खाते थे। इसी नियम के अनुसार ठाकुर साहब भी अपने परिवार के साथ भोजन हेतु अखण्ड ज्योति संस्थान में गए। माताजी ने स्वयं अपने हाथों से परोसकर उन्हें भोजन कराया। मुर्गा-मांस-शराब के अभ्यस्त ठाकुर साहब हालाँकि इस तरह के भोजन के आदी न थे, फिर भी न जाने क्यों उन्हें इस भोजन में कुछ अद्भुत स्वाद आया। भोजन करने के बाद वह फिर से तपोभूमि लौट आए। परिवार के सदस्यों के बहुत समझाने पर भी उन्होंने शिविर के किसी भी कार्यक्रम में भाग नहीं लिया। हाँ खाना खाने के लिए अवश्य सबके साथ माताजी के यहाँ पहुँच जाते थे।

ठाकुर साहब के अनुसार, ''पता नहीं क्या था उस भोजन में! पर कुछ अद्भुत जरूर था। दो-तीन दिन में ही मुझमें एक अद्भुत भाव परिवर्तन हो गया। हर समय आँखों के सामने माताजी की सौम्य मूर्ति उपस्थित रहती। पहले तो गलत विचार, गलत भावनाएँ मन में आती ही नहीं थीं, पर यदि पुरानी आदतोंवश आ भी जातीं, तो मन में बड़ी गहरी शर्मिंदगी होती। ऐसा लगता कि माताजी सब कुछ देख रही हैं और मैं कैसी घटिया बातें सोच रहा हूँ। घर वापस पहुँचने के बाद पुरानी बातों की ओर मन बिल्कुल भी न गया। परंतु मित्र वही थे, उनकी जोर-जबरदस्ती भी वही थी। इसी जोर-जबरदस्ती के कारण उनके साथ जाना पड़ा। बहुत मना करने के बावजूद भी उन्होंने मांस और शराब का सेवन करा ही दिया।

''इसके बाद ही हालत खराब हो गई। उल्टी-दस्त का सिलसिला चल पड़ा। जैसे-तैसे घर पहुँचाया गया, लेकिन दिनोदिन बीमारी बढ़ती गई। दवा-डॉक्टर-इलाज सब बेअसर होने लगे।'' ठाकुर साहब के अनुसार घर के सभी लोग घबरा गए, पर उन्हें खुद एकदम घबराहट न थी। उन्हें हमेशा लगता कि माताजी उनके सिराहने बैठे उनका सिर सहला रही हैं और कह रही हैं, ''बेटा, इसे बीमारी नहीं, विरेचन समझ। इस बीमारी के द्वारा तेरे सारे पुराने कुसंस्कार धुल जाएँगे। अब तेरे अंदर वही रहेगा, जो मैंने भोजन के साथ तुझे दिया है। तू परेशान न होना, सब कुछ बड़ी जल्दी ठीक हो जाएगा।'' सचमुच ऐसा ही हुआ। वह थोड़े दिनों में एकदम ठीक हो गए। ठीक होने के बाद उनका जीवनक्रम एकदम बदल गया। पुराने मित्रों का संग-साथ भी छूट गया।

फिर से शिविर में गायत्री तपोभूमि आना हुआ। उन्होंने अपनी कथा विस्तार से सबको सुनाई। उनका बदला हुआ जीवनक्रम, कहे गए सत्य को प्रमाणित कर रहा था। नियमित ब्राह्ममुहूर्त में गायत्री साधना, प्रातः हवन, उनके जीवन के अनिवार्य अंग बन गए थे। माताजी द्वारा दिए गए दिव्य संस्कारों ने उन्हें संपूर्ण रूप से बदल दिया था। अपनी अनुभूतियों को सुनाते हुए कहा करते थे, ''श्रेष्ठ साधकों के लिए मार्गदर्शक परमपूज्य गुरुदेव हैं। वे अवतारी सत्ता हैं, परंतु हम जैसे निकृष्ट जनों के लिए, अनेक तरह की गंदगी से लिपटी हुई संतानों के लिए तो माताजी ही सब कुछ हैं। उनके बिना भला हम जैसों का कल्याण और कौन करेगा? गुरु-मार्गदर्शक हमेशा साधक की पात्रता देखता है, पर माँ के लिए तो बच्चे हमेशा ही सत्पात्र होते हैं, भले ही वे मल-मूत्र से सने क्यों न हों। माँ को उन्हें गोद में उठाने, संस्कारवान बनाने में तनिक-सी भी हिचकिचाहट नहीं होती। हालाँकि इसके लिए उसे अपार प्राण ऊर्जा खरच करनी पड़ती है। अनेकों कष्ट सहन करने पड़ते हैं। माताजी प्रसन्न भाव से यह सब करती थीं। इसके लिए आवश्यक शक्ति वह अपने आराध्य की साधनासंगिनी होकर प्राप्त करती थीं।''

⁂

बाग बाजार मठ में माँ सारदा अपने कमरे में खाट पर बैठी हुई थीं। सेवक चिट्ठी-पत्री पढ़कर सुना रहे थे। किसी शिष्य ने दुःखित होकर लिखा था कि जप-ध्यान में मन नहीं लगता। पत्र सुनकर माँ कहने लगीं, अरे यह क्या बात हुई? जप-ध्यान में मन लगाने के लिए पहले ठाकुर का काम करना चाहिए। जिंदगी के हर छोटे-बड़े काम को मन-ही-मन उनके लिए करके उन्हें सौंपने की आदत डालनी चाहिए। फिर घंटा-दो घंटा उनका ध्यान करते हुए जप करना चाहिए। कोई ऐसा करे तो सही, फिर देखो कैसे मन नहीं लगता? लोग ठाकुर का काम करके उनके भाव में तो डूबते नहीं, बस माला टरकाने को साधना मान लेते हैं। भला ऐसे कहीं कुछ होता है?

आराध्यसत्ता की साधनासंगिनी

माताजी सच्चे अर्थों में अपने आराध्य की साधनासंगिनी थीं। परमपूज्य गुरुदेव उनके लिए गुरु, मार्गदर्शक, इष्ट, आराध्य सभी कुछ थे। उनका जीवन अपने आराध्य के श्रीचरणों में समर्पित सुरभित पुष्प की भाँति था। रोजमर्रा किए जाने वाले छोटे-बड़े हर क्रिया-कलाप के माध्यम से उनके प्राण अपने आराध्य के महाप्राणों में समाहित होते रहते थे। बाहरी रूप से घर-परिवार, सगे-संबंधियों, अखण्ड ज्योति संस्थान व गायत्री तपोभूमि के अनेकों लौकिक दायित्व निभाते हुए भी उनका आंतरिक जीवन इस लौकिकता से पूरी तरह से अछूता, एकदम अलौकिक था। सांसारिक कर्त्तव्यों को मनोयोगपूर्वक पूरा करने का सार्थक प्रयास करते हुए भी उनकी आंतरिक भावनाओं में कहीं भी सांसारिक विषयों की लेशमात्र गंध नहीं थी।

अपनी सारे दिन की व्यस्तताओं से घिरी हुई वह स्वयं को मन-ही-मन रात्रि में की जाने वाली विशिष्ट साधना के लिए तैयार करती थीं। आगंतुकों के आवागमन, पत्रिका व अन्य साहित्य का प्रकाशन और गायत्री तपोभूमि के अनेकों क्रिया-कलापों की वजह से परमपूज्य गुरुदेव की व्यस्तताएँ बहुत ज्यादा बढ़ गई थीं। माताजी की भी इसमें बराबर की सहभागिता थी, इसलिए प्रातः सूर्योदय से लेकर रात्रि के प्रथम पहर तक कोई भी समय ऐसा नहीं था, जिसमें साधना की जा सके। इसलिए गुरुदेव ने मध्य रात्रि से लेकर प्रातः तक के समय को साधना के लिए सुनिश्चित किया था। दिनभर के क्रिया-कलापों को देखते हुए यही सबसे उपयुक्त समय था। हालाँकि उन्हें सोने के लिए मुश्किल से तीन-चार घंटे मिल पाते थे, परंतु माताजी को अर्द्धरात्रि से कुछ पहले जगकर गुरुदेव के साथ बैठकर साधना करने में इतनी खुशी मिलती थी कि सारे कष्ट उनको नगण्य लगते थे।

वह नियत समय पर जगकर स्नानादि से निवृत्त होकर पूजा की कोठरी में पहुँच जाती थीं। वहाँ गुरुदेव उनका पहले से इंतजार कर रहे होते। आसन पर बैठते ही आराध्य की कृपा उन पर अवतरित होने लगती। प्राण संचालन की अनेकों गुह्य क्रियाएँ उनमें होने लगतीं। गोपनीय बीजमंत्रों के स्फोट से सूक्ष्म चेतना के दिव्य केंद्रों में शक्ति के सागर उमड़ने लगते। लेकिन ये तो प्रारंभिक क्षणों की बातें थीं, जिनका अनुभव पहले भी उन्हें किन्हीं अंशों में होता रहता था। गुरुदेव के साथ बिताए जाने वाले साधना के ये पल अति विशिष्ट थे। इन पलों में उन्हें उन सब सत्यों का साक्षात्कार होता था, जिसके बारे में शास्त्र केवल संकेत मात्र करते हैं। जिसकी विस्तृत चर्चा विश्व के किसी भी साधना शास्त्र में नहीं मिलती। यथार्थ साधना शास्त्रगम्य होती भी नहीं है। यह तो सर्वथा गुरुगम्य है। इस पर सदा गुरुगतप्राण शिष्यों का ही अधिकार होता आया है। माताजी के अगाध समर्पण एवं परिपूर्ण निवेदन ने ही उन्हें इन सर्वथा गोपनीय योग साधनाओं का अधिकारी बनाया था।

नियमित योग साधना की प्रगाढ़ता और सघनता से उनका सूक्ष्म शरीर अति तेजस्वी एवं प्रचंड ऊर्जावान हो गया था। गुरुदेव द्वारा बताई गई योग की गुह्य विधियों से वे इसे बड़ी ही आसानी से स्थूलशरीर से पृथक कर लेती थीं। ऐसी दशा में गुरुदेव उनके स्थूलशरीर की रक्षा करते थे और लोक-लोकांतर में जाकर वहाँ से आवश्यक तत्त्वों का अर्जन कर लेतीं। शिष्यों-संतानों की पुकार का भी प्रत्युत्तर देतीं। गुरुदेव के सान्निध्य में योग साधना की तीव्रता के कारण उनके सूक्ष्मशरीर की क्रियाशीलता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। कारणशरीर भी प्रभावान और प्रखर होने लगा। उनकी साधना का घनत्व इस कदर बढ़ गया था कि वह प्रत्येक दृष्टि से परम समर्थ हो गई थीं।

यह स्थिति पहले से काफी अलग थी। इसे जानना-समझना किसी भी तरह से आसान नहीं है। जितना उन्होंने स्वयं विभिन्न प्रसंगों पर संकेत किए, उसके अनुसार अब गुरुदेव को उनके स्थूलशरीर की रक्षा करने के लिए रुकना नहीं पड़ता था। दिव्य महामंत्रों की कीलक शक्ति और उनकी महत् चेतना का संकल्प स्थूल देह की रक्षा के लिए पर्याप्त था। गुरुदेव तो पहले से ही योग की समस्त उच्चतम साधनाओं में पारंगत थे। अब माताजी भी योग के उच्चतम रहस्यों से अवगत हो गईं। यह स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि स्थूल देह से किसी भी साधना की जरूरत नहीं रही। सूक्ष्मशरीर से स्वयमेव सारी योग विभूतियों का अर्जन होने लगा। यह विलक्षण स्थिति किन्हीं विरले महायोगियों को ही सुलभ होती है।

इस परिवर्तित भावदशा में भी नियमित साधना के लिए जगने और बैठने का बाहरी क्रम यथावत् बना रहा, परंतु सभी आंतरिक सत्य बदल गए। वह गुरुदेव के साथ साधना के लिए अभी भी बैठती थीं। परंतु प्रायः किसी विशेष साधना के लिए नहीं, बल्कि उनके साधनात्मक कार्यों में सहभागी बनने के लिए। ऐसे कार्यों में शिष्यों-भक्तों की पीड़ा और उन पर आए संकटों का निवारण प्रमुख था। इसके लिए वे दोनों ही शिष्यों के पास पहुँचकर उन्हें आश्वासन देते, उनको ढाढस बँधाते और अपनी योगशक्ति से उनके कष्टों का पल में निवारण कर देते। संतानों की छटपटाती अंतर्चेतना अपनी महायोगिनी माँ की कृपा को पाकर अपूर्व शांति अनुभव करती।

साधना के क्षणों में ही जब-तब गुरुदेव के साथ सूक्ष्मशरीर से दिव्य लोकों, दिव्य भूमियों एवं सामान्य मानवदृष्टि से ओझल दिव्य साधना केंद्रों की यात्रा करतीं। ऐसे प्रसंगों को उन्होंने संपूर्ण रूप से प्रायः कभी उजागर नहीं किया। फिर भी यदा-कदा गुरुदेव की महिमा बताने के लिए इसके कुछ अंशों को वह प्रकट कर देती थीं। ऐसे ही एक प्रसंग में उन्होंने बताया, ''बेटा, तुम लोग जानते नहीं, गुरुदेव कौन हैं! उन्हें कभी सामान्य तपस्वी, सिद्ध और योगी समझने की भूल मत करना। वे मनुष्य देह में साक्षात् ईश्वर हैं। इस सचाई को मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है। मेरी सूक्ष्म चेतना स्वयं इस सत्य की कई बार साक्षी बनी है। हिमालय के सिद्धगण, दिव्यलोकवासी तक उनकी एक झलक पाने के लिए तरसते हैं। जब कभी किसी विशेष अवसर पर वे उन लोगों के सामने होते हैं, तो वे सब उनके चरणों में फूल चढ़ाकर अपने को परम सौभाग्यशाली समझते हैं। इस सचाई को मैंने उनके साथ जाकर खुद देखा है।'' माताजी की इन बातों को सुनकर सुनने वाले भावविह्वल हो सोचने लगते, बच्चों को उनके पिता के स्वरूप का बोध भला माँ के सिवा और कौन करा सकता है।

गुरुदेव के दिव्य स्वरूप का मुखर होकर बखान करने वाली माताजी अपने बारे में प्रायः मौन ही रहती थीं। किसी विशेष अवसर पर बहुत हुआ तो इतना कह देती थीं, अध्यात्म क्या कहने, बताने की चीज है! यह तो अनुभव का विषय है। चाहे कितनी भी पोथियाँ लिखी व पढ़ी जाएँ, पर इसकी सचाई को साधना की अनुभूतियों में ही जाना जा सकता है और यह सचाई ऐसी है कि कोई जानने वाला इसे कहे भी तो ऐसा लगेगा, जैसे किसी रहस्यपूर्ण उपन्यास की कथा सुनाई जा रही है, इसलिए समझदार लोग इन बातों को कहीं कहते नहीं। बहुत हुआ तो इसके तत्त्वदर्शन को बता देते हैं। सार बात भी वही है। इसे समझने पर सब समझ में आ जाता है।

अपनी बातों के क्रम में माताजी बताती हैं कि साधना के प्रसंग जितने गोपनीय रखे जाएँ, उतना ही अच्छा है। चर्चा करने पर साधना का बल घटता है। ऐसा बताते हुए वह कहतीं, ''अब मेरी ही ले लो। मैंने क्या-क्या किया कोई कुछ जानता है क्या! अखण्ड ज्योति संस्थान में आधी रात से पहले उठ जाती थी। प्रायः सारी रात गुरुजी के साथ साधना में बिता देती, लेकिन घर के दूसरे लोगों के जागने से पहले उठ जाती और बाद में उनके उठने पर फिर से स्नान करती। इस स्नान से रात भर की गई साधना के कारण बढ़ा हुआ ताप शांत हो जाता और सभी यही सोचते कि ये तो अभी जगी हैं और अब इतनी देर से नहा रही हैं। ज्यादा कुछ पूछने पर मैं भी उनकी हाँ-में-हाँ मिला देती, पर असली बात दूसरी थी। उन दिनों गुरुदेव के साथ मैं पूरी प्रगाढ़ता, तन्मयता एवं तत्परता के साथ साधना किया करती थी। वे बड़े अद्भुत दिन थे। शरीर इस लोक में रहते हुए भी चेतना कहीं और ही रहती थी। मेरा सब कुछ गुरुजी में घुलता-मिलता चला जा रहा था।'' उनकी इन बातों को सुनते हुए सुनने वालों की भावानुभूतियों में शिव और शक्ति के अंतर्मिलन का सत्य उजागर होने लगता। ✿

भक्तिमती मीराबाई अपने आराध्य श्रीकृष्ण के प्रेम में सदा भावमग्न रहती थीं। एक दिन पूर्णिमा की रात को जब चंद्रमा की चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी, वह अपने कक्ष के अंदर किसी दूसरी ही दिव्य सृष्टि की ज्योत्स्ना का आनंद लूट रही थीं। इतने में महल की किसी दासी ने आकर ध्यानमग्न मीरा को बाहर से पुकारा, बाई सा! बाहर आकर देखो, कैसी खूबसूरत रात है। कई बार पुकारने पर वह बोलीं, इस समय मैं जिस परम सौंदर्य में डूबी हूँ, जगत् का समस्त सौंदर्य मिलकर भी उसकी एक बूँद के बराबर नहीं है। उन्होंने कहा, तुम एक बार मेरे दिल के अंदर घुसकर देखो, भगवद्भक्ति में दुनिया के परे की कैसी अनोखी खूबसूरती है।

शिव और शक्ति का अद्भुत अंतर्मिलन

योग साधना की परम प्रगाढ़ता में शिव और शक्ति परस्पर अंतर्लीन हो गए थे। शिव और शक्ति का यह अंतर्मिलन दो रूपों में प्रकट हुआ था। अपने पहले रूप में महायोगिनी माताजी की अंतस्थ कुण्डलिनी महाशक्ति परिपूर्ण जागरण के पश्चात् विभिन्न चक्रों का भेदन और प्रस्फुटन करती हुई सहस्रार में स्थित महाशिव से जा मिली थी। योग साधकों के लिए इस अद्भुत एवं दुर्लभ सत्य के घटित होने से माताजी का समूचा अस्तित्व योगेश्वर्य का भंडार बन गया था। योग की उच्चस्तरीय विभूतियाँ एवं सिद्धियाँ उनके व्यक्तित्व के विविध आयामों से अनायास प्रकट होने लगी थीं। शिव और शक्ति में महामिलन का एक दूसरा रूप भी माताजी के जीवन में बड़ा ही स्पष्ट रीति से उजागर हुआ था। जिसकी चर्चा प्राय: किसी योगशास्त्र में नहीं मिलती। इस दूसरे रूप में शिवस्वरूप गुरुदेव की आत्मचेतना शक्तिस्वरूपा माताजी की आत्मचेतना से घुल-मिलकर तदाकार हो गई थी।

आने-जाने वाले, मिलने-जुलने वाले इस सचाई को अनुभव कर अचरज में पड़ जाते। उन्हें यह बात गहराई से महसूस होती कि गुरुदेव एवं माताजी कहने भर के लिए दो हैं, पर वास्तव में उनके भीतर एक ही प्राण प्रवाह, एक ही भाव-चेतना क्रियाशील है। इस तरह की अनुभूति लोगों को लगभग रोज ही होती थी। वे आपस में इसकी चर्चा भी करते। एक दूसरे से बताते कि हमने यह बात तो गुरुजी को कही थी, लेकिन माताजी तक कैसे पहुँच गई! जबकि गुरुजी तो अभी तपोभूमि में ही हैं अथवा ये बातें तो अखण्ड ज्योति संस्थान में माताजी से कही गई थीं। तपोभूमि में बैठे हुए गुरुदेव को किस तरह पता चल गईं! उन दिनों तो वहाँ कोई टेलीफोन जैसे माध्यम भी न थे, जिससे कि ये अनुमान लगाए जा सकते कि टेलीफोन द्वारा बात कह दी गई होगी। बड़े ही तार्किक एवं बुद्धिकुशल लोगों को भी गुरुदेव एवं माताजी की आत्मचेतना के अंतर्मिलन का सत्य स्वीकारना पड़ता।

कई बार तो कुछ लोग अपने अनुभव को दुहरा-तिहरा कर इसकी बाकायदा परीक्षा भी कर डालते। महाराष्ट्र के विष्णु नारायण गोवरीकर उन्हीं में से एक थे। ये गायत्री तपोभूमि के शिविरों में प्राय: आया करते थे। इस बार जब आए तब उनका मन कई तरह की घरेलू समस्याओं से आक्रांत था। मन को कितना भी समझाने की कोशिश करते, पर बार-बार वह समस्याओं के जाल में जकड़ जाता। शिविर के दूसरे दिन जब वह खाना खाने के लिए अखण्ड ज्योति संस्थान गए, तब उनके मन की स्थिति कुछ ऐसी ही थी। वह अपने को कितना भी सँभालने की कोशिश करते, पर उद्विग्नता किसी भी तरह मन को छोड़ नहीं रही थी।

इसी उद्विग्न मन:स्थिति में वह खाना खाने के लिए बैठे। माताजी ने स्वयं अपने हाथों से उन्हें खाना परोसा। खाना परोसते हुए अंतर्यामी माँ ने उनकी मनोदशा पहचान ली। वह प्यार से बोलीं, ''बेटा, अब तुम मेरे पास आ गए हो, तुम्हें परेशान होने की कोई जरुरत नहीं। तुम्हारी परेशानियों से हम लोग निबटेंगे। तुम आराम से खाना खाओ।'' माताजी के इस कथन का उन पर कोई खास असर नहीं हुआ। वह वैसे ही अन्यमनस्क भाव से खाना खाते रहे। विष्णु नारायण को इस तरह उदास देखकर माताजी कहने लगीं, ''मैं जानती हूँ बेटा, इस समय तुम पर भारी मुसीबतें हैं। खेती का मामला-मुकदमा चल रहा है। दुकान इस समय एकदम ठप पड़ी है। तुम्हारी पत्नी इस समय काफी बीमार है। बेटी की शादी के लिए कुछ ढंग का बंदोबस्त नहीं हो पा रहा है। इतनी परेशानियाँ किसी पर एक साथ आ पड़ें, तो किसी का भी घबरा जाना स्वाभाविक है। पर माँ के पास आकर भी उसके बच्चे चिंतित रहे, तो माँ के होने का क्या फायदा ?''

माताजी की इन बातों ने उन्हें अचरज में डाल दिया। सबसे बड़ा अचरज तो उनको इस बात का था कि उन्होंने तो अपनी समस्याएँ किसी को भी नहीं बताईं। जब से वह यहाँ आए हैं, तब से लेकर इन क्षणों तक उन्होंने किसी से भी अपनी परेशानी की कोई चर्चा नहीं की। फिर भी माताजी को सारी बातें कैसे पता चलीं ? प्रश्न के उत्तर में वे केवल इतना सोच सके कि माताजी केवल गुरुजी

की धर्मपत्नी भर नहीं, वे जरूर योगसिद्ध महायोगिनी हैं। यही सोचकर उन्होंने निश्चिंतता से खाना खाया और हाथ-मुँह धोकर माताजी को प्रणाम करके गायत्री तपोभूमि की ओर चल दिए। हाँ इतना अवश्य हुआ कि माताजी को प्रणाम करते हुए उनकी आँखें छलक आईं, पर माँ की वरदायी अभयमुद्रा देखकर उनके मन को गहरी आश्वस्ति मिली।

लेकिन अभी जैसे उनके आश्चर्य की शृंखलाओं का अंत नहीं हुआ था। वह जैसे ही तपोभूमि आए, उन्होंने देखा कि गुरुजी यज्ञशाला के पास टहल रहे हैं। वह उन्हें प्रणाम करने के लिए गए। गुरुदेव को प्रणाम करके विष्णु नारायण जैसे ही खड़े हुए, गुरुदेव ने कहा, ''बेटा, अब परेशान होने की कोई जरूरत नहीं है। जब माताजी ने तुम्हारी सभी समस्याओं का भार अपने ऊपर ले लिया है, तब चिंता जैसी कोई बात नहीं है। तुम उन पर विश्वास करना। वह परम समर्थ हैं। उन्होंने कह दिया, तो विश्वास रखना, सब कुछ ठीक हो जाएगा।'' गुरुजी की इन बातों ने विष्णु नारायण को एक बार फिर से हैरत में डाल दिया। वे सोच ही नहीं पाए कि अखण्ड ज्योति संस्थान में माताजी द्वारा कही गई बातें गुरुजी को कैसे पता चल गईं! उनकी इस हैरानी को दूर करते हुए गुरुजी ने कहा, ''अरे बेटा, हम और माताजी कोई दो थोड़े ही हैं। बस केवल बाहर से दिखने के लिए दो हैं। बाकी भीतर से सब कुछ एक है।''

गुरुजी की बातों ने उन्हें और भी चकित कर दिया। उनकी बातों पर भरोसा करने के अलावा और कोई दूसरा उपाय न था। लेकिन मानवीय मन का संदेह अभी भी किसी कोने में छिपा हुआ था। इस संदेह का निवारण करने के लिए वे शिविर के सारे दिनों में कोई-न-कोई प्रयास करते रहे। हर बार उनके संदेह को मुँह की खानी पड़ी। जो गुरुदेव हैं वही माताजी हैं, जो माताजी हैं वही गुरुदेव हैं, यही सत्य प्रमाणित हुआ। अपनी इन बातों की चर्चा जब उन्होंने साथ के शिविरार्थियों से की, तो वे सब खुलकर हँस पड़े। हँसी का कारण पूछने पर उनमें से सभी ने कहा, ''अरे भई, यह भी कोई सोच-विचार की बात है। हम तो पहले से ही जानते हैं कि गुरुजी-माताजी को दो समझना एक बड़ा भ्रम है। वे दोनों एक ही हैं।'' इन सबकी बातों को सुनकर विष्णु नारायण का संदेह दूर हुआ। घर वापस पहुँचने पर माताजी के प्रति उनकी श्रद्धा शतगुणित हो गई, क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि अप्रत्याशित संयोगों से उनकी सभी समस्याएँ एक के बाद एक निबटती चली गईं।

अपने इस अनुभव को उन्होंने गुरुदेव को लिखे गए पत्र में बयान किया। जिसे उन दिनों कई लोगों ने पढ़ा। विष्णु नारायण गोवरीकर जैसे अनेकों और भी हैं, जिन्होंने माताजी की कृपा को अनुभव करने के साथ इस सचाई को जाना कि गुरुजी और माताजी एक ही आत्मचेतना के दो रूप हैं। मध्यप्रदेश के ग्रामीण अंचल की एक महिला भक्त शिवरानी देवी की अनुभूति इस संबंध में बड़ी प्रगाढ़ थी। अल्पशिक्षित यह महिला भक्त कुछ खास पढ़ी-लिखी न होने पर भी बड़ी साधनापरायण थी। ब्राह्ममुहूर्त से लेकर प्रात: तीन घंटे नियमित साधना करने का उनका बड़ा पक्का नियम था। गायत्री महामंत्र के प्रत्येक अक्षर को वह बड़ी भावपूर्ण रीति से जपती थी। उसके आचार-व्यवहार में भी बड़ी असाधारण पवित्रता थी। जपकाल के अलावा दिन के अन्य समय गृहकार्यों को करते हुए भी वह गायत्री मंत्र का मानसिक जप और सूर्यमंडलस्थ माता गायत्री का ध्यान किया करती थी।

अपनी नियमित साधना में एक दिन उनका मन गहरे ध्यान में लीन हो गया। प्रगाढ़ ध्यान की इसी भावदशा में उन्होंने देखा कि सूर्यमंडलस्थ माता गायत्री ने माताजी का रूप ले लिया है। निरभ्र अनंत आकाश में केवल माताजी की तेजोमयी मूर्ति विराजमान है। अखिल ब्रह्मांड के सारे ग्रह-नक्षत्र उन्हीं के इर्द-गिर्द चक्कर काट रहे हैं। धीरे-धीरे सब कुछ उनमें विलीन हो जाता है। देखते-देखते परमपूज्य गुरुदेव की दिव्य मूर्ति भी उसी प्रकाश से निकलती दिखाई देती है। फिर दोनों साथ दिखाई देते हैं। ध्यान से उठने पर भी उनके मन पर यही विचित्र अनुभूति छाई रही। हालाँकि इसका अर्थ उन्हें जरा भी समझ में नहीं आया। काफी दिनों बाद गायत्री तपोभूमि में एक शिविर में पहुँचने पर उन्होंने परमपूज्य गुरुदेव से इसकी चर्चा की। उत्तर में उनने गंभीरता से कहा, ''बेटी! शक्तिस्वरूपा आद्यशक्ति माँ ही इस सृष्टि की जननी हैं। उनके कई रूप हैं। जैसी हमारी भावना होती है, वैसी ही आकृति बन जाती है। वैसे माताजी के बारे में तुम्हारे जो भाव हैं, वे सही हैं। मैं उनसे जरा भी अलग नहीं हूँ। उनका ध्यान करना अर्थात् गुरुसत्ता से-ऋषियुग्म से एकाकार होना। इस भाव को और प्रगाढ़ बनाते चलना।'' गुरुदेव के ये गूढ़ आध्यात्मिक वचनों का रहस्य उसे पता नहीं कितना समझ में आया! पर उसको अपने मन की गहराई में महाशक्ति की संचालन सामर्थ्य का अहसास अवश्य हुआ।

❋

संचालन-सामर्थ्य का लौकिक प्राकट्य

पहली बार गुरुदेव जब हिमालय गए थे, तब गायत्री तपोभूमि के क्रिया-कलापों का विस्तार न हुआ था। सारे काम-काज का केंद्र अखण्ड ज्योति संस्थान था। हर महीने निश्चित समय पर अखण्ड ज्योति के प्रकाशन के अलावा दूसरी कोई विशेष जिम्मेदारी न थी। मिशन का बहुत ज्यादा प्रचार-प्रसार न होने के कारण आगंतुकजन भी थोड़े ही थे, लेकिन अब दूसरी बार की हिमालय यात्रा की स्थितियाँ एकदम अलग थीं। सन् १९५३ में गायत्री तपोभूमि का निर्माण होने और यहाँ शिविरों की नियमित प्रक्रिया चल पड़ने से श्रद्धालुओं एवं जिज्ञासुओं के आवागमन का ताँता लग गया था। वर्ष १९५८ के सहस्र कुंडीय यज्ञ आयोजन ने भी स्थिति को एकदम बदल दिया था। इस यज्ञ आयोजन से देश के बहुसंख्यक बुद्धिजीवी, साधक, राजनेता व विशिष्टजन गुरुदेव के दैवी स्वरूप से काफी कुछ परिचित हो गए थे। इनमें से किसी-न-किसी का प्राय: प्रतिदिन आना लगा रहता था।

स्थितियों के इस बहुआयामी परिवर्तन के बाद मिशन में समर्थ संचालक की जरूरत हर पल-हर क्षण थी। गुरुदेव के अभाव में इस गुरुतर दायित्व को निभाने की जिम्मेदारी माताजी पर ही थी। हालाँकि इस बारे में उन दिनों कई कार्यकर्त्ताओं के मन में काफी आशंकाएँ-कुशंकाएँ थीं। वे सब सोच ही नहीं पाते थे कि सीधी-सादी, सरल गृहिणी की भाँति जीवनयापन करने वाली माताजी इतने सारे दायित्व को किस तरह निभाएँगी! ये सभी कार्यकर्त्ता माताजी के भावपक्ष से परिचित होने के बावजूद उनकी बुद्धि कुशलता एवं लोक व्यवहार में दक्षता से प्राय: अपरिचित थे। आपस में इनकी चर्चाएँ बड़ी निराशाजनक एवं हताशा भरी होती थीं। कभी तो ये कहते कि गुरुदेव के जाने के बाद मिशन बिखर जाएगा। कभी कहते, गुरुदेव का इस तरह माताजी के हाथों में सब कुछ छोड़कर हिमालय जाना ठीक नहीं है। सबको खाना खिला देना और बात है, इतने बड़े संगठन को सही तरह से चलाना एकदम अलग बात है। अपनी यात्रा के कुछ पहले इस तरह की चर्चाएँ गुरुदेव के कानों में पड़ीं, तो मुस्करा दिए और कहा, ''शंका-कुशंका करने वाले भला माताजी के बारे में जानते ही क्या हैं? उन्हें क्या मालूम माताजी कौन हैं? उनकी सामर्थ्य क्या है? अपनी शक्ति-सामर्थ्य के एक अंश से सबको समर्थ बनाने वाली माताजी को मैं अच्छी तरह से जानता हूँ।''

माताजी के दिव्य स्वरूप एवं उनकी दैवी क्षमताओं से अच्छी तरह परिचित गुरुदेव ने बड़ी निश्चिंततापूर्वक हिमालय के लिए प्रस्थान किया। गुरुदेव के हिमालय चले जाने के बाद माताजी ने मिशन का सारा सूत्र-संचालन अपने हाथों में ले लिया। हालाँकि उन दिनों उन पर घर-परिवार की जिम्मेदारियाँ भी बहुत थीं। बच्चों की पढ़ाई चल रही थी। उनसे किसी विशेष मदद की आशा न थी। अपने अकेले के दम पर ही उन्हें साधना, गृहकार्य, पत्र-लेखन, अखण्ड ज्योति पत्रिका का संपादन-प्रकाशन, गायत्री तपोभूमि के कार्यों की देखभाल करनी थी। यह ठीक है कि इन सभी कार्यों में सहयोग के लिए कार्यकर्त्ता थे, परंतु वे सब-के-सब सहयोगी नहीं थे। माताजी के दैवी स्वरूप के प्रति अनभिज्ञता एवं श्रद्धा-भक्ति के अभाव में इनमें से कुछ की मन:स्थिति बड़ी विपन्न हो गई थी। अपनी मानसिक विपन्नता के वश हो, ये कभी-कभी उल्टे-सीधे काम भी कर बैठते थे।

अपने आराध्य के प्रति परिपूर्ण निष्ठा के साथ माताजी दिन-रात काम में लगी रहती थीं। घर और मिशन के अनेक तरह के कार्यों के अलावा उन पर कष्टपीड़ित शिष्यों-भक्तों की आध्यात्मिक शक्ति से सहायता करने की जिम्मेदारी भी थी। वे कब-कब, क्या-क्या करती हैं, इसे उनके पास रहने वाले लोग भी ठीक तरह से समझ न पाते थे। सभी को बस इतना पता चल जाता कि सारे काम सुचारु ढंग से और सही समय से हो रहे हैं। माताजी के इस दैवी संचालन से वे विपन्न बुद्धि लोग तो बहुत हतप्रभ होते थे, जो सहयोग की आड़ में विरोध और विद्वेष के कुचक्र रचते रहते थे। माताजी उनकी इन षड्यंत्र भरी गतिविधियों से अनजान न थीं, पर उनका अपनी इन बुद्धिहीन संतानों के प्रति करुणा भाव था। इन कुपुत्रों के प्रति भी माँ के वात्सल्य में कोई कमी न आई थी।

एक बार इन्हीं दिनों गायत्री तपोभूमि में कार्यकर्त्ताओं के बीच झगड़ा हो गया। इस व्यर्थ के झगड़े को सुलझाने के लिए माताजी को जाना पड़ा। वे गईं। सभी लोगों को

एक जगह इकट्ठा किया गया। सब के ठीक तरह से बैठ जाने के बाद उन्होंने कहना शुरू किया, ''बेटा! मैं तुममें से हर एक को बहुत अच्छी तरह से जानती हूँ। तुम लोग जो कुछ भी इतने दिनों तक करते रहे हो, उससे मैं अच्छी तरह से परिचित हूँ। मैं इस भीड़ में किसी का नाम लेकर उसे शर्मिंदा तो नहीं करूँगी। पर तुममें से जिसने जो कुछ किया, उसके कामों का खुलासा कर देती हूँ। उसी से तुम्हें यह अन्दाजा लग जाएगा कि मुझे क्या कुछ मालूम है।'' इसी के साथ माताजी ने हर एक कार्यकर्त्ता की गड़बड़ियों को गिनाना शुरू कर दिया। आर्थिक गड़बड़ियों के साथ विद्वेष और विरोध के कुचक्रों का वह एक-एक करके खुलासा करने लगीं। जैसे-जैसे वह बोलती जातीं सुनने वालों का सिर शर्म से झुकता जाता। सब कुछ कह चुकने के बाद उन्होंने कहा, ''बेटा, अब तक मैं चुप रही, इसका कारण यह नहीं है कि मुझे कुछ मालूम नहीं था। कारण केवल इतना ही था कि मैं माँ हूँ और माँ हर हाल में अपने बच्चों को प्यार करती है। फिर वे बच्चे कैसे भी क्यों न हों? रह गई मिशन की बात, तो इसे भगवान् ने जन्म दिया है। वही इसे बढ़ा रहा है। चाहे जितने लोग जितनी भी तरह से स्वार्थवश या अपनी कुटिलता के कारण इसका विरोध करें, पर इसे तो हर हाल में बढ़ना ही है।''

माताजी की बातों को सुनकर, सुनने वाले अवाक् रह गए। उनमें से जिनकी भावनाएँ अभी पूरी तरह से मरी नहीं थीं, जो किसी कारण बहकावे में आकर भटक गए थे, उन्होंने रोते हुए माताजी के चरणों में गिरकर माफी माँगी। माँ ने भी प्यार से अपने इन अज्ञानी बालकों के सिर पर हाथ फेरकर क्षमा कर दिया, पर कुछ के मन में कलुष अभी बाकी था। उन्होंने पहले तो यह पता करने की कोशिश की कि माताजी को सारी बातें कहाँ से पता चलीं। जब अपनी इस कोशिश में सब तरह से थक-हार गए, तब उन्हें भी माताजी की दिव्य क्षमताओं पर विश्वास करना पड़ा। हालाँकि इसके बावजूद वे अपनी प्रवृत्ति को बदलने के लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने अपनी कारगुजारियाँ जारी रखीं, पर महाशक्ति की संचालन सामर्थ्य से मिशन की संपूर्ण गतिविधियाँ सुनियोजित एवं सुनियंत्रित रीति से चलती रहीं।

इसी बीच गुरुदेव की हिमालय यात्रा की अवधि भी पूरी हुई। वह निश्चित समय पर वापस आए। उनके आते ही माताजी ने संचालन सूत्र फिर से उनके हाथों में सौंप दिया। अंतर्यामी गुरुदेव को बिना बताए ही सारी स्थितियाँ पता चल गईं और उन्होंने दोषीजनों के प्रति कठोर कार्यवाही करने का निश्चय किया, पर यहाँ भी माँ की ममता आड़े आ गई। उन्होंने गुरुदेव से कहा, अब रहने भी दीजिए, वे जैसे हैं, मेरे बच्चे हैं। जब गुरुदेव ने मिशन के भावी विस्तार का हवाला देकर उन्हें बहुत समझाया, तो वे जैसे-तैसे किसी तरह बहुत दुःखी मन से राजी हुईं, पर यहाँ भी उन्होंने अपनी शर्त रख दी। वे बोलीं कि उन्हें नया जीवन शुरू करने के लिए पर्याप्त धनराशि एवं आप अपने द्वारा लिखे गए मौलिक एवं अनूदित साहित्य के प्रकाशन का अधिकार दें। उनकी इन बातों पर गुरुदेव हँस पड़े और कहने लगे,'' आपकी ममता के सामने तो त्रिलोक के स्वामी को भी झुकना पड़ेगा। फिर मेरी क्या मजाल। आप जैसा चाहती हैं, वैसा ही होगा।'' सब कुछ माताजी की सहज संवेदनाओं के अनुसार ही हुआ। जिन आत्मदानियों को अलग किया गया, वे अपने हृदय में माताजी के असीम प्यार की अनुभूति लेकर गए। माताजी की दिव्य शक्तियों और गुरुदेव के तपः तेज ने मिशन को फिर से नए प्राण दिए। बीतते वर्षों के साथ महाशक्ति के दिव्य साधना स्थल के रूप में शांतिकुंज की पृष्ठभूमि बनने लगी।

✸

संत राबिया परम तपस्विनी थीं। वह बहुत ही साधारण ढंग से अपनी गुजर-बसर करती थीं। एक बार एक धनी मनुष्य ने उनके फूटे लोटे और फटी गुदड़ी को देखकर कहा, आप इतनी महान् संत होकर ऐसे फूटे-फटे सामानों से अपनी गुजर-बसर करती हैं। यह मुझे ठीक नहीं लग रहा है। यदि आप आज्ञा करें, तो मैं आपके लिए सारी आवश्यक सुविधाएँ जुटा सकता हूँ।

धनी व्यक्ति की इन बातों पर वह हँसने लगीं। फिर उसे समझाते हुए वह बोलीं, जब यह सारा जगत् मेरे प्रभु का राज्य है, तब उसे छोड़कर मैं किसी दूसरे से क्या माँगूँ और क्यों माँगूँ? आप मेरे लिए चिंता न करें, जब मुझे जरूरत होगी, तो मैं अपने मालिक के हाथों से अपने ही आप ले लूँगी।

दिव्य साधनास्थली का चयन

महाशक्ति के दिव्य साधना स्थल के रूप में शांतिकुंज के निर्माण की परिकल्पना परमपूज्य गुरुदेव की दूसरी हिमालय यात्रा के समय ही तैयार हो गई थी। उनकी मार्गदर्शक सत्ता ने इसकी आवश्यकता एवं इस तरह के निर्माण की स्पष्ट रूपरेखा से उन्हें इस विशिष्ट अवधि में अवगत करा दिया था। हिमालय की गहनताओं में युगों से तप कर रहे दिव्य देहधारी ऋषियों की सम्मति भी यही थी। गुरुदेव की यह दूसरी हिमालय यात्रा (१९६०-६१)पहली बार की तुलना में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण थी। इस बार उन्हें अपने मार्गदर्शक के साथ हिमालय की दिव्य ऋषि सत्ताओं के न केवल दर्शन मिले, बल्कि उनसे चिंतन-परामर्श का विशेष अवसर मिला। विश्व-वसुधा के विभिन्न घटनाचक्रों एवं इसकी भावी नियति पर विशेष चर्चा हुई। भारतभूमि के संकटापन्न वर्तमान एवं इसके दीर्घकालिक उज्ज्वल भविष्य का उन्हें दर्शन कराया गया। साथ ही इस संबंध में उनकी भूमिका निर्धारित की गई।

इसी समय यह भी निर्धारण किया गया कि आगामी दिनों गुरुदेव की यह भूमिका पूरी तरह से परोक्ष होगी। जीवन के साठ वर्ष पूरा होने के बाद वे हिमालय के ऋषितंत्र के साथ मिलकर गहन आध्यात्मिक प्रयोग करते हुए धरती के नवीन भाग्य एवं भविष्य के निर्माण हेतु प्रयत्नशील रहेंगे। प्रत्यक्ष दायित्व महाशक्ति के रूप में माताजी स्वयं सँभालेंगी। इस प्रत्यक्ष दायित्व को पूरी तरह से सँभालने से ही उनके अवतार कार्य का प्रारंभ और विस्तार होगा। उनके इस कार्य के लिए मथुरा बहुत अधिक उपयुक्त स्थान नहीं है। महाशक्ति ने अपनी हर अवतार लीला में हिमालय की सुरम्य छाँव एवं गंगातट को ही तपस्थली के रूप में चुना है। इस बार भी यही ठीक होगा। वह जिस भूमि को अपने दिव्य साधना स्थल के रूप में चुनेंगीं, वही स्थान भविष्य में संपूर्ण विश्व के लिए ऊर्जा अनुदान का केंद्र बनेगा। अपने इस निर्धारण में ऋषितंत्र ने यह भी स्पष्ट किया, इस युग के लिए विधि ने जो युग-प्रत्यावर्तन का विधान रचा है, उसमें केंद्रीय भूमिका महाशक्ति स्वयं निभाएगी। ऋषिगण एवं दिव्य लोकों की देव शक्तियाँ उनका प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में सहयोग करेंगी।

हिमालय के ऋषितंत्र के निर्धारण के अनुरूप गुरुदेव ने आवश्यक कार्ययोजना बनाते हुए अपनी तपश्चर्या की अवधि पूरी की और उन दिव्य विभूतियों से अनुमति लेकर मथुरा वापस लौटे। आगामी हिमालय यात्रा से पहले उन्हें यहाँ के बहुत सारे काम पूरे करने थे। घर-परिवार की जिम्मेदारियों के साथ गायत्री तपोभूमि की व्यवस्था को भी चुस्त-दुरुस्त बनाना था। वापसी पर माताजी से वह कुछ ज्यादा विस्तार से बता पाते, इसके पहले ही उन्होंने कहा दिया कि मुझे आपका और हिमालय में तपस्यालीन पूज्य ऋषियों का प्रत्येक आदेश स्वीकार है। गुरुदेव जानते थे कि माताजी उनकी अंतर्चेतना में होने वाली प्रत्येक हलचल एवं स्पंदन को अपने अंत:करण में अनुभव करती रहती हैं, इसलिए बिना बताए माताजी के सब कुछ समझ जाने पर उनको तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ, परंतु इस पर उन्हें थोड़ा अचरज जरूर हुआ कि वे मथुरा में फैले अपने ममता के धागों को इतनी तेजी से समेटने के लिए कैसे तैयार हो गईं!

वे अच्छी तरह से जानते थे कि माताजी महाशक्ति हैं। उनमें ममता की शक्ति है, तो दृढ़ता की शक्ति भी है। वह भावस्वरूपा हैं, तो संकल्पमयी भी हैं। शक्ति के जितने भी स्वरूप हैं, सब उनकी आत्मचेतना में समाहित हैं। जीवन के विविध रूप उन शक्तिमयी का स्पर्श पाकर अपने आप ही शक्ति स्रोत में बदल जाते हैं। ममतामयी की अगाध ममता में दुर्बलता का कोई नामोनिशान नहीं है। न वे स्वयं कभी दुर्बल होती हैं और न ही अपने बच्चों को दुर्बल होते हुए देखना चाहती हैं। माताजी के इस स्वरूप-सत्य से सुपरिचित गुरुदेव ने नई दिशा में सोचना शुरू कर दिया। उनकी दैवी योजना को पूरा करने के लिए देव शक्तियाँ स्वयं उपयुक्त पात्रों को जुटाने लगी थीं। चार-पाँच वर्षों में ही गायत्री तपोभूमि को सँभालने व भलीप्रकार चलाने के लिए पं. लीलापत शर्मा, वीरेश्वर उपाध्याय, द्वारिका प्रसाद चैतन्य आदि समर्पित व सुपात्र कार्यकर्त्ताओं की टीम आ जुटी। इन सभी लोगों के लिए गुरुदेव व माताजी आराध्य थे। उनकी प्रत्येक इच्छा हर रूप में उन्हें स्वीकार थी। विदाई सम्मेलन का विराट् व्यवस्था तंत्र भी इन सबने सँभाल लिया। यह १७ से २० जून १९७१ में होना था।

यहाँ की भावी व्यवस्था का ढर्रा बैठ जाने के बावजूद अभी भविष्य के कार्य के लिए उपयुक्त स्थान को क्रय करना बाकी था। यद्यपि ध्यानस्थ भावदशा में गुरुदेव एवं माताजी दोनों ने ही देवभूमि हरिद्वार में स्थित विशिष्ट स्थान को पहचान लिया था। उन दोनों ने यह भी जान लिया था कि हजारों वर्षों पूर्व इसी दिव्य भूमि में कहीं देवमाता गायत्री युगशक्ति के रूप में तपोनिरत महर्षि विश्वामित्र के अंतःकरण में अवतरित हुईं थीं। माता गायत्री के इस अवतरण ने ही महर्षि विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि बनाया था। इस दिव्य स्थल पर उन्होंने पुंजीभूत आध्यात्मिक आलोक को उफनते-उमड़ते और फैलते हुए देखा था, परंतु ध्यान की प्रगाढ़ता में अनेकानेक आध्यात्मिक अनुभूतियों को स्फुरित करने वाली यह जगह हरिद्वार में ठीक-ठीक कहाँ है ? यह जानना अभी बाकी था।

इसे जानने के लिए गुरुदेव ने अपनी यात्रा की तैयारी की। माताजी के अनुरोध पर वह अपने बड़े पुत्र ओमप्रकाश से गुड़गाँव में मिलते हुए गाजियाबाद आए। यहाँ उनके बड़े जामाता रामेश्वर उपाध्याय रहते थे। उपाध्याय जी ने अपने देवतुल्य श्वसुर को आते हुए देखकर उनका आगे बढ़कर स्वागत किया। उस समय उनके हाथों में एक छोटा बिस्तर और लोहे की संदूकची थी। गुरुदेव ने अपनी संदूकची खोलकर उन्हें माताजी द्वारा भेजी हुई छोटी-मोटी चीजें सौंपीं और आगे के कार्यक्रम के बारे में बातें कीं। सारी बातों को सुनकर उपाध्याय जी उनके साथ हो लिए। शाम की ट्रेन से दोनों ने हरिद्वार के लिए प्रस्थान किया। हरिद्वार पहुँचकर ये दोनों लोग हर की पैड़ी और भीमगोड़ा के बीच गंगा के सामने वाली धर्मशाला में ठहरे। बाद में उन्होंने अनेक एजेंटों से मिलकर कई जगहों को देखा।

इन जगहों को देख लेने के बाद गुरुदेव ने इन लोगों से सप्तसरोवर के पास कोई जमीन बताने के लिए कहा। उनकी इस बात पर पहले तो इन एजेंटों ने हरिद्वार शहर से इतनी दूर की जमीन के बारे में काफी परेशानियाँ बताईं। बाद में दबाव देने पर वे उन्हें लेकर सप्तसरोवर के पास पहुँचे। सप्तसरोवर से थोड़ी दूर चलने पर गुरुदेव ने उस स्थान को पहचान लिया, जिसे उन्होंने माताजी के साथ अपनी साधना की प्रगाढ़ दशा में अनुभव किया था। यद्यपि जमीन की दृष्टि से यह जगह ठीक नहीं थी। यह भूमि काफी दलदली थी। एक छोटा पहाड़ी झरना भी इसके बीच में बह रहा था। जब उन्होंने इस जमीन को पसंद किया, तो जमीन बिकवाने वाला एजेंट उनका मुँह देखता रह गया। उसने काफी कुछ उन्हें समझाने की कोशिश की, पर गुरुदेव ने उसकी कोई बात ध्यान देकर नहीं सुनी, क्योंकि वह उस समय भी अपनी दिव्य दृष्टि से इस भूमि में सघनता से छाए हुए आध्यात्मिक प्रकाश को देख रहे थे। उन्होंने एजेंट से केवल इतना कहा कि हमें यही जमीन लेनी है, आप इसके लिए उपयुक्त व्यवस्था करें।

उनके इस तरह से जोर देने पर निश्चित समय जुलाई १९६८ में यहाँ की डेढ़ एकड़ जमीन १९ हजार रुपये में खरीद ली गई। यहीं पर बाद में महाशक्ति की दिव्य साधनास्थली गायत्री तीर्थ को अवतरित होना था। जमीन खरीदने के थोड़े समय बाद यहाँ पर प्रारंभिक निर्माण कार्य शुरू हो गया। गुरुदेव बीच-बीच में आकर यहाँ की व्यवस्था देख जाते थे। साथ ही वे माताजी के साथ मथुरा की व्यवस्थाओं को भी अंतिम रूप दे रहे थे। घर-परिवार की सभी जिम्मेदारियाँ भी इसी समय निबटाई जानी थीं। इस क्रम में उन्होंने सबसे पहले पुत्र सतीश (मृत्युंजय शर्मा) की शादी की। उन्हें अखण्ड ज्योति संस्थान का भार क्रमशः सौंपना आरंभ कर दिया। बहू निर्मल ने आकर माताजी के गृहकार्य में सहयोग देना शुरू कर दिया। माताजी उसे घर की सारी जिम्मेदारियाँ सौंपने लगीं। समस्त व्यवस्थाओं व जिम्मेदारियों के अंतिम चरण में पुत्री शैलो (शैलबाला) के लिए उन्होंने सुयोग्य, संस्कारवान वर की खोज कर ली। इस खोज के पीछे गुरुदेव-माताजी की गहन भविष्यदृष्टि थी। नियति के लेख में माताजी की पुत्री की शादी और उनके शांतिकुंज के प्रारंभिक दिनों की शुरुआत लगभग एक ही समय होना लिखा था। शायद इसके पीछे महाशक्ति का स्वसंकल्प भी क्रियाशील था।

सन् १९६० में प्राचीन भारत के सच्चे पुजारी, वेदों के महान् पंडित पं. दामोदर सातवलेकर अरविंद आश्रम आए। आश्रम में आने के बाद वे श्रीमाँ से मिले। अपनी इस मुलाकात में उन्होंने श्रीमाँ से पूछा, माताजी, साधना की सरलतम विधि क्या है ? माँ मुस्कराते हुए बोलीं, अपने हृदय में शिशुवत सरलता को अनुभव करते हुए जगन्माता को पुकारना। माँ! माँ!! पुकारने से सरल एवं प्रभावकारी अन्य कोई साधना नहीं है। इस भाँति अपने आप ही व्यक्ति जगन्माता की कृपा एवं करुणा का अधिकारी बनता है।

भावपरक विदाई लेकर शांतिकुंज आगमन

शांतिकुंज के प्रारंभिक दिनों की शुरुआत के कुछ समय पहले ममतामयी माताजी के मातृत्व को बड़ी कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ा। परीक्षा के ये पल उफनती-उमड़ती, विकल-विह्वल भावनाओं से घिरे थे। मथुरा छोड़ते समय गुरुदेव ने विदाई समारोह का आयोजन किया था, ताकि परिजन उनके तीसरी बार हिमालय जाने से पूर्व मिल सकें। अपने मन की कह सकें और उनकी सुन सकें। यह हिमालय यात्रा पिछली सभी यात्राओं की तुलना में असाधारण थी। इसमें यह निश्चित नहीं था कि गुरुदेव वापस लौटेंगे अथवा अपनी मार्गदर्शक सत्ता की आज्ञानुसार वहीं उनके पास रहकर विश्वकल्याण के लिए तप करेंगे। जिन्हें सदा अपना अंग-अवयव माना, अपने प्राणों के अनुदान देकर जिन्हें पाला, उनसे विदाई गुरुदेव के लिए हृदय विदारक थी। अपने हृदय की इस व्यथा को वह पिछले साल-डेढ़ साल से अखण्ड ज्योति के पृष्ठों में लिखकर परिजनों को अवगत भी कराते रहे थे।

भावमयी माताजी सब कुछ सहकर भी मौन थीं, जबकि उनके हृदय की व्यथा गुरुदेव से असंख्य एवं अनंत गुना गहरी थी। सबसे पहले तो वे माँ थीं। जिनके दिल में उमड़ने वाली भावनाएँ शायद समुद्र से गहरी और आकाश से भी ज्यादा व्यापक थीं। जिनका संपूर्ण अस्तित्व करुण कोमल संवेदनाओं का ही घनीभूत पुंज था, उन भावमयी जगदंबा को इन दिनों एक के बाद एक अनेक भावनात्मक आघात झेलने पड़ रहे थे। सबसे पहले तो उन्हें अपनी कोख से जायी लाड़ली बेटी शैलो (शैलबाला) की विदाई करनी थी। गायत्री जयंती (३ जून, १९७१) को हुई यह शादी उनके लिए पुलकन और अश्रुओं से भरी थी। पुलकन इसलिए थी, क्योंकि वह अपनी बेटी के ससुराल के प्रत्येक सदस्य के गुणों के बारे में सुपरिचित एवं निश्चित थीं। उन्हें यह भी मालूम था कि उनके जामाता डॉ. प्रणव पंड्या एक सुयोग्य पात्र हैं। उनमें समस्त दैवी संभावनाएँ विद्यमान हैं। उनके सान्निध्य में उनकी पुत्री सब तरह से सुखी रहेगी, अपने जीवन की पूर्णता प्राप्त करेगी, यह भी उन्हें भली प्रकार पता था, लेकिन साथ ही उन्हें यह भी मालूम था कि उनकी लाड़ली बेटी जब ससुराल से पहली बार विदा होकर मायके वापस लौटेगी, तब वह उसके स्वागत के लिए यहाँ न होंगी। तब वह गंगा की गोद और हिमालय की छाया में बनी दिव्य साधना स्थली शांतिकुंज में एकांत तप कर रही होंगी।

बात केवल बेटी से अलग होने तक सीमित न थी। विदा उन्हें बेटे और बहू से भी होना था। जिन पर कच्ची उम्र में अखण्ड ज्योति संस्थान का गुरुतर भार सौंपकर वे जा रही थीं। बेटे सतीश (मृत्युंजय शर्मा) को उस समय तक काम का कोई खास अनुभव नहीं हुआ था। बहू निर्मल भी अभी घर की सारी बातों पर प्रायः उन्हीं पर निर्भर थी। उनकी अम्मा जी (माताजी) ही उनके लिए सब कुछ थीं, परंतु माँ को अपने इन बच्चों से अलग होना ही था। विदा तो उन्हें अपनी इस छोटी-सी सुपौत्री गुड़िया से भी लेनी थी, जो अभी मुश्किल से दो साल की हुई थी। जिसने हाल ही में जैसे-तैसे नन्हे कदमों से चलना सीखा था। जो बड़ी मुश्किल से अटक-अटककर उन्हें अम्माजी कह पाती थी। जिसके लिए उनकी गोद ही उसका सारा घर-संसार था। जिसे यदि वे थोड़ी देर के लिए भी अपने से अलग करतीं, तो वह बिलख उठती। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आँसुओं का झरना बन जातीं। भावमयी माताजी को स्वयं बिलखते हुए इन सभी बिलखते हुए अपने बच्चों से अलग होना था।

जिंदगी की अगणित पीड़ाओं को बड़ी आसानी से हँसकर सहने वाली माताजी को उनकी विकल भावनाएँ इन दिनों विह्वल किए हुए थीं। अपने साथ रहने वाले बच्चों के अलावा विश्व जननी के वे बच्चे भी थे, जो हर पल उन्हें माताजी-माताजी कहते हुए थकते न थे। सुख में, दुःख में, संकट में, विपन्नता में जिन्हें केवल अपनी माँ को पुकारना आता था। जिन्हें इस भरे-पूरे संसार में केवल अपनी माँ पर भरोसा था। उन सब बच्चों में ज्यादातर इस समय उन्हें विदाई देने आए हुए थे। उन सभी की आँखें भीगी और भरी थीं। इनमें उम्र का भेद भले ही हो, पर भावनाओं का कोई भेद न था। उनमें से शायद हर एक की भावनाएँ व्याकुल होकर यही कह रही थीं कि पिता हमें छोड़कर महातप के लिए हिमालय जा रहे हैं, हम बच्चों के लिए तुम्हीं रुक जाओ माँ। बोल कोई कुछ नहीं रहा था, पर सभी रो रहे थे, बिलख रहे थे। सब के मन-प्राण में

महा-हाहाकार मचा हुआ था। अपनी असंख्य संतानों की इस हालत से जगदंबा विह्वल, व्याकुल और विकल थीं। अपनी प्राणप्रिय संतानों को इस तरह हिचकियों के हिचकोले खाते हुए देख कोई सामान्य माँ भी शांत नहीं रह सकती, फिर वे तो भावमयी भगवती थीं। बच्चे ही उनके लिए उनका जीवन थे। वेदना की गहरी टीस को अपने में समेटे असंख्य हृदय अपनी माँ को उनकी एकांत साधना के लिए विदा दे रहे थे। सभी को मालूम था कि वे हरिद्वार में रहेंगी। बहुत जरूरत पड़ने पर उनसे संपर्क हो सकता है, परंतु उस समय हरिद्वार में मथुरा जैसी सुगमता तो न थी।

विछोह के इस करुण उद्रेक में एक महाविछोह और भी था। विदाई की इस महाघड़ी में जब सभी विदा ले रहे थे, विदा दे रहे थे, उन्हें भी अपने आराध्य को विदा देना था। यह ठीक था कि उनकी विदाई मथुरा में न होकर हरिद्वार में शांतिकुंज आकर होनी थी। गुरुदेव को सभी से विदा लेकर उनके साथ शांतिकुंज तक जाना था। यही हुआ। उमड़ते, छलकते, बिखरते और सर्वव्यापी बनते अश्रुओं के बीच गुरुदेव और माताजी की लाड़ली सुपुत्री शैलो अपने सौभाग्य सिंदूर डॉ. प्रणव पंड्या एवं ससुराल के सदस्यों के साथ विदा हुई। अपनी उमड़ती हुई व्याकुलता के महातूफान के बवंडर भरे चक्रवात के साथ एक-एक करके सारे परिजन भी विदा हुए। गायत्री तपोभूमि के कार्यकर्त्ताओं को तो पं. लीलापत शर्मा के मार्गदर्शन में वहीं रहकर कर्त्तव्य साधना करनी थी। उनकी भावनाएँ कितनी भी छटपटाई हों, पर मर्यादा प्रभु श्रीराम एवं माता भगवती के साथ चलने की इजाजत नहीं दे रही थीं। प्रभु का अनुशासन शिरोधार्य करके वे सब वहीं कर्म निरत हो गए।

गुरुदेव के साथ ममतामयी माँ ने शांतिकुंज के लिए प्रस्थान किया। साथ में वर्षों की तप-साधना से सिद्ध अखण्ड दीपक को सँभाले हुए दो-तीन कार्यकर्त्ता थे। यह यात्रा भी समाप्त हुई। शांतिकुंज में गुरुदेव कुछ दिन रहे भी, पर आखिर में माताजी को उन्हें तप के लिए हिमालय की ओर विदा करना ही था। घर-परिवार के सदस्य, स्वजन-परिजन, एक-एक करके नहीं, एक साथ सब छूटे और जिनके लिए, जिनके एक इंगित से सभी को बिना पल की देर लगाए सब कुछ छोड़ दिया, आज वही उनको छोड़कर सुदूर हिमालय की गहनताओं में तप करने के लिए जा रहे थे। यह विछोह बड़ा करुण था। विदाई के ये पल बड़े ही वेदनामय थे, पर इस करुण वेदना को हर हाल में सहना ही था। विश्वहित में अपने आराध्य की विदाई के इस महाविष को शांत भाव से पी जाने के अलावा और कोई चारा न था।

एक दिन प्रातः गुरुदेव हिमालय चले गए। जिस समय वह गए, उस समय माताजी को छोड़कर प्रायः अन्य सभी लोग सोए हुए थे। जगने पर माताजी ने सबको सँभाला, दिलासा दी, सांत्वना दी। माताजी की आश्वस्ति पाकर सब अपने-अपने घर चले गए। केवल वही दो-तीन लोग बचे, जिन्हें विश्वजननी माताजी के साथ रहकर उनकी सेवा का सौभाग्य मिला था। उन्हीं के साथ माताजी अपने आराध्य का चिंतन करते हुए शांतिकुंज में अपने प्रारंभिक दिनों को गुजारने लगीं। उस समय का शांतिकुंज आज की तरह विस्तृत-व्यापक न था। बस यही दो-तीन कमरे बने थे, जहाँ आज अखण्ड दीप स्थापित है। पानी के लिए एक कुआँ था। एक गाय थी, जिसके घी से परमपूज्य गुरुदेव की साधना से सिद्ध ज्योति दृश्य और अदृश्य को प्रकाशित करती थी। शांतिकुंज का समूचा वातावरण पुराणों में वर्णित प्राचीन तपस्वी ऋषियों के आश्रम की भाँति था। तब यहाँ किसी का आना-जाना प्रायः नहीं ही होता था। बस माँ की साधना ही यहाँ की समस्त गतिविधियों का केंद्र थी। उनकी इस साधना से ही समूचे गायत्री परिवार को प्राण व प्रकाश मिलता था। ❋

आनंदमयी माँ न तो पढ़ी-लिखी थीं और न उन्होंने धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन किया था, पर वे उच्चस्तर के संतों और विद्वानों के प्रश्नों का बराबर उत्तर देती थीं। एक बार ढाका में दार्शनिकों का सम्मेलन हो रहा था। प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री महेंद्र सरकार ने प्रश्न किया, माँ! आपने दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया है ? क्यों ? उन्होंने पूछा। महेंद्र सरकार बोले, आपसे जितने सवाल किए गए और आपने जो उत्तर दिए, वे सभी दर्शनशास्त्रों के अनुरूप थे। यह कैसे संभव हुआ, यह जानने की इच्छा है ?

इस सवाल के जवाब में माँ आनन्दमयी हँसते हुए बोलीं, यह समस्त अस्तित्व एक विराट् ग्रंथ है। इसकी रचना स्वयं आदिशक्ति ने की है। उनकी कृपा से जिसे इस ग्रंथ का बोध हो जाता है। उसे फिर कुछ और जानना शेष नहीं रहता।

सिद्धिदात्री माँ की प्रगाढ़ होती साधना

परमपूज्य गुरुदेव के हिमालय प्रस्थान के बाद माताजी के संपूर्ण जीवन में तप की सघनता छा गई। इस तप की ऊर्जा के स्पंदनों से शांतिकुंज का कण-कण अलौकिक दिव्यता से उद्भासित हो गया। भगवान महाशिव की भाँति गुरुदेव हिमालय की गहनताओं में अपनी आत्मचेतना के कैलाश शिखर पर तपोलीन थे। शांतिकुंज की दिव्य भूमि में भगवती आदिशक्ति की भाँति माताजी अपनी अंशभूता शक्तियों के साथ साधनालीन थीं। धन्य हैं वे लोग, जिन्होंने उन दिनों कुछ क्षणों के लिए ही सही, शांतिकुंज में आकर अथवा रहकर माताजी को निहारा, उनके साथ कुछ पल अथवा दिन बिताए। बड़भागी वे भी हैं, जो अपनी भावनाओं की गहराइयों में इन पलों में उस अलौकिकता का साक्षात्कार कर रहे हैं।

सचमुच ही वह सब अलौकिक था, आज के दिनों में तो लगभग अकल्पनीय। तब शांतिकुंज के आस-पास कहीं भी मनुष्यों की भीड़ और वाहनों, मोटरगाड़ियों का जमघट नहीं दिखाई देता था। सब ओर एक गहरी आध्यात्मिक शांति पसरी रहती थी। शांतिकुंज के अंदर भी आज जैसे भवनों का विस्तार और कार्यकर्त्ताओं की भारी संख्या जैसी कोई चीज न थी। बस मुश्किल से तीन कार्यकर्त्ता थे। शारदा एवं रुक्मिणी नाम की दो महिलाएँ भोजन आदि में सहयोग देने के लिए थीं। इस शुरुआती दौर में माताजी के साथ रहने वाली छह बालिकाएँ भी थीं। जिनकी संख्या बाद में बढ़कर बारह हो गई थी। इनकी पवित्रता, सरलता और गायत्री साधना के प्रति इनके समर्पित भाव को देखकर ऐसा लगता था जैसे माताजी ने स्वयं अपनी प्राणशक्ति को विभाजित कर ये कौमारी स्वरूप बना रखे हैं। इन बालिकाओं के पठन-पाठन, खान-पान, सार-सँभाल आदि की सारी व्यवस्था वे स्वयं करती थीं। ये बालिकाएँ उनके निर्देशन में अपने दैनिक काम-काज के अलावा अखण्ड दीप की सिद्ध ज्योति के सान्निध्य में साधना करती थीं।

तीन-चार कमरों वाला यह शांतिकुंज एक नजर में ही प्राचीन ऋषियों का तपोवन लगता था। मन को सहज ही भाने वाली हरियाली, हरे-भरे कुंजों की छाया, कुछ थोड़े से ही सही, पर फलदार और छायादार पेड़ सब मिलकर यहाँ के वातावरण में बड़े ही निर्मल सौंदर्य की सृष्टि करते थे। शोर जैसी कोई चीज यहाँ थी ही नहीं। आवाजों के नाम पर या तो कभी माताजी के सान्निध्य में रहने वाली बालिकाओं की हल्की-सी मृदु-मंद हँसी बिखर जाती, अथवा फिर जब-तब गाय रंभा देती, लेकिन ये सब भी वातावरण की शांति में मधुरता ही घोलते थे। तब दिन में भी सुनाई देने वाली माँ गंगा के प्रवाह की कल-कल ध्वनि आश्रम के वातावरण को स्वर्गीय संगीत से मधुमय बनाती थी। आगंतुक प्रायः नहीं थे। यदा-कदा महीनों में कोई एक-आध व्यक्ति आ जाए, तो बहुत। आश्रम में माताजी व यहाँ के थोड़े-से निवासियों के लिए रोजमर्रा की चीजों जैसे सब्जी-तरकारी आदि की व्यवस्था कार्यकर्त्ता हरिद्वार शहर अथवा ज्वालापुर जाकर करते थे। यह जाना भी प्रायः पैदल ही होता था। हाँ कभी-कभी थोड़ी-बहुत दूर के लिए बस सुलभ हो जाती थी।

माताजी की दिनचर्या में तप-साधना के अलावा अपने परिजनों के पत्रों के उत्तर देना, अखण्ड ज्योति पत्रिका के संपादन की व्यवस्था करना, सभी के भोजन का समुचित रूप से इंतजाम करना शामिल था। इन सभी कामों के साथ वे अपने साथ रहने वाली बालिकाओं के लिए कुछ ऐसी व्यवस्था भी जुटाती थीं, जिससे कि उनको अपने घर का अथवा माता-पिता का अभाव न खले। इस व्यवस्था में उन्हें कुछ-कुछ नई विशेष चीजें अपने हाथों से बनाकर खिलाना आदि शामिल था। इन सब दैनिक कार्यों में माताजी पर्याप्त व्यस्त रहती थीं। उनकी इस व्यस्तता को देखकर आस-पास रहने वाले यह समझ ही न पाते थे कि वे साधना कब करती हैं! करती हैं भी कि नहीं और यदि करती हैं तो क्या करती हैं! हालाँकि अंतःकरण को कुरेदने वाले इन सवालों की भ्रांति में पड़ने वाले लोग भी उनकी आध्यात्मिक शक्ति व सिद्धियों से अवगत थे। फिर भी अपनी ऊहापोह भरी भ्रांति में वे सत्य को समझने में असमर्थ थे।

एक दिन ऐसे ही एक परिजन ने, जो अभी भी जीवित हैं, परंतु जिन्हें अपना नाम उजागर करने में संकोच है, बड़ी ही हिचकिचाहट के साथ माताजी से पूछ लिया, "माताजी, आप तो स्वयं सिद्धिदात्री हैं, फिर आपको

साधना करने की आवश्यकता क्या है?'' इस सवाल के बाद थोड़ा डरते-डरते उन्होंने यह भी पूछा कि आप अपनी साधना कब करती हैं, कुछ पता ही नहीं चलता। अंतर्यामी माताजी उसकी इन बातों पर पहले तो मुस्कराईं, फिर हल्के-से हँस दीं। फिर थोड़ा-सा रुककर बोलीं, क्या करेगा यह सब जानकर। पर उसे बड़ा मायूस और उदास देखकर वह समझाने लगीं, देख बेटा! तू इन चीजों को अभी ठीक से समझ नहीं सकता। तेरी आँखें अभी बड़ी कमजोर हैं, वे हमारी साधना को देख नहीं सकतीं । फिर भी तू जिद करता है, तो चल थोड़ा-बहुत बताए देती हूँ।

देख, ये लड़कियाँ और मैं मिलकर साधना करती हैं। इन लड़कियों की साधना स्थूल है और मेरी सूक्ष्म। मैं जो कुछ भी करती हूँ वह सूक्ष्मशरीर से, सूक्ष्मलोक में करती हूँ। साधारण लोगों को दिखाई न देने और समझ में न आने पर भी इस तरह से ब्रह्मांड में बिखरे-फैले शक्ति प्रवाहों में से अनंत शक्ति का अर्जन होता है। यह सूक्ष्मशरीर की ऐसी साधना है, जिसकी चर्चा साधना की किसी किताब में नहीं है। लेकिन इस तरह से किए जाने वाले शक्ति अर्जन की सार्थकता तभी है, जब उसके अवतरण के लिए उचित आधार-भूमि हो। इस आधार-भूमि का निर्माण इन लड़कियों द्वारा मेरी देख-रेख में किए जा रहे गायत्री पुरश्चरणों की शृंखला से हो रहा है, तेरी समझ में ये सब बातें कितनी आएँगी, पता नहीं! पर इतना जान ले कि यहाँ इन दिनों अद्भुत हो रहा है। इस पवित्र भूमि की पात्रता का विस्तार करके इसे आध्यात्मिक ऊर्जा का भंडारगृह बनाया जा रहा है। इसका उपयोग आगे चलकर होगा।

अपनी बातों को समझाती हुई माताजी थोड़ा रुकीं, फिर कहने लगीं, तूने एक बात और पूछी थी, माताजी आपको साधना की आवश्यकता क्या है? तो बेटा, साधना मेरे लिए आवश्यकता नहीं, मेरा स्वभाव है। इसकी आवश्यकता मुझे नहीं तुम सब बच्चों को है। अब बच्चे तो बच्चे ठहरे, जाने-अनजाने उनसे न जाने कितने पाप-ताप हो जाते हैं और जब उनके परिणाम सामने आते हैं तो कहते हैं, माताजी बचाओ। अब बच्चे कैसे भी हों, धूल-मिट्टी, मल-मूत्र से सने हों या साफ-सुथरे हों, मेरे लिए तो बच्चे ही हैं। मैं उनकी माँ हूँ। वे जैसे भी हैं, मुझे बहुत प्यारे हैं। अपने इन बच्चों को आफत-मुसीबत से बचाने के लिए मुझे बहुत कुछ करना पड़ता है। गलती बच्चे करते हैं, प्रायश्चित उनकी माँ होने के कारण मुझे करना पड़ता है। इसी के चलते निरंतर साधना करती रहनी पड़ती है।

सुनने वाले की आँखें माताजी की बातों को सुनकर भर आईं। वह उनके वात्सल्य के अनंत विस्तार को देखकर हतप्रभ था। माताजी अपने भावों में डूबी कहे जा रही थीं, बेटा, मैं तो इस जमीन का, यहाँ के आस-पास की बहुतेरी जमीन का कायापलट करने में लगी हुई हूँ। जहाँ तक मेरे संकल्प का विस्तार है, यह जमीन आध्यात्मिक ऊर्जा का अक्षय कोष बन जाएगी। आगे चलकर यहाँ विस्तार होगा। यहाँ से बहुत बड़े-बड़े काम होंगे। उस समय देखने वाले लोग हैरान होंगे कि ये शांतिकुंज के सारे काम अपने आप कैसे हो जाते हैं। शांतिकुंज जो काम अपने हाथ में लेता है, वह बस अपने आप होता चला जाता है। दरअसल यह अपने आप नहीं, उस आध्यात्मिक ऊर्जा के एक अंश से होगा, जिसे. मैं आज जमा कर रही हूँ। यहाँ जो लोग आएँगे और भावभरी श्रद्धा के साथ यहाँ रहकर साधना करेंगे, अनायास उनके प्राण प्रत्यावर्तित हो जाएँगे। आगे के दिनों में यहाँ आने वाले श्रद्धावान साधक अपने प्रत्यावर्तित प्राणों को अनुभव करेंगे। अपनी साधना की रहस्य कथा के इन कुछ अंशों को उजागर करते हुए माताजी अचानक उठ खड़ी हुईं। शायद उन्हें अपने भविष्यत् कार्यों को गति देनी थी।

◆

श्रीरामकृष्ण परमहंस के गले में कैंसर हो गया था। इसी समय शशिधर चूड़ामणि उनके पास आए और बोले, स्वामी जी, यदि आप अपने मन को एकाग्र करके कहें कि रोग चला जा, रोग चला जा, तो आपका रोग अवश्य मिट जाएगा।

परमहंस बोले, जो हृदय मुझे सच्चिदानंद माँ का स्मरण करने हेतु मिला है, उसे मैं सांसारिक कार्य में क्यों लगाऊँ? इस पर अनेक शिष्यों को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने मिल-जुलकर आग्रह किया कि आप माँ ही से कहें कि वह आपको रोगमुक्त कर दे।

इस पर रामकृष्ण परमहंस मुसकराकर बोले, मैं ऐसी मूर्खता क्यों करूँ? माँ तो दयामयी, सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ हैं। उन्हें मेरे कल्याण के लिए जो उचित लगा, वही किया फिर मैं उनकी व्यवस्था में छिछोरापन क्यों लाऊँ? क्यों जताऊँ?

गुरुदेव की वापसी एवं प्राण प्रत्यावर्तन

प्रत्यावर्तित हो रहे प्राणों से माताजी और गुरुदेव के बीच भाव-संदेशों का आदान-प्रदान होता रहता था। शुभ्र-धवल हिमशिखरों वाले हिमालय की गहनताओं में तपोलीन गुरुदेव और हरिद्वार की दिव्य साधना स्थली शांतिकुंज में साधनालीन माताजी एक-दूसरे की परिस्थिति एवं भावदशा को अपने हृदय की गहराइयों में सतत अनुभव करते थे। दोनों के कर्त्तव्य कठोर थे, दोनों की साधना दुर्धर्ष थी। माताजी, गायत्री परिवार के अपने बच्चों को प्यार-दुलार देने, उनकी कष्ट-कठिनाइयों में भागीदार होने के साथ शांतिकुंज के भविष्यत् के लिए आध्यात्मिक ऊर्जा का अक्षय कोष जुटाने में जुटी थीं। गुरुदेव इन दिनों उन आसुरी शक्तियों को प्रचंड टक्कर देने में जुटे थे, जो पड़ोसी देश की कुटिल गतिविधियों का बाना पहनकर अपने देश पर चढ़ आई थीं।

सन् १९७१ की सरदियों की शुरुआत देश पर काफी भारी पड़ रही थी। फौजें सरहदों पर अलग-अलग मोरचों में दुश्मन से जूझ रही थीं। पूर्वी पाकिस्तान में हो रहे अमानवीय अत्याचारों के कारण पलायन कर भारत भागे आ रहे शरणार्थियों की समुचित सहायता करने के लिए देश के बहादुर सिपाही प्रतिबद्ध थे। समूचे राष्ट्र के लिए यह बड़ा कठिन दौर था। समस्याओं के इस जटिल चक्रव्यूह के अनेक चक्र थे। राष्ट्र के कर्णधारों को कूटनीतिक मोरचे पर घेरने की कोशिश हो रही थी। आज दुनिया का सबसे शक्तिशाली कहा जाने वाला देश उन दिनों दुश्मन को हर तरह से सहायता पहुँचाने में जुटा था। यहाँ तक कि उसका सर्वशक्तिमान समझा जाने वाला सातवाँ बेड़ा भी बढ़ा चला आ रहा था। छोटे-बड़े जो भी उस समय युद्ध की खबरों को सुनते थे, आपस में यही पूछते और सोचते थे, अब क्या होगा?

अचानक घटनाचक्रों में कुछ ऐसे चमत्कारी परिवर्तन हुए कि बाजी एकदम पलट गई। नया इतिहास नहीं, नया भूगोल भी रचा गया। दुनिया के इतिहास में शायद पहली बार तिरानबे हजार हथियारबंद सेना ने अपने जनरल के साथ घुटने टेककर आत्मसमर्पण किया। विश्व के नक्शे में नई लकीरें खिंचीं, भूगोल में एक नए देश के मानचित्र ने आकार लिया। भारत ने विजय दिवस मनाया और बांग्लादेश ने अपना जन्मदिवस। देश के कर्णधारों से लेकर सामान्य नागरिक तक ने अनुभव किया कि यह तो सब कुछ चमत्कार जैसा हो गया। कैसे लौटा सातवाँ बेड़ा? कैसे किया दुश्मन की इतनी बड़ी फौज ने आत्मसमर्पण? इन सवालों का जवाब सामान्य बुद्धि खोजने में असमर्थ थी। बस सभी ने यही कहा कि यह तो भारत की आध्यात्मिक दिव्य शक्तियों का चमत्कार है।

जिन दिनों यह सब हुआ, उन्हीं दिनों एक परिजन डॉ. अमल कुमार दत्ता जो अब शांतिकुंज के वरिष्ठ कार्यकर्त्ता हैं और ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान में रहते हैं, माताजी से मिलने आए। मिलने पर उन्होंने माताजी से कहा, ''माताजी! आपने सुना, भारत ने युद्ध जीत लिया।'' उत्तर में माताजी बड़े धीरे से बोलीं, ''हाँ बेटा, सुन भी लिया और देख भी लिया।'' परिजन को थोड़ा अचरज हुआ कि यह सुनना तो ठीक है, पर देखने का क्या मतलब है? उन्होंने माताजी से सारी बात का खुलासा करने की जिद की। उनकी इस जिद पर वह कहने लगीं, ''अभी जो यह लड़ाई हुई, वह दो तरह से लड़ी गई। एक तो अपनी फौजों ने मोरचे पर जाँबाजी दिखाई। फौजों की इस बहादुरी की जितनी सराहना की जाए, कम है। लेकिन इस लड़ाई में हिमालय की ऋषि सत्ताओं ने भी जबरदस्त और प्रचंड रूप से हिस्सा लिया। इसमें गुरुदेव की मुख्य भूमिका रही। उन्होंने अपनी तपःशक्ति से दुश्मन की षड्यंत्रकारी योजनाओं को तार-तार करके रख दिया। मैंने यह सब प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा।''

उन दिनों के अनेक संस्मरणों में एक संस्मरण और है, जिसे बाद में माताजी ने स्वयं अपने मुख से बताया। इस संस्मरण से ममतामयी माँ का वात्सल्य प्रकट होता है। उन्होंने बातचीत के क्रम में अपनी यादों को कुरेदते हुए कहा, ''जब गुरुजी १९७१ में हिमालय गए थे, तब उम्मीद यही थी कि अब वे शायद न लौटें। बांग्लादेश वाली लड़ाई के बाद उनकी योजना भी कुछ ऐसी ही थी। पर इधर सारे लोग परेशान थे। गुरुजी कब लौटेंगे? जो भी चिट्ठी लिखता, वह यही सवाल करता, गुरुजी कब वापस लौटेंगे, हम सब से कब मिलेंगे? बच्चों की इस विकलता ने मुझे बड़ा बेचैन और विकल कर दिया। अपने कष्ट की

तो मुझे कभी चिंता नहीं होती है, फिर वह चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, पर अपने बालकों के कष्ट मुझसे सहे नहीं जाते। उन्हें दुःखी-परेशान होते मैं नहीं देख सकती। आखिर माँ हूँ न। बच्चों की इस परेशानी के कारण मेरी बेचैनी इतनी बढ़ गई कि गुरुजी से प्रार्थना करते हुए मेरी चीख निकल गई। इस चीख के कारण कुछ लोगों ने समझ लिया कि माताजी बीमार हैं। हालाँकि गुरुजी ने सही बात समझी और वे वापस आ गए। उन्होंने मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके अपनी योजना परिवर्तित कर ली।''

वापस आने के बाद गुरुदेव सबसे पहले सुदूर वास करने वाले प्रवासी परिजनों की पुकार का उत्तर देने के लिए अफ्रीका गए। सन् १९७२ में गुरुदेव ने अपनी यह यात्रा पानी वाले जहाज से संपन्न की। उनका यह प्रवास ऊपरी तौर पर साधारण रहने पर भी आंतरिक रूप से कई असाधारण अनुभूतियों से भरा रहा। वहाँ से लौटने पर उन्होंने सन् १९७३ में पाँच दिवसीय प्राण प्रत्यावर्तन सत्र आयोजित किए। शांतिकुंज में आयोजित होने वाले ये सबसे पहले साधना सत्र थे। इनमें देशभर के परिजनों ने भाग लिया और अपने प्राणों के प्रत्यावर्तन की अनुभूति प्राप्त की। इन परिजनों में से अनेक आज शांतिकुंज और ब्रह्मवर्चस में वरिष्ठ कार्यकर्त्ता हैं, जो शांतिकुंज में आकर नहीं भी रह सके, वे भी अपने-अपने क्षेत्र में जी-जान से मिशन की गतिविधियों में जुटे हैं।

प्राणों का यह प्रत्यावर्तन सब तरह से अनूठा था। इसमें पाँच दिनों के एकांतवास में साधकगण गुरुदेव द्वारा बताई गई कई तरह की सरल, किंतु प्रभावकारी साधनाएँ करते थे। इन साधनाओं का उद्देश्य साधकों के प्राणों को उच्चस्तरीय आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए ग्रहणशील बनाना था, ताकि वे गुरुदेव के महाप्राण के किसी लघु अंश को ग्रहण व धारण करने में समर्थ हो सकें। साधना की इस अवधि में प्रत्येक साधक को गुरुदेव के संग-सुपास व चर्चा-परामर्श का भरपूर मौका मिलता था। इस साधना में साधकों को भोजन व औषधि कल्प के माध्यम से माताजी की प्राण-सुधा पीने को मिलती थी। वे अपने बच्चों को इन्हीं माध्यमों से अपने तप का महत्त्वपूर्ण अंश देकर अनुग्रहीत करती थीं।

इन प्रत्यावर्तन शिविरों से लेकर लगभग एक दशक की अवधि तक शांतिकुंज में अनेक तरह के साधना सत्रों का आयोजन-संचालन हुआ। इनमें भागीदारी करने वाले देशभर के हजारों साधकों ने परमपूज्य गुरुदेव के साथ माताजी की तपःशक्ति और योग विभूतियों का साक्षात्कार किया। ये सभी सर्वसिद्धिदात्री माँ द्वारा दिए गए विविध-विध अनुदानों से लाभान्वित हुए। यह अवधि शांतिकुंज के स्वर्णिम कालों में से एक थी। इसी अवधि १९७८ में माताजी को सहयोग देने के लिए शैल दीदी एवं डॉ. प्रणव पंड्या का आगमन हुआ। अध्यात्म के वैज्ञानिक आयाम को प्रतिष्ठित करने के लिए ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की स्थापना हुई। इसी के साथ आदिशक्ति जगदंबा को युगशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए परमपूज्य गुरुदेव ने एक नया अभियान छेड़ा। यह इस सत्य का उद्घोष था कि युगनिर्माण मिशन की सूत्र-संचालिका आदिशक्ति स्वयं हैं। इस अभियान को गति देने के लिए गुरुदेव ने स्वयं देशभर की यात्राएँ कीं। पहले चरण में संपूर्ण देश के चुने हुए पवित्र तीर्थ स्थानों पर चौबीस शक्तिपीठ स्थापित हुए। बाद में इनकी संख्या बढ़ती गई। गुरुदेव के इस प्रवासकाल में माताजी ने मिशन और शांतिकुंज की सूत्र संचालिका होने का दायित्व सँभाला। ☆

एक गुरु के दो शिष्य थे। दोनों बड़े ईश्वरभक्त थे। ईश्वर उपासना के बाद वे आश्रम में रोगियों की चिकित्सा में गुरु की सहायता किया करते थे।

एक दिन उपासना के समय ही कोई कष्टपीड़ित रोगी आ पहुँचा। गुरु ने पूजा कर रहे शिष्यों को बुला भेजा। शिष्यों ने कहला भेजा, अभी थोड़ी पूजा बाकी है, पूजा समाप्त होते ही आ जाएँगे।

गुरुजी ने दुबारा फिर आदमी भेजा। इस बार शिष्य आ गए, पर उन्होंने अकस्मात् बुलाए जाने पर क्षोभ व्यक्त किया। गुरु ने कहा, मैंने तुम्हें इस व्यक्ति की सेवा के लिए बुलाया था, प्रार्थनाएँ तो देवता भी कर सकते हैं, किंतु अकिंचनों की सहायता तो मनुष्य ही कर सकते हैं। सेवा प्रार्थना से अधिक ऊँची है, क्योंकि देवता सेवा नहीं कर सकते।

शिष्य अपने कृत्य पर बड़े लज्जित हुए और उस दिन से प्रार्थना की अपेक्षा सेवा को अधिक महत्त्व देने लगे।

शांतिकुंज का समग्र सूत्र-संचालन

सूत्र-संचालिका के रूप में माताजी यद्यपि अपने शांतिकुंज आगमन के समय से ही क्रियाशील थीं, लेकिन गुरुदेव के हिमालय से वापस लौटने के बाद उन्होंने फिर से अपने आप को परोक्ष भूमिका में समेट लिया था। ऐसा करने के पीछे किसी तरह के अयोग्यताजन्य कारण नहीं थे, बल्कि वे श्रेय व यश-कामनाविहीन, अपने गुरु-मार्गदर्शक और आराध्य के प्रति पूर्णतया समर्पित साधिका का आदर्श प्रस्तुत करना चाहती थीं। वे स्वयं जीकर अपने बच्चों को बताना चाहती थीं, सिखाना चाहती थीं कि शिष्यत्व क्या होता है? शिष्य कैसा होता है? साधना में समर्पण का क्या महत्त्व है? सर्वेश्वरी माँ के अतिरिक्त भला और कौन अपने बच्चों के लिए ऐसा त्यागमय, कष्टमय एवं आदर्शपूर्ण जीवन जिएगा। अध्यात्म-साधकों के लिए माताजी की यह जीवनशैली कितनी ही आदर्शनिष्ठ क्यों न हो, पर मिशन को उनके कुशल नेतृत्व की आवश्यकता थी। गुरुदेव की हिमालय से वापसी इसी शर्त पर हुई थी कि वे पूर्ण एकांत में सतत उच्चस्तरीय आध्यात्मिक प्रयोगों में संलग्न रहेंगे।

इसी के चलते गुरुदेव समय-समय पर माताजी को अकेले शांतिकुंज ही नहीं संपूर्ण मिशन के सूत्र-संचालन के लिए प्रशिक्षित एवं प्रोत्साहित करते रहते थे। शक्तिपीठों में आदिशक्ति की प्राण प्रतिष्ठा के लिए जब वह प्रवास पर गए, तब उनका यह आग्रह काफी बढ़ गया। प्रवास के दौरान, वह माताजी को प्रतिदिन एक पत्र लिखकर अपने कार्यों का ब्योरा भेजा करते थे। डाक व्यवस्था में गड़बड़ी के कारण पहले के पत्र पीछे और पीछे के पत्र पहले पहुँच सकते हैं, यह सोचकर वह प्रत्येक पत्र में पत्र संख्या लिखना नहीं भूलते थे। प्रतिदिन लिखे जाने वाले ये पत्र अभी भी शांतिकुंज में सुरक्षित हैं। इन सभी पत्रों में यदि किसी भी एक सारतत्त्व की खोज की जाए तो वह यही है कि गुरुदेव, माताजी को मिशन के प्रत्यक्ष सूत्र-संचालन हेतु तैयार कर रहे थे। इन पत्रों की भाषा और शैली से बार-बार यही सत्य ध्वनित होता है कि माताजी सूत्र-संचालन का कार्यभार अपने समर्थ हाथों में लें।

शक्तिपीठों का प्रवास कार्यक्रम समाप्त होने के कुछ ही समय बाद गुरुदेव पर असुरता ने हमला कर दिया। यह घटना सन् १९८४ के प्रारंभ की है। आसुरी शक्तियों ने अपने नीच गुणों के अनुरूप एक व्यक्ति को माध्यम बनाकर गुरुदेव पर आक्रमण किया। उस समय शांतिकुंज में कल्प साधना सत्र चल रहे थे। शिविर में भागीदार होने आए सभी परिजन अपने साधनात्मक कार्यक्रमों में व्यस्त थे। उन दिनों गुरुदेव सभी के लिए प्राय: सभी समय सर्वसुलभ भी हुआ करते थे। इसी का लाभ उठाकर वह दुष्ट व्यक्ति ऊपर गया और उसने उन पर प्राणघातक हमला किया। हालाँकि गुरुदेव के समर्थ प्रतिरोध के कारण उसे बहुत ज्यादा सफलता न मिली और वह डर कर भाग निकला। एक तरह से करुणामूर्ति गुरुदेव ने स्वयं ही उस कायर और डरपोक को भाग जाने का अवसर दिया। लेकिन इस घटना से एक बात तो साफ हो गई कि माध्यम कोई भी हो किंतु आसुरी शक्तियों का इतना साहस तो बढ़ ही गया कि वे देव शक्तियों के केंद्र शांतिकुंज में घुसकर देव शक्तियों के महानायक गुरुदेव पर हमला करने की हिम्मत जुटा सकती हैं।

यह एक चुनौती थी, जिसे गुरुदेव ने प्रसन्न भाव से स्वीकार किया और वे असुरता को समर्थ ढंग से उत्तर देने के लिए सूक्ष्मीकरण साधना में चले गए। परिपूर्ण एकांत में चलने वाली इस साधना का मकसद विश्व-वसुधा पर छाते जा रहे आसुरी आतंक को निरस्त करना था। साथ ही तीसरे विश्वयुद्ध की उन भयावह संभावनाओं को समाप्त करना था, जिसकी भविष्यवाणी एक अरसे से दुनिया भर के सभी भविष्यवक्ता करते चले आ रहे थे। सन् १९८४ की रामनवमी को इस तरह योजनाबद्ध रीति से गुरुदेव के एकांत में चले जाने के बाद मिशन के सूत्र-संचालन का सारा दायित्व माताजी पर आ गया। इस दायित्व के साथ एक अन्य गुरुतर दायित्व भी उन पर था। वह गुरुदेव द्वारा की जाने वाली अत्यंत दुष्कर एवं दुरूह सूक्ष्मीकरण साधना में वह उनकी समर्थ सहयोगिनी भी थीं। गुरुदेव इन दिनों जिस सूक्ष्मीकरण साधना को कर रहे थे वह योग और तंत्र का मिला-जुला अत्यंत उच्चस्तरीय और गोपनीय प्रयोग था।

इस कार्य के लिए गुरुदेव को चौथी बार हिमालय यात्रा करनी पड़ी, लेकिन इस बार की यात्रा उन्होंने सूक्ष्म-शरीर से की। इस दौरान माताजी ने अपनी समर्थ साधना शक्ति से गुरुदेव के स्थूल शरीर की आसुरी प्रकोपों से रक्षा की। इस हिमालय यात्रा में गुरुदेव को उनके द्वारा की जाने वाली अलौकिक साधना का विधि-विधान बताया गया। विश्वहित में इसके अत्यंत प्रभावकारी परिणाम बताने के साथ साधना के लिए आवश्यक सावधानियाँ भी गिनाई गईं। यह भी कहा गया कि साधना काल में आसुरी शक्तियाँ तरह-तरह से उपद्रव मचाने में, हर तरह के विघ्न पहुँचाने में कोई कसर नहीं उठा रखेंगी। इन विघ्नों और उपद्रवों के अलावा स्वयं की सूक्ष्म चेतना को पाँच समर्थ स्वरूप प्रदान करने की इस प्रक्रिया में अस्तित्व में इतने तरह के शक्ति-विस्फोट होंगे कि कभी भी स्थूल देह छूटने का खतरा बना रहेगा। ऐसी स्थिति में स्थूल देह की सुरक्षा एवं संरक्षण के लिए किसी समर्थ शक्ति का स्थूल रूप से दिव्य संरक्षण जरूरी है। यह कार्य केवल और केवल माताजी कर सकती हैं। शक्तिस्वरूपा माताजी परम समर्थ और सभी के लिए, यहाँ तक कि हम सब हिमालयवासी ऋषिगणों के लिए भी परमवंदनीया हैं। उन्हीं के संरक्षण में यह साधना सफल हो सकती है।

मार्गदर्शक सत्ता एवं हिमालयवासी ऋषि सत्ताओं के सम्मिलित निर्देशन के अनुरूप परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी सूक्ष्मीकरण साधना का कार्यक्रम बनाया। परमवंदनीया माताजी पर दोहरी जिम्मेदारी आ पड़ी। रात्रि में गुरुदेव की साधना में समर्थ सहयोग करते हुए,पूरे दिन उन्हें मिशन के सभी काम-काज की देखभाल करनी थी, सभी तरह की व्यवस्था के लिए मार्गदर्शन देना था। छोटे-बड़े सभी लोगों की प्रत्येक बात को ध्यान से सुनकर निर्णय देना था। क्षेत्र में कार्यरत कार्यकर्त्ताओं की समस्याओं के हल निकालने थे। इन सारे कामों के साथ कष्ट और पीड़ा में पड़े अपने उन बच्चों का भी ध्यान रखना था, जो अपनी प्यारी माँ के अलावा और कुछ जानते ही नहीं। जब-तब किसी भी छोटी-मोटी आफत-मुसीबत आने पर माँ-माँ चिल्लाने लगते हैं। उन्हें उनकी भी देखभाल करनी थी, जो गुरुदेव से भाँति-भाँति की आशाएँ लगाए रहे हैं। इन नादानों को तो यह पता भी नहीं था कि गुरुदेव इस समय गहन साधना में हैं। इस समय उनकी एकाग्रता में व्यवधान डालना किसी भी तरह से ठीक नहीं है।

परम समर्थ और परमवंदनीया माताजी ने एक साथ ये सारी जिम्मेदारियाँ निभाईं और बड़ी खूबसूरती से निभाईं। सदा एकांत में रहने वाली माताजी को जब लोगों ने १९८४ में पहली बार टोलियों की विदाई के समय प्रवचन मंच पर बोलते हुए सुना तो वे हतप्रभ रह गए। अविरल प्रवाहित हो रही वाणी एवं अद्भुत व भावपूर्ण शब्द संयोजन से अभिव्यक्त होती उनकी आध्यात्मिक शक्तिधारा ने सभी को विस्मय-विमुग्ध तथा उल्लास से सराबोर कर दिया। सभी के मन परमवंदनीया माताजी की जय-ध्वनि करते हुए नाच उठे। इसी समय एक दूसरी सचाई और भी उजागर हुई। क्षेत्र से आने वाले कार्यकर्त्ता जब माताजी से इस दौरान मिले तो अंतर्यामी माँ ने खुलकर उन्हें अपनी योगशक्ति का परिचय दिया। पहले वे सदा अपने को गोपन रखती थीं। किसी के द्वारा कोई समस्या बताने पर वे प्राय: यह कहती थीं कि बेटा! तुम गुरुदेव से मिल लो। उन्हें अपनी सारी बातें बता दो, मैं भी उनसे तुम्हारी बात कह दूँगी।

अरविंद आश्रम में श्रीमाँ साधकों को छोटी-छोटी बातों के माध्यम से जीवन दृष्टि दिया करती थीं। एक दिन कुछ साधकों ने उनसे निवेदन किया, माँ! सरकारी दफ्तरों में प्रति सप्ताह एक दिन की छुट्टी होती है। अपने यहाँ भी ऐसा ही होना चाहिए। उनकी यह बात सुनकर श्रीमाँ थोड़ा गंभीर हुईं और उन्होंने कहा, तुम्हारे लिए काम साधना है। काम से छुट्टी का मतलब होगा, साधना से छुट्टी। सरकारी नौकरी करने वालों की और बात है, वे केवल रोजी-रोटी के लिए काम करते हैं, लेकिन जिनके लिए काम ही साधना हो, उन्हें छुट्टी देने का मतलब होगा, साधना से छुट्टी।

लेकिन इस बार तो सभी को स्थिति एकदम बदली हुई लगी। मिलने वाले प्रत्येक व्यक्ति ने अनुभव किया कि उनकी अपनी माँ ने सारा सूत्र-संचालन अपने हाथों में ले लिया है और माँ जब सूत्र संचालिका होती है तो वह कोई प्रशासिका एवं व्यवस्थापिका नहीं होती। वह तो व्यवस्था और प्रशासन के माध्यम से भी दोनों हाथों से अपने मातृत्व को, अपने वात्सल्य को लुटाती है। परम वंदनीया माताजी तो मिशन की व्यवस्था एवं प्रशासन की सामान्य लौकिक शक्तियों के साथ अपनी उच्चस्तरीय आध्यात्मिक शक्तियों को लुटाने लगी थीं। सभी पर उनके आशीष बरसने लगे थे। सर्वेश्वरी अपनी समस्त संतानों पर अतिशय कृपालु हो उठी थीं। समस्त सूत्र-संचालन में उनका मातृभाव छा गया था। वे अपने आँचल से आशीषों की वृष्टि कर रही थीं।

*

संतानों पर प्यार व आशीष लुटाने वाली माँ

माताजी के आशीषों की वर्षा परमपूज्य गुरुदेव के एकांत साधना में चले जाने के बाद अतिशय सघन हो गई थी। सन् १९८४ की रामनवमी से गुरुदेव का सर्वसामान्य से मिलना बंद हो गया था। इस विशिष्ट साधना काल में उन्होंने प्राय: दो ही लोगों को अपने आस-पास रहने व निरंतर मिलने-जुलने की अनुमति दी थी। इनमें से प्रथम स्वयं वंदनीया माताजी थीं, जो उनसे सर्वथा अभिन्न थीं, जिनके प्राण गुरुदेव की सूक्ष्मीकरण साधना में घुल रहे थे। जो साधना करते समय गुरुदेव के स्थूल शरीर को अपनी दिव्य शक्तियों से सुरक्षित व संरक्षित करती थीं। दूसरे व्यक्ति के रूप में डॉ. प्रणव पंड्या थे। जो उन दिनों गुरुदेव के प्रधान सेवक, निजी सचिव व उनके लेखन कार्य में एकमात्र सहयोगी का धर्म निभाते थे। इस गुरुतर सेवाधर्म में प्रतिपल उनके मन-प्राण तल्लीन रहते थे। 'सब ते सेवक धरम कठोरा'-कहे जाने वाले सेवाधर्म को उनके हृदय में छलकने वाली भक्ति संवेदना ने एकदम आसान कर दिया था। सूक्ष्मीकरण साधना के समय वह प्राय: दिन के सारे समय गुरुदेव के पास ही रहा करते थे।

दिन को इस समय वंदनीया माताजी अपने बच्चों को प्यार-दुलार बाँटती थीं। उन पर अपने आशीष बरसाती थीं। गुरुदेव के एकांत में चले जाने के कारण शांतिकुंज, ब्रह्मवर्चस एवं गायत्री तपोभूमि में रहने वाले कार्यकर्त्ता ही नहीं देश भर में रहने वाले गायत्री परिजन मन मसोस कर रह गए थे। गुरुदेव से मिलना नहीं होता, इस बात का दु:ख सभी को था। शुरुआत के दिनों में एक गहन अवसाद ने सबको घेर लिया था, लेकिन माताजी के प्यार भरे आशीषों ने सबकी हँसी फिर से लौटा दी। प्राय: हमेशा अपने को परोक्ष में रखने वाली सर्वेश्वरी माँ इन दिनों अपनी संतानों के दु:ख को हरने, उन्हें सुखों से सराबोर करने में लगी हुई थीं। इस समय की अनेक घटनाएँ व संस्मरण शांतिकुंज व युग निर्माण मिशन के इतिहास में स्वर्णिम पृष्ठों पर टँकी हैं। आज भी जिनका स्मरण कर मन माँ के प्यार से विगलित हो उठता है। हृदय उनके प्रति श्रद्धा से विभोर हो जाता है।

उन दिनों माताजी से मिलाने वालों व उनसे मिलने वालों को आज भी वे यादें भाव-विह्वल करती रहती हैं। ऐसी ही कुछ यादें इस समय भावनाओं की स्याही में भीगने के लिए आतुर हैं। इनमें से एक याद उन परिजन की है, जो इस समय राजस्थान प्रदेश के बाराँ जनपद में वरिष्ठ चिकित्साधिकारी हैं। गुरुदेव के सूक्ष्मीकरण में जाने के बाद ये अपने परिवार के साथ शांतिकुंज आए। इनके मन के किसी कोने में टीस थी कि इस बार गुरुदेव से मिलना नहीं हो पाएगा। अपने मन की ऊहा-पोह को लिए जब वह माताजी के पास पहुँचे तो उन्हें पहली हैरानी तो यही हुई कि माताजी ने उन्हें उनका नाम लेकर पुकारते हुए कहा-फूलसिंह, बेटा! कब आया तू? फिर पत्नी-बच्चों में से एक-एक का नाम लेते हुए उन्होंने सभी का हाल पूछा। यात्रा कैसी रही, यह पूछा। डॉ. फूलसिंह यादव को माताजी की इन बातों से हैरानी इस बात की हुई कि वे पहले कभी उनसे घनिष्ठता से मिले ही नहीं हैं। पहले के समय में तो उनका गुरुदेव से ही मिलना होता रहा है। आज माताजी की बातों ने उन्हें चकित कर दिया।

वे कुछ और ज्यादा सोच पाते कि माताजी बोल पड़ीं, क्या सोच रहा है? माँ को अपने बच्चों की पहचान थोड़े ही करानी पड़ती है और हाँ गुरुजी नहीं मिलते तो क्या हुआ मुझे तेरे प्रमोशन का ध्यान है। तू किसी बात की फिकर न कर। मैं तेरा प्रमोशन कराऊँगी। अंतर्यामी माँ की बातों को सुनकर डॉ. फूलसिंह की आँखें भर आईं। वह प्रणाम करके नीचे उतरे और यही सोचते रहे, माताजी अपनी पहचान न कराएँ तो भला उन्हें कौन पहचान सकता है। गुरुजी कृपालु हैं, पर माताजी तो उनसे हजार गुना ज्यादा कृपालु हैं। यह ठीक है कि दया के सागर गुरुदेव माँगने पर कभी निराश नहीं करते, परंतु माताजी तो बिना माँगे ही सब कुछ दे डालती हैं और देकर भी यही सोचती हैं कि बच्चे को कुछ कम दिया। माँ की कृपा और प्यार का कोई अंत नहीं। आज भी डॉ. फूलसिंह के मन को माताजी की यादें भिगोती हैं और वे केवल इतना कह पाते हैं कि जो माँ शक्तिपीठ में प्रतिष्ठित हैं, वही माँ अपने बच्चों पर कृपा करने के लिए अवतरित हुई थीं।

ऐसी यादें एक नहीं असंख्य और अनंत हैं। माताजी से परिजनों को मिलाने वाले शिवप्रसाद मिश्रा आदि कार्यकर्त्तागण रोज ही उन्हें आशीषों की वर्षा करते हुए

देखते थे। मिलने वाले परिजन के बिना कहे माताजी उसकी समस्या कह डालतीं और उसके सार्थक समाधान का विश्वास दिलातीं। दु:साध्य-असाध्य बीमारियाँ, घर-परिवार की जटिल उलझनें, सालों से लम्बित पड़े मुकदमे, बेटी की शादी और भी ऐसी न जाने कितने तरह की समस्याएँ माताजी अपनी तप:शक्ति से पल में हल कर देतीं। उनके पास लोग रोते हुए आते और हँसते हुए जाते। यह प्रभाव क्षणिक नहीं दीर्घकालीन होता। जब ये लोग अपने घर पहुँचते तो उन्हें अपनी परिस्थितियाँ बदली हुई लगतीं। इस बदलाव की सूचना वे चिट्ठियों से देते और कभी-कभी तो खुशी में स्वयं ही भागे हुए चले आते। आकर कहते, माताजी आपकी कृपा से सब कुछ एकदम ठीक हो गया। उत्तर में वह कहतीं, हाँ बेटा, सो तो ठीक है, पर तू अपनी एक बात में सुधार कर ले। माँ अपने बच्चों पर कृपा नहीं करती, उन्हें प्यार करती है। वह जो कुछ भी करती है, बच्चों के प्रति प्यार से विवश होकर करती है।

प्रेममयी माँ के इस प्यार का कोई अंत नहीं था। चाहे शांतिकुंज-ब्रह्मवर्चस में रहने वाले लोग हों या फिर बाहर से आने वाले, सब पर उनका प्यार निरंतर बरसता रहता था। अपने बच्चों को उनकी पसंदीदा चीजें बनाकर खिलाना उनका बड़ा ही मनपसंद कार्य था। वे किसी के भी बिना बताए यह बराबर ध्यान रखती थीं कि किसको बेसन का हलुआ पसंद है, किसे गाजर का हलुआ अच्छा लगता है। तिल के लड्डू, करेले की सब्जी, चने की दाल और भी ऐसी न जाने कितनी तरह की चीजों का वह प्रत्येक की पसंद के अनुसार ध्यान रखती थीं। बिना किसी पूर्व सूचना के वह जब-तब कोई चीज स्वयं बना लेतीं या फिर साथ में रहने वाली लड़कियों से बनवा लेतीं। आगंतुक परिजन जब उनसे मिलने के लिए आते, तो वे उन्हें अपने सामने बिठाकर बड़े ही प्यार से खिलातीं। खाने वालों को हैरानी भी होती कि माताजी को कैसे पता कि मुझे यह चीज सबसे ज्यादा पसंद है और मैं आज आने वाला हूँ, पर यह हैरानी ज़्यादा देर तक नहीं टिकती, क्योंकि लगातार के अनुभवों ने उन्हें विश्वास दिला दिया था कि उनकी माँ अंतर्यामी होने के साथ योग की दिव्य विभूतियों से संपन्न हैं।

सारे दिन संतानों पर प्यार और आशीष लुटाने के बाद माताजी शाम होते-होते गुरुदेव के पास ऊपर चली जातीं। वहाँ वह उनके साथ सूक्ष्मीकरण के उच्चस्तरीय प्रयोगों में भागीदार होतीं। गुरुदेव के द्वारा संपन्न की जाने वाली विश्वकुण्डलिनी के जागरण व पाँच वीरभद्रों के निर्माण जैसी क्रियाएँ माताजी की दिव्य शक्तियों के संरक्षण में चल रही थीं। इस साधना के उपरांत बाहर निकलने पर गुरुदेव ने इस विशिष्ट समय की चर्चा करते हुए एक बात-चीत में कहा था, ''तुम्हीं लोगों को माताजी के आशीष नहीं मिलते, उनके आशीष हमें भी मिलते हैं।'' फिर वह हँसते हुए बोले, ''**माताजी, माँ के पेट से, माताजी होकर ही पैदा हुई हैं। वह एक साथ सभी की माँ हैं।**'' कुछ देर ठहर कर अपने शरीर की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा, यह शरीर अब तक उन्हीं की देख-भाल के बल पर टिका हुआ है। मेरे जीवन के सारे जटिल प्रयोग उनके मातृत्व के संरक्षण के बल पर ही संभव हुए हैं। सूक्ष्मीकरण की सफलता भी उन्हीं के दिव्य संरक्षण का नतीजा है। साधनाकाल में वे अगर अपनी दिव्य शक्तियों से सतत मेरी रखवाली न कर रही होतीं, तो कौन जाने यह शरीर रहता भी या नहीं। गुरुदेव की इस सूक्ष्मीकरण साधना के बाद बीतते वर्षों के साथ अनेकों घटनाचक्र तेजी से बदले और वह समय भी आया जब शिव-महाशक्ति में समाने की तैयारी करने लगे।

✿

साधु के दर्शनार्थ गाँव की भीड़ उमड़ पड़ी। लोग आते, साधु-चरणों पर भेंट चढ़ाते और उनके वचनामृत का पान करने के लिए बैठ जाते।

साधु कह रहे थे, सांसारिक प्रेम मिथ्या है, स्त्री, पुत्र सब लौकिक नेह और नाते छोड़कर मनुष्य को आत्मकल्याण की बात सोचनी चाहिए। भगवान का प्रेम ही सच्चा प्रेम है।

एक छोटा-सा बालक साधु की बातें बड़े ध्यान से सुन रहा था। उसने छोटा-सा प्रश्न किया, महात्मन्, मैं कौन हूँ? 'आत्मा'—साधु ने संक्षिप्त उत्तर दिया। महाराज! मेरे पिता, मेरी माता दिन भर मेरे कल्याण की बात सोचते हैं, क्या वह आत्मकल्याण न हुआ। सर्वत्र फैली हुई विश्वात्मा से प्रेम क्या ईश्वर-प्रेम नहीं, जो उसके लिए संसार का परित्याग किया जाए? साधु चुप थे, उनसे कोई उत्तर देते न बन पड़ा।

महाशक्ति में समाने का शिव संकल्प

सूक्ष्मीकरण साधना के बाद से ही परमपूज्य गुरुदेव शांतिकुंज सहित संपूर्ण युग निर्माण मिशन को सर्वथा नए आयाम में पहुँचाने में जुटे थे। इसके लिए उन्होंने अपने लेखन, साधना आदि नियमित कार्यों के साथ कार्यकर्त्ताओं को तरह-तरह से प्रशिक्षित करना शुरू कर दिया था। सारे दिन एक के बाद एक गोष्ठियाँ चलती रहतीं। इन गोष्ठियों में वह भविष्य में होने वाले कार्यों का खुलासा करते, नई योजनाएँ बनाते व समझाते। यह भी बताते कि उनके न रहने पर मिशन का किस तरह से विस्तार होगा। यह कैसे व किस ढंग से चलेगा। सारे कामों को करते हुए वह इन दिनों नई-नई पुस्तकों के रूप में क्रांतिधर्मी साहित्य का भी सृजन कर रहे थे। इस भावस्पर्शी साहित्य का सृजन,उनके नियमित लेखन से अलग था। इन वर्षों में गुरुदेव की समस्त गतिविधियाँ तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम हो चली थीं। इस उत्तरोत्तर बढ़ती हुई तीव्रता को देखकर भक्ति-संवेदना से स्पंदित हृदयों को सहज ही अनुमान लगने लगा था कि भगवान् शिव अपनी लोक लीला का संवरण करते हुए महासमाधि में लीन होने की तैयारी कर रहे हैं।

शक्तिस्वरूपा माताजी गुरुदेव के शिव संकल्प से अवगत थीं। उन्हें भली प्रकार मालूम था कि सत्य के मूर्तिमान स्वरूप गुरुदेव के संकल्प व योजनाएँ कभी मिथ्या नहीं हो सकतीं। वह स्वयं भी उनकी योजनाओं के प्रति पूर्णतया समर्पित थीं। फिर भी उन्हें इतना कठिन श्रम करते हुए देखकर उनका मातृहृदय विकल हो उठता था। एक दिन इसी तरह गुरुदेव सुबह का लेखन एवं उसके बाद कार्यकत्ताओं की गोष्ठियाँ लेने के बाद दोपहर में फिर से लिखने बैठ गए। लगातार विभिन्न कार्यों के साथ लेखन करते हुए उनकी आँखें लाल हो गईं। शरीर के कष्ट तो सभी को होते हैं, फिर वह चाहे अवतारी सत्ता ही क्यों न हो! उस दिन अत्यधिक एवं लगातार लेखन करने के कारण गुरुदेव की आँखें एकदम लाल दिखने लगी थीं। इसके बावजूद वे देह-बोध से रहित, परमहंस महायोगी की तरह शाम तक यथावत् लेखन करते रहे। शाम को जब माताजी अपने दिन के सारे कामों को निबटाकर नीचे से ऊपर पहुँचीं, तो उन्होंने गुरुदेव की इस दशा को देखा तो वह विह्वल हो गईं।

भाव-बिन्दुओं से भरी हुई आँखों के साथ उन्होंने गुरुदेव के सारे कागज समेटकर एक साथ एक जगह रखे। उन्हें अपने हाथों से एक गिलास पानी पिलाया और उनसे पूछने लगीं, आप इतना ज्यादा श्रम क्यों करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में गुरुदेव कुछ देर तो चुप रहे, फिर थोड़ा मुस्कराते हुए बोले,"दरअसल हम अपने जाने के पहले मिशन की गाड़ी को खूब जोर का धक्का लगा देना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि यह धक्का इतनी जोर से लगे कि मिशन सैकड़ों सालों तक आराम से चलता रहे। इसमें कोई भी बाधा-व्यतिरेक न आए। अपने लड़के केवल इसमें बैठकर स्टियरिंग सम्हाले रहें। उन्हें कुछ खास न करना पड़े। सब कुछ अपने ही आप इत्मीनान से होता चला जाए।" उस दिन की इस बात से माताजी को नहीं गुरुदेव के अन्य निकटस्थ जनों को यह स्पष्ट आभास हो गया कि उनके भावमय भगवान् अपनी लोकलीला को पूरी तरह से समेट लेने के लिए संकल्पित हैं।

इस सत्य से अवगत माताजी इन दिनों मिशन के सामान्य काम-काज के साथ अपने घर-परिवार की भी जिम्मेदारियाँ निबटाने के लिए प्रयत्नशील थीं। उनकी सुपौत्री गुड़िया (मंदाकिनी) बड़ी हो चुकी थी। उसके लिए वह सुयोग्य वर की तलाश कर रही थीं। गुड़िया (मंदाकिनी) एवं चीनू (चिन्मय) ये दोनों बच्चे अपने छुटपन से माताजी के साथ रहे थे। इन्होंने प्रायः अपना सारा बचपन माताजी की गोद में और गुरुदेव के आस-पास खेलकर बिताया था। गुड़िया उनके शांतिकुंज आगमन के कुछ ही समय बाद मथुरा से उनके पास आ गई थी और चीनू का आना शैल दीदी एवं डॉ. साहब के साथ ही हुआ था। उन्होंने स्वयं के साथ अपने शिशु को भी माताजी एवं गुरुदेव को सौंप दिया था। इन बच्चों की सारी परवरिश माताजी की वात्सल्य छाया में ही हुई। इन्हें पाल-पोसकर बड़ा करने व संस्कारवान बनाने का दायित्व उन्होंने स्वयं निभाया। बड़े होने पर गुड़िया के लिए वर की तलाश भी उन्होंने की। डॉ. साहब ने स्नेहशील अभिभावक की भाँति

इस कार्य में माताजी का हाथ बँटाया। अंततः वर्ष १९८९ की माघ पूर्णिमा (२०फरवरी) के दिन गुड़िया (मंदाकिनी) सादगीपूर्ण किंतु भावप्रवण वातावरण में माताजी के गले लगकर अपनी ससुराल के लिए विदा हुई।

इसके बाद वर्ष १९८९ के शेष महीनों में गुरुदेव के कार्यों की तीव्रता यथावत् बनी रही। इस वर्ष के अंत तक प्रायः संपूर्ण क्रांतिधर्मी साहित्य प्रकाश में आ गया। इन दिनों वह बात-चीत के क्रम में यह जता दिया करते थे कि वह सूक्ष्मजगत् के परिशोधन के लिए अब पूरी तरह से सूक्ष्मलोक में डेरा जमाएँगे। ऐसे ही वर्ष १९८९ के अंतिम महीनों में एक दिन वह अपने बिस्तर पर लेटे हुए थे। लेटे हुए बात-चीत के क्रम में उन्होंने कहा, "जैसे लोग अपना कुर्ता उतारते हैं, वैसे ही मैं यह स्थूल शरीर उतारकर फेंक दूँगा।" यह जिज्ञासा करने पर कि इसके बाद फिर वह कहाँ रहेंगे? उत्तर में उन्होंने कहा, "और कहाँ? सारा काम करते हुए मैं एक अंश से माताजी के भीतर रहूँगा।" उनकी इन रहस्यमयी बातों में एक रहस्यपूर्ण सत्य था।

सन् १९९० की वसंत पंचमी के अवसर पर परम पूज्य गुरुदेव ने एक पत्रक लिखा 'वसंत पंचमी के अवसर पर महाकाल का संदेश'। इस पत्रक में उन्होंने अपनी भावी क्रियाकलापों को स्पष्ट किया था। अपनी इसी योजना के अनुरूप वह वसंत पंचमी के दिन ही प्रणाम के बाद से पुनः परिपूर्ण एकान्त में चले गए। अब वह अधिक दिन स्थूल देह में नहीं रहेंगे, यह अहसास प्रायः सभी संवेदनशील हृदयों को हो चला था। सभी विकल किंतु विवश थे। भावमयी माताजी का समर्पण अडिग था। गुरुदेव के भौतिक जीवन के प्रति भी अविरल एवं असीम अनुराग के होते हुए भी वह उनके संकल्प के प्रति समर्पित थीं। अपने आराध्य की इच्छा ही उनकी अपनी इच्छा थी। अपनी असह्य आंतरिक विकलता को किसी तरह दबाए हुए वह दैनिक काम-काज में संलग्न रहती थीं।

अप्रेल महीने के अंतिम दिनों में उन्होंने शांतिकुंज की गोष्ठी में गुरुदेव द्वारा किए गए स्थूल देह त्याग के शिव संकल्प को संकेतों में, पर स्पष्ट रीति से समझाया। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि गुरुदेव ने उनसे यह भी कहा है, "मेरे देह त्याग देने के बाद तुम सौभाग्य-सिंदूर का त्याग न करना।" माताजी ने यह बताते हुए स्पष्ट किया कि गुरुदेव ने मुझसे यह कहा है कि तुम ठीक उसी तरह से अपने सौभाग्य-सिंदूर को धारण किए रहना जैसा कि पिछली बार तुमने सारदामणि के रूप में किया था। उसी तरह लड़कों की देख-भाल करती रहना। कुछ ही सालों में ये लड़के सक्षम हो जाएँगे, तब तुम भी देह का झंझट उतार फेंकना। माताजी की इन बातों को सुनकर सुनने वालों के दिल बिलख उठे। बैठे हुए लोगों में से कोई कुछ बोला नहीं। बस एक गहरी चुप्पी छाई रही।

वह दिन बीता और उसके बाद कई दिन बीते। अपने द्वारा निश्चित की गई तिथि एवं निर्धारित किए गए समय के अनुसार गायत्री जयंती २ जून, १९९० को प्रातः ८ बजे के लगभग गुरुदेव ने शरीर छोड़ दिया। उनकी अंतर्चेतना महाशक्ति में लीन हो गई। माताजी उस समय उन्हीं के द्वारा दिए गए आदेश के अनुसार प्रवचन मंच पर थीं। संपूर्ण सत्य से अवगत होते हुए भी उन्होंने दिन के सभी कार्य पूर्णतः संतुलित रहकर निर्धारित क्रम के अनुसार पूरे किए। शाम को सूर्य अस्त होने से पहले महायोगी गुरुदेव की तपःपूत देह उनके जीवन-यज्ञ की पूर्णाहुति के रूप में अग्नि को समर्पित हुई। देह के भस्म होने के साथ अग्नि का तेज और ताप, पूज्य गुरुदेव के परम तेज के साथ वंदनीया माताजी में समा गया। वह अविचल भाव से अपने प्रभु से हुए भौतिक वियोग को सहते हुए महातप के लिए प्रवृत्त हुईं।

*

गौरी माँ श्रीरामकृष्ण देव की शिष्या थीं। उच्चकोटि की साधिका होने के कारण ठाकुर के शिष्यों में उनका बड़ा सम्मान था। एक बार वह अपने आश्रम में बालिकाओं को पढ़ा रही थीं। कोई व्यवधान न डाले, इसलिए दरवाजे पर रहने वाले सेवक को कहला दिया कि कोई मुझसे मिलने आए तो कह देना, गौरी माँ जगदंबा की उपासना कर रही हैं। संयोग से थोड़ी देर बाद स्वामी विवेकानंद उनसे मिलने के लिए आ गए। सेवक ने उन्हें भी वही रटा-रटाया जवाब सुना दिया, पर वह अंदर मिलने चले गए। अंदर जाकर उन्होंने देखा, गौरी माँ पूर्ण तन्मयता से कन्याओं को पढ़ा रही हैं। वह काफी देर तक यों ही खड़े रहे। बाद में जब गौरी माँ की नजर उन पर पड़ी, तो उन्होंने कहा, उस सेवक ने मुझे ठीक ही बताया था, यही जगन्माता की सच्ची उपासना है।

भाव-विह्वल, वियोग का महातप करने वाली माँ

अब तक जो कुछ भी तपश्चर्या व योग-साधना की गई थी, वह सब अपने प्रभु के आदेश व उन्हीं के सान्निध्य में हुई थी। बीच में जो वियोग के पल आए थे, वे सीमित थे। विश्वास था कि प्रभु गए हैं, तो आएँगे भी। उनके आने की अवधि प्रायः निश्चित थी। अपने आराध्य के सान्निध्य में अथवा उनके लौट आने की आशा में सहा गया महाकष्ट भी वंदनीया माताजी के लिए आनंददायी था। महाकंटकों को भी उन्होंने सुकोमल पुष्पों की भाँति समझा था। असह्य वेदना भी परमपूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में घुलकर उनके लिए आह्लादकारी बनती गई थी। पिछले जीवन की लंबी अवधि में उन्होंने बहुत कुछ सहा था। जीवन में कई तरह के संकटों को सहते हुए उन्होंने कठोर तप-साधनाएँ की थीं। उनकी सहनशक्ति इतनी अगाध और असीम थी कि गुरुदेव उन्हें 'सर्वसहा' कहने लगे थे। वह कहा करते थे कि माताजी सर्वकष्ट सहिष्णु हैं। वे सब कष्टों-संकटों को बड़ी आसानी से हँसते-हँसते सह जाती हैं। उन सर्वसहा को भी भौतिक वियोग का यह महातप असह्य लग रहा था।

इस असह्य को भी वह हँसकर सह रही थीं। उन्हें स्वयं को सँभालने के साथ, अपनी अगणित शिष्य-संतानों को सँभालना था। प्रेममूर्ति गुरुदेव के न रहने का दुःख सभी को था। सबके मन भीगे हुए और भारी थे। इनमें से कई तो ऐसे थे, जिनकी आँखों से महीनों आँसुओं की झड़ियाँ लगी रहीं। उनकी भावुकता इन्हें हर पल भिगोती थी। इन्हें समझ में ही नहीं आ रहा था कि अब कैसे जिएँ? आज इन बातों में हो सकता है, किसी को विचित्रता या अतिशयोक्ति लगे, पर जिन्होंने गुरुदेव को देखा है, उन्हें छुआ है, उनके प्रेम को पिया है, उनके सान्निध्य में दो-चार घड़ी बिताई हैं, उन सभी को इन बातों में सच और केवल सच के अलावा अन्य किसी तत्त्व की प्रतीति न होगी। जब सामान्यजनों की यह स्थिति थी, तो भावमयी माताजी की विह्वलता व विकलता की कल्पना करना सामान्यजन-मन के लिए पूरी तरह से अकल्पनीय है। अपनी इस असीम वेदना को सहती हुई वे उन दिनों भी नियमित प्रणाम में बैठ रही थीं। उनके मिलने-जुलने का क्रम भी पहले की ही तरह निश्चित व नियमित था। अपने बच्चों के लिए उनका प्यार-दुलार व उन पर आशीषों की अजस्र वर्षा अब पहले से भी ज्यादा बढ़ गयी थी।

लगातार विस्तार करते मिशन की अगणित जिम्मेदारियों को निभाते हुए विश्व जननी, विश्व कल्याण के लिए अहर्निश तप कर रही थीं। बीच-बीच में वह अपने भावुक और नादान बच्चों को भी धीरज देती थीं। उन्हें दुलराती व पुचकारती थीं। पिता के न होने पर माँ का अपनी संतानों के प्रति प्रेम और भी ज्यादा सघन और सजल हो गया था। इन्हें प्यार करते हुए वह जब-तब अपना उदाहरण देते हुए यह भी समझाती थीं कि देखो सहा कैसे जाता है? सहिष्णुता क्या होती है और यह जीवन के लिए कितनी आवश्यक है। वे बतातीं कि उच्चस्तरीय जीवन के उद्देश्यों के लिए कष्ट सहने का दूसरा नाम ही तपश्चर्या है। जो सहिष्णु है, वही तपस्वी हो सकता है। जो सच्चा तपस्वी है, सहिष्णुता अपने आप ही उसका स्वभाव बन जाएगी। इन दिनों कभी-कभी तो वह यह भी कहती थीं, जिसने सहन करने की कला जान ली, समझो उसने जीवन जीना सीख लिया। उनकी इन बातों में उनके निजी जीवन की अनुभूति घुली थी।

अपनी अनुभूति का अमृत पिलाने के लिए माताजी कभी-कभी उन कार्यकर्त्ताओं को अपने पास थोड़े समय के लिए बुला लेती थीं, जो इन दिनों बड़े विकल और बेचैन थे। ऐसे ही एक कार्यकर्त्ता को उन्होंने गुरुदेव के न रहने के दो महीने बाद अपने पास बुलाया। यह इन दो महीनों में ठीक से सो न पाया था। उसके जीवन के दैनिक काम-काज बिखर गए थे। गुरुदेव का अभाव उसके लिए असह्य था। अब क्या होगा? कौन करेगा उसकी जिंदगी की सार-सँभाल, जैसे प्रश्न-कंटक उसे बुरी तरह से चुभ रहे थे। विकल वेदना से भरे इन दिनों में उसने एक रात अर्द्धनिद्रा में स्वप्न में देखा कि वह लेटा हुआ है और वंदनीया माताजी अपनी गोद में उसका सिर रखे हैं। वह अपने हाथों को बड़े ही प्रेमपूर्ण ढंग से उसके सिर पर सहलाते हुए कह रही हैं- परेशान न हो, मौका मिलने पर मैं तुझे अपने पास बुलाऊँगी। स्वप्न के ये पल इतने ही थे, परन्तु ये न जाने कैसे जादू भरे थे कि स्वप्न देखने वाले को

दो महीनों में शायद पहली बार ठीक से नींद आई। स्वप्न बीतने पर भी उसकी अनुभूति यथावत् रही।

एक दिन दोपहर को वंदनीया माताजी ने सचमुच उसे अपने पास बुला लिया। इस बुलावे पर उसे तब अचरज हुआ, जब उन्होंने स्वप्न की भाषा यथावत् कह सुनाई। अपनी बातों के क्रम में वह कहने लगीं, बेटा! अपने बच्चों को दिलासा देने के लिए माँ उनके पास नहीं जाएगी, तो और भला कौन जाएगा? फिर बोलीं, प्रेम बहुत बड़ी चीज है, लेकिन उससे भी बड़ी एक और चीज है- कर्त्तव्य। जिससे हम प्यार करते हैं, जिसके प्रति हमारी गहरी श्रद्धा है, उसके आदेश को मानकर, उससे हुए वियोग की पीड़ा को सहते हुए यदि हम उसके द्वारा बताए गए कर्त्तव्य का सतत पालन करते हैं, तो यह महातप है। ऐसा महातपस्वी किसी भी पीड़ा, कष्ट, परेशानी, दुनिया के लोगों की दुनियादारी भरी बातों से किसी भी तरह विचलित नहीं होता। क्षुद्र बुद्धि के उलाहने उसे जरा भी डिगा नहीं पाते। माताजी की इन बातों में उनके महातप की व्याख्या थी।

इन बातों के क्रम में उन्होंने बताया, गुरुदेव सामान्य व्यक्ति की तरह मरे नहीं हैं। उन्हें अपने विशेष काम के लिए शरीर छोड़कर जाना पड़ा है। वह अभी भी परमवीर महानायक की भाँति अपने मोरचे पर कुशलता से डटे हैं। विनाशकारी आसुरी शक्तियों को वह कड़ी टक्कर दे रहे हैं। हम सबको पवित्र जीवन जीते हुए, उनके प्रति परिपूर्ण श्रद्धा व समर्पण रखते हुए अपने कर्त्तव्य को निभाना है। यही हम लोगों की तपस्या है। उनकी इन बातों को सुनते हुए, सुनने वाले की आँखों के सामने वह दृश्य प्रत्यक्ष हो गया, जब वंदनीया माताजी ने परम पूज्य गुरुदेव के पार्थिव शरीर को अंतिम प्रणाम करते हुए अपने महातप का संकल्प लिया था। बड़े ही भावपूर्ण क्षण थे ये। माताजी के कमरे के बगल वाले हॉल में गुरुदेव के पार्थिव शरीर को उठाने की तैयारी हो रही थी। एक पल पहले बिलख रहीं माताजी के मुखमंडल पर यकायक दृढ़ता की अनोखी दीप्ति छा गई। वह धीमे कदमों से उठीं। उन्होंने गुरुदेव के माथे पर तिलक लगाया और चरणों में प्रणाम करते हुए धीमे, किंतु दृढ़ शब्दों में कहा, ''हे प्रभु! मैं अपनी अंतिम साँस तक सभी कुछ सहकर आपके काम को करती रहूँगी। आपके आदेश का पालन करूँगी।''

माताजी की बातों में आज भी वही दृढ़ता थी। उनकी वाणी ने सुनने वालों को सचेत किया। वह अपनी भावनाओं से उबरा। माताजी उसे समझा रही थीं, भक्ति कोरी भावुकता नहीं है। यह रोते-बिलखते रहकर अकर्मण्य बनकर पड़े रहने का नाम नहीं है। भक्ति अपने भगवान् के आदेश पर तिल-तिल गलते हुए, क्षण-क्षण जलते हुए, सब कुछ सहते हुए मर मिटने का नाम है। ऐसी भक्ति सर्वसमर्थ भगवान् को भी विवश और विकल बना देती है। इस भक्ति से बड़ा और कोई महातप नहीं। इससे अपरिमित एवं अपार शक्ति स्फुरित होती है। भक्तिमयी माँ अपनी संतान के समक्ष स्वयं के आदर्श को प्रस्तुत कर रही थीं। सर्वेश्वरी का यह कथन उन्हीं के अनुरूप था। इससे महाशक्ति की महिमा प्रकट हो रही थी। ✚

वानप्रस्थ ग्रहण करने के बाद महाराजा दिलीप पत्नी सहित महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचे। वशिष्ठ ने उन्हें एक गाय नंदिनी की सेवा पर नियुक्त किया।

नंदिनी जब चरने के लिए जंगल में जाती, तो महाराज दिलीप धनुष-बाण लेकर उसकी रक्षार्थ साथ जाते। पत्नी भी साथ होती। एक दिन एक सिंह नंदिनी पर आक्रमण करने के लिए लपका। दिलीप ने धनुष की प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाया, सिंह रुका और बोला, दिलीप! तुम जिसे सिंह समझते हो वह नहीं, मैं भगवान शंकर का वाहन हूँ। तुम्हारे शस्त्रों का मुझ पर प्रभाव न होगा।

दिलीप ने कहा, आप जो भी हों वनराज, मैं नंदिनी पर किसी भी प्रकार का प्रहार नहीं करने दूँगा।

वनराज ने कहा, मैं मान जाऊँगा, यदि तुम नंदिनी के बदले में अपना शरीर देकर मेरी भूख मिटाओ।

सहर्ष प्रस्तुत हूँ। दिलीप ने यह कहकर धनुष-बाण समेटे। उन्होंने सिर झुकाया, परंतु काफी समय तक कोई हलचल नहीं हुई, तो उस स्थान की ओर देखा, जहाँ सिंह खड़ा था, परंतु वहाँ सिंह नहीं था, मुसकरा रहे थे महर्षि वशिष्ठ। तुम्हारी साधना-तपश्चर्या पूरी हुई वत्स, अब तुम तत्त्वज्ञान के अधिकारी हो गए हो।

प्राकट्य हुआ महाशक्ति की महिमा का

शांतिकुंज, ब्रह्मवर्चस व गायत्री तपोभूमि के कार्यकर्त्ता एवं गायत्री परिवार के परिजन तो पहले से ही अपनी माँ की महिमामयी शक्ति से सुपरिचित थे, किंतु आशंकाएँ औरों को थीं। अनेकों बाहरी लोग शंकाओं-कुशंकाओं से घिरे थे। वे सोचते थे कि अब मिशन का संचालन कैसे और किस तरह से होगा? ऐसी बातें लोगों के टूटे-दरके मन से रिस-रिसकर हवाओं के साथ घुलकर वंदनीया माताजी के पास भी आतीं, पर इन सबका उन पर कभी कोई असर नहीं हुआ। वह तो ब्रह्मदीप यज्ञ समाप्त होते ही अपने आराध्य के चरणों में भावभरी श्रद्धांजलि अर्पित करने की तैयारियों में जुट गई थीं। इसे उन्होंने व्यापक समारोह का स्वरूप देने का निश्चय किया, ताकि उनके साथ, उनकी सभी संतानें अपने प्रभु को अपनी भाव श्रद्धा समर्पित कर सकें।

ब्रह्मदीप यज्ञों का निश्चय परमपूज्य गुरुदेव ने स्वयं २८ अप्रैल १९९० को स्वयं किया था। अपने एकांतवास के बावजूद उन्होंने इस दिन कुछ निकटवर्ती कार्यकर्त्ताओं की गोष्ठी बुलाकर यह तय किया था कि ७-८ जून को ज्येष्ठ पूर्णिमा के अवसर पर भोपाल, कोरबा, मुजफ्फरपुर, अहमदाबाद, लखनऊ एवं जयपुर में ये यज्ञ आयोजित किए जाएँ। अनुशासित परिजन अपने सद्गुरु के आदेश को शिरोधार्य करके २ जून, १९९० को उनके महाप्रयाण का समाचार मिलने के बावजूद सौंपे गए कार्य को पूरा करने के लिए जुटे रहे। सभी की भावनाएँ कसमसाईं, छटपटायी, तड़फड़ाईं तो बहुत, परंतु गुरुदेव का आदेश सर्वोपरि था। किसी ने भी इसका पालन करने में कोई कोताही नहीं बरती। हालाँकि हर एक के मन में यह बात थी कि वह शांतिकुंज जाकर अपने प्रभु को श्रद्धांजलि अर्पित करे। उन्हें अपने भाव-सुमन चढ़ाए।

अपने बच्चों के इन मनोभावों से माताजी परिचित थीं। उन्हें अपनी संतानों की वेदना का ज्ञान था। इसी वजह से उन्होंने संकल्प श्रद्धांजलि समारोह के आयोजन की घोषणा की थी। इसकी तैयारियाँ बहुत चुनौती भरी थीं। जून के पंद्रह दिन और जुलाई, अगस्त एवं सितंबर के महीने ही थे। इसमें भी ज्यादातर समय वर्षाकाल का था। उतनी ही अवधि में कुंभ जैसे आयोजन की पूरी तैयारी करनी थी। कुंभ के लिए प्रशासन अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ एक साल तैयारी करता है, लेकिन यहाँ सब कुछ बिना किसी सरकारी सहायता के किया जाना था। अपनी माँ के एक इशारे पर उसकी संतानें क्या कुछ कर सकती हैं, इसका एक अनूठा उदाहरण पूरे उत्तर भारत की जनता को सन् १९९० में देखने को मिला। शिक्षक, किसान, न्यायाधीश, चिकित्सक, इंजीनियर, आई.ए.एस. अधिकारी सभी इस मिशन से जुड़े हैं। इनमें से २० हजार से अधिक स्वयंसेवक के रूप में १५ सितंबर से ही आ गए थे। आते ही ये बिना किसी पद या शिक्षा, जाति या वर्ण के पूर्वाग्रह के सब-के-सब एकजुट होकर कार्यक्रम में लग गए।

ई.पी. टेण्ट, शामियाने, जल-बिजली आदि की व्यवस्था, ऊबड़-खाबड़ स्थानों की सफाई, विशाल भोजन भट्ठियों का निर्माण आदि सभी काम इन्हीं सबने मिल-जुलकर पूरे किए। इन सारे कामों का दायरा काफी व्यापक परिक्षेत्र में फैला हुआ था। पूरे हरिद्वार नगर की पंद्रह मील की लंबाई व आठ मील चौड़ाई में कनखल से मोतीचूर तक चौबीस नगरों को बसाने की व्यवस्था की गई। जब यह सभी काम चल रहा था, तो वंदनीया माताजी स्वयं पूरे क्षेत्र में गईं। एक-एक जगह पर वह मोटर-वाहन से उतरीं, काम कर रहे लोगों का उत्साहवर्द्धन किया। काम करने वाले कार्यकर्त्ता भी उन्हें अपने समीप पाकर आनंदित हो गए। माताजी का इस तरह इन सभी जगहों पर जाना एक दिन बड़े ही अचानक ढंग से हुआ था। इसके बारे में पूछने पर पहले तो वह बोलीं कि बच्चे काम कर रहे हैं, मैं चली जाऊँगी, तो उनका उत्साहवर्द्धन होगा।

जब उनसे पूछा गया कि क्या सिर्फ बात इतनी सी है, तो वह कुछ सोचते हुए कहने लगीं, देखो जिन जगहों पर बच्चे काम कर रहे हैं, वहाँ कई भयानक विषधर हैं, जो अगर काट लें, तो आदमी पानी भी न माँग सके। मैं उन्हें वहाँ से हटाने गई थी। मैंने इन विषैले जीवों से कह दिया है कि तुम लोग यहाँ से चले जाओ, अभी यहाँ पर काम हो रहा है। बहुत सारे लोग यहाँ आएँगे। ऐसे में तुम सबका यहाँ रहना ठीक नहीं है। उन सबको यह बात समझ में आ गई है, अब वे चले जाएँगे। पूछने वाले को शायद माताजी की बातें ठीक से समझ में नहीं आईं, वह बोला, माताजी

इन विषैले जीवों को मारा भी तो जा सकता है। यह बात सुनते ही उनका स्वर काफी तीखा हो गया, क्यों मारा जा सकता है? क्या बिगाड़ा है तुम लोगों का उन्होंने? एक तो तुम लोग उनकी रहने की जगहों को तहस-नहस किए दे रहे हो, ऊपर से उन्हें मारोगे भी। क्या वे सब मेरी संतान नहीं हैं? माताजी की इन बातों ने सुनने वाले को झकझोर दिया। वह यह सोचने पर विवश हो गया कि माताजी मनुष्यों की ही नहीं, प्राणि-वनस्पतियों, पशु-पक्षियों आदि सभी की माँ हैं। तभी तो उनकी बातों को वे सब समझते हैं और वह सभी की बातों को समझती हैं।

ऐसी ममतामयी माँ के ममत्व से भीगे हुए सहस्र-सहस्र जन श्रद्धांजलि समारोह की तैयारियों में जुटे थे। इन तैयारियों के प्रत्येक चरण से उनकी महिमा प्रकट हो रही थी। हालाँकि कुछ शंकालु जन अभी भी यही सोच रहे थे कि जितने व्यापक स्तर पर तैयारियाँ की गई हैं, क्या उतने लोग आएँगे भी! इन लोगों का सोचना कई अर्थों में सही भी था, क्योंकि उस समय अयोध्या प्रकरण व मंडल आयोग की प्रतिक्रियास्वरूप देशव्यापी आंदोलन भड़का हुआ था। बसें, ट्रेनें, यहाँ तक कि फायर ब्रिग्रेड की गाड़ियाँ तक जलाई जा रही थीं। सड़कों एवं प्लेटफार्मों पर एक अजीब सूनापन छाया हुआ था, परंतु महाशक्ति की महिमा ने ऐसे में भी अपना कमाल दिखाया। श्रद्धांजलि समारोह में जितने व्यक्तियों को आना था, सभी आए। इन लाखों-लाख लोगों को आने में मार्ग में न कोई उपद्रव आड़े आया और न कोई जन-धन की हानि हुई। जिन लोगों ने एक अक्टूबर से ४ अक्टूबर तक सभी कार्यक्रमों में नियमित रूप से भाग लिया, उनकी संख्या ५ लाख से ज्यादा रही। एक लाख से ज्यादा वे लोग थे, जो रोज आते-जाते रहे। सारा हरिद्वार पीले वस्त्र पहने, पीत दुपट्टाधारी स्त्री-पुरुषों से पट गया।

नगर व प्रांत के पत्रकारगण, दूरदर्शन व आकाशवाणी के प्रतिनिधि सभी समारोह की व्यवस्था को देखकर चकित थे। उत्तरप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल महामहिम सत्यनारायण रेड्डी भी इस कार्यक्रम में आए थे। उन्होंने सब कुछ देखकर अपनी मुखर अभिव्यक्ति दी कि यह सभी कुछ दैवी एवं दिव्य है। शरद पूर्णिमा की सायं यह दिव्यता और अधिक दीप्त हो उठी। शाम ६.३० बजे दीपयज्ञ आरंभ होने से पूर्व पूरा विशाल सभागार खचाखच भर गया। विराट् सवालक्ष दीपों का महायज्ञ प्रारंभ हुआ। **'यन्मण्डलम् दीप्तिकरं विशालम्'** की धुन के बीच सब दीप जल उठे। यह दृश्य देखते ही बनता था। शरद पूर्णिमा की रात थी, परंतु पूर्णिमा का चाँद भी छोटे-छोटे दीपों की समन्वित आभा-ऊर्जा के सामने मद्धिम लग रहा था। महाशक्ति की महिमा इन अगणित दीपों की कोटि-कोटि ज्योति-किरणों से प्रकट हो रही थी।

४ अक्टूबर १९९० को जब विदाई की वेला आई, तब सभी के हृदय भरे और भीगे थे। उनकी महाशक्ति के अनेकों चमत्कार इन दिनों देखने को मिले। इनमें से एक चमत्कार यह भी था कि लाखों लोगों के नित्य भोजन करने के बावजूद शांतिकुंज के अन्न भंडार यथावत् परिपूर्ण रहे। कहीं कोई कमी नहीं आई। पता नहीं अन्नपूर्णा ने कैसे और किस तरह यह चमत्कार कर दिया था! अपनी माँ से विदा लेते हुए सभी परिजन अनुभव कर रहे थे कि माताजी उनकी अपनी माँ होने के साथ समूचे राष्ट्र की माता हैं। वे राष्ट्र की प्राणदायिनी शक्ति हैं।

✻

बूँद समुद्र के अथाह जल में घुलने लगी, तो उसने कहा, अपने अस्तित्व को समाप्त करना मेरे लिए संभव न होगा। मैं अपनी सत्ता खोना नहीं चाहती।

समुद्र ने उसे समझाया, तुम्हारी जैसी असंख्य बूँदों का समन्वय मात्र ही तो मैं हूँ। तुम अपने भाई-बहनों के साथ ही तो घुल-मिल रही हो। उसमें तुम्हारी सत्ता कम कहाँ हुई? वह तो और अधिक बढ़ गई।

बूँद को संतोष न हुआ। वह अपनी पृथक सत्ता बनाए रहने का आग्रह करती रही।

समुद्र ने सूर्य किरणों के सहारे उसे भाप बनाकर बादलों में पहुँचा दिया और बरसकर बूँद फिर बन गई। बहती हुई फिर समुद्र के दरवाजे तक पहुँची तो उसने हँसते हुए कहा, बच्ची, पृथक सत्ता बनाए रहकर भी तुम अपने स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा कहाँ कर सकीं? अपने उद्गम को समझो, तुम समष्टि से उत्पन्न हुई थीं और उसी की गोद में ही तुम्हें चैन मिलेगा।

संस्कृति-संवेदना ने पाया राष्ट्रव्यापी विस्तार

मातृसत्ता में राष्ट्रीय संवेदना की सघनता की अनुभूति पहले भी सभी को समय-समय पर होती रहती थी, परंतु श्रद्धांजलि समारोह के बाद से राष्ट्र के लिए उनके प्राणों की विकलता कुछ ज्यादा ही बढ़ गई। वे बार-बार सोचती रहतीं कि ऐसा कौन-सा अनुष्ठान संपन्न किया जाए, जिससे राष्ट्र के प्राणों को नवस्फूर्ति प्राप्त हो, देश की संस्कृति-संवेदना अपना व्यापक विस्तार कर सके। अपने निकटस्थ जनों से चर्चा में भी उन दिनों उनका यही चिंतन मुखरित होता था। मिशन के सारे काम-काज के ताने-बाने को सुलझाती-बुनती हुई माताजी इसी राष्ट्र चिंता में लीन रहती थीं। इन चिंतन और चर्चा में काफी समय बीता। शांतिकुंज के क्रिया-कलापों में कई नयी कड़ियाँ भी इसी दौरान जुड़ीं। परमवंदनीया माताजी की देख-रेख व उनके सूत्र-संचालन में पहले से सुचारु व्यवस्था और भी अधिक गतिशील हुई।

इसी समय उन्होंने हिमालय-यात्रा की योजना बनाई। यह योजना प्रायः यकायक ही बनी। माताजी हिमालय जाएँगी, यह सोचकर निकटस्थ जनों को थोड़ा भय भी हुआ। वे सोच रहे थे कि कहीं ऐसा तो नहीं कि माताजी हिमालय में ही रहने का मन बना लें। कइयों को यह भी शंका हुई कि कहीं वह हिमालय के हिमशिखरों के बीच महासमाधि तो नहीं लेना चाहतीं, क्योंकि वैसे भी गुरुदेव के अभाव में उनका मन संसार में किसी भी तरह नहीं टिक पा रहा था। अंतर्यामी माँ से अपने बच्चों के मन की यह ऊहा-पोह छुपी न रही। उन्होंने हँसते हुए कहा, यह ठीक है कि गुरुजी के बिना यह देह रखना मेरे लिए काफी कठिन है, पर मुझे अपने बच्चे भी कम प्यारे नहीं हैं। मैं तुम लोगों के लिए अभी कुछ दिनों रहूँगी और यहीं शांतिकुंज में ही रहूँगी। जहाँ तक हिमालय जाने की बात है, तो वहाँ जाने का कारण कुछ और है। ये बातें तुम सबको मेरे वहाँ से लौटने पर पता चलेंगी।

सबको इस तरह अपनी वापसी के बारे में निश्चिंत कर वह हिमालय में गंगोत्री के लिए चल पड़ीं। उनके साथ शैलदीदी, डॉ. प्रणव पंड्या, चिन्मय एवं कुछ अन्य पारिवारिक सदस्य थे। दो-चार दूसरे सौभाग्यशाली जनों को भी उनके साथ इस यात्रा में जाने का सुयोग मिला। हिमशिखरों के मध्य पहुँचकर माताजी के भावों में एक अनोखा परिवर्तन झलकने लगा। उन्हें देखने वालों को ऐसा लगा जैसे कि कोई कन्या अपने पीहर आई है। जैसे कि वह अपने आप नहीं, पिता हिमवान के बुलावे पर यहाँ आई हैं। उनके दीप्त मुखमंडल पर आनंद की रेखाएँ सघन हो गईं। कई स्थानों पर वह रुकीं और ध्यानस्थ हो गईं। गंगोत्री के पास भगीरथ शिला पर तो वह काफी देर ध्यानमग्न बैठी रहीं। यहाँ पर जब वह ध्यान से उठीं, तो उनके चेहरे पर कुछ विशेष पाने की प्रसन्नता की प्रदीप्ति थी। यहीं से उन्होंने अपनी यात्रा को विराम दिया और शांतिकुंज वापस लौट आईं।

वापस लौटने पर उन्होंने एक भव्य शपथ-समारोह में राष्ट्रव्यापी अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की। यह घोषणा करते समय उन्होंने बताया कि हिमालय ने उन्हें यही संदेश दिया है। हिमालय में निवास करने वाली दिव्य शक्तियों का यही आग्रह है कि राष्ट्र को समर्थ एवं सशक्त बनाने वाले अश्वमेध महायज्ञ का महानुष्ठान किया जाए। इसी के साथ उन्होंने यह भी कहा कि इन महायज्ञों में वह स्वयं जाएँगी। उनके आने की बात सुनकर परिजनों का उत्साह आकाश चूमने लगा। सभी अपने क्षेत्र में इस महायज्ञ को आयोजित करने के लिए उतावले थे, परंतु यह सौभाग्य कुछ विशेष स्थानों को ही मिला। माताजी ने अपनी देख-रेख में इस महायज्ञ का कर्मकांड तैयार करवाया। परिजनों को इसकी विस्तृत जानकारी देने के लिए अखण्ड ज्योति की संपादक-मंडली ने अखण्ड ज्योति का एक संपूर्ण विशेषांक (नवम्बर १९९२) तैयार किया। क्षेत्रों में इन आयोजनों की व्यापक विधि-व्यवस्था की गई। ये सभी कार्य वंदनीया माताजी के निर्देशन में पूरे हुए।

इसी के साथ परमवंदनीया माताजी ने जयपुर के प्रथम अश्वमेध के लिए अपनी यात्रा प्रारंभ की। उनका यह क्रम भिलाई (म.प्र.), गुना (म.प्र.), भुवनेश्वर (उड़ीसा), लखनऊ (उ.प्र.) बड़ौदा (गुजरात), भोपाल (म.प्र.), नागपुर (महाराष्ट्र), ब्रह्मपुर (उड़ीसा), कोरबा (म.प्र.), पटना (बिहार), कुरुक्षेत्र (हरियाणा) एवं चित्रकूट (उ.प्र.) आदि स्थानों में होने वाले अश्वमेध महायज्ञों में जारी रहा।

इन सभी स्थानों की यात्रा के लिए विभिन्न राज्य सरकारों ने उनके लिए सरकारी वायुयान की व्यवस्था की। उन्हें राजकीय अतिथि का सम्मान दिया। दिग्विजय सिंह, लालू प्रसाद यादव, बीजू पटनायक, चिमन भाई पटेल आदि कई राज्यों के तत्कालीन मुख्यमंत्रियों ने उनके वात्सल्य से स्वयं को अनुग्रहीत अनुभव किया। मध्यप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल मो. शफी कुरैशी, उ.प्र. के तत्कालीन राज्यपाल मोतीलाल वोरा एवं वर्तमान प्रधानमंत्री एवं उस समय प्रतिपक्ष के नेता के रूप में अटल बिहारी वाजपेई आदि अनेकों विशिष्ट व्यक्तियों ने इन अश्वमेध कार्यक्रमों में उपस्थित होकर अनुभव किया कि माताजी का हृदय समूचे राष्ट्र के प्रति वात्सल्य से भरा हुआ है।

माताजी की अश्वमेध यात्रा की अनुभूतियाँ एवं यादें इतनी अधिक हैं कि उन पर अलग से कई खंडों में एक समूची ग्रंथावली प्रकाशित की जा सकती है। वह जहाँ भी गईं, वहाँ व्यस्त कार्यक्रमों एवं थोड़े समय के बावजूद सभी से मिलीं। अति विशिष्ट जनों से लेकर अति साधारण जन तक सभी उनसे मिलकर धन्य हुए। इस अति व्यस्तता में भी वे अपने भावुक बच्चों को नहीं भूलीं। उनके आग्रह-अनुरोध पर वे उनके घरों में गईं। समूचे देश में ऐसे कई घर हैं, जो उनकी चरण धूलि से तीर्थ स्थान बन गए। जहाँ पर वह बैठीं, उन स्थानों को कई लोगों ने अपनी उपासना स्थली बना लिया। ऐसे व्यक्तियों ने बाद के दिनों में अनेकों दिव्य अनुभूतियाँ पाईं। उनकी अंतर्चेतना में एक अलौकिक आलोक का अवतरण हुआ।

वह जहाँ भी गईं, वहाँ उन्होंने अनेकों अनुदान बिखेरे। कई स्थानों पर स्वयं उन्हें भी अनेकों यादों ने घेर लिया। ऐसा लगा जैसे कि वह पहले किसी अन्य रूप में यहाँ आई हैं। चित्रकूट में सभी ने इस सत्य को प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा। चित्रकूट अश्वमेध के समय वह शारीरिक रूप से काफी कुछ अशक्त थीं। इस शारीरिक अशक्तता के बावजूद वह उन सभी स्थानों पर गईं, जहाँ प्रभु श्रीराम, माता सीता एवं भाई लक्ष्मण के साथ गए थे। जहाँ उन्होंने अनेकों ऋषि-मुनियों का संग लाभ लिया था। माताजी इन सभी स्थानों पर आग्रहपूर्वक गईं। कामदगिरि, स्फटिक शिला, गुप्त गोदावरी आदि सभी स्थानों की यात्रा उन्होंने बड़े भाव भरे मन से की। इन जगहों को उन्होंने कुछ इस तरह से देखा, जैसे वह यहीं कहीं अपने राम को देख रही हों। स्फटिक शिला पर वह थोड़ी देर बैठीं भी। यहाँ बैठने पर बोलीं, "देखो तो सही समय बदलने के साथ कितना कुछ बदल गया है। त्रेता युग में कुछ और था, अब कुछ और है।"

सुनने वाले कुछ समझे, कुछ नहीं समझे। ज्यादा पूछने पर वह हल्के से मुस्करा भर दीं। अपने बच्चों को खुशियाँ देते, राष्ट्र के प्राणों में नवस्फूर्ति का संचार करते हुए उनकी यह यात्रा चल रही थी। उन्हें इस तरह यात्रा करते हुए देखकर विदेशों में बसे परिजनों के मन में यह लालसा सघन हो गई कि उनकी माँ उनके पास भी आ जाएँ। उनके घर भी विश्वजननी की चरण धूलि से तीर्थ-भूमि बन सके। अपने विदेशी बच्चों के इस आग्रह-अनुरोध को वह ठुकरा न सकीं। सभी के प्रबल प्रेम के कारण विश्वमाता ने विश्वयात्रा के लिए हामी भर दी। उनकी इस 'हाँ' से अगणित हृदय पुलकित-प्रफुल्लित हो उठे।

✢

* * *

सुजाता ने खीर दी, बुद्ध ने उसे ग्रहण कर परम संतोष का अनुभव किया। उस दिन उनकी जो समाधि लगी, तो फिर सातवें दिन जाकर टूटी। जब वे उठे, उन्हें आत्मसाक्षात्कार हो चुका था।

प्रसन्न मुख आसीन भगवान बुद्ध को देखने गई सुजाता बड़ी विस्मित हो रही थी कि यह सात दिन तक एक ही आसन पर कैसे बैठे रहे? तभी सामने से एक शव लिए जाते हुए कुछ व्यक्ति दिखाई दिए। उस शव को देखते ही भगवान बुद्ध हँसने लगे।

सुजाता ने प्रश्न किया, योगिराज, कल तक तो आप शव देखकर दुःखी हो जाते थे, आज वह दुःख कहाँ चला गया?

भगवान बुद्ध ने कहा, बालिके, सुख-दुःख मनुष्य की कल्पना मात्र है। कल तक जड़ वस्तुओं में आसक्ति होने के कारण यह भय था कि कहीं यह न छूट जाए, वह न विछुड़ जाए। यह भय ही दुःख का कारण था, आज मैंने जान लिया कि जो जड़ है, उसका तो गुण ही परिवर्तन है, पर जिसके लिए दुःख करते हैं, वह तो न परिवर्तनशील है न नाशवान। अब तू ही बता, जो सनातन वस्तु पा ले, उसे नाशवान वस्तुओं का क्या दुःख?

सुजाता यह उत्तर सुनकर प्रसन्न हुई और स्वयं भी आत्मचिंतन में लग गई।

प्रवासी परिजनों ने पाया भावभरा दुलार

विश्वमाता विश्वभर में फैले अपने बच्चों को प्यार-दुलार देने की तैयारियाँ करने लगीं। वैसे तो अकेला विश्व क्या अनंत-अनंत ब्रह्मांड उनके जाने-पहचाने थे। सूक्ष्मशरीर से उन्होंने अनेकों रहस्यमय यात्राएँ की थीं। बच्चों की प्रेम भरी पुकार पर दुनिया के किसी भी कोने में पहुँचना उनका स्वभाव था। कभी स्वप्नों के माध्यम से तो कभी ध्यान की भावदशा में वह अपनी संतानों के हृदय को अनोखी तृप्ति दिया करती थीं। हालाँकि यह सब वह सूक्ष्मशरीर से करती थीं। स्थूल देह से उन्होंने कभी कोई विदेश यात्रा न की थी। ऐसा करने की उनकी अपनी कोई चाहत भी न थी। प्रवासी परिजनों की बहुतेरी जिद के बाद उन्होंने इस विश्वयात्रा का मन बनाया था। इस यात्रा के बारे में उन्होंने हामी भरते हुए कहा, ''मेरा मन तो नहीं है, पर बच्चे परेशान हैं, इसलिए सोचती हूँ एक बार जाकर उनसे मिल ही लूँ। उनका मन रह जाएगा।''

उनके इस तरह हाँ करने के बाद पासपोर्ट-वीज़ा आदि की विभिन्न सरकारी औपचारिकताएँ पूरी हुईं। विदेशों में कार्यक्रम की तिथियाँ निश्चित हुईं। इस क्रम में पहला अश्वमेध महायज्ञ इंग्लैंड के लेस्टर नामक स्थान में ८ से ११ जुलाई १९९३ में आयोजित किया गया। ३ से ६ मई १९९३ को भुवनेश्वर अश्वमेध का कार्यक्रम था। उसके बाद एक-डेढ़ महीने माताजी शांतिकुंज में रहीं। बाद में निर्धारित तिथि पर उन्होंने इंग्लैंड के लिए प्रस्थान किया। इंग्लैंड के परिजनों के लिए उनका पहुँचना स्वप्नों के सच होने जैसा था। उनकी उपासना की अनुभूति प्रत्यक्ष हो रही थी। बड़ी संख्या में वे सब उन्हें लेने के लिए हवाई अड्डे पहुँचे। वंदनीया माताजी के जयघोष और परिजनों की श्रद्धा से भीगे नेत्रों ने हवाई अड्डे के कर्मचारियों को भी श्रद्धा से भिगो दिया।

अनेकों साधु-संत भारत से इंग्लैंड गए थे। उनका भरपूर सम्मान भी हुआ, उन पर फूल-मालाओं की बौछार और जय-जयकार की गुंजार भी बहुत देखी गई थी, पर किसी के लिए प्यार के सघन-घन इतनी तीव्रता से नहीं उमड़े थे। किसी के लिए इतनी आँखें नहीं भीगी थीं। हवाई अड्डे के कर्मचारियों ने इस फर्क को बड़ा साफ-साफ अनुभव किया। उन्होंने परिजनों से जिज्ञासा की, ये कौन हैं? उन्हें उत्तर मिला, हम सबकी माँ आई हैं। पता नहीं इस उत्तर से उनमें से किसको क्या समझ में आया? लेकिन उनमें से अनेकों ने 'शी इज़ डिवाइन मदर' कहते हुए माताजी के चरण स्पर्श किए। माताजी ने भी उन्हें जी भरकर आशीष दिए। उनके लिए तो सभी उनके बच्चे थे। जो भी माँ! माँ!! कहते हुए उनके पास दौड़ा चला आए, वही उनका सबसे ज्यादा लाड़ला था।

लेस्टर का कार्यक्रम निर्धारित समय पर विशिष्ट विधि-विधान से शुरू हुआ। श्री कीथवाज़, लार्ड मेयर एवं श्री जान मूडी आदि इस कार्यक्रम के विशिष्ट अभ्यागत बने। वहाँ की सरकार व समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त ये विशिष्ट जन माताजी की ममता का स्पर्श पाकर अनुग्रहीत हुए। इंग्लैंड में भारत के तत्कालीन उच्चायुक्त श्री लक्ष्मीमल सिंघवी भी सपत्नीक इस कार्यक्रम में सम्मिलित हुए। अश्वमेध महायज्ञ के लिए निश्चित किए गए विधि-विधान के साथ ही माताजी ने वहाँ के लोगों को दीक्षा दी। यह दीक्षा कार्यक्रम कई अर्थों में अनूठा था। इसमें भागीदार होने वालों के मन-प्राण अनेकों विलक्षण अनुभूतियों से भर गए। इसमें से अनेकों ने मंत्राक्षरों को सुनहले अक्षरों में अपने भीतर अवतरित होते हुए देखा। कुछ ने गायत्री माता की एक झलक पाई। कइयों के सालों पुराने असाध्य रोग दीक्षा लेते ही जड़ से चले गए। उन्होंने इस सत्य को अनुभव किया कि विश्वमाता ने उनके समस्त पापों-तापों को हर लिया है।

शैल दीदी एवं डॉ. प्रणव पंड्या इस कार्यक्रम में माताजी के साथ ही थे। उन्होंने जब उनसे दीक्षा लेने वाले परिजनों की इन विलक्षण अनुभूतियों की चर्चा की, तो पहले वे कुछ देर मौन रहीं। फिर कहने लगीं, ये बच्चे हमसे दूर रहते हैं। जल्दी-जल्दी भागकर ये शांतिकुंज भी नहीं पहुँच सकते, इसलिए इनका विशेष ध्यान तो रखना ही पड़ेगा। अब जब मैं खुद चलकर इनके पास आई हूँ, तो इन्हें खाली हाथ थोड़े ही रहने दूँगी। इन सबको कष्ट-कठिनाइयों से छुटकारा पाते, हँसते-खिलखिलाते देखकर मुझे ऐसा लग रहा है जैसे कि मेरी यात्रा सफल हो गई।

इंग्लैंड की इन अनोखी अनुभूतियों को सुनकर टोरंटो (कनाडा) के परिजन भी उत्साहित हो उठे। उन्होंने पहले

से ही २३ से २५ जुलाई १९९३ की तिथियाँ अपने यहाँ के लिए निश्चित कर रखी थीं। वंदनीया माताजी शैल दीदी एवं डॉ. साहब के साथ ठीक समय पर पहुँच गईं। इन सबके पहुँचने के कुछ दिनों पहले से यहाँ भारी वर्षा हो रही थी। आयोजकों के साथ सभी कार्यकर्त्ता घबराए हुए थे कि सब कुछ कैसे और किस तरह से संपन्न और सफल होगा! अपनी घबराहट में उन्होंने शांतिकुंज कई फोन भी किए थे। फोन पर हुई बातचीत में माताजी ने उन्हें आश्वस्त किया था, तुम लोग परेशान न हो, मैं आ रही हूँ, मेरे वहाँ आते ही सब कुछ ठीक हो जाएगा। सचमुच ऐसा ही हुआ। लगातार कई दिनों से हो रही भारी वर्षा थम गई। इस कार्यक्रम में आंटेरियो कनाडा की तत्कालीन प्रधानमंत्री कैम्पबेल और उनके मंत्रिमंडलीय सहयोगियों ने भारी सहयोग दिया। आयोजन में सक्रिय गायत्री परिजनों के साथ अन्य संगठनों के लोगों ने भी उत्साहपूर्वक भाग लिया। इन सभी भागीदारों ने माताजी की तपशक्ति के अनेकों चमत्कारों की अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभूति पाई।

कनाडा से वापसी के बाद वंदनीया माताजी ने १९ से २२ अगस्त १९९३ को अमेरिका के लॉस एंजेल्स शहर में होने वाले अश्वमेध महायज्ञ के लिए प्रस्थान किया। डॉ. प्रणव पंड्या एवं शैल दीदी के साथ हुई उनकी यह यात्रा पिछली विदेश यात्राओं की तुलना में और भी ज्यादा उत्साहवर्द्धक रही। पश्चिमी तटीय अमेरिका के परिजन माताजी को अपने बीच में देखने के लिए अति उत्साहित थे। उन्होंने जी-जान से जुटकर १००८ कुंडीय इस महायज्ञ का आयोजन किया था। अमेरिका के किसी शहर में उन दिनों इतना वृहत् यज्ञायोजन करना सरल नहीं था। श्री कालीचरण शर्मा के नेतृत्व में गए दल ने यों तो सारा पुरुषार्थ किया, पर सभी के हृदय अपनी माँ के प्रति इतनी गहन श्रद्धा से भरे थे कि इस आयोजन के कठिन काम सभी के लिए सरल होते चले गए। माताजी के पहुँचते ही वहाँ के संपूर्ण वातावरण में दिव्यता छा गई। सभी कार्यक्रम उनके दैवी संरक्षण में भलीप्रकार संपन्न होते गए।

यज्ञस्थल में दीक्षा के लिए लगभग ३०,००० लोग उपस्थित हुए। सभी ने सुन रखा था कि दीक्षा देते समय माताजी अपनी संतानों की अनेकों कष्ट-कठिनाइयाँ हर लेती हैं। साथ ही उन्हें अनेकों तरह की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रदान करती हैं। उस दिन यह सब सुनी हुई बातें प्रत्यक्ष हुईं। अनेकों लोगों ने अनेकों तरह से माताजी के अनुदान-वरदान पाए। माताजी के मुख से उच्चरित गायत्री मंत्र ने सचमुच ही उनके प्राणों को त्राण देने का कार्य किया। अमेरिका के अनेकों मूल निवासी भी इस कार्यक्रम में भागीदार हुए। हिंदी भाषा से अनजान होते हुए भी उन्होंने अपने हृदय में माताजी के भाव भरे उद्बोधन को आत्मसात् किया। इन सभी कार्यक्रमों में अनेकों अनुदान बरसाने वाली माँ सतत अपनी संतानों की पीड़ा का विषपान करती जा रही थीं।

◆

प्राचीन परंपराओं की तुलना में विवेकशीलता का प्रतिपादन करने वाले संत सुकरात को वहाँ के कानून से मृत्युदंड की सजा दी गई।

सुकरात के शिष्य अपने गुरु के प्राण बचाना चाहते थे। उन्होंने जेल से भाग निकलने के लिए एक सुनिश्चित योजना बनाई और उसके लिए सारा प्रबंध ठीक कर लिया।

प्रसन्नता भरा समाचार देने और योजना समझाने को उनका एक शिष्य जेल में पहुँचा और सारी व्यवस्था उन्हें कह सुनाई। शिष्य को आशा थी कि प्राण-रक्षा का प्रबंध देखकर उनके गुरु प्रसन्नता अनुभव करेंगे।

सुकरात ने ध्यानपूर्वक सारी बात सुनी और दुःखी होकर कहा, मेरे शरीर की अपेक्षा मेरा आदर्श श्रेष्ठ है। मैं मर जाऊँ और मेरा आदर्श जीवित रहे, तो वही उत्तम है, किंतु यदि आदर्शों को खोकर जीवित रह सका, तो वह मृत्यु से भी अधिक कष्टकारक होगा। न तो मैं सहज विश्वासी जेल कर्मचारियों को धोखा देकर उनके लिए विपत्ति का कारण बनूँगा और न जिस देश की प्रजा हूँ, उसके कानूनों का उल्लंघन करूँगा। कर्त्तव्य मुझे प्राणों से अधिक प्रिय है।

योजना रद्द करनी पड़ी। सुकरात ने हँसते हुए विष का प्याला पिया और मृत्यु का संतोषपूर्वक आलिंगन करते हुए कहा, हर भले आदमी के लिए यही उचित है कि वह आपत्ति आने पर भी कर्त्तव्य-धर्म से विचलित न हो।

महामाया समेटने लगीं अपनी योगमाया

संतानों की पीड़ा के लगातार विषपान से वंदनीया माताजी का स्वास्थ्य जर्जर होता गया। उनकी देह निरंतर व्याधिग्रस्त होती गई। यहाँ तक कि १६ से २० अप्रैल १९९४ को चित्रकूट में होने वाले अश्वमेध आयोजन में वह जाने की स्थिति में नहीं थीं। तब तक स्वास्थ्य काफी बिगड़ चुका था। काफी ऊहापोह था कि जाएँ अथवा न जाएँ। उनकी तबीयत को देखते हुए निकटस्थ जन भी यही सुझा रहे थे कि माताजी ऐसे में आपको पूरी तरह से विश्राम करना चाहिए। काफी देर वह सबकी बातें सुनती रहीं, फिर बोलीं, तबियत तो खैर जैसी है, वैसी है, पर इस बार मैं जाऊँगी। इसी बहाने फिर से चित्रकूट देखना हो जाएगा। इसके बाद कौन जाने, मेरा कहीं जाना हो या न हो। उनकी इन बातों के बाद किसी की कुछ ज्यादा कहने की हिम्मत नहीं पड़ी। यात्रा की तैयारियाँ होने लगीं। निर्धारित समय पर उन्होंने जॉली ग्रांट हवाई अड्डे से म.प्र. सरकार द्वारा भेजे गए विमान से प्रस्थान किया।

चित्रकूट पहुँचकर वह जैसे देह के सभी कष्टों से अनजान हो गईं। कुछ यों जैसे कि उनकी देह उनकी न होकर किसी और की हो। इस यात्रा में उनके साथ शैल दीदी, डॉ. प्रणव पंड्या, इनके सुपुत्र चिन्मय और माताजी की मानस पुत्री दुर्गा दीदी थीं। इन सभी को वंदनीया माताजी की सभी शारीरिक पीड़ाओं का ज्ञान था। इन सबमें से किसी को उस समय अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो पा रहा था कि कोई इस तरह अपनी दैहिक पीड़ाओं से मुँह मोड़ सकता है। स्थितप्रज्ञ की भावदशा की बातें गीता में बहुतों ने पढ़ी-सुनी होंगी, पर उस समय माताजी को देखकर सभी को इस सत्य की अनुभूति हो रही थी। इसी देहातीत दशा में उन्होंने चित्रकूट अश्वमेध के सभी कार्यक्रम पूरे किए। हजारों श्रद्धालुओं को दीक्षा देकर उनकी मुक्ति का मार्ग खोला। असंख्यों पर अपने आशीषों की वर्षा की।

उन्हें इस तरह कृपा-वर्षा करते हुए देखकर लग रहा था कि समस्त प्राणियों के भवरोग का हरण करने वाली कृपालु जननी ने स्वयं ही देह को रोगमुक्त कर लिया है। सबके आग्रह करने पर उन्होंने उत्साहपूर्वक तीर्थभूमि चित्रकूट के विभिन्न स्थलों पर जाने का कार्यक्रम बनाया। कामदगिरि, स्फटिकशिला आदि जगहों पर वह कुछ पलों के लिए भावसमाधि में डूबी रहीं। गुप्त गोदावरी के बाहर जब उनकी कार रुकी, तो वहीं कहीं पास से दस-बारह साल की एक छोटी-सी लड़की भागी-भागी आई। उसके हाथों में थोड़े से जंगली फल और कुछ खुले हुए पैसे थे। जब माताजी कार से उतरीं, तो ठीक उनके सामने खड़ी हो गई। साथ के लोग कुछ कह पाते, इससे पहले वह कहने लगी, आप शांतिकुंज वाली माताजी हो न। मैंने काफी दिनों से सुन रखा है कि शांतिकुंज हरिद्वार से माताजी आने वाली हैं। बालिका की इन भोली बातों के उत्तर में माताजी बोलीं, हाँ बेटी! मैं वही हूँ।

माताजी के इस कथन पर वह बालिका पुलकित हो उठी और कहने लगी, आपको मालूम है मैंने दो दिनों पहले एक सपना देखा था कि सीता मैया फिर से चित्रकूट आई हैं। जगने पर मैंने सोचा कि यदि शांतिकुंज वाली माताजी हमारी सीता मैया हैं, तो वे जरूर यहाँ गुप्त गोदावरी आएँगी और देखो आप आ गईं। बालिका की इस बाल-श्रद्धा पर माताजी भाव विगलित हो गईं। उस बालिका की यह प्यार भरी भेंट स्वीकार करने के साथ उन्होंने उसके सिर पर अपना हाथ फेरा और वह चली गई। माताजी अपने परिकर के साथ गुप्त गोदावरी की गुफा में गईं। इसी के साथ उनका यह भ्रमण समाप्त हुआ। भव्य दीपयज्ञ के बाद में आयोजन स्थल से विदा लेकर वह शांतिकुंज आ गईं।

शांतिकुंज आने पर उनकी बीमारी फिर से यथावत् हो गई। निकटस्थजन डॉ. प्रणव पंड्या के निर्देशन में उनकी सेवा में जुट गए। विशेषज्ञ चिकित्सकों की भी सहायता ली गई। सभी के आग्रह-अनुरोध पर उन्होंने चिकित्सालय में भी भरती होना स्वीकार किया। इस क्रम में पहले वह कुछ दिन आगरा में रहीं, बाद में कुछ दिनों तक दिल्ली में भरती रहीं। चिकित्सक जो कर सकते थे, कर रहे थे। चिकित्सा विज्ञान में जो आधुनिकतम तकनीकें थीं, उन्हें प्रयोग में लाया जा रहा था, पर उनकी बीमारी भी अनोखी थी। एक के बाद दूसरी नई बीमारी की परत खुल जाती थी। वह सभी को प्रयत्न करते, परेशान होते हुए देख रही थीं। शैल दीदी के साथ उनके सुपुत्र मृत्युंजय

शर्मा भी प्राण-प्रण से अपनी जन्मदात्री माँ की सेवा में जुटे थे। सभी के सारे प्रयत्न निष्फल जा रहे थे। काफी दिन बीत चुकने पर उन्होंने एक दिन कहा, देखो तुम लोग बहुत परेशान हो चुके, अब मुझे शांतिकुंज ले चलो। जो सेवा करनी है, वहीं चलकर करते रहना।

उन्हें देखकर सभी यह अनुभव कर रहे थे कि महामाया अपनी योगमाया समेट रही हैं। उनका आदेश मानकर सभी लोग उन्हें लेकर शांतिकुंज आ गए। वह प्रसन्न भाव से असह्य कष्ट सहे जा रही थीं।**'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'** का गीता वाक्य उन दिनों उनके जीवन में पूरी तरह से चरितार्थ हो रहा था। आत्मचेतना में स्थित होने पर देह एक छिलके से ज्यादा कुछ नहीं रह जाती। इस बीच उन्हें एक-दो ऑपरेशनों से भी गुजरना पड़ा था, उनके घाव अभी भरे नहीं थे, पर वह जैसे इन सब से परे थीं। इच्छामयी ने स्वयं की इच्छा से अपनी असंख्य संतानों का कष्ट अपने ऊपर ले लिया था। वह बच्चों की पीड़ा को अपने ऊपर लेकर प्रसन्न थीं। देह के असह्य कष्ट उनके अंतःकरण को किसी भी तरह से छू नहीं पा रहे थे।

बीमारी के इन दिनों में सभी अपने-अपने ढंग से सेवा करने में जुटे थे। रिश्ते-नातेदारों का आवागमन जारी था। शांतिकुंज, गायत्री तपोभूमि के कार्यकर्त्ता, आदरणीय पं. लीलापत जी आदि गायत्री परिवार के परिजन आदिमाता से अपनी माँ के स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना कर रहे थे। ये बड़े ही विशिष्ट क्षण थे। इन क्षणों में माताजी के दौहित्र चिन्मय एवं उनकी छोटी सुपौत्री मृणालिनी को उनके विशेष सान्निध्य का मौका मिला। छोटी-मोटी सभी सेवाओं को करते हुए ये बच्चे देर रात तक उनके पास बैठे रहते थे। कभी-कभी उनसे पूछते भी, अम्मा जी, आप कब ठीक होंगी। उत्तर में वह हँस देतीं और अब क्या ठीक होना, अब तो चला-चली की वेला है। इस तरह की बातें सुनकर ये लोग उदास हो जाते, उन्हें समझ में नहीं आता कि वे क्या कहें और क्या करें? जिन्होंने अगणित लोगों को अपनी योगशक्ति से असाध्य और जटिल रोगों से मुक्त किया था, आज वही रोग शैय्या पर लेटी हुई थीं।

बातों के क्रम में एक रात्रि को चिन्मय ने माताजी से पूछा, अम्मा जी, आपने तो बहुत सारे लोगों के कष्टों को अपने ऊपर लिया है, क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कोई आपका कष्ट अपने ऊपर ले ले। उत्तर में वह इस तरह मुस्कराने लगीं, जैसे कि किसी ने बहुत ही बचकानी बात उनसे कह दी हो। थोड़ी देर रुककर वह धीरे से बोलीं, अपनी संतानों के कष्ट माँ अपने ऊपर लेती है। माता के कष्ट को भला बच्चे क्यों अपने ऊपर लेने लगें और कोई ऐसा करना भी चाहे, तो क्या मैं उसे करने दूँगी। मेरे जीवित रहते मेरी संतानें कष्ट उठाएँ, यह किसी भी तरह संभव नहीं हो सकता। असह्य एवं असीमित पीड़ा के इन क्षणों में उनका वात्सल्य पहले की तुलना में और भी बढ़ गया था। जो पास में थे, उन्हें तो वह दुलार करती ही थीं। जो पास में नहीं थे, उनके बारे में भी वह पूछताछ करती रहती थीं। उनका हाल-समाचार लेती रहती थीं। वात्सल्य का वितरण करती भावमयी माँ ने अपनी इस बीमारी को एक विशिष्ट योग-साधना बना लिया था। इस साधना को करते हुए उनके प्राण अपने आराध्य में महामिलन के लिए महाप्रयाण करने की तैयारी में लगे थे। ⁂

पेड़ की ऊँची डाली पर लटके नारियल ने नीचे नदी में पड़े पत्थर को देखकर घृणापूर्वक कहा, घिस-घिसकर मर जाओगे, लेकिन नदी के पैर न छोड़ोगे, अपमान की भी कोई हद होती है। मुझे देखो, स्वाभिमानपूर्वक कैसे उन्नत स्थिति में मौज कर रहा हूँ। पत्थर ने चुपचाप नारियल की बात सुन ली, कोई उत्तर न दिया। कुछ समय बाद पूजा की थाली में रखे उसी नारियल ने देखा कि नदी का वही पत्थर शालिग्राम के रूप में पूजा-पीठ पर प्रतिष्ठित है, जिसकी पूजा के लिए उसे नैवेद्य के रूप में लाया गया है, नारियल मन-ही-मन क्रोधित हो उठा। पत्थर ने नारियल का भाव समझा और कहा, नारिकेलि, देखा घिस-घिसकर परिमार्जित होने का परिणाम क्या होता है और अभिमान के मद में मतवाले रहने वालों की गति क्या हुआ करती है?

महामिलन हेतु महाप्रयाण की वेला

वंदनीया माताजी के मन में अपनी असंख्य संतानों के प्रति गहरी आकुलता थी। वे जानती थीं कि उनके इस तरह चले जाने से उनके बच्चे बिलख उठेंगे, पर किया क्या जाए? देह छोड़ने की भी अनिवार्यता थी। परमपूज्य गुरुदेव के संकेत उन्हें बार-बार मिल रहे थे। इन संकेतों में एक ही स्वर निहित था, 'सब लड़के अब परिपक्व हो चले हैं, उन्हें अब अपने पाँवों पर खड़े होने देना चाहिए। अब आपको स्थूल कलेवर छोड़कर यहाँ सूक्ष्म जगत् में आकर तप करना चाहिए। विश्व कल्याण के लिए यह ज्यादा अनिवार्य है।' गुरुदेव के इन सांकेतिक स्वरों को माताजी पिछले कई महीनों से लगातार अनुभव कर रही थीं। उनका स्वयं का मन-अंत:करण भी गुरुदेव के लिए हमेशा विकल रहता था, पर उनकी यह निजी विकलता सदा ही उनके सहज मातृत्व से ढक जाती थी। उनका मातृभाव अन्य सभी भावों पर छा जाता था।

इन पंक्तियों को लिखते समय यह अच्छी तरह याद आ रहा है कि श्रद्धांजलि समारोह के बाद वर्ष १९९१ के मई महीने में माताजी ब्रह्मवर्चस आई थीं। दोपहर के बाद का समय होगा। ब्रह्मवर्चस में बनी हुई यज्ञशाला के सामने छाया आ गई थी। वहीं पर उन्होंने कुरसी डलवाईं और बैठ गईं। यहाँ रहने वाले सभी कार्यकर्त्ता भाई-बहन उनके इर्द-गिर्द खड़े हो गए। उन्होंने एक-एक करके सभी का हाल-चाल पूछा। फिर बातों-बातों में बोलीं, मैंने तो श्रद्धांजलि समारोह के बाद ही चले जाने का मन बना लिया था। सोचा था, जिन्हें अपनी हर साँस अर्पण की, उनके चले जाने के बाद मेरा एक ही कर्त्तव्य-कार्य शेष बचता है कि उन्हें अपनी ओर से, तुम सबकी ओर से श्रद्धांजलि दे दूँ। इसके बाद वहीं चली जाऊँ, जहाँ वे स्वयं हैं, पर प्रणव नहीं माने, कहने लगे माताजी अभी तो हम लोग गुरुदेव के न रहने की पीड़ा से ही नहीं उबर पाए हैं, आप भी चली जाएँगी तो हम सबके क्या हाल होंगे। हमें भी लगा कि ये ठीक ही कह रहे हैं, इसलिए सोच लिया है कि तुम सब लोगों के लिए मैं अभी तीन-सवा तीन साल और रहूँगी।

संतानों की जिस चिंता के कारण उन्होंने इन वर्षों में अपनी देह को टिकाए रखा, वह चिंता उन्हें देह छोड़ने से पहले भी थी। उनके सामने कभी भी सवाल यह नहीं था कि मिशन किस तरह से चलेगा? क्योंकि यह सचाई वे अच्छी तरह से जानती थीं और इसे वह सभी को समय-समय पर बताया करती थीं कि इस मिशन को चलाने वाला भगवान् है। यह भगवान् के संकल्प के अनुसार अपने आप चलता रहेगा और ठीक तरह से चलता रहेगा। वह कहा करती थीं कि बेटा! इसकी जड़ों में गुरुजी की इतनी ज्यादा तप-ऊर्जा लगी है, यह कभी भी किसी भी स्थिति में बिगड़ेगा नहीं। हाँ इसे थोड़ा-सा भी बिगाड़ने की कोशिश करने वाले जरूर बिगड़ जाएँगे। वे चाहती यह थीं कि जिस प्यार की डोर में उन्होंने जीवन भर समूचे गायत्री परिवार को बाँधकर रखा, वह डोर वैसी ही मजबूत बनी रहे।

इसी कारण उन्होंने महाप्रयाण से कुछ दिन पहले शांतिकुंज के सभी वरिष्ठ कार्यकर्त्ताओं को एक-एक करके बुलाया। उनकी निजी जिंदगी की बातें पूछीं, उन्हें दिलासा दी और फिर यह कर्त्तव्य याद दिलाया कि देखो, तुम लोग बड़े हो, तुम्हारे छोटे भाई-बहन कोई गलती करें तो उन्हें समझाओ, थोड़ा-बहुत डाँटो भी, पर उन्हें अपने गले से लगाकर रखो। उन्हें किसी भी तरह प्यार की कमी महसूस न होने दो। किसी को यह न लगे कि हम तो अपने माँ-बाप को छोड़कर, अपने घर को छोड़कर आ गए। अब यहाँ हमारा कोई अपना नहीं।

इस तरह सबको समझाने-बुझाने के बाद उन्होंने एक बात अपने बारे में कही। वह बोलीं, ''मैंने मनुष्य देह जरूर धारण की है, पर तुम लोग मुझे केवल मनुष्य न समझना। देखो गंगाजी के पानी में चाँद की परछाई देखकर छोटी-छोटी मछलियाँ आनंद से उसके इर्द-गिर्द उछल-कूदकर खेलने लगती हैं, सोचती हैं, यह हमीं में से एक है, पर सुबह जब चाँद डूब जाता है, तो उनकी पहले जैसी दशा हो जाती है। उछल-कूद के बाद शिथिलता आ जाती है। वे सब कुछ भी नहीं समझ पातीं।'' इन शब्दों में माताजी ने सभी को संकेत में अपना स्वरूप बोध कराया। ताकि जो लोग लंबे समय तक उनके साथ रहे, वे समझ सकें कि वह कौन हैं? सभी को इस तरह समझाकर वह मौन हो गईं, साथ ही उन्होंने कतिपय विशिष्ट यौगिक

क्रियाओं के द्वारा अपनी आत्मचेतना को देह से हटाना शुरू कर दिया। इसी के साथ क्रमिक रूप से उनका देह-बोध शून्य होने लगा।

बीतते पलों के साथ वह घड़ी भी आ गई, जिसे उन्होंने अपने प्रभु से महामिलन के लिए निश्चित किया था। भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ को प्रातः सभी को उनके मुखमंडल पर एक अनोखा भावांतर नजर आया। जिस कक्ष में वह लेटी हुई थीं, वहाँ का वातावरण पिछले दिनों की तुलना में एकदम बदला हुआ नजर आया। दिव्य सूक्ष्म स्पंदन वहाँ सघन हो उठे। ऐसा लगने लगा कि सभी देव शक्तियाँ उनके इर्द-गिर्द उपस्थित हो गई हैं। बिना किसी कृत्रिम साधन के वहाँ एक दिव्य सुरभि फैल गई। इसे सभी उपस्थित लोगों ने अनुभव किया। अपने गहन मौन में लीन माताजी प्रातः से ही ध्यानस्थ थीं। मुखमंडल पर प्रदीप्त आभा से, कुछ को यह भी लग रहा था कि माताजी आज पहले से कहीं ज्यादा स्वस्थ हैं। एक अर्थ में यह सोचना सही भी था, क्योंकि अन्य दिनों की तुलना में वह आज पहले से ज्यादा अपने स्व में स्थित हो गई थीं।

वातावरण में सब ओर सर्वत्र एक गहन नीरवता हिलोरें ले रही थी। सब लोग यंत्र के समान काम-काज किए जा रहे थे। किसी को कुछ सूझ नहीं पड़ रहा था। ध्यानस्थ माताजी मूर्तिमयी प्रशांति के रूप में विराज रही थीं। उनके मुखमंडल पर एक अनिर्वचनीय शांति और आनंद की दीप्ति खेल रही थी। महाकाली मानो महाकाल के ध्यान में मग्न हो रही थीं। इन पलों में साक्षी हुए लोग अपूर्व सौभाग्यशाली थे। सौभाग्य का कुछ अंश उन्हें भी मिला था, जो पिछले कुछ महीनों से हर दिन अपनी आत्मचेतना को एकाग्र करके अपनी प्यारी माँ को अपना भक्तिपूर्ण प्रणाम निवेदित करते थे। माँ के चले जाने के अहसास को अनुभव कर जिनकी सिसकियाँ थमती नहीं थीं। इन क्षणों में भी उनकी ध्यानस्थ चेतना माँ के चरणों में अपनी भावांजलि अर्पित कर रही थी।

पूर्वाह्न ११-४० पर ध्यानस्थ जनों के ध्यान में एक दृश्य बड़ी ही स्पष्ट रीति से उभरा। इस अद्भुत अनुभूति में उन्होंने अनुभव किया कि परमपूज्य गुरुदेव अपनी लीला संगिनी को अमर-धाम में लेने के लिए आए हैं। अनेकों देवशक्तियाँ, सूक्ष्मलोक के ऋषिगण उन्हें घेरे हुए हैं। सभी की दृष्टि माताजी पर टिकी है। क्षण बीते, ११-५० पर माताजी की स्थूल देह हल्के से कंपित हुई और माता आदिशक्ति अपने परमपुरुष पुरुषोत्तम के साथ विराजमान हो गईं। हृदय-हृदय में वेदना की रागिनी बज उठी। समूचे कक्ष में निष्कंप-स्तब्धता उतर आई। इस स्तब्धता ने भी बड़ी अनोखी रीति से इस सत्य का संचार कर दिया कि माता भगवती महाकाली भगवान् महाकाल से महामिलन के लिए महाप्रयाण कर चुकी हैं। उनकी तपःपूत देह के अंतिम दर्शन के लिए शिष्यों-भक्तों व संतानों की भीड़ लग गई। लगभग २४ घंटे तक अंतिम दर्शन का सिलसिला चलता रहा। अगले दिन यानि कि २० सितंबर १९९४ को महाशक्ति की आवास बनी उनकी स्थूल देह चिता-अग्नि के तेज में विलीन हो गई। नित्यप्रति अपने बच्चों को दर्शन देने वाली माता अब ध्यानगम्य हो गईं। हाँ बच्चों को दिए गए माँ के आश्वासन के स्वरों की गूँज अभी भी थी।

◆

मरुतदेव क्रुद्ध होकर बोले, ओस-कणो, तुम्हें हमारा प्रतिरोध करते भय नहीं लगा, नष्ट करके रख देंगे तुम्हें, नहीं तो रास्ता छोड़कर अलग हो जाओ।

ओस-कण हाथ जोड़कर बोले, महापुरुष, जब तक आप हैं, तब तक हम नष्ट कैसे हो सकते हैं? हमारा तो जन्म ही आपसे हुआ। इतना कहने पर भी मरुत का क्रोध न गया।

बात कुछ भी नहीं थी, अहंकार मात्र था, सो ऐसे अंत कहाँ होता? मरुतदेव चले, वेग से आक्रमण किया। ओसकण झरकर भूमि में जा गिरे, पर वायुदेव की अंतःशीलता को छूकर दूर्वा दलों में अन्य ओस-कण झलकने लगे। वायु ने पीछे मुड़कर देखा, तो उसे अपनी पराजय पर लज्जा आई। उमड़-घुमड़कर सब तरफ से प्रयत्न किया उनने, पर ओस-कण कम न हुए।

आकाश ने यह देखकर कहा, व्यर्थ क्यों खीझते हो पवमान, बलिदान की शक्ति ही कुछ ऐसी है कि एक नष्ट होता है, तो पीछे एक हजार तैयार हो जाते हैं। ऐसा न होता, तो संसार में नेकी, धर्म और भलाई जिंदा कैसे रह पाते?

मरुत ने हार मान ली और तबसे ओस-कणों को नीचा दिखाना उसने बंद कर दिया।

अपनी संतानों को माँ का आश्वासन

माँ ने कहा था कि वे देह न रहने पर भी दूर न होंगी। उनके बेटे-बेटियाँ उन्हें पुकारते ही अपनी माँ के आँचल की छाया और छुअन को महसूस करेंगे। भावमयी जगदंबा की पराचेतना की ही भाँति उनके आश्वासन भी शाश्वत, अमर और अमिट हैं। उन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक अवसरों पर अनेकों बातें कही थीं। जिनमें कुछ तो नितांत, निजी और व्यक्तिगत हैं, लेकिन इनमें बहुत कुछ ऐसी हैं, जो सार्वकालिक और सार्वभौम होने के साथ सबके लिए हैं। उनके प्रेम से छलकते इन स्वरों में हममें से हर एक के जीवन के लिए समाधान है। उनकी बातों को दुहराने और याद करने से पता चलता है कि हम सबको उन्होंने यों ही बिना किसी सहारे के नहीं छोड़ा। उनका प्यार-दुलार और सबसे बढ़कर उनकी समर्थ शक्ति हम सबके साथ है। यहाँ तक कि वे स्वयं भी हमारे आस-पास ही हैं। इस सचाई को अनुभव करने के लिए हमें बस अपने दिल की गहराइयों से 'माँ' कहकर पुकारना होगा। यह एक अक्षर सृष्टि बीज है, मंत्रराज और महामंत्र है। इसे उन्होंने हम सबके लिए स्वयं जाग्रत् और चैतन्य किया है।

न जाने कितनी बार उन्होंने अपने श्रीमुख से कहा है, मैं कभी अपने बेटे-बेटियों को छोड़कर जाने वाली थोड़े ही हूँ। देह सबकी छूटती है, मेरी भी छूटेगी। देह का तो धर्म ही है पैदा होकर नष्ट होना, सो यह तो नष्ट होगी ही, पर इससे क्या मैं तो जैसी की तैसी बनी रहूँगी। तुममें से जब कभी कोई माँ! माँ!! कहकर बुलाएगा, तो मैं दौड़ी-भागी चली आऊँगी। अपनी बातों को समझाते हुए वह कहती थीं, अभी भी तुम लोग मुझे बुलाते हो, तो मैं आती हूँ कि नहीं। तुम्हारे बुलाने पर मैं ही आती हूँ, देह तो यहीं शांतिकुंज में पड़ी रहती है। अपनी देह की ओर इशारा करते हुए वह बतातीं, ''यह देह है तो क्या? नहीं है तो क्या? इससे कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है, इसलिए तुममें से किसी को इस बात की चिंता करने की जरूरत नहीं है कि माताजी आज हैं, कल नहीं रहेंगी। अरे माताजी आज हैं, हमेशा रहेंगी। माताजी तब भी थीं, जब यह देह नहीं थी और माताजी तब भी रहेंगी, जब यह देह नहीं रहेगी। जब हमारे बच्चे हमको बुलाएँगे, मैं भागकर आऊँगी।''

यह बुलाना कैसा होता है? माताजी! एक भक्त ने उनसे एक अवसर पर पूछा। इस बात को सुनकर वह हँसने लगीं और बोलीं, अपनी माँ को बुलाने के लिए कोई विधि-विधान भी होता है क्या? अरे बेटा? माँ तो अपने उस बच्चे की भी सारी बातें समझ लेती है, जो अभी बोलना भी नहीं जानता। तुमने देखा नहीं छोटे बच्चे जो बोलना भी नहीं जानते, बस अपनी माँ की याद कर बिलख उठते हैं। उन्हें माँ को पुकारने का यही तरीका मालूम है। उनकी इस पुकार को कोई और समझे या न समझे, पर माता समझती है। उनके इस तरह पुकारते ही, वह झटपट अपने हाथ के सारे काम छोड़कर दौड़ी आती है और बच्चे को गोद में उठा लेती है। अपने हृदय का सारा प्यार उस पर उँड़ेल देती है। इन बातों को कहते हुए वह हँसकर बोलीं, ''अरे बेटा! माता तो अपने उन बच्चों की बातों को भी समझ लेती है जो गूँगे हैं, जो कभी बोल ही नहीं सकते। माँ को बुलाने के लिए कुछ और नहीं, बस दिल की तड़प चाहिए, भाव-विह्वलता चाहिए। माँ और बच्चों का रिश्ता ही कुछ ऐसा होता है बेटा!''

अपनी संतानों पर हर पल प्राण निछावर करने वाली माताजी अपने बारे में प्रायः चुप ही रहती थीं। कोई बात होने पर वह यही कहतीं, अच्छा बेटा! हम गुरुजी से कह देंगे अथवा फिर यह कहा करतीं कि गायत्री माता से प्रार्थना करेंगे, लेकिन किन्हीं विरल क्षणों में अपने स्वरूप को खुलकर प्रकट भी कर देती थीं। ऐसा करने में सामने वाले की पात्रता कम उनकी कृपा ज्यादा होती थी। एक दिन ऐसा ही हुआ, यह बात सन् १९९२ के अंतिम दिनों की है। उस दिन दोपहर में मिलने वाले कुछ कम थे, सो वह जल्दी ही फुरसत पा गई थीं। सबसे अंत में एक कार्यकर्त्ता गया। कोई और था नहीं, सो उसे बैठा लिया। वह भी माताजी के साथ कुछ क्षणों का संग लाभ पाकर खुश हो गया। खुशी के इन क्षणों में उसने अपने मन की बात पूछते हुए कहा, माताजी! मैंने अपनी पूजास्थली पर मात्र एक छोटी-सी गायत्री माता की फोटो रखी है। साथ ही गुरुजी का और आपका भी चित्र लगा रखा है। ध्यान के समय आप दोनों में ही मैं सूर्य और गायत्री की, महाकाल

और महाकाली की कल्पना करता हूँ। क्या यह ठीक है? उत्तर में पहले तो वह चुप रहीं, फिर बोलीं, ''बेटा! यह व्यक्ति की श्रद्धा-भाव संवेदना पर निर्भर करता है। जितना गहरा हमारा किसी से लगाव होगा, उतना ही गहरा ध्यान उनके विषय में होता चला जाएगा। तुम्हें अपनी साधना और प्रगाढ़ बनानी चाहिए। गायत्री महाशक्ति से साक्षात्कार करने के कारण गुरुजी का ध्यान सविता के ध्यान से शीघ्र लगता है। इसी तरह वे मेरे भी आराध्य हैं। उनकी ही शक्ति मुझे भी मिली है। मेरा ध्यान तुझे उन तक-गायत्री माता तक और जल्दी पहुँचा सकता है। जो गुरुजी हैं, वही मैं हूँ। जो मैं हूँ, वही गुरुजी हैं। हम दोनों में कोई अंतर नहीं।'' माताजी का यह कथन सुनकर सुनने वाला भाव-विह्वल हो गया। काफी देर तो उसे सूझा ही नहीं, कि वह और क्या कहे? फिर धीरे से उसने पूछा, माताजी आपकी कृपा से अगणित लोगों के लौकिक कष्टों का निवारण होता है, पर क्या आपकी कृपा से जीव को मुक्ति भी मिलती है? इस सवाल को सुनकर वह जैसे आत्मलीन हो गईं और कहने लगीं, सब कुछ माँ की कृपा से होता है, संकट निवारण, स्वर्ग, मोक्ष सब कुछ उनकी कृपा से संभव है। हम तो निमित्त मात्र हैं।

महाशक्ति के इन वचनों को ध्यान से सुनने के बाद भी पूछने वाले ने अपनी शंका के निवारण के लिए एक प्रश्न और किया, माताजी वेदांत आदि शास्त्रों में लिखा है कि ज्ञान होने पर मोक्ष मिलता है। उत्तर में वह बोलीं, ''पर वह ज्ञान आद्यशक्ति माँ की कृपा के बगैर नहीं मिलता। वहाँ तक पहुँचाने के लिए मातृशक्ति के रूप में गुरु की सत्ता ही सर्वाधिक सक्षम है। जब किसी जीव पर माँ की कृपा होती है, तभी ज्ञान की प्राप्ति होती है। फिर मोक्ष दूर नहीं। देवी सप्तशती में लिखा है-

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥

''वे ही प्रसन्न होने पर मनुष्यों को मुक्ति के लिए वरदान देती हैं। वे ही पराविद्या संसार बंधन और मोक्ष की हेतुभूता सनातनी देवी और संपूर्ण ईश्वरों की भी अधीश्वरी हैं।'' देवी सप्तशती का हवाला देते हुए उस दिन परोक्ष रूप में माताजी ने अपने शिष्य को मातृशक्ति के लीला संदोह से एवं उसमें अपनी भूमिका से परिचित करा दिया। उनके वचन सुनने वाले के कानों में अमृत घोल रहे थे। उसने बहुत हिम्मत जुटाकर एक अंतिम प्रश्न किया, माताजी देवी सप्तशती माँ आदिशक्ति की चरित्रकथा है। इसे पढ़ने को एक उत्कट साधना माना जाता है। लाखों लोग प्रतिदिन इसका पाठकर अपना मनोवांछित पाते हैं। इसी तरह क्या आपके बच्चे आपकी जीवनकथा के पाठ को साधना के रूप में कर सकते हैं। ''बेटा! समय आने पर हम दोनों की ही जीवन-गाथा सबके समक्ष आएगी। इन लीला प्रसंगों को पढ़ना स्वयं गुरुसत्ता से साक्षात्कार के समान होगा। वैसे मैं माँ हूँ। मुझे तो कोई कभी भी- मैं रहूँ या न रहूँ-भले ही शरीर भी छूट जाए तब भी याद करेगा तो उसके समीप रहूँगी। उसके कष्टों के शमन का प्रयास करूँगी, योग-क्षेम का वहन करूँगी।''

माताजी कहा करती थीं, ''कैसे भी हो, हम उन्हें पुकारना सीख जाएँ। वह कहा करती थीं, बच्चो, जीवन है तो परेशानियाँ भी आएँगी, संकट, मुसीबतें भी खड़ी होंगी। पर तुम लोग इससे घबराना नहीं। संकट कितने भी बड़े और विकराल हों, हमेशा याद रखना कि मेरी एक माँ है, जो हमेशा मेरे पीछे खड़ी है।'' माँ के इस आश्वासन के बाद भी क्या कोई हमारे लिए चिंता का कारण बचता है! उनका यह आश्वासन उनके लिए है, जो उनसे कभी भी किन्हीं क्षणों में मिले हैं और साथ ही उनके लिए भी है, जो उनसे कभी भी नहीं मिले। क्योंकि वह कहती थीं, मैं अपने उन बच्चों से भी परिचित हूँ, जो मेरी देह के न रहने पर यहाँ शांतिकुंज आएँगे। उनके प्रति मेरा प्यार उनसे कहीं ज्यादा होगा, जो मुझसे मिल चुके हैं। उन्हें मैं अपनी स्नेह छाया से पूरी तरह सुरक्षित-संरक्षित रखूँगी। जब वे मुझे याद करेंगे, तो मैं उन्हें उनका अभीष्ट प्रदान करूँगी। ऐसी करुणामयी माँ के प्रति भी उनकी नादान संतानों ने जाने-अनजाने कुछ भूलें की हैं, आज वे सब उन क्षमामयी के चरणों में क्षमा की याचना करते हैं।

✦

आचार्य महीधर आत्मज्ञान की इच्छा से घर छोड़कर विरक्त हो गए। उनकी माँ घर में कष्ट उठा रही है, उन्हें इसका ध्यान न रहा। बहुत दिन तप-साधना करने पर भी उन्हें पूर्णता प्राप्त न हुई, तब वे घर लौट आए। बेटे को पाकर माँ के हर्ष का ठिकाना न रहा। उन्होंने कहा, बेटा, तूने दुःखी का दुःख पहचान लिया, तुझे पूर्णता प्राप्त होगी। माँ के आशीर्वाद का ही फल था कि महीधर को वेदज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने चारों वेदों का भाष्य करने का गौरव प्राप्त किया।

शिष्यों की करुण याचना—क्षमा-प्रार्थना

हमें क्षमा कर दो माँ! बड़ी गहरी आत्मपीड़ा और सघन अंतर्वेदना से घिरे हम आपसे यह याचना कर रहे हैं। आज आप स्थूल रूप से हमारे बीच नहीं हैं, पर आपके साथ बिताए गए हर पल का कोमल अहसास हृदय में जस का तस है। आपकी हर याद की छुअन मन में अगणित अनुभूतियों का रस घोलती है। कभी-कभी तो स्वयं को देखकर स्वयं पर विश्वास ही नहीं होता। भरोसा ही नहीं आता कि क्या ये हाथ वही हैं, जिन्होंने सर्वेश्वरी माँ के श्रीचरणों को छुआ है! क्या यह वही सिर है, जो अपनी महाशक्ति माँ के चरणों में झुका है! जिस पर माता ने अपने कृपालु वरदहस्त रखे हैं। यह कथा किसी एक की नहीं है, आपके अगणित बच्चों की है, जो अपने अंतर्गगन में उमड़ती-घुमड़ती और मूसलाधार बरसती आपकी यादों की झड़ी में भीग रहे हैं। जिन्हें याद आता है आपसे मिलना, आपसे बातें करना और आपके हाथों से कुछ खाने-पीने की चीजें पाना।

हे माता! आपकी यादों के कई रूप हैं और सभी अनूठे हैं, अनोखे हैं। हममें से कइयों को गुरुदेव विभिन्न कामों के सिलसिले में बुलाते थे। हम सबको अपने ही आलस्य एवं प्रमाद के कारण जब-तब डाँट-फटकार भी पड़ती थी। सीढ़ियों से उतरते ही जब हम सब आपके कमरे में प्रवेश करते, तो आप हँसकर हम सभी से कहतीं, लगता है, तुम लोगों को आज कुछ ज्यादा ही डाँट पड़ गई। चलो खैर कोई बात नहीं, अभी तो तुम लोग यह थोड़ा खा-पी लो। ऐसे एक नहीं अनेक अवसरों की यादें हमारे मनों में घुली हैं। आपके प्यार-दुलार के अनेकों रूप मन के आँगन में अपनी दिव्य आभा फैला रहे हैं। जहाँ तक आपकी डाँट-फटकार की बात है, तो वह प्राय: होती ही नहीं थी। यदि होती भी, तो बहुत कम अवसरों पर। ऐसे अवसरों पर जितना आप डाँटतीं, उससे ज्यादा हम सबकी मान-मनुहार करतीं। हमें यह समझातीं कि आपकी इस डाँट में हम सबका कितना भला छुपा है। इतना ही नहीं, डाँटने के बाद अवश्य ही अपने सामने बिठाकर कुछ खिलाती-पिलातीं।

हे भावमयी! हम आपके भाव भरे मातृत्व की कैसे? क्या? और कितनी चर्चा करें? इसकी कथा तो असीम-अनंत है। हम जैसे अज्ञानी बालक तो क्या, दिव्य लोकों के देवगण भी इसे पूरी तरह से कहने में अक्षम हैं। इन क्षणों में हम सब तो बस यह महसूस कर रहे हैं कि हमने आपके कोमल हृदय को जाने-अनजाने अनेकों तरह से दु:खी किया है, चोट पहुँचाई है। आप कितना कुछ सहकर हमारी जिदों व हठों को पूरा करती रहीं और हम इसे अपना सौभाग्य मानकर इतराते रहे। हमने उस समय यह सोचने की तनिक-सी भी जहमत नहीं उठाई कि इससे आपको कितना कष्ट होता होगा। सच में माँ! आज हम अपने किए पर शर्मिंदा हैं। हमको उन पलों की अच्छी तरह से याद है, जब हमने अपने अज्ञानी बाल स्वभाव के कारण आप से लड़-झगड़ लिया। पर आश्चर्य! बदले में आपने हमें डाँटने-डपटने की बजाय भरपूर प्यार दिया। झगड़ा भी हमीं ने किया और रूठे भी हमीं, पर आप सदा ही हम पर सदय और कृपालु बनी रहीं। कभी भी भूल से भी हममें से किसी पर कभी भी कुपित नहीं हुईं, क्योंकि इस सत्य को आप ही जानती थीं कि आपके कुपित होने पर तीनों लोकों में कोई भी हमारा शरणदाता न होगा। कहीं भी हमको ठिकाना न मिलेगा।

कर्म से, वाणी से और चिंतन से हम सबके अपराध कई हैं और इनमें से हर एक अक्षम्य हैं। हमें यह अच्छी तरह से मालूम है कि क्रूर कर्म में प्रवीण कालदेवता, निष्ठुरता में निष्णात विधि का विधान हमारे किसी भी अपराध के थोड़े से अंश को भी क्षमा न करेगा, परंतु हमारी इनसे कोई आशा भी नहीं है। हम सबकी प्रत्येक आशा का केंद्रबिंदु तो आप हैं। अब तक हमने अपनी हर चाहत को पूरा करने के लिए सिर्फ-सिर्फ माँ! माँ!! कहना सीखा है। आज फिर से वही माँ! माँ!! कहते हुए आपसे अपने किए हुए कृत्यों के लिए, अपने समस्त अपराधों के लिए क्षमा की याचना कर रहे हैं। अपने द्वार पर आए सभी याचकों की झोली भरने वाली माता, आज हम बच्चों की झोली अपनी क्षमा से भर दो। आपकी क्षमाशक्ति ही हम सबकी जीवन नौका को पार लगा सकती है। हम सबको भवसागर से पार उतार सकती है।

हे माता, यदि हममें से किसी के द्वारा कोई ऐसा अपराध बन पड़ा है, जो किसी भी तरह से क्षमा करने

लायक नहीं है, तो उसके लिए आप स्वयं ही दंड विधान तय करना। हमको काल के क्रूर हाथों में अथवा विधाता के निष्ठुर विधान-पाश के हवाले मत करना। हमें कुछ भी सजा देना माँ, पर अपने से दूर मत करना। हम आपके चरणों के सान्निध्य से कभी भी किसी भी हाल में दूर नहीं होना चाहते। आपकी कृपा छाँव में हम सारे कष्ट प्रसन्नतापूर्वक सह लेंगे। मुँह से कभी कोई उफ् तक न निकलेगी। होठों पर कभी कोई शिकायत न आएगी। आपके बिना, आपसे थोड़ा भी दूर होकर हमें इस समस्त विश्व-ब्रह्मांड का कोई भी बड़े से बड़ा श्रेय-सौभाग्य नहीं चाहिए। इन तुच्छ सांसारिक धन-वैभव, यश-प्रतिष्ठा, पद-सम्मान की बात कौन कहे, माता हमें आपसे दूर होकर देवराज इंद्र और सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा का पद भी नहीं चाहिए। दंड हो या पुरस्कार, हमारा समस्त संसार आपके श्रीचरणों में सिमटा हुआ है। हमारे मन व बुद्धि आपके सिवा अन्य कुछ भी सोचने-समझने और जानने में असमर्थ है।

पहले जब आप स्थूल देह में थीं, तब हम बच्चे रूठा करते थे और आप हमें मनाया करती थीं। आज आप जब सूक्ष्म हैं, तो हमारा शंकालु मन यह सोचने लगता है कि कहीं हमारी माँ हमसे रूठ तो नहीं गईं। हालाँकि हम यह जानते हैं कि भौतिक जीवन की अनेकों रस्सियों में कसा-बँधा यह मन आपकी सूक्ष्म चेतना का स्पर्श करने में असमर्थ है, फिर भी अपने इर्द-गिर्द आपकी ढूँढ़-खोज में हमेशा जुटा रहता है। आपके जीवनकाल में इसे आपको रोज-रोज देखते रहने की आदत जो पड़ गई है। इसको अभी तक यह ठीक से समझ में नहीं आ पाया कि अपने बच्चों पर प्राण निछावर करने वाली माँ अचानक सूक्ष्म में क्यों जा बैठी? कहीं ऐसा उन्होंने हम सबसे रूठकर तो नहीं किया, पर हृदय की उफनती भावनाओं में विश्वास के यही स्वर उमड़ते हैं कि वात्सल्यमयी माता कभी भी अपनी संतानों से रूठ नहीं सकती। वह जरूर अपने किसी विशेष प्रयोजनवश हमारी स्थूल आँखों से ओझल हुई है।

इस विश्वास को तब बल मिलता है, जब स्वप्नों में आपकी दिव्य झलक मिलती है। वही हँसती-मुस्कराती, प्रसन्नता की प्रदीप्ति से ओत-प्रोत दिव्य भावमूर्ति। वही चिर-परिचित वात्सल्य का भावभरा अंदाज। वही स्नेहमय आश्वासन, वही प्रेम छलकाते शब्द। जगने पर लगता है कि अरे माँ तो अपने एकदम आस-पास है। बस वह तो केवल चर्मचक्षुओं से ओझल हुई है। उसकी सूक्ष्म चेतना तो विराट्-विस्तार लिए आँचल की तरह हम सब पर एक साथ छाया कर रही है। संकट में, आपत्ति में, मुसीबत-परेशानी में जब कभी प्राण पुकारते हैं, सर्वशक्तिमयी अपनी समस्त शक्तियों के साथ आकर उपस्थित हो जाती है। माता के स्मरण मात्र से क्रूर काल के बढ़ते कदम भी पीछे वापस होने के लिए मजबूर हो जाते हैं। सच है माँ महाकाली के शिशुओं के सामने बेचारा काल करेगा भी तो क्या? उसके लिए तो जगदंबा की एक हुंकार ही पर्याप्त है। इस सत्य का अनुभव हम बच्चों ने अपने इस छोटे से जीवन में अनेकों बार किया है।

सारी कामनाओं को पूरा करने वाली हे कामेश्वरी माँ! आपने हम बच्चों की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति की है। हम में से जिसने जो चाहा, उसे आपने वही दिया है। आपके वरदानों को नित्यप्रति अपने जीवन में अनुभव करने वाले हम सभी जनों को यह अनुभूतिजन्य विश्वास हो चला है कि जैसे हमारे लिए अब कुछ भी पाना असंभव नहीं रहा। हम जो भी इच्छा करेंगे, हमारी माँ हमें वही देगी। अपने इसी विश्वास के बल पर हे माता! हम आपसे सिर्फ एक अंतिम याचना कर रहे हैं कि हमें अब किसी और की नहीं, बस आपकी और सिर्फ आपकी चाहत है। हम केवल और केवल आपको चाहते हैं। आपके सिवा अब हमें और कुछ भी नहीं चाहिए। हमारे बिलखते हुए हृदय और आँसू भरी आँखों पर दृष्टि डालकर अब हमें अपनी गोद में उठा लो। संसार के भीषण अरण्य में भटकते हुए हे माता! अब हमारा तन-मन पूरी तरह से तार-तार हो गया है। वेदना से जीवन का अणु-अणु व्यथित है। हे वात्सल्यमयी! ऐसे में सिर्फ आपकी गोद ही हमें त्राण दे सकती है। हे भावमयी भगवती! हम अतीत और आगत के अपने समस्त अपराधों के लिए आपसे क्षमा-प्रार्थना करते हुए बस अपने लिए आपकी गोद की याचना करते हैं। साथ ही जीवन की शेष साँसों को पूरी तरह आप पर निछावर करने का संकल्प लेते हैं। ☆

रामकृष्ण परमहंस की माता वृद्धावस्था में कालीघाट पर रहने लगीं। रानी रासमणि के दामाद ने उनके लिए गुजारे का प्रबंध करना चाहा, तो माता ने कहा, रोज सबेरे गंगा स्नान करके काली माँ का प्रसाद लेती हूँ। मेरे लिए यही सब कुछ है। बहुत आग्रह पर उन्होंने कुल दो पैसे का एक पान मँगाकर उनका आग्रह पूरा कर दिया। यह सुन वे बोल पड़े, हाँ माँ, यदि ये त्याग न होता, तो परमहंस देव कैसे जन्मते!

मातृवाणी (उत्तरार्द्ध)

गुरुसत्ता के महाप्रयाण के बाद मातृसत्ता का संदेश

(गतांक से आगे)

प्रस्तुत मातृवाणी अगस्त २००२ की 'अखण्ड ज्योति' में प्रकाशित अमृतवाणी का उत्तरार्द्ध है। इसमें परमवंदनीया माताजी के द्वारा अपनी आराध्य सत्ता के महाप्रयाण के ठीक दो सप्ताह बाद १६-६-९० को एक प्रेरक उद्बोधन के साथ कार्यकर्त्ताओं के लिए एक अभिभावक-संगठक के माध्यम से कहे गए निर्देश हैं। किसी को भी 'गायत्री परिवार' के विकास का इतिहास समझने में ये दो अंक बड़े सहायक होंगे। पढ़ें विगत अंक की तीनों योगों–उपासना, साधना एवं आराधना के बाद की चर्चा।

प्रभाव सिद्धांतों का पड़ेगा

बेटे, अगर सिद्धांतों को हमने अपने जीवन में उतार लिया है, तो फिर चाहे तुम सब छोटे-छोटे से क्यों नहीं हो, तुम्हारा प्रभाव पड़ेगा। गाँधी जी छोटे से थे, जरा से थे, लेकिन उनका प्रभाव कितना जबरदस्त था। पहले नहीं था! पहले तो एक मुवक्किल ने टाई पकड़ ली थी कि तुमसे बहस नहीं होती, तो लाओ हमारे पैसे और फिर .... फिर क्या हुआ! बड़े से बड़ा व्यक्ति भी उनके आगे झुकता हुआ चला गया। उनकी एक आवाज पर लोगों ने घर छोड़ दिए, फाँसी के फंदे पर लटक गए और सारे देश को आजाद कराने के लिए कटिबद्ध हो गए। कब प्रभाव पड़ता है? प्रभाव तब पड़ता है, जब हम अपने जीवन को उसके लायक बना लेते हैं। प्रभाव पड़ेगा? हाँ बेटे, बिलकुल पड़ेगा। मैं चाहती हूँ कि हमारा प्रत्येक कार्यकर्त्ता इसी तरीके से बनता हुआ, निखरता हुआ, सँभलता हुआ चला जाए। तुम लोग तो इतने बैठे हो, खचाखच हॉल भर गया है। इसमें लगभग मेरे ख्याल से तीन सौ-साढ़े तीन सौ लोग तो बैठे ही होंगे। थोड़े बहुत कम-ज्यादा होंगे। इतने लोग कि वहाँ जीने तक बैठे हैं। इतनी बड़ी फौज है हमारे पास।

बेटे, हम बड़े सौभाग्यशाली हैं कि हमारे पास इतने सारे कार्यकर्त्ता हैं। औरों के पास कहाँ हैं? दो-दो, पाँच-पाँच हैं। फिर भी वे इतने काम कर गुजरते हैं। हम तो जाने कहाँ-कहाँ की छलाँग लगाएँगे, देखते जाइए। हम अगले दिनों सारे विश्व को हिलाकर रख देंगे। हमें अपना साहस यों ही रखना चाहिए, फिर तो सारे विश्व को हम मथकर रख देंगे। कौन रखेगा हिम्मत? रखेंगे तो वे ही, पर साहस तुम्हारा काम करेगा और बेटे, धक्का मैं भी दूँगी तुम्हें। आगे-आगे चलना तुम्हें पड़ेगा और तुम्हारी पीठ पर हाथ मैं रखूँगी, इसमें दो राय नहीं है। मैं इसी तरीके से तुम्हें छाती से लगाए रखूँगी। तुम्हें कोई भी अभाव नहीं व्यापेगा। मैं तुम्हें सँभालती भी आई हूँ। बहुत दिनों से उन्होंने यह कार्य मेरे हाथ में दे ही रखा था, तो अब मैं पीछे कदम थोड़े ही हटाऊँगी। नहीं, अब ये कदम आगे-ही-आगे चलेंगे, चाहे जो भी परिस्थितियाँ आएँ। वैसे परिस्थितियाँ कोई खराब नहीं हैं।

अगर आप ये कहें कि गुरुजी के बाद क्या होगा? बेटे, गुरुजी का शरीर ही तो चला गया, लेकिन आत्मा तो उनकी यहीं विद्यमान है। मेरे पास भी है और सारे शांतिकुंज में भी विद्यमान है। आप जैसे पहले रहते थे, वैसे ही अब रहेंगे। क्यों साहब, माताजी जब आप नहीं रहेंगी, तो फिर हमारा क्या होगा? बेटे, आपसे हमारा वायदा है कि आपके लिए कोई घाटा होने वाला नहीं है। न तो पहनने का और न खाने का, कोई भी घाटा होने वाला नहीं है। घाटा होगा तो केवल आपकी संकीर्णता का होगा। संकीर्ण आप रहेंगे, बुजदिल आप रहेंगे, कायर रहेंगे और जो आपका पहले संकल्प था, उस संकल्प को अगर आप तोड़ेंगे, तो कहीं के नहीं रहेंगे, दो कौड़ी के हो जाएँगे। जब हमें इसी मिट्टी में मिलना है, इसी में रहना है, इसी में मरना है, इसी में खपना है, तो अपना मनोबल बनाए रखना चाहिए। आप के लिए बेटे, हम इतना छोड़ जाएँगे और इतना वे छोड़ भी गए हैं कि आपका पेट पालन होता रहेगा।

भिखारी मत बनना, देवता बनना

बेटे, हमारा एक भी कार्यकर्त्ता भिखारी नहीं है, फिर से सुन लो। हमारा कार्यकर्त्ता त्यागी और तपस्वी की लाइन में आता है। भिखारी की लाइन में नहीं आता। हमें उन लोगों से नफरत है, जो हमारे बच्चों को भिखारी के रूप में देखें अथवा हमारे बच्चों की मनोभूमि में ऐसी बात पैदा हो, जो कि छोटे-छोटे उपहारों से उनका मनोबल गिरा दे। धिक्कार है ऐसे लोगों को और धिक्कार है ऐसी मनोभूमि को। कुछ दिन पहले लंदन की एक महिला मेरे पास आई और बोली, माताजी, मैं चाहती हूँ कि यहाँ सबको अमुक चीज बाँट दूँ। मैंने कहा, देवी नमस्कार है तेरे लिए। तू हमारे बच्चों का मनोबल मत गिरा। जो देना होगा अपने बच्चों को हम देंगे। हमने उन्हें सादगी सिखाई है। हमारे बच्चे भिखारी नहीं हैं। हमारे पास होगा तो देंगे अन्यथा हम नमक-रोटी खिलाएँगे। हमें नहीं चाहिए तेरा साग और नहीं चाहिए तेरी मेवा-मिठाई। तू ले जा और वहाँ कहीं देकर आ जहाँ कोढ़ी बैठ होंगे। तू इसे कोढ़ियों को, भिखारियों को बाँट आना।

नहीं साहब, और आश्रमों में तो यही होता है कि वहाँ जो सेठ जी आते हैं, सो कुछ-न-कुछ बाँटते हैं। पीछे-पीछे जैसे कुत्ता लगा फिरता है न मिठाई देखकर, इसी तरह से पीछे-पीछे लोग लगे रहते हैं, उनका जयकारे बोलते हैं। नहीं बेटी तू वहीं कहीं दे आना आश्रमों में, पर यहाँ तू मेरे बच्चों को गिराने तो मत आया कर। यहाँ मेरे बच्चों का मनोबल तो मत गिराए। मैं आप से भी निवेदन करती हूँ कि आप कभी स्वार्थपरता में, कभी लालच में मत फँसना। बेटे, कई बार हमारी मनोभूमि विचलित हो जाती है, पर सँभालो विचलित मत होने दो उसे। कई बार कुछ ऐसी चीजें देखकर के मन में लुभावनापन आ जाता है। आप ऐसा मत होने देना, नहीं तो हम दूसरों की आँखों में गिर जाएँगे। जो भगवान ने हमें दिया है, उसी में हम अपना संतोष व्यक्त करेंगे। बेटे, आप इसी तरीके से रहना।

सूक्ष्म सत्ता ही सतत मार्गदर्शन करेगी

आगे आने वाले समय में, तीन महीने रह गए हैं। अब आपके पुरुषार्थ में, आपकी भावनाओं में ऐसी उमंग आनी चाहिए, ऐसी उमंग आनी चाहिए जैसी कि माताजी को आ रही है। गुरुजी कहाँ गए हैं! कहीं नहीं गए, हमारे अंदर हैं। शरीर में जब तक थे, तो तुम कब मिलते थे बताना जरा? कौन मिलता था रोज-रोज? कोई नहीं मिलता था। दूर से दर्शन हो जाते थे। तीन साल से तो दूर से भी उनके दर्शन नहीं हुए। फिर क्या आप शरीर को ही महत्त्व देंगे? शरीर को महत्त्व नहीं देंगे—उनकी दिव्य चेतना को महत्त्व देंगे, जो हमारी रग-रग में समायी हुई है। जो हमारा मार्गदर्शन करती है, जो हमें प्रेरणा देती है और आगे चलने के लिए जो हमारा पथ बनाती है। हमको साहस देती है, हमको बल देती है।

बेटे, यही बात मुझे आज तुमसे कहनी थी और ये कहना था कि साक्षात् मुझे देख जाइए जो कि आज पंद्रह दिन हो रहे हैं। इस बीच में भी मैंने गायत्री जयंती से लेकर और परसों बुधवार तक अपने आप को किस तरह सँभाला, मैं विचलित नहीं हुई। आँखों में आँसू जरूर आए, विह्वल भी हुई, लेकिन कोई भी कार्य मैंने नहीं छोड़ा कि कोई यह कह दे कि भाई साहब, माताजी ऐसी हो गई हैं कि बोल भी नहीं सकीं। बेटे, ठीक एक घंटा बोलकर आई हूँ। वैसे चालीस-पैंतालीस मिनट ही बोलती थी, लेकिन उस रोज मैं एक घंटा बोलकर आई और अभी भी मुझे पौन घंटा हो रहा है, जबकि दो-सवा दो घंटे वहाँ बैठकर लोगों से मिलकर आई हूँ। जरा इस बुढ़ापे में ख्याल तो रखो, ध्यान तो दो कि क्या हालत हो रही होगी शरीर की। यहाँ सारे दिन भीड़ होती रहती है फिर शरीर का कचूमर निकलेगा कि नहीं! निकलने दो, लेकिन मेरे अंदर हिम्मत है, इसमें दो राय नहीं है। मैंने जो वायदा किया है, वह मैं अब निभाकर के दिखाऊँगी।

बेटे, आप लोगों ने भी जो वायदा किया था गुरुजी से, उसे आप भी निभाइए। आप भी अपने संकल्पबल को ठीक कीजिए और अपने चिंतन को, चरित्र को ठीक कीजिए। जो भी कुचिंतन आ रहा हो, उसको भी साफ कीजिए। हमारे सब बच्चे हमको बहुत प्रिय हैं। हम किसी को हटाना नहीं चाहते, किसी को भगाना नहीं चाहते, लेकिन गड़बड़ी होगी तो बेटे, उस सड़े टमाटर को हम फेंक भी देंगे, इसमें दो राय नहीं है। चाहे वह हमारा कितना ही विरोधी क्यों न हो जाए। हमें इसकी चिंता कुछ नहीं है। हमें तो उनका बनाया हुआ यह वंश आगे फैलाना है, इसे मजबूत बनाना है और विश्वव्यापी बनाना है। इसका विश्वविस्तार करना है। इस विश्वविस्तार में आपकी क्या क्या भूमिका होनी चाहिए। इसके लिए आप तैयार हो जाइए। बस यही बात मुझे कहनी थी। इन्हीं शब्दों के साथ अपनी बात समाप्त करती हूँ।

ॐ शांति।

◆

संपादकीय

हम संतानों के संकल्प-चरणों में अनुरक्ति की भावभरी कामना

माँ! हम सब संतानों का संकल्प हमारी भावनाओं का सजल उद्रेक है, जो आपकी यादों के सघन होते ही बरबस उमड़ पड़ा है। हम सबको यह तन-मन-जीवन देने वाली आप ही हैं। हममें से हर एक के जीवन में यदि कहीं कोई उपलब्धियाँ नजर आती हैं, तो वे सबकी सब आपके आशीषों का ही सुफल है। आपके द्वारा पाए गए अनुदानों को थोड़े-बहुत अंशों में आप पर निछावर करने में कुछ खास बड़ाई नहीं है। इस सचाई को हम सभी जानते हैं, पर आपकी सेवा करने की चाहत मन-अंत:करण में इतनी बलवती हो उठी है कि आपके लिए संकल्पित होने से अपने आपको किसी भी तरह से रोक नहीं पा रहे हैं। हालाँकि यह संकल्प आपकी कुछ विशेष सेवा करने में तो क्या आपका थोड़ा बहुत ऋण चुकाने में भी अक्षम है। फिर भी ऐसा करने में आपके बालक होने का जो अहसास मिलता है, उसमें हमारे हृदय को प्रगाढ़ आनंद की अनुभूति मिलती है। इस अनुभूति की व्याख्या कर पाने में विश्व की सभी भाषाओं के शब्दकोश मिलकर भी अक्षम हैं।

इस छोटे से जीवन में जो कुछ देखा-सुना है, उसमें से कुछ दृश्यों ने मन को बड़ी गहराई तक छुआ है। ऐसा ही एक दृश्य उभरता है कि एक ग्रामीण अंचल में एक माता चौके में खाना पका रही है। उसके इर्द-गिर्द खेलते हुए छोटे-छोटे बच्चे मनों में अपनी माँ को खुश करने की चाहत सँजोये हैं। उनकी माँ जानती है कि उसके ये बच्चे इतने छोटे हैं कि कोई विशेष काम नहीं कर सकते। फिर भी उनका मन रखने के लिए वह उनसे कभी चिमटा-सँड़ासी, कटोरी-गिलास जैसा कोई छोटा-मोटा बरतन माँग लेती है और कभी कोई दूसरी छोटी-सी चीज इधर से उधर रखने को कहती है। बच्चों के ऐसे करने में माता के श्रम में कोई खास अंतर नहीं पड़ता। उसे जो और जितना करना है, वह उतना ही करती है। कभी-कभी तो उलटे बच्चों की उलट-पुलट से उसके कई काम और बढ़ जाते हैं, परंतु अपनी माता के प्रति उमड़ते हुए प्यार को छलकाते हुए छोटे बच्चे जब अपने नन्हे कदमों से चलकर छोटे-छोटे हाथों से कोई हल्की-फुल्की चीज माँ को सौंपते हैं, तो उनकी उस खुशी का वर्णन करना किसी भी लेखक या कवि के बूते का नहीं होता। बच्चों की यह खुशी देखकर माता भी परम प्रसन्न हो उठती है।

बस माँ! हम सब के संकल्प में समायी भावना भी कुछ ऐसी है। जिस मिशन को स्वयं आप महाशक्ति विश्वमाता संचालित कर रही हैं, उसमें भला कब! कहाँ!! क्या और कैसे कोई कमी पड़ेगी!!! जिसकी जड़ों में युगावतार परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अनंत तप की समूची ऊर्जा उँड़ेल रखी हैं, उसके विकास में भला क्यों किसी तरह के व्यवधान आएँगे? माता भगवती महाकाली और पिता भगवान् महाकाल के संरक्षण में सुरक्षित-संरक्षित इस मिशन को वक्रदृष्टि से देखने की हिम्मत सामान्य मनुष्य तो क्या शनि, राहु, केतु जैसी वक्री और क्रूर कही जाने वाली शक्तियाँ भी नहीं कर सकतीं। इस समस्त सचाई को जानते हुए भी हम सब तो बस अपनी आकुल-व्याकुल भावनाओं को आपको अर्पित करना चाहते हैं।

हममें से हर एक को याद है कि आप अपने जीवनकाल में कहा करती थीं कि यह समूचा मिशन आपका और परमपूज्य गुरुदेव का शरीर है। आपने कहा था कि जब हम लोग (आप और गुरुदेव) न रहेंगे, तो इस मिशन के व्यापक विस्तार में हमें देखा और अनुभव किया जा सकता है। हम सबके सम्मिलित संकल्पों में यही अनुभूति निहित है। आपके जीवनकाल में हममें से अनेकों को आपके निकट रहने का अवसर नहीं मिला है। हममें से बहुतेरे चाहकर भी आपकी कोई निजी सेवा नहीं कर पाए हैं। बस उसी कमी को हम सब इस दैवी मिशन की सेवा करके पूरा करना चाहते हैं। इसके लिए हम सब जो धन, श्रम एवं मनोयोग लगाएँगे, उससे हमें आपकी निजी सेवा करने का सुख मिलेगा। अपने विगलित हृदयों से हम सब याचना करते हैं, करुणामयी माँ! हमारी इन सेवाओं को इसी रूप में स्वीकार करिएगा।

आपके हम सब पुत्र-पुत्रियों में कितनी योग्यता है, मालूम नहीं, पर हमारी इतनी योग्यता तो सुनिश्चित है ही कि हम सब जो हैं, जैसे हैं, आपके और केवल आपके हैं। हम सबके सम्मिलित संकल्प इसी मूल भावना की

भूमि पर अंकुरित हुए हैं। हममें से हर एक को पता है कि आप सर्वान्तर्यामी हैं। हमारे हृदयों की प्रेरक शक्ति हैं। बिना कुछ भी कहे, बताए या जताए आप सभी कुछ जानने में, अनुभव करने में समर्थ हैं। फिर भी आपकी भावनाओं की तृप्ति के लिए आपको साक्षी मानकर, आपके सामने हम सब निम्न सत्यों के परिपालन हेतु संकल्पित होते हैं-

- *हम सब सदा से आपके हैं और मन-वाणी, कर्म और संपूर्ण अंत:करण से सदा ही आपके बने रहेंगे।*
- *हे दिव्य जननी! हम सब आपके दिव्य बालक-बालिकाएँ बनने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे। अपने मन, वचन और कर्म से ऐसा कोई काम न होने देंगे, जो आपकी आन-बान और शान के अनुकूल न हो।*
- *आप हमारी माँ हैं और हम सब आपकी संतानें। हम अपना पारस्परिक जीवन इन्हीं भावनाओं के अनुरूप जिएँगे। किसी के प्रति भी कोई कलुषित विचार अथवा ईर्ष्या-द्वेष को स्थान न देंगे। यदि किसी से भूलवश कोई गलती हो भी गई, तो भी उसे आपका स्मरण करते हुए प्रीति भाव से क्षमा करेंगे।*
- *इस संपूर्ण मिशन को आपके दिव्य शरीर के रूप में अनुभव करेंगे। इसके प्रति सदा ही पुण्य भाव रखते हुए अपने धन-श्रम एवं प्रतिभा को यथाशक्ति अर्पित करते रहेंगे।*

बस माता! हमारे ये चार संकल्प हम सबके पुरुषार्थ चतुष्ट्य के प्रतीक हैं। इस चतुर्विध पुरुषार्थ का एकमात्र उद्देश्य आपके कृपापूर्ण सान्निध्य को पाना है। एक बार एक कार्यकर्त्ता के यह पूछने पर कि माताजी क्या आप हमसे पूरी तरह से परिचित हैं? उत्तर में आपने हँसते हुए कहा था, ''बेटा! मैं तेरी रग-रग से वाकिफ हूँ। मैं यह भी जानती हूँ कि तू पैदा होने से पहले कहाँ-किस स्थिति में था। आगे अभी क्या-क्या नादानियाँ और शैतानियाँ करेगा और फिर इस शरीर के बाद कहाँ जाएगा? इस पर उसने तपाक से पूछा, कहाँ जाऊँगा माताजी? 'और कहाँ जाएगा? घूम-फिरकर मेरे ही पास-मेरी ही गोद में तो आएगा।' इसके बाद कुछ देर चुप रहकर आप बोली थीं कि इस मिशन से जुड़े हुए तुम सब लोगों को मैंने ही जन्म दिया है। अपनी ओर इंगित करते हुए आपने बताया था कि इस स्थूल देह की तो सीमा है, इसीलिए मैंने तुम सब लोगों को अलग-अलग घरों में पैदा किया है, पर तुम सबकी असली माँ मैं ही हूँ।''

''जैसे-जैसे तुम लोग बड़े होते जाते हो, मैं तुम्हें अपने पास बुला लेती हूँ। अभी तुम लोग आए हो, आगे मेरे और बेटे-बेटियाँ आएँगे। तुम लोगों ने मुझे इस रूप में देख लिया, हो सकता है वे लोग न देख पाएँ। पर इससे क्या उन सबकी माँ भी तो मैं ही हूँ। मैंने ही सबको जन्म दिया है और अंत में सभी को मेरे ही पास आना है। मेरी ही गोद में, मेरे ही दिव्य धाम में।''

हे माता! आपकी वाणी के अनुरूप हमारे सभी संकल्पों का लक्ष्य भी यही है। हम जब तक जीवित रहें, इस मिशन को आपका दिव्य स्वरूप मानकर इसकी सेवा करते रहें और जब हमारी देह पंचतत्त्वों में विलीन हो, तो हमारी अंतर्चेतना आपमें विलीन हो जाए। बिना किसी भटकाव के आपकी ओर बढ़ते रहे-चलते रहे-चलते रहे, हमें ऐसी शक्ति-भक्ति और प्रगाढ़ अनुरक्ति दो हे माँ! अंत में आपके पावन स्मरण के साथ आपको कोटि-कोटि नमन और अपना आंतरिक समर्पण।

⁂

ॐ श्री भगवतीदेव्यर्पणमस्तु!

माँ ने कहा, बच्चे अब तुम समझदार हो गए हो, स्नान कर लिया करो और प्रतिदिन तुलसी के इस वृक्ष में जल भी चढ़ाया करो। तुलसी-उपासना की हमारी परंपरा पुरखों से चली आ रही है।

बच्चे ने तर्क किया, माँ तुम कितनी भोली हो, इतना भी नहीं जानतीं कि यह तो पेड़ है? पेड़ों की भी कहीं पूजा की जाती है। इसमें समय व्यर्थ खोने से क्या लाभ है?

लाभ है मुन्ने, श्रद्धा कभी निरर्थक नहीं जाती। हमारे जीवन में जो विकास और बौद्धिकता है, उसका आधार श्रद्धा ही है। श्रद्धा छोटी उपासना से विकसित होती है और अंत में जीवन को महान बना देती है, इसलिए यह भाव भी निर्मूल नहीं।

तब से विनोबा भावे जी ने प्रतिदिन तुलसी को जल देना शुरू कर दिया। माँ की शिक्षा कितनी सत्य निकली, इसका प्रमाण अब सबके सामने है।

जीवन जीने के कलात्मक प्रयासों की परिणति

'आर्ट ऑफ लिविंग' या जीवन जीने की कला आज एक बहुप्रचारित तथ्य है। इसकी व्याख्या-विवेचना के लिए इन दिनों विश्वभर में नित्य-प्रति अनेकों व्याख्यान-मालाएँ आयोजित होती हैं। दुनियाभर के लेखक एवं प्रकाशक इस विषय पर प्रतिमास बड़ी संख्या में पुस्तकें लिखते और प्रकाशित करते हैं। जनसामान्य में भी इस विषय पर सुनने या पढ़ने की लालसा बढ़ी है। ये सब जीवन के प्रति बढ़ती हुई जिज्ञासा एवं बढ़ रही समझ के शुभ संकेत हैं। 'आर्ट ऑफ लिविंग' के बारे में इन दिनों जो कुछ भी सत्प्रयास हो रहे हैं, वे सभी इस बात पर जोर देते हैं कि जीवन को अनगढ़ या बेतुके ढंग से जीने की बजाय कलात्मक रीति से जिया जाना चाहिए।

इस तत्त्वदर्शन का आधारभूत सत्य मनुष्य जीवन स्वयं है, जो अखिल विश्व ब्रह्मांड को रचने वाले अप्रतिम कलाकार परमेश्वर की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति है। प्रभु ने अपनी कला की प्रत्येक सूक्ष्मता एवं समूचे सौंदर्य को इसमें समाहित किया है। तभी तो विश्व के सभी प्रज्ञावानों ने एक स्वर से इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य जीवन से श्रेष्ठ, सुंदर तथा अनोखी संभावनाओं से पूर्ण संरचना अन्य कुछ भी नहीं है। '**न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं किंचित्**' के व्यास वचन विभिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं में एक लय से गाए गए हैं। इतना ही नहीं, धरती के हर भाग में जीवन की श्रेष्ठता, सुंदरता एवं अपूर्व संभावनाओं को प्रकट करने के लिए शोध-अन्वेषण भी होते रहते हैं।

धर्म एवं संस्कृति इन्हीं शोध-अनुसंधानों का सार-निष्कर्ष है। यह जीवन जीने के कलात्मक प्रयासों का प्रमाण है। हिमालय की गहन उपत्यिकाओं में स्वरित हुए वेदमंत्र हों या फिर कुरान की आयतें अथवा बाइबिल के वचन, सभी का उद्देश्य जीवन के श्रेष्ठ एवं सुंदर तत्त्वों के साथ उसकी संभावनाओं को प्रकट करना रहा है। प्रत्येक धर्म एवं संस्कृति के विकास का उद्देश्य अपने स्थान-विशेष की परिस्थितियों के अनुरूप जीवन जीने की कला का शिक्षण रहा है। हर एक धर्म के प्रवर्तक एवं उसकी संस्कृति के संवाहक महापुरुषों ने अपना जीवन इसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य के लिए समर्पित किया है। जीवन को कलात्मक रीति से जीना सिखाने के लिए प्रत्येक धर्म में अपनी परिस्थिति एवं परिवेश के अनुरूप कई तरह के प्रयोगों एवं तकनीकों का भी विकास हुआ, परंतु धीरे-धीरे यह क्रम शिथिल पड़ता गया। वैज्ञानिक अभिवृत्ति के अभाव में 'धर्म' शब्द परंपरा एवं रूढ़ियों का पोषक बनकर रह गया। इसी तरह 'संस्कृति' सुसंस्कारिता से पूर्ण परिष्कृत के स्थान पर मात्र कुछ ललित कलाओं तक सिमटकर रह गई।

ऐसे में पुरातन नव-अन्वेषण युग की सामयिक माँग बन गया है। आर्ट ऑफ लिविंग इसी सामयिक माँग की पूर्ति है। इसे धर्म के सनातन तत्त्व का नव जन्म भी कहा जा सकता है। विश्व भर में फैले इसके व्याख्याकार इसे अनेकों तरह से परिभाषित करते हैं। एफ. बी. बेकर के अनुसार, 'यह जीवन की संभावनाओं का जागरण है।' एम. आर. बारोनी इसे जीवन की अंतर्निहित शक्तियों के विकास के रूप में परिभाषित करते हैं। एस. कोभान के शब्दों में, 'यह मन:स्थिति की परिस्थिति पर विजय है।' सी. मारकुस कूपर इसे सफलता के राजमार्ग के रूप में परिभाषित करते हैं। 'द सेवन हैबिट्स ऑफ हाइली इफेक्टिव पीपुल' नामक विख्यात ग्रंथ के रचनाकार स्टीफेन आर. कोवी इसे जीवन के रूपांतरण के सशक्त पाठ के रूप में निरूपित करते हैं।

इन विविध परिभाषाओं की विविधरूपता के बावजूद इसमें निहित सत्य एक ही है, जीवन की श्रेष्ठता, सुंदरता

के साथ इसकी उच्चतम संभावनाओं को प्रकट करना। वेदमंत्र, उपनिषदों की श्रुतियाँ, षड्दर्शन के विविध सूत्र इसी को पाने के विविध उपाय सुझाते हैं। इन उपायों को यदि कुछ बिंदुओं में समावेशित या समाहित किया जाए, तो इनमें से प्रथम बिंदु होगा, अपने जीवन के वर्तमान स्वरूप का साक्षात्कार। सामान्यक्रम में लोग आत्मतत्त्व के साक्षात्कार की बातों को कहते व सुनते हुए मोहक कल्पनाओं में खोए रहते हैं। ऐसे लोगों में बहुसंख्यक अपने जीवन के वर्तमान सत्य से या तो विमुख होते हैं अथवा फिर अनजान होते हैं।

'अपने जीवन के वर्तमान स्वरूप का साक्षात्कार' आर्ट ऑफ लिविंग या जीवन जीने की कला का प्रारंभिक बिंदु है। इसका अर्थ यह है कि हम जो हैं, जैसे हैं, उसे उसी रूप में जानें, अनुभव करें। अपनी कमियों-कमजोरियों को जानने के साथ अपनी संभावनाओं को पहचानें। यह काम आसान दिखता हुआ भी आसान नहीं है। इसके लिए नित्यप्रति नियमित अभ्यास की आवश्यकता है। सामान्य तौर पर हममें से प्रायः सभी एक गहरी आत्मवंचना में जीने के आदी हो गए हैं। हमारे लिए सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह हो गया है कि हम दूसरों की दृष्टि में क्या हैं? जबकि महत्त्वपूर्ण यह है कि हम स्वयं की दृष्टि में क्या हैं? अपने द्वारा अपने को देखना नितांत आवश्यक है। उसके बाद ही जीवन साधना की किसी वास्तविक दिशा में कदम उठाए जा सकते हैं।

इस क्रम में दूसरा महत्त्वपूर्ण बिंदु है, संकल्पवान जीवन। जे.डी. फिशर के अनुसार, संकल्पवान जीवन के बारे में प्रायः लोग भ्रमित रहते हैं, क्योंकि वे संकल्प को हठ या जिद का पर्याय मान लेते हैं, जबकि संकल्प विवेकपूर्वक अपनाई गई चारित्रिक दृढ़ता है। मनीषी फिशर के अनुसार, संकल्प का उपयोग दोषों के त्याग एवं गुणों के संवर्द्धन के लिए किया जाना चाहिए। लंबे समय के प्रयासों से अपने आप को जानकर 'आर्ट ऑफ लिविंग' के अभ्यासी को अपनी कमियों-कमजोरियों एवं अपनी उच्चतम संभावनाओं की अलग-अलग सूची बना लेनी चाहिए। इस सूची का अनुसरण करके प्रति सप्ताह किसी एक कमी-कमजोरी को दूर करने एवं किसी एक संभावना को जाग्रत् करने का संकल्प लेना चाहिए।

संकल्पवान जीवन के लिए अनुशासन को फिशर महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार संकल्प एवं अनुशासन एक ही सत्य के दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। अनुशासित हुए बिना संकल्पवान नहीं बना जा सकता। इसी तरह संकल्प के बिना अनुशासन का ठीक-ठीक पालन संभव नहीं है। जे. डी. फिशर का कहना है कि संकल्प एवं अनुशासन के ठीक-ठीक प्रयोग से जीवन की अंतर्निहित क्षमताएँ जाग्रत् होने लगती हैं, अनेकों उच्चतम संभावनाओं का अंकुरण एवं पल्लवन होने लगता है।

इस भाव दशा में जीने की कला के अगले बिंदु का प्रारंभ होता है। यह बिंदु है—स्वयं की क्षमताओं का स्वार्थरहित होकर उच्चतर उद्देश्यों के लिए नियोजन। इसका सही-सही अनुपालन होने पर जीवन का रूपांतरण घटित होता है। क्षुद्रताएँ अपने आप ही व्यापकताओं में बदल जाती हैं। स्व में विराट् की अनुभूति होने लगती है। ज्यों-ज्यों हम अपनी क्षमताओं को श्रेष्ठ एवं सर्वहित के कार्यों में नियोजित करने लगते हैं, शांति एवं संतोष की मात्रा भी बढ़ती जाती है। जीवन के सार्थक होने की सच्ची अनुभूति जन्म लेने लगती है। जीने की इसी कलात्मक शैली में जीवन के श्रेष्ठ एवं सुंदर तत्त्व प्रकट होते हैं। अंतर्निहित क्षमताएँ एवं संभावनाएँ अपने संपूर्ण सौंदर्य के साथ अभिव्यक्त होती हैं। परमेश्वर की श्रेष्ठतम संरचना मानव जीवन में सर्वोत्तम कलात्मकता प्रकट होती है। ○

एक साधु की कुटिया थी। एक राहगीर ने पूछा, आपके गाँव के लोग कैसे हैं? साधु ने उलटकर पूछा, तुम्हारे गाँव के कैसे हैं? राहगीर ने कहा, बहुत बुरे। साधु ने कहा, हमारे गाँव के और भी बुरे हैं।

थोड़ी देर में एक और राहगीर आया। उसने भी वही प्रश्न किया। साधु ने उससे भी उलटकर पूछा, तुम्हारे गाँव के कैसे हैं? राहगीर ने कहा, बहुत अच्छे।

अब साधु का जवाब था, बिलकुल सज्जन।

कुटिया में बैठे एक आदमी ने साधु से दुहरे उत्तर का कारण पूछा—आपने दो राहगीरों से दो तरह की बातें क्यों कहीं ?

साधु ने कहा, अपना दृष्टिकोण ही अन्यत्र दीखता है। इन राहगीरों का जैसा दृष्टिकोण है, गाँव के लोग भी उसी तरह दीखेंगे।

राष्ट्रीय जीवन के उत्कर्ष की विधा—यज्ञ विज्ञान

'ॐ अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्।' (ऋ-१/१/१) में अग्निदेव की स्तुति के साथ यज्ञ का जिक्र भारतवर्ष में यज्ञ का प्राचीनतम ऐतिहासिक-साहित्यिक साक्ष्य है। यह इस तथ्य का भी स्पष्ट प्रमाण है कि प्रारंभिक वैदिक काल के आने तक भारतवासी न केवल यज्ञ की विधा से सुपरिचित हो चुके थे, बल्कि इसका गहन मर्म भी समझ चुके थे। वेदों में सबसे अधिक मंत्रों की संख्या अग्नि एवं यज्ञ के संदर्भ में है, जो इस युग के चतुर्दिक विकास एवं लोकप्रियता की परिचायक है। यहाँ यह तथ्य भी उभरकर सामने आता है कि यज्ञ के बीज भारत में चिरप्राचीन प्राक्ऐतिहासिक युग में छिपे हुए हैं, अन्यथा इनका प्रस्फुटन एवं विकास प्रारंभिक वैदिक युग में देखने को न मिल पाता।

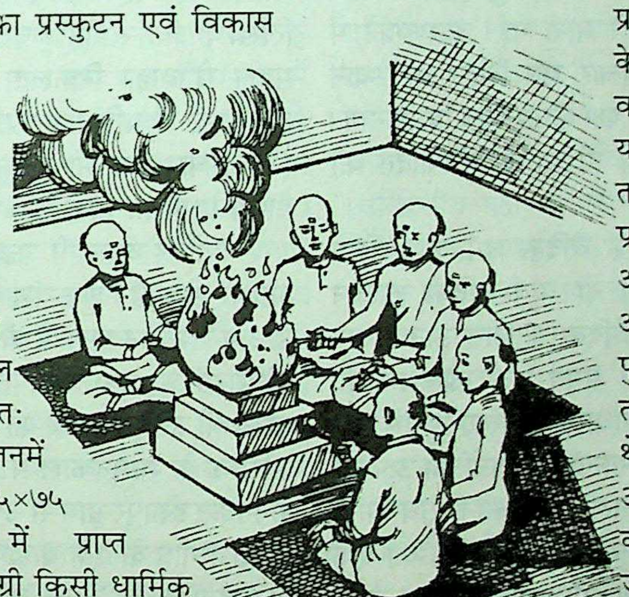

सिंधु घाटी की सभ्यता से प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेष इस सत्य को पुष्ट करते हैं। कालीबंगा, लोथल, बनवाली एवं राखीगढ़ी के उत्खननों से प्राप्त अग्निवेदियाँ इसका प्रबल प्रमाण हैं। ये वेदियाँ वस्तुतः मिट्टी के बने गड्ढे हैं, जिनमें प्रत्येक का आकार लगभग ७५×७५ सेंटीमीटर है। कालीबंगा में प्राप्त अग्निवेदियाँ एवं समस्त सामग्री किसी धार्मिक या याज्ञिक अनुष्ठान के संकेत देती हैं। लोथल में आयताकार एवं वृत्ताकार अग्निवेदियाँ मिली हैं। जिनका उपयोग डॉ. सांकलिया के अनुसार मूलतः पारिवारिक अनुष्ठानों के लिए किया जाता था। इसी तरह प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता वाकणकर को लुप्त सरस्वती नदी शोध अभियान के दौरान सरस्वती नदी के किनारे हड़प्पाकालीन स्थलों से अग्निवेदियों के प्रमाण मिले हैं।

इस तरह सिंधु-सरस्वती सभ्यता के प्राक्ऐतिहासिक काल में हम यज्ञ के स्पष्ट प्रमाण पाते हैं। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारत के चिर अतीत से प्रारंभ यज्ञ की विधा, वैदिक युग तक जनजीवन का अभिन्न अंग बन गई थी। इसे वैदिक संस्कृति का मेरुदंड भी कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। वस्तुतः यह इसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का केंद्रीय तत्त्व था। वैदिक युग में यज्ञ की महत्ता सर्वोपरि थी, जो व्यक्ति को पावन, पवित्र और कर्मठ बनाती थी।

उत्तर वैदिक काल में कर्मकांडों एवं यज्ञों का महत्त्व इतना बढ़ गया कि पुरोहितों ने प्रत्येक कार्य को यज्ञ से जोड़ दिया। सभी मनुष्यों के लिए याज्ञिक क्रिया को श्रेष्ठ बताया गया। इतना ही नहीं, यह अनुभूति भी बताई गई कि यज्ञ के द्वारा देवता भी वश में हो जाते हैं तथा प्रसन्न होकर मनुष्यों को मनवांछित वर प्रदान करते हैं। इस प्रकार यज्ञ मनुष्य तथा देवताओं के बीच संबंध स्थापित करने वाला माध्यम बन गया। क्रमशः यज्ञों की संख्या बढ़ती चली गई तथा अनेक याज्ञिक प्रथाएँ प्रचलित हो गईं, यथा-अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमास्य, अग्निष्टोम, षोडशी, अतिरात्र, पुरुषमेध, पंचमहायज्ञ आदि तत्कालीन समाज में प्रचलित थे तथा वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध जैसे यज्ञों को संपन्न करना प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता था।

इनमें अग्निहोत्र प्रातः-सायं दोनों समय किया जाता था, जिसमें दूध, दही और घृत की आहुति दी जाती थी। पापों के क्षय और स्वर्ग की ओर ले जाने वाले इस पुण्य कर्म को सर्वोत्तम नाव के रूप में स्वीकार किया गया। पंचमहायज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य था। इसके अंतर्गत भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ सम्मिलित थे। राजसूय यज्ञ राजाओं द्वारा संपन्न किए जाते थे। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार, राजसूय यज्ञ किए बिना राजा राजपद पर सिंहासनारूढ़ नहीं हो सकता था। अश्वमेध यज्ञ का आयोजन सार्वभौम राजा ही कर सकता था। उत्तर वैदिक

काल में परीक्षित के वंशज जनमेजय का वर्णन आता है, जिसने आसंदीवन में अश्वमेध यज्ञ किया था।

उत्तर वैदिक काल तक यज्ञीय कर्मकांड बहुत वृहद् एवं जटिल रूप ले चुका था। ऋग्वेद में जहाँ सात प्रकार के पुरोहितों का उल्लेख है, ब्राह्मणकाल तक यह संख्या १७ हो गई थी। सांख्यायन, आश्वलायन, कात्यायन श्रौतसूत्रों में पुरोहितों के विभिन्न रूपों का जो विवरण उपलब्ध होता है, वह यज्ञ तथा कर्मकांडों की अधिक जटिलता का प्रतीक है। इस दौरान यज्ञ बहुआयामी एवं पर्याप्त विकसित हो गया था, साथ ही यज्ञ का दार्शनिक पक्ष भी बढ़ गया था।

उस समय यज्ञीय कर्मकांड के स्थान पर इसके दार्शनिक पक्ष और आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्रधानता दी जाने लगी। यह स्वीकार किया गया कि ज्ञान के अभाव में परलोक की प्राप्ति न तो यज्ञ से संभव है और न तप से, बल्कि यज्ञ में निहित धार्मिक भावना से ही संभव है। अतः ज्ञान की महत्ता सर्वोपरि मानी गई। आरण्यकों में यज्ञ से संबंधित दार्शनिक विचार और चिंतन को स्थान मिला तथा उसके कर्मकांडीय पक्ष को स्थगित किया गया। उपनिषदों में भी ज्ञानपक्ष की ही महत्ता प्रतिपादित की गई।

महाकाव्यों के समय तक वैदिक धर्म का स्वरूप बिलकुल परिवर्तित हो चुका था। पूर्व वैदिक कालीन कर्मकांड प्रधान तथा उत्तर वैदिक कालीन ज्ञान प्रधान धर्मों का समन्वय करके इस समय एक लोकधर्म का विकास किया गया, जो सर्वसाधारण के लिए सुलभ था। रामायण और महाभारत में अनेक वैदिक यज्ञों का उल्लेख मिलता है, परंतु यज्ञों में होने वाली हिंसा का विरोध किया गया है। यज्ञ को इस समय मुख्यतः चित्त शुद्धि का एक साधन मात्र स्वीकार किया गया। साधारणतः गृहस्थ पंच-महायज्ञ करता था, जिसमें पितरों, देवों, ब्राह्मणों, अतिथियों और भूतों को संतुष्ट किया जाता था। तत्कालीन युग में अश्वमेध और राजसूय यज्ञ भी प्रचलित थे। राम ने त्रेता में अश्वमेध यज्ञ किया था तथा युधिष्ठिर ने द्वापर में राजसूय यज्ञ। इस युग में नाग यज्ञ भी हुआ था, जिसे महाराज जनमेजय ने संपन्न किया था।

आध्यात्मिक उत्कर्ष के साधन के रूप में संध्या के साथ अग्निहोत्र समाज में प्रचलित थे। प्राचीन ऋषियों को दीर्घायु, यश, बुद्धि और आध्यात्मिक बल इसी के माध्यम से प्राप्त हुए थे। रामायण से विदित होता है कि राम और लक्ष्मण संध्या और अग्निहोत्र दोनों करते थे। युधिष्ठिर भी संध्या और अग्निहोत्र दोनों किया करते थे। इस तरह महाकाव्य काल में यज्ञ परिष्कृत रूप में प्रचलित था व समाज में इसका धार्मिक कृत्य के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

कालक्रम में कुछ समय के लिए यज्ञ की यह पावनता क्षीण होती गई व छठी सदी ई. पू. तक यज्ञ कर्मकांड पुनः अंधविश्वास, जटिलता एवं हिंसा के अभिशाप से ग्रस्त हो गया था। फलस्वरूप इनके विरोध में एक बौद्धिक एवं धार्मिक क्रांति का सूत्रपात हुआ, जिसका स्वाभाविक परिणाम था—बौद्ध एवं जैन धर्म का उद्भव। इनके प्रसार के कारण वैदिक मान्यताओं को प्रबल आघात लगा, किंतु चौथी शताब्दी ई. पू. मौर्य वंश की स्थापना हुई। इस समय वैदिक यज्ञों का पुनः प्रचार होने लगा था। वैदिक कालीन पौरोहित्य प्रथा की लुप्त प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हो रही थी। अंतर केवल इतना था कि कर्मकांड अब पूर्व की भाँति जटिल नहीं रह गए थे। मैगस्थनीज ने एक स्थान पर लिखा है कि सम्राट् (चंद्रगुप्त) जिन चार अवसरों पर महल से बाहर निकलता था, यज्ञ उनमें से एक था। अर्थशास्त्र में वर्णित राजप्रासाद के निकट बनी यज्ञशाला (इज्यास्थान) से भी तत्कालीन ब्राह्मण धर्म में यज्ञों की महत्ता प्रमाणित होती है।

मौर्योत्तर काल में यज्ञ पुनः अपने उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता है। शुंग वंश के प्रथम शासक पुष्यमित्र शुंग ने अपने शासनकाल में वैदिक धर्म की मान्यताओं एवं परंपराओं को पुनः स्थापित किया। कतिपय पुरातात्त्विक साक्ष्य भी उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि करते हैं। प्रथम अभिलेख कसिष्क के शासनकाल में चौबीसवें वर्ष में अंकित मथुरा के निकट ईशापुर ग्राम से उपलब्ध हुआ है। इसके अनुसार भारद्वाज गोत्र के एक ब्राह्मण रुद्रिल के पुत्र द्रोणिल ने ९२ रात्रि तक चलने वाला एक यज्ञ संपन्न किया था। एक अन्य यूप स्तंभ लेख में सप्तसोम यज्ञ से संबंधित सात यूपों के निर्माण का उल्लेख है। भूतपूर्व उदयपुर राज्य के भंदासा नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख में ६० दिन तक चलने वाले यज्ञ का उल्लेख है। इसी प्रकार भूतपूर्व कोटा राज्य के बड़वा नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख में त्रिरात्र यज्ञ संपन्न किए जाने का उल्लेख है। इन अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि शुंग-सातवाहन काल में वैदिक यज्ञों को संपन्न करने की परंपरा पुनः प्रारंभ हो गई थी। पुष्यमित्र शुंग ने स्वयं अपने साम्राज्य को सुस्थिर करने के लिए अश्वमेध यज्ञ किया था। अयोध्या अभिलेख में पुष्यमित्र को दो अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करने वाला

(द्विरश्वमेधयाजिनः) कहा गया है। डॉ. आर. भंडारकर के शब्दों में, वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का श्रेय पुष्यमित्र को देना चाहिए। एक राजसूय तथा दो अश्वमेध यज्ञ करने वाले गौतमी पुत्र शतकर्णी आदि सातवाहन राजाओं ने भी इसमें सहयोग किया।

इस तरह शुंग एवं सातवाहन शासकों द्वारा किए गए यज्ञ वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के सूचक हैं। यह विकास क्रमशः बढ़ते हुए अपने चरम में गुप्तकाल में दिखाई पड़ता है। हालाँकि गुप्तकाल के उदय से पहले भी भारशिवों ने गंगा के तट पर दशाश्वमेध घाट (वाराणसी) पर दस अश्वमेध यज्ञ करके वैदिक धर्म को लोकप्रिय बनाया था, किंतु इसे राजसंरक्षण प्रदान करने व उसे राज्यधर्म बनाने का कार्य गुप्तवंश के लिए ही रह गया था। यह कार्य गुप्त सम्राटों ने बखूबी किया। इस युग में १६ संस्कार प्रचलित थे, जिनमें यज्ञ प्रक्रिया अभिन्न रूप से जुड़ी थी। इस युग में समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त द्वारा अश्वमेध यज्ञ को संपन्न करने के प्रमाण मिलते हैं। समुद्रगुप्त ने दिग्विजय के पश्चात् अश्वमेध यज्ञ किया था। इस यज्ञ की स्मृति में प्रचलित की गई मुद्राओं में एक तरफ यज्ञ यूप में बँधे घोड़े का चित्र है, दूसरी तरफ समुद्रगुप्त की महारानी हाथ में चँवर लिए हुए हैं तथा अश्वमेध यज्ञ कर्म अंकित है। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा यज्ञ संपन्न करने का प्रमाण काशी के दक्षिण में स्थित नगवा नामक ग्राम से उपलब्ध एक घोड़े की मूर्ति है, जिस पर चंद्रगुप्त लिखा है। इसी तरह अपने पितामह तथा पिता की तरह कुमारगुप्त ने भी अश्वमेध यज्ञ संपन्न किया। इसको प्रमाणित करता एक सिक्का मिला है, जिसमें एक ओर घोड़े पर जीन कसी है तथा दूसरी ओर 'अश्वमेध महेंद्र' लिखा है। इस संदर्भ में डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी का यह कथन सही प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में वैदिक धर्म अश्वमेध यज्ञ, वाजपेय अथवा पंचमहायज्ञ आदि यज्ञों के संपादन द्वारा सुरक्षित था।

इस तरह हमें प्राचीन भारत में (प्रारंभ से लेकर बारहवीं सदी तक) यज्ञों की महान परंपरा का अविरल प्रवाह गतिमान दृष्टिगोचर होता है, जिसमें कुछ मंद होने के दौर अवश्य आते हैं, किंतु यह धारा कभी लुप्त नहीं हुई, बल्कि हर बाह्य अवरोधों एवं आंतरिक विकृतियों से गुजरते हुए यह और परिष्कृत एवं प्रखर रूप में प्रकट हुई। राष्ट्र के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को यज्ञ की महान प्रक्रिया एवं इसमें अंतर्निहित उदात्त दर्शन ने सतत नूतन भव्यता दी। राष्ट्रीय जीवन का हर काल इसका साक्षी है।

राष्ट्रीय जीवन के उत्कर्ष, उत्थान एवं चतुर्दिक विकास में संजीवनी शक्ति की तरह काम करने वाली यज्ञ की विधा पर इस युग में स्वामी दयानंद एवं युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव द्वारा नूतन प्रकाश पड़ा है। इसके वैज्ञानिक एवं दार्शनिक स्वरूप को उभारने में व इसे जन-जन के बीच लोकप्रिय बनाने में इनकी भूमिका सराहनीय है। कतिपय भारतीय एवं विदेशी विद्वान भी इसके वैज्ञानिक एवं चिकित्सीय पक्ष पर अध्ययन कर रहे हैं, किंतु इसके ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं पुरातात्त्विक पक्षों को उजागर करता शोधपरक अध्ययन कार्य अभी तक नहीं हुआ है। इस पर विराट् एवं व्यापक शोधकार्य देवसंस्कृति विश्वविद्यालय में किए जाने के प्रयास हो रहे हैं, ताकि प्राचीन भारत के इतिहास एवं संस्कृति के मेरुदंड यज्ञ का समग्र स्वरूप विश्वमानव के सामने उजागर हो सके। ◆

फ्रांस और इटली में युद्ध चल रहा था। इटली की एक छोटी नदी थी। गहरी बहुत, चौड़ी कम। ग्रामीणों ने उसे पार करने के लिए खजूर के लट्ठे लगा रखे थे।

फ्रांसीसी फौजें इसी पुल को पार कर इटली के भीतरी क्षेत्रों में प्रवेश करने की योजना बना रही थीं। ग्रामीणों को पता चला, तो उनने लट्ठे काटकर नदी में गिरा देने का निश्चय किया। वे कुल्हाड़ी से काटने लगे।

खबर फ्रांसीसी फौजों को लगी, तो वे काटना रोकने के लिए गोली चलाने लगीं। ग्रामीण बहादुर थे। उनने हार नहीं मानी। काटना जारी रखा। गोलियों से छलनी होकर जब तक काटने वाला नदी में गिर नहीं जाता, तब तक वह रुकता नहीं।

इस प्रकार तीन सौ किसान मौत के घाट उतर गए। जवान सभी समाप्त हो गए। एक बुड्ढा बचा। उसने वहाँ पहुँचकर स्थिति देखी, तो पाया कि पुल के लट्ठे अधिकांश में कट चुके थे। जुड़ा हुआ स्थान थोड़ा-सा ही था। बुड्ढा दौड़ता हुआ गया और उछलकर उस जुड़े हुए स्थान पर कूद पड़ा। झटके से लट्ठा टूटकर नदी में गिर गया, साथ ही बुड्ढा भी बह गया।

गाँव के प्रायः सभी वयस्क इस प्रयास में खप गए, पर पुल टूटने से फ्रांसीसी सेना का हमला रुक गया और आजादी बच गई।

साक्षी भाव में स्थित अंगुलिमाल मुक्त हो गया

प्राय: सभी ने चौंककर सारिपुत्र की ओर देखा। भगवान तथागत की अनुपस्थिति में उन्होंने ही यह समाचार भिक्षु संघ को सुनाया था कि भिक्षु अंगुलिमाल नहीं रहे। सुनकर पहले तो एकबारगी किसी को विश्वास ही नहीं हुआ। कोई यकायक यह सोच ही नहीं पाया कि खतरनाक खूँख्वार दस्यु अंगुलिमाल इस तरह मर भी सकता है, पर सत्यवक्ता एवं सत्यद्रष्टा सारिपुत्र की बातों में अविश्वास का कोई कारण भी न था। धीरे-धीरे कुछ क्षणों में भिक्षुओं को विश्वास हुआ और उनमें से कइयों ने आश्वस्ति की साँस ली, क्योंकि ये अंगुलिमाल के भिक्षु संघ में रहने से स्वयं को असुरक्षित महसूस करते थे। उन्हें लगता था कि हत्यारा अंगुलिमाल पता नहीं कब अपनी आदत दुहरा बैठे, पर भगवान तथागत के भय से वे कुछ कह नहीं पाते थे। आज इन्होंने जब उसके मरने की खबर सुनी, तो बड़े चैन की साँस ली।

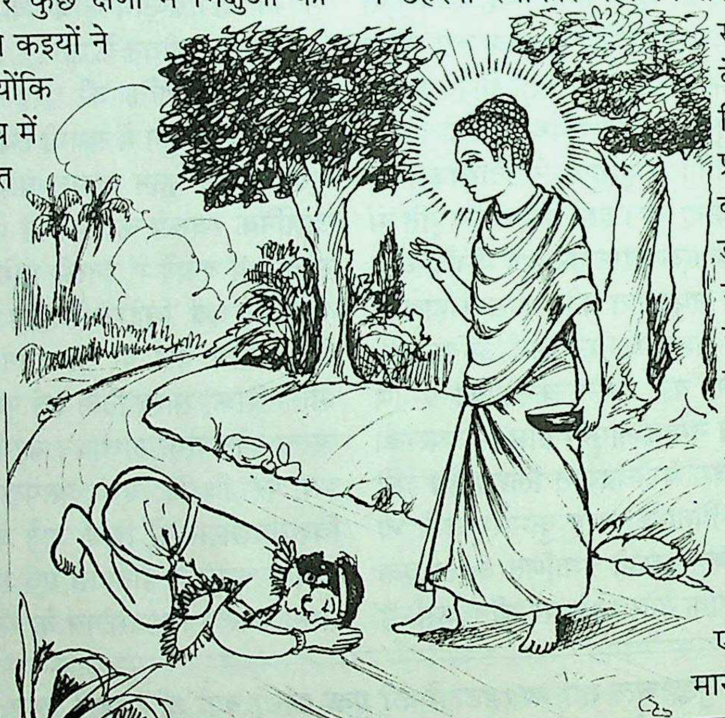

भिक्षु संघ के कुछ नए सदस्यों ने सारिपुत्र से आग्रह किया कि वह उन्हें अंगुलिमाल के भिक्षु बनने की गाथा सुनाएँ। उनकी यह जिज्ञासा स्वाभाविक थी कि इतना बड़ा हत्यारा अचानक भिक्षु कैसे बन गया। सारिपुत्र उन सभी के मनोभावों को समझते हुए बोले, हाँ अंगुलिमाल हत्यारा था। उसने शपथ ली थी कि एक हजार लोगों को मारकर उनकी उँगलियों की माला बनाकर पहनूँगा, इसीलिए जनसामान्य ने उसे अंगुलिमाल के नाम से पुकारना शुरू कर दिया। जिस समय भगवान तथागत उससे मिले, उस समय तक वह नौ सौ निन्यानबे व्यक्तियों को मार चुका था और हजारवें की प्रतीक्षा कर रहा था। उसके इस अद्भुत प्रण की चर्चा सब ओर थी। जिस बीहड़ वन में अंगुलिमाल रहता था, लोगों ने उस ओर जाना ही छोड़ दिया था। यहाँ तक कि उसकी माँ भी उस ओर जाने में घबराती थी, क्योंकि उसे मालूम था कि उसका बेटा अपनी माँ को भी मारकर अपना प्रण पूरा कर सकता है।

भगवान उन दिनों कोसल देश के उस भयानक वन के पास ही ठहरे थे। कोसल नरेश प्रसेनजित के काफी आग्रह-अनुरोध के बावजूद उन्होंने राजप्रासाद या राजोद्यान में ठहरना स्वीकार नहीं किया। महाराज प्रसेनजित के साथ उन्होंने जनसामान्य के अनुरोध को भी ठुकरा दिया। यही नहीं एक दिन प्रात: भगवान उस भयावह वन की ओर जाने वाली डगर पर चल दिए। जिसने उन्हें उस ओर जाते देखा, वही चीख पड़ा, आप उधर न जाएँ भंते, वह आदमी बहुत खतरनाक है। वह कतई विचार नहीं करेगा कि आप कौन हैं, उसको तो बस जैसे-तैसे एक आदमी को मारकर एक हजार व्यक्तियों को मारने का अपना प्रण पूरा करना है। जरा सोचिए, जिस ओर जाने में महाराज प्रसेनजित एवं उनकी फौजें घबराती हैं, उस ओर भला आप क्यों जा रहे हैं ?

भगवान मुसकराकर बोले, मुझे सारी बातें पता है, इसीलिए तो मैं उधर जा रहा हूँ, ताकि उस बेचारे की सुदीर्घ प्रतीक्षा समाप्त हो सके। यह कहते हुए तथागत उस भयावह वन में प्रविष्ट हो गए। उनके पाँवों के आगे बढ़ने से वन में पड़े सूखे पत्ते चरमरा उठे। किसी के आने की आहट पाकर अंगुलिमाल ने अपने फरसे पर धार रखनी शुरू कर दी। हालाँकि अचरज उसे भी था, क्योंकि सालों से उधर कोई आया ही नहीं था और आज अचानक.....। आखिर यह कौन नासमझ है, जो चारों दिशाओं में फैले

उसके प्रण की खबर को जानकर भी इधर मरने के लिए आ रहा है। उसने खड़े होकर थोड़ा गौर से देखा, गैरिक वस्त्र, हाथ में कमंडलु, तो बेचारा कोई संन्यासी है। आज गया काम से। लगता है, इसे नागरिकों ने कुछ बताया नहीं।

न जाने क्यों जैसे-जैसे भगवान उसके समीप बढ़ते गए, वैसे-वैसे उसके अंत:करण के भाव बदलने लगे। उसमें दया का अंकुरण होने लगा। अपने इस अचानक भाव-परिवर्तन पर उसे भारी हैरानी हुई। मन-ही-मन उसने सोचा, अरे अंगुलिमाल आज अचानक तुझे यह क्या हो रहा है? तू तो अपनी सगी माँ को भी काटने के लिए तत्पर था। फिर इससे तो कोई तेरी जान-पहचान भी नहीं है। लेकिन कुछ घटित हो रहा था। बुद्धत्व की तरंगों से भगवान तथागत की शांति, सुगंध से वह घिरने लगा था।

शास्ता जब थोड़ी दूर रह गए, तो वह चिल्लाया, अरे पागल संन्यासी, तू किधर बढ़ा चला आ रहा है, देखता नहीं मेरे गले में यह अँगुलियों की माला पड़ी है। मेरा यह चमकदार फरसा तुझे दिखाई नहीं देता? अरे नासमझ मैं अंगुलिमाल हूँ। मेरे प्रण की बात तूने नहीं सुनी। मैं नौ सौ निन्यानबे को मार चुका हूँ। एक को मारना बाकी है। क्यों तू अपनी जान का दुश्मन बना है। भाग जा मूर्ख। मैं तुझे न जाने क्यों एक मौका दे रहा हूँ। अभी भी तेरे पास समय है, तू आगे की ओर चलना छोड़ दे, पीछे लौट जा।

भगवान हँसे। उनकी खिलखिलाहट से वनप्रांतर में एक अपूर्ण मधुरिमा बिखर गई। वह बोले, अरे पागल, तुझे इतना भी नहीं पता कि सालोसाल पहले मैंने चलना बंद कर दिया है। जब से मेरा मन ठहरा, तब से मेरी जिंदगी की सारी भाग-दौड़ बंद हो गई है। मैं तो स्थिर हूँ, अब तू स्थिर हो। भगवान के इन बोधपूर्ण वचनों को अंगुलिमाल समझ न सका। अपनी हैरानी में उसने सोचा यह आदमी जरूर पागल है। जो चलते हुए भी कह रहा है कि स्थिर है, जबकि मैं यहाँ स्थिर बैठा फरसे पर धार रख रहा हूँ, तो मुझसे कह रहा है कि तुम ठहर जाओ। अपनी सोच की कड़ियों को जोड़ते हुए अंगुलिमाल ने मन-ही-मन कहा कि यह आदमी कितना ही पागल क्यों न हो, पर इसमें एक दैवी आभा जरूर है।

अभी वह कुछ और सोच पाता कि भगवान बुद्ध उसके एकदम पास पहुँच गए। अब तक किसी ने भी उसके इस तरह एकदम पास पहुँचने की हिम्मत न की थी। इस विचित्र आदमी की हिम्मत से वह थोड़ा हड़बड़ा गया। अपने को थोड़ा सँभालते हुए वह बोला, तुम बहुत जिद्दी हो। मुझे शंका हो रही है कि कहीं तुम गौतम बुद्ध तो नहीं हो, क्योंकि जिन लोगों की मैंने हत्याएँ की हैं, उनमें से कई मुझसे यह कह रहे थे कि तुम्हें तो केवल गौतम बुद्ध ही बदल सकते हैं, पर तुम यह भलीप्रकार जान लो कि मैं भी कम जिद्दी नहीं हूँ। मेरा भी नाम अंगुलिमाल है। यह अच्छी तरह से जान लो कि आज तुम्हारी जिंदगी का आखिरी दिन है।

भगवान सम्यक् संबुद्ध उसकी इन बातों पर मुसकराए और बोले, तू आराम से अपने फरसे पर धार रख ले, तब तक मैं यहीं बैठा हूँ। यह कहते हुए वह एक शिला पर बैठ गए। अंगुलिमाल अपने फरसे पर धार रखने लगा। परंतु न जाने क्यों, आज उसके हृदय में प्रेम का ज्वार उफन रहा था। उसके अस्तित्व से करुणा की तरंगें फूटने लगी थीं। उसके अंत:करण में दया का अंकुरण होने लगा था। अपनी इस भावदशा पर वह बड़ा हैरान था, परंतु उसने अपनी यह हैरानी छिपाते हुए कहा कि तुम कैसे आदमी हो, आखिर तुम मरने के लिए इतना तत्पर क्यों हो। तुमने आत्महत्या करने की आखिर क्यों सोची है?

उसकी सभी बातों के प्रत्युत्तर में भगवान के मुख पर बड़ी ही निर्विकार शांति थी। उनके अधरों पर एक सौम्य स्मित था। इतनी देर में अंगुलिमाल का धार रखने का काम भी पूरा हो गया। उसने कहा, अरे एक बार फिर सोच ले, अभी भी मैं तुझे जीवन दे सकता हूँ। भगवान ने उसके इस कथन पर बड़े ही करुणापूर्ण स्वर में कहा, यही तो मैं तुझे सिखाने आया हूँ पुत्र! मारने में न तो कोई कला है और न कोई पुरुषार्थ। यह तो कोई भी कर सकता है। वत्स! असली कला तो जीवन देने और जीवन जीने में है। पता नहीं क्या था महाकारुणिक बुद्ध के इन वचनों में! अंगुलिमाल फरसा एक ओर फेंककर उनके चरणों में गिर गया। वह दस्यु से भिक्षु हो गया।

आज जब वह गाँव में भिक्षा माँगने गया, तो गाँव के लोगों ने दरवाजे बंद कर लिए। लोग अपनी-अपनी छतों पर पत्थर इकट्ठे करके चढ़ गए और जब वह बीच सड़क पर था, तो लोगों ने उसे पत्थर मारे। वह शांतमना भिक्षु बीच सड़क पर खड़ा रहा, उसकी देह पर लोगों के पत्थर गिरते रहे। उसकी देह के प्रत्येक अंग से लहू की धारें बहती रहीं। उसके होंठों से यह मंत्र ध्वनि निकलती रही, बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि। इन महामंत्रों का गान करते हुए वह धरती पर गिर गया।

खबर मिलते ही शास्ता स्वयं उसके पास गए। आखिरी क्षण थे उसके जीवन के। भगवान ने उसका सिर अपनी

गोद में रखकर पूछा, पुत्र! क्या भाव हैं इस समय तेरे मन में। उसने आँसू भरी आँखों से कहा, भगवन् ! आपका ही शिष्य हूँ। आपकी ही बात मानकर मैं ठहर गया हूँ। अब ठहरे हुए का क्या भाव प्रभु! मेरा मन तो जैसे अब रहा ही नहीं भगवान। वह तो जैसे देखता रहा, एकदम साक्षी की तरह। यही तो आपने समझाया था कि पुत्र! तू देखने वाला द्रष्टा है, तू साक्षी है। जैसा आपने बताया, समझाया, मैं वैसा ही हो गया। मेरे मन-अंत:करण में किसी के प्रति कोई राग-रोष नहीं। मुझमें कहीं भी कोई द्वेष-क्लेश नहीं। मेरे आराध्य! आप सर्वांतरयामी हैं। आप ही बताएँ कि मैं आपका शिष्य एवं अनुरक्त भक्त बन सका या नहीं।

अंगुलिमाल के इन भक्तिपूर्ण वचनों को सुनकर भगवान के नेत्र भर आए। वह भरे हृदय से बोले, "पुत्र! तू ब्राह्मण होकर देह त्याग कर रहा है। तू ब्रह्मज्ञान को उपलब्ध हो गया है। तू अर्हत हो गया पुत्र! तू अरिहंत हो गया।" भगवान के इन वचनों को सुनकर अंगुलिमाल ने उन्हीं की गोद में सिर रखे हुए अपनी देह का त्याग कर दिया।

सारिपुत्र भिक्षुओं को यह कथा सुना रहे थे, तभी भगवान बुद्ध धीमे कदमों से चलते हुए आ पहुँचे। सभी भिक्षुओं ने उन्हें प्रणाम किया। प्रणाम के अनंतर उनमें से कुछ भिक्षुओं ने पूछा, भंते! भिक्षु अंगुलिमाल मरने के पश्चात् कहाँ उत्पन्न होंगे? भिक्षुओं की इस जिज्ञासा के उत्तर में भगवान ने बड़े ही धीरे स्वर में कहा, भिक्षुओ! मेरा वह पुत्र परिनिवृत्त होकर परिनिर्वाण को उपलब्ध हो गया है। उसकी चेतना जन्म-मरण से पार हो गई है। अब उसका पुनरागमन नहीं होगा।

आश्चर्यचकित भिक्षुओं ने कहा, इतने मनुष्यों की हत्या करके?

हाँ भिक्षुओ, भगवान ने कहा, उसने सोए हुए अनेकों पाप किए, परंतु जगने के पश्चात् अपने पुण्यों से उन्हें नष्ट कर दिया। फिर उसने शून्य भाव में निमग्न होकर निर्वाण को प्राप्त कर लिया। यह कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही-

यस्य पापं कतं कम्मं कुसलेन पिथीयति।
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो व चंदिमा॥

'जिसका किया हुआ पाप उसके बाद में किए हुए पुण्य से ढक जाता है, वह मेघ से मुक्त चंद्रमा की भाँति इस लोक को प्रकाशित करता है।'

तथागत के वचन को सुनकर भिक्षुगण कहने लगे, भंते! अभी तो उसे भिक्षु हुए भी ज्यादा दिन नहीं हुए थे, फिर उसने इतने पुण्य कब कर डाले? बुद्ध एक हल्के से स्मित के साथ बोले, छोटा-सा पुण्य कृत्य भी यदि साक्षी भाव की समग्रता से किया जाए, तो सारे पापों को भस्म कर देता है। अंगुलिमाल को न तो भिक्षु हुए ज्यादा दिन हुए और न ही वह ज्यादा दिन जिया, परंतु जिस समय उसे सभी ग्रामवासी पत्थर मार रहे थे, उस समय वह सभी राग-द्वेष से मुक्त पूर्ण साक्षी भाव में स्थित था। इसी महापुण्य से वह निर्वाण को उपलब्ध हो गया। भिक्षुओ! कर्त्ता होना ही महापाप है और साक्षी होना ही महापुण्य है। बुद्ध के इन अपूर्व वचनों को सुनकर भिक्षुगण इन पर निदिध्यासन करने लगे।

❄

कोलकाता हाईकोर्ट के जज स्वर्गीय श्रीगुरुदास बनर्जी वायसराय के साथ कानपुर से कोलकाता के लिए यात्रा कर रहे थे। विश्वविद्यालय कमीशन संबंधी किसी आवश्यक चर्चा के लिए वायसराय ने उन्हें अपने ही डिब्बे में बुला लिया। बातचीत के मध्य भोजन का समय हुआ, तो वायसराय ने उनसे भोजन पाने का अनुरोध किया। बनर्जी साहब ने उत्तर दिया, मैं रेल में कुछ नहीं खाता। थोड़ा-सा गंगाजल रखे हुए हूँ, वही पी लेता हूँ।

वायसराय को विश्वास नहीं हुआ। इतना प्रगतिशील व्यक्ति भी धार्मिक मान्यताओं का इतनी कट्टरता के साथ पालन कर सकता है। उन्होंने कहा, तो फिर लड़के को ही भोजन ग्रहण करने के लिए कहिए। बच्चे ने भी इनकार करते हुए कहा, मेरे पास घर की बनी थोड़ी-सी मिठाई है, उसका नाश्ता कर लिया है, अन्य कोई वस्तु ग्रहण न करूँगा।

वायसराय आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने कहा, आप लोग उपवास कर रहे है, तो मैं भोजन कैसे करूँ? वायसराय की आज्ञा से गाड़ी इलाहाबाद में रोक दी गई। वहाँ बनर्जी ने पुत्र सहित त्रिवेणी स्नान किया, फिर गाड़ी आगे बढ़ी। लौटने पर वायसराय को धन्यवाद देते हुए कहा, कुछ खा-पी लेने से किसी की जाति जाती हो, इस संबंध में मेरा कोई तर्क नहीं, पर इन नियमों के पालन से आत्मसंयम और अनुशासन की शिक्षा मिलती है। हमारे धर्म और संस्कृति में जो ऐसी चीजें हैं, उनको मैंने इसीलिए हृदय से स्वीकार किया है।

एक आदर्श जीवनपद्धति की बानगी

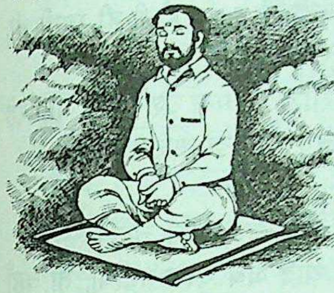

नदी-तालाब के मीठे जल वाले जलचरों को यदि खारे पानी में, समुद्र में रखा जाए, तो उनका जीना दूभर हो जाएगा। हो सकता है, वे वहाँ जीवित न रह सकें, मर जाएँ या फिर अपना सामान्य स्वभाव त्याग दें और असामान्य व्यवहार करने लगें। यह सिर्फ जलीय जीवों की ही बात नहीं है, मनुष्यों पर भी समान रूप से लागू होती है। कृत्रिम वातावरण मानवी देह के अनुकूल नहीं। इसमें वह अपना स्वाभाविक विकास खो देती है, प्रखरता-क्षमता गँवाती और ह्रास की ओर चल पड़ती है। संपूर्ण अवयवों में ऐसे ही परिणाम परिलक्षित होने लगते हैं। उनकी कुशलता कुंद पड़ती जाती है, सक्रियता मंद होने लगती है और क्षमता में विशिष्टता का लोप हो जाता है, जबकि प्राकृतिक जीवन में वे अपने सर्वोच्च विकास को अर्जित करते और अद्वितीय बनते देखे जाते हैं।

मनुष्य एक प्राकृतिक प्राणी है। प्रकृति के सान्निध्य में प्राकृतिक ढंग से रहकर वह अपनी क्षमताओं और योग्यताओं को जितना अधिक संवर्द्धित कर सकता है, उतना अप्राकृतिक जीवन शैली को अपनाकर नहीं। आज खान-पान से लेकर रहन-सहन तक में ऐसे और इतने अस्वाभाविक तरीके अपनाए जा रहे हैं, जो हमारी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक सामर्थ्य को पंगु बनाते चले जा रहे हैं। इस ओर यदि तनिक भी ध्यान दिया जा सके और आदमी अपनी दिनचर्या को सहज-सरल बनाए रख सके, तो प्रखरता और प्रतिभा, स्वस्थता और सामर्थ्य प्राप्त कर सकना कठिन नहीं रह जाता।

वनवासी शारीरिक रूप से जैसे सशक्त और मानसिक रूप से जितने सुदृढ़ होते हैं, उतना एक आम शहरी नहीं होता। उनमें प्रतिकूलता से जूझने, कष्ट-कठिनाइयों से लड़ने की शक्ति के अतिरिक्त शारीरिक सहिष्णुता और मानसिक मनोबल इतना प्रबल होता है कि वैसा विकास नगर के कृत्रिम जीवन शैली में यत्र-तत्र और यदा-कदा ही देखने को मिलता है।

इसका कारण क्या है? इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से यही ज्ञात होता है कि गाँवों से दूर शहरों में जीवन की भाग-दौड़ इतनी तीव्र होती है कि वहाँ हम अपनी नैसर्गिक दिनचर्या बनाए नहीं रख पाते और प्रकृति से दूर चले जाते हैं। परिणाम कुंठित प्रतिभा के रूप में सामने आता है। जो इस सचाई से अवगत हैं, उन्हें यह भी विदित होगा कि हमारी अपनी सत्ता में क्षमता और विशिष्टता तो है, पर वह स्वतः विकसित होने में असमर्थ होती है। जब उन्हें किसी ऐसे तत्त्व का सामीप्य मिलता है, जो किसी प्रकार उन क्षमताओं और योग्यताओं को कुरेदकर उभार सके, तो व्यक्ति असाधारण और अद्भुत बन जाता है, परंतु इस उन्नयन का श्रेय किसी और को नहीं, अपितु उस जीवन प्रणाली को दिया जाना चाहिए, जिसके जीवन में समाविष्ट न रहने पर सब कुछ सामान्य बना रहता है।

रसायन शास्त्र में 'उत्प्रेरक' नाम से रसायनों का एक समूह है। जब उन्हें किन्हीं दो रसायनों के साथ मिलाया जाता है, तो वे उनके बीच की प्रतिक्रिया को एकदम तीव्र कर देते हैं। मानवी जीवन में आदर्श जीवन पद्धति की लगभग ऐसी ही भूमिका है। जिंदगी में सम्मिलित होकर वह व्यक्ति की ऐसी कितनी ही विशेषताओं को मूर्तिमान कर देती है, जो अब तक या तो प्रच्छन्न या साधारण स्थिति में पड़ी हुई थीं। इस क्रम में जब धृति, स्मृति और बुद्धि जैसी मस्तिष्कीय क्षमताओं का उदय होता है, तो

मनुष्य अद्वितीय बुद्धिमान और ज्ञानवान बन जाता है, किंतु जब धैर्य, साहस और सहिष्णुता जैसे गुण प्रकट होते हैं, तो वे 'जीवट' प्रदान करते हैं, इसलिए यहाँ प्रयास की तुलना में अभ्यास पर अधिक ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। उल्लेखनीय है कि प्रयास-पुरुषार्थ से सामर्थ्य परिवर्द्धित तो की जा सकती है, पर वह किसी विशिष्ट जीवन प्रणाली के अभ्यास द्वारा उपार्जित प्रतिभा की अपेक्षा अधिक श्रमसाध्य होती है। उतना पराक्रम हर कोई कर भी नहीं सकता। ऐसे में प्रकृति की सन्निकटता ही क्षमता-संवर्द्धन का सरल उपाय दीखता है। इसमें दक्षता के साथ-साथ स्वस्थता भी बढ़ती है, इसलिए भी यह अधिक उपयोगी है। जो यह समीपता उपलब्ध कर पाने में असमर्थ हैं, उन नगर निवासियों के लिए प्राकृतिक जीवनक्रम अपना लेना भर ही पर्याप्त है। जल्दी शयन, प्रातः जागरण, प्रातः भ्रमण, दैनिक यज्ञ, नियमित जप, शुद्ध आचार, सात्विक आहार, श्रेष्ठ चिंतन और परोपकार की वृत्ति—इसे आदर्श जीवनपद्धति कहते हैं। इसको अपना लेने से भी आवश्यकता की काफी हद तक पूर्ति हो जाती है और वह लाभ प्राप्त हो जाता है, जो प्रकृति के मध्य रहकर प्राप्त किया जा सकता था। खोजने से ऐसे अनेकों उदाहरण मिल जाते हैं, जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि सरल, सहज और सात्विक जीवन जीने से कौशल और निपुणता बढ़ती है एवं अनेक बार व्यक्ति को अद्‌भुत बना देती है।

ऐसा ही एक दृष्टांत काशी का है। वहाँ आर्ष साहित्य के एक उद्‌भट विद्वान थे पंडित काशीनाथ। देखने में अत्यंत सरल, व्यवहार में विनम्र, पहनावे में सादगी, पर चिंतन में इतनी प्रखरता और विद्वत्ता मानो साक्षात सरस्वती ही रूप बदलकर आ उपस्थित हुई हों। उनकी दिनचर्या बहुत ही नियमित थी। वे प्रातः तीन बजे उठ जाते और दैनिक क्रिया से निवृत्त होकर प्रायः एक घंटे तक उपासना और ध्यान करते। उसके उपरांत भ्रमण के लिए निकल जाते। प्रतिदिन तीन मील की पैदल यात्रा करने के बाद यज्ञ करते, तत्पश्चात् उनका अध्यापन कार्य आरंभ होता, जिसमें वे करीब एक घंटा लगाते। ग्रंथों को पढ़ाते समय उनकी अद्‌भुत स्मरण शक्ति की झलक मिलती। छात्रों के सम्मुख पुस्तकें खुली रहतीं। वे उनका पाठ करते जाते और काशीनाथ व्याख्या। कई बार भूलवश शिष्यों से कोई शब्द छूट जाता, तो वे उसे तत्काल पकड़ लेते और बताते कि अमुक शब्द छूट गया है। उन्हें ग्रंथ-के-ग्रंथ कंठस्थ थे। वे व्याकरण और दर्शन के मर्मज्ञ माने जाते थे। 'अनुभूति प्रकाश' नामक वेदांत ग्रंथ पर उनकी एक टीका है। उस टीका के प्रत्येक श्लोक पर जिस ढंग से उनने उपनिषदों के एक-एक मंत्र को घटित किया है, वह उनके पांडित्य का प्रमाण है।

जिन दिनों की यह बात है, उन दिनों काशी आज जितनी जनसंकुल नहीं थी। सात्विक वातावरण और शुद्ध पर्यावरण वहाँ चहुँओर व्याप्त था। यत्र-तत्र प्राकृतिक छटा भी विद्यमान थी। ऐसे में काशीनाथ में दया, करुणा और सेवावृत्ति का जो विकास हुआ, वह अप्रतिम था। उनकी सहनशीलता की चर्चा तो सर्वत्र होती ही रहती थी, उसकी एक बानगी यहाँ देखने योग्य है।

एक बार वे 'अद्वैत सिद्धि' नामक दर्शन ग्रंथ पढ़ा रहे थे। पढ़ाते-पढ़ाते कहने लगे, "कुछ काटत बा हो।"

"कहाँ महाराज?"

"पिठिये में। अच्छा काटै दऽ, पाठ चले।"

पाठ समाप्त होने के बाद जब वस्त्र हटाया, तो वहाँ बिच्छू मिला, जो कई डंक मार चुका था। जिसने बर्र के डंक को झेला हो, उसे मालूम है कि बिच्छू का दंश कितना पीड़ादायक होता होगा। वह तो उससे अनेक गुना विषैला होता है। इसके बावजूद भी वे बिलकुल सहज बने रहे। इससे उनकी विलक्षण सहनशीलता का परिचय मिलता है।

ऐसे ही एक अन्य विद्वान थे, रामभवन उपाध्याय। व्याकरण के अद्वितीय पंडित होने के साथ-साथ अनेक शास्त्रों पर भी उन्हें पूर्ण अधिकार था। वे सब उन्हें मुखाग्र थे। स्मृति इतनी कुशाग्र थी कि किसी ग्रंथ के किसी अध्याय से कोई श्लोक बोलकर उससे आगे का श्लोक पूछने पर वे बिना एक क्षण रुके अगला श्लोक बता देते थे।

वे प्रायः रात्रि में दो बजे उठ जाया करते थे। स्नानादि करके संध्यावंदन एवं गायत्री जप करते, फिर हवन करने के उपरांत प्रातःकाल छह बजे क्वींस कॉलेज, काशी अध्यापन के लिए चले जाते। कॉलेज उनके निवास स्थान 'बड़ी पियरी' से लगभग तीन किमी. था। वे वहाँ चूड़ांत व्याकरण के प्राध्यापक थे और पैदल ही आया-जाया करते थे। उनकी चाल इतनी तीव्र थी कि साथ चलने वाला दूसरा व्यक्ति उनके बराबर नहीं चल पाता था।

पंडित जी एक निःस्पृह ब्राह्मण थे। अध्ययन-अध्यापन का कार्य वे प्रायः कर्तव्य-कर्म समझकर करते थे। वेतन पर उनकी दृष्टि कभी नहीं हुई। इसका एक उदाहरण उन

दिनों का है, जब वे काशी के दरभंगा संस्कृत पाठशाला में अध्यापन कार्य करते थे। उन्हें वेतन के रूप में पंद्रह रुपये मासिक मिला करते थे, पर उन रुपयों को वे कभी अपने उपयोग में नहीं लाते, उनसे किसी जरूरतमंद की सहायता कर दिया करते थे।

वे एक सरल चित्त इनसान थे। चिंतन और आचरण में आश्चर्यजनक साम्य था। जिस प्रकार उनका चिंतन श्रेष्ठ था, उसी के अनुरूप उनके व्यवहार में सात्विकता और उदात्तता थी। वे शुष्क ज्ञान को निरर्थक बताते और कहते थे कि ज्ञान की गरिमा सद् आचरण में है। जो इसका परिपालन करते और प्रकृति के अनुसार जीवनयापन करते हैं, उनमें प्रतिभाओं की कमी नहीं रहती। वे विकसित होती चली जाती हैं।

महाकाल का संदेश

परमपूज्य गुरुदेव ने जीवनभर जनकल्याण हेतु साहित्य सृजन किया, उनके तप एवं ज्ञान का निचोड़ उनके साहित्य में है। सभी लोगों तक यह ज्ञानगंगा पहुँचे, इसीलिए 'पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय' का प्रकाशन किया गया है। लाखों ने इसे पढ़कर जीवन धन्य बनाया है। हर घर में वाङ्मय की स्थापना होनी चाहिए, परिवार के लिए यह अमूल्य धरोहर एवं विरासत है।

यदि आपको भगवान ने श्री-संपन्नता दी है, तो ज्ञानदान कर पुण्य अर्जित करें। विशिष्ट अवसरों एवं पूर्वजों की स्मृति में पूज्यवर का वाङ्मय विद्यालयों, पुस्तकालयों में स्थापित कराएँ। विवाह, जन्मदिवस एवं अन्य उत्सवों पर अथवा पारितोषिक स्वरूप भी यह साहित्य अमूल्य भेंट सिद्ध होगा। आपका यह ज्ञानदान आने वाली पीढ़ियों तक को सन्मार्ग पर चलाएगा, जो भी इसे पढ़ेगा, धन्य होगा। शास्त्रों में कहा है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ —*मनुस्मृति ४/२३३*

जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घी, इन सबके दानों में से ज्ञान का दान सबसे उत्तम है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ —*गीता ४/३३*

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि जितने भी कर्म हैं, वे सब ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। ज्ञानदान सर्वोपरि पुण्य है, शुभ कार्य है।

मानव जीवन प्रखरता और प्रतिभा का पुंज है। वह प्रकट हुए बिना रह नहीं सकता, पर अनेक बार अस्वाभाविक जीवनक्रम अपना लेने से वह आच्छादित हो जाता है और अप्रकट स्तर का बना रहता है। यदि उक्त आवरण को हटा लिया जाए, छल-कपट, द्वेष-दुर्भाव से दूर रहा जाए एवं जीवन को एकदम अकृत्रिम बना रहने दिया जाए, तो विशिष्टताएँ स्वयमेव प्रतिभासित होने लगती हैं और चरम विकास तक जा पहुँचती हैं। जहाँ बीज होगा, वहाँ वृक्ष के पनपने की संभावना निरंतर बनी रहती है। यदि उसे उचित माध्यम मिल जाए, तो वह आवरण फोड़कर बाहर निकल आता है। यह साधारण से असाधारण का प्रकटीकरण हुआ। इसकी संभाव्यता मनुष्य में भी बराबर बनी रहती है, पर हम जीवन शैली के नाम पर, प्रगति और सभ्यता के नाम पर इतनी रुकावटें खड़ी कर लेते हैं कि जो जीवन प्रवाह सहज ढंग से प्रवाहित हो रहा था, वह बाधित हो जाता है। बाधित और अवरुद्ध जीवन में सब कुछ ठप्प बना रहता है, इसलिए भारतीय मनीषी प्राकृतिक जीवन की सलाह देते हैं, जिसमें प्रकृति की समीपता के साथ-साथ जीवन की सरलता और स्वाभाविकता भी सम्मिलित हो। ऐसी जिंदगी ही सर्वांगीण विकास के अनुकूल है।

प्रकृति को माँ कहा गया है। माँ अपने बेटे को जितना सहज व सरल जीवन जीते देखना चाहती है, वह बात शायद ही किसी अन्य रिश्ते में पाई जाती हो। मनुष्य को चाहिए कि वह उसके इस मनोभाव को समझे और उसके अनुरूप आचरण करे, कृत्रिमता से दूर रहे और सब कुछ स्वाभाविक ढंग से चलने दे। देवमानव बनने का यह बहुत सरल उपाय है।

◆

प्रेतात्मा की गवाही

रात्रि की स्याह कालिमा घने बादलों एवं धुंध भरे कोहरे से मिलकर वातावरण को किंचित् रहस्यमय बना रही थी। हलकी-सी बूँदा-बाँदी और सुनसान निर्जनता इस रहस्यमयता में किसी अनजाने भय की सृष्टि कर रही थी। इस वातावरण का प्रभाव उस व्यक्ति पर भी था, जो इस समय घोड़े पर बैठा हुआ इस निर्जन क्षेत्र से गुजर रहा था। रह-रहकर उसके समूचे शरीर में एक अजीब-सी सिहरन दौड़ जाती थी। कह नहीं सकते यह सिहरन ठंढ के कारण थी अथवा भय के कारण या फिर उस पर ठंढ और भय दोनों का ही मिला-जुला असर था। सत्य जो कुछ भी हो, पर अभी उसे अपने घर पहुँचने की जल्दी थी। इसी कारण वह जब-तब घोड़े को एड़ लगाकर उसे तीव्र गति से दौड़ने के लिए प्रेरित कर रहा था।

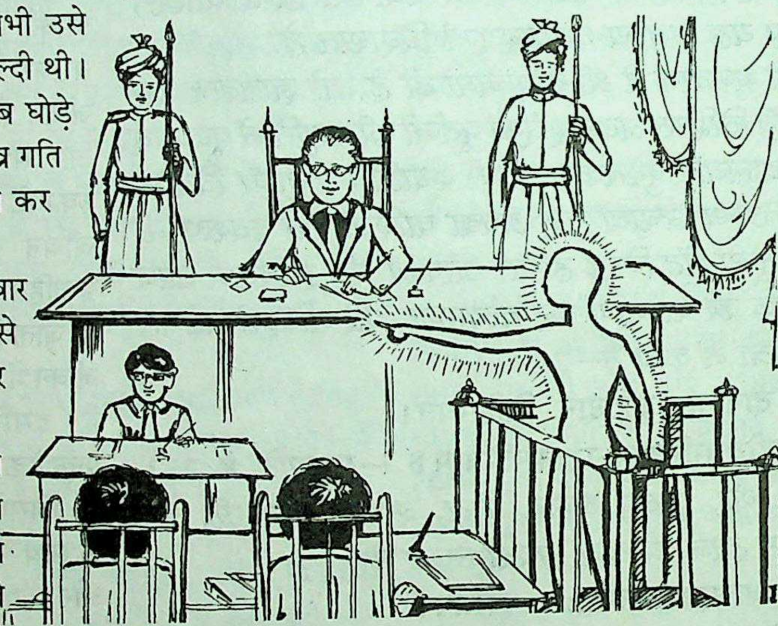

अभी उसने इस बार एड़ लगाई ही थी कि उसे ऐसा लगा, जैसे घोड़े पर ही उसके पीछे बैठे किसी अनजान व्यक्ति ने उसके कंधे पर हाथ रखा। इस अप्रत्याशित स्पर्श से तेजी से चौंकते और चिंहुकते हुए उसने सोचा कि भला यह कैसे हो सकता है? घोड़े पर तो वह अकेला बैठा है। यह किस तरह से संभव है कि कोई व्यक्ति तीव्र गति से दौड़ रहे घोड़े पर अचानक आकर उसके पीछे बैठ जाए और फिर उसके कंधे पर हाथ रख दे। घबराहट में वह कुछ ज्यादा सोच नहीं सका। बस देह में कँपकँपी-सी छूट गई और कंठ सूखने लगा। स्थिति कुछ ज्यादा बिगड़ती, इससे पहले पीछे से भर्राई हुई सी आवाज आई, परेशान होने की जरूरत नहीं है मि. टेबनर विलियम। आप मुझे अपना दोस्त ही समझें।

पर आप हैं कौन? टेबनर विलियम नाम के उस घुड़सवार ने बड़ी मुश्किल से अटकते हुए गले से पूछा। जवाब देने वाले उस अनजान व्यक्तित्व ने उसे भरसक दिलासा देते हुए कहा, देखिए आप मुझसे कतई भयभीत न होइए। कभी मेरा नाम हैडक जेम्स था। अब तो बस मैं एक प्रेतात्मा हूँ।

प्र...प्र...प्रे...ता..त्मा! हकलाते हुए टेबनर ने जैसे-तैसे इस एक शब्द को कहा। इसी के साथ ऐसा लगा कि घोड़े की लगाम उसके हाथ से छूट जाएगी। तभी पीछे बैठे हुए हैडक जेम्स ने उसे सावधान करते हुए कहा, डरिए मत मि. विलियम और घोड़े की लगाम ठीक से थामिए। मुझे अपना मित्र समझिए। मैं बस आपके पास एक काम की आशा लेकर आया हूँ। क्या काम है आपको मुझसे? विलियम ने अपने आपको थोड़ा सँभालते हुए कहा। इतनी देर में विलियम को यह बात समझ में आ चुकी थी कि यह हैडक जेम्स नाम का व्यक्ति कभी उसका परिचित हुआ करता था। शायद इसी सोच ने उसे थोड़ी आश्वस्ति दी थी।

तभी उसके कानों में हैडक जेम्स की आवाज सुनाई पड़ी, मित्र मेरी विधवा पत्नी ने दूसरा विवाह कर लिया है और उसका पति धोखाधड़ी से उसे लूट रहा है। मैं चाहता हूँ कि तुम मेरी पत्नी को सलाह दो कि वह इस धोखेबाज व्यक्ति से बचने के लिए अदालत की शरण ले और जल्दी उससे अपना पीछा छुड़ाए। यदि उसने ऐसा नहीं किया, तो यह धोखेबाज आदमी उसे पूरी तरह से बरबाद कर देगा। अपने इस कथन का उपसंहार करते हुए हैडक जेम्स ने बड़े ही करुणार्द्र स्वर में कहा, तुम तो जानते ही हो कि मैं अपने जीवनकाल में अपनी पत्नी से कितना प्रेम करता था। उसके प्रति मेरा यह प्रेम मरने के बाद भी कम

नहीं हुआ है। इस तरह उसे बरबाद होते हुए देख मेरी आत्मा बेहद कष्ट अनुभव कर रही है। एक तुम्हीं हो, जो मुझे कष्ट से मुक्त कर सकते हो।

इस अजीबोगरीब घटनाक्रम ने टेबनर विलियम को बड़ी उलझन में डाल दिया। उसे समझ में ही नहीं आया कि वह क्या करे? उधेड़-बुन के इन क्षणों में बस फादर जैरमी टेरल उसे प्रकाश किरण के रूप में नजर आए। फादर जैरमी के संत स्वभाव एवं उनके उच्चस्तरीय मानवीय गुणों से वह पिछले काफी समय से न केवल परिचित, बल्कि प्रभावित भी था। उसे लगा कि ऐसे विकट मौके पर वही कोई उचित परामर्श दे सकते हैं। यही सोचकर वह उस अँधेरी काली स्याह रात्रि में घर न जाकर सीधे चर्च गया और फादर के द्वार पर दस्तक दी।

इतनी घनी रात में, वह भी इस विकट मौसम में दी गई इस दस्तक ने फादर जैरमी को सोच में डाल दिया। इस विचित्र-सी घटना के समय कालचक्र आज की इक्कीसवीं सदी में नहीं, बल्कि सत्रहवीं सदी में घूम रहा था। उस समय तक विज्ञान ने अपने चमत्कार दिखाने शुरू नहीं किए थे। विश्व मानचित्र में आज सम्मोहक समझा जाने वाला इंग्लैंड का यह शहर लंदन उस समय विद्युत प्रकाश के सामान्य वरदान से भी वंचित था। विलियम की दस्तक की आवाज से जाग्रत् हुए फादर जैरमी ने द्वार खोलने से पहले मोमबत्ती जलाई और द्वार खोलकर धीरे से विलियम की ओर एक नजर देखकर उसे अंदर आने के लिए कहा।

फादर जैरमी के कक्ष के अंदर प्रवेश करते ही टेबनर विलियम ने एक साँस में अपनी सारी कथा कह सुनाई। कुछ ही देर पहले घटे घटनाचक्र का ब्योरा देते समय टेबनर के चेहरे पर आश्चर्य, भय एवं बदहवासी के भाव थे। फादर ने उसे सांत्वना देते हुए कहा, प्रेत उस आत्मा का नाम है, जिसका शरीर तो उससे अलग हो गया है, मगर मन अलग नहीं हुआ है। मन के लिए देह जरूरी है, क्योंकि इसके बिना मन की वासनाओं, चाहतों की पूर्ति संभव नहीं है। मन की चाहतें शरीर से ही तो तृप्त होती हैं। शरीर के अभाव में उसकी स्थिति बड़ी कष्टप्रद हो जाती है। यह कहते हुए फादर ने एक क्षण रुककर विलियम की ओर देखा। मोमबत्ती के मद्धम प्रकाश में उसके चेहरे पर भय की कालिमा साफ नजर आ रही थी।

उसकी मानसिक स्थिति को भाँपते हुए फादर जैरमी ने कहा, प्रेत अपने आप में बहुत दुःखी आत्माएँ होती हैं। तुम अभी जिस हैडक जेम्स की बात कर रहे हो, वह मरने के बाद भी पत्नी की चिंता से पीड़ित है। हो सके तो उसकी मदद करो। जैसा उसने कहा है, वैसा तुम उसकी पत्नी को बता दो। इससे जेम्स की आत्मा को थोड़ा सुकून मिलेगा। और, किसी को भी सुकून देना सच्चे ईश्वरभक्त का कर्त्तव्य है। इसी के साथ फादर ने उससे कुछ और सांत्वनाजनक बातें कहीं। जिससे उसके मन की बेचैनी शांत हुई और वह अपने घर की ओर चल पड़ा।

घर पहुँचने के बाद भी उसके काफी दिन ऊहापोह में बीते। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि कैसे और किस तरह जेम्स की पत्नी से उसके नए पति के बारे में ये बातें कहे। रोज सोच-विचार कर जेम्स की पत्नी से मिलने की सोचता, परंतु फिर मन हार जाता। इसी तरह मन की कशमकश में छह महीने बीत गए। तब फिर एक दिन हैडक जेम्स की आत्मा ने टेबनर विलियम को आ घेरा और उसे अपना वायदा याद दिलाया। विलियम ने एक बार पुनः फादर जैरमी से संपर्क किया। उन्होंने भी यही सलाह दी कि उसे जेम्स की आत्मा को सुकून पहुँचाने वाला यह कार्य करना चाहिए।

अबकी बार फादर के मशविरे को मानकर टेबनर विलियम ने जेम्स के युवा पुत्र से सारी बातें साफ-साफ कहीं। उत्तर में जेम्स के पुत्र ने कहा, मुझे आपकी बातों में सचाई की सुगंध आ रही है और उसने अपने पिता की मृतात्मा की सलाह के अनुसार सौतेले पिता डेविस पर मुकदमा कर दिया। इसके प्रत्युत्तर में डेविस ने अदालत से अपील की कि वह निर्दोष है और उसकी निर्दोषिता का

****

बापू का उस दिन मौन व्रत था। वे प्रातःकाल आश्रम के बच्चों को साथ लेकर टहलने गए।

रास्ते में एक तीन इंच लंबा सुई का टुकड़ा पड़ा दिखाई दिया। गाँधी जी ने एक छोटी लड़की से उसे उठा लेने का इशारा किया।

लड़की ने उठा तो लिया, पर उलट-पुलटकर देखने पर उसे निरर्थक पाया और आगे चलकर फेंक दिया।

शाम को मौन टूटा, तो गाँधी जी ने लड़की से वह टुकड़ा माँगा, पर वह तो उसे निरर्थक समझकर फेंक चुकी थी। गाँधी जी नाराज हुए और ढूँढ़ लाने के लिए उसे भेजा।

टुकड़ा मिल गया। उसे साफ करके गाँधी जी ने उससे सूत काता और कहा, वस्तुओं का पूरा सदुपयोग करने की आदत सभी को डालनी चाहिए, बरबादी तनिक भी न करें।

****

सबसे बड़ा सबूत यह है कि उसके खिलाफ कोई गवाह नहीं है। डेविस के इस कथन के आधार पर अदालत ने यह फरमान जारी किया कि मुकदमा दायर करने वाले पक्ष को अदालत के सामने उपयुक्त साक्ष्य उपस्थित करने होंगे अन्यथा यह मुकदमा निरस्त माना जाएगा।

इस नई स्थिति पर टेबनर एक बार फिर घबरा गया, फिर कुछ सोचकर उसने कहा, मैं इस मामले में खुद हैडक जेम्स को बुलाऊँगा और मुझे पूरा यकीन है कि हैडक निश्चित रूप से इस अदालत में उपस्थित होकर अपनी बात की सत्यता प्रमाणित करेगा। टेबनर ने जिस आत्मविश्वास से यह बात कही, उससे थोड़ी देर के लिए तो अदालत के जज और जूरी भी हतप्रभ रह गए। वहाँ उपस्थित अन्य जनों को तो चौंकना ही था। सभी को हैरानी थी कि भला एक मृत व्यक्ति किस तरह से अदालत में उपस्थित होकर गवाही देगा। डेविस भी इस स्थिति से सोच में पड़ गया, पर अभी भी वह आश्वस्त था कि भला कहीं मरे हुए लोग भी गवाही देने के लिए हाजिर होते हैं।

जज के द्वारा निर्धारित की गई तिथि पर इस अभूतपूर्व एवं विचित्र मुकदमे की कार्यवाही शुरू हुई। सारा शहर इस कार्यवाही को देखने के लिए उमड़ पड़ा। पेशकार की अनुमति से अर्दली ने हैडक जेम्स को गवाही देने के लिए आवाज लगाई। अर्दली द्वारा जेम्स को गवाही के लिए पुकारते ही जैसे समूची अदालत का वातावरण परिवर्तित हो गया। कक्ष में यकायक तेजी से बिजली की कड़क गूँज उठी और जज सहित सभी ने जज की टेबल पर एक धुँधली-सी छाया को हाथ का मुक्का मारते हुए सुना और देखा। यह दृश्य एक बार-दो बार नहीं, तीन बार दुहराया गया।

इस दृश्य से हतप्रभ और हैरान जज के मुख से अपने आप ही निकल पड़ा, भला इससे ज्यादा प्रामाणिक, भरोसेमंद व विश्वास योग्य गवाही और क्या हो सकती है ? डेविस के खिलाफ हैडक जेम्स की आत्मा की गवाही सबसे पुख्ता प्रमाण है। जज के इस कथन के पश्चात् डेविस ने भी भरी अदालत में अपने जुर्म को मान लिया। उसे अदालत के आदेश के अनुसार मुकदमे में तयशुदा राशि हैडक जेम्स की पत्नी और पुत्र को चुकानी पड़ी। यह विचित्र मुकदमा समूचे इंग्लैंड में वर्षों तक चर्चा का विषय बना रहा। फादर जैरमी टेलर की डायरी के पृष्ठों का प्रकाशन आज भी इस आध्यात्मिक सत्य को प्रमाणित करता है कि मृत्यु के बाद भी जीवन का अस्तित्व है। ❀

चित्रगुप्त अपनी पोथी के पृष्ठों को उलट रहे थे। यमदूतों द्वारा आज दो व्यक्तियों को उनके सम्मुख पेश किया गया था। यमदूतों ने प्रथम व्यक्ति का परिचय कराते हुए कहा, यह नगर सेठ है। धन की कोई कमी इनके यहाँ नहीं। खूब पैसा कमाया है और समाजहित के लिए धर्मशाला, मंदिर, कुआँ और विद्यालय जैसे अनेक निर्माण कार्यों में उसका व्यय किया है। अब दूसरे व्यक्ति की बारी थी। उसे यमदूत ने आगे बढ़ाते हुए कहा, यह व्यक्ति बहुत गरीब है। दो समय का भोजन जुटाना भी इसके लिए मुश्किल है। एक दिन जब ये भोजन कर रहे थे, एक भूखा कुत्ता इनके पास आया। इन्होंने स्वयं भोजन न कर सारी रोटियाँ कुत्ते को दे दीं। स्वयं भूखे रहकर दूसरे की क्षुधा शांत की। अब आप ही बतलाइए कि इन दोनों के लिए क्या आज्ञा है? चित्रगुप्त काफी देर तक पोथी के पृष्ठों पर आँखें गड़ाए रहे। उन्होंने बड़ी गंभीरता के साथ कहा, धनी व्यक्ति को नरक में और निर्धन व्यक्ति को स्वर्ग में भेजा जाए।

चित्रगुप्त के इस निर्णय को सुनकर यमराज और दोनों आगंतुक भी आश्चर्य में पड़ गए। चित्रगुप्त ने स्पष्टीकरण देते हुए कहा, धनी व्यक्ति ने निर्धनों और असहायों का बुरी तरह शोषण किया है। उनकी विवशताओं का दुरुपयोग किया है और उस पैसे से ऐश और आराम का जीवन व्यतीत किया। यदि बचे हुए धन का एक अंश लोकेषणा की पूर्ति हेतु व्यय कर भी दिया, तो उसमें लोकहित का कौन-सा कार्य हुआ? निर्माण कार्यों की पीछे यह भावना कार्य कर रही थी कि लोग मेरी प्रशंसा करें, मेरा यश गाएँ। गरीब ने पसीना बहाकर जो कमाई की, उस रोटी को भी समय आने पर भूखे कुत्ते के लिए छोड़ दी। यह साधन-संपन्न होता, तो न जाने कितने अभावग्रस्त लोगों की कितनी सहायता करता? पाप और पुण्य का संबंध मानवीय भावनाओं से है, क्रियाओं से नहीं। अतः मेरे द्वारा पूर्व में दिया गया निर्णय ही अंतिम है। सबके मन का समाधान हो गया।

स्वाध्याय फले तब, जब पुरुषार्थ भी साथ हो

अपवादों को यदि छोड़ दें, तो व्यक्ति में रूपांतरण की जो घटना घटती है, उसके दो ही प्रमुख माध्यम हो सकते हैं- स्वाध्याय और सत्संग। स्वाध्याय से सत्प्रेरणा मिलती है और सत्संग से सद्भावना पुष्ट होती है। जब ये आचरण में उतरती हैं, तो परिवर्तन सामने आता है, एक ऐसा परिवर्तन, जो सतत प्रवहमान रहे, तो मानव को महामानव और समाज को स्वर्ग बना देता है।

उदात्तीकरण का यह सामान्य सिद्धांत हुआ। सिद्धांत और प्रक्रिया दो भिन्न बातें हैं। सिद्धांत संभावना प्रकट करता है और उसे साकार करने की विधि प्रक्रिया है। प्रथम यदि द्वितीय में परिवर्तित न हो सके, तो थ्योरी सही होते हुए भी अभीष्ट की उपलब्धि न हो सकेगी। पुस्तक और प्रवचन हमें रास्ता दिखाते हैं और संभावना व्यक्त करते हैं कि यदि व्यक्ति को अच्छा वातावरण मिले, तो वह उत्कृष्ट बन सकता है। यह सिद्धांत मात्र है। इसे क्रिया रूप में बदले बिना परिवर्तन शक्य नहीं। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, तो रूपांतरण घटित होता है, फलस्वरूप व्यक्ति एवं समाज का अभिनव रूप सामने आता है।

पद्मपुराण
रामायण
महाभारत
श्रीमद्भगवद्
-गीता-
ऋग्वेद
ब्रह्मांडपुराण
अथर्ववेद
कठोपनिषद

इसी आशय का मंतव्य प्रकट करते हुए जे. कृष्णमूर्ति कहते हैं कि श्रवण और अध्ययन आनंददायक तो होते हैं, पर परिवर्तन में इनकी भूमिका गणितीय सवालों को हल करने वाले सूत्रों जितनी ही होती है। सूत्र केवल संकेत मात्र होते हैं। विद्यार्थियों को इनके आधार पर अपनी अक्ल लगानी पड़ती है, तभी प्रश्न का सही उत्तर मिल पाता है। ऐसे ही स्वाध्याय और सान्निध्य परिवर्तन की अनुकूलता तो उपलब्ध कराते हैं, पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। अंतस् की हलचल और उथल-पुथल भी अभीष्ट-आवश्यक है। जहाँ इस प्रकार की क्रियाएँ नहीं होतीं, वहाँ परिवर्तन की प्रतिक्रिया भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

एक उदाहरण से वे और भी अच्छे ढंग से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब किसी व्यक्ति से दिन में अनेक बार अनेक लोग कहते हैं कि तुम बीमार जैसे लग रहे हो, तो शाम होते-होते वह निश्चित रूप से अस्वस्थ हो जाता है, कारण कि यह वाक्य उसके अंदर उद्दीपन आरंभ कर देता है। क्रिया चल पड़ती है, तो उसकी परिणति अस्वस्थता के रूप में तुरंत सामने आती है। वे लिखते हैं कि स्वाध्याय और सत्संग की वे अच्छी बातें अप्रभावी सिर्फ इसलिए सिद्ध होती हैं कि वे अंतराल की गहराई में उतरकर उस बिंदु को नहीं छू पातीं, जो बदलाव उत्पन्न करता है। यदि इस संदर्भ में अध्येता और श्रोता गंभीर बने रहें और पढ़े अथवा सुने हुए प्रसंग के प्रति इतनी संवेदनशीलता उत्पन्न कर सकें कि वे अंदर चलकर सीधे मर्म में आघात करें, तो रूपांतरण तत्क्षण घटित होना आरंभ हो जाएगा।

इसकी प्रक्रिया दो प्रकार से होती है- एक तो संदेश के प्रति इतना आकर्षण उत्पन्न किया जाए कि वह अंतस्तल में धँसकर बदलाव पैदा कर दे। इसके दूसरे प्रकार में खिंचाव तो होता है, पर उसका चुंबकत्व उतना प्रबल नहीं होता कि वह अवचेतन में आविर्भूत हो सके।

ऐसी स्थिति में व्यक्ति को चेतन स्तर पर स्वयं प्रयास आरंभ करना पड़ता है। अपनी वासना और तृष्णा को बलपूर्वक दबाना और जो श्रेष्ठ तथा सुंदर है, उसे विकसित करना पड़ता है। इतना कर लेने मात्र से ही व्यक्ति का कायाकल्प हो जाता है, उसका भीतरी दैत्य मर जाता है और उसकी जगह देव पैदा होता है। यही क्रांति है। इसे संपादित कर लेने वाला व्यक्ति महान और समाज गुणवान बन जाता है।

विवेकानंद ने एक बार अपने व्याख्यान में कहा था, ***"युवको, तुम महान बनना चाहते हो, तो महानता को अपने भीतर घटित होने दो, श्रेष्ठता को अंतःकरण में प्रवेश पाने दो, हृदय-कपाट को अनावृत्त रखो, ताकि इस संसार में जो कुछ उदात्त और उच्चस्तरीय है, वह तुममें आत्मसात् हो सके। याद रखो, मात्र शब्दों को श्रवण तंत्र से सुन भर लेने से विशेष कुछ न होगा, जो होगा, वह इतना ही कि तुम कष्ट-कठिनाइयों को***

भूलकर थोड़े समय के लिए शांति के समुद्र में डूब जाओगे, पर स्वयं शाश्वत शांति का सागर न बन सकोगे। वह गहराई और गंभीरता पैदा न हो सकेगी, जो ये महासागर अपने में सँजाए है। यह मत भूलो कि आने वाली पीढ़ियों के तुम भाग्य विधाता हो, भविष्य निर्माता हो। उज्ज्वल समाज का निर्माण वही कर सकता है, जो आत्मनिर्माण कर चुका हो। अतः इस व्याख्यान को अपने में उतर जाने दो, सिर्फ शब्दों से नहीं, वाक्यों से नहीं, वरन् भावों और क्रियाओं से।''

सचमुच शब्द और संदेश जब तक कार्यरूप में न परिणत हो जाएँ, कर्त्ता के लिए निरर्थक और निरुद्देश्य हैं। सार्थक वे तभी बनते हैं, जब आचरण में उतरें और दूसरों को अनुकरणीय प्रेरणा दें, अन्यथा बुद्धि-विलास मात्र बनकर रह जाएँगे। किसी ने कहीं कोई अच्छी बात सुनी या पढ़ी, तो उसे वह अपनी बुद्धि में, मस्तिष्क में कैद कर लेता है और दूसरों को सुनाता रहता है। फिर वह क्रिया न बनकर ज्ञान का, अध्ययन का, श्रवण का, स्मरण का विषय बन जाती है। इसका ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग यही हो सकता है कि उसे हम वाणी बना लेते हैं, जबकि जीवन बनना चाहिए और अच्छाई यदि जीवन न बनी, तो अच्छी बातें पढ़ने-सुनने का कोई अर्थ और उद्देश्य नहीं रह जाता, इसलिए मूर्द्धन्य मनीषी गुरजिएफ कहा करते थे कि उत्तम बातों के प्रति अभिरुचि जगाओ, उत्कंठा बढ़ाओ, उन्हें सुनो और सुनाओ, पर यहीं मत रुक जाओ। इतना पर्याप्त नहीं है। यह विचार मात्र है। इससे आगे का चरण अनुभव है। विचार से अनुभव की ओर यात्रा करके ही जानकारी को जीवन बनाया जा सकता है, उसे जिया जा सकता है। जहाँ जानकारी जीवन बन जाती है, वहीं श्रेष्ठता घटित होती है और रूपांतरण का प्रवर्तन होता है। इन दिनों चूँकि चिंतन से अनुभूति की ओर का प्रयाण मनुष्य में रुका हुआ है, इसलिए प्रत्यक्ष में स्वाध्याय और सत्संग की नियमित दिनचर्या दिखलाई पड़ने पर भी उनकी वह परिणति सामने नहीं आती, जो आनी चाहिए।

दुनिया में अच्छी बातों और विचारों का अभाव है, सो बात नहीं। अभाव है, तो मात्र ग्रहणशील हृदय का। सुग्राहक मन यदि आदमी के पास हो, तो बुराई में भी अच्छाई ढूँढ़ी और आत्मसात् की जा सकती है, किंतु जहाँ हृदयंगम करने वाली गहराई ही न हो, वहाँ लाख प्रवचन सुनने और पारायण करने की प्रवृत्ति मनोरंजन जितना उथला प्रयोजन ही पूरा करती है। ऐसी दशा में साधारणजन अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए अनेक प्रकार के बहाने गढ़ते और तर्क देते हैं। कहते हैं कि प्रभावशाली व्यक्तित्व के अभाव में ही सर्वसाधारण पर उसका प्रभाव नहीं पड़ सका। यह सच है कि उत्कृष्ट व्यक्तित्व का अपना पृथक् प्रभाव होता है, पर बात यदि श्रेष्ठ है, तो वह कोई भी कहे, उसे अपनाने में अनख क्यों? इससे क्या फर्क पड़ता है कि कहने वाला निपट निरक्षर है या कोई ज्ञानी-विद्वान। अच्छाई कहीं से भी मिले, वह ग्रहण योग्य है, पर ऐसा होता नहीं है और इसका संपूर्ण दोष अपनी मनस्विता को न देकर वक्ता की ओर उछाल दिया जाता है। यह कैसी विडंबना है? यह तो 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा' वाली लोकोक्ति जैसी बात हुई। सचाई तो यह है कि मनस्वी व्यक्ति ही स्वयं को बदल पाने और महानता की ओर ले जाने में सफल होते हैं। शेष अमनस्वी समुदाय के लिए सान्निध्य-श्रवण सुनने और भूलने से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार लंबे समय का उनका ज्ञान-ग्रहण बेकार चला जाता है। इससे स्पष्ट है कि ग्रहण करने की अभीप्सा की अनुपस्थिति और ग्राह्य के प्रति उपेक्षा भाव ही वे कारण हैं, जो ज्ञान को व्यवहार में नहीं उतरने देते। जब पशु-पक्षियों से शिक्षा ग्रहण कर दत्तात्रेय अनुपलब्ध की उपलब्धि कर सकते हैं, तो मनुष्य द्वारा बतलाई गई उत्तम बात को धारण करने में किसी को क्यों आपत्ति होनी चाहिए? यह समझ से परे है।

विज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि यदि लोहे को सोना और सीसे को चाँदी बनाना हो, तो एक ही कार्य करना पड़ेगा, उनकी परमाणु-संख्या को परिवर्तित करना पड़ेगा। किसी प्रकार लोहे और सीसे को क्रमशः सोने और चाँदी वाली परमाणु संख्या प्रदान की जा सके, तो उनका रूपांतरण संभव है, पर यह सब कैसे किया जाए? इसकी प्रक्रिया उनके हाथ अभी नहीं लगी है। उनने मात्र अभी सिद्धांत दिया है, किंतु केवल सिद्धांत से बदलाव संभव नहीं। इसके लिए प्रक्रिया का होना नितांत आवश्यक है। व्यक्तित्व निर्माण में पुस्तकों और प्रवचनों की ऐसी ही भूमिका है। वे मार्गदर्शन भर करते हैं। उनके आधार पर पुरुषार्थ स्वयं करना पड़ता है। यह प्रक्रिया है। प्रक्रिया यदि अप्रतिहत चल पड़े, तो साधारण से असाधारण बन जाना कठिन नहीं। फिर समाज को स्वर्ग बनते देर न लगेगी।

◆

भक्तवत्सल जगन्नाथ जी का रथ मजार पर रुकता है

घर्र...घरर...घर्र... की आवाज के साथ बढ़ता आ रहा भगवान जगन्नाथ का रथ एक टूटी-फूटी मजार के सामने खीं...खच करके रुक गया। शत सहस्त्र व्यक्ति प्रभु के उस महारथ को खींच रहे थे। ढोल-मृदंग आदि विभिन्न वाद्ययंत्रों के साथ भगवन्नाम कीर्तन ध्वनि समूचे वातावरण में गुंजायमान थी। भजन-कीर्तन एवं भगवान जगन्नाथ की जय-जयकार के साथ बढ़ता हुआ रथ अचानक क्यों रुक गया? किसी को कुछ समझ में न आया। अनेकों ने अनेक तरह के उपाय किए। रथ के पहियों-कलपुरजों सहित मार्ग की पूरी तरह से छान-बीन की। किसी को कहीं भी किसी तरह अवरोध नजर नहीं आया। पुरी के राजा स्वयं रथ की रस्सी थामे थे। उन्होंने भी अनेक जतन कर लिए, पर भगवान का रथ टस से मस न हुआ। बहन सुभद्रा एवं भ्राता बलभद्र सहित भगवान जगन्नाथ न जाने क्यों उस स्थान पर रुके हुए थे।

सर्वेश्वर प्रभु का महारथ अचानक यहाँ क्यों रुक गया है? इस प्रश्न का उत्तर सभी जोर-शोर से खोज रहे थे। कइयों ने कई तरह के कयास लगाए। कुछ भक्तों ने सभी को जोर-शोर से नाम-कीर्तन करने की सलाह दी, पर परिणाम कुछ भी न निकला। तभी एक भक्त को जैसे कोई भूली-बिसरी बात याद आई। उसने पुरी के महाराज के कान में कुछ कहा। महाराज ने भी कुछ क्षण सोचने के बाद सहमति में सिर हिलाया और उन्होंने महाभक्त सालबेग की जय का घोष किया। महाराज के कंठ से उच्चरित इस जय ध्वनि के साथ दूसरे सहस्त्र कंठों से भी भगवद्भक्त सालबेग की जय-जयकार होने लगी। अपने परम प्रिय भक्त की जय-जयकार सुनकर संपूर्ण जगत् के स्वामी भगवान जगन्नाथ की मूर्ति जैसे मुसकराई। प्रभु की इस लीला पर बलभद्र और देवी सुभद्रा की मूर्तियाँ भी विहँस उठीं। इसी के साथ भगवान का महारथ भी घरर...घर्र की ध्वनि के साथ गुंडिबा देवी के मंदिर की ओर अनायास बढ़ चला।

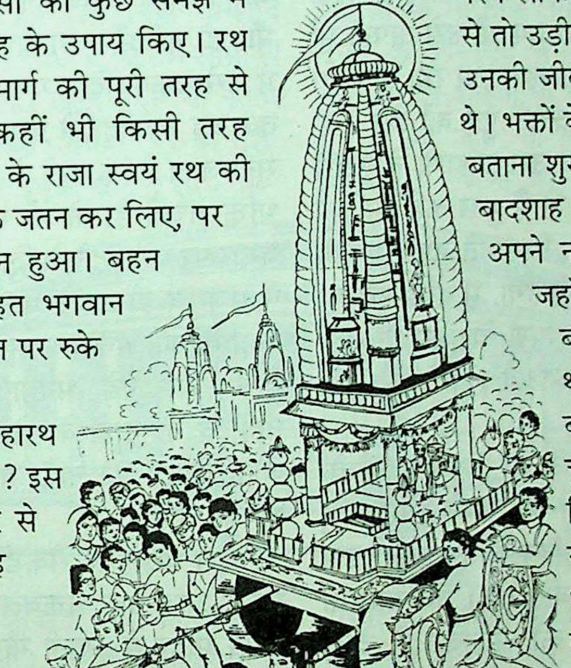

प्रभु के रथ को आगे बढ़ते हुए देख पुरी के महाराज ने संतोष की साँस ली। भगवद्भक्तों के मन भी हर्षित हो उठे। साथ ही रथयात्रा के साथ चल रहे भक्तों के बीच महाभक्त सालबेग की चर्चा भी चल पड़ी। सालबेग के परम लोकप्रिय भजनों के कारण उनके नाम से तो उड़ीसा का जन-जन परिचित था, पर उनकी जीवनगाथा से कम ही लोग वाकिफ थे। भक्तों के अनुरोध पर एक वृद्ध पुजारी ने बताना शुरू किया, तब हिंदुस्तान में मुगल बादशाह जहाँगीर की हुकूमत थी। उसने अपने नाम से मिलते-जुलते नाम वाले जहाँगीर कुरीखान उर्फ लालबेग को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया था। उड़ीसा का संपूर्ण क्षेत्र भी बंगाल की सूबेदारी का हिस्सा बन चुका था। पुजारी जी बता रहे थे कि हालाँकि उड़ीसा पर उस समय गजपतवंश के राजाओं का शासन था, पर इस वंश के अंतिम नरेश लालबेग की बहादुरी, चतुराई एवं उसकी विशालकाय सेना के सामने ठहर न सके। परिणामस्वरूप उड़ीसा की भागवत भूमि बंगाल की सूबेदारी में समा गई।

लालबेग ही उड़ीसा का सारा कर्ता-धर्ता बन बैठा। शासक होने के कारण उसका उड़ीसा में आना-जाना लगा रहता था। ऐसे ही एक बार जब लालबेग बंगाल से पुरी जा रहा था, तो पुरी के पास दांड मुकुंदपुर गाँव में उसकी नजर एक विधवा ब्राह्मणी पर पड़ी। वह ब्राह्मणी विधवा अत्यंत ही रूप एवं सौंदर्य की धनी थी। सत्ता और वासना के मद में चूर लालबेग ने उसे उठवा लिया। बेचारी विधवा उस दुर्दांत-दुराचारी के सामने क्या करती। लालबेग ने कटक पहुँचकर जबरदस्ती

उससे शादी कर ली। इसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से सन् १६०८ ईसवी में सालबेग का जन्म हुआ। सालबेग जब १२-१३ साल का था, तब लालबेग उसे दिल्ली ले गया। वहीं पर सालबेग को युद्धकला की शिक्षा मिली। युद्धकला में सालबेग अति निपुण हो गया। यहाँ तक कि विभिन्न युद्धों में उसके युद्ध-कौशल एवं पराक्रम को देखकर हिंदुस्तान का शहंशाह भी दंग रह गया और उसने युवा सालबेग को एक बड़ी सेना का सिपहसालार बना दिया।

सालबेग भी सत्ता एवं यौवन के मद में झूम उठा, परंतु शायद सर्वगर्वापहारी भगवान जगन्नाथ उसे अपने पास बुलाना चाहते थे। इसी कारण एक युद्ध में सालबेग के सिर पर ऐसा घाव हो गया, जिसे कोई भी हकीम या जर्राह ठीक न कर सका। न चाहते हुए भी उसे अपनी माँ के पास पुरी लौटना पड़ा। कभी सिपहसालार रहा सालबेग उन दिनों सभी से उपेक्षित था। अपने पुत्र को इस तरह दुखी, पीड़ित एवं विपन्न देखकर उस ब्राह्मणी ने उससे कहा, पुत्र, यदि तू मेरी बात माने, तो मैं कुछ कहूँ। माँ की ममता का अलौकिक स्पर्श पाकर सिसकते हुए सालबेग ने कहा, माँ तू कह तो सही, तू जो कहेगी, मैं वही करूँगा। तब बेटा, तू सारे कपट छोड़कर, संपूर्ण विश्वास के साथ भगवान जगन्नाथ के चरणों का आश्रय ले। वे तेरा सब कष्ट दूर करेंगे।

माँ की बातों पर समूचे मन से विश्वास करके सालबेग प्रभु के विभिन्न नामों का जप करने लगा। प्रभु प्रार्थना एवं नाम-जप में उसके दिन बीतने लगे। इस तरह एक-एक करके बारह दिन बीत गए। जब बारहवाँ दिन बीत गया, तब उसी रात्रि को सालबेग ने देखा कि भगवान जगन्नाथ उसके सामने बालमुकुंद वेश में खड़े हैं और उससे कह रहे हैं- ले सालबेग! ले तू यह विभूति अपने घाव पर लगा ले। तेरे सारे कष्ट अब दूर हो जाएँगे। निद्रा में ही सालबेग ने वह विभूति लेकर अपने मस्तक और शरीर पर लगा ली। सहसा प्रभु की वह मूर्ति अदृश्य हो गई। साथ ही सालबेग की निद्रा भी टूट गई।

जागते ही सालबेग अपने को संपूर्ण रूप से स्वस्थ पाकर खुशी से चिल्ला उठा, अरे माँ! देख, तेरे करुणामय जगन्नाथ ने मेरा घाव ठीक कर दिया। उन्होंने मेरे सब कष्ट दूर कर दिए। माता भी अपने पुत्र को स्वस्थ देखकर प्रसन्न हो गई। उसने भक्तिभाव से भगवान को प्रणाम किया और कहने लगी, ''बेटा! जगन्नाथ मेरे ही नहीं तेरे भी हैं। अरे, वे तो सारे जगत् के हैं।'' ''तू ठीक कहती है माँ, अब से मैं सारा जीवन उन्हीं सर्वेश्वर की सेवा में लगाऊँगा।'' इसी के बाद सालबेग भगवान जगन्नाथ की भक्ति में लीन हो गया। चूँकि मंदिर में उसके लिए प्रवेश वर्जित था, इसलिए वह मंदिर के बाहर बैठकर भजन गाने लगा।

उसने उड़िया भाषा में १२१ भजनों की माला पिरोकर भगवान को समर्पित की। उसके ये भजन भक्ति संवेदना से इतने ओत-प्रोत थे कि देखते-देखते सभी उड़ीसावासी उसके भजनों को गाने लगे। सालबेग को भगवान जगन्नाथ के अनन्य भक्तों में गिना जाने लगा, लेकिन फिर भी उस पर मंदिर में प्रवेश की पाबंदी बरकरार रही। भगवान जगन्नाथ के भजन लिखते-गाते एक दिन सालबेग की मौत हो गई और जगन्नाथ मंदिर से गुंडिबा मंदिर के रास्ते में उसे दफना दिया गया। जब तक वह जीवित था, तब तक वह स्वयं दूर से प्रभु की रथयात्रा को देखा करता था। सुना जाता है कि मरने से पूर्व उसने कहा था कि यदि मेरी भक्ति सच्ची है, तो मेरे मरने के बाद भगवान स्वयं मेरी मजार पर दर्शन देने के लिए रुका करेंगे और आज भगवान ने सचमुच ही अपने भक्त की टेक रख ली। पुजारी द्वारा कही गई यह भक्तगाथा सुनकर पुरी के महाराज भावविह्वल होकर बोल पड़े, भगवान किसी हिंदू या मुसलमान के नहीं, वे तो भक्तों के होते हैं। इसी तरह धर्म भी किसी जाति विशेष का नहीं, वह तो सबका है, सनातन और शाश्वत है।

इस घटना को सैकड़ों साल बीत चुके हैं, पर तब से लेकर आज तक भक्तवत्सल जगन्नाथ का रथ हर साल अपने मंदिर से अपनी मौसी गुंडिबा देवी के मंदिर जाते हुए बीच में सालबेग की मजार पर रुकता है। अब तो इस स्थान पर एक मंदिर भी बन गया है, जिसे श्रद्धाबलि मंदिर कहा जाता है। अभी भी यहाँ सालबेग के ये स्वर तरंगित होते हैं-

बाप मो मुगल पुअ, मां मो ब्राह्मणी
एक कुले जन्मिले हिंदु न खाए पाणी
कहे सालबेग, जाति रे जबन
श्री रंगा चरणे करछी प्रणाम।

अर्थात पिता मेरे मुगल पुत्र, माँ मेरी ब्राह्मणी, ऐसे हीन कुल में पैदा हुआ, जिसका पानी भी हिंदू नहीं पीते, हीन जाति का यवन सालबेग यह कहता है (और) श्री रंग चरणों में प्रणाम करता है।

*

भारतीय संसद के पचास वर्ष का लेखा-जोखा

सन् २००२ भारतीय संसद का स्वर्ण जयंती वर्ष है। यह अलग बात है कि संसद की इस पचासवीं सालगिरह पर सांसदों के मन में अपने कर्त्तव्य के प्रति कोई विशेष उत्साह अथवा राष्ट्रबोध नहीं नजर आ रहा है। वे पिछले वर्षों की ही भाँति जोड़-तोड़ के नए-नए दाँव-पेंच ढूँढ़ने में लगे हैं। उनका आचरण भी प्रायः मर्यादा उल्लंघन के नित्य-नवीन मानदंड रच रहा है। इस सबके बावजूद इतिहास का सच शाश्वत है कि १९४७ में ब्रिटिश साम्राज्य की समाप्ति के बाद पंडित जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में भारत की अंतरिम सरकार बनी। वर्ष १९५० में देश का राष्ट्रीय संविधान बना और इसके बाद १९५२ में पहला आम चुनाव हुआ। इसी वर्ष स्वतंत्र भारत की पहली संसद का गठन भी हुआ, जो सन् २००२ में पचास साल पूरे कर रही है।

आज से पचास साल पहले प्रथम संसद के गठन के समय देश के आम नागरिक की आँखों में अनेकों सपने थे। उसके लिए आजादी अगणित आशाओं और अरमानों को लेकर आई थी। अँग्रेजों की हुकूमत के दौरान दमन के जो दुष्चक्र उसने झेले थे, उससे छुटकारा मिला था। बहुतेरे सुनहरे सपने भारतीय जनता ने अपने दिलों में आजाद भारत और उसकी संसद के भविष्य के बारे में सँजोए थे। यह कहते और लिखते हुए पीड़ा तो होती है, पर यह सच है कि इस स्वर्ण जयंती वर्ष के आने तक वे सपने टूटने-बिखरने और खोने लगे हैं। भारत की जनता की आँखों में फिर से एक सूनापन व्यापता जा रहा है। समझ में नहीं आ रहा है कि इसके लिए जिम्मेदार कौन है, हमारी संसदीय प्रणाली अथवा वे सांसद, जिन्हें हम ही चुनकर संसद में भेजते हैं?

पचास वर्षों का कालखंड यद्यपि एक देश के जीवन में बहुत लंबा नहीं कहा जा सकता। खासतौर पर तब, जबकि वह देश भारत हो, जिसका इतिहास हजारों साल पुराना है, लेकिन प्रौद्योगिकी के विकास के वर्तमान युग में ये पचास साल काफी ज्यादा लगते हैं। भारतीय संसदीय जीवन के इन वर्षों का यदि संक्षेप में हिसाब-किताब किया जाए, तो इसके तीन भाग किए जा सकते हैं। इसमें से पहले भाग के अधिपति पं. नेहरू हैं। १९४७ से लेकर १९६४ तक जवाहर लाल जी न केवल देश के प्रधानमंत्री रहे, बल्कि भारतीय लोकतंत्र एवं इसकी प्रतीक संसद भी उन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती रही। दूसरे दौर में यदि स्व. लालबहादुर शास्त्री के कार्यकाल की स्वल्प अवधि छोड़ दी जाए, तो यह दौर प्रायः काँग्रेसी शासन की सत्ता पर पकड़ का रहा। इसी समय में संसदीय मर्यादाओं और वर्जनाओं के टूटने की शुरुआत हुई। 'शासन सेवा के लिए नहीं, बल्कि सत्ता सुख भोगने के लिए' यह संस्कृति इसी दौर में विकसित हुई। तीसरा और अंतिम कालखंड संसद का वर्तमान युग है। देश की जनता बहुत कुछ अंशों में अपने सांसदों एवं उनकी गतिविधियों से निराश हो चली है।

पिछले पचास सालों में यह स्थिति क्यों और कैसे आई? यह एक विचारणीय सवाल है। क्या संसद सदस्यों का संसद के भीतर आचरण असंयत एवं अमर्यादित इसलिए है, क्योंकि उनके लिए कोई आचार संहिता नहीं बनाई गई है? लेकिन क्या आचार संहिता बनाने भर से उसका पालन सुनिश्चित हो जाता है? क्या हमारे संसद सदस्यों के आचरण के पीछे कुछ और भी कारण हैं, जिनके बारे में व्यापक विचार होना ही चाहिए? क्या इस सवाल पर व्यापक चिंतन, मंथन होना जरूरी नहीं है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से हमारे देश में जिस तरह की राजनैतिक संस्कृति विकसित हुई है, उसके रहते क्या संसद और संसदीय संस्थाएँ मजबूत बनी रह सकती हैं? क्या संसद

और संसदीय संस्थाओं को मजबूत बनाने के लिए नए नियम और नई आचार संहिता को अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्य की इतिश्री माना जा सकता है?

इस समय हमारे देश की राजनीति का स्वरूप क्या बन गया है? ऐसे कितने लोग हैं, जिन्होंने देश और समाज के लिए अपने सर्वस्व को निछावर करने की इच्छा से राजनीति में प्रवेश किया है? समाज और देश की सेवा करते हुए मर मिटने की भावना हमारे कितने सांसदों में है? वर्तमान राजनीति के प्रेरक तत्त्व कौन हैं और इसकी विवशताएँ क्या हैं? किस सामाजिक, बौद्धिक एवं भावनात्मक पृष्ठभूमि के लोग हमारी संसद में चुनकर आते हैं? यही हैं वे प्रश्न, जिन पर विस्तार से विचार करना भारतीय संसद की स्वर्ण जयंती पर एक राष्ट्रीय कर्त्तव्य है। इन सवालों पर विचार करने से ही यह जाना जा सकता है कि आज की स्थिति में आशा की कोई किरण फूटने की संभावना किस तरह से हो सकती है?

भारतीय संसद की उन जड़ों को छूने की कोशिश की जाए, जो जमीन में धँसी हैं, तो पता चलेगा कि भारतीय राजनीति ने उन्नीसवीं सदी में अपनी आँखें खोलीं। शुरुआती दौर में इसका बहुत कुछ संबंध समाज-सुधार से भी रहा। इसी दौर में पत्रकारिता भी पनपी। बाद में जब स्वाधीनता आंदोलन ने जोर पकड़ा, उस समय भी हमारे ज्यादातर नेता अपने जमाने के प्रखर बुद्धिशाली होने के साथ राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत थे। लोकमान्य तिलक हों या गोपालकृष्ण गोखले अथवा फिर महात्मा गाँधी, ये सभी राजनैतिक सक्रियता के साथ-साथ बौद्धिक एवं भावनात्मक स्तर पर भी लोगों को काफी आकर्षित, प्रेरित एवं प्रभावित करते थे। उस समय के नेताओं के एक हाथ में राजनीति का झंडा था, तो दूसरे हाथ में कलम और इन दोनों हाथों को उनका राष्ट्रप्रेम ऊर्जावान बनाता था। पं. नेहरू स्वयं ही इसके उदाहरण हैं, इसलिए जब भारत की पहली संसद चुनी गई थी, तो उसमें ऐसे लोगों का बाहुल्य था, जो राष्ट्रीय तप-साधना के महातपस्वी थे। वे राष्ट्रीय सवालों पर अपने-अपने नजरिए से गंभीरतापूर्ण विचार करते थे। संसद को वे गहन राष्ट्रीय चर्चा का मंच समझते थे। संसद उनके लिए राष्ट्र देवता का मंदिर था। साथ ही वे अपनी विधायी भूमिका के लिए संपूर्ण रूप से सचेत थे।

आज पचास सालों के बाद स्थिति बदली हुई है। आज हमारे ज्यादातर संसद सदस्य अपने संवैधानिक दायित्वों के प्रति उदासीन हैं। स्थिति यह है कि ज्यादातर महत्त्वपूर्ण विधेयक या तो बिना चर्चा के अथवा थोड़ी-बहुत छुटपुट चर्चा के बाद पारित हो जाते हैं। इस तरह की आवश्यक चर्चा को उपेक्षित कर संसद सदस्यों का विश्वास गला फाड़कर चिल्लाने, अभद्र आचरण करने और सभी मर्यादाओं को तोड़कर अपनी बातों को मनवाने में बढ़ चला है। कभी राष्ट्र देवता का सर्वोच्च मंदिर कही जाने वाली संसद आज सांसदों की इसी मनमानी का मंच बनकर रह गई है। कभी-कभी तो यहाँ के दृश्यों में हिंसात्मक दृश्यों को भी उभरते देखा जाता है।

राष्ट्रीय दूरदर्शन की कृपा से देश की संपूर्ण जनता, यहाँ तक कि विदेशी भी इन दृश्यों के दर्शन का लाभ बड़ी सुगमता से उठाते हैं। दूरदर्शन पर दिखने वाले दृश्यों में दो दृश्य इन पंक्तियों को लिखते समय बड़ी स्पष्टता से मानसिक नेत्रों के सामने उभर रहे हैं। इनमें से एक दृश्य है भारतीय संसद का। दूरदर्शन पर हो रहे सीधे प्रसारण में जो कुछ दिखाई दिया और देखा गया, वह बड़ा ही हास्यास्पद एवं लज्जाजनक था। बिना बारी के बोलना, दूसरों को बोलते समय लगातार टोकना, बेशुमार शोर-शराबा करना। इतना ही नहीं अध्यक्ष के आसन के सामने नारेबाजी करना और सबसे बढ़कर बाँहों को समेटते हुए एक-दूसरे से हाथा-पाई के लिए आगे बढ़ना। दूरदर्शन पर दिखने वाले इस दृश्य को देखकर सिर शरम से झुक गया। बार-बार मन यही सोचने लगा कि हमारे देश के सांसदों का आचरण तो स्कूली बच्चों से भी गया-बीता है। इन्हें यह भी परवाह नहीं है कि दूरदर्शन के इस प्रसारण को देखने वाले लोग संसद एवं सांसदों के बारे में क्या सोचेंगे?

ये सवाल मन को पता नहीं, कितने समय तक कुरेदते रहे? इसी बीच दूरदर्शन पर एक नया दृश्य देखने को मिला। यह दृश्य था स्कूली बच्चों द्वारा संचालित की जाने वाली मॉडल संसद के बारे में। ये किशोर बच्चे संसदीय मॉडल का संचालन कर रहे थे। संसद क्या होती है? भारतीय संविधान की मर्यादाएँ, वर्जनाएँ एवं रीति-रिवाज क्या हैं? सबका सब यहाँ प्रत्यक्ष हो रहा था। सांसदों का गरिमापूर्ण आचरण, शिष्टता-शालीनता, अपने विरोधी के प्रति भी उच्चस्तरीय व्यवहार, सत्ता पक्ष का दायित्व बोध, सभी कुछ यहाँ नजर आ रहा था। इस दृश्य को जिन्होंने भी देखा होगा, वे शायद पहली बार यह सोच और देख पाए होंगे कि संसद की गरिमा क्या होती है! स्कूली बच्चों द्वारा संचालित इस मॉडल संसद को देखकर लगा कि काश हमारे सांसद इन बच्चों से ही कुछ सीख पाते? साथ

ही मन में यह सोच भी उभरी कि दूरदर्शन पर देखे गए सांसदों के व्यवहार की स्कूली बच्चों से तुलना करना कितना गलत था, क्योंकि ये बच्चे तो उनके अच्छे शिक्षक साबित हो सकते हैं।

बात अटपटी है, पर शालीन प्रतिवेदन यही है कि यह पूरी तरह से सही है। यह अलग बात है कि ऐसा कैसे हुआ, इसे समझना निहायत जरूरी है। भारतीय संसद की स्वर्ण जयंती वर्ष में इसे जान लेना बहुत आवश्यक है कि संसदीय प्रणाली पश्चिम के देशों में क्यों और कैसे कामयाब हुई? इस सवाल के विश्लेषणात्मक उत्तर में यह जानना होगा कि संसदीय प्रणाली की कामयाबी के तीन महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं, पहला- जिम्मेदार सत्ता पक्ष, दूसरा है- जिम्मेदार विपक्ष और तीसरा इन दोनों से भी ज्यादा मजबूत और जिम्मेदार नैतिक पक्ष, जो सत्ता और विपक्ष की राजनीति से ऊपर उठकर राष्ट्र की नैतिक परंपराओं का पोषक हो और सत्ता तथा विपक्ष पर अपना नैतिक प्रभाव बना सके। इसे अपना राष्ट्रीय दुर्भाग्य ही कहना होगा कि अपने देश की संसदीय प्रणाली में ये तीनों पक्ष कभी भी भली-भाँति सुहृद नहीं रह सके। पं. नेहरू के समय स्थिति थोड़ी-बहुत ठीक जरूर थी, पर बाद में सब कुछ ढहता-मिटता एवं बिगड़ता चला गया।

स्थिति यहाँ तक बदतर हुई कि कुछ एक शास्त्री जी जैसे अपवादों को छोड़कर संसद एवं लोकतांत्रिक प्रणाली के तीन नए आधार स्तंभ विकसित कर लिए। इन नव विकसित स्तंभों का नाम है- संप्रदायवाद, जातिवाद एवं भ्रष्टाचार। प्रायः सभी राजनैतिक पार्टियों ने इन अनैतिक स्तंभों को सत्ता के शिखर तक पहुँचाने के लिए सीढ़ी के रूप में प्रयोग किया। राष्ट्र की संसदीय प्रणाली में हुए इन नवप्रयोगों ने हमारे देश की 'विविधता में एकता' की संस्कृति को छिन्न-भिन्न कर दिया। संकीर्ण संप्रदायवाद एवं जातिवाद ने भारत की भोली-भाली जनता को एक-दूसरे के खिलाफ खड़ा कर दिया। भ्रष्टाचार का आलम तो यह है कि बड़ी आसानी से आज सत्ता को ही खरीदा-बेचा जा सकता है।

संसद की स्वर्ण जयंती के अवसर पर हम चाहे जितने झूठे और ढोंगी दावे करते रहें कि हमारा देश दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है, किंतु इस सचाई को झुठलाया नहीं जा सकता। जिम्मेदार सत्ता पक्ष, जिम्मेदार विपक्ष एवं मजबूत व जिम्मेदार नैतिक पक्ष के इन तीन आधार-स्तंभों को स्थापित किए बिना संसदीय लोकतंत्र का ढाँचा बालू की दीवार की तरह है। जिसे कभी भी, कोई भी, किसी समय भी ध्वस्त कर सकता है। यह हमारे सामाजिक, राजनैतिक एवं नैतिक चिंतकों के लिए एक बड़ी चुनौती है।

यदि संसदीय लोकतंत्र को बचाए रखना एवं सुदृढ़ बनाना है, तो देश के लिए नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक क्रांति की व्यापकता ही समाधान है। इन क्रांतियों में भागीदार होने एवं इन्हें बढ़ावा देने का अर्थ अच्छी वक्तृता देना नहीं है, बल्कि इनके विभिन्न कार्यक्रमों में अपनी सक्रिय जिम्मेदारी निभाना है। यदि इस तरह की सक्रिय जिम्मेदारी को संसद सदस्यों का अनिवार्य राष्ट्रीय कर्त्तव्य बना दिया जाए, तभी राष्ट्र देवता के सर्वोच्च मंदिर की खोई गरिमा व आभा फिर से लौट सकती है। नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक क्रांति की उत्साहपूर्ण भागीदारी ही भारतीय संसद की स्वर्ण जयंती का सच्चा महोत्सव है। इसमें बिखरते उल्लास में भारतीय संसद के उज्ज्वल एवं सार्थक भविष्य के सपने देखे जा सकते हैं।

●

महापुरुषों की यही विशेषता रही है कि वे स्वयं आजीवन स्वाध्यायशील रहे हैं। आचार्य अत्रे उन दिनों बीमार पड़े थे। फिर भी चारपाई पर सिरहाने, बगल में उन्होंने ढेरों पुस्तकें जमा कर रखी थीं। उस कष्टकर मनःस्थिति में पढ़कर मन को हलका करते थे। एक मित्र मिलने आए और उन्होंने पूर्ण विश्राम की बात कहते हुए पढ़ने से बचने का परामर्श दिया। अत्रे जी ने मुस्कराते हुए कहा, मैं बीमारी की खुराक बना हुआ हूँ, पर मैं भूखा कैसे रहूँ? अपनी खुराक पुस्तकों से हासिल करता हूँ।

इसी प्रकार सभी की अभिरुचि यदि ज्ञानार्जन, स्वाध्याय के प्रति जाग उठे, तो उनका व्यक्तित्व भी अपूर्ण न रहे। जो इसमें पिछड़ जाते हैं, वे पछताते हैं।

रूपांतरण, नियंत्रण का उत्तरार्द्ध

स्वच्छ दीखने के दो तरीके हैं- अस्वच्छता को ढक देना या उसे साफ कर देना, उसे हटा-मिटा देना। आवरण चढ़ाने से अंतर इतना ही आएगा कि निहित गंदगी बाह्य दृष्टि से ओझल बनी रहेगी। इतने पर भी उसकी सत्ता अपने स्थान पर यथावत् रहती और मौका पाते ही, आवरण हटते ही अपना परिचय पूर्ववत् देने लगती है।

मनुष्य की यह आम आकांक्षा होती है कि वह दूसरों की नजरों में सम्मानित दीखे और सुसंस्कृत कहलाए। इसके लिए एकमात्र तरीका यही है कि व्यक्तित्व का रूपांतरण हो और उसे इतना प्रामाणिक, प्रखर और परिष्कृत बनाया जाए कि खुशबू बिखेरने वाले फूलों की ओर जिस प्रकार भौंरे खिंचते चले आते हैं, वैसे ही लोगों की श्रद्धा और सहायता अनायास मिलती चले। यह किंचित् कठिन प्रक्रिया है, पर रूपांतरण का और कोई दूसरा तरीका भी नहीं। इन दिनों लोग पुरुषार्थ प्रधान कार्यों से प्राय: बचना चाहते हैं और किसी ऐसे सरल संस्करण की तलाश में रहते हैं, जो आसान हो एवं सुविधाजनक भी, साथ ही देखने में भी ऐसा न लगे, जिससे जल्दी ही उसके असल की नकल होने का अनुमान लगता हो। व्यक्तित्व के संदर्भ में ऐसा उपाय यही हो सकता है कि बुराई पर आकर्षक परदा डाल दिया जाए और सज्जन होने का प्रदर्शन किया जाए। ऐसे में कई बार व्यक्तित्व की पहचान में धोखा हो जाता है और बुरे के अच्छे होने का भ्रम होने लगता है।

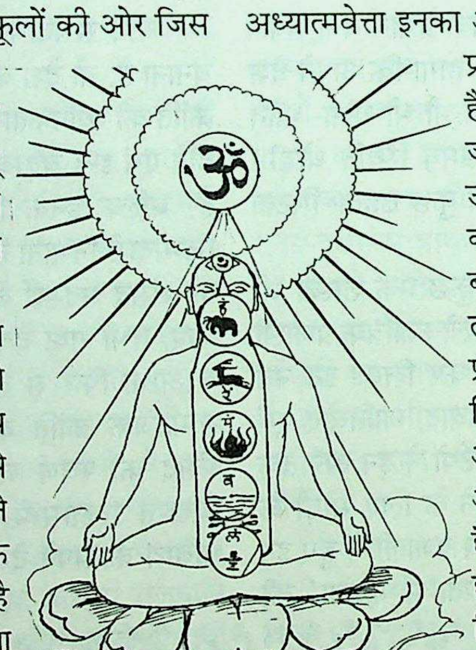

मानवीय व्यक्तित्व के तीन पक्ष हैं- भावना, विचारणा और व्यवहार। इनमें से व्यवहार शारीरिक प्रवृत्ति है, जबकि विचारणा मानसिक। इन दोनों का संबंध स्नायु तंत्र से है, किंतु भाव-संस्कार का संबंध स्नायु संस्थान से नहीं होता, वह चेतना का विषय है। अतएव उसको परिष्कृत करने की जरूरत पड़ती है। यही कारण है कि जब ईर्ष्या, राग, द्वेष, घृणा आदि संवेगात्मक तत्त्वों के नियंत्रण की बात आती है, तो शरीर विज्ञानी और मनोविज्ञानी एक प्रकार से असहाय महसूस करने लगते हैं और यह बता पाने में असमर्थ साबित होते हैं कि शरीर-मन के किन हिस्सों द्वारा किस प्रकार इनका संचालन-उत्पादन होता है। अब तक मन के संबंध में काफी शोधें मनोविज्ञान क्षेत्र में हो चुकी हैं और मस्तिष्क के बारे में भी अगणित अनुसंधान शरीरशास्त्री कर चुके एवं कर रहे हैं, पर इन दोनों विधाओं के विशेषज्ञ यह सुनिश्चित कर पाने में एक प्रकार से विफल ही रहे हैं कि आखिर मन-मस्तिष्क में से कहाँ किस अंग में ठीक-ठीक इनकी अवस्थिति है? जबकि अध्यात्मवेत्ता इनका अवस्थान स्थान भी बताते और उन्हें प्रभावित करने की पद्धति भी सुझाते हैं। कहते हैं, इनका उदात्तीकरण हो जाए, तो हर किसी के लिए ईर्ष्या को उत्फुल्लता में, राग को विराग में, द्वेष को सहयोग में और घृणा को प्रेम में बदल पाना संभव हो जाएगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नियंत्रण की प्रणाली स्थूलशरीर के ज्ञान-तंतुओं की क्रियाओं तक ही सीमित है। इसके आगे जो कुछ होता है, वह प्राकृतिक और संस्कारगत हैं एवं चेतना से संबद्ध है। इसका उदात्तीकरण अथवा शोधन ही हो सकता है, रूपांतरण का इसके लिए अन्य कोई दूसरा तरीका नहीं। इस प्रकार नियंत्रण और रूपांतरण बदलाव की ये दो पद्धतियाँ हैं। हम इन दोनों को भलीभाँति समझें और एक के स्थान पर दूसरे को प्रयुक्त न करें। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। नियंत्रण के क्षेत्र में शोधन को न लाएँ और शोधन की जगह नियंत्रण का प्रयोग न करें। यह यदि सही-सही संपन्न हुआ, तो फिर शोधन के उपरांत नियंत्रण की आवश्यकता नहीं रह जाएगी, इतना सुनिश्चित है।

देखा गया है कि व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में स्वयं को बदलना चाहता है, बुराइयों को छोड़ना चाहता है, वासनाओं को त्यागना चाहता है, आदतों को परिवर्तित

करना चाहता है, किंतु लाख कोशिशों के बावजूद उसे असफलता ही हाथ लगती है। तात्कालिक सफलता तो यदा-कदा मिल भी जाती है, पर वह चिरस्थायी नहीं होती। कारण की तलाश करने पर यही ज्ञात होता है कि जो प्रयास किए गए, वह कायिक अथवा मानसिक स्तर के थे। इस स्तर पर मात्र नियंत्रण ही संभव है, रूपांतरण नहीं। जहाँ नियंत्रण होगा, वहाँ उसके उभरने-भड़कने की संभावना भी बनी रहेगी। ऐसी स्थिति में दुष्प्रवृत्तियों को बार-बार सिर उठाने का अवसर मिलता है, इसलिए सुधार-संशोधन संबंधी नियंत्रण की पद्धति अपूर्ण एवं अधूरी है। इसकी तुलना में यदि उदात्तीकरण को अपनाया गया, तो इससे संपूर्ण एवं चिरकालिक रूपांतरण होता तथा समस्या का स्थायी समाधान मिलता। कारण कि हमारी अधिकांश प्रवृत्तियों का संबंध संस्कार चेतना से है। जब इसका परिमार्जन किया जाता है, तो उससे संबंधित समस्त चेष्टाओं का उदात्तीकरण हो जाता है। शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान इतनी गहराई में उतरकर वास्तविक निमित्त को नहीं समझ पाने के कारण ही बार-बार विफल रहते देखे जाते हैं।

काम-वासना के बारे में शरीरशास्त्र की दृष्टि बड़ी उथली है। शरीरवेत्ता स्खलन को रोक लेना ही सर्वोपरि मानते और उतने से ही ब्रह्मचर्य की अखंडता स्वीकार कर लेते हैं। मन:शास्त्री उस पर दमन के द्वारा विजय प्राप्त करने की बात कहते हैं। ज्ञातव्य है कि कुचलने का यह तरीका हर जगह सफल नहीं होता। 'काम' स्वयं में एक प्रचंड ऊर्जा है। शक्तिशाली ऊर्जा को बहुत समय तक दमित-नियंत्रित नहीं किया जा सकता। यदि किया गया, तो ऐसी विस्फोटक स्थिति पैदा होगी, जो व्यक्ति को सनकी, उन्मादी, पागल स्तर का बना देगी, इसलिए उस ऊर्जा का रूपांतरण होना चाहिए। यह रूपांतरण किस प्रकार का, कैसा हो? मनोवेत्ता यह बता पाने में असफल रहे, जबकि अध्यात्मवेत्ताओं के पास इसका सुनिश्चित उत्तर है। उनका कहना है कि यदि इस वासना के आवेग को सात्विक भावना में, ईश्वरीय अनुराग में बदल दिया गया, तो फिर 'काम' के सताने का सवाल नहीं होगा। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञानियों के 'काम-दमन' का प्रतिवाद करते हुए वे कहते हैं कि इस रीति से मन प्रत्यक्ष न सही, परोक्ष रूप से बराबर उस ओर ही लगा रहता है। जिसका अनवरत स्मरण हो रहा हो, उस ओर से मन भला कैसे हट सकता है। निश्चय ही इस नियंत्रण के माध्यम से काम-विकार का उद्दीपन ही होता रहता है। इस सूक्ष्मशास्त्र को न समझ पाने के कारण ही मनोविज्ञान का यह सूत्र कारगर न हो सका। अध्यात्म में इसकी दिशा को मोड़कर ईश्वरोन्मुख कर दिया जाता है, इसलिए सामान्यजन में जो ऊर्जा काम-विकार उत्पन्न करने में खरच होती रहती है, वही शक्ति भगवद्परायण भक्ति में स्वत: ही रूपांतरित होकर उच्चस्तरीय बन जाती है। अतएव वहाँ वासना के सताने की बात तो दूर, उसकी स्मृति तक नहीं उभरती। यही वास्तविक रूपांतरण है।

उदात्तीकरण और नियंत्रण के बीच उपर्युक्त अंतर और उनकी सीमाओं को समझ लेने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि शारीरिक स्तर पर जो हमारी चेष्टाएँ और क्रियाएँ होती हैं तथा मानसिक स्तर पर जैसा हमारा चिंतन होता है, वे सब केवल उन्हीं-उन्हीं स्तरों की परिणतियाँ हैं, सो बात नहीं। उनका न्यूनाधिक लगाव भाव-संस्थान की संस्कार-चेतना से भी होता है, इसलिए मानवीय चेष्टाओं को शुद्ध करने की जहाँ बात आती है, वहाँ उसके चित्तगत संस्कारों को भी ध्यान में रखना होगा, क्योंकि मनुष्य ८४ लाख योनियों की लंबी यात्रा के उपरांत यह शरीर धारण करता है, इसलिए चित्त में उनके भी सूक्ष्म संस्कार विद्यमान रहते हैं। जिस-जिस योनि के जैसे-जैसे संस्कार मानवीय अंतराल में जमे रहते हैं, वैसी ही उनमें प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। इस आधार पर व्यक्तित्त्व भेद की व्याख्या भी अत्यंत सरल हो जाती है और यह बताया जा सकना शक्य हो जाता है कि यदि किसी में क्रोध, किसी में घृणा, किसी में प्रेम तत्त्व प्रबल हैं, तो ऐसा क्यों है? मनोविज्ञान की इस संबंध में जो व्याख्याएँ हैं, वह अत्यधिक दुरूह हैं और अधूरी भी, कारण कि व्यवहार की व्याख्या वहाँ परिस्थिति के आधार पर की जाती है।

यदि किसी व्यक्ति में घृणा की अधिकता है, तो इस बारे में उसका कहना है कि चूँकि उसे ऐसे किसी वातावरण में रहना पड़ा हो, जहाँ तिरस्कार, अपमान, घृणा बड़े पैमाने पर मिला हो अथवा बचपन में माता-पिता, भाई-बहन से फटकार मिलती रही हो, तो इसका परिणाम उसमें घृणा की उत्पत्ति के रूप में सामने आ सकता है। प्रेम, भय, क्रोध जैसी मानवीय प्रवृत्तियों की व्याख्या इसी प्रकार करते और कहते हैं कि परिस्थिति और समाज से वह जैसा कुछ सीखता है, वैसा ही बनता और विकसित होता चला जाता है। चूँकि व्यक्ति को समाज में पग-पग पर इन मनोवैज्ञानिक तत्त्वों से पाला पड़ता है, अत: उसमें ये सभी तत्त्व विकसित हो जाते हैं। इसके आगे उसके पास और कोई समाधान नहीं, किंतु मानवीय व्यवहार इतना सरल कहाँ! वह इतनी जटिलताओं से भरा हुआ है

कि केवल परिस्थिति के आधार पर उसकी न तो व्याख्या हो सकती है, न हल हो सकता है। यदि उसे हम क्रमशः व्यवहार जगत् से विचार जगत्, विचार जगत् से भाव और संस्कार जगत् तक ले जाएँ और चिंतन करें कि ऐसा व्यवहार हुआ, तो इसका कारण क्या है? तो अंततः हम संस्कार चेतना के उस मूल बिंदु पर पहुँचेंगे जहाँ आकर मानवी आचरण को एक परिभाषा, सर्वांगपूर्ण व्याख्या तथा सर्वांगीण समाधान मिल जाता है। जब व्यवहार का उद्गम ज्ञात हो जाए, तो आदतों को मोड़ना-मरोड़ना सरल हो जाता है।

वस्तुतः हम जो कुछ भीतर हैं, वही बाहर अभिव्यक्त करते रहते हैं। हमारी संस्कार-चेतना शुद्ध अथवा मलिन जैसी भी होती है, आदतों के द्वारा, आचरण के द्वारा वह उन्हीं रूपों में प्रकट और प्रत्यक्ष होती रहती है। इसी से स्वभाव का निर्माण होता है। प्रकृति यदि हेय और निम्नस्तरीय है, तो इसके लिए भी अंतराल की वह भूमि ही जिम्मेदार है, जिसे 'अंतःकरण' कहते हैं और वह यदि उच्चस्तरीय है, तो उसका भी निमित्त वही है। अंतर सिर्फ इतना है कि एक में वह भूमि कुसंस्कारयुक्त और मलिन होती है, जबकि दूसरी स्थिति में वह एकदम निर्मल और संस्कार संपन्न होती है। व्यक्तित्व का सारा ढाँचा इसी से निर्मित है। अतः व्यक्तित्व को बदलने के लिए, उसे उत्कृष्ट बनाने के लिए हमें उसी संस्थान को परिमार्जित और परिष्कृत बनाना होगा। इसके लिए एकमात्र उपचार आध्यात्मिक ही है। जप, तप, व्रत, उपवास, ध्यान, प्राणायाम, आसन, बंध, मुद्रा आदि कुछ ऐसे साधन हैं, जिनका यदि नियमित अभ्यास किया जाता रहे, तो यह उस अपरिष्कृत आंतरिक भूमि पर सुनिश्चित असर डालते और गंदगी को आवृत्त करने की तुलना में निकाल बाहर करते हैं। रूपांतरण और उदात्तीकरण का यही एकमात्र आधार है। व्यक्तित्वसंपन्न इसी के द्वारा बना जा सकता है। अपनाया इसे ही जाना चाहिए। ◆

पिता नौकरी करते थे। उन्हें तीन रुपये मासिक वेतन मिलता था। परिवार बड़ा होने से तीन रुपये में मासिक खरच चलाना मुश्किल था। ऐसी विपन्न स्थिति में बालक ईश्वरचंद्र की पढ़ाई का प्रबंध कैसे हो? पिता की छाती भर आती थी पुत्र की पढ़ने की उमंग और अपनी विवशता देखकर।

अपने पिता की विवशता देखकर पढ़ाई के लिए ईश्वरचंद्र ने रास्ता निकाल ही लिया। उसने गाँव के उन लड़कों को मित्र बनाया, जो पढ़ने जाते थे। उनकी पुस्तकों के सहारे उसने अक्षर ज्ञान कर लिया। एक दिन कोयले से जमीन पर लिखकर अपने पिता को दिखलाया। ईश्वरचंद्र की विद्या के प्रति लगन देखकर पिता ने तंगी का जीवन जीते हुए भी उसे गाँव की पाठशाला में भरती करा दिया। गाँव के स्कूल की सभी परीक्षाएँ ईश्वर ने प्रथम श्रेणी में पास कीं। आगे की पढ़ाई प्रारंभ करने में आर्थिक विवशता आड़े आ रही थी। ईश्वरचंद्र ने स्वयं अपनी राह बनाई और आगे पढ़ने के लिए माता-पिता से केवल आशीर्वाद भर माँगा। उसने कहा, आप मुझे किसी विद्यालय में भरती भर करा दें। फिर मैं आपसे किसी प्रकार का खरच नहीं माँगूँगा।

तदनुसार पिता ने ईश्वरचंद्र को कोलकाता के एक संस्कृत विद्यालय में भरती करा दिया। विद्यालय में ईश्वरचंद्र ने सेवा, लगन और परिश्रम, प्रतिभा के बल पर शिक्षकों को प्रसन्न कर लिया। उनकी फीस माफ हो गई। पुस्तकों के लिए अपने साथियों के साझीदार हो गए और पढ़ाई से बचे समय में मजदूरी कर गुजारे का प्रबंध करने लगे। इस अभावग्रस्तता में ईश्वरचंद्र ने इतना परिश्रम किया कि उन्नीस वर्ष की आयु में पहुँचते-पहुँचते उन्होंने व्याकरण, साहित्य, स्मृति तथा वेदशास्त्र में निपुणता प्राप्त कर ली। यही युवक आगे चलकर 'ईश्वरचंद्र विद्यासागर' के नाम से विख्यात हुआ।

लड़ें अब एक लड़ाई और, अँधेरे से

हर साल दीपावली पर भारत माता एक नए प्रकाश पुंज के अवतरण की प्रतीक्षा करती है। ऐसा प्रकाश पुंज जो उसकी सौ करोड़ संतानों के घर-आँगन के साथ उनके मन-आँगन में भी उजियारा फैला सके। हर साल की तरह यह प्रतीक्षा इस बार भी ४ नवंबर २००२, सोमवार की साँझ को फुलझड़ियों की जलती-बुझती रोशनी और दीयों की टिमटिमाहट के बीच रहेगी। हजारों साल से चले आ रहे ज्योति पर्व पर देश की दीवारें तो जगमगा जाती हैं, पर माटी के सभी पुतलों (आज के इंसान) को माटी के ये दीप अभी तक पूरी तरह से आलोकित नहीं कर पाए। इस बारे में प्रश्नचिह्न कई हैं, जिन्हें अपने उत्तरों की प्रतीक्षा है।

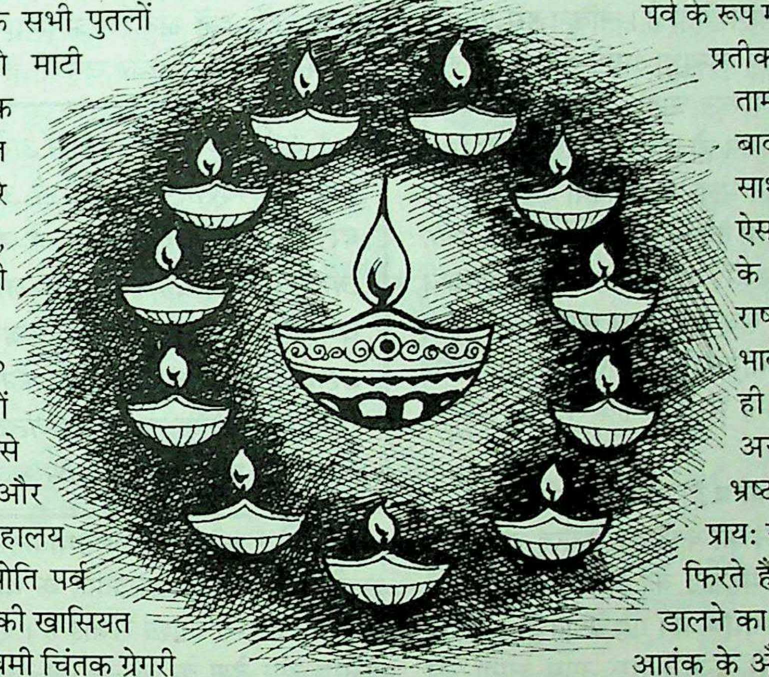

अपनी ३६० तिथियों, १२ संक्रांतियों तथा ७ वारों के योग से हजारों व्रतों, पर्वों और उत्सवों के सजीव संग्रहालय भारत देश में यह ज्योति पर्व कुछ खास ही है। इसकी खासियत को देखकर एक पश्चिमी चिंतक ग्रेगरी बैटसन ने यहाँ तक कह दिया कि 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास पुस्तकों के पृष्ठों में नहीं, बल्कि दीपावली के दीयों की रोशनी में लिखा है।' जब यह रोशनी संभवत: पहली बार जली थी, तब इसकी प्रखर आभा कुछ विशेष ही थी, परंतु बीते कुछ सालों से यह धीमी, फीकी और मद्धिम होती जा रही है। पुराण कथा कहती है कि दीवाली के दीये पहली बार मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के स्वागत में जले थे। तब इन मिट्टी के दीयों में उनके शौर्य का तेज प्रकाशित हुआ था। वही शौर्य जिसके प्रभाव और प्रताप से रावणी अनाचार और आतंक का अंधकार मिटा था। वही महाशौर्य जिसके बलबूते प्रभु श्रीराम ने 'निसिचर हीन करौं महि' का अपना लोकविश्रुत प्रण पूर्ण किया था।

रावण के आतंक पर श्रीराम की विजय मात्र एक पुराण कथा नहीं, बल्कि भारत देश का जीवित, अमर और अमिट इतिहास है.। यह महातपस्वी श्रीराम की रावण की विलासी जीवन शैली पर विजय थी। यह लोकनायक श्रीराम की आतंक के महाखलनायक रावण पर विजय थी। राम की रावण पर विजय के बाद अयोध्या आगमन पर नागरिकों ने दीपावली को आलोक पर्व के रूप में मनाया। तभी से यह दीपोत्सव राष्ट्र के विजय पर्व के रूप में मनाया जाता है। इसके प्रतीक और परंपरा के सारे ताम-झाम एवं सरंजाम के बावजूद इसकी अर्थवत्ता एवं सार्थकता कहीं खो गई है। ऐसा लगता है कि भारत देश के किसी लोकनायक एवं राष्ट्रनायक में विजय की भावना, साहस एवं उत्साह ही नहीं बचा है। अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार एवं भ्रष्टाचार हर रोज, हर कहीं प्राय: सभी को चुनौती देते घूमते फिरते हैं। उनकी नाक में नकेल डालने का साहस किसी में नहीं है। आतंक के अँधेरे की दहशत से समूचे राष्ट्र की आम जनता थर-थर काँप रही है। उसे कोई राम ढूँढ़े नहीं मिल रहा है।

बात आतंकवाद तक ही थमी हुई नहीं है। इस राष्ट्रव्यापी अँधेरे के आयाम अनेकों हैं। आजादी का छठवाँ दशक लग जाने के बाद भी देश के वास्तविक विकास की दशा कुछ खास सुधर नहीं पाई है। हाँ सुधार के बदलते हुए आँकड़े जरूर गिनाए जाते हैं। असलियत यही है कि अपना देश हरित क्रांति एवं श्वेत क्रांति के युग में प्रविष्ट होकर आज जहाँ पहुँच गया है, वहाँ आम आदमी के हिस्से में केवल महँगाई और अभाव ही आया है। गरीब और अमीर आदमी के रिश्तों में खटास कुछ ज्यादा ही बढ़ी है। राष्ट्रीय आबादी का एक बड़ा हिस्सा इस इक्कीसवीं

सदी में भी गरीबी का जीवन जीने के लिए मजबूर है। सचाई यही है कि देश का आम आदमी अँधेरे का भारी-भरकम बोझ ढोते हुए अपनी जिंदगी की यात्रा कर रहा है। राष्ट्रव्यापी सूखे के इस विषम काल में बाहर की थोड़ी देर की रोशनी उसके अंदर के घर को कैसे आलोकित कर सकती है? आज के लोकनायकों एवं राष्ट्रनायकों के हृदय प्रदेश जब तक ज्योतित नहीं होंगे, तब तक यह ज्योति पर्व यूँ ही प्रश्नों के कटघरे में खड़ा रहेगा। फुलझड़ियों की रंग-बिरंगी चिनगारियाँ केवल आम आदमी का दिल जलाने का काम करेंगी।

इस पावन पर्व पर माता लक्ष्मी एवं विघ्नविनाशक गणेश के पूजन का विधान है। वेद-पुराण एवं शास्त्रों में इस पूजन की अनेकों रीतियाँ भी मिलती हैं, जिसमें से कुछ का पालन भी हर साल होता है। लेकिन इस प्रक्रिया में कहीं कोई त्रुटि जरूर है, अन्यथा अपने राष्ट्र से विजय, समृद्धि एवं सद्बुद्धि यूँ न रूठ जाती। कमी शायद पूजन करने वालों में है, उनका धन तो काला है ही, उनके दिल भी काले हैं। ऐसों का पूजन भला माता लक्ष्मी कैसे स्वीकार करें। राष्ट्रीय विघ्नों को जन्म देने वालों से भला विघ्ननाशक गणेश किस तरह से प्रसन्न हों। भगवती लक्ष्मी एवं भगवान गणेश तो तभी प्रसन्न हो सकते हैं, जब काले धन के ढेर पर बैठे काले चेहरे वाले धनिक नहीं, बल्कि आम आदमी निर्मल आस्था के साथ उन्हें समवेत भाव से पूजें, समवेत स्वरों में पुकारें।

इसे अपना राष्ट्रीय दुर्भाग्य ही कहेंगे कि आज दीपपर्व की ज्योति प्रायः काले धन की कालिख में कैद होकर रह गई है। यह काला धन, महँगाई का मौसेरा भाई है। ये दोनों मिलकर कंगाली एवं गरीबी की राह बनाते हैं, इसलिए जीवन के तिमिर मार्गों से गुजरते हुए आम लोगों को ज्योति पर्व कितना रोशन कर सकता है, यह बड़ा ही कँटीला और रहस्यमय प्रश्न है। इसका सही समाधान केवल वैचारिक क्रांति में ही है। विचार क्रांति के दीप ही इस अंधव्यवस्था को चुनौती दे सकते हैं। शांतिकुंज के संस्थापकों ने अपने जीवनकाल में इसी विचार क्रांति को जन्म दिया था और उन्होंने अपने तप-तेज से विचार क्रांति के अनेकों दीप जलाए थे। इन दीपों से ज्योति लेकर थोड़े से प्रयास-पुरुषार्थ से न केवल अपने घर-आँगन, बल्कि अपने गाँव-शहर को भी जगमगाया जा सकता है।

इसके लिए हमें आज ठीक उसी तरह की हिम्मत करनी होगी, जैसी कि आजादी के समय हमारे पुरखों ने की थी। आजादी के पहले गुलामी का अँधेरा था। इस गुलामी के अँधेरे के खिलाफ देश का हर छोटा-बड़ा आदमी जैसे बन पड़ा, लड़ रहा था। आजादी की लड़ाई देश के आम आदमी की लड़ाई बन गई थी। सभी के सामने यह स्पष्ट था कि किससे लड़ना है, किस पर प्रहार करना है? इस महासंघर्ष का सुखद परिणाम भी हमें मिला। यदि आज के दौर में फिर से कुछ वैसा ही सुखद परिणाम पाना है, तो कुछ वैसा ही संघर्षशील होना पड़ेगा। फिर से एक लड़ाई लड़नी पड़ेगी, देशभर में फैले हुए अँधेरे से लड़ाई। अँधेरे को फैलाने वाली शक्तियों से लड़ाई।

यह ठीक है कि गरीबी, बेकारी, भ्रष्टाचार, अनाचार एवं आतंक हद से ज्यादा बढ़ चुका है, पर हमारे राष्ट्र में प्रबल पुरुषार्थ के बीज अभी भी हैं, भले ही ये इन दिनों सोए हुए हों। इन्हें अंकुरण के लिए केवल थोड़े से खाद-पानी की जरूरत है और जरूरत है विचार क्रांति के ऐसे प्रकाश पुंज की जो टिमटिमाकर बुझ न जाए, बल्कि आलोकित रहे। विचार क्रांति के थोड़े से दीपों में ही इस राष्ट्र की समस्त आशा सँजोई है। एक दीप से दूसरा दीप जलेगा और देश के घर-आँगन ही नहीं खेत, खलिहान, गाँव-शहर और प्रांत सबके सब जगमगाने लगेंगे। इस प्रयास के बिना यह उल्लास एवं आलोक पर्व प्रश्नों के कटघरे में ही खड़ा रहेगा, क्योंकि मिट्टी के दीये केवल थोड़ी देर के लिए घर-आँगन को ही रोशन कर पाते हैं। मन-आँगन में उजियारा फैलाने के लिए तो विचार क्रांति के ही दीप चाहिए। धनतेरस से लेकर यमद्वितीया तक के पर्वों से बना यह महापर्व भी सार्थक होगा, जब हम अपने अंदर के अंधकार को साफ कर उसे अकलुष बनाएँ। साथ ही यह समझें कि शील से प्राप्त लक्ष्मी ही देवभूमि भारत और यहाँ की देवसंस्कृति को अभीष्ट है। अत्याचारों से बनी सोने की लंका नहीं। इस सार्थक समझ के बिना इस महापर्व की मांगलिक भावना सदा ही प्रश्नचिह्नित बनी रहेगी। *

> *अभिमन्यु चक्रव्यूह में अकेला ही घिरा पड़ा था, सब दिशाएँ शत्रुओं से अवरुद्ध थीं। ऐसी दशा में भी अर्जुन पुत्र ने समय की महती आवश्यकता और न्याय-नीति को विजयी बनाने की ललक में वह सब कुछ किया, जो उसके बलबूते था। इस संदर्भ में उसे प्राण गँवाने पड़े, पर इतिहासकार अनंतकाल तक उसके यशगान की विजय दुंदुभि बजाते रहेंगे।*

संपत्ति से नहीं, स्वतंत्रता से व्यक्ति होता है सम्राट्

सम्राट् समुद्रगुप्त पिछले कई दिनों से चिंता में डूबे हुए थे। दरबारी और सामंतगण अनेक प्रयत्नों के बावजूद उनकी चिंता का कारण नहीं खोज पा रहे थे। उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि अब भला सम्राट् की चिंता का कारण क्या हो सकता है ? उत्तरापथ के साथ दक्षिणापथ के भी राजाओं को जीता जा चुका है। सम्राट् की महाकीर्ति का गौरवगान करने वाले प्रयाग के स्तंभ अभिलेख की स्थापना हो चुकी है। समस्त दिशाओं में यह सत्य गूँज चुका है कि सम्राट् समुद्रगुप्त समूची भारत मेदिनी के महानतम् सम्राट् हैं। मनीषी और विद्वान उनके शासन को भारत का स्वर्णयुग कहते नहीं थकते। अपनी भुवन विख्यात समस्त उपलब्धियों के बावजूद सम्राट् चिंतित हैं, कारण कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

हालाँकि कारण न समझ में आने के बावजूद सम्राट् इन दिनों चिंता में आकंठ डूबे हुए थे। दरअसल चिंताएँ जब डुबाती हैं, तो पूरा ही डुबाती हैं, क्योंकि एक चिंता जिस द्वार-दरवाजे से भीतर प्रवेश करती है, ठीक उसी द्वार से और भी चिंताएँ न चाहने पर भी प्रवेश कर जाती हैं। जो द्वार एक को मार्ग देता है, वह अनजाने में ही अनेकों को मार्ग दे देता है, इसीलिए हमेशा ही चिंताओं की भीड़ आती है। कभी कोई एक अकेली चिंता से नहीं मिला करता।

यही यथार्थ सम्राट् समुद्रगुप्त को पिछले कई दिनों से बुरी तरह से साल रहा था। वह सोच रहे थे कि मनुष्य सम्राट् होना चाहता है, शक्ति और स्वतंत्रता के लिए, किंतु साम्राज्य मिलने पर उसे पता यही चलता है कि सम्राट् से ज्यादा अशक्त, परतंत्र और पराजित व्यक्ति कोई दूसरा नहीं है, क्योंकि दूसरों को दास बनाने वाला व्यक्ति अंततः खुद ही दासानुदास हो जाता है। सचाई यही है कि हम जिसे बाँधते हैं, उससे हम खुद भी बँध जाते हैं। अपनी स्वतंत्रता के लिए दूसरों की दासता से मुक्ति ही नहीं, दूसरों को दास बनाने की वृत्ति से भी मुक्ति जरूरी है।

सम्राट् भी स्वयं को आजकल बहुत ही बँधा हुआ महसूस कर रहे थे। उन्हें अपने दिग्विजय अभियानों की असारता अनुभव हो रही थी। वह इस सत्य की अनुभूति कर रहे थे कि जीतने तो वह स्वर्ग को निकले थे, लेकिन जीतने पर केवल नरक का सिंहासन हाथ लगा है। शायद यथार्थ यही है कि अहंकार जो कुछ भी जीतता है, वह आखिरकार नरक ही साबित होता है। अहंकार की तो औकात ही नहीं है कि वह स्वर्ग को जीत सके, क्योंकि स्वर्ग तो वहीं संभव है, जहाँ अहंकार नहीं हो।

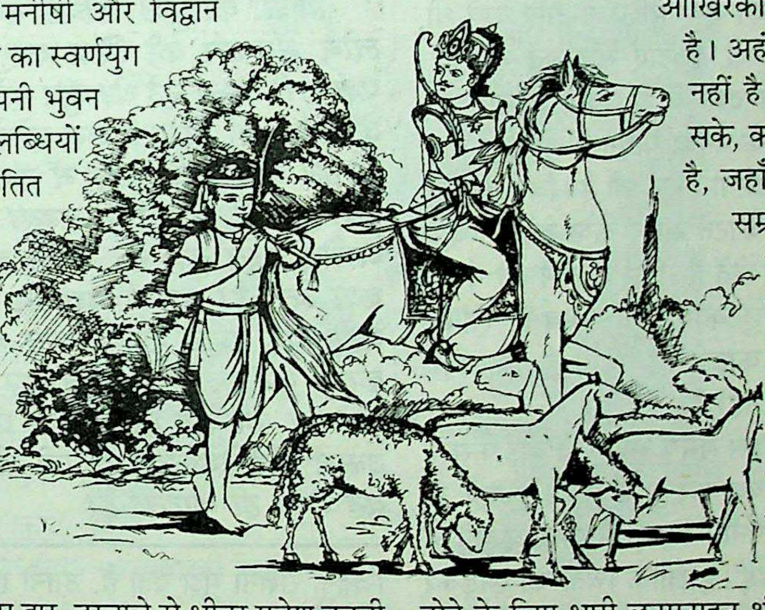

सम्राट् अब इस स्वयं जीते हुए नरक से छुटकारा पाना चाहते थे, लेकिन स्वर्ग को पाना कठिन, गँवाना सरल है, जबकि नरक को हासिल करना सरल और गँवाना कठिन है। समुद्रगुप्त में अब अपनी चिंताओं से मुक्त होने के लिए भारी छटपटाहट थी। नरक के सिंहासन पर बैठे रहना भला किसे सुहाता है, लेकिन जो सिंहासन पर बैठे रहना चाहते हैं, उन्हें नरक के सिंहासन पर बैठना ही पड़ता है। सत्य तो यही है कि स्वर्ग में कोई सिंहासन ही नहीं है। नरक के सिंहासन ही दूर से स्वर्ग के सिंहासन नजर आते हैं। रात-दिन, सोते-जागते समुद्रगुप्त को इसी सत्य की अनुभूति हो रही थी। वह अपनी चिंताओं से जूझ रहे थे।

चिंताएँ तो चिंताएँ हैं, एक किसी तरह से जाती है, तो हजार नई आ धमकती हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त भी चिंताओं से छुटकारा पाने के साथ चक्रवर्ती सम्राट् होने का सुख भी उठाना चाहते थे। पहले कभी उन्होंने सोचा था कि शायद चक्रवर्ती सम्राट् होकर चिंताओं से छुटकारा मिल जाए,

परंतु ऐसे निष्कर्ष निकालकर मनुष्य अपनी मूढ़ता ही प्रमाणित करता है। सम्राट् को रोज नए राज्य चाहिए थे और वह उन्हें मिल भी गए। कुछ सालों पहले वह सोचा करते थे कि साँझ का अस्त होता सूरज अपनी साम्राज्य सीमा को वहाँ न पावे, जहाँ उसने सुबह उगते समय पाया था। उन्होंने चाँदी की रातों में सोने के सपने देखने की कल्पनाएँ की थीं। उनकी ये कल्पनाएँ साकार भी हुईं और तब उन्होंने जाना कि जीवन के लिए ऐसी रातें और ऐसे सपने बहुत घातक हैं, क्योंकि चाँदी की रातें आत्मा को अँधेरे में डुबाती हैं और सोने के सपने प्राणों में जहर घोलते हैं। महत्त्वाकांक्षा की मदिरा से आई बेहोशी को शायद मौत ही तोड़ पाती है।

सम्राट् के जीवन में अब साँझ उतरने लगी थी। जीवन दिवस उतार पर था। मौत के संदेश और संकेत उन्हें सुनाई और दिखाई पड़ने लगे थे। बड़ी मुश्किल आन पड़ी थी, शक्ति रोज कम हो रही थी, चिंताएँ रोज बढ़ रही थीं। उनके प्राण बड़ी विपन्न दशा में थे। क्या किया जाए, जीवन की रीति यही है कि मनुष्य यौवन में जो बीज बोता है, उसकी फसल उसे काटनी ही पड़ती है। विष के बीज बोते समय नहीं, फसल काटते समय कष्ट देते हैं। बीज में ही जो दुःखों को देख लेते हैं, फिर वे बोने की गलती नहीं करते। बीज से तो छुटकारा पाना संभव है, लेकिन बोने के बाद तो फसल काटनी ही पड़ती है, फिर बच निकलने का कोई उपाय नहीं है।

सम्राट् समुद्रगुप्त भी इस समय अपनी ही बोई फसलों के बीच खड़े थे। ऐसे में क्या करें, उन्हें समझ में नहीं आ रहा था। एक दिन वह अपनी चिंताओं से पीछा छुड़ाने के लिए वन की ओर चल पड़े। हालाँकि चिंता को छोड़कर भागना चिता छोड़कर भागने से भी कठिन है, क्योंकि चिता बाहर और चिंता भीतर है। भीतर के किसी तत्त्व से छुटकारा तो स्वयं को आमूल-चूल बदलने पर ही संभव है, लेकिन इस समय तो सम्राट् अपने सबसे प्रिय श्वेत-श्यामकर्ण अश्व पर बैठे भागे जा रहे थे।

अचानक उनके कानों में बंसी की सुरीली धुन पड़ी। इसमें कुछ ऐसा था कि उनकी गति थम गई। बरबस ही उन्होंने अश्व को बंसी की धुन की दिशा में मोड़ लिया। कुछ दूर जाने पर उन्होंने देखा कि पहाड़ी झरने के पास, वृक्षों के झुरमुट के तले, एक युवा चरवाहा नृत्य करता हुआ बंसी बजा रहा था। पास में ही उसकी भेड़ें बैठी थीं। बड़ा ही सुरम्य दृश्य था यह। इसे निहारते हुए सम्राट् उससे बोले, तू तो ऐसा आनंदित है, जैसे तुझे कोई साम्राज्य मिल गया हो? जवाब में वह युवक हँसता हुआ बोला, "अरे भाई, तू दुआ कर कि भगवान मुझे कोई साम्राज्य न दे, क्योंकि सम्राट् तो मैं अभी हूँ। साम्राज्य मिलने पर भी क्या कोई सम्राट् रह पाता है?"

उसकी बातों ने सम्राट् समुद्रगुप्त को हैरान कर दिया। समुद्रगुप्त की हैरानी भाँपकर वह युवक कहने लगा, "संपत्ति से नहीं, स्वतंत्रता से व्यक्ति सम्राट् होता है और सिवाय स्वतंत्रता के मेरे पास और कोई संपदा नहीं है। मैं सोचता हूँ, भला मेरे पास ऐसी कौन-सी मौलिक वस्तु नहीं है, जो सम्राट् के पास है। प्रकृति के अद्भुत सौंदर्य को निहारने के लिए मेरे पास आँखें हैं। परमात्मा के स्वरूप के बारे में चिंतन करने के लिए मेरे पास मन है। प्रभु भक्ति करने के लिए मेरे पास निर्मल हृदय है। सूरज जितनी रोशनी मुझे देता है, उतनी ही वह सम्राट् को देता है। चाँद भी मुझ पर अपनी उतनी ही चाँदनी बरसाता है, जितनी कि सम्राट् पर। प्रकृति के आँगन में खिले खूबसूरत फूलों की सुगंध भी मुझे सम्राट् से कम नहीं मिलती। फिर सम्राट् के पास ऐसा क्या है, जो मेरे पास नहीं है?"

"हाँ, मेरे पास कुछ बेकार की चीजें जरूर नहीं हैं, जिन्हें बेचारा सम्राट् ढोता रहता है। मेरे पास नहीं हैं चिंताएँ और मैं ये चाहता भी नहीं हूँ, पर इनके बदले मेरे पास ऐसा बहुत कुछ है, जो सम्राट् के पास नहीं। जैसे मेरे पास है, मेरी स्वतंत्रता, मेरा आनंद, मेरा प्रभु प्रेम।" सम्राट् समुद्रगुप्त ने उस युवक की बातें सुनकर कहा, "प्यारे युवक, तुम यथार्थ कहते हो। अपने गाँव में जाकर सबसे कहना कि स्वयं सम्राट् समुद्रगुप्त भी तेरे इस सत्य से पूर्णतः सहमत हैं।"

किसी को कुछ, किसी को कुछ देने के लिए लोग भगवान की निंदा कर रहे थे और उसे पक्षपाती ठहरा रहे थे। सुन रहे थे कोई दार्शनिक। वे लोगों को साथ लेकर खेतों पर गए। एक में गुलाब बोया था, दूसरे में तंबाकू। एक से सुगंध उठ रही थी, दूसरे से बदबू। दार्शनिक ने कहा, जमीन बहुत बुरी है। किसी को क्या, किसी को क्या देती है। इसका पक्षपात देखो। लोग बोले, नहीं, यह धरती का पक्षपात नहीं, बोने वालों के कृत्यों का फल है। हँसते हुए ज्ञानवान ने कहा, भगवान की यह सृष्टि एक प्रकार का खेत है। उसमें परिस्थितियों का जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा ही काटता है।

परिवर्तन के सोपानों से हो रहा मानवीय विकास

भावनाएँ ही मनुष्य को ऊँचा उठाती और नीचा गिराती हैं। हम अपने विकास के आरंभिक दिनों में भावनात्मक उन्नति कर चरमोत्कर्ष पर पहुँचे थे, पर अब उसी का दिन-दिन ह्रास होने के कारण नीचे गिरते जा रहे हैं। पूर्व का हमारा भावनात्मक आरोहण अब अवरोहण बन चुका है। संवेदना की दृष्टि से हम एकदम निम्न बिंदु पर पहुँच चुके हैं। यही आज की सबसे बड़ी विडंबना है।

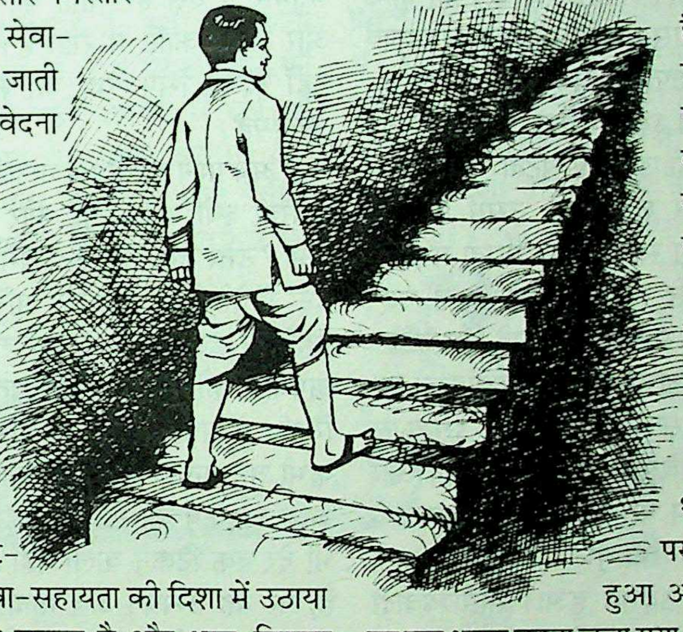

व्यक्ति के भावक्षेत्र के परिष्कार के साथ-साथ जैसे-जैसे उसका प्रसार-विस्तार होता है, उसमें तदनुरूप सेवा-सहयोग की वृत्ति भी बढ़ती जाती है। अंतःकरण जब भाव-संवेदना से लबालब भर जाता है, तो वह मानव को महामानव बना देती है, किंतु इसका आरंभिक अभ्यास परिवार में ही करना पड़ता है। परिवार के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख और उसके किसी सदस्य की कष्ट-कठिनाई को अपनी कष्ट-कठिनाई मान लेना, इसे सेवा-सहायता की दिशा में उठाया गया प्रथम चरण कहा जा सकता है और भाव-विस्तार की पहली अभिव्यक्ति।

नृतत्ववेत्ताओं का कहना है कि यदि मनुष्य की उच्चस्तरीय भावना का इतना विकास न हुआ होता, तो आज उसका अस्तित्व सुरक्षित न रह पाता और संघर्षरत स्थिति में कबका समाप्त हो गया होता। कारण कि मानव की आरंभिक स्थिति और जंगली जंतुओं के स्तर में कोई बहुत भारी अंतर रहा होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज जो बड़ा अंतर दिखलाई पड़ रहा है, वह तो क्रमिक प्रगति और परिष्कृत भाव-चेतना का परिणाम है। जब आज की विकसित बुद्धि की स्थिति में भी मानव संघर्षशीलता से बाज नहीं आता और तनिक-से हक की होड़ में मरने-मारने पर उतारू हो जाता है, तो आरंभ की अविकसित अवस्था में वह कैसा खूंखार रहा होगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। आए दिन तब छोटे-छोटे कुनबों में युद्ध और मार-काट मचते होंगे तथा रक्त की नदियाँ बहती होंगी। समय बीतने के साथ-साथ रोज-रोज की लड़ाइयों से उकताकर वे किसी ऐसी युक्ति की तलाश के लिए विवश हुए होंगे, जो उन्हें कुछ शांति दे सके, अनावश्यक संघर्ष से बचा सके और कुछ ऐसा हस्तगत करा सके, जिससे पारिवारिक कटुता में कमी आए। मानव विज्ञानी मानते हैं कि इसका सबसे उत्तम उपाय उन्हें यही प्रतीत हुआ होगा कि दूसरे की कठिनाइयों में, दुःख और दरद में सहानुभूति प्रदर्शित की जाए, सहयोग दिया जाए और स्वयं पर विपत्ति आने पर उनकी मदद ली जाए।

नृतत्वशास्त्रियों के अनुसार मनुष्य में संवेदना-विकास का यह प्रथम सोपान था। इससे स्वतंत्र परिवारों का परस्पर मिलन-समागम संभव हुआ और धीरे-धीरे यही समुदाय का रूप धारण करता चला गया। ऐसे अलग-अलग समुदायों की अपनी-अपनी विशिष्टताएँ और पहचान थीं। जब उन्हें एक-दूसरे के बारे में पता चला, तो वे पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा अपनी-अपनी विशेषज्ञता का लाभ एक-दूसरे को देने पर सहमत हो गए। समाज-निर्माण का यह आदिम स्वरूप था। कालांतर में इसी से वर्तमान समाज का जन्म हुआ। जब समाज का पूर्ण विकास हुआ, तो मानव ने विभिन्न क्षेत्रों में आपसी सहयोग की नीति अपनाई। परिवार के बाहर भी सेवा-सहकार घनिष्ठ होने लगे। संवेदना और सहानुभूति की परिधि बढ़ी, तो पहले का संकुचित परिवार और बड़ा बना और फिर धीरे-धीरे विकास करते हुए वह एक वृहत्तर परिवार बन गया। यों संरचना और संगठन की दृष्टि से था तो वह समाज ही, पर आचरण और व्यवहार

की दृष्टि से, आत्मीयता और अनुराग की दृष्टि से उसे एक वृहद् परिवार ही कहना समीचीन होगा, एक ऐसा परिवार, जिसमें उसकी समग्र उन्नति के लिए सभी का संपूर्ण विकास अभीष्ट था। कार्ल मार्क्स के शब्दों में कहें, तो इसे 'वन फॉर ऑल एंड ऑल फॉर वन' की नीति का विकास कहना चाहिए। भावनाओं की दृष्टि से आदमी की यह और उन्नत स्थिति थी।

फिर राष्ट्र और विश्व राष्ट्र का विकास हुआ। भूभाग की दृष्टि से सभी की अपनी-अपनी सीमाएँ तो थीं, पर सबके भावक्षेत्र ऐसी सीमाओं से सर्वथा मुक्त थे। यही वह काल था, जब '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' एवं '**वसुधैव कुटुंबकम्**' के सूत्र-सिद्धांत दिए गए। यह प्रतिपादन सिद्धांत मात्र बनकर नहीं रह गए, वरन् आचार-व्यवहार में दूध-पानी की तरह घुले-मिले थे। आंतरिक उत्कर्ष की दृष्टि से मनुष्य का यह चरम विकास था, जिसमें भाव-संवेदनाएँ अपना अधिकतम विस्तार प्राप्त कर चुकी थीं। इसी भाव-उत्कृष्टता के कारण युगों में इसे सर्वश्रेष्ठ 'सतयुग' कहा गया। फिर धीरे-धीरे इसकी उदात्तता घटती गई। भाव-विस्तार में कमी आई और शनैः-शनैः उसमें अनुदात्त तत्त्वों के समावेश से उसका स्तर क्रमशः गिरता गया।

हम सर्वोच्च स्थिति से लगातार नीचे गिरते गए। आत्मीयता की हमारी परिधि संकीर्ण होने लगी और घटते-घटते इतनी घट गई कि अनाचार से भरा मध्यकाल का सामंतवादी युग आ पहुँचा। साम्राज्य विस्तार के इस काल में आक्रामकता का इतना विस्तार हुआ कि अपने और परायेपन का भेद घृणित रूप धारण करने लगा। यहीं से 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का पृष्ठपोषण करने वाली लूट-खसोट की नीति का उद्भव हुआ। साम्राज्यवादी शासक विस्तारवादी ललक की पूर्ति के लिए आक्रमण-प्रत्याक्रमण के घात-प्रतिघात में निरत रहने लगे। नीति-अनीति का विचार छोड़ जिन्हें जो सूझता, वही करते और जो हाथ लगता, उसी को बड़ी मछली की तरह निगल जाते। फिर अगले शिकार के लिए आगे बढ़ते। इस क्रम में भारत को अनेक विदेशी आक्रांताओं के आक्रमण और उत्पीड़न झेलने पड़े। भारतीय राजे-महाराजे भी स्वयं इस प्रवृत्ति से अछूते न रह सके। उनमें भी इस बात की प्रतिस्पर्द्धा छिड़ी रहती कि किस प्रकार दूसरे की संपन्नता हड़पकर अपनी विपन्नता घटाई और सामर्थ्य बढ़ाई जाए। यह राजतंत्र का जमाना था।

फिर लोकतंत्र का प्रादुर्भाव हुआ, किंतु हमारा भावनात्मक पतन अब भी नहीं रुका। हम और नीचे गिरे। समय के साथ-साथ यह गिरावट बढ़ती गई और आज स्थिति यह है कि समाज पर स्वार्थांधता हावी है। इस सीमा तक कि उस ललक को पूरा करने के लिए वह किसी भी हद को पार कर जाने में जरा भी संकोच नहीं करती। जब व्यक्ति की उद्दाम लिप्सा पराकाष्ठा लाँघकर कुत्सित बनती है और अपना आतंक जमाने और वर्चस्व स्थापित करने के लिए दूसरों के न्यायोचित अधिकारों को भी छीनने से नहीं हिचकती है, तो सदा इन दिनों जैसी ही स्थिति पैदा होती है। आज आतंकवाद और उग्रवाद जिस कदर सर्वत्र सिर उठा रहे हैं और निरीहों-निरपराधों के प्राणहरण कर रहे हैं, उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि हमारा अंतःकरण पाषाणवत् कठोर हो चुका है, संवेदना सूख चुकी है और हम पशुवत् व्यवहार करने लगे हैं। भर्तृहरि ने ऐसे ही लोगों को मानवों की सबसे निचली और चौथी कोटि में रखा है। उन्हें कोई विशेष नाम तो नहीं दिया, सिर्फ यह कहकर छोड़ दिया, '*ते के न जानीमहे।*'

अब प्रश्न यह है कि मानवीय उत्कर्ष की यह दुरवस्था आखिर क्यों उत्पन्न हुई और क्यों मनुष्य का अधःपतन हुआ? उत्तर जेम्स डिल्लेट फ्रीमैन अपनी रचना 'दि हिलटॉप हर्ट' में देते हैं। वे कहते हैं, परिवर्तन संसार की नियति है। यहाँ का हर पदार्थ परिवर्तनशील है। मनुष्य भी इसका अपवाद नहीं। उसमें भी परिवर्तन जारी है। सदा एक जैसी स्थिति में बना वह भी नहीं रह सकता। यह सच है कि कभी वह उत्कर्ष की ऊँचाइयों का स्पर्श कर रहा था, तो आज अपकर्ष की खाई में पड़ा हुआ है, पर यह अवस्था भी देर तक टिकने वाली नहीं। उसका उत्थान सुनिश्चित है, पर यह उन्नयन अब मानसिक धरातल पर ही संपन्न होगा। वे कहते हैं कि आदमी का शारीरिक विकास पूर्ण हो चुका है। अब आगे उसके मानसिक विकास की संभावना ही शेष है, इसी दिशा में उसे बाकी प्रगति करनी है।

दूसरे शब्दों में कहें, तो यह मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगतियात्रा होगी। उसने जड़ पदार्थों की भौतिक उन्नति पूरी कर ली। अब उसे चेतनात्मक उत्थान संपन्न करना होगा। यह उत्कर्ष और कुछ नहीं, आत्मपरिष्कार का ही दूसरा नाम है। बोलचाल की भाषा में इसे ही उच्चस्तरीय भावनाओं का विकास कहते हैं। संपूर्ण अध्यात्म तत्त्वज्ञान इस उदात्त अवस्था को ही करतलगत करने की एक विधा है।

✻

सूर्य उपासना की प्रवहमान कालसरिता

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् (ऋग्वेद-३/६२/१०)। चौबीस अक्षरों वाले गायत्री महामंत्र की ऋग्वेद में उपस्थिति भारतवर्ष में सूर्य उपासना का प्राचीनतम ऐतिहासिक-साहित्यिक साक्ष्य है। यह इस सत्य का स्पष्ट प्रमाण है कि प्रारंभिक वैदिक युग के आने तक भारतवासी सूर्य उपासना से न केवल सुपरिचित हो चुके थे, बल्कि उसका गहन मर्म भी समझ चुके थे।

ऋग्वेद में गायत्री महामंत्र के अलावा सूर्य देवता से संबंधित पाँच अन्य सूक्त भी मिलते हैं। यही नहीं अन्य देवताओं के सूक्तों में भी सूर्य के लिए प्रयुक्त मंत्रों की संख्या इक्कीस है। इतना ही नहीं, ऋग्वेद में सूर्य की सविता, पूषा, विष्णु, मित्र, भग, विवस्वान, अर्यमन, अज एक पद, वृषाकपि, केशिन एवं विश्वानर आदि विविध रूपों में की गई स्तुति यह दर्शाती है कि भारतवर्ष में सूर्य उपासना ऋक्वैदिक काल से भी कहीं अधिक प्राचीन है, क्योंकि सूर्य उपासना के बीज अगर भारत के चिर प्राचीन प्राक् ऐतिहासिक युग में न छिपे होते, तो इनका प्रस्फुटन एवं पल्लवन प्रारंभिक वैदिक युग में देखने को न मिल पाता।

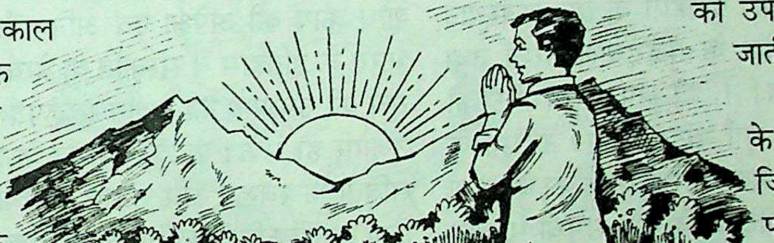

इतिहासवेत्ता ई. मैके ने सिंधुघाटी की सभ्यता के पुरावशेषों में भारतीयों द्वारा मान्य सौर प्रतीक 'स्वस्तिक' के मिलने की बात स्वीकारी है। उनके अनुसार इस तरह के कुछ अन्य सौर प्रतीक वहाँ पाई गई मुहरों में भी देखने को मिले हैं। सच तो यह है कि भारत में सूर्योपासना का इतिहास जितना प्राचीन है, उसका स्वरूप उतना ही रोचक है। सूर्योपासना का प्रारंभिक स्वरूप प्रतीकात्मक रहा है। इस प्रारंभिक युग में सूर्य का प्रतीकत्व चक्र कमल आदि से व्यक्त किया जाता था। इन प्रतीकों को विधिवत् मूर्ति की तरह प्रतिष्ठित किया जाता था। काफी बाद में भगवान सूर्य की मानव मूर्ति स्थापित करने की प्रथा चली।

यह इतिहास सत्य है कि भारतदेश के चिर अतीत में प्रारंभ की गई सूर्य उपासना की प्रवहमान कालसरिता न तो कभी बंद हुई और न कभी मंद पड़ी, बल्कि उत्तरोत्तर सूर्य उपासना का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक महत्त्व बढ़ता गया। महाभारत काल में इसका प्रचलन काफी बढ़ चला था। कुषाण काल में तो सूर्य उपासना का प्रचलन ही नहीं था, वरन् कुषाण सम्राट् स्वयं भी सूर्योपासक थे। इतिहासवेत्ताओं के अनुसार कनिष्क (७८ ई.) के पूर्वज शिव तथा सूर्य के उपासक थे। इसके पश्चात् तीसरी शताब्दी ई. के गुप्त सम्राटों के समय में भी सूर्य, विष्णु तथा शिव की उपासना का उल्लेख मिलता है। कुमार गुप्त (४१४-५५ ई.) के समय में विष्णु, शिव एवं सूर्य की उपासना विशेष रूप से की जाती थी।

स्कंदगुप्त (४५५-६७) के समय में तो बुलंदशहर जिले के इंद्रपुर नामक स्थान पर दो क्षत्रियों ने एक सूर्य मंदिर भी बनवाया। भारतीय इतिहास के विशेषज्ञों का मानना है कि गुप्त सम्राटों के काल तक सूर्य उपासना भारतवासियों की आध्यात्मिक आस्था का प्रतीक बन गई थी। उनके समय में मालवा के मंदसौर नामक स्थान में, ग्वालियर में, इंदौर में तथा बघेलखंड के आठमक नामक स्थान में निर्मित चार श्रेष्ठ सूर्य मंदिरों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उनके समय में बनी हुई सूर्य देव की कुछ मूर्तियाँ बंगाल में भी मिलती हैं।

भारतवर्ष में सूर्योपासना का यह क्रम बाद में भी जारी रहा और सातवीं ईसवी में सूर्योपासना अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। सम्राट् हर्षवर्धन के पिता तथा उनके कुछ

और पूर्वज न केवल सूर्योपासक थे, अपितु आदित्यभक्त भी थे। हर्ष के पिता के विषय में महाकवि बाण ने अपने 'हर्षचरित' में लिखा है कि वे स्वभाव से सूर्यभक्त थे तथा प्रतिदिन सूर्योदय के समय स्नान करके 'आदित्यहृदय' स्तोत्र का कई बार जप किया करते थे। हर्षचरित के अतिरिक्त अन्य कई प्रमाणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उन दिनों भारतवर्ष में सूर्य उपासना काफी व्यापक थी। इतिहास विशेषज्ञ इस सत्य को प्रमाणित करते हैं कि हर्ष के समय में प्रयाग में तीन दिन का अधिवेशन हुआ था। इस अधिवेशन में पहले दिन बुद्ध की मूर्ति प्रतिष्ठित की गई। बाद में क्रमशः दूसरे और तीसरे दिन सूर्य तथा शिव की पूजा की गई।

सूर्योपासना का यह चरमोत्कर्ष हर्ष के समय तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु बाद में भी परंपरा गतिमान रही। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार हर्ष के पश्चात् ललितादित्य मुक्तापीड़ (७२४-७६० ई.) नामक कश्मीर का राजा सूर्य का अनन्य भक्त हुआ। उसने सूर्य के 'मार्तंडमंदिर' का निर्माण कराया। इस मंदिर के खंडहरों से प्रतीत होता है कि यह मंदिर अपने समय में काफी विशाल रहा होगा। प्रतिहार सम्राटों के समय भी सूर्य-पूजा का विशेष प्रचलन था। प्रतिहारों के बाद राजस्थान के चौहान नरेशों, उत्तरप्रदेश के गाहड़वाल नरेशों तथा मध्यप्रदेश के चंदेल शासकों ने भी अपनी सूर्यभक्ति की अभिव्यक्ति करते हुई कई सूर्य मंदिर बनाए। उड़ीसा के गंगयुगीन वंश के प्रतापी शासक नरसिंह वर्मन का बनवाया हुआ विश्वप्रसिद्ध कोणार्क मंदिर उनके साथ समूची भारतीय सूर्य उपासना का प्रतीक बन गया।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के कालक्रम में (प्रारंभ से लेकर १२वीं शताब्दी) अविरल रूप से व्याप्त सूर्य उपासना ने देश को न केवल आध्यात्मिक रूप से, बल्कि सांस्कृतिक रूप से भव्यता प्रदान की। वैदिक वाङ्मय के साथ सूत्र, स्मृति ग्रंथ एवं रामायण-महाभारत महाकाव्य इसकी साक्षी देते हैं। ब्रह्मांड पुराण, विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण आदि अनेकों महापुराण एवं भविष्य पुराण व सांबपुराण आदि विविध उपपुराण इस ऐतिहासिक सत्य के साहित्यिक साक्षी हैं। महापुराणों व उपपुराणों के अतिरिक्त महाकवि कालीदास, बाणभट्ट, भवभूति, मयूर, भट्ट, नारायण, श्री हर्ष आदि कवियों ने सूर्य स्तुति से अपनी काव्य साधना को सफल बनाया है।

सूर्य देवता एवं सूर्य उपासना के स्वरूप पर यद्यपि शौनक, यास्क, सायण आदि प्राचीन आचार्यों तथा बर्गेन, हिले ब्रॉन्ट, आलेनबर्ग, ब्लूमफील्ड, ग्रिसवोल्ड, कीथ, स्वामी दयानंद, श्रीअरविंद, पं. सातवलेकर, परमपूज्य गुरुदेव आदि पाश्चात्य एवं प्राच्य विद्वानों ने साहित्यिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया है। वी. सी. श्रीवास्तव आदि इतिहास के कतिपय विशेषज्ञों ने प्राचीन भारत की सूर्योपासना पर ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक दृष्टि से कार्य किया है, परंतु अभी भी इस कार्य के कई पहलू अधूरे एवं अपूर्ण हैं। इन पर विशद् एवं व्यापक शोध कार्य की अपेक्षा एवं अनिवार्यता है, ताकि प्राचीन भारत के इतिहास व संस्कृति के प्रेरक प्रकाशपुंज भगवान सूर्य की उपासना का सर्वांग स्वरूप विश्व दृष्टि के समक्ष उजागर हो सके। गायत्री महामंत्र के उपास्य देव भगवान सविता के स्वरूप और महत्त्व पर व्यापक शोध करने के लिए देवसंस्कृति विश्वविद्यालय में एक विस्तृत शोध योजना बनाई गई है, इसकी सुपरिणति के रूप में देवसंस्कृति के प्रेरक प्रकाशपुंज भगवान सूर्य के अलौकिक तेज से समग्र संस्कृति प्रभामय हो सकेगी। ★

मेधा और प्रतिभा का उपयोग लोककल्याण में होना चाहिए, यह सिद्धांत जैसे ही महापंडित कुमारजीव के हृदय में घुसा, वैसे ही वे धर्म प्रचार के लिए परिभ्रमण करने चल पड़े।

कुमारजीव चीन चले गए। वहाँ उनने और साथी बनाए और बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद कर डाला, साथ ही भ्रमण करके प्रचार करने लगे। उनके प्रयत्न से स्थिति ऐसी बन गई थी, मानो बौद्ध धर्म का केंद्र भारत न होकर चीन ही हो। बौद्धमठों का निर्माण, धर्मशास्त्रों का अनुवाद तथा प्रचारकों की एक बड़ी सेना का गठन करने के साथ-साथ लाखों शिष्य बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए। इस सफलता में प्रधानतया कुमारजीव की ही प्रमुख भूमिका थी। इस पुण्यकार्य से कुमारजीव स्वयं तो इतिहास में एक वंद्य पुरुष बन ही गए, अन्य सामान्यजनों के लिए एक प्रकाश स्तंभ के रूप में कीर्ति पा गए।

गुरुगीता-४

परमसिद्धि का राजमार्ग

गुरुगीता के महामंत्र साधक-जीवन के महासूत्र हैं। इन्हें अपनाकर, इनकी साधना करके साधक का अध्यात्म राज्य में प्रवेश सुनिश्चित है, पर ध्यान रहे गुरुगीता के इन महामंत्रों की साधना करने का मतलब कतिपय क्रियाओं अथवा कर्मकांडों को कर लेना भर नहीं है। इनकी साधना करने का अर्थ है—उस भावदशा में अपनी संपूर्णता एवं समग्रता से जीना, जिसका कि ये महामंत्र बोध कराते हैं। पिछली कड़ी में गुरुभक्त साधकों ने गुरुतत्त्व के बारे में पढ़ा था। परमगुरु भगवान सदाशिव के उन वचनों को आत्मसात् किया था, जिसमें उन्होंने कहा था कि गुरुतत्त्व ही साधक के जीवन का सार-सर्वस्व है। इसके अभाव में यज्ञ, व्रत, तप, दान, जप और तीर्थ अपना अर्थ खो देते हैं। यही नहीं अपनी प्रबुद्ध आत्मा और सद्गुरु भिन्न नहीं हैं। ये दोनों एक ही हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। इस तत्त्व के सत्य को जानने से ही साधक के जीवन में सत्य ज्ञान का उदय होता है।

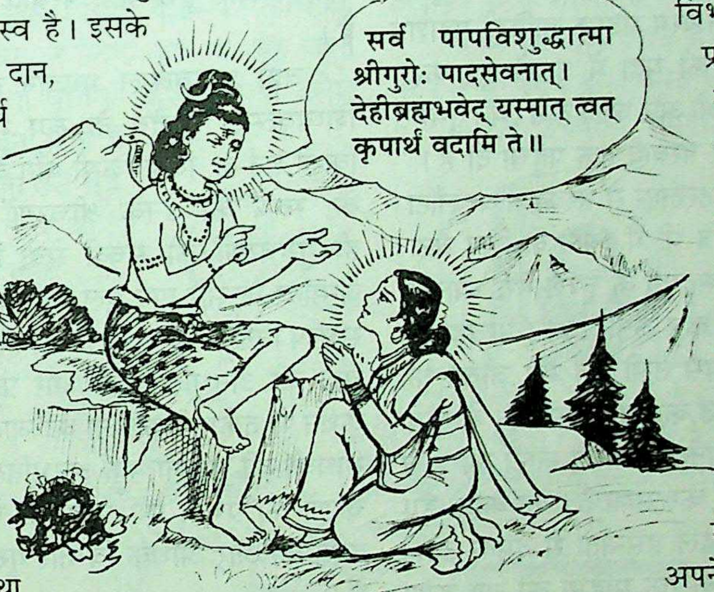
सर्व पापविशुद्धात्मा
श्रीगुरोः पादसेवनात्।
देहीब्रह्मभवेद् यस्मात् त्वत्
कृपार्थं वदामि ते॥

गुरुतत्त्व की इस कथा को आगे बढ़ाते हुए देवाधिदेव भगवान महादेव आदिमाता पार्वती से कहते हैं-

सर्व पापविशुद्धात्मा श्रीगुरोः पादसेवनात्।
देहीब्रह्मभवेद् यस्मात् त्वत् कृपार्थं वदामि ते॥

सद्गुरु के चरणों की सेवा से साधक सारे पापों से मुक्त होकर विशुद्धात्मा हो जाता है। (भगवान शिव, माता पार्वती से कहते हैं, यही नहीं देवि!) मैं तुम्हें कृपापूर्वक बता रहा हूँ, देहधारी जीव ब्रह्मभाव को उपलब्ध हो जाता है।

गुरुचरणों की महिमा के बारे में कहे गए, भगवान महादेव के ये वचन साधकों के जीवन का संपूर्ण सत्य है। समस्त सृष्टि का आध्यात्मिक इतिहास साक्षी है कि अनेकों बार इस महामंत्र में निहित सत्य को अपने साधना जीवन में खरा प्रमाणित किया है। महान साधकों ने दुर्लभतम ब्रह्मतत्त्व का बोध इस महामंत्र की साधना से पाया है। ऐसी सैकड़ों, हजारों और लाखों घटनाओं में हम यहाँ केवल एक घटना की चर्चा कर रहे हैं। इसकी चर्चा विश्वविख्यात महान योगी स्वामी योगानंद ने योगी कथामृत में भी की है।

सद्गुरु के चरणों की महिमा का बोध कराने वाली यह अनुभूति भरी कथा महान गुरु योगिराजाधिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी और उनके विभूतिवान शिष्य स्वामी प्रणवानंद के बारे में है। स्वामी प्रणवानंद ने स्वयं अपने मुख से अपनी इस अनुभूति को योगानंद को सुनाया था। उन्होंने उनसे कहा, गुरु की कृपा कितनी अमूल्य होती है, वह सुनो। मैं उन दिनों नित्य रात्रि को आठ घंटे ध्यान किया करता था। उस समय मेरा समूचा दिन अपने रेलवे कार्यालय में बीत जाता था। वहाँ मुझे अपने क्लर्क होने का दायित्व निभाना पड़ता था। उन दिनों मेरे लिए यह ड्यूटी बड़ी थकाऊ और उबाऊ थी। फिर भी मैं बड़े ही मनोयोगपूर्वक हर रात को ध्यान करता था। प्रत्येक रात्रि को आठ घंटे की अविराम साधना मेरी जीवनचर्या का अनिवार्य और अविभाज्य अंग बन गई।

इसके अद्भुत परिणाम भी मेरे जीवन में आए। विराट् आध्यात्मिक अनुभूति से मेरी समूची अंतर्चेतना उद्भासित हो उठी, परंतु अभी भी उस अखंड सच्चिदानंद और मेरे बीच एक झीना परदा हमेशा बना रहता था। यहाँ तक कि अतिमानवी निष्ठा के साथ साधना करने के बावजूद भी मैं ब्रह्मतत्त्व से एकाकार नहीं हो सका। इस बारे में किए गए मेरे सारे प्रयास-पुरुषार्थ निष्फल गए। तभी मुझे ध्यान

आया कि साधक के लिए सद्गुरु चरणों की कृपा ही परमपूर्णता का परिचय-पर्याय बनती है। यही सोचकर एक दिन सायंकाल मैंने लाहिड़ी महाशय के चरणों का आश्रय ग्रहण किया। उनके आशीष की आकांक्षा के साथ मेरी प्रार्थना चलती रही, ''गुरुदेव, मेरी ईश्वर में समा जाने की आकांक्षा इतनी तीव्र वेदना का रूप धारण कर चुकी है कि उस परम प्रभु का प्रत्यक्ष दर्शन किए बिना मैं अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकता।''

लाहिड़ी महाशय हल्के से मुसकराए और बोले, भला इसमें मैं क्या कर सकता हूँ। तुम और गहराई से ध्यान करो। मैंने उनके चरण पकड़कर बड़े ही करुणभाव से पुकार की, ''हे मेरे प्रभु, मेरे स्वामी, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। आप इस भौतिक कलेवर में मेरे सम्मुख विद्यमान हैं। अब मेरी प्रार्थना को स्वीकारें और मुझे आशीर्वाद दें कि मैं आपका आपके अनंत रूप में दर्शन कर सकूँ।'' प्रसन्न भाव से शिष्य वत्सल परम सद्गुरु लाहिड़ी महाशय ने अपना हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में उठाते हुए कहा, ''जाओ वत्स, अब तुम जाओ और ध्यान करो। मैंने तुम्हारी प्रार्थना परम पिता परमेश्वर परब्रह्म तक पहुँचा दी है।''

अपरिमित आनंद और उल्लास से भरकर मैं घर लौटा। नित्य की ही भाँति उस रात्रि भी मैं ध्यान के लिए बैठा। बस फर्क थोड़ा था, आज सद्गुरु के चरण मेरी ध्यानस्थ चेतना के केंद्र थे। वे चरण कब अनंत विराट् परब्रह्म बन गए, पता ही नहीं चला। बस उसी रात मैंने जीवन की चिरप्रतीक्षित परमसिद्धि प्राप्त कर ली। उस दिन से माया का कोई भी परदा उस परमानंदमय जगत् स्रष्टा की छवि को मेरे नेत्रों से ओझल नहीं कर सका है। यह कहते हुए स्वामी प्रणवानंद का मुखमंडल प्रसन्नता से दमक उठा। स्वामी योगानंद लिखते हैं कि गुरु महिमा की यह कथा सुनकर मेरा भय भी नष्ट हो गया।

योगानंद द्वारा कही गई यह योगकथा गुरुचरणों की महिमा को प्रकट करती है। गुरुचरण ही अपने तात्त्विक रूप में परब्रह्म का स्वरूप हैं, लेकिन इसे जाना और समझा तभी जा सकता है, जब साधक अपनी गुरुभक्ति की साधना के शिखर पर आरूढ़ हो गया हो। एक संत कवि ने इस तथ्य को एक पंक्ति में कहने की कोशिश की है, ''श्री गुरुचरणों में नेह। साधन और सिद्धि है गेह।'' अर्थात गुरुचरणों में अनुराग साधना भी है और सिद्धि भी। साधना के रूप में इसका प्रारंभ होता है, तो इसके तात्त्विक स्वरूप के दर्शन में इसकी सिद्धि की चरम परिणति होती है। हममें से अनेक गुरुपद अनुरागी यह जानना चाहेंगे कि इस साधना की शुरुआत कैसे करें? तो इसका सरल उत्तर है कि गुरुचरणों के भावभरे ध्यान से। भावभरे ध्यान का मतलब इस अटल विश्वास से है कि सद्गुरु का स्थूल रूप ही और कुछ नहीं, परब्रह्म का ही घनीभूत प्राकट्य है।

वही भक्तवत्सल भगवान हमारे कल्याण के लिए शिष्यवत्सल गुरुदेव के रूप में प्रकट हुए हैं। बिना किसी शर्त के, बिना किसी माँग के, बिना किसी अधिकार के, स्वयं को उनके श्रीचरणों में निछावर कर देना ही गुरुचरणों की सच्ची सेवा है। इससे हमारे जन्म-जन्मांतर के सारे पाप धुल जाते हैं और आत्मा का विशुद्ध स्वरूप निखरने लगता है। साथ ही अंतर्चेतना में अयमात्मा ब्रह्म की अनुभूति प्रकट और प्रत्यक्ष हो जाती है। इस कथन में तर्कपूर्ण कल्पना का जाल नहीं, बल्कि असंख्य साधकों की साधनात्मक अनुभूतियाँ सँजोई हैं। सद्गुरु के चरणों का प्रभाव एवं प्रताप ही ऐसा है। इसकी महिमा कथा का और अधिक विस्तार गुरुगीता की अगली कड़ी में।

*

राजा हर्षवर्धन स्थानेश्वर के शासक थे। उन्हें विवशता में आक्रांताओं से जूझना और परास्त करने का कदम भी उठाना पड़ा, पर वस्तुतः उनकी संपदा, क्षमता और कल्पना धर्मोत्कर्ष में निरंतर लगी रही। हर पाँचवें वर्ष वे समस्त संप्रदायों के धर्मावलंबियों को एकत्रित करते, जिससे फूट-फिसाद छोड़कर मिल-जुलकर धर्म भावनाओं को आगे बढ़ा सकना संभव हो सके। तक्षशिला विश्वविद्यालय में इस की व्यवस्था विशेष रूप से उन्होंने इसीलिए की थी।

उनके राज्य की आजीविका भी धर्म कार्यों में ही लगती थी। उन दिनों प्रगतिशील बौद्ध धर्म ही माना जा रहा था। उनने समय के अनुरूप विवेक और आदर्श को महत्त्व देते हुए बौद्ध धर्म का ही परिपोषण किया एवं अपना सब कुछ धर्म-धारणा के परिपोषण हेतु, मूढ़ मान्यताओं के निवारण हेतु प्रचारकार्य में नियोजित कर दिया।

अंतर्जगत् की यात्रा का विज्ञान

वृत्तियों का जागरण व सुनियोजन हो

अंतर्यात्रा का विज्ञान अब योग साधकों के लिए उनकी साधना का संगी-साथी और सच्चा सहचर बन चुका है। साधक-समुदाय में अनेकों ऐसे हैं, जो प्रत्येक महीने प्रकाशित होने वाली इसकी हर कड़ी को दिन में कम-से-कम एक बार जरूर पढ़ते हैं। उस पर गहराई से चिंतन, मनन एवं निदिध्यासन करते हैं, साथ ही भावभरी प्रतीक्षा करते हैं अगले महीने प्रकाशित होने वाली कड़ी की। जिससे कि योग साधना एवं तत्त्वदर्शन के एक नए आयाम में प्रवेश हो सके। जीवन की अनूठी अंतर्यात्रा में एक कदम और आगे बढ़ा जा सके। पिछली कड़ी में समाधिपाद के पाँचवें सूत्र पर निदिध्यासन किया गया था। यह जाना गया था कि मन की पाँचों वृत्तियाँ किस तरह से क्लेश और अक्लेश का स्रोत बन जाती हैं।

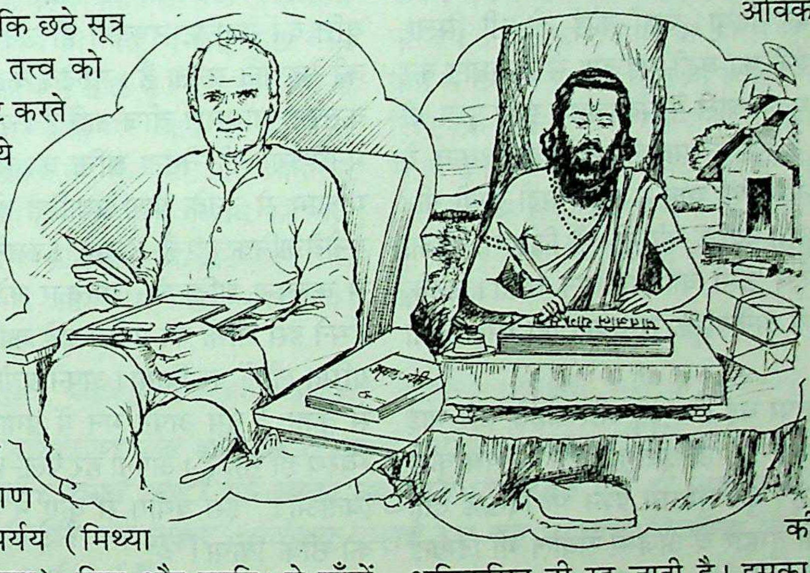

इससे अगले यानि कि छठे सूत्र में महर्षि पतंजलि इस तत्त्व को और भी अधिक सुस्पष्ट करते हैं। वे बताते हैं कि ये पाँचों वृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं? इनका क्या नाम है? इस सूत्र में वह कहते हैं, **'प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः'** (१/६) यानि कि ये वृत्तियाँ हैं- प्रमाण (सम्यक् ज्ञान), विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), विकल्प (कल्पना), निद्रा और स्मृति। ये पाँचों वृत्तियाँ मन की पाँच संभावनाएँ हैं, मन के पाँच रहस्य हैं। इन्हें जान-समझ लेने पर समूचे मन को जान-समझ लिया जाता है। इन पाँच वृत्तियों को मन की पाँच शक्तियाँ भी कहा जा सकता है, जिनके सही सदुपयोग से जीवन सहस्रदल कमल की भाँति पुष्पित एवं सुरभित हो उठता है। इस बारे में परमपूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि जीवन को समझना है, तो मन को समझना होगा और मन को समझने के लिए मन की पाँचों वृत्तियों को जान लेना बहुत जरूरी है। तो शुरुआत पहली वृत्ति से करते हैं। यह पहली वृत्ति है 'प्रमाण' अर्थात् सम्यक् ज्ञान। 'प्रमाण' संस्कृत भाषा का बहुत गहरा शब्द है। इसकी गहराई इस कदर है कि किसी भी अन्य भाषा में इसका एकदम सही अनुवाद संभव नहीं। यह जो सम्यक् ज्ञान कहा गया, वह 'प्रमाण' का सही अर्थ नहीं, बल्कि अर्थ की हल्की-सी छाया भर है। दरअसल प्रमाण मूल शब्द 'प्रमा' से आया है। इसका भावार्थ है, सत्य-अनुभव। इस प्रमा का करण यानि कि प्रमाण। सार-संक्षेप में प्रमाण को यथार्थ अनुभव या सत्य अनुभव करने की शक्ति कहा जा सकता है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि यह शक्ति मन में है। परमपूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि प्रमाण हमारे मन की वह उच्चतम क्षमता है, जो सामान्य क्रम में अविकसित अथवा अल्प विकसित या अर्द्धविकसित दशा में होती है। यदि यह क्षमता ठीक तरह से विकसित या जाग्रत् हो जाए, तो फिर जो कुछ भी जाना जाए सत्य होता है। साधारण तौर पर प्रायः मन की यह शक्ति अविकसित ही रह जाती है। इसका प्रयोग हो ही नहीं पाता। मन की इस शक्ति को समझने के लिए पूज्य गुरुदेव एक उदाहरण दिया करते थे। वह कहते थे, ''मान लो तुम जिस घर में रहते हो, उस घर में बिजली-बत्ती तो है, पर उसके स्विच का तुम्हें पता नहीं। एकदम घनघोर-घुप अँधेरा वहाँ छाया रहता है। अब तुम्हें रहना उसी घर में है और स्विच के बारे में तुम्हें पता नहीं है, तो क्या स्थिति होगी? बस जैसे-तैसे टटोलकर काम चलाना पड़ेगा। कई बार ठोकरें लगेंगी। यह भी हो सकता है कि कई बार सिर

फूटे और पैर टूटे। इस अँधेरे के कारण न जाने कितनी मुश्किलें खड़ी होंगी।''

अब यदि किसी तरह प्रयास-प्रयत्न से अथवा गुरुकृपा या भगवत्कृपा से बिजली का स्विच मिल जाए। यही नहीं वह स्विच ऑन हो जाए और घर के कोने-कोने में रोशनी बिखर जाए। हर ओर उजियारा फैल जाए, तो एक पल में सारी परेशानियाँ, सारी मुश्किलें समाप्त हो जाएँगी। फिर सब कुछ साफ-साफ नजर आएगा। सत्य प्रश्न या जिज्ञासा की विषयवस्तु न बनकर जीवन का अनुभव हो जाएगा। बस यही है प्रमाणवृत्ति। इसके विकसित होने का मतलब है कि हाथ में स्विच आ गया। कहीं किसी तरह की कोई भटकन नहीं। किसी से कुछ पूछने की भी जरूरत नहीं। किसी तरह के भ्रम अथवा संदेह की भी कोई गुंजायश नहीं।

बुद्ध, महावीर, श्रीरामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमण या फिर परमपूज्य गुरुदेव में इस प्रमाणवृत्ति की स्वाभाविक जाग्रति थी। गुरुदेव अपने जीवनकाल में हजारों जगह गए और वहाँ लाखों लोगों से मिले। लोगों से मिलने का यह सिलसिला तब भी चलता रहा, जब उन्होंने कहीं भी आना-जाना बंद कर दिया। जहाँ कोई जो भी मिला, गुरुदेव ने उसके प्रश्नों का बड़ी सहजता से समाधान कर दिया। कई बार तो पूछने वाले ने संकोचवश प्रश्न पूछा भी नहीं और गुरुदेव ने उसके सवाल का सही जवाब दे दिया। उनके प्रवचनों में यह बात रोज ही देखी जाती थी। उस समय जिस किसी व्यक्ति की जो भी जिज्ञासा, शंका या प्रश्न होते, गुरुदेव उसी का समाधान करते। उनके प्रवचनों में एक साथ अनेकों के समाधान का सिलसिला चलता रहता था।

किसी के पूछने पर वह हँस देते और कहते, अरे भाई तुम सोचते हो, टटोलते हो, उलझते हो और मैं सब कुछ साफ-साफ देखता हूँ। मुझे तुम्हारा प्रश्न भी दिखाई देता है, उत्तर भी। मुझे तो तुम्हारे वे अजन्मे सवाल भी दिखाई देते हैं, जो कल जन्म लेंगे। साथ ही वे समाधान भी नजर आते हैं, जिनकी तुम्हें कल जरूरत होगी। यह होती है प्रमाण वृत्ति। इसके विकास का मतलब है—सहज बोध की प्राप्ति। फिर उधार के विचारों की, किसी तरह के तर्कजाल की, बौद्धिक जोड़-तोड़ की कोई जरूरत नहीं। गुरुदेव कहते थे कि गायत्री महामंत्र की भावभरी साधना से मन की यह शक्ति अपने आप ही कुछ वर्षों में जाग जाती है, साथ ही इस शक्ति के जागरण में अवरोध उत्पन्न करने वाली शक्ति समूल नष्ट हो जाती है।

यह अवरोधक शक्ति मन की दूसरी वृत्ति है, जिसका नाम है, विपर्यय। विपर्यय का मतलब है, मिथ्या ज्ञान। मिथ्या ज्ञान का मतलब है कि है कुछ पर दिखता है कुछ। है रस्सी, पर नजर आ रहा है साँप। प्राय: जीवन में यह स्थिति बेहोशी भरे अंधकार के कारण पनपती है। जैसे शराबी, भंगेड़ी, नशा गहरा होने पर कुछ अजीबोगरीब अनुभूतियाँ करते हैं, वैसे ही इंद्रिय लालसाओं, मानसिक वासनाओं एवं कामनाओं के ज्वार में भी इस मिथ्या ज्ञान की बाढ़ आती है। सारी उम्र कभी न खत्म होने पर भटकन की पर्याय बन जाती है। ध्यान रहे इस विपर्यय की समाप्ति ही प्रमाण का जागरण है। योग साधकों को अपने प्रयासों की दिशा इसी प्रमाण वृत्ति के जागरण की ओर मोड़नी होगी। लालसाओं, वासनाओं एवं कामनाओं का नशा उतरते ही मन के विपर्यय का अवसान हो जाता है।

तीसरी वृत्ति विकल्प अथवा कल्पना है। यह मन की बड़ी अद्‌भुत शक्ति है। सामान्यजन इस शक्ति का दुरुपयोग करते हुए प्राय: ख्याली पुलाव पकाते रहते हैं, लेकिन जिन्हें इस शक्ति का थोड़ा-बहुत सदुपयोग करना आ जाता है, वे कवि या कलाकार बन जाते हैं। इस विकल्प वृत्ति का उत्कृष्ट उपयोग ही उनकी कला की उत्कृष्टता की पहचान बनता है। गुरुदेव कहते थे विकल्प वृत्ति या कल्पना साधारण चीज नहीं है। यह योगियों, साधकों एवं मनस्वियों की चेतना शक्ति का माध्यम बनती है। इसके माध्यम से उनके प्राण प्रवाहित होते हैं। पश्चिम में एक मनोवैज्ञानिक हुए हैं- 'कुए'। उसने अपने अगणित प्रयोगों से कल्पना शक्ति के चमत्कार को साबित कर दिखाया। उसने इस शक्ति का प्रयोग बड़े कठिन एवं जटिल रोगों से ग्रसित लोगों पर किया। अपने प्रयोगों में उसने इन रोगियों से कहा, ''तुम अपने मन में प्रगाढ़ कल्पना करो कि मैं स्वस्थ हो रहा हूँ। अपना हर पल-हर क्षण इसी कल्पना में बिताओ।'' इस प्रयोग से कुए ने लाखों असाध्य रोगियों को ठीक किया।

अब तो पश्चिम में फेथ हीलिंग की एक समूची प्रक्रिया ही चल पड़ी है। यह और कुछ नहीं कल्पना शक्ति की प्रगाढ़ता से होने वाले परिणामों की चमत्कारी विधि है। इसकी महत्ता को न समझ करके हम इस बेशकीमती शक्ति का भारी दुरुपयोग करते हैं। परमपूज्य गुरुदेव कहा करते थे, कल्पना का सर्वश्रेष्ठ उपयोग शाश्वत अनंतता की अनुभूति में है। विश्व चिंतन ने मनुष्य जाति को जो सर्वश्रेष्ठ कल्पनाएँ दी हैं, उनमें श्रेष्ठतम कल्पनाएँ उपनिषदों में हैं। इनमें से किसी एक को भी अपनाकर हम

अपने जीवन को सार्थक कर सकते हैं। 'सोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसी श्रेष्ठतम महत्त्वाकांक्षाओं को जीवन में धारण कर कल्पना शक्ति की सहायता से उस परम तत्त्व की अनुभूति पाई जा सकती है।

मन की चौथी वृत्ति निद्रा है। निद्रा मन की अद्‌भुत जीवनदायिनी शक्ति है। चिकित्साशास्त्री हमें बताते हैं कि नैसर्गिक निद्रा शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बहुत अनिवार्य है। वैसे इसका आध्यात्मिक पक्ष भी है। हालाँकि इससे विरले साधक ही परिचित हो पाते हैं। सामान्य लोग तो नैसर्गिक निद्रा का भी आनंद नहीं उठा पाते, क्योंकि निद्रा मन की समग्र निर्विषय अवस्था है। कोई क्रिया, कोई चेष्टा मन में नहीं है, ऐसी अवस्था, जिसमें मन को संपूर्ण विश्रांति है। यह बड़ी सुंदर, सुमधुर एवं जीवनदायिनी अवस्था है, पर इसका लाभ कम ही लोग उठा पाते हैं। अधिकांश तो स्वप्नों के मकड़जाल में उलझते रहते हैं। वे निद्रा की आनंदमय अनुभूति से हमेशा वंचित रहते हैं।

योग साधक आचार्य शंकर के शब्दों में '**निद्रा समाधिस्थितिः**' का आनंद उठाते हैं, क्योंकि मन की समग्र निर्विषय अवस्था में यदि जागरूक हुआ जा सके तो समाधि फलित हो जाती है। सचमुच ही निद्रा में सब कुछ वैसा ही होता है, जैसा कि समाधि में होता है। बस जागरूकता नहीं होती। आंतरिक जागरूकता सध जाने पर भी शरीर सोया रहता है, मन विश्रांति में रहता है और आंतरिक चेतना पूर्णतया जाग्रत् होती है। परमपूज्य गुरुदेव की निद्रा ऐसी ही होती थी। सामान्य साधक इसमें धीरे-धीरे उतर सकते हैं। इस भावदशा में उतरने पर निद्रा समाधि का आनंदोल्लास बन जाती है।

मन की पाँचवीं एवं अंतिम वृत्ति है—स्मृति। इस शक्ति का भी जीवन में प्रायः दुरुपयोग ही होता है। यदि जो घटना जैसे घटी है, उसे ठीक तरह से याद रखकर उसकी सचाई को जाना जाए, तो एक अनूठी ध्यान साधना जन्म लेती है, पर हममें से प्रायः किसी के जीवन में ऐसा हो नहीं पाता। हमारा अपना जीवन तो बस स्मृतियों का एक बड़ा गोदाम भर है, जिसमें अगणित स्मृतियाँ यों ही बेतरतीब पड़ी हुई हैं। कौन स्मृति कहाँ किस स्मृति में जा मिली है, कोई ठिकाना नहीं है। स्मृतियों की यह गड़बड़ जब-तब हमारे सपनों में उलझती रहती है। ध्यान-साधना ही वह उपाय है, जिससे कि स्मृति को योग साधना का रूप दिया जा सकता है। भगवान बुद्ध ने इसीलिए ध्यान को 'सम्यक् स्मृति' भी कहा है। इस साधना से अपने अतीत को, अपने विगत जन्मों को जानकर एक नए साधनामय जीवन की सृष्टि की जा सकती है।

साधनामय जीवन के लिए मन की ये पाँचों वृत्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। महर्षि पतंजलि ने अपने इस छठे सूत्र में केवल इनके नाम भर बताए हैं। इसमें प्रत्येक का समग्र परिचय उन्होंने समाधिपाद के अगले सूत्रों में दिया है। इस क्रम में उन्होंने प्रत्येक वृत्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए एक-एक सूत्र की रचना की है। इन सूत्रों की व्याख्या से ही उन रहस्यों का उद्‌घाटन हो सकेगा, जो साधकों की अंतर्यात्रा के लिए अनिवार्य हैं। इस क्रम में अगली कड़ी में प्रमाण वृत्ति के स्वरूप एवं साधना को स्पष्ट किया जाएगा।

◆

बुंदेलखंड के एक साधारण जैन परिवार में जन्मे गणेश प्रसाद वर्णी शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत परिव्राजक जीवन व्यतीत करने लगे। यों उनका समुदाय पूजा-पाठ को ही सब कुछ मानता था, पर वर्णी जी ने देश की स्थिति का सूक्ष्म अन्वेषण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि इन दिनों शिक्षा प्रचार ही सबसे बड़ा धर्म-कर्म है।

उन्होंने सागर में दिगंबर जैन विद्यालय की स्थापना की, पर पीछे वे अपना यति स्वरूप यथावत बनाए रहते हुए भी जनसाधारण में शिक्षा प्रचार करने लगे। उनके प्रयत्न से कितने ही यति परिव्राजकों ने अध्यापन कार्य सँभाला और गाँव-गाँव विद्यालयों की स्थापना करने में जुट गए।

अंधविश्वासी व्यक्ति यति को मोक्ष प्रयासों से कुछ हटकर काम करते देखकर नास्तिक तक कह बैठते थे, पर उनके विवेक ने जो उचित समझा, उसी पर जीवनभर डटे रहे। वे कभी भी तथाकथित धर्माचार्यों के आक्षेपों, उपालंभों से विचलित नहीं हुए। अंततः उनके प्रयासों को जन प्रशस्ति मिली। लोगों ने धर्म का सही अर्थ समझा।

धर्म-विज्ञान केंद्र की महत्त्वाकांक्षी स्थापना

देवसंस्कृति विश्वविद्यालय में साधना संकाय के अंतर्गत 'धर्म-विज्ञान केंद्र' की विधिवत् स्थापना हो गई। इस धर्म-विज्ञान केंद्र या 'सेंटर ऑफ थियॉलॉजी' का उद्‌देश्य धर्म के मर्म को बताने वाले विभिन्न तत्त्वों, सत्यों, सूत्रों एवं व्यावहारिक क्रियाओं की गहन शोध एवं व्यापक शिक्षण व प्रसार है। आज के दौर में यह विचित्र एवं आश्चर्यपूर्ण विडंबना है कि भ्रांतियों से मुक्ति दिलाने वाला धर्म स्वयं ही भ्रांतियों के महाघटाटोप से बुरी तरह से घिर गया है। धार्मिक संवेदना सांप्रदायिक कट्टरता के विष दंशों से छटपटाती हुई मूर्च्छित प्राय है। धर्म के नाम पर केवल कुछ रीति-रिवाजों, रूढ़ियों, मान्यताओं एवं परंपराओं को निभाने का प्रचलन है। भले ही वर्तमान युग में उनकी कोई सामयिक उपयोगिता, आवश्यकता एवं औचित्य हो अथवा न हो। धर्म को मात्र लकीर पीटे जाने की प्रथा मान लिए जाने के कारण आज इसे विश्वभर के बुद्धिजीवियों, मनीषियों व वैज्ञानिकों की घोर उपेक्षा सहनी पड़ रही है। इसके औचित्य पर नित्य नए प्रश्नचिह्न लग रहे हैं।

युग की आवश्यकता

इस स्थिति से जूझना और उबरना युग की आवश्यकता है। इसे पूरा करने का उपाय एक ही है कि धर्म के स्वरूप एवं उपयोगिता पर आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में गहन शोध-अनुसंधान हो। अनुसंधान प्रविधि से जाँचे-परखे और खरे पाए गए निष्कर्षों के आधार पर धर्म शिक्षण व प्रसार की व्यापक व्यवस्था बनाई जाए। इसके लिए आयु, योग्यता एवं जीवन की वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप विभिन्न स्तर के पाठ्यक्रम तैयार किए जाएँ। उदार, भावनाशील, विचारवान एवं धर्मतत्त्व के प्रति गहन रुचि रखने वाले विद्यार्थियों का चयन हो। तदनुरूप अध्यापन के लिए सुयोग्य ऋषिकल्प जीवन जीने वाले आचार्य हों, जिन्हें यह अनुभूति हो कि धर्म का सही अर्थ मानव मात्र के प्रति प्रेम एवं मनुष्य में अंतर्निहित दैवी संवेदनाओं एवं संभावनाओं का विकास है। साथ ही ऐसा वातावरण हो, जहाँ महर्षियों की तप ऊर्जा का प्रखर तेज एवं सघन धार्मिक भावनाएँ सदा ही उमड़ती-उफनती रहें।

असंभव को संभव करने वाला पुरुषार्थ

कहा जा सकता है कि पाश्चात्य संस्कृति की भौतिकवादी बाढ़ से ग्रसित जीवन में यह सब एकदम असंभव है। ऐसा करना तूफानी चक्रवातों में दीप जलाने जैसा है। परिस्थितियों की यह सचाई कितनी ही दारुण क्यों न हो, पर शांतिकुंज के संचालन एवं निर्देशन में काम कर रहे देवसंस्कृति विश्वविद्यालय का उद्‌देश्यनिष्ठ संकल्पवान साहस भी कुछ कम नहीं। विश्वविद्यालय की एकजुट समर्पित टीम ने युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव की वरद्छाया में प्रचंड तूफानों में महादीप प्रज्वलन का साहस करते हुए असंभव को संभव करने वाला पुरुषार्थ पूरा कर दिखाया है। इन कुछ ही महीनों में धर्म-विज्ञान केंद्र की स्थापना के साथ, इसके संचालन के लिए जरूरी सभी आवश्यकताओं को अनिवार्यता मानकर पूरा कर लिया गया है। ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान में वर्षों से चल रही शोध प्रक्रिया के निष्कर्षों को ही पाठ्यक्रम का आधार बनाया गया है। सर्टीफिकेट, पी.जी. डिप्लोमा, ग्रेजुएट एवं पोस्ट ग्रेजुएट आदि विविधस्तरीय पाठ्यक्रमों का निर्माण धर्म तत्त्व का गहन ज्ञान रखने वाले मेधासंपन्न मनीषी कर रहे हैं। इनमें त्रैमासिक सर्टीफिकेट पाठ्यक्रम तैयार भी हो चुका है।

इन पाठ्यक्रमों का अध्यापन करने के लिए ऋषिकल्प आचार्यों की सेवाएँ भी दैवी कृपा ने जुटा दी हैं। रही बात वातावरण की, सो युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव की तपश्चेतना एवं उनकी दिव्य तपस्थली शांतिकुंज के संरक्षण ने देवसंस्कृति विश्वविद्यालय को स्वाभाविक रूप से दिव्य वातावरण प्रदान किया है। देवात्मा हिमालय की सुरम्य छाँव एवं माता गंगा की लहरों के आँचल में बसे देवसंस्कृति विश्वविद्यालय में धार्मिक चेतना सदा-सर्वदा अविराम तरंगित होती रहती है। इतिहास के जानकार एवं पुरातत्त्व विशेषज्ञ यहाँ पुरातन महर्षियों की धर्म साधना की बात मुक्त कंठ से स्वीकारते हैं। पौराणिक कथाओं के अनेकानेक प्रसंग भी इस सत्य की साक्षी देते हैं। तपश्चेतना एवं धर्म भावना की अदृश्य तरंगों से किस तरह यहाँ का दृश्य जीवन हिलोरें लेता रहता है, इसे केवल अनुभूति से जाना जा सकता है। इस सुयोग, सौभाग्य से लाभान्वित होने

वाले लोकसेवी एवं धर्मप्राण विद्यार्थी भी स्वाभाविक रूप से आ जुटे हैं। इन सभी विद्यार्थियों की एक ही आशा और एक ही अरमान है कि वे अपने जीवन में धर्म के मर्म को साकार कर लें और दूसरों को उसका सुगम बोध करा सकें।

धर्म विज्ञान केंद्र के उद्देश्यों का बिंदुवार स्पष्टीकरण

धर्ममय जीवन के लिए समस्त सुयोग, सौभाग्य, साधन और साधना को अपने में समेट लेने वाले धर्म विज्ञान केंद्र के उद्देश्यों का बिंदुवार स्पष्टीकरण कुछ इस तरह से किया जा सकता है-

१. सांप्रदायिक कट्टरता को मिटाकर धार्मिक सद्भाव का जागरण।

२. सर्वधर्म समभाव व विश्वधर्म समभाव का विकास।

३. विभिन्न धर्मों की एकता को सिद्ध करने वाले सत्यों का शोध-अनुसंधान।

४. धर्म के शाश्वत व सनातन तत्त्व की शोध में सहायक विभिन्न साधनात्मक प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक अनुसंधान।

५. विभिन्न धर्मों के वैयक्तिक एवं सामाजिक पहलुओं पर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक अनुसंधान।

६. सनातन धर्म सहित अन्यान्य धर्मों के प्रवर्तकों एवं महापुरुषों के आदर्शों का शिक्षण।

७. मानव में दैवी संवेदनाओं, दैवी भावनाओं व दैवी सामर्थ्यों का विकास।

८. सर्वधर्म समभाव की धार्मिक सहिष्णुता को आधार बनाकर धर्म प्रचारकों, धर्म विशारदों, धर्म विचारकों एवं धर्म विशेषज्ञों की नई पीढ़ी का निर्माण।

भावभरी शुरुआत

इन उद्देश्यों की पूर्ति के क्रम में एक भावभरी शुरुआत प्रमाण पत्र पाठ्यक्रम के रूप में की जा रही है। इसमें प्रवेश हेतु योग्यता इंटरमीडिएट अथवा हाईस्कूल के साथ दो वर्षों का लोकसेवा अनुभव है। पाठ्यक्रम की अवधि त्रैमासिक होगी। इस पाठ्यक्रम के निर्माण एवं शिक्षण में कुछ निम्न तत्त्वों का विशेष ध्यान रखा गया है-

१. सनातन धर्म सहित अन्यान्य धर्मों के मूलमत, तत्त्वों एवं सूत्रों की आवश्यक जानकारी।

२. उपासना-साधना एवं आराधना जैसे जीवन सूत्रों पर आस्था। उन्हें जीवन में अपनाते हुए सीखने, सिखाने की प्रारंभिक दक्षता।

३. किसी देवालय में श्रेष्ठ पुरोहित की भूमिका निभाने में सक्षम।

४. ब्राह्मणोचित जीवन-सादा जीवन एवं उच्च आचार-विचार को पालने का आश्वासन।

५. देवालय के रख-रखाव एवं पूजन क्रम को सँभालने की क्षमता।

६. जनसंपर्क की मर्यादाओं के अनुपालन के साथ संपर्क बढ़ाने में कुशलता।

७. धर्मतंत्र से लोकशिक्षण, कीर्तन, सत्संग, विभिन्न संस्कारों को संपन्न कराने व बाल संस्कारशाला जैसे कार्यों हेतु आवश्यक योग्यता का विकास।

भावी संभावनाएँ

प्रमाण पत्र के त्रैमासिक पाठ्यक्रम के अतिरिक्त धर्म विज्ञान केंद्र की भावी संभावनाएँ भी अनेकों हैं। इन भावी संभावनाओं में प्रथम एकवर्षीय पी.जी. डिप्लोमा पाठ्यक्रम का प्रारंभ है। इसके माध्यम से प्रमाण पत्र पाठ्यक्रम में अर्जित की गई विशेषताओं को और अधिक उन्नत स्तर का बनाया जाएगा। पी.जी. डिप्लोमा में प्रवेश लेने वाले छात्र किसी पीठ, आश्रम या संस्थान में साधनात्मक वातावरण बनाने व पूरे क्षेत्र को अनुप्राणित करने, सहयोग जुटाने व सामान्य प्रशिक्षण चलाने में सक्षम होंगे। इस डिप्लोमा पाठ्यक्रम में प्रवेश हेतु योग्यता स्नातक स्तर है। पी.जी. डिप्लोमा के अलावा पोस्ट ग्रेजुएट स्तर का एक और पाठ्यक्रम धर्म विज्ञान केंद्र के अगले सत्र में शुरू किए जाने की संभावना है। इस पाठ्यक्रम के द्वारा छात्र-

एक साधु तीर्थयात्रा पर निकले। मार्ग व्यय के लिए किसी सेठ से कुछ माँगा, तो उसने कुछ दिया तो नहीं, पर अपना एक काम सौंप दिया। एक बड़ा दर्पण हाथ में थमाते हुए कहा, प्रवासकाल में जो सबसे बड़ा मूर्ख आपको मिले, उसे दे देना। संत बिना रुष्ट हुए उसका काम कर देने का वचन देकर दर्पण साथ ले गए। बहुत दिन बाद वापस लौटे, तो सेठ को बीमार पड़े पाया। संग्रहीत धन से वे न अपना इलाज करा पाए और न किसी सत्कर्म में लगा पाए। मरणासन्न स्थिति में संबंधी, कुटुंबी उनका धन-माल उठा-उठाकर ले जा रहे थे। सेठ जी को मृत्यु और लूट का दुहरा कष्ट हो रहा था। साधु ने सारी स्थिति समझी और दर्पण उन्हीं को वापस लौटा दिया। कहा, आप ही इस बीच सबसे बड़े मूर्ख मिले, जिसने कमाया तो बहुत, पर सदुपयोग करने का विचार तक नहीं उठा।

छात्राएँ धर्म विज्ञान में विशेषज्ञ स्तर की निपुणता अर्जित कर सकेंगे। इसके माध्यम से उन्हें भारतीय संस्कृति के अंतर्गत आने वाली विभिन्न परंपरागत साधना विधियों का सम्यक् बोध कराया जाएगा। साथ ही उनमें विश्व के किसी भी क्षेत्र या धर्म, संप्रदाय के प्रति निष्ठा रखने वाले प्रबुद्धजनों को जीवन साधना के प्रति आस्थावान बनाने की क्षमता विकसित की जा सकेगी। वे स्वयं भी उपासना, साधना व आराधना के क्षेत्र में अच्छी प्रगति कर सकेंगे और उनमें साधकों की जिज्ञासाओं एवं समस्याओं के समाधान की सम्यक् सामर्थ्य का विकास हो सकेगा।

शोध परियोजनाएँ

इन सुखद संभावनाओं के अतिरिक्त धर्म विज्ञान केंद्र में महत्त्वपूर्ण शोध परियोजनाओं को भी तैयार किया जा रहा है। यह शोध कार्य सनातन धर्म के साथ अन्य सभी धर्मों की साधना प्रणालियों एवं नैतिक अनुशासनों की उपयोगिता पर किया जाएगा। इस क्रम में मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक प्रयोगों के माध्यम से साधना व नैतिक अनुशासनों के विधेयात्मक प्रगतिशील पक्षों का प्रतिपादन किया जा सकेगा। इसमें भागीदारी करने वाले शोधछात्र अपने में शोध के अनुरूप प्रायोगिक प्रतिफल उत्पन्न करने का विश्वास और कौशल भी विकसित करने में समर्थ हो सकेंगे। धर्म विज्ञान केंद्र में इन दिनों तैयार की जा रही शोध योजनाओं में धर्म के अत्यंत गूढ़ तत्त्वों की रहस्यमयता की वैज्ञानिकता को प्रकट करने का प्रयास किया जा रहा है।

सहयोग हेतु आमंत्रण

संक्षेप में देवसंस्कृति विश्वविद्यालय में नवस्थापित धर्म विज्ञान केंद्र धर्म जगत् एवं धर्मावलंबियों की सुखद एवं उज्ज्वल आशाओं का प्रतीक है। यहाँ की गतिविधियाँ एवं क्रियाकलाप जाति-क्षेत्र की, संप्रदाय की सारी संकीर्ण सीमाओं से मुक्त हैं। भारत के किसी भी कोने सहित विश्व के किसी भी भू-भाग में रहने वाले और किसी भी धर्म में अपना विश्वास रखने वाले लोग यहाँ के अध्ययन एवं शोध-कार्यक्रमों में अपनी भागीदारी निभा सकते हैं। यहाँ पर आमंत्रण उन आस्थावानों को भी है, जो अपनी धार्मिक भावनाओं की उज्ज्वल परिणति का साक्षात्कार करना चाहते हैं। देश और विश्व के प्रत्येक धर्म प्रवण नागरिक का भावनात्मक एवं आर्थिक सहयोग इस नव स्थापित धर्म विज्ञान केंद्र के विकास-विस्तार के लिए आमंत्रित है। इस संबंध में किसी आवश्यक जानकारी के लिए कुलाधिपति, देवसंस्कृति विश्वविद्यालय, शांतिकुंज, हरिद्वार अथवा कुलपति, देवसंस्कृति विश्वविद्यालय, शांतिकुंज, हरिद्वार के पते पर पत्र लिखकर संपर्क किया जा सकता है।

◆

कठिन परिस्थितियों से जूझते हुए भारत के माने हुए इंजीनियर बनने में सफल हुए विश्वेश्वरैया ने अपनी आत्मकथा में उन सिद्धांतों पर प्रकाश डाला है, जिनके कारण वे प्रगति पथ पर अग्रसर हो सके। पुस्तक का नाम है, मेमायर्स ऑफ माई वर्किंग लाइफ।

वे लिखते हैं—मैंने चार सिद्धांतों को आदि से अंत तक अपनाए रखा। जो मेरी ही तरह सफल जीवन जीना चाहते हैं, उन्हें उन्हीं का स्मरण दिलाना चाहता हूँ और अनुरोध करता हूँ कि इन्हें मेरी ही तरह अपनाएँ। वे सिद्धांत इस प्रकार हैं—

१. लगन से काम करो। मेहनत से जी न चुराओ। आराम कड़ी मेहनत के उपरांत ही अच्छा लगता है।

२. निर्धारित कामों का समय नियत करो। समय पर काम करने की आदत डालने से काम अधिक भी होता है और अच्छा भी।

३. यह सोचते रहो कि आज की अपेक्षा कल किस तरह अधिक अच्छा काम हो। जो सीख चुके हो, उससे अधिक सीखने का प्रयत्न करो। सोचो, योजना बनाओ, गुण-दोषों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के उपरांत काम में हाथ डालो।

४. अहंकारी न बनो। नम्रता का स्वभाव बनाओ। साथियों के साथ मिल-जुलकर काम करने की आदत डालो।

इसके विपरीत येन-केन-प्रकारेण सफलता पा लेने वालों को तो एक दिन अपमान, असंतोष और असफलता का ही मुँह देखना पड़ता है।

परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी

ध्यान क्यों करें? कैसे करें?

जून, १९७७ में गायत्री तीर्थ शांतिकुंज में दिया उद्बोधन (पूर्वार्द्ध)

गायत्री मंत्र हमारे साथ-साथ—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

देवियो, भाइयो, क्रिया और विचार इन दोनों बातों का समन्वय अगर आप कर डालें, तो चमत्कार पैदा हो जाएगा। बया नाम का एक पक्षी होता है। जब वह अपना घोंसला बनाता है, तो कैसी तबियत से बनाता है, कैसे मन से बनाता है कि छोटे-छोटे तिनकों को एक-एक चुनकर के लाता है। उन्हें गूँथकर ऐसा बढ़िया घोंसला बना देता है कि क्या मजाल है कि अंडा हवा के झोंके से तबाह हो जाए? क्या मजाल है कि कौआ उसमें झपट्टा मार दे? उसमें उसके बच्चे मौज के साथ बैठे देखते रहते हैं। कोई आदमी सड़क पर से जब निकलता है, तो उस घोंसले को देखता रह जाता है कि यह बया का घोंसला है। कितना शानदार घोंसला है। हर जगह से उसकी प्रशंसा होती है। बया स्वयं प्रसन्न रहती है और देखने वालों की तो तबियत बाग-बाग हो जाती है।

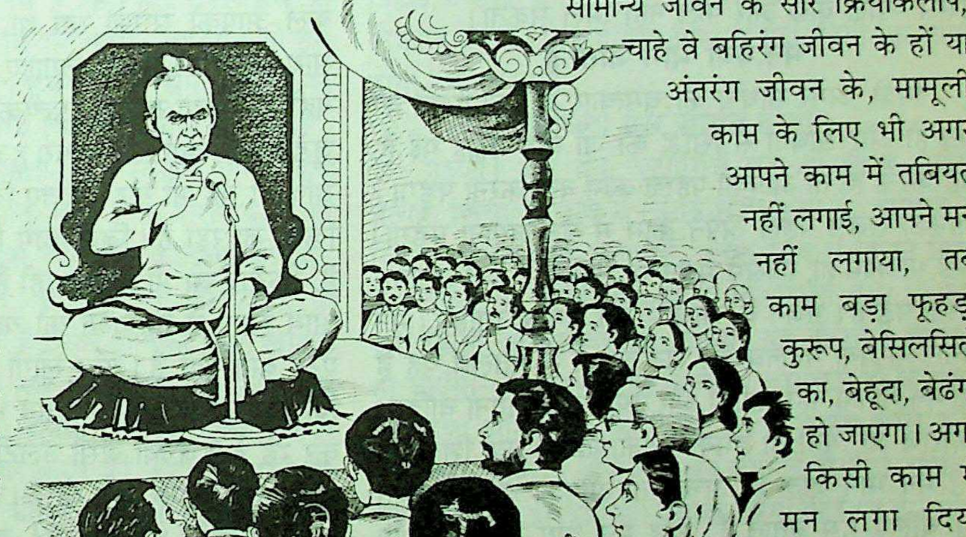

मित्रो, क्या विशेषता है बया में? कोई विशेषता नहीं है। बेटे, मन लगाकर कोई भी काम करो, तो शानदार होता है। मन लगाकर काम नहीं किया जाए, तो बेटे उसका सत्यानाश हो जाता है। एक पक्षी का नाम है- कबूतर। कबूतर बया की तुलना में चार-पाँच गुना बड़ा होता है। इतना बड़ा होता है, पर घोंसला कैसे बनाता है? बया का घोंसला जरा आप देखना और कबूतर का भी घोंसला देखना। वह बड़ी-बड़ी लकड़ी बीनकर ले आता है और एक इधर रख दी, एक उधर रख दी और एक किधर को रख लेता है और उसमें ही अपने अंडे देने लगता है। उस पर ही बैठा रहता है। हवा का झोंका आता है, बस घोंसला गिरता है नीचे और कबूतर गिरता है ऊपर। अंडे फूटकर अलग हो जाते हैं, बच्चे मरकर जहन्नुम चले जाते हैं। उसकी सारी-की-सारी व्यवस्था गड़बड़ा जाती है और देखने वाले कहते हैं कि यह कबूतर कैसा बेअकल है, कैसा बेवकूफ है।

काम में मन लगाइए

बेटे, मैं क्या कहता हूँ? यह कहता हूँ कि अपने सामान्य जीवन के सारे क्रियाकलाप, चाहे वे बहिरंग जीवन के हों या अंतरंग जीवन के, मामूली काम के लिए भी अगर आपने काम में तबियत नहीं लगाई, आपने मन नहीं लगाया, तब काम बड़ा फूहड़, कुरूप, बेसिलसिले का, बेहूदा, बेढंगा हो जाएगा। अगर किसी काम में मन लगा दिया जाए, तो उसमें एक चमत्कार दिखाई पड़ेगा, जादू दिखाई पड़ेगा। मन लगाकर किए हुए काम और बिना मन लगाए किए हुए कामों में जमीन-आसमान का फरक होता है। स्पष्ट दिखाई देता है कि यह मन लगाकर किया गया है या नहीं। यह मशीन हमारे सामने रखी है। इसमें दो तार हैं, एक निगेटिव कहलाता है और एक पॉजिटिव कहलाता है। इन्हें ठंढे और गरम तार भी कहते हैं। दोनों मिल जाते हैं तो करंट चालू हो जाता है और अगर दोनों को अलग

कर देते हैं, तो एक तार बेकार-सा हो जाता है, दूसरा भी बेकार पड़ा हुआ है, कुछ काम आता नहीं। शरीर को हम अलग कर दें और मन को हम अलग कर दें, दोनों का हम समन्वय न करें, तो हमारे जो भी काम होंगे बेसिलसिले के और बेहूदे होंगे।

मित्रो, एक काम है भजन। भजन के संबंध में भी यही बात है। बिना मन से किया हुआ भजन और मन से किए हुए भजन में जमीन-आसमान का फरक होता है। बिना मन से किया हुआ भजन ऐसा है, जिसमें केवल जबान की नोंक की लपालपी और हाथों की उँगलियों की नोंक की हेराफेरी की क्रिया भर होती रहती है। चावल यहाँ रख दिया- नमस्कारं करोमि, जैसी क्रियाएँ, दीपक इधर का उधर किया, आरती उतार दी, यह कर दिया, वह कर दिया। हाथों की हेराफेरी, वस्तुओं की उलटा-पलटी और जीभ की लपालपी, बस भजन हो गया। अच्छा तो हो गया अनुष्ठान, हो गई साधना? नहीं बेटे, कुछ नहीं हुआ। यह तो केवल शारीरिक क्रिया हुई है। शरीर की क्रियाओं का जो फल मिलना चाहिए बस वही मिलता है। इससे ज्यादा कुछ और फल नहीं मिल सकता।

मन क्यों भाग जाता है

मित्रो, अगर साधना का चमत्कार आपको देखने का मन हो और साधना से सिद्धि की जो बात बताई गई है, वह करना हो तो आपको पहला काम क्या करना पड़ेगा? आपको सबसे पहले अपने काम में मन लगाना पड़ेगा। कोई भी काम हो, जिसमें भजन भी शामिल है, मन लगाकर करना पड़ेगा। भजन के साथ में मन लगाना चाहिए। मन लगाने से क्या मतलब है? मन लगाने से मतलब यह है कि मन भागना नहीं चाहिए और उपासना में लगना चाहिए। महाराज जी, यही तो हमको शिकायत है। क्या शिकायत है? मन भाग जाता है, अच्छा तो आपको यह शिकायत है। चलिए हम बताते हैं, फिर मन भाग जाए तो आप हमसे कहना। अब क्या करें? बेटे, मन को किसी काम में लगाया जाए। मन की बनावट ऐसी है कि जब कोई काम नहीं होगा तो मन भाग जाएगा। जब मन के भागने की आप शिकायत करते हैं, तो मैं हमेशा उसका उत्तर यह देता हूँ कि शायद आपने मन को किसी काम में नहीं लगाया। मन को काम में नहीं लगाया जाएगा तो मन भागेगा ही। घोड़े को आप काम में लगा दीजिए- ताँगे में लगा दीजिए, सवारी में चला दीजिए, कहीं भी लगा दीजिए तो घोड़ा काम में लगा रहेगा। घोड़े को आप खोल दीजिए, उसके गले में से रस्सी खोल दीजिए, फिर देखिए घोड़ा भागेगा ही। फिर आप कहेंगे कि साहब हमारा घोड़ा भाग गया। बैल को आप खाली छोड़ दीजिए, वह भाग जाएगा।

मित्रो, उपासना के समय भी हम अक्सर अपने मन को खाली छोड़ देते हैं, छुट्टल छोड़ देते हैं। उसे कोई काम सौंपते नहीं, कोई जिम्मेदारी सौंपते नहीं, इसीलिए मन भाग जाता है। मन भागेगा नहीं तो क्या करेगा? नहीं साहब! मन भागना नहीं चाहिए। बेटे, मन भागेगा नहीं तो क्या करेगा? भागना तो उसकी आदत है। उसकी तो बनावट ही ऐसी है, उसकी संरचना ही ऐसी है, उसकी इलैक्ट्रॉनिक संरचना ही ऐसे ढंग से की गई है कि उसको भागना चाहिए। भागना तो उसका स्वाभाविक गुण है। अगर वह भागेगा नहीं तो आदमी या तो सिद्धपुरुष हो जाएगा, समाधि में चला जाएगा या फिर पागल हो जाएगा। दो में से एक काम हो जाएगा। मन को तो भागना ही चाहिए। भागना उसका स्वाभाविक गुण है, इसलिए उसका कोई कसूर नहीं है। मन का भागना बंद कीजिए। नहीं बेटे, यह नहीं हो सकता।

मन का भागना बंद करने के क्या तरीके हैं? यह मैं कल आपको समझा रहा था कि उपासना में क्रिया के साथ-साथ मन को भी लगाइए। मन कैसे लगाएँ? बेटे, मैं यही तो समझा रहा था। प्रत्येक क्रिया के साथ क्या संकेत जुड़े हुए हैं, क्या शिक्षण भरा हुआ है, उस पर गौर कीजिए। साथ ही यह भी गौर कीजिए कि किस काम के लिए यह किया जा रहा है। जिस काम के लिए भी किया जा रहा है, क्रियाएँ जो भी की जा रही हैं, उनका उद्देश्य क्या है? आम लोगों ने क्रियाओं को यह समझ रखा है कि कोई ऐसी बात नहीं है। कुछ लोगों का यह भी ख्याल है कि क्रियाओं को देखकर भगवान भी प्रसन्न हो जाते हैं। क्या कर रहे हैं? बच्चों जैसी उलटी-पुलटी हरकतें करते हैं। मम्मी हम यह घर बना रहे हैं। हाँ, बहुत खूब बेटे, अच्छा है घर बनाओ। भगवान जी! हमारे बच्चे को गायत्री मंत्र आता है। कैसा गायत्री मंत्र आता है? ''ऊँ भूं भूं भुवः''। अच्छा तो तू भी ऐसे ही भूं भूं कर लेता है। भगवान जी, वैसे तो समझते हैं कि आदमी जबान से क्या-कया बकवास कर लेता है। अब चलिए मैं आपके मंत्रों को बकवाद कहता हूँ। जीभ की नोंक से आप क्या वक-वक मचाते रहते हैं। उससे भगवान प्रसन्न नहीं होता है। तो क्या केवल हाथों की उलटा-पुलटी और जीभ की नोंक की हेराफेरी से भगवान प्रसन्न नहीं होता है? हाँ बेटे, नहीं होता है। तो किससे प्रसन्न होता है? आपके मन से, हृदय से और भावनाओं से।

चेतना व चिंतन का मेल हो

मित्रो, आपका जो वास्तविक अस्तित्व है, जो हाथ नहीं आता है, वह पदार्थ नहीं है, चावल और धूपबत्ती नहीं है, जीभ की नोंक नहीं है। आपका जो वास्तविक अस्तित्व है, जिसके द्वारा भजन किया जाना चाहिए, वह है आपका चिंतन। चेतना चिंतन से ताल्लुक रखती है। चेतना का स्रोत है- चिंतन। चिंतन को कहाँ लगाएँ? सीधी-सी बात है- चिंतन कहाँ लग रहा है यह आप देखें। आप कहीं लग रहे हों, जीभ कहीं लग रही हो, वस्तुएँ कहीं भी रखी हों, माला कहीं भी चल रही हो, पर बेटे, आप यह बताइए कि आपका चिंतन कहाँ लग रहा है? गुरुजी! चिंतन तो भागता रहता है। तो बेटे, भजन कहाँ हो रहा है? चिंतन को लगाने का उद्देश्य यह है कि जिस काम के लिए जो क्रियाएँ कराई जा रही हैं, आप उस इशारे पर आ जाइए कि उस इशारे के साथ में आपको क्या चिंतन करना चाहिए?

बेटे, हम सबेरे आत्मध्यान कराते हैं। आत्मध्यान कराने के साथ-साथ सजेशन देते हैं, निर्देश देते हैं। इसका क्या मतलब है? निर्देश से मतलब है कि जिस समय हम जो बात कहें, वैसे ही आपका विचार चलना चाहिए। जो हम कहें वैसी कल्पना कीजिए। हमने कहा, सप्तऋषियों का तपस्थान, आप ध्यान कीजिए कि सात ऋषि बैठे हुए हैं। बड़ा घना जंगल है और सातों ऋषि समाधि लगाए हुए बैठे हुए हैं। यह पुनीत स्थान जहाँ उनके शरीर पेड़ों की सघन छाया में हैं। आप इस तरह की कल्पना कीजिए, मन स्थिर हो जाएगा। बेटे, आपका मन भाग जाए, तो हमसे कहना। हम जो बताते हैं उसमें आपको ध्यान लगाना चाहिए, फिर देखिए कैसे मन भाग जाएगा। सबेरे हम आपको जो सजेशन देते हैं, उसके हिसाब से आप अपने चिंतन को और अपने विचार करने की श्रेणी को उसी पर स्थापित कीजिए, केंद्रित कीजिए। हमने आपसे कहा- प्रातःकाल का स्वर्णिम सूर्योदय। आप विचार कीजिए कि प्रातःकाल का लाल रँगा सूरज, सबेरे निकलता हुआ बड़ा वाला सूरज, पूरब से निकला, थोड़ा निकला, अभी थोड़ा और बढ़ा, अभी और बढ़ा और पूरा सूरज निकल आया। क्या मतलब है? बेटे, हमने आपसे कहा कि अपने मन को हमारी कही हुई बात पर लगा दें, फिर आपका मन उस काम पर लग जाएगा, तो भागने का सवाल ही नहीं है। यदि काम पर नहीं लगा, तब तो भागेगा ही।

इसलिए क्या करना चाहिए? प्रत्येक क्रिया के लिए जो कर्मकांड बनाए गए हैं, वे श्रेष्ठ काम के लिए बनाए गए हैं। कर्मकांड करते समय आपका ध्यान इस क्रिया पर जाए, जो बोलकर तो नहीं बताई गई है, पर क्रिया के माध्यम से बता दी गई है। कल हमने आपको बताया था कि आचमन से हमारी वाणी का परिष्कार होता है। कल जब आप आचमन करें तो यह ध्यान करें, यह विचार करें कि हमारी वाणी का संशोधन हो रहा है। वाणी को हम धो रहे हैं, वाणी को हम साबुन लगा रहे हैं। वाणी को पत्थर पर पीट रहे हैं, वाणी की ढलाई कर रहे हैं। वाणी पर पानी डाल रहे हैं। जैसे बच्चा गंदा हो जाता है, टट्टी कर आता है, तो उसके ऊपर बाल्टी से पानी डालते हैं, उसे धोते हैं, नहलाते हैं, उसको साफ करते हैं। आप यह विचार कीजिए कि हमारी वाणी जो अभक्ष खाने की वजह से, अवांछनीय वार्त्तालाप करने की वजह से गंदी हो गई है, इसको हम धोते हैं और साफ करते हैं। जैसे धोबी, धोबीघाट पर कपड़े ले जाकर पत्थर पर रगड़ता है। आप कल्पना कीजिए कि अपनी जीभ को धोबी की तरह से हम घाट पर ले जाते हैं और पत्थर पर रगड़कर धोते हैं। पानी का जो हमने आचमन कर लिया, उसके सहारे हम अपनी जीभ को दे पिटाई-दे पिटाई, दे डंडा-दे डंडा और उसका सारा-का-सारा कचूमर निकाल देते हैं। फिर देखिए कि वह गंदी रहेगी कि साफ होगी? साफ होगी।

साधना ऐसे जीवंत होगी

गुरुजी! और क्या बताएँगे? बता तो रहे हैं। बेटे, प्रत्येक क्रिया के साथ में चिंतन दिया हुआ है। ऋषियों ने जितने भी कर्मकांड बनाए हैं, उनके साथ में चिंतन दिया है। चिंतन के साथ-साथ क्रिया को मिला देंगे, तो मन और क्रिया का समावेश हो जाएगा। यह दो चीजें शामिल हो जाएँगी- विचारणा और क्रिया तो चमत्कार हो जाएगा। विचारणा और क्रिया को मिला देने से हमारा शरीर और मन जिस तरीके से दोनों एक बन जाते हैं, वैसे ही आपकी साधना जीवंत हो जाएगी। प्रत्येक क्रिया के साथ हम पाँच उपासनाएँ बताते हैं। पाँच उपासनाओं का मोटा-मोटा स्वरूप हमने पत्रिकाओं में भी छाप दिया था और पिछले साल भी हमने स्वर्ण जयंती साधना भी सिखाई थी। गुरुजी! हम स्वर्ण जयंती साधना वर्ष की साधना करते हैं और भजन भी पैंतालीस मिनट करते हैं। भजन तो करता है बेटा, पर तू एक बात तो बता कि उस कर्मकांड के साथ-साथ जो विचार हैं, उनको भी करता है कि नहीं।

नहीं महाराज जी! मैं तो लगा रहता हूँ, बस माला पूरी कर लेता हूँ। माला पूरी कर लेता है तो तेरे लिए बहुत-बहुत धन्यवाद। तेरे लिए बहुत आशीर्वाद, परंतु

बेटा जब माला करता है, तो उसके साथ-साथ विचारों को भी लाता है कि नहीं? महाराज जी, विचार तो मेरे भागते रहते हैं। तो बेटा, भगवान की उपासना तेरी अधूरी है। तेरी उपासना का जो परिणाम मिलना चाहिए था, उससे जिस वातावरण का परिशोधन होना चाहिए था, उस वातावरण का परिशोधन हुआ क्या? जिस उद्देश्य से हमने प्रेरणा दी थी, शक्ति दी थी और दीक्षा दी थी, शिक्षा दी थी। न हमारा उद्देश्य पूरा हुआ, न तेरा हुआ और न ही भगवान का। तीनों में से एक का भी उद्देश्य पूरा नहीं हुआ, इसलिए क्रिया के साथ-साथ में विचारणा का समावेश करने की शिक्षा मैं हमेशा देता रहा हूँ और देता रहूँगा।

मित्रो, कल मैंने आत्मशोधन की प्रक्रिया आपको बताई थी कि गायत्री पंचमुखी भी है। पाँच कोशों में उसके पाँच मुख हैं। गायत्री उपासना पाँच चरणों में बँटी हुई है। पहला कृत्य है—आत्मशोधन की क्रिया। आत्मसंशोधन की क्रिया जिसमें हम पाँच कृत्य कराते हैं। १. पवित्रीकरण कराते हैं, २. आचमन कराते हैं, ३. शिखा बंधन कराते हैं, ४. प्राणायाम कराते हैं, ५. न्यास कराते हैं। इन पाँच क्रियाओं का एक उद्देश्य है कि हम अपने पाँचों कोशों को, पाँचों तत्त्वों को, पाँचों प्राणों को शुद्ध बनाते हैं। उपासना में पहला काम है सफाई करना। हमारे दिमाग में एक बात आनी चाहिए कि हमको भगवान के चरणों में जाने के लिए नहा-धोकर जाना चाहिए। स्वच्छ और पवित्र होकर जाना चाहिए। हमारे जीवन की क्रियाएँ पवित्र होनी चाहिए। हमारा चिंतन पवित्र होना चाहिए। हमारे साधन पवित्र होने चाहिए और हमारे जीवन की गतिविधियाँ पवित्र होनी चाहिए। अगर हम पवित्रता का पहला उद्देश्य पूरा कर लेते हैं, तो समझना चाहिए कि पाँच मुख वाली गायत्री की हमारी उपासना सफल हुई।

सर्वप्रथम, जीवन का परिष्कार

गायत्री के पंचकोश जागरण करने की प्रक्रिया में गुरु जी आपने तो ब्रह्मचर्य की बात कही थी। बेटे, हम बताते हैं कि ब्रह्मचर्य तेरे लिए यहीं से शुरू होता है। औरों के लिए, बड़ों के लिए हम कुंडलिनी बता देंगे, पर तेरे लिए कुंडलिनी जगाना बेकार है। तेरे लिए तो यहीं से शुरू होता है। तू यह बता कि तूने अपने जीवन का परिष्कार कर लिया कि नहीं, तभी बेटे बात बनेगी अन्यथा नहीं? हमारे गुरु ने हमें बार-बार बुलाया है। बार-बार बुलाने की शृंखला उन्होंने उस समय से प्रारंभ की जिस समय कि हमारे चौबीस लक्ष के चौबीस गायत्री महापुरश्चरण पूरे हो गए। जब उन्होंने यह देख लिया कि इसने अपना मन, अपना शरीर और अपनी जिह्वा का संशोधन करके इस लायक बना लिया कि हमारी गोदी में आ सकता है, तब उन्होंने अपनी लंबी वाली भुजाएँ फैलाईं अर कहा, अब तो तुझको मेरे पास आना चाहिए। मैंने कहा, पहले क्यों नहीं बुलाया था आपने? मुझे चौबीस साल हो गए, जब तो मैं जवान ही था। उन्होंने कहा, तब तक तू संशोधित नहीं हो सका था। मैंने देखा था कि तेरी सफाई में कमी थी, तेरी शुद्धता में कमी थी। तेरी शारीरिक और मानसिक शुद्धता का जो स्तर होना चाहिए, उसमें मैंने कमी पाई, इसलिए मैंने सोचा कि अभी और निखार लूँ, अभी और तेरे कपड़ों की धुलाई कर लूँ। अब तेरी चड्डी भी धुल गई, तेरा मन भी धुल गया, तेरा सब धुल गया, अब मेरा मन आता है कि तुझे गोदी में लूँ। अपने पिता से मैं लिपटता हुआ चला गया, उनका दूध पीता हुआ चला गया, उनकी शक्ति-सामर्थ्य को प्राप्त करता हुआ चला गया।

मित्रो, संशोधन का यह काम आवश्यक है, उपासना से भी ज्यादा, भजन से भी ज्यादा। कर्मकांड से भी ज्यादा आवश्यक है। अति आवश्यक है कि आप भी अपना आत्मसंशोधन कर लें, तो बात बने। लोहा जब तक कच्चा रहता है, तब तक उसकी कोई चीज नहीं बन सकती। हमने भिलाई और टाटानगर में कच्चा लोहा देखा। कच्चा लोहा वैगन में भरकर आता था। कच्चा लोहा कहाँ से आता है? साहब! यह जमीन में से खोद-खोदकर आता है। साहब! जरा लोहा दिखाना। यह ऐसा लोहा जैसे मिट्टी मिला हो। यह लोहा है। यह कैसा लोहा है? साहब! यही लोहा है। अरे बाबा! यह कैसा लोहा है, यह तो कुछ और ही है। नहीं बाबा! यही लोहा है मिट्टी मिला कच्चा लोहा। बेटे, कैसा लोहा था-मिट्टी थी, भारी-भारी पत्थर थे। तो अब इससे लोहा कैसे निकलेगा? देखिए अब तमाशा दिखाते हैं कि इसमें क्या-क्या होता है। कच्चा लोहा लिया और तुरंत लेने के बाद उसको भट्टी में डाल दिया, गरम किया, पकाया। पकाने के बाद में मिट्टी अलग होती चली गई और लोहा अलग होता चला गया। एक बार सफाई हो गई। दुबारा लोहे को फिर से भट्टी में डाल दिया, उसमें जो कचाई थी, कमजोरी थी, फिर उसमें से साफ हो गई। आगे भी फिर यही प्रक्रिया दोहराई गई। ऐसा होते-होते आखिर में सफाई की प्रक्रिया जब चलती चली जाती है, तो स्टेनलेस स्टील बनती जाती है। स्टेनलेस स्टील कैसी होती है? बेटे, ऐसी

होती है, चाँदी जैसी। लोहे में और चाँदी में फरक नहीं होता है? नहीं साहब! लोहा काला रहता है। नहीं साहब! काला नहीं होता सफेद होता है। लोहा मैला होता है, जंग लग जाती है। नहीं साहब! लोहे को जंग नहीं लगती। स्टेनलेस स्टील को देखिए, इसको जंग नहीं लगती है। तो क्या कच्चा लोहा स्टेनलेस लोहा हो सकता है? हाँ हो सकता है। कब जब लोहे को परिशोधित करते हुए, संशोधित करते हुए चले जाएँ।

सबसे बड़ा योगाभ्यास

मित्रो, वास्तव में जीवन जीने की विधि भी यही थी। पर हाय रे भगवान, न जाने लोगों ने क्या कर दिया, लोगों ने क्या व्याख्या कर दी। उपासना को, साधना को लोगों ने जादू मान लिया। अध्यात्म को मनोकामना पूरा करने का जादू मान लिया। यह जादू नहीं है, यह जीवन जीने की कला है। जीवन को संशोधित करने की विधि है। आपका जीवन इतना बड़ा जीवन है कि इस पर हम देवताओं को निछावर करते हैं, भगवान को हम इस पर निछावर कर सकते हैं। भगवान से बड़ा है जीवन। वह साक्षात् भगवान है। इस जीवन को परिष्कृत करना अपने आप में सबसे बड़ा योगाभ्यास है। उसे साधना कहिए, उसे तप कहिए, उसे भजन कहिए- इन सबका उद्‌देश्य भगवान को रिझाना नहीं है, भगवान की खुशामद करना नहीं है, भगवान को फुसलाना नहीं है, भगवान को बहकाना नहीं है। भगवान के आगे तरह-तरह के जाल बिछाना नहीं है। भगवान की उपासना का उद्‌देश्य एक तो यह है कि हम अपने आपको परिशोधित करते चले जाएँ। अपने आपका परिशोधन करते हुए चले जाएँगे, तो फिर देखेंगे कि क्या कमाल होता है। देखें फिर क्या मजा आता है। देखिए आपके पास कैसे सब चमत्कार आते हैं। मैं आपसे यही कहने वाला था कि आप अपनी वाणी को संशोधित कर लीजिए, फिर आप अपनी जुबान से कहिए कि तेरा भला हो जाए, आशीर्वाद हो जाए और तेरा कल्याण हो जाए। फिर देखना क्या होता है और क्या नहीं होता है। कैसी-कैसी चीजें उड़ती हुई चली आती हैं।

आप अपनी आँखों को संशोधित कर लीजिए फिर देखिए, कैसे चमत्कार होता है। आँखों को संशोधित कैसे करें? आँखों को संशोधित ऐसे करें जैसे गांधारी ने की थीं गांधारी ने कैसे किया था? गांधारी ने आँखों को संशोधित करने के लिए अपनी आँखों पर पट्‌टी बाँध ली थी। पट्‌टी बाँधने का मतलब यह है कि दूसरों की, व्यक्तियों की, नर और नारियों की जो मान्यताएँ हैं, उससे आप प्रभावित न हों। गांधारी ने तो अपनी आँखों में पट्‌टी इसलिए बाँध ली थी कि उसका जो अंधा पति था, उससे उसकी शादी हुई थी, इसलिए उसने अपनी आँखों में पट्‌टी बाँध ली थी कि मेरा मर्द एक ही है, दूसरा कोई मर्द है ही नहीं। आँखों का संशोधन करने के पश्चात् न कोई जप किया, न तप किया और न कोई पूजा की, न कोई अनुष्ठान किया, न कोई ध्यान किया। गांधारी ने आँखों में जो पट्‌टी बाँधी थी, उसका मतलब आपको समझ लेना चाहिए। पट्‌टी बाँधने का मतलब यह नहीं है कि अपने आप से पट्‌टी बाँधें। क्यों साहब, सूरदास जी ने अपनी आँखें फोड़ ली थीं या फूट गई थीं और हम भी फोड़ लें तो क्या भगवान दिखाई पड़ेंगे? बेटे, यह गलती तो मत कर लेना। आँखें फोड़ने से मतलब है कि हमारी जो कमीनी आँखें, दुष्ट आँखें हैं, जो नारी को, मातृशक्ति को विषय वासना के रूप में देखती हैं, तो उन्हें हम फोड़ दें अर्थात् बदल दें। फिर देखना आँखों का चमत्कार कैसे होता है।

सूचना

अंतःऊर्जा जागरण सत्र के लिए स्वीकृति प्राप्त साधक ध्यान दें। शांतिकुंज, हरिद्वार से स्वीकृति पत्र प्राप्त होते ही सहमति पत्र अवश्य भेज दें, अन्यथा आपका स्थान दूसरे को दे दिया जाएगा। साधना निर्देशिका का ठीक से अध्ययन एवं सभी साधनाओं का एक बार अच्छी तरह अभ्यास भी कर लें। अन्यथा साक्षात्कार में अयोग्य पाए जाने पर सत्र लाभ से वंचित रहना पड़ सकता है।

गुरु जी, सिद्धियों का दूसरा तरीका बताइए? क्या तरीका बताएँ। कोई ऐसा मंत्र बताइए कि जिससे काली हमारे काबू में आ जाए, देवी हमारे काबू में आ जाए, फलानी हमारे काबू में आ जाए। धूर्त, देवी तेरे काबू में आ जाएगी, तो तेरा कचूमर निकाल देगी। कैसे? वैसे ही, जैसे एक बार शुंभ ने अपने दूत से संदेश भेजा, कहा कि देवी तू हमारे काबू में आ जा। काबू से क्या मतलब है। तू हमारी बीबी बन जा। किससे कहने लगा था? चंडी से कि हमारे कहने में चल, हमारे या हमारे भाई निशुंभ की सेवा में आ जा। देवी ने कहा, अच्छा आप हमें बीबी

बनाना चाहते हैं? हाँ, आप हम पर हुकुम चलाना चाहते हैं? हाँ, आप हमें गुलाम बनाना चाहते हैं? देवी ने कहा, हम आपकी नौकरानी बन सकती हैं और गुलामी भी कर सकती हैं, पर हमने एक प्रतिज्ञा कर रखी है। आपको हमारी एक शर्त माननी पड़ेगी। बोले—क्या?

यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥

मैं तुझे अपना पति बनाने को तैयार हूँ और मैं तेरी पत्नी बनने को तैयार हूँ, लेकिन शर्त तो पूरी कर। कैसे पूरी करूँ? '**यो मां जयति संग्रामे**' जो मुझको संग्राम में जीतेगा। आ जा मुझसे लड़, इतना पराक्रम, इतना पौरुष, इतना साहस दिखा। जितना साहस मुझ में है, इतना ही पराक्रम-पौरुष दिखा और यह कार्य '**यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति**' संसार में जो मेरे समान बलवान होगा। जो मुझे संग्राम में पराजित कर देगा, हरा देगा, वही मेरा स्वामी होगा। मैं उसी की पत्नी बनूँगी, वरना नहीं बनूँगी। उसने कहा, मैं लड़ने को तैयार नहीं हूँ। तब देवी ने कहा, अब मैं तेरी अकल ठीक कर दूँगी।

मित्रो, देवी को आप क्या बनाना चाहते हैं? देवी को औरत बनाना चाहते हैं, आप देवी के पति बनना चाहते हैं न। कौन बनना चाहता है? पति बनना चाहता है या भक्त बनना चाहता है? यह क्या कह रहा है गंदे मुँह से। बेटे, देवी हमारी माँ है। माँ हुकुम देती है और बच्चे को उसका पालन करना पड़ता है। पति का मतलब यह है कि पति हुकुम देता है अपनी बीबी को, खाना बना देना, थोड़ा काम कर हमारे पैर दबा आकर। यही कह रहे थे न कि देवी जी को हमारा हुकुम मानना पड़ेगा, हमारा कहना मानना पड़ेगा। सब पर हुकुम चलाते हैं, गुरु जी को हमारा हुकुम मानना पड़ेगा। देवता को, भगवान को हमारा हुकुम मानना पड़ेगा। क्यों? हमने धूपबत्ती जला दी, आपके ऊपर हमने माला पहना दी। आप हुकुम चला रहे थे हमारे ऊपर? हाँ साहब, हम तो हुकुम चलाएँगे आपके ऊपर, हम तो चेला हैं। बड़ा आया चेला।

अपने मन को भगवान के साथ जोड़ दें

बेटे, आपको क्या करना पड़ेगा? आपको अपने मन को भगवान के साथ, देवता के साथ जोड़ देना पड़ेगा। कल हमने आपको बताया था कि परिशोधन की प्रक्रिया के साथ सारे-के-सारे विचार उसमें जुड़े हुए हैं। किसमें? जो हम कर्मकांड कराते हैं उसके साथ। कर्मकांडों का जादू इतना ही है कि प्रत्येक कर्मक़ांड के साथ में शिक्षा भरी पड़ी है। वे सारी-की-सारी शिक्षाएँ आपके हृदयों में गूँजती रहें, दिमागों में चलती रहें। आपके चिंतन और विचारों की धारा वहीं बहती रहें, तो मैं समझूँगा कि आपने विचारों का और क्रिया का समन्वय कर दिया।

(क्रमशः) ▲

शरीर से रुग्ण और अति दुर्बल गोर्की, पर दुर्भाग्य; एक के बाद दूसरा आता गया। नाना-नानी के यहाँ पालन-पोषण हुआ। माता उसे इसी स्थिति में छोड़कर दूसरा विवाह करके अन्यत्र चली गई। मामा का दुर्व्यवहार बढ़ता चला, तो उसने १२ वर्ष की आयु से स्वावलंबी होने की बात सोची।

एक स्टीमर पर बरतन माँजने का ऐसा काम मिल गया, जिससे किसी प्रकार पेट भर जाता। दो वर्ष बाद उन्हें रसोई बनाने का काम मिल गया। साथियों में से कुछ कृपालुओं की सहायता से उन्हें वर्णमाला सीखने और पढ़ने-लिखने का अवसर मिला।

उन दिनों रूसी क्रांति की हवा चल रही थी। गोर्की ने निजी रूप से पढ़ाई जारी रखी और क्रांति में भाग लिया। टाल्स्टाय उनसे बहुत प्रभावित थे। लेखन कार्य आरंभ किया, तो उसमें भी वे ऊँची श्रेणी पर पहुँचे। आज लेखकों की दुनिया में गोर्की का नाम मूर्द्धन्य श्रेणी में गिना जाता है।

भाग्य ने जिसे पग-पग पर ठुकराया, परिस्थितियाँ जिसके सर्वथा प्रतिकूल रहीं, ऐसा व्यक्ति विश्वविख्यात बन गया। इससे उसके पुरुषार्थ को ही सराहा जा सकता है।

युगगीता — ३७

कर्मयोग के अभ्यास बिना संन्यास सधेगा नहीं

(कर्म-संन्यास योग नामक गीता के पाँचवें अध्याय की तीसरी किश्त)

युगगीता की विगत कड़ी में बताया गया था कि सांख्य (संन्यास) और कर्मयोग दोनों एक ही हैं, अलग-अलग नहीं। 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पंडिताः' के गीता के इस अध्याय के चौथे श्लोक के पूर्वार्द्ध के उद्धरण के साथ यह बताने का प्रयास किया गया था कि समझदार लोग, ज्ञानी व्यक्ति सांख्य व योग दोनों को एक-सा फल देने वाला ही मानते हैं, जबकि अज्ञानी, नासमझ व्यक्ति संन्यास व कर्मयोग को भ्रांतिवश अलग-अलग मान लेते हैं। आज के युगधर्म को ही कर्मयोग का पर्याय बताते हुए यह कहा गया था कि यही हम सबके लिए किया जाना वाला कर्त्तव्य है। भगवान कृष्ण तीसरे श्लोक में कह चुके हैं कि उसी कर्मयोगी को संन्यासी मानना चाहिए, जो न किसी से द्वेष करता है, न राग रखता है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति तो सहज ही बंधनमुक्त हो जाता है। जो इन द्वंद्वों में उलझ जाता है, वह न केवल मनोरोगी बनता है, बंधनों में बँधकर अपनी आध्यात्मिक प्रगति को भी अवरुद्ध कर लेता है। राग-द्वेष से मुक्त होना ही संन्यासी मनःस्थिति में प्रवेश करना है। चौथे श्लोक में पंडितों (ज्ञानीजनों-विद्यावानों) एवं बालक की तरह आचरण करने वाले मूर्ख नासमझों के बीच का अंतर योगेश्वर बताते हैं कि जो दोनों को समान फल देने वाला मानकर एक में भी पूरी तरह से निमग्न होकर उसे जीवन में उतार लेता है, वह दोनों का ही फल प्राप्त कर लेता है। (एकमपि स्थितः सम्यक् उभयोः विन्दते फलम्) कर्त्ताभाव का मिट जाना ही संन्यास की स्थिति में मनुष्य को प्रविष्ट करा देता है। आज वेश के नाम पर छाई विडंबना व संन्यास वंश की दुर्गति का जिक्र विगत अंक में किया गया। अब आगे बढ़ते हैं।

योग साधन है, सांख्य लक्ष्य

श्री भगवान इस तथ्य को स्थापित करने जा रहे हैं कि योग साधन है एवं सांख्य (संन्यास की मनःस्थिति) हम सबके लिए लक्ष्य। भोक्ताभाव को हम त्यागें एवं कर्त्ताभाव में प्रवेश करें। भोक्ताभाव को त्यागने के लिए राग-द्वेष से मुक्त हों, मन को तनावरहित बनाएँ, ग्रंथिमुक्त बनाएँ। आसक्ति त्यागें व जिनको हम अपने कर्मों को संपादित करने में बाधक मानते हैं, उन सभी गतिविधियों से बचें। अहं का त्याग होते ही हमें अंदर विद्यमान ज्योतिर्मान आत्मा की अनुभूति होने लगती है, जो हमें चिरस्थायी शांति प्रदान करती है। इस प्रकार क्रम हुआ—कर्मयोग, कर्मों में शुचिता, दत्तचित्त होकर निरासक्त भाव से कर्म करना और फिर अपने इस योग की अंतिम परिणति सांख्य में, कर्म संन्यास में करके स्वयं को संन्यासी की मनःस्थिति में ले जाकर परमशांति-उल्लास व ईश्वरानुभूति की पराकाष्ठा पर ले जाना। कितना सुंदर आध्यात्मिक प्रगति का राजमार्ग योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं। जीवन जीने की शैली का ज्ञान करा रहे हैं एवं उसे मुक्ति के पथ की ओर प्रशस्त कर रहे हैं। अपनी इस बात को कि किसी भी एक मार्ग का अनुसरण करने से साधक को इष्ट की सिद्धि हो जाएगी, अहंभाव से मुक्ति मिल जाएगी, वे अगले पाँचवें श्लोक में और भी अच्छी तरह स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५/५

ज्ञानयोगी जिस परम पद को प्राप्त करते हैं, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिए जो पुरुष ज्ञानयोग (सांख्य) और कर्मयोग के संपादन को एक ही देखता है, उनका फल एक ही मानता है, वही यथार्थ देखता है।

यः पश्यति स पश्यति

चौथे श्लोक की पुष्टि बड़े सुंदर ढंग से यहाँ की गई है। ज्ञान व कर्म एक-दूसरे के पूरक के रूप में देखे जाने चाहिए, यह भगवान का मत है। दोनों का ही समापन अहंभाव के विसर्जन में होता है। अहंभाव जाते ही भोक्ताभाव समाप्त हो जाता है और इसी के साथ कर्त्ता का भाव भी तिरोहित हो जाता है। इसी के तुरंत बाद साधक को अपने भीतरी आनंद में अभिवृद्धि की अनुभूति होने लगती है और उसे इन दोनों कथनों का महत्त्व स्वतः ही दिखाई देने लगता है, 'यः पश्यति स पश्यति।' जो यह जानता है कि

जो पद सांख्य योगी को प्राप्त होता है (यत्सांख्यते प्राप्यते स्थानं), कर्मयोगी भी वहाँ अपने कर्म का संपादन करते-करते यथासमय पहुँच जाते हैं (तद्योगैरपि गम्यते) वही वास्तव में द्रष्टा हैं, मनीषी हैं, ज्ञानी हैं।

कर्मयोग की महिमा भगवान द्वितीय अध्याय से ही गाते चले आ रहे हैं। वे उसे संन्यास के समकक्ष ठहराते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंस निष्काम कर्मयोग के संबंध में स्पष्ट कहते हैं, ''ईश्वर के साथ किसी तरह से जुड़कर कर्म करते हुए जीना, यही कर्मयोग है। दो मार्ग हैं- कर्मयोग और मनोयोग। जो लोग आश्रम में हैं, उनका योग कर्म के द्वारा होता है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। संन्यासी लोग काम्यकर्म छोड़ दें, किंतु नित्यकर्म कामनाशून्य होकर करें। दंड धारण, भिक्षाटन, तीर्थयात्रा, पूजा, जप आदि कर्म बिना किसी कामना के करते हुए योग की संसिद्धि को प्राप्त हों।'' बड़ा ही स्पष्ट निर्देश है एवं पूरे श्लोक की समुचित व्याख्या भी है। भगवान स्पष्ट कर रहे हैं कि कर्म के द्वारा ईश्वर के साथ संयोग ही कर्मयोग है। जिस कर्म में भगवान से संबंध स्थापित नहीं होता, वह मात्र कर्म है, कर्मयोग नहीं।

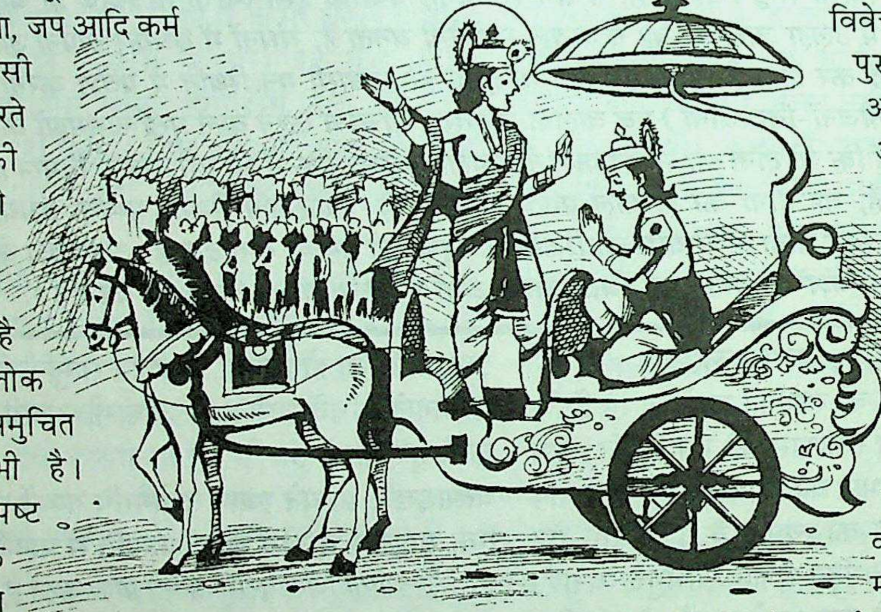

गृहस्थ योगी

श्यामाचरण लाहिड़ी का एक प्रसंग है। वे एक क्लर्क मात्र थे, किंतु उच्चस्तरीय सिद्धि प्राप्त योगी थे। वे प्रसिद्ध संन्यासी-सिद्ध योगी तैलंग स्वामी के पास मिलने आए, तो तैलंग स्वामी खड़े होकर उनको सम्मानास्पद स्थान देकर मिले। तैलंग स्वामी एक अवधूत थे, दिगंबर थे एवं बड़े सिद्ध स्तर के संन्यासियों में उनकी गिनती होती थी। बहुत बड़ा उनका संप्रदाय था, ढेरों शिष्य थे। शिष्यों ने यह दृश्य देखा, तो पूछ बैठे कि आप किसी धोती-कुरताधारी को क्यों खड़े होकर मिले और उन्हें आपने नमन किया, तो तैलंग स्वामी बोले, ''जिस कार्य के लिए मुझे लंगोटी पहनकर वर्षों तप करना पड़ा, कठोर साधनाएँ करनी पड़ीं, उसे इसने कर्मयोग करते-करते धोती-कुरता पहने ही प्राप्त कर लिया है। इसने कर्मयोग से ही उस कौशल की, सर्वोच्च पद की सिद्धि हासिल कर ली, जिसके लिए संन्यासी वर्षों तप करते रहते हैं। कठोर तप-तितिक्षा के मार्ग से गुजरते हैं।'' यह उदाहरण बताता है कि साधना से सिद्धि का यह दो नामों वाला एक ही मार्ग है। कोई भी किसी भी एक का अनुसरण कर ले, तो वह परम लक्ष्य को पा लेगा। वह द्रष्टा (यः पश्यति स पश्यति) बन जाएगा।

योगीराज श्यामाचरण जी लाहिड़ी के कई प्रसंग परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी से हिमालय के प्रसंगों में, साधना संबंधी गुह्य विवेचनाओं में एवं सुप्रसिद्ध पुस्तक 'एक योगी की आत्मकथा' (एन ऑटोबायोग्राफी ऑफ योगी- स्वा. योगानंद परमहंस) में पढ़ने को मिलते हैं। रानीखेत (उत्तरांचल) के आगे दुर्गम हिमालय के ऊपरी क्षेत्र में वे मात्र संकल्प से सूक्ष्मशरीर से पहुँच जाते थे एवं ढेरों व्यक्तियों को उनने योग के मार्ग पर प्रशस्त किया था। उनने कर्म को कौशलपूर्वक संपन्न कर अपने अंदर वह शक्ति जाग्रत् कर ली, जो किसी को सब कुछ छोड़कर मिलती है। परमपूज्य गुरुदेव लिखते हैं कि मनःस्थिति योगी की होनी चाहिए, बहिरंग कैसा भी हो, अंतरंग परिष्कृत होना चाहिए।

नाग महाशय

श्री रामकृष्ण परमहंस के दो शिष्य थे, एक नाग महाशय (डॉ. दुर्गाचरण नाग) जो गृहस्थ थे एवं दूसरे स्वामी विवेकानंद जो संन्यासी थे। नाग महाशय गृहस्थ में भी संन्यासी का जीवन जीते थे। स्वयं स्वामी विवेकानंद जो कि माता के दबावों-परिजनों के आग्रहों के बाद भी जन्म से ही संन्यासी रहे, संन्यास की स्थिति में ही एक आदर्श जीवन जीकर, संक्षिप्त-सा जीवन जीकर गए, अंत तक नाग महाशय को सबसे बड़ा संन्यासी-

योगी मानते रहे। वे कहते थे कि नाग महाशय डॉक्टर भी हैं, इलाज भी करते हैं, गृहस्थ भी हैं, पर उससे भी ऊपर सबसे बड़े योगी हैं। उनकी जो उपलब्धियाँ हैं, वे बिरले संन्यासी ही प्राप्त कर पाते हैं, ऐसा उनका मत था। इससे स्पष्ट होता है कि लक्ष्य प्राप्ति में कोई संदेह नहीं होना चाहिए। कर्म कैसे किए जाएँ, बस यही समझ लेना जरूरी है। कैसे उनमें 'परफेक्शन' लाया जाए, यही मर्म समझ में आ जाए तो सिद्धि सुनिश्चित है।

हम स्वयं कई स्थानों पर आज के इस कलियुग में देखते हैं कि लोगों में गैरिक वस्त्रधारी संन्यासीजनों के प्रति बड़ा 'क्रेज' है। इस हद तक पागलपन है कि वे कर्म को गौण समझकर वेश को ही सब कुछ मान उनके जीवन को न देखकर उनसे सिद्धि की आकांक्षा रखने लगते हैं। कुछ प्राप्ति के प्रलोभन में 'स्वामी जी' के स्पर्श की वस्तु, उनके पाँव की धोवन, उनके हाथ से स्पर्श किया कोई भी पदार्थ स्वीकारने में झिझकते नहीं। स्वयं कुछ कर्म या पुरुषार्थ करना नहीं चाहते। वे किसी चमत्कार की अपेक्षा रखते हैं। 'जो स्वयं बहुत निर्बल हो, औरों को वह क्या देगा' की काव्यपंक्ति के अनुसार वक्तृता की कला में माहिर मात्र संन्यासी वेशधारी व्यक्ति जो निज के जीवन की दुर्बलताओं को नहीं मिटा पाया, औरों को क्या कुछ दे सकेगा, यह सोचना चाहिए। कर्मयोग को तुलाधार वैश्य की तरह, रैक्व की तरह, सदन कसाई की तरह हम ऐसा प्रखर बनाएँ, भगवद् भक्ति इतनी प्रगाढ़ स्तर की बना लें तो स्वत: हम सांख्य-संन्यास से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ पा सकते हैं।

क्या हो हमारा आदर्श

परमपूज्य गुरुदेव ने जीवनभर एक संन्यासी की मन:स्थिति में रहकर प्रचंड पुरुषार्थ किया, एक सद्गृहस्थ का जीवन जिया व औरों के लिए एक मार्गदर्शक जीवन जीकर वे पथ प्रशस्त कर गए। वे कहते थे कि वास्तव में यदि हम युग साधना करते हैं, तो जो कर्म हम करते हैं- उनमें पूरी ईमानदारी बरतें। कर्मयोग का आदर्श किसी भी सार्वजनिक-राष्ट्रोत्थान को समर्पित संस्था का क्या होना चाहिए? इस पर पूज्यवर कहते थे, हमारा आदर्श लोकमान्य तिलक होना चाहिए, शहीद भगत सिंह, राम प्रसाद बिस्मिल, चंद्रशेखर आजाद, सुभाष चंद्र बोस होना चाहिए। जो इस तरह युगधर्म का पालन करता है, तो वह व्यापारी हो अथवा अधिकारी पूरी तरह सांख्य में प्रतिष्ठित हो अपने लक्ष्य की सिद्धि तक पहुँच जाता है। स्वार्थ और अहं को त्यागकर अपना सर्वस्व राष्ट्र व समाज के लिए निछावर करने वाला व्यक्ति महामानव पद पाता है। जो युग की चुनौती को स्वीकार करे और अपने-पराये का मान रखकर कर्म करे, तो वह आत्मिक प्रगति स्वयं करता चला जाता है।

परमपूज्य गुरुदेव कहते थे कि जो यह देखता है कि कौन मेरा है, कौन पराया तो वह राग-द्वेष से ग्रसित हो जाता है। राग आया, मोह आया तो फिर परिग्रह आ जाता है, फिर कर्म दूषित होने लगते हैं। जिन्हें सब अपने दिखाई देते हैं, वे अपनी, अपने रिश्तेदारों की मोह वाली जिंदगी नहीं जीते। परमार्थपरायण जीवन जीते हैं, लोकहितार्थाय अपना समग्र पुरुषार्थ करते हैं। आत्मकल्याण व लोककल्याण का जिसमें सच्चा समन्वय है, वह कर्मयोग का मार्ग ही है, जिसकी विशद् चर्चा भगवान पाँचवें के बाद अब छठे श्लोक में करने जा रहे हैं।

सन्न्यासस्तु महाबाहो दु:खमाप्तुमयोगत:।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

हे अर्जुन, कर्मों के संपादन के बिना कर्मों का त्याग (संन्यास) संभव नहीं है, अर्थात् मन, इंद्रिय और शरीर द्वारा होने वाले संपूर्ण कर्मों में कर्त्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है। योग के आचरण से शुद्ध हुआ भगवत्स्वरूप को मनन करते रहने वाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

पहले कर्मयोग का अनुष्ठान करें

कर्मयोग एवं सांख्ययोग अविभाज्य हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं, तब भी योगेश्वर बार-बार एक ही बात कह रहे हैं- विशुद्ध रूप से यज्ञीय भाव से नियत कर्मों का संपादन करो। सीधे सांख्य मार्ग पर जाने की तुलना में यह मार्ग श्रेयस्कर है एवं श्रीकृष्ण द्वारा अनुमोदित है। इस श्लोक में वे कहते हैं कि पहले कर्मों का संपादन करो, आसक्ति छोड़कर करो, तब तुम्हारे अंदर वह शुचिता जन्म लेगी, जिससे तुम ध्यानयोगी बन सको, ताकि परमात्मा की प्राप्ति का लाभ प्राप्त कर सको, इसीलिए वे कहते हैं कि निष्काम कर्म के अनुष्ठान के बिना संन्यास दु:खप्राप्ति का मार्ग बनकर रह जाता है (**संन्यासस्तु दु:खमाप्तुम् अयोगन:**)। जो दु:ख दे, कष्ट दे, प्रचंड द्वंद्वों-झंझावातों में उलझा दे, वह मार्ग अपनाया ही क्यों जाए। आगे वे कहते हैं, योगयुक्त-निष्काम कर्मयोगी मुनिजन (ज्ञानी-सांख्ययोगी-मौन संन्यासी-मनन करने वाले ध्यानयोगी) 'न चिरेण' अर्थात् शीघ्र ही 'ब्रह्म अधिगच्छति' अर्थात् ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत श्लोक बड़ी मार्मिक व्याख्या करता है आज के हर जिज्ञासु के लिए, अध्यात्मपथ के पथिक के लिए। जो भोक्ताभाव के त्याग का अभ्यास न कर पाए, उसके लिए तो कर्त्ताभाव का त्याग अत्यधिक कठिन है, इसलिए निष्काम कर्मयोगी बन भीतर की वासनाओं का क्षय करते हुए विवेक-बुद्धि को सतत परिष्कृत कर जीना चाहिए। जब तक आंतरिक गड़बड़ी ठीक नहीं होगी, बाहर का संन्यास किस काम का? आंतरिक गड़बड़ी ठीक करने के लिए यथाशक्ति कर्मयोग का संपादन, लक्ष्य के प्रति समर्पण, सांस्कृतिक उत्थान के लिए निज का नियोजन होना चाहिए। यही सच्चा योगानुशासन है एवं योगयुक्त एक संगठित व्यक्तित्व बनाने की कार्यशाला है। ऐसा करते-करते साधक ध्यान मार्ग में प्रवेश करने का अधिकार पा लेता है एवं अनंत ब्रह्म से साक्षात्कार का पूर्ण आनंदमय अनुभव प्राप्त करता है।

यह संन्यास किस काम का

भगवान स्पष्ट कहते हैं कि कर्मयोग का दीर्घकाल तक अभ्यास किए बिना (अयोगतः) व्यक्ति के लिए संन्यास दुःख देने वाला ही सिद्ध होगा। लक्ष्य के प्रति समर्पित भाव से जीना, यज्ञीय भाव से कर्म करते रहना हर मनुष्य के लिए बताया गया भगवान का एक अनुशासन है। एक नरपशु तो संकीर्ण स्वार्थपरता का, वासना पूर्ति का जीवन जीता है, किंतु पूर्णतः विकसित मानव, ध्यानयोग में अधिष्ठित कर्मयोगी अपने दिव्य स्वरूप को पहचान कर दिव्य कर्मों में ही लीन हो जीवन जीता है। इस तरह योग की महिमा सर्वोपरि है, फिर संन्यास की बात आती है। यह सरल व श्रेयस्कर मार्ग है। योग के बिना संन्यास की कल्पना भी कैसे की जाए? कर्मयोग इस प्रकार पहले, फिर संन्यास की बात। परमपूज्य गुरुदेव यही कहा करते थे कि यदि छप्पन लाख बाबाजी लोगों ने कर्मयोग अपना लिया होता, तो विगत पचास वर्षों में देश कहाँ का कहाँ पहुँच गया होता। सभी ऐसे होते हैं यह बात नहीं, पर अधिकांश ऐसे हैं जो मजबूरी में, आवश्यकतावश, किसी लालच के कारण, बिना किसी उद्देश्य या लक्ष्य के इस वेश को धारण कर उसे बदनाम करने पर तुले हैं, जबकि यह स्थान समाज का शीर्ष-सर्वोपरि कहा जाता रहा है एवं देश ही नहीं, विश्व के मार्गदर्शक संत इस परंपरा से निकलते रहे हैं, चाहे हम उन्हें संत ज्ञानेश्वर के रूप में जानें, एकनाथ या निवृत्तिनाथ के रूप में अथवा समर्थ गुरु रामदास, महर्षि दयानंद एवं स्वामी विवेकानंद के रूप में।

हमें एक संन्यासी महाराजश्री के आश्रम में एक उपाधि-पुरस्कार हेतु आमंत्रित किया गया। वहाँ पर उनके जन्मदिवस व भंडारे के उपलक्ष्य में आयोजित अवसर पर ढेर सारे बाबाजी पहुँच गए। सभी गाँजा पीकर, सुलफे की चिलम चढ़ाकर नारे लगा रहे थे कि उन्हें और पैसे दिए जाएँ। महाराज जी ने प्रत्येक को एक सौ रुपये देने का क्रम बनाया था, पर तथाकथित संन्यासी वेशधारी बाबाजी लोगों की नारेबाजी चालू थी कि हमें ५०१ रुपये चाहिए। वे किसी तरह उनके बीच से निकलकर आए, तो बोले, मैं महाभूतों की पंचायत में से किसी तरह निकलकर आया हूँ, क्योंकि मुझे तो इन्हीं के बीच रहना है, वैराग्य धर्म का पालन करना है। इन्हें साथ लेकर चलना ही होगा। हमने कहा कि जो अकर्मण्य हैं, नशा करते हैं एवं नारेबाजी करते हैं, उन्हें साथ लेकर चलने से क्या लाभ? ये तो भिक्षुक मात्र हैं। हमारे गुरुदेव ने तो हमें सद्गृहस्थों की फौज के बीच बिठा दिया है, जो पूर्णतः कर्मयोगी हैं। आपको नहीं लगता कि आपको क्रांति करनी चाहिए, इनसे मुक्ति पानी चाहिए, इस संन्यास धर्म का उद्धार करना चाहिए। स्वामी जी का कहना था कि यह तो शिवजी की बारात है। हमें इनको साथ लेकर चलना ही होगा। इनसे कोई परिवर्तन की अपेक्षा तो हम नहीं रखते।

जब हमारी गाड़ी स्वामी जी के आश्रम से निकल रही थी, तो वे विशुद्ध रूप से वे गालियाँ दे रहे थे, जो सभ्य समाज में सुनना भी पाप है। कह रहे थे अपने मेजबान से कि सब इन्हीं को दे दो, इन्हीं पर लुटा दो, हमें मत दो, हम देख लेंगे तुम्हें। हमें यह दृश्य देखकर स्वामी जी की दयनीय स्थिति अनुभव कर बड़ा दुःख हुआ एवं मन में विचार भी आया कि यह किन विडंबनाओं में उलझ गए आज के तथाकथित बैरागी-संन्यासी। परमपूज्य गुरुदेव की बात याद आई कि इस युग का नवसंन्यास परिव्राजक धर्म है। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए देव परिवार का निर्माण करो, अपनी वासनाओं को क्षय करते हुए समाज की सेवा करो, यही आज का युगधर्म है। सारा गायत्री परिवार इसी कार्य में लगा है एवं सच्चे कर्मयोगी की तरह कार्य कर आंतरिक सुख की अनुभूति करता है। आज के संन्यास की यह दुर्गति योगेश्वर श्रीकृष्ण के छठे श्लोक में बताई गई बात के अनुपालन न करने से हुई है, वह है पहले कर्मयोग, फिर संन्यास।

(क्रमशः)

◆

गुरुकथामृत-३७

एक पिता, एक मार्गदर्शक, एक भविष्यद्रष्टा संगठक

'साधना की धुरी पर संगठन बनाने का शिक्षण' शीर्षक से इस धारावाहिक शृंखला की पिछली कड़ी (अक्टूबर-२००२) में परमपूज्य गुरुदेव के परमवंदनीया माताजी को लिखे पत्रों के माध्यम से कई ऐसे तथ्य प्रस्तुत किए गए थे, जो अभी तक आम कार्यकर्त्ताओं, परिजनों-पाठकों की जानकारी में नहीं रहे हैं। उसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए गुरुसत्ता की प्रव्रज्या अवधि में लिखे पत्रों से कुछ और सीखने का प्रयास करते हैं। ये पत्र वस्तुतः हम सभी के लिए वे मार्गदर्शक सूत्र प्रदान करते हैं, जिनसे किसी संगठन को सुव्यवस्थित ढंग से खड़ा किया जाता है। बीज बोने के बाद पानी दिया जाता है, अंकुरित होने की प्रतीक्षा की जाती है, निराई-गुड़ाई से खरपतवार निकाले जाते हैं एवं फिर उस पौधे की चारों ओर से सुरक्षा कर दी जाती है। निरंतर पानी देने, खाद की व्यवस्था का तंत्र बना दिया जाता है। तब जाकर वह गुरुत्वाकर्षण के विपरीत जमीन फाड़ता हुआ बाहर निकलता है व देखते-देखते एक वटवृक्ष का आकार ले लेता है, जिसकी छाया में असंख्यों को आश्रय मिलता है। यह पुरुषार्थ, जो बीज बोने से वृक्ष के खड़े होने तक किया गया, एक परिपूर्ण साधना है। संगठन भी इसी तरह खड़े होते हैं। उनमें भी सब तरह की सतर्कता रखनी होती है एवं एक-एक पक्ष पर गहराई से चिंतन कर उसकी देखभाल करने वालों का एक तंत्र खड़ा किया जाता है। गायत्री परिवार ऐसा ही एक वटवृक्ष है, जो परमपूज्य गुरुदेव के तप एवं वंदनीया माताजी के सजल स्नेह भरे सिंचन से खड़ा हो आज करोड़ों के लिए मार्गदर्शक बना हुआ है।

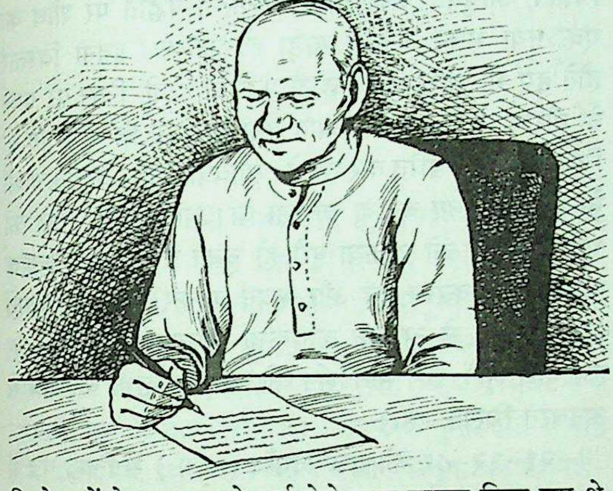

चांद्रायण सत्र व साधना द्वारा देवमानवों के निर्माण संबंधी गुरुवर की व्यग्रता उनके क्षेत्र से भेजे पत्रों द्वारा हम पिछली कड़ी में जान चुके हैं। यहाँ अहमदाबाद से २५-११-८१ का लिखा एक पत्र प्रस्तुत है, जिसमें पूज्यवर ने 'ध्यान-धारणा' के विषय में लिखा है। क्षेत्र में परिभ्रमण करते हुए भी उनका ध्यान सतत अपनी आगे की रणनीति को बनाने व शिविरों की क्वालिटी सुधारने की ओर रहता था। पत्र पढ़ें।

चि. भगवती आशीर्वाद,

कल अंजार-भुज-गाँधीधाम के तीन प्रोग्राम पूरे करके हम आज प्रातः यहाँ लौट आए। आज रात तक पाँच प्रोग्राम पूरे करेंगे। दो रातें रेल में निकलीं। ढर्रा अपने ढंग से चल रहा है। गाड़ी रुकी नहीं। हमारे पत्र मिल रहे होंगे। शायद एकाध दिन में तुम्हारा और कोई पत्र मिले। घर के समाचार जानने की इच्छा रहती है।

इधर जहाँ भी गुंजाइश थी, सभी जगह ध्यान-धारणा का कार्यक्रम था। बड़ा प्रभावशाली और आकर्षक लगा। मन है कि तीनों ध्यानों का एक संयुक्त रूप और बनाया जाए, जिससे एक ही ध्यान में तीनों का समावेश हो। एक पुस्तक में तीनों ध्यान छप रहे हैं। उसमें इतनी गुंजाइश छोड़ना कि चार पृष्ठ का एक चौथा संयुक्त ध्यान भी दिया जा सके।

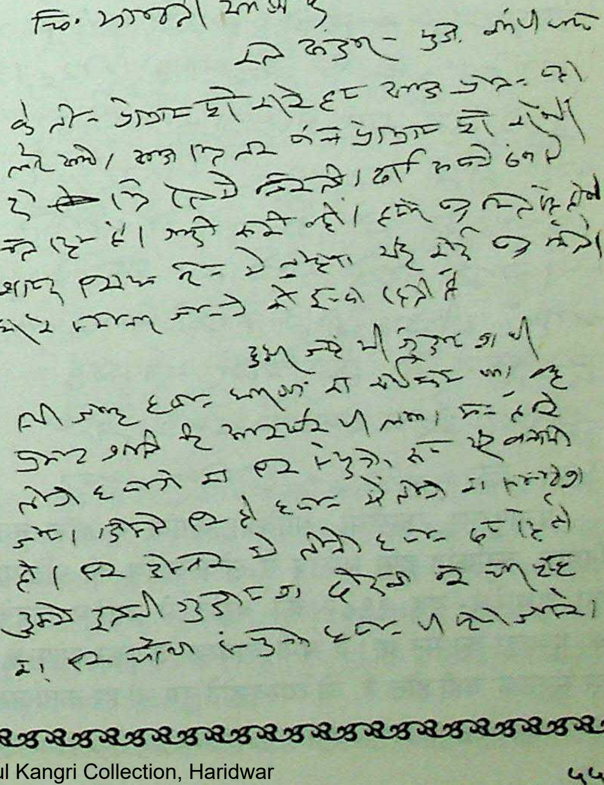

पत्र सरल-सा है, पर ध्यान-धारणा के प्रयोगों के आधार पर चिंतन उभरता है कि यह प्रयोग जो समूह मन के जागरण की प्रक्रिया है, अब और विस्तार ले। इसी मार्गदर्शन के अनुसार 'ब्रह्मवर्चस की पंचाग्नि विद्या' पुस्तक में वह ध्यान दिया गया, जिससे ढेरों साधकों ने अपनी आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त किया एवं आज वही संयुक्त ध्यान परमपूज्य गुरुदेव के स्वर में नित्य प्रातः ४.३० से ५ तक शांतिकुंज में संपन्न कराया जाता है।

मात्र ध्यान ही नहीं, हर उस गतिविधि से जो आज शांतिकुंज में अथवा शांतिकुंज द्वारा क्षेत्रों में संपन्न हो रही है। पूज्यवर का मानसिक जुड़ाव इस सीमा तक था कि प्रतिदिन के पत्रों में उनका उल्लेख होता था। साथ ही शांतिकुंज में चल रहे निर्माण कार्य की प्रगति का दिग्दर्शन भी वे वहीं बैठे-बैठे करते रहते थे। एक पत्र लांजी (बैतूल) से लिखा १९-१२-८१ का प्रस्तुत है-

वसंत पंचमी पर अबकी बार प्रज्ञा पुराण और फार्मेसी का उद्घाटन होना चाहिए। सावित्री ब्लॉक पूरा बन जाए और गैरेज बने तो ठीक है। उसमें कर्मकांड परंपरा का नया उद्घाटन हो, तो एक साथ तीन उद्घाटन हो जाएँगे, इसलिए उन वर्गों से संबंधित सभी चीजें तैयारी करने का प्रयत्न करना चाहिए। सीमेंट हो तो सावित्री ब्लॉक तथा फैक्टरी-शेड सभी तैयार करा लेना चाहिए। पुस्तक छप सके, इसके लिए पूरा-पूरा प्रयत्न इन दिनों किया जाए।

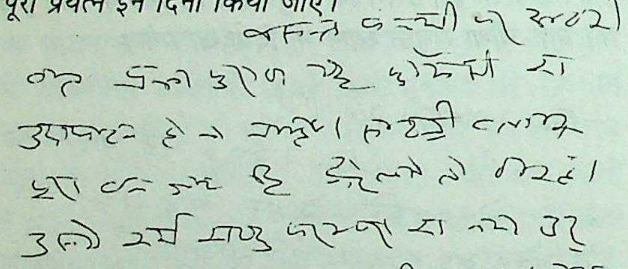

प्रज्ञापुराण, फार्मेसी, सावित्री ब्लॉक व हॉल का निर्माण, कर्मकांड द्वारा धर्मतंत्र से लोकशिक्षण की प्रक्रिया का शुभारंभ, यह १९८२ की वसंत से आरंभ करने का पूज्यवर का मन था। वे सभी व्यवस्था बनाकर आए थे, पर संगठक वही होता है, जो व्यस्त होते हुए भी हर कार्य पर दृष्टि रखता है एवं बार-बार सभी संबंधित व्यक्तियों का ध्यान खींचता रहता है। आज क्षेत्र में प्रज्ञापुराण कथाओं के आयोजन भारी भीड़ खींच रहे हैं। जनमानस को प्रचलित कथाकारों के बीच एक नई दिशा मिली है। उसके चारों खंड उन्हीं दिनों पूरे होने जा रहे थे। फार्मेसी तब आरंभ की जा रही थी, आज उसकी एक बड़ी बिल्डिंग गायत्री कुंज-विश्वविद्यालय परिसर में बन चुकी है एवं बड़े स्तर पर उत्पादन कार्य चल रहा है। अगले वर्ष के अंत तक वनौषधि विज्ञान, आयुर्वेद, वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति पर शोध का एक नया भवन बनकर खड़ा हो जाएगा। इतना विस्तार होते हुए भी आधार वही छोटी फार्मेसी होगी, जिस पर यात्रा के दौरान भी गुरुवर का ध्यान बना ही हुआ था व प्रगति के लिए वहीं से वे प्रेरित कर रहे थे। सावित्री ब्लॉक कार्यकर्त्ताओं के रहने के लिए बनाया जा रहा था। आज उसके पीछे की भूमि भी लेने की प्रक्रिया पूरी हो चुकी है। सावित्री ब्लॉक की तरह ही करीब छह और भवन बनकर तैयार हैं, जिनमें प्रायः १२०० से अधिक कार्यकर्त्ता-समयदानी रहते हैं, पर हम कैसे भूलें, उस मार्गदर्शन को, जो हम सभी को क्षेत्र से अनवरत मिलता रहा।

२१-१२-८१ को राजनांदगाँव (छ.ग.) से लिखे पत्र में पूज्यवर लिखते हैं-

प्रज्ञापुराण छपने में देर हो, तो हर अध्याय का नंबर १/१, २/१, ३/१ क्रम से चालू कराया जा सकता है और कई प्रेस में एक साथ छप सकता है। नंबर पेज संबंधी कठिनाई इस प्रकार हल हो सकती है।

प्रज्ञा पुराण-आयोजन-डाक-दोनों चौके, फार्मेसी, सावित्री ब्लॉक, कथा-कीर्तन आदि जो क्रम प्रमुख थे, उन्हें समेटना चाहिए। जयपुर-अंबाला वीरेश्वर हो आए होंगे।

सबसे नित्य परामर्श-मार्गदर्शन का क्रम चालू रखना। अपने स्वास्थ्य का विशेष रूप से ध्यान रखना। अपनी लड़कियों को उचित समाधान स्नेहपूर्वक देती रहती होंगी।

सबको आशीर्वाद

श्रीराम शर्मा

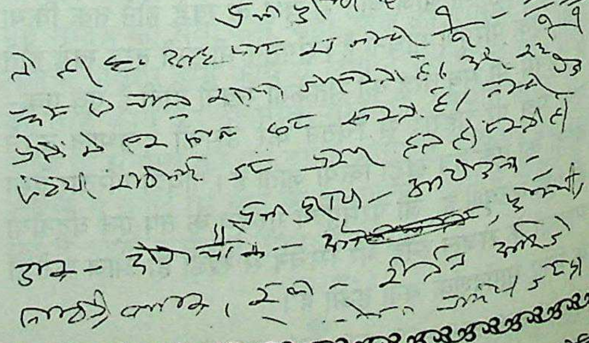

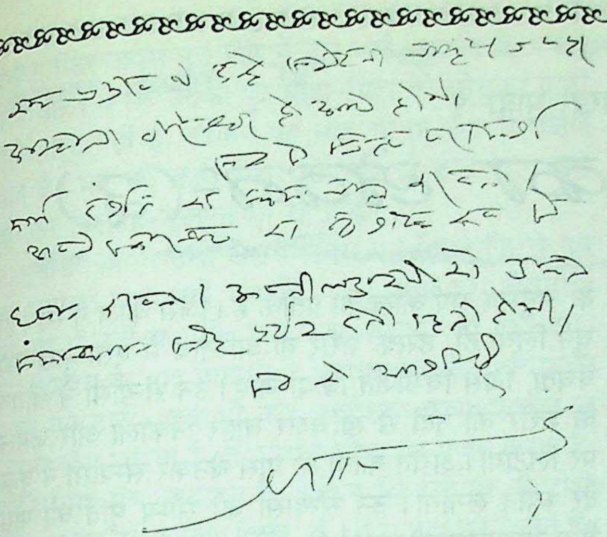

पत्र में ध्यान देने योग्य बात है, प्रज्ञापुराण की छपाई संबंधी मार्गदर्शन तथा अंत में सबसे नित्य परामर्श-मार्गदर्शन करते रहने की सलाह। परमपूज्य गुरुदेव जिस तरह सभी वरिष्ठ या विभागीय कार्यकर्त्ताओं को लेकर बैठते थे व विचार-विमर्श करते थे, उसी प्रकार परमवंदनीया माताजी का भी क्रम रहता था। अपनी अनुपस्थिति में वह क्रम चलता रहे, इसी पर उनका जोर था। वस्तुतः यह परामर्श-मार्गदर्शन ही कार्यकर्त्ताओं के समूह नेतृत्व के उभार हेतु एक अनिवार्य प्रक्रिया है। इसी के अभाव में बहुत-से संगठन टूट जाते हैं, शिखर पुरुष के जाते ही छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, परंतु पूज्यवर ने यह लोकतांत्रिक प्रणाली अपने साथ जीवन भर रखी एवं वही सलाह परमवंदनीया माताजी को भी क्षेत्र से देते रहे।

एक पत्र २७-१२-८१ का जगदलपुर से लिखा दिया जा रहा है, जो स्वयं में बड़ा स्पष्ट है-

हमारे सभी पत्रों को सामने रखकर परामर्शों की एक शृंखला बनाते रहना चाहिए। सबको साथ रखकर सोचने पर कोई कार्यपद्धति क्रमबद्ध रूप से बन सकती है। सभी को बुलाकर परामर्श करते रहने का सिलसिला जारी रखना चाहिए।

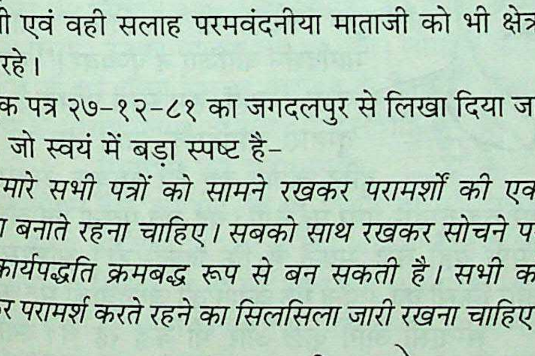

जो बात २१-१२ के पत्र में लिखी थी, उसी को २७-१२ के पत्र में दुहराया है एवं और भी स्पष्ट रूप में लिखा है। सभी पत्रों को सामने रख वरिष्ठ कार्यकर्त्ताओं से परामर्श व सुझावों के आधार पर कार्यपद्धति का निर्धारण, हमें लगता है कि इससे श्रेष्ठ और क्या कार्यकर्त्ता मार्गदर्शिका हो सकती है। आज परमपूज्य गुरुदेव एवं परमवंदनीया माताजी के महाप्रयाण के बाद जो विराट् रूप मिशन का बना है, उसके मूल में यही मार्गदर्शन है। सूक्ष्म रूप में विद्यमान गुरुसत्ता तो सतत यह बताती रहती है, पर 'मैनेजमेंट' विधा के विशेषज्ञ जानते हैं कि 'ग्रुप डिसकशन' कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यदि यह समय-समय पर होता रहे, तो न कहीं संवादहीनता या असमंजस की स्थिति रहेगी, न कोई महत्त्वपूर्ण कार्य रुकेगा।

समापन २६-१२-८१ को सुकमा (बस्तर) से लिखे एक पत्र से कर रहे हैं, जिसमें वे अपनी आगे की रणनीति के बारे में संकेत करते हैं।

निकट भविष्य में हमारे बिना ही हर कार्यकर्त्ता को अपने पैरों खड़ा होगा। यह तथ्य डराने के लिए नहीं। उनकी मजबूती निखारने के लिए बताते रहना चाहिए। मिशन तो चलेगा, पर उसमें गुरुजी-माताजी की भूमिका जो अब है, कुछ ही दिन बाद वह न रहेगी। इस आधार पर ही सभी को अपना भविष्य निर्धारण करना चाहिए।

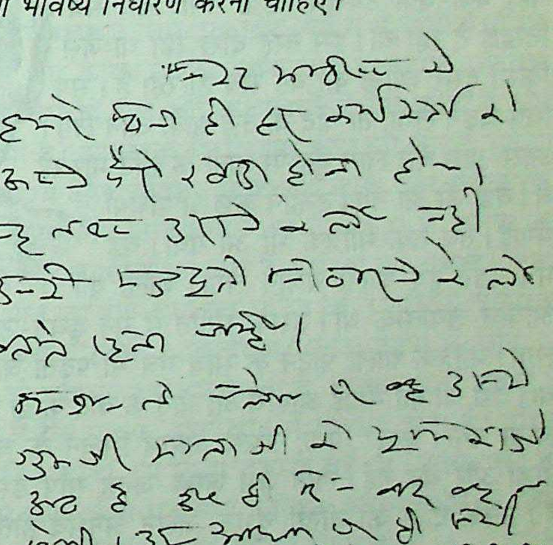

कोई भी पिता-अभिभावक अपनी संतानों को इसी तरह मजबूत बनाता है। अपने सामने उन्हें तैयार कर देता है। भवन व संगठन तो बहुत बनते हैं, पर वहाँ व्यक्ति-प्राणवान कार्यकर्त्ताओं का अभाव रहता है। गुरुसत्ता ने जीवनभर यही पुरुषार्थ किया, प्रवास पर रहते हुए भी कि उनके उत्तराधिकारी सशक्त बनें, जिम्मेदार बनें। *

चेतना की शिखर यात्रा-९

भागवत भूमि का सेवन-(३)

सर्पदंश की चेतावनी

ध्यान में बैठने से पहले वे शिवालय जाते थे। वहाँ दर्शन कर आम के पेड़ के नीचे बैठे ही थे कि यह अनुभूति हुई। दर्शन कर नीचे उतर रहे हैं। मन में भाव आया कि आसन का स्थान अभी चौबीस-पच्चीस पग दूर है। वस्तुस्थिति तो आसन पर बैठने की है, लेकिन मन का लय होने के बाद मानस पटल पर वह दृश्य चल रहा है। शिवालय के नीचे उतरते हुए पाँव के नीचे किसी कोमल वस्तु का आभास हुआ। देखा तो एक सर्प दब गया है। क्षणभर में ही कुपित सर्प ने अपना मुँह घुमाया और पाँव पर डस लिया। इस घटना से हतप्रभ श्रीराम कुछ समझें, इससे पहले साँप ने पहले पिंडली में और फिर कमर के नीचे डसा।

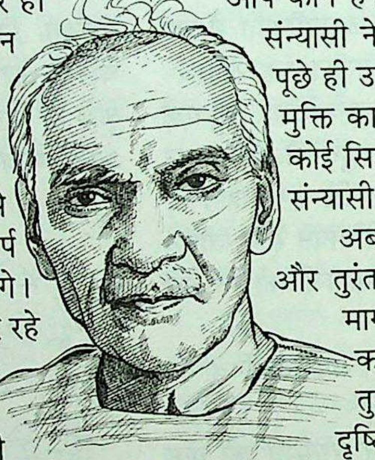

कहीं सुन रखा था कि साँप सिर्फ एक बार ही डसता है। साथी ने रोका तो श्रीराम ने कहा लेकिन यह अनुभव हो रहा था। ध्यान में बैठे-बैठे ही लग रहा था। दंश के बाद शरीर गिर गया। पता नहीं क्या-क्या उपचार किया गया। वह सब दिखाई दे रहा था। इस तरह दीख रहा था जैसे किसी दूसरे व्यक्ति को यह सब हो रहा है। सर्प विष चढ़ने लगा, तो नींद के तेज झोंके आने लगे। आस-पास बैठे लोग मुँह पर पानी के छींटे मार रहे थे। वैद्य जी आ गए। उन्होंने कुछ ओषधियाँ मँगाईं। तब तक मांत्रिक भी आ गया। वह मंत्र पढ़ते हुए थाली बजाने लगा। थाली की आवाज लयात्मक थी। उसके संगीत में मन डूबने-उतराने लगा। मांत्रिक थाली पीटने के साथ मंत्र भी पढ़ता जा रहा था। वैद्य जी की मँगाई ओषधि आ जाने के बाद काढ़ा तैयार किया गया। काढ़ा पिया, उससे आराम मिलने के बजाय पीड़ा और बढ़ गई। लगा जैसे जगह-जगह साँप डस रहे हैं। उनके दाँतों की तीखी चुभन, जलन अनुभव होती है, फिर कुछ देर के लिए वह जगह सुन्न हो जाती है और कुछ ही पलों बाद चुभन फिर तीक्ष्ण हो जाती है।

प्राण कब छूट गए? कुछ पता ही न चला। होश आया तो देखा कि जटा-जूटधारी एक सौम्य संन्यासी अपना शरीर नदी से खींचकर बाहर ला रहे थे। मृत जानकर परिवार के लोगों ने शरीर को शायद नदी में प्रवाहित कर दिया था। सर्पदंश से मृत्यु को प्राप्त हुए व्यक्ति का शव जलाया नहीं जाता। उसके भौतिक कारण जो भी हों, आध्यात्मिक मान्यता के अनुसार सर्प काल का प्रतीक है। जिसे काल ने स्वयं ही चुन लिया हो, उसके शरीर या अस्तित्व में ऐसा कुछ नहीं बचता, जिसे विसर्जित किया जाए। उन संन्यासी ने श्रीराम के शरीर को नदी से खींचकर बाहर निकाला और जमीन पर लिटाया। अचेत काया के पास बैठकर संन्यासी ने कुछ देर ध्यान लगाया। उन संन्यासी की सौम्य मूर्ति को पास बैठा अनुभव करते हुए चेतना धीरे-धीरे लौटने लगी। उन्होंने स्नेह से थपथपाया और कहा, ''उठो घर जाओ। माता-पिता परेशान हो रहे होंगे।''

संन्यासी का यह आदेश सुनकर उठने का उपक्रम किया, तो अगला संदेश यह आया, अब दोबारा यहाँ मत आना। घर में बैठकर ही ध्यान लगाना। पूछना चाहा था कि महात्मा आप कौन हैं? लेकिन डर के मारे पूछ नहीं सका। संन्यासी ने शायद मन की बात समझ ली, बिना पूछे ही उत्तर दे दिया, ''हम इस चराचर जगत् से मुक्ति का मार्ग खोज रहे एक साधक हैं बच्चा। कोई सिद्ध-महात्मा मत समझना। एक साधारण संन्यासी भर हैं।''

अब कहने का साहस हुआ। इच्छा उभरी और तुरंत निवेदन भी कर दिया, ''आप हमारा मार्गदर्शन कीजिए न पूज्यवर।'' संन्यासी ने कहा, ''नहीं, हम स्वयं पथिक हैं, लेकिन तुम्हारी मार्गदर्शक सत्ता तुम पर बराबर दृष्टि लगाए हुए है। उपयुक्त अवसर आने पर वह तुम्हारे पास पहुँचेगी। यह मत पूछना कि कब? हम सिर्फ यही कह सकते हैं कि जल्दी ही। आश्वस्त रहना और किसी को अपना गुरु बनाने की जल्दबाजी मत करना।''

संन्यासी आगे कुछ और भी कह रहे थे। क्या कहा, यह याद नहीं रहा। अंत में सिर्फ इतना ही सुनाई दिया कि उठ, अब जा और आँख खुली, तो सामने पिता को विचित्र स्थिति में विलाप करते हुए देखा। उठकर उन्हें प्रणाम किया। बाद में जो हुआ, वह सभी को मालूम है।

पिता ने समझा कि यह घटना भागवत कथा सुनाने के कारण हुई। मोह-माया के कारण थोड़ी देर तक तरह-तरह के संकल्प-विकल्प मन में उठते रहे। फिर कहा, प्रभु को जो स्वीकार है, वही होगा। श्रीराम के लिए ईश्वर ने कुछ नियत कर रखा है, तो हम लोगों में से कोई भी क्या कर सकता है? संतोष करना चाहिए। कुछ देर मन को ढाढ़स

बँधाते, फिर वापस पुत्र मोह में डूब जाते। यद्यपि वे अच्छी तरह जानते थे कि उनका पुत्र माता-पिता को छोड़कर कहीं जाने वाला नहीं है, लेकिन यह मोह भी तो बड़ा विलक्षण भाव है। मन को कहीं स्थिर तो नहीं ही होने देता, उसे बाँधकर हिलाता-डुलाता भी रहता है।

पंडित जी ने उसी क्षण निश्चय कर लिया कि वे पुत्र को भागवत कथा नहीं सुनाएँगे, साधु-संतों और वैरागियों के बारे में नहीं बताएँगे, उन्हें पास फटकने भी नहीं देंगे। इस निश्चय के बाद पिताश्री ने भागवत शास्त्र का विसर्जन करने की ठानी। जब भी कोई उपदेशक कथा-प्रवचन से विराम लेना चाहता है, तो पूर्णाहुति का आयोजन करता है, यह परंपरा अब लुप्तप्राय है, लेकिन जिन्होंने गुरु से दीक्षा लेकर शास्त्र का उपदेश किया, वे इस मर्यादा को जानते हैं। शरीर से अशक्त होने पर, वृद्धावस्था में, वैराग्य होने पर, परिव्राजक संन्यासी बन जाने के बाद कई शास्त्री कथा आयोजन से भी मुक्ति पा लेते हैं। शरीर इस योग्य नहीं रहता अथवा कथा आयोजकों के लिए आवश्यक ताम-झाम नहीं जुटता, इसलिए वे साधनों और विधियों का त्याग कर देते हैं।

पिताश्री ने वंश-परंपरा में असमय संन्यास का उदय होते देख भागवत की पोथी का विसर्जन करना चाहा। उसके लिए इक्कीस ब्राह्मण बुलाए, यज्ञ आयोजित किया और पूर्णाहुति के रूप में भागवत शास्त्र वासुदेव मंदिर में स्थापित कर दिया। जिस दिन मंदिर में शास्त्र की स्थापना की और भगवान से निवेदन किया कि अब शास्त्र प्रवचन से विराम लेते हैं, उसी दिन बल्कि उस निवेदन के बाद ही पिताश्री की वाणी ने भी विराम ले लिया। उनका बोलना बंद हो गया। लोगों ने कहा कि पंडित जी की वाचा भगवद् गुणगान के लिए ही खुली थी। कथा से विराम लिया, तो स्वर भी चले गए।

पिताश्री का महाप्रयाण

यज्ञ संपन्न होने की रात को ही पंडित जी की हालत बिगड़ी। बोली बंद होने के बाद उनका चलना-फिरना भी बंद हो गया। वे बिस्तर पर ही पड़े रहने लगे। इशारों से बात करते और होंठों में कंपन होता रहता, जैसे द्वादश अक्षर मंत्र का जप कर रहे हों। अगले दिन उन्होंने भोजन लेने से मना कर दिया। स्वजनों ने आग्रह किया, तो इशारे से कहने लगे कि अब वक्त आ गया है। भोजन के द्वारा शरीर को जबरदस्ती आगे नहीं खींचना है।

दो-एक दिन में ही पंडित जी के बीमार होने और देह त्याग का संकल्प लेने की सूचना स्वजन-संबंधियों में फैल गई। वे कुशल-क्षेम जानने के लिए आने लगे। घर में लोगों की भीड़ रहने लगी। पंडित जी सबको देखते, हाथ जोड़कर उनका अभिवादन करते। कुछ कहते तो नहीं बनता था, लेकिन चेहरे के भाव जैसे कहते थे कि जाने-अनजाने अब तक जो भी गलतियाँ हुई हों, अपने किसी व्यवहार से दुःख हुआ हो, तो उसके लिए क्षमा माँगता हूँ। भावों की इस अभिव्यक्ति के बाद आगंतुक भी अभिवादन का उत्तर देते, तो पंडित जी का चेहरा जैसे खिल उठता। शुक्ल पक्ष की दशमी का उदय होते ही पंडित जी ने अपने बड़े और दुलारे पुत्र श्रीराम को बुलाया। संकेत से ही कहा कि उठाकर बिठा दे। उन्हें बिठाया गया। पंडित जी ने फिर अपने आप पालथी लगाई। आसन लगाया, दोनों हाथ गोद में रखे, आँखें बंद कीं और कुछ पल निश्चल बैठे रहे। पाँच-सात मिनट तक ध्यान मुद्रा में बैठे रहने के बाद उनके मुँह से 'नमो भगवते वासुदेवाय' का मंत्र निकला।

पुत्र से उन्होंने कहा कि मूल भागवत का पाठ करें। श्रीराम ने मूल चार श्लोकों का पाठ शुरू किया, **'अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्। पश्चादहं यदेतच्च......॥'** पाठ के बाद वहाँ उपस्थित लोगों को समझाने के लिए अर्थ भी सुनाया, ''भगवान कहते हैं कि सृष्टि के आदि में केवल मैं ही था। सत्, असत्, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण प्रकृति भी नहीं थी। सृष्टि के पश्चात् भी मैं ही हूँ। वह विश्व जो दृष्टिगोचर हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ। प्रलय में जो शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ। यह ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है। आत्मा में असत्, दुर्बलता और दुःख की जो प्रतीति होती है, सत्-चित् और आनंद आदि की प्रतीति नहीं होती, उसे भी मेरी (भगवान की) ही माया जानो।''

'पंच महाभूत जिस तरह छोटे-बड़े सभी जीवों में प्रविष्ट होते हैं और कारण रूप से पृथक रहने के कारण अप्रविष्ट भी हैं, वैसे ही मूल भौतिक पदार्थों में मेरा प्रवेश है और नहीं भी है। आत्मतत्त्व के जिज्ञासु पुरुष को जानना चाहिए कि अन्वय और व्यतिरेक से जो सब जगह और सर्वदा रहे, वही आत्मा है। अन्वय का अर्थ है—कार्य में कारण का संबंध और व्यतिरेक का अर्थ है—संबंध का अभाव।' अर्थ और भाव पूरा होते-होते तक पंडित जी ने शरीर से व्यतिरेक कर लिया। उनकी आत्मचेतना विराट् चेतना में लीन हो गई। जो पद्मासन लगाकर वे बैठे थे, उसके बारे में शास्त्रों ने कहा है कि साधक अपने इष्ट में ही लय होता है। पंडित जी की अवस्था उस समय सड़सठ वर्ष थी। उनके जाते ही घर में रोना-धोना मच गया, लेकिन श्रीराम गंभीर थे, जैसे कुछ सोच रहे हों या समझने की चेष्टा में हों।

यह पहला अवसर था जब श्रीराम ने शरीर और आत्मा का संबंध विच्छेद होते देखा हो। रोना-धोना मचने लगते ही श्रीराम पिता के पास आसन लगाकर बैठ गए। उसी तरह जिस तरह पंडित जी बैठे थे। ताई जी ने बेटे को इस तरह बैठते देखा तो वे जोर से रो उठीं। उन्हें न जाने क्यों लगा कि पुत्र भी पिता का अनुकरण कर रहा है, उन्हें छोड़कर जा रहा है। वे वैधव्य को स्वीकार करने वाली

प्रतीकात्मक क्रियाएँ संपन्न करने के स्थान पर पुत्र को झिंझोड़ने लगीं। श्रीराम फिर भी अविचल बैठे रहे। ताई जी को घर के लोगों ने समझाया। बाकी क्रियाएँ संपन्न करने के लिए कहा। घरवालों के हिसाब से श्रीराम अपनी सहज वृत्ति के अनुसार मृत्यु की इस घटना को अपने ढंग से समझ रहे थे। करीब बीस मिनट तक अविचल ध्यान मुद्रा में बैठे रहकर श्रीराम अपने आप उठ गए और परिवार के लोगों के साथ पिताजी के पार्थिव शरीर की विदाई में जुट गए।

अंत्येष्टि और मरणोत्तर संस्कार के बाद परिजनों में विचार चला कि पिताजी की विरासत को कौन सँभाले। जमीन-जायदाद की जिम्मेदारी से श्रीराम ने अपने आपको तुरंत यह कहते हुए अलग कर लिया कि वे सिर्फ पिता की भागवत परंपरा का पालन करेंगे। स्वयं को भगवान के लिए ही रखेंगे और उन्हें ही अपना बनाएँगे। स्वजनों ने यह सुना और समझ लिया कि मृत्यु के पूर्व पंडित जी ने सात दिन तक जो कथा सुनाई थी, उसी का प्रभाव है। जिम्मेदारियाँ सिर पर आएँगी तो सब सँभल जाएगा। परिवार की वर्तमान पीढ़ी में सबसे बड़े ज्योतिप्रसाद के सिर पर पगड़ी बँधी। रिवाज के अनुसार दूसरे लोगों को भी उनका दायभाग मिला। श्रीराम अंत तक यही कहते रहे कि वे घर-गृहस्थी और जमीन-जायदाद सँभालने के लिए नहीं हैं। हमें अपने धर्म-कर्त्तव्य का पालन करना है।

कुछ घटनाएँ

पिता के नहीं रहने के बाद श्रीराम अपने आपको अकेला अनुभव करने लगे। घर के और सदस्य भी थे, लेकिन उनकी रुचि खाने-कमाने की विद्याओं में ज्यादा थी। खेती-बाड़ी, व्यापार और लगान-वसूली के अलावा वे कोर्ट-कचहरी के कामों में भी व्यस्त रहते। उन सदस्यों की ज्योतिष, आयुर्वेद, प्रशासन और समाज सेवा के क्षेत्र में अच्छी पैठ थी। योग, ध्यान, अध्यात्म आदि में श्रीराम की ही विशेष गति थी।

बचपन और किशोरावस्था की अनेक घटनाएँ हैं, जिनमें श्रीराम अत्यंत सहृदय और सहज ही विश्वास करने वाले गुणों से ओत-प्रोत दिखाई देते हैं। गाँव में माताएँ बच्चों को दूध पिलाते ही मक्खन खिलाने पर विशेष ध्यान देती हैं। एक दिन श्रीराम ने गाय को दुहे जाते हुए देखा। छूटने से पहले बछड़े को गाय के पास ले जाते हैं। वह थनों में दूध उतारती है। फिर अपने उपयोग के लिए दूध दुहने लगते हैं। श्रीराम जब गाय को दुहे जाते देख रहे थे, तो बछड़े को हटाया गया। बछड़ा गाय की ओर देखता, वापस जाने की कोशिश करता और मचलता रहा। गाय भी अपने वत्स की ओर टुकुर-टुकुर देखती रही। गाय और बछड़े का यह संबंध विछोह और विवशता देखकर श्रीराम दुखी हुए। वे अंदर गए और ताई जी से कहा कि आज के बाद दूध नहीं पिएँगे।

ताई जी ने और घर के लोगों ने समझाने की कोशिश की, दूध पीने से ताकत आती है, शरीर बलवान बनता है, रोगों से लड़ने की सामर्थ्य आती है। श्रीराम के पास सबका एक ही उत्तर था—बछड़े के मुँह का आहार लेकर अपना शरीर मजबूत नहीं बनाना। महीनों तक समझाने का क्रम चलता रहा। आखिर में समाधान यह निकला कि बछड़ा दूध पीते-पीते तृप्त हो जाए और अपने आप गाय से दूर चला जाए, तभी दूध दुहा जाए। वही दूध पीएँगे। इस शर्त पर दुहा गया दूध बहुत कम होता था, लेकिन पशुओं की आवश्यकता को ध्यान में रखना ज्यादा जरूरी समझा गया।

एक घटना गाँव के बाजार में ताला खरीदने की है। घर का काम नौकर-चाकर कर दिया करते थे, लेकिन माँ ने सोचा कि बच्चे को घर-परिवार और दुनियादारी का अभ्यास होना चाहिए। घर में रखी संदूक का ताला खराब हो गया था। दो-तीन पाई में नया ताला मिल जाता। माँ ने पैसे देकर बाहर भेजा। दुकानदार ने ताले की कीमत तीन पैसे बताई। माँ ने जो कीमत बताई, उससे यह चार-पाँच गुना ज्यादा थी। श्रीराम ने कहा कि आप ज्यादा पैसे ले रहे हैं। दुकानदार ने कहा—वास्तविक कीमत यही है। कहीं भी पूछकर देख लो। इससे कम में मिल जाए तो.... । दुकानदार अपनी बात पूरी करता, इसके पहले ही श्रीराम ने तीन पैसे निकाले और ताला यह कहते हुए उठा लिया कि बस-बस रहने दो। मुझे असल कीमत मालूम है, लेकिन आपको उतने ही पैसे दे रहा हूँ, जितने आपने बताए। आप पर भरोसा है।

घर में ताई जी ने छोटी-सी नसीहत दी और बात आई-गई हो गई। इस घटना के बाद श्रीराम उस दुकान के सामने से कई बार निकले होंगे, लेकिन कभी नजर उठाकर देखा नहीं। दुकानदार जरूर उन्हें आते-जाते देखता। जब भी देखता, उसे ख्याल आता कि श्रीराम अब रुके, तब रुके। दस-बारह दिन तक कुछ नहीं हुआ। एक दिन दुकानदार ने श्रीराम को पुकारकर बुलाया और कहा, ''मुझे पछतावा हो रहा है। मैंने तुमसे ज्यादा पैसे ले लिए। मेरे मन में उस समय पता नहीं कैसे लोभ इतना हावी हो गया कि वास्तविक कीमत से चार गुना ज्यादा पैसे ले लिए। ज्यादा लिए हुए पैसे अपने पास रख लो और मुझे माफ कर दो।''

श्रीराम यह सब चुपचाप सुनते रहे। दुकानदार ने पैसे वापस कर दिए और फिर भी पछताता रहा, तो बोले, ''चाचा, इसमें पछताने की क्या बात है? मैंने आपकी बात तब भी मान ली थी और अब भी मुझे कोई शिकायत नहीं है।'' किशोर जीवन की यह घटना किसी पर भी अविश्वास नहीं करने की प्रवृत्ति दरसाती है। इस आदत के कारण उन्हें आगे कई बार नुकसान भी उठाना पड़ा, लेकिन वे यही कहते कि विश्वास ही परिवर्तन लाता है। अविश्वास और संदेह से बुराई बढ़ती ही है, दूरियाँ भी।

गायत्री तीर्थ-शांतिकुंज की वर्षभर चलने वाली सत्र व्यवस्था

परमपूज्य गुरुदेव के जीवन के उत्तरार्द्ध की एक महत्त्वपूर्ण स्थापना है—गायत्री तीर्थ-शांतिकुंज हरिद्वार। उत्तरांचल राज्य के मुख्य द्वार पर गंगा की गोद, हिमालय की छाया में स्थित यह पावन आश्रम अब तक लाखों व्यक्तियों के जीवन में आलोक का संचार कर चुका है। अगणित व्यक्ति जीवन-साधना में प्रवीण-पारंगत होकर यहाँ से गए हैं। तप यहाँ के कण-कण में संव्याप्त है। प्रतिदिन चौबीस लक्ष का गायत्री जप यहाँ संपन्न होता है, साथ ही यज्ञाग्नि से निकलते धूम्र से सारा वातावरण सुवासित रहता है। युगऋषि की जीवन-यात्रा के अंतिम बीस वर्ष (१९७१ से १९९०) यहीं बीते हैं। हमारी मातृसत्ता-शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा ने १९७१ से १९९४ तक के चौबीस वर्ष का अत्यंत महत्त्वपूर्ण समय यहीं तप में नियोजित किया एवं इस अवधि में यहाँ की सभी गतिविधियों का संचालन भी किया। ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान एवं देवसंस्कृति विश्वविद्यालय ऐसी दो विलक्षण स्थापनाएँ हैं, जो शांतिकुंज की गरिमा को कई गुना बढ़ाती हैं। ऐसे स्थान पर आना व कुछ दिन यहाँ के वातावरण में रहना भी अति दुर्लभ सुयोग माना जाना चाहिए।

ऐसे ही सुयोग के लिए यहाँ वर्षभर सत्र चलते रहते हैं, जिनमें साधक, प्रशिक्षण लेने वाले व्यक्ति आते रहते हैं और लाभान्वित होकर जाते हैं। प्रायः साठ एकड़ भूमि में फैली यह स्थापना निरंतर क्रियाशील रहती है, चाहे अत्यधिक शीत हो या तेज गरमी या वर्षा का मौसम हो। जब से यह आश्रम आरंभ हुआ, तब से ही बहुविधि सत्र शृंखला से अगणित व्यक्ति लाभान्वित होकर गए हैं एवं उन्हीं में से कई बाद में यहाँ के समयदानी या स्थायी कार्यकर्त्ता बन गए हैं। समाज को समर्पित लोकसेवियों की टकसाल इस सत्र शिक्षण परंपरा को नाम दिया जाए, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

यहाँ के नियमित सत्र इस प्रकार हैं—

(१) संजीवनी साधना सत्र-ये नौ दिवसीय होते हैं। प्रत्येक माह १ से ९, ११ से १९ एवं २१ से २९ की तारीखों में चलते हैं। इनमें पूरी अवधि में चौबीस हजार गायत्री मंत्र जप का एक अनुष्ठान कराया जाता है, जो विदाई से पूर्व संपन्न हो जाता है। इसका संकल्प पूर्व संध्या को कराया जाता है, इसीलिए इन सत्रों में एक दिन पूर्व आना होता है। सत्र समाप्ति के बाद उसी दिन मध्याह्न तक स्थान खाली कर देना होता है। इन सत्रों में प्रतिदिन प्रातः निष्णात मनीषियों द्वारा अध्यात्म के विभिन्न विषयों पर प्रेरक उद्बोधन होता है। प्रातः जल्दी उठना होता है। सरदियों में प्रातः चार बजे, गरमियों में साढ़े तीन बजे। उठकर गायत्री मंदिर में प्रार्थना में भाग ले-उषापान कर स्नान आदि के बाद सभी आरती में भाग लेते हैं। उसके बाद परमपूज्य गुरुदेव की वाणी में ध्यान कराया जाता है। तत्पश्चात् यज्ञशाला में यज्ञ एवं अखंड दीपक तथा गुरुसत्ता की चरणपादुकाओं के प्रणाम का क्रम आरंभ हो जाता है। उद्बोधन प्रातः ८ से ९.३० तत्पश्चात् भोजन एवं विश्राम का क्रम होता है।

मध्याह्न में पुनः गोष्ठी संपन्न होती है, जो साधकों को उपासना के उत्तरार्द्ध आराधना—समाजसेवा के विभिन्न दायित्वों से परिचित कराती है एवं संकल्पित कराती है। इस अवधि में एक दिन शांतिकुंज-ब्रह्मवर्चस-देवसंस्कृति विश्वविद्यालय दिग्दर्शन हेतु मध्याह्न के बाद खाली रखा जाता है। प्रज्ञापुराण का शिक्षण एक दिन उसका प्रदर्शनात्मक प्रवचन से हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य परिचर्चा एवं ग्राम्य विकास पर किन्हीं दो दिनों में गोष्ठी भी ली जाती है, जो साधकों को नई दिशाएँ देती है। इन नौ दिवसों को माँ के गर्भ में रहकर बिताए गए नौ माह की अवधि की तरह माना जाना चाहिए। अंतिम दिन विदाई के समय लोग आँखों में अश्रु लिए रवाना होते हैं। उन्हें लगता है, मानो उनका आंतरिक कायाकल्प हो गया है। ये सत्र सभी शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ, अनुशासन पालन का आश्वासन देने वाले एवं साधना में रुचि रखकर पूर्व अनुमति लेकर आने वाले हर साधक के लिए खुले हैं। न्यूनतम दो से तीन माह पूर्व शिविर विभाग, शांतिकुंज हरिद्वार को अपना प्रतिवेदन भेज देना चाहिए। अनुमति आने पर ही आरक्षण कराना चाहिए।

(२) एकमासीय युगशिल्पी सत्र-ये सत्र प्रतिमाह वर्षभर १ से २९ तारीखों में चलते हैं। पहले सत्र की तरह एक दिन पूर्व आना होता है व संकल्प गोष्ठी में भागीदारी करनी होती है। इन सत्रों की विशेषता यह है कि इनमें संगीत, संभाषण, कर्मकांड एवं स्वावलंबन प्रधान ग्रामोद्योगों का प्रशिक्षण एक माह में इतना करा दिया जाता है कि प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता भाई या बहन अपने बूते अपना संगठन चला सकें, अपने पैरों पर खड़े हो सकें। इन्हें भी उसी दिनचर्या का पालन करना होता है, जो संजीवनी साधना सत्रों में बताई गई है। प्रतिदिन प्रज्ञायोग प्रातःकाल संपन्न कराया जाता है, जो युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव द्वारा प्रणीत सूर्य नमस्कार एवं विभिन्न आसनों का सम्मिश्रण है। एक बार सीख लेने पर यह पंद्रह मिनट की प्रक्रिया शरीर को सतत स्वस्थ एवं मन को प्रसन्न बनाए रखती है। ढपली

वादन की सामूहिक संगीत की कक्षाएँ भी इनमें ली जाती हैं। बौद्धिक उद्‌बोधन प्रतिदिन चलते हैं। वनौषधि चिकित्सा, प्रज्ञापुराण कथावाचन के साथ एक आदर्श स्वयंसेवक बनाने वाली श्रमदान एवं भोजन व्यवस्था, आश्रम की सुरक्षा व्यवस्था में भागीदारी भी इस प्रशिक्षण का एक हिस्सा है।

इस एकमासीय सत्र के साधकों को बेकरी, अगरबत्ती निर्माण, स्क्रीन प्रिंटिंग, प्लास्टिक मोल्डिंग, लेमीनेशन, बागवानी, फल संरक्षण, गो विज्ञान पर आधारित उद्योगों तथा रचनात्मक आंदोलनों से जुड़े सभी प्रशिक्षण दिए जाते हैं। इन सभी साधक भाई-बहनों का ब्रह्मवर्चस में दो बार स्वास्थ्य परीक्षण होता है, जिसमें आहार, उपासना, श्रम-साधना के परिणामों का विश्लेषण किया जाता है। परामर्श के आधार पर परिजन स्वास्थ्य संवर्द्धन हेतु वनौषधि सेवन व बताई साधना को जीवन में उतार सकते हैं। सभी साधकों का अपनी-अपनी टोली के साथ संस्था प्रमुख के साथ फोटोसेशन भी होता है। अंतिम दिन एक सुंदर प्रमाण पत्र दिया जाता है। पूर्व अनुमति लेकर आने वाले स्वस्थ साधकों के लिए ये सत्र वर्षभर खुले हैं।

(३) परिव्राजक प्रशिक्षण-यह वरिष्ठ स्तर का युगशिल्पी प्रशिक्षण है, जिसमें समयदान दे सकने वाले कार्यकर्त्ताओं को एक माह की युगशिल्पी साधना के बाद एक माह और सघन प्रशिक्षण दिया जाता है। ये दो मास के होते हैं, जो प्रतिमास की एक तारीख को आरंभ होकर दूसरे माह की २९ तारीख को समाप्त होते हैं। प्रशिक्षित साधक समयदानियों को विशेष जिम्मेदारी देकर प्रज्ञापीठों-शक्तिपीठों एवं जाग्रत् केंद्रों में कार्य करने हेतु तीन से छह माह के लिए भेजा जाता है। अब इन्हीं सत्रों का और भी वरिष्ठ स्तर का प्रशिक्षण धर्म विज्ञान केंद्र देवसंस्कृति विश्वविद्यालय में आरंभ हो गया है, जिसमें त्रैमासिक डिप्लोमा का शिक्षण भी दिया जाएगा व विश्वविद्यालय का प्रमाणपत्र भी उन्हें मिलेगा। सभी धर्मों की मूल विधाओं में प्रवीण-पारंगत होकर ये साधक कहीं भी देवालय प्रबंधक की भूमिका निभा सकेंगे।

(४) स्वावलंबन (ग्राम्य विकास) प्रधान सत्र-ये विशेष सत्र प्रतिमाह १० से १८ तथा २९ तारीख से आगामी माह की छह तारीख तक चलते हैं। इनमें विशिष्टतः ग्रामतीर्थ योजना, आपदा प्रबंधन, उद्यान विकास, जड़ी-बूटी रोपण व खेती तथा गो विज्ञान पर आधारित स्वावलंबन की सभी विधाओं का गहराई से प्रशिक्षण दिया जाता है। वर्ष में कुल १२ ये सत्र चलते हैं, जो ग्राम प्रबंधन में व्यक्ति को निष्णात बना देते हैं। इसके लिए न्यूनतम योग्यता ग्रामोत्थान में रुचि, तकनीकी शिक्षा का न्यूनतम ज्ञान तथा एक मास का युगशिल्पी प्रशिक्षण कर लेना माना जाता है।

(५) त्रैमासिक संगीत प्रशिक्षण सत्र-ये सत्र प्रतिमाह की १ से आरंभ होकर तीसरे माह की २९ तक चलते हैं। इनमें सभी अनुशासन युगशिल्पी सत्रों जैसे ही होते हैं। प्रज्ञायोग के अतिरिक्त ढपली का ४ घंटा प्रतिदिन, हारमोनियम व तबले का २ घंटा प्रतिदिन एवं समूहगान का १ घंटा प्रतिदिन शिक्षण दिया जाता है। कर्मकांड व बौद्धिक कक्षाएँ भी चलती हैं।

(६) अंतःऊर्जा जागरण सत्र-पाँच दिवसीय ये सत्र प्रतिमाह १ से ५, ६ से १०, ११ से १५, १६ से २०, २१ से २५ व २६ से ३० तारीखों में होते हैं। इनमें हर साधक को निर्धारित अनुशासन के अंतर्गत पाँच दिन मौन एक कक्ष में रहना होता है, जिससे वे मात्र एक बार ही बाहर निकलते हैं। यज्ञ संपन्न करने एवं कल्प सेवन के साथ अखंड दीप के दर्शन करने। पूर्व से अनुमति प्राप्त साधक सहमति पत्र लेकर एक दिन पूर्व पाँच बजे तक आ जाते हैं। शाम को उनकी संकल्प गोष्ठी २.३० से ८.३० निर्धारित कक्ष में होती है। ६५ कक्षों वाला एक भवन जिसमें कक्ष के साथ ही प्रसाधन-स्नान की सुविधा है एवं प्रत्येक में स्पीकर्स लगे हैं, इन साधकों के लिए सुरक्षित है। यह विशिष्टतः उच्चस्तरीय साधना करने वालों के लिए निर्धारित किए गए हैं। कुछ आवश्यकता हो तो घंटी बजा देने पर सहायक आ जाते हैं व स्लिप में लिखे निर्देशानुसार व्यवस्था कर देते हैं। दिनभर में दस प्रकार की साधनाएँ ऑडियो सिस्टम से निर्देशानुसार कराई जाती हैं। नितांत मौन रहकर की जाने वाली ये साधनाएँ अतिफलदायिनी हैं, पर साधक की मनःस्थिति-स्वास्थ्य-पूर्व के सत्रों का विवरण जानकर ही उन्हें अनुमति दी जाती है। ये सभी आम व्यक्तियों के लिए नहीं हैं। अंतिम दिन निर्देशों के अनुसार लिए संकल्पों को संस्था प्रमुख के सम्मुख प्रस्तुत कर गायत्री मंत्र उच्चारण के साथ मौन तोड़ा जाता है व ११ बजे से पूर्व अपना कक्ष खाली कर देना होता है।

(७) व्यक्तित्व परिष्कार प्रशिक्षण एवं विविध सत्र-समय-समय पर विभिन्न सरकारी-गैर सरकारी संगठनों के कार्यकर्त्ताओं के, स्काउटिंग से लेकर लोकसेवा से जुड़े संगठनों के ये सत्र वर्षभर चलते रहते हैं। ये तीन से पाँच दिन के होते हैं। इनके अतिरिक्त एक से दो दिवसीय अतिथि सत्र, गरमी के मौसम में पाँच दिवसीय सत्र, श्राद्ध-तर्पण हेतु आए व्यक्तियों के एक दिवसीय सत्र भी वर्षभर चलते हैं। कहना न होगा कि ऐसा तीर्थ मिलना दुर्लभ है, जहाँ इतने प्रकार के प्रशिक्षणों का क्रम नियमित चलता है। वर्ष में एक बार सभी परिजन-पाठकों को इनके लिए समय निकालना ही चाहिए।

* * *

अपनों से अपनी बात

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ को सार्थक प्राणवान संकल्प अर्पित करें

शपथ समारोह (२१ अक्टूबर) के माध्यम से संगठन एक नए मोरचे पर

परमपूज्य गुरुदेव को वेदमूर्ति तपोनिष्ठ कहा जाता है। वेद भगवान के साकार विग्रह-ज्ञान के धनी जिनकी जीवनभर की साधना सद्ज्ञान विस्तार रही, ऐसे वेदमूर्ति हमारे गुरुदेव हैं। उनके द्वारा लिखा ज्ञान तीन हजार से भी अधिक पुस्तक-पुस्तिकाओं द्वारा जन-जन तक पहुँचा व चूँकि वह उनके आचरण में उतरकर करोड़ों को प्रभावित करता चला गया, इसलिए वे आचार्य कहलाए। गीताकार ने ज्ञान को पवित्रतम बताया है व कहा है कि मनुष्य के लिए यही सबसे दुर्लभ विभूति है। ज्ञान श्रद्धावान, संयमी और कर्मठ-हर क्षण लोकसेवा हेतु तत्पर साधक को ही मिलता है, इसलिए वेदमूर्ति उपाधि हर दृष्टि से हमारे इष्ट-आराध्य के लिए उपयुक्त बैठती है व हम सबको उसी मार्ग पर चलकर उनका अंग-अवयव बनने हेतु प्रेरित करती है।

तप ही वह पूँजी है, जो व्यक्ति को महान, आध्यात्मिक, विभूति संपन्न बनाती है। तप में प्रमाद न किया जाए, श्रुति ऐसा कहती है। तपस्वी ब्राह्मणोचित जीवन ही एक चिरस्थायी समाजसेवी संगठन का मूल आधार बनता है। तप ही अंतर्निहित विभूतियों को निखारता है, व्यक्ति को लघु से विराट बना देता है। तप में निरत, तप जिनके कण-कण में संव्याप्त रहा, ऐसी हमारी गुरुसत्ता है, इसलिए उन्हें तपोनिष्ठ, तप में स्थित, आजीवन कठोर तप में संलग्न देखा गया। अब वही तप हम सभी का मार्गदर्शन कर रहा है। चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस गायत्री अनुष्ठान (आठ हजार गायत्री मंत्र उच्चारण प्रतिदिन बिना किसी विराम के) एवं आहार की कठोर तपश्चर्या उनकी जीवननिधि है, जिसने गायत्री परिवार जैसे युगपरिवर्तनकारी संगठन को खड़ा किया।

जहाँ 'ज्ञान' के प्रतीक के रूप में उनकी 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका है, जो अखण्ड ज्योति संस्थान से प्रकाशित होती है, वहीं 'तप' के प्रतीक के रूप में उनके द्वारा प्रज्वलित अखंड अग्नि (गायत्री तपोभूमि की यज्ञशाला) एवं अखंड दीपक (शांतिकुंज में विद्यमान १९२६ से सतत प्रज्वलित) हैं। अखण्ड ज्योति संस्थान उनकी ज्ञान साधना का साक्षी रहा वह केंद्र है, जो आज भी मथुरा जाने वालों को दर्शन करने पर सतत उस सूक्ष्मसत्ता से साक्षात्कार कराता रहता है। गुरुसत्ता के ज्ञानशरीर के रूप में सत्तर खंडों में प्रकाशित वाङ्मय है, जो उनके द्वारा लिखा गया जीवनभर का पुरुषार्थ है, हर समस्या का समाधान है, एक संजीवनी है। गायत्री तपोभूमि १९५१ से १९७१ तक बीस वर्ष की अवधि में गुरुसत्ता द्वारा जिए गए तपस्वी जीवन की साक्षी है। जो संघर्ष आचार्य श्री ने गायत्री महाशक्ति को स्थापित करने के लिए किया, वह उन दिनों की परिस्थितियों को देखते हुए एक मानवीय स्तर पर असंभव ही माने जाने योग्य कहा जाएगा, परंतु उनने किया एवं वह भी तप की शक्ति के बलबूते किया। आहार का संयम, इंद्रियों का संयम, विचारों का संयम और समय का संयम। ऐसा न होता, तो मात्र ४०-४१ वर्ष की वय वाले आचार्य श्री महामंडलेश्वरों-तथाकथित धर्मध्वजाधारी गुरुजनों से मोरचा न ले पाते।

उनका वही तप जो आँवलखेड़ा से आरंभ हो, आगरा से यात्रा कर मथुरा तक पहुँचा, हिमालय से तरोताजा होता हुआ-बार बार शक्ति पाता हुआ १९७१ में शांतिकुंज आया व १९७२ से १९९० तक के उनके सप्तर्षियों की तपोभूमि इस पावन क्षेत्र में विराजमान हो गया। यहाँ उनने ऐसी लीला रचाई कि जो कार्य उनने चौबीस वर्ष में किया था, वह परमवंदनीया माताजी व उनके संरक्षण में पल-बढ़ रही देवकन्याओं द्वारा मात्र चार वर्ष में संपन्न कर लिया गया। एक और पूँजी जमा हो गई, जिसने नारी जागरण अभियान की नींव रखी। प्रायः चौबीस लक्ष का दैनिक जप नियमित १९७५ के स्वर्ण जयंती साधना वर्ष से चलने लगा एवं गायत्री तीर्थ एक सिद्धपीठ-एक कल्पवृक्ष बन गया। हिमालय की प्रतिमा बनी, ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान बना एवं देवसंस्कृति विश्वविद्यालय विनिर्मित होने लगा। यह तप आगे क्या खेल दिखाएगा, यह तो विधाता ही जाने, पर इसकी महिमा अपरंपार है।

यह वर्ष इसी तप को याद करने का वर्ष है, जो ज्ञान के रूप में प्रकट हो विचार क्रांति अभियान को जन्म देता हुआ चला आया है। मिशन का ज्ञानयज्ञ अभियान इसी तप की पूँजी से निकला है। वेदमूर्ति तपोनिष्ठ गुरुदेव के जीवन का पर्याय बन गया ज्ञान एवं तप बीज रूप में सारे भारत में बिखरता चला गया। उसी से पैदा हुए नर्सरी के पौधे

परमवंदनीया माताजी की स्नेह संवेदना-सजल श्रद्धा से सिंचित-पोषित हो आज स्थान-स्थान पर तपती हुई धूप में अगणित व्यक्तियों को छाया, फल, वनौषधियों का लाभ दे रहे हैं।

गायत्री तपोभूमि का स्वर्ण जयंती वर्ष वेदमूर्ति तपोनिष्ठ को याद कर उनकी इन दोनों विभूतियों को जीवन में उतारने का वर्ष है। यदि १९५२-५३ में स्थापित गायत्री तपोभूमि के रूप में गुरुसत्ता के संकल्प को सारे भारत व विश्व में फैलाना है, तो इससे सही समय व संदेश क्या हो सकता है। शरदपूर्णिमा की पावन वेला में जहाँ गायत्री तपोभूमि में चुने हुए संकल्पित साधक एकत्रित हुए हों, वहाँ लिए जाने वाले शपथ और संकल्प निश्चित ही ऐसे रहे होंगे जैसी कि उसके अधिष्ठाता-संस्थापक आचार्यश्री ने अपेक्षा की होगी। यह वेला है ही ऐसी कि जिसमें न केवल अनुदान बरसे होंगे, प्राणवानों के संकल्प मचल-मचलकर उफन आए होंगे।

यह पत्रिका नवंबर माह की है, पर जब तक यह परिजनों तक पहुँचेगी, वे या तो शपथ समारोह की तैयारी कर रहे होंगे अथवा पहुँच चुके होंगे। शपथ समारोह व मूर्ति स्थापना कार्यक्रम २०, २१, २२ अक्टूबर का है। इसमें २१ अक्टूबर शरदपूर्णिमा का दिन सबसे विशेष है। इसी दिन मूर्ति स्थापना के बाद वह संकल्प लिया जाना है, जिसके माध्यम से युगऋषि के युगनिर्माण के संकल्प में सभी अपने पुरुषार्थ की भावभरी आहुति डालेंगे। बारह वर्ष पूर्व ऐसी ही शरद पूर्णिमा के पावन अवसर पर प्रायः बीस लाख भावनाशील प्राणवानों ने अपनी गुरुसत्ता के महाप्रयाण के ठीक चार माह बाद एक संकल्प श्रद्धांजलि समारोह में एक शपथ ली थी कि वे ज्ञानयज्ञ की लाल मशाल बुझने न देंगे, सदा जलाए रखेंगे। इसके लिए वे ईंधन जुटाएँगे, आवश्यकता होगी तो स्वयं की भी आहुति देंगे। समयदान-अंशदान का अनुपात अपनी सामर्थ्य व भावना के अनुसार और अधिक बढ़ाएँगे।

बारह वर्ष बीत गए। अब वह पावन वेला फिर आई है। इस बीच देवसंस्कृति दिग्विजय का प्रचंड पुरुषार्थ संपन्न हो चुका, आश्वमेधिक पराक्रम तथा संस्कार महोत्सवों की शृंखलाएँ संपन्न हो चुकीं। युगऋषि का वाङ्मय प्रकाशित हुआ एवं ज्ञानचेतना को झकझोरने वाली छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुईं, जो लाखों व्यक्तियों तक पहुँचीं। गायत्री तपोभूमि एवं अखण्ड ज्योति संस्थान के ज्ञान प्रधान तथा शांतिकुंज हरिद्वार के श्रद्धा व कर्म प्रधान कार्य ने मिशन को चहुँमुखी विस्तार दिया है। अब इस साधना-संगठन-सशक्तीकरण वर्ष में विशिष्टों को उभारने की वेला आई है। अपनी जीवन-साधना को और प्रभावी बनाकर नवसृजन के लिए उपयुक्त व्यक्तियों के निर्माण की अवधि है यह। साधना तंत्र के विस्तार के लिए गायत्री महामंत्र लेखन अभियान को गति दी गई है, तो साथ ही गायत्री साधना को सभी भाषा-भाषियों में पहुँचाने व साधना की गहराई बढ़ाने पर भी जोर दिया जाना है।

वैयक्तिक साधना जब जीवनसाधना बनकर समूह में सक्रिय हो जाती है, तो संगठन का सशक्त आधार खड़ा होने लगता है। अब एक देव परिवार के सृजनशील संगठन के रूप में खड़े होने की वेला में और अधिक पुरुषार्थ की आवश्यकता है, ताकि न केवल जड़ें मजबूत हों, पूरा तंत्र सशक्त व प्रामाणिक बने। इसीलिए व्यक्तित्वों की पहचान, उन विभूतियों का सार्थक सुनियोजन, इस पर अधिक जोर इस शपथ समारोह में दिया जाना चाहिए।

संयुक्त प्रयास से देवमानवों का यह संगठन किस क्षेत्र में कौन-कौन से आंदोलन चलाएगा, क्या लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं व किस तरह की रणनीति बना ली गई है, यह अब सुनिश्चित हो जाना चाहिए। विभिन्न क्षेत्रों में एक या अधिक विभिन्न तरह के आंदोलन (सप्तक्रांतियाँ-सप्त आंदोलन) एक साथ चलाए जा सकते हैं।

हम इस शपथ समारोह में यह भी शपथ लें कि व्यक्ति-निर्माण से युगनिर्माण तक की यात्रा करने वाले इस मिशन के हम अंग-अवयवों ने अपने जीवन में तप-साधना कितनी बढ़ाई। तप से अर्थ है—ब्राह्मणोचित जीवन एवं बचत का सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में नियोजन। परमपूज्य गुरुदेव का सूत्र है—सत्प्रवृत्तियों के पुण्य प्रसार के लिए अपना समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहेंगे। विभूतियों में समय व धन के अलावा प्रभाव-ज्ञान-पुरुषार्थ भी हैं। हमें इनके सुनियोजन का एक तंत्र खड़ा करना है।

शपथ समारोह मथुरा में भी हो रहा है एवं शरद पूर्णिमा के दिन दीपयज्ञ के रूप में हर शाखा, मंडल, शक्तिपीठ एवं संगठन की इकाई में भी। इस प्रकार पूरी भारतभूमि शरद पूर्णिमा के दिन एक सामूहिक साधना कर रही होगी। संकल्प पत्र इस अवसर पर अपने नाम, उम्र, पद, पते, मिशन की पृष्ठभूमि के साथ क्षेत्रीय स्तर पर एवं केंद्रीय स्तर पर अपनी शक्ति के नियोजन का भरा जाना है। भरकर इनकी दो प्रतियाँ बनाई जाएँ। एक गायत्री तपोभूमि मथुरा एवं एक शांतिकुंज हरिद्वार भेजें। शपथ का अनुयाज ही, जो शरद पूर्णिमा से गायत्री जयंती २००३ तक चलेगा, नैष्ठिक रूप से संपन्न होकर वेदमूर्ति की स्थापना की स्वर्णजयंती की सार्थकता प्रमाणित करेगा।

○

केंद्र के समाचार-विश्वव्यापी हलचलें

प्रस्तुत समाचार स्तंभ 'अखण्ड ज्योति' के पाठकों के लिए इस कारण आरंभ किया गया कि केंद्र व सारी जगती में कहाँ क्या घट रहा है, इसकी जानकारी उन्हें मिल सके। चूँकि सभी परिजन-पाठक पाक्षिक 'प्रज्ञा अभियान' नहीं मँगाते, समाचार उन्हें मिल नहीं पाते, इसलिए यह स्तंभ आरंभ किया गया। यह पत्रिका तीन माह पूर्व छपने चली जाती है, इसमें समाचार तब के ही होते हैं, जो पढ़ते समय पुराने लगते हैं। ताजे व नितनवीन समाचार हेतु पाठक यदि 'पाक्षिक' प्रज्ञा अभियान मँगाने लगें (वार्षिक चंदा २० रुपये), तो वे इस विराट् तंत्र की विधि-व्यवस्था व नई-नई स्थापनाओं की नियमित जानकारी ले सकेंगे। इस अनुरोध के साथ इस अंक के समाचार प्रस्तुत हैं।

दक्षिण का सघन मंथन-कन्याकुमारी की तैयारी—दक्षिण भारत के चार प्रांतों के लिए कार्यकर्त्ताओं-समयदानियों को योजनाबद्ध ढंग से शिक्षण देने हेतु एक दौरा दक्षिण म. प्र., छत्तीसगढ़ व उड़ीसा का तथा दूसरा नागपुर केंद्र सहित सारे महाराष्ट्र का जुलाई बीस तक संपन्न हो चुका था। अब तीसरा प्रवासक्रम दस कार्यकर्त्ताओं के विभिन्न दिशाओं में भेजे दलों के द्वारा आरंभ हुआ है, जिसमें आंध्रप्रदेश के विशाखापट्टनम, विजयवाड़ा, तिरुपति व हैदराबाद, तमिलनाडु के चेन्नई, मदुराई, कन्याकुमारी, कोयंबटूर सहित केरल के तिरुअनंतपुरम, त्रिचूर एवं कर्नाटक के बैंगलोर, मैंगलोर, मैसूर एवं बेलगाम में कार्यकर्त्ताओं की गोष्ठियाँ आयोजित की गई हैं। लक्ष्य है कन्याकुमारी में २००५ की दिसंबर या २००६ की जनवरी में एक विराट् आश्वमेधिक आयोजन एवं तब तक पूरे दक्षिण भारत का संगठनात्मक मंथन। विशाखापट्टनम, विजयवाड़ा, हैदराबाद, तिरुपति, चेन्नई में कार्यालय स्थापित हो गए हैं। शेष सभी केंद्रों में क्षेत्रीय (जोनल) उपकेंद्र बनाना इस दौरे का मूल प्रयोजन है।

जोहांसबर्ग में विराट् आयोजन—दक्षिण अफ्रीका के सबसे बड़े शहर जोहांसबर्ग में सितंबर में संपन्न 'अर्थ सम्मिट' (पृथ्वी सम्मेलन) के तुरंत बाद गायत्री आश्रम लेनेशिया के कार्यकर्त्ताओं ने मखवासी, डरबन एवं प्रिटोरिया में बड़े आयोजनों का क्रम रखा था, जिसकी तैयारी के लिए एक दल अगस्त के प्रथम सप्ताह में ही जा चुका था। बाद में देवसंस्कृति विश्वविद्यालय के कुलाधिपति-इस पत्रिका के संपादक भी पहुँचे एवं उनने भावनाशील परिजनों के एक विराट् समुदाय को इस नवीन स्थापना की जानकारी दी। समग्र अफ्रीका से कार्यकर्त्ताओं का वहाँ मिलन समारोह हुआ व संगठनात्मक चर्चाएँ भी हुईं। १०८ कुंडी महायज्ञ में भाग लेकर हजारों व्यक्ति लाभान्वित हुए।

विश्वविद्यालय में खुलते प्रगति के नए आयाम—धर्म-विज्ञान केंद्र की स्थापना के साथ साधना संकाय में एक विशिष्ट प्रशिक्षण देवसंस्कृति विश्वविद्यालय में आरंभ हो चुका है। अब यहाँ धर्मशास्त्र की सभी विधाओं का, पौरोहित्य-ज्योतिर्विज्ञान का भी शिक्षणक्रम चलेगा। इसके साथ ही बोर्ड ऑफ मैनेजमेंट, अर्थ समिति एवं बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की मीटिंग भी सितंबर माह में संपन्न हो गई। प्रगति संतोषजनक है। छात्र-छात्राएँ, शिक्षक व सारे सदस्य कार्य करने में एक विलक्षण आनंद की अनुभूति करते हैं। विश्वविद्यालय चूँकि आवासीय है, सारे सदस्य एक परिवार की तरह शांतिकुंज की ही दिनचर्या अपनाकर अपना दैनंदिन कार्य कर रहे हैं।

सीसवाली-कोटा में एक महाकुंभ—परमपूज्य गुरुदेव ने नरमेध यज्ञ की तैयारी के दौरान जिस क्षेत्र का सर्वाधिक प्रवास किया था, वह था राजस्थान का हाड़ौती क्षेत्र-उसमें भी कोटा व बारां वाला क्षेत्र। कोटा से लगभग ७० किमी. दूर सीसवाली स्थित है। शांतिकुंज के नैष्ठिक कार्यकर्त्ता श्री रामेश्वर नैनीवाल जी ने ग्राम-ग्राम संपर्क कर अगस्त के द्वितीय सप्ताह में एक विराट् आयोजन अपने गाँव सीसवाली में रखा, जिसमें १०८ कुंडी महायज्ञ, कार्यकर्त्ता महासम्मेलन, गोशाला की स्थापना तथा देवसंस्कृति विद्यालय का भूमिपूजन रखा गया था। शांतिकुंज से श्रीमती शैलबाला पंड्या एवं डॉ. प्रणव पंड्या भी ११ अगस्त को एक दिन के प्रवास पर पहुँचे। सारे समारोहों में भाग लिया, विराट् जनमेदिनी को संबोधित किया एवं लौटते हुए कोटा शक्तिपीठ में नवनिर्मित बहुउद्देशीय हॉल का उद्घाटन किया। कार्यकर्त्ता गाँव-गाँव से आए थे एवं दृश्य महाकुंभ की तरह था।

आपदा प्रबंधवाहिनी का पुरुषार्थ—उत्तरांचल प्रांत में विगत भूकंप (गुजरात २६-१-०१) के बाद केंद्र में एक आपदा प्रबंधवाहिनी का निर्माण किया, जिसमें एक फायर ब्रिगेड, एक चलता-फिरता अस्पताल, एक जेनरेटर सहित चलने वाला वाहन, पानी की टंकी वाला वाहन एवं दो एंबुलेंस हैं। पिछले दिनों टिहरी जनपद (उत्तरांचल) के बूढ़ा केदार क्षेत्र में बादल फटने पर यह वाहिनी सूचना मिलते ही घटना के चौबीस घंटे के अंदर पहुँच गई। क्षेत्र दुर्गम था, पर साधनों को ले जाने की सुगमता इस वाहिनी के साथ गए राहत दल के कारण भलीभाँति हो गई। चिकित्सकों का दल व राहत सामग्री के पहुँचते ही भुक्तभोगियों को लगा कि मानो देवता आ गए हों। तब तक शासन स्तर पर कोई भी सामग्री नहीं पहुँच पाई थी। अपना कार्य संपन्न कर आगे का कार्य शासन को सौंपकर यह वाहिनी पाँचवें दिन लौट आई। गायत्री परिवार हर ऐसी आपदा में कर्त्तव्य निभाने को संकल्पित है।

*

दीपोत्सव पर्व पर संकल्प

दीपावली पर्व पर घर-घर ऐसे दीप जलाएँ हम,
भीतर-बाहर का अँधियारा, मिलकर आज मिटाएँ हम।
हर मन में अँधियार, कि चिंतन भटका है, बौराया है,
प्रगति देखकर औरों की हर व्यक्ति बहुत ललचाया है,
निज अभाव का नहीं, दूसरों के सुख का दुःख ज्यादा है,
व्यक्ति पड़ोसी की ही दुर्गति करने पर आमादा है।
इन भूले-भटकों को फिर से सही मार्ग पर लाएँ हम,
भीतर-बाहर का अँधियारा, मिलकर आज मिटाएँ हम।
कहीं अंधविश्वास, कहीं अज्ञान तिमिर बन छाया है,
अहंकारवश मनुज विद्वत्ता पाकर भी भरमाया है,
कहीं जगमगाहट में भी तो फैले घने अँधेरे हैं,
वर के पिता विवाहों में बन जाते स्वयं लुटेरे हैं।
सबकी दृष्टि खुले, ऐसा उज्ज्वल प्रकाश फैलाएँ हम,
भीतर-बाहर का अँधियारा, मिलकर आज मिटाएँ हम।
घने अँधेरे ने भ्रम फैलाया है धर्म स्थानों में,
कहीं नहीं है किरण द्वार पर, आँगन में, दालानों में,
प्रीति नहीं, नफरत पलती मंदिर-मस्जिद-गुरुद्वारों में,
मानवता के शत्रु शरण पाते इनकी दीवारों में।
सच्चा मर्म धर्म का, इन सबको जाकर समझाएँ हम,
भीतर-बाहर का अँधियारा, मिलकर आज मिटाएँ हम।
दीपक का है प्राण स्नेह, यह स्नेह न कम होने देंगे,
छोटे-से दीपक की गरिमा कभी न हम खोने देंगे,
हम हैं स्नेह-सिंधु के वासी, स्नेह बाँटने आए हम,
कोई कंठ न तरसे प्यासा, स्नेह-कलश हैं लाए हम।
मात्र शब्द से नहीं, आचरण से यह बात बताएँ हम,
भीतर-बाहर का अँधियारा, मिलकर आज मिटाएँ हम।
जलें दीप से दीप, रोशनी ऐसी हो परिवारों में,
तिमिराच्छन्न मनों में भी फिर आए क्रांति विचारों में,
तज अधर्म, अध्यात्म-मार्ग पर हम सहर्ष चलना सीखें,
नवयुग के अनुरूप नए साँचे में खुद ढलना सीखें।
अब तक हुई भूल जो हमसे, उसे न फिर दुहराएँ हम,
भीतर-बाहर का अँधियारा, मिलकर आज मिटाएँ हम।

—शचींद्र भटनागर

वेद का विज्ञान : प्रतीकात्मक ज्ञान

विज्ञान की तरह वैदिक विवेचना भी प्रतीकात्मक है। इन अर्थों में वेद गूढ़ आंतरिक प्रतीकों के ग्रंथ हैं। संपूर्ण वेद की परिकल्पना रूपकों एवं प्रतीकों में ही की गई है। वेद का यथार्थ अर्थ गुह्य, गोपनीय एवं प्रतीकात्मक होने के कारण वह अनेक उपमाओं तथा सांकेतिक शब्दों द्वारा आवृत है। यह आवरण भले ही साधारण मनुष्यों के लिए अभेद्य हो, परंतु वैदिक ज्ञान के साधकों के लिए झीना और सब अंगों का प्रकाशक वस्तुमात्र है। ऋषि या कवि जब इन प्रतीकों और अलंकारों का आवरण उठा देते हैं, तब प्रतीकों का स्पष्ट स्वरूप उभरकर आता है।

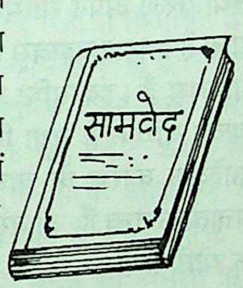

सृष्टि-संरचना के वैदिक प्रतीक भी कुछ ऐसे ही हैं। यह वैदिक प्रतीकवाद ऋषियों की प्रज्ञा से निकला है। इसके गूढ़तम अर्थ हैं। सृष्टि-संरचना के वेदों के प्रतीकवाद को दृष्टिगत करके ही वेदमंत्रों में निहित सृष्टि-संरचना का ठीक-ठीक अर्थ किया जा सकता है। वैदिक सृष्टि-संरचना के प्रतीक के रूप में कुछ प्रतीकों के स्वरूप की व्याख्या इस तरह मिलती है।

भृगु ज्वालाओं में उत्पन्न हुआ था। जो त्रिकाल शक्तिरूप रहता है, वह भृगु है। महाभारत के अनुसार जो ज्वाला सहित उत्पन्न हुआ, वह भृगु है। यह सृष्टि-रचना में अग्नि से उत्पन्न होने पर भी अज्वलनशील है। यह सदैव ज्योतिर्मय शक्ति तत्त्व का द्योतक है। यह एक ऐसा तत्त्व है, जो उत्पत्ति के समय एवं उसके पश्चात भी अग्नि रूप में रहता है। यह त्रिकाल अग्नि वर्ण है। इसे ईश्वर द्वारा त्रिकाल नियंत्रित भौतिक तत्त्व भी कहा जा सकता है।

ऋग्वेद में ऊर्जा के त्रिकाल संरक्षित गतिशील सातत्य प्रवाह की परिकल्पना है। प्रलयकाल में भी ऊर्जा एकमात्र ईश्वरीय नियंत्रण में सुरक्षित रहती है, जिसका प्रयोग आगामी सृष्टिकाल के आरंभ में ईश्वर द्वारा आदि संवेग उत्पन्न करने हेतु किया जाता है। अतः भृगु प्रलयकाल में संरक्षित रखी गई शक्ति का प्रतीक है। दी यूनीवर्स स्टोरी में ब्रायन एबीम और थामस बेरी ने इसी ऊर्जा का संकेत किया है। संभवतः यही ऋग्वेद का भृगु है।

ऋग्वेद में इसकी विस्तृत विवेचना हुई है। मूल भौतिक शक्ति के दो भाग होते हैं। एक भाग त्रिकाल ईश्वरीय नियंत्रण में रहता है। इसी एक भाग का वैदिक नाम भृगु है। दूसरे अनियंत्रित भाग को वृत्र या शम्बर कहते हैं। क्रियात्मक मूल तत्त्व जब तक ईश्वरीय सृष्टि विकास योजना के अंतर्गत नहीं आता, तब तक अपने आप वह सृष्टि निर्माण की दिशा में अक्षम रहता है। इस स्थिति में संलग्न द्रव्य अनंतकाल तक भी सृष्टि सृजन नहीं कर सकता। इस स्थिति को वेद ने वृत्र प्रतीक के रूप में दरसाया है। प्रकृति का यह दूसरा भाग प्रलयकाल में अपने स्वाभाविक स्वतंत्र रूप में होता है। इस भाग में सृष्टि उत्पादन सामर्थ्य का बीजारोपण करने के लिए भृगु (नियंत्रित) भाग से संवेग आरोपित किया जाता है। जगत् का उद्भव इसी का परिणाम है।

आदि सृष्टिकाल में सुरक्षित ऊर्जा (भृगु) से प्रकृति के दूसरे भाग पर प्रक्षेपण किया जाता है। इसे वैदिक भाषा में वज्र संचालन के रूप में व्यक्त किया जाता है। इस क्रिया से बिग बैंग (महाग्निकांड) होता है, जिसमें महाशक्ति का उद्भव होता है। इसकी परिणति महाप्रसार के रूप में होती है। ली स्मोलीन ने अपने शोधग्रंथ 'द लाइफ आफ द कॉस्मास' में इसे विश्व का प्रसार कहा है। इस प्रकार वेदों में सुरक्षित अग्नि तत्त्व को भृगु कहा गया है।

भृगुओं से अग्नि तत्त्व को मातरिश्वा ने लिया। अग्निकांड (बिग बैंग) से प्रज्वलित तरल चारों ओर प्रसारित हुआ। वेद में इस घटना का नाम मातरिश्वा है। यही विश्व का प्रसार है। जान डी बैरो ने भी द आर्टफुल यूनीवर्स में

इसे प्रसारित विश्व के नाम से संकेत किया है। बिग बैंग से जो आदि संवेग उद्भूत होता है, उससे समस्त प्रज्वलित द्रव्यमंडल तीव्र गति से चारों ओर प्रसारित होता है। पॉल डेविस के अनुसार आदिकाल में प्रदत्त संवेग से आज भी गैलेक्सिस (नीहारिकाएँ) परस्पर दूर जा रही हैं। इसे विश्व के प्रसारित होने का सिद्धांत कहते हैं।

मातरिश्वा अग्निकांड से उत्पन्न महाशक्ति से प्रज्वलित द्रव्य के तीव्र गति से चारों ओर प्रसार का द्योतक है। मातरिश्वा प्रवाह की उत्पत्ति आदिकाल में हुई थी। ऋग्वैदिक ऋचा (१/१४३/२) में इसका संकेत मिलता है। आदिकाल में महामंडलाकार प्रज्वलित अग्निकांड की परिणति मातरिश्वा के रूप में हुई, जिसमें प्रज्वलित द्रव्य चारों ओर गतिमान हुआ। इसी बिखरे हुए एवं तीव्र गति से प्रसारित हुए द्रव्य से कालांतर में गैलेक्सिस, नक्षत्र मंडलों व प्रकाशित-अप्रकाशित लोकों की उत्पत्ति हुई।

मूल उत्पादन कारण ईश्वरीय कामना के परिणाम स्वरूप परिवर्तित व विकसित हुआ। इसी से सृष्टि उत्पत्ति की स्थिति बनी। बाद में भौतिक द्रव्य प्रजाओं और प्रकृति के विकारों को उत्पन्न करने में भी समर्थ हुआ। इसे ही प्रजापति कहा गया है। यही प्रजापति वेदों में अथर्वा नाम से अलंकृत हुआ है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार जब प्रकृति में ईश्वर की ईक्षण शक्ति के अनुरूप सृष्टि उत्पत्ति हेतु पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है, तब उस प्राकृतिक स्वरूप को अथर्वा कहते हैं।

ऋग्वेद में उर्वशी को सर्वव्यापी प्रकृति की ओर इंगित किया गया है। उर्वशी को अप्सरा कहा गया है। उर्वशी एवं अप्सरा भौतिक तत्त्वों के वैदिक प्रतीक हैं। अप् क्रियात्मक मूल तत्त्व है एवं अप्सरा रूप का पर्याय है। उर्वशी विशाल क्षेत्र में नियंत्रण करने वाली एवं विस्तृत क्षेत्र को प्रभावित करने वाली है। यह प्रकृति का क्रियात्मक रूप आप: या माया है। वैदिक मंत्रों में पुरुरवा जीवात्मा के रूप में वर्णित है।

मित्र-वरुण के वीर्य के संयुक्त रूप से उर्वशी के गर्भ में स्थापना से वशिष्ठ की उत्पत्ति बताई गई है। मित्र-वरुण मौलिक कण हैं, जो विपरीत चार्ज वहन करते हैं। यदि वरुण धनात्मक आवेश कणों का समुच्चय है, तो मित्र ऋणात्मक आवेश का समुच्चय है। ये दोनों मिलकर आधुनिक विज्ञान का द्रव्यभाग बनाते हैं। मित्र-वरुण के अंशभूत कणों के संयोग से एक उदासीन (न्यूट्रान) कण की उत्पत्ति होती है। यह न्यूक्लियस का प्रमुख भाग है। इस नाभिकीय द्रव्य का नाम वशिष्ठ है। इस प्रकार वशिष्ठ विज्ञान का न्यूट्रान कण है। अत: वशिष्ठ व्यक्ति नहीं, प्रकृति द्रव्य है।

ऋग्वैदिक ऋचा में वशिष्ठ (न्यूट्रान) की रचना का संकेत है। ऋषि शब्द का प्रयोग भी भौतिक शक्ति के लिए हुआ है। अथर्ववेद में 'सप्त ऋषय:' पद भौतिक शक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। सप्तवर्गी परमाणुओं को यहाँ सप्तऋषि कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार भी ऋषि वशिष्ठ भौतिक सत्ताएँ हैं। यह मूल भौतिक तत्त्व के नाभिक का परिणाम है।

द्रव्य ब्रह्म की अंशभूत तेजस् शक्ति है, जो क्रमश: आप:, बृहती आप: व अपां नपात् में रूपांतरित होती हुई सूर्य रूप में उद्भूत होती है। आप: मूल भौतिक कणों की उद्वेलित क्रियाशील अवस्था का समग्र रूप का प्रतीक है। क्रियात्मक होते ही त्रिवर्गी शक्ति की परस्पर क्रिया एवं संयोग के परिणामस्वरूप यौगिकों की उत्पत्ति हुई। प्रकृति के इस विस्तृत रूप को बृहती आप: कहा गया है। यह प्लाज्मा अवस्था के सदृश्य है।

वसु मूल तत्त्वों से बने यौगिकों की संज्ञा है और महावसु मूल तत्त्वों का प्रतीक है। ऋग्वेद में इंद्र और वरुण को महावसु बताया गया है। मंत्रानुसार इंद्र सम्राट हैं तथा वरुण स्वराट। ईश्वर सर्वनियंत्रक सर्वोच्च सत्ता है तथा वरुण अपने सीमित क्षेत्र भौतिक सत्तात्मक जगत् का राजा है। वरुण महावसु है अर्थात तीनों मित्र, वरुण, अर्यमन् महावसु हैं। इंद्र सृष्टि का निमित्त कारण अर्थात रचयिता ईश्वर वाचक है तथा मित्र, वरुण, अर्यमा संयुक्त रूप से द्राव्यिक कारण के वाचक हैं। इस प्रकार महावसु मूल सत्तात्मक तत्त्व हैं, जो वसु के कारण हैं तथा वसु, महावसुओं के यौगिक हैं।

मित्र-वरुण के अंशभूत कणों के संयोग से जो प्रथम उदासीन कण बनता है, उसका ऋग्वैदिक नाम वशिष्ठ है। इस प्रथम यौगिक की रचना में स्थायित्व लाने के लिए एक और कण भाग लेता है, उस कण को ऋग्वेद में अगस्त्य कहा गया है। अगस्त्य मित्र-वरुण का अंश नहीं है। अत: यह अर्यमा उदासीन कणों का समूह है। इस प्रकार अगस्त्य भी उदासीन कण है। प्रोटॉन तथा इलेक्ट्रॉन संयोग करके न्यूट्रॉन बनाते हैं, परंतु इस न्यूट्रॉन रचना में एक उदासीन कण एंटी इलेक्ट्रॉन न्यूट्रीनो भाग लेता है। इस संदर्भ में अगस्त्य एंटी इलेक्ट्रॉन न्यूट्रीनो है। हेंज आर पेजल्स ने 'द कास्मीक कोड' में इस कण का इसी प्रकार उल्लेख किया है। ऋग्वेद के सोम को विज्ञान की विकिरण ऊर्जा कहा जा सकता है। प्रकृति अपने आपको दो रूपों में

व्यक्त करती है। प्रकृति का द्रव्य भाग मित्र-वरुण में निहित है।

अर्यमा प्रकृति का विकिरण भाग है। सृष्टि में नियोजित होने के उपरांत विकिरण की संज्ञा सोम है। ऋग्वेदानुसार सोम कण (फोटान) मूल तत्त्वों के साथ पकाए गए। उस उच्च तापमान पर विकिरण तीव्रता के साथ क्रियाशील हुआ। आदिकाल में मेटर व विकिरण का मंथन हुआ। मेटर निष्क्रिय थे। विकिरण (सोम) ने इन्हें सक्रिय किया। आदिकाल में सोम ने विभक्त होकर कण-प्रतिकण के रूप में विस्तार पाया और तब सूर्यों के समान प्रज्वलित सहस्रों कणों का समग्र पिंड उत्पन्न हुआ। इसे ही बिग बैंग कहते हैं। सोम समग्र गुरुत्वाकर्षण का कारण है। इसी कारण सोम (विकिरण) पर आश्रित हो नक्षत्र कण आकाश में अपनी-अपनी कक्षाओं में भ्रमण करते हैं। सोम आकाश में लोकों के संतुलन की आधारभूत ऊर्जा (विकिरण) है।

ऋभु चार प्रकार के आकर्षण के प्रतीक हैं। ऋग्वेद के अनुसार ऋभुओं ने जब यह जाना कि यह अग्नि ईश्वरीय संदेश लाया है, तब उन्होंने उसे ग्रहण किया। अग्नि ने ऋभुओं से कहा, एक ही मूल तत्त्व को चार प्रकार से संयुक्त करो। मूल तत्त्व के चार प्रकार से संगति करने से यौगिकों की उत्पत्ति होती है, जो देव संज्ञा से विभूषित हैं।

ऋभु आकाशस्थ मूल तत्त्व में कार्यरत शक्ति हैं। इनका कार्य क्रियाहीन तत्त्वों को क्रियाशील करना तथा नित्य तत्त्वों एवं कणों में विद्यमान शक्ति को प्रकट करना है। ऋभु मूल कणों को परस्पर संयुक्त करके आकर्षण के नियमानुसार यौगिक बनाने वाला बल है। ऋभु शक्ति से यौगिक रचना होती है। रासायनिक जगत् की उत्पत्ति ऋभु शक्ति के कारण हुई है। यह लोकों को चारों ओर से आच्छादित करके गति करती है। यह शक्ति घटकों के मध्य आकर्षण का संचार कर उन घटकों को आबद्ध रखती है। ऋभु शक्ति मौलिक कणों के मध्य आकर्षण करने वाला स्वाभाविक गुण है। यह बल को उत्पन्न करने वाली प्राकृतिक स्थिति है।

मरुत आकाश में व्याप्त शक्ति है, जिसका कार्य ऋभुओं को पाना अर्थात बल का संतुलन करना है। मरुत शक्ति विद्युत बल एवं गुरुत्वाकर्षण बल से संबंधित है। यह न केवल विद्युत बल का प्रतिनिधित्व करती है, वरन यह गुरुत्वाकर्षण बल का भी नियमन करती है। चार बलों में से इन दो बलों का प्रभाव क्षेत्र असीम एवं व्यापक है। मरुत व्यापक बल का कार्य करते हैं। ये अनेक प्रकार के बलों का निरंतर संरक्षण करते हैं। इनकी बल रेखाएँ चक्राकार गति करती हैं। इनका बल अखंड है। मरुत बृहत गुरुत्वाकर्षण बल है, जो लोकों को थामता है और सृष्टि रथ संचालित करता है।

सृष्टि-संरचना का यह वैदिक प्रतीकात्मक ज्ञान वैदिक सूक्तों में मणि-मुक्ताओं की तरह बिखरा हुआ है। ऋग्वेद के कतिपय सूक्त तो इसको बड़ी ही विशिष्ट रीति से निरूपित करते हैं। विज्ञान की सामयिक विशिष्टताओं को आधुनिक युग के महान वैज्ञानिकों ने भी बड़े ही प्रशंसित स्वर में स्वीकार किया है। उनकी शोध-अनुसंधान की प्रवृत्ति एवं उससे प्राप्त निष्कर्षों से यह तत्त्व लगातार प्रभासित हो रहा है कि वैदिक ऋषि अध्यात्मवेत्ता होने के साथ महावैज्ञानिक भी थे। उनने प्रतीकों के माध्यम से दुर्लभ सृष्टि विद्या को अपने मंत्रगान में स्वरित किया।

* * *

जोधपुर महाराज एक युद्ध में लड़ने के लिए सेना समेत गए। हार होती देखकर अपनी जान बचाकर भाग आए। रात्रि को किले का दरवाजा खटखटाया, प्रहरी रानी के पास गए। उस स्थिति में रात्रि के समय दरवाजा उनकी आज्ञा से ही खुल सकता था।

रानी ने पूरा विवरण सुनने के बाद दरवाजा न खोलने का हुक्म दिया और राजा से कहलवा भेजा, जोधपुर नरेश होते तो पीठ दिखाकर न आते। या तो जीतकर लौटते या उनकी लाश वापस आती। भगोड़ा तो कोई छद्मवेशधारी हो सकता है।

राजा को पहरेदारों ने रानी का आदेश सुनाया। वे उलटे पैर वापस लौट गए। पूरे जोश के साथ दुबारा लड़े और जीतकर वापस लौटे।

इस देश और जातीय जीवन की समर्थता ऐसे ही कठोर अनुबंधों के सहारे विकसित हुई थी।

है कोई अदृश्य शक्ति, जो जड़ को प्रभावित करती है

अनेकों घटनाएँ तथा तथ्य प्रश्न बनकर मानवीय मस्तिष्क को चुनौती देते हैं। उन्हें असंभव मान लेने पर विचारों का विकास रुक जाता है। हमारा समाज हमारे विचारों का ही प्रतिबिंब है। विचार प्रवाह को अवरुद्ध कर देने से समाज के विकास की गति धीमी पड़ गई है। अत: तथ्यों को असंभव मानने की अपेक्षा उनका नवीन दृष्टि से विश्लेषण करना ही उचित है।

न्यूटन की दृष्टि से भौतिक जगत् में प्रत्येक वस्तु की एक निश्चित पहचान और स्थान है। एक व्यक्ति एक समय एक ही स्थान पर रह सकता है। कपड़े का रंग हरा, नीला अथवा कोई और हो सकता है। क्वांटम फिजिक्स ने आज अथवा इस दृष्टिकोण पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है, उसके अनुसार जो स्थूल नेत्रों से दिखाई दिया है, उसके परे भी सत्य है और हमें उस पर विश्वास करना सीखना होगा। हमारे मस्तिष्क के लिए यह एक नवीन दृष्टिकोण है, अत: इसे अपनाना कठिन कार्य है। रिचर्ड पास्कल के अनुसार, ''कुछ विषयों पर विचार करना लगभग असंभव है, क्योंकि हमारा मस्तिष्क उसका आदी नहीं है।''

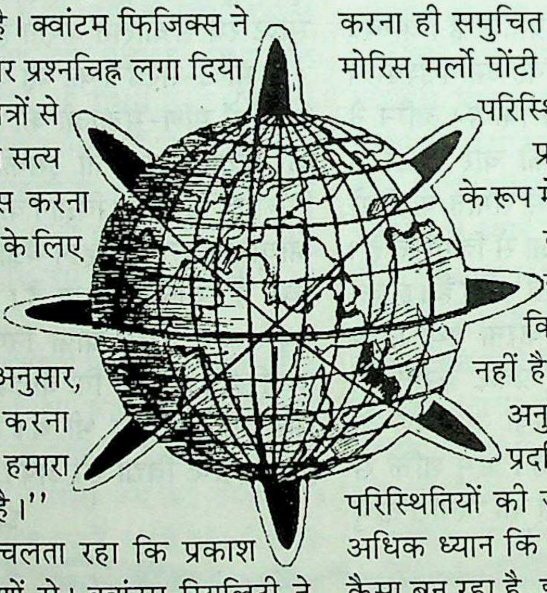

वर्षों तक यह विवाद चलता रहा कि प्रकाश तरंगों से बना है अथवा कणों से। क्वांटम रियलिटी ने रहस्योद्घाटन किया कि प्रकाश तरंगों तथा कणों दोनों से बना है, किंतु किसी प्रयोग में प्रकाश शृंखलाबद्ध तरंगों के रूप में दिखता है तो किसी में कणों का प्रवाह। पर दोनों रूपों में एक साथ प्रकाश को नहीं देखा जा सकता। दोनों रूपों में से कोई एक अधिक प्रमुख भी नहीं है। दोनों समान रूप से एक दूसरे के पूरक हैं। क्वांटम थ्योरी के अनिश्चितता के सिद्धांत के अनुसार हम प्रकाश से नहीं कह सकते, ''अपने वास्तविक स्वरूप को दिखाओ।'' परंतु जो दिखाई नहीं देता उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। किसी वस्तु का एक साथ एक से अधिक रूपों में रहना भी असंभव नहीं।

मशीनों का एक निश्चित स्वरूप होता है। आस-पास के वातावरण का उन पर नगण्य-सा प्रभाव पड़ता है, किंतु अणु-परमाणु अपना स्वरूप वातावरण के संपर्क में रहकर बदलते रहते हैं। जिस प्रकार प्रयोग किए गए स्थान के अनुसार एक ही शब्द के दो भिन्न स्वरूप अथवा अर्थ स्पष्ट होते हैं, उसी प्रकार क्वांटम रियलिटी बाह्य वातावरण के अनुसार अपना स्वरूप बदल लेती है, जिसको 'क्वांटेक्स्चुएलिज्म' कहते हैं। सामाजिक जीवन में भी इसी नियम के तहत किसी सत्य का अन्वेषण उसके आसपास के देश, काल, परिस्थिति को ध्यान में रखकर करना ही समुचित परिणाम दे सकता है। फ्रेंच दार्शनिक मोरिस मर्लो पोंटी के अनुसार सत्य की परिभाषा दी गई परिस्थिति के अनुसार ही की जा सकती है।

प्रकाश का एक साथ कणों और तरंगों के रूप में रहना तथा अणुओं के बाह्य परिस्थिति-वातावरण के अनुसार स्वरूप बदल लेने की क्रियाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो कुछ हम देखते हैं, वही सब कुछ नहीं है। ऐसा भी बहुत कुछ है, जिसका हमें अनुभव नहीं हुआ अथवा जिसे व्यक्त अथवा प्रदर्शित करना संभव नहीं। अत: तत्कालीन परिस्थितियों की जानकारी करके वस्तुएँ क्या हैं, इससे अधिक ध्यान कि वे कहाँ जा रही हैं तथा उनका स्वरूप कैसा बन रहा है, इस पर दिया जाए तो दृष्टिकोण अधिक विस्तृत तथा क्रांतिकारी बनेगा।

समस्त संसार परिवर्तनशील है। आज का नन्हा बालक भविष्य में पूर्ण विकसित पुरुष या नारी में परिवर्तित हो जाता है। वर्तमान के गर्भ में आश्चर्यजनक भविष्य छिपा हो सकता है। आज के आधार पर कल का निर्धारण ठीक नहीं है। लोगों के व्यवहार एवं व्यक्तित्व को भी स्थायी नहीं माना जा सकता। जो आज असंभव लग रहा है, कल वह संभव हो जाए, तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। क्वांटम रियलिटी की दृष्टि से सिद्ध यह तथ्य हमें पुनः अपने पुराने दर्शन तथा अध्यात्म को स्वीकारने की प्रेरणा देता है।

अनिश्चितता क्वांटम रियलिटी का एक अंग है। नील बोर के अनुसार सामान्य अवस्था में परमाणु के भीतर अपनी ऊर्जा के अनुसार इलेक्ट्रॉन निश्चित परिधि में न्यूक्लियस के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं, पर जब परमाणु की आंतरिक ऊर्जा व्यवस्था में अनिश्चित कारणों से अस्थिरता आती है, तब इलेक्ट्रॉन वर्तमान ऊर्जा स्तर से नीचे-ऊपर अथवा किसी अन्य एनर्जी लेवल में चले जाते हैं। हालाँकि यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि एक निश्चित इलेक्ट्रॉन किस पथ से और क्यों जाएगा। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक तथ्य बर्नार्ड डि ऐ स्पेग्नेट ने 'रियलिटी एंड द फिजिसिस्ट' में दिया है कि इलेक्ट्रॉन सभी संभव मार्गों से एक ही समय पर जाता है मानो पूरे स्थान विशेष में वह लीपा हुआ हो और एक ही समय में हर जगह उपस्थित हो। यही बात सामाजिक संदर्भ में भी लागू होती है। इलेक्ट्रॉन के नए एनर्जी लेवल पर पहुँचने के बाद ही उसका वास्तविक मार्ग निश्चित होता है। उसी प्रकार अनेकों संभावनाओं के सत्य घटना में परिवर्तित होने तक अनिश्चितता बनी रहती है। जींस में होने वाले परिवर्तन अगली पीढ़ी में व्यक्त होंगे अथवा नहीं, यह भी प्राकृतिक अनिश्चितता का एक उदाहरण है। इसलिए कहा गया है कि कोई भी कार्य प्रारंभ करने से पूर्व तदनुकूल परिस्थितियों का विश्लेषण करें और यह भी ध्यान रहे कि कुछ भी संभव हो सकता है।

जब दो क्वांटम सिस्टम मिलते हैं, तब उनके कणों के गुण अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं, जबकि तरंगों के गुण एक-दूसरे में घुल-मिल जाते हैं। परिणामस्वरूप उत्पन्न नवीन क्वांटम सिस्टम में कणों के गुण मौलिक क्वांटम सिस्टम जैसे होंगे, किंतु तरंगों के गुण पूर्णतया नवीन होंगे। इसी प्रकार जब दो व्यक्ति करीब आते हैं, तो या तो वे अपना अलग व्यक्तित्व बनाए रख सकते हैं या फिर उनकी आंतरिक भावनाओं में ऐसा तारतम्य बैठ सकता है, जिससे वे एक और एक ग्यारह बन जाएँ। भारत में व्यक्तियों को समूह का एक अंग बनने के लिए प्रेरित किया जाता है। जिसे तरंगों वाली प्रवृत्ति कह सकते हैं। जबकि पश्चिम में कणों की भाँति एकाकी अस्तित्व बनाए रखने की ही परंपरा है। संपूर्ण विश्व के लोगों की आंतरिक भावनाएँ यदि तरंगों की भाँति घुल-मिल जाएँ, तो विश्व कितना समर्थ एवं शक्तिशाली बन जाएगा, इसकी एक कल्पना सहज रूप में की जा सकती है।

बिना किसी शक्ति अथवा संकेत का आदान-प्रदान किए किसी वस्तु के दूसरी से तत्काल संपर्क होने को हम

महाकाल का संदेश

परमपूज्य गुरुदेव ने जीवनभर जनकल्याण हेतु साहित्य सृजन किया, उनके तप एवं ज्ञान का निचोड़ उनके साहित्य में है। सभी लोगों तक यह ज्ञानगंगा पहुँचे, इसीलिए 'पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय' का प्रकाशन किया गया है। लाखों ने इसे पढ़कर जीवन धन्य बनाया है। हर घर में वाङ्मय की स्थापना होनी चाहिए, परिवार के लिए यह अमूल्य धरोहर एवं विरासत है।

यदि आपको भगवान ने श्री-संपन्नता दी है, तो ज्ञानदान कर पुण्य अर्जित करें। विशिष्ट अवसरों एवं पूर्वजों की स्मृति में पूज्यवर का वाङ्मय विद्यालयों, पुस्तकालयों में स्थापित कराएँ। विवाह, जन्मदिवस एवं अन्य उत्सवों पर अथवा पारितोषिक स्वरूप भी यह साहित्य अमूल्य भेंट सिद्ध होगा। आपका यह ज्ञानदान आने वाली पीढ़ियों तक को सन्मार्ग पर चलाएगा, जो भी इसे पढ़ेगा, धन्य होगा। शास्त्रों में कहा है-

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ —*मनुस्मृति ४/२३३*

जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घी, इन सबके दानों में से ज्ञान का दान सबसे उत्तम है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ —*गीता ४/३३*

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि जितने भी कर्म हैं, वे सब ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। ज्ञानदान सर्वोपरि पुण्य है, शुभ कार्य है।

भूत-प्रेतों का कार्य मानते हैं। रिलेटिविटी थ्योरी के अनुसार ऐसा कुछ भी नहीं जिसकी गति प्रकाश से अधिक तीव्र हो। अतः 'तत्काल हेतुक प्रभाव' जैसा कुछ होना संभव नहीं। आइन्सटीन ने भी इसे 'भुतहा तथा बकवास' कहा। अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने प्रख्यात आइन्सटीन-पोडोलस्की-रोजन पैराडॉक्स दिया, जिसे इस उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। बाल्यकाल में बिछुड़े दो जुड़वाँ भाई-बहन हैं, जो दो सुदूर स्थानों में रहते हैं। वे एक-दूसरे से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं, किंतु उनके जीवन में आश्चर्यजनक समानताएँ हैं। दोनों तिमंजिले मकान में रहते हैं, विवाह चिकित्सक से हुआ है, प्रिय रंग लाल है तथा दोनों ही उपन्यासकार हैं। आइन्सटीन ने अपनी 'थ्योरी ऑफ हिडन वैरियेबल्स' के द्वारा कहा कि दोनों में कोई गूढ़ तत्त्व इस साम्य का कारण है। वह तत्त्व समान आनुवंशिक गुण भी हो सकता है, किंतु आयरिश फिजिसिस्ट जॉन बेल ने 'बेल्स थ्योरम' के द्वारा आगे प्रतिपादित किया कि दोनों बच्चे विभिन्न नृत्य विद्यालयों में एक साथ प्रवेश लेते हैं। नृत्य करते समय एक का हाथ ऊपर उठता है, तो तत्काल दूसरे का हाथ भी ऊपर उठता है। इस तत्काल घटित क्रिया के पीछे आनुवंशिक कारण का होना संभव नहीं। न ही प्रकाश से अधिक तीव्र कोई संकेत हो सकता है, जो उनको एक दूसरे की प्रत्येक क्रिया की जानकारी दे सके। फिर दोनों के व्यवहार में ऐसी समानता किस प्रकार संभव हो सकती है। मानो वे एक ही कमरे में नृत्य कर रहे हों। इसे 'भुतहा या बकवास' कहा तो जा सकता है, पर ऐसी सत्य घटनाएँ जीवन का एक अंग हैं। विश्व में एक साथ एक जैसी क्रांतियों का जन्म लेना या दो भिन्न स्थानों पर एक दूसरे से अनभिज्ञ दो व्यक्तियों द्वारा एक साथ एक जैसे विचारों का प्रतिपादन करने की अनेकों घटनाएँ हैं। स्वतंत्रता आंदोलन भारत में छिड़ा, तब अन्य देशों में ऐसी ही क्रांतियाँ भड़कीं। इसी प्रकार स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान एक साथ अनेकों संतों एवं वीरों का जन्म लेना ऐसी ही एक घटना है।

समाजवादी तथा इतिहासकार इन घटनाओं के पीछे 'संयोग' अथवा ऐसे अनेकों कारण बता सकते हैं, किंतु क्वांटम फिजिक्स के अनुसार एक ऐसी सार्वभौमिक शक्ति 'क्वांटम होल' है, जिसका गूढ़ तंत्र इन घटनाओं को संचालित करता है। यही तंत्र उन एक जैसी घटनाओं के लिए भी उत्तरदायी है, जो भिन्न समय में घटित होती हैं।

संपूर्ण ब्रह्मांड को संचालित करने वाली यह सार्वभौमिक शक्ति समस्त प्राणियों एवं ब्रह्मांड में घटने वाली प्रत्येक घटना को आपस में जोड़े हुए है। कोई राजनीतिज्ञ अथवा अधिकारी किसी घटना को उतना नियंत्रित अथवा प्रभावित नहीं कर सकता, जितना एक संवेदनशील व्यक्ति जो लोगों की भावनाओं से गहराई तक जुड़ा है। वह जानता है कि किस विशेष परिस्थिति में जनमानस की तत्काल कैसी प्रतिक्रिया होगी। दृष्टिगत रूप से स्पष्ट है कि ताकत राजनीतिज्ञ अथवा अधिकारी के पास अधिक है। फिर ऐसी कौन-सी अदृश्य शक्ति है, जो एक संवेदनशील व्यक्ति को अधिक सामर्थ्यवान बना देती है। यह वही सर्वसामर्थ्यवान अदृश्य तंत्र है, जो प्रत्येक मनुष्य की भावनाओं का नियंत्रण-संचालन करता है। असंभव को संभव बनाता है। यह बात समझ लेने पर सामाजिक-पारिवारिक संस्थाओं में व्याप्त कठोर अनुशासन तथा निश्चित कार्यों में उदारता का समावेश किया जा सकेगा। वैचारिक ढाँचे में होने वाले इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन में ही भावी समाज में क्रांति की संभावना निहित है।

* * *

महामनीषी चाणक्य राज्य के प्रधानमंत्री भी थे। दिनभर वे संपर्क और व्यवस्था कार्यों में निरत रहते। रात्रि को सरकारी कार्य देखते और उपासना कृत्य पूरा करते।

उनके पास दो दीपक थे। एक को तब जलाते, जब राज्य का काम करते, उसमें राजकोष का तेल जलता, पर जब वे उपासना करते, तो पहला दीपक बुझाकर दूसरा जलाते, जिसमें उनके निजी परिश्रम का उपार्जित तेल जलता।

चाणक्य कहते थे, उपासना निजी लाभ के निमित्त की जाती है, उसकी सुविधा में दूसरों की सहायता क्यों ली जाए ?

अंधों में मात्र एक नेत्रवान

पंचशाल गाँव के लोग आश्चर्यमिश्रित उत्साह से अभिभूत थे। पहले तो जब उन्होंने भगवान तथागत के आने की बात सुनी तो उन्हें भरोसा ही नहीं हुआ। भला भगवान इस छोटे-से पंचशाल गाँव में! श्रावस्ती, मगध, कोशल, कोशांबी आदि राज्यों के नरेश जिनके लिए पलक पाँवड़े बिछाए रहते हैं। जिनके एक दर्शन के लिए संपूर्ण भारतभूमि के महाश्रेष्ठी अपना धनकोष लुटाने के लिए तैयार रहते हैं, वे ही भगवान इस साधनाविहीन गाँव में आ रहे हैं। इस समाचार ने जैसे अचानक गाँव वालों को भाग्यवान बना दिया। गाँव के मुखिया सहित बूढ़े-बच्चे, युवक-युवतियाँ सभी भगवान के स्वागत की तैयारियों में जुट गए।

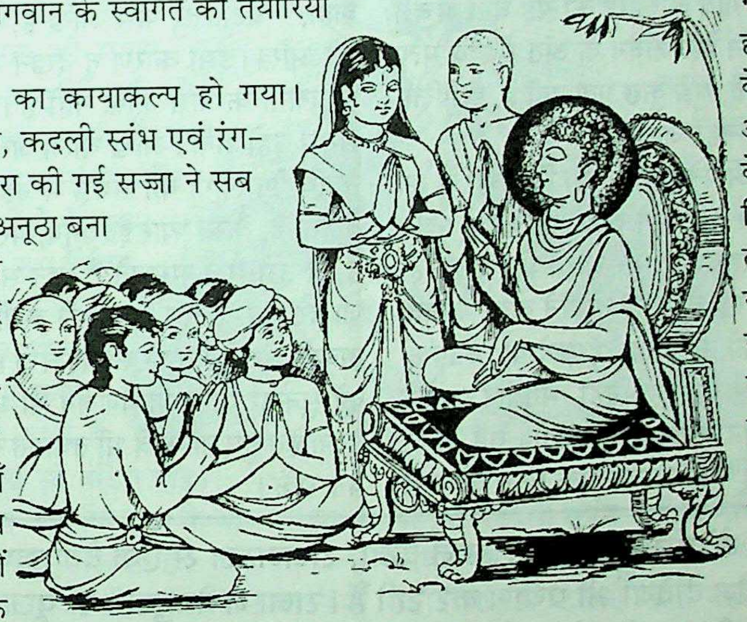

देखते-देखते गाँव का कायाकल्प हो गया। आम्रपल्लव, आम्रमंजरी, कदली स्तंभ एवं रंग-बिरंगी पुष्प मालाओं द्वारा की गई सज्जा ने सब भाँति पंचशाल गाँव को अनूठा बना दिया। गाँव की समूची प्राकृतिक समृद्धि भगवान तथागत के स्वागत के लिए उमड़ पड़ी। कन्याओं के मंगलगान से ग्रामवीथियाँ गूँजने लगीं। सबके सब अपनी हृदय भावनाओं का अर्घ्य भगवान के श्रीचरणों में चढ़ाने के लिए उत्सुक थे। इन भोले ग्रामीणों के भाव संवेदनों को प्रभु अनुभव कर रहे थे, वे ठीक समय पर आनंद, तिष्य स्थिविर, मौद्गलायन, सेवत्, रेवत आदि भिक्षुओं के साथ गाँव में पधारे। ग्रामीणजन स्थान-स्थान पर प्रभु का स्वागत करते हुए उस मंच पर ले गए, जो उन्होंने विशेष तौर पर तथागत के लिए बनाया था।

पल्लवों एवं पुष्पों से सज्जित मंच पर विराजमान हो तथागत ने ग्रामीणजनों पर अपनी कृपा की अमृत वर्षा करते हुए मधुर उद्बोधन दिया। इस उद्बोधन में दिशा बोध था। उद्बोधन के पश्चात आनंद ने ग्रामवासियों से कहा, आप में से जो शास्ता से व्यक्तिगत ढंग से मिलना चाहते हैं, वे एक-एक करके आ जाएँ। इस कथन को सुनकर उत्सुक ग्रामीणजन पंक्तिबद्ध हो मंच की ओर बढ़ चले। भगवान बुद्ध ने उनमें से प्रत्येक की कुशल पूछी। खेती-बाड़ी और परिजनों के समाचार जाने। जीवन के प्रकाशपूर्ण पथ पर चलने की प्रेरणा दी। बुद्ध के आशीषों को पाकर सबके चेहरे पुष्प की भाँति खिल उठे।

मिलने के इस उपक्रम में सबसे अंत में एक कन्या आगे बढ़ी। वह जुलाहे की बेटी थी। अट्ठारह वर्ष की इस आयु में ही उसकी विचारशीलता सभी को चकित कर देती थी। उसकी बुद्धिमत्ता से समवयस्क ही नहीं गाँव के वृद्धजन भी हैरान हो जाते थे। उसने बुद्ध के पास पहुँचकर बड़े ही अहोभाव और उल्लास के साथ उनके चरणों पर सिर रखा। उसे देखकर तथागत मुस्कराए। उनकी यह मुस्कान बड़ी ही रहस्यमयी थी। इसमें ज्ञान एवं प्रेम का अनोखा सम्मिश्रण था। अपनी अलौकिक मुस्कान के साथ उन्होंने उससे पूछा, “बेटी, कहाँ से आती हो?” “भंते, नहीं जानती हूँ।” उसने उत्तर दिया। बुद्ध ने एक और सवाल किया, “बेटी, कहाँ जाओगी?” “भंते, नहीं जानती हूँ।” फिर उसने अपना पुराना जवाब दुहराया। “क्या नहीं जानती हो?” बुद्ध ने पूछा। वह बोली, “भंते, जानती हूँ।” “जानती हो?” बुद्ध ने पूछा। वह बोली, “कहाँ भगवान, जरा भी नहीं जानती हूँ।”

ये अटपटी बातें सुनकर, गाँव के वृद्ध उस पर जोर से बिगड़ पड़े। कुछ लोग कहने लगे, यह चारूलता वैसे तो बहुत ही विचारपूर्ण और बुद्धिमानी से भरी बातें करती है, पर आज यह अचानक बहकी-बहकी बातें क्यों करने लगी है। भला यह भी कोई ढंग है भगवान से बातें करने

का ? यह भी कोई शिष्टाचार है ? वृद्धजनों ने उसे डाँटते हुए कहा, ''चारू, यह तू किस तरह से बात कर रही है ? तू होश में तो है ? मालूम है तुझे, तू किससे बात कर रही है ?''

डाँट-डपट करने वाले इन वृद्धजनों को भगवान ने टोकते हुए कहा, ''उसे डाँटने से पहले आप सब उसकी बातें सुनें, जो वह कह रही है, उसे सुनें।'' फिर उस कन्या की ओर देखते हुए वह बोले, ''बेटी चारू, तू इनको समझा कि तूने क्या कहा ?''

इस पर उस कन्या ने कहा, ''जुलाहे के घर से आ रही हूँ, भगवान यह तो आप जानते ही हैं। इस सचाई से हमारे गाँव के लोग भी वाकिफ हैं, लेकिन मेरी जीवात्मा कहाँ से आ रही है ? मेरा यह जीवन किन कर्मों के परिणामस्वरूप जन्मा है ? यह मैं भी नहीं जानती हूँ। मैं यहाँ से वापस जुलाहे के घर जाऊँगी, यह मैं भी जानती हूँ और आप भी जानते हैं। गाँव के लोगों को यह बात अच्छी तरह से मालूम है, लेकिन इस जीवन के अंत में जब मृत्यु होगी, तब मैं कहाँ जाऊँगी, मुझे कुछ पता नहीं है, इसीलिए मैंने आपसे अभी कहा, नहीं जानती हूँ।''

''शुरुआत में जब आपने मुझसे पूछा कि कहाँ से आ रही है, जुलाहे के घर से ? तो मैंने कहा, जानती हूँ। जब आपने पूछा, कहाँ जा रही है ? मैंने सोचा कि पूछते हैं, कहाँ वापस जाएगी, जुलाहे के घर ? तो मैंने कहा, जानती हूँ, पर जब मैंने आपको मुस्कराते हुए देखा, आपकी आँखों में निहारा तो मैंने सोचा, नहीं-नहीं, भगवान सम्यक संबुद्ध ऐसे साधारण प्रश्न क्या खाक पूछेंगे। वह जरूर मुझसे पूछना चाहते हैं, तू कहाँ से यानि कि किस लोक से आ रही है ? तेरा जीवन स्रोत क्या है ? तो मैंने कहा, भगवान मैं नहीं जानती हूँ। फिर जब मैंने सोचा कि जब आप पूछते हैं कि कहाँ जाएगी, तो इसका तात्पर्य यह है कि मरने के बाद कहाँ जाएगी, तो मैंने जवाब दिया, नहीं जानती।''

हलकी हँसी के साथ बुद्ध ने कहा, तूने ठीक सोचा बेटी ! तू सचमुच ही विचारशील एवं बुद्धिमती है। इसी के साथ उन्होंने सभी ग्रामवासियों को सुनाते हुए यह गाथा कही-

अन्धभूतो अयं लोको तनुकेत्थ विपस्सति।
सकुणो जालमुत्तो व अप्पो सग्गाय गच्छति॥

''यह सारा लोक अंधा बना है। यहाँ देखने वाला कोई विरला है। जाल से मुक्त हुए पक्षी की भाँति विरला ही स्वर्ग को जाता है।''

इस गाथा को और अधिक स्पष्ट करते हुए तथागत ने कहा, ''बेटी, तेरे पास आँख है, ध्यान की आँख, विवेक की आँख। इसी कारण तू देखने में, समझने में समर्थ है। इन लोगों के पास आँख नहीं है। इसी कारण ये तेरी बातें समझ नहीं सके। आँख वाला जब कोई बात करता है, तो नेत्रविहीन लोगों की समझ में नहीं आती है। आँख वाला कहता है, कैसा प्यार इंद्रधनुष, पर जिनके पास आँखें नहीं हैं, वे उसे मूर्ख समझते हैं। इन सबके बीच एक तू ही है, जो देखने में सक्षम है। अपने कर्मों के जाल से मुक्त हो, तू अवश्य अपने गंतव्य को पहुँचेगी।'' भगवान की इन बातों को सुनकर अन्य ग्रामीणजन भी ध्यान के लिए उत्सुक व उत्साहित हुए ताकि वे भी तथागत के कृपाप्रसाद से नेत्रवान बन सकें। ⌘

राजा गहरी नींद में सोया हुआ था। उसने देखा, राजमहल से एक देवपुरुष निकलकर जा रहे हैं और उसके पीछे तीन देवियाँ भी प्रयाण कर रही हैं। राजा ने देवपुरुष से पूछा, आप कौन हैं और आपके पीछे जाने वाली यह तीन देवियाँ कौन हैं ? आप सबके जाने का कारण क्या है ?

देवपुरुष ने कहा, मेरा नाम है सुसंस्कार। विवेक इसी से जन्म लेता है। जहाँ विलास और अधर्म के पैर जमते हैं, वहाँ मैं नहीं रहता और यह तीन देवियाँ भी मेरे साथ ही विदा हो जाती हैं। इनका नाम है- लक्ष्मी, कीर्ति और बुद्धि।

राजा की आँख खुली। उसने यथार्थता पर विचार किया और पाया कि उनके क्षेत्र में विलास और अधर्म बढ़ रहा है। सुसंस्कारजन्य प्रवृत्तियाँ घट रही हैं, अनाचार बढ़ रहा है। ऐसी दशा में इन विभूतियों का विदा होना स्वाभाविक ही है। राजा ने अपनी कार्यपद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया।

दूसरे दिन स्वप्न आया कि वे चारों ही लौट आए हैं। जहाँ विवेक रहता है, चिंतन में श्रेष्ठता रहती है, वहाँ सभी विभूतियाँ बनी रहती हैं।

प्रेम साधना और उसकी परिणति

प्रेम आत्मा की अभिव्यक्ति है। इसे रत्नाकर सिंधु की तरह समझा जा सकता है। जिस तरह गंगा, यमुना, कावेरी, ताप्ती, गोदावरी आदि सरिताएँ स्थल खंडों में जब तक इधर-उधर भटकती हैं, तब तक उन्हें सरिताओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जाता है, पर जब ये सरित प्रवाह सिंधु में समा जाते हैं, तब उनकी समूची शक्ति-सामर्थ्य भी केंद्रीभूत हो जाती है। अब उनका अस्तित्व रत्नाकर जैसा विशाल नहीं, रत्नों का भंडार भी हो जाता है। मनुष्य के गुण भी इन नदियों की तरह हैं और इन सद्गुणों का पुंजीभूत रूप है प्रेम।

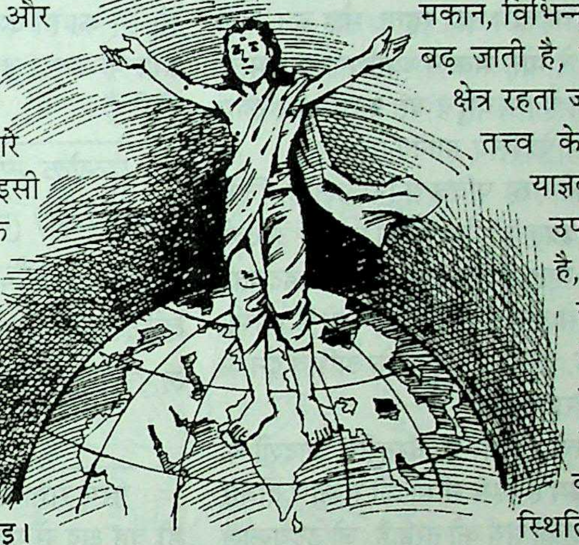

इसमें सारे गुण स्वत: ही समाए रहते हैं अथवा यों कहा जाए कि यहाँ सारे गुण विलीन हो, निर्गुणत्व पा लेते हैं। इसी स्थिति को स्पष्ट करते हुए नारद भक्ति सूत्र में **स: हि अनिर्वचनीयो प्रेमरूप:** कहकर परमेश्वर को प्रेम रूप घोषित किया है। यही परम तत्त्व है। इसी का बोध होने में ज्ञान की सार्थकता है। इसी आशय को संत कबीर साहेब अपनी वाणी में कहते हैं, **ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होइ।** ढाई अक्षरों में निहित प्रेम के दुर्जेय तत्त्व के बोध को प्राप्त कर लेने में ही पांडित्य की सार्थकता है।

इसमें ऐसा कौन-सा तत्त्व निहित है ? जिसे जानने से सब कुछ जान लिया जाता है। सामान्य भाषा में तो सब यही कहते हैं कि अमुक को पत्नी से प्रेम है। उसे बच्चों से प्रेम है, माँ से प्रेम है आदि-आदि बातें करते हैं। इस सब में क्या कोई दूसरा प्रेम है।

इस पर चिंतन करने से ज्ञात होता है कि पत्नी, बच्चों या अन्य किसी संकीर्ण दायरे में पनपने वाला प्रेम, प्रेम नहीं मोह होता है। इस मोह और प्रेम में विरोधाभास जैसी स्थिति है। यदि प्रेम को काया कहा जाए, तो मोह को छाया कहा जाना उचित होगा। दोनों में अंतर भी वही होता है, जो काया और छाया में है। एक सजीव होती है दूसरी निष्प्राण। छाया को देखकर सजीवता का भ्रम तो होना संभव है, पर उससे काया का प्रयोजन पूरा नहीं हो पाता।

प्रेम व मोह में एक अन्य अंतर और है। प्रेम चेतन से होता है, मोह जड़ से। पत्नी आदि से किया जाने वाला तथाकथित प्रेम उसके रूप-लावण्यमय जड़ शरीर से होता है न कि आत्मा से, अतएव यह मोह ही है। इसकी जड़ की ओर उन्मुखता मात्र हाड़-मांस वाले शरीरधारियों तक ही सीमित नहीं रहती। लकड़ी-पत्थर-चूने के बने मकान, विभिन्न प्रकार के सामानों तक बढ़ जाती है, पर इसके विस्तार का क्षेत्र रहता जड़ ही है। जबकि प्रेम तत्त्व के जानकार महर्षि याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट किया है, पत्नी, पत्नी होने के कारण नहीं अपितु आत्मा के कारण प्रिय है। संतान, संतान के कारण नहीं, आत्मा के कारण प्रिय है। यह स्थिति गीता के शब्दों में **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति** के कारण है। सर्वत्र व्याप्त चैतन्य तत्त्व के कारण वह आत्मवत सर्वभूतेषु की स्थिति में रहता है। मोह जहाँ विभेद उत्पन्न करता है, प्रेम वहीं अभेद की स्थिति पैदा करता है।

प्रेम का प्रारंभ संभव है किसी एक व्यक्ति से हो, पर उस तक सीमित नहीं रह सकता। यदि यह सीमित रह जाता है, कुछ पाने की कामना रखता है, तो समझना चाहिए कि यह मोह है। इसमें तो पाने की नहीं, देने की उमंग रहती है। प्रेमी की प्रसन्नता और हितकामना सन्निहित रहती है। मोह में स्वार्थपरता, संकीर्णता पनपती है। इसमें आदान-प्रदान नहीं, उपयोग की अपेक्षा होती है। प्रेम वस्तुओं से जुड़कर सदुपयोग की, व्यक्तियों से जुड़कर उनके कल्याण की और विश्व से जुड़कर परमार्थ की बात सोचता है। मोह में व्यक्ति, पदार्थ संसार से किसी-न-

किसी प्रकार की स्वार्थ सिद्धि की अभिलाषा रहती है। जिसके प्रति मोह रहता है, उसे अपनी इच्छानुसार चलाने की ललक रहती है। इसमें तनिक-सा व्यवधान उत्पन्न होने पर खीज-असंतोष का उद्वेग उमड़ता है। प्रेम में इस तरह की कोई बात नहीं।

इसका अंकुरण निकट परिकर से होता है और विकसित, पल्लवित, पुष्पित होते हुए उसकी शाखाएँ, प्रशाखाएँ समस्त समाज-विश्व में फैल जाती हैं। निकट परिकर तो प्रेम-साधना की पाठशाला है। यह परिकर-परिवार और पड़ोसी भी हो सकते हैं। इसमें उनकी प्रसन्नता और विकास की बात सोची जाती है। इसमें उठाए गए कष्ट में संतोष की अनुभूति होती है। यह आरंभिक प्रशिक्षण है, पर जब अपने सगे-संबंधियों की प्रसन्नता-समृद्धि के लिए उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रहता, आदर्शों की बलि दे दी जाती है, तो वह प्रेम नहीं रहता, मोह बन जाता है। जिसे गोस्वामी जी ने **मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला** कहकर संबोधित किया है। सचमुच यह स्वयं और स्वयं से जुड़े हुए व्यक्ति दोनों के लिए हानिकारक है।

प्रेम तो गंगाजल की तरह पवित्र व निश्छल है, जिसे जहाँ भी डाला जाए, पवित्रता ही पैदा करेगा। उसमें आदर्शों की अविच्छिन्नता जुड़ी रहती है। विवेकशीलता, सहृदयता, पवित्रता, सदाशयता जैसे गुण इसमें समाए रहते हैं। प्रेमी, जिससे भी प्रेम करता है, उसमें उन गुणों के अभिवर्द्धन के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है।

भाव संवेदनाएँ नित्य-निरंतर उच्चस्तरीय आदर्शों के प्रति समर्पित रहें। यही प्रेम है। इसे सीमा की संकीर्ण दीवारें बद्ध नहीं कर सकतीं। यह तो सूर्य की तरह है, जो उदयकाल के समय तो मात्र पूर्व को ही प्रकाशित करता है, पर मध्याह्न में इसके प्रकाश से समस्त दिशाएँ प्रकाशित हो जाती हैं। इसकी भी यही विशेषता है, उसका आरंभ भले ही निकट परिकर से हो, पर नित्य-निरंतर अभिवृद्धि करता हुआ, समाज, राष्ट्र और विश्व में बढ़ता जाता है। जिसके अंतराल में प्रेम प्रस्फुटित हुआ है, वह व्यक्ति देश, धर्म, संस्कृति और मानवजाति की सेवा-साधना में निरत हो जाता है।

जीवन के उत्कृष्टतम रूप की अभिव्यक्ति इसी के माध्यम से होती है। यदि इसे हटा दें, तो फिर मानव जीवन की कोई विशेषता नहीं रह जाती। संत कबीर के शब्दों में, **जा घट प्रेम न संचरै सा घट जान मसान**। सचमुच उसका हृदय श्मशान की तरह होता है, जिसमें विभिन्न दुर्गुण, चिंता, संताप, असंतोष के भूत मँडराया करते हैं। ऐसा जीवन धरती के लिए भारस्वरूप ही होता है।

प्रेम की ज्योति, सामान्य दीपक की ज्योति नहीं है, जिसमें अनुताप हो, अपितु यह दिव्य चिंतामणि की शीतल व स्निग्ध ज्योति है, जिससे शरीर, मन, बुद्धि, अंतःकरण प्रकाशित होते हैं। सारे संताप शांत होते हैं। ऐसे व्यक्ति के सान्निध्य में जो भी आते हैं, उन्हें भी निर्मलता, शीतलता का अनुभव होता है।

इसकी परिपूर्णता परमेश्वर में है। यहीं इसके यथार्थ तत्त्वदर्शन का बोध होता है। इस स्थिति में तो प्रेम का सरित प्रवाह नहीं, अपितु महासागर लहराता है। चैतन्य महाप्रभु ने ऐसी ही दिव्य स्थिति पाई थी। उनका प्रेम इसी कोटि का था। तभी जघाई-मघाई जैसे कलुषित क्रूर डाकू संत बन गए। भगवान तथागत के हृदय से उमड़ रहे प्रेम प्रवाह ने अंगुलिमाल जैसे दस्यु को भी भिक्षु बना दिया। इस स्थिति को पाने पर सर्वत्र सत्यं शिवं सुंदरम् का ही दर्शन होता है। उसकी सारी शक्तियाँ विराट् ब्रह्म के स्थूल रूप-विश्व ब्रह्मांड की सेवा में नियोजित होती हैं।

प्रत्येक मनुष्य को दो प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं। एक वह जो वह दूसरों से ग्रहण करता है और दूसरी वह जो वह स्वयं अपने को देता है और निश्चय ही दूसरी शिक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

—गिबन

परम सत्ता के प्रति इस प्रकार की घनिष्टता से स्वतः ही वह क्षुद्र से महान, लघु से विभु, पुरुष से पुरुषोत्तम बन जाता है। प्रेम की इस दिव्यता के जीवन में अवतरित होने पर उदात्त भावनाएँ उमड़ने लगती हैं। इस स्थिति में अंतराल से सत्-चित्-आनंद की त्रिवेणी बहती है, जिसमें अवगाहन से सर्वत्र आत्मसत्ता की दिव्यानुभूति प्राप्त होती है।

'सर्व खल्विदं ब्रह्म' 'वासुदेवः सर्वमिति'- वेदांत में वर्णित यही अद्वैत स्थिति है। जिसमें गीता में बताई गई स्थिति के अनुसार **सर्वभूतस्थमहात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि** ही दिखाई देता है। इस चरम स्थिति को पाना ही मनुष्य जीवन का चरम ध्येय है। यहाँ तक पहुँचने के लिए मनुष्य को मोहरूपी छाया को छोड़ना तथा प्रेम की जीवंत काया को पकड़ना होगा। आत्मीयता के विस्तार के लिए सतत प्रयत्नशील रहने से योगिजन के समान दुर्लभ स्थिति सहजता से प्राप्त हो सकेगी।

○

सभी स्वीकार करते हैं पुनर्जन्म के सत्य को

मृत्यु के पश्चात प्राप्त जीवन पुनर्जन्म कहलाता है। यह मूलत: पूर्वी अवधारणा है जो विशुद्ध रूप से कर्म पर आधारित है। विश्व के सभी देशों व धर्मों में पुनर्जन्म की मान्यता को किसी-न-किसी ढंग से स्वीकार किया गया है। इसका संपूर्ण एवं समीचीन विश्लेषण उपनिषदों में मिलता है। पाश्चात्य विद्वानों, दार्शनिकों, मनीषियों का एक बड़ा वर्ग भी इस अवधारणा पर आस्था प्रदर्शित करता है। हालाँकि इनका मत एवं स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक युग तक पुनर्जन्म की प्राचीन परंपरा विद्यमान है।

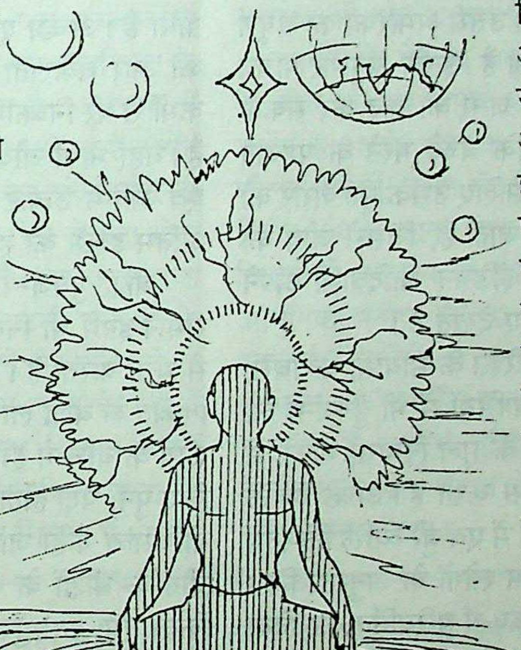

पुनर्जन्म की यादें अधिकतर बच्चों में पाई जाती हैं। परामनोवैज्ञानिक स्टीवेन्सन के अनुसार एक हजार बच्चों में से एक बच्चा अपनी पिछली जिंदगी के बारे में स्मृति रखता है। भारत में यह आँकड़ा ४५० में एक है। हेंस टेन डेम ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एक्सप्लोरिंग रिइनकार्नेशन' में पुनर्जन्म का विस्तृत विवरण दिया है। हैंस ने पुनर्जन्म पर विश्वास रखने वाले छह क्षेत्रों का निर्धारण किया है। प्रथम क्षेत्र में दक्षिण अफ्रीका, नाइजीरिया, सेनेगल, घाना तथा इसके आसपास के देश आते हैं। इसी क्षेत्र में दक्षिण पूर्वी तुर्की, लेबनान और उत्तरी इजराइल का भाग आता है। विभाजन की तीसरी रेखा भारत सहित दक्षिण पूर्वी एशिया को दरसाती है, जिसमें श्रीलंका, बर्मा, थाइलैंड, नेपाल, तिब्बत और वियतनाम जैसे देश आते हैं। चौथा क्षेत्र जापान है। पाँचवें क्षेत्र में दक्षिण पूर्व अलास्का आता है। हैंस ने अंतिम क्षेत्र के रूप में पश्चिमी जगत् के यूरोप और अमेरिका को माना है। इन समस्त क्षेत्रों में पुनर्जन्म की मान्यता प्रचलित है।

मनीषी माग्रेट मीड ने अनेकों सांस्कृतिक मान्यताओं एवं परंपराओं का अध्ययन एवं शोध किया है। एस्किमो भी पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। ये बच्चों को दैवी वरदान मानते हुए इनकी बताई बातों पर आस्था जताते हैं। अलास्का के लिंगीट एस्किमो के अनुसार दिवंगत आत्मा अपने माता-पिता का चयन स्वयं करती है। यह इसे भाग्य नहीं मानते हैं। इनकी नजर में यह एक विशिष्ट चयन प्रक्रिया है। अफ्रीका में भी इस अवधारणा पर आस्था जताई जाती है। यहाँ पर ९०० काले आदिवासी जातियों में से ४७ आत्मा की निम्नयोनि में यात्रा को सही मानते हैं। ३६ जातियाँ पुनर्जन्म पर प्रगाढ़ आस्था रखती हैं। १२ जातियाँ उपर्युक्त दोनों को स्वीकारती हैं। अफ्रीका में यह सिद्धांत प्राचीन परंपरा के अंतर्गत आता है, जबकि मेटेम साइकोसीस (पशु योनि) आधुनिक मान्यता है। जुलु इजिस्ट के नियमानुसार इसे पूर्णता की प्राप्ति का संकेत कहते हैं। पश्चिम अफ्रीका में इसे शुभ माना जाता है। यहाँ के प्रचलन से पता चलता है कि दिवंगत आत्मा संसार चक्र से मुक्त नहीं होना चाहती। जीव अपने ही परिवार में जन्म लेने की इच्छा प्रकट करता है। वे इसे आत्मा की अनंत एवं सुखद यात्रा मानते हैं।

एशिया के बौद्ध व हिंदुओं में पुनर्जन्म एक दृढ़ मान्यता है। बर्मा के लोगों की मान्यता है कि वर्तमान जीवन मानव के पुनर्जन्म की दृढ़ इच्छाशक्ति का परिणाम होता है। बैलीनीज जीव को उसी परिवार में बारंबार पैदा होने के प्रति विश्वास करते हैं। यूरोप के संत मृत्यु के बाद व्हाइट हेवेन प्राप्त करने की बात करते हैं। मृत्यु के पश्चात जीव विश्राम करता है। गलत कर्म उसे निम्नयोनि में धकेलते हैं, जबकि आत्मा की पवित्रता ईश्वरप्राप्ति का पथ प्रशस्त करती है। यह मान्यता

अटलांटिक की देन है, जो आयरलैंड होते हुए यूरोप पहुँची। ट्यूटोंस के अनुसार व्यक्ति का जन्म उसी परिवार में ठीक उसी नाम से होता है। डेंस, नार्स, आइसलैंडर्स, पूर्वी गोथ, लोम्बाइडियन, लेट्स और सैक्सन आदि जातियाँ भी पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकारती हैं। फींस और लैपलैंडर्स की संस्कृति में भी पुनर्जन्म की मान्यता प्रचलित है।

अमेरिका के दक्षिण पूर्व अलास्का और उत्तर पश्चिमी कनाडा के टिंगिट्स लोगों में यह विचार गहराई से जुड़ा हुआ है। इनके अनुसार दिवंगत आत्मा अपने भावी जीवन के लिए परिचय के दायरे में माता का चयन करती है। किसी दैवीय दुर्घटना से मृत व्यक्ति अपने परिवार से दूर जाकर जन्म लेता है। इंडियन और एस्किमो आदिवासियों में भी यह विश्वास देखा गया है। एस्किमो का मानना है कि पाँच योनियों से गुजरने के पश्चात ही दुर्लभ मानव शरीर मिलता है। कनाडा के सान लोग पुनर्जन्म की अवधारणा को अपनाए हुए हैं। उत्तरी अमेरिका का संपूर्ण प्रदेश इस आस्था से जुड़ा हुआ है। इनके अनुसार पवित्र हृदय का व्यक्ति अपने पिछले जन्म को याद कर सकता है। प्यूबलोसों का कहना है कि बच्चे मरने के पश्चात उसी परिवार में पैदा होते हैं, इसलिए उसके मृत शरीर को घर के आसपास ही दफनाया जाता है, जिससे जीव को अधिक भटकना न पड़े। कई इंडियन आदिवासी अपने पितरों को आसपास मँडराते हुए देखते हैं।

मेक्सिको और उत्तरी अमेरिका के मायास, केरीबस, पेरुवियन आदि इंडियन आदिवासियों में भी पुनर्जन्म की मान्यता प्रचलित है। मेक्सिको के मूल निवासी मानव से इतर एवं निम्नयोनि पर विश्वास करते हैं। अच्छे व्यक्ति सुंदर पक्षियों एवं उच्चतर पशुओं में एवं बुरे व्यक्ति निम्नतम पशु बनकर पैदा होते हैं। इंकास लोगों के अनुसार जिस मृत शरीर को पूर्णतः ममी के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है, वह फिर से उस शरीर में वापस आकर जीवित हो उठता है। इसी कारण ममी की प्रथा प्रारंभ हुई। ब्राजील के चिरीक्बेस तथा पोटागोनियास भी कुछ ऐसी ही आस्था रखते हैं।

आस्ट्रेलिया एवं ओसिएनीया के प्रायः सभी मूल निवासी पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। मुख्यतः मध्य और उत्तरी क्षेत्र के आदिवासी इस विश्वास के प्रबल पक्षधर होते हैं। यूरोपीय लोगों से संघर्ष के बाद इनकी मान्यता में एक विचित्र परिवर्तन देखा गया। इनके अनुसार मरने के पश्चात जीव श्वेत शरीर धारण करता है। उत्तरी पैसीफीक समुद्र तट के निवासी ओकिनावा का मानना है कि जीव मृत्यु के ४९ दिन बाद ही शरीर छोड़ता है। सात पीढ़ी यानि लगभग २०० वर्षों तक एक जीव अपने विभिन रूपों में मनुष्य शरीर में पैदा होता है। ये लोग मानव से निम्नतम योनि में जन्म लेने के विरुद्ध हैं। बोर्नियो, सेलेबीस, पापुआन्स, मोरिस, तस्मानियन, ताहिती, फिजी, सोलोमन द्वीप और न्यू केलेडोनिया के दक्षिण भाग के लोगों में पुनर्जन्म के प्रति आस्था होती है।

प्रायः सभी धर्मों में पुनर्जन्म की घटना पर आस्था-विश्वास प्रचलित है। हैंस के अनुसार पुनर्जन्म हिंदू धर्म एवं दर्शन का मुख्य आधार एवं विशेषण है। यह विशुद्धतः कर्म पर आधारित होता है। ८४ कोटि योनि के पश्चात प्राप्त मनुष्य जीवन सर्वश्रेष्ठ जीवन माना जाता है। इसे कर्म योनि कहते हैं, क्योंकि इस जीवन में मनुष्य अपने समस्त कर्मों का क्षय कर जीवनमुक्त या ईश्वर कोटि का जीव बन सकता है। प्रत्येक आत्मा को यह अधिकार प्राप्त है। अच्छा एवं बुरा कार्य जीव को स्वर्ग एवं नरक की ओर धकेलता है। गीता के अनुसार दोनों प्रकार के कर्मों से परे निष्काम कर्म प्रभुप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। यहाँ भावी जीवन का निर्धारण वर्तमान जीवन के कर्म एवं अंतिम उत्कट इच्छा के द्वारा होता है। बौद्ध केवल अंतिम इच्छा को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

बौद्ध पुनर्जन्म में गहन आस्था रखते हैं। मोक्ष के समान इनमें भी निर्वाण होता है, जो जीव को संसार चक्र से मुक्त करता है। गलत कार्य का परिणाम पशुयोनि है। तिब्बत के बौद्ध लामा को अवतार मानते हैं। मनुष्य किसी कार्य के बीच में ही मर जाता है, तो वह उसे पूरा करने के लिए पुनः पैदा होता है। महायान में निर्वाण प्राप्त पुरुष को बोधिसत्व कहा जाता है। ये जन्म-मरण से परे होते हैं। चीन के बौद्धों के अनुसार इच्छाओं एवं आकांक्षाओं से किया गया कर्म पुनर्जन्म का कारण होता है। जैन धर्म में भी मोक्ष की परिकल्पना की गई है। वे कर्म से अधिक नैतिकता पर बल देते हैं। दिवंगत आत्मा नौ माह के बाद शिशुरूप में जन्म धारण करता है। यदि यह समय नौ माह से अधिक होता है, तो वह अपने पिछले जन्म का स्मरण रख सकता है।

कुछ विशिष्ट संस्कृति जैसे इजीप्ट एवं बेबीलोन के ऐतिहासिक साक्ष्यों से भी पुनर्जन्म का बोध होता है। हेरोडेटस के अनुसार यहाँ पर आत्मा को अमर माना जाता है। मानव शरीर का उद्देश्य पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए होता है, तत्पश्चात ही वह देवत्व प्राप्त करता है।

मानव शरीर से निकलने के बाद जीव सभी प्रकार के वनस्पति एवं जीव योनियों से गुजरता है। इसके दौरान ३००० वर्ष के पश्चात फिर वह मनुष्य एवं देवता बनता है। मनुष्य को निम्न जीवों में जाने से रोकने हेतु ही ममी प्रथा का प्रचलन हुआ।

प्लेटो ने पुनर्जन्म को नई अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने इसे मेनो, फेड्स तथा रिपब्लिक के रूप में रेखांकित किया है। जिसे अपने पिछले जीवन की स्मृति नहीं होती, वे मेनो के अंतर्गत आते हैं। फेड्स में स्मरण होता भी है और नहीं भी। 'द रिपब्लिक' में मनुष्य को अपने जन्म-मरण का ज्ञान होता है। जीव अपने अनंत आयामों का बोध करता है तथा आवश्यकतानुसार जीवन धारण करता है।

ईसाइयों में पूर्व पुनर्जन्म के प्रति आस्था कम दिखाई देती है। सीसरो जीवन को पाप का परिणाम कहता है। अपोलोनियस ने यह सिद्धांत कश्मीर के आर्कास से प्राप्त किया था। उनने स्पष्ट किया है कि जब उच्चस्तरीय आत्माओं द्वारा गलतियाँ होती हैं, तो उसके प्रायश्चित्त के लिए उन्हें मानव योनि में आना पड़ता है। जुडेइज्म में पुनर्जन्म पर कम विश्वास किया जाता है। ओल्ड टेस्टामेंट में कहीं-कहीं आत्मा के पूर्व अस्तित्व का संकेत मिलता है। फेरीसीस के अनुसार मनुष्य या तो फिर से पैदा होता है या सदा के लिए समाप्त हो जाता है। यह अवधारणा ८वीं शताब्दी में प्रचलित थी, परंतु आठवीं शताब्दी के केरेट जेवेस इस पर विश्वास नहीं करते थे। ताहेव ने तो आदम को सेठ, नोआह, अब्राहम, मूसा आदि के रूप में आत्मिक विकास का क्रम माना है। यह सिद्धांत केवल उच्चस्तरीय आत्माओं के लिए प्रतिपादित किया जाता है। न्यू टेस्टामेंट में भी पुनर्जन्म का उद्धरण मिलता है। मार्क, मैथ्यू, ल्यूक आदि में इसका स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। कई चर्चों के फादर इसे स्वीकारते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण है- जान का एलिजा के रूप में जन्म लेना।

इसलाम इसे पूरी तरह से नकारता है, परंतु इनके कुछ समुदाय एवं संप्रदाय आध्यात्मिक जन्म की व्याख्या करते हैं। भारत में बोरास संप्रदाय में पिंजरे की चिड़ियों को क्रय करके उन्हें उड़ा दिया जाता है। इनके पीछे इनकी मान्यता है कि इनमें उनके पूर्वजों की आत्मा निवास करती है। एकमात्र सूफी ही पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। यह मुख्यत: सौराष्ट्र के पारसियों में अधिक देखा जाता है। इनके मतानुसार अमर आत्मा कुछ कालावधि के लिए उच्चलोक से निम्नलोक में जन्म धारण करने आती है। ये भी हिंदुओं की चौरासी लाख योनि को प्रतिपादित करते हैं, परंतु इनमें संख्या का अंतर है। सूफी संत जलालुद्दीन रूमी के अनुसार आत्मा खनिज पदार्थों से विकास करते हुए क्रमशः वनस्पति, जीव, मानव, देवता तथा उच्चतर अवस्था की ओर अग्रसर होती है।

जर्मनी के गेटे के अनुसार मानव प्रकृति और ईश्वर के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। चार्ल्स फेरीयर और शोपेन हावर के अलावा श्रोडन बर्ग, विलियम ब्लैक, शीलर मेजिनी, हर्मन मेलविली, लिओ टाल्सटॉय, पाल ग्रेजीन, आर्थर कानन डायल, गुस्ताव मेहलर आदि सभी विद्वानों ने पुनर्जन्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है। आधुनिक मनीषी डेविड लायल जार्ज, हेनरीफोर्ड एवं रुडयार्ड किपलिंग ने पुनर्जन्म को मानव अस्तित्व का अभिन्न अंग माना है। पुनर्जन्म के अस्तित्व का प्रमाण तो असंदिग्ध है, इसलिए बुद्धिमत्ता इसी में है कि भावी जीवन के लिए वर्तमान जीवन के प्रत्येक कर्म को श्रेष्ठ और पवित्र बनाया जाए। ■

एक राहगीर एक जंगल से गुजर रहा था। शाम हो चली थी। पशु-पक्षी अपने घरों को लौट रहे थे। सहसा उसने देखा, एक शशक-शावक किसी अज्ञात भय से पास के झुरमुट में आ छिपा। शावक बड़ा लुभावना था। राहगीर के मन में विचार उठने लगा, क्यों न इसे मैं घर ले चलूँ। दूसरे ही क्षण उसने देखा, एक अन्य शावक रास्ते के दूसरी ओर भागा जा रहा है। अगले ही पल उसे एक गीदड़ ने धर दबोचा।

राहगीर असमंजस में पड़ गया। वह झाड़ी में छिपे शावक को पकड़े या दूसरे की गीदड़ से रक्षा करे। एक क्षण में ही यह निर्णय लेना था। पल की भी देरी होती, तो शावक की जान चली जाती।

तभी आत्मा की आवाज उभरी, कर्त्तव्य धर्म सबसे बड़ा होता है। संकटकालीन घड़ी में किसी की जीवन रक्षा व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा से बड़ी है। बुद्धि और समझदारी ने भी इसका समर्थन किया। फिर क्या था, छिपे शावक का मोह त्याग वह गीदड़ के पीछे भागा और खतरे में पड़े खरहे के बच्चे की प्राण-रक्षा की।

कैसे हो साक्षी भाव की सिद्धि

अमेरिका के कुछ वैज्ञानिकों ने एक परीक्षण के लिए किसी व्यक्ति को ऑपरेशन टेबुल पर लिटाया और उसे कुछ मिनटों के लिए सम्मोहित कर सुला दिया। जब वह सम्मोहन अवस्था में सो रहा था, तो उसके गले पर एक छुरी चुभाई गई। उससे खून की एक बूँद छलक पड़ी। इसके बाद ही वैज्ञानिकों ने उसकी सम्मोहन निद्रा तोड़ दी और जगा दिया। यह सारा प्रयोग कुछ ही मिनटों में हो गया था और जितने समय तक वह व्यक्ति सोया, वह तो कुछ ही सेकंड थे। उन कुछ ही सेकंडों में उस व्यक्ति ने एक लंबा सपना देख लिया था।

डॉ. अलेक्जेंडर लिंबार्ड ने उस स्वप्न का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इन कुछ ही सेकंडों में उस व्यक्ति ने एक आदमी की हत्या कर दी थी। वह महीनों तक लुकता-छिपता रहा था। अंततः पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। उस पर हत्या का मुकदमा चला। मुकदमे का फैसला होने में दो-ढाई साल लगे। जज ने उसे मृत्युदंड की सजा सुनाई और उसे जब फाँसी के तख्ते पर चढ़ाया जाना था, तो उसी क्षण उसकी नींद खुल गई।

वैज्ञानिकों का कहना था कि इस प्रयोग में वह व्यक्ति पाँच-सात सेकंड ही सोया था और इस अवधि में उसके लिए वर्षों का घटनाक्रम गुजर गया। यह प्रयोग आइंस्टीन के समय-सिद्धांत की सत्यता जानने के लिए किया जा रहा था, जिसके अनुसार समय का कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है। वह दो घटनाओं के बीच की दूरी मात्र है, जो कुछ भी हो सकता है, परंतु मनुष्य को अपने ज्ञान एवं अनुभूति के आधार पर ही लंबी अथवा छोटी लगती है।

क्या सचमुच समय कुछ भी नहीं है ? सुबह से शाम तक और शाम से सुबह तक २४ घंटे होते हैं। इन चौबीस घंटों में हम कितने ही काम करते हैं। घड़ी अपनी चाल से चलती है। सूर्य अपनी गति से क्षितिज के इस पार से उस पार तक पहुँचता है। सब कुछ तो स्पष्टतः प्रतीत होता है, परंतु आइंस्टीन के अनुसार यह सब एक भ्रम मात्र है। फिर तो सारा संसार ही भ्रम हो जाएगा।

वस्तुतः सारी दुनिया ही एक भ्रम मात्र है। वेदांत दर्शन के अनुसार संपूर्ण जगत् ही मायामय है। माया अर्थात जो नहीं होने पर भी होता दिखाई दे। जिसका अस्तित्व नहीं है, लेकिन भासित होता है। आदि शंकराचार्य ने इस माया को परिभाषित करते हुए कहा है, **माया यथा जगत्सर्वमिदं प्रसूयतो** अर्थात वही माया है, जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है।

आइंस्टीन से पहले इंद्रिय, बुद्धि द्वारा होने वाले अनुभवों और प्रत्यक्ष जगत् को ही सत्य समझा जाता था। इसके पूर्व के वैज्ञानिकों की मान्यता थी कि आप दौड़ रहे हों अथवा बैठे हों, जाग रहे हों या सोए हों, समय अपनी सीधी बँधी रफ्तार से सीधा आगे बढ़ता है, परंतु आइंस्टीन के सापेक्षता सिद्धांत ने इस मान्यता को छिन्न-भिन्न कर दिया और यह सिद्ध हो गया है कि समय कुछ घटनाओं का जोड़ भर है। यदि घटनाएँ न हों, तो समय का कोई अस्तित्व नहीं होता और घटनाएँ भी द्रष्टा की अनुपस्थिति में अस्तित्वहीन होती हैं।

इस बात को कतिपय उदाहरणों द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। समय को मापने का सबसे बड़ा मापदंड घड़ी है। घड़ी में सेकंड की सुई १२ से चलकर १२ तक पहुँचने पर एक मिनट होता है। मिनट की सुई इतनी दूरी तय कर ले, तो मान लिया जाता है कि एक घंटा हो गया और घंटे की सुई इतनी दूरी तय कर लेने पर

आधा दिन आधी रात बता देती है और १२ से १२ तक दूसरी बार पहुँचने पर २४ घंटे या दिन पूरा हुआ मान लिया जाता है। आइंस्टीन का कहना था कि घड़ी की सुई की गति बढ़ा दी जाए, तो यही २४ घंटे ३६ घंटे में भी बदल सकते हैं और कम कर दी जाए तो २० या उससे भी कम चाहे जितने हो सकते हैं अर्थात यह बात अर्थहीन है कि दिन २४ घंटे का होता है अथवा उससे कम-ज्यादा का।

इसी के अनुसार घड़ी का यह समय-विभाजन पृथ्वी द्वारा सूर्य की एक परिक्रमा पूरी कर लेने वाली घटना को आँकने के लिए किया गया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पृथ्वी एक बार सूर्य की परिक्रमा कर लेती है, तो २४ घंटे हो जाते हैं, लेकिन चंद्रमा सूर्य की परिक्रमा करने में इससे भी अधिक समय लगाता है। मंगल उससे भी अधिक और शुक्र उससे भी अधिक, तो पृथ्वी के २४ घंटों में चंद्रमा, मंगल या शुक्र का एक दिन नहीं होता है। वहाँ इससे अधिक समय में दिन-रात होता है अर्थात वहाँ के लिए दूसरे टाइम स्केल (समय मापदंड) निर्धारित करने पड़ेंगे।

आइंस्टीन के अनुसार समय इसी प्रकार घटनाओं पर निर्भर करता है। सोए हुए व्यक्ति के लिए बाहरी जगत् में भले ही पाँच मिनट का समय व्यतीत हुआ हो, किंतु वह जो स्वप्न देख रहा होता है, उसमें उन पाँच मिनटों के भीतर वर्षों की घटनाएँ घटित हो जाती हैं, तो उसके लिए पाँच मिनट बीत गए, यह कहना सही होगा अथवा यह कहना कि वर्षों बीत गए! यह विचारणीय है।

योगी-यती निमिष मात्र में सामने वाले का भूत, भविष्य, वर्तमान जान जाते हैं, जबकि सामान्य व्यक्ति उसका लेखा-जोखा ले, तो उसे जन्म से बचपन, बचपन से यौवन और वर्तमान जानने में ही काफी लंबा समय लग जाएगा, जबकि भविष्य उसके लिए अविज्ञात स्तर का बना रहता है। किसी प्रकार उसे भी जानने की कोई विधा उसके पास हो, तो जन्म से मृत्युपर्यंत की घटनाओं की जानकारी एवं उनका आकलन, परीक्षण और विश्लेषण करने में शायद एक व्यक्ति का संपूर्ण जीवन लग जाए। ऐसा क्यों होता है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत् के 'टाइम स्केल' भिन्न-भिन्न हैं। दोनों जगतों की घटनाओं को एक ही मापदंड द्वारा आँका और मापा नहीं जा सकता।

एक बार सूर्य विज्ञान के प्रणेता स्वामी विशुद्धानंद के पास रामजीवन नामक उनका एक शिष्य आया और अपनी टूटी हुई रुद्राक्ष माला को उन्हें देते हुए योग विद्या द्वारा उसे शास्त्रीय ढंग से गूँथ देने का आग्रह किया। विशुद्धानंद ने रुद्राक्ष के मनकों को एक झोले में रखा और थैले का मुँह बंद कर उसे दो-तीन बार ऊपर-नीचे किया। इसके बाद तैयार माला को निकालकर उसे सौंप दिया। शिष्य के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, कारण कि उसकी कल्पना में माला तैयार होने में कम-से-कम पाँच-सात मिनट लगने चाहिए थे, पर वह तो क्षणमात्र में तैयार हो गई। बाद में स्वामी जी ने बताया कि इसे 'क्षण विज्ञान' के प्रयोग से इतनी जल्दी बनाया जा सका।

प्रसंगवश यहाँ अध्यात्म जगत् की चर्चा हो गई। भौतिक जगत् में पुनः वापस लौटते हुए अब यह देखते हैं कि वहाँ घटनाओं के अतिरिक्त समय का अस्तित्व और किस पर निर्भर है। विचार मंथन से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य की बोध-शक्ति पर भी समय की सत्ता आधारित है। उसका द्रुत या धीमी गति से गुजरना, यह पूर्णतः उसके बोध पर आश्रित है। कई बार ऐसा लगता है कि समय बिताए नहीं बीतता। दूर स्थान से अपने किसी अति आत्मीय स्वजन का दुःखद समाचार आया हो और वहाँ पहुँचना हो, तो गाड़ी आने में दस मिनट की देरी भी घंटों-सी लगती है, क्योंकि व्यक्ति उस समय तनावग्रस्त और उद्विग्न मनःस्थिति में होता है, लेकिन किसी सुखद समारोह में भाग लेते समय, विवाह-शादी के अवसर पर यह पता भी नहीं चलता कि समय कब बीत गया। उस समय व्यक्ति की बोध-शक्ति, चेतना पूरी तरह तन्मय हो जाती और समय भागता-सा प्रतीत होता है।

इसे मच्छर के भी उदाहरण से समझा जा सकता है। मच्छर की आयु कुछ घंटों की होती है। वह इतने में ही एक मनुष्य की संपूर्ण उम्र जी लेता है। इतनी अवधि में ही वह बच्चा, जवान, बूढ़ा सब कुछ हो जाता है और हमारे अनुसार थोड़े-से घंटों तथा उसके अपने अनुसार ७०-८० वर्ष की आयु पूरी कर मर भी जाता है। इसका कारण प्रत्येक जीव-जंतु की अलग-अलग बोध सामर्थ्य है और उसी के अनुसार समय सिमटता और फैलता है।

घटनाओं और बोध-शक्ति के अतिरिक्त सापेक्षतावाद के अनुसार समय की चाल गति पर भी निर्भर करती है। आइंस्टीन ने सन् १९०४-५ में सापेक्षता का यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि गति का समय पर भी प्रभाव पड़ता है। उसके अनुसार गति जितनी बढ़ेगी, समय की चाल उतनी ही घटती जाएगी। उदाहरण के लिए, एक अंतरिक्ष यान प्रकाश की गति अर्थात एक लाख छियासी हजार

मील प्रति सेकंड की गति से चलता हो, तो उसमें बैठे व्यक्ति के लिए समय की चाल एक बटा सत्तर हजार हो जाएगी अर्थात प्रकाश की गति से चलने वाले यान में बैठकर कोई व्यक्ति नौ प्रकाश वर्ष (नौ वर्ष में प्रकाश जितनी दूरी तय करे) दूर स्थित किसी तारे पर जाए और वहाँ से तुरंत लौट पड़े, तो इस यात्रा में अठारह वर्ष लगेंगे, लेकिन उस यान में बैठे व्यक्ति के लिए यह समय अठारह वर्ष का सत्तर हजारवाँ भाग अर्थात सवा दो घंटे ही होगा।

ऐसा भी नहीं कि पृथ्वी पर सवा दो घंटे ही बीतेंगे। पृथ्वी पर तो वही अठारह वर्ष ही व्यतीत होंगे। उस व्यक्ति के सगे-संबंधी भी अठारह वर्ष बूढ़े हो चुके होंगे। जिन बच्चों को वह १२-१३ वर्ष का छोड़ गया होगा, वे ३०-३१ वर्ष के मिलेंगे। उसकी पत्नी जो उससे उम्र में मात्र दो वर्ष छोटी ३५ वर्ष की रही होगी, वह बूढ़ी हो चुकेगी, किंतु वह व्यक्ति जिस आयु और जिस स्थिति में गया होगा, उसमें सिर्फ सवा दो घंटे का परिवर्तन हुआ होगा अर्थात उसकी आयु सवा दो घंटे ही बीती होगी। यह भी कहा जा सकता है कि वह अपनी पत्नी से आयु में सोलह वर्ष छोटा हो जाएगा।

यह बात पढ़ने-सुनने में अनहोनी और आश्चर्यजनक लगती है कि कोई व्यक्ति १८ वर्ष बाहर रहकर आए और जब लौटे, तो ऐसे मानो कुछ घंटे ही बाहर रहा हो। उसके चेहरे और शक्ल में भी कोई परिवर्तन न आए। उसे देखकर कोई यह भी न कह पाए कि इस बीच वह १८ वर्ष और बड़ा हो चुका है, लेकिन आइंस्टीन ने प्रमाणों और प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया है। सापेक्षता के इस सिद्धांत को 'क्लॉक पैराडॉक्स' (समय का विरोधाभास) कहा गया है।

यद्यपि अभी कोई ऐसा यान बन नहीं सका है, जिसके द्वारा की गई यात्रा से इस सिद्धांत की सचाई को अनुभूत किया जा सके, परंतु समय विरोधाभास के जो समीकरण आइंस्टीन ने दिए, उनके अनुसार अमेरिका के भौतिकशास्त्री जोजफ हाफले और खगोलशास्त्री रिचर्ड किटिंग ने सन् १९७१ में दो बार प्रयोग किए। उन्होंने अपने साथ चार परमाणु घड़ियाँ लीं और उनके साथ सर्वाधिक तीव्र गति से उड़ने वाले यान द्वारा पृथ्वी के दो चक्कर लगाए। ध्यातव्य है कि परमाणु घड़ियाँ सेकंड के खरबवें हिस्से तक का समय सही-सही बता देती हैं। हाफले और कीटिंग ने भूल-चूक से बचने के लिए हर तरह की सावधानियाँ बरतीं। प्रयोग पूरा होने के बाद उनने पाया कि तीव्र गति के कारण परमाणु घड़ियों ने अंतर बता दिया। इसके बाद दोनों वैज्ञानिकों ने घोषणा की कि आइंस्टीन का 'क्लॉक पैराडॉक्स' सिद्धांत सही है।

समय की यह प्रतीति अनुभवकर्त्ता की गति पर आधारित थी। इसके अतिरिक्त घटनाएँ और बोध भी इस प्रतीति के माध्यम हैं। इस प्रकार सापेक्षता के यह समस्त सिद्धांत वेदांत की मूल मान्यताओं का समर्थन करते हैं। समय को जानने का सर्वसुलभ और सबसे सरल माध्यम घटनाएँ हैं। इसके अनुसार यही कहा जा सकता है कि यह विश्व और कुछ नहीं, घटनाओं का समुच्चय है तथा घटनाएँ व्यक्ति की बोधशक्ति, संकल्प-चेतना का ही प्रतिफल हैं। विराट् ब्रह्म के संकल्प से, उसकी उपस्थिति मात्र से यह मायामय संसार उत्पन्न हुआ। मनुष्य यदि चाहे, तो इस माया से मुक्त हो सकता है और सत्य के दर्शन कर सकता है, किंतु इसके लिए हमें पहले से बनी-बनाई घटनाओं को वस्तु जगत् पर थोपना बंद करना पड़ेगा। तत्त्वदर्शियों ने इसी को साक्षीभाव की सिद्धि कहा है।

आइंस्टीन के 'समय विरोधाभास' सिद्धांत से मायावाद की और पुष्टि हो जाती है, जिसमें व्यक्ति को असंग भाव से कर्म करने की प्रेरणा दी गई है। उस स्थिति को प्राप्त हुए बिना अंतिम सत्य का पता लगाया ही नहीं जा सकता, कारण कि समय का बोध (आब्जेक्टिव टाइम) निरंतर भ्रमित स्थिति बनाए रखता है। उदाहरण के लिए, पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, परंतु दिखाई यह देता है कि सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर जा रहा है। चलती हुई रेलगाड़ी में से दूर तक देखने पर पेड़, वृक्ष, टीले और पृथ्वी ही दौड़ती हुई दिखलाई देती है, उसी प्रकार सीमाबद्ध अस्तित्व में यह सारी भ्रांतियाँ उत्पन्न होती हैं।

इन सब घटनाओं का साझी रहने वाला मायायुक्त अस्तित्व पहचाना जा सके, तो वस्तुस्थिति का ज्ञान सहज ही हो सकता है, तब जाना जा सकता है कि भिन्न-भिन्न स्तरों पर समय का पैमाना भिन्न-भिन्न क्यों होता है और यह कि 'समय' भी उस माया से मुक्त नहीं है, जिससे संसार आबद्ध है।

जड़ जगत् की तरह 'समय' भी मायायुक्त है। हम इस माया से मुक्त होकर जब तक संसार के आदि कारण को नहीं समझेंगे, तब तक समय संबंधी सत्य को भी नहीं जान सकेंगे और बराबर उसके सापेक्ष अस्तित्व में ही उलझे रहेंगे।

✳

अपने ही विनाश पर तुले हुए हम

इन दिनों रासायनिक हथियारों की चर्चा जोरों पर है। अमेरिका द्वारा वियतनाम पर नापाम बम बरसाए जाने के बाद सबका ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। १९८० के दशक में इराक ने कुर्द अल्पसंख्यकों तथा ईरान पर इनका प्रयोग किया। प्रथम विश्व युद्ध में अश्रु गैस के अलावा जहरीली गैस तथा नापाम बमों का भी प्रयोग किया गया था। इस युद्ध में जर्मनी ने जिस ज्वलनशील प्रक्षेपास्त्र का प्रयोग किया था, नापाम बम उसी का परिवर्तित-संशोधित रूप है। इस प्रकार के ५ लाख टन नापाम बम अब तक विभिन्न देशों पर गिराए गए हैं। समस्त विश्व को हिलाकर रख देने वाले इन रासायनिक हथियारों की संहारक क्षमता से आज समस्त विश्व चिंतित है।

रासायनिक हथियारों का तात्पर्य ऐसे हथियारों से है, जिनमें संहारक पदार्थों के रूप में किसी विषैले रसायन का उपयोग किया गया हो। रासायनिक पदार्थ शरीर पर तीन तरह से अपना प्रभाव डालते हैं। श्वास के साथ शरीर में जाकर खाने-पीने की वस्तुओं में मिलकर, त्वचा में उपस्थित सूक्ष्म रंध्रों से होकर शरीर में पहुँचकर। सैनिक दृष्टिकोण से इन तीनों में श्वास के साथ शरीर में प्रवेश करके अपना प्रभाव डालने वाले रसायनों का महत्त्व सबसे अधिक है, क्योंकि इन्हें शरीर में प्रवेश करने के लिए किसी बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं होती। कोई भी रसायन दुश्मन की फौजों पर कितना अधिक घातक प्रभाव डाल पाएगा, यह उस रसायन के अणुओं के आकार, स्थानीय जलवायु, वायुदाब तथा वायु में उपस्थित वाष्पकणों की मात्रा पर निर्भर करता है।

प्रथम विश्व युद्ध में रसायन विज्ञान, रसायन इंजीनियरिंग तथा शस्त्र तकनीक को एक साथ मिलाकर आधुनिक रासायनिक आयुधों को जन्म दिया। सन् १९१५ से १९१८ के बीच कुल मिलाकर विभिन्न प्रकार के लगभग एक लाख तेरह हजार टन रासायनिक पदार्थों का उपयोग किया गया था। उनमें से ४६ प्रतिशत जर्मनी, २३ प्रतिशत फ्रांस, २४ प्रतिशत ब्रिटेन, ५.६ प्रतिशत इटली तथा ४ प्रतिशत रूस के हिस्से में आते हैं। इन रसायनों के उपयोग से लगभग एक लाख तीस हजार सैनिक प्रभावित हुए एवं ९० हजार लोगों को जान से हाथ धोना पड़ा। इसमें रासायनिक हथियारों के रूप में क्लोरीन अथवा फास्जीन से भरे सिलेंडरों तथा आँसू गैस, डाईफास्जीन तथा मस्टर्ड गैस आदि का खुलकर उपयोग किया। सबसे अधिक घातक क्लोरीन, फास्जीन तथा डाईफास्जीन गैसें सिद्ध हुईं।

सन् १९१५ में जर्मनी की फौजों ने तोप के गोलों के स्थान पर सीधे जहरीले गैसों से भरे हुए सिलेंडरों का उपयोग किया था। गोलों की कमी के कारण जर्मनी की सर्वोच्च कमांड ने अंततः प्रोफेसर हेबर की सलाह से यह निर्णय लिया। १९१७ में जर्मनी ने दुश्मन की फौजों को परेशान करने के लिए छींक लाने वाले रसायनों का उपयोग किया। इनमें डाइक्लोरीफेनिकल आरसीन एवं डाइक्लोरोनिल, सायनो आरसीन प्रमुख थे। इसके जवाब में ब्रिटेन ने एक दूसरे छींक वाले रसायन एडेमसाइट का विकास किया। प्रथम विश्व युद्ध में ही अश्रुजनक रसायनों के रूप में जर्मनी ने डिनाइटे एवं जिलाइलीन ब्रोमाइड, जबकि फ्रांस ने एक अधिक शक्तिशाली अश्रुजनक रसायन के रूप में अल्का ब्रोमोबेंजिल सायनाइड का विकास किया।

प्रथम विश्व युद्ध में श्वास द्वारा शरीर में प्रवेश करके सैनिकों की जान लेने वाले रसायनों के रूप में क्लोरीन एवं फास्जीन गैसों का नाम उल्लेखनीय है। चूँकि इसका

प्रभाव कुछ घंटों बाद होता था, इसलिए जर्मनी ने फास्जीन के स्थान पर डाइफास्जीन का प्रयोग किया। इसके बाद १९१६ में फेफड़ों को नुकसान पहुँचाने वाले रसायन के रूप में क्लोरोपिकटीन का विकास किया। यह गैस मास्क को भी बेधने की शक्ति रखती है और फेफड़ों को हानि पहुँचाने के साथ अश्रु भी बहाती है। इस युद्ध में फ्रांस हाइड्रोजन सायनाइड का व्यापक उपयोग करने वाला अकेला देश था। हाइड्रोजन सायनाइड सीधे रक्त पर प्रहार करती है। १९१७ में 'मस्टर्ड गैस' ने युद्ध के मैदान में मोरचा सँभाला। यह गैस त्वचा में उपस्थित सूक्ष्म रंध्रों के रास्ते से शरीर में प्रवेश करती है, इसीलिए गैस मास्क लगाने अथवा न लगाने से इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी के युद्धबंदी शिविरों में ४५ लाख यहूदी युद्धबंदी सैनिकों को गैस चेंबरों में बंद करके कार्बन मोनो ऑक्साइड एवं हाइड्रोजन सायनाइड जैसी गैसें भरकर मार डाला गया। इसके अतिरिक्त वनस्पति विरोधी रसायनों का भी उपयोग किया गया, जिसके कारण उपजाऊ भूमि बंजर धरती के रूप में परिवर्तित हो गई। ऐसा सर्वप्रथम अमेरिका-वियतनाम युद्ध में हुआ था। अमेरिकी प्रतिरक्षा सूत्रों के अनुसार इस युद्ध में १९७२-७९ के मध्य दक्षिणी वियतनाम के कुल २७ हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में वनस्पति विरोधी रसायनों का उपयोग किया गया था। इसमें से बीस हजार वर्ग किलोमीटर के पेड़-पौधों की पत्तियाँ नष्ट हो गई थीं। सिर्फ ठूँठ ही बच गए। वहाँ की बंजर भूमि अभी भी द्वितीय विश्वयुद्ध एवं मनुष्य की क्रूरता की याद दिलाती है।

आधुनिक रासायनिक आयुधों के रूप में स्नायु गैसों का विकास हुआ है, जिसका श्रेय जर्मनी की रासायनिक कंपनी आई. जी. फारबेन और वैज्ञानिक डॉ. जेरार्ड श्रेडर को जाता है, जिनको कीटनाशी दवा खोजते समय स्नायु गैस के सूत्र मिल गए। इसकी संहारक क्षमता में लंबे समय तक कोई कमी नहीं आती तथा इसका प्रभाव भी तुरंत होता है। स्नायु गैस का अर्थ है, ऐसी गैस जिसका प्रभाव हमारे स्नायुतंत्र अर्थात तंत्रिका तंत्र पर होता है। पहली स्नायु गैस का विकास द्वितीय विश्वयुद्ध में हुआ, जिसका नाम सैनिक भाषा में टैबून था। बाद में उससे भी खतरनाक सरीन एवं सामन नाम की स्नायु गैस का भी विकास हुआ। अमेरिका में विकसित वी. एक्स. तथा रूस के वी. आर. ५५ का जखीरा भी संकटों को आमंत्रित कर रहा है। इसके प्रयोग से मात्र सैनिक ही नहीं, उस क्षेत्र के जीव-जंतु, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी भी प्रभावित होते हैं। लूले-लँगड़े, अंधे, लकवा से ग्रस्त, बहरे जैसे लोगों की अधिकता इसका परिचायक है। उस क्षेत्र में अकारण ऐसे ही बच्चे जन्म लेते हैं।

प्रथम विश्व युद्ध में रासायनिक आयुधों की विनाश लीला को देखकर उसके बाद से ही विश्व के अधिकांश देशों ने हथियारों के निर्माण तथा युद्धों पर रोक लगाने के प्रयास प्रारंभ कर दिए थे। द्वितीय विश्वयुद्ध में हिरोशिमा और नागासाकी शहरों पर परमाणु बमों की विनाशलीला के पश्चात इन प्रयासों में विशेष तेजी आ गई थी। संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म इन्हीं प्रयासों की देन है, जिसके फलस्वरूप रासायनिक हथियारों के उपयोग को बंद करने के लिए कई नैतिक एवं कानूनी प्रतिबंध भी लगाए गए।

युद्धों में रासायनिक आयुधों के बढ़ते उपयोग और प्रतिवर्ष नए-नए तथा एक से बढ़कर एक संहारक शक्ति वाले रासायनिक आयुधों की खोज से अब इक्कीसवीं सदी में सारा विश्व चिंतित है। इस चिंता का सबसे बड़ा कारण यह है कि इन आयुधों की मार केवल युद्ध क्षेत्र तक तथा युद्ध के समय तक ही सीमित नहीं रहती। वायु के साथ-साथ ये जहरीली गैसें युद्ध क्षेत्र से बहुत दूर तक पहुँचती हैं और अनेक निरीह असैनिक भी इसमें मारे जाते हैं। वनस्पति विरोधी रसायनों का उपयोग उस क्षेत्र की जमीन को अनुपजाऊ बना देता है तथा वातावरण में उपस्थित अनेक लाभदायक जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। अतः रासायनिक हथियारों का प्रयोग युद्धभूमि में करने की योजना बनाने वाले वैज्ञानिकों, राजनेताओं एवं विधिवेत्ताओं को एक बार पुनः सोचना चाहिए कि कहीं हम स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी तो नहीं चला रहे हैं। बेहतरी मानवीय गरिमा को पहचानने और उसके अनुरूप नीतियाँ बनाने में है।

*

तितली और मधुमक्खी दोनों एक फूल पर आकर बैठतीं। दोनों झगड़ने लगीं कि फूल पर मेरा अधिकार है।

फैसला कराने तोता को बुलाया गया। उसने मधुमक्खी के पक्ष में निर्णय दिया और कहा, यह बैठने का श्रम सार्थक करती है और दूसरों के लिए शहद निकालती है, इसलिए पुष्प पर अधिकार इसी का रहेगा।

विश्व पटल पर छाती जा रही है नारीशक्ति

इक्कीसवीं सदी नारी जीवन में सुखद संभावनाओं की सदी है। इसके उदीयमान स्वर्णिम प्रभात की झाँकियाँ अभी से दिखने लगी हैं। महिलाएँ हर क्षेत्र में आगे आने लगी हैं। समाज हो या राजनीति, विज्ञान हो या सेना, साहित्य, संगीत हो अथवा खेल की दुनिया, महिलाएँ सभी क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का ध्वज लहरा रही हैं। पुरुषों के एकाधिकार समझे जाने वाले पद, प्रतिष्ठान एवं व्यवसाय में भी महिलाओं ने अपनी नवीन भूमिका से सबको आश्चर्यचकित कर दिया है। इक्कीसवीं सदी की नारी अब जाग्रत् एवं सक्रिय हो चुकी है। युगद्रष्टा स्वामी विवेकानंद ने ठीक ही कहा है, ''नारी जब अपने ऊपर थोपी गई बेड़ियों एवं कड़ियों को तोड़ने लगेगी, तो विश्व की कोई शक्ति उसे रोक नहीं सकेगी।''

आमतौर से विमान सेवा का क्षेत्र पुरुषों के आधिपत्य में है एवं वही इसके सक्षम उत्तराधिकारी समझे जाते हैं, परंतु पिछले एक दशक के दौरान इस प्रतिष्ठित क्षेत्र में महिलाओं का पदार्पण हुआ है। ८ मार्च १९९८ में अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस पर सभी महिला चालक सदस्यों वाली दो विमान सेवाओं ने दिल्ली और मुंबई से प्रथम उड़ानें भरीं। कैप्टन संगीता काबरा और कैप्टन अनुपमा कोहली ने एयर बस-३२० मुंबई से करांची और फिर करांची से मुंबई तक उड़ाई। प्रथम महिला कमांडर इंद्राणी सिंह ने सहचालक कैप्टन अवंतिका मित्तल के साथ एयर बस-३०० दिल्ली से काठमांडू की उड़ान भरी। इससे पूर्व भी जनवरी १९८६ में कैप्टन सौदामिनी देशमुख और उनकी सहयोगी चालक कैप्टन निवेदिता भसीन के नेतृत्व में एक अखिल भारतीय महिला चालक दल ने एफ-२७ विमान द्वारा कोलकाता से सिलचर की उड़ान भरी थी। १९८९ में इसी दल ने बोइंग-७३७ को मुंबई से गोवा तक उड़ाया था। कैप्टन सौदामिनी व इंद्राणी सिंह ने प्रथम महिला कमांडर होने का गौरव पाया है। सन् १९६६ में दोबाई बेनर्जी ने पुरुषों के इस आरक्षित क्षेत्र में प्रवेश करके पुरुषों के एकाधिकार को तोड़ा था। अपने देश के विमान सेवा के विभिन्न भागों में १३ प्रतिशत महिलाएँ कार्यरत हैं। वर्तमान समय में भारतीय विमान सेवाओं में महिलाओं में एक एक्जीक्यूटिव पायलट और १७ लाइन पायलट हैं। इनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। इजराइल एयर लाइंस के प्रवक्ता नेकेमेन क्लिएमेन ने कहा है कि इजराइल में भी महिलाएँ विमान सेवा में प्रशिक्षण प्राप्त कर रही हैं।

सशस्त्र सेनाओं में कभी पुरुषों को प्राथमिकता दी जाती थी, परंतु यह रिकॉर्ड भी अब टूटने लगा है। कुछ साल पूर्व भारतीय वायुसेना में महिला लड़ाकू पायलट का एक दल शामिल किया गया था। स्कूल व विश्वविद्यालय स्तर पर एन. सी. सी. महिलाओं की सेना में प्रवेश में विशेष योगदान प्रदान करती है। सेना की मेडीकल विंग में महिलाओं का योगदान उल्लेखनीय है। सशस्त्र सेना के मेडीकल कॉलेज, पुणे में लड़कियों ने अपने कौशल से सबको पीछे छोड़ दिया है। इजरायली एयर फोर्स ने महिला सैनिकों को युद्ध प्रशिक्षण देना प्रारंभ कर दिया है। तीस महिला सैनिकों के एक दल को इस साल विमानरोधी बैटरियाँ चलाने का प्रशिक्षण दिया गया। इसी वर्ष इजरायल की ही दो महिला पायलटों ने युद्ध पायलट प्रशिक्षण की परीक्षा सफलतापूर्वक प्राप्त की। वहाँ अस्सी के दशक के अंतिम वर्षों से महिला सैनिक युद्ध प्रशिक्षक के रूप में

कार्यरत हैं। ब्रिटेन की वायुसेना तथा नौसेना में महिलाओं को युद्ध क्षेत्र में काम करने की पहले ही अनुमति दी जा चुकी है। 'संडे टाइम्स' के अनुसार ब्रिटेन की नई सरकार ने तोपखाना इंजीनियर्स की नई शाखाएँ खोलने और टैंक व इन्फेंट्री में महिलाओं की भागीदारी लेने की अनुशंसा की है। लंदन की रॉयल जलसेना ने ३०० साल की प्राचीन परंपरा को तोड़ते हुए लेफ्टीनेंट सुमूरी और मील रीस ने अपनी जिम्मेदारी बखूबी सँभाली है। सैन्यबल मंत्री जॉनरीड के अनुसार महिलाओं की यह भागीदारी उनकी उच्च दक्षता एवं कार्यकुशलता के लिए प्रदान की गई है।

नारी साहस एवं शौर्य का स्रोत है। समय आने पर इसे अपने जीवन में जीवंत एवं क्रियान्वित भी कर सकती है। नोबुल शांति पुरस्कार विजेता जोडी विलियम्स ऐसी ही एक साहसी महिला है। इनका लक्ष्य है कि संसार में बारूदी सुरंगों का पूर्ण सफाया हो, क्योंकि इससे लाखों व्यक्ति मारे जाते हैं। इस प्रयास में वह सारे विश्व का दौरा कर रही हैं। उन्होंने अपने एकाकी प्रयासों से दक्षिण कोरिया की बारूदी सुरंगों पर प्रतिबंध की संधि पर हस्ताक्षर करने और विसैन्यीकृत क्षेत्र की बारूदी सुरंगों को हटाने के लिए भी समर्थन जुटाने का प्रयास किया है। सुश्री जोडी को नोबुल पुरस्कार बारूदी सुरंगों के विरुद्ध अंतर्राष्ट्रीय अभियान में समन्वय स्थापित करने के प्रयास के लिए सन् १९९६ दिसंबर में प्रदान किया गया था।

घर की चहारदीवारी से निकलकर ऊँची-ऊँची पर्वतों की चोटियाँ हों या विशाल अंतरिक्ष यात्रा अथवा विज्ञान व टेक्नोलॉजी का क्षेत्र, महिलाओं ने सभी जगह आगे आकर अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया है। ऐसा ही एक नाम है कल्पना चावला। जिन्होंने अंतरिक्ष में उड़कर प्रथम एशियाई महिला होने का गौरव प्राप्त किया है। हरियाणा के करनाल जिले में १९६१ में जन्मी कल्पना चावला ने १९-२० नवंबर की रात अमेरिकी अंतरिक्ष यान कोलंबिया में एक पाँच पुरुषों के अभियान दल के साथ अंतरिक्ष यात्रा के लिए प्रस्थान किया था। वे ६ दिसंबर १९९६ को इस महत्त्वपूर्ण अभियान से सकुशल धरती पर लौट आईं। अमेरिकी अंतरिक्ष यान कार्यक्रम के इतिहास में यह पहला अवसर है, जब ४१ वर्षीय सुश्री कोलिन को अंतरिक्ष यान का नेतृत्व सौंपा गया। सुश्री कोलिन अमेरिका की पहली महिला अंतरिक्ष पायलट की प्रोन्नति प्राप्त कर एक अंतरिक्ष मिशन की कमांडर बन गई हैं। कोलिन ने १९९५ में पहली महिला अंतरिक्ष यान पायलट होने का सम्मान प्राप्त किया। मई १९९७ में वह दूसरी बार अंतरिक्ष उड़ान पर गई थीं, तब उसने रूसी अंतरिक्ष स्टेशन मीर पर ४११ से भी अधिक दिन बिताए।

विज्ञान के अनुसंधान एवं अन्वेषण में भी महिलाएँ पीछे नहीं रही हैं। सरला सुब्बाराव ने मलेशिया पर विशेष एवं महत्त्वपूर्ण शोध की है। उनकी इसी विशेषता एवं दक्षता के कारण न्यूयार्क एवं कैलीफोर्निया की प्रतिष्ठित संस्थाओं ने उन्हें आमंत्रित किया है। सरला ने इलिनॉय यूनिवर्सिटी में जेनेटीक्स में पी-एच. डी. की। सन् १९९१ में उन्हें आई. सी. एम. आर. अयंगा पुरस्कार प्रदान किया गया। सरला सुब्बाराव विज्ञान जगत् की दैदीप्यमान नक्षत्र हैं। कृषि टेक्नोलॉजी को विकसित करने में पुरुषों का योगदान होता है, परंतु देहरादून के कृषि शोध संस्थान में स्वर्णलता आर्य की महान उपलब्धियों को नहीं भुलाया जा सकता। विज्ञान के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट उपलब्धियों के लिए अब तक नौ महिलाओं को नोबुल पुरस्कार प्राप्त हो चुका है- सन् १९०३ में मैरी क्यूरी, १९३५ में आयरन जेलियट (रसायन), १९६३ में मैरिया सियोपाट मायर (भौतिकी), १९६४ में डोर्थी सी होटसीन (रसायन), चिकित्सा में १९६७ में जटी डी कोरी, १९७७ में रांसलीन एस यालोव, १९८३ में बारबरा मैग्लिटॉक, १९८६ में रीता लेवी मंटाल सिनी तथा १९८८ में जटरुडी पी. एलिप्पन को यह सम्मान प्राप्त हुआ।

साहित्य के क्षेत्र में अपने विशिष्ट योगदान के लिए भी महिलाओं ने नोबुल पुरस्कार प्राप्त किया है। १९०९ में सेल्मा वागरलोफ, १९२६ में ग्रेसिया डेलेटा, १९२८ में सिग्रिडे डंडसेट, १९३८ में पर्ल बक, १९४५ में ग्रेब्रीलो मिस्ट्रूल, १९६६ में नेली चोक्स, १९९२ में नर्डिन गार्डिमर तथा १९९३ में डोनी मारिसन को साहित्य का नोबुल पुरस्कार प्रदान किया गया। भारत में ज्ञानपीठ पुरस्कार साहित्य की विशेष उपलब्धि के कारण दिया जाता है। सन् १९७६ में आशापूर्णा देवी, १९८१ में अमृता प्रीतम, १९८२ में महादेवी वर्मा, १९९६ में महाश्वेता देवी को यह प्रतिष्ठा दी गई। कृष्णा सोबती को मैथिलीशरण सम्मान एवं महासुंदरी देवी को कबीर अलंकरण से अलंकृत किया जा चुका है। विख्यात इतिहासकार रोमिला थापर को जापान द्वारा प्रदत्त इस पुरस्कार को पाने वाली प्रथम भारतीय महिला हैं। इस कड़ी में 'द गाड ऑफ स्माल थिंग' की उपन्यासकार अरुंधती राय ने तो इतिहास ही रच दिया है। इस उपन्यास को साहित्य गगन का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार बुकर पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। विश्व की १६

भाषाओं में अनुवाद होकर इस उपन्यास की लाखों प्रतियाँ बिक चुकी हैं।

कला द्वारा संवेदना एवं भावनाओं को रेखांकित एवं प्रतिबिंबित किया जाता है। इस क्षेत्र में महिलाओं को महारथ प्राप्त है। १९९६ में कालिदास सम्मान नर्तकी शांताराव को मिला। स्वर साम्राज्ञी भारतरत्न लता मंगेशकर को सन् १९८९ में दादा साहब फाल्के पुरस्कार तथा १९९५ में आदित्य बिड़ला पुरस्कार प्राप्त हुआ। डॉ. श्रीमती अबान ई. मिस्त्री प्रथम महिला तबला वादक हैं। इसकी कठिन लयकारियों के कारण इस वाद्य में पुरुषों का वर्चस्व माना जाता है, परंतु चार दशक पूर्व अबान ई. मिस्त्री ने इस वाद्य पर अधिकार कर भारत के संगीतज्ञों में अपना स्थान बनाया। इन्हें 'लालमणि' की उपाधि प्राप्त है। भारतरत्न का गौरव कलाकारों को बहुत कम मिला है। एस. सुब्बालक्ष्मी इस सम्मान को प्राप्त करने वाली प्रथम भारतीय कलाकार हैं। ८२ वर्षीया सुब्बालक्ष्मी ने कर्नाटक शैली में अपने शास्त्रीय और अर्द्धशास्त्रीय गायन द्वारा मानवीय अनुभूतियों का गहरा अहसास कराया है। उनके भक्ति संगीत से मिलने वाली शांति के इच्छुक महात्मा गाँधी भी थे।

खेल का क्षेत्र पुरुष एकाधिकार के अंतर्गत आता है, परंतु यह मिथक टूटने लगा है। अंतर्राष्ट्रीय ओलंपिक समिति के अध्यक्ष जुआन एंटोनियो समारांव की घोषणा महिला जगत् के लिए अभूतपूर्व है। इनके अनुसार भविष्य में ओलंपिक में उन्हीं खेलों को शामिल किया जाएगा, जिनमें महिलाओं की भागीदारी होगी। महिलाएँ ओलंपिक में वाटरपोलो, भारोत्तोलन, पेंटेथलान, गोल्फ, बाउलिंग, स्क्वैश, हाकी आदि पुरुष प्रधान खेलों में भी सम्मिलित होंगी। मेलबोर्न क्रिकेट क्लब जैसे प्रतिष्ठित क्लबों में महिला खिलाड़ियों को स्थायी सदस्य बनाने का विचार किया जा रहा है। न्यूजीलैंड के क्रिकेट क्लब में महिला एवं पुरुष दोनों की सदस्यता बराबर है। न्यूजीलैंड के क्रिकेट इतिहास में पहली बार क्रिकेटरों की उपस्थिति में किसी महिला क्रिकेटर को 'न्यूजीलैंड क्रिकेटर ऑफ द ईयर' चुना गया है। यह सम्मान रन मशीन के तौर पर प्रसिद्ध डेबी हाकल को मिला है।

टेनिस जगत् में मार्टिना हिंगीस, मोनिका सेलेस, स्टेफीग्राफ, फ्रांस ओपन की विजेता अरांता सांचेज विकारियो, वीनस एवं सेरेना विलियम्स आदि विख्यात नाम हैं। इस साल भारत में नीत दैवेया को प्रथम महिला टेनिस प्रशिक्षक के रूप में नियुक्त किया गया है। बीस वर्षीया अर्पणा पोपट ने इस वर्ष बैडमिंटन का राष्ट्रीय महिला खिताब जीता। बैडमिंटन जगत् में इंडोनेशिया की सुश्री सुशांति प्रसिद्ध ख्याति प्राप्त नाम है। इन्होंने अनेकों बार विश्व बैडमिंटन खिताब जीता है। भारोत्तोलन में २९ वर्षीया कुंजारानी देवी अब तक ४२ पदक जीत चुकी हैं। मल्लेश्वरी ने ओलंपिक में कांस्य तथा एशियाई महिला भारोत्तोलन प्रतियोगिता में स्वर्ण पदक जीता है। सात साल की केतकी कुलकर्णी ने आठ वर्ष की कम उम्र की लड़कियों की ब्रिटिश शतरंज चैंपियनशिप जीती।

आज विश्व धार्मिक कट्टरता से जूझ रहा है। इसका सर्वाधिक प्रभाव महिलाओं पर पड़ रहा है। धर्म के क्षेत्र में भी महिलाओं के बढ़ते कदम नूतन युग का सूत्रपात करते हैं। जून १९९० में इंग्लैंड के एक चर्च में पेन्नी जेमीसन को प्रथम महिला विशप के रूप में नियुक्त किया गया। पेन्नी के विशप बनाने की घटना को मार्टिन लूथर किंग की धार्मिक क्रांति से जोड़ा जा रहा है। यह एक अद्भुत क्रांति है कि किसी महिला को विशप नियुक्त किया गया। मजहबी कठोरता के मामले में मुस्लिम समाज कुछ ज्यादा ही सख्त एवं कठोर समझा जाता है, किंतु रूढ़िवादी कट्टरता भी टूटने-दरकने लगी है। फरवरी १९९८ में मुस्लिम महिला संगठनों और केरल विधानसभा की भूतपूर्व अध्यक्षा नफीसन बीवी के नेतृत्व में केरल के तिरुअनंतपुरम् स्थित पालायम मस्जिद में नमाज अदा की गई। महिलाओं द्वारा मस्जिद में नमाज अदायगी की एक और पहल लखनऊ में हुई थी। लखनऊ में १५ अगस्त १९९७ को शिया समुदाय की महिलाओं ने आसफी इमामबाड़े में जुमे की नमाज अदा की थी। पुरुष समुदाय के घोर एवं तीव्र विरोध के बावजूद यह घटनाएँ महिलाओं के लिए सुखद एवं शुभ संदेश हैं।

विश्व में सभी सांसदों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व ११.७ प्रतिशत है। उसमें से ७.१ प्रतिशत महिलाएँ संसदीय अध्यक्ष हैं। १०.८ प्रतिशत राजनैतिक दलों में नेतृत्व पदों पर हैं। फ्रांस के प्रजातंत्र में अब महिला सांसदों का पदार्पण प्रारंभ हो गया है। अमेरिकी संसद में १०.९ तथा ब्रिटेन की पार्लियामेंट में ९.५ प्रतिशत महिला सांसद हैं। भारत में ११वीं लोकसभा में ३६ महिला सांसद चुनी गई हैं। अमेरिका की विदेश मंत्री मेडिलिन अलब्राइट, भारत की सूचना प्रसारण मंत्री सुषमा स्वराज, श्रीलंका की प्रधानमंत्री चंद्रिका कुमारतुंगे, पाकिस्तान की विपक्षी नेता बेनजीर भुट्टो, भारत की सोनिया गाँधी, नेपाल की महिला एवं समाज विकास मंत्री सहाना प्रधान, न्यूजीलैंड की मंत्री मार्गेट शील्ड तथा आस्ट्रेलिया की महिला नेता रोसेमरी

क्राउली जैसी महिलाएँ राजनीति के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही हैं।

यू. एन. डी. पी. की १९९७ की रिपोर्ट के अनुसार औद्योगिक देशों के प्रशासनिक और व्यापारिक प्रबंधन में कार्यरत महिलाओं का प्रतिशत २७.४ है। यह संख्या अमेरिका में ४२.२ प्रतिशत, कनाडा में ४० प्रतिशत है। सिंगापुर, थाईलैंड, श्रीलंका, मलेशिया और चीन में महिला अफसरों का अनुपात ११ से ३४ प्रतिशत के बीच है। बांग्लादेश में ५ प्रतिशत, पाकिस्तान में ३.५ प्रतिशत तथा भारत में २.५ प्रतिशत है। इसी कारण शिक्षा के क्षेत्र में भी जबरदस्त परिवर्तन आ रहा है। इस वर्ष केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा जारी दसवीं कक्षा का परिणाम सामाजिक सोच में आए बदलाव को रेखांकित करता है। छात्राएँ बहुत तेजी से आगे बढ़ रही हैं। बारहवीं कक्षा में छात्राओं का प्रतिशत ७८.५ है, जबकि छात्रों का ६८.३ प्रतिशत आया है। यह भारत के सभी बड़े महानगरों में देखा जा सकता है। केरल में महिलाओं की शिक्षा दर ८६.२ प्रतिशत है।

पुरुषों के व्यवसाय में भी महिलाओं का प्रवेश होने लगा है। आमतौर से हजामत का कार्य पुरुष वर्ग करता है, परंतु समाज के इस मिथक को तोड़कर साहसिक कदम रखने वाली एक महिला है थंगम्मा, जो केरल के कोंडिचेरी के मीनमही गाँव में अपने नाई पति की दुकान में पूर्णकालिक एवं नियमित रूप से पुरुष ग्राहकों के बाल काटती हैं तथा उनकी दाढ़ियाँ बनाती हैं। ५० वर्षीया थंगम्मा इसे अपनी एक बड़ी उपलब्धि मानती हैं। अमेरिका की शैला कोनोर्स ने न्यूयार्क के सबसे भव्य व महँगे प्लाजा होटल में दरबान की नौकरी कर होटल की दुनिया में प्रथम महिला दरबान होने का गौरव प्राप्त किया है।

आज विश्व के सभी क्षेत्रों में नारी क्रांति का शंखनाद होने लगा है। यह इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य बनाम नारी सदी की उद्घोषणा है। अतः हममें से प्रत्येक को अभी से नारी को सम्मान, सहयोग, स्नेह देकर उसे साथ लेकर बढ़ने का प्रयास-पुरुषार्थ करना चाहिए। ■

एक पेड़ पर दो बाज प्रेमपूर्वक रहते थे। दोनों शिकार की तलाश में निकलते और जो भी पकड़ लाते, उसे शाम को मिल-बैठकर खाते। बहुत दिन से उनका यही क्रम चल रहा था।

एक दिन दोनों शिकार पकड़कर लौटे, तो एक की चोंच में चूहा था और दूसरे की में साँप। शिकार दोनों ही तब तक जीवित थे। पेड़ पर बैठकर बाजों ने जब उनकी पकड़ ढीली की, साँप ने चूहे को देखा और चूहे ने साँप को।

साँप चूहे का स्वादिष्ट भोजन पाने के लिए जीभ लपलपाने लगा और चूहा साँप के प्रयत्नों को देखकर अपने पकड़ने वाले बाज के डैनों में छिपने का उपक्रम करने लगा।

उस दृश्य को देखकर एक बाज गंभीर हो गया और विचारमग्न दीखने लगा। दूसरे ने उससे पूछा, दोस्त, दार्शनिकों की तरह किस चिंतन-मनन में डूब गए?

पहले बाज ने अपने पकड़े हुए साँप की ओर संकेत करते हुए कहा, देखते नहीं, यह कैसा मूर्ख प्राणी है। जीभ की लिप्सा के आगे इसे मौत भी एक प्रकार से विस्मरण हो रही है।

दूसरे बाज ने अपने चूहे की आलोचना करते हुए कहा, और इस नासमझ को भी देखो, भय इसे प्रत्यक्ष मौत से भी अधिक डरावना लगता है।

पेड़ के नीचे एक मुसाफिर सुस्ता रहा था। उसने दोनों की बात सुनी और एक लंबी साँस छोड़ते हुए बोला, हम मानव प्राणी भी तो साँप और चूहे की तरह स्वाद और भय को बड़ा समझते हैं, मौत तो हमें भी विस्मरण ही रहती है। स्वभावगत आग्रह मनुष्य को इसी प्रकार सत्य का विस्मरण कराते रहते हैं।

झपकी लें, स्वस्थ रहें

झपकी लेने को सामान्यत: समय की बरबादी या एक व्यसन माना जाता है। कहीं-कहीं तो इसे शारीरिक या मानसिक रोग का प्रतीक भी माना जाता है, परंतु ऐसा नहीं है। कार्य के अत्यधिक दबाव, पारी वाले कार्य के कारण या किसी अन्य कारणवश यदि हमारी रात की नींद अधूरी रह गई हो, तो उसे हम झपकी लेकर दिन के समय पूरा कर सकते हैं। वैज्ञानिकों का मानना है कि झपकी द्वारा हम जीवन को अधिक स्वस्थ, स्फूर्त एवं सफल बना सकते हैं। इसकी अपनी उपयोगिता के साथ-साथ यह विज्ञानसम्मत भी है।

मस्तिष्कीय तरंगों पर शोध कर रहे वैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य को पूरे दिन में दो बार सोने की नैसर्गिक आवश्यकता है। एक रात्रिकाल में कई घंटे तक लंबी नींद की आवश्यक जरूरत और दूसरी दोपहर समय कुछ समय के लिए सोने की कम जरूरत। यही कारण है कि रात की सामान्य नींद लेते हुए भी हम दोपहर को उनींदे से महसूस करते हैं और अर्द्धजड़ित से हो जाते हैं। हमारे कार्य करने की क्षमता घट जाती है। इसी समय यंत्र मापन, रेलवे वार्निंग सिगनल, लेखा-जोखा संबंधी कार्यों में सर्वाधिक चूक देखी जाती है, विशेषकर सड़क दुर्घटनाएँ इसी समय सबसे अधिक घटित होती हैं। एक अध्ययन के अनुसार सड़क दुर्घटनाओं में शराब के अलावा झपकी लेना दूसरा प्रमुख कारण है।

दोपहर को नींद की कम आवश्यक जरूरत को हम झपकी द्वारा पूरा कर सकते हैं। इससे हमारी शारीरिक थकान तो दूर हो जाती है, साथ ही मानसिक क्षमता में भी वृद्धि हो जाती है। द सर्कर केऊर हॉस्पीटल मांट्रियल के नींद विशेषज्ञ रोजर गॉडवॉडर और जैक्स मांट प्लेजिर के अनुसार जो लोग झपकी लेते हैं, उनका मानसिक सर्तकता का सूचक मानक 'रिएक्शन टाइम' अधिक पाया जाता है और दोपहर को लिए गए परीक्षणों में झपकी न लेने वालों की अपेक्षा वे गलतियाँ भी एक तिहाई कम करते हैं।

झपकी हमारे मूड में भी आशांजनक सुधार लाती है। इससे मिलने वाली ताजगी हमारे संबंधों को अधिक मधुर एवं सफल बनाती है। सेंट लाउस के मनोवैज्ञानिक जॉन टी. टॉव व उनके सहयोगी शोधार्थियों के अनुसार झपकी लेने वाले झपकी न लेने वालों की अपेक्षा अधिक स्मरण शक्ति दिखाते हैं, साथ ही अधिक प्रसन्न भी नजर आते हैं।

झपकी लेने का शारीरिक स्वास्थ्य से भी सीधा संबंध है। यूनान में आधे लोग झपकी लेते हैं और आधे नहीं। वहाँ पर किए गए अध्ययन के अनुसार जो व्यक्ति प्रतिदिन आधा घंटा या अधिक झपकी लेते हैं, उनमें कोरोनरी हृदय रोग की संभावना कम पाई गई। भूमध्यसागरीय और उष्णकटिबंधीय देशों में लोग दोपहर के समय विश्राम करते हैं, अधिकांश लोग इस समय झपकी लेते हैं। उत्तरी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में झपकी लेना एक स्वस्थ परंपरा नहीं मानी जाती। स्वास्थ्य संबंधी आँकड़ों के अनुसार भूमध्यसागरीय एवं उष्णकटिबंधीय देशों में कोरोनरी हृदय रोग उत्तरी यूरोप व अमेरिका की अपेक्षा कम होते हैं।

यह मान्यता उचित नहीं है कि झपकी लेने वाले आलसी, रुग्ण या जराग्रस्त होते हैं। अमेरिका में हुए एक प्रयोग के अनुसार वहाँ तीन-चौथाई लोग झपकी इसलिए लेते हैं कि पाली वाले कार्य, रात्रि के समय देर तक अध्ययन या शिशुचर्या के कारण वे पूरी नींद नहीं ले पाते हैं। दूसरों में अधिकांश शौकिया तौर पर झपकी लेते हैं, लेकिन ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला कि वे किसी भी तरह झपकी न लेने वालों से अधिक सुस्त या अकर्मण्य थे।

झपकी अनिद्रा रोग का एक महत्त्वपूर्ण निदान है। मैक्स प्लैंक इंस्टीट्यूट फॉर साइकिएट्री, म्यूनिच के युवा मनोवैज्ञानिक डॉ. जर्गन जूली के अनुसार झपकी द्वारा

लिए गए नींद के हलके डोज हमारे अनिद्रा रोग को बहुत कुछ ठीक कर सकते हैं। डॉ. जूली ने चार घंटे के अंतराल में प्रात: ९ बजे, दोपहर १ बजे व सायं ५ बजे झपकी के लिए रखे हैं। उनके अनुसार हमें प्राकृतिक ऊँघाई के क्षणों से काफी-चाय या व्यायाम द्वारा नहीं जूझना चाहिए। कुरसी पर बैठे-बैठे पीठ के सहारे एक छोटी-सी झपकी बेहतर है, लेकिन बहुत छोटी झपकी अधिक सहायक नहीं होती। ५-१० मिनट की 'केटनेप' के ऊपर प्रयोग कर देखा गया कि नींद से वंचित लोगों की स्थिति में इससे कोई सुधार नहीं होता।

झपकी कब लें, इसके संदर्भ में विशेषज्ञों की राय जानना आवश्यक है। विशेषज्ञों के अनुसार झपकी तब ली जाए, जब इसकी आवश्यकता सर्वाधिक महसूस की जाए। पेन्सिलवेनिया यूनिवर्सिटी के मनोचिकित्सक मार्टिन ऑर्न के अनुसार रोगनिरोधक झपकी सतर्कता के पुनर्स्थापन में अधिक सहायक होती है। आर्न के अनुसार बहुत थकने से पूर्व ली गई झपकी थकावट को रोक देती है।

झपकी के कई लाभ के साथ इसमें कुछ कमियाँ भी हैं, जिनके प्रति ध्यान देना जरूरी है। अधिकांश लोग जागने पर भी एक नशे में रहते हैं। नींद विशेषज्ञ इसे निद्रा जड़त्व कहते हैं। अत: यदि हमें अचानक उठकर किसी जटिल मशीन या यांत्रिक क्रिया को संचालित करना हो, तो उससे पूर्व झपकी लेना खतरनाक सिद्ध हो सकता है, क्योंकि अर्द्धचेतना में यह एक गंभीर दुर्घटना का कारण बन सकती है। अत: काम के समय यदि हम उनींदे महसूस कर रहे हों, तो झपकी ले सकते हैं, लेकिन इसके बाद १०-१५ मिनट तक इंतजार कर 'निद्रा जड़त्व' समाप्त होने पर कार्य शुरू कर सकते हैं।

दूसरा, झपकी गहन नींद की आवश्यकता को भी कम कर देती है, अत: अनिद्रा रोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिए झपकी रात में सोने की समस्या को और जटिल कर सकती है।

इस तरह झपकी की त्रुटियों को भी ध्यान में रखते हुए हम अपनी सुविधानुसार झपकी लेकर नींद व थकान को पूरा कर सकते हैं और शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक स्फूर्ति के साथ जीवन को अधिक सफलतापूर्वक एवं सानंद जी सकते हैं।

⁂

रामकृष्ण परमहंस से एक बार उनके एक परिचित ने पूछा, महाराज, आप अपनी पत्नी के साथ गृहस्थ जीवन क्यों नहीं बिताते?

प्रश्न सुनकर परमहंस कुछ पल चुप रहे, फिर मुसकराते हुए बोले कि तुमने कार्तिकिय का किस्सा सुना है? एक दिन बालक कार्तिकिय ने खेल-खेल में एक बिल्ली को नोंच-खरोंच दिया। घर आए, तो अपनी माँ का मुख देखकर हैरान रह गए। माँ के गालों पर नाखूनों की खरोंच के वैसे ही निशान पड़े थे। कार्तिकिय ने आश्चर्य से खरोंच के निशानों का कारण पूछा, तो माँ बोली, बेटा यह तेरा ही कार्य है। तूने ही तो अपने नाखूनों से मुझे नोंचा है।

मैंने नोंचा है? बालक कार्तिकिय का आश्चर्य और बढ़ा। अविश्वास के स्वर में बोला, मैंने तुमको कब नोंचा?

क्यों, भूल गया क्या? आज तूने बिल्ली को नोंचा-खरोंचा नहीं था?

बिल्ली को तो जरूर नोंचा था....... कार्तिकिय ने उसी स्वर में कहा, लेकिन तुम्हारे गालों पर निशान कैसे पड़ गए?

अरे बेटा, माँ बोली, मेरे सिवा इस संसार में और है ही कौन? सारा संसार मेरा ही स्वरुप है। यदि तू किसी को सताता है, तो मुझे ही तो सताता है।

कार्तिकिय से कुछ कहते न बना। निश्चय कर लिया उसने, मैं विवाह ही नहीं करूँगा। संसार की सब स्त्रियाँ जब मातृवत् हैं, तो विवाह करूँ भी तो किसके साथ?

रामकृष्ण ने इतना कहकर कारण बताया, कार्तिकिय के समान मेरे लिए भी संसार की सारी स्त्रियाँ मेरी माँ के समान हैं। तुम्हीं बताओ, गृहस्थ जीवन किसके साथ बिताऊँ?

क्रिया-प्रतिक्रिया

प्रतिध्वनि का दर्शन

सूफी फकीर जुन्नैद एक बार पहाड़ों की ओर गए। उनके कुछ शिष्य साथ में थे। पहाड़ों पर छाए नैसर्गिक सौंदर्य ने सभी के मन को अनूठे उल्लास से संवेदित कर दिया। हरी घास के बीच सिर उठाए खड़े छोटे-बड़े पेड़ हवाओं के साथ बड़ी मस्ती में झूम रहे थे। साँझ के सूरज की रश्मियाँ पेड़ों की डालों और पत्तियों से कुछ इस तरह से गले मिल रही थीं, जैसे वे उनसे चलते-चलते विदाई ले रही हों। समां अनोखा था। सभी शिष्य अपने सद्गुरु को घेरे खड़े थे, लेकिन फकीर जुन्नैद उन सभी से बेखबर किसी दूसरी ही दुनिया में खोए थे।

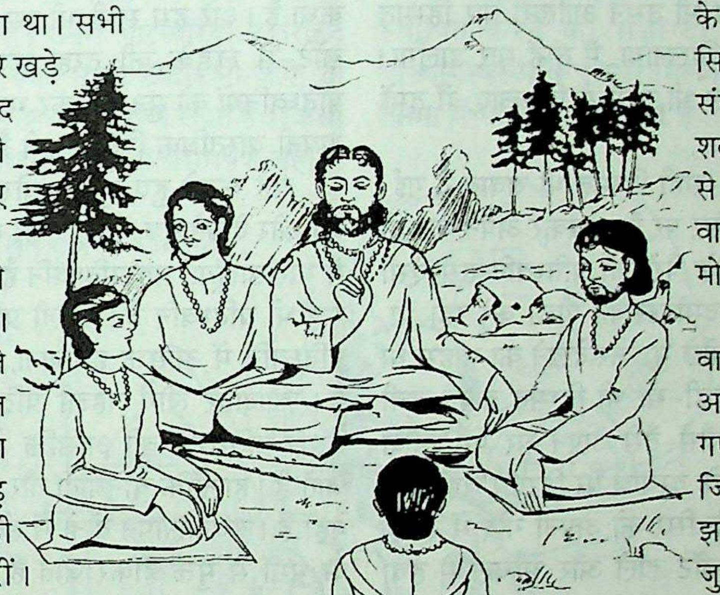

तभी शिष्यों में से किसी एक को खेल सूझा। उसने अपने मुख से कुत्ते के भौंकने की आवाज निकाली। अगले ही क्षण जैसे अचरज हुआ, पहाड़ में कुत्ते के भौंकने की असंख्य ध्वनियाँ उभरीं। दरअसल यह पहाड़ों में गूँजने वाली प्रतिध्वनि थी। जो कुत्ते की आवाज निकालने की प्रतिक्रियास्वरूप उभरी थी। यह खेल एक दूसरे शिष्य को भी अच्छा लगा। उसने अपने गले से कोयल की सुरीली आवाज निकाली। पहाड़ों में अनोखी रीति से कुहू-कुहू की मधुर ध्वनि गूँज उठी।

शिष्यों का यह खेल देखकर फकीर जुन्नैद मुसकरा उठे। क्षणभर रुककर वह कुछ सोचते हुए बोले, "बच्चो, संसार की रीति भी यही है। उसकी ओर हम जो भी फेंकते हैं, हम पर वही किसी-न-किसी तरह से वापस लौट आता है। फूल-फूल ले आते हैं और काँटे सब ओर काँटे बिखरा देते हैं। प्रेमपूर्ण हृदय के लिए सारा जगत् प्रेम की वर्षा करने लगता है और घृणा से भरे व्यक्ति के लिए सब तरफ पीड़ादायी लपटें जलने लगती हैं।"

जुन्नैद की बातों ने सभी शिष्यों के मनों को एकबारगी खींच लिया। खेल में लगी उनकी मानसिक वृत्तियाँ अपने सद्गुरु की बातों की ओर बरबस आकर्षित हो गईं। सभी की सोच का रुख बदल गया। इतनी देर में प्रकृति भी अपना रुख बदलने लगी थी। साँझ के आकर्षण में बँधकर सूरज कहीं पश्चिम दिशा में छिप गया था। अब कहीं किसी तरफ उसके दर्शन नहीं हो रहे थे। स्वयं संध्या ने भी निशा के परिधान पहन लिए थे। सितारों और चाँद के सुयोग-संयोग से उसका सौंदर्य शतगुणित हो गया था। चाँद से बरसती चाँदनी ने सारे वातावरण में एक अलौकिक मोहकता भर दी थी।

इस परिवर्तित वातावरण में शिष्यगण भी अपने सद्गुरु को घेरकर बैठ गए। सभी के मुख पर जिज्ञासा की सघन आभा झलक रही थी। फकीर जुन्नैद भी अपने शिष्यों की भावदशा से वाकिफ थे। आखिर शास्त्रवचन एवं सत्पुरुष भी तो सद्गुरु को इसी रूप में पहचानने पर बल देते हैं। उनका कहना है कि सद्गुरु वही है, जो शिष्यों की अंतर्दशा पहचाने। उनकी मनोभूमि को उर्वर बनाकर उसमें ज्ञान के बीज बोए। इन बीजों के अंकुरण की उचित व्यवस्था जुटाए। उन्हें अपने तप-साधन का खाद-पानी दे।

इसी उद्देश्य से जुन्नैद उन्हें एक बोध कथा सुनाने लगे। सभी शिष्य अपने सद्गुरु के वचनों को सुनने के लिए उत्सुक थे। जुन्नैद उनसे कह रहे थे- एक बार एक छोटा लड़का पहली दफा अपने गाँव के पास वाले जंगल में गया। वह एकांत से काफी ज्यादा भयभीत हो रहा था। जंगल में उभरने वाली आहटें और आवाजें उसे बार-बार चौंका देती थीं। अभी उसने कुछ ही कदम आगे बढ़ाए थे

कि उसे झाड़ियों में कुछ सरसराहट जैसी आवाज सुनाई पड़ी। उसने सोचा, जरूर कोई व्यक्ति मेरा पीछा कर रहा है। अपनी इस आशंका से भयभीत होकर वह जोर से चिल्लाया, कौन है ? उसकी आवाज जंगल के पास वाली पहाड़ियों से टकराई और चारों ओर जोरदार प्रतिध्वनि गूँज उठी, कौन है ?

अब तो उसे वहाँ पर किसी के छिपे होने का पूरा-पूरा यकीन हो गया। डरा हुआ तो वह पहले से ही था। अब तो उसके हाथ-पाँव काँपने लगे। दिल की धड़कनें भी एकबारगी बढ़ गईं, लेकिन अपने को हिम्मत देने के लिए उसने अपनी कल्पनाओं के अनुसार छिपे हुए आदमी से कहा, डरपोक कहीं का। जवाब में प्रतिध्वनि हुई, डरपोक कहीं का। इस प्रतिध्वनि को सुनकर वह कुछ ज्यादा ही डर गया। फिर भी उसने आखिरी बार हिम्मत करके शक्ति जुटाई और चिल्लाया, मैं तुम्हें मार डालूँगा। उत्तर में पहाड़ और जंगल भी जोरों से चिल्लाए, मैं तुम्हें मार डालूँगा।

अब तो उसकी रही-सही हिम्मत भी जवाब दे गई। वह लड़का उलटे पाँव सिर पर पैर रखकर अपने घर की ओर भागा। उसके खुद के पैरों की प्रतिध्वनि उसे ऐसी लगती थी, जैसे वह आदमी उसका पीछा कर रहा था, लेकिन अब उसमें न तो पीछे मुड़कर देखने का साहस था और न ही लौटने की थोड़ी-सी भी हिम्मत बाकी बची थी। भागते-भागते वह जैसे-तैसे अपने घर पर पहुँचा और हाँफता-हाँफता घर के दरवाजे पर गिरकर बेहोश हो गया। उसकी माँ ने उसके सिर को अपनी गोद में रखा। उसके मुँह पर पानी के छींटे डाले और आँचल से हवा की। जैसे-तैसे उसको होश आया।

होश में आने पर उसने सारी बातें अपनी माँ को बताईं। सारा किस्सा सुनकर माँ बहुत जोरों से हँसी और बोली, ''अरे बस इतनी-सी बात। इसमें इतना डरते क्यों हो ? कल तुम फिर से वहीं जाना और जो मैं बताऊँ, वह तुम उस रहस्यमय व्यक्ति से कहना। मैं तो उससे भलीभाँति परिचित हूँ। वह तो बहुत ही भला और प्यारा आदमी है।'' माँ की बात सुनकर वह लड़का फिर से उसी जंगल में गया। अबकी बार उसने जाकर कहा, ''मेरे प्यारे मित्र।'' जवाब में प्रतिध्वनि हुई, मेरे प्यारे मित्र। इस मैत्रीपूर्ण ध्वनि ने उसे आश्वस्त किया। उसकी हिम्मत और शक्ति बढ़ गई। अबकी बार उसने कहा, ''मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ।'' उत्तर में पहाड़ों, जंगलों, सभी ने उसी मिठास के साथ दुहराया, मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ।

इस कथा को सुनाते हुए जुन्नैद ने अपने शिष्यों से कहा, यह प्रतिध्वनि की कथा ही तो अपने जीवन की कथा है। अरे हम सभी भी इस संसाररूपी जंगल में उस छोटे-से लड़के की तरह अजनबी हैं, जो अपनी ही प्रतिध्वनियों को सुन-सुनकर भयभीत होते रहते हैं। हमारी अपनी वास्तविक स्थिति यही है।

यह कहते हुए जुन्नैद थोड़ा गंभीर हुए और शिष्यों की ओर देखते हुए बोले, ''मेरे बच्चो, यह याद रखना कि मैं मार डालूँगा, यह प्रतिध्वनि है तो मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ, यह भी प्रतिध्वनि है। पहली प्रतिध्वनि से छूटकर दूसरी प्रतिध्वनि में आसक्त हो जाना, बचपने से छुटकारा नहीं है। ज्यादातर लोग पहली प्रतिध्वनि से घबराते हैं, तो दूसरी प्रतिध्वनि की आसक्ति में उलझकर मोहग्रस्त हो जाते हैं। हालाँकि बुनियादी तौर पर इन दोनों में कोई फर्क नहीं है। बचकानापन दोनों में ही है। जो ज्ञानी हैं, वे दोनों के भ्रमों से मुक्त होकर जीते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि जिंदगी की सचाई प्रतिध्वनि में नहीं, बल्कि स्वयं अपने आप में अंतर्निहित है।''

* * *

महान ईसाई धर्मशास्त्री संत थामस एक्विनास ने विद्वान मित्र फादर रेजिनाल्ड के सहयोग से एक पांडित्यपूर्ण शास्त्र लिखने का निर्णय लिया, परंतु शाम को सलीब के सामने प्रार्थना करने बैठे, तो भाव समाधि में ऐसे डूबे कि आँखों से अश्रुधारा बह निकली। घंटों मुग्धभाव से बैठे रहे। इसी बीच उनके विचारों में न जाने कैसे परिवर्तन हुआ कि शास्त्र लिखने का निर्णय ही बदल दिया।

रात को फादर आए और उन्होंने धर्मशास्त्र लिखने की चर्चा छेड़ी, तो संत थामस का उद्रेक फूट पड़ा, शास्त्र अब कभी न लिखा जा सकेगा। आज प्रभु-कृपा से सलीब ने मुझे यह अंतर्ज्ञान दिया है कि समग्र विश्व का कल्याण करना, उसकी आस्थाएँ एवं श्रद्धा-विश्वास जगाना ही धर्म का सार है। पांडित्यपूर्ण शास्त्र का ज्ञान तो अहंकार ही उत्पन्न करता है, जो मानव की प्रत्येक प्रकार की प्रगति में अवरोध उत्पन्न करता है।

नीर-क्षीर विवेक की अनिवार्यता

जड़-चेतन के मिलन से बने इस विश्व में गुण-दोष दोनों ही हैं। कहीं देवत्व है, कहीं असुरता। देवत्व का पोषण, अभिवर्द्धन और सम्मान किया जाना चाहिए, साथ ही असुरता की दुरभिसंधियों, कुटिल नीतियों से तथा होने वाले आक्रमणों से अपना बचाव भी करना चाहिए।

देवत्व से भरे-पूरे सज्जन पुरुष अपने आदर्श और व्यवहार पर स्थिर रहते हैं। सज्जनता की रीति-नीति से कभी विलग नहीं होते हैं। उनमें पारस्परिक टकराहट भी नहीं होती। यदि कोई स्वयं उनसे टकरा भी जाए, तो टूटते नहीं। अपनी दिव्य सत्ता को अक्षुण्ण रखते हैं। किसी भी अनात्म तत्त्व के समक्ष उनका आत्मसमर्पण नहीं होता।

आसुरी प्रवृत्ति से ग्रसित दुर्जनों की रीति इससे बिलकुल विरोधी स्थिति की होती है। ये सदा ही दूसरों से टकराने के लिए उतावले रहते हैं। इस टकराहट में दूसरों को कोई हानि भले ही न हो, पर टकराते-टकराते स्वयं तो नष्ट हो ही जाते हैं।

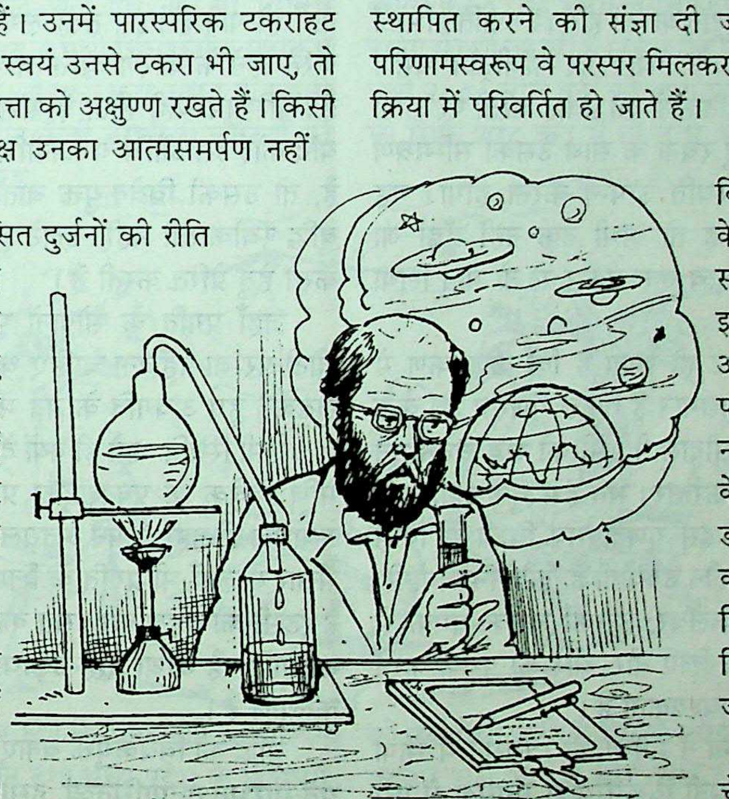

यह देवत्व और असुरत्व मात्र मनुष्यों तक ही सीमित हो, ऐसा नहीं है। विश्व-ब्रह्मांड के कण-कण में यह व्याप्त है। दैवी गुण प्रधान सज्जन पुरुषों की तरह ही परमाणु की मूलसत्ता होती है। यह अपनी विशेषताओं को नष्ट नहीं होने देती।

ये परमाणु सृजन के काम में जुटे रहते हैं। वे एकत्रित होते-जुड़ते और हिल-मिलकर रहते हैं। उनकी संगठन और सृजन की भावना ही विभिन्न पदार्थों का निर्माण करती है। नींव के पत्थरों की तरह अदृश्य और अविदित रहकर वे सृजन के कार्य में अथक रूप से जुटे हैं। इस समूचे विश्व में जो कुछ भी सौंदर्य, सुषमा गोचर होती है, वह इन्हीं छोटे-छोटे परमाणुओं के पारमार्थिक क्रिया-कलापों का ही सुखद परिणाम है।

ये नन्हे-नन्हे परमाणु एकाकी नहीं हैं। इनके भीतर और भी छोटा परिवार है। इसमें अच्छे-बुरे दोनों तत्त्वों का निर्वाह होता है। इसमें निहित इलेक्ट्रॉन-प्रोटॉन में पृथकतावादी नीति नहीं होती। इनकी परस्पर टक्कर टकराहट नहीं होती। इसे तो आपस में गले मिलने, अभिन्नता स्थापित करने की संज्ञा दी जा सकती है। इसके परिणामस्वरूप वे परस्पर मिलकर अंतःक्रिया द्वारा नवीन क्रिया में परिवर्तित हो जाते हैं।

परमाणु विद्या विशारदों ने इस परिवार के अब तक लगभग बीस सदस्य खोजे हैं। इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन के अतिरिक्त न्यूट्रॉन, पॉजीट्रॉन, मेसान, न्यूमेसान, पाई मेसान, के मेसान, हाइपरान, ड्यूट्रॉन, न्यूट्रिनो जैसे इन कणों से सारा विश्व विनिर्मित हुआ है। इन्हें विश्व भवन की ईंटें कहा जा सकता है।

इस दैवी परमाणु चेतना में एक विरोधी असुर तत्त्व भी मौजूद है। समय-समय पर यही गिरगिट की तरह नाना प्रकार के रंग बदलता है। टूटता-फूटता है और विग्रह-विद्वेष उत्पन्न करता है। कुचक्रों का यही शिकार होता है और अंततः विनाश और दुर्गति भी इसी की होती है। इस संसार में मात्र देवत्व ही नहीं, असुरत्व भी है। संभवतः इसी का परिचय देने के लिए यह प्रतिकण विद्यमान है।

परमाणु के प्रत्येक मूलकण के साथ एक प्रतिकण मौजूद रहता है। जैसे इलेक्ट्रॉन का प्रतिकण पॉजीट्रॉन,

प्रोटॉन का एंटीप्रोटॉन, न्यूट्रॉन का एंटी न्यूट्रॉन, न्यूट्रिनो का एंटी न्यूट्रिनो है। यह सभी प्रतिकण अल्पजीवी होते हैं। ये जब अपने समान सामान्य कण से टकराते हैं, तो दोनों एक दूसरे से भिड़ जाते हैं और भयंकर विस्फोट उत्पन्न होता है। इसी से विकिरण उत्पन्न होता है और भयानक ऊर्जा फैलती है।

ये विरोधी कण आते कहाँ से हैं? क्यों अवरोध उत्पन्न करते हैं? कुछ समझ में नहीं आता। विज्ञानवेत्ताओं का अनुमान है कि इस ब्रह्मांड में शायद कोई अन्य विश्व ऐसा है, जिसे सर्वथा विपरीत प्रतिविश्व कहा जा सके। उसकी संरचना इन विपरीत प्रकृति के प्रतिकणों से हुई होगी। वहाँ सब कुछ यहाँ से उलटा ही होगा। इस लोक में सारा पदार्थ एंटी मैटर होगा। वहाँ के नाभिक एंटी प्रोटॉन और एंटी न्यूट्रॉन के बने होंगे। उन प्रतिनाभिकों के इर्द-गिर्द इलेक्ट्रॉन के स्थान पर पॉजीट्रॉन भ्रमण करते हैं। वहीं से यह प्रतिकणों का प्रवाह धरती पर आता होगा और यह कि अणु रचना के साथ उसका सम्मिश्रण यह परस्पर विरोधी स्थिति उत्पन्न करता होगा। यह प्रतिविश्व कहाँ है? यह तो अभी तक नहीं ढूँढ़ा जा सका, पर उसका अस्तित्व एक प्रकार से तो मान लिया गया है।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि कण-कण में परस्पर विरोधी तत्त्व विद्यमान हैं। कुछ गुणमय हैं। कुछ दोषमय। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी को **जड़ चेतन गुन दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार। संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥** इस गुणदोषमय विश्व में किसे स्वीकारें, किसे छोड़ें? कौन उपयोगी है, कौन निरुपयोगी। इसका निर्धारण बाह्य कलेवर, उसकी चमक-दमक से होना असंभव है। इसके लिए नीर-क्षीर को पृथक करने में समर्थ विवेक की आवश्यकता है।

यह विवेक परमात्मा ने मनुष्य को विरासत में सौंपा है। जिसके द्वारा वह अपनी विकासयात्रा सुगमता से पूरी कर सकता है। इसका अंजन लगाने से वह दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, जिससे यात्रापथ के अवरोध समझ में आ जाते हैं। संभव है यह अवरोध आकार-प्रकार की दृष्टि से लुभावने दिखें, पर यथार्थ में होते अवरोध ही हैं। इनसे बचना ही उत्तम है, अन्यथा मंजिल पा सकना दुष्कर ही नहीं असंभव भी होगा। इनको त्याज्य मान त्याग करने में ही कल्याण है।

परमात्मा ने गुण-दोषमय विश्व की इस प्रकार की अद्भुत संरचना संभवतः मनुष्य के विवेक परीक्षण के लिए ही की है। सामान्यतः देखा यही जाता है कि हम इस परीक्षण में अनुत्तीर्ण घोषित हो जाते हैं। कारण कि विवेक की जगह चालाकी, धूर्तता अपनाने लगते हैं। परिणामस्वरूप गुण-दोषों का विवेचन तो बन नहीं पड़ता। गुणों की जगह दोष ही संग्रहीत करते जाते हैं। हमारी स्थिति दुर्योधन की तरह बन पड़ती है, जो युधिष्ठिर की राजसभा में जल के स्थान पर थल और थल के स्थान पर जल के विभ्रम में आकर जगह-जगह ठोकर खाता और गिरता फिरा। उसकी जगहँसाई भी खूब हुई। इसमें उसने अपनी गलती तो स्वीकार नहीं की, उलटे तथ्य समझाने पर महाभारत रचा डाला।

इसी तरह हम भी संसार की चकाचौंध के सम्मोहन जाल में फँसकर, गुण-दोषों का विभेद करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। इस तरह लगातार दोषों को ही इकट्ठा करते रहने के कारण व्यक्तित्व भी असुरता से भरने लगता है। परिणाम यही होता है संसार हमारे ऊपर हँसता है। यदि कोई इस औचित्य-अनौचित्य का भेद समझाने आता है, तो उसकी विवेकयुक्त बातों को सम्मोहित-विभ्रमित बुद्धि स्वीकारती नहीं, उलटे क्रोधित हो, लड़ाई-झगड़ा करने हेतु प्रेरित करती है।

जहाँ प्रगति के सोपानों पर चढ़ते हुए उत्कर्ष की चोटी पर जा पहुँचना चाहिए था, वहीं अपने स्थान से भी लुढ़कते हुए अवगति के गर्त में गिरते जाते हैं।

ऐसी स्थिति आने ही क्यों दें? परमात्मा की ही अमूल्य मणि विवेक के प्रकाश का प्रयोग कर बाह्य जगत् की यथार्थता ही नहीं, अपने अंतराल की यथार्थता को पहचानें। संसार में जहाँ भी प्रगति के लिए उपयोगी और आवश्यक है, उसी को ग्रहण करे। संत कबीर के शब्दों में, **सार सार को गहि रहै थोथा देहि उड़ाय** की नीति अपनाने में ही कल्याण है।

बुद्धि को विवेकयुक्त बनाएँ, तभी नीतिकार की उक्ति, **यत् सारभूतं तदुपासितव्यं, हंसो यथा क्षीरमिवांबुमिक्षं** का भलीभाँति पालन कर सकना संभव बन पड़ेगा। ऐसा बन पड़ने से असुर-सत्तासंपन्न दुनिया, जो बाहर भी है और भीतर भी, की सारी कोशिशें नाकामयाब हो जाएँगी। फिर तो दोषपूर्ण असुरता स्पर्श भी न कर पाएगी। प्रगति का पथ प्रशस्त हो जाएगा। यात्रा सुगम और सहज बन पड़ेगी। इस सुगमता और सहजता के लिए हर किसी को विवेक का इस्तेमाल करने की हंस जैसी रीति-नीति अपनानी चाहिए। इसी में कुशलता और सार्थकता है।

❁

प्रवासी पक्षियों की ये नैसर्गिक यात्राएँ

अपनी रोजमर्रा की जिंदगी से दूर कुछ दिन कहीं प्रवास पर जाकर सुकून के दिन बिताना किसे अच्छा नहीं लगता ? बदलाव की यह नैसर्गिक आकांक्षा सिर्फ इंसानों में ही नहीं, अपितु पक्षियों में भी पाई जाती है । तेज बारिश एवं कड़ी धूप में भी हजारों मील का सफर तय करके पक्षी अपने पर्यटन की आकांक्षा पूरी करते हैं ।

भारत में शरद ऋतु के प्रारंभ होने के साथ ही प्रवासी विदेशी पक्षियों का आना शुरू हो जाता है। भारत के विभिन्न अभ्यारण्यों के जल-थल एवं नभ पर विविध गूँजन, कूक-कलरव क्रीड़ारत ये पक्षी चित्ताकर्षक महाकुंभ का दृश्य उपस्थित करते हैं । ये पक्षी कुछ समय के प्रवास के लिए १५-२० हजार फीट ऊँची बरफीली चोटियों को पार कर टील्स, गीज, पोचाड़, केंस, पेलिकेंस आदि नामों से मध्य एशिया एवं उत्तरी यूरोप से भारत के आंतरिक क्षेत्रों में आते हैं । पंजाब से केरल तथा गुजरात से असम तक ये पक्षी अपने अनुकूल स्थानों को प्रवास के लिए चुन लेते हैं । उदाहरण के लिए, राजस्थान के भरतपुर क्षेत्र के घना पक्षी अभ्यारण्य व केवला देव राष्ट्रीय उद्यान तथा मध्य प्रदेश के शिवपुरी क्षेत्र की दिहाला झील और बरखेड़ा तालाब में प्रतिवर्ष सौ प्रकार की जातियों से भी अधिक के पक्षी प्रवास हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं ।

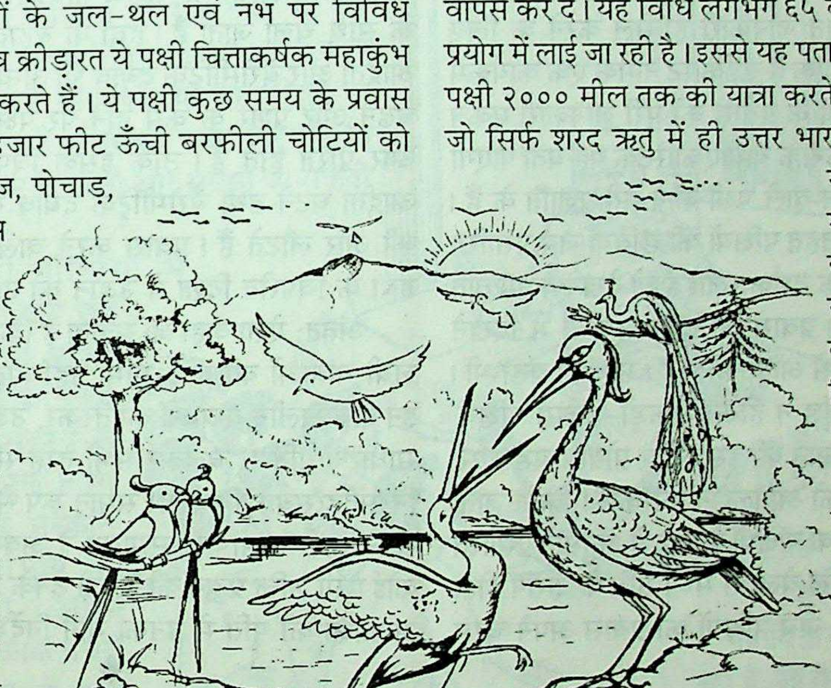

काफी समय से वैज्ञानिक यह जानने का प्रयत्न कर रहे हैं कि ये पर्यटक पक्षी किन कारणों से इतनी लंबी यात्राएँ करते हैं ? इनका मार्ग निर्देशन कौन करता है ? कौन इन्हें उपयुक्त समय की सूचना देता है ? किस प्रयोजन से बच्चे, बूढ़े-जवान पक्षी अपनी मंजिल की ओर द्रुतगति से चले जाते हैं । पक्षी विशेषज्ञों ने इस पर्यटन के संबंध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए निरंत अनेक प्रयोग किए, किंतु इस संबंध में बहुत-सी बातें अभी भी अबूझ हैं ।

इसके लिए एक तरीका अपनाया गया है, जो लाभदायक सिद्ध हुआ है और वह है इन पर्यटक पक्षियों के पैरों में धातु के बने छल्ले पहना देना। छल्ले पर, छल्ले पहनाने वाले का नाम, पता व छोटा-सा अनुरोध लिखा रहता है कि यदि कोई इस पक्षी का शिकार करे या कैद करे, तो इस छल्ले पर लिखे पते पर शिकार के स्थान का उल्लेख करते हुए वापस कर दे। यह विधि लगभग ६५ वर्षों से सफल रूप से प्रयोग में लाई जा रही है। इससे यह पता चलता है कि पर्यटक पक्षी २००० मील तक की यात्रा करते हैं। कई खंजन पक्षी जो सिर्फ शरद ऋतु में ही उत्तर भारत में दिखाई देते हैं, सुदूर साइबेरिया में मारे गए। उनके पैर के छल्लों को देखने से यह मालूम हुआ कि वे छल्ले उन्हें जाड़े के दिनों में सिंधु तीर पर भारत में पहनाए गए थे। यह भी पता चला है कि कुछ पक्षी २७००० मील तक का सफर भी करते हैं।

इंगलैंड में पक्षियों की एक ऐसी जाति है जिसमें वयस्क और बूढ़े पक्षी पहले उड़कर चले जाते हैं और बच्चे को अपने पीछे आने का आदेश दे जाते हैं। यह बच्चे बिना किसी अनुभव के लंबे अनजान रास्तों को तय करते हैं और परिवार के वयस्कों के पास ठीक जगह पर जा पहुँचते हैं। किस प्रकार यह अपना मार्ग सही-सही तय कर लेते हैं, यह जानकारी अभी पूरी तरह नहीं मिल पाई है। सैलानी पक्षी समूह में तथा एकाकी प्रतिवर्ष हजारों-लाखों की संख्या में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की यात्रा करते हैं। हिमालय की ऊँचाइयाँ एवं प्रशांत महासागर की गहराइयाँ भी इनके मार्ग की बाधाएँ नहीं बन पातीं। ये पक्षी वर्ष की किसी

ऋतु विशेष में देखने को मिलते हैं। ऋतु समाप्त होते ही अदृश्य हो जाते हैं और दूसरे वर्ष उसी ऋतु के आरंभ होते ही पुन: आ जाते हैं।

छोटी-छोटी चिड़िया जैसे गौरैया आदि फसल तैयार होने का समय आते ही किसी अज्ञात प्रेरणाशक्ति द्वारा शहरी इलाकों को छोड़कर ग्रामीण क्षेत्रों की ओर उड़ जाती हैं। ऐसा ये इसलिए करती हैं ताकि उन्हें खेत में गिरे दाने अथवा फसल चुगने का अवसर मिले, फसल कट जाने के बाद जब खेत अन्न कणों से रिक्त हो जाते हैं, तब वे पुन: वापस लौट जाती हैं। भारत के प्रमुख पर्यटक पक्षियों में खंजन, राजहंस एवं चक्रवाक हैं। हंसों का सबसे प्रिय निवास स्थान मानसरोवर है।

छल्ले पहचानने के अतिरिक्त कुछ और परीक्षण भी इस विषय की विस्तृत जानकारी हासिल करने के लिए किए गए हैं। इनमें से एक है बर्डकास्ट नामक एक कार्यक्रम द्वारा राडारों से पक्षियों के प्रवास की पूरी जानकारी एकत्र करना। एक अन्य तकनीक बायोएकास्टिक यह बता पाएगी कि आसमान में उड़ने वाले पक्षी कौन-सी प्रजाति के हैं। बर्डकास्ट प्रोग्राम के तहत पक्षियों की छवियाँ जब प्रसारित की गईं, तो मेरीलैंड के दर्शक स्लाइड शो देखने के पश्चात काफी प्रभावित हुए। प्रवास का दृश्य सूर्यास्त में दिखने वाले पक्षियों के झुंड से अलग होता है। साथ ही बड़ा भी। ये सिर्फ एक छोटा झुंड न होकर सैकड़ों-हजारों पक्षियों का होता है। पक्षी विज्ञान की इस राडार प्रोग्राम बर्डकास्ट के द्वारा पक्षी प्रवास को ऑनलाइन फोरकास्ट किया जाता है। यह मध्य एटलांटिक पक्षियों के बारे में अनुमान प्रसारित करता है जो कि गोधूलि वेला से मध्य रात्रि के दौरान होता है। यह वह समय है, जब पक्षियों का प्रवास अपने चरम पर होता है।

बर्डकास्ट बेवसाइट पक्षियों की राडार छवियाँ उपलब्ध कराती है। यह छवियाँ राडार स्टेशनों से डाउनलोड की जाती हैं, जिससे कि नेशनल वेदर सर्विस द्वारा पहले दिन की भविष्यवाणी की सत्यता का मिलान किया जा सकता है। इस पूरे प्रोग्राम के बारे में इस प्रोजेक्ट के मुख्य सिडनी ए. गोथरॉक्स का कहना है कि हमारी भविष्यवाणियाँ विस्मयकारी रूप में सही साबित हो रही हैं। ये भी सही है कि इन भविष्यवाणियों का आधार जलवायु पूर्वानुमान रहता है। मौसम पक्षी-प्रवास में एक बड़ा फैक्टर है।

गोथरॉक्स कहते हैं कि यदि वाकई प्रवास हेतु स्थितियाँ अच्छी हैं और एक पक्षी के पास उड़ने के लिए बहुत कम ऊर्जा शक्ति है, तो भी वह दो सौ मील तेज हवा के बहाव के साथ चला जाता है। हवा के बहाव के साथ तापमान आर्द्रता और बैरोमीट्रिक दबाव भी अन्य कारक हैं। आर्द्रता बढ़ने और प्रेशर के कम होने पर पक्षी ठंढ में उत्तर की ओर प्रेरित होते हैं। ठीक इसके विपरीत तापमान और आर्द्रता घटने तथा बैरोमीट्रिक दबाव के बढ़ने से दक्षिण की ओर लौटते हैं। प्रवास करने वाले पक्षी तूफान और हवा के विपरीत दिशा में उड़ान को टालते हैं।

अंतत: ऐसा कहा जा सकता है कि पक्षियों की लंबी-लंबी यात्राओं की कोई सीमा नहीं होती। ये पक्षी अपनी इन दीर्घकालीन यात्राओं को तैरकर, उड़कर, दौड़कर तथा साधारण गति से चलकर सभी तरह से सफल बनाते हैं। नि:संदेह सब प्राणियों पर समान रूप से अपनी कृपा दृष्टि रखने वाले परमपिता परमात्मा ने अवश्य ही पक्षियों को कोई ऐसी शक्ति प्रदान की है, जो उनके प्रवास की नैसर्गिक आकांक्षा की पूर्ति में उनका मार्ग निर्देशन करती हैं।

◆

एक बार की बात है। वांग ली नाम का एक योद्धा संत कंफ्यूशियस के पास गया और बोला, स्वर्ग और नरक की परिभाषा बताइए।

संत ने कहा, तुम योद्धा कहाँ हो? भिखारी जैसे लगते हो। इस पर वांग ली आग-बबूला हो गया और म्यान से तलवार निकाल ली। कंफ्यूशियस ने कहा, यह तलवार नकली है, मेरी गरदन नहीं काट सकती।

वांग ली कुछ देर शांत रहा और विचार करके तलवार म्यान में डाल ली।

कंफ्यूशियस ने कहा, देख लिया न। जब तुम आग-बबूला होकर तलवार चमका रहे थे, तब नरक में थे और जब सूझ-बूझ से काम लेकर तलवार म्यान में डाल ली, तब तुम स्वर्ग में पहुँच गए।

अलौकिक चेतना में रमा-बसा दिव्य तीर्थ धाम

हवाओं में काफी मात्रा में ठंढ घुल चुकी थी। भगवान सूर्यदेव द्वारा उदारतापूर्वक दी गई मखमली धूप वाली चादर के बावजूद यदा-कदा ठंढ का तीखा अहसास देह और मन को बींध देता था। हालाँकि ठंढ के इस अहसास के बाद भी वर्ष १९८९ के दिसंबर महीने के ये शुरुआती दिन बड़े ही सुखद, आश्चर्यजनक एवं आनंदपूर्ण थे, क्योंकि इन दिनों आनंद के सघन घन परमपूज्य गुरुदेव की गोष्ठियों में प्रतिदिन नियमित-निरंतर बरस रहे थे। गुरुदेव की ये गोष्ठियाँ हर रोज होती थीं और इनमें भागीदार होने वालों के तन-मन-अंत:करण आनंद की फुहारों से भीग जाते थे। यह जीवन का ऐसा अनुभूत सत्य है, जिसकी कथा अनुभूति के स्तर पर ही कही, सुनी, जानी और समझी जा सकती है।

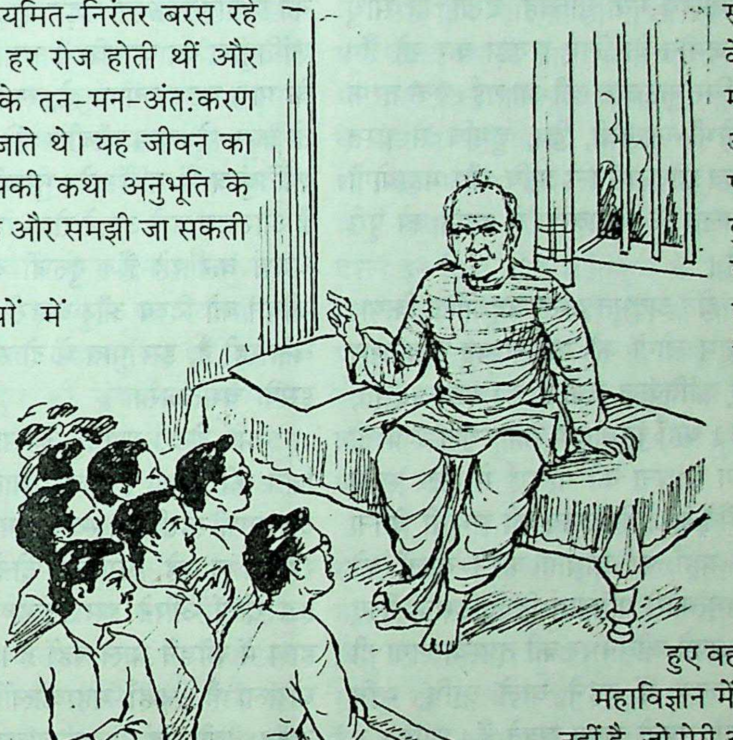

गुरुदेव की गोष्ठियों में इंद्रधनुषी रंगों की छटा छाई रहती थी। बड़ा ही अद्भुत होता था इन रंगों का रंजन, समंजन और सामंजस्य का वैविध्य। कभी मुक्त हास्य, कभी मृदु-मधुर मुस्कान, कभी नीरव गांभीर्य की चुप्पी, कभी अग्नि स्फुल्लिंगों-सी उनके वचनों की दाहक ऊष्मा, तो कभी किसी रहस्यमय अलौकिक लोक से अवतरित होती उनकी शब्द चेतना। कुल मिलाकर उनकी गोष्ठियों की ये कथाएँ इतनी अकथ हैं कि कथाओं के कुछ अंशों को ही कहा और सुना जा सकता है, वह भी अनुभूति रस में अपने मन-प्राणों को डुबाकर। जिस दिन की अमृत कथा हम आपको सुना रहे हैं, वह दिन बड़ा ही सौभाग्यशाली था। परमपूज्य गुरुदेव साधनामय जीवन के कुछ रहस्यमय सूत्र बता रहे थे।

अपनी बातों के प्रसंग में साधना का यह नया प्रसंग जोड़ते हुए बोले, पहली बात तो तुम लोग यह जान लो कि साधना कुछ धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने का नाम नहीं है। यह करने का नाम है। किताबों में तरह-तरह की मिठाइयों के लिखे हुए नाम और उनके भाँति-भाँति के चित्र पढ़ने-देखने से किसी भी मिठाई का कोई स्वाद नहीं मिलता। उसके लिए हलवाई की दुकान पर जाना पड़ता है, जेब के पैसे खरच करने पड़ते हैं, तब कहीं मिठाई मिलती है और उसे खाकर स्वाद का आनंद मिलता है। ठीक यही बात साधना के बारे में है। केवल गायत्री महाविज्ञान पढ़ने से, अखण्ड ज्योति के पन्ने उलट लेने से कुछ खास होने वाला नहीं है। गायत्री महाविज्ञान में जो लिखा है, उसे भावभरी श्रद्धा एवं दृढ़ संकल्प के साथ लंबे समय तक करके देखो, तुम्हारी पूरी जिंदगी बदल जाएगी। यह कहते हुए वह धीरे से बोले, गायत्री महाविज्ञान में ऐसा एक अक्षर भी नहीं है, जो मेरी अनुभूतियों से न गुजरा हो। उसमें लिखी हुई कोई बात हो, चाहे चौबीस हजार के लघु अनुष्ठान के बारे में हो, उसमें लिखे हुए सारे अनुशासनों को मानते हुए ये अनुष्ठान लंबे समय तक करते जाओ, फिर देखो कैसे बदलाव नहीं आता है।

गुरुदेव के ये शब्द सुनने वालों के हृदयों को सीधे बेधते हुए अस्तित्व की गहराइयों में प्रवेश की तीव्र हलचल मचा रहे थे। तभी एक प्रश्न ने बातों की दिशा को एक नया मोड़ दिया। प्रश्न था साधना में वातावरण का बहुत महत्त्व बताया जाता है? इस सवाल को सुनकर गुरुदेव किंचित् गंभीर हो गए। वातावरण में कुछ मिनटों तक एक

रहस्यमय चुप्पी छाई रही। प्रखर आध्यात्मिक तेज से परिपूर्ण गुरुदेव के नेत्रों का प्रकाश वहाँ उपस्थित जनों पर समान रूप से बिखरता रहा। मनों में समवेत ऊहापोह थी कि अब वे क्या कहेंगे ? अब कौन-सा रहस्य अनावृत होगा ?

सभी के चिंतन की इन कड़ियों को उनके शब्दों ने एक आंतरिक झंकार के साथ बिखरा दिया। वह बोल रहे थे, बेटा, वातावरण का महत्त्व असाधारण और अद्भुत है, परंतु इसे ग्रहण करने के लिए, इसे धारण करने के लिए भी योग्यता चाहिए। अब देखो, साधना के लिए सबसे अच्छा वातावरण हिमालय का माना जाता है, पर हिमालय जाने वाले, वहाँ रहने वाले सभी उसका लाभ कहाँ उठा पाते हैं ? मैं जब हिमालय गया तो वहाँ देखा, दो साधु वेशधारी थोड़ी-सी जमीन के लिए झगड़ा कर रहे हैं। यहाँ तक कि नौबत सिर फुटब्बल की आ गई। एक तरफ हिमालय में ऐसे लोभी-लालची, द्वेष, दुर्भाव से ग्रस्त लोग, दूसरी ओर उच्च साधनासंपन्न ऋषि और महायोगी भी हैं, जिन्होंने हिमालय के वातावरण में अपने को पूरी तरह से डुबा दिया है।

यह कहते हुए उन्होंने अद्भुत रहस्य उद्घाटित किया। वे बोले, बेटा, मैंने तुम लोगों को साधना का वातावरण प्रदान करने के लिए शांतिकुंज बनाया है। यह अद्भुत, संस्कारवान स्थान है। यहाँ हिमालय का स्थूल रूप तो नहीं है, पर तुम लोग साधना की गहराई में उतर सको तो देख पाओगे कि मैंने यहाँ हिमालय की समूची चेतना को उतार दिया है। यहाँ पर साधना करने वालों को शीघ्र, अद्भुत एवं चमत्कारी परिणाम मिलें, इसके लिए मैंने और माताजी ने अपने जीवनभर की तपस्या लगा दी है। यही नहीं हिमालय में रहने वाले ऋषि, मुनि एवं महायोगी भी यहाँ अपनी छाया रखते हैं। शांतिकुंज समूची धरती पर ऐसा विरल दिव्य धाम है, जो बसा तो इसी धरती पर है, पर जिसकी चेतना पूरी तरह अलौकिक है।

इन शब्दों को कहते हुए उनमें एक विचित्र भाव-परिवर्तन झलका। एक पल को वहाँ सन्नाटा पसर गया। वह थोड़ा खिन्न मन से बोले, मैंने थाली परोसकर रख दी है, पर तुम लोग खा भी नहीं सकते। यहाँ रहने वालों को देखकर मुझे तरस आता है। आ तो गए हैं, पर साधना करने की लगन नहीं है। घर से यह कहकर आए थे कि गुरुजी का काम करेंगे और साधना करेंगे। माँ-बाप को रुलाया, रिश्ते-नातेदारों को दुखी किया, पर यहाँ आकर इंचार्ज बनने के फेर में पड़ गए। जो कुँवारे हैं, वह शादी के लिए परेशान हैं। जिनकी शादी हो गई, उन्हें बच्चा चाहिए। जिनके एक बच्चा है, तो उन्हें एक की बजाय दो चाहिए। कार्यकर्त्ता, स्वयंसेवक बनने में शान नहीं महसूस करते, इंचार्ज बनना चाहते हैं। मैनेजर बनने के लिए परेशान हैं।

इन शब्दों में गुरुदेव की गहरी पीड़ा, सघन करुणा झलक रही थी। इन शब्दों में अपने बच्चों के लिए उनकी टीस और दरद था। बिना किसी विराम के वह कह रहे थे, वातावरण का लाभ लेने के लिए उसमें अपने मन को डुबाना पड़ता है। दुनिया की चिंता छोड़कर अपने भाव उसमें भिगोने पड़ते हैं। वातावरण के प्रवाह में अपने प्राणों को प्रवाहित करना पड़ता है। ऐसा करो, फिर बताओ कि शांतिकुंज का वातावरण चमत्कारी है या नहीं। तुम लोगों के पास काम ज्यादा हो, लगातार अनुष्ठान न कर सको, तो कम-से-कम चौबीस घंटे सोते-जागते यही सोचो कि शांतिकुंज में चारों ओर गुरुजी का तप-प्राण बिखरा पड़ा है और हम उसे अपने रोम-रोम से, साँस-साँस से ग्रहण-धारण कर रहे हैं। गुरुजी की तपस्या हमारे आंतरिक जीवन को दिव्य और बाहरी जीवन को नैतिक व निर्मल बना रही है, इस भाव में दो साल जीकर देखो, फिर देखो इसके चमत्कार।

अरे बेटा, शांतिकुंज साधारण जगह नहीं है। यह शिव की काशी है। जहाँ माताजी के रूप में स्वयं माता अन्नपूर्णा रहती है। स्वयं हम रहते हैं। हम दोनों की देह रहे या न रहे, पर हम दोनों यहाँ सदा-सर्वदा रहेंगे। हम दोनों अपने इस दिव्य धाम को कभी किसी भी हाल में छोड़ने वाले नहीं हैं। शांतिकुंज तो महाकाल का घोंसला है। यहाँ महाकाल स्वयं रहते हैं। सृष्टि की अनंत दैवी एवं दिव्य शक्तियाँ यहाँ हमेशा क्रियाशील रहती हैं। जो साधना करेगा, वही इस रहस्य को जान पाएगा। यहाँ छोटी-सी भी तप-साधना बड़े भारी परिणाम देगी। करके तो देखो, मन को मथने वाली गुरुदेव की इन बातों ने अंतःकरण में हलचल मचा दी। इतने वर्षों के बाद भी उस हलचल के स्पंदन अभी भी महसूस हो रहे हैं। यदि ऐसा ही कुछ आपको भी महसूस हो रहा है, तो परमपूज्य गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य करके सत् शिष्य के कर्त्तव्य निर्वहन में जुट जाइए। महासिद्ध के शिष्यों को साधक तो होना ही चाहिए। इसी में हमारी शान है।

*

ऋषियों की मूर्ति में प्रतिष्ठित है गुरुचेतना का अंश

फाल्गुन का उल्लास प्रकृति के कण-कण में थिरक रहा था। रसाल के बौर की सुगंध, नवकिसलयों की चमक, कोयल का मधुरगान इसे मुखर अभिव्यक्ति दे रहे थे। वर्ष १९८६ ई. के ये दिन सब भाँति अनूठे थे। प्राकृतिक उल्लास की यह छटा पूर्ण महाकुंभ पर्व के आध्यात्मिक उल्लास के रंगों से भीगकर और भी अधिक सम्मोहक हो गई थी। हरिद्वार में इन दिनों पूर्ण महाकुंभ के अमृतकणों की वृष्टि हो रही थी। आध्यात्मिक कथा-कीर्तन, सत्संग की मधुर ध्वनियाँ हर ओर सुनी जाती थीं। गंगा की धाराओं पर लकड़ी के पुल बन जाने से श्रद्धालुजनों का आवागमन सहज हो गया था। सप्तऋषि क्षेत्र में संव्याप्त युग-युगीन ऋषियों की तपश्चेतना इधर आने वालों के मस्तिष्क में बरबस स्पंदित हो उठती थी।

युगऋषि गुरुदेव के प्रभाव से ये स्पंदन शांतिकुंज में कुछ अधिक ही घनीभूत थे। महाकुंभ का स्वाभाविक उल्लास भी यहाँ अपेक्षाकृत शत-सहस्रगुणित था। इसका प्रधान कारण परमपूज्य गुरुदेव की चुंबकीय उपस्थिति थी। अभी वह कुछ ही दिनों पहले वसंत पंचमी के दिन अपनी सूक्ष्मीकरण साधना से बाहर आए थे। भक्तों और शिष्यों के आतुर-उत्कंठित प्राण उन महाप्राण से मिलकर एक अनोखी-आध्यात्मिक संतृप्ति का अनुभव कर रहे थे। सूक्ष्मीकरण साधना के वर्षों में प्रायः सभी से मिलना बंद था। वंदनीया माताजी के अलावा एक-दो निकटस्थ जन ही ऐसे थे, जो इन दिनों भी उनसे मिलते रहे थे। इसका कारण उनकी कई महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य कार्यों में सहभागिता थी अन्यथा समदर्शी एवं शिष्यवत्सल गुरुदेव की भावनाएँ तो सभी के प्रति समान थीं।

अब जब उन्होंने मिलना प्रारंभ किया, तो सभी से अति उदारतापूर्वक मिल रहे थे। देश के कोने-कोने से, यहाँ तक कि सुदूर देशों से भक्तजन अपने परम आराध्य सद्गुरु का दर्शन करने के लिए दौड़े-भागे चले आ रहे थे। महाकुंभ की व्यापकता में सद्गुरु के प्रेम का अनोखा कुंभ बरबस ही आयोजित हो गया था। इसमें भक्तजन अपने सद्गुरु के प्रेम-अमृत से अभिसिंचित होने के लिए, सद्गुरु के प्रेम-सरोवर में डुबकियाँ लगाने के लिए भागे आ रहे थे। शांतिकुंज-ब्रह्मवर्चस के निवासियों का तो खैर कहना ही क्या था? उनके सौभाग्य से तो देवता और सिद्धजन भी ईर्ष्या कर रहे थे। आने वाले शिष्यों-भक्तों एवं कार्यकर्त्ताओं से गुरुदेव मिलते थे। उन्हें मिशन की भावी योजनाएँ समझाते थे। गोष्ठियाँ उनकी भी होती थीं, जो शांतिकुंज में रह रहे थे। जिन्हें काम का अनुभव थोड़ा अधिक था, ऐसे वरिष्ठजनों से गुरुदेव इन दिनों प्रायः रोज ही मिल रहे थे।

उस दिन भी ऐसी ही गोष्ठी चल रही थी। शांतिकुंज एवं ब्रह्मवर्चस के प्रायः सभी वरिष्ठ कार्यकर्त्ता बैठे हुए थे। इन्हीं दिनों शांतिकुंज में गायत्री माता के मंदिर के पास के क्षेत्र में ऋषियों की मूर्तियों की स्थापना की जा रही थी। यह स्थापना प्रायः हो चुकी थी, बस प्राण प्रतिष्ठा का कार्य बाकी था। ये ऋषियों की वही मूर्तियाँ हैं, जिनके दर्शन इन दिनों लोग शांतिकुंज के ऋषिक्षेत्र में करते हैं। पहले यहाँ ये मूर्तियाँ नहीं थीं। जो लोग वर्ष १९८६ ई. से पहले शांतिकुंज आते रहे हैं, उन्हें ध्यान होगा कि इन स्थानों पर पहले विभिन्न तीर्थों के चित्र लगे हुए थे। ऋषियों की ये मूर्तियाँ सन् १९८६ के कुंभपर्व में ही स्थापित की गई थीं।

हाँ, तो ये मूर्तियाँ अपने-अपने उपयुक्त स्थानों पर स्थापित हो चुकी थीं। इनमें प्राण प्रतिष्ठा होना बाकी था। उस दिन परमपूज्य गुरुदेव की गोष्ठी की चर्चा का मुख्य बिंदु भी यही था। पूज्य गुरुदेव उपस्थित कार्यकर्त्ताओं को समझा रहे थे, बेटा, यह हमारा मिशन ऋषियों का मिशन है। हम तो बस उनके प्रतिनिधि हैं। ऋषियों की दिव्य सत्ताएँ देवात्मा हिमालय के ध्रुव केंद्र में अभी भी सूक्ष्म रूप से निवास करती हैं। सृष्टि संचालन की समस्त सूक्ष्म व्यवस्था का दायित्व उन्हीं पर है। वे ही अपनी तप-शक्ति से सृष्टि में सामंजस्य बनाए रहते हैं। यह अपना मिशन भी उन्हीं की तप-शक्ति से कार्य कर रहा है। यहाँ जो भी कार्यक्रम, गतिविधियाँ एवं योजनाएँ चलाई जाती हैं, सबके पीछे उन्हीं की प्रेरणा व इच्छाशक्ति क्रियाशील है।

गुरुदेव की वाणी का प्रत्येक शब्द जैसे कि नए रहस्य को अनावृत कर रहा था। सुनने वाले चकित और हतप्रभ थे। उन्हें लग रहा था कि जैसे दोनों जगत् पूज्य गुरुदेव के रूप में मूर्तिमान हो अपना परिचय दे रहे हों। गुरुदेव के

रूप में स्थूल और सूक्ष्म जगत् की विधि-व्यवस्था का अद्भुत परिचय मिल रहा था। सभी यह जान पा रहे थे कि स्थूल की भाँति सूक्ष्म की भी एक विधि-व्यवस्था है। इस क्रम में उन्होंने कतिपय अन्य रहस्यमयी बातें भी बताईं। बाद में उन्होंने अपनी बातों को बीच में ही अचानक खत्म करते हुए कहा, अच्छा अब तुम सब लोग जाओ, हमसे मिलने के लिए कुछ विशेष वी. आई. पी. आने वाले हैं।

उपस्थित जनों में से कुछ ने सोचा कि हरिद्वार में महाकुंभ चल रहा है। प्रायः रोज ही राज्य एवं केंद्र के मंत्री व वरिष्ठ अधिकारी आते रहते हैं। हो सकता है कि इन्हीं में से कोई आज गुरुजी से मिलने के लिए आ रहा हो। अंतर्यामी गुरुदेव के लिए दूसरे के मनों की बात जान लेना बड़ा ही आसान था। वह अपने बच्चों के मनों में चल रहे ऊहापोह को पलभर में समझ गए और हँस पड़े। उनके मुक्त हास्य की निर्मल छटा बड़ी ही सुमनोरम थी। इस निर्मल हास्य को बिखराते हुए वह बोले, अरे भाई, तुम लोग जिन्हें वी. आई. पी. समझते हो, वह हमारे लिए कभी भी वी. आई. पी. नहीं हो सकते। फिर हमारे वी. आई. पी. लखनऊ या दिल्ली से नहीं आते। वे तो दिव्य लोकों से या फिर देवात्मा हिमालय के आध्यात्मिक ध्रुव केंद्र से आते हैं।

वह दिन जैसे विभिन्न आध्यात्मिक रहस्यों के अनावृत होने का दिन था। पलभर की चुप्पी के बाद गुरुदेव बोले, बेटा, तुम सबको मालूम है कि ऋषियों की प्राण-प्रतिष्ठा होनी है, तो जिन ऋषियों की प्राण प्रतिष्ठा होनी है, वे ऋषि स्वयं ही सूक्ष्मशरीर से आज हमारे पास आ रहे हैं। अभी-अभी हमें अपने अंत:करण में उनका संदेश प्राप्त हुआ है। उन्होंने कहा है कि वे स्वयं यहाँ आकर पहले मुझसे मिलेंगे, फिर अपने एक अंश की प्रतिष्ठा उन मूर्तियों में करेंगे, जिन्हें तुम लोगों ने स्थापित किया है।

बड़ी ही अद्भुत थीं गुरुदेव की बातें। इन्हें सुनकर सबको अचरज के साथ भारी खुशी हुई। प्रायः सभी अपने मन में यह सोच रहे थे कि भले ही हम उन दिव्य महर्षियों को न देख पाएँ, पर वे तो हमें देखेंगे ही। हम पर उनके अनुग्रह की कृपा वर्षा होगी ही और यह सब होगा केवल परमपूज्य गुरुदेव की कृपापूर्ण उपस्थिति के कारण। यही सोचते हुए सब लोग गुरुदेव के कमरे से वापस आ गए। उस दिन क्या हुआ, यह किसी ने कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं देखा। हाँ इतना अवश्य देखा गया कि उस दिन वंदनीया माताजी समय से पहले दोपहर में ही गुरुदेव के कमरे में पहुँच गईं। गुरुदेव एवं माताजी दोनों ही उस दिन किसी से नहीं मिले। रात्रि में भी उनके सेवक-सहचर उनसे दूर ही रहे। सुबह बस इतना भर पता चला, ऋषियों की मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा हो गई है। कर्मकांड की औपचारिक प्रक्रियाएँ बाद में संपन्न हुईं। आज यह तथ्य कितना भी आश्चर्यजनक क्यों न लगे, पर यह पूर्णतः सत्य है कि जिन ऋषियों को हम आप शांतिकुंज में प्रतिष्ठित देखते हैं, उनकी प्राण-प्रतिष्ठा स्वयं उन्हीं महर्षियों ने ही अपनी चेतना के एक अंश को प्रतिष्ठित करके की है। ये ऋषि मूर्तियाँ केवल मूर्तियाँ भर नहीं हैं, इनमें उन महर्षियों की जीवंत प्राण चेतना विद्यमान है। यह सब पूज्य गुरुदेव की कृपा का ही सुफल है, जिसकी अनुभूति अभी भी होती है।

*

◆◆

राजकुमार पद्म महामंत्री मार्तंड के संरक्षण में व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे थे। उन्हें साधनों और विभूतियों का महत्त्व समझाते हुए महामंत्री ने एक उदाहरण रखा। दो युवक नकुल और प्रदीप को व्यवसाय करने के लिए अनुमति और साधन दिए गए। नकुल को नगर के बीच में तमाम अचल संपदा तथा लागत के लिए प्रचुर धनराशि दी गई। प्रदीप को अनुमति के साथ थोड़ा-सा धन देकर विदा किया गया। कुछ दिनों के बाद उपस्थित होने के लिए कहा गया।

निर्धारित समय पूरा होने पर नकुल आए फटेहाल। बतलाया कि धन समाप्त हो गया, अचल संपत्ति बिक गई और वे श्रेष्ठि प्रदीप के दीनों को राहत कार्यक्रम के आधार पर गुजारा चला रहे हैं। श्रेष्ठि प्रदीप और कोई नहीं, सामान्य धन लेकर व्यवसाय प्रारंभ करने वाले युवक प्रदीप थे।

महामंत्री ने राजकुमार को समझाया, देखा, नकुल जैसों के साधन विभूतियों के अभाव में नष्ट हो जाते हैं और प्रदीप जैसों के पास उनकी योग्यता, श्रमशीलता, लगन के आधार पर साधन पैदा हो जाते हैं। यह सत्य जो समझता है, वही सही विभूतियों को महत्त्व दे पाता है।

◆◆

गुरुगीता-५

गुरु-चरण व रज का माहात्म्य

गुरुगीता के महामंत्र साधकों का पग-पग पर मार्गदर्शन करते हैं। साधना की सुगम, सरल, सहज विधियाँ सुझाते हैं। साधकों को इस गुह्यतत्त्व का बोध कराते हैं कि तुम क्यों इधर-उधर भटक रहे हो, क्यों व्यर्थ में परेशान हो? परम कृपालु सद्‌गुरु के होते हुए तुम्हें किसी भी तरह से भटकने या परेशान होने की जरूरत नहीं है। सद्‌गुरु के प्रति भाव भरा समर्पण सभी भवरोगों की अचूक दवा है। समस्याएँ भौतिक हों या आध्यात्मिक, लौकिक हों या अलौकिक, गुरुचरणों में सभी के सारे समाधान समाए हैं। पिछली कड़ी में गुरुचरणों की इसी महिमा की चर्चा की गई थी। गुरुचरणों की कृपा से गुरुभक्त साधक को साधना का परम प्राप्य अनायास ही सुलभ हो जाता है। गुरुचरण सेवा से जीव 'अयमात्माब्रह्म' के दुर्लभ बोध को सुगमता से पा लेता है।

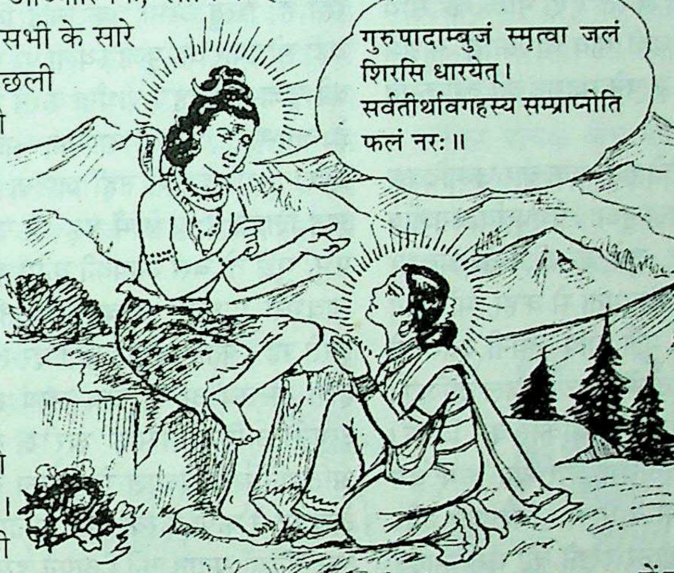
गुरुपादाम्बुजं स्मृत्वा जलं
शिरसि धारयेत्।
सर्वतीर्थावगहस्य सम्प्राप्नोति
फलं नरः॥

गुरुभक्ति की इसी भावकथा को आगे बढ़ाते हुए देवों के भी परमदेव भगवान सदाशिव आदिमाता पार्वती से कहते हैं-

गुरुपादाम्बुजं स्मृत्वा जलं शिरसि धारयेत्।
सर्वतीर्थावगहस्य सम्प्राप्नोति फलं नरः ॥१२॥
शोषकं पापपंकस्य दीपनं ज्ञानतेजसाम्।
गुरुपादोदकं सम्यक् संसारार्णवतारकम् ॥१३॥
अज्ञानमूलहरणं जन्मकर्मनिवारणम्।
ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं गुरुपादोदकं पिबेत् ॥१४॥

सद्‌गुरु के चरणों का स्मरण करते हुए जल को सिर पर डालने से मनुष्य को सभी तीर्थों के स्नान का फल प्राप्त होता है ॥१२॥ श्री गुरुचरणों का जल पाप पंक को सुखाने वाला और ज्ञान तेज के दीपक को प्रकाशित करने वाला है। गुरुचरण जल की महिमा से मनुष्य ठीक तरह से संसार सागर को पार कर जाता है ॥१३॥ गुरुचरणों का जल पीने से अंतर्भूमि में गहराई से जमा हुआ अज्ञान का महावृक्ष जड़ से उखड़ जाता है। जन्म-कर्म के बंधन का निवारण होता है। गुरु पादोदक के पान से साधक को ज्ञान-वैराग्य की सहज सिद्धि होती है ॥१४॥

भगवान भोलेनाथ के मुख से उच्चरित ये महामंत्र गहरे और गहन भावों से भरे हुए हैं। इनका श्रवण और पठन संभव है सामान्य जनों को कुछ अतिशयोक्ति जैसा लगे, किंतु जो साधक इस पर मनन और निदिध्यासन करेंगे, उन्हें इन महामंत्रों से सत्य और ऋत् की प्रकाश किरणें फूटती अनुभव होंगी। इस अनुभूति के क्षणों में उन्हें ऐसा लगेगा कि जो कुछ इन मंत्रों में है, वह तो मात्र संकेत है यथार्थ तो कहीं और भी अधिक विस्तृत और विराट् है।

इसे सुस्पष्ट रीति से समझाने के लिए इन पंक्तियों में एक गुरुभक्त साधक की अनुभूति कथा प्रस्तुत की जा रही है। यह अनुभूति कथा संपूर्णतः सत्य है। यह सत्य घटना श्री अरविंद आश्रम पांडिचेरी के श्रेष्ठ साधक गंगाधरण के बारे में है। अभी कुछ ही वर्षों पूर्व वह अपनी पार्थिव देह को छोड़कर अपने सद्‌गुरु के चरणों में विलीन हुए। बातचीत के क्रम में उन्होंने अपने साधनामय जीवन का रहस्य बताते हुए कहा कि श्रेष्ठ सुगम किंतु सर्वाधिक फलदायी एवं प्रभावोत्पादक साधना अपने सद्‌गुरु के चरणों का चिंतन और ध्यान है।

उन्होंने बताया कि जब मैं पांडिचेरी आश्रम में महर्षि अरविंद के पास आया, उस समय मेरी उम्र मात्र १७ साल थी। पढ़ा-लिखा कुछ खास था नहीं, सामान्य तमिल बोल पाता था। जिस समय वह अपना अनुभव बता रहे थे, उस समय उनकी आयु लगभग ८७ साल थी। अपने जीवन के बारे में बताते हुए उन्होंने कहा, श्री अरविंद से पहली बार

मिलने पर उन्होंने पूछा, तुम यहाँ क्यों आए हो और क्या चाहते हो ? उनके इन सवालों के जवाब में मैंने कहा, प्रभु, मैं नहीं जानता कि मैं क्यों आया हूँ, नहीं मालूम मेरी चाहत क्या है ? वैसे तो मैं काफी गरीब हूँ, पर मैं इतना कह सकता हूँ कि मैं यहाँ केवल रोटी खाने के लिए नहीं आया।

इस सरल उत्तर पर श्री अरविंद बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने माताजी से कहा कि यह लड़का अपने योग के लिए तैयार है। इसके बाद गंगाधरण जी को आश्रम के कामों में लगा दिया गया। नाली साफ करना, गौशाला की सफाई करना जैसे साधारण काम उन्हें करने पड़ते थे। विगत यादों को कुरेदते हुए गंगाधरण जी ने बताया कि मुझे दिए जाने वाले काम तो अति साधारण थे, पर मैं श्री अरविंद के चरणों का चिंतन करते हुए भक्ति के साथ करता था। काम के प्रति मेरा यही भाव था कि मैं आश्रम के साधारण काम नहीं, बल्कि अपने सद्‌गुरु की व्यक्तिगत सेवा कर रहा हूँ।

दिन-महीने और साल बीतते गए। एक बार जन्मदिवस के अवसर पर माताजी से मिलना हुआ। प्रेमपूर्वक आशीष देते हुए माताजी ने पूछा, बोल, तुझे जन्मदिन के अवसर पर क्या चाहिए ? उत्तर में मैंने विनम्रता से कहा, माँ, यदि आप कुछ देना चाहती हैं, तो मुझे आप अपनी और श्री अरविंद की चरणरज एवं आप दोनों का चरणजल दीजिए। इस भक्तिपूर्ण आग्रह को माताजी ने स्वीकार कर लिया। फिर तो हर वर्ष जन्मदिन के अवसर पर यह क्रम बन गया। बाद में चरणरज को सामान्य धूल में मिलाकर और चरणजल को गंगाजल में मिलाकर रखने की मेरी आदत बन गई। बीतते वर्षों के साथ श्री अरविंद ने शरीर छोड़ दिया। माताजी भी नहीं रहीं, परंतु जिस किसी तरह मेरे पास उनकी चरणरज एवं चरणजल बनी रही।

गंगाधरण जी ने बताया कि अपनी पूजा की चौकी पर मैं इन दोनों दुर्लभ वस्तुओं को रखता था। इन्हीं के पास पूजा वेदी पर श्री अरविंद के दोनों महाग्रंथ 'लाइफ डिवाइन' एवं 'सावित्री' भी सजाकर रखे थे। श्री अरविंद एवं माँ के महानिर्वाण के बाद इन दिव्य वस्तुओं की पूजा मेरे जीवन का आधार बन गई। पढ़ा-लिखा न होने के कारण और करता भी क्या ? लाइफ डिवाइन एवं सावित्री को समझ सकने लायक बुद्धि भी तो नहीं थी मेरी। सद्‌गुरु चरणरज एवं सद्‌गुरु चरणजल के साथ इनकी पूजा मेरा नित्य का क्रम था। साथ ही आश्रम के कामों को भी गुरुभक्ति समझकर करता था।

एक दिन अपने सद्‌गुरु के बारे में सोचते हुए गंगाधरण जी का हृदय भर आया। वह सोचने लगे कि सत्रह साल की आयु में आए थे और अस्सी से ज्यादा उम्र होने जा रही है, परंतु अभी तक कोई विशेष अनुभूति नहीं हुई। यही सोचकर वह पूजा स्थली पर गुरु चरणरज एवं चरणजल की पूजा करते हुए प्रार्थना करने लगे, हे अंतर्यामी गुरुदेव, हे जगन्माता, मैं तो आपका अज्ञानी बालक हूँ, पढ़ना-लिखना भी ढंग से नहीं जानता। जो आपने अपना दिव्य ज्ञान लिखा है, उसे मैं पढ़ भी नहीं सकता। हे सर्वसमर्थ प्रभु, मुझे तो बस आपकी कृपा का भरोसा है। उनकी यह भावभरी प्रार्थना अनवरत चलती रही। आँखों से आँसू झरते रहे। पता नहीं कितनी देर तक यह क्रम चला। उन्हें होश तो तब आया, जब स्वयं श्री अरविंद एवं माताजी अपने अतिमानसिक शरीर से उनके पास आए। अतिमानसिक प्रकाश से उनका कण-कण भर गया। श्री अरविंद ने कृपा करके उन्हें अतिमानसिक जगत् की दिव्य अनुभूतियाँ प्रदान कीं। अपने इस संस्मरण का उपसंहार करते हुए गंगाधरण ने कहा, मुझे तो सब कुछ गुरुचरणों की रज एवं जल ने दे दिया। यह सत्यकथा हमारे-आपके जीवन की भी सत्यकथा बन सकती है। सद्‌गुरु चरणों की महिमा है ही कुछ ऐसी। इस तत्त्व का और अधिक विस्तार गुरुगीता के अगले अंक में। ▲

कीचक राजा विराट का साला भी था और प्रधान सेनापति भी। वीर इतना कि जब पांडव अज्ञातवास में थे, तो अकेले कौरवों को परास्त करके उन्हें संधि करने पर विवश कर दिया। द्रौपदी को देखकर वासना में बह गया। राजा स्तर के अधिकार उसके पास थे, किसी प्रकार की कमी न थी, परंतु दासी द्रौपदी के आगे प्रणय-निवेदन में भी लाज न आई।

द्रौपदी ने सावधान भी किया, कहा- मेरे रक्षक गंधर्व हैं, वे क्रुद्ध होंगे, परंतु अहंता में उसने न राजा विराट की नाराजी को कुछ समझा, न गंधर्वों की परवाह की। वासना और अहंता की लपेट में उसे यश, सम्मान और जीवन से भी हाथ धोना पड़ा।

अंतर्जगत् की यात्रा का ज्ञान-विज्ञान

योग फलित होता है सम्यक् ज्ञान से

योग सूत्रकार महर्षि पतंजलि एवं महायोगी परमपूज्य गुरुदेव अपनी अनूठी अनुभव संपदा सौंपने के लिए हम सबके बीच आए, जो योग साधक एवं योग के विद्यार्थी इसे ग्रहण कर पाए हैं, उन्हें अपने अंत:करण में प्रकाश धाराओं के अवतरण की अनुभूति हुई होगी। इन महासिद्धों की अनुभूति कथा उन्हें यौगिक अनुभूतियों एवं यौगिक विभूतियों के वरदान देगी। बस आवश्यकता इस योग कथा के पठन के साथ मनन और निदिध्यासन की है। आवश्यकता इस तत्त्वचिंतन के गहरे अभ्यास की है। पिछली कड़ी में सभी साधकों को मन की पाँचों वृत्तियों का सामान्य परिचय दिया गया था। यह बताया गया था कि ये पंचवृत्तियाँ मन की पाँच शक्तियाँ और विभूतियाँ हैं। इनके सम्यक् प्रयोग से योग साधक बहुत कुछ आश्चर्यजनक उपलब्धि हस्तगत करने में सक्षम हो सकते हैं।

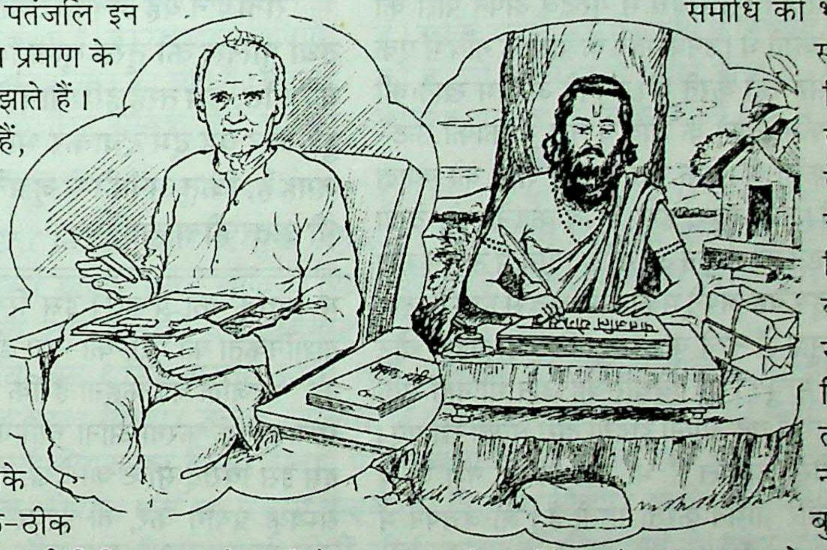

अब अगले सूत्र में पतंजलि इन पंचवृत्तियों में पहली वृत्ति प्रमाण के बारे में सुस्पष्टता से समझाते हैं। वह कहते हैं, **प्रत्यक्षानुमानागमा: प्रमाणानि (१/७)।** सम्यक् ज्ञान अथवा प्रमाणवृत्ति के तीन स्रोत हैं- प्रत्यक्ष बोध, अनुमान और योग सिद्ध आप्तपुरुषों के वचन। यही वे तीन विधियाँ हैं, जिनके द्वारा योग साधक को ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है। इनमें पहली विधि प्रत्यक्ष बोध की है। यह सम्यक् ज्ञान का प्रथम स्रोत है। इसका मतलब है आमने-सामने का साक्षात्कार। ज्ञाता और ज्ञेय के बीच किसी मध्यस्थ की जरूरत नहीं रहती। सत्य को समझाने-बतलाने के लिए किसी दुभाषिये की आवश्यकता नहीं रह जाती।

बात बिलकुल साफ है, सरल और सीधी है, फिर भी अनेकों अड़चनें हैं इसे समझने में। प्राय: योग सूत्र के भाष्यकारों, वार्तिककारों ने इस सीधी, सरल और साफ बात की बड़ी गलत व्याख्या की है। उन्होंने प्रत्यक्ष बोध को इंद्रिय बोध की सँकरी सीमा में समेट दिया है। उदाहरण के लिए, कई आचार्यों का कहना है कि प्रत्यक्ष वही है, जो आँखों के सामने है, लेकिन यह ठीक-ठीक आमने-सामने कहाँ हुआ। आँखें तो बीच में हैं ही। इसी तरह यदि कुछ सुना जाता है, तो कान माध्यम बनते हैं और ये आँखें या कान गलत खबर भी तो देख सकते हैं। इंद्रिय बोध-सत्यबोध ही हो, यह कोई जरूरी तो नहीं। इंद्रियों में थोड़ा-सा भी दोष आ गया, तो सारी खबर गलत मिलती है। कुछ-का-कुछ दिखाई-सुनाई देने लगता है।

फिर प्रत्यक्ष बोध क्या है? इस सवाल के उत्तर में परमपूज्य गुरुदेव का चिंतन सूत्र कहता है, 'चेतना प्रत्यक्ष'। यानि कि हमारी चेतना बिना किसी इंद्रिय माध्यम के सब कुछ साफ-साफ आमने-सामने देखे। गहरे ध्यान अथवा समाधि की भावदशा में ही साधक को यह स्थिति प्राप्त होती है। तब देखने के लिए, जानने के लिए किसी माध्यम की जरूरत नहीं रह जाती। किसी इंद्रिय की तो बिलकुल भी नहीं। महात्मा बुद्ध, महर्षि रमण, श्री अरविंद एवं परमपूज्य गुरुदेव जैसे महायोगी इसी रीति से सत्ता और सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति करते हैं। इसमें इंद्रियों की किसी तरह की कोई भागीदारी नहीं होती। ज्ञाता और ज्ञेय एकदम आमने-सामने होते हैं। उनके बीच कुछ और नहीं होता। केवल प्रत्यक्षता ही सत्य अनुभव बनकर प्रकट होती है।

परमपूज्य गुरुदेव कहते थे कि प्रत्यक्ष को चेतना-प्रत्यक्ष मानने से ही महर्षि पतंजलि जैसे महायोगी का भाव प्रकट होगा। यदि हम प्रत्यक्ष को केवल इंद्रिय प्रत्यक्ष

की सीमा में सिकोड़ दें, तो हम उन्हें चार्वाक जैसे नास्तिक एवं जड़वादी दार्शनिकों की श्रेणी में खड़ा कर देंगे, क्योंकि चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक बृहस्पति का प्रमुख मत यही तो है कि जो कुछ इंद्रियाँ अनुभव करती हैं, जो नजरों के सामने है, वही प्रमाण है। चार्वाक को भारतीय भौतिकवाद का स्त्रोत माना जाता है। इस दर्शन में बुद्धि चातुर्य तो है, पर चेतना का बोध नहीं है। चार्वाक कोरे बुद्धिवादी हैं, जबकि महर्षि पतंजलि सम्यक् बोध प्राप्त महायोगी हैं। उनके भाव को ठीक-ठीक समझने के लिए किसी महायोगी का बोध ही सहायक बन सकता है। परमपूज्य गुरुदेव हमें यही सहायता प्रदान करते हैं।

वह कहते हैं कि गहरे ध्यान अथवा समाधि में हमारी अंतर्चेतना जिस ज्ञान की अनुभूति करती है, वही सत्य है। उसी को प्रमाण माना जा सकता है। इंद्रियों से हमें जो जानकारी मिलती है, वह प्रायः आधी-अधूरी और दोषग्रस्त होती है। यही कारण है कि इंद्रियाँ हमें भटकाती और भ्रमित करती हैं। काम-क्रोध, लोभ-मोह की दशाएँ इंद्रियों को जब-तब आच्छादित करती हैं और परिणाम में व्यक्ति को कुछ-का-कुछ समझ में आने लगता है। कभी-कभी यही दशा नशेड़ी व्यक्ति की होती है। इस संबंध में गुरुदेव अपने पास का किस्सा सुनाया करते थे। उनके गाँव के पास के गाँव में एक ठाकुर बच्ची सिंह रहा करते थे। उनकी अफीम खाने की आदत थी। अफीम खाने के बाद वे नशे में काफी ऊट-पटांग हरकतें करते थे। एक बार उन्होंने शाम को ज्यादा अफीम खा ली। नशा गहरा होने पर वे कहने लगे, देखो अब मेरे पास उड़ने की ताकत आ गई है। अब मैं उड़ सकता हूँ। ऐसा कहते हुए वह अपने मकान की छत से हाथ फैलाए हुए उड़ने की मुद्रा में नीचे कूद पड़े। सिर पर गहरी चोट लगने से उनकी मृत्यु हो गई। बेचारे वह जान भी नहीं सके कि नशे के असर में वह अपनी इंद्रियों द्वारा धोखा खा गए।

इंद्रियाँ भरोसे काबिल हैं भी नहीं। बिना नशे के वे हमें भटकाती और भ्रमित करती रहती हैं। जो बचपन में समझ में आया, वह किशोरावस्था में बेकार नजर आता है। किशोरावस्था की बातें प्रौढ़ावस्था में बेमानी हो जाती हैं। यही सिलसिला चलता रहता है। ऐसे में सवाल उठता है कि प्रत्यक्ष बोध आखिर है क्या? तो जवाब यह है कि प्रत्यक्ष बोध वह है, जिसे इंद्रियों के बिना जाना जा सके। इसलिए पहला सम्यक् ज्ञान केवल अपनी आंतरिक सत्ता का हो सकता है, क्योंकि इसके लिए किसी भी इंद्रिय सहायता की जरूरत नहीं है। कोई भी गहरे ध्यान अथवा समाधि में उतरकर इसे पा सकता है।

प्रमाणवृत्ति अथवा सम्यक् ज्ञान का दूसरा स्त्रोत अनुमान है। यह उनके लिए है, जो अभी प्रत्यक्ष बोध के लायक नहीं हुए हैं। जिनकी स्थिति अभी ध्यान और समाधि की गहराई में प्रवेश करने की नहीं है। जो सम्यक् ज्ञान पाना चाहते हैं, अनुमान उनके लिए एक संभावना है। यह अनुमान क्या है? परमपूज्य गुरुदेव के शब्दों में यह है विवेकयुक्त तर्क। तर्क के बारे में गुरुदेव का कहना था कि तर्क दुधारी तलवार की तरह है, इसके इस्तेमाल के लिए गहरे विवेक की जरूरत है। विवेक के अभाव में यह सत्य ज्ञान की प्राप्ति में सहायक बनने की बजाय असत्य ज्ञान का पोषक भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, तर्क का प्रयोग चार्वाक एवं मार्क्स ने भी किया और आचार्य शंकर एवं महर्षि अरविंद ने भी। परंतु एक में विवेक का अभाव है तो दूसरे में विवेक का प्रभाव। इस स्थिति में इनके दर्शन और दार्शनिकता का पूरा-का-पूरा ढाँचा बदल गया है।

जस्टिस महादेव गोविंद रानाडे रेल का सफर कर रहे थे। गाड़ी देर तक खड़ी होती थी, सो वे नीचे उतरकर एक मित्र से बातें करने लगे। इतने में दो गोरे आए और रानाडे का सामान प्लेटफार्म पर फेंककर, सीट पर कब्जा कर लिया।

रानाडे ने यह अनीति देखी, तो रेलवे अधिकारियों तथा पुलिस को तुरंत बुला लिया। प्रधान न्यायाधीश की सीट, इस तरह हथियाने के लिए गोरों की भर्त्सना हुई और वह दुम दबाकर भाग गए। सज्जनता अपनी जगह है, किंतु अनीति से जूझने हेतु पराक्रम का माद्दा भी अंदर होना चाहिए।

पतंजलि का कहना है कि सम्यक् ज्ञान के लिए हमें सम्यक् तर्क करना आना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि हम इस विराट् सृष्टि को देखें, गौर से निहारें और तर्क का सम्यक् प्रयोग करें, तो ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान होता है। यह ठीक है कि ईश्वर की सत्ता इंद्रिय प्रत्यक्ष नहीं है। ईश्वर कहीं दिखाई नहीं देता, नज़र नहीं आता। किंतु यदि सम्यक् तर्क का प्रयोग करें, यह सोचें कि विश्व-ब्रह्मांड की व्यवस्था कितनी सुसंगत है, कितनी उद्देश्यपूर्ण है, तो इस निश्चय पर जरूर पहुँचेंगे कि ईश्वर के रूप में इसकी संचालक सत्ता का भी अस्तित्व होगा। इस तरह सम्यक् तर्क से ईश्वरीय सत्ता का बड़ा ही स्पष्ट अनुमान हो सकता है। बाद में योग साधना के द्वारा उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति भी पाई जा सकती है।

अब है सम्यक् ज्ञान का तीसरा स्रोत, आगम। यह सबसे अधिक सौंदर्यपूर्ण है। आगम को सम्यक् ज्ञान के स्रोत के रूप में स्वीकारना महर्षि पतंजलि की अपनी विशिष्टता है। यह आगम क्या है? महर्षि कहते हैं कि आगम महायोगियों के वचन हैं। ये ऋषियों की अनुभूति को अभिव्यक्ति देने वाले शब्द हैं। इस बात को थोड़ा और स्पष्ट रीति से कहें, तो आगम उन महान विभूतियों के वचन हैं, जो जान चुके हैं। जो लक्ष्य तक पहुँच चुके हैं, जो कैवल्य ज्ञान को पा चुके हैं, जो ईश्वरीय सत्य का साक्षात्कार कर चुके हैं, उनके शब्द भी सम्यक् ज्ञान के स्रोत हैं।

परंपरा में आगम को वेद कहा जाता है। यह ठीक भी है, क्योंकि वेद सत्यद्रष्टा ऋषियों के वचन हैं, परंतु रूढ़ियों से ग्रस्त मूढ़जन वेद के विराट् स्वरूप को केवल कतिपय मंत्र समुच्चय तक ही समेट देते हैं। यह ठीक नहीं है। आगम सत्यद्रष्टा ऋषियों के वचन हैं। भले ही संस्कृत में कहा गया हो अथवा किसी अन्य भाषा में। व्यापक अर्थों में आगम में कबीर की साखी, मीरा के पद, श्रीरामकृष्ण का वचनामृत, महर्षि रमण के वचन, योगिराज अरविंद का दिव्य जीवन संदेश और स्वयं परमपूज्य गुरुदेव के स्वर सभी कुछ समाहित हो जाता है। इन सत्यद्रष्टा ऋषियों-संतों के वचनों पर श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान का स्रोत है। योगपथ पर चलने वाले साधकों के लिए सम्यक् ज्ञान का यह तीसरा स्रोत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं व्यावहारिक है। योग साधना करने वालों के लिए यह भी कहा जा सकता है कि अपने सद्गुरु के वचनों पर परिपूर्ण श्रद्धा-सम्यक् ज्ञान का स्रोत है। सद्गुरु के वचन कभी-कभी बड़े अटपटे होते हैं, परंतु वे प्रेम लपेटे होते हैं। उन्हें ठीक-ठीक समझ न पाने पर भी यदि कोई साधक उन पर समग्र श्रद्धा के साथ आचरण करने लगता है, तो उसे अपने आप ही सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

सद्गुरु के वचनों के संबंध में तर्क का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि ये चेतना के जिस तल से कहे गए हैं, वहाँ तर्क-बुद्धि की पहुँच ही नहीं है। यदि इस बारे में तर्क किया जाए, तो हम वह सब गँवा बैठेंगे, जो हमें हमारे सद्गुरु देना चाहते हैं, क्योंकि वे न केवल यह जानते हैं कि उन्हें हम शिष्यों को क्या देना है? बल्कि वे यह भी जानते हैं कि जो हमारे लिए देने योग्य है, वह सब किस तरह से देना है, इसलिए केवल और केवल भक्तिपूर्ण श्रद्धा ही एकमात्र उपाय है। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि सद्गुरु जो कहें, जिस भी तरह कहें, उसे परिपूर्ण श्रद्धा के साथ करने पर सम्यक् ज्ञान सुनिश्चित है। इसमें कोई संदेह नहीं। प्रमाणवृत्ति के ये तीनों स्रोत हमारी अंतर्यात्रा में सहायक हैं। इसके अगले सूत्र में महर्षि ने विपर्यय वृत्ति की चर्चा की है, जो अंतर्यात्रा में प्रधान बाधा है। इसकी विस्तृत व्याख्या अखण्ड ज्योति के अगले अंक में।

●

कुमारजीव के पिता बिहार प्रांत में एक रियासत के दीवान थे। उस कार्य में अनीति बरतनी पड़ती थी, उससे खिन्न होकर उनने नौकरी त्याग दी और धर्म-साधना में लग गए। उनकी माता ने भी बौद्ध भिक्षुणी के रूप में पति का अनुकरण किया।

बालक कुमारजीव जब थोड़ा समर्थ हुआ, तब कश्मीर के एक विद्यालय में संस्कृत, पाली तथा बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। इसके उपरांत वे चीन में धर्मप्रचार के लिए चले गए। विदेशी जासूस समझकर उन्हें गिरफ्तार किया गया, पर वास्तविकता प्रकट होने पर वे छोड़ दिए गए।

कुमारजीव ने चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने का निश्चय किया। उनके तपस्वी जीवन से कई सामंत प्रभावित हुए और उनकी सहायता से वे चीनी भाषा में बौद्ध धर्म के ग्रंथों का अनुवाद एवं प्रचार करने में समर्थ हुए।

चीन में उनने कितने ही बौद्ध विहार और मठ स्थापित किए। हजारों अनुयायी बने और उन्हें उस देश के जनसमुदाय को बौद्ध बनाने में भारी सफलता मिली।

कुमारजीव चीन में ही स्वर्गवासी हुए। जीवनपर्यंत अपने लक्ष्य के अतिरिक्त और किसी ओर ध्यान नहीं दिया। कर्त्तव्य-धर्म निबाहते हुए देश से हजारों मील दूर वे आजीवन रहे, इतिहास में अपना नाम स्वर्णिम अक्षरों में लिखा गए।

परमपूज्य गुरुदेव की अमृतवाणी

ध्यान क्यों करें? कैसे करें? - २

(गतांक से आगे)

मित्रो, पहले हमने आत्मशोधन की क्रिया बताई थी। अब गायत्री की पंचमुखी साधना का दूसरा वाला चरण बताता हूँ, जिसका नाम है, 'देव-पूजन'। देव-पूजन किसे कहते हैं? बेटे, इस बारे में तो हम बताते रहते हैं कि गायत्री माता का एक फोटो रख लेना। हाँ, वह तो मैंने रख लिया है। और बेटे, धूप, दीप, नैवेद्य, अक्षत चढ़ा दिया करना, चंदन लगा दिया करना। हाँ गुरुजी, वह तो मैं लगा देता हूँ। इसमें क्या रखा है? वह तो मैंने एक छोटी-सी डिबिया में रख लिया है और एक डिब्बी में धूपबत्ती भी रख ली है। हाँ बेटे, तूने यह बहुत अच्छा किया। महाराज जी, मैंने सेंट भी रखा हुआ है। यह तो और भी अच्छा किया। बेटे, नैवेद्य कितने पैसे का लाया था? गुरुजी, पच्चीस पैसे का लाया था। इससे दो महीने का काम चल जाता है। दो इलायची दाने रख देता हूँ। बेटे, तेरा नैवेद्य का काम तो बहुत बढ़िया है। यह तो बहुत दिन चल जाता होगा? हाँ महाराज जी, इसके अलावा और कमी हो तो मुझसे कहिए।

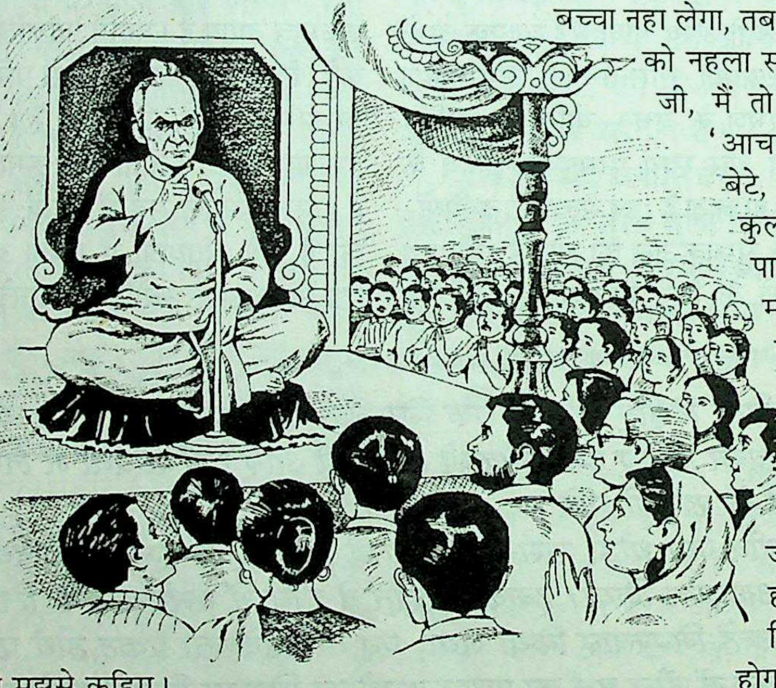

उपासना में मन को लगाइए

हाँ बेटे, तेरी उपासना में एक कमी है। तू यह सारी-की-सारी क्रियाएँ करने के साथ में उपासना में मन को क्यों नहीं लगाता। जब भी कोई क्रिया करे, तो उसमें अपने मन को लगा लिया कर। इन वस्तुओं के साथ में जो शिक्षण दिया हुआ है, उसे हृदयंगम करने से ही उपासना का प्रतिफल मिलता है। क्या शिक्षण दिया हुआ है? पंचोपचार में पाँच चीजें आती हैं। जब इसमें से एक चीज चढ़ाया करें, तब अपनी विचारणा को, विचारों को उन वस्तुओं के साथ उसी प्रकार से लगा लिया करें, जिसका शिक्षण उसका आधार बनाया गया है। क्या आधार बनाया गया है? सबसे पहले हम जिस देवता का पूजन करते हैं, जल चढ़ाते हैं और मंत्रोच्चार करते हैं- 'पाद्यं समर्पयामि:', 'अर्घ्यं समर्पयामि', 'आचमनं समर्पयामि:'। ये तीन चीजें हैं। तीन चम्मच जल से यह प्रक्रिया पूरी होती है। बेटे, तू यह तीन चम्मच से कराता है या तीन बालटी से? महाराज जी, मैं तो तीन चम्मच से कराता हूँ और कहता हूँ, 'स्नानं समर्पयामि।' अच्छा बता, तीन चम्मच से तू कैसे नहा लेगा? इस चम्मच से या तो तू नहा ले या अपने बच्चे को नहला ले। जब तेरा बच्चा नहा लेगा, तब हम जानेंगे कि भगवान को नहला सकता है। नहीं महाराज जी, मैं तो ऐसे ही कर देता हूँ, 'आचमनं समर्पयामि।' अच्छा बेटे, तो यह बता कि जब कुल्ला करता है तो कितना पानी खरच कर देता है? महाराज जी, एक लोटा तो खरच हो ही जाता है, हाथ-मुँह धोने और कुल्ला करने में। अच्छा तो अब तू ही बता कि एक चम्मच जल से भगवान जी का होठ भी गीला नहीं होगा, फिर आचमन क्या कराता होगा? भगवान से मखौल करता है, दिल्लगीबाजी करता है और कहता है कि एक चम्मच जल से भगवान जी को स्नान कराता हूँ। बेटे, भगवान का पूजन इस तरह से नहीं होता।

महाराज जी, आपने ही तो बताया था यह। बेटे, मैंने तो बहुत-सी बातें बताई थीं, वह तो याद नहीं रखीं, केवल क्रिया याद रखी। यह याद नहीं कि जल चढ़ाते समय क्या वृत्ति रहनी चाहिए। उस समय यह वृत्ति रहनी चाहिए कि हम अपने आपका समर्पण करें। देवता से माँगना मत, वरन् यह भाव व्यक्त करना कि हम आपको समर्पण करेंगे। आपको हम देंगे। जो देता है, वही देवता कहलाता है। देवताओं ने

भगवान को दिया है और आपको भी देवता की कृपा प्राप्त करने के लिए देने की वृत्ति सीखनी पड़ेगी। जब तक आपके अंदर देने की वृत्ति नहीं आएगी, कोई भी देवता आपके ऊपर कृपा नहीं कर सकता।

देने का भाव सदा मन में हो

मित्रो, देने की वृत्ति का अर्थ यह है कि हम जो जल चढ़ाते हैं, उसके पीछे भगवान को यह आश्वासन दिलाते हैं कि हमारी पसीने की बूँदें, हमारे श्रम की बूँदें, हमारी मेहनत, हमारा वक्त और हमारा समय आपके कामों के लिए लगा करेगा। जल चढ़ाते समय हम बार-बार विचार करते हैं कि हमारा श्रम अर्थात पसीने की बूँदें अर्थात मेहनत। मेहनत माने पसीने की बूँदें, जो जल का प्रतीक हैं, हमारी मशक्कत का प्रतीक हैं, हमारी मेहनत का प्रतीक हैं, अपने समय का हिस्सा हैं, ये समाज के लिए, देश के लिए, संस्कृति के लिए, धर्म के लिए अर्थात भगवान के लिए लगा करेगा। भगवान कोई व्यक्ति नहीं है, यह आप ध्यान रखना। भगवान के लिए हम देते हैं। कहाँ है भगवान? साहब, वह तो मंदिर में बैठा हुआ है। नहीं बेटे, जो मंदिर में बैठा हुआ है, वह तो कोई खिलौना है। फिर कहाँ है भगवान? मनुष्य की श्रेष्ठता के रूप में, ऊँचे समाज के रूप में भगवान है। भगवान ने जब अर्जुन को, यशोदा माता को अपना विराट् रूप दिखाया था, तो सारे समाज के रूप में दिखाया था। समाज ही भगवान का रूप है। समाज की सेवा के लिए, लोकहित के लिए, लोकमंगल के लिए तू जो पसीना बहाता है, श्रमदान करता है, वास्तव में यह जल चढ़ाना उसी का प्रतीक है।

ध्यान के लिए भगवान को रिश्तेदार बनाइए

भगवान निराकार है। निराकार भगवान श्रेष्ठ विचारणा के रूप में, आदर्शों के रूप में, सिद्धांतों के रूप में है। भगवान कोई व्यक्ति नहीं है। महाराज जी, हमने तो व्यक्ति बना रखा है। बेटे, हमने उसे ध्यान के लिए बना रखा है। ध्यान करने के लिए किसी-न-किसी चीज पर मन को एकाग्र करना पड़ता है, इसलिए ध्यान में एकाग्रता के लिए हम कोई-न-कोई शक्ल बना लेते हैं और केवल शक्ल ही नहीं बनाते, वरन् उससे कोई-न-कोई रिश्ता भी कायम कर लेते हैं, जबकि भगवान किसी का रिश्तेदार नहीं है। बिजली किसी की रिश्तेदार नहीं है। नहीं महाराज जी, भगवान हमारा रिश्तेदार है। बेटे, भगवान को हमें रिश्तेदार बनाना पड़ता है, ताकि मनुष्य का ध्यान उनमें लगा रहे। ध्यान की तीव्रता के लिए, मन की चंचलता को दूर करने के लिए, मन की वृत्ति को ध्यान में लगाए रखने के लिए हम किसी-न-किसी रूप की कल्पना करते हैं। कल्पना करने के पश्चात उसमें अपना मन लगाए रहते हैं। यह मन को एकाग्रचित्त करने का तरीका है।

मित्रो, असल में भगवान एक ही है। अगर दुनिया में इतने तरह के देवी-देवता होते, तो आपस में मार-काट फैल जाती, लड़ाई-झगड़ा होता, मुकदमेबाजी शुरू हो जाती, फिर फौजदारी खड़ी हो जाती। ये संतोषी माता, वह काली माता। काली माता कहतीं कि हमारे अच्छे चेले को संतोषी माता झटक ले गईं। अच्छा मैं उनके बाल उखाड़ूँगी। संतोषी माता का चेला, जो कल तक शुक्रवार के दिन खटाई-मिठाई नहीं खाता था, अब रात्रि में चंडी की पूजा करने लगा, तो संतोषी माता गाल फुला के बैठ गईं। संतोषी माता का चेला चंडी के यहाँ और चंडी माता का चेला संतोषी माता के यहाँ चला गया, तो वे आपस में लड़ मरेंगी। जिस तरह औरतों में लड़ाई होती है, चेलों में लड़ाई होती है, सबमें लड़ाई होती है, उसी तरह देवी-देवताओं में लड़ाई होती और सबके कचूमर निकल पड़ते। तो महाराज जी, यह क्या चक्कर है? बेटे, कोई चक्कर नहीं है। दुनिया में भगवान एक ही है। तो अनेक तरह के देवी-देवता क्या हैं? ये बेटे कल्पनाएँ हैं। कल्पना न होती, तो इतने तरह के फर्क कैसे हो जाते? अगर दुनिया में हजारों भगवान होंगे, तो मुश्किल आ जाएगी। भगवान एक है, अनेक भगवान नहीं हैं। फिर दुनिया में तरह-तरह की शक्लों वाले भगवान कैसे हो गए? बेटे, मुसलमानों ने अपना दाढ़ी वाला बना लिया है, हमने अपना मोर मुकुट वाला बना लिया है। अमुक ने अपना अमुक तरह का बना लिया है, ये सब कल्पनाएँ हैं।

तो महाराज जी, असली भगवान क्या है? बेटे, उच्च एवं श्रेष्ठ विचारणा के समुच्चय को, उत्कृष्टता के समुच्चय को, सद्गुणों के समुच्चय को भगवान कहते हैं। बेटे, भगवान जब कभी आता है, तो श्रेष्ठ विचारों के रूप में आता है, आदर्श उत्कृष्टता के रूप में आता है। उत्कृष्ट चिंतन के रूप में आता है, शक्ल के रूप में नहीं आता। महाराज जी, हमने रात को हनुमान जी को देखा। तो देखा होगा, अच्छी बात है। बेटे, भगवान करे तुझे रोजाना दिखाई पड़ें। महाराज जी, हमें तो कल लक्ष्मी जी दिखाई पड़ीं। बेटे लक्ष्मी जी दिखाई पड़ीं तो तुझे कुछ रुपया-पत्ता भी दे गईं कि नहीं? नहीं महाराज जी, दे-दिवा तो कुछ नहीं गईं। बेटे, तूने ख्वाब देख लिया है, अन्यथा यदि लक्ष्मी जी तेरे घर आई होतीं, तो खाली हाथ क्यों चली गईं, कुछ तो दे जातीं। नहीं साहब, कुछ दिया तो नहीं है, वैसे ही शक्ल दिखाकर भाग गईं। नहीं बेटे, ये तेरे अपने जाल-जंजाल हैं, मैं इन पर विश्वास नहीं करता।

आदर्शों का समुच्चय भगवान

श्रेष्ठता के प्रति, आदर्शों के प्रति, जिसको मैं भगवान कहता हूँ, उस श्रेष्ठता का, आदर्शों का जिन्होंने पालन किया, वह भगवान के भक्त कहलाए और भगवान के अनुग्रह

के अधिकारी होते चले गए। देव-पूजन के साथ जुड़े हुए जो लोग श्रेष्ठता के विचार हैं, वही हमारे विचार होने चाहिए कि हम अपना श्रम, अपना पसीना अच्छे उद्देश्यों के लिए, श्रेष्ठ कामों के लिए निरंतर खरच किया करेंगे। आप जितनी देर तक जल चढ़ाया करें, आचमन चढ़ाया करें, पानी चढ़ाया करें, उतनी देर तक अपने विचारों को इस तरह घुमाते रहें कि हम अपना श्रम यानि पसीना लोकहित के लिए समर्पित करेंगे। जब अक्षत चढ़ाएँ, 'अक्षतं समर्पयामि' तब क्या विचार करना चाहिए? महराज जी, अक्षत से क्या फायदा है? बेटे, अक्षत से आपके विचार से यह फायदा है कि गणेश जी को कोई खाना दे जाता है, कोई नहीं देता। तो जो वह चार-पाँच चावल तू उन पर फेंक देता है, तो गणेश जी खा जाते हैं, उनके चूहे खा जाते हैं। नहीं महाराज जी, चार-पाँच चावलों से क्या हो जाता है? बेटे, कुछ भी नहीं होता है।

महाराज जी, तो फिर हम चावल क्यों चढ़ाते हैं? चावल हम इसलिए चढ़ाते हैं कि अपने आपको हम शिक्षित करें कि देख भुलक्कड़, तुझे सब कुछ पाकर सब कुछ याद है। अपनी नौकरी और प्रमोशन याद है, अपने बेटे को वकील बनाना भी तुझे याद है, पर यह याद नहीं है कि इतने करोड़ों रुपये मूल्य का यह जो जीवन भगवान ने दिया है, उसका भी कुछ कर्ज चुकाना है। उसकी भी कुछ ब्याज देनी है। उसकी भी कुछ सेवा करनी है, इसलिए हम चावल लेकर रोजाना अक्षत चढ़ाते हैं और ये कहते हैं कि अपनी कमाई का एक अंश आपको निष्ठापूर्वक (अक्षत की तरह बिना टूटे) नियमित रूप से देते रहेंगे। आप हमारी जिंदगी के हिस्सेदार हैं। आप हमारे शेयर होल्डर हैं। ये हमारी. जिंदगी की दुकान है। इसमें अकेले मनुष्य का ही हिस्सा नहीं है। इसमें कुछ भगवान का भी हिस्सा है। इसमें भगवान की भी कुछ पूँजी लगी हुई है। इसमें भगवान ने भी कुछ रकम लगाई है। भगवान की मशीनें इस फैक्टरी में काम कर रही हैं। इसमें सब कुछ आपका ही नहीं है। आपकी अपनी अकल हैं, पर बेटे, सारी-की-सारी मशीनें तो किराये की हैं। तुझे मालूम नहीं है क्या कि जिससे तू देख रहा है, जिसकी अकल तू ले रहा है, जो कंप्यूटर तेरे दिमाग में फिट किया हुआ है, यह तेरा नहीं है। यह किसी और का है। उसका भी कुछ शेयर है। क्या सारा माल तू ही हजम कर जाएगा कि उसको भी कुछ देगा? तो क्या महाराज जी, उसको भी कुछ देना पड़ेगा? हाँ बेटे, क्योंकि इसमें सारा धन उसी का लगा हुआ है। तू तो केवल उसकी फैक्टरी में काम करता है। तू तो काम करने वाला मुनीम है, मालमत्ता तो सारा उसी का है।

भगवान के लिए निकालिए अपना एक अंश

इसलिए मित्रो, जो अक्षत-चावल हम चढ़ाते हैं, उसके पीछे यह शिक्षण छिपा हुआ है कि हमारे मन में इस वृत्ति या भावना का उदय होना चाहिए कि हमारी कमाई का एक अंश ब्याज के रूप में, कर्ज चुकाने के रूप में अपने शेयर होल्डर का, अपने पार्टनर का हिस्सा-शेयर अपने हिस्से में से हमको निरंतर देना पड़ेगा, तो हम निरंतर देते रहेंगे। भगवान को हम अपना रिश्तेदार मानते हैं। चलिए आप भगवान को अपना रिश्तेदार तो क्या मानेंगे, अपना बेटा ही मान लें। साहब, हमारे चार बेटे हैं, तो पाँचवाँ बेटा हम भगवान को भी मान सकते हैं। नहीं महाराज जी, भगवान तो हमारा गुरु है। नहीं बेटे, गुरु तो मत मान, बेटा ही मान ले। अब तुझे क्या करना पड़ेगा? चार बेटों को खिलाता-पिलाता है। हाँ गुरुजी, उन्हें खिलाता-पिलाता हूँ, कपड़े पहनाता हूँ। तो बेटे, पाँचवें को भी पहना। पाँचवाँ कौन-सा है- भगवान। अच्छा बेटे, एक पर कितना खरच आता है? महाराज जी, किसी की पढ़ाई में ढाई सौ रुपये महीना खरच करता हूँ, किसी में सवा सौ रुपये खरच करता हूँ, किसी में पौने दो सौ रुपये खरच करता हूँ, किसी में चालीस रुपये खरच करता हूँ। बेटे, एक और को भी ले ले। नहीं महाराज जी, भगवान को तो मैं धूपबत्ती खिलाऊँगा। और बेटे को? बेटे को जलेबी खिलाऊँगा। अच्छा तो बेटे को भी धूपबत्ती खिला? नहीं साहब, अपने बेटों को जलेबी खिलाएगा और भगवान को धूपबत्ती खिलाएगा, बदमाश कहीं का।

मित्रो, क्या करना पड़ेगा? हमको वास्तविकता के धरातल पर उतरना पड़ेगा। हमको यथार्थता पर आना पड़ेगा। हमको यह मानकर चलना पड़ेगा कि भगवान हमारा कोई रिश्तेदार है। भगवान ने हमारे जीवन में जितनी ज्यादा सुविधाएँ और संपदाएँ दी हैं, उसके लिए हमको कुछ करना चाहिए। हमारा अक्षत, हमारे चावल, हमारा श्रम, हमारी कमाई, हमारा उपार्जन, जिसमें पैसा भी शामिल है, बुद्धि भी शामिल है, भाव भी शामिल है, प्रतिभा भी शामिल है, इसका एक हिस्सा लोकहित के लिए है। वह समाज के कल्याण के लिए, देश के लिए, धर्म और संस्कृति के लिए खरच होना चाहिए। जब आप अक्षत चढ़ाएँ, तो साथ-साथ में ये विचार, ये भाव भी करते जाएँ।

महाराज जी, ऐसा ध्यान बताइए कि जिससे मन एक जगह एकाग्रचित्त हो जाए। मन कहीं भागे नहीं। बेटे, ऐसा एकाग्र मन, जैसा तू चाहता है, कैसे हो सकता है? तूने अभी मनोविज्ञान पढ़ा नहीं है, न्यूरोलॉजी पढ़ी नहीं है, इसलिए तू बोलता रहता है कि मन एक बिंदु पर एकत्र हो जाए। बेटे, मन एक बिंदु पर हो ही नहीं सकता। हम जो साकार उपासना बताते हैं, गायत्री माता की उपासना बताते

हैं, उसमें गायत्री माता के एक हाथ में कमंडल, एक हाथ में पुस्तक, एक हंस, एक मोर मुकुट है। ये क्या चीज हैं ? यह क्या चक्कर है महाराज जी ? बेटे, चक्कर यह है कि मन को सीमाबद्ध करने के लिए उसे इतने बड़े दायरे में घुमाना पड़ेगा। कभी कमल को देख, कभी हंस को देख, कभी मुकुट को देख, कभी उनके होंठों को देख, कभी साड़ी को देख, कभी इसको देख। इतने ही दायरे में जब मन भागेगा, तो जो मन कभी भी घंटों में ध्यान से नहीं रुकता था, वह इतने ही दायरे में यहाँ-वहाँ भागता रहेगा। मन एक सीमा में भागता रहेगा, एक सीमा में घूमता रहेगा।

ऐसे आएगी तन्मयता-एकाग्रता

मित्रो, ध्यान में मन को एक सीमा में घुमाया जाता है। एक मिनट के लिए भी अगर मनुष्य का मन एकाग्र हो जाता है, तो मनुष्य समाधि में चला जाता है। बार-बार मन को एकाग्र करने की बात करता है कि हमारे मन को एकाग्र कर दीजिए। मनुष्य समझता नहीं कि मैं क्या कह रहा हूँ। अगर मन एक बिंदु पर एक मिनट के लिए भी इकट्ठा हो जाए, तो वह समाधि में चला जाएगा, बेहोश हो जाएगा, इसलिए हम कहते हैं कि एकाग्रता का मतलब होता है- एक धारा, एक दिशा। सबेरे जब हम आपको ध्यान कराते हैं एक धारा देकर, एक दिशा देकर कराते हैं। मन को एकाग्र होने का दावा नहीं करते, वरन् एक दिशा देते हैं। वैज्ञानिकों की एक दिशा होती है, एक धारा होती है। प्रयोग-परीक्षण करके वह सिद्ध कर देता है कि इसमें ये कैमीकल मिल जाएगा, तो ये हो सकता है। ये मिल जाएगा, तो अमुक हो सकता है। सारी-की-सारी इतनी शतरंज बिछी हुई हैं कि पास में से चूहा गया है, तो यह मालूम नहीं है, क्योंकि उसे अपने काम की जल्दी पड़ी है। वह उसके साथ एकाकार हो गया है, एकाग्र हो गया है।

महाराज जी, अभी तो आप कह रहे थे कि वह हजारों तरह के विचार करता है। हाँ बेटे, हजारों तरह के विचार करता है। उसे मैं एकाग्रता कहता हूँ। उसकी इच्छा एक है, दिशा एक है। अपने उद्देश्य से एक हो गया है, बस इतनी एकाग्रता हो सकती है। अंतर केवल इतना है कि आप जो विचार करते हैं, वह असंभव विचार करते हैं। मन कहीं भागने ही न पाए, एक विशेष अवस्था में लगा रहे, यह हो सकता है। बेटे, जब हम लेख लिखते हैं, तो एकाग्र हो जाते हैं। लोकमान्य तिलक के पैर का ऑपरेशन होने वाला था। डॉक्टरों ने उनसे कहा कि आपको बेहोश करना पड़ेगा। उस जमाने में बेहोशी का तरीका बहुत घटिया था। एक बार क्लोरोफार्म सुँघा दिया, तो महीने भर तक उल्टियाँ आती रहती थीं, सिर चकराता रहता था। बहुत शिकायतें रहती थीं। उन्होंने कहा कि महीने भर तो आपको दिक्कत रहेगी। तिलक ने कहा कि फिर तो महीने भर में मेरा काम बड़ा हर्ज होगा। आप ऐसा कीजिए कि बिना बेहोशी के ही ऑपरेशन कर दीजिए, मैं चिल्लाऊँगा नहीं।

डॉक्टर ने कहा, आप चिल्लाएँगे। उन्होंने कहा, बिलकुल नहीं, लाइए हम अपनी गीता की पुस्तक पढ़ना शुरू करते हैं। इसे पढ़ने में हम इतना तन्मय हो जाएँगे कि इतने समय में आप मुझे काटकर पटक देना। अच्छी बात है। तिलक ने गीता की पुस्तक मँगाई। उन्होंने अपनी टाँग लंबी कर दी और पढ़ने में तन्मय हो गए। ध्यान से सुनना, वे पुस्तक में से पढ़ने लगे, **''स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव। स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥''** और वे समाधि में चले गए। डॉक्टर ने झट से पाँव का ऑपरेशन करके रुग्ण भाग को काटकर फेंक दिया। उन्होंने कहा कि ऑपरेशन हुआ कि नहीं हुआ। अरे हो तो गया। बहुत जल्दी ऑपरेशन कर दिया।

हो एक विषय पर गहरा चिंतन

बेटे, यह क्या बात है ? ध्यान का खेल है। ध्यान की बात यह है कि एक विषय पर, एक धारा पर, एक सब्जेक्ट पर आदमी इतनी गहराई से चिंतन करे कि बाकी बातों को, सबको भूल जाए, केवल ध्यान की बात रह जाए। जब हम लेख लिखते हैं, तब इतने एकाग्र हो जाते हैं कि हमें पता ही नहीं चलता कि कौन बैठा हुआ है और कौन चला गया। कौन आ गया और कौन क्या कर गया, कुछ पता ही नहीं चलता। बस हम अपने काम में लगे रहते हैं। उस समय हमारे मन की दिशा एक होती है और इतने तरह के विचार आते हैं, इतने रिफरेंस आते हैं कि अमुक विद्वान ने ये कहा, उसने ये कहा। हमारे हाथ लिखते चले जाते हैं और हमारे दिमाग की फिल्म इतनी तेजी से दौड़ रही होती है कि सिनेमावाली फिल्म तो एक कोने पर रखी रहेगी। हजारों किताबें हमारे दिमाग में मिनटों और सेकंडों में घूमती चली जाती हैं। इस तरह हमारे दिमाग की चाल तेज होती है। अगर आप लोग कभी हमारे दिमाग की चाल को देख लें, तो कहेंगे कि महाराज जी, ऐसी चाल तो हमने कभी देखी नहीं। बेटे, तूफान की चाल और हमारे दिमाग की चाल एक होती है, जो एकाग्र होती है।

महाराज जी, जब हम एकाग्र होते हैं, तो स्थिर नहीं होते। बेटे, एकाग्र होना अलग बात है और स्थिर होना अलग बात है। समझता तो है नहीं और चिल्लाता रहता है कि हमारे मन को स्थिर कर दीजिए। कैसे स्थिर कर दें, खा जा अफीम की गोली, फिर स्थिर कर देंगे। सनक में डूबा रहेगा और कहेगा कि महादेव जी दिखते हैं। ऐसे कोई स्थिर नहीं होता। मीरा जो थी, हमेशा कहती रहती थी, ''घायल की गति घायल जाणै, जो कोई घायल होय।'' हर

वक्त वह बेचैन मालूम पड़ती थी। रामकृष्ण परमहंस उछलते रहते थे। चैतन्य महाप्रभु जब चिंतन करते थे, तो उछलकर बेहोश हो जाते थे और कीर्तन करते थे। वे एकाग्रचित्त हो जाते थे। अरे, कैसे एकाग्र हो जाएँगे? एक विषय पर, एक धारा पर आदमी का दिमाग लगा रहे, तो वह एकाग्र हो जाता है, लेकिन एक तरह के विचारों पर बहुत देर तक आदमी का मन स्थिर नहीं रह सकता, इसलिए हम सबेरे भी आपको ध्यान कराते हैं, छोटे-छोटे पीसों में कराते हैं। अलग-अलग तरह के वैराइटीज में कराते हैं, ताकि आपको एक विचार के ऊपर, एक क्रियापद्धति पर ध्यान को लगाने का, सीखने का मौका मिले। आपको यही करना चाहिए।

मित्रो, उपासना का जब समय आए, तो आप अपनी उपासना के समय जो क्रिया-कृत्य करते हैं, तो उसके पीछे जो शिक्षण दिए गए हैं, उनके साथ अपने आपको मिलाइए। जब आप देवता को फूल चढ़ाते हैं, तो इस चक्कर में मत पड़िए कि साहब, ये चमेली का फूल है कि गेंदा का फूल है कि गुलाब का फूल है या बेला का फूल है। महादेव जी न आक का फूल खाते हैं, न गणेश जी चमेली का फूल खाते हैं और न विष्णु भगवान गुलाब का फूल खाते हैं। ये बेकार की बातें छोड़िए और सोचिए कि आदमी का जीवन फूल जैसा होना चाहिए। फूल जैसा कोमल जीवन होगा, तो भगवान के चरणों में भी स्थान मिल सकता है, गले में भी स्थान मिल सकता है, सिर में भी वे स्थान दे सकते हैं। हर जगह स्थान मिल सकता है। शर्त केवल यह है कि हम फूल जैसे जीवन के हों। हँसता हुआ जीवन, कोमल एवं फूल जैसा मुलायम जीवन, सुगंधित जीवन बनाने की हम कोशिश करें।

हर वस्तु अर्पण के साथ गुणों का चिंतन

इन विचारों के साथ जब आप फूल चढ़ाया करें, तो यही विचार करें कि हम अपना जीवन फूल जैसा बनाएँगे। हमारा जीवन फूल जैसा बनना चाहिए। फूल जैसा जीवन बनाना अपना उद्देश्य होना चाहिए। फूल चढ़ाता रहे और बेकार की बातें सोचता रहे कि गुलदस्ता बनाऊँ या माला बनाऊँ, ये करूँ या वो करूँ। इन बेकार की बातों में अपना समय खराब करता रहता है और यह नहीं सोचता कि हमको अपना जीवन फूल जैसा बनाना है।

मित्रो, हम जब दीपक चढ़ाते हैं, उस समय हमारा विचार होना चाहिए कि भगवान को दीपक दिखाने की जरूरत नहीं है। भगवान के पास तो दो दीपक जलते ही रहते हैं। दिन में सूरज जलता रहता है और रात में चंद्रमा जलता रहता है। आप भगवान के लिए दीपक नहीं जलाएँगे, तो भगवान का कोई हर्ज नहीं हो सकता। महाराज जी, फिर तो हम बार-बार दीपक जलाने में पैसा क्यों खरच करें? क्यों बार-बार दीपक जलाएँ? बेटे, उसका भी एक कारण है। एक ऐसा बेवकूफ आदमी है, जो आँखों से अंधा है, जिसको कुछ दिखाई नहीं पड़ता। उसके सामने दीपक दिखाओ तो कुछ तो दिखाई पड़े। कौन है वह बेवकूफ और अंधा आदमी? वह है तू और हम, जिनको अंधे कह सकते हैं। जिन्हें कुछ पता ही नहीं है, कुछ दिखता ही नहीं है, कुछ सूझता ही नहीं है। जिन्हें न अपना मरना दीखता है और न जीना दीखता है। बस एक ही चीज दिखती है—विलासिता, एक ही चीज दिखती है—तृष्णा, एक ही चीज दिखती है—वासना, एक ही चीज दिखती है—भोग, एक ही चीज दिखती है—लोभ। वह एक ही चीज देखता है और कुछ नहीं। उसकी आँखें खराब हैं। उसे मोतियाबिंद की शिकायत है। अत: अँधेरे में भटकने वालों को रोशनी की जरूरत है।

दीप प्रज्वलन का अर्थ रोशनी भरा जीवन

मित्रो, इसलिए हम भगवान के सामने दीपक जलाते हैं, ताकि भगवान के बहाने हम अपने आपको देख सकें कि हमारी जिंदगी का स्वरूप ऐसा होना चाहिए, जैसा कि दीपक का है। रोशनी, रोशनी माने जीवन। रोशनी कैसी, जैसे दीपक की, बिजली की। महाराज जी, दीपक की, बिजली की बत्ती तो मैं रोजाना ही जलाता रहता हूँ। नहीं बेटे, उससे हमारा मतलब नहीं है। रोशनी से हमारा मतलब, 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' से है। इससे है कि हमको अंधकार से प्रकाश की ओर लेकर चलिए। इसका मतलब ये नहीं है कि टार्च आ गया और उसे जलाते चलिए और आकर के हमको अँधेरे में से ले चलिए। हमारा मतलब इस चमक की रोशनी से नहीं है, वरन् रोशनी से हमारा मतलब है—ज्ञान। दीपक जब हम जलाते हैं, तो इसका मतलब यह है कि हमारा मस्तिष्क ज्ञान से भरा हुआ हो, विचारणा से भरा हुआ हो, प्रज्ञा से भरा हुआ हो, रोशनी से भरा हुआ हो। अगर हमारा मस्तिष्क इन सबसे भरा हुआ हो, तो हम क्या काम करें? बेटे, तब हम जलने की बात सोचें, जलने की बात सीखें, दूसरों के फायदे की बात सीखें, कुरबान होने की बात सीखें, समन्वय की बात सीखें, शरणागति की बात सीखें, विसर्जन की बात सीखें, विलय की बात सीखें। नहीं साहब, हम तो लेने की बात सीखेंगे। नहीं बेटे, लेने वालों की यह कंपनी नहीं है, यह देने वालों की है।

बेटे, तू कौन-सी कंपनी में दाखिल हो गया है? अरे महाराज जी, मैं तो भजन करने वालों में आ गया। इसमें क्यों आ गया? महाराज जी, इसमें इसलिए आ गया कि भजन करने वालों को बड़ा नफा होता है। अरे बेटे, तुझे किसी ने गलत बहका दिया है। भजन करने वालों को इसमें नफा नहीं होता और अगर होता भी है, तो उनको तो ऐसा

शाप लगा हुआ है कि वह स्वयं नहीं खा सकते हैं, केवल दूसरों को खिला सकते हैं। बाजीगर से एक बार हमने पूछा, क्यों भाई, एक बात बताओ कि अभी जो आपने आम के पेड़ से फल तोड़े और डिब्बे में से मिठाई निकाली और सबको खिलाया। क्या यह सच्ची मिठाई है। हाँ साहब, सच्ची मिठाई है। तब तो आप रोजाना मिठाई बनाते होंगे और अपने बाल-बच्चों को खिलाते होंगे। नहीं साहब, इसको हम नहीं खा सकते। किसी और को खिला सकते हैं। क्यों, आप भी खा लिया करो। नहीं साहब, हम स्वयं नहीं खा सकते, औरों को खिला सकते हैं।

भगवत्कृपा से जुड़ा एक शाप

मित्रो, भगवान की दया में, कृपा में एक शाप लगा हुआ है कि यदि आप उसे खाने की कोशिश करेंगे, तो वह आपके पास नहीं रह पाएगी। आप खिला सकते हैं, खा नहीं सकते। संत खा नहीं सकता। संतों ने जब खाना शुरू कर दिया, तो संत का संतपन उसी दिन खत्म हो गया। भगवान हमको दीजिए, भगवान हमको दीजिए। बेटे, भगवान देता तो है, पर उसकी कृपा पारे की तरह है। पारे को आप देख लीजिए और दिखा लीजिए, पर खाइए मत। भगवान की कृपा को भी खाना मत। संत खाते नहीं हैं, ऋषि कभी खाते नहीं, तपस्वी कभी खाते नहीं। अगर आप भगवान की कृपा को स्वयं खाना शुरू करेंगे, तो फिर आपकी देने की ताकत खत्म हो जाएगी। खा लीजिए, फिर देखिए आप किसी को कुछ दे नहीं सकते, किसी की सहायता नहीं कर सकते। आप चाहें कि खाने के बाद में हम अध्यात्म से किसी का फायदा कर दें, तो आप नहीं कर सकते। पैसा लेकर अनुष्ठान शुरू कीजिए, ठीक है, आपकी जीविका चल जाएगी। उसका प्रभाव होता होगा तो होगा, लेकिन आपकी वाणी के अंदर जो शक्ति है, वह नहीं रहेगी। फिर आप चाहें कि किसी का भला कर दें, तो नहीं कर सकते।

मित्रो, भगवान की कृपा खाई नहीं जा सकती। इस बारे में मैं लोगों को बताता रहता हूँ कि तुम्हें भगवान की कृपा से अगर फायदा कराना हो, तो इसकी अपेक्षा यह ज्यादा अच्छा है कि तुम नौकरी कर लो। धंधा कर लो। नहीं साहब, उसमें कम फायदा होता है। तो बेटे, चोरी कर ले। चोरी करेगा तो तीन महीने की सजा हो जाएगी, लेकिन भगवान की कृपा से तेरा पिंड तो छूटेगा। बेटे, भगवान की कृपा से जो लिया हुआ है या प्राप्त हुआ है, वह सब परमार्थ के लिए होता है, लोकहित के लिए होता है। याद रखिए, भगवान की कृपा से सुख नहीं, शक्ति मिलती है। हर एक को शक्ति मिली है, सुख किसी को नहीं मिला है। यदि शक्ति की जरूरत हो, तो भगवान की कृपा के चक्कर में फँस और यदि तुझे सुख की जरूरत है, तो भगवान से दूर रहो। हाँ, भगवान से दूर रहने वालों में जितने भी तेरे संसाधन दिखाई पड़ते हैं, हर सांसारिक आदमी उस दृष्टि से गरीब दिखाई पड़ता है, कंगाल दिखाई पड़ता है।

खाना नहीं, खिलाना सीखो

महाराज जी, क्या भगवान की कृपा पाने वाले कंगाल नहीं होते। हाँ बेटे, भगवान जिस पर कृपा करते हैं, उसे कंगाल तो नहीं करते, परंतु यह बात जरूर है कि भगवान की कृपा पाने वाले इतने उदार हो जाते हैं कि वे खा नहीं सकते, खिला सकते हैं। वे खाते नहीं, खिलाते रहते हैं। ईश्वरचंद्र विद्यासागर को पाँच सौ रुपये महीने नौकरी में मिलते थे। जब वह पाँच सौ रुपये आते थे, तो उनकी अपनी जिंदगी के वे दृश्य सामने आ खड़े होते थे, जब उन्हें बिजली के अभाव में, रोशनी के अभाव में सड़क के किनारे खड़े होकर पढ़ना पड़ता था। सड़क के किनारे लगे खंभों पर जो बिजली जलती है, उसके नीचे खड़े होकर किताब पढ़नी पड़ती थी। सारे विद्यार्थी, जो सड़क के किनारे खड़े होते थे, उनकी आँखों के आगे खड़े हो जाते थे। उन्हें अब पाँच सौ रुपये तनख्वाह मिलती है। जब पढ़ते थे, तब उनके पास चार आने महीने होते थे, जिसमें से मिट्टी का तेल खरीदकर उसकी बत्ती के प्रकाश का प्रबंध भी पूरा नहीं हो पाता था। आज उनकी आँखों के सामने इसी तरह के हजारों बच्चे आ खड़े होते और कहते कि हमारी मदद कीजिए।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने निश्चय कर लिया था कि पचास रुपये महीने में हम अपना गुजारा करेंगे और साढ़े चार सौ रुपया महीना उन लोगों के लिए सुरक्षित रखेंगे जिनको फीस की जरूरत है, जिनको किताबों की जरूरत है, जिनको दूसरी चीजों की जरूरत है। वे हजारों परेशानियाँ सहते रहे, पर अपना गुजारा पचास रुपये में ही करते रहे। महाराज जी, फिर तो वह गरीब ही रहे, अमीर नहीं बन पाए। हाँ बेटे, वह अमीर नहीं बन पाए। संत अमीर नहीं हो सकता। भगवान के भक्त के हिस्से में अमीरी नहीं आई है। वह अमीर बना तो सकता है, पर स्वयं अमीर नहीं बन सकता। गाँधी जी ने बादशाह तो ढेरों बनाए, किंतु स्वयं बादशाह नहीं बन सके। समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी को तो बादशाह बनाया, पर स्वयं बादशाह नहीं बन सके। चाणक्य ने चंद्रगुप्त को बादशाह तो बनाया, पर स्वयं बादशाह नहीं बन सके। संत बादशाह नहीं बन सकता, इसलिए यदि संत बनना है, भगवान की कृपा, भगवान की दया प्राप्त करनी है, तो उसे बाँटना सीखिए, दूसरों को खिलाना सीखिए। स्वयं मत खाइए।

(अगले अंक में जारी)

◆

युगगीता — ३८

कर्त्ताभाव से मुक्त द्रष्टा स्तर का दिव्यकर्मी

(कर्म-संन्यास-योग नामक गीता के पाँचवें अध्याय की चौथी किश्त)

इस धारावाहिक शृंखला की पिछली कड़ी में पाठकों ने जाना था कि योग साधन है एवं सांख्य लक्ष्य। ज्ञान व कर्म एक-दूसरे के पूरक हैं, यह भगवान का मत है। इस दृष्टि के विकसित होने पर अहंभाव का विसर्जन हो जाता है। इसके जाते ही भोक्ता भाव भी समाप्त हो जाता है। यह ज्ञातव्य है कि प्रथम छह अध्याय गीताजी में कर्मयोग की महत्ता के प्रतिपादक हैं। अतः द्वितीय अध्याय से ही भगवान इसी की महिमा गाते चले जा रहे हैं। भगवान बड़े स्पष्ट ढंग से कहते हैं कि कर्म के द्वारा ईश्वर के साथ संयोग ही कर्मयोग है। जिस कर्म में ईश्वर से मेल न हो, वह तो मात्र कर्म है, कर्मयोग नहीं। योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी, नाग महाशय आदि के माध्यम से गृहस्थ में भी संन्यास का जीवन जीने वाले कर्मयोगियों की महत्ता बताई गई थी एवं यह भी कहा गया था कि आज संन्यास के नाम पर कैसा पाखंड व अकर्मण्यता का साम्राज्य संव्याप्त है। इस अध्याय के छठे श्लोक के माध्यम से बताया गया था कि कर्मों का त्याग कर्म संपादन के बिना संभव नहीं। योग के आचरण से शुद्ध हों एवं भगवत्स्वरूप का सतत मनन करते रह कर्मयोगी बनने का प्रयास करें, यही हमारा आदर्श होना चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि निष्काम कर्म के अनुष्ठान के बिना संन्यास दुःखप्राप्ति का मार्ग बनकर रह जाता है। परमपूज्य गुरुदेव के कथनों व अनुभवों से आज के संन्यास की विडंबना भी विगत अंक में बताई गई थी। अब आगे पढ़ें।

चिकित्सक-शिक्षक श्रीकृष्ण

इस महत्त्वपूर्ण पाँचवें अध्याय का छठा श्लोक हमें बड़े स्पष्ट रूप में कह रहा है कि कर्मों के संपादन के बिना कर्मों का त्याग संभव नहीं है अर्थात मन, इंद्रिय और शरीर द्वारा होने वाले संपूर्ण कर्मों में कर्त्तापन का त्याग प्राप्त होना कठिन है। योग के आचरण से शुद्ध हुआ भगवत्स्वरूप को मनन करने वाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है (न चिरेण ब्रह्म अधिगच्छति)।

अब इस बात को समझने का प्रयास करें। यज्ञीय भाव से निरंतर कर्म में लगे रहना ही श्रेयस्कर है, ऐसा श्रीकृष्ण का आदेश है। कर्मों का संपादन, आसक्ति का त्याग, शुचिता का विकास, ध्यानयोगी बनने का अध्यवसाय एवं फिर परब्रह्म परमात्मा की-परमपद की प्राप्ति। यही राजमार्ग वे अर्जुन को व उसके माध्यम से हम सभी को समझा रहे हैं। साथ में वे कहते भी हैं व एक सावधानी की मुद्रा में बता जाते हैं, निष्काम कर्म का अनुष्ठान किए बिना संन्यास मात्र दुःखप्राप्ति का निमित्त बनकर रह जाता है (संन्यासस्तु दुःखमाप्तम् अयोगयतः)। ऐसा मार्ग अपनाया ही क्यों जाए, जो दुःख दे व जीवन में शांति कभी आने ही न दे।

हम सबके जीवन में एक स्पष्ट लक्ष्य होना चाहिए और इस लक्ष्य के प्रति पूरा समर्पण भी होना चाहिए। भीतर छिपी वासनाएँ हमारे विचाररूपी मानसरोवर को सदा गंदा ही करती रहेंगी, यदि हमने उनके क्षय का मार्ग न निकाला और वासनाओं का क्षय निष्काम कर्मयोग के बिना संभव नहीं। समाज की सेवा हमारे लिए हृदयशुद्धि-आत्मसत्ता के लिए एक शिक्षण एवं संस्कृति के विकास का अवसर लेकर आती है। यह समाजसेवा योगानुशासन से भरे कर्म से ही संभव है, सकाम कर्म से नहीं। हर किसी के लिए यह अनिवार्य भी है। कर्मयोग से ध्यानयोग व उसके बाद योगयुक्त मुनि बनने का एक सरल-सा मार्ग है, पर संन्यास सभी कर्मों का त्याग, इस मार्ग पर नहीं ले जाता, इसलिए सभी के लिए कर्मयोग का मार्ग ही निर्धारित है। जिस योगी ने कर्मयोग का दीर्घकाल तक अभ्यास कर लिया है, वह संन्यास के मार्ग पर प्रतिष्ठित हो सकता है, यह सम्मति श्रीकृष्ण की है। 'अयोगतः' अर्थात कर्मयोग न करने वाले के लिए तो संन्यास दुःख का ही कारण बनता है, यह भी वे बताते हैं।

मानव की सेवा पहले, फिर प्रभु की सेवा यह श्रीकृष्ण का निर्देश है। इस बात को बताते-बताते व अगले श्लोक की ओर बढ़ते हुए भगवान एक तथ्य स्पष्ट कर जाते हैं

कि अहंभाव से संपादित होने वाले सभी कर्म कर्त्ताभाव से जुड़े होते हैं। यह जब तक विसर्जित नहीं होगा, मनुष्य तनाव-अशांति में जिएगा, कभी प्रभु से उसका साक्षात्कार हो न पाएगा। बिना अहंकार के, बिना किसी प्रकार की कामना के जीवन जीने की कला का शिक्षण देने वाले श्रीकृष्ण एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षक भी हैं, मनोचिकित्सक भी।

अगला श्लोक कहता है-

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ५/७

जिसने समर्पित कर्मों द्वारा अपने मन को अपने वश में कर लिया है, इंद्रियाँ जिसकी वश में हैं एवं जिसकी बुद्धि-अंतःकरण इन कर्मों से शुद्ध हो गए हैं तथा जो सतत यह अनुभव करता है कि संपूर्ण प्राणियों की आत्मा रूप परमात्मा ही उसके भीतर है, ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उनमें कभी लिप्त नहीं होता।

सच्चे योगी के तीन लक्षण

भगवान इस श्लोक में एक साथ कई बातें कह गए हैं। वे कहते हैं कि जिसका मन अपने नियंत्रण में है तथा जो शुद्ध अंतःकरण वाला है, वही योगी है। इतना ही नहीं, जो जीवन जीते हुए सतत एक ही अनुभूति करता रहता है कि संपूर्ण प्राणियों की आत्मा परमात्मसत्ता के रूप में उसके अंदर भी है, वह भी उनके साथ एक भाव रखते हुए सतत कर्म कर रहा है। यदि वह ऐसा कहता है, तो वह कर्म करते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता अर्थात ये कर्म उसके लिए बंधन-आसक्ति का कारण नहीं बनते। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस बात को इस तरह कहा है, **'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त'** अर्थात इस भाव से कर्म कि मैं तो सेवक मात्र हूँ, ये सारे कर्म तो भगवान के लिए ही हैं। यह सेव्य भाव जिस दिन आ जाता है, उस समय व्यक्ति को कोई भी कर्म बंधनों में नहीं बाँधता। किसी भी कर्म की फिर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। फिर वे पुण्यों की सूची में जुड़ते चले जाते हैं। कोई क्रोध दिलाए, तो क्रोध नहीं आता। कोई तारीफ करे, तो हम प्रभावित नहीं होते। एक तरह से स्थितप्रज्ञ जैसी स्थिति हमारी हो जाती है। कोई भी कर्म करते हुए भी ऐसा लगता है कि हम उसमें तनिक भी लिप्त नहीं हैं। हम तो उस कर्म के निमित्त मात्र हैं।

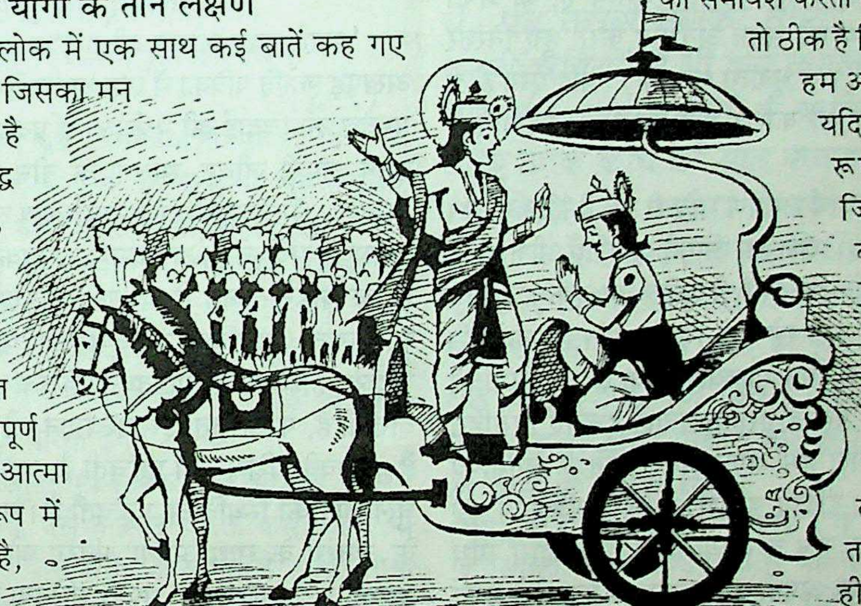

किसी के भी मन में प्रश्न आ सकता है कि श्रीकृष्ण यह क्या कह रहे हैं। अहंकाररहित व्यक्तित्व वाला व्यक्ति क्या कर पाएगा? वह तो कर्मों की दृष्टि से नाकारा और किसी भी जाति-समाज की उन्नति में बाधक ही सिद्ध होगा। यदि ऐसा होता, तो श्रीकृष्ण अर्जुन को ऐसी शिक्षा क्यों देते। वस्तुतः वे इन श्लोकों के माध्यम से अर्जुन को एक साधक के रूप में विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं। अहंकाररहित दृष्टिकोण का विकास ही वह साधना है जो कर्मयोगी के रूप में अर्जुन को करना चाहिए-ऐसा श्रीकृष्ण का मानना है। वे कहते हैं कि अहंभाव-कर्त्ताभाव का समावेश करता है। यह यहाँ तक तो ठीक है कि कर्म का गौरव हम अनुभव करें, किंतु यदि यह अनावश्यक रूप से निरर्थक जिम्मेदारियों का बोझ आप पर लाद दे व सारी दुनिया के आप ठेकेदार स्वयं को महसूस करने लगें तो फिर मानसिक तनाव-अशांति का ही कारण बनेगा। स्वामी चिन्मयानंद जी (चिन्मंय मिशन) बड़े सुंदर ढंग से इसे समझाते हैं, ''एक नदी बह रही है। वह स्वभावतः ही बह रही है, लेकिन आप यदि किसी चट्टान पर बैठ जाएँ और नदी के जल में अपना पैर डाल-हिलाने लगें तो यह आपकी मौज है। परंतु यह अनुभव करना और फिर आग्रह करने लगना कि मेरा पैर हिलाना ही नदी के प्रवाह का कारण है-''मैं ही नदी को बहा रहा हूँ।''- एक मिथ्या दृष्टिकोण है। इससे हमें थकावट, चिंता और मानसिक तनाव की ही प्राप्ति होगी।'' (पृष्ठ २२५, 'मानव निर्माण कला' से)।

कर्मों द्वारा वासनाओं से मुक्ति कैसे मिले

हम सभी को बिना अहंकेंद्रित कामनाओं के जीने और श्रेष्ठतम ढंग से कार्य करते हुए सेवा करते रहने की कला सीखनी ही होगी। इसी में हमारे जन्म की सार्थकता है, हमारा गौरव है। ऐसे ही कार्यों से हमें मानसिक शांति मिलेगी। कर्मों द्वारा अपने व्यक्तित्व को वासनाओं से कैसे मुक्त किया जाए, इसकी कार्यशाला श्रीकृष्ण इस श्लोक में हमें समझा रहे हैं। ऐसा करने के लिए उनके अनुसार तीन बातों की आवश्यकता है।

१. सबसे पहले अपने को श्रेष्ठ योगी बना, हर श्वास में योगमय जीवन जीते हुए अपनी बुद्धि-अंत:करण को शुद्ध करना- ऐसे कर्म करना। (योगयुक्तो विशुद्धात्मा)

२. फिर अपने मन को अपने वश में करना, इंद्रियों पर अपना नियंत्रण स्थापित करना। (विजितात्मा जितेन्द्रियः)

३. सभी जीवों में वही परमात्मा समाया है, जो अपने भीतर है, इस तथ्य की सतत अनुभूति करते हुए निरंतर कर्म करते रहना। (सर्व भूतात्म भूतात्मा)। यदि ऐसा होता है, तो कर्म बंधन का कारण नहीं बनते। (कुर्वन्नपि न लिप्यते)

हर कर्म निःस्वार्थ समर्पण भाव से हों, दैनंदिन जीवन में ऐसा करते हुए प्रतिक्षण हम अपनी वासनाएँ क्षीण करते चलें, यही संक्षोभों-विक्षोभों से मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। इससे बुद्धि में चल रहे सारे विभ्रम शांत हो जाते हैं। बुद्धि के शांत होते ही मन भी स्वाभाविक रूप से नियंत्रित हो जाता है। जिस पल हमारी कामनाएँ-इच्छाएँ तिरोहित हो जाएँगी, उसी पल हम अपने अंदर शांति का साम्राज्य स्थापित कर लेंगे, इंद्रियाँ हमारी अपने नियंत्रण में आ जाएँगी। जब बुद्धि, मन व काया तीनों हमारे द्वारा साध लिए गए, तो साधक अपनी आत्मसत्ता में एक ऐसे सत्य की अनुभूति करने लगता है कि उसकी अंतरात्मा ही सब भूतों में, जीवमात्र में स्थित आत्मा है। वह एक विलक्षण प्रसन्नता की अनुभूति करने लगता है।

कुर्वन्नपि न लिप्यते

आत्मतत्त्व की अनुभूति कैसे हो? यह प्रश्न कई साधकों के मन में आता रहता है। इसके लिए वे हाथ-पाँव मारते व कई तरह के पुरुषार्थ करते हैं। कोई किताबें चट कर जाता है, तरह-तरह के ग्रंथों में उसे ढूँढ़ने की कोशिश करता है, कोई वैरागी होने का ढोंग रचता है व अकर्मण्य बन किसी तरह ध्यानस्थ होने की बात मन में विचारता है। पर आत्मा का दर्शन उसे ही होगा, जो श्रीकृष्ण की इस श्लोक में कही गई बातों पर अमल करेगा। जब यह होगा एवं उसे सर्वात्मा के रूप में परमसत्ता ही अपने भीतर चहुँओर दिखाई देने लगेगी, तो उसे किसी भी अवस्था में कोई भी कर्म कभी भी लिप्त नहीं कर सकते, वह अनासक्त ही बना रहेगा (कुर्वन्नपि न लिप्यते)।

सच्चा कर्मयोगी वही है, जो जीवन के विभिन्न कर्म करते हुए भी परमात्मा से कभी विलग नहीं होता। कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता, अकर्म की स्थिति में जीता है। उसकी आस्था उसके अनुभवों में बदल जाती है एवं तब सच्चे संन्यास का जन्म होता है। वह भावुक भी होता है, भावनाशील भी। परमार्थपरायण भी होता है तथा ईश्वर अंश जीव अविनाशी की तरह सभी के अंदर उसे वही परमात्मा की सत्ता दिखाई देती है, जो उसके निज के अंदर भी विद्यमान है। परमपूज्य गुरुदेव का जीवन इसी दर्शन से ओत-प्रोत हम देखते हैं।

आत्मवत् सर्वभूतेषु

'हमारे दृश्य जीवन की अदृश्य अनुभूतियाँ' प्रसंग से अखण्ड ज्योति पत्रिका में एक धारावाहिक शृंखला परमपूज्य गुरुदेव की विदाई की पूर्ववेला में प्रकाशित हुई थी। इसमें उनने अपनी जीवन-साधना के तीन चरणों का उल्लेख किया था, मातृवत् परदारेषु-परद्रव्येषु लोष्ठवत् एवं तीसरा आत्मवत् सर्वभूतेषु। अपने समान सबको देखना। वे लिखते हैं कि कहने-सुनने में ये शब्द मामूली से लगते हैं और सामान्यतः नागरिक कर्तव्यों का पालन, शिष्टाचार-सद्व्यवहार की सीमा तक पहुँचकर बात पूरी हो गई दीखती है, पर वस्तुतः इस तत्त्वज्ञान की सीमा अति विस्तृत है। उसकी परिधि वहाँ पहुँचती है, जहाँ परमात्मा के साथ घुल जाने की स्थिति आ पहुँचती है। साधना के लिए दूसरे के अंतरंग के साथ अपना अंतरंग जोड़ना पड़ता है और उसकी संवेदनाओं को अपनी संवेदना समझना पड़ता है। (सुनसान के सहचर, पुस्तक पृष्ठ ९३ से)

वस्तुतः हमारी गुरुसत्ता ने इस तत्त्वदर्शन को अपने जीवन में उतारा एवं यही उनकी सिद्धि का मूल बना। वे लिखते हैं कि ऐसी साधना करने वाला मनुष्य अपने तक सीमित नहीं रह सकता, स्वार्थों की परिधि में आबद्ध रहना उसके लिए कठिन हो जाता है। दूसरों का दुःख मिटाने और सुख बढ़ाने के प्रयास उसे बिलकुल ऐसे लगते हैं मानो यह सब वह नितांत व्यक्तिगत प्रयोजन के लिए कर रहा हो। जैसे ही अपनी आत्मवत् सर्वभूतेषु की संवेदना प्रखर हुई, अंदर की निष्ठुरता उसी क्षण गल-जल कर नष्ट हो गई। जी में केवल करुणा शेष रही। वही अब

तक के जीवन के इस अंतिम अध्याय तक यथावत बनी हुई है। उसमें कमी रत्तीभर भी नहीं है, वरन दिनोदिन बढ़ोत्तरी ही होती गई। (सुनसान के सहचर, पृष्ठ ९८)

साक्षीभाव में पहुँचा निष्काम कर्मयोगी

सर्वभूतात्म भूतात्मा शब्द जो सातवें श्लोक में आया है, उसकी समीचीन व्याख्या ऊपर के शब्दों में हो जाती है। समस्त प्राणियों के आत्मारूपी परमेश्वर के साथ अपने को अभिन्न देखने वाले निष्काम कर्मयोगी के गुणों का वर्णन योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जो यहाँ किया है, वह काव्य की दृष्टि से अद्‌भुत है। ऐसे व्यक्ति स्वप्न से जाग उठते हैं, जो परम चैतन्य से अब एकाकार हो गए हैं। अब उन्हें निम्न अवस्थाओं के कर्म प्रभावित नहीं करते। इसीलिए अगले दो श्लोकों में श्रीकृष्ण कहते हैं-

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
(५/८-९)

इस प्रकार तत्त्व को जानने वाला सांख्य योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ तथ आँखों को खोलता-मूँदता हुआ भी (चक्षु उन्मीलन) सभी इंद्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बरत रही हैं। (इंद्रियाँ विषयों में विचर रही हैं), ऐसी धारणा करते हुए यह मानता है कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

यह व्याख्या वस्तुतः पूर्व श्लोक का उत्तरार्द्ध है, जिसमें पूर्व में कहा गया था, ऐसे आत्मज्ञ व्यक्ति कर्म करके भी लिप्त नहीं होते। यह कैसे संभव हो सकता है, यहाँ बताया गया है। 'युक्त' अर्थात निष्काम कर्मयोग में लगा व्यक्ति-योगी जब सिद्धियों के उच्चतर आयामों पर पहुँचता है, तो वह पंच ज्ञानेंद्रियों के द्वारा दर्शन-श्रवण-स्पर्श-घ्राण-स्वाद ग्रहण तथा कर्मेंद्रियों के द्वारा गमन, निद्रा, श्वासग्रहण, वाक्यकथन, मल-मूत्रादि त्याग, ग्रहण चक्षु उन्मीलन-निमीलन करते हुए भी वह कुछ भी नहीं करता, ऐसा मानता है, क्योंकि उसकी धारणा है कि वह निर्लिप्त है एवं इंद्रियों का सारा व्यापार स्वतः चल रहा है।

ठाकुर परमहंसदेव ने एक उद्धरण के माध्यम से कहा है, एक चांडाल मांस का बोझ लेकर जा रहा था। शंकराचार्य गंगा नहाकर आ रहे थे। चांडाल ने उन्हें छू लिया। आचार्य ने असंतुष्ट होकर कहा कि तूने मुझे अपवित्र कर दिया। चांडाल ने कहा, महात्मन् मैंने आपको नहीं छुआ, न आपने मुझे छुआ। आप स्वयं विचार कीजिए कि क्या आप शरीर हैं या मन या बुद्धि, आप क्या हैं? शुद्ध आत्मा तो निर्लिप्त होती है। सत्, रज, तम इन तीनों में से किसी में भी वह लिप्त नहीं है। एक तरह से चांडाल के माध्यम से स्वयं परमात्मा ने आद्यशंकर को गीता का यह दर्शन समझाया।

द्रष्टा दिव्यकर्मी

जब यह मान्यता हो जाती है, **नैव किंचित करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित**। मैं कुछ भी नहीं करता, तो वह कर्त्ताभाव से मुक्त हो जाता है। इन समस्त शारीरिक क्रियाओं में कहीं भी उसका कर्त्ताभाव आड़े नहीं आता। आंतरिक जागरूकता की इस अवस्था में वह देखता और अनुभव करता है कि इंद्रियाँ ही हैं, जो विषयों में विचरण करती हैं (**इंद्रियाणीद्रिंयार्थेषु वर्तंत इति धारयन्**)। ऐसी स्थिति में वह आस-पास के लौकिक क्रियाकलापों के प्रति साक्षी भाव जाग्रत् कर विकसित स्थिति को प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः द्रष्टा बन जाता है। यह भाव विकसित होना साधना की उच्चतम स्थिति में पहुँच जाना है। अहंभाव से रहित होते ही हम सही अर्थों में दिव्यकर्मी बन जाते हैं एवं समाज के एक कर्मठ सेवक बनकर पूरे उत्साह के साथ लग जाते हैं। बंधन मुक्ति का तत्त्वदर्शन-अहंभाव से मुक्ति का यह चिंतन गीता का अमृत है। जिसने इसे समझ लिया, उसने मानो ब्रह्म को पा लिया।

(क्रमशः) ▲

> *रावण का सारे भूमंडल पर दबदबा था। सभी राज्य और संपन्न व्यक्ति उसे कर देते थे, पर उससे उसकी तृष्णा शांत न हुई। उसने ऋषियों से भी कर वसूलना आवश्यक समझा। सलाहकारों ने ऋषियों की शक्ति और उनके क्रोध की बात समझाने का प्रयास भी किया, तो अहंता ने उसे कुछ महत्त्व न दिया। उसने व उसके साथियों ने ऋषियों के कार्य में विघ्न डाल-डालकर उन्हें रुष्ट किया। ऋषियों ने कर के रूप में एक-एक बूँद रक्त घड़े में भरकर भेज दिया, उसी से सीता का जन्म हुआ और रावण को सपरिवार विनाश के गर्त में जाना पड़ा।*

चेतना की शिखर यात्रा-१०

अंकुर आने लगे-१

मथुरा की दूसरी यात्रा

हिमालय जाते हुए वापस आने के बाद श्रीराम ने अपनी मरजी से आँवलखेड़ा की सीमा भी नहीं लाँघी थी। ननिहाल गए थे, लेकिन वह भी पिता के साथ और पूरे परिवार के साथ लौटना हुआ था। मथुरा ने श्रीराम को आकर्षित किया था। पिता के श्राद्ध कर्म के बाद एक दिन श्रीराम ने ताईजी से कहा, ''माँ, अगर मैं आपको वचन दूँ कि वापस आ जाऊँगा, तो क्या आप मुझे मथुरा जाने की अनुमति देंगी ?'' जिस तरह अनुमति माँगी गई थी, उसमें नहीं होने का सवाल ही नहीं था। पूछा कि कितने दिन में वापस लौटोगे, तो बोले यही कोई आठ-दस दिन में। ताईजी ने सहर्ष अनुमति दी। उस समय यातायात के पर्याप्त साधन नहीं थे। आँवलखेड़ा से मथुरा आने-जाने में ही तीन-चार दिन लग जाते। फिर बारह वर्ष की अबोध उम्र। एक बार तो मन हुआ कि मना कर दें, लेकिन बेटे का मन टूट जाएगा। ताईजी ने किसी को साथ ले जाने के लिए कहा, लेकिन श्रीराम अकेले जाना चाहते थे। उन्होंने वैसा ही व्यक्त किया और अनुमति मिल गई। अगले दिन तीन-चार जोड़ी कपड़े और ओढ़ने-बिछाने के लिए दरी, चादर के अलावा आने-जाने, रहने आदि के लिए खरच का इंतजाम कर दिया।

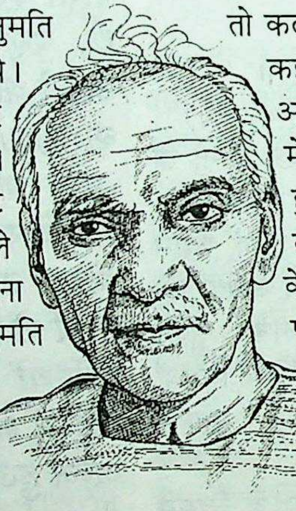

गाड़ी, घोड़े और रेल से यात्रा करते हुए श्रीराम दूसरे दिन मथुरा पहुँचे। वहाँ कुछ रिश्तेदार रहते थे, लेकिन उनके घर न जाकर श्याम जी की बगीची में पड़ाव डाला। द्वारकाधीश के दर्शन कर विश्राम घाट आदि जगह होते हुए वे वृंदावन मार्ग पर स्थित एक बगीची में आ गए। छोटा-सा कुआँ जिसे वहाँ कुइया कहा जाता था, नहाने और विश्राम करने की सुविधा के साथ पास ही बने दो-चार खुले-खुले से कमरे वाली बगीचियाँ मथुरा-वृंदावन के रास्ते में थीं। ब्रज क्षेत्र में इस तरह की बगीचियों की भरमार रही है। संपन्न लोग यहाँ शाम का समय बिताया करते थे। इन जगहों पर कुछ पेड़ और फूलों के पौधे भी लगे होते थे। सब मिलकर मनोरम वातावरण बना देते। कुइया के पास किसी देवी-देवता की मूर्ति भी होती है। मूर्ति प्रायः हनुमान की हुआ करती, लेकिन कहीं-कहीं राधा-कृष्ण, दुर्गा या किन्हीं संत-महात्माओं की भी होती। श्रीराम जिस बगीची में ठहरे, वहाँ कोई देवी प्रतिमा लगी थी। पूछा कि किस देवी की है, तो नियमित आने-जाने वाले भी स्पष्ट जवाब नहीं दे पाए। कोई दुर्गा की तो कई लक्ष्मी या राधा और सीता की बताकर रह गए, लेकिन वह प्रतिमा श्रीराम को बहुत भाई।

करीब एक सप्ताह तक श्रीराम वहीं रहे। सुबह नहा-धोकर निकल जाते और तीसरे प्रहर लौटते। मथुरा-वृंदावन में जगह-जगह भंडारे चलते। कुछ नहीं करते हुए भी वहाँ आराम से गुजर हो सकती है। आज इस आश्रम में, तो कल उस आश्रम में। भंडारा खाकर आज भी कई लोग गुजारा चला लेते हैं। श्रीराम इन आश्रमों में तो जाते थे, लेकिन भोजन-प्रसाद में उन्होंने कभी रुचि नहीं ली। घर से चलते हुए माँ ने जो सत्तू और भुना हुआ दलिया बाँधा था, उसी का आहार करते। बदलाव के लिए द्वारकाधीश मंदिर के पास बनी फूलचंद पेड़े वाले की दुकान या चौक से कुछ हलका-फुलका खाद्य खरीद लेते थे। बाकी समय भ्रमण में व्यतीत करते।

बाबा से साक्षात्कार

भ्रमण में मंदिर आदि स्थानों पर तो एकाध बार ही गए। कुंज, आश्रम और यमुना के किनारे ही उनका समय ज्यादा बीता। लग रहा था जैसे कुछ खोज रहे हैं। बगीची में जितनी देर रहते, देवी-प्रतिमा पर बार-बार ध्यान देते। उठकर उसे देखने जाते। जो भी आता उससे पूछते, यह किनकी प्रतिमा है ? एक दिन विलक्षण ढंग से उनके प्रश्न का उत्तर मिला। हुआ यह कि कोई संत बगीची में आए। नाम था उनका बाबा रामदास। लेकिन लोग उन्हें काठिया बाबा कहते थे। उन्होंने कौपीन की जगह लकड़ी का बनाया लंगोट जैसा आवरण पहन रखा था। बाबा ने उसे खास ढंग से तैयार कराया था कि वह कमर में अटका रहता था और जरूरत पड़ने पर उतारा या ढीला भी किया जा सकता था। काठ की कौपीन पहनने के कारण ही लोग उन्हें काठिया बाबा कहते थे।

काठिया बाबा वृंदावन में रहते थे, लेकिन अपना कोई आश्रम नहीं बनाया था। उस दिन सुबह पाँच बजे वे बगीची में आ गए और 'जय अंबे' का उद्घोष किया। कुइया पर स्नान कर वे पास ही स्थित भगवती के दर्शन के लिए गए। देर तक बैठे रहे। पूजा-पाठ कुछ करते दिखाई नहीं दिए। स्पष्ट वे ध्यान कर रहे थे। श्रीराम उन्हें कुतूहल से देख रहे थे। ध्यान करके उठे, तो लपककर उनके चरण छूने लगे। काठिया बाबा 'ना बाबा ना' कहते हुए दस कदम पीछे हट गए। फिर सहज होकर बोले, ''कहाँ से आए हो?'' श्रीराम ने अपना सामान्य परिचय दिया। बाबा ने पूछा, ''कहाँ जाना है?'' श्रीराम ने उत्तर दिया, ''गंतव्य तो सभी का एक है, लेकिन जाना कैसे है, यह पता नहीं है।'' सुनकर काठिया बाबा के चेहरे पर प्रसन्नता फूट पड़ी। कहने लगे, लेकिन तुम तो अपनी दिशा में ठीक जा रहे हो। कैसे कहते हो मार्ग नहीं मालूम?

काठिया बाबा ने बताया अपने बारे में

दोनों में चर्चा छिड़ गई। देर तक बातचीत चलती रही। काठिया बाबा ने अपनी साधना और अब तक की यात्रा के बारे में विस्तार से बताया। उन्हीं बाबा से यह समाधान हुआ कि देवी प्रतिमा गायत्री की है। यहाँ कभी एक आश्रम हुआ करता था। तीन-चार सौ साल पहले एक संन्यासी के सान्निध्य में बीस-पच्चीस साधक हमेशा रहते थे। वे गायत्री जप करते और वेद-शास्त्रों के अध्ययन में निरत रहते। बाबा ने ही बताया कि सैकड़ों साल पहले इस स्थान पर भागवत प्रवचन भी हुआ करते थे। अपने बारे में बाबा ने जो बताया, उसके अनुसार उनके मन में सहज ही प्रेरणा उठी कि गायत्री मंत्र का जप अधिक परिमाण में किया जाए। यज्ञोपवीत के समय मंत्र दीक्षा ले ही रखी थी, साधना शुरू हुई।

बाबा का जन्म कहाँ हुआ या उनके परिवार में कौन है? इस बारे में कुछ नहीं बताया। संन्यासी के लिए अपने पूर्व आश्रम का परिचय देना वर्जित है। साधक जब संन्यास लेता है, तो प्रतीकात्मक रूप से उसकी अंत्येष्टि भी कर दी जाती है। विधिवत् उसकी अर्थी सजाई जाती है, उसे चिता पर लिटाया जाता है और आग लगाने के बाद वापस उतार लिया जाता है। इन क्रियाओं का उद्देश्य यह बोध जगाना है कि अब नया जन्म हो रहा है। पिछले या अब तक के लौकिक जीवन को भूल जाना ही श्रेयस्कर है। वह जीवन समाप्त हुआ। मृत्यु जिस तरह समूचा व्यक्तित्व, पहचान और उपलब्धियाँ छीन लेती है, उसी तरह अब तक का जीवन भी तिरोहित हुआ।

काठिया बाबा ने इतना ही बताया कि विद्या पढ़ते थे। बाद में घर वापस आए, तो इच्छा क्षण-प्रतिक्षण बलवती होने लगी कि गायत्री अनुष्ठान किया जाए। घर के पास ही एक बगीचा था। बगीचे में एक बड़ा वटवृक्ष था। उसके नीचे आसन जमाने की ठानी और कवच आदि विधि-विधान के साथ अनुष्ठान आरंभ कर दिया। विधि-विधान गुरु के घर में भलीभाँति सीखा हुआ था। कोई कठिनाई नहीं हुई।

अनुष्ठान का एक भाग पूरा होते-होते प्रेरणा उठी कि शेष जप ज्वालामुखी जाकर पूरा किया जाए। प्रेरणा का स्वरूप ऐसा था, जैसे कोई सामने खड़ा होकर कह रहा हो या वटवृक्ष से आवाज आ रही हो। पूर्व आश्रम में बाबा का जहाँ निवास था, वहाँ से ज्वालामुखी लगभग सत्तर किलोमीटर दूर था। वटवृक्ष के नीचे से उठकर बाबाजी घर नहीं गए। सीधे ज्वालामुखी की ओर रवाना हो गए। बाबा के साथ उनका एक भतीजा भी जप-तप किया करता था। वह भी पीछे-पीछे चल दिया। दोनों अविराम चलते रहे। रास्ते में एक महात्मा के दर्शन हुए। किसी भूमिका या परिचय का आदान-प्रदान किए बिना उन्होंने पूछा, वैराग्य लोगे? काठिया बाबा ने भी आगा-पीछा नहीं सोचा और कह दिया, हाँ। वैराग्य की तैयारी चलने लगी, भतीजे ने रोका। रोया और हठ भी किया कि संन्यासी मत बनो। कोई असर नहीं हुआ। वह उलटे पाँव दौड़ा गया और अपने दादाजी को बुला लाया।

काठिया बाबा के पिताजी आए, तब तक देर हो गई थी। उनके हस्तक्षेप जैसी स्थिति नहीं रह पाई थी। पिताजी ने आकर देखा, तो बेटा संन्यासी हो चुका था। वे दुःखी हुए। पुत्र को मनाने लगे। घर वापस चलने के लिए कहा। बेटे ने कहा कि अब वैराग्य धारण किया जा चुका है। इस आश्रम से वापसी नहीं होती। पिताजी ने समझाया कि किसने देखा? मुंडन ही तो हुआ है। गाँव चलकर कोई दूसरी वजह बता देंगे। किसने देखा है कि संन्यासी हो गए। काठिया बाबा पर जरा भी असर नहीं हुआ। नए आश्रम के अनुसार उन्होंने पिता को पहचानने से भी मना कर दिया। थक-हारकर वे वापस चले गए।

जहाँ संन्यास लिया था, वहीं वटवृक्ष के नीचे काठिया बाबा ने आसन लगाया। देर रात तक ध्यान करते रहे। आधी रात बीत गई। कुछ देर सो गए और सुबह उठकर फिर जप-ध्यान में लग गए। ध्यान-समाधि के इसी क्रम में भगवती का साक्षात्कार हुआ। काठिया बाबा ने बताया कि माँ ने वरदान माँगने के लिए कहा। अपनी कोई कामना शेष नहीं रह गई थी। कह दिया कि वैराग्य ले चुका हूँ,

अब कोई कामना शेष नहीं रही। इसका उदय ही न हो, ऐसा आशीर्वाद दीजिए। काठिया बाबा को कई तरह की सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वे जो कह देते, वही हो जाता था। आर्त्तभाव से उनकी शरण गए लोगों को उन्होंने कई बार कष्टों से छुटकारा दिलाया।

विलक्षण बगीची व गायत्री विग्रह

काठिया बाबा ने बगीची में ठहरे श्रीराम को उस स्थान के संबंध में विलक्षण बातें बताईं। उनमें एक तो यही थी कि त्रेता युग में इस जगह दुर्वासा मुनि ने गायत्री साधना की थी। कंस का वध करने के लिए जाते हुए श्रीकृष्ण और बलराम ने यहाँ संध्या-वंदन किया था। समय-समय पर हुए यज्ञ अनुष्ठानों के बारे में भी बताया और अपने साथ चलने के लिए कहा। श्रीराम उनके साथ चल दिए। बगीची से करीब तीन किलोमीटर दूर एक टीले के पास जाकर वे रुक गए। टीले के पास इन दिनों मथुरा में एक कॉलेज चल रहा है। वयोवृद्ध लोग उस टीले को गायत्री टीले के नाम से जानते हैं।

बाबा श्रीराम को टीले के ऊपर ले गए। वहाँ एक कुटिया में वयोवृद्ध संत लेटे हुए थे। दोनों ने उन्हें प्रणाम किया। इन संत का नाम बूटी सिद्ध महाराज था। तीस-चालीस वर्ष से उन्होंने मौन व्रत लिया हुआ था। किसी से बोलते नहीं थे। जरूरत होती, तो इशारों से बात कर लेते। कभी-कभार लिखकर भी अपनी बात कह देते। वे अलवर के रहने वाले थे और दसियों साल से यहाँ आकर रहते थे। काठिया बाबा ने ही बूटी सिद्ध महाराज के बारे में बताया कि उन्होंने एक करोड़ जप किया है। निष्ठापूर्वक किए गए जप से उन्हें गायत्री का अनुग्रह मिला और आत्मसाक्षात्कार हो गया।

सिद्धि के बाद उन्होंने टीले पर गायत्री की एक प्रतिमा स्थापित की और मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मणों का भंडारा किया। कुटिया में गायत्री की स्थापना के बाद वह अपने ढंग का भव्य और अद्वितीय आयोजन था। इसके लिए आवश्यक साधनों की व्यवस्था कहाँ से हुई? इस बारे में बूटी सिद्ध बाबा के अलावा किसी को कुछ नहीं मालूम। लोगों का मानना है कि बूटी बाबा के पास कोई विलक्षण यंत्र है। उसकी आराधना करते ही साधन अपने आप प्रकट हो जाते हैं। बाबा के पास दुःखी, संतप्त और रोगी लोग भी आया करते थे। वे कुछ कहते तो नहीं थे, हाथ उठाकर सिर्फ आशीर्वाद देते थे। उनके हाथ का उठना ही संकट का निवारण होना मान लिया जाता था और कई लोगों के संकट सचमुच दूर हो भी जाते थे।

संतों के आशीष

धौलपुर और अलवर रियासत के राजा उनके पास आया करते थे। बूटी बाबा स्वयं कहीं नहीं जाते थे। एकांत सेवन के लिए जाना होता, तो कुटिया के पास बनी गुफा में चले जाते थे। काठिया बाबा ने बूटी सिद्ध महाराज से श्रीराम का परिचय कराया। उनकी साधना और निष्ठा से बूटी सिद्ध बाबा अभिभूत हो उठे। दोनों हाथ उठाकर आशीष दिया और फिर गले से भी लगा लिया। काठिया बाबा इसके बाद अपनी राह चले गए और श्रीराम वापस बगीची में आ गए। इस भेंट के कुछ दिन बाद बूटी सिद्ध बाबा ने अपना शरीर छोड़ दिया।

इस बगीची में ही किसी श्रद्धालु से सुना था कि वृंदावन में यमुना के पार एक संत आए हैं। वे यमुना और गंगा का किनारा छोड़कर कहीं नहीं जाते। किनारे पर एक मचान बनाकर रहते हैं। वहीं बैठकर लोगों से बातें करते हैं। कभी-कभार मचान के पास जमीन पर बनी झोंपड़ी में भी रहते हैं। साधना-उपासना के बाद थोड़ा-बहुत समय बचता है, वह जनसंपर्क में लगाते हैं। उन सब के बारे में और लोगों से तरह-तरह की बातें सुनीं। उन्हें भूख-प्यास नहीं लगती। कभी किसी ने कुछ आहार लेते नहीं देखा। उन्हें शौच आदि के लिए भी नहीं जाना पड़ता। भूख-प्यास पर विजय प्राप्त कर लेने से काफी समय बच जाता है। उस समय का उपयोग ध्यान-धारणा में करते हैं।

उन संत की आयु के बारे में भी विचित्र बातें कही जाती थीं। कोई कहता कि वे दो सौ वर्ष के हैं, किसी के अनुसार छह-सात सौ साल के हैं। हमारे बाबा या परबाबा ने भी उन्हें इसी अवस्था में देखा था। शरीर और स्वास्थ्य के अनुसार वे तीस-पैंतीस साल से ज्यादा के नहीं लगते थे। लोगों का कहना था कि योग की सिद्धियों के आधार पर वे अपने आपको इस योग्य बनाए रखते हैं। यह भी कि वे जब चाहे अपना कायाकल्प कर लेते हैं। उसी शरीर को नया कर लेते हैं या चाहें तो पुराने शरीर का त्याग कर वैसे ही रूप-रंग का नया शरीर रच लेते हैं। श्रीराम इन बातों को कुतूहल के साथ सुनते। सुनकर कोई प्रतिक्रिया नहीं करते। उनके मन में सिर्फ उत्सुकता जगी और वृंदावन की राह पकड़ी। गरमी का मौसम था, यमुना तब आज की तरह सूखी नहीं थी। काफी पानी बहता था। इन दिनों मई, जून के महीनों में इतनी सूख जाती है कि उसे पैदल चलकर पार किया जा सकता है, लेकिन तब बहुत पानी बहा करता था। ❖

(क्रमशः)

गुरुकथामृत-३८

जा पर कृपा तुम्हारी होई, ता पर कृपा करें सब कोई

त्रेता में भगवान राम के साथ निषादराज का भी अवतरण हुआ था। जनजाति वर्ग के, दूसरों को नाव से नदी पार कराने वाले निषादराज ने वनवासी श्रीराम, माँ सीता व लक्ष्मण जी को पैर पखारने के बाद नदी पार कराई थी। भगवान राम ने अंत तक अपनी मित्रता निभाई एवं अपने सखा को जिन्हें उनने गले लगाकर सम्मानित किया था, अपने राज्याभिषेक के समय पुनः याद किया। ऐसे ही इस युग के एक निषादराज स्तर के भक्त की कथा-गाथा यह है। यह भक्त मल्लाह तो नहीं था, पर घनघोर जंगलों में रहने वाला निमाड़ का एक आदिवासी था। इसने भी इस युग के श्रीराम परमपूज्य गुरुदेव की प्रज्ञावतार की सत्ता का सान्निध्य पाया एवं उनकी अनंत कृपा उस पर बरसी।

अपनी बीमारी का इलाज कराने यह आदिवासी भाई अपने गाँव से प्रायः ७ किलोमीटर दूर सालीकलाँ पहुँचा। वहाँ संयोग से वह जिन चिकित्सक डॉ. सिकरवार के पास गया, वे परमपूज्य गुरुदेव के शिष्य थे। क्लिनिक में गुरुदेव-माताजीरूपी ऋषियुग्म के फोटो लगे थे। युवक आदिवासी इन्हें देख अपनी बीमारी की बात भूल गया व डॉक्टर साहब से पूछने लगा कि ये दोनों कौन हैं ? परिचय कराने पर वह बोला कि मैं बड़ी उलझन में पड़ा हूँ। रोज स्वप्न में देखता हूँ कि दो पीपल के पत्ते मेरे सामने से उड़ते आ रहे हैं। उनमें मुझे श्रीराम व सीता के दर्शन हो रहे हैं। थोड़ी देर में यह दृश्य बदल जाता है व इनके बदले मुझे इन बाबाजी व माताजी के दर्शन होने लगते हैं। जब मैंने उनके चेहरे पर ध्यान देकर सोचा, तो वे मुसकराने लगे। बोले, डेमनिया, तुम्हें मेरा काम करना है। अपनी जाति का उद्धार करना है। तुम कई जन्मों से हमसे जुड़े हो। एक बार हमारे पास आ जाओ। अब मुझे समझ में नहीं आता कि इनसे मिलने कहाँ जाऊँ ?

डॉ. सिकरवार ने यह सब जानने के बाद कहा, इनसे मिलने चलोगे। डेमनिया ने आर्थिक कमी एवं यात्रा रूट की अनभिज्ञता की बात कही, तो डॉ. सिकरवार ने कहा कि यात्रा खरच मैं वहन करूँगा। पहले तुम ठीक हो जाओ। दवा दी गई एवं यात्रा कर दोनों गुरुधाम पहुँचे।

कुछ देर प्रतीक्षा के बाद गुरुदेव का ऊपर से बुलावा आ गया। ऐसा लगा कि वे पहले से ही प्रतीक्षा कर रहे थे। गुरुवर ने डेमनिया को छाती से लगा लिया व कहा कि तुम मेरे निषादराज हो। रामावतार के समय की मित्रता अब भी निभाओगे ना ? डेमनिया की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। गला रुँध गया। कहने लगा कि आज मेरा जीवन धन्य हो गया है। मेरा तन-मन सब आपके चरणों में अर्पित है। आप जो कहेंगे, वही करूँगा। यह वर्ष था १९७९ का। उसी साल शक्तिपीठों के निर्माण की घोषणा हुई थी व पूज्यवर का मन था कि आदिवासी क्षेत्र में भी एक पीठ बननी चाहिए। वे डेमनिया भाई से बोले, तुम अपने यहाँ भी एक शक्तिपीठ बनाओ। हमारा तुम्हारे घर आने का मन है। जब पीठ बन जाएगी, तब हम प्राण-प्रतिष्ठा समारोह में आएँगे। तुम्हारी पीठ से आदिवासी क्षेत्र के उद्धार की कई योजनाएँ चलाने का मन है।

डेमनिया असमंजस में पड़ गया कि यह सब कैसे संभव होगा। जो अपने परिवार के रहने के लिए मकान भी नहीं बना पाया हो, वह भला शक्तिपीठ जैसा भव्य निर्माण कैसे कर पाएगा ? उसके असमंजस को भगवान ने ताड़ लिया। भक्त को आश्वस्त करते हुए वे बोले कि तुम मात्र शुरुआत कर देना, शेष काम पूरा हो जाएगा, तुम चिंता लेशमात्र भी न करना। प्रभु के आश्वासन को सुनकर डेमनिया ने वहीं संकल्प लिया कि मैं अपनी पाँच एकड़ भूमि इस कार्य के लिए दूँगा एवं निर्माण हेतु स्वनिर्मित ईंटें लगवा दूँगा।

संकल्प फलित हुआ। सुदामा-निषादराज का संस्करण दुहराया गया। डेमनिया के छोटे-से त्याग ने एक शक्तिपीठ का निर्माण कर दिया। देखते-देखते जनसहयोग जुटता चला गया एवं एक वर्ष की अवधि में ही सुदूर घने जंगल व पहाड़ियों के बीच प्रथम आदिवासी शक्तिपीठ बन गई। अब भगवान की वायदा निभाने की बारी थी।

परमपूज्य गुरुदेव प्राण प्रतिष्ठा समारोह के दौरे के क्रम में सेंधवा होकर सालीकलाँ पहुँचे। शक्तिपीठ स्थल जहाँ था, वहाँ तक गाड़ी नहीं जा सकती थी। लगभग दो किलोमीटर पैदल का रास्ता था। डेमनिया की झोंपड़ी भी वहीं कुछ दूरी पर थी, जहाँ वह परिवार सहित रहता था। गुरुदेव पैदल कीचड़ में, ऊबड़-खाबड़ जमीन में होते हुए शक्तिपीठ पहुँचे। प्राण-प्रतिष्ठा उत्सव संपन्न हुआ। पूरे

निमाड़ के परिजन पहुँचे थे। सभी तृप्त हो गए। गुरुदेव के भोजन की व्यवस्था परिजनों ने अलग से एक सेठजी के यहाँ राजमार्ग पर एक पक्के मकान में रखी थी, किंतु भक्तवत्सल गुरुवर तेज कदम बढ़ाते हुए डेमनिया की झोंपड़ी पर पहुँच गए व कहने लगे कि जो बना है, वही खा लूँगा। बता, क्या बनाया है मेरे लिए। कहाँ खिलाएँ-कहाँ बिठाएँ-किंकर्त्तव्यविमूढ़ डेमनिया कभी इधर भागे-कभी उधर। इतने में डेमनिया की पत्नी ज्वार की मोटी रोटी, मूँग की दाल व दही एल्युमीनियम की थाली में परोस लाई। पूरा भोजन गुरुदेव ने चाव से खाया व कहने लगे कि मेरी कई जन्मों की भूख तृप्त हो गई। पिछली बार की तेरे साथ भोजन करने की आकांक्षा पूरी हो गई। साथ में उनने दो-तीन कौर डेमनिया को भी खिलाए। यह दृश्य देख उपस्थित समुदाय धन्य हो गया। सुना भर है कि शबरी के बेर भगवान श्रीराम ने खाए थे, सुना है कि सुदामा के चावल व विदुर के केले के छिलके भगवान कृष्ण ने खाए थे, पर इस युग के श्रीराम ने उसी परंपरा को निभाकर यह सिद्ध कर दिया कि दुनिया में कोई ऊँचा-नीचा, बड़ा-छोटा नहीं है। भगवान तो भाव के भूखे होते हैं। उन्हें तो बस वही चाहिए। भोजन कर सभी को आशीर्वाद दे गुरुदेव आगे बढ़ गए व भविष्य की ओर संकेत कर गए कि आगे चलकर इस केंद्र का और भी विस्तार होगा।

त्याग-समर्पण की गाथा तो कइयों की है। ढेरों व्यक्तियों ने अपने साधन गुरुवर को दिए हैं, पर डेमनिया के त्याग व समर्पण का आज मूल्यांकन करें तो वह करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं से भी अधिक है। उस छोटे-से शक्तिपीठ से कार्य कर डेमनिया ने सैकड़ों आदिवासी बंधुओं के जीवन को बदल दिया। शराब, भाँग, गाँजा, तंबाकू, बीड़ी आदि व्यसनों को छुड़ाने का उसने अभियान चलाया। पढ़ा-लिखा न होने पर भी वह उन्हीं की भाषा में प्रवचन भी करता है, जो सभी के गले उतरते चले जाते हैं। वह यज्ञ-कर्मकांड भी संपन्न करा लेता है। उसकी पत्नी, बच्चे, भाई, बहुएँ शांतिकुंज के एक माह के युगशिल्पी सत्रों में भाग ले चुके हैं। पूरा परिवार मिशन के प्रचार-प्रसार में अहर्निश लगा हुआ है।

डेमनिया अपने जाति बंधुओं में मांसाहार छुड़ाने के लिए ऐसे तर्क देता है कि लोग उसकी बात सुनकर मांस खाना भी छोड़ देते हैं। वह कहता है कि मनुष्य योनि में आने से पहले हम चौरासी लाख योनियों में भटकते हैं। हम जिस मुरगे या बकरे को मारकर खा रहे हैं, हो सकता है कि उस योनि में हमारा कोई पूर्वज हो। क्या हम अपने पूर्वजों को मारकर खा सकते हैं ? यह प्रश्न वह सभी से पूछता है। फिर खुद ही जवाब देता है, कदापि नहीं। इस मार्मिक तर्क को सुन निमाड़ के आदिवासी क्षेत्र के बहुत-से व्यक्तियों ने मांसाहार छोड़ दिया है।

यही नहीं, डेमनिया भाई ने बलिप्रथा बंद करा दी एवं शराब का ठेका बंद करा दिया। अब गाँव में आस-पास कहीं भी देशी शराब कोई नहीं पीता। हाँ गैर आदिवासी तथाकथित प्रगतिशीलों से उसकी झड़प होती रहती है, जो विदेशी शराब के नाम पर वहाँ नशे का व्यापार फैलाना चाहते रहते हैं, पर अभी भी उसके क्षेत्र में उन्हें सफलता नहीं मिली है।

डेमनिया गाँव का सरपंच भी रहा है। मिशन से जुड़ने के बाद उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ी है साथ ही ईर्ष्यालु भी। एक बार किसी कार्यक्रम को संपन्न कराने वह सपरिवार गाँव से बाहर गए थे, तो किसी ने घर में आग लगा दी। कपास की फसल जो घर में रखी थी, उसे काफी नुकसान पहुँचा। हजारों का नुकसान हुआ, पर डेमनिया पर विदेह की तरह इसका कोई प्रभाव न पड़ा। उसने कहा, जो भी था गायत्री माता व यज्ञ पिता का दिया था। उन्हीं के पास चला गया। हाँ, यह अवश्य हुआ कि जिसने यह काम किया था, उसे प्रभु ने स्वयं दंड दे दिया।

डेमनिया व्यावहारिक अध्यात्मवाद से परिपूर्ण व्यक्तित्व का नाम है। वैसा ही सादा रहन-सहन। ठंढ हो या तेज धूप, वह वैसे ही पैदल नंगे पाँव चलता है। पीली धोती-कुरता ही पहनता है। स्वयं अपने खेत में परिश्रम आज भी करता है। उसने जन जागरण हेतु कार्यकर्त्ताओं की कई टोलियाँ प्रशिक्षित की हैं, जो बैलगाड़ी-पदयात्रा द्वारा गिरीवासियों, सुदूर दुर्गम जंगलों तक जाती हैं। प्रलोभनवश जिनने धर्मांतरण कर लिया था, उन भाइयों को भी उसने पुनः यज्ञ पिता-गायत्री माता से जोड़ा है। प्रत्येक ऋषिपंचमी पर सामूहिक यज्ञोपवीत परिवर्तन का आयोजन वह करता है, जिसमें ढेरों आदिवासी भाई-बहन एकत्र होते हैं। जिस गाँव में चोरी करके घर चलाने वाले लोग रहते थे, उन्हें भी पट्टा दिलाकर खेती कराके उसने स्वावलंबी बना दिया। भूमि सुधार, उन्नत कृषि, जलागम विकास की योजनाओं को व वृक्षारोपण अभियान को डेमनिया ने गति दी है। इस भक्त के बारे में जितना कहा जाए, कम है। सच है गुरुकृपा जिस पर होती है, उस पर सभी अनुदान बरसते हैं। ऐसे हैं हमारे डेमनिया भाई।

*

सौ प्रतिशत छूट का लाभ लें, दैवी अनुदानों के अधिकारी बनें

एक खुशखबरी हमारे परिजनों को मिली होगी एवं न मिली हो, तो अब हम दे रहे हैं कि श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुंज, हरिद्वार को दिए गए अनुदानों पर सौ प्रतिशत आयकर में छूट मिल गई है। यह छूट धारा 13 AC के अंतर्गत मिशन के द्वारा स्थापित देवसंस्कृति विश्वविद्यालय के कार्यों के विस्तार, शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वावलंबन के क्षेत्र में किए जाने वाले कार्यों के निमित्त मिली है। बड़े-बड़े कार्य करना हो, तो इस स्तर का प्रमाणीकरण संस्था को मिलना अनिवार्य था एवं वह भारत सरकार के एक अध्यादेश द्वारा २७ जुलाई, २००२ को पारित हो गया। सभी परिजन जानते हैं कि गायत्री परिवार ने कभी भी सरकार से कोई अनुदान किसी भी कार्य के लिए नहीं लिया। परमपूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि सरकार जनता से लेती है व किसी को जब देती है, तब जनता के हित के लिए मिली राशि में से देती है। अतः स्वैच्छिक संस्थाओं को सरकार से नहीं, सीधे जनता से लेना चाहिए।

परमपूज्य गुरुदेव के इन निर्देशों को ध्यान में रखते हुए ही हमने बड़ी विनम्रता से राज्य-केंद्रीय सरकार से कोई भी अनुदान न लेने की शर्त पर विश्वविद्यालय खड़ा करने का संकल्प लिया। आगे भी कभी सरकार के समक्ष हम हाथ नहीं पसारेंगे, ऐसा हम गुरुसत्ता को सुनिश्चित आश्वासन देते हैं।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की कीमती मशीनें व भवन जब खड़े किए गए, तब विज्ञान व तकनीकी विभाग से शोध एवं विकास संस्थान (आर एंड डी इंस्टीट्यूशन) की मान्यता मिलने की बात आई थी। इससे लाभ बहुत मिलता, पर नुकसान यही था कि अनुदान लेना अनिवार्य था। पूज्यवर ने कहा कि हमें जनता यह मान्यता देगी एवं उसकी मान्यता सर्वोपरि मानी जाएगी। यही हुआ व इतना बड़ा तंत्र खड़ा हो गया। अब उससे भी सौ गुनी बड़ी जिम्मेदारी आ गई है। आयुर्वेद एवं वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों (CAM) पर जो शोध-अनुसंधान तंत्र खड़ा होना है, स्वावलंबन हेतु जो नए प्रोजेक्ट बनने हैं, उनके शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु प्रायः दो सौ करोड़ रुपये की राशि की आवश्यकता अगले दिनों पड़ेगी। निर्माण कार्य चालू है एवं प्रायः बीस करोड़ की राशि का निर्माण होकर विश्वविद्यालय चालू हो गया है। इंडॉलाजी (भारतीय प्राच्य विद्याओं) के पुनर्जीवन का एक पूरा तंत्र अभी और खड़ा होना है।

बूँद-बूँद से सरोवर भरता है, यह उक्ति तो सही है, पर उसमें समय लगता है। हमें तो यह कार्य आगामी ३ से ६ वर्ष में कर ही देना है, क्योंकि कार्य हाथ में ले लिया गया है। अब यदि रुकेगा, तो मूल संकल्प में अवरोध आएगा, इसीलिए इस अधिसूचना के माध्यम से परिजनों-पाठकों द्वारा श्रीमंतों-उद्योगपतियों-संस्कृति में रुचि रखने वाले बड़े घरानों से कहा जा रहा है कि वे आयकर छूट का लाभ भी लें एवं उदारतापूर्वक दान दें। जो भगवान के खेत में बीज बोता है, वह उसकी फसल उतनी ही काटता भी है, यह प्रकृति का एक सिद्धांत है।

परिजनों की जानकारी के लिए हम कुछ सूचनाएँ दे रहे हैं, ताकि दान-संग्रह में उन्हें कठिनाई न हो।

१. जहाँ तक हो सके, दानदाता से धनराशि का ड्राफ्ट ही लें। चेक स्वीकार किए जा सकते हैं, पर भुगतान प्राप्त होने पर ही 35 AC का प्रमाणपत्र जारी हो सकेगा। यदि नकद देते हैं, तो प्रत्येक दान की रसीद का अलग-अलग ड्राफ्ट बनवाकर भेजें।

२. ड्राफ्ट या चेक 'श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट (प्रोजेक्ट)' के नाम से हरिद्वार में देय हो। दानदाता की पूरी जानकारी दानदाता विवरण पत्रक पर अलग साफ-साफ लिखकर भेजें।

३. क्षेत्र से दान एकत्र करने हेतु दानदाता को एक 'प्रॉवीजीनल' रसीद दी जा सकती है, परंतु छूट का प्रमाण-पत्र राशि केंद्र में जमा होने पर ही जारी हो सकेगा।

४. जो परिजन डीडी बनवाने, रजिस्ट्री आदि का खरच वहन करने में असमर्थ हैं, वे शांतिकुंज में रसीद बुक व राशि जमा कर वाउचर्स देकर व्यय ले सकते हैं।

५. व्यावसायिक संस्थाओं, कंपनी, भागीदारी फर्मों, प्रोपायटर्स को भी इस छूट की पात्रता प्राप्त है। व्यावसायिक खरच का एक हिस्सा दान बन जाता है व छूट का प्रमाण-पत्र भी मिल जाता है। कोई भी ट्रस्ट या समिति भी अनुदान दे सकती है।

६. वेतन से प्राप्त आय वाले परिजन धारा 80 GA की तरह सारे लाभ उससे दोगुने स्तर पर इस धारा से ले सकते हैं। दानदाता अपना पैन (PAN) नंबर अवश्य लिखें। अनिवासी भारतीय (NRI) भी भारत में होने वाली आमदनी पर इस धारा का लाभ ले सकते हैं।

आशा है परिजन-पाठक इस समाचार को सब तक पहुँचाएँगे एवं भामाशाह की भूमिका निबाहकर सांस्कृतिक नवोन्मेष के इस कार्य में योगदान का निमित्त बनने हेतु अनेकों को सहमत करेंगे, स्वयं भी अग्रगामी होंगे।

*

अब कमर कस ही लें व ज्ञानयज्ञ में भावभरी भागीदारी करें

अखण्ड ज्योति पत्रिका विगत ६५ वर्षों से निरंतर प्रकाशित हो, अब इस माह के साथ ६६वें वर्ष में प्रवेश कर रही है। गिनी-चुनी पत्रिकाएँ ही हैं, जो इतनी लंबी यात्रा पूरी कर पाई हैं। गंगा गंगोत्री से निकलती है, तो उसकी धारा इतनी कम चौड़ाई की होती है कि कोई लंबी कूद वाला खिलाड़ी उसे पल में छलाँग जाए, पर ज्यों-ज्यों यह आगे बढ़ती है, देवप्रयाग में अलकनंदा से मिलती है, मार्ग में झरनों से-अनेकानेक छोटी सरिताओं से मिलकर मैदानी क्षेत्र में उतरती है, तो इसका विराट् स्वरूप देखते बनता है। और भी विराटता देखनी हो तो पटना-मोकामा क्षेत्र में इसे स्टीमर से पार कर देखिए या पटना के विशाल गाँधी सेतु पर खड़े होकर उसका विहंगम दृश्य देखिए। अखण्ड ज्योति भी ज्ञान की गंगा को लेकर १९३७-३८ में प्रकाशित होकर आरंभ हुई एवं इसी तरह बढ़ते-बढ़ते उस स्वरूप में आ गई, जहाँ ढाई सौ से बढ़कर अब छह लाख उसके हिंदी में एवं इतने ही अन्य भाषाओं में ग्राहक हैं। इससे पाँच से दस गुना पाठक माने जाने चाहिए, जो इसे नियमित पढ़ते हैं।

अखण्ड ज्योति पत्रिका अधिकाधिक तक पहुँचे, यही हमारा लक्ष्य हो

लाखों व्यक्तियों के जीवन को इसने बदला है, उनका कायाकल्प कर दिया है। यह वस्तुतः इसी अखण्ड दीप की साक्षी में गुरुसत्ता की प्राण चेतना के रूप में हमारे समक्ष आती है, जो विगत १९२६ से सतत प्रज्वलित है एवं इन दिनों शांतिकुंज गायत्री तीर्थ में प्रकाशित हो करोड़ों व्यक्तियों को आलोकित कर रहा है। जिस जिसने इस पत्रिका को पढ़ा है व इसके प्रतिपादनों को आत्मसात किया है, वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। आस्था-संकट, सांस्कृतिक प्रदूषण, वैचारिक विभ्रम के इस युग में आस्था का एक दीप जलाए यह पत्रिका निरंतर प्रकाशित हो रही है एवं जीवन जीने की कला का शिक्षण दे रही है। यह पत्रिका नहीं, एक आंदोलन है, एक मिशन है एवं अस्सी वर्षों तक जी गई एक साधक की साधना का, युगऋषि के चिंतन का नवनीत है। इसे पढ़ना-पढ़ाना एक प्रकार का पावन पुण्य माना जाना चाहिए।

विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों-निष्कर्षों को इस पत्रिका ने जिस तरह प्रस्तुत किया है, उसने लाखों शोधकर्त्ताओं को नई दिशा दी है। अध्यात्म के प्रति लोगों की रुचि जागी है एवं अब युवापीढ़ी तेजी से भारतीय संस्कृति को अंगीकार करती नजर आती है। पिछले दिनों इसी वर्ष हमने गायत्री जयंती की वेला में 'देवसंस्कृति विश्वविद्यालय विशेषांक' तथा परमवंदनीया माताजी के महाप्रयाण की वेला में 'मातृसत्ता विशेषांक' प्रकाशित किए। इससे पूर्व भी प्रतिवर्ष दो विशेषांक विभिन्न विषयों पर प्रकाशित किए जाते रहे हैं। यह कार्य कोई प्रोफेशनल स्टाफ नहीं करता, साधना को जीवन में उतारने वाले भारतीय संस्कृति को हर श्वास में जीने वाले वे प्राणवान परिजन करते हैं, जिनने सीधे परमपूज्य गुरुदेव के अनुदान पाए एवं उनके ज्ञान के विराट् पिटारे से थोड़ा कुछ आत्मसात किया है। वस्तुतः बिना साधना किए उस स्तर को बनाए रखना संभव नहीं, जो गुरुसत्ता ने स्थापित किया था। अभी भी प्रेरणा के-अनंत ज्ञान के स्रोत वे ही हमारे गुरुवर हैं, जिनकी सूक्ष्म व कारण सत्ता की उपस्थिति प्रत्यक्ष अहर्निश होती रहती है।

आज पत्रिकाओं के दाम कागज, प्रिंटिंग की क्वालिटी, पोस्टेज बढ़ते चले जाने के कारण कितने बढ़ गए हैं, यह सभी प्रत्यक्ष देख सकते हैं। 'इंडिया टुडे', 'आउटलुक' पत्रिकाओं के महँगे हिंदी संस्करण सभी बड़े चाव से पढ़ते हैं व लौकिक क्षेत्र के बारे में जानकारी लेते हैं। आज के इस प्रतिस्पर्द्धा के युग में प्रायः घाटा सहते हुए भी विगत तीन वर्षों से यह पत्रिका मात्र रु. ७२ वार्षिक (विदेश के लिए रुपये ७५० प्रतिवर्ष तथा आजीवन भारत में रुपये ९००) चंदे के आधार पर ६८ पृष्ठों के आकार में प्रकाशित हो रही है। परिजनों पर भार न पड़े, इसलिए इस वर्ष भी चंदा बढ़ाया नहीं जा रहा। पत्रिका माह आने के पूर्व ही सबको उपलब्ध हो जाती है। गेटअप में भी निरंतर सुधार किया जा रहा है। जहाँ तक संभव हो, प्रेरणादायी पैनेल एवं चित्र लगभग हर लेख में देने का प्रयास किया जा रहा है। इस वर्ष अनेकानेक विषय लेने का मन है।

अब हमारे परिजनों का यह कर्त्तव्य है कि ग्राहक संख्या इस संगठन-सशक्तीकरण वर्ष के उत्तरार्द्ध विद्या विस्तार अवधि में न्यूनतम पाँच गुना कर दें। इसके अतिरिक्त आजीवन पाठक जितने अधिक बढ़ाए जाएँगे, उतनी ही सुनिश्चितता ज्ञान प्रसार की निरंतरता की होती चली जाएगी। जिसके घर हर माह पत्रिका पहुँचेगी, वह घर सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित होता चला जाएगा। वर्ष के अंत व २००३ के आगमन की वेला में यही अनुरोध है कि हम अभी से पाठक-ग्राहक बढ़ाने के अभियान में लग जाएँ। यही गुरुवर को सच्ची श्रद्धांजलि भी है।

⁂

अपनों से अपनी बात

मथुरा में आयोजित हुआ साधकों का महाकुंभ

जिस पावन तपस्वी ने, अवतारी चेतना की अंशधर सत्ता ने एक विराट् संगठन का शुभारंभ एक ऋषि-स्थापना से किया था, उसके जीवन-दर्शन पर गहन मंथन, चिंतन व तदनुसार ही संकल्प-शपथ के साथ गायत्री तपोभूमि, मथुरा के स्वर्ण जयंती वर्ष का पहला प्रकल्प संपन्न हो गया। सभी पाठक-परिजन जानते हैं कि यह गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना का स्वर्ण जयंती वर्ष है, जो जून २००२ से जून २००३ की अवधि में मनाया जा रहा है। शपथ समारोह इसी का एक अंग था, जिसे प्रायः चालीस हजार प्राणवान साधकों ने २०, २१, २२ अक्टूबर की तारीखों में शरद चंद्र की पावन रश्मियों एवं जलते दीपों की उर्मियों की साक्षी में अपने संकल्पों द्वारा सुशोभित किया। पूरे वर्ष यह स्वर्ण जयंती संकल्प समारोह चलता रहेगा एवं वह चलेगा- ली गई शपथ को अमल करने के रूप में, अपनी गुरुसत्ता के एक सच्चे सुपात्र साधक बनने के रूप में।

इस वर्ष इस पावन स्थापना की स्वर्ण जयंती है, पचास वर्ष पूरे हो गए हैं। यह वर्ष गायत्री तपोभूमि के पावन तप प्रधान संस्कारों को पूरे भारत भर में पहुँचाकर पूरी भारतभूमि को तपोभूमि बनाने का वर्ष है। इसी संदर्भ में गायत्री महामंत्र लेखन अभियान को, जीवन-साधना को प्रखर बनाने की प्रक्रिया को गति दी गई। साथ-ही-साथ शांतिकुंज, हरिद्वार स्थित मुख्य केंद्र से सात जोनों के निर्माण का संगठनात्मक पुरुषार्थ भी चलता रहा, सभी वरिष्ठ कार्यकर्त्ता भाइयों ने सघन मंथन प्रधान दौरे किए एवं संगठन का एक सशक्त-सुव्यवस्थित स्वरूप अब क्रमशः उभरकर आ रहा है। शांतिकुंज गायत्री तीर्थ एवं गायत्री तपोभूमि, मथुरा दोनों ने ही अब साधना की धुरी पर संगठन को गति देने हेतु मिलकर प्रचंड पुरुषार्थ करने की ठानी है, ताकि इस वर्ष हम अधिकाधिक प्राणवान संकल्पित समर्थ समयदानी तैयार कर सकें। इसके लिए चर्चाओं के कई दौर हुए एवं फिर इस समारोह में पधारे क्षेत्र के वरिष्ठ प्रतिनिधियों से भी गहन चिंतन, परामर्श होता रहा। निष्कर्ष जो निकलकर आए हैं, वे समुद्र-मंथन के चौदह रत्नों की तरह हैं एवं इतने मूल्यवान हैं कि इस राष्ट्र एवं जगती की काया पलट करके रख देंगे, ऐसा लगता है।

स्वर्ण जयंती शपथ समारोह एक यादगार मिसाल बन गया

संवत् २००९ की पावन वेला में बाल्यकाल में देखी गई, बार-बार स्वप्नों में दिखाई देती रही, दुर्वासा ऋषि की तपःस्थली के इस भाग को आचार्य श्रीराम शर्मा जी ने अपने सीमित साधनों में क्रय किया था। सबसे पहली अनुदान राशि गुरुदेव की माताजी (माता दानकुँवरि देवी, जिन्हें हम सभी ताईजी के नाम से संबोधित करते हैं) के ११०० रुपये के अनुदान द्वारा आई। भूमि क्रय व मंदिर, सीमित परिसर तथा यज्ञशाला निर्माण के लिए परमवंदनीया माताजी ने अपने कीमती जेवर बिक्री के लिए दिए। इस तरह ११,००० रुपये की राशि से गीता जयंती संवत् २००९ की पावन वेला में भूमि ले ली गई एवं फिर क्षेत्रीय स्तर पर गहन तप मंथन आरंभ हुआ, जो प्रायः वर्ष भर चला। सहस्रांशु जप, सवा करोड़ से अधिक मंत्र लेखन, उपवास, गायत्री चालीसा पाठ से ऊर्जा भरा वातावरण बनाया गया एवं संवत् २०१० की पावन गायत्री जयंती (२२ जून, १९५३) से जुड़ी १९ से २४ जून की तारीखों में कुल २४० साधकों का एक अनुपम समागम हुआ एवं एक अलौकिक दैवी वातावरण में गायत्री महाशक्ति के विग्रह की प्राण प्रतिष्ठा कर दी गई।

भव्य कलश यात्रा से शुभारंभ

इस स्वर्ण जयंती वर्ष के शपथ समारोह का शुभारंभ बीस अक्टूबर आश्विन शुक्ल चतुर्दशी २०५९ की प्रातः की वेला में हुआ, जब एक विराट् कलश यात्रा का शुभारंभ गायत्री तपोभूमि से प्रातःकाल ८ बजे हुआ। हर शुभ कार्य के पहले नारीशक्ति के मस्तक पर कलश धारण करा उसमें विद्यमान तैंतीस कोटि देवताओं की शक्ति के आह्वान-स्थापन का प्रयास इस माध्यम से किया जाता है। शपथ समारोह जैसे आयोजन के पूर्व भी नारीशक्ति को ही अग्रगामी बनाया गया। गुजरात प्रांत, उत्तरप्रदेश, उत्तरांचल, बिहार, मध्यप्रदेश, प. बंगाल, छत्तीसगढ़, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक, हिमालय, झारखंड सहित दक्षिण एवं पूर्वोत्तर भारत के चुने हुए कार्यकर्त्ता भाई-बहनों ने इस शोभायात्रा में भाग लिया। अमेरिका व कनाडा

से आए प्रवासी भाई भी इसकी शोभा बढ़ा रहे थे। बीस अक्टूबर की प्रात: गुरुसत्ता के वरिष्ठ प्रतिनिधिगणों द्वारा कलशधारी नारियों पर पुष्पवर्षा कर गायत्री तपोभूमि के प्रांगण (प्रज्ञानगर के मध्य स्थित संस्कारशाला) से यात्रा आरंभ हुई। प्राय: वे ही कार्यकर्त्ता भाई-बहन इसमें सम्मिलित थे, जो अपने-अपने क्षेत्र में न्यूनतम १००-१०० लोगों से प्रत्येक से चौबीस सौ गायत्री मंत्र लेखन की साधना कराकर आए थे।

दृश्य बड़ा अद्भुत था। सारी मथुरा नगरी यमुना तट से लेकर इसकी विभिन्न गलियों तथा बाहरी क्षेत्र में पीले वस्त्रधारी गायत्री परिजनों से भरी दिखाई दे रही थी। कलश पर जवारे रख पंक्तिबद्ध चल रही बहनों के साथ पाँच आकर्षक झाँकियाँ, घोड़े तथा बैंड के इक्यावन वादकों का एक दल चल रहा था। बैंड के प्रमुख रईस कुरैशी पीले वस्त्र धारण कर गायत्री मंत्र एवं मिशन के गीत गाते-बजाते चल रहे थे। एक विलक्षण सांप्रदायिक सौहार्द्र का नमूना था यह। पूरी यात्रा में मिशन के उद्घोष भी गुंजायमान होते रहे। जब कलशयात्रा का एक सिरा नगर से बाहर आकर यज्ञशाला में प्रविष्ट हो रहा था, तब अंतिम सिरा चौक बाजार से निकल रहा था। प्राय: सात किलोमीटर लंबी यात्रा के बाद तपस्वी बहनों के चेहरे प्रफुल्लित थे। रास्ते भर मथुरा के नागरिकों ने उन पर पुष्पों की वर्षा की थी। विभिन्न संगठनों द्वारा स्थान-स्थान पर जलपान, शरबत, जल, दूध आदि की व्यवस्था की गई थी। लगभग डेढ़ बजे मध्याह्न तक तेज धूप में पूरा यज्ञ क्षेत्र लौटकर आई पीत वस्त्रधारी नारीशक्ति से भर चुका था। बहनों को एक संक्षिप्त उद्बोधन के बाद उनकी आरती उतारी गई। प्रसाद वितरित कर सभी को भोजन हेतु रवाना किया गया। भाइयों से सम्मेलन स्थल पर गोष्ठी हेतु एकत्र होने को कहा गया, जहाँ क्षेत्रीय संगठन के सुनियोजन एवं आंदोलनों के संचालन पर चर्चा होनी थी।

स्वर्ण जयंती शपथ समारोह

कुछ झलकियाँ

○ पूरे राष्ट्र के कोने-कोने से हर प्रांत के विशिष्ट कार्यकर्त्ताओं की भागीदारी रही।

○ तपोभूमि क्षेत्र में स्थान-स्थान पर गायत्री महामंत्र लेखन की सौ-सौ प्रतियाँ लिए ढेरों व्यक्ति देखे जा सकते थे।

○ कलश यात्रा से लेकर पूर्णाहुति तक अनुशासन देखते बनता था। पत्रकारों तथा अनेक संगठनों की उक्तियाँ इस संबंध में प्रमाण हैं।

○ तपोभूमि से डेढ़ किलोमीटर पूर्व (दक्षिण की ओर) अखण्ड ज्योति संस्थान से लेकर जनजागरण प्रेस, बिड़ला मंदिर (उत्तर की ओर) तथा पूरे वृंदावन में पीत वस्त्रधारी ही चारों ओर दिखाई दे रहे थे।

○ मूर्ति स्थापना समारोह के बाद अनेकों परिजनों ने वैसी ही अनुभूति की, जैसी कि प्राण प्रतिष्ठा के समय १९५२-५३ में साधकों ने की थी। चर्चा के समय सभी ने अपनी अनुभूतियाँ बताईं।

प्रदर्शनी, बेस कैंप एवं आवास

इससे पूर्व गायत्री परिजनों के लिए लगाई गई एक संक्षिप्त किंतु समग्र जानकारी देने वाली प्रदर्शनी का उद्घाटन अखण्ड ज्योति संस्थान के व्यवस्थापक श्री मृत्युंजय शर्मा जी द्वारा हो चुका था। भारी संख्या में मथुरा नगरवासी व तीर्थयात्री इसे देखने आए। संध्या सात बजे से काफी पूर्व सभी ओर से कार्यकर्त्ताओं के दल प्रवचन स्थल (चूड़ी वालों की बगीची) की ओर कतारबद्ध होकर जाते दिखाई दे रहे थे। ये विभिन्न नगरों में ठहरे थे, जिन्हें गायत्री तपोभूमि के निकट यमुना तट पर खेतों में गायत्री नगर, गौतम नगर, जमदग्नि नगर तथा विश्वामित्र नगर के रूप में बसाया गया था। टेंटों में सभी व्यवस्थाएँ थीं। इसके अतिरिक्त नगर की सभी धर्मशालाएँ भी परिजनों के लिए आरक्षित कर ली गई थीं। २० अक्टूबर की शाम तक प्राय: चालीस हजार कार्यकर्त्ता सारे देश से आ चुके थे। सभी की सारी व्यवस्थाओं का, देख-रेख का संचालन शांतिकुंज से प्राय: पंद्रह दिन पूर्व पहुँचकर बेस कैंप बनाकर कार्य करने वाले सौ व्यक्तियों का दल कर रहा था। श्री गौरीशंकर शर्मा व्यवस्थापक शांतिकुंज जनजागरण प्रेस (बिरला मंदिर के सामने) के समीप बने इस बेस कैंप से इस तंत्र को देख रहे थे।

शाम सात बजे गायत्री तपोभूमि के व्यवस्थापक श्री द्वारिका प्रसाद जी चैतन्य के प्रारंभिक उद्घाटन उद्बोधन से कार्यक्रम आरंभ हुआ। श्री चैतन्य जी ने इस पूरे वर्ष की महत्ता, पूर्व की तैयारी व भविष्य की संभावनाओं के बारे में बताया। उनने मेजबान होने के नाते प्रबंध ट्रस्टी श्री मृत्युंजय शर्मा व गायत्री तपोभूमि के सभी कार्यकर्त्ताओं की ओर से देशभर से आए सभी चुने हुए साधक-कार्यकर्त्ताओं का स्वागत किया। किसी भी प्रकार की असुविधा के लिए क्षमा माँगते हुए उनने कहा कि संकल्पों

द्वारा ही हम इस कार्यक्रम को एक यादगार आयोजन बना सकते हैं। सभी प्राणवान कार्यकर्त्ताओं को उनने अधिकाधिक समय मिशन के लिए निकालने का भाव भरा आह्वान किया।

स्नेहसिक्त मार्गदर्शन, साथ में सुने संस्मरण

शांतिकुंज से आईं संस्था प्रमुख श्रीमती शैलबाला पंड्या ने अपने भावभरे उद्‌बोधन से जन-जन को गुरुसत्ता के स्नेह भरे स्वरूप का स्मरण करा दिया। उनने अपने उद्‌बोधन में परमवंदनीया माताजी से जुड़े संस्मरणों का हवाला देकर, किस तरह गायत्री तपोभूमि विनिर्मित हुई एवं कैसे यह लंबी यात्रा तप-त्याग-तितिक्षा के बल पर पूरी हुई, यह परिजनों को बताया। विशेष रूप से उनने नारी जागरण आंदोलन हेतु सभी परिजनों को सक्रिय होने को कहा ताकि राष्ट्र की आधी जनशक्ति पंगु स्थिति से उबर सके एवं उसकी तपःशक्ति से भारतीय संस्कृति सारे विश्व में छा सके। अंतिम उद्‌बोधन देवसंस्कृति विश्वविद्यालय के कुलाधिपति व इस पत्रिका के संपादक का था। उनने गुरुसत्ता के प्रतिनिधि रूप में परमपूज्य गुरुदेव एवं परमवंदनीया माताजी के तपस्वी स्वरूप का सबको भान कराया। कई अब तक अविज्ञात संस्मरण उनने सुनाए, जो गायत्री तपोभूमि की स्थापना के पूर्व १९४९ से १९५३ तक की अवधि के थे। ये सभी प्रसंग 'चेतना की शिखर यात्रा' पुस्तक के भाग-दो में प्रकाशित हो रहे हैं। परिजनों ने जाना कि सिद्धाग्नि व दिव्याग्नि रूपी अखण्ड अग्नि की स्थापना से लेकर प्राण प्रतिष्ठा के समय हुई अलौकिक घटनाओं से इस दिव्य पावन संस्थान की स्थापना के माहात्म्य की जानकारी मिलती है। अब पचास वर्ष बाद ये तप के संस्कार बीज बनकर सारे भारत में छा जाएँ, यही गुरुवर की अभिलाषा एवं इस कार्यक्रम का उद्‌देश्य है, यह उनने बताया। उनने इसी वर्ष गुरुसत्ता से एकाकार हुए श्रद्धेय पंडित लीलापति जी शर्मा का भी भाव भरा स्मरण किया व बताया कि किस तरह उनने अहर्निश लगकर गायत्री तपोभूमि का विस्तार पूज्यवर के मथुरा से प्रस्थान के बाद किया।

स्वर्ण जयंती शपथ समारोह

कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य

○ *रईस कुरैशी के प्रकाश बैंड के ५१ मुस्लिम भाई गायत्री मंत्र, गुरु वंदना एवं प्रज्ञागीत गाते पीतवस्त्रों में एक अलग ही समाँ बना रहे थे। कलश यात्रा देखने वालों का कहना था कि गायत्री परिवार ने जाति का भेद मिटाया है, अब सांप्रदायिक विषमता भी मिटेगी।*

○ *नगर के सभी उद्योग-व्यापार, समाज सेवा से जुड़े संगठनों ने उस शोभायात्रा में भागीदारी भी की। इसका स्वागत भी किया।*

○ *'देवसंस्कृति विश्वविद्यालय' प्रदर्शनी में सभी की जिज्ञासा का मुख्य केंद्र रहा। इसके बारे में अधिकाधिक जानने की इच्छा सबकी थी।*

○ *किसी भी राजनैतिक या बड़े पद से जुड़े व्यक्ति को इस आयोजन में मंचीय कार्यक्रम हेतु नहीं बुलाया गया था। आमंत्रण सभी को था, पर मूलतः यह नैष्ठिक स्वयंसेवकों का कार्यक्रम था। किसी भी नेता को मंच पर न देख सभी को सुखद आश्चर्य हुआ।*

○ *पाक्षिक प्रज्ञा अभियान के इस आयोजन में पाँच हजार सदस्य बने। यह अब तक का कीर्तिमान है। मिशन के सभी क्रियाकलापों की जानकारी देने वाला यह समाचार पत्र शांतिकुंज, हरिद्वार से १ व १६ तारीख को प्रतिमाह प्रकाशित होता है।*

○ *गुजरात के परिजन पूरे समारोह में हर दिशा में, हर क्षेत्र में क्रियाशील नजर आए। मेहसाणा से विष्णुभाई का सौ स्वयंसेवकों का दल तो बीस दिन पूर्व से ही आ गया था।*

सारे कार्यक्रम का सीधा प्रसारण पूरे मथुरा में फैले केबल नेटवर्क द्वारा हो रहा था। इस तरह सारा नगर भी इस आयोजन में भागीदारी कर रहा था। सभी अपने बुजुर्गों द्वारा बताई १९५३, १९५६, १९५८ के ऐतिहासिक आयोजनों से जुड़ी घटनाओं तथा १९७१ के विराट् विदाई सम्मेलन की घटनाओं को याद कर रहे थे। इस कार्यक्रम के विराट् स्वरूप से उन्हें विगत में संपन्न हो चुके समागमों का एक आभास हो रहा था। ईटीवी, जीटीवी, स्टार टीवी सहित सभी न्यूज चैनेलों ने अपने समाचारों में इस कार्यक्रम की जानकारी भारत भर के कार्यकर्त्ताओं को दी। दूरदर्शन ने वरिष्ठ प्रतिनिधियों के विशेष इंटरव्यू रिकॉर्ड किए। मथुरा व आगरा के प्रेस क्लब से जुड़े विशिष्ट पत्रकार बंधुओं ने भी पत्रकार वार्त्ता में इस आयोजन के विषय में जाना, स्वयं भागीदारी की तथा अपने-अपने पत्रों में पर्याप्त कवरेज भी दिया।

सभी साधकों के लिए भोजन की व्यवस्था किशोरी रमण वाटिका स्थित भोजनालय में की गई थी। इस विराट्

भोजनालय में एक बार में पाँच से सात हजार परिजन भोजन कर सकते थे। सारी व्यवस्था स्वयंसेवकों द्वारा नियंत्रित थी एवं सभी भोजन-प्रसाद पाकर तृप्त थे। अगले दिन प्रातःकाल मूर्ति स्थापना कार्यक्रम से आरंभ होना था। रात्रिभर पूरे आयोजन स्थल में हलचल बनी ही रही। लोग मथुरा से वृंदावन तक बीस किलोमीटर की परिधि में विभिन्न धर्मशालाओं, विश्रामगृहों तथा टेंटों की नगरियों में ठहरे थे। कई अपने साथ कुछ नए प्रबुद्ध परिजनों को भी लेकर आए थे, जिन्हें संकल्पों की जानकारी दी गई थी।

प्रतिष्ठित हुए ब्रह्ममुहूर्त में गुरुसत्ता के विग्रह

प्रातः गायत्री तपोभूमि परिसर में संस्कारशाला से लेकर मंदिर के सामने स्थित हॉल में जहाँ स्थान मिले, वहाँ परिजन मौन जप कर रहे थे। वे मंदिर में चल रहे मूर्ति स्थापना समारोह में अपनी भागीदारी भी कर रहे थे। जिन्हें यहाँ स्थान नहीं मिला, वे यज्ञस्थल पर प्रातः जल्दी पहुँचकर अपना स्थान यज्ञकुंडों के चारों ओर ले चुके थे। मूर्ति स्थापना के बाद यहीं पर १५१ कुंडीय यज्ञशाला में विशेष यज्ञ संपन्न होना था।

भावी कार्यक्रम

परमपूज्य गुरुदेव द्वारा १९८०-८१ में शक्तिपीठों की प्राण प्रतिष्ठा का क्रम क्षेत्र में चला था। २००५-२००६ में इस ऐतिहासिक शुभारंभ की रजत जयंती का वर्ष आ रहा है। केंद्र की इच्छा है कि जिन स्थापनाओं ने वातावरण को गायत्रीमय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, उन सभी को इस विशिष्ट वर्ष २००५-२००६ (वसंत से वसंत तक) में अपने केंद्र का वार्षिकोत्सव विशिष्ट उद्‌देश्यों के साथ मनाना चाहिए। उनकी श्रृंखला केंद्र में यहाँ बनाई जाएगी तथा समयदानियों के माध्यम से ही इस क्रम को संपन्न कराया जाएगा। इस संबंध में विस्तार से भावी पत्रिकाओं के संपादकीय पढ़ें।

अगला वर्ष संगठन-सशक्तीकरण वर्ष का उत्तरार्द्ध है, यह जनवरी २००४ तक पूर्णता तक पहुँचेगा। इस पूरे वर्ष एक अतिरिक्त दायित्व है विद्या विस्तार की प्रक्रिया। स्थान-स्थान पर युग साहित्य की स्थापना, वाङ्‌मय की स्थापना एवं पत्रिकाओं के पाठक बढ़ाया जाना एक विशेष जिम्मेदारी के रूप में लिया जाएगा।

तपोभूमि का गायत्री मंदिर १९५३ में विनिर्मित किया गया था। जिस सुंदर मातृशक्ति-वेदमाता गायत्री की मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा चौबीस दिन के जल उपवास के बाद पूज्य गुरुदेव द्वारा २२ जून, १९५३ को की गई थी, वह तो वहाँ थी ही, उसके दोनों ओर स्थित कक्षों में ऋषियुग्म परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी एवं परमवंदनीया माता भगवती देवी की मूर्ति की स्थापना २१ अक्टूबर शरदपूर्णिमा की प्रातः ब्रह्ममुहूर्त की वेला में होनी थी। जैसा कि सभी जानते हैं कि गायत्री माता का यह मंदिर पूज्यवर द्वारा १९५२-५३ की अवधि में बनवाया गया था। कालांतर में इसके शिखर से लेकर फर्श आदि में संगमरमर की स्थापना हो गई, पर मूल स्वरूप यथावत ही रहा। मूर्ति के बायीं ओर स्थित कक्ष में चौबीस सौ पवित्र तीर्थों की जल-रज स्थापित की गई थी एवं दायीं ओर चौबीस करोड़ गायत्री महामंत्र लेखन स्थापित किए गए थे। बाद में १९७१ में गुरुसत्ता के मथुरा से हरिद्वार प्रयाण के बाद जल-रज वाले कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव की पादुकाओं एवं उनके एक चित्र की तथा मंत्रलेखन वाले कक्ष में परमवंदनीया माताजी की पादुकाओं तथा उनके चित्र की भी स्थापना कर दी गई।

यह सभी को ज्ञात होना चाहिए कि श्रीकृष्ण की ही तरह परमपूज्य गुरुदेव विदाई सम्मेलन में घोषणा कर मथुरा छोड़कर जाने के बाद पुनः मथुरा नहीं आए। वे शक्तिपीठों के उद्घाटनों की श्रृंखला हेतु निकले, पर मथुरा के बायपास मार्ग से निकल गए, अंदर प्रवेश नहीं किया। दोनों अवतारी सत्ताओं में कितना साम्य है, कितना रहस्यपूर्ण यह सब है, यह देखकर अचरज होता है। परमवंदनीया माताजी के लिए पाबंदी मात्र दस वर्ष की थी, तो उसके बाद वे दो-तीन बार मथुरा भी गईं व आँवलखेड़ा भी।

विलक्षण-अलौकिक छटा तपोभूमि की

ठीक इकत्तीस वर्ष बाद स्वर्ण जयंती वर्ष के पावन प्रसंग में पूज्यवर के चित्र के स्थान पर उनकी एक भव्य संगमरमर की बनी मूर्ति की तथा परमवंदनीया माताजी की भी इतनी ही सुंदर मूर्ति की स्थापना चित्र के स्थान पर शरदपूर्णिमा की वेला में प्रातः होनी थी। एक संक्षिप्त कर्मकांड पं. चंद्रभूषण मिश्र द्वारा संपन्न कराया गया। वरिष्ठ प्रतिनिधिगण पूजन-क्रम में बैठे। जिसकी शक्ति कण-कण में, हर कार्यकर्त्ता के हृदय में विद्यमान हो, उसकी प्राण प्रतिष्ठा क्या हो, अतः मात्र मूर्ति स्थापना का एक संक्षिप्त भावभरा क्रम रखा गया था। ठीक ६.४५ प्रातः मूर्तियों का अनावरण आरती व गुरुवंदना का क्रम संपन्न हुआ। साथ ही कार्यकर्त्ताओं द्वारा क्षेत्र से लाए गए विभिन्न तीर्थों की जल-रज व सैकड़ों की संख्या में इस वर्ष लिखे गए मंत्र

लेखन की पुस्तिकाओं का भी पूजन-आरती का क्रम चला। पूज्यवर एवं मातृसत्ता द्वारा १९७१ में अपने पैरों से निकालकर रखी गई पादुकाएँ भी सबके लिए स्पर्श-दर्शन हेतु रख दी गईं एवं मंदिर दर्शन हेतु खोल दिया गया। प्रातः सात से प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा, फिर ऋषियुग्म सहित आद्यशक्ति गायत्री की मूर्ति, चरण पादुकाओं का दर्शन पंक्तिबद्ध हो चलता रहा। यह क्रमशः रात्रि तक सतत चलता रहा, जब तक कि सभी ने दर्शन नहीं कर लिए। पंक्ति कभी नहीं टूटी, लगभग डेढ़ किलोमीटर लंबी सतत बनी रही। अनुशासन देखने योग्य था।

प्रातः ७.३० से १५१ कुंडीय यज्ञशाला में गायत्री महायज्ञ का शास्त्रोक्त विधि से शुभारंभ हुआ। वैदिक स्वर में सामगान व समवेत मंत्रों के उच्चारण से सारा नगर गुंजित हो उठा। नगरवासी भी भारी संख्या में यज्ञ हेतु पधारे। आठ पारियों में यज्ञ हुआ। गायत्री महामंत्र, महामृत्युंजय मंत्र, देवसंस्कृति संवर्द्धन, पर्यावरण संशोधन तथा राष्ट्र की समृद्धि हेतु आहुतियाँ दी गईं। दीक्षा संस्कार भी संपन्न हुआ, जिसमें प्रायः सात हजार से अधिक ने भागीदारी की। इसी प्रकार तपोभूमि में प्रज्ञा नगर में संस्कारशाला में संस्कारों का क्रम चलता रहा। यज्ञोपवीत, पुंसवन, अन्नप्राशन, नामकरण, शिखा स्थापन, वानप्रस्थ आदि संस्कार संपन्न हुए। संस्कृति जननी गौमाता, महामृत्युंजय मंत्र के ऑडियो कैसेट्स तथा गुरुकृपा-गुरुधाम, आराधना और युगधर्म की सीडी का भी विमोचन यज्ञ मंच से हुआ।

चाँदनी रात में दीप महायज्ञ एवं शपथ समारोह

शाम को विराट् दीप महायज्ञ से पूर्व श्रीमती शैलबाला पंड्या व डॉ. प्रणव पंड्या के उद्बोधन हुए। इस क्रम में अखिल विश्व गायत्री परिवार प्रमुख ने परमपूज्य गुरुदेव के भावभरे संस्मरण नरमेध यज्ञ से लेकर उनके तपोभूमि छोड़ने तक के सुनाए। अपने पिता, अपने आराध्य, इष्ट की भावभरी स्मृतियों को सुनकर सारा समुदाय अनुप्राणित था। इस पत्रिका के संपादक ने परमपूज्य गुरुदेव के 'योगी' रूप में जीवन-दर्शन की व्याख्या घटनाक्रमों द्वारा की। यह भी बताया गया कि वे हमसे भी योगी बनने की अपेक्षा रखते थे। हमारा समर्पण गुरुकार्यों के प्रति और भी तीव्र हो, गति पकड़े, यही इस शपथ समारोह में हमारा लक्ष्य होना चाहिए, यह सभी ने जाना। दीप महायज्ञ बड़ा ही विलक्षण था। शरदपूर्णिमा का चंद्रमा अपनी अलौकिक छटा बिखेर रहा था। सवा लाख दीपक साधकों के संकल्प के साथ एक साथ जल उठे एवं लगभग बीस हजार साधकों ने मुट्ठी ऊँची कर अपनी शपथ आराध्य सत्ता के कार्यों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए ली। अनुशासित समुदाय पूरे चार घंटे बैठा रहा व अपलक इस दृश्य को निहारता रहा। आरती व सत्संकल्प के साथ इस दिन के कार्यक्रम का समापन हुआ। समापन से पूर्व साठ पुस्तकों की स्वर्ण जयंती पुस्तकमाला का विमोचन भी किया गया, जो गायत्री तपोभूमि द्वारा प्रकाशित की गई है।

कार्यक्रम का प्राण : गोष्ठियाँ

इस कार्यक्रम का प्राण था कार्यकर्त्ता सम्मेलन। भारी संख्या एवं स्थान के सीमा बंधन को देखते हुए सम्मेलन-कार्यकर्त्ता गोष्ठियों को चार खंडों में बाँट दिया गया। सभी कार्यकर्त्ताओं से न्यूनतम किसी एक में भागीदारी हेतु कहा गया। प्रत्येक गोष्ठी में ब्रजवासी मंडप वाला यह स्थान खचाखच भरा रहा। ऐसी स्थिति में भी प्रायः छह हजार कार्यकर्त्ता प्रत्येक में बने रहे। विषयवस्तु का केंद्र मात्र यही था कि अब समय बहुत कम बचा है। अब सभी कार्यकर्त्ताओं को एकजुट हो अधिकाधिक समय मिशन के कार्यों हेतु देना है। सुनिश्चित लक्ष्य निर्धारित कर आगामी डेढ़ वर्ष में हम सभी को अपने संगठन को सुव्यवस्थित कर देना है तथा आंदोलनों की कार्ययोजना बना लेनी है। पारस्परिक चर्चाओं का क्रम भी चला। विभिन्न समूहों में भी लोग कार्यशाला-गोष्ठी के बाद वरिष्ठ भाइयों तथा व्यवस्थापक विचारक्रांति अभियान मथुरा, अखिल विश्व गायत्री परिवार प्रमुख से मिलते रहे व अपनी अभिव्यक्ति देते रहे। प्रायः दस हजार संकल्प पत्र परिजनों ने भर कर दिए, जिनमें तीन हजार समूहगत थे।

कृपया ध्यान दें

बड़े भावभरे वातावरण में अपना शपथ स्वर्ण जयंती समारोह संपन्न हुआ। साथ ही ऋषियुग्म की युगल मूर्ति की स्थापना भी हुई। परमपूज्य गुरुदेव प्रायः तीस वर्ष एवं परमवंदनीया माताजी प्रायः २६ वर्ष इस पावन मथुरा नगरी में विराजमान रहे। उसी आधार पर यह निर्धारण हुआ कि वेदमाता गायत्री के विग्रह के दोनों ओर दोनों की सुंदर-सी मूर्तियाँ इस वर्ष के क्रम में, जो गायत्री तपोभूमि की स्थापना का पचासवाँ वर्ष है, सबके दर्शनार्थ स्थापित की जाएँ। ब्रह्माजी का मंदिर मात्र पुष्कर में है और कहीं नहीं, ऐसे ही इस युग के विश्वामित्र-गायत्री महाशक्ति को लुप्त होने से बचाने वाले गुरुदेव का विग्रह मात्र मथुरा में ही स्थापित रहेगा, और कहीं नहीं। सजल श्रद्धा-प्रखर प्रज्ञा भारत में कहीं भी स्थापित की जा सकती हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण है उनके ज्ञान शरीर की स्थापना। जितना प्रयास इस दिशा में चलेगा, उतना ही परिजन गुरु अनुकंपा के भागीदार बनेंगे।

इन कार्यशालाओं को श्री कालीचरण शर्मा, श्री वीरेंद्र तिवारी, प्रो. प्रमोद भटनागर, द्वारिकाप्रसाद जी चैतन्य एवं श्री प्रमोद शर्मा ने संबोधित किया। सभी प्राय: एक साथ बैठे एवं अपनी बात कहने के साथ समूहगत मार्गदर्शन देते रहे। श्री कालीचरण शर्मा जी ने गुरुवर के कथनों की साक्षी देकर अपने स्थानीय संगठन को पारिवारिकता की धुरी पर विकसित करने की बात कही। उनने कहा कि जो व्यक्ति रोज नए पाँच व्यक्ति मिशन से जोड़ता है, वही असली युगनिर्माण का कार्य करता है। श्री वीरेंद्र तिवारी ने बताया कि साधना की धुरी पर ही संगठन सशक्त बन सकता है। साधक बनेंगे, तो अहंकार गलेगा, संयम विकसित होगा। बची ऊर्जा स्वाध्यायशील साधक द्वारा जनसेवा में लगेगी। तीनों पत्रिकाएँ हर परिजन पढ़ें, इस पर उनने विशेष जोर दिया।

प्रमोद भटनागर जी ने सच्चे शिष्य की परिभाषा बताई। साथ ही ऐसे प्राणवानों के संकल्पों के फलित होने की बात भी कही। प्रतिदिन साहित्य का विस्तार व कोई-न-कोई सेवा का कार्य हर व्यक्ति का एक निश्चित कर्त्तव्य हो। श्री द्वारिकाप्रसाद जी चैतन्य ने कहा कि मनोरथ कभी पूरे नहीं होते, संकल्प कभी अधूरे नहीं रहते। जनचेतना जगाने वाले गाँधीजी के प्रयोगों की चर्चा कर उनने गुरुदेव के छोटे-छोटे आंदोलनों की बात कही। सद्ज्ञान घर-घर पहुँचे एवं सत्कार्यों का अभ्यास बढ़े, यही गुरुवर की इच्छा थी, जिसे सबको पूरा करना है। श्री प्रमोद शर्मा ने मंत्र लेखन साधना, स्वाध्याय, अंशदान की नियमितता एवं गोसेवा के लिए किए जाने वाले प्रयासों की चर्चा की। संकल्पों की भावभरी पृष्ठभूमि इन चार गोष्ठियों ने बना दी थी, इसीलिए शाम का दीपमहायज्ञ अलौकिक वातावरण में शपथ के साथ संपन्न हुआ।

पुण्य स्मृति बन गया यह आयोजन

२२ अक्टूबर मंगलवार का दिन पूर्णाहुति व विदाई का दिन था। सभी यज्ञ में भी भाग ले रहे थे, पुनि-पुनि तपोभूमि आकर माता के विग्रह के साथ ऋषियुग्म के दर्शन कर रहे थे एवं आपस में अपने गुरुभाइयों से मिल-परिचित हो रहे थे। तीन दिन के लिए 'मिनी भारत' बने इस साधकों के कुंभ ने अपने सुनिश्चित लक्ष्य की पूर्ति की एवं नया उत्साह कार्यकर्त्ताओं में प्रवाहित किया। भोजन व्यवस्था से लेकर संपूर्ण सुरक्षातंत्र श्री गौरीशंकर शर्मा जी एवं गौरीशंकर सैनी ने व्यवस्थित ढंग से संचालित किया। कहीं भी भगदड़ नहीं मची। सभी भोजन-प्रसाद पा ज्ञानप्रसाद हेतु समय पर पहुँचते रहे। इन सब व्यवस्थाओं के मूल में श्री मृत्युंजय शर्मा का सौम्य मार्गदर्शन एवं कार्यों का सुनियोजन देखने योग्य था। अखण्ड ज्योति संस्थान, गायत्री तपोभूमि, मथुरा एवं शांतिकुंज, हरिद्वार के सभी कार्यकर्त्ताओं ने कंधे से कंधा मिलाकर यज्ञीय भाव के साथ इस पुण्य आयोजन को एक मिसाल बना दिया। सन् १९७१ के बाद संपन्न हुआ यह कुंभ सभी की स्मृति में ऐसा समा गया है कि अब हर पल उसी का ध्यान मन में रहेगा। लिए गए संकल्प सतत याद आते रहेंगे एवं सक्रियता का उफान निश्चित ही युग परिवर्तन की प्रक्रिया को त्वरित गति देगा, यह विश्वास है।

शपथ समारोह संकल्प

सभी संकल्प जो लिए गए हैं, भलीभाँति पढ़े जाएँगे एवं उनका सही ढंग से क्रियान्वयन हो, यह कार्य केंद्र देखेगा। समयदान के सुनियोजन का एक तंत्र बनाया जा रहा है, जिसमें न्यून से अधिकतम समय देने वाले परिजनों को सतत स्पर्श करने का क्रम बनाया जाएगा। आंदोलनों की मॉनीटरिंग हेतु एक केंद्रीय नियंत्रण कक्ष शांतिकुंज, हरिद्वार में बनाया जा रहा है। संकल्पों की एक प्रति गायत्री तपोभूमि, मथुरा रहेगी, एक शांतिकुंज हरिद्वार में। सातों जोन्स में सक्रियता लाने के लिए बनाए गए केंद्रों में भी संकल्पित समयदानियों की वर्कशॉप्स चलेंगी।

❖

ज्ञातव्य

'प्रज्ञा परिषद्' की स्थापना पूरे भारतवर्ष के हर जनपद में होनी है। सातों जोनों के केंद्रों द्वारा ही मुख्य केंद्र से इनका संचालन होगा। अभी कोई अपने मन से इनका गठन न करे। इसके लिए शांतिकुंज द्वारा विधिवत एक संविधान, उसके नियम-उपनियम बनाए जा रहे हैं। यह विशुद्ध रूप से अपने परिजनों के माध्यम से प्रबुद्ध वर्ग के विशिष्ट व्यक्तियों को मिशन की कार्यविधि से जोड़ने वाला माध्यम बनेगा। परिजन अभी फरवरी २००३ की तीनों पत्रिकाओं के अंकों की प्रतीक्षा करें। जब यह भलीभाँति समझ में आ जाए, तब इस कार्य को गति दें। ध्यान रखें कि यह कोई समानांतर तंत्र नहीं। यह हर जनपद या जोनल समन्वय समिति का एक घटक ही होगी एवं पूर्णतः जोनल-केंद्रीय अनुशासन में कार्य करेगी। ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की रजत जयंती के उपलक्ष्य में २००४ में वर्षभर इसके माध्यम से सारे देश में प्रबुद्ध वर्ग के सम्मेलन आयोजित किए जाएँगे।

Entered in Database
Signature with Date
15/4/08